KRISHNADAS SANSKRIT SERIES
52

NAISADHĪYACHARITAM

OF

MAHAKAVI SHRIHARSHA

With

The 'Jivatu' Sanskrit Commentary of Mallinath

And

The 'Chandrika' Hindi Commentary

By

Dr. DEWARSHI SANADHYA SHASTRI
M. A., Ph. D., D. Litt.

(Canto 12-22 Uttarardha)



KRISHNADAS Academy

VARANASI-221001

1987

© KRISHNADAS ACADEMY
Oriental Publishers & Distributors
Post Box No. 1118
Chowk, (Chitra Cinema Building), Varanasi–221001
(India)

First Edition
1987
Rs. 60–00

Also can be had from
Chowkhamba Sanskrit Series Office
K 37/99, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1008
Varanasi–221001 (India)
Phone : 63145

द्वादश सर्ग

पार्श्वे पश्य परे त्वदर्थमपरे प्रागासमुद्रादिमे
प्राप्ताः प्राज्यपराक्रमक्रमयुजः पद्माक्षि पृथ्वीभुजः ।
एषु स्वीकुरु कञ्चिदेकमिति वाग्देव्योपदिष्टा पुरो
यान्ती वीक्ष्य विसिस्मये स्मितवतः सा पञ्च मन्वे नलान् ॥
—श्रीकृष्णरामकविः

स्वयंवर-सभा में आसमुद्र दिग्दिगन्त से और भी श्रेष्ठ राजगण पधारे थे। एक से एक वीर, विलासी, शृंगारी। सबके मनमें आशा पनपती थी कि दमयंती उनका वरण करेगी; परंतु जिसे छोड़ वह आगे बढ़ जाती, वह पूर्ण निराश हो उदास हो जाता। सनातनी वाग्देवता सरस्वती अतिमधुर वाणीमें सबका परिचय देती चलीं। अयोध्या के ऋतुपर्ण, महाकुलीन पाण्ड्यनरेश, महेन्द्रगिरि-देश कलिंगाधिप, सौंदर्य में कामदेव को भी पराजित करते कांचीपुरी के अधिपति, नेपाल राज्य का अधीश्वर, मलयाद्रिनरेश, मिथिलाराज, कामरूपाधिप, उत्कलेश, कीकटप्रभु, आदि-आदि वहाँ पधारे थे। सबका सुविस्तृत वर्णन किया भगवती भारती ने। दमयन्ती ने किसी पर ध्यान नहीं दिया। उसका मन तो नलाभिलाषी ही था। वह क्यों किसी ओर ध्यान देती? चलती-चलती वह उस स्थलपर पहुँची, जहाँ चारों देव—इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम नल का रूप धारे बैठे थे—चार नल। एक नहीं चार नल। दमयन्ती विस्मय और लज्जा के वश हो उधर भी दृष्टिपात न कर सकी। कुछ आगे ही नैषधराज नल भी थे—प्राण-प्रिया, जीवन की सर्वस्व भीमसुता को प्रीति और आदर के साथ निहारते। दमयन्ती ने सकटाक्ष उनकी ओर देखा।

—: * :—

त्रयोदश सर्ग

पञ्चस्वञ्च नलेषु तन्वि कमपि श्रीवीरसेनोदयं
देवं मङ्क्षु परीक्ष्य किं भ्रमयसि व्यर्थं त्वमस्मानिति ।
वाचा श्लेषवचःप्रपञ्चफलितामर्त्येशमर्त्येशया
प्रोक्ता पञ्चनलीं विभाव्य समभूत्सन्देहभूर्भीमभूः ॥
—श्रीकृष्णरामकविः

और नलानुरक्ता दमयन्ती को शिविकावाहकों ने उस स्थल पर पहुँचा

दिया, जहाँ पाँच नल विराजमान थे। एक नल और चार नलरूपधारी देव—इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण। भगवती भारती ने उनका परिचय देना आरंभ किया। भगवती हैं 'साक्षात्कृताखिलजगज्जनताचरित्रा'—संपूर्ण जगत् के जीवों का चरित्र जाननेहारी। उन्होने क्रमश: चारो देवो का ऐसी भाषा में वर्णन किया कि उनकी वास्तविकता भी ज्ञात हो गयी और नलरूप धारण का कपट भी प्रकट न हुआ। काव्य-कला की दृष्टि से यह वर्णन अत्यंत चमत्कारी है। तेंतीसवें श्लोक 'देव: पतिर्विदुषि' इत्यादि मे तो चारों देवों और नल—पञ्चनलों का वर्णन हो गया है।

संमुख पाँच नलो को देख कर और वर्णन सुन कर दमयन्ती संदेह मे पड़ गयी कि इनमे वास्तविक नल कौन-सा है ? अनिश्चय के कारण उसे बड़ा संताप हुआ। उसे वास्तविक नल को भी नल मानते संकोच लगने लगा। दमयन्ती के संमुख पाँच-पाँच नल उपस्थित थे—एक नही, पाँच। यदि वह चाहती तो किसी को चुन लेती, किन्तु वह 'नल-रूप' पर तो आकृष्ट थी नही कि जहाँ नल देखा और तुष्ट हो गयी। वह रूप-गुण समन्वित वास्तविक नल चाहती थी। संपूर्ण नल, केवल नलरूप नही। अनुराग जन्मांतर के कर्म का फल होता है, वह बाह्य नही, अतस् की वस्तु है। दमयन्ती को स्वर्णहंस का स्मरण आया। कहाँ है वह प्रियसंदेशवाही, जो वास्तविक नल का ज्ञान करासके ? उसने बार बार बडी शंका के साथ पाँचो को देखा, पर भेद दृष्टिगत न हो सका। उसने देवो का स्मरण किया, जिनकी सदा आराधना की थी। उन्हें उपालंभ दिया, कल्पद्रुम से याचना भी उसे व्यर्थ प्रतीत हुई। वह सोचने लगी कि भगवती के हाथो में ही वरण-माल्य दे दूँ और निवेदन करूँ कि वे ही उसके गले मे माला डाल दे, जो वैरसेनि नल हो, अथवा इन पाचो के बीच माल्यार्पण कर दूँ और कह दूँ कि आप पाचो मे जो वस्तुत: नल हो मेरी माला ग्रहण करले। किंतु ऐसे स्वेच्छाहोना हो जाने मे बडी हँसी होगी। लगता है कि इनमें अंतिम पंचम ही वस्तुत: नल है, क्योंकि इसे देख कर लगता है मन जैसे सुधासागर मे अवगाहित हो रहा है परन्तु मन मे अनेक संकल्प-विकल्प करती दमयन्ती किसी निर्णय पर न पहुँच सकी। उसका मुख उदास और निष्प्रभ हो उठा, जैसे सूर्य से पराभूत चन्द्रमा हो।

—: * :—

चतुर्दश सर्ग

स्तोत्रप्रीतदिगीशदर्शितनला मन्दाक्षमन्दा सती
मत्वा तानियमुत्ससर्ज करतः कण्ठे नलस्य स्रजम् ।
दिक्पालेषु गतेषु खं सह गिरा दत्त्वा वरानम्बरात्
सामोदा निपपात मूर्द्धनि तयोः कल्पप्रसूनावलिः ॥
—श्रीकृष्णरामकविः

अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प करती दमयन्ती ने नल-विषयक संदेह के निराकरणार्थ अंत में देवाराधन का ही निश्चय किया। श्रद्धा के साथ नाम ले-लेकर उसने देवों को नमस्कार अर्पित किया और फिर ध्यान और भावना के बल से देवों का मन में साक्षात् करती उसने सब को आश्चर्यान्वित बनाते हुए देवों का सविधि पूजन प्रारंभ किया। तत्काल रचित गीति-छन्दों द्वारा स्तुति की और पुनः ध्यान किया। देव तो पहिले ही दमयन्ती से प्रसन्न थे, वे दमयन्ती की थोड़ी-सी अराधना से प्रसन्न हो गये। संतुष्ट दमयन्ती ने अब सरस्वती की श्लिष्टोक्तियों पर विचार किया और समझा कि भगवती ने कृपापूर्वक कितनी चातुरी से नल का परिचय दे दिया था? अब उसने भूमि-स्पर्श, निमेष-निमीलन, स्वेद, माला की म्लानि-अम्लानि, छाया-छायाराहित्य के आधार पर देवों और नल को पहिचान लिया और नल के कंठ में वरमाला डाल देने का विचार किया, किन्तु लज्जावश ऐसा न कर सकी और उसने सरस्वती की सहायता चाही। भगवती क्रमशः देवों को प्रणाम करातीं उसे नल के समीप ले गयीं; क्योंकि देवों की प्रीति आवश्यक थी। देवों के निकट जाते समय दमयन्ती ने भ्रम में पड़कर कुछ संकोच दिखाया, परन्तु सरस्वती ने हँस कर उसकी शंका दूर कर दी कि वह उसे देवों के समीप इसलिए ले जा रही है कि वे प्रसन्न हो उसकी कल्याण-कामना करें, अन्यथा शुभ में संदेह होगा। देवी ने देवों को संबोधन करके कहा कि हे लोकपालों, दमयन्ती 'एकभर्तृका' साध्वी है। आप पाँचों में से एक का वरण करके शेष को अपना विरोधी नहीं बनाना चाहती। राजा नल आप सबका संमिलितांश है, अतः दमयन्ती उसका ही वरण कर रही है। विधाता ने आप लोगों का दौत्य करते नल के कंठ में अनजाने ही माल्यार्पण कराके स्वयंवर पहिले ही करा दिया है। देवों के मंद हास्य द्वारा अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए दमयन्ती द्वारा नल वरण की अनुमति दी।

दमयन्ती ने माल्यार्पण किया। नल के वक्ष पर पड़ी वह वरमाल आधे बाहर, आधे भीतर कामबाण-सी प्रतीत हुई। नलवरणानंतर गमनेच्छुक इन्द्रादि नल के समीप पहुँचे। इन्द्रादि देवों ने अपना-अपना उचित विधान करते हुए प्रसन्नमना नल-दमयन्ती को अनेक वर दिये। इन्द्र ने कहा कि हम सब देव प्रत्यक्ष शरीर से तुम्हारे यज्ञों में सम्मिलित होंगे, तुम दोनों को तादात्म्य प्राप्त होगा और तुम्हारे नाम से काशी के निकट 'नलपुर' नगर ख्यात होगा। अग्नि ने समृद्धि और अद्भुत भोजन बनाने की कला का वर दिया और पाकाग्नि के नलवशीभूत रहने का आशीष। यम ने सदा विजयी और धर्म पर स्थिर रहने का नल को वर दिया और वरुण ने इच्छानुसार मरुस्थल को जलमय करने की क्षमता तथा कर स्पर्श से ही पुष्पों को अम्लान तथा सुगंधि बनाने की शक्ति दी। भगवती भारती ने सिद्धमंत्र 'चिंतामणि' दिया और नल के 'पुण्यश्लोक' रहने का वर। दमयन्ती से सनुग्र भगवती और देवों ने उसे आशीष दिया कि तुम पतिव्रता हो, हमारा वचन है कि जो तुम्हारे पतिव्रत भंग की चेष्टा करेगा वह भस्म हो जायेगा। देवादि धरती से छोड़ स्वर्ग गये और नल दमयन्ती परिणय का आनन्दोत्साह विदर्भपुरी में व्याप्त होने लगा।

—: * :—

पंचदश सर्ग

रत्नालङ्कृतिभिश्चमत्कृतिमती स्नानप्रमृष्टाकृति-
भैमी मातृभिरुत्सवप्रकृतिभि. सस्कृत्य सज्जीकृता ।
भूपोद्भामिव(?)श्रो नलोऽस्य विभवैश्चित्रोऽपि पीनो दृशा
स्त्रीभिस्तत्र जगाम कुण्डिननृपाहूतो विवाहोत्सुक: ॥

—श्रीकृष्णरामकविः

देव और भगवती सरस्वती नल-दमयन्ती को विभिन्न वर देते हुए अपने-अपने धाम गये और प्रसन्न नल स्तुतिरत बंदिजनों को स्वर्ण रत्न लुटाते अपने शिविर लौटे। अन्य राजाओं के चारणों ने नल की निंदा की कि यह बड़ा निर्लज्ज है, सभा में स्त्री मन्त्रण को प्रकटरूप में स्वीकार रहा है, भले ही वह सुन्दर हो, पर ऐसे व्यक्ति सुखी कहाँ होते हैं? किंतु प्रशंसक चारणों के उच्च स्वर के बीच नल के कानों में ये वचन नहीं पड़े। प्रसन्न होते विदर्भपति भीम ने

राजमहिषी को यह संवाद देकर उसकी उत्सुकता शांत की और रत्नाभूषणों से समलंकृत बेटी दमयन्ती को जामाता नल को अर्पित करने का समारंभ प्रस्तुत करने को कहा। मंगल गान होने लगे, लग्न शोधी गयी। नल को सूचित किया गया। उन्होंने सादर प्रस्ताव स्वीकार शीघ्र ही प्रसाद में पधारने का निश्चय सुना दिया। चौक पूरा गया; घर-घर, द्वार-द्वार मोतियों और मणियों से सजा दिये गये। प्रजा जन ने हर्ष से स्वभवनों को सजाया। वाद्य बजने लगे—झाल-मजीरे, वीणा-सितार, बाँसुरी, नगाड़े-पखावज। घन, तत, सुषिर और आनद्धवाद्य। दमयंती को कुलाचारानुसार स्नान कराया गया। उसने वस्त्रा-लंकार पहिने, श्रृंगार हुआ। काजल आलता लगा। गुरुजनों ने अशीष दिये। उधर नल के सेवकों ने उसका भी शृंगार किया। वस्त्र, आभूषण, चंदन-तिलक मंडित नल को देख प्रतीत होता था कि वे दिग्दिगंत-विजय के यश-प्रताप की वर्षा कर रहे हैं। रथारूढ नल राज-प्रासाद की ओर चले। प्रसन्नचित नाग-रिकाएँ वर-शोभा को देख-देख मग्न हो रही थीं। वे दमयन्ती के चुनाव को सराहने लगी। नल तो अद्वितीय है, इसके संमुख देवराज भी गण्य नहीं हैं। नल-दमयन्ती का मिलन यशस्वी और शुभ हो। और आनंदोत्सव से परिपूर्ण नगरी के मार्गों में नागरिकाओं को मोदमग्न करते नल विवाह-संस्कार के निमित्त राजप्रासाद की ओर बढ़ते चले।

—: * :—

षोडश सर्ग

भीमः श्रीनिषधेश्वरेण दुहितुः सम्पाद्य पाणिग्रहं
जन्यान्भक्तमभोजयदहसितं सौजन्यसिन्धुर्मुदा।
इत्थं तां परिणीय भीमभवने रात्रीरुषित्वा कति
प्रीतात्मा विलसंस्तया स निषधोद्देशान् प्रतस्थे नलः॥

—श्रीकृष्णरामकविः

श्रृंगार करके निषधराज नल मंगलाचार स्वीकारते पुरोहित ऋषि गौतम के नेतृत्व में अनेक रथियों के साथ रथारूढ हो भीमराज के महल की ओर चले। चामरधारिणी चँवर डुला रही थीं। उनकी वरयात्रा में अनेक राजा भी अपने दल-बल के साथ संमिलित थे। विदर्भराज की ओर से अनेक राजा अग-

वानी करके नल को शीघ्र लिवा ले गये और भीमराज के सुसज्जित द्वार पर नल और उनकी बारात जा पहुँची। बड़ा कोलाहल हुआ। दमयन्ती के भ्राता दमने विनीत भाव से अर्घ्य-पाद्यादि समर्पित कर नल का स्वागत-सत्कार किया और भुजा फैला कर भीमराज ने नल का इस प्रकार आलिंगन किया, जिस प्रकार तरंगमाली सागर गंगा-प्रवाह का आलिंगन करता है। विधि-विधान के साथ भीमराज ने अपनी शिवा नन्दिनी दमयन्ती पुरुषोत्तम नल को दे दी। मधुपर्क पान हुआ। पाणिग्रहणाचार संपन्न हुआ। दहेज में इतना धन, रत्न, हाथी-घोड़े दिये गये कि उनकी गणना संभव नहीं थी। ध्रुव-अरुन्धती-दर्शन कराये गये। बृहस्पतितुल्य वाग् विधि के ज्ञाता गौतम ऋषि ने भलीभाँति पौरोहित्य का निर्वाह किया। तदनन्तर वर वधु कौतुकागार (कोहबर) में प्रविष्ट हुए। बारातियों को बड़ी प्रसन्नता और हँसी-दिल्लगी से भाँति-भाँति के व्यञ्जनों से सम्पन्न भोजन कराया गया। हास परिहास, भोजन-पान कई दिनों तक होता रहा। अन्त में दमयन्ती की विदा हुई। पुत्री और गुणी अनुरूप जामाता का वियोग विषादकारी होता ही है। रोते हुए भीमराज ने दमयन्ती को शिक्षा दी कि आज से राजा नल ही तेरे सर्वस्व हैं। इन्हें ही आज से अपना सब कुछ मानना। सुखपूर्वक यात्रा करते दम्पती यथासमय अपनी नगरी में पहुँचे, जहाँ उनकी प्रतीक्षा हो रही थी। बड़ा स्वागत हुआ और नगर आनंदमग्न हो गयी। पौरकन्याओं की आचारलाजा वर्षा और देवों की पुष्पवृष्टि को सादर स्वीकारते नल दमयन्ती ने नव-निर्मित प्रासाद में प्रवेश किया।

—:०:—

सप्तदश सर्ग

लिप्सुर्भैम्सुता बलेन बलितः कूर्दन् करालः कलि-
भंगास्तत्र वृतस्तया नल इति प्रोक्तोऽपि देवैः पथि।
भैमी तर्हि वियोज्यामि नलतः पापी प्रतिज्ञाय हा
भ्राम्यन्नाप कथञ्चिदस्य निलयारामे बिभीतं दिभीः॥

— श्रीकृष्णरामकविः

नव विवाहित दम्पती नल-दमयन्ती के प्रासाद-प्रवेश के अनंतर चारों इन्द्रादि देवों ने धरती पर मारे-मारे फिरना व्यर्थ समझा। यद्यपि उनका पृथ्वी पर आना व्यर्थ हो गया था, तथापि दमयन्ती द्वारा नल का वरण उनके

विशेष विषाद का कारण नहीं बना। वे तेजोरूप देव अपने रत्नजटित विमानों पर यात्रा करते ऐसे प्रतीत हो रहे थे, जैसे कैलास के तटों पर सूर्य के अनेक प्रतिबिंब हों। मार्ग में व्यर्थ प्रयास देवों का भगवती सरस्वती ने वीणा बजा कर मनोरंजन किया। उन्हें एक भीड़ मिली। भीड़ के आगे आता काम दीखा, क्रोध, लोभ और मोह दीखे। उन्होंने वेद-विरोधी तथा नास्तिक शिरोमणि चार्वाक के वचन सुने, जिन्हें सुन कर चारों देव अत्यंत क्रुद्ध हुए। क्रमशः चारों देवों ने उसकी भर्त्सना की, जिस पर चार्वाक ने स्पष्टीकरण दिया कि अपराधी वह नहीं है, वह तो 'कलि' का चारण है, जो उसके विचारों का प्रवक्ता बन उसकी चापलूसी कर रहा है। और तभी देवों ने रथ में बैठे द्वापर और कलि को देखा। देवों के सहसा यों मार्ग में मिल जाने से पहिले तो कलि लज्जित और संकुचित हुआ, तदनंतर मदांध हो वह अवज्ञापूर्वक उनका कुशल-समाचार पूछ, परंपरा का निर्वाह करते हुए, कहने लगा कि उसे क्षमा करें, वह इस समय शीघ्रता में है और दमयन्ती को पाने निमित्त जा रहा है। देवों ने उससे कहा कि उसकी शीघ्रता व्यर्थ है, दमयन्ती-स्वयंवर समाप्त हो चुका है और नागों और देवों को असुन्दर और नीच तथा अन्य नरों को वानर समझते हुए निषधेश्वर नल का दमयन्ती ने वरण कर लिया है। यह सुनते ही कलि क्रोध से अन्धा हो उठा और उसने संपूर्ण देव समाज की भाँति-भाँति से भर्त्सना और निंदा की। उसने कहा कि दमयन्ती का यह कार्य अत्यंत अनुचित है। और तुम लोग भी विचित्र हो, जो नल पर कोप न कर मुझ पर ईर्ष्यालु हो रहे हो। मैं उस महापराधी नल को छल कर आज ही दमयन्ती को लाता हूँ और अच्छा हो कि हम-तुम पाँचों मिलकर उसका वैसे ही भोग करें, जैसा कि पाँच पाण्डव द्रौपदी का। तुम चारों मेरी इस कार्य में सहायता करो। इस पर भगवती सरस्वती ने उसे बहुत फटकारा, परंतु उस पर ध्यान न दे वह देवों से बोला कि मैं दमयन्ती का विचार तो छोड़ देता हूँ परंतु नल को भैमी और भूमि दोनों से वंचित कर उसे अवश्य पराजित करूँगा। कलि के साथी द्वापर ने उसका समर्थन किया। इन्द्र ने उन दोनों को इस अनौचित्य के लिए बहुत समझाया और शेष तीनों देवों ने भी इन्द्र का समर्थन किया और कलि और द्वापर को बताया कि तुम नल का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। इस पर कलि-

ने सबका बड़ा उपहास किया और बड़ा विवाद किया। अन्त में देव उस से विवाद करना व्यर्थ मान अपने गंतव्य पर बड़े और द्वापर के साथ कलि निषध-देश की ओर। जब कलि निषध-राजधानी में पहुँचा तो वेदपाठ, यज्ञ, श्राद्धतर्पण, बलि-विधान, गायत्री-आवाहन करते ब्राह्मण आदि को देख तथा असत्य, हिंसा, कलह आदि को न पा बड़ा खिन्न हुआ। कहीं आश्रय न पा एक उद्यान में कलि द्वापर पहुँचे। नल प्रासाद के निकट उन्होंने एक बहेड़े वृक्ष पर आश्रय लिया और अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। उधर नल-दमयन्ती आनन्दमग्न हो रहे थे।

—।*।—

अष्टादश सर्ग

इत्थं तामथ मेदिनीतलगचीमासाद्य सौधे महा-
रत्नस्फूर्जितकाञ्चनक्षितिभृति क्ष्मावक्रशक्रो नलः।
नक्तं यत्नवशीकृतां क्रमगलल्लज्जां कलाकोविदः
कन्दर्पोदधिपारलम्भनतरीमुच्चैर्मुदारीरमत् ॥

—श्रीकृष्णरामकविः

देव स्वर्ग गये। कलि अवसर की प्रतीक्षा में गृहोपवन में 'विभीतक' वृक्ष पर डेरा डाले रहा। और इधर आनन्द और प्रीति के सागर में आमग्न राजदंपती नल दमयन्ती अनेक रत्नों और मणियों से जटित काञ्चनगिरि सुमेरु से प्रतिस्पर्द्धा करते राजप्रासाद में शची और इन्द्र के तुल्य कामाराधना में तल्लीन हुए। क्रमशः धर्म-अर्थ को सिद्ध करके (मोक्षोपयुक्त धनत) पृथ्वी-मण्डल के इन्द्र राजा नल ने पृथ्वी की शची दमयन्ती को तृतीय पुरुषार्थ कामरूप समुद्र को पार करा देने वाला नौका के सदृश पाया और अपार उल्लास के साथ दिन-रात उद्दाम विलास-क्रीड़ा चलने लगी। धीरे-धीरे नवोढ़ा दमयन्ती की लज्जा पर बड़े यत्न और कलाकुशलता के साथ राजा नल ने जय-प्राप्ति की और परम तृप्ति के साथ उनका अभिरमण दोलायित होता रहा।

—:*:—

एकोनविंश सर्ग

प्रातर्बोधविधित्सवो रससुधावर्षाः सहर्षा जगु-
र्गाथा बोधकराः कराहृतकलातोद्या गृहोद्यानगाः ।
बुद्ध्वा प्राङ्निषधेश्वरः सुरसरित्स्नातो रथस्थः समा-
गच्छंस्तैरवलोकितो न तु पुनस्तन्निर्गमः सौधतः ।।

——श्रीकृष्णरामकविः

प्रासाद में नल-दमयन्ती सुखनिद्रा का आनन्द ले रहे थे कि रात्रि बुढ़ा गयी। प्रभात फूटने लगा और राजमहल में वैतालिकों की सरस वाणी में निषधराज को विबोध देने के निमित्त (जगाने के लिए) प्रभात-वर्णन होने लगा—'महाराज जयी हों, प्रभात सुषमा को निहार कर कृतार्थ करें। शय्या से उठकर प्रथममंगल रूपा विदर्भ कुमारी के मुखारविंद का अवलोकन कीजिए क्योंकि प्रियजन के मुखावलोकन से बड़ा कोई मंगल नहीं होता। प्रतीची दिशा को प्राप्त कर निस्तेज चंद्र को देख पूर्वा दिशा मुसकुरा उठी है। धीरे-धीरे सूर्य की किरणें गगनमंडल में व्याप्त हो रही हैं। पत्तों पर मोतियों को तिरस्कृत करतीं ओस की बूंदें दमक रही हैं। वेद-ध्वनि गूँज रही है। जागिए महाराज, हे तपोमय, प्रातःसंध्या आपका स्मरण कर रही है। हे मनस्विनि भीमसुते, जागो और स्वामी को समुद्यत बनाओ। सूर्य की किरणें आकाश को अरुण बना रही हैं......।'

प्रभातोद्बोधन देते वंदिजनों के संमुख प्रासाद के अंतःपुर की सहचरियों ने बहुमूल्य आभूषण ला रखे और उन्हें सूचित किया कि उनके प्रातर्बोधि से देवी (दमयन्ती) अत्यंत संतुष्ट हुई हैं और अपने शरीराभूषणों का प्रसाद-पारितोषिक में भेजा है। मणि-माणिक्यादि जड़े उन आभूषणों को प्राप्त कर वंदिजन कृतार्थ हो गये और उन अलंकारों को अपने अंगों पर पहिन लिया। और उन्होंने देखा कि महाराज नल तो गंगास्नान से निवृत्त हो यौतक में प्राप्त पुष्पक से भी अच्छे रथ पर चढ़कर लौटे आ रहे हैं। उन्हें ज्ञान ही नहीं हुआ कि महाराज कब जागे और कब प्रासाद से बाहर गये ?

—: * :—

विंश सर्ग

प्राप्ते राज्ञि पुरोगता वितरति स्वर्णाम्बुजन्मान्युरी-
कुर्वाणा नियमं समापयति सा मानं मनागाश्रिता ।
अङ्के कुर्वति लज्जिता सहचरीरुत्सार्य नीविस्पृशि
द्रागुत्थाय चचाल चालसगतिर्लोलन्नितम्बा बहिः ॥

—श्रीकृष्णरामकविः

मंदाकिनी स्नान करके लौटे महाराज नल ने पुनः प्रासाद में प्रवेश किया, जहाँ महारानी दमयन्ती ने, सागरलहरी जैसे चन्द्र का स्वागत करती है, वैसे ही, सहर्ष अगवानी की। महाराज ने उन्हें आकाश गंगा का स्वर्ण कमल उपहार में दिया। दमयन्ती ने उसे सादर स्वीकारा। क्षणिक वियोग से भी अनमनी हो जाती दमयन्ती से महाराज नल ने अग्निहोत्रादि अवशिष्ट कार्य-संपादन की आज्ञा चाही। क्षण भर का वियोग सहने में विरक्त दमयन्ती को लक्ष्य करके बिभीतक पर छिपे कलि ने मन ही मन कहा कि अरी मूर्खे, तू क्षण के वियोग से डरती है, मैं जल्दी ही तुझे लम्बा वियोग देनेवाला हूँ। दमयन्ती नल की छोड़ अपनी सखी के समीप चली गयी और राजा ने पूजा-अर्चना सविधि सपन्न की। तत्पश्चात् वे चुपचाप दमयन्ती के निकट पहुँचे और अपने हाथों से उसकी आँखें बंद कर लीं। अनुमान से दमयन्ती ने समझ लिया कि ये प्रिय के हाथ हैं और उन्हें छुड़ाकर वह चुपचाप बैठ गयी। नल ने प्रिया को मान-कुपिता समझा और वे उससे प्रत्येक प्रतिवचन कह मनाने लगे। वे अनेक प्रकार से मनाते दमयन्ती के निकट पर्यङ्क पर बैठ गये और दृढ़ालिंगन में उसे बाँध उसका चुंबन लिया और फिर दमयन्ती की कला नाम की सखी के माध्यम से उन्होंने अनेक प्रकार के राग रंग का व्यक्त करते प्रणय वचन कहे। इसी प्रसंग में चतुरा सखी ने रति-रंग के रहस्य जानने की इच्छा से महाराज नल से निवेदन किया कि महाराज नल को महारानी दमयन्ती कपट वेषधारी इन्द्र समझ रही हैं, क्योंकि वे मंदाकिनी स्नान करके आये हैं और स्वर्गंगा का स्वर्ण-कमल उपहारार्थ लाये हैं। महारानी को महाराज की वास्तविकता पर तब विश्वास होगा, जब वे कुछ ऐसा अप्रगट कह सुनायेंगे, जिसका ज्ञान केवल महारानी-महाराज को ही है। नल ने अनेक रात में सपन्न रति-रहस्य कह सुनाये। ऐसे ही रस-रंग प्रसंग में जब प्रणयाकुलता बढ़ गयी, तो संकेत से, व्याज से सखियों को बाहर भेज दिया गया। आलिंगन-चुंबन के पश्चात् जब नल ने नीविपर हाथ रखा तो महारानी उठकर बाहर चल दीं। मध्याह्न हो गया था और वंदिजन का मध्याह्न-आवाहन सुन कर महाराज ने तत्कालीन कृत्यों के निमित्त पर्यंक-त्याग किया।

—: * :—

एकविंश सर्ग

सौधाद्रिःसरते स्मितं विकिरते राज्ञां नमो गृह्णते
स्नात्वा त्र्यम्बकमर्चते मुररिपोः स्तोत्राण्यहो ग्रथ्नते ।
भुक्त्वा पर्यटते शनैः शतपदं भञ्चे प्रियामञ्चते
सायं वर्णयते नमांसि कल्ये तस्मै नलक्ष्माभृते ॥

—श्रीकृष्णरामकविः

महारानी दमयन्ती के प्रासाद से बाहर आते निषधाधिपति नल को अनेक नृपति प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने प्रणाम करते हुए अपने मुकुटों की मालाएँ मानो महाराज नल के मार्ग में बिछा दीं। प्रणत होते राजाओं पर स्मित-विकीर्ण कर महाराज ने उनका नमस्कार-ग्रहण किया। अनेक नृपतियों ने महाराज की सेवा में रत्नमणि भेंट किये। अंगुलि और भ्रूसंकेत मात्र से उन्हें स्वीकारते निषधराज ने तुरंत उनका उन्हीं में वितरण करा दिया। मध्याह्न-स्नान आरंभ हुआ। पहिले अनेक पीनपयोधरा तरुणी सुन्दरियों ने सुगंधि जल से उन्हें स्नान कराया पुनः पुरोहित ने तीर्थ जलों से उनका अभिषेक किया। स्नानोपरांत उचित वस्त्र-धारण कर, आचमन-प्राणायामादि करते हुए देव-मंदिर में सूर्य, महादेव त्रिपुरारि, रुद्र, विष्णुनारायण की अर्चना करते हुए उन्होंने देरतक उनके दशावतारों का ध्यान, नमन और स्तवन किया। अर्चना-पूजा से निवृत्त हो महाराज ने ब्राह्मणों को रत्न-स्वर्ण-गो-दानादि समर्पित किया और तत्पश्चात् भोजन किया और उनके भोजन करने के पश्चात् महारानी दमयन्ती ने भी भगवती गौरी आदि का पूजन कर भोजन किया। भोजनोपरांत राजा-रानी ने विश्राम किया। उस समय अनेक परिचारिकाएँ अनेक प्रकार से उनका मनोविनोद करने लगीं—शुक-कोकिल आदि का कलरव सुना कर, संगीत-योजना करके। दमयन्ती के पालित शुक ने अनेक-प्रकार से नल-दमयन्ती का गुण-गान किया। इतने में अपराह्न वेला बीत गयी और संध्या घिरने लगी। शुक के संकेत पर कृत्रिम रोष-सा प्रकट करतीं परिचारिकाएँ-सखियाँ बाहर चली गयीं। उच्च प्रासाद स्थित दमयन्ती ने क्रीड़ा-नदी के तट पर रात्रि-आगमन की संभावना कर वियुक्त होते चक्रवाकयुगल की ओर संकेत कर उसके विषय में नल का ध्यान आकृष्ट किया। दमयन्ती के सुधा-सम मधुर वचनों को सुन नल को अत्यंत हर्ष हुआ और वे अनेक विध प्रिय, चाटुवचनों से प्रिया को रिझाने लगे। नानाविध प्रशंसा और श्लाघा से प्रिया को प्रसन्न कर वे उसका ध्यान उसकी परिहास-कुशल सखियों के अन्वेषण की ओर लगा कर, इस व्याज से सायं विधि संपादनार्थ प्रासाद के बाहर चले गये।

॥ श्रीः ॥

नैषधीयचरितम्

'जीवातु' 'चन्द्रिका' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्



द्वादशः सर्गः

प्रियाह्रियाऽऽलम्ब्य विलम्बमाविला विलासिनः कुण्डिनमण्डनायितम् ।
समाजमाजग्मुरथो रथोत्तमाः समासमुद्रादपरे परे नृपाः ॥ १ ॥

जीवातु—अथास्मिन्नवसरे पुनरन्ये राजानः समायाता इत्याह—प्रियेति । अथो अनन्तरं 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः । प्रियाभ्यः, स्वकान्ताभ्यः, या ह्रीः लज्जा, तासामकृत्रिमानुरागे कपटदाक्षिण्यप्रदर्शनमिति यावत्, तया विलम्बम् आलम्ब्य आविलाः कलुषाः, आलोडितहृदया इत्यर्थः, व्यग्राः इति यावत्, विलासिनो विलसनशीलाः, 'वौ कषलसकत्थस्रम्भ-'इति घिणुन्-प्रत्ययः रथसत्तमाः रथोत्तमाः महारथाः; एतेन विलम्बे जातेऽपि शीघ्रगमनं सूचितम्; परे श्रेष्ठाः, अपरे अन्ये, नृपाः आसमुद्रात् समुद्रपर्यन्तात् 'अपादानात्' कुण्डिनस्य कुण्डिननामनगरस्य, मण्डनायितम् अलङ्कारभूतं, मण्डनशब्दादाचारक्यङन्तात् कर्त्तरि क्तः, तं समाजं राजसभाम्, आजग्मुः आपुः । अत्र विलाविलेत्यादौ माजमाजेत्यादौ च नियमेन सकृत् व्यञ्जनयुग्मावृत्त्या छेकानुप्रासः, अन्यत्रानियमात् वृत्त्यनुप्रासः इत्युभयोः संसृष्टिः । 'सङ्ख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः, अन्यथा वृत्त्यनुप्रासः' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथो प्रियाह्रिया विलम्बम् आलम्ब्य आविलाः विलासिनः रथोत्तमाः परे अपरे नृपाः आसमुद्रात् कुण्डिनमण्डनायितं तं समाजम् आजग्मुः ।

हिन्दी—और फिर अपनी-अपनी प्रियाओं के प्रति लज्जा के कारण विलम्ब के साथ आ सकने से व्याकुल, शृंगार भंगिमाओं से समन्वित-विलासी, महारथी, श्रेष्ठ अन्य नरेश सुदूर देशों से कुण्डिनपुर के आभूषण उस स्वयंवर समाज में आये ।

टिप्पणी—एकादश सर्ग में वर्णित राजाओं के अतिरिक्त देश देश से राजगण स्वयंवर में आये थे—कुछ विलम्ब से । यह विलम्ब कुछ तो दूर से

आने के कारण हुआ था और कुछ अपनी-अपनी प्रियाओं के अकृत्रिम अनुराग के कारण। अपने दाक्षिण्य की रक्षा भी तो इन नरेशों को करनी थी, सो त्वरा-प्रदर्शन कैसे करते ? वे विलासशोभा से आमंडित थे; श्रेष्ठ, महारथी वीर, किन्तु विलम्ब से पहुँचने के कारण बहुत आशान्वित नहीं थे। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ 'विलाविल', 'माजमाज' इत्यादि में सकृत्-व्यञ्जनयुग्म की आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास है और अन्यत्र अनियम के कारण वृत्त्यनुप्रास। इस प्रकार दोनों अनुप्रासों की संसृष्टि है। नारायण ने आसमुद्रात् + अपरे + अपरे पदच्छेद करके अन्वय किया है। अपरे-अपरे अर्थात् और-और नृप। उसके अनुसार यह वीप्सा में द्विरुक्ति है—'अपरे-अपरे वीप्सायां द्विरुक्तिः।' श्लोक १–८ में वंशस्थ छन्द ॥ १ ॥

ततः स भैम्या ववृते वृते नृपैर्विनिःश्वसद्भिः सदसि स्वयंवरः ।
चिरागतैस्तर्कितत्तद्विरागितैः स्फुरद्भिरानन्दमहार्णवैर्नवैः ॥ २ ॥

जीवातु—तत इति। ततो राजान्तरागमनानन्तरं तर्किता तद्विरागिता भैमीवैराग्यं यैस्तैर्निश्चितभैम्यपरागैः, अत एव विनिःश्वसद्भिः विषादात् दीर्घं निःश्वसद्भिः, चिरागतैः पूर्वागतैः, नृपैः, तथा स्फुरद्भिः स्फूर्तिमापद्यमानैः, हर्षाधिक्यात् प्रसन्नमुखाकारैरित्यर्थः, आनन्दमहार्णवैः यतः पूर्वागता नृपा न वृताः, ततः समागतानस्मान् दमयन्ती नियतं वरिष्यतीति निश्चित्य परमानन्दभरितैः, नवैः तत्कालागतैः, नृपैः तपूर्णे, सदसि सः प्रकृतः, स्वयंवरः ववृते प्रवृत्तः ॥ २ ॥

अन्वयः—ततः तर्कितत्तद्विरागितैः विनिःश्वसद्भिः चिरागतैः नृपैः स्फुरद्भिः आनन्दमहार्णवैः नवैः वृते सदसि सः स्वयंवरः ववृते।

हिन्दी—तत्पश्चात् (नये राजाओं के आने के अनन्तर) उस (दमयन्ती) की (उनके प्रति) अरुचि जिनके (विषाद के कारण) दीर्घोच्छ्वास लेने से समझ ली गयी है, ऐसे पहिले आये राजाओं को देख स्फूर्ति को प्राप्त होते, आनन्द के महासागर (विशेषोल्लसित) नवीन (नृपों) से पूर्ण हो जाने पर सभा में वह (पूर्वारब्ध) स्वयंवर पुनः प्रवृत्त हुआ।

टिप्पणी—विलम्ब से आये नृपगण आरम्भ में आशान्वित नहीं थे, परन्तु सभा में पहुँच कर जब उन्होंने पाया कि उनसे पहिले पहुँचे नरेश लम्बी-लम्बी

साँसें भर रहे हैं तो वे समझ गये ये सब दमयन्ती द्वारा अस्वीकृत हो चुके हैं अतः निराश हैं। ऐसी स्थिति में नये राजा आशान्वित हुए कि कदाचित् दमयन्ती उन्हें वरेगी, क्योंकि पूर्वागतों के प्रति तो अरुचि दिखा चुकी। वे हर्षोल्लास से पूर्ण हो गये। और स्वयंवर का क्रिया-कलाप पुनः चलने लगा।२।

चलत्पदस्तत्पदयन्त्रणेङ्गितस्फुटाशयामासयति स्म राजके ।
श्रमं गता यानगतावपीयमित्युदीर्य धुर्यः कपटाज्जनीं जनः ॥ ३ ॥

जीवातु—चलदिति । चलत्पदः क्वचित् स्थितिकालेऽप्युत्तमाङ्गवयदेकत्रानवस्थितचरणः, इति भारवाहिकस्वभावोक्तिः, धुरं वहतीति धुर्यो जनः शिविकावाहिजनः, 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्-प्रत्ययः, तस्या भैम्याः, पदयन्त्रणेङ्गितेन पदेन शिविकापटान्तर्वर्तिचरणेन, यत् यन्त्रणं धुर्यजनस्य पीडनं, तदेव इङ्गितम् अवस्थापनार्थं हृद्गतभावः तेन, स्फुटः आशयः राजदर्शनार्थम् उपवेशनाभिप्रायो यस्यास्तां, जनीं वधूं दमयन्तीं 'जनी सीमन्तिनीवध्वोः' इति विश्वः, इयं बाला दमयन्ती, यानेन गतावपि गमने कृतेऽपि, श्रमं गता श्रान्ता, इति उदीर्य कपटात् श्रमव्याजात्, राजके राजसमूहमध्ये, आसयति स्म उपवेशयामास, णिजन्तास्-धातोः स्मेन योगेऽतीते लट् ॥ ३ ॥

अन्वयः—चलत्पदः धुर्यः तत्पदयन्त्रणेङ्गितस्फुटाशयां जनीम् 'इयं यानगतौ अपि श्रमं गता'—इति उदीर्य कपटात् राजके आसयति स्म ।

हिन्दी—चंचल पैरों वाले शिविकावाही जन ने जिस (दमयन्ती) के चरण की धीमी ठोकर के संकेत से आशय स्पष्ट हो गया है, ऐसी स्वयंवरा (दमयन्ती) को राजसमूह में यह बहाना बता कर स्थापित कर दिया कि यह (दमयन्ती) सवारी (शिविका) में चलकर भी थक गयी है।

टिप्पणी—आगे जाते शिविकावाहियों ने धीरे से दमयन्ती के पैर की ठोक पाकर उसका संकेत समझ लिया कि राजकुमारी अब नवागत नृपों को देखना चाहती हैं। उसका अभिप्राय समझ उन्होंने पालकी को नवनृप-समूह में रख दिया यह बहाना करते हुए कि पालकी में चलती-चलती राजकुमारी थक गयी हैं और वे कुछ विश्राम चाहती हैं ॥ ३ ॥

नृपानुपक्रम्य विभूषितासनान् सनातनी सा सुपुवे सरस्वती ।
विगाहमारभ्य सरस्वतीं सुधासरस्वनीवार्द्रतनूर्नूत्थिता ॥ ४ ॥

जीवातु—नृपानिति । सनातनी चिरन्तनी, सना-शब्दात् 'सायंचिरम्—' इत्यादिना ट्यु-प्रत्यये ङीप्, सा सरस्वती वाग्देवता विभूषितासनान् अलङ्कृतसिंहासनान्, सिंहासनोपविष्टान् इत्यर्थः, नृपान् उपक्रम्य उद्दिश्य, सुधासरःसु अमृतसरसीसु, विगाहम् आरभ्य अवगाह प्राप्य, अनु पश्चात्, अविलम्बेनेत्यर्थं, उत्थिता: तस्मान्निर्गता:, अत एव अतीवार्द्रतनु अमृतार्द्रस्वाङ्गा, सर्वाङ्गैरमृतवर्षिणीरित्यर्थं, सरस्वतीगिर, सुपुवे उवाच। अत्र उत्प्रेक्षावाचकेवादिप्रयोगाभावात्, गम्योत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥

अन्वय—सनातनी सा सरस्वती विभूषितासनान् नृपान् उपक्रम्य सुधासरःसु विगाहम् आरभ्य अनु उत्थिता: अतीव आर्द्रतनु सरस्वती सुपुवे ।

हिन्दी—नित्य चिरतनी वे (वाग्देवी) सरस्वती आसनों को अलकृत करते (आसनों पर बैठे) राजाओं का उद्देश्य करके अमृत-सागरो में स्नान करने के पश्चात् उनमे से निकली (अतएव) अत्यन्त गीले शरीर वाली (अत्यन्त मधुर) वाणी बोली ।

टिप्पणी—और पहिले के सदृश सनातनी वाग्देवता ने अत्यन्त मधुरवाणी में इन नवागत नृपों का परिचय देने का उपक्रम किया । उत्प्रेक्षा वाचक इवादि का प्रयोग न होने से मल्लिनाथ के अनुसार गम्योत्प्रेक्षा अलंकार है ॥४॥

वृणाष्व वर्णेन सुवर्णकेतकीप्रसूनपर्णादृतुपर्णमादृतम् ।
निजामयोध्यामपि पावनीमयं भवन्मयो ध्यायति नावनीपति ॥ ५ ॥

जीवातु—वृणीष्वेति । वर्णेन अङ्गकान्त्या, सुवर्णकेतकीप्रसूनस्य पर्णाद् दलाद्, अपीति शेष, आदृत ततोऽप्यधिकस्पृहणीयम्, ऋतुपर्णम् ऋतुपर्णाख्य नृप, वृणीष्व । अय अवनीपति पृथिवीश, भवती एव भवन्मयस्त्वदात्मक: सन्, स्वार्थे मयट्प्रत्यय. । सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव , पावनी पवित्रकारिणी, निजा स्वायत्ता, पुरुषपरम्परागतामिति यावत्, अयोध्याम् अयोध्यानगरीमपि, मुक्तिदायिनी पुरीमपीति भाव , न ध्यायति न चिन्तयति; परमानन्दस्वरूपत्वात् तव प्राप्तिर्मुक्त्यपेक्षयाऽधिकादरविषयस्यत. त्वय्यधिकमनुरक्तोऽयम्, एनं वृणीष्वेति भाव ॥ ५ ॥

अन्वयः—वर्णेन सुवर्णकेतकीप्रसूनपर्णात् आदृतम् ऋतुपर्णं वृणीष्व, भवन्मयः अयम् अवनीपतिः निजां पावनीम् अयोध्याम् अपि न ध्यायति।

हिन्दी—गोरे रंग के कारण स्वर्ण केतकी के फूल के पत्ते से अधिक स्पृहणीय ऋतुपर्ण (नामके राजा) का वरण करो; तुम्हारे (दमयन्ती के) प्रति एकतान मन रखता (एकमात्र दमयन्ती का चिन्तन करता) यह पृथ्वी का स्वामी अपनी पवित्र अयोध्यापुरी का भी ध्यान नहीं करता।

टिप्पणी—भगवती ने अयोध्यानरेश ऋतुपर्ण के दो गुण स्पष्ट किये—(१) यह अत्यन्त गौर है, सुवर्ण-केतकी के फूल-पत्ते भी जिसके संमुख नगण्य हैं और (२) यह 'भवन्मय' है, दमयन्ती के चिन्तन में इतना लीन हो गया है कि मुक्तिकामना से जिस नगरी अयोध्या का स्मरण किया जाता है, उस अपनी अयोध्यापुरी का भी 'त्वदेकतानचित्त' हो ध्यान नहीं करता। भाव यह कि मुक्ति की तुलना में अयोध्यापति को दमयन्ती अधिक काम्य है। अयोध्या की गणना मोक्षदायिका पुरियों में प्रथम है। अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवन्तिका और द्वारका—ये सात पुरी मोक्ष-दायिका मानी जाती हैं। ऐसा अनुरागी पति मिले इसलिए ऋतुपर्ण का वरण उचित है ॥ ५ ॥

न पीयतां नाम चकोरजिह्वया कथञ्चिदेतन्मुखचन्द्रचन्द्रिका।
इमां किमाचामयसे न चक्षुषी ? चिरं चकोरस्य भवन्मुखस्पृशी ॥ ६ ॥

जीवातु—नेति। एतन्मुखचन्द्रचन्द्रिका एतस्य ऋतुपर्णस्य, मुखमेव चन्द्रस्तस्य चन्द्रिका प्रसन्नतारूपा, ज्योत्स्ना, चकोरस्य जिह्वया कथञ्चिदपि न पीयतां नाम चकोरजिह्वया सत्यचन्द्रचन्द्रिकैव पीयते इयन्तु अलीकमुखचन्द्रचन्द्रिकेति पातुमशक्यत्वादिति भावः, तथाऽपि भवन्मुखस्पृशी भवन्मुखवर्तिनी, स्वच्चक्षुरात्मना परिणते इत्यर्थः, 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' चकोरस्य चक्षुषी, कर्मणी, इमाम् एतन्मुखचन्द्रचन्द्रिकां; किं चिरं न आचामयसे ? न पाययसे ? चक्षुषा एतन्मुखचन्द्रचन्द्रिकां किमिति न पीयते ? किमित्येनं न पश्यसीत्यर्थः। अत्राचमेः प्रत्यवसानार्थत्वात् 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना चक्षुषोरणिकर्त्तुः कर्मत्वं 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' इति चमेर्णिचि परस्मैपदनियमात्, किन्तु 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति परिभाषया अत्र परस्मैपदं न भवतीति, अत्र भवन्मुखस्पृशीः

चकोरचक्षुषो, विषयनिगरणेन भैमीचकोरचक्षुषो अभेदप्रतीतेः भेदे अभेदलक्षणातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ६ ॥

अन्वय—एतन्मुखचन्द्रचन्द्रिका चकोरजिह्वया कथञ्चित् न पीयतां नाम, भवन्मुखसृधी चकोरस्य चक्षुषी इमां चिरं किं न आचामयसे ?

हिन्दी—इस (अयोध्यापति) के मुख-चन्द्र की चाँदनी चकोर की जिह्वा द्वारा किसी प्रकार न पी जा सके (ठीक है); किन्तु तुम्हारे (दमयन्ती के) मुख की सेवा में तत्पर जो चकोर के नेत्र हैं, उन्हें इस (अयोध्यानरेश के मुखचन्द्र की चन्द्रिका) का चिरकाल तक आचमन क्यों नहीं कराती ?

टिप्पणी—कवि यहाँ यह कहना चाहता है कि अयोध्यापति ऋतुपर्ण का मुख चन्द्र के समान है और दमयन्ती का मुख कदाचित् चन्द्रमा से भी रम्य है तथा उसके नेत्र चकोर-नेत्र से अधिक सुन्दर हैं। इसको जिस विशिष्ट भंगिमा से कहा गया है, उसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। अयोध्यापति के मुख-चन्द्र की चाँदनी का पान चकोर की जिह्वा इसलिए नहीं कर सकती, क्योंकि वह मुख-चन्द्र की चाँदनी है, मिथ्या चन्द्रिका, वास्तविक चाँदनी नहीं और चकोर-जिह्वा मिथ्या-चन्द्रिका का पान नहीं करती। इसमें किसी को आपत्ति भी नहीं करनी चाहिए। किन्तु दमयन्ती के मुख-चन्द्र से सम्बद्ध जो नेत्र हैं, वे भी चकोर ही हैं। उन्हें दमयन्ती क्यों नहीं ऋतुपर्ण-मुख-चन्द्र-चन्द्रिका का पान करने देती ? अलीक-मुख-चन्द्र-चन्द्रिका का पान चकोर पक्षी भले ही न करे, दमयन्ती के चकोर-नेत्र राजा ऋतुपर्ण का रमणीय मुख चन्द्र क्यों न निहारें ? अथवा चकोर की जीभ ने तो दमयन्ती-मुख-चन्द्र स्पर्श किया नहीं, अतः इस वर्णनातीत ऋतुपर्ण-मुख-चन्द्र की चाँदनी का पान वह नहीं कर सकती, परन्तु दमयन्ती के नेत्र-चकोरों ने उसके चन्द्र से भी श्रेष्ठ मुख की सेवा की है, सो वे 'भवन्मुखसृधी' नेत्र-चकोर ऋतुपर्ण-मुख-चन्द्र चन्द्रिका का पान क्यों न करें ? दमयन्ती के नेत्र-चकोरों ने चिरकाल तक उसके उत्तम मुख-चन्द्र की सेवा की है, सो उन्हें चिरकाल तक इस चन्द्रिका-पान का आनन्द मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त चकोर की जिह्वा तो छोटी-सी है, ऋतुपर्ण-मुख-चन्द्र-चन्द्रिका तो अत्यन्त प्रभूत है, सो छोटी

जीम कैसे प्रभूत का पान कर सकती है ? दमयन्ती के नेत्र विशाल हैं, वे पान करने में समर्थ हैं। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋतुपर्ण अत्यन्त सुन्दर है, उसके मुखचन्द्र का अवलोकन सुन्दरतम दमयन्ती-नेत्रों को प्राप्त हो, इसलिए ऋतुपर्ण का वरण दमयन्ती को करना युक्तियुक्त है। यहाँ विषय निवारण द्वारा दमयन्ती के नेत्र और चकोर-चक्षु में अभेद की प्रतीति करायी गयी है, इस आधार पर मल्लिनाथ के अनुसार भेद में अभेद रूपा अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ ६ ॥

अपां विहारे तव हारविभ्रमं करोतु नीरे पृषदुत्करस्तरन् ।
कठोरपीनोच्चकुचद्वयीतटे त्रुटत्तरः सारवसारवोर्मिजः ॥ ७ ॥

जीवातु—अपामिति। हे भैमि! तव अपां विहारे अनेन सह जलक्रीडायां, जलक्रीडाकाले इत्यर्थः, नीरे जले, तरन् प्लवमानः, सारवेषु आरवसहितेषु, सारवेषु सरयूभवेषु, ऊर्मिषु जातः 'देविकायां सरय्वाञ्च भवे दाविकसारवौ' इत्यमरः। 'दाण्डिनायन—' इत्यादिना निपातनात् साधुः, पृषदुत्करो जलबिन्दुसन्दोहः, कठोरे कठिने, पीने पीवरे, उच्चे उन्नते, कुचद्वयीतटे त्रुटत्तरः विशीर्यमाणः सन्, त्रुटदिति तौदादिकत्रुटधातोः शतरि, हारविभ्रमं मुक्ताहारभ्रान्तिं, करोतु जलक्रीडावशात् विच्छिन्नस्तव मुक्ताहार इव शोभमानः सन् पश्यतो लोकस्य भैमीहारच्छिन्नः किमयमिति भ्रान्तिं जनयतु इति भावः। भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ७ ॥

अन्वयः—तव अपां विहारे नीरे तरन् सारवसारवोर्मिजः पृषदुत्करः कठोरपीनोच्चकुचद्वयीतटे त्रुटत्तरः हारविभ्रमं करोतु।

हिन्दी—तेरे (दमयन्ती के) जल में विहार करते समय जल पर तैरता, कलकलरव करती सरयू की लहरों से उत्पन्न जल-बिन्दु-समूह कठोर, स्थूल और उन्नत स्तनयुग्म-परिसर में टकराकर बिखर-बिखर जाते मुक्ताहार का विभ्रम करे।

टिप्पणी जलविहार का वर्णन, जिसमें सरयूविहारिणी दमयन्ती के कुचयुगल को नदी-तट की शिला-सा कठिन, पीन और उच्च बताते हुए टकराती लहरों के बिन्दुओं की टूटते मुक्ताहार के मोतियों के रूप में उद्भावना की गयी। लहरें मुक्तादाम हैं, वे टकराती हैं पीनोन्नतकठोर दमयन्ती कुचतटी से और बिन्दु मुक्ता टूट-टूट कर बिखर जाते हैं। मल्लिनाथ के

अनुसार भ्रातिमत् अलकार है। नारायणी टीका मे 'विहारे' का 'विगतहारे' (हाररहितप्रदेश) अर्थ करके विगतहार देश में हारविभ्रम—यह विरोध कहा गया है, जिसका परिहार 'विहार' का अर्थ विलास करके हो जाता है। नारायण ने 'पृषद्गुरुः' का अर्थ 'हरिण-सघ' करके भी विरोध-परिहार दिखाया है। विहार अर्थात् क्रीडाप्रदेश मे हरिण क्रीडा करें, यह ठीक ही है। भाव यह है कि सरयू म जल-विहार यदि अपेक्षित है तो ऋतुपर्ण वरण योग्य है ॥ ७ ॥

अखानि सिन्धुः समपूरि गङ्गया कुले किलास्य प्रसभं स भत्स्यते।
विलङ्घ्यते चास्य यशःशतैरहो! सतां महत्सम्मुखधावि पौरुषम् ॥८॥

जीवातु—अखानीति। अस्य ऋतुपर्णस्य, कुले वंशे, जातै. सगरसुतैरिति शेष सिन्धु उदधि, अखानि खात, खनते. कर्मणि लुङ्, इन्द्रहृतयज्ञीयाश्वान्वेषणार्थं पातालपर्यन्त खनित्वा उत्पादित इत्यर्थः, तथा स सिन्धु, गङ्गया भागीरथ्या, समपूरि पूरितः, अस्य कुले जातेन भगीरथेनेति भाव, पातालस्थकपिलमुनिशापदग्धाना तेषा सगरसुतानामुद्धारार्थं तद्वंश्योद्भूतेन भगीरथेनानीतया गङ्गया स सागर. पूर्ण. कृत इति निष्कर्ष। तथा स सिन्धु, प्रसभ-बलात्कारेण भत्स्यते एतत्कुल्येनैव रामेण बद्ध करिष्यते इति भाव.; कर्मणि लृट्, कृतयुगापेक्षया त्रेतायां भावित्वात् भविष्यत्प्रयोगः किलेति पुराणप्रसिद्धमेतत्। इदानीं स सागर अस्य ऋतुपर्णस्य, यश शतैर्विलङ्घ्यते च। नन्वेतत्कुले सम्भूता, सर्वे समुद्रमेव पौरुषस्य प्रतिपक्षता किमिति कृतवन्त इति शङ्कामुक्तित्वेन निरायरोति, सतामित्यादिना। तथा हि, सतां सज्जनानां, पौरुष महता सम्मुख धावति प्रसरतीति महत्सम्मुखधावि, सतामेव स्वभाव यत् तथा पौरुषविक्रमादि महान्तमेवानमति न तु क्षुद्रमिति भावः। अत्रार्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥८॥

अन्वयः—अस्य कुले सिन्धुः अखानि, गङ्गया समपूरि, स. प्रसभ भत्स्यते किल, अस्य यश शतैः च विलङ्घ्यते, अहो, सतां पौरुष महत्सम्मुखधावि।

हिन्दी—इस (अयोध्यापति) के वंश मे (पूर्वज-सगर पुत्रो द्वारा) समुद्र खोदा गया, गङ्गा से (भगीरथ द्वारा) पूर्ण किया गया, वह बलात् (त्रेता मे श्रीराम द्वारा) बाँधा जायेगा—यह पुराण-प्रसिद्ध है, (इस समय) इस (ऋतुपर्ण) के अनेक कीर्ति कार्यों से पार किया जा रहा है। अरे सज्जनो का पुरुषार्थ बडो के सम्मुख दौडा आता ही है।

टिप्पणी—ऋतुपर्ण अत्यन्त यशस्वी है, उसके पूर्वज भी ऐसे ही पुरुषार्थी, यशस्वी थे, आगे भी होंगे। भूत-भावी वंश परम्परा महान् ऐतिहासिक कृत्यों से अपूर्ण है इस राजा ऋतुपर्ण की। इसके पूर्वज थे सगरसुत, जिन्होंने इन्द्र द्वारा हरे गये अश्वमेध-यज्ञ के अश्व को ढूंढने में पाताल खोद डाला, जो बाद में 'सागर' कहाया। इसी सागर को भगीरथ ने गंगा के पुण्य जल से पूर्ण किया। इस समय यह अपने महान् कृत्यों के कारण समुद्र-पारगामी यश का अर्जन कर रहा है। आगे चल कर श्रीराम इसी के वंश में होंगे जो समुद्र पर सेतु बाँधेंगे। पीढ़ी-दर-पीढ़ी का समुद्र से सम्बन्ध है ऋतुपर्ण का। सज्जनों का पौरुष महत्ता प्राप्त करता ही है, जब कि वह क्षुद्रों की उपेक्षा करता है। ऐसी श्रेष्ठ कुलपरम्परा के व्यक्ति का वरण उचित ही है। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास अलंकार है॥ ८॥

एतद्यशःक्षीरधिपूरगाहि पतत्यगाधे वचनं कवीनाम्।
एतद्गुणानां गणनाङ्कपातः प्रत्यर्थिकीर्त्तीः खटिकाः क्षिणोति॥ ९॥

जीवातु—एतदिति। एतस्य राज्ञः, यश एव क्षीरधिः क्षीराब्धिः, तस्य पूरं प्रवाहं, गाहते इति तद्गाहि तद्वर्णनप्रवृत्तमित्यर्थः, कवीनां वचनम् अगाधे असीमे, अतलस्पर्शे स्थाने इत्यर्थः, पतति निमज्जति, न त्वस्य यशः निःशेषं वर्णयितुं शक्नोतीत्यर्थः। किञ्च एतद्गुणानाम् अस्य नृपतेः शौर्यादिगुणानां, गणनाङ्कपातः सङ्ख्यानरेखाविन्यासः, प्रत्यर्थिकीर्त्तीः शत्रुयशांसि एव, खटिकाः लेखनार्थकठिनीः क्षिणोति कर्शयति, एतद्गुणवृद्धेः प्रत्यर्थिकीर्तितिरोधायकत्वादित्थं निर्देशः। अत्र रूपकानुप्राणितातिशयोक्त्यलङ्कारः॥ ९॥

अन्वयः—एतद्यशःक्षीरधिपूरगाहि कवीनां वचनम् अगाधे पतति; एतद्गुणानां गणनाङ्कपातः प्रत्यर्थिकीर्त्तीः खटिकाः क्षिणोति।

हिन्दी—इस (अयोध्या नरेश) के कीर्तिरूप दुग्धसागर के प्रवाह का अवगाहन करनेवाला कवियों का वचन अतलस्पर्शी गहरे स्थान में जा गिरता है और इसके (शौर्यादि) गुणों की गणना के निमित्त अंक लिखना वैरियों की कीर्तिरूप खरिया का क्षय करता है।

टिप्पणी—कोई व्यक्ति यदि अत्यन्त गहरे में स्नान करेगा तो उसका डूब जाना ही अधिक संभाव्य है। जब कविवचन ऋतुपर्ण के अगाध यशःक्षीर-समुद्र में स्नान करेंगे तो उसकी अतलस्पर्शिणी गहराई में डूबेंगे ही। भाव यह

कि ऋतुपर्ण के उज्ज्वल यश का वर्णन कवि सामर्थ्य की बात नहीं है—वर्णनागम्य है इसका यश। ऐसे ही इसके गुण इतने अधिक हैं कि उनकी गणना सम्भव नहीं। लिखने में खरिया नष्ट होती ही है। शत्रुओं की कीर्ति इनके गुणों के समक्ष प्रतिभासित नहीं होती। मल्लिनाथ के अनुसार रूपकानुप्राणित अतिशयोक्ति अलंकार और उपजाति छन्द है॥ ९॥

भास्वद्वंशकरीरतां दधदयं वीरः कथं कथ्यताम्?
　अभ्युद्राप्यपि हि कोटिरस्य समरे रोमाणि सत्त्वाङ्कुराः।
नीतः संयति बन्दिभिः श्रुतिपथं यन्नामवर्णावली-
　मन्त्रः स्तम्भयति प्रतिक्षितिभृतां दोःस्तम्भकुम्भीनसान्॥ १०॥

जीवातु--भास्वदिति। भास्वद्वंशकरीरतां सूर्यकुलाङ्कुरत्वम् उज्ज्वलवेणवङ्कुरत्वञ्च, दधत् अतितेजस्वी 'द्वौ वंशौ कुलमस्करौ' 'वंशाङ्कुरे करीरोऽस्त्री' इति चामरः, वीरः शूरः, अयमृतुपर्णः, कथं कथ्यताम्? वर्ण्यताम्? कथयितुमशक्य इत्यर्थः, तथा हि समरे युद्धकाले युद्धक्षेत्रे वा, अस्य राज्ञः अभ्युद्रा सार्द्धत्रिसङ्ख्याविशिष्टा कोटिः, सार्द्धत्रयकोटिरित्यर्थः, अभ्युद्रेति सार्द्धत्रयस्य संज्ञा, 'तिस्रः कोटयोऽर्द्धकोटी च यानि रोमाणि मानवे' इत्यादि स्मरणात्। 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः सङ्ख्येयसङ्ख्ययोः' इति सङ्ख्येयेऽप्येकवचनम्, रोमाणि शरीरस्थानि तनूरुहाणि, सत्त्वं व्यवसायः, उत्साहिवीरस्य स्थायिभावः, तस्य अङ्कुराः इवाङ्कुराः बहिरुद्गताः वीररसाङ्कुराः इत्युत्प्रेक्षा 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः, वंशकरीरस्य समन्तात् लोमवदङ्कुरप्रादुर्भावो युक्त इत्यर्थः, अत एव संयति युद्धे, बन्दिभिर्वैतालिकैः, श्रुतिपथं कर्णपथं नीतः श्रावित इत्यर्थः, यस्य ऋतुपर्णस्य, नामवर्णावली ऋतुपर्णेति नामाक्षरपङ्क्तिरेव, मन्त्रः प्रतिक्षितिभृतां शत्रुभूपानां दोःस्तम्भा एव कुम्भीनसाः क्रूरसर्पाः, क्रौर्याद् दैर्घ्याच्च इति भावः, तान्, 'कुम्भीनसः क्रूरसर्पे' इति मेदिनी, स्तम्भयति प्रतिबध्नाति, सर्पा हि मान्त्रिककृतगारुडमन्त्रोच्चारणेन यथा स्तम्भिता भवन्ति तद्वदेतन्नाममन्त्राकर्णनात् भीतानां शत्रूणां बाहवो युद्धाय न प्रसरन्तीति भावः॥१०॥

अन्वयः—भास्वद्वंशकरीरतां दधत् अयं वीरः कथं कथ्यताम् हि समरे अस्य अभ्युद्रा अपि कोटिः रोमाणि सत्त्वाङ्कुराः? संयति बन्दिभिः श्रुतिपथं नीतः यन्नामवर्णावलीमन्त्रः प्रतिक्षितिभृतां दोःस्तम्भकुम्भीनसान् स्तम्भयति।

हिन्दी—सूर्यकुलरूपवंश (बांस) के अङ्कुरभाव को धारण करते इस वीर (ऋतुपर्ण) का वर्णन किस प्रकार किया जाय, क्योंकि युद्ध में इसके साढ़े तीन करोड़ भी रोम वंश के वीररसोल्लेक—सत्त्व के अंकुर हैं ? संग्राम में चारण-भाटों द्वारा कर्ण-मार्ग में लाया गया (सुनाया गया) जिस (अयोध्यापति) के नाम की अक्षरपंक्ति-(ऋ, तु, प, र्ण)-रूप मंत्र रिपु-भूपतियों के भुजस्तंभरूप क्रूरसर्पों को स्तब्ध करदेता है।

टिप्पणी—भाव यह है कि राजा ऋतुपर्ण तेजोरूप सूर्यवंश में उत्पन्न हुआ है, अतएव ऐसा तेजस्वी वीर है कि जिसकी वीरता और प्रताप का वर्णन संभव नहीं है। समरभूमि में इसके शरीर के संपूर्ण रोम (माना जाता है कि मानव देह में साढ़े तीन करोड़ रोम होते हैं) अंचित हो जाते हैं, हृदय में उद्बुद्ध वीररस के सत्त्वांकुर-सदृश। जैसे सिद्धमंत्रों के सुनायी पड़ते ही क्रूर सर्प स्तब्ध और शक्तिहीन हो जाते हैं, वैसे ही चारणों द्वारा उच्चरित 'ऋतुपर्ण' नाम शत्रुओं के कान में पड़ते ही जैसे शत्रुनरेशों की भुजाएँ अवश हो जाती हैं। शत्रु युद्ध करने योग्य ही नहीं रह जाते। मल्लिनाथ के अनुसार पूर्वार्द्ध में उत्प्रेक्षा तथा उत्तरार्द्ध में रूपक अलंकार है। श्लोक संख्या १०–१२ में शार्दूलविक्रीडित छन्द है॥ १०॥

तादृग्दीर्घविरिञ्चिवासरविधौ जानामि यत्कर्तृतां
शङ्के यत्प्रतिविम्बमम्बुविपयःपूरोदरे वाडवः।
व्योमव्यापिविपक्षराजकयशस्ताराः पराभावुकः
कासामस्य न स प्रतापतपनः पारं गिरां गाहते ? ॥ ११॥

जीवातु—तादृगिति। तादृग्दीर्घस्य 'चतुर्युगसहस्रन्तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते' इत्युक्तमहापरिमाणस्य, विरिञ्चेः ब्रह्मणः, वासरस्य दिवसस्य, विधौ विधाने, यस्य प्रतापतपनस्य, न तु प्रसिद्धतपनस्येति भावः, कर्तृतां जानामि, कल्पान्तावस्थायी यस्य प्रताप इति भावः। अम्बुधिपयःपूरस्य समुद्रजलराशेः उदरे अभ्यन्तरे, वाडवो वडवानलः, यस्य प्रतापतपनस्य, प्रतिविम्बमेव शङ्के उत्प्रेक्षे; व्योमव्यापिन्यो याः विपक्षस्य विरोधिनः, राजकस्य राजसमूहस्य, यशांस्येव तारा नक्षत्राणि, तद्यशसामल्पत्वात् नक्षत्ररूपत्वमिति भावः, ताः पराभावुकः स्वतेजसा तिरोधायक इत्यर्थः, 'लषपत—' इत्यादिना उकञ् प्रत्यये

'न लोका—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् तारा इति कर्मणि द्वितीया, सः सर्वव्यापीत्यर्थः, अस्य राज्ञ प्रताप एव तपनः कासां गिरां पारं परभाग न गाहते ? सर्वासामपि गाहते इत्यर्थः, न कासामपि गिरां गोचरं वर्णयितुमशक्यत्वादिति भावः। अनोत्प्रेक्षालङ्कारद्वयम् ॥ ११ ॥

अन्वय—शारदीर्घविरञ्चिवासरविधौ यत्कर्तृतां जानामि, अम्बुनिधय-पूरोदरे वाडवः यत्प्रतिबिम्बं शङ्के, व्योमव्यापिविपक्षराजकयशस्तारा परा-भावुकः अस्य सः प्रतापतपनः कासां गिरां पारं न गाहते ?

हिन्दी—उतने बड़े (चतुर्दश मन्वन्तर परिमाण के) ब्रह्मा के दिवस के विधान मे जिसका कर्तृत्व मैं समझती हूँ, सागर जल के प्रवाहमध्य वडवानल को जिसका प्रतिबिम्ब समावित करती हूँ, आकाशव्यापी शत्रुनरेशों के यशोरूप तारकगण को तिरस्कृत करने वाला इस (ऋतुपर्ण) का वह प्रतापादित्य किस (वर्णनकर्त्ता) के वचनों के परतीर (दूसरे तट) को प्राप्त नहीं करता ? (सब के वचन पार तट को प्राप्त करता है—अर्थात् ऋतुपर्ण के तेजारवि का वर्णन नहीं कर सकता) ।

टिप्पणी—इस श्लोक मे अयोध्यानरेश के क्षात्रतेज को सूर्य कह कर उस 'प्रतापतपन' की विशिष्टताओं का संकेत कर उसकी वर्णनातीतता बतायी गयी है, अर्थात् वचनों द्वारा ऋतुपर्ण के तेज को कहा नहीं जा सकता। यह प्रताप-तपन सामान्य सूर्य की भाँति चौबीस घंटे के दिन रात्रि का कारण नहीं है प्रत्युत उस विधाता के विस्तृततम चतुर्दश मन्वतर परिमाण के अथवा चतुर्युग-सहस्रपरिमिति दिवस का विधायक है, सागर के जल में प्रतिबिम्बित वडवाग्नि उसकी प्रतिच्छाया है तथा आकाश मे व्याप्त तारकगण सदृश अपरिमित शत्रु-नरेशों का विपुल यश उसके तेज के समुख फीका पड जाता है। तात्पर्य यह कि इस नरेश का प्रताप चिरस्थायी है—कल्पान्तावस्थायी। जल-अग्नि म विरोध है, वे एक साथ रह नहीं सकते, किन्तु वडवानल समुद्रजल में है, यह इसी कारण है कि वस्तुत· वह अग्नि नहीं, अयोध्यापति के प्रतापतपन का प्रतिबिम्ब है। ऐसा विलक्षण अनल जो पय पूर में भी रह सकता है। अमस्य नरेशों का अपार यश इसके समुख फीका पड जाता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षायुगल है ॥ ११ ॥

द्वेष्याकीर्त्तिकलिन्दशैलसुतया नद्याऽस्य यद्दोर्द्वयी-
कीर्त्तिश्रेणिमयी समागममगात् गङ्गा रणप्राङ्गणे ।
तत्तस्मिन् विनिमज्ज्य बाहुजभटैरारम्भि रम्भापरी-
रम्भानन्दनिकेतनन्दनवनक्रीडादराडम्बरः ॥ १२ ॥

जीवातु—द्वेष्येति । यत् यस्मात्; अस्य राज्ञः, दोर्द्वयीकीर्त्तिश्रेणिमयी: भुजयुगजनितयशः परम्परारूपा, गङ्गा भागीरथी, यशसां श्वेतत्वेन गङ्गारूपत्वमिति भावः, रणप्राङ्गणे युद्धक्षेत्रभूतप्रयागे इति यावत्, द्वेष्याणां द्विषाम्, अकीर्त्तिरयश इति यावत्, शुभ्रत्वेन वर्णितायाः कीर्तेर्विरुद्धत्वात्, कृष्णवर्णेति भावः, सैव कलिन्दशैलसुता कालिन्दी, यमुनेत्यर्थः, तया, अकीर्त्तेः कृष्णत्वेन यमुनारूपत्वमिति भावः, नद्या समागमम् अगात्, तत् तस्मात्, तस्मिन् रणप्राङ्गणरूपगङ्गायमुनासङ्गमे इत्यर्थः, विनिमज्ज्य विशेषेण निमग्नो भूत्वा, तत्र देह परित्यज्येति यावत्, बाहुजभटैः क्षत्रियवीरैः, एतत्प्रतिपक्षभूतैरिति भावः 'बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः, रम्भायाः तदाख्यायाः प्रसिद्धायाः स्वर्वेश्यायाः, परीरम्भानन्दः आलिङ्गनसुखम्, 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घः, तस्य निकेते स्थाने, नन्दनवने क्रीडादराडम्बरो विहारेच्छाविजृम्भणम्, आरम्भि आरब्धः, एतद्विरोधिनां मरणमवश्यम्भावि इति भावः । अत्र कीर्त्यकीर्त्योर्गङ्गायमुनारोपाद्रूपकालङ्कारः । 'सितासिते सरितौ यत्र सङ्गते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति । ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते ॥' इति श्रुतिरत्र प्रमाणम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—यत् अस्य दोर्द्वयीकीर्त्तिश्रेणिमयी गङ्गा रणप्राङ्गणे द्वेष्याकीर्त्तिकलिन्दशैलसुतया नद्या समागमम् अगात्, तत् तस्मिन् विनिमज्य बाहुजभटैः रम्भापरीरम्भानन्दनिकेतनन्दनवनक्रीडादराडम्बरः आरम्भि ।

हिन्दी—जो कि इस (अयोध्येश) के बाहुयुग्म-जनित कीर्तिपरंपरा रूपा गंगा (भागीरथी) का समरांगण में शत्रुओं की अकीर्तिरूपिणी कलिंदगिरि की पुत्री (कालिंदी यमुना) नदी से संगम हुआ, सो उस (कीर्तिगंगा और अकीर्तियमुना के संगम तीर्थराज प्रयाग) में निमग्न हो (देहत्याग कर) क्षत्रिययोद्धाओं ने रम्भा नामक अप्सरा के आलिंगन-स्थान नन्दन वन (देवोद्यान) में क्रीडा-विहार के प्रति आसक्ति के बाहुल्य का आरम्भ कर दिया ।

टिप्पणी—आशय यह है अयोध्यापति के प्रतिपक्षी वीर संग्रामस्थली में इसस परामृत होते हैं और युद्ध में सम्मुख मृत्यु प्राप्त कर स्वर्ग प्राप्त करते हैं। यह माना ही जाता है कि वीर यदि युद्ध में जयी होता है तो पृथ्वी के भोग का भागी होता है और मरता है तो स्वर्ग का भागी—'हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।' इसे विशेष भंगिमा से स्पष्ट किया गया है। ऋतुपर्ण को जयी होने से शुभ्र कीर्ति प्राप्त होती है, वह श्वेत भागीरथी है। शत्रुवीर को परामृत होने में काली अकीर्ति मिलती है, वह श्यामा यमुना नदी है। जिस संग्राम स्थली को इन मिश्रित कीर्ति अकीर्तिरूपिणी गंगा-यमुना का संगम होने से तीर्थराजत्व प्राप्त होता है, वहीं निमज्जित हो देह-त्यागी क्षत्रिय वीर—शाहजमट सोधे स्वर्ग जाकर नन्दनवनविहार और अप्सरियों के आलिंगन का आनन्द प्राप्त करते हैं। यह निरन्तर होता है। शत्रु निरन्तर मरते हैं—यही उनकी आसक्ति बहुलता है। यह मल्लिनाथ के अनुसार रूपक अलंकार है, क्योंकि कीर्ति में गंगा-यमुना का आरोप है ॥१२॥

इति श्रुतिस्वादिततद्गुणस्तुतिः सरस्वतीवाङ्मयविस्मयोत्थया ।
शिरस्तिरःकम्पनयैव भीमजा न तं मनोरन्वयमन्वमन्यत ॥ १३ ॥

जीवातु—इतीति। भीमजा भैमी दमयन्ती, इतीत्थं, श्रुतिस्वादिता श्रोत्र-गृहीता, तस्य ऋतुपर्णस्य, गुणानां स्तुतिः यया तादृशी सती, सरस्वत्या देव्याः, वाङ्मये वाक्प्रपञ्चविषये, यो विस्मयः तदुत्थया शिरसस्तिरःकम्पनयैव अवज्ञासूचकमस्तकचालनेनैव, मनोः अन्वयं मनुवंशोद्भवं, मनुसन्तानमित्यर्थः, तम् ऋतुपर्णं, न अन्वमन्यत अनुमोदनं न कृतवती, न्यषेधीत् इति यावत्, विस्मयाभिनयशिरःकम्प एव प्रत्याख्यानिषेधार्थोऽपि संवृत्त इति भावः ॥ १३ ॥

अन्वयः—इति श्रुतिस्वादिततद्गुणस्तुतिः भीमजा सरस्वती वाङ्मय-विस्मयोत्थया शिरस्तिरःकम्पनया एव मनोः अन्वयं तं न अन्वमन्यत।

हिन्दी—इस प्रकार (उपर्युक्त रूप में) कानों में उस (ऋतुपर्ण) के गुणों के स्तवन (गुण वर्णन) का आस्वादन प्राप्त करती भीमसुता ने सरस्वती के वचनों के प्रति विस्मय से उद्भूत सिर को तिरछा करके कँपाने मात्र (अनिच्छा सूचक इंगित) से मनु के (सोधे) वंशज उस (ऋतुपर्ण) को अमान्य सूचित कर दिया।

टिप्पणी—सरस्वती द्वारा ऋतुपर्ण की अत्यधिक प्रशंसा सुनकर दमयन्ती ने केवल सिर हिला दिया, जिससे वर्णन के प्रति उसका विस्मय और मनु की वंश-परम्परा में सीधे उत्पन्न हुए अयोध्यापति के प्रति अननुमोदन प्रकट हो गया। दमयन्ती का अनुराग तो सोमवंशी नल के प्रति था, वह मनुवंशी—सूर्यवंशी अनुरागिणी कैसे होती ? ॥ १३ ॥

युवान्तरं सा वचसामधीश्वरा स्वरामृतन्यक्कृतमत्तकोकिला ।
शशंस संसक्तकरैव तद्दिशा निशाकरज्ञातिमुखीमिमां प्रति ॥ १४ ॥

जीवातु—युवेति । स्वर एवामृतं तेन न्यक्कृतस्तिरस्कृतः, मत्तः वसन्त-कालहृष्टः, कोकिलो यया सा तादृशी, वचसामधीश्वरा वाग्देवता, सा सरस्वती, अन्यं युवानं युवान्तरं, सुप्सुपेति समासः, तस्य यूनः, दिशा दिग्भागेन, संसक्तकरा व्यापृतहस्ता, हस्तेन तं निर्दिशन्ती एवेत्यर्थः, निशाकरज्ञातिमुखीं चन्द्रसदृशमुखीमित्यर्थः, ज्ञातिसोदरबन्ध्वादिशब्दाः सादृश्यवाचका इत्याहुः, इमां भैमीं प्रति शशंस, दमयन्तीम् आमन्त्र्य आचख्याविरयर्थः ॥ १४ ॥

अन्वयः—स्वरामृतन्यक्कृतमत्तकोकिला वचसाम् अधीश्वरा सा युवान्तरं तद्दिशा संसक्तकरा एव निशाकरज्ञातिमुखीम् इमां प्रति शशंस ।

हिन्दी—अपनी स्वर-सुधा से वसंतहृष्ट मत्त कोकिल का भी तिरस्कार करने वाली वाणी की अधीश्वरी वे (सरस्वती) अन्य तरुण को उसकी (दिशा की) ओर हाथ से निर्देश मात्र करतीं चन्द्र के समान मुखवाली इस (दमयन्ती) से बोलीं ।

टिप्पणी—चन्द्रमुखी दमयन्ती अन्य राजा का वर्णन कदाचित्, न सुनती, क्योंकि उसके प्रति अनुरागवती तो वह थी नहीं। सरस्वती के अमृत-स्वर का संकेत इसी कारण है कि दमयन्ती उस स्वर से मुग्ध होकर सुन रही थी, अन्यथा सुनती ही नहीं ॥ १४ ॥

न पाण्ड्यभूमण्डनमेणलोचने ! विलोचनेनापि नृपं पिपासति ? ।
शशिप्रकाशाननमेनमीक्षितु तरङ्गयापाङ्गदिशा दृशस्त्विषः ॥ १५ ॥

जीवातु—नेति । एणलोचने ! हे मृगाक्षि ! पाण्ड्यभूमण्डनं पाण्ड्यदेशस्य भूषणं, तद्देशस्य चूडामणिस्वरूपमिति यावत् नृपं विलोचनेनापि न पिपासति ?

पातु न इच्छसि ? साग्रहदृष्टिदानेनापि एन सुखयितु न इच्छसि किम् ? इति भाव। शशिप्रकाशाननम् इन्दुसुन्दरास्यम्, एनम् अपाङ्गदिशा कटाक्षमार्गेणापि, नेत्रप्रान्तेनापि इत्यर्थ, ईक्षितु दृशस्त्विष चक्षुषो ज्योतीषि, तरङ्गय प्रवर्तय एन साग्रह द्रष्टु नेच्छसि चेत् न पश्य, परन्तु कटाक्षविक्षेपेणापि सकृदेव एन पश्येति भाव । अत्र एणलोचने इत्यस्य एणस्य लोचने इव लोचन यस्यास्तत्सम्बुद्धौ, अत एवात्र निदर्शनालङ्कार.। एवमुत्तरत्राप्येवविधस्थले बोध्य ॥ १५ ॥

अन्वयः—एणलोचने, पाण्ड्यभूमण्डन नृप विलोचनेन अपि न पिपासति ? शशिप्रकाशाननम् एनम् दृशस्त्विष अपाङ्गदिशा तरङ्गय।

हिन्दी—हे मृगनयने, पाण्ड्यप्रदेश की भूमि के शृगार नृपाल को नेत्र से पीना भी नही चाहती ? (देखना भी नही चाहती ?) चन्द्र समान प्रसन्न-मुख इस (पाड्य नरेश) को नयन किरणो के कटाक्ष से ही तरंगित करो ।

टिप्पणी—अनुराग अन्यस्थल पर होने से दमयन्ती भले ही पाड्यनरेश को पूर्णतया न देखे, परंतु एकबार नयन-कटाक्ष से क्षण भर को देख लेना तो उचित ही होगा । बड़ा सुन्दर है यह पाड्यनृप । मृगनयना दमयन्ती, चन्द्रवदन पाड्यनृप । उचित ही है एकबार देख लेना । मल्लिनाथ के अनुसार 'एण के लोचन सदृश लोचन हैं, जिसके'—ऐसा सबोधन होने के कारण निदर्शना अलकार है ॥ १५ ॥

भुवि भ्रमित्वाऽनवलम्बमम्बरे विहर्तुमभ्यासपरम्परापरा ।
अहो ! महावशममु समाश्रिता सकौतुक नृत्यति कीर्त्तिनर्त्तकी ॥ १६ ॥

जीवातु—भुवीति । कीर्तिरेव नर्त्तकी लासिकी, 'शिल्पिनि ष्वुन्' इत्यत्र 'नृतिखनिरञ्जिभ्य एव' इति नृत्यते ष्वुन् प्रत्यय । 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीप, भुवि भूतले, भ्रमित्वा भूचारिणी भूत्वेत्यर्थ, अथ अम्बरे आकाशे, अनवलम्ब निरालम्ब यथा स्यात् तथा, विहर्तुं विचरितुम्, अभ्यासानां परम्परा श्रेणि, सैव पर प्रधान यस्या सा तादृशी सती, अम्बरदेशे नर्त्तनाभ्यासासक्ता सतीत्यर्थ, महावश महाकुलीन महावेणुञ्च, 'वशो वेणौ कुले वर्गे' इति विश्व, अमु पाण्ड्य, समाश्रिता सती सकौतुक यथा तथा नृत्यति अहो ! आश्चर्यम्; यथा काचित्, नर्त्तकी प्रथम भुवि भ्रमित्वा वियति निरालम्ब

भ्रमणार्थं वेणुमाश्रित्य नृत्यति तद्वद् कीर्तिरपि नृत्यति इति निष्कर्षः। अत्र रूपकालङ्कारः ॥ १६ ॥

अन्वयः—अहो कीर्तिनर्तकी भुवि भ्रमित्वा अम्बरे अनवलम्बं विहर्तुम् अभ्यासपरम्परापरा महावंशम् अमुं समाश्रिता सकौतुकं नृत्यति।

हिन्दी—आश्चर्य है कि कीर्तिरूपा नर्तकी धरती (भूमंडल) पर भ्रमण करके आकाश में आधारहीन विहार करने को निरंतर अभ्यास करती महान् वेणु के सदृश महाकुल इस (पांड्यनृप) का आश्रय ले कौतुक के साथ नृत्य कर रही है।

टिप्पणी—धरती पर नृत्य करके आधारहीन आकाश में नाचने की अभिलाषिणी नर्तकी जिसप्रकार ऊँचे बाँस (महावंश) का आश्रय लेकर नाचती है, उसी प्रकार महावंश (श्रेष्ठ कुल-जात) पांड्यनरेश की कीर्ति भूमंडल को व्याप्त करके अब उस महावंश का सहारा लेकर नाच रही है। कीर्ति-नर्तकी है, जिसने पहिले धरती पर नृत्य किया अब निराधार अंबर में नाच रही है—अर्थात् पांड्यनृप की कीर्ति भूमंडल में व्याप्त हो, अब आकाश में भी व्याप्त हो रही है। मल्लिनाथ के अनुसार रूपकालंकार ॥ १६ ॥

इतो भिया भूपतिभिर्वनं वनात् अटद्भिरुच्चैरटवीत्वमीयुषी।
निजाऽपि साऽवापि चिरात् पुनः पुरी पुनः स्वमध्यासि विलासमन्दिरम्॥

जीवातु—इत इति। इतोऽस्मात् राज्ञः, भिया भयेन, वनात् वनम् अटद्भिः भ्रमद्भिः भूपतिभिः प्रतिभूपैः, उच्चैरटवीत्वं चिरं जनहीनतया अवस्थानात् महाटवीत्वम् ईयुषी प्राप्ता, सा पूर्वावासभूता, निजा स्वकीया, पुरी नगरी अपि, चिरात् बहोः कालात् परं, पुनरवापि वनान्तरभ्रमेण पुनः प्राप्ता, स्वं स्वकीयं, विलासमन्दिरं क्रीडागृहञ्च, पुनरध्यासि वनान्तरभ्रमेणैवाध्यासितम्, आसेरधिपूर्वात् कर्मणि लुङ् एतस्य राज्ञो भयात् पुरी त्यक्त्वा पलायिताः प्रतिभूपाः बहोः कालादरण्यभूते स्वनगरे स्वविलासमन्दिरे च पुनः समागताः तं वनान्तरं बुद्ध्वा स्वं गोपायीन्तति भावः। विलसेषु आसते इति विलासा विलेशयाः, सर्पास्तेषां मन्दिरमिति विशेषणत्वेनापि योज्यम्। अत्रैकस्य अरिवर्गस्य अनेकासु अटवीषु अटवीभूतपुरीषु च क्रमात् वर्तमानत्वेन तथा पुरीष्वपि पुरीत्वाटवीत्वयोः

क्रमसम्बन्धोक्त्या च 'एकम् अनेकस्मिन् अनेकमेकस्मिन् वा क्रमेण पर्याय.' इत्युक्तलक्षणं पर्यायभेदद्वय द्रष्टव्यम् ॥ १७ ॥

अन्वय:—इत. भिया वनात् वनम् अटद्भि. भूपतिभि. उच्चैः अटवीत्वम् ईयुषी सा निजा पुरी चिरात् पुन. अवापि, स्व विलासमन्दिरम् अपि पुन' अध्यासि ।

हिन्दी—इस (पाड्यनृप) के भय से वन से-वन (वन-वन) भटकते भूपालों ने महावनी-भाव को प्राप्त (जगल-बनी) उस अपनी नगरी को बहुत समय पश्चात् फिर से पाया, अपना क्रीडामदिर भी फिर से प्राप्त किया ।

टिप्पणी—पाड्यराजा से डरे प्रतिपक्षी नरेश अपनी-अपनी नगरी छोडकर बहुत समय तक वन-वन भटकते फिरे। वे तो वनवासी थे ही, इधर उनके नगर, उनके आवास—सब भ्रष्ट होकर वन-सदृश हो ही गये। नगरी महावनी बन गयी और विलास-गृह सर्प आदि बिल मे रहने वालों के निवास—'बिलेषु आसते बिलासाः बिलेशया तेषा मन्दिरम्।' वन-वन मारे फिरते नृपति जब वन-निवास के अभ्यासी बनकर पुन. अपनी नगरी मे लौटे तो उन्हे कोई कठिनता नहीं हुई। उनके अभ्यासानुकूल उनकी नगरी महावनी बनी मिली और निवासमदिर बिल-जैसे। भाव यह कि पाड्यनृप ने शत्रुओं के नगर उजाड दिये। ऐसा अनेक बार हुआ, हारे राजा भागे, फिर लौटे। फिर भागे, फिर लौटे। उजड़ गये नगर-घर वैरियों के। अपने वन-सदृश नगर के आवासो में छिपे-छिपे रहते हैं शत्रुभूपाल बिल में रहते सरहो आदि के तुल्य। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ दो प्रकार के पर्यायालकार हैं, क्योंकि वैरिवर्ग के अनेक वनी और वनीभूत नगरियो में क्रम से वर्तमानत्व के और नगरियो मे भी नगरीत्व और वनीत्व के क्रमसबध का कथन है ॥ १७ ॥

आसीदासीमभूमीवलयमलयजालेपनेपथ्यकीर्तिः
सप्ताकूपारपारीसदनजनघनोद्गीतचापप्रताप. ।
वीरादस्मात् परः कः पदयुगयुगपत्पातिभूपातिभूप-
स्त्रूडारत्नोडुपत्नीकरपरिचरणामन्दनन्दन्नखेन्दुः॥ १८ ॥

जीवातु—आसीदिति । वीरात् अस्मात् पाण्ड्यात्, परोऽन्य, को वीर:, सीमाया आ इत्यासीम समुद्रपर्यन्तसीमामभिव्याप्य, सीमासहितमिति यावत्,

अनिविघावव्ययीभावः, यत् भूमिवलयं तस्य मलयजालेपनेपथ्यं मलयजेन चन्दनेन, यद् आलेपः अङ्गरागः, तद्रूपं यत् नेपथ्यं भूषणं, तदिव कीर्त्तिर्यस्य सः, आसमुद्रक्षिति व्याप्य विस्तृतयशःसौरभ इत्यर्थः, सप्तानाम् अकूपारपाराणां समुद्रपरतीराणां समाहारः सप्ताकूपारपारी 'तद्धितार्थ–' इत्यादिना समाहारद्विगौ ङीप्, सदनं येषां तैः तत्रस्थजनैः घनं निरन्तरम्, उद्गीतश्चापप्रतापो धनुषो माहात्म्यं, चापञ्च प्रतापञ्च वा यस्य सः, पदयुगे चरणयुगले, युगपत्पातिनां समकालं नमस्कारकारिणां, भूपानाम् अतिभूयांसि अतिबहुलानि, चूडारत्नान्येव उडुपत्न्याः क्षुद्रत्वात् बहुलत्वाच्च नक्षत्ररूपाः स्त्रियः, तासां करा अंशवो हस्ताश्च, 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः, तेषां परिचरणेन परामर्शेन, अमन्दम् अतिमात्रं, नन्दन्तः उल्लसन्तः, नखाः पदनखाः, एवेन्दवो यस्य स तादृशः, आसीत्; यशः सुरभिताऽऽसमुद्रक्षितिमण्डलः दिगन्तविश्रान्तप्रतापः समस्तराजवन्द्यश्चायमेव नान्यः कश्चिदित्यर्थः। अत्र रूपकालङ्कारः॥ १८॥

अन्वयः—अस्मात् वीरात् परः कः आसीमभूमिवलयमलयजालेपनेपथ्यकीर्त्तिः सप्ताकूपारपारीसदनजनघनोद्गीतचापप्रतापः पदयुगयुगपत्पाति भूपतिभूयश्चूडारत्नोडुपत्नीकरपरिचरणामन्दनन्दन्नखेन्दुः आसीत्?

हिन्दी—इस (पांडचनृप) वीर से उत्कृष्ट अन्य कौन समुद्रपर्यंन्त-भूवलय (पृथ्वीखंड) चंदन-लेप के शृंगार तुल्य यश से व्याप्त (समुद्रपर्यन्त भूमंडल पर यशोविस्तार कर्त्ता), सात समुद्रतटरूप-आवासों के वासी जनों द्वारा निरंतर उच्चस्वर में जिसके धनुष् का प्रताप ((अथवा धनुष् और प्रताप) गाया जाता है; ऐसा, तथा चरण-युगल में एक समय में ही (नमस्कारार्थ) गिरते भूपालों के प्रभूत मुकुट रत्नरूप चंद्रपत्नियों (ताराओं) के करों (किरणों–हाथों) के चारों ओर परिभ्रमण (दबाने–चरण-चांपने) से अत्यंत आनंदित नखरूप चंद्र से संयुत नरपति है? (अर्थात् ऐसा अन्य नहीं है।)

टिप्पणी—पांडचनरेश ही ऐसा है, जिसका यश आसमुद्रक्षितिमंडल में फैला है, सातों समुद्रों के तटवासी जन जिसके चाप-कौशल और प्रताप की प्रशंसा निरंतर करते रहते हैं और जिसका चंद्रमुख विनीत नरेशों के किरीट-रत्नों के चरणों में आ बिछने से प्रसन्न रहता है। मुखचंद्र है और रत्न चंद्रपत्नियाँ ताराएँ। निरंतर चरण-सेवा करती प्रियाओं से घिरा चंद्रानन अत्यंत

हर्षोत्फुल्ल है। इस प्रकार, अद्वितीय यशस्वी, वीर और सब नरेशों से वद्य होने के कारण पाण्ड्यनरेश वरणीय है। मल्लिनाथ के अनुसार रूपकालंकार। स्रग्धरा छद ॥ १८ ॥

भङ्गाकीर्त्तिमसीमलीमसतमप्रत्यर्थिसेनाभट-
श्रेणीतिन्दुककाननेषु विलसत्यस्य प्रतापानलः।
अस्मादुत्पतिता स्फुरन्ति जगदुत्सङ्गे स्फुलिङ्गा स्फुटं
भालोद्भूतभवाक्षिमानुहुतभुग्जम्भारिदम्भोलयः ॥ १९ ॥

जीवातु—भङ्गेति। अस्य पाण्ड्यस्य, प्रताप एवानल भङ्गेन पराजयेन, या अकीर्त्ति, श्यामत्वादिति भावः, सैव मसी तया मलीमसतमा अत्यन्तमलिना, प्रत्यर्थिसेनाभटश्रेण्य शत्रुसैनिकवीरसमूहाः एव, तिन्दुककाननानि श्यामत्वात् कालस्कन्धवनानि, 'तिन्दुक स्फूर्जक कालस्कन्धश्च शितिसारके' इत्यमर, तेषु विलसति प्रज्वलति। भालोद्भूतभवाक्षि भालाल्ललाटात्, उद्भूत भवाक्षि हरतृतीयनेत्र तच्च भानुश्च सूर्यश्च, हुतभुगग्निश्च, जम्भारिदम्भोलि कुलिशश्च त, अस्मात् तिन्दुकवनदाहकतदीयप्रतापानलात, उत्पतिता उत्थिता, स्फुलिङ्गा: अग्निकणाः, जगदुत्सङ्गे जगता पृथिव्यादीनाम् उत्सङ्ग क्रोडे अभ्यन्तरे इति यावत्, स्फुरन्ति प्रकाशन्ते स्फुटम् असशयमित्युत्प्रेक्षा रूपकसङ्कीर्णा। तिन्दुक-काष्ठेभ्यो दह्यमानेभ्यो महान्त स्फुलिङ्गा उत्तिष्ठन्तीति प्रसिद्धि ॥ १९ ॥

अन्वय —अस्य प्रतापानल. भङ्गाकीर्त्तिमसीमलीमसतमप्रत्यर्थिसेनाभट-श्रेणीतिन्दुककाननेषु विलसति, तस्मात् उत्पतिता स्फुलिङ्गा भालोद्भूत-भवाक्षिभानुहुतभुग्जम्भारीदम्भोलय जगदुत्सङ्गे स्फुट स्फुरन्ति।

हिन्दी—इस (पाण्ड्यनृप) का प्रताप रूप अग्नि भग (पराजय) से उत्पन्न अपयशरूप काली स्याही से अतिमलीन शत्रु-सैन्य योद्धारूप तिंदुक (तेंदुआ) वृक्षो के वनो मे विशेषत प्रदीप्त है, उससे उडते ज्वालाकण (चिनगारियाँ) मस्तक में उत्पन्न (तृतीय) हर नेत्र, सूर्य, अग्नि और जभराक्षस के शत्रु (इन्द्र) का वज्र होकर ससार के मध्य प्रत्यक्षत स्फुरित है।

टिप्पणी—पाण्ड्य नरेश से पराजय प्राप्त कर शत्रु-सैन्य के योद्धाओं को काला अयश मिला है, जिससे वे मलीन हो गये हैं। ऐसा दिव्य प्रतापवान् है

पांड्यनरेश, जिसके प्रताप के अंश-स्वरूप हैं जगत्प्रसिद्ध तेजोराशि भव का तृतीय नेत्र, सूर्य, अग्नि और वज्र। अर्थात् पांड्य-नृप का प्रताप इन संसार-विख्यात वस्तुओं से भी अधिक तेजोदीप्त है। इस प्रताप को अग्नि माना गया है जिसके धुएँ से प्रतिपक्षी योद्धारूप तिंदुक-वृक्षवन काला पड़ गया है और उसमें प्रतापानल प्रज्वलित हो रहा है और 'चट् चट्' ध्वनि करता चिनगारियाँ उड़ा रहा है, जो हरनेत्र, सूर्य, अग्नि और वज्ररूप में जगत् में ख्यात हो गये हैं। तिंदुकवन श्याम होते हैं और इन वृक्षों में लगी आग 'चट् चट्' चिनगारियाँ उड़ाती हैं। मल्लिनाथ के अनुसार रूपक-संकीर्णा उत्प्रेक्षा। श्लोक सं० १९,२० में शार्दूलविक्रीडित छन्द॥ १९॥

एतद्दन्तिबलैर्विलोक्य निखिलामालिङ्गिताङ्गीं भुवं
सङ्ग्रामाङ्गणसीम्नि जङ्गमगिरिस्तोमभ्रमाधायिभिः।
पृथ्वीन्द्रः पृथुरेतदुग्रसमरप्रेक्षोपनम्रामर-
श्रेणीमध्यचरः पुनः क्षितिधरक्षेपाय धत्ते धियम्॥ २०॥

जीवातु—एतदिति। एतस्य पाण्ड्यस्य, उग्रस्य भयङ्करस्य, समरस्य प्रेक्षायै प्रेक्षणाय, 'गुरोश्च हलः' इति स्त्रियाम् अ प्रत्यये टाप्, उपनम्राणाम् उपगतानाम्, अमराणां याः श्रेण्यः समूहाः, तन्मध्ये चरतीति तथोक्तः, स्वयमपि सद्द्रष्टुमागत इत्यर्थः, पृथुर्वैण्यो नाम, पृथ्वीन्द्रः संग्रामाङ्गणसीम्नि रणाजिरभूमौ, जङ्गमाः सञ्चारिणः, गिरीणां स्तोमाः समूहाः, इति भ्रममादधतः इति तथोक्तैः, तथाविधभ्रान्तिजनकैरित्यर्थः, अत एव भ्रान्तिमदलङ्कारः, एतस्य पाण्ड्यस्य, दन्तिबलैर्गजघटाभिः, निखिलां भुवम् आलिङ्गिताङ्गीम् आक्रान्तस्वरूपां, विलोक्य पुनः क्षितिधराणां क्षेपाय धनुषा प्रोत्सारणाय, धियं धत्ते, नूनमिति शेषः, अतो गम्योत्प्रेक्षा पूर्वोक्तभ्रान्तिमदलङ्कारोत्थितेति सङ्करः। तेनैतत्सेनागजाः गिरिप्रमाणा असङ्ख्येयाश्च इति गम्यते। अत्र पराशरः, 'तत उत्सारयामास शैलाः शतसहस्रशः। धनुष्कोट्या तथा वैण्यस्तेन शैलविवर्जिता॥' इति॥

अन्वयः—एतदुग्रसमरप्रेक्षोपनम्रामरश्रेणीमध्यचरः पृथ्वीन्द्रः पृथुः सङ्ग्रामाङ्गणसीम्नि जङ्गमगिरिस्तोम भ्रमाधायिभिः एतद्दन्तिबलैः निखिलां भुवम् आलिङ्गिताङ्गीं विलोक्य पुनः क्षितिधरक्षेपाय धियं धत्ते।

हिन्दी—इस (पांड्य नृपति) के प्रचण्ड युद्ध को देखने के लिए उपगत देवपंक्ति के मध्य में विचरण करता पृथ्वी का इन्द्र (स्वामी) पृथु (वेण-पुत्र) रण की प्रांगणभूमि में सञ्चरणशील पर्वत-समूह का भ्रम उत्पन्न करते इस (पाण्ड्य-नरेश) के गजबल द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी को आलिंगितदेहा (परिव्याप्त) देखकर फिर से पर्वतों के प्रोत्सारण का (प्रतीत होता है) विचार करता है।

टिप्पणी—प्रचण्डयोद्धा पाण्ड्यनृप के प्रभूत गजसैन्य का वर्णन किया गया है, जो इतना विशाल है कि उससे सम्पूर्ण पृथ्वी आक्रान्त हो जाती है। इसे वेण या वेणुपुत्र पृथु के उदाहरण से विशेष गरिमा दी गयी है। पुराण-कथा के अनुसार धनुष् के सिरे से पर्वतों को उखाड़ कर पृथु ने पृथ्वी को समतल और निवासयोग्य बनाया था—'ततः उत्सारयामास शैलाञ्छत-सहस्रशः। धनुष्कोट्या तदा वैण्यस्तेन शैला विवर्द्धिताः ॥' (ब्रह्म०-४।९० । मल्लिनाथ के अनुसार 'दन्तिबल' द्वारा 'गिरिस्तोमभ्रम' होने के कारण भ्रान्तिमान् अलंकार है और उसका गम्योत्प्रेक्षा के साथ संकर है ।। २० ॥

शशंस दासीङ्गितवित् विदर्भजामितो ननु स्वामिनि ! पश्य कौतुकम् ।
यदेष सौधाग्रनटे पटाञ्चले चलेऽपि काकस्य पदार्पणग्रहः ॥ २१ ॥

जीवातु—शशंसेति । इङ्गितवित् दमयन्त्यभिप्रायज्ञा, दासी किङ्करी, विदर्भजां दमयन्ती, शशंस बभाण; किमिति ? ननु हे स्वामिनि ! इत अस्यां दिशि, कौतुकम् आश्चर्यं, पश्य, किं तत् ? तदाह, सौधाग्रे सुधाधवलितप्रासाद-र्ध्वदेशे वर्तमाने, नटे चञ्चलत्वात् नर्त्तकतुल्ये, अत एव चले वायुवशात् चलत्यपि, पटाञ्चले, ध्वजाञ्चले, काकस्य एष पदार्पणग्रहः पादन्यासाभिनिवेश, इति यत् तत् कौतुकमिति पूर्वेणान्वयः । एतेन भङ्ग्या तस्मिन् पाण्ड्य मह-अनादर, इति सख्या सूचितम् ॥ २१ ॥

अन्वय—इङ्गितवित् दासी विदर्भजां शशंस—ननु स्वामिनि, इतः कौतुक पश्य, यत् सौधाग्रनटे चले अपि पटाञ्चले एष. काकस्य पदार्पणग्रहः ।

हिन्दी—सकेतों की जानकार दासी ने विदर्भसुता (दमयन्ती) से कहा—स्वामिनि, इधर एक कौतुक (तमाशा) तो देखिए कि शुभ्रप्रासाद के

ऊपर नाचते नर्तक चंचल भी पताका वस्त्र पर यह कौआ पदस्थापन के निमित्त बार-बार प्रयत्नशील है।

टिप्पणी—दमयन्ती की सहवर्तिनी दासी स्वामिनी के संकेतों से ही दमयन्ती का मनोभाव समझ रही थी कि वह नलानुरक्ता है और पांडय-नरेश के स्तवन में उसे कोई रुचि नहीं है। सो उसने यह भाव दिखाने के लिए दमयन्ती से कहा कि यह वैचित्र्य देखिए कि एक मूर्ख कौआ चंचल प्रासादध्वज पर पैर रखने की उपहासास्पद चेष्टा कर रहा है। इससे दो भावों का संकेत हो गया कि—दमयन्ती को पांड्यनृप में कोई रुचि नहीं है, उसकी अपेक्षा वह कौआ देखना अधिक भला मानती है, अतः भगवती इस पांड्यविरुद को समाप्त करें और यह भी कि पांडय-नरेश की दमयन्ती के प्रति आकांक्षा वैसी ही उपहासास्पद है, जैसी कि वायु में फरफराती ध्वजा पर पैर रखने की काकचेष्टा। अनुचित, उपहास्य और असंभव ॥ २१ ॥

ततस्तदप्रस्तुतभाषितोत्थितैः सदस्सदश्वेति हसैः सदःसदाम्।
स्फुटाऽजनि म्लानिरतोऽस्य भूपतेः मिते हि जायेत शितेः सुलक्षता ॥

जीवातु—तत इति। ततोऽनन्तर, तदप्रस्तुतभाषितेन उत्थितैः सदःसदां सभासदां, हसैर्हासैः, 'स्वनहसोर्वा' इति विकल्पात् अप्प्रत्ययः, तत् सदः संसत्, सभा इत्यर्थः, अश्वेति सितीकृतं, शुभ्रीकृतम् इति यावत्, श्वितिधातोर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् अतः सदःश्वैत्यात् हेतोः, अस्य पाण्ड्यस्य, भूपतेः म्लानिः विवर्णता, स्फुटा व्यक्ता, अजनि जाता, कर्त्तरि लुङ् 'दीपजन—' इत्यादिना विकल्पाच्चिण्—प्रत्ययः, तथा हि सिते धवलिम्नि, शितेर्नीलिम्नः 'अशितिः शितिकृष्णे च कालं नीलञ्च मेचकम्' इति हलायुधः, सुलक्षता सुग्रहत्वं, जायेत हि स्फुटं दृश्यते इत्यर्थः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥२२॥

अन्वयः—ततः तदप्रस्तुतभाषितोत्थितैः सद-सदां हसैः तत् सदः अश्वेति अतः अस्य भूपतेः म्लानिः स्फुटा अजनि; हि सिते शितेः सुलक्षता जायेत।

हिन्दी—तत्पश्चात् (दासी के काकद्वारा पटांचल पर पदार्पणग्रह की ओर संकेत करने पर) उस (दासी) के अप्रस्तुत-कथन से उत्पन्न सभा में उपस्थित व्यक्तियों की हँसी से वह सभा शुभ्र हो गयी, अतएव इस (पांड्य)

भूपाल की मलिनता (विवर्णता) स्पष्ट हो गयी, क्योंकि श्वेत में कालिमा सरलता से दीखने लगती है।

टिप्पणी—दासी ने काक-पटाचल-पदार्पण-ग्रह के व्याज से अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत पाड्य की दमयन्ती का पाने की इच्छा का संकेत दिया था। सभा ने इस कथन-चातुर्य को समझा और पाड्य नृप को छोड सभी सभा में बैठे व्यक्ति ठठाकर हँस पड़े और उदास, विवर्ण, मलिन-मुख पाड्य-नरेश की विवर्णता उस अट्टहास के मध्य पूर्णतः उजागर हो गयी, उसी प्रकार जैसे कि शुभ्रता के मध्य कालिमा का लघु बिन्दु भी प्रत्यक्ष हो जाता है। कवि समयानुसार हास का वर्ण शुभ्र माना जाता है, विवर्णता का कृष्ण। सो हँसी की सफेदी में उदासी की कालिमा स्पष्ट हो गयी। बेचारा पाड्य-नरेश दमयन्ती की अमान्यता के कारण ऐसे ही मलिन था, सभा के उपहास ने उसे और भी बढ़ा दिया और उजागर कर दिया। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यासालङ्कार ॥ २२ ॥

ततोऽनु देव्या जगदे महेन्द्रभूपुरन्दरे सा जगदेकवन्द्यया।
तदार्जवावर्जिततर्जनीकया जनी कयाचित् परचित्स्वरूपया ॥ २३ ॥

जीवातु—ततोऽन्विति। ततोऽनु तदनन्तरं, महेन्द्रभूपुरन्दरे महेन्द्रपर्वताधीश्वरे विषये, त लक्षीकृत्येत्यर्थः, तदार्जवेन तस्य महेन्द्राधिपस्य, आर्जवेन सरलतया, आवर्जिता नमिता, तर्जनी प्रदेशिनी यया तया तादृक्तर्जनीकया, तम् अङ्गुल्या निर्दिश्येत्यर्थः, 'नद्यृतश्च' इति कप्, कयाचित् अनिर्वाच्यया, परचित्स्वरूपया परज्योतिरात्मिकया, जगदेकवन्द्यया देव्या सरस्वत्या, सा जनी वधू, जगदे गदिता ॥ २३ ॥

अन्वयः—ततः अनु महेन्द्रभूपुरन्दरे तदार्जवावर्जिततर्जनीकया कयाचित् परचित्स्वरूपया जगदेकवन्द्यया देव्या सा जनी जगदे।

हिन्दी—तत्पश्चात् महेन्द्रगिरि के अधीश्वर का लक्ष्य करके उस (महेंद्रपर्वताधिप अथवा दमयन्ती) की नम्रता के कारण वर्णनार्थ उठायी गयी (अथवा नँवायी गयी) तर्जनी अंगुलि युता (अथवा स्वयं ही वर्णनार्थ स्वयं तर्जनी संकेत करती हुई), लोकोत्तरा, श्रेष्ठ-ज्ञान-स्वरूपवती, सकलजगद् द्वारा एकमात्र वन्दनीया देवी सरस्वती स्वयंवरा (दमयन्ती) से बोली।

टिप्पणी—उपस्थित सभासदों में बैठे महेन्द्राचलाधीश्वर की ओर अंगुलि-निर्देश करती भगवती सरस्वती स्वयंवरा दमयन्ती के संमुख महेन्द्राचलाधिप के वर्णनार्थ उद्यत हुई ॥ २३ ॥

स्वयंवरोद्वाहमहे वृणीष्व हे ! महेन्द्रशैलस्य महेन्द्रमागतम् ।
कलिङ्गजानां स्वकुचद्वयश्रिया कलिं गजानां शृणु तत्र-कुम्भयोः ॥२४॥

जीवातु—स्वयंवरोद्वाहमहे इति । हे ! इति सम्बोधने, 'अथ सम्बोधनार्थकाः । स्युः पाट प्याडङ्ग हे है भोः' इत्यमरः । हे भैमि स्वयंवरेण स्वयंवरकर्मणा, य उद्वाहमहो विवाहोत्सवः तस्मिन्, आगतं महेन्द्रशैलस्य महेन्द्रपर्वतस्य, महेन्द्रम् अधीशं, वृणीष्व; तत्र महेन्द्रशैले, कलिङ्गजानां कलिङ्गदेशोद्भवानां, गजानां, कुम्भयोः, स्वस्य आत्मनः कुचद्वयश्रिया सह कलिं कलहं, तव कुचद्वयम् अधिकं पीनोन्नतं गजानां कुम्भद्वयं वा अधिकं पीनोन्नतमिति मीमांसार्थमेव इति भावः, शृणु, तद्देशस्य गजप्रायत्वात् कुचकुम्भयोः करिकुम्भयोश्च साम्यं व्यक्तीभविष्यतीति निष्कर्षः ॥२४॥

अन्वयः—हे, स्वयंवरोद्वाहमहे आगतं महेन्द्रशैलस्य महेन्द्रं वृणीष्व; तत्र कलिङ्गजानां गजानां कुम्भयोः स्वकुचद्वयश्रिया कलिं शृणु ।

हिन्दी—हे दमयन्ति, जिसमें कन्या स्वयं वरण करती है, उस विवाह-उत्सव में आये महेन्द्राचल के महाराज का वरण कर और वहाँ कलिंग-प्रदेशोत्पन्न हाथियों के कुम्भस्थल-(युगलों) के अपने (दमयन्ती के) कुचयुगल की शोभा के साथ कलह-विवाद को सुन ।

टिप्पणी—महेन्द्राचल का सात कुलाचलों में प्रथम उल्लेख होता है—'महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः । विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैवात्र कुलाचलाः ॥' (ब्रह्म०—२७।१९–२०) । इसी पर्वतोपलक्षित प्रदेश कलिंग के हाथी प्रसिद्ध हैं । महेन्द्राचलेश का वरण करने पर दमयन्ती को गजावलि के सान्निध्य की संपदा प्राप्त होगी, जिनके उन्नत कुम्भस्थल दमयन्ती के कुचयुगल के प्रतिद्वंद्वी हैं । यहाँ दमयन्ती के पीनोन्नत कुचयुगल से गजकुम्भस्थल की 'कलि' संभावित कर यह स्पष्ट किया गया है कि गजकुम्भ कुच-युगल-साम्य के अभिलाषी हैं, पर उस साम्य को प्राप्त न कर सकेंगे । इस संभावित प्रतियोगिता में यह स्पष्ट हो जायेगा । आशय यही है कि

महेन्द्रप्रदेश गजप्राय देश है। नारायणी व्याख्या मे 'स्वयवरोद्वाहमहे' को दमयन्ती का सबोधन भी माना गया है—'स्वयवरोद्वाह एव मह उत्सवो यस्यास्तत्सम्बुद्धिः।' अर्थात् हे स्वयवरोद्वाहरूप उत्सवकारिणी दमयन्ति ! ॥

अयं किलायात इतीरिपौरवाग्भयादयादस्य रिपुर्वृथा वनम्।
श्रुतास्तदुत्स्वापगिरस्तदक्षरा पठद्भिरत्रासि शुकैर्वनेऽपि स ॥२५॥

जीवातु—अयमिति । अय महेन्द्रनाथ, आयात किल इतीरिणाम् इतिवादिना, पौराणा वाग्भ्यो जनवादेभ्य, भयात् अस्य रिपुर्वृथा वनम् अयात्, वृथात्वमेवाह—श्रुता आकर्णिता, शुकैरिति भाव, तान्येव अक्षराणि अयमायात किलेत्येवरूपाणि यासु ताः तदक्षरा, तस्य एतदीयरिपो', उत्स्वापगिरो वासनायातान् उत्स्वप्नायितप्रलापान, पठद्भि उच्चारयद्भि, शुकैर्वनेऽपि स रिपु, अत्रासि त्रासित, त्रसेर्ण्य तात् कर्मणि लुङ् । अत्र सत्यपि त्रासनिवृत्तिकारणे शुकवाक्यनिमित्तेन तदुत्पत्ते, उक्तनिमित्तरूपो विशेषोक्तिभेद अलङ्कार', 'कारणसामग्रया कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्ति' इति सामान्यलक्षणात् ॥ २५ ॥

अन्वय—'अयम् आयात किल'—इतीरिपौरवाग्भयात् अस्य रिपु वृथा वनम् अयात्, श्रुता तदक्षरा तदुत्स्वापगिर पठद्भि शुकै वने अपि स अत्रासि ।

हिन्दी—'सुनते हैं कि यह (महेन्द्राचलाधीश) आ गया'—इस प्रकार कही जाती नागरिको की वाणी के डर से इस (महेन्द्राचलेश्वर) का शत्रु व्यर्थ ही वन चला गया, सुनी गयी उन्ही (सुनते हैं कि यह आ गया) अक्षरो वाली निद्रा प्रलाप वाणी को बोलते तोता द्वारा वन मे भी वह (शत्रु) डराया गया ।

टिप्पणी—आशय यह है कि यह महेन्द्राचलेश बडा वीर है । नागरिको से इसके आने की सभावना मात्र सुनकर इसका शत्रु राजा डर कर वन भाग जाता है । वहाँ भी वह 'यह आया—यह आया' ऐसा रात मे बडबडाता (बर्राता) रहा, जिसे सुनकर तोते भी 'यह आया, यह आया' रटन लगे । इस कारण शत्रु वन मे भी भयाक्रात ही रहा । व्यर्थ ही वन गमन हुआ बेचारे का, शान्ति वहाँ भी न मिली । यहाँ मल्लिनाथ के अनुसार भय-

निवृत्ति का कारण होने पर भी शुकवाक्य के निमित्त द्वारा भय की उत्पत्ति होने से उक्तनिमित्तरूप विशेषोक्ति भेद अलंकार है ॥ २५ ॥

इतस्त्रसद्विद्रुतभूभृदुज्झिता प्रियाऽथ दृष्टा वनमानवीजनैः।
शशंस पृष्टाऽद्भुतमात्मदेशजं शशित्विषः शीतलशीलतां किल ॥२६॥

जीवातु—इत इति। इतः अस्मात् महेन्द्रनाथात्; त्रसता बिभ्यता, अत एव विद्रुतेन पलायितेन, भूभृता प्रतिपक्षभूभुजा, उज्झिता वने त्यक्ता, प्रिया तत्कान्ता वनमानवीजनैः किरातीजनैः, दृष्टा; अथ दर्शनानन्तरम्, आत्मदेशजम् अद्भुतं त्वद्देशे किमद्भुतमस्तीति पृष्टा सती, अप्रधाने दुहादीनामित्यप्रधाने कर्मणि क्तः, शशित्विषः चन्द्रिकायाः, शीतलशीलतां शिशिरस्वभावतां, शशंस किल कथयामास खलु; अभिनवप्राप्तविरहाया मुग्धायाः चन्द्रकिरणानां विरहे दुःसहत्वमजानन्त्याः स्वदेशे शीतलत्वमत्र वने च उष्णत्वमिति भ्रान्तिरिति भावः ॥ २६ ॥

अन्वयः—इतः त्रसद्विद्रुतभूभृदुज्झिता प्रिया वनमानवीजनैः दृष्टा, अथ आत्मदेशजम् अद्भुतं पृष्टा शशित्विषः शीतलशीलतां शशंस किल।

हिन्दी—इस (महेन्द्राचलेश्वर से डर कर भागे प्रतिपक्षी राजा द्वारा (वन में) छोड़ी (प्रतिपक्षी नरेश) की प्रिया पत्नी को वनमानवियों (किरातियों–भीलनियों) ने देखा, और उसके पश्चात् पूछा कि उस (त्यक्ता प्रिया) के देश में विशिष्ट क्या है ? उसने कहा कि (वहाँ) चाँदनी शीतल होती है।

टिप्पणी—महेन्द्राचलेश्वर से डरा राजा अकस्मात् अपनी प्रिया को वन में छोड़कर भाग गया। वहाँ भीलनियों द्वारा नारीजनोचित स्वभाव के अनुकूल अपनेदेश की विशिष्टता पूछे जाने पर रिपुराजप्रिया ने यही बताया कि हमारे देश में चाँदनी शीतल होती है, यहाँ उष्ण है, नवीन विरह में बेचारी रिपुप्रिया को चाँदनी संतापकारिणी प्रतीत हो रही थी। ऐसा आतंक है महेन्द्रगिरीश का कि शत्रु-प्रिया को वन में भटकती छोड़ भाग गया है और वह वहाँ विरहतापाक्रांत रहती है भीलनी–वनवासिनी स्त्रियों के बीच। मुग्धा बेचारी को पूर्वाननुभूत नया-नया विरह प्राप्त हुआ; वह क्या

जोने कि वियोग में चाँदनी दुःसह—उष्ण हो जाती है। उसे यही भ्रांति हो गयी कि यहाँ चन्द्रिका शीतल नहीं होती, उसके देश में होती थी ॥ २६ ॥

इतोऽपि किं वीरयसे ? न कुर्वतो नृपान् धनुर्बाणगुणैर्वशंवदान् ।
गुणेन शुद्धेन विधाय निर्भरं तमेनमुर्वीवलयोर्वशी वशम् ॥ २७ ॥

जीवातु—इतोऽपीति । हे भैमि ! उर्वीवलयोर्वशी भूलोकाप्सरोविशेषा, त्वं शुद्धेन अनवद्येन, गुणेन सौन्दर्यगुणेन मौर्व्या च, एकेनैवेति भाव., तमेनं महेन्द्रनाथं, निर्भरं नितान्तं, वशं विधाय वशीकृत्य, धनुर्बाणगुणैः त्रिभिः साधनभूतैः, नृपान् वशंवदान् वश्यान्, प्रियवशे वदः खच् कुर्वत. कुर्वाणात्, इतोऽस्मादपि, महेन्द्रनाथादपीत्यर्थं, 'पञ्चमी' किं न वीरयसे ? न पराक्रमसे ? 'वीरशूरविक्रान्तौ' इति चौरादिकाल्लट्, व्यतिरेकालङ्कारः ॥ २७ ॥

अन्वयः—उर्वीवलयोर्वशी शुद्धेन गुणेन तम् एनं निर्भरं वशं विधाय धनुर्बाणगुणै. नृपान् वशंवदान् कुर्वतः इतः अपि किं न वीरयसे ?

हिन्दी—भूमंडल की उर्वशी (तुम दमयन्ती) केवल (चापादि के संस्पर्श से रहित) गुण (सौन्दर्यरूप प्रत्यंचा) से उस इस (महेन्द्राचलेश) को पूर्णतया वश में करके धनुष्, बाण और प्रत्यंचा (तीन) से राजाओं को वश मे करने इस (महेन्द्रगिरीश) से भी अधिक वीर क्या नहीं हो ? (अवश्य हो ।)

टिप्पणी—भाव यह कि महेन्द्राचलेश्वर सब से अधिक शूर है, धनुष् की डोरी पर बाण-वर्षा करके वह सबको वश में कर लेता है। दमयन्ती इससे भी अधिक वीरांगना है, क्योंकि महेन्द्राधिप को केवल एक गुण—सौन्दर्य से वह वश में कर रही है, जब कि वह शत्रु-जयार्थं तीन साधनों का उपयोग करता है—(१) धनुष्, (२) बाण और (३) प्रत्यंचा। जो तीन साधनों से सब को अधीन बनाता है, उसे दमयन्ती एक साधन से ही एकान्ततः अधीन बना सकती है। इस प्रकार निश्चय ही दमयन्ती में महेन्द्र-गिरीश की अपेक्षा अधिक वीरता है। यह राजा 'धनुर्ज्यागुण' तीन से जीतता है, दमयन्ती गुण—डोरीमात्र से, कितना आश्चर्य है। मल्लिनाथ के अनुसार व्यतिरेकालङ्कार ॥ २७ ॥

एतद्भीतारिनारी गिरिबिलविगलद्वासरा निःसरन्ती
स्वक्रीडाहंसमोहग्रहिलशिशुभृशप्रार्थितोन्निद्रचन्द्रा ।
आक्रन्दत् भूरि यत्तन्नयनजलमिलच्चन्द्रहंसानुबिम्ब-
प्रत्यासत्तिप्रहृष्यत्तनयविहसितैराश्वसीन्न्यश्वसीच्च ॥ २८ ॥

जीवातु—एतदिति । एतस्मात् भीतस्य अरेर्नारी गिरिबिलेषु पर्वतगुहासु, विगलन् वासरो यस्याः सा, तत्रैव नीतदिवसेत्यर्थः, निःसरन्ती सायं बिलाद्बहिः निष्क्रामन्ती, स्वक्रीडाहंसमोहेन मदीयः क्रीडाहंसोऽयमिति भ्रान्त्या, ग्रह आग्रहः तद्वान् ग्रहिलः, पिच्छादित्वादिलच्-प्रत्ययः, तेन साग्रहेण, शिशुना बालकेन, भृशम् अत्यर्थं, प्रार्थितो याचितः, उन्निद्रः परिपूर्णं इत्यर्थः, चन्द्रो यस्याः सा सती, भूरि भूयिष्ठं यथा तथा, आक्रन्दत् क्रन्दितवती, यत् यस्मादाक्रन्दनात्, तस्या मातुः, नयनजले मिलन् सङ्क्रामन्, चन्द्र एव हंसः तस्य योऽनुबिम्बः, प्रतिबिम्बः, तस्य प्रत्यासत्त्या समीपप्राप्त्या, प्रहृष्यतः तनयस्य विहसितैः मध्यमहासैः किञ्चिदुच्चहास्यैरित्यर्थः, 'मध्यमः स्याद् विहसितम्' इत्यमरः, आश्वसीद् तस्याग्रहशान्त्या आश्वासं प्राप्तवती, किन्तु न्यश्वसीच्च शोकेन दीर्घनिश्वासं परित्यक्तवती च इति दुर्दशानुभव-सूचकोक्तिः । 'ह्यचन्तक्षणश्वस—' इत्यादिना वृद्धिप्रतिषेधः, अत्र नारीशिशोः चन्द्रबिम्बे तत्प्रतिबिम्बे च हंसगतसादृश्यात् हंसभ्रान्तिनिबन्धनात् भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ २८ ॥

अन्वयः—एतद्भीतारिनारी गिरिबिलविगलद्वासरा निःसरन्ती स्वक्रीडाहंससम्मोहग्रहिलशिशुभृशप्रार्थितोन्निद्रचन्द्रा भूरि आक्रन्दत्, यत् तन्नयनजलमिलच्चन्द्रहंसानुबिम्बप्रत्यासत्तिप्रहृष्यत्तनयविहसितैः आश्वसीत् न्यश्वसीत् च ।

हिन्दी—इस (महेन्द्रगिरीश) से डरे शत्रु की स्त्री पर्वत के गुफा–बिल में दिन बिता जब (रात्रि में) बाहर निकली तब अपने (शिशु के) क्रीडाहंस की भ्रांति में पड़कर बच्चे द्वारा बारंबार पूर्ण चन्द्र की याचना करने पर बहुत रोयी; जिस (रुदन) से उस (अरिनारी) के नेत्र-जल (आँसु) में पड़ते चन्द्र रूप हंस के प्रतिबिम्ब से उस (क्रीडाहंस) की निकट-प्राप्ति के कारण प्रसन्न पुत्र की हंसी से आश्वस्त हुई और लम्बी साँस (उच्छ्वास) भी ली ।

टिप्पणी—महेन्द्राचलेश्वर का आतंक ऐसा है कि उसके शत्रु दिन म पर्वतगुहाओं में—वन्यपशु जैसे बिलों में घुसे रहते हैं, वैसे ही—छिपे पड़े रहते हैं। उनकी स्त्रियाँ रात को ही बाहर निकलती हैं। उस समय उनके बच्चे आकाश में उदित चन्द्र को देख कर उसे अपना क्रीडाहंस—'चंद खिलौना' समझ उसे पाने का माँ से आग्रह करते हैं। यहाँ जंगल में माँ बेचारी कहाँ से क्रीडा हंस लाकर दे कि बच्चा संतुष्ट हो? अपनी विवशता पर उसे इतना दुःख होता है कि वह बहुत रोती है, इतना कि नयन-जल में आकाश का चन्द्र प्रतिबिम्बित होने लगता है। आँसुओं में पड़ी चन्द्र की प्रतिच्छाया देख बच्चा समझता है कि उसका क्रीडा हंस माँ ने ला दिया। वह प्रसन्न हो हँसने लगता है। इस पर माँ आश्वस्त हो जाती है किन्तु बाद में दुःखभरी लम्बी साँस भी उसकी निकल जाती है। उसे लगता है कि कितने बुरे दिन हैं कि बच्चे को एक सामान्य खिलौना भी देना कठिन है। बेचारा आज भ्रम में पड़कर ही बहलने को बाध्य है। दैवदुर्विपाक! मल्लिनाथ के अनुसार भ्रान्तिमदलंकार, क्योंकि चन्द्र और उसके प्रतिबिम्ब में हंस सादृश्य के कारण शिशु को हुई हंस की भ्रान्ति का निबन्धन हुआ है॥ २८॥

अस्मिन् दिग्विजयोद्यते पतिरयं मे स्तादिति ध्यायति
कम्पं सात्त्विकभावमञ्चति रिपुक्षोणीन्द्रदारा धरा।
अस्यैवाभिमुखं निपत्य समरे यास्यद्भिरूर्ध्वं निजः
पन्था भास्वति दृश्यते बिलमयः प्रत्यर्थिभिः पार्थिवैः ॥२९॥

जिदातु—अस्मिन्निति। अस्मिन् महेन्द्रनाथे, दिग्विजयोद्यते सति, रिपुक्षोणीन्द्राणां दारा कलत्रभूता, धरा अयं महेन्द्रनाथ एव, मे मम, पतिः स्तात् अस्तु, अस्तेर्लोटि 'तुह्योः स्तातङ्' इति तुस्थाने तातङादेशः 'श्नसोरल्लोपः' इति अकारलोपः, इति ध्यायति सङ्कल्पयति, कम्पं कम्पाख्यं सात्त्विकभावम्, अञ्चति प्राप्नोति, औत्पातिके भूकम्पे सात्त्विकत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्या, किञ्चास्यैव समरे अभिमुखं निपत्य आगत्य, ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वलोकं, यास्यद्भिः प्रत्यर्थिभिः पार्थिवैः भास्वति सूर्यमण्डले, बिलमयः छिद्ररूपः, निजः पन्थाः दृश्यते, आसन्नमृत्यो आदित्यमण्डलं सच्छिद्रमिव दृश्यते इत्यागमः। अत्र

आत्मीयोर्द्ध्वगमनमार्गत्वोत्प्रेक्षा पूर्ववत् गम्या । 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ । परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥' इति ॥२९॥

अन्वयः—अस्मिन् दिग्विजयोद्यते रिपुक्षोणीन्द्रदाराः धरा 'अयं मे पतिः स्यात्'–इति ध्यायति, सात्त्विकभावं कम्पम् अञ्चति, अस्य एव समरे अभिमुखं निपत्य ऊर्ध्वं यास्यद्भिः प्रत्यर्थिभिः पार्थिवैः भास्वति बिलमयः निजः पन्था दृश्यते ।

हिन्दी–इस (महेन्द्रपर्वताधीश) के दिग्विजय के निमित्त उद्यत होने पर शत्रुभूपतियों की दारा रूपिणी धरती 'यह मेरा पति हो'–यह मनाती है और सात्त्विकभाव 'कंप' को प्राप्त होती है। इसी के साथ युद्ध में सम्मुख मरण को प्राप्त, ऊर्ध्वलोक जाते शत्रु पृथ्वीपतियों को सूर्यमंडल के मध्य अपना बिल (सुरंग) रूप मार्ग दीखता है।

टिप्पणी—भाव यह है कि जब महेन्द्राचलेश्वर दिग्विजयार्थं उद्यत ही होता है, तभी शत्रु की धरती पर भूकम्प होने लगता है–अशकुन, औत्पातिक भूडोल। इसे शत्रुदारारूप रिपुनारी की आकांक्षा के रूप में कहा गया है कि रिपुदारा धरा महेन्द्राचलाधिप के प्रति आसक्त हो जाती है और पतिरूप में उसकी अभिलाष करने लगती है, जिससे उसे सात्त्विक भाव 'कंप' हो जाता है। यह उत्पात-सूचक भूडोल नहीं, प्रिया धरा का सात्त्विक भाव है। शत्रु-गण इससे संम्मुख युद्ध कर निश्चयतः वीरगति प्राप्त करते हैं और इस कथन के आधार पर कि सूर्यमंडल भेद कर दो ही प्रकार के पुरुष ऊर्ध्वलोक प्राप्त करते हैं–एक योगी, दूसरे युद्ध में सम्मुख लड़कर वीर गति प्राप्त;—स्वर्ग-लोक प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह कि शत्रुओं का मरण और उनकी धरती पर महेन्द्राचलेश्वर का अधिकार होता ही है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ भूकम्प में सात्त्विक भाव और सूर्य में ऊर्ध्व-गमन-मार्ग की संभावना में गम्या उत्प्रेक्षा युगल है ॥ २९ ॥

विद्राणे रणचत्वरादरिगणे त्रस्ते समस्ते पुनः
कोपात् कोऽपि निवर्त्तते यदि भटः कोऽस्त्री जगत्युद्भटः ।
आगच्छन्नपि सम्मुखं विमुखतामेवाधिगच्छत्यसौ
द्रागेतच्छुरिकारयेण ठणिति च्छिन्नापसर्पच्छिराः ॥ ३० ॥

जीवातु—विद्राणे इति । समस्ते अरिगणे त्रस्ते रणचत्वरात्, रणाङ्गणात् विद्राणे विद्रुते सति, विद्राते. कर्त्तरि क्तः, 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वत' इति निष्ठा-तकारस्य नत्वम्, कीर्त्या जगति उद्भटः प्रसिद्धः, कोऽपि तेषाम-रिगणाना मध्ये कोऽपीत्यर्थः. भटः कोपात् पुनर्निवर्त्तते यदि, तदा सम्मुखम् अभिमुखम्, आगच्छन् अपि असौ भटः द्राक् सपदि, एतस्य छुरिकाया शस्त्रविशेषस्य, रयेण ठणिति कश्चिदनुकरणशब्द', तद्यथा छिन्नम् अपसर्पत् अपगच्छत्, शिरो यस्य स तादृश. सन् विमुखता पराङ्मुखत्वमेव, अधि-गच्छति । अत्र सम्मुखागतस्य विमुखत्वमिति विरोधः, विगतमुखत्वमिति तदर्थतया विरोधपरिहाराद्विरोधाभासोऽलङ्कार ॥ ३० ॥

अन्वयः—त्रस्ते रणचत्वरात् समस्ते अरिगणे विद्राणे कीर्त्या जगति उद्भट-कोऽपि भटः यदि कोपात् पुन. निवर्तते सम्मुखम् आगच्छन् अपि असौ एव च्छुरिकारयेण ठण् इति छिन्नापसर्पच्छिरा. द्राक् विमुखताम् एव अधिगच्छति ।

हिन्दी—डरकर संग्रामांगण से सम्पूर्ण वैरियों के भाग जाने पर यश के कारण संसार में प्रसिद्ध कोई योद्धा यदि क्रोधाग्निभूत हो पुन. (संग्रामस्थल) में लौटता है तो सम्मुख आकर भी वह इसे (महेन्द्राचलेश) की कटारी की तीक्ष्ण धारा से ठन शब्द करके छिन्न-मस्तक हो तुरन्त विमुखता (मुखरहितता, लौट जाना) को प्राप्त हो जाता है ।

टिप्पणी—प्राश्य यह है कि महेन्द्रचलाधीश बड़ा वीर है । संग्राम-भूमि में इसके सम्मुख कोई बड़ा से बड़ा वैरी रह ही नहीं पाता सब विमुख हो जाते हैं । या तो भाग कर पाण्डमुख होते हैं, या सम्मुख ठहरने पर छिन्नम-स्तक हो विमुख अर्थात् मुखहीन होते हैं । सम्मुख होकर विमुख विरोध है, इसका मुखहीन अर्थ करने पर परिहार हो जाता है, अत मल्लिनाथ और नारायण के अनुसार विरोधाभास अलकार । ठण् एक अनुकरणात्मक शब्द है जो लोह और कठ की हड्डी मे संघट से उत्पन्न हो सकता है । पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अनुसार यह ध्वन्यर्थव्यंजक अलकार है Onomatopoeia प्राणोमोटोपाइया ।३०॥

ततस्तदुर्वीन्द्रगुणाद्भुतादिव स्ववक्त्रपद्मेऽङ्गुलिनालदायिनी ।
विधीयतामाननमुद्रणेति सा जगाद वैदग्ध्यमयेङ्गितैव ताम् ॥ ३१ ॥

जीवातु—तत इति । ततस्तद्दर्शनानन्तरं, तस्य उर्वीन्द्रस्य महेन्द्रनाथस्य, गुणेषु अद्भुताद् आश्चर्यविशादिव, वस्तुतस्तु अनादरादिति भावः, स्ववक्त्रपद्मे अङ्गुलिमेव नालं पद्मदण्डं ददातीति तद्दायिनी, पद्मस्य नालाविनाभावादिति भावः; सा दमयन्ती, वैदग्ध्यमयं चातुर्यप्रचुरम्, इङ्गितं चेष्टितं यस्याः सैव सती, तां सरस्वतीम्, आननमुद्रणा मौनं, विधीयतामिति जगाद, वाक्यमन्तरेणैव मुखे अङ्गुलिदानरूपा निजमुखमुद्रैव तस्याः सरस्वतीं प्रति मौनोपदेशोऽभूदित्यर्थः; विदग्धा हि स्वेङ्गितेनैव परं बोधयन्तीति भावः । वचननिषेधार्थं आश्चर्यरसाभिनयार्थश्च लोकमुखेऽङ्गुलिर्दीयते । सरस्वत्यास्तद्वर्णननिषेधार्थं भैम्याः स्वमुखेऽङ्गुलिदानं तद्गुणाद्भुतादिवेति उत्प्रेक्षितं लोकैरिति भावः । अथोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—ततः सा उर्वीन्द्रगुणाद् अद्भुताद् इव स्ववक्त्रपद्मे अङ्गुलिनालदायिनी वैदग्ध्यमयेङ्गिता एव सा तां जगाद—आननमुद्रणा विधीयताम् इति ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (महेन्द्राचलाधीश के दर्शन और वर्णन के अनन्तर) उस भूपति के गुण-वर्णन से उत्पन्न आश्चर्य से जैसे अभिभूत, अपने मुख-कमल में अंगुलिरूप नाल (कमलदंड) देती, चातुरीभरे संकेत से ही उस (दमयंती) ने उन (सरस्वती) से कह दिया कि कृपया मुख-मुद्रणा करलें (चुप हो जायें)।

टिप्पणी—महेन्द्राचलाधीश्वर का विवरण सुनती-सुनती दमयंती जब ऊब गयी तो उसने अपने मुख में उंगली रख ली, जैसे कमल में कमलनाल। यह आश्चर्यविद की संकेतक मुद्रा भी है और वचन-निषेध की भी। यह बड़ा चातुरीभरा व्यापार था ऊपर ऊपर आश्चर्याभिभूतता का व्यंजन भी होता रहा, पर अरुचि भी प्रकट हो गई कि स्तवन अब समाप्त किया जाय। लोगों ने इस वर्णन-निषेधार्थक मुखांगुलिदान को दमयंती का महेन्द्राचलेश्वर के गुणों के प्रति आश्चर्यचकित होना संभावित किया, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है ॥ ३१ ॥

अनन्तरं तामवदन्नृपान्तरं तदध्वदृक्कारतरङ्गरिङ्गणा ।
तृणीभवत्पुष्पशरं सरस्वती स्वतीव्रतेजःपरिभूतभूतलम् ॥ ३२ ॥

जीवातु—अनन्तरमिति । अनन्तर तद्वर्णननिषेधावगत्यनन्तरं सरस्वती तस्य नृपान्तरस्य अध्वनि दिशि, दृशोः तारतरङ्गरिङ्गणा नयनव्यापारप्रौढो-मिरचना यस्याः सा सती, नृपान्तरं दृशा निदिशन्तीत्यर्थ, ता दमयन्ती तूणी-भवन् पुष्पशरो यस्य तं तूणीकृतमन्मथं, स्वस्य तीव्रेण तेजसा परिभूत भूतल येन त, नृपान्तरम् अन्यं नृप लक्षीकृत्य इति शेष., अवदत् । ब्रुविसमानार्थक-त्वात् द्विकर्मकत्वम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—अनन्तरं तदध्वदृक्तारतरङ्गरिङ्गणा सरस्वती तूणीभवत्पुष्पशरं स्वतीव्रतेज परिभूतभूतल नृपान्तर ताम् अवदत् ।

हिन्दी—इसके पश्चात् (दमयन्ती का आशय समझ महेन्द्रचलाधीश का वर्णन समाप्त करके) उस (अन्य नृप) की ओर नयनो की विशाल तरगे उल्लसित करती (दृष्टि संकेत करती) सरस्वती पुष्पबाण (काम) को तिनके तुल्य हीन बनाने वाले तथा अपने तीव्र तेज से भूमंडल को वशीभूत करने वाले अन्य नृप के विषय में उस (दमयन्ती) से कहने लगी ।

टिप्पणी—सरस्वती ने दमयन्ती का आशय समझ महेन्द्रचलाधिपति का गुणवर्णन समाप्त कर दिया और दूसरे राजा (काञ्ची-नरेश) की ओर दृष्टिपात करती उसका वर्णन करने लगी । यह राजा कामदेव से कहीं अधिक मनोरम और अत्यन्त तेजस्वी था ॥ ३२ ॥

तदेव किन्नु क्रियते न ? का क्षतिः ? यदेष तद्दूतमुखेन काङ्क्षति ।
प्रसीद काञ्चीमयमाच्छिनत्तु ते प्रसह्य काञ्चीपुरभूपुरन्दरः ॥ ३३ ॥

जीवातु—तदिति । हे भैमि ! एष काञ्चीपुरभूपुरन्दर काञ्चीनगरालङ्कृत-देशाधीश्वर, तस्य त्वा प्रति प्रेषितस्य, दूतस्य मुखेन यत् त्वद्वरणादिक, काङ्-क्षति, तत् काङ्क्षितमेव, किं नु कथ, न क्रियते ? त्वयेति शेष, अपितु कर्त्तव्यमेव तदित्यर्थ.; का क्षतिः ? तत्करणे तव का हानि ? प्रत्युत श्रेय एवेति भाव, अथ तत्काङ्क्षितमेव विज्ञापयति, अय काञ्चीपतिः, ते नवसङ्गमे लज्जितायाः तव इति भावः, काञ्ची वसनबन्धदार्ढ्यार्थं बद्धां मेखलां, प्रसह्य बलात्, आच्छिनत्तु आच्छिद्य गृह्णातु, काञ्चीपते. बलपूर्वक काञ्चीग्रहणस्य उचितत्वादिति भाव, अत एव प्रसीद प्रसन्ना भव, अनुमन्यस्वे-त्यर्थः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—एषः काञ्चीपुरमुपुरन्दरः तद्दूतमुखेन यत् कांक्षति, तद् एव किं नु क्रियते ? का क्षतिः ? अयं ते काञ्चीं प्रसह्य छिनत्तु, प्रसीद।

हिन्दी—यह काञ्चीपुरी का धरणींद्र अपने दूत के मुख (माध्यम) से जो चाहता है, वही (तुम दमयन्ती) क्यों नहीं कर देतीं ? क्या हानि है ? यह (कांचीपति) तेरी कांची (करधनी, मेखला) को हठात् पकड़ कर तोड़ दे, प्रसन्न हो जा (इस पर)।

टिप्पणी—काञ्चीपति ने दमयन्ती से विवाहार्थ दूत द्वारा संदेश भेजा था सरस्वती उसी की ओर विनोदपूर्वक संकेत करती दमयन्ती से कहने लगीं कि वह कांचीनरेश की इच्छा पूर्ण कर दे कि वह नवसंगम-लज्जिता उसकी मेखला का बंधन तोड़ देने का सौभाग्य प्राप्त कर सके। जो 'कांची' का स्वामी है वह कांची ग्रहण कर सके, यह उचित ही होगा ॥ ३३ ॥

मयि स्थितिर्नम्रतयैव लभ्यते दिगेव तु स्तब्धतया विलङ्घ्यते।
इतीव चापं दधदाशुगं क्षिपन्नयं नयं सम्यगुपादिशद् द्विषः ॥ ३४ ॥

जीवातु—मयीति। अयं काञ्चीपतिः, चापं दधत् आशुगं बाणं, क्षिपन् सन् द्विषः शत्रून्, मयि मत्समीपे, नम्रतयैव अवनतया एव प्रणतया च, स्थितिः अवस्थानं, स्वराज्ये प्रतिष्ठा इत्यर्थः, लभ्यते, स्तब्धतया अनम्रतया तु, दिगेव विलङ्घ्यते अतिक्रम्यते, स्वराज्य त्यक्त्वा दिगन्तरं गम्यते इत्यर्थः, इति नयं नीतिं, सम्यक् उपादिशदिव, ब्रूञर्थत्वात् द्विकर्मकः, उभयथापि युष्माभिरिति शेषः। धनुर्बाणदृष्टान्तेन द्विषां नम्रत्वे स्वराज्ये स्थितिः, अन्यथा स्वराज्यं त्यक्त्वा दिगन्तरगमनमिति वचनं विनैवोपादिशदिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥

अन्वयः—चापं दधत् आशुगं क्षिपन् अयं 'द्विषः मयि नम्रतया एव स्थितिः लभ्यते, स्तब्धतया तु दिक् एव विलङ्घ्यते'—इति नयं सम्यक् उपादिशत् इव।

हिन्दी—धनुर्धारण करता और (उस पर रख) बाण-प्रक्षेपण करता यह (कांचीश) मानो (अपनी) इस नीति का शत्रुओं को भलीभांति उपदेश करता है कि, मेरे निकट विनम्रभाव से ही (शत्रु की) स्थिति ('निवास' और राज्यलाभ) हो सकती है, अविनीत (उद्धत) भाव से तो दिशातिक्रमण ही करना होगा (राज्य छोड़ भागना पड़ेगा)।

-टिप्पणी—युद्ध पराक्रमी काचीनरेश जैसे शत्रुओं पर चाप-बाण के दृष्टांत से स्पष्ट कहा करता है कि यदि मेरे पास धनुष् के तुल्य झुककर विनम्र रहोगे, तो तुम सकुशल 'स्थित' रहोगे, जैसे कि धनुष् है और यदि तने रहोगे बाण की भाँति तो उसी के समान दूर जाना पड़ेगा। भाव यह है विनम्रता से रहोगे तो राज्य बना रहेगा, अविनीत रहोगे तो इधर-उधर मारे मारे फिरना होगा। वचन बिना ही उपदेश देता है—इस आधार पर मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा है। नारायण ने भी नम्र-स्तब्ध शब्दों की वक्रता और अवक्रता के विनीतता और अविनीततार्थपरक होने के आधार पर यहाँ उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है॥ ३४॥

अद:समितसम्मुखवीरयौवतत्रुटद्भुजाकम्बुमृणालहारिणी ।
द्विपद्गणस्त्रैणदृगम्बुनिर्झरे यशोमरालावलिरस्य खेलति ॥ ३५ ॥

जीवातु—अद इति। अस्य काञ्चीपतेः, यशसामेव मरालानां हंसानाम्, आवलिः श्रेणी, अमुष्य भूपते, समित्सु युद्धेषु, सम्मुखानां वीराणां यानि यौवतानि युवतीसमूहाः, 'गर्भिणं यौवतं गणे' इत्यमरः। 'भिक्षादिभ्योऽण्' इति युवतिशब्दस्य भिक्षादिपाठात् समूहार्थेऽण्-प्रत्ययः, 'भस्याढे तद्धिते' इति पुंवद्भावश्च, तेषां वैधव्यवशात् त्रुटचन्ति भ्रश्यन्ति, भुजाभ्यः यानि कम्बूनि शङ्खवलयानि, 'शङ्खः स्यात् कम्बुरस्त्रियाम्' इत्यमरः, तान्येव मृणालानि तानि हरतीति तद्धारिणी सती द्विपद्गणस्य तदीयारिवर्गस्य, स्त्रैणे स्त्रीसम्बन्धिनि, दृगम्बुनिर्झरे नेत्रजलप्रवाहे, खेलति क्रीडति। 'स्त्रीणां पुंसाञ्च यत्किञ्चित् स्त्रैणं पौस्नमिति क्रमात्' इति कोषः। 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' इति नञ्। रूपकालङ्कारः॥ ३५॥

अन्वय—अदःसमितसम्मुखवीरयौवतत्रुटद्भुजाकम्बुमृणालहारिणी अस्य यशोमरालावलिः द्विपद्गणस्त्रैणदृगम्बुनिर्झरे खेलति।

हिन्दी—इस (काचीपति) के युद्ध में समुख (लड़े) वीरों की तरुणी पत्नियों की भुजाओं से (वैधव्य के कारण) टूटकर गिरे शंख-वलय रूप मृणालों का (आहारार्थ) अपहरण करती इस (काचीश) की यशोरूपिणी हंसावली शत्रुगण की स्त्रियों के नेत्रजल के प्रवाह में क्रीडा करती है।

टिप्पणी—आशय यह है कि कांचीपति संमुख आकर लड़े शत्रु-नरेशों का वध कर देता है, जिससे उसे यश प्राप्त होता है। शत्रुनारियाँ विधवा होकर अपने भुजबंद आदि आभूषण उतार फेंकती हैं और रुदन करती हैं। कविसमयानुसार यश के श्वेत होने के कारण उसकी समता हंसावली से की गयी है, जो शत्रुनारियों की भुजाओं से टूट गिरे शंख-वलय-रूप मृणाल का आहार करती है और आँसू रूप निर्झर में सानन्द क्रीडा करती है। मल्लिनाथ के अनुसार रूपकालंकार ॥ ३५ ॥

सिन्दूरद्युतिमुग्धमूर्द्धनि धृतस्कन्धावधिश्यामिके
व्योमान्तःस्पृशि सिन्धुरेऽस्य समरारम्भोद्धुरे धावति ।
जानीमोऽनु यदि प्रदोषतिमिरव्यामिश्रसन्ध्याधियै-
वास्तं यान्ति समस्तवाहुजभुजातेजःसहस्रांशवः ॥ ३६ ॥

जीवातु—सिन्दूरेति। सिन्दूरं 'सिन्दूरं नागसम्भवम्' इत्यमरः। तस्य द्युतिभिः मुग्धमूर्द्धनि सुन्दरमस्तके, धृता स्कन्धोऽवधिः यस्याः सा श्यामिका येन तस्मिन्, स्कन्धपर्यन्तश्यामले तत उपरि सिन्दूरारुणे इत्यर्थः, व्योमान्तःस्पृशि उच्चतया अभ्रङ्कषे, अस्य काञ्चीपतेः, सिन्धुरे गजे, समरारम्भेषु उद्धुरे निर्भरे, अनर्गले इत्यर्थः, 'ऋक्पूरब्धूः—'इत्यादिना समासान्तः, धावति अभिमुखागते सति, अनु अनन्तरं, समस्तबाहुजानां समस्तक्षत्रियाणां, भुजातेजांसि भुजप्रतापा एव, सहस्रांशवः सूर्याः, प्रदोषतिमिरेण सह व्यामिश्रसन्ध्यायाः मिलितसन्ध्यायाः, धिया बुद्धया एव, भ्रान्त्या एव इत्यर्थः, अस्तं यान्ति इति जानीमः यदि, यदि शब्दः सम्भावनार्थः, श्यामारुणसिन्धुरे तिमिरमिश्रसन्ध्याभ्रान्त्यैव ते अस्तं यान्ति इति सम्भावयामः किम्? इति उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—सिन्दूरद्युतिमुग्धमूर्द्धनि धृतस्कन्धावधिश्यामिके व्योमान्तःस्पृशि अस्य सिन्धुरे समरारम्भोद्धुरे धावति (अनु) समस्तवाहुजभुजातेजःसहस्रांशवः यदि अस्तं यान्ति, प्रदोषतिमिरव्यामिश्रसन्ध्याधिया एव जानीमः।

हिन्दी—सिन्दूर की दीप्ति से मनोरम ललाट वाले, स्कन्ध भाग तक काले, गगनमण्डस्पर्शी इस (कांचीश) के गजराज के युद्धारंभ में उद्यत

(जजीर से खुले) हो समुख दौडने पर सपूर्ण क्षत्रियो के बाहु प्रतापरूप सहस्रकिरण (सूर्य) जो अस्त हो जाते हैं, सो प्रदोष (सायकाल) के अँधियारे से सयुत संन्ध्या की बुद्धि से ही—यह समझ आता है।

टिप्पणी—भाव यह है कि युद्धारभ होते ही काचीपति के विशाल गज को देखते ही शत्रुयोद्धा निस्तेज हो जाते हैं और समरांगण से भाग जाते हैं अथवा शरणागत हो जाते हैं। इसे सध्या और सूर्यास्त के रूप मे विशेष भगिमा दी गयी है। शत्रुभटो का भुजप्रताप सूर्य है और काला गजराज सध्या का अधकार। सध्या आकाश मध्य घिरती है, युद्धगज भी गगन-मध्यस्पर्शी है। सध्या भी श्यामल और एक भाग मे सिंदूरारुण होती है, गजराज भी स्कन्ध भाग तक काजल वाला है और उसके मस्तक पर भी सिंदूर पुता हुआ है। मनोहर सध्या के समान सिंदूराचित श्यामल गजराज भी दर्शनीय है। 'बाहुजभुजातेज सहस्रांशु' को गज मे 'प्रदोषतिमिरमिश्र सध्या' की बुद्धि होगी ही। जैसे सायकाल को सूर्य छिप जाता है, वैसे ही काचीश के गजराज सायकाल के समुख आते ही क्षत्रियतेज सूर्य अस्त हो जाता है। मल्लिनाथ ने 'यदि' शब्द को सभावनार्थक मानकर उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है। तृतीयचरणारम मे 'जन्मीमोऽस्य तदा' भी पाठ मिलता है। यहाँ 'अथ' का अर्थ 'यत्' (जो) और 'तदा' का 'तत्' (सो) समझना चाहिए। नारायण ने 'अनु' के स्थान मे 'नु' पाठ समीचीन माना है। 'अनु' पाठ विशेष सगत नही लगता ॥ ३६ ॥

> हित्वा दैत्यरिपोरुरः स्वभवनं शून्यत्वदोषस्फुटा-
> सीदन्मर्कटकीटकृत्रिमसितच्छत्रीभवत्कौस्तुभम् ।
> उज्झित्वा निजसद्म पद्ममपि तद्व्यक्तावनद्धीकृत
> लूतातन्तुभिरन्तरस्य भुजयो श्रीरस्य विश्राम्यति ॥ ३७ ॥

जीवातु—हित्वेति। श्री लक्ष्मी, स्वभवनं निजनिवास, दैत्यरिपो विष्णो, उर शून्यत्वदोषेण लक्ष्म्यास्त्यागजन्यरिक्ततादोषेण, स्फुटमासीदन्त प्रत्यासीदन्त, ये मर्कटकीटास्तन्तुवायकीटा, 'लूता स्त्री तन्तुवायोर्णनाभमर्कटका समा' इत्यमर, तेषा सम्बन्धि यत् कृत्रिमसितच्छत्र सितच्छत्राकार लूतातन्तुवितान-

मण्डलं, तथाभवन् तद्रूपीभवन्, कौस्तुभः तदाख्यो मणिः यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा हित्वा, निजसद्म नित्यनिवासभवनं, तत् प्रसिद्धं, पद्ममपि लूतातन्तुभिः व्यक्तम् अवनद्धीकृतं बद्धं यथा तथा, उज्झित्वा अद्य सम्प्रति, अस्य भुजयोरन्तर्विश्राम्यति। अत्रैकस्याः श्रियः क्रमेणानेकाधारवृत्त्युक्त्या पर्यायालङ्कारभेदः, तेनैव तद्भुजयोः श्रीरञ्जने विष्णूरःपद्माभ्यामप्यधिकं वस्तु व्यज्यते ॥ ३७ ॥

अन्वयः—श्रीः शून्यत्वदोषस्फुटासीदन्मर्कटकीटकृत्रिमसितच्छत्री भवत्कौस्तुभं स्वभवनं दैत्यरिपोः उरः हित्वा, लूतातन्तुभिः व्यक्तावनद्धीकृतं निजसद्म तत् पद्मम् अपि उज्झित्वा अद्य अस्य भुजयोः अन्तः विश्राम्यति।

हिन्दी—लक्ष्मी शून्यता (सूनापन, निर्जनता) के दोष के कारण (सूना होने से) लग गये मर्कटकीट (मकड़ी) के जालों से जिसकी कौस्तुभमणि श्वेतच्छत्र-सी हो गयी है, ऐसे अपने आवास दैत्यारि (विष्णु) के वक्ष का परित्याग कर और मकड़ी के जालों से स्पष्टतः घिर कर बँधे अपने घर उस कमल को भी छोड़कर आज इस (कांचीनरेश) की भुजाओं के मध्य विश्राम कर रही है।

टिप्पणी—आशय है कि कांचीश्वर आज समग्रतया श्री-संपन्नता से युक्त है। लक्ष्मी आज उसकी भुजाओं के मध्य विश्राम कर रही है। लक्ष्मी के दो आवास थे, विष्णु का कौस्तुभमणिमंडित वक्षस्तल और-और कमल। वे सूने पड़े हैं और शून्य गृहों में मकड़ी के जाले लग गये हैं। दो-दो घरों में आती-जाती बेचारी श्री थक गयी। उन दोनों के बीच दूरी भी पर्याप्त थी, सो वह कांचीश की भुजाओं के मध्य विश्राम करने लगी और उधर सूने पड़े उसके दोनों घरों में मकड़ी के जाले लग गये। कौस्तुभ श्वेत होने से मकड़ी के जाले का श्वेत छत्र लग रहा है, और कमल बिसतंतुओं से (जालों से) आबद्ध हो गया है। कैसे जाये लक्ष्मी उनमें? अब स्थिर होकर कांचीपति के भुजावास में शोभित हैं। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा, मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ एक श्री की क्रम से अनेक आधारों में वृत्ति के कथन के कारण पर्यायालंकार का एक भेद है, जिससे कांचीपति की भुजाओं का, श्री-रंजन की दृष्टि से, विष्णु के उर और कमल दोनों से श्रेष्ठ होना—

वस्तु व्यजित होती है। दमयन्ती को सकेत है कि इस महान् समृद्धिशाली नरेश का वरण उचित है, लक्ष्मी भी विष्णु तक को त्याग कर इसके निकट आ गयी है ॥ ३७ ॥

सिन्धोर्जैत्रमय पवित्रमसृजत्तत्कीर्तिपूर्ताद्भुत
यत्र स्नान्ति जगन्ति सन्ति कवयः के वा न वाचयमाः ? ।
यद्बिन्दुश्रियमिन्दुरञ्चति जलञ्चाविश्य दृश्येतरो
यस्यासौ जलदेवतास्फटिकभूर्जागर्ति यागेश्वरः ॥ ३८ ॥

जीवातु—सिन्धोरिति । अय काञ्चीपतिः, सिन्धोरब्धेः जैत्र जेतृ, जयशीलमित्यर्थः, ततोऽप्यधिकमिति भावः, जेतृशब्दात् तृन्नन्तात् प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्-प्रत्ययः, पवित्रं पावनं, तत्तया प्रसिद्ध, कीर्तिरेव पूर्तं खातं, 'न पुष्याख्यामूर्च्छिमदाम्' इति निष्ठातस्य नत्वप्रतिषेधः तदेवाद्भुतमसृजत् यत्र पूर्ते, जगन्ति लोका , स्नान्ति, यत्र यस्मिन् विषये, के वा कवय कवयितारः, वाच यच्छन्तीति वाचयमा निरुद्धवाचः, न सन्ति ? सर्वेऽपि मौनिनो भवन्ति वर्णयितुमशक्यत्वादित्यर्थः, 'वाचि यमो व्रते' इति खच्-प्रत्ययः । 'वाचयम-पुरन्दरौ च' इति निपातनान्नुमागमः, इन्दुः यस्य पूर्तस्य, बिन्दुश्रियमञ्चति प्राप्नोति, तदपेक्षया अल्पत्वात् इन्दुः यदीयो बिन्दुरिवेति भावः, असौ इन्दु, यस्य जलञ्चाविश्य दृश्येतर. सावर्ण्यादिदृश्य', जलदेवता आप्यशरीरदेवता-विशेषश्चासौ स्फटिकाद्भवतीति स्फटिकोद्भवः, यागेश्वरः सन् जागर्ति, स्फटि-कलिङ्गे यागेश्वर इति प्रसिद्धिः ॥ ३८ ॥

अन्वय—अय सिन्धो जैत्र पवित्रं तत् कीर्तिपूर्तादद्भुतम् असृजत्, यत्र जगन्ति स्नान्ति, के वा न कवय. वाचयमाः सन्ति ? इन्दु यद्बिन्दुश्रियम् अञ्चति यस्य च जलम् आविश्य दृश्येतर., जलदेवता स्फटिकभू. असौ यागेश्वर. जागर्ति ।

हिन्दी—इस (काचीनरेश) ने समुद्र-जयी, पवित्र उस अद्भुत यशः-सरोवर का निर्माण किया है, जिसमे ससार स्नान कर उज्ज्वल होता है; अथवा कौन-से वे कवि हैं जिनकी वाणी (इसके वर्णन मे) निरुद्ध नही हो जाती ? (अथवा कौन-से 'के जले वयः पक्षिण ' जल पक्षी और 'वाचयमाः' मौनी तापस यहाँ नही है ?) चन्द्र जिसकी बिन्दु की शोभा को प्राप्त है

और जिसके जल में प्रविष्ट हो, नयन-अगोचर जलदेवता, कैलासवासी ये यज्ञेश्वर (स्फटिक शिवलिंग) स्फुरित हैं।

टिप्पणी—भावार्थ यह है कि कांचीनरेश महान् यशस्वी है। कांचीपति के यश को एक अद्भुत तडाग कहा गया है, जो समुद्र से भी बड़ा है, अर्थात् समुद्र पार तक कांचीश का यशोविस्तार है। यह यशरूपी सरोवर अवर्णनीय है, संसारव्यापी है। इसके एक बिन्दु की शोभा चन्द्र से अधिक है कि वह अपने को अल्प समझ जल में घुस गया और पुनः स्फटिक निर्मित जलदेव यागेश्वर के रूप में प्रकट हुआ। सच्चा स्फटिक जलसदृश स्वच्छ होता है और जल में रहने पर नहीं दीखता। यही उसकी पहिचान है। समुद्र की अपेक्षा यह यशःपूर्त्त कई दृष्टियों से श्रेष्ठ, अतएव समुद्रजयी है। समुद्र पर्वातिरिक्त काल में पवित्र नहीं होता 'सागरं पर्वणि स्पृशेत्'—यशःसर सदा पवित्र और समग्र त्रिलोकी के स्नान-योग्य है, जब कि सागर में त्रिलोकी के जन नहीं भूतलवासी ही स्नान कर सकते हैं। समुद्र वर्णनातीत नहीं है, यशःसर अवर्णनीय है। सागर का सर्वस्व चन्द्र यशस्तडाग के एक बिन्दु के तुल्य है। समुद्र में देव विष्णु सोये रहते हैं, जब कि यश.पूर्त्त में स्फटिकलिंगी जागेश्वर जागृतदेवता हैं॥ ३८॥

अन्तःसन्तोपवाष्पैः स्थगयति न दृशस्ताभिराकर्णयिष्यन्
नाङ्गेनानस्तिलोमाऽऽरचयति पुलकश्रेणिमानन्दकन्दाम्।
न क्षोणीभङ्गभीरुः कलयति च शिरःकम्पनं तस्य विद्मः
शृण्वन्नेतस्य कीर्त्तीः कथमुरगपतिः प्रीतिमाविष्करोति ?॥३९॥

जीवातु—अन्तरिति। एतस्य राज्ञः, कीर्त्तीः शृण्वन् उरगपतिः शेषः, ताभिः दृग्भिः; आकर्णयिष्यन् श्रोष्यन्, अत एवान्तःसन्तोपवाष्पैः दृशः न स्थगयति नाच्छादयति, अन्यथा चक्षुःश्रवसोऽस्य रूपग्रहणवच्छब्दग्रहणस्यापि तैः प्रतिबन्धसम्भवादिति भावः; यतः सः अङ्गेन वपुषा, 'येनाङ्गविकारः' इति तृतीया, अङ्गेनेति पाठे—यतः सः अङ्गे वपुषि; अस्तिलोमा न भवतीति अनस्तिलोमा; अविद्यमानलोमा अस्तीत्यव्ययं विद्यमानपर्यायः, तस्य सम्बन्धि अस्तिक्षीरादिवचनात् बहुव्रीहिः, अत एव आनन्द-कन्दाम् आनन्द एव कन्दो मूलं यस्याः ताम् आनन्दजनितां, पुलकश्रेणिं न आरचयति, तथा क्षोणीभङ्गभीरुः

पृथिवीपतनभीत:, शिर:-कम्पनञ्च, सन्तोषसूचकमिति भाव:, न कलयति, तत्तस्माद्, कथं केन प्रकारेण, प्रीतिमाविष्करोति? उरगपतिरिति शेष:, इति न विद्म:, वाक्यार्थ: कर्म ॥ ३९ ॥

अन्वय—उरगपति: तामि: आकर्णयिष्यन् अन्त: सन्तोषबाष्पै: दृशः न स्थगयति, अनस्तिलोमा आनन्दकन्दाः पुलकश्रेणिम् अङ्गे न रचयति, क्षोणीभङ्गभीतः च शिर:कम्पनं न कलयति, तत् न विद्म:—एतस्य कीर्तीः शृण्वन् प्रीतिं कथम् आविष्करोति।

हिन्दी—सर्पराज (शेषनाग) क्योंकि उन (नेत्रों) से सुनता है, सो अन्त:सतोषजनित आनन्दाश्रुओं से नेत्र पूर्ण करके उन्हें बन्द नहीं कर लेता, रोमहीन है, अतः आनन्दमूलक रोमाचपंक्तियाँ शरीर में नहीं रचता, पृथ्वी का पतन हो जाने के भय से सिर भी नहीं हिलाता,—सो समझ नहीं पड़ता कि वह इस (काचीश) के यश को सुनकर अपना प्रेम—सतोष कैसे प्रकट करता है?

टिप्पणी—कांचीपति का यश अद्भुत भी है और अवर्णनीय भी, शेषनाग भी किसी प्रकार उनकी व्यक्ति नहीं कर सकते। न सहस्रमुखों से और न किसी प्रकार की अनुभाव-चेष्टाओं से। यदि आनन्दाश्रु बहाने लगें तो नेत्र बन्द हो जायें और फिर वे सुनने योग्य भी न रह जायें, क्योंकि सर्प होने से शेषनाग भी चक्षुःश्रवा हैं। रोम हैं ही नहीं उनके शरीर में, सो पुलक भी प्रकट नहीं कर सकते, और सिर तक नहीं हिला सकते, क्योंकि डर है कि शिर:कंप से धरती गिर न जाय, भूकम्प न हो जाय। बड़ी विवशता है नागराज की कि अपना प्रेम, आनन्द और रुचि भी प्रकट नहीं कर सकते हैं ॥ ३९ ॥

> आचूडाग्रममज्जयज्जयपटुर्यच्छल्यकाण्डानयं
> सरम्भे रिपुराजकुञ्जरघटाकुम्भस्थलेषु स्थिरान्।
> मा सेवाऽस्य पृथुः प्रसीदसि तया नास्मै कुतस्त्वत्कुच-
> स्पर्द्धागर्द्धिषु तेषु तान् घृतवते दण्डान् प्रचण्डानपि? ॥ ४० ॥

जीवातु—आचूडेति। जये पटुः समर्थः, अयं राजा, सरम्भे सङ्ग्रामे, रिपुराज-कुञ्जरघटाना प्रतिपक्षभूपहस्तिसमूहानां, कुम्भस्थलेषु स्थिरान् दृढान्, शल्य-

काण्डान् शरकाण्डान्; आचूडाग्रम् आपुङ्खमुखम्, अमज्जयत् निखातवान्, इति यत् सा अस्य राज्ञः कर्त्तुः, पृथुर्महती, सेवा, तवेति शेषः; तया सेवया, त्वत्कुचाभ्यां सह स्पर्द्धागर्द्धिषु साहस्याद् मत्सरगृध्नुषु, तेषु कुञ्जरकुम्भेषु अपराधिषु, प्रचण्डान् उग्रान्, तान् दण्डान् धृतवतेऽपि अस्मै राज्ञे, कुतो न प्रसीदसि ? एनं वृणीष्व इति भावः ॥ ४० ॥

अन्वयः—जयपटुः अयं संरम्भे रिपुराजकुञ्जरघटाकुम्भस्थलेषु स्थिरान् शल्यकाण्डान् आचूडाग्रम् अमज्जयत्; सा अस्य पृथुः सेवा; तथा त्वत्कुचस्पर्द्धागर्द्धिषु तेषु तान् प्रचण्डान् दण्डान् धृतवते अस्मै कुतः न प्रसीदसि ?

हिन्दी—विजयप्रवीण इस (कांचीश) ने युद्ध में शत्रुनरेशों की गज-सेना के कुम्भस्थलों में गहरे तक लोहशूल (लोहवाण) पुंखभाग पर्यन्त (पूरे-पूरे) प्रविष्ट कर दिये; यह इसकी बड़ी सेवा है। उस (सेवा) के द्वारा तेरे (दमयन्ती के) स्तनों से साम्य के अभिलाषी उन (कुम्भस्थलों) के प्रति उन (शल्यकांडों) के प्रवेश रूप में उग्र दण्डों का निर्धारण करते इस (कांचीपति) पर क्यों (दमयन्ती तुम) प्रसन्न नहीं होतीं ?

टिप्पणी—यह कांचपति बड़ा शूर है, साथ ही दमयन्ती के अंगो से स्पर्द्धा करने का साहस करने वालों को दण्ड-निर्धारण भी कर देता है, अतः वरणीय है ॥ ४० ॥

स्मितश्रिया सूक्वणि लीयमानया वितीर्णया तद्गुणशर्मणेव सा ।
उपाहसत् कीर्त्यमहत्त्वमेव तं गिरां हि पारे निषधेन्द्रवैभवम् ॥ ४१ ॥

जीवातु—स्मितेति । सा भैमी तस्य काञ्चीपतेः, गुणशर्मणा इव गुणश्रवणजन्यसुखेनेव, वस्तुतस्तु अनादरादिति भावः; वितीर्णया विसृष्टया, सूक्वणि अधराञ्चले, लीयमानया सङ्कुचन्त्या, स्मितश्रिया मन्दहासप्रभया, कीर्त्यं वर्णयितुं शक्यं, महत्त्वं यस्य तमेव वाच्यमानमहत्त्वमेव, तं काञ्चीपतिम्, उपाहसत् उपहसितवती; हि यतः, निषधेन्द्रवैभवं नलमाहात्म्यम्, गिरां पारे वागविषयो न भवतीत्यर्थः; नलमाहात्म्यं वर्णनातीतम् अस्य तु वर्णनासाध्यम्, अतो नलापेक्षया न्यूनत्वात् तमुपहसितवतीति भावः। अत्र नलानुरागाख्येन कारणेन एतदपरागरूपकार्यसमर्थनाद् तद्रूपार्थान्तरन्यासः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—सा तद्गुणशर्मणा इव वितीर्णया सृक्कणि लीयमानया स्मित-श्रिया एव कीर्त्यं महत्त्वम् तम् उपाहसत्, हि निषधेन्द्रवैभवं गिरां पारे।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने जैसे उस (काशीश) के गुणश्रवण से उत्पन्न सुख के कारण ही विसृष्ट (आगयी), ओष्ठप्रान्त की सहगामिनी मुसकान की शोभा से ही जिसका गुणवर्णन सम्भव है, ऐसे उस (काशीपति) का उपहास कर दिया, क्योंकि निषधराज के वैभव का वर्णन तो वागतीत है।

टिप्पणी—दमयन्ती ने यद्यपि काशीनरेश के गुणों का अनादर नहीं किया, तथापि—जैसे वह काशीश के गुणाकर्णन-सुख से ही उत्पन्न हो, ऐसी—ओठों पर आ गयी मुसकान के माध्यम से काशीपति के प्रति अपनी अरुचि ज्ञापित कर दी। ठीक है कि काशीपति इतने महान् गुणों से समन्वित हैं, किन्तु ऐसा तो नहीं है कि उसके गुण अवर्णनीय, वचनातीत हों। वर्णन की परिधि में तो आ ही जाते हैं। इस दृष्टि से भी काशीपति की स्थिति निषधपति नल के समक्ष दृढ़ नहीं है, क्योंकि निषधेन्द्र के गुणों का तो वर्णन ही नहीं किया जा सकता। एक मन्दस्मित से दमयन्ती ने अपना आशय प्रकट कर दिया। यह जो काशीश का महत्त्व 'कीर्त्यं' है, इसीसे वह 'अकीर्त्यमहत्त्व' नल के समक्ष छोटा पड जाता है—'कीर्त्यमित्यसद्गुणा-रोपणार्थपूर्वक पदम्।'—नारायण। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ नलानुराग-रूप कारण द्वारा काशीपति के प्रति अपरागरूप कार्य का समर्थन होने से तद्रूप अर्थान्तरन्यासालङ्कार है॥ ४१॥

निजाक्षिलक्ष्मीहसितैणशावकामभाषताथो परं परन्तपम्।
पुरेव तद्दिग्वलयस्य मौलिना भ्रुवा विनिर्दिश्य सभासभाजितम्॥४२॥

जीवातु—निजेति। असौ सरस्वती, सभासु सभाजितं पूजितं, परन्तपं रिपुतापनं, 'द्विषत्परयोस्तापेः' इति खच् प्रत्ययः, 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्वः, 'अरुर्द्विषदजन्तस्य-' इति मुम्, अपरमन्यं नृपं, पुरेव पूर्ववत्, तस्य राज्ञः, दिशो वलयस्य यो मौलिः तस्या भुवा स्थानेन, तद्दिग्वर्तिप्रदेशेनेत्यर्थः, भ्रुवा दृशः ऊर्ध्वा-वयवेन, 'ऊर्ध्वे दृग्भ्यां भ्रुवौ स्त्रियौ' इत्यमरः, विनिर्दिश्य निजाक्षिलक्ष्म्या

स्वनेत्रशोभया, हसितैणशावकाम् उपहसितमृगशावकां; विशालतया अधःकृतमृगाक्षीमित्यर्थः, भैमीमिति शेषः, अभाणीत् बभाण ॥ ४२ ॥

अन्वयः—असौ सभासभाजितं परन्तपम् अपरं पुरा इव तद्दिग्वलयश्रियः भुवा भ्रुवा विनिर्दिश्य निजाक्षिलक्ष्मीहसितैणशावकाम् अभाणीत् ।

हिन्दी—वे (सरस्वती) सभाओं में पूजित (अथवा सभास्थित जनों द्वारा सौन्दर्यादि के कारण सादरावलोकित), शत्रुओं को सताप देने वाले अन्य नृपति के विषय में पूर्ववत् उस (अपर नरेश) की ओर दृष्टिपात की शोभा की स्थानभूता भ्रूकुटि से (अपर नृप की ओर भ्रू-संचालन-संकेत-द्वारा) निर्देश करके अपने नेत्रों की शोभा से मृगशिशु का उपहास करने वाली (दमयन्ती) से कहने लगीं ।

टिप्पणी—कांचीनरेश के प्रति दमयन्ती की अरुचि प्रकट हो जाने पर भगवती सरस्वती ने अन्य सभ्य, शत्रुजयी, मनोज्ञ नृप (नेपाल-नरेश) की ओर भ्रूसंकेत करते हुए उसका परिचयारंभ किया । दमयन्ती के नयन हरिणशिशु के नेत्रों से भी अधिक मनोरम और लोलापम प्रकट करने वाले थे । ऐसी दमयन्ती को कोई मनोज्ञ, गुणी ही वीर वर प्राप्त होना चाहिए । सरस्वती ने इसी कारण नेपालनरेश की ओर अपनी श्रीसंपन्न दृष्टि का संकेत किया ॥ ४२ ॥

कृपा नृपाणामुपरि क्वचिन्न ते नतेन हाहा शिरसा रसादृशाम् ।
भवन्तु तावत्तव लोचनाञ्चला निपेयनेपालनृपालपालयः ॥ ४३ ॥

जीवातु—कृपेति । हे भैमि ! नतेन अवनतेन, शिरसा रसां भुवं पश्यन्तीति तेषां रसादृशाम् अधःपश्यतां, त्वत्कृतप्रत्याख्यानात् लज्जया अधोमुखानामित्यर्थः, नृपाणामुपरि ते तव, क्वचित् कुत्रापि, कृपा न, हाहेति खेदे; तव लोचनाञ्चलाः कटाक्षाः, निपेया ग्राह्या, नेपालनृपालस्य नेपालभूपतेः, पालिः कोटिः, तद्दिग्भाग इत्यर्थः, येषां तादृशाः, तावत् साकल्येन, सर्वथा इत्यर्थः, भवन्तु, कटाक्षदृष्ट्या तं पश्येत्यर्थः 'स्त्रियां पाल्यश्रिकोटयः' इत्यमरः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—हा हा, नतेन शिरसा रसादृशां नृपाणाम् उपरि ते क्वचित् कृपा न, तावत् तव लोचनाञ्चलाः निपेयनेपालनृपालपालयः भवन्तु ।

हिन्दी—खेद है कि सिर झुकाये धरती की ओर दृष्टि किये (न वरे जाने की लज्जा के कारण अधोमुख) राजाओं में से किसी पर तेरी कृपा नहीं है, तो फिर तेरे नयनाचल (कटाक्ष) सादर दर्शन करने योग्य (दर्शनीय) नेपाल नरपाल का पान करने वाले अलि (भ्रमर) हों (अथवा नेपालनृपाल की पालि अर्थात् उसकी दिशा की ओर आकृष्ट हों)।

टिप्पणी—दमयन्ती के द्वारा अस्वीकृत नृपों की संख्या बढ़ती ही जा रही थी। अप्राप्तादर राजा जैसे पराजय की लज्जा से सिर झुकाये बैठे थे। सरस्वती को इस पर खेद हुआ कि दमयन्ती को कोई नहीं भा रहा है। फलस्वरूप उन्होंने नेपाल-नरेश की ओर दमयन्ती का ध्यान आकृष्ट किया ॥ ४३ ॥

ऋजुत्वमौनश्रुतिपारगामिता यदीयके सन्ति परं विहिंसितुम्।
अतीव विश्वासविघायि चेष्टितं बहुर्महानस्य स दाम्भिकः शरः ॥४४॥

जीवातु—ऋजुत्वेति। यदीयके शरे, ऋजुत्वम् अवक्रता परच्छन्दानुकूलता च, मौनं निःशब्दता वाक्संयमत्वञ्च, श्रुतिपारगामिता कर्णान्तगामित्वं वेदपारगत्वञ्च ताः सन्ति, तथा परं शत्रुम् अन्यञ्च, विहिंसितु हन्तुम् अनपकर्तुं च, अतीव अत्यन्त, विश्वासं विगतश्वास, विगतासुम् इत्यर्थः, अथ च विश्वास प्रत्ययं, विधत्ते इति विश्वासविघायि, चेष्टितं चरित्रम्, अस्ति, अस्य राज्ञः, बहुरनेकः, जातावेकवचनम्, महानधिकः अतिदीर्घश्च, दम्भः कपट प्रयोजनमस्येति दाम्भिको लोकवञ्चकः, स तादृग्गुणविशिष्टः, शरः, अस्तीति शेषः, 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भो—' इत्यमरः, दाम्भिकेन यद्यत् क्रियते एतस्य शरेण तत्तत् क्रियते इत्यर्थः। अत्र शरे दाम्भिकत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥

अन्वयः—यदीयके ऋजुत्वमौनश्रुतिपारगामिताः सन्ति, परं विहिंसितुम् अतीव विश्वासविघायि चेष्टितम्,—अस्य सः शरः बहु महान् दाम्भिकः।

हिन्दी—जिस (नेपाल-नरेश) के (बाण) में ऋजुता (अवक्रता तथा नम्रत्व आदि विनीतभाव), मौन (निःशब्दता तथा वाणी पर नियमन) तथा श्रुतिपारगामिता (कानों के पार तक खिंच जाना तथा वेदशास्त्र पारगतता) महान् गुण हैं, तथा अन्य (शत्रु) को मारने और अपकार के निमित्त अत्यन्त विश्वासघायि (विश्वास अर्थात् प्राणहीन करने वाला तथा

विश्वासयुक्त) आचरण है, इस (नेपालनृपति) का वह बाण बहुत बड़ा दंभी (लोकवंचक) है।

टिप्पणी—कथ्य यह है कि नेपालनरेश बड़ा धनुर्धारी वीर है। इसके सीधे, निःशब्द, कान तक खींचकर छोड़े गये बाण शत्रु को प्राणहीन करके ही छोड़ते हैं। इसे अनेकार्थ शब्दों का आश्रय ले एक विशेष भंगिमा दी गयी है। कोई व्यक्ति देखने में सरल वाक्संयमी, श्रुतिपारंगतविद्वान् प्रतीत हो, बड़ा विश्वासी लगता हो, पर उसकी सरलता भीतर से कृत्रिम निकले, मौन आडंबर सिद्ध हो और ज्ञान-मारक सिद्ध हो, विश्वास कपट हो, ऐसा व्यक्ति धोखा देने वाला, जगवंचक होता है। नेपाल-नरेश का बाण जगघातक है, भले ही वह ऊपर-ऊपर से ऋजुत्वादि गुणों से युक्त दीखता हो। मल्लिनाथ के अनुसार बाण में दांभिकत्व की गम्या उत्प्रेक्षा है ॥ ४४ ॥

रिपूनवाप्यापि गतोऽवकीर्णितामयं न यावज्जनरञ्जनव्रती ।
भृशं विरक्तानपि रक्तवत्तरान् निकृत्य यस्तानसृजाऽसृजद्युधि ॥४५॥

जीवातु—रिपूनिति। यावज्जनानां सकलजनानां, रञ्जनमेव व्रतमस्यास्तीति तद्व्रती, सर्वचर्मीतिवदिन्नन्तो बहुव्रीहिः, अयं नेपालभूपः, रिपून् अवाप्य प्राप्य अपि, अवकीर्णितां क्षतव्रतत्वं, न गतः, कुतः ? यद् यस्मात्, भृशं विरक्तान् प्रतिपक्षनृपे विद्वेषसम्पन्नान्, अथवा युद्धकाले स्वशरीरादिरक्षणविषयेऽननुरक्तानपि, अथ च एनं दृष्ट्वा भयात् विगतरुधिरानपि, रिपून्, शत्रून्, युधि समरे, निकृत्य छित्वा, कृन्ततेः क्त्वो ल्यप्,असृजा रक्तवत्तरान् अतिशयेन रक्तवर्णान् अनुरक्तांश्च, रञ्जेः क्तवत्वन्तात्तरप्, असृजत् अकरोत्; रिपूनपि रक्तेन रञ्जयतः कुतोऽपि न रञ्जनव्रतभङ्ग इति भावः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—यावज्जनरञ्जनव्रती अयं रिपून् अवाप्य अपि अवकीर्णितां न गतः, यत् भृशं विरक्तान् अपि तान् युधि निकृत्य असृजा रक्तवत्तरान् असृजत् ।

हिन्दी—समस्त जनों के रंजक (अनुराग, रँग देना) का व्रत धारी यह (नेपालनृप) शत्रुओं को प्राप्त करके भी व्रतभंगता को नहीं प्राप्त हुआ, क्योंकि (इसने) अत्यन्त विरक्त (विराग-द्वेषसंपन्न, युद्ध में भी अपनी

शरीररक्षा की चिन्ता न करने वाले, भय से रक्तहीन तथा रगरहित) भी उन (शत्रुओ) को युद्ध में घायल कर रक्त (खून) से रक्ततत्तर (और अनुरक्त, रक्त से अतिशय लाल, अत्यत लाल रग के) बना दिया ।

टिप्पणी—रजनव्रती नेपालनरेश चाहे मित्र हो, चाहे शत्रु सबका रजन करता और इस प्रकार उसका व्रत भग नही होता । मित्रो को, प्रजाजनो को सब प्रकार से सतुष्ट रखकर रजन करता है अर्थात् प्रसन्न रखता है और शत्रुओ का रक्त-निष्णात करके उनका 'रजन' कर देता है अर्थात् खून से लाल करके उन विरक्तो (द्वेषियो) को अनुरक्त (अनुरागी सेवक) बना लेता है रजन', 'विरक्त' और रक्ततत्तर' शब्दो की अनेकार्थकता के आधार पर विरोधाभास का चमत्कार दिखाते हुए नेपालनरेश की प्रजारजकता और शत्रुजयिता का सकेत किया गया है ॥ ४५ ॥

पतत्येतत्तेजोहुतभुजि कदाचिद् यदि तदा
पतङ्ग. स्यादङ्गीकृततमपतङ्गापदुदय ।
यशोऽमुष्येवोपार्जयितुमसमर्थेन विधिना
कथञ्चित् क्षीराम्भोनिधिरपि कृतस्तत्प्रतिनिधि. ॥ ४६ ॥

जीवातु—पततीति । पतङ्ग. सूर्य., एतस्य राज्ञ , तेजोहुतभुजि प्रतापाग्नौ, कदाचित् पतति यदि तदा अङ्गीकृततमो भृश स्वीकृत,, पतङ्गस्य शलभस्य, आपदुदय' देहदाहात्मकविपत्प्राप्ति , येन तथाभूत स्यात् शलभताम् इयादित्यर्थ:, 'पतङ्ग. शलभे साधौ मार्जारेऽर्के खगेश्वरे' इति वैजयन्ती, किञ्च अमुष्य राज्ञ:, यश उपार्जयितुम् असमर्थेनेव विधिना ब्रह्मणा, कथञ्चिदपि, न तु सम्यगिति भाव:, तस्य यशस , प्रतिनिधि. प्रतिरूपक , क्षीराम्भोनिधि: क्षीरसमुद्र', कृत., क्षीरसमुद्रस्तदनुकल्पत्वेन सम्पादित इत्यर्थ , मुख्यापेक्षया प्रतिनिधिवस्तुनो न्यूनत्वेन न तु तादृग्यशो लब्धमिति भाव:, । सूर्यादधिक-प्रताप: विधेरपि अधिकयशाश्चेति निष्कर्ष' ॥ ४६ ॥

अन्वय.—पतङ्ग: एतत्तेजोहुतभुजि यदि कदाचित् पतति तदा अङ्गीकृततमपतङ्गापदुदय. स्यात्, अमुष्य यश: उपार्जयितुम् असमर्थेन इव विधिना कथञ्चित् अपि तत्प्रतिनिधि' क्षीराम्भोनिधि. कृत: ।

हिन्दी—पतंग अर्थात् सूर्य इस (नेपालेश) के प्रतापाग्नि में यदि कभी गिर पड़े तो पतिंगों (शलभों) की देहदाहरूपा विपत्ति को पूर्णतया स्वीकारने वाला बन जाय (प्रतापानल में पड़कर सूर्य को भी संतप्त हो पीड़ित होना पड़े)। इसके यश का उपार्जन करने में जैसे असमर्थ विधाता ने किसी प्रकार उसका अनुकल्प क्षीर समुद्र बनाया।

टिप्पणी—आशय यह है कि नेपाल-नरेश का प्रतापानल सूर्य से कहीं अधिक द्युतिमान् है, जैसे ज्योति में पतिंगे जल जाते हैं, वैसे ही इसके प्रतापाग्नि में गिरने से सूर्य भी भस्म हो जायेगा। नेपालेश का यश क्षीरसागर से भी अधिक विस्तृत और उज्ज्वल है। ब्रह्मा ने उसीका अनुकल्प-वह नहीं—क्षीरसमुद्र जैसे-तैसे बड़ी कठिनता से बनाया है। इस प्रकार नेपालनरेश विधाता से भी अधिक यशस्वी हैं, क्योंकि विधाता भी उसने यश का उपार्जन करने में असमर्थ रहा। प्रतिनिधिमात्र बना सका क्षीरोदधि के रूप में यश का, वास्तविकता तो प्राप्त न हो पायी। शिखरिणी छन्द॥

> यावत् पौलस्त्यवास्तूभवदुभयहरिल्लोमरेखोत्तरीये
> सेतुप्रालेयशैलौ चरति नरपतेस्तावदेतस्य कीर्त्तिः।
> यावत् प्राक्प्रत्यगाशापरिवृढनगरारम्भणस्तम्भमुद्रा-
> वप्रौ सन्ध्यापताकारुचिरचितशिखाशोणशोभावुभौ च ॥४७॥

जीवातु—यावदिति। पौलस्त्ययोर्विभीषणवैश्रवणयोः, वास्तूभवन्त्यौ वेश्मभूमिभूते, गृहभूते इत्यर्थः, 'वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्' इत्यमरः, उभे च ते हरितौ उभयहरितौ दक्षिणोत्तरदेशावित्यर्थः, 'उभादुदात्तो नित्यम्' इत्यत्र 'पृथग् योगकरणादेवायजादेशस्य नित्यत्वे सिद्धे पुनर्नित्यग्रहणं वृत्तिविषये उभशब्दस्थाने उभयशब्दप्रयोगनियमज्ञापनार्थम्' इति कैयटः, तयोर्यथासङ्ख्यं श्यामत्वात् शुभ्रत्वाच्च लोमरेखा लोमराजिः, उत्तरीयश्च ते सन्तौ सेतुप्रालेयशैलौ यावत् यावद्दूरं, स्थिताविति शेषः, किञ्च प्राक्प्रत्यगाशे प्राचीप्रतीच्यौ दिशौ, 'स्त्रियाः पुंवत्—' इत्यादिना पुंवद्भावः तयोः परिवृढौ प्रभू, इन्द्रावरुणौ इति यावत्, 'प्रभौ परिवृढः' इति निपातः, तयोर्नगरयोरारम्भणे यौ स्तम्भौ मूलस्तम्भौ, तयोरिव मुद्रा सन्निवेशो ययोस्तौ स्तम्भ-

सदृशाकारौ इत्यर्थः, सन्ध्ययोरेव सायं—प्रातःसन्ध्यारूपयोः द्वयोः, पताकयोः रुचिभिः रक्तमाभिः, रचितयोः, 'शिखयोरग्रयोः, शोणशोभा रक्तशोभा ययोः, तावुभौ अद्री उदयास्तशैलौ, यावत् यावत्पर्यन्तं, तिष्ठत इति शेषः, तावत्पर्यन्तम् एतस्य नरपतेः कीर्त्तिश्चरति चतुर्दिगन्तविश्रान्तकीर्त्तिरयमित्यर्थः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—पौलस्त्यवास्तूभवदुभयहरिल्लोमरेखोत्तरीये सेतुप्रालेयशैलौ यावत्, प्राक्प्रत्यगाशापरिवृढनगरारम्भणस्तम्भमुद्रौ सन्ध्यापताकारुचिरचित-शिखाशोणौ उभौ अद्री च यावत्, तावत् एतस्य नरपतेः कीर्त्तिः चरति ।

हिन्दी—पुलस्त्य गोत्रोत्पन्न (रावण अथवा विभीषण और कुबेर) की आवास भूमि बनी दोनों (दक्षिण और उत्तर) दिशाओं के–रोमपंक्ति (श्याम होने से) और उत्तरीय—ओढ़ना (श्वेत होने से) सेतु (रामेश्वर पर बना सागर सेतु) और पर्वत (हिमालय) जब तक हैं और पूर्व तथा पश्चिम दिशाओं के स्वामियों (इन्द्र और वरुण) के नगरों के आरम्भ-स्तम्भों के सदृश आकृति वाले, प्रातःसंध्या और साय-संध्यारूपा ध्वज-युगल की दीप्ति से जिनके शिखर लालवर्ण के हो जाते हैं, ऐसे दोनों पर्वत (उदयास्ताचल) जब तक हैं, तब तक इस राजा (नेपालनरेश) की कीर्त्ति स्थित है।

टिप्पणी—भाव यह है कि नेपाल-नरेश का यश चतुर्दिग्व्याप्त और सदा स्थिर रहने वाला है। रामेश्वर-सेतुबंध दक्षिण दिशा का, हिमालय उत्तरा दिक् का तथा उदयाचल और अस्ताचल क्रमशः पूर्वा और पश्चिमा दिशा का संकेत देते हैं। श्याम होने से सेतुबन्ध रोमावली है, और श्वेत हिमालय उत्तरीय दुपट्टा है ॥ ४७ ॥

> युद्ध्वा चाभिमुखं रणस्य चरणस्यैवादसीयस्य वा
> वृद्ध्याऽन्तः स्वपरान्तरं निपततामुन्मुच्य बाणावलीः ।
> छिन्नं वाऽवनतीभवन्निजभियः खिन्नं भरेणाथवा
> राज्ञाऽनेन हठाद्विलोठितमभूद् भूमावरीणां शिरः ॥ ४८ ॥

जीवातु–युद्ध्वेति । अदसीयस्य अमुष्यायम् अदसीयं तस्यामुष्य सम्बन्धिन इत्यर्थः, अभिमुखं मुखं प्राप्तम्, अभि लक्षीकृत्य इत्यर्थः, रणस्याभिमुखं युद्-

प्रारम्भे, बाणावलीः शरसमूहान्, उन्मुच्य युद्धार्थं निःक्षिप्य, युद्ध्वा युद्धं कृत्वा, निपतताम् निहतानां वा अथवा, अन्तः अन्तःकरणे, स्वस्य आत्मनः, परस्य शत्रोश्च, अन्तरं न्यूनाधिकतया पार्थक्यं, बुद्ध्वा ज्ञात्वा, अदसीयस्य चरण-स्यैवाभिमुखं बाणावलीरुन्मुच्य त्यक्त्वा, निपतताम् निरायुधीभूय एतच्चरण-समीपे नम्रीभवतामित्यर्थः, अरीणां शत्रूणां, छिन्नं बाणैः कर्त्तितं सत्, वा अवनतीभवत् भूमौ पतितं सदित्यर्थः, अथवा निजभियः भरेण स्वीयभयातिशयेन, खिन्नं सत् अवनतीभवत् नम्रीभवत्, शिरो मस्तकम्, अनेन राज्ञा हठात् बलात्कारेण, भूमौ विलोठितं पुनः पुनः परावर्त्तितम्, अभूत्; एतस्य राज्ञः शत्रवो यदि युध्यन्ते तदा म्रियन्ते एव, अथवा ये शत्रवः विवेचकाः भीरवश्च ते एनमेव शरणं गच्छन्ति तेषां नान्या गतिरिति भावः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—अदसीयस्य रणस्य अभिमुखं बाणावलीः उन्मुच्य युद्ध्वा निपतताम् वा अन्तः स्वपरान्तरं बुद्ध्वा चरणस्य एव (अभिमुखम् उन्मुच्य (निपतताम्) अरीणां छिन्नम् वा अवनतीभवत् अथवा निजभियः खिन्नम् (अवनतीभवत्) शिरः अनेन राज्ञा हठात् भूमौ विलोठितम् अभूत् ।

हिन्दी—इस (नेपालेश) के रण-संमुख बाणसमूह छोड़कर युद्ध करके गिरते (मरते) अथवा मन में अपने और शत्रु के न्यूनाधिक्य का अन्तर समझ कर (नेपाल-नरेश के) चरणों में ही बाणावली छोड़कर (अस्त्र-त्याग कर) गिरते (विनम्रभाव अपनाते) शत्रुओं का (युद्ध में) कटकर नीचे गिरता अथवा अपने शत्रुओं के (भय से) खिन्न हो झुकता सिर इस राजा (नेपालेश) द्वारा बलात् धरती पर लोटाया गया ।

टिप्पणी—भावार्थ यह है कि जो शत्रु नेपाल-नरेश से संमुख युद्ध करके वीरगति प्राप्त करते हैं, उसका सिर कट कर धरती पर ठोकरें खाता है और चरणों में शस्त्र-त्याग कर सिर झुकाते हैं, उनका सिर नेपाल-नरेश के दक्षिण-वाम चरणों का बारंबार स्पर्श करता है । सिर को चरण-स्पर्श होना ही है, चाहे कटकर ठुकराया जाये, चाहे झुककर पैरों से लगे । शत्रुओं को 'निपतित' (मरना अथवा झुकना) होना ही है और सिर को 'अवनत' (चाहे धरती पर गिर कर, चाहे चरणों में गिर कर) और 'विलोठित'

होना ही है। रणसंमुख आकर शत्रु मरते हैं और जो अपने को निर्बल और नेपालेश को सबल समझ न्यूनता-अधिकता का विचार कर—शरण आते हैं, वे अधीन रहते हैं। नेपाल-नरेश की शरण्यता भी इस प्रकार संकेतित है ॥४८॥

न तूणादुद्धारे न गुणघटने नाश्रुतिशिखं
समाकृष्टौ दृष्टिर्न वियति न लक्ष्ये न च भुवि।
नृणां पश्यत्यस्य क्वचन विशिखान् किन्तु पतित-
द्विपद्वक्षःश्वभ्रैरनुमितिरमून् गोचरयति ॥ ४९ ॥

जीवातु—नेति। नृणां रणद्रष्टृणा पुंसां, 'नृ च' इति विकल्पात् 'नामि' इति दीर्घप्रतिषेधः, दृष्टिः, अस्य राज्ञः, विशिखान् शरान्, क्वचन कस्मिन्नपि, इत्यस्य सर्वत्र सम्बन्धः; तूणात् निषङ्गात्, उद्धारे उद्धरणकाले, न पश्यतीति सर्वत्र सम्बध्यते; गुणो मौर्वी, 'मौर्वी गुणो ज्या' इति धनञ्जयः, तेन घटने सन्धाने, न, आश्रुतिशिखम् आकर्णान्तं, समाकृष्टौ गुणाकर्षणे, न, वियति मोक्षणानन्तरम् आकाशे, न, लक्ष्ये वेध्ये, न, भुवि शत्रून् विद्ध्वा ततो निर्गत्य प्रवेशाश्रये भूप्रदेशे, च क्वचन कुत्रापि, न पश्यति, किन्तु पतितानां युद्धहतानां, द्विषतां वक्षःसु श्वभ्रैः शरवेधजन्यरन्ध्रैः, 'रन्ध्रं श्वभ्रं वपा सुषिः' इत्यमरः, अनुमितिरानुमानिकज्ञानम्, अमून् विशिखान्, गोचरयति विषयीकरोति, एतद्राजनिशितशरवाणानां विद्यमानत्वे कुत्रापि प्रत्यक्षप्रमाणाभावेऽपि शत्रुवक्षसि रन्ध्रच्छिद्रस्य अन्यथाऽनुपपत्त्या तद्दर्शनेनैव बाणानामनुमितिर्भवतीति भावः। इत्यत्र बाणानां वेगातिशयोक्तिः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—नृणां दृष्टिः अस्य विशिखान् न तूणात् उद्धारे, न गुणघटने, न आश्रुतिशिखं समाकृष्टौ, न वियति, न लक्ष्ये न च भुवि—क्वचन पश्यति, किन्तु पतितद्विपद्वक्षःश्वभ्रैः अनुमितिः अमून् गोचरयति।

हिन्दी—मनुष्यों के नेत्र इस (नेपाल नरेश) के बाणों को किसी स्थिति में नहीं देखते—न तूणीर से निकाले जाते, न डोरी पर चढ़ाये जाते, न कानों की सीमा तक खींचे जाते, न (छूटकर) आकाश में, न लक्ष्य पर पड़ते और न (छेदकर) धरती पर गिरते, परन्तु (युद्ध में मरकर) गिरे शत्रुओं की छाती में हुए छेदों के द्वारा हुआ अनुमान इन (बाणों) की सूचना देता है।

टिप्पणी—नेपाल-नरेश इतनी तीव्र गति से और लाघव से बाण-वर्षा करता है कि वह बाण तरकश से कब निकालता है, कब धनुष् की डोरी पर चढ़ाता है, कब कानों तक खींचकर छोड़ देता है—यह सब आखों को दीख ही नहीं पाता। न आकाश में जाते ही बाण दृष्टि-गोचर होते हैं और न लक्ष्य भेदकर धरती पर गिरते। दीखते तो युद्धदर्शकों को केवल शत्रुओं की छाती में हुए छेद हैं, जिनसे अनुमान हो जाता है कि अवश्य नेपालेश के बाणों ने यह कार्य किया है। प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता, छिन्न वक्ष देख अनुमान से ही ज्ञान हो पाता है। इस प्रकार मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ बाण-वेग की अतिशयोक्ति है॥ ४९॥

दमस्वसुश्चित्तमवेत्य हासिका जगाद देवीं कियदस्य वक्ष्यसि ?।
भण प्रभूते जगति स्थिते गुणैरिहाप्यते संकटवासयातना॥ ५०॥

जीवातु—दमस्वसुरिति। हासयतीति हासिका हासयित्री, काचित् चेटीति शेषः, दमस्वसुश्चित्तमवेत्य बुद्ध्वा देवीं सरस्वतीं, जगाद, किमिति ? हे देवि ! अस्य राज्ञः सम्बन्धि, कियद्वक्ष्यसि ? कियत् प्रपञ्चयसीत्यर्थः, निखिलगुणाधारस्यास्य गुणानां प्रत्येकं कथं वर्णयितुं शक्नोषि ? इति भावः; प्रभूते महति, जगति स्थितेऽपि विशाले जगति विद्यमानेऽपि, गुणैः सौन्दर्यादिभिः, इह अस्मिन्नेव राज्ञि, सङ्कटवासेन सङ्कीर्णस्थित्या, आधाराल्पतया अतिकृच्छ्रेणावस्थानात्, यातना तीव्रवेदना, आप्यते अनुभूयते, इति भण; सर्वे गुणाः सर्वं जगत् परित्यज्यास्मिन् एकस्मिन्नेव राजनि परस्परसङ्घर्षेण निरवकाशं निवसन्तीत्येकयोक्त्या वद इति भावः। सर्वगुणाकरम् अपि एनं दमयन्ती न वृणुते इति निष्कर्षः॥ ५०॥

अन्वयः—हासिका दमस्वसुः चित्तम् अवेत्य देवीं जगाद—अस्य कियत् वक्ष्यसि ? भण प्रभूते जगति स्थिते अपि गुणैः इह सङ्कटवासयातना आप्यते।

हिन्दी—एक हँसोड़ (अतिनीच दासी) भीमसुता का मन समझ कर देवी से बोली—इस (नेपाल-नरेश) के विषय में कितना कहेंगी ? कहिए कि विशाल जगती के रहते हुए भी गुण यहाँ संकीर्ण स्थान में रहने का कष्ट पा रहे हैं।

टिप्पणी—एक हास्य-प्रिया नीच दासी ने धृष्टतापूर्वक देवी से कह दिया

कि रहने दीजिए, बहुत चढ़ा कर न कहिए। एक मनुष्य में इतने गुण कैसे हो सकते हैं ? संकुचित स्थान में रहने से कष्ट होता है, सब गुण जब एक व्यक्ति में रहेंगे तो उन्हें कष्ट होगा। दासी जानती थी कि दमयन्ती का मन कहीं अन्यत्र अनुरक्त है, वह नेपाल-नरेश की विरुदावली सुन-सुन अकुला रही है ॥ ५० ॥

ब्रवीति दासीह किमप्यसङ्गतं ततोऽपि नीचेयमतिप्रगल्भते ।
अहो ! सभा साधुरितीरिणः क्रुधा न्यपेधदेतत्क्षितिपानुगाञ्जनः ॥५१॥

जीवातु—ब्रवीतीति। इह सभायां, दासी भैम्या- किङ्करी, किमपि असङ्गतं ब्रवीति प्राक् 'चलेऽपि काकस्य' इत्यादि अभाषत, वर्तमानसामीप्ये भूते लट्, ततो दासीतोऽपि नीचा तुच्छा, इयं चेटी, अतिप्रगल्भते इदानीं पुरुषमपि उच्छृङ्खलतया ब्रूते, अहो ! आश्चर्यं, सभा साधु, आश्चर्येति सोल्लुण्ठोक्ति', इतीरयन्तीति इतीरिणः स्वस्वामिगुणवर्णनप्रतिबन्धात् आक्रोशतः, एतस्य क्षितिपस्य अनुगान् अनुचरान्, जनः तटस्थजन', क्रुधा क्रोधेन, न्यपेधत् निवारयामास ॥ ५१ ॥

अन्वय.—'इह दासी किम् अपि असङ्गतं ब्रवीति, नीचा इयम्, ततः अपि अतिप्रगल्भते, अहो, सभा साधुः!'—क्रुधा इति ईरिताः एतत्क्षितिपानुगान् जनः न्यपेधत्।

हिन्दी—'यहाँ (स्वयंवर सभा में) दासी कुछ भी असंगत प्रलाप करती है; और यह नीच (हासिका चेटी) उससे भी अधिक बढ़-चढ़ कर बोल रही है (धृष्टता कर रही है, आश्चर्य है कि यह सभ्य-सभा है।'—क्रोध में ऐसा कहते इस राजा (नेपालभूपति) के अनुचरों का (अन्य) लोगों ने निवारण कर दिया।

टिप्पणी—इक्कीसवें श्लोक में एक दासी ने 'पटाञ्चले काकस्य पदार्पणग्रह.' कह कर पाण्ड्यनरेश का उपहास किया था; यहाँ पचासवें श्लोक में निम्नश्रेणी की हासिका चेटी ने नेपाल नरेश की उससे भी अधिक हँसी उड़ायी। इस पर नेपालनरेश के अनुयायी क्रुद्ध हो गये और क्रोध वचन कहने लगे। किन्तु क्रोध का अनवसर जान अन्य उपस्थित जनसमूह ने उन्हें रोक दिया। मल्लिनाथ ने 'क्रुधा' का अन्वय 'जन.' के साथ किया है—अर्थात्

उपस्थित जन ने नेपालेश के अनुचरों के कथन पर क्रुद्ध हो उनके कथन का निवारण किया ॥ ५१ ॥

अथान्यमुद्दिश्य नृपं कृपामयी मुखेन तद्दिङ्मुखसम्मुखेन सा ।
दमस्वसारं वदति स्म देवता गिरामिलाभूवदतिस्मरश्रियम् ॥ ५२ ॥

जीवातु—अथेति । अथ कृपामयी सा गिरां देवता इलाभुवा ऐलेन पुरूरवसा तुल्यम् इलाभूवत्, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' क्रियाऽत्र स्मरातिक्रमः, अतिस्मरश्रियम् अतिक्रान्तमदनलावण्यम्, अन्यं नृपमुद्दिश्य तस्य नृपस्य, दिङ्मुखसम्मुखेन तद्दिग्भागाभिमुखेन, मुखेन करणेन, तेन उपलक्षिता सती वा दमस्वसारं दमयन्तीं, वदति स्म ॥ ५२ ॥

अन्वयः—अथ कृपामयी सा गिरां देवता इलाभूवदतिस्मरश्रियम् अन्यं नृपम् उद्दिश्य तद्दिङ्मुखसम्मुखेन दमस्वसारं वदति स्म ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (उपर्युक्त विवाद के अनन्तर) अतिशय कृपालु वे वाणी की देवता (सरस्वती) इलापुत्र (पुरूरवा) के तुल्य काम की शोभा को अतिक्रांत करनेवाले दूसरे राजा को लक्ष्य करके उस (अन्य नृप) की ओर मुख करके दम की भगिनी (दमयन्ती) से कहने लगीं ।

टिप्पणी—यह 'अन्य नृप' मलयाद्रिनरेश था—अत्यन्त सुन्दर । अब भगवती ने इसके विषय में कहना आरम्भ किया । कृपामयी' विशेषण यह द्योतित करता है कि नीच दासियों के उपहास वचनों को भगवती ने सामान्य हास्य के रूप में ही माना, अपमानास्पद नहीं माना, नेपाल नृपानुगों की भाँति ॥ ५२ ॥

विलोचनेन्दीवरवासवासितैः सितैरपाङ्गाध्वगचन्द्रिकाञ्चलैः ।
त्रपामनाकृत्य निभान्निभालय क्षितिक्षितं मालयमालयं रुचः ॥५३॥

जीवातु—विलोचनेति । विलोचने एव इन्दीवरे नीलोत्पले, तयोर्मध्ये वासेन स्थित्या, वासितैः सुरभितैः, नयननीलिम्ना नीलीकृतैरित्यर्थः, सितैः स्वभावात् अवदातैः, नीलश्वेतकान्तिविशिष्टैरिति यावत्, अपाङ्गाध्वगाया नेत्रप्रान्तरूपमार्गवर्तिन्याः, चन्द्रिकायाः नेत्रमध्यस्थनीलगोलकस्य, अञ्चलैः प्रान्तभागैः, कटाक्षैरिति यावत्, करणैः रुचः कान्तेः, आलयम् आकरं, मालयं

मलयदेशीयं, क्षितिक्षित क्षितीशं, तदाख्यदेशस्य राजानमित्यर्थः, क्षितिं क्षिणोतीति क्षितिक्षित् क्षितीशः क्षिधातोरैश्वर्यार्थात् क्विप्, निभात् वस्त्वन्तरदर्शनव्याजात्, त्रपां लज्जाम्, अपाकृत्य त्यक्त्वा, निभालय विलोकय, निभालय इत्यस्य चौरादिकात्मनेपदिभलधातो रूपत्वात् परस्मैपदं चिन्तनीयम्, अथवा निभालं निभालनं तद्वान् निभालवान् तादृशं कुरु 'तत् करोति–' इति णिचि मतुपो लोपेन साधनीयम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—विलोचनेन्दीवरवासवासितैः सितैः अपाङ्गाध्वगचन्द्रिकाञ्चलैः त्वं आलय मालयं क्षितिक्षितं निभात् त्रपाम् अपाकृत्य निभालय।

हिन्दी—नेत्र-रूप नीलकमलों के मध्य बसने के कारण सुगन्धि और नील और (स्वभावतः) शुभ्र नयनप्रान्तपथगामिनी चाँदनी की कोरों से कांति के आवास मलयभू के राजा को अन्यवस्तु देखने के व्याज से, लज्जा को छोड़, सकोचरहित हो देखो।

टिप्पणी—भगवती सरस्वती ने कामश्री को अतिक्रांत करने वाले मलय नरेश को देखने को दमयन्ती से आग्रह किया। सभव है कि उसे सकोच लगता हो, अतः युक्ति सुझायी गयी कि किसी अन्य वस्तु को देखने के बहाने एक बार उसकी ओर दृष्टि-पात कर ले। नयनों की तुलना इन्दीवर—नीलकमलों से की गयी है, पुतलियाँ भी नीली होती हैं। प्रकृत्या श्वेत नयनों के भाग में यह नीलिमा इन्दीवरवास के कारण आयी है। प्राकृतिक शुभ्रता के कारण नयन-कटाक्ष शुभ्र चाँदनी-जैसे हैं, जो सुगन्ध सुषमा और (पुतलियों की) नीलाभा कटाक्षों में आ गयी है, वह नीलकमल-सदृश नयनों के मध्य बसने से, अन्यथा सपूर्ण श्वेतता में ये पुतलियाँ नीली कैसे हो गयी ? भाव यह है कि 'नीलश्वेतकांति' कटाक्षों से मलयभूमि के स्वामी को नि सकोच निहारो। नारायण ने 'विलोचनतुल्यानां नीलोत्पलानां वासेन परिमलेन सुगन्धीकृतैः' विग्रह भी किया है, अर्थात् 'नयनतुल्य नील कमलों के परिमल से सुगन्धि।' ये कटाक्ष शुभ्र, तिरछे और विस्तृत हैं, अतः इन्हें उस ज्योत्स्ना के अचल कहा गया, जो इन अपाग सम मार्गों से गमन करती है। तिरछे, स्नेहभरे कटाक्षों से नि संकोच देखने का सकेत, क्योंकि यह 'मालय' मलयपति तो है ही 'मा'

अर्थात् संपद्रूपा लक्ष्मी का 'आलय' भी है—'मायायाः सम्पद्रूपाया लक्ष्म्या आलयम्'। (नारायण)। चन्द्रिकांचल से (अपांगों से) देखने का आग्रह इसलिए भी है कि 'भालय' 'रुचः आलय' (कांति का, मन्द प्रकाश का आकर) शिवशिरोवासी चन्द्र भी है—'मः शिव आलयो यस्य'। (नारायण)—शिव है आवास जिसका। 'विश्व' कोष के अनुसार 'म' शिव तथा लक्ष्मी का अर्थवाचक भी है—'मः शिवे च पद्मायाम्।' निभालय' का परस्मैपदी प्रयोग आपत्तिजनक है, क्योंकि 'निभाल' धातु चुरादिगणी आत्मनेपदी धातु है। मल्लिनाथ और नारायण—दोनों ने समाधान किया है कि 'निभालः निभालनं तद्वान्निभालवान् तादृशं कुरु' (निभाल निभालन, अर्थात् देखना, निभाल से युक्त निभालवान्; निभालय अर्थात् निभालवान् करो); णिच् और मतुप् का लोप करके रूप निष्पन्न हो जाता है ॥ ५३ ॥

इमं परित्यज्य परं रणादरिः स्वमेव भग्नः शरणं मुधाऽविशत् ।
न वेत्ति यत्त्रातुमितः कृतस्मयो न दुर्गया शैलभुवाऽपि शक्यते ॥५४॥

जीवातु—इममिति । अरिः एतच्छत्रुः, रणात् समरात् भग्नः सन्, परम् अरिं श्रेष्ठं वा, इमं नृपं, परित्यज्य शरणं न प्राप्य, मुधा वृथा, स्वं स्वकीयं, शरणं गृहमेव, शरणं रक्षकम्, अविशत् प्रविष्टः, शरणस्य द्विरावृत्त्या सम्बन्धः कथं वृथा? इति तदाह, यत् यस्मात्, कृतस्मयः कृताहङ्कारः, सोऽरिरिति शेषः, दुर्गया दुर्गमया, शैलभुवा शैलप्रदेशेन, गिरिदुर्गेणापीत्यर्थः, अथ च शैलभुवा पर्वतकन्यया, दुर्गया दुर्गादेव्याऽपि, पार्वत्याऽपि इत्यर्थः, इतोऽस्माद्राज्ञः, त्रातुं न शक्यते, किं पुनः स्वगृहेण अन्येन वा पुरुषेणेत्यपिशब्दार्थः, इति न वेत्ति; यो गिरिदुर्गप्रविष्टमपि शत्रुं हन्तुं शक्नोति स स्वगृहप्रविष्टमरिं कथं न हन्तु इति रणप्राणरक्षार्थं स्वगृहप्रवेशो व्यर्थ इति भावः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—रणात् भग्नः अरिः परम् इमं परित्यज्य मुधा स्वम् एव शरणम् अविशत्, कृतस्मयः न वेत्ति यत् दुर्गया शैलभुवा अपि इतः त्रातुं न शक्यते ।

हिन्दी—युद्ध से भागा शत्रु 'पर' (शत्रु या श्रेष्ठ) इस (नालय) को छोड़कर व्यर्थ ही अपने शरणस्थान (अथवा स्वयं ही अन्य की शरण) में प्रविष्ट हुआ, अभिमानी वह यह नहीं समझता कि दुर्गम पर्वत भूमि अथवा

भगवती दुर्गा शैलसुता पार्वती भी इस (मलयपति) से त्राण दिलाने में—रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं।

टिप्पणी—आशय यह कि मलयपति के शत्रु का त्राण कहीं नहीं है, न पर्वत का विकट दुर्ग ही उसका शरणस्थल बन सकता है, न स्वयं भगवती दुर्गा ही उसकी रक्षा कर सकती हैं। जो सब प्रकार के भय से रक्षा पाने के लिए आराधित होती हैं, वे ही जिसे न बचा सकें, और कौन उसे बचा सकता है? विकट पर्वत-दुर्ग जिसका शरणस्थल नहीं बन सकता, वह और किस आवास में प्रविष्ट होकर रक्षा पा सकेगा? अतः शत्रु को उचित है कि अपने श्रेष्ठ शत्रु मलय नरेश की ही शरण गहे। अन्य स्थानों पर वह बच नहीं सकता।।

अनेन राज्ञार्थिषु दुर्भगीकृतो भवन् घनध्वानजरत्नमेदुरः।
तथा विदूराद्रिरदूरतां गमी यथा स गामी तव केलिशैलताम् ।।५५।।

जीवातु—अनेनेति। अनेन राज्ञा अर्थिषु विषये दुर्भगीकृतः तुच्छीकृतः, यथेष्टम् अर्थिभिः उपादीयमानरत्नोऽपि स अनेन राज्ञा उपेक्षितः, इत्यर्थः, तथा घनध्वानजैः नवमेघशब्दोत्थैः, रत्नैः वैदूर्यैः, मेदुरः पूर्ण एव, भवन् अतिव्ययेऽपि अक्षीणरत्न एव तिष्ठन् इत्यर्थः, विदूराद्रिः वैदूर्याचलः, तथा तेन प्रकारेण, अदूरताम् आसन्नतां, गमी गमिष्यन्, तथा सोऽद्रिः, तव केलिशैलतां गामी गमिष्यन्, 'भविष्यति गम्यादयः' इति गमिगाम्योः साधुत्वम्। 'न लोका—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया, अस्य राज्ञः नगर्याः अतिसान्निध्यात् बहुरत्नयुतः वैदूर्याचलः ते क्रीडाशैलो भविष्यति इति तात्पर्यम् ।।५५।।

अन्वय—अनेन राज्ञा अर्थिषु दुर्भगीकृतः घनध्वानजरत्नमेदुरः भवन् विदूराद्रिः तथा अदूरतां गमी यथा सः तव केलिशैलतां गामी।

हिन्दी—इस (मालय) राजा द्वारा याचकों के सदर्भ में उपेक्षित कर दिया गया, अतएव नये बादलों के गर्जन से उत्पन्न रत्नों से मेदुर (परिपूर्ण) होता 'विदूर' (रोहण) नाम का दूर स्थित पर्वत, (मलयनरेश को वरने पर) वैसा अदूर (निकट) हो जायेगा कि तेरा (दमयन्ती का) क्रीडाचल बन जायेगा।

टिप्पणी—मलयाधिपति की दानशीलता का वर्णन। कहा जाता है कि

विदूराचल रोहण पर नवमेघगर्जन से रत्न उत्पन्न होते हैं। मलयनरेश स्वयं ही याचकों को इतना दे देता है कि उन्हें दूर स्थित विदूराचल पर जाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती; फलस्वरूप उसके सब रत्न वहीं पड़े रह जाते हैं, व्यय को नहीं प्राप्त होते। यही रोहणाचल की उपेक्षा है। वह पर्वत विदर्भजा से इस समय दूर है, पर 'मालय-वरण' से निकट हो जायेगा। इतना दानी और धनी है यह राजा, जिसके वरण से वैदूर्याचल भी दमयन्ती का क्रीडाचल बन जायेगा ॥ ५५ ॥

नम्रप्रत्यर्थिपृथ्वीपतिमुखकमलम्लानताभृङ्गजात-
च्छायान्तःपातचन्द्रायितचरणनखश्रेणिरैणेयनेत्रे ॥
दृप्तारिप्राणवातामृतरसलहरीभूरिपानेन पीनं
भूलोकस्यैष भर्ता भुजभुजगयुगं सांयुगीनं बिभर्ति ॥ ५६ ॥

जीवातु—नम्रेति। एण्या इमे ऐणेये 'ऐणेयमेण्याश्चर्माद्यमेणस्यैणमुभे त्रिषु' इत्यमरः, एण्या ढक्, ते च ते नेत्रे च, ते इव नेत्रे यस्याः तस्याः सम्बुद्धिः, ऐणेयनेत्रे! हे मृगशावाक्षि!, उपमान – पूर्वपदबहुव्रीहावुत्तरपदलोपः, नम्राणां पादप्रान्ते अवनतानां, प्रत्यर्थिपृथ्वीपतीनां पराजितशत्रुभूपानां, मुखान्येव कमलानि तेषु या म्लानता अपमानजनितवैवर्ण्यं, सैव भृङ्गजातस्य भ्रमरसमूहस्य, छाया नीलिमा:, तस्या अन्तःपातेन मध्यगतत्वेन, स्वच्छनखे प्रतिफलनादिति भावः, चन्द्रायिता चन्द्रवदाचरिता मलिनमुखच्छायारूपकलङ्कसम्पत्तेरिति भावः, चरणनखश्रेणिर्यस्य तादृशः, भूलोकस्य भर्ता एषः राजा, दृप्तारिप्राणवाताः गर्वितशत्रुप्राणवायवः एव, अमृतरसस्य लहर्यः ऊर्मयः, तासां भूरिणा भूयसा, पानेन पीनं मांसलम्, अत एव संयुगे युद्धे, साधु सांयुगीनं युद्धे अपराजेयं, भुजभुजगयुगं हस्तरूपपन्नगयुगलं, बिभर्तीति, रूपकालङ्कारः। वायुपानेन यथा सर्पाः स्थूला आयन्ते तथा अस्य राज्ञः हस्तौ शत्रूणां प्राणवायुपानेन स्थूलौ सञ्जातौ इत्यर्थः; चरणपतितान् शत्रुनृपान् रक्षति गर्वितांश्च तान् मारयति इति भावः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—ऐणेयनेत्रे, नम्रप्रत्यर्थिपृथ्वीपतिमुखकमलम्लानताभृङ्गजातच्छायान्तःपातचन्द्रायितचरणनखश्रेणिः एषः भूलोकस्य भर्त्ता दृप्तारिप्राणवातामृतरसलहरीभूरिपानेन पीनं सांयुगीनं भुजभुजगयुगं बिभर्त्ति।

हिन्दी—हरिणबाल के सदृश नयनों वाली (दमयन्ति), विनत शत्रु-नरेशों के मुख कमलों की मलिनता-रूपा भ्रमर सदृश्शी काली छाया के आ पड़ने से चन्द्र की समानता करने वाले नख समूह वाला यह पृथ्वीलोक का भरण करनेहारा स्वामी (मालय) अभिमानी शत्रुओं के प्राणवायुरूप अमृतरस की तरंगों का प्रचुरतया पान करने से मोटे, रणारसिक (भुजराज) भुजरूप सर्पयुगल को धारण करता है।

टिप्पणी—पराजित हो शत्रु-नृप मलयनरेश के चरणों में आ गिरते हैं। उनके उदास मुखों की काले भौंरों-जैसी काली छाया मलयपति के चरणों में प्रतिबिम्बित होती है, जिससे मलयाधीश के चरण नख मृगलाछन चन्द्र की समानता धारण करते हैं। मलयाधिप के पास दो-दो भुजगराज हैं, मोटे, रण में रस लेनेवाले, जो अभिमानी शत्रु राजाओं का नाश करते हैं और मानो उन नष्टमृत शत्रुओं के प्राणवायु के सुधारस का पान करके पुष्ट और पीन हो रहे हैं। इसीलिए वे रणरसिक हैं, क्योंकि कहीं तो उन्हें प्राणानिलामृततरंगें पानार्थ प्राप्त होती हैं। इन्हीं दो भुजभुजगेशों से वह पृथ्वी का भरण-कर्ता है। भाव यह है कि यह अभिमानी शत्रुओं का नाश कर पृथ्वी का भरण-पोषण करता है, साथ ही शरण आये शत्रुगण की रक्षा करता है॥ ५६॥

अध्याहारः स्मरहरशिरश्चन्द्रशेषस्य शेष-
स्याहेर्भूयः फणसमुचितः कायदृष्टीनिकायः।
दुग्धाम्भोधेर्मुनिचुलुकनत्रासनाशाभ्युपाय
कायव्यूहः क्व जगति न जागर्त्यदः कीर्तिपूरः ?॥ ५७॥

जीवातु—अध्याहार इति। स्मरहरशिरसि चन्द्रशेषस्य कलामात्रावशिष्ट-चन्द्रस्य, अध्याहारः शेषपूरकः, पञ्चदशकलासम्पादकः इति यावत्, एतेन कीर्तिपूरस्य स्वर्गव्यापित्वमायातम्, शेषस्य अहेः अनन्तोरगस्य, शुभ्रतायस्येति भावः, भूयसां सहस्रसङ्ख्यकानां, फणानां समुचितः योग्यः, कायदृष्टीनां सहस्रसङ्ख्यकानां शरीराणां निकायः समूहभूत इति यावत्, फणसङ्ख्यकै-कायैः भवितुमौचित्यात् अवशिष्टशरीरसम्पादक इति भावः, एतेन पाताल-व्यापित्वमायातम्, दुग्धाम्भोधेः क्षीराम्भोधेः, मुनेः अगस्त्यस्य, चुलुकनात्

गण्डूषेण ग्रहणात्, त्रासस्य नाशे अभ्युपाय उपायभूतः, कायव्यूहः कायसङ्घातः, क्षीराब्धेः प्रतिनिधिरित्यर्थः, पूर्वं क्षीराब्धेरेकाकित्वेन चुलुकग्रहणात्, भयमासीत्, इदानीमेतत्कीर्त्तिपूरस्य पृथिवीव्यापित्वात् तच्छौक्ल्येन सर्वजलानां शुक्लतया दुग्धवत् प्रतीयमानत्वात् इदं क्षीराब्धेः वारि अन्यत् वारि वा इति निश्चेतुमशक्यत्वेन नास्ति अगस्त्यगण्डूषात् तादृग्भयमिति भावः; अदःकीर्त्तिपूरः अमुष्य यशोराशिः, क्व जगति न जागर्त्ति ? त्रैलोक्ये एव जागर्त्तीत्यर्थः। अत्र कीर्त्तिपूरस्य त्रैलोक्यव्यापित्वासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेः अतिशयोक्तिः, सा च अस्य चन्द्रशेषाद्यध्याहारत्वादिरूपकोत्थापितेति सङ्करः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—स्मरहरशिरश्चन्द्रशेषस्य अध्याहारः शेषस्य अहेः भूयः फणसमुचितः कायषष्टीनिकायः दुग्धाम्भोधेः मुनिचुलुकनत्रासनाशाभ्युपायः कायव्यूहः अदः कीर्त्तिपूरः जगति क्व न जागर्ति ?

हिन्दी—कामदहन (शिव) के मस्तक पर स्थित चन्द्रकला का पूरक (पंचदशकलावान् चन्द्र), शेषनाग के प्रभूत फणों के योग्य अतिदीर्घ शरीरयष्टिका समूहधारी, क्षीरसागर के मुनि अगस्त्य के चुल्लू में पान हो जाने के भय का विनाश-साधन शरीरसंघधारण करता इस (मलयनरेश) का यशःप्रवाह संसार भर में कहाँ प्रकाशित नहीं है ? (सर्वत्र है)।

टिप्पणी—भाव यह कि इस राजा का महान् यश संसार में सर्वत्र व्याप्त है। इसकी महत्ता को द्योतित करने के लिए इसे तीन विशेषण दिये गये—(१) यश चन्द्र की पंद्रह कलाओं का प्रतिनिधि है, केवल एक कला हर-शिर पर है, जब यह उससे मिलता है, तभी षोडश-कलावान् चन्द्र बनता है अर्थात् शिवमस्तकस्थित चन्द्रकला से श्रेष्ठ है। (२) यश शेषनाग से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि पातालवासी शेष के शरीर की पूर्णता तभी प्राप्त होती है, जब मलयनृप का यशःशरीर उसे पूर्ण करता है। (३) क्षीरसागर को मुनि अगस्त्य पी जाते, परन्तु मलयनरेश के यश ने शुभ्रता के कारण संपूर्ण जल को ही क्षीर बना डाला। मुनि को भ्रम हो गया कि यह जल है या क्षीर, यह यश है या क्षीर ? फिर अकेले मुनि कितने सागरों का पान करते ? सामर्थ्य की भी तो सीमा है। इस प्रकार क्षीरसागर की मुनि अगस्त्य से रक्षा हो गयी। यश क्षीरसागर से भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। इस प्रकार

(१) स्वर्ग, (२) पाताल और (३) भूतल—तीनो लोकों में मलयराज का यश प्रसारित है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ कीर्त्तिपूर के त्रैलोक्य व्यापित्व के असबंध मे भी उसके संबंध का कथन होने से अतिशयोक्ति है, जो चन्द्रशेषाध्याहारत्वादिरूपक से उत्थापित है इस प्रकार दोनो का संकर है। मन्दाक्रान्ता छन्द ॥ ५७ ॥

> राज्ञामस्य शतेन किं कलयतो हेतिं शतघ्नी ? कृतं
> लक्षैर्लक्षभिदो दृशैव जयतः पद्मानि पद्मैरलम् ।
> कर्त्तुं सर्वपरच्छिदः किमपि नो शक्यं परार्द्धेन वा
> तत् सङ्ख्यापगमं विनाऽस्ति न गतिः काचिद्वतैतद्द्विषाम् ॥५८॥

जीवातु—राज्ञामिति। शतघ्नी नाम हेतिम् आयुधं, 'शतघ्नी तु चतुःस्ताला लोहकण्टकसञ्चिता' इति यादवः, शतं हन्तीति शतघ्नीति च गम्यते 'अमनुष्यकर्त्तृके च' इति ठक्प्रत्यये ङीप्। कलयतो धारयतः, अस्य नृपतेः, राज्ञां शतेन किम् ? न काऽपि क्षतिरित्यर्थः; शतमारणसमर्थमस्त्रं गृह्णतोऽस्य शतसङ्ख्यकैः शत्रुभिर्न किमपि कर्त्तुं शक्यते इति भाव। लक्षभिदो लक्षभेदिनः, लक्ष लक्षसङ्ख्या, तद्भिद्धिघ्नतुहन्तुरच, 'लक्षं शरव्ये सङ्ख्यायाम्' इति च विश्वः, कुत्रचिदप्यप्रतिहतसायकस्य अस्य इत्यर्थः, राज्ञा लक्षैः कृतम् अलम्, कृतम् इति शब्दः अलमित्यर्थेऽव्ययम्। दृशा दृष्ट्यैव, पद्मानि अब्जानि, तत्सङ्ख्यकराशूश्च, 'पद्मं स्यात् पन्नगे व्यूहे निधौ सङ्ख्यान्तरेऽम्बुजे' इति विश्व., जयतोऽस्य राज्ञः पद्मैः पद्मसङ्ख्यकैः शत्रुभि, अलम्, किं बहुना ? सर्वपरच्छिदः समस्तशत्रुच्छिदोऽस्य राज्ञ, राज्ञां परार्द्धेन वा तत्सङ्ख्यकराजभिर्वा, परेषाम् अरीणाम् अर्द्धेन वा, किमपि कर्त्तुं नो शक्यम्, तत् तस्मात्, बत खेदे, एतद्द्विषाम् अस्य शत्रूणां, सङ्ख्याया अपगमम् अपगतसङ्ख्यत्वम् असङ्ख्यत्वमिति यावत्, अथ च सङ्ख्याद् युद्धात्, अपगमम् अवसरण, विना काचित् गतिर्नास्ति, 'सङ्ख्य समिति सङ्ख्या स्यादेकत्वादिविचारयोः' इति मेदिनी, अत्र द्विपद्गतिमत्त्वस्य सङ्ख्यापगमतदन्यगमयोः उभयोः प्राप्तस्य पूर्वत्र निषेधस्य उत्तरत्र नियमनात् परिसङ्ख्या; तथा च सूत्रम्-'एकस्य अनेकप्राप्तावेकत्र नियमन परिसङ्ख्या' इति ॥ ५८ ॥

अन्वयः—शतघ्नीं हेतिं वलयतः अस्य राज्ञां शतेन किम्? लक्षभिदः लक्षैः कृतम्, दृशा एव पद्मानि जयतः पद्मैः अलम्, सर्वपरच्छिदः परार्द्धेन वा किम् अपि कर्तुं नो शक्यम्, तत् एतद्द्विषां बत संख्यापगमं विना काचिद् गतिः न अस्ति।

हिन्दी—'शतघ्नी' अर्थात् सौ का घातक शस्त्र (तोप) धारण करने वाले इस (मलयनरेश) का सौ (शत्रु) राजाओं से क्या? लक्ष्य-भेदक (इस राजा) का लक्ष अर्थात् लाख (शत्रु) भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते, दृष्टिमात्र से पद्मों (कमलों) के जयी (इस राजा) के संमुख पद्म (दस-कोटि कोटि शत्रु) भी अपर्याप्त हैं अथवा समस्त शत्रुओं के विनाशक (इस राजा) का 'परार्द्ध' (चरम संख्यक) शत्रु भी कुछ नहीं कर सकते; अतएव खेद है कि इस (मलयराज) के शत्रुओं की संख्या का अपगम अर्थात् असंख्य—गणनातीत हुए बिना कोई गति नहीं और 'संख्य' अर्थात् युद्ध से 'अपगम' अर्थात् पलायन किये बिना कोई चारा नहीं।

टिप्पणी—'चामत्कारिकता के साथ शत, लक्ष, पद्म और परार्द्ध संख्याओं का उल्लेख करते हुए यह कहा गया कि चाहे जितनी संख्या के शत्रु हों, मलयनरेश की कुछ हानि नहीं कर सकते; उन्हें या तो संख्यातीत होना पड़ेगा या 'संख्यापगम' (युद्ध से पलायन) करना होगा, तभी उनका निस्तार संभव है। शतघ्नीधारी, लक्षभिद्, पद्मजयी, सर्वपरच्छिद आदि शब्दों के प्रयोग से विशेष भंगिमा लायी गयी है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ परिसंख्या अलंकार है ॥ ५८ ॥

वयस्ययाऽऽकूतविदा दमस्वसुः स्मितं वितत्याभिदधेऽथ भारती।
इतः परेषामपि पश्य याचतां भवन्मुखेन स्वनिवेदनत्वराम् ॥ ५९ ॥

जीवातु—वयस्ययेति। अथ दमस्वसुः आकूतविदा अभिप्रायज्ञया, वयस्यया सख्या, स्मितं वितत्य हास्यं कृत्वा, भारती वाग्देवी; अभिदधे अभिहिता, किमिति? भवन्मुखेन त्वन्मुखेन, याचतां स्ववर्णनं प्रार्थयमानानाम्, इतोऽस्मात् राज्ञः, परेषाम् अन्येषामपि राज्ञां, स्वनिवेदने आत्मपरिचयकथने, त्वरां द्रुतकथनत्वं कालविलम्बासहत्वं वा, पश्य, एतद्वर्णनात् विरम्य परान् वर्णयेत्यर्थः ॥ ५९ ॥

अन्वय—अथ दमस्वसुः आकूतविदा वयस्यया स्मित वितत्य भारती अभिदधे भवन्मुखे याचताम् इतः परेषाम् अपि स्वनिवेदनत्वरा पश्य ।

हिन्दी—अनन्तर दम-भगिनी (दमयन्ती) के आशय को समझती सखी मुसकुराती हुई भगवती भारती से बोली—आप (सरस्वती) के मुख से (स्ववर्णन की) प्रार्थना करते इस (मालय) के अतिरिक्त भी राजाओं के आत्म-निवेदन में होते विलम्ब को देखिए ।

टिप्पणी—दमयन्ती की सहवर्तिनी सखी जानती थी कि मलयराज में दमयन्ती की रुचि नहीं है और अब वह इसके विवरण से अकुला रही है। सो सखी ने मुसकान के साथ भगवती भारती से चतुरतापूर्वक मलयनरेश का वर्णन समाप्त कर अन्य राजाओं का वर्णन करने की प्रार्थना की । और लोगों को भी तो स्ववर्णन किये जाने का अवसर मिलना चाहिए । अधीर हो रहे हैं बेचारे ॥ ५९ ॥

कृताऽत्र देवी वचनाधिकारिणी त्वमुत्तरं दासि ! ददासि का सती ? ।
इतीरिणस्तन्नृपपारिपार्श्विकान् स्वभर्तुरेव भ्रुकुटिर्न्यवर्तयत् ॥६०॥

जीवातु—कृतेति । हे दासि ! अत्र स्वयंवरे, देवी वाग्देवी, वचने नृपति-वर्णने, अधिकारिणी कर्त्री, कृता नियुक्ता, त्वं का सती का भवन्ती, केन प्रयुक्ता सतीत्यर्थः, असती कुलटा, का त्वामति च गम्यते, उत्तरं ददासि ? इति ईरिणः एव भ्रुवाणान्, तस्य नृपस्य, परिपार्श्वं वर्त्तन्ते इति पारिपार्श्वि-कान् सेवकान्, 'परिमुखञ्च' इति ठक् चकारात् पारिपार्श्विकः, स्वभर्तुः स्वस्वामिन एव, भ्रुकुटिः न्यवर्तयत् तेषां स्वामी एव तान् भ्रूभङ्गेण निवा-रितवान् इत्यर्थः ॥ ६० ॥

अन्वयः—'दासि, अत्र देवी वचनाधिकारिणी कृता, त्वं का सती (का असती) उत्तरं ददासि ?'—इति ईरिणः तन्नृपपारिपार्श्विकान् स्वभर्तुः भ्रुकुटिः एव न्यवर्तयत् ।

हिन्दी—'हे दासि, यहाँ (स्वयंवरसभा में) देवी सरस्वती (नृप) वर्णन की अधिकारिणी नियुक्त की गयी हैं, तू क्या होती (कौन कुलटा) उत्तर दे रही है ?'—ऐसा कहते उस राजा (मलयेश) के सेवकों का अपने स्वामी के भ्रूसंकेत ने ही निवारण कर दिया ।

टिप्पणी—दासी के बीच में बोलने पर अप्रसन्न मलयाधिप के सेवकों ने आपत्ति की। 'का सती' का विग्रह 'कौन होती', 'किसके द्वारा नियुक्त' तो है ही, 'का + असती' विच्छेद करके 'कुलटा' गाली भी हो गयी। किन्तु मलयनरेश ने भ्रू संकेत से अपने सेवकों को शान्त रहने का निर्देश किया, क्योंकि यह अवसर क्रोध का नहीं था ॥ ६० ॥

धराधिराजं निजगाद भारती तत्सम्मुखेषद्वलिताङ्गसूचितम्।
दमस्वसारं प्रति सारवत्तरं कुलेन शीलेन च राजसूचितम् ॥ ६१ ॥

जीवातु—धरेति। भारती सरस्वती, कुलेन वंशमर्यादया, शीलेन सद्वृत्तेन च, राजसु मध्ये उचितं योग्य, सर्वलोकपरिचितमित्यर्थः, सारवत्तरं श्रेष्ठम्, अतिबलिष्ठं वा, तस्य वर्णनीयनृपस्य, सम्मुखं यथा तथा ईषद्वलितेन, वक्रितेन, अङ्गेन वपुषा, सूचितं निर्दिष्टं, धराधिराजं भूपतिं, प्रति लक्षीकृत्य, दमस्वसारं निजगाद तस्यै कथयामासेत्यर्थः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—भारती कुलेन शीलेन च राजसु उचितं सारवत्तरं तत्सम्मुखेषद्वलिताङ्गसूचितं धराधिराजं प्रति दमस्वसारं निजगाद।

हिन्दी—भगवती सरस्वती ने वंश-परम्परा और स्वभावाचरण की दृष्टि से राजाओं में श्रेष्ठ, अतिबली, उस (वर्णनीय मिथिलानरेश) के संमुख कुछ परिवर्तित कर आदि का संकेत करते हुए (अन्य) पृथ्वी के अधिराज का लक्ष्य करके दमभगिनी (दमयन्ती) से कहा।

टिप्पणी—दासी द्वारा निवेदित होने पर भगवती भारती मिथिलानरेश की ओर उन्मुख हुई और उस कुलीन, सदाचारी बली नरेश के वर्णन में प्रवृत्त हुई ॥ ६१ ॥

कुतः कृतैवं नवलोकमागतं प्रति प्रतिज्ञाऽनवलोकनाय वा ?।
अपीयमेनं मिथिलापुरन्दरं निपीय दृष्टिः शिथिलाऽस्तु ते वरम् ॥६२॥

जीवातु—कुत इति। हे भैमि! आगतं स्वयंवरार्थमुपस्थितं, नवलोकम् अपूर्वजनं प्रति, एवं परिदृश्यमानप्रकारेण, अनवलोकनाय वा अनवलोकितुमेव; अवधारणार्थो वाशब्दः; कुतः कस्मात् कारणात्, प्रतिज्ञा कृता? न युक्तमेतदिति भावः; भवतु तावत् एनं पुरोवर्तिनं, मिथिलापुरन्दरमपि मिथिलापतिमपि, निपीय सम्यक्निरीक्ष्य, सकृदपीति भावः, ते तव, इयम् दृष्टिः

शिथिला शिथिलादरा, एतस्य रूपवत्तायामिति भावः, अस्तु, वरम् इत्यपि श्रेष्ठ, वीक्ष्य उपेक्षणम् अपि अदर्शनात् किञ्चित् प्रियमित्यर्थः ॥ ६२ ॥

अन्वय—आगत नवलोक प्रति एवम् अनवलोकनाय वा प्रतिज्ञा कुतः कृता ? वरम्, एनं मिथिलापुरन्दरम् अपि निपीय इयं ते दृष्टिः शिथिला अस्तु ।

हिन्दी—समागत नवीन जनों (स्वयंवरार्थियों) को न देखने के लिए प्रतिज्ञा तुमने (दमयन्ती ने) किस कारण से कर रखी है ? अच्छा हो कि इस (सम्मुखस्थ) मिथिला के इन्द्र को भी भली भाँति देखकर तुम्हारी यह (अवहेलना पर) दृष्टि सादर शिथिल हो ।

टिप्पणी—भगवती भारती ने दमयन्ती से कहा कि इस प्रकार किसी ओर दृष्टि ही न डालना उचित नहीं है । वरार्थिनी को सबका सम्यक् निरीक्षण करके ही निर्णय करना उचित है । अच्छा हो कि अब दमयन्ती वर्णनास्पद मिथिलाराज का भली भाँति निरीक्षण कर ले । यही तर्कसम्मत है ॥६२॥

न पाहि पाहीति यदब्रवीरमुं मदोष्ठ ! तेनैवमभूदिति क्रुधा ।
रणक्षितावस्य विरोधिमूर्द्धभिर्विदश्य दन्तैर्निजमोष्ठमास्यते ॥ ६३ ॥

जीवातु—नेति । मदोष्ठ ! हे मदीयाधर ! यत् यस्मात्, पाहि पाहि इति अमुं राजानं, न अब्रवीः, दुरभिमानादिति शेषः, तेन पाहि पाहीति अवचनेनैव, एवमीदृशी मे दशा, अभूदिति हेतोः क्रुधा क्रोधेन, रणक्षितौ अस्य विरोधिमूर्द्धभिः शत्रुशिरोभिः कर्तृभिः, दन्तैः करणैः निजमोष्ठमधरम्, ओष्ठशब्दस्य अधरार्थकत्वमपि दृश्यते, विदश्य, आस्यते स्थीयते; अस्य राज्ञः शत्रूणामेतच्चरणमेव शरणम्, अन्यथा मरणमेवेति भाव । अत्र शत्रुशिरसा प्रत्यर्थिविषयक्रोधहेतुकस्य ओष्ठदशनस्यौष्ठविषयक्रोधहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद् हेतूत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ६३ ॥

अन्वयः—मदोष्ठ, 'पाहि-पाहि'—इति अमुं यत् न अब्रवीः, तेन एवम् अभूत्—इति क्रुधा रणक्षितौ, अस्य विरोधिमूर्द्धभिः दन्तैः निजम् ओष्ठं विदश्य आस्यते ।

हिन्दी—ए मेरे (शत्रु के) ओष्ठ, 'बचाओ-बचाओ'—ऐसा इस (मिथिलेश्वर) के प्रति जो तू नहीं बोला, उससे ऐसा (मुलुठन) हुआ, इसलिए क्रोध से

युद्धभूमि में इस (मिथिलापति) के विरोधियों के मुण्ड दाँतों से अपना ओंठ काटकर स्थित होते हैं।

टिप्पणी—मिथिलानरेश अपना विरोध करने वाले शत्रुओं के मुंड काट देता है, किन्तु जो रक्षा की गुहार लगाते शरणागत होते हैं उनका रक्षण करता है। इस भाव को भंगिमा-विशेष से व्यक्त किया गया है। मरने पर शव की मुष्टि यदि बंद रह जाती है, तो नहीं खुलती। ऐसे ही 'शवमुष्टि-न्याय' के अनुसार क्रोध में दाँतों से ओष्ठ काटते शत्रुओं का शिरच्छेद यदि हो जाता है, तो कटे मुंडों में दाँतों से कटती स्थिति ही ओंठ (अधर) की रह जाती है। इसी तथ्य पर यह उद्भावना की गयी है कि दाँतों को जो इस प्रकार का दंड मिल रहा है — वह कटे शत्रु-मूर्द्धाओं के अनुसार इस अपराध के लिए है कि ओठों ने 'पाहि-पाहि' (बचाओ-बचाओ) नहीं कहा। 'पवर्ग' का उच्चारणस्थान ओष्ठ ही हैं—'उपूपध्मानीयानामोष्ठौ।' 'पाहि-पाहि' (बचाओ बचाओ) का उच्चारण ओठ ही कर सकते थे। उन्होंने युद्ध में ऐसा नहीं कहा, फलस्वरूप मूर्द्धा को कटकर धरती पर लोटना पड़ा। क्रोध में भरा वह यह कहता कि ओठ के अपराध से उसकी यह दशा हो रही है, दाँतों से ओंठ काटता गिरा। अब वैसी ही स्थिति में पड़ा है। अपराधी ओठों को दंतच्छद—दंड प्राप्त हो रहा है। उनके दर्प के कारण मुंड का लुठन हुआ, अपराधी ओंठों को दंड मिला। वे 'पाहि-पाहि' बोल देते तो मूर्द्धा की यह दुर्दशा न होती, न ओंठों को दंड मिलता। यहाँ शत्रु-मूर्द्धाओं द्वारा 'वैरी मिथिलेश्वर' के प्रति क्रोध के कारण ओष्ठदंशन की ओठों के प्रति क्रोध हेतुकता की संभावना की गयी है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार व्यंजक का प्रयोग न होने से गम्या हेतूत्प्रेक्षा है ॥ ६३ ॥

भुजेऽपसर्पत्यपि दक्षिणे गुणं सहेषुणाऽऽदाय पुरःप्रसर्पिणे।
धनुः परीरम्भमिवास्य सम्मदान्महाहवे दित्सति वामबाहवे ॥ ६४ ॥

जीवातु—भुजे इति। महाहवे महारणे, अस्य राज्ञः, धनुः कर्तृ, दक्षिणे अपसव्ये, अथ च सरले, अनुकूलेऽपीत्यर्थः, भुजे हस्ते, इषुणा सह गुणं ज्याम्, आदाय अपसर्पति अपगच्छति, कर्णपश्चाद्देशं गच्छति सत्यपीत्यर्थः, अथ च रणस्थलात् पलायनं कुर्वत्यपि, पुरःप्रसर्पिणे पुरोगामिने, गुणसहायाभावेऽपि

रिपुसम्मुखयायिने इति भावः, वामबाहवे वामहस्ताय, अथ च प्रतिकूलायापि भुजाय, सम्मदात् रिपुविनाशाय रणक्षेत्रपुरोभागगमनजन्यसन्तोषात्, परीरम्भम् आलिङ्गनम्, 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घः, दित्सतीव दातुमिच्छतीव इत्युत्प्रेक्षा, ददाते सनन्ताल्लट् 'सनि मीमा—' इत्यादिना इदादेश: अभ्यासलोपश्च, मध्यस्थ सुवशजो जनः गुणिनि अनुकूलेऽपि स्वजनमादाय सङ्ग्रामात् पलायिते सति सङ्ग्रामं कर्त्तुं पुरोगामिने प्रतिकूलायापि जनाय निपुणोऽयमिति मत्वा हर्षादालिङ्गनं ददाति इति निष्कर्षः। वामहस्तस्थितधनुषः दक्षिणहस्तेनाकर्णान्तगुणाकर्षणात् वामहस्ते कोटिद्वयनमनमेवालिङ्गनत्वेनोत्प्रेक्षितम्। जिगीषुभिः दक्षिणोऽपि भीरु न समाद्रियते वामोऽपि रणोत्साही शूर समाद्रियते इति भाव. ॥ ६४ ॥

अन्वय —महाहवे अस्य धनु दक्षिणे भुजे इषुणा सह गुणम् आदाय अपसर्पति पुर प्रसर्पिणे वामबाहवे सम्मदात् परीरम्भ दित्सति इव।

हिन्दी—विकट युद्ध में इस (मिथिलेश्वर) का धनुष दक्षिण (दाँये, अनुकूल, सरल) बाहु के इषु के साथ गुण (बाण के सहित प्रत्यंचा और सारल्य गुण) को लेकर 'अपसर्पण' करने पर (कान के पिछले भाग तक पहुँचने पर और पलायन करने पर) पुर प्रसर्पी (आगे बढने वाले, सम्मुख रहने वाले) वाम (बाँये, प्रतिकूल, टेढे) बाहु की दृढता प्रकट करने के कारण प्रसन्न हो—प्रसन्नतापूर्वक मानो आलिंगन देना चाहता है।

टिप्पणी—धनुष से बाण छोडने की प्रक्रिया मे डोरी पर चढे बाण को खीच कर पीछे कान तक ले जाते हैं 'दक्षिण' बाहु पीछे चला जाता है और धनुर्दंड पकड़े 'वाम' भुज आगे सम्मुख रहता है। इस पर यह उद्भावना की गयी है कि चाहे व्यक्ति अनुकूल हो, सरल हो, गुणी हो, किन्तु काम पडने पर पीछे रह जाय, तो उसे आदर नही मिलता, परन्तु व्यक्ति चाहे 'वाम' अर्थात् टेढा हो, प्रतिकूल हो, गुणहीन भी हो, किन्तु समय पड़ने पर सम्मुख रहकर—आगे आकर सहायता करे तो प्रिय और आदरपात्र होता है। युद्धभूमि मे दक्षिण (अनुकूल, सरल, दायाँ) बाहु 'सगुण' (डोरी सहित—गुणवान्) होकर भी पीछे चला गया तो आलिंगन पात्र न रह गया, आलिंगन दिया धनुष ने 'वाम' बाहु को जो वक्र है, प्रतिकूल है, गुणहीन भी है। पर सग्राम में आगे

रहकर उसने साथ दिया है अतः सादर मिला। दक्षिण, वाम, गुण अपसर्पण, पुरःप्रसर्पण की एकाधिक भावव्यंजकता के आधार पर यह उद्भावना की गयी है। वाण युद्ध-पटु हैं मिथिलेश वीर—यह आशय है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में दो उत्प्रेक्षायें हैं।

(१) दित्सतीव, (२) वामहस्तस्थित धनुष् की दक्षिण हस्त से आकर्णान्त गुणाकर्षण के कारण वाम हस्त में दोनों कोटियों के नमन की आलिंगन रूप में संभावना ॥६४॥

> अस्योर्वीरमणस्य पार्वणविधुद्वैराज्यसज्जं यशः
> सर्वाङ्गोज्ज्वलशर्वपर्वतसितश्रीगर्वनिर्वासि यत्।
> तत् कम्बुप्रतिबिम्बितं किमु ? शरत्पर्जन्यराजिश्रियः
> पर्यायः किमु ? दुग्धसिन्धुपयसां सर्वानुवादः किमु ? ॥ ६५ ॥

जीवातु—अस्येति। अस्य उर्वीरमणस्य भूपतेः सम्बन्धि, पर्वणि भवः पार्वणः तादृशस्य विधोः राकाचन्द्रस्य, द्वैराज्यं द्वयो राज्ञोरिदं कर्म द्वैराज्यं राजद्वयसम्बन्धि कर्मेत्यर्थः, चन्द्रद्वयसम्बन्धि धावल्यमिति भावः, द्विराज-शब्दात् बहुव्रीह्यन्तात् ब्राह्मणादित्वात् ष्यङ्प्रत्ययः, तत्र सज्जं सन्नद्धं, तत्कार्य-कारकमित्यर्थः, पार्वणविधुसदृशमिति समुदितार्थः, सर्वाङ्गे उज्ज्वलस्य धवलस्य, शर्वपर्वतस्य कैलासस्य, सितः सितिमा, धावल्यमित्यर्थः, 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इत्यमरः, तस्य श्रिया सम्पदा, यो गर्वस्तं निर्वासयति लुम्पतीति तन्नि-र्वासि, कैलासस्य शुभ्रताया अपि अधिकं शुभ्रमित्यर्थः, यत् यशः, तत् कम्बूनां शङ्खानां, प्रतिबिम्बितं प्रतिबिम्बं, प्रतिच्छाया इत्यर्थः, किमु ! किं वा शरत्पर्जन्यराजिश्रियः शरन्मेघावलिधावल्यसम्पदः, पर्यायो रूपान्तरं किमु ? अथवा दुग्धसिन्धोः क्षीराब्धेः, पयसां क्षीराणां, सर्वानुवादः सर्वस्यापि पुन-रुक्तिः किमु ? कृत्स्नं तत् क्षीरमेवेदं किमित्यर्थः। उत्प्रेक्षात्रयस्य संसृष्टिः।६५।

अन्वयः—अस्य उर्वीरमणस्य पार्वणविधुद्वैराज्यसज्जं सर्वाङ्गोज्ज्वलशर्व-पर्वतसितश्रीगर्वनिर्वासि यत् यशः तत् किमु कम्बुप्रतिबिम्बितम्, किमु शरत्पर्जन्यराजिश्रियः पर्यायः, किमु दुग्धसिन्धुपयसां सर्वानुवादः ?

हिन्दी—इस पृथ्वी-रमणकर्त्ता (राजा) का पूर्णिमापर्वभव पूर्ण चंद्र के द्वैराज्य—दो राजाओं के कर्म में तत्पर (दो पूर्ण चंद्रों के समान अथवा

अपना पृथ्वी का राज्य और पार्वणविधु का दूसरा राज्य इन दो राज्यो की व्यवस्था मे सन्नद्ध, अत· चंद्रजयी), सब अंगो मे (सम्पूर्णतया) उजले (शुभ्र) शर्व के पर्वत अर्थात् कैलास की शुभ्र शोभा के दर्प का निर्वासन करने वाला जो यश है, वह क्या शंखो की प्रतिच्छाया है अथवा शरत्काल में (श्वेत) मेघो की शोभा का अन्य रूप है अथवा क्या क्षीरसागर की जल-राशि का पुनरभिधान है ?

टिप्पणी—यहाँ कवि-समय के अनुसार शुभ्र स्वीकृत मिथिलापति के यश की पाँच श्वेततप्रधान उपमानो से समता की गयी है। प्रथम दो से श्रेष्ठता बतायी गयी, शेष तीन से समानता। ये पाँच हैं—(१) पूर्णचन्द्र (२) कैलास पर्वत (३) शंख, (४) शरद् ऋतु के बादल और (५) क्षीरसमुद्र की जलराशि। इस दृष्टि से पूर्व दो समानताओ मे उपमेय का उपमान की अपेक्षा आधिक्य कथन है, अत· व्यतिरेक है और शेष तीन उत्प्रेक्षाएँ हैं। मल्लिनाथ ने केवल उत्प्रेक्षात्रय की संसृष्टि का निर्देश किया है ॥६५॥

निस्त्रिंशत्रुटितारिवारणघटाकुम्भास्थिकूटावट-
स्थानस्थायुकमौक्तिकोत्करकिरः केरस्य नायं कर· ।
उन्नीतश्चतुरङ्गसैन्यसमरत्वङ्गत्तुरङ्गक्षुर-
क्षुण्णासु क्षितिषु क्षिपन्निव यशःक्षोणीजबीजव्रजम् ॥ ६६ ॥

जीवातु—निस्त्रिंशेति। निर्गतः त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्य· इति निस्त्रिंश· त्रिंशदङ्गुल्यधिक· खड्ग· इत्यर्थ·, डच्प्रकरणे 'सङ्ख्यायास्तत्पुरुषस्य—' इति डच्–प्रत्यय, तेन त्रुटितेषु खण्डितेषु अरिवारणघटाकुम्भेषु, शत्रुगजसमूहकुम्भेषु, अस्थिकूटानाम् अस्थिसङ्घातानाम् अवटस्थानेषु गर्तप्रदेशेषु, स्थायुका· स्थायिन, 'लषपत'—इत्यादिना उकञ्–प्रत्यय·, तेषा मौक्तिकोत्कराणा मुक्तासमूहाना, किरतीति किर क्षेपक·, 'इगुपधज्ञा—' इति क, अस्य नृपस्य, अयं करः चत्वार्यङ्गानि हस्त्यादीनि येषा तादृशाना सैन्याना समरेषु त्वङ्गता सञ्चरता, तुरङ्गाणा क्षुरै, करणै·, क्षुण्णासु कृष्टासु, क्षितिषु यश·क्षोणीजस्य कीर्तिवृक्षस्य, बीजाना व्रज समूह क्षिपन्, वपन्निव इत्यर्थः, स्थित इति शेष, इति कै· जनैः न उन्नीत· ? न उत्प्रेक्षित । गजकुम्भस्थमुक्ताना श्वेतत्वात् क्षुद्रत्वाच्च यशोवृक्षबीजस्वरूपत्वेन तेषाञ्च रणभूमौ निपातनात् वपनत्वेन चोत्प्रेक्षणादत्रोत्प्रेक्षाद्वयम् ॥६६॥

अन्वयः—निस्त्रिंशत्रुटितारिवारणघटाकुम्भास्थिकूटावटस्थानस्यायुकमौक्तिकोत्करकिरः अस्य अयं करः चतुरङ्गसैन्यसमरत्वङ्गत्तुरंगक्षुरक्षुण्णासु क्षितिषु यशः क्षोणीजवीजव्रजं क्षिपन् इव कैः न उन्नीतः ?

हिन्दी—निस्त्रिंश (तीस अंगुली से अधिक लम्बे) खड्ग से खंडित शत्रु-गजों के गंडस्थल सम्बन्धी हड्डियों के अवटस्थान (गड्ढे) में स्थित गजमोतियों को बखेरदेने वाला इस मिथिलेश्वर का यह हाथ चतुरंग सैन्य (गजसैन्य, नरसैन्य, रथसैन्य, अश्वसैन्य) के संग्रामों में इतस्ततः दौड़ते घोड़ों के खुरों से खुदी रणभूमियों में यशोवृक्ष के उत्पादक बीजों को बोता हुआ कितने व्यक्तियों ने नहीं माना ? (सबने माना) ।

टिप्पणी—भाव यह है कि मिथिलापति विकट संग्राम भूमि में खड्ग द्वारा शत्रु की चतुरंगिणी सेनाओं का संहार करते हैं और यश प्राप्त करते हैं। खड्ग द्वारा गजगंडस्थलों से निकालकर धरती पर बिखेर दिये गये गजमौक्तिक शुभ्रता के आधार पर कीर्ति-वृक्ष के शुभ्र बीज हैं, जो अश्वदल से खुदी समरक्षिति में बो दिये गये हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षाद्वय है— (१) गजकुम्भस्थलस्थ मौक्तिकों का छोटे और शुभ्र होने के कारण यशोवृक्ष का बीज होना और (२) रणभूमि में गिरने से उनका बोया जाना ॥६६॥

अर्थिभ्रंशबहूभवत्फलभरव्याजेन कुब्जायितः
सत्यस्मिन्नतिदानभाजि कथमप्यास्तां स कल्पद्रुमः।
आस्ते निर्व्ययरत्नसम्पदुदयोदग्रः कथं याचक-
श्रेणीवर्जनदुर्यशोनिबिडितव्रीडस्तु रत्नाचलः ? ॥६७॥

जीवातु—अर्थीति । अस्मिन् राज्ञि, अतिदानभाजि अतिदानशौण्डे सति, मनसा अकल्पितसम्पदमर्थं ददति सतीत्यर्थ, सः प्रसिद्धः, कल्पद्रुमः, मनःकल्पितार्थमात्रप्रदः कल्पवृक्षः, अर्थिनां भ्रंशेन असद्भावेन, बहूभवतः व्ययाभावादुपचीयमानस्य, फलभरस्य व्याजेन छलेन, कुब्जायितः कुब्जीभूतः सन्, वस्तुतस्तु लज्जयैवेति भावः, लोहितादेराकृतिगणत्वात् क्यषि कर्त्तरि क्तः, कथमपि कृच्छ्रेण आस्तां निम्नतया अन्यैरदृष्टत्वात् कथमपि लज्जावरणसम्भवादिति भावः, किन्तु निर्व्ययाणां व्ययरहितानां, रत्नसम्पदाम् उदयेन वृद्ध्या, उदग्रः उच्छ्रितः, उच्चशिखरः इति भावः, रत्नाचलो रोहणाद्रिस्तु, याचकश्रेणीभिः कर्त्रीभिः,

वर्जनेन परिहारेण, यत् दुर्यशः तेन निविडितव्रीडो घनीकृतलज्जः सन्, कथमास्ते ? कथं तिष्ठति ? उच्चतया स्थितया सर्वैर्दृष्टत्वात् लज्जासंवरणोपायासम्भवादिति भावः । अत्र द्रुमशैलयोः लज्जाऽसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥६७॥

अन्वय —अतिदानभाजि सति तस्मिन् अर्थिषु सबहुभवत्फलभरव्याजेन कुब्जायितः सः कल्पद्रुमः कथम् अपि आस्ताम्, निर्व्ययरत्नसम्पदुदयोदग्र याचकश्रेणीवर्जनदुर्यशोनिविडितव्रीडः रत्नाचलः तु कथम् आस्ते ?

हिन्दी—अत्यंत—अकल्पित दान करते इस (मिथिलाराज) के रहते याचकों को वर्जित कर देने के कारण (पहिले थोड़े किन्तु न देने के व्ययाभाव के कारण) अधिक होते फलों के भार के व्याज से कुबड़ा हुआ (अत्यंत झुका, नम्र, लज्जित) वह कल्पद्रुम (कल्पित अर्थात् मनोवांछित मात्र देने वाला वृक्ष) किसी प्रकार (लजाता दुःखी होता) बना रहे, किन्तु अव्ययीभूत (न खर्ची) रत्न-संपदा के कारण ऊँचा सिर (शिखर) किये याचकों की वर्जना से उत्पन्न निंदा के कारण घनी लज्जा से युक्त रत्नपर्वत (रोहणाद्रि) किस प्रकार स्थित है ?

टिप्पणी—आशय यह है कि अवांछित और प्रचुर दान करने वाला यह मिथिलापति दानी होने की दृष्टि से कल्पवृक्ष और रोहणपर्वत–सुमेरु से भी श्रेष्ठ है। कल्पवृक्ष से इसलिए श्रेष्ठ है कि वह याचित ही देता है और मिथिलेश अयाचित। मानो याचकों को कल्पवृक्ष से कुछ नहीं मिलता और न देने से उसका फलभार बढ़ जाता है और 'भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः' न्याय से वह झुक जाता है। दूसरा यह कुब्जत्व वस्तुतः उस लज्जा के कारण है, जो मिथिलेश की दानवीरता से उत्पन्न हुई है। फलभार से झुक जाना तो एक बहाना मात्र है। रोहिणाद्रि के रत्न तो इस लोक के वासी पा ही नहीं सकते, तो स्वतः याचकों की वर्जना हो जाती है, सो रोहिणाचल पर प्रभूत रत्नराशि है। वह दान करता ही नहीं, इससे मिथिलेश से उसकी समानता का प्रश्न ही नहीं उठता। उस पर यह कि रोहिणाचल पूरा निर्लज्ज है—अदानशील होकर भी सम्मान से सिर (शिखर) ऊँचा किये खड़ा है, जबकि उसे धराशायी होना उचित है। लज्जा-गोपन भी नहीं करता और सबके सम्मुख खड़ा है। अत्यन्त निर्लज्ज है, रत्नपर्वत। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति

है, क्योंकि कल्पवृक्ष और रत्नाचल की लज्जा का संबन्ध न रहने पर सम्बन्ध कथन है ॥६७॥

सृजामि किं विघ्नमिदन्नृपस्तुताविती‌ङ्गितैः पृच्छति तां सखीजने।
स्मिताय वक्त्रं यदवक्रयद् वधूस्तदेव वैमुख्यमलक्षि तन्नृपे ॥६८॥

जीवातु—सृजामीति । अथ सखीजने तां भैमीम्, इदन्नृपस्य एतन्नृपस्य, स्तुतौ विघ्नं सृजामि किम् ! इतीङ्गितैः चेष्टितैः, पृच्छति सति वधूः, भैमी, स्मिताय स्मितं कर्तुं, क्रियार्थेत्यादिना चतुर्थी, वक्त्रं अवक्रयत् वक्रीचकार, इति यत् तत् वक्रीकरणमेव, तन्नृपे तस्मिन् नृपे, वैमुख्यं नैस्पृह्यम्, अलक्षि लक्षितम् ॥ ६८ ॥

अन्वयः—'इदन्नृपस्तुतौ किं विघ्नं सृजामि' इति ताम् इङ्गितैः सखीजने पृच्छति वधूः स्मिताय यत् वक्त्रम् अवक्रयत्, तत् एव तन्नृपे वैमुख्यम् अलक्षि ।

हिन्दी - 'इस राजा (मिथिलेश्वर) के गुण-शंसन में क्या विघ्न उत्पन्न करूँ' ऐसा उस (दमयंती) से सखियों द्वारा पूछा जाने पर स्वयंवरा वधू (दमयंती) ने मुसकाने के लिए जो मुख फेरा (दूसरी ओर किया), उसी (मुखवक्रता) ने उस राजा (मिथिलापति) के प्रति (दमयंती की) विमुखता (अरुचि) स्पष्ट कर दी ।

टिप्पणी—मिथिलेश्वर के गुण-वर्णन में व्याघात उत्पन्न करने की अनुमति चाहती सखी के उत्तर में दमयंती मुख दूसरी ओर करके मुसकरा दी। यह मुसकाना ही उसकी मिथिलापति के प्रति अरुचि का द्योतक समझ लिया गया। इस मुखवक्रता से सखियों ने भी अरुचि समझ ली और स्वयं मिथिलाधिपति ने भी ॥ ६८ ॥

दृशाऽथ निर्दिश्य नरेश्वरान्तरं मधुस्वरा वक्तुमधीश्वरा गिराम्।
अनूपयामास विदर्भजाश्रु तौ निजास्यचन्द्रस्य सुधाभिरुक्तिभिः ॥ ६९॥

जीवातु—दृशेति । अथ मधुस्वरा मधुरकण्ठी, गिरामधीश्वरा सरस्वती, नरेश्वरान्तरं राजान्तरं, वक्तुं वर्णयितुं, दृशा निर्दिश्य निरूप्य, विदर्भजाया वैदर्भ्याः, श्रुती श्रोत्रे, निजास्यचन्द्रस्य सुधाभिः उक्तिभिः वचनामृतैरित्यर्थः, अनूपयामास सरसीचकार, वचनामृतवर्षणेन भैम्याः श्रोत्रद्वयमत्यर्थमार्द्रीचकारेत्यर्थः, जलप्रायमनूपं स्यात्' इत्यमरः । अनुगता आपो यस्येति अनूपम्

'ऋक्पूरब्धू -' इत्यादिना समासान्त, 'ऊदनोर्देशे' इत्यूकार, तस्मात् 'तत्करोति-' इत्यादिना ण्यन्ताल्लिट् ॥ ६९ ॥

अन्वय —अथ मधुस्वरा गिराम् अधीश्वरा नरेश्वरान्तर वक्तु दृशा निर्दिश्य विदर्भजाश्रुतौ निजास्यचन्द्रस्य सुधाभि उक्तिभि अनूपयामास।

हिन्दी—तदनन्तर मधुर कण्ठी वाणी की अधि स्वामिनी (सरस्वती) अन्य नृपति के विषय मे कहने के लिए (उस नरश्वरान्तरका) दृष्टि से निर्देश करके विदर्भतनया के कान को अपने (सरस्वती के) मुख चन्द्र के अमृत रूप वचनों की वर्षा से सरस करने लगी।

टिप्पणी—'अनुगता आपो यत्र अनूप' अर्थात् जलप्लावित देश। भगवती भारती ने मिथिलेश्वर के विषय मे कहना समाप्त कर अन्य नृप का मधुर स्वर मे वर्णनारभ किया। मुख चन्द्र से भरती अमृत वर्षा से सरस भगवती के वचन थे, जिनसे दमयन्ती के कर्ण प्रदेश प्लावित होन लगे ॥६९॥

स कामरूपाधिप एप हा ! त्वया न कामरूपाधिक ईक्ष्यतेऽपि य।
त्वमस्य सा योग्यतमा हि वल्लभा सुदुर्लभा यत्प्रतिमल्लभा परा ॥७०॥

जीवातु—स इति। एप पुरोवर्त्ती, य कामात् कन्दर्पादपि रूपेणाधिक, स प्रसिद्ध, कामरूपाधिप कामरूपदेशाधीश्वरोऽपि त्वया नेक्ष्यत हा ! तव नैतद्युक्तमिति भाव, कुत ? यस्या तव इति भाव, प्रतिमल्ला प्रतिद्वन्द्विनी, भा कान्तिर्यस्या सा यत्प्रतिमल्लभा यत्सदृशसौन्दर्यशालिनीत्यर्थ, परा अन्या रमणी, सुदुर्लभा अतिदुर्लभा, एवम्भूता सा त्वमस्य राज्ञ, योग्यतमा हि अत्यन्तानुरूपैव, वल्लभा दयिता, समानसौन्दर्यतया समागमयोग्योऽय त्वया वीक्षितव्य एवेत्यर्थ ॥ ७० ॥

अन्वय:—एप: स: कामरूपाधिक, कामरूपाधिप: हा ! य: त्वया ईक्ष्यते अपि न, हि यत्प्रतिमल्लभा परा सुदुर्लभा सा त्वम् अस्य योग्यतया वल्लभा।

हिन्दी—यह वह (प्रसिद्ध) कामदेव से भी रूप में अधिक (काम से भी सुन्दर) कामरूप का स्वामी कामरूपदेश का राजा और कामदेव क रूप (उसके रूप का ही होने से) का अधिपति है, हाय, जिसको तुम (दमयती) देखती भी नहीं (रुचि का तो प्रश्न ही नहीं उठता)—यह बडे दु:ख की बात है-क्योंकि जिस (दमयन्ती) के समान कान्तिमती अन्य सुन्दरी अत्यन्त

दुर्लभ है, वह तुम (दमयन्ती) उस (कामरूपनरेश) की योग्यतम (अत्युचित) दयिता (होने योग्य) हो।

टिप्पणी—भगवती भारती ने कामरूपनरेश के सम्बन्ध में तर्क उपस्थित करते हुए दमयन्ती से कहा कि उसे इस कामाधिक सुन्दर नृपति का सम्यक् अवलोकन तो करना ही चाहिए। ऐसा न करना अत्यनुचित है। एक प्रकार से दमयन्ती और कामरूपाधिप का सम्बन्ध प्रशस्य होगा, क्योंकि यह राजा काम से भी अधिक सुन्दर है और दमयन्ती अनुपम, अद्वितीय सुन्दरी है। दोनों ही समानगुण हैं॥ ७०॥

अकर्णधाराशुगसम्भृताङ्गतां गतैररित्रेण विनाऽस्य वैरिभिः।
विधाय यावत्तरणेर्भिदामहो! निमज्ज्य तीर्णः समरे भवार्णवः॥७१॥

जीवातु—अकर्णेति। कर्णं इव कर्णः प्रतिमुखशल्यं तद्रहितः अकर्णः, न कर्णिभिर्नापि दिग्धैरिति निषेधादिति भावः, अकर्णा धारा यस्य स अकर्णधारः स चासौ आशुगः विशिखः, तैः सम्भृतानि सम्पूरितानि, अङ्गानि येषां ते तदङ्गाः तत्तां, गतैः अस्य वैरिभिः शत्रुभिः, अरिभ्यः त्रायते इत्यरित्रं वर्मादि तेन, विना तद्विहाय, समरे निमज्ज्य पतित्वा, तरणेः सूर्यस्य, भिदां भेदं, विधाय कृत्वा, यावत्, सूर्यमण्डलं भित्त्वैव, भवः संसार एव, अर्णवः समुद्रः, तीर्णः अहो! आश्चर्यम्। 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥' इति दर्शनादिति। कर्णधारः नाविकः, तस्य अभावात् आशुगेन पवनेन, सम्भृताङ्गतां चाल्यमानदेहत्वं, गतैः प्राप्तैः, जनैः अरित्रेण केनिपातेन, नौकापश्चाद्भागवद्धकाष्ठदण्डविशेषेणेत्यर्थः, विना तरणेः नौकायाः, भिदां भेदं, विधाय कृत्वा, समुद्रे निमज्ज्य भवार्णवः तीर्णः उत्तीर्णः इति च गम्यते॥ ७१॥

अन्वयः—अहो, अकर्णधाराशुगसम्भृताङ्गतां गतैः अस्य वैरिभिः अरित्रेण विना समरे निमज्ज्य तरणेः भिदां विधाय तावत् भवार्णवः तीर्णः।

हिन्दी—आश्चर्य है कि कर्णधार (नाविक) और आशुग (वायु) के अनुकूल अंग अर्थात् रस्सी, स्तम्भ आदि तिराने के साधन न रहते अरित्र अर्थात् जलक्षेपणकाष्ठ (लग्गी, डाँड़ा) के बिना तरणी अर्थात् नौका को तोड़ और डुबाकर भवं अर्थात् हे शिवजी महाराज, जैसे कोई समुद्र तैर

जाय, वैसे ही अकर्णधर अर्थात् कर्ण के आकार के लौह-कण्टक (प्रति-मुख शल्य) धारण न करते बाणों से अंग विंधा कर इस (काम-रूपाधिप) के शत्रुओं ने अरि में त्राण दिलाने वाले कवच (अथवा अन्य वीर) के अभाव में युद्ध में जूझ कर तरणि अर्थात् सूर्य का मंडल भेद कर संसार-समुद्र पार कर डाला।

टिप्पणी—आशय यह है कि कामरूपाधिप के सामान्य बाणों (लौह कंटकयुत बाणों से नहीं) से ही बिंधकर युद्धक्षेत्र में वीर गति पा उसके वैरी मोक्ष प्राप्त करते हैं—ऐसा वीर भी है कामरूप नरेश। केवल सुन्दर ही नहीं, वह महान् शूर भी है। इसे भंगिमा विशेष से स्पष्ट किया गया है। सामान्य रूप में यह संभव नहीं है कि बिना मल्लाह की सहायता के साधन-हीन हुआ, नाव के डूब जाने पर भी कोई व्यक्ति सागर तैर जाय। ऐसा यदि हो जाय तो महान् आश्चर्य ही होगा। इस प्रसंग में अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग से यह दिखाया गया। सामान्य बाणों से बिंधकर युद्ध में वीर गति पाने वाले कामरूप नरेश के शत्रु संसार-सागर पार कर मोक्ष प्राप्त करते हैं, यह बिना साधन के समुद्र पार करने के सदृश कह दिया गया। समुद्र-सन्तरणार्थ पक्ष में 'भवार्णव' भव + अर्णवः छेद कर लिया गया है। हे भव, हे शिव—यह आश्चर्य सूचक है। कर्णधार अर्थात् नाविक—'कर्णधारस्तु नाविकः'। अरित्र अर्थात् नौकादण्ड, क्षेपणी—'नौकादण्डः क्षेपणी स्यादरित्रम्।' तरणि अर्थात् नौका—'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः।' तरणि अर्थात् सूर्य—'द्युमणिस्तरणिर्मित्र'। (अमरकोष) ॥ ७१ ॥

अमुष्य भूलोकभुजो भुजोष्मभिस्तपर्तुरेव क्रियतेऽरिवेश्मनि।
प्रपा न तत्रारिवधूस्तपस्विनी ददाति नेत्रोत्पलवासिभिर्जलैः ? ॥७२॥

जीवातु—अमुष्येति। यस्मात् अमुष्य भूलोकभुजः पृथिवीलोकरक्षकस्य राज्ञः, न तु सूर्यवत् आकाशमार्गचारिण इति तात्पर्यम्, भुजोष्मभिः भुजप्रतापैः, अरिवेश्मनि शत्रुगृहे, तपर्तुः ग्रीष्मर्तुरेव, क्रियते नित्यसन्तापः क्रियते इत्यर्थः, तस्मात् तत्र अरिवेश्मनि, तपस्विनी शोच्या धर्मशीला च, अरिवधूः नेत्रोत्पलयोः वसन्तीति तद्वासिभिः जलैः अश्रुभिः, उत्पलवासनावद्भिश्च जलैः, प्रपीयते अस्या-मिति प्रपा पानीयशालिका, 'पाघातो अङ्' तां न ददाति ? इति काकुः,

ददातीत्यर्थः, धार्मिका हि ग्रीष्मकाले वासितोदकप्रायाः प्रपाः प्रवर्तयन्तीति। एतेन राज्ञा शत्रुमारणात् सर्वाः शत्रुस्त्रियो निरन्तरं रुदन्तीति भावः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—अमुष्य भूलोकभुजः भुजोष्मभिः अरिवेश्मनि तपर्तुः एव क्रियते, तत्र तपस्विनी अरिवधूः नेत्रोत्पलवासिभिः जलैः प्रपां न ददाति ?

हिन्दी—इस पृथ्वी लोक में स्थित (कामरूपेश) के बाहु-प्रताप रूप ताप द्वारा शत्रु के घर में ग्रीष्म ऋतु ही कर दी गयी है, वहाँ गरमी से व्याकुल धर्माचारिणी, तपसहती शत्रु-पत्नी ने नयन-कमलों में बसते अथवा कमल सुगन्ध से पूर्ण जल से (आँसुओं से) क्या प्याऊ (जलशाला) नहीं लगा रखी है ? (लगा ही रखी है)।

टिप्पणी—भाव यह है कि प्रतापी कामरूपाधिप ने शत्रुओं को निःशेष कर दिया। उनकी स्त्रियाँ विरह-ताप से व्याकुल, दीन बनी आँखों से आँसू बहाती रहती हैं। प्रतापानल से तप्त घर में वास करती तपस्विनी साध्वी द्वारा प्याऊ खोलने का धर्माचरण इसी भाव को भंगिमाचारुता देकर स्पष्ट करता है। अमरकोष के अनुसार प्रपा अर्थात् प्याऊ—'प्रपा पानीय शालिका' ॥ ७२ ॥

> एतद्दत्तासिघातस्रवदसृगसुहृद्वंशसार्द्रेन्धनैत-
> द्दोरुद्दामप्रतापज्वलदनलमिलद्भूमधूमभ्रमाय ।
> एतद्दिग्जैत्रयात्राऽसमसमरभरं पश्यतः कस्य नासी-
> देतन्नासीरवाजिव्रजखुरजरजोराजिराजिस्थलीषु ? ॥ ७३ ॥

जीवातु—एतदिति । आजिस्थलीषु रणभूमिषु, एतस्य राज्ञः, नासीरे सेनामुखे; वाजिव्रजानां खुरैः जाता रजसां राजिः पङ्क्तिः, एतस्य राज्ञः, दिशो जैत्रासु, तृन्नन्तत्वात् षष्ठीसमासनिषेधः, यात्रासु दिग्विजययात्रासु, असमम् असदृशम्, अतुलनीयमित्यर्थः, समरभरं समरव्यापारं, पश्यतः अवलोकयतः, कस्य जनस्य, एतेन राज्ञा, दत्तैः प्रयुक्तैः असिघातैः खड्गप्रहारैः, स्रवदसृजः क्षरद्रक्ताः, असुहृदः शत्रवः एव, वंशाः वेणवः, 'वंशो वर्गे कुले वेणौ' इति विश्वः, त एव सार्द्रेन्धनानि सरसानि दाहकाष्ठानि, यस्य एतादृशो यः एतस्य राज्ञः, दोष्णोः भुजयोः, उद्दामः प्रचण्डः, प्रताप एव ज्वलदनलः तस्मिन् मिलतां सङ्गच्छमानानां, वर्तमानानामिति यावत् भूम्नां बहूनां, धूमानां भ्रमाय

-भ्रान्त्यै, न आसीत् ? सर्वस्यापि आसीदेवेत्यर्थः। अत्र रजोराजौ कविसम्मत-त्वादृश्यात् धूमभ्रमोक्त्या भ्रान्तिमान् अलङ्कारः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—आजिस्थलीषु एतन्नासीरवाजिव्रजखुररजोराजि. एतद्दिग्जै-त्रयात्रासमसमरभर पश्यत कस्य एतद्दत्तासिघातस्तवदसृग्गसुहृद्वशार्द्रेन्धनै-रुद्दोरुद्दामप्रतापज्वलदनलमिलद्भूमधूमभ्रमाय न आसीत् ?

हिन्दी—समरस्थलियों मे इस (कामदेशाधिप) के सेनाग्रभाग मे विद्यमान अश्वों के खुरों से उड़ी विपुल धूल से इस (राजा) की दिग्विजय यात्राओं के असमस्त सैन्यसमर्द को देखते किस व्यक्ति को इस (कामरूपराज) के कृपाणद्वारा किये गये आघात के कारण बहते रुधिर से युक्त शत्रुसमूह रूप बाँसो के गीले ईंधन से प्रज्ज्वलित इस (राजा) के उद्दाम.प्रतापानल से -उद्भूत प्रचुर धुएँ का भ्रम नही हुआ ? (सब को हुआ)।

टिप्पणी—कामरूपनरेश विपुल अश्वदल का स्वामी है। इसका प्रताप शत्रुओं को जलाकर भस्म कर देता है, अर्थात् यह बड़ा वीर है। इसकी सेना भी बहुत बड़ी है। यह इतना पराक्रमी है कि जब इसकी विशाल सेना युद्धार्थ प्रस्थान करती है तो घोड़ों के खुरो से उड़ती धूल देख कर ही दर्शक समझ जाते हैं कि शत्रु का विनाश निश्चित है। प्रतापानल चूँकि रुधिर से गीले शत्रुरूपी बाँसों के ईंधन से जलता है,. अतः धुआँ देता है। दर्शक अश्वखुरों से उड़ी धूल को ही प्रतापनल का धूम समझ बैठते हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ भ्रांतिमान् अलकार है, क्योंकि कविसमत सादृश्य के आधार पर रजोराजि मे धूम-भ्रम का कथन हुआ है ॥ ७३ ॥

क्षीरोदन्वदपः प्रमथ्य मथितादेशोऽमरैर्निर्मिते
स्वाक्रम्य सृजतस्तदस्य यशसः क्षीरोदसिंहासनम्।
केषा नार्जनि वा जनेन जगतामेतत्कवित्वामृत-
स्रोतःप्रोतपिपासुकर्णकलसीभाजाऽभिषेकोत्सवः ? ॥ ७४ ॥

जीवातु—क्षीरोदन्वदिति। अमरैः देवैः, क्षीराणाम् उदन्वतः क्षीराब्धेः, आपः दुग्धरूपजलानि, क्षीरोदन्वदपाः 'ऋक्पूः—' इत्यादिना समासान्तः, ताः प्रमथ्य विलोड्य, मथित तक्र, मथनोद्भूतो निर्जलोदधिक्षीरविकार इत्यर्थः; 'तक्र ह्युदश्विन्मथितं पादाम्ब्वर्द्धाम्बु निर्जलम्' इत्यमरः, तद्रूपत आदेशो इवादेशं

रूपान्तरे, निर्मिते सम्पादिते सति रूपान्तरापादनेन क्षीराब्धौ अभावं गमिते सतीत्यर्थः, अथवा द्रवोपरि अवस्थानामम्भवात् दुग्धरूपे तज्जले अतिघने कृते सतीत्यर्थः, तत् तथा, क्षीरत्वेन प्रसिद्धम् उदकं यस्य स क्षीरोदः क्षीराब्धिः, 'उदकस्योदः संज्ञायाम्' इत्युदादेशः, तद्रूपं सिंहासनं स्वेन आत्मना, सु सुखेन वा आक्रम्यम् उपवेशनयोग्यं, सृजतः कुर्वतः, घनीभूतं क्षीरसमुद्रमुपविशतः इत्यर्थः, यशसो विशेषणमेतत् बोध्यम्, अस्य राज्ञः, यशसः एतस्य राज्ञः सम्बन्धि, कवित्वम् एतद्रचितं काव्यम्, अथवा कविनिर्मितम् एतत्सम्बन्धि कीर्त्तिवर्णनरूपं काव्यमित्यर्थः, तदेवामृतं कर्णरसायनत्वादमृतरूपमित्यर्थः, तस्य स्रोतसा प्रवाहेण, प्रोते पूरिते, पिपासूनां पातुमिच्छूनाम्, अत्यादरेण कवित्वामृतशुश्रूषूणां जनानामित्यर्थः, कर्णाविव कलस्यौ अभिषेचनकुम्भौ, भजतीति तद्भाजा, केषां वा जगतां भुवनानां सम्बन्धिना, जनेन अभिषेकोत्सवः अभिषेकजन्यः आनन्दोत्सवः, न अजनि ? न जनितः ? जनेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, भुवनान्तरस्था अपि कवयः आ-क्षीराब्धिप्रसृतमेतद्यशः सर्वत्र आनन्दकरं वर्णयन्ति स्म इत्यर्थः, एतद्यशः लोकपरम्परया क्षीरसमुद्रपर्यन्तगामीति भावः। देवैः क्षीरोदसमुद्रे मथिते सति तत्र जलाभावात् अधुना क्षीरोदसमुद्ररूपसिंहासनम् अधिकृतवति एतद्राजयशसि एतद्यशःक्षीरोदस्य वर्णयितारः अखिलाः कवय एव अभिषेक्तारः कवित्वमेव जलं श्रोतृजनकर्णा एव कलसाः तत्सम्भवायाः सरितः प्रसर्पणात् स्तुतिः एवाभिषेक इति रूपकालङ्कारः। अथवा लोके यथा कस्मिश्चित् राजनि केनचित् मथिते तदीय सिंहासनम् आक्रम्याधितिष्ठतोऽन्यस्य जनैर्जलपूर्णकलसेनाभिषेकः क्रियते तद्वदिति भावः॥ ७४॥

अन्वयः—अमरैः क्षीरोदस्वदपाः प्रमथ्य मथितादेशे निर्मिते तत् क्षीरोदसिंहासनं स्वाक्रम्यं सृजतः अस्य यशसः एतत्कवित्वामृतस्रोतःप्रोतपिपासुकर्णकलसीभाजा केषां वा जगतां जनेन अभिषेकोत्सवः न अजनि ?

हिन्दी—'देवों के क्षीरसागर की जलराशि को मथकर उसके (क्षीर-जल के) स्थान पर 'मथित' (निर्जल मथित दही) बना डालने पर उस (मथित के कारण कठिन हुए क्षीर-जलवान्) क्षीरसागर रूप सिंहासन को बैठने योग्य बनाते इस (कामरूपाधिप) के यश का इस (राजा) के (यश के) सम्बन्ध में रचित कवितामृत के प्रवाह-से पूर्ण प्यासे कर्णरूप

कलश धारण करते किस जगत् के व्यक्ति ने अभिषेक-समारोह नहीं किया? (सभी ने किया)।

टिप्पणी—कामरूपाधिप की कीर्ति-कथा समस्त लोका मे प्रख्यात है और अन्य यशस्वी जनो की अपेक्षा इसका यश अधिक प्रशस्त और महत्त्वपूर्ण है। इस भाव को रस-रूप मे कहा गया है कि समस्त जगत् के व्यक्ति इसके यश को यशोराज्य मान कर इसके यश का उसी प्रकार राज्य-सिंहासना-भिषेक करते हैं, जैसे किसी विजयी राजा का अन्य राजा का उच्छेद कर उसके सिंहासन पर अधिष्ठित होते समय किया जाता है। क्षीर-सागर शुभ्रता की सीमा है। देवो ने भी कामरूपाधिपति के यश को शिरसा स्वीकारा और फलस्वरूप इसके यश के प्रतिद्वन्द्वी क्षीरसागर का मथन (मथन, दलन) कर उसे निर्जल दधि के रूप मे कठोर करके इसके यशोराज के उपवेशन-योग्य बना दिया। यशस्वी राजसिंहासन पर विजयी नरेश की भाँति बैठ गया और त्रिलोकी के जना ने उसका उस सिंहासन पर बैठ जाने पर अभिषेक समारोह मनाया। त्रिलोकी के जन के पिपासु वर्ण ही यश-प्रवाह को भरने के इच्छुक कलश हैं, जिनमे कवियों द्वारा रचित काव्य के माध्यम से अमृत-यश पूर प्राप्त कर भरा गया है—अर्थात् कवियों द्वारा रचे काव्यामृत के रूप मे कामरूप के राजा का यश पूर त्रिलोकी जनों के कर्ण-कलशा मे भरा गया और उससे अभिषेकोत्सव सम्पन्न हुआ। मल्लिनाथ के अनुसार देवो द्वारा क्षीरोदसागर के 'मथित' होने पर उसमे जल का अभाव हो जाने से रस कामरूपाधिप के यश द्वारा क्षीरसागर रूप सिंहासन पर अधिकार कर लिया गया, उस यश-क्षीरोद के वर्णन करने वाले इति ही अभिषेक-कर्त्ता है, कठिनत्व ही जल है, श्रोताओं के कान ही कलश हैं, उनसे वही सरित् के प्रसर्पण से स्तुति ही अभिषेक है—अत- रूपक अलकार है। भाव यही है कि किसी राजा द्वारा किसी राजा को दल-मलकर उसके सिंहासन पर अधिकार कर बैठ जाने पर जैसे उसका लोग जलभरे कलशों से अभिषेक करते हैं, वैसे ही कामरूपाधिप के यश का मथित क्षीरसागर-सिंहासन पर अधिष्ठित होते समय हुआ। क्षीरसागर से भी निर्मल—विमल और श्रेष्ठ कामरूप-नरेश का यश त्रिलोकी में व्याप्त हो गया है॥ ७४॥

समिति पतिनिपाताकर्णनद्रागदीर्णप्रतिनृपतिमृगाक्षीलक्षवक्षःशिलासु ।
रचितलिपिरिवोरस्ताडनव्यस्तहस्तप्रखरनखटङ्कै रस्यकीर्तिप्रशस्तिः ।।७५।।

जीवातु—समितीति । अस्य राज्ञः, कीर्तेः । प्रशस्तिः प्रशंसा, समिति आजौ, पतिनिपातस्य भर्तृमरणस्य, आकर्णने श्रवणेऽपि, द्राक् सद्य एव, अदीर्णासु अभिन्नासु, अक्षरविन्यासयोग्यासु इति यावत्, प्रतिनृपतिमृगाक्षीलक्षाणाम् अरिराजस्त्रीलक्षसङ्ख्यकानां, वक्षःशिलासु पाषाणकठिनवक्षःस्थलेषु, पतिमरणश्रवणक्षणे एवाविदीर्णत्वात् वक्षसः शिलात्वं बोध्यम्, उरस्ताडने वक्षस्ताडने व्यस्तानां व्यापृतानां, सर्वैरं पातितानामिति यावत्, हस्तानां ये प्रखरनखाः तीक्ष्णनखाः तैरेव टङ्कैः पाषाणदारकद्रव्यविशेषैः 'टङ्कः पाषाणदारणः' इत्यमरः, रचितलिपिरिव कृताक्षरविन्यासा इव, भाति इति शेषः । दुःखातिरेकात् वक्षःकृतनखालेखनेषु कीर्तिप्रशस्तेः अक्षरत्वोत्प्रेक्षणात् उत्प्रेक्षालङ्कारः ।।७५।।

अन्वयः—यस्य कीर्तिप्रशस्तिः समिति पतिनिपाताकर्णनद्रागदीर्णप्रतिनृपतिमृगाक्षीलक्षवक्षःशिलासु उरस्ताडनव्यस्तहस्तप्रखरनखटङ्कैः रचितलिपिः इव ।

हिन्दी—इस (कामरूप-नरेश) के यश की प्रशंसा युद्ध में पतियों के मरण-श्रवण से तुरंत न फट गये शत्रु-नरेशों की मृगनयनाओं के लाखों वक्ष रूप शिलाओं पर छाती पीटने में व्यस्त हाथों के तीक्ष्ण नख रूप छेनियों द्वारा उकेरे रचित लेख (शिलालेख) हैं ।

टिप्पणी—कामरूपाधिप ने अपने अनेक शत्रुओं का युद्ध में हनन किया, उनकी स्त्रियाँ मारे दुःख के हाथों से छाती पीटतीं, नखों से विदीर्ण करतीं, रुदन और विलाप कर रही हैं । पति-मरण सुनते ही वक्ष नहीं फटे, अतः वे शिलासम कठोर हैं, उन्हीं वक्षः-शिलाओं पर नखरूप टाँकियों से कीर्ति के प्रशंसाभिलेख उत्कीर्ण किये गये हैं । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है, क्योंकि दुःखातिरेक से वक्षों पर नखालेखनों में कीर्ति-प्रशस्ति के अक्षरभाव की संभावना की गयी है । मालिनी छंद ।।७५।।

विधाय ताम्बूलपुटीं कराङ्कगां बभाण ताम्बूलकरङ्कवाहिनी ।
दमस्वसुर्भावमवेत्य भारतीं नयानया वक्त्रपरिश्रमं शमम् ।।७६।।

जीवातु—विधायेति । ताम्बूलकरङ्कवाहिनी ताम्बूलपात्रधारिणी,

दमस्वसु दमयन्त्या, भाव तद्राजवर्णननिषेधरूपमभिप्रायम्, अवेत्य ज्ञात्वा, ताम्बूलपुटी ताम्बूलवीटिका, कराङ्कगा करतलस्था, विधाय कृत्वा अनया वीटिकया, वक्त्रपरिश्रमं बहुक्षण व्याप्य एतद्राजगुणकथनजन्यम् आस्यशोष, शमं शान्ति, नय इति भारतीं बभाण, अम्ब ! नायमस्यै रोचते कृत वृथा एतद्वर्णनश्रमेणेति तात्पर्यम् ॥७६॥

अन्वयः—ताम्बूलकरङ्कवाहिनी दमस्वसु· भावम् अवेत्य ताम्बूलपुटी कराङ्कगा विधाय भारती बभाण—अनया वक्त्रपरिश्रम शम नय ।

हिन्दी—(सोने के बने हंसादि के आकार के) ताम्बूल रखने के पात्र (पानदान) को ले चलने वाली दासी दम-भगिनी (दमयन्ती) का आशय समझ कर पान के बीडे को हाथ में लेकर भगवती सरस्वती से बोली—कृपया इस (ताम्बूलवीटिका) से मुख के परिश्रम का उपशम कीजिए ।

टिप्पणी—यथापूर्व दमयन्ती को कामरूप-नरेश के गुणाकर्णन मे कोई रुचि नही थी। साथ मे चलने वाली ताम्बूलपात्र-धारिणी दासी ने स्वामिनी की अरुचि समझ ली और भगवती भारती को सादर ताम्बूलार्पण किया कि वे उसे मुख मे रख लें और गुण-वर्णन समाप्त कर दें। बोलते-बोलते मुँह थक गया होगा, सूख गया होगा, पान खाइए और मुख को विश्राम दीजिए ॥७६॥

समुन्मुखीकृत्य बभार भारती रतीशकल्पेऽन्यनृपे निजं भुजम् ।
ततस्त्रसद्बालपृषद्विलोचना शशंस संसज्जनरञ्जनी जनीम् ॥७७॥

जीवातु—समुन्मुखीति । अथ भारती सरस्वती, रतीशकल्पे कामतुल्ये, अन्यनृपे नृपान्तरे विषये, निजं भुजं समुन्मुखीकृत्य, सम्यगभिमुखीकृत्य, बभार धारयामास, दमयन्त्यै तं दर्शयितुं तदभिमुखं कृतवतीत्यर्थ । ततो हस्तोद्यमानन्तर, त्रसद्बालपृषद्विलोचना चकितमृगशावाक्षी, ससज्जनरञ्जनी सभास्थजनमनोहारिणी, जनी वधू, दमयन्तीमिति यावत्, शशस उवाचेत्यर्थ । ७७॥

अन्वयः—भारती रतीशकल्पे अन्यनृपे निजं भुजं, समुन्मुखीकृत्य बभार, तत· त्रसद्बालपृषद्विलोचना ससज्जनरञ्जनी जनी शशस ।

हिन्दी—भगवती शारदा ने रतिपति (काम) के तुल्य अन्य राजा की ओर अपना बाहु भलीभाँति उन्मुख करके धारण किया, तदनन्तर वे डरते

मृगछौने के सदृश नयनों वाली, स्वयंवर सभासदों का रंजन करने वाली स्वयंवरार्थिनी (दमयन्ती) से बोलीं।

टिप्पणी—देवी सरस्वती ने ताम्बूलवाहिनी का संकेत समझा और दूसरे राजा (उत्कलनरेश) की ओर भुजा उठा कर संकेत करते हुए चकित, त्रस्त सुनयना दमयन्ती से कहा ॥७७॥

अयं गुणौघैरनुरज्यदुत्कलो भवन्मुखालोकरसोत्कलोचनः।
स्पृशन्तु रूपामृतवापि ! नन्वमुं नवापि दृक्तारतरङ्गभङ्गयः ॥७८॥

जीवातु—अयमिति। ननु हे ! रूपामृतवापि सौन्दर्यसुधारसदीर्घिके ! गुणौघैः सौन्दर्यादिभिः, अनुरज्यन्तः अनुरक्ताः, उत्कलाः तद्देशीयलोकाः यस्मिन् स तादृशः, अयं राजा, भवत्याः, तव, मुखस्य आस्यस्य, आलोकरसेन आलोकनकौतुकेन, उत्कलोचनः उत्सुकाक्षः, भवतीति शेषः, तथापि दृशोः ताराः विशालाः, तरङ्गभङ्गयः पुनःपुनर्निक्षेपरूपवीचिविन्यासाः, अमुम् उत्कलाधिपतिं, स्पृशन्तु, स्वानुरागिणि अनुराग उचित इति कटाक्षैरेनं पश्येति भावः ॥७८॥

अन्वयः—गुणौघैः अनुरज्यदुत्कलः अयं भवन्मुखालोकरसोत्कलोचनः, रूपामृतवापि, ननु तव अपि दृक्तारतरङ्गभङ्गयः अमुं स्पृशन्तु।

हिन्दी—(शूरता, औदार्य, सौन्दर्य आदि) गुण-समूहों से उत्कल देशीयों का अनुरंजन करने वाला यह (उत्कलेश) तुम्हारे (दमयन्ती के) मुख के दर्शनानन्द के निमित्त उत्सुकनयन है; इससे हे रूपसुधा की वापी दमयन्ती, तेरे भी नेत्रों की उज्ज्वल-चंचल तरंगों के विन्यास (कटाक्षपात) इस (उत्कलनरेश) का स्पर्श करें।

टिप्पणी—शील, शक्ति और सौन्दर्यादि गुणों से अपनी प्रजा उत्कलजनता का रंजन करनेहारा है यह उत्कलेश। इसके नेत्र दमयन्ती के मुखावलोकन के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं। दमयन्ती रूपामृत की दीर्घिका—सौन्दर्यामृतजल की बावड़ी है; अतः उसे उचित है कि वह इस उत्कण्ठित की उत्कण्ठा दूर करने के निमित्त अपने कटाक्ष की लहरों के संस्पर्श से इसे कृतार्थ करे। यह अनुरागी है, इसपर अनुराग करना ही उचित है ॥ ७८ ॥

अनेन सर्वार्थिकृतार्थताकृता हृतार्थिनी कामगवीसुरद्रुमौ।
मिथः पयःसेचनपल्लवाशने प्रदाय दानव्यसनं समाप्नुतः ॥७९॥

जीवातु—अनेनेति । सर्वार्थिना सर्वयाजकाना, कृतार्थताकृता पूर्णकामत्वकारिणा, अनेन राज्ञा, हृतार्थिनौ स्वय सर्वार्थदानादर्थिहरणेनार्थिरहितौ कृतौ इत्यर्थः, कामाना दात्री गौ कामगवी कामधेनु, 'गोरतद्धितलुकि' इति समासान्तष्टच्, सा च सुरद्रुम कल्पवृक्षश्च तौ, मिथोऽन्योऽन्य प्रति, पय सेचन क्षीरसेक, पल्लवाशन पल्लवभोजनञ्च, प्रदाय दत्वा, दानव्यसन दानासक्ति, समाप्नुत समापयत । याचकान्तराभावात् अन्योऽन्य प्रति सम्प्रदानीयपय पल्लवमात्रदानेन कथञ्चिद्दानकण्डूयपनोदन कुरुत इति तात्पर्यम् ॥ ७९ ॥

अन्वय —सर्वार्थिकृतार्थताकृता अनेन हृतार्थिनौ कामगवीसुरद्रुमौ मिथ पय सेचनपल्लवाशने प्रदाय दानव्यसन समाप्नुत ।

हिन्दी—सम्पूर्ण याचको को कृतकाम (पूर्णाभिलाष) करनेवाले इस (उत्कलेश) द्वारा याचको का हरण हो जाने के कारण कामधेनु और कल्पवृक्ष परस्पर दुग्ध का सिंचन और पत्तो का भोजन देकर अपनी-अपनी दानशीलता के नित्यकर्म को समाप्त करते हैं ।

टिप्पणी—उत्कलनरेश की दानशीलता का वर्णन, इतना दिया है इसने कि सबको अपना अभीष्ट प्राप्त हो गया । कोई याचक ही नही रहा । कामधेनु और कल्पवृक्ष का तो नित्यकर्म है दान, सो अपने-अपने नित्यव्यापार को वे इस प्रकार पूरा करते हैं कि परस्पर ही दान किया करते हैं। कामधेनु दूध से कल्पवृक्ष को सींच देती है और कल्पवृक्ष उसे भोजनार्थ पत्ते दे देता है । दानशूर है यह ॥ ७९ ॥

नृपः कराभ्यामुदतोलयन्निजे नृपानय यान् पततः पदद्वये ।
तदीयचूडाकुरुविन्दरश्मिभि. स्फुटेयमेतत्करपादरञ्जना ॥८०॥

जीवातु—नृप इति । अय नृप निजे पदद्वये पतत प्रणमतो, यान् नृपान् 'कराभ्या हस्ताभ्याम्, उदतोलयत् उत्तोलयामास, कृपयेति शेष, तदीयासु तेषा राज्ञा सम्बन्धिनीषु, चूडासु किरीटेषु, ये कुरुविन्दा पद्मरागा, 'कुरुविन्दस्तु मुस्ताया कुल्माषव्रीहिभेदयो । हिङ्गुले पद्मरागे च' इति विश्व, तेषा रश्मिभि. एतस्य राज्ञ, करपादयो करयो पादयोश्च, रञ्जना प्रणामेन चरणयोस्तेषामुत्तोलनेन च करयो रक्तिमत्त्व बोध्यम्, इय स्फुटा, लक्ष्यते इति

शेषः । स्वाभाविककरपादरागे राजकिरीटमाणिक्यमयूखरञ्जनत्वोत्प्रेक्षणेनास्यानेकराजविजयित्वं व्यज्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥८०॥

अन्वयः—अयं नृपः निजे पदद्वये पततः यान् नृपान् कराभ्याम् उदतोलयत्, तदीयचूडाकुरुविन्दरश्मिभिः इयम् एतत्करपादरञ्जना स्फुटा ।

हिन्दी—इस राजा (उत्कलेश) ने अपने दोनों चरणों में गिरते जिन राजाओं को (अपने) हाथों से उठाया उनके मुकुटों में जड़ी पद्मरागमणियों से यह इस (उत्कलनृप) के हाथ-पैरों का गुलाबीपन प्रकट हुआ है ।

टिप्पणी—उत्कलेश के हाथ-पैरों में स्वाभाविक स्वास्थ्य की लाली है । अनेक अधीन नरेश उसके चरणों में अपने मस्तक टेकते हैं, वह दोनों हाथों से उनका स्पर्श करता है और उठाता है । उत्प्रेक्षा की गयी है, कि इस कार्य में जो अधीन नृपों के मुकुटों में जड़ी लाल पद्मरागमणियों का स्पर्श उसके हाथ-पैरों से होता है, उसी से वे लाल हैं । मल्लिनाथ के अनुसार स्वाभाविक हाथ-पैरों की लाली में राजाओं के मुकुट-माणिक्य की किरणों से उनके लाल होने की जो संभावना की गयी है, उससे उत्कलेश का अनेक राजाओं पर विजयी होना व्यंजित होता है—इस प्रकार अलंकार द्वारा वस्तुध्वनि है ॥८०॥

> यत्कस्यामपि भानुमान्न ककुभि स्थेमानमालम्बते
> जातं यद्घनकाननैकशरणप्राप्तेन दावाग्निना ॥
> एषैतद्भुजतेजसा विजितयोस्तावत्तयोरौचिती
> धिक् तं वाडवमम्भसि द्विषि भिया येन प्रविष्टं पुनः ॥८१॥

जीवातु—यदिति । भानुमान् भास्वान् सूर्यः, कस्याम् अपि ककुभि कुत्रापि दिशि, स्थेमानं स्थिरत्वं, स्थिरशब्दस्य दृढादिपाठात् 'वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च' इति चकारादिमनिच् । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना स्थादेशः, न आलम्बते इति यत्, तथा दावाग्निना घनं निबिडं, काननमेव एकशरणम् एकमात्ररक्षितारं, प्राप्तेन 'द्वितीया श्रित—' इत्यादिना समासः, जातम् इति यत्, जातमिति भावे क्तः, एषा एतदुभयमपीत्यर्थः, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता, एतस्य राज्ञः, भुजतेजसा भुजप्रतापेन, विजितयोः तयोर्भानुदावाग्न्योः, औचिती

तावत् औचित्यमेव, भीतस्य व्याकुलत्वादेकत्रानवस्थानं वनाश्रयणञ्च युक्तमिति भाव , किन्तु त वाडवं वडवाग्निं, धिक्, येन वाडवेन, पुन भिया भयेन, द्विपि स्वस्य सहजद्वेषिणि, अम्भसि जले, प्रविष्टम् भावे क्त स्वशत्रुसंश्रयणात् अन्यत्र पलायनमपि वरमिति भाव । अत्र स्वाभाविकस्य सूर्यादिपर्यटनादेः एतद्भीहेतु-कत्वोत्प्रेक्षणात् उत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्या ॥८१॥

अन्वयः—भानुमान् कस्याम् अपि ककुभि स्थेमानं यत् न आलम्बते दावाग्निना यत् घनकाननैकशरणेन जातम्, एषा एतद्भुजतेजसा विजितयो तयो तावत् औचिती त वाडवं धिक्, येन पुन भिया द्विपि अम्भसि प्रविष्टम् ।

हिन्दी—सूर्य किसी दिशा मे जो स्थिर नही रहता, वनाग्नि ने जो घने वन मे ही शरण ले ली है, यह इस (उत्कलनरेश) के भुज-प्रताप से जीते इन दोनो (सूर्य और दावाग्नि) का पूर्णतया उचित कार्य है, किन्तु धिक्कार है उस वाडवाग्नि (समुद्र की आग) को, जिसने कि भय के कारण (अपने) शत्रु (सहजवैरी) जल मे प्रवेश किया ।

टिप्पणी—इस श्लोक मे सूर्य, दावाग्नि और वाडवाग्नि से भी अधिक उत्कलेश का भुजप्रताप है—यह भंगिमा-विशेष द्वारा कहा गया है । इसके साथ ही यह नीति-वचन भी कहा गया है कि जो भय से शत्रु के शरण मे जाते है, वे समानी नही है । मानी व्यक्ति ऐसा नही करता । उत्कलनृप के भुज-प्रताप से अपमानित सूर्य निरंतर भटकता फिरता है, पर शरण नही गहता, इसी प्रकार दावाग्नि ने भी शत्रु के शरण होना नहीं ठीक समझा, इसकी अपेक्षा उसे यह उचित लगा कि घने जगल मे जा छिपे और अपना लज्जावनत मुख न दिखाये । सूर्य और दावाग्नि को अपने मान का कुछ ध्यान तो है । गर्हणीय कृत्य तो वडवानल का है, जिसने डर कर सहज वैरी जल का आश्रय लिया । शत्रु का आश्रय लेने की अपेक्षा तो भाग जाना ही उचित होता । यहाँ सूर्यादि का भटकना आदि स्वाभाविक है किन्तु उसका कारण भय सम्भावित किया गया है, अत मल्लिनाथ के अनुसार व्यंजक का प्रयोग न होने के कारण गम्या उत्प्रेक्षा है ॥८१॥

अमुष्योर्वीभर्त्तुः प्रसृमरचमूसिन्धुरभवे
रवेर्भि प्रारब्धे वमथुभिरवश्यायसमये ।

न कम्पन्तामन्तः प्रतिभटनृपाः ? म्लायतु न तद्-
वधूवक्त्राम्भोजं ? भवतु न स तेषां कुदिवसः ? ॥ ८२ ॥

जीवातु—अमुष्येति । अमुष्य उर्वीभर्तुः प्रसृमराः प्रसारिणः, 'सृघस्यदः क्मरच्' तेभ्यः चमूसिन्धुरेः, सेनागजेभ्यः, भवैः वमथुभिः करशीकरैः, 'वमथुः करशीकरः' इत्यमरः, अवश्यायसमये नीहारकाले प्रारब्धे सति, अवैमि जानामि, मन्ये इत्यर्थः, वक्ष्यमाणवाक्यार्थं कर्म, प्रतिभटनृपाः शत्रुभूपाः, अन्तः अन्तः-करणे, न कम्पन्ताम् ? न कम्पेरन् ? अपि तु कम्पन्तामेवेत्यर्थः, इति काकुः, एवमुत्तरत्र । तद्वधूनां शत्रुभूपस्त्रीणां, वक्त्रमेवाम्भोजं पद्मं, न म्लायतु ? म्लायतु एव इत्यर्थः । सेनागजवमथुकृतावश्यायाच्छन्नदिवसः, तेषां प्रतिभटनृपाणां तद्-वधूनाञ्च, कुदिवसो दुर्दिनञ्च, न भवतु ? भवेदेवेत्यर्थः । अत्र करशीकरादौ नीहारादिरूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—अमुष्य उर्वीभर्तुः प्रसृमरचमूसिन्धुरभवैः वमथुभिः अवश्याय-समये प्रारब्धे अवैमि—प्रतिभटनृपाः अन्तः न कम्पन्ताम्, तद्वधूवक्त्राम्भोजं न म्लायतु, सः तेषां कुदिवसः न भवतु ?

हिन्दी—इस धरती के स्वामी (उत्कलराज) की सब ओर फैली सेना के हाथियों के मदजल-बिन्दुओं से कुहरे का काल (हिम ऋतु) के आरम्भ होने पर-समझती हूँ कि क्या शत्रु राजाओं के हृदय काँप-काँप न उठेंगे, उनकी पत्नियों के मुख-कमल क्या मलिन न होंगे, वह (गजसैन्यप्रसरणदिन) क्या उन (शत्रुनृप तथा उनकी पत्नियों) का दुर्दिन न होगा ? (होगा ही) ।

टिप्पणी—आशय यह है कि उत्कलराज बड़ा वीर है और उसका गजसैन्य विशाल है । युद्ध के निमित्त जब वह गजसेना लेकर चलता है तो हाथियों के मदजल से इतनी फुहारें उड़ती हैं कि हेमन्त ऋतु प्रतीत होने लगती है, और तत्कालोत्पन्न कंपन-सदृश शत्रु-नृपों के अंतस् तक में कंपन होने लगता है और जैसे तुषार में कमल श्रीहीन हो जाते हैं, वैसे ही शत्रु-नारियों के कमल-सम मुख मलिन और उदास हो जाते हैं, गजसैन्य के चारों ओर छाये मदजल को देख जैसा कंपन, कमलम्लानि और दुर्दिन स्वाभाविक रूप में होता है, वैसी ही शत्रुनृप और उनकी पत्नियों की स्थिति और अनुभूति

हो जाती है। मल्लिनाथ के अनुसार करशीकरादि में नीहारादि के रूपण के कारण रूपकालंकार है ॥ ८२ ॥

> आत्मन्यस्य समुच्चितीकृतगुणस्याहोतरामौचिती
> यद्गात्रान्तरवर्जनादजनयद्भूजानिरेष द्विषाम्।
> भूयोऽहङ्क्रियते स्म येन च हृदा स्कन्धो न यश्चानमत्
> तन्मर्माणि दलं दलं समिदलंकर्मीणबाणव्रजः ॥ ८३ ॥

जीवातु—आत्मनीति। आत्मनि स्वस्मिन्नेव, समुच्चितीकृतगुणस्य समाहृतसौन्दर्यादिनिखिलगुणस्य, अस्य राज्ञः, औचिती औचित्यम्, अहोतराम् अत्याश्चर्यं, 'किमेत्त्–' इत्यादिना अव्ययादाम्-प्रत्ययः औचित्यमेवाह, समिति युद्धे, कर्मणे क्रियायै अलम् अलंकर्मीण कर्मक्षमः, 'कर्मसमोऽलंकर्मीण' इत्यमरः। 'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या' इति वृत्तसमासादलंकर्मशब्दात् 'अपडक्षाशितङ्वलंकर्म–' इत्यादिना ख–प्रत्ययः। समिदलंकर्मीणो युद्धकर्मपटुः, बाणव्रजो यस्य स तथोक्तः अमोघबाण इत्यर्थः, एष भूर्जाया यस्येति भूजानिः भूपतिः, जायाया जानिरादेशः द्विषां शत्रूणां, येन च हृदा हृदयेन, भूयो भूयिष्ठम्, अहङ्क्रियते स्म अहङ्करोतेर्भावे लट् 'लट् स्मे' इति भूते लट्, यश्च स्कन्धो भुजशिरः, न अनमत् न प्राणमत् 'स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री' इत्यमरः, गात्रान्तराणाम् अवयवान्तराणां, हृत्स्कन्धेतराणामित्यर्थः, वर्जनात् वर्जनं कृत्वेत्यर्थः, तेषाम् अनपराधित्वादिति भावः, ल्यब्लोपे पञ्चमी तानि हृदयस्कन्धरूपाणि, मर्माणि जीवस्थानानि, दलं दलं भृशं दलयित्वा, 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' इति णमुल्प्रत्ययः। 'आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः' इत्युपसंख्यानात् द्विर्भावः यत् अजनयत् यद्दण्डनमकरोदित्यर्थः, तदेतद्दण्ड्यमात्रदण्डनं राज्ञ उचितमाश्चर्यतरञ्चेत्यर्थः, अहङ्कारात् अनम्रम् अरिं समूलघातं हन्त्ययमिति भावः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—आत्मनि समुच्चितीकृतगुणस्य अस्य अहोतराम् औचिती यत् समिदलंकर्मीणबाणव्रजः एष भूजानिः द्विषां येन च हृदा भूयः अहङ्क्रियते स्म यः च स्कन्धः न अनमत्, गात्रान्तरवर्जनात् तन्मर्माणि दलं दलम् अजनयत्।

हिन्दी—अपने में समस्त गुणों को एकत्र कर लेने वाले (सर्वगुण-सपन्न)

इस (उत्कलेश) का (यह कृत्य) अत्यन्त उचित है कि युद्ध में शत्रुहनन रूपकर्मक्षम बाण-समूह के धारी इस भूमिपति ने, शत्रुओं का जो हृदय अतिशय अहंकारी हो गया था और जो कंधा (*किसी के संमुख*) *झुकता नहीं था,* शेष शरीर से अलग करके उन मर्मस्थलों (हृदय-स्कंध) को पूर्णतः दल दिया।

टिप्पणी—शत्रुओं के हृदय अहंकारी थे, कंधे विनम्र नहीं थे, फलस्वरूप अहंकारी और उदंड हृदय-स्कंध को उत्कलपति ने यह दंड दिया कि शत्रुओं के शरीर से उन्हें काट कर अलग कर दिया और फिर खंड-खंड करके दंडित किया। शेष शरीर अनपराधी था, उसे छोड़ दिया, दंड दिया अपराधी हृदय-स्कंध को। यह सर्वगुण सम्पन्न उत्कलराज का कृत्य सर्वथा समीचीन ही है। भाव यह कि उत्कलपति गुणी हैं, अभिमानियों, उदंडों को दंड देता है, शरणागतों की रक्षा करता है। यह राजधर्म ही है कि अपराधियों को दंडित करे और शरणागतों की रक्षा करे ॥८३॥

दूरं गौरगुणैरहङ्कृतिमतां जैत्राङ्ककारे चर-
त्येतद्दोर्यशसि प्रयाति कुमुदं विभ्यन्न निद्रां निशि।
धम्मिल्ले तव मल्लिकासुमनसां माला भिया लीयते
पीयूषस्रवकैतवाद्धृतदरः शीतद्युतिः स्विद्यति ॥८४॥

जीवातु—दूरमिति। एतस्य राज्ञः, दोष्णो भुजस्य, यशसि गौरैर्धावल्यैरेव गुणैः, 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इत्यमरः, दूरमत्यन्तम्, अहङ्कृतिमताम् असाधारणाभिमानवतां कुमुदादिधवलवस्तूनां, जैत्राङ्ककारे जैत्रश्च तद् अङ्ककारञ्चेति तस्मिन् कर्मधारयः, तदहङ्कारखण्डनाय जित्वरयुद्धकारिणि, चरति भ्रमति सति 'अङ्क इत्यनुवृत्तौ च चित्रयुद्धे विभूषणे' इति विश्वः, कुमुदं बिभ्यद् भीतं सत्, निशि निद्रां स्वापं मुकुलनञ्च, न प्रयाति न प्राप्नोति। मल्लिकासुमनसां माला भिया तव धम्मिल्ले संयतकेशपाशे, *'धम्मिल्लाः संयताः कचाः'* इत्यमरः। लीयते अन्तर्द्धत्ते। शीतद्युतिः चन्द्रोऽपि, धृतदरः प्राप्तत्रासः सन्, पीयूषस्रवकैतवात् अमृतस्रावव्याजात्, स्विद्यति स्वेदं त्यजति, निद्रापरिहारादीनि भीतिचिह्नानीति भावः। अत्र दोर्यशःप्रभृतीनाम् अहङ्काराद्यसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेः अतिशयोक्तिभेदः ॥८४॥

अन्वयः—गौरगुणैः दूरम् अहङ्कृतिमता जैत्राङ्ककारे एतद्दोर्यशसि चरति विभ्यत् कुमुद निशि निद्रा न प्रयाति, मल्लिकासुमनमा माल्यं भिया तव धम्मिल्ले लीयते, घृतदर शीतद्युति पीयूषस्रवकैतवात् स्विद्यति।

हिन्दी—गौरवता गुण के कारण अत्यन्त अहकारियो (कुमुदादि) के जयी और अपने अधीन कर लेने वाले और एक योद्धा इस (उत्कलपति) की भुजाओ से अर्जित यश के (ससार मे) प्रसरणशील होने पर डरता कुमुद रात मे सो नही पाता, मल्लिका फूलो की माला डर से तेरे (दमयन्ती के) संयत केशपाश मे छिप जाती है (चोटी मे गुँथ जाती है), भयाक्रात शीतल-प्रभ (चन्द्र) अमृत टपकाने के मिस पसीना-पसीना टपकाता है।

टिप्पणी—उत्कलपति महान् यशस्वी है। उसके विमल यश के समुख कुमुद, मल्लिकासुमन, चद्र आदि शुभ्रता के अभिमानी नगण्य हैं। जैसे ही यश ने प्रसारारम्भ किया कि ये शुभ्रताभिमानि भयाक्रात हो जाते हैं। रात मे खिला रहने वाला कुमुद मानो डर से सो नही पाता, दमयन्ती की चोटी मे गुँथा मल्लिकासुमन-समूह जैसे डर से चोटी मे जा छिपता है और अमृतवर्षी चन्द्र का अमृतवर्षण तो बहाना ही है, वस्तुत डर से पसीना-पसीना हुआ वह पसीना टपकाया करता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है,क्योंकि बाहुयश का अभिमानियो को त्रस्त करना सबद्ध नही है, उसमे सम्बन्ध कथन है। नारायण ने अङ्ककार का अर्थ एक योद्धा भी किया है— 'एकयोद्धा अङ्क' कार।' प्रकाशकार के अनुसार यहाँ जो दमयन्ती का केशान्तर्गत माल्यधारण कहा गया है, उससे उसका सदाचरण सूचित किया गया है, क्योंकि कहा गया है कि बाहर माल्यधारण न करे—'बहिर्न धारयेन्माल्यम्'।

एतद्गन्धगजस्तृषाऽम्भसि भृश कण्ठान्तमज्जत्तनु
फेनैः पाण्डुरितः स्वदिक्करिजयक्रीडायशःस्पर्द्धिभिः।
दन्तद्वन्द्वजलानुबिम्बनचतुर्दन्तः कराम्भोवमि-
व्याजादभ्रमुवल्लभेन विरह निर्वापयत्यम्बुधेः ॥८५॥

जीवातु—एतदिति। तृषा पिपासया, अम्भसि जले, भृश कण्ठान्तं कण्ठ-पर्यन्त, मज्जन्ती तनु शरीर यस्य सः, स्वेन आत्मना, दिवकरिणां जयेन या

क्रीडा तस्याः तज्जनितानि इत्यर्थः, यशांसि स्पर्द्धन्ते ये तैः तादृशैः तत्स्पर्द्धिभिः तत्सदृशैः, फेनैः पाण्डुरितः पाण्डुवर्णीकृतः, दन्तद्वन्द्वस्य जले अनुबिम्बनेन प्रतिबिम्बपातेन, चतुर्दन्तो दन्तचतुष्टयवान्, एतस्य राज्ञः, गन्धगजो दुष्टगजः, कराम्भसां वमिर्वमथुः, करशीकर इत्यर्थः, 'प्रच्छर्दिका वमिश्च स्त्री पुमांस्तु वमथुः समाः' इत्यमरः। 'वमथुः, पुंसि वमने गजस्य करशीकरे' इति मेदिनी, तस्या व्याजात् अम्बुधेः समुद्रस्य, अभ्रमुवल्लभेन ऐरावतेन, स्वपुत्रेणेति भावः, विरहं विरहतापं, निर्वापयति शमयतीति सापह्नवोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ८५ ॥

अन्वयः—तृषा अम्भसि भृशं कण्ठान्तमज्जत्तनुः स्वदिक्करिजयक्रीडायशः स्पर्द्धिभिः फेनैः पाण्डुरितः दन्तद्वन्द्वजलानुबिम्बनचतुर्दन्तः एतद्गन्धगजः कराम्भोवमिव्याजात् अम्बुधेः अभ्रमुवल्लभेन विरहं निर्वापयति।

हिन्दी—प्यास से जल में बार-बार कंठपर्यन्त शरीर डुबाता, अपने द्वारा दिग्गजों के जय रूप खेल से प्राप्त यश की स्पर्द्धा करने वाले फेनों से पांडुर हुआ, दंतयुग्म का जल में प्रतिबिम्ब पड़ने से चार दाँतों वाला (दीखता) इस (उत्कलपति) का गंधगज (विरोधी की गन्ध को भी न सहनेवाला दुष्ट हाथी) सूँड से उड़ाये जल के व्याज से सागर के 'अभ्रमु' नाम की हस्तिनी के प्रिय (ऐरावत) के साथ हुए वियोग का शमन करता है।

टिप्पणी—उत्कलेश समुद्रपर्यन्ता पृथ्वी को जीत कर दिग्विजयी है—इस आशय को व्यक्त करने के लिए उसके गन्धगज की क्षीरसागर में जलक्रीडा कही गयी है। वह निर्द्वन्द्व भाव से गले-गले डूबे सूँड से जल उछालता है और फेन से पांडुर हो जाता है। उसने दिग्गजों को पराजित कर यश प्राप्त किया है। दो दाँत और दो जल में पड़ते उनके प्रतिबिम्ब—इस प्रकार चतुर्दन्त भी वह है। सो फेनपांडुर, चतुर्दन्त उत्कलेश का गजगन्ध समुद्र को ऐरावत-सदृश प्रतीत हो ऐरावत से हुए समुद्र के वियोग-दुख का उपशम करता है। उसे ऐरावत मान समुद्र सुखी होता है। मल्लिनाथ के अनुसार इसी कारण यहाँ सापह्नवा उत्प्रेक्षा है, जो व्यंजक का प्रयोग न होने से गम्या है। नारायण ने 'स्वदिक्करी' का अर्थ अपनी दिशा अर्थात् पूर्वदिशा का गज 'ऐरावत'

मानकर गजगन्ध को 'ऐरावत तथा अन्य हाथियों का जेता' कहा है ॥८५॥

अथैतदुर्वीपतिवर्णनाद्भुतं न्यमीलदास्वादयितुं हृदीव सा ।
मधुस्रजा नैषधनामजापिनी स्फुटीभवद्ध्यानपुरःस्फुरन्नला ॥८६॥

जीवातु—अथेति । अथ सा दमयन्ती, मधुस्रजा वरणार्थया मधुद्रुम-मालया, मधूकपुष्पमाल्या इत्यर्थ, तयैवाक्षमालयेति भाव, 'मधु पुष्परसे क्षौद्रे मद्ये ना तु मधुद्रुमे' इति मेदिनी, नैषधस्य नलस्य, नाम जपतीति तज्जापिनी, अत एव स्फुटीभवता साक्षात्कारपरिणामिना, प्रत्यक्षीकरणसाधनेनेत्यर्थः, ध्यानेन पुरोऽग्रे, स्फुरन् प्रत्यक्षीभवन्, नलो यस्या तादृशी सती, एतस्य उर्वीपते उत्कलेश्वरस्य, वर्णनमेव अद्भुतम् आश्चर्यरसम्, हृदि हृदये, आस्वादयितुम् अनुभवितुमिव, न्यमीलत् निमीलिताक्षी जाता, परमार्थतस्तु नलसाक्षात्कारसुखास्वादनायैवेत्यर्थं ॥ ८६ ॥

अन्वयः—अथ मधुस्रजा नैषधनामजापिनी स्फुटीभवद्ध्यानपुर स्फुरन्नला सा एतदुर्वीपतिवर्णनाद्भुत हृदि आस्वादयितुम् इव न्यमील्त् ।

हिन्दी—तदनन्तर (उत्कलपति का वर्णन सुनने के पश्चात्) वरण की मधूकमाला द्वारा निषधराज (नल) का नाम जपनेवाली (अतएव) ध्यान लगाने के कारण जिसके समुख नल प्रत्यक्ष अवभासमान हो रहा था, ऐसी उस (दमयन्ती) ने इस पृथ्वीपति (उत्कलपति) के वर्णन से उत्पन्न अद्भुत रस के मानो हृदय मे आस्वादन के निमित्त पलक बन्द कर लिये ।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयन्ती तो नल के ध्यान मे इतनी निमग्न हो रही थी कि उसे वह जैसे प्रत्यक्ष दीख रहा था । किसी अन्य के गुणश्रवण की ओर ध्यान देने का उसे अवकाश ही नही था । उसकी जो अरुचि नेत्रनिमीलन द्वारा प्रकट हुई, उसे कवि ने इस रूप मे कहा कि मानो दमयन्ती वरण की माला पर निषधपति का ध्यान करती नाम जप रही थी, वह वस्तुत ध्यान के द्वारा हृदयस्थित नल के साक्षात् के निमित्त था । लगा यह कि उत्कलेश के गुण श्रवण से दमयन्ती को आश्चर्य हुआ और हृदय मे उस अद्भुत रस के आस्वादनार्थ उसने पलक बन्द कर लिये, पर वस्तुतः वह था नल के लिए और उत्कलपति के निराकरणार्थ ॥ ८६ ॥

प्रशंसितुं संसदुपान्तरञ्जिनं श्रिया जयन्तं जगतीश्वरं जिनम् ।
गिरः प्रतस्तार पुरावदेव ता दिनान्तसन्ध्यासमयस्य देवता ॥८७॥

जीवातु—प्रशंसितुमिति । दिनान्तसन्ध्यासमयस्य सायंसन्ध्याकालस्य, देवता अधिदेवता सरस्वती, सन्ध्याविध्यर्थे सरस्वतीति श्रुतेः, संसदुपान्तरञ्जिनं सभास्थानैकप्रान्तरञ्जकमित्यर्थः श्रिया सौन्दर्येण, जिनं जिनाख्यं देवं, सोऽतिसुन्दर इति प्रसिद्धेः, जयन्तं ततोऽपि सुन्दरम् इत्यर्थः, जगतीश्वरं पृथिवीपतिं प्रशंसितुं स्तोतुं, पुरावदेव पूर्ववदेव, ताः प्रसिद्धाः, गिरः प्रतस्तार प्रपञ्चयामास ॥ ८७ ॥

अन्वयः—दिनान्तसन्ध्यासमयस्य देवता सा संसदुपान्तरञ्जिनं श्रिया जिनं जयन्तं जगतीश्वरं प्रशंसितुं पुरावत् एव ताः गिरः प्रतस्तार ।

हिन्दी—दिवसावसान के संध्याकाल की अधिदेवता वे (सरस्वती) स्वयंवरसभा के उपान्त (दोनों छोर अथवा एक प्रांत) को सुशोभित करते, सुन्दरता द्वारा 'जिनदेव' (अथवा बुद्ध) के जयी, संसार के स्वामी (कीकटाधिप-मगधनरेश) की स्तुति-वर्णन के निमित्त पहिले ही की भाँति वाणी-विस्तार करने लगीं ।

टिप्पणी—सरस्वती को सांध्यदेवता माना जाता है । वे निर्विकार रूप में उत्कलेश का वर्णन छोड़ कीकटाधिपति मगधनृपाल का वर्णन करने लगीं । प्रकाशकार ने अन्वयांतर करके द्वितीय चरण का यह अर्थ भी किया है कि शोभा से सभा के उभयपार्श्व रंजक, जगत् में शौर्यादि द्वारा जयन्त अर्थात् इन्द्र-पुत्र-तुल्य कीकटदेश के प्रभु जिन अर्थात् बौद्ध राजा अथवा जयन्तनामक बौद्धनरेश को—'श्रिया संसदुपान्तरञ्जिनं जयन्तं जगति शौर्यादिना इन्द्रपुत्रतुल्यं कीकटदेशप्रभुत्वाज्जिनं बौद्धं राजानमिति वा । जयन्तनामानं वा ।'

तथाऽधिकुर्या रुचिरे ! चिरेप्सिता यथोत्सुकः सम्प्रति सम्प्रतीच्छति ।
अपाङ्गरङ्गस्थललास्यलम्पटाः कटाक्षधारास्तव कीकटाधिपः ॥८८॥

जीवातु—तथेति । रुचिरे ! हे सुन्दरि ! उत्सुकः उत्कण्ठितः कीकटाधिपो मगधेश्वरः, चिरेप्सिताः चिरात् प्रभृति आकाङ्क्षिताः, अपाङ्गो नेत्रप्रान्तः, स एव रङ्गस्थलं, तत्र लास्ये नर्त्तने लम्पटाः लालसाः, तव कटाक्षधाराः, कटाक्ष-

परम्परा, यथा सम्प्रति इदानीं, सम्प्रतिच्छति सम्यक् ग्रहीतुमर्हतीत्यर्थः, तथा अधिकुर्याः प्रसारयेत्यर्थः, कटाक्षदृष्ट्वापि एनं पश्येति भावः ॥ ८८ ॥

अन्वय —रुचिरे, तथा अधिकुर्याः, यथा उत्सुकः कीकटाधिपः चिरेप्सिता अपाङ्गरङ्गस्थललास्यलम्पटा तव कटाक्षधारा सम्प्रति सम्प्रतीच्छति ।

हिन्दी—हे सुन्दरि (दमयन्ति), तुम ऐसा करो, जिससे कि उत्कंठित यह कीकटदेश का राजा (मगधेश्वर) चिरकाल से आकांक्षित, नयनप्रदेश-रूपी रंगस्थली पर लास्य (मृदु कोमल नृत्य, विलासमयी मद मथरगति) की लालसाभरे तुम्हारे कटाक्षों को इस समय भली भाँति ग्रहण कर सके।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि मगधेश्वर चिरकाल से दमयन्ती के कटाक्षाक्षेप के लिए अत्युत्कंठित है। दमयन्ती एकबार उस पर भी कटाक्षतरंगसरमा दृष्टि डाल दे ॥ ८८ ॥

इदं यशांसि द्विषतः सुधारुचः किमङ्कमेतद्द्विषतः किमाननम् ।
यशोभिरस्याखिललोकधाविभिर्विभीषिता धावति तामसी मसी ॥८९॥

जीवातु—इदमिति । अखिललोकान् धावन्ति गच्छन्तीति तादृशैः अखिल-लोकधाविभिः त्रिलोकव्यापिभिः, अस्य कीकटेश्वरस्य, यशोभिः विभीषिता वित्रासिता, तमस इयं तामसी मसी तमोमालिन्यम्, इदं यशांसि एतत्कीर्तीः, द्विषतः विरोधिनस्य, 'द्विषोऽमित्रे' इति शतृप्रत्ययः 'द्विषः शतुर्वा' इति विकल्पात् षष्ठीप्रतिषेधे कर्मणि द्वितीया सुधारुचः सुधांशोः, अङ्कं कलङ्कं सन्निचिह्नं, किं धावति ? गच्छति किम् ? तथा एतद्द्विषतः एतच्छत्रोः, आननञ्च धावति किम् ? एतद्यशश्चन्द्रिकाभयात् तमः चन्द्रे कलङ्करूपेण एतच्छत्रुमुखञ्च मालिन्यरूपेण प्रविष्टमित्युत्प्रेक्षते अन्यथा कथमनयोः अजस्रम् ईदृङ्मालिन्यमिति भावः ॥ ८९ ॥

अन्वय —अखिललोकधाविभिः अस्य यशोभिः विभीषिता तामसी मसी किम् इदं यशांसि द्विषतः सुधारुचः अङ्कं किं (वा) एतद्द्विषतः आननं धावति ?

हिन्दी—सम्पूर्ण लोकों में सचरण करते इस (मगधेश) के यश समूह से विशेष डरी अँधेरे पाख की कालिमा (स्याही) क्या इस (मगधेश्वर) के यश को न सहते (द्वेषी) अमृतकांति (चन्द्र) के कलंक के प्रति (अथवा अंक अर्थात् गोद में जा बैठने को) भाग कर जाती है अथवा इस (मगधराज) के शत्रुओं के मुख की ओर ?

टिप्पणी—भाव यह है कि कीकटराज मगधेश्वर अत्यन्त यशस्वी है, ऐसा कि इसके यश के कारण शत्रु मलीन मुख हो गये हैं—उनके 'मुँह काले' हो गये हैं। इसके प्रभूत यश ने चन्द्र का अंक और शत्रु का मुख छोड़ सब शुभ्र कर दिया है सकल जगत् में। अँधेरे पाख (कृष्ण पक्ष) की कालिमा यश की श्वेतिमा के डर से भागी फिरती है। सर्वत्र श्वेतिमा छा गयी है, कहाँ जाय बेचारी कालिमा–तामसी मसी ? सब को सगोत्री ही शरण देते हैं, सो दो स्थलों पर 'मसी' को शरण मिली–एक चन्द्रांक में, दूसरे शत्रु-मुखों पर। चन्द्र को कहा जाता है निशापति अर्थात् कालीरात का स्वामी। सो काली (रात) यशः-श्वेतिमा से खदेड़ी गयी; नारी स्वभाव से भीरु वह पति चन्द्रमा की गोद में जा छिपी, वही अब 'शशकलंक' रूप में दीखती है। इसके अतिरिक्त 'वैरी का वैरी मित्र' इस दृष्टि से मगधेश के शत्रुओं ने अपने प्रमुख स्थान–मुख पर यशः-श्वेतिमा से प्रताडित 'मसी' को आश्रय दिया। चन्द्रांक और शत्रुमुख पर इसी कालिमा का सतत आश्रय है—ऐसा लगता है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ८९ ॥

इदन्नृपप्रार्थिभिरुज्झितोऽर्थिभिर्मणिप्ररोहेण विवृध्य रोहणः।
कियद्दिनैरम्बरमावरिष्यते मुधा मुनिर्विन्ध्यमरुद्ध भूधरम् ॥९०॥

जीवातु—इदमिति। इदन्नृपप्रार्थिभिः इमं नृपमेव प्रार्थयमानैः, अर्थिभिः याचकैः, उज्झितः परित्यक्तः, अनेन नृपेणैव सकलाभीष्टपूरणात् इति भावः, रोहणो रोहणाद्रिः सुमेरुः मणिप्ररोहेण नवरत्नाङ्कुरोद्भेदेन, विवृध्य अव्ययीभावात् वर्द्धित्वा, कियद्दिनैः कतिपयदिनैः एव, अम्बरम् आकाशम्, आवरिष्यते आच्छादयिष्यति, मुनिः जगस्त्यः मुधा वृथैव, विन्ध्यं भूधरम् अरुद्ध स्तम्भयामास, रोहणस्य तत्कार्यकारित्वादिति भावः। अत्र रोहणाद्रेः ईदृग्विधत्वासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ९० ॥

अन्वयः—इदन्नृपप्रार्थिभिः अर्थिभि उज्झितः रोहणः मणिप्ररोहेण विवृध्यं कियद्दिनैः अम्बरम् आवरिष्यते, मुनिः विन्ध्यं भूधरं मुधा अरुद्ध।

हिन्दी—इस राजा (मगधेश) से प्रार्थना करने वाले याचकों द्वारा परित्यक्त सुमेरुगिरि 'रोहण' मणियों की नयी-नयी उपज से वृद्धि प्राप्त करके

कुछ ही दिनो मे प्रकाश को ढक लेगा। मुनि अगस्त्य ने विन्ध्याचल को व्यर्थं ही रोका।

टिप्पणी—मगधराज अत्यन्त दानी है—इतना बडा कि इससे याचना करके सब याचको का अभीष्ट उन्हे प्राप्त हो गया है और अब किसी के समुख हाथ फैलाने की उन्हें आवश्यकता ही नही रही। फलस्वरूप सुमेरु पर्वत के पास रत्न-मणि आदि लेने कोई जाता ही नही और वहाँ अनुदिन नये नये रत्न उपज कर जमा होते जा रहे हैं। लगता है कि कुछ ही दिनो मे उस रत्नोत्पत्ति के कारण रोहणाचल सुमेरु इतना ऊँचा हो जायेगा कि अम्बर मे छाकर सूर्य की गति को रोक लेगा और मुनि अगस्त्य ने जो इसी कारण विन्ध्याचल की उन्नति रोक दी थी, वह व्यर्थ हो जायेगी। जो विन्ध्य करता, अब रोहण कर देगा। मुनिप्रयास व्यर्थ गया। मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति, क्योकि रोहणाचल के विषय मे जो कहा गया है, वह असम्बन्ध मे सम्बन्ध कथन है॥ ९०॥

> भूशक्रस्य यशांसि विक्रमभरेणोपार्जितानि क्रमान्
> एतस्य स्तुमहे महेभदशनस्पर्द्धीनि करक्षरैः ?
> लिम्पद्भिः कृतकं कृतोऽपि रजतं राज्ञां यशःपारदै-
> रस्य स्वर्णगिरिः प्रतापदहने स्वर्णं पुनर्निर्मितः ॥९१॥

जीवातु—भूशक्रस्येति। भूशक्रस्य भूदेवेन्द्रस्य, एतस्य राज्ञः सम्बन्धीनि, विक्रमभरेण पराक्रमातिशयेन, क्रमात् उपार्जितानि महेभदशनस्पर्द्धीनि गजेन्द्रदन्तसवर्णानि, अतिशुभ्राणीति भावः, यशांसि कैः अक्षरैः आकारादिभिर्वर्णैः, स्तुमहे ? वर्णयामः ? एतस्य यशसामानन्त्यात् वर्णनान्तु पञ्चाशन्मात्रत्वात् स्तोतुं शक्यन्ते इत्यर्थः। तथा हि, लिम्पद्भिः स्वर्णगिरिमेव रञ्जद्भिः, राज्ञाम् अरिनृपाणां, यशोभिरेव पारदैः रसैः, 'रसः सूतश्च पारदे' इत्यमरः, कृतकं कृत्रिमं, रजतं कृतोऽपि स्वर्णगिरिः हेमाद्रिः, अस्य प्रतापदहनैः प्रतापरूपैरग्निभिः, पुनः स्वर्णनिर्मितः कृतः, पारदलिप्तसुवर्णं रजतवत् धवलीभवति तत् पुनरग्निदाहात् प्रकृतिस्थं भवतीति प्रसिद्धमेव। अत्राप्युक्तरूपासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः॥ ९१॥

अन्वयः—विक्रमभरेण क्रमात् उपार्जितानि महेभदशनस्पर्द्धीनि एतस्य भूशक्रस्य यशांसि कैः अक्षरैः स्तुमहे, राज्ञां लिम्पद्भिः यशःपारदैः कृतकं रजत कृतः अपि स्वर्णगिरिः अस्य प्रतापदहनैः पुनः स्वर्णं निर्मितः ?

हिन्दी—पराक्रमबाहुल्य से क्रमशः अर्जित, गजराजों के दंतों से स्पर्द्धा करते (अतिधवल) इस पृथ्वी के इन्द्र (मगधराज) के यशःसमूह का किन अक्षरों से स्तवन हो, क्योंकि अन्य राजाओं के यशरूप पारे के लेप से कृत्रिमतया: चाँदी का (सफेद) किया गया भी स्वर्णशैल (सुमेरु) इस (मगधेश) के प्रतापानल द्वारा फिर से सोने का बना दिया गया ?

टिप्पणी—आशय यह है कि मगधराज के यश के संमुख अन्य किसी नरेश का यश नगण्य हो जाता है। सर्वातिशायी है मगधेश्वर का यशःसमूह, उसका वर्णन असंभव है। मगधेश्वर के यश द्वारा सब के यश का अतिक्रमण अन्य राजाओं के यशःप्रलेप-रूप पारदलेप से चाँदी जैसे शुभ्र बनगये स्वर्ण पर्वत सुमेरु के पुनः स्वर्णवर्ण हो जाने की उक्ति से स्पष्ट किया गया है। पारद के लेप से धातु श्वेत हो जाती है, जैसे रजतावरण (*चाँदी का पानी*) चढ़ा दिया गया हो, किन्तु अग्नि में तपाने से पुनः वह स्वाभाविक वर्ण की हो जाती है—यह रासायनिक प्रक्रिया है। सोने के सुमेरु पर यशःपारद द्वारा रजतावरण चढ़ा, प्रतापानल से पुनः वह स्वर्णवर्ण हो गया। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ असम्बन्ध-कथन के कारण अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ ९१ ॥

यद्भर्तुः कुरुतेऽभिषेणनमयं शक्रो भुवः सा ध्रुवं
दिग्दाहैरिव भस्मभिर्मघवता सृष्टैर्धृतोद्धूलना।
शम्भोर्मा बत सन्धिवेलनटनं भाजि व्रतं द्रागिति
क्षोणी नृत्यति मूर्तिरष्टवपुषोऽसृग्वृष्टिसन्ध्याधिया ॥९२॥

जीवातु—यदिति । भुवः शक्रो भूदेवेन्द्रः, अयं राजा, यस्याः क्षोण्याः, भर्तुः अभिषेणनं सेनया अभियानं, कुरुते 'यत् सेनयाऽभिगमनमरौ तदभिषेणनम्' इत्यमरः। अष्टवपुषः अष्टमूर्तेः शिवस्य, मूर्तिरन्यतमा मूर्तिः, सा क्षोणी मघवता इन्द्रेण, सृष्टैर्दिग्दाहैः औत्पातिकदिग्दाहोद्भवैः, भस्मभिरिव धृतोद्धूलना धृतभस्मानुलेपना सती शिवस्य भस्मलिप्तत्वे न तन्मूर्त्तेः क्षोण्या अपि भस्मनि

अनुरागस्य औचित्यादिति भाव, अत्र सेनापदोत्थधूलिपटलाच्छन्नक्षोण्या भस्मलिप्तत्वोत्प्रेक्षा, असृग्वृष्टौ सत्याम् औत्पातिकरक्तवर्षणे सति, सन्ध्याधिया सायसन्ध्याभ्रान्त्या, शम्भोर्महादेवस्य सान्धिवेलाया भव सान्धिवेल 'सन्धिवेला-द्युतुनक्षत्रेभ्योऽण्' तच्च तन्नटनञ्च सान्धिवेलनटन, व्रत सन्ध्यानर्तनरूपनियम, मा भाजि भग्न मा भूत्, भजे. कर्मणि लुड् 'भञ्जेश्च चिणि' इति विकल्पान्न-लोपे उपधावृद्धिः इति, मत्वेति शेष, इतिकरणादेव गम्यमानार्थत्वादप्रयोग, द्राक् सपदि, नृत्यति कम्पते, ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा, बतेति विस्मयसूचकमव्ययम्, सन्ध्यासमये भस्मलिप्तो महादेवो नृत्यति, अत तन्मूर्त्ती क्षोण्या अपि नर्तन बोद्धव्यम् । एतद्यात्राव्वराष्ट्रेषु दिग्दाहपांशुवर्षणरक्तवृष्टिभूकम्पादयो जायन्ते इति भाव ॥ ९२ ॥

अन्वयः—भुव शक्र अय यद्भर्त्तु अभिषेणन कुरुते अष्टवपुष मूर्त्ति सा क्षोणी मघवता सृष्टैः दिग्दाहे भस्मभि इव धूतोद्धूलना असृग्वृष्टिसन्ध्या-धिया शम्भो सान्धिवेलनटन व्रत मा भाजि—इति द्राक् ध्रुव नृत्यति बत !

हिन्दी—खेद है कि पृथ्वी का इन्द्र यह (कीकटाधिपति) जिस भूमि के भर्त्ता (राजा) पर सेना लेकर चढाई करता है, अष्टमूर्त्ति (शिव) की एक मूर्त्ति वह भूमि इन्द्र द्वारा किये गये (उत्पातसूचक) दिशाओं के दाह से उत्पन्न भस्मों से जैसे भस्म का अनुलेपन करके, रक्त की वर्षा रूपा सन्ध्या के भ्रम से—शिव का सन्ध्याकाल मे नृत्य करने का व्रत (नियम) न टूट जाय, इस कारण, लगता है शीघ्रतया नृत्य (गात्रविक्षेप) करने लगती है ।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि कीकटाधिप मगधेश्वर जिस पृथ्वीपति पर आक्रमण करते हैं, वहाँ तुरन्त अमगलसूचक उत्पात दिग्दाह धूल उडना, भूकम्प, रुधिरवर्षा आदि होने लगते हैं, जिससे शत्रु राजा के पराजय की पूर्वसूचना होने लगती है । विजयी मगधराज होता है । शत्रुनरेश की भूमि का नृत्य वस्तुत भय से कम्पन, भय से भूकम्प रूप उत्पात है । पृथ्वी का नृत्य प्रलयसूचक सन्ध्याकालीन शिव का ताडव है । सेना के प्रयाण से जो धूलि उडती है, वह मगधेन्द्र-द्वारा उडायी भस्म है, जिसे पृथ्वी ने धारण कर लिया है, क्योंकि पृथ्वी शिव की अष्टमूर्त्तियो मे से एक है, और शिव भस्मानधारी हैं ही । यह धूल दिशाओं के दाहार्थ प्रज्वलित अग्नि से उडी है । अग्नि की

न्ताली से पृथ्वी-आकाश पर छायी लाल धूल के कारण मानो पृथ्वी को सन्ध्या की भ्रान्ति हो जाती है और वह शिव के साम्ध्यनृत्यरूप व्रत-भंग की आशंका से उनका एक अंग होने के कारण नाचने लगती है। कुछ विद्वानों ने माना है कि इन्द्र शिव के भस्माहरण का अधिकारी है, अत एव दिग्दाह करके उसने शिवमूर्त्ति पृथ्वी को भस्मार्पण किया है। कोष के अनुसार ज़ल, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि, आकाश और यजमान—ये आठ शिवमूर्त्ति हैं—'जलार्केन्द्वात्मखस्वग्निवायवः शिवमूर्त्तयः।' 'शब्द-कल्पद्रुम' (पृ० १४१) के अनुसार—'अयाग्नी रविरिन्दुश्च भूमिरापः प्रभञ्जनः। यजमानः खमष्टौ च महादेवस्य मूर्त्तयः॥' पुराणादि की भी यही मान्यता है—'सूर्यो जलं मही वह्निर्वायुराकाशमेव च। दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः स्मृताः॥' (विष्णुपुराण)। कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' का प्रथम श्लोक दर्शनीय है। कालिकापुराण के अनुसार शरभरूप शिव के ये आठ पैर हैं। तंत्र शास्त्र में बताया गया है कि क्षितिमूर्त्ति शिव हैं, जलमूर्त्ति भव, अग्निमूर्त्ति रुद्र, वायुमूर्त्ति भीम, यजमानमूर्त्ति उग्र, आकाशमूर्त्ति पशुपति, चन्द्रमूर्त्ति महादेव और सूर्यमूर्त्ति ईशान। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में सेना के पैरों से उड़ी धूल से आच्छादित क्षोणी का भस्मलिप्त होना और उसका नाचना—उत्प्रेक्षा है। 'ध्रुवम्' उत्प्रेक्षासूचक है। 'बत' को मल्लिनाथ ने विस्मय बोधक अव्यय माना है॥ ९२॥

प्रागेतद्वपुरामुखेन्दु सृजतः स्रष्टुः समग्रस्त्विषां
कोशः शोषमगादगाधजगतीशिल्पेऽप्यनल्पायितः।
निःशेषद्युतिमण्डलव्ययवशादीषल्लरेखेष वा
शेषः केशमयः किमन्धतमसां स्तोमैस्ततो निर्मितः? ॥९३॥

जीवातु—प्रागिति। प्राक् प्रथमं, सर्गादिकाले इत्यर्थः, एतस्य राज्ञः, वपुः आमुखेन्दु मुखेन्दुपर्यन्तमित्यर्थः, अभिमुख्यार्थेऽव्ययीभावः सृजतः रचयतः, स्रष्टुः ब्रह्मणः सम्बन्धी, अगाधजगतीशिल्पेऽपि अखिलजगन्निर्माणेऽपि, अनल्पायितः अनल्पीभूतः, अक्षीणः इत्यर्थः, लोहितादेराकृतिगणत्वात् क्यङि कर्त्तरि क्तः, समग्रः त्विषां कोशः तेजोराशिः, शोषं रिक्तताम्, अगात्, ततो

निःशेषद्युतिमण्डलव्ययवशात् समग्रतेजोराशिनाशवशात्, ईषल्लभैः सुलभैः, तेजःसामान्याभावस्यैव न्यायमते तमोरूपतया सुप्रापैरिति भावः, 'ईषद्दुः—' इत्यादिना अकृच्छार्थे खल्प्रत्ययः, अन्धयन्तीत्यन्धानि तमांसि अन्धतमांसि गाढान्धकाराः, 'अवसमन्धेभ्यस्तमसः' इति समासान्तः, तेषां स्तोमैरेव केशपाशात्मकः, शेषो वपुःशेषः, निर्मितो वा ? निर्मितः किम् ? इत्युत्प्रेक्षालङ्कारः, तेन चास्य लोकातिशयतेजो व्यज्यते ॥ ९३ ॥

अन्वयः—आमुखेन्दु एतद्वपुः सृजतः स्रष्टुः प्राक् अगाधजगतीशिल्पे अपि अनल्पायितः त्विषां समग्रः कोशः शोषम् अगात्, ततः किं वा निःशेषद्युतिमण्डलव्ययवशात् ईषल्लभैः अन्धतमसां स्तोमैः एष शेषः केशमयः निर्मितः ?

हिन्दी—मुखचन्द्र पर्यन्त इस (मगधेश्वर) की शरीर रचना करते सृष्टिकर्ता की पहिले (सृष्टि के आरम्भ से लेकर अद्यावधि) अपार जगत् की कारीगरी में भी कम न पड़ी (अक्षीण) सपूर्ण तेजोराशि समाप्त हो गयी, इसीसे क्या समस्त तेजोराशि के समाप्त हो जाने के वश सुलभ गाढे अँधियारे के पुंज से यह शेष (शरीर) केशमय बना डाला ?

टिप्पणी—भाव यह कि मगधेश्वर अत्यन्त तेजस्वी है और इसके केश घने, काले और चमकदार हैं। विधाता ने इतना अपार विशाल ससार रचा है। कितने सूर्य, चन्द्र आदि तेजःपुंज उसने रचे, पर उसका तेजोभाडार अक्षीण रहा। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि मगधेश्वर-जैसा तेजोराशि उसने सृष्टि के आरम्भ से अब तक कोई नहीं बनाया था कि उसका तेजोभाडार ही समाप्त हो जाता। इस मगधेश की रचना करते समय चरण से मुख-चन्द्र-पर्यन्त आते आते विधाता का सपूर्ण तेजःकोष समाप्त हो गया, शेष रहा केवल गाढान्धकार। सो उसीसे मगधेश के केश बना डाले। इसी कारण इसके केश इतने घने और काले हैं। 'केशपाशात्मक वपुःशेष क्या किं वा निर्माण किया'—यह मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षालकार है, जिससे कीकटेश्वर के लोकातिशायी तेज की व्यंजना होती है ॥ ९३ ॥

तत्तद्दिग्जैत्रयात्रोद्धुरतुरगखुराग्रोद्धतैरन्धकारं
निर्वाणारिप्रतापानलजमिव सृजत्येष राजा रजोभिः।

भूगोलच्छायमायामयगणितविदुन्नेयकायो भियाऽभू-
देतत्कीर्तिप्रतानैर्विधुभिरिव युधे राहुराहूयमानः ॥ ९४ ॥

जीवातु—तत्तदिति । एष राजा तासां तासां दिशां प्राच्यादीनां, जैत्रासु यात्रासु उद्धुराणाम् उच्छृङ्खलानां, तुरगाणाम् अश्वानां, खुराग्रैः उद्धतैः रजोभिः धूलिभिः करणैः, निर्वाणात् शान्तात्, अरिप्रतापानलात् जातं तज्जमिव शत्रुप्रतापाग्निनिर्वाणजन्यमिव स्थितमित्यर्थः, तदभावहेतुकत्वादन्धकारस्येति भावः, अन्धकारं सृजति रात्रिं कल्पयतीत्यर्थः । एतस्य कीर्त्तिप्रतानैः कीर्तिपटलैरेव, विधुभिः चन्द्रैः, युधे युद्धाय, आहूयमान इव राहुः सैंहिकेयः, भिया भयेन, भूगोलस्य भूविम्बस्य, छाया तच्छायं 'विभाषा सेनासुरा—' इत्यादिना नपुंसकत्वम् तदेव माया कपटं, तन्मयः स चासौ गणितविदुन्नेयो गणितशास्त्रैकवेद्यः, कायो यस्य सोऽभूत् । ज्योतिःशास्त्रप्रमाणकं यत् राहोः भूच्छायात्मकत्वं तदेतत्कीर्त्तिचन्द्रभियेत्युत्प्रेक्षा, तया च राहुभीषकत्वेन कीर्त्तिचन्द्राणां प्रसिद्धचन्द्रात् आधिक्येन व्यतिरेकालङ्कारः व्यज्यते ॥ ९४ ॥

अन्वयः—एष राजा तत्तद्दिग्जैत्रयात्रोद्धुरतुरगखुराग्रोद्धतैः रजोभिः निर्वाणारिप्रतापानलजम् इव अन्धकारं सृजति; एतत्कीर्तिप्रतानैः इव विधुभिः युधे आहूयमानः राहुः भिया भूगोलच्छायमायामयगणितविदुन्नेयकायः अभूत् ।

हिन्दी—यह राजा (मगधपति) उन-उन (पूर्व-पश्चिमादि) दिशाओं की विजययात्राओं के निमित्त उत्साही अश्वों के खुरों की नोकों से उड़ी धूल से शांत हुए (बुझे) शत्रुओं के प्रतापानल से जैसे उत्पन्न अन्धकार की रचना करता है; इस (मगधेश) के यशःपटलसदृश चन्द्रमाओं द्वारा युद्ध में ललकारा जाता राहु भय से भूमण्डल की छाया में माया रूप व्याज से गणितवेत्ताओं (ज्योतिषियों) द्वारा ज्ञेय शरीरवाला हो गया ।

टिप्पणी—इस श्लोक में मगधराज की दो विशेषताएँ कही गयीं—(१) इसकी अश्वसेना विशाल है और जब विशाल अश्वसैन्य के साथ यह दिग्विजयार्थ यात्रा का आरम्भ ही करता है, इसके शत्रुनरेश निस्तेज हो जाते हैं । यह इस रूप में है कि जययात्रा के उत्साही अनेक तुरंगों के प्रयाण से जो प्रचुर धूल उड़ी, वह शत्रु-प्रतापाग्नि पर जाकर गिरी और उससे वह अनल बुझ गया, फलस्वरूप अंधकार छा गया । यह अंधेरा वस्तुतः अश्वखुरों

से उडी धूल के सूर्य पर छाजाने के कारण होता है, जिसे धूलि से आवृत हो बुझे प्रतापानल के कारण से घटित मान लिया गया है। (२) शत्रु जय से जो शुभ्रकीर्ति इसे प्राप्त होती है, वह शुभ्र चन्द्रो जैसी है, जिसके आगे शत्रुओ के यश काले पड जाते है। रिपुगण छिपे फिरते हैं, भय से राहु के समान इस मगधेश्वर का यशोविस्तार देखकर। एक चन्द्र को अनेकबार आक्रमण करके भी राहु अद्यावधि निःशेष न कर पाया, यशोरूप अनेक चन्द्रो द्वारा जब युद्धार्थ वह ललकारा गया तो भाग खडा हुआ और जा छिपा, ऐसा कि उसका नाम भर शेष है, प्रत्यक्ष वह होता ही नही। गणितज्ञ ज्योतिषी ही अपनी गणना मे राहु का नाम लेते है, कही दीखता तो वह है ही नही। इस प्रकार मगधेश्वर सर्वतोधिक तेजस्वी और यशस्वी कहा गया। मगधराज के कीर्तिचन्द्र के कारण राहु का ज्योति शास्त्र प्रमाणित मूछा-यात्मक होना उत्प्रेक्षा है, मल्लिनाथ के अनुसार उससे राहु को डरानेवाले कीर्तिचन्द्रो का सामान्य प्रसिद्ध चन्द्र से आधिक्य कहे जाने के कारण व्यतिरेकालकार व्यजित होता है ॥ ९४ ॥

> आस्ते दामोदरीयामियमुदरदरी याऽधिशय्य त्रिलोकी
> सम्मातुं शक्तिमन्ति प्रथिमभरवशात्तन्न नैनद्यशांसि ।
> तामेता पूरयित्वा निरगुरिव मधुध्वनिनः पाण्डुपद्म
> च्छद्मापन्नानि तानि द्विपदशनसनाभीनि नाभीपथेन ॥ ९५ ॥

जीवातु—आस्ते इति । या इय त्रिलोकी दामोदरस्य इमा दामोदरीया वैष्णवीम्, उदरदरीं कुक्षिकुहरम्, अधिशय्य अधिष्ठाय, आस्ते, तानि प्रसिद्धानि, द्विपदशनसनाभीनि गजदन्तसन्निभानि, एतद्यशासि प्रथिमभरवशात् महिमातिशयवशात्, मात्राबाहुल्यादिति भाव, तत्र विष्णोरुदरस्थिताया त्रिलोक्या, सम्मातु वर्त्तितु, सुखेन स्थातुमित्यर्थ, न शक्तिमन्ति • अशक्तानि सन्ति, ताम् एता दामोदरोदरदरीं, पूरयित्वा मधुध्वसिनो विष्णो, पाण्डुपद्मच्छद्मापन्नानि नाभिपुण्डरीकव्याजापन्नानि सन्ति, नाभीपथेन नाभिविवरेण, निरगुरिव बहिर्निर्गतानि इव रेजुरिति शेष, विष्णोरुदरे सङ्कुलत्वात्सकलत्रयात् नाभिरन्ध्रमार्गेण बहिर्निर्गतानीवेत्यर्थ । अत्र पद्मच्छद्मना निरगुरिवेति सापह्नवोत्प्रेक्षा

सा च त्रिलोकीयशसोः आधाराधेययोः आनुरूप्यविलक्षण्याद् विलक्षणालङ्कारश्च इत्यनयोः सङ्करः ॥ ९५ ॥

अन्वयः—या इयं त्रिलोकी दामोदरीयाम् उदरदरीम् अधिशय्य आस्ते, द्विपदशनसनाभीनि एतद्यशांसि प्रथिमभरवशात् तत्र सम्मातुं न शक्तिमन्ति, ताम् एतां पूरयित्वा तानि मधुध्वंसिनः पाण्डुपद्मच्छद्मापन्नानि नाभीपथेन निरगुः इव।

हिन्दी—जो ये तीनों लोक दामोदर (विष्णु) की उदरगुहा में अधिष्ठित हो विद्यमान रहा करते हैं, (अतएव) गजदंतों से समानता करते इस (मगधराज) के यश अत्यन्त भीड़ के कारण वहाँ (विष्णु के उदर में) सुख से रह नहीं पाते; उस इस (दामोदरोदरदरी) को पूर कर वे (यश) मधु के विनाशक (विष्णु) के नाभिसमुत्पन्न श्वेत कमलों के छद्म रूप को प्राप्त हुए नाभिमार्ग से जैसे बाहर निकल आये।

टिप्पणी—मगधेश्वर का यश अतिप्रभूत और त्रिलोकी से बाहर भी व्याप्त है और गजदंतों तथा श्वेतकमलों सदृश उज्ज्वल श्वेत है। 'गजदंतसनाभि' यशःसमूह त्रिलोकी को सभी रखनेवाले विष्णु की उदरगुहा में भी न समाया और जैसे भीड़ में—छोटे कमरे में घुटता व्यक्ति बाहर निकल आता है, वैसे ही विष्णु के श्वेतनाभिकमलों के रूप में बाहर निकल आया। यह यश की प्रभूतता और निर्मलता को व्यक्त करता है। नारायण के अनुसार श्रीविष्णु की नाभि में धवल कमल की अन्यथा उत्प्रेक्षा की गयी है—धवल कमल नहीं हैं, किंतु मगधराज के यश ही हैं—'पाण्डुरं पद्मं न किन्त्वेतद्यशांस्येव।' मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ 'पद्मच्छद्म से निकल गये'—यह सापह्नवा उत्प्रेक्षा है और आधार त्रिलोकी और आधेय यश—दोनों की अनुरूपता-विलक्षणता के कारण विलक्षण अलंकार है, अतः उत्प्रेक्षा-विलक्षण का संकर है ॥ ९५ ॥

अस्यासिर्भुजगः स्वकोशविवराकृष्टः स्फुरत्कृष्णिमा
कम्पोन्मीलदरालफीलवलनस्तेषां भिये भूभुजाम्।
सङ्ग्रामेषु निजाङ्गुलीमयमहासिद्धौषधीवीरुधः
पर्वाण्ये विनिवेश्य जाङ्गुलिकता यैर्नाम नालम्बिता ॥ ९६ ॥

जीवातु—अस्येति । स्वकोशात् चर्ममयनिजपिधानादेव, विवराद् विलात्, आकृष्ट उद्धृत स्फुरत्कृष्णिमा व्यक्तकृष्णवर्णः कम्पेन धूननेन, उन्मीलन्ती प्रकाशमाना, अराललीला वक्रविलासा, यस्य तादृश वलनं गमनविशेष यस्य सः प्रकटकुटिलगतिः इत्यर्थः, अस्य असि एव भुजग- तेषा भूभुजा राज्ञा, भिये भीतये, भवति इति शेष., यैर्नाम यैः नृपतिभिः किल, सङ्ग्रामेषु युद्धेषु निजाङ्गुलीमयी स्वाङ्गुलीरूपा, महती सिद्धा अमोघा, ओषधीवीरुत् ओषधिलता तस्याः, ओषधी इति जातिविषयत्वात् स्त्रीत्वे वा ङीप् पर्व ग्रन्थि 'ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी' इत्यमरः । आस्ये मुखे, विनिवेश्य निधाय, जाङ्गुलिकता विषवैद्यता, 'विषवैद्यो जाङ्गुलिकः' इत्यमर. । न आलम्बिता न स्वीकृता, यथा मुखान्तर्गतौषध गारुडिक सर्पो न हन्ति तदादेशे मौनमवलम्ब्य प्रणिपाताञ्जलिम् अकुर्वत शत्रुनृपान् असौ नृपति हन्ति इति भावः । रूपकालङ्कारो व्यज्यते एव ॥ ९० ॥

अन्वय—स्वकोशविवराकृष्टः स्फुरत्कृष्णिमा कम्पोन्मीलदराललीलवलनः अस्य भुजग असि तेषा भूभुजा भिये, यैः नाम सङ्ग्रामेषु निजाङ्गुलीमय-महासिद्धौषधीवीरुध पर्व आस्ये विनिवेश्य जाङ्गुलिकता न आलम्बिता ।

हिन्दी—अपने कोश (म्यान) रूप बिल से खीच निकाला गया, श्यामता प्रकट करता, हाथ में कम्पित करने से कुटिल गतियों से युक्त इस (भगवेश) का (भुजस्थित) भुजग-(सर्प)-सदृश कृपाण उन पृथ्वीपालों को भयावह है, जिन्होने युद्धो मे अपनी अगुली रूप महासिद्ध ओषधि की लता का पोर (अँगुली का एक ऊपरी भाग भी) मुख मे रखकर विषवैद्यता का अवलंबन नहीं कर लिया ।

टिप्पणी—भाव यह है कि भगवेश उन शत्रुओं का अपने सर्परूप कृपाण से नाश कर देता है, जो शस्त्र त्याग कर दीनता-पूर्वक मुँह मे अगुलि दबा शरणागत नही हो जाता । समानशीलता के आधार पर 'भुजग असि' को भुजग सम कहा गया है और 'पर्व' शब्द का 'पोर' अर्थ 'लतापर्व' और 'अँगुलि-पर्व' दोनो का द्योतन कर रहा है । इस आधार पर अँगुलिरूप सिद्धौषधिलता के पर्व को मुँह मे रखने की क्रिया के द्वारा शरणागतता और विषवैद्यता-दोनों स्थितियों की समानता बनायी गयी है । शरणेच्छुक मुँह मे

उँगली रख दीनभाव प्रकट करता है, विष वैद्य लता की गाँठ मुख में रख सर्प का सामना करता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रूपकालंकार व्यंजित ही है ॥ ९६ ॥

य: पृष्ठं युधि दर्शयत्यरिभटश्रेणीषु यो वक्रता-
मस्मिन्नेव बिभर्त्ति यश्च किरति क्रूरध्वनि निष्ठुरः ।
दोषं तस्य तथाविधस्य भजतश्चापस्य गृह्णन् गुणं
विख्यातः स्फुटमेक एष नृपतिः सीमा गुणग्राहिणाम् ॥ ९७ ॥

जीवातु—य इति । यः चापः कश्चित् सैन्यश्च, युधि अरिभटश्रेणीषु शत्रुवीरसमूहेषु विषये, पृष्ठं पश्चाद्भागं, दर्शयति, धनुष आकर्षणेन सैन्यस्य च रणस्थलात् पलायनेन पृष्ठदर्शनं सम्भवतीति भावः, यः अस्मिन्नेव नृपे स्वस्वामिन्येव च विषये, वक्रतां ज्याकर्षणेन कोटिद्वयस्य वक्रत्वं, कृतघ्नत्वादिरूपानार्जवञ्च, बिभर्त्ति, यश्च अस्मिन्नेव निष्ठुरः कठिनो निर्दयश्च सन् क्रूरध्वनिं शत्रूणां भयावहटङ्कारशब्दम् अनेन सहाप्रियवाक्यञ्च, किरति विस्तारयतीत्यर्थः, दोषं भुजं, भजत आश्रयतः, 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः, दोषमकार्यमाचरतश्च, तथाविधस्य तस्य चापस्य तथाविधस्य तस्य सैन्यस्य च गुणं ज्यां, पूर्वप्रदर्शितशौर्यजैत्रत्वादिकञ्च, गृह्णन् आकर्षन् वर्णयंश्च, एष नृपतिः कीकटेन्द्रः, एक एव गुणग्राहिणां मौर्वीग्राहिणां, धनुर्धारिणामित्यर्थः, दोषं परित्यज्य गुणमात्रग्राहिणां सज्जनानामित्यर्थश्च, सीमा अवधिः, श्रेष्ठ इति यावत्, स्फुटं व्यक्तं, विख्यातः प्रसिद्धः । अत्र गुणग्राहिसीमात्वस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—युधि अरिभटश्रेणीषु यः पृष्ठं दर्शयति, यः अस्मिन् एव वक्रतां बिभर्त्ति, यः च निष्ठुरः क्रूरध्वनिं किरति, दोषं भजतः तथाविधस्य तस्य चापस्य गुणं गृह्णन् एषः नृपतिः एकः एव स्फुटं गुणग्राहिणां सीमा विख्यातः ।

हिन्दी—(१) युद्ध में शत्रु-योद्धाओं में जो (सैनिक) पीठ दिखाता है अर्थात् विमुख हो भाग पड़ता है, जो इस (अपने स्वामी) के ही साथ अनुचित व्यवहार करता है (कृतघ्नता दिखाता है), और जो (सैनिक) निष्ठुर (दाक्षिण्य रहित हो) क्रूरध्वनि (अप्रिय भाषण) करता है, दोष युक्त वैसे उस (व्यक्ति) के पूर्व प्रदर्शित वीरता आदि गुणों को लेता (वर्णन

करता) अर्थात् दोषों में भी गुणों का आरोप करता; गुणग्राही सज्जनों के मध्य, तथा (२) युद्ध के मध्य शत्रु योद्धाओं के प्रति जो (धनुष्) पीठ दिखाता है अर्थात् खींचे जाने के कारण खींचनेवाले को अपना पिछला भाग दिखाता है, जो इस (मगधेश्वर) से वक्रता धारण करता है अर्थात् जो धनुष् मगधेश्वर के अतिरिक्त किसी से बालभाव के कारण वक्र किया ही नहीं जा पाता (खींचा ही नहीं जा पाता), और जो (पके दृढ़ बाँस से बना होने के कारण) कठोर (शत्रुओं को डरानेवाला) क्रूर 'टंकार'—शब्द करता है, दोष अर्थात् भुजाओं को भजते (स्थित) उस प्रकार के उस धनुष् में गुण (प्रत्यंचा, डोरी) को खींचता, गुणग्राहियों (धनुर्धारियों) के मध्य यह राजा (मगधेश्वर) अकेला ही अंतिम सीमा प्रसिद्ध है।

टिप्पणी—भर्तृहरि ने कहा है कि अन्य के छोटे-छोटे से गुण को पर्वत के समान मानने वाले सज्जन कम होते हैं—'परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्य निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्त कियन्त.?' मगधेश्वर ऐसा ही परगुण ग्राही संत है—श्रेष्ठ सज्जन, सज्जनता की सीमा। कोई इसका कर्मचारी चाहे वह दोष का भाण्डार प्रमाणित हो जाय अर्थात् युद्ध में भगोड़ा सिद्ध हो, कटु, अशिष्ट भी बोल दे, अदाक्षिण्य भी दिखाई दे, पर यदि उसमें पहिले शौर्यादि गुण रहे हैं तो दोषों को भुलाकर मगधेश्वर उस व्यक्ति के गुणों पर ही ध्यान देकर अपनी सज्जनता का परिचय देता है, अर्थात् दोषों के दोषों की उपेक्षा कर गुणों पर ध्यान देता है। ऐसा अकेला गुणग्राही है मगधराज। ऐसे ही मगधराज श्रेष्ठ धनुर्धारी भी है। वह कठोर धनुष् की प्रत्यंचा खींच कर जब उस और किसी से *प्रयोग में न लाये जासकने वाले* धनुष् को टंकारता है तो उस क्रूरध्वनि को ही सुनकर शत्रु डर जाते हैं। एकाधिक भावधानक तथा अनेकार्थक शब्दावली के प्रयोगद्वारा वे दोनों भाव इस श्लोक में प्रकट किये गये हैं। न तो मगधेश्वर जैसा कोई गुणग्राही सज्जन है, न धनुर्धर। प्रकाश-कार के अनुसार चाप पृष्ठदर्शन द्वारा मगधेश्वर का पलायनाभाव सूचित किया गया है 'धनुःपृष्ठदर्शनेनैतस्य पलायनाभाव. सूचित.।' अर्थात् कीकटाधिप मगधराज युद्धसे कभी पलायन नहीं करता। मल्लिनाथ के अनुसार गुण-

ग्राहिसीमात्व के पूर्ववाक्यार्थहेतुक होने से यहाँ वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार है ॥ ९७ ॥

अस्यारिप्रकरः शरश्च नृपतेः सङ्ख्ये पतन्तावुभौ
सीत्कारश्च न सम्मुखौ रचयतः कम्पञ्च न प्राप्नुतः ।
नद्युक्तं न पुनर्निवृत्तिरुभयोर्जागर्ति यन्मुक्तयो-
रेकस्तत्र भिनत्ति मित्रमपरश्चामित्रमित्यद्भुतम् ॥ ९८ ॥

जीवातु — अस्येति । अस्य नृपतेः अरिप्रकरः शत्रुसङ्घः, शरश्च एतौ उभौ सङ्ख्ये युद्धे, सम्मुखौ युगपत् एतदभिमुखं पराभिमुखञ्च, पतन्तौ सन्तौ, सीत्कारञ्च दुःखव्यञ्जकं दन्तमध्यनिर्गतं पक्षवायुजन्यञ्च शब्दविशेषं, यत् न रचयतः, कम्पञ्च यत् न प्राप्नुतः, बाणपतनक्षणे एव मरणेन दुःखानुभवसमयाभावात् सीत्कारकम्पासम्भवः दृढमुष्टितया मुक्तबाणस्य पुनर्निर्गतत्वाभावात् सीत्कारकम्पासम्भवश्चेति भावः, किञ्च मुक्तयोः एकत्र-संसारात्, अन्यत्र—चापाच्चेति भावः, उभयोः नरशरयोः, यत् न पुनर्निवृत्तिः पुनर्जन्म प्रत्यागमनञ्च, जागर्ति तत् सर्वं युक्तं तयोरेव समानधर्मत्वात् इति भावः, किन्तु तत्र तयोः मध्ये, एकोऽरिसङ्घः, मित्रं सूर्यम्, भिनत्ति, अपरः शरश्च, अमित्रं शत्रुं, भिनत्ति इति अद्भुतम्, अत्र अमित्रं भिनत्तीत्युक्त्यां मित्रं न भिनत्तीति च प्रतीयते अमूर्यम्पश्येतिवत् नञः प्रसज्यप्रतिषेधार्थकत्वात्; इत्थञ्च तुल्यकर्मणोस्तयोर्मित्रभेद-मित्रभेदाभावरूपविरुद्धकर्मकारित्वादद्भुतम् । 'द्वावेतौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ । परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः' इति स्मृतेः । मित्रपदेन सूर्यमण्डलभेदनस्य वीरपुरुषायत्तत्वेन सम्भवात् अमित्रपदेन च शत्रुं भिनत्तीत्यविरोधात् विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ९८ ॥

अन्वयः—अस्य नृपतेः अरिप्रकरः शरः च उभौ संख्ये पतन्तौ सीत्कारं च न रचयतः कम्पं च न प्राप्नुतः, मुक्तयोः उभयोः यत् पुनः निवृत्तिः न जागर्ति, तद् युक्तम्, तत्र एकः मित्रं भिनत्ति अपरः च अमित्रम्—इति एतद् अद्भुतम् ।

हिन्दी—इस राजा (कीकटाधिपति) का शत्रु-समूह और बाण - दोनों युद्ध में संमुख गिरते (राजा के संमुख मर कर गिरता शत्रु-समूह और शत्रु के संमुख गिरता बाण) जो सीत्कार नहीं रचते (शत्रु दुःख की सिसकारी नहीं भरते और बाण 'सी-सी' शब्द नहीं करता, निःशब्द चलता है) और

कांपते नहीं (शत्रु मरजाने से नहीं कांपते और बाण दृढ़ता से छोड़े जाने के कारण लक्ष्यभ्रष्ट नहीं होता) और 'मुक्त' होने पर जो पुनर्निवृत्ति नहीं होती (शत्रु वीरगति पाकर मोक्ष प्राप्त करलेता है और पुनर्जन्म नहीं पाता, बाण धनुष् से मुक्त हो—छोड़ा जाकर—वापस नहीं आता), वह सब उचित है (आश्चर्यजनक नहीं है) उन दोनों (अरिसंघ और बाण) में एक (अरिसंघ) मित्र (सूर्य, सुहृद्) को भेद जाता है और दूसरा बाण अमित्र (शत्रु) को—यह आश्चर्य है।

टिप्पणी—अरिप्रकर और बाण दोनों के कार्य और गुण स्वभाव समान हैं किंतु एक कार्य में भिन्नता हो जाती है—यह अद्भुत है। एक मित्र को भेदता है, दूसरा अमित्र को। होना यह भी एक—समान ही चाहिए। दोनों चाहे मित्र को भेदें, चाहे अमित्र को। वीरगति प्राप्त करता अरि-समूह अपने मित्रों के हृदय में अपार दुःख भर कर उन्हें छिन्न भिन्न करता मित्र अर्थात् *सूर्यमंडल को भेद जाता है, और बाण अमित्रों—शत्रुओं को भिन्न—क्षत-विक्षत* मृत—कर डालता है। भाव यह है कि नृपवेश अप्रतिम वीर सर्वशत्रु संहारक धनुर्धर है। इसकी दृढ़मुष्टि से बाण छूटते हैं और निःशब्द, निष्कंप सीधा लक्ष्य भेद कर अरिवक्ष में प्रविष्ट हो जाते हैं। शत्रु दुःख की सिसकारी भी नहीं भरता (वह वीर भी है, दृढ़ भी है और तुरंत प्राण निकल जाने से उसे कष्ट भी नहीं सहना पड़ता, अतः सिसकारी भरने का प्रश्न ही नहीं)। ऐसे दृढ़, समुख युद्ध करनेवाले साहसी और रिपुसमूह का जेता है यह श्रीकण्ठाधिपति। प्रकाशकार ने बाणपक्ष में 'समुख' अर्थ सम्यक् मुख पुंख के अग्रभाग वाला भी किया है—'बाणपक्षे—सम्यक् मुखं पुङ्खाग्रं वा यस्यति।' अरिप्रकर मित्र को भेद जाता है और बाण अमित्र को—यह विरोध है किंतु 'मित्र' के सूर्यमंडल और अमित्र के शत्रुवाची होने से यहाँ मल्लिनाथ के अनुसार विरोधाभास अलंकार है। 'मित्र' से भाव सूर्य (सुहृद् नहीं), 'अमित्र' से भाव शत्रु (असूर्य नहीं) ॥ ९८ ॥

धूलीभिर्दिवमन्धयन् बधिरयन्नाशाः सुराणां रवै-
र्वानि नर्तयन्ति स्तञ्जयन् जवजयैः स्रोतांसि गुणैर्मूकयन् ।

धर्माराधनसन्नियुक्तजगता राज्ञाऽमुनाऽधिष्ठितः
सान्द्रोत्फालमिपात् विगायति पदा स्प्रष्टुं तुरङ्गोऽपि गाम् ॥ ९९ ॥

जीवातु--धूलीभिरिति । संयति युद्धे, खुराणां धूलीभिः दिवम् अन्धयन् अन्तरिक्षचारिणां दृष्टीः प्रतिबध्नन्नित्यर्थः, रवैः शब्दैः, खुराणामेवेति शेषः, आशाः दिशः, तत्रत्यान् प्राणिन इत्यर्थः, बधिरयन् बधिरीकुर्वन्, जवजयैः वेगजयैः करणैः इत्यर्थः, अनिलानामिति भावः, वातं वायुं, खञ्जयन् पङ्गूकुर्वन्, वायोरप्यधिकवेग इत्यर्थः, गुणैः दयादाक्षिण्यादिभिः गुणसमूहैः, स्तोतॄन् मूकयन् मूकीकुर्वन्, गुणाधिकतया स्तोतुमशक्य इत्यर्थः, धर्माराधनसन्नियुक्तजगता जगतो धर्मैकसाधनकारिणा, अमुना राज्ञा अधिष्ठितः आरूढः, तुरगोऽपि अश्वोऽपि, सान्द्रोत्फालमिषात् वेगातिशयत्वात् निरन्तरम् ऊर्द्ध्वचरणनिक्षेपव्याजात्, पदा एकेनापि चरणेन, इति वेगातिशयोक्तिः गां भुवं धेनुञ्च, स्प्रष्टुं विगायति निन्दति, न स्पृशति इति यावत्; 'गोब्राह्मणानलान् भूमि नोच्छिष्टं न पदा स्पृशेत्' इति निषेधात् अयं राजा पापकारिणः उदासीनानपि दण्डयति अतः अहमस्य वाहको भूत्वा यदि पदा गोस्पर्शरूपं पापं कुर्यां तदा अहमपि दण्डनीयः स्यामिति बुद्धया एतदीयाश्वः पदा भुवं न स्पृशतीवेति भावः। अयं राजा धार्मिको जवनाश्वशाली चेति तात्पर्यम् ॥ ९९ ॥

अन्वयः--संयति खुराणां धूलीभिः दिवम् अन्धयन्, रवैः आशा बधिरयन्, जवजयैः वातं खञ्जयन्, गुणैः स्तोतॄन् मूकयन् धर्माराधनसन्नियुक्तजगता अमुना राज्ञा अधिष्ठितः तुरङ्गः अपि सान्द्रोत्फालमिषात् पदा गां स्प्रष्टुं विगायति।

हिन्दी--युद्ध में खुरों से उड़ायी धूल से 'दिव' (आकाश, स्वर्ग) को अंधा--अँधियारे से ढकता--करता, शब्दों से दिशाओं को बहरा करता, वेग से वायु को पंगु करता, अश्वोचित गुणाधिक्य के कारण प्रशंसकों को मूक बनाता धर्माचरण में संसार को भली भाँति नियुक्त करदेनेवाले इस राजा (मगधेश) द्वारा वाहनीभूत अश्व भी निरन्तर चारों चरणों को उछालते रहने के कारण एक पैर से भी 'गौ' (गाय, पृथ्वी) का स्पर्श करना निंदित मानता है।

टिप्पणी--भाव यह है कि मगधराज स्वयं परमधार्मिक है और इसके द्वारा ऐसा धर्मचक्र प्रवर्तित है कि प्रजाजन ही नहीं, इसकी सवारी का

अश्व भी धर्माचरण समझता है और चरण से 'गो स्पर्श' करना निंदनीय कर्म मानकर 'गोस्पर्श' नहीं करता। इसके साथ ही यह भाव भी है मगधराज का अश्व बड़ा वेगवान् और बली—पानीदार है। वह जब वेग से चलता है तो पवन भी उसके वेग के सम्मुख मन्दगति प्रतीत होता है, इतनी धूल उड़ती है कि स्वर्ग और आकाश भी आच्छादित हो जाते हैं और कुछ नहीं दीखता, इतना शब्द होता है कि चारों ओर कुछ सुनाई नहीं देता। सम्पूर्ण अश्वोचित शालिहोत्रशास्त्र में वर्णित गुणों से समन्वित है मगधराज का प्रभाव। उसके गुण वर्णनातीत हैं। 'गो' की अनेकार्थता (पृथ्वी और गाय) से यहाँ चमत्कारवाहना लायी गयी है॥ ९९॥

एतेनोत्कृत्तकण्ठप्रतिसुभटनटारब्धनाट्याद्भुतानां
कष्टं द्रष्टैव नाभूत् भुवि समरसमालोकिलोकास्पदेऽपि।
अश्वैरस्वैरवेगैः कृतखुरखुरलीमङ्क्षुसङ्क्षुभ्यमाण-
क्ष्मापृष्ठोत्तिष्ठदन्धङ्करणरणधुरारेणुधारान्धकारात्॥ १००॥

जीवातु—एतेनेति। समरसमालोकिलोकास्पदे युद्धप्रेक्षकजनालयेऽपि, भुवि युद्धभूमौ, अस्वैरवेगैः अमन्दवेगैः, 'मन्दस्वच्छन्दयोः स्वैरः' इत्यमरः, अश्वैः कृताभिः खुरखुरलीभिः खुरसञ्चारैः, मङ्क्षु सपदि, 'स्राक् मङ्क्षु सपदि द्रुते' इत्यमरः, सङ्क्षुभ्यमाणात् सञ्चूर्ण्यमानात्, क्ष्मापृष्ठात् भूतलात्, उत्तिष्ठताम् उत्पतताम् अन्धा क्रियन्त एभिरित्यन्धङ्करणाः दृष्टिशक्तिरोधिनः तेषाम्, 'आढ्यसुभग—' इत्यादिना ख्युन्प्रत्ययः, रणस्य युद्धक्षेत्रस्य, धुरः रणधुरा, 'ऋक्पू—' इत्यादिना समासान्तः। तस्या रेणूनां धूलीनां धारा सन्ततिः सैवान्धकारः तस्माद्धेतोः, एतेन राज्ञा, उत्कृत्तकण्ठैः छिन्नकण्ठैः, प्रतिसुभटैः परवीरैः एव, नटैर्नर्तकैः, कबन्धरूपैरिति यावत्, आरब्धानाम् आचरितानां, नाट्याद्भुतानां, विस्मयावहनाटकप्रबन्धानाम् इत्यर्थः, द्रष्टैव दर्शक एव न अभूत् द्रष्टुं न समर्थ एव इत्यर्थः, कष्टम् एतद्दुःखकरम्॥१००॥

अन्वयः—समरसमालोकिलोकास्पदे भुवि अपि अस्वैरवेगैः अश्वैः कृतखुरखुरलीमङ्क्षुसङ्क्षुभ्यमाणक्ष्मापृष्ठोत्तिष्ठदन्धङ्करणरणधुरारेणुधारान्धकारात् एतेन उत्कृत्तकण्ठप्रतिसुभटनटारब्धनाट्याद्भुतानां द्रष्टा एव न अभूत्—कष्टम्।

हिन्दी—युद्ध के दर्शकजनों के स्थान पृथ्वी पर भी (और युद्ध-दर्शक जन देवों के स्थानभूत गगन या स्वर्ग में भी) तीव्रगतिशील अश्वों द्वारा किये खुर-संचार से द्रुततया चूर-चूर होते धरती के पटल से उठती, अँधा करने वाली रणभूमि की धूलि-धारा के अंधकार के कारण इस (मगधेश्वर) द्वारा जिनके कंठ काट दिये गये हैं ऐसे शत्रु-सुयोद्धा रूप भटों द्वारा आरब्ध (प्रारभ किये गये) नाट्य (नृत्य-नाटकादि) के आश्चर्यों का दर्शक ही नहीं हुआ,—यह खेद का विषय है।

टिप्पणी—भाव यह कि मगधेश्वर का अश्वदल इतना विशाल है कि जब वे घोड़े तीव्रवेग से युद्धभूमि में इधर-उधर दौड़ते हैं, तब उनके खुरों से खुदकर इतनी धूल धरती आकाश पर छाजाती है कि उसके अंधकार के कारण धरा-गगन पर स्थित कोई मानव-देवदर्शक मरते शत्रु किस प्रकार का आचरण करते हैं—उनके रुण्ड-मुण्ड किस प्रकार कटकर उछलते-गिरते हैं—यह सब देख ही नहीं पाते। नटनट अपने 'मरणनाट्य' में प्राण दे देते हैं, पर कितने कष्ट की बात है कि दर्शकों तक उनका 'नाट्य' सम्प्रेषित ही नहीं होता॥ १००॥

उन्मीलल्लीलनीलोत्पलदलदलनामोदमेदस्विपूर-
क्रोडक्रीडद्द्विजालीगरुदुदितमरुत्स्फालवाचालवीचिः।
एतेनाखानि शाखानिवहनवहरित्पर्णपूर्णद्रुमाली-
व्यालीढोपान्तशान्तव्यथपथिकदृशां दत्तरागस्तडागः॥ १०१॥

जीवातु—उन्मीलदिति। उन्मीलल्लीलानां स्फुरद्विलासानां, नीलोत्पलदलानां दलनेन विकासेन, य आमोदस्तेन मेदस्विनि परिपुष्टे, तद्बहुले इत्यर्थः, पूरक्रोडे जलराशेः उत्सङ्गे क्रीडन्तीनां द्विजालीनां पक्षिगणानां, गरुदुदितस्य पक्षोत्थस्य, मरुतः वायोः स्फालेन आस्फालनेन, वाचालः मुखरः, वीचिः तरङ्गः यस्य सः, शाखानिवहेनन वैर्हरिद्भिः हरितैः नीलपीतमिश्रितवर्णैरित्यर्थः, पर्णैः पत्रैः, पूर्णाभिः द्रुमालीभिः तरुश्रेणीभिः, व्यालीढैः व्याप्तैः, उपान्तैः समीपवर्तितटप्रदेशैः शान्तव्यथानां शमितसन्तापानां, पथिकदृशां, दत्तरागो जनिताह्लादः तडाग एतेन राज्ञा, अखानि निखानितः इति अस्य धर्मकार्येषु अनुरागः सूचितः॥ १०१॥

अन्वयः—एतेन उन्मीलल्लीलनीलोत्पलदलदलनामोदमेदस्विपूरक्रोडक्रीडद्द्विजालीगरुदुदितमरुत्स्फालवाचालवीचि शाखानिवहनवहरित्पर्णपूर्णाद्रुमालीव्यालीढोपान्तशान्तव्यथपथिकदृशा दत्तराग तडागः अखानि।

हिन्दी—इस (मगधराज) ने विकसनशील (विकास-लीला करते) नीलकमलों के विकास से उत्पन्न परिमल से परिपूर्ण प्रवाह के अंक में क्रीडा करती हंसादिपक्षिपंक्ति के पंखों से उठे वायु के सवेग गमन के कारण ध्वनि करती लहरों से युक्त, शाखाओं के नये हरे पत्तों से भरे वृक्षों से व्याप्त तट होने के कारण (गर्मी से पीड़ित) पथिकों की पीडा को शांत कर उनकी दृष्टि को अनुरंजन अथवा तुष्टि देनेवाला सरोवर खुदवा दिया है।

टिप्पणी—मगधेश्वर परोपकारी है और धर्मोद्दिष्ट कार्य सरोवर आदि का निर्माणकर्ता है—यह आशय है। इसने एक बड़ा रमणीय सरोवर खुदवाया है, जिसके निर्मल जल में नीलकमल खिले रहते हैं, उनसे सुगंधि जल में हंसादि पक्षी विहार करते रहते हैं, जिनके पंखों के वायु से सर में लहरें उठा करती हैं। सरोवर के चारों ओर हरे-भरे बाग-बगीचे हैं। इस सौंदर्य, शीतलता और हरियाली को देखकर गर्मी से व्याकुल पथिक को बड़ा सुख मिलता है। बड़ा रमणीय और तृप्तिदायक है धर्मात्मा मगधेश्वर द्वारा बनवाया गया सरोवर ॥ १०१ ॥

वृद्धा वार्द्धिरसौ तरङ्गवलिभ विभ्रद्वपु पाण्डुर
हंसालीपलितेन यष्टिकलितस्तावद्वयोवहिमा।
बिभ्रच्चन्द्रिकया च क विकचया योग्यस्फुरत्सङ्गत
स्थाने स्नानविधायिधार्मिकशिरोनत्यापि नित्यादृतः ॥ १०२ ॥

जीवातु—पुनस्तडागमेव वर्णयति वृद्ध इति। तरङ्गैर्वलिभ, वलियुक्त, 'तुन्दिबलिवटेर्भ.' इति मत्वर्थीयो भ-प्रत्यय., हंसालयेव पलित शुक्लकेशत्व तेन, 'पलित जरसा शौक्य केशादौ' इत्यमर., पाण्डुर शुभ्र, वपुर्बिभ्रत्, यष्टिः प्रणालीस्तम्भ, जलपरिमाणार्थं जलमध्ये निक्षिप्तस्तम्भरूपा वा, अवलम्बनदण्डश्च, तया कलितोऽवष्टब्धः, तावान् यष्टिसङ्ख्यानः, यष्टया अनुमितश्चेत्यर्थ, वयोवहिमा पक्षिबाहुल्य, वयोबाहुल्यञ्च यस्य स, 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना बहुलशब्दस्य वहादेशः। 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः। विकचया स्फुटया,

विलुप्तकेशया च, चन्द्रिकया ज्योत्स्नया, शिरोरोगविशेषेण च, सह योग्यं स्फुरच्च सङ्गतं सम्बन्धो यस्य तत्, एकत्र—तत्सदृशनिर्मलम्, अन्यत्र—तद्युक्त-श्वैत्यर्थः, कं जलं, शिरश्च, बिभ्रत् स्नानविधायिनां स्नानाद्यनुष्ठातॄणां, धार्मिकाणां धर्मचारिणाञ्च, स्त्रीपुंनामिति भेदः, धर्मं चरतीति ठक् शिरसां नत्या नमनेनापि, निमज्जनेन नमस्कारेण चेत्यर्थः, नित्यमादृतोऽसौ अयं वार्, वारि धीयते अस्मिन्निति वार्धिः तडागः, वृद्धः स्थविरोऽतिपूर्णश्च, स्थाने युक्तम्, 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः । रूपकालङ्कारः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—तरङ्गवलिभं हंसालीपलितेन पाण्डुरं वपुः बिभ्रत् यष्टिकलितः सावद्दृशोर्वहिमा विकचया चन्द्रिकया योग्यस्फुरत्सङ्गतं कं च बिभ्रत् स्नान-विधायिधार्मिकशिरोनत्या अपि नित्यादृतः असौ तडागः स्थाने वृद्धः वार्धिः एव ।

हिन्दी—लहरों सदृश झुर्रियों वाले, हंसों के समान शुभ्र पके बालों से युक्त श्वेत देह धारण करते, लाठी का सहारा लिये, सौ वर्ष के लगभग पर्याप्त आयुवाले और विकच (कचरहित, केशरहित) चांदी (खल्वाटता, गजानन) से युक्त वृद्धावस्थोचित स्पष्ट काँता सिर धारण किये, स्नानकरते धर्माचारी जनों द्वारा सिर नंवाकर सदा आदरप्राप्त बूढ़े-सा यह लहररूप झुर्रियोंवाला, हंसों की शुभ्रता के कारण हुआ शुभ्र प्रवाहरूप देहधारी मध्य में जल का परिमाण जानने के लिए गाड़े गये स्तंभ (दंड) से युक्त, नानाजातीय प्रभूत पक्षियों से पूर्ण और खिली चाँदनी जैसे दमकते निर्मल नीर को धारण करता, स्नानार्थी धर्मात्मा जनों द्वारा शिर नंवाकर सदा आदर भी प्राप्त करता सरोवर वृद्धि-प्राप्त (बड़ा) सचमुच समुद्र ही है।

टिप्पणी—यहाँ पूर्वोक्त विशाल सरोवर की तुलना अनेकार्थक शब्दों के प्रयोगद्वारा एक वृद्ध व्यक्ति से की गयी है और इस 'वृद्धता' (विशालता और जलपूर्णता) के आधार पर उसे समुद्र कहा गया है। वृद्ध व्यक्ति और तीर्थ—दोनों धर्माचारियों द्वारा नमस्य और आदरणीय होते ही हैं। यह वृद्ध-तडाग वृद्ध वार्धि अर्थात् समुद्र से भी विशाल है—यह भाव। समुद्र की अपेक्षा सरोवर में एक और विशेषता है कि समुद्र में तो कभी-कभी नियत पर्व के दिनों में स्नान किया जाता है, सरोवर में नित्यस्नानार्थी एकत्र रहते हैं। मल्लिनाथ के अनुसार रूपकालंकार ॥ १०२ ॥

तस्मिन्नेतेन यूना सह विहर पयःकेलिवेलासु बाले !
नालेनास्तु त्वदक्षिप्रतिफलनभिदा तत्र नीलोत्पलानाम् ।

तत्पाथोदेवतानां विशतु तव तनुच्छायमेवाधिकारे
तत्फुल्लाम्भोजराज्ये भवतु च भवदीयाननस्याभिषेक ॥ १०३ ॥

जीवातु—तस्मिन्निति । बाले ! *तस्मिन् तडागे, यूना* एतेन राज्ञा सह, विहर क्रीडां कुरु, पयःकेलिवेलासु जलक्रीडाकालेषु तत्र तडागे, नीलोत्पलानां त्वदक्ष्णोः प्रतिफलनात् प्रतिबिम्बनात्, भिदा भेद, 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' नालेनास्तु नालमेव त्वन्नेत्रप्रतिबिम्बसदृशनीलोत्पलानां भेदकमस्तु इत्यर्थः, तव तनोः छाया तनुच्छायं कायकान्तिः, शरीरप्रतिबिम्बं वा, 'विभाषा सेना—' इत्यादिना नपुंसकत्वम् तस्य तडागस्य, पाथोदेवतानां जलदेवतानाम् अधिकारे आधिपत्यं, विशतु आधिपत्यं करोतु इत्यर्थः, भवदीयाननस्य तस्य तडागस्य, फुल्लाम्भोजानां विकचपद्मानां, राज्ये आधिपत्ये, अभिषेकश्च भवतु, त्वन्नेत्रादिकं तदीयोत्पलादिकम् अतिशय्य वर्तिष्यते इत्यर्थः ॥ १०३ ॥

अन्वय—बाले, तत्र यूना सह तस्मिन् विहर, पयःकेलिवेलासु तत्र नीलोत्पलानां त्वदक्षिप्रतिफलनभिदा नालेन अस्तु, तव तनुच्छायम् एव तत्पाथोदेवतानाम् अधिकारे विशतु, तत्फुल्लाम्भोजराज्ये च भवदीयाननस्य अभिषेकः भवतु ।

हिन्दी—हे बाले (दमयन्ति), उस तरुण (मगधराज) के साथ उस (पूर्वोक्त महासरोवर) में विहार कर, जलक्रीडाकाल (ग्रीष्म ऋतु आदि) में उस (तडाग) में प्रतिबिंबित तेरे नयनों का नीलकमलों से भेद (कमलों में) नालदण्ड के कारण हो, तेरी शरीर की छाया ही उस (सर) के जलदेवों के अधिकार में जाये और उस (तडाग) में खिले कमलों के राज्य में तुम्हारे मुख का (राजपद पर) अभिषेक हो ।

टिप्पणी—मगधेश्वर का वरण दमयन्ती को उस विशाल, कमलाकर स्वच्छ सरोवर में विहार की अधिकारिणी बना देगा । इसी संदर्भ में दमयन्ती के नयनों और मुख को कमलों की अपेक्षा श्रेष्ठ और मनोज्ञ संकेतित किया गया है । जल-विहार करती दमयन्ती के नेत्रों की प्रतिच्छाया सरोवर के जल में पड़ेगी किंतु कमल सदा वे कमलों से भिन्न, अतएव अधिक मनोज्ञ, इस आधार पर सिद्ध होंगे कि कमलों में नाल हैं—एक दंड-सा लगा है, जब कि नयन 'अनाल' हैं । खिले कमलों के राज्य में नायकत्व दमयन्ती के मुख को

मिलेगा। कमल अनुयायी प्रजा, मुख नेता राजा। उस जल के देव जल-विहार करते समय दमयंती के शरीर पर अधिकार कर सकते हैं, अतः देवों के अधिकार में दमयंती का शरीर जाने से उसका सतीत्व खंडित होने की आशंका भी उचित नहीं है। देव जल में पड़ते दमयंती-देह के प्रतिबिंबमात्र पर अधिकार कर सकते हैं, वीरजाया के शरीर को छूने का साहस भी उनमें न होगा। मल्लिनाथ और नारायण—दोनों ने तृतीय चरण का यह अर्थ भी किया है—'तेरे शरीर का प्रतिबिंब ही जल देवताओं का अधिकार ग्रहण करे।' अर्थात् दमयन्ती-देह-प्रतिच्छाया ही सरोवर के जल की देवता होगी—'तज्जल-देवतास्थाने त्वच्छरीरप्रतिबिम्बमेव भवत्वित्यर्थः।' इस प्रकार इस श्लोक में नीलकमलों की अपेक्षा दमयन्ती के नेत्रों, जल-देवता की अपेक्षा उसके शरीर और खिले कमलों की अपेक्षा उसके आनन की श्रेष्ठता सूचित की गयी है॥

एतत्कीर्त्तिविवर्त्तधौतनिखिलत्रैलोक्यनिर्वासितै-
विश्रान्तिः कलिता कथासु जरतां श्यामैः समग्रैरपि।
जज्ञे कीर्त्तिमयादहो! भयभरैरस्मादकीर्त्तेः पुनः
सा यत्रास्य कथापथेऽपि मलिनच्छाया बबन्ध स्थितिम्॥ १०४॥

जीवातु—एतदिति। एतस्य राज्ञः, कीर्त्तिविवर्त्तैः यशोविस्तारैः, धौतात् क्षालितात्, निखिलत्रैलोक्यात् निर्वासितैः निष्कासितैः, समग्रैः समस्तैरपि, श्यामैः श्यामवस्तुभिः, जरतां वृद्धानां, पुराणामिति शेषः, 'प्रवयाः स्थविरो वृद्धो जीनो जीर्णो जरन्नपि' इत्यमरः। 'जीर्यतेरतृन्' इत्यतृन्-प्रत्ययः कथासु विश्रान्तिः अवस्थानं, कलिताः स्वीकृता; एतद्यशोव्याप्तया श्यामवस्तुजातं प्राचीनजनानां कथामार्गेषु शेषमासादित्यर्थः; अकीर्त्तेः अपकीर्त्तेः, पुनः कीर्तिमयात् कीर्त्यात्मकात्, अस्मान्नृपात्, भयभरैः भयराशिभिः, जज्ञे जातं, भावे लिट् कीर्त्यकीर्त्योर्विरोधेन अकीर्त्तिः कीर्तिमयात् अस्मात् सुतराम् अभैषी-दित्यर्थः, कुतः? यत् यस्मात्, मलिनच्छाया सा अकीर्त्तिः, अस्य कथापथेऽपि एतत्सम्बन्धिवाङ्मार्गेऽपि, स्थितिं न बबन्ध अवस्थितिं न प्राप, अकीर्त्तिलेशोऽप्यस्य नास्तीत्यर्थः; यत एतत्कथोदये अकीर्त्तिकथाऽपि न श्रूयते इति भावः॥

अन्वयः—एतत्कीर्तिविवर्त्तधौतनिखिलत्रैलोक्यनिर्वासितैः समग्रैः अपि श्यामैः जरतां कथासु विश्रान्तिः कलिता, अहो अकीर्त्तेः पुनः कीर्तिमयात् अस्मात् अथ भयभरैः जज्ञे, यत् मलिनच्छाया सा अस्य कथापथे अपि स्थितिं न बबन्ध।

हिन्दी – इस (मगधराज) की कीर्त्ति जलराशि मे घुले सपूर्ण त्रिलोकी से निर्वासित सम्पूर्ण ही श्याम पदार्थों न बूढ़ो की कहानियो म अवस्थान—विश्राम–पा लिया है। अर, अकीर्त्ति तो कीर्त्ति से पूर्ण (यशोरूप) इस (मगधेश्वर) मे अत्यधिक डर गयी कि मलिन छायावाली वह (अकीर्त्ति) इस (मगधेश) के कथा के मार्ग मे भी अवस्थित न हो पायी।

टिप्पणी—आशय यह है कि मगधराज का शुभ्र यश त्रिलोकी भर में व्याप्त हो गया, जिससे अयश क्या, जगत् के सभी काल पदार्थ शुभ्र हो गये। कालिमा, मलिनता, बुराई क्या होती है, इसका साक्षात् परिचय ही किसी को न रह गया। केवल बूढे लोग—दादा-नानी कहानियो म अकीर्त्ति, मलिनता आदि की बात किया करते है। भाव यह कि 'य सब' जगत् में इस राजा के यशोविस्तार के कारण रह ही नही गये। और जहाँ तक अकीर्त्ति का प्रश्न है, वह तो कथाशेष भी नही रह गयी, ऐसी डरी वह कीर्त्ति से। अर्थात् अकीर्त्ति का लेशमात्र भी न रहा। मगधराज को तो अकीर्त्ति का स्पर्श भी नही होता। अत्यत निर्मल चरित है मगधेश्वर पुण्यश्लोक॥१०४॥

अथावदद्भीमसुतेङ्गितात् सखी जनैरकीर्त्तिर्यदि वाऽस्य नेष्यते।
मयाऽपि सा तत् खलु नेष्यते पर सभाश्रव पूरतमालवल्लिताम् ॥१०५॥

जीवातु—अथेति। अथ सखी भीमसुताया इङ्गितात् अनभिमतसूचकचेष्टित परिज्ञाय, अवदत्, किम्? इत्याह, अस्य अकीर्तिर्जनैर्नेष्यत नाङ्गीक्रियते, इषे: कर्मणि लट्, यदि वा तर्हि, मया सा एतदकीर्ति, सभाया श्रव पूर कर्णावतस, या तमालवल्लिता ता, पर भृश नेष्यते अपि? परन्तु प्रापयिष्यते खलु, नयते कर्मणि लट् अहमस्य अपकीर्त्ति सभाया श्रावयिष्यामि इत्यर्थ॥

अन्वय –अथ भीमसुतेङ्गितात् सखी अवदत्–अस्य अकीर्त्ति जनै यदि वा न इष्यते, तत् खलु मया अपि सा सभाश्रव पूरतमालवल्लिता पर न इष्यत।

हिन्दी—तदनतर भीमपुत्री (दमयती का सकेत पाकर सखी ने कहा—इस (मगधराज) की अकीर्त्ति को लोग नहीं चाहते, तो फिर मैं (दमयन्ती अथवा उसकी सखी) भी उसे (अकीर्त्ति को) सभा लोक की कर्णाभरणता से अधिक नहीं चाहती। (अथवा मैं भी अधिक अकीर्त्ति-गाथा सभासदों को नहीं सुनाना चाहती।)

टिप्पणी—मुख्यतया इस श्लोक का भाव यह है कि भगवती भारती और अधिक मगधेश्वर का वर्णन न करें। यश हो या अयश—दमयंती की रुचि नहीं है किसी में। व्याज से सखी यह भी कहना चाहती है कि मगधेश्वर विशेष यशस्वी भी नहीं हैं। भाव यह है कि यदि लोग मगधेश्वर की अकीर्त्ति का अभिलाष नहीं करते तो दासी भी और उसकी स्वामिनी भी इसकी अकीर्त्ति में रुचि नहीं रखती। अकीर्त्ति का कथन उसकी असत्तात्मक स्थिति को प्रकट करना ही है। आगे के १०६ संख्या के श्लोक से यह कीर्त्ति-अकीर्त्ति संबन्धी विवाद और स्पष्ट हो गया है ॥१०५॥

अस्य क्षोणिपतेः परार्द्धपरया लक्षीकृताः सङ्ख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्त्तयः।
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरात्
मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधेः रोधसि ॥ १०६ ॥

जीवातु—स्वयं श्रावयति, अस्येति। परार्द्धं चरमा सङ्ख्या, ततोऽपि परया अधिकया, सङ्ख्यया लक्षीकृता विषयीकृताः, तत्सङ्ख्याका इत्यर्थः, प्रज्ञैव चक्षुर्येषां ते प्रज्ञाचक्षुषो जात्यन्धाः, तैरवेक्ष्यमाणं तदेकग्राह्यं, यत्तिमिरं तत्प्रख्याः तत्सदृशाः, अतिकृष्णा इत्यर्थः, अस्य क्षोणीपतेः अकीर्त्तयः अष्टमं स्वरं निषादादिसमस्वरात् अतिरिक्तं स्वरं, कलयता प्रयुञ्जानेन, वन्ध्याया अनपत्यायाः, उदरात् जातेन मूकानां प्रकरेण सङ्घेन, कूर्मरमणीनां कूर्मस्त्रीणां, दुग्धानि क्षीराणि, तेषामुदधेः अब्धेः, रोधसि तीरे, गीयन्ते किल, तत् कथं जनैर्नाकर्ण्यन्ते इत्यर्थः; एतेनास्य अकीर्त्तयः सन्ति जनैरपि श्रुता इत्यर्थः प्रथमं प्रतीयते पर्यवसाने तु सङ्ख्यादीनां परार्द्धपरत्वादिकं यथा अलीकं तथा एतस्याकीर्त्तयोऽपि खपुष्पादिवत् अलीका इति स्तुतिरेव गम्यते। अत्र निन्दया स्तुतिप्रतीतिर्व्याजस्तुतिभेदालङ्कारः ॥ १०६ ॥

अन्वय—परार्द्धपरया सङ्ख्यया लक्ष्मीकृताः प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिर-प्रख्याः अस्य क्षोणीपतेः अकीर्त्तयः (आकीर्त्तयः) अष्टमं स्वरं कलयता वन्ध्योदरात् जातेन मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधेः रोधसि गीयन्ते किल।

हिन्दी—गणीत शास्त्र में निर्धारित अंतिम संख्या से भी आगे की संख्या से गिनी गयीं, अंधों की आँखों से दृश्यमान अंधेरे के तुल्य इस पृथ्वी के

स्वामी (मगधनृपति) की अकीर्त्तियाँ (अथवा आकीर्त्ति अर्थात् सपूर्णकीर्त्ति) अष्टम स्वर में बाझ के गर्भ से उत्पन्न गूँगो के समूह द्वारा कच्छपी के दूध के सागर के तट पर गायी जाती हैं।

टिप्पणी—विध्यात्मक निषेध परक हास्यजनक शैली मे सखी ने भी कहा कि इस मगधराज की अकीर्त्ति का लवलेश भी कही नही है, साथ ही 'किल + आकीर्त्तय' पदच्छेद करके समग्र कीर्त्ति भी नही है—यह भी कह दिया। भाव यही है कि कीर्त्ति हो अकीर्त्ति, दमयन्ती को उसमे कोई रुचि नही। कीर्त्ति अथवा अकीर्त्ति—दोनो के अभाव का द्योतन असभव स्थितियों के द्वारा कर दिया गया। पराढंपरा सख्या होती ही नही, तो गिनती कैसे होगी? अधे तो उजाला ही नहीं देखते। फिर अधेरा क्या देखेगें? स्वर सात ही होते हैं—षड्ज, ऋषभ, गाधार, मध्यम, पचम, धैवत और निषाद—'स रि ग म प ध नि।' फिर आठवें स्वर में गान कहाँ से होगा? न बाँझ के पेट से कोई उत्पन्न होता है, न गूँगे बोलते हैं और न कच्छपी का दूध ही होता है, जिसके सागर के तीरे यह 'गान' हो। जैसे 'यह सब' असभव है, वैसे ही मगधेश्वर की कीर्त्ति अकीर्त्ति भी। सो सरस्वती देवी को उचित है कि वे यह कीर्त्यकीर्त्ति विमर्श समाप्त करने की कृपा करें (कच्छपी के विषय मे यह प्रसिद्ध है कि वह दर्शन मात्र से बच्चो को पाल लेती है, दूध से नही। नारायण ने प्रज्ञाचक्षु का अर्थ योगी भी किया है। प्रज्ञाचक्षु अर्थात् योगी ब्रह्मज्योति का ही दर्शन करते हैं, अधकार का नही—'प्रज्ञाचक्षुषो योगिना ज्योतिर्विलोकननिष्ठा तिमिर न पश्यन्ति।' मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ निदा से स्तुति की प्रतीति होती है, अत व्याजस्तुति अलकार है॥१०६॥

तदक्षरैः सस्मितविस्मिताननां निपीय तामीक्षणभङ्गिभिः सभाम्।
इहास्य हास्यं किममूल्य वेति त विदर्भजा भूपमपि न्यभालयत्॥१०७॥

जीवातु—तदिति। विदर्भजा वैदर्भी तस्या सख्या, अक्षरैरुपक्रम अकीर्त्तेर्विधिरूपैः पर्यवसाने तु निषेधरूपैर्वाक्यै, सस्मितानि हास्ययुक्तानि, विस्मितानि च इति विरोध, आश्चर्यरसयुक्तानीति तत्परिहार, आननानि यस्य स्तादृशी, तां सभाम् ईक्षणभङ्गिभिर्दृष्टिविशेषैः, निपीय सस्पृह दृष्ट्वा,

इह एतद्वाक्ये, अस्य कीकटेश्वरस्यापि, हास्यं स्मितम्, अभूत् किम् ? न वा अभूत् इति तं भूपम् अपि न्यभालयत् आलोकयत् । १०७ ॥

अन्वयः—विदर्भजा तदक्षरैः सस्मितविस्मितानां तां सभाम् ईक्षणभङ्गिभिः निपीय 'इह अस्य हास्यम् अभूत् किं वा न' इति तं भूपम् अपि न्यभालयत् ।

हिन्दी—विदर्भसुता (दमयन्ती) ने उस (सखी) के वचन से मुस्कुराहट और अचरज से युक्त मुखों वाली उस स्वयंवरसभा को दृष्टिविशेष से भली भाँति देखकर इस (हास्यपरक विधि के व्याज से निषेध में पर्यवसित वचन) पर 'इस (मगधेश्वर) को हँसी आयी अथवा नहीं'—इस दृष्टि से उस राजा (मगधपति) पर भी एक दृष्टि डाल ली ।

टिप्पणी—विधि के व्याज से कीर्ति अकीर्ति के निषेध में पर्यवसित होने-वाले हास्यपरक दमयन्ती-सखी-वचनों को सुनकर सभा में आये सभी स्वयं-वरार्थी हँस पड़े और वचनभंगिमा पर चकित भी हुए । दमयन्ती ने उन्हें देखा और यह जानने के लिए कि इस कथन पर मगध-नरेश को भी हँसी आयी या नहीं अथवा वह अप्रसन्न तो नहीं हो गया, मगध-नरेश को भी एक बार सामान्यतया, न कि अनुराग के कारण, देख लिया । जो आनन सस्मित (स्मित-सहित) हैं, वे विस्मित (स्मित-रहित) नहीं हो सकते,—यह विरोध है, किन्तु विस्मित का अर्थ आश्चर्य-युक्त—साश्चर्य करने से विरोध का परिहार हो जाता है, अतः मल्लिनाथ और नारायण—दोनों के अनुसार यहाँ विरोधाभास अलंकार है ॥ १०७ ॥

नलान्यवीक्षां विदधे दमस्वसुः कनीनिकाऽऽगः खलु नीलिमालयः ।
चकार सेवां शुचिरक्तोचितां मिलन्नपाङ्गः सविधे तु नैषधे ॥१०८॥

जीवातु—कीकटेश्वराद्यवलोकनात् दमयन्त्याः पातिव्रत्यभङ्गं परिहरति, नलेति । खलु यस्मात्, दमस्वसुः दमयन्त्याः, कनीनिका तारका, 'तारकाऽक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः, नीलिम्नो नैल्यस्य मालिन्यस्य च, आलयः आश्रयः, अत एव नलादन्यस्य पुंसः, वीक्षां वीक्षणं, 'गुरोश्च हलः' इति स्त्रियाम् अ-प्रत्यये टाप्, तदेवागोऽपराधं पापञ्च, 'पापापराधयोरागः' इत्यमरः विदधे, मलिनात्मानो हि मलिनकृत्यमेवाचरन्तीति भावः; अपाङ्गस्तु कटाक्षः पुनः सविधे समीपस्थे, नैषधे सत्यनले, मिलन् संसक्तः, शुचिरक्तः श्वेतरक्तो निर्मला-

नुरक्तश्च तस्य भावस्तया तदुचिता सेवा रञ्जनं, चकार, साधवः साध्वेवाचर-न्तीति भावः। एतेन कीकटपतावृजुदृष्टिपाताद् अनुरागाभावो नैषधे कटाक्षपातादनुरागश्चेति गम्यते, अत एव ऋजुदृष्ट्या कीकटवीक्षणम् अपि सखीवाक्यनिमि-त्तम्यानुसन्धानलौल्यात्, अपाङ्गेनान्यदर्शने एव दोषः न तु ऋजुदृष्ट्या इत्यदोषः ॥

अन्वयः—दमस्वसुः कनीनिका नलान्यवीक्षाम् आगः विदधे, खलु नीलि-मालयः, अपाङ्गः तु सविधे नैषधे मिलन् शुचिरक्तोचिता सेवा चकार।

हिन्दी—दम की भगिनी (दमयन्ती) की पुतली ने नलातिरिक्त (पुरुष) को देखने का पाप और अपराध किया, वह तो नीलिमा (कालिमा, मलिनता) का स्थान है ही (मलिन व्यक्ति मलिन, निषिद्ध आचरण करता ही है)। कटाक्ष ने तो निकट (दूसरी पंक्ति में तीन चार स्वयवरार्थियों में) स्थित नल में सम्बद्ध हो श्वेत और लाल (निर्मल और अनुरागी) होने की उपयुक्त सेवा की।

टिप्पणी—पतिव्रता पति के अतिरिक्त पुरुष को नहीं देखती किन्तु दमयन्ती ने मगधेश्वरादि को देखा—भले ही अनुरागहीन दृष्टि डाली। इस कारण समाश्रित पातिव्रत-भंग दोष का परिहार यहाँ किया गया है। अन्य जनों पर तो उसने सामान्य दृष्टि ही डाली, एक बार साधारण भाव से नयन-तारा—पुतली को घुमा दिया, 'ईसणमसिमा' से 'न्यभालय' कर दिया, एक उचटती सी आँख से देख लिया, कटाक्षपूर्वक अनुराग से तो कुछ देर बैठे नल को ही देखा। इस प्रकार पातिव्रत भंग-दोष की सम्भावना नहीं है। पुतली काली और मलिन होती है, सो वह मलिन व्यक्ति के अनुरूप पापाचरण करती ही। कटाक्ष है श्वेत रक्त, निर्मलता और अनुराग से परिपूर्ण। ऐसे निर्मल, महानुरागी जन उचित ही कार्य करते हैं, सो उन्होंने नल को ही देखा। इससे व्यञ्जित हुआ कि दमयन्ती का अनुराग नल में ही था, अन्य जनों में नहीं। इसी कारण उसने नल पर सानुराग कटाक्ष-पात किया, अन्य पर सामान्य दृष्टि डाली। सभा में चार मिथ्यानल (इन्द्रादि) भी बैठे थे, सत्यनल तो एक ही था, किन्तु अनुराग बहुलता के कारण दमयन्ती का कटाक्षपात सत्यनल पर ही हुआ, अलीक नलों पर नहीं। नारायण का निष्कर्ष है—'इन्द्रादिषु चतुर्ष्वलीकनलेषु सत्स्वपि सत्यनलत्वेऽज्ञानेऽपि तत्रैव सत्यनल एवा-नुरागबाहुल्यं दृष्टवशात्कटाक्षनिरीक्षणं युक्तम्' ॥ १०८ ॥

दृशा नलस्य श्रुतिचुम्बिनेषुणा करेऽपि चक्रच्छलनम्रकार्मुकः ।
स्मरः पराङ्गैरनुकल्प्य धन्वितां जनीमनङ्गः स्वयमार्दयत्ततः ॥१०९॥

जीवातु—तदा नलोऽपि तां सानुरागम् अवक्षत इत्याह, दृशेति । स्वयम् अनङ्गोऽङ्गरहितः, अत एव स्मरो नलस्य दृशा दृष्ट्यैव, कटाक्षरूपयेति भावः, श्रुतिचुम्बिना कर्णान्ताकृष्टेन, इषुणा शरेण, तथा करेऽपि नलस्यैव करेऽपि, चक्रच्छलेन राजलक्षणचक्ररेखाव्याजेन, नम्रः अत्यन्ताकर्षणात् कोटिद्वयसंलग्नः, कार्मुकः कोदण्डो यस्य सः, पराङ्गैः परस्य नलस्य, अङ्गैः दृगादिभिः, परकीय-साधनैरेवेत्यर्थः, धन्वितां धानुष्कत्वम्, अनुकल्प्य, मुख्याभावे प्रतिनिधिरपि अङ्गत्वेन कल्प्यते इति शास्त्रात् कुशकाशवत् धानुष्कत्वेन सम्पाद्य, ततो जनीं वधूम्, आर्दयत् अपीडयत्; दमयन्त्यपि नलकटाक्षेण कामपीडिता अभूदिति तात्पर्यम् ॥ १०९ ॥

अन्वयः—ततः नलस्य दृशा श्रुति चुम्बिना इषुणा करे अपि चक्रच्छल-नम्रकार्मुकः स्वयम् अनङ्गः स्मरः पराङ्गैः धन्विताम् अनुकल्प्य जनीम् आर्दयत् ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (दमयन्ती के नल पर कटाक्षपात के अनंतर) नल की दृष्टि रूपकर्णान्तिभाग का चुंबन करते (कान तक खींचे गये) बाण और हाथ में (राजोचित) चक्र के ब्याज से नँवा (आकर्षित होने–खींचे जाने के कारण कोटिद्वय संलग्न) धनुष्–लिए स्वयम् अंगहीन कामदेव ने अन्य (नल) के अंगों (नेत्र, करादि) धनुर्धारित्व संपन्न कर स्वयंवरायिनी वधू (दमयन्ती) को पीड़ित किया।

टिप्पणी—दमयन्ती के कटाक्षपात पर नल ने भी दमयन्ती को देखा अथवा दमयन्ती ने ही नल को भली-भाँति देखा और उसे देख वह काम-पीड़िता हुई। इस प्रकार अनंग काम ने नल के माध्यम से उसके ही अंगों को अस्त्र बनाकर (कर्णचुम्बी नयनों को कर्णान्ताकृष्ट बाण और राजलक्षणोचित हाथ के चक्र को अत्यंताकर्षण के कारण कोटिद्वय संलग्न चाप बनाकर) दमयंती को पीड़ा दी ॥ १०९ ॥

उत्कण्टका विलसदुज्ज्वलपत्त्रराजिरामोदमाग्नपरागतराऽतिगौरी ।
रुद्रभ्रुवस्तदरिकामधिया नले सा वासार्थितामधृत काञ्चनकेतकीव ॥११०॥

जीवातु—उत्कण्टकेति । उत्कण्टका उद्गतपुलका, अन्यत्र–उदग्रसूचिका,

विलसन्ती शोभमाना, उज्ज्वला नीलपीतादिवर्णदीप्ता, कान्तिमती च, पत्रराजि. पत्ररचना, अन्यत्र–दलपङ्क्ति. यस्याः सा, आमोदं हर्षं, परिमलञ्च भजतीति आमोदभाक् भजो ण्वि. । 'आमोदो गन्धहर्षयो' इति विश्व', अतिशयेन अपगतरागा न भवतीत्यनपरागतरा अतिशयानुरागवती अन्यत्र–नास्ति पराग पुष्परजो यस्यामिति अपरागा, अतिशयेन सा न भवतीति अनपरागतरा अतिशयपरागयुक्ता इत्यर्थः, उभयत्राप्यतिशयार्थे तरप्, गौरीं पार्वतीम् अतिक्रान्ता गुणैरित्यतिगौरी अत्यन्तगौरवर्णेति शोभयत्रापि योज्यम्; सा दमयन्ती, रुद्रक्रुधः रुद्रे महादेवे, क्रुध शापाधीनस्वपरित्यागजन्यक्रोधात्, तदरिकामधिया अथ रुद्रशत्रुः काम इति भ्रान्त्या, आगता इति शेषः, काञ्चनकेतकीवेत्युत्प्रेक्षा, नले वासार्थिता स्वयंवरेण निवासाकाङ्क्षाम्, अधृत धृतवती, धरतेः कर्तरि लुङ्, स्वरितत्वात्तङ्; दमयन्ती नलाभिलाषुका आसीत् इति तात्पर्यम् ॥ ११० ॥

अन्वयः—उत्कण्टका विलसदुज्ज्वलपत्रराजि आमोदभाक् अनपरागतरा अतिगौरी सा रुद्रक्रुध तदरिकामधिया काञ्चनकेतकी इव नले वासार्थिताम् अधृत ।

हिन्दी—काँटो जैसी कोरो वाली, उजले पत्तो से सुशोभित, सुगधपूर्ण, प्रचुर पुष्पपराग से युक्त, अत्यन्त शुभ्र स्वर्णकेतकी तुल्य रोमाच युक्त, चदन, कस्तूरी, केसर आदि के उज्ज्वल नील, पीतादि वर्णों से रचित (स्तन कपोलादि पर) पत्र-रचना से सुशोभित, सुगध-लेप किये (अथवा प्रसन्न) अत्यंतानुरागिणी, अत्यंत गौरवर्ण की (अथवा गौरी अर्थात् पार्वती को भी अतिक्रात करनेवाली) उस (दमयती) ने रुद्र के प्रति क्रोध के कारण उन (रुद्र) के शत्रु काम की वृद्धि से नल मे वास करने की आकाक्षा की।

टिप्पणी—आशय यह है कि कामदेव सदृश सुन्दर नल को स्वयंवर प्रणाली से वरने की दमयती ने आकाक्षा की। अनेकार्थक शब्द प्रयोग का आश्रय ले सुन्दरी दमयती की उद्भावना यहाँ उस स्वर्णकेतकी से की गयी है जो रुद्र की वैरिणी मानी जाती है। इसी से अतिगौरी (गौरी का अतिक्रमण करनेवाली) भी कहा गया है। पुराण-कथा के अनुसार रुद्र द्वारा केतकी का अस्वीकार प्रसिद्ध है। इसी ने केतकी रुद्र पर क्रुद्ध हो रुद्र शत्रु काम का आश्रय ले रही है, क्योंकि शत्रु का शत्रु मित्र होता है।

नारायण ने यह भाव भी लिया है कि दमयंती ने नल को वरने की इच्छा इसलिए की कि काम उस (नल) का प्रतिद्वंद्वी अर्थात् शत्रु है। प्रिय के शत्रु पर क्रोध होना उचित ही है, अतः रुद्र का जो क्रोध है, उसके वास की अर्चिता को दमयंती ने धारण किया—'भैम्यपि नलविषये नलवैरिकामबुद्ध्या नलशत्रुः काम एव नलसम्बन्धित्वेन मां पीडयतीतिधिया रुद्रकोपस्यास्त्रमपि यो वासस्तदर्थितां दधार रुद्रकोपस्य स्थानं जाता।' अर्थात् रुद्र का जो काम पर क्रोध है, उसका स्थान दमयंती हो गयी। भाव यह कि काम पर अत्यंत क्रुद्ध हो गयी। परन्तु इस भाव के ग्रहण में रुद्र पर क्रुद्ध होने का सम्बन्ध इस प्रकार स्वर्णकेतकी से न जोड़ा जा सकेगा कि वह रुद्र पर क्रुद्ध हुई, प्रत्युत इस प्रकार मानना होगा कि रुद्र का जो क्रोध काम पर है, उसी क्रोध को दमयंती ने अपने में उद्भावित कर लिया। अन्वय होगा 'काञ्चनकेतकी इव नले तदरिकामधिया रुद्रक्रुधः वासार्थितां दधार', अर्थात् विभिन्न गुणधर्म के आधार स्वर्णकेतकी-सी लगती दमयंती ने 'नल पर उसके शत्रु काम ने आक्रमण किया है और इस प्रकार वह दमयंती पर भी आक्रमण है', यह मानकर रुद्रक्रोध के स्थानत्व को धारण किया।' अर्थात् काम पर अत्यंत क्रुद्ध हो गयी। मल्लिनाथ के अनुसार 'काञ्चनकेतकीव'—यह उत्प्रेक्षा है ॥ ११० ॥

तन्नालीकनले चलेतरमनाः साम्यात्मनागप्यभू-
द्यग्रे चतुरः स्थितान्न चतुरा पातुं दृशा नैषधान्।
आनन्दाम्बुनिधौ निमज्ज्य नितरां दूरं गता तत्तला-
लङ्कारीभवनाज्जनाय ददती पातालकन्याभ्रमम् ॥१११॥

जीवातु—तदिति। सा दमयन्ती तद् तस्मिन्, नालीकनले अलीकनलो न भवतीति नालीकनलस्तस्मिन् सत्यनले इत्यर्थः, चलेतरमना अदृष्टवशात् निश्चलचित्ता सती, तत्रैव दृढानुरागिणी सतीत्यर्थः, आनन्दाम्बुनिधौ निमज्ज्य नितरां दूरं गता आनन्दस्य चरमसीमां गता, अन्यत्र—समुद्रस्य तलं प्राप्ता, तस्य तलस्य अलङ्कारीभवनात् आभरणीभावात्, अन्यत्र—तत्रावस्थानादित्यर्थः, जनाय आलोकयितृजनाय, पातालकन्याभ्रमं नागकन्याभ्रमं, ददती सौन्दर्यातिशयात् आनन्दातिशयजनितनिमेषरहितत्वात् समुद्रतलगमनाच्च किमियं नागकन्येति बुद्धिं जनयन्ती सती अग्रे स्थितानपि चतुरो नैषधान्

इन्द्रादिमायानलान्, साम्यात् सत्यनलसादृश्यात्, मनागीषद् अपि, दृशा कटाक्षेण, पातु द्रष्टुं, 'शकधृष' इत्यादिना अस्त्यर्थयोगात्तुमुन् चतुरा निपुणा, नाभूत्, सा दमयन्ती व्यवहितमपि सत्यनलं प्राक्तनादृष्टवशात् कटाक्षैः पश्यति स्म इन्द्रादिमायानलांस्तु सम्मुखस्थान् ऋजुदृष्ट्यैव पश्यति स्मेति तात्पर्यम् ॥

अन्वयः—तन्नालीकनले चलेतरमना आनन्दाम्बुधौ निमज्ज्य नितरां दूरगता तत्तलालङ्कारीभवतात् जनाय पातालकन्याभ्रमं ददती सा अग्रे ईप्सितान् अपि चतुरः नैषधान् दृशा पातुं मनाक् अपि चतुरा न अभूत् ।

हिन्दी—उस वास्तविक नल के प्रति अचञ्चल चित्त वाली, आनन्द के समुद्र में डूबकर बहुत दूर तक पहुँची (हर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त) और उस (समुद्र) के तल (पाताल) की अलंकार (पाताल की शोभा) बनने में लोगों (पातालवासी वासुकि आदि नागों) को पाताल कन्या (नाग कन्या) होने का भ्रम देती वह (दमयंती) आगे बैठे भी चार (मिथ्या) नलों को दृष्टि से पान करने में (अनुराग पूर्वक अवलोकन में) थोड़ी भी समर्थ न हुई ।

टिप्पणी—भाग्य सहायक था कि नल के प्रति स्थिर निष्ठा रखनेवाली दमयंती ने वास्तविक नल को ही भलीभाँति अनुराग सहित देखा, इन्द्रादि मिथ्यानलों को नहीं । नल को देखकर दमयन्ती अत्यंत प्रसन्न हुई, ऐसा प्रतीत हुआ कि वह आनन्द और हर्ष के समुद्र में पूर्णतः निमग्न हो गयी है । अनुरागदीप्त वह दमयन्ती ऐसी प्रतीत हो रही थी, जैसे कि वह आनंद सागर के तल में पहुँचने की क्षमतामयी नाग कन्या हो । सभी सभासदों इन्द्रादि, वासुकि प्रभृति और नल को भी वह पाताल कन्या-सदृश प्रतीत हुई । कहीं-कहीं 'तत्तलालङ्कारीभवते' पाठ भी है । 'तत्तल' का अर्थ पृथ्वी-तल भी लिया गया है । मूल भाव यही है कि दृढ़ानुरागा दमयन्ती उस समय पाताल सुन्दरी—जैसी मनोहारिणी प्रतीत हुई । अमानुषी लगने के तीन कारण भी बन गये—(१) सौंदर्यातिशय, (२) पातालगमन और (३) आनंदातिरेक के कारण अनिमेषता ॥ १११ ॥

गर्वस्व चेतसस्ता नृपतिरपि दृशे प्रीतिदाय प्रदाय
प्राप्तद्दृष्टिमिष्टातिथिममरदुरापामपाङ्गोत्तरङ्गाम् ।

आनन्दान्ध्येन वन्ध्यानकृत तदपराकूतपातान् स रत्याः
पत्या पीयूषधारावलनविरचितेनाशुगेनाशु लीढः ॥ ११२ ॥

जीवातु—सर्वस्वमिति । नृपतिरपि सत्यनलोऽपि, चेतसो हृदयस्य सर्वस्वं सर्वधनभूतां, हृदयाद् अनपेतामित्यर्थः, तां दमयन्तीं, दृशे स्वचक्षुषे, प्रीतिदायं पारितोषिकदान, 'दायो दाने यौतुकादिधने वित्ते च पैतृके' इति वैजयन्ती, प्रदाय पूर्वं निरन्तरध्यानेन मनसैव सा साक्षात्कृता, इदानीं चक्षुषा तां साक्षात्कृत्येति भावः, अमरैरपि दुरापां दुष्प्रापाम्, अपाङ्गैः उत्तरङ्गां तरङ्गितां, तस्याः दमयन्त्याः, दृष्टिं तत्कटाक्षरूपदृष्टिमेव, इष्टातिथिं प्रियबन्धुं, प्रापत् लब्धवान्, स्वयञ्च तया कटाक्षेण वीक्षित इत्यर्थः; अथ स नृपः, रत्याः कामेन, पीयूषधारावलनविरचितेन अमृतधारानिष्पन्दलिप्तेन, आशुगेन शरेण, तत्तिर्यग्दृष्टिरूपेणेत्यर्थः, आशु लीढः विद्धः सन्, आनन्देन आन्ध्यं मोहं, पारवश्यमिति यावत्, तेन, तदपरान् तस्या भैमीदृष्टेः, अपरान् प्रथमदृष्टिपातानन्तरभाविनः, आकूतेन पातान् साभिलापदृष्टिपातान्, वन्ध्यान् अफलान्, अकृत कृतवान्, प्रथमदृष्टिपातजनितानन्दमग्नस्तस्यास्तदनन्तरदृष्टिपातान् नावलोकयामासेत्यर्थः ॥ ११२ ॥

अन्वयः—नृपतिः अपि चेतसः सर्वस्वं तां दृशे प्रीतिदायं प्रदाय अमरदुरापाम् अपाङ्गोत्तरङ्गाम् इष्टातिथिं तद्दृष्टिं प्रापत्, रत्याः पत्या पीयूषधारावलनविरचितेन आशुगेन आशु लीढः सः आनन्दान्ध्येन तदपराकूतपातान् वन्ध्यान् अकृत ।

हिन्दी–राजा (नल) ने भी हृदय की सर्वस्व (प्राणप्रिय) उस (दमयंती) को स्वदृष्टि के लिए प्रणय-दान देकर (सादर, सानुराग देखकर) इंद्रादि को दुष्प्राप्य (लोकोत्तरा), नेत्रप्रांत में उत्तरंगिता (अतिचंचल कटाक्षपूर्ण), प्रिय अतिथि की रूप उस (दमयन्ती) की दृष्टि को प्राप्त किया और रति के स्वामी (काम) के द्वारा अमृत की धारा-स्वरूप तिरछी ग्रीवा करके अवलोकन द्वारा रचित बाण से तत्काल विद्ध उस (नल) ने आनंदाश्रुपरिपूर्ण होने के कारण नेत्र बंद हो जाने से उस (दमयन्ती) के पुनः साभिलाप दृष्टिपातों को निष्फल कर दिया।

टिप्पणी—प्रणयिनी दमयन्ती की सानुराग दृष्टि के उत्तर में नल ने भी

अन्वयः—पूर्वार्द्धं का पूर्ववत्। मातृचरणाम्भोजालिमौले तस्य महाकाव्ये नलस्य चरिते निसर्गोज्ज्वलः एषः अयं द्वादशः सर्गः अगलत्।

हिन्दी—पूर्वार्द्धं का पूर्ववत्। माता (सरस्वती अथवा जननी मामल्ल देवी) के चरण-कमलों के भ्रमररूप मस्तक वाले अथवा मातृचरणों में पूजा के निमित्त अर्पित कमलमाला से युक्त मस्तक वाले उस (श्रीहर्ष) के महाकाव्य नल के चरित में प्रकृत्या उज्ज्वल यह वारहवां सर्ग पूर्ण हुआ।

टिप्पणी—'मातृचरणाम्भोजालिमौलि' विशेषण व्यक्त करता है कि महाकवि श्रीहर्ष भगवती सरस्वती और अपनी माता के परम भक्त थे और उनका प्रसाद उन्हें प्राप्त था॥ ११२॥

नैषधीयचरिते द्वादशः सर्गः समाप्तः

त्रयोदशः सर्गः

कल्पद्रुमान् परिमला इव भृङ्गमालामात्माश्रयां निखिलनन्दनशाखिवृन्दात् ।
तां राजकादपगमय्य विमानधुर्या निन्युर्नलाकृतिधरानथ पञ्च वीरान् ॥१॥

जीवातु—कल्पद्रुमानिति । अथ नले कटाक्षपातानन्तरं, विमानधुर्याः शिबिकाभृतः आत्माश्रयाम् आत्मा स्वम्, आश्रयोऽधिकरणं यस्याः तां स्वाधारां, स्ववाह्यविमानावस्थितत्वेन परम्परया धुर्याश्रितामित्यर्थः, तां दमयन्तीं, परिमलाः, सौरभविशेषाः, आत्माश्रयां स्वोपजीविनीं, परिमलाश्रितामित्यर्थः, भृङ्गमालां निखिलात् नन्दनशाखिवृन्दात् अपगमय्य कल्पद्रुमान् पञ्चामरतरूनिव, राजकात् राजसमूहात्, 'गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराज—' इत्यादिना समूहार्थे वुञ्, अपगमय्य अपनीय, नलाकृतिधरान् नलरूपधारिणः; यस्य या आकृतिस्तद्धारित्वं तस्यापि सम्भवतीति नलस्यापि नलाकृतिधारित्वं सङ्गच्छते; पञ्च वीरान् नलसहितान् इन्द्रादीन्, निन्युः प्रापयामासुः ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ विमानधुर्याः आत्माश्रयां तां भृङ्गमालां निखिलनन्दनशाखिवृन्दात् अपगमय्य कल्पद्रुमान् परिमलाः इव राजकात् नलाकृतिधरान् पञ्च वीरान् निन्युः ।

हिन्दी—तदनंतर (कटाक्षवीक्षण के पश्चात्) शिविकावाही अपने (कंधों) पर अवलंबित उस (दमयन्ती) को, जैसे भ्रमरपंक्ति को नंदन-कानन के संपूर्ण वृक्ष समूह से हटाकर कल्पद्रुमों के निकट मनोरम सुगन्ध ले जाती है, वैसे ही राज-समूह से हटाकर नल का रूप धारण करते पाँच वीरों (इंद्र, अग्नि, यम, वरुण तथा नल) के समीप ले गये ।

टिप्पणी—शिविका-वाहकों ने दमयन्ती को उपस्थित राजसमूह से हटाकर उस स्थल पर पहुँचा दिया, जहाँ नल और उसका रूपधारण किये इंद्र, अग्नि, यम, वरुण बैठे थे—पाँच पाँच नल, पाँच वीर । यहाँ दमयन्ती को

भृङ्गमाला, राजगण को नन्दनकानन-वृक्ष, पवनलों को कल्पवृक्ष और शिविका वाहकों को परिमल का उपमान दिया गया है। कल्पद्रुम तो एक है किन्तु यहाँ पाँच कल्पद्रुम बनाये गये। या इच्छापूर्ण करने वाले पाँच स्वर्ग कानन वृक्ष बताये जाते हैं—मन्दार, पारिजात, हरिचन्दन, सन्तान और कल्पद्रुम। किन्तु यहाँ सब का रूप समान है, अतः इन सभी को कल्पद्रुम कह दिया गया। नल भी तो एक है, किन्तु वहाँ पाँच थे, वे भी तो नल ही कहा रहे थे। इसके साथ ही पाँचों को 'नलाकृतिधर' कहा गया, जब कि नल तो नल ही था, नलरूपधारी नहीं था। ऐसा इसलिए कहा गया कि उनके बीच वास्तविक नल कौन है, यह न तो शिविकावाहक ही जानते थे, न दमयन्ती ही। इस प्रकार सब 'नलाकृतिधर' ही लग रहे थे। सब मन्दारादि कल्पवृक्ष की ही आकृति बनाय बैठे थे। वास्तविक कल्पद्रुम किसे कहा जाय? 'धीर' नायकगुण—शूरता—द्योतनार्थ कहा गया। श्लोक संख्या १—१२ वसन्ततिलका छन्द ॥ १ ॥

साक्षात्कृताखिलजगज्जनताचरित्रा तत्राधिनाथमधिकृत्य दिवस्तथा सा।
ऊचे यथा स च शचीपतिरभ्यधायि प्राकाशि तस्य न च नैषधकायमाया ॥

जीवातु—साक्षादिति। अथ पञ्चवीरप्रापणानन्तर साक्षात्कृतम् अखिल-जगत्सु जनताया जनसमूहस्य, चरित्र यया तादृशी, सा सरस्वती, तत्र पञ्चसु मध्ये, दिवोऽधिनाथम् इन्द्रम्, अधिकृत्य निर्दिश्य, तथा तेन प्रकारेण, ऊचे उवाच, यथा येन प्रकारेण, स च शचीपतिः इन्द्रः, अभ्यधायि अभिहितो भवति, तस्य इन्द्रस्य, नैषधकायमाया नलरूपकल्पना च, न प्राकाशि न प्रकाशिता भवति ॥ २ ॥

अन्वय—साक्षात्कृताखिलजगज्जनताचरित्रा सा तत्र दिवः अधिनाथम् अधिकृत्य तथा ऊचे यथा सः शचीपतिः अभ्यधायि तस्य च नैषधकायमाया न प्राकाशि।

हिन्दी—सम्पूर्ण जगत् के जनसमूह के चरित्र को (हस्तामलकवत्) साक्षात् करने वाली (भगवती सरस्वती) ने वहाँ (पाँचों के मध्य) स्वर्ग के अधिपति को लक्ष्य करके ऐसे वचन कहे, जिससे कि वह शची का स्वामी (इन्द्र) भी

ज्ञापित हो गया और उसकी निषधराज का देह धारण करने की माया (कपट) भी प्रकट न हुई।

टिप्पणी—भगवती सरस्वती सब कुछ जानती थीं। कौन क्या है, यह उनसे छिपा नहीं था। असत्य भाषण वे कर नहीं सकती थीं और विष्णु के आदेश के कारण परिचय उन्हें देना ही था। देवों का 'भरम' भी वे सहसा नहीं तोड़ना चाहती थीं। उन्होंने ऐसी भाषा का आश्रय लेकर परिचयारंभ किया कि देव का स्वरूप भी सूचित हो गया और उसका कपट भी प्रकट न हुआ॥ २॥

ब्रूमः किमस्य वरवर्णिनि ! वीरसेनोद्भूतिं विपद्वलविजित्वरपौरुषस्य ?।
सेनाचरीभवदिभाननदानवारिवासेन यस्य जनितासुरभी रणश्रीः॥ ३॥

जीवातु—अथ लोकपालान् नलञ्च प्रत्येकं चतुर्भिः श्लोकैः श्लेषभङ्ग्या वर्णयति, ब्रूम इत्यादि। वरवर्णिनि ! हे उत्तमाङ्गने ! 'उत्तमा वरवर्णिनी' इत्यमरः, द्विषतः शत्रोः, वलस्य वलासुरस्य, अन्यत्र—द्विषतो बलानां, 'बलो-ऽसुरे बलं सैन्ये' इति वैजयन्ती, विजित्वरपौरुषस्य जित्वरपराक्रमस्य, अस्य परस्य, इन्द्रनलयोः सामान्यनिर्देशः, वीरसेनानां पराक्रान्तसैनिकानाम्, उद्भूतिम् उज्जृम्भणं शौर्यप्रकाशनमित्यर्थः, अन्यत्र—वीरसेनात् तदाख्यनृपात् उद्भूतिम् उत्पत्तिं, किं ब्रूमः ? कथं वर्णयामः ? यस्य वीरस्य, रणश्रीः सेनाचरीभवतोः सैनिकायमानयोः, इभाननदानवार्योः विनायकविष्णवोः, वासेनाधिष्ठानेन, जनिता असुराणां भीर्यया सा तादृशी, जातेति शेषः। अन्यत्र—सेनाचरीभवतां सेनासञ्चारिणाम्, इभानां गजानाम्, आननेषु दानवारीणां मदजलानां, वासेन वासनया, सुरभिः जनिता सुगन्धिः कृता। 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ॥ ३॥

अन्वयः—वरवर्णिनि, द्विषद्वलविजित्वरपौरुषस्य अस्य वीरसेनोद्भूतिं किं ब्रूमः, यस्य रणश्रीः सेनाचरीभवदिभाननदानवारिवासेन जनितासुरभीः (सुरभिः जनिता)।

हिन्दी—इन्द्रपक्ष—हे उत्तम वर्ण वाली दमयन्ति, शत्रु बल नामक दैत्य के जयी पुरुषार्थ (पराक्रम) से युक्त इस वीरों की सेना के स्वामी के उत्कट ऐश्वर्य, सामर्थ्य को हम क्या कहें, जिसकी संग्राम-शोभा सैनिकाचरण करके

गजमुख (गणेश) और दानवारि (विष्णु) के रहने से असुरों के भय का कारण है।

(२) नल-पक्ष—हे उत्तम-वर्णे, शत्रुओं के बल (सैन्य, पराक्रम) के जयी पौरुष से युक्त इसकी वीरसेन से उत्पत्ति का वर्णन हम क्या (कैसे) करें (अथवा वीरसेन सुतता का कैसे वर्णन करें) जिसकी संग्राम-शोभा, सेना में संचरण करते गजों के मुख (से बहते) दान-जल को गन्ध से सुगन्धमय हो जाती है।

टिप्पणी—श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से इस वर्णन में इंद्रत्व भी संकेतित हो गया और नलत्व भी और उसमें संदेह भी। 'वल' (बलासुर) की शत्रुता, गणेश-विष्णु की सैनिकता और असुरों की भीति इन्द्रत्व के संकेतक हैं। 'वीरसेनोद्भूति', बल (सैन्य), 'इभाननदानवारि' (गज-मुख-दान-जल), उससे 'सुरभि' रणश्री—नलत्व के द्योतक हैं। 'अस्य वीरसेनोद्भूतिं किमू.,—इसकी वीरसेन से उत्पत्ति को क्या कहें,—एक ओर तो नल को अपने गुणों से ही ख्यात होने की प्रशंसा का द्योतक है, दूसरी ओर इस तथ्य का संकेत भी देता है कि नलरूपधारी इस व्यक्ति (इन्द्र) को सर्वज्ञात्री सरस्वती वीरसेन का पुत्र कैसे कहें? यह असत्य भाषण होगा। नारायण की टिप्पणी है कि श्लोक-संख्या ३–२६ तक देव-वर्णन की प्रधानता है, नलवर्णन की परचाद्वर्तिता, आगे इकत्तीसवें तक नल को प्रधानता मिल जाती है। अमरकोष के अनुसार वरवर्णिनी का अर्थ उत्तमा नारी तो है ही, प्राचीन जनों ने शीत काल में यौवनोष्मा से युक्त, आतप में शीतलस्पर्शवती भर्तृभक्ता नारी को भी वरवर्णिनी कहा है—'यौवनोष्मवती शीते शीतस्पर्शा च यातपे। भर्तृभक्ता च या नारी सोच्यते वरवर्णिनी॥' तृतीय चरण के 'सेनाचरीभवत्' को 'रलयोरभेदः' के आधार पर 'सेनाचलीभवत्' मानते हुए 'सेना में पर्वततुल्य प्रतीत होते हाथी' भी अर्थ किया जाता है॥ ३ ॥

शुभ्रांशुहारगणहारिपयोधराङ्कचुम्बीन्द्रचापखचितद्युमणिप्रभाभिः।
अन्वास्यते समिति चामरवाहिनीभिर्यात्रासु चैष बहुलाभरणाचिताभिः॥

जीवातु—शुभ्रेति। एष वीरः, इन्द्रनृपयोः सामान्यनिर्देशेऽपि यत्र इन्द्र

इत्यर्थः, शुभ्रांशुः चन्द्रः, हरस्येमे हाराः, गणाः प्रमथाः, हरस्यापत्यं पुमान् हारिः स्कन्दः; पयोधराङ्कचुम्बिना मेघोत्सङ्गसङ्गिना, इन्द्रचापेन खचिताः मिश्रिताः, द्युमणिप्रभाः सूर्यतेजांसि यत्र तादृशीभिः, बहुरनेकः; लाभः त्रिलोकविजयादिः यस्मिन् तादृशे रणे अर्चिताभिः पूजिताभिः, अर्च पूजायां कर्मणि क्तः अमरवाहिनीभिः सुरसेनाभिः, समिति रणे च, युद्धक्षेत्रे च इत्यर्थः, यात्रासु रणयात्रासु च, अन्वास्यते अनुगम्यते उपास्यते च। अन्यत्र तु—एषः नलः; शुभ्रांशुभिः उज्ज्वलमयूखैः, हारगणैः मुक्ताहारजालैः, हारिपयोधराङ्कचुम्बिभिः मनोहरकुचोत्सङ्गसङ्गिभिः, इन्द्रचापैः तत्तुल्यविविधवर्णविशिष्टभूषणदीप्तिभिरित्यर्थः खचिताः मिश्रिताः, द्युमणेः सूर्यस्य, सूर्यकान्तमणेरित्यर्थः प्रभाः यासां तादृशीभिः, बहुलैः आभरणैः अलङ्कारैः, अर्चिताभिः भूषिताभिः, चामरवाहिनीभिः चामरधारिणीभिः, समिति सभायां, यात्रासु देवतामहोत्सवेषु च, अन्वास्यते ॥ ४ ॥

अन्वयः—एषः शुभ्रांशुहारगणहारिपयोधराङ्कचुम्बीन्द्रचापखचितद्युमणिप्रभाभिः बहुलाभरणार्चिताभिः च अमरवाहिनीभिः (नलपक्षे -चामरवाहिनीभिः) समिति यात्रासु च अन्वास्यते।

हिन्दी—(१) इंद्र०—यह (इंद्र) श्वेत किरण (चन्द्रमा), हर (शिव) से संबद्ध एकादश रुद्रगण (अथवा एकादश रुद्र और नंदि-प्रमथादि गण) और पुत्र स्कंद-गणेश और मेघों के मध्यवर्ती (स्वामी) इन्द्र के धनुष् से संबद्ध सूर्य की प्रभा से युक्त और प्रचुर लाभान्वित कराने वाले (अथवा दैत्यजय के कारण प्रचुर लाभान्वित कराने वाले) युद्धों में पूजित देव सेनाओं द्वारा सभा और युद्ध-यात्राओं में अनुगमित होता है।

(२) नल०—यह (नल) शुभ्र दीप्तिमय हारों (मुक्तामालाओं) से मनोहर कुचमध्य की स्पर्शिनी इन्द्र-धनुष् के विविध वर्णों से समन्वित सूर्य की (अथवा विविध वर्णों की मणियों और सूर्यकांत मणि की) दीप्ति से युक्त अनेक आभूषणों से अलंकृत चँवर धारण करने वाली दासियों द्वारा सभाओं और रणयात्राओं में सेवित होता है।

टिप्पणी—अनेकार्थक पदों के प्रयोग से इन्द्र-नल-दोनों का संकेत। इन्द्र की सभा और रणयात्रा में शिव के गण, उनके पुत्र गणेश और देवसेनापति स्कंद, चंद्र, सूर्य रहते ही हैं। इन्द्र भी धनुर्धारी रहता है। कामरूप मेघ भी

इन्द्र के सेवक हैं, सैनिक हैं। भाव यह है कि इन्द्र ऐसा तेजस्वी और ऐश्वर्य-शाली है कि सूर्य-चंद्र जैसे तेजस्वी, शिव महादेव का परिकर भी उसके साथ सभा और संग्राम-दोनों में साथ रहता है।

नल भी ऐसा ऐश्वर्यशाली और निर्भय है कि मणि रत्नादि से विभूषित चामरधारिणी दासियों का समूह सभा तथा युद्ध-दोनों में उसकी सेवा करता है। मल्लिनाथ ने यात्रा का अर्थ नलपक्ष में 'देवता-महोत्सव' ही माना है, किन्तु नारायण ने 'दण्डयात्रा' मानकर यह निष्कर्ष दिया है कि नल जैसा सभा में निर्भय स्थित रहता है, वैसा ही संग्राम यात्राओं में भी— 'यथा सभायां निर्भय आस्ते तथा संग्रामयात्रास्वपीति ध्वन्यते'। अमरकोष के अनुसार 'द्युमणि' सूर्य वाचक है और 'समित्' युद्धवाचक—'द्युमणिस्तर-णिर्मित्रः; और 'समित्युधः' ॥ ४ ॥

क्षोणीभृतामतुलकर्कशविग्रहाणामुद्दामदर्पहरिकुञ्जरकोटिभाजाम्।
पक्षच्छिदामयमुदग्रबलो विधाय मग्नं विपक्षजलधौ जगदुज्जहार ॥५॥

अन्वयः—इन्द्रपक्षे—उदग्रबलः अयम् अतुलकर्कशविग्रहाणाम् उद्दाम-दर्पहरिकुञ्जरकोटिभाजां क्षोणीभृतां पक्षच्छिदां विधाय कृत्वा विपक्षजलनिधौ मग्नं जगत् उज्जहार।

प्रकाशः-क्षोणीति। अयं क्षोणीभृतां पर्वतानां पक्षच्छिदां विधाय कृत्वा विपक्षजलनिधावपां समुद्रे मग्नं जगदुज्जहार उद्धृतवानित्यर्थः। पर्वतपक्षच्छेदना-द्विपद्रहितं कृतवानिति भावः। किंभूतानाम्-अतुला अत्युच्चा कर्कशाश्च विग्रहा देहा येषाम्—तथा उद्दामदर्पाणामत्युद्भटानां हरिकुञ्जराणां सिंह-हस्तिनां कोटिं भजताम्। एकस्मिन् प्रदेशेऽनेकसिंहानामन्यस्मिंश्चात्युद्भटानेक-कुञ्जराणामित्यर्थः। किंभूतोऽयम् बलाद्दैत्यादुदग्र उदग्रबलः। यद्वा उदग्रं पौरुषं यस्य सः।

नरपक्षे—अतुलानत्युच्चान्सल्लक्षणांश्च कर्कशानतिकठिनान् कुर्वन्ति मार-यन्ति एवंविधा विग्रहाः शरीराणि वैरं वा येषाम्। तथा—उद्दामदर्पा हर-योऽश्वा गजाश्च तेषां कोटिं भजताम्। वैरिनृपाणां पक्षच्छिदां सहायच्छेदं सुहृच्छेदं वा कृत्वा उदग्रं बलं पौरुषं सैन्यं वा यस्य अयं नलो वैरिकृता-पत्समुद्रे मग्नं जगदुज्जहार। वैरिणो हत्वा विपद्रहितमकरोदित्यर्थः ॥ ५ ॥

हिन्दी—(१) इन्द्र०—बल नाम दैत्य की अपेक्षा प्रचंड (अथवा प्रचंड सेना और पौरुष से युक्त) इस (इन्द्र) ने अत्यन्त ऊँचे और कठोर देह वाले अत्यन्त उद्भट सिंह और हाथियों से बहुल भूधरों (पहाड़ों) के पंखों को काटकर आपत्ति के समुद्र में मग्न संसार का उद्धार किया।

(२) नल०—प्रचंड पराक्रमी (अथवा प्रचंड सेनाशाली) इस (नल) ने ऊँचे और सुलक्षण कर्कों (श्वेत अश्वों) के मारक शरीर धारी (अथवा वैरी) और उद्भट अश्व और हाथियों से बहुल शत्रु राजाओं के पक्षों (सहायकों अथवा कुक्षियों) का उच्छेद कर शत्रुओं के तापरूप विपत्ति के सागर में डूबे संसार का उद्धार किया।

टिप्पणी—इन्द्र पौराणिक कथा के अनुसार पर्वतों के पंखों का छेत्ता है और नल वैरीहता। दोनों ही अपने-अपने प्रकार से जगत् के कष्ट दूर करने वाले हैं।

यह श्लोक मल्लिनाथ-टीका के संस्करण में नहीं है, अतः नारायणी (प्रकाश) टीका दी गयी है ॥ १ ॥

भूमीभृतः समिति जिष्णुमपव्ययायं जानीहि न त्वमवमत्रन्तममुं कथञ्चित्।
गुप्तं घटप्रतिभटस्तनि ! बाहुनेत्रे नालोकसेऽतिशयमद्भुतमेतदीयम् ॥

जीवातु—भूमीति । घटप्रतिभटस्तनि ! घटस्य प्रतिभटौ प्रतिस्पर्धिनौ; स्तनौ यस्यास्तथा भूते, हे घटप्रमितकुचे ! समिति संयति, भूमीभृतः पर्वतान्; जिष्णुं जेतारम् 'न लोका—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया अविद्यमानः पवेः वज्रस्य, अपायो यस्य तम् अपव्ययायं निरत्ययवज्रहस्तम्, अमुं वीरं, कथञ्चित् अपि अमघवन्तं मघवत इन्द्रादन्यं, न तु जानीहि नैव विद्धि; इन्द्रमेवामुं विद्धि इत्यर्थः। इन्द्रश्चेदक्षिसहस्रं क्व गतम् ? तत्राह, गुप्तं नलरूपधारणार्थमेव निगूहितम्, अतिशयम् अद्भुतम् एतदीयं बाहुनेत्रं बहुनेत्रत्वम् युवादित्वादण्-प्रत्ययः नालोकसे न पश्यसि। अन्यत्र तु—समिति भूमिभृतो राज्ञः, जिष्णुं जेतारम्, अपव्ययायम् अपगतः व्यपायः रणात् पलायनं यस्य तं रणादपलायमानम्, अमुं वीरं नलं, त्वं कथञ्चिदपि अघवन्तं पापवन्तं, न जानीहि, पुण्यश्लोकत्वादस्येति भावः। गुप्तं रक्षितम्, अक्षतम् इत्यर्थः, बहूनां

नेता तस्य भावस्तं बाहुनेत्र राजाधिराजत्वं, पूर्ववदण्–प्रत्ययः हे दमयन्ति! नालोकसे किम्? इति काकुः। अन्यत् समानम्॥ ५॥

अन्वय—घटप्रतिभटस्तनि, समिति भूमीभृतः जिष्णुम् अपत्यपायम् अमुं कथंचित् अमघवन्तं न तु जानीहि, (त्वम् अघवन्त न जानीहि), एतदीयम् अतिविशदम् अद्भुतम् गुप्तं बाहुनेत्रं न आलोकसे।

हिन्दी—(१) इन्द्र०—हे घट के स्पर्धी स्तनों वाली (पीन-स्थूलस्तनी दमयन्ति), युद्ध में भूधरों (पर्वतों) के जेता, न नष्ट होनेवाले वज्र से युक्त (सदा वज्रधारी) इस (वीर) को किसी प्रकार इन्द्र से भिन्न न समझो; इसके अत्यन्त विस्तृत, आश्चर्य जनक, गुप्त अनेक (सहस्र) नेत्र नहीं दीखते।

(२) नल०—हे पीनस्तनी, युद्ध में भूमिपतियों (राजाओं) के जयी, (रणभूमि से) पलायन न करनेवाले, इस (वीर) को तू (दमयन्ती) सपाप न समझ; इस (नल) के विशाल हाथ, विस्मयकारी, सुरक्षित बहुनायकत्व (अथवा बाहु पर पड़े नेत्र अर्थात् रेशमी दुपट्टे) को नहीं देखती? (अथवा विशाल भुजा और नेत्रों को नहीं देखती? अथवा एक-दूसरे से विस्तृत भुजनेत्र को नहीं देखती? अथवा अत्यन्त उदार—दानी हाथों और हथेली से भी न ढके जाने वाले (बड़े) नेत्र नहीं देखती?)।

टिप्पणी—पर्वतों के विजेता, सदावज्रधर विशेषणों द्वारा मघवा (इन्द्र) का संकेत किया गया और उसके सहस्र नेत्र न दीखने का कारण नव रूप-धारण से गुप्त होना। नल पक्ष में रिपुराजाओं के जयी, अपलायन शील और 'त्वम्+अघवन्तम्' पदच्छेद करके निष्पाप, विशाल बाहु-नेत्रधारी इन्द्र समान पुण्यश्लोक राजा नल का संकेत कर दिया गया। नल पक्ष में 'बाहु-नेत्रम्' से अनेक अर्थ लिये जा सकते हैं। यहाँ 'काकु' को भी मान्यता दी दी गयी है॥ ५॥

लेखा नितम्बिनि! बलादिसमृद्धराज्यप्राज्योपभोगपिशुना दधते सरागम्।
एतस्य पाणिचरणं तदनेन पत्या सार्द्धं शचीव हरिणा मुदमुद्वहस्व॥ ६॥

जीवातु—लेखा इति। नितम्बिनि! हे प्रशस्तनितम्बे! प्रशसायामिनिः बलादीनां बलाद्यसुराणां, यानि समृद्धानि राज्यानि तेषां प्राज्योपभोगस्य प्रभूतसुखानुभवस्य, पिशुनाः खलाः, द्वेष्टार इत्यर्थः, तदसहमानाः इति यावत्,

लेखाः देवाः 'अमरा निर्जरा देवा लेखा अदितिनन्दनाः' इत्यमरः । एतस्य वीरस्य, इन्द्रस्येत्यर्थः, पाणिश्चरणं पाणिचरणौ, प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः सरागं सानुरागं, दधते शिरसा धारयन्ति, प्रणमन्तीत्यर्थः, धाञः कर्त्तरि लट् तङि बहुवचनम् तत्तस्मात्, अनेन हरिणा देवेन्द्रेण, पत्या सार्द्धं शचीव मुदम् उद्वहस्व, शच्याः सपत्नी भवेत्यर्थः; इत्येकोऽर्थः । अन्यस्तु—सरागम् आताम्रम्, एतस्य वीरस्य, नलस्येत्यर्थः पाणिचरणं कर्त्तृ, बलादीनि राज्याङ्गानि; 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोश–राष्ट्रदुर्गबलानि च । राज्याङ्गानि प्रकृतयः—' इत्यमरः तैः समृद्धस्य राज्यस्य यः प्राज्योपभोगः तस्य पिशुनाः सूचकाः, लेखाः पद्मध्वजादिरेखाः, दधते दध धारणे इति धातोर्भौवादिकाल्लट् तङेकवचनम् तदनेन वीरेण, नलेनेत्यर्थः, पत्या सार्द्धं हरिणा शचीव मुदम् उद्वहस्व ॥ ६ ॥

अन्वयः— नितम्बिनि, बलादिसमृद्धराज्यप्राज्योपभोगपिशुनाः लेखाः एतस्य पाणिचरणं सरागं दधते तत् अनेन हरिणा पत्या सार्द्धं शची इव (हरिणा सार्द्धं शची इव अनेन पत्या सार्द्धं) मुदम् उद्वहस्व ।

हिन्दी—(१) इन्द्र०—हे विशाल नितम्बों वाली दमयन्ती, बल (वृत्र, नमुचि) आदि के वैभवपूर्ण राज्यों के प्रचुर उपभोग को न सहने वाले देव इसके हाथ-पैरों को सानुराग धारण करते हैं; सो इस हरि (इन्द्र) पति के साथ इन्द्राणी के समान आनन्द प्राप्त करो।

(२) नल०—हे विशाल नितम्बे, बल (पराक्रम) से समृद्ध राज्य के प्रचुर उपभोग की सूचक रेखाएँ (सामुद्रिक लक्षण कमल, चक्र, मीन आदि) इसके स्वस्थ गुलाबी हाथ-पैर धारण रखते हैं; सो इन्द्र के साथ शची के समान इस पति के साथ आनन्द हर्ष प्राप्त करो।

टिप्पणी—'बल' (बलादिदैत्य और सैन्य), 'लेखाः' (देवगण और रेखाएँ) आदि अनेकार्थ शब्दों और थोड़े से अन्वय-भेद से दोनों (इन्द्र-नल) पक्षों का निर्वाह कर दिया गया। पिशुन शब्द खलवाची (असहनशीलार्थक) भी है और 'सूचक'-वाची भी—'पिशुनौ खलसूचकौ।' (अमरकोष) ॥ ६ ॥

आकर्ण्य तुल्यमखिलां सुदती लगन्ती-
माखण्डलेऽपि च नलेऽपि च वाचमेताम् ।

रूपं समानमुभयत्र विगाहमाना
श्रोत्रान्न निर्णयमवापदसौ न नेत्रात् ॥ ७ ॥

जीवातु—आकर्ण्येति । सुदती शोभना दन्ता यस्याः सा, अत्र दन्तस्य दत्रादेशलक्षणाभावात् अग्रान्त—' इत्यादिसूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् दत्रादेश इत्येके । सुदत्यादिशब्दाना स्त्र्यभिधायितया योगरूढत्वात् 'स्त्रियां संज्ञायाम्' इति विकल्पात् दत्रादेश इति केचित् । एतदेवाभिप्रेत्य 'सुदत्यादयः प्रतिविधेयाः' इत्याह वामन । उगितश्चेति ङीप् असौ भैमी, आखण्डलेऽपि च इन्द्रेऽपि च, नलेऽपि च, तुल्यम् अविशेषेण, लगन्तीं सम्बध्नतीम्, एताम् अखिला वाचम् आकर्ण्य उभयत्र इन्द्रनलयोः, समानं निर्विशेष, रूपम् आकारं, विगाहमाना अग्रे दर्श दर्शम् आलोचयन्ती, श्रोत्रात् श्रवणेन्द्रियात्, निर्णयं न अवापद् सरस्वतीकृतवर्णनाया व्यक्तिविशेषावोधकत्वादयम् इन्द्रो नलो वेति निश्चयं न लेभे । आप्नोतेः लुङि लृदित्वात् 'पुषादिद्युत—'इत्यादिना च्लेरङा-देशः नेत्राद् चक्षुरिन्द्रियाच्च, न निर्णयमवापत् इन्द्रनलयोः समानाकारतया पुन. पुनर्दृष्ट्वाऽपि न निश्चेतुं शशाकेत्यर्थः ॥ ७ ॥

अन्वयः—सुदती असौ आखण्डले अपि च नले अपि च तुल्यं लगन्तीम् एता वाचम् आकर्ण्य उभयत्र समानं रूप विगाहमाना न श्रोत्रात् न नेत्रात् निर्णयम् अवापत् ।

हिन्दी—सुन्दर दन्तपंक्ति वाली यह (दमयन्ती) इन्द्र और नल—दोनो मे समान रूप से लगती इस (सरस्वती द्वारा कही गयी श्लिष्ट) वाणी (वचन) को सुनकर दोनों (इन्द्र-नल-पक्षो) मे समानरूपता समझती हुई न तो कानो से (सुनकर) किसी निर्णय पर पहुँच सकी न नेत्रों से (देखकर) ।

टिप्पणी—सरस्वती के समान रूप से इन्द्र और नल दोनों का अर्थ देते श्लिष्ट वचनो को सुनकर दमयन्ती सदेह में पड गयी कि वर्णनीय व्यक्ति को वह देवराज इन्द्र माने या भूमिराज विदर्भेश नल ? वचन ही ऐसे थे समान वाचक । न तो सुनकर ही वह कुछ निर्णय ले पायी और न देखकर ही, क्योंकि उसका रूप भी नल-सा ही था । 'रूप समानमुभयत्र विगाहमाना' का अर्थ यह भी हो सकता है कि 'दोनो की समानरूपता (एक सी आकृति) से

विविच्य्ता न समस्रती'। अर्थात् दोनों अर्थ देने वाले वचन सुनकर न तो कान कुछ निश्चय कर सके और एक सी आकृति देख कर न नेत्र कोई निर्णय कर सके। समान वर्णन और समान रूप के कारण दमयन्ती निर्णय न कर सकी कि यह इन्द्र है या नल॥ ७॥

शक्रः किमेष निषधाधिपतिः स वेति ? दोलायमानमनसं परिभाव्य भैमीम्।
निर्दिश्य तत्र पवनस्य सखायमस्यां भूयोऽसृजद्भगवती वचसां स्रजं सा॥८॥

जीवातु—शक्र इति। अथ सा भगवती सरस्वती, भैमीम् एष वीरः; शक्रः किम् ? स स्वप्राणनाथः, निषधाधिपतिः नलः, वेति दोलायमानमनसं देव्याः श्लेषोक्त्या आकारसाम्याच्च सन्दिहानचित्तां, परिभाव्य समवेक्ष्य, तत्र पञ्चवीरमध्ये, पवनस्य सखायम् अग्निं, निर्दिश्य हस्तेन प्रदर्श्य, अस्यां भैम्यां विषये, भूयो वचसां स्रजं वाक्यपरम्पराम्, असृजत् जगादेत्यर्थः॥ ८॥

अन्वयः—किम् एषः शक्रः वा सः निषधाधिपतिः—इति दोलायमानमनसं भैमीं परिभाव्य सा भगवती तत्र पवनस्य सखायं निर्दिश्य भूयः अस्यां वचसां स्रजम् असृजत्।

हिन्दी—क्या यह (वर्णित वीर) इन्द्र है अथवा वह (प्रसिद्ध अभीप्सित) निषधराज नल—इस विषय में डोलते चित्त वाली (संदेह से पूर्ण) भीम-पुत्री को विचार कर वे भगवती (भारती) उन (पाँचों) में वायु के सखा (अग्नि) का निर्देश करके पुनः इस (दमयन्ती) के प्रति वचनों की माला गूँथने लगीं (कहने लगीं)।

टिप्पणी—नल रूपधारी इन्द्र का ऐसा वर्णन भगवती सरस्वती ने किया कि वह इन्द्र परक भी हो गया और नल-संकेतक भी। उनका सत्य भी रह गया और उचित वर्णन भी हो गया। अब समझने वाली अपनी बुद्धि से समझे। दमयन्ती को संदेह से व्याप्त देख भगवती ने अब दूसरे नलरूपधारी का प्रसंग उठाया और मरुत्सखा अग्नि के विवरण-परिचय का आरम्भ किया।

एष प्रतापनिधिरुद्गतिमान् सदार्यं किं नाम नार्जितमनेन धनञ्जयेन ?।
हेम प्रभूतमधिगच्छ शुचेरमुष्मान्नास्त्येव कस्यचन भास्वररूपसम्पत्॥९॥

जीवातु—एष इति। एष वीरः, प्रतापस्य तेजसः, निधिः, अयं सदा

उद्गतिमान् - ऊर्ध्वंज्वलनवान्, धनानि विचित्रवस्तूनि जयतीति धनञ्जयो धनञ्जयसंज्ञक पार्थ , अर्जुन इति यावत्, 'संज्ञाया भृतृवृजि—' इत्यादिना खचि मुमागम, तेन कर्त्रा, अनेन अग्निना कारणेन, किं किल, नार्जितम् ? न लब्धम् ? खाण्डवदहनकाले सन्तुष्टस्याग्ने सकाशात् रथाक्षयतूणगाण्डीवादिकं प्राप्य पार्थेन विजित्य सर्वंञ्च उपलब्धमेवेत्यर्थं , केचित्तु—धनञ्जयेन अग्निना, 'धनञ्जय सर्पभेदे ककुभे देहमारुते। पार्थेऽग्नौ' इति मेदिनी, अनेन कर्त्रा, किं नाम अग्निर्वैश्वानरो वह्निरित्यादिक किं नामधेयमिति व्याचक्षत, हेम सुवर्णं, शुचे शुचिनामधात्, अमुष्मात् अग्ने , 'शुचिर्ग्रीष्माग्निशृङ्गारेष्वाषाढे शुद्धमन्त्रिणि' इति मेदिनी, प्रभूतम् उद्भूतम्, अधिगच्छ विद्धि, 'अग्नेरपत्य सुवर्णम्' इति स्मरणादिति भाव । भास्वररूपस्य रूपान्तरप्रकाशकरूपस्य, सम्पत् समृद्धि, कस्यचन इतोऽन्यस्य कस्यचिदपि, नास्त्येव । अन्यत्र तु— एष प्रतापस्य कोषदण्डजतेजोविशेषस्य, निधि , 'स प्रताप' प्रभावश्च यत्तेज कोषदण्डजम्' इत्यमर , अय नल ,सदा उद्गतिमान उदयवान, नित्याभ्युदयशील इत्यर्थं , अनेन कर्त्रा, जयेन करणेन, किं नाम धन नार्जितम् ? जयेन च सर्वं सम्पादितम् इत्यर्थं , 'क्षत्रियस्य विजितम्' इति स्मरणादिति भाव , शुचे पवित्रात् अमुष्मात् नलात् प्रभूत प्राज्य, हेम सुवर्णम्, अधिगच्छ प्राप्नुहि, एतत्परिग्रहात् आढ्या भवेत्यर्थं , भा कान्ति , स्वर कण्ठध्वनि , रूप सौन्दर्यं, तेषा सम्पत् कस्यचन इतोऽयस्य कस्यापि, नास्त्यव ॥ ९ ॥

अन्वय—एष प्रतापनिधि , अय सदा उद्गतिमान्, धनञ्जयेन अनेन किं नाम न अर्जितम् ? शुचे अस्मात् प्रभून हेम अधिगच्छ, (अस्य इव) कस्यचन भास्वररूपसम्पत् न (अस्ति एव)।

हिन्दी—(१) अग्नि०—यह (वर्ण्य व्यक्ति) तेज का आगार है, यह सदा ऊर्ध्वगमनशाली (ऊर्ध्वज्वलन) है, धनजय इसने क्या नही प्राप्त कर लिया ? (अथवा धनजय अर्जुन ने इस अग्नि के कारण खाण्डवदाहकाल में क्या नहीं पा लिया ?), 'शुचि' नाम (अथवा पवित्र) इससे प्रचुर स्वर्ण प्राप्त करो । इसके समान किसी की दीप्यमान रूप सपदा नहीं है ।

(२) नल०—यह (वीर) क्षत्रिय तेज का आगार है, यह सदा उन्नति शील है, (जयेन अनेन किं नाम धन न अर्जितम् ?) (शत्रुओ के)

जय से इसने कितनी धन-संपदा का अर्जन नहीं किया ? शुचि (पवित्र, धर्माचारी अथवा शृंगारस्वरूप) इससे पर्याप्त स्वर्ण (स्वर्ण-सम्पत्ति) प्राप्त करो। इसके सदृश किसी की दीप्तिमान् रूपसम्पदा नहीं है (अथवा 'भा' अर्थात् दीप्ति, 'स्वर' अर्थात् कण्ठस्वर और 'रूप' अर्थात् सौन्दर्य-सम्पत्ति जैसी इसकी है, वैसी किसी की नहीं है)।

टिप्पणी—'धनंजय' अग्नि को भी कहते हैं और 'धनानि जयति' विग्रह से पार्थ अर्जुन ने भी 'धनंजय' नाम पाया था। नल पक्ष में 'जयेन+धनम्' पदच्छेद कर लिया गया। यों धनंजय का 'सम्पत्तिजयी' अथवा 'अर्जुन-समान वीर' भी अर्थ किया जा सकता है। 'शुचि' अग्नि को भी कहते हैं और पवित्रवाचक भी यह शब्द है। स्वर्ण अग्नि-संभूत माना जाता है—'अग्नि का अपत्य'। श्रुति-वचन भी है—'अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यम्।' यह भी उचित है कि अग्नि से धन की याचना करे—'धनमिच्छेद्धुताशनात्।' अग्नि के समान दीप्तिमान्, तेजोमय अन्य कोई होता ही नहीं; नलपक्ष में भाव यह है कि नल के समान अन्य कोई तेजस्वी, मधुरकण्ठ और रूपवान् नहीं है ॥ ९ ॥

अत्यर्थहेतिपटुताकवलीभवत्तत्तत्पार्थिवाधिकरणप्रभवस्य भूतिः।
अप्यङ्गरागजननाय महेश्वरस्य सञ्जायते रुचिरकर्णि! तपस्विनोऽपि ॥१०॥

जीवातु—अत्यर्थेति। रुचिरकर्णि! हे कमनीयकर्णे! 'नासिकोदर—' इत्यादिना विकल्पात् ङीप्, अत्यर्थया अतिमात्रया, हेतिपटुतया ज्वालापाटवेन, कवलीभवत् ग्रासीभवत्, इन्धनीभवदिति यावत्, तत्तत् पार्थिवं तृणकाष्ठादि-पार्थिवद्रव्यमेव, अधिकरणम् आश्रयः, तदेव प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणं यस्य एवम्भूतस्य अग्नेः सम्बन्धिनी; भूतिर्भस्मापि, तपस्विनो महेश्वरस्याप्य-ङ्गरागजननाय अनुलेपसम्पादनाय; सञ्जायते भवति। अन्यत्र तु—अत्यर्थं हेतिपटुता आयुधसामर्थ्यं, 'हेतिः स्यादायुधज्वालासूर्यतेजःसु योषिति' इति मेदिनी, तया: कवलीभवद्भिः तैः तैः पार्थिवैः राजभिः सह, अधिको रणः स एव प्रभवः कारणं यस्य तादृशस्य, रणात् राज्यलाभेन रणस्य राज्यकारण-त्वेऽपि राजकारणत्वमुपचर्यते इति बोध्यम्; नलस्येति शेषः, भूतिः विजय-लब्धा सम्पत्; 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः महेश्वरस्य महैश्वर्यशालि-

-चोऽपि, तपस्विनः अपि निवृत्तरागस्यापि जनस्य, रागजननाय अनुरागोत्पाद-
-नाय, आकर्षणायेत्यर्थः, सञ्जायते, अङ्गेत्यामन्त्रणे ॥ १० ॥

अन्वयः—हविरकर्णि, अत्यर्थहेतिपटुताकवलीभवत्ततत्पार्थिवाधिकरणप्र-
-प्रभवस्य भूतिः तपस्विनः अपि महेश्वरस्य अङ्गरागजननाय सञ्जायेत ।

हिन्दी—(१) अग्नि०—हे आकर्षक कानो वाली, अति प्रचुर ज्वलन-
-सामर्थ्य को प्राप्त (ईंधन) बनती उन-उन धरती की सामग्री काष्ठ आदि से
उत्पन्न इसकी भस्म (अथवा 'प्रभवास्य=प्रभवा+अस्य' पाठांतर में ज्वलन-
-सामर्थ्य से जली धरा-सामग्री काष्ठ आदि से समुत्पन्न इसकी भस्म) तपस्वी
भी महादेव के अङ्गरागार्थ हो जाती है ।

(२) नल०—हे सुन्दरी, आकर्षक कानों वाली, अत्यर्थ अस्त्र-शस्त्र
-परिचालन चातुर्य के ग्रास बनते पृथ्वी पतियों (राजाओं) के साथ हुए
अनेक युद्धों से समाप्त इस (नल) का वैभव तपस्वी और महाधनी—दोनों में
राग (अभिलाष) उत्पन्न करने का कारण बन जाता है ।

टिप्पणी—अग्निपक्ष में 'हेतिपटुता' का अर्थ 'ज्वालासामर्थ्य' है और
नलपक्ष में 'शस्त्रास्त्रप्रयोग चातुर्य' । 'पार्थिव' पृथ्वीसम्बद्ध और राजा । नलपक्ष
में 'अङ्ग+रागजननाय' पदच्छेद करके 'अंग' का अन्वय 'हविरकर्णि' के
साथ कर लिया जाता है । अर्थ हुआ 'हे सुन्दरी, आकर्षक कर्णों वाली ।'
'महेश्वर' शिव और महासम्पत्तिशाली । नल पक्ष में भाव यह है कि इसके
समान शस्त्रास्त्रकौशल का वेत्ता वीर, जयी और धनी अन्य नहीं है ॥ १० ॥

एतन्मुखा विबुधसंसदसावशेषा, माध्यस्थ्यमस्य यमतोऽपि महेन्द्रतोऽपि ।
एनं महस्विनमुपेहि मदाशुगोच्चैर्येनामुना पितृमुखि ! घ्रियते करस्रोः ॥११॥

जीवातु—एतदिति । पितुर्मुखमिव मुखं यस्याः, तस्याः सम्बुद्धिः हे पितृमुखि !;
"धन्या पितृमुखी कन्या धन्यो मातृमुखः सुतः" इति सामुद्रिकवचनात्, अशेषा
समग्रा, असौ विबुधसंसद् देवसभा, एतद् अग्निः एव मुखमास्यं यस्याः सा एत-
न्मुखा 'अग्निमुखा वै देवाः' इति श्रुतेः, 'वह्निमुखाः क्रतुभुजः' इत्यभिधानाच्च
अस्य अग्नेः, यमतो महेन्द्रतोऽपि यमस्य महेन्द्रस्य च, षष्ठ्यर्थे सार्वविभक्ति-
कस्तसिल्, माध्यस्थ्यं मध्यस्थानवर्तित्वं, मध्यदिग्वर्तित्वमित्यर्थः, अग्निकोण-

स्थिततरत्वमिति यावत्, अग्निकोणाधिपस्याग्नेः दक्षिणपूर्वदिगधिपयोः यमेन्द्रयोः मध्यवर्तित्वादिति भावः, महस्विनं तेजस्विनम्, एनम् उपेहि प्राप्नुहि, सदारुणा दारसहितेन, सेन्धनेनेत्यर्थः, येनामुना अग्निना, उच्चैर्महती, करश्रीः अंशुसम्पत्, ध्रियते धार्यते । अन्यत्र तु—अशेषा असौ विबुधसंसद् विद्वत्सभा, एतन्मुखा एतत्प्रधाना, एतदेकशरणेत्यर्थः, तथा अस्य नलस्य, यमतो यमात्, महेन्द्रतो महेन्द्राच्च, पञ्चम्यास्तसिल्, माध्यस्थ्यम् औदासीन्यं, शत्रु-मित्रयोः समानदण्ड-दानादपक्षपातित्वेन समदर्शित्वमित्यर्थः, महस्विनं तेजस्विनम् उत्सववन्तं वा, 'महस्तूत्सवतेजसोः' इत्यमरः, एनमुपेहि, सदा सर्वदा, येनामुना नलेन, अरुणा आताम्रा, उच्चैः करश्रीर्हस्तशोभा, 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः, ध्रियते ॥

अन्वयः—पितृमुखि, अशेषा असौ विबुधसंसद् एतन्मुखा, अस्य यमतः अपि महेन्द्रात् अपि माध्यस्थ्यम्, महस्विनम् एनम्, आप्नुहि, सदारुणा (सदा+अरुणा) येन अमुना उच्चैः करश्रीः ध्रियते ।

हिन्दी—अग्नि०—हे पिता के समान मुखवाली (सुलक्षणे दमयन्ति); सम्पूर्ण इस देव सभा का यही मुख है (यज्ञभोगी देव इसी के माध्यम से हविष्य प्राप्त करते हैं); इस का यम और इन्द्र के भी मध्य स्थान है (दक्षिण में यम, पूर्व में इन्द्र इन दोनों के मध्य अग्नि कोण); तेजस्वी इसको प्राप्त करो; दारु अर्थात् काष्ठ—ईंधन सहित जिस इसके द्वारा ऊपर की ओर लपटें उठायी जाती हैं ।

(२) नल०—हे पितृसदृशानना, सम्पूर्ण इस (संमुख दीखती) विद्वत्सभा का यह प्रधान है (अथवा विद्वत्सभा पुण्यश्लोक इसका मुख जोहा करती है, गुणग्राहकता के कारण), यह यम और इन्द्र से भी अधिक निष्पक्ष-पात है (शत्रु या मित्र—अपराधी होने पर उन्हें समान दंड देता है और गुणी होने पर आदर) (अथवा लोकपालांश होने के कारण इसे यम और इन्द्र की मध्यवर्त्तिता प्राप्त है); इस तेजस्वी को प्राप्त करो, जिसके हाथों की शोभा सदा अत्यन्त गुलाबी रहती है ।

टिप्पणी—पितृमुखी कन्या सुलक्षणा मानी जाती है । 'विबुध' देव वाची भी है और विद्वद्वाची भी । अग्नि पक्ष में 'सदारुणा' (दारुणा

-सहितेन), नल पक्ष में सदा+अरुणा। नारायण ने 'महस्विनम् एनम्' का 'स्विनम् एनं मह' पदच्छेद करके 'इस सुन्दर पति की पूजा करो' अर्थ भी किया है और 'महस्विनम्' का अर्थ 'उत्सववान्'—उत्सवप्रिय भी ॥ ११ ॥

नैवालमेधसि पटो रुचिमत्त्वमस्य मध्येसमिन्निवसतो रिपवस्तृणानि ?।
उत्थानवानिह पराभवितु तरस्वी शक्य पुनर्भवति केन विरोधिनाऽयम् ?॥

जीवातु—नेति। पटोऽहसमर्थस्य, अस्य वीरस्य अग्नेः, एधसि इन्धने, रुचिमत्त्व दाहाभिलाषित्व दीप्तिशालित्व वा, अल्प नैव अनल्पमेव इत्यर्थः; समिधां काष्ठाना मध्ये मध्येसमित्, 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभाव, निवसत, अस्येति शेष, तृणानि रिपव विद्विष, किम् ? इति काकु, काष्ठानि दहतोऽस्य तृणानि न गण्यानीत्यर्थ; उत्थानवान् ऊर्ध्वगतिमान्, तरस्वी वेगवान्, प्रबलवेगेन प्रज्वलित इत्यर्थः, अयम् अग्नि, पुनरिह सृष्टौ, विरोधिना केन अम्बुना 'क शिरोऽम्बुनो.' इत्यमरः, पराभवितु शक्यो भवति किम् ? इति काकु, नैव शक्य इत्यर्थ, दिव्यस्य अस्य अनिर्वाणत्वादिति भाव.। अन्यत्र—पटोः अतिप्रगल्भस्य, वाग्मिन इत्यर्थ, अस्य नलस्य, अलमेधसि मन्दप्रज्ञे, 'नित्य-मसिच् प्रजामेधयो.' इत्यत्र नित्यग्रहणसामर्थ्यात् मन्दाल्पाभ्याञ्च मेधाया.' इति वृत्तिकारवचनाच्च नञादिभ्योऽन्यत्राप्यसिच् प्रत्यय, रुचिमत्त्वमादरः, नैव; मध्येसमित् युद्धमध्ये, 'समित्याजिसमिद्युध ' इत्यमर., निवसतः अस्य रिपवः तृणानि तृणप्राया इत्यर्थ; उत्थानवान् पौरुषसम्पन्न., उद्यमशीलो वा, "उत्थानमुद्यमे तन्त्रे पौरुषे पुस्तके रणे' इति मेदिनी, तरस्वी शूर', 'वेगिशूरौ तरस्विनौ' इत्यमर, अय पुन केन विरोधिना पराभवितु शक्यो भवति ? न केनापीत्यर्थ.। भवतीति दमयन्त्याः सम्बोधन वा ॥ १२ ॥

अन्वय—पटोः अस्य एधसि रुचिमत्त्वम् अलं न एव, मध्येसमिद् निवसतः रिपव. तृणानि; इह उत्थानवान् तरस्वी अयम् पुनः केन विरोधिना-पराभवितुं शक्यः।

हिन्दी—अग्नि०—जाज्वल्यमान इस (अग्नि) की इंधन में दमक थोड़ी नहीं होती; समिधाओं (लकड़ियों) में विद्यमान (इसके) शत्रु तिनके हैं; यहाँ (इंधन के बीच अथवा लोक में) ऊपर को लपटें उठाता (ऊर्ध्वज्वलन)

वेगवान् यह (अग्नि) 'क' अर्थात् जल वैरी से पराजित किया जा सकता है। (अथवा 'काकु'-प्रयोग के द्वारा—'यह जब उद्दाम हो वेग से प्रज्वलित होता है तो क्या वैरी जल से भी पराजित किया जा सकता है ? नहीं)।

(२) नल०—चतुर (बुद्धिमान्) इस (नल) की—'अलमेवधिरुचिमत्त्वं न'—मन्दबुद्धि में प्रीतिमत्ता नहीं है। समर-मध्य विद्यमान इसके शत्रु तृणसमान (नगण्य) हैं। यहाँ (समरांगण अथवा लोक में) उन्नतिशील, बली यह किस विरोधी द्वारा पराजित किया जा सकता है ? (किसी के द्वारा नहीं)।

टिप्पणी—जलते अग्नि की चमक-चमक ईंधन पाकर बढ़ जाया करती है और उस समय वह घास-फूंस रूप वैरियों को जलाकर भस्म कर देता है। इसे पानी से ही बुझाया जा सकता है अथवा कभी अत्यन्त प्रचण्ड होने पर जल से भी बुझाना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार नल मूर्खों को आदर न देने वाला, शत्रुहन्ता, उदयोन्मुख, बली तरुण है, जिसे कोई विरोधी पराभूत नहीं कर सकता। भाव यह है कि इसके सदृश कोई उदयी और बलवान् नहीं है॥ १२॥

साधारणीं गिरमुपर्बुधनैषधाभ्यामेतां निपीय न विशेषमवाप्तवत्याः।
ऊचे नलोऽयमिति तं प्रति चित्तमेकं ब्रूते स्म चान्यदनलोऽयमितीदमीयम्॥

जीवातु—साधारणीमिति। उषसि बुध्यते इत्युषर्बुधोऽग्निः, 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निः शोचिष्केश उषर्बुधः' इत्यमरः। 'इगुपध—' इति कः, 'अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः' इति रेफादेशः, स च नैषधो नलश्च ताभ्यां, साधारणीं समानाम् 'आग्नीध्र-साधारणादञ्' इति वक्तव्यादञि 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप्, एतां गिरं निपीय आकर्ण्य, विशेषं परस्परभेदकधर्मं, नावाप्तवत्याः अप्राप्तवत्याः, भैम्याः इति शेषः, एकं चित्तं दमयन्तीसम्बन्धिनी एका बुद्धिः, तं पुरोवर्तिपुरुषं प्रति, अयं नल इत्यूचे; इदमीयं दमयन्ती सम्बन्धि, अन्यदपरं चित्तम्, अयमनलोऽग्निः, इति ब्रूते स्म; अनलनलकोटिद्वयावलम्बी संशयो न निवृत्त इत्यर्थः॥ १३॥

अन्वयः—उषर्बुधनैषधाभ्यां साधारणीम् एतां गिरं निपीय विशेषं न

अवाप्तमन्याः एक चित्तं ॥ प्रति अथ नलः—इति ऊचे, ददमीय च अन्यद् अयम् अनल —इति ब्रूते स्म।

हिन्दी—उपर्युक्त (अग्नि) और निषधराज (नल)—दोनों में समान बोध कराने वाली इस (भारती) की वाणी को सुनकर विशेष (ठीक-ठीक) न समझ पाती (दमयन्ती) का एक मन उस (सम्मुखस्थ वीर) के सम्बन्ध में कहता था कि यह नल है और उस (दमयन्ती) का दूसरा (मन) यह कह रहा था कि यह 'अनल' (नलातिरिक्त अग्नि) है।

टिप्पणी—अग्नि और नल—दोनों का बोध कराती सरस्वती की श्लिष्ट वाणी सुनकर दमयन्ती संदेह में पड़ गयी। एकबार उसे लगता कि यह नल है, दूसरी बार उसे ज्ञान होता कि यह नल नहीं, अग्नि है। मन में सकल्प-विकल्प उठा ही करते हैं। मन एक ही है, किन्तु एक समय में ही दो विरोधी भाव उठने के कारण दो की कल्पना की गयी है। नारायण के अनुसार एक ही मन में क्रिया भेद से अवस्थान्तरप्राप्ति होने के कारण भेद-सा उपलक्षित होता है—'एकस्मिन्नपि मनसि क्रियाभेदादवस्थान्तर-प्राप्तेर्भेद इवोपचर्यते।' प्रकाशकार ने इस प्रकार भी अर्थ किया है—एक ही ने उस सम्मुखस्थ से 'कहाँ है नल'—ऐसा कहा। अकार श्लेष के द्वारा मन ने कहा—यह 'अनल' है। इसी प्रकार—यह वैरिदलनकर्ता 'अन्यद' नल है—ऐसा कह रहा था—'एकमेव तु पुरोवर्तिनं क्व नल इति प्रपृच्छे। अकारप्रश्लेषेणानलोऽयमिति ब्रवीतिस्म मनः। तथा—अयमन्यान् वैरिणो द्यति अवखण्डयतीत्यन्यद. स चासौ नलश्च अन्यदनल इति ब्रूते स्म।' भाव यह कि मन एक ही था। उसमें प्रश्न उठता था कि नल कहाँ है, यह तो अनल है। कभी मन में आता था यह वैरिनाशक 'अन्यदनल' है। दो धारणाओं के बीच बना संशय न मिट पाया। नारायण के अनुसार एक की द्विरूपता के कारण विरोधाभास भी है ॥ १३ ॥

एतादृशीमथ विलोक्य सरस्वती तां सन्देहचित्रमयचित्रितचित्तवृत्तिम्।
देवस्य सूनुमरविन्दविकासिरश्मेरुद्दिश्य दिक्पतिमुदीरयितुं प्रचक्रे ॥१४॥

जीवातु—एतादृशीमिति। अथ सरस्वती ता भैमीम्, एतादृशीम् ईदृशीं;

सन्देहः प्रागुक्तः, चित्रं देवतास्तादृशश्लिष्टवाक्यश्रवणात् उभयोः समानरूपदर्शनाच्च आश्चर्यं, भयं नलनिश्चयाभावेन नलप्राप्तौ नैराश्यात् त्रासः, एतैर्भावैश्चित्रिता विस्मिता, विस्मयविमूढा इत्यर्थः, चित्तवृत्तिर्यस्यास्तादृशीं, विलोक्य अरविन्दानि विकासयन्ति ये तादृशा रश्मयो यस्य तस्य पद्मिनीमुद्राभञ्जनस्य, देवस्य सूर्यस्य, सूनुं पुत्रं, दिक्पतिं यमम्, उद्दिश्य उदीरयितुं व्याहर्तुं, प्रचक्रे प्रस्तावं चक्रे, प्रचक्रमे इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अन्वयः—अथ सरस्वती एतादृशीं सन्देहचित्रभयचित्रित चित्तवृत्तिं तां विलोक्य अरविन्दविकासिरश्मेः देवस्य सूनुं दिक्पतिम् उद्दिश्य उदीरयितुं चक्रे।

हिन्दी—तत्पश्चात् सरस्वती ने इस संशयास्पद अवस्था में पड़ी, संदेह, आश्चर्य और भय के कारण नानाविध चित्तवृत्तियों से पूर्ण उस (दमयन्ती) को देखकर कमलों को विकसित करने वाली किरणों वाले देव (सूर्य) के पुत्र, दिक्पाल (यम) की ओर निर्देश करके कहना प्रारम्भ किया।

टिप्पणी—दमयन्ती संशय में पड़ गयी थी। संदेह था नल-निश्चयाभाव के कारण, आश्चर्य था दो समानाकृति व्यक्ति देखकर और भय था नल०-प्राप्ति में विघ्न पड़ने का। इस प्रकार उसके मन में नाना प्रकार के विचार उठ रहे थे। सरस्वती ने दमयन्ती की ऐसी स्थिति देखी और वे अग्नि को छोड़ सूर्यतनय दक्षिण दिशा के लोकपाल यम के वर्णन में प्रवृत्त हुई ॥ १४ ॥

दण्डं बिभर्त्ययमहो! जगतस्ततः स्यात् कम्पाकुलस्य सकलस्य न पङ्कपातः।
स्वर्वैद्ययोरपि मदव्ययदायिनीभिरेतस्य रुग्भिरमरः खलु कश्चिदस्ति? ॥

जीवातु—दण्डमिति। अयं यमः, दण्डं दुष्टदमनं स्वकीयास्त्रं, आलम्बनयष्टिञ्च, बिभर्ति, ततो दण्डधारणात्, कम्पाकुलस्य सकलस्य जगतः पंके पापे, कर्दमे च, पातो न स्यात् अहो! अन्यस्य दण्डधारणोदन्यस्य अपतनमित्याश्चर्यम्। अन्यत्र—नलस्य यथापराधदण्डनाज्जगतो निष्पापत्वमित्यर्थः, 'गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्। इह प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः' इति स्मरणात्, तथा, 'राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥' इत्युभयोर्दण्डधारणस्मरणादिति भावः। किञ्च, स्वर्वैद्ययोः अश्विनीकुमारयोरपि, मदव्ययदायिनीभिः अहङ्कारहारिणीभिः, कर्मजरोगाणां चिकित्सासाध्यत्वाभावाद् तयोरप्यसाध्या-

भिरित्यर्थः, अन्यत्र—सौन्दर्येण प्रसिद्धयोस्तयोः सौन्दर्यगर्वहारिणीभिः, एतस्य यमस्य नलस्य च, रुग्भिः कर्मविपाकानुसारेण एतत्सम्पादितरोगैः, 'स्त्री रुग्रुजा चोपतापरोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः । रुजेर्धातो क्विप्, अन्यत्र—शरीरशोभाभिः, दैहिकसौन्दर्येणेत्यर्थः, 'रुक् स्त्री शोभाद्युतीच्छासु' इति मेदिनी, न म्रियते मृतप्रायो न भवतीत्यमरः, पचाद्यच्, कश्चिदस्ति खलु ? अपि तु न कोऽपि अमरोऽस्ति, सर्वे एव मृतप्राया भवन्तीत्यर्थः, अन्यत्र च—तादृशशरीरकान्तिभिरुपलक्षितः, अमरः देवः, कश्चिदस्ति खलु ? अपि तु न कोऽप्यस्ति, द्वयपु सुन्दरतमयोस्तयोर्गतत्वादिति भावः ॥ १९ ॥

अन्वय —अहो, अयं दण्डं बिभर्ति, तत कम्पाकुलस्य सकलस्य जगतः पङ्कपातो न भवेत्, स्ववैद्ययो अपि मदव्ययदायिनीभिः एतस्य रुग्भिः किमु कश्चित् अमरः अस्ति ?

हिन्दी—(१) यम०—अरे, यह (यम) दण्ड (दण्डनामक शस्त्र) धारण करता है, जिससे काँपता (भय के कारण कंपित, व्याकुल) सम्पूर्ण जगत् पाप के पंक में पतित नहीं होता । स्वर्ग के वैद्य अश्विनीकुमारों का गर्व भी क्षीण करनेवाले इस (यम) के द्वारा (प्राणि कर्म विपाकानुसार निर्धारित) रोगों से क्या कोई अमर (अमरणशील) रह पाया है ? (कोई नहीं, यम सब प्राणियों को मारता ही है) ।

(२) नल०—अरे, यह (नल) शासन दण्ड धारण किया है (अथवा चतुरंग सैन्य का अधिकारी है), उस कारण शत्रुभय से सम्पूर्ण लोक का पंक पात अर्थात् कष्ट से नाश नहीं होता (अथवा वैरियों के नष्ट हो जाने से दुःख नाश हो जाता है, अथवा इसके दण्ड धारण करने से संसार में कोई अधर्माचरण नहीं करता) । (सौन्दर्य की दृष्टि से) स्ववैद्यों के दर्प का भी क्षय करने वाले इस (नल) की कांति से उपलक्षित क्या कोई देव है ? (अर्थात् कोई नहीं है) ।

टिप्पणी—यम-दण्ड के भय से संसार में लोग पाप करने से डरते हैं और उसके द्वारा निर्धारित मृत्यु से कोई प्राणी नहीं बचा । नल भी शासन दण्डधारी है, जिसका आतंक सब मानते हैं, शत्रु उससे नष्ट होते हैं, प्रजाजन

का कष्ट मिटता है, धर्माचरण में लोक-प्रवृत्ति जागती है। उसके जैसा सुन्दर देवों में भी कोई नहीं है, मनुष्यों में तो क्या ? ॥ १५ ॥

मित्रप्रियोपजननं प्रति हेतुरस्य संज्ञा श्रुतासुहृदयं न जनस्य कस्य ?।
छायेदृगस्य च न कुत्रचिदभ्यगामि तप्तं यमेन नियमेन तपोऽमुनैव ॥ १६ ॥

जीवातु—मित्रेति । संज्ञा संज्ञादेवीति, श्रुता प्रसिद्धा, मित्रप्रिया अर्कदयिता, अस्य यमस्य, उपजननम् उत्पत्तिं, प्रति हेतुः कारणं, जननीत्यर्थः; अयं यमः, कस्य जनस्य असून् हरतीति असुहृत् प्राणहरः, न ? सर्वस्यैवासुहृत् सर्वान्तकत्वादिति भावः; छाया च छायाख्या मित्रप्रिया च, अस्य यमस्य, ईदृक् ईदृशी उत्पत्तिहेतुर्जननीत्यर्थः, इति कुत्रचित् क्वापि शास्त्रे, नाभ्यगामि न अधिगता, सूर्यस्य द्वे भार्ये संज्ञा छाया च, तत्र संज्ञैव अस्य जननीति श्रूयते न छायेत्यर्थः; यमेन यमाख्येन, अमुना नियमेनैव इन्द्रियनिग्रहेणैव, तपस्तप्तम् । अन्यत्र तु—अस्य वीरस्य, संज्ञा हस्तादिचेष्टा, नलेति नाम वा, 'संज्ञाऽर्कभार्या चैतन्यं हस्ताद्यैः सूचनाभिधा' इति वैजयन्ती, मित्राणां सुहृदां, 'मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के' इति विश्वः, प्रियोपजननम् इष्टसम्पादनं प्रति हेतुः श्रुता; अयं कस्य जनस्य सुहृत् सखा, न ? अपि तु सर्वस्यैव सुहृत्, अस्येदृक् छाया कान्तिः, 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः' इत्यमरः, कुत्रचित् क्वापि पुरुषान्तरे, न अभ्यगामि न अधिगता, अमुना नलेन, यमेन नियमेन च यमनियमाभ्यां, तपस्तप्तमेव, अन्यथा कथमयं महिमेति भावः ॥ १६ ॥

अन्वयः—अस्य मित्रप्रिया उपजननं (मित्रप्रियोपजननं) प्रति हेतुः संज्ञा श्रुता, अयं कस्य जनस्य असुहृत् (सुहृत्) न ? अस्य च क्वचित् छाया न ईदृक् अभ्यगामि (ईदृक् छाया क्वचित् न अभ्यगामि); अमुना यमेन नियमेन तपः तप्तम् ।

हिन्दी—(१) यम०—इस (यम) की उत्पत्ति का हेतु सूर्य-प्रिया संज्ञा (संज्ञानामकी) सुनी गयी है; यह (यम) किस प्राणी का प्राणहर्त्ता नहीं है ? (सब का है) और इस (यम) की (जननी) कहीं (किसी ग्रन्थ में) 'छाया' (छाया नाम की सूर्य पत्नी) है, ऐसा नहीं कहा गया। इस यम द्वारा नियम पूर्वक धर्माचरण किया गया है।

(२) नल०—इस (नल) की मित्रों के कार्य-सम्पादन में कारणभूता सञ्ज्ञा (प्रसिद्धि, सुनाम) सुनी गयी है, यह किस व्यक्ति का मित्र नहीं है ? (सब का है)। ऐसी दर्शनीय छाया (छवि, सौन्दर्य) किसी की नहीं है (अथवा ऐसी लोकपरिपालन छायारीति—किसी की नहीं है)। इस (नल) ने यम (ब्रह्मचर्यादि) और नियम (व्रतादि) का पालन करते हुए तप तपा है।

टिप्पणी—सूर्य की दो पत्नियाँ हैं—सञ्ज्ञा और छाया। यम की जन्मदात्री सञ्ज्ञा है, छाया नहीं। नियमतः धर्माचरण करके यम ने धर्मराज के रूप में ख्याति पायी है। 'मित्रप्रियोजननम्' को एक शब्द मान 'मित्रप्रियस्य + उपजननम्' विग्रह कर 'सूर्य के प्रियपुत्र की उत्पत्ति' भी अर्थ किया जा सकता है। नल मित्रों के कार्य सम्पादन के लिए प्रसिद्ध है, वह सब का मित्र, सुन्दरतम और अच्छी प्रणाली का अनुसरण कर प्रजा का पालनकर्त्ता है। नल धर्मात्मा और तपस्वी है अथवा दमयन्ती को पाने के लिए उसने नियमतः तप किया है, अतः उसे वरना उचित है। पूर्व श्लोक और इस श्लोक में प्राणियों का प्राणहर्त्ता बता कर यम को न वरने का सङ्केत भी सरस्वती ने दिया है—ऐसा प्रतीत होता है ॥ १६ ॥

किञ्च प्रभावनमिताखिलराजतेजा
देव पिताऽम्बरमणी रमणीयमूर्त्तिः ।
उत्क्रान्तिदा न कमनु प्रतिभाति शक्तिः ?
कृष्णत्वमस्य च परेषु गदान्नियोक्तु ॥ १७ ॥

जीवातु—किञ्चेति। किञ्च प्रभाभिः अवनमितम् अधःकृतं, अखिलराजः चन्द्रस्य, तेजो येन स, रमणीयमूर्तिः देवः अम्बरमणिः सूर्यः, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' अस्य पिता, अस्य शक्तिः कासूनामायुधं, कमनु कं जनं प्रति, उत्क्रान्तिदा प्राणोत्क्रमणप्रदा, न प्रतिभाति ? अपि तु प्रतिभात्येव, परेषु अन्येषु, गदान् रोगान्, नियोक्तुं कर्मविपाकानुसारेण प्रेरयितुं, तृन्नन्तत्वात् 'न लोका—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया अस्य कृष्णत्वं कृष्णवर्णत्वं, परपीडाजनकत्वेनास्य दुर्यशसा कृष्णत्वमित्यर्थः। अन्यत्र—देव देवतुल्य, अम्बरमणी सूर्यः, 'कृदिकारात्—' इति विकल्पात् ङीप्, तद्वद् रमणीयमूर्त्तिः अस्य पिता वीरसेन, प्रभावेण प्रतापेन, नमिताऽखिलराजः

राज्ञां तेजांसि येन सः, 'राजा प्रभौ च नृपतौ क्षत्रिये रजनीपतौ' इति मेदिनी, अस्य शक्तिः प्रभावमन्त्रोत्साहलक्षणं सामर्थ्यं, 'कासूसामर्थ्ययोः शक्तिः' इत्यमरः, परेषु शत्रुषु, गदाम् आयुधविशेषं, नियोक्तुः निक्षेप्तुः, अस्य नलस्य, कृष्णत्वं विष्णुत्वं, गदाधरत्वादिति भावः। शेषं पूर्ववत् ॥ १७ ॥

अन्वयः--किम् च प्रभावनमिताखिलराजतेजा रमणीयमूर्त्तिः देवः अम्बरमणिः (अस्य) पिता, (अस्य) शक्तिः कम् अनु उत्क्रान्तिदा न प्रतिभाति ? परेषु च गदाम् (गदाम्) नियोक्तुः अस्य कृष्णत्वम्।

हिन्दी—(१) यम०--और दीप्ति से राजा (चन्द्र) का समग्र तेज तिरस्कृत करनेवाले मनोरम-स्वरूप देव आकाश-मणि (सूर्य) इस (यम) के पिता हैं—इसकी (प्राणहारिणी) शक्ति (आयुध) किस को उत्क्रांति (मृत्यु) देने में समर्थ नहीं है ? (सबको है); और अन्य जनों में 'गद' (रोग अथवा गदा) का प्रयोग करने वाले इस (यम) की श्यामता (परपीडा कारक होने की निन्दा अथवा कृष्ण वर्ण है।

(२) नल०--और पराक्रम से सम्पूर्ण राजाओं के प्रताप को निम्न करने वाले, अम्बरमणी रमणीयमूर्त्तिः (देवः) सूर्य और काम के समान आकार वाले (अथवा अम्बर (वस्त्र) और मणियों (रत्नों) के धारण करने से मनोहर देहधारी) देव (राजा वीरसेन) इस (नल) के पिता हैं। इसका बल (अथवा शक्ति नामक आयुध) किसको मृत्यु देने में समर्थ नहीं है ? और शत्रुओं पर गदा का प्रयोग करने में यह (नल) श्रीकृष्ण के तुल्य है।

टिप्पणी—सर्वाधिक दीप्तिमय देव सूर्य यम के पिता हैं, वह सबको मृत्यु देता है और उसका वर्ण श्याम है या मृत्युदाता होने के कारण इसका अपयश है। लोहे के समान काला कठोर हृदयी भी यम है और नल सूर्य से तेजस्वी और सूर्य और काम के समान रमणीय राजा वीरसेन का पुत्र है। (अम्बरमणिः सूर्यः छः कामः तद्वद्रमणीयमूर्त्तिः)। नारायण ने 'अम्ब + रमणीरमणीयमूर्त्तिः' पदच्छेद करके 'अम्ब' को संबोधन मानते हुए 'रमणीनां स्त्रीणां रमणयोग्या मूर्त्तिर्यस्य' विग्रह कर 'स्त्रियों के रमणयोग्यमूर्त्तिवाला' अर्थ भी किया है। नल ऐसा वीर है कि समस्त शत्रुओं का वध करने में समर्थ है, इस कारण नल से भी यम के समान सब त्रस्त रहते हैं। प्रकाशकार

न 'परेषुगदाग्नियोवतु' को एक समस्त पद मानते हुए नल पक्ष में यह अर्थ भी किया है 'उत्कृष्ट बाण सम्बन्धी रोग अर्थात् दु सहबाणजनित पीडाएँ शत्रुओं को देने के कारण नल का कृष्णत्व अर्थात् अर्जुनत्व है।' अर्थात् नल अर्जुन के समान बाणयुद्ध में प्रवीण था—'परा उत्कृष्टा इषुसम्बन्धिनो गदा रोगाः दु सहबाणजनिता पीडा इति यावद्। तानर्थाद्वैरिषु प्रयोक्तुरस्य कृष्णत्वमर्जुनत्वम्। बाणयुद्धप्रवीणार्जुनतुल्योऽस्मित्यर्थः।' मल्लिनाथ ने कृष्णत्व का अर्थ विष्णुत्व मान कर नल को गदाधारी विष्णु समान माना है॥१७॥

एकः प्रभावमयमेति परेतराजौ तज्जीवितेशधियमत्र विधेहि मुग्धे।
भूतेषु यस्य खलु भूरि यमस्य वश्यभाव समाश्रयति दस्रसहोदरस्य॥१८॥

जीवातु—एक इति। अयमेक परेताना प्रेताना, 'परेतप्रेतसस्थिताः' इत्यमरः, राजौ पङ्क्तौ, प्रभाव प्रभुत्वम्, एति, दस्रमहोदरस्य अश्विनीभ्रातुः यस्य यमस्य भूतेषु प्राणिषु, मध्ये 'भूत प्राणिपिशाचादौ' इति वैजयन्ती, भूरि अनेक भूत, वश गतो वश्य तस्य भाव वश्यत्व, समाश्रयति खलु। हे मुग्धे! तत् तस्मात्, अत्र अस्मिन् पुंसि, जीवितेशधिय यमबुद्धिं, विधेहि। अन्यत्र तु—अयमेक परेषा शत्रूणाम्, इतरेषाञ्च आजौ युद्धे, प्रभाव सामर्थ्यम्, एति, दस्रसहोदरस्य अदिवसदृशस्य, यस्य अस्य नलस्य, भूतेषु क्ष्मादिषु, पृथिव्यादिषु मध्ये इत्यर्थः, 'क्ष्मादौ जन्तौ च भूत क्लीबम्' इति वैजयन्ती, इय भूर्वश्यभाव समाश्रयति खलु, तत् तस्मात्, अत्रास्मिन् नले जीवितेशधियं कान्तबुद्धिं, प्राणेश्वरबुद्धिमित्यर्थः, 'जीवितेशो यमे कान्ते' इति विश्व, विधेहि॥ १८॥

अन्वय—अयम् एक परेतराजौ प्रभावम् एति तत् मुग्धे, अत्र जीवितेशधिय विधेहि दस्रमहोदरस्य यस्य यमस्य भूतेषु भूरि (यस्य भूतेषु इय भूः) वश्यभाव समाश्रयति।

हिन्दी—(१) यम०—यह (यम) एक प्रेता की पक्ति मे सामर्थ्य वाली (प्रभावी प्रभु) है, सो हे मुग्धे (भेद न समझने वाली दमयन्ती), इस (वीर) में प्राणों का स्वामी (यम) होने की बुद्धि करो, जिन अश्विनीकुमारों के भ्राता यम की प्राणियों म सब प्राणी अधीनता का अवलम्बन करते हैं।

(२) नल०—यह (नल) अकेला ही पर और परेतर अर्थात् शत्रु और स्वजन-दोनों की पक्ति में (अथवा 'परान् श्रेष्ठान् तेजस्विनोऽपि इतरयन्ति

क्षोदीयसः कुर्वन्ति ये तेषाम् आजौ'—अर्थात् श्रेष्ठ और तेजस्वियों को भी न्यून बना देने वाले प्रभावी जनों के युद्ध में अथवा 'परा उत्कृष्टा या इतरेषां वैरिणाम् आजौ'—अर्थात् उत्कृष्ट वैरियों के युद्ध मे प्रभावशाली सिद्ध होता है; अश्विनीकुमारों के तुल्य सदृश जिस इस (नल) की भूतों (पाँच क्षिति, जल, पावक, गगन, समी (महाभूतों) में यह सकल धरती अधीनता का आश्रय लेती है। उसमें ही हे मुग्धे दयमन्ती, तुम जीवितेश अर्थात् पति की बुद्धि बनाओ।

टिप्पणी—'जीवितेश' अर्थात् प्राणों का अंतक और जीवन का स्वामी पति। सरस्वती ने अनेकार्थ शब्द प्रयोग के आश्रय द्वारा यम और नल दोनों का वर्णन कर दिया। यम प्रेतस्वामी हैं और नल शत्रुमित्र-दोनों में प्रभावी। देव होने के कारण यम अश्विनीकुमारों का भ्राता है और सुन्दर होने से नल उनके समान। यम के वश सब प्राणियों के प्राण हैं और पंचमहाभूतों में भू अर्थात् पृथ्वी का आश्रय नल है। दमयन्ती को सुविधा है कि दोनों में भेद समझ कर वह वरण कर ले, 'मुग्धा' (अज्ञानी, मूर्खा) न बनी रहे।

गुम्फो गिरां शमननैषधयोः समानः शङ्कामनेकनलदर्शनजातशङ्के।
चित्ते विदर्भवसुधाधिपतेः सुताया यन्निर्ममे खलु तदेव पिपेष पिष्टम् ॥१९॥

जीवातु—गुम्फ इति। शमननैषधयोः यमनलयोः, समान एव गिरां गुम्फः सन्दर्भः, अनेकेषां नलानां दर्शनेन जातशङ्के विदर्भवसुधाऽधिपतेः सुतायाः वैदर्भ्याः, चित्ते शङ्कां निर्ममे इति यत् तत् पिष्टं पिपेष खलु प्रागेव साशङ्के पुनः शङ्कोत्पादनं पिष्टपेषणप्रायम् इत्यर्थः। अत्र सांशङ्कशङ्कोत्पाद-पिष्टपेषण-वाक्यार्थयोः एकत्रासम्भवेन सादृश्याक्षेपात् असम्भवद्वस्तुसम्बन्धो वाक्यार्थवृत्ति-निदर्शनालङ्कारः॥ १९॥

अन्वयः—शमननैषधयोः समानः एषः गिरां गुम्फः विदर्भवसुधाधिपतेः सुतायाः अनेकनलदर्शनजातशङ्के चित्ते यत् शङ्का निर्ममे तत् खलु पिष्टं पिपेष।

हिन्दी—यम और नैषध (नल)—दोनों में इस एक-से (सरस्वती की) वाणी-गुंफ (वचन) ने विदर्भ की धरती के स्वामी की पुत्री (दमयन्ती) के अनेक नलों के दर्शन से संशय में पड़े चित्त में जो शंका उत्पन्न कर दी, वह निश्चयपूर्वक पिसे को पीसा।

टिप्पणी—सरस्वती के श्लिष्ट यम नल दोनों का समान बोध कराने वाले वचनों ने दमयन्ती के मन में सन्देह और शङ्का ही उत्पन्न की, निर्णय तक पहुँचने में सहायता न दी। यह 'पिष्टपेषण' हुआ—व्यर्थ का प्रयत्नता। यहाँ मल्लिनाथ के अनुसार साधक, शङ्का के उत्पादक के कारण सादृश्याक्षेप से असमव वस्तु सम्बन्ध निर्देशक वाक्यार्थवृत्ति निदर्शनालङ्कार है ॥१९॥

तत्रापि तत्रभवती भृशसंशयालावालोक्य सा विधिनिषेधनिवृत्तिमस्याः।
पाथःपतिं प्रति धृताभिमुखाङ्गुलीकपाणि क्रमोचितमुपाक्रमताभिधातुम् ॥

जीवातु—तत्रेति। सा भवती तत्रभवती पूज्या, 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति त्रल्-प्रत्ययः, सा सरस्वती, तत्रापि तस्मिन् पुरुषेऽपि, यमेऽपीत्यर्थः, भृशं संशयालो संशयितया, 'शीङो वाच्य' इत्यालुच्, अस्या दमयन्त्याः, विधिनिषेधयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्योः, निवृत्तिमभावम्, औदासीन्यमिति यावत्, आलोक्य क्रमोचितं क्रमप्राप्तं, पाथःपतिम् अप्पतिं वरुणं प्रति, धृता प्रसारिता, अभिमुखा अङ्गुल्यो यस्य स धृताभिमुखाङ्गुलीकः, 'नद्यृतश्च' इति कप्, तादृक्-पाणिर्यस्याः सा तादृशी सती, अभिधातुम् उपाक्रमत उपक्रान्तवती, क्रमेर्लङ् 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' इति तङ् ॥ २० ॥

अन्वयः—तत्रभवती सा तत्र अपि भृशसंशयालोः अस्याः विधिनिषेधनिवृत्तिम् आलोक्य क्रमोचितं पाथःपतिं प्रति धृताभिमुखाङ्गुलीकपाणि अभिधातुम् उपाक्रमत।

हिन्दी—पूजनीया उन सरस्वती ने उस (यम) के प्रति भी पर्याप्त संशय से पूर्ण इस (दमयन्ती) की प्रवृत्ति और निवृत्ति (हाँ, अथवा 'ना') का अभाव देखकर क्रम से प्राप्त जल के स्वामी (वरुण) के प्रति हाथ की अंगुली उठाकर कहना आरम्भ किया।

टिप्पणी—भगवती सरस्वती ने पाया कि दमयन्ती यम-नल में संशयात्मा है और कोई निर्णय लेने में समर्थ नहीं है तो यम के पश्चात् क्रम में बैठे जलेश वरुण का वर्णनारम्भ कर दिया ॥ २० ॥

या सर्वतोमुखतया व्यवतिष्ठमाना यादोगणैर्जयति नैकविदारका या।
एतस्य भूरितरवारिनिधिश्रमूः सा यस्याः प्रतीतिविषयः परतो न राधः ॥

जीवातु—येति। या चमूः सेना, सर्वतोमुखतया सर्वतो मुखं यस्येति

सर्वतोमुखं जलं तस्य भावः तत्तया जलत्वेनेत्यर्थः, 'आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम्। पुष्करं सर्वतोमुखम्' इत्यमरः, व्यवतिष्ठमाना व्यवस्थित-स्वरूपा, जलरूपेत्यर्थः, नैके अनेके, नञर्थस्य न-शब्दस्य सुप्सुपेति समासः, विदारकाः कूपकाख्याः शुष्कनद्यादेर्जलधारणयोग्याः कूपप्रतिकृतयो गर्त्ता यस्यां तादृशी, 'कूपकास्तु विदारकाः' इत्यमरः, या चमूः, वारिनिधिरूपेत्यर्थः, यादसां जलजन्तूनां रणैः शब्दैः, जयति प्रकाशते, यस्याः वारिनिधिरूपायाः चम्वा इत्यर्थः, परतो रोधः परं तीरं, सार्वविभक्तिकस्तसिल्, प्रतीतिविषयो न अदृश्यम् इत्यर्थः, एतस्य वरुणस्य, सा चमूर्भूरितरो महत्तरः, वारिनिधिः समुद्रः। अन्यत्र तु—या चमूः सर्वतोमुखतया सार्वपथिकतया, व्यवतिष्ठमाना वर्त्तमाना, नैकान् अनेकान् विदारयन्तीति नैकविदाराः अनेकरिपुनाशकाः, कर्मण्यण्, काया विग्रहा यस्यां सा तादृशी, या चमूर्दोष्णां रणैः दोरणैः बाहुयुद्धैः, 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः, जयति, यस्याः परतः परेभ्यः, रोधः प्रतिरोधः, प्रतीतिविषयो ज्ञानविषयीभूतः, न या केनापि प्रतिरोद्धुं न शक्यते इत्यर्थः, एतस्य नलस्य, सा चमूः भूरीणां तरवारीणाम् आयुधविशेषाणां, निधिः आकरः ॥ २१ ॥

अन्वयः—या सर्वतोमुखतया व्यवतिष्ठमाना, नैकविदारका या यादोरणैः (नैकविदारकाया या दोरणैः) जयति यस्याः परतः रोधः प्रतीतिविषयः न एतस्य सा भूरितरवारिनिधिः चमूः (जयति)।

(१) वरुण०—जो (सेना) सब ओर से जल से अवस्थित (जल-मयी, जलरूपा) है अनेक जलधारण के गढ्ढों—'कूपकों' से युक्त जो जलजं-तुओं से परिपूर्ण है और जिसका दूसरा छोर प्रतीत नहीं हो पाता, अथवा जिसका अन्य को अथवा वैरी को ज्ञान नहीं हो पाता, अथवा जिसके पर तीर पर जानेवाला नर अधः नीचे चला जाता है, इस (वरुण) की वह प्रचुर समुद्रशालिनी सेना (विजयनी) है।

(२) नल०—जो (सेना) सब से अथवा सब सेनाओं से प्रमुख होकर स्थित होती है (अथवा सब दिशाओं में उपस्थित रहती है) अनेक योद्धाओं से युक्त (अनेक को विदारक—नाश कारिणी) जो बाहुयुद्धों में जय प्राप्त करती है (अथवा जो 'अदोरणैः'—इसके युद्धों में अथवा सिंहनादों द्वारा जयिनी होती है) और जिसका शत्रु द्वारा रोका जाना प्रतीति योग्य नहीं है

(अथवा 'परतः प्रतीतिविषय नरः अध.' अन्य ओर से—शत्रुपक्ष से संमुख आने वाला नर-योद्धा, जिससे निम्न अर्थात् हीन हो जाता है), वह इस (नल) की भूरी तरवारियो (बहुत-सी तलवारो) की निधि (आगार) सेना विजय प्राप्त करती है।

टिप्पणी—वरुण की जलमयी सेना का ओर-छोर नहीं दीखता, स्ववेग से सर्वनाशी जल उसमे है, जिसमे पडने वाले का पता तक नही चलता। इसी प्रकार सबसे प्रमुख, श्रेष्ठ, सब ओर सचरणशील, मल्लो और कृपाणादि आयुधधारी सैनिको से ओत प्रोत नल की सेना है, जिसे सब ओर जय प्राप्त है। कोई उसका प्रतिरोध तक नही कर सकता ॥ २१ ॥

नासीरसीमनि घनध्वनिरस्य भूयान् कुम्भीरवान् समकरः सहदानवारिः।
उत्पद्मकाननसख सुखमातनोति रत्नैरलङ्करणभावमितैर्नदीनः ॥ २२ ॥

जीवातु—नासीरेति। नासीरसीमनि पुरोभागे, तटसमीपे इति यावत्, घनध्वनिः महाघोषः, मध्ये निस्तरङ्गत्वादिति भाव, भूयान् महान्, कुम्भीरवान् नक्रवान्, 'नक्रस्तु कुम्भीर.' इत्यमर, समकरो मकरसहित, दानवारिणा विष्णुना, क्षीरोदशायिनेति भाव, सह वर्तते इति सहदानवारि., 'वोपसर्जनस्य' इति सहशब्दस्य समासविकल्प, उत्पद्मकाननाभाम् उन्पद्मानाम् उदितपद्मानाम्, उत्फुल्लपद्मानामित्यर्थ, उत्शब्दोऽत्र उदयार्थक, काननाना विकसितपद्मवनानां, सखा विकसितपद्मवनसहित इत्यर्थ, 'राजाह सखिभ्यष्टच्' नदीनाम् इन पति नदीनः समुद्र., अलमत्यर्थं, करणमर्थम् उपकरणत्वम्, इतै. प्राप्तैः, रत्नै. श्रेष्ठवस्तुभि, 'रत्न स्वजातिश्रेष्ठेऽपि मणावपि नपुसकम्' इत्यमर, अस्य वरुणस्य, सुखम् आतनोति। अन्यत्र तु—घनस्य मेघस्येव, ध्वनि वृंहितं यस्य सः भूयाननेक. समकरः समानशुण्ड, ह्रस्वदीर्घस्थूलाणुरहितशुण्डः इत्यर्थ, सहदानवारि मदजलसहितः, उत्पद्मकस्य उद्भूतबिन्दुजालकस्य, आननस्य सखा तद्युक्तः, पद्मकालङ्कृतानन इत्यर्थ, 'पद्मक बिन्दुजालकम्' इत्यमरः, अलङ्करणभावम् इतैः अलङ्कारत्वं प्राप्तैः, रत्नै. मणिभि, न दीनो न शून्य', तद्युक्त इत्यर्थ, अस्य नलस्य, कुम्भी दन्ती, हस्ती इत्यर्थ, 'कुम्भी कलशदन्तिनो' इति वैजयन्ती, सुख यथा तथा नासीरसीमनि सेनामुखभागे, रवाम् वृंहणानि, आतनोति ॥ २२ ॥

अन्वयः—नासीरसीमनि घनध्वनिः भूयान् कुम्भीरवान् समकरः सहदानवारिः उत्पद्यकाननसखः अलङ्करणभावमितैः रत्नैः नदीनः अस्य कुम्भी सुखं रवान्) सुखम् आतनोति ।

हिन्दी—(१) वरुण०—नासीर की सीमा (जलसेना के अग्रभाग) में स्थित, मेघों के समान शब्द करने वाला (महाघोष), विशाल, नक्रपूर्ण (कुंभीलकों से युक्त), मकरों से भरा, दानवशत्रु (विष्णु) के सहित, खिले कमल-वनों से युक्त (अथवा उत्तम स्वपुत्री पद्मा अर्थात् लक्ष्मी और वन (जल) से युक्त), अलंकार भाव को प्राप्त (आभूषण बने) रत्नों से (उपलक्षित) नदीन (समुद्र) इस (वरुण) के सुख का विस्तार करता है।

(२) नल०—सेना के अग्र भाग में स्थित, मेघ के समान नाद करता, विशाल, सम (शारीरिक दृष्टि से सुगठित) सूँड़वाला, मदजल बहाता, उभरे बिन्दुओं से युक्त आनन (मस्तक) वाला, अलंकार रूप में सजे रत्नों से (रत्नालंकृत) दीन न लगता (संभृत) इस (नल) का कुम्भी (गज) सुख पूर्वक शब्द करता है (चिंघाड़ा करता है) ।

टिप्पणी—वरुण के नासीर में समुद्र है और नल के सेनाग्रभाग में गजराज । उपयुक्त शब्द योजना के माध्यम से दोनों का वर्णन है ॥२२॥

सस्यन्दनैः प्रवहणैः प्रतिकूलपातं का वाहिनी न तनुते पुनरस्य नाम ? ।
तस्या विलासवति ! कर्कशताश्रिता या ब्रूमः कथं बहुतया सिकता वयं ताः ? ॥

जीवातु— सस्यन्दनैरिति । विलासवति ! हे भैमि ! अस्य वरुणस्य सम्बन्धिनी, का पुनर्वाहिनी, नदी, सस्यन्दनैः स्रुतिसहितैः, अविच्छेदेन प्रवर्त्तनशीलैः इत्यर्थः, प्रवहणैः प्रवाहैः, तरङ्गैरिति यावत्, प्रतिकूलं कूले कूले, पातं, न तनुते नाम ? सर्वाऽपि कूलं पातयतीत्यर्थः । किञ्च तस्या वाहिन्याः सम्बन्धिन्यः, कर्कशतां कार्कश्यं, श्रिता याः सिकता वालुकाः, ता बहुतया अपरिमितत्वेन, वयं कथं ब्रूमः ? कथं सङ्ख्यातुं शक्नुमः इत्यर्थः । नैव शक्नुम इति भावः । अन्यत्र तु—सस्यन्दनैः सरथैः, प्रवहणैः कर्णीरथैः उपलक्षिता, 'कर्णीरथः प्रवहणम्' इत्यमरः, अस्य नलस्य, का वाहिनी सेना प्रतिकूलानां प्रत्यर्थिनां, पातं नाशं, न तनुते ? किञ्च कर्काणां श्वेताश्वानां, 'कर्कः कर्केतने वह्नौ शुक्लाश्वे दर्पणे घटे' इति मेदिनी, शतैः आश्रितायाः तस्या वाहिन्याः,

सा प्रसिद्धा, असिकता असि प्रहरणमेषामस्तीति असिका तेषां भावः असिकता तां खड्गिकत्वानि, 'प्रहरणम्' इतिठक् बहुतया वयं कथं ब्रूम ?।

अन्वय—विलासवति, अस्य नाम का पुनः वाहिनी सस्यन्दनै प्रवहणैः प्रतिकूलपातं न तनुते ? कर्कशताश्रिता या (कर्कशताश्रितायाः) तस्याः सिक्ता (आसिकता) वयं तां बहुतया कथं ब्रूमः ?

हिन्दी—वरुण०—हे विलास शालिनि (दमयन्ती), इस (वरुण) की कौन सी नदी वेगयुक्त (अथवा निर्झरजल सहित) प्रवाहों से कूल (तट) की ओर गमन नहीं करती (बहती) ? कर्कशता (कठोरता) की प्राप्त (अथवा सैकडों केंकडों की आश्रयीभूत) जो उस (नदी) की बालू है हम उसका प्रचुर होने कारण, वर्णन कैसे करें ?

(१) नल०—हे विलासमयी, इस (नल) की कौन-सी सेना रथों और श्रेष्ठ अश्वादि वाहनों से युक्त किस विरुद्ध शत्रु का नाश नहीं करती ? कर्कों (श्वेत अश्वों) के सैंकडे से युक्त उस (सेना) की आसिकता (असि अर्थात् कृपाणधारी सैनिकों की स्थिति) का हम, प्रचुरता के कारण कैसे वर्णन करें ?

टिप्पणी—वरुण कूलङ्कषा वेगवती नदियों का स्वामी है, जिनके विशाल बालुकामय तट हैं और नल शक्ति शालिनी सेना का स्वामी है, जिसमें प्रचुर रथ हैं अश्व हैं, कृपाणधारी योद्धा हैं, जो समस्त शत्रुओं का नाश कर डालती हैं। नारायण ने नल पक्ष में 'बहुतयासिकता' का 'बहून् तयन्त गच्छन्ति ता रक्षन्ति वा ये ते बहुतया ते च ते आसिकाश्च तेषां भावान्' विग्रह करके 'अनेकों के रक्षक कृपाणधारी' अर्थ भी किया है तथा 'प्रतिकूलपातम्' का अर्थ 'प्रतिगमन' (आक्रमण) भी। उनके अनुसार 'सवण काठारपा (सस्यन्दनै प्रवहणै) का अधिरोहण' कहकर सेना की निर्भयता सूचित की गयी है।

शोण पदप्रणयिन गुणमस्य पश्य किञ्चास्य सेवनपरैव सरस्वती मा ।
एन भजस्व सुभग भुवनाधिनाथ के वा भजन्ति तमिमा कमलाराधा न ? ॥

जीवातु—शोणमिति। अस्य वरुणस्य, पदप्रणयिन पादापसर्पिण, गुणं गुणिन, रक्तवर्णजलविशिष्टमित्यर्थः शोणं शोणाख्य नद, पश्य, किञ्च सा सरस्वती नदी, अपीति शेषः, अस्य वरुणस्य, सदनपरैव, नकतनदीनदनाय-

कोऽयम् इत्यर्थः, ततः कारणात् भुवनाधिनाथं जलाधिपतिं 'सलिलं कमलं जलम् । पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम् ॥' इत्यमरः, सुभगम् एनं वरुणं, भजस्व समाश्रय, तमिमं सुभगं वरुणं, के वा कमलाशया जलाधाराः, न भजन्ति ? अपि तु सर्वेऽपि भजन्तीत्यर्थः, अथवा–के वा प्राणिनः, कमलाशया जलाकाङ्क्षया, न भजन्ति ? अन्यत्र तु–अस्य नलस्य, पदप्रणयिनं पादतलगतं, शोणं रक्तं, गुणं पश्य, साम्यलक्षणत्वादिति भावः; किञ्च सा सरस्वती वाग्देवता, 'सरस्वती सरिद्भेदे गोवाग्देवतयोर्गिरि' इति विश्वः, अस्यैव नलस्यैव, सेवनपरा लक्ष्मीसरस्वत्योरयमेकाधिकरणमिति भावः; ततो भुवनाधिनाथं लोकनाथं, नराधिपमित्यर्थः, 'भुवनं विष्टपे लोके सलिले पथि यद्यपि' इति विश्वः, सुभगं सुन्दरम्, एनं नलं, भजस्व समाश्रय, के वा जनास्तमिमं नलं, कमलाशया लक्ष्म्याकाङ्क्षया, धनाकाङ्क्षयेत्यर्थः, 'कमला श्रीर्जलं पद्मः कमरु' कमला मृग.' इति विश्वः, न भजन्ति ? ॥ २४ ॥

अन्वयः—अस्य पदप्रणयिनं गुणं शोणं पश्य, किं च सा सरस्वती अस्य एव सेवनपरा; भुवनाधिनाथं सुभगम् एनं भजस्व, तम् इमं के वा कमलशया (कमलाशया) न भजन्ति ?

हिन्दी—(१) वरुण०—इस (वरुण) के चरणानुरागी (चरणों में बहते), गुणी (अथवा गौण–सामान्य) शोण (शोण नामक नद) को देखो, वह (प्रसिद्ध) सरस्वती (नदी) भी इस (वरुण) की सेवा में तत्पर है। भुवन (जल) के अधिस्वामी, ऐश्वर्यशाली इस (वरुण) का (तुम दमयन्ती) वरण करो, अथवा उस इस (श्रेष्ठ वरुण) की कौन से जलाशय स्तुति-सेवा नहीं करते हैं ?

(२) नल०—इस के चरण के अनुरागी गुण लालिमा को देखो, और वह (प्रसिद्ध) वाग्देवी सरस्वती (सकलशास्त्र-पारंगत होनेके कारण) इस (नल) के चित्तमध्य स्थित ही है। जगत् के पति इस सुन्दर ऐश्वर्यवान् का वरण करो; कमला (सम्पत्ति) की आशा से कौन इसकी सेवा नहीं करते हैं ?

टिप्पणी—वरुण समस्त जलाशयों—सर, नद, नदी, समुद्रों—का अधिपति है। शोणनद, सरस्वती नदी, सकल समुद्र इसके अनुचर हैं और ऐश्वर्यशाली विदर्भनरेश सरस्वती और लक्ष्मी—दोनों का एक समान कृपापात्र है। इससे अधिक पात्रता और किसमें प्राप्त होगी ? ॥ २४ ॥

शङ्कालतातितमनेकनलावलम्बा वाणी न वर्द्धयतु तावदभेदिकेयम् ।
भीमोद्भवां प्रति नले च जलेश्वरे च तुल्यं तथाऽपि यदवर्द्धयदत्र चित्रम् ॥

जीवातु – शङ्केति । जलेश्वरे वरुणे च, नले च तुल्यं यथा तथा प्रयुक्तेति शेषः, अत एव भीमोद्भवां भैमीं प्रति, अभेदिका अविशेषा, अन्यतरार्थापरिच्छेदिका इति यावत्, इयं वाणी सरस्वतीवाक् अनेक पञ्च, नला नैषधाः, पोटगलाख्या तृणविशेषाश्च, अवलम्बो विषय आधारश्च यस्याः तादृशी, 'नलः पोटगले राज्ञि' इति विश्वः शङ्का एव लताः तासां ततिं परम्परां न वर्द्धयतु तावत् न छिनत्तु एव, समानधर्मदर्शनात् संशयो भवत्येव अत समानाधिका वाणी एषु क तरयनल इति भैम्या संशयं कथं छिनत्तु इत्यत्र न चित्रमिति भावः, 'वृधु च्छेदनपूरणयो'रिति चौरादिकाल्लोट्, किन्तु तथाऽपि अवर्द्धयत् अच्छिनदिति यत् तदत्र चित्रं, छेदनार्थत्वे या न छेदिका सैव अच्छिनत् इति विरोधात् चित्रं, वर्द्धयामास इति वृद्धयर्थत्वे स्वविरोध इति विरोधाभासोऽलङ्कारः । 'वृधु वर्द्धने' इति भौवादिकात् णिच्, नलाख्यतृणमिव लताततिमिवानेकनलावलम्बिनीम् अयं नलो वेति सन्देहततिम् इयं वाणी नैवाच्छिनत् प्रत्युत वृद्धिं आपयदेवेत्यहो कष्टम् इत्यर्थः ॥ २५ ॥

अन्वय – भीमोद्भवां प्रति इयं अभेदिका वाणी अनेकनलावलम्बा शङ्कालताततिं तावत् न वर्द्धयतु (नवर्द्धयतु), तथापि नले च जलेश्वरे च यत् तुल्यम् अवर्द्धयत्—अत्र चित्रम् ।

हिन्दी—भीमसुता (दमयन्ती) को लक्ष्य करके प्रयुक्त यह अभेदपरक (अविशिष्ट) वाणी अनेक (पाँच) नलों से सम्बद्ध शंका रूपी बेल की परम्परा न बढ़ाये—यह सम्भव नहीं (अथवा नव ऋद्धि प्राप्त कराये अर्थात् बढ़ाये), तथापि इसने नल और जलाधिपति (वरुण) में जो एक समय ही शंका लता का विस्तार किया—यह आश्चर्य जनक है ।

टिप्पणी—'वृधु' धातु के दो अर्थ हैं—छेदन और पूरण—'वृधुच्छेदनपूरणयो' । इस अनेकार्थ को आधार बना कर कहा गया है कि सरस्वती ने नलवरुण के परिचय में जो वाणी कही, वह 'अभेदिका' थी, भेद अर्थात् छेदन न करने वाली । उसमें छेदन की सम्भावना नहीं थी, वह 'न वर्द्धयतु' अर्थात् संशयरूपिणी लता का छेदन न करती, इसमें आश्चर्य की बात नहीं थी, किन्तु

उस अभेदिका (अच्छेदिका) वाणी ने नल वरुण दोनों एक साथ 'वर्द्धन' (छेदन) कर दिया, यह विरोध है, अतएव आश्चर्य जनक है। 'वर्द्धन' का अन्यार्थ 'पूरण' (वृद्धि) मान लेने से इस विरोध, अतएव आश्चर्य, का परिहार हो जाता है। इस प्रकार मल्लिनाथ के अनुसार विरोधाभास अलंकार है। जैसे फैलकर नल नाम की घास-बेल अनेक पर चढ़ जाती है, वैसे ही वर्ण्य व्यक्ति नल है या अन्य कोई—इस संदेह की लता का छेदन न करके सरस्वती की वाणी ने उसका वर्द्धन ही किया—यह खेद और कष्ट का विषय है।

'प्रकाश'—कार ने इसका विस्तृत विवेचन किया है। वाणी थी अभेदिका अर्थात् विशेष-प्रतिपादन करती हुई। उससे विशिष्टधर्म का दर्शन न होने के कारण संशय बढ़ा। इसमें कोई आश्चर्य नहीं, तथापि जो नल और वरुण—दोनों में एक ही समय शंकावल्लीतति की वृद्धि हुई—यह आश्चर्य है। 'विषय' में संदेह उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि दूर खड़े पुरुष को देखकर उसे पुरुष अथवा स्थाणु ठीक ठीक न समझने से, केवल ऊँचाई मात्र समानता को पाकर तटस्थ व्यक्ति संदेह में पड़ जाता है कि यह स्थाणु है या पुरुष? स्वयं पुरुष अपनी ऊर्ध्वता को देखकर इस संदेह में नहीं पड़ता कि वह पुरुष है या स्थाणु? इसलिए नल-वरुण विषयक दमयन्ती का संदेह तो ठीक है, स्वयं विषयभूत नल-जलेश्वर के संदेह में पड़ जाने पर बड़ा आश्चर्य है। यह विरोध है, इसका परिहार होता है इस प्रकार—'तुल्यकालं यथाक्रमं नले शं सुखं जलेश्वरे कालतातति कालिमातिशयं पूरयतिस्म।' शम् + कालतातितम्। अर्थात् एक समय ही नल में शम् (सुख) बढ़ा और वरुण में कालिमा की वृद्धि हुई। यह कालिमातिशय—कालतातति अनेक-नलावलम्बा भी है, क्योंकि वहाँ चारमिथ्या नल थे। एक समय नल में सुख बढ़ा कि उसने सोचा कि यदि देवी ने वर्ण्य देव को नल ही कह दिया होता तो मुझ नल में अनुरक्ता दमयन्ती मेरे भ्रम से अन्य देव को नल समझ कर वर लेती; पर देवी ने ऐसा नहीं किया। वाणी देव बोधिका भी है, नल-बोधिका भी। वरुण तथा अन्य देवों की कालिमा इसलिए बढ़ी कि यदि देवी ने मिथ्या नलों का नलनिश्चयपरक ही वर्णन कर दिया होता तो नल-

भ्रम से ही सही, दमयन्ती देव का वरण तो कर लेतीं, पर देवी ने ऐसा नहीं किया। कार्य सिद्ध न हुआ। अथवा—नल को संशय बटा कि कहीं उसके सदेह से दमयन्ती देव-वरण न करले, देव को यह 'भरम' बढा कि चलो नल संशय से उसे ही दमयन्ती वर लेगी। देव को यह भी लगा कि इस श्लिष्ट वर्णन से वास्तविकता जान दमयन्ती देव त्याग कर सकती है। काटने में असमर्थ जो छुरी आदि हैं, वह अनेक नल (तृणविशेष) का अवलम्बन करती वेल को नहीं काट रही, इसमें आश्चर्य नहीं है, किन्तु उसने 'वर्द्धन' (छेदन) कर दिया भैमी की नल और देव के सम्बन्ध म उत्पन्न शङ्कालतातति का—यह आश्चर्य है। नल का भ्रम था कि उसके सदेह से भैमी देव वरण कर लेगी। देव को भ्रम था कि नल-सदेह से उसे वर लेगी। नल का भ्रमनाश हुआ कि देववाचक शब्दों के होने से भैमी देव-वरण न करेगी, क्योंकि उसे श्लेष-वक्रोक्ति का सम्यक् ज्ञान है। देव का भ्रमनाश हुआ कि देव-प्रतिपादक शब्द होने से नलानुरक्ता दमयन्ती देववरण न करेगी। तो अभेदिका वाणी का यह भेद स्पष्ट करना आश्चर्यजनक है। देव ने सोचा कि देवी ने उसका नामत. वर्णन कर दिया, अब सदेह नहीं है। भैमी भेद खुलजाने से उसका वरण नहीं करेगी। देव सदेह कट गया। नल का सदेह मिटा कि सब (मिथ्यानलों) का वर्णन हो चुका। दमयन्ती ने किसी का वरण नहीं किया, अब वह सत्यनल ही बचा है। अनुरक्ता दमयन्ती उसी का वरण करगी अभेदिका ने भेद कर दिया—यह आश्चर्य है ॥ २५ ॥

बाला विलोक्य विबुधैरपि मायिभिस्तैरच्छायितामियमलीकनलीकृतस्वैः।
आह स्म ता भगवती निषधाधिराजं निर्दिश्य राजपरिषत्परिशेषभाजम् ॥२६॥

जीवातु—बालामिति। अथेयं भगवती सरस्वती, ता बाला भैमी, मायिभिर्मायाविभि, 'व्रीह्यादिभ्यश्च' इति इनि.' अत एवालीकनलीकृतानि मायानलीकृतानि, स्वानि आत्मनो यैस्तादृशै, तै विबुधै देवैरपि, अच्छायिताम् अप्रतारिता, नल्बुद्धया तेषामवरणादिति भाव, छायशब्दात् 'तत्करोति'—इति ण्यन्तात् कर्मणि क्त, विलोक्य राजपरिषदि राजसभायां, परिशेषभाजम् अवशिष्टतां गत, निषधाधिराज नल, निर्दिश्य हस्तेन प्रदर्श्य, आह स्म उवाच। 'परिशेष' इत्यत्र 'परिवेष' इति पाठे तु—राजपरिषद परि सर्वतोभावेन,

वेषमलङ्कारं, भजतीति तादृशं राजसभालङ्कारभूतमित्यर्थः। राजपरिषद्रूपपरिधिभाजमित्यर्थस्यापि बोधनात् नलस्य चन्द्रत्वं ध्वन्यते ॥ २६ ॥

अन्वयः—अलीकनलीकृतस्वैः मायिभिः तैः विबुधैः अपि अच्छद्मितां तां बालां विलोक्य राजपरिषत्परिशेषभाजं निषधाधिराजं निर्दिश्य भगवती ताम् आह स्म।

हिन्दी—अपने को मिथ्यानल बनाये मायावी उन देवों से भी अप्रतारित (न धोखे में पड़ी) उस बाला (अबोध दमयन्ती) को देखकर राज-सभा में अवशिष्ट निषधाधिपति (नल) का निर्देश करके भगवती उस (दमयन्ती) से बोली।

टिप्पणी—दमयन्ती थी बाला—सीधी बालिका, किन्तु मायावी देव भी उसे धोखा न दे पाये। कदाचित् यह दृढानुराग का ही परिणाम था कि इतने चालाक मायावी भी बालिका को न ठग पाये। चतुर्थ चरण में 'परिशेष' के स्थान पर 'परिवेष' पाठांतर भी है। भाव हुआ राजपरिषद् का परिवेष अर्थात् अलंकार अर्थात् राज सभा का आभूषण स्वरूप। 'परिवेष' अर्थात् परिधि। राजपरिषद् रूप परिधिभाक् कहने से राजसभालंकार नल का चन्द्रत्व ध्वनित हुआ। नारायण और मल्लिनाथ दोनों की यह मान्यता है।

अत्याजिलब्धविजयप्रसवस्त्वया किं विज्ञायते रुचिपदं न महीमहेन्द्रः?।
प्रत्यर्थिदानवशताऽऽहितचेष्टयाऽसौ जीमूतवाहनधियं न करोति कस्य?॥

जीवातु—अथ नलमेकैकश्लोकेन क्रमात् इन्द्रायेकैकरूपेणाह, अत्याजीति। अत्याजिषु महायुद्धेषु, लब्धो विजयप्रभावो जयरूपफलं येन सः, रुचिपदं त्वदनुरागास्पदं, महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः, त्वया किं न विज्ञायते? अर्थिषु विषये प्रत्यर्थि, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः, दानस्य वशतया तन्निष्ठतया आहितया कृतया चेष्टया वितरणव्यापारेण, असौ नलः, कस्य जीमूतवाहनः तन्नामा महात्यागी कश्चित् विद्याधरराजः; तद्धियं तद्बुद्धिं, जीमूतवाहनभ्रान्तिमित्यर्थः, न करोति? न जनयति? तस्मात् नलोऽयमिति भावः। अन्यत्र तु लब्धो विजयः पार्थ एव, 'विजयस्तु जये पार्थे' इति विश्वः, प्रसवोऽपत्यं येन सः, रुचीनां तेजसां, पदं स्थानं, मह उत्सवः तद्वान् मही नित्योत्सव इत्यर्थः, महेन्द्रः देवेन्द्रः, त्वया

अत्याजि त्यक्त', किं न विज्ञायते ? अपि तु विज्ञेय एव; प्रत्यर्थिना प्रतिपक्षाणा, दानवाना शतेषु आहितया कृतया, चेष्टया शत्रुनाशानुकूलपौरुषेण, असौ कस्य जीमूतवाहनः मेघवाहन, इन्द्र- इत्यर्थ', 'इन्द्रो मरुत्वान् मघवा, तुराषाण्मेघवाहनः' इत्यमरः, तद्धियम् इन्द्रोऽयमिति बुद्धिं; न करोति ? अपि तु करोत्येव ॥ २७ ॥

अन्वय—अत्याजिलब्धविजयप्रसव रुचिपद महीमहेन्द्रः त्वया किं न विज्ञायते ? प्रत्यर्थिदानवशताहितचेष्टया असौ कस्य जीमूतवाहनधियं न करोति ?

हिन्दी—(१) नल०—महायुद्धो मे (अतिशय) जयरूप फल प्राप्त करनेवाला, अनुराग का आस्पद पृथ्वी का इन्द्र तेरे द्वारा क्या नही जान लिया जाता ? प्रत्येक याचक के प्रति दानशीलता के कारण उसके अभीष्ट-सम्पादन के प्रयत्न से यह (महीमहेन्द्र नल) किस व्यक्ति को (अपने) जीमूतवाहन होने की बुद्धि नही उत्पन्न कर देता है ?

(२) इन्द्र०—महान् युद्धों के जयी विजय (जयत अथवा अर्जुन) नामक पुत्रवान्, तेजस्वी, मही (उत्सवप्रिय) महेन्द्र (देवराज) तेरे द्वारा क्या नही जाना जाता ? शत्रुओं (दानवो) के सैकडो (अनेक शत्रु दानवों) के अकल्याण के प्रयत्न द्वारा यह (महेन्द्र) किस व्यक्ति मे मेघवाहन (इन्द्र) की बुद्धि नही कर देता ?

टिप्पणी—जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है, इस श्लोक से ३१ वें श्लोक तक नल को प्राथमिकता दी गयी है। नल महान् वीर है, संग्रामों का जेता, पृथ्वी के इन्द्र-समान और दमयन्ती का अनुरागपात्र। वह महान् दान वीर, जितेन्द्रिय होने के कारण श्रीहर्षदेव (छठी शती के कान्यकुब्ज नरेश) द्वारा रचित 'नागानन्द' नाटक के नायक जीमूतवाहन (विद्याधराधिप जीमूतकेतु के पुत्र) के समान है। जीमूतवाहन ने नाग शखचूड की गरुड से प्राणरक्षा के निमित्त स्वदेहार्पण कर दिया था। प्रकाशकार ने प्रथम विशेषण का 'प्रत्यर्थिनो वैरिणो घ्नन्ति प्रत्यर्थिघ्ना अतः प्राणा. येषा ते अतिशूराः ते यदा अधीना यस्य तस्य भावस्तत्ता तया कृत्वा कृता या चेष्टा तया' विग्रह करके व्याख्या की है अर्थात् शत्रुओं के प्राणनाशक महावीर

इसके अधीन हैं, जिनसे वह शत्रुओं को वश करता है। भाव यह नल इन्द्र के समान शत्रु-वशकर्त्ता है।

इन्द्र पक्ष में अन्य प्रकार से पदच्छेद और अन्वय करके अन्यार्थ भी किया गया है। महेन्द्रः त्वया किम् अत्याजि ? (इन्द्र का तूने क्यों त्याग किया ?)। न विज्ञायते अर्थात् क्या विद्वान् के समान आचरण नहीं करता—विज्ञ इवाचरति सः न ? विज्ञायते + अरुचिपदम् अर्थात् क्या यह अनुराग का पात्र नहीं है, अथवा कांतिमान् नहीं लगता ? महीं न अर्थात् क्या उत्सवप्रिय नहीं है ? अर्थात् विद्वान् है, कांतिमान् है, उत्सवप्रिय है। फिर क्यों त्याग किया ? काकु न मान कर इसका कारण स्पष्ट हो जाता है—इन्द्र विज्ञाचारी नहीं, कांतिमान् नहीं, अनुराग का पात्र नहीं, उत्सवप्रिय नहीं। इसके अतिरिक्त 'लब्धो विना पक्षिणा गरुडेनामृतहरणसमये जयस्य प्रभवः (प्रसरः) यस्य सः, अर्थात् वि (पक्षी गरुड़) ने अमृताहरण समय इस इन्द्र को पराजित कर दिया था। (नागानन्द में यह पौराणिक कथा भी बतायी गयी है कि माता विनता की दासीपद से मुक्ति के लिए इन्द्र को पराजित कर अमृत लिया था)। सदा दैत्यों के भय से उत्सवों को छोड़ उदासीन रहने वाले, अरुचि-स्थान इन्द्र को दमयन्ती ने पहिचान लिया था।। २७ ॥

येनामुना बहुविगाढसुरेश्वराध्वराज्याभिषेकविकसन्महसा बभूवे ।
आवर्जनं तमनु ते ननु साधु नामग्राहं मया नलमुदीरितमेवमत्र ॥ २८ ॥

जीवातु—येनेति। येनामुना नलेन, बहु यथा तथा, विगाढः क्षुण्णः, आचरित इत्यर्थः, सुरेश्वरस्य इन्द्रस्य, अध्वालोकपालनरूपमार्गो यत्र तादृशे राज्ये अभिषेकादिकसन्ति वर्धितानि, महांस्युत्सवाः तेजांसि वा यस्य तादृशेन, बभूवे भूतम्। अत्र सभायां, मया नामग्राहं नाम गृहीत्वा, 'नाम्न्यादिशिग्रहोः' इति णमुल्-प्रत्ययः, एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, उदीरितम् उक्तं, नलं नलनामानं, तमेतम्, अनु लक्ष्यीकृत्य, ते तव, आवर्जनमाकर्षणं, साधु ननु युक्तं खलु, अयमेव सद्यो नल एतद्वरणं युक्तमेवेत्यर्थः। अन्यत्र तु—येनामुना अग्निना, बहु वारं वारं, विगाढा आहूताः इति यावत्; सुरेश्वराः इन्द्रादयो देवश्रेष्ठाः येषु तादृशेषु अध्वरेषु यज्ञेषु, आज्यानां-घृतानाम्, अभिषेकात् अन्तःसेकात् करणात्,

विक्रसन्महसा वर्द्धमानतेजसा, बभूवे । मया अनलम् अग्निम्, अन्यत् समानम् ।

अन्वयः—येन अमुना बहुविगाढसुरेश्वराध्वराज्याभिषेकविकसन्महसा बभूवे, ननु अत्र नामग्राहं गृहीत्वा एव मया उदीरितं तम् नलम् (अनलम्) अनु ते आवर्जनं साधु ।

हिन्दी—नल०—जो यह (नल) अतिशयता के साथ देवराज (इन्द्र) के (त्रिलोकी परिपालन रूप) मार्ग का सेवन और राज्याभिषेक के कारण विकसित तेजोमय हुआ है, निश्चयतः यहाँ (सभामध्य अथवा प्राणी के मध्य) नाम लेकर पूर्वोक्त प्रकार से मुझ (सरस्वती) द्वारा वर्णित उस नल का उद्देश करके तेरा (दमयन्ती का) पतिरूप में वरण शुभ है ।

(२) अग्नि०—यह जो (अग्नि) अनेक बार सुरराज के अध्वर (यज्ञ) में आज्याभिषेक (घृतस्नान) के कारण विकसित तेजयुक्त हुआ है, निश्चयतः यहाँ नाम लेकर पूर्वोक्त प्रकार से मेरे द्वारा कथित उस अनल (अग्न) का पतिरूप में वरण युक्त होगा । (अथवा काकु के प्रयोग से 'क्या पतिरूप में वरण युक्त होगा ? नहीं होगा') ।

टिप्पणी—इस श्लोक में चातुरीपूर्ण पदयोजना द्वारा नल और अनल—दोनों का नामोल्लेख पूर्वक वर्णन कर दिया गया । 'मया नलम् उदीरितम्' —मैंने नल का वर्णन कर दिया, जो सुरेश्वर इन्द्र के समान त्रिलोकी का परिपालनकर्त्ता और महान् तेजस्वी है । 'मया अनलम् उदीरितम्'—मैंने अनल का नामतः कथन कर दिया । यह तेजस्वी है, इसका वरण शुभ होगा । अथवा यह अग्नि सदा दूसरे का अन्न खाकर तेजस्वी बना है—परान्नभोजी है, यह इसका आसमन्तात् वर्जनम्—पूर्णतः निषेध शुभ होगा । यह तो 'अनल' अर्थात् नलभिन्न है । इसका वरण साधु न होगा । निषेधार्थ में ननु का प्रकाशकार ने न+नु पदच्छेद किया है—निश्चयतः आ+वर्जन क्या साधु न होगा ? होगा ही । अथवा आवर्जन (सम्पूर्णतः स्वीकार) निश्चयतः साधु नहीं होगा ॥ २८ ॥

यच्चाण्डमारणविधिव्यसनं च तस्य बुद्ध्वाऽऽश्रयाश्रितममुष्य च दक्षिणात्वम् ।
तथा नल सहजरागभरादमुष्मिन् नाभ्यानमर्पयितुमर्हसि धर्मराज ? ॥२९॥

जीवातु—यदिति । अमुष्य नलस्य, चण्डस्य भावः चण्डिमा रणेषु अतिकोपनत्वं, 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः, पृथ्वादित्यादिमनिच्-प्रत्ययः, रणविधौ युद्धकर्मणि, व्यसनमासक्तिश्च, 'व्यसनन्त्वशुभे सक्तौ' इति विश्वः, आशयाश्रितं चित्ताश्रितं, दक्षिणत्वं दाक्षिण्यञ्च, इति यत् तत् सर्वं चण्डिमादिकं, 'नपुंसकमनपुंसकेन' इत्यादिना यत्तदिति नपुंसकैकनिर्देशः, बुद्ध्वा विनार्य, सैषा त्वम् अमुष्मिन् धर्मप्रधानो राजा तस्मिन् धर्मराजे, नले नलनामनि वीरे, सहजरागभरात् अकृत्रिमानुरागातिरेकात्, आत्मानम् अर्पयितुं न अर्हसि ? किमिति शेषः, अपि तु अर्हस्येव, एतद्वरणमेव तत्र योग्यमिति भावः । अन्यत्र तु—चण्डि ! हे कोपने !, गौरादित्वात् ङीप्; अमुष्य यमस्य, यत् मारणविधिव्यसनं मारणकर्मासक्तिम्, आशया दिशा निमित्तेन, श्रितं प्राप्तं, दक्षिणत्वं दक्षिणदिक्पतित्वञ्च, तत् सर्वं तत्त्वं यथार्थं, बुद्ध्वा सैषा त्वम्, अनले नलात् अन्यस्मिन्, अमुष्मिन् धर्मराजे यमे, इत्यादि पूर्ववत् ॥ २९ ॥

अन्वयः—(१) नल०—अमुष्य यच्चण्डिमारणविधिव्यसनम् आशयाश्रितं दक्षिणत्वं च तत् च बुद्ध्वा सा एषा त्वं धर्मराजे अमुष्मिन् नले सहजरागभरात् आत्मानम् अर्पयितुम् अर्हसि ।

हिन्दी—जिसकी प्रचंडता युद्धविधान में व्यसन है (अर्थात् युद्ध में क्रूरतापूर्वक रिपुसंहार जिसका व्यसन है) और जिसके मन में दक्षिणता (उदारता, सरलता) है, उस सबको समझ कर वह यह तू (दमयन्ती), धर्मचारी राजा इस नल के प्रति अकृत्रिम अनुराग-बाहुल्य के साथ अपने को अर्पित कर सकती है।।

(२) यम०—चण्डि, यत् च अमुष्य मारणविधिव्यसनम् आशया च दक्षिणत्वम् आश्रितं तत् बुद्ध्वा सा एषा त्वम् अनले धर्मराजे अमुष्मिन् सहजरागभरात् आत्मानम् अर्पयितुम् अर्हसि (अथवा आत्मानम् अर्पयितुम् न अर्हसि) ।

हे कोपनशीले (दमयन्ती), यह जो इसका प्राणहरण करना व्यसन है और दिशारूप से जिसने दक्षिण भाव का आश्रय लिया हुआ है (अर्थात् दक्षिण दिशा का निवासी है), उसे समझ कर वह तू दमयन्ती नल-भिन्न इस धर्मराज (यम) को सहजरागभर अपने को अर्पित कर (अथवा यह सब समझ कर अपना समर्पण न कर) ।

टिप्पणी—नल शत्रुहन्ता वीर है, उदार है, दक्षिण अनुकूल नायक हैं और उस पर दमयन्ती का सहज अनुराग भी है अतः इस धर्माचारी राजा का वरण सर्वथा उचित होगा। धर्मराज यमपक्ष में विधि और निषेध—दोनों का संकेत है। अमुष्मिन्+आत्मानम् भी, अमुष्मिन+न+आत्मानम संधि-विच्छेद भी। यमराज सबके प्राणों के स्वामी हैं, दक्षिणदिशा के लोकपाल हैं, अतः वरणीय हैं, सब के प्राणनाशक हैं, दक्षिणाशयाश्रित हैं, किन्तु सरल-उदार नहीं, केवल दक्षिणदिशा के स्वामी, छद्मस सरल-दीखते, वस्तुत अत्यन्त क्रूर हैं, अतः हे चण्डि दमयन्ती, तेरा असहजरागभर (सैया+अनले+असहजरागभराद्) से—सहज अनुराग न होने से इस धर्मराज को स्वार्पण उचित न होगा ॥ २९ ॥

किं ते तथा मतिरमुष्य यथाऽऽशय स्यात्स्वत्पाणिपीडनविनिर्मितयेऽनपाशः ॥
कान्मानवानवति नो भुवन चरिष्णुर्नामावमुत्र न रता भवतीति युक्तम् ?

जीवातु—किमिति। हे वत्से! स्वत्पाणिपीडनविनिर्मितये तव पाणिग्रहण-करणाय, अमुष्य नलस्य, आशयोऽभिप्राय, यथा अपाश अप्गतपाशो न भव-तीत्यनपाश साभिलाष, ते तव, मतिरपि तथा अनपाशा, स्यात् किम्? साभिलाषा चेत् तत् युक्तमित्यर्थः। असौ नल, भुवन लोकम्, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, चरिष्णु गन्ता कान् मानवान् मनुष्यान्, नो अवति? न रक्षति? अपि तु सर्वानेव रक्षति इत्यर्थः, भवती त्वम्, अमुत्र अमुष्मिन नले, रता अनुरक्ता, न इति न युक्तम्, ईदृशे पुरुषे सर्वदा त्वया अभिरन्तव्यमिति भाव। अन्यत्र—अमुष्य वरुणस्य सम्बन्धी आशय पाशि, स्वत्पाणिपीडनविनिर्मितये नास्ति पाशो यस्येति अपाश पाशास्त्रशून्य, यथा स्यात तथा ते मति किम्? पाशास्त्र त्यक्त्वा स्वत्पाणिग्रहण किं तेऽभिमतम्? इत्यर्थः। मानवान् समुन्नतचित्त, 'मानश्चित्तसमुन्नति' इत्यमर, असौ वरुण, भुवन जल, 'सलिल कमल जल जीवन भुवन वनम्' इत्यमर, चरिष्णु जलरूपेण सञ्चरन्, कान् नो अवति? जलस्यैव सर्वेषां जीवनस्वरूपत्वादिति भाव, अमुत्र वरुणे नरता नररत्व, न भवति नास्ति, इति युक्त, तस्य देवत्वादिति भाव ॥ ३० ॥

अन्वय—(१) नल०—अमुष्य आशय (यथा) स्वत्पाणिपीडनविनिर्मितये यथा अनपाश स्यात् किं ते तथा बुद्धि? असौ भुवन चरिष्णुन् कान्

मानवान् नो अवति ? भवती अमुत्र न रता इति न युक्तम् । (असौ ना अमुत्र भवती न रता, इति युक्तम् न, अथवा असौ ना, अत्र नरता भवति, इति युक्तम् ।)

हिन्दी—इस (नल) का आशय तेरे (दमयन्ती के) साथ विवाह हो जाने की आशा से जिस प्रकार परिपूर्ण (साभिलाष) हो जाय, क्या तेरी ऐसी बुद्धि है ? (अर्थात् क्या तू ऐसा करेगी कि यह नल तेरा वरण कर ले ?) यह (नल) संसार में विचरते किन मानवों की रक्षा नहीं करता, अपितु सब की करता है । (अथवा यह मानवान् (मानी) नल सब प्राणियों की रक्षा करता है) । तुम (दमयन्ती) इसके प्रति अनुरक्त नहीं हो, यह उचित नहीं है । (अथवा, यह नल ही सच्चा 'ना' अर्थात् पुरुष है, इसमें तुम अनुरक्त नहीं हो, यह ठीक नहीं है; अथवा यह (नल) पुरुष है, इसमें पुरुषत्व है—अन्यों में नहीं; यह ठीक है । .

(२) वरुण०—इस (वरुण) का 'शय' (हाथ) तेरे पाणिग्रहण के निमित्त पाश से रहित रहे, क्या तेरा ऐसा विचार है (वरुण पाश छोड़ कर दमयन्ती का पाणिग्रहण करे, क्या उसका ऐसा विचार है) ? यह (वरुण) भुवन अर्थात् जल में संचरण करते किन मानवों की रक्षा नहीं करता ? इसमें तुम अनुरक्त नहीं हो, यह उचित नहीं है । (अथवा इस वरुण में 'नरता' (मनुष्यत्व) नहीं है, यह ठीक ही है । अथवा यह 'ना' (मनुष्य) नहीं है, इसमें अननुरक्तता उचित ही है । अथवा इसमें 'नानुरक्ता' (न अनुरक्त) हो, यह उचित ही है) ।

टिप्पणी—विशिष्ट पद-योजना द्वारा नल और वरुण–दोनों का वर्णन है । नल के विशिष्ट गुणों का संकेत करके उसका दमयन्ती द्वारा वरण उचित बताया गया है, जब कि वरुण के वरण में विधि और निषेध–दोनों का संकेत है । 'नरता' का अर्थ 'नलता' भी हो सकता है—'रलयोरभेदः' ॥ ३० ॥

श्लोकादिह प्रथमतो हरिणा द्वितीयाद् धूमध्वजेन शमनेन समं तृतीयात् ।
तुर्यान्नलस्य वरुणेन समानभाव सा जानती पुनरवादि तया विमुग्धा ॥

जीवातु—श्लोकादिति । इह श्लोकचतुष्टये, प्रथमतः प्रथमात्, श्लोकात् हरिणा इन्द्रेण समं, द्वितीयात् श्लोकात्, धूमध्वजेन अग्निना समं, तृतीयात्

श्लोकात्, शमनेन यमन सम, तुर्यात् चतुर्थश्लोकात्, 'चतुरच्छयतावाद्यक्षर-लोपश्च' इति साधु, वरुणेन सम नलस्य समानभाव सारूप्य, जानती अवगच्छन्ती, अत एव विमुग्धा विमूढा, सा भैमी, तया देव्या, पुन अवादि उदिता, वदे कर्मणि लुङ् ॥ ३१ ॥

अन्वय —इह प्रथमत श्लोकात् हरिणा सम, द्वितीयात् धूमध्वजेन, तृतीयात् शमनेन, तुर्यात् वरुणेन नलस्य समानभाव जानती विमुग्धा सा तया पुन अवादि ।

हिन्दी—यहाँ (पूर्वोक्त 'मत्याजि' २७, 'येनाऽमुना २ , 'यच्चण्डि' २९ और 'कि ते' ३० इन चार श्लोकों मे) प्रथम श्लोक से इन्द्र के साथ, द्वितीय से धूमध्वज (अग्नि) के साथ, तृतीय स यम के साथ और चतुर्थ से वरुण के साथ समान-रूपता समझने के कारण विशेषतया भ्रम मे पडी—विमूढ उस (दमयन्ती) से पुन वे (सरस्वती) बोली ।

टिप्पणी—समानार्थ द्योतक होने के कारण देवी का विवरण दमयन्ती स्पष्ट न समझ सकी और वह पूर्णतया भ्रान्ति मे पडी रही । कौन सा है उसका प्रिय नल ? किंकर्तव्यविमूढ दमयन्ती से भगवती सरस्वती ने पुन कहा ।

त्व यार्थिनी किल नलेन शुभाय तस्याः क्व स्यान्निजार्पणममुत्र चतुष्टये ते ? ।
इन्द्रानलार्यमनतूजपयःपतीना प्राप्यैकरूप्यमिह ससदि दीप्यमाने ॥ ३२ ॥

जीवातु—अथ पुनर्देवी देवेषु दाक्षिण्यात् दमयन्तीं श्लेषभङ्ग्यन्तरेण विज्ञापयति, श्लोकद्वयेन त्वमित्यादि । या त्व नलेन निमित्तेन, अर्थिनी अर्थवती, किल, 'अर्थाच्चासन्निहिते' इति इनिप्रत्यय, तस्यास्तत्प्रार्थिन्या, ते तव, ऐकरूप्य नलसारूप्य, प्राप्य इह अस्या, ससदि स्वयवरसभायाम्, दीप्यमाने राजमाने, अमुत्रामुष्मिन्, इन्द्रानलार्यमतनूजपय पतीनाम् इन्द्रवह्नियमवरुणाना, चतुष्टये चतुष्टयमध्ये क्व कस्मिन्, निजार्पणम् आत्मसमर्पण, शुभाय मङ्गलाय, स्यात् ? एतेषु कस्मिन्नपि आत्मदान न शुभाय न स्यादेव, यत एते इन्द्रादय नलरूपधारिण न त्वेषु कोऽपि वास्तविक-नल इति तव प्रार्थना सफला न भवेदिति भाव । अन्यत्र—नलसारूप्य धृत्वा इन्द्रादीना चतुष्टय इह ससदि दीप्यमाने जाज्वल्यमाने सति, अमुत्र नले, निजार्पण क्व कृत , शुभाय स्यात् ? क्वापि तु न कुतोऽपि स्यात्, इन्द्रादीनतिरिच्य नलवरण ते न शुभङ्करमिति

भावः। एवम् अर्थद्वयेन क्रमात् नलप्राप्तौ नैराश्यं तत्प्रैस्पृहारूपेण ताम् अताप्ययदिति तात्पर्यम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—या त्वं किल नलेन अर्थिनी तस्याः ते इन्द्रानलार्यमतत्जपयः-पतीनां चतुष्टये एकरूप्यं प्राप्य इह ससदि दीप्यमाने क्व अमुत्र निजार्पणं शुभाय स्यात्?

हिन्दी—जो तू (दमयन्ती) नल की इच्छुक है, उस तेरा इंद्र, अनल (अग्नि), यम और वरुण—चारों के एक रूप (नलरूप) को धारण करके इस स्वयंवरसभा में विराजित होने पर इनमें किसको आत्मार्पण शुभ होगा? —अथवा इन चारों के विराजमान होने पर 'अमुत्र' अर्थात् नल को आत्मार्पण क्या शुभ होगा?

टिप्पणी—सरस्वती का यह कथन कई भंगिमाओं से युक्त है, जिसमें नल के वरण और अवरण के विषय में द्वन्द्व उपस्थित किया गया है। नल का वरण कैसे शुभ होगा? होगा भी अथवा नहीं? नल राजा है, राजा दिक्पालांश होता है। इंद्राग्नियमवरुण—सब नलरूप में यहाँ उपस्थित हैं; अतएव नल का वरण शुभ होगा। अथवा इन चारों देवों के रहते नल का वरण शुभ न रहेगा, क्योंकि ये चारों अप्रसन्न हो जायेंगे। और देवों का क्रोध अकल्याण कर होता है। इन चारों में किसी एक का वरण भी शुभ न होगा, क्योंकि अन्य तीन अप्रसन्न हो जायेंगे। सरस्वती का यह संकेत भी है कि उन्होंने पाँचों में कौन-सा नल है—यह बता दिया; दमयन्ती समझ कर नल को वर ले। यदि अनेक प्रकार से संकेत देने पर भी नल-वरण नहीं करती तो शेष चारों में से सुन्दरतम देव को चुनले, वही कदाचित् शुभ हो। सरस्वती ने कह तो दिया, पर स्पष्टतः नल का संकेत न होने से दमयन्ती भ्रम में ही रही। वह संतप्त रही और शंका-संदेह की दोला में झूलती रही। नल का वरण भी देवों का क्रोध बढ़ा सकता है, और नल का अवरण तो शुभ होगा ही नहीं। यह भी संकेत है कि देव जो सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं, वह नलरूप में होने के कारण; सहज सौंदर्य इनमें नहीं है। इनका वरण कैसे शुभ होगा? ॥ ३२ ॥

देवः पतिर्विदुषि! नैष धराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या? ।
नायं नलः खलु तवातिमहा नलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः पुनस्ते? ॥

जीवातु—देव इति । विदुषि ! हे विदग्धे ! मदुक्तिवैचित्र्याभिज्ञे ! एष धराजगत्या. भूलोकस्य, पति न, किन्तु देव ,जात्यावेकवचनम्, एते न भूपा किन्तु देवा इत्यर्थ , भवत्या न निर्णीयते किमु ? न व्रियते किमु ? मर्त्यवरणाद्वरम् अमर्त्यवरणमेवेति भाव । अथवा–धरान् पर्वतान्, अजति क्षिपतीति धराज इन्द्र , स एव गतिः शरण यस्या इति धराजगतिः प्राचीदिक् तस्या:, पति एष देव इन्द्रः, स निर्णीयत इति न, अपि तु निर्णीयते एव, अत एव उ इति सम्बोधनम्, उ भो.! भवत्या किं कथ, व्रियते ? अयमेव ते वरणीय इति भाव ।

अग्निपक्षे तु—धरो वाहनम्, अजः छाग यस्येति धराजो वह्निः, वह्ने रजवाहनत्वश्रवणात्, स एव गति शरण यस्या. तस्या आग्नेय्या दिश पतिरेष देवोऽग्नि , न निर्णीयते इति, अन्यत् पूर्ववत् ।

यमपक्षे—तु—धरान् पर्वतान्, अजति शृङ्गाभ्या खुरैर्वा क्षिपति इति धराज महिष, तेन या गतिर्गमन तयोपलक्षित , पति धर्मरूपत्वात् पालक , देव यम , अन्यत् पूर्ववत् ।

वरुणपक्षे तु—धराया पृथ्वीव्या, जायन्ते इति धराजानि स्थावरजङ्गमानि भूतानि, तेषा गतिर्जीवनोपायो जल तस्या , पति , जलाधिपतिरित्यर्थ वरुण , न निर्णीयते इति न, अन्यत् पूर्ववत् । अय तव सम्बन्धी स्वप्रार्थित इत्यर्थ , नलो न खलु, किन्तु अतिमहा मनुष्यापेक्षया अतितेजा, नलाभ नलकल्प , नैते नला किन्तु नलप्रतिरूपका इत्यर्थ , यद्येनम् उज्झसि एषाम् अन्यतम न वृणोषि चेदित्यर्थ, पुन पश्चात्, ते तव, वियन इति वरो वरणीय, वृङोऽप्, कतर ? न कश्चिदस्ति, सत्यमनस्य दुर्लभत्वादिति भाव ।

अन्यत्र (नलपक्षे)—भवत्या एव धराजगत्या भूलोकस्य, पति रक्षक , देवो राजा, 'देवः सुरे घने राज्ञि' इति विश्व , नैषधराजगत्या नलमहाराजरूपेण, नैषधराजस्य नलस्य, गत्या ज्ञानेन वा अथवा–नैषधराज एव गतिजीवनोपायो यस्यास्तया, भवत्या इत्यस्य विशेषणम्, पतिर्भर्ता, न निर्णीयते किमु ? न व्रियते किमु ? अय ना पुरुष नल खलु असावयमेव वरणीय इत्यर्थ , एन नलम्, उज्झसि यदि तव अतिमहान् अत्रमोऽनर्थ , वर इत्यादि पूर्ववत् ।

अन्वय —(१) देव०—विदुषि, एष देव , धराजगत्या पति न, किमु भवत्या न निर्णीयते, न व्रियते ? अय तव नल न खलु, अतिमहा नलाभ , यदि एनम् उज्झसि पुन- ते वर कतर ? ॥ ३३ ॥

हिन्दी—(अ) इंद्र०—हे उक्ति-वैचित्र्य के ज्ञान में चतुरे (दमयन्ति), यह देव (इंद्र) है, भूलोक का पालयिता (स्वामी) नहीं; क्या तुम्हें इस (इन्द्रत्व) का निश्चय नहीं होता ? इसका वरण क्यों नहीं करतीं ? (अथवा धरों (पर्वतों) के 'आज' (क्षेपण, नाश) में गति (उपाय) अर्थात् वज्र आयुधशाली होने से शक्तिमान् इस 'ना' (पुरुष) को समझ कर, पति क्यों नहीं वरतीं ? अथवा धराज (इन्द्र) ही जिसकी गति है, ऐसी प्राची दिशा के स्वामी को पहिचान कर क्यों नहीं वरतीं ?) यह तेरा प्रिय नल निश्चय-पूर्वक नहीं है, अति तेजस्वी नल के समान आभासित है। अथवा यह नल (तृण-विशेष) नहीं है—सारहीन नहीं है, किन्तु अतिबली है; अथवा (इसके वरण में तेरा—दमयन्ती का) अतिशयित महों—नंदनवन विलासादि क्रीडाओं का लाभ होगा;) यदि इसे (अथवा 'अ' (विष्णु) के 'इन' ज्येष्ठ भ्राता को) छोड़ती हो (नहीं वरती हो) तो फिर तेरा (दमयन्ती का) कौन वर होगा ? अथवा ('कतर' अर्थात् अग्नि), ('केन वायुना तरति'—वायु द्वारा प्रचंड होने वाला और 'केन जलेन तीर्यते'—जल से उपशम को प्राप्त होने वाला) अग्नि तेरा वर होगा) । अथवा यह इंद्र है—(शत्रों का जीवनोपाय, धरतों का स्वामी नल नहीं है) यह निश्चय करके तुम इसका वरण नहीं कर रही हो ? (ठीक है) । यह तुम्हारा नल नहीं, किन्तु नल-सम प्रतीत होनेवाला है अथवा 'नलाभ' अर्थात् तृणतुल्य निःसार है, इसका वरण नहीं करती हो तो तेरा 'कतर' (के सुखे तरति—सुखसागर रूप नल) वर होगा । अथवा 'धराजगत्या भवत्या'—धरा का स्वामी नल ही जिसकी गति है, ऐसी तुम इसे देव समझ कर इसका पति रूप में वरण नहीं कर रही हो, क्योंकि यह 'अतिमहा' (दैत्यैरतिक्रान्तं महो यस्य सः) अर्थात् दैत्यों द्वारा जिसका बल नष्ट कर दिया गया है, ऐसा असार है—इसे न वरने में तेरा क्या लाभ नहीं है (लाभः न) ? अपितु लाभ है ।)

(आ) अग्नि०—अज (छाग-बकरा, मेढ़ा) ही जिसका वाहन है, ऐसा यह देव (अग्नि) है (अथवा पर्वततुल्य विशाल अज वाहन वाला, अथवा अज द्वारा धरा पर उपलक्षित अग्नि है; अग्नि ही जिसकी गति है, ऐसी आग्नेयी दिशा स्वामी देव है) यह क्या तुझे निश्चय नहीं हो रहा है, इसे क्यों

नहीं वर रही हो? यह नल निश्चयतः नहीं है (अनल है), नलाभ (नल-सम आभामित, अत्यन्त तेजस्वी । इसे यदि छोड़ती हो, तो फिर कौन तुम्हारा वर होगा? (अथवा यह (ना + एव- न) मनुष्य नहीं है, आग्नेय दिशा का स्वामी (अग्नि) समझ कर तुम इसका वरण नहीं कर रही हो, (ठीक ही है) यह तेरा प्रिय तेजस्वी नल नहीं है, नल का रूप धारण करने वाला (बहुरूपिया) है, जिसकी नल अर्थात् घास-फूस में ही आभा दमकती है। धरा का स्वामी नल ही जिसकी गति है, ऐसी तुम, (दमयन्ती) द्वारा इसे दीप्त अग्नि समझ कर इसका वरण नहीं हो रहा है, क्योंकि यह तेरा पति नल नहीं, दैत्यों से आक्रांत तेजवाला घास फूस सा निःसार अग्नि है।)

(इ) यम०—यह धर (पर्वतों) का खुरों से क्षेपण करने वाले 'धराज' (महिष) से गतिमान् अथवा उससे उपलक्षित (धर्मरूप होने से) पति देव (यम) है (अथवा धराजगति (यम) की गति जिसमें है, ऐसी दक्षिण दिशा का स्वामी (यम) है)। यह समझकर तुम इसका वरण क्यों नहीं कर रही हो? अतितेजस्वी यह निश्चयतः नल (गहन) नहीं है, अपितु, धर्मरूप होने से गहन ही है, इसे छोड़ती हो तो 'लाभ न' (लाभ नहीं है, हानि है), इसे छोड़ कर और कौन तेरा वर है? (अथवा यह नल नहीं है, (किन्तु अतिमहताम् अनानां प्राणानां लाभो यस्मात्स) जिससे तेरे अत्यन्त महत्वपूर्ण प्राणों का लाभ है, ऐसे धर्मरूप होने से अत्यत पूजनीय (अतिशयिनो महः पूजा यस्य सः) 'अनलाभ' (अग्निसम तेजस्वी है, इसे छोड़ कर और कौन सा तेरा वर होगा? अथवा (कं जले तरति, कानि जलानि तरन्ति अस्मिन् वा) जल का स्वामी वरुण तेरा वर होगा। (अथवा इसे दक्षिण दिशा का स्वामी यम समझ कर यदि नहीं वर रही हो, क्योंकि यह दैत्याक्रांत बल निःसार है, केवल नल-सा आभासित है, यदि इसे त्याग रही हो तो सुखसमुद्र नल वर होगा)।

(ई) वरुण०—यह 'धराजों' (स्थावर-जंगम भूतों) की गति अर्थात् जीवनोपाय जल का पति देव (वरुण) है, (धराजगती का पति नहीं), इसे जलाधिपति समझ कर इसका वरण क्यों नहीं करती? (अथवा यह धर्ता (जगत्पोषक) अज (अजन्मा) 'धराज' (श्रीविष्णु) के आधार

(जल) का स्वामी है—ऐसा समझ कर इसे क्यों नहीं वरती ?) अतिमह (अत्यन्त पूज्य) अनल (अग्नि) की आभा जिसमें नहीं है, ऐसे जल का स्वामी है, यदि इसे (अथवा 'अः' विष्णुः 'इनः' स्वामी यस्य सः, अर्थात् विष्णुभक्त को) नहीं वरती हो, तो तुम्हारा लाभ नहीं है। इसे छोड़ कर तुम्हारा और कौन-सा वर है ? (अथवा यह 'धराजगति' जल का अथवा प्रतीची दिशा का स्वामी वरुण है, यह समझ कर इसका वरण नहीं कर रही है, क्योंकि यह नल नहीं है (ठीक है, इसे छोड़ कर ही तुम्हें 'अन' अर्थात् प्राणों का लाभ होगा, क्योंकि सुखसमुद्र नल वर मिलेगा) ।

अन्वयः—(२) नल०—विदुषि; भवत्या नैषधराजगत्या पतिः (अथवा एषः धराजगत्याः पतिः) देवः न निर्णीयते किम्, न व्रियते ? अय मा नलः, यदि एनम् उज्झसि, तव महान् अलाभः, पुनः ते वरः कतरः ? (अथवा एषः धराजगत्याः पतिः ना, देवः न, भवत्या न निर्णीयते, व्रियते ? अय नलः खलु, तव महानलाभः, यदि एनम् उज्झसि, ते पुनः कतरः वरः ?) ।

हिन्दी—अरी परमचतुरे दमयन्ति, तुम निषधराज की गति (अथवा इस भूलोक के स्वामी) देव (राजा) का निश्चय (नल होने का निर्णय) नहीं कर पा रही हो और इसका वरण नहीं कर रही हो। यह मानव नल है; यदि इसका त्याग करोगी तो तुम्हारी बड़ी हानि होगी ? फिर तेरा वर कौन होगा ? (अथवा यह भूलोक का स्वामी मानव है, देव नहीं; तुम निर्णय नहीं कर पा रही हो और इसका वरण नहीं कर रही हो। यह निश्चयपूर्वक नल है, तुम्हारे महान् जीवन का लाभ होगा, यदि इसे छोड़ती हो तो तुम्हारा वर फिर कौन होगा ?) ।

टिप्पणी—विशिष्ट पद-योजना के द्वारा इस श्लोक में 'पंचनली' (इंद्र, अग्नि, यम, वरुण, नल) का वर्णन कर दिया गया है। इंद्रादि देवों के पक्ष में विधि-निषेध दोनों हैं। इस प्रकार सरस्वती ने विदुषी—उक्तिज्ञानचतुरा—दमयन्ती को पूर्णतः संकेत देकर निर्णय करने का अवसर दे दिया। अनेकार्थ 'नल' 'महानलाभ' इत्यादि के प्रयोग द्वारा देवों के गुण-दोष, वरणावरण में हानि-लाभ स्पष्ट हो गये। नलपक्ष में विधि मात्र है। स्पष्ट संकेत है कि यह

न्यायवा पुरुष (पंचम ना) ही नल है—दमयन्ती का अभीष्ट वर। वह 'धराज' अर्थात् धरा पर जन्म लेने वालों की गति (स्वभाव) से युक्त है—उसके नेत्रों के पलक गिरते-उठते हैं। निर्णय करे दमयन्ती। वह धरा का अज अर्थात् काम है—काम-सम सुन्दर है। देव केवल नलाभ हैं, बनावटी—कृत्रिम सुन्दर। वास्तविक—सच्चा तो नल ही है—सहज सुन्दर। कपटी देवों के त्याग में और नल-वरण में ही लाभ है।

वस्तुतः मूलरूप से इस श्लोक के दो प्रमुख अर्थ पक्ष हैं—(१) देव-पक्ष और (२) नलपक्ष। यदि सामान्यतः इसके दो प्रकार के अन्वय करके अर्थबोध की चेष्टा की जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है।

(१) देवपक्ष (अनलपक्ष)—विदुषि, एषः देव धराजगत्या पतिः, न, भवत्या किमु न निर्णीयते, न व्रियते ? अतिमहा नलाभः अयं तव नलः न खलु, यदि एनम् उज्झसि पुनः ते वरः कतरः ?

अर्थात् हे अर्थज्ञान-प्रवीण दमयन्ति, यह देव (इन्द्राग्नियमवरुण) है, भूलोक का स्वामी नहीं। तुम क्या निश्चय नहीं कर पा रही हो और वरण नहीं कर रही हो ? महान् तेजस्वी नल-तुल्य आभासित यह तेरा प्रिय नल नहीं है—निश्चयतः। यदि इसका त्याग करती हो तो फिर तुम्हारा वर कौन होगा ?

(२) नलपक्ष—विदुषि, एषः धराजगत्याः पतिः, देवः न, भवत्या ……व्रियते ? अतिमहानलाभः अयं नाः तव नलः खलु। यदि …कतरः ?

अर्थात् हे प्रवीणे, यह भूलोक का स्वामी है, देव नहीं। तुम … वरण हो ? महान् अनल आदि देवों की आभा को अतिक्रान्त करने वाला (अति-क्रान्ता महताम् अनलानाम् आभा येन सः) अर्थात् अनल—नलभिन्न देवों से अधिक कांतिमान् यह पुरुष निश्चयतः तुम्हारा प्रिय नल है। यदि……
कौन होगा ?

इसमें 'धराजगत्या पतिः' और 'अतिमहानलाभः' ऐसे पद हैं, जिनकी विविध योजना द्वारा विभिन्न अर्थ किये गये हैं, जिनका कुछ प्रपंच पूर्व उप-युक्त पंक्तियों में दिखाया गया है ॥ ३३ ॥

इन्द्राग्निदक्षिणदिगीश्वरपाशिभिस्तां वाचं नले तरलिताऽथ समां प्रमाय।
सा सिन्धुवेणिरिव वाडववीतिहोत्रं लावण्यभूः कमपि भीमसुताऽऽप तापम् ॥

जीवातु—इन्द्रेति। अथ लावण्यभूः सौन्दर्यभूमिः, अन्यत्र—लवणरसाश्रयः, सा भीमसुता दमयन्ती, नले विषये, तां पूर्वोक्तां, वाचम् इन्द्राग्निदक्षिणदिगीश्वरपाशिभिः इन्द्राग्नियमवरुणैः, समां श्लिष्टतया तत्साधारणीं, प्रमाय अनुभूय, तरलिता नलनिश्चयाभावात् कम्पितहृदया सती, सिन्धुवेणिः समुद्रान्तरः, समुद्रगर्भ इत्यर्थः, समुद्रप्रवाहो वा, 'वेणी केशस्य बन्धने। नद्यादेरन्तरे देवताडे' इति मेदिनी। 'वेणी सेतुप्रवाहयोः। देवताडे केशबन्धे' इति हैमश्च। वाडववीतिहोत्रं वाडवाग्निमिव, 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निर्वीतिहोत्रो धनञ्जयः' इत्यमरः। कमपि अवाच्यं तापम् आप ॥ ३४॥

अन्वयः—अथ नले तां वाचम् इन्द्राग्निदक्षिणदिगीश्वरपाशिभिः समां प्रमाय तरलिता लावण्यभूः सा भीमसुता सिन्धुवेणिः वाडववीतिहोत्रम् इव कम् अपि तापम् आप।

हिन्दी—तदनन्तर नल के विषय में उस (देवः पतिः इत्यादि) वाणी को इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण के विषय में तुल्य समझ कर संदेह से विचलित सौन्दर्य की उत्पत्ति भूमि वह भीमपुत्री, (दमयन्ती) लवण की उत्पत्तिस्थान समुद्रवेणी (गंगा-सागर-संगम अथवा समुद्र-प्रवाह) जैसे वाडवाग्नि को प्राप्त कर अकथ्य ताप को प्राप्त होती है, वैसे ही अनिर्वचनीय दुःसह संताप को प्राप्त हुई।

टिप्पणी—'देवः पतिः' इत्यादि द्वारा जो परिचय और विवरण भगवती ने प्रस्तुत किया, वह जिस प्रकार नलार्थ-बोधक था, उसी प्रकार इन्द्राग्नियमवरुण का संकेत भी करता था। नलानुरक्ता दमयन्ती संदेह में पड़कर कोई निर्णय ले सकने में असमर्थ रह अत्यन्त विचलित हो उठी। उसे वैसा ही अवर्णनीय कष्ट और ताप हुआ, जैसा समुद्र-धारा को वाडवाग्नि से होता है। प्रकाशकार ने 'नले तरलिता' अन्वय करते हुए इसका अर्थ 'नल के निमित्त उत्कण्ठित, करके इसे दमयन्ती का विशेषण भी माना है ॥ ३४॥

प्रासं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मतानामद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः॥३५॥

जीवातु—प्राप्तुमिति । पक्षचतुष्टये इन्द्रादिमायानलव्यक्तिचतुष्टये, ता प्राप्तिकर्मी दमयन्ती, प्राप्तु सत्यनल प्राप्तु, सत्यनलत्वेन निश्चेतुमित्यर्थः, न प्रयच्छति न ददाति सति, सत्यनलसाक्ष्यात्तत्प्राप्तिप्रतिबन्धक सतीत्यर्थः, प्रायेणैव भाषानुसारेणोदीच्याः प्रयुञ्जते यथा-'रमतु' दिशन्ति न दिव सुरसुन्दरीस्त' इति भारवी, तल्लाभशंसिनि दमयन्त्याप्राप्त्याशंसिनि, अन्यत्र-विद्यालाभाकाङ्क्षिणि, सत्यतरेऽपि अत्यन्तपारमार्थिकेऽपि, पञ्चमकोटिमात्रे पञ्चमनलैकव्यक्तौ, द्वितीय द्वैत भेदः, तद्रहितम् अद्वैतम् अद्वितीय, तत्त्व ब्रह्मतत्त्वम्, अद्वयब्रह्मस्वरूपमित्यर्थः, तस्मिन्निव, मतानां पञ्चलोगोचर-ज्ञानाना तिषधराट् नल, इति विमतौ मयमव नलोऽयमेव येति विप्रतिपत्ती सत्यां, लोको जिज्ञासुजनः, श्रद्धा पारमार्थिकविषयकविश्वास न दधे, सद्विलक्षणत्वेन असद्विलक्षणत्वेन सदसत्समुच्चयविलक्षणत्वेन चतुष्याध्यायिनकशरीरेन्द्रियाद्यसत्प्रपञ्चमवलम्ब्यात्मिथ्यापरोक्षसत्यब्रह्मतत्त्वे इव असत्यनलचतुष्ट्य मभिधानात् सत्यन्ते पञ्चमे प्रतीयमानेऽपि सत्योऽयमिति जनो न विश्वसितु-मशक्नोदित्यर्थः । उपमा ॥ ३५ ॥

अन्वय —पक्षचतुष्टये ता प्राप्तुं न प्रयच्छति तल्लाभशंसिनि सत्यतरे अपि पञ्चमकोटिमात्रे अद्वैततत्त्व मतानां विमतौ लोकः इव निषधराट् श्रद्धा न दधे ।

हिन्दी—पक्षचतुष्टय अर्थात् इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण के (नल रूपधारण से) उस दमयन्ती की प्राप्ति (नल को) न (होने) देने पर उस (दमयन्ती) की प्राप्ति के अभिलाषी वास्तविक भी पाँचवें नल निषधराज का उसी प्रकार दमयन्ती-प्राप्ति की आस्था नहीं रही, जिस प्रकार सत्य भी चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त (सत्, असत् आदि चार पक्षों से मुक्त) पञ्चमकोटिक (पाँचवें) अद्वैततत्त्व (एकमेवाद्वितीय ब्रह्म) में मत-वैभिन्न्य होने पर लोग की श्रद्धा नहीं रहती ।

टिप्पणी—भाव यह कि चार देव इन्द्रादि नल का रूप बनाये बैठे थे, नल पाँचवें स्थान पर स्थित था । ऐसी स्थिति में चार चार देवों की बाधा रहने पर भी दमयन्ती पाँचवें नल का वरण करेगी—इस पर नल का विश्वास नहीं रह गया । इसे इस उपमा से स्पष्ट किया गया है कि चार भिन्न मतों की बाधा होने के कारण संसारी व्यक्ति को इस नयसे सच्चे

अद्वैत मत पर श्रद्धा नहीं रह जाती कि एक ब्रह्म ही है—अद्वितीय, और कुछ नहीं—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।' ये वाधक मत चार हैं—(१) सद्‌वादी सांख्य मत, जो प्रतिशरीर में पुरुषबहुता को मानता है; (२) असद्‌वादी बौद्धमत, जो प्रतिदेह में भिन्न क्षणिकज्ञान-संतति रूप का प्रतिपादक है; (३) सदसद्‌वादी नैयायिकमत, जो प्रतिशरीर में भिन्न सर्वव्यापक ज्ञानादिनवविशेष गुणयुत आत्माओं का प्रतिपादक है—'नानात्मानो व्यवस्थितः'; और (४) सदसद्विलक्षण आर्हतमत, जिसके अनुसार अनेक आत्मा हैं, देहपरिमाण, संकोचविकासशील। इन चार-चार विभिन्न वाधक मतों के कारण—इस पक्ष चतुष्टय के रहते पंचमकोटिमात्र किन्तु सबमें सत्य और मान्य अद्वैततत्त्व पर सामान्य, विचार शून्य लोक को श्रद्धा नहीं रह पाती। वस्तुतः यह अद्वैततत्त्व 'तल्लाभर्वसी' (उस ब्रह्म का बोधक) है। ऐसा अर्थ भी लिया गया है चार और नलों के विघ्नस्वरूप रहते दमयन्ती पाँचवें निषधराज का वरण करेगी—ऐसा लोक-विश्वास न रह सका, अथवा चार और के नलरूप में रहते यह पंचमकोटिमात्र ही वास्तविक नल है—यह लोक श्रद्धा न रही।

एक पाठांतर 'प्राप्तुं' के स्थान पर 'साप्तुं' भी है। इस पाठांतर में दूसरा ही अर्थ बोध होता है—"वह 'दमयन्ती निषधराड्विमृति' होने पर अर्थात् निषधराज के विषय में संदेह उत्पन्न हो जाने पर पंचममागरूप अर्थात् पाँचवे स्थान पर स्थित वास्तविक नल पर श्रद्धा न रख सकी। वास्तविक नल भी नल है—यह विश्वास भी दमयन्ती का न रहा, क्योंकि उस दमयन्ती की प्राप्ति का अभिलाषी जो पक्षचतुष्टय अर्थात् इन्द्रादि देवों का चौकड़ा था, उसमें भी दमयन्ती को नल का निश्चय नहीं हो पाया था। यह श्रद्धा का अभाव उसी प्रकार था, जैसे कि सदसदादि चार भिन्न पक्षों के रहते सच्चे पंचमकोटिमात्र अद्वैत तत्त्व पर अविचारी सामान्य जन की श्रद्धा नहीं जमती।" भाव यही है कि जैसे चार-चार विभिन्न मतवादों के रहते सत्य पंचम अद्वैततत्त्व पर भी जन-श्रद्धा नहीं रह पाती, वैसे ही पक्ष-चतुष्टय इन्द्रादि के रहते पंचमस्थानीय सत्य नल पर भी दमयन्ती को विश्वास न हो सका। मल्लिनाथ के अनुसार उपमा। सन्दर्भ की दृष्टि से यह पाठांतर ही उचित प्रतीत होता है॥ ३५॥

कारिष्यते परिभव कलिना नलस्य ता द्वापरस्तु सुतनूमदुनोत् पुरस्तात् ।
भैमीनलोपयमन पिशुनो सहेते न द्वापर किल कलिश्च युगे जगत्याम् ॥

जीवातु—अथ भैम्या सन्देहदु ख महदभूदित्याह—कारिष्यते इति । कलिना कलहेन प्रत्याख्यातैर्देवै राजभिर्वा अवमाननाप्रतीकाराभिप्रायात् उत्पादितेन वैरेणेत्यर्थ , कलियुगेन च, 'कलि स्त्री कलिकायां ना शूराजिकलहे युगे' इति मेदिनी नलस्य परिभव कारिष्यते विवाहात् पर परिभव करिष्यते, करोते कर्मणि लृट 'स्यसिच्सीयुट्—' इत्यादिना इट वैकल्पिकचिण्वद्भावात् 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धि इति द्वापरस्तु प्रियस्य नलस्य एवविध परिभव-सशय पुन , द्वापरयुगञ्च, 'द्वापरौ युगसशयौ' इत्यमर । सुतनू सुकुमाराङ्गीं, ता नलप्रिया दमयन्ती पुरस्तात् कले पूर्वम् अद्यैव, अदुनोत् पर्यतापयत्, तथाहि, जगत्या लोके पिशुनौ दुर्जनौ, 'त्रिष्वथो जगती लोक ' इति, 'पिशुनौ दुर्जन खल ' इति चामर , द्वापर कलिश्च युगे कालविशेषौ, भैमीनलयो उपयमनम् उद्वाह, न सहेते किल, किलेति सत्यर्थे, कलि यथा विवाहोत्तर तयोर्विवाह न सोढा, तद्वत् द्वापरोऽपि तयोर्भाविन विवाह न सहते इति भाव । अत्र पूर्वार्द्धे द्वापर इति वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायेन द्वापरस्य दयान्तर-कलिव्यापारात् प्राक् स्वय दमयन्तीसन्तापकत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या, उत्तरार्द्धे तु तदुपयमनासहिष्णुत्वलक्षणकारणेन तत्समर्थनात् कारणेन कार्य समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास , इत्यनयो अङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर ॥ ३६ ॥

अन्वय—कलिना नलस्य परिभव कारिष्यते, द्वापर तु ता सुतनू पुरस्तात् अदुनोत्, किन्तु द्वापर कलि च युगे पिशुनौ जगत्या भैमीनलोपयमन न सहेते ।

हिन्दी—कलि अर्थात् चतुर्थ युग कलियुग तो नल का परिभव (विवाहोपरान्त) करेगा, द्वापर अर्थात् तृतीय युग ने उस सुकुमारी (दमयन्ती) को पहिले ही (विवाहपूर्व) ही पीडित कर दिया (कलि अर्थात् कलह, जो देवों और अन्य राजाओं के अवरण अपमान से सम्भव है, वह तो नल का विवाहोपरान्त परिभव करेगा, पर द्वापर अर्थात् न जाने यह नल है या वह नल है—इस सशय ने उस सुकुमारी को पहिले ही कष्ट दिया), कारण

यह है द्वापर (तृतीय युग और संशय) और कलि (चतुर्थ युग और कलह)– ये दोनों दुष्ट जग में भैमी और नल के विवाह को न सहने वाले हैं ।

टिप्पणी—दमयन्ती भावी कलह की आशंका और नलबोध-विषयक संदेह के कारण बड़ी संतप्त हुई । कलह और संदेह दोनों जगत् में कष्ट के कारण हैं 'द्वापर' और 'कलि' की अनेकार्थता के कारण यहाँ तृतीय युग और चतुर्थ युग का भी अर्थबोध स्पष्ट है । कलि ने आगे चलकर कष्ट दिया, द्वापर पहिले ही दे रहा है। नल-दमयन्ती की कथा पूर्वयुग की कथा है, जब न द्वापर था, न कलियुग । इस प्रकार इन युगों का भैमी नल-विवाह को न सहना उचित हो है । मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'द्वापर' शब्द में वाच्य और प्रतीयमान के अभेदाध्यवसाय के कारण द्वापर की स्थानांतर कलिव्यापार से पूर्व ही स्वयं दमयन्ती के संतप्तकर्त्ता रूप में गम्या उत्प्रेक्षा की गयी है और उत्तरार्द्ध में भैमी-नल विवाह के असहनरूप कारण से उसका समर्थन होने से कारणद्वारा कार्य-समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास है,—इस प्रकार यहां अंगांगिभाव से दोनों का संकर है। नारायण के अनुसार यह कथन शब्दश्लेष के बल से है । भाव यही है कि नल-निश्चय के अभाव से दमयन्ती को बड़ा संताप हुआ ॥ ३६ ॥

उत्कण्ठयन् पृथगिमां युगपन्नलेषु प्रत्येकमेषु परिमोहयमाणबाणः ।
जानीमहे निजशिलीमुखशोलिसङ्ख्यासाफल्यमाप स तदा यदि पञ्चबाणः ॥

जीवातु—उत्कण्ठयन्निति। पञ्चबाणः पञ्चबाणत्वेन प्रसिद्धः, सः कामः, नलेषु, पञ्चस्वपि इति शेषः, विषये पृथक् प्रत्येकम्, इमां दमयन्तीं, युगपत् समकालम्, उत्कण्ठयन् उत्सुकयन्, अयं नलः अयं वा नल इति बुद्धया तेषु एकस्मिन्नेव काले पृथग्रूपेण तां सोत्कण्ठां कारयन्नित्यर्थः, दमयन्ती नलबुद्धया तेषु पञ्चस्वेव सानुरागाऽभूदिति भावः, तथा एषु नलेषु पञ्चसु, प्रत्येकम् एकैकस्मिन्, परिमोहयमाणाः प्रत्येकमेतान् दमयन्तीविषये सम्मोहयन्त इत्यर्थः, कर्मण्यधिकरणविवक्षया सप्तमी 'तस्मिन् प्रजह्रु'रितिवत् । 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' इत्यादिना परस्मैपदप्राप्तावपि 'न पादम्याङ्यमा–'इत्यादिना परस्मैपदनिषेधादात्मनेपदं, कृत्यचः 'णेर्विभाषा' इति णत्वम् । बाणाः यस्य स

तादृश सन्, निजशिलीमुखान् निजबाणान्, शीलयतीति तच्छीलिन्या तत्समवायिन्या, सङ्ख्याया, पञ्चसङ्ख्याया, साफल्यमाप यदि तदा जानीमहे पञ्चसङ्ख्या साध्वीति मन्यामहे इत्यर्थ। अत्रोत्कण्ठासम्मोहनपदार्थयोर्विशेषणगत्या साफल्यप्राप्तिहेतुक काव्यलिङ्ग, तच्च साफल्य यदिशब्दात् सम्भावनामात्रेणोक्तमित्युत्प्रेक्षा काव्यलिङ्गोत्थेति सङ्कर ॥ ३७ ॥

अन्वय—अरिमोहयमाणबाण इमा प्रत्येकम् एषु नलेषु युगपत् पृथक् उत्कण्ठयन् स पञ्चबाण यदि निजशिलीमुखशीलिसङ्ख्यासाफल्यम् आप, तदा जानीमहे।

हिन्दी—समाहजनक बाणधारी, इस (दमयन्ती) को प्रत्येक इन (पाँचो) नलो के प्रति एक साथ पृथक् पृथक् उत्कण्ठित करते हुए उस पाँच बाण वाले (काम) ने यदि अपने बाणो के पाँच सख्यक होने की सफलता प्राप्त की, तो उसी अवसर पर हम यह समझते हैं।

टिप्पणी—काम पचबाण कहा जाता है। जगत् को मोहन के लिए उसका एक ही बाण पर्याप्त है, फिर य शेष चार बाण क्या? यह पचबाणत्व निष्फल ही है परन्तु दमयन्ती प्रसग मे ऐसा प्रतीत हुआ कि काम का पचबाणत्व सफल है। यह ठीक है कि उसका एक ही बाण पर्याप्त होता है, तथापि एकबार मे लक्ष्य तो एक ही रख सकता है। यहाँ नल एक नही, पाँच हैं। दमयन्ती संदेह मे है कि इनमे कौन नल है? वह पृथक्-पृथक् प्रत्येक के प्रति एक साथ ही उत्कण्ठित है। एक साथ पाँचो में उसकी उत्कण्ठा जगाने का कार्य, प्रतीत होता है काम ने उस समय अपने पाँचो बाणो से किया और उनका पाँच होना—पचसख्यात्व सफल किया। यह अर्थ भी लिया जा सकता है कि इस दमयन्ती के प्रति इन पाँचो में प्रत्येक को अलग अलग उत्कण्ठित करते हुए—नल और नलरूपधारी प्रत्येक देव की दमयन्ती के प्रति उत्कण्ठा एकसाथ जगाते काम ने उस समय पचबाणधारी होना सफल किया। आशय यह कि इन सम्मुखस्थित पाँचो नलो में भेद न करती दमयन्ती प्रत्येक के प्रति उस समय उत्कण्ठित थी और वे पाँचो भी दमयन्ती के प्रति सोत्कण्ठ थे। नारायण ने यह शका उठायी है कि दमयन्ती

के पाँचों के प्रति अनुरागिणी होने से उसके पातिव्रत्यभंग की आशंका हो सकती है, परिहार में कहा है कि दमयन्ती का अनुराग नलबुद्धि के कारण ही था, अतः यह आशंका नहीं है—'पञ्चस्वनुरागात् पातिव्रत्यभङ्गप्रसङ्ग इति न पञ्चस्वपि परपुरुषतापरिहारेण नलबुद्ध्यैवानुरागात्परिहारः।' मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में उत्कंठा और संमोहन पदार्थों की विशेषणगति से साफल्यप्राप्तिहेतुक काव्यलिंग है और वह सफलता 'यदि' शब्दद्वारा सम्भावनामात्र कही गयी है—यह उत्प्रेक्षा है। इस प्रकार काव्यलिंग और काव्यलिंगोत्था उत्प्रेक्षा का संकर है ॥ ३७ ॥

देवानियं निषधराजरुचस्त्यजन्ती रूपादरज्यत नले न विदर्भसुभ्रूः ।
जन्मान्तराधिगतकर्मविपाकजन्मेवोन्मीलति क्वचन कस्यचनानुरागः॥३८॥

जीवातु—देवानिति । निषधराजस्य नलस्यैव रुच् सौन्दर्यं येषां तादृशान्, देवान् त्यजन्ती इयं विदर्भसुभ्रूः वैदर्भी, रूपात् सौन्दर्यात्, नले न अरज्यत न रक्ता, रञ्जेर्देवादिकात् कर्त्तरि लुङि लङ्, किन्तु कस्यचन कस्यचिज्जनस्य, जन्मान्तरे अधिगतस्य कर्मणो विपाकात् परिणामात्, जन्म यस्य तादृशः, 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदे' इति वामनः । अनुरागः एव क्वचन कुत्रचिज्जने, उन्मीलति उद्भवति । रूपसाम्येऽपि देवपरिहारेण नले एवानुरागः अस्याः कर्मायत्तो न रूपायत्तः, अन्यथा किमर्थं यथार्थनलान्वेषणमित्युत्प्रेक्षा । एतेनास्या दृढव्रतत्वम् उक्तम् इति ज्ञेयम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः—निषधराजरुचः देवान् त्यजन्ती इयं विदर्भसुभ्रूः रूपात् नले न अरज्यत; कस्यचन जन्मान्तराधिगतकर्मविपाकजन्मा अनुरागः एव क्वचन उन्मीलति ।

हिन्दी—निषधराज (नल) की रुचि-(रूप-आभा)-धारी देवों (इन्द्रादि) को त्यागती यह विदर्भ-सुभ्रू (दमयन्ती) दैहिक सौन्दर्य के कारण नल पर अनुरक्त न थी; (वस्तुतः) किसी का अन्य जन्म में (पूर्व) कृत कर्मफल से जनमने वाला अनुराग ही किसी के प्रति जागा करता है ।

टिप्पणी—यद्यपि चारों देव नलरूपधारी ही थे, वैसे ही कांतिमान्, सुन्दर, मोहक; किन्तु दमयन्ती ने उन चारों के प्रति ध्यान न दिया । इसका

कारण यह है कि दमयन्ती का नल के प्रति अनुराग दैहिक सौन्दर्य के कारण न था कि जहाँ वैसा मोहक रूप देखा और अनुरक्त हो गयी। वह तो पूर्व जन्मों में किये कर्मों के फलस्वरूप था। इसीसे वह बाह्यतः नलाकार देवों के प्रति अनुरक्त न हुई; उसका अनुराग तो वास्तविक नल के प्रति पूर्वकृत के फलस्वरूप था, न कि नलाकार पर। कारण पूर्वजन्मकर्मविपाक ही था। यह अनुराग कर्माश्रित था, रूपाश्रित नहीं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है। इससे दमयन्ती का दृढव्रतत्व प्रतिपादित होता है ॥ ३८ ॥

क्व प्राप्यते स पतगः परिपृच्छ्यते यः प्रत्येमि तस्य हि पुरेव नलं गिरेति।
सस्मार सस्मरमतिः प्रति नैषधीयं तत्रामरालयमरालमरालकेशी ॥ ३९ ॥

जीवातु—अथास्याश्चिन्तासञ्चारिणीमाह-क्वेति। सस्मरमतिः मदनपीडितचित्ता, अरालकेशी कुटिलकेशी, 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इति विकल्पात् ङीप्, भैमीति शेषः, स पूर्वदृष्टः नलवार्ताप्रदः इत्यर्थः, पतगो हंसः, क्व कुत्र, प्राप्यते? निमर्थम्? यः पतगः, परिपृच्छ्यते, नलम् इति शेषः, एषु मध्ये को नल इति विश्वास्यतया जिज्ञास्यते इत्यर्थः; प्रश्नफलमाह—पुरेव पूर्वमिव, यस्य गिरा हि निश्चयेन नलं प्रत्येमि विश्वसिमि, इति इत्थं, तत्र सभायां, नैषधीयं प्रियस्य दूतभूतमिति यावत्, अमरालयमरालं स्वर्लोकहंसं, प्रति उद्दिश्येत्यर्थः, सस्मार, दुर्लभार्थप्रार्थका: खलु कार्यकातरा इति भावः ॥ ३९ ॥

अन्वय—सस्मरमतिः अरालकेशी—सः पतगः क्व प्राप्यते, यः परिपृच्छ्यते, हि तस्य गिरा पुरा इव प्रत्येमि—इति तत्र नैषधीयम् अमरालयमरालं प्रति सस्मार।

हिन्दी—काम से अधीर होती उस घुँघराले केशों वाली (दमयन्ती) ने—'वह पक्षी (स्वर्ण हंस) कहाँ मिलेगा, जिससे (वास्तविक नल के विषय में) पूछा जाता, क्योंकि उसके वचनों से ही पहिले की भाँति विश्वास होगा—यह विचार वहाँ (सभा में) निषधराज के दूत स्वर्गलोक वासी स्वर्णहंस का स्मरण किया।

टिप्पणी—सदेह और काम से अधीर दमयन्ती ने उस सङ्कट के समय निषधराज नल के सदेशवाही हंसदूत का स्मरण किया, क्योंकि उसे प्रतीत

हुआ कि इस भ्रमजाल को वही काट सकता है। स्वर्णहंस ने पहिले भी दमयन्ती को एकबार नल को पहिचनवाया था, जब नल अपने को अपरिचित रखे हुए दमयन्ती के प्रति देवों का दूत बन कर गया था—'नलं स तत्पक्षरवोर्ध्वबोधिनं स एष पक्षीति भणन्तमभ्यधात् ।' (नै० च० ९।१२८) ॥३९॥

एकैकमैक्षत मुहुर्महताऽऽदरेण भेदं विवेद न च पञ्चसु कञ्चिदेषा ।
शङ्काशतं वितरता हरता पुनः स्म उन्मादिनेव मनसेयमिदं तदाह ॥४०॥

जीवातु—एकैकमिति । एषा भैमी, महता आदरेणैकाग्रयेण, मुहुः एकैकमैक्षत, किन्तु पञ्चसु मध्ये कञ्चित् भेदं विशेषञ्च न विवेद, अत एव शङ्काशतं वितरता जनयता, पुनः तत् शङ्काशतं, हरता निवर्त्तयता, इत्थञ्च उन्मादिनेव उन्मादवतेव, मनसा उपलक्षिता इयं दमयन्ती, इदं वक्ष्यमाणविकल्पजातम्, आह स्म 'लट् स्मे' इति भूते लट् ॥ ४० ॥

अन्वयः—एषा महता आदरेण मुहुः एकैकम् ऐक्षत, पञ्चसु च न कञ्चित् भेदं विवेद, तदा पुनः शङ्काशतं वितरता हरता उन्मादिना इव मनसा इयम् इदम् आह स्म ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) ने बड़े आदर के साथ बार-बार एक-एक करके (पाँचों को) देखा, किंतु पाँचों में कोई अन्तर न पासकी; तब फिर सैकड़ों शंकाओं को उठाते और दूर करते उन्मत्त-जैसे मन से यह कहने लगी।

टिप्पणी—संदेह में व्याकुल दमयन्ती बार-बार पाँचों नलों को देखती, पर कहीं किसी प्रकार का भेद, अन्तर उसे न मिला। सब समान। उसके मन में अनेक शंकाएँ उठतीं, संदेह उपजते, दूर होते। लगता कि जैसे संकल्प-विकल्प, संदेह-शंका में पड़ा उसका मन उन्मादी हो उठा है। एक उन्मादी इसी प्रकार आदर भय से बार-बार हर और हरएक को देखता है। कुछ समझ में न आने पर शंकाएँ करता है, छोड़ता है, पकड़ता है। बार-बार इसी क्रिया को फिर-फिर दुहराता है। ऐसी ही स्थिति उस समय दमयन्ती के मन में थी। वह मन ही मन कहने लगी। भाव यह कि दमयन्ती उस समय बड़ी अव्यवस्थितचित्त हुई ॥ ४० ॥

अस्ति द्विचन्द्रमतिरस्ति जनस्य तत्र भ्रान्तौ दृगन्तचिपिटीकरणादिरादिः ।
स्वच्छोपसर्पणमपि प्रतिमाऽभिमाने भेदभ्रमे पुनरमीषु न मे निमित्तम् ॥

जीवातु--अथ आसर्गसमाप्तेश्चिन्तानुभावविकल्पावाह—अस्तीत्यादि । द्विचन्द्रमति द्वौ चन्द्राविति बुद्धिः, एकस्मिन् चन्द्रेऽनेकत्वावगाहिनी । भ्रमबुद्धिरिति यावत्, अस्ति प्रसिद्धा अस्ति, किन्तु तत्र द्विचन्द्रग्राहिण्या भ्रान्तौ, जनस्य भ्राम्यज्जनस्य, दृगन्तचिपिटीकरण दृगन्तयो चक्षु प्रान्तयोः, चिपिटीकरणम् अङ्गुल्या निपीडन, तदादि तत्प्रभृति, आदिमूलकारणम्, अस्ति, तथा प्रतिमाऽभिमाने प्रतिबिम्बभ्रमे, स्वच्छोपसर्पण काचस्फटिकादिस· निधानमपि, आदिरस्तीति शेषः, पुन किन्तु, मे मम, अमीषु पञ्चसु विषये, भेदभ्रमे निमित्तं न, अस्तीति शेष, अत एकस्मिन् नले बहुनलभ्रान्ति· कथञ्चिदपि न सम्भवति, तस्मादेते नलभिन्ना· केचन भविष्यन्तीति भावः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—जनस्य द्विचन्द्रमति अस्ति, तत्र भ्रान्तौ दृगन्तचिपिटीकरणादिः आदि· अस्ति, प्रतिमाभिमाने स्वच्छोपसर्पणम् अपि, पुनः मे अमीषु भेदभ्रमे निमित्त न ।

हिन्दी—व्यक्ति को दो चन्द्र होने का भास हो जाता है, उस भ्रम मे नेत्रप्रात को अगुलि से दबाना आदि मूल कारण है, प्रतिमा-(प्रतिबिंब) भ्रम स्वच्छ (शीशा आदि) वस्तुओ के समीप होना भी (कारण) है; किंतु मेरे इन (पाँचो नलो) से सबद्ध भेदभ्रम (एक साथ पाँच-पाँच नल दीखने) मे कोई कारण नही है ।

टिप्पणी—दमयन्ती विचारने लगी कि नेत्रो को अगुलिपीडित करने आदि से एक चन्द्र के स्थान में दो चन्द्र दीखने का भ्रम होजाता है, शीशा आदि स्वच्छ पारदर्शी वस्तुओं मे प्रतिबिंब झलक कर एक का अनेकाभास करादेता है । इन सब भ्रातियो के स्पष्ट कारण हैं । पर दमयन्ती को जो एक के स्थान में पाँच पाँच नल दीख रहे हैं, इसका क्या कारण है ? नल तो एक ही है, पाँच दीखने का कोई स्पष्ट कारण भी नहीं है, फिर यह भ्रम क्यों है ? एक नल का पाँच होना असम्भव है, अत निश्चयपूर्वक इनमें से चार तो नलातिरिक्त व्यक्ति हैं । पाँचो नल नहीं हैं ॥ ४१ ॥

किं वा तनोति मयि नैषध एव काव्यव्यूहं विधाय परिहासमसौ विलासी ?
विज्ञानवैभवभृतः किमु तस्य विद्या सा विद्यते न तुरगाशयवेदितेव ?॥४२॥

जीवातु—किमिति । वा अथवा, विलासी विलसनशील:, 'वौ कषलसकत्थस्रम्भः' इति घिनुण् प्रत्ययः, असौ नैषधो नल एव, कायव्यूहं,, देहसमूहं विधाय सम्पाद्य, मयि परिहासं नर्मव्यवहारं, तनोति किम् ? विस्तारयति किम् ? एतदेव सम्भवतीति भावः । कुतोऽस्य कायव्यूहरचनासम्भवः ? इत्यत आह—विज्ञानं शिल्पकलापरिज्ञानं, 'विज्ञानं शिल्पशास्त्रयो:' इत्यमरः, तदेव वैभवं बिभर्तीति तस्य शिल्पसमृद्धिमतः, तस्य नलस्य, तुरगाशयवेदिता अश्वहृदयवेदित्वमिव, सा विद्या बहुरूपकल्पना विद्या, न विद्यते किमु ? न सम्भवति किम् ? अपि तु सम्भवत्येव ॥ ४२ ॥

अन्वयः—वा विलासी असौ नैषधः कायव्यूहं विधाय मयि किं परिहासं तनोति ? किमु विज्ञानवैभवभृतः तस्य तुरगाशयवेदिता इव सा विद्या न विद्यते ?

हिन्दी— अथवा लीलाप्रिय यह निषधराज (नल) अनेक शरीर बनाकर मेरे साथ क्या परिहास कररहा है ? विशिष्ट ज्ञान के वैभव को धारण करता वह (नल) अश्वों के मनोभाव जाननेवाली विद्या की भाँति क्या वह विद्या (काय्यव्यूहविधानविद्या) नहीं जानता ? (जानता ही है, लगता है) ।

टिप्पणी—नल क्रीडापरायण था, संभव है दमयन्ती के साथ हासविलास करने के लिए उसने अनेक शरीर-रचलिये हों । नल के काय्यव्यूहविधान विद्या—अनेक देह रचलेने का इन्द्रजाल-जानने की पूरी संभावना है । वह घोड़ों के मनोभाव समझलेता है, अनेक कलाएँ उसे आती हैं । अवश्य नल ही यह परिहास कर रहा है । बड़ा बहुरूपिया है ॥ ४२ ॥

एको नलः किमयमन्यतमः किमैलः ?
कामोऽपरः किमु ? किमु द्वयमाश्विनेयौ ? ।
किं रूपधेयभरसीमतया समेप
तेष्वेव नेह नलमोहमहं वहे वा ? ॥ ४३ ॥

जीवातु—एक इति । वा अथवा, इह पञ्चके, अयमेको नलः किम् ? अन्यतमोऽपरः, ऐलः पुरूरवाः किम् ? अपरः कामः किमु ? द्वयम् अपरौ द्वौ, आश्विनेयौ दस्रौ किमु ? अत एव रूपमेव रूपधेयं सौन्दर्यं; 'नामरूपभागेभ्यो

घेयो वक्तव्य.' इति स्वार्थे धेय–प्रत्यय.' वद्भूरस्य तत्सम्पद', सीमतया अवधित्वेन, समेषु लोकोत्तरसौन्दर्यसाम्येन अगृहीतविशेषेषु इत्यर्थ., तेष्वेव सम्प्रत्युक्तेषु नलादिषु पञ्चसु एव, अहं नलमोह किं कथ, न वहे ? सदृशेषु सादृश्यात् भ्रान्तिर्युक्तैवेति भाव. ॥ ४३ ॥

अन्वयः—वा इह किम् अयम् एकः नल., किम् अन्यतमः ऐल., किमु अपरः कामः, द्वय किमु अश्विनेयौ ? रूपधेयभरसीमतया समेषु तेषु एव अहं नलमोहं किं न वहे ?

हिन्दी—अथवा इन (पाँचों) मे क्या यह एक नल है, क्या दूसरा इलापुत्र (पुरूरवा) है, क्या अन्य कामदेव है, और यह जोड़ा क्या दोनो अश्विनीकुमार हैं ? सौंदर्यबाहुल्य की पराकाष्ठा के कारण एक-से इन (पाँचों) ही मे मैं (दमयन्ती) नल का व्यामोह (भ्रम) क्यों न धारण करूँ ?

टिप्पणी—दमयन्ती ने सोचा कि इन पाचो एक समान सुन्दर, एकरूप नलो मे एक तो नल है, एक पुरूरवा है, एक काम है और दो अश्विनीकुमार-युग्म है। नल और चार जगद्विख्यात सौंदर्य के प्रतिमान। इनकी एकता के कारण दमयन्ती को नलमोह हो जाना परम स्वाभाविक है। भ्रम उचित ही है ॥ ४३ ॥

पूर्वं मया विरहनिःसहयाऽपि दृष्टः सोऽयं प्रियस्तत इतो निषधाधिराजः।
भूयः किमागतवती मम सा दशेयं पश्यामि यद्विलसितेन नलानलीकान् ? ॥

जीवातु—पूर्वमिति। पूर्वमपि स्वयवरकालात् प्रागपि, निः न, सहते इति नि सहा पचाद्यच्, विरहस्य नि.सहा असहना तया विरहकातरया, मया सोऽयं प्रियो निषधाधिराजो नलः, तत इतः सर्वासु दिक्षु, दृष्टः, मम इयं वर्त्तमाना, दशा विरहोन्मादरूपावस्था, सा पूर्वानुभूता एव दशा, भूय' पुन., आगतवती किम् ? यस्या उन्मत्तदशायाः, विलसितेन प्रभावेणेति यावत्, अलीकान् नलान् पश्यामि ॥ ४४ ॥

अन्वयः—पूर्वम् अपि विरहनिःसहया मया स. अयं प्रिय. निषधाधिराज. इतः तत. दृष्ट', मम इयं सा दशा किं भूय' आगतवती, यद्विलसितेन अलीकान् नलान् पश्यामि।

हिन्दी—पहिले भी विरहकातरा मैंने (दमयन्ती ने) अपने प्रिय निषधराज (नल) को इधर-उधर (चारों ओर) देखा था; मेरी यह वह (विरहदशा) क्या पुनः आगयी, जिसके प्रभाव से मैं मिथ्या नलों को देख रही हूँ।

टिप्पणी—दमयन्ती नल के विरह में पहिले भी उस उन्माददशा का अनुभव कर चुकी थी, जिसमें उसे सब ओर नल ही दीखता था। उसे लगा कि वह पहिले के समान ही इस समय भी उन्मादिनी हो गयी है, जिससे उसे पाँच-पाँच नल दीख रहे हैं ॥ ४४ ॥

मुग्धा दधामि कथमित्थमथापशङ्कां ?
सङ्क्रन्दनादिकपटः स्फुटमीदृशोऽयम् ।
देव्याऽनयैव रचिता हि तथा सर्वेषां
गाथा यथा दिगधिपानपि ताः स्पृशन्ति ॥ ४५ ॥

जीवातु—मुग्धेति। अथ पक्षान्तरे, मुग्धा मूढा, अहमिति शेषः, कथमित्थम् अपशङ्कां मिथ्या संशयं, दधामि ? अयुक्तोऽयमिदानीम् ईदृङ्मोह इत्यर्थः, यतः ईदृशः एवंविधः, अयं व्यापारः, सङ्क्रन्दनादीनाम् इन्द्रादीनां, कपटो माया, इति स्फुटं व्यक्तम्, तथा हि, अनया देव्यैव तथा तेन प्रकारेण, एषामिन्द्रादीनां, गीयन्ते इति गाथाः वर्णनश्लोकाः, 'उषिकुषिगार्त्तिभ्यः स्थन्' इत्यौणादिकः स्थन्-प्रत्ययः, रचिताः, यथा येन प्रकारेण, ता गाथाः, दिगधिपानिन्द्रादीनपि, स्पृशन्ति श्लेषमहिम्ना बोधयन्ति, न तु केवलं नलम्; अतो मत्प्रतारणार्थं नलरूपधारणात्मिका देवमायैवेयं न तु मामको मोह इति भावः ॥

अन्वयः—अथ मुग्धा कथम् इत्थम् अपशङ्कां दधामि ? ईदृशः अयं सङ्क्रन्दनादिकपटः स्फुटम्; तथाहि अनया देव्या एव एषां गाथाः तथा रचिताः यथा ताः दिगधिपान् अपि स्पृशन्ति ।

हिन्दी—अथवा मूढ मैं क्यों ऐसी दुःशंकाएँ कर रही हूँ ? यह ऐसा व्यापार इन्द्रादि का कपट है, यह स्पष्ट है, क्योंकि इन देवी (सरस्वती) ने ही इन (इन्द्रादि) के विषय में श्लोकमय वर्णन उस प्रकार ही किया है, जो कि दिक्पालों का भी बोध करा रहा है।

टिप्पणी—सोचती विचारती दमयन्ती को प्रतीत हुआ कि वह यह सब दशा विशका व्यर्थ कर रही है। स्पष्ट है कि यह सब देवों का कपट जाल है, और कुछ नहीं है। देवी सरस्वती का वर्णन भी तो श्लिष्ट था। उन गाथाओं से नल और नलातिरिक्त देव—दोनों का बोध हो जाता है। निश्चयत ये चार नल मिथ्या हैं, देवों ने ही यह माया फैलायी है ॥ ४५ ॥

एतन्मदीयमतिवञ्चकपञ्चकस्थे नाथे कथं नु मनुजस्य चकास्तु चिह्नम्?।
लक्ष्माणि तानि किममी न वहन्ति हन्त! बर्हिर्मुखा धुतरजस्तनुतामुखानि?॥

जीवातु—एतदिति। एतेषां मदीयमतिवञ्चकानां मद्बुद्धिप्रतारकाणाम् इन्द्रादीनां, पञ्चके तिष्ठतीति तादृशे एतत्पञ्चकमध्यस्थे, नाथे नले, कथं नु कथमिव, मनुजस्य चिह्नं मानवत्वव्यञ्जकधर्मं, चकास्तु? स्फुरतु? किं नु अमी बर्हिर्मुखाः अग्निमुखा देवा, धुतरजस्तनुतामुखानि धुतं परित्यक्तं, रजो धूलिः, मृत्तिकास्पर्श इति यावत्, यया सा तादृशी तनुर्येषां तेषां भावः धुतरजस्तनुता, मुखम् आदिर्येषां तादृशानि, तानि प्रसिद्धानि, लक्ष्माणि भूमिस्पर्श-स्वेद निमेषराहित्यादीनि देवत्वव्यञ्जकचिह्नानि, हन्त खेदे, किं कथं, न वहन्ति? तथा हि मम दुर्भाग्याद्देते देवाः स्वीयासाधारणचिह्नानि मन्नाप्यात्र तिष्ठन्ति, तत एव नलं लक्षयितुं न शक्नोमीति भाव ॥ ४६ ॥

अन्वयः—एतन्मदीयमतिवञ्चकपञ्चकस्थे नाथे मनुजस्य चिह्नं कथं नु चकास्तु? हन्त, अमी बर्हिर्मुखा धुतरजस्तनुतामुखानि तानि लक्ष्माणि किं न वहन्ति?

हिन्दी—मेरी (दमयन्ती की) बुद्धि की वंचना करने वाले इन पाँचों के मध्य स्थित स्वामी (नल) में मनुष्य का चिह्न कैसे प्रकट हो? हाय, ये अग्निमुख (देव) माटी के स्पर्श से रहित देह, मुख आदि होना इत्यादि वे देवत्व के प्रसिद्ध चिह्न क्यों नहीं धारण करते?

टिप्पणी—पाँच पाँच नल सम्मुख थे। दमयन्ती जब इस निश्चय पर पहुँच गयी कि यह सब देवों की माया और कपट है, तो उसने विचार किया कि कैसे ज्ञात हो कि इनमें देव कौन से हैं और उसका प्रिय नल कौन सा है? उसने सोचा कि मैं इनमें देखूँ कि मनुष्य होने के चिह्न—पसीना आना, पलक झपना, धूलिकण होना, माला का म्लान होना आदि किसमें हैं? जिसमें

ये मानवलक्षण मिले, वही नल है, और जिसमें यह सब न हो, वे देव। पर यह सब तो कुछ स्पष्ट ही नहीं होता। देव सचमुच मुंह में आग रखते हैं—निर्मम, दयाहीन। ये सब क्यों अपने देव-चिह्न प्रकट होने देंगे जल मुंहे ? नल-चिह्नों के अस्पष्ट होने पर भी यदि देवचिह्न स्पष्ट होते तो दमयन्ती नल को पहिचान लेती, किन्तु ऐसा भी नहीं हुआ और दमयन्ती नल को न पहिचान पायी। चार देव तो वंचक थे ही, उनमें मिला नल भी पाँचवा सवार बन गया। उसकी वंचना यह हो सकती है कि वही किसी संकेतादि से तथ्य प्रकट क्यों नहीं करता ? अथवा परिहास में नल को भी वंचक कह दिया गया ॥ ४६॥

याचे नलं किममरानथवा तदर्थं नित्यार्चनादपि न दत्तफलैरलं तैः।
कन्दर्पशोषणपृषत्कनिपातपीतकारुण्यनीरनिधिगह्वरघोरचित्तैः ॥ ४७ ॥

जीवातु—याचे इति। अमरान् इन्द्रादीन्, नलं याचे किम् ? दुहादित्वात् द्विकर्मकत्वम्, अथवा तदर्थं नलप्राप्तिनिमित्तं नित्यं यदर्चनं पूजनं तस्मादपि, न दत्तफलैः मम प्रार्थितमप्रयच्छद्भिः, किञ्च कन्दर्पस्य शोषणः तदाख्यः, यः पृषत्कः बाणः, तस्य निपातेन पीतः शुष्कतां प्रापितः, कारुण्यनीरनिधिः कृपाब्धिः यस्मात् तथाभूतम्, अत एव गह्वरेण दम्भेन, शाठ्येनेत्यर्थः, मूढेयं देवानस्मान् परित्यज्य मर्त्ये नले एवानुरागिणी अत एव एनां प्रतारयाम इति बुद्धया कपटताश्रयणेनेति भावः, 'गह्वरं बिलदम्भयोः' इति शाश्वतः, घोरं भीमं कठिनं वा, चित्तं येषां तैः कन्दर्पाधीनतया निष्कृपचित्तैरित्यर्थः, तैः अमरैः, अलं निष्प्रयोजनम्; ये देवाः; कामभुग्धत्वात् नित्यार्चनेनापि प्रार्थितं न प्रायच्छन् तेऽधुना प्रार्थनामात्रेणैव नैव प्रार्थितं पूरयिष्यन्तीति तत्प्रार्थना वृथैवेति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—किम् अमरान् नलं याचे ? अथवा तदर्थं नित्यार्चनात् अपि न दत्तफलैः कन्दर्पशोषणपृषत्कनिपातपीतकारुण्यनीरनिधिगह्वरघोरचित्तैः तैः अलम्।

हिन्दी—क्या देवों को नल के निमित्त याचना करूँ ? अथवा उस (नल) प्रतिदिन अर्चना से भी फल न देने वाले, काम के 'शोषण' नामक

बाण के गिरने से जिनका करुणा-समुद्र सोख लिया गया है, ऐसे गहरे गड्ढे-जैसे घोर (कठोर) चित्तवाले उन (देवों) से (याचना) व्यर्थ है।

टिप्पणी—विह्वला दमयन्ती ने सोचा कि क्या एकबार वह इन देवों से ही प्रार्थना करे कि वे उसका प्राणेश नल उसे दे देने की कृपा करें, किन्तु तुरन्त उसे समझ आ गया कि उसकी यह प्रार्थना निष्फल होगी। इन देवताओं की तो उसने नित्य नलप्राप्ति के निमित्त आराधना की है, उस पर कुछ ध्यान न दे आज वे यहाँ कपटमाया कर रहे हैं। इन से क्या आशा हो सकती है? वस्तुतः आज ये देवता कामी हो गये हैं। काम वश हो ये अपनी करुणाशीलता का परित्याग कर बैठे हैं, आज इनका चित्त नहीं, एक गहरा, सूखा गड्ढा मात्र रह गया है। उसमें प्रवहमान करुणा के नीर को काम ने सोख लिया है। व्यर्थ है—इनसे याचना प्रार्थना ॥ ४७ ॥

ईशा ! दिशां नलभुवं प्रतिपद्य लेखा ! वर्णश्रियं गुणवतामपि वः क्व याता।
मूर्खान्धकूपपतनादिव पुस्तकानामस्तं गतं बत परोपकृतिव्रतित्वम् ?॥४८॥

जीवातु—ईशा इति। हे दिशामीशा ! लेखाः ! हे सुरा ! नलाद् नैषधाद् भवति इति नलभूस्तां नलभुवं नलनिष्ठां, वर्णश्रियं गौरत्वरूपसम्पदम्, अन्यत्र—नलाख्यतृणनिर्मितलेखनीभुवमक्षरसम्पदं, प्रतिपद्य प्राप्यापि, 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु चाक्षरे' इत्यमरः, गुणवतां शूद्रत्वसौन्दर्यादि-गुणाढ्यानाम्, अन्यत्र—बन्धनसूत्रवतां, वो युष्माकं, मूर्खा मूढा, ते एवान्ध-यन्तीत्यन्धाः कूपा अन्धकूपा जलशून्यपुराणकूपा, तेषु पतनात् पुस्तकानामिव परोपकृतिव्रतित्वं परोपकारनियमवत्त्वं क्व याता कुत्र वा, अस्तं नाशं गतम्? बतेति देवोपालम्भः, नलस्य रूपधारणेन तदीयगुणा अपि युष्मासु सङ्क्रान्ताः, ततश्च तदीयपरोपकारव्रतमपि युष्मासु ध्रुवं सङ्क्रान्तं, किन्तु मद्विषये तद् व्रतं क्व विनष्टम्? इति भावः। अन्यत्र—उत्कृष्टलिप्यक्षरयोगिना वर्णशुद्धि-रहितानामपि पुस्तकानां मूर्खहस्तपतनेन शिशिक्षूणामुपकाराभावात् परोप-कारित्वं न भवति, इति भावः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—दिशाम् ईशाः, लेखाः, नलभुवं वर्णश्रियं प्रतिपद्य गुणवताम् अपि वः परोपकृतिव्रतित्वं पुस्तकानाम् मूर्खान्धकूपपतनात् इव बत क्व वा अस्तं गतम्?

हिन्दी—अथवा अरे दिक्पालों, देवों, नलस्थित रूपशोभा को प्राप्त कर सौन्दर्यादि गुणधारी भी तुम्हारी परोपकार की नियम शीलता, सरकण्डे से लिखे गये वर्णों (अक्षरों) की शोभा से संपन्न, शुद्ध, गुण (धागे) में बँधी पुस्तकें जैसे मूर्ख और अंधे (अथवा अज्ञानरूप अंधत्व से युक्त) व्यक्ति रूप कूप में पड़ने से नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही, क्यों नष्ट हो गयी ?

टिप्पणी—भाव यह है कि देवों ने नल का रूप तो ले लिया, अपना लिया, किन्तु उसका स्वभाव नहीं अपनाया। नल तो सुन्दर होने के साथ-साथ इतना परोपकारी है कि वह स्वयं दमयन्ती का अनन्य प्रणयी होते पर भी परोपकारभावना से देवों का दूत बन कर उनका स्वार्थ सिद्धि के निमित्त दमयन्ती के पास गया था, उन सत्पुरुषों की भाँति जो स्वार्थ-त्याग कर दूसरे की इच्छा पूर्ण करते हैं—'सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये।' ये देव इतने कपटी हैं कि स्वार्थ के लिए परोपकारी का अपकार करने को उद्यत हैं। इनकी परोपकार शीलता आज उसी प्रकार नष्ट हो गयी है, जैसे सुन्दर लेखनी से लिखे सुन्दर अक्षरों वाली सुरक्षित पुस्तकें भी अज्ञानियों—मूर्खों के हाथ पड़कर नष्ट हो जाती हैं, मानों कुए में जा पड़ी हों। नल की परोपकारिता इन दुष्ट देवों के हाथ पड़कर मूर्खों के हाथ पड़ी पुस्तक के समान कुए में जा पड़ी है। व्याकुल दमयन्ती इस प्रकार देवों को उपालम्भ देने लगी ॥ ४८ ॥

यस्येश्वरेण यदलेखि ललाटपट्टे
तत् स्यादयोग्यमपि योग्यमपास्य तस्य।
का वासनाऽस्तु बिभृयामिह यां हृदाऽहं ?
नार्कातपैर्जलजमेति हिमैस्तु दाहम् ॥ ४९ ॥

जीवातु—यस्येति। यस्य जनस्य, ललाटपट्टे भालफलके, ईश्वरेण विधिना, यत् शुभमशुभं वा कर्मानुरूपम्, अलेखि लिखितं, तस्य जनस्य, अयोग्यम् अनर्हमपि, तत् शुभाशुभं कर्तृ, योग्यमनुरूपं फलम्, अपास्य अनादृत्य, स्यादेव स्वयं भवेदेवेत्यर्थः, एवं स्थिते सा वासना ईश्वरेच्छानुगृहीतकर्मवासना युक्तिर्वा, का अस्तु ? सम्भावनायां लोट्, का वा सम्भविता ? तन्न वेद्मीत्यर्थः, इह नलनिश्चयविषये, यां वासनाम्, अहं हृदा हृदयेन, बिभृयां धारयेयम् ? अन्य-

तरनिश्चये सन्देहदुःख न स्यादित्यर्थ । तत् स्यादयोग्यमपीत्यत्र दृष्टान्तमाह– जलज पद्मम्, अर्कातपं तपनसन्तापं, दाह न एति, तु किन्तु, हिमैः एति, तन ईश्वरेच्छाऽनुगृहीतकर्मवासनानुसारिणी नरप्राप्ति, सा तु दुर्ज्ञेया इति का गति ? अतो देवाना न दोष इति भाव ॥ ४९ ॥

अन्वय —ईश्वरेण यस्य ललाटपट्टे यत् अलेखि तस्य तत् अयोग्यम् अपि योग्यम् अपास्य स्यात्, इह का वासना अस्तु याम् अहं हृदा बिभृयाम् ? जलजं हिमैः दाहम् एति, न तु अर्कातपैः ।

हिन्दी—परमात्मा ने जिसके मस्तक के पट्टे पर जो लिख दिया, उसका वह अवांछित भी वांछित फल का अनादर करके हो जाता है, ऐसी स्थिति में (नलविषयक सदेह नाश में) किस युक्ति का मैं मन मे धारण करूँ ? कमल तुषार से जल जाता है, सूरज की धूप से नहीं ।

टिप्पणी—दैव विधान को दोष देती दमयन्ती सोचन लगी कि वह कौन-सा उपाय करे, विचारे कि उसका यह दैवदुर्विपाक मिटे और वह वास्तविक नल को पहिचान पावे । विधाता ने जो जिसके ललाटपट्ट पर लिख दिया, वह अच्छा हो या बुरा, होता ही है । अवांछित, अयुक्त उचित और वांछित को हटा कर हो जाता है । उदाहरणार्थ धूप दाहक है और तुषार—जलकण शीतल, किन्तु कमल का सूर्यातप दग्ध नहीं करता, उसके दाह का निमित्त बनता है तुषार (पाला)—एक शीतल जलविकार । सो सर्वथा दैवेच्छा ही प्रबल है । दुर्ज्ञेय है दैवगति । देवा का कोई अपराध नहीं ॥ ४९ ॥

इत्थं यथेह मदभाग्यमनेन मन्ये कल्पद्रुमोऽपि न मया खलु याच्यमानः ।
सङ्कोचसज्वरदलाङ्गुलिपल्लवाग्रपाणीभवन् भवति मां प्रति बद्धमुष्टिः ॥५०॥

जीवातु—इत्थमिति । इह समये, इत्थमेतादृश, मम अनाप्य मन्दभाग्यम्, अभूदिति शेष, यथा येन, अनेन मन्दभाग्येन, ॥ अनिवदान्य, कल्पद्रुमोऽपि मया याच्यमानः सन्, सङ्कोचो मुकुलीभाव, स एव सज्वर सन्ताप, 'सन्ताप सज्वरः समौ' इत्यमर, येषा तादृशानि दलान्यवाङ्गुलयो यस्य तादृश पल्लवाग्रमेव पाणिर्यस्य तादृगभवन् सकुचितपाणीभवन् अभूततद्भावे च्वि दीर्घश्च, मां प्रति बद्धमुष्टि अमुक्तहस्त, कृपण इत्यर्थ, भवति खलु भवत्येव,

इति मन्ये; अर्थिमनोरथपूरकः स कल्पवृक्षोऽपि मयि प्रतिषेधरूक्ष एव स्यात्तथाविधो मे भाग्यविपर्यय इति भावः ॥ ५० ॥

अन्वयः—इह इत्थं मम अभाग्यं मन्ये यथा अनेन मया याच्यमानः सः कल्पद्रुमः अपि सङ्कोचसंज्वरदलाङ्गुलिपल्लवाग्रपाणीभवन् मां प्रति बद्धमुष्टिः भवति ।

हिन्दी—इस समय ऐसा मेरा अभाग्य है कि मैं (दमयन्ती) समझती हूँ, इस अभाग्य के कारण मेरे द्वारा प्रार्थित वह (परमोदार) कल्पवृक्ष भी संकुचनरूप ज्वर-ताप से आक्रान्त किसलयरूप अँगुलियों से युक्त पल्लवाग्ररूप हस्तवाला होता हुआ मेरे प्रति मुट्ठी बाँध लेगा ।

टिप्पणी—अपने दुर्भाग्य पर दुःख प्रकट करती दमयन्ती विचारने लगी कि इस समय दैव उसके विपरीत है। परमोदार, अभीष्टदायी कल्पवृक्ष से भी इस समय अगर वह याचना करेगी तो वह अपना हाथ बाँध लेगा, कृपण बन जायगा। पल्लव-रूप हाथ की अँगुलियाँ वह सकोड़ लेगा जैसे संकोच का ज्वर चढ़ आया हो। अतः कल्पतरु से भी इस अभाग्यदशा में याचना व्यर्थ है ।। ५० ॥

देव्याः करे वरणमाल्यमथार्पये वा ?
यो वैरसेनिरिह तत्र निवेशयेति ।
सैषा मया मखभुजां द्विषती कृता स्यात्
स्वस्मै तृणाय तु विहन्मि न बन्धुरत्नम् ॥ ५१ ॥

जीवातु—देव्या इति । अथवा इह पञ्चानां मध्ये, यो वैरसेनिः नलः तत्र तस्मिन्, निवेशय संस्थापय, इति, उक्त्वेति शेषः, देव्याः वाणीदेव्याः, करे वरणमाल्यं पतिवरणनिमित्तं मालाम्, अर्पये ? तच्च न युज्यते इत्याह— सैषा देवी सरस्वती, मया मखभुजां देवानां, द्विषती द्वेषिणी, विद्वेषपात्रीत्यर्थः, 'द्विषोऽमित्रे' इति शतृप्रत्ययः। 'उगितश्च' इति ङीप्। 'द्विषः शतुर्वा' इति विकल्पात् षष्ठी, कृता स्यात्; तथा च मत्प्रेरणया देव्या यथार्थनले वरमाल्यार्पणे कृते सति इन्द्रादीनां नलरूपधारणरूपमाया प्रकाशिता भवेत्, एवञ्च सति देव्युपरि इन्द्रादीनां विद्वेषो भविष्यतीति भावः। तृणाय तृण-

कल्पाय, स्वस्मै स्वार्थम्-इत्यर्थः, तृणतुल्यस्य निजस्य कार्यसिद्धये इति भावः, बन्धु रत्नमिव इति बन्धुरत्नं परमबन्धु, तु पुनः, न विहन्मि न विरुणध्मि; तथा च देव्युपरि इन्द्रादीनां विद्वेषे जाते तद्विद्वेषस्य मन्मूलकत्वेन मदुपरि देव्याः पूर्ववत् बन्धुभावो विहतो भविष्यतीति भावः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अथवा—'इह यः वैरसेनिः तत्र निवेशय'—इति देव्याः करे वरणमाल्यम् अर्पये? सा एषा मया मखभुजां द्विषतीकृता स्यात्, तु तृणाय स्वस्मै बन्धुरत्नं न विहन्ति।

हिन्दी—अथवा—'इन (पाँचों) में जो वीरसेन का पुत्र (नल) हो उस (के गले) में डाल दो'—ऐसा कह कर देवी (सरस्वती) के हाथ में ही वरमाला अर्पित कर दूँ? किन्तु इस प्रकार तो वे भगवती मेरे द्वारा यज्ञभोगी देवों की शत्रु बना दी जायेंगी। मैं तृणसमान अपने (स्वार्थ के) लिए (देवीरूप) रत्न को नहीं खोऊँगी।

टिप्पणी—दमयन्ती ने एक बार सोचा कि उचित हो कि मैं देवी के हाथ में ही वरमाला समर्पित कर दूँ और निवेदन कर दूँ कि इन पाँचों के मध्य जो नल हो, उसी के कण्ठ में माला डाल दीजिए। फिर उसने इसके अनौचित्य पर विचार किया,—यह ठीक न होगा। इसमें मेरा स्वार्थ नगण्य है, तृण समान है और देवी और उनका बन्धुत्व रत्नसमान बहुमूल्य है। देवी यदि मेरे निवेदन पर नल को वरमाल पहिना देंगी तो देव उनके शत्रु हो जायेंगे। यह तो मेरे लिए बन्धुघात होगा, तिनके के लिए रत्न को खो देना। ऐसा करना सर्वथा अनुचित है। मेरे कारण देवी की इन्द्रादि से शत्रुता हो जाना तो उचित नहीं है ॥ ५१ ॥

> यः स्यादमीषु परमार्थनलः स माला-
> मङ्गीकरोतु वरणाय ममेति वेलाम्।
> तं प्रापयामि यदि तत्र विसृज्य लज्जां
> कुर्वे कथं जगति शृण्वति? हा विडम्बः ॥ ५२ ॥

जीवातु—य इति। अमीषु पञ्चसु मध्ये, यः परमार्थनलः स्यात् स परमार्थनलः मम वरणाय मालां वरणस्रजम्, अङ्गीकरोतु स्वीकरोतु, तत्र सभामध्ये, लज्जां विसृज्य इति उक्त्वा या एतां मालां, यदि सत्यनल

प्रापयामि तदा जगति निखिलसभास्थलोके, शृण्वति सति कथं कुर्वे ? हा कष्टं, विडम्बः परिहासः; तादृशोक्त्या मम निर्लज्जता प्रकटीभविष्यति तत् श्रुत्वा च सभास्थाः सर्वे लज्जाहीनतया मां परिहसिष्यन्तीति भावः ॥५२॥

अन्वयः—अमीषु यः परमार्थनलः स्यात् सः मम वरणाय मालाम् अङ्गीकरोतु इति वा तत्र लज्जां विसृज्य एतां तं प्रापयामि, जगति शृण्वति कथं कुर्वे ? हा विडम्बः।

हिन्दी—इन (पाँचों) में जो परमार्थतः (सत्यतः) नल हो, वह मुझे वरने के लिए माला को स्वीकारे'—ऐसा कहूँ और वहाँ (सभामध्य) लज्जा त्याग कर इसे (माला को) उसे (नल को) पहिना दूँ तो संसार (सब) के सुनते रहते यह कैसे करूँ ? हाय बड़ी विडम्बना है।

टिप्पणी—पुनः दमयन्ती ने यह भी विचारा कि आगे बढ़े और घोषणा कर दे कि आप पाँचों में जो सत्य नल है, वह इस वरमाला को स्वीकारे और वरण करे। पर सभा के बीच लज्जा छोड़ कर ऐसा करना निंदा और उपहास का कारण होगा। यह भी संभव नहीं ॥ ५२ ॥

इतरनलतुलाभागेषु शेषः सुधाभिः स्नपयति मम चेतो नैषधः कस्य हेतोः।
प्रथमचरमयोर्वा शब्दयोर्वर्णसख्ये विलसति चरमेऽनुप्रासभासां विलासः ॥५३॥

जीवातु—इतरेति। एषु पञ्चसु मध्ये, इतरेषां चतुर्णां, नलानां तुलाभाक् सादृश्यभाक्, शेषः पञ्चमः, नैषधः कस्य हेतोः केनापि कारणेन, 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी, मम चेतः सुधाभिः स्नपयति; 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' इति न्यायादनेनैव सत्यनलेन भाव्यमिति मन्ये इति भावः। सत्यनलत्वप्रमापिकामहेतुकीं मनःप्रीतिं दृष्टान्तेन द्रढयति—प्रथमेति। प्रथमचरमयोः पूर्वोत्तरयोः द्वयोः, शब्दयोः वर्णसख्ये अक्षरसाम्ये सत्यपि, चरमे उत्तरे शब्दे, अनुप्रासो वर्णावृत्तिलक्षणः छेकानुप्रासादि-शब्दालङ्कारः, तस्य भासां शोभानां, विलासो वा चमत्कारिता एव, 'वा स्यात् विकल्पोपमयोरेवार्थेऽपि समुच्चये' इत्यमरः, विलसति स्फुरति, तथा च अनुप्रासस्थले अन्तिमशब्दे वर्णसाम्यं यथा चमत्कारविधायकं भवति, तद्वदन्तिमे नैषधे नलसाम्यमेव मम चेतसः परमप्रीतिसम्पादकं भवति, न त्वत्र सत्यत्वं प्रयोजकं, यतः सर्वे एव समानरूपा इति भावः। अनुप्रासानां तादृशत्वे

दृष्टान्तस्तु अलङ्कारग्रन्थे स्फुट एव, अथवा अस्यैव श्लोकस्य चरमचरणे विलस-विलास- प्रास-भास इति शब्दचतुष्टयेऽपि सम्भवति, अथवा प्रथम—शब्द-प्रयोगानन्तर चरम—शब्दे प्रयुक्ते एव तत्रानुप्राम- सम्भवति, यथा वा अत्रैवानुप्रासभासा विलास इत्यत्र सर्वसकाराश्रयत्वे अनुप्रासस्यान्तिमसकारे स्फुरणम्, एवमन्तिमबुद्धौ विपरिवर्तमानत्वाफलत्वाभिमानमात्रम्, एतावता अयमेवेति निश्चयो युक्त इति भावः। अत्र दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५३ ॥

अन्वय —एषु इतरनलतुलाभाक् शेष- नैषध कस्य हेतोः मम चेत सुधाभि- स्नपयति ? वा प्रथमचरमौ शब्दयोः वर्णसत्त्वे अपि चरमे अनुप्रास-भासा विलासः विलसति ।

हिन्दी—इन (पाँचो) मे अन्य (चार) नलों से समानता रखने वाला अवशिष्ट (पचम) निषधराज (नल) किस कारण मेरे (दमयन्ती के) चित्त को अमृत से स्नान करा रहा है ? अथवा पहिले और अन्तिम शब्दो में अक्षरसाम्य होने पर भी अन्तिम (शब्द) मे अनुप्रासालकार की कान्ति-च्छटा विलसित होती है ।

टिप्पणी—दमयन्ती का चित्त क्रम से पाँचवें स्थान पर बैठे नल को देख कर विशेष आनन्दित हो रहा था, जैसे सुधासागर मे स्नान कर रहा हो। यही सत्य नल था । कालीदास ने कहा है कि सदेह होने पर सज्जनों का सत्य-प्रतीति करा देता है—'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त करण-प्रवृत्तय.' । (अभिज्ञानशाकुन्तलम्—१।२२) । एक बार दमयन्ती ने इस आनदानुभूति के कारण वास्तविक नल को नल मानलेना चाहा, किन्तु द्विवि-धाग्रस्त मन इस पर आश्वत न हो सका, उसे यह लगा कि इस आनद का हेतु पचम का वास्तविक नल होना नहीं माना जा सकता, क्योंकि उत्तरवर्ती वस्तु पूर्वापेक्षया भली लगा करती है । यह चार के पश्चात् अन्तिम पचम है, सो इसकी उत्तरवर्तिता ही आनद की हेतु है। इसके लिए दृष्टात दिया गया अनुप्रासालकार का। अनुप्रास वर्णमैत्री परक शब्दालकार होता है—शब्दसाम्य प्रधान । इसमें यद्यपि पूर्ववर्ती शब्दो में भी साम्य होता है, पर अनुप्रासच्छटा अन्तिम मे ही होती है । उदाहरणार्थ इसी श्लोक के 'प्रथम-चरम' शब्दों को लीजिए । इन दोनो मे ही वर्णसाम्य है, किन्तु अनु-

प्रासातिशय 'चरम' में ही है, प्रथम में नहीं। 'प्रथम-चरम' का उच्चारण करने पर अनुप्रास उत्तरवर्ती चरम में ही दीखता है, न कि प्रथम में। इसी श्लोक के ही प्रथम और चतुर्थ चरणों में वर्णसाम्य है—'नल तुला' (प्रथम), 'विलसति विलासः' 'अनुप्रासभासाम्' (चतुर्थ)। अनुप्रास की विशेषच्छटा अन्त्य में ही है। इसी प्रकार पंचम के उत्तरवर्ती होने के कारण ही विशेष आनन्द मिल रहा है। इसी आधार पर इसको वास्तविक नल मानना विशेष उचित नहीं है। अथवा यह पंचम ही सत्य नल है, क्योंकि अनुप्रास-स्फुरण भी अन्त्य में ही होता है। जैसे उत्तरवर्ती में ही वास्तविक अनुप्रास होता है, वैसे ही इस पंचम उत्तरवर्ती नल में ही वास्तविक नलता है। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत अलंकार। इस और अग्रिम श्लोक में मालिनी छंद—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥ ५३ ॥

इति मनसि विकल्पानुद्यतः सन्त्यजन्ती क्वचिदपि दमयन्ती निर्णयं नाससाद।
मुखमथ परितापास्कन्दितानन्दमस्या मिहिरविरचितावस्कन्दमिन्दुं निनिन्द

जीवातु—इतीति। इति मनसि उद्यतः उत्पद्यमानान्, उत्पूर्वादिणः शत्रन्ताच्छसि पुंसि रूपम्, विकल्पान् विचारान्, सन्त्यजन्ती दोषोद्भावनद्वारा प्रतिषेधन्ती, दमयन्ती क्वचिदपि पञ्चसु एकत्रापि, निर्णयं नलनिश्चयं, न आससाद अथ नलनिश्चयाभावानन्तरं, परितापेन आस्कन्दितानन्दं निरस्तानन्दम्, अस्याः दमयन्त्याः, मुखं मिहिरेण सवित्रा, विरचितावस्कन्दं कृततिरस्कारम्, इन्दुं निनिन्द तद्वद्धीनम् अभूदित्यर्थः। एषा च परिताप-दैन्य-शून्यत्वादिकृच्चिन्ता अनुभावो ज्ञेयः; तदुक्तम्—'इष्टानधिगमाद् ध्यानं चिन्ता—शून्यत्व—तापकृत्' इति ॥ ५४ ॥

अन्वयः—इति मनसि उद्यतः विकल्पान् सन्त्यजन्ती दमयन्ती क्वचित् अपि निर्णयं न आससाद; अथ परितापास्कन्दितानन्दम् अस्याः मुखं मिहिरविरचितावस्कन्दम् इन्दुं निनिन्द।

हिन्दी—इस प्रकार (४१-५३) मन में उठते अनेक शंका-संदेह आदि विकल्पों को छोड़ती दमयन्ती (पाँचों में से) किसी में भी (नल होने का) निश्चय न कर सकी। तदनंतर (अनिश्चय के कारण) सन्ताप के कारण

आनन्द से हीन इस (दमयन्ती) का मुख सूर्य से पराभूत चन्द्र की निन्दा करने लगा।

टिप्पणी—अनेक प्रकार के सदेह, द्विविधा आदि के सकल्प विकल्पों में ग्रस्त दमयन्ती पाँचो मे से किसी को भी नल भाव से न मान पायी। सन्देह में पड़ी दमयन्ती इस सताप के कारण उदास हो गयी और उसका मुख सूर्य-प्रकाश से प्रभाहीन हुए चन्द्रमा की भाँति निष्प्रभ हो गया। मल्लिनाथ के अनुसार यह मुख-निष्प्रभता परिताप, दैन्य, शून्यता आदि से उत्पन्न चिता नामक अनुभाव है ॥ ५४ ॥

> श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
> श्रीहीर' सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
> स्वादूत्पादभृति त्रयोदशतयाऽऽदेश्यस्तदीये महा-
> काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥५५॥

जीवातु—श्रीहर्षमित्यादि। स्वादूत्पादभृति मधुरार्थधारिणि। त्रयोदशतया आदेश्यः त्रयोदशत्वेन सङ्खयेय.। गतम-यत् ॥ ५५ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु'समाख्यान त्रयोदश सर्ग समाप्त ॥१३॥

—

अन्वय—श्री हर्षं ' ' ' च यम् ॥ स्वादूत्पादभृति तदीये चारुणि महा—काव्ये नैषधीयचरिते त्रयोदशतया आदेश्य निसर्गोज्ज्वल (रसाम्भोनिधि) सर्ग व्यरमत्।

हिन्दी—प्रथम द्वितीय चरणो का अर्थ पूर्ववत्। अत्यन्त मधुर नवार्थ-युक्त उस (श्रीहर्ष) के चारु महाकाव्य 'नैषधीयचरित' म त्रयोदश (तेरह) सख्या से अभिहित प्रकृत्या रमणीय (रस का सागर) सर्ग समाप्त।

टिप्पणी—अनेक श्लिष्टार्थ पदो से चमत्कार चारुता का सचरण करने के कारण इस सर्ग को 'स्वादूत्पादभृत' (मधुरार्थ) और पाठातर मे 'रसाम्भनिधि' कहा गया ॥ ५५ ॥

नैषधीयचरिते त्रयोदश सर्गः समाप्त

—

चतुर्दशः सर्गः

अथाधिगन्तुं निषधेश्वरं सा प्रसादनामाद्रियतामराणाम् ।
यतः सुराणां सुरभिर्नृणान्तु सा वेधसाऽसृज्यत कामधेनुः ॥ १ ॥

जीवातु—अथेति । अथ चिन्तानन्तरं, सा भैमी, निषधेश्वरं नलम्, अधिगन्तुं लब्धुम्, अमराणाम् इन्द्रादीनां, प्रसादनाम् अभिमुखीकरणं, पूजादिना सन्तोषसम्पादनमित्यर्थः, आद्रियत अमोघसाधकत्वेन अवालम्ब्यतेत्यर्थः । अमोघसाधकत्वमेव समर्थयते यतः पुरा वेधसा सुराणां कामानां धेनुः कामधेनुः कामदुघा, सुरभिः काचन गौः, असृज्यत, नृणान्तु सा सुरप्रसादनैव, कामधेनुः असृज्यत, या यस्य कामान् दुग्धे गौरगौर्वा सैवास्य कामधेनुरिति भावः । अत्र अमरप्रसादनायाः कामधेनुत्वेन रूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ सा निषधेश्वरम् अधिगन्तुम् अमराणां प्रसादनाम् आद्रियत, यतः वेधसा सुराणां कामधेनुः सुरभिः असृज्यत, नृणां तु सा ।

हिन्दी—तदन्तर (अनेक संकल्प-विकल्पों के पश्चात्) उस (दमयन्ती) ने निषधराज की प्राप्ति के निमित्त देवों की पूजा को ही आदर दिया, क्योंकि विधाता ने देवों की कामधेनु (अभीष्ट साधिका) सुरभि बनायी, मनुष्यों की तो वह (देवपूजा) ।

टिप्पणी—दमयन्ती भक्त थी, देवों की आराधना सदा करने वाली । संकल्प-विकल्प में पड़ी उसको यही उचित प्रतीत हुआ कि इस संदेह-संकट से निस्तार पा नल को प्राप्ति के निमित्त देवपूजा ही आवश्यक है । वस्तुतः देवाराधना ही मानवों को अभीष्ट दे सकती है, विधाता ने जैसे देवों की अभीष्ट सिद्धि के लिए कामधेनु सुरभि को रचा है; मनुष्यों की अभीष्ट-प्राप्ति के लिए देवाराधना की सर्जना की है । इसलिए नल-प्राप्ति के निमित्त देवाराधन ही उचित है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अमर प्रसादना का कामधेनु भाव से रूपण होने के कारण रूपक अलंकार है । इस सर्ग में प्रमुखतया उपजाति छंद है । यह श्लोक विशेष भंगिमा के साथ कुछ संस्करणों में प्राप्त होता है, अर्थ प्रायः वही है । इसे पाठांतर भी कहा गया है और क्षेपक भी—

अथाधिगन्तु निषधेशमेषा प्रसादन दानवशात्रवाणाम् ।
अचेष्टतासौ महतीष्टसिद्धिराराधनादेव हि देवतानाम् ॥

अर्थात् निषधराज को प्राप्त करने के निमित्त इस (दमयन्ती) ने दानवो के शत्रु देवो की आराधना की ही चेष्टा की, क्योंकि देवो की आराधना से ही महती इष्ट सिद्धि होती है ॥ १ ॥

प्रदक्षिणप्रक्रमणालवालविलेपधूपावरणाम्बुसेकै ।
इष्टश्च मृष्टश्च फल सुवाना देवा हि कल्पद्रुमकानन न ॥ २ ॥

जीवातु—प्रदक्षिणेति । प्रदक्षिणप्रक्रमण प्रदक्षिणरूपेण परिक्रमणम् एव, आलवाल वृक्षमूले जलधारणार्थं सेतुविशेष, तथा विलेपश्चन्दनादिचर्चा, स एव विलेप पिण्याकादिलेप, धूपो दशाङ्गादिधूप, स एव दोहदधूपश्च, आवरणमङ्गदेवतापरिवेष्टन, तदेव शाखावरणम्, अम्बुसेकोऽभिषेक, स एव मूलेषु जलसेक, तेषां द्वन्द्व. तैः करणै, इष्टञ्च प्रियञ्च मृष्टञ्च अवदातञ्च, फलमीप्सित वस्तु, तदेव फल सस्य, 'सस्ये हेतुकृते फलम्' इत्यमर, सुवाना जनयन्त, षूते कर्त्तरि लट. शानजादेश', देवा हि देवा एव, नोऽस्माक नृणा, कल्पद्रुमाणा कानन वनम् । अत्र प्रदक्षिणप्रक्रमणाद्यालवालाद्यवयवरूपणाद् देवेषु कल्पद्रुमरूपणाच्च समस्तवस्तुविवर्त्तिसावयवरूपकम् ॥ २ ॥

अन्वय —हि प्रदक्षिणप्रक्रमणालवालविलेपधूपावरणाम्बुसेकै इष्ट च मृष्ट च फल सुवाना देवा न कल्पद्रुमकाननम् ।

हिन्दी—क्योंकि प्रदक्षिणा मे चारा ओर घूमने-रूप थाला, चदनादि लेप रूप दशाग (खाद आदि), वस्त्रादि समर्पण रूप छाया तथा बलदान रूप सिंचन द्वारा अभीष्ट और स्वच्छ फल-सर्जना करते देव हम मनुष्यो के कल्पवृक्ष का वन हैं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि मर्त्यों को अभीष्ट फल देव ही देते हैं, जैसे कल्पवृक्ष (वृक्षमात्र) थाला बनाने, खाद आदि देने, छाया (आवरण) करने और सिंचन से अच्छे मीठे फल देते हैं, वैसे ही प्रदक्षिणा, चदनादिलेप धूपदान और जल निवेदन आदि से पूजित हो देव अभीष्ट दिया करते हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ प्रदक्षिणप्रक्रमणादि में आलवालादि—अवयवरूपण और देवो में कल्पद्रुम रूपण के कारण समस्त वस्तुविवर्त्तिसावयव रूपक है ।

नारायण ने पूर्व प्रथम श्लोक में उक्त अर्थ के समर्थन के निमित्त यह कथन अर्थान्तरन्यास माना है ॥२॥

श्रद्धामयीभूय सुपर्वणस्तान् ननाम नामग्रहणाग्रकं सा ।
सुरेषु हि श्रद्दधतां नमस्या सर्वार्थनिष्यङ्गमिथः समस्या ॥ ३ ॥

जीवातु—श्रद्धेति । सा दमयन्ती, श्रद्धा विश्वासः, तन्मयी तद्युक्ता भूत्वा श्रद्धामयीभूय 'अभूततद्भावे च्वौ समासे क्त्वो ल्यबादेशः' तान् सुपर्वणो देवान्, नामग्रहणाग्रकम् अमुकदेवाय नम इत्यादि नामोच्चारणपूर्वकं यथा तथा, ननाम प्रणामं कृतवती । हि यतः सुरेषु विषये श्रद्दधतां विश्वसतां, नमस्या नमस्कारः, श्रद्धापूर्वकनमस्कार इत्यर्थः, नमस्यतेः क्यजन्तात् 'अ प्रत्ययात्' इति स्त्रियाम् अ–प्रत्यये टाप्, सर्वेषामर्थानां निधौ पूरणविषये, यान्यङ्गानि साधनानि, तेषां मिथः रहसि, अन्यानपेक्षमेवेत्यर्थः, किमपि आडम्बरमकृत्वैवेति यावत्, समस्या समासार्था, संयोजनकारिका इत्यर्थः, सर्वार्थसाधिका इति यावत्, समस्यते सङ्क्षिप्यते अनयेति समस्या संपूर्वादस्यतेः क्यबन्तात् 'अ प्रत्ययात्' इति स्त्रियाम् अ–प्रत्यये टाप्, 'मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि', 'समस्या तु समासार्था' इति चामरः, सति नमस्कारे सर्वसाधनं फलदं नान्यथेति सा नमश्चकारेति निष्कर्षः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥ ३ ॥

अन्वयः—सा श्रद्धामयीभूयः तान् सुपर्वणः नामग्रहणाग्रकं ननाम, हि सुरेषु श्रद्दधतां नमस्या सर्वार्थनिष्यङ्गमिथः समस्या ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने श्रद्धा से तल्लीन हो नाम ग्रहणपूर्वक उन देवों को नमस्कारार्पण किया, क्योंकि देवों में श्रद्धा रखने वालों का नमस्कार सब कार्यों की पूर्ति के अंगों में आडम्बरहीन संक्षिप्त अंग (कारण) है ।

टिप्पणी—पूजा आरम्भ में पहिले दमयन्ती ने सब देवों को नमस्कारार्पण किया, नाम ले-लेकर—'इन्द्राय नमः' 'अग्नये नमः' इत्यादि । वस्तुतः नमस्कार सब पूजा विधियों में अधिक महत्त्वपूर्ण है । यह सब पूजा विधियों का संक्षिप्त संग्रह है, जिसमें कोई आडम्बर नहीं, केवल श्रद्धा अपेक्षित है । मल्लिनाथ के अनुसार सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तर न्यासालंकार ॥३॥

यत्तान्निजे सा हृदि भावनाया बलेन साक्षादकृताखिलस्थान् ।
अभूदभीष्टप्रतिभूः स तस्या वरं हि दृष्टा ददते परं ते ॥ ४ ॥

जीवातु—यदिति। सा भैमी भावनाया बलेन ध्यानदार्ढ्येन, अखिलस्थान् सर्वगतान, तान् देवान्, निजे हृदि साक्षादकृत साक्षात् कृतवती, करोते. कर्त्तरि लुङ् तङ्, 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोप, इति यत्, स साक्षात्कार एव, तस्या भैम्या, अभीष्टे इष्टार्थसिद्धौ, प्रतिभूर्लग्नक, अभूत्, हि यत, ते देवा, दृष्टा प्रत्यक्षीभूता, चेत् तदा इति पदद्वयमत्राध्याहरणीयम्; परमवश्य, वर ददते।'न दातु देवा वरमर्हन्ति न प्रत्यक्षदृष्टा मनुष्येभ्य' इति श्रुति। अत्र कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥ ४॥

अन्वयः—सा अखिलस्थान् तान् भावनाया. बलेन निजे हृदि यत् साक्षात् अकृत, स तस्या अभीष्टप्रतिभू अभूत्, हि दृष्टा पर वर ददते।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने सर्वव्यापी उन (देवों) को भावना (ध्यान) के बल से अपने हृदय मे जो साक्षात् किया, वह (साक्षात्कार) उसके अभीप्सित (नल प्राप्ति) दान का निश्चयकर्ता बन गया, क्योंकि प्रत्यक्ष हुए वे (देव) अवश्य (उत्तम) वर देते हैं।

टिप्पणी—भाव यह है कि देव जब प्रत्यक्ष हो जाते हैं, तो अवश्य इच्छा पूर्ण करते हैं, देव दर्शन निष्फल नही जाता, अत देवपूजा के अंग ध्यान द्वारा देवो का मानस दर्शन किया गया। पहिले नमस्कार, तदनतर ध्यान। मल्लिनाथ के अनुसार यही कारण द्वारा कार्य समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

सभाजन तत्र ससर्ज तेषा सभाजने पश्यति विस्मित सा।
आमुद्यते यत् सुमनोभिरेव फलस्य सिद्धौ सुमनोभिरेव ॥ ५॥

जीवातु—सभाजनमिति। सा भैमी, तत्र सभाया, विस्मिते अकस्मादस्यादरेण देवाना पूजारम्भदर्शनादाश्चर्यान्विते, सभाजने सभ्यजने, पश्यति पश्यन्त तम् अनादृत्येत्यर्थ, 'षष्ठी चानादरे' इति चकारादनादरे सप्तमी, तेषा देवानां, सभाजनम् आनन्दन, पूजादिना सन्तोषसम्पादनमित्यर्थ, 'अथ द्वे आनन्दनसभाजने। आप्रच्छनम्' इत्यमर., मालत्यादिपु सत्कारश्च इत्यपि गम्यते, ससर्ज चकारेत्यर्थ.। किमर्थं सुरार्चनमित्याशङ्क्य सन्तुष्टा एव ते फल ददतीत्यर्थान्तर न्यस्यति, यत् यस्मात् सभाजनात्, सुमनोभि उदारचित्तै पण्डितै वा, मालत्यादिभिश्च, सुमनोभिर्देवै पुष्पैश्च, 'मालत्या पण्डिते पुष्पे देवे च सुमनोऽभिधा' इति विश्व, फल हेतुसाध्य सस्यञ्च, 'सस्ये हेतुकृते फलम्' इत्यमर, तस्य सिद्धौ

सिद्धिप्रसङ्गे. फलदानविषये इत्यर्थः, एवम् इत्थम्, आमुद्यते एव सन्तुष्यते एव, शद्गन्धविशिष्टीभूयते च मुदतेर्भावे लट्। 'आमोदो हर्षगन्धयोः' इत्यमरः, सुमनसां मालत्यादीनां फलपुष्पदानदर्शनात् सुरे सुमनस्त्वेन तथात्वनिश्चयात्तदामोदार्थं तत्सभाजनमन्वतिष्ठदित्यर्थः । अत्रोभयेषाम् अपि सुमनसाम् उभयोरप्यामोदयोश्च फलयोरभेदाध्यवसायेनायमर्थान्तरन्यासालङ्कार ॥ ५ ॥

अन्वयः—सा तत्र समाजेन विस्मिते पश्यति तेषां सभाजनं ससर्ज, यत् फलस्य सिद्धौ सुमनोभिः एवम् एव आमुद्यते ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने वहाँ (स्वयंवर सभा में) सभा में उपस्थित व्यक्तियों के चकित हो देखते-देखते, उनकी ओर ध्यान न दे, उन (देवों) की प्रीतिपूर्वक पूजा की ; क्योंकि अभीष्ट के दान में सुमनस् देव इसी प्रकार (पूजनादि से) वैसे ही प्रसन्न होते हैं, जैसे कि फलों के देने में पुष्प विकसित और सुगन्धित हुआ करते हैं ।

टिप्पणी—आशय यह है कि देव वर प्रसन्न होकर देते हैं, जैसे कि फल-दान से पूर्व फल विकसित और सुगन्धि हो आया करते हैं । इसी कारण सभा बीच चकित सभ्यों के देखते-देखते उनकी ओर ध्यान न दे दमयन्ती ने पूजा-आराधना द्वारा देवों को प्रसन्न करने का उपाय किया । 'सुमनस्' शब्द देव वाचक भी है और पुष्पार्थक भी । फल से वरार्थ-बोध भी होता है और वृक्षादि से उत्पन्न फल-बोध भी । आमोद अर्थात् प्रसन्नता और सुगंध । मल्लिनाथ के अनुसार 'सुमनस्' अर्थात् मालती-आदि के फल-पुष्प-दान-दर्शन रूप देवों में देवत्व का निश्चय हो जाने से 'आमोदार्थ' वे सभाजन विस्मित हो उठे । यहाँ दोनों (द्व्यर्थ बोधक) 'सुमनस्' और दोनों 'आमोदों' और 'फलों' में अभेदाध्यवसाय होने से अर्थान्तरन्यास है ॥ ५ ॥

वैशद्यहृद्यैर्म्रदिमाभिरामैरामोदिभिस्तानथ जातिजातैः ।
आनर्च गीत्यन्वितषट्पदैः सा स्तवप्रसूनस्तवकैर्नवीनैः ॥ ६ ॥

जीवातु—वैशद्येति । अथ पूजानन्तरं, सा दमयन्ती, तान् देवान्, वैशद्यमर्थव्यक्तिः, अन्यत्र—विकासश्च, तेन हृद्यैः हृदयप्रियैः, 'हृदयस्य प्रियः' इति यत्—प्रत्ययः, 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' इति हृदादेशः म्रदिमा शब्दार्थमाधुर्यम्' अन्यत्र—सौकुमार्यं, तेनाभिरामैः, आमोदयन्तीत्यामोदिनः मुदे-

-र्यन्तात्ताच्छील्ये णिनि , अन्यत्र—आमोदः सौरभमेषामस्तीत्यामोदिनः 'मत्व-र्थीय इनि' तैरामोदिभिः प्रीतिजननैः सुगन्धिभिश्च, जातय आर्यादीनि छन्दांसि मालत्यश्च, तज्जातैः तदुद्भवैः आर्यादिजातिच्छन्दोनिबद्धैः मालत्यादि-ग्रथितैश्च, गीत्यन्विता गीतिच्छन्दोनिवद्धाः षट्पदा: गाथाविशेषा येषु तैः, अन्यत्र—झङ्कारयुक्तभ्रमरैः, नवीनैः अभिनवैः, स्तोत्रैः प्रसूनस्तबकैः कुसुमगुच्छैश्च, आनर्च अर्चयामास, स्तवैः पुष्पाञ्जलिभिश्च पूजयामासेत्यर्थः । अर्चेर्भौवादिका-ल्लिटि, 'अत आदेः' इत्यभ्यासदीर्घः तस्मानर्च । अत्र स्तवानां प्रसूनस्तवकाना-ञ्चोभयेषाम् अपि अर्चनसाधनत्वेन प्रकृतानामेकार्चनक्रियाभिसम्बन्धात् केवल-प्रकृतविषया तुल्ययोगिता, लक्षणन्तु उक्तं प्राक् ॥ ६ ॥

अन्वय —अथ सा तान् वंशवहृचैः ऋदिमाभिरामैः आमोदिभिः जाति-जातैः गीत्यन्वितषट्पदैः नवीनैः स्तवप्रसूनस्तवकैः आनर्च ।

हिन्दी—तदनन्तर उस (दमयन्ती) ने उन (देवों) की खिले, मनोहर, कोमल, सुन्दर, सुगन्धि, मालती से समुद्भूत, भ्रमर-गुंजार से गीतिमय, नये पुष्पगुच्छकों के सदृश स्पष्टार्थ बोधक, मन को आकृष्ट करनेवाले, शब्दार्थ माधुरी से सुन्दर, हर्षजनक 'जाति' आदि छन्दों में निष्पन्न, गीतियुक्त छ चरणों के श्लोक युत नाना प्रकार के स्तवनों से अर्चना की । (अथवा स्तुति की और फूल चढाये) ।

टिप्पणी—इस श्लोक में अनेकार्थ शब्दों के प्रयोगद्वारा स्तवनों की तुलना पुष्पगुच्छकों से की गयी है । 'जाति' छब्बीस अक्षरों से निष्पन्न चरणों का गेय छन्द होता है । इन गीतियों में प्राय [illegible] चरण होते हैं । यों 'जाति' का अन्यार्थ 'मालती' लता भी है । विश्वकोष के अनुसार 'जातिश्छन्दसि सामान्ये मालत्यां गोत्रजन्मनोः' तथा 'गीतिश्छन्दसि गाने च ।' मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ 'स्तव' और 'स्तवक' (पुष्पगुच्छ)—दोनों अर्चना के साधन होने के कारण 'प्रकृत' हैं, इस प्रकार दोनों का एक अर्चन क्रिया से अभिसम्बन्ध होने के कारण केवलप्रकृतविषया तुल्ययोगिता है ॥ ६ ॥

[हृत्पद्मसद्मन्यधिरास्य बुद्धया दध्यावथैतानियमेकतानाम् ।
सुपर्वणां हि स्फुटभावना या सा पूर्वरूपं फलभावनायाः ॥ १ ॥]

[प्रकाशः—हृदति। अथ पूजानन्तरमियमेकतानाऽनन्यवृत्तिस्तत्परा सती हृद्येव पद्मे तद्रूपे गृहे एतानिन्द्रादीन् बुद्ध्याऽधिवास्याधिष्ठाप्य दध्यौ। सर्वगतानामपि देवानां हृदये बुद्ध्या समारोपितं रूपं ध्यानेन साक्षादकृतेति यावत्। हि यस्मात्सुपर्वणां देवानां या स्फुटा भावना ध्यानबलेन प्रत्यक्षता सा फलभावनायाः कार्यसिद्धेः पूर्वरूपं प्रथमं स्वरूपम्। कारणस्य कार्यापेक्षया नियतप्राग्भावित्वाद्देवानां प्रत्यक्षतायाः कार्यमात्रं प्रति कारणत्वात्कार्यकारणसामग्रीरूपां देवताप्रत्यक्षतां ध्यानेनाकृतेत्यर्थः। पूजायाः पूर्वमनन्तरञ्च ध्यानस्येष्टत्वात् 'पत्तान्–' (१४।४) इत्यस्यास्य (१४।७) च श्लोकस्य न पौनरुक्त्यम्। 'उपान्वध्याङ् वसः' इत्यत्राण्यन्तस्य वसेर्ग्रहणात् 'स्वहस्तदत्तेमुनिमासने–' (माघ १।१५) इतिवण्यन्तस्य वसेः प्रकृत्यन्तरत्वात्' हृत्पद्मसद्मनी'–त्याधारस्य न कर्मत्वम् (इयं 'प्रकाश' व्याख्या नारायणभट्टकृतेत्यवसेयम्)॥

अन्वयः—अथ एकताना इयं हृत्पद्मसद्मनि एतान् बुद्ध्या अधिवास्य दध्यौ; हि सुपर्वणां या स्फुटभावना सा फलभावनायाः पूर्वरूपम्।

हिन्दी—तदनन्तर अनन्यवृत्ति (तल्लीन) इस (दमयन्ती) ने हृदय-कमल रूप आवास में इन (देवों) को बुद्धि द्वारा प्रतिष्ठित कर ध्यान किया, क्योंकि देवों की जो स्फुट भावना (प्रत्यक्ष दर्शन) है, वह फलसिद्धि का पूर्वरूप है।

टिप्पणी—इसमें पुनः दमयन्ती द्वारा देवों के मानस-प्रत्यक्ष का वर्णन है और प्रत्यक्ष दर्शन को फलसिद्धि का पूर्वरूप अर्थात् कारण बताया गया है। इसीलिए दमयन्ती ने मानसी ध्यान द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यक समझा। मल्लिनाथ की जीवातु व्याख्या में यह श्लोक प्राप्त नहीं होता, कदाचित् यह इस कारण हो कि यह १४।४ श्लोक का ही एक अन्यरूप प्रतीत होता है। नारायण ने इस पर प्रकाश व्याख्या की है (वही यहाँ दी गयी है)। उनका कथन है कि यह श्लोक संख्या १४।४ की पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि पूजा के पूर्व और पश्चात् ध्यान किया जाता है॥ १॥]

भक्त्या तयैव प्रससाद तस्यास्तुष्टं स्वयं देवचतुष्टयं तत्।
स्वेनानलस्य स्फुटतां यियासोः फुत्कृत्यपेक्षा कियती खलु स्यात्॥७॥

जीवातु—भक्त्येति। स्वयं स्वत एव, सेवादिकं विनाऽपि पूर्वं तच्चा-

रित्थपदार्थादिदेवेत्यर्थः; तुष्टं सन्तुष्टं तत् प्रकृतं, देवचतुष्टयम् इन्द्रादिदेवचतुष्कं, तस्या भैम्याः, तया भक्त्या एव क्षणकालकृतसेवयैव, प्रसादं अनुजग्राह, एवकारस्त्वविलम्बसूचनार्थः । तथा हि, स्वेन स्वत एव, स्फुटता व्यक्तता, प्रज्वलितत्वमित्यर्थः, यियासो यातुमिच्छोः, अनलस्य वह्नेः, फूत्कृते फूत्कृतस्य, फूत्कारमारुतस्य इत्यर्थः, अपेक्षा कियती खलु स्यात्? नात्यन्तम् अपेक्षते इत्यर्थः, स्वत एव प्रसन्नस्य देवगणस्य तत्कृता भक्तिः स्वत एव प्रज्वलिष्यतोऽग्नेः फूत्कृतिरिव झटिति कार्यप्रादुर्भावमात्रफला अन्यथाऽपि प्रज्वलनवत् प्रसादावश्यम्भावादिति भावः । अत्र वाक्यद्वये भक्तिफूत्कृत्योः कार्यानपेक्षितत्वलक्षणसमानधर्मस्यैव फूत्कार–कियच्छब्दाभ्यां बिम्बप्रतिबिम्बतया उक्तेर्दृष्टान्तालङ्कारः, 'बिम्बानुबिम्बन्यायेन निर्देशे धर्मधर्मिणाम् । दृष्टान्तालङ्कृतिर्वा भिन्नवाक्यार्थमध्यगा ॥' इति विद्याचक्रवर्तिलक्षणात् ॥ ७ ॥

अन्वयः—तस्याः स्वयं तुष्टं तत् देवचतुष्टयं तया भक्त्या एव प्रससाद, खलु स्वेन स्फुटता यियासोः अनलस्य कियती फूत्कृत्यपेक्षा स्यात् ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) के (गुणों से) स्वयं संतुष्ट वे चारों (इन्द्राग्नियमवरुण) देव उसकी भक्ति से ही प्रसन्न हो गये, क्योंकि अपने आप प्रज्वलित होने को प्रस्तुत अग्नि को कितने फूत्कारों की अपेक्षा होगी ।

टिप्पणी—देवगण तो दमयन्ती के अनेक गुणों से पहिले से ही संतुष्ट थे, अब जो उसने भक्तिभाव से उनकी किंचित् ही आराधना की वे चारों पूर्ण प्रसन्न हो गये । जो आग जल उठने वाली ही हो, उसे थोड़ा सा फूंक देना पर्याप्त होता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ दोनों वाक्यों में भक्ति और फूत्कृति—दोनों में ही कार्यानपेक्षितत्वलक्षणसमानधर्म के 'फूत्कार' और 'कियत्' शब्दों द्वारा बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से उक्त होने के कारण दृष्टान्त अलंकार है ॥ ७ ॥

प्रसादमासाद्य सुरैः कृतं सा सस्मार सारस्वतसूक्तिमृष्टेः ।
देवा हि नान्यद् वितरन्ति किन्तु प्रसद्य ते साधुधियं ददन्ते ॥८॥

जीवातु—प्रसादमिति । सा भैमी, सुरैः कृतं प्रसादमनुग्रहम्, आसाद्य सरस्वत्या इयं सारस्वती तस्याः सूक्तिसृष्टेः 'अत्याजि' इत्यादि पूर्वसर्गोक्तश्लिष्टोक्तिगुम्फस्य, सस्मार तदर्थतत्त्वं जज्ञावित्यर्थः 'अधीगर्थ–' इत्यादिना

कर्मणि शेषे षष्ठी। तस्याः नलशासो देवानां कोऽयमनुग्रहो यत् सारस्वतसूक्ति-परिज्ञानमात्रम्? तत्राह,—हि यतः, ते देवाः प्रसद्य अनुगृह्य, सदेः क्त्वो ल्यप्, अन्यत् बुद्धेरन्यत् किञ्चिन् देयमित्यर्थः न वितरन्ति; किन्तु साधुधियं फल-प्राप्त्युपायपरिज्ञानं, ददन्ते प्रयच्छन्ति, 'दद दाने' इति धातोर्भौवादिकाल्लट् लङ्, तदाह:—'न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्। यं हि रक्षितुमि-च्छन्ति बुद्धया संयोजयन्ति तम्॥' इति ॥ ८ ॥

अन्वयः—सा सुरैः कृतं प्रसादम् आसाद्य सारस्वतसूक्तिसृष्टेः सस्मार; हि देवाः न अन्यत् वितरन्ति, किंतु ते प्रसद्य साधुधियं ददन्ते।

हिन्दी—उसे (दमयन्ती को) देवों द्वारा की गयी प्रसन्नता को प्राप्त कर सरस्वती की सूक्तियों की (श्लिष्ट) रचना का स्मरण हो आया; क्योंकि देव और कुछ नहीं देते, अपितु वे प्रसन्न होकर शुभ बुद्धि दिया करते हैं।

टिप्पणी—देवों के प्रसन्न होते ही दमयन्ती को सरस्वती की पूर्वोक्त श्लिष्ट रचनाओं का भेद समझ में आ गया कि किस प्रकार वे देवबोधक होने के साथ-साथ नल का भी संकेत करती थीं और वह समझ गयी कि ये पहिले चार देव हैं और पंचम वास्तविक नल। वस्तुतः देव प्रसन्न होकर और कुछ नहीं देते, केवल बुद्धि निर्मल कर देते हैं, जो उचितानुचित का बोध करा देती है। कहा भी गया है 'महाभारत' में देव कोई ग्वाले की भाँति डंडा लेकर रटवाते नहीं, वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे सुबुद्धि दे देते हैं। जहाँ सुमति होती है, वहीं सकल सम्पदाओं का वास हो जाता है ॥ ८ ॥

शेषं नलं प्रत्यमरेण गाथा या सा समार्था खलु येन येन।
तां तां तदन्येन सहालगन्तीं तदा विशेषं प्रति सन्दधे सा ॥ ९ ॥

जीवातु—शेषमिति। या दमयन्ती शेषं पञ्चमं परमार्थं, नलं प्रति, विर-चितेति शेषः, या या गाथा 'अत्याजि लब्ध' इत्यादिको यो यः श्लोकः, येन येन अमरेण देवेन, समार्था समानाभिधेया, खलु, अत एव तदन्येन ततस्ततः, मुख्यार्थरूपात् इन्द्रादेरित्यर्थः, अन्येन श्लेषमहिम्ना प्रतीयमानेन सत्येन, नलेन,

सह अलगन्तीन् असङ्गत्वा, तत्परत्वेनानिश्चितामिति यावत्, ता ता गाथा, तदा देवतानुग्रहलब्धसस्मृत्युद्बोधकाले, विशेष प्रति सत्यनल प्रति, सन्दधे नलपरत्वेन योजयामासेत्यर्थः, इत्यादिपरत्वशङ्का विहाय नलपरत्व निश्चिकायेति तात्पर्यार्थः ॥ ९ ॥

अन्वयः—शेष नल प्रति या या गाथा येन येन अमरेण समार्था, सा सा ता तदा तदन्येन सह खलु अलगन्तीम् विशेष प्रति सन्दधे ।

हिन्दी—शेष अर्थात् पचम और वास्तविक नल को लक्ष्य करके (सरस्वती-कथित) जो-जो गाथा, जिस-जिस देव (इन्द्राग्नियमवरुण) के तुल्यार्थ थी, वह (दमयन्ती) उस-उस (गाथा-श्लोक) को तदनन्तर (देवप्रसाद के पश्चात्) उस (देव) के अतिरिक्त (नल) के साथ पूर्णतया असबद्ध मानती हुई विशेष (नल रूप धारी देव) के साथ योजित करने लगी। अथवा नलातिरिक्त देव से असबद्ध मानकर विशेष अर्थात् पचम वास्तविक नल के साथ निश्चयतः योजित करने लगी।

टिप्पणी—देव-प्रसाद से 'साधुधी' प्राप्त करने के अनन्तर सरस्वती-कथित गाथाओ पर दमयन्ती ने विचार किया और वह श्लिष्टार्थ समझ गयी। उसे भासित हो गया कि ये गाथाएँ द्व्यर्था है, 'अ म. किमस्य'-इत्यादि (१३।३) से 'लेखा' इत्यादि (१३।६) तक चार गाथाएँ इन्द्र और नल दोनो का बोध कराती हैं, 'एष' इत्यादि (१३।९) से 'नैवाल्पमेधसि' (१३।१२) तक चार गाथाएँ अग्नि-नल का, 'दण्डम्' इत्यादि (१३।१५) से 'एक.' इत्यादि (१३।१८) चार यम-नल का और 'या सर्वतोमुखया' इत्यादि (१३।२१) से 'धौतम्' इत्यादि (१३।२४) तक वरुण नल का। पुन. 'अत्याजि' इत्यादि (१३।२७) से 'कि ते' इत्यादि (१३।३०) मे एक साथ नल और क्रमशः इन्द्राग्नियमवरुण का सकेत था। 'देवः पति-विदुषि' इत्यादि (१३।३३) मे पाँचो नलो का बोध होता है। देवप्रसादानन्तर दमयन्ती इस श्लेषचातुरी को पूर्णतः समझ गयी और वह भलीभाँति समझ गयी कि पचम को लक्ष्य करके जो श्लिष्ट गाथा कही गयी, वह वस्तुत. नल परक है, उसका अन्यार्थ गौण है तथा शेष पूर्व चार नलो को लक्ष्य करके उक्त गाथाओं में देव परकता मुख्य है, नलार्थ गौण। और इस दृष्टि से

विचार करके उसे निश्चय हो गया कि यह पंचम ही सत्यनल है, शेष पूर्व चार इन्द्राग्नियमवरुण देव हैं ॥ ९ ॥

एकैकवृत्तेः प्रतिलोकपालं पतिव्रतात्वं जगृहुर्दिशां याः।
वेद स्म गाथा मिलितास्तदाऽसावाशा इवैकस्य नलस्य वश्याः ॥१०॥

जीवातु—एकैकेति। या गाथाः 'अत्याजि' इत्यादयः श्लोकाः, एकैकस्मिन् लोकपाले वृत्तेः वर्तमानाद्धेतोः, प्रतिलोकपालं प्रत्येकदिक्पालं प्रति, दिशां पूर्वादीनां, पतिव्रतात्वं जगृहुः तत्साम्यात् प्राच्यादिदिश इव इन्द्राद्येकैकलोकपालपरा बभूवुरित्यर्थः. तदा देवताप्रसादकाले, असौ भैमी, मिलिताः समस्ताः, गाथा आशा दिश इव, एकस्य नलस्य वश्याः वशङ्गताः, नलमात्राभिधायिनीरित्यर्थः, 'वशं गत' इति यत् प्रत्ययः, वेद स्म 'लट् स्मे' इति भूते लट्, 'विदो लटो वा' इति णलादेशः आशानां प्रत्येकम् इन्द्राद्येकैकलोकपालपरत्वेऽपि सर्वासां पूर्वादिदिशां यथा चक्रवर्तिनलैकवश्यत्वात् नलपरत्वं तथा गाथा अपि आपाततः एकैकश एकैकलोकेशपरतया प्रतीता अपि सामस्त्येन नलपरा एवेति विवेदेत्यर्थः, तस्य सर्वाशाविजयित्वादाशानां तत्परत्वं गाथानान्तु देव्याः चतुरोक्तिभङ्गिपर्यालोचनयेति भावः ॥ १० ॥

अन्वयः—याः गाथाः एकैकवृत्तेः प्रतिलोकपालं दिशां पतिव्रतात्वं जगृहुः, तदा असौ मिलिताः आशाः इव एकस्य नलस्य वश्याः वेद स्म।

हिन्दी—जो (पूर्वोक्त) गाथाएँ एक-एक (देव) में वृत्तिभाव रखने से (वर्तमान रहने से) एक-एक दिक्पाल के प्रति दिशाओं के पातिव्रत का ग्रहण करती थी, तदनन्तर (देवप्रसादानन्तर) इस (दमयन्ती) ने सम्मिलित (चारों) दिशाओं को मनोरथों के समान एक नल के वशीभूत समझ लिया।

टिप्पणी—'अत्याजि' इत्यादि (१३।२७) से 'किं ते' इत्यादि (१३। ३०) तक की चार गाथाओं में क्रमशः इन्द्राग्नियम और वरुण का वर्णन था, ये चारों देव क्रमशः पूर्व, आग्नेय कोण, दक्षिण तथा पश्चिम दिशाओं के दिक्पाल हैं। ये गाथाएँ नलबोधिका भी थीं। देवप्रसाद के अनन्तर दमयन्ती ने समझ लिया कि चारों दिशाएँ एक-एक दिग्पाल में वर्तमानता के कारण एक-एक पृथक्-पृथक् भले ही पतिव्रता रही हों, पर सम्मिलित भाव से ये

नलाधीन ही हैं। राजा नल लोकपाल होने से चारो दिशाओं का स्वामी है और सब दिशाओं को उसने विजयी होकर अधीन कर लिया है। जब सब लोकपाल प्रसन्न हो गये तो उनका अब उनकी दिशाओं का अधिकारी भी हो गया। चारो दिशाओं के याचकों की आशाएँ भी नल पूर्ण करता था—इतना उदार दानी था वह। प्रातिदशा में दमयन्ती को जो गाथाएँ उभयार्थ लगती थीं, अब उनका नल-निश्चयपरक अर्थ दमयन्ती समझ गयी।

(या पाशिनैवाशनिपाणिनैव गाथा यमेनैव समाग्निनैव।
तामेव मेने मिलिता नलस्य सैषा विशेषाय तदा नलस्य ॥ २ ॥)

प्रकाश—येति। 'किं ते—(१३।३०) इत्यादिर्या गाथा पाशिनैव वरुणेनैव समा तुल्यार्था न त्वन्येनेन्द्रादिना, या च 'अरयाजि—' (१३।२७) इत्यादिर्गाथा अशनिपाणिनेन्द्रेणैव समा न त्वन्यन देवेन, या च 'यच्चण्डिमा—' (१३।२९) इत्यादिर्गाथा यमेनैव समा न त्वन्येन, या च 'येनामुना—' (१३।२८) इत्यादिरग्निनैव तुल्या न त्वन्येन नलस्य सम्बन्धिनी मिलिता समुदिता चतुष्टयरूपा ता गाथामेव तदा देवप्रसादानन्तर सैषा भैमी नलस्य विशेषायेन्द्रादिभ्यो भेदज्ञानाय मेने। इन्द्रादीनामकैकस्यामेव गाथाया वर्तमानत्वा'द्, नलस्य तु सर्वानुगतत्वात् 'अरयाजि—' इत्यादिगाथाचतुष्टय-(१३।२४-३०) प्रतिपाद्यो य, स एव नल इति तामेव गाथा मिलिता नलस्य भेदज्ञापिकामज्ञासीदिति भाव। या नलस्य गाथेति वा सम्बन्धः। या पाशिनैवेन्द्रेणैव, यमेनैवाग्निनैव समा गाथा नलस्य सम्बन्धिनी मिलिता तामेवानलस्य नलव्यतिरिक्तस्येन्द्रादेर्भेदाय मेने। मिलितया तया ज्ञात्वा नले निश्चिते सति नान्तरीयकत्वात्तदितर देवा अपि तथैव निश्चिता इति भाव इति वा मिलिता तामेव गाथा नलस्य विशेषाय तथा नलेतरस्येन्द्रादेर्भेदाय मेने इति वा व्याख्येयम्। या पाशिनैवेत्यादेरवकाराम् परस्परसमुच्चयार्था-नप्यङ्गीकृत्य या नलसम्बन्धिनी गाथा पाशिनाऽपि, इन्द्रेणापि, यमेनापि, अग्निनापि तुल्यार्थाऽभूत् ता 'देव पति—' (१३।३३) इत्यादि मिलिता पञ्चार्था गाथा देवप्रसादादनन्तर नलस्यैव विशेषाय मेने। देवै. प्रदर्शै. स्वीयस्वीयाकारेषु धृतेषु पञ्चार्थत्वेन प्रतिभातामपीदानीमेतस्य नलस्यैव प्रतिपादिकामज्ञासीदिति भाव इति। 'देवः पति—' (१३।३३) इतीयमव

गाथा विषय इति ज्ञेयम् । अवधारणार्थेऽप्येकारेऽयमेव गाथा विषय इति व्याख्येयम् । अयं श्लोकः 'शेषं नलं—' (१४।९) 'एकैकवृत्तेः—' (१४।१०) इति श्लोकाभ्यां समानार्थः । अनलस्येति प्रत्येकपर्यवसायित्वादेकवचनम् ॥ २ ॥

अन्वयः—या गाथा पाशिना एव, अशनिपाणिना एव, यमेन एव, अग्निना एव समा, नलस्य मिलितां ताम् एव तदा सा एषा नलस्य विशेषाय मेने ।

हिन्दी—जो गाथा पाशधारी (वरुण) की ही, वज्रपाणि (इन्द्र) की ही, यम की ही और अग्नि की ही (नल से) तुल्यार्थ-बोधिका थी, नल-संबद्ध (चतुष्टयरूपा) उस (गाथा) को ही तब (देवप्रसादानन्तर) उस दमयन्ती ने नल की (देवों से) भिन्नता जानने के निमित्त माना।

टिप्पणी—'किं ते' इत्यादि (१३।३०) गाथा नल के साथ केवल वरुण का अर्थ देती थी, अन्यदेव का नहीं, 'अत्याजि' इत्यादि (१३।२७) नल के साथ इन्द्र का ही अर्थ देती थी, अन्य देव नहीं; इसी प्रकार 'यच्चण्डिमा' इत्यादि (१३।२९) यम का ही और 'येनामुना' इत्यादि (१३।२८) अग्नि का ही। किन्तु ये सब एक साथ नल का बोध कराती थीं। दमयन्ती ने देवप्रसादानन्तर उनकी नलार्थ निश्चयता को समझ लिया। कैसे वे गाथाएँ देवों की अपेक्षा नल का विशिष्टार्थ बोध करा रही थीं—यह जान लिया। इस प्रकार चारों गाथाओं से नल-निश्चय हो जाने पर 'नान्तरीयक' न्याय से दमयन्ती ने अन्य देवों का निश्चय भी कर लिया। अर्थात् पंचम नल है, शेष चार देव—यह निश्चय कर लिया। अथवा 'देवः पतिः' इत्यादि (१३।३३) में चारों देवों और नल का समार्थ-बोध था, अब देवप्रसादानंतर—देवों के स्वरूप में आ जाने पर वह गाथा किस प्रकार नलार्थ-बोधिका थी —यह समझ लिया।

यह श्लोक 'शेषं नलम्' इत्यादि (९) तथा 'एकैकवृत्तेः' इत्यादि (१०) से प्रायः समानार्थ है। प्रतीत होता है कि इसी कारण मल्लिनाथ ने इसकी व्याख्या नहीं की। यहाँ नारायण की प्रकाश-व्याख्या दी गयी है ॥ २ ॥

निश्चित्य शेषं तमसौ नरेशं प्रमोदमेदस्वितराऽन्तराऽभूत् ।
देव्या गिरा भावितभङ्गिराख्यच्चित्तेन चिन्तार्णवयादसेदम् ॥ ११ ॥

जीवातु—निश्चित्येति । असौ दमयन्ती, शेषं पञ्चमं, तं प्रसिद्धं, नरेशं नैषधं, निश्चित्य प्रमोदमेदस्वितरम् आनन्दमेदुरतरम्, आन्तरम्, अन्तरङ्गं यस्याः सा तादृशी अभूत् । अथ देव्याः गिरा भाविता परिज्ञाता, भङ्गिः प्रयोगचातुरीविशेषः यया सा तादृशी सती, चिन्तार्णवयादसा नलप्राप्त्युपायचिन्तासागरजलग्राहभूतेन, चित्तेन इदं वक्ष्यमाणम्, आख्यत् अवोचत् । ख्यातेर्लुङि 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इति च्लेरङादेशः । अत्र चित्ते यादस्त्वारोपणात् रूपकालङ्कारः ॥ ११ ॥

अन्वयः—असौ शेषं तं नरेशं निश्चित्य प्रमोदमेदस्वितान्तरा अभूत्, देव्याः गिरा भावितभङ्गिः चिन्तार्णवयादसा चित्तेन इदम् आख्यत् ।

हिन्दी—यह (दमयन्ती) अवशिष्ट उस (पञ्चम) को नरराज (नल) रूप में निश्चित करके प्रकृष्ट हर्षोल्लास से पूर्ण मनवाली हो गयी और देवी (सरस्वती) के वचनों की भंगिमाओं का पर्यालोचन करती हुई अर्थात् देवी की प्रवचन-चातुरी को समझकर चिन्तारूप समुद्र के जन्तु (मकर) चित्त से यह (वक्ष्यमाण) बोली ।

टिप्पणी—दमयन्ती को जब पंचम में 'नरेश' अथवा 'रलयोरभेद' के अनुसार नलेश (राजा नल) का निश्चय हो गया, तब उसका मानस हर्षोल्लास से परिपूर्ण हो गया । जब देवी की वचनभंगिमा को समझ लिया, तब चिन्ता के सागर परिप्लव करते मकर-तुल्य चित्त में वह वक्ष्यमाण रूप से विचारने लगी । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ चित्त में जन्तुत्व के आरोपण के कारण रूपक अलंकार है ॥ ११ ॥

सा भङ्गिरस्याः खलु वाचि काऽपि यद् भारती मूर्त्तिमती सतीयम् ।
श्लिष्टं निगद्याऽऽदृत वासवादीन् विशिष्य मे नैषधमप्यवादीत् ॥१२॥

जीवातु—अथ चित्तेन यदाख्यत तदेवाह, सेति । अस्याः देव्याः, वाचि सा वक्ष्यमाणा, काऽपि अपूर्वा, भङ्गिः प्रयोगप्रकारः, खलु, यत् यस्मात् भङ्गिविशेषात् इयं पुरोवर्त्तिनी, मूर्त्तिमती विग्रहवती, सती सत्यवादिनी

भारती वाग्देवता, श्लिष्टं क्लिष्टार्थं यथा तथा, निगद्य उक्त्वा, वासवादीन्, इन्द्रादीन्, आदृत आदृतवती, तानेव उपाचरदेवेत्यर्थः, दृङो लुङि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः, अथ च नैषधं नलमपि, मे मह्यं, विशिष्य इन्द्रादिभ्यो विशेषं कृत्वा, अवादीत्, किन्तु अहमेव न वेद्मीति भावः ॥ १२ ॥

अन्वयः—खलु सा मूर्तिमती भारती इयम् एव; यत् अस्याः वाचि का अपि भङ्गिः, श्लिष्टं निगद्य वासवादीन् आदृत, विशिष्य मे नैषधम् अपि अवादीत्।

हिन्दी—निश्चय ही वह (प्रसिद्ध) शरीरधारिणी सरस्वती (वाग्देवी) यह ही है, क्योंकि इसकी वाणी में कोई लोकोत्तरा संरचना है; इसने दोनों से सम्बन्ध रखते वचन कह कर इंद्रादि को आदर दिया (सादर परिचय दिया) और विशेष–भिन्न करके मुझसे निषधराज (नल) के सम्बन्ध में भी कह दिया।

टिप्पणी—सरस्वती की श्लिष्ट रचना शैली पर विचार करती दमयंती को निश्चय हो गया कि परिचयदात्री भगवती वाग्देवता सरस्वती ही हैं, क्योंकि उनके अतिरिक्त इतनी क्षमता किसमें है कि एक साथ ही देवों का सादर विवरण भी दे दे और नल का परिज्ञान भी करा दे ॥ १२ ॥

अग्रन्थ सेयं मदनुग्रहेण वचःस्रजः स्पष्टयितुं चतस्रः।
द्वे ते नलं लक्षयितुं क्षमेते ममैव मोहोऽयमहो महीयान् ॥ १३ ॥

जीवातु—अग्रन्थेति । सा इयं देवी, मदनुग्रहेण मयि अनुग्रहबुद्ध्या, स्पष्टयितुं नलं व्यक्तीकर्तुं, चतस्रः वचःस्रजः वचनमालिकाः, अग्रन्थ ग्रथितवती, तत्र ते इन्द्राग्निप्रत्यायिके, द्वे आद्ये द्वे एव वचःस्रजौ, नलं लक्षयितुम् अभिव्यंजयितुं, क्षमेते शक्नुतः, ताभ्यामेव स्फुटतरं प्रतीतेरन्ये द्वे वृथेति भावः; किन्तु ममैव अयं महीयान् महत्तरः, मोहः, अहो ! आश्चर्यं यत् चतसृभिरपि न वेद्मीति भावः ॥ १३ ॥

अन्वयः—सा इयं मदनुग्रहेण स्पष्टयितुं चतस्रः वचस्रजः अग्रन्थ, ते द्वे एव नलं लक्षयितुं क्षमेते; अहो, अयं मम एव महीयान् मोहः !

हिन्दी—उस इस (सरस्वती देवी) ने मुझ पर कृपा करके (नल का) स्पष्ट परिचय देने के लिए चार वचन-मालाओं का गुंफन किया था, उनमें दो ही नल के ज्ञापन में समर्थ थीं; अरे यह मेरी (दमयन्ती की) ही प्रबल अबोधता है।

टिप्पणी—दमयन्ती विचारने लगी कि भगवती भारती ने कृपापूर्वक पचनली का परिचय देते हुए चार श्लोक कहे थे–'अत्याजि'–इत्यादि (१३।२७), 'येनामुना'—इत्यादि (१३।२८), 'यच्चण्डिका'—इत्यादि (१३।२९) और 'किं ते'—इत्यादि (१३।३०); उनमें दो 'महीमहेन्द्र.'—१३।२७ के अन्तर्गत और 'नामग्राह मया नलमुदीरितमेव'—१३।२८ के अतर्गत अथवा यह (१३।२८ के अन्तर्गत) और 'नले सहजरागभरात्—१३।२९ के अन्तर्गत वचन ही नल का स्पष्ट परिचय दे रहे थे। न समझे जा सकने का कारण दमयन्ती का अज्ञान ही था। अथवा इन पूर्वोक्त भावों को स्पष्ट करती हुई देवी ने 'त्व यार्थिनी (१३।३२) और 'देव पतिः' (१३।३३) भी कहे थे, उनसे ही नल का ज्ञान हो जाना चाहिए था। दमयन्ती को आश्चर्य हो रहा था कि वह मोह में इतनी अबोध हो गयी थी कि भगवती के स्पष्ट सकेत को न समझ सकी ॥ १३ ॥

श्लिष्यन्ति वाचो यदमूरमुष्याः कवित्वशक्तेः खलु ते विलासाः ।
भूपाललीला किल लोकपाला समाविशन्ति व्यतिभेदिनोऽपि ॥ १४ ॥

जीवातु–अत्याजीत्यादिदलोकचतुष्टय नलमेवाचष्टे, किन्तु भङ्ग्या इन्द्रादिचतुष्टयमपि स्पृशतीत्याह श्लिष्यन्तीति। अमुष्या देव्या , अमू वाच अत्याजीत्यादयो गाथा , श्लिष्यन्ति नलमिवेन्द्रादीनपि स्पृशन्ति, इति यत्, ते तच्छ्लेषणमित्यर्थः , विधेयी भूतविलासस्य प्राधान्यात्तल्लिङ्गसन्नुपानिर्देश', कवित्वशक्तेः काव्यरचनानैपुण्यस्य, विलासा विकासा , खलु कवित्वधर्मोऽय यदन्यपरेणाभिधानेन श्लेषमङ्ग्या अर्थान्तरप्रत्यायनम्, अलङ्कारत्वात्र तु तात्पर्यमिति भाव । तथा च श्लेषमहिम्ना तेषां नलसारूप्याच्च तत्परत्वभ्रान्तिरित्याह—भूपालस्य नलस्य, लीला इव लीला येषा ते तद्रूपधारिण , लोकपाला व्यतिभेदिन नलात् भेदवन्तोऽपि, समाविशन्ति श्रोतृबुद्धौ लगन्ति किल, ततो ममैवाय व्यामोह इति भाव. ॥ १४ ॥

अन्वयः—अमुष्या अमू वाचः यत् श्लिष्यन्ति, ते खलु कवित्वशक्तेः विलासा', किल व्यतिभेदिन. अपि लोकपाला. भूपाललीलाः समाविशन्ति ।

हिन्दी—इस (देवी के) ये वचन जो श्लिष्ट (उभयार्थ प्रतिपादक) हैं, वे निश्चयत कवित्व-शक्ति के लीला-विलास हैं, क्योंकि परस्पर-भिन्न

(अथवा नल-मिश्र) भी (महेन्द्रादि) लोकपाल भूपाल (राजा नल) के लीला विलासों का अनुभव करने लगे (नलाकृति दीखने लगे) ।

टिप्पणी - देव यद्यपि परस्पर आकार-स्वभाव में भिन्न थे, वे नल से भी सर्वथा व्यतिरिक्त थे, किन्तु सब दिक्पालों ने रूप नल का ही बना रखा था, अतः वे नलसम भासित हो रहे थे। देवी ने श्लिष्ट वचनों में उन सबका ऐसा वर्णन किया कि वे सब भी-नल-वर्णन में समा गये अर्थात् उनका भिन्न वर्णन भी हो गया और नल का भी वर्णन हो गया। 'अत्याजि'—इत्यादि (१३।२७—१३।३० चारों) श्लोक, 'देवःपतिः' (१३।३३)—इत्यादि श्लोक देव और नल दोनों का बोध कराते हैं। श्लिष्ट होने से अन्योन्य मिश्र लोकपाल नलाकार प्रतीत हो गाथा में समाविष्ट हो गये थे। नल लोकपालांश है ही, देवी के श्लिष्ट वचनों से यह और भी सहज हो गया। यह कवित्व-शक्ति के विलास ही हैं, अन्यथा यह संभव नहीं था ॥ १४ ॥

त्यागं महेन्द्रादिचतुष्टयस्य किमभ्यनन्दत् क्रमसूचितस्य ? ।
किं प्रेरयामास नले च तन्मां का सूक्तिरस्या मम कः प्रमोहः ? ॥१५॥

जीवातु - स्वव्यामोहमेव प्रकटयति-त्यागमिति । इयं देवी क्रमसूचितस्य क्रमनिर्दिष्टस्य, महेन्द्रादिचतुष्टयस्य त्यागं पुराकृतं परिहारं, किं किमर्थम्, अभ्यनन्दत् ? अन्वमोदत ? मां च किं किमर्थं, नले विषये प्रेरयामास ? यदस्याः मदनुजिघृक्षा न स्यादिति भावः । तत् तस्मात्, अस्याः देव्याः, सूक्तिः साधूक्तिः, अत्याजीत्यादि तत्त्योपदेशः इत्यर्थः, का ? मम प्रमोहः कः ? अहो घण्टापथे स्खलितमिति भावः ॥ १५ ॥

अन्वय.—क्रमसूचितस्य महेन्द्रादिचतुष्टयस्य त्यागं किम् अभ्यनन्दत्, मां च किं नले प्रेरयामास, तत् का अस्याः सूक्तिः, कः मम प्रमोहः ?

हिन्दी—(देवी ने) क्रम-निर्दिष्ट महेंद्रादि चारों का क्या अनुमोदन किया था, अथवा क्या मुझे नल के प्रति प्रेरित किया था ? सो क्या तो इन (देवी) की सुन्दर उक्ति थी और कैसा मेरा प्रकृष्ट अज्ञान था !

टिप्पणी—दमयन्ती ने विचारा कि मूर्ख वही थी, जो समझ न सकी। देवी ने क्रमशः 'अत्याजि'—इत्यादि (१३।२७—१३।३०) और 'देवः पतिः'—इत्यादि (१३।३३) में जो श्लिष्ट वर्णन किया था, वह इतना चातुरी

पूर्ण था कि उसमें इच्छित का अनुमोदन और त्याज्य का त्याग–दोनों स्पष्ट थे। कैसी वचन-भंगिमा थी, जिसमें अनुमोदन–त्याग दोनों एक साथ कहे जा रहे थे! कितनी चातुरीपूर्ण और अद्भुत थी भगवती वचन-संरचना और कितनी बड़ी अबोधता का प्रदर्शन हुआ दमयन्ती द्वारा कि वह समझ ही न सकी। वह अनुचित मोह अब जाकर मिटा। देवी ने अनुमोदन और त्याग दोनों की प्रेरणा दमयन्ती पर कृपा करके ही दी थी। धन्य हैं उनके लोकोत्तर वचन ॥ १५ ॥

परस्य दारान् खलु मन्यमानैरस्पृश्यमानाममरैर्धरित्रीम्।
भक्त्यैव भर्तुश्चरणौ दधानां नलस्य तत्कालमपश्यदेषा ॥ १६ ॥

जीवातु—अथ भूमिस्पर्शादिभि· षड्भि· चिह्नै· सा नलज्ञानप्रकारमाह–परस्येत्यादि। परस्य दारान् मन्यमानैरिव परभार्या इति बुध्यमानैरित्युत्प्रेक्षा, राजदारत्वात् भुव इति भाव·, 'भार्या जायाऽथ पु भूम्नि दाराः' इत्यमर; अमरैः अस्पृश्यमाना, पराङ्गनास्पर्शनिषेधादिति भाव, भक्त्यैव पतिभक्त्या इवेत्युत्प्रेक्षा, भर्त्तुः पत्यु·, नलस्य चरणौ दधानां धरित्रीम् एषा दमयन्ती, तत्काल तस्मिन् काले, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया अपश्यत्; देवा ही भूमिं न स्पृशन्ति अयन्तु स्पृशतीत्येतदेकं तावच्चिह्नमिति भाव. ॥ १६ ॥

अन्वयः—एषा तत्काल परस्य दारान् मन्यमानैः अमरै· अस्पृश्यमाना धरित्री भक्त्या पत्युः नलस्य चरणौ दधानाम् इव अपश्यत्।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) ने उस समय (देवप्रसादानंतर) अन्य की पत्नी मानते देवों द्वारा न स्पर्श की जाती धरती को, भक्ति से पति नल के चरणयुग्म को धारती जैसी देखा।

टिप्पणी—देव प्रसन्न हुए और नल रूप त्याग कर अपने वास्तविक आकार-प्रकार में प्रकट हो गये। देवों का भूमि-स्पर्श नहीं होता, मनुष्य का होता है, अत: स्वाभिनयमवरूण—देवों के पैर धरती का स्पर्श नहीं कर रहे थे, नल के चरण धरती पर थे। इस पर कल्पना है कि मानो देव यह मान कर कि धरती परदारा है–राजदारा (राजा 'भूपति' कहलाता है), उसका स्पर्श नहीं कर रहे थे और भूमि अपने स्वामी नल के चरणयुगल पति

भक्ति के कारण अपने वक्ष पर धारण कर रही थी। नारायण के अनुसार देवों का सहजभूम्यस्पर्श और मनुज का सहजभूमिस्पर्श अन्य प्रकार से उत्प्रेक्षित है। यहाँ से छः श्लोकों में चिह्नों के आधार पर नल और देवों का परिज्ञान वर्णित है ॥ १६ ॥

सुरेषु नापश्यदवैक्षताक्ष्णोर्निमेषमुर्वीभृति सम्मुखे सा।
इह त्वमागत्य नले मिलेति संज्ञानदानादिव भाषमाणम् ॥ १७ ॥

जीवातु—सुरेष्विति। सा दमयन्ती, सुरेषु इन्द्रादिषु, अक्ष्णोः निमेषं अपश्यत्, सम्मुखे स्वाभिमुखस्थिते, उर्वीभृति नृपे नले तु, हे दमयन्ति! त्वम् इह आगत्य इतः एत्य, नले मिल सङ्गच्छस्व, इति संज्ञानदानात् संज्ञाकरणात्, आह्वानसूचकचक्षुश्चेष्टाविशेषकरणादित्यर्थः, भाषमाणं ब्रुवाणमिव स्थित-मित्युत्प्रेक्षा, निमेषम् अवैक्षत, इदमपरं चिह्नमिति भावः ॥ १७ ॥

अन्वयः—'इह त्वम् आगत्य नले मिल'—इति संज्ञानदानात् भाषमाणम् इव सा सुरेषु अक्ष्णोः निमेषं न अपश्यत्, संमुखे उर्वीभृति अवैक्षत।

हिन्दी—'यहाँ तू (दमयन्ती) आकर नल से मिल'—इस प्रकार का सम्यक् ज्ञान देकर मानो बोलते आँखों के पलक झपाने को उस (दमयन्ती) ने देवों में नहीं देखा, संमुख-स्थित राजा नल में देखा।

टिप्पणी—दमयन्ती ने देखा कि देवों का नेत्र-निमीलन नहीं हो रहा है, मनुष्य (राजा नल) का हो रहा है। इस पर कल्पना है कि मानो नेत्रों का पलक लगना दमयन्ती से कह रहा था कि देवों को छोड़ और नल के गले लग जा। देवों के पृथक् रहने का भाव निमिषामिलन से द्योतित हो रहा था और मीलित होते निमिष नल में मिलनभाव का संकेत दे रहे थे। मल्लिनाथ और नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा। पूर्व श्लोक में प्रथम चिह्न का वर्णन था, यहाँ दूसरा स्पष्ट हुआ ॥ १७ ॥

नाबुद्ध बाला विबुधेषु तेषु क्षोदं क्षितेरैक्षत नैषधे तु।
पत्ये सृजन्त्याऽपरिरम्भमस्याः सम्भूतसम्भेदमसंशयं सा ॥ १८ ॥

जीवातु—नेति। सा बाला भैमी, तेषु विबुधेषु देवेषु क्षितेः क्षोदं रजः, धूलिमित्यर्थः, न अबुद्ध न ऐक्षतेत्यर्थः, तैजसेषु देवेषु भूस्पर्शाभावेन तदसङ्-

क्रमादिति भाव.; बुध्यतेर्लुङि'झलो झलि' इति सिच सलोप. नैषधे नले तु, पत्ये स्वभर्त्रे, पृथिवीस्वामिने नलाय इत्यर्थ, परिरम्भ सृजन्त्या आलिङ्गन ददत्या', अस्याः क्षितेः सकाशात्, असशय यथा तथा, सम्भूतसम्भेद सञ्जात-संश्लेषम्, असशयमिति पदम् उत्प्रेक्षावाचकम्, आलिङ्गनसङ्क्रान्तमिव स्थित-मित्यर्थं, क्षोदमिति पूर्वेणान्वय., ऐक्षत; रज सम्भेदोऽस्र चिह्नमिति भावः।

अन्वयः—सा बाला तेषु विबुधेषु क्षितेः क्षोद न अबुद्ध, नैषधे तु पत्ये परिरम्भ सृजन्त्या' अस्या असंशय सम्भूतसम्भेदम् ऐक्षत।

हिन्दी—उस बाला (दमयन्ती) ने उन देवों मे धरती की धूलि नहीं देखी; किन्तु नैषध (नल) मे-पति (भूमिपति) को आलिंगन देती इस (धरती) के नि सशय संसर्ग से उत्पन्न हुए—जैसे (क्षितिक्षोद) को देखा।

टिप्पणी—तृतीय चिह्न। देवों को धरती की धूलि नहीं लगी थी, नल को लगी थी। कल्पना है कि यह धूलि भूमि द्वारा भूमिपति को आलिंगन देते समय लग गयी है। नारायण और मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा। 'असशय' उत्प्रेक्षावाचक पद है ॥ १८ ॥

स्वेद' स्वदेहस्य वियोगताप निर्वापयिष्यन्निव सस्सिसृक्षो.।
हीराङ्कुरश्चारुणि हैमनीव नले तयाऽऽलोकि न दैवतेषु ॥ १९ ॥

जीवातु—स्वेद इति। तया दमयन्त्या, ससिसृक्षोः ससृष्टुं नलेन सङ्ग-न्तुमिच्छो', स्वदेहस्य वियोगताप नलविरहसंताप, निर्वापयिष्यन् शमयिष्यन् इव उद्गत' इत्युत्प्रेक्षा, स्वेदः चारुणि शुद्धिमति, श्यामिकारहिते इति भाव', हेमनि सुवर्णे, हीराङ्कुर वज्राकुरः इव, 'वज्रो हीरश्च कथ्यते' इति हला-युध। नले आलोकि दृष्ट, दैवतेषु सुरेषु न आलोकि इति पूर्वेणान्वय। अत्र प्रथमार्द्धे उत्प्रेक्षा, द्वितीयार्द्धे च हेम्नो नलशरीरतुल्यत्वात्, हीराङ्कुरस्य च स्वेदतुल्यत्वात् तयो' सम्बन्धस्य च प्रसिद्धत्वादुपमालङ्कार इत्यनयो' समृष्टि।

अन्वय.—तया ससिसृक्षोः स्वदेहस्य वियोगताप निर्वापयिष्यन् इव स्वेद. चारुणि हेमनि हीराङ्कुर इव नले आलोकि, दैवतेषु न।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने (दमयन्ती की) सगति के इच्छुक अपने (नल के) देह के विरह सताप को मानो शात करते स्वेद (पसीने) को—शुद्ध स्वर्ण मे जडे हीरे के सदृश—नल में देखा (इन्द्रादि) देवों में नही।

टिप्पणी—चतुर्थ चिह्न स्वेद का वर्णन । नल के शरीर पर स्वेदबिन्दु झलक रहे थे सोने-सी देह पर जड़े हीरे के तुल्य । जैसे विरह ज्वर का उपशम करने वाले जलबिंदु हों। मल्लिनाथ ने और वैकल्पिक अर्थ के रूप में नारायण ने भी नल-देह के स्वेद को नलालिंगन के निमित्त उत्सुक दमयन्ती-देह के विरहताप का उपशामक मानते हुए भी अर्थ किया है । अर्थात् दमयन्ती को प्रतीत हुआ कि सात्त्विक स्वेद-युक्त नल उसे मिल ही गया और उसका विरह-ज्वर शांत हो चला । नारायण के अनुसार 'चारुणि हेमनि हीरांकुरः इव' में अत्यन्त गौर देह के रोमकूपस्थ स्वेद की स्वर्णजटित हीरांकुर रूप में उत्प्रेक्षा की गयी है । मल्लिनाथ के अनुसार श्लोक के प्रथमार्द्ध में उत्प्रेक्षा है और द्वितीयार्द्ध में स्वर्ण के नलदेहतुल्य होने और हीरांकुर के स्वेदतुल्य होने और दोनों का सम्बन्ध प्रसिद्ध होने के कारण उपमालंकार है,—इस प्रकार यहाँ उत्प्रेक्षा उपमा की संसृष्टि है ॥ १९ ॥

सुरेषु मालाममलामपश्यन्नले तु बाला मलिनीभवन्तीम् ।
इमां किमासाद्य नलोऽद्य मृद्वीं श्रद्धास्यते मामिति चिन्तयैव ॥ २० ॥

जीवातु—सुरेष्विति । बाला दमयन्ती, सुरेषु मालां स्रजम्, अमलाम् अम्लानाम्, अपश्यत्, नले तु अद्य स्वयंवराहे, नलः मृद्वीं मदपेक्षयाऽपि सुकुमाराम्, इमां दमयन्तीम् आसाद्य किं किमर्थं, मां श्रद्धास्यते ? आदरिष्यते ? कथञ्चिदपि नादरिष्यति, इति चिन्तया एव, मलिनीभवन्तीं म्लायन्तीं, मालामिति पूर्वानुबंधः, अपश्यत् । म्लानकुसुमत्वमन्यचिह्नमिति भावः । अत्र मालायास्तादृशचिन्तासम्बन्धासम्भवादुत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २० ॥

अन्वयः—बाला सुरेषु मालाम् अमलाम् अपश्यत्, नले तु—'अद्य नलः मृद्वीम् इमाम् आसाद्य मां किं श्रद्धास्यते'—इति चिन्तया एव मलिनीभवन्तीम् (अपश्यत्) ।

हिन्दी—बाला (दमयन्ती) ने देवों में माला को अम्लान (न मुरझायी) देखा, किन्तु नल में मानो इस चिन्ता से मलिन होती (मुरझायी) देखा कि आज नल मेरी (माला की) अपेक्षा भी सुकुमार इस (दमयन्ती) को प्राप्त कर मुझे क्यों आदर देगा ?

टिप्पणी—पंचम चिह्न माला की स्थिति । माला देवों के वक्ष पर पड़ी

मुरझायी नहीं थी नल-वक्ष स्थिता मुरझा गयी थी, मानो चिंता मे सूख गयी हो कि दमयन्ती माला से भी अधिक कोमल और सुकुमारी है। उसे पाकर अब नल उसे आदर नही देगा। मल्लिनाथ के अनुसार माला इस प्रकार चिन्ता नही कर सकती, अत उत्प्रेक्षालकार है। नारायण ने भी उत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है॥ २०॥

श्रियं भजन्ता कियदस्य देवाश्छाया नलस्यास्ति तथाऽपि नैषाम्।
इतीरयन्तीव तया निरैक्षि सा नैषधे न त्रिदशेषु तेषु॥ २१॥

जीवातु—श्रियमिति। देवा इन्द्रादय, अस्य नलस्य, श्रियं सौन्दर्यं, कियत् अल्प यथा तथा, भजन्ता, तथाऽपि नलसौन्दर्यस्य किञ्चत् ग्रहणे कृतेऽपि, नलस्य छाया प्रतिबिम्ब प्रतिच्छाया इत्यर्थ। 'छाया सूर्यप्रिया कान्ति प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमर। एषाम् इन्द्रादीना, नास्ति, नलरूपधराणामपि देवाना तेजोमयत्वेन भूस्पर्शाभावात् तादृशप्रतिबिम्बरूपच्छायाया असम्भवादिति भाव, इतीरयन्ती कथयन्तीव स्थिता सा छाया, प्रतिबिम्बमित्यर्थ, तया दमयन्त्या, नैषधे नले, निरैक्षि दृष्टा, ईक्षते कर्मणि लुङ्। तेषु त्रिदशेषु इन्द्रादिषु, न निरैक्षि इति पूर्वेणान्वय, तेषा तैजसत्वात् न छत्रादिवद्देहच्छाया क्षितितले लग्ना, नलस्य तु लग्ना इत्येक चिह्नमिति भाव। अत्र श्रियमिव श्रिय छायेव छायेति सादृश्याक्षेपान्निदर्शने ताभ्यामङ्गाभ्यामितीरयन्तीत्युत्प्रेक्षाया सङ्कर॥ २१॥

अन्वय—देवा अस्य श्रिय कियत् भजन्ता तथापि एषा नलस्य छाया न अस्ति इति ईरयन्ती इव सा तया नैषधे निरैक्षि, तषु त्रिदशेषु न।

हिन्दी—देव (इन्द्रादि) इस (नल) की सुन्दरता को कुछ थोडा सा ग्रहण (भले ही) कर लें, तो भी इनमे नलकी छाया (कांति) नहीं है—मानो ऐसा कहती हुई उस (छाया) को उस (दमयन्ती) ने नैषध (नल) मे देखा, उन (इन्द्राग्नियमवरुण) देवो मे नही।

टिप्पणी—छठा विभाजक चिह्न छाया। नल की छाया पड रही थी, देवों की छाया नहीं। तेजोमय देवो ने यद्यपि नलरूप बना रखा था, फिर भी उनकी छाया धरती पर नहीं पड रही थी। इस सामान्य अर्थ के आधार पर अनेक आशय लिये गये है। प्रकाशकार ने इनका विशद वर्णन किया है।

देवों ने नलरूप तो बनाया, पर वह श्री, शोभा, कांति न पा सके। जिन देवों में नल की अल्पमात्र कांति नहीं थी, वे उसकी रूप-सम्पदा कैसे पाते ? जिन देवों का दर्पण में प्रतिबिम्ब भी नहीं पड़ता, अर्थात् जो नल के दर्पणस्थित प्रतिबिम्ब-सदृश भी नहीं हो सकते, वे देव उस नल के बिम्ब के सदृश कैसे हो पाते ? नलाकृति बना देव थोड़ी-सी शोभा पा गये, किन्तु वह स्वाभाविक कान्ति कहाँ से लाते ? बाहरी रूप तो बना लिया, सम्पदा तो पा ली, पर नल की कांति देव न पा सके। देवों ने नल की बाह्यरूपश्री तो प्रचुर प्राप्त कर ली तथापि भूमि पर देहव्यवहित सूर्य-प्रभा से उपलक्षित तमःप्रकृति श्यामाकार छाया मनुज नल की पड़ रही थी, तेजोरूप देवों की नहीं। आशय यह कि देवों और नल में अन्तर छाया ने भी स्पष्ट कर दिया। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्री-समान श्री और छाया-समान छाया है—इस साम्य के आक्षेप से निदर्शना है और उन दोनों अगों द्वारा 'वह जैसे कहती हुई—' इस उत्प्रेक्षा का संकर है ॥ २१ ॥

चिह्नैरमीभिर्नलसंविदस्याः संवादमाप प्रथमोपजाता ।
सा लक्षणव्यक्तिभिरेव देवप्रसादमासादितमप्यबोधि ॥ २२ ॥

जीवातु—चिह्नैरिति । अस्याः दमयन्त्याः, प्रथमोपजाता 'इलरनलतुला-भागेषु शेषः' इत्यादिपूर्वसर्गोक्तविकल्पोत्पन्ना, नलसंवित् अयं शेष एव नल इति बुद्धिः, अमीभिः एभिः, चिह्नैः पूर्वोक्तैः भूस्पर्शादिभिः, संवादम् ऐकमत्यम्, आप दार्ढ्यं प्राप्तेत्यर्थः; सा दमयन्ती, लक्षणानां पूर्वोक्तचिह्नानां, व्यक्तिभिः, प्रकाशैरेव, अभिव्यक्तिलक्षणकार्यैरेवेत्यर्थः, देवप्रसादं देवतानुग्रहरूपकारणमपि, आसादितं प्राप्तम्, अबोधि, मत्सेवया देवताः, प्रसन्नाः, कथमन्यथा भूस्पर्शादि-मानुषसुलभचिह्नानि एतावन्तं कालं न दृष्टानि अधुना वा दृश्यन्ते, कारणं विना कार्यानुत्पत्तेरिति ज्ञातवतीति भावः । बुध्यतेः कर्त्तरि लुङ् 'दीपजन–' इत्या-दिना विकल्पात् चिण् ॥ २२ ॥

अन्वयः—अस्याः प्रथमोपजाता नलसंवित् अमीभिः चिह्नैः संवादम् आप, सा लक्षणव्यक्तिभिः एव देवप्रसादम् अपि प्रासादितम् अबोधि ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) की पहिले उत्पन्न नल-संवेदना अर्थात् यह

-पचम ही नल है, यह बुद्धि, इन (उपर्युक्त छ श्लोकों मे वर्णित) चिह्नों म अविरोध को प्राप्त हो गयी अर्थात् पुष्ट हो गयी। उस (दमयन्ती) ने यह भी जान लिया कि इन चिह्नों के स्पष्ट हो जाने से उसने देवों का प्रसाद भी पा लिया।

टिप्पणी—दमयन्ती ने पहिले यह सोचा था कि यह पाँचवा नल ही वास्तविक नल है, क्योंकि उसे देखकर ऐसा लगता है कि चित्त सुधा-स्नान कर रहा है ('इतरनल'-इत्यादि १३।५३)। अब पूर्वोक्त (१४।१६–२१) लक्षणों से यह धारणा और समर्थन पा गयी और दमयन्ती को पूर्ण निश्चय हो गया कि यह अन्तिम ही नल है। देवों ने देव-मनुष्य विभाजक लक्षण स्पष्ट होने दिये। दमयन्ती ने इसीसे समझ लिया कि उसकी पूजा-स्वीकार देव उस पर प्रसन्न है ॥ २२ ॥

नले विधातुं वरणस्रजं त्वं स्मरः स्म रामां त्वरयत्यथैनाम्।
अपत्रपा तां निषिषेध तेन द्वयानुरोधं तुलितं दधौ सा ॥ २३ ॥

जीवातु—नले इति। अथ सोऽयं नल इति निश्चयानन्तरं, स्मरः तां त्वरस्था, वरणस्रजं नले विधातुम् एनां रामां दमयन्तीं, त्वरयति स्म त्वरयामास, अपत्रपा सर्वसमक्षे कथमनेन माल्यदानेन वृणे इति लज्जा तु, तां कामेन त्वर्यमाणां भैमीं, निषिषेध निवारयामास, 'स्मादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य' इति षात्वम्याभ्यासषकारयोः षत्वम्। तेन कारणद्वयेन, सा भैमी, द्वयानुरोधं स्मर-लज्जोभयानुरोधं, तुलितं समीभूतं यथा तथा, दधौ रक्षयामासेत्यर्थः, वरण-माल्यप्रदानविषयकप्रवृत्तिनिवृत्तिविषये कर्तव्यविमूढा आसीदिति भावः। एतेनास्या मध्यमानायिकात्वमुक्तम्, 'तुल्यलज्जास्मरा मध्या' इति लक्षणात् ॥

अन्वय—अथ स्मरः तां वरणस्रजं नले विधातुम् एनां रामां त्वरयति स्म अपत्रपा तां निषिषेध, तेन सा द्वयानुरोधं तुलितं दधौ।

हिन्दी—तदनन्तर अर्थात् पंचम व्यक्ति के नल निश्चयानन्तर काम उस वरमाला को नल के कंठ मे पहिनाने के लिए इस रमणी (दमयन्ती) को शीघ्रता की प्रेरणा देने लगा और अपत्रपा (सब के समुख मालार्पण की लज्जा) उसे रोकने लगी, इससे वह दोनों (काम और लज्जा) का अनुरोध समानभाव से धारण करने लगी।

टिप्पणी—नल-निश्चय होते ही कामना से विह्वल दमयन्ती को झटिति नल के गले मे माल्यार्पण की प्रबल इच्छा हुई, किन्तु लोकलाज उसे रोकने लगी। इस प्रकार उस समय दमयन्ती का चित्त माला पहिनाने न पहिनाने की इच्छा में दोलायित होने लगा। प्रवृत्ति-निवृत्ति की द्विविधा मे दमयन्ती का चित्त पड़ गया। मल्लिनाथ के अनुसार इस कथन से स्मरपीडा और लज्जा दोनों को समान रूप से धारण करती मध्या नायिका के रूप में दमयन्ती का चित्रण हुआ है॥ २३॥

स्रजा समालिङ्गयितुं प्रियं सा रसादधत्तैव बहुप्रयत्नम्।
स्तम्भत्रपाभ्यामभवत्तदीये स्पन्दस्तु मन्दोऽपि न पाणिपद्मे॥ २४॥

जीवातु—स्रजेति। सा भैमी, रसात् रागात्, प्रियं नलं, सृज्यते इति स्रक् वरणमाला, 'ऋत्विग्दधृक्स्रक्–' इत्यादिना क्विन् अमागमश्च। तया समालिङ्गयितुं समाश्लेषयितुं, बहुप्रयत्नं महोद्योगमेव, अधत्त, तु किन्तु, तदीये तस्याः सम्बन्धिनि, पाणिपद्मे स्तम्भः निष्क्रियत्वलक्षणः सात्त्विकभावविशेषः, स च त्रपा च ताभ्यां हेतुभ्यां, मन्दः अल्पोऽपि, स्पन्दः कम्पनव्यापारः, न अभवत्॥ २४॥

अन्वयः—सा रसात् स्रजा प्रियं समालिङ्गयितुं बहुप्रयत्नम् अधत्त एव, तु तदीये पाणिपद्मे स्तम्भत्रपाभ्यां मन्दः अपि स्पन्दः न अभवत्।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने राग से प्रेरित हो माला द्वारा प्रिय (नल) का समालिंगन कराने के लिए बहुत ही प्रयत्न किया, किन्तु उसके करकमल में निष्क्रियता और लज्जा के कारण थोड़ी भी चंचलता (क्रियाशीलता) न आयी।

टिप्पणी—रस-विह्वला, अनुरागिणी दमयन्ती ने नल की ग्रीवा में वरमाला पहिनाने की बड़ी चेष्टा की, किन्तु जड़ता और लज्जा से अभिभूत हो उसका हाथ हिल तक न सका। स्तम्भ और लज्जा नामक सात्त्विक भाव और संचारिभाव का वर्णन॥ २४॥

तस्या हृदि व्रीडमनोभवाभ्यां दोलाविलासं समवाप्यमाने।
श्रितं धृतैणाङ्ककुलातपत्रे शृङ्गारशालिङ्गदधीश्वरश्रीः॥ २५॥

जीवातु—तस्या इति । व्रीडमनोभवाभ्यां लज्जास्मराभ्यां, दोलाविलासं प्रेङ्खणलीलां, समवाप्यमाने नीयमाने, वरणविषये प्रवृत्तिनिवृत्तिसंघर्षेण दोदुल्यमाने इत्यर्थः, एणाङ्ककुलं सोमवंशः, सोमवंशोत्पन्न नल इति यावत्, तदेव आतपत्रं छत्रं, नलप्राप्तिजनितसन्तापप्रशमकत्वादिति भावः, धृतम् एणाङ्ककुलातपत्रं येन तस्मिन् सन्तापनिवारकनलरूपातपत्रवति, तस्याः दमयन्त्याः, हृदि हृदये, श्रितम् आश्रित्य स्थितम्, शृङ्गारं शृङ्गाररसम् अधीश्वरश्रीः अधीश्वरस्य हृदयेश्वरस्य नलस्य, श्रीः सौन्दर्यम्, आलिङ्गत् दोलनजनितपतनभयनिवारणार्थमाश्लिषत्, प्रबलतया दोदुल्यमानदोलाधिरूढम् अत एव पतनशङ्कया भीतं कमपि पुमांसं पार्श्वस्थः नरो वा नारी वा यः कोऽपि यथा अवलम्बनं दत्त्वा स्थिरीकरोति तद्वत् इति भावः । नलसौन्दर्यं वरणार्थं हृदयस्य स्थैर्यं सम्पाद्य प्रवृत्तिनिवृत्तिसङ्घर्षजनितं दोलनं निवारयामासेति समुदितार्थः । अत्र भैमीहृदयं दोलासनं, शृङ्गाररसः राजा, नल एव सन्तापनिवारकत्वात् *छत्रं, दोलासनान्दोलनार्थं स्थितौ लज्जाकामौ, एतेन नलाधिष्ठिते* हृदि भैमी शृङ्गाररसस्य परां कोटिम् आरूढा इति निष्कर्षः ॥ २५ ॥

अन्वय—व्रीडमनोभवाभ्यां दोलाविलासं समवाप्यमाने धृतैणाङ्ककुलातपत्रे तस्याः हृदि श्रितं शृङ्गारम् अधीश्वरश्रीः आलिङ्गत् ।

हिन्दी—लज्जा और काम द्वारा दोलाविलास को प्राप्त करते (झुलाये जाते) शशाङ्क (चन्द्र) के कुल में उत्पन्न (नलरूप) आतपत्र (छत्र) को धारते, उस (दमयन्ती) के हृदय में स्थित शृंगार को अधिराज (राजा नल अथवा किसी सम्राट्) की श्री (लक्ष्मी, सुन्दरता) ने आलिंगन किया ।

टिप्पणी—आशय यह कि लज्जा और काम से परिपूर्ण दमयन्ती के हृदय में शृंगार रस का उद्भव हुआ, दमयन्ती शृंगाररस की पराकोटि का अनुभव करने लगी । यहाँ शृंगार रस की एक अधिराज रूप में कल्पना की गयी है, जो दमयन्ती के हृदयरूप झूलने पर बैठा है, चन्द्रकुलजात नल ही कामातप प्रतिरोधक छत्र हैं, लज्जा-काम झुलानेवाले अथवा चामर डुलाने वाले हैं, जिसका श्री आलिंगन कर रही है । दोलाविलास छत्र-चामर और झुलाने वाले शृंगार रस का अधिराजत्व प्रकट करते हैं । शृंगार (पुरुष) ने अधीश्वर श्री (नारी) का आलिंगन कर दोला से गिर जाने की आशंका से

थाम लिया। नल-सौन्दर्य ने वरण के लिए ही हृदय को स्थिर कर प्रवृत्ति-निमित्त जनित उसके आन्दोलन का निवारण किया। संकेत यह भी कि लज्जा-काम के मध्य झूलती दमयन्ती को देख म्लान नल विप्रलम्भ शृंगार को प्राप्त हुआ; तत्पश्चात् दमयन्ती भी नल को वैसा देख उसकी शोभा के अंगीकरण द्वारा वैसी ही हो गयी ॥ २५ ॥

कर: स्रजा सज्जतरस्तदीयः प्रियोन्मुखीभूय पुनर्व्यरंसीत् ।
तदाननस्यार्द्धपथं ययौ च प्रत्याययौ चातिचलः कटाक्षः ॥ २६ ॥

जीवातु—कर इति। स्रजा वरणमाल्येन करणेन, सज्जतरः अतिशयेन सम्भृतः, अत्यर्थं शोभित इत्यर्थः। तदीयो दमयन्तीसम्बन्धी, करः प्रियस्य नलस्य, उन्मुखीभूय अभिमुखीभूय, पुनः व्यरंसीत् विरराम, रमेर्लुङि 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदं, 'यमरमनमातां सक् च' इति सगिडागमौ, 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' इतीडागमे 'इट ईटि' इति सलोपे च सवर्णदीर्घः। तथा अतिचलः अत्यन्तचञ्चलः, कटाक्षः तदाननस्य नलमुखस्य, अर्द्धः पन्था इति विशेषणसमासे समासान्तः। 'अर्द्धं नपुंसकम्' इति नैकदेशी समासः पथः समविभागे प्रमाणाभावात्। तम् अर्द्धपथं, ययौ च प्रत्याययौ च प्रत्यावृत्तश्च, उभयत्र लज्जयेति भावः ॥ २६ ॥

अन्वयः—स्रजा सज्जतरः तदीयः करः प्रियोन्मुखीभूय पुनः व्यरंसीत् अतिचलः च कटाक्षः तदाननस्य अर्द्धपथं ययौ प्रत्याययौ च।

हिन्दी—वरमाला से और भी सज्जित उस (दमयन्ती) का हाथ प्रिय (नल) की ओर अभिमुख होकर पुनः रुक गया और अत्यन्त चंचल कटाक्ष उस (नल) के आधे मार्ग तक गया और लौट गया।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती लज्जा के कारण बार-बार अपना इच्छित नहीं कर पा रही थी। स्वभाव-सुन्दर दमयन्ती का हाथ वरमाला-धारण से सुन्दरतर लगता, बार-बार माल्यार्पण के निमित्त प्रिय राजा नल की ओर बढ़ता और लज्जा के कारण बार-बार रुक जाता। इसी प्रकार चंचल, रमणीय कटाक्ष से वह नल को सानुराग देखने की चेष्टा करती किन्तु बीच में ही नयन फिरा लेती। कारण लोक लाज ॥ २६ ॥

तस्या. प्रिय चित्तमुदेतुमेव प्रभूवभूवाक्षि न तु प्रयातुम् ।
सत्योकृत स्पष्टमभूत्तदानी तयाऽक्षिलज्जेति जनप्रवादः ॥ २७ ॥

जीवातु—तस्या इति । तस्या दमयन्त्या', चित्तमेव प्रिय नल्म् उदेतु प्राप्तु, द्रष्टुमिति यावत्, प्रभूबभूव शशाकेत्यर्थ, अक्षि तु प्रयातु नल प्राप्तु, द्रष्टुमित्यर्थ, न, प्रभूवभूव इत्यनुषङ्ग, प्रभुशब्दादभूततद्भावे 'च्वौ' दीर्घ । चित्तमध्ये अनुक्षण मा नल ददर्श, किन्तु पुर स्थितमपि त लज्जावशात् चक्षुरुत्तोल्य द्रष्टु न शशाकेत्यर्थ, अतएव अक्षिण चक्षुषि लज्जा, न तु चेतसि इति भाव, इति जनप्रवाद तया भैम्या, तदानी मल्वरणकाले, स्पष्ट यथा तथा सत्यीकृतोऽभूत् । अय भाव —लज्जायाः चित्तधर्मत्व वास्तव न तु नेत्रधर्मत्व, एवञ्च लज्जावशाद् दमयन्त्याश्रितस्य नलप्राप्ति नोचिता, वर नेत्रस्यैव लज्जाधर्मकत्वाभावात् नलप्राप्तिरुचिता, इत्यञ्च अक्षिलज्जेति प्रवादोऽपि असत्य एव, किन्तु दमयन्त्याश्रितनेत्रयोस्तद्विपरीतकार्यात्तया अक्षिलज्जेति प्रवाद तया सत्यीकृत एवेति ॥ २७ ॥

अन्वय --तस्या. चित्तम् एव प्रियम् उदेतु प्रभूबभूव अक्षि तु प्रयातु न—इति तया तदानीम् अक्षिलज्जा जनप्रवाद स्पष्ट सत्यीकृत अभूत् ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) का चित्त ही प्रिय (नल) को प्राप्त करने मे समर्थ हुआ, आँख समर्थ न हुई—इस प्रकार उस (दमयन्ती) के द्वारा उस काल (माल्यार्पण करते समय) 'लाज आँख में होती है'—यह लोकोक्ति स्पष्ट सत्य कर दिखायी गयी ।

टिप्पणी—आशय यह है कि लज्जा है तो मनोधर्म, नेत्रधर्म नहीं । लाज मन मे आती है, नेत्र मे नहीं, किन्तु लोकोक्ति यह है कि लाज आँख की होती है । माल्यार्पण करती दमयन्ती ने इस लोकोक्ति की सचाई प्रमाणित कर दी । मन तो उसका नल को सम्पूर्ण भाव से प्राप्त करने मे समर्थ हो गया, किन्तु लाज से आँख प्रिय की ओर न उठ पायी । इस प्रकार एक तर्कसगत तथ्य दमयन्ती द्वारा सगत सिद्ध कर दिया गया, एक अप्रमाणित, अतथ्याश्रित लोकप्रवाद सच्चा बन गया ॥ २७ ॥

कथकथञ्चिन्निभयेश्वरस्य कृत्वाऽऽस्यपद्मे दग्वीक्षितश्रि ।
वाग्देवताया वदनेन्दुबिम्ब त्रपावती साऽकृत सामिदृष्टम् ॥ २८ ॥

जीवातु—कथंकथञ्चिदिति । त्रपावती लज्जावती, सा भैमी निषधेश्वरस्य नलस्य, आस्यपद्मं मुखारविन्दं कथंकथञ्चिदतिकृच्छ्रेण, दरवीक्षिता ईषद्दृष्टा, श्रीः यस्य तत् तादृक्षम् । वैपिक-क-प्रत्ययस्य वैभाषिकत्वादभावः, 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वः । 'ईषदर्थे दराव्ययम्' इति वैजयन्ती । कृत्वा लज्जावशान् लेशतो दृष्ट्वेत्यर्थः, वाग्देवतायाः सरस्वत्याः, वदनेन्दुबिम्बं सामिदृष्टम् अर्द्धदृष्टम्, 'सामि त्वर्द्धे जुगुप्सिते' इत्यमरः । अकृत अकार्षीत्, तथापि लज्जेति भावः । नाहं शक्नोमि त्वया कारयितव्यमिति देवीमुखवीक्षणे तात्पर्यमवधार्यम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—त्रपावती सा निषधेश्वरस्य आस्यपद्मं कथंकथञ्चित् दरवीक्षितश्रि कृत्वा वाग्देवतायाः वदनेन्दुबिम्बं सामिदृष्टम् अकृत ।

हिन्दी—लाजभरी उस (दमयन्ती) ने किसी-किसी प्रकार निषधराज (नल) के मुखकमल को, जिसकी थोड़ी-सी शोभा देखी गयी है, ऐसा बना कर अर्थात् कठिनता के साथ मुखकमल को थोड़ा-सा देख कर वाणी की देवता (सरस्वती) के मुख-चन्द्र बिम्ब को अर्धदृष्ट बनाया अर्थात् आधा ही देखा ।

टिप्पणी—आशय यह कि दमयन्ती इतनी लज्जाभिभूत हो रही थी कि प्रिय नल के मुख की ओर तो आधी दृष्टि किसी प्रकार उठा ही पायी, सरस्वती की ओर भी पूरी दृष्टि न डाल सकी । सरस्वती की ओर देखने का तात्पर्य था कि दमयन्ती तो लज्जावश प्रिय को वरमाल पहिना नहीं पा रही, भगवती इस कार्य को सम्पादित करायें । इसमें भी दमयन्ती को लाज लग रही थी, सो इस भाव को भी वह अर्द्धदृष्टि से निहार कर ही प्रकट कर पायी । आधी दृष्टि से देखकर उसने देवी से आत्मार्पण की प्रार्थना की ॥ २८ ॥

न जानतीवेदमवोचदेनामाकूतमस्यास्तदवेत्य देवी ।
त्रपाम्बुपोर्मिप्रतिसीरया ते वितीर्यते लक्ष्यितुं न मेऽपि ॥ २९ ॥

जीवातु—न जानतीति । देवी वाग्देवी, अस्याः भैम्याः, तत् पूर्वोक्तम्, आकूतम् अभिप्रायम्, अवेत्य ज्ञात्वा, न जानतीव अबुध्यमानेव, एनां भैमीम्, इदं वक्ष्यमाणम्, अवोचत्; ब्रूधातोर्लुङि ब्रुवो वचिः' इति वचादेशे 'वच उम्' इति उमागमः । तदेवाह—त्रपायाः ऊर्मिरेव तरङ्ग एव, प्रतिसीरा जवनिका,

'प्रतिसीरा जीवनिका स्यात्तिरस्करणी च सा' इत्यमरः, तया कर्त्र्या, ते तव, भावः अभिप्रायः, मेमपि, लक्षयितुं ज्ञातुं, तुमुन् प्रयोगस्तूदीच्यानाम् न वितीर्यते न दीयते, लज्जान्तर्हितो भावोऽस्य कण्ठोक्तिमन्तरेण दुर्ज्ञेय इत्यर्थः ॥ २९ ॥

अन्वयः—देवी अस्याः तत् आकूतम् अवेद्य न जानती इव एनाम् इदम् अवोचत् त्रपोर्मिप्रतिसीरया ते भावः मे अपि लक्षयितुं न वितीर्यते ।

हिन्दी—सरस्वती देवी ने इस (दमयन्ती) का वह (पूर्वोक्त) आशय समझकर अनजान-सी प्रकट करते हुए इस (दमयन्ती) से यह कहा—लज्जा लहरीरूप आवरणिका (परदा) के कारण तेरा आशय मुझे भी ज्ञात नहीं होता ।

टिप्पणी—सरस्वती तो सब कुछ समझती हैं, अतः वे दमयन्ती के पूर्व श्लोक (१३।२८) में अर्धदृष्टि के सकेत से व्यक्त आशय को समझ तो गयीं, परन्तु दमयन्ती की लज्जा छुड़ाने और कुछ परिहास की दृष्टि से अपने को अनजानी सी प्रकट करती वे दमयन्ती से बोलीं कि उसका आशय लज्जातिशय के कारण प्रकट नहीं हो पा रहा, जैसे कि यवनिका के पीछे छिपी वस्तु प्रकट नहीं होती । लज्जा इतनी प्रबल है कि ऐसा लगता है कि उसकी एक लहर पर दूसरी लहर चढ़ी आ रही है, सो दमयन्ती को उचित है कि वह लज्जा त्याग कर कुछ बताये, तभी इच्छित किया जा सकेगा। लज्जा से छिपा भाव बिना स्पष्ट कहे व्यक्त न हो सकेगा ॥ २९ ॥

देव्याः श्रुतौ नेति नलार्द्धनाम्नि गृहीत एव त्रपया निपीता ।
अथाङ्गुलीरङ्गुलिभिः स्पृशन्ती दूरं शिरः सा नमयाञ्चकार ॥ ३० ॥

जीवातु—देव्या इति । अथ सरस्वतीवाक्यानन्तरं, देव्याः सरस्वत्याः, श्रुतौ कर्णे, 'न' इति एवं, नलस्य अर्द्धनाम्नि नाम्नोऽर्द्धे, अर्द्धनामधेये इत्यर्थः, 'अर्द्धं नपुंसकम्' इत्येकदेशिसमासः, दमयन्त्या उच्चारिते इति भावः, गृहीते एव प्रविष्टे सत्येव कर्णगोचरीभूते एवेति यावत्, सा भैमी, त्रपया निपीता ग्रस्ता सती 'ल' इति शेषार्द्धोच्चारणेऽसमर्था सतीत्यर्थः, अङ्गुलिभिः अङ्गुलीः स्पृशन्ती परामृशन्ती, मोटयन्तीत्यर्थो वा, लज्जासङ्कोचसूचकभावोऽयम्; दूरम् अत्यन्त, शिरः नमयाञ्चकार ननाम, लज्जातिरेकात् कथनेनैराश्याच्च इतिकर्त्तव्यतामूढा केवलं नता एव स्थितेत्यर्थः । यद्वा—देव्याः सरस्वत्याः

सम्बन्धिनि, देव्या इति तृतीयान्तपदो '(दं) वा तथात्वे देव्या, उच्चारिते इति शेषः, 'न' इति नलार्द्धनाम्नि श्रुतौ कर्णे, दमयन्त्या इति भावः, अन्यत् समानम्; लोके यथा कश्चित् गुरुजनसमीपे किमपि वक्तुकामोऽपि लज्जा-सङ्कोचवशात् वक्तुमसमर्थः सन् शिरोनमनपूर्वकम् अङ्गुलिभिरङ्गुलीः मोटयति तद्वदिति भावः ॥ ३० ॥

अन्वयः—अथ देव्याः श्रुतौ 'न' इति नलार्द्धनाम्नि गृहीते एव त्रपया निपीता सा अङ्गुलिभिः अङ्गुलीः स्पृशन्ती दूरं शिरः नमयाञ्चकार ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (सरस्वती के कथनानन्तर) देवी के कान में 'न' इस प्रकार नल का आधा नाम उच्चारते ही मानो लज्जा से पीडाती गयी जैसी (लज्जाग्रस्त) वह (दमयन्ती) अंगुलियों से अंगुलियाँ मरोड़ती दूर सिर झुका कर खड़ी हो गयी ।

टिप्पणी—सरस्वती के आग्रह से दमयन्ती ने लज्जा त्याग कर उनके कान में स्वेच्छा बतानी चाही, उसने उनके कान में नल का नाम कहने के लिए 'न' इस एक अक्षर—नामार्द्धभाग का उच्चारण किया ही था कि लाज ने फिर घेर लिया और लज्जाग्रस्ता कुमारी दमयन्ती अंगुलियों से अंगुलियाँ मरोड़ती दूर सिर झुका जा खड़ी हुई। इस प्रकार लज्जा-संकोच को त्यागने की चेष्टा करके भी दमयन्ती 'न' उच्चारण करते ही पुनः लज्जा-संकोच से ग्रस्त हो स्वभावतः लज्जा के अनुभाव अंगुलियों से अंगुलियाँ मरोड़ना और सिर झुकाना प्रकट करती दूर जा खड़ी हुई। पूर्वार्द्ध में 'देव्या' इस प्रकार तृतीयान्त पद मानकर यह अर्थ भी किया गया है कि देवी द्वारा दमयन्ती के कान में उसकी इच्छा जानने के निमित्त 'नल' कहा जा रहा था, उसका अर्द्धभाग 'न' ही देवी द्वारा कहा गया कि लज्जा संकोच से अभिभूत दमयन्ती दूर भाग गयी और अंगुलित्रोटन करती सिर झुका कर खड़ी हो गयी। नारायण ने अगुलिमेलन को स्वभावोक्ति कहा है ॥ ३० ॥

करे विधृत्येश्वरया गिरां सा पान्था पथीन्द्रस्य कृता विहस्य ।
वामेति नामैव बभाज सार्थं पुरन्ध्रिसाधारणसंविभागम् ॥ ३१ ॥

जीवातु—करे इति । सा भैमी, गिराम् ईश्वरया वाग्देवतया, 'स्थेशभास-पिसकसो वरच्' विहस्य करे विधृत्य तां करे गृहीत्वा, इन्द्रस्य पथि, पन्थानं

गच्छति नियमिति पान्था नित्यपथिकी, 'पन्थो ण नित्यम्' इति ण—प्रत्यये पथ 'पन्थादेशे च टाप्, कृता इन्द्रसमीप नीता सतीत्यर्थः पुरन्ध्रीणा सर्वयोषिता, साधारण सविभाग- सर्वस्त्रीनामत्वेन सविभज्य ग्रहण यस्य तत् तादृश सर्वयोषिद्वाचकमित्यर्थं, वामा इति नामैव सार्थं प्रतीपत्वेनार्थवत् यथा तथा, बभाज बभार, प्रतिकूला एव अभूदित्यर्थं, देव्या इन्द्रवरणमुद्दिश्य नीयमाना भैमी तत्प्रतिकूलाचारिणी अभूदिति निष्कर्ष । 'वाम धने पुंसि हरे कामदेवे पयोधरे । वल्गुप्रतीपसव्येषु त्रिषु नार्यां स्त्रियाम्' इति मेदिनी ॥ ३१ ॥

अन्वय —गिराम् ईश्वरया विहस्य ता करे विधृत्य इन्द्रस्य पथि पान्था कृता सा पुरन्ध्रिसाधारणसविभाग वामा इति नाम सार्थम् एव बभाज ।

हिन्दी—वाणी की स्वामिनी (सरस्वती) द्वारा हँस कर हाथ से पकड कर इन्द्र के पथ की यात्रिणी बनायी गयी (इन्द्र की ओर ले जायी गयी) उस (दमयन्ती) ने स्त्रियों द्वारा सामान्य भाव से गृहीत (नारीमात्रसूचक) 'वामा' (टेढ़ी, उल्टी) यह नाम सार्थक ही बना दिया गया ।

टिप्पणी—समझकर भी न समझना प्रकट करती सरस्वती दमयन्ती को हाथ से पकड कर पचनली मे प्रथमस्थित इन्द्र की ओर ले चलीं, किन्तु दमयन्ती प्रतिकूल—वामा हो गयी और उस ओर न गयी । इस प्रकार उसने नारीमात्र का सूचक 'वामा' नाम अर्थात् स्त्रीमात्र वामा होती हैं, यह—सिद्ध कर दिया ॥ ३१ ॥

(विहस्य हस्तेऽथ विकृष्य देवी नेतु प्रयाताभि महेन्द्रमेताम् ।
भ्रमादिव दत्तमिवाहिदेहे ततश्चमत्कृत्य कर चकर्ष ॥ १ ॥)

प्रकाशः—विहस्येति । वाग्व्याख्यानन्तर देवी विहस्य किञ्चिद्धसित्वा एता भैमी स्वहस्तेन विकृष्य महेन्द्रमभि लक्षीकृत्य प्रस्थिता इन्द्र प्रापयितु निर्गता । तत इन्द्रादिगमनोद्योगानन्तरमिय भैमी चमत्कृत्य किमियमिन्द्रवरणे मा प्रवर्तयतीति बुद्धया भीत्वा कर स्वहस्त चकर्ष आचकर्ष । किम्भूतमिव करम् ?—भ्रमाद्रज्जुभ्रान्तेरहिदेहे सर्पशरीरे दत्तमिव स्थापितमिवेत्युत्प्रेक्षा । सर्पदेहे भ्रमाद्दत्त हस्त यथा कश्चित्कर्षति तथेत्युपमा वा । ततो देवीकरादिति वा ।

अन्वयः—अथ देवी विहस्य एता विकृष्य महेन्द्रम् अभि नेतु प्रयाता, ततः इय चमत्कृत्य भ्रमात् अहिदेहे दत्तम् इव कर चकर्ष ।

हिन्दी—तदनन्तर देवी हँस कर इस (दमयन्ती) को हाथ पकड़ कर इन्द्र की ओर ले चलीं, तब इस (दमयन्ती) ने चमक कर (चौंक कर) भ्रम से जैसे सर्प पर पड़ गया हो, ऐसे हाथ को खींच लिया।

टिप्पणी—देवी ने पुनः हाथ खींच कर दमयन्ती को इन्द्र की ओर ले जाना चाहा, किन्तु वह तो ऐसे हाथ खींच कर चमक उठी, जैसे रस्सी के धोखे साँप पर हाथ पड़ गया हो। भाव यह कि दमयन्ती समझी कि देवी उसे इन्द्र के गले में वरमाला डालने ले जा रही हैं। यह भ्रम वैसा ही था, जैसा रज्जु के भ्रम से सर्प पर हाथ पड़ जाना। तो जैसे उस समय झट से कोई हाथ खींच लेता है, वैसा ही दमयन्ती ने किया। भ्रम इस कारण कहा गया कि सब जानने हारी देवी दमयन्ती को केवल दिखाने के लिए इन्द्र की ओर ले जा रही थीं, वरमाल डलवाने की उनकी इच्छा वस्तुतः नहीं थी, जैसा दमयन्ती को भ्रम हुआ। यह पूर्व श्लोक के भाव की पुनरुक्ति करना-सा प्रतीत होता है। जीवातु व्याख्या इस पर नहीं है, अतः प्रकाश व्याख्या दी गयी है॥ १॥

भैमी निरीक्ष्याभिमुखीं मघोनः स्वाराज्यलक्ष्मीरभृताभ्यसूयाम्।
द्दृष्ट्वा ततस्तत्परिहारिणीं तां व्रीडां बिडौजःप्रवणाऽभ्यपादि॥ ३२॥

जीवातु—भैमीमिति। भैमीं मघोनः इन्द्रस्य, अभिमुखीं निरीक्ष्य स्वः स्वर्गस्य राज्यं, 'स्वरव्ययं स्वर्गनाक—' इत्यमरः। 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' तस्य लक्ष्मीः अभ्यसूयाम् इन्द्रे भैम्याऽन्वेर्ष्याम्, अभृत बभार, भृञ्धातोः लुङ् तङ् 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपः। ततः असूयानन्तरं, तां भैमीं, तत्परिहारिणीम् इन्द्रपरित्यागिनीं, द्दृष्ट्वा बिडौजः प्रवणा पुनरिन्द्रानुरक्ता सती, व्रीडाम् अभ्यपादि अभिपेदे, अन्यायं मया आशङ्कितम् इति विचिन्त्य सा लज्जे इत्यर्थः। पद्यतेः कर्त्तरि लुङि तङि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपः, 'चिण् ते पदः' इति चिण्, 'चिणो लुक्' इति प्रत्ययस्य लुक्॥ ३२॥

अन्वयः—बिडौजःप्रवणा स्वाराज्यलक्ष्मीः मघोनः अभिमुखीं भैमीं निरीक्ष्य अभ्यसूयाम् अभृत, ततः तां परिहारिणीं द्दृष्ट्वा व्रीडम् अभ्यपादि।

हिन्दी—इन्द्रानुरक्ता स्वर्ग की राज्यलक्ष्मी (शची) इन्द्रोन्मुखी भीम-पुत्री (दमयन्ती) को देखकर असहन-शीलता (घोर ईर्ष्या) से परिपूर्ण हो

गयी, किन्तु तदनन्तर उसे (दमयन्ती को) इन्द्र का त्याग करती देखकर लज्जा को प्राप्त हो गयी।

टिप्पणी—दमयन्ती का जब इन्द्र की ओर ले जाया जा रहा था तो एक ओर सपत्नी की आशंका से स्वर्गाधिप की राज्यलक्ष्मी इन्द्राणी शची घोर ईर्ष्या से असहनशील हो उठी, किन्तु जब उसने पाया कि दमयन्ती तो चमक कर उस दिशा से 'वामा' हो गयी, तो इन्द्राणी को बड़ी लाज लगी कि हाय, वह उस इन्द्र की पत्नी है, जिसका एक मानुषी तिरस्कार कर रही है ॥ ३२ ॥

त्वत्तः श्रुतो नेति नले मयाऽन्यः परं वदस्वेत्युदिताऽथ देव्या।
ह्रीमन्मथद्वैरथरङ्गभूमिर्भैमी दृशा भाषितनैषधाऽभूत् ॥ ३३ ॥

जीवातु—त्वत्त इति। अथ नले नलवरणविषये, मया नेति निषेधार्थक नलनामार्द्धबोधक वा 'न' इति पदं नार्थं, त्वत्त एव श्रुत, अत नलात् परम् अन्य, वदस्व नृपान्तर ब्रूहीत्यर्थः, अथवा—अत नकारपदात्, परम् अन्य पद, वदस्व इति देव्या वाग्देवतया, उदिता सपरिहास कथिता, ह्रीमन्मथद्वैरथरङ्गभूमि लज्जाकामरथिद्वयप्रसङ्गनाट्यशाला इव, भैमी दृशा दृष्ट्या इव, भाषित नैषध नल यया सा तादृशी, अभूत् ह्रिया कण्ठेन वक्तुमशक्ता कटाक्षदृष्ट्या नल सानुरागम् ऐक्षतेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

अन्वय—अथ 'मया त्वत्त नले 'न' इति श्रुत, अत परं वदस्व'—इति देव्या उदिता ह्रीमन्मथद्वैरथरङ्गभूमी भैमी दृशा भाषितनैषधा अभूत्।

हिन्दी—अनन्तर (इन्द्र पराङ्मुखी होने पर) 'मैंने तुम (दमयन्ती) से नल के विषय में (जिज्ञासा करने पर) 'न' (निषेधवाचक नकार) सुना है, इसलिए दूसरा (अभीष्ट वर) बोल'—इस प्रकार देवी द्वारा कहे जाने पर लज्जा और काम के दो रथो की रंगभूमि (युद्धस्थली) बनी भीमपुत्री ने दृष्टि से निषधराज का नाम कहा।

टिप्पणी—इन्द्र से पराङ्मुखी हो छिटकने पर परिहास में छेड़ते हुए भगवती ने दमयन्ती से कहा कि नल-वरणविषयक प्रसंग में दमयन्ती ने केवल 'न' कहा था, 'न' अर्थात् स्वीकार नहीं अर्थात् नल का निषेध। ऐसी स्थिति में दमयन्ती को और कुछ बोलना चाहिए। यदि 'न' का अर्थ नञ् निषेध है

तो दूसरे वर का नाम बताना चाहिए और यदि ऐसा नहीं है तो फिर 'न' नहीं पूरा नाम 'नल' कहना होगा। तब दमयन्ती मानों दो योद्धाओं की रथ स्थली बन गयी—लज्जा और काम की। लज्जा स्पष्ट कहने से रोकती थी, काम प्रेरित करता था। विवश दमयन्ती ने नल की ओर देखा और इस प्रकार अभीष्ट प्रकट कर दिया कि उसे नल अभिप्सित है ॥ ३३ ॥

हसत्सु भैमीं त्रिदिवत्सु पाणौ पाणिं प्रणीयाप्सरसां रसात् सा।
आलिङ्ग्य नीत्वाऽकृत पान्थदुर्गां भूपालदिक्पालकुलाध्वमध्यम् ॥३४॥

जीवातु—हसत्स्विति। दिवि 'सीदन्तीति दिविषदः देवाः, 'अमरा निर्जरा देवा, आदितेया दिविषदः' इत्यमरः। 'सत्सूद्विष'—इत्यादिना क्विप्। 'हृद्द्युभ्याञ्च' इति उपसङ्ख्यानात् सप्तम्यलुक्, 'सुषामादिषु च' इति षत्वम्, 'अविहितलक्षणमूर्द्धन्याः सुषामादिषु द्रष्टव्याः' इति वचनात्। तेषु रसात् अनुरागात्, अप्सरःसु इति भावः, अप्सरसां पाणौ पाणिं प्रणीय निधाय, अप्सरसां हस्तं धृत्वेत्यर्थः, हसत्सु अहो नरासक्ता इति परिहसत्सु सत्सु, सा सरस्वती, भैमीम् आलिङ्ग्य भूपालानां दिक्पालनाञ्च कुलयोः वर्गयोः, अध्वा तस्य मध्य नीत्वा पान्थदुर्गां पथिकजनैः सिन्दूरादिभिः पूजितां मार्गमध्यस्थदुर्गादेवीमित्यर्थः, अकृत तद्वदलङ्कृयाम् एकलक्ष्यां कृतवतीत्यर्थः, कृञः कर्त्तरि लुङि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचः सकारलोपः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—दिविषत्सु रसात् अप्सरसां पाणौ पाणिं प्रणीय हसत्सु सा भैमीम् आलिङ्ग्य भूपालदिक्पालकुलाध्वमध्यं नीत्वा पान्थदुर्गाम् अकृत।

हिन्दी—स्वर्ग-निवासी इन्द्रादि देवों के इससे (सरस्वती और दमयन्ती दोनों का भाव समझ कर प्रसन्न होने से) अप्सराओं के हाथ में (अनुराग-वश) हाथ रखकर हँसने पर भगवती सरस्वती ने भीमसुता को गोद में उठा भूपतियों और दिक्पतियों के वर्गों के मध्य मार्ग से लेजाकर मार्ग की दुर्गा देवी बना दिया।

टिप्पणी—सरस्वती और दमयन्ती के मध्य घटित व्यवहार को परिहास (हँसी-दिल्लगी) समझते हुए इन्द्रादिदेव अनुराग से अप्सराओं का हाथ पकड़ कर हँसने लगे अथवा (मल्लिनाथ के अनुसार) दमयन्ती की बुद्धि पर हँसने लगे कि वह देवों को छोड़ मनुष्य-वरण कर रही है। भगवती

सरस्वती ने दमयन्ती को अँकवार उठा लिया और देवों और राजाओं के बीच के मार्ग से उसे ले चली और इस प्रकार देवों और भूपतियों की दृष्टि एक साथ दमयन्ती की ओर ही आकृष्ट हो गयी। दमयन्ती उस समय पौष-दुर्गा-सी प्रतीत हुई, पथिकों द्वारा सिंदूरादि से अर्चित मार्ग दुर्गा। उत्सवादि में सिंहासन पर बैठाकर दुर्गा को मार्गों पर घुमाया जाता है। दमयन्ती उस समय वैसी ही लगी। लज्जा से निश्चल अपूर्वसुन्दरी दमयन्ती को दुर्गामूर्त्ति कहा गया है—एक मूर्त्ति ॥ ३४ ॥

अदेशितामप्यवलोक्य मन्दं मन्दं नलस्यैव दिशा चलन्तीम्।
भूयः सुरानर्द्धपथादथासौ तानेव तां नेतुमना नुनोद ॥ ३५ ॥

जीवातु—अदेशितामिति। अथ असौ देवी, तां भैमीम्, अदेशिता नलं प्रति गच्छेत्यनोदितामपि, दिशेश्चौरादिकात् कर्मणि क्तः। मन्दं मन्दं नलस्यैव दिशा चलन्तीं गच्छन्तीं, 'चलेरात्मनेपदमनित्यज्ञापनात्' इति वामनः। अवलोक्य भूयः पुनरपि, तान् इन्द्रादीन्, सुरान् एव नेतुं मनो यस्याः सा सती। 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः। अर्द्धपथात् नलसमीपगामिपथार्द्धात् पथार्द्धसकाशात् परावर्त्त्य इत्यर्थः, नुनोद इन्द्रादीन् प्रति प्रेरयामास।

अन्वय—अथ असौ अदेशिताम् अपि नलस्य एव दिशा चलन्तीं ताम् अवलोक्य भूयः तान् सुरान् एव नेतुमना अर्द्धपथात् नुनोद।

हिन्दी—तदनन्तर वे (भगवती) बिना आदेश पाये भी नल की ही ओर चलती उस (दमयन्ती) को देखकर पुनः उन देवों की ओर ही ले जाने के मन से आधे मार्ग से प्रेरित करने लगीं।

टिप्पणी—दमयन्ती को यद्यपि आज्ञा नहीं दी गयी, फिर भी वह नल की ओर बढ चली। ऐसा करती दमयन्ती को सरस्वती ने पुनः देवों की ओर चलने की प्रेरणा दी। शुभ कार्यारम्भ में देव वन्दना अपेक्षित है ॥३५॥

मुखाब्जमावर्त्तनलोलनालं कृत्वाऽलिहुंहुंरवलक्षलक्ष्यम्।
भीमोद्भवा तां नुनुदेऽङ्कपाली देव्या नवोढेव वृथा विवाढुं ॥ ३६ ॥

जीवातु—मुखेति। भीमोद्भवा भैमी, मुखाब्जं स्वमुखारविन्दम्, आवर्त्तनेन दिग्वलनेन, लोलनालं व्यावृत्तकण्ठनालं, तथा आलीनां सखीनां, हुंहुंरवाणां हुंहुमिति निवारणशब्दानाम्, अन्यत्र—अलीनां भृङ्गाणां, हुंहुंरवाणां हुङ्कारशब्दानां, लक्षैः लक्षसङ्ख्याविशेषैः, लक्ष्य दर्शनीयमन्वं,

कृत्वा नवोढा नववधूः, विवोढुः परिणेतुः इव, देव्याः सम्बन्धिनीं वृथा ताम् अङ्कपालीं परिरम्भणमन्वयम्, 'अङ्कपाली स्मृता धात्र्यां वेदिका-परिरम्भयोः' इति विश्वः। नुनुदे तत्याज ॥ ३६ ॥

अन्वयः—भीमोद्भवा आवर्तनलोलनालम् आलिहुंहुंरवलक्षलक्ष्यं मुखाब्जं कृत्वा विवोढुः नवोढा इव देव्याः ताम् अङ्कपालीं वृथा नुनुदे।

हिन्दी—भीमपुत्री ने परावर्तन से चंचल कंठनाल-युक्त, सखियों के 'हुँहुँ' (निषेधात्मक) शब्द के प्रचुर कोलाहल से दर्शनीय, अएतव घुमाने-फिराने से चंचल कमलनालयुक्त और भ्रमरों के प्रचुर झंकार रवों से देखने योग्य कमलरूप मुख को करके जैसे विवाहकर्ता पति के अंक से नव-विवाहित वधू छूट भागती है, वैसे ही देवी की अंकपाली से व्यर्थ ही अपने को छुड़ा लिया।

टिप्पणी—जैसे नयी ब्याही निषेधरूप में मुख दूसरी ओर करके सखियों की विधि-निषेधात्मक प्रवृत्ति-निवृत्तिपरक हुँकारों की ओर ध्यान न दे पति से छूट भागती है, ऐसे ही देवों की ओर ले जाती देवी की अँकवार से दमयन्ती ने अपने को छुड़ा लिया। दमयन्ती के परिवर्तित मुख को यहाँ 'अब्ज' (जलज) कहा गया है, जो आलियों के 'हुँहुँ' शब्द से उसी प्रकार लक्ष्य हो उठा है, जैसे अलिरव-पूर्ण कमल। पद्मिनी जाति की रमणी दमयन्ती के मुखपद्म पर भ्रमररव उचित ही है। उसका मुख भ्रमरझंकार से युक्त एक ओर झुके कमल-सा लग रहा था। चतुर्थ चरण में 'वृथा' के स्थान में 'दृढाम्' पाठांतर भी प्राप्त है। यह अधिक उपयुक्त लगता है। 'वृथा' का सन्दर्भगत उपयुक्त अर्थ नहीं लगता, जब कि 'दृढाम्' 'अंकपालीम्' का उपयुक्त विशेषण बन कर सार्थक है। देवी की दृढ़ अँकवार ॥ ३६ ॥

देवी कथञ्चित् खलु तामदेवद्रीचीभवन्तीं स्मितसिक्तसृक्का।
आह स्म तां मय्यपि ते भृशं का शङ्का ? शशाङ्कादधिकास्यबिम्बे !

जीवातु—देवीति। देवी तां भैमीं, कथञ्चित् खलु कथञ्चिदपि, देवान् अञ्चतीति देवद्रीची देवानुवर्तिनी, 'देवानञ्चति देवद्रयङ्' इत्यमरः। 'ऋत्विग्दधृक्-' इत्यादिना अञ्चतेः क्विन्-प्रत्ययः, 'विश्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ-'

स्तावप्रत्यये' इति टेरद्रयादेशः, 'उगितश्च' इति सूत्रे उगित्वात् ङीप् 'अच्-श्चेश्चोपसङ्ख्यानाम्' इति वा ङीप्। सा न भवन्तीम् इति अदेवद्रीचीभवन्तीं देवान् अनभिगच्छन्तीमित्यर्थः, दृष्ट्वेति शेष, स्मितेन सिक्ते सृक्वणी ओष्ठप्रान्तौ यस्याः सा तादृशी सती, 'प्रान्तावोष्ठस्य सृक्वणी' इत्यमरः। हे शशाङ्कात् अधिकम् उत्कृष्टम्, आस्यबिम्ब मुखस्वरूप यस्यास्तस्याः सम्बुद्धि, सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः। मयि मम समीपेऽपि, ते तव, का शङ्का? अविश्वास.? न काचिदित्यर्थः, इति ता भैमी भृशम्, आह स्म उवाच, 'लट् स्मे' इति भूते लट्, 'ब्रुव. पञ्चानाम्' इत्यादिना णलाहादेशः॥ ३७॥

अन्वयः—स्मितसिक्तसृक्वा देवी कथचित् खलु अदेवद्रीचीभवन्ती ता भृशम् आह स्म—'शशाङ्कवत् अधिकास्यबिम्बे, मयि अपि ते का शङ्का ?'

हिन्दी—मन्दस्मिति से सिक्त ओष्ठ-धारिणी (मुसकाती) सरस्वती *किसी प्रकार देव-पराङ्मुखी होती उस (दमयन्ती) से पुनः बोली—'हे चन्द्र* से भी आह्लादक मुखबिम्बवती दमयन्ती, मुझ पर भी तुझे कोई शका है।'

टिप्पणी—देवसंमुख ले जाती सरस्वती की अकपाली से किसी प्रकार छुटाकर देवपराङ्मुखी होती दमयन्ती की स्थिति पर देवी को हँसी आयी। मुसकाती हुई देवी ने उससे कहा कि उन पर दमयन्ती क्यों शका करती है? वे तो उससे सखी के सदृश व्यवहार कर रही हैं। उनमें अनिष्ट की शका करनी उचित नहीं है॥ ३७॥

एषामकृत्वा चरणप्रणाममेषामनुज्ञामनवाप्य सम्यक्।
सुपर्ववैरे तव वैरसेनिं वरीतुमीहा कथमौचितीयम्?॥ ३८॥

जीवातु—एषामिति। हे वत्से! एषाम् इन्द्रादीनां, चरणप्रणामम् अकृत्वा, एषामनुज्ञा नलवरणे सम्मतिं, सम्यक् अनवाप्य अप्राप्य च, सुपर्ववैरे अवज्ञाकरणात् देवताद्वेषे सति, तव वीरसेनस्य अपत्य वैरसेनिः नल त, वरीतुम् 'वृतो वा' इति विकल्पादिटो दीर्घः। इयम् ईहा स्पृहा, कथम् औचिती औचित्यम्? न कथञ्चिदित्यर्थः॥ ३८॥

अन्वय'—एषां चरणप्रणामम् अकृत्वा एषा सम्यक् अनुज्ञाम् अनवाप्य सुपर्ववैरे तव वैरसेनिं वरीतुम् इयम् ईहा कथम् औचिती ?

हिन्दी—इन (देवों) के चरणों में प्रणति न करके, इनकी भली प्रकार सम्मति बिना प्राप्त किये, देवों से शत्रुता हो जाने पर तेरी (दमयन्ती की) वीरसेन-पुत्र (नल) के वरणार्थ यह आकांक्षा किस प्रकार उचित है ?

टिप्पणी—सरस्वती ने दमयन्ती को समझाया कि वे उसे देवों के वरणार्थ उनके समीप नहीं ले जा रही हैं, प्रत्युत उन्हें प्रणाम करके प्रसन्न बनाने ले जा रही हैं, जिससे वे उसे नल-वरण की सम्मति दे दें। उनके रुष्ट होने पर नल को वरने की इच्छा सफल न हो सकेगी। वे अप्रसन्न हो शापादि दे सकते हैं, अतः उन्हें प्रसन्न करना उचित है ॥ ३८ ॥

इतीरिते विश्वसितां पुनस्तामादाय पाणौ दिविषत्सु देवी।
कृत्वा प्रणम्रां वदति स्म सा तान् भक्तेयमर्हत्यधुनाऽनुकम्पाम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—इतीति। सा देवी इतीरिते सति विश्वसितां प्रतीतां, तां भैमीं, पुनः भूयः, पाणौ हस्तौ, आदाय तत्पाणिं गृहीत्वेत्यर्थः, दिविषत्सु देवेषु, देवतानां समीपे इत्यर्थः, प्रणम्रां प्रणतां, कृत्वा तान् इन्द्रादिदेवान्, वदति स्म उक्तवती, 'लट् स्मे' इति भूते लट्। किमिति ? भक्ता युष्मद्भक्ता, इयं दमयन्ती, अधुना इदानीम्, अनुकम्पां भवत्कृपाम्, अर्हति; निजवरणाशां विहाय नलवरणार्थमनुग्रहं कुरुतेति भावः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—सा देवी इति ईरिते विश्वसितां तां पुनः पाणौ आदाय दिविषत्सु प्रणम्रां कृत्वा तान् वदतिस्म—भक्ता इयम् अधुना अनुकम्पाम् अर्हति।

हिन्दी—वे देवी (उनके) ऐसा (पूर्व-श्लोकोक्त) कहने पर विश्वस्त हुई उस (दमयन्ती) को फिर हाथ-पकड़ कर देवों में प्रणत कर उन (देवों) से बोलीं—आपकी भक्त यह (दमयन्ती) इस काल (आपकी) कृपा चाहती है।

टिप्पणी—अपने पूर्वकथन (१४।३८) से विश्वस्त दमयन्ती को भगवती ने देवों के चरणों में झुकाया और उनसे कहा कि दमयन्ती उनकी पुजारिनी है, इस मंगलपर्व पर वह उनकी कृपाकांक्षिणी है ॥ ३९ ॥

युष्मान् वृणीते न बहून् सतीयं शेषावमानाच्च भवत्सु नैकम्।
तद्वः समेतं नृपमंशमेनं वरीतुमन्विच्छति लोकपालाः ! ॥ ४० ॥

जीवातु—युष्मानिति । हे लोकपालाः ! सती साध्वी, एकभर्तृका इति यावत्, इयं भैमी, युष्मान् बहून् न वृणीते, पातिव्रत्यभङ्गभयादिति भावः, शेषाणाम् अवशिष्टानाम्, अवमानात् अवमानप्रसङ्गात्, भवत्सु मध्ये एकञ्च न, वृणीते इति पूर्वानुषङ्गः, तत् तस्मात्, वः युष्माकं सम्बन्धिनं, समेतं मिलितम्, अंशं सर्वांशसमष्टिरूपम्, 'अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः' इति स्मरणात्, एनं नृपं वरीतुम् अन्विच्छति, 'एकवरणापेक्षया सर्वांशनिर्मितस्य नलस्य वरणेनैव सर्वेषां सम्मानं भवति' इति भावः ॥ ४० ॥

अन्वय.—लोकपालाः इयं सती बहून् युष्मान् न वृणीते शेषावमानात् च भवत्सु एकं न; तत् वः समेतम् अंशम् एनं नृपं वरीतुम् अन्विच्छति ।

हिन्दी—(सरस्वती ने कहा)—हे लोकपालो, यह (दमयन्ती) पतिव्रता है, अतः अनेक (चार) तुम्हारा वरण नहीं कर रही, और अवशिष्ट की अवमानना होगी, इस कारण आपमें से एक का वरण नहीं कर रही, सो आप (सब) के सम्मिलित अंश इस राजा (नल) को वरने की अनुमति चाहती है ।

टिप्पणी—देवी ने देवों की अप्रसन्नता के अनौचित्य को प्रमाणित करने के लिए बड़ा उचित तर्क उपस्थित किया । दमयन्ती इन्द्रादि चारों को वर कर चार की पत्नी न बन सकेगी, क्योंकि वह सती है—एकभर्तृका । चारों में से किसी एक को इसलिए नहीं वरेगी कि शेष रहे तीन अपमानित होंगे । इससे वह एक राजा (नल) को वरने की देवों से अनुमति चाहती है, क्योंकि राजा उन सब का ही अंश है—लोकपालांश । इससे उन्हें असंतुष्ट न होना चाहिए । दमयन्ती उन सबकी तुष्टि के लिए ही राजवरण उचित समझती है । इससे उन सब का सम्मान होगा ॥ ४० ॥

भैम्याः स्रजः सञ्जनया पथि प्राक् स्वयंवरं संवरयाम्बभूव ।
सम्भोगमालिङ्गनयाऽस्य वेधाः शेषन्तु कं हन्तुमियद्यतध्वम् ! ॥४१॥

जीवातु—किञ्च भैम्या नलवरणसम्भोगौ तत्र प्रागेव ब्रह्मणैव निर्वर्तितौ किमपरमवशिष्यते यद्विघातार्थमयं वः प्रयासः ? इत्याह, भैम्या इति । किञ्च, वेधाः स्रष्टैव, प्राक् युष्मद्दौत्यानुसन्धानकाले, पथि अन्तःपुरमार्गे, स्रजः माल्यस्य,

सञ्जनया कण्ठे योजनया, 'ण्यासश्रन्थो युच्' इति ण्यन्तत्वात् युच्-प्रत्ययः, भैम्याः स्वयंवरं नलवरणं, संवरयाम्बभूव निर्वर्त्तयामास, तथा अस्य नलस्य, आलिङ्गनया आश्लेषणया, पूर्ववत् युच्, सम्भोगं, संवरयाम्बभूव इति पूर्वानुषङ्गः, एतच्चोभयं षष्ठसर्गे 'प्रसूप्रसादाधीगता' 'अन्योन्यमन्यत्रवत्' इति श्लोकद्वये अनुसन्धेयम्, शेषम् इतोऽवशिष्टन्तु 'अथ शेषं त्रिष्वन्यस्मिन् उपयुक्तेतरेऽपि च । स्वनिर्माल्यप्रदाने स्त्री ना नागेशप्रधानयोः ॥' इति वैजयन्ती, कं सम्भोग, हन्तुं व्याघातयितुम्, इयत् एतावत् यथा तथा नलरूपधारणादिना इत्यर्थः, यतध्वं यत्नं कुरुत ? सम्प्रश्ने लोट्, ब्रह्मसृष्टेरलङ्घ्यत्वात् वृथा वः प्रयासः, अतः अनुज्ञादानमेव कर्त्तव्यम् इति भावः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—वेधाः प्राक् पथि स्रजः सञ्जनया भैम्याः स्वयंवरं संवरयाम्बभूव, अस्य आलिङ्गनया सम्भोगम्; शेषं तु कं हन्तुम् इयत् यतध्वम् ?

हिन्दी—विधाता ने पहिले ही (नलदौत्य-काल में) मार्ग में माला की नल-कंठयोजना-द्वारा भीमपुत्री का स्वयंवर संपन्न करा दिया और इस (नल) की आलिंगना द्वारा वाह्य संयोग भी; अवशिष्ट किस (योग) को नष्ट करने के लिए (तुम देव) इतना (नल रूपादि धारण कर) प्रयत्न कर रहे हो ?

टिप्पणी—देवों को भगवती समझाने लगीं कि सृष्टिकर्ता ने नल-दमयन्ती का विवाह और संयोग पहिले ही करा दिया है। देव-दूत बनकर अदृश्य बने विदर्भ के राजप्रासाद में इतस्ततः घूमते नल के कण्ठ में मातृ-पूजा करके लौटती दमयन्ती की प्रसादमाला भ्रम से ही पड़ गयी थी (प्रसूप्रसादाधिगता—इत्यादि, नै० च० षष्ठ सर्ग)। आगे चलकर वे अनजाने परस्पर स्पर्श भी कर बैठे (अन्योन्यमन्यत्र–इत्यादि—स्पर्शातिहर्षादित-इत्यादि, तदेव)। इस प्रकार स्वयंवर भी हो गया और मिलन भी। अब देवगण अनेक उपायों द्वारा जो भैमी-नल-संयोग में बाधा डाल रहे हैं, वह उचित नहीं। अब शेष ही क्या रहा है ? भाव यह कि विधाता ने ही जब नल-भैमी-संयोग सम्पन्न कर दिया तो अब देवों को उसके विरुद्ध कोई प्रयास नहीं करना चाहिए ॥ ४१ ॥

वर्णाश्रमाचारपथात् प्रजाभिः स्वाभिः सहैवास्खलते नलाय।
प्रसेदुषो वेदृशवृत्तभङ्ग्या दित्सैव कीर्त्तिर्भुवमानयद् वः ? ॥ ४२ ॥

जीवातु—यद्वा, किमेषा देवाना दोषग्रहणेन येनेत्थमुपालभ्यन्ते ? किन्तु गुणग्रहणेनैव तान् प्रसादयामीत्याशयेनाह, वर्णेति। वर्णाना ब्राह्मणादीनाम्, आश्रमाणा ब्रह्मचर्यादीनाम्, आचारपथात् सद्वृत्तमार्गात्, स्वाभिः स्वकीयाभिः, प्रजाभिः सहैव अस्खलते अचलते, नलाय प्रसेदुषः प्रसन्नान्, 'भाषायां सदवस-श्रुवः' इति सदे क्वसुरादेशः। वः युष्मान्, ईदृश्या अकपटदूत्यकृत्यप्रकाशितया, वृत्तभङ्ग्या चरित्रवैचित्र्येण, तद्व्याजेनेत्यर्थः 'स्त्रियाः पुंवत्—' इत्यादिना पुंवद्भाव, कीर्त्तेः दित्सा नलाय कीर्त्तिं दातुम् इच्छैव कर्त्री, ददातेः 'सनि मीमा—' इत्यादिना इसादेशेऽभ्यासलोपः, 'अ: प्रत्ययात्' इत्यकार–प्रत्यये टाप्, भुवम् आनयद्वा ? युष्मान् पृथिवीमानीतवती किम् ! 'नीवह्यो:—' इत्यादिना नयतेर्द्विकर्मकता। नलस्य कीर्त्तिम् अलङ्कर्त्तुम् अयं वः प्रयासो न तु भैमीं पीडयितुमिति भावः ॥ ४२ ॥

अन्वय—वा वर्णाश्रमाचारपथात् स्वाभिः प्रजाभिः सह एव अस्खलते नलाय प्रसेदुषः वः ईदृग्वृत्तभङ्ग्या कीर्त्तेः दित्सा एव भुवम् आनयत्।

हिन्दी—अथवा (लगता है कि) वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार आचरण से अपनी प्रजा के साथ ही विचलित न होते नल पर प्रसन्न तुम सब (देव) को इस प्रकार के चरित्र-वैचित्र्य द्वारा (अथवा नल के इस प्रकार अभूत-पूर्व निष्कपट दौत्य सम्पादन पर प्रसन्न तुम देवों को) इसे यश देने की आकांक्षा ही पृथ्वी पर लायी है।

टिप्पणी—देवी ने एक अन्य भगिमा से देवों को संतोष देने की चेष्टा की। भगवती ने बताया कि कदाचित् देवगण नल पर प्रसन्न होकर उसे यह यश देने की इच्छा से भूमण्डल पर पधारे हैं कि नल इतना गुणी है कि देवों की उपेक्षा करके भी दमयन्ती ने उसे वरा। देव नल पर दो कारणों से प्रसन्न हैं—एक तो वह अपने प्रजाजन के साथ धर्मानुकूल वर्णाश्रम व्यवस्था का पालन करते हुए जीवन यापन करता है, दूसरे उसने देवों का दौत्यकर्म निष्कपटभाव से सम्पादित कर अद्भुत और उत्तम चरित्र का परिचय दिया है ॥ ४२ ॥

इति श्रुतेऽस्या वचने च हास्यात् कृत्वा सलास्याधरमास्यबिम्बम् ।
भ्रूविभ्रमाकूतकृताभ्यनुज्ञेष्वेतेषु तां साऽथ नलाय निन्ये ॥ ४३ ॥

जीवातु—इतीति । किञ्चेति चार्थः; अस्याः देव्याः, इति इत्थम्भूते, वचने श्रुते सति हास्यात् प्रसन्नताजनितहासाद्धेतोः, आस्यबिम्बं सलास्याधरं चलदोष्ठमिति यावत्, कृत्वा, एतेषु देवेषु, भ्रूविभ्रम एव भ्रूचेष्टैव, आकूतम् अभिप्रायः तेन अभिप्रायव्यञ्जकभ्रूचेष्टयेत्यर्थः, कृता अभ्यनुज्ञा यैः तेषु सत्सु, अथ अनुज्ञाप्राप्त्यनन्तरं, सा देवी, तां भैमीं, नलाय निन्ये नलसमीपं निनायेत्यर्थः । क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी ॥ ४३ ॥

अन्वयः—इति च अस्याः वचने श्रुते हास्यात् आस्यबिम्बं सलास्याधरं कृत्वा एतेषु भ्रूविभ्रमाकूतकृताभ्यनुज्ञेषु अथ सा तां नलाय निन्ये ।

हिन्दी—और इस प्रकार (उपर्युक्त) इस (सरस्वती) के वचन सुनने पर प्रसन्नता-जनित हँसी से मुखमण्डल को अधर-लास्य से युक्त कर (प्रसन्न मुख हो) इन (देवों) के भ्रुकुटि-चेष्टा से अभिप्राय व्यक्त करके अनुमति दे देने के पश्चात् वे (भगवती) उसे (दमयन्ती को) नल के समीप ले गयीं ।

टिप्पणी—देवी की चातुरीपूर्ण तर्कसम्मत वाणी सुनकर देव प्रसन्न हो गये और उन्होंने भैमी द्वारा नलवरण की प्रसन्नता पूर्वक अनुज्ञा दे दी । अनुज्ञा प्राप्त कर वरमाल्य-निक्षेपण के निमित्त भगवती दमयन्ती को नल के निकट ले गयी ॥ ४३ ॥

मन्दाक्षनिष्पन्दतनोर्मनोभूदुष्प्रेरमप्यानयति स्म तस्याः ।
मधूकमालामधुरं करं सा कण्ठोपकण्ठं वसुधासुधांशोः ॥ ४४ ॥

जीवातु—मन्दाक्षेति । सा सरस्वती, मन्दाक्षनिष्पन्दतनोः लज्जानिश्चलाङ्ग्याः, तस्याः भैम्याः, मनोभुवा कामेनापि, दुष्प्रेरं प्रेरयितुमशक्यं, मधूकमालया मधुरं रम्यं करं वसुधासुधांशोः भूचन्द्रस्य नलस्य, कण्ठोपकण्ठं कण्ठसमीपम्, आनयति स्म प्रापयामास; तदा अस्याः स्मरादपि लज्जा बलीयसी अभूदिति भावः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—सा मन्दाक्षनिष्पन्दतनोः तस्याः मनोभूदुष्प्रेरम् अपि मधूकमालामधुरं करं वसुधासुधांशोः कण्ठोपकण्ठम् आनयति स्म ।

हिन्दी—वे (सरस्वती) लज्जा से निश्चल शरीरवती उस (दमयन्ती) के काम द्वारा भी अप्रेरणीय, महुए की माला से रमणीय हाथ को भूमण्डल के चन्द्र (नल) के कण्ठ के समीप ले आयी।

टिप्पणी—दमयन्ती के सुन्दर कर में मधूकपुष्पा से युक्त वरमाला थी, जिसे नल के कण्ठ में उसे पहिनाना था, किन्तु उस काल लज्जा से वह दमयन्ती इतनी अभिभूत हो रही थी कि नल की अदम्यकामना से पूर्ण होने पर भी उसका शरीर निश्चल हो रहा था और हाथ उठ ही नहीं रहा था। भगवती किसी प्रकार दमयन्ती के हाथ को नल कण्ठ के निकट ले गयी ॥४४॥

अथाभिलिख्येव समर्प्यमाणा राजिं निजस्वीकरणाक्षराणाम्।
दूर्वाङ्कुराढ्यां नलकण्ठनाले वधूर्मधूकस्रजमुत्ससर्ज ॥ ४५ ॥

जीवातु—अथेति। अथ वधू कन्या भैमी, अभिलिख्य लिखित्वा, समर्प्यमाणा दीयमाना निजस्य आत्मीयस्य, यत् स्वीकरण विवाहेन परिग्रहण, तस्य अक्षराणां तद्वाचकवर्णानां, मा पत्नी कुरु इत्यक्षराणामित्यर्थः, अहं त्वां वरयामि इत्यक्षराणामित्यर्थो वा राजिं श्रेणीमिव, दूर्वाङ्कुराढ्यां दूर्वाप्ररोहगुम्फितां, मधूकस्रजं मधुद्रुमकुसुममालां, 'मधूके तु गुडपुष्पमधुद्रुमौ' इत्यमरः। नलकण्ठनाले उत्ससर्ज अर्पयामास ॥ ४५ ॥

अन्वय—अथ वधूः अभिलिख्य समर्प्यमाणां निजस्वीकरणाक्षराणां राजिम् इव दूर्वाङ्कुराढ्यां मधूकस्रजं नलकण्ठनाले उत्ससर्ज।

हिन्दी—तत्पश्चात् नववधू (दमयन्ती) ने मानो लिखकर समर्पित की जाती, अपने स्वीकार से सबद्ध अक्षरों की पंक्ति सदृश दूब घास के अकुरों से सम्पन्न महुए की माला (नवदूर्वांकुर-युक्त मधूकमाला) को नल के कण्ठ-नाल में डाल दिया।

टिप्पणी—दमयन्ती ने वरमाल नल के कण्ठ में डाल दी। मुखकमल के सदृश था तो कण्ठ-नाल कमलनाल सम। वरमालार्पण इस तथ्य का द्योतक है कि वरार्थिनी ने माला डाल कर अपने को माल्यधारी के प्रति अर्पित कर दिया, वह उसे स्वीकार ले। यह एक लिखित पत्र—'दस्तावेज' की भाँति है, जिसमें विवाह का निश्चय ज्ञापित होता है। दूर्वांकुर श्यामल होने के कारण प्रतिज्ञापत्र के अक्षरों के तुल्य है, मधूक लिखे अक्षरों

के अक्षर-स्थानीय। हिन्दी-कवि जयशंकरप्रसाद की कहानी 'देवरथ' में दूर्वांकुरों को कौमार्य और मधूकों को अनुराग का प्रतीत मान कर यह कल्पना की गयी है कि वरार्थिनी, दूब-महुए की माला वर को समर्पित करती हुई जैसे अपना कौमार्य और अनुराग समर्पित करती है ॥ ४५ ॥

तां दूर्वया श्यामलयाऽतिवेलं शृङ्गार-भा-सन्निभया सशोभाम् ।
मालां प्रसूनायुधपाशभासं कण्ठेन भूभृद्बिभराम्बभूव ॥ ४६ ॥

जीवातु—तामिति। अतिवेलं भृशं, श्यामलया हरितवर्णया, अत एव शृङ्गार-भा-सन्निभया शृङ्गाररसप्रभासदृश्या, 'श्यामो भवति शृङ्गारः' इति भरतवचनात् इति भावः। दूर्वया सशोभां शोभमानां, प्रसूनायुधस्य कन्दर्पस्य, यः पाशः पाशायुधं, मालाया मदनोद्दीपकत्वादिति भावः, तस्येव भा यस्य-स्तादृशीं, मालां भूभृत् नलः, कण्ठेन बिभराम्बभूव धारयामास 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' इति विकल्पादाम्-प्रत्यये श्लुवद्भावात् धातोर्द्विर्भावः, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति भुवोऽनुप्रयोगः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—भूभृत् अतिवेलं श्यामलया शृङ्गारभासन्निभया दूर्वया सशोभां प्रसूनायुधपाशभासं तां मालां कण्ठेन बिभराम्बभूव।

हिन्दी—भूमिपति (राजा नल) ने प्रचुर श्यामल वर्ण की, शृङ्गाररस की कांति के तुल्य दूब से सुशोभित, कुसुमास्त्र (कामदेव) के पाशायुध के सदृश उस वरमाला को कण्ठ में धारण कर लिया।

टिप्पणी—श्याम वर्ण शृङ्गाररस का भी माना गया है, दूर्वा भी उसी वर्ण की है, अतः उसे 'शृङ्गारभास' कहा गया। 'भूभृत्' पर्वतवाची भी है और नृपार्थक भी। राजा ने माला को उसी भाँति कण्ठ में धारण किया जैसे पर्वत हरी दूब को धारण करता है। मदनोद्दीपक होने और रूपसाम्य होने से माला को कामपाश-सम कहा गया ॥ ४६ ॥

दूर्वाग्रजाग्रत्पुलकावलिं तां नलाङ्गसङ्गाद् भृशमुल्लसन्तीम् ।
मानेन मन्ये नमितानना सा सासूयमालोकत पुष्पमालाम् ॥ ४७ ॥

जीवातु—दूर्वेति। सा भैमी, दूर्वाग्राण्येव जाग्रती उद्गच्छन्ती, पुलकावलिः यस्याः तां सर्वतः सञ्जातपुलकामिव स्थितामित्यर्थः, नलाङ्गसङ्गाद्

भृशम् अत्यर्थम्, उल्लसन्तीम् शोभमानाम्, आनन्दयुक्तांच, ता पुष्पमालां मानेन मालायाः साफल्यदर्शनात् प्रणयकोपेन, नमितानना सती सासूयम् आलोकतेति मन्ये। अत्र दूर्वाग्रेत्यादिप्रस्तुतमालाविशेषणसाम्यादप्रस्तुतसपत्नी प्रतीतेः समासोक्ति, तदुपजीवनेन लज्जाहेतुक–नलाननालोकेन मानकृतासूया-हेतुकत्वोत्प्रेक्षणादनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ४७ ॥

अन्वय –मन्ये, दूर्वाग्रजाग्रत्पुलकावलि नलाङ्गसङ्गात् भृशम् उल्लसन्तीं ता पुष्पमाला मानेन नमितानना सा सासूयम् आलोकत।

हिन्दी—लगता था कि दूब के अकुर रूप रोमावों से युक्त, नल के अगों के संग के कारण अत्यन्त उल्लास से परिपूर्ण उस पुष्पमाला को प्रणयजनित मान से मुख नीचा किये उस (दमयन्ती) ने ईर्ष्यासहित देखा।

टिप्पणी—नलदेहसग के कारण वरमाला मे यहाँ दमयन्ती के सपत्नीभाव की कल्पना की गयी है, प्रियसंसर्ग से जिसके रोमाच हो उठे हैं और जो इसी कारण प्रसन्नता से उछल रही है। दूर्वांकुरों को रोमाच कहा गया है। उल्लसित होना शोभा और आनन्द का द्योतक है। प्रिय के नैकट्य के कारण दमयन्ती की माला—सौत पर ईर्ष्या और नल के प्रति प्रणय-कोप है। प्रिय के अन्यसंगी होने की स्थिति मे नारियों का ईर्ष्याजन्य कोप और मान होता है—'स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये।' मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ दूर्वाग्र—इत्यादि से प्रस्तुत माला मे विशेषण-साम्य से अप्रस्तुत सपत्नी की प्रतीति होने के कारण समासोक्ति है, तदुपजीवित लज्जाहेतुक नल-मुख-विलोकन द्वारा मानकृत असूया हेतुकत्व की उत्प्रेक्षा की गयी है,—इस प्रकार समासोक्ति उत्प्रेक्षा का अगागिभाव से सकर है ॥ ४७ ॥

सा निर्मले तस्य मधूकमाला हृदि स्थिता च प्रतिबिम्बिता च।
कियत्यमग्ना कियती च मग्ना पुष्पेषुबाणालिरिव व्यलोकि ॥४८॥

जीवातु—सेति। तस्य नलस्य, निर्मले स्वच्छे, हृदि वक्षसि, स्थिता च बहिरवस्थिता च, प्रतिबिम्बिता च हृदयस्य स्वच्छत्वेन अन्तः प्रतिफलिता च, [illegible] मधूकमाला कियती स्वल्पा, अमग्ना बहिरवस्थिता, कियती स्वल्पा, मग्ना अन्तः प्रविष्टा च, अर्द्धमग्ना चेत्यर्थः, पुष्पेषोः कामस्य, बाणालिरिव बाणपंक्तिरिव, व्यलोकि दृष्टा, तत्रत्यजनैरिति शेषः। इत्युत्प्रेक्षा ॥ ४८ ॥

अन्वयः—तस्य निर्मले हृदि स्थिता च प्रतिबिम्बिता च सा मधूकमाला कियती अमग्ना कियती मग्ना च पुष्पेषुबाणालिः इव व्यलोकि।

हिन्दी—उस (नल) के स्वच्छ वक्ष पर पड़ी और (हृदय के स्वच्छ होने से) अन्तस् में प्रतिबिम्बित वह महुए की माला थोड़ी बाहर और थोड़ी भीतर धँसी पुष्पबाण (कामदेव) की बाण-पंक्ति-सदृश दीख रही थी।

टिप्पणी—नल के वक्ष पर स्थित वरमाला उसके स्वच्छ अर्थात् निर्मल और निष्कलुष हृदय के भीतर प्रविष्ट-सी भी प्रतीत हो रही थी। ऐसा लगता था कि वह कामदेव की बाणावलि है, जो नल के वक्ष में आधी धँस गयी है। ऊपर रहे मधूक पुष्प अमग्न बाणांश हैं और निर्मल वक्ष पर उनकी प्रतिच्छाया मग्न बाणांश। भाव यह कि माला-स्पर्श से नल कामवश हो गया। मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है॥ ४८॥

काऽपि प्रमोदास्फुटनिर्जिहानवर्णैव या मङ्गलगीतिरासाम्।
सैवाननेभ्यः पुरसुन्दरीणामुच्चैरुलूलुध्वनिरुच्चचार ॥ ४९॥

जीवातु—काऽपीति। प्रमोदेन हर्षातिरेकेण, अस्फुटं यथा तथा निर्जिहानाः निर्गच्छन्तः, वर्णाः यस्याः तादृशी एव हर्षपारवश्यात् अस्फुटाक्षरैरेवेत्यर्थः, आसां स्वयंवरदर्शनार्थमागतानां, पुरसुन्दरीणाम् आननेभ्यः काऽपि अपूर्वा, या मङ्गलगीतिः, उच्चचार उच्चरिता, सैव अस्फुटाक्षरा मङ्गलगीतिरेव, उच्चैः तारम्, उलूलुध्वनिः, अभूदिति शेषः। अनुकारिशब्दोऽयम् उलूलुरित्येवं रूपः कश्चित् हर्षणात्मको मुखोच्चार्यो ध्वनिविशेषः उत्सवादौ स्त्रीभिरुच्चार्यते इत्युदीच्यानामाचारः। पुरसुन्दरीणां यत् उत्सवादौ मङ्गलसूचकं गानं तदेव हर्षपारवश्यादस्फुटाक्षरत्वात् उलूलुध्वनिकल्पमभूदित्यर्थः॥ ४९॥

अन्वयः—पुरसुन्दरीणाम् आननेभ्यः प्रमोदास्फुटनिर्जिहानवर्णा एव का अपि या मङ्गलगीतिः, सा एव आसाम् उच्चैः उलूलुध्वनिः उच्चचार।

हिन्दी—(नल-दमयन्ती-परिणय देखने आयीं) नगर की सुन्दरियों के मुखों से हर्षातिरेक के कारण अस्पष्ट उच्चरित वर्णों वाली ही कोई अपूर्व जो मंगल-गीति गायी जा रही थी, वही इन (नागरिकाओं) की उच्चस्वर में उच्चरित 'उलूलु' ध्वनि बन गयी।

टिप्पणी—जगद्विश्रुत नल-दमयन्ती-विवाह-समारोह में आयी नगर-सुन्दरियों के मुख से, हर्ष और आनन्द से गद्गद कण्ठ होने के कारण, अस्फुट मंगल-गान निकल रहे थे, जिनकी शब्दावलि स्पष्ट अवगत नहीं हो रही थी, लगता था वही विवाह-समय की गयी 'उलूलु' ध्वनि है। 'उलूलु' शब्द करना वैवाहिक गौड-देशाचार है, जो नागरिकाओं द्वारा हर्ष और उत्साह के साथ किया जाता है। यह भी अस्फुट होता है। इसी वर्णन के आधार पर श्रीहर्ष को गौडदेशीय कहा जाता है। कवि ने यह अपने देशाचार का उल्लेख किया है—'स्वदेशरीतिं कविनोक्ता'।—नारायण। प्रकाश टीका में यह श्लोक 'सा निर्मले' इत्यादि पूर्वश्लोक के पूर्व है ॥ ४९ ॥

रोमाणि सर्वाण्यपि बालभावाद् वरश्रियं वीक्षितुमुत्सुकानि।
तस्यास्तदा कण्टकिताङ्गयष्टेरुद्ग्रीविकादानमिवान्वभूवन् ॥ ५० ॥

जीवातु—अथास्याश्रिभिः पुलकोदयमाह, रोमाणीत्यादि। तदा तत्काले कण्टकिताङ्गयष्टेः पुलकितशरीरायाः, तस्या भैम्याः, सर्वाण्यपि रोमाणि बालभावात् कचत्वात्, शिशुत्वाच्च, 'बाल: कचे शिशौ मूर्खे' इति विश्वः। वरस्य वोढुः नलस्य, श्रियं सौन्दर्यं, वीक्षितुं द्रष्टुम् उत्सुकानि सन्ति, उद्ग्रीविकां उन्नमितग्रीवीकरणं ग्रीवोन्नमनमिति यावत्। उद्ग्रीवयते तत्करोति—' इति ण्यन्ताद्भावार्थनिर्देशेऽपि ण्वुल्प्रत्ययः तस्या आदानं स्वीकारम्, अन्वभूवन्निवेत्युत्प्रेक्षा। बाला ह्युद्ग्रीवा मृग पश्यन्तीति भावः ॥ ५० ॥

अन्वय—तदा कण्टकिताङ्गयष्टेः तस्याः बालभावात् वरश्रियं वीक्षितुम् उत्सुकानि सर्वाणि अपि रोमाणि उद्ग्रीविकादानम् इव अन्वभूवन्।

हिन्दी—उस काल पुलकितदेह यष्टिवती उस (दमयन्ती) के बाल-भाव अर्थात् शिशु होने और केश होने के कारण वर (दूल्हा नल) की शोभा को देखने के निमित्त उत्सुक सम्पूर्ण ही रोम उद्ग्रीवता के आदान अर्थात् ऊँची गरदन कर उचकने की स्थिति का अनुभव सा कर रहे थे।

टिप्पणी—उस समय दमयन्ती को भावाकुलता के कारण रोमांच हो उठा था, इन उन्नत रोमों की कल्पना वर की शोभा देखने को उत्सुक ऊँची गरदन करके उचकते बालकों के रूप में की गयी है। 'बाल' शब्द के 'बालक' और 'केश' दोनों अर्थों का ग्रहण है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ५० ॥

रोमाङ्कुरैर्दन्तुरिताखिलाङ्गी रम्याधरा सा सुतरां विरेजे।
शरव्यदण्डैः श्रितमण्डनश्रीः स्मारी शरोपासनवेदिकेव ॥ ५१ ॥

जीवातु—रोमाङ्कुरैरिति। रोमाङ्कुरैः पुलकैः, दन्तुरितं विषमितम्, अखिलाङ्गं यस्याः सा, रम्यौ अधरौ दन्तवसने, ओष्ठौ इत्यर्थः, अन्यत्राधोभागश्च यस्याः सा, 'अधरो दन्तवसने हीनेऽनूर्ध्वेऽधरोऽन्यवत्' इति विश्वः। सा भैमी, शरव्यदण्डैः निखातलक्ष्यभूतयष्टिभिः, श्रिता प्राप्तेत्यर्थः, मण्डनश्रीः प्रसाधनशोभा यस्याः सा तादृशी, रोमाङ्कुराणां शरव्यदण्डसादृश्यं बोध्यम्; स्मरस्येयं स्मारी कन्दर्पसम्बन्धिनी, शरोपासनस्य शराभ्यासस्य, वेदिकेव सुतराम् अत्यर्थं, विरेजे शुशुभे; सञ्जातपुलकां तां दमयन्तीं कामः स्वशरैः पुनः पुनः विव्याध इति भावः। शराभ्यासिनो व्याधप्रमुखा निखातलक्ष्ययष्टिकां वेदीं कुर्वन्तीति प्रसिद्धिः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—रोमाङ्कुरैः दन्तुरिताखिलाङ्गी रम्याधरा सा शरव्यदण्डैः श्रितमण्डनश्रीः स्मारी शरोपासनवेदिका इव सुतरां विरेजे।

हिन्दी—रोमांच के कारण उन्नत-अवनत (विषम) समस्त अंगों वाली और सुन्दर ओठों वाली वह (दमयन्ती) लक्ष्यीभूत दण्डों से सुशोभित स्मर (काम) की बाण-संचालन के अभ्यास की वेदी की भाँति अत्यन्त सुशोभित हो रही थी।

टिप्पणी—बाणाभ्यास करने के निमित्त एक स्थली पर लक्ष्य साधने के लिए कुछ डंडे गाड़ लिये जाते हैं, इन्हीं को लक्ष्य बनाकर बाणसंधान का अभ्यास किया जाता है। स्वाभाविक है कि यह लक्ष्यदण्डवाली वेदी ऊँची-नीची होती है। दमयन्ती उस समय भावाकुला और कामाधीना थी। उसकी देहयष्टि रोमांचों से युक्त थी, बिम्बोष्ठी वह थी ही, अतएव यहाँ उसे बाणाभ्यास की वेदी कहा गया है। वह अथवा उसकी देहयष्टि वेदी है, रोमांच शरव्यदण्ड है। उस सुन्दरी दमयन्ती को देख सभी कामाधीन हो गये—यह संकेत भी है ॥ ५१ ॥

चेष्टा व्यनेशन्निखिलास्तदाऽस्याः स्मरेषुपातैरिव ता विधूताः।
अभ्यर्थ्य नीताः कलिना मुहूर्तं लभाय तस्या बहु चेष्टितुं वा ॥ ५२ ॥

जीवातु—चेष्टा इति। तदा तत्काले, अस्याः भैम्याः, ताः प्रागनुभूताः,

निखिलाः चेष्टाः कटाक्षवीक्षणाङ्गविक्षेपादयः, स्मरस्येषुपातैः बाणप्रहारैः, विधूताः निरस्ता इवेत्युत्प्रेक्षा व्यनेशन् विनष्टाः, नशेर्लुङि पुषादित्वादङ्, 'नशिमन्योरलिटि एत्वं वक्तव्यम्' इत्येत्वम् । 'विनेशु'रिति पाठे—लिट्यना-देशादित्वात् 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इति एत्वाभ्यासलोपौ । प्रकारा-न्तरेणोत्प्रेक्षते—वा अथवा, तस्याः भैम्याः, लाभाय प्राप्तये, बहु बहुविधं, चेष्टितं विलसितं, कलिना कलिपुरुषेण, अभ्यर्थ्य 'कटाक्षवीक्षणादिविलासा मयि तिष्ठन्तु' इति दमयन्तीं प्रार्थ्य, मुहूर्त्तम् ईषत्कालं, नीताः; दमयन्तीप्सया पापिष्ठस्य कलेरप्यागमित्वात्तस्य विकृतरूपस्य चतुरचेष्टानभिज्ञत्वाच्च दमयन्ती-लाभोपयोगिबहुविलासप्रदर्शनार्थं भैमीविलासा एव प्रार्थ्य नीता इवेत्युत्प्रेक्षा । एतेन अस्याः स्तम्भाख्यसात्त्विकभाव उक्तः, 'स्तम्भः स्यान्निष्क्रियाङ्गत्वम्' इति लक्षणात् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—तदा अस्या ताः निखिलाः चेष्टा स्मरेषुपातैः विधूताः इव व्यनेशन् वा तस्याः लाभाय बहु चेष्टितं कलिना अभ्यर्थ्य मुहूर्तं नीताः ।

हिन्दी—उस काल इस (दमयन्ती) की सम्पूर्ण (कटाक्षविक्षेपणादि) चेष्टाएँ कामबाणों के प्रहारों से मानो समाप्त हो गयीं अथवा उस (दमयन्ती) को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के विलासार्थ (उससे) याचना करके कुछ समय को माँग ली गयीं ।

टिप्पणी—आशय यह है कि उस काल सात्त्विक स्तम्भ के कारण दमयन्ती स्तब्ध, निश्चल हो गयी और इस प्रकार उसके समस्त कटाक्ष-विक्षेपादि व्यापार निरस्त हो गये । इस स्थिति पर दो उद्भावनाएँ की गयीं—एक, काम द्वारा बाणों का प्रहार कर अथवा काम-बाणों के पुंखों से वायुद्वारा उड़ाकर दमयन्ती की समग्र विलास-लीलाएँ दूर कर दी गयीं, दूसरी, दमयन्ती-लोलुप अभद्र चेष्टाएँ करने वाले कलि ने वे विलासादि चेष्टाएँ दमयन्ती से प्रार्थना करके माँग ली कि वह उसे सन्तुष्ट करने के लिए कुछ काल तक भद्र रसिकों के सदृश व्यवहार कर सके। मल्लिनाथ और नारायण ने यहाँ उत्प्रेक्षा और स्तम्भ नामक सात्त्विक भाव का निर्देश किया है ॥५२॥

तन्व्यस्तमाल्यस्पृशि तस्य कण्ठे स्वेदं करे पञ्चशरश्चकार ।
भविष्यदुद्वाहमहोत्सवस्य हस्तोदकं तज्जनयाम्बभूव ॥ ५३ ॥

जीवातु—अथ चतुर्भिर्नलस्यापि सात्त्विकोदयमाह, तदिति । तया भैम्या, न्यस्तम् अर्पितं, माल्यं स्पृशतीति माल्यस्पृक्; 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' तस्मिन् तस्य नलस्य, कण्ठे करे च पञ्चशरः स्मरः, स्वेदं सात्त्विकं घर्मजलं, चकार जनयामास, तत् स्वेदजलं, भविष्यत उद्वाहमहोत्सवस्य सम्बन्धि हस्तोदकम् अर्घ्यजलं, जनयाम्बभूवेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ५३ ॥

अन्वयः—पञ्चशरः तन्न्यस्तमाल्यस्पृशि तस्य कण्ठे करे स्वेदं चकार, तद् भविष्यदुद्वाहमहोत्सवस्य हस्तोदकं जनयाम्बभूव ।

हिन्दी—पंचबाण (काम) ने उस (दमयन्ती) के द्वारा निक्षिप्त वर-माला का स्पर्श करते उस (नल) के कण्ठ और हाथ में सात्त्विक भाव का जल (पसीना) उत्पन्न कर दिया, वह (स्वेद) मानो होने वाले विवाह-महोत्सव का कन्यादान-जल (अर्घ्य) उत्पन्न हो गया ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती के स्तम्भ नामक सात्त्विक का वर्णन था, यहाँ से चार (५३–५६) श्लोकों में नल के सात्त्विक भावों का वर्णन है। यहाँ स्वेद का वर्णन है, जो नल के कण्ठ और कर में दमयन्ती-द्वारा पहिनायी गयी माला के कारण उत्पन्न हो गया। इस पर उद्भावना की गयी कि यही स्वेद भावी विवाहोत्सव से सबद्ध हस्तोदक बन जायेगा । यह स्वेदजल नहीं, विवाहमहोत्सव-सम्बन्धी हस्तोदक है । मल्लिनाथ के अनुसार गम्योत्प्रेक्षा, क्योंकि व्यञ्जक का प्रयोग नहीं है ॥ ५३ ॥

तूलेन तस्यास्तुलना मृदोस्तत् कम्प्राऽस्तु सा मन्मथबाणपातैः ।
चित्रीयितं तत्तु नलो यदुच्चैरभूत् स भूभृन् पृथुवेपथुस्तैः ॥ ५४ ॥

जीवातु—तूलेनेति । मृदोः मृद्व्याः, कोमलाङ्ग्या इत्यर्थः, 'वोतो गुण-वचनात्' इति विकल्पादनीकारः । तस्याः भैम्याः, तूलेन कार्पासादिना, तुलना लघुतायां साम्यं, यतः तत्तस्मात्, सा भैमी, मन्मथबाणपातैः कम्प्रा चला, अस्तु, तूलानां लघुतया सामान्यकारणेनैव चलत्वात् तत्सदृशानामपि सामान्येनैव चलत्वं युक्तमिति भावः, तु किन्तु, उच्चैः महान्, भूभृत् मही-पालः गिरिश्च, 'भूभृद् गिरौ महीपाले' इति शाश्वत सः नलः तैः बाणपातैः, पृथुवेपथुः महाकम्पः, अतीव कम्पित इत्यर्थः, 'ट्वितोऽथुच्' अभूदिति यत् तत् चित्रीयितं चित्रीकरणं, 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्', 'क्यचि च' इत्यकारस्येत्वं,

भ्यजन्तरवाद्भावे निष्ठा। अल्पवायुना तूलचलने किं चित्रम्? शैलचलनन्तु चित्रीयते इत्यर्थः, धीरः राज्ञा नलोऽपि चलति इत्येव चित्र भीरुर्मी चलतीति न चित्रमिति भावः ॥ ५४ ॥

अन्वय.—मृदोः तस्याः तूलेन तुलना, तत् सा मन्मथबाणपाते कम्प्रा अस्तु, तत् तु चित्रीयित यत् उच्चैः भूभृत् सः नलः तं. पृथुवेपथु अभूत्।

हिन्दी—कोमलांगी उस (दमयन्ती) की समता कपास से है, सो वह (दमयन्ती) काम-बाणों के प्रहारों (अथवा बाण-निपात-जात वायु) से कम्पित हो जाय, (इसमें आश्चर्य नहीं), किन्तु आश्चर्य तो वह है कि ऊँचे पर्वत-सा महान् वह भूमिपाल नल उन (बाण-पातों से) अत्यधिक कंपयुक्त हो गया।

टिप्पणी—नल के सात्त्विक भाव कंप का वर्णन और दमयन्ती के भी। इसका एक वैचित्र्य भंगिमा के साथ वर्णन। कोमलांगी दमयन्ती कपास-सी हल्की है, वह कांप गयी काम-बाणों से। इसमे कोई विस्मय नहीं है, वह कोमल कपास-सी हल्की थी, कांप ही जाती; विस्मयकर तो यह है उच्चभूभृत्—ऊँचे पहाड-सा उच्चभूभृत्—महान् धरणीधर राजा नल भी महाकम्प से युक्त हो गया। कपास कांपती, ऊँचा पहाड भी कांप उठा। आश्चर्य ॥५४॥

दृशोरपि न्यस्तमिवाऽऽस्त राज्ञा रागाद् दृगम्बुप्रतिबिम्बि माल्यम्।
नृपस्य तत्पीनवतोरिवाक्ष्णोः प्रालम्बमालम्बत युक्तमन्त ॥ ५५ ॥

जीवातु—सात्त्विकानां सर्वरससाधारणत्वात अन्येषा राज्ञा रोषादश्रूद्गम', नलस्य तु हर्षादित्याश्रित्य उत्प्रेक्षते, दृशोरिति। राज्ञा नलव्यतिरिक्तभूपानां, रागात् मात्सर्यात्, 'रागोऽनुरक्तौ मात्सर्ये' इति विश्वः। यत् दृगम्बु बाप्प, सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः। तत्र प्रतिबिम्बते प्रतिफलतीति दृगम्बुप्रतिबिम्बि, तत्र प्रतिफलित सदित्यर्थ, माल्य वरणस्रक्, दृशो- अक्ष्णोरपि, न्यस्तमिव आस्त स्थितमित्युत्प्रेक्षा। आसेलंङ्। अपि सम्भावनाया, नलस्य ययोरसि नृपान्तराणां तथा दृशोरपि न्यस्तमिति सम्भावनायामीत्यर्थ। कथमन्यथा तेषामश्रूद्गम.? नृपस्य नलस्य तु, रागाद् दृगम्बुप्रतिबिम्बि अनुरागोत्थाश्रुप्रतिबिम्बितं, तन्माल्य मत्तं, पीतवतोः तृष्णया तन्माल्य सादर गिलतोरिव स्थितयोः, अक्ष्णोः प्रालम्बम् ऋजुभावेन लम्बमान सन् 'प्रालम्बमृजुलम्बि

स्यात् कण्ठात्' इत्यमरः । अन्तः मध्ये, 'अन्तर्मध्ये तथा प्रान्ते स्वीकारेऽपि च दृश्यते' इति विश्वः । युक्तम् आलम्वत अवलम्बते स्म । अत्रापि राज्ञां द्वेषाद् अरुच्या तत्प्रतिविम्बि माल्यं युक्तम् अक्षिगतमेव कृतमित्युत्प्रेक्षा; नलस्य तु रागातिरेकात् अक्षिभ्यां तत् तृष्णया पीतमित्युत्प्रेक्षितस्यैव बाह्यबिम्बिमाल्या-ध्यवसायभेदेन मध्ये प्रालम्बितया लम्बनमित्युत्प्रेक्षते ॥ ५५ ॥

अन्वयः—दृगम्बुप्रतिबिम्बि माल्यं रागात् राज्ञां दृशोः अपि न्यस्तम् इव आस्त; तत् नृपस्य पीतवतोः इव अक्ष्णोः अन्तः युक्तं आलम्ब्यम् आलम्बत ।

हिन्दी—नेत्र-जल (अश्रु) में प्रतिबिम्बित होती माला ईर्ष्या और क्रोध के कारण (अन्यप्रतिस्पर्द्धी) राजाओं के नेत्रों में भी पड़ी हुई प्रतीत हो रही थी और वही (माला) राजा (नल) के (माला का) जैसे पान करते नेत्रों के मध्य हर्ष से विस्फारित करती अथवा सीधे लटकते हार-सी स्थित हुई। यह उचित ही हुआ।

टिप्पणी—यहाँ 'अश्रु' नामक सात्त्विक का वर्णन है, जो नल के नेत्रों में था और अन्य राजाओं के भी। कारण भिन्न है। राजाओं की आँखों में ईर्ष्या और क्रोध के कारण आँसू आये, ऐसा लगा कि उनके 'अंतस्' में घुसे शल्य की भाँति नेत्रों को भी आँसुओं में प्रतिबिम्बित होती वरमाला पीड़ित कर रही है। आँखों में पड़ी माला से 'राग' (लाली) भी आया और पीड़ा से आँसू भी। नल की आँखों में हर्ष के आँसू आये। वरमाला उसके नेत्रों में प्रतिबिम्बित हो वक्ष:स्थित सरल माला-सी लटकती प्रतीत हो रही थी और उसके नेत्रों को विशालता—हर्षोत्फुल्लता प्रदान कर रही थी। ये दोनों तथ्य उपयुक्त ही थे। क्रोध में जो भी दीखता है, शल्य-सा लगता है—कष्टदायक; नेत्र लाल हो जाते हैं और उनमें आँसू आ जाते हैं। नल को वह प्रीति से पहिनायी गयी थी, उससे हर्ष हुआ और आनन्दाधिक्य से नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये। राजाओं के नेत्रों में प्रतिबिम्ब रूप में पड़ माला शल्य-सी पीड़ादायिनी हुई, हृदय में पीड़ा तो दे ही रही थी। इसके विपरीत नल के नेत्रों में प्रतिबिम्बित हो उन्हें और (हर्ष से) विशाल—उत्फुल्ल बना रही थी, हृदय पर तो सीधी, हार-सी पड़ी हुई थी ही। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ तीन उत्प्रेक्षाएँ हैं—(१) आँसुओं में प्रतिबिम्बित माल्य नेत्रों में

स्थित-सी प्रतीत हुई। (२) राजाओं के, नेत्रों में वह राग अर्थात् ईर्ष्या-द्वेष से स्थित थी। (३) नल की आँखें जैसे प्रीति से उसका पान ही कर रही थीं। मुख्य उत्प्रेक्षा है वहिः स्थित माल्य का प्रतिबिम्ब रूप से अश्रु में झलकना ॥ ५५ ॥

स्तम्भस्तथाऽलम्भितमां नलेन भैमीकरस्पर्शमुदः प्रभावः।
कन्दर्पलक्ष्मीकरणार्पितस्य स्तम्भस्य दम्भं स चिरं यथाऽऽपत् ॥ ५६ ॥

जीवातु—स्तम्भ इति। नलेन भैमीकरस्पर्शेन माल्यप्रदानकाले दमयन्तीपाणिस्पर्शेन, या मुत् आनन्दः तस्याः, प्रभावः तदनुभावजात इत्यर्थः, स्तम्भः निष्क्रियाङ्गत्वलक्षणः सात्त्विकविशेषः, तथा तेन प्रकारेण, अलम्भितमाम् अतिशयेन अलम्भि, लभेः कर्मणि लुङि चिणि 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति विकल्पान्नुमागमः, 'तिङश्च' इति तमप्-प्रत्यये 'किमेत्तिङव्यय–' इत्यादिना आमुः। यथा स नलः, कन्दर्पस्य लक्षीकरणाय अर्पितस्य शराभ्यासकाले शरव्यत्वेन स्थापितस्य, स्तम्भस्य स्थूणायाः, 'स्तम्भौ स्थूणाजडीभावौ' इत्यमरः। दम्भं व्याजत्वं, भावप्रधानो निर्देशः। 'व्याजदम्भोपधयः' इत्यमरः। चिरम् आपत् प्रापत् ॥ ५६ ॥

अन्वय—नलेन भैमीकरस्पर्शमुदः प्रभावः स्तम्भः तथा अलम्भितमाम्, यथा सः कन्दर्पलक्षीकरणार्पितस्य स्तम्भस्य दम्भं चिरम् आपत्।

हिन्दी—नल द्वारा भीमसुता के कर स्पर्श से जात हर्ष का प्रभाव स्तम्भ (सात्त्विक भाव निश्चलता) उस रूप में प्राप्त किया गया, जिस रूप से वह (नल) काम के लक्ष्य सिद्धि के अभ्यास काल में बाणों के लक्ष्य रूप में स्थापित खम्भे की तुल्यता को चिरकाल तक प्राप्त होता रहा।

टिप्पणी—नल के स्तम्भ (निश्चलता) नामक सात्त्विक का वर्णन। दमयन्ती के करस्पर्श के साथ कंठ में जो वरमाल पड़ी, उससे वह आनन्द से निश्चल हो गया। ऐसा लग रहा था कि उस काल राजा नल एक स्थिर खम्भा बन गया है, जिसे लक्ष्य बना कर काम बाणसंचालन का—लक्ष्यभेद का अभ्यास करता है। इससे नल की प्रचुर कामपीडा सूचित है ॥ ५६ ॥

उत्सृज्य साम्राज्यमिवाप्य भिक्षां तारुण्यमुल्लङ्घ्य जरामिवारात्।
तं चारुमाकारमुपेक्ष्य यान्तुं निजां तनूमादधिरे दिगिन्द्राः ॥५७॥

जीवातु—उत्सृज्येति। अथ नलवरणानन्तरं, दिगिन्द्राः इन्द्रादिदिक्पालाः, यातुं गन्तुं, स्वर्गमिति शेषः, सम्राजतीति सम्राट् महाराजविशेषः, 'येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राड्' इत्यमरः। 'सत्सूद्विष–' इत्यादिना क्विप्, 'मो राजि समः क्वौ' इति समो मकारस्य मकारत्वान्नानुस्वारः। तस्य भावः कर्म वा साम्राज्यं चक्रवर्तिपदम्, उत्सृज्य त्यक्त्वा, क्षीणपुण्यत्वादिति भावः, भिक्षां याच्ञामिव, तारुण्यं यौवनम्, उल्लङ्घ्य अतिक्रम्य, जरामिव आरात् नलसमीपे स्वयंवरसभायामेवेत्यर्थः, तं चारुं सुन्दरम्, आकारं नलरूपम्, उपेक्ष्य हित्वा निजां तनुं सहस्रनेत्रादिविशिष्टाकारम्, आदधिरे स्वीचक्रुः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—अथ दिगिन्द्राः यातुं साम्राज्यम् उत्सृज्य भिक्षाम् इव, तारुण्यम् उल्लङ्घ्य जराम् इव आरात् तं चारुम् आकारम् उपेक्ष्य निजां तनुम् आदधिरे।

हिन्दी—इसके अनन्तर (दमयन्ती द्वारा नल-वरण के पश्चात्) दिक्पालों ने जाने के लिए, साम्राज्य को छोड़कर भिक्षावृत्ति की भाँति और यौवन का प्रतिक्रमण कर वृद्धावस्था के तुल्य, स्वयंवर-सभा में उस रमणीय (नल की) आकृति का परित्याग कर अपने देव रूप को धार लिया।

टिप्पणी—दमयन्ती ने नल को वर लिया। कथा समाप्त हुई। अतः आवश्यकता न रही, सो इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण दिशाओं के स्वामियों ने सुन्दर नल-रूप त्याग दिया और अपने वास्तविक रूप में आ गये। नल का रूप सुन्दर था, देवों का वैसा नहीं था। एक सहस्र नेत्रों वाला इन्द्र, ज्वाल-जाल से आवृत अग्नि, मृत्यु का साक्षात् भयावह अधिपति यम और जलार्द्र, पाशधारी वरुण। कहाँ ये अरूप और कहाँ नल का सुन्दरतम मानुषी रूप? नल रूप त्याग स्वरूप धारते देव ऐसे लगे, जैसे कोई साम्राज्य छोड़ भिक्षावृत्ति अपना रहा है, तरुणाई बीत जाने पर बुढ़ापा स्वीकार रहा है। विवशता थी, अन्त में अपनी वास्तविकता से स्वीकारनी ही होती है। देवों ने भी वैसा ही किया। वे अपने-अपने लोक की यात्रा के निमित्त प्रस्तुत हो गये ॥ ५७ ॥

मायानलत्वं त्यजतो निलीनैः पूर्वैरहम्पूर्विकया मघोनः।
भीमोद्भवासात्त्विकभावशोभाद्दिदृक्षयेवाऽऽविरभावि नेत्रैः ॥ ५८ ॥

जीवातु—मायेति । मायानलत्वमलीकनलत्वं, त्यजतो मघोन. इन्द्रस्य, निलीनैः देवशक्त्या सङ्गोपितैः, पूर्वैः स्वरूपावस्थायामवस्थानकालिकैः, नेत्रैः सहस्रसङ्ख्यकैरिति भावः, भीमोद्भवायाः भैम्याः, सात्त्विकभावाना नलाङ्ग-सङ्गजनितरोमाञ्चादीनाम्, शोभाया दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छयेव, इति फलोत्प्रेक्षा द्योत्या आविर्भावस्य शोभादर्शनफलकत्वात्, अहं पूर्वोऽहं पूर्व इति योऽभिमान. क्रियायां साऽहंपूर्विका तया अहमहमिकया, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः । स्वार्थे मत्वर्थे वा टन् प्रत्ययः । आविरभावि आविर्भूतम् । भावे लुङ् । 'स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू । अश्रु वैस्वर्यमित्यष्टौ सात्त्विकाः परिकीर्तिताः' ॥ ५८ ॥

अन्वयः—मायानलत्वं त्यजतः मघोन. निलीनैः पूर्वैः नेत्रैः भीमोद्भवा-सात्त्विकभावशोभादिदिदृक्षया इव अहम्पूर्विकया आविरभावि ।

हिन्दी—माया-नल-रूप को छोड़ते इन्द्र के छिपे स्वरूप-स्थिति काल में प्रकट नेत्र भीमपुत्री के नलसंग से सञ्जात रोमाञ्चादि सात्त्विक भावों की शोभा देखने की इच्छा से मानो 'मैं पहिले—मैं पहिले' करते हुए (अहम-हमिका के साथ) प्रकट हो गये ।

टिप्पणी—नल रूप त्याग स्वरूप ग्रहण करते ही तुरन्त इन्द्र के सहस्रों नेत्र प्रकट हो गये । इस त्वरा पर यह उद्भावना की गयी है कि उनमें उतावली आ गयी थी कि कौन पहिले दमयन्ती के सात्त्विक भावों की सौन्दर्य-सम्पन्नता देख सके, जो नलागमन के कारण दृश्यमान थी । उतावला होनेपर 'अहमहमिका' होती ही है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ फलोत्प्रेक्षा है ॥ ५८ ॥

गोत्रानुकूल्यप्रभवे विवाहे तत्प्रातिकूल्यादिव गोत्रशत्रुः ।
पुरश्चकार प्रवरं वरं यमायन् सखायं तदृते तया सः ॥ ५९ ॥

जीवातु—गोत्रेति । गोत्रानुकूल्यप्रभवे वंशवर्द्धनार्थं प्रवृत्ते, विवाहे तत्प्राति-कूल्यादिव तद्विरोधित्वादिव, गोत्रशत्रुत्वादिवेत्यर्थः, न हि यो यस्य शत्रुः स तदनुकूलकार्यं सहते इति भावः, आयन् स्वयंवरसमायामागच्छन् । इणो लटः शतरि यणादेशः । गोत्रशत्रुः गोत्रं कुलञ्चाचलश्च, 'गोत्रं नाम्नि कुलेऽचले'

इति विश्वः । तच्छत्रुः गोत्रभिद् इन्द्रः, यं प्रवरं श्रेष्ठं, वरं वोढारं, सखायं पुरश्चकार दूत्येन सहायत्वेन स्वीचकारेत्यर्थः, स नल एव, तया भैम्या, ददृशे; देवानां नलरूपपरिहारेण स्वरूपपरिग्रहणात् केवलं सत्यनलस्यैव तत्रावस्थानादिति भावः । केचित्तु प्रवरनामा कश्चिदिन्द्रेण सहायत्वेनानीत इति व्याचक्षते तत्तु अमूलं चिन्त्यं भारतादिषु अदर्शनादिति ॥ ५९ ॥

अन्वयः—गोत्रानुकूल्यप्रभवे विवाहे तत्प्रातिकूल्यात् इव आयन् गोत्रशत्रुः यं प्रवरं वरं सखायं पुरश्चकार तया सः ददृशे ।

हिन्दी—गोत्रों के आत्ममर्यादानुसारी होने से सम्भव अथवा कुलवृद्धि के निमित्त होने वाले विवाह में उस (विवाह) के विरुद्ध होने से मानो (स्वयंवर में) आये गोत्र अर्थात् पहाड़ों और वंश के शत्रु (इन्द्र) ने जिस प्रवर अर्थात् उत्तम वर और मित्र, जिसे दौत्य कर्म में पहिले स्वीकारा था, उस (नल) को उस (दमयन्ती) ने देखा ।

टिप्पणी—गोत्र का अर्थ वंश भी है और पर्वत भी । इन्द्र गोत्र अर्थात् पर्वतों का पक्षच्छेत्ता होने से उसका शत्रु कहा जाता है । वह नल के स्थान में स्वयं दमयन्ती से विवाह करना चाहता था और इसमें सहायता पाने के लिए उसने पहिले नल से दूतकार्य भी कराया था; इस प्रकार वह वंश वृद्धि के हेतु विवाह में बाधक होने से गोत्र अर्थात् वंश का शत्रु भी हुआ । गोत्रशत्रु इन्द्र आया था बाधक रूप में, अब साधक हो गया । जो अब अन्य दिक्पालों के साथ वह स्वरूप में हो गया था, तब उसका वह पूर्वमित्र दौत्यसहायक नल, जो अब निर्णीत उत्तम वर था, दमयन्ती की दृष्टि में स्पष्टतः आया । दिक्पालों ने स्वरूप लिया, तब अपने रूप में एक नल ही दमयन्ती के सम्मुख रह गया । नारायण ने इसके अन्यार्थ भी किये हैं । इसका आधार 'प्रवर' शब्द है । 'प्रवर' का अन्यार्थ है गोत्रशत्रु इन्द्र का प्रवर नामक मित्र । उस प्रवर को इन्द्र ने अग्रेसर किया अथवा संमानित किया । वह प्रवर स्वर्ग से मित्र इन्द्र के निकट आया था, अभी तक छिपा था, अब प्रकट हो गया । इन्द्र ने उसे वसिष्ठ, कश्यपादि वंश के आदि पुरुषों की अनुकूलता अथवा गोत्रों के जन्मकालीन नामों की अनुकूलता के कारण तृतीय, एकादश, चतुर्थ, दशम आदि ज्योतिःशास्त्रोक्त उत्तम राशिकूटों के

होने से सम्पन्न होने वाले विवाह में सम्मिलित होने के लिए साथ लिया था। उस 'प्रवर' नामक इन्द्रमित्र को दमयन्ती ने देखा। प्रवर शब्द के व्याज से यहाँ प्रवर-पुरस्कार की उत्प्रेक्षा की गयी है। गोत्रानुकूलता के कारण विशिष्ट विवाह के विरुद्ध होने से इन्द्र गोत्रशत्रु था। उसने उसका स्वयं विरोध किया था। इन्द्र इसलिए भी गोत्रशत्रु था कि वह देव था—गोत्र-रहित, उसके देव गोत्र और दमयन्ती के मनुष्य-गोत्र में अनुकूलता नहीं थी। सो उसने 'प्रवर' को 'पुरस्कृत' किया कि श्रेष्ठ प्रवर के अंगीकार से गोत्र प्रतिकूल होने पर भी जैसे-तैसे विवाह हो जाता है। समान 'प्रवर' होने पर भी विवाह नहीं होता है। ज्योतिःशास्त्र में बताया गया है कि नामों के आद्याक्षर राशिकूट के सूचक होते हैं, उनकी गणना के आधार पर विवाह उचित होता है, समान-प्रवर होने पर नहीं। सो गोत्रशत्रु इन्द्र ने उस विवाह-बाधक प्रवर को आगे कर दिया। किन्तु ये व्याख्याएँ क्लिष्ट कल्पनाएँ ही प्रतीत होती हैं। मल्लिनाथ ने इनको मान्यता नहीं दी है। उनका कथन है कि नल दमयन्ती-कथा का मूलाधार 'महाभारत' है, उसमें यह सब नहीं है; अतः मूलानुकूल न होने से 'प्रवर' की इन्द्र के मित्र अथवा सहायक रूप में कल्पना चिन्त्य है। चारों देव स्वरूप में आ गये, अब नल ही—सत्य-नल ही दमयन्ती के सम्मुख था, उसी प्रवर (उत्तम) वर, इन्द्र के सखा राजा नल को दमयन्ती ने देखा ॥ ५९ ॥

स्वकामसम्मोहमहान्धकारनिर्वापमिच्छन्निव दीपिकाभिः ।
उद्गत्वरीभिश्छुरितं वितेने निजं वपुर्वायुसखः शिखाभिः ॥ ६० ॥

जीवातु—स्वेति। अथ वायुसखः अग्निः, दीपिकाभिः दीपैः, स्वं स्वीयं, कामेन सम्मोहः अज्ञानमेव, महान्धकारः तस्य निर्वापं प्रशान्तिम्, इच्छन्निव उद्गत्वरीभिः उद्गमनशीलाभिः, 'गत्वरश्च' इति क्वरबन्तो निपातः। शिखाभिः ज्वालाभिः, छुरितं व्याप्तं निजं वपुः वितेने प्रकाशयामास। ६० ॥

अन्वयः—वायुसखः दीपिकाभिः स्वकामसम्मोहमहान्धकारनिर्वापम् इच्छन् इव उद्गत्वरीभिः शिखाभिः छुरितं निजं वपुः वितेने।

हिन्दी—वायु के सखा ने (अग्नि ने) मशालों से मानो अपने काम-मोह रूप घोर अन्धकार को नष्ट करने की इच्छा से ऊपर को उठती लपटों से व्याप्त स्वदेह को प्रकट किया।

टिप्पणी—अब तक कपट रूप धारे अतएव सुन्दर लगते अग्निदेव प्रसन्न हो स्वरूप में आ गये। उनका शरीर ऊपर जाती लपटों से आवृत था, प्रतीत हो रहा था कि अब तक काममोहित देवता अज्ञानांधकार में घिरे थे, अब इन मशालों की रोशनी में वह अँधियारा मिटाना चाहते हैं॥ ६०॥

पत्यौ वृते भीमजया न वह्नावह्ना स्वमह्नाय निजुह्नुवे यः।
जनादपत्रप्य स हा सहायस्तस्य प्रकाशोऽभवदप्रकाशः॥ ६१॥

जीवातु—पत्याविति। भीमजया भैम्या, पत्यौ स्वामिनि, वह्नौ अग्नौ, न वृते सति, यः प्रकाशः द्योतः, दीप्तिरित्यर्थः 'प्रकाशो द्योत आतपः' इत्यमरः। जनात् अपत्रप्य लज्जित्वा, 'लज्जा साऽपत्रपाऽन्यतः' इत्यमरः। 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसङ्ख्यानम्' इति पञ्चमी। अह्नाय शीघ्रम्, अह्ना दिवसेन करणेन, स्वं निजम् आत्मस्वरूपमित्यर्थः, निजुह्नुवे अपह्नुतवान्, अहनि दीप्तेरप्रकाशादिति भावः; ह्नुतेः कर्त्तरि लिट्। तस्य वह्नेः, सहायः अनुचरः, स प्रकाशः अप्रकाशः अनुज्ज्वलः, वह्निना दीप्तशिखाभिः स्वरूपप्रकाशे कृतेऽपि दिवालोके तस्य क्षीणप्रभत्वादिति भावः, अभवत्, हा! कष्टम्; प्रयासवैयर्थ्यादिनिरपत्रपया निस्तेजा इवासीदिति तात्पर्यम्। यद्वा—तस्य प्रकाशस्य सहायः आत्मनिह्नवे साहाय्यकारी, सः अप्रकाशः दीप्त्यभावः, प्रकाशः पुनरुद्दीपितः, वह्नौ उद्गत्वरीभिः शिखाभिः निजरूपेण प्रकाशमाने सति इति भावः, अभवत्, हा! कष्टम्, स्वामिनि आत्मप्रकाशे कृते अनुचरस्य तद्गोपनचेष्टावैयर्थ्यादिति भावः॥ ६१॥

अन्वय.—भीमजया वह्नौ पत्यौ न वृते यः प्रकाशः जनात् अपत्रप्य अह्नाय अह्ना स्वं निजुह्नुवे, हा, तस्य सहायः सः अप्रकाशः अभवत्।

हिन्दी—भीमसुता द्वारा अग्नि का पतिभाव से वरण न होने पर जिस प्रकाश ने लोगों से लज्जित हो शीघ्रतया दिन-द्वारा अपने को छिपा लिया, हाय, उस (अग्नि) का सहायक वह (प्रकाश) मन्द ही रहा। अथवा—जिस प्रकाश ने अग्नि के मिथ्यानल-रूप-धारण-काल में अपने को छिपा लिया था, अग्नि का वह सहायक (प्रकाश) दमयन्ती द्वारा अग्नि का पति रूप में वरण न होने पर मानों लोगों से लजा कर दिन के द्वारा अप्रकाश (मन्द, अस्पष्ट) ही रहा।

टिप्पणी—अग्नि भी अब स्वरूप में आ गया। उसकी दीप्ति और ज्वाला-जाल प्रकट हो गया, किन्तु मिथ्यानल स्थिति में यह प्रकाश जान बूझ कर छिपाया गया था, अब भी वह दिन होने के कारण अप्रकाश—मन्द ही बना रहा। सूर्यप्रभा के समुख मन्द प्रकाश पर यह उद्भावना की गयी कि अग्नि ने स्वप्रकाश इस लोक-लाज से छिपा रखा है, उसका तेज इस कारण निस्तेज हो गया है कि दमयन्ती ने उसका वरण नहीं किया। नारायण के अनुसार लुप्तोत्प्रेक्षा। जीवातु व्याख्या में एक वैकल्पिक अर्थ यह भी किया गया है कि नलरूप-धारण करते समय जिस प्रकाश ने स्वयं को लोगों से दिन के कारण छिपा रखा था, उस प्रकाश का स्वरूप-गोपन में सहायक वह अप्रकाश प्रकाश अर्थात् प्रकट हो गया। आशय यह कि उच्छल ज्वालमाल के साथ स्वरूप में प्रकट होने पर अग्नि का प्रकाश स्पष्ट हो गया। जब स्वामी अग्नि ने अपने को प्रकट कर दिया तो सेवक और सहायक प्रकाश का छिपा रहना व्यर्थ ही था ॥ ६१ ॥

सदण्डमालक्तकनेत्रचण्डं तमःकिरं कायमधत्त कालः।
तत्कालमन्तःकरणं नृपाणामध्यासितुं कोप इवोपनम्रः ॥ ६२ ॥

जीवातु—सदण्डमिति। अथ कालः यमः, तत्काल तस्मिन् स्वयंवरकाले, अत्यन्तसयोगे द्वितीया, नृपाणाम् अन्तःकरणम् अध्यासितुम्, अधिष्ठातुम्, उपनम्रः उपागतः, कोपः दमयन्त्यनादरोत्थक्रोधः इव, सदण्डं दण्डहस्तम्, आलक्तके रक्ते, 'तेन रक्तं रागात्' इत्यण्-प्रत्ययः, कषायो गर्दभस्य कर्णाविति वदलक्तके इत्युपमानाप्रयोगः; ताभ्यां नेत्राभ्यां चण्ड क्रूर, किरति उद्गिर-तीति किरः, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः—' इति कः तमसः किरं स तमःश्याम, कायं देहम्, अधत्त, कालोऽपि स्वरूपं प्रादर्शयदित्यर्थः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—कालः तत्कालं नृपाणाम् अन्तःकरणम् अध्यासितुम् उपनम्रः कोपः इव सदण्डम् आलक्तकनेत्रचण्डं तमःकिरं कायम् अधत्त।

हिन्दी—काल (यमराज) ने उस समय उपस्थित राजाओं के अन्तःकरणों में स्थित होने के लिए आये क्रोध के समान दण्डहस्त हो लाल-लाल नेत्रों के कारण अत्यन्त भयङ्कर, अंधकार की वर्षा करता शरीर-धारण कर लिया।

टिप्पणी—यमराज भी स्वरूप में आ गये। अब तक मिथ्यानल रूप बना 'सुन्दर' बने बैठे थे। अब दमयन्ती द्वारा नल वरणानन्तर हाथ में दण्ड लिये अत्यन्त भयंकर घोर काले रूप में आ गये। लगता था कि वे उसी काले क्रोध के तुल्य हैं, जो उस समय निराश राजाओं के अंतःकरणों में उपस्थित होगा। प्रतीत हुआ कि उनके रूप में राजाओं का घोर क्रोध प्रकट हो गया है। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ६२ ॥

दृग्गोचरोऽभूदथ चित्रगुप्तः कायस्य उच्चैर्गुण एतदीयः।
ऊर्ध्वंश्च पत्रस्य मषीद एको मषेर्दधच्चोपरि पत्रमन्यः ॥ ६३ ॥

जीवातु—दृगिति। अथ यमस्य स्वरूपप्रकाशानन्तरम् एतदीयः कालसम्बन्धी, उच्चैः महान्, गुणः प्रधानशेषभूतः, चित्रगुप्तः चित्रगुप्ताख्यः, कायस्थः लेखकः, तदाख्यजातिविशेष इत्यर्थः, 'लेखकः स्याल्लिपिकरः कायस्थोऽक्षरजीविकः' इति हलायुधः। दृग्गोचरः दृश्यः, अभूत्; अन्यत्र—चित्रं यथा तथा गुप्तः पूर्वं निगूहितः, कायस्थः कायनिष्ठः, एतदीयः कालसम्बन्धी, उच्चैः महान्, गुणः नीलगुणः, दृग्गोचरः अभूत्। एकः चरस्त्वर्थः, चित्रगुप्तनीलगुणयोः। एकः चित्रगुप्तस्तु, पत्रस्य ऊर्ध्वम् उपरितले, मषी ददातीति मषीदः मषीमयलिपिकरः, लेखक इत्यर्थः, अन्यश्च पूर्ववच्चार्थः, अन्यः नीलगुणस्तु, मषेः मषिद्रव्यस्य, 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीषो विकल्पादुभयथा प्रयोगः, उपरि, पत्रं मषेरपि अह काल एवेति पत्रालम्बन, दधत् दधानः, 'नाभ्यस्ताच्छतुः' नुमोऽभावः, अभूत्, मषितोऽपि अधिको नीलिमेत्यर्थः। अत्र मषेरुपरि पत्रमिति प्रतीतेराभासीकरणात् विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—अथ एतदीयः उच्चैर्गुणः चित्रगुप्तः कायस्थः—एकः पत्रस्य ऊर्ध्वं मषीदः अन्यः च मषेः उपरि पत्रं दधत्—दृग्गोचरः अभूत्।

हिन्दी—तत्पश्चात् (यम के प्रकट होने पर) इसका महान् गुणी अथवा प्रमुख कार्यकर चित्रगुप्त कायस्थ (लेखक) और अथवा इस (यम) के काय अर्थात् देह में स्थित महान् गुण—नीलवर्ण, जो अब तक आश्चर्यजनक रूप से गुप्त था, दृष्टिगोचर हुआ। इनमें एक अर्थात् चित्रगुप्त लेखक पत्र (कागद) के ऊपर मषी (लिखने की स्याही) देने वाला था अर्थात् कागद पर स्याही से लिखने वाला था और दूसरा (शरीर का घोर नील-

वर्ण) मषी (काली स्याही) के ऊपर भी पत्ता धरने वाला अर्थात् मषी से भी अधिक काला था।

टिप्पणी—अनेकार्थक शब्द योजना द्वारा यहाँ दो भाव व्यक्त हैं। माना जाता है कि यमराज के दरबार में एक परीमुखी (पेशकार, प्रधान लेखक) चित्रगुप्त है, जो मर्त्यजनों के पाप-पुण्य का लेखा-जोखा रखता है। वह कायस्थ चित्रगुप्त भी यमराज के साथ दीख पड़ा। दूसरा यम का घोर कालावर्ण भी दृष्टिगोचर हो गया। यम का लेखक कागज पर स्याही से लिखता था और यम के काय का वर्ण घोर काला था—स्याही से भी अधिक। ये दोनों लेखक और काला रंग—दोनों स्पष्ट हो गये। मल्लिनाथ के अनुसार 'मषी पर पत्र' इस प्रतीति का आभासीकरण होने के कारण विरोधाभास अलंकार है॥ ६३॥

तस्या मनोबन्धविमोचनस्य कृतस्य तत्कालमिव प्रचेताः।
पाशं दधानः करबद्धवासं विभुर्बभावाप्यमवाप्य देहम्॥ ६४॥

जीवातु—तस्यामिति। विभुः प्रभुः, प्रचेता वरुण, तत्काल तस्मिन् काले, नलवरणकाले इत्यर्थः, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, तस्या दमयन्त्या विषये, कृतस्य विहितस्य, मनोबन्धविमोचनस्य चित्तबन्धनोन्मोचनस्य, पाशेन मनः संयम्य भैम्या पुरा निक्षिप्तवान्,- ततश्च नले वृते सति तद् बन्धनं तत्क्षणमेव प्रचेता उन्मुमोचेति तद्बन्धनसम्बन्धि इव स्थितमित्यर्थः. उत्प्रेक्षा, अत एव करे बद्धवासं कृतस्थितिं, करगतमित्यर्थः, पाशं बन्धनरज्जुं स्वीयास्त्रं च, दधानः सन् अपां विकारम् आप्यम् अम्मयम् 'आप्यञ्चे'ति चान्द्रव्याकरण-सूत्रात् साधुः, देहम् अवाप्य बभौ॥ ६४॥

अन्वयः—तत्कालं विभुः प्रचेताः तस्याः कृतस्य मनोबन्धविमोचनस्य करबद्धवासम् इव पाशं दधानः आप्यं देहम् अवाप्य बभौ।

हिन्दी—उस काल (नल-वरण के पश्चात्) प्रभु वरुण उस (दमयन्ती) के प्रति पहिले जिस पाश से मन को बाँधा था, उसे खोल कर मानो हाथ में लेकर धारण करते हुए, जल प्रचुर शरीर को प्राप्त कर विभूषित हुए।

टिप्पणी—दमयन्ती द्वारा नल-वरण के पश्चात् हाथ में पाश लिये अपने जलप्रचुर रूप में वरुण प्रकट हो गये। करस्थित पाश पहिले प्रकट नहीं

था; अब स्पष्ट हो गया। इस पर यह उद्भावना है कि पाश द्वारा वरुण ने मन को बाँध कर वरुण से पूर्व दमयन्ती के प्रति स्थिर कर रखा था, अब दमयन्ती नल की हो गयी, अतः वरुण ने बद्ध मन को विमोचित कर पाश हाथ में ले लिया, जैसा कि कोई व्यक्ति बन्धन खोल कर रस्सी हाथ में ले लेता है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ६४ ॥

सहद्वितीयः स्त्रियमभ्युपेयादेवं स दुर्बुध्य नयोपदेशम्।
अन्यां सभार्यः कथमृच्छतीति जलाधिपोऽभूदसहाय एव ॥ ६५ ॥

जीवातु—सहेति। जलाधिपः अपां पतिः, लडयोरभेदात् जडाधिपः मूढाग्रणीश्च, स वरुणः, स्त्रियं कान्तामपि, द्वितीयेन केनचित् सहचरेण सह वर्त्तते इति सहद्वितीयः ससहायः, 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः। 'वोपसर्जनस्य' इति विकल्पात्र सहस्य सभावः, अभ्युपेयात् अभिगच्छेत्, एवं नयोपदेशं नीतिवाक्यं, सभार्यः सस्त्रीकः सन्, अन्यां स्त्र्यन्तरं कथम् ऋच्छति प्राप्नुयात्, इति एवं, दुर्बुध्य ससहायार्थे प्रयुक्तस्य सहद्वितीय इति शब्दस्य द्वितीयया भार्यया सह वर्त्तते इति सहद्वितीयः 'द्वितीया सहधर्मिणी। भार्या जाया' इत्यमरः, सभार्य इति विपरीतं बुद्ध्वा, 'समासेऽनञ्पूर्वे' इति क्त्वो ल्यबादेशः, असहायः एव अभूत्, अस्त्रीकः एव अभूदित्यर्थः, दमयन्तीलोभात् सर्वत्र ससहाय एवोपेयादिति नीतिमुल्लङ्घ्य स्वदाराणामप्यनादरे सम्प्रति साऽपि दुर्लभेत्यहो! वरुणस्य दुर्बुद्धिरिति भावः ॥ ६५ ॥

अन्वय—जलाधिपः सः 'स्त्रियं सहद्वितीयः अभ्युपेयात्'—एवं नयोपदेशं, 'सभार्य अन्यां कथम् ऋच्छति'—इति दुर्बुध्य असहायः एव अभूत्।

हिन्दी—जल के स्वामी जडाधिप (मूर्खराज) वे (वरुण) 'स्त्री के निकट सहायक के साथ जाये'—इस नीति-उपदेश का 'पत्नीवान् पुरुष अन्य (स्त्री) को कैसे प्राप्त कर सकता है—अर्थात् नहीं प्राप्त कर सकता है'—ऐसा असंगत अर्थ समझ कर सहायक-रहित ही हो गये।

टिप्पणी—वरुण दमयन्ती को पाने आये थे, पर वे वैसे के वैसे ही 'असहाय' पत्नी-रहित रहे। यहाँ 'डलयोरभेदः' के आधार पर 'जलाधिप' का अर्थ जलाधिपति के साथ 'जडाधिप'—मूर्खराज भी लिया गया है। मूर्खराज जलाधिप की मूर्खता इस आधार पर प्रमाणित की गयी है कि उन्होंने नीति वचन का असंगत अर्थ समझा। कहा गया है कि नारी के समीप अकेला

न जाय, क्योंकि इंद्रिय-समूह बड़ा दुर्दमनीय होता है, विद्वान् भी इन्द्रियों के अधीन हो जाते हैं—'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।' जडाधिप ने इस नीति-वचन का अर्थ समझा कि नीति कहती है कि स्त्री के पास 'सद्वितीय' अर्थात् पत्नी के साथ जाय, 'द्वितीयया पत्न्या सहित'। उनके विवेक ने यह असंगत अर्थ मान कर उसे उपयुक्त नहीं माना। कहीं अन्य नारी को वरने 'सद्वितीय' भार्यासहित जाया जाता है? 'सभार्य' को अन्य स्त्री कैसे स्वीकारेगी? नहीं स्वीकारेगी। सो वे जडाधिप वरुण 'अद्वितीय'—एकाकी ही आये और एकाकी ही रह गये॥ ६५॥

देव्याऽपि दिव्या स्वतनुः प्रकाशीचक्रे मुदश्चक्रभृतः सृजन्त्या।
अनिह्नुतैस्तामवधार्य चिह्नैस्तद्वाचि बाला शिथिलाऽद्भुताऽभूत्॥६६॥

जीवातु—देव्येति। अथ इन्द्रादीनां स्वरूपधारणानन्तरं, चक्रभृतः गगनगतस्य विष्णोः, मुदः हर्षान्, सृजन्त्या उत्पादयन्त्या, देव्या सरस्वत्याऽपि, दिव्या स्वतनुः प्रकाशीचक्रे वाणी अपि मानुषीवेषमुत्सृज्य निजरूपमाविश्चकारेत्यर्थः, तदा बाला दमयन्ती, अनिह्नुतैः प्रकाशितैः, चिह्नैः वीणापुस्तकादिभिः, ताम् अवधार्य सरस्वतीति सम्यक् निश्चित्य, तस्याः वाचि श्लेषवक्रोक्तिव्यञ्जकवागुपन्यासे, शिथिलाद्भुता देव्या मानुषीत्वबुद्ध्या तादृशोक्तिविषये प्राक् साश्चर्या आसीत्, स्वरूपप्रकाशानन्तरं सरस्वत्यास्तादृशोक्तौ न किमपि आश्चर्यम् इति शिथिलितविस्मया, अभूत्॥ ६६॥

अन्वयः—चक्रभृतः मुदः सृजन्त्या देव्या अपि दिव्या स्वतनुः प्रकाशीचक्रे, अनिह्नुतैः तैः चिह्नैः ताम् अवधार्य बाला तद्वाचि शिथिलाद्भुता अभूत्।

हिन्दी—चक्रधारी (भगवान् विष्णु) के हर्ष का उत्पादन करती देवी (शारदा) ने भी अपना दिव्य शरीर प्रकट कर दिया, प्रकट उन (वीणा-पुस्तकादि) चिह्नों से उन्हें देवी शारदा समझ कर बाला (दमयन्ती) का उन (देवी) की पूर्वोक्त श्लिष्ट वाणी पर जो आश्चर्य हुआ था, वह मिट गया।

टिप्पणी—देवों ने स्वरूपधारणानतर विष्णुप्रिया सरस्वती भी स्वरूप में प्रकट हो गयीं वीणा पुस्तकादि चिह्नों से युक्त, हंसारूढा। दमयन्ती ने

उन चिह्नों को देख समझ लिया कि ये तो वाग्देवता सरस्वती हैं। नल और देवों के विषय में श्लिष्ट वर्णन पर देवी को मानुषी समझ कर जो उसे आश्चर्य हुआ (नै. च. १४।११–१२), वह समाप्त हो गया। सरस्वती की ऐसी वचन-चातुरी पर आश्चर्यान्वित होने का कोई कारण ही नहीं, वे तो साक्षात् वाणी हैं ॥ ६६ ॥

विलोकके नायकमेलकेऽस्मिन् रूपान्यथाकौतुकदर्शिभिस्तैः ।
बाधा बतेन्द्रादिभिरिन्द्रजालविद्याविदां वृत्तिवधाद् व्यधायि ॥ ६७ ॥

जीवातु—विलोकके इति । अस्मिन् पुरोवर्तिनि, नायकमेलके नृपतिसमूहे, विलोकके विलोकनकारिणि सति, रूपान्यथा रूपनानात्वं, सैव कौतुकं विनोदः, तद्दर्शिभिः तत्प्रदर्शकैः, दर्शयन्तीत्यर्थे ताच्छील्ये णिनिः तैः इन्द्रादिभिः इन्द्रजालविद्याविदाम् ऐन्द्रजालिकानाम्, वृत्तिवधात् जीविकोच्छेदात् हेतोः, बाधा पीडा, व्यधायि विहिता, बतेति खेदे, एतन्महेन्द्रजालादद्भुतावलोकिनां राज्ञाम् इन्द्रजालान्तरेषु अरुच्या स्वयंवरसभागतानां तदुपजीविनां तेषां वृत्तिविच्छेदः प्राप्त इत्यहो ! सेयं देवमायेति भावः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—अस्मिन् नायकमेलके विलोकके रूपान्यथाकौतुकदर्शिभिः तैः इन्द्रादिभिः इन्द्रजालविद्याविदां वृत्तिवधात् बत बाधा व्यधायि ।

हिन्दी—(अनेक देशा-देशान्तरों से आये) इस राजाओं के मेले के देखते-देखते रूप (नलरूप)-परिवर्तन का कौतुक (जादू) दिखाने वाले उन इंद्रादि देवों द्वारा इंद्रजाल विद्या (कौतुक, जादू) जानने वालों (ऐन्द्रजालिकों) की जीविका नष्ट किये जाने के कारण, खेद है कि बाधा पहुँचायी गयी ।

टिप्पणी—अनेक देशों से आये राजाओं का मेला जुड़ा था स्वयंवर में। वहाँ निश्चयतः कुछ ऐंद्रजालिक जादूगर भी आये होंगे, जो राजसंघ को अपना कौतुक दिखा कुछ पुरस्कारादि प्राप्त करने के इच्छुक होंगे। देवों ने जो-रूप, परिवर्तन दिखाया, नलरूप त्याग स्वरूप में आ गये, इससे राजा लोग ऐसे आश्चर्य में पड़ गये कि उसके सम्मुख किसी जादूगर का खेल फीका लगता। सो बेचारे जादूगरों की जिविका इन देवों ने नष्ट कर दी। बेचारे गरीब मारे गये। ऐंद्रजालिकों का तमाशा कौन देखता ? सब राजा देवों का तमाशा देखकर ही तृप्त हो गये ॥ ६७ ॥

विलोक्य तावाप्तदुरापकामौ परस्परप्रेमरसाभिरामौ ।
अथ प्रभु. प्रीतमना बभाषे जाम्बूनदोर्वीधरसार्वभौम. ॥ ६८ ॥

जीवातु—विलोक्येति । अथ साक्षात्कारानन्तर, जाम्बूनदोर्वीधरस्य स्वर्णमयसुमेरुभूधरस्य, सार्वभौम· सर्वस्या भूमेरीश्वर, सर्वाध्यक्ष इत्यर्थ, 'सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ' इत्यण्–प्रत्यय·, 'अनुशतिकादीनाञ्च' इत्युभयपदवृद्धिः, प्रभु महेन्द्रः आप्तदुरापकामौ प्राप्तदुर्लभमनोरथौ, परस्परप्रेम अन्योऽन्यानुराग., स एव रस तेन अभिरामौ, तौ दमयन्तीनलौ, विलोक्य प्रीतमनाः सन्तुष्टचित्त. सन्, बभाषे ॥ ६८ ॥

अन्वय—अथ जाम्बूनदोर्वीधरसार्वभौम प्रभुः प्राप्तदुरापकामौ परस्परप्रेमरसाभिरामौ तौ विलोक्य प्रीतमना. बभाषे ।

हिन्दी—तत्पश्चात् स्वर्णशैल के सर्वतोभावेन स्वामी, ऐश्वर्यशाली (इंद्र) ने दुर्लभ मनोरथ को प्राप्त करने वाले, अन्योऽन्य के प्रति उत्पन्न प्रेम रस से मनोहर उन (नल-दमयन्ती) को देखकर प्रसन्न मन से कहा।

टिप्पणी—कैसा भी क्यों न हो, था तो देवराज, सुवर्णाचल सुमेरु का सार्वभौम अधिकारी, महान् ऐश्वर्यधारी। प्रेमरस में पगे और एक-दूसरे को प्राप्त करने की जो उनकी दुर्लभ इच्छा थी, उसके पूर्ण होने से अत्यन्त सन्तुष्ट नल दमयन्ती को देखकर इन्द्र भी सन्तुष्ट हो गया और प्रसन्न हो उन्हें वर देने के लिए (६९–७२) बोला ॥ ६८ ॥

वैदर्भि ! दत्तस्तव तावदेष वरो दुराप पृथिवीश एव ।
दूत्यन्तु यत्त्व कृतवानमायं नल ! प्रसादस्त्वयि तन्मयाऽयम् ॥ ६९ ॥

जीवातु—तौ बभाषे इत्युक्त तत्र वैदर्भीं तावदाह, वैदर्भीति ।—हे वैदर्भि ! तव तावत् एष· पृथिवीश· नल एव, दुरापः अस्मदनुग्रह विना दुर्लभ·, वरः दत्त·, आपाततस्तावदेष वर, उभयसाधारण्येन तु वरान्तरञ्च भविष्यतीति भाव· । नलञ्चाह, हे नल ! त्व तु यत् यस्मात्, अमायम् अकपट, दूत्य दमयन्तीविषये दूतकर्म, 'दूतस्य भागकर्मणी' इति यत्प्रत्ययः कृतवान्, तत् तस्मात्, त्वयि विषये, मया अय वक्ष्यमाण., प्रसाद वरः, दत्तः इति पूर्वानुषङ्ग· ॥ ६९ ॥

अन्वय—वैदर्भि, तव तावत् एषः पृथिवीश· एव दुराप· वरः दत्त ; नल, त्वं तु यत् अमाय दूत्य कृतवान् तत् त्वयि मया अय प्रसादः ।

हिन्दी—(इंद्र ने कहा) —हे विदर्भ-सुन्दरी (दमयन्ती) तुझे तो यह पृथ्वी का स्वामी (नल) ही दुर्लभ वर दे दिया; (और) हे नल, तूने जो निष्कपट भाव से हमारा दौत्य कर्म किया, सो तुझे मैं यह प्रसाद देता हूँ।

टिप्पणी—प्रसन्न इंद्र ने दमयन्ती को पृथ्वी का राजा नल ही वर रूप में दे दिया, वस्तुतः उसे वही 'दुर्लभ' था। बिना इंद्रादि देवों की प्रसन्नता के दमयन्ती को नल-प्राप्ति - असम्भव थी। सो इंद्र ने कहा कि अब तो दमयन्ती को कुछ काम्य ही नहीं रहा, जब पृथ्वीपति ही उसे मिल गया तो और क्या अभीष्ट रहा? नल को उसके कपटहीन भाव से दौत्य-सम्पादन पर प्रसन्न हो इन्द्र ने (७०—७२ श्लोकों में वर्णित) वर दिये ॥ ६९ ॥

प्रत्यक्षलक्ष्यामवलम्ब्य मूर्ति हुतानि यज्ञेषु तवोपभोक्ष्ये ।
संशेरतेऽस्माभिरवीक्ष्य भुक्तं मखं हि मन्त्राधिकदेवभावे ॥ ७० ॥

जीवातु—प्रत्यक्षेति । हे नल ! तव यज्ञेषु प्रत्यक्षेण लक्ष्यां दृश्यां, मूर्ति विग्रहम्, अवलम्ब्य हुतानि हवींषि, उपभोक्ष्ये अनुभोक्ष्ये; 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदम् ईश्वरेण मम को लाभः ? इति चेत् तत्राह, संशेरते इति । हि यतः मखं यज्ञम्, अस्माभि भुक्तम् अवीक्ष्य प्रत्यक्षेण अदृष्ट्वा, मन्त्राधिकदेवभावे शब्दातिरिक्तदेवसद्भावे, संशेरते सन्दिहते, जना इति शेषः। 'अशरीरा देवता' इति मीमांसकाः, तत्सन्देहनिवृत्यर्थं ते विग्रहं दर्शयिष्यामि, तेन भवतस्तादृशसंशयनिरासरूपलाभो भविष्यतीति भावः ॥ ७० ॥

अन्वयः—तव यज्ञेषु प्रत्यक्ष्यलक्ष्यां मूर्तिम् अवलम्ब्य हुतानि उपभोक्ष्ये, हि अस्माभिः भुक्तं मखम् अवीक्ष्य मन्त्राधिकदेवभावे संशेरते ।

हिन्दी—तेरे (नल के) यज्ञों में मैं साक्षात् दृश्यमान शरीर धारण कर हुत हविष्य का उपभोग करूँगा, क्योंकि (लोकजन) हम देवों द्वारा भोग किया गया यज्ञ न देखकर मंत्र के अतिरिक्त देवों की सत्ता में सन्देह करते हैं।

टिप्पणी—इंद्र ने नल को प्रथम वर दिया कि उसके द्वारा आयोजित यज्ञों में साक्षात् प्रकट होकर वह हविष्य सामग्री का उपभोग करेगा। इससे यह लाभ होगा कि जो लोग यह सन्देह करते हैं कि बस मंत्र ही हैं, देव हैं ही नहीं, उनका यह संदेह समाप्त होगा। मीमांसकों का कथन है कि

'अशरीरा देवता', मन्त्रातिरिक्त कर्मसमवायी देव नही होते। मीमासको के इस सन्देह का खण्डन कर देवसत्ता पर विश्वास प्रतिपादन कराने का यश नल को मिलेगा, यही उसका बडा लाभ है॥ ७० ॥

भवानपि त्वद्दयिताऽपि शेषे सायुज्यमासादयतं शिवाभ्याम्।
प्रेत्यास्मि कीदृग्भवितास्मि चिन्ता सन्तापमन्तस्तनुते हि जन्तोः ॥७१॥

जीवातु—अथोभयसाधारण वरमाह, भवानिति। भवानपि त्वञ्च, त्वद्दयिताऽपि दमयन्त्यपि च, शेषे आयुरवसाने, शिवा च शिवश्च ताभ्या शिवाभ्या पार्वतीपरमेश्वराभ्या सह, 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः, सयुजो भाव सायुज्यं तादात्म्यम्, आसादयतं प्राप्नुतम्। आमुष्मिकफलोक्तौ कारणमाह—हि यत, प्रेत्य लोकान्तर गत्वा, अस्मि अहं कीदृक् भवितास्मि कीदृशो भविष्यामि, इति चिन्ता जन्तो अन्त मनसि, सन्ताप तनुते, तन्निवृत्त्यर्थमुक्तिरिति भाव ॥ ७१ ॥

अन्वयः—शेषे भवान् अपि त्वद्दयिता अपि शिवाभ्यां सायुज्यम् आसादयतम् हि प्रेत्य कीदृक् भविता अस्मि इति चिन्ता जन्तो अन्त सन्ताप तनुते।

हिन्दी—आयु समाप्त होने पर तुम भी और तुम्हारी पत्नी (दमयन्ती) भी शिव और पार्वती से तादात्म्य प्राप्त करोगे, क्योंकि मरणोपरान्त क्या होऊँगा—किस दिशा को प्राप्त करूँगा, यह चिन्ता प्राणी के चित्त को सन्तप्त किया करती है।

टिप्पणी—इन्द्र का दूसरा वरदान कि मृत्यु के पश्चात् नल दमयन्ती को सुगति प्राप्त होगी। वे शिव पार्वती का सायुज्य अर्थात् तादात्म्य प्राप्त करेंगे। नारायण के अनुसार नल शिव का और दमयन्ती शिवा–पार्वती का सायुज्य प्राप्त करेगी। इस वर प्राप्ति का लाभ यह होगा कि नल-दमयन्ती को मृत्यु के पश्चात् अपनी गति की चिन्ता न रह जायेगी। प्राणी को यह चिन्ता प्राय सतप्त किया करती है कि मरने के बाद वह क्या बनेगा ? प्रेत, मनुष्य, देव ? स्वर्ग मिलेगा या नरक ? ॥ ७१ ॥

तवोपवाराणसि नामचिह्नं वासाय पारेऽसि पुरं पुराऽस्ते।
निर्वातुमिच्छोरपि तन्न मेऽमीसम्भोगसङ्कोचभियाऽधिकाशि ॥ ७२ ॥

जीवातु—तवेति। किञ्च, तव वासाय निवासाय, उपवाराणसि वाराणस्या समीपे, 'अव्ययं विभक्ति—' इत्यादिना सामीप्यार्थे अव्ययीभावः, पारेऽसि

असिनाम नदी तस्याः पारे, 'पारे मध्ये पष्ठ्या वा' नामचिह्नं त्वन्नामाङ्कितं, पुरं नलपुरं, पुरा आगामिनि, सत्वरमित्यर्थः, 'निकटागामिके पुरा' इत्यमरः, आस्ते आसिष्यते, भविष्यतीत्यर्थः, आसेर्भविष्यदर्थे 'यावत् पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यदर्थे लट् तत् पुरं, निर्वातुं मोक्तुम्, इच्छोः मुमुक्षोरपि, तवेति शेषः, भैमीसम्भोगस्य सङ्कोचात् प्रतिबन्धात्, भिया अविकाशि काश्यां, न, भविष्यति शेषः। मुमुक्षुरपि त्वं यावज्जीवं भैम्या सह नलपुरे विहर, अन्ते काश्यां शिवसायुज्यमाप्नुहीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—तव वासाय उपवाराणसि पारेऽसि नामचिह्नं पुरं पुरा आस्ते, निर्वातुम् इच्छोः अपि भैमीसम्भोगसङ्कोचभिया तत् अविकाशि न।

हिन्दी—तेरे (नल के) निवासार्थ वाराणसी के निकट, असी नाम की नदी के पार तेरे नाम से अंकित नगर (नलपुर) बसेगा; निर्वाण (मुक्ति) के इच्छुक भी तुम्हारे भीमसुता के साथ विलास में संकोच के भय के कारण वह (नलपुर) काशी में न बसेगा।

टिप्पणी—इन्द्र का तीसरा वर। काशी से अलग, किन्तु निकट ही, असी नदी के पार नल-दमयन्ती के वासार्थ 'नलपुर' बसा दिया जायेगा। वह काशी के अन्तर्गत इसलिए न बसाया जायेगा कि काशी में रहते भोग-विलास में संकोच होगा और पूर्ण आनन्द से वंचित रहेगा। यह माना जाता है कि पंचकोश परिमित काशी में ब्रह्मचर्यादि नियमों का पालन करना चाहिए, तभी सद्गति प्राप्त होती है और नल मुक्ति का इच्छुक है ही। भाव यह कि नलपुर में दम्पती विहार करे और यथा समय अन्त में काशी-वास कर शिवसायुज्य प्राप्त करे ॥ ७२ ॥

धूमावलिश्मश्रु ततः सुपर्वा मुखं मखास्वादविदां तमूचे।
कामं मदीक्षामयकामधेनोः पयायतामभ्युदयस्त्वदीयः ॥ ७३ ॥

जीवातु—धूमेति। ततः इन्द्रवाक्यानन्तरं, धूमावलिरेव श्मश्रूणि यस्य तत्, मखास्वादविदां यज्ञरसज्ञानां, मुखं मुखभूतः, सुपर्वा देवः अग्निः, 'अग्निमुखा वै देवाः' इति श्रुतेः; तं नलम्, ऊचे; तदेवाह—हे नल! त्वदीयः अभ्युदयः वृद्धिः; मदीक्षामयी मद्दृष्टिरेव कामधेनुः तस्याः कामं पयायतां क्षीरायतां, मत्कटाक्षमात्रेण ते सर्वार्थसिद्धिर्भविष्यतीति भावः। 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च'

'इति पय शब्दादाचार्यो क्यङ्-प्रत्ययो वैभाषिक सलोपश्च, 'ओजसोऽप्सरसो 'नित्यमितरेषा विभाषया' इति वचनात् ॥ ७३ ॥

अन्वय —ततः धूमावलिश्मश्रु मखास्वादविदां मुख सुपर्वा तम् ऊचे—त्वदीयः अभ्युदय. मदीक्षामयकामधेनो कामं पयायताम् ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (इन्द्र के वर देकर विरत हो जाने पर) धूमरेखा रूपी दाढी धारण करने वाला, यज्ञ-रस के वेत्ता देवों का मुख अग्नि उस (नल) से बोला—तेरी उन्नति मेरी दृष्टिरूपिणी कामधेनु के दुग्ध का प्रचुरतया आचरण करे ।

टिप्पणी—चारो ओर धूम-जालावृत अग्निदेव, जिनके माध्यम से देवगण यज्ञ-भोग करते हैं, वर देते हुए बोले कि जिस प्रकार कामधेनु का दुग्ध अपार है, ऐसी ही नल की प्रचुर उन्नति हो । अग्नि की दृष्टि कामधेनु है और नल की समृद्धि उसका दुग्ध है, अर्थात् अपार समृद्धि नल को प्राप्त हो । *अग्नि के कटाक्षमात्र से नल की सर्वार्थसिद्धि हो जायेगी—सब इच्छाओं की पूर्ति हो जायेगी* ॥ ७३ ॥

या दाहपाकौपयिकी तनुर्मे भूयात्त्वदिच्छावशवर्तिनी सा ।
तया पराभूततनोरनङ्गात्तस्याः प्रभुः सन्नधिकस्त्वमेधि ॥ ७४ ॥

जीवातु—येति । दाह भस्मीकरण, पाक तण्डुलविक्लेदनादि तयो' औपयिकी उपायभूता, 'विनयादिभ्यष्ठक्' इति स्वार्थे ठकि ङीप् उपायाद् ह्रस्वत्वञ्च या मे तनुः सा त्वदिच्छाया वशवर्तिनी भूयात् । किञ्च, त्वं तस्या तनो', प्रभु स्वामी, नियामक सन् इति यावत्, तया शिवनेत्रस्थया तन्वा, पराभूततनो दग्धाङ्गात्, हरभ्रष्टाप्यतममूर्तित्वात् अस्येति भाव, अनङ्गात् अधिक एधि भव, न केवल रूपादेवानङ्गादधिक, किन्तु तज्जेतुरुग्नेरपि नियामकत्वेन अधिको भव इति भावः । अस्तेर्लोटि सिपि हेर्धिः 'घ्वसोरेद्धौ' इत्यादिना एत्वम् ॥ ७४ ॥

अन्वय.—दाहपाकौपयिकी या मे तनु सा त्वदिच्छावशवर्तिनी भूयात्; त्वं तस्याः प्रभुः सन् तया पराभूततनोः अनङ्गात् अधिकः एधि ।

हिन्दी—भस्म करना और अन्नादि को पका देना—इन दोनो का उपाय (साधन) जो मेरा (अग्नि का) शरीर है, वह तेरी (नल की) इच्छा के

अधीन होगा, तू उस (अग्नि-शरीर) का स्वामी हो उस (अग्नि) से हारे (जला दिये गये) शरीर वाले अनंग (काम) से अधिक होगा।

टिप्पणी—अग्नि ने पहिला वर दिया नल को स्वकृपादृष्टि से अनन्त ऐश्वर्यशाली होने का। यहाँ दूसरा वर दिया कि नल अग्नि का स्वामी होगा, जिससे नल की इच्छानुसार जहाँ वह चाहेगा अग्नि का आविर्भाव हो जायेगा। दूसरा यह कि प्रकृत्या सुन्दर नल काम से अधिक सुन्दर होगा। इसका आधार यह है कि काम शिवनेत्राग्नि से दग्ध हो पराभूत है, वह अग्नि नल के अधीन रहेगा। काम को पराजित करने वाले अग्नि का स्वामी होने से वह काम से अधिक हो ही जायेगा ॥ ७४ ॥

अस्तु त्वया साधितमन्नमीनरसादि पीयूषरसातिशायि।
तद्भूप ! विद्मस्तव सूपकारक्रियासु कौतूहलशालि शीलम् ॥ ७५ ॥

जीवातु—अस्त्विति। किञ्च, हे भूप ! त्वया साधितं पक्वम्, अन्नं शाल्यादि, मीनरसः मत्स्यादीनां रसः, मीनेति मांसोपलक्षणं, तौ आदिः यस्य, आदिशब्दात् सूपशाकादीनां ग्रहणं, तत् सर्वं, पीयूषरसम् अमृतस्वादम्, अतिशेते इत्यतिशायि ततोऽप्युत्कृष्टम्, अस्तु। ईदृग्वरदाने कारणमाह, तदिति।—तत् तस्मात्, त्वत्पक्वशाकादीनाममृतादप्यधिकस्वादुत्वादित्यर्थः, तव शीलं स्वभावं, सूपं द्विदलादिव्यञ्जनपाकं, कुर्वन्तीति सूपकाराः सूदाः, 'सूपकारास्तु बल्लवाः। आरालिका आन्धसिकाः सूदा औदनिका गुणाः ॥' इत्यमरः। कर्मण्यण्, तेषां क्रियासु, पाकक्रियासु, सुष्ठूपकारक्रियासु च, कौतूहलेन शालते इति तच्छालि कौतूहलि, पाककर्मणि सदा उत्सुकमित्यर्थः, विद्मः। 'अस्मदो द्वयोश्च' इति बहुवचनम्, अतः तवेयं सूपविद्या दत्तेति भावः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—त्वया साधितम् अन्नमीनरसादि पीयूषरसातिशायि अस्तु, यत् भूप, तव सूपकारादिक्रियासु कौतूहलशालि तव शीलं विद्मः।

हिन्दी—तेरे (नल के) द्वारा सिद्ध (पकाया, पक्व) तंदुलादि अन्न, मछली और प्रपानक (दुग्धादि) रस (अथवा अन्न और मछली का झोल—शोरवा) आदि अमृत के रस का भी अतिक्रमण करे; क्योंकि हे राजा, तुम्हारा पाचक-(राँधना-पकाना) आदि की क्रियाओं में कुतूहलपूर्ण जो स्वभाव है, उसे हम जानते हैं।

टिप्पणी—क्योंकि अग्निदेव को ज्ञात था कि नल को विभिन्न प्रकार के शाकाहार, मांसाहार, पेय आदि बनाने में विशेष रुचि है, अत उन्होंने नल को दूसरा वर दिया कि उसके द्वारा भोज्य-पेय आदि इतने स्वादिष्ट हों कि उनके समुख अमृत रस भी स्वादिष्ट न लगे। इसी कारण अग्नि ने नल को सूपविद्या में पारगत होने का वर दिया ॥ ७५ ॥

वैवस्वतोऽपि स्वत एव देवस्तुष्टस्तमाचष्ट नराधिराजम्।
वरप्रदानाय तवावदानैश्चिर मदीया रसनोद्धुरेयम् ॥ ७६ ॥

जीवातु—वैवस्वत इति। देव वैवस्वत यमोऽपि, स्वत एव अप्रार्थित. सन्, तुष्टः सन्, त नराधिराज नलम्, आचष्ट अब्रवीत्, तदेवाह—हे नृप! तव अवदानैः शौर्यादिरूपैरद्भुतकर्मभि 'इयं मदीया रसना चिर चिरात् प्रभृति, वरप्रदानाय उत् उद्गता, धूः वरदानभारः यस्या. सा उद्धुरा दृढसङ्कल्पेत्यर्थ.। 'ऋक्पूर्-' इत्यादिना समासान्तः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—स्वत एव तुष्ट वैवस्वत. देव. अपि त नराधिराजम् आचष्ट—तव अवदानै. इयं मदीया रसना वरप्रदानाय चिरम् उद्धुरा।

हिन्दी—स्वय ही (अपने ही आप, अप्रार्थित हो) संतुष्ट सूर्यपुत्र देव (यम) भी उस नराधिराज (राजा नल) से बोले—तेरे अवदानों (शौर्यादि कर्म तथा यज्ञयागादि-रत रहने) के कारण यह मेरी जिह्वा वर-देने के निमित्त बड़ी देर से उत्सुक है।

टिप्पणी—यमराज भी नल के कार्यों से स्वत. ही अत्यन्त सन्तुष्ट थे, अतः बड़ी प्रसन्नता के साथ वे नलद्वारा अप्रार्थित रहते ही वर देने को प्रस्तुत हो गये ॥ ७६ ॥

सर्वाणि शस्त्राणि सहाङ्गचक्रैराविर्भवन्तु त्वयि शत्रुजैत्रे।
अवाप्यमस्मादधिक न किञ्चिज्जागर्ति वीरव्रतदीक्षितानाम् ॥ ७७ ॥

जीवातु—सर्वाणीति। हे नल! सर्वाणि शस्त्राणि आयुधानि, अङ्गचक्रैः प्रयोगोपसहारादिमन्त्ररूपस्वाङ्गकलापैः सह शत्रून् जेतरि एव जैत्रे जयशीले, शत्रुजैत्रे शत्रुजयकारिणि, जेतृशब्दात्ताच्छील्ये तृन्नन्तात् प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽणू-प्रत्यय', 'न लोका-' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया, योगविभागात् समस्यते, त्वयि विषये, आविर्भवन्तु। एतावता को लाभ.? तत्राह—

वीरव्रतम् आहवेषु अनिवर्तित्वं, तत्र दीक्षितानां कृतसङ्कल्पानां त्वादृशां शूराणाम्, अस्मात् अस्त्रलाभात्, अधिकम् उत्कृष्टम्, अवाप्यं लभ्यं, किञ्चित् न जागर्ति न स्फुरति, न विद्यते इत्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः।

अन्वयः—सर्वाणि शस्त्राणि अङ्गचक्रैः सह धनुर्जेत्रे त्वयि आविर्भवन्तु, वीरव्रतदीक्षितानाम् अस्मात् अधिकम् अवाप्यं किंचित् न जागर्ति।

हिन्दी—सब शस्त्र शस्त्र-संचालन के अंगोपांगों के साथ धनुर्जयी तुझ (नल) में प्रकट हों; वीरों के व्रत (संग्राम में दृढसंकल्पता) में दीक्षित (सन्निष्ठ) जनों के लिए इस (शस्त्रविद्या के पूर्ण ज्ञान) से बढ़ कर प्राप्त करने योग्य और कुछ नहीं है।

टिप्पणी—प्रसन्न यम ने प्रथम वर दिया कि नल को अप्रयास ही शस्त्रास्त्र-संचालन की सम्पूर्ण मोक्ष-उपसंहारादि विधियाँ मंत्रदेवता आदि के साथ आविर्भूत हो जायें अर्थात् नल को शस्त्रास्त्रविद्या का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाये। एक वीर को इससे बड़ी कामना और हो ही क्या सकती है कि वह संग्राम में यशोदायक जय प्राप्त करे। मल्लिनाथ के अनुसार सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार ॥ ७७ ॥

कृच्छ्रं गतस्यापि दशाविपाकं धर्मान्न चेतः स्खलतात्तवेदम्।
अमुञ्चतः पुण्यमनन्यभक्तेः स्वहस्तवास्तव्य इव त्रिवर्गः॥ ७८॥

जीवातु—कृच्छ्रमिति। किञ्च, कृच्छ्रं कष्टं दशाविपाकम् अवस्थापरिणामं गतस्यापि प्राप्तस्यापि, दुर्दशापन्नस्यापीत्यर्थः, तव इदं चेतः धर्मात् न स्खलतात् न स्खलतु। तोस्तातङ्ङादेशः। ततः किम्? तत्राह—पुण्यं धर्मम्, अमुञ्चतः अत्यजतः, न विद्यते अन्यस्मिन् अधर्मे भक्तिः यस्य तस्य अनन्यभक्तेः अधर्मविमुखस्य, त्रयाणां धर्मकामार्थानां वर्गः त्रिवर्गः "त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः" इत्यमरः, स्वहस्ते वसतीति स्वहस्तवास्तव्यः इव हस्तस्थप्राय इवेत्यर्थः। 'वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च' इति वक्तव्यात् तव्यत्। अत्र त्रिवर्गसिद्धिलक्षणकार्येण धर्मात्यागरूपकारणसमर्थनात् कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ ७८॥

अन्वयः—कृच्छ्रं दशाविपाकम् अपि तव इदं चेतः धर्मात् न स्खलतात्; पुण्यम् अमुञ्चतः अनन्यभक्तेः त्रिवर्गः स्वहस्तवास्तव्यः इव

हिन्दी—अत्यन्त कष्ट देने वाली अवस्था के परिवर्तन में भी तुम्हारा (नल का) यह (दृढ, निष्कपट) चित्त धर्म से न हटे, पुण्य को न त्यागने वाले (पाप में अनासक्त), अद्वितीय परमात्मभक्त (अथवा धर्म में अनन्य भाव से भक्ति रखने वाले) व्यक्ति के अपने हाथ में ही धर्मार्थकामरूप त्रिवर्ग बसा करता है।

टिप्पणी—यम ने दूसरा वर दिया कि—क्योंकि पुण्यात्मा और धर्माचारी पुरुष को स्वतः ही धर्म, अर्थ और काम का लाभ हो जाया करता है और वह कृतकाम हो जाता है अतः—नल की सदा धर्म में निष्ठा बनी रहे। नारायण के अनुसार कठिन से कठिन दशा में पड़ने पर भी नल को धर्मनिष्ठ बने रहने का वरदान भावी कलि-प्रभाव का सूचक है। इस प्रकार का 'ड्रामेटिक आयरनी'—भविष्यत्-सूचक 'पताकास्थानक'। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ त्रिवर्ग सिद्धि रूप कार्य द्वारा धर्मात्याग रूप कारण का समर्थन होने से कार्य द्वारा कारण समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है॥ ७८॥

स्मिताञ्चिता वाचमवोचदेनं प्रसन्नचेता नृपतिं प्रचेताः।
प्रदाय भैमीमधुना वरौ ते ददानि तद्यौतककौतुकेन॥ ७९॥

जीवातु—स्मितेति। अथ प्रसन्नचेता प्रचेता वरुण., एनं नृपतिं नलं स्मिताञ्चितां मन्दहासमधुरां, वाचम् अवोचत्। तदेवाह—अधुना ते तुभ्यं, भैमीं प्रदाय तद्यौतककौतुकेन तस्मिन् प्रदाने, यद् यौतकं युतकयोः वधूवरयोः देयं, युते विवाहकाले यत् लभ्यते तत् इति वा, विवाहकाले प्राप्यद्रव्यमित्यर्थः 'यौतकादि तु यद् देयं सुदायो हरणञ्च तत्' इत्यमरः। अण्-प्रत्ययः कण्-प्रत्ययो वा तत्र यत् कौतुकम् इच्छा उत्सवो वा आनन्दो वा तेन, 'कौतुकं नर्मणीच्छायामुत्सवे कौतुके मुदि' इति मेदिनी, यौतकदानेच्छया यौतकदानानन्देन वा, वरौ वक्ष्यमाणौ, ददामि यौतकत्वेन दास्यामीत्यर्थः॥ ७९॥

अन्वयः—प्रसन्नचेता प्रचेता एनं नृपतिं स्मिताञ्चितां वाचम् अवोचत् भैमीं प्रदाय अधुना तद्यौतककौतुकेन ते वरौ ददामि।

हिन्दी—सतुष्टचित्त वरुण इस नरपाल (नल) से मदस्मित से मधुर वाणी में बोले—भीमसुता को देकर अब उस (दमयन्ती) के विवाह प्राप्य (दहेज) के प्रति उत्साहानंद से तुम (नल) को दो वर देता हूँ।

टिप्पणी—वरुण भी अत्यन्त प्रसन्न थे। उन्होंने भी नल को दो वर (प्रथम वर वक्ष्यमाण श्लोक संख्या ८०, ८१ और द्वितीय ८२) देने की घोषणा की मानो विवाह के समय वर-वधू को दहेज दे रहे हों—यौतक अर्थात् कन्या देने के पश्चात् का प्रासव्य—'कन्यां प्रदाय यत् किञ्चिद्वरायात्र प्रदीयते। वेदिकायां स्थितायैव तद्यौतकमिति स्मृतम्॥' वरुण ने प्रसन्नचित्त हो 'यौतक' दिया। 'यौतक' अर्थात् दहेज में दाता की प्रसन्नता और प्राप्तिकर्ता की अयाचकता प्रमुख है, प्रचेता की प्रसन्नचित्तता यह संकेत देती है। ठहराना, माँगना आदि निन्द्य और हीन यौतक-रीति है। यौतक-दान में आनन्द प्रमुख है—'यौतककौतुक'॥ ७९॥

यत्राभिलाषस्तव तत्र देशे नन्वस्तु धन्वन्यपि तूर्णमर्णः।
आपो वहन्तीह हि लोकयात्रां यथा न भूतानि तथापराणि॥ ८०॥

जीवातु—तावेव वराबाह, यत्रेत्यादि। ननु भो नल! यत्र देशे तव अभिलाषः जलेच्छा, तत्र धन्वनि मरुस्थलेऽपि, 'समानौ मरुधन्वानौ' इत्यमरः। तूर्णम् आशु, अर्णः अम्भः, अस्तु उद्भवतु। अस्य वरस्य श्लाघ्यतामाह—इह लोके, यथा आपः लोकस्य जनस्य, यात्रां जीवनं, 'गमने जीवने यात्रा' इति वैजयन्ती। वहन्ति प्रापयन्ति, तथा अपराणि अन्यानि, भूतानि पृथिव्यादीनि, न हि, वहन्ति इति पूर्वानुषङ्गः, यदाह वाग्भटः—'पानीयं प्राणिनां प्राणा विश्वमेतच्च तन्मयम्' इति। अतः श्लाघ्योऽयं वर इति भावः॥ ८०॥

अन्वयः—ननु यत्र देशे तव अभिलाषः तत्र धन्वनि अपि तूर्णम् अर्णः अस्तु; हि इह यथा आपः लोकयात्रां वहन्ति तथा अपराणि भूतानि न।

हिन्दी—हे नल, जिस स्थान में तेरी इच्छा हो, उस मरुस्थल में भी तुरन्त जल की उत्पत्ति हो जाय; कारण कि इस लोक में जैसा जल लोक-जीवन-यात्रा का हेतु है, वैसे अन्य चार तत्त्व नहीं।

टिप्पणी—प्रचेता के प्रथम वर का पूर्व भाग। मरुभूमि में नल की इच्छानुसार जल उत्पन्न हो सके। इसका कारण है कि जल तत्त्व का पृथ्वी, तेज, वायु, आकाश इन शेष चार महाभूतों की अपेक्षा महत्त्व। इस मर्त्य लोक में जल का प्राण यात्रा में इतना महत्त्व है कि उसे 'जीवन' कहा जाता है। वाग्भट ने कहा है कि पानी प्राणियों का प्राण है, यह विश्व तन्मय है॥८०॥

प्रसारिताप शुचिभानुनाऽम्तु मरुः समुद्रत्वमपि प्रपद्य ।
भवन्मनस्कारलवोद्गमेन क्रमेलकानां निलयः पुरेव ॥ ८१ ॥

जीवातु—प्रसारितेति । किञ्च, मरु निर्जलस्थल, भवत मनस्कार चित्ताभोग, समन सुखतत्परता इत्यर्थ, सुखलाभेच्छा इति यावत्, 'अत इकमि—' इत्यादिना मत्वम् तस्य लव लेश, तस्य उद्गमे सति, इति मत्स्यमध्यस्थच्छेद, इति नक्राणा जलजन्तुविशेषाणा, मेला एव मेलका सङ्घा, तेषा निलय आवास, तथा शुचिभानुना शुभ्रांशुना चन्द्रेण, प्रसारिता सवर्द्धिता, आप यस्य स तादृश प्रसारितापश्च सन् 'ऋक्पूर्—' इत्यादिना समासान्त । समुद्रत्व प्रपद्यापि प्राप्यापि, भवन्मनस्कारलवोद्गमेनेति तृतीयान्तच्छेद, पुनश्च त्वदिच्छामात्रेणेत्यर्थ, क्रमेलकानाम् उष्ट्राणा, निलय सन्, '—ष्ट्रा मरुप्रिया' इति प्रसिद्धि, तथा शुचिभानुना ग्रीष्मसूर्येण 'शुचि शुभ्रेऽनुपहते ग्रीष्मे हुतवहेऽपि च' इति विश्व । प्रसारिताप अपसारितोदकश्च सन्, प्रखरसन्ताप सन् इति वा, पुरेवास्तु पूर्ववत् निर्जल एव भवतु ॥ ८१ ॥

अन्वय—मरु भवन्मनस्कारलवोद्गमे शुचिभानुना प्रसारिताप नक्रमेलकाना निलय समुद्रत्व प्रपद्य अपि भवन्मनस्कारलवोद्गमेन शुचिभानुना प्रसारिताप पुरा इव क्रमेलकाना निलय अस्तु ।

हिन्दी—मरुस्थल आप (नल) के एकाग्र चिन्तन का लेश मात्र होने पर शुभ्र किरण (चन्द्र) द्वारा जल पूर्ण हो मकरसमूह का आवास समुद्र बन कर भी आपके अभिलाप का लव मात्र होने से ग्रीष्मसूर्य द्वारा जिसका जल सुखा दिया गया है, ऐसा हो पहिले की भाँति ऊँटो का आवास (मरुस्थल) हो जायेगा ।

टिप्पणी—वरुण के प्रथम वर का उत्तरार्द्ध । नल जब चाहेगा तब मरुस्थल जलनिधि समुद्र बन जायेगा, जल जतुओं का विहार स्थल, और जब थोड़ी-सी इच्छा करेगा तभी पुन वह जलनिधि पुनः उष्ट्रनिवास मरुधरा में बदल जायेगा । चमत्कार पूर्ण शब्द-योजना के द्वारा यहाँ एक ही प्रयोग से दोनों भाव प्रकट किये गये हैं ॥ ८१ ॥

अम्लानिरामोदभरश्च दिव्यः पुष्पेषु भूयाद्भवदङ्गसङ्गात् ।
दृष्टं प्रसूनोपमया मयाऽन्यन्न धर्मशर्मोभयकर्मठं यत् ॥ ८२ ॥

जीवातु—द्वितीयं वरमाह, अम्लानिरिति। हे नल ! भवतः अङ्गसङ्गात् करस्पर्शात् एव, पुष्पेषु अम्लानता, दिव्यः स्वर्गीयः, आमोदभरश्च सौरभातिशयश्च, भूयात्। अस्य वरस्य श्लाघ्यतामाह—यत् यस्मात्, प्रसूनोपमया पुष्पसाम्येन, धर्मशर्मणोः सुकृतसुखयोः, उभयस्मिन् द्वयेऽपि, कर्मणि घटते इति कर्मठं कर्मशूरं, कर्मक्षममित्यर्थः, 'कर्मशूरस्तु कर्मठः' इत्यमरः। 'कर्मणि घटोऽठच्' इति अठच्-प्रत्ययः, अन्यत् धनपुत्रादिवस्तु, मया न दृष्टम्; सुरार्चनस्वोपभोगाभ्यामिहामुत्र च पुण्यस्योपयोगाच्छ्लाघ्योऽयं वर इति भावः ॥८२॥

अन्वयः—भवदङ्गसङ्गात् पुष्पेषु अम्लानिः दिव्यः आमोदभरः च भूयात्, यत् प्रसूनोपमया धनं शर्मोभयकर्मठं मया अन्यत् न दृष्टम्।

हिन्दी—आप (नल) के अंग-स्पर्श से फूलों में अम्लानता और स्वर्गीय सुगंधातिरेक हो, क्योंकि फूल के सदृश धर्म (देवार्चनादि पुण्य) और कल्याण (सुख) करने में समर्थ मैंने (वरुण ने) अन्य (धन-पुत्रादि) नहीं देखा।

टिप्पणी—वरुण ने दूसरा वर दिया कि नल स्वदेह पर जिन फूलों को धारण करेगा; वे उसके अंग-स्पर्श के कारण न मुर्झायेंगे और उनमें ऐसी प्रचुर सुगन्ध रहेगी, जैसी कि स्वर्ग के वृक्ष-पुष्पों में होती है। यह वर धर्मार्जन में भी नल का साधन बनेगा और सुख-भोग में भी। पुष्पों के सदृश कोई सांसारिक धन-संपदा, पुत्र-पौत्रादि वस्तुजात नहीं है, जो देव पूजा के पुण्य कार्य और सुख भोग में सहायक हो। फूल से देवार्चन पुण्यदायक और उसका देह पर धारण सुखानंद दायक। यह वर इसी दृष्टि से काम्य है ॥८२॥

वाग्देवताऽपि स्मितपूर्वमुर्वीसुपर्वराजं रभसाद्बभाषे।
त्वत्प्रेयसीसम्मदमाचरन्त्या मत्तो न किञ्चिद् ग्रहणोचितं ते ? ॥ ८३ ॥

जीवातु—वागिति। वाग्देवताऽपि उर्वीसुपर्वराजं भूदेवेन्द्रं नलं, रभसात् हर्षात् 'रभसो वेगहर्षयोः' इति विश्वः। स्मितपूर्वं यथा तथा बभाषे। अथ स्वस्याः आप्तत्वोक्तिपूर्वकं स्वदेयस्य वरस्य अपरिहार्यत्वं तावत् सार्द्धश्लोकेनाह, त्वदिति। त्वत्प्रेयस्याः दमयन्त्याः, सम्मदं हर्षं, त्वद्वरणरूपं प्रियमित्यर्थः, 'प्रमदसम्मदौ हर्षे' इति अप् निपातः, आचरन्त्याः कुर्वन्त्याः, अत एव मत्तो मत्सकाशात्, 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति पञ्चम्यर्थे तसिल् प्रत्ययः, ते तव, किञ्चित् ग्रहणोचितमाप्तत्वेन स्वीकारार्हम्, अथच ग्रहणोचित ज्ञानयोग्यं, न ? अपि तु ग्रहणमुचितमेव, अतो मत्तः किंचित् ग्राह्यमित्यर्थः ॥ ८३ ॥

अन्वय—वाग्देवता अपि उर्वीसुपर्वराजं रभसात् स्मितपूर्वं बभाषे—त्वत्प्रेयसीसम्मदम् आचरन्त्या मत्तः ते किञ्चित् ग्रहणोचितं न ?

हिन्दी—वाणी की देवता (सरस्वती) ने भी पृथ्वी के सुपर्वा (धरणी के इन्द्र राजा नल) से हर्ष से मदहास्य पूर्वक कहा—तुम्हारी (नल की) प्रिया (दमयन्ती) का प्रिय (नल-वरण) सम्पादित करती मुझ (सरस्वती) से तुम्हारा (नल का) कुछ लेना क्या उचित नहीं है ? (अपि तु है ही ।)

टिप्पणी—चारों देवों के प्रसन्न हो नल को वर देने के अनन्तर भगवती सरस्वती ने भी नल को कृतार्थ करने का निश्चय प्रकट किया। उन्होंने नल वरण में एक सखी के सदृश नल प्रिया दमयन्ती की सहायता की थी और इस प्रकार नल का अभीष्ट भी सम्पन्न करा दिया था। इस पर भी उन्होंने नल को प्रिया की प्रिय सखी के रूप में नल को उनका दान स्वीकारने का औचित्य सिद्ध किया। प्रिया की मित्र का उपहार स्वीकारना उचित ही होता है ॥ ८३ ॥

अर्थो विनैवार्थनयोपसीदन्नल्पोऽपि धीरैरवधीरणीयः ।
मान्येन मन्ये विधिना वितीर्णः स प्रीतिदायो बहु मन्तुमर्हः ॥ ८४ ॥

जीवातु—अर्थ इति । किञ्च, अर्थनया याच्ञादैन्यन, विनैव उपसीदन् उपनमन्, अल्प अपि अर्थः हितार्थः, धीरैः प्रेक्षावद्भिः, अवधीरणीयः उपेक्ष्यः, न, परन्तु स्वीकरणीय एव, कथं नावधीरणीयः ? इत्याह—अत्र यस्मात् इति पदमूहनीयम्, यस्मात् मान्येन पूज्येन, विधिना ब्रह्मणा एव, वितीर्णः दत्तः, दीयते इति दायः कर्मणि घञ् प्रत्ययः, 'आतो युक् चिण्कृतोः' इति युगागमः, प्रीत्या दायः 'कर्तृकरणे कृता–' इति समासः, प्रीतिदानरूपः, सः अर्थः, बहु अधिकं, इति मन्तुम् अवगन्तुम्, अर्हः इत्यहं मन्ये ॥ ८४ ॥

अन्वय—अर्थनया विना एव उपसीदन् अल्पः अपि अर्थः धीरैः न अवधीरणीयः,–मन्ये, मान्येन विधिना वितीर्णः सः प्रीतिदायः बहुमन्तुम् अर्हः ।

हिन्दी—बिन माँगे ही मिलते छोटे फल को भी मनीषी जनों को उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, मैं (सरस्वती) समझती हूँ कि सम्मान्य विधाता द्वारा प्रदत्त उस प्रेमोपहार को अत्यन्त मान देना उचित है।

टिप्पणी—याचना से मिला प्रभूत भी उतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता, जितना बिनमाँगे मिला, भले ही वह बहुमूल्य अथवा परिमाण में अधिक

न हो; क्योंकि वह एक प्रकार से दैव का दिया प्रेमोपहार होता है। प्रसन्नतापूर्वक स्वयं विधि की दी उस भेंट का बड़ी मान्यता के साथ आदरपूर्वक ग्रहण ही उचित होता है। इस प्रकार भगवती ने स्वदत्त उपहार को आदर पूर्वक सिर माथे चढ़ाने का नल को दूसरा औचित्य समझाया ॥ ८४ ॥

अवामा वामार्द्धे सकलमुभयाकारघटनाद्-
द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत्।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मर हरमयं सेन्दुममलं-
निराकारं शश्वज्जप नरपते! सिध्यतु स ते ॥ ८५ ॥

जीवातु——अथ वरस्वरूपमेव पञ्चभिः प्रपञ्चेनाह, अवामेत्यादि। नरपते! हे नरेन्द्र! अर्द्धे एकभागे, अवामा अस्त्री, पुमानित्यर्थः, पुनः अर्द्धे अर्द्धभागान्तरे, वामा स्त्री, अत एव द्विधाभूतं स्त्रीपुंसात्मकम्, उभयाकारघटनात् उभयोः आकारयोः मेलनात्, सकलं सम्पूर्णं भगवदभिधेयं भगवच्छब्दवाच्यं यत् रूपं भवति विद्यते, सेन्दुम् इन्दुकलासमेतम्, अमलं निर्मलं निराकारं परमार्थतः निरंशं, मन्त्रं मन्त्रात्मकं, तद्वत् गोप्यं वा हरमयम् ईश्वरात्मकं, मे मम, तत् रूपं, स्वरूपमित्यर्थः, अन्तः अन्तःकरणे, स्मर चिन्तय, शश्वत् निरन्तरं, जप मन्त्रात्मकत्वात् जपरूपेण च उपास्स्व, स मन्त्रमूर्त्तिः भगवान् अर्द्धनारीश्वरः, ते तव, सिध्यतु प्रसीदतु, फलतु इत्यर्थः। मन्त्रपक्षे तु——अर्द्धे प्रथमभागे, अवा ओकारेण, मा मकारेण, प्रणवेन इत्यर्थः, तथा अवामाऽर्द्धे अर्द्धे उत्तरभागेऽपि, अवा ओकारेण, मा मकारेण चोपलक्षितं, प्रणवद्वयसम्पुटितमित्यर्थः, एवमुभयाकारघटनात् उभयाभ्याम् अकाराभ्यां घटनात् संयोगात्, द्विधाभूतं ह र इति द्विधा विभक्तम् अथवा उभयाभ्यामाकाराभ्यां, प्रणवस्वरूपाभ्यां, घटनात् सम्पुटीकरणात्, द्विधाभूतं द्व्याकारं, भगवदभिधेयं भगवान् शिवः, अभिधेयो वाच्यो यस्य तत् शिववाचकं, यत् रूपं भवति ओं हर ओम् इति यत् स्वरूपं निष्पद्यते, तत् हरमयं हकाररेफात्मकं निराकारम् अश्च अश्च तौ औ, तयोराकारं स्वरूपं, निर्गतौ रहितौ, अकारद्वयौ यस्मात् तादृशं, हकाररकारयोरुच्चारणार्थं यत् अकारद्वयं तच्छून्यम्, अत एव 'ह्र' इति व्यञ्जनवर्णमात्रात्मकमित्यर्थः, तथा ई च इन्दुश्च ताभ्याम् ईन्दुभ्यां सह वर्त्तते इति तादृशं सेन्दुं तुरीयस्वरबिन्दुसहितम्, अमलं निर्दोषं सकलं कलया अर्द्ध-

चन्द्रेण सहितं, मे मदीयं, मन्त्रं प्रणवद्वयसम्पुटितं ओं ह्रीं ओम् इत्याकारकं सारस्वतचिन्तामणिमन्त्रमित्यर्थः, तदुक्तं पारमेश्वरे,–'उद्धारस्तु परोक्षेण परोक्षप्रियताश्रुते । शिवान्त्यवह्निसंयुक्ता ब्रह्मद्वितयमन्तरा ॥ तुरीयस्वरशीतांशुरेखातारासमन्वितः । एष चिन्तामणिर्नाम मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥ जगन्मातुः सरस्वत्या रहस्यं परमं मतम् ॥' इति शिवशब्देन हकारः, वह्निशब्देन रकारः, ब्रह्मद्वितयमन्तरा प्रणवद्वितयमध्ये, तुरीयस्वरेण ईकारः, शीतांशुरेखया अर्द्धचन्द्रः, ताराशब्देन बिन्दुः इत्यर्थः । अन्तरित्यादि पूर्ववत् । यन्त्रपक्षे–भगवद्योनीव, अभिधेयं यस्य, यत् रूपं त्रिकोणात्मकम्, उभयाकारघटनात् त्रिकोणद्वयमेलनात्, सकलं सम्पूर्णं, षट्कोणमित्यर्थः, भवति, तदन्तः तस्य षट्कोणस्यान्तर्मध्ये, मन्त्रम् ओं ह्रीं ओम् इत्याकारकम् । अनन्तरोक्तं, नरपते इत्यादि पूर्ववत् । अत्र देवतामन्त्रयन्त्राणां त्रयाणामपि प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेषोऽलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ८५ ॥

अन्वय —नरपते, अर्द्धे अवामा (अर्द्धे) वामा, द्विधाभूतम्, उभयाकारघटनात् सकलं यत् भगवदभिधेयं रूपं भवति, सेन्दुम् अमलं निराकारं मन्त्रं हरमयं मे तत् अन्तः स्मर शश्वत् जप, स ते सिध्यतु ।

हिन्दी—हे राजा नल, आधे (दक्षिण) भाग में अवामा अर्थात् पुरुष और आधे (वाम) भाग में वामा अर्थात् स्त्री—इस प्रकार दो भागों में विभक्त किन्तु दोनों आकारों (पुरुष स्त्री भागों) के सम्मेलन से पूर्ण जो 'भगवत्' (शिव) नाम से वाच्य रूप होता है, चन्द्रसहित, निर्मल, (आकार होने पर भी वस्तुतः) आकार हीन मन्त्रात्मक हरमय (शिवमय) मेरे उस (रूप) का हृदय में स्मरण (चिन्तन ध्यान) करो और निरन्तर जाप करो । वह (मन्त्र) तुम्हें (नल को) सिद्ध हो । (अथवा 'नरप' सद् मते ते सिध्यतु' —राजन् वह तुझ सज्जन को सिद्ध हो । अथवा 'जपन्, रपन्' ते स सिध्यतु'—हे जप करने वाले, निरन्तर जप करने वाले तुझे वह सिद्ध हो ।)

टिप्पणी—उक्त अर्थ इस मान्यता के आधार पर है कि सरस्वती द्वारा निर्दिष्ट 'चिन्तामणि' मन्त्र 'शिव'–रूप है, शिव रूप का निरन्तर मन में ध्यान करता और जपता इस मन्त्र को सिद्ध कर देता है और मन्त्रमूर्ति, आधे में पुरुष और आधे में स्त्री रूप अर्द्धनारीश्वर किन्तु वस्तुतः निराकार, शिव प्रसन्न हो जाते हैं । इस 'हरमय' अमल अर्थात् कर्पूर गौर मन्त्र का

स्मरण जपन, अथवा 'स्मरहर' इस निर्मल मंत्र का स्मरण और जाप साक्षात् कर्म साधक होता है। नारायण ने इसकी विशेष व्याख्या की है। उसके अनुसार इस 'स्मरहर' अर्थात् शिव रूप मंत्र का सदा जप करने से ये 'स्मरहर' सिद्ध हो प्रकट हो जाते हैं। यह रूप 'अन्तर्मन्त्र' है अर्थात् शैव और शाक्त मंत्र इसके मध्य आ जाते हैं। यह 'भगवत्' अर्थात् भगवती भगवान् पार्वती-परमेश्वर पद-वाच्य है—अर्द्ध नारीश्वर, इसी से इसका अर्द्धांश 'अस्त्री' है और अर्द्धांश 'सस्त्री' है और यह द्विधाभूत है। 'अवामावाम' का भाग 'सम' भी होता है, अर्थात् समभागों में विभक्त; किन्तु मिल कर संपूर्ण एक रूप हो जाता है। 'अवामावामार्धे' का यह विग्रह भी किया गया है—'यद्रूपमर्धे वाममार्गेऽवामा अप्रतिकूला प्रसादावदातकान्तमुखी वामा स्त्री भवति, पार्वतीरूपं भवति।' जिसके अर्ध भाग में प्रसन्न मुखी वामा भगवती पार्वती होती हैं, वह रूप। वह 'हरमय' रूप जिसके दक्षिण भाग में महेश पुरुष रूप में स्थित हैं। इस अर्थ को शक्ति का उद्रेक सूचित होता है।

'भगवदभिधेयम्' से 'लक्ष्मीनारायणरूप' मंत्र भी माना गया है। जिस रूप के अर्ध भाग में शक्त्यात्मक विष्णु हैं और आधे में लक्ष्मी—'अर्धे अस्त्यासौ वामा वावामा शक्त्यात्मको विष्णुः, अर्धे मा वा लक्ष्मीश्च।' अवति दाति अवा रक्षिका मा लक्ष्मीः अर्थात् रक्षिका लक्ष्मी जिसके अर्ध भाग में है, ऐसा लक्ष्मीनारायणात्मक हरि-हर की अभिन्नता के कारण जो 'हरमय' भी है, ऐसे सचन्द्र (विष्णु का वाम नेत्र इन्दु है) निर्मल मंत्र का चिन्तन जप करो। अथवा 'अरूपा' अर्थात् विष्णु रूपधारिणी वामा शक्ति जिसके सव्य भाग में होती है, उस 'हरमय' दक्षिण भाग में शिव रूप—इस प्रकार 'हरि-हरात्मक' मंत्र का स्मरण-जाप करो। 'अवामावामार्धे' से 'प्रणव' सहित अर्थ भी लिया गया है—*'अर्धे पूर्वभागे अवा ओकारेण तथा अमा अनुस्वारेण मा पवर्गपञ्चमव्यञ्जनेन तथा उत्तरभागे अवा ओकारेण तथा अमा अनुस्वारेण व्यञ्जनमकारेण प्रणवेनोपलक्षितम्।'* पूर्वभागार्धे में 'ओ' और अनुस्वार अथवा 'म्' और उत्तरभाग में भी ऐसे ही। अर्थात् प्रणव 'ओं' या 'ओम्' रूप से उपलक्षित। यह 'ओम्' भी है और 'हरमय' अर्थात् हकारेफ-मय 'हर' भी। इस 'हर' को 'निराकार' कर दीजिए अर्थात् 'ह' और 'र'

को अकार-रहित। रह गया 'ह् र्'='ह्र', इसे 'सेन्दु' अर्थात् 'ई' और 'इन्दु' अर्थात् अर्धचन्द्र से युक्त कर दीजिए, अर्थात् 'ह्रीं'। यह 'ह्रीं' मंत्र 'सकलम्' अर्थात् सानुस्वार इन्द्र सहित होकर 'ॐ' भी 'ह्रीं' निष्पन्न होता है 'यह 'अमल' अर्थात् शास्त्रादिदोष-रहित भी है। इस प्रकार यह 'द्विधाभूत' हो 'उभयाकारघटन' से भी 'सकल' अर्थात् सम्पूर्ण बनता है। पहिले 'हर' या—'द्विधाभूत'। पुन 'ह्-र' को अकार रहित कर एकीभूत—'ह्र' को 'ई' भगवती से युक्तकर और 'सेन्दु' बना—'ह्रीं' बना दिया गया। यह भगवती भुवनेश्वरी का वाच्य है। कहा गया है कि यह सर्वार्थ साधक चिन्तामणि नामक सारस्वत स्वरूप मंत्र है। शिवाग्नि, वह्नि सयुक्त, प्रद्युम्नत्रय, जिसका तुरीयस्वर चन्द्ररेखा तारा समन्वित है। इसी का स्मरण जाप सिद्धि दाता है।

इस प्रकार इस मंत्र के शिव और शक्ति वाचक दो रूप होते हुए, जिन का स्मरण-जाप अपेक्षित है। शिव मंत्र 'ओं हरं ओम्'। यही 'निराकार' अकार रहित हो 'ई' और 'सेन्दु' हो ह्रीं'—'ओं ह्रीं ओम्' है—शक्ति मंत्र। यह आकार रहित मंत्र 'सकल' अर्थात् 'क' और 'ल' सहित और 'निराकार' (अकार रहित) 'सेन्दु' ('अर्द्धचंद्र' सहित) कामराज बीज 'क्लीं' का साधक भी है।

इसका यंत्र पक्ष भी है। यह 'भगवदनिमेय' अर्थात् 'भग' समान हृदयमान 'त्रिकोण' है, जिसके उभयाकारों अर्थात् दोनों त्रिकोणों को मिला कर सम्पूर्ण षट्कोण हो जाता है। उस षट्कोण के 'अन्तम्' अर्थात् मध्य में मंत्र 'ओं ह्रीं ओम्' लिखा जाता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ केवल प्रकृत श्लेषालंकार है, क्योंकि देवता ('हरमय', 'विष्णुमय' 'हरिहरात्मक आदि'), मंत्र और यंत्र तीनों ही प्रकृत हैं। तात्पर्य यही है कि देव का ध्यान करो, मंत्र का जाप करो और यंत्र द्वारा सिद्धि प्राप्त करो। शिखरिणी छंद ॥८५॥

सर्वाङ्गीणरसामृतस्तिमितया वाचा स वाचस्पतिः
स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकाराय मारायते।
यस्मै यः स्पृहयत्यनेन स तदेवाप्नोति किं भूयसा
येनायं हृदये कृतः सुकृतिना मन्मन्त्रचिन्तामणिः ॥ ८६ ॥

जीवातु— सम्प्रति श्लोकद्वयेन मन्त्रमाहात्म्यमाह, सर्वाङ्गीणेत्यादि। येन सुकृतिना पुण्याधिकेन, अयं पूर्वोक्तः, मन्मन्त्रः एव चिन्तामणिः चिन्तामात्रेण चिन्तितवस्तुदायकः मणिस्वरूप इत्यर्थः, हृदये कृतः अनुस्मृतः, सः अनुस्मरणकारी सर्वाङ्गीणेन सर्वाङ्गव्यापिना, 'तत् सर्वादेः—' इत्यादिना ख-प्रत्ययः, रसः शृङ्गारादिरेव, अमृतं तेन स्तिमितया भरितया, वाचा काव्यादिरूपवाग्वैदग्ध्येन, वाचस्पतिः बृहस्पतिः, तत्सदृशो भवतीत्यर्थः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति षष्ठ्या अलुक्, कस्कादित्वात् सत्वम्। 'षष्ठ्याः पतिपुत्र—' इत्यादिना विसर्जनीयस्य सत्वमिति स्वामी, तन्न, अस्य छन्दोविषयत्वादिति। एवं स स्वर्गे भवाः स्वर्गीयाः, 'वा नामधेयस्य—' इति वृद्धत्वाच्छप्रत्ययः। तासां मृगीदृशां स्त्रीणामपि, वशीकाराय वशीकरणाय, मारायते मारः कन्दर्प इव आचरति, न केवलं विदग्धवाक् स्त्रीवशीकरणसमर्थोऽपि चेत्यर्थः। यद्वा, भूयसा बहुतरोक्तेन, किम्? यः यस्मै स्पृहयति यत् कामयते 'स्पृहेरीप्सितः' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। स कामी, अनेन मन्त्रेण, तदेव, तत् सर्वमेव आप्नोति, यतोऽयं चिन्तामणिरिति भावः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—येन सुकृतिना अयं मन्मन्त्रचिन्तामणिः—हृदये कृतः सः सर्वाङ्गीणरसामृतस्तिमितया वाचा वाचस्पतिः (भवति), सः स्वर्गीयमृगीदृशाम् अपि वशीकाराय मारायते; भूयसा किम्—यः यस्मै स्पृहयतिः सः अनेन तत् एव आप्नोति।

हिन्दी—जिस पुण्य शाली (क्षीणपाप) द्वारा यह मेरा (सरस्वती का) 'चिन्तामणि' नामक मन्त्र (मन्त्ररूप-चिन्तामणि) चित्त में (वक्ष पर) धारण किया जाता है, वह (मन्त्रधारक) समग्र अंगों में व्याप्त शृंगारादि नवरस-रूप अमृत से आर्द्र (रससिक्त) वाणी (सरस, मधुर वचन, काव्यादि) से बृहस्पति (वागीश) हो जाता है, वह स्वर्ग की मृगनयनाओं (दिव्यांगनाओं) को भी वश करने में कामदेव के सदृश बन जाता है; अधिक कहना क्या—जो जिसकी आकांक्षा करता है, वह इस (मन्त्र) से वह (वस्तु) ही प्राप्त कर लेता है।

टिप्पणी—चिन्तामणिमन्त्र की सिद्धि से लाभ दो श्लोकों में (८६–८७) में भगवती ने बताये। यह चिन्तामणि मन्त्र विष्णु-वक्षस्थित मणि चिन्तामणि

के तुल्य सब मनोरथों का पूरक है। व्यक्ति जो भी चाहता है, इस सिद्ध मन्त्र द्वारा पा लेता है। न केवल वह सरसवाणी का स्वामी बृहस्पति ही हो जाता है, ऐसा कमनीय भी हो जाता है कि दिव्याङ्गनाएँ भी उसके वश में हो जाती हैं—रम्भादि अप्सरायें भी, मानुषी की तो बात क्या ? भाव यह कि पुरश्चरणकर्त्ता पुरुष चिन्तामणि मन्त्र के पाठमात्र से इच्छित का लाभ करने में समर्थ हो जाता है। शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥ ८६ ॥

पुष्पैरभ्यर्च्य गन्धादिभिरपि सुभगैश्चारु हंसेन मां चे-
न्निर्यान्तीं मन्त्रमूर्त्तिं जपति मयि मतिं न्यस्य मय्येव भक्तः ।
सम्प्राप्ते वत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते
सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान् कौतुकं दृश्यमस्य ॥ ८७ ॥

जीवातु—पुष्पैरिति। किञ्च, मयि भक्तः, भक्तियुक्तः सन्, मय्येव मतिं न्यस्य मनो निधाय, हंसेन वाहनभूतेन, चारु सम्यक् निर्यान्तीं सञ्चरन्तीं मन्त्रमूर्त्तिं मन्त्ररूपां, मां सुभगैः मनोज्ञैः, पुष्पैः तथा गन्धादिभिरपि चन्दनादिसुगन्धिद्रव्यैः, आदिशब्दात् धूपाद्युपचारैश्च, अभ्यर्च्य जपति चेत् तर्हि वत्सरान्ते सम्प्राप्ते सति असौ जपिता, यस्य कस्य अनक्षरस्यापि, शिरसि करं धत्ते निधत्ते, स अनक्षरः अपि, अकाण्डे अकस्मात् रुचिरान् श्लोकान् रचयति, अस्य मन्त्रस्य, एतत् कौतुकम् अद्भुतं, दृश्यं द्रष्टव्यम् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—मयि भक्तः मयि एव मतिं न्यस्य चारु हंसेन निर्यान्तीं मन्त्रमूर्त्तिं मां सुभगैः पुष्पैः गन्धादिभिः अपि अभ्यर्च्य चेत् जपति, वत्सरान्ते सम्प्राप्ते असौ यस्य कस्य अपि शिरसि करं धत्ते, सः अपि अकाण्डे रुचिरान् श्लोकान् रचयति, अस्य कौतुकं दृश्यम्।

हिन्दी—(साधक व्यक्ति) मुझ (सरस्वती) में भक्तियुक्त हो, मुझ में ही बुद्धि को स्थिर कर सुन्दर हंस पर आसीन यात्रा करती (हंसवाहिनी), मन्त्रशरीरा (मन्त्रस्यान्तरदेहा अथवा यन्त्रमध्यस्थितवर्णाकारा) मेरी सुन्दर फूलों और चन्दनादि गन्ध सामग्री से अर्चना करके यदि जप करता है तो एक वर्ष के पश्चात् वह (साधक व्यक्ति) जिस किसी (निरक्षर मूर्ख) के सिर पर हाथ धर देता है, वह सहसा रस भाव-गुणालङ्कार युक्त (दोषहीन) श्लोकों की रचना करने लगता है। इस (मन्त्र) का चमत्कार दर्शनीय है।

टिप्पणी—आशय यह कि चिन्तामणि मन्त्र का—भगवती हंसवाहिनी का स्थिर हो ध्यान करते हुए—वर्ष भर जप करने से साधक स्वयं तो सर्वथा समर्थ हो ही जाता है, मन्त्र का दर्शनीय चमत्कार ऐसा है कि सिद्ध साधक यदि जिस किसी मूर्खातिमूर्ख व्यक्ति के भी सिर पर हाथ रख देता है, वह रससिद्ध कवि की भाँति सर्वगुण सम्पन्न, निर्दोष, सरस काव्य का रचयिता ही जाता है। नल को भी इस मन्त्र को सिद्ध कर इसका कौतुक देखना चाहिए। स्रग्धरा छन्द ॥ ८७ ॥

गुणानामास्थानीं नृपतिलक ! नारीतिविदितां
रसस्फीतामन्तस्तव च तव वृत्ते च कवितुः ।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठं रचयितुं
परीरम्भक्रीडाचरणशरणामन्वहमहम् ॥ ८८ ॥

जीवातु—अथ श्लोकद्वयेन नलं प्रत्युपयोगविशेषमाह, गुणानामित्यादि । नृपतिलक ! हे नृपश्रेष्ठ ! गुणानां रूपलावण्यादीनां, श्लेषप्रसादादीनाञ्च आस्थानीम् आधारभूतानां, नारी उत्तमस्त्री, इति विदितां विश्रुताम्, अन्यत्र—रीतिषु गौडीपाञ्चाल्यादिषु, विदिता प्रसिद्धा, सा न भवतीति अरीतिविदिता, नञ्समासः । साऽपि न भवतीति तां नारीतिविदितां रीतिषु विदितामित्यर्थः, नञर्थस्य न–शब्दस्य सुप्सुपेति समासः । अन्तः मनसि, श्लोकमध्ये च, रसस्फीतां रसेन नलविषयकानुरागेण, स्फीतां परिपूर्णाम्, अन्यत्र—शृङ्गारादिरसाढ्यां, 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः । वैदर्भीं दमयन्तीं, वैदर्भरीतिञ्च, यथासङ्ख्यं तव च नलस्य च, तव वृत्ते च चरित्रविषये च, कवितुः वर्णयितुः, श्रीहर्षादिकवेरित्यर्थः, 'कवृ वर्णने' इति धातोस्तृच् । अधिकण्ठं कण्ठे, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । परीरम्भक्रीडाचरणम् आलिङ्गनविनोदाचरणमेव, शरणं प्राणत्राणं यस्याः तां तदेकजीविताम्, अन्वहम्, अनुदिनम् । यथार्थेऽव्ययीभावः, 'नपुंसकादन्यतरस्याम्' इति समासान्तष्टच्, 'अह्नष्टखोरेव' इति टिलोपः । अधिकम् अत्यर्थं, रचयितुं कर्तुम्, अहं भवित्री भविष्यामीत्यर्थः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—नृपतिलक, अहं गुणानाम् आस्थानीं नारी इति विदितां (नारीति विदिताम्) अन्तः रसस्फीतां वैदर्भीं तव च तव वृत्ते च कवितुः अधिकण्ठं परीरम्भक्रीडाचरणशरणाम् अन्वहम् अधिकं रचयितुं भविष्यामि ।

हिन्दी—राजाओं में तिलक स्वरूप (श्रेष्ठराजन्), मैं (सरस्वती) रूप-लावण्यादि गुणों की आधार (जगत् में) 'नारी' अर्थात् उत्तम स्त्री रूप से विख्यात, मन में (नल विषयक) अनुराग-रस से पूर्ण विदर्भकुमारी (दमयन्ती) को तुम्हारे (नल के) कण्ठमध्य आलिंगनादि विलास क्रीडा के निमित्त तुम्हारे ही वश, और श्लेषमाधुर्यादि गुणों की आधारभूता, पाञ्चाली आदि रीतियों में प्रसिद्ध, रचना मध्य में नव शृङ्गारादि रसों से परिपूर्ण वैदर्भी रीति को तुम्हारे चरित (नैषधीय चरित) के कवि के कण्ठ मध्य श्लेषालंकार और वक्रोक्ति-विलास समग्र ज्ञान से पूर्ण प्रतिदिन (सदा) अधिकाधिक सरचित करती रहूँगी।

टिप्पणी—सरस्वती का यह आशीर्वचन नल के प्रति दमयन्ती की अनुकूलता से संबद्ध तो है ही, नल-चरित काव्य 'नैषधीयचरित' के कवि श्रीहर्ष के लिए भी है। नल को आशीर्वाद है कि संसार की श्रेष्ठ नारी-सम्पूर्ण नारी, रूपसौन्दर्यादि गुणों से ओतप्रोत, पतिव्रता, अनुरागमयी उनके साथ निरन्तर रसमयी प्रणयक्रीडाओं में अनुरक्त रहे और कवि श्रीहर्ष को आशीर्वचन है कि उसकी काव्य-रचना सदा श्लेषमाधुर्यादि गुणों से पूर्ण रहे, नवरसमयी वैदर्भीरीति से समन्वित हो। रीतियाँ तीन प्रसिद्ध हैं—गौडी, पाञ्चाली और वैदर्भी। स्वल्पसमासा अथवा असमासा होती है। कवि को वैदर्भी रीति परक काव्य अभीप्सित है। सामान्यतः उत्तरवर्ती आचार्यों ने ओज, प्रसाद, माधुर्य - ये तीन गुण माने हैं, पूर्वालंकारिकों के अनुसार ये दस हैं—'श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता। अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्तिसमाधय.॥' (भरत, नाट्यशास्त्र १६।९६)। नारायण ने प्रथमचरण के 'नारीतिविदिताम्' का छेद 'न. रीतिविदिताम्' करके 'हे राजश्रेष्ठ पुरुष (नल), पातिव्रत्यादि रीति से विख्यात दमयन्ती और पाचान्यादि रीतियों में प्रसिद्ध वैदर्भी रीति' भी किया है। शिखरिणी छन्द ॥ ८८ ॥

> भवद्वृत्तस्तोतुर्मदुपहितकण्ठस्य कवितु-
> र्मुखात् पुण्यैः श्लोकैस्त्वयि घनमुदेयं जनमुदे।
> ततः पुण्यश्लोकः क्षितिभुवनलोकस्य भविता
> भवानाख्यातः सन् कलिकलुषहारी हरिरिव ॥ ८९ ॥

जीवातु—भवदिति । किञ्च, हे नल ! मया उपहितकण्ठस्य, अधिष्ठित-कण्ठनालस्य, भवतः वृत्तस्य चरित्रस्य, स्तोतुः स्तावकस्य, कवितुः कवेः, मुखात् त्वयि विषये, पुण्यैः पवित्रैः चारुभिर्वा, 'पुण्यन्तु चार्वपि, इत्यमरः । श्लोकैः पद्यैः, जनमुदे लोकहर्षाय, घनं निरन्तरम्, उदेयम्; उदेतव्यम्, उदी-यतामित्यर्थः । एतेः 'अचो यत्' इति यत्—प्रत्ययः । ततः को मे लाभः ? तत्राह, तत इति । ततः पुण्यश्लोकोदयात्, भवान् पुण्यश्लोकः पुण्यकीर्त्तिः, इति आख्यातः कीर्त्तितः सन्, हरिः जनार्दनः इव, क्षितिभुवनलोकस्य भूलोकस्य, कलिकलुषहारी कलिकालकल्मषनाशनः, भविता भविष्यति, भवतेर्लुटि 'धेपे प्रथमः' । अत्राहुः,—'पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः । पुण्य-श्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः ॥' 'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च । ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम् ॥' इति ॥ ८९ ॥

अन्वयः—मदुपहितकण्ठस्य भवद्वृत्तस्तोतुः कवितुः मुखात् त्वयि पुण्यैः श्लोकैः घनं जनमुदे उदेयम्, ततः भवान् पुण्यश्लोकः आख्यातः सन् हरिः इव क्षितिभुवनलोकस्य कलिकलुषहारी भविता ।

हिन्दी—मैं (सरस्वती वाग्देवता) जिसके कण्ठ में अधिष्ठित हूँ, ऐसे आप (नल) के चरित्र के स्तोता (वर्णन कर्ता) कवि के मुख से तुमसे सम्बन्ध रखनेवाले पुण्य (पवित्र, सरस, चारु) श्लोकों (रचनाओं) को निरन्तर लोकजनों के आनन्द के निमित्त उद्भूत होना चाहिए, तब (पुण्य श्लोकोद्भव के पश्चात्) आप (नल) 'पुण्यश्लोक' (पुण्यकीर्ति) कहे जाकर विष्णु के समान भूलोक के कलि-कल्मष के हरण कर्त्ता होओगे।

टिप्पणी—यह भगवती का अन्य वर है, जिसमें नल को 'पुण्यश्लोक' कहे जाने का और कवि श्रीहर्ष को चारु रचना के निरन्तर सर्जक रहने का अशीर्वचन है । राजानल, युधिष्ठिर और जनार्दन को 'पुण्य श्लोक' तथा वैदेही को पुण्यश्लोका कहा जाता है । कर्कोटक नाग, दमयन्ती-नल और राजर्षि ऋतुपर्ण का चरित-कीर्तन कलिकल्मष को नष्ट करता है—ऐसा माना जाता है । शिखरिणी छन्द ॥ ८९ ॥

देवी च ते च जगदुर्जगदुत्तमाङ्गरत्नाय तें कथय कं वितराम कामम् ? ।
किञ्चित्त्वया न हि पतिव्रतया दुरापं भस्मास्तु यस्तव बत व्रतलोपमिच्छुः ॥

जीवातु—अथ ते सर्वे दमयन्ती प्रति आहु, देवीति । देवी सरस्वती च, ते देवाश्च, जगदु, जगदुत्तमाङ्गरत्नाय त्रैलोक्यशिरोमणिभूतायै, 'उत्तमाङ्ग शिर शीर्षम्' इत्यमर । ते तुभ्य, क काम्यते इति कामम् ईप्सित, कर्मणि घञ् । वितराम ? प्रयच्छाम ? सम्प्रश्ने लोट् । कथय । पत्यौ व्रत नियम, अस्खलित्वरूपमित्यर्थ, यस्या, तादृशया त्वया किञ्चिद् किमपि, दुराप दुष्प्राप, न हि नैव, अस्तीति शेष, पातिव्रत्यतेजसोऽप्रतिहतशक्तित्वादिति भाव, तथापि य पापी, तव व्रत पत्यौ अस्खलित्वरूप, तस्य लोप नाशम्, इच्छु अभिलाषुक, 'विन्दुरिच्छु' इत्युप्रत्ययान्तो निपात, 'न लोका—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया । स भस्मास्तु भस्मीभवतु, व्रतति शेष, तथा चास्मद्वरप्रसादादेव तत्प्रतीकारात् तव तत्रो भय न भविष्यतीति भाव । एतच्चोत्तरत्र वनमध्ये अजगरग्रस्ता दमयन्तीमजगरादुन्मोच्य पुनस्ता कामयमानस्य पापिष्ठस्य व्याधस्य वधे फलिष्यतीति भारती कथा अत्र अनुसन्धेया ॥ ९० ॥

अन्वय.—देवी च ते च जगदु —कथय, जगदुत्तमाङ्गरत्नाय ते क काम वितराम ? हि पतिव्रतया त्वया किञ्चिद् दुराप न, व्रत, य व्रतलोपमिच्छु: भस्म अस्तु ।

हिन्दी—वाग्देवी (सरस्वती) और वे (इन्द्रादि चारों) देव (एक साथ) बोले—(हे दमयन्ती,) ससार की उत्तम रत्न (नारी श्रेष्ठ) तुझे क्या अभीप्सित दें, क्योंकि पतिव्रता तुझे कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं है ? (तथापि) जो तेरे पतिव्रत भग की इच्छा करेगा (वह) भस्म हो जायेगा ।

टिप्पणी—प्रसन्न सरस्वती और इन्द्रादि चारो देवो ने यह मान कर कि, नारी रत्न पतिव्रता दमयन्ती को ससार की समस्त वस्तुएँ सहज लभ्य हैं, क्योंकि पतिव्रता सब कुछ इच्छा मात्र से पा सकती है, उसे यह वर दिया कि उसका पातिव्रत्य अखण्ड, अजय रहे और जो पापी उसके पातिव्रत्य को खडित करने की इच्छा भी करे, वह भस्मीभूत हो । नल दमयन्ती-कथा के उत्तरार्द्ध यह पापी व्याध के वध मे चरितार्थ हुआ । भावी का सकेतक नाटकीय पताकास्थानक । वसततिलका छन्द ॥ ९० ॥

कूटकायमपहाय नो वपुर्बिभ्रतस्त्वमसि वीक्ष्य विस्मिता ।
आप्तुमाङ्गनिमतो मनीषिता विद्यया हृदि तवाप्युदीयताम् ॥ ९१ ॥

जीवातु—अथ वरान्तरञ्च, कूटेति । कूटकायं कपटदेहं, नलाकारमिति यावत्, अपहाय वपुः निजविग्रहं, बिभ्रतः बिभ्राणान्, नः अस्मान्, वीक्ष्य त्वं विस्मिता विस्मयाविष्टा, असि, तेन, स्वेच्छया रूपान्तरपरिग्रह-परिहार-कामा त्वमिति प्रतिभासीति भावः; अतः हेतोः, मनीषिताम् अभिलषिताम्, आकृतिं शरीरम्, आप्तुं तवापि हृदि हृदये, विद्यया कामरूपसम्पादकविद्यया, उदीयताम् उद्भूयताम्, उत्पूर्वादिणो भावे लोट् ॥ ९१ ॥

अन्वयः—कूटकायम् अपहाय वपुः बिभ्रतः नः वीक्ष्य त्वं विस्मिता असि, ततः मनीषिताम् आकृतिम् आप्तुं तव अपि हृदि विद्यया उदीयताम् ।

हिन्दी—कपट-देह (मिथ्या नल रूप) को छोड़ कर शरीर (देव-शरीर) धारण करते हम (देवों) को देख कर तू (दमयन्ती) चकित है, अतः अभीप्सित आकार प्राप्त करने के निमित्त तेरे भी हृदय में (देहपरिवर्तिनी) विद्या उदित हो ।

टिप्पणी—देवों ने दमयन्ती को अन्य वर दिया कि उसे भी इच्छानुसार रूप-परिवर्तन की विद्या आ जाये । पूर्व श्लोक (९०) में कहा गया था कि तुम पतिव्रता को कुछ दुर्लभ नहीं है—'किञ्चित्त्वया न हि पतिव्रतया दुरापम्'; किन्तु देवों का छद्मनल वेष छोड़ स्वरूप में आते देख दमयन्ती को विस्मय हुआ था; इससे लगता है कि इस आकार-परिवर्तन करने वाली माया में दमयन्ती की कुछ उत्सुकता और रुचि है । फलतः देवों ने इस मंत्र माया-ज्ञान कर वर उसे दे दिया । स्वागता छन्द ।। ९१ ।।

इत्थं वितीर्य वरमम्बरमाश्रयत्सु तेषु क्षणादुदलसद्विपुलः प्रणादः ।
उत्तिष्ठतां परिजनालपनैर्नृपाणां स्वर्वासिवृन्दहतदुन्दुभिनादसान्द्रः ॥

जीवातु—इत्थमिति । तेषु देवेषु, इत्थं वरं वितीर्य दत्त्वा, अम्बरम् आकाशम्, आश्रयत्सु सत्सु, उत्तिष्ठताम् आसनेभ्यः उच्चलतां, नृपाणां प्रणादः हर्षोत्थध्वनिः 'प्रणादस्तु शब्दः स्यादनुरागजः' इत्यमरः । परिजनानाम् आलपनैः आभाषणैः, विपुलः सन्, तथा स्वर्वासिनां दिव्यजनानां, वृन्देन हतानां ताडितानां, दुन्दुभीनां नादेन सान्द्रः निरन्तरः सन्, निरवच्छिन्न-भावेनेत्यर्थः, क्षणात् उदलसत् उत्थितः ॥ ९२ ॥

अन्वय.—इत्थ वर वितीर्य तेषु अम्बरम् आश्रयत्सु क्षणात् उत्तिष्ठता नृपाणा परिजनालपनै स्वर्वासिवृन्दहतदुन्दुभिनादसान्द्र. विपुल प्रमाद उदल्लसत्।

हिन्दी—इस प्रकार (श्लोक सं० ७०–९१) वर देकर उन (देवो) के गगन-मडल का आश्रय लेने पर उसी क्षण उठते राजाओ के सेवकों की बातचीत और स्वर्ग के देव समूह द्वारा बजायी दुन्दुभियो के घोष से निविडतम विपुल हर्षनाद उठ खडा हुआ।

टिप्पणी—वाग्देवी और इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण वर देकर जैसे ही स्वर्ग-गमनोद्यत हो चले, वैसे ही स्वयवर में आये सब राजा भी अपने-अपने शिविरो में जाने के लिये उठ खडे हुए। उनके सवार, उनके परिजनो की बातचीत और नल दमयन्ती का स्वयवर देखने आये गगनस्थित देवो द्वारा ताडित दुन्दुभि आदि वाद्यो का महान् कोलाहल उस क्षण होने लगा। वसततिलका छद ॥ ९२ ॥

न दोष विद्वेषादपि निरवकाश गुणमये
वरेण प्राप्तास्ते न समरममारम्भसदृशम्।
जगु पुण्यश्लोक प्रति नृपतय किन्तु विदधु
स्वनिश्वासैर्भैमीहृदयमुदयन्निभरदयम् ॥ ९३ ॥

जीवातु—नति। प्राप्ता स्वयवरागता, ते नृपतय गुणमये गुणैकनिम्ये, नले इति शेष, निरवकाशमवर्तमान, दोष विद्वेषात् अपि दमयन्तीलाभजनितद्वेषे सत्यपीत्यर्थ, न जगु नोचु, न उद्घाटयामासुरित्यर्थ, 'गै शब्दे' इति धातोर्लिट्। तादृशगुणसम्पत्ति अदोषता चास्येति भाव। किम्, वरेण शचीदत्तेन हेतुना, पुण्यश्लोक नल प्रति, समरममारम्भस्य युद्धोद्योगस्य, सदृशम् अनुकूलञ्च किञ्चित्, न, जगुरिति क्रियानुषङ्ग 'माशिष्ययागात् किल तम्र शव्या स्वयवरक्षोभकृतामभाव' (रघुवंशे ७।३) इति भाव, किन्तु स्वनिश्वासै दुःखोत्थै स्वेषा निश्वासै, भैमीहृदय दमयन्तीचेत, उदयन्ती जमयन्ती निर्भरा अतिमात्रा, दया यस्य तत् तथाभूत, तद्दु खदु खित, विदधु चक्रु, परदुःखासहिष्णुर्दमयन्ती स्वप्रत्याख्यानदु खितान् राज्ञो दृष्ट्वा तद्दु-खप्रशमनेच्छुरासीदित्यर्थ ॥ ९३ ॥

अन्वय—प्राप्ता ये नृपतयः गुणमये विद्वेषात् अपि निरवकाश दोष न

जगुः, वरेण हेतुना पुण्यश्लोकं प्रति समरसमारम्भसदृश (च न जगुः), किन्तु स्वनिश्वासैः भैमीहृदयम् उदयश्चिर्भरदयं विदधुः ।

हिन्दी—(स्वयंवर में) आये उन राजाओं ने गुणों के आगार (नल) के विषय में—विद्वेषपूर्ण होने पर भी—अविद्यमान दोष को न कहा और न प्राप्त वर के कारण पुण्यश्लोक (नल) के प्रति कोई युद्धारम्भ-जैसे (परुष वचन) न कहे । इसके विपरीत क्षोभ के कारण उत्पन्न अपने निश्वासों द्वारा भीमपुत्री के हृदय को (अथवा उसके हृदयस्थित नल को) उत्पन्न प्रचुर दया से परिपूर्ण कर दिया ।

टिप्पणी—अन्य स्वयंवर में आये राजाओं को दमयन्ती के न प्राप्त होने से दुःख क्षोभ हुआ और निराश वे नल के प्रति ईर्ष्या-द्वेष से ग्रस्त भी हो गये, किन्तु उन्होंने न तो नल के किसी दोष को कहा (क्योंकि उसमें कोई था ही नहीं) और न कोई लड़ाई-झगड़ा या युद्ध को प्रेरणा देने वाली कड़वी बात—दुर्वचन ही कही । वैरी भी विद्यमान दोष ही कहते हैं, अविद्यमान को नहीं । नल तो पुण्यश्लोक था, उसमें दोष कहाँ ? युद्ध की बात न कहने का कारण नल को प्राप्त यम का वर था कि शत्रुजेता नल को सांगोपांग अस्त्र-शस्त्र विद्या प्राप्त होगी (१४।७०) । शत्रुजयी महावीर से युद्ध का साहस ही कैसे करते ? हुआ यह कि उनको क्षुब्ध, उदास और दुःख से भरे और लम्बी-लम्बी साँसें लेते देख नल-दमयन्ती को उन पर बड़ी दया आयी । शिखरिणी छंद ॥ ९३ ॥

भूभृद्भिर्लम्भिताऽसौ करुणरसनदीमूर्त्तिमद्देवतात्वं
तातेनाभ्यर्थ्य योग्याः सपदि निजसखीर्दापयामास तेभ्यः ।
वैदर्भ्यास्तेऽप्यलाभात् कृतगमनमनःप्राणवाञ्छां निजघ्नुः
सख्याः संशिक्ष्य विद्यां सततधृतवयस्यानुकाराभिराभिः ॥ ९४ ॥

जीवातु—भूभृद्भिरिति । भूभृद्भिः भूपालैः, करुणरसनद्याः करुणाख्यरसप्रवाहस्य, मूर्तिमत् शरीरि, देवतात्वम् अधिदेवतात्वं, लम्भिता प्रापिता, स्वस्वदुःखेन दुःखीकृता इत्यर्थः, असौ दमयन्ती, सपदि तत्क्षणमेव, अभ्यर्थ्य सम्प्रार्थ्य, पितरमिति शेषः, यद्वा—तातेन राजा इति शेषः, तातेन पित्रा भीमेन, योग्याः कुलशीलसौन्दर्यादिना राजार्हाः; निजसखीः तेभ्यः भूभृद्भ्यः;

मम्प्रदाने चतुर्थी। दापयामास, ते भूभृतोऽपि, वैदर्भ्या अलाभात् हेतो, श्रुत गमन निष्क्रमणेच्छा इत्यर्थ, यं तादृशाना मन प्राणाना वाञ्छा निष्क्रमणेच्छारूपकर्माणि, अथवा—श्रुत गमने देहपरित्यागे, मनो येस्तादृशाना प्राणाना वाञ्छा निष्क्रमणेच्छामित्यर्थ, सख्या, 'आख्यातोपयोगे' इति अपादानत्वात् पञ्चमी विद्या कामरूपधारणविद्याम् इन्द्राद्युक्ता, सशिक्ष्य अभ्यस्य, सतत नित्य, धृत वयस्यानुकार भैमीसादृश्य याभि तादृशीभि, आभि सखीभि साधनै, निजह्नु निरोधयामासु, राजानोऽपि दमयन्त्यलाभेन निष्क्रमणेच्छून् मन-प्राणान् भैमीसखीलाभेन निष्क्रमणात् निवर्तयामासु, अन्यथा सद्यो म्रियेरन्निति अहो दमयन्त्या दयालुत्व विवेचकत्वञ्चेति भाव ॥ ९४ ॥

अन्वय—भूभृद्भि करुणासनदीमूर्तिमद्देवतात्व रम्भिता असौ सपदि अभ्यर्थ्य तातेन योग्या निजसखी तेभ्यः दापयामास, ते अपि वैदर्भ्या अलाभात् कृतगमनमन प्राणवाञ्छा सख्या विद्या सशिक्ष्य सततधृतवयस्यानुकाराभि आभि निजघ्नु ।

हिन्दी—जैसे भूभृत् अर्थात् पर्वत से निकली कोई नदी हो ऐसी भूभृत् अर्थात् भूमिपालो द्वारा करुण-रस-नदी की मूर्तिमती देवता के भाव मे प्राप्त करा दी गयी (राजाओ के दुख से अत्यत दया से परिपूर्ण) इस (दमयन्ती) ने तुरत अपने पिता (भीम) की अभ्यर्थना करके पिता द्वारा (रूप गुण-कुल से) योग्य अपनी सखियाँ उन (राजाओ) को दिलवा दी। उन (राजाओं) ने भी विदर्भकुमारी के प्राप्त न होन से उत्पन्न मन और प्राणो के निकल आने की इच्छा को सखी (दमयती) की (रूप-परिवर्तन की) विद्या को भली भाँति सीख कर निरतर सखी (दमयन्ती) के रूप का अनुकरण कर लेती उन (सखिया) के द्वारा दूर कर दिया।

टिप्पणी—अत्यत दयालु दमयन्ती अपने पिता से विनय-प्रार्थना करके उन निराश राजाओ का अपनी प्रत्यक दृष्टि से योग्य सखियो से विवाह करा दिया, अन्यथा वे क्षुब्ध हो प्राण दे देते। उन सखियो ने आकार परिवर्तन करलेने की विद्या दमयती से सीख ली और उस विद्या से वे दमयती का रूप बना कर उन राजाओं को सतुष्ट करने लगी। इस प्रकार दयाशीला दमयती ने उन राजाओ की प्राण रक्षा की। स्रग्धरा छद ॥ ९४ ॥

अहह सह मघोना श्रीप्रतिष्ठासमाने निलयमभि नलेऽथ स्वमप्रतिष्ठासमाने ।
अपतदमरभर्तुर्मूर्तिबद्धेव कीर्त्तिर्गलदलिमधुबाष्पा पुष्पवृष्टिर्नभस्तः ॥ ९५ ॥

जीवातु—अहहेति । अथेन्द्रप्रस्थानानन्तरं, मघोना इन्द्रेण सह, श्रीप्रतिष्ठया ऐश्वर्यगौरवेण; समाने सदृशे, नले स्वं निलयम् अभि शिविरं प्रति, 'अभिरभागे' इति लक्षणार्थे कर्मप्रवचनीयत्वात् तद्योगे द्वितीया प्रतिष्ठासमाने प्रस्थातुम् इच्छति सति, प्रपूर्वात्तिष्ठतेः सन्नन्तात्लटः शानजादेशः 'समवप्रविभ्यः—' इत्यात्मनेपदत्वात् 'पूर्ववत् सनः' इत्यात्मनेपदम् गलत् स्रवत्, अलियुक्तं मधु मकरन्दः एव, बाष्पः अश्रु यस्याः सा तादृशी साञ्जनबाष्पयुक्ता इत्यर्थः, मूर्त्तिबद्धा बद्धमूर्त्तिः, मूर्त्तिमतीत्यर्थः, 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' इति निष्ठायाः परनिपातः । अमरभर्तुः इन्द्रस्य, कीर्त्तिः इव पुष्पवृष्टिः नभस्तः नभसः, पञ्चम्यास्तसिल् । अपतत् पतिता, अहह इत्यद्भुते, कीर्त्तिः स्वामिदुर्व्यसनदुःखात् भ्रश्यतीवेत्युत्प्रेक्षा । पुष्पाणां धवलतया कीर्त्तित्वं दमयन्त्या चावृतत्वेन इन्द्रस्य कीर्त्तिः सुतरां भ्रष्टा, नारीणां बाष्पञ्च सकज्जलं भवतीति भावः ॥

अन्वयः—अहह, अथ मघोना सह श्रीप्रतिष्ठासमाने नले स्वं निलयम् अभि प्रतिष्ठासमाने गलदलिमधुबाष्पा मूर्तिबद्धा अमरभर्तुः कीर्त्तिः इव पुष्पवृष्टिः नभस्तः अपतत् ।

हिन्दी—आश्चर्य ! इसके पश्चात्, इन्द्र के साथ ऐश्वर्य-गौरव में सदृश नल के अपने आवास की ओर जाने की इच्छा करते समय टपकते भ्रमर युत मकरंद रूप आँसुओं से भरी मूर्तिमती देवराज इन्द्र की कीर्त्ति के समान पुष्पवर्षा आकाश से गिरी ।

टिप्पणी—देव-प्रस्थानांतर दमयंती वर नल के स्वावास की ओर जाते समय आकाश से जो पुष्पवर्षा गिरी, वह मानो स्वर्ग से पतित इन्द्र की कीर्त्ति थी । पुष्पवर्षा को इन्द्र की पतित कीर्त्ति इस कारण कहा गया कि नल की तुलना में वे दमयंती—अलाभ के कारण मंदकीर्त्ति हुए थे । कीर्त्ति को यहाँ एक पतित, कजरारी आँखों में आँसू भरे नारी के रूप में चित्रित किया गया है । स्वपतन पर रोती मूर्तिमती नारी ही है कीर्त्ति । भ्रमर रूप कज्जल है, टपकता मकरन्द अश्रु है । श्वेतपुष्पमूर्त्ति, धवल कीर्त्ति स्वर्गभ्रष्ट होने पर रो रही है । स्वामी के दुर्व्यसन से कीर्त्ति भ्रष्ट हुई । मल्लिनाथ के और नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा । मालिनी छंद ॥ ९५ ॥

स्वस्यामरैर्नृपतिमशममुं त्यजद्भि-
रंशच्छिदाकदनमेव तदाऽध्यगामि।
उत्का स्म पश्यति निवृत्य निवृत्य यान्ती
वाग्देवताऽपि निजविभ्रमधाम भैमीम् ॥ ९६ ॥

जीवातु—स्वस्येति। स्वस्य आत्मनः, इन्द्रादेरित्यर्थः, अंशम् अंशसम्भवम्, 'अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः' इति स्मरणात्; अमुं नृपतिं नलं, त्यजद्भिः अमरैः इन्द्रादिभिः, अंशच्छिदा अवयवच्छेदः, 'भिदुिदादिभ्योऽङ्' तया यत् कदनं दुःखं तदेव, तदा अध्यगामि अधिगतम्; स्वांशोद्भूतजनवियोगः स्वावयवच्छेदवत् भवतीति भावः। किञ्च, निजम् आत्मीयं, विभ्रमधाम विहारभवनं, यान्ती वाग्देवता सरस्वती अपि उत्का उन्मनाः, उत्सुका सतीत्यर्थः, 'उत्क उन्मनाः' इति निपातः। निवृत्य निवृत्य पुनः पुनः परावृत्य, भैमीं पश्यति स्म, 'सन्धत्ते भृशमरतिं सुहृद्वियोगः' इति भावः ॥ ९६ ॥

अन्वय.—तदा स्वस्य अंशम् अमुं त्यजद्भिः अमरैः अंशच्छिदाकदनम् एव अध्यगामि, (निजविभ्रमधाम) यान्ती वाग्देवता अपि उत्का निवृत्य निवृत्य निजविभ्रमधाम भैमीं पश्यति स्म।

हिन्दी—तब (स्वर्ग जाते समय) अपने (लोकपालों के) अंश इस (राजा नल) को त्यागते देवों ने अपने अंग कटने पर जैसा कष्ट होता है, वैसा दुःख पाया। (अपने विहार-भवन स्वर्ग) जाती वाणी की देवता (सरस्वती) भी उन्मन हुई पीछे फिर-फिर कर दृष्टि डालतीं (पुनः पुनः गरदन तिरछी कर) अपनी (सरस्वती की) वचन-चातुरी की स्थानभूता भीमसुता को देख रही थीं।

टिप्पणी—राजा होने के कारण नल लोकपालांश था ही, इसलिए उससे बिछुड़ कर जाते इन्द्राग्नियमवरुण लोकपालों को अपने अंग के दूर होने पर जैसी व्यथा होती है, वह हुई। स्वाभाविक है। भगवती सरस्वती को भी दमयन्ती पर उसके शील के कारण अत्यन्त स्नेह हो चला था, उन्होंने दमयन्ती को स्वसखी मानकर गौरव दिया—'त्वत्प्रेयसीसम्मदमाचरन्त्या' (१४।८३)। वे भी दमयन्ती को छोड़ते उन्मन हो रही थीं और

जब तक संभव हुआ, गरदन तिरछी करके उसे देखती रहीं। पुरुषों की पुरुष (नल) के प्रति और स्त्री की स्त्री (दमयन्ती) के प्रति ममता स्वाभाविक ही है। मित्र का वियोग अत्यन्त कष्टकारक होता है। वसन्ततिलका वृत्त।

सानन्दं तनुजाविवाहनमहे भीमः स भूमीपति-
वैदर्भीनिषधाधिपौ नृपजनानिष्टोक्तिसम्मृष्टये।
स्वानि स्वानि धराधिपाश्च शिविराण्युद्दिश्य यान्तः क्रमा-
देको द्वौ बहवश्चकारः सृजतः स्मातेनिरे मङ्गलम्॥ ९७॥

जीवातु—सानन्दमिति। तनुजायाः दुहितुः दमयन्त्याः, विवाहनं परिणयनम् विपूर्वात् वहतेर्ण्यन्ताद्भावे ल्युट् तदेव महः उत्सवः तस्मिन्, भूमीपतिः भूपतिः, स भीमः तथा वैदर्भीनिषधाधिपौ-दमयन्तीनलौ, तथा स्वानि स्वानि शिविराणि उद्दिश्य यान्तः धराधिपाश्च एकः द्वौ बहवः एते त्रितयेऽपि, नृपाणां दमयन्त्यवृतभूपानां, ये जनाः परिजनाः, तेषां या अनिष्टोक्तिः स्वस्वप्रभोरवमाननाजनितश्रुतिकटुवाक्यानि, तासां सम्मृष्टये तद्दोषपरिहाराय अश्रवणाय वा, सानन्दं यथा तथा मङ्गलं नगरसंस्कारेष्टदेवतानुस्मरणतूर्यघोषादिमङ्गलाचरणं, क्रमात् एकः भीमः चकार, द्वौ दमयन्तीनलौ सृजतः स्म असृजताम्, चक्रतुः इत्यर्थः, आतेनिरे बहवो धराधिपा भैमीवरणलाभात् मङ्गलतूर्यध्वनिं चक्रुरित्यर्थः। क्रमालङ्कारः॥ ९७॥

अन्वयः—तनुजाविवाहनमहे सः एकः भूमीपतिः, द्वौ वैदर्भीनिषधाधिपौ, स्वानि स्वानि शिविराणि उद्दिश्य यान्तः बहवः धराधिपाः च नृपजनानिष्टोक्तिसम्मृष्टये सानन्दं मङ्गलं चकार, सृजतः स्म, आतेनिरे।

हिन्दी—बेटी (दमयंती) के विवाह-महोत्सवावसर पर उस एक भूमिपति (राजा भीम) ने (स्वयंवर में असफल) राजाओं और उनके परिजनों के कर्णकठोर, अशुभवचनों के संमार्जन (अनाकरण) के लिए आनन्दपूर्वक मंगलसूचक वाद्य बजवाये; दो, दमयंती और निषधराज (नल) ने नृत्तगीतवाद्य बहुल प्रेक्षणीयक आदि का दर्शन, श्रवणरूप मंगल की सर्जना की और अपने-अपने आवास-शिविरों को जाते बहुत-से भूपतियों (राजाओं) ने पटह भेरी आदि वाद्यों के नाद रूप में सहर्ष मंगल विधान किया।

टिप्पणी—नल दमयती का मगल-परिणय समारम्भ हो गया, सो सभी सतुष्ट थे। राजा भीम पुत्री को योग्य वर-लाभ से, दमयती नल स्वानुराग की सफलता से और स्वयंवर में असफल राजा दमयन्ती सदृश उसकी सखियो को पा जाने से। सो सभी ने सहर्ष मगल-विधान किया, जिससे असतुष्टो के अशुभ और कर्णकटु वचन कान मे न पहुँचे। हर्ष-वाद्य-निनाद चहुँ ओर व्याप्त हो गया। एक भीम ने किया—एकः स. भूमीपतिः चकार, दो दमयंती-नल ने किया—द्वौ वैदर्भीनिषधेश्वरौ सृजत. स्म, बहुत-से राजाओ ने किया—धराधिपा. आतेनिरे। एक, दो, तीन—एक. द्वौ बहव. का यही क्रम है। मल्लिनाथ के अनुसार क्रमालकार। शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥ ९७ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर: सुत
श्रीहीर. सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
यातस्तस्य चतुर्दश. शरदिजज्योत्स्नाच्छसूक्तेर्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वल' ॥ ९८ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति। शरदि भवा शरदिजा 'सप्तम्या जनेड' ।
'प्रावृट्शरत्कालदिवां जे' इति सप्तम्या अलुक् या ज्योत्स्ना तद्वदच्छा सूक्ति', सूक्तय यस्य तादृशस्य। गतमन्यत् ॥ ९८ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु' समाख्याने चतुर्दश' सर्ग: समाप्त: ॥ १४ ॥

अन्वय.—श्रीहर्ष""""च यम्। शरदिजज्योत्स्नाच्छसूक्तेः तस्य चारुणि महाकाव्ये नैषधीयचरिते निसर्गोज्ज्वलः चतुर्दशः सर्ग यातः।

हिन्दी—प्रथम द्वितीय चरणो का अर्थ पूर्ववत्। शरद् ऋतु की चांदनी के सदृश निर्मल, आह्लादजनक शोभन उक्ति रचनेवाले उस (महाकवि श्रीहर्ष) के चारु महाकाव्य 'नैषधीयचरित' में प्रकृत्या रमणीय चौदहवाँ सर्ग समाप्त।

टिप्पणी—सरस्वती द्वारा दिये (श्लोक-सख्या अठ्ठासी) वर का प्रभाव कि नलचरित का अति सर्वांग-सुन्दर काव्य रच सके, 'शरदिजज्योत्स्नाच्छ-सूक्ति' विशेषण का कारण ॥ ९८ ॥

नैषधीयचरिते चतुर्दश. सर्ग' समाप्तः।

पञ्चदशः सर्गः

अथोपकार्यां निषधावनीपतिर्निजामयासीद्वरणस्रजाऽन्वितः।
वसूनि वर्षन् सुबहूनि वन्दिनां विशिष्य भैमीगुणकीर्त्तनाकृताम् ॥ १ ॥

जीवातु—अथेति । अथ स्वयंवरानन्तरं, निषधावनीपतिः नलः, वरणस्रजा अन्वितः सन् वन्दिनां स्तुतिपाठकानाम्, अपरेषामिति भावः, तत्रापि भैमीगुणकीर्त्तनां कुर्वन्तीति तत्कृतां भैमीगुणकीर्त्तनकारिणां वन्दिनाम् करोतेः क्विप् । विशिष्य अन्यवन्द्यपेक्षया अतिशय्य, सुबहूनि भूयिष्ठानि, वसूनि धनानि, वर्षन् वितरन्, निजाम् आत्मीयाम्, उपकार्याम् उपकारिकां, सदनमित्यर्थः, शिविरमिति यावत्, 'सौधोऽस्त्री राजसदनमुपकार्योपकारिका' इत्यमरः । अयासीत् अगमत् । यातेर्लुङि 'यमरमनमातां सक् च' इति सगिडागमौ; 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडागमः । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ वरणस्रजान्वितः निषधावनीपतिः भैमीगुणकीर्त्तनाकृतां वन्दिनां विशिष्य सुबहूनि वसूनि वर्षन् निजाम् उपकार्याम् अयासीत् ।

हिन्दी—तदनन्तर (स्वयंवर हो जाने पर) वरणमाल्य-धारण किये निषधधरा के स्वामी (नल) भीमसुता का गुणगान करते चारणों के लिए विशेष रूप से धनवर्षा करते अपनी उपकार्या (आवास-शिविर) की ओर गये।

टिप्पणी—देव स्वधाम गये। स्वयंवरजयी नल स्तुतिकर्त्ता चारणों के निमित्त धन वर्षा करते अपने शिविर लौटे। वे सभी चारणों और वंदिजनों के निमित्त धनवर्षा कर रहे थे, पर जो दमयंती की गुण-चर्चा गा रहे थे, वे विशेष पुरस्कृत हुए। यह स्वाभाविक ही था। इस श्लोक में और आगे श्लोक संख्या ८१ तक वंशस्थवृत्त ॥ १ ॥

तथा पथि त्यागमयं वितीर्णवान् यथाऽतिभाराधिगमेन मागधैः।
तृणीकृतं रत्ननिकायमुच्चकैश्चिकाय लोकश्चिरमुञ्छमुत्सुकः ॥ २ ॥

जीवातु—तथेति । अयं नलः, पथि स्वनिवेशमार्गे, तथा तेन प्रकारेण, त्यज्यते इति त्यागं धनम् कर्मणि घञ् । वितीर्णवान् दत्तवान्, यथा येन

प्रकारेण, अतिभारस्य अतिगुरुत्वस्य, अधिगमेन प्राप्त्या, मागधैः वदिभिः, तृणीकृत वोढुमशक्यत्वेन तृणवत् त्यक्तम्, उच्चकैः उच्छ्रितः, रत्नानां निकायः समूहः, लोकः साधारणो जनः, उत्सुकः औत्सुक्यान्वित सन्, चिरं बहु कालम्, उञ्छ चिकाय भुवि त्यक्त रत्ननिकायम् उञ्छत्वेन सञ्चितवान्, यद्यपि धान्यानां कणश आदानमेव उञ्छस्तथाऽपि रत्नानामादाने औपचारिको बोध्य । 'विभाषा चेः' इति चित्व कुत्वम । 'उञ्छ कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्' इति यादव ॥ २ ॥

अन्वय.—पथि अयं तथा त्यागं वितीर्णवान् यथा अतिभाराधिगमेन मागधैः तृणीकृत रत्ननिकायम् उच्चकैः उत्सुकः लोकः उञ्छ चिरं चिकाय ।

हिन्दी—मार्ग मे इस (नल) ने उतना त्याग वितरित किया (धन लुटाया), जिससे अनेक रत्न प्राप्ति के कारण (वहन—ढो ले जाने में असमर्थ) वंदिजनो द्वारा तृण सम त्यागे उन रत्ननिकाय के उञ्छ (शिल, कणो) को अधिक उत्सुक (पहिले मैं पहिले मैं करके बटोरने में लगे) सामान्य लोग बहुत समय तक चुनते रहे ।

टिप्पणी—कृतकाम नल ने प्रसन्नतापूर्वक इतनी धन वर्षा की कि वंदिजन उठाकर न ले जा सके । यद्यपि वह धनवर्षा बहुमूल्य थी—रत्नो के ढेर थ, तथापि बोझा कहाँ तक उठाया जाता ? तृप्त भी चारण इतने हो गये कि उन्होंने इतनी अधिक धनराशि अन्न क शिले—उछ की भाँति, तिनके के तुल्य पड़ी छोड़ दी कि सामान्य लोग उसे बड़ी देर तक बटोर कर एकत्र करते रहे । नल की दान-वीरता का सकेत । नारायण के अनुसार 'रत्ननिकाय उञ्छ' में रूपक ॥ २ ॥

त्रपाऽस्य न स्यात् सदसि प्रियाऽन्वयात् ? कुतोऽतिरूप सुखभाजन जन ? ।
समूढवी तरकविवन्दिवर्णनपाकृता राजकरञ्जि?ैक्ष्वाक् ॥ ३ ॥

जीवातु—त्रपति । सदसि सभायां, प्रियाऽन्वयात् प्रियासमागमाद्, अस्य नलस्य, त्रपा अनुचिताचरणजनितलज्जा, न स्यात् ? न भवेत् ? इति काकुः, भवितुमुचितमेवेत्यर्थं, तथा अतिरूप अतिमात्रसौन्दर्यशाली, जनः कुत कुत्र, सुखभाजन रामसीतादिवत् सुखास्पद, भवेत् ? न कुत्रापीत्यर्थ:, नलस्य इद लोकातिशायि रूपमेव दु खनिदानं भवेदिति भाव, असौ इव दृश्यते इति

अमूदृशी एतादृशी, उक्तरूपा इत्यर्थः, अदः— शब्दोपपदात् दृशेः 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च' इति कञ्, 'टिड्ढाणञ्'—इत्यादिना ङीप्, 'आ सर्वनाम्नः' इत्यात्वे 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' इत्यूत्वमेत्वे। राजकं दमयन्त्यवृतराजसमूहं रञ्जयतीति तेषां राजकरञ्जिनां तदिच्छानुकूलवादिनां, लोकानां जनानां, वाक् पूर्वोक्ता निन्दोक्तिः, तस्य नलस्य, कवीनां वन्दिनाञ्च वर्णनैः अहो! निखिलं राजकम् अवधूय त्वया स्त्रीरत्नं लब्धं सर्वोत्तरोऽसीत्यादिस्तवैः; अपाकृता न्यक्कृता तादृशकविवन्दिमिस्तारस्वरेण नलगुणवर्णनात् पूर्वोक्तनिन्दावाक् तिरोहितत्वेन न श्रुतिगोचरीभूतेति भावः ॥ ३ ॥

अन्वयः—सदसि प्रियान्वयात् अस्य त्रपा न स्यात्? प्रतिरूपः जनः सुखभाजनं कुतः?—अमूदृशी राजकरञ्जिलोकवाक् तत्कविवन्दिवर्णनैः अपाकृता।

हिन्दी—सभा मध्य (सब के बीच) प्रिया-समागम से इस (नल) को लाज भी न आयी? 'अत्यन्त रूपवान् पुरुष सुख का पात्र कहाँ होता है?'—इस प्रकार की रजुल्लों (अन्य राजाओं) को प्रसन्न करने वाली लोगों की बातें उस (नल) के स्तुतिपाठक चारणों के वर्णन-वचनों द्वारा निराकृत (व्यर्थ) कर दी गयीं (दबा दी गयीं)।

टिप्पणी—नल के प्रशंसक चारणों के बीच असफल राजागण भी थे, उनके भाट और सेवक भी थे। वे अपने-अपने राजाओं को संतुष्ट करने के लिए अप्रिय वचन कहने लगे—'नल बड़ा नर्लज्ज है, भरी सभा में स्त्री-समागम से भी नहीं लजाता। ऐसे व्यक्ति सुखी नहीं होते।' पर नल के कवि इतने जोर-शोर से नल-गुण-गान कर रहे थे कि यह सब दवा-दबा रह गया और सुन न पड़ा। नारायण और मल्लिनाथ की व्याख्या है कि असंतुष्ट राजाओं के चारणों ने कहा कि नल-दमयन्ती से स्वरूपवान् जोड़े सुखी नहीं रहा करते, राम-जानकी भी नहीं रहे। पर ये निन्दा-वचन नल के कवियों के स्तुतिगान के संमुख श्रवणागोचर ही रह गये। नारायणी टीका में चतुर्थचरण के 'अपाकृता' के स्थान में 'अवाक्कृता' पाठांतर को मान्यता दी गयी है—'वाक्' को 'अवाक्' कर दिया गया। विरोधाभास। भाव यह कि 'वाक्' इस प्रकार 'अवाक्' बन गयी कि ध्वनिमात्र—बड़बड़ाहट मात्र सुनायी दी, अर्थ—भाव व्यक्त न हो सका ॥ ३ ॥

अदोषतामेव सतां विवृण्वते द्विषां मृषादोषकणाधिरोपणाः ।
न जातु सत्ये सति दूषणे भवेदलीकमाधातुमवद्यमुद्यमः ॥ ४ ॥

जीवातु—अदोषतामिति । द्विषां शत्रूणां, अधिरोपणेति कृद्योगे कर्तरि षष्ठी । मृषादोषकणाधिरोपणाः अलीकदोषलवारोपाः सतां सज्जनानाम् अदोषतां निर्दोषताम् एव, विवृण्वते प्रकाशयन्ति, शूरे कलङ्कारोपणवत् इति भाव । तत्र हेतुमाह, नेति । सत्ये दूषणे दोषे, सति वर्तमाने, अलीकम् असत्यम् अवद्य दूषणम् । 'अवद्यपण्य-' इत्यादिना निपात । आधातुम् आरोपयितु जातु कदाचिदपि, उद्यम द्विषाम् उद्योग', न भवेत्, शशाङ्के कलङ्कारोपणवदिति भाव, तथा च सत्यदोषस्य वर्तमानत्वे मिथ्यादोषारोप शत्रूणामुद्यमादर्शनात् सत्यदोषाभावे सत्येव मिथ्यादोषारोपे उद्यमोऽवगम्यते, इत्यञ्च नले मिथ्यादोषारोपदर्शनात् सत्यदोषाभावः प्रतीयते इति भाव ॥४॥

अन्वय —द्विषां मृषादोषकणाधिरोपणाः सताम् अदोषताम् एव विवृण्वते, सत्ये दूषणे सति अलीकम् अवद्यम् आधातुं जातु उद्यमः न भवेत् ।

हिन्दी—द्वेषकर्ता शत्रुओं के मिथ्या दोषों के लेश मात्र भी आरोप सज्जनों की निर्दोषता ही प्रकट करते हैं। सच्चा दोष होने पर मिथ्या दोषारोपण का कुछ भी उद्यम (उन शत्रुओं द्वारा) नहीं होता ।

टिप्पणी—श्लोक सख्या तीन मे वर्णित नल दोषारोप पर यहाँ विवेचन है। वस्तुत नल तो निर्दोष था (नै० च० १४।९३), उस पर लगा झूठ उसकी अवहेलना का कारण कैसे बनता ? शत्रुओं द्वारा की गयी निन्दा से सज्जनों की प्रशसा ही होती है। ये दुष्ट किसी का वास्तविक दोष—यदि हो भी तो—नहीं कहते, झूठा ही कदाचित् कहते हैं। जैसे चन्द्र म कलङ्क का कथन । श्रीराम परब्रह्म थे—निर्दोष, फिर भी 'दूषण' राक्षस ने उनमें दोष ढूँढा। पतिव्रता, अग्निपरीक्षा मे खरी प्रमाणित सीता पर भी दुर्जन न दोषारोपण किया। वस्तुत शत्रुओ द्वारा लगाया अथवा कहा 'सच' भी 'झूठा' ही होता है, झूठा तो झूठा होता ही है। भाव यह कि नल दमयती दो निर्दोष थे, वैरियो ने खल स्वभावानुसार उन पर दोषारोपण किया और सफल रहस्य की ॥ ४ ॥

विदर्भराजोऽपि समं तनूजया प्रविश्य हृष्यन्नवरोधमात्मनः।
शशंस देवीमनु जातसंशयां प्रतीच्छ जामातरमुत्सुके ! नलम् ॥ ५ ॥

जीवातु—विदर्भेति। अथ विदर्भराजो भीमोऽपि, हृष्यन् सर्वोत्कृष्टजामातृलाभेनानन्दितः सन्, तनूजया दुहित्रा भैम्या, समम् आत्मनः अवरोधम् अन्तःपुरं, प्रविश्य जातसंशयां, दमयन्ती सर्वगुणाकरं नलं वरिष्यति निर्गुणमन्यं वेति इष्टवरलाभे सन्दिहानां, देवीं निजमहिषीम्, अनु लक्ष्यीकृत्य, उत्सुके ! इष्टवरोद्युक्ते ! 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः' इत्यमरः। नलं जामातरं दुहितुः पतिं, प्रतीच्छ विजानीहीत्यर्थः, इति शशंस कथयामास। सिद्धं नः समीहितमिति भावः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हृष्यन् विदर्भराजः अपि तनूजया समम् आत्मनः अवरोधं प्रविश्य अनुजातसंशयां देवीम् शशंस—उत्सुके, नलं जामातरं प्रतीच्छ।

हिन्दी—(उत्तम दामाद पाने से) प्रसन्न होते विदर्भ-नरेश (भीम) भी पुत्री (दमयन्ती) के साथ अपने अन्तःपुर में प्रविष्ट हो संशय-संदेह में पड़ी राजमहिषी से बोले—अरी उत्कंठा से पूर्ण, नल को जामाता मानो।

टिप्पणी—अन्तःपुर में दमयन्ती की माता उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही थीं कि उनकी बेटी ने किसे चुनकर वरमाल्य अर्पित की है ? उसका चुनाव उत्तम है कि नहीं ? नल जैसा जामाता प्राप्त होने पर विदर्भराज अत्यन्त प्रसन्न थे। वे आनन्दमग्न दमयंती के साथ अंतःपुर में राजमहिषी के निकट पहुँचे और उसे शुभ संवाद सुनाया कि उनकी बेटी दमयंती ने उत्तम वर को चुना है। नल अब जामाता रूप में प्राप्त है। हमारी बुद्धिमती बेटी ने हमारा मनचीता किया है ॥ ५ ॥

तनुत्विषा यस्य तृणं स मन्मथः कुलश्रिया यः पविताऽस्मदन्वयम्।
जगत्त्रयीनायकमेलके वरं सुता परं वेद त्रिवेक्तुमीदृशम् ॥६॥

जीवातु—तन्विति। किञ्च, यस्य नलस्य, तनुत्विषा कायकान्त्या, सः प्रसिद्धः, मन्मथः तृणं तृणतुल्यः, अतिनिकृष्ट इत्यर्थः। यः कुलश्रिया अभिजनसम्पदा, कौलीन्येन इत्यर्थः, अस्मदन्वयं अस्माकं कुलं, पविता पवित्रीकर्त्ता, पुनातेस्तृन्, 'न लोका—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया ॥ किञ्च, जगत्त्रय्यां ये नायकाः तेषां मेले एव मेलके सङ्घे, वरसमूहानां मध्ये

इत्यर्थः। मेलात् घजन्तात् स्वार्थे कः। ईदृशम् इदगुणोपेत, वरं विवेक्तुं 'निर्वाचयितुं, परं केवलं, सुता त्वत्सुतैव, वेद,वेत्ति, 'विदो लटो वा' इति लट्-स्थाने णलादेशः। अहो भाग्यात् सर्वानुकूलत्वमिति भाव ॥ ६ ॥

अन्वयः—यस्य तनुत्विषा स मन्मथः तृणं, यः कुलश्रिया अस्मदन्वय पविता, जगत्त्रयीनायकमेलके ईदृश वरं विवेक्तु परं सुता वेद।

हिन्दी—जिसकी देहकान्ति के आगे वह (सौन्दर्य का प्रतिमान) काम तिनके जैसा (अति नगण्य) है और कुलीनता की दृष्टि से हमारे वंश को पवित्र करने वाला है, तीनों लोकों के अधिराजा के मेले में ऐसा (सब दृष्टि से उत्तम) वर निर्वाचित करना केवल (हमारी) बेटी (दमयन्ती) जानती है।

टिप्पणी—हर्षोत्फुल्ल राजा भीम ने रानी को बताया कि हमारी बेटी कितनी चतुर और बुद्धिमती एवं गुणग्राहिणी है कि उसने रूप-कुल तथा अन्य दृष्टियों से इतने वरों के बीच श्रेष्ठ वर नल का निर्वाचन किया! कदाचित् ऐसी प्रवीण और लड़कियाँ नहीं हैं ॥ ६ ॥

सृजन्तु पाणिग्रहमङ्गलोचिता मृगीदृशः स्त्रीसमयस्पृशः क्रियाः।
श्रुतिस्मृतीनान्तु वयं विदध्महे विधीनिति स्माह च निर्ययौ च सः ॥७॥

जीवातु—सृजन्त्विति। स भीम, मृगीदृशः पुरन्ध्र्यः, पाणिग्रहमङ्गलोचिताः विवाहमङ्गलयोग्याः, स्त्रीसमयः स्त्र्याचारः स्पृशन्तीति तत्स्पृशः स्त्रीसमाचारप्राप्ता इत्यर्थः। 'स्पृशोऽनुदके क्विन्'। क्रियाः मङ्गलकर्माणि, सृजन्तु विदधतु। वयन्तु श्रुतिस्मृतीनां सम्बन्धिनः तद्विहितान्, विधीन् कर्माणि, विदध्महे कुर्महे, इत्याह स्म च उवाच च, 'लट् स्मे' इति भूते लट्। निर्ययौ च अन्तःपुरात् निर्जगाम च। चकारद्वयं क्रिययोः यौगपद्यसूचनार्थकम् उक्त्वैव निर्ययौ, न तु क्षणमपि विलम्बमकरोदिति भाव ॥ ७ ॥

अन्वयः—मृगीदृशः पाणिग्रहमङ्गलोचिताः स्त्रीसमयस्पृशः क्रियाः सृजन्तु, वयं तु श्रुतिस्मृतीनां विधीन् विदध्महे—स इति आह स्म च निर्ययौ च।

हिन्दी—मृगनयना नारियाँ विवाह-मंगल अवसर के अनुकूल नारीजनोचित (कुलदेवादिपूजन तथा तेल चढ़ाना इत्यादि) मंगलाचार करें और हम लोग वेद शास्त्रों के अनुसार वैवाहिक विधियाँ सम्पन्न करते हैं—यह वे (भीमराज) बोले और अन्तःपुर से चले गये।

टिप्पणी—भीम राजा नारी-जनोचित तेल-हल्दी आदि चढ़ाना आदि मंगलाचार-विधान का आदेश नारियों को दे शीघ्रता के साथ स्वयम् अन्य वेद-धर्मशास्त्रानुकूल विवाह-विधियों के प्रबन्ध के निमित्त अन्तःपुर के बाहर चले गये ॥ ७ ॥

निरीय भूपेन निरीक्षितानना शशंस मौहूर्त्तिकसंसदंशकम् ।
गुणैररीणैरुदयास्तनिस्तुषं तदा स दातुं तनयां प्रचक्रमे ॥ ८ ॥

जीवातु—निरीयेति । भूपेन निरीय अन्तःपुरात् निर्गत्य, ईङ् गताविति धातोः समासात् क्त्वो ल्यबादेशः । निरीक्षितानि आननानि यस्याः सा लग्नकथनाय मुखनिरीक्षणेनैव कृतसङ्केता इति भावः । मुहूर्त्तं तत्प्रतिपादकं शास्त्रं विदन्तीति मौहूर्त्तिकाः ज्योतिषिकाः 'तदधीते तद्वेद' इति ठक्, तेषां संसत् ज्योतिषिकपरिषत्, अरीणैः अक्षीणैः, समग्रैरित्यर्थः, री गताविति धातोः कर्त्तरि क्तः, 'ल्वादिभ्यः' इति निष्ठानत्वम्, गुणैः शुभग्रहवीक्षणादिभिः उपलक्षितम्, उदयास्ताभ्यां ग्रहविशेषाणामुदयास्तमयनिबन्धनदोषाभ्यां, निस्तुषं तद्रहितम्, अंशमेव अंशकं वैवाहिकलग्नं शशंस कथयामास, तदा तस्मिन् लग्ने, स भूपः, तनयां दातुं प्रचक्रमे उद्युक्तवानित्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्वयः—भूपेन निरीय निरीक्षितानना मौहूर्त्तिकसंसद्, अरीणैः गुणैः उदयास्तनिस्तुषम् अंशकं शशंस तदा सः तनयां दातुं प्रचक्रमे ।

हिन्दी—राजा (भीम) ने (अन्तःपुर से) निकल कर (लग्न शोधन के निमित्त) मुहूर्त्त-प्रतिपादक शास्त्र के ज्ञाता (ज्योतिषियों) की परिषद् की ओर मुख से संकेत किया और उन्होंने संपूर्ण शुभ ग्रहों को देखकर शुक्र-बृहस्पति आदि उदय और अस्त के दोष से रहित वैवाहिक लग्न बता दिया । तभी वह (राजा भीम) कन्या-दान को समुद्यत हो गया ।

टिप्पणी—अन्तःपुर से बाहर आ तुरन्त राजा भीम ने ज्योतिषियों की ओर दृष्टि संकेत कर शुभ, निर्दोष वैवाहिक लग्न निकलवाया और तदनुसार विवाह-कार्य का प्रबंध कराया कि शुभ मुहूर्त में ही कार्य सम्पन्न हो सके ॥ ८ ॥

अथावदद्दूतमुखः स नैषधं कुलञ्च बाला च ममानुकम्प्यताम् ।
सपल्लवत्वद्य मनोरथाङ्कुरश्चिरेण नस्त्वच्चरणोदकैरिति ॥ ९ ॥

जीवातु—अथेति । अथ लग्नस्थिरीकरणानन्तर, दूत एव मुखं यस्य स तादृशः, स भीमः, मम कुलञ्च बाला भैमी च, अनुकम्प्यताम् अनुगृह्यताम्, चिरेण बहुकालीनः, नः अस्माकं, मनोरथाङ्कुरः प्रागङ्कुरितः त्वया सह भैमीविवाहरूपमनोरथः, त्वच्चरणोदकैः तव पादोदकैः, अद्य पल्लवेन सह वर्तते इति सपल्लवः॥ इव आचरतु सपल्लवतु अपल्लवः पल्लवमान् इवास्त्वित्यर्थः। "सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप् वा वक्तव्यः।" इति सपल्लवशब्दादाचारार्थे क्विप्, ततः विधिवन्तधातोः प्रार्थनायां लोट् । इति नैषधं नलम्, अवदत्, दूतमुखेन नलमिदं निवेदितवानित्यर्थः ॥ ९ ॥

अन्वय.—अथ मम कुलं च बाला च अनुकम्प्यताम् चिरेण नः मनोरथाङ्कुरः त्वच्चरणोदकैः अद्य सपल्लवतु—इति दूतमुखः स नैषधम् अवदत् ।

हिन्दी—तदनन्तर (लग्न-शोधे जाने के पश्चात्) 'मेरे कुल और बाला (दमयन्ती) पर कृपा की जाय, बहुत समय का हमारा मनोरथ रूप अंकुर (हमारी चिरकालीन इच्छा) तुम्हारे (नल के) चरण-जल-सिंचन से आज पल्लवों से युक्त हो (पूर्ण हो) '—यह दूत के मुख से उस (राजा भीम) ने निषधराज (नल) से कहा ।

टिप्पणी—लग्न निश्चय होते ही राजा भीम ने नल के पास दूत के द्वारा सन्देश भेजा कि वह उनकी और दमयन्ती की चिरकालीन आकांक्षा पूर्ण करने की कृपा करें। चिरकालीन इच्छा को एक अंकुर कहा गया है, जो नल के चरणोदक से सिंच कर पत्ता से पूर्ण होगी। नल से दमयन्ती का विवाह भीम और उनके आत्मीय जनों की चिरकालीन इच्छा है, सो नल को इसकी पूर्ति करके भीमराज, उनके कुल और दमयन्ती को कृतार्थ करना ही चाहिए। कुलीन जनों के सदृश उपयुक्त शालीनता और विनय का उदाहरण ॥ ९ ॥

तयोदितं भीमवचः प्रतिध्वनिं निपीय दूतस्य स वक्त्रगह्वरात् ।
व्रजामि वन्दे चरणौ गुरोरिति ब्रुवन् प्रदाय प्रजिघाय तं बहु ॥ १० ॥

जीवातु—तयेति । स नलः, दूतस्य वक्त्रम् आस्यम् एव, गह्वरं गुहा तस्मात्, तया पूर्वोक्तप्रकारेण, उदितम् उदितं भीमवचसः प्रतिध्वनिम् अनुरूपशब्दं, निपीय दूतमुखात् भीमवचनं श्रुत्वेत्यर्थः, व्रजामि अधुनैव गच्छामि,

गुरोः श्वशुरस्य चरणौ वन्दे । व्रजामि वन्दे इत्यत्र 'वर्त्तमानसामीप्ये-' इति भविष्यदर्थे लट्, स्वयम् अहम् आगच्छामि गुरुपादवन्दनायेत्यर्थः, इति ब्रुवन् तं दूतं, बहु बहुधनं, पारितोषिकमिति यावत्, प्रदाय दत्त्वा, प्रजिघाय प्राहिणोत् । 'हि गता'विति धातोः लिटि 'हेरचङि' इति हस्य कुत्वम् ॥१०॥

अन्वयः—दूतस्य वक्त्रगह्वरात् तथा उत्थितं भीमवचःप्रतिध्वनिं निपीय सः—व्रजामि, गुरोः चरणौ वन्दे—इति ब्रुवन् तं बहु प्रदाय प्रजिघाय ।

हिन्दी—दूत की मुख रूप गुहा से उस (पूर्वोक्त) प्रकार उठी राजा भीम के वचनों की प्रतिध्वनि को पीकर (सुन कर) उस (नल) ने—'चलता हूँ, गुरु-जन (भीम) के चरणों की वन्दना करता हूँ'—ऐसा कहते हुए उस (दूत) को प्रभूत (पारितोषिक) देकर वापस भेजा ।

टिप्पणी—दूत ने राजा नल के समीप पहुँच कर भीमराज का सन्देश उन्हीं के शब्दों में राजा नल को दिया । नल ने उचित शिष्टाचार प्रदर्शन करते हुए अपनी स्वीकृति दी और दूत को प्रचुर धन पारितोषिक स्वरूप देकर लौटा दिया ॥ १० ॥

निपीतदूतालपितस्ततो नलं विदर्भभर्त्ताऽऽगमयाम्बभूव सः ।
निशावसाने श्रुतताम्रचूडवाक् यथा रथाङ्गस्तपनं धृतादरः ॥११॥

जीवातु—निपीतेति । ततो दूतप्रत्यावर्त्तनानन्तरं, निपीतदूतालपितः श्रुतदूतवाक्यः, स विदर्भभर्त्ता भीमः, निशावसाने श्रुता ताम्रचूडवाक् प्राभातिकं कुक्कुटकूजितं येन सः तादृशः 'कृकवाकुस्ताम्रचूडः कुक्कुटश्चरणायुधः' इत्यमरः । रथाङ्गः चक्रवाकः, 'कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामकः' इत्यमरः । रथाङ्गपर्यायाणां चक्रवाकनामत्वाभिधानात् पुंल्लिङ्गता । तपनं यथा सूर्यमिव, इति श्रौती उपमा 'इव-वत्-वा-यथाशब्दानां प्रयोगे श्रौती' इति लक्षणात्, धृतादरः सञ्जाताग्रहः सन्नित्यर्थः, नलम् आगमयाम्बभूव साग्रहः सन् नलागमनं प्रतीक्षितवानित्यर्थः, तादृगुपमासामर्थ्यादिति ॥ ११ ॥

अन्वयः—ततः निपीतदूतालपितः सः विदर्भभर्त्ता निशावसाने श्रुतताम्रचूडवाक् रथाङ्गः यथा तपनं धृतादरः नलम् आगमयाम्बभूव ।

हिन्दी—तदनंतर (नल के समीप से दूत के लौटने के पश्चात्) दूत के वचन सुनकर वह विदर्भ-स्वामी (राजा भीम) नल के आगमन की

उसी प्रकार प्रतीक्षा करने लगा, जिस प्रकार रात्रि के अन्त में मुर्गे की बाँग सुनकर चकवा आदर के सहित सूर्य की प्रतीक्षा करता है।

टिप्पणी—दूत के लाये उत्तर को सुनकर नलागमन की प्रतीक्षा में उत्सुक विदर्भनरेश की मानसिक स्थिति स्पष्ट करने के निमित्त मल्लिनाथ के अनुसार इस श्रौती उपमा की योजना की गयी है। जैसे चक्रवाक सूर्योदय की अत्यन्त उत्कंठा से प्रभातकालीन कुक्कुट रव सुनकर प्रतीक्षा करता है, वैसे ही दूत वचन सुन अत्यन्त उत्कंठित भीम नलागमन की प्रतीक्षा करने लगे। दूतवाक्य 'ताम्रचूडवाक्' है, राजा भीम चक्रवाक और नलागमन सूर्योदय ॥ ११ ॥

काचित्तदाऽऽलेपनदानपण्डिता कमप्यहङ्कारमगात् पुरस्कृता ।
अलम्भि तुङ्गासनसन्निवेशनादपूपनिर्माणविदग्धयाऽऽदरः ॥१२॥

जीवातु—काचिदिति। तदा तत्काल, आलेपनदानपण्डिता तण्डुलपिष्टिकया गृहकुट्टिमादि चित्रीकरणक्रियादक्षा, काचित्, पुरन्ध्रीति शेष, पुरस्कृता आलेपनकर्मणि प्राधान्येन नियुक्ता सती, कमपि अवाच्यम् अहङ्कार गर्वम्, अगात्। अपूपाना पिष्टकाख्यभक्ष्यभेदाना निर्माणे विदग्धया दक्षया, कयाचित् पुरन्ध्या इति शेष। तुङ्गासने उच्चासने सन्निवेशनात् उपवेशनात्, पिष्टकभर्जनायेति भाव। आदर. आत्मनि अभिमान, अलम्भि प्रापि 'लभेश्च' इति नुमागम ॥ १२ ॥

अन्वय—तदा आलेपनदानपण्डिता काचित् पुरस्कृता कम् अपि अहङ्कारम् अगात्, अपूपनिर्माणविदग्धया तुङ्गासनसन्निवेशनात् आदर अलम्भि।

हिन्दी—उस काल सुधालेप चित्रकर्मादि (चौक पूरना, रंगोली बनाना आदि) में प्रवीणा कोई नागरी आलेपनादि कार्य के निमित्त प्रार्थित (नियुक्त) होने पर एक विशिष्ट अभिमान को प्राप्त हो गयी और पुए बनाने में कुशला नारी ने ऊँचे आसन पर बैठकर गौरव प्राप्त किया।

टिप्पणी—विवाह से संबद्ध अनेक ऐसे विधान थे, जो नारियाँ ही करती थीं। कोई नारी चौक पूरने (हलदी, आटा, चावल की पीठी के मिश्रण से रंगोली बनाना अथवा अंग-स्वच्छ करने के लिए उबटन लगाना) की क्रिया में अत्यन्त प्रवीण थी। उसे यह कार्य सौंपा गया तो उसने अपने को बड़ा।

संमानित समझा और अभिमान से फूल कर कार्य संपन्न करने लगी। ऐसे ही अपूप-निर्माण विधि में कुशल स्त्री को भी उसका कार्य सौंपे जाने पर बड़े संमान का अनुभव हुआ वह ऊँची पीढ़ी पर बैठ अपूप बनाने लगी। भाव यह कि दमयन्ती के विवाह में जो जिस कार्य में प्रवीण थी, उसे वह कार्य सौंपा गया और इस उत्तरदायित्व के पाने पर उसने अपने को गौरवान्वित समझ अपनी कुशलता पर अभिमान करते हुए कार्यारंभ किया। राजकुमारी के विवाहकार्य में गौरव मिला, यह वस्तुतः गौरव की बात थी ॥ १२ ॥

मुखानि मुक्तामणितोरणात्तदा मरीचिभिः पान्थविलासमाश्रितैः।
पुरस्य तस्याखिलवेश्मनामपि प्रमोदहासच्छुरितानि रेजिरे ॥१३॥

जीवातु--मुखानीति। तदा तत्काले, आसन्नपरिणयमहोत्सवे इत्यर्थः। तस्य पुरस्य सम्बन्धिनाम् अखिलवेश्मनाम् अपि सर्वेषामेव गृहाणां, मुखानि द्वाराणि वक्त्राणि च, इति श्लेषः। मुक्तामणीनां तोरणात् तन्मयबहिर्द्वारात्। अपादानात्। 'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्' इत्यमरः। पान्थविलास नित्यपथिकविभ्रमन्, आश्रितैः अधिगतैः, निरन्तरनिःसृतैरित्यर्थः। पान्थविलासस्य मरीचिषु असम्भवात् तद्विलास इव विलास इति निदर्शना। मरीचिभिः किरणैः। 'द्वयोर्मरीचिः किरणो भानुरुस्रः करः पदम्' इति शब्दार्णवः। प्रमोदहासच्छुरितानि अट्टहासरञ्जितानीव, रेजिरे शुशुभे। मुखत्वात् शुभ्रत्वाच्च इत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ १३ ॥

अन्वयः—तदा तस्य पुरस्य अखिलवेश्मनाम् अपि मुखानि मुक्तामणितोरणात् पान्थविलासम् आश्रितैः मरीचिभिः प्रमोदहासच्छुरितानि रेजिरे।

हिन्दी--उस काल उस नगर तथा उस नगर के सभी घरों के भी मुख-द्वार मोतियों और मणियों से सुसज्जित बाहरी द्वारों से पथिकों के विलास पर आश्रित किरणों द्वारा हर्ष हास्य से रंजित-से सुशोभित होने लगे।

टिप्पणी--विवाहमहोत्सव में नगर और नगरों के सभी आवास सजा दिये गये। द्वारों और बहिर्द्वारों पर मोती-मणियों की झालरें लगी थीं। आते-जाते पथिकों पर उन रत्नों की आभा पड़ती थी, पथिक भी हर्षानन्द के कारण प्रसन्न-वदन थे। इसी पर उद्भावना है कि प्रसन्नवदन विलास-प्रमोद में मग्न पांथों के माध्यम से उन पर रत्नाभा मरीचियाँ प्रसारित करते नगरावासों के मुख-द्वार भी हर्ष-हास्य से रमणीय बन गये थे। भाव यह कि राजकुमारी के विवाहमहोत्सव पर केवल विदर्भ के नर-नारी ही हर्षमग्न और

प्रसन्नमुख नहीं थे, सजे-धजे नगरगृहों के मुख-द्वारों पर भी प्रसन्नता और हर्ष का अतिरेक था। मल्लिनाथ के अनुसार किरणों में पथिक-विलास सम्भव नहीं है, अतएव उनके विलास सदृश विलास—यह निदर्शना है। 'प्रमोद-हासच्छुरित' अर्थात् अट्टहासरञ्जित—जैसे वे सुशोभित हुए—आनन्ददायक और शुभ्र होने से यह व्यंजक का प्रयोग न होने के कारण गम्या उत्प्रेक्षा है। भाव यही है कि सम्पूर्ण नगरी आनन्दमग्न हो गयी ॥१३॥

पथामनीयन्त तथाऽधिवासनान्मधुव्रतानामपि दत्तविभ्रमाः।

वितानतामातपनिर्भयास्तदा पटच्छिदाऽकालिकपुष्पजाः स्रजः ॥ १४ ॥

जीवातु—पथामिति तथा तेन प्रकारेण, यथा केनापि कृत्रिमत्वेन नावबुध्यते तादृग्रूपेणेत्यर्थः, अधिवासनात् कृत्रिमपुष्पनिर्मितमालासु चम्पकादिसुगन्धिपुष्पैः संस्कारसाधनात्, 'संस्कारो गन्धमाल्याद्यैर्यः स्यात्तदधिवासनम्' इत्यमरः, मधुव्रतानां मधुलिहाम् अपि, किमुतान्येषामिति भावः, दत्तविभ्रमाः कृताकृत्रिमपुष्पनिर्मितत्वभ्रान्तयः, इति भ्रान्तिमदलङ्कारः, आतपनिर्भयाः आतपेऽपि अम्लाना इत्यर्थः, पटच्छिदा पटकर्त्तनेन, चेलखण्डनेनेत्यर्थः, कृतानि यानि अकालिकानि अकालोद्भवानि पुष्पाणि तेभ्यः जाताः स्रजः, स्रज मालिका', तदा आसन्नविवाहमहोत्सवकाले, पथां नगरमार्गाणां, वितानताम् उल्लोचताम्, चन्द्रातपत्वमित्यर्थः 'अस्त्री वितानमुल्लोच' इत्यमरः, अनीयन्त नीता, नयतेर्द्विकर्मकत्वात् प्रधाने कर्मणि लङ्, 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति वचनात्। रचनापाटवेन सर्वत्र पुष्पवितानभ्रान्तिता बद्ध्वा इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अन्वयः—तथा अधिवासनात् मधुव्रतानाम् अपि दत्तविभ्रमाः आतपनिर्भयाः पटच्छिदा अकालिकपुष्पजाः स्रजः तदा पथां वितानताम् अनीयन्त।

हिन्दी—उस प्रकार की (अकृत्रिम प्रतीत होने वाली) अधिवासना (सुगंधित करने) से युक्त कि मधु के व्रती (सदा मधु में बसने वाले भ्रमरों) मधुपों को भी भ्रम देती, धूप में न मुर्झायी, कपड़े काट-काट कर टुकड़ों से बनायी गयी उस ऋतु में न फूलने वाले फूलों की मालाएँ उस काल मार्ग का वितान (शामियाना चँदोवा) बन गयीं।

टिप्पणी—मार्गों पर इतनी अधिक मालाएँ टाँगी गयी थीं कि मार्ग पर छायी वे चँदोवों का कार्य कर रही थीं। वे रंग-बिरंगे कपड़ों के टुकड़े

काट कर बनाये गये कपड़े के फूलों की मालाएं थीं, पर उनके रंग औ बनावट तथा उनसे विभिन्न पुष्पों की निकलती, लगायी गयी सुगन्ध इतनी उत्कृष्ट थी कि सब स्वाभाविक लग रहा था। ये फूल-मालाएँ बनावट, रं और सुगन्ध के कारण पूर्णतः वास्तविक लग रही थीं, इतनी कि दिन रा फूलों के मधुपायी, गंधज्ञाता भ्रमर भी उन्हें अकृत्रिम समझ कर उन प गुंजारने लगे। मल्लिनाथ के अनुसार भ्रांतिमद् अलंकार ॥ १४ ॥

विभूषणैः कञ्चुकिता बभुः प्रजा विचित्रचित्रैः स्नपितत्विषो गृहाः ।
बभूव तस्मिन्मणिकुट्टिमैः पुरे वपुः स्वमुर्व्याः परिवर्त्तितोपमम् ॥१५॥

जीवातु—विभूषणैरिति । तस्मिन् पुरे प्रजाः जनाः, 'प्रजाः स्यात् सन्तते जने' इत्यमरः, विभूषणैः अलङ्कारैः, कञ्चुकिताः सञ्जातकञ्चुकाः, सर्वाङ्गीणा भरणाः सत्यः इति भावः, तथा गृहाः विचित्रचित्रैः विविधालेख्यैः स्नपित त्विषः विशुद्धकान्तयः, शोभनदर्शनाः सन्त इत्यर्थः, 'ग्लास्नावनुवमाञ्च' इति स्नातेरनुपसर्गस्य मित्त्वविकल्पात् ह्रस्वत्वम्, बभुः विरेजुः । उर्व्याः तत्रत्यभूमेः, स्वं वपुः निजस्वरूपं, मणीनां कुट्टिमैः मणिबद्धप्रदेशैः, कुट्टेन बन्धेन निर्वृत्त कुट्टिमं 'भावप्रत्ययान्तादिमप् वक्तव्यः' । 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः' इति स्वामी, परिवर्त्तितोपमम् अन्यादृशोपमानं, बभूव, पूर्वं नगरस्य यादृशी उपमा आसीत् इदानीमलङ्कृतत्वात् तादृशी उपमा नासीत् इति भावः ॥ १५ ॥

अन्वयः—तस्मिन् पुरे प्रजाः विभूषणैः कञ्चुकिताः, गृहाः विचित्र चित्रैः स्नपितत्विषः बभुः उर्व्याः स्वं वपुः मणिकुट्टिमैः परिवर्त्तितोपमं बभूव ।

हिन्दी—उस (विदर्भ) नगर में प्रजाजन आभूषणों से सर्वांगच्छादित और आभा में नहाये जैसे ही शोभित हुए। धरती के अपने शरीर का मणि-जटित फ़र्शों के कारण उपमान ही परिवर्तित हो गया।

टिप्पणी—प्रजाजन विविध आभूषणों को सर्वांग में धारण कर सज गये। घरों में ऐसे चित्र लगा दिये गये कि उनमें आलिखित वन, बाग, जीव-जंतु-सभी आश्चर्य-जनक रूप में अकृत्रिम लगते थे। धरती के फर्श पर इतनी मणियाँ और इतने रत्न जड़े गये कि उसकी काया ही बदल गयी। रूपांतर ही हो गया धरती का, लगा कि ब्रह्मा ने माटी की धरती रत्नों की बना दी। लगा कि वह धरती नहीं है, रमणीय पाताल है, जो उलट कर

ऊपर आ गया है। लगा कि उपमेयोपमान परिवर्तित हो गये। अब धरती उपमेय नहीं, उपमान है। अब कहा जाना चाहिए कि स्वर्ग धरती के समान है, पाताल धरती सदृश है, धरती स्वर्ग पाताल सी नहीं। भाव यह है कि सब सज गये, मनुष्य, घर, धरती। सब कुछ परिवर्तित, अपूर्व, सुन्दरतम दीखने लगा ॥ १५ ॥

तदा निसस्वानतमां घनं घनं ननाद तस्मिन्नितरां ततं ततम्।
अवापुरुच्चैः सुषिराणि राणितामगानमानद्धमियत्तयाऽध्वनीत् ॥ १६ ॥

जीवातु—तदेति। तदा आसन्नविवाहमहोत्सवकाले, तस्मिन् पुरे घनं कांस्यतालादिवाद्यं, घनं निरन्तरं यथा स्यात् तथा, निसस्वानतमाम् अतिशयेन दध्वान 'किमेत्तिङव्ययघादामु—' इत्यादिना आमु–प्रत्ययः। ततं वीणादिवाद्यं, नितराम् अतिशयितम्, पूर्ववदामु–प्रत्ययः, ततं विस्तृतं यथा तथा, ननाद। सुषिराणि वंशादिवाद्यानि, उच्चैः उच्चैस्तरां राणितां राणनं, ध्वननमित्यर्थः 'रणतर्ण्यन्ताद्भाव क्तः' अवापुः। आनद्धं मुरजादिवाद्यम्, इयत्तया केनचित् मानेन, अमानं मानरहितं यथा तथा, अध्वनीत् दध्वान, ध्वनतर्लुङ्। 'अतो हलादेर्लघोः' इति विकल्पात् वृद्धिप्रतिषेधः। 'ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम्। वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम् ॥' इत्यमरः ॥ १६ ॥

अन्वय—तदा तस्मिन् घनं घनं निसस्वानतमां, ततं ततं नितरां ननाद, सुषिराणि उच्चैः राणिताम् अवापुः, आनद्धम् इयत्तया अमानम् अध्वनीत्।

हिन्दी—उस काल (विवाहोत्सव में अथवा नल के आगमन पर) उस (विदर्भ पुरी) में कांस्य तालादि (मंजीरा, करताल, ताल आदि) 'घन' वाद्य पर्याप्त शब्द करते बजने लगे वीणादि 'तत' वाद्य निरन्तर झंकारने लगे छिद्र वाले बाँसुरी आदि 'सुषिर' वाद्य उच्च स्वर में बजाये गये और मुरज, ढोलक, मृदंग आदि 'आनद्ध' वाद्य बहुत अधिक मात्रा में बजाये गये।

टिप्पणी—भाव यह कि विवाह मंगलावसर पर वर नल के कुण्डिन पुरी में पधारने में चारों प्रकार के घन, तत, सुषिर और आनद्ध वाद्य बजाये गये। अमरकोष के अनुसार 'ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम्। वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकम् घनम् ॥' भारतीय नाट्य-शास्त्रियों के अनुसार वाद्य चतुर्विध है—(१) तत अर्थात् तारवाले वीणा आदि वाद्य (२)

अवनद्ध अर्थात् चमड़े से मढ़े मृदंग, पटह आदि, (३) घन अर्थात् झल्लरी ताल वाद्य और (४) सुषिर अर्थात् वंश वाद्य वेणु आदि। द्रष्टव्य भरत-मुनि का 'नाट्यशास्त्र' ॥ १६ ॥

विपञ्चिराच्छादि न वेणुभिर्न ते प्रणीतगीतैर्न च तेऽपि झर्झरैः।
न ते हुडुक्केन न सोऽपि ढक्कया न मर्दलैः साऽपि न तेऽपि ढक्कया ॥

जीवातु—विपञ्चिरिति। विपञ्चिः वीणा 'विपञ्चिर्वल्लकी वीणा' इति वैजयन्ती। 'कृदिकारात्—' इति विकल्पादीकाराभावः। वेणुभिः वेणुवाद्यैः, न आच्छादि न छादिता, न तिरोहितेत्यर्थः छादयतेः कर्मणि लुङ्, ते वेणवः, प्रणीतगीतः प्रयुक्तगानैः, गायकैरित्यर्थः। गीतनिःस्वनैरिति यावत्, न, आच्छादिषत इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः, एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। तेऽपि च गायकध्वनयश्च, झर्झरैः वाद्यविशेषैः, तद्ध्वनिभिरित्यर्थः। न, आच्छादिषत, ते झर्झरध्वनयः, हुडुक्केन वाद्यविशेषेण, न, आच्छादिषत, सोऽपि हुडुक्कोऽपि, ढक्कया वाद्यविशेषेण, न, आच्छादि, साऽपि ढक्काऽपि, मर्दलैः मृदङ्गध्वनिभिः, न, आच्छादि, तेऽपि मर्दलानां ध्वनयोऽपि, ढक्कया न, आच्छादिषत, वादकजनानां तथा वादननैपुण्यं, यथा विपञ्च्यादिध्वनयः प्रत्येकमसंश्लिष्टं श्रुता इति भावः ॥ १७ ॥

अन्वयः—विपञ्चिः वेणुभिः न आच्छादि, ते च प्रणीतगीतैः न, ते अपि झर्झरैः न, ते हुडुक्केन न, सः अपि ढक्कया न, सा अपि मर्दलैः न, ते अपि ढक्कया न।

हिन्दी—वीणा (ध्वनि) वंशवाद्यों से आच्छादित न हुई और वे (वंश वाद्य) गाये जाते गीतों से न दबे, गीत भी झांझों (कांसवाद्यों) से न आच्छन्न हुए वे (कांसवाद्य) हुडुक (नाम के वाद्य) से न दबे और वह (हुडुक) भी ढक्का (डमरू-नगाड़ा आदि) से न आच्छन्न हुआ और वह (ढक्का) भी मृदंगों से न दबी और न उस (ढक्का) से वे (मर्दल) ही आच्छन्न हुए।

टिप्पणी—भाव यह कि उस समय विभिन्न प्रकार के वाद्य बज रहे थे और गायक भी द्रुत-मध्यादि मूर्च्छनापूर्वक उच्च स्वर में गा रहे थे। परन्तु उन सबका इस कौशल से आयोजन हो रहा था कि वे एक-दूसरे को दबा नहीं

रहे थे। सब स्पष्ट सुनायी दे रहे थे और श्रोता जन सबका आनद ले सकते थे ॥ १७ ॥

विचित्रवादित्रनिनादमूर्च्छितः सुदूरचारी जनतामुखारवः।
ममौ न कर्णेषु दिगन्तदन्तिना पयोधिपूरप्रतिनादमेदुरः ॥ १८ ॥

जीवातु—विचित्रेति। विचित्राणि नानाविधानि, वादित्राणि ततादिवाद्यानि 'चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम्' इत्यमरः, तेषां निनादैर्ध्वनिभिः, मूर्च्छितः प्रवृद्धः सुदूरचारी अतिदूरव्यापी, जनतानां जनसमूहानां, मुखेषु आरवः शब्दः, लोकालापकोलाहल इत्यर्थः। पयोधीनां पूरेषु लहरीषु, प्रतिनादेन प्रतिध्वनिना, मेदुरः मेदस्वी, प्रवृद्धः सन् इत्यर्थः। 'मञ्जभासमिदा घुरच्' इति मिदधातोर्घुरच्प्रत्ययः। दिगन्तदन्तिनां दिग्गजानां कर्णेषु न ममौ न माति स्मेति अतिशयोक्तिः। वधूमङ्गलस्नानार्थं महान्तं मङ्गलतूर्यघोषणमकार्षुरित्यर्थः। उच्चैर्वादितविविधवाद्यनिनादेन सह मिलित तमस्तजनानां महान् कलकलः कर्णबधिरकारी अभूदिति भावः ॥ १८ ॥

अन्वय—विचित्रवादित्रनिनादमूर्च्छितः सुदूरचारी जनतामुखारवः पयोधिपूरप्रतिनादमेदुरः दिगन्तदन्तिनां कर्णेषु न ममौ।

हिन्दी—नाना प्रकार के बाजों की ध्वनि से प्रवृद्ध, बहुत दूर तक जाता जनता (जन समूह) के मुख का शब्द (कोलाहल) सागर तट से टकराते प्रवाह की प्रतिध्वनि से परिपुष्ट हो दिग्गजों के कानों में न समा रहा था।

टिप्पणी—प्रचुर वाद्य ध्वनि के साथ उपस्थित जनों का कोलाहल मिल कर इतनी अधिक मात्रा में हो रहा था कि समुद्र प्रवाह जैसे तट से टकरा कर अत्यधिक शब्द कर रहा हो। सागर-तरंगों से परिपुष्ट वह प्रचुर शब्द दिग्गजों के कानों में भी न समा न रहा था। भाव यह कि वह तुमुल शब्द दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गया। कोलाहल जैसे कान बहिर करने लगा ॥ १८ ॥

उदस्य कुम्भीरथ शातकुम्भजाश्चतुष्कचारुत्विषि वेदिकोदरे।
यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूव ताम् ॥ १९ ॥

जीवातु—उदस्येति। अथ मङ्गलतूर्यघोषणानन्तरं, पुरन्ध्रिवर्गः पुरवासिनीसङ्घः, शातकुम्भजाः सौवर्णीः, कुम्भीः पूर्णकुम्भीः, उदस्य उत्क्षिप्य, अथ

तदनन्तरं, मङ्गलं यथा तथा मङ्गलगीतपूर्वं यथा तथा वा इत्यर्थः। 'मङ्गलानन्तरारम्भ-प्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः। चतुष्केण चतुःस्तम्भमण्डपेन, चारुत्विषि अतिशयशोभे, वेदिकोदरे वेदिमध्ये, यथाकुलाचारम् कुलाचारम् अनतिक्रम्य इत्यर्थः, ताम् अवनीन्द्रजां भैमीं, स्नपयाम्बभूव स्नानं कारयामास। 'ग्लास्नावनु—' इत्यादिना स्नातेर्मित्वविकल्पात् ह्रस्वत्वम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—अथ पुरन्ध्रिवर्गः चतुष्कचारुत्विषि वेदिकोदरे शातकुम्भजाः कुम्भीः उदस्य यथाकुलाचारम् अथ ताम् अवनीन्द्रजां स्नपयाम्बभूव।

हिन्दी—तत्पश्चात् (वाद्यवादन के अनन्तर) नागरिकाएँ चतुःस्तंभ-मंडित अथवा चतुष्क नामक नानाविध रंगों से कल्पित स्वस्तिका आदि से सुसज्जित रमणीय शोभायुक्त वेदी के मध्य, सुवर्ण-निर्मित कलशियाँ उड़ेल कर, कुलाचार के अनुसार, मंगलगान करतीं उस राजकुमारी (दमयंती) को स्नान कराने लगीं।

टिप्पणी—भाव यह कि सर्वतः सुसज्जित वेदी पर मंगलगान करतीं नारिजनोचित कुलाचार जानने वाली नागरियाँ दमयन्ती को विवाहस्नान करा रही थीं ॥ १९ ॥

विजित्य दास्यादिव वारिहारितामवापितास्तत्कुचयोर्द्वयेन ताः।
शिखामवाप्तुः सहकारशाखिनस्त्रपाभरम्लानिमिवाननैर्मुखं ॥२०॥

जीवातु—विजित्येति। तत्कुचयोः द्वयेन भैमीस्तनद्वयेन, विजित्य दास्यात् दासीकरणादिव, वारिहारितां जलवाहिनीत्वम्, अवापिताः प्रापिताः, आपेर्ण्यन्तादणिकर्त्तुः कर्मणि क्तः, 'ण्यन्ते कर्त्तुश्च कर्मणः' इति वचनात्। ताः कुम्भाः, आननैः अवनतैः मुखैः द्वारैः, द्वारावोदेशे इत्यर्थः। आननैश्च, सहकारशाखिनः शिखां चूतपल्लवं, त्रपाभरेण या म्लानिः म्लानता तामिव, चूतपल्लवरूपम्लानतामेव, दास्यजनितलज्जयेति भावः। अवाप्तुः अवापुः, वहेर्लुङि सिचि 'वदव्रज—' इत्यादिना वृद्धिः, 'होढः' इति ढः, 'षढोः कः सि' इति कत्वे 'इण्कोः' इति षत्वं, 'सिजभ्यस्त—' इत्यादिना झेर्जुसि अडागमः। प्रतिगृहद्वारप्रान्ते सहकारशाखाच्छादितमुखपूर्णकुम्भाः संस्थापिता अभूवन् इति भावः। लोके दासीकृताः स्त्रियो नताननाः म्लानमुखकान्तयः जलाहरणादिकर्म कुर्वन्तीति दृश्यते। अत्र दास्यादिवेति हेतूत्प्रेक्षा, म्लानिमिवेति गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा, तयोरङ्गाङ्गिभावेन सजातीयसङ्करः ॥ २० ॥

अन्वयः—तत्कुचयोः द्वयेन विजित्य दास्यात् इव वारिहारिताम् अवापिताः ताः आननं मुखं सहकारशाखिनः शिखा त्रपाभरग्लानिम् इव अवाप्नुः ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) के कुचयुगल से विजित मानो दासीत्व के कारण पनहारियों के भाव को प्राप्त वे (स्वर्णकलशियाँ) नीचा मुख किये आम्र के पल्लव को लज्जाजनित कालिमा के तुल्य धारण कर रही थीं ।

टिप्पणी—दमयन्ती को कुलाचार के अनुसार आम्रपल्लवों से युक्त स्वर्णकलशियाँ उड़ेल कर स्नान कराया जा रहा था। स्वर्णकलशियाँ जल ढालने वाली पनहारियों का कार्य कर रही थीं—वे दासी पनिहारियों के तुल्य हो रही थीं, उनके मुख स्नान कराते समय नीचे हो जाते थे—उलटने पर। लगे आम्रपल्लव की छाया एक वैवर्ण्य—कालिमा-सी प्रतीत हो रही थी। इसी आधार पर यह उद्भावना की गयी है कि दमयन्ती के कुच काठिन्य के समक्ष पराजित स्वर्ण कलशियाँ दासियाँ—पनिहारिनें बन गयीं। स्वर्ण से निर्मित श्रेष्ठ कलशियाँ दासी हो गयीं। इसी लज्जा से काला मुख—विवर्ण नीचा मुख लिये दासियों के सदृश दमयन्ती को स्नान करा रही थीं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ 'दास्यादिव' यह हेतूत्प्रेक्षा है और 'ग्लानिमिव' गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा, इन दोनों उत्प्रेक्षाओं का अङ्गाङ्गिभाव से सजातीय सङ्कर है।

असौ मुहुर्जातजलाभिषेचना क्रमाद्दुकूलेन सितांशुनोज्ज्वला ।
द्वयस्य वर्षाशरदो सदातनीं सनाभितां साधु बबन्ध सन्ध्यया ॥ २१ ॥

जीवातु—असाविति । असौ भैमी, मुहुः जातं जलाभिषेचनं यस्याः सा तादृशी जलाभिषिक्ता सती, तथा सितांशुना शुभ्रसूत्रघटितेन, दुकूलेन पट्टवस्त्रेण, सिताः शुभ्राः अंशवः किरणा यस्य तेन चन्द्रेण च, उज्ज्वला शोभिता, सती, क्रमात् वर्षाशरदोः द्वयस्य सन्ध्यया सन्धिस्थलेन, वर्षर्तुशेषशरदृतुप्रारम्भद्वयमध्यवर्तिकालेनेत्यर्थः । सदातनीं सनातनीं, सनाभितां तुल्यत्वं, साधु यथा तथा बबन्ध दधार । वर्षर्तुरपि जलाभिषिक्तः शरच्च सीतांशूज्ज्वलो भवतीत्युपमा ॥ २१ ॥

अन्वय—मुहुर्जातजलाभिषेचना सितांशुना दुकूलेन उज्ज्वला असौ क्रमात् वर्षाशरदोः द्वयस्य सन्ध्यया सदातनीं सनाभितां साधु बबन्ध ।

हिन्दी--भली भाँति जल में स्नान कर शुभ्र सूत्रों से बुने दुपट्टे से उज्ज्वल (शोभित) वह (दमयन्ती) क्रम से वर्षा और शरत्काल--दोनों की सध्या से सनातन समानता को भलीभाँति धारण कर रही थी।

टिप्पणी—दमयन्ती ने स्नान किया, तदनन्तर स्वच्छ दुकूल-धारण कर सुसज्जित हुई। स्नान करके वह स्वच्छ वर्षा-काल के सदृश लग रही थी, जल से भीगी; जब स्वच्छ शुभ्र चन्द्र-सदृश दुपट्टा ओढ़ लिया तो शरत्काल-सी लगने लगी। इस प्रकार दमयन्ती ने क्रमशः वर्षा और शरद्–दोनों की समानता प्राप्त कर ली। वर्षा जलाभिषिक्त होती ही है और शरद् शीतांशु (चन्द्र) से उज्ज्वल। दुकूल जैसे चाँदनी के तारों से बुना था। मल्लिनाथ के अनुसार उपमा॥ २१॥

असौ प्रभिन्नाम्बुददुर्दिनीकृतां निनिन्द चन्द्रद्युतिसुन्दरीं दिवम्।
शिरोरुहौघेण घनेन संयुता तथा दुकूलेन सितांशुनोज्ज्वला॥ २२॥

जीवातु--असाविति। घनेन सान्द्रेण, शिरोरुहौघेण केशपाशेन, घनेन मेघेन च, संयुता विशिष्टा, इति वर्षासाम्योक्तिः, तथा सितांशुना शुभ्रसूत्र-घटितेन दुकूलेन पट्टवस्त्रेण, उज्ज्वला शोभिता, शीतांशुना चन्द्रेण च, उज्ज्वला, इति शरत्साम्योक्तिः, असौ भैमी, प्रभिन्नैः वर्षुकैः, अम्बुदैः गाढकृष्णवर्णमेघैः दुर्दिनीकृताम् अभिवृष्टामित्यर्थः। तथा चन्द्रद्युत्या चन्द्रकान्त्या, सुन्दरीं दिवं नभःस्थलीं, निनिन्द तदुपमा अभूदित्यर्थः। कदर्थयति निन्दतीति सादृश्यवाचकेषु दण्डी इति उपमालङ्कारः॥ २२॥

अन्वयः--घनेन शिरोरुहौघेण संयुता तथा सितांशुना दुकूलेन उज्ज्वला असौ प्रभिन्नाम्बुदुर्दिनीकृता चन्द्रद्युतिसुन्दरी दिवं निनिन्द।

हिन्दी—घन (मेघ) सदृश घने केश-समूह से युक्त और शुभ्र-किरण चन्द्र-सदृश श्वेत दुपट्टे से उज्ज्वल (शोभित) वह (दमयन्ती) बरसने को उद्यत घने काले मेघों से जलप्लाविता चन्द्रकांति (चाँदनी) से सुन्दर गगनस्थली को (अपने संमुख) निन्दा कर रही थी।

टिप्पणी—घने काले केशपाशों के कारण मेघमेदुरा और चाँदनी-से दुकूल के धारण के कारण चन्द्रोज्ज्वला लगती दमयन्ती की शोभा के संमुख मेघमेदुरा, चन्द्रोज्ज्वला गगनस्थली निम्न प्रतीत होती थी। मल्लिनाथ ने

'निन्दा' को दण्डी के अनुसार सादृश्य-वाचक मानते हुए यहाँ उपमालकार का निर्देश किया है ॥ २२ ॥

विरेजिरे तच्चिकुरोत्कराः किराः क्षणं गलन्निर्मलवारिविप्रुषाम् ।
तमःसुहृच्चामरनिर्जयार्जिताः सिता वमन्तः खलु कीर्तिमौक्तिकाः ॥२३॥

जीवातु—विरेजिरे इति । क्षणं क्षणमात्रं, गलन्त्य स्रवन्त्यः, निर्मलाः स्वच्छाश्च, याः वारिविप्रुषः तोयबिन्दवः तासां, कृद्योगात् कर्मणि षष्ठी । किरन्तीति किराः विक्षेपकाः, स्वच्छजलबिन्दुस्राविण इत्यर्थः । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कः । तस्याः भैम्याः, चिकुरोत्कराः केशनिकराः, तमःसुहृदः तमोनिभस्य, चामरस्य वालव्यजनस्य, कृष्णवर्णचामरस्येत्यर्थः । निर्जयेन पराजयेन, अर्जिताः, सम्पादिताः, सिताः शुभ्राः, मुक्ताः एव मौक्तिकाः, 'अभाषितपुंस्काच्च—' इति कात् पूर्वस्य विकल्पादिकारः । कीर्तय एव मौक्तिकाः मुक्ताफलानि, वमन्तः उद्गिरन्त इव, इत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या, अथवा खलुशब्द एव इवार्थे प्रयुक्तः तेन वाच्योत्प्रेक्षैव, विरेजिरे लघु । 'फणाञ्च सप्तानाम्' इत्येत्वाभ्यासलोपौ ॥ २३ ॥

अन्वयः—क्षणं गलन्निर्मलवारिविप्रुषां किराः तच्चिकुरोत्कराः तमःसुहृच्चामरनिर्जया अर्जिताः सिताः कीर्तिमौक्तिकाः वमन्तः खलु विरेजिरे ।

हिन्दी—कुछ काल तक टपकते निर्मल जल कणों के उन्मोचक उस (दमयन्ती) के केश अन्धकार के मित्र (अंधेरे जैसे काले) चामरों को पराजित करने से प्राप्त शुभ्र यश रूप मोती उगलते जैसे सुशोभित हो रहे थे ।

टिप्पणी—स्नान करके तुरन्त निवृत्त दमयन्ती के कृष्णचामर जैसे घने काले केशों से स्वच्छ जल-कण टपक रहे थे । ऐसा लग रहा था कि श्यामता की प्रतिद्वंद्विता में घने काले चामरों को पराजित कर दमयन्ती के केशों ने जो मुक्तासदृश स्वच्छ कीर्ति अर्जित की उसी के कणों को वे टपका रहे हैं । कृष्णचामरों से भी अधिक श्याम दमयन्ती के केश थे । काले, घन, कोमल । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है, जो व्यंजक का प्रयोग न होने से गम्या है और यदि 'खलु' को एवार्थक मान लिया जाय तो वाच्या ।

प्रदीयसा स्नानजलस्य वाससा प्रमार्जनेनाधिकमुज्ज्वलीकृता ।
अदभ्रमभ्राजत साऽश्मशाणनात् प्रकाशरोचिः प्रतिमेव हैमजा ॥२४॥

जीवातु—म्रदीयसेति। म्रदीयसा मृदुतरेण, वाससा गात्रमार्जनवस्त्रेण, स्नानजलस्य स्नानहेतोः अङ्गसङ्गिनः जलस्य, प्रमार्जनेन अपाकरणेन, अधिकम् उज्ज्वलीकृता विमलीकृता, सा भैमी, अश्मशाणनात् अश्मना उत्तेजनोपलेन, शाणनात् उद्घर्षणात् प्रकाशम् उज्ज्वलं, रोचिः दीप्तिः यस्याः सा तादृशी, हेमजा हैमी, प्रतिमा इव अदभ्रं बहुलम्, अभ्राजत अराजत ॥ २४ ॥

अन्वयः—म्रदीयसा वाससा स्नानजलस्य प्रमार्जनेन अधिकम् उज्ज्वलीकृता सा अश्मशाणनात् प्रकाशरोचिः हेमजा प्रतिमा इव अदभ्रम् अभ्राजत।

हिन्दी—अत्यन्त मुलायम वस्त्र से स्नान-जल के पोंछ दिये जाने के कारण और भी उज्ज्वल हुई वह (दमयन्ती) पत्थर पर घिसे जाने से अतिशय दीप्त कांति वाली स्वर्ण-निर्मित मूर्त्ति के समान सुशोभित हुई।

टिप्पणी—दमयन्ती स्वयं ही गौर और स्वच्छ थी, किन्तु स्नानोपरांत जब वस्त्र से उसका मार्जन हो गया तो और भी निर्मल-स्वच्छ दमकने लगी। उसकी समानता उस स्वर्णप्रतिमा से की गयी है, जो पत्थर पर घिस दिये जाने—सान चढ़ाये जाने पर और-भी दमक उठती है ॥ २४ ॥

तदा तदङ्गस्य बिभर्ति विभ्रमं विलेपनामोदमुचः स्फुरद्रुचः।
दरस्फुटत्काञ्चनकेतकीदलात् सुवर्णमभ्यस्यति सौरभं यदि ॥ २५ ॥

जीवातु—तदेति। सुवर्णं कर्तृ, दरस्फुटतः ईषद्विकसतः। 'ईषदर्थे दरा-ऽव्ययम्' इति शाश्वतः। काञ्चनकेतकीदलात् काञ्चनवर्णकेतकीपत्रात्। 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानत्वात् पञ्चमी। सौरभम् आमोदम्, अभ्यस्यति यदि अधीते चेत्, गृह्णाति चेदित्यर्थः। तदा तर्हि, विलेपनेन अङ्गरागेण, यः आमोदः मनोज्ञगन्धः तं मुञ्चति किरतीति तन्मुचः, स्फुरद्रुचः उज्ज्वलकान्तेः, तदङ्गस्य चन्दनादिसुगन्धिद्रव्यचर्चितदमयन्तीकलेवरस्य, विभ्रममिव विभ्रमं शोभाम्। 'विभ्रमः संशये भ्रान्तौ शोभायाम्' इति वैजयन्ती। बिभर्ति। तथा च तदङ्गस्य सौरभगुणेन तद्रहितात् सुवर्णादाधिक्यकथना-द्व्यतिरेकस्तावदेकः, यदिशब्देन सुवर्णस्य सौरभासम्बन्धेऽपि सम्भावनया तत्स-म्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः, विभ्रममिव विभ्रममिति साक्ष्याक्षेपादसम्भवद्वस्तु-सम्बन्धरूपो निदर्शनाभेदः, तदङ्गोपमानसुवर्णस्योपमेयत्वकल्पनात् प्रतीपाल-ङ्कारः, तेन चाङ्गिनाङ्गत्वेन तेषां सङ्कर इति विवेकः ॥ २५ ॥

अन्वय.—यदि सुवर्णं दरस्फुटत्काञ्चनकेतकीदलात् सौरभम् अभ्यस्यति तदा विलेपनामोदमुचः स्फुरद्रुचः तदङ्गस्य विभ्रमं बिभर्ति।

हिन्दी—यदि सोना कुछ खिले सुवर्ण केतकी के दल (पत्र) से सुगंध का अभ्यास (ग्रहण) करे तब अंगराग की सुगंध फैलाते स्वाभाविक गौर आभावाले उस (दमयन्ती) के अंग (देह) के विलास अथवा भ्रांति अथवा शोभा को धारण कर सकता है।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती का विभिन्न सुगंधि द्रव्यों के अंगराग से रंजित देह सुगंधि-सुवर्ण-सम या अथवा सुगंधि-स्वर्ण भी दमयन्ती-देह के समक्ष नगण्य था। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सुगंध हीन सुवर्ण की अपेक्षा सुगंधि दमयन्ती का अंग कहा गया है, अत व्यतिरेक है और 'यदि' शब्द द्वारा सुवर्ण का सुगंध से संबंध न होने पर भी संभावना द्वारा उसके संबंध का कथन होने से अतिशयोक्ति है तथा विभ्रम के तुल्य विभ्रम—इस सादृश्य का आक्षेप होने से असम्बद्वस्तुसम्बन्ध रूप निदर्शना का भेद है और दमयन्ती के अंग के उपमान सुवर्ण की उपमेयरूप में कल्पना करने के कारण प्रतीप है। इस प्रकार व्यतिरेक अतिशयोक्ति-निदर्शना-प्रतीप अलकारों का संकर है॥२५॥

अवापितायाः शुचि वेदिकान्तरं कलासु तस्याः सकलासु पण्डिताः।
क्षणेन सख्यश्चिरशिक्षणस्फुटं प्रतिप्रतीकं प्रतिकर्म निर्ममुः॥२६॥

जीवातु—अवापितायाः इति। सकलासु कलासु शिल्पविद्यासु, 'कला शिल्पे कालभेदेऽपि' इत्यमरः, पण्डिताः कुशलाः, सख्यः शुचि शुद्धं, वेदिकान्तरं स्नानवेदिं अन्यां वेदिम् अवापितायाः नीतायाः, तस्याः दमयन्त्याः, प्रतिप्रतीकं प्रत्यवयवम्, 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवः' इत्यमरः, प्रतिकर्म प्रसाधनं, 'प्रतिकर्म प्रसाधनम्' इत्यमरः। चिरशिक्षणेन चिराभ्यासेन, क्षणेन क्षणकालेनैव, स्फुटं सुस्पष्टं निर्ममुः चक्रुरित्यर्थः॥२६॥

अन्वय.—सकलासु कलासु पण्डिताः तस्याः सख्यः शुचि वेदिकान्तरम् अवापितायाः तस्याः प्रतिप्रतीकं प्रतिकर्म चिरशिक्षणस्फुटं क्षणेन निर्ममुः।

हिन्दी—समस्त शिल्पादि कलाओं में प्रवीण उस (दमयन्ती) की सखियों ने शुद्ध (गोबर आदि से लिपी, स्वच्छ) अन्य वेदी पर ले आयी गयी उस (दमयन्ती) के प्रत्येक अंग का प्रसाधन (शृङ्गार), चिर काल से अभ्यास होने के कारण क्षण भर में ही कर दिया।

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि अत्यन्त शीघ्र ही दमयन्ती के प्रत्यङ्ग का शृङ्गार हो गया। उसकी सखियों ने अविलम्ब ही यह कर दिया, क्योंकि वे सभी शिल्पों की भलीभाँति जानकार थी ॥ २६ ॥

विनाऽपि भूषामवधिः श्रियामियं व्यभूषि विज्ञाभिरदर्शि चाधिका।
न भूषयैषाऽतिचकास्ति किन्तु साऽनयेति कस्यास्तु विचारचातुरी?॥२७॥

जीवातु—विनेति। भूषां विनाऽपि अलङ्कारमन्तरेणाऽपि, श्रियां शोभानाम्, अवधिः सीमाभूता:, इयं भैमी, विज्ञाभिः अलङ्करणे निपुणाभिः 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञ-विज्ञनिष्णातशिक्षिताः' इत्यमरः, व्यभूषि विभूषिता, तथा अधिका पूर्वावस्थातोऽप्युत्कृष्टा, अदर्शि दृष्टा च, तादृशी अमानीत्यर्थः। वस्तुतस्तु एषा भैमी, भूषया नातिचकास्ति नात्यर्थं शोभते, किन्तु सा भूषैव, अनया, भैम्या, अतिचकास्तीति विचारचातुरी विमर्शनकौशलं, भूषैव भैम्या अतिचकास्तीति निश्चयनैपुण्यमित्यर्थः, कस्यास्तु? न कस्यापीत्यर्थः। अनयैव भूषणं भूषितं न तु भूषणेनेयम् इति निश्चे तु सामर्थ्याभावादेव भूषणानामधिकशोभाकारित्वमिति सर्वासां भ्रान्तिरिति भावः ॥ २७ ॥

अन्वयः—भूषां विना अपि श्रियाम् अवधिः इयं विज्ञाभिः व्यभूषि अधिका च अदर्शि, एषा भूषया न अतिचकास्ति किंतु सा अनया—इति विचारचातुरी कस्य अस्तु।

हिन्दी—शृङ्गार के विना भी शोभाश्री की सीमा (पराकोटि) इस (दमयन्ती) को प्रवीण सखियों ने भलीभाँति सजाया और अधिक शोभासंपन्ना (उसे) देखा। यह (दमयन्ती) शृङ्गार से अधिक शोभित नहीं होती, प्रत्युत शृङ्गार ही उससे शोभित होता है—ऐसी विचार-चतुरता (भली समझ) किनको हो?

टिप्पणी—वस्तुतः दमयन्ती तो निसर्गरमणीय थी, उसे शोभा की आवश्यकता ही नहीं थी। शृङ्गार ही उससे शोभा पाता था, वह शृङ्गार से नहीं। इसको किसी ने नहीं समझा और उसका शृङ्गार कर दिया। 'भूषा' ही उससे गौरवान्वित हुई। अथवा सखियों ने दमयन्ती को सजाया और भलीभाँति देखा। ऐसी विचार-चातुरी उन्हीं में आयी कि दमयन्ती की शोभा भूषा से नहीं बढ़ी प्रत्युत भूषा ही उससे शोभित हो गयी। अथवा ऐसा

न्बुद्धि सभी को हुई। तात्पर्य यही है कि दमयन्ती का प्रसाधन हुआ और वह अधिक शोभा सम्पन्न दीखने लगी, भले ही शृङ्गार उस पर सजा। शृङ्गार भी जिस पर खिल जाय, वह निसर्ग सुन्दरी तो होगी ही। ऐसी ही रमणी का शृङ्गार होना चाहिए, जिस पर वह शोभा पासके। दमयन्ती ऐसी ही थी कि उसका शृङ्गार सुहाना प्रतीत होकर दर्शनीय हो गया। मल्लिनाथ के अनुसार दमयन्ती से ही भूषण भूषित हुए, न कि भूषणों से दमयन्ती—इसका निश्चय करने के सामर्थ्य का अभाव होने से ही सबको यह भ्रान्ति हुई कि भूषण अधिक शोभाकारी हैं। नारायण के अनुसार ऐसी विचारचातुरी या तो सृष्टिकर्ता में थी या फिर कवि श्रीहर्ष में, अन्य किसी में नहीं ॥ २७ ॥

विधाय बन्धूकपयोजपूजनं कृतां विधोर्गन्धफलीवलिश्रियम्।
निनिन्द लब्धाधरलोचनार्चनं मनःशिलाचित्रकमेत्य तन्मुखम् ॥ २८ ॥

जीवातु—विधायेति। लब्धम् अधिगतम्, अधराभ्यामोष्ठाभ्यां, लोचनाभ्याञ्च अर्चनं येन तत् तादृशम् अधरलोचनाभ्यां रमणीयमित्यर्थः। तन्मुखं भैमीवदनं कर्तृ मनःशिलया पीतवर्णधातुविशेषेण, चित्रकं तिलकम् 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्' इत्यमरः, एत्य प्राप्य, विधोः चन्द्रस्य, बन्धूकेन बन्धूजीवकाख्यरक्तवर्णकुसुमेन, पयोजाभ्यां नीलोत्पलाभ्याञ्च, पूजनं विधाय कृत्वा, कृतां गन्धफल्या पीताभचम्पककलिकया 'अथ चाम्पेयश्चम्पको हेमपुष्पकः। एतस्य कलिका गन्धफली स्यात्' इत्यमरः, बलेः पूजनस्य, श्रियं शोभां, निनिन्द, अधराद्यञ्चितं तन्मुखं बन्धूकाद्यञ्चितं चन्द्रबिम्बमिव बभौ इत्यर्थः ॥ २८ ॥

अन्वय.—लब्धाधरलोचनार्चनं तन्मुखं मनःशिलाचित्रकम् एत्य विधोः बन्धूकपयोजपूजनं विधाय कृतां गन्धफलीवलिश्रियं निनिन्द।

हिन्दी—अधर और लोचनों से पूजा प्राप्त (रमणीय) उस (दमयन्ती) का मुख मैनसिल नाम की गौर-पीत धातु से लगाये तिलक को प्राप्त कर चन्द्र की दोपहरिया के लाल फूल और नील कमलों के द्वारा पूजा करके पीले रंग की गंध फली (चम्पा की कली) के पूजन में ऊपर रखने से हुई शोभा की निन्दा कर रहा था।

टिप्पणी—दमयन्ती के अधर दोपहरिया के फूलों से लाल थे और नयन

नीलकमलों जैसे। ऐसे अधर-लोचनों से रमणीय मुख पर मैनसिल का तिलक लगा दिया गया। इस प्रकार मंडित दमयन्ती का मुख उस चन्द्रमा से अधिक सुन्दर लगने लगा, जिसकी दोपहरिया के लाल फूल और नीलकमलों से पूजा करके उस पर चम्पा की कली चढ़ा दी गयी हो। उस समय दमयन्ती-मुख श्री चन्द्र-श्री का तिरस्कार कर रही थी॥ २८॥

महीमघोनां मदनान्धतातमीतमःपटारम्भणतन्तुसन्ततिः।
अबन्धि तन्मूर्द्धजपाशमञ्जरी कयाऽपि धूपग्रहधूमकोमला॥ २९॥

जीवातु—महीति। महीमघोनां भूदेवेन्द्राणां, या मदनान्धता काममूढता, सैव तमी रजनी 'रजनी यामिनी तमी' इत्यमरः। तस्याः तमः एव पटः वस्त्रं, तस्य आरम्भणे निर्माणविषये, तन्तुसन्ततिः तदर्थं तन्तुपुञ्जवत् स्थिता इत्युत्प्रेक्षा, धूपग्रहस्य धूमग्रहणक्षावनीभूतपात्रविशेषस्य, यः धूमः दह्यमान-कर्पूरचन्दनादिजन्यसुगन्धिधूमः तेन कोमला रम्या, तन्मूर्द्धजपाशमञ्जरी, दमयन्तीकेशपाशवल्लरी कयाऽपि सख्या, अबन्धि बद्धा॥ २९॥

अन्वयः—महीमघोनां मदनान्धतातमीतमःपटारम्भणतन्तुसन्ततिः धूप-ग्रहधूमकोमला तन्मूर्द्धजपाशमञ्जरी कया अपि अबन्धि।

हिन्दी—पृथ्वी के इन्द्रों (राजाओं) के कामविकार से उत्पन्न विवेक-शून्यता-रूपिणी रात्रि के अन्धकार रूप वस्त्र बुनने के ताने-बाने-(सूत)-रूप, धूपादि के धुएँ से कोमल (सूखे), उस (दमयन्ती) की केशपाश-रूपिणी मंजरी को किसी सखी ने बाँध दिया।

टिप्पणी—दमयन्ती के सूखे और घने काले केश थे, उन्हें गूँथ कर किसी सखी ने केश-शृङ्गार कर दिया। घने, कोमल और श्याम केशों की तुलना उस काले वस्त्र के ताने-बाने से की गयी है, जिसने धरती के राजाओं को कामविकार से विवेक-शून्य कर दिया था। यही विवेकशून्यता रात्रि थी, जिसका अंधेरा काला आवरण राजाओं की बुद्धि पर पड़ गया था। सुगंधि और लम्बे होने से केशों को मंजरी कहा गया। भाव यह कि दमयन्ती के धूप गंध से सुखाये, घने-लंबे, काले केशों का शृङ्गार एक सखी ने कर दिया, जिसे देखकर नल के अतिरिक्त अन्य राजा कामविकार से विवेकशून्य हो गये॥ २९॥

पुनः पुनः काचन कुर्वती कचच्छटाधिया धूपजधूमसंयमम् ।
सखीस्मितैस्तर्कितनिजभ्रमा बबन्ध तन्मूर्द्धजचामरं चिरात् ॥३०॥

जीवातु—पुनः पुनरिति । कचच्छटाधिया भैमीकेशपाशभ्रान्त्या, धूपजधूमस्य पुनः पुनः संयमं बन्धनं, कुर्वती इति भ्रान्तिमदलङ्कारः । काचन काऽपि सखी, सखीनां स्मितैः तर्कितः ऊहितः, स पूर्वोक्तः, निजभ्रमः यया सा तादृशी सती, चिरात् बहुकालेन, तस्याः मूर्द्धजाः चामरमिव तद्, बबन्ध ॥ ३० ॥

अन्वय—कचच्छटाधिया धूपजधूमसंयमं पुनः पुनः कुर्वती काचन सखी स्मितैः तर्कितनिजभ्रमा तन्मूर्द्धजचामरं चिरात् बबन्ध ।

हिन्दी—(दमयन्ती के) केशपाश के भ्रम से धूप से उत्पन्न धुएँ को बार-बार बाँधती एक सखीने (अन्यसखियों के) मुस्कुराने के कारण अपने उस भ्रम को समझ कर उस (दमयन्ती) के केश रूपी चामर को बहुत विलम्ब से बाँधा ।

टिप्पणी—दमयन्ती के केश घने, सूक्ष्म, लम्बे और अत्यंत श्याम थे, अतः किसी केश-सवारने वाली सखी ने धूप से उठते धुएँ को ही दमयन्ती के केश समझ लिया और केश-भ्रम से धूपजधूम का ही संयमन करने लगी । धूप के धुएँ को संवारती उस सखी के भ्रम को देख अन्य सखियाँ एक दूसरे की ओर देखती मुसकुराने लगी । इस मन्दस्मित से वह केश प्रसाधन करने वाली सखी धूप को धूम समझने की अपनी भ्रांति समझ गयी और घनत्व, सूक्ष्मत्व, श्यामता के कारण चामर से समानता करते लम्बे दमयन्ती के केशों को कुछ विलम्ब से संवारा ॥ ३० ॥

बलस्य कृष्टेव हलेन भाति या कलिन्दकन्या घनभङ्गभङ्गुरा ।
तदार्पितैस्तां करुणस्य कुड्मलैर्जहास तस्याः कुटिला कचच्छटा ॥३१॥

जीवातु—बलस्येति । या कलिन्दकन्या कालिन्दी, बलस्य बलभद्रस्य, हलेन लाङ्गलेन, कृष्टेव अद्यापि आकर्षणविशिष्टेव, घनैः निरन्तरैः, भङ्गैः तरङ्गैः, भङ्गुरा कुटिला, भाति तस्या दमयन्त्याः, कुटिला वक्रा, कचच्छटा केशपाशः, तदा प्रसाधनकाले, अर्पितैः शिरसि न्यस्तैः, करुणस्य वृक्षविशेषस्य, 'करुणस्तु रसे वृक्षे' इति विश्वः । कुड्मलैः मुकुलैः, तां कालिन्दीं, जहास उपहसितवतीवेत्यर्थः । व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्योत्प्रेक्षा । यमुना बल-

रामस्य हलाकर्षणजन्यभङ्गेन भङ्गुरा पुष्पशून्या च, किन्तु भैमीकचच्छटा स्वभाववक्रा पुष्पाचिता चेति उपहासो युक्त इति भावः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—कुटिला तस्याः या कचच्छटा बलस्य हलेन कृष्टा घनभङ्गभङ्गुरा कलिन्दकन्या इव भाति, तदा अर्पितैः करुणस्य कुड्मलैः तां जहास ।

हिन्दी—वक्र (लहरियादार) उस (दमयन्ती) की जो केशपाशावलि बलराम (कृष्णाग्रज) के हल से आकृष्ट, निरन्तर तरंगों के कारण उच्चावच (ऊँची-नीची, असम) कालिंदी (यमुना) के तुल्य सुशोभित थी; उस समय (केश-संयमन काल में) सिर पर सजायी करुण नामक वृक्ष की कलियों से उस (यमुना) का उपहास करने लगी ।

टिप्पणी—दमयन्ती के केशपाश वक्र, लहरियादार और इसी लिए उच्चावच थे । अपने इन गुणों के कारण वे बलराम द्वारा आकृष्ट, ऊँची-नीची, वक्र तरंगों से युक्त कालिन्दकन्या यमुना के तुल्य प्रतीत होते थे किन्तु जब करुण वृक्ष की (मल्लिका की कलियों के सदृश) शुभ्र कलियों से केश पाश सँवार दिये गये तो निर्गंध यमुना की हँसी उड़ाने लगे । शुभ्र कलियाँ जैसे स्वच्छ उपहास का रूप थीं । केशावलि कुटील थी, फिर भी कलियों से सजा दी गयी, अतः पुष्परहिता और बलराम से खींची गयी अत एव अपमानिता यमुना की हंसी उड़ाती है । भाव यह है कि श्यामा, अतिवक्रा, पुष्पालंकृता दमयन्ती की केशावलि अत्यन्त शोभा पा रही थी । बलराम के द्वारा यमुनाकर्षण की कथा हरिवंशादि पुराणों में वर्णित है । एक बार मदिरा पान से छके, क्रीडाजन्य श्रम बिन्दुओं से युक्त बलराम ने विह्वल हो यमुना से कहा—यमुने, आओ, मैं स्नान करना चाहता हूँ । प्रमत्त की वाणी समझ यमुना ने बलराम के वचनों की उपेक्षा की, तो क्रुद्ध हो बलराम ने हल से यमुना नदी को खींच लिया । डरी यमुना के विनय करने पर वे किसी प्रकार माने—'श्रमतोऽत्यन्तवर्माम्भः कणिकामौक्तिकोज्ज्वलः । आगच्छ यमुने स्नातुमिच्छामीत्याह विह्वलः ॥ तस्य वाचं नदी सा तु मत्तोक्तामवमन्य वै । नाजगाम ततः क्रुद्धो हलं जग्राह लाङ्गली ॥ गृहीत्वा तां तटेनैव चकर्ष मदविह्वलः ।' (ब्रह्म पुराण, १९८।८–१०) ॥ ३१ ॥

धृतैतया हाटकपट्टिकाऽलिके बभूव केशाम्बुदविद्युदेव सा।
मुखेन्दुसम्बन्धवशात् सुधाजुषः स्थिरत्वमूहे नियतं तदायुषः ॥ ३२ ॥

जीवातु—धृतेति। एतया भैम्या, अलिके ललाटे 'ललाटमलिकं गोधिः' इत्यमरः। धृता सा अतीव रम्यदर्शना, हाटकपट्टिका सुवर्णपट्टः, केश एव अम्बुदः मेघः, तस्य विद्युदेव बभूव। विद्युच्चेत् कथं स्थिरत्वम्? तत्राह—मुखेन्दुसम्बन्धवशात् मुखचन्द्रेण सह सस्पर्शात्, सुधाजुषः अमृतपायिन, तस्याः विद्युतः सम्बन्धिनः, आयुषः जीवितकालस्य, नियतं स्थिरत्वं चिराय स्थायित्वम्, ऊहे उत्प्रेक्षे अमृतपानात् विद्युदायुषः स्थिरत्वकथनेन विद्युतोऽपि स्थिरत्वमिति भावः। 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्' इत्यात्मनेपदम् ॥३२॥

अन्वय—एतया अलिके धृता सा हाटकपट्टिका एव केशाम्बुदविद्युत् बभूव, ऊहे, मुखेन्दुसम्बन्धवशात् सुधाजुषः तदायुषः नियतं स्थिरत्वम्।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) द्वारा मस्तक पर पहिन ली गयी वह सोने की पट्टी (स्वर्णाभूषण) ही केश रूपी बादलों की बिजली हो गयी; तर्कणा करता हूँ कि मुख रूपी चन्द्र-सम्बन्ध के कारण अमृत सेवन करती उस (बिजली) का अवस्थान निश्चित रूप से स्थिरता को प्राप्त हो गया है।

टिप्पणी—दमयन्ती के केश-पाशों में उनकी सज्जा के निमित्त, उन्हें सँवरे रखने के लिये सोने की एक पट्टिका—एक स्वर्णालंकार ललाट पर सजा दी गयी थी। काले मेघों से केश, स्वर्ण की दिपती पट्टी बिजली जैसी उनमें सोह रही थी। किन्तु विद्युत् तो चपल होती है—'विद्युत् चपला, चपला, चला,' उसमें स्थिरता कैसे आ गयी? लगता है कि दमयन्ती के चन्द्रानन से जो अमृत झरता है, उसका पान करने के लोभ में चपला विद्युत् ने यह स्थायित्व स्वीकार लिया है। विद्युत् की अब क्षणिक आयु नहीं रही, सुधापान कर वह स्थायी हो गयी। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ३२ ॥

ललाटिकासीमनि चूर्णकुन्तला बभुस्तमां भीमनरेन्द्रजन्मनः।
मनःशिलाचित्रकदीपसम्भवा भ्रमाभृतः कज्जलधूमवल्लयः ॥ ३३ ॥

जीवातु—ललाटिकेति। भीमनरेन्द्रात् जन्म यस्याः तस्याः भैम्याः, 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदे' इति वामनः। ललाटिका ललाटस्य अलङ्कारः, 'कर्णललाटात् कनलङ्कारे' इति कन्प्रत्ययः। तस्याः सीमनि

प्रान्ते, चूर्णकुन्तलाः अलकाः, मनःशिलायाः धातुविशेषस्य, चित्रकं तिलकं, स एव दीपः प्रदीपः, मनःशिलायाः पिङ्गलवर्णत्वात् तथा नलस्य कामोद्दीपकत्वात् चित्रके दीपत्वारोपणमिति भावः। ततः सम्भवाः जाताः, भ्रमीं भ्रमं बिभ्रतीति भ्रमीभृतः भ्रमन्त्यः, कज्जलस्य धूमः कज्जलोत्पादकधूमः, तस्य वल्लयः लताः इव, श्रेण्य इवेत्यर्थः इत्युत्प्रेक्षा, बभुस्तमाम् अतिशयेन बभुः 'तिङश्च' इति तमप्प्रत्यये 'किमेत्तिङव्ययघात्—'इत्यनेनामुप्रत्ययः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—ललाटिकासीमनि भीमनरेन्द्रजन्मनः चूर्णकुन्तलाः मनःशिलाचित्रकदीपसम्भवाः भ्रमीभृतः कज्जलधूमवल्लयः (इव) बभुस्तमाम्।

हिन्दी—ललाट में रचित रेखाकार आभूषण के प्रदेश में भीमनृपाल की तनूजा (दमयन्ती) के वक्रकुण्डल जैसी (घुंघराली) अलकें मैनसिल से रचे तिलक रूप दीपक से उत्पन्न चक्कर खाती काजल-से (अथवा काजल पारते) धुएँ की रेखाओं के सदृश सुशोभित थीं।

टिप्पणी—ललाट भूषण के निकट दमयन्ती के घुंघराले काले केश सुशोभित थे। उन्हें मनःशिला-तिलक-रूप दीपक से उत्पन्न कज्जल-धूम रेखाओं की समानता दी गयी है, उसका एक कारण तो अलकों का श्याम और वक्र होना है, दूसरा कारण है मनःशिला तिलक का कामोद्दीपक होना। उसे देख नल मुग्ध हो रहा था। 'ललाटिका' को 'पत्रपाश्या' भी कहा जाता है— 'पत्रपाश्या ललाटिका'। (हलायुध) ॥ ३३ ॥

अपाङ्गमालिङ्गय तदीयमुच्चकैरदीपि रेखा जनिताऽञ्जनेन या।
अपाति सूत्रं तदिव द्वितीयया वयःश्रिया वर्द्धयितुं विलोचने ॥३४॥

जीवातु—अपाङ्गमिति। अञ्जनेन जनिता या रेखा तदीयं दमयन्तीयम्, अपाङ्गं नेत्रप्रान्तम्, आलिङ्गय स्पृष्ट्वा, उच्चकैरितराम्, अदीपि आयतत्वात् नेत्राद्बहिः अपाङ्गपर्यन्तं प्रसारिता सती रराज, तत् सा रेखेत्यर्थः। विधेयसूत्रापेक्षया नपुंसकनिर्देशः, अथवा तत् रेखारूपमञ्जनमित्यर्थः। द्वितीयया वयःश्रिया यौवनसम्पदा कर्त्र्या, विलोचने वर्द्धयितुं बाल्यकालापेक्षया दीर्घीकर्तुं, सूत्रम् अपातीव पातितमिव इत्युत्प्रेक्षा पततेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, एतावत् मे क्षेत्रमिति निश्चित्य पातितं सीमासूत्रमिव सा अञ्जनरेखा विरराजेत्यर्थः।

अन्वयः—अञ्जनेन जनिता या रेखा तदीयम् अपाङ्गम् आलिङ्गय उच्चकैः अदीपि, तत् द्वितीयया वयःश्रिया विलोचने वर्द्धयितुं सूत्रम् इव अपाति।

हिन्दी—अंजन (सुरमा-काजल) से निर्मित जिस रेखा (काजल की लकीर) ने उस (दमयन्ती) के नेत्र प्रांत का आलिंगन (स्पर्श) कर अत्यधिक दीप्ति (शोभा) प्राप्त की, वह द्वितीय आयु (यौवन) की शोभा द्वारा नेत्रों को बढ़ाने के लिए मानो सूत्र डाला।

टिप्पणी—पूर्वकाल में सुन्दरियाँ नेत्रों की शोभा के लिए नेत्र प्रांत से कानों तक को छूती अजन रेखा बनाया करती थीं, दमयन्ती का भी ऐसा ही शृंगार किया गया जो सुन्दर और शोभा सम्पन्न प्रतीत हुआ। इस पर उद्भावना की गयी कि यौवन ने एक शिल्पी के समान नेत्रों की आकार वृद्धि के लिए यह अजन रेखा रूप परिमाण सूचक सूत्र डाला है। कारीगर कोयला अथवा खरिया से सूत की डोरी को युक्त कर नाप जोख के लिए रेखा बनाते हैं, वही यौवन-शिल्पी ने किया। कज्जलांचित नेत्र बड़े-बड़े दीखने लगे—यह आशय है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥

अनङ्गलीलाभिरपाङ्गधाविनः कनीनिकानीलमणेः पुनः पुनः।
तमिस्रवंशप्रभवेण रश्मिना स्वपद्धतिः सा किमरञ्जि नाञ्जनैः ?॥३५॥

जीवातु—अनङ्गेति। अनङ्गलीलाभिः कटाक्षपातरूपस्मरविलासहेतुभिः, पुनः पुनः अपाङ्गधाविनः नेत्रान्तगामिनः, कनीनिका तारका, सा एव नीलमणि इन्द्रनीलोपलः तस्य सम्बन्धि, तमिस्रवंशप्रभवेण तम कुलसम्भवेन, असितेनेत्यर्थः, रश्मिना प्रभया, सा कज्जलरेखारूपा, स्वपद्धतिः स्वमार्गः, अरञ्जि रञ्जिता किम् ? अञ्जनैः कज्जलैः, न ? अरञ्जीति सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥३५॥

अन्वयः—अनङ्गलीलाभिः पुनः पुनः अपाङ्गधाविनः कनीनिकानीलमणेः तमिस्रवंशप्रभवेण रश्मिना किं सा स्वपद्धतिः अरञ्जि, अञ्जनैः न ?

हिन्दी—कटाक्ष विक्षेप रूप विलासों द्वारा बारबार नेत्र प्रदेश तक दौड़ते (स्पर्श करते) नेत्र तारक रूप इन्द्र नीलमणि के अन्धकार कुल में उत्पन्न कज्जल रेखा से क्या वह उसके शासन की पद्धति (पगडंडी) काली रंगी गयी है, अञ्जन से नहीं रंगी गयी ?

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में वर्णित नेत्रप्रांत से कर्णप्रांत तक रची कज्जल रेखा को लेकर एक अन्य कल्पना की गयी है। वस्तुतः यह कृष्ण-रेखा अंजन-रचित नहीं है, कटाक्ष विक्षेप विलास बार-बार नेत्र-प्रांत से कर्णप्रांत तक

दौड़ लगाते हैं। नेत्रों में इन्द्र नीलमणि समान जो कनीनिका है, उसका श्याम वर्ण ही कटाक्ष-धावकों के बार-बार आने-जाने, दौड़ने से इस मार्ग पर—पद्धति अर्थात् पगडंडी पर लग गया है। यह श्यामता स्वाभाविक है; अंजनरचित नहीं। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा और मल्लिनाथ के अनुसार सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ३५ ॥

असेविषातां सुषमां विदर्भजादृशाववाप्याञ्जनरेखयाऽन्वयम् ।
भुजद्वयज्याकिणपद्धतिस्पृशोः स्मरेण बाणीकृतयोः पयोजयोः ॥ ३६ ॥

जीवातु—असेविषातामिति । विदर्भजादृशौ वैदर्भीनेत्रे, अञ्जनरेखया सह अन्वयं सम्बन्धम्, अवाप्य प्राप्य, भुजद्वये ये ज्याकिणपद्धती ज्याघातरेखे, तत्स्पृशोः तद्युक्तयोः, एतेन स्मरस्य सव्यसाचित्वं गम्यते । स्मरेण बाणीकृतयोः पयोजयोः नीलोत्पलयोः, सुषमामिव सुषमां परमशोभाम्, असेविषातां प्राप्नुताम् । साञ्जनरेखे तद्दृशौ ज्याघातरेखास्पृशौ स्मरसन्धितनीलोत्पलबाणौ इव रेजतुरित्यर्थः । असम्भवाद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनाभेदः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—विदर्भजादृशौ अञ्जनरेखया अन्वयम् अवाप्य भुजद्वयज्याकिणपद्धतिस्पृशोः स्मरेण बाणीकृतयोः पयोजयोः सुषमाम् असेविषाताम् ।

हिन्दी—विदर्भ कन्या (दमयन्ती) के दोनों नेत्र अंजन की रेखा से सम्बन्ध प्राप्त कर (अञ्जन रेखा रंजित हो) दोनों भुजाओं पर बनी प्रत्यंचा की आघात की रेखाओं का स्पर्श करते, काम-द्वारा बाण बना लिये गये दो कमलों की शोभा को प्राप्त करने लगे ।

टिप्पणी—आशय यह है कि अञ्जन रंजित दमयन्ती के नेत्र काम के बाण बने दो कमलों के समान थे । नेत्र कमल तुल्य थे, कामोद्दीपक होने के कारण वे बाण का काम कर रहे थे। अञ्जन की रेखा किण-तुल्य थी, जिसका स्पर्श उन नेत्र-कमल-बाणों से हो रहा था । काम के हाथों में निरन्तर 'उन' बाणों की वर्षा करने से जो घट्टे पड़ गये थे, उन ज्याघातों का संस्पर्श होने से जो पद्धति बन गयी थी, उसकी कल्पना अञ्जन-रेखा-रूप में की गयी है। इस प्रकार नयन काम के नीलोत्पल-बाणों की सुषमा प्राप्त कर रहे थे। मल्लिनाथ के अनुसार असंभवाद् वस्तुसम्बन्धरूप निदर्शनालंकार है ॥ ३६ ॥

तदक्षितत्कालतुलागसा नखं निखाय कृष्णस्य मृगस्य चक्षुषी ।
विधिर्यदुद्धर्तुमियेष तत्तयोरदूरवर्त्तिक्षतता स्म शंसति ॥ ३७ ॥

जीवातु—तदिति । तस्याः दमयन्त्या, अक्षिभ्यां सह मृगनेत्रापेक्षया श्रेष्ठाभ्यां नेत्राभ्यां सहेति भावः । तत्काले चक्षुःप्रसाधनकाले, तुला मृगनेत्रयोः सादृश्यं, तदेव आगः अपराधः, तेन हेतुना, विधिः वेधा, कृष्णस्य मृगस्य कृष्णसाराख्यहरिणस्य, चक्षुषी नखं निखाय निक्षिप्य, उद्धर्तुं नखेन उत्पाटयितुम्, इयेष ऐच्छदिति यत्, तत् उद्धारेच्छा कर्म तयोः मृगचक्षुषोः, अदूरवर्तिक्षतता निकटवर्तिक्षतत्व वर्त्ती, शंसति स्म शंसति । मृगस्य ईक्षणसमीपस्थस्वाभाविकक्षताकारचिह्नं पूर्वोक्तापराधप्रयुक्तविधिनखोत्पाटनक्षतत्वमुत्प्रेक्ष्यते ।

अन्वयः—विधिः तदक्षितत्कालतुलागसा नखं निखाय कृष्णस्य मृगस्य चक्षुषी उद्धर्तुम् यत् इयेष, तत् तयोः अदूरवर्तिक्षतता शंसति स्म ।

हिन्दी—विधाता ने उस (दमयन्ती) के नेत्रों से उस (अञ्जन-राग लगाते) समय समानता करने के अपराध के कारण नख गड़ा कर कृष्णसार हरिण के दोनों नेत्र निकाल देने की जो इच्छा की, वह उन (नेत्रों) का समीपवर्त्ती क्षत (व्रण चिह्न) होना बता रहा था ।

टिप्पणी—कृष्णसार हरिण के नेत्रों के समीप ऐसा चिह्न होता है, जो नख-निखनन के आकार का लगता है । इससे यह कल्पना है कि यह नख निखननाकार क्षत यह बता रहा है कि मृग-नेत्रों ने यह अपराध किया था कि अञ्जनरंजित दमयन्ती के नेत्रों से अपनी तुलना करने लगे । यह उनकी धृष्टता अपराध थी । दण्ड-स्वरूप ब्रह्मा ने नख गड़ा कर मृग-नेत्र निकालने की इच्छा की । उसके ही ये चिह्न मृग नेत्रों के निकट बन गये हैं । आशय यह कि दमयन्ती के नयन कृष्णसार मृग के नयनों की अपेक्षा अधिक सुन्दर थे । मल्लिनाथ के अनुसार मृग-नेत्रों के निकटवर्त्ती स्वाभाविक क्षताकार चिह्नों में अपराध के कारण विधाता द्वारा नखोत्पाटन क्षत होना उत्प्रेक्षित है ।

विलोचनाभ्यामतिमात्रपीडितेऽवतंसनीलाम्बुरुहद्वयी खलु ।
तयोः प्रतिद्वन्द्विधियाऽधिरोपयाम्बभूवतुर्भीमसुताश्रुती ततः ॥ ३८ ॥

जीवातु—विलोचनाभ्यामिति । भीमसुताश्रुती भैमीश्रोत्रद्वय, विलोचनाभ्याम् अतिमात्रं पीडिते आकर्णविस्तारितया अत्यन्तमाक्रान्ते सत्यौ, तत

स्वपीडनरूपकारणात्, अवतंसनीलाम्बुरुहद्वयीं, कर्णभूषणीकृतनीलोत्पलयुगलं, तयोः विलोचनयोः, प्रतिद्वन्द्विधिया प्रतिपक्षबुद्ध्या, अधिरोपयाम्बभूवतुः आरोपयामासतुः खलु इत्युत्प्रेक्षा, बलिना पीडितस्तुल्यबलं तत्प्रतिपक्षमाश्रयते इति भावः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—खलु भीमसुताश्रुती विलोचनाभ्याम् अतिमात्रपीडिते ततः अवतंसनीलाम्बुरुहद्वयीं तयोः प्रतिद्वन्द्विधिया अधिरोपयाम्बभूवतुः।

हिन्दी—क्योंकि भीमपुत्री (दमयन्ती) के दोनों कान दोनों नेत्रों द्वारा अत्यधिक पीडित किये गये, इससे कर्णाभरण बनाये दो नील कमलों को उन (नेत्रों) के प्रतिद्वंद्वियों की भावना से उन्होंने अधिरोपित किया।

टिप्पणी—दमयंती के नेत्र अत्यन्त सुन्दर थे, विशाल, कानों तक फैले। वह कानों में नीलोत्पल-सदृश (अथवा नील कमल ही) आभरण पहिने थी। इस पर यह उद्भावना है कि कर्ण प्रदेश तक पहुँच कर नेत्रों ने कानों को बहुत कष्ट दिया। अन्य की सीमा में अधिकृत प्रवेश कष्ट देता ही है। सो इसी कष्ट को पहुँचाने वाले नेत्रों के आक्रमण का सामना करने के लिए कानों ने दो नील कमल अपने में आरोपित कर लिये। आशय यह कि नेत्र नीलोत्पल तुल्य थे और दमयन्ती ने नील कमलों के आभरण पहिन अपने दोनों कानों की सज्जा की थी। नारायण के अनुसार लुप्तोत्प्रेक्षा अथवा उत्प्रेक्षावाचक 'खलु' होने से उत्प्रेक्षा। मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा ही मानी है।

धृतं वतंसोत्पलयुग्ममेतया व्यराजदस्यां पतिते दृशाविव।
मनोभुवाऽऽध्यं गमितस्य पश्यतः स्थिते लगित्वा रसिकस्य कस्यचित्॥

जीवातु—धृतमिति। एतया भैम्या, धृतं वतंसोत्पलयुग्मं कर्णभूषणीकृतनीलोत्पलद्वयम्, अस्यां भैम्यां, पतिते निक्षिप्ते, तथा लगित्वा तत्रैव आसज्य स्थिते च, पश्यतः भैमीं तत्कर्णौ वा विलोकयतः, अत एव मनोभुवा कामेन, आन्ध्यं गमितस्य तदेकासक्तीकृतस्य इत्यर्थः। स्थानान्तरे नेत्रगमनादेवास्य अन्धत्वं बोद्धव्यम्। कस्यचित् रसिकस्य रसवतः, रागिणः इत्यर्थः। 'अत इनिठनौ' इति ठन्-प्रत्ययः। दृशौ इव व्यराजत् विरराज इत्युत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥

अन्वयः—एतया धृतं वतंसोत्पलयुग्मम् अस्यां पतिते लगित्वा स्थिते मनोभुवाऽऽन्ध्यं गमितस्य पश्यतः कस्यचित् रसिकस्य दृशौ इव व्यराजत्।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के द्वारा पहिना कर्णाभूषण कमल युगल इस (दमयन्ती) पर गिरे और लग कर वहीं रहगये, कामदेव द्वारा अंधे बना दिये गए देखने वाले किसी रसिक के नेत्रों के समान शोभित हुआ।

टिप्पणी—कामांध कोई रसिक दमयन्ती के कानों को देखने लगा, उन पर आकर गिरे उसके नेत्र वहीं चिपक कर रह गये। अर्थात् वह कामी, कामांध-प्रेमी दमयन्ती के कानों को निहारता रह गया। दमयन्ती द्वारा कानों में पहिने नीलकमल उन्हीं आ गिरे, चिपके नेत्रों से लग रहे थे। कामी प्रेमी के नेत्र कानों में आ चिपके। वह अंधा हो गया। नारायण और मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥

विदर्भसुभ्रूश्रवणावतंसिकामणीमहः किंशुककार्मुकोदरे।
उदीतनेत्रोत्पलबाणसम्भृतिर्नलं परं लक्ष्यमवैक्षत स्मरः ॥ ४० ॥

जीवातु—विदर्भेति। स्मरः विदर्भसुभ्रुवः वैदर्भ्याः, श्रवणावतंसिका कर्णावतंसीभूता, या मणी, 'कृदिकारात्—' इतीकारः। तस्या महः प्रभा एव, किंशुककार्मुकं पलाशकुसुमचापं, तस्य उदरे मध्ये, उदीता उद्गता, प्रतिफलितेत्यर्थः। नेत्रस्य एव उत्पलबाणस्य सम्भृतिः सम्भरणं, नेत्ररूपनीलोत्पलबाणसम्भार इत्यर्थः। यस्य स तादृशः सन्, पलाशकुसुमधनुषि समारोपितनीलोत्पलशरः सन्नित्यर्थः। नलं परं नलमेव, लक्ष्यम् अवैक्षत प्रतीक्षते स्म। नलं आगतम् भैम्या विभूषितकर्णनेत्रसौन्दर्यदर्शनमात्रेणैव कामबाणविद्धो भविष्यतीति भावः ॥ ४० ॥

अन्वयः—विदर्भसुभ्रूश्रवणावतंसिकामणीमहःकिंशुककार्मुकोदरे उदीतनेत्रोत्पलबाणसम्भृतिः स्मरः परं नलं लक्ष्यम् अवैक्षत।

हिन्दी—विदर्भ की सुभ्रू (दमयन्ती) के कर्णाभरणों में जड़ी मणियों की दीप्तिरूप पलाशधनुष पर दो नेत्र और (कानों के) दो नीलोत्पल-रूप चारबाणों की सामग्री से सन्नद्ध काम केवल श्रेष्ठ नल रूप लक्ष्य की ही बाट जोह रहा था।

टिप्पणी—दमयन्ती के आकर्षक नेत्रों और कर्णाभरण के दो नीलोत्पलों को यहाँ काम के चार बाणों के रूप में माना गया है, जिन्हें कर्णाभूषणों में जड़े माणिक्यरत्नादि के तेजोरूप कोदण्ड पर चढ़ा कर सन्नद्ध काम प्रतीक्षा

कर रहा है कि नल को निशाना बनाये। आशय यह कि नेत्र और नीलोत्पलों के आभूषणों से सज्जित दमयन्ती के कान नल को मुग्ध कर रहे थे। जैसे ही नल ने इन्हें देखा, वह काम विद्ध हो गया ॥ ४० ॥

अनाचरत्तथ्यमृषाविचारणां तदाननं कर्णलतायुगेन किम् ।
बबन्ध जित्वा मणिकुण्डले विधू द्विचन्द्रबुद्धया कथितावसूयकौ ? ॥

जीवातु—अनाचरदिति। तथ्यमृषाविचारणाम् अनाचरत् सौन्दर्यमदात् सत्यासत्यविमर्शम् अकुर्वत्, तदाननं कर्तृ, द्विचन्द्रबुद्धया द्वौ चन्द्रौ इमौ इति भ्रान्त्या, कथितौ सूचितौ, असूयकौ स्वद्वेषिणौ, आननस्योत्कर्षमसहमानाविव स्पर्धौ। मणिकुण्डले एव विधू चन्द्रौ, जित्वा कर्णलतयोः युगेन बबन्ध किम्? इति मिथ्याचन्द्रयोरेव बन्धनमुत्प्रेक्षते। जितस्य शत्रोर्बन्धनमुचितमिति भावः।

अन्वयः—तथ्यमृषाविचारिणाम् अनाचरत् तदाननं किं द्विचन्द्रबुद्ध्या असूयकौ कथितौ मणिकुण्डले विधू जित्वा कर्णलतायुगेन बबन्ध ?

हिन्दी—तथ्य-अतथ्य का विवेक न करते हुए उस (दमयंती) के मुख ने क्या दो चन्द्रमा समझ कर द्वेषी (ईर्ष्यालु) प्रतिपादित रत्नखचित स्वर्ण-साटंकयुगल-रूप दो चन्द्रों को जीत कर कर्ण लता युगल में बाँध लिया है ?

टिप्पणी—दमयन्ती के कर्णों में सुशोभित मणि कुण्डल दो चन्द्रों-जैसे सोहते थे। इसी पर कल्पना है कि दमयन्ती का चन्द्रोपम मुख उनकी इस स्पर्धा और धृष्टता पर इतना क्रुद्ध हो गया कि उसने सच-झूठ का विचार भी नहीं किया और समझ कर ये मणिकुण्डल नहीं, दो चन्द्रमा हैं, उसके द्वेषी, प्रतिद्वंद्वी; और उसने कानों की लता से उन दोनों मणिकुंडल-चन्द्रों को बाँध दिया। दमयंती-मुख इतना क्रुद्ध हो गया कि उसका यह विवेक भी नहीं जगा कि दो चन्द्र तो होते ही नहीं, यह पूर्ण भ्रम है। वास्तविकता यह है कि उत्कृष्ट सौन्दर्य शाली होने के कारण दमयन्ती-मुख दुर्मद हो गया था और उसने सत्यासत्य-विवेक के बिना ही निरपराध मणिकुंडलों को पाश बद्ध कर दिया। भाव यही है कि दमयन्ती का मुख चन्द्राधिक रमणीय था और उसने चन्द्राकार मणिकुण्डल पहिने थे। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ मिथ्या चन्द्रों के बन्धन को उत्प्रेक्षा है ॥ ४१ ॥

अवादि भैमी परिधाप्य कुण्डले वयस्ययाऽभ्यामभितः समन्वयः ।
त्वदाननेन्दोः प्रियकामजन्मनि श्रयत्यय दौरधुरी धुर ध्रुवम् ॥४२॥

जीवातु—अवादीति । वयस्यया सख्या, कुण्डले मणिकुण्डले, परिधाप्य आरोप्य, भैमी अवादि गदिता । किमिति ? हे भैमि ! आभ्यां मणिकुण्डलाभ्यां सह, अभितः उभयतः, त्वदाननेन्दोः तव मुखचन्द्रस्य, अय समन्वय समायोग, प्रियस्य नलस्य कामजन्मनि त्वयि रागोदये, दौरधुरी दुरधुराख्ययोगसम्बन्धिनीं धुरं भारं, श्रयति फलदानभारं वहति, ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा । चन्द्रस्यार्कातिरिक्तो भयग्रहमध्यगते दौरधुरयोग, यदाह वराहमिहिर— 'हित्वाऽर्कं सुनयानयाद् दुरधुरा स्वान्त्योभयस्थैर्ग्रहैः शीतांशो' इति ॥ ४२ ॥

अन्वय—वयस्यया कुण्डले परिधाप्य भैमी अवादि—त्वदाननेन्दोः अभितः आभ्याम् अय समन्वय प्रियकामजन्मनि दौरधुरी धुर ध्रुव श्रयति ।

हिन्दी—किसी सखी ने कुण्डलों को पहिना कर भीमसुता (दमयन्ती) से कहा—तेरे मुखचन्द्र के दोनों ओर इन (कुण्डलों) से यह योग प्रिय (नल) के रत्यभिलाष की उत्पत्ति में दुरधरा नामक महायोग से सम्बद्ध भार को निश्चयतः धारण करता है ।

टिप्पणी—यहाँ पर आशय व्यक्त किया गया है कि दमयन्ती के कानों मे कुण्डलों पहिना कर मुग्ध भाव से किसी सखी ने दमयन्ती के प्रति यह शुभ कामना प्रकट की कि प्रिय नल का प्रेम तेरे प्रति नित्य बढ़ता जायेगा । ज्योतिष शास्त्र म यह बताया गया है कि सूर्यातिरिक्त दो ग्रहों की राशि के मध्य चन्द्र के होने पर 'दुरधरा' या 'दुरधरा' नाम का महायोग बनता है । यह ज्योतिःशास्त्री वराहमिहिर का मत है । 'प्रकाश' व्याख्याकार नारायण ने चन्द्र के उभयत रहने वाले ग्रहों का नाम बृहस्पति और शुक्र कहा है—गुरुभार्गवयोर्मध्ये चन्द्रेणैव यदा भवेत् । तदा दुरधरायोग ।' इस महायोग में उत्पन्न सतान चिरजीवी और नित्य-समृद्ध होती है । जिस प्रकार 'दुरधरा' योग मे उत्पन्न पुत्रादि वृद्धि को प्राप्त होता है, वैसे ही प्रिय काम भी दमयन्ती मे वृद्धि को प्राप्त होता रहेगा । मुख चन्द्र है, जो दोनों ओर स्थित दो ग्रह रूप वर्ण मणि कुण्डलों के मध्य में है, 'दुरधरा' महायोग बन गया, इस काल जो प्रिय की प्रीति जगेगी, वह नित्य वृद्धि को प्राप्त होती

रहेगी। नारायण ने विकल्प से और मल्लिनाथ ने 'ध्रुवम्' के आधार पर यहाँ उत्प्रेक्षा मानी है ॥ ४२ ॥

निवेशितं यावकरागदीप्तये लगत्तदीयाधरसीम्नि सिक्थकम् ।
रराज तत्रैव निवस्तुमुत्सुकं मधूनि निर्धूय सुधासधर्मिणि ॥ ४३ ॥

जीवातु—निवेशितमिति। तदीयाधरस्य दमयन्तीयाधरस्य, सीम्नि सीमप्रदेशे, यावकरागस्य अलक्तकरागस्य, दीप्तये स्फुरणाय, निवेशितं न्यस्तम्, अत एव लगत् दृढभावेन संसजत्, सिक्थकं मधूच्छिष्टं, मधुकोषजमिति यावत्। मधूनि क्षौद्राणि, निर्धूय निरस्य, सुधया समानः धर्मः स्वादुतारूपः यस्याः सा सुधासधर्मा। 'नामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनधर्मजातीयेषु समानस्य सभावः' इति वर्द्धमानसूत्रम्। 'समानस्य छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु' इत्यत्र 'समानस्येति योगो विभज्यते, तेन सपक्षः साधर्म्यं सजातीयमित्यादि सिद्धमिति काशिका'। 'धर्मादनिच् केवलात्' इत्यनिच्। 'मनः' इति मन्नन्तात्त्वात् ङीप्। तस्यां सुधाधर्मिणि अमृतसदृश्यां, तत्र एव तदीयाधरसीम्नि एव, निवस्तुं स्थायिभावेन अवस्थातुम्, उत्सुकम् आग्रहान्वितं सत्, रराज। मधूच्छिष्टसम्बन्धिक्षौद्रापेक्षया तदीयाधरस्योत्कृष्टत्वादिति भावः। अन्यथा कथम् अत्रैव लगेदित्युत्प्रेक्षा। अन्योऽपि उत्कृष्टस्थानलाभे चिरपरिचितमपि स्वस्थानमुत्सृजति इति दृश्यते ॥

अन्वयः—तदीयाधरसीम्नि यावकरागदीप्तये निवेशितं लगत् सिक्थकं मधूनि निर्धूय सुधासधर्मिणि तत्र एव निवस्तुम् उत्सुकं रराज।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) के ओष्ठाधर प्रदेश में (लगाये) अलक्तक (लाली) के रंग को चमकाने के लिए न्यस्त, लगाया गया मोम शहद को छोड़ कर अमृत समान वहीं (ओष्ठों में ही) बसने को उत्सुक सुशोभित हुआ।

टिप्पणी—प्रसाधन प्रवीणा अधरों पर लगायी लाली को चमकदार और स्थिर बनाने के लिये उसके साथ मोम को भी लगाया करती हैं। मोम मधु-शहद—से उत्पन्न होता है। अपने उत्पत्ति स्थान, जन्मभूमि या सहजात या जनक मधु—जो अपनी सरसता के लिए ख्यात है—को छोड़ कर सिक्थक (मोम) अधरों पर क्यों रह गया? कारण यही कि अधर मधु से अधिक सरस थे, वे अमृत तुल्य थे। फिर क्यों मोम ओष्ठाधरों से न चिपका रह जाता? वह वहीं बस गया। भाव यह कि वह मधु की अपेक्षा अधर सरस थे। नारायण के अनुसार लुप्तोत्प्रेक्षा, मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥४३॥

स्वरेण वीणेत्यविशेषणं पुराऽस्फुरत्तदीया खलु कण्ठकन्दली ।
अवाप्य तन्त्रीरथ सप्त मौक्तिकासरानराजत् परिवादिनी स्फुटम् ॥४४॥

जीवातु—स्वरेणेति । तदीया दमयन्तीया, कण्ठकन्दली कण्ठनालः, कण्ठस्य कलध्वनिरिति वा । 'कलध्वनौ कन्दली तु मृगगुल्मप्रभेदयो.' इति मेदिनी । पुरा पूर्वं, स्वरेण ध्वनिना, वीणेत्यविशेषण साधारणतः वीणेति निर्विशेष, नामरूपविशेषशून्य यथा तथा इत्यर्थः । अस्फुरत् वीणा इत्येव अबोधीत्यर्थः खलु इति निश्चये । अथ वीणेति स्फुरणानन्तर, सप्त मौक्तिकासरान् सप्त मुक्तायष्टीरेव, तन्त्रीः वीणागुणान्; अवाप्य परिवादिनी परिवादिन्याख्या वीणा सती । 'वीणा तु वल्लकी । विपञ्ची सा तु तन्त्रीभि. सप्तभिः परिवादिनी' इत्यमर । अराजत्, स्फुटम् इत्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ४४ ॥

अन्वय—तदीया कण्ठकन्दली पुरा स्वरेण वीणा इति खलु अस्फुरत्, अथ सप्त मौक्तिकासरान् तन्त्रीः अवाप्य स्फुट परिवादिनी अराजत् ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) की कण्ठनालिका पहिले (सतलड़ी माला पहिनने से पूर्व) मधुर स्वर के कारण वीणा सदृश स्पष्टतः प्रतीत थी, अनंतर (सतलड़ी पहिनने के पश्चात्) सात मुक्तालड़ियाँ रूप तारों को प्राप्त कर स्पष्ट रूप मे (सात तारों वाली वीणा) 'परिवादिनी'-रूप मे शोभित हुई ।

टिप्पणी—सतलड़ी माला-धारण कर दमयन्ती की ग्रीवा—कंठनालिका—वीणा की अपेक्षा अधिक मधुस्वरा 'परिवादिनी' नामक सात तारों वाली वीणा बन गयी । 'कठकदली' का अर्थ कठ ध्वनि भी है । 'कठ कदली' पहिले सतलडी पहिनने से पूर्व सामान्य वीणा लगती थी, पश्चात् विशिष्ट वीणा 'परिवादिनी' बन गयी ॥ ४४ ॥

उपास्यमानाविव शिक्षितु तनो मृदुत्वमप्रौढमृणालनालया ।
विरेजतुर्माङ्गलिकेन सप्तनौ भुजौ सुदत्या वलयेन कम्बुनः ॥ ४५ ॥

जीवातु—उपास्यमानाविति । ततः कण्ठभूषणानन्तरं, माङ्गलिकेन मङ्गलार्थेन । 'प्रयोजनम्', इति ठञ् । कम्बुन शङ्खस्य, 'शङ्ख· स्यात् कम्बुरस्त्रियाम्' इत्यमरः । वलयेन सयुतौ. सुदत्या तस्याः दमयन्त्याः भुजौ अप्रौढमृणालनालया बालबिसकाण्डदण्डेन, मृदुत्व मार्दवं, शिक्षितुम् अभ्यसितुम्, उपास्यमानौ सेव्यमानौ इव, विरेजतु. इत्युत्प्रेक्षा ॥ ४५ ॥

अन्वयः—ततः माङ्गलिकेन कम्बुनः वलयेन संयुतौ सुदत्याः भुजौ अप्रौढ-मृणालनाल्या मृदुत्वं शिक्षितुम् उपास्यमानौ इव विरेजतुः ।

हिन्दी—तदनन्तर मंगलसूचक शंख के कंकण से युक्त सुदंती (दमयन्ती) के दोनों बाहु ऐसे सुशोभित हुए, जैसे कि नव मृणालदंडिका मृदुता की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनकी उपासना कर रही हो ।

टिप्पणी—गौड़ देश के आचारानुसार दमयन्ती ने विवाह कालोचित शंख-वलय भुजाओं में पहिने थे । वे भुज दंड अत्यन्त मृदु थे, इतने कि मार्दव की शिक्षा लेने के लिए नवमृणालदंडिका भी उनकी उपासना कर रही थी। शंख-वलय मृणालनाल हैं, जो दमयन्ती-भुजाओं की उपासना कर रहे हैं । आशय यह कि भुजाएँ बाल मृणाल से भी कोमलतर थीं । यह भी संकेत है कि शिक्षा 'अप्रौढ' ही सरलता से प्राप्त कर सकता है—अनलिखी, स्वच्छ स्लेट—जैसे मन-मस्तिष्कवाला। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥४५॥

पदद्वयेऽस्या नवयावरञ्जना जनैस्तदानीमुदनीयतार्पिता ।
चिराय पद्मौ परिरभ्य जाग्रती निशीव विश्लिष्य नवा रविद्युतिः॥४६॥

जीवातु—पदेति । तदनीं प्रसाधनकाले, अस्याः भैम्याः, पदद्वये अर्पिता नवयावस्य नवालक्तस्य । 'यावोऽलक्तो द्रुमामयः' इत्यमरः । रञ्जना रागः, निशि रात्रौ, विश्लिष्य वियुज्य, पद्मादिति भावः । चिराय दीर्घकालानन्तरं, प्रभाते इत्यर्थः । पद्मौ पद्मं 'वा पुंसि पद्मं नलिनम्' इत्यमरः । परिरभ्य आलिङ्ग्य, प्राप्य इत्यर्थः । जाग्रती प्रकाशमाना, नवा प्रत्यग्रा, रविद्युतिः इव बालार्कप्रभेव, स्थितेति जनैः उदनीयत उन्नीता; उत्प्रेक्षेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—तदानीम् अस्याः पदद्वये अर्पिता नवयावरञ्जना निशि विश्लिष्य चिराय पद्मौ परिरभ्य जाग्रती नवा रविद्युतिः इव जनैः उदनीयत ।

हिन्दी—उस समय (शृंगार-सज्जा-काल में) इस (दमयन्ती) के दोनों पैरों में लगायी गयी महावर की लाली रात में वियुक्त हो बहुत देर के बाद (प्रभात में) कमलों का आलिंगन कर जागती (प्रकाशमान) नयी सूर्य की दमक के तुल्य लोगों द्वारा समझी गयी ।

टिप्पणी—शृंगार के क्रम में दमयन्ती के पैरों पर महावर लगायी गयी। उसके चरण युगल दो कमलों के तुल्य थे, उन पर लगी लाल महावर ऐसी लगः

रही थी, मानो नवोदित सूर्य की नयी लाली हो। रात को सूर्यास्त हो जाने के कारण वह लाली अपने स्नेहपात्र कमलों से दूर रही। प्रभात होते ही एक चिरवियोगिनी की भाँति उसने चरण कमलों का आलिंगन कर लिया। चिरकाल तक वियुक्त अन्योऽन्य को प्राप्त कर आलिंगन-बद्ध हो ही जाते हैं। मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा का सङ्केत किया है॥ ४६॥

कृतापराधः सुतनोरनन्तरं विचिन्त्य कान्तेन समं समागमम्।
स्फुटं सिषेवे कुसुमेषुपावकः सरागचिह्नश्चरणौ न यावकः॥ ४७॥

जीवातु—कृतेति। सुतनोः भैम्याः, कृतापराधः पूर्वं विरहकाले सापराधः, कुसुमेषुपावकः कामाग्निः, अनन्तरम् इदानीं, कान्तेन समं नलेन सह, समागमं विचिन्त्य सरागचिह्नं पावकस्य लोहित्यचिह्नयुक्तः सन् अनुरागचिह्नयुक्तः सन् इति वा, अन्यथा कुत एव राग इति भावः। चरणौ सिषेवे इति स्फुटं स्वापराधमार्जनार्थं सेवयामासेव। याव एव यावकः 'यावादिभ्यः कन्' इति स्वार्थे कन्-प्रत्ययः। अलक्तस्तु, न, इति सापह्नवोत्प्रेक्षा॥ ४७॥

अन्वयः—(पूर्वं) सुतनोः कृतापराधः कुसुमेषुपावकः अनन्तरं कान्तेन समं समागमं विचिन्त्य सरागचिह्नं स्फुटं चरणौ सिषेवे, यावकः न।

हिन्दी—पहिले (वियोग काल में) सुदेहा (दमयन्ती) का (पीड़ादायक हो) अपराधी हो कुसुमबाणाग्नि (कामवह्नि) तदनन्तर (प्रिय समागम उपस्थित होने पर) प्रिय (नल) के साथ (दमयन्ती का) मनोग विचार कर राग (अनुराग लाली) के चिह्नों से युक्त हो निश्चयतः (दमयन्ती के) चरणों की सेवा कर रहा था, अलक्तक नहीं था (यह)।

टिप्पणी—प्रोषितभर्तृका विरहिणी का अपराधी प्रिय-समागम उपस्थित होने पर विरहिणी नारी से अपने द्वारा वियोग काल में किये गये अपराधों के लिये चरणों पर गिर कर क्षमा चाहता है; दमयन्ती के चरणों में लगे लाल महावर को लेकर यहाँ यह उद्भावना की गयी है कि यह यावक (महावर) नहीं है, अपितु अनुराग की लाली प्रकट करता कामाग्नि है, जिसने वियोग-काल में दमयन्ती को सन्तप्त किया था। अब अनुराग प्रकट करता दमयन्ती के चरणों में गिर कर अपराध की क्षमा चाह रहा है। नारायण की टिप्पणी है कि दमयन्ती के सालक्तक चरण देख कर ही नल में कामोद्रेक होगा। मल्लिनाथ के अनुसार सापह्नवा उत्प्रेक्षा॥ ४७॥

स्वयं तदङ्गेषु गतेषु चारुतां परस्परेणैव विभूषितेषु च।
किमूचिरेऽलङ्करणानि तानि तत् वृथैव तेषां करणं बभूव यत् ? ॥४८॥

जीवातु—स्वयमिति। स्वयं स्वभावत एव, चारुतां गतेषु, तथा परस्परेण अन्योऽन्येनैव, विभूषितेषु समलङ्कृतेषु च, परस्परमेलनात् भूषणं विनैव प्रत्यवयवं कस्यचित् कमनीयताविशेषस्य स्फुरणादिति भावः। तदङ्गेषु भैमीगात्रेषु, तेषां पूर्वोक्तहेमपट्टादीनां, यत् करणम् अर्पणं, तत् वृथा एव निष्प्रयोजनमेव, बभूव इति तानि वास्तवानि, अलङ्करणानि कर्तृ णि, ऊचिरे किम् ? अलङ्काराणां भैमीचारुताकरणासामर्थ्यात् स्वकरणस्य निष्प्रयोजनकत्वेन करणम् अलमिति स्वनाम सान्वयमभूदिति भावः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—स्वयं चारुतां गतेषु परस्परेण विभूषितेषु च तदङ्गेषु तेषां यत् करणं तत् वृथा एव बभूव—तानि अलङ्करणानि ऊचिरे किम् ?

हिन्दी—स्वभावतः चारुता (सुषमा) को प्राप्त और अन्योऽन्य से ही सुशोभित उस (दमयन्ती) के अंगों में जो (अलंकारों का) समर्पण हुआ, वह व्यर्थ ही हुआ—वे अलंकार (प्रसाधन के उपकरण) क्या यह कह रहे थे ?

टिप्पणी—दमयन्ती के समस्त अंग परम सुन्दर थे और उनकी रचना ऐसी सम थी कि वे एक-दूसरे की शोभा स्वयं ही बढ़ा रहे थे। हाथ-पैर, नेत्र, नासिका, कान आदि सभी एक दूसरे की सुषमा-वृद्धि करने वाले थे। प्रकृत्यामनोहर उन अंगों को किसी प्रसाधन की आवश्यकता नहीं थी, अतः ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वे सब शृङ्गार-साधन, उपकरण अपना निर्माण और दमयन्ती को अपना अर्पण व्यर्थ ही मान रहे थे। 'अलङ्करण' में युक्त 'अलम्' शोभार्थक था, अब लगता था कि वह 'अलम्' व्यर्थताबोधक बन गया। उनकी व्युत्पत्ति 'अलं वृथा करणं येषाम्'—इस प्रकार सान्वय हो गयी।

क्रमाधिकामुत्तरमुत्तरं श्रियं पुपोष यां भूषणचुम्बनैरियम्।
पुरः पुरस्तस्थुषि रामणीयके तथा बबाधेऽवधिवृद्धिधोरणिः ॥ ४९ ॥

जीवातु—क्रमेति। इयं दमयन्ती, भूषणचुम्बनैः आभरणसम्बन्धैः, उत्तरम् उत्तरम् उपर्युपरि, परं परमित्यर्थः। 'उपर्युदीच्यश्रेष्ठेष्वप्युत्तरः स्यात्' इत्यमरः। क्रमेण पारम्पर्येण, पूर्वपूर्वभूषणापेक्षया उत्तरोत्तरभूषणेन इत्यर्थः। अधिकां पूर्वापेक्षयाऽतिरिक्तां, यां श्रियं शोभां, पुपोष, तया श्रिया, पुरः पुरः उत्तरोत्तरं,

रामणीयके रमणीयत्वे । मनोज्ञादित्वात् वुञ् प्रत्ययः । तस्थुषि स्थितिशीले सति, अवधिबुद्धिधोरणिः रामणीयकस्य इयमेव सीमा इयमेव सीमा इत्याकारिका इयत्ताधीपरम्परा, बबाधे बाधिता । पूर्वपूर्वरामणीयकस्य स्थितिजन्यतदियत्ताबुद्धिपरम्परायां उत्तरोत्तरवर्द्धितशोभया निराकृतो सत्याम् इयत्तारहिता सा शोभासम्पत्तिरासीदिति भावः । धोरणिशब्दः, पङ्क्तौ देशीये इति सम्प्रदायः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—इयं भूषणभूम्बनैः उत्तरं समाधिकां या श्रियं पुपोष, तया पुरः पुरः रामणीयके तस्थुषि अवधिबुद्धिधोरणिः बबाधे ।

हिन्दी—यह (दमयन्ती) आभूषणों के धारण से उत्तरोत्तर क्रमसे पूर्वापेक्षया उत्कृष्ट जिस शोभा को प्राप्त हुई, उस (शोभा) ने उत्तरोत्तर रमणीयता के स्थिर हो जाने की सीमा विषयक जो बुद्धि परम्परा होती है, उसे बाधित कर दिया ।

टिप्पणी—निसर्ग सुन्दरी दमयन्ती जैसे जैसे आभूषण धारण करती गयी, इसकी शोभा बढ़ती चली । क्रमशः यह शोभा ऐसी बढ़ती गयी कि यह विचार बदलना पड़ गया कि सौन्दर्य की सीमा होती है । इयत्तारहित, निरवधि दमयन्ती की शोभा थी ॥ ४९ ॥

मणीसनाभौ मुकुरस्य मण्डले बभौ निजास्यप्रतिबिम्बदर्शिनी ।
विधोरदूरं स्वमुखं विधाय सा निरूपयन्तीव विशेषमेतयोः ॥ ५० ॥

जीवातु—मणीति । मणीसनाभौ रत्नप्रख्ये, मुकुरस्य मण्डले दर्पणतले, निजास्यप्रतिबिम्बदर्शिनी सा भैमी, स्वमुखं विधोः चन्द्रस्य, दर्पणरूपचन्द्रस्येत्यर्थः, दर्पणे प्रतिबिम्बितचन्द्रस्येत्यर्थो वा । अदूरं समीपगत, विधाय सम्पाद्य, एतयोः स्वमुख—चन्द्रयोः, विशेषं तारतम्यं, निरूपयन्ती परीक्षमाणा इव, बभौ परीक्षका हि उभयमेकत्र अवस्थाप्य परीक्षन्ते इति भावः । अत्रोत्प्रेक्षा ॥

अन्वय—मणीसनाभौ मुकुरस्य मण्डले निजास्यप्रतिबिम्बदर्शिनी सा स्वमुखं विधोः अदूरं विधाय एतयोः विशेषं निरूपयन्ती इव बभौ ।

हिन्दी—मणिमुक्तादि रत्नों के समान दर्पण में अपने मुख की प्रतिच्छाया देखती वह (दमयन्ती) अपने मुख को (दर्पणरूप) चन्द्र के निकट रख कर इन दोनों (मुख चन्द्र) में कौन विशिष्ट है—यह निरूपण करती जैसी सुशोभित हुई ।

टिप्पणी—अलंकार-धारण के पश्चात् दर्पण में मुख देखा दमयन्ती ने। दर्पणतल चंद्र के समान था—मणिमुक्ताजटित। उद्भावना यह है कि दमयन्ती दर्पण देखने के व्याज से जैसे अपने मुख और चंद्र में कौन रमणीय है यह परिक्षण कर रही थी—दोनों की तुलना द्वारा। मुख के प्रतिबिम्ब से तुलना यह सूचित करती है कि मुख तो चंद्र से रमणीय था ही, परीक्षण इसका था कि मुख-प्रतिबिम्ब और चंद्र में कौन श्रेष्ठ है? मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा।

जितस्तदास्येन कलानिधिर्दधे द्विचन्द्रधीसाक्षिकमायकायताम्।
तथापि जिग्ये युगपत् सखीयुगप्रदर्शितादर्शवहूभविष्णुना ॥५१॥

जीवातु—जित इति। कलानिधिः चन्द्रः। 'शिल्पे कला विधौ रशे' इत्यभिधानात्। तदास्येन भैमीमुखेन, जितः सन् द्वौ चन्द्रौ इति धीरेव कार्यभूता साक्षी प्रमाणं यस्याः सा तत्साक्षिका माया कारणभूता यस्य स तादृशः द्विचन्द्रधीसाक्षिकमायः कायः यस्याः तस्य भावः तत्ता तां, दधे दधार। एकाकिना तन्मुखस्य दुर्जयत्वादेकोऽपि चन्द्रो मायया द्वावभूत् इत्यर्थः। तन्मुखन्तु स्वयमपि कपटादेव त्रित्वमापद्य पुनस्तं जिगायेत्याह—तथापि द्विभूतोऽपि युगपत् समकालं, सखीयुगेन सहचरीद्वयेन, प्रदर्शिताभ्याम् आदर्शाभ्यां दर्पणाभ्यां, तद्गतप्रतिबिम्बद्वयवशेन इत्यर्थः। 'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः। बहूभविष्णुना बहूभविता, प्रतिबिम्बद्वयेन आत्मना च त्रित्वमापन्नेन तन्मुखेनेत्यर्थः 'भुवश्च' इति इष्णुच् प्रत्ययः। जिग्ये जितः। त्रिभिर्द्वौ सुजयाविति भावः॥ ५१॥

अन्वयः—तदास्येन जितः कलानिधिः द्विचन्द्रधीसाक्षिकमायकायतां दधे, तथापि युगपत् सखीयुगप्रदर्शितादर्शबहूभविष्णुना जिग्ये।

हिन्दी—(यद्यपि) उस (दमयंती) के मुख से विजित कलाओं के निधि (चंद्र) ने (नेत्रों को अंगुलि आदि से दबाने से) मनुष्य को दो चंद्र दीखने की माया को धारण कर लिया, तथापि एक साथ दो सखियों द्वारा दिखाये गये दर्पणों में अनेक हो जाने वाले (दमयन्ती मुख ने चंद्र को) जीत लिया।

टिप्पणी—भाव यह है चाहे जिस दृष्टि से विचार किया जाय, दमयंती-मुख की तुलना में चंद्र सदा न्यून ही प्रमाणित होता था। सौंदर्य और श्रीसंपन्नता की दृष्टि से तो चंद्र मुख से पराजित था ही, चंद्र ने सोचा कि

वह एक से दो अर्थात् अनेक होकर एक दमयंती मुख को पराजित कर सकता है, सो उस कलाबाज (माया चतुर) ने दो चंद्र दीखने के भ्रम को उत्पन्न करके माया द्वारा दो चंद्र दीखने की कपटमाया प्रस्तुत कर दी। अंगुलि आदि से दबाने पर मनुष्य को एक के दो चंद्र दीखने ही लगते है। इसी स्थिति के द्वारा चंद्र एक से दो दीखा। तथापि उसकी यह चाल भी न चल पायी। दो सखियों ने दमयंती को एक साथ दर्पण दिखाये। दर्पण में बिम्बित हो दमयंती-मुख भी एक से अनेक हो गया और इस प्रकार संख्या की दृष्टि से भी चंद्र दमयंती-मुख से पराजित हो गया। चंद्र तो दो ही रहे, मुख तीन हो गये। एक वास्तविक, दो दर्पणों में प्रतिबिम्बित दो, इस प्रकार तीन। तीन से दो पराजित होते ही ॥ ५१ ॥

किमालियुग्मार्पितदर्पणद्वये तदास्यमेकं बहु चान्यदम्बुजम्।
हिमेषु निर्वाप्य निशासमाधिभिस्तदास्यसालोक्यमित व्यलोक्यत ? ॥

जीवातु—किमिति। आलियुग्मेन सखीद्वयेन, अर्पिते दर्पणद्वये एकम् एकत्वसङ्ख्याविशिष्टं मुख्यञ्च, तदास्यं बिम्बभूतं भैमीमुखम्, अन्यत् तन्मुख-प्रतिबिम्बरूपञ्च, बहु अनेकम्, अम्बुजं पद्मम्, एकार्कप्रतिबिम्बितानेकार्कवत् ब्रह्म चैकम् अनेकाविद्याप्रतिबिम्बितब्रह्मवच्चेति भावः। निशासु समाधिभिः तन्मुखध्यानैः, मुकुलभावलक्षणैः उपलक्षितं सत्, हिमेषु शिशिरर्त्तुषु, निर्वाप्य निर्वाणं विनाशं प्राप्य, तदास्यस्य भैमीमुखस्य, आलोकेन दर्शनेन सह वर्त्तते इति सालोकं तस्य भावः सालोक्यम् आलोकनीयत्वं रम्यत्वम् इति यावत्, तदाननसालोक्यं तदाननसमानालोकत्वं सालोक्यरूपमुक्तिञ्च, इतं प्राप्तं सत्, इण कर्त्तरि क्तः। व्यलोक्यत किम् ? दृष्टं किम् ? इत्युत्प्रेक्षा। निर्वाणकाले यां देवतां ध्यायन्ति तत्सालोक्यं लभन्ते इत्यागमः। भैमीमुखस्य दर्पणस्यप्रतिबिम्बानाञ्च परस्परसान्निध्यात् दर्पणस्यप्रतिबिम्बानि किं शिशिरर्त्तुषु नष्टानि तन्मुखमदृशानि तत्समीपस्थानि पद्मानि ? इति लोकैरुत्प्रेक्षितमिति भावः।

अन्वय —आलियुग्मार्पितदर्पणद्वये एकं तदास्यम्, अन्यत् च बहु अम्बुजम् निशासमाधिभिः हिमेषु निर्वाप्य तदास्यसालोक्यमितं किं व्यलोक्यत ?

हिन्दी—सखी-युगल द्वारा दर्शित दो दर्पणों में (मुख्य) उस (दमयन्ती) का मुख था और अन्य बहुत से कमल थे, जिन्हें रात्रि में सङ्कुचित होने रूप

ब्रह्मदर्शनोपायों द्वारा वर्फ में नष्ट हो (निर्वाण प्राप्त कर) उस (दमयन्ती) के मुख की समानता रूप सालोक्यमुक्ति प्राप्त करते तथा लोगों द्वारा देखा गया ?

टिप्पणी—इक्यानवें श्लोक में दो सखियों द्वारा दमयन्ती को दर्पण दिखाये जाने का वर्णन है। यहां उसी आधार पर यह कल्पना की गयी कि दर्पण में प्रतिबिम्बित दयमन्ती का मुख-बिम्ब एक अर्थात् मुख्य है, एक ब्रह्मरूप; मुख के उपमान कमल अनेक हैं, अर्थात् अमुख्य—अनेकजीव, जो उन योगियों के समान हैं, जो मुक्तिकामी हैं। योगिजन बदरी-केदारादि क्षेत्रों में—हिमालय में तपश्चर्या आदि अनेक ईशदर्शनोपायों द्वारा शरीर त्याग कर सालोक्य—मुक्ति प्राप्त करते हैं और भगवान् के लीलाधाम में प्रविष्ट हो जाते हैं। कमल भी शीत-पाले में नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यह उद्भावना है कि शीत पाले में शरीर-त्याग करने वाले अंबुज मुक्ति—कामी योगी हैं, जिन्होंने दमयन्ती-मुख रूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिए देहत्याग किया है। भाव यह है कि उपमान अंबुजों की अपेक्षा उपमेय दमयन्तीमुख श्रेष्ठ है, इसीलिए वे मुख-सदृश हो जाने के लिए तुषार में देह त्यागते हैं।

वैष्णवभक्ति-परंपरा में माध्वमत के अनुसार मुक्तिभोग चार प्रकार का है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य। सालोक्यमुक्ति भोग में मुक्त जीव भगवान् के लोक में पहुँच इच्छानुकूल भोग करता है; सामीप्य में भगवान् के समीप संबंध में रह आनंद-भोगी होता है; सारूप्य में मुक्त जीव ईश्वर-तुल्य गुण-रूप प्राप्त करता है और सायुज्य में भगवान् में प्रविष्ट हो भगवद्देह द्वारा भोगसाधन होता है। दर्पण में प्रतिबिम्बित दमयंती के मुख के रूप में वे अंबुज ही हैं, जिन्होंने शीत में निशासमाधि द्वारा दमयंती-मुख-रूप भगवान् का सालोक्य प्राप्त कर लिया है। आशय यही है कि अंबुजों की अपेक्षा मुख श्रेष्ठ है, अंबुज मुख नहीं, मुख के प्रतिबिम्ब ही बन सके। मुख के लीलाधाम दर्पण में प्रविष्ट हो सालोक्य-मुक्ति-भोग ही उन्हें मिला, सारूप्य और सायुज्यभोग के लिए इतनी तपश्चर्यामात्र पर्याप्त नहीं है। मल्लिनाथ और नारायण ने उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है॥ ९२॥

पलाशदामेति मिलच्छिलीमुखैर्वृता विभूषामणिरश्मिमण्डलैः।
अलक्षि लक्षं धनुषामसौ तदा रतीशसर्वस्वतयाऽभिरक्षिता॥ ९३॥

जीवातु—पलाशेति। पलाशदाम इव किंशुकमाला, इति विचिन्त्येति शेष। मिलन्त सङ्गच्छमाना, शिलीमुखा अल्य, बाणाश्च येषु तैः, तादृशैः, इति भ्रान्तिमदलङ्कार। विभूषामणिरश्मिमण्डलैः आभरणरत्नकान्तिपटलैः, वृता वेष्टिता, असौ भैमी तदा प्रसाधनानन्तरसमये इत्यर्थः। रतीशस्य कामस्य, सर्वस्वतया सर्वधनत्वेन, धनुषा धनुर्धारिणाम्। कुता. प्रविशन्तीति-दिति भाव। लक्षैः शतसहस्रैः, अभिरक्षिता समन्तात् रक्षितेव, इति अलक्षि उत्प्रेक्षिता। लोकैरिति शेषः। कामुंकरूपलाद्यरश्मिमण्डलैर्वेष्टितामास्तस्या धनुर्लक्षैः रक्षितत्वमुत्प्रेक्षितमिति व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा। राजधनं हस्तिभि अभिरक्ष्यते इति भाव ॥ ५३ ॥

अन्वय—असौ पलाशदाम—इति मिलच्छिलीमुखैः विभूषामणिरश्मि-मण्डलैः वृता तदा रतीशसर्वस्वतया धनुषा लक्षैः अभिरक्षिता अलक्षि।

हिन्दी—यह (दमयन्ती) पलाश-पुष्पों की माला है—यह विचार कर आकर एकत्र शिलीमुखों (भौंरा और पलाशाकार बाण) सदृश आभूषणों में जटित मणि रत्नों की किरणों (दमक) से घिरी (दमयन्ती) उस (शृङ्गार) समय में काम का परमधन रूप होने से असंख्य धनुषों (धनुर्धरों) से सुरक्षित दीखी।

टिप्पणी—यहाँ भाव प्रसाधिता दमयन्ती को रतिसर्वस्व अर्थात् उत्कृष्ट सुन्दरी बताना है। उसका सौंदर्य वह परमधन है जिसके लूटे जाने की आशंका से सुरक्षा अनिवार्य है। आभूषणों से निकली मणि रत्न-किरणें एक ओर तो लाल पलाशकुसुमों पर घिर आती भ्रमरावली के समान हैं—रस के, सौंदर्य के लुटेरे भ्रमरों के तुल्य हैं, दूसरी ओर वही बाण, के समान भी हैं, उन धनुषों पर चढ़े बाणों के समान, जिन्हें कांति-समानता के आधार पर मित्र काम ने मित्र नल की सम्पदा—दमयन्ती सुन्दरता के लिए आयोजित किया है। धनुष् से भाव है धनुर्धारी—लाक्षणिक अर्थ। मल्लिनाथ के अनुसार व्यंजकाप्रयोग के कारण गम्या उत्प्रेक्षा है क्योंकि चापरूप रश्मिमंडलों से वेष्टिता दमयन्ती की लक्ष धन से रक्षा उत्प्रेक्षित है। भाव यह है कि रक्षवाले राजधन की रक्षा कर रहे थे ॥ ५३ ॥

विशेषतीर्थैरिव जह्नुनन्दना गुणैरिवाजानिकरागभूमिका ।
जगाम भाग्यैरिव नीतिरुज्ज्वलैर्विभूषणैस्तत्सुषमामहार्घताम् ॥ ५४ ॥

जीवातु--विशेषेति । विशेषतीर्थैः प्रयागादिषु यमुनासरस्वतीप्रमुखैः, जह्नुनन्दना जाह्नवी इव, नन्द्यादित्वाल्ल्यु--प्रत्यये टाप् । गुणैः विद्याविनयादिभिः, अजनात् जनमित्रात् उत्पन्नः आजानिकः सहजः, ठपिकप्रत्ययः। तादृशस्य रागस्य प्रेम्णः, भूमिः एव भूमिका इव आस्पदमिव, विनयादिभिः गुणैः सहजस्नेहास्पदपुत्रादिरिव इति यावत् भाग्यैः अनुकूलदैवैः नीतिः इव, उज्ज्वलैः विभूषणैः तस्या भैम्याः, सुषमा परमा शोभा, कान्तिरित्यर्थः । महार्घतां महामूल्यताम्, अत्यन्तोत्कृष्टतामित्यर्थः । जगाम तीर्थान्तरसम्मेलनेन जाह्नव्याः पावनत्वोत्कर्ष इव विनयगुणैः पुत्रादौ स्नेहोत्कर्ष इव तथा दैवानुकूल्येन नीतेः फलप्राप्तिः इव तस्याः सुषमायास्तु लोकोत्तरचमत्कारित्वमिति भावः ॥ ५४ ॥

अन्वयः--विशेषतीर्थैः जह्नुनन्दना इव गुणैः आजानिकरागभूमिका भाग्यैः नीतिः इव उज्ज्वलैः विभूषणैः तत्सुषमा महार्घतां जगाम ।

हिन्दी--विशिष्ट (प्रयागादि) तीर्थों के द्वारा जह्नुपुत्री जाह्नवी (भागीरथी) के समान तथा (विनय, ऋजुता आदि) गुणों से सहज स्नेह की भूमि और भाग्य से नीति के समान निर्मल आभूषणों के द्वारा उस (दमयंती) की सुन्दरता चरम श्रेष्ठता को प्राप्त हो गयी ।

टिप्पणी--भाव यह है कि सहज पुण्यसलिला जाह्नवी का मूल्य जैसे प्रयागादि श्रेष्ठ तीर्थों में बढ़ जाता है और जैसे स्वाभाविक प्रेम का महत्त्व विनयादि गुण युक्त होने से बढ़ जाता है तथा नीतिपथ का अनुसरण उपयुक्त होने पर भी भाग्यानुग्रह से और भी उपयुक्त हो जाता है, वैसे ही दमयंती की सहज सुन्दरता निर्मल प्रसाधनों द्वारा और भी उत्कृष्टता को प्राप्त हो गयी । भागीरथी की विशिष्ट तीर्थों में विशिष्टता के विषय में कहा जाता है-- 'सर्वत्र दुर्लभा गङ्गा त्रिस्थानेषु सुदुर्लभा । हरिद्वारे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे ॥' इन तीन उपमानों द्वारा क्रमशः दमयंती के सौंदर्य की पवित्रता, गुणवत्ता और सौभाग्यशीलता सूचित की गयी ॥ ५४ ॥

नलात् स्ववंशश्वस्त्यमनाप्नुमानता नृपस्त्रियो भीममहोत्सवागताः ।
उदङ्घ्रिलाक्षामदधन्त मङ्गलं शिरःसु सिन्दूरमिव प्रियायुषे ॥ ५५ ॥

जीवातु—नलादिति । नलात् नलसकाशात्, स्वस्य वैश्वस्त्य वैधव्यम् । 'विश्वस्ताविधवे समे' इत्यमरः । अनाप्तुम् अप्राप्तुम्, आनता. प्रणता, अन्यथा नल' स्वभर्तॄन् वरायमाणान् हनिष्यतीति भयाद् भैमी प्रणता इति भाव । भीमस्य महोत्सवे भैमीविवाहे इति यावद् आगता नृपस्त्रियः अन्यराजपत्न्यः, राजकान्ता. इति यावत् । प्रियायुषे स्वभर्तृजीवनार्थ, न केवल प्रणामेन मङ्गलाचरणादपि स्वभर्तृजीवनाय इति भाव, मङ्गल मङ्गलकरम्, अवैधव्यसूचकमिति भावः, सिन्दूरमिव तस्या भैम्या, अङ्घ्र्यो पादयोः, लाक्षा प्रणामात् ससक्तम् अलक्तक, शिर सु स्वस्वसीमन्तेषु, अदधत अधारयन् 'दध धारणे' इति धातो लङि तङ् । स्त्रीणा ललाटे सिन्दूरधारणम् अवैधव्यसूचकम् इति भाव ॥ ५५ ॥

अन्वय—नलात् स्ववैश्वस्त्यम् अनाप्तुम् आनता भीममहोत्सवागता नृपस्त्रिय प्रियायुष मङ्गल सिन्दूरम् इव शिर सु तदङ्घ्रिलाक्षाम् अदधत ।

हिन्दी—नल से अपना वैधव्य न प्राप्त करने के लिए प्रणत भीमराज की पुत्री के विवाहोत्सव पर आयी अन्य राजाओं की स्त्रियों ने अपने प्रियों (पतियों) के आयुष्य की कामनार्थ मगल्कारी सिन्दूर के तुल्य उस (दमयती) के पैरों मे लगे अलक्तक को अपने सिरों मे लगाया ।

टिप्पणी—भीमपुत्री दमयती के विवाहमहोत्सव मे सम्मिलित होने के लिए देश देश से रानियाँ—राजकुमारियाँ आयी थीं । उन्होंने दमयती के अलक्तक लगे चरणो मे प्रणाम किया । विवाहार्थ प्रस्तुता कन्या के पैरों मे सिर झुका प्रणत होने से पति को दीर्घजीवन, प्राप्त होता है, ऐसा कहीं कहीं जनविश्वास भी है । प्रणत राजनारियों के सिर मे आलता लग गया । इस पर कल्पना है कि राजस्त्रियो ने इस कारण झुक कर दमयती के चरणों में प्रणाम किया कि नल उनके पतियों को रण-भूमि मे प्राणदान करे । वह आलता नहीं, एक प्रकार से शुभकर सिन्दूर था । अवैधव्यसूचक मगल-सिन्दूर । स्कान्द-वचनानुसार हलदी, कुकुम, सिंदूर, कज्जल, कूर्पासक, ताम्बूल, शुभमङ्गल्य आभूषण, बाल बाँधना (चोटी करना), हाथ और कर्णों के आभरणों को पति के आयु की अभिलाषिणी पतिव्रता सदा धारण करे—'हरिद्रा कुकुम चैव सिन्दूर कज्जल तथा । कूर्पासक च ताम्बूल माङ्गल्याभरण शुभम् ॥ केशसस्कारकबरीकरकर्णविभूषणम् । भर्तुरायुष्यमिच्छन्ती दूरयेन्न पतिव्रता ॥'

अमोघभावेन सनाभितां गताः प्रसन्नगीर्वाणवराक्षरस्रजाम् ।
ततः प्रणम्याधिजगाम सा ह्रिया गुरुर्गुरुब्रह्मपतिव्रताशिषः ॥ ५६ ॥

जीवातु—अमोघेति । ततः प्रसाधनानन्तरं, ह्रिया लज्जया, गुरुः भारवती, अतिलज्जितेत्यर्थः, सा भैमी, प्रणम्य गुर्वादीन् अभिवाद्य, अमोघभावेन अवैफल्यगुणेन, प्रसन्नानां गीर्वाणानाम् इन्द्रादिदेवतानां, वराक्षरस्रजां वरदानरूपवाग्गुम्फानां, सनाभितां सादृश्यं, गताः प्राप्ताः, तद्वदमोघ इत्यर्थः, गुरूणां पित्रादीनां, ब्रह्मणां ब्राह्मणानां, पतिव्रतानां च आशिषः आशीर्वादान्, अधिजगाम लेभे ॥ ५६ ॥

अन्वयः—ततः ह्रिया गुरुः सा प्रणम्य अमोघभावेन प्रसन्नगीर्वाणवराक्षरस्रजां सनाभितां गताः गुरुब्रह्मपतिव्रताशिषः अधिजगाम ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (शृङ्गारानंतर) लज्जा के भार से युक्त उस (दमयंती) ने (प्रणम्य व्यक्तियों को) प्रणाम करके सफल होने के कारण प्रसन्नीभूत देवों (इन्द्रादि) के वरों की वर्णमाला के सादृश्य को प्राप्त गुरुजनों, ब्राह्मणों और पतिव्रताओं के आशीर्वादों को प्राप्त किया ।

टिप्पणी—विवाहावसर पर कुमारी कन्या की स्वाभाविक लज्जा से झुकी, अत्यधिक सलज्जा दमयंती ने भावी जीवन की मंगलकामना के निमित्त मातापितादि गुरुजन, श्रेष्ठ विद्वज्जनों, तपोनिष्ठ ब्राह्मणों और अविधवाओं–पतिव्रता सौभाग्यवती नारियों को प्रणाम किया और उनके आशीर्वचन प्राप्त किये, जो किसी दृष्टि से प्रसन्न हुए इन्द्राग्नि-वरुण-यम देवों और वाग्देवता सरस्वती के वरदानों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे—उन्हीं के समान थे ॥ ५६ ॥

तथैव तत्कालमयानुजीविभिः प्रसाधनासञ्जनशिल्पपारगैः ।
निजस्य पाणिग्रहणक्षणोचिता कृता नलस्यापि विभोर्विभूषणा ॥५७॥

जीवातु—तथैवेति । अथ अस्मिन् अवसरे इत्यर्थः, सः एव कालः यस्मिन् कर्मणि तत् तत्कालं भैमीप्रसाधनसमकालमित्यर्थः, तथैव यथा भैम्याः तथैव, प्रसाधनासञ्जनं प्रसाधनकरणं, तत् एव शिल्पं विद्या-विशेषः, तस्य पारगैः पारदर्शिभिः 'अन्तात्यन्ता–'इत्यादिना ड—प्रत्ययः । अनुजीविभिः सेवकैः, निजस्य आत्मीयस्य, विभोः स्वामिनः, नलस्यापि पाणिग्रहणक्षणोचिता विवाहकालोचिता, विभूषणा प्रसाधना, कृता ॥ ५७ ॥

अन्वय—अथ तत्कालं तथा एव प्रसाधनासञ्जनशिल्पपारगैः अनुजीविभिः निजस्य विभोः नलस्य अपि पाणिग्रहणक्षणोचिता विभूषणा कृता।

हिन्दी—तदनंतर (मंगलाभिषेक के पश्चात्) उसी समय वैसे ही (जैसे कि दमयती का शृङ्गार हुआ था), शृङ्गार-सज्जा-शिल्प के पारगत अनुचरों ने अपने प्रभु नल का भी विवाहावसरोचित शृङ्गार किया।

टिप्पणी—जब दमयती का विवाहावसरोचित शृङ्गार हो चुका तो वर राजा नल का भी शृङ्गार-कला के विशेषज्ञ उसके अनुचरों ने उचित रूप से शृङ्गार किया, जिसका वर्णन ७१ वें श्लोक तक है ॥ ५७ ॥

नृपस्य तत्राधिकृताः पुनः पुनर्विचार्य तान् बन्धमवापयन् कचान्।
कलापलीलोपनिधिर्गरुत्त्यजः स यैरपालापि कलापिसंसदः ॥५८॥

जीवातु—नृपस्येति। तत्र प्रसाधने, अधिकृताः नियुक्ताः, तान् वक्ष्यमाणान्, नृपस्य नलस्य, कचान् केशान्, विचार्य अपराधम् अनुचिन्त्य, पुनः पुनः बन्धं संयमनविशेषम्, अवापयन् प्रापितवन्तः, 'अवापिपन्' इति पाठे तु—आपेर्णौ चङ् द्वितीयस्यैकाचो द्विर्भावः। यः कचैं केशैः, गरुत पक्षान्, त्यजतीति गरुत्त्यग् तस्याः शरदि मयूराणां पक्षपतनं भवतीति प्रसिद्धिः कलापिसंसदः मयूरसङ्घस्य, सः पक्षत्यागकाले कृत इत्यर्थः, कलापस्य बर्हभारस्य, लीला विलासः, स एव उपनिधिः न्यासः, बर्हमोचनकालकृतो निक्षेप इत्यर्थः, 'पुमानुपनिधिर्न्यासः' इत्यमरः, अपालापि अपलपितः, पुनः बर्होदयेऽपि न प्रत्यर्पित इत्यर्थः, अतो बन्धनमुचितमिति भावः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—तत्र अधिकृताः पुनः पुनः विचार्य तान् नृपस्य कचान् बन्धम् अवापयन्, यैः गरुत्त्यजः कलापिसंसदः सः कलापलीलोपनिधिः अपालापि।

हिन्दी—उस (केश प्रसाधन) के अधिकारी (केश-शृंगार निपुण) अनुचरों ने बार-बार विचार करके राजा (नल) के केशों को संयमित किया (सँवारा, बाँधा), जिन्होंने (केशों ने) कि पंख-त्याग करने वाली मयूर मंडली के कलाप-(पंख) लीला के साम्य को आच्छादित कर लिया, अथवा जिन केशों ने मयूरों के शरत्काल में त्यागे कलाप समूह की शोभा की लीलोपनिधि अर्थात् न्यास (धरोहर) को वापस नहीं किया था।

टिप्पणी—दो श्लोकों (५८–५९) में राजा नल के केश-शृंगार का

वर्णन है। भाव यह है कि राजा के घने-चिकने केश मयूर-पंखों की अपेक्षा अधिक मनोहर थे।' केश-प्रसाधन-निपुण नापितादि अनुचरों ने किस शैली के अनुसार केश सँवारे जाय, कौन-कौन-सी प्रसाधन-सामग्री समयोपयुक्त होगी,—इन सब पर वारंवार भली-भाँति विचार करके ऐसा केश शृंगार किया कि केश मयूर-कलाप से भी आकर्षक लगने लगे। कविसमय-प्रसिद्धि है कि शरत्काल में मयूर पक्ष त्याग करते हैं। इसी आधार पर यह भी कल्पना है कि त्यागे जाते समय मयूर-कलापों की लीला-शोभा धरोहर के रूप में नल केशों के ही निकट रखी हुई थी, उन्होंने उसे लौटाया नहीं। न्यास न लौटाना अपराध है, सो इस अपराध की गुरुता पर वारंवार विचार करके राजाधिकारियों ने केशों को दंड दिया कि उन्हें बंधन में डाल दिया ॥ ५८॥

पतत्रिणां द्राघिमशालिना धनुर्गुणेन संयोगजुषां मनोभुवः।
कचेन तस्यार्जितमार्जनश्रिया समेत्य सौभाग्यमलम्भि कुड्मलैः ॥५९॥

जीवातु—पतत्रिणामिति। कुड्मलैः अर्द्धविकसितकुसुमैः कर्त्तृभिः, द्राघिमशालिना दैर्घ्यशोभिना 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना दीर्घशब्दस्य द्राघिमादेशः। अर्जितमार्जनश्रिया सम्पादितकस्तूरिकादिसंस्कारसम्पदा, तस्य नलस्य, कचेन केशपाशेन, समेत्य मिलित्वा, द्राघिमशालिना अर्जितमार्जनश्रिया सम्पादितसिक्थकादिघर्षणसम्पदा, धनुर्गुणेन अलिमालारूपमौर्व्या, संयोगजुषां सन्धानभाजां, मनोभुवः कुसुमेषोः, पतत्रिणां बाणानां, सौभाग्यम् इव सौभाग्यं सौन्दर्यम्, अलम्भि लब्धम् इति निदर्शनाभेदः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—अर्जितमार्जनश्रिया द्राघमशालिना तस्य कचेन समेत्य कुड्मलैः (द्राघिमशालिना अर्जितमार्जनश्रिया) धनुर्गुणेन संयोगजुषां मनोभुवः पतत्रिणां सौभाग्यम् अलम्भि।

हिन्दी—प्रसाधन-शोभा-सम्पन्न, लम्बे उस (नल) के केशों से सम्बन्ध प्राप्त कर (सँवार दिये जाने पर) कलियों ने लम्बी तथा (मोम आदि लगा कर) मार्जित (चिकनी) कर दी गयी धनुष् की डोरी से संयुक्त मनोभू (काम) के बाणों के सौभाग्य (सौंदर्य) को प्राप्त कर लिया।

टिप्पणी—प्रसाधकों ने सँवारे नल के केशों में अनेक पुष्पों की कलियाँ भी गूँथ दी थीं, वे ऐसी लग रही थीं, जैसे डोरी पर चढ़े काम-बाण हों।

घने-लम्बे, सवारे केश, लम्बी-चिकनी प्रत्यंचा है, जिन पर उभर कर लगीं कलियाँ काम के पुष्प वाण-तुल्य प्रतीत हो रही हैं। 'मार्जन' और 'द्राघिमा' इस साम्य के आधार हैं। कुद आदि की कलियाँ पुष्पवाण प्रसिद्ध ही हैं। नारायण के अनुसार केश-पाश का भ्रमरमालारूप-धनुर्गुण से साम्य है, कुड्मलों का पुष्पबाणों से और नल का काम से। अतिदीर्घ, कलिकालङ्कृत नल के केश-पाश के दर्शन मात्र से दमयती कामवश हो—यह भाव है। मल्लिनाथ के अनुसार निदर्शनाभेद ॥ ५९ ॥

अनर्घ्यरत्नौघमयेन मण्डितो रराज राजा मुकुटेन मूर्द्धनि।
वनीयकानां स हि कल्पभूरुहस्ततो विमुञ्चन्निव मञ्जुमञ्जरीम् ॥६०॥

जीवातु—अनर्घ्येति। हि यस्मात्, स राजा नल, वनीयकानाम् अर्थिना 'वनीमको याचनको मार्गणो याचकार्थिनौ' इत्यमर', कल्पभूरुह.' कल्पवृक्ष, तत. अधिकल्पवृक्षत्वात्, अनर्घ्यरत्नौघमयेन अमूल्यमणिनिचयप्रचुरेण, मुकुटेन मूर्द्धनि मण्डितः अलङ्कृत. सन्, मञ्जु फलदा मनोहराश्च, मञ्जरी सकलिका बालशाखा, विमुञ्चन् अर्थिनां त्यजन् इव, रराज इत्युत्प्रेक्षा ॥ ६० ॥

अन्वय·—हि स राजा वनीयकाना कल्पभूरुह तत. अनर्घ्यरत्नौघमयेन मुकुटेन मूर्द्धनि मण्डित. मञ्जुमञ्जरी विमुञ्चन् इव रराज।

हिन्दी—क्योंकि वह राजा (नल) 'वनीयकों' (याचकों) का कल्पवृक्ष था, उस कारण अमूल्य (दिव्य माणिक्यादि) रत्नों से युक्त मुकुट-द्वारा शिर-शृंगार होने पर (कल्पवृक्षोचित) सुन्दर (रत्नादि रूप) मजरियों को (याचकों के निमित्त) त्यागता-सा सुशोभित हुआ।

टिप्पणी—मूर्धा का मडन। उस पर दिव्य रत्नजटित मुकुट धरा गया। राजा नल अभीष्ट दान करते थे—याचकों के निमित्त कल्पवृक्ष के तुल्य। उस समय वे उस कल्पतरु-तुल्य सुशोभित हुए, जो याचकों के लिए रत्न-रूप मंजरियाँ क्षर रहा हो। नये, लाल-पल्लव-पुष्प-संयुक्त मजरियों से मणि-माणिक्य। कल्पवृक्ष की मजरी रत्नफला है। मुकुट अथवा उसकी किरणें मजरीस्थानिक हैं। भाव यह है कि मुकुटमणि-किरणें मजरियों-सदृश ऊपर की ओर जा रही थीं। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ६० ॥

नलस्य भाले मणिवीरपट्टिकानिभेन लग्नः परिधिर्विधोर्बभौ ।
तदा शशाङ्काधिकरूपतां गते तदानने मातुमशक्तिमुद्वहन् ॥ ६१ ॥

जीवातु—नलस्येति । विधोः इन्दोः, परिधिः परिवेषः, नलस्य भाले ललाटे, मणिवीरपट्टिकानिभेन मणिमयवीरधार्यपट्टमिषेण, लग्नः सन्, तदा प्रसाधनकाले, शशाङ्कात् अधिकं रूपं स्वरूपं सौन्दर्यं वा यस्य तस्य भावः तत्तां, गते प्राप्ते, चन्द्रापेक्षया बृहत्परिमिते अधिकसुन्दरे वा इत्यर्थः, तदानने नलमुखे, मातुम् अभिव्याप्तुम् अशक्तिम् उद्वहन् अशक्य इव, बभौ । परिवेषः चन्द्रं परिवेष्टय शोभते, किन्तु अत्रैकदेशवर्त्तित्वाधाराधेययोः आनुरूप्याभावाद् अधिकालङ्कारः 'आधाराधेययोरानुरूप्याभावादधिको मतः' इति लक्षणाद् । वस्तुतोऽत्र मणिवीरपट्टिकापह्नवेन चन्द्रपरिवेर्नलमुखैकदेशवर्तित्वोत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षालङ्कारः, तत्रोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ६१ ॥

अन्वयः—विधोः परिधिः नलस्य भाले मणिवीरपट्टिकानिभेन लग्नः तदा शशाङ्काधिरूपतां गते तदानने मातुम् अशक्तिम् उद्वहन् बभौ ।

हिन्दी—चन्द्र-परिवेष नल के ललाट पर मणिमयी वीर पुरुषों के धारणोचित स्वर्णपट्टिका के व्याज से संलग्न हो उस समय (प्रसाधन-काल में) चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक सौंदर्य को प्राप्त उस (नल) के मुख की समता प्राप्त करने में असामर्थ्य-ग्रहण करता सुशोभित हुआ ।

टिप्पणी—ललाट-शृंगार । मस्तक पर स्वर्ण-पट्टिका पहिनायी गयी, जैसे कि वह चन्द्रपरिवेष हो । इससे यह लगा कि चन्द्रमंडल नल-मुख से हीन होने के कारण उससे समानता नहीं कर सकता, सो अपनी शक्तिहीनता समझ ललाट-पट्टिका रूप में आ गया है । संपूर्ण मुख नहीं, एक स्थान ललाट की ही परिधि बन जाय—यही पर्याप्त है । मणि-किरणें मंडलाकार हैं, अतः पट्टिका का परिवेषाकार उचित ही है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अधिकालंकार है, क्योंकि परिवेष चन्द्र का परिवेष्टन कर सुशोभित होता है किन्तु यहाँ एक देशवर्त्ती आधाराधेय में आनुरूप्य का अभाव है; वस्तुतः यहाँ मणि-वीर-पट्टिका के अपह्नव से चन्द्र-परिधि के नल-मुख की एकदेशवर्त्तिनी उत्प्रेक्षित होने के कारण सापह्नवोत्प्रेक्षा है, जिसमें व्यंजक प्रयोग न होने से उत्प्रेक्षा गम्या है ॥ ६१ ॥

बभूव भैम्याः खलु मानसौकस जिघांसतो धैर्यमरं मनोभुवः ।
उपभ्रु तद्वर्त्तुलचित्ररूपिणि धनुःसमीपे गुलिकेव सङ्गता ॥ ६२ ॥

जीवातु—बभूवेति । भैम्याः मानसं स्वान्तं सरोविशेषश्च 'मानसं सरसि स्वान्ते' इति विश्वः । तत् ओकः स्थानं यस्य तं मनोनिष्ठं हंसञ्च, 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकसः' इत्यमरः, धैर्यमरं धैर्यातिशयं, धैर्यघनमिति यावत् जिघांसतः हन्तुमिच्छतः हन्तेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः, 'सन्यङोः' इति द्विर्भावः, 'अभ्यासाच्च' इति हस्य कुत्वम्, 'अज्झनगमां सनि' इति दीर्घः, मनोभुवः कामस्य, धनुःसमीपे गुलिका या पक्षिवधगुटिका सा, उपभ्रु भ्रूसमीपे, सामीप्यस्याव्ययीभावे नपुंसकह्रस्वत्वम् नन्स्यति लोपः, सङ्गता मिलिता, तस्य नलस्य, यत् वर्त्तुलं चित्रं तिलकं, तद्रूपिणी इव, 'चित्रं स्यादद्भुतालेख्यतिलकेषु' इति विश्वः, बभूव खलु इत्युत्प्रेक्षा, नलः मदं भैमीचित्ताकर्षकं तिलकं दधार इति भावः । 'त्रिपुण्ड्रं सुरविप्राणां वर्त्तुलं नृपवैश्ययोः । अर्द्धचन्द्रन्तु शूद्राणामन्येषामूर्ध्वपुण्ड्रकम् ॥' इति स्मरणाद्वर्त्तुलेत्युक्तम् ॥६२॥

अन्वयः—भैम्या मानसौकसं धैर्यभरं जिघांसतः मनोभुवः धनुःसमीपे सङ्गता उपभ्रु तद्वर्त्तुलचित्ररूपिणी गुलिका इव बभूव खलु ।

हिन्दी—तिलक भीमपुत्री (दमयन्ती) के मन रूप मानसरोवर के वासी धैर्यातिशयरूप हंस को मारने की इच्छा करने वाले मनोभू (काम) के धनुष् में निकट सयुक्त की गयी, भौंहों के निकट उस (नल) के वर्त्तुल (गोल) तिलक का रूप धारे गोली की भाँति प्रतीत हुआ ।

टिप्पणी—तीन श्लोकों (६२–६४) में तिलक का वर्णन है । इस श्लोक में भौंहों के निकट गोल तिलक को धनुष् पर रख कर छोड़ी जाने वाली उस गोली के समान कहा गया है, जिसे काम रूपी आखेटक भौंह रूप धनुष् पर रख कर दमयन्ती के मन मानसर के वासी धैर्य रूप हंस को मारने के लिए छोड़ना चाहता है । भौंहें धनुष् हैं, वर्तुल तिलक गोली है । देवता-विप्र त्रिपुंड लगाते हैं, राजा (क्षत्रिय) और वैश्य वर्तुल तिलक । शूद्र अर्द्धचन्द्राकार तिलक लगाते हैं, और सब ऊर्ध्वपुण्ड्रक। आशय यह है कि नल-ललाट पर लगे तिलक को देख दमयन्ती का धैर्य जाता रहेगा और वह अत्यंत विमुग्ध हो जायगी । 'खलु' के आधार पर मल्लिनाथ और नारायण—दोनों ने उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥ ६२ ॥

अचुम्बि या चन्दनबिन्दुमण्डली नलीयवक्त्रेण सरोजतर्जिना ।
श्रियं श्रिता काचन तारका सखी कृता शशाङ्कस्य तयाऽङ्कवर्तिनी ॥

जीवातु—अचुम्बीति । सरोजतर्जिना पद्मधिक्कारिणा, नलस्य इदं नलीयम् । 'वा नामधेयस्य—' इति वृद्धसंज्ञायां वक्तव्यत्वात् 'वृद्धाच्छः' इति छप्रत्ययः, वक्त्रं तेन नलमुखचन्द्रेण इत्यर्थः । सरोजतर्जिविशेषणसामर्थ्यात् वक्ष्यमाणतारायोगसामर्थ्याच्च या चन्दनबिन्दोः मण्डली बिम्बं, पूर्वोक्तवर्तुलतिलकमित्यर्थः । 'बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु' इत्यमरः । अचुम्बि चुम्बिता धृता, इत्यर्थः । तया चन्दनबिन्दुमण्डल्या, शशाङ्कस्य चन्द्रस्य, अङ्कवर्तिनी, समीपवर्तिनी, श्रियं श्रिता श्रीधारिणी सती, काचन तारका दिनकृतसमागमा काचिदश्विन्यादीनाम् अन्यतमा तारका, सखी कृता सहचरी कृता । चन्दनबिन्दुतिलकेन तु नलमुखं दिवसे तारायुक्तचन्द्रवच्चकाशामास इति भावः । उत्प्रेक्षा, सा च इवाद्यप्रयोगात् गम्या ॥ ६३ ॥

अन्वयः—सरोजतर्जिना नलीयवक्त्रेण या चन्दनबिन्दुमण्डली अचुम्बि, तया शशाङ्कस्य अङ्कवर्तिनी श्रियं श्रिता काचन तारका सखी कृता ।

हिन्दी—कमल को धिक्करणीय बनाने वाले नल के मुख ने जो चन्दन की गोल बिंदी (तिलक) लगायी, उसने शशांक (चन्द्र) के अंक में विद्यमान शोभायुक्त किसी तारा को सखी बना लिया ।

टिप्पणी—यहाँ तिलक के विषय में एक और उद्भावना करके नल-मुख को कमल और चन्द्र—दोनों की अपेक्षा महत्त्व दिया गया है। अपने आकार आदि गुणों के आधार पर मुख-कमलतिरस्कारी तो है ही, वह चन्दन-बिन्दु-रूप में चन्द्र की निकट स्थिता एक तारा को सखी बना कर अर्थात् तारा-तुल्य बिन्दी से युक्त होकर चन्द्र-सम भी हो गया। 'काचन तारका सखीकृता' अर्थात् किसी शोभामयी तारा को बिन्दी ने स्वसदृश बना लिया। अब तक तारा को अपना उपमान नहीं मिला था, बिन्दु के रूप में तारा को अपना उपमान मिल गया, तब चन्द्र भी नल-मुख सदृश हो पाया। चन्द्रमा कमलतर्जी है, उसमें यदि सश्रीका कोई तारका हो तो वह बिन्दु की सखी हो सकती है, समानता प्राप्त कर सकती है, अन्यथा नहीं। सरोज तो चन्द्र के संमुख ही तिरस्करणीय है, चन्द्र भी तब नल-मुख-सदृश होगा, यदि उसकी

अंरवसिनी कोई सखीका तारका होगी। चन्दन-बिन्दु-तिलक से नल-मुख दिन में तारा युक्त चन्द्र-सम हो गया—यह भी भाव है। चन्द्र दिन मे शोभित नहीं होता, मुख है। यह भी उसका चन्द्र की अपेक्षा वैशिष्ट्य है। मल्लिनाथ के अनुसार 'इवादि' व्यजक शब्द का प्रयोग न होने से गम्या उत्प्रेक्षा।

> न यावदग्निभ्रममेत्युदूढतां नलस्य भैमीति हरेर्दुराशया।
> स बिन्दुरिन्दुः प्रहितः किमस्य सा न वेति भाले पठितुं लिपीमिव॥

जीवातु—नेति। सः पूर्वोक्तः, बिन्दुर्वर्तुलचन्दनतिलकः, अग्निभ्रम यावत् यावदग्निभ्रम, वैवाहिकाग्निप्रदक्षिणीकरणपर्यंतमित्यर्थः। 'पतिस्व सप्तमे पदे' इति स्मृते, वैवाहिकाग्निसमीपे यावत् सप्तपदीगमनं न भवेत् तावत् भैमी नलस्य भार्या न भवेदिति तादृशाग्निप्रदक्षिणीकरणपर्यंतमिति-भाव। 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभाव। भैमी नलस्य उदूढताम् उद्वाहसंस्कृतत्व, भार्यात्वमित्यर्थ। न एति न प्राप्नोति, इति हरे इन्द्रस्य, दुराशया वृथाभिलाषेण हेतुना, सा भैमी, अस्य नलस्य, किं, भवेत् ? इति शेष, न वा ? इति भाले नलस्य ललाटे, लिपी ब्रह्मकर्तृकललाटलिखितम्, 'कृदिकारात्—' इतीकारः। पठितुं वाचयितु प्रहितः इन्द्रेण प्रेषितः, इन्दुः इव, आभातीति शेषः। उत्प्रेक्षा॥ ६४॥

अन्वयः—'अग्निभ्रम यावत् भैमी नलस्य उदूढता न एति; सा अस्य (अस्ति) न वा'—इति हरे. दुराशया सः इन्दु इव बिन्दु. किं भाले लिपीं पठितु प्रहित ?

हिन्दी—'अग्नि के फेरो तक भीमपुत्री (दमयन्ती) नल की विवाहिता नहीं होती; वह (भैमी) इस नल के (भाग्य) में है या नहीं ?'—इस इन्द्र की दुराशा (हताशा) के द्वारा वह चन्द्र-सा तिलक क्या (नल के) मस्तक पर लिखा (विधाता का) भाग्य-लेख पढ़ने भेजा गया है ?

टिप्पणी—चन्द्र से बिन्दु के आधार पर एक और उद्भावना। यद्यपि स्वयंवर हो चुका है, पर विवाह तब तक मान्य नहीं होता, जब तक अग्नि साक्षिक सप्तपदी न होले। इस प्रकार इस समय तक दमयन्ती को पूर्णतया नल की पत्नी नहीं कहा जा सकता। कहीं ऐसा तो नहीं है कि इंद्र के मन में अब भी यह दुराशा हो कि अभी तक तो दमयन्ती नलोढा नहीं घोषित

हुई, कदाचित् नल के भाग्य में विधाता ने दमयन्ती-प्राप्ति लिखी ही न हो ? इस स्थिति में इन्द्र को एक अवसर प्राप्त हो सकता है। सो नल के मस्तक पर लिखे विधाता के भाग्य-लेख पढ़ने बिन्दु के रूप में अपने सभासद् और विश्वसनीय मित्र चंद्र को इद्र ने भेजा है। ब्रह्मलेख का निश्चय चंद्र द्वारा जान कर–यदि नल के भाग्य में दमयन्ती न हो तो–हम भी पुनः प्रयत्न करें। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ६४ ॥

कपोलपालीजनितानुबिम्बयोः समागमात् कुण्डलमण्डलद्वयी।
नलस्य तत्कालमवाप चित्तभूरथस्फुरच्चक्रचतुष्कचारुताम् ॥ ६५ ॥

जीवातु—कपोलेति। नलस्य कुण्डलमण्डलद्वयी कर्णवेष्टनभूषणयुगली, कपोलपाल्यां जनितयोः स्वच्छगण्डमण्डलसङ्क्रान्तयोः, अनुबिम्बयोः स्वप्रतिबिम्बयोः, समागमात् मेलनात्, तत्कालं तस्मिन् काले, चित्तभुवः कामस्य, रथे स्फुरतः चक्रचतुष्कस्य चारुताम् अवाप। रथस्य चतुश्चक्रत्वात् मण्डलाकारकुण्डलद्वयी स्वप्रतिबिम्बद्वयेन सह चतुष्टयत्वं प्राप्य रथचक्रचतुष्टयत्ववती इव भातीत्यर्थः। *अत्र रथचक्रचारुतायाः कुण्डलेऽसम्भवात् तच्चारुतामिव* चारुतामिति निदर्शनालङ्कारः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—तत्कालं नलस्य कुण्डलमण्डलद्वयी कपोलपालीजनितानुबिम्बयोः समागमात् चित्तभूरथस्फुरच्चक्रचतुष्कचारुताम् अवाप।

हिन्दी—उस समय नल के दोनों कर्णकुण्डलों ने स्वच्छ कपोलों पर पड़ते अपने दो प्रतिबिम्बों के योग से मनोभू (काम) के रथ में सुशोभित चार चक्रों (चक्कों, पहियों) की शोभा को प्राप्त किया।

टिप्पणी—कर्णाभूषणों का वर्णन। दो कर्णकुंडल, स्वच्छ, शुभ्र कपोलों पर पड़ते उनके दो प्रतिबिम्ब। चारों मिलकर काम-रथ के चार सुन्दर चक्र-से सुशोभित हुए। भाव यही कि दमयन्ती इन को देख मुग्ध हो जायेगी। रथचक्र-चारुता कुंडलों में असम्भव है, उसकी चारुता-जैसी चारुता—यह मल्लिनाथ के अनुसार निदर्शनालंकार है ॥ ६५ ॥

श्रिताऽस्य कण्ठं गुरुविप्रवन्दनाद् विनम्रमौलेश्चिबुकाग्रचुम्बिनी।
अवाप मुक्तावलिरास्यचन्द्रमःस्रवत्सुधाबिन्दुलबिन्दुवृन्दताम् ॥६६॥

जीवातु—श्रितेति। गुरूणां मातापित्रादीनां, विप्राणाञ्च वन्दनात् प्रणा-

मात्, विनम्रमौलेः नम्रशिरसः, अस्य नलस्य, चिबुक मुखाधोभाग, मुखस्य 'अधस्ताच्चिबुकम्' इत्यमरः। तस्य अग्र चुम्बति स्पृशति इति तच्चुम्बिनी, कण्ठ श्रिता मुक्तावलिः मौक्तिकमाला, आस्यचन्द्रमस. मुखचन्द्रात्, स्रवन्त्या. सुधाया. तुन्दिलाना स्थूलाना, बिन्दूना वृन्दता समूहत्वम्, अवाप तदिव बभौ इति भाव'। अत्र गम्योत्प्रेक्षा॥ ६६॥

अन्वय.—गुरुविप्रवन्दनात् विनम्रमौले अस्य चिबुकाग्रचुम्बिनी कण्ठ श्रिता मुक्तावलिः आस्यचन्द्रमःस्रवत्सुधातुन्दिलबिन्दुवृन्दताम् अवाप।

हिन्दी—गुरुजनो और विप्रो की वदना (प्रणामादि) के कारण शिर विनत करने वाले इस (नल) की ठोडी को चूमने वाली कठ मे पहिनी मोती माला मुखरूप चद्र से टपकती, मोटी मोटी अमृत की बूदो के सादृश्य को प्राप्त हुई।

टिप्पणी—शिष्टाचार के ज्ञाता नल उस समय गुरुजनो और वन्दनीय विप्रो को प्रणाम करने के लिए सिर झुकाये थे, अत मोती-माला उनके चिबुकाग्रभाग (ठोड़ी) का स्पर्श कर रही थी। नल का मुख चद्र है, यह मुक्तावलि उससे झरती सुधा की बूदो-सी लग रही थी। आशय यह कि गुरुजनो को अमृतवर्षी पूर्णचद्र तुल्य नल-मुख को देख-कर अपार हर्ष हुआ। मल्लिनाथ के अनुसार गम्योत्प्रेक्षा॥ ६६॥

यदुद्धता श्रीर्वरुवात् बलं द्विपन् बभूव यस्याजिपु वारणेन सः।
अपूपुरत् तान् कमलार्थिनो घनान् समुद्रभाव स बभार तद्भुजः॥६७॥

जीवातु—यदिति। श्री. सम्पत्ति. लक्ष्मीश्च 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मी. श्रीरिव कथ्यते' इति विश्वः। यदुद्धता यस्मात् भुजात् समुद्राच्च उद्भूता, यद्वा यदिति भिन्न पदम् अव्यय पञ्चम्यर्थे योज्यम्। बल सैन्य, द्विषन् विरुन्धन्, सः मल', आजिपु युद्धेपु, यस्य भुजस्य कर्तृत्वेन, वारणेन शत्रुनिवारणेन, बलवान् प्रबला, बभूव, अन्यत्र—सः प्रसिद्ध.' बल द्विषन् बलासुरस्य द्विट् इन्द्रः। 'द्विषोऽमित्रे' इति शतृप्रत्यये तस्य आदेशत्वाभावात् 'तृन्' इति प्रत्याहारात् 'न लोका—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधे 'द्विष. शतुर्वा' इति वैकल्पिकषष्ठीविधानात् पक्षे कर्मणि द्वितीया। यस्य समुद्रस्य सम्बन्धिना, वारणेन ऐरावतगजेन साधनेन, आजिषु बलवान् बभूव, 'बल सैन्य बल स्थौल्य

बलं शक्तिर्बलोऽसुरः' इति शाश्वतः। यः भुजः घनान् सान्द्रान्, निरन्तरमागतानित्यर्थः। तान् दारिद्र्येण प्रसिद्धान्, कमलार्थिनः लक्ष्मीकामान्, याचकानित्यर्थः। अन्यत्र—यः समुद्रः, तान् कमलार्थिनः, जलार्थिनः; 'कमला श्रीर्जलं पद्मं कमलं कमलो मृगः' इति शाश्वतः। घनान् अम्बुदान्, मेघानित्यर्थः। 'घनं सान्द्रं घनं वाद्यं घनो मुस्ता घनोऽम्बुदः' इति शाश्वतः। अपूपुरत् पूरयामास, धनैर्जलैश्चेति शेषः। पूरयतेर्लुङि 'णौ चङि' इति ह्रस्वे 'दीर्घो लघोः' इत्यभ्यासस्य दीर्घः। सः तद्भुजः नलबाहुः, मुद्रया अङ्गुरीयकेण सह वर्त्तते इति समुद्रः साङ्गुरीयकः, सम् उनत्तीति समुद्रः सागरश्च। सा विपञ्चीत्यादिना जलधेः कारणादिकः ठ–प्रत्ययः। तस्य भावं समुद्रत्वं, बभार मुद्रिताभरणम् आमुमोचेति प्रकृतार्थः। सागरार्थस्तु ध्वनिरेव विशेषणविशेष्ययोरुभयोरपि श्लिष्टत्वादिति ॥ ६७ ॥

अन्वयः—श्रीः यदुद्धता, बलं द्विषन् सः, आजिषु यस्य वारणेन बलिवान् बभूव, (यः) तान् घनान् कमलार्थिनः अपूपुरत्, सः तद्भुजः समुद्रभावं बभार।

हिन्दी—जिससे संपत्ति और शोभा उपजी, शत्रुसैन्य को पराजित करता वह (नल) युद्धों में जिसके द्वारा शत्रुवारण कर उत्साह युक्त होता रहा, और (जो) निरन्तर (याचनार्थ) उपस्थित होते अथवा घने (अनेक) उन (दरिद्र) धन-प्रार्थी याचकों को पूर्णकाम करता रहा, वह उस (नल) का बाहु समुद्रभाव (मुद्राओं–अंगूठियों से युक्त हो), उस समुद्र (सागर) के भाव (समता) को प्राप्त हुआ, जिससे (अमृत-मन्थन-समय) लक्ष्मी का जन्म हुआ, बलासुर का द्वेषी वह (इंद्र) युद्धों में जिसके द्वारा प्राप्त हाथी (ऐरावत) से बली हुआ और जिसने उन कमल (जल) के याचक घनों (बादलों) को (जल से) पूर्ण किया।

टिप्पणी—नल ने हाथ में अंगूठियाँ—मुद्राएँ पहिनीं, इस प्रकार वह 'समुद्र' (मुद्राभिः सहितः) हुआ। इसी 'समुद्रभाव' को लेकर यहाँ नल के बाहु की तुलना समुद्र से अनेकार्थ शब्दों के प्रयोग द्वारा की गई। 'श्री' 'बल' 'वारण', 'कमल' और 'घन' के क्रमशः दो अर्थ हैं—भुजपक्ष में शोभा-सम्पति, सैन्य, निवारण, धन और प्रभूत अथवा निरन्तर और समुद्रपक्ष में लक्ष्मी, बलासुर, ऐरावत गज, जल और मेघ। 'करणेन' प्रयोग मान कर 'वारणानाम् इनः स्वामी'—हाथियों का स्वामी 'ऐरावत' अर्थ करते नारायण ने—'ऐरावत जिस नल-बाहु के साथ स्पर्धा करता युद्ध में सोत्साह हुआ'—यह अर्थ भी किया है। उसकी टिप्पणी है कि हीनबल ऐरावत ने उत्तम भुजबल की

स्पर्धा से बली होने की प्रतिष्ठा प्राप्त करली—'हीनबलोऽप्युत्तमैतद्भुजबल-स्पर्द्धया बलवत्त्वप्रतिष्ठा लेभे।' अन्वय-भेद करके नारायण ने पूर्वार्द्ध का यह अर्थ भी किया है कि सग्रामो में बलदैत्य का जयी वह इन्द्र भी नल के साथ युद्ध मे बलवान् अप्रमाणित हुआ अथवा 'बवयोरभेद.' के आधार पर 'बलवान्' को 'वलवान्' मान 'वलनं वल' पलायन तद्वान्' (पलायनशील) हुआ, यह भाव भी लिया है। आशय यह कि 'इन्द्रादप्यय बली', अर्थात् नल इन्द्र से भी बली है। 'घनान् कमलार्थिनोऽपूपुरत्' का यह अर्थ भी किया गया है कि बहुत-से सुन्दर बहुएँ चाहने वाले वरो की भी इच्छा नलने पूर्ण की, अनेक ब्राह्मणो का नल ने विवाह किया। शत्रु-पराक्रमी होने से नल की बलवत्ता और याचको की इच्छा पूर्ण करने वाला होने से उनकी उदारता का संकेत किया गया। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सागर-परक अर्थ 'ध्वनि ही है, क्योकि विशेषण-विशेष्य—दोनों ही श्लिष्ट हैं ॥ ६७ ॥

कृतार्थयन्नर्थिजनाननारत बभूव तस्यामरभूरुह. करः ।
तदीयमूले निहितं द्वितीयवद् ध्रुवं दधे कङ्कणमालवालताम् ॥ ६८ ॥

जीवातु—कृतार्थयन्निति । तस्य नलस्य, कर. हस्तः, अनारतम् अश्रान्तम्, अर्थिजनान् कृतार्थयन् सार्थान्, कुर्वन्, अमरभूरुह कल्पवृक्ष', बभूव । तदीय करकल्पवृक्षसम्बन्धिनि, मूले मणिबन्धे, निहितम् अर्पित, द्वितीयवत् सद्वितीय, वैवाहिकसूत्रमयमाङ्गलिककङ्कणान्तरशालित्वात् द्वितीयकङ्कणसहितमित्यर्थः । कङ्कण कनकवलयम्, आलवालता दधे दधार, ध्रुवम् इत्युत्प्रेक्षायाम् । वृक्ष-मूलेऽपि आलवालद्वय भवति, अतस्तदीयकरमूलेऽपि कङ्कणद्वय वर्तते इति भावः।

अन्वय—तस्य कर अनारतम् अर्थिजनान् कृतार्थयन्, ध्रुवम् अमररुह बभूव, तदीयमूले निहित द्वितीयवत् कङ्कण आलवालता दधे ।

हिन्दी—उस (नल) का हाथ निरतर (बिना थके) याचकों को (देकर) कृतार्थ करता हुआ निश्चयपूर्वक कल्पवृक्ष बन गया, उस (हाथ) के मूलभाग (मणिबंध, कल्पवृक्ष में निम्नभाग) में स्थित दूसरे वैवाहिक सूत्र से युक्त कंकण उस (हस्त-कल्पतरु) की आलवालता (*जलभरने का चारों ओर गोल घिरा गड्ढा—थाला) को प्राप्त कर रहा था ।

टिप्पणी—नल की दानशीलता का सूचन । क्योकि नल का हाथ निरतर दान करता रहता था, अतः वह याचकों की इच्छापूर्ति करने वाले कल्पवृक्ष तुल्य हुआ, वैवाहिक मगल-सूत्र सहित हाथ में पहिना सुवर्णकङ्कण

जिसके आलवाल (थाला) के तुल्य था। 'ध्रुवम्' को उत्प्रेक्षावाचक मान कर नारायण-मल्लिनाथ—दोनों ने उत्प्रेक्षा का संकेत किया है ॥ ६८ ॥

रराज दोर्मण्डनमण्डलीजुषोः स वज्रमाणिक्यसितारुणत्विषोः ।
मिषेण वर्षन् दशदिङ्मुखोन्मुखौ यशःप्रतापाववनीजयार्जितौ ॥ ६९ ॥

जीवातु—रराजेति । सः नलः, दोर्मण्डने बाहुभूषणे, मण्डलीजुषोः श्रेणीभाजोः, वज्राणां हीराणां, माणिक्यानां पद्मरागाणाञ्च, यथासङ्ख्यं सितारुणयोः श्वेतलोहितयोः, त्विषोः कान्त्योः, मिषेण छलेन, दशदिङ्मुखोन्मुखौ दशदिगन्तव्यापिनौ, अवनीजयार्जितौ भूविजयसम्पादितौ, यथासङ्ख्यं यशःप्रतापौ वर्षन् विस्तारयन्, रराज । अत्र त्विषोर्मिषेणेतिच्छलादिशब्दैः असत्यत्वप्रतीतिरूपापह्नवालङ्कारभेदः, तस्य पूर्वसूचितयथासङ्ख्यद्वयभेदेन सङ्करः; वर्षन्निवेत्युत्प्रेक्षा गम्यते सा च सापह्नवेति सङ्करः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—सः दोर्मण्डनमण्डलीजुषोः वज्रमाणिक्यसितारुणत्विषोः मिषेण दशदिङ्मुखोन्मुखौ अवनीजयार्जितौ यशःप्रतापौ वर्षन् रराज ।

हिन्दी—वह (नल) भुजाओं के (भुजबंध आदि) आभूषणों में जड़े वज्र (हीरा) और माणिक्य (मानिक) की शुभ्र और अरुण दीप्ति के व्याज से दशों दिशाओं में प्रसरित, पृथ्वी-विजय से प्राप्त यश और प्रताप की वर्षा करता सुशोभित हुआ ।

टिप्पणी—नल ने भुजाओं में भुजबंध आदि जो आभूषण पहिने, उनमें हीरा और मानिक जड़े थे, जिनसे शुभ्र और लाल दीप्ति की किरणें निकल रही थीं । कविसमयानुसार यश का वर्ण श्वेत और प्रताप का लाल है । इस आधार पर यह कल्पना है कि भुजाभूषणों से निकल कर फैलती दमक नल के यश और प्रताप के तुल्य है । शुभ्र दमक यश है और अरुण दीप्ति प्रताप, जो नल को पृथ्वी-जय से प्राप्त हुए हैं और अब वे दशों दिशाओं में व्याप्त हो रहे हैं । भाव यह कि उस समय नल की वीरता, कीर्ति और प्रताप चारों ओर व्याप्त था । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ 'मिषेण' इस छलादि-बोधक शब्द द्वारा कान्तियुगल की असत्यत्व-प्रतीति करायी गयी है, यह अपह्नव अलंकार का एक भेद है, जिसका यशःप्रताप रूप में वज्र-माणिक्य की श्वेतारुण दीप्ति से संबन्ध यथासंख्य अलंकार युग्म से संकर है; और 'वर्षन्निव'—यह उत्प्रेक्षा गम्य होती है, वह भी सापह्नवा है; अतः संकर है ॥ ६९ ॥

घने समस्तापघनावलम्बिनां विभूषणानां मणिमण्डले नलः ।
स्वरूपरेखामवलोक्य निष्फलीचकार सेवाचणदर्पणार्पणम् ॥ ७० ॥

जीवातु—घन इति । नलः समस्तापघनावलम्बिनां सर्वावयवगतानाम् । 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवोऽपघनः' इत्यमरः । विभूषणानां सम्बन्धिनि, घने सान्द्रे, मणिमण्डले रत्नसमूहे, स्वरूपरेखाम् आत्मसौन्दर्यप्रतिबिम्बमित्यर्थः । अवलोक्य, सेवया वित्ताः सेवाचणाः सेवाकुशलाः, 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' इति चणप्प्रत्ययः । तेषां दर्पणार्पणं दर्पणसन्निधापनं, निष्फलीचकार । काकतालीयन्यायतः मणिमण्डलेनैव दर्पणकार्यस्य कृतत्वादिति भावः । अत एव समाध्यलङ्कारोऽयम्, 'एकस्मिन् कारणे कार्यसाधनेऽन्यसमागतिः । काकतालीयनयतः स समाधिरुदीर्यते ॥' इति लक्षणात् ॥ ७० ॥

अन्वयः—नलः समस्तापघनावलम्बिनां विभूषणानां घने मणिमण्डले स्वरूपरेखाम् अवलोक्य सेवाचणदर्पणार्पणं निष्फलीचकार ।

हिन्दी—नल ने समस्त (सब) अपघनों (हस्त मस्तकादि अंगों) का आश्रय लिये हुए आभूषणों के सघन मणि रत्न-मण्डल में अपने रूप-सौंदर्य को देखकर सेवाप्रवीण (सेवकों द्वारा दिखाये जाते) दर्पण-समर्पण को व्यर्थ कर दिया ।

टिप्पणी—नल ने अपने सभी अंगों में मणिरत्नजटित आभूषण पहिन रखे थे, जो इतने स्वच्छ, द्युतिमान् और पारदर्शी थे कि नल का रूप उनमें प्रतिबिम्बित था । नल ने अपनी साज सज्जा उन्हीं में देख ली । इस प्रकार चतुर सेवकों ने मंगलकृत्यों की परम्परा में जो रूपरेखा-अवलोकनार्थ नल की सेवा में दर्पण समर्पित किया, वह निष्फल ही रहा, क्योंकि नल ने रत्नद्युति में ही स्वरूप निहार लिया था । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ काकतालीयन्याय से मणिमण्डल ने ही दर्पण का कार्य कर दिया, अतः एक कारण से ही अन्य कार्य सिद्ध होने से समाधि अलंकार है ॥ ७० ॥

व्यलोकि लोकेन न केवलं चलन्मुदा तदीयाभरणार्पणद्युतिः ।
अदर्शि विष्फारितरत्नलोचनैः परम्परेणैव विभूषणैरपि ॥ ७१ ॥

जीवातु—व्यलोकीति । तदीयानां नलीयानाम्, आभरणानाम् अर्पणेन नलाङ्गे विन्यासेन, या द्युतिः शोभा सा, चलन्मुदा प्रसरन्ती प्रवहन्ती,

निरन्तरेत्यर्थः । मुदा हर्षो यस्य तादृशेन, लोकेन जनेन, केवलं न व्यलोकि विलोकिता, किन्तु विस्फारितानि विस्तारितानि, रत्नानि एव लोचनानि यैः तादृशैः, विभूषणैरपि अचेतनैरपीति भावः । परस्परेणैव अदर्शि, किमुत चेतनलोकेनेति भावः । अर्थापत्तिरलङ्कारः, सा च रत्नलोचनेति रूपकोत्थेति सङ्करः, तेन विभूषणानि रत्नलोचनैरन्योऽन्यं पश्यन्ति इव दृश्यन्ते इत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते ॥ ७१ ॥

अन्वयः – तदीयाभरणार्पणद्युतिः चलन्मुदा लोकेन केवलं न व्यलोकि, विस्फारितरत्नलोचनैः विभूषणैः अपि परस्परेण एव अदर्शि ।

हिन्दी—उस (नल) के आभूषण-धारण करने से (समुत्पन्न) कांति (शोभा) को निरंतर प्रसन्न होते लोगों ने ही नहीं देखा, रत्नरूप नेत्र फाड़े आभूषणों ने भी एक-दूसरे की शोभा का अवलोकन किया ।

टिप्पणी—आभरण-धारण से जो नल की शोभा हुई, उसे देखकर चेतन नर-नारी ही प्रसन्न न हुए, प्रत्युत अचेतन आभूषण भी उस पारस्परिक शोभा को देख प्रसन्न हुए भाव यह कि सभी आभरण रत्न-जटित थे, जिनमें आभरणों की परस्पर प्रतिच्छाया भी पड़ रही थी । इस पर यह उद्भावना है कि नल की शोभा चेतन नर-नारियों को ही नहीं, अचेतन आभूषणों को भी दर्शनीय लग रही थी । चेतनाचेतन सभी ने उस शोभा को हर्षपूर्वक देखा । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अर्थापत्ति अलंकार 'रत्न-लोचनं'—इस रूपक से समुत्थ है, अतः दोनों का संकर है, जिससे यह उत्प्रेक्षा व्यंजित होती है कि आभरण रत्न-लोचनों द्वारा अन्योन्यावलोकन कर रहे है ॥ ७१ ॥

ततोऽनु वार्ष्णेयनियन्तृकं रथं युधि क्षतारिक्षितिभृज्जयद्रथः ।
नृपः पृथासूनुरिवाधिरूढवान् स जन्ययात्रामुदितः किरीटवान् ॥ ७२॥

जीवातु—ततोऽन्विति । ततोऽनु तदनन्तरं प्रसाधनानन्तरमित्यर्थः । युधि युद्धे, क्षता अरिक्षितिभृतः शत्रुभूपाः येन सः जयन् रथः यस्य सः जयद्रथः जैत्ररथ इत्यर्थः । अन्यत्र—क्षतौ विध्वस्तौ, अरिक्षितभृत् चापौ जयद्रथः सिन्धुराजश्चेति तौ येन सः तथोक्तः । जन्यानां वरस्निग्धानां, स्वकीयस्नेह-भाजनानामित्यर्थः । यात्रया विवाहयात्रया, मुदितः हृष्टः, अन्यत्र —संग्रामयात्रया मुदितः । 'जन्यं हट्टे परीवादे संग्रामे च नपुंसकम् । जन्या मातृवयस्यायां

जन्य स्याज्जनके पुमान् ॥ त्रिपूत्पाद्यजनितयोश्च नवोढाज्ञातिभृत्ययो ।
वरस्निग्धे-' इति मेदिनी । किरीटवान् किरीटयुक्त, अन्यत्र—किरीटवान्
किरीटी इति नाम्ना प्रसिद्ध, स नृप नल, पृथासूनु अर्जुन इव, वार्ष्णेय
वार्ष्णेयनामा, अन्यत्र—वृष्णे अपत्य पुमान् वार्ष्णेय कृष्णश्च 'इतश्चानिञ'
इति ढक्। नियन्ता सारथि यत्र त वार्ष्णेयनियन्तृक, 'नद्यृतश्च' इति कप् ।
रथम् अधिरूढवान् अध्यरोहत । श्लिष्टविशेषणेय पूर्णोपमा ॥ ७२ ॥

अन्वय—तत अनु युधि क्षतारिक्षितिभृज्जयद्रथ जन्ययात्रामुदित-
किरीटवान् स नृप पृथासूनुः इव वार्ष्णेयनियन्तृक रथम् अधिरूढवान् ।

हिन्दी—तदनन्तर युद्ध मे शत्रुनृपो के जयदाता रथों का नाशकर्ता,
बारात मे प्रसन्न मुकुटधारी वह राजा (नल) युद्ध म शत्रुनृपो और सिंधुराज
जयद्रथ के जयी, जन्य (सग्राम) यात्रा में हर्ष प्राप्त करने वाले, किरीटी,
पृथा (कुन्ती) के पुत्र (अर्जुन) की भाँति वृष्णिवंशसमुद्भूत कृष्ण सारथि
सदृश 'वार्ष्णेय' नामक सारथि से नियन्त्रित रथ पर आरूढ हुआ ।

टिप्पणी—अनेकार्थ शब्दो के प्रयोग द्वारा यहाँ रथारूढ होते नल की
तृतीयपाण्डव अर्जुन से तुलना की गयी है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्लिष्ट-
विशेषणा पूर्णोपमा है ॥ ७२ ॥

विदर्भनाम्नस्त्रिदिवस्य वीक्षितु रसोदयादप्सरसस्तमुज्ज्वलम् ।
गृहाद् गृहादेत्य धृतप्रसाधना व्यराजयन् राजपथानथाधिकम् ॥ ७३ ॥

जीवातु—विदर्भेति । अथ विदर्भनाम्नः विदर्भदेशाख्यस्य, त्रिदिवस्य
स्वर्गस्य सम्बन्धिन्य अप्सरस तत्कल्पा पौराङ्गना, उज्ज्वल वरवेषेन
दीप्यमान, त नल, वीक्षितु रसोदयात् रागातिरेकात्, धृत प्रसाधन याभि
ता अलङ्कृता सत्यः, गृहात् गृहात्, वीप्सायां द्विर्भाव । एत्य आगत्य
राजपथान् राजमार्गान्, अधिकम् अत्यर्थं, व्यराजयन् अशोभयन् ॥ ७३ ॥

अन्वय—अथ विदर्भनाम्न त्रिदिवस्य अप्सरस उज्ज्वल त वीक्षितु
रसोदयात् धृतप्रसाधना. गृहात् गृहात् एत्य राजपथान् अधिक व्यराजयन् ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (नल के रथारूढ हो चलने पर) विदर्भनाम के
स्वर्ग की अप्सरियाँ (सुन्दरी नागरिकाएँ) वरवेष में सुसज्जित उस (नल)
को देखने के निमित्त रागाधिक्य के कारण (प्रेम और हर्षातिरेक से) शृंगार
करके घर-घर से आकर राजमार्ग पर प्रभूतरूप स सुशोभित होने लगीं ।

टिप्पणी—नगर-सुन्दरियाँ वर और वरयात्रा की शोभा देखने स्थान-स्थान पर एकत्र हो गयी। यह एक स्वाभाविक स्थिति है ॥७३॥

अजानती काऽपि विलोकनोत्सुका समीरधूतार्द्धमपि स्तनांशुकम्।
कुचेन तस्मै चलतेऽकरोत् पुरः पुराङ्गना मङ्गलकुम्भसम्भृतिम् ॥७४॥

जीवातु—अथ पौराङ्गनानां तात्कालिकीः शृङ्गारचेष्टा नवभिर्वर्णयति—अजानतीत्यादि। विलोकनोत्सुका नलदर्शनासक्ता, अत एव समीरेण धूतम् अपसारितम्, अर्द्धं यस्य तादृशमपि अर्द्धापसृतमपि, स्तनांशुकं स्तनावरणवस्त्रम्, अजानती अविदन्ती, व्यासङ्गात् एवेति भावः। काऽपि पुराङ्गना, कुचेन वस्त्रांशुकेन कुचकुम्भेन इति यावत्। चलते गृहात् निर्गच्छते, तस्मै नलाय, 'क्रियया यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' इति सम्प्रदानत्वम्। पुरः अग्रे, मङ्गलकुम्भसम्भृतिं मङ्गलार्थं पूर्णकुम्भसम्भरणं, पूर्णकुम्भस्थापनमिति यावत्, अकरोत्। प्रायेण उत्सवेषु नववस्त्रवेष्टितं पूर्णकलशमग्रे स्थापयतीत्याचारः। शुभसूचकशकुनरूपतया मङ्गलकुम्भसम्भृतेर्यात्रायामुपयोगित्वात् तस्य च कुचतादात्म्येनारोपात् परिणामालङ्कारः, तेन च पूर्णकुम्भदर्शनस्य भाविशुभसूचकत्वरूपवस्तुध्वनिः ॥७४॥

अन्वयः—विलोकनोत्सुका समीरधूतार्द्धम् अपि स्तनांशुकम् अजानती का अपि पुराङ्गना चलते तस्मै कुचेन पुरः मङ्गलकुम्भसम्भृतिम् अकरोत्।

हिन्दी—(वर और बारात) देखने को उत्सुक (उतावली), पवन से आधे उड़ा दिये गये भी स्तन के आवरण-वस्त्र की ओर ध्यान न देती एक विदर्भनागरी ने यात्रा करते उस (नल) के प्रति (आधे उघड़े) स्तन (के माध्यम) से संमुख मंगल-कलश की स्थापना कर दी।

टिप्पणी—शुभशकुन सूचक वस्त्राच्छादित मंगलघट की संमुख स्थापना की जाती है। यह कार्य एक उतावली नागरी द्वारा सम्पन्न हुआ। इतनी उतावली थी वह कि वायु से उसका दुपट्टा उड़ने लगा, जिससे उसका स्तन आधा उघड़ गया, किन्तु उसका ध्यान ही उस ओर न गया। शुभसूचक शकुनरूप मंगलघट की स्थापना के यात्रा में उपयोगी होने और कुचतादात्म्य से उसका आरोप होने के कारण मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ परिणाम अलंकार है, जिससे पूर्णघट दर्शन की भावी शुभसूचकता-रूप वस्तुध्वनि होती है ॥७४॥

सखी नलं दर्शयमानयाऽङ्कतो जवादुदस्तस्य करस्य कङ्कणे ।
विपज्य हारैस्त्रुटितैरतर्कितं कृतं कयाऽपि क्षणलाजमोक्षणम् ॥ ७५ ॥

जीवातु—सखीमिति । अङ्कतः कुतश्चित् श्वेतच्छत्रादिचिह्नात्, 'उत्सङ्गचिह्नयोरङ्कः' इत्यमरः । सखीं प्रति नलं दर्शयमानया सखी नलं पश्यति, तां सखीं नलं दर्शयन्त्यर्थः । 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम्; ततः शानचि 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इत्यत्र 'अभिवाददृशोरात्मनेपदम् वा' इति वक्तव्यादणिकर्त्रा सख्याः वैकल्पिकं कर्मत्वम् । कयाऽपि पुराङ्गनया, जवात् वेगात्, उदस्तस्य नलं दर्शयितुम् उत्क्षिप्तस्य, करस्य सम्बन्धिनि कङ्कणे विपज्य लगित्वा, अतर्कितै अचिन्तितै, सहसैवेत्यर्थः । नलदर्शनव्यासङ्गादलक्षितैरित्यर्थो वा । त्रुटितैः छिन्नैः, हारैः क्षणं लाजमोक्षणं क्षणस्य उत्सवसम्बन्धि, लाजमोक्षणं वा, कृतं, तदेव माङ्गलिकं लाजावकिरणं जातमिति भावः । आवश्यकश्चायमाचारः । यथोक्तं रघुवंशेऽपि—'अवाकिरन् वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषित' इति ॥ ७५ ॥

अन्वयः—सखीं नलं दर्शयमानया कया अपि जवात् अङ्कतः उदस्तस्य करस्य कङ्कणे विपज्य अतर्कितैः त्रुटितैः हारैः क्षणलाजमोक्षणं कृतम् ।

हिन्दी—अन्य सखी को राजा नल का दर्शन कराती किसी (नागरी) ने वेगपूर्वक गोद से उठाये गये हाथ के कंगन में लगकर सहसा ही टूट गये हार द्वारा उस मंगलक्षण में लाजाओं (खीलों) की वर्षा कर दी ।

टिप्पणी—एक पौरांगना ने दूसरी नागरी सखी को सहसा गोद से अपना हाथ ऊँचा कर संकेत कर दिखाया कि वह देखो; वे हैं वरराजा नलनरेश । (मल्लिनाथ के अनुसार 'अङ्कत' अर्थात् राजच्छत्रादि चिह्न द्वारा पहिचान कर नल की ओर संकेत किया ।) इस क्रिया में रत्नजटित कंगन से उलझ कर उसका मुक्ताहार टूट गया, जिससे शुभ्र मोती बिखर गये । स्वच्छ, श्वेत मोती मंगल-लाजाओं के रूप में बिखर गये । पौरकन्याओं ने 'आचार लाजाएँ' बिखेर दी—'आचारलाजैरिव पौरकन्याः' (रघुवंश २।१०-४) । यह आवश्यक मंगलाचार भी अजाने ही सम्पन्न हुआ ॥ ७५ ॥

रसस्वादर्शमुखाम्बुजस्मितप्रसूनवाणीमधुपाणिपल्लवम् ।
प्रियासतस्तस्य नृपस्य जज्ञिरे प्रशस्तवस्तूनि तदेव यौवतम् ॥ ७६ ॥

जीवातु—लसदिति । नखाः एव आदर्शाः, मुखानि एव अम्बुजानि, स्मितानि एव प्रसूनानि, वाण्यः एव मधूनि माक्षिकाणि, पाणयः एव पल्लवाः, तेषां द्वन्द्वः. ते लसन्तः यस्मिन् तत्ताद्दशं, तत् यौवतं युवतिसमूहः एव। 'गार्भिण यौवतं गणे' इत्यमरः । 'भिक्षादिभ्योऽण्' इति अण् । युवतिशब्दस्य गणे ग्रहणसामर्थ्यादेव 'भस्याढे तद्धिते' इति पुंवद्भावः । यियासतः अभिजिगमिषतः । यातेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः । तस्य नृपस्य नलस्य, प्रशस्तवस्तूनि तत्कालोचितमङ्गलद्रव्याणि, जज्ञिरे जातानि जनेर्लिटि 'गमहन—' इत्यादिना उपधालोपः । अत्र ताद्दशपाणिपल्लवमुद्दिश्य प्रशस्तवस्तूनां विधेयतयाऽऽरोपणात् विधेयप्राधान्यादेव जज्ञिरे इत्यत्र बहुवचनम् । अत्रारोप्यमाणप्रशस्तवस्तूनां ताद्दशपाणिपल्लवतादात्म्यस्य प्रकृते गमनारम्भे उपयोगात् परिणामालङ्कारः, स च रूपकानुप्राणितः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—नखादर्शमुखाम्बुजस्मितप्रसूनवाणीमधुपाणिपल्लवं सत् यौवनम् एव यियासितः तस्य नृपस्य प्रशस्तवस्तूनि जज्ञिरे ।

हिन्दी—नखरूप दर्पण, मुखरूप कमल, मुसकानरूप फूल, वचनरूप मधु, हस्तरूप पल्लवों से युक्त वह युवतियों का समूह ही वरयात्रा में संचरण करते उस राजा (नल) का तत्कालोचित शुभसूचक मांगलिक पदार्थ बन गया।

टिप्पणी—पुर की परमसुन्दरियाँ वरयात्रा की शोभा देखने को एकत्र थीं, उनसे संबद्ध उनके विविध अंग अपने उपमानरूपों में प्रस्थान-समयोचित शुभशकुन-सूचक सामग्रीरूप में कल्पित हैं । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रूपकानुप्राणित परिणामालंकार है, क्योंकि आरोप्यमाण प्रशंसनीय वस्तुओं का उस प्रकार तादात्म्य से प्रकृत गमनारम्भ में उपयोग प्रदर्शित है इस प्रकार नागरिकाओं के सौन्दर्य की श्रेष्ठता और मंगलमयी यात्रा का सूचन हो गया है।

करस्थताम्बूलजिघत्सुरेकिका विलोकनैकाग्रविलोचनोत्पला ।
मुखे निचिक्षेप मुखाद्विराजताखेव लीलाकमलं विलासिनी ॥ ७७ ॥

जीवातु—करस्थेति । विलोकने नलदर्शने, एकाग्रे एकासक्ते, विलोचनोत्पले यस्याः सा ताद्दशी, एका एव एकिका काचित्, विलासिनी स्त्री, करस्थताम्बूलं जिघत्सुः अत्तुमिच्छुः सती । अदो घसादेशात् सन्नन्तादुप्रत्ययः ।

मुखस्य द्वितीय राजा द्विराज । वृत्तिविषये सख्याशब्दस्यापूरणार्थत्व त्रिभागेत्यादिवत् । तस्य भाव द्विराजता, कमले मुखसादृश्यस्य कविभिर्वर्णनीयत्वादिति भाव । तत्र रुषा रोपेण इव, लीलाकमल मुखे निचिक्षेप विदधे । ताम्बूलचर्वणेच्छु काचित् स्त्री अन्यमनस्कतया लीलापद्म वदने अर्पितवती इति भाव । लीलाकमलस्य मुखप्रतिद्वन्द्वित्वेन एव रुषा मुखे चवणार्थमर्पणम् इति उत्प्रेक्षालङ्कार । एतेन विभ्रमाख्यश्चेष्टानुभाव उक्त, 'विभ्रमस्त्वरयाऽस्थाने भूषास्थानविपर्यय ' इति लक्षणात् ॥ ७७ ॥

अन्वय —विलोकनैकाग्रविलोचनोत्पला करस्थताम्बूलजिघत्सु एकिका विलासिनी मुखद्विराजतारुषा इव लीलाकमल मुखे निचिक्षेप ।

हिन्दी—(बरयात्रा शोभा को) देखने म नेत्रकमलो का एकाग्र किये, हाथ मे लिये पान को खाने की इच्छुक एक विलासवती नागरी ने—मुख के राजा रूप में उपस्थित रहने पर यह (लीलाकमल) दूसरा राजा क्यो आ गया, मानो यह सोचते हुए (हाथ के) लीलाकमल को मुंह म धर लिया ।

टिप्पणी—एक नागरी बरयात्रा शोभा देखने में इतनी एकाग्रमन और तल्लीन थी कि पान के स्थान मे लीलाकमल को ही मुंह मे रख बैठी। इस पद्य यह उद्भावना की गयी है कि एक मुखरूप राजा के रहते यह लीलाकमलरूप दूसरा राजा क्या है—यह विचार कर लीलाकमल (राजा) को मुख (राजा) की अधीनता मे ले गयी । नागरी को लगा कि उसके उत्तम, मनोरमतम मुख के साथ यह कमल स्पर्धा का साहस क्या करता है ? उसने क्रुद्ध हो उसे मुख मे रख लिया। नल सौन्दर्य दर्शन के कारण उत्पन्न विमनस्कता का वर्णन है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षालकार है, क्योंकि मुख प्रतिद्वन्द्विता के कारण क्रोध से लीलाकमल का मुख मे चवणार्थ अर्पण वर्णित है । इससे विभ्रमनामक चेष्टा का अनुभाव व्यक्त किया गया, विभ्रम, अर्थात् त्वरा के कारण अनुपयुक्त स्थान में आभूषण-स्थान-विपर्यय ॥ ७७ ॥

कयाऽपि वीक्षाविमनस्कलोचने समाज एवोपपने समीयुप ।
धन सविघ्न परिरम्भसाहसैस्तदा तदालोकनमन्वभूयत ॥ ७८ ॥

जीवातु—कयाऽपीति । कयाऽपि कान्तया वीक्षया अनिमेषदर्शनेन, विमनस्के नलदर्शनलालसेन विषयान्तरविमुखे, लोचन यस्य तादृशे, समाजे

जनसमूहे, एव, समीयुषः समेतस्य, उपपतेः जारस्य, घनं गाढं यथा तथा, परिरम्भसाहसैः आलिङ्गनरूपसाहसकृत्यैः, तदा तत्काले, तदालोकनं नलविलोकनं, सविघ्नं यथा तथा अन्वभूयत अनुभूतं, जारकर्तृकालिङ्गनेन व्यवधानात् निरन्तरदर्शनं न जातमित्यर्थः । कामान्धाः किं न कुर्वन्तीति भावः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—कया अपि वीक्षाविमनस्कलोचने समाजे एव समीयुषः उपपतेः घनं परिरम्भसाहसैः तदा तदालोकनं सविघ्नम् अन्वभूयत ।

हिन्दी—किसी (स्वच्छन्दचारिणी) ने शोभा-दर्शन में आसक्त नेत्रों वाले जनसमूह में ही समागत उपपति (प्रेमी, जार, यार) के द्वारा किये जाते गाढालिंगन के साहस के कारण उस समय उस (नल) के दर्शन में विघ्न का अनुभव किया ।

टिप्पणी—एक स्वेच्छाविहारिणी नागरी भी शोभा देख रही थी । उसका प्रेमी भी वहाँ आ गया । प्रेमी ने पाया कि उपस्थित जनता तो वरशोभावलोकन में तल्लीन है, सो उसने यह साहस कर डाला कि भरी भीड़ में ही प्रेमिका का गाढालिंगन कर लिया । इस प्रिय कार्य को भी उस समय उस विलासिनी ने अतिप्रिय और आनन्ददायक नहीं माना, क्योंकि उससे उसके नल-दर्शन में विघ्न पड़ा । यह आलिंगन उसे असमय का बाद्य—'बेवक्त की शहनाई'—लगा ॥ ७८ ॥

दिदृक्षुरन्या विनिमेषवीक्षणा नृणामयोग्यां दधती तनुश्रियम् ।
पदाग्रमात्रेण यदस्पृशन्महीं न तावता केवलमप्सरोऽभवत् ॥ ७९ ॥

जीवातु—दिदृक्षुरिति । दिदृक्षुः नलं द्रष्टुमिच्छुः, अत एव विनिमेषवीक्षणा अनिमेषदृष्टिः, नृणाम् अयोग्याम् अमानुषीं, तनुश्रियम् अङ्गसौन्दर्यं, दधती अन्या काचित् सुन्दरी, पदाग्रमात्रेण पदाङ्गुल्यग्रेण भरं कृत्वेत्यर्थः । महीं यत् अस्पृशत्, तावता केवलं महीतलस्पर्शेनैव, न अप्सरोऽभवत्, अन्यथा अप्सरसोऽस्याश्च को भेदः ? इति भावः । अत्र 'कृभ्वस्तियोगे—' इत्यादिना अभूततद्भावार्थे अप्सरःशब्दात् च्वि-प्रत्ययः । प्रकृतिविकृतिस्थले क्रियायाः प्रकृतिसङ्ख्याग्रहणनियमात् अन्या इत्यस्यैकवचनान्तत्वेन अभवदित्यत्राप्येकवचनम् । अत्र महीमस्पृशदित्युपमेयस्योपमानादाधिक्यकथनेन भेदप्रधानसादृश्योक्तिर्व्यतिरेकालङ्कारभेदः; 'भेदप्रधानं साधर्म्यमुपमानोपमेययोः । आधिक्याल्पत्वकरणात् व्यतिरेकः स उच्यते ॥' इति लक्षणात् ॥ ७९ ॥

अन्वय —दिदृक्षु विनिमेषवीक्षणा नृणाम् अयोग्या तनुश्रियं दधती अन्या पदाग्रमात्रेण यत् महीम् अस्पृशत् तावता केवलं न अप्सरः अभवत् ।

हिन्दी—दर्शनेच्छुका, अपलकदृष्टि, अमानुषी शरीरश्री (शोभा) धारती एक सुन्दरी ने पैरों के अग्रभाग मात्र (पंजो के बल) से धरती का स्पर्श किया, उससे ही केवल वह अप्सरा न हुई ।

टिप्पणी—एक सुन्दरी वरराजा को देखने की इच्छा से पंजा के बल उचक कर खड़ी थी । वह परम सुन्दरी थी, ऐसी कि जैसी सामान्यतया मानवी नहीं होती । वह अप्सरा-तुल्य थी । उसके अप्सरा होने में केवल यही न्यूनता रह गयी कि उसके पैर का अग्रभाग धरती को छू रहा था । अप्सराओं के पैर धरती नहीं छूते । उस सुन्दरी और अप्सरा में 'महीतल-स्पर्शनमात्र' भेद था । उचक कर पंजो के बल खड़े हो देखना मानवी स्वभाव है । यहाँ मल्लिनाथ के अनुसार भेदप्रधान साहश्योक्ति रूप व्यतिरेकालंकार का एक भेद है, क्योंकि वह 'धरती को छू रही थी'—यह उपमेय की उपमान से ईषद् अल्पता कही गयी है ॥ ७९ ॥

विभूषणस्रंसनशंसनार्पितैः करप्रहारैरपि धूननैरपि ।
अमान्तमन्तः प्रसभं पुरा परा सखीषु सम्मापयतीव सम्मदम् ॥८०॥

जीवातु—विभूषणेति । परा अन्या काचित्, अन्तः सखीषु अन्तः शरीरे, अमान्तमत्याधिक्यात् उल्लसन्तं, सम्मदं हर्षं, विभूषणानां स्रंसनस्य स्थानभ्रंशस्य, शंसनाय यथास्थानं निवेशय इति कथनाय अर्पितैः प्रयुक्तैः, प्रसभं बलात् करप्रहारैः पाणिघातैरपि, तथा धूननैरपि तदीयगात्रकम्पनैरपि, पुरा सम्मापयतीव सम्मापयामासेवेत्युत्प्रेक्षा । 'पुरि लट् चास्मे' इति भूते लट् । यथा तण्डुलादिसम्मापनाय प्रस्थादिकं मुष्टिभिर्वेष्टन्ति धुवन्ति च तद्वदिति भावः ॥ ८० ॥

अन्वय —परा (अपरा) अन्तः अमान्तं सम्मदं विभूषणस्रंसनशंसनार्पितैः करप्रहारैः प्रसभं सखीषु पुरा सम्मापयति इव ।

हिन्दी—अन्य (एक नागरी) ने भीतर (हृदय में) न समाते हर्ष को आभूषणों के खसकने की बात कहने के लिये किये गये हाथ के आघातों द्वारा बलपूर्वक सखियों के सम्मुख जैसे भीतर किया ।

टिप्पणी—एक पुरनारी वरयात्रा की शोभा देखकर इतनी अधिक हर्षविह्वल थी कि लगता था कि उसकी प्रसन्नता अन्दर में न समा कर बाहर निकली जा रही थी। उसका आभूषण स्थान भ्रष्ट हो रहा था, सो किसी सुन्दरी ने हाथ मार कर उसे संयत किया कि तेरा आभूषण खसक रहा है। उसे संभालने की चेष्टा करती वह ऐसी प्रतीत हुई, जैसे बाहर निकले जाते हर्ष को पुनः अन्तःप्रविष्ट करा रही है, उसी प्रकार कि जिस प्रकार पात्र में न अमाती कोई वस्तु बाहर गिरने लगे और उसे पुनः बटोर कर भीतर किया जाय। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ८० ॥

वतंसनीलाम्बुरुहेण किं दृशा विलोकमाने विमनीबभूवतुः ?।
अपि श्रुती दर्शनसक्तचेतसां न तेन ते शुश्रुवतुर्मृगीदृशाम् ॥ ८१ ॥

जीवातु—वतंसेति । दर्शनसक्तचेतसां नलविलोकनासक्तचित्तानां, मृगीदृशां स्त्रीणां, श्रुती कर्णौ अपि, वतंसनीलाम्बुरुहेण कर्णभूषणीकृतनीलोत्पलेन, दृशा चक्षुषा, इति व्यस्तरूपकं, विलोकमाने नलं पश्यन्त्यौ, अविमनसौ विमनसौ बभूवतुः मनःसम्बन्धरहिते इव किम् ? इत्युत्प्रेक्षा। 'अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च' इति च्विप्रत्ययः सलोपश्च, 'अस्य च्वौ' इतीकारः। तेन विमनीभावेन, ते श्रुती, न शुश्रुवतुः विभूषणस्रंसनमिति सखीकर्तृकतया- स्थाननिवेशनशंसनमिति वा शेषः, मृगीदृशः चक्षुष्यौ नलविलोकनासक्तचित्ताः सत्यः यथा विमनीबभूवुः तथा तासां कर्णावपि कर्णावतंसनीलोत्पलरूपदृशा नलं पश्यन्तौ सन्तौ विमनीबभूवतुः किम् ? तत एव तासां श्रुती भूषणभ्रंश- शब्दं सखीकर्तृकतच्छंसनं वा न शुश्रुवतुः ? इति तात्पर्यम् । अत्रोत्प्रेक्षालंकारः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—दर्शनसक्तचेतसां मृगीदृशां श्रुती वतंसनीलाम्बुरुहेण दृशा विलोकमाने किं विमनीबभूवतुः तेन ते न शुश्रुवतुः ?

हिन्दी—(वर-राजा के) दर्शन में आसक्त-चित्तवाली मृगनयनाओं के कान कर्णाभूषण-कमल के तुल्य नेत्र से (राजा को) देखते क्या अन्यमनस्क हो गये थे, जिससे वे (८०वें श्लोक में कहे सखी वचन) न सुन पाये ?

टिप्पणी—पूर्व श्लोक संख्या ८० में 'विभूषणस्रंसन-शंसन' कहा गया है कि कथन न सुनने पर 'कर-प्रहारों से संकेत किया गया। इस पर यहाँ उद्-

भावना है कि लगता था कि कान कर्णाभूषण कमल-नयन से नल-दर्शन में व्यग्रमनस्क—व्याकुल हो गये थे, जिससे वे सखी-कथन न सुन सके। मल्लि-नाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ८१ ॥

काश्चिन्निर्माय चक्षुःप्रसृतिचुलुकितं तास्वशङ्कन्त कान्ता
मौग्ध्यादाचूडमोघैर्निचुलितमिव तं भूषणानां मणीनाम्।
साहस्रीभिर्निमेषाकृतमतिभिरयं दृग्भिरालिङ्गितः किं
ज्योतिष्टोमादियज्ञश्रुतफलजगतीसार्वभौमभ्रमेण ? ॥ ८२ ॥

जीवातु—काश्चिदिति। तासु पौरकान्तासु मध्ये, काश्चित् का अपि, कान्ता सुन्दर्यः, भूषणानां सम्बन्धिनां, मणीनाम् ओघैः समूहैः, आचूडम् आशिखण्डकं, शिखापर्यन्तमित्यर्थः, अभिविधावव्ययीभावः। निचुलितं छादितमिव स्थितम्, सर्वावयवेष्वेव मणिघटितभूषणसत्त्वात् मणिभिराच्छादितमिव स्थितमित्यर्थः तं नलं, चक्षुर्भ्यामिव प्रसृतिभ्यां निकुब्जपाणिभ्याम् "पाणिर्निकुब्जः प्रसृतिः" इत्यमरः, चुलुकितं चुलुकेन पीतं, निर्माय विधाय, गण्डूषीकृत्येत्यर्थः, साग्रहं दृष्ट्वेति भावः, मौग्ध्यात् मोहात्, अशङ्कन्त। शङ्काप्रकारमेवाह—अयं पुमान्, ज्योतिष्टोमादियज्ञैः श्रुतम् अवगतम्, ज्योतिष्टोमादियज्ञानुष्ठानजन्यप्राप्तमित्यर्थः, फलं फलभूता, जगती स्वर्गलोकः, तस्याः सार्वभौमः सर्वभूमेः ईश्वरः इन्द्रः 'सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ' इति अण्प्रत्ययः। इति भ्रमेण अयं नल इन्द्रः, इति भ्रान्त्या, निमेषाकृतमतिभिः निमेषेऽकृतबुद्धिभिः, अनिमेषाभिरित्यर्थः साहस्रीभिः सहस्रसङ्ख्यकाभिः, 'अण् च' इति मत्वर्थीयोऽण्-प्रत्ययः, दृग्भिः नेत्रैः, आलिङ्गितः स्पृष्टः, आश्रितः इत्यर्थः, किम् ? इति आशङ्कन्त इत्येकान्वयो वा, मणिभूषितम् एनं दृष्ट्वा पौरकान्ताः अस्मिन् इन्द्रभ्रान्त्या नेत्रसहस्रम् एनं नलं प्राप्तं किम् ? इति उत्प्रेक्षितवत्यः; इत्यर्थः। भ्रान्तिमत्सङ्कीर्णेयमुत्प्रेक्षा। स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ८२ ॥

अन्वय—तासु काश्चित् कान्ताः भूषणानां मणीनाम् ओघैः आचूडं निचुलितम् इव तं चक्षुःप्रसृतिचुलुकितं निर्माय मौग्ध्यात् अशङ्कन्त—अयं ज्योतिष्टोमादियज्ञश्रुतफलजगतीसार्वभौमभ्रमेण निमेषाकृतमतिभिः साहस्रीभिः दृग्भिः किम् आलिङ्गितः ?

हिन्दी—उन (नलावलोकन करतीं नारियों) में से कुछ सुन्दरियों ने आभूषणों के मणिरत्नों से शिखापर्यंत डूबे-जैसे उस (नल) को चक्षुरूपी अँजुरी में पीकर मुग्धभाव से शंका की—इस (नल) का ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों द्वारा प्राप्त सुने गये फलरूप स्वर्ग-साम्राज्य के स्वामी (इन्द्र) के भ्रम से अपलक नयन रखती सहस्र दृष्टियों से क्या आलिंगन किया गया है ?

टिप्पणी—वर-यात्रा और नल की शोभा को अनेक पुरसुन्दरियाँ देख रही थी। सर्वांग में रत्न-जटित आभूषणों को राजा नल ने पहिन रखा था। वह उनमें पूर्णतया आच्छादित, जैसे उनमें डूबा लग रहा था। उसे अञ्जुरियों में पान करतीं-जैसी अर्थात् आदरभाव से साग्रह निहारतीं मुग्ध हुई कुछ सुन्दरियाँ विचारने लगीं कि यह राजा जो सहस्रों दृष्टियों से आलिंगित हो रहा है अर्थात् सहस्रों (अनेक) नेत्र इसे निहार रहे हैं, सो 'सहस्रनयनालिंगित' स्वर्गाधिराज इन्द्र तो नहीं हैं ? सहस्रनेत्र तो नल के ही है। धरती पर स्वर्ग का अधिराज कहाँ से आ गया ? इसका समाधान उन्होंने यह सोचकर कर लिया कि इन्द्रत्व इस नरेन्द्र को ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करने से प्राप्त हो गया होगा। वेदादि ग्रन्थों से अवगत होता है कि ज्योतिष्टोमादि यज्ञ-विधानों से स्वर्ग-साम्राज्य प्राप्त होता है। ज्योतिष्टोमादि वह यज्ञ है, जिसमें सोलह ऋत्विक् होते हैं और जिसके समापन में बारह सौ गायों का दान किया जाता है। नगर-सुन्दरियों ने यही सम्भावना की कि ज्योतिष्टोमादि यज्ञ-विधानों से इस राजा नल को इन्द्रत्व प्राप्त हो गया है तभी तो इसने आचूड रत्नाभूषण पहिन रखे हैं और तभी सहस्रदृष्टियाँ इनका आलिंगन कर रही हैं। इससे नल की सुन्दरता और रत्न-बहुलता तथा नारियों की उत्कट मुग्धता सूचित की गयी। मल्लिनाथ के अनुसार भ्रांतिमत्संकीर्णा उत्प्रेक्षा। स्रग्धरा वृत्त।

भवन् सुद्युम्नः स्त्री नरपतिरभूद् यस्य जननी
तमुर्वश्याः प्राणानपि विजयमानस्तनुरुचा।
हराररुक्रोधेन्धनमदनसिंहासनमसौ
अलङ्कर्मीणश्रीरुदभवदलङ्कर्तुमधुना ॥ ८३ ॥

जीवातु—भवन्निति। सुद्युम्नो नाम नरपतिः राजा स्त्री भवन् ईश्वरशापात् इलाख्या स्त्री सन्, यस्य पुरूरवसः, जननी माता, अभूत्; उर्वश्याः

प्राणान् प्राणभूतम्, अप्सरोमनोहारिरूपमित्यर्थः, तमपि तस्याम् इलाया बुधाद् उत्पन्नम् ऐल पुरुरवसमपीत्यर्थः तनुरुचा अङ्गलावण्येन विजयमानः अतिशयान', पराभावुक इत्यर्थः, असौ नल, हरेण आरब्धस्य आवेशितस्य, क्रोधस्य क्रोधाग्नेः, इन्धनस्य दाह्यस्य, मदनस्य अनङ्गस्य, सिंहासन हरकोपानलदग्धत्वात् शून्य मदनस्य सिंहासनमित्यर्थः, अलङ्कर्तुम् अधिष्ठातुम्, अल कर्मणे अलङ्कर्मीणः, 'कर्मक्षमोऽलङ्कर्मीणः' इत्यमरः । 'अपडक्ष—' इत्यादिना खप्रत्यय । अलङ्कर्मीणा कर्मक्षमा, श्रीः शोभा यस्य स., मदनसिंहासनयोग्य. सन् इत्यर्थः, अधुना उदभवत् उत्पन्न, ततोऽपि सुन्दर इत्यर्थः, इति आलीपुरिति परेणान्वयः । अत्र सूर्यस्य नप्ता मनोः पुत्र. सुद्युम्नो नाम राजा मृगयासक्तो हिमवत्पार्श्वे पार्वतीवन प्रविष्ट ईश्वरशापात् स्त्रीत्व प्राप्य, बुधात् पुरूरवसमतिसुन्दरमिन्दुवंशप्रवर्त्तक जनयामासेति पौराणिकी कथा अत्रानुसन्धेया । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ८३ ॥

अन्वय:—सुद्युम्न. नरपति. स्त्री भवन् यस्य जननी अभूत्, उर्वश्याः प्राणान् तम् अपि तनुरुचा विजयमानः असौ हरारब्धक्रोधेन्धनमदनसिंहासनम् अलङ्कर्तुम् अलङ्कर्मीणश्री अधुना उदभवत् ।

हिन्दी—सुद्युम्न नाम का राजा स्त्री होकर जिसकी माता बना था, उर्वशी के प्राण रूप उस (पुरूरवा नरेश) को भी देहकांति से जीतता हुआ यह (राजा नल) शिवकृत क्रोध के ईंधन हुए (जले) कामदेव के सिंहासन को सुशोभित करने के निमित्त, शोभित करने की क्षमता से युक्त इस समय उत्पन्न हुआ है ।

टिप्पणी—यहाँ नल के अप्रतिम सौंदर्य का वर्णन कवि का उद्देश्य है । सौंदर्य के दो प्रतिमान कहे गये हैं—एक बुध और इला का पुत्र पुरूरवा (उर्वशी अप्सरा जिसकी पत्नी बनी) और दूसरा काम । पुरूरवा की शोभा नल की देहकांति के सम्मुख पराजित है और काम शिवनेत्र ज्वाल में भस्म हो चुका है । नल ने पुरूरवा को अतिक्रांत कर दिया और मदन-सिंहासन पर बैठने की क्षमता प्रमाणित कर दी । इस प्रकार वह दोनों की अपेक्षा सुन्दर है। सुद्युम्न सूर्य का नाती था, जो पार्वती-वन से प्रवेश करने के कारण शिव-शासन से स्त्री बन गया था—इला । इला और बुध के संयोग से पुरूरवा का

जन्म हुआ, जिसकी प्रिया उर्वशी बनी थी, जिससे 'आयु' का जन्म हुआ। 'पुरुरवा—उर्वशी'-संवाद ऋग्वेद (१०।९५।१—१८) का एक विख्यात संवाद है। सायण ने इसकी प्रस्तावना में पन्द्रह श्लोकों का 'ऐलोर्वशीतिहास' दिया है, जिसे उन्होंने शतपथब्राह्मण (११. ५. १) से उद्धृत किया है। पुराणों में भी यह कथा आयी है। शिखरिणी-छन्द ॥ ८३ ॥

अर्थी सर्वसुपर्वणां पतिरसावेतस्य यूनः कृते
पर्यत्याजि विदर्भराजसुतया युक्तं विशेषज्ञया।
अस्मिन्नाम तया वृते सुमनसः सन्तोऽपि यन्निर्जरा
जाता दुर्मनसो न सोढुमुचितास्तेषान्तु साऽनौचिती ॥ ८४ ॥

जीवातु—अर्थीति । विशेषज्ञया गुणानां तारतम्याभिज्ञया, विदर्भराजसुतया वैदर्भ्या, अर्थी भैमीं परिणेतुम् अर्थित्वं गतः, असौ प्रसिद्धः, सर्वसुपर्वणां पतिः देवेन्द्रः, एतस्य यूनः पूर्णतारुण्यवतः, कृते निमित्ते, नललाभार्थमित्यर्थः पर्यत्याजि नलाद् हीनगुणत्वात् परित्यक्तः, इति युक्तम्, अन्यथा अज्ञत्वं स्यादिति भावः, किन्तु अस्मिन् नले, तया वैदर्भ्या, वृते सति निर्जरा देवाः इन्द्रादयः, सुष्ठु मन्यन्ते जानन्तीति सुमनसः सर्वज्ञाः, सुज्ञोऽजाणादिकोऽसुन्प्रत्ययः, शोभनचित्ताश्च, सन्तोऽपि, दुर्मनसः दूनमनसः, जाता नाम इति यद्, नामेति सम्भावनायां, तेषां देवानां, सा तु दुर्मनोभावरूपा, दुःखितमानसरूपेत्यर्थः, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। अनौचिती अनौचित्यम्, अनुचितकार्यकारित्वमित्यर्थः, सोढुं न उचिता, अस्माभिरिति शेषः। विशेषज्ञानाद् उत्कृष्टवस्तुस्वीकरणम् उचितमेव, किन्तु सुमना इति नामधारिणामपि देवतानाम् दमयन्तीकर्तृकनलवरणे दुर्मनस्त्वमनुचितमिति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—विशेषज्ञया विदर्भराजसुतया अर्थी असौ सर्वसुपर्वणां पतिः एतस्य यूनः कृते युक्तं पर्यत्याजि, तया अस्मिन् वृते सुमनसः अपि सन्तः निर्जराः यद् दुर्मनसः जाताः नाम, तेषां तु सा अनौचिती सोढुं न उचिता।

हिन्दी—विशेषज्ञा (गुणग्रहणप्रवीणा) विदर्भराज (भीम) की पुत्री (दमयन्ती) ने (अपनी) कामना करने वाले सब देवों के स्वामी (इन्द्र) को इस युवक (नल) के लिए ठीक ही त्यागा; उस (दमयन्ती) के द्वारा

इस (नल) का वरण होने पर सुन्दर मन वाले भी होकर जरारहित देव जो दुष्ट (बुरे) मन वाले हो गये, उनका तो वह अनौचित्य सहन योग्य नहीं है।

टिप्पणी—नल की श्री शोभा निहारती मुग्ध पुरनारियों ने परस्पर कहा कि नल तो देवों से कहीं अधिक रमणीय है। राजकुमारी दमयन्ती तो गुणग्रहण की विशेषज्ञा (एक्सपर्ट) है। इन्द्र का त्याग कर दमयन्ती ने जो नल वरण किया, वह उचित ही किया। उसके इस उचित निर्णय पर 'सुमनस्' कहे जाने वाले देव जो दमयन्ती पर क्रुद्ध हो 'दुर्मनस्' हो गये, सज्जनता से दुर्जनता पर उतर आये, यह किसी प्रकार सहन योग्य कार्य नहीं था। देवों की यह दुर्जनता सर्वथा अनुचित है। देवों का अपना मन न बिगाड़ना चाहिए। इस श्लोक और इस सर्ग के शेष सभी श्लोकों में शार्दूल विक्रीडित छन्द ॥ ८४ ॥

अस्योत्कण्ठितकण्ठलोठिवरणस्रक्साक्षिभिर्दिग्धवै-
　　स्व वक्ष स्वयमस्फुटन्न किमद शस्त्रादपि स्फोटितम्।
व्यावृत्योपनतेन हा ! शतमखेनाद्य प्रसाद्या कथ
　　भैम्या व्यर्थमनोरथेन च शची साचीकृताऽऽस्याम्बुजा ? ॥ ८५ ॥

जीवातु—अस्येति। अस्य नलस्य, उत्कण्ठित वहुदिनात् भैमीवरमाल्यलाभार्थमुत्सुके, कण्ठे लुठतीति तादृश्या लोठिन्या, वरणस्रजा वरमालया, साक्षिभि साक्षाद्द्रष्टृभि, दिग्धवै इन्द्रादिभि, दिक्पतिभि स्वयं स्वत एव, अस्फुटत् अपि लज्जाविरहादविदीर्णमपि, अद स्व वक्ष शस्त्रादपि नलस्यास्त्रप्रहारादपि,स्वयं छुरिकादिघातादपि वा, किं न स्फोटितम् ? भैमीलाभार्थं नलेन सह युद्ध कृत्वा तदीयास्त्रेण वा स्वयं व्यर्थमनोरथेन विफलाभिलापेण, अत एव व्यावृत्योपनतेन प्रत्यावृत्य शचीमुपनतेन, स्वापराधमार्जनार्थं शचीसमीपे प्रणतेनेत्यर्थ। शतमखेन इन्द्रेण, साचीकृत तिर्यक्कृतम्, आस्याम्बुज यया सा तादृशी पराङ्मुखी, शची कथ प्रसाद्या ? प्रसादयितव्या ? न कथञ्चिदपीत्यर्थं, हा ! विषादे। शची क्रोधवशात् वक्रास्यतया सम्मुखस्यानवलोकनात् इन्द्रकृतप्रणामाञ्जल्यादिक नावलोकयिष्यतीति कथ प्रसाद्येति भाव ॥ ८५ ॥

अन्वय—अस्य उत्कण्ठितकण्ठलोठिवरणस्रक्साक्षिभि दिग्धवै स्वयम् अस्फुटत् अद स्व वक्ष शस्त्रात् अपि किं न स्फोटितम् ? हा, अद्य

भैम्यां व्ययमनोरथेन व्यावृत्य उपनतेन च शतमखेन साचीकृतास्याम्बुजा सा शची कथं प्रसाद्या ?

हिन्दी—इस (राजा नल) के (चिरकाल से वरमाला के निमित्त) उत्कंठित कंठ में चंचल वरमाला के साक्षी (दर्शक) दिग्पालों (देवों, नरेशों) ने स्वयं न फटजाते अपने वक्ष को शस्त्र से भी क्यों न फाड़ डाला ? हाय, आज दमयन्ती संम्बन्धिनी इच्छा पूर्ण न होने से निराश और लौट कर प्रणत हुए शतक्रतु इंद्र द्वारा कमलमुख विमुख किये वह इन्द्राणी शची किस प्रकार प्रसन्न की जायेगी ?

टिप्पणी—पुरनारियाँ सोचने लगीं कि दमयन्ती के द्वारा चिरप्रतीक्षित नल-वरण को संमुख हुआ देखने वाले इन सभी दिग्दिगंत के राजाओं, इंद्र, अग्नि, यम, वरुण-आदि देवों को यह उचित था कि लज्जा के कारण विदीर्ण होने योग्य अपने वक्ष को स्वयं फाड़ लेते, क्योंकि वे इतने निर्लज्ज थे, उनके वक्ष स्वयं तो विदीर्ण हुए नहीं, अथवा युद्ध करके प्राण दे देते । परन्तु ये सब राजा और इंद्रादि देव ऐसे घोर निर्लज्ज निकले कि न तो उन्होंने स्वयं घात किया, न युद्ध करके प्राण त्याग किया । अब अपनी-अपनी रूठी प्रियाओं को वे कैसे मनायेंगे ? उदाहरणार्थ अपने अपमान से क्षुब्ध और क्रुद्ध शची का प्रसादन इंद्र कैसे करेंगे ? बड़े गये थे दमयन्ती के लिये सुन्दरी शची की अवगणना करके ! अब दुर्दशा भोगें । दमयन्ती नहीं मिली और प्रिया मोहिनी भी कुपित हुईं । जब इंद्र की यह दुर्दशा होगी तो औरों का क्या कहना ? ॥ ८५ ॥

मा जानीत विदर्भजामविदुषीं कीर्तिर्मुदः श्रेयसी
सेयं भद्रमचीकरद् मघवता न स्वं द्वितीयां शचीम् ।
कः शच्या रचयाञ्चकार चरिते काव्यं स नः कथ्यता-
मेतस्यास्तु करिष्यते रसघुनीपात्रे चरित्रे न कैः ? ॥ ८६ ॥

जीवातु—मेति । हे प्रियसख्यः ! विदर्भजां वैदर्भीम्, अविदुषीम् अविशेषज्ञां, मा जानीत मा मन्यध्व, यूयमिति शेषः, देवानन्दं विहाय मानुषानन्दे प्रवृत्ता कथं विदुषी ? इति शङ्कां निरस्यति य. मुदः आनन्दात्, कीर्तिः श्रेयसी प्रसस्यतरा ततः किं तत्र ? इति आह—सा इयं दमयन्ती, (प्रयोजिका)

मघवता इन्द्रेण, (प्रयोज्येन) स्वम् आत्मानं, द्वितीया शची न अचीकरत् न कारितवती इन्द्र यदि वृणुयात् तदा तत्पत्नीत्वेन शचीत्वप्राप्त्या स्वयं द्वितीया शची स्यादिति न इन्द्रं वव्रे इत्यर्थः, करोतेर्णौ चङ्युपधाया ह्रस्व 'चडि' इति द्विर्भावे सन्वद्भावे 'सन्यत' इत्यभ्यासस्य इत्वे 'दीर्घो लघो' इति दीर्घ । इति भद्रम्, इन्द्रस्यावरणम् एव साधु कीर्त्तिकरत्वादिति भाव । कथं शचीत्व मेव न साधु ? इत्याह—क कवि, शच्या चरिते काव्यं रचयाञ्चकार ? स कवि, न अस्मभ्यं, कथ्यता, न कोऽपीत्यर्थः, एतस्यास्तु दमयन्त्या पुन सम्बन्धिनी, रसधुनी रसवती 'तटिनी ह्रदिनी धुनी' इत्यमर । तस्या पात्रे कूलद्वयमध्ये, प्रवाहस्थाने इत्यर्थः, 'पात्रन्तु भाजने याग्ये वित्ते कूलद्वयान्तरे' इति वैजयन्ती, विविधसुरसाधारे इत्यर्थः । चरित्रे विषये, कै कविभि, न करिष्यते ? काव्यमिति शेष । सर्वैरपि स्वत एव करिष्यत इत्यर्थः, स्वयमेव द्रष्टान्त इति कवे तात्पर्यं, तस्मात् कीर्तिकरत्वात् नलवरणमेव भद्र-मिति भाव ॥ ८६ ॥

अन्वय—विदर्भजा मुद कीर्त्तिम् अविदुषी मा जानीत, सा इयं मघवता स्व द्वितीया शची भद्रं न अचीकरत्, शच्या चरिते क काव्यं रचयाञ्चकार स न कथ्यताम्, एतस्या तु रसधुनीपात्रे चरित्रे कै न करिष्यते ?

हिन्दी—(सखियाँ परस्पर कहने लगीं)— विदर्भोत्पन्ना (दमयन्ती) को प्रसन्नता की अपेक्षा यश को न समझती हुई मत समझो कि उस इस (दमयन्ती) ने इन्द्र से विवाह करके अपने को दूसरी शची (इन्द्राणी) बनाने का श्रेयस्कर कार्य नहीं किया । इन्द्राणी के चरित्र के विषय में किस कवि ने काव्य रचा, वह हमें बताओ । इस (दमयन्ती) के रस नदी प्रवाह रूप चरित्र को लेकर कौन-से कवि काव्य नहीं रचेंगे ? (अपितु अनेक—सभी कवि रचेंगे) ।

टिप्पणी—सखियों में से कुछ को यह शंका सभव थी कि दमयन्ती विदुषी नहीं है क्योंकि उसने सांसारिक आनन्द की अपेक्षा स्वर्ग साम्राज्ञी बनने की कीर्ति का कम महत्व दिया । कुछ सखियों ने इसका समाधान किया कि ऐसा नहीं है, दमयन्ती समझदार और परम विदुषी है, उसने

कीर्त्ति को ही प्रसन्नता की अपेक्षा महत्त्व दिया है कि इंद्र का वरण न कर नल का वरण किया। वस्तुतः इंद्र-वरण से स्वर्ग-सुख का हर्ष मिलता, यश न मिलता। इंद्र की पत्नी बन कर वह केवल दूसरी इन्द्राणी ही बन जाती। वैभव मिलता, पर कीर्त्ति नहीं। दूसरी पत्नी बनने में क्या गौरव है और क्या यश है? इसका प्रमाण और भी है। इन्द्राणी के नगण्य, अमहत्त्वपूर्ण जीवन चरित को लेकर किसी ने काव्य रचना नहीं की, किन्तु दमयन्ती का चरित्र इतना आकर्षक है, वह इतनी गुणवती, रूपवती, विदुषी और दृढ़-चरित्रा है कि उसकी जीवन-कथा को लेकर आगे चल कर अनेक कवि रचना करेंगे। इससे सिद्ध होता है कि दमयन्ती ने कीर्त्ति को हर्ष की अपेक्षा श्रेष्ठ माना है। वह समझदार और विदुषी है। इन्द्र का परित्याग कर स्वर्ग-सुख को नगण्य मानने वाली दमयन्ती ने नलवरण कर जो चारित्रिक दृढ़ता दिखायी और सत्य प्रेम के आदर्श की स्थापना की, वह युग-युग के कवियों के द्वारा सरस काव्यों की रचना करायेगी। सत्य ही है यह, नैषधीयचरित ही नहीं, अनेक काव्य नल-दमयन्ती की कथा को लेकर लिखे गये। अनेक भाषाओं में, अनेक युग के कवियों द्वारा ॥ ८६ ॥

वैदर्भीबहुजन्मनिर्मिततपःशिल्पेन देहश्रिया
नेत्राभ्यां स्वदते युवाऽयमवनीवासः प्रसूनायुधः।
गीर्वाणालयसार्वभौमसुकृतप्राग्भारदुष्प्रापया
योगं भीमजयाऽनुभूय भजतामद्वैतमस्य त्विषाम् ॥ ८७ ॥

जीवातु—वैदर्भीति। अवन्यां वासः यस्य सः तादृशः, प्रसूनायुधः पुष्पेषुः, भूलोकमन्मथः इति यावत्, अयं युवा नलः, वैदर्भ्याः दमयन्त्याः बहुषु जन्मसु, निर्मितेन कृतेन, तपसा तपस्यालब्धेनेत्यर्थः, शिल्पेन कलाकौशलेन, दमयन्तीतपःफललब्धकलाकौशलस्वरूपेणेत्यर्थः, देहश्रिया कायकान्त्या, नेत्राभ्यां स्वदते रोचते, पश्यन्तीनामस्माकं नेत्रानन्दं करोतीत्यर्थः, 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति चतुर्थी। अत एव गीर्वाणालयसार्वभौमसुकृतप्राग्भारैः नाकनायकपुण्यराशिभिः अपि, दुष्प्रापया दुर्लभया, इन्द्रादिभिरपि दुरधिगम्यया इत्यर्थः, भीमजया भैम्या सह, योगं मिलनम्, अनुभूय अस्य त्विषां कान्तीनाम्, अद्वैतम् अद्वितीयत्वम्, असाधारण्यमित्यर्थः भजतां गच्छतु अयं युवेति पूर्वेणान्वयः ॥

अन्वय—अवनीवासः प्रसूनायुधः अयं युवा वैदर्भीबहुजन्मनिर्मिततपःशिल्पेन देहश्रिया नेत्राभ्यां स्वदते, अद्य गीर्वाणालयसार्वभौमसुकृतप्राग्भारदुष्प्रापया भीमजया योगम् अनुभूय त्विषाम् अद्वैतं भजताम्।

हिन्दी—पृथ्वी का वासी कुसुमबाण (काम) यह तरुण (नल) विदर्भजा (दमयन्ती) के अनेक जन्मों में किये तप के शिल्प (फल) रूप प्राप्त शरीरकान्ति के कारण (हम दर्शन करने वाली नारियों के) नेत्रों को भला लग रहा है। आज (यह राजा नल) देवों के आलय (स्वर्ग) के सार्वभौम अधिपति (सम्राट् इन्द्र) की पुण्यराशि से भी दुष्प्राप्य भीमसुता (दमयन्ती) के साथ योग (दाम्पत्य सम्बन्ध) का अनुभव कर कांतिचय के साथ अद्वैत (एकता, सामरस्य अर्थात् अनुपमता) प्राप्त करे।

टिप्पणी—नल अथवा नल-दमयन्ती के प्रति भावी हर्ष और मंगल से परिपूर्ण कामना। नल कामदेव से भी सुन्दर है। दमयन्ती को अनेक जन्मों में तप करके जो पुण्य लाभ हुआ है, उसके फलस्वरूप ही मानो अनंग काम देह धारण करके दमयन्ती को मिला है। और दमयन्ती भी वैसी ही है। वह तो इन्द्र को भी प्राप्त न हुई। इस प्रकार नल इन्द्र की अपेक्षा अधिक सौभाग्यशाली है। यह नल-दमयन्ती का युग्म सुख सौभाग्य से पूर्ण रहे। इन्हें ऐसा सुख मिले, जैसा परमात्माद्वैत में प्राप्त होता है। दमयन्ती ने नल रूप में उसी प्रकार काम को देहलाभ करा दिया, जिस प्रकार कोई तपस्वी तपोबल से मृत को जीवित कर देता है, और नल ने भी ऐसा पुण्य किया है, जिससे उसे अद्वैतसिद्धि-तुल्य दमयन्ती सान्निध्य प्राप्त हुआ है ॥ ८७ ॥

स्त्रीपुंसव्यतिपञ्जनं जनयतः पत्युः प्रजानामभू-
दभ्यासः परिपाकिमः किमनयोर्दाम्पत्यसम्पत्तये ?।
आससारपुरन्ध्रिपूरुषमिथःप्रेमार्पणक्रीडया-
प्येतज्जम्पतिगाढरागरचनात् प्राकर्षि चेतोभुवः ॥ ८८ ॥

जीवातु—स्त्रीपुंसेति। स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ 'अचतुर-' इत्यादिना निपातनात् साधु। तयोः व्यतिपञ्जनं जनयतः सङ्घटनं कुर्वतः, प्रजानां पत्युः स्रष्टुः, परिपाकेण निर्वृत्तः परिपाकिमः परिपक्व इत्यर्थः, 'भावप्रत्ययान्तादिमप् वक्तव्यः' इति इमप्प्रत्ययः। अभ्यासः पुनः पुनः

स्त्रीपुंससंयोजनकरणरूपावृत्तिः, अनयोः नलदमयन्त्योः, दाम्पत्यस्य जायापतित्वस्य, सम्पत्तये सम्पादनाय, अभूत् किम् ? नो चेत् तस्य कथमीदृगनुरूपसङ्घटकत्वमिति भावः । तथा अभ्यासं विना कथम् ईदृगन्योऽन्यानुरागजननचातुरीभावः ? इति तात्पर्यम् । किञ्च, चेतोभुवः कामस्य अपि, आसंसारं संसारम् आरभ्य अभिविधावव्ययीभावः । पुरन्ध्रिपूरुषयोः स्त्रीपुंसयोः, मिथः अन्योऽन्यं, प्रेम्णोऽर्पणम् अनुरागोत्पादनम् एव, क्रीडा तयाऽपि, एतज्जम्पत्योः एतयोर्नलदमयन्तीरूपयोः दम्पत्योः 'दम्पती जम्पती जायापती' इत्यमरः । जायाशब्दस्य दम्भावो जम्भावश्च निपातितः । गाढः बद्धमूलः, रागः प्रेम, तस्य रचनात् सम्पादनात् प्राकर्षि प्रकृष्टया जातम् इत्यर्थः । परस्परानुरागोत्पादनक्रीडाया उत्कर्षः एतयोर्नलभैम्योरेव विश्रान्त इति भावः, कर्मणि भावे लुङ् ॥ ८८ ॥

अन्वयः—स्त्रीपुंसव्यतिषञ्जनं जनयतः प्रजानां पत्युः अभ्यासः किम् अनयोः दाम्पत्यसम्पत्तये परिपाकः अभूत् ? चेतोभुवः अपि आसंसारपुरन्ध्रिपूरुषमिथःप्रेमार्पणक्रीडया एतज्जम्पतिगाढरागरचनात् प्राकर्षि ।

हिन्दी—नारी-नर का व्यतिषंजन (विशेष प्रचुर सम्मेलन) संघटित करते प्रजापति (ब्रह्मा) का (पुनः पुनः संयोजन-विश्लेषणरूप) अभ्यास क्या इन दोनों (नल-दमयन्ती) के पति-पत्नी-भाव की उत्कृष्टता के लिए परिपक्वता को प्राप्त हुआ ? मनोजन्मा (काम) की भी सृष्टि के आरंभ से नारी-नर के परस्पर प्रेम-समर्पण की क्रीडा इस दम्पती (नल दमयंती) के दृढ़ अनुराग की संरचना से प्रकृष्टता को प्राप्त हुई है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि नल-दमयन्ती ब्रह्मा के तब तक रचे गये सभी दंपतियों में श्रेष्ठ हैं । इस जोड़ी का निर्माता ब्रह्मा की रचनाधर्मिता का सबसे उत्कृष्ट प्रमाण है । काम भी सृष्टि के आरम्भ से नर-नारी के मध्य प्रेम-समर्पण के अनेक खेल खेलता रहा है, किन्तु नल दमयन्ती के युग्म के मध्य उसने जो दृढ़ अनुराग की सृष्टि की, वह अनुपम है । काम की प्रेम-क्रीडा-रचना का उत्कृष्टतम उदाहरण । ऐसा दृढ़ अनुराग, जिसके सम्मुख देव भी पराजित हुए, कहाँ अन्यत्र मिलता है ? त्रिकाल में भी ऐसी जोड़ी नहीं हुई ॥ ८८ ॥

ताभिर्दृश्यत एष यान् पथि महाज्यैष्ठीमहे मन्महे
यद्दृग्भिः पुरुषोत्तमः परिचितः प्राग् मन्चमस्चन् कृतः ।

सा स्त्रीराट् पतयालुभिः शितिसितैः स्यादस्य दृक्चामरैः
सस्ने माघमघाभिघातियमुनागङ्गौघयोगे यथा ॥ ८९ ॥

जीवातु—ताभिरिति । ताभिः स्त्रीभिः, पथि राजपथे, यान् गच्छन्, यातेर्लटः शत्रादेशः । एष नलः, दृश्यते, यासां दृग्भिः नेत्रैः, प्राक् पूर्वस्मिन् जन्मनि, ज्येष्ठया नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी, ज्यैष्ठी 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इति ङीप् । महती पूज्या, ज्यैष्ठी ज्येष्ठपौर्णमासी, तस्यां यो महः उत्सवः तस्मिन्, मञ्चः पर्यङ्कम्, अञ्चन् गच्छन् मञ्चस्य इत्यर्थः, 'मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्काः खट्वया समाः' इत्यमरः, पुरुषोत्तमः नारायणः, परिचितः दृष्टः कृतः, नेत्रैः उपासित इत्यर्थः, तादृक् सुकृतं विना कथमीदृङ्महाभाग्यदर्शनं लभ्यते इति भावः, यथाऽऽहुः, 'दोलारूढञ्च गोविन्दं मञ्चस्थं मधुसूदनम् । रथस्थं वामनं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥' इति । तथा पतयालुभिः उपरिपातुकैः 'स्पृहिगृहिपति—' इत्यादिना चौरादिकात् पतेरालुचि 'अयामन्तालु—' इत्यादिना णेरयादेशः । शितिभिः श्यामवर्णैः, तथा सितैः शुभ्रैश्च, अस्य नलस्य, दृग्भिः दृष्टिभिः एव, चामरैः व्यजनैः, सा स्त्रीणां राट् स्त्रीराट् स्त्रीणां राज्ञी, स्त्रीषु श्रेष्ठेत्यर्थः स्यात् भवेत्, 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । राजचिह्नत्वात् चामराणामिति भावः, यथा स्त्रिया अघानि अभिहन्तीति अघाभिघाती पापविनाशी, ताच्छील्ये णिनिः, 'हो हन्तेः—' इति कुत्वं 'हनस्तोऽचिण्णलोः' इति नकारस्य तकारः । तस्मिन् यमुनागङ्गयोः ओघयोगे प्रवाहसंयोगसमीपे, गङ्गायमुनासङ्गमे प्रयागादौ इत्यर्थः, सामीप्ये अव्ययीभावः, 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' इति विकल्पादम्भावाभावः । मघाभिर्नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी माघी 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इत्यण् । सा माघी अस्मिन् इति माघः । 'साऽस्मिन् पौर्णमासीति' इति संज्ञायामण्-प्रत्ययः । तं माघं माघमासं व्याप्य, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । सस्ने स्नातम्, स्नातेर्भावे लिट् । यथा प्रयागे स्नातं नैव नलेन अवलोक्यते, अन्यथा कथमीदृङ्महालाभः इति भावः । अत्राप्याहुः— 'सितासितेषु यैः स्नातं माघमासे युधिष्ठिर । न तेषां पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि ॥' इति मन्महे विवेचयामि, वाक्यद्वयार्थं कर्मपदम् ॥८९॥

अन्वयः—मन्महे—महाज्यैष्ठीमहे यद्दृग्भिः प्राक् मञ्चम् अञ्चन् पुरुषोत्तमः परिचितः इव, ताभिः पथि यान् एषः दृश्यते, यथा अघाभिघातियमुनागङ्गौघयोगे माघं सस्ने, पतयालुभिः शितसितैः अस्य दृक्चामरैः सा स्त्रीराट् स्यात् ।

हिन्दी—जिन्होंने महाज्येष्ठा (ज्येष्ठ-पूर्णिमा) के उत्सव में पहिले (जन्मान्तर में) मंचस्थ पुरुषोत्तम (नारायण) का साक्षात् किया है, उन (नारियों) के द्वारा मार्ग में जाता यह (राजा नल) देखा जाता है, जिस (नारी) ने पापनाशक यमुना-गंगा के संगम (तीर्थराज प्रयाग) में माघ मास में स्नान किया है, पतनशील, चंचल, श्याम-श्वेत दृग (नल) के दृष्टि रूप चामरों से वही स्त्री-साम्राज्ञी हो सकेगी।

टिप्पणी—आशय यह कि वररूप में नल को जाता देखने का सौभाग्य उन्हीं स्त्रियों का हो सकता है, जिन्होंने महाज्येष्ठी पूर्णिमा को सम्पन्न महोत्सव में मंचस्थ नारायण को देखा है और पुनर्जन्म बंधन से मुक्ति पायी है। कहा गया है कि झूलते गोविन्द, मंचस्थ मधुसूदन और रथस्थ वामन का दर्शन करके पुनर्जन्म नहीं होता। ऐसा पुण्य जिनका है, वे ही नारियाँ वर नल को देखने का भाग्य पा सकती हैं। नारायण रूप है पुरुषोत्तम नल। ज्येष्ठ मास की वह पूर्णिमा महाज्यैष्ठी कही जाती है, जिसमें ऐंद्र में गुरु-चंद्र होते हैं और प्राजापत्य में सूर्य—'ऐन्द्रे गुरुः शशी चैव प्राजापत्ये रविस्तथा। पूर्णिमा ज्येष्ठमासस्य महाज्यैष्ठीति कीर्तिता ॥' उत्कल प्रदेश (ओडिसा) में ज्येष्ठ पूर्णिमा को इन्द्रनीलगिरिवासी श्रीपुरुषोत्तम-महोत्सव मनाते हैं, जिसमें विमानों पर श्रीकृष्ण, बलरामादि की प्रतिमाएँ निकाली जाती हैं। ऐसा माना गया है, इन मंचस्थ प्रतिमाओं का जुलूस देखना पुण्यकर्म है। यह तो हुआ वर नल को देखने का पुण्य भाग्य; जहाँ तक नल की पट्टमहिषी "स्त्रीराट्" होने का प्रश्न है, ऐसा सौभाग्य उसी नारी का हो सकता है, जिसने माघ मास भर गंगा-यमुना के संगम तीर्थराज प्रयाग में स्नान किया हो। राजा नल के श्वेत-कृष्ण नेत्र-रूपी चामर उसी नारी पर पड़ कर उसे स्त्रियों की रानी बना सकते हैं, जिसने माघ मास भर श्वेत गंगा और श्याम यमुना के संगम में स्नान किया हो। गंगा-यमुना का सितासित जल जिसे पवित्र कर चुका है, उसी पर नल की सितासित दृष्टि पड़ेगी। भाव यह कि वही स्त्री श्रेष्ठ है, जिस पर नल-कटाक्ष पड़ते हैं। यह सौभाग्य दमयन्ती को ही प्राप्त हो सका है ॥ ८९ ॥

वैदर्भीविपुलानुरागकलनासौभाग्यमत्राखिल-
क्षोणीचक्रशतक्रतौ निजगदे तद्वृत्तवृत्तक्रमैः ।
किञ्चास्माकनरेन्द्रभूसुभगतासम्भूतये लग्नक
देवेन्द्रावरणप्रसादितशचीविश्राणिताशीर्वचः ॥ ९० ॥

जीवातु—वैदर्भीति । अखिलक्षोणीचक्रशतक्रतौ अखिलभूलोकदेवेन्द्रे, अत्र अस्मिन् नले, वैदर्भीविपुलानुरागकलना दमयन्तीगाढानुरागलाभ, सा एव सौभाग्य वाल्लभ्यम् (कर्म) तस्या भैम्या, वृत्तवृत्तक्रमैः अतीतचरित्रप्रकारैः इन्द्रप्रतिषेधादिभि (कर्तृभि) 'वृत्त पद्ये चरित्रे त्रिष्वतीते दृढनिस्तले' इत्यमर, निजगदे गदित, तादृगनुरागाभावे कथमिन्द्रादिप्रतिषेध इति भाव । किञ्च, देवेन्द्रस्य अवरणेन वरणाकरणेन, प्रसादितया सन्तोषितया, शच्या विश्राणित दत्तम्, आशीर्वच एव अस्माकमियम् आस्माकी 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्या खञ् च' इति चकारादण् 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ' इति अस्माकादेश । तस्या नरेन्द्रभुव राजपुत्र्या भैम्या, सुभगतायाः पतिवाल्लभ्यस्य, सम्भूतये लाभाय, लग्नक प्रतिभू 'स्युर्लग्नका प्रतिभुव ' इत्यमर । अभूत् इति शेष । स्त्रीणा सौभाग्यस्य शचीप्रसादलभ्यत्वादिति भाव ॥९०॥

अन्वयः—तद्वृत्तवृत्तक्रमैः वैदर्भीविपुलानुरागकलनासौभाग्यम् अत्र अखिलक्षोणीचक्रशतक्रतौ निजगदे, किम् च आस्माकनरेन्द्रभूसुभगतासम्भूतये देवेन्द्रावरणप्रसादितशचीविश्राणिताशीर्वचः लग्नकम् ।

हिन्दी—उस (नल) के चरित्र सम्बन्धी काव्यो द्वारा विदर्भजा (दमयन्ती) के प्रबल प्रेम का सौभाग्य इस समस्त पृथ्वीपतियो के शतमखो (इन्द्र) मे कह दिया गया है, और अधिक क्या, हमारे राजा (भीम) की पुत्री के सौभाग्य की समृद्धि के निमित्त देवराज (इन्द्र) को न वरने से प्रसन्न सतुष्ट इन्द्राणी द्वारा दिया आशीर्वाद लग गया है।

टिप्पणी—नल और दमयंती के दृढानुराग की समग्र कथा कवियो द्वारा कह दी गयी है। प्रबल प्रणय की यह सौभाग्यपूर्ण चरितकथा काव्या का इतिवृत्त बन गयी। दमयती ने इन्द्र का वरण नही किया, इस कारण इन्द्राणी उससे संतुष्ट हुई और उसके सौभाग्य में समृद्धि का सफल आशीर्वाद शची ने दिया। यह शुभ हुआ। शची का आशीवचन सुख सौभाग्यसमृद्धिकारी होता है। भाव यह कि नल दमयती-योग अमर और शुभ है॥ ९०॥

आसुत्राममपासनान्मखभुजां भैम्यैव राजव्रजे
तादर्थ्यागमनानुरोधपरया युक्ताऽर्जि लज्जामृजा ।
आत्मानं त्रिदशप्रसादफलितं पत्ये विधायानया
ह्रीरोषापयशःकथानवसरः सृष्टः सुराणामपि ॥ ९१ ॥

जीवातु—आसुत्राममिति । राज्ञां भूभुजां व्रजे राजव्रजे स्वयंवरगतराजसमाजे, तादर्थ्येन स नलः अर्थः प्रयोजनं यस्य तस्य भावः तादर्थ्यं नलप्रयोजनकत्वं, तेन हेतुना यत् आगमनं स्वयंवरप्रवेशनं, तस्य अनुरोधः अनुवर्त्तनमेव, परं प्रधानं यस्याः तया नलैकपरया, भैम्या आसुत्रामम् इन्द्रपर्यन्तम्, अभिविधावव्ययीभावः । 'अनश्च' इति समासान्तष्टच् । 'सुत्रामा गोत्रभिद् वज्री' इतीन्द्रपर्याये अमरः, मखभुजां देवानाम्, अपासनात् प्रत्याख्यानात् हेतोः, लज्जायाः मृजा प्रमार्जनं, युक्ता योग्या एव आर्जि अर्जिता, 'आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्' इति न्यायादिति भावः । अनया भैम्या, त्रिदशप्रसादेन देवानुग्रहेण, फलितं सफलम्, आत्मानं पत्ये वराय नलाय, विधाय दत्वा, सुराणां ह्रीरोषापयशसां प्रत्याख्यानजनितलज्जाक्रोधदुष्कीर्तिप्रसक्तानां, कथानाम् अनवसरोऽपि सृष्टः अनवकाशः कृतः, तदनुज्ञयैव प्रकृते वरणम् इति अत्र कश्चिदपयशःकथानवकाश इति भावः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—तादर्थ्यगमनानुरोधपरया भैम्या एव आसुत्रामं मखभुजाम् अपासनात् राजव्रजे युक्ता लज्जामृजा आर्जि; अनया त्रिदशप्रसादफलितम् आत्मानं पत्ये विधाय सुराणां ह्रीरोषापयशः कथानवसरः अपि सृष्टः ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती की प्राप्ति) के निमित्त (देव और राजसमूह के) आगमन की प्रधानभूता अथवा उस (नल-वरण) के निमित्त स्वयंवर में प्रवेश के अनुरोध से पूर्ण भैमी (दमयंती ने ही इन्द्र से लेकर समस्त यज्ञभोजी देवों के त्याग से राजसमूह की उचित लज्जा का मार्जन करा दिया, और इस (दमयंती) ने देवों की प्रसन्नता से फलीभूत (सफल) अपने को पति (नल) निमित्त अर्पित कर देवों की लज्जा, क्रोध और अकीर्त्ति (निन्दा) की कथा का अनवसर (अवसराभाव) भी उत्पन्न कर दिया।

टिप्पणी—आशय यह कि दमयंती के पाने के लिए स्वयंवर-सभा में आगत इन्द्रादि देव भी प्रसन्न होकर लौटे और अन्य राजा भी । नल-वरण के

निमित्त ही स्वयंवर-प्रवेशिनी दमयन्ती ने ऐसा कार्य किया कि दमयन्ती के निमित्त ही स्वयंवर मे दूर देश से आने का कष्ट उठाने वाले राजाओं को भी दमयन्ती-अलाभ से लज्जा व्याप्त नहीं हुई। दमयन्ती के लिए राजा आये थे, वह उन्हें न मिली, इससे उनका लज्जित होना उचित होता, पर दमयन्ती ने उन्हें क्या, इन्द्रादि देवों को भी त्याग दिया, इससे राजसमूह को लज्जा न लगी। जब देव ही त्याग दिये गये, तो मानव राजाओं की क्या गणना? देवों को भी दमयन्ती-अलाभ से अकीर्त्ति न हुई, न उन्हें लज्जित होना पड़ा और न वे क्रुद्ध ही हुए, इसका अवसर ही नहीं रह गया, क्योंकि दमयन्ती ने पहिले देवों को प्रसन्न किया और तब उन्हें प्रसन्न करके ही अपने को नलार्पित किया। जब यह देवों की प्रसन्नता से, उनके प्रसाद से ही फलित हुआ, तब उनकी लज्जा, क्रोध, निन्दा, अपमान को अवकाश ही नहीं रह गया। इस प्रकार मनुज और देव दोनों ही दमयन्ती को न पाकर भी तुष्ट प्रसन्न लौटे ॥ ९१ ॥

इत्यालेपुरनुप्रतीकनिलयालङ्कारसारश्रियाऽ-
　　लङ्कुर्वत्तनुरामणीयकममूरालोक्य पौरस्त्रियः।
मानन्दं कुरुविन्दसुन्दरकरस्यानन्दनं स्यन्दनं
　　तस्याध्यास्य यतः शतक्रतुहरित्क्रीडाद्रिमिन्दोरिव ॥ ९२ ॥

जीवातु—इतीति। कुरुविन्दः पद्मरागः 'कुरुविन्दस्तु मुस्तायां कुल्माषव्रीहिभेदयोः। हिङ्गुले पद्मरागेऽपि मुकुलेऽपि समीरितः॥' इति विश्वः। तद्वत् सुन्दरौ करौ हस्तौ यस्य तस्य, अन्यत्र सुन्दराः कराः अंशवः यस्य तस्य, आनन्दयतीति आनन्दनम् आनन्दकरम् नन्द्यादित्वाल्ल्युः। स्यन्दनं रथम्, अध्यास्य अधिष्ठाय, यतः गच्छतः, इणो लटः शत्रादेशः। तस्य नलस्य, शतक्रतुहरितः प्राच्या दिशः, क्रीडाद्रिं क्रीडापर्वतम्, उदयाद्रिमिति यावत्, अध्यास्य यतः गच्छतः, इन्दोः इव अनुप्रतीकं निलयानां प्रत्यवयवमाश्रयाणाम्, अलङ्कारसाराणाम् उत्कृष्टाभरणानां, श्रिया शोभया साधनेन, अलङ्कुर्वत्या आत्मानं प्रसाधयन्त्या, तनोः मूर्त्तेः, रामणीयकं रमणीयत्वम्। 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इति वुञ्प्रत्ययः, आलोक्य अमूः पौरस्त्रियः इति पूर्वोक्त-रीत्या, सानन्दं यथा तथा आलेपुः आलपन्। आलपेर्लिट्, अत एव एत्वाभ्यासलोपौ ॥ ९२ ॥

अन्वयः—कुरुविन्दसुन्दरकरस्य आनन्दनं स्यन्दनम् अध्यास्य यतः तस्य

शतक्रतुहरित्क्रीडाद्रिम् इन्दोः इव अनुप्रतीकनिलयालङ्कारश्रिया अलङ्कुर्वसनु-रामणीयकम् आलोक्य अमूः पौरस्त्रियः कानन्दम् इति आलेपुः ।

हिन्दी—पद्मराग के समान सुन्दर करों वाले, आनन्ददायक रथ पर चढ़ कर जाते (उस) नल की—शतक्रतु (इन्द्र) की दिशा (पूर्व-दिशा) के क्रीडाचल (उदयगिरि) में स्थित पद्मरागारुणसुन्दर किरणशाली चन्द्र के समान प्रत्यंग संश्रित उत्कृष्ट अलंकारों की सम्पन्नता से अलंकृत शरीर-रमणीयता को देखकर ये पुरनारियाँ इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करने में सानंद तत्पर हुई।

टिप्पणी—श्लोक संख्या ८३–९१ तक में जो कहा गया, इस प्रकार के वचन दर्शनार्थ उपस्थित पुरसुन्दरियों ने कहे। यहाँ प्रत्यावयव समलंकृत-रथा-रूढ नल की समता अनेकार्थ विशेषण के प्रयोग द्वारा पूर्वाचल उदयगिरि में स्थित नवोदित चन्द्र से की गयी है। जैसे नवोदित चन्द्र को देख प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता नल को देख पुरस्त्रियों को हुई ॥ ९२ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
यातः पञ्चदशः कृशेतररसस्वादःविहायं महा-
काव्ये तस्य हि वीरसेनिचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ ९३ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति । कृशेतरेण अकृशेन, निर्भरेण इत्यर्थः, रसेन शृङ्गारेण, स्वादौ रुचिरे इह स्वस्य कृतौ काव्ये, पञ्चदशानां पूरणः पञ्चदशः 'तस्य पूरणे डट्' इति डट् अयं सर्गो यातः गतः, समाप्तः इति यावत् ॥९३॥

इति 'मल्लिनाथ'विरचिते 'जीवातु'समाख्याने पञ्चदशः सर्गः समाप्तः ॥१५॥

अन्वयः—पूर्वार्द्धस्य पूर्ववत् । हि कृशेतररसस्वादौ तस्य वैरसेन-चरिते महाकाव्ये इह अयं निसर्गोज्ज्वलः पञ्चदशः सर्गं यातः ।

हिन्दी—पूर्वार्द्ध का अर्थ पूर्ववत् । अत्यंत सरस होने से स्वादु अथवा प्रबलतम रस शृंगार से सुधास्वादु उस (श्रीहर्ष) के वीरसेन-सुत (नल) चरित (नैषधीयचरित) महाकाव्य में यहाँ यह प्रकृत्या उज्ज्वल पंद्रहवाँ सर्ग सम्पन्न हुआ।

टिप्पणी—'कृशेतररस' कथन से शृंगार की रसराजता की ओर संकेत ।

नैषधीयचरिते पञ्चदशः सर्गः समाप्तः

षोडशः सर्गः

वृत प्रतस्थे स रथैरथो रथी गृहान् विदर्भाधिपतेर्धराधिप ।
पुरोधस गौतममात्मवित्तम द्विधा पुरस्कृत्य गृहीतमङ्गल ॥ १ ॥

जीवातु—वृत इति । अथो प्रसाधनानन्तर, गृहीतमङ्गल स्वीकृतमङ्गलाचार, रथ अस्य अस्तीति रथी रथिक, स धराधिप नल, आत्मवित्तमम् आत्मतत्वज्ञानिना श्रेष्ठ, गौतम गौतमाख्यम् ऋषि, पुरोधस पुरोहित, द्विधा प्रकारद्वयेन, पुरस्कृत्य पूजयित्वा अग्रे कृत्वा च पुरस्कृत पूजितेऽग्रतश्चाभियुक्ते ऽग्रत कृते इत्यमर । रथैं रथिभि पुरुषै, कुन्ता प्रविशन्ति' इतिवत् रथशब्दस्य रथिषु लक्षणा । वृत्त वेष्टित सन्, विदर्भाधिपते भीमस्य, गृहान् प्रति प्रतस्थे प्रस्थित । समवप्रविभ्य स्थ इत्यात्मनेपदम् । वंशस्थविल वृत्तम् ॥ १ ॥

अन्वय—अथो गृहीतमङ्गल रथी स धराधिप: आत्मवित्तम गौतम पुरोधस द्विधा पुरस्कृत्य रथैं वृत विदर्भाधिपते गृहान् प्रतस्थे ।

हिन्दी—प्रसाधन और रथारोहण के अनन्तर मगलाचार स्वीकारते, रथारूढ उस पृथ्वीपति (नल) ने आत्मतत्त्वज्ञानी ऋषि गौतम पुरोहित का दो प्रकार से पुरस्कृत करके (पूजा करके और आगे करके), रथियों से चारो ओर से आवृत हो, विदर्भराज (भीम) के महलो की ओर प्रस्थान किया।

टिप्पणी विवाह विधि की सम्पन्नता के निमित्त तत्त्ववेत्ता ऋषि गौतम को पुरोहित रूप म पूजित कर, शुभमगलाचार विधान के पश्चात् रथियों के साथ विवाहार्थ विदर्भ के राज प्रासाद की ओर नल चले। 'रथैं' अर्थात् रथियों के साथ, लाक्षणिक अर्थ । १–१२२ श्लोक तक वंशस्थवृत्त ।

स्वभूषणाशुप्रतिबिम्बितैं स्फुट भृशावदातैः स्वनिवासिभिर्गुणैं ।
मृगेक्षणाना समुपासि चामरैर्विधूयमानैं स विधुप्रभैं प्रभु ॥ २ ॥

जीवातु—स्वेति । स प्रभु नल, स्वभूषणानाम् अंशुपु प्रभासु, प्रभाशालिमणिषु इति यावत्, प्रतिबिम्बितैं प्रतिफलितैं, विधूयमानैं

-कम्प्यमानैः, विधोः चन्द्रस्य, प्रभा इव प्रभा येषां तैः, अत्र निदर्शनाविशेषः, मृगेक्षणानां हरिणलोचनानां, चामरग्राहिणीना सम्बन्धिभिरिति भावः, चामरैः चामरव्यजनैरित्यर्थः, भृशावदातैः अतिशुभ्रैः, स्वनिवासिभिः स्वनिष्ठैः, अत एव स्वभूषणांशुप्रतिविम्बितैः, गुणैः नलस्य श्रुतशीलादिगुणैः एव, समुपासि उपासितः, स्फुटम् । प्रतिविम्बितचामरेषु स्वामिसेवार्थम् आविर्भूतस्वीयशील-सौन्दर्यादिगुणत्वस्योत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २ ॥

अन्वयः—सः प्रभुः स्वभूषणांशुप्रतिबिम्बितैः विधूयमानैः विधुप्रभैः भृशावदातैः मृगेक्षणानां चामरैः स्वनिवासिभिः गुणैः स्फुटं समुपासि ।

हिन्दी—वह राजा (नल) अपने आभूषणों की किरणों में प्रतिबिंबित, डोलाये जाते (कंपित), चन्द्रप्रभा (चाँदनी)-सदृश अति शुभ्र मृगनय-नाओं के चँवरों द्वारा अपने (नल के) अंतर्वर्ती गुणों से (जैसे) स्फुट रूप में सेवित हुआ ।

टिप्पणी—आभूषणों से आच्छादित वर राजा नल राज-प्रासाद की ओर चले । मृगनयनी सुन्दरियाँ चाँदनी जैसे शुभ्र चामरों को उन पर डुला रही थीं, जिन (चामरों) की प्रतिच्छाया आभूषणों में पड़ रही थी । लगता था, ये चामर राजा नल के अन्तःस्थित गुण ही थे, जो राजा की सेवा कर रहे थे । गुणी व्यक्ति की सेवा और आदर होता ही है । कविसमयानुसार सद्गुणों का श्वेत वर्ण मान कर उनको चामर रूप में कल्पना की गयी । नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा, मल्लिनाथ ने भी प्रतिबिंबित चामरों में नल के शील-सौन्दर्यादि गुणों के आविर्भाव के कारण यहाँ उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है और 'विधुप्रभैः' में निदर्शनाभेद माना है ॥ २ ॥

परार्ध्यवेशाभरणैः पुरःसरैः सहाऽऽजिहाने निषधावनीभृति ।
दधे सुनासीरपदाभिधेयतां स रूढिमात्रात् यदि वृत्रशात्रवः ॥ ३ ॥

जीवातु—परार्ध्येति । निषधावनीभृति नले, परार्ध्यानि श्रेष्ठानि । 'परावराधमोत्तमपूर्वाच्च' इति यत्प्रत्ययः । वेशाः आकल्पाः, वस्त्राभरणादि-शोभा इति यावत् 'आकल्पवेशौ नेपथ्यम्' इत्यमरः । ते च आभरणानि च कटकमुकुटादीनि च येषां तैः, पुरःसरैः सुनासीरैः, अग्रगामिभिः वरपक्षीयैः लोकैरिति यावत्, सह आजिहाने गच्छति सति, स प्रसिद्धः, वृत्रशात्रवः इन्द्रः,

रूढिमात्रात् अश्वकर्णादिवत् समुदायशक्त्या अर्थप्रतीतिमात्रात्, सु शोभना, 'सु पूजायाञ्च सुरे' इति स्वामी। नासीरा अग्रेसरा यस्य स सुनासीर इन्द्र, इति पदस्य शब्दस्य, अभिधेयता वाच्यत्व, यदि सम्भावनायां, दधे दधार, न तु सु शोभना, नासीरा अग्रेसरा यस्येति योगलभ्यार्थप्रतीतित, यौगिकतया सुनाशीरशब्दप्रतिपाद्यत्वस्य नले एव वर्त्तमानत्वात् न तु इन्द्रे। नलस्य नासीरदर्शनादयमेव सुनासीर न तु इन्द्र इति प्रतीयते, नलपुर सराणाम् इन्द्रपुर सरेभ्यो देवेभ्योऽपि श्रेष्ठत्वात् इति भाव ॥ ३ ॥

अन्वय'—निषधावनी भृति पराद्ध्यर्वेशाभरणै पुर सरैः सह आजिहाने सः वृत्रशात्रवः यदि सुनासीरपदाभिधेयता दधे, रूढिमात्रात् (एव दधे)।

हिन्दी—निषधधरा के स्वामी (नल) के श्रेष्ठ रूप और वस्त्राभरणो से अलकृत अग्रगामी जनो के साथ गमन करने पर वह वृत्रासुर का शत्रु (इन्द्र) यदि 'सुनासीर' पद से वाच्यता का धारण करता था ('सुनासीर' कहा जाता था) तो केवल रूढि के आधार पर।

टिप्पणी—सुन्दर और वस्त्राभरणों से सुसज्जित बाराती आगे-आगे चल रहे थे, उनके पीछे वर नल। उस समय बाराती देवगण की अपेक्षा और नल इन्द्र की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रतीत हो रहा था। इन्द्र का एक नाम 'सुनासीर' भी है—'इन्द्रो मरुत्वान्मघवा बिडौजा पाकशासन। वृद्धश्रवा सुनासीरः पुरुहूत पुरन्दर. ॥ (अमर कोष, १।१–३६)। शब्द तीन प्रकार के होते हैं—(१) यौगिक, (२) रौढिक और (३) योगरूढ। यौगिक शब्द है—पाचक। पचतीति पाचक., जो पकाता है, वह पाचक। रौढिक है–तैल, अर्थात् तिल द्रव ही नही, सभी चिकने द्रवों को तेल कहते हैं, यद्यपि कहा जाना उचित है तिल-द्रव को ही किन्तु रूढि के आधार पर सभी को तैल कह दिया जाता है। सभी तैल पदाभिधेयता को प्राप्त कर लेते हैं। योगरूढ शब्द हैं—आतपत्रादि। 'सुनासीर' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ होगा–सुन्दर नासीर अर्थात् सेनाग्रभागवाला,—सुष्ठु नासीर यस्य स.'। इन्द्र का सेनाग्र सुष्ठु नही है, जब कि 'पराध्यर्वेषाभरण' जन नल के आगे-आगे चल रहे थे। इस दृष्टि से वास्तव मे 'सुनासीर' नल ही हुआ, इन्द्र नहीं। इन्द्र का यह नाम तो रौढिक ही है, व्युत्पत्ति से सिद्ध नही होता। सो नल इन्द्र से श्रेष्ठ हुआ।

नलस्य नासीरसृजां महीभुजां किरीटरत्नैः पुनरुक्तदीपया।
अदीपि रात्री वरयात्रया तया चमूरजोमिश्रतमिस्रसम्पदा ॥ ४ ॥

जीवातु—नलस्येति। चमूरजोभिः सैन्यपदोत्थधूलिभिः, मिश्राः घनीभूताः, तमिस्रसम्पदः यस्यां तया, चमूपदोत्थितरजोहेतुना गाढान्धकारयेत्यर्थः, तथाऽपि नलस्य नासीरसृजाम् अग्रेसरत्वसम्पादकानाम्, अग्रयायिनामित्यर्थः। महीभुजां राज्ञां, किरीटरत्नैः मुकुटस्थितमणिभिः, पुनरुक्ताः रत्नकिरणैरेवान्धकारापसारणात् निष्प्रयोजनतया अधिकार्थकाः, दीपाः यस्यां तादृशया, तथा प्रकृतया, वरस्य बोढुः यात्रया वैवाहिकगृहयात्रया, रात्री अदीपि दीप्तं, शोभितमित्यर्थः। (भावे लुङ्) रत्नदीपप्रकाशेन यात्रा गाढान्धकारेऽपि दीपवती इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वयः—चमूरजोमिश्रतमिस्रसम्पदा नलस्य नासीरसृजां महीभुजां किरीटरत्नैः पुनरुक्तदीपया तया वरयात्रया रात्री अदीपि।

हिन्दी—सेना के संचरण से उड़ती धूलि के कारण और भी गाढ़े अंधकार का सामना करती, (किन्तु) नल की सेना के अग्रभाग में रहने वाले पृथ्वीपालों (राजाओं) के मुकुटों में जड़े रत्नों से दीपों को पुनरुक्त (व्यर्थ) बना देती वह बारात रात में प्रकाशयुक्त सुशोभित हुई।

टिप्पणी—बारात में इतनी भीड़ थी कि उससे उड़ती धूल के कारण रात और अंधेरी हो गई थी, किन्तु इस घने अंधेरे के कारण भी रात में न तो बारात की यात्रा ही कठिन हुई और न उसकी शोभा में न्यूनता आयी, क्योंकि बारात में आगे-आगे चलने वाले राजाओं के (श्लोक संख्या २ द्रष्टव्य) मुकुटों में जड़े रत्नों से इतनी दीप्ति व्याप्त हो रही थी कि समग्र अंधकार दूर हो गया था और उस दीप्ति तथा प्रकाश से रात में चढ़ती बारात अत्यन्त शोभा-समन्वित प्रतीत हो रही थी। गाढ़ांधकार में ही प्रकाश की शोभा बढ़ती है। रत्न-दीपों ने वह शोभा द्विगुणित कर दी। अनेक राजाओं के नासीरगत होने से नल का चक्रवर्ती होना सूचित है ॥ ४ ॥

विदर्भराजः क्षितिपाननुक्षणं शुभक्षणासन्नतरत्वसत्वरः।
दिदेश दूतान् पथि यातु यथोत्तरं चमूममूष्योपचिकाय तच्चयः ॥५॥

जीवातु—विदर्भेति। विदर्भराजः भीमः, शुभक्षणस्य विवाहमुहूर्तस्य,

आसन्नतरत्वेन समीपवर्त्तित्वेन, सत्वरः सन् अनुक्षणं प्रतिक्षणं, मुहुर्मुहुरित्यर्थः। यान् क्षितिपान् एव दूतान्, उत्तरोत्तरं यथा यथोत्तरं परं परं यथा स्यात्। याथार्थ्ये वीप्सायामव्ययीभावः। दिदेश आज्ञापयामास, नलं सत्वरमानयितुं प्रेषितवान् इत्यर्थः। तच्चयः तेषां प्रेषितानां राज्ञां, चयः समूहः, पथि मार्गे, अमुष्य नलस्य, चमूं सैन्यम्, उपचिकाय वर्द्धयामास। चिञ्धातोर्लिटि 'विभाषा चेः' इति कुत्वम्। दूतत्वेन राज्ञां बहूनां प्रेषणया लग्नातिक्रमभीतो राज्ञस्त्वरातिशयोक्तिः॥ ५॥

अन्वयः—शुभक्षणासन्नतरत्वसत्वरः विदर्भराजः अनुक्षणं यान् क्षितिपान् दूतान् यथोत्तरं दिदेश, तच्चयः पथि अमुष्य चमूम् उपचिकाय।

हिन्दी—मङ्गलमुहूर्त निकटतर होने के कारण शीघ्रता मचाते विदर्भनरेश (राजा भीम) ने बारबार जिन पृथ्वीपालों (राजाओं) को दूत बना कर एक के पश्चात् एक भेजा, उनके समूह ने मार्ग में इस (नल) की सेना (बारात) की भीड़ और भी बढ़ा दी।

टिप्पणी—विवाह का शुभ मुहूर्त निकट आता जा रहा था, अतः दमयन्ती के पिता भीमराज को जल्दी थी कि बारात शीघ्र आ जाय, विलम्ब न हो, अतः उसने अपने पक्ष मे पधारे राजाओं को ही अगवानी करके बरात को शीघ्र लिवा लाने का कार्य सौंपा। सामान्य दूतों के भेजने से उतना आदर प्रकट न होता, अतः भीम ने स्वपक्ष के राजाओं को ही यह दूत कार्य सौंपा। त्वरा के कारण भीमराज ने एक के बाद एक करके अनेक राजाओं को बारात को शीघ्र ले आने के लिए भेज दिया, जिससे बारात की भीड़ और भी बढ़ गयी। दूत रूप मे बहुत से राजाओं को भेजने के कारण लग्नकाल व्यतीत हो जाने से आशंकित राजा की त्वरा का वर्णन मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति है॥ ५॥

हरिद्विपद्वीपिभिरंशुकैर्नभोनभस्वदाध्मापनपीनितैरभूत्।
तरस्वदश्वव्रजिनीध्वजैर्वनं विचित्रचीनांशुकवल्लिवेल्लितम्॥ ६॥

जीवातु—हरीति। नभः अन्तरिक्षं, नभस्वता वायुना, आध्मापनेन पूरणेन, पीनितैः स्थूलितैः, वायुवेगेन स्फीततां गतैरित्यर्थः। अत एव सजीवसिंहादिवत् प्रतीयमानैरिति भावः। 'पीनपीव्नी न स्थूलपीवरे' इत्यमरः।

अंशुकैः वस्त्रनिर्मितैः, हरिद्विपद्वीपिभिः सिंहगजव्याघ्रैः, तदाकारैः ध्वजैः इत्यर्थः। 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यः हर्यक्षः केशरी हरिः' इति, 'मतङ्गजो गजो नागो द्विरदोऽनेकपो द्विपः' इति, 'शार्दूलद्वीपिनौ व्याघ्रे' इति चामरः। तथा तरस्विनां वेगवताम्, अश्वानां ध्वजिनीषु अश्वारोहिसेनासु, ये ध्वजाः पताकाः तैः करणैः, विचित्राणि नानारूपाणि, चीनांशुकानि ध्वजसम्बन्धीनि चीनदेशभवसूक्ष्मवस्त्राणि, तैः एव वल्लिभिः लताभिः वेल्लितं वेष्टितं सत्, वनम् वनतुल्यम्, अभूत्, वनकल्पम् अभूदित्यर्थः। वनं यथा सिंह–हस्ति–व्याघ्र–वृक्षादिभिः वेष्टितं भवति, तथा तद्देशावच्छिन्नं नभोऽपि वस्त्रनिर्मितसिंहहस्तिव्याघ्रचिह्नितध्वजैर्वेष्टितमभूदिति भावः॥ ६॥

अन्वयः—नभस्वदाध्मापनपीनितैः अंशुकैः हरिद्विपद्वीपिभिः तरस्वदश्वध्वजिनीध्वजैः नभः विचित्रचीनांशुकवल्लिवेल्लितं वनम् अभूत्।

हिन्दी—वायु भर जाने से फूल गये, वस्त्रनिर्मित सिंह, हाथी और गैंड़ों से चिह्नित, वेगवान् अश्वों की सेना की ध्वजाओं के कारण, आकाश नाना प्रकार के चीन देश के वस्त्र-रूप लताओं से वेष्टित वन बन गया।

टिप्पणी—वरयात्रा में वेगवान्, तीव्रगति अश्वों की सेना भी थी। अश्वारोही अनेक चीन देश के रेशमी वस्त्रों के बने ध्वज लिये थे। अश्वों के तीव्र गति से चलने के कारण वे ध्वज वायु भर जाने से फूल गये थे, जिससे उन पर बने सिंह, हाथी, गैंडे सजीव से लग रहे थे। इससे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि लता वेलों से भरे वन में ये जीव घूम रहे हैं। ध्वजवस्त्र वेल-सदृश थे, कपड़े पर बने जीव सजीव जीवों-से लग रहे थे, अतएव उन ध्वजों से पूर्ण आकाश वन-सा लग रहा था। नारायण ने 'चीन' का अर्थ मृग भी माना है॥ ६॥

भ्रुवाऽऽह्वयन्तीं निजतोरणस्रजा गजालिकर्णानिलखेलया ततः।
ददर्श दूतीमिव भीमजन्मनः स तत्प्रतीहारमहीं महीपतिः॥ ७॥

जीवातु—भ्रुवेति। (ततः प्रस्थानानन्तरम्) सः महीपतिः नलः, गजालीनां द्वारस्थितगजघटानां, कर्णानिलैः कर्णसञ्चालनोत्थवातैः, खेलतीति तादृशया खेलया चञ्चलया, निजया तोरणस्रजा तोरणलम्बिमालया एव, भ्रुवा आह्वयन्तीं 'शीघ्रम् आगच्छ' इति भ्रूनङ्केतेन आकारयन्तीं, भीमजन्मनः

भ्रम्या, दूतीम् इवेत्युत्प्रेक्षा। तस्य भीमस्य, प्रतीहारमही द्वारभूमिं, द्वारदेशमित्यर्थः। प्रतिपूर्वकात् ह्वधातोर्घञि 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति उपसर्गस्य दीर्घः 'स्त्री द्वार्द्वार प्रतीहार' इत्यमरः। ददर्श॥ ७॥

अन्वय—तत ■ महीपतिः गजालिकर्णानिलखेलया निजतोरणस्रजा भ्रूवा आह्वयन्ती भीमजन्मन दूतीम् इव तत्प्रतीहारमही ददर्श।

हिन्दी—तत्पश्चात् (प्रस्थानोपरान्त) उस पृथ्वी के स्वामी (नल) ने गजसमूह के कानों के पवन से खेलती (हिलती-डुलती), अपने बहिर्द्वार पर सजी फूल माला रूप भ्रूकुटि से बुलाती राजा भीम की दूती के तुल्य उस (भीमराज) की द्वारभूमि को देखा।

टिप्पणी—चलती बारात और वर राजा नल भीमराज के प्रासाद के निकट पहुँचे। वहाँ द्वार पर अनेक हाथी उपस्थित थे और तोरण फूल मालाओं से सजा था। वह फूल माला द्वार पर खड़े हाथियों के कानों के डुलाने-से उत्पन्न वायु से हिल हिल उठती थी। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि राजा भीम की द्वार भूमि राजा की दूती है, जो नल और बारात की अगवानी के लिए उपस्थित है और हिलती माला रूपी भ्रूकुटि का संकेत कर वर राजा को निकट बुला रही है। भाव यह कि शीघ्र ही बारात सजे राजप्रासाद के निकट जा पहुँची। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा॥ ७॥

रम्भैर्दलैः स्तम्भयुगस्य रम्भयोश्चकास्ति चण्डातकमण्डिता स्म सा।
प्रियासखीवास्य मनःस्थितिस्फुरत्सुखागतप्रश्नितनूर्यनिस्वना॥८॥

जीवातु—रम्भैरिति। रम्भयोः स्तम्भयुगस्य द्वारशोभार्थं स्थापितकदलीस्तम्भयुगलस्य, दलैः शिथिलैः, दलैः पर्णैः तद्रूपणेत्यर्थः। चण्डातकेन अर्द्धोरुकेण, वराङ्गनापरिधेयवस्त्रविशेषेणेत्यर्थः। 'अर्द्धोरुकं वरस्त्रीणां स्याच्चण्डातकमंशुकम्' इत्यमरः। मण्डिता भूषिता, सा तत्प्रतीहारमही, मनसि नलस्य चित्ते, स्थितिः सर्वदा चिन्तया अवस्थानं, तया नलमनोगतत्वेनेत्यर्थः। स्फुरत् सर्वदा मनसि अवस्थानात् निर्गच्छन्, यः सुखागतस्य प्रश्नः सुखेनागमनविषयकप्रश्नः, स कृतः सुखागतप्रश्नितः सुखागमनप्रश्नस्तत्तासम्पादितः। 'तत् करोति—' इति णिजन्तात् कर्मणि क्तः। तूर्यनिस्वनः यया सा सती, अस्य नलस्य, प्रियासखी भैमीसखी इव, चकास्ति स्म चकासामास। कदलीदलरूप-

सुवसना तत्प्रतीहारभूमिः तूर्यनिस्वनयोगात् स्वागतं पृच्छन्ती भैमीसखीव बभौ इत्युत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

अन्वयः—रम्भयोः स्तम्भयुगस्य श्लथैः दलैः चण्डातकमण्डिता सा मनः-स्थितिस्फुरत्सुखागतप्रश्नितत्तूर्यनिस्वना अस्य प्रियासखी इव चकास्तिस्म ।

हिन्दी—केले के दो स्तम्भों के लटके पत्तों के 'चण्डातक' नामक वस्त्र से सुसज्जित वह (द्वारभूमि) राजा नल के चित्त में स्थित रहने से उल्लसित सुखपूर्वक यात्रा संपन्न होने के प्रश्नरूप तूर्य आदि वाद्य से युक्त इस (नल) की प्रिया (दमयन्ती) की सखी के समान सुशोभित हो रही थी।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में द्वारभूमि की भीमराज की दूती के रूप में उत्प्रेक्षा की, इस श्लोक में उसकी नल-प्रिया दमयन्ती की सखी के रूप में सम्भावना की गयी है। राजा नल दमयन्ती के मन में सदा वास करता था, अतः उसे राजा के कुशल-समाचार के प्रति सदा जिज्ञासा रहती थी, सो द्वारभूमि रूपिणी सखी को दमयन्ती ने राजा की कुशलपूर्वक यात्रा सम्पन्न होने से सम्बद्ध प्रश्न के समाधानार्थ भेज दिया। चिरकाल से बिछुड़े प्रिय के आगमन पर प्रेयसी तो लज्जा के कारण कुछ बोल नहीं पाती, अपनी किसी सखी को उसके निकट भेज देती है। दमयन्ती ने भी द्वारभूमि को सखी रूप में प्रिय नल के समीप भेजा। लटके हुए पत्ते उस 'द्वार्भू'-सखी का 'चण्डातक' है—आवरणवस्त्र, नारायण के अनुसार नीला लटकता, लंबा वस्त्र और मल्लिनाथ के अनुसार अर्द्धोरुक' (आधे घुटनों तक का) सम्मानित महिलाओं का वस्त्र। अमरकोष (२।६–११९) के अनुसार 'चण्डातक' या 'अर्धोरुक' महिलाओं का एक वस्त्र होता है, जो कदाचित् 'घाघरा' या 'लहँगा' सदृश होगा। नारायण के अनुसार यह नीललंबमान चण्डातक संज्ञक वस्त्र कदाचित् यवनस्त्रियों के आवरण-वस्त्र-सदृश होता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है, जिसमें कदलीदलरूप वस्त्र धारे द्वारभूमि तूर्यनिस्वनरूप में भैमी सखी-तुल्य प्रश्न करती सम्भावित है ॥ ८ ॥

विनेतृभर्त्तृद्वयभीतिदान्तयोः परस्परस्पादनवाप्तवैशसः ।
अजायत द्वारि नरेन्द्रसेनयोः समागमः स्फारमुखारवोद्गमः ॥ ९ ॥

जीवातु—विनेत्रिति । विनेत्रोः नियामकयोः, भर्त्रो नलभीमरूपयोः स्वामिनो, इव तस्मात् भीत्या भयेन, दान्तयो शान्तयो, नरेन्द्रसेनयो भीमनलवाहिन्यो, परस्परस्मात् अन्योऽन्यस्मात्, अनवाप्तम् अप्राप्त, वैशस हिंसन यस्मिन् स तादृश, स्फारः तारः, मुखारवोद्गम मुखकलकलोदय यस्मिन् स तादृशः, समागमो मेलन, द्वारि राजभवनद्वारे, अजायत जात ॥ ९ ॥

अन्वय—विनेतृभर्तृद्वयभीतिदान्तयो नरेन्द्रसेनयो परस्परस्मात् अनवाप्तवैशस स्फारमुखारवोद्गमः समागम द्वारि अजायत ।

हिन्दी—दोनो (भीम और नल) नियामको (शासको) के भय से शान्त राजसेनाओ का एक दूसर से प्राप्त मरण आदि से रहित उच्च कोलाहल से युक्त समागम द्वार पर हुआ ।

टिप्पणी—भीमराज के प्रासाद द्वार पर वर राजा नल और भीमराज की सेनाएँ एक दूसरे के समीप एकत्र हुईं । सामान्यतया राजाओ की सेनाएँ जब परस्पर सपर्क मे आती हैं, तब युद्ध होता है और सैनिक कोलाहल भी करते ह, परन्तु इस अवसर पर ऐसा नही हुआ, क्योंकि एक तो सैनिक अपने-अपने स्वामियो—नल और भीमराज द्वारा पूर्ण नियन्त्रित थे, दूसरे यह अवसर भी वैमनस्य और शत्रुता का नही, स्नेह और मैत्री का था । सैनिक हर्ष और उल्लास मे कोलाहल कर रहे थे । यह मिलन आनन्द और प्रसन्नता से पूर्ण होने के कारण भय का जनक नही था, अपितु स्नेह का सचरण करने वाला था ॥ ९ ॥

निवेश्य बन्धूनित इत्युदीरित दमेन गत्वाऽर्द्धपथे कृतार्हणम् ।
विनीतमाद्वारत एव पद्गता गत तमैक्षिष्ट मुदा विदर्भराट् ॥ १० ॥

जीवातु—निवेश्येति । दमेन भीमात्मजेन, गत्वा प्रत्युद्गम्य, बन्धून् जामातृबन्धून्, निवेश्य उपवेश्य, इत इति उदीरितम् अस्या दिशि आगम्यताम् इति प्रार्थितम्, अर्द्धपथे अर्द्धमार्गे, कृतार्हण कृतपूजन, विनीतम् तनुद्धतम्, आ-द्वारत द्वारम् आरम्य, पादाभ्या गच्छति इति पद्गः, तत्ता पद्गता द्वारदेश रथादवतीर्य पादचारित्वम् । 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेपु' इति पादस्य पदादेश । गत त नल, विदर्भराट् भीम, मुदा हर्षेण, ऐक्षिष्ट अद्राक्षीत् ॥ १० ॥

अन्वय—दमेन गत्वा बन्धून् निवेश्य 'इत' इति उदीरितम् अर्द्धपथे कृतार्हण विनीतम् आद्वारत एव पद्गता गत त विदर्भराट् मुदा ऐक्षिष्ट ।

हिन्दी—दम (दमयन्ती-भ्राता) द्वारा जाकर बंधु-बांधवों को (उचित स्थान पर) बैठा दिये जाने पर और 'इस मार्ग से आइए'—ऐसा कहा जाकर आधे मार्ग में पहुँच कर जिसका अर्घ्य-पाद्यादि समर्पित कर सत्कार किया गया है, ऐसे अनुद्भट (सौम्य) वेषधारी, राजद्वार से (रथ से उतर) पैदल-पैदल आते उस (नल) को विदर्भ-नरेश (भीम) ने प्रसन्नता पूर्वक देखा।

टिप्पणी—राजकुमार दम ने अपने और बारात में आये नल के बन्धु-बांधवों को सत्कार पूर्वक उचित आसनों पर बैठाया और विवाहार्थी नल की आगे बढ़कर मध्यमार्ग में ही अर्घ्यादि द्वारा अभ्यर्थना की (नल रथ से उतर कर पैदल राजभवन की ओर अग्रेसर हुए, दम मार्ग दिखाता चला। राजा भीम ने हर्षपूर्वक आते नल को देखा। विवाहार्थी नल उस समय के लिए उपयुक्त सौम्य वेषधारी थे ॥ १० ॥

अथायमुत्थाय विसार्य दोर्युगं मुदा प्रतीयेप तमात्मजन्मनः।
सुरस्रवन्त्या इव पात्रमागतं धृताभितोवीचिगतिः सरित्पतिः ॥ ११ ॥

जीवातु—अथेति। अथ नलेक्षणानन्तरम्, अयं विदर्भराट्, उत्थाय दोर्युगं बाहुद्वयं, विसार्य प्रसार्य, आगतं सम्मुखमुपस्थितम्, आत्मजन्मनः आत्मजायाः भैम्याः, पात्रं योग्यं वरं, तं नलं, धृता अवलम्बिता, अभितः उभयपार्श्वतः वीचिगतिः तरङ्गप्रसारः यस्य सः तादृशः, सरित्पतिः समुद्रः, सुरस्रवन्त्याः सुराणां देवानां, स्रवन्त्याः नद्याः, भागीरथ्याः इत्यर्थः। 'अथ नदी सरित् स्रवन्ती निम्नगाऽऽपगा' इत्यमरः। आगतं पात्रं तीरद्वयमध्यवर्ति प्रवाहम् इव। 'पात्रम् स्रुवादौ पर्णे च भाजने राजमन्त्रिणि। तीरद्वयान्तरे योग्ये' इति मेदिनी। मुदा हर्षेण, प्रतीयेप प्रत्यैच्छत्, आलिलिङ्गेत्यर्थः ॥ ११ ॥

अन्वयः—अथ अयम् उत्थाय दोर्युगं विसार्य आत्मजन्मनः पात्रम् आगतं तं धृताभितोवीचिगतिः सरित्पतिः सुरस्रवन्त्याः आगतं पात्रम् इव मुदा प्रतीयेप।

हिन्दी—तदनन्तर (नल को देखने के पश्चात्) इस (भीमराज) ने उठ कर बाहुयुगल फैला आत्मजा (बेटी दमयन्ती) के योग्य वर आये उस (नल) का दोनों ओर तरंगमालाओं से युक्त नदियों का स्वामी (समुद्र) सुरसरित् (भागीरथी) के आये प्रवाह का जिस प्रकार आलिंगन करता है, उसी प्रकार सहर्ष आलिंगन किया।

टिप्पणी—नल-दर्शन से प्रसन्न राजा भीम ने अपनी पुत्री के उपयुक्त वर वहाँ उपस्थित नल नरेश को उठकर बाँहें फैला कर वक्ष से लगा लिया। इस स्थिति को दोनों ओर उमड़ती तरंगमाला से युक्त समुद्र द्वारा भागीरथी-प्रवाह के आलिंगन से स्पष्ट किया गया है। समुद्र भीमराज हैं, भागीरथी-प्रवाह नल है और तरंगमालाएँ बाहुयुग्म हैं॥ ११॥

यथावदस्मै पुरुषोत्तमाय तां स साधुलक्ष्मीं बहुवाहिनीश्वरः।
शिवामथ स्वस्य शिवाय नन्दिनीं ददे पतिः सर्वविदे महीभृताम्॥१२॥

जीवातु—यथावदिति। अथ वराल्लिङ्गनानन्तरं, बहुवाहिनीश्वरः बहु-सेनाधीश्वरः, महीभृतां राज्ञां, पतिः राजराजः, स भीमः, पुरुषोत्तमाय पुरुष-श्रेष्ठाय, शिवाय भद्रमूर्तये, सर्वविदे सर्वज्ञाय, अस्मै नलाय, साधुलक्ष्मीं समी-चीनशोभां, शिवां भद्रमूर्तिं, स्वस्य नन्दिनीं दुहितरं, तां दमयन्तीं, यथावद् यथार्हं, विधिवद् इत्यर्थः। 'तदर्हम्' इति वति प्रत्ययः। ददे दत्तवान्। अन्यत्र—बहुवाहिनीश्वरः बहुनदीपतिः, स समुद्रः, पुरुषोत्तमाय विष्णवे, लक्ष्मीं यथावद् ददे ददौ, तत् साधु। तथा महीभृतां पर्वतानां पतिः हिमवान्, स्वस्य नन्दिनीं शिवां गौरीं, सर्वविदे शिवाय शम्भवे। 'शिवं भद्रं शिवः शम्भुः शिवा गौरी शिवाऽभया' इति सर्वत्र शाश्वतः। ददौ, तच्च साधु। विशेषणविदो-व्ययोरपि श्लिष्टत्वादभिधाया प्रकृतार्थबोधनेनोपक्षीणत्वात् वाच्यार्थानुपपत्त्य-भावेन लक्षणाया असम्भवाच्च व्यञ्जनया अर्थान्तरप्रतीतेः ध्वनिरेवौपम्यपर्य-वसायी॥ १२॥

अन्वय—अथ बहुवाहिनीश्वरः महीभृतां पतिः सः पुरुषोत्तमाय शिवाय सर्वविदे अस्मै साधुलक्ष्मीं शिवां स्वस्य नन्दिनीं यथावद् ददे।

हिन्दी—तत्पश्चात् (आलिंगन के अनन्तर) प्रचुर सेना के अधीश्वर धरणीधरों (राजाओं) के स्वामी उस (भीमराज) ने पुरुषों में श्रेष्ठ, मंगलमय, पूर्ण ज्ञानवान् उस (नल) को शोभा-सम्पन्न और कल्याणी अपनी पुत्री (दमयन्ती) विधि विधानपूर्वक उसी प्रकार दे दी, जिस प्रकार कि बहुवाहिनीपति (अनेक नदियों के स्वामी) समुद्र ने अपनी कल्याणमयी पुत्री लक्ष्मी पुरुषोत्तम, मंगलमय विष्णु को दी थी अथवा पर्वतों के स्वामी हिमालय ने पुरुषोत्तम शिव को अपनी शोभासम्पन्ना पुत्री उमा दी थी।

टिप्पणी—भीमराज द्वारा नल को स्वात्मजा दमयन्ती का विधि-विधानपूर्वक समर्पण दो उपमाओं से स्पष्ट किया गया है। समुद्र द्वारा विष्णु को पुत्री लक्ष्मी का समर्पण और हिमालय द्वारा शिव को उमा पार्वती का समर्पण। बहुवाहिनीश्वर अर्थात् अनेक नदियों का स्वामी हिमालय भी हो सकता है, क्योंकि हिमालय अनेक नदियों का उद्गम है। इसी प्रकार 'महीभृतां पतिः' समुद्र भी हो सकता है, क्योंकि समुद्र मैनाकादि अनेक पर्वतों का आश्रय है। नारायण के अनुसार उपमा अलंकार व्यंजित होता है। नल पुरुषोत्तम शिव है, दमयन्ती साधुलक्ष्मी शिवा है और भीमराज बहुवाहिनीश्वर समुद्र और 'महीभृतां पतिः' हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विशेषण-विशेष्यों के भी श्लिष्ट होने के कारण अभिधा प्रकृतार्थबोधन में उपक्षीण है और वाच्यार्थ के अनुपपन्न होने से लक्षणा संभव नहीं है, अतः व्यंजना से अर्थप्रतीति होने के कारण ध्वनि ही उपमा को पर्यवसित करती है॥ १२॥

असिस्वदद्यन्मधुपर्कमर्पितं स तद्व्यधात्तर्कमुदर्कदर्शिनाम्।
यदेषपास्यन्मधु भीमजाऽधरं मिषेण पुण्याहविधिं तदाऽकरोत्॥ १३॥

जीवातु—असिस्वददिति। सः नलः, अर्पितं भीमेन दत्तं, मधुपर्कं कांस्य-पात्रस्थं दधिमधुघृतात्मकं त्रिमधुरम्, असिस्वदत् स्वादितवान्, स्वादेर्णौ चङ्यु-पधाह्रस्वः। इति यत्, तत् मधुपर्कस्वादनम्, उदर्कदर्शिनां विवाहोत्तरभावि-फलाभिज्ञानाम्। 'उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः। तर्कं कञ्चित् रहस्यं, व्यधात् अकार्षीत्। तं तर्कमेवाह—यत् यतः, एषः नलः, भीमजायाः भैम्याः, अधर-मेव मधु माक्षिकं, पास्यन् पास्यन् अधरमधुपानं करिष्यति इत्यर्थः। तत एव तदा तस्मिन् काले, मिषेण मधुपर्कपानव्याजेन, पुण्याहविधिं कर्मादौ कर्तव्यं पुण्याहकर्म एव अकरोत्। विवाहदिनरूपपुण्याहे मधुपर्कपानच्छलेन भाविन्या अधरमधुपानक्रियायाः शुभारम्भं चकारेत्यर्थः। माङ्गल्यकृत्येषु आदौ पुण्याहक्रिया प्रसिद्धा एव। अत्र सापह्नवोत्प्रेक्षा॥ १३॥

अन्वयः—सः अर्पितं मधुपर्कं यत् असिस्वदत् तत् उदर्कदर्शिनां तर्कं व्यधात् यत् एषः भीमजाधरं मधु पास्यन् तदा मिषेण पुण्याहविधिम् अकरोत्।

हिन्दी—उस (नल) ने (भीमराज द्वारा) समर्पित मधुपर्क का जो आस्वादन किया, उसने विवाहोत्तर परिणाम देखनेवालों में यह तर्क उत्पन्न

करा दिया कि यह (नल) जो भीमसुता (दमयन्ती) के अधर-मधु का (भविष्य में) पान करेगा, उस काल में इस समय मधुपर्क के व्याज से उसका मंगलोपक्रम कर लिया।

टिप्पणी—विधानानुसार भीमराज के पक्ष से वर नल को कांस्यपात्र में दही और मधु का मिश्रपेय मधुपर्क समर्पित किया गया, जिसका नल ने पान कर लिया। उसे देखकर दर्शकों ने यह तर्क किया कि विवाहोपरांत दमयन्ती के अधर-मधु-पान का महत्त्वपूर्ण कर्म जो नल करेगा, मधुपर्कपान उसकी 'पुण्याहविधि' है—शुभनक्षत्र में मंगलकृत्य के निमित्त सफलता पाने के लिए पुण्य कृत्य। नल ने वही इस समय किया है। नल ने मधुपर्क-पान के रूप में भैमी-अधर-पान सदृश मुहूर्त कर लिया। इससे अधरामृत की अत्यन्त स्वादुता का निर्देश हुआ है। मल्लिनाथ के अनुसार सापह्नवा उत्प्रेक्षा ॥१३॥

वरस्य पाणिः परघातकौतुकी वधूकरः पङ्कजकान्तितस्करः।
सुराज्ञि तौ तत्र विदर्भमण्डले ततो निबद्धौ किमु कर्कशैः कुशैः ॥१४॥

जीवातु—वरस्येति। वरस्य नलस्य, पाणिः परघातकौतुकी शत्रुवध-लम्पटः परहिंसालोलुपश्च, वधूकरः भैमीपाणिः, पङ्कजकान्तेः पद्मश्रियः तस्करः चौरश्च। 'तद्‌वृहतो करपत्योः—' इत्यादिना सुट् तलोपश्च। तत पूर्वा-पराधात्, एको हिंस्रः अपरस्तस्कर इत्यपराधात् हेतोरित्यर्थः। तौ वधूवर-करौ, शोभनो राजा यस्य तस्मिन् सुराज्ञि राजन्वति, तत्र तस्मिन्, विदर्भ-मण्डले विदर्भराज्ये, कर्कशैः कुशैः निबद्धौ सयतौ, किमु ? धार्मिकराज्ये दुष्टा बध्यन्ते इति भावः। देशाचारप्राप्तस्य वधूवरयोः कुशसूत्रेण करबन्धनस्य अपराधहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ १४ ॥

अन्वय—वरस्य पाणिः परघातकौतुकी, वधूकरः पङ्कजकान्तितस्करः, ततः तौ सुराज्ञि तत्र विदर्भमण्डले कर्कशैः कुशैः निबद्धौ किमु ?

हिन्दी—वर (राजा नल) का हाथ शत्रुओं का घात का कौतुक करने-वाला है और वधू (दमयन्ती) का हाथ कमल की शोभा का लुटेरा है, इससे वे दोनों (नलदमयन्ती—वर-वधू के हाथ) अच्छे राजा (भीम) से राजित उस विदर्भ राष्ट्र में कठोर कुशों से बाँध दिये गये क्या ?

टिप्पणी—विवाह विधि में लोकाचार के अनुसार कुशों द्वारा वर-वधू

का पाणिबंधन होता है, नल-दमयन्ती के साथ भी ऐसा ही हुआ। नल के हाथ का शौर्य और दमयन्ती के हाथ का मार्दव सूचित करने के साथ-साथ यहाँ एक और उत्प्रेक्षा की गयी। वर-वधू के हाथों में से एक को हत्या का और दूसरे को तस्करता का अपराधी बताते हुए कुशबंधन की दण्ड रूप में उद्भावना की गयी और भीमराज को एक सुराजा बताया गया। सुशासित राज्य में अपराधी को दण्ड मिलता ही है। नल-कर का अपराध था 'परघात-कौतुकी' होना और दमयन्ती-कर का 'पङ्कजकांतितस्कर' होना। अच्छे राजा के राज्य में दोनों को बद्ध होने का दण्ड मिला। आशय यही है कि नल का शौर्यपूर्ण कर तथा दमयन्ती के कमल-कोमल कर को लोकाचार के अनुसार एक साथ कुशसंयुक्त कर 'पाणिग्रहण' सम्पन्न हुआ। नारायण के अनुसार यहाँ कुश-बंधन में कारणोत्प्रेक्षा की गयी है और मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ देशाचारानुकूल वधूवर के कुशसूत्र से करबंधन की अपराध-हेतुकता उत्प्रेक्षित है ॥ १४ ॥

विदर्भजायाः करवारिजेन यन्नलस्य पाणेरुपरि स्थितं किल।
विशङ्क्य सूत्रं पुरुषायितस्य तद्भविष्यतोऽस्मायि तदा तदालिभिः ॥१५॥

जीवातु—विदर्भजाया इति। विदर्भजायाः वैदर्भ्याः, करवारिजेन पाणिकमलेन, नलस्य पाणेः उपरि स्थितं किलेति यत्। भावे क्तः। तत् उपरि अवस्थानं, भविष्यतः पुरुषायितस्य विपरीतसुरते पुरुषवदाचरितस्य, सूत्र्यते सूच्यते अनेन इति सूत्रं सूचकं, विशङ्क्य विभाव्य, तदा तदालिभिः भैमीसखीभिः, अस्मायि मन्दम् अहासि। स्मयतेर्भावे लुङ्, चिणि वृद्ध्या अयादेशः। विपरीतसुरते पुरुषोपरि स्त्रियः शयनेन पुरुषकरोपरि स्त्रीकरः सम्भवति इति पुंभावमुत्प्रेक्ष्य स्मितं कृतमिति भावः ॥ १५ ॥

अन्वयः—विदर्भजायाः करवारिजेन यत् नलस्य पाणेः उपरि स्थितं किल, तत् भविष्यतः पुरुषायितस्य सूत्रं विशङ्क्य तदा तदालिभिः अस्मायि।

हिन्दी—विदर्भपुत्री (दमयन्ती) का करकमल जो नल के हाथ के ऊपर रखा गया उसे आगे होने वाले (विपरीत सुरत में) पुरुष तुल्य आचरण का सूचक संभावित कर उस समय उस (दमयन्ती) की सखियाँ मुस्कुराने लगीं।

टिप्पणी—पाणिग्रहण होते समय वधू दमयन्ती का हाथ नल के हाथ के ऊपर रखा गया। यह देख दमयन्ती की रसीली सखियाँ मुस्कुराने लगीं। उन्होंने सोचा कि यह दमयन्ती-कर पुरुष के समान आचरण कर रहा है, जैसा कि विपरीतरति में हुआ करता है, जिसमें पुरुष के ऊपर नारी के लेटने से पुरुष के कर के ऊपर नारी का कर रहता है। भविष्य में होने वाले विपरीतरत की सम्भावना कर इस दृश्य पर दमयन्ती की विलास कुतूहला सखियाँ मंद मंद हँसने लगीं। विवाहकाल में वधू का हाथ वर के हाथ के ऊपर रखा जाता है। विश्वकोष के अनुसार सूत्र का अर्थ सूचक भी होता है—'सूत्रं तु सूचनाग्रन्थे।' सूच्यते सूच्यते अनेन इति सूत्रं सूचकम् ॥ १५ ॥

सखा यदस्मै किल भीमसंज्ञया स यक्षसख्याधिगतं ददौ भवः।
ददे तदेव श्वशुरः सुरोचितं नलाय चिन्तामणिदाम कामदम् ॥ १६ ॥

जीवातु—अथ एकविंशतिश्लोक्या यौतकदानं वर्णयति सखेत्यादि। सः प्रसिद्धः, भवः भगवान् ईश्वरः, यक्षसख्याधिगतं यक्षेण सह यत् सख्यं बन्धुत्वं, तेनाधिगतं प्राप्तं कुबेरमैत्रीलब्धं कुबेरात् लब्धमित्यर्थः। 'कुबेरस्त्र्यम्बकसखो यक्षराड्' इत्यमरः। यत् चिन्तामणिदाम चिन्तामणिघटितमाल्यं, भीम इति संज्ञया नाम्ना हेतुना, सखा स्वनामसादृश्यात् मित्रमिति बुद्ध्या इत्यर्थः। 'व्योमकेशो भवो भीमः' इत्यमरः। अस्मै भीमनृपाय, ददौ स्वकीयभीमनामधारणात् बन्धुत्वसूत्रेणेति भावः। सुरोचितं देवानायोग्यं, कामदं कामदुघं, तद् चिन्तामणिदाम, श्वशुरः पत्न्याः पिता, एष भीमभूपतिः, नलाय जामात्रे, ददे ॥ १६ ॥

अन्वय—भीमसंज्ञया सखा सः भवः यक्षसख्याधिगतं यत् चिन्तामणिदाम अस्मै ददौ, सुरोचितं कामदं तत् एव श्वशुरः नलाय ददे।

हिन्दी—'भीम' इस नाम के आधार पर सखा उन भव (शिव) ने यक्षराज कुबेर की मैत्री में प्राप्त जिस चिन्तामणि की माला को इसे (भीम को) दिया था, देवताओं के योग्य, कामना पूर्ण करनेवाली उस (माला) को इस श्वसुर (भीम) ने नल को दे दिया।

टिप्पणी—भीमराज को शिव से चिन्तामणिमाला प्राप्त हुई थी, जिसे शिव ने कुबेर से मैत्री होने के कारण पाया था। शिव का एक नाम 'भीम'

भी है, अमरकोष के अनुसार 'व्योमकेशो भवो भीमः।' नामसादृश्य के आधार पर 'भीम शिव' राजा भीम के मित्र हुए। उन्होंने एक मित्र कुबेर से प्राप्त देवधारणयोग्य, अभीष्टदायिका चिन्तामणिमाला को दूसरे मित्र भीमराज को दे दिया। वही प्रिय और बहुमूल्य माला भीमराज ने अपने प्रिय जामाता नल को यौतक (दहेज) में देदी। इस श्लोक से चौंतीसवें श्लोक तक उन्नीस श्लोकों में विवाह-यौतक का वर्णन है। मल्लिनाथ ने कदाचित् किसी भ्रम से 'एकविंशतिश्लोकया यौतकदानं वर्णयति' लिख दिया है। संभवतः लिप्यंतरण में एकोनविंशति का एक विंशति हो गया हो ॥१६॥

वहोदु'रापस्य वराय वस्तुनश्चित्तस्य दातुं प्रतिबिम्बकैतवात् ।
वभौतरामन्तरवस्थितं दधद्यदर्थमभ्यर्थितदेयमर्थिने ॥ १७ ॥

जीवातु—अथ मणिदामैव वर्णयति बहोरिति। यद् चिन्तामणिदाम, वराय दातुं चित्तस्य राशीकृतस्य, दुरापस्य दुर्लभस्य, बहोः अनेकस्य। भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः। वस्तुनः पदार्थजातस्य, प्रतिबिम्बस्य प्रतिच्छायायाः, कैतवाद् मिषात्, अन्तः अभ्यन्तरे, अवस्थितम् अर्थिने याचकाय, अभ्यर्थितः याचितः सन्, देयः देयत्वेन निश्चितम् अभ्यर्थितदेयम्, अर्थं वस्तुजातं, दधत् धारयन्निव, बभौतराम् अतिशयेन बभौ। 'किमेत्तिङव्ययघादा—' इत्यादिना आमुप्रत्ययः। प्रार्थनामात्रेणैव याचकाय तत्तद्वस्तूनां दानार्थं प्रतिबिम्बव्याजात् तत्तद्वस्तुजातमन्तर्धारयतीवेति भावः। अत्र सापह्नवोत्प्रेक्षा सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ १७ ॥

अन्वयः—यत् वराय दातुं चित्तस्य दुरापस्य बहोः वस्तुनः प्रतिबिम्ब-कैतवात् अन्तरवस्थितम् अर्थिने अभ्यर्थितदेयम् अर्थं दधत् बभौतराम्।

हिन्दी—जो (चिन्तामणिमाला) दानार्थ एकत्र, दुर्लभ, प्रचुर वस्तुओं की प्रतिच्छाया के व्याज से अपने में अवस्थित, याचक को अभीष्ट देने योग्य वस्तुओं को धारण करती अत्यन्त सुशोभित हो रही थी।

टिप्पणी—सोलहवें श्लोक में भीमराज द्वारा नल को दी गयी चिन्तामणिमाला का वर्णन है। नल को यौतक में देने के लिए अनेक प्रकार की दुर्लभ और बहुमूल्य सामग्री—सोना, रत्न, हाथी, घोड़े आदि—वहाँ एकत्र थे। उनकी प्रतिच्छाया माला की मणियों में पड़ रही थी। चिन्तामणि-

याचक को तुरत अभीष्ट देती है। इसी पर कल्पना है कि याचक को माँगते ही दे डालने के लिए चिन्तामणिमाला ने अपने में अनेक देय सामग्री संचित कर रखी थी, जिसकी छवि उसमें द्योतित हो रही थी। माला ने अपना 'कामद' नाम सार्थक करने को ही वह सब मानो एकत्र कर रखा था। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सापह्नवा उत्प्रेक्षा है, जो व्यञ्जक का प्रयोग न होने से गम्या है ॥ १७ ॥

असिं भवान्या क्षतकासरासुरं वराय भीमः स्म ददाति भासुरम्।
ददे हि तस्मै धवनामधारिणे स शम्भुसम्भोगनिमग्नयाऽनया ॥ १८ ॥

जीवातु—असिमिति। भीमः क्षतकासरासुरं हतमहिषासुरं, 'लुलापो महिषो वाहद्विषत्कासरसैरिभाः' इत्यमरः। भासुरं भास्वरं, भवान्याः दुर्गायाः असिं खड्गं, भवान्या भीमाय दत्तमिति भावः। वराय नलाय, ददाति स्म। किमर्थं दुर्गया अस्मै दत्तः? तत्राह—हि यतः, शम्भुसम्भोगनिमग्नया महिषासुरादिमर्दनानन्तरं निवृत्तरणरागया केवलसुरतसुखासक्तया, अनया दुर्गया, धवस्य स्वप्रियस्य शम्भोः, नामधारिणे 'भीम' इति नामान्तरधराय इति प्रीतिकरणोक्तिः। 'धवः प्रियः पतिर्भर्ता' इत्यमरः। तस्मै भीमभूभुजे, स असिः, ददे दत्तः; सम्प्रधानान्तरं निष्प्रयोजनकत्वबुद्ध्या इति भावः। ददातेः कर्मणि लिट् ॥१८॥

अन्वयः—भीमः क्षतकासरासुरं भासुरं भवान्याः असिं वराय ददाति स्म, हि शम्भुसम्भोगनिमग्नया अनया धवनामधारिणे तस्मै सः ददे।

हिन्दी—भीमराज ने महिषासुर को नष्ट करने वाला देदीप्यमान भवानी का खड्ग वर (नल) को दे दिया, क्योंकि (महिषासुर मर्दन के अनन्तर) शिव सम्भोग में निमग्न इस (भवानी) ने पति (शिव) का नाम (भीम) धारण करने वाले इस (भीमराज) को वह (खड्ग) दे दिया था।

टिप्पणी—भीमराज ने भवानी से प्राप्त खड्ग भी अपने वीर जामाता नल को दे दिया। कल्पना की गयी है कि शत्रुनाश करके निश्चित भवानी ने पति भव (भीम शिव) के संग विलास में रत हो खड्ग को उपयोगिताशून्य मान ली और नाम से ही पति के सखा भीम को उसे दे डाला था। भाव यही है कि शिव-शिवा के भक्त भीमराज को प्रसन्न हो भवानी ने जो खड्ग दिया था, वह उन्होंने नल को दे दिया ॥ १८ ॥

अधारि यः प्राङ्महिषासुरद्विषा कृपाणमस्मै तमदत्त कूकुदः ।
अहायि तस्या हि धवार्द्धमज्जिना स दक्षिणार्द्धेन पराङ्गदारणः ॥१९॥

जीवातु—अधारीति । यः कृपाणः, महिषासुरद्विषा दुर्गया, प्राक् पूर्वम्, अधारि धृतः, तं कृपाणम् असिं, कूकुः कन्या, 'कूकुरित्युच्यते कन्या' इति स्मरणात् । तां ददातीति कूकुदः कन्याप्रदः भीमः, 'सत्कृत्यालङ्कृतां कन्यां यो ददाति स कूकुदः' इत्यमरः । अस्मै नलाय, अदत्त दत्तवान् । दुर्गायाः कृपाणस्य भीमहस्तगतत्वे कारणान्तरमाह हि यतः, धवस्य प्रियस्य, भीमापराख्यशम्भोरिति यावत्, अर्द्धे वामार्द्धे, मज्जति प्रविशतीति तन्मज्जिना अर्द्धनारीश्वरत्वात् प्रियार्द्धाङ्गप्रविष्टेन, तस्याः दुर्गायाः सम्बन्धिना, दक्षिणार्द्धेन दक्षिणाङ्गेन कर्त्रा, परेषां सर्वेषामन्येषाम्, अङ्गदारणः गात्रविदारकः, स कृपाणः, अहायि अत्याजि, खड्गग्रहितदक्षिणार्द्धेन स्वामिशरीरप्रवेशे स्वामिनोऽङ्गविदारणं स्यादिति धिया स परित्यक्तः इति भावः । हातेः कर्मणि लुङ्, चिणि युगागमः ॥ १९ ॥

अन्वयः—महिषासुरद्विषा प्राक् यः अधारि तं कृपाणं कूकुदः अस्मै अदत्त, हि धवार्द्धमज्जिना तस्याः दक्षिणार्द्धेन पराङ्गदारणः सः अहायि ।

हिन्दी—महिषासुर की शत्रु (भवानी) ने पहिले जिसे धारण किया था, उस खड्ग को कन्या को देने वाले (भीमराज) ने इस (जामाता नल) को दे दिया, कारण कि पति के वामार्द्ध में प्रविष्ट उस (भवानी) के दक्षिणार्द्ध भाग ने दूसरे के (शत्रु के भी) अंगों को विदीर्ण करने वाले उस (कृपाण) का त्याग कर दिया ।

टिप्पणी—सत्कारपूर्वक अलंकृता कन्या का दान करनेवाला 'कूकुद' कहलाता है। ऐसे राजा भीमद्वारा भवानी-खड्ग जो जामाता नल को दिया गया, उसके एक और कारण की उद्भावना की गयी है। वह खड्ग भवानी-द्वारा छोड़ दिया गया था और शत्रु के अंगों का विदारक था । भवानी शिव की वामार्द्ध हैं और दक्षिणार्द्ध अर्धनारीश्वर शिव स्वयम् हैं। जब 'शम्भुसम्भोगनिमग्ना' भवानी प्रिय में लीन हो गयीं तो वामार्द्ध रूपा भवानी ने असि-त्याग कर दिया, क्योंकि 'परांगदारण' अर्थात् अन्य अंग का विदारक होने से कृपाण दक्षिणार्द्ध विदीर्ण कर सकता था। 'पर' अर्थात् शत्रु का विनाशक होने से वही कृपाण भीम ने स्वजामाता को दे दिया ॥ १९ ॥

उवाह य सान्द्रतराङ्ककानन स्वशौर्यसूर्योदयपर्वतव्रतम् ।
सनिर्झरः शाणनधौतधारया समूढसन्ध्य क्षतशत्रुजासृजा ॥ २० ॥

जीवातु—उवाहेति । सान्द्रतरा शुष्कत्वादतिशयेन घना इत्यर्थ, अङ्का-कृष्णवर्णरक्तचिह्नानि एव, काननानि अरण्यस्वरूपाणि यस्य स, खड्गस्य शुष्करक्तचिह्नाना कृष्णत्वात् तत्र काननत्वारोपणमिति बोध्यम शाणनन उत्तेजनेन, शाणघर्षणेनेत्यर्थ, धौतया उज्ज्वलीकृतया, धारया निशितमुखेन, सनिर्झर सप्रवाह, निर्झरयुक्तवत् परिदृश्यमान इत्यथ, क्षतेभ्य प्रहृतेभ्य, शत्रुभ्य, जात निर्गत, तादृशेन असृजा रक्तेन, कृपाणलग्ननेति भाव । समूढा धृता, प्रकटिता इत्यथ, सन्ध्या प्रात सन्ध्याकालिकशोभा इत्यर्थ, यन स तादृश, सन्ध्याकालीनाकाशस्य रक्तवर्णत्वादिति भाव, य कृपाण, स्वशौर्यमव शत्रुहननरूप दूरत्वमेव सूर्य तस्य उदयपर्वत उदयाचल, तस्य व्रत नियम, नित्यसूर्योदयकारित्वरूपमित्यर्थ, नित्यमव शत्रुदमनेन स्वपराक्रम प्रकाशरूपव्रतमिति समुदितार्थ, उवाह वहति स्म । खड्गस्याङ्कादिषु कानन-त्वाद्यारोपणाद्रूपकालङ्कार ॥ २० ॥

अन्वय —सान्द्रतराङ्ककानन शाणनधौतधारया सनिर्झर क्षतशत्रुजासृजा समूढसन्ध्य य स्वशौर्यसूर्योदयपर्वतव्रतम् उवाह ।

हिन्दी—सूखजाने से अतिशय घने, काले रक्तचिह्न रूप घने जगल वाला, सान पर रगडे जाने से दमकती धार रूप धारा के कारण झरनो स युक्त, नष्ट शत्रुओं के रक्त द्वारा प्रात सध्याकालीन लाली को धारण करता जो कृपाण अपने शौर्य (वीरत्व) रूप सूर्य के उदयाचल के व्रत को धारण कर रहा था।

टिप्पणी—इस श्लोक में भवानी खड्ग की अवधारणा उदयाचल के रूप मे की गयी है। उदयपर्वत पर घने वन है, जिनका द्योतन कृपाण पर लग कर सूख गये शत्रु रक्त के चिह्न करते है, खड्ग की धार ही पर्वत निर्झर है, कृपाण पर लगा शत्रुओं का ताजा लाल खून प्रात सध्या की लालिमा का प्रतीक है और जो शौर्य कृपाण के माध्यम से हुआ है, वही सूर्योदय है। इस प्रकार खड्ग उदयाचल सम प्रतीत होता है। नारायण ने 'समूढ प्राप्त सधिर्यस्य' विग्रह करके 'समूढसन्ध्य' का अर्थ मूट तक शत्रु-

देह में घसा भी किया है—'त्सरुफलकसन्धिपर्यन्तं शत्रुशरीरे निमग्नः।' मल्लिनाथ के अनुसार रूपकालंकार क्योंकि खड्ग के अंकादि में काननत्वादि का आरोपण है॥ २०॥

यमेन जिह्वा प्रहितेव या निजा तमात्मजां याचितुमर्थिना भृशम्।
स तां ददेऽस्मै परिवारशोभिनीं करग्रहार्हामसिपुत्रिकामपि॥२१॥

जीवातु—यमेनेति। भृशमत्यर्थम्, अर्थिना याचकेन, यमेन अन्तकेन, तं भीमम्, आत्मजां भैमीं, याचितुं प्रार्थयितुं, निजा जिह्वा नियतप्राणनाशकत्वाद्यमरसना इव स्थिता, इत्युत्प्रेक्षा, असिपुत्रिका, प्रहिता भीमप्रीत्यर्थं दूतीप्रेरणसमये प्रेषिता, परिवारेण कोशेन परिजनेन च 'परिवारः परिजने खड्गकोशे परिच्छदे' इति विश्वः। शोभिनीं, करग्रहस्य हस्तेन धारणस्य विवाहस्य च, अर्हां योग्यां, तामसिपुत्रिकां छुरिकामपि, तथा असिरूपां कन्यांश्च 'स्याच्छस्त्री चासिपुत्री च च्छुरिका चासिधेनुका' इत्यमरः। सः भीमः भूपतिः, अस्मै नलाय, ददे। शस्त्रपुत्रिकयोः प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेषः॥ २१॥

अन्वयः—भृशम् अर्थिना यमेन तम् आत्मजां याचितुं निजा जिह्वा इव या प्रहिता, परिवारशोभिनीं करग्रहार्हां ताम् असिपुत्रिकाम् अपि सः अस्मै ददे।

हिन्दी—अत्याग्रही याचक यमराज ने उस (भीम) से (उसकी) पुत्री (दमयन्ती) की याचना के निमित्त अपनी जीभ के तुल्य जिसे भेजा था, परिवार की शोभा और पाणिग्रहण-योग्य पुत्री के सदृश चर्मकोश (चमड़े के मियान) में शोभित, हाथ में लिये जा सकने योग्य मूठवाली उस छुरी को भी उस (भीमराज) ने उसे (वर राजा नल को) दे दिया।

टिप्पणी—राजा भीम ने यौतक में नल को खड्ग ही नहीं दिया, अपितु यमराज से प्राप्त छुरी भी दी। प्राणघातिनी होने के कारण छुरी को यमराज की जिह्वासदृश बताया गया है, आकार साम्य भी इसका कारण है—जीभ-सी लपलपाती छुरी। यमने जैसे छुरिका ही दमयन्ती-याचनार्थ दूती के स्थान में राजा भीम के समीप भेज दी थी। 'परिवार शोभिनी' और 'करग्रहार्हा' विशेषण अनेकार्थवाचक होने से 'असिपुत्रिका' और 'पुत्री' दोनों की विशेषता द्योतित करते हैं। नारायण के अनुसार भाव यह है कि राजा भीम ने छुरी और सखियाँ यौतक में नल को दी—'परिवार शोभिनी' अर्थात् सखीजनों से

शोभित-मुक्त। मल्लिनाथ के अनुसार शस्त्र और पुत्रिका—दोनो के प्रकृत होने से केवल प्रकृत श्लेष है और छुरी की जिह्वा रूप मे उत्प्रेक्षा है ॥ २१ ॥

यदङ्गभूमो बभतु- स्वयोपितामुरोजपत्त्रावलिनेत्रकज्जले।
रणस्थलस्थण्डिलशायितावृते गृहीतदोक्षैरिव दक्षिणीकृते ॥ २२ ॥

जीवातु—यदिति। यस्याः असिपुत्रिकायाः, अङ्गभूमी प्रान्तदेशौ, रणस्थलमेव स्थण्डिलमनिम्नोन्नता परिष्कृता भूः, तत्र शेरते इति तच्छायिनः 'व्रते' इति णिनि। तस्य भाव. तच्छायिता, सा एव व्रत नियमविशेषः तत्र, गृहीतदीक्षै. रणस्थले छुरिकाघातेन मृत्युशय्याया शयनरूपव्रतदीक्षितै शत्रुभिरित्यर्थः, दक्षिणीकृते ताहशव्रतोपदेशित्वे ऋत्विक्स्वरूपायै असिपुत्रिकायै दक्षिणारूपेण प्रदत्ते इत्यर्थ। स्वयोपिता निजस्त्रीणाम्, उरोजयो स्तनयोः, पत्रावलि मृगमदादिरचितपत्रभङ्गि' नेत्रकज्जलञ्च ते इव, बभतु. विरेजतु शत्रुस्त्रीभिः वैधव्यवशात् पत्रावलिनेत्रकज्जले परित्यक्ते इति भावः। भाघातोर्लिटि लिटि अतुसादेश। कृष्णवर्णद्वयोदछुरिकाप्रान्तदेशयो स्तनपत्रवल्लीस्वनेत्रकज्जलत्वाभ्यामुत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कार.॥ २२ ॥

अन्वय—यदङ्गभूमो रणस्थलस्थण्डिलशायितावृते गृहीतदीक्षै दक्षिणीकृते स्वयोपिताम् उरोजपत्त्रावलिनेत्रकज्जले इव बभतु।

हिन्दी—जिस (कटारी) के दोनो भाग रणस्थली की उन्नत भूमि पर शयन करने के व्रत मे दीक्षित (भूपतित) शत्रुओ से दक्षिणा मे प्राप्त उनकी (भूपतित शत्रुओं की) स्त्रियो के कुचमडल पर रचित पत्त्रावलि और नयनो के काजल के समान सुशोभित थे।

टिप्पणी—*छुरी के दोनो लोहनिर्मित भाग* श्यामवर्ण के थे, अत. वर्ण के आधार पर उनकी तुलना स्तना पर रचित पत्त्रावलि और आँखो के काजल से की गयी। कटारी शत्रुओ को निश्चयतः विदीर्ण करनेवाली है, जिससे विदीर्ण शत्रु स्थण्डिल (अनिम्ना उन्नता भू) पर सोने का व्रत ले लेते थे, अर्थात् विनष्ट हो जाते थे और उनकी पत्नियाँ विधवा हो जाती थी और स्तनो पर पत्रावलिरचना तथा आँखों मे काजल लगाना छोड देती थी। शत्रुओं ने कटारी से रणभूमि मे धरती पर सोने की दीक्षा ली। दीक्षित दीक्षा देने वाले को दक्षिणा देता है। शत्रुओं ने धरती पर सोने की दीक्षा

पाने की दक्षिणास्वरूप दीक्षा देने वाली असिपुत्रिका को मानों स्वदाराओं की उरोज पत्रावलि और नेत्र कज्जल दे दिये। आशय यह कि छुरी से घात पाये शत्रु रणभूमि में धरती पर मरे पड़े रहते थे और उनकी विधवाएँ शृङ्गार करना छोड़ देती थीं। अर्थात् कटारी के दोनों भाग शत्रुओं से दक्षिणा में प्राप्त उरोजपत्रावलि और नेत्रकज्जल से प्रतीत होते थे। नारायण और मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है, क्योंकि कृष्णवर्ण के कटारी के दोनों प्रांतदेशों की स्तनपत्रावलि और नेत्रकज्जल रूप में संभावना की गयी है।२२।

पुरैव तस्मिन् समदेशि तत्सुताऽभिकेन यः सौहृदनाटिनाऽग्निना।
नलाय विश्राणयति स्म तं रथं नृपः सुलङ्घ्याद्रिसमुद्रकापथम् ॥२३॥

जीवातु—पुरेति। तत्सुताऽभिकेन भैमीकामुकेन 'कामुके कमिताऽनुकः। कम्रः कामयिताऽभीकः कमनः कामनोऽभिकः॥' इत्यमरः। अत एव सुहृदो भावः सौहृदं सौहार्दम् युवादित्वादण् 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते—' इत्यादिनोभयपद-वृद्धिः। अत एव 'सौहृददौर्हृदशब्दावणि हृद्भावात्' इति वामनः। तत् नाटयति प्रकाशयतीत्यर्थः। यः तेन सौहृदनाटिना, अग्निना अनलेन, यः रथः, पुरा एव स्वयंवरात् प्रागेव, दूतीप्रेरणसमये एव इत्यर्थः। तस्मिन् भीमे, समदेशि सन्दिष्टः, दत्तः इत्यर्थः। सुलङ्घ्याः सुखेन अतिक्रम्याः, अद्रयः पर्वताः, समुद्राः सागराः, कापथाः उन्नतानतकुत्सितपथाश्च येन तादृशं, 'का पथ्यक्षयोः' इति कोः कादेशः। तमग्निदत्तं, रथं नृपः भीमः, नलाय विश्राणयति स्म वितरार; ददौ इत्यर्थः। 'विश्राणनं वितरणम्' इत्यमरः॥ २३ ॥

अन्वयः—तत्सुताऽभिकेन सौहृदनाटिना अग्निना यः पुरा एव तस्मिन् समदेशि, सुलङ्घ्याद्रिसमुद्रकापथं तं रथं नृपः नलाय विश्राणयति स्म।

हिन्दी—उस (भीमराज) की पुत्री (दमयन्ती) की कामना करनेवाले, स्नेह का नाटक (प्रदर्शन) करते अग्निदेव द्वारा जो (रथ) पहिले (स्वयंवर से पूर्व) ही उसे (भीमराज) को भेज दिया गया था, अनायास पर्वत और सागर के विषम मार्ग को लांघने में समर्थ उस रथ को राजा (भीम) ने नल को दे दिया।

टिप्पणी—दमयन्ती के अनुरागी अग्निदेव ने सौहार्द का पूर्व प्रदर्शन करते हुए अर्थात् यह दिखाते हुए कि यह रथ कुछ दमयन्ती-प्राप्ति के निमित्त

नहीं दिया जा रहा है, अपितु भीमराज से सौहार्द होने के कारण भेजा जा रहा है, सर्वत्र सचरण मे समर्थ रथ भीमराज को दिया था। राजा ने वह रथ भी जामाता नल को यौतक मे दे दिया ॥ २३ ॥

प्रसूतवत्ताऽनलकूवरान्वयप्रकाशिताऽस्यापि महारथस्य यत्।
कुबेरदृष्टान्तबलेन पुष्पकप्रकृष्टतैतस्य ततोऽनुमीयते ॥ २४ ॥

जीवातु—प्रसूतवत्तेति। यत् यस्मात्, अस्यापि महारथस्य महतः रथस्य, अन्यत्र—'एको दशसहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्विनाम्। अस्त्रशस्त्रप्रवीणश्च विज्ञेय स महारथ ॥' इत्युक्तलक्षणरथिकविशेषस्य, प्रसूतवत्ता प्रकृष्टसारथि-मत्ता, 'सूत क्षत्ता च सारथि' इत्यमर। मत्वन्तत्वात् तल्प्रत्यय। अन्यत्र—प्रसूतवत्ता प्रजनयितृता, प्रकृष्टपुत्रवत्ता इत्यर्थ, कुबेरवदिति भाव। प्रपूर्वात् सूते क्तवत्वन्तत्वात् तल्प्रत्यय। अनलेन रथप्रदाना अग्निना, कूबरेण युगन्धरेण च, रथस्य युगकाष्ठबन्धनस्थानेनेत्यर्थ। 'कूबरस्तु युगन्धर.' इत्यमर। अन्यत्र—नलकूबरेण तदाख्येन कुबेरपुत्रेण अन्वयात् योगात्, प्रकाशिता प्रकटिता, तत. कारणात्, एतस्य महारथस्य, कुबेर एव दृष्टान्त निदर्शनं, तद्बलेन तत्प्रभावेण, पुष्पकप्रकृष्टता पुष्पकात् प्रकृष्टता वेगाधिक्येनोत्कृष्टता, अन्यत्र—पुष्पकेण विमानविशेषेण, प्रकृष्टता देवतान्तरापक्षयोत्कृष्टता, अनुमीयते अयं महारथ पुष्पकप्रकृष्टो भवितुमर्हति प्रसूतवत्तादिधर्मसहितमहारथत्वात् कुबेर-वदिति अनुमातु शक्यत्वात् इति भाव। नलकूबरेति पाठे तु—प्रसूतवत्ता प्रकृष्टसारथिमत्ता इत्यर्थ। नलेन नैषधेन सह, कूबरस्य रथयुगन्धरस्य, अन्वयात् सम्बन्धात्, प्रकाशिता नलापेक्षया उत्कृष्टसारथेरभावात् तादृश-सारथिमत्वेनैवास्य रथस्य पुष्पकापेक्षया प्रकृष्टत्वमनुमितमिति भाव। अत एवानुमानालङ्कार, 'साध्यसाधननिर्देशस्त्वनुमानमुदीरितम्' इति लक्षणात्। रूपहेतुत्वेन तर्कानुमानेन वैलक्षण्य रूपकञ्च प्रसूतवत्तादिप्रकाशितं. तत्प्रकाशितविदिलष्टरूपक द्रष्टव्यम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—यत् अस्य अपि महारथस्य प्रसूतवत्ता अनलकूबरान्वय-प्रकाशिता तत एतस्य कुबेरदृष्टान्तबलेन पुष्पकप्रकृष्टता अनुमीयते।

हिन्दी—क्योंकि इस विशाल रथ अथवा दससहस्र धनुर्धारियो से अकेले युद्ध करनेवाले अस्त्रशस्त्रप्रवीण महारथी योद्धा का श्रेष्ठ सारथि भाव अथवा

श्रेष्ठ पुत्रवान् होने का भाव रथदाता अग्नि और काष्ठबंधन (फड़) से योग होने के कारण अथवा (नलकूबरान्वय पाठ में) नलकूबर (कुबेर पुत्र) के संबंध होने के कारण प्रकट है, इस कारण से इस (महारथ) की पुष्पक विमान से श्रेष्ठता (तीव्रगामिता) का अनुमान कुबेर के दृष्टान्त के प्रभाव से किया जाता है।

टिप्पणी—इस श्लोक में यह निर्देश किया गया है कि अग्नि द्वारा प्रदत्त रथ तीव्रगामिता आदि गुणों में पुष्पक विमान की अपेक्षा श्रेष्ठ है। पुष्पक से इसकी तुलना नहीं हो सकती। यह प्रकृष्टता इस कारण स्पष्ट है कि इसका सारथि गुणी है और इसके फड़ उत्तम हैं। इसका स्वामी अनल (अग्नि) है और इसका निर्माण भी उत्तम काष्ठ से हुआ है, यह भी कारण है। इसका अनुमान कुबेर दृष्टांत बल द्वारा होता है। नारायण ने प्रथम चरण में 'नलकूबरान्वयप्रकाशिता' पाठांतर को मान्यता दी है। अर्थात् महारथ की पुष्पक से श्रेष्ठता का कारण यह है कि इसका सारथि नल है और इसके 'कूबर' अर्थात् युगंधर (फड़) उत्तम हैं। यह पुष्पक से श्रेष्ठता कुबेर दृष्टांतबल द्वारा इस प्रकार अनुमित होती है—यह महारथ पुष्पक से प्रकृष्ट होने योग्य है, नलकूबरान्वयप्रकाशितप्रसूतसत्ता के कारण। जो जो नलकूबरान्वयप्रकाशितप्रसूतसत्तावान् है, वह पुष्पक से श्रेष्ठ है, जैसे कुबेर। इस श्लोक का बोधगम्य अर्थ यह प्रतीत होता है कि इस विशाल रथ का श्रेष्ठ सारथि होना नल (राजा नल) और इसके उत्तम 'कूबर' से संबंध के कारण प्रकट है और क्योंकि राजा नल जैसा श्रेष्ठ, रथसंचालन में प्रवीण इसका सारथि है और इसके युगकाष्ठबंधन उत्तम है, अतः इस रथ की कुबेर के दृष्टांत के आधार पर पुष्पक से श्रेष्ठता का अनुमान हो जाता है। कुबेर पुष्पक का स्वामी है और महारथ का स्वामी नल है। दमयन्ती द्वारा निर्वाचित नल जैसे कुबेर से श्रेष्ठ है, वैसे ही नल का यान रथ भी कुबेर के यान पुष्पक से श्रेष्ठ है। कुबेर के रथित्व से नल का रथित्व प्रकृष्ट है, अतः पुष्पक से नल को प्राप्त महारथ प्रकृष्ट है। कुबेर दृष्टांत बल इस प्रकार भी संभव है। कुबेर का पुत्र नलकूबर है और महारथ का संबंध भी नल (राजा अथवा अनल अग्नि) और श्रेष्ठ 'कूबर' (फड़) से है। नल कुबेर से श्रेष्ठ है

अत रथ कुबेर के यान पुष्पक से प्रकृष्ट हुआ। नैषध नल के साथ रथयुगधर के संबध से प्रकाशित, नल की अपेक्षा श्रेष्ठ सारथि न होने से महारथ पुष्पक से प्रकृष्ट है—यह आशय है। इस प्रकृष्टता का अनुमान होता है, अत यहाँ मल्लिनाथ के अनुसार अनुमानालकार है और श्लिष्ट रूपक भी दर्शनीय है। नारायण के अनुसार यह श्लोक 'यथाकथञ्चिद्‌व्याख्येय' है। इस रथ का सारथि नल है, पुष्पक का सारथि नल नहीं है, अत यह रथ रमणीय है, पुष्पक से इसकी तुल्यता नही है—यह भाव है ॥ २४ ॥

महेन्द्रमुच्चैःश्रवसा प्रतार्य्य यन्निर्जितं पत्याऽकृत सिन्धुरन्वितम्।
स तद्ददेऽस्मै हयरत्नमर्पितं पुरानुबद्धुं वरुणेन बन्धुताम् ॥२५॥

जीवातु—महेन्द्रमिति । सिंधु समुद्र, उच्चैःश्रवसा तन्नामकाश्वेन, महेन्द्र देवराज, प्रतार्य वञ्चयित्वा, यत् हयरत्नम् उच्चःश्रवसोऽपि श्रेष्ठमित्यर्थः निर्जित पत्या स्वामिना वरुणेनत्यर्थ, अन्वित दानेन समुतम्, अकृत वरुणाय ददौ इत्यर्थ । पुरा स्वयवरात् पूर्वमेव, बन्धुता बान्धवत्वम् अनुबद्धु प्रवर्त्तयितु, वरुणेन अर्पित भीमाय दत्त, तत् हयरत्न, स भीम, अस्मै नलाय, ददे दत्तवान् ॥ २५ ॥

अन्वय—सिन्धु उच्चैःश्रवसा महेन्द्र प्रतार्य यत् हयरत्न निर्जित पत्या अन्वितम् अकृत, पुरा बन्धुताम् अनुबद्धु वरुणेन अर्पित तत् स अस्मै ददे।

हिन्दी—समुद्र ने उच्चैःश्रवा नामक अश्व से इन्द्र को वचितकर जिस अश्व रत्न का सबध अपने स्वामी (वरुण) से किया था, स्वयवर से पूर्व बन्धुत्व स्थापित करने के निमित्त वरुण द्वारा अर्पित उस घोडे को उस (भीम) ने इसे (नल) को दिया।

टिप्पणी—मन्थन होते समय समुद्र ने उच्चैःश्रवा नामक अश्व इन्द्र को दिया था। यहाँ कहा गया है कि उच्चैःश्रवा को देकर समुद्र ने इन्द्र को ठगा। उच्चैःश्रवा अर्थात् बडे कानवाला होना तो घोडे में दोष माना जाता है। समुद्र ने दुर्लक्षण अश्व इन्द्र को दे उसके साथ वंचना की। उससे अच्छा अश्व समुद्र के पास था, जो उसने अपने स्वामी वरुण को दिया। वरुण ने स्वयवर से पूर्व वही अश्व दमयन्ती कामना से सौहार्द स्थापित करने के लिए भिमराजा को दिया था। भीम ने वह श्रेष्ठ अश्व भी जामाता को दे डाला। आशय यह है कि भीमराज ने जो अश्व नल को दिया, वह उच्चैःश्रवा से श्रेष्ठ था ॥

जवादवारीकृतदूरदृक्पथस्तथाऽक्षियुग्माय ददे मुदं न यः।
ददद्दिदृक्षादरदासतां यथा तथैव तत्पांशुलकण्ठनालताम् ॥ २६ ॥

जीवातु—जवादिति। अक्षियुग्माय द्रष्टुः दृष्टियुगलाय, दिदृक्षायां दर्शनेच्छायां, यः आदरः आस्था, तस्य दासतां वश्यत्वं, ददत् अत्यन्तदिदृक्षामेव सम्पादयन्, यः हयः, जवात् वेगात्, तथा तेन प्रकारेण, अवारीकृतः, अर्वाक्कृतः, द्राक् अदूरीकृतः इति यावत्, निर्जलीकृतश्च गम्यते। 'पारावारे परार्वाची तीरे' इत्यमरः। दूरदृक्पथः दूरप्रसारिदृष्टिमार्गः, अश्वदिदृक्षूणां बहुयोजनदूरे प्रेरितदृष्टिपथः इत्यर्थः। येन तथाभूतः सन्, अथवा—वारो वारणं, णिजन्तात् वृधातोः घञ्। अवारः वारः कृत इति वारीकृतः, अभूततद्भावे च्विः। स न भवतीति अवारीकृतः अप्रतिरोधीकृतः, दूरदृक्पथो येन सः, तथा च द्रष्टव्यवस्तुना दिदृक्षूणां दूरदृक्पथस्य प्रतिरोधो भवति, किन्तु प्रकृतेऽश्वस्य सवेगमनादेव दूरदृक्पथस्य प्रतिरोधाभाव इत्यर्थः, यथा मुदं हर्षं, न ददे न ददौ, अश्वस्य सवेगगमनात् द्रष्टृणां दर्शनावकाशाभावेन नयनतृप्तिर्नाभूत्, अतः केवलं तृष्णामेव वर्द्धयति इति भावः। तथा तेन प्रकारेणैव, तत् तेन अश्वेन, पांशुलः पांशुमान्, अश्वखुरोत्थरजसा धूलियुक्तः शुष्कश्च, कण्ठनालः यस्य द्रष्टुर्नेत्रयुग्मस्य वा, तस्य भावः तत्ता तां, ददत् लक्षणया उत्कण्ठितत्वं ददानः, मुदं न ददे, कण्ठशोषकारी कथं मुदं दद्यादिति भावः। अक्षियुग्मस्य पांशुलकण्ठनालत्वं नाम दूरोद्धतधूलीधूसरप्रान्तत्वमुत्कण्ठाचरितत्वञ्च। अजस्रदर्शनीयवेगोऽयमश्व इति तात्पर्यम्। अत्र अवारीकृतेति पांशुलकण्ठनालेति शब्दशक्त्या पिपासोः दृष्टिपथे निर्जलीकरणात् शुष्ककण्ठनालत्वकरणाच्च हर्षाजननरूपं वस्तु व्यञ्जनया बोध्यते इति ध्वनिः। अवारीकरणाद्यसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ २६ ॥

अन्वयः—अक्षियुग्माय दिदृक्षादरदासतां ददत् यः जवात् अवारीकृतदूरदृक्पथः यथा मुदं न ददे तथा एव तत्पांशुलकण्ठनालताम् (ददत् मुदं न ददे)।

हिन्दी—(दर्शकों के) नेत्र युगल को स्वरूप देखने की इच्छा के आदर में परवशता देता (दिदृक्षा को बढ़ाता हुआ) जो (अश्व) वेग (तीव्र गति) के कारण दूर तक नेत्र फैलाये देखते रहने पर भी दृष्टि गोचर न होकर जिस प्रकार प्रसन्नता नहीं देता था, वैसे ही अपने (अश्व) द्वारा

खुरो से उडी धूलियुक्त, सूखा कठनाल बनाता हुआ भी प्रसन्नता नही देता था।

टिप्पणी—नल को यौतक मे दत्त अश्व अत्यन्त तीव्रगामी था। उसकी तीव्रगामिता घुडदौड देखने वालो के नेत्रो को विवश करती थी कि वे उस अश्व को देखें, किन्तु दर्शकों के नेत्रो से वेग के कारण वह पलक झपकते दूर हो जाता था। दूर तक नेत्र फैलाये दर्शक देखते रहते थे, किन्तु अश्व शीघ्र आँख-ओझल हो जाता था और निराश और दुखी दर्शक सोचते थे कि लौटते समय अश्व दीख सकेगा, किन्तु तब उसके खुरो से उडी धूल उनके कठनाल मे छा जाती थी और वे अश्व-दर्शन से वंचित रह जाते थे। 'अवारीकृत' का अर्थ 'जलहीन करना' भी होता है। दर्शको के नेत्र प्यासे हैं (दर्शन के), किंतु 'वारि' से नेत्र पथ रहित कर दिया गया है, सूखा लबा मार्ग प्यासे नेत्रो को कैसे हर्ष दे सकता है? फलस्वरूप वह उनके कठनाल को शुष्क ही कर रहा है और हर्ष हीनता का कारण बन रहा है। भाव यह कि अश्व इतना वेगवान् और तीव्रगति था कि दर्शको के नेत्र उसे देख ही नही पाते थे। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ 'अवारीकृता पांसुलकण्ठनाला' (धूलभरे शुष्क कण्ठनाल को जलरहित बनाया)—यह शब्द शक्ति द्वारा प्यासे के दृष्टिपथ मे निर्जलीकरण और शुष्क कण्ठनालताकरण से हर्ष-प्रजनन रूप वस्तु का व्यजना से बोध कराता है, यह ध्वनि है। अवारीकरणादि असबध में सबध कथन रूप अतिशयोक्ति है ॥ २६ ॥

दिवस्पतेरादरदर्शिनाऽदरादढौकि यस्तं प्रति विश्वकर्मणा ।
तमेकमाणिक्यमय महोन्नत पतद्ग्रह ग्राहितवान् नलेन स ॥ २७ ॥

जीवातु—दिवस्पतेरिति । दिवस्पते इन्द्रस्य, दमयन्तीरागिण इति भाव । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति षष्ठ्या अलुकि कस्कादित्वाद् विसर्जनीयस्य सत्वम् । आदरदर्शिना भीम प्रति समादर पश्यता, विश्वकर्मणा देवशिल्पिना, त भीम प्रति, आदरात् स्वप्रभोरिन्द्रस्य भैम्यामनुरागित्वात् भीमे आदरदर्शनात् स्वस्यापि तत्पितरि भीमे समादरदर्शनमुचितमिति भीमे आदरप्रदर्शनाद्वेतोरित्यर्थः । य पतद्ग्रह, अढौकि उपाहाररूपेण प्रेरित ढौकतेर्गत्यर्थे ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् । त विश्वकर्मदत्तम्, एकमाणिक्यमयम् एकमात्रपद्मरागाख्यमणिनिर्मित, महती उन्नति यस्य तम् अत्युन्नतम् अत्युत्कृष्ट-

मित्यर्थः, पतत् मुखादिभ्यः स्रवत् ताम्बूलादिकं गृह्णातीति तं पतद्ग्रहं प्रतिग्राहं, 'पिकदानी' इति ख्यातं निष्ठ्यूतताम्बूलभाजनमित्यर्थः, 'प्रतिग्राहः पतद्ग्रहः' इत्यमरः। 'विभाषा ग्रहः' इति ण—प्रत्ययाभावपक्षे 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यः—' इत्यादिना अच् प्रत्ययः। सः भीमः, नलेन ग्राहितवान् अग्राहयत्, नलाय ददौ इत्यर्थः ॥ २७ ॥

अन्वयः—दिवस्पतेः आदरदर्शिना विश्वकर्मणा तं प्रति आदरात् यः अढौकि तम् एकमाणिक्यमयं महोन्नतं पतद्ग्रहं सः नलेन ग्राहितवान् ।

हिन्दी—स्वर्ग के स्वामी (इन्द्र) के आदर प्रकट करने वाले देव शिल्पी विश्वकर्मा ने उस (राजा भीम) के प्रति आदर के कारण जो (उगालदान) उपहार में भेजा था, उस एक बहुत बड़े माणिक्य से बने, अत्युच्च गिरे को ग्रहण करने वाले पात्र (उगालदान) को उस (भीमराज) ने नल को दे दिया।

टिप्पणी—जैसा कि ज्ञात है कि स्वर्ग के अधीश्वर इन्द्र भी दमयन्ती के अनुरागी थे। उनके संकेत से उन्हीं के कारण भीमराज में आदर प्रकट करते देवशिल्पी विश्वकर्मा ने एक बहुत बड़े माणिक्य से एक बड़ा 'पतद्ग्रह' बनाकर भीम राजा को भेंट किया था। राजा भीम ने वह बहुमूल्य उगालदान भी जामाता को दे दिया। स्वामी जिसका आदर करता है, सेवक भी उसका आदर करते हैं। यह संसार का चलन है। अतः विश्वकर्मा भी भीमराज का आदर करता था ॥ २७ ॥

नलेन ताम्बूलविलासिनोज्झितैर्मुखस्य यः पूगकणैर्भृतो न वा ।
इति व्यवेचि स्वमयूखमण्डलादुदञ्चदुच्चारुणतारुचा चिरात् ॥ २८ ॥

जीवातु—नलेनेति। यः पतद्ग्रहः प्रतिग्राहः 'पिकदानी' इति ख्यात इत्यर्थः, स्वमयूखमण्डलात् स्वकीयकिरणसमूहात्, 'उदञ्चन्ती उद्गच्छन्ती, उच्चा महती, या अरुणता अरुणत्वं, रक्तवर्णता इति यावत्। तस्याः रुचा कान्त्या, ताम्बूलविलासिना ताम्बूलप्रियेण, नलेन उज्झितैः निष्ठ्यूतैः, मुखस्य सम्बन्धिभिः पूगकणैः गुवाकशकलैः, भृतः पूर्णः, न वा इति, सन्दिह्य इति शेषः; चिरात् बहुकालेन, व्यवेचि विविक्तः, पूगकणैः भृतः इति निश्चित इत्यर्थः। निश्चयान्तः सन्देहालङ्कारः ॥ २८ ॥

अन्वयः—यः स्वमयूखमण्डलात् उदञ्चदुच्चारुणतारुचा ताम्बूलविलासिना नलेन उज्झितैः मुखस्य पूगगणैः भृतः न वा (भृतः) इति चिरात् व्यवेचि ।

हिन्दी—जो (प्रतिग्राह-उगालदान) उसके अपने किरण-मंडल से निकलती प्रचुर अरुण दीप्ति के कारण ताम्बूलप्रेमी नल द्वारा व्यक्त मुख की सुपारियों से भर गया है अथवा नहीं—यह बहुत देर तक विवेचना कर समझ में आया।

टिप्पणी—माणिक्य से बने बड़े पतद्ग्रह से माणिक्य की अरुण दीप्ति फूट रही थी। ताम्बूल खाकर थूकी गयी सुपारियाँ भी अरुणवर्णा होती हैं। इस वर्णसादृश्य के कारण लोगों (सेवकों) को यह बड़ीदेर में निश्चय हो पाता था कि उगालदान सुपारियों से पूर्ण हो गया है अथवा नहीं ? एक-सा रंग होने के कारण सुपारी और माणिक्य की अरुणिमा वास्तविकता विलम्ब से प्रकट होने देती थी। समीप जाकर सूक्ष्मता से परीक्षण करने पर ही कुछ निश्चित हो पाता था। यह पूग समूह है अथवा किरण समूह यह निश्चय सूक्ष्म विवेचन से ही हो पाता था। यद्यपि दान के समय ही उगालदान के सुपारियों से भरने न भरने की स्थिति अप्रासंगिक है, तथापि भावी क्रिया के अनुमान के आधार पर यह कवि-कल्पना है। मल्लिनाथ के अनुसार निश्चयान्त सन्देहालंकार ॥ २८ ॥

मयेन भीम भगवन्तमर्चता नृपेऽपि पूजा प्रभुनाम्नि या कृता ।
अदत्त भीमोऽपि स नैषधाय तां हरिन्मणेर्भोजनभाजनं महत् ॥ २९ ॥

जीवातु—मयेनेति । भगवन्तं भीमम् महादेवम्, अर्चता पूजयता। अर्चतेर्भ्वादिकाल्लटः, शत्रादेशः । मयेन तदाख्यदैत्यशिल्पिना, प्रभो शिवस्य, नाम भीम इति संज्ञा अस्ति यस्मिन् तस्मिन् प्रभुनाम्नि स्वामिनामधारिणि, नृपे भीमेऽपि, या पूजा कृता, उपहारत्वेन यन्मरकतभाजनं दत्तमित्यर्थः । सः भीम हरिन्मणेः गारुत्मतमणेः सम्बन्धि, मरकतमणिमयमित्यर्थः । भोजनद्रव्यमिश्रितविषनाशयोग्यमिति भावः । महत् भोजनभाजनं भोजनपात्रं, भोजनपात्ररूपमित्यर्थः, तामपि मयकृतपूजामपीत्यर्थः, नैषधाय नलाय अदत्त ॥२९॥

अन्वयः—भगवन्तं भीमम् अर्चता मयेन प्रभुनाम्नि नृपे अपि या पूजा कृता हरिन्मणेः महत् भोजनभाजनं ताम् अपि स भीमः नैषधाय अदत्त ।

हिन्दी—भगवान् भीम (शिवशंकर) की अर्चना करते मय नामक दैत्य शिल्पी ने अपने आराध्य स्वामी भीम-शिव के नामधारी राजा भीम को भी

पूजा भेंट-रूप जो समर्पित किया था, उस गरुड़मणि-निर्मित विशाल भोजन पात्र-रूप पूजा को भी उस राजा भीम ने निषधराज को दिया।

टिप्पणी—दैत्य शिल्पी मय दानव भीम शिव का उपासक शैव था। राजा भीम को भी अपने स्वामी के 'भीम'—नाम सादृश्य से पूजार्ह समझ उसने गरुड़मणि का बना एक बहुत बड़ा भोजन पात्र (टिफिन कैरियर) दिया था। उसमें यह गुण था कि यदि भोजन में विष मिला हो तो वह निष्प्रभाव हो जाता था। ऐसा विष-नाशक पात्र भी राजा भीम निषधाधिपति नल को यौतक में दिया॥ २९॥

छदे सदैव च्छविमस्य बिभ्रतां न केकिनां सर्पविषं प्रसर्पति।
न नीलकण्ठत्वमधास्यदत्र चेत् स कालकूटं भगवानभोक्ष्यत॥ ३०॥

जीवातु—छदे इति। अस्य गारुत्मतभाजनस्य, छविं नीलां कान्तिं, सदा सर्वदा एव, छदे पक्षे, बिभ्रतां दधतां, केकिनां मयूराणां सम्बन्धे, सर्पविषं न प्रसर्पति न तच्छरीरं व्याप्नोति। सः भगवान् ईश्वरः अपि, अत्र गारुत्मतभाजने, कालकूटं हलाहलम्, अभोक्ष्यत चेत् भुञ्जीत यदि, क्रियातिपत्तौ लृङ् 'भुजोऽनवने' इति तङ्। तदा नीलकण्ठत्वं न अधास्यत्, तदभावात् कालकूटविषस्य कण्ठव्यापित्वेन नीलकण्ठत्वं जानमस्येत्यर्थः यत्सावर्ण्यात् केकिनः विषभयशून्याः, तत्पात्रे भोजने किं वक्तव्यम् इति भावः॥ ३०॥

अन्वयः—अस्य छविं सदा एव छदे बिभ्रतां केकिनां सर्पविषं न प्रसर्पति, सः भगवान् अत्र कालकूटम् अभोक्ष्यत चेत् नीलकण्ठत्वं न अधास्यत्।

हिन्दी—इस (हरिन्मणि पात्र) की नील कांति को सदा ही पंखों में धारण करते मयूरों पर सांप का विष प्रभाव नहीं डालता। वे भगवान् शिव इस (पात्र) में यदि कालकूट विष का पान करते तो उनका कण्ठ नीला न होता।

टिप्पणी—इस गरुड़मणि पात्र का रंग मात्र पंखों में होने से मोरों पर सर्पविष प्रभावहीन हो जाता है, पात्र में भोजन-पान करना तो और अधिक प्रभावी है। कालकूटपायी शिव को कदाचित् सागर मंथन से निकले कालकूट पान करते समय यह पात्र उपलब्ध न होगा। यदि उस समय वे इस पात्र में कालकूट पीते तो उसके प्रभाव से उनका कण्ठ नीला न होता॥ ३०॥

विरोध्य दुर्वाससमस्खलद्दिवः स्रजं त्यजन्नस्य किमिन्द्रसिन्धुरः ?।
अदत्त तस्मै स मदच्छलात् सदा यमभ्रमातङ्गतयेव वर्षुकम् ॥३१॥

जीवातु—विरोध्येति । अभ्रमातङ्गतया ऐरावतत्वेनेव, ऐरावतत्वहेतुकमिव इत्यर्थः । 'ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभा' इत्यमरः । अथवा-अभ्रवत् श्यामवर्णत्वात् जलधरमदृशः मातङ्गः हस्ती, तस्य भावस्तत्ता तयेव तद्धेतुकमिव, मदच्छलात् दानजलस्रावमिषात्, सदा वर्षुकं वर्षणशीलमिति सापह्नवोत्प्रेक्षा । 'लषपत—' इत्यादिना उकञ्प्रत्ययः । यं सिन्धुरं, स भीमः तस्मै नलाय अदत्त दत्तवान्, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धादत्र स इति पदमूहनीयम् । सः नलसात्कृतसिन्धुरः, दुर्वाससं विरोध्य माल्यत्यागादेव क्रोधयित्वा, अस्य दुर्वाससः सम्बन्धिनी, दुर्वाससा इन्द्राय दत्ताम् इन्द्रेणापि ऐरावतकुम्भे स्थापितामित्यर्थः । स्रजं माल्यं, त्यजन् शुण्डया भुवि क्षिपन्, इन्द्रसिन्धुरः इन्द्रगजः, ऐरावतः इत्यर्थः । दिवः स्वर्गात्, अस्खलत् तदभिशापवशात् भ्रष्टः, किम् ? स्वदत्तस्रक्त्यागापराधनिमित्तात् दुर्वाससः शापात् दिवश्च्युत ऐरावत एवायं किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अभ्रमातङ्गतया मदच्छलात् सदा वर्षुकं यं सः तस्मै अदत्त स दुर्वाससं विरोध्य अस्य स्रजं त्यजन् किम् इन्द्रसिन्धुरः दिवः अस्खलत् ।

हिन्दी—(श्याम वर्ण होने से) मेघ सदृश हाथी होने [illegible] अभ्रमातङ्ग अर्थात् ऐरावत होने से जो मदधार-वर्षण के ब्याज से सदा बरसता रहता है, ऐसे जिस (हस्ती) को उन (भीमराज) ने उसे (नल को) दिया, वह दुर्वासा (क्रोधी मुनि) से विरोध करके उस (दुर्वासा) की दी गयी माला को त्यागता क्या इन्द्र-हस्ती (ऐरावत) स्वर्ग से पतित हो गया है ?

टिप्पणी—सदा मदधारें बहाने मेघवर्ण हाथी में ऐरावत होने की सम्भावना की गयी है, जो दुर्वासा के शाप से स्वर्ग से भ्रष्ट हो धरती पर आ गया है । ऐसा उत्तम गजराज राजा भीम ने दामाद को यौतक में दिया । ऐरावत भी सदा मदजल छोड़ता रहता है, इसी कारण उसे 'अभ्रमातङ्ग' कहा जाता है—मेघगज । ऐसा ही मेघगज भीमदत्त गज भी है । पौराणिक कथा है कि एक बार ऐरावत पर चढ़ कर जाते इन्द्र को मुनि दुर्वासा ने माला दी । इन्द्र ने वह ऐरावत के कुम्भस्थल पर पहिना दी, जिसे सूँड से

उसने उतार फेंका। उस पर क्रुद्ध हो मुनि ने ऐरावत को शाप दिया कि जैसे उसके द्वारा माला अधःपतित हुई है, वैसे ही वह ऐरावत भी इन्द्र सहित स्वर्ग से अधः पतित हो। (विष्णु पुराण—१।९) लगता है कि भीम द्वारा दिया हाथी वही स्वर्ग भ्रष्ट ऐरावत है। नारायण और मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा।

मदान्मदग्रे भवताथवा भिया परं दिगन्तादपि यात जीवत।
इति स्म यो दिक्करिणः! स्वकर्णयोर्विनाऽऽह वर्णस्रजमागतैर्गतैः ? ॥

जीवातु—मदादिति। दिक्करिणः! दिग्गजाः! मदात् बलगर्वात्, मदग्रे ममाग्रे, भवत योद्धुं तिष्ठत इत्यर्थः। अथवा भिया बलाभावजनितभयेन, दिगन्तात् अपि दिक्प्रान्तादेव, दूरादेवेत्यर्थः। परं दूरं यात गच्छत, जीवत पलायित्वा यथा कथञ्चित् प्राणान् धारयत, सर्वत्र यूयमिति शेषः। यः गजः, इति इत्थं, वर्णस्रजम् अक्षरपङ्क्तिं, विनैव वाग्जालमन्तरेणैवेत्यर्थः। स्वकर्णयोः आगतैर्गतैः यातायातैः, केवलं कर्णसञ्चालनैरेवेत्यर्थः। आह स्म ब्रूते स्म किम्? इत्यर्थः। गम्योत्प्रेक्षा। 'लट् स्मे' इति भूते लट्, 'ब्रुवः पञ्चानामादित—' इत्यादिना णलाहादेशौ ॥ ३२ ॥

अन्वयः—यः वर्णस्रजं विना स्वकर्णयोः आगतैः गतैः इति आह स्म—दिक्करिणः, मदात् मदग्रे भवत अथवा भिया दिगन्तात् अपि परं यात जीवत।

हिन्दी—जो (प्रदत्त गज) अक्षर माला के बिना ही (बिन बोले ही) अपने दोनों कानों को इधर-उधर डुलाने (के संकेत) से ही यह कह रहा था—हे दिग्गजों, यदि बल का अभिमान है तो मेरे संमुख युद्धार्थ आओ अथवा भय से दिगंत से भी दूर भाग जाओ और जियो।

टिप्पणी—यहाँ दान-गज के दोनों कानों के डुलाने के आधार पर यह संभावना की गयी है कि वह बिन बोले ही दिग्गजों को चुनौती दे रहा है कि यदि अपने को बली समझते हो तो मुझसे संमुख युद्ध करो अथवा दूर भाग कर कहीं छिप जाओ, अन्यथा जीवन-रक्षा न हो सकेगी। भाव यह कि यह हाथी दिग्गजों से अधिक बली था। नारायण के अनुसार लुप्तोत्प्रेक्षा और मल्लिनाथ के अनुसार गम्योत्प्रेक्षा ॥ ३२ ॥

अधत्त बीजं निजकीर्त्तये रदौ द्विषामकीर्त्यै खलु दानविप्रुषः ?।
श्रवश्रमैः कुम्भकुचां शिरःश्रियं मुदे मदस्वेदवतीमुपास्त यः ? ॥३३॥

जीवातु—अवत्तेति। यः गजः, निजकीर्त्तये स्वयशसे कीर्त्तिप्ररोहायेत्यर्थः। रदौ दन्तौ एव, बीजम् अङ्कुरोद्गमकारणं, तथा द्विषां शत्रूणाम्, अकीर्त्यै अयशसे, अकीर्त्तिप्ररोहाय इति भावः। दानविप्रुषः मदबिन्दून् एव, बीजम् अधत्त खलु? धारयामास किम्? दन्ताभ्यां परेषां विदारणात् निजकीर्त्युत्पत्ति-रिति तथा मदगन्धेनैव परगजानां भीत्या पलायनात् तेषामकीर्त्युत्पत्तिरिति च भावः। कीर्त्यकीर्त्योः सितासितत्वात् सितासितयोरेव दन्त-दानकणयोः कीर्त्यकीर्तिबीजत्वेनोत्प्रेक्षा। किञ्च, कुम्भावेव कुचौ यस्यास्ताम्, अन्यत्र—कुम्भौ इव कुचौ यस्याः ताम्, मदस्वेदवतीं मदजलरूपघर्मोदकवतीम्, अन्यत्र—मदजलवत् स्वेदवतीमिति सात्त्विकोक्तिः, शिरः श्रियं शिरःशोभां, श्रवसोः कर्णयोः, श्रमैः व्यापारैः, कर्णतालैरेव व्यजनवातैरिति भावः। मुदे स्वेदापहरणात्तस्याः हर्षाय, उपास्त असेवत किम्? इत्युत्प्रेक्षात्रयस्य संसृष्टिः॥ ३३॥

अन्वयः—यः निजकीर्त्तये रदौ बीजं द्विषाम् अकीर्त्यै दानविप्रुषः (बीजम्) अधत्त खलु कुम्भकुचां मदस्वेदवतीं शिरःश्रियं श्रवश्रमैः मुदे उपास्त।

हिन्दी—जो (दान-गज) अपने यश के निमित्त कारणस्वरूप दो गजदंत और शत्रुओं के अयश के निमित्त मदजल बिन्दु मानो धारण किये था, कुम्भ रूप स्तनों वाली और मद रूप पसीने वाली—कुम्भ तुल्य पीन पयोधरवती तथा मद सदृश स्वेदमयी शिर-शोभा रूपिणी नायिका को-कान हिलाने के परिश्रम से प्रसन्न करने के लिये मानो-उपासना करता था।

टिप्पणी—यौतक में दिये गज के विषय में यहाँ कहा गया है कि उस विशाल गज के दो बड़े गजदंत थे और निरन्तर मदधारा बहाता वह दोनों कान हिलाता रहता था। इस पर तीन सम्भावनाएँ उपस्थित की गयीं—(१) दोनों शुभ्र गजदंत जैसे शुभ्र कीर्त्ति के उद्गम-कारण थे; (२) श्याम मद बिन्दु शत्रुओं की अकीर्त्ति के कारण थे, (३) कुम्भस्थल से प्रवाहित मद धारस्वेदवती शिरः श्री—सुन्दरी को प्रसन्न करने के लिए गजराज कान हिला रहा था। (१) दाँतों से शत्रु का विदारण होता था, अतः वे कीर्त्ति के कारण थे, शुभ्र वर्ण होने से उन्हें यश का कारण बताया गया। जैसा कारण का वर्ण, वैसा ही कार्य का। (२) मदजल श्याम होता है और

उसके गन्ध मात्रा के आघ्राण से शत्रुओं का मान-भंग हो जाता है, अतः वे शत्रुओं के अयश का कारण हैं। (३) मदस्वेदवती, पीनस्तनी शिरःश्री-सुन्दरी को प्रसन्न करने के लिए वह दोनों कान रूपी व्यजन डुला रहा है। कामकेलि में खिन्न हुई प्रिया का कामी नायक इसी प्रकार खेद मिटाता है और उसे प्रसन्न करता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ तीन उत्प्रेक्षाओं की संसृष्टि है ॥ ३३ ॥

न तेन वाहेषु विवाहदक्षिणीकृतेषु सङ्ख्यानुभवेऽभवत् क्षमः।
न शातकुम्भेषु न मत्तकुम्भिषु प्रयत्नवान् कोऽपि न रत्नराशिषु ॥३४॥

जीवातु—नेति। तेन भीमेन, विवाहे दक्षिणीकृतेषु वराय दक्षिणास्वरूपेण दत्तेषु इत्यर्थः, वाहेषु वाजिषु विषये 'वाजिवाहार्वगन्धर्व—' इत्यमरः। सङ्ख्यानुभावे इयत्तापरिच्छेदे, प्रयत्नवान् उद्योगवानपि, कोऽपि जनः, शक्तः, क्षमः न अभवत्, तथा शातकुम्भेषु स्वर्णेषु, 'स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्। तपनीयं शातकुम्भम्' इत्यमरः। न, मत्तकुम्भिषु मदस्राविगजेषु, न, रत्नराशिषु रत्नसमूहेषु च, न, सर्वत्र सङ्ख्यानुभवे क्षमः अभवत् इत्यनुषङ्गः। विवाहकालप्रदत्ताश्वादिषु सङ्ख्यासम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥३४॥

अन्वयः—तेन विवाहदक्षिणीकृतेषु वाहेषु सङ्ख्यानुभवे प्रयत्नवान् कः अपि क्षमः न अभवत्, न शातकुम्भेषु मत्तकुम्भिषु, न रत्नराशिषु।

हिन्दी—उस (राजा भीम) के द्वारा विवाह में दक्षिणा रूप दिये गये अश्वों-रथों आदि की संख्या के ज्ञान के प्रति प्रयत्न शील कोई व्यक्ति समर्थ न हो पाया; न स्वर्ण (पूर्ण) घटों की, न मदमाते हाथियों की और रत्न समूह की।

टिप्पणी—यौतक में दी गयी वस्तुएँ परिमाण में इतनी अधिक थीं कि कोई उनकी गणना नहीं कर सकता था—असंख्य। अनेक गज-तुरंग-रथादि वाहन, सोने से परिपूर्ण स्वर्णकुम्भ, मतवाले गजराज, असंख्य रत्नों के पुंज। आशय यह कि राजा भीम ने जामाता नल को प्रचुरतम यौतक दिया। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है, क्योंकि विवाह काल में प्रदत्त अश्वादि का संख्या सम्बन्ध होने पर भी असंबन्ध कहा गया है ॥ ३४ ॥

करग्रहे वाम्यमधत्त यस्तयोः प्रसाद्य भैम्याऽनु च दक्षिणीकृतः।
कृतः पुरस्कृत्य ततो नलेन सः प्रदक्षिणस्तत्क्षणमाशुशुक्षणिः॥ ३५॥

जीवातु—करेति। यः आशु शोषितुम् इच्छतीति आशुशुक्षणिः अग्निः 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निः शिखावानाशुशुक्षणिः' इत्यमरः। 'आङि शुषे' सनश्छन्दसि' इत्यौणादिकसूत्रेणाङ्पूर्वाच्छुषेर्धातोः सन्नन्तादनिप्रत्ययः। अयञ्च शिष्टप्रयुक्तोऽपि भाषायामपीष्यते तयोर्भैमीनलयोः, करग्रहे पाणिग्रहे विषये, वाम्यं वामभाव, वक्रतामिति वामभागवर्त्तित्वमिति चार्थः। 'वामं सव्ये प्रतीपे च' इति विश्वः। अधत्त भैमीकामुकतया पूर्वं प्रतिकूल आसीदित्यर्थः। अनु पश्चात्, वाम्यानन्तरमित्यर्थः। भैम्या प्रसाद्य स्तुत्यादिना प्रसन्नीकृत्य, दक्षिणीकृतश्च अदक्षिणं दक्षिणं कृतः इति दक्षिणीकृतः अनुकूलीकृतः इत्यर्थः। दक्षिणभागवर्त्ती कृतः इत्यर्थश्च। 'दक्षिणो दक्षिणोद्भूतपरच्छन्दानुवर्त्तिषु। अवामे—' इति विश्वः। ततस्तदनन्तरं, नलेन स आशुशुक्षणिः, तत्क्षणं सः एव क्षणः यस्मिन् कर्मणि तत् इति क्रियाविशेषणम्, सः चासौ क्षणश्चेति कर्मधारये वाऽत्यन्तसंयोगे द्वितीया। विवाहसमये, पुरस्कृत्य उल्लेखनादिसंस्कारपूर्वकम् अग्रतः कृत्वा च, प्रदक्षिणः अत्यन्तानुकूलः दक्षिणभागवर्त्ती च, दक्षिणभागे वलयाकारेण वेष्टित इति वा, कृतः। पूर्वं प्रतिकूलोऽप्यग्निः प्रार्थनया अनुकूलितः इत्येकोऽर्थः। अग्निप्रदक्षिणीकरणेत्यादिशास्त्रार्थोऽनुष्ठितः इत्यपरार्थः॥ ३५॥

अन्वयः—यः आशुशुक्षणिः तयोः करग्रहे वाम्यम् अधत्त, अनु भैम्या प्रसाद्य दक्षिणीकृतः ततः च नलेन सः तत्क्षणं पुरस्कृत्य प्रदक्षिणः कृतः।

हिन्दी—जो अग्नि उन दोनो (नल-दमयन्ती) के पाणिग्रहण के विषय में वाम अर्थात् प्रतिकूल भाव धारण किये था, बाद में भीमसुता (दमयन्ती) द्वारा प्रसन्न करके अनुकूल बना लिया गया और तत्पश्चात् नल के द्वारा वह (अग्नि) उस (विवाह के) क्षण पुरस्कृत कर और भी अधिक अनुकूल बना लिया गया। अथवा जो अग्नि पहिले वाम भाग में था, दमयन्ती द्वारा फूँक कर प्रज्वलित कर अनुकूल कर लिया गया और नल द्वारा पूजन करके पूर्ण अनुकूल बना लिया गया। अथवा जो अग्नि विवाह काल से पूर्व वाम भाग मे था, उसे पहिले फूँक कर भैमी ने प्रज्वलित किया, तदनन्तर नल के द्वारा उल्लेखनादि संस्कार करके प्रकृष्टतया दक्षिण भाग में कर लिया गया।

टिप्पणी—दमयन्ती-कामी अग्नि विवाह से पूर्व नल-दमयन्ती के प्रतिकूल था ही, परंतु क्रमशः दमयन्ती-नल ने उसकी पूजा-अर्चना कर उसे स्वानुकूल बना लिया। लोकरीति ही यह है कि विवाहादि के अवसरों पर प्रतिकूल और अप्रसन्न व्यक्तियों को भी मना कर अनुकूल बना लिया जाता है। विवाह के अवसर पर वर-वधू अग्नि की प्रदक्षिणा करते हैं, जिस क्रिया में वाम भागस्थ अग्नि दक्षिण भाग में हो जाती है। इस क्रिया में पहिले वधू आगे रहती है, पीछे वर। बाद में यह क्रम बदल जाता है। अग्नि देव को प्रसन्न करने के साथ-साथ यहाँ शास्त्रानुकूल प्रदक्षिणादि पद्धति-निर्वाह का अर्थ-संकेत है। नारायण के अनुसार यहाँ कहीं-कहीं विधि-क्रम का भंग हुआ है, उसका कारण शाखा भेद अथवा कुलाचार विशेष है, कवि श्रीहर्ष का अज्ञान नहीं। अज्ञान का तो लेश भी नहीं है ॥ ३५ ॥

स्थिरा त्वमश्मेव भवेति मन्त्रवागनेशदाशास्य किमाशु तां ह्रिया ?।
शिला चलेत् प्ररणया नृणामपि स्थितेस्तु नाचालि विडौजसाऽपि सा ॥

जीवातु—स्थिरेति। त्वम् अश्मा पाषाणखण्ड इव, स्थिरा निश्चला, भव तिष्ठेत्यर्थः इति मन्त्रवाक् तां दमयन्तीम्, आशास्य स्वाक्षरैः प्रकाश्य 'शिलावत् अचला भव' इति एवंरूपाम् आशिषं वितीर्य, ह्रिया हीनोपमाकरणहेतुकलज्जया इवेत्युत्प्रेक्षा गम्या, आशु सपदि, अनेशत् अदृश्यतां गता, किम् ? वर्णानाम् उच्चरितानन्तरप्रध्वंसित्वादिति भावः, नशेर्लुङि पुषादित्वादङि 'नशिमन्योरलिट्येत्वं वक्तव्यम्' इति एत्वम्। हीनोपमात्वं व्यनक्ति शिला अश्मा, नृणां मनुष्याणाम् अपि, प्रेरणया व्यापारविशेषेण, चलेत्, पुनः, सा दमयन्ती, विडौजसा देवेन्द्रेण अपि, स्थितेः पतिव्रतामार्गात्, न अचालि न चालिता,, न चालयितुं शक्तेत्यर्थः, चलेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्। अत्र पूर्ववाक्यार्थस्योत्तरवाक्यार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—त्वम् अश्मा इव स्थिरा भव—इति मन्त्रवाक् ताम् आशास्य किं ह्रिया आशु अनेशत् ? शिला नृणाम् अपि प्रेरणया चलेत्, सा तु विडौजसा अपि स्थितेः न अचालि।

हिन्दी—'तू पत्थर के समान निश्चल हो'—यह मंत्र वाणी उस (दमयन्ती) को आशीष देकर क्या लज्जा से तुरन्त नष्ट हो गयी ? शिला तो

मनुष्यों के भी प्रयास से विचलित हो जाती है, किन्तु वह (दमयन्ती) तो इन्द्र द्वारा भी स्थिति (पातिव्रत्य) से विचलित न की जा सकी।

टिप्पणी—विवाह विधि में वर वधू से कहता है—'इममश्मानमारोह' अर्थात् इस पत्थर पर पैर रख। वधू के पैर रखने पर वर आशीर्वाद देता है—'त्वमश्मेव स्थिरा भव', अर्थात् तू शिला सम अचल रहे। नल ने भी ऐसा किया। एक स्वाभाविक स्थिति होती है कि 'उच्चरित-प्रध्वंसिनोऽक्षराः' अर्थात् वर्णों का उच्चरित होते ही ध्वंस हो जाता है। ऐसा ही इस अवसर पर भी हुआ। आशीर्वाद वचन उच्चरित होने के पश्चात् लुप्त हो गये। कवि ने इस पर यह नवीन कल्पना की कि यह वर्ण-प्रध्वंस सामान्य कारण से नहीं, अपितु मंत्र वाणी को अपनी अनुपयुक्तता पर जो लज्जा आयी, उस कारण हुआ। दमयन्ती को शिला सम स्थिर रहने का आशीर्वचन पूर्णतया अनुपयुक्त था। पाषाण-शिला को तो मनुष्य भी खिसका देते हैं, वह मनुष्य-प्रयत्न से भी चलायमान हो जाती है, दमयन्ती तो स्वयमेव ऐसी निश्चल अडिग थी कि देवराज इन्द्र भी उसे न हिला सका, पातिव्रत्य और दृढानुराग से विचलित न कर पाया। कहाँ मनुष्य-प्रयास विचलित होने वाला पत्थर, कहाँ देवेन्द्र द्वारा भी न डिगायी जा सकने वाली भीमसुता ? मन्त्रवाक् को अपने अनौचित्य पर लज्जित हो प्रध्वस्त हो ही जाना चाहिए। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ पूर्ववाक्यार्थ के उत्तरवाक्यार्थ हेतुक होने के कारण काव्यलिंग अलंकार है।

प्रियांशुकग्रन्थिनिबद्धवाससं तदा पुरोधा विदधद् विदर्भजाम्।
जगाद विच्छिद्य पटं प्रयास्यतः नलादविश्वासमिवैष विश्ववित् ॥३७॥

जीवातु—प्रियेति। तदा तत्काले, विदर्भजां वैदर्भीं, प्रियस्य नलस्य, अंशुके उत्तरीये, 'अंशुकं श्लक्ष्णवस्त्रे स्याद् वस्त्रमात्रोत्तरीययोः' इति मेदिनी। ग्रन्थिना बन्धविशेषेण, निबद्धवाससं ग्रथितांशुकां, विदधत् कुर्वन्, देशाचारप्राप्तत्वादिति भावः। विश्ववित् सर्वज्ञः, त्रिकालज्ञ इत्यर्थः। एष पूर्वोक्तः, पुरोधाः पुरोहितः, गौतम इति यावत्। पटं वस्त्रं, विच्छिद्य द्वेधा विपाट्य, प्रयास्यतः वने भैमीं परित्यज्य गमिष्यतः नलात् अविश्वासम् अप्रत्ययं, जगादेव उवाचेव, ज्ञापयामासेवेत्यर्थः। आगाम्यर्थज्ञापनार्थमिवानयोर्विच्छेदेनावस्थानार्थं वस्त्राञ्चलद्वयं जग्रन्थेति उत्प्रेक्षा। भारते आरण्यपर्वणि नलोपाख्याने

श्लोक:,—'ततोर्द्धं वाससश्छित्त्वा दिवस्य च परन्तप ! । सुप्तामुत्सृज्य वैदर्भीं प्राद्रवद्गतचेतनः ॥' इति ॥ ३७ ॥

अन्वयः—तदा विदर्भजां प्रियांशुकग्रन्थिनिबद्धवाससं विदधत् विश्वविद् एषः पुरोधाः पटं विच्छिद्य प्रयास्यतः नलस्य अविश्वासम् एव जगाद ।

हिन्दी —उस काल (विवाहावसर पर) विदर्भोत्पन्ना (दमयन्ती) को प्रिय (वर नल) के उत्तरीय वस्त्र में ग्रन्थि लगाकर वस्त्र-निबद्धा करते हुए समग्रज्ञानी, त्रिकालज्ञ, प्रसिद्ध पुरोहित (गौतम) ने (भविष्य में) वस्त्र फाड़कर जानेवाले नल का अविश्वास ही प्रतिपादित किया ।

टिप्पणी—गौतम जैसे त्रिकालज्ञ पुरोधा ने नल दमयन्ती का ग्रन्थि-बन्धन किया । यह एक सामान्य वैवाहिक विधान है । कवि ने इस पर यह उद्भावना कि यह ग्रन्थिबन्धन सामान्यरीतिमात्र नहीं है, प्रत्युत इसके द्वारा गौतम पुरोधा की दमयन्ती को यह चेतावनी भी है कि नल विश्वसनीय नहीं है; यह एक दिन दमयन्ती को वन में सोती छोड़ कपड़े को दो टूक कर चला जायेगा । हो सके तो दमयन्ती गाँठ बाँधकर रख ले । भावी-सूचना देते हुए गौतम ने वह ग्रन्थिबन्धन किया । महाभारत (अरण्यपर्व) में यह कथा आयी है कि कलि-प्रभाव के कारण पुष्कर से द्यूत में राजपाट हारे वनवासी नल आधा वस्त्र दमयन्ती को उढ़ा उसे अकेली छोड़ चले गये थे । त्रिकालज्ञ गौतम ने पहिले ही यह जान लिया । मल्लिनाथ के अनुसार भावी ज्ञापन के निमित्त नल-दमयन्ती का वस्त्रांचल-बन्धन उत्प्रेक्षा है ॥ ३७ ॥

> ध्रुवावलोकाय तदुन्मुखभ्रुवा
> निर्दिश्य पत्याऽभिदधे विदर्भजा ।
> किमस्य न स्यादणिमाऽक्षिसाक्षिक-
> स्तथाऽपि तथ्यो महिमाऽऽगमोदितः ॥ ३८ ॥

जीवातु—ध्रुवेति । ध्रुवावलोकाय दमयन्तीं ध्रुवनक्षत्रप्रदर्शनाय, 'विवाहे ध्रुवमरुन्धतीञ्च दर्शयेत्' इति शास्त्रात् । तदुन्मुखभ्रुवा तदुन्मुखी ध्रुवाभिमुखी भ्रूः यस्य तास्तेन, पत्या नलेन, निर्दिश्य ध्रुवं पश्येति आदिश्य, विदर्भजा वैदर्भी, अभिदधे अभिहिता, कर्मणि लिट् । किं तद् ? इत्याह— अस्य ध्रुवस्य, अणिमा अणुत्वं, क्षुद्रपरिमाणत्वमित्यर्थः । अक्षिसाक्षिकः चक्षुः

प्रमाणकः, न स्यात् किम् ? चक्षुषा न लक्ष्यते किमित्यर्थः, तथाऽपि अस्य क्षुद्र-परिमाणवत्त्वे चक्षुष एव प्रमाणत्वे सत्यपीत्यर्थः । आगमोदितः ज्योतिःशास्त्रोक्त', महिमा महत्ता एव, बृहत्परिमाणत्वमेवेत्यर्थः । तथ्यः प्रामाणिकः, दूरत्वदोषेण अणुत्वग्राहिप्रत्यक्षस्य आगमापेक्षया दुर्बलत्वात् हस्तादिमितचन्द्रप्रत्यक्षवदिति भाव । महदपि दूरात् अणु प्रतीयते इति प्रसिद्धिः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—ध्रुवावलोकाय तदुन्मुखभ्रुवा पत्या निदिश्य विदर्भजा अभिदधे-किम् अस्य अणिमा अक्षिसाक्षिकः न स्यात् तथापि अस्य आगमोदित महिमा तथ्यः ।

हिन्दी—ध्रुव नक्षत्र-दर्शन के निमित्त उस (नक्षत्र) की ओर भ्रुकुटि उठाये पति (नल) ने आज्ञा देकर विदर्भजा (दमयन्ती) से (ध्रुवदर्शन) के लिए कहा—क्या इस (ध्रुव) का क्षुद्रपरिमाण नेत्र गोचर नहीं है ? तो भी इस विषय में वेदोक्त गौरव ही उचित ।

टिप्पणी—यद्यपि ध्रुव को स्वयं दमयन्ती भी देख सकती थी, आवश्यक नहीं था कि वह तभी ध्रुव-दर्शन करती, जब नल आज्ञा देते । नल के दिखाने से ही वह देखपाती—यह भी नहीं था । फिर भी नल ने आगमोक्त पद्धति को प्रमाण बताते हुए दमयन्ती को ध्रुव-दर्शन के विषय में आदेश दिया—'ध्रुवमुदीक्षस्व' अर्थात् ध्रुव को देखो । वर ऐसा आदेश देता है, उत्तर में दर्शन करती वधू कहती है—'ध्रुव पश्यामि, प्रजा विन्देम', अर्थात् ध्रुव-दर्शन कर रही हूँ, हम सन्तान प्राप्त करें । इसी आगम-महिमा का पालन करते नल ने दमयन्ती को ध्रुव-दर्शन का आदेश दिया । यद्यपि ध्रुव परिमाण में बड़ा है, तथापि दूर होने से वह आँखों को छोटा दीखता है । वस्तुत ध्रुव छोटा नहीं, बड़ा है । शास्त्रोक्त सत्य है । यह भाव भी है । ध्रुव महापरिमाण है, भले ही उसकी अणिमा अक्षिसाक्षिक हो, वह छोटा दीखता हो ॥ ३८ ॥

धवेन साऽर्द्धगि वधूररुन्धती सतीमिमां पश्य गतामिवाणुताम् ।
कृतस्य पूर्वं हृदि भूपते कृते तृणीकृतस्वर्गपनेर्जनादिति ॥ ३९ ॥

जीवातु—धवेनेति । पूर्वं विवाहात् प्रागेव, हृदि कृतस्य पतित्वेन मनसि निश्चितस्य, भूपते नलस्य, कृते निमित्त, नलचरणार्थमित्यर्थं तादर्थ्येऽव्ययम् ।

तृणीकृतस्वर्गपतेः अगणितमहेन्द्रात्, जनात् स्वतः इति यावत्। 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी। अणुतां सूक्ष्मतां, पातिव्रत्यगुणेन न्यूनताञ्च, गतामिव स्थितां, सतीं साध्वीम्, इमाम् अरुन्धतीम् अरुन्धतीनक्षत्रं पश्य इति, उक्त्वेति शेषः। सा वधूः नवोढा भैमी, धवेन भर्त्रा नलेन, अदर्शि दर्शिता। दृशेर्ण्यन्ता-दात्मनेपदिनः कर्मणि लुङ्। 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्' इति अणि कर्त्तुः कर्मत्वम्, अत्र च तस्याभिहितत्वात् न द्वितीया॥ ३९॥

अन्वयः—पूर्वं हृदि कृतस्य भूपतेः कृते तृणीकृतस्वर्गपतेः जनात् अणुतां गताम् इव सतीम् इमाम् 'अरुन्धतीं पश्य'—इति सा वधूः धवेन अदर्शि।

हिन्दी—विवाह से पूर्व ही हृदय में बसा लिये गये भूमिपति (राजा नल) के लिए स्वर्ग के स्वामी (इन्द्र) को तृणवत् (तुच्छ) समझने वाले व्यक्ति (दमयन्ती) से मानो लघुता को प्राप्त साध्वी (पतिव्रता) अरुन्धती को देख—ऐसा कहकर वह नव वधू (दमयन्ती) पति (नल) द्वारा देखी गयी।

टिप्पणी—विवाह-पद्धति में वर-वधू ध्रुव और अरुन्धती को देखते हैं। ध्रुव और अरुन्धती के समान ही वे सदा स्थिर और अचंचल रहें—कदाचित् इसके पीछे यही भावना है। ध्रुव-दर्शन के पश्चात् नल ने इसी क्रम में दमयन्ती को अरुन्धती-दर्शन के लिए कहा। कवि की उद्भावना है कि नल ने परंपरा पालन तो कर दिया, परंतु यह परम्परापालन ही था। दमयन्ती को अरुन्धती-दर्शन अनावश्यक था। पति-प्रेम की निश्चलता में दमयन्ती अरुन्धती से श्रेष्ठ प्रमाणित होती थी, क्योंकि अरुन्धती ने तो विवाहिता होने के पश्चात् इन्द्र को तृणवत् समझा था, दमयन्ती ने तो विवाह से पूर्व ही स्वर्गाधिपति को तृणसम समझ पति-प्रेम के स्थैर्य की उच्चता स्थापित कर दी थी। दूर से लघु लगती अरुन्धती तारिका मानो इसी कारण दमयन्ती के सम्मुख लज्जा से अणुता को प्राप्त हो रही थी। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा। यहाँ अरुन्धती के स्वतः कृशत्व की इस रूप में उत्प्रेक्षा की गयी है।

प्रसूनता तरुकरपल्लवस्थितैरुदुच्छविर्व्योम्नि विहारिभिः पथि।
मुखेऽभराणामनले रदावलेरभाजि लाजैरनयोज्झितद्युतिः॥ ४०॥

जीवातु—प्रसूनतेति। तरुकरपल्लवस्थितैः होमार्थं भैम्याः पाणिकिसलय-धृतैः इत्यर्थः। लाजैः भृष्टशालिभिः परिवापकापरपर्यायैः, 'लाजाः पुम्भूम्नि

परिवापके' इति वैजयन्ती । प्रसूनता पुष्पत्वम् अभाजि प्रापि, तत्सादृश्य प्राप्तम् इत्यर्थः । लाजा दमयन्तीकरकमले पुष्पवत् परिदृश्यमाना अभूवन् इति निष्कर्षः । भजते. कर्मणि लुङ् । अथ अनया वध्वा, उज्झितैः अग्नि लक्ष्यीकृत्य त्यक्तैः, अत एव पथि मध्ये मार्गे, व्योम्नि विहारिभि., खेचरैः सद्भिरित्यर्थः, उडुच्छवि. नक्षत्रकान्तिः, तत्सदृशशोभा इत्यर्थः । अभाजि, ततश्च अमराणा देवाना मुखे आस्यभूते, अनले अग्नौ, 'अग्निमुखा वै देवा.' इति श्रुतेः । रदावले दन्तपङ्क्ते, द्युतिः शोभा, तत्सदृशकान्तिरित्यर्थ. अभाजि । अत्र एकस्य लाज द्रव्यस्य क्रमेण करपल्लवाद्यनेकाधारवृत्तित्वकथनात् पर्यायभेदः तथा लाजाना प्रसूननक्षत्रदन्तशोभासादृश्यान्निदर्शनाभेद इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर. ।

अन्वय---तत्करपल्लवस्थितैः लाजैः प्रसूनता, अनया उज्झितैः पथि व्योम्नि विहारिभि. उडुच्छवि, अमराणा मुखे अनले रदावले द्युति. अभाजि।

हिन्दी---उस (दमयन्ती) के हस्त-पल्लवों में रखी खीलें फूल बने गयीं, उस (दमयन्ती) के द्वारा (हाथ से) छोड़ी गयी प्रकाश में सचरण करतीं खीलों ने तारको की शोभा प्राप्त कर ली और देवो के मुख अग्नि में दाँतो की शोभा प्राप्त की ।

टिप्पणी---मगल लाजाओं के विविध रूप साम्य औचित्य को ध्यान में रखकर बताये गये हैं । हाथ की खीलें फूल बनीं, फूल हाथ में रखे ही जाते हैं । आकाश में नक्षत्र बनी, क्योंकि नक्षत्र आकाश में होते हैं । देवमुख अग्नि में वे दन्त साम्य को प्राप्त हुईं, क्योंकि दाँत मुँह में ही होते हैं । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ एक लाजद्रव्य के क्रम से करपल्लवादि अनेक आधार कहे जाने के कारण पर्याय-भेद अलकार है और लाजो के प्रसून, नक्षत्र और दन्त-सादृश्य कथन के कारण निदर्शना-भेद है तथा पर्याय और निदर्शना-इन दोनों का अङ्गाङ्गिभाव से सङ्कर है ॥ ४० ॥

तया गृहीताऽऽहुतिधूमपद्धतिर्गता कपोले मृगनाभिशोभिताम् ।
ययौ दृशोरञ्जनतां श्रुतौ श्रिता तमालनीलामलिकेऽलकायिता ॥४१॥

जीवातु---तयेति । तया वध्वा, गृहीता स्वीकृता, आहुतेः लाजाहोमस्य, धूमपद्धतिः धूमरेखा, कपोले गण्डदेशे, मृगनाभि कस्तूरी इव शोभते इति मृगनाभिशोभिनी, तस्या भाव तत्ता ता मृगनाभिशोभिता, 'कर्तर्युपमाने' इति णिनि । 'त्वतलो.' इति पुंवद्भाव । गता प्राप्ता, तथा दृशो' नयनयो , अञ्जनतां

कज्जलतां, ययौ प्राप, तत्सादृश्यं गता इत्यर्थः । तथा श्रुतौ श्रोत्रे, तमालस्य तमालावतंसस्य, लीलां विलासं, श्रिता प्राप्ता, अलिके ललाटे च, 'ललाटमलिकं गोधिः' इत्यमरः । अलकायिता अलकवत् आचरिता, चूर्णकुन्तलत्वं गतेत्यर्थः । उपमानादाचारक्यङन्तात् कर्मणि क्तः । अत्रापि एकस्यैव धूमस्य क्रमात् अनेकाधारसम्बन्धात् पर्यायः, तदुपजीविनामुत्तरेषां यथायोगमुपमानिदर्शनाभ्यां पूर्ववत् सङ्करः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—तया गृहीता आहुतिधूमपद्धतिः कपोलं मृगनाभिशोभितां, दृशोः श्रुतौ तमाललीलां गता, अलके अलकायिता ।

हिन्दी—उस (वधू दमयन्ती) के द्वारा स्वीकृत आहुति की धूमराशि ने कपोल पर कस्तूरी की शोभा को, नयनों में अंजन-भाव को और कानों में तमालपत्र के विलास को प्राप्त किया तथा केशावलि में अलकावलि के भाव को प्राप्त किया ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक की भाँति यहाँ भी एक आहुति-धूम अनेक रूपसादृश्य बताये गये हैं— कपोल पर कस्तूरी, आँखों में काजल, कानों में वसंत जात तमालपत्र और केशों में बिखरी लट की शोभाको धुएँ ने प्राप्त किया मल्लिनाथ के अनुसार एक धूम के क्रम से अनेक आधार होने के सम्बन्ध से पर्याय है और तदुपजीवी उपमा और निदर्शना से उसका संकर है ॥ ४१ ॥

अपह्नुतः स्वेदभरः करे तयोस्त्रपाजुषोर्दानजलैर्मिलन्मुहुः ।
दृशोरपि प्रोद्गतमश्रु सात्त्विकं घनैः समाधीयत धूमलङ्घनैः ॥ ४२ ॥

जीवातु—अथानयोस्त्रिभिः सात्त्विकोदयमाह—अपह्नुत इत्यादिभिः । त्रपाजुषोः लज्जाभाजोः, तयोः वधूवरयोः, करे पाणौ, स्वेदभरः सात्त्विकभावोदयसूचकधर्मजलातिशयः, मुहुः पुनः पुनः, दानजलैः तत्कालोचितदानार्थमुदकैः, मिलन् मिश्रीभवन्, अपह्नुतः आच्छादितः, आत्मानं गोपायितवान् इत्यर्थः । दृशोः अक्ष्णोः अपि, प्रोद्गतम् आविर्भूतं, सात्त्विकं सत्त्वसमुद्भूतम्, अश्रु नेत्रोदकं, घनैः सान्द्रैः, पुञ्जीभूतैरित्यर्थः । धूमलङ्घनैः धूमपीडनैः, समाधीयत समाहितः, परिहृतः इति यावत् । अत्र स्वेदाश्रुणोः सहजयोरागन्तुकदानोदकधूमाभिभवाभ्यां तिरोधानान्मीलनभेदः, 'मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम्' इति लक्षणात् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—त्रपाजुषो तयो करे स्वेदभर मुहु दानजले मिलन् अपह्नुत, दृशो अपि प्रोद्गत सात्त्विकम् अश्रु घनैः धूमलक्ष्मैः समाधीयत।

हिन्दी—लज्जा प्राप्त उन दोनों (नल-दमयन्ती) के हाथ मे परस्पर-स्पर्श से सजात सात्त्विक रूप स्वेदजल (पसीना) वारबार (ब्राह्मणों को अर्पित) दान-जल मे मिलकर छिप गया और नयनों का भी उत्पन्न सात्त्विक अश्रु घनी धूमराशि में ढक गया।

टिप्पणी—परस्पर वर स्पर्श से नवोढ वर वधू के हाथों मे सात्त्विक स्वेदजल और नयनजल क्रमश ब्राह्मणों को दान करते समय हाथ मे लिये सकल्पजल और होम धूम के कारण लक्षित न हो सका। सात्त्विक भावों का वर्णन। मल्लिनाथ के अनुसार मीलनालकार क्योंकि स्वेदजल और अश्रु का दान-जल और धूम के कारण उत्पन्न नयन-जल में तिरोधान वर्णित है ।।४२।।

बहूनि भीमस्य वसूनि दक्षिणा प्रयच्छत सत्त्वमवेक्ष्य तत्क्षणम् ।
जनेषु रोमाञ्चमितेषु मिश्रता ययुस्तयो कण्टककुड्मलश्रिय ।। ४३ ।।

जीवातु—बहूनीति। तयो. वधूवरयो, कण्टककुड्मलश्रिय पुलकाङ्कुर-सम्पद कर्त्र्यः, बहूनि प्रचुराणि, वसूनि धनानि, दक्षिणा दक्षिणारूपेण, प्रयच्छत ददतः, भीमस्य सत्त्व सत्त्वगुण स्वभाव वा, दानशौण्डीरत्वमित्यर्थः। अवेक्ष्य दृष्ट्वा, तत्क्षणं तत्काले, अत्यन्तसयोगे द्वितीया। रोमाञ्च पुलकाञ्चितत्वम्, इतेषु गतेषु, जनेषु दर्शकलोकसमूहेषु, मिश्रता मेलन ययु। दक्षिणा-दर्शनजन्यविस्मयात् सर्वेषां रोमाञ्चे सति वधूवरयो सात्त्विकभावोद्भूतानि रोमाञ्चान्यपि तादृशविस्मयोद्भूतत्वेनैव तिरोहितानि इत्यर्थ। पूर्ववदलङ्कार।

अन्वय—बहूनि वसूनि दक्षिणा प्रयच्छत भीमस्य सत्त्वम् अवेक्ष्य तत्क्षण रोमाञ्चितेषु जनेषु तयो कण्टककुड्मलश्रिय मिश्रतां ययु।

हिन्दी—प्रचुर धन दक्षिणा मे देते भीमराज की दानशूरता को देखकर उस क्षण (विस्मय से) रोमांचित जन-समूह में उन दोनों (नलदमयन्ती) के सात्त्विक काँटा और कली की शोभा के मिलनभाव को प्राप्त हो गये।

टिप्पणी—नल दमयन्ती के पूर्वोक्त सात्त्विक भाव भी लज्जा हर्ष जनित सात्त्विक नहीं अपितु विस्मय जनित मान लिये गये और इस प्रकार छिप गये, क्योंकि राजा भीम ने इतना अधिक धन दक्षिणा में दिया कि उपस्थित

जनसमूह विस्मय से रोमांचित हो उठा, अतः दमयंती-नल को भी आश्चर्य में पड़ा ही समझा गया। जनों के रोमांच कंटक हैं और वर-वधू सात्त्विक कलिका। इन दोनों का मेल 'कंटक-कुड्मल-श्री-मिश्रता' है। मल्लिनाथ के अनुसार दक्षिणादर्शन-जन्य जन समूह के रोमांच में वरवधू के सात्त्विकजन्य रोमांच भी विस्मयोद्भूत माने जाकर तिरोहित हो गये, अतः मीलन अलंकार है॥ ४३॥

बभूव न स्तम्भविजित्वरी तयोः श्रुतिक्रियारम्भपरम्परात्वरा।
न कम्पसम्पत्तिमलुम्पदग्रतः स्थितोऽपि वह्निः समिधाः समेधितः॥४४॥

जीवातु—बभूवेति। तयोः वधूवरयोः श्रुतिक्रियाणां वेदोक्तकर्मणाम्, आरम्भपरम्परायां त्वरा उत्तरोत्तरप्रयोगरूपशीघ्रता, स्तम्भस्य सात्त्विकभावोदयजन्यनिष्क्रियाकुत्वलक्षणस्य, विजित्वरी विजेत्री, 'इण् - नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' इति क्वरप् प्रत्यये 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप्। न बभूव न अपह्नोतुं शशाक इत्यर्थः। श्रुत्युक्तकर्मजातानां शीघ्रसम्पादनेच्छायां सत्यामपि सात्त्विकस्तम्भवशात् तौ वधूवरौ किमपि कर्म शीघ्रं सम्पादयितुं न समर्थौ इति भावः। तथा समिधा इन्धनेन, समेधितः प्रदीपितः, वह्निः अग्निः, अग्रतः स्थितोऽपि कम्पसम्पत्तिं वेपथूद्रेकं, न अलुम्पत् निरोद्धुं न अशकदित्यर्थः। समिद्धोऽग्निः शीतजकम्पमेव क्षपयितुं समर्थः न तु सात्त्विकं कम्पं गाढानुरागविकाराणां दुर्वारवेगत्वादिति तयोः स्तम्भकम्पौ सर्वे ज्ञातवन्त इति भावः। अत्र कर्मत्वरा—समिद्धवह्निरूपकारणसद्भावेऽपि स्तम्भकम्पनिवृत्तिरूपकार्यानुत्पत्तेर्विशेषोक्तिरलङ्कारः, 'सत्यां तरसामग्र्यां तदनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः' इति लक्षणात्॥ ४४॥

अन्वयः—श्रुतिक्रियारम्भपरम्परात्वरा तयोः स्तम्भविजित्वरी न बभूव, समिधाः समेधितः वह्निः अग्रतः स्थितः अपि कम्पसम्पत्तिं न अलुम्पत्।

हिन्दी—वेद विहित क्रियाओं के आरम्भ की परम्परा में शीघ्रता का भाव उन दोनों (वर-वधू) के सात्त्विक भावों को न जीत सका और समिधाओं से प्रज्वलित अग्नि आगे रहने पर भी (उन दोनों के) कम्प-वेग को समाप्त न कर सका।

टिप्पणी—एक के पश्चात् एक अनेक वैदिक विधियों—लाज होम,

अग्नि-प्रदक्षिणा आदि—होती रहीं, पर उनमें वर वधू के सात्त्विक भाव लज्जादि के कारण शीघ्रता न आ पायी और यद्यपि अग्नि समुख प्रज्वलित थी, तब भी वर-वधू का सात्त्विक कंप न मिट सका। आशय यह कि पहिले छिपे सात्त्विक भाव कुछ काल के अनन्तर लक्षित कर लिये गये। मल्लिनाथ के अनुसार कर्मत्वरा और प्रज्वलित वह्नि-रूप के कारण होने पर भी स्तंभ और कंप की निवृत्ति-रूप कार्य की उत्पत्ति न होने में यहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार है ॥ ४४ ॥

दमस्वसुः पाणिममुष्य गृह्णतः पुरोधसा संविदधेतरां विधेः ।
महर्षिणेवाङ्गिरसेन साङ्गता पुलोमजामुद्वहतः शतक्रतोः ॥ ४५ ॥

जीवातु—दमस्वसुरिति । दमस्वसुः दमयन्त्याः, पाणि करं, गृह्णत आददानस्य, ताम् उद्वहत इत्यर्थः । अमुष्य नलस्य, पुलोमजां शचीम्, उद्वहतः परिणयतः, शतक्रतोः इन्द्रस्य, महर्षिणा आङ्गिरसेन बृहस्पतिना इव, पुरोधसा गौतमेन, विधेः शास्त्रोक्तवैवाहिकानुष्ठानस्य, साङ्गता साङ्गत्वं, समाप्तिरिति यावत्, संविदधेतराम् अतिशयेन सम्पादिता, 'किमेत्तिङव्ययघादा—' इत्यादिना आमुप्रत्ययः ॥ ४५ ॥

अन्वय.—दमस्वसुः पाणिं गृह्णत अमुष्य पुलोमजाम् उद्वहतः शतक्रतोः महर्षिणा आङ्गिरसेन इव पुरोधसा विधेः साङ्गता संविदधेतराम् ।

हिन्दी—दम-भगिनी (दमयन्ती) का पाणिग्रहण करते हुए (नल) की पुलोम-सुता (शची) से विवाह करते शतमुख (इन्द्र) की—महर्षि अंगिरा पुत्र (बृहस्पति) के समान पुरोहित (गौतम) ने विवाह विधि को सांगोपांग सम्पूर्ण कराया।

टिप्पणी—आशय यह कि पूर्व काल में जैसे बृहस्पति ने सांगोपांग वेद विधि से शची-इन्द्र का पाणिग्रहण कराया था, वैसे ही पुरोधा गौतम ने दमयन्ती-नल का भी विवाह कराया ॥ ४५ ॥

स कौतुकागारमगात् पुरन्ध्रिभिः सहस्ररन्ध्रीकृतमीक्षितुं ततः ।
अधात् सहस्राक्षतनुत्रमित्रतामधिष्ठितं यत् खलु जिष्णुनाऽमुना ॥ ४६ ॥

जीवातु—स इति । ततः विवाहविधिसम्पादनानन्तरं, सः नलः, ईक्षितुं द्रष्टुं वधूवरविश्रम्भालापमिति शेषः, सहस्ररन्ध्रीकृतम् अनेकच्छिद्रीकृतम् ।

बहुव्रीहावभूततद्भावे च्विः। कौतुकागारं कुतूहलवर्द्धकं मङ्गलगृहं, पुरन्ध्रिभिः पुरनारीभिः सह। 'वृद्धो यूना' इति ज्ञापकात् सहाप्रयोगे सहार्थे तृतीया। अगात् प्राविशत्। यत् अगारं, जिष्णुना जयशीलेन, अमुना नलेन, जिष्णुना इन्द्रेण इत्यपि गम्यते, अधिष्ठितम् अधिरूढं सत्, सहस्राक्षतनुत्रमित्रताम् इन्द्रकवचतुल्यताम्, इन्द्रस्य सहस्राक्षिदर्शनार्थं सहस्रच्छिद्रीकृतकवचसादृश्यमिति यावत्। अधात् खलु निश्चितं धारयामासेत्यर्थः॥ ४६॥

अन्वयः—ततः सः पुरन्ध्रिभिः ईक्षितुं सहस्ररन्ध्रीकृतं कौतुकागारम् अगात्, यत् जिष्णुना अमुना अधिष्ठितं सहस्राक्षतनुत्रमित्रताम् अधात् खलु।

हिन्दी—तत्पश्चात् (वैवाहिकविधि पूर्ण होने पर) वह (नल) नागरिओं द्वारा (वर-वधू की चेष्टादि देखने के लिए) अनेक छिद्रों से युक्त बनाये गये कुतूहलवर्द्धक मंगल कक्ष (कोहवर) में गया, जो कि जयी उस (नल) के द्वारा अधिष्ठित हो मानो सहस्रनेत्र (इन्द्र) के कवच की मैत्री (समानता) प्राप्त कर रहा था।

टिप्पणी—रीति के अनुसार विवाह विधि पूर्ण हो जाने पर वर-वधू को कौतुकागार (कोहवर) मे ले जाया जाता है। इसी क्रम में नल-दमयन्ती भी वहाँ पहुँचाये गये। नव विवाहित दम्पती की चेष्टाएँ—व्यवहारादि छिप कर देखने के लिए क्रीडा शीला पुरंन्ध्रियाँ कोहवर में तृण काष्ठादि की सहायता से ऐसे अनेक छिद्र बनाये रहती हैं, जिनके माध्यम से छिपे-छिपे 'वह व्यवहार' देखकर आनन्द लिया जा सके। इस प्रसंग में भी ऐसा ही हुआ। अनेक छिद्रों वाले उस कौतुकागार की तुलना अनेक (सहस्र) नेत्रों वाले विष्णु के 'तनुत्र' (शरीररक्षक कवच) से की गयी है। नल इन्द्र तुल्य है और सहस्र छिद्र कवच तुल्य है कोहवर। मल्लिनाथ 'खलु' को निश्चयार्थक ही मानते हैं, जब कि नारायण ने 'खलु' को उत्प्रेक्षा वाचक भी माना है॥ ४६॥

अथाशनाया निरशेपि नो ह्रिया न सम्यगालोकि परस्परक्रिया।
विमुक्तसम्भोगमवायि सस्पृहं वरेण वध्वा च यथाविधि त्र्यहम्॥४७॥

जीवातु—अथेति। अथ कौतुकागारप्रवेशानन्तरं, वरेण नलेन, वध्वा दमयन्त्या च, यथाविधि यथाशास्त्रं, त्र्यहं त्रिदिनम्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। 'तद्धितार्थ—' इत्यादिना समाहारे द्विगुः, 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इत्यनेन टच्,

'न सङ्ख्यादे समाहारे' इति अह्लादेशाभावः, 'द्विगुरेकवचनम्' इत्येकवचनान्तता, 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुलिङ्गता । अशनमिच्छतीति अशनाया बुभुक्षा, 'अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासागर्द्धेषु' इति क्यच तत्या निपातनात् साधु । नो निरशेषि न निःशेषीकृता, न पर्याप्तम् अभोजि इत्यर्थः । ह्रिया लज्जया, परस्परक्रिया अन्योऽन्यचेष्टा, सम्यक् यथेच्छ, न आलोकि नो वीक्षिता, तथा विमुक्तसम्भोग सम्भोगपराङ्मुख यथा तथा, सस्पृह साभिलाषम् एव, अशायि शयितुम् । भावे लुङ् । यथाह आपस्तम्ब —'त्रिरात्रमुभयोरधःशय्या ब्रह्मचर्यमक्षारलवणाशित्वञ्च तयोः शय्यामन्तरेण दण्डोपलिप्तवाससा सूत्रेण परिवीतयोरवस्थानत्वम्' ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अथ वरेण वध्वा च यथाविधि यत्र् ह्रिया अशनाया नो निरशेषि, परस्परक्रिया सम्यक् न आलोकि, विमुक्तसम्भोग सस्पृहम् अशायि ।

हिन्दी—तदनतर (कौतुकागार म प्रवेश के पश्चात्) वर-वधू ने नियमानुसार तीन दिन लज्जा के कारण अशन की इच्छा (भूख) को निःशेष नही किया, अन्योन्य की क्रिया को भली भाँति नही देखा सुरतपराङ्मुख हो उसी इच्छासहित शयन किया ।

टिप्पणी—नवोढ होने के कारण नल दमयन्ती स्वाभाविक लज्जा से पूर्ण थे अतएव न तो पूर्णतया भोजन कर सके और न ही एक दूसरे की क्रिया और व्यवहार को ही देख सके । तीन रात शास्त्रमर्यादा का पालन करते हुए उन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन किया, यद्यपि मिलनेच्छा स्वाभाविक ही रही होगी । वे अल्पाहार करते थे, एक दूसरे को कनखियों से देखते थे, मिलनेच्छु होने पर भी ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे थ । शास्त्रविधि है-'एकत्र शयन त्रिरात्र ब्रह्मचर्यं च' अर्थात् नवदम्पती को तीन रात एक स्थान पर सोते रह कर भी ब्रह्मचर्य-पालन करना चाहिए । आपस्तम्ब के अनुसार नवदम्पती को ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए, क्षारलवणयुक्त भोजन तीन रात न करना चाहिए और शयन मध्य पर्दा लगाकर सोना चाहिए ॥ ४७ ॥

कटाक्षणाजन्यजनैर्निजप्रजाः क्वचित् परोहासमचीकरत्तराम् ।
धराऽम्बरोभिर्वरयात्रयाऽऽगतानभोजयन् भोजकुलाङ्कुर क्वचित् ॥४८॥

जीवातु—कटाक्षणादिति । भोजकुलाङ्कुर भोजवंशकुमार दम, क्वचित्

कस्मिश्चित् प्रदेशे प्रजाः स्वजनान् । 'ह्रक्रोरन्यतरस्याम्' इति अण्यन्तकर्तुः कर्मत्वम् । 'प्रजास्स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः । कटाक्षणात् कटाक्षकरणात्, कटाक्षसङ्केतेन इत्यर्थः । करोतेः 'तत् करोति—' इति ण्यन्ताद्भावे ल्युट् । जन्यजनैः वरपक्षीयस्निग्धजनैः सह । 'जन्याः स्निग्धाः वरस्य ये' इत्यमरः । परीहासं द्रवम्, उपहासमिति यावत् । 'द्रवकेलिपरिहासाः' इत्यमरः । 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घः । अचीकरत्तराम् अतिशयेन कारयामास । करोतेर्णौ लुङि चङ्, सन्वद्भावादभ्यासस्य दीर्घः, 'किमेत्तिङव्ययघादा—' इत्यादिना आमुप्रत्ययः । तथा क्वचित् कस्मिंश्चित् प्रदेशान्तरे, वरस्य यात्रया गमनेन उत्सवेन वा, 'यात्रा तु यापनेऽपि स्याद्गमनोत्सवयोः स्त्रियाम्' इति मेदिनी । सह आगतान् उपस्थितान्, जनानिति शेषः । धराप्सरोभिः क्षितिसुन्दरीभिः करणैः, अभोजयत् भोजयामास, तत्काले परिहासकरणसौकर्यमिति भावः । 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' इति परस्मैपदं, 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना अणिकर्तुः कर्मत्वम् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—भोजकुलाङ्कुरः क्वचित् निजप्रजाः कटाक्षणात् जन्यजनैः परिहासम् अचीकरत्तराम् क्वचित् वरयात्रया आगतान् धराप्सरोभिः अभोजयत् ।

हिन्दी—भोजवंश के अंकुर (राजकुमार दम) ने किसी स्थान पर अपने प्रजा जनों को आँखों से संकेत देकर जन्यजनों (बारातियों) के साथ खूब हँसी-दिल्लगी करायी और अन्य स्थान पर बारात में आये व्यक्तियों को पृथ्वी की अप्सराओं (धरा-सुन्दरियों) द्वारा भोजन कराया ।

टिप्पणी—उधर वर-वधू कोहबर में थे, इधर बारातियों के मनोरंजन-भोजन आदि सुप्रबंध राजकुमार दम ने कर रखा था । कहीं उसी के संकेत कर प्रजाजन बारातियों से हँसी-दिल्लगी कर रहे थे और कहीं विदर्भ-सुन्दरियाँ—अप्सरियाँ, सुघर दासियाँ, स्वच्छंदचारिणी वाराङ्गनाएँ आदि—उन्हें सामोद भोजन करा रही थीं ॥ ४८ ॥

स कञ्चिदूचे रचयन्तु तेमनोपहारमत्राङ्ग ! रुचेर्यथोचितम् ।
पिपासतः काञ्चन सर्वतोमुखं तवार्पयन्तामपि काममोदनम् ॥ ४९ ॥

जीवातु—तत्कालिकमेव परीहासं बहुधा वर्णयति—स इत्यादि । सः दमः, कञ्चित् वरपक्षीयं किमपि जनम्, ऊचे उवाच, किमिति ? अङ्ग ! भोः !,

अत्र अस्मिन् प्रदेशे काश्चन का अपि, स्त्रिय इति शेष । पिपासत तृष्यत । पिबत सन्तात्ल्ट यत्रादेश । तव सर्वतोमुखम् उदकं, 'कबन्धमुदकं पाथ पुष्कर सर्वतोमुखम्' इत्यमर । तथा रुचे अभिलाषस्य, यथोचितम् अनुरूप, तेमनस्य निष्ठानापराख्यस्य व्यञ्जनस्य, स्यात् तेमनन्तु निष्ठानम्' इत्यमर। । 'तेमन व्यञ्जने क्लेदे इति हेमचन्द्र । उपहार समर्पण, रचयन्तु कुर्वन्तु तथा काम यथेष्टम्, ओदनम् अन्नमपि अर्पयन्ता प्रयच्छन्त इति। रहस्यपक्षे—अत्र आसु परिवेषिकासु मध्य, काश्चन का अपि स्त्रिय , अङ्गरुचे आसामङ्गसौन्दर्यदर्शनजन्याभिलाषवत , ते तव, यथोचित यथायोग्य, मन उपहरतीति मनोऽपहार स्वाङ्गप्रदर्शनेन मनोहरण रचयन्तु कुर्वन्तु, तथा पिपासत मुखचुम्बनेच्छो , तव कामस्य स्मरस्य मोदन हर्षकारकम्, उद्बोधकमिति यावत् । मुखम् आस्य, सर्वत सर्वथा इत्यर्थ । सम्पूर्णभावेनेति यावत्, अर्पयन्ताम् इत्यूचे इत्यन्वय । अत्रोभयोरप्यर्थयोर्विवक्षितत्वेन प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेष ॥ ४९ ॥

अन्वय —स कञ्चित् ऊचे—अङ्ग, अत्र काचन पिपासत तव सर्वतोमुख रुचे यथोचित तेमनोपहार रचयन्तु कामम् ओदनम् (काममोदनम्) अपि अर्पयन्ताम् ।

हिन्दी—उस (दम) ने किसी (बाराती) से कहा—श्रीमन्, क्या यहाँ कुछ सुन्दरियाँ प्यासे आपके लिए सर्वतोमुख (जल) और (भोजनार्थ) रुचि के अनुसार 'तेमन' (कढी या दही बडा) का प्रबन्ध करदें (ले आयें) और पर्याप्त भात भी समर्पित करें ?

टिप्पणी—दमने बाराती की पिपासा और क्षुधा के शमन के लिए यह तो पूछा ही कि सुन्दरियों द्वारा बाराती की रुचि के अनुकूल जल और कढीभात या बडाभात का प्रबंध करा दिया जाय, परिहास भी किया, जिसकी अभिव्यक्ति अनेकार्थ शब्दों द्वारा होती है। उस स्थिति में 'अन्वय' इस प्रकार होगा—अत्र काश्चन अङ्गरुचे' ते यथोचित मनोपहारं (मनस अपहार) रचयन्तु, पिपासत तव सर्वत काममोदन मुखम् अर्पयन्ताम् । यहाँ (एकान्तस्थान मे) क्या कुछ सुन्दरियाँ स्तन-जघादि अगों को देखने में रुचि रखनेवाले तुम्हारा यथोचित (उघारे अग दिखाकर) मनोऽपहरण कर ? चुम्बन के प्यासे तुम्हें क्या सपूर्ण भाव से काम को आनन्दित करने वाला

मुख अर्पित करें ? (जिससे आप इच्छानुसार चुम्बन-पिपासा शांत कर सकें)। अथवा 'काम-मोदनमुख' अर्थात् 'वरांग' ही चुम्बनार्थ अर्पित कर दें ? दोनों ही अर्थ 'प्रकृत' हैं, दोनों की विवक्षा प्रकृत अर्थात् मुख्य रूप से ही है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ प्रकृत श्लेष है ।। ४९ ।।

मुखेन तेऽत्रोपविशत्वसाविति प्रयाच्य सृष्टानुमतिं खलाऽहसत् ।
वराङ्गभागः स्वमुखं मतोऽमुना स हि स्फुटं येन किलोपविश्यते ।।५०।।

जीवातु—मुखेनेति । हे जन्य ! अत्र अस्या पङ्क्तौ, असौ अयं जनः, ते तव, मुखेन सामुख्येन वक्त्रेण च अधिकरणे साधनत्वनिर्देशः । सम्मुखे इत्यर्थः । उपविशतु आस्ताम्, प्रार्थनायां लोट् । भोजनार्थमिति शेषः । इति प्रयाच्य प्रार्थ्य, सृष्टानुमतिं विलष्टार्थमबुद्ध्वा 'मुखेनोपविशतु' इति सृष्टा प्रदत्ता, अनुमतिः सम्मतिर्येन तं तादृशं कृताङ्गीकारं, कञ्चित् जन्यमिति शेषः । खला काचित् धूर्त्ता स्त्री, अहसत् परिजहास । किमिति ! येन वराङ्गेण, उपविश्यते आस्यते किल, सः वराङ्गभागः गुह्यप्रदेश , 'वराङ्गं मूर्द्धगुह्ययोः' इत्यमरः । अमुना जनेन, स्फुटं स्पष्टं यथा तथा, स्वमुखं मत. हि स्ववक्त्रसदृशत्वेन अनुमतः इत्यर्थः । मुखोपवेशनाङ्गीकारो नान्तरीयकः सिद्धः इति भावः । अत्रापि पूर्ववत् श्लेषः ।। ५० ।।

अन्वयः—'अत्र असौ ते मुखेन उपविशतु'—इति, प्रयाच्य सृष्टानुमतिं खला अहसत् हि येन उपविश्यते किल सः वराङ्गभागः अमुना स्पष्टं स्वमुखेन मतः ।

हिन्दी—'वरयात्री महोदय, यह (सुन्दरी) तुम्हारे संमुख (भोजनार्थ) बैठ जाय ?' यह प्रार्थना करके बाराती के (अन्य-उपहासार्थ न समझ कर) अनुमति दे देने पर एक धूर्ता (नागरी) हँसने लगी (हँसी उड़ाने लगी), क्योंकि जिस साधन (कटि के निम्न प्रदेश) से बैठा-जाता है, उस वरांग-भाग (गुह्यांग) को इस (बाराती) ने स्पष्ट रूप से अपना मुख मान लिया ।

टिप्पणी—यहाँ उपहास का आधार है 'ते मुखेन उपविशतु'; जिसका एक अर्थ कि 'तुम्हारे मुख की दिशा में अर्थात् संमुख बैठ जाय ?' दूसरा अर्थ है 'तुम्हारे मुख को साधन बनाकर (करण कारक 'मुखेन') बैठ जाय ।' बैठा जाता है कटिदेश के अग्र प्रदेश को साधन बना कर । इस प्रकार अपने मुख को साधन बनाकर बैठजाने की अनुमति देने वाले बाराती

ने अपना मुख कटिदेश का अध प्रदेश अर्थात् 'वराग' (योनि) मान लिया। इस पर उस धूर्त्ता नागरी ने बाराती की हँसी उड़ायी। बेचारा बाराती इस दूसरे अर्थ को समझ ही नहीं पाया और अपने मुख को स्वय वराग मान उपहासमात्र बन गया। नारायण एक और कुत्सित अर्थ द्योतक उपहास का भी निर्देश किया है—'ते मुखेन उपविशतु' क्या तेरे मुख मे पुरीषोत्सर्गार्थ बैठ जाय ?' इस घृणोत्पादक अर्थ को न समझ अनुमति देने वाला बाराती अपने मुख को 'कमोड' बना बैठा और उपहासास्पद बन गया। यहाँ भी प्रकृतश्लेष है ॥ ५० ॥

युवामिमे मे क्षितमे इतीरिणो गले तयोक्ता निजगुच्छमेकिका।
न भास्यदस्तुच्छगलो वदन्निति न्यधत्त जन्यस्य तत. पराऽऽक्रुपत्॥५१॥

जीवातु—युवामिति। इमे युवा भवत्यौ, मे मम, क्षितमे अतिशयेन क्षियौ, अन्यापेक्षया प्रियतमे इत्यर्थ। 'ङ्याः शेषस्यान्यतरस्याम्' इति विकल्पात् ह्रस्व.। इति ईरिण एव वादिन'। ईरतेर्णिनि.। जन्यस्य कस्यचिद् वरसखस्य, गले कण्ठे, तथा उक्तप्रकारेण, उक्ता कथिता. एकैव एकिका तयो अन्यतरा स्त्री, 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्य' इति इकारः। हे जन्य ! अद. इदं, युवाम् इमे मे क्षितमे इति वच इति यावत्। वदन् कथयन्, त्वमिति शेष.। तुच्छगल. रिक्तकण्ठ, हारशून्यकण्ठ सन् इत्यर्थः। न भासि न शोभसे, इति, उक्त्वेति शेष'। गम्यमानार्थत्वादप्रयोग। निजम् आत्मीय, गुच्छ द्वात्रिंश-द्यष्टिहारम्। 'हारभेदा यष्टिभेदात् गुच्छगुच्छार्द्धगोस्तना' इत्यमर। न्यधत्त निदधे। ततः गुच्छनिधानानन्तर, परा अपरा स्त्री तु, अदः मे मे इति अयुक्त शब्दमित्यर्थ.। वदन् छगलः छाग:, न भासि ? न प्रतीयसे ? अपि तु आत्मान छगलमेव स्वीकरोषि, इति आक्रुपत् आचकर्ष। कृपेस्तौ-दादिकाल्लङ्। -'स्तभच्छागवस्तच्छगलका अजे' इत्यमर.। अत्रापि पूर्ववत् श्लेषः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—'इमे युवा मे क्षितमे'—इति ईरिणः - जन्यस्य गले तया उक्ता एकिका 'अदः वदन् तुच्छगलः न भासि'—इति निजगुच्छम् अधत्त परा आक्रुपत्।

हिन्दी—'ये तुम दोनो (सुन्दरियाँ) मेरी प्रियतमाएँ हो'—ऐसा कहते बाराती के गले में जिन दोनो से यह वचन कहा गया था, उनमे से

एक ने 'ऐसा बोलते रिक्तकंठ तुम अच्छे नहीं लगते—' ऐसा कह अपना बत्तीसलड़ा हार उस (बाराती) के गले में डाल दिया और दूसरी उसे पकड़ खींचने लगी।

टिप्पणी—किसी बाराती ने दो सुन्दरियों को अपनी प्रियतमा कहकर उपहास किया। उनमें से एक ने उसके गले में अपना हार डाल दिया और दूसरी उसे ऐसे खींचने लगी, जैसे रस्सी गले में डाल किसी को खींचा जाता है। बाराती को उसके उपहास का उपयुक्त उत्तर मिल गया। दो सुन्दरियों को प्रियतमा बनाने वाला इतना 'तुच्छगल' अर्थात् आभूषण रहित कंठ वाला निर्धन है कि उसके गले में उसकी प्रियतमा हार पहिना कर खींचे ले जा रही हैं। ऐसा 'तुच्छ गल' क्षुद्रगले वाला ही ऐसी तुच्छ बात—'छोटे मुँह बड़ी बात' कह सकता है। इसके साथ ही यह अर्थ भी निकलता है—'छगलः तु न भासि', अर्थात् तू छगल अर्थात् छाग, अर्थात् बकरा है, तभी तो 'मेमे' कर रहा है—'मेमे स्त्रितमे।' इस लिए उचित है कि तेरे गले में हाररूप रस्सी डाल खींचा जाय। और यह भी कि 'तू बकरा होकर भी आकर्षक बकरा नहीं है, क्योंकि 'तुच्छगल' अर्थात् रिक्त कंठ, अर्थात् गले में रस्सी से न बँधा होने के कारण अथवा छागोपयुक्त गलस्तन से रहित होने के कारण शोभा नहीं पाता। सर्वथा वह बाराती बकरा ही बना दिया गया और हार रुप रस्सी से बाँध कर खींचा गया। 'गुच्छ' का अर्थ 'पल्लव' (घास) भी है, एक ने बकरे के मुख में घास डाली, दूसरी खींचने लगी। अथवा एक ने उसकी उपहासास्पद उक्ति को और भी उपहासास्पद बनाते हुए गले में 'गुच्छ' रूप वरमाला डाल दी कि 'हे मिमेमेमे' करते युवा छगल, तुम्हें वर लूँ' और दूसरी उसे खींचने लगी। भाव यही कि बकरे-जैसा बाराती भला क्या उन नागरियों को अपनी प्रियतमा बनायेगा? वह तो बस 'मिमेमेमे' ही करता रहे। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ भी प्रकृतश्लेष ॥ ५१ ॥

नलाय बालव्यजनं विधुन्वती दमस्य दास्या निभृतं पदेऽर्पितात्।
अहासि लोकैः सरटात् पटोज्झिनी भयेन जङ्घायतिलङ्घिरंहसः ॥५२॥

जीवातु—नलायेति। नलाय बालव्यजनं चामरं, विधुन्वती कम्पयन्ती;

चामरेण नलं वीजयन्ती इत्यर्थः, काचित् स्त्रीति शेषः, दमस्य दमयन्तीभ्रातुः, दास्या परिचारिकया, निभृतं निगूढं यथा तथा, पदे अर्पितात् विसृष्टात् अत एव जङ्घायतिलङ्घिरंहसः जङ्घाया ऊर्ध्वभागाक्रमिवेगात्, वेगेन जङ्घामारोहत इत्यर्थः, सरटात् कृकलासात्, 'सरटः कृकलासः स्यात्' इत्यमरः । भयेन पटोज्झिनी वस्त्रत्यागिनी, विवस्त्रा सतीत्यर्थः, लोके जने, अहासि परिहसिता ।

अन्वयः—नलाय वालव्यजनं विधुन्वती दमस्य दास्या निभृतं पदे अर्पितात् जङ्घायतिलङ्घिरंहसः सरटात् भयेन पटोज्झिनी लोके अहासि ।

हिन्दी—नल पर मयूरपक्ष का बना पंखा झलती स्त्री दम की दासी द्वारा चुपचाप और पैर पर छोड़े गये, जाँघ पर वेग से चढ़ गये गिरगिट के भय से कपड़ा फेंक नग्ना हुई लोगों की उपहासास्पदा बन गयी ।

टिप्पणी—एक चामरधारिणी नल पर पंखा झल रही थी । दम की अन्य दासी ने चुपचाप उसके पैर पर गिरगिट चढ़ा दिया । गिरगिट झट से उसकी जाँघ पर ऊपर की ओर चढ़ने लगा । उसके भय से पंखा झलनेवाली ने कटिवस्त्र उतार फेंका और नंगी हो गयी और इस प्रकार उसे नंगी होती देख लोग हँसने लगे । उपहास का अच्छा कारण बना ॥ ५२ ॥

पुरःस्थलाङ्गूलमदात् खला वृषीमुपाविशत् तत्र ऋजुर्वरद्विजः ।
पुनस्तमुत्थाप्य निजामतेर्वदाऽहसच्च पश्चात्कृतपुच्छनम्रदा ॥ ५३॥

जीवातु—पुर इति । खला काचित् धूर्ता स्त्री, वृषीम् आसनम् 'व्रतीनामासनं वृषी' इत्यमरः । तस्य टीकायां 'वृषन्ति सीदन्त्यस्यामिति पृषोदरादित्वात् साधु । अतसी वृसी मांसी स्वमू नासेति चन्द्रगोमी दन्त्येष्वपि पठति' पुरःस्थलाङ्गूलं पुरोभागस्थपुच्छं यथा तथा, अदात् दत्तवती, वरद्विजायेति शेषः, ददातेर्लुङि 'गातिस्थाघुपा—' इत्यादि सिचो लुक् । तत्र तस्यां बृष्याम्, ऋजुः सरलः, अकुटिलबुद्धिरित्यर्थः । तस्याः कौतुकचातुर्यमजानन्निति भावः, वरद्विजः वरपक्षीयः कश्चित् ब्राह्मणः, उपाविशत् उपविष्टः, पुनः अनन्तरं, निजामतेः स्वाज्ञानस्य, वदतीति वदा अज्ञानात् मया वैपरीत्येनासनं दत्तमितिवादिनीत्यर्थः, पचाद्यच् । 'वदो वदावदो वक्ता' इत्यमरः । सा खलेति शेषः । तं द्विजम्, उत्थाप्य उत्तोल्य, पश्चात्कृतपुच्छा तां वृषीं प्रददातीति पश्चाद्देशस्थापितलाङ्गूलासनप्रदा सती, प्रदेति प्रपूर्वाद्ददातेः कर्मोपपदात्

'प्रेदाज्ञ:' इति कप्रत्ययः। अहसत् जहास च, पुच्छस्य सन्मुखस्थत्वे द्विजस्य प्रकाशितमेहनत्वप्रतीतेः, पृष्ठत उपस्थाने पशुत्वप्रतीतेश्चेति भावः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—खला पुरस्थलाङ्गूलं वृषीम् अदात्, तत्र ऋजुः वरद्विजः उपाविशत्, पुनः च निजामतेः वदा तम् उत्थाप्य पश्चात्कृतपुच्छतत्प्रदा अहसत्।

हिन्दी—एक धूर्ता ने संमुख पूंछ करके (किसी ब्राह्मण के बैठने के लिए) ऋषि-आसन वृषी अथवा वृसी बिछा दिया। उस पर सरलचित्त कोई बारात का (श्रेष्ठ) ब्राह्मण बैठ गया; और फिर अपनी मूर्खता बताते हुए (धूर्ता ने) उस (ब्राह्मण) को उठाकर पुच्छभाग पीछे की ओर करके आसन दिया और हँसी उड़ाने लगी।

टिप्पणी—एक कूर्माकार ऋषियों का आसन होता है, जिसमें एक ओर पूंछ जैसा कुछ उठा होता है। किसी दुष्टा-धूर्ता ने उपहासार्थ उस आसन को इस प्रकार बिछाया कि वह पुच्छ-सदृश आगे की ओर रहे। वर पक्ष का एक सीधा-सादा ब्राह्मण उस पर-बैठ गया। बैठ जाने पर उसकी दोनों जाँघों के मूल-भाग में वह उठा आसन-पुच्छ शिश्न-सा प्रतीत होने लगा। ब्राह्मणदेवता उसकी इस उपहासवृत्ति को समझ ही नहीं पाये और उपहासास्पद अश्लील स्थिति में बैठे रहे। उस उपहासकुशला ने उन्हें पूरा मूर्ख समझा और पशुतुल्य मान कहा कि भूल और अज्ञान से आसन उलटा बिछा दिया गया, सो कृपया द्विजवर तनिक उठ जायें कि आसन ठीक से बिछा दिया जाय। सरल ब्राह्मण उठ गया और उस 'चतुरनारी' ने आसन घुमाकर ऐसे बिछा दिया कि पुच्छभाग पीछे की ओर हो गया। सरल द्विजवर जब उस पर बैठ गये तो पीछे स्थित पुच्छ भाग उनकी पूंछ-सी दीखने लगा और वे बन्दर बन गये—एक पशु। उन्हें इस प्रकार दो-दो बार मूर्ख बनाकर वह धूर्ता नागरी उनकी हँसी उड़ाने को उन पर हँसने लगी ॥ ५३ ॥

स्वयं कथाभिर्वरपक्षसुभ्रुवः स्थिरीकृतायाः पदयुग्ममन्तरा।
परेण पश्चान्निभृतं न्यधापयद्दर्पणं चादर्शतलं हसन् खलः ॥ ५४ ॥

जीवातु—स्वयमिति। खलः कश्चित् धूर्त्तः, स्वयम् आत्मना, कथाभिः इष्टालापैः, स्थिरीकृतायाः तत्कथाश्रवणासक्तत्वेन निश्चलीकृतायाः, वरपक्षसुभ्रुवः वरयात्रसम्बन्धिन्याः कस्याश्चित् स्त्रियाः, पदयुग्मम् अन्तरा पादयुग-

लस्य अन्तराले, 'अन्तराऽन्तरेण युक्ते' इति द्वितीया। परेण पुरुषान्तरेण प्रयोज्येन, पश्चात् पृष्ठतः, निभृत निगूढ यथा तथा आदर्शतल दर्पणम्, उत्तानीभूतदर्पणमित्यर्थ, न्यधापयत् निधापयामास, हसन् ददर्श च। वराङ्गप्रतिबिम्बदर्शनात् हासः इति भाव.॥ ५४॥

अन्वय—खल स्वय कथाभि. स्थिरीकृतायाः वरपक्षसुभ्रुवः पदयुग्मम् अन्तरा परेण पश्चात् निभृतम् आदर्शतल न्यधापयत् हसन् च ददर्श।

हिन्दी—एक धूर्त ने स्वय कथा-कहानियो (चुटकुलो आदि) को सुना कर उनमें तन्मय एक वर पक्ष की सुन्दरी के दोनो पैरों के मध्य (सकेत द्वारा) अन्य (अपने साथी पुरुष) से, पीछे से चुपचाप दर्पण रखवा दिया और हँसते हुए (उस दर्पण मे) देखने लगा।

टिप्पणी—एक दिल्लगीबाज (उपहास प्रवीण) धूर्त ने वरपक्ष से बारात मे सम्मिलित नारियो को मनोरंजक कहानी-चुटकुले इत्यादि सुनाते हुए उन्हे सुनने मे तल्लीन कर रखा था। एक ऐसी ही श्रवणासक्ता सुन्दरी के दोनों पैरो के बीच उसने इशारा करके एक अपने साथी से आदर्श अर्थात् दर्पण रखवा दिया, और जब उस दर्पण पर उस नारी के गुह्यांग प्रतिबिम्बित होने लगे तो उन्हे देख-देख कर हँसने लगा। इससे लज्जित हो वह स्त्री उपहासास्पदा बन गयी॥ ५४॥

अथोपचारोद्धुरचारुलोचनाविलासनिर्वासितधैर्यसम्पद।
स्मरस्य शिल्प वरवर्गविक्रिया विलोकक लोकमहासयन् मुहुः॥ ५५॥

जीवातु—अथेति। अथ अनन्तरम्, उपचारेषु सेवाकार्येषु, उद्धुरा उद्गतभारा, तत्परा इत्यर्थः। 'ऋक्पूर—' इत्यादिना समासान्तः। तथाविधानां चारुलोचनानां मनोज्ञनयनानां, स्त्रीणामिति शेषः, विलासैः कटाक्षपातादिभिः साधनैः, निर्वासिता निष्कासिता, धैर्यसम्पत् येन तादृशस्य, स्मरस्य कन्दर्पस्य, शिल्प सृष्टिः, स्मरकृता इत्यर्थ, तादृशविलासैर्निर्वासिता धैर्यसम्पत् आत्मदमनसामर्थ्य याभिस्तास्तस्याः इति वरवर्गविक्रियाया विशेषण वा वरवर्गस्य जन्यजनसमूहस्य, विक्रियाः वक्ष्यमाणस्मरविकारा कर्त्र्यः, विलोकक तद्विकारद्रष्टुजन, मुहुः महासयन् परिचारिकाविलासदर्शनादेव जन्यजनस्य जनहासकरः स्मरविकारो जातः इत्यर्थः॥ ५५॥

अन्वयः—अथ उपचारोद्धुरचारुलोचनाविलासनिर्वासितधैर्यसम्पदः स्मरस्य शिल्पं वरवर्गविक्रियाः विलोकक लोकं मुहुः अहासयन् ।

हिन्दी—अनन्तर (कामरहित परिहास के पश्चात्) सेवाकार्य (परोसना आदि तथा कटाक्षविक्षेपादि) में तत्पर सुनयनाओं के लीलाविलासों से धीरज रूप संपदा समाप्त कर देने वाली काम की शिल्पचातुरी द्वारा जात वरपक्ष के जनों के विकारों ने दर्शक जनसमूह को बार-बार हँसाया ।

टिप्पणी—आशय यह है कि श्रेष्ठ सुन्दरियाँ—सुनयनाएँ भोजन परोस रही थीं और साथ-साथ ही हँसी-दिल्लगी, कटाक्षप्रक्षेपादि विकासलीलाएँ भी करती जाती थीं, जिनसे बाराती जनों का धीरज छूट रहा था और उनके मनोविकार उनके चेहरों पर स्पष्ट झलक रहे थे और उनकी चेष्टाएँ उपहासास्पद बन रही थीं। उन्हें देख-देख उपस्थित दर्शकमंडली बारंबार हँस रही थी। सुनयनाओं के विलास क्या थे, कामदेव की कारीगरी थी अथवा वे चारुलोचनाएँ ही ऐसी सुन्दरी थीं कि लगता था कि स्वयं काम ने अपने सम्पूर्ण शिल्प चातुर्य से उन्हें बनाया था, जिन्हें देखकर ही बारातियों का धीरज छूट रहा था। नारायण ने प्रथम-द्वितीय चरणों का पाठांतर उपयुक्त माना है—'उपचारोद्धुरचारुविलोचनाः विलासनिर्वासितधैर्य-सम्पदाः', अर्थात् विलासों द्वारा वरपक्षियों को धैर्यच्युत करनेवाली, कामदेव की शिल्पचातुरी, उपचारोद्धुरा चारुलोचनाओं ने वरपक्षियों के तज्जनित विकारों के दर्शक लोक को बारंबार हँसाया। इस प्रकार अधिक समीचीन अर्थ की प्रतीति होती है। भाव यही है कि बारातियों को कामवश हो उपहासास्पद चेष्टाएँ करते देख लोग हँस रहे थे। आगे कामचेष्टापुरःसर प्रवृत्त परिहास का वर्णन है ॥ ५५ ॥

तिरोवलद्वक्त्रसरोजनालया स्मिते स्मितं यत् खलु यूनि बालया ।
तया तदीये हृदये निखाय तत् व्यधीयतासम्मुखलक्ष्यवेधिता ॥५६॥

जीवातु—तिर इति । तिरोवलन् तिर्यक्प्रेरयन्, वक्त्रसरोजनालः मुख-कमलमृणालः, कण्ठः इति यावत्, यया तादृशया, तिर्यक् परिवर्तितकन्धरया, बालया कयाचित् युवत्या, यूनि कस्मिंश्चित् तरुणे, स्मिते स्मितवति सति कर्तरि क्तः। यत् स्मितं खलु हसितं किल, लज्जया पराङ्मुखीभूय यत्

हास्यमकारि इत्यर्थः, भावे क्त । तया बालया, तदीये हास्यकारियुवसम्बन्धिनि, हृदये चेतसि, तत् स्मित, निखाय गाढ प्रवेश्य, असम्मुखम् अनभिमुख, पार्श्व-देशावस्थितमिति यावत्, यत् लक्ष्य वेध्य, तद्वेधिता तद्वेधित्व, स्वस्या इति शेष । व्यधीयत विहिता, तत् स्मित तस्य पार्श्वावस्थितलक्ष्यवेधी शरो जात इत्यर्थ ॥ ५६ ॥

अन्वय.—यूनि स्मिते तिरोवलद्वदनसरोजनालया बालया यत् खलु स्मित, तया तदीये हृदये तत् निखाय असमुखलक्ष्यवेधिता व्यधीयत ।

हिन्दी—एक तरुण के मुसकुराने पर मुख-कमल नाल ग्रीवा को तिरछे मोड़ती एक बाला ने (सलज्ज) मुसकुरा क्या दिया कि उस (तरुण) के हृदय में वह (मुसकान) गहरे धँसाकर असमुखस्थ (पार्श्वस्थ) लक्ष्य का वेध कर दिखाया ।

टिप्पणी—एक बाला को देख तरुण मुसकुरा दिया, उससे लज्जिता नी गरदन तिरछी करके मुसकुरा दी । बाला थी, सो सलज्ज मुँह फेर मुसकुरायी, प्रौढा होती तो सम्मुख हँस देती । यह स्मित अनुराग ही प्रकट करता है । इससे वह युवक यह समझा कि यह बाला अनुरागमयी है । उसके स्मित पर वह अपना हृदय हार बैठा । वह मुख मोड़ कर क्या मुसकुरायी कि तरुण के हृदय में स्मित बाण गहरे धँस गया । बाला ने तो असमुख-लक्ष्यवेध का चमत्कार दिखा दिया ॥ ५६ ॥

कृत यदन्यत् करणोचितत्यजा दिदृक्षु चक्षुर्यदवारि बालया ।
हृदस्तदीयस्य तदेव कामुके जगाद वार्त्तामखिला खले खलु ॥ ५७ ॥

जीवातु—कृतमिति । करणोचित क्रियार्हं, त्यजतीति त्यजा करणो-चितत्यजा कर्त्तव्यमकुर्वन्त्या इत्यर्थ , त्यजे क्विप् । बालया पूर्वोक्तया तरुण्या, अन्यत् अकर्त्तव्य, यत् कृतम् अनुष्ठितं, तया दिदृक्षु दर्शनोत्सुक, चक्षु- स्वदृष्टि , यत् अवारि वारित, द्रष्टव्यात् परावर्त्तितमित्यर्थ, तदेव अकार्यकरणचक्षु निवारणरूपद्वयमेव, तदीयस्य बालासम्बन्धिन , हृद हृदयस्य, अखिला समग्रा, वार्त्ता वृत्तान्त, खले धूर्त्ते, इङ्गितदर्शनादभिप्रायज्ञानचतुरे इति यावत्, कामुके विषये, जगाद खलु तस्मै नि सशयम् उवाच इत्यर्थ , अकर्त्तव्यकरण-रूपेङ्गितेन बालाया अन्यासक्तचित्तता, दर्शनप्रवृत्तचक्षु परावर्त्तनेङ्गितेन तस्या

लज्जायाः प्रकाशनात् धूर्तो 'मयि आसक्ता लज्जिता चेयमि'ति विवेद इति भावः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—करणोचितत्यजा बालया यत् अन्यत् कृतं, दिदृक्षु चक्षुः यद् अवारि, तत् एव तदीयस्य हृदः अखिलां वार्तां कामुके खले जगाद खलु ।

हिन्दी—जो कर्तव्य (परोसना आदि) उचित था, उसे छोड़ बाला ने जो और (ग्रीवा मोड़ मुसकुराना) किया और देखने के इच्छुक नयन का जो निवारण कर लिया, उसने ही उस (बाला) के मन की संपूर्ण वार्ता (सारा भेद) कामी खल (चतुर तरुण) को जता दी ।

टिप्पणी—तरुणानुरागिणी बाला के मन का भेद उस चतुर तरुण तक इस कारण पहुँच गया कि उस बाला ने तत्कालोचित कर्तव्य—भोजन परोसना आदि से ध्यान हटा तरुण के स्मित के उत्तर में स्वयं मुसकुरा दिया और आँख-चुरा ली । इन दोनों क्रियाओं से उसका अनुराग प्रकट हो गया । कर्त्तव्य छोड़ अकर्त्तव्य-करण का यह फल मिला । नारायण ने चतुर्थ चरण के 'खले' के स्थान पर 'खल' पाठ को मान्यता देकर अर्थ किया है कि बाला के कथित दोनों कार्य ही मनोभाव के 'खल' अर्थात् सूचक बन गये । वे 'खल' अर्थात् दुष्ट जो ठहरे, और दुर्जन खल एक के मनोभाव दूसरे को बता देता ही है । नारायण ने 'खलु' के आधार पर यहाँ उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है यद्यपि वह 'खलु' को निश्चयार्थक भी मानता है । आशय यही है कि युवा बाला के लज्जानुभावों के कारण समझ गया कि बाला उसमें अनुरक्ता है ।५७।

जलं ददत्याः कलितानतेर्मुखं व्यवस्यता साहसिकेन चुम्बितुम् ।

पदे पतद्वारिणि मन्दपाणिना प्रतीक्षितोऽन्येक्षणवञ्चनक्षणः ॥ ५८ ॥

जीवातु—जलमिति । जलं ददत्या आवर्जयन्त्याः, अत एव कलिता कृता इत्यर्थः, आनतिः उर्द्ध्वदेहस्य अवनमनं यया तस्याः जलदानतां न्युब्जीकृतशरीराया इत्यर्थः, कस्याश्चित् स्त्रिया इति शेषः, मुखं चुम्बितुं व्यवस्यता उद्युञ्जानेन, व्यवस्यतेर्लटः शत्रादेशः । अत एव मन्दपाणिना जलग्रहणे श्लथहस्तेन, सहसा बलात्कारेण वर्त्तते यः स तेन, अथवा—सहसा अविवेचनेन कृतं यत् तत् साहसं, तत्र प्रवृत्तः साहसिक. तेन साहसिकेन अविमृश्यकारिणा इत्यर्थः । 'ओजःसहोऽम्भसा वर्त्तते' इति ठक् । केनचित् कामुकेनेति शेषः;

पदे स्वीयचरणे, पतत् स्खलद्धस्तात् विगलत्, वारि यस्मिन् तस्मिन् सति, चुम्बनौत्सुक्यात् स्वीयचरणोपरि शिथिलहस्तात् जले विगलति सतीत्यर्थः, अन्येक्षणवञ्चनक्षणं परदृष्टिवञ्चनसमयं, तत्रत्यजनान्तराणां विषयान्तरे दृष्टिप्रेरणावसर इत्यर्थः, प्रतीक्षितः अपेक्षित इत्यर्थः, कामान्धाः किं न कुर्वन्तीति भावः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—जलं ददत्याः कलितानतेः मुखं चुम्बितुं व्यवस्यता मन्दपाणिना साहसिकेन पदे पतद्वारिणि अन्येक्षणवञ्चनक्षणः प्रतीक्षितः।

हिन्दी—जल देती (अतएव) मुख नीचे की ओर करके झुकी (एक सुन्दरी) का मुख चूमने का उद्यम करते (अतएव) हाथ को छितरा किये एक दुःसाहसी ने पैर पर जल गिरता रहने देख कर अन्य व्यक्ति द्वारा न देखे जाने के अवसर की प्रतीक्षा की।

टिप्पणी—एक सुन्दरी किसी बाराती को पीने के लिए अथवा चरण प्रक्षालन के लिए जल दे रही थी। वह बाराती बड़ा दुःसाहसी था, सहसा प्रवृत्त हो जाने वाला साहसिक—मानो लुटेरा। उसने चाहा कि जल देने को झुकी उस सुन्दरी का झुका मुख भरी भीड़ में ही चूम ले। उसने अपना हाथ ऐसा कर लिया कि उसमें से टपकता जल पैरों पर गिरता रहा और विलम्ब होता रहा और इस प्रकार वह उस क्षण की प्रतीक्षा करता रहा कि कब और लोगों की दृष्टि हटे और वह मुख-चुम्बन कर ले। नारायण के अनुसार तो उसने प्रतीक्षा की और प्रतीक्षित क्षण आते ही चुम्बन कर लिया—'अन्यानिरीक्षणावसरं प्रतीक्ष्य तन्मुखं चुचुम्ब।' ठीक ही है, कामान्ध सब कर सकते हैं ॥ ५८ ॥

युवानमालोक्य विदग्धशीलया स्वपाणिपाथोरुहनालनिर्मितम्।
इलयोऽपि सख्या परिधिः कलानिधौ दधावहो ! तं प्रति गाढबन्धताम् ॥

जीवातु—युवानमिति। विदग्धशीलया प्रगल्भस्वभावया, कयाचित् तरुण्येति शेषः। युवानं कमपि तरुणम्, आलोक्य दृष्ट्वा, कलानिधौ कलानां शिल्पानां, चतुःषष्टिप्रकारगीतवाद्यादिरूपाणामित्यर्थः। निधौ आधारभूतायाः, सख्याः सहचर्याम्, अन्यत्र—सख्या सखास्वरूपे कलानिधौ चन्द्रे। 'कला शिल्पे विधोरंशे' इत्यभिधानात्। स्वपाणिपाथोरुहनालाभ्यां निजभुजरूपपद्मनालाभ्यां,

निर्मितः कृतः; सत्तयुवकालिङ्गनाभिलाषरूपनिजभावसूचनार्थमिति भावः। परिधिः परिवेष्टनं, सखीपरिरम्भ इति यावत्। अन्यत्र--परिधिः परिवेषः, श्लथः शिथिलः सन्नपि, तं युवानं प्रति, गाढबन्धतां सुदृढालिङ्गनतामिति यावत्। दधौ पुपोष, तस्य यूनः गाढालिङ्गनसुखं तस्मादभूदित्यर्थः। अहो! सख्यालिङ्गनात् तस्य यूनः गाढालिङ्गनसुखोत्पादेन कार्यकरणयोर्वैयधिकरण्यात् शिथिलालिङ्गनात् विरुद्धस्य गाढबन्धत्वस्योत्पादाच्च आश्चर्यम्। अत एवा-सङ्गतिविषमालङ्कारयोः सङ्करः। 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः। विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिः' इति च लक्षणात्। अत्र रतिरहस्योक्तिः,--'उत्सङ्ग-सङ्गताऽपि प्रियसख्यां विविधविभ्रमं तनुते। भावादङ्कगतं शिशुमालिङ्गति चुम्बति वते च।।' इति।। ५९।।

अन्वयः--अहो, विदग्धशीलया युवानम् आलोक्य कलानिधौ सख्याः स्वपाणिपाथोरुहनालनिर्मितः श्लथः अपि परिधिः तं प्रति गाढबन्धतां दधौ।

हिन्दी--आश्चर्य कि स्वभाव से प्रगल्भा एक तरुणी ने-तरुण को देख कर, कलानिधि (चौसठ कलाओं की जानने हारी) अपनी कलानिधि-(चंद्र)-रूपा सखी के कंठ में अपनी बाहु रूप कमल नालों से रचित, शिथिल भी, कंठाश्लेष रूप परिवेष उस तरुण के प्रति संकेत करते हुए, सुदृढ़बंधन की पुष्टि की।

टिप्पणी--एक सुन्दरी स्वभावतः प्रगल्भा थी--विलास क्रिया विदग्धा। उसने सलौने युवक को देख अपनी जैसी कलाविदग्धा सखी को अपनी कमलनाल सी बाहों के दृढ़बन्धन में ले लिया और इस प्रकार युवक के प्रति आलिंगन-समर्पण किया। आलिंगन के शिथिलबंध होने पर भी दृढ़ होना आश्चर्य का कारण है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सखी के आलिंगन द्वारा उस युवा में गाढालिंगन सुख का उत्पादन वर्णित है, अतएव कार्य-कारण में वैयधिकरण्य हुआ और शिथिल आलिंगन से तद्विरुद्ध गाढालिंगन आश्चर्य का कारण। अतएव असंगति और विषमालंकार का संकर है। सखी का आलिंगन करके युवक के प्रति आलिंगन द्योतित करना 'रतिरहस्य' के अनुसार है--'उत्संगसंगता होती हुई भी प्रगल्भा प्रियसखी के प्रति विविधविलास-विस्तार करती है और गोद के शिशु का भावातिरेक में आलिंगन-चुम्बन

करती है।' प्रगल्भा सुन्दरी का आशय यही था कि सबद्ध तरुण उसके द्वारा सखी को आलिङ्गित होते देख समझ ले कि सुन्दरी युवक का ही आलिंगन कर रही है। 'कलानिधि' और 'परिधि' की अनेकार्थकता के आधार पर सुन्दरी की सखी की समता कलानिधि चन्द्र से की गयी है ॥ ५९ ॥

नतभ्रुवः स्वच्छनखानुबिम्बनच्छलेन कोऽपि स्फुटकम्प्रकण्टकः ।
पयो ददत्याश्चरणे भृशं क्षतः स्मरस्य बाणैः शरणे न्यविक्षत ॥६०॥

जीवातु—नतेति । स्मरस्य कामस्य, बाणैः शरैः, भृशम् अत्यर्थं, क्षतः पीडित इव, अत एव स्फुटौ व्यक्तौ, कम्प्रकण्टकौ सात्त्विकवेपथुरोमाञ्चौ यस्य तादृशः । 'रोमाञ्चेऽपि च कण्टकः' इत्यमरः । कोऽपि युवा, पयः दुग्धं जलं वा, ददत्याः परिवेषयन्त्याः, नतभ्रुवः कस्याश्चित् स्त्रियाः, स्वच्छनखेषु शुभ्रचरणनखरेषु, अनुबिम्बनच्छलेन प्रतिबिम्बव्याजेन, चरणे पादे एव । 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरोक्तेश्चरणे इति द्वितीयाद्विवचनान्तम्, 'अभिनिविशः' इति कर्मसंज्ञा । शरणे रक्षयितारौ, रक्षयितृरूपे चरणे इत्यर्थः । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । न्यविक्षत प्रविष्टः । अत्र सापह्नवोत्प्रेक्षा, व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या । 'नेर्विशः' इति लुङि तङ् 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति अनिटश्च्लेः क्सादेशः ॥ ६० ॥

अन्वय—स्मरस्य बाणैः भृशं क्षतः इव स्फुटकम्प्रकण्टकः कः अपि पयः ददत्याः नतभ्रुवः चरणे स्वच्छनखानुबिम्बनच्छलेन शरणे न्यविक्षत ।

हिन्दी—काम के बाणों से अत्यन्त घायल हुए जैसे (अतएव) जिसके सत्त्व जनित कंप और रोमांच स्पष्ट हो गये हैं, ऐसे किसी तरुण ने पयोदान करती (दूध या जल देती) भ्रुकुटि नीची किये हुई सुंदरी के चरण में, उजले नखों में प्रतिबिम्बित होने के व्याज से, शरण पायी ।

टिप्पणी—पयोदान करती सुन्दरी के सान्निध्य के कारण एक तरुण स्मरपीडित हो गया और उसकी कामचेष्टाएँ सत्त्व जन्य कंप-रोमांचों से प्रकट हो गयीं । सुन्दरी से पयोग्रहण करते उसका भी तरुण की प्रतिच्छाया सुन्दरी के स्वच्छ, दमकते चरण नखों में पड़ रही थी । इसी आधार पर यहाँ उद्भावना है कि कामबाणों से आहत युवा तरुणी के चरण में विनत हो शरण ग्रहण कर रहा है—'देहि मे पदपल्लवमुदारम् ।' नारायण के अनुसार

'क्षत इव' यह लुप्तोत्प्रेक्षा है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ व्यंजकाप्रयोग के कारण गम्या सापह्नवा उत्प्रेक्षा है ॥ ६० ॥

मुखं यदस्मायि विभज्य सुभ्रुवा ह्रियं तदालम्ब्य नतास्यमासितम् ।
अवादि वा यन्मृदु गद्गदं युवा तदेव जग्राह तदाप्तिलग्नकम् ॥६१॥

जीवातु—मुखमिति । सुभ्रुवा सुवङ्किमभ्रूशालिन्या, कयाचित् योषिता इति शेषः, मुखं विभज्य कुटिलीकृत्य, किञ्चित् विकृत्येत्यर्थः । यत् अस्मायि हसितं स्मयतेर्भावे लुङि चिणि वृद्धचायादेशौ । तथा ह्रियं लज्जाम्, आलम्ब्य आश्रित्य, यत् नतास्यं नम्रमुखं यथा तथा, आसितं स्थितम्, आसेर्भावे क्तः । तथा मृदु अनुच्चैः, गद्गदम् अस्पष्टाक्षरं यत् अवादि वा उदितञ्च, वदेः कर्मणि लुङ् । युवा पूर्वोक्तस्तरुणः, तदेव तच्चेष्टात्रयमेव, तदाप्तौ तस्याः प्राप्तौ, लग्नकं प्रतिभुवं तत्प्राप्तिविषये 'जामिन' इत्याख्यप्रतिनिधिस्वरूपमित्यर्थः, जग्राह मेने, तादृशानुरागप्रकाशनात् इयं मयि गाढानुरक्ता अत एव सुलभेति निश्चिकायेति भावः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—मुखं विभज्य सुभ्रुवा यत् अस्मायि, ह्रियम् आलम्ब्य यत् नतास्यम् आसितं यत् वा मृदु गद्गदम् अवादि, युवा तत् एव तदाप्तिलग्नकं जग्राह ।

हिन्दी—मुख वक्र (दूसरी ओर) करके सुन्दर भ्रुकुटि वाली सुन्दरी जो मुसकुरा दी, लज्जाधारण करके जो मुख झुकाये बैठ गयी और जो मृदु अस्पष्ट स्वर में बोल दी, युवक उस सब को ही उस (सुन्दरी) की प्राप्ति का निश्चायक मान बैठा ।

टिप्पणी—युवती का वंकमुख करना, लज्जा से सिर झुका लेना और गद्गद कंठ से मंजुल भाषण—उसके मनोगत अनुराग के द्योतक होते हैं । युवती की इन चेष्टाओं के देखकर युवक ने स्वाभाविक रूप में तरुणी की अपने प्रति अनुरक्ति समझ ली । युवती पूर्व श्लोकोक्ता भी हो सकती है, कोई अन्य भी । उसके स्मितादि अनुभावों को देख तरुण ने समझ लिया कि सुन्दरी उसे प्राप्त हो सकेगी ॥ ६१ ॥

विलोक्य यूना व्यजनं विधुन्वतीमत्राप्तसत्त्वेन भृशं प्रसिष्विदे ।
उदस्तकण्ठेन मृषोष्मनाटिना विजित्य लज्जां ददृशे तदाननम् ॥६२॥

जीवातु—विलोक्येति । व्यजनं तालवृन्तकं, विधुन्वतीं चालयन्तीं, काञ्चित्

स्त्रियमिति शेष । विलोक्य दृष्ट्वा, अवाप्तसत्त्वेन उद्रिक्तसात्त्विकभावेन, यूना केनचित् तरुणेन, भृशम् अत्यर्थं, प्रसिष्विदे स्विन्न, सञ्जातसात्त्विकभावे· नाभावि इत्यर्थ । स्विद्यतेर्भावे लिट् । मृषोष्मनाटिना मृषा मिथ्या उष्माण स्वेदकारण ग्रीष्मादिक, नाटयति अभिनयतीति तादृशेन सात्त्विकभावोत्थस्वेदगोपनार्थं मिथ्या सन्तापादिक प्रकाशयनेत्यर्थ , अत एव उदस्तकण्ठेन उद्ग्री· वेण सता, तेन यूनेति शेष , लज्जा विजित्य विमृज्येत्यर्थ । तदानन तस्या वदन, ददृशे दृष्टम्, व्यजनपवनापेक्षयेति भाव.। दृशे कर्मणि लिट् । अत्र आगन्तुकेन घर्मस्वेदेन सहजसात्त्विकस्वेदगूहनान्मीलनालङ्कार', 'मीलन वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम्' इति लक्षणात् ॥ ६२ ॥

अन्वय·—व्यजन विधुन्वती विलोक्य अवाप्तसत्त्वेन यूना भृश प्रसिष्विदे, मृषोष्मनाटिना उदस्तकण्ठेन लज्जा विजित्य तदानन ददृशे ।

हिन्दी—पखा झलती (सुन्दरी) को देख कर सात्त्विक भाव सपन्न युवक सात्त्विक स्वेद से नहा उठा, सो मिथ्या गर्मी लगने का नाटक करते उसने गरदन उठा, लज्जा को जीत कर उस (पखा झलने वाली) का मुख देखा ।

टिप्पणी—यद्यपि पखा झलने वाली को देख काम पीडित युवक सात्त्विक स्वेद से परिपूर्ण हो गया और इसलिए उस सुन्दरी का मुख मन भर कर देखे बिना वह रह नही सका; तथापि अपनी इस लज्जा जनक उपहासास्पद स्थिति को यह प्रदर्शित करते हुए छिपाने का प्रयास किया कि गरदन उठा कर कहने लगा —'ओह, बडी गर्मी है !' मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ मीलन अलकार है, क्योंकि सहज सात्त्विक स्वेद को आये गर्मी के पसीने से छिपाया गया है ।

स तत्कुचस्पृष्टकचेष्टदोर्लताचलद्दलाभव्यजनानिलाकुलः ।
अवाप नानानलनालभृङ्गलानिबद्धनोडोद्भवविभ्रम युवा ॥ ६३ ॥

जीवातु—स इति । स पूर्वोक्त , युवा, तस्या. व्यजन विधुन्वत्या' स्त्रिय , कुचयो.' स्तनयोः, स्पृष्टमेव स्पृष्टक घर्षण, तदेव चेष्टा कुचस्पर्शनरूपव्यापार· विशेष यस्याः तादृश्या , दोर्लताया बाहुवल्ल्या , चलद्दल· कम्पमानपत्रम् इव आभातीति चलद्दलाभ चञ्चलपत्रसदृशम् इत्युत्प्रेक्षा, लतायाः पत्रेण भवित· व्यत्वादिति भावः, तादृशस्य, व्यजनस्य तालवृन्तस्य, अनिलेन तच्चालनजवा· युना, आकुल विवशः, तत्कुचालिङ्गिभुजसन्दर्शनजन्यभावविशेषेण चञ्चलः

सन्निरयर्थः, नानानलनालेन नानाविधतृणकाण्डेन, या शृङ्खला निगडः बन्धनहेतुत्वात् तन्निमितशृङ्खलमित्यर्थः, तया निबद्धस्य संयतस्य, नीडोद्भवस्य पक्षिणः 'शकुन्तिपक्षिशकुनि''''नीडोद्भवा गरुत्मन्तः' इत्यमरः। विभ्रमं तत्सदृशविलासम्, अवाप प्राप तत्कुचालिङ्गिभुजसन्दर्शनेन कामातुरया तदालिङ्गितुकामोऽपि सर्वजनसमक्षं यथेष्टं चेष्टितुमशक्तः सन् शृङ्खलाबद्धपक्षिविभ्रममिवानुबभूवेति निष्कर्षः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—तत्कुचस्पृष्टकचेष्टदोर्लताचलद्दलामव्यजनानिलाकुलः सः युवा नानानलनालशृङ्खलानिबद्धनीडोद्भवविभ्रमम् अवाप।

हिन्दी—उस (पंखा-झलने वाली) के स्तन युगल का 'स्पृष्टक' (आलिंगन विशेष) करने की चेष्टा में लगी भुजलता के हिलते पत्ते के तुल्य पंखे से उत्पन्न वायु से व्याकुल (विवश) वह युवक अनेक सरकंडों (सरपत नाम की घास, शरकांड) के समूह में पंजरबद्ध (पिंजड़े में फँसे) नीडोद्भव (कुलायजन्मा-घोंसले में जन्मे पक्षी) के विभ्रम (विलास चेष्टा) को प्राप्त हो गया।

टिप्पणी—व्यजन डुलाने वाली के स्तनों का गाढ स्पर्श करती उसकी भुजाओं द्वारा झले जाने वाले व्यजन से जो हवा लगती, तरुण को वायु सम्बन्ध से ऐसी प्रतीत होती कि वह तरुणी के कुचों का स्पर्श ही प्राप्त कर रहा है। उस अनुभूति से वह ऐसी चेष्टाएँ करने लगा, जैसी कि जंगली पक्षी पिंजरे में बन्द होने पर करता है। इच्छानुसार व्यवहार तो भरी सभा में कर नहीं सकता था; यह कैसे सम्भव था कि सबके संमुख पंखे वाली का स्पष्ट आलिंगन कर लेता? अतः पिंजर बद्ध पक्षी की भाँति छटपटाने लगा। पंखा डुलाने में डोलती भुजाएँ तो स्तनों का स्पर्श करतीं 'स्पृष्टक' आलिंगन कर ही रही थीं, तरुण की इच्छा हो रही थी कि वह भी भुजाओं के सदृश स्तनस्पर्श पाले ॥ ६३ ॥

अवच्छटा काऽपि कटाक्षणस्य सा तथैव भङ्गी वचनस्य काचन।
यया युवभ्रामनुनाथने मिथः कृशोऽपि दूतस्य न शोषितः श्रमः ॥६४॥

जीवातु—अवच्छटेति। सा तात्कालिकीत्यर्थः, काऽपि अनिर्वचनीया, कटाक्षणस्य, कटाक्षकरणस्य, अपाङ्गदर्शनस्य इति यावत्, 'तत् करोति—' इति ण्यन्तात् ल्युट्। अवच्छटा भङ्गी परम्परा वा, तथा वचनस्य परस्पर-

भाषणस्य, काचन एव काप्येव, भङ्गी वक्रोक्त्यादिरूपा इत्यर्थः, जाता इति शेषः, यया कटाक्षणच्छटया वचनभङ्गया च कर्त्र्या, युवभ्यां युवत्या यूना च, 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः । मिथः अनुनायने परस्परप्रार्थने, नायतेर्याचनार्थत्वात् ल्युट् । दूतस्य वार्त्ताहरस्य, कृशः अल्पोऽपि, श्रमः प्रयासः, न शेषितः शेषतया न रक्षित इत्यर्थः, स्वयमेव तत्कार्यकारित्वात् परस्परमिलनार्थं दूतो नापेक्षित इति भावः ॥ ६४ ॥

अन्वय —का अपि सा कटाक्षणस्य अवच्छटा तथा काचन एव वचनस्य भङ्गी, यया युवभ्यां मिथः अनुनायने दूतस्य कृशः अपि श्रमः न शेषितः ।

हिन्दी—(तभी) कोई ऐसी अनिर्वचनीय कटाक्ष भंगिमा हुई और कोई ऐसे ही वक्रोक्ति पूर्ण सलाप हुए, जिनके कारण तरुण-तरुणी के परस्पर अनुनायन (मिलन याचना) के विषय में दूत के लिए अल्प भी परिश्रम शेष न रहा ।

टिप्पणी—उसी समय कुछ ऐसे व्यापार, ऐसी चेष्टाएँ हुईं, जिनका वर्णन करना कठिन है । युवक युवती के बीच ऐसे कटाक्ष-निक्षेपण और वक्रोक्तिपूर्ण वचन हुए कि स्वयम् ही उन दोनों के मध्य मिलन-याचना सपूर्णतया घटित हो गयी—दूत-दूती को सन्देश लेकर इधर-उधर आने जाने का काम रह ही नहीं गया । बातों ही बातों और आँखों ही आँखों में इशारे हो गये और मिलन-निश्चय हो गया । दूत की अपेक्षा ही नहीं रही । दोनों ही विदग्ध निकले—खेले-खिलाडी ॥ ६४ ॥

पपौ न कश्चित् क्षणमास्यमीलितं जलस्य गण्डूषमुदीतसम्मदः ।
चुचुम्ब तत्र प्रतिबिम्बितं मुखं पुरःस्फुरन्त्याः स्मरकार्मुकभ्रुवः ॥६५॥

जीवातु—पपाविति । उदीतसम्मदः सञ्जातहर्षः, कश्चित् युवा, पुरःस्फुरन्त्याः पुरोवर्त्तिन्याः स्मरस्य कार्मुके धनुषी इव भ्रुवौ यस्याः तादृश्याः, कस्याश्चित् जलदात्र्या इति शेषः, आस्येन मुखेन, मीलितं मिश्रितं, मुखस्य प्रतिबिम्बयुक्तमिति भावः, जलस्य गण्डूषं पानार्थं करधृतं गण्डूषितजलमित्यर्थः, क्षणं क्षणमात्रं, गण्डूषे जलदानकाले इति यावत्, न पपौ न पीतवान्, अन्यथा प्रतिबिम्बादिकार्यायोगादिति भावः, किन्तु तत्र जले, प्रतिबिम्बितं प्रतिफलितं, तस्याः मुखं चुचुम्ब चुम्बितवान् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—उदीतसम्मदः कश्चित् पुरः स्फुरन्त्याः स्मरकार्मुकभ्रुवः आस्यमीलितं जलस्य गण्डूषं क्षणं न पपौ, तत्र प्रतिबिम्बितं मुखं चुचुम्ब।

हिन्दी—संमद (अनुराग-हर्ष) जिसमें उत्पन्न हो गया है, ऐसे किसी (युवक) ने सम्मुख उपस्थित कामधनुष्-सी भौंहों वाली (सुन्दरी) के मुख से मिले (मुख की प्रतिच्छवि युक्त) जल के गंडूष (अँजुरी के जल) को कुछ देर तक पिया ही नहीं, प्रत्युत (जल में) प्रतिबिम्बित मुख को चूमा।

टिप्पणी—सुन्दरी जल पिला रही थी, अँगुरी के जल में उसके मुख की प्रतिच्छाया पड़ रही थी। एक छैला कुछ देर तक पानी न पीकर सुन्दरी के जल में पड़ते मुख-प्रतिबिम्ब को चूमते रहे, तब पानी पीया। लोगों ने जब उसके इस कामुक व्यापार को देख लिया, तब उसने जल पिया। इस प्रकार अपना छैलापन दिखा कर लोगों का मनोरंजन किया॥ ६५॥

हरिन्मणेर्भोजनभाजनेऽर्पिते गताः प्रकोपं किल वारयात्रिकाः।
भृतं न शाकैः प्रवितीर्णमस्ति वस्त्विषेदमेवं हरितेति बोधिताः॥ ६६॥

जीवातु—हरिदिति। हरिन्मणेः मरकतोपलस्य, भोजनभाजने भोजनपात्रे, मरकतमणिनिर्मितभोजनपात्रे इत्यर्थः, अर्पिते पुरतः स्थापिते सति, प्रकोपम् अतिरोषं, गताः प्राप्ताः, अतिशयेन रुष्टा इत्यर्थः, पत्रभाजनभ्रान्त्येति भावः, वरयात्रा प्रयोजनम् एषामस्तीति वारयात्रिकाः वरेण सह समागताः, 'प्रयोजनम्' इति ठक्। वः युष्माकं सम्बन्धे, प्रवितीर्णं दत्तम्, इदं भोजनभाजनं, शाकैः 'शेगुन' इत्याख्यतरुविशेषपत्रैः 'शाको द्वीपान्तरेऽपि च। पत्रतो तरुविशेषे च पुमान् हरितकेऽस्त्रियाम्॥' इति मेदिनी। भृतं कृतं, निर्मितमित्यर्थः, न अस्ति न भवति, किन्तु हरिता हरितया, हरिद्वर्णयेत्यर्थः। 'पालाशो हरितो हरित्' इत्यमरः। त्विषा स्वकान्त्या, एवम् इत्थं, शाकपत्रनिर्मितभाजनमिति वो भ्रान्तिरिति भावः, इति बोधिताः विज्ञापिताः। अत्र कल्पितसादृश्यान्मरकतभाजने पत्रभाजनभ्रान्तिनिबन्धनात् भ्रान्तिमदलङ्कारः॥ ६६॥

अन्वयः—हरिन्मणेः भोजनभाजने अर्पिते प्रकोपं गताः वरयात्रिकाः 'वः प्रवितीर्णम् इदं शाकैः भृतं न अस्ति, तु हरिता त्विषा एवम्' इति विज्ञापिताः किल।

हिन्दी—मरकत मणि के भोजन पात्र में भोजन दिये जाने पर (पत्तल का भ्रम हो जाने से) क्रोध को प्राप्त बारातियों को यह बता कर समझाया गया कि आपको दिया गया यह (भोजन पात्र) पत्तों से बना (पत्तल) अथवा मेथी पालक-बथुआ आदि शाकों से भरा नहीं है, किन्तु (मरकत मणि की) हरित् द्युति से ऐसा (हरित्) प्रतीत हो रहा है।

टिप्पणी—मरकत मणि का भोजन पात्र जब बारातियों के समुख रखा गया तो उन्होंने उसे पत्तल या बथुआ पालक आदि से भरा समझा और वे अपना अपमान समझ क्रुद्ध हो गये। मरकत के हरित् वर्ण से यह भ्रान्ति हुई। जब कन्यापक्ष के व्यक्तियों ने बारातियों को वास्तविकता बतायी तब कहीं उनका परितोष हुआ। यहाँ मल्लिनाथ के अनुसार भ्रान्तिमद् अलंकार है, क्योंकि कल्पित मरकता के कारण मरकत पात्र में पत्तल की भ्रान्ति का निबन्धन हुआ है ॥ ९६ ॥

ध्रुवं विनीतः स्मितपूर्ववाग्युवा किमप्यपृच्छन्नविलोकयन्मुखम्।
स्थितां पुरः स्फाटिककुट्टिमे वधूं तदङ्घ्रियुग्मावनिमध्यबद्धदृक्॥९७॥

जीवातु—ध्रुवमिति। युवा कोऽपि तरुणः, पुरः अग्रे, स्फटिके स्फटिकमये, कुट्टिमे नियद्धभूमौ, स्थितां तिष्ठन्तीं, वधूं कामपि सीमन्तिनीं, तस्याः बध्वा एवेत्यर्थः, अङ्घ्रियुग्मस्य पादद्वयस्य, अवनिः आधारभूतभूभागः, तस्याः मध्ये अन्तरालभूभागे, तस्याः पादद्वयाधारभूतभूम्योरन्तराले इत्यर्थः, बद्धदृक् दत्तदृष्टिः सन्, तत्सङ्क्रान्ततद्वराङ्गप्रतिबिम्बाकृष्टदृष्टिः सन्नित्यर्थः, मुखं न विलोकयन् अधोदर्शनार्थं मुखं न पश्यन्, नवर्थस्य न शब्दस्य सुप्सुपेति समासः। विनीतः ध्रुवं साधुरिव, स्मितपूर्वा वाक् यस्य सः तादृशः सन् ईषद्धास्यपूर्वकमित्यर्थः। किमपि यत् किञ्चित्, अपृच्छत् जिज्ञासितवान्। अत्र यून स्त्रीसम्भाषणे पादावलोकनेन मुखानवलोकनधर्मयोगात् विनीतत्वोत्प्रेक्षा ॥

अन्वयः—पुरः स्फाटिककुट्टिमे स्थितां वधूं तदङ्घ्रियुग्मावनिमध्यदृक् मुखं न विलोकयन् ध्रुवं विनीतः स्मितपूर्ववाक् युवा किम् अपि अपृच्छत्।

हिन्दी—समुख स्फटिक (संगेमर्मर) के कुट्टिम (भूभाग) पर बैठी बहू (युवती) के पैरों के बीच धरती को देखता, तरुणी का मुख न देख, विनम्र भाव से मुसकुराता एक युवक (तरुणी से) कुछ पूछने लगा।

टिप्पणी—एक बहूरिया युवती स्फाटिक भूमि पर उकडूँ बैठी थी, उसके कटि के नीचे के भाग की छाया स्फाटिक में प्रतिबिम्बित हो रही थी। सो एक मनचले छैल बाराती नीचे मुख झुकाये—ऐसा प्रकट करते कि वे बड़े विनयी और सुसंस्कृत हैं, परायी स्त्री का मुख भी नहीं देखते, आँखे झुकाये बात करते हैं—मुसकुराते हुए उससे कुछ भी पूछने लगे। मनचले छैला को मुख देखने की आवश्यकता ही क्या थी, वे तो स्फटिक-कुट्टिम में 'वरांग' का प्रतिबिम्ब देख कर ही प्रसन्न और कृतार्थ हो रहे थे। मल्लिनाथ के अनुसार युवक के स्त्री-संभाषण के समय पदावलोकन द्वारा मुखानवलोकन धर्म के योग से विनीतत्व की उत्प्रेक्षा की गयी है ॥ ६७ ॥

अमी लसद्वाष्पमखण्डिताखिलं वियुक्तमन्योऽन्यममुक्तमार्दवम्।
रसोत्तरं गौरमपीवरं रसादभुञ्जतामोदनमोदनं जनाः ॥ ६८ ॥

जीवातु—अमी इति। अमी जनाः जन्यजनाः, लसत् प्रकाशयानः, उद्गच्छन्नित्यर्थः, वाष्पं धूमायमानोष्मा यस्य तादृशम् ईषदुष्णमित्यर्थः, अखण्डितम् अभग्नम्, अखिलं स्वरूपम्, आकृतिरिति यावत्, यस्य तादृशम्, अन्योऽन्यं परस्परं, वियुक्तम् असंश्लिष्टं, तथाऽपि अमुक्तमार्दवम् अकठिनं, सुकोमलमित्यर्थः, रसोत्तरं स्वादुभूयिष्ठं गौरं शुभ्रम्, अपीवरम् अस्थूलं, सूक्ष्ममित्यर्थः, आमोदनम् आह्लादजनकं, सुगन्धम् इत्यर्थः, ओदनम् अन्नं, रसात् रागात्, अभुञ्जत अखादन्। सार्थकविशेषणत्वात् परिकरः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—अमी जनाः लसद्वाष्पम् अखण्डिताखिलम् अन्योऽन्यं वियुक्तम् अमुक्तमार्दवं रसोत्तरं गौरम् अपीवरम् आमोदनम् ओदनं रसात् अभुञ्जत।

हिन्दी—इन बारातियों ने भाप छोड़ता (गरमागरम), संपूर्णतया साबित, परस्पर असंश्लिष्ट (बिखरा हुआ), सुकोमल (मुलायम), अति स्वादिष्ट शुभ्र, महीन, सुगन्धि चावल का भात रुचि पूर्वक स्वाद लेते हुआ खाया।

टिप्पणी—भात वही अच्छा होता है, जो खाने योग्य गरम हो, दाने टूटा न हो, बिखरा हो—जुड़ कर पिंड-सा न बन गया हो, अच्छा गल कर मुलायम हो—कंकड़ियाँ न हों उसमें, स्वादिष्ट शुभ्र, महीन और सुगन्धि हो। ऐसा ही भात बारातियों को परोसा गया, जिसे उन्होंने रस पूर्वक

खाया और प्रसन्न हुए। अगुम्न (महीन होना) मे लघदृशत्वता और मार्दव त्याग म अन्योऽन्य वियुक्तता—इनमें परस्पर विरोध है, अत नारायण के अनुसार विरोधाभास है और मल्लिनाथ के अनुसार सार्थक विशेषण होने से परिकर ॥ ६८ ॥

वयोवशस्तोकविकस्वरस्तनी तिरस्तिरश्चुम्बति सुन्दरे दृशा ।
स्वय किल स्रस्तमुर स्थमम्बर गुरुस्तनी ह्रीणतराऽपराऽऽदधे ॥ ६९ ॥

जीवातु—वय इति । सुन्दरे रूपसम्पन्ने, वरपक्षीये कस्मिंश्चित् पुंसि इति शेष । वयोवशेन बाल्ययौवनयो सन्धिरूपवयोऽधीनतया, स्तोकविकस्वरस्तनीम् ईषदुद्भिन्नकुचमण्डला, काञ्चित् बालामिति शेष । तिरस्तिरः दृशा तिरश्चीनदृष्ट्या, चक्रकटाक्षेणेत्यर्थ । चुम्बति साग्रह पश्यति सतीत्यर्थ । गुरुस्तनी पृथुस्तनी, अपरा अन्या, काचित् स्त्रीति शेष । ह्रीणतरा अतिशयेन ह्रीणा लज्जिता, अतिशयलज्जिता सतीत्यर्थ । क्षुद्रस्तन्या बालिकायामनुराग-दर्शनात् पृथुस्तन्या स्वस्या तस्याश्चिरत्वबुद्धया अतिसलज्जत्व युक्तमिति भाव । ह्रीधातो 'कालाव' इति तरप्, 'नुदविद—' इत्यादिना पक्षे निष्ठानत्व, 'तसिलादिष्वाकृत्वसुच.' इति पुवद्भाव । स्वयमात्मनैव, स्रस्त गलित, किल इति अलीके, स्वस्थानाद्भ्रष्टमिव जातमित्यर्थ । इति उर स्थ वक्ष स्थितम्, अम्बर वसनम्, उत्तरीयमित्यर्थ । आदधे स्वेच्छया स्वस्थानादपसारित कृत्वा पुनराच्छादनार्थं यथास्थान निदधे। क्षुद्रस्तनी प्रति हृदयावरणसकेत स्वकीय-हृदयावरणविधानेन ज्ञापयामास, अथवा अह पीवरस्तनी तवोपभोगक्षमेति बुद्धया स्तनयुग दर्शयामासेति भाव ॥ ६९ ॥

अन्वय —सुन्दरे वयोवशस्तोकविकस्वरस्तनी तिरस्तिर दृशा चुम्बति गुरुस्तनी अपरा ह्रीणतरा स्वय स्रस्तम् उर स्थम् अम्बरम् आदधे किल ।

हिन्दी—एक सुन्दर (युवक) ने आयु के कारण कुछ उल्लसित स्तनवती (सुन्दरी) को तिरछी दृष्टि मात्र से चूमने पर पीनपयोधरा दूसरी (नारी) ने अत्यन्त लज्जित हो स्वय हटा दिये गये वक्ष स्थल पर स्थित वस्त्र को पुन आच्छादित किया ।

टिप्पणी—एक सुन्दर-सा बाराती एक वयःसन्धि स्थिता मुग्धा बाला को अत्यन्त मुग्ध भाव से देख रहा था, जैसे नेत्रो नेत्रों से ही उसका चुम्बन

ले रहा हो। आयु के अनुकूल उस लड़की के स्तन अभी पूर्ण विकसित न होने से थोड़े ही उभरे थे। एक पूर्णवयोवती, प्रौढा, पीनपयोधरा भी उस सुवड़ वाराती पर अनुरक्त हो निहार रही थी; किन्तु तरुण का ध्यान उसकी ओर न होकर बालिका की ओर था। इस पर प्रौढा को बड़ी लज्जा लगी और उसने अपने पीन-पुष्ट स्तनों के आवरण को स्वयं हटा कर ढक लिया। इसके दो आशय हैं—(१) उस प्रौढा ने बाला को संकेत किया कि उसके ईषद् विकसित कुचों को कोई देख रहा है, उन्हें वह अच्छी तरह ढक ले। (२) अपने पीन पयोधर तरुण को दिखा कर मानो उसे जताया कि वह संभोगानंद से अजान ही नहीं, प्रत्युत संभोगासहनशीला बालिका को क्या मुग्ध हो निहार रहा है, संपूर्ण यौवना, संभोगक्षमा, विदग्धा की ओर आकृष्ट हो तो विलास रस प्राप्त कर सकेगा। पीन स्तन-प्रदर्शन पूर्ण यौवना होने के प्रमाण स्वरूप किया गया ॥ ६९ ॥

यदादिहेतुः सुरभिः समुद्भवे भवेत्तदाज्यं सुरभि ध्रुवं ततः।
वधूभिरेभ्यः प्रवितीर्य पायसं तदोघकुल्यातटसैकतं कृतम् ॥ ७० ॥

जीवातु—यदिति। यत् यस्मात् कारणात्, समुद्भवे उत्पत्तौ, सुरभिः गौः; सुगन्धिः पदार्थश्च। 'सुरभिर्वाच्यवत् सौम्ये सुगन्धौ गोषु योषिति' इति यादवः। आदिहेतुः मूलकारणं, ततः कारणात्, तत् आज्यं घृतं, सुरभि सुगन्धि, भवेत्, 'कारणगुणाः कार्यगुणमारभन्ते' इति सुरभिसूतस्य सुरभित्वं युक्तमिति भावः। ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम्। वधूभिः परिवेष्ट्रीभिः, एभ्यः जन्य-जनेभ्यः, पायसं परमान्नं, पयसि संस्कृतमन्नमित्यर्थः। 'परमान्नन्तु पायसम्' इत्यमरः। 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यण्प्रत्ययः। प्रवितीर्य दत्त्वा, परिवेष्येत्यर्थः। तस्य सुरभ्याज्यस्य, ओघः प्रवाहः एव, कुल्या कृत्रिमसरित्, तस्याः तटे तीर-देशे, सैकतं सिकतामयं पुलिनं, कृतं रचितमिति रूपकम्। 'देशे लुबिलचौ च' इति सिकताशब्दादण्प्रत्ययः। प्रदत्तपायसोपरिनिक्षिप्तघृतधाराप्रवाहेण द्विधा विभक्तं पायसं शुक्लत्वात् घृतमभितः घृतकुल्यातटसैकतमिव विरेजे इति भावः ॥ ७० ॥

अन्वयः—सुरभिः समुद्भवे यदादिहेतुः ततः ध्रुवं सुरभि तदाज्यं वधूभिः एभ्यः प्रवितीर्य पायसं तदोघकुल्यातटसैकतं कृतम्।

हिन्दी—सुरभि (कामधेनु) जिसकी उत्पत्ति म आदि कारण है, उससे निश्चय ही सुरभि (सुगन्धि) उसका घी स्त्रियों द्वारा उन्हे (बारातिया को) परोसा जाकर पायस (खीर अथवा दूध मे पकाया गया भात) उस (घृत) के प्रवाह रूप कुल्या (छोटी नदी) के दोनों तटा की रेती बन गया।

टिप्पणी—अडसठवें श्लोक मे बढिया भात—गौर, अपीवर, आमोदन ओदन—परोसे जाने का उल्लेख है। सुगन्धि गो घृत धारावाही रूप से उस पर छोडा गया कि घी की एक छोटी-सी नदी पात्र मे हो गयी और घी गिरने के आघात से पायस दो भागो मे बट गया। इस प्रकार दोनो ओर शुभ्र गौर बालू के तटो सा पायस, मध्य में प्रवहण शीला घृत कुल्या। सुरभि (सुर गो) आदि कारण होने से घृत भी सुरभि (सुगन्धि) होता ही, क्योकि कारण के गुण ही कार्य मे आते हैं। भाव यह है कि बढिया भात और घी से बर-बतर ॥ ७० ॥

यदप्यपीता वसुधालयैं सुधा तदप्यद स्वादु ततोऽनुमीयते ।
अपि क्रतूपर्बुधदग्धगन्धिने स्पृहा यदस्मै दधते सुधाऽन्धस ॥ ७१ ॥

जीवातु—यदपीति। यदपि यद्यपि, वसुधालयै भूनिलयै मनुष्यादिभिरित्यर्थ। सुधा अमृतम्, अपीता न पीता तदपि तथाऽपि, अपीतत्वेऽपीत्यर्थ। अद आज्य, तत सुधातोऽपि, स्वादु मधुरम्, अनुमीयते तर्क्यते, यत् यत, सुधा एव अन्ध अन्न येषा ते सुधाऽन्धस देवा, क्रतूपर्बुधदग्धगन्धिने यज्ञाग्निप्लुष्टगन्धवते, अस्मै आज्याय, स्पृहाम् इच्छा, दधते कुर्वते इत्यर्थ। 'स्पृहेरीप्सित' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। अस्माकमुभयानुभवाभावेऽपि अमृतभोजिनामपि विशिष्टप्रवृत्तिलिङ्गेन तदुभयरसतारतम्यानुमान सुकरमित्यर्थ। अग्निदग्धत्वेन विकृतगन्धमपि घृतम् अमृतादपि स्वादुरस किमुत सौरभयुक्तमिति भावः। अनुमानन्तु घृतममृतादपि स्वादु अमृताशाना देवानां विशिष्टेच्छाविषयत्वादिति अत्रानुमानालङ्कार ॥ ७१ ॥

अन्वय—यद्यपि वसुधालयैं सुधा अपीता तदपि अद तत स्वादु अनुमीयते यत् सुधान्धस क्रतूपर्बुधदग्धगन्धिने अपि अस्मै स्पृहा दधते।

हिन्दी—यद्यपि पृथ्वी वासियो (मनुष्यो) ने अमृत नही पिया, तथापि यह (घृत) उस (अमृत) से अधिक स्वादिष्ट है—यह अनुमान से जाना जाता

है, क्योंकि अमृतभोजी (देव) यज्ञाग्नि में जिसकी गंध जल कर नष्ट हो जाती है, ऐसे भी इस (घी) की आकांक्षा करते हैं।

टिप्पणी—पायस के साथ जो घी परोसा गया, वह अमृत से अधिक स्वादिष्ट है। क्योंकि मनुष्य ने अमृत पिया नहीं, अतः घृत अमृत से अधिक स्वादु है, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान तो मानव को हो नहीं सकता, किन्तु अनुमान से यह सिद्ध है कि सुधा की अपेक्षा घृत स्वादु है। अनुमान का आधार यह है देव स्वेच्छया अग्निदग्ध घृत का सानुराग पान करते हैं, यज्ञ क्रिया में घृतपानार्थ उत्सुक रहते हैं, यद्यपि उसकी सुगन्ध नष्ट हो जाती है आग में जल कर। गन्धहीन घृत भी देवों का प्रिय भोजन है, जब कि वे अमृत पायी हैं। यदि घृत अमृतापेक्षया स्वादु न होता तो देव क्यों उसका सानुराग पान करते? मनुष्य जानते हैं कि इस घृत के संमुख अमृत-पान व्यर्थ है, वे उसका आस्वादन नहीं करते, जब कि नित्य सुधा पान करते होने पर भी देव घृत भोजन की स्पृहा करते रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि घृत अमृतापेक्षया स्वादु है। मल्लिनाथ के अनुसार अनुमानालंकार है। अनुमान है कि घृत अमृत से भी स्वादु है, क्योंकि अमृतभोजी देवों की विशिष्टेच्छा का घृत विषय है ॥ ७१ ॥

अबोधि नो ह्रीनिभृतं मदिङ्गितं ? प्रतीत्य वा नादृतवत्यसाविति ? ।
लुनाति यूनः स्म धियं कियद्गता निवृत्य बालाऽऽदरदर्शनेषुणा ॥७२॥

जीवातु—अबोधीति । असौ बाला स्त्री, ह्रीनिभृतं लज्जानिगूढं, मदिङ्गितं सभ्रूभङ्गदर्शनादिना मम हृद्गतभावं, नो अबोधि ? न अज्ञासीत् ? बुध्यतेः कर्त्तरि लुङि तङ्, 'दीपजन—' इत्यादिना च्लेश्चिणादेशः । वा अथवा, प्रतीत्य बुद्ध्वाऽपि, न आदृतवती अनभिप्रेतत्वात् तत् न गणितवती, इत्येवंरूपां, यूनः तरुणस्य कस्यचित्, धियं संशयबुद्धिं, कियत् कतिचित् पदानि, गता चलिता अपि, निवृत्य प्रत्यावृत्य, आदरदर्शनं सरागदृष्टिः, यद्वा—दरदर्शनम् ईषद्दृष्टिः, लज्जया संकोचपूर्णदृष्टिरिति यावत् । 'ईषदर्थे दराव्ययम्' इति मेदिनी । तद्रूपेण इषुणा बाणेन, लुनाति स्म चिच्छेद। एतावतैव यूनः अनुरागाभावशङ्काशङ्कुरुद्धृत इति भावः ॥ ७२ ॥

अन्वय—असौ ह्रीनिभृत मदिङ्गितं न अबोधि वा प्रतीत्य न आदृतवती—इति यून धियं कियद् गत्वा बाला निवृत्य आदरदर्शनेपुणा लुनाति स्म।

हिन्दी—'यह (बाला) लज्जा के कारण मेरे संकेत को समझी नहीं अथवा समझ कर भी आदर नहीं दिखाया (प्रणय स्वीकारा नहीं)'—इस प्रकार युवक की संशय-बुद्धि को कुछ दूर गयी बाला ने पीछे देख कर सादर कटाक्ष पूर्वक निहारना-रूपी बाण से काट दिया।

टिप्पणी—एक तरुण किसी बाला की ओर प्रणय-संकेत कर रहा था, बाला उन पर ध्यान ही न दे रही थी। तरुण के मन में संशय उपजा कि या तो यह बाला लजाती हुई अल्पायु होने के कारण ना समझ है और प्रणय-संकेतों को समझती ही नहीं या फिर समझ-बूझ कर भी उपेक्षा कर रही है। क्या है इसका भाव? वह इसी द्विधा में था कि कुछ दूर जाकर बाला ने सानुराग पीछे दृष्टि फेर उसे देख लिया और स्पष्ट कर दिया कि वह प्रणय संकेत समझती है और तरुण के प्रति अपना अनुराग व्यक्त करती है। इस प्रकार दर्शन बाण से बाला ने द्विधा को दो टुक कर दिया॥ ७२॥

न राजिकाराढमभोजि तत्र कैर्मुखेन सीत्कारकृता दधद्धि।
घृतोत्तमाङ्गे कटुभावपाटवादकाण्डकण्डूयितमूर्द्धतालुभि?॥ ७३॥

जीवातु—नेति। तत्र भोजनसमये, कैः जनैः, दधद्धि दधिवत्, दध्ना संस्कृतम् इत्यर्थः। राजिकाराढ राजसर्षपनिष्पन्न, सर्षपचूर्णसंयुक्त व्यञ्जन-मित्यर्थः। 'अथो राजसर्षपः। क्षव क्षुधाऽभिजननो राजिका कृष्णिकाऽऽसुरी' इति यादवः। कटुभावपाटवात् कटुत्वसामर्थ्यात्, कटुरसातिरेकादि-त्यर्थः। घृतोत्तमाङ्गे कम्पितमस्तके, तथा अकाण्डे असमये, भोजनसमये मस्तककण्डूयनस्य स्मार्तवचननिषिद्धत्वात् भोजनसमयः कण्डूयनस्य असमय इति भावः। कण्डूयित मूर्द्धतालु मूर्द्धानं तालूनि च यैः तादृशैः सद्भिः, सीत्कारकृता ससीत्कारेण, मुखेन वक्त्रेण, न अभोजि? न अखादि? सर्वैः एवकुर्वद्भिरपि अभोजि इत्यर्थः। स्वभावोक्तिरलङ्कार॥ ७३॥

अन्वय.—तत्र राजिकाराढ दधद्धि कटुभावपाटवात् घृतोत्तमाङ्गैः अकाण्डकण्डूयितमूर्द्धतालुभि कैः सीत्कारकृता मुखेन न अभोजि।

हिन्दी—वहाँ (भीमराज के प्रसाद में भोजन करते समय) राजिका

(राई-राजसरसों) से संपन्न, दही-मिश्रित व्यंजन (रायता) विशेष तीता—चरपरा होने के कारण सिर हिलाते, अनवसर में मूर्द्धा और तालु खुजलाते किन (बारातियों) ने सी-सी करते मुख से न खाया ? (सभी ने खाया) ।

टिप्पणी—भोजन में तीता—चरपरा रायता भी था, जो राई, मिरच आदि डाल कर दही-द्वारा निष्पन्न होता है। यह चरपरा होने के साथ-साथ स्वादिष्ट और पाचक भी होता है। यद्यपि रायता चरपरा अधिक था, जिससे खाने वाले उसे सिर हिलाते और तालु-मूर्द्धा खुजलाते खा पाते थे,—जो कि मर्यादा के विरुद्ध है,—तथापि उस स्वादिष्ट व्यंजन को इस प्रकार भी बाराती खा ही रहे थे। सभी मुख से सी-सी कर रहे थे और रायता खा रहे थे। मल्लिनाथ ने यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार माना है और नारायण ने जाति—'राजिकाराद्धभोजिनामियं जातिः' ॥ ७३ ॥

वियोगिदाहाय कटूभवत्त्विषः तुषारभानोरिव खण्डमाहृतम् ।
सितं मृदु प्रागथ दाहदायि तत् खलः सुहृत्पूर्वमिवाहितस्ततः ॥ ७४ ॥

जीवातु—वियोगीति। वियोगिनां प्रियवियुक्तानां, दाहाय सन्तापाय, कटूभवन्त्यः तीक्ष्णीभवन्त्यः, त्विषः प्रभाः यस्य तादृशस्य, तुषारभानोः चन्द्रस्य, खण्डं शकलम्, आहृतम् आनीतम् इव स्थितम् इत्युत्प्रेक्षा। सितं शुभ्रं, प्रभूतदधियोगादिति भावः। तत् राजसर्षपमिश्रं व्यञ्जनं, पूर्वम् आदौ, सुहृत् आसः, ततः पश्चात्, कार्यकाले इत्यर्थः, अहितः अनाप्तः, खलः दुर्जन इव, इत्युपमा, प्राक् आदौ, स्पर्शकाले इत्यर्थः, मृदु कोमलम्, अथ पश्चात्, मुखे प्रक्षेपानन्तरमित्यर्थः, दाहदायि कटुरसातिरेकात् जिह्वादेर्दाहकारि, बभूव इति शेषः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—वियोगिदाहाय कटूभवत्त्विषः तुषारभानोः आहृतं खण्डम् इव सितं तत् प्राक् मृदु अथ दाहदायि पूर्वं सुहृत् ततः अहितः खलः ।

हिन्दी—विरहि जनों के निमित्त तीक्ष्ण किरणों वाले चन्द्र के आनीत खंड के तुल्य शुभ्र वह (रायता) पहिले मृदु (कोमल) और अनन्तर (पश्चात्) जलन उत्पन्न करता हुआ पहिले (कार्यकाल से पूर्व) मित्र, तत्पश्चात् (कार्यकाल के अनन्तर) अहितकारी (शत्रु) दुष्ट जन के समान हुआ ।

टिप्पणी—रायता पहिले तो छूने में श्वेत और कोमल दिखा चन्द्रमा के श्वेत खड के समान शुभ्र और शीतल, परन्तु मुख मे जब गया तो चरपरा और मुख दाह करने वाला सिद्ध हुआ। पहिले भला, बाद मे बुरा। इसकी उपमा दी गयी खल व्यक्ति से, जो जब मिलता है तो एक हितकारी मित्र-सा प्रतीत होता है, परन्तु समय पडने पर अहितकारी शत्रु प्रमाणित होता है। 'तुषारभातो आहृत खण्डमिव' को मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा माना है ॥७४॥

नवौ युवानौ निजभावगोपिनावभूमिषु प्राक् प्रहितभ्रमिक्रमम्।
दृशोर्विधत्त स्म यदृच्छया किल त्रिभागमन्योऽन्यमुखे पुन पुन ॥७५॥

जीवातु—नवाविति। नवौ बाल्ययौवनयो सन्धौ वर्तमानौ, अत एव निजभावगोपिनौ लज्जावशात् स्वाभिप्राय स्पष्टमप्रकाशयन्तौ, युवानौ युवतिश्च युवा च तौ, 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेष। प्राक् प्रथमम्, अभूमिषु अन्यविषयेषु, दर्शनायोग्येषु इत्यर्थ, नञर्थेन नञ्समास। प्रहितभ्रमिक्रमं कृतसञ्चारप्रकार, विषयान्तरेषु इतस्तत प्रवर्तितम् इत्यर्थ, दृशो: नयनयो, त्रिभाग तृतीयभागम्, अपाङ्गदर्शनम् इत्यर्थ, 'वृत्तिविषये सङ्ख्याशब्दस्य पूरणार्थत्वम्' इति कैयट। पुन पुन वार वारम् अन्योऽन्यस्य परस्परस्य, मुखे वदने, यदृच्छया, किल अनिच्छयैव, किल इत्यलीके, इच्छापूर्वकमेव इत्यस्य तात्पर्यम्। विधत्त. स्म निचिक्षिपतुरित्यर्थ, आदौ ह्रिया विषयान्तरदर्शनव्याजादेव अन्योऽन्यमुखम् अपाङ्गदृष्ट्या पुन पुनर्ददृशतुरिति चक्षु प्रीत्याख्या प्रथमावस्थैषा ॥ ७५ ॥

अन्वय.—नवौ निजभावगोपिनौ युवानौ प्राक् यदृच्छया अभूमिषु प्रहित-भ्रमिक्रम दृशो त्रिभाग पुन पुन अन्योऽन्यमुखे विधत्त स्म किल।

हिन्दी—नये (नयी तरुणाई—वय सन्धि को प्राप्त), अपने भावो को (लज्जा के कारण) छिपाते हुए युवक-युवती पहिले स्वेच्छया अभूमियो मे (व्यर्थ की अनुपयोगी वस्तुओ स्थानो मे) निरर्थक चक्कर खाते नेत्रों के तृतीयांश (कटाक्ष) को (पश्चात) बार-बार एक दूसरे के मुख पर स्थिर कर रहे थे।

टिप्पणी—दुछ नवयौवन को प्राप्त तरुण-तरुणी भी थे। नये अनुराग को वे लज्जा के कारण प्रकट कर न पा रहे थे। नयी झिझक। सो स्वतन्त्रता-स्वच्छन्दतापूर्वक पहिले तो कनखियों से इधर-उधर निरुद्देश्य देखते रहते

थे, बाद—मानों अन्य वस्तुओं पर दृष्टि डालने के क्रम में इधर भी दृष्टि पड़ गयी है, यह प्रकट करते—बारंबार अन्योऽय के मुख पर दृष्टि डालते रहते थे। भाव यह कि देख तो अनुराग पूर्वक रहे थे, पर इस प्रकार कि लोग समझें कि और-और देखते स्वाभाविक रूप में अन्योऽय मुखों पर भी दृष्टि पड़ गयी है। यह चक्षु प्रीति नामक (नयन-लड़ाना) अनुराग की प्रथमावस्था है ॥ ७५ ॥

व्यधुस्तमां ते मृगमांससाधितं रसादशित्वा मृदु तेमनं मनः।
निशाधवोत्सङ्गकुरङ्गजैरदः पलैः सपीयूषरसैः किमप्यपि ? ॥ ७६ ॥

जीवातु—व्यधुस्तमामिति। ते जन्याः, मृगमांसेन हरिणमांसेन, साधितं निष्पादितं, मृदु कोमलं, तेमनं व्यञ्जनम् 'तेमनं व्यञ्जने क्लेदे' इति हेमचन्द्रः। रसात् रागात्, साग्रहमित्यर्थः, अशित्वा आस्वाद्य, अदः इदं तेमनं, निशाधवस्य निशापतेः इन्दोः, उत्सङ्गे क्रोडे, यः कुरङ्गः मृगः, तज्जैः तत्सम्बन्धिभिः, अत एव सपीयूषरसैः अमृतद्रवमिश्रितैः पलैः मांसैः, अश्रपि किम् अपाचि किम् ? पाकार्थात् श्रावातोः ण्यन्ताद् कर्मणि लुङ्, घटादित्वात् मित्वात् ह्रस्वः। इति मनो मतिं, व्यधुस्तमाम् अतिशयेन विदधुः इत्युत्प्रेक्षितवन्तः इत्यर्थः। दधातेर्लुङि 'तिङश्च' इति तमप्प्रत्ययः, ततः 'किमेत्तिङव्ययघादा-' इति आमुप्रत्ययः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—ते मृगमांससाधितं मृदु तेमनं रसात् अशित्वा 'अदः निशाधवोत्सङ्गकुरङ्गजैः सपीयूषरसैः पलैः किम् अश्रपि ?'—(इति) मनः व्यधुस्तमाम्।

हिन्दी—वे (बाराती) हिरनों के मांस से सम्पन्न मुलायम 'तेमन' (व्यंजन) को रस पूर्वक खाकर 'क्या यह निशानाथ (चन्द्र) की गोद के हिरनों के अमृत रस मय मांस से बना है ?—यह मन में विचारने लगे।

टिप्पणी—हिरन-मांस के व्यंजन को बारातियों ने बड़ी रुचि से खाया। वह इतना स्वादिष्ट लगा कि वे विचारने लगे कि यह मांस-व्यंजन सामान्य हिरनों के मांस से बना नहीं है, यह तो अमृत-सागर चन्द्रमा की गोद के हिरनों के मांस से बना प्रतीत होता है, तभी तो इतना स्वादिष्ट है। इतना रस मय, और इतना मृदु ! मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ७६ ॥

परस्पराकूतजदूतकृत्ययोरनङ्गमाराद्घुमपि क्षणं प्रति।
निमेषणेनैव कियच्चिरायुषा जनेषु यूनोरुदपादि निर्णयः ॥ ७७ ॥

जीवातु—परस्परेति । परस्परस्य आकूतात् । अभिप्रायावेदकनयनादिचेष्टाविशेषात्, जातं निर्वृत्तं, दूतकृत्यं सम्भोगसम्मतिविषयकप्रश्नोत्तरपरिज्ञानरूपं दौत्यकार्यं ययो तादृशयो , सज्ञाभिरेव कृतसमागमनिश्चययोरित्यर्थः, यूनो: कयोश्चित् तरुणयो स्त्रीपुंसयो , अनङ्गं कामम्, आराद्धुं सेवितुं, रन्तुमित्यर्थ., क्षणं कालं प्रति, निर्णयोऽपि निश्चयोऽपि, समागमकालनिर्धारणमपीत्यर्थ , जनेषु जनमध्ये एव, कियच्चिरायुषा किञ्चिद्दीर्घकालावस्थायिना, निमिषेणैव नयननिमीलनेन एव, साधारणनिमेषकालापेक्षया किञ्चिदधिककालव्यापिना नेत्रमुद्रणकरणेनैवेत्यर्थ , उदपादि उत्पन्न उत्पद्यतेः कर्त रि लुङ् 'चिण् ते पदः' इति चिण् । एतेषु निदिनेष्वेव आवयोः समागम. भवेद् इति कालनिश्चयोऽपि नेत्रनिमीलनरूपसज्ञयैव कृताः इति भावः ।। ७७ ।।

अन्वय.—परस्पराकूतजदूतकृत्ययो यूनो. अनङ्गम् आराद्धुं क्षणं प्रति निर्णय अपि जनेषु कियच्चिरायुषा निमिषेण एव उदपादि ।

हिन्दी—परस्पर (अभिप्राय सूचक कटाक्षादि नयन व्यापार) सकेतों द्वारा दूत का कार्य ले लेने वाले युवक-युवतियों ने कामाराधना (सुरत-व्यापार) के समय का भी निश्चय भरी भीड़ में कुछ देर तक नयन बन्द कर पल मात्र में ले लिया ।

टिप्पणी—अनुराग से मतवाले तरुण-तरुणी न केवल सकेतों से अपना प्रणय-निवेदन ही कर रहे थे, प्रत्युत उस भीड़ में मिलन-वेला का निर्णय और निश्चय भी कुछ लम्बी पलक झपनी के सकेत से कर ले रहे थे। जब कमल मुँद जाते हैं अर्थात् रात हो जाती है, अथवा नेत्र जब मुद जाते हैं तब रात को काम पूजा होगी—यह बिलम्बित नयननिमीलन का तात्पर्य था।

अहर्निशा वेति रताय पृच्छति क्रमोष्णशीतान्यकरार्पणात् विटे ।
ह्रिया विदग्धा किल सन्निषेधिनी न्यधत्त सन्ध्यामधुरेऽधरेऽङ्गुलिम्।।७८।।

जीवातु—अहरिति । विटे कस्मिंश्चित् कामुके, क्रमेण पर्यायानुसारेण; उष्णशीतयो. अन्नयोः सोऽप्यद्वयो. उपरि, करार्पणात् हस्तस्थापनात्, तद्रूपसङ्केतविशेषादित्यर्थं , रताय सम्भोगाय, अहः सूर्यसम्पर्केण उष्णोपलक्षित दिनं वा काल. ? निशा वा चन्द्रसम्पर्केण शैत्योपलक्षिता निशा वा कालः ? इति एव, पृच्छति जिज्ञासमाने सति, विदग्धा चतुरा, तदभिप्राया-

मित्रेत्यर्थः, ह्रिया लज्जया, किल तत् कालद्वयं, निषेधतीति तन्निषेधिनी सन्निवारिका सती, सन्ध्यामधुरे सन्ध्यावत् मनोहरे, सन्ध्यारुणवर्णे इत्यर्थः, अधरे ओष्ठे, अङ्गुलिं न्यधत्त स्थापयामास, सन्ध्यासवर्णाधरस्पर्शेन आवयोः सन्ध्यासमये समागमः इति सूचयामास इत्यर्थः । ह्रिया स्त्रीभिरङ्गुल्या अधरमाच्छाद्यते इति प्रसिद्धम् ॥ ७८ ॥

अन्वयः—विटे क्रमोष्णशीतान्नकरार्पणात् 'रताय अहः वा निशा'—इति पृच्छति विदग्धा ह्रिया तन्निषेधिनी सन्ध्यामधुरे अधरे अङ्गुलिम् अधत्त ।

हिन्दी—कामना करने वाले (रतोत्सुक प्रणयी) के क्रम से गर्म और ठंडे खाद्य पर हाथ रख कर 'सुरत के लिए दिन या रात'—यह पूछने पर चतुरा सुन्दरी ने लज्जा से उन (दोनों दिन-रातों) का निषेध करते हुए सौन्ध्य के समान मनोहर अधर पर अंगुलि रख ली ।

टिप्पणी—एक प्रणयी ने गरम और ठंडे भोजन पर क्रमशः हाथ रख कर संकेत से प्रणयिनी से मिलन-समय-निर्धारण करना चाहा कि कामाराधन दिन में होगा या रात में ? गरम भोजन दिन का और ठण्डा रात का संकेत । लज्जा नाट्य करते हुए विलास कुशला प्रणयिनी ने अधर पर अंगुलि रख कर स्त्री सुलभ चेष्टा द्वारा निषेध भी कर दिया और यह भी बता दिया कि यह सन्ध्या-मधुर अरुणाधर देखो, इस-जैसी अरुण वेला में ही काम-पूजा सम्भव है, अर्थात् न दिन, न रात; मिलन वेला है अरुणाभा सन्ध्या । दिन में सूर्य का प्रकाश, रात में चाँदनी का उजाला, कहीं प्रकाश में काम-पूजा संभव है ! लोग देख लें तो ? अतः सन्ध्या ही ठीक है, न सूरज का उजाला, न चन्दा की चमक ॥ ७८ ॥

(क्रमेण कूरं स्पृशतोष्मणः पदं सिताश्च शीताम्भ्वतुरेण वीक्षिता ।
दधौ विदग्धाऽरुणितेऽधरेऽङ्गुलीमनौचितीचिन्तनविस्मिता किल॥१॥)

[1]प्रकाशः—क्रमेणेति । अयं श्लोकः क्षेपकः । कूरं भक्तम् । सितां शर्कराम् । किमिदमनेनानुचितं क्रियत इत्यनौचितीचिन्तनेन विस्मिता किल विस्मितेव । अरुणिते यावकेनेत्यर्थः । भावः स एव ॥ १ ॥

अन्वयः—क्रमेण ऊष्मणः पदं कूरं शीतां सितां च स्पृशता चतुरेण वीक्षिता अनौचितीचिन्तनविस्मिता विदग्धा अरुणिते अधरे अङ्गुलीं दधौ किल ।

१—जीवातुटीकाभावात्प्रकाशटीकात्र प्रदत्ताऽस्ति ।

हिन्दी—क्रम से गर्म भात और ठंडे शक्कर का स्पर्श करते चतुर प्रणयी से देखी गयी प्रणयी के अनुचित विचार का चिन्तन करती चतुरा प्रणयिनी ने गुलाबी ओठ पर अंगुलि रख ली।

टिप्पणी—यह श्लोक क्षेपक माना गया है। जीवातु व्याख्या इस पर नहीं है। आशय पूर्व श्लोक जैसा ही है ॥ (१)७८ क ॥

कियत्त्यजन्नोदनमानयन् कियत् करस्य पप्रच्छ गतागतेन याम्।
अहं किमेष्यामि? किमेष्यसीति? सा व्यधत्त नम्रं किल लज्जयाऽऽननम्॥

जीवातु—कियदिति। कियत् किञ्चित्, ओदनम् अन्नं, त्यजन् भोजनपात्रैकदेशे अपसारयन् कियत् किञ्चित् ओदनम्, आनयन् तत्रैव स्वयं प्रति आकर्षन्, पूर्वोक्त विट इति शेष:, करस्य पाणे:, गतागतेन ओदनस्यापसारणार्थमाकर्षणार्थञ्च यातायाताभ्याम् 'विप्रतिषिद्धञ्चानधिकरणवाचि' इति वैभाषिको द्वन्द्वे एकवद्भाव। किम् अहम् एष्यामि? त्वां प्रति इति शेष, किं एष्यसि वा? त्वं मां प्रति इति शेष, इति यां तरुणीं, पप्रच्छ जिज्ञासयामास सा स्त्री, लज्जया किल विलेखपीनैकें, वस्तुत तज्जिज्ञासितोत्तरदानार्थमेव इति भाव। आननं मुखं, नम्रम् अवनतं, व्यधत्त कृतवती, शिरोऽवनतिसंज्ञया त्वमेव मां प्रति आगच्छ इति सूचितवती इति भाव ॥७९॥

अन्वय—कियत् ओदनं त्यजन्, कियत् आनयन् करस्य गतागतेन 'किम् अहम् एष्यामि, किम् (वा) एष्यसि' इति यां पप्रच्छ, सा लज्जया किल आननं नम्रं व्यधत्त।

हिन्दी—कुछ भात छोड़ते और कुछ अपनी ओर खींचते हस्तगमनागमन द्वारा प्रणयी ने 'क्या मैं तेरी ओर आऊँ अथवा तू मेरे आवास पर आयेगी' (संकेत) से यह जिस (सुन्दरी) से पूछा, उसने लज्जा से मुख नँवा लिया।

टिप्पणी—कामाराधन का संध्याकाल-निर्णय होने पर भात को हाथ से एक बार दूसरी ओर और दूसरी बार अपनी ओर खसकाते हुए संकेत द्वारा प्रणयी ने यह जानना चाहा कि प्रणयी प्रेमिका के डेरे पर पहुँचे अथवा वह उसके डेरे पर आयेगी? दूसरी ओर खसकाना प्रणयी के जाने और अपनी ओर भात खींचना प्रणयिनी के आने का संकेत है। प्रणयिनी ने मुख नीचा

करके नारी सुलभ लज्जा भी प्रकट कर दी और यह भी प्रकट कर दिया, कि तुझे ही आकर मेरा उदार पदपल्लव-ग्रहण करना है। व्रजभूमि के प्रसिद्ध लोकगीत 'गरजपरै तो आय जइयो' के अनुसार रावारानी को नहीं, कान्हा को ही जाना होगा। भात विभक्त करके कुछ आगे रखना, कुछ बाद में दही आदि के साथ खाने के लिए अलग रखना भोक्ता-स्वभाव है ॥ ७९ ॥

यथाऽऽमिषे जग्मुरनामिषभ्रमं निरामिषे चामिषमोहमूहिरे ।
तथा विदग्धैः परिकर्मनिर्मितं विचित्रमेव परिहस्य भोजिताः ॥ ८० ॥

जीवातु—यथेति । एते जन्याः, यथा येन प्रकारेण, आमिषे मांसे अनामिषम् अमांसम् इति भ्रमं भ्रान्तिं, जग्मुः प्रापुरित्यर्थः यथा च निरामिषे अनामिषे, आमिषमोहं मांसभ्रमञ्च, ऊहिरे प्राप्नुवन्ति स्म, तथा तेन प्रकारेण, विदग्धैः परिहासनिपुणैः, पाचकैरिति शेषः, परिकर्मणा तत्तद्भोज्यसंस्कारक-द्रव्यविशेषेण, निर्मितं निष्पादितम्, अत एव विचित्रम्-आश्चर्यं, भोज्यवस्तु इति शेषः, परिहस्य आमिषदानकाले च निरामिषपरिवेषणरूपं, निरामिषदानकाले च आमिषपरिवेषणरूपं परिहासं कृत्वा, भोजिताः भोजनं कारिताः ॥ ८० ॥

अन्वयः—यथा आमिषे अनामिषभ्रमं जग्मुः निरामिषे च आमिषमोहम् ऊहिरे तथा विदग्धैः परिकर्मनिर्मितं विचित्रम् एव परिहस्य भोजिताः ।

हिन्दी—जिससे कि मांसाहार में अमांसाहार के भ्रम को प्राप्त हुए और अमांसखाद्य में मांस के भ्रम को प्राप्त हुए, वैसे ही चतुर (रसोइयों) ने भोजन बनाने की विशिष्ट चातुरी द्वारा आश्चर्य जनक खाद्य बनाकर परिहास करते (बारातियों को) खिलाया ।

टिप्पणी—पाचनकला में प्रवीण पाचकों ने परिहास की स्थिति उत्पन्न करने के निमित्त ऐसी आश्चर्यपूर्ण भोज्य-सामग्री सम्पन्न की थी कि भोक्ता बारातियों को मांसाहार में शाकाहार की और शाकाहार में मांसाहार की भ्रांति हो गयी। इस प्रकार परिहास की स्थिति उत्पन्न हो गयी ॥ ८० ॥

नखेन कृत्वाऽधरसन्निभां निभाद्युवा मृदुव्यञ्जनमांसफालिकम् ।
ददंश दन्तैः प्रशशंस तद्रसं विहस्य पश्यन् परिवेषिकाऽधरम् ॥ ८१ ॥

जीवातु—नखेनेति । युवा कश्चिद् तरुणः मृदोः कोमलस्य, व्यञ्जनमांसस्य

तेमनीभूतमासस्य, फालिका खण्डिका निभात् भक्षणव्याजात्, नखेन नखरद्वारा, सञ्छिद्य इति भावः, अधरसन्निभा परिवेषिकाधराकारा, कृत्वा विधाय, परिवेषिकायाः भोज्यप्रदात्र्याः, अधरं निम्नोष्ठं, पश्यन् अवलोक्य, विहस्य हसित्वा, दन्तैः ददंश दष्टवान्, तस्य रसं स्वादं, प्रशशंस अहो अमृतकल्पमिति तुष्टाव चेत्यर्थः, तदधरबुद्धया इति भावः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—युवा मृदुव्यञ्जनमासफालिकां नखेन निभात् अधरसन्निभां कृत्वा दन्तैः ददंश, परिवेषिकाधरं पश्यन् विहस्य तद्रसं प्रशशंस ।

हिन्दी—एक युवक ने कोमल मांस खंड को नख द्वारा व्याज से अधर-तुल्य करके (ओष्ठाधार तुल्य दो भागों में करके) दांतों से काटा और परोसनेवाली तरुणी के अधर को लक्ष्य करके, हँसकर उसके (अधर तुल्य किये मांसखंड के) रस की प्रशंसा की ।

टिप्पणी—मांस-व्यंजन भक्षण करते एक तरुण ने कोमलमांस खंड के दो भाग कर उसे अधराकार कर लिया, दिखाया कि मानो भक्षणार्थ दो खंड किये हैं, और अधराकार गुलाबी मांस-खंड को दांतों से काट कर परोसने वाली युवती के अधर की ओर देखकर हँसते हुए कहा कि इससे स्वादु व्यंजन तो अद्यावधि चखा ही नहीं । पूर्णतः अमृतरस से परिपूर्ण है यह तो । इस प्रकार उसने युवती के अधर-दंश को संकेतित करते हुए मांस-खंड में अधर का आरोप करके उसके माधुर्य की प्रशंसा की । दिखाया कि वह परिवेषिका के स्वादु अधरामृत का ही पान कर रहा है ॥ ८१ ॥

अनेकसंयोजनया तदा कृतं निकृत्य निष्पिष्य च तादृगर्जनात् ।
अमी कृताकालिकवस्तुविस्मयं जना बहु व्यञ्जनमभ्यवाहरन् । ८२ ॥

जीवातु—अनेकेति । तदा भोजनकाले, अमी जना भोक्तारः, अनेकेषां बहूनां संस्कारकद्रव्याणां संयोजनया मेलनेन, तथा निकृत्य छित्त्वा, निष्पिष्य पिष्ट्वा च अर्जनात् वस्त्वन्तरसादृश्यसम्पादनात् हेतोः, तादृक् तादृशं, विचित्रमित्यर्थः, कृतं निष्पादितं, यथा (तथा) कृतः सम्पादितः, आकालिकेषु अकालभवेषु, तत्कालदुर्लभेषु इत्यर्थः, वस्तुषु पदार्थेषु, विस्मयः अद्भुतता येन तत् तादृशं, बहु अनेकं व्यञ्जनं शाकमांसादिकम्, अभ्यवाहरन् अभुञ्जत ॥ ८२ ॥

अन्वयः—तदा अमी जनाः अनेकसंयोजनया निकृत्य निष्पिष्य च अर्जनात् तादृक् कृतं कृताकालिकवस्तुविस्मयं बहु व्यञ्जनम् अभ्यवाहरन् ।

हिन्दी—तब (भोजनकाल में) इन लोगों (बारातियों) ने अनेक मिर्च-मसालों के संयोग-द्वारा, काट-काट कर तथा पीसकर दूसरी (भोज्य) (वस्तु) के समानता के कारण वस्त्वंतर-सदृश बना दिये गये, असमय में प्राप्त होती वस्तु का विस्मय उत्पन्न करने वाले, अनेक व्यञ्जनों का भलीभाँति आहार किया ।

टिप्पणी—८० संख्या के श्लोक में बताया गया है कि भीमराज के पाचक अपने कर्म में अत्यन्त प्रवीण थे—विदग्ध । उन्होंने अनेक उस ऋतु में प्राप्त कन्द, मूल, फल आदि को काट-पीस कर तथा उनमें अनेक प्रकार के मसालों की संयोजना कर ऐसा रूप दे दिया कि वे उस ऋतु में उत्पन्न न होने वाले अन्य ऋतु में उपजने वाले फलादि-से प्रतीत होने लगे । फलतः में उद्भूत खाद्यों के व्यंजन देख कर बाराती विस्मय में पड़ जाते थे और उन अनेक व्यंजनों को आग्रह पूर्वक माँग-माँग कर भोग करते थे । फलादि काट कर , उन्हें आटा-बेसन आदि में सान कर और अनेक मसालों की गंध से वासित कर पूर्णतः दूसरा ही आकार दे दिया जाता था, जिससे असमयो-त्पन्न शाकादि का भ्रम हो जाता था ॥ ८२ ॥

पिपासुरस्मीति विबोधिता मुखं निरीक्ष्य बाला सुहितेन वारिणा ।
पुनः करे कर्त्तुमना गलन्तिकां हसात् सखीनां सहसा न्यवर्त्तत ॥८३॥

जीवातु—पिपासुरिति । वारिणा जलेन, सुहितेन तृप्तेन इत्यर्थः । 'सौहित्यं तर्पणं तृप्तिः' इत्यमरः । शेषार्थे षष्ठी 'पूरणगुण—' इत्यादिना समासनिषेधः । केनचित्, यूना इति शेषः । मुखं बालिकाया वदनं, निरीक्ष्य अवलोक्य, पिपासुः पातुम् इच्छुः, अस्मि भवामि, इति विबोधिता विज्ञापिता, बाला तरुणी, निगूढाभिप्रायपरिज्ञानमूढा काचिदप्रौढा इति भावः । पुनः गलन्तिकां कर्करीं, जलदानपात्रमित्यर्थः 'कर्कर्यालुर्गलन्तिका' इत्यमरः । करे हस्ते, कर्त्तुमनाः धर्त्तुकामा सती 'पृषोदरादीनि' इत्यादौ 'तुंकाममनसोरपि' इति कारिकातोमकारलोपः । सखीनां सहचरीणां, हसात् हास्यात्, 'स्वनहसोर्वा' इति विकल्पादप्प्रत्ययः । सहसा सपदि, न्यवर्त्तत

निवृत्ता जलेन तृप्तस्याप्यस्य कर्मविशेषमनुपादाय केवलं 'पिपासुरस्मि' इति कथनेन बालिकाया अस्या अधरमेव पिपासुरयमिति तद्वाक्यतात्पर्यमवधार्य सखीनां हास्याद् बाला तदाशयं परिज्ञाय जलपरिवेषणव्यापारान्निवृत्तेति भावः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—शार्ङ्गिणा सुहितेन मुखं निरीक्ष्य 'पिपासुः अस्मि'—इति विबोधिता बाला पुनः गलन्तिकां करीकर्तुमनाः सखीनां हसात् सहसा न्यवर्तत ।

हिन्दी—मुख (सुन्दर मुखड़ा) देख कर 'प्यासा हूँ'—यह कह कर विज्ञापिता बाला फिर से गलन्तिका (जल पात्र—झारी) को हाथ में उठाने की इच्छा करती हुई सखियों के हँसने से झट रुक गयी ।

टिप्पणी—एक मनचला बाराती यद्यपि प्यासा नहीं था, पर उपहासार्थ उसने जल पिलाती एक सुन्दरी का सलोना मुखड़ा देख कर जल पीने की इच्छा व्यक्त की कि चलो अच्छी दिल्लगी होगी और नयन सुख मिलेगा । वह सरला जल पिलाने को जल पात्र उठा ही रही थी कि उसकी तथ्य—समझने वाली सखियाँ हँस पड़ीं । इससे वह बाला वास्तविकता समझ गयी स्वकार्य से विरत हो गयी ॥ ८३ ॥

युवा समादित्सुरमत्रग घृतं विलोक्य तत्रैणदृशोऽनुबिम्बनम् ।
चकार तन्नीविनिवेशितं करं बभूव तच्च स्फुटकण्टकोत्करम् ॥ ८४ ॥

जीवातु—युवेति । युवा कश्चित्तरुण, अमत्रग पात्रगतम् 'सर्वमावपनं भाण्ड पात्रामत्रञ्च भाजनम्' इत्यमरः । घृतं समादित्सुः ग्रहीतुमिच्छुः सन् ददाते सन्नन्तादुप्रत्ययः, 'सनि मीमा—' इत्यादिना इसादेशे अभ्यासलोपः । तत्र घृते, एणदृशः मृगाक्ष्याः, परिवेषिकाया इति शेषः । अनुबिम्बनं प्रतिबिम्बं, विलोक्य दृष्ट्वा, करं स्वकीयहस्तं, तस्य स्त्रीप्रतिबिम्बस्य, नीव्यां कटिवस्त्रबन्धने, निवेशितं स्थापितं, चकार कृतवान्, ततः प्रतिबिम्बश्च, स्फुटं व्यक्तं कण्टकोत्करं पुलकप्रकरं यस्य तादृशं बभूव सञ्जातम् स्त्रीयनीविग्रन्थिमोचनाभिप्रायप्रकटनार्थं स्वप्रतिबिम्बनीविसविधे तदीयकरार्पणं दृष्ट्वा तस्य स्वसम्भोगाभिप्रायं परिज्ञाय तस्मिन्ननुरागात् सा पुलकिता अभूत् तत एव तत्प्रतिबिम्बमपि पुलकितं बभूवेति भावः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—अमत्रगं घृतं समादित्सुः युवा तत्र एणदृशः अनुबिम्बनं विलोक्य करं तन्नीविनिवेशितं चकार तत् च स्फुटकण्टकोत्करं बभूव ।

हिन्दी—अमर्तवान (चिकनी मिट्टी आदि से बने चिकने पदार्थों के रखने के पात्र) में रखे घी को लेने के इच्छुक एक युवक ने उस (पात्रस्थ घी) में मृगनयना का प्रतिबिम्ब देख कर हाथ को (उस नारी के प्रतिबिम्ब) की नीवी (कटि वस्त्र के बन्धन स्थल) में डाल दिया और वह (प्रतिबिम्ब) स्पष्टतः पुलकांचित हो उठा।

टिप्पणी—घृतोत्सुक एक तरुण ने परोसने वाली तरुणी का पात्रस्थ घृत में प्रतिबिम्ब देख—बिम्ब नहीं तो प्रतिबिम्ब ही सही, यह विचारते हुए—प्रतिबिम्बस्था सुन्दरी की नीवी पर हाथ डाल दिया, जैसे वह कटि प्रदेश के बन्धन को सुरत निमित्त खोल रहा है। प्रतिबिम्ब में पुलक उत्पन्न हो गयी—तरल घृत में हाथ लगने से कंप हो ही जाता। ऐसी प्रतीत हुई कि घी परोस ने वाली सुन्दरी तरुण के इस व्यापार से वह कल्पना कर कि युवक उसका अनुरागी है और कामाराधना के निमित्त नीवी बन्धन-भंग करना चाहता है, पुलकित हो उठी, और बिम्ब-पुलक के कारण प्रतिबिम्ब में भी पुलक स्पष्ट हो उठा। इस प्रकार दोनों का तुल्यानुराग प्रकट हो गया—'दोनों तरफ थी आग बराबर लगी हुई'॥ ८४॥

प्रलेहजस्नेहकृतानुबिम्बनां चुचुम्ब कोऽपि श्रितभोजनस्थलः।
मुहुः परिस्पृश्य कराङ्गुलीमुखैस्ततोऽनुरक्तैः स्वमवापितैर्मुखम्॥८५॥

जीवातु—प्रलेहजेति। कोऽपि युवा, श्रितभोजनस्थलः प्राप्तभोजनप्रदेशः सन्, प्रलेहजस्नेहे लेह्यद्रव्यजातस्नेहरसे, कृतानुबिम्बनां प्राप्तप्रतिबिम्बां, प्रतिबिम्बितामित्यर्थः परिवेषिकाम् इति शेषः। मुहुः वारं वारं, परिस्पृश्य स्पृष्ट्वा, अङ्गुल्यग्रैरिति भावः। ततः स्पर्शात् अनन्तरं, स्व निजं, मुखम् आस्यम्, अवापितैः प्रापितैः, चुम्बितैः इत्यर्थः। अत एव अनुरक्तैः उष्णस्पर्शात् स्वभावाद्वा आरक्तैः, स्निग्धैरिति च गम्यते कराङ्गुलीमुखैः हस्ताङ्गुल्यग्रैः, चुचुम्ब चुम्बितवान् प्रतिबिम्बितां तामिति शेषः। मुहुः लेह्यलेहनव्याजेन सम्मुखस्थपरिवेषिकाप्रतिबिम्बानुस्पृष्टाङ्गुलिमुखचुम्बनात् एव तत्प्रतिबिम्बचुम्बनात् सुखम् अन्वभूत्, तां प्रति अनुरागमदर्शयच्च इति भावः॥ ८५॥

अन्वयः—श्रितभोजनस्थलः कः अपि प्रलेहजस्नेहकृतानुबिम्बनां स्वं मुखम् अवापितैः ततः अनुरक्तैः कराङ्गुलीमुखैः चुचुम्ब।

हिन्दी—भोजन-पंक्ति मे स्थित एक बाराती ने किसी चाटने योग्य भोज्य की चिकनाई में प्रतिबिम्बिता (सुन्दरी) को अपने मुख मे रखे और उससे अनुरक्त (लाल हुए अथवा अनुराग प्रकट करते) हाथ की उँगली के पोरो से चूमा।

टिप्पणी—प्रलेह की चिकनाई में प्रतिबिम्बित सुन्दरी को चूमने का नाट्य एक छैला ने इस प्रकार व्यक्त किया कि प्रतिबिम्ब के ओठों पर अपनी उँगली अपने मुँह मे रख ली। प्रतिबिंब का चुबन लेकर जैसे बिम्ब को चूमने की प्यास तरुण ने मिटायी ॥ ८५ ॥

अराधि यन्मीनमृगाजपत्रिजैः पलैर्मृदु स्वादु सुगन्धि तेमनम्।
अशाकि लोकै कुत एव जेमितु? न तत्तु सङ्ख्यातुमपि स्म शक्यते ॥८६॥

जीवातु—अराधीति। मीना मत्स्या, मृगा शशादय, अजा छागा, पत्रिण पक्षिण चटकादय, तेभ्य जातैः तत्सम्बन्धिभि, पलै मांसै। 'पलमुन्मानमांसयोः' इति मेदिनी। मृदु कोमल, स्वादु रसवत्, सुगन्धि सुरभि, यत् तेमन, व्यञ्जनम्, अराधि अपाचि, निष्पादितमित्यर्थः तत् तेमन, लोकै भोक्तृजनैः, सङ्ख्यातु बहुत्वात् गणयितुम् अपि, न शक्यते स्म न समर्थ्यते स्म, तु पुन, जेमितुम् अशितु, कुत एव कथ वा, अशाकि? शक्तैरभावि? बहुलत्वादिति भावः। 'पाके राध्यते रध्यति जेमत्यसि चमती'ति भट्टमल्ल ॥ ८६ ॥

अन्वय—मीनमृगाजपत्रिजैः पलै मृदु स्वादु सुगन्धि यत् तेमनम् अराधि, तत् लोकै सङ्ख्यातुम् अपि न शक्यते स्म जेमितु तु कुत एव अशाकि?

हिन्दी—मत्स्य, मृग, बकरा और पक्षियों के मांस से मुलायम, स्वादिष्ट और सुगन्धि जो व्यजन निष्पन्न किया गया, उसकी तो गणना भी लोगों से सम्भव न थी, जीमने मे तो (वे लोग) कहाँ समर्थ होते?

टिप्पणी—विविध जलचर, स्थलचारी और पक्षियो के इतने प्रकार के मांस व्यजन उस भोज म तैयार किये थे कि उनकी गणना ही असम्भव थी, उन सबको थोडा-थोडा चखना भी कैसे सम्भव बन पाता? अनेक प्रकार के प्रचुर व्यञ्जन थे उस 'दावत' राज भोज में ॥ ८६ ॥

कृतार्थनश्चाटुभिरिङ्गितैः पुरा परासि यः किञ्चन कुञ्चितभ्रुवा।
क्षिपन् मुखे भोजनलीलयाऽङ्गुलीः पुनः प्रसन्नाननयाऽन्वकम्पि सः ॥

जीवातु—कृतेति। चाटुभिः अनुनयसूचकैरित्यर्थः। इङ्गितैः नयनादिचेष्टितैः, कृतार्थनः कृतसम्भोगप्रार्थनः, यः युवा, किञ्चन किञ्चित् कुञ्चितभ्रुवा कुटिलभ्रुवा, कृतभ्रुकुटया इत्यर्थः। स्त्रिया इति शेषः, पुरा पूर्वं, पर्यहारि, प्रत्याख्यात इत्यर्थः, सः युवा, भोजनलीलया भोजनव्यापारेण, तद्व्याजेन इत्यर्थः। मुखे अङ्गुलीः तत्प्रतिबिम्बस्पृष्टाङ्गुलीरित्यर्थः, क्षिपन् स्थापयन्, प्रतिबिम्बस्पृष्टाङ्गुलीचुम्बनव्याजेन तामेव चुम्बयन्निति भावः, प्रसन्नाननया तदनुरागदर्शनेन सानुरागदर्शनादिव्यञ्जितप्रसन्नमुख्या तया, पुनः अन्वकम्पि अनुकम्पितः, तदव्याकुलतादर्शनेन सम्भोगप्रार्थनं तया स्वीकृतमिति भावः ॥८७॥

अन्वयः—किञ्चनकुञ्चितभ्रुवा चाटुभिः इङ्गितैः कृतार्थनः यः पुरा पराहि, सः भोजनलीलया मुखे अङ्गुलीः क्षिपन् प्रसन्नाननया पुनः अन्वकम्पि।

हिन्दी - कुछ भौंहें वंक करके सुन्दरी ने खुशामद भरे संकेतों से याचना करते जिस (कामी तरुण) का पहिले प्रत्याख्यान कर दिया था, उसे ही भोजन के ब्याज से मुख में अंगुलि रखते हुए (देख) प्रसन्नमुखी सुन्दरी ने पुनः अनुकम्पित (कृतकृत्य) किया।

टिप्पणी—एक बार तो याचना ठुकरा दी, किन्तु पुनः प्रार्थना करते देख कामिनी ने प्रसन्नता प्रकट करके उसकी याचना स्वीकार ली। वंकभ्रू कोप-निषेध की सूचक है और प्रसन्नानन प्रसन्नता-स्वीकृति का। एक बार की खुशामद पर प्रत्याख्यान किया, परन्तु पुनः निषेध न कर सकी ॥ ८७ ॥

अकारि नीहारनिभं प्रभञ्जनादधूपि यच्चागुरुसारदारुभिः।
निपीय भृङ्गारकसङ्गि तच्च तैरवर्णि वारि प्रतिवारमीदृशम्॥ ८८ ॥

जीवातु—अकारीति। यत् वारि जलं, प्रभञ्जनात् वायोः, वायुसञ्चालनात् इत्यर्थः। 'श्वसनः स्पर्शनो वायुर्मातरिश्वा सदागतिः। नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जनाः॥' इत्यमरः। नीहारनिभं हिमकल्पं, तद्वत् शीतलम् इत्यर्थः। अकारि कृतं, तथा अगुरोः कृष्णागुरुवृक्षस्य, सारदारुभिः अभ्यन्तरस्थितोत्कृष्टसुगन्धिकाष्ठैः, धूपकाष्ठैरिति यावत्, अधूपि धूपितञ्च, वासितञ्च इत्यर्थः। भृङ्गारकसङ्गि क्षुद्रकनकालुकान्तर्गतं, स्वर्णमयजलपात्रविशेषस्थितमित्यर्थः। 'भृङ्गारः कनकालुका' इत्यमरः। तत् पूर्वोक्तं वारि, निपीय पीत्वा, प्रतिवारं प्रतिपानकालं, तैः पातृभिः, ईदृशं वक्ष्यमाणरूपम्, अवर्णि वर्णितम् ॥ ८८ ॥

अन्वय—यत् प्रभञ्जनात् नीहारनिभम् अकारि अगुरुसारदारुभिः च अधूपि, भृङ्गारकसङ्गि तत् च निपीय प्रतिवारं तैः ईदृशम् अवर्णि।

हिन्दी—जिस जल को वायु से हिम-सदृश शीतल कर दिया था और कृष्ण अगुरु की सुगन्धि लकड़ियों से धूप दे जिसे सुवासित कर दिया गया था, सुवर्ण पात्र में रखे उस (जल) को पीकर (अथवा अनेक बार पीकर) पीते समय प्रत्येक बार उन्होंने (पीने वाले बारातियों ने) इस प्रकार (वक्ष्यमाण रीति से) उसका वर्णन किया।

टिप्पणी—आशय कि राजा भीम ने उत्तम खाद्य पदार्थों के साथ-साथ सुगन्धि, शीतल और स्वच्छ जल का भी उत्कृष्ट प्रबन्ध किया था, जो प्रशंसनीय था॥ ८८॥

त्वया विधातर्यदकारि चामृतं कृतञ्च यज्जीवनमम्बु साधु तत्।
वृथेदमारम्भि तु सर्वतोमुखं तथोचितं कर्तुमिदं पिबस्तव॥८९॥

जीवातु—त्वयेति। विधातः। हे स्रष्टः! त्वया भवता, अम्बु जलं यत् अमृतम् अमृतनामकं तथा जीवनं जीवनसंज्ञकञ्च, यत् अकारि कृतं तत् उभयं कर्म साधु सम्यक्, सार्थकमित्यर्थः, कृतं विहितम्, अम्बुनोऽमृततुल्यरसत्वात् जीवनाधायकत्वाच्च तादृशसंज्ञाद्वयं सार्थकमेवेति भावः। तु किन्तु इदम् अम्बु, सर्वतः सर्वदिक्षु मुखानि प्रवाहरूपवक्त्राणि यस्य तत् सर्वतोमुखं सर्वतोमुखमिति संज्ञाविशिष्टम् इत्यर्थः। 'आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम्। कबन्धमुदकं पाथः पुष्करं सर्वतोमुखम्' इत्यमरः। वृथैव निरर्थकमेव, आरम्भि अकारि, पेयस्य मुखवैयर्थ्यादिति भावः। अतः अस्य अम्बुनः, पिबतीति इदं पिबः जल्पायी अस्मदादिः। 'पाघ्राध्माधेट्दृशः शः' इति शप्रत्ययः। यथा सर्वतः सर्वस्थाने मुखानि यस्य सः सर्वतोमुखः कर्तुं विधातुम् इत्यर्थः, तव उचितं योग्यं, जल्पायिना बहुमुखत्वे आतृप्ति जलपानं सम्भवति न त्वेकमुखेनेति तेषामेव सर्वतोमुखभाविताया औचित्यादिति भावः॥ ८९॥

अन्वय—विधातः, त्वया अम्बु यत् अमृतं यत् जीवनम् अकारि, तत् साधु कृतम्, तु इदं सर्वतोमुखं वृथा आरम्भि, तथा इदं पिबं तव कर्तुम् उचितम्।

हिन्दी—हे विधाता, तूने जल को जो 'अमृत' और 'जीवन' बनाया, वह ठीक किया, किन्तु इसे (जल के) 'सर्वतोमुख' (सब ओर मुख वाला)

व्यर्थ ही बनाया, वैसा (सर्वतोमुख) तो इस (नल) के पीने वालों को करना उचित होता।

टिप्पणी—जल के अनेक पर्याय हैं, जिनमें 'अमृत', 'जीवन' और 'सर्वतोमुख' भी हैं—'अमृतं जीवनम्, पुष्करं सर्वतोमुखम्।' इन्हीं शब्दों के व्युत्पत्तिपरक अर्थों को लेकर यह उक्ति है। जल के प्रशंसकों के विधाता को सम्बोधन करके कथन की युक्तता इस प्रकार है कि वे कहते हैं कि जल को विधाता ने जो 'अमृत' और 'जीवन' बनाया, यह सार्थक और उचित है, क्योंकि जल ऐसा है, वह 'अमृत' के समान स्वादु है और प्राण धारण का हेतु 'जीवन' है; किन्तु उसे 'सर्वतोमुख' अर्थात् सर्वतः मुखानि यस्य तत् (जिसके मुख सब ओर हों, वह) व्यर्थ निरर्थक ही बनाया। (जल को यह संज्ञा इस लिए मिली कि उसके प्रवाह रूप मुख सब ओर होते हैं—सब ओर वह प्रवाहित हो सकता है)। पाता बारातियों का कथन है कि 'सर्वतोमुख' तो बारातियों को—इस जल के पीने वालों को बनाना चाहिए था कि 'सर्वतोमुख' हो इसका अनेक मुखों द्वारा छक कर पान करते। भाव यह कि बारातियों के यदि अनेक मुख होते तो वे प्रचुर जल का उपभोग कर लेते, ऐसा स्वादु, शीतल और स्वच्छ जल है यह। इस प्रकार विधाता के कार्य का औचित्य सिद्ध होता ॥ ८९ ॥

सरोजकोशाभिनयेन पाणिना स्थितेऽपि कूरे मुहुरेव याचते।

सखि! त्वमस्मै वितर त्वमित्युभे मिथो न वादाददतुः किलौदनम् ॥

जीवातु—सरोजेति। कूरे ओदने स्थितेऽपि भोजनपात्रे अन्ने विद्यमानेऽपीत्यर्थः, 'अन्धः कूरं भक्तमन्नमोदनं भिस्सा' इति हलायुधः। सरोजकोशस्य कमलमुकुलस्य, अभिनय अनुकरणं यस्य तादृशेन कमलमुकुलानुकारिणा तदीयकुचग्रहणाभिलापव्यञ्जकेन इत्यर्थः, पाणिना करेण, मुहुः पुनः पुनः एवं, याचते कूरं याचमानाय, यूने इति शेषः, याचेरुभयपदित्वात् शतृप्रत्ययः। हे सखि! त्वम् अस्मै याचमानाय, वितर कूरं देहि, द्वितीया त्वाह—त्वं वितर, इति एवं रूपेण, उभे द्वे, स्त्रियौ इति शेषः। मिथ परस्परं, वादात् विवादात्, ओदनं भक्तं न ददतु, न परिविविषतुः, किल खलु तस्य जनहासकरव्यापारं विलोक्य कौतुकवशात् न कापि तत्प्रार्थितमङ्गीचकारेति भावः ॥ ९० ॥

अन्वयः—'सखि, त्वं क्रूरे स्थिते अपि मुहुः एव सरोजकोशाभिनयेन पाणिना याचते अस्मै वितर, त्वं वितर'—इति मिथः वादात् उभे किल ओदनं न ददतु ।

हिन्दी—'हे सखी, तू भात होने पर भी बारबार कमल कोष का नाट्य करते हाथ से याचना करते इस (बाराती) को (भात) परोस,' 'तू परोस,'—इस प्रकार परस्पर बात करती दोनों (भात परोसने वालियों) ने ही (याचक को) भात न दिया ।

टिप्पणी—दो युवतियाँ भात परोस रही थीं। उन सुन्दरियों से कोई दिल्लगी बाज छैला बार बार कमल कोष के आकार का हाथ बना कर भात माँग रहा था, यद्यपि उसके पात्र में भात था। कमल कोष के आकार का हस्तसङ्केत कर वह व्यंजित कर रहा था कि तदाकृति कुच और पराग वाञ्छित हैं। उसकी इस दिल्लगी को समझ कर वे भात परोसने वाली सुन्दरी सखियाँ स्वयं न परोस कर एक-दूसरी से भात देने को कह रही थीं। अर्थात् उसकी दिल्लगी को समझ कर भी न समझा प्रकट कर रही थी और उसके प्रस्ताव पर ध्यान न देकर उसकी उपेक्षा कर रही थीं। भात न दे कर उसकी याचना अस्वीकार रही थी। नारायण के अनुसार रतिकामिनी (रिरिंसु) होने पर भी लज्जा के कारण छैल की याचना नहीं मान रही थी। चतुर्थ चरण का पाठांतर 'मिथोऽनुवादात्' भी मिलता है, इस स्थिति में अर्थ होगा कि दोनों ने ही भात परोस कर याचक की प्रार्थना मान ली।

इयं कियच्चारुकुचेति पश्यते पयःप्रदाया हृदयं समावृतम् ।
ध्रुवं मनोज्ञा व्यतरद्यदुत्तरं मिषेण भृङ्गारधृते करद्वयी ॥ ९१ ॥

जीवातु—इयमिति । इयम् एषा स्त्री, कियन्तौ किंपरिमाणकौ, चारू मनोहरौ, पीनौ इति यावत्, कुचौ स्तनौ यस्याः सा तादृशी, इति एवं, विचार्य इति शेषः, पयः प्रददातीति पयःप्रदा तस्याः जलदायिन्याः, समावृतं वस्त्राच्छादितं, हृदयं वक्षः, [कर्म] पश्यते अवलोकयते, कुचपरिमाणं जिज्ञासमानाय विटाय इत्यर्थः, करद्वयी तस्याः पाणियुगली, भृङ्गारधृतेः स्वर्णमयजलपात्रधारणस्य, मिषेण व्याजेन, भृङ्गारग्रहणच्छलेनेत्यर्थः, यत् उत्तरम् एतद्भृङ्गारपरिमाणं कुचद्वयम् इत्येवंरूपम् उत्तरं व्यतरत् अददात्, तेन ध्रुवं

निश्चितं, मनोज्ञा चित्तज्ञा, पराभिप्रायज्ञा इत्यर्थः, करद्वयीति शेषः। पराशयज्ञत्वस्य प्रश्नोत्तरदानस्य च चेतनधर्मतया अचेतने करद्वये तदुत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—'इयं कियच्चारुकुचा'—इति पयःप्रदायाः समावृतं हृदयं पश्यते भृङ्गारधृतेः मिषेण करद्वयी उत्तरं व्यतरत् 'यत् ध्रुवं मनोज्ञा'।

हिन्दी—'यह कितने सुन्दर कुच वाली है?'—ऐसी जिज्ञासा से जल परोसती रमणी के ढके वक्ष को निहारते (छैल युवक) को जल पात्र-धारण के व्याज से (रमणी के) दोनों हाथों ने उत्तर दिया कि निश्चय पूर्वक मनोज्ञ (मनहर) कुचों वाली है और इस प्रकार उत्तर दे यह प्रमाणित कर दिया कि वह रमणी मनोज्ञा (अन्य के मन को जानने वाली) है।

टिप्पणी—छैला ने जल-परोसती रमणी के वस्त्राच्छादित वक्ष की ओर देखकर संकेत से यह प्रकट किया कि वह जानना चाहता है कि आवरण से ढके कुचों का माप क्या है? हाथों में जलपात्र पकड़ कर रमणी ने संकेत से ही उत्तर दे दिया कि इतने परिमाण के हैं, अर्थात् घटाकार पीन पयोधर हैं—संपूर्ण यौवन प्रतीक कनककुचकलश। इस प्रकार तरुणी ने स्वयं को दूसरे मन की बात समझने वाली—पराभिप्राय की अभिज्ञा प्रमाणित कर दिया। नारायण के अनुसार अनुराग से दोनों अन्योऽन्य की ओर देखते ही रहे। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है, क्योंकि पराशयज्ञता और प्रश्नोत्तरदान चेतनधर्मों की अचेतन करयुगल में संभावना की गयी है ॥९१॥

अमीभिराकण्ठमभोजि तद्गृहे तुषारधारामृदितेव शर्करा।
वाहद्विषद्वष्कयणीपयःसृतं सुधाह्रदात् पङ्कमिवोद्धृतं दधि ॥ ९२ ॥

जीवातु—अमीभिरिति। अमीभिः जन्यैः, तद्गृहे भीमभवने, तुषारधारया हिमधारया, मृदिता मर्दिता, शर्करा खण्डविकार इव तद्वत् स्वादु शुभ्रञ्चेत्यर्थः। 'शर्करा खण्डविकृतौ' इति हैमः। सुधाह्रदात् अमृतह्रदात्, उद्धृतम् उत्तालितं, पङ्कं कर्दमम्, अमृतकर्दमम् इव स्थितम् इत्युत्प्रेक्षा। वाहं हयं, द्विषन्ती विरुध्यन्ती, महिषी इत्यर्थः, 'लुलायो महिषो वाहद्विषत्कासरसैरिभाः' इत्यमरः। 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यादिना पुंवद्भावः। सा च सा वष्कयणी चिरप्रसूता, 'चिरप्रसूता वष्कयणी' इत्यमरः। तस्याः पयसः क्षीरात् सृतम् उत्पादितं; सृणोतेः कर्मणि क्तः। दधि-दुग्धविकारः आकण्ठम् अभोजि भुक्तम् ॥ ९२ ॥

अन्वय—अमीभिः तद्गृहे तुषारधारामृदिता इव शर्करा (इव) सुधाह्रदात् उद्धृत पङ्कम् इव वाह्द्विपदृक्कयणीपयः सूत दधि आकण्ठम् अभोजि ।

हिन्दी—इन (वारातियों) ने उस (भीमराज) के घर में हिम की धारा से मिश्रित जैसी शकर और अमृतसरोवर से निकाली कीचड़ जैसा, बछड़ा की वैंक्षि बासड़ी भैंस के दूध से निष्पन्न दही आकण्ठ (गलेतक, जमकर प्रचुर मात्रा में) खाया ।

टिप्पणी—'शर्करा के अनन्तर 'इव' का योग करने से यह अर्थ भी बनता है कि तुषारकणा सी मृदित (पीस दी गयी) शकर। भाव यही है कि शुभ्र शर्करा-मिश्रित भैंस का गाढा चक्क दही डटकर खाया। 'बष्कयणी' (बाखड़ी, चिरप्रसूता, पर्याप्त दिन पूर्व ब्यायी) भैंस का दूध गाढा हो जाता है और दही भी गाढ़ा जमता है। बरयात्रियों द्वारा ऐसा उत्तम, स्वादिष्ट दही डटकर खाया गया ॥ ९२ ॥

तदन्तरन्तः सुषिरस्य बिन्दुभिः करम्बितं कल्पयता जगत्कृता ।
इतस्ततः स्पष्टमचोरि मायिना निरीक्ष्य तृष्णाचलजिह्वताभृता ॥९३॥

जीवातु—तदिति । निरीक्ष्य दृष्ट्वा, सृष्टयादौ स्वसृष्टं दधि इति भावः । तृष्णया स्पृहया, दधिभोजनवासनया इत्यर्थः । चला चञ्चला, अधरप्रान्तलेहिनी जलस्राविणी चेति भावः । जिह्वा यस्य तस्य भावस्तत्ता, विभर्ति धारयतीति तद्भृता तद्धारिणा, दधिलुब्धेनेत्यर्थः । अत एव मायिना स्वचापल्यवञ्चनाचतुरेण, अथवा, दर्शकलोकानां दृष्टिवञ्चनाचतुरेण, जगत्कृता स्रष्ट्रा, तत् दधि, अन्तरन्तः मध्ये मध्ये, सुषिरस्य । जातावेकवचनम् । सुषिराणां, छिद्राणामित्यर्थः । बिन्दुभिः मण्डलैः, करम्बितं मिश्रितं, कल्पयता रचयता, तद्दधि वस्तुलच्छिद्रयुक्तं कुर्वता सता इत्यर्थः । इतस्ततः सर्वप्रदेशेभ्यः, स्पष्टं व्यक्तम्, अचोरि चोरितमिव, तद्दधि इति शेषः । सफेनदुग्धे दधिरूपेण परिणते तत्र छिद्राणि दृश्यन्ते, तच्चोत्प्रेक्ष्यते यत् ब्रह्मणा लोकचक्षुरगोचरतया इतस्ततो दधिस्यसारांशो भोक्तुमिच्छयाऽपहृत, अन्यथा कथमितस्ततस्तत्र छिद्राणि दृश्यन्ते इति ब्रह्मणोऽपि आकर्षकं माहिषदधि किमुतान्येषामिति भावः । स्पष्टमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ९३ ॥

अन्वय—तत् निरीक्ष्य तृष्णाचलजिह्वताभृता मायिना जगत्कृता अन्तः सुषिरस्य बिन्दुभिः करम्बितं कल्पयता इतस्ततः स्पष्टम् अचोरि ।

हिन्दी—उस (दही) को देखकर (उसकी स्वादिष्टता के कारण) तृष्णा से चंचल रचना-धारण करते माया करके-अदृश्य भाव से—जगत् के कर्त्ता (विधाता) ने (दही के) बीच-बीच में छिद्रों की बूंदों से व्याप्त बनाते हुए (लगता है) इधर-उधर से स्पष्टतया चुरा लिया।

टिप्पणी—यह दही इतना स्वादिष्ट है कि इसमें जो बीच-बीच में छिद्रविन्दु दीखते हैं, उससे अनुमान हो रहा है कि सृष्टि रचते समय विधाता ने जब यह दही देखा होगा तो उनकी जीभ ललचा कर लपलपाने लगी होगी। मायी तो जगत्कर्त्ता हैं ही, सो चुपचाप बीच-बीच से लोगों के अनदेखे, दही चुरा कर खा गये। जहाँ से दही चुराया, वहीं छेद बन गये। आशय यह है कि दही इतना स्वादु है कि जगत्कर्त्ता भी जिह्वा लौल्य से उसे चुराकर खा गये। सार-सार वे खा गये, अन्यथा छिद्र क्यों दीखते? मल्लिनाथ ने 'स्पष्टम्' के आधार पर उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है। नारायण के अनुसार भी यहाँ उत्प्रेक्षा है कि जिसने बनाया, उस ब्रह्मा की भी जिह्वा जिसके निमित्त चंचल हो गयी, उससे दही अत्यन्त स्वादु है, यह ध्वनित होता है ॥ ९३ ॥

ददासि मे तन्न रुचेर्यदास्पदं न यत्र रागः सितयाऽपि किं तया।
इतीरिणे बिम्बफलं रुचिच्छलाददायि बिम्बाधरयाऽरुचच्च तत्॥९४॥

जीवातु—ददासीति। यत्, द्रव्यमिति शेषः। रुचेः अभिलाषस्य, आस्पदं पात्रं, विषयीभूतमित्यर्थः। तत् मे मह्यं, न ददासि न यच्छसि, यत्र यस्मिन् द्रव्ये, रागः अनुरागः, रुचिरित्यर्थः, न नास्ति, तया सितया शर्करयाऽपि, 'शर्करा सिता' इत्यमरः। किम्? अलं, न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः। रक्तवस्तुरागिणः किं सितवस्तुना? इति च गम्यते। इतीरिणे इतिवादिने, अधरबिम्बचुम्बनेच्छया एवं भाषिणे रागिणे इत्यर्थः। रुचिच्छलात् अभिलाषव्याजात्, 'छलप्रयोगे छलप्रयोगः एव कर्त्तव्यः' इति न्यायात् इति भावः। बिम्बमिव अधरः यस्याः तया बिम्बाधरया बिम्बोष्ठ्या स्त्रिया, बिम्बफलम् ओष्ठोपमाफलम्, अदायि दत्तं, मिषान्तरेणाधरबिम्बं याचितं मिषान्तरात् बिम्बफलं दत्तम् इत्यर्थः, तत् बिम्बफलञ्च, अरुचत् तस्मै अरोचिष्ट, रुचिकरमभूदित्यर्थः, अस्य प्रियाधरबिम्बप्रतिनिधित्वादिति भावः। रुच दीप्तौ प्रीतयर्थाल्लुङ् 'द्युद्भ्यो लुङि' इति परस्मैपदं, 'पुषादिद्युतादि—' इत्यादिना च्लेरङादेशः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—'यत् रुचेः तत् मे न ददासि; यत्र रागः न, तया सितया अपि किम् ?'—इति ईरिणे रुचिच्छलात् बिम्बाधरया बिम्बफलम् अदायि, तत् च अरुचत् ।

हिन्दी—'जिसमे मेरी रुचि है, अर्थात् जो वस्तु मुझे भाती है, वह नहीं देती और जिसमे राग अर्थात् रुचि नहीं, उस शकर से भी क्या प्रयोजन ?'—ऐसा कहते रुचि (अभिलाष) के व्याज से बिम्ब के समान लाल अधर वाली सुन्दरी ने (याचक को लाल) बिम्ब फल दे दिया । वह उसे प्रीतिकर हुआ ।

टिप्पणी—शकर परोसने वाली तरुणी के लाल—बिम्बारुण अधर पर मुग्ध हो भोजन करते बाराती ने कहा कि जिसमें 'रुचि' (अभिलाष, अर्थान्तर लाली है, वह अधर तो मुझे दे नहीं रही हो, जिसमे 'राग' (लाली अर्थान्तर रुचि) नहीं, वह 'सिता' (सफेदी, शर्करा) दे रही हो । तो परोसने वाली ने लाल बिम्ब-फलाकार मालपुआ बाराती को परोस दिया । लो यह 'लाल', 'रुचि' और 'राग' से परिपूर्ण । बाराती छैला ने अधरारुण बिम्ब पाकर प्रसन्नता प्रकट की । उस व्याज से उसने अभीष्ट अधर का प्रतीक जो प्राप्त कर लिया । उपहास का उचित प्रत्युत्तर । लाल चाहते हो तो लाल, अरुण अधर-प्रतीक चाहते हो तो वह भी लो ॥ ९४ ॥

समं ययोरिङ्गितवान् वयस्ययोस्तयोर्विहायोपहृतप्रतीङ्गिताम् ।
अकारि नाकूतमवारि सा यया विदग्धयाऽरञ्जि तयैव भाववित् ॥९५॥

जीवातु—सममिति । ययोः वयस्ययोः सहचर्योः विषये, सम युगपत्, इङ्गितवान् इङ्गादिसञ्जावान्, नयनभ्रमणादिचेष्टाविशेष कुर्वन्नित्यर्थः । भाववित् गूढाभिप्रायाभिज्ञः, चातुर्यवेत्ता इत्यर्थः । कश्चित् विट इति शेषः । तयो मध्ये उपहृतप्रतीङ्गिता दत्ततदभिप्रेताङ्गीकारसूचकप्रतिसंज्ञा, प्रथमवयस्यामिति भाव. । विहाय परिहृत्य, जनसमाजे सखीसमक्ष चक्षुरिङ्गितादिकरणादियमचतुरेति निश्चित्य ता प्रत्यननुरागेण ता हित्वा इति भावः । यया विदग्धया चतुरया, आकूत तदभिप्रेताङ्गीकारसूचक प्रतीङ्गित, न अकारि न कृतं, बहुजनसमक्ष तत्करणे प्रकाशभिया लज्जातिशयादिति भाव । किन्तु सा प्रथमा इति यावत्, अवारि वारिता, अयमस्यां विरक्तः मयि चानुरक्त तत् कथमियं मत्प्रियं प्रति इङ्गित करोतीति सापत्न्येर्ष्यया जनसमक्षमिङ्गितादिकरणमनुचितमिति व्याजेन

द्वितीयया सा इङ्गितादिचेष्टातो निवारितेत्यर्थः, तथा द्वितीययैव विदग्धया; अरञ्जि रञ्जितः, आकृष्टः इत्यर्थः। द्वितीयायास्तथाविधगूढभावदर्शनेन सन्तुष्टतया तस्यामेवानुरक्त इति भावः। एतेन प्रथमापेक्षया द्वितीया गम्भीरा सोऽपि भावज्ञः तत् युक्तम् एतदिति गम्यते॥ ९५॥

अन्वयः—ययोः वयस्ययोः समम् इङ्गितवान् भावविद् तयोः उपहृत-प्रतीङ्गितां विहाय यया विदग्धया आकूतं न अकारि तया एव अरञ्जि, सा अकारि।

हिन्दी—जिन दो सखियों को एक साथ-संकेत किया था—भ्रू विक्षेपादि से अनुराग-संकेत किया था, भाव अर्थात् वैदग्ध्य का वेत्ता (संकेत कर्ता तरुण) उन दोनों (सखियों) में जिस चतुरा भावमयी ने किये गये अनुराग-संकेत के प्रत्युत्तर में अनुराग-स्वीकृत-संकेत नहीं किया, उसी (चुप रहने वाली) के प्रति अनुरक्त हुआ, दूसरी को त्याग दिया।

टिप्पणी—दो समानवयस्का सखी तरुणियाँ एक साथ परिवेषण कर रही थीं, एक दिल्लगी बाज छैला ने एक साथ दोनों की ओर भ्रू विक्षेपादि का संकेत कर अनुराग व्यक्त किया। उनमें से एक ने तो उसी प्रकार संकेत करके उसका प्रणय स्वीकार लिया, अन्या ने जन समक्ष ऐसा लज्जास्पद व्यापार उचित न समझा और कोई प्रति संकेत नहीं किया। सपत्नीजन्य ईर्ष्या भी यहाँ कारण थी। जब दूसरी के प्रति भी प्रणय-निवेदन किया जा रहा है, तब ऐसे स्वैराचारी, 'हरजाई' से कौन प्रीति करे? किन्तु वह छैला भाव अर्थात् वास्तविक अनुराग-वैदग्ध्य का ज्ञाता था। उसने समझ लिया कि प्रति संकेत करने वाली फूहड़ और सस्ती है, न करने वाली कुछ मर्यादा रखती है। अत एव उस भाव वेत्ता ने प्रति संकेत करने वाली की चेष्टाओं की उपेक्षा की और चुप रहने वाली को मान्यता दी॥ ९५॥

सखीं प्रति स्माह युवेङ्गितेक्षिणी क्रमेण तेऽयं क्षमते न दित्सुताम्।
विलोम तद्व्यञ्जनमर्प्यते त्वया वरं किमस्मै न नितान्तमर्थिने?॥

जीवातु—सखीमिति। युवेङ्गितेक्षिणी युवाभिप्रायसूचकनयनादिचेष्टा-दर्शिनी, काचित् तरुणीति शेषः। सखीं परिवेषिकां वयस्यां, प्रति आह स्म उवाच। 'लट् स्मे' इति भूते लट्। किमिति? अयं युवा, ते तव सम्बन्धिनीं;

क्रमेण पारम्पर्येण, दित्सुता परिविविक्षुर्ता, न क्षमते न सहते, एकमेकं कृत्वा उत्तरोत्तरक्रमेण परिवेषणविलम्वं सोढुं न शक्नोति इत्यर्थः। अतः त्वया नितान्तमर्थिने अत्यन्तव्यग्रतया याचकाय, अस्मै यूने, वरम् उत्कृष्टं, तद् व्यञ्जने मिष्टान्न, विलोमं विपरीतं यथा तथा, व्युत्क्रमेण इत्यर्थ। किं न अर्प्यते? कथं न दीयते? अपि तु व्यग्राय शीघ्रदेयमिति व्याजोक्तिरिति भावः। अथ युवा, क्रमेण आलिङ्गनस्तनमर्दनचुम्बनादिव्यापारक्रमेण दित्सुतां मैथुनार्थं वराङ्गदानेच्छुता, तद्दानविलम्वमित्यथ, न क्षमते न सहते, अतस्त्वया विलोम अरोमकम्, अत एव वरम् उत्कृष्टं, व्यञ्जनम् अवयवं, वराङ्गमित्यर्थः। 'व्यञ्जनं श्मश्रुमिष्टान्नचिह्नेष्ववयवेऽक्षरे' इति यादव। नितान्तमर्थिने अस्मै किं न अर्प्यते? अपि तु शीघ्रमेवार्पय इत्यर्थः। वरस्यापि विवक्षितत्वाद् केवलप्रकृतश्लेष ॥ ९६ ॥

अन्वयः—युवेङ्गितेक्षिणी सखीं प्रति आह स्म—अयं युवा ते क्रमेण दित्सुतां न क्षमते, त्वया नितान्तम् अर्थिने अस्मै वरं तत् व्यञ्जनं विलोमं किं न अर्प्यते?

हिन्दी—युवा के संकेत का निरीक्षण करती (एक) अपनी सखी से बोली—यह युवक तेरे क्रम पूर्वक व्यंजन-परोसने की क्रिया को नहीं सह पा रहा है (उतावला हो रहा है), तू अत्यन्त व्याकुल याचक इस को श्रेष्ठ (अभिलषित) व्यंजन परोसने का क्रम त्याग कर क्यों नहीं दे देती?

टिप्पणी—क्रम से एक के बाद एक व्यंजन परोसा जा रहा था। शाक, रायता, चटनी, अचार, पूरी, भात आदि। सबके अन्त में विशिष्ट व्यंजन 'स्पेशल डिश'। किन्तु एक सज्जन बड़ी उतावली दिखा रहे थे। उनकी उतावली देख परोसने वालियों मे एक ने दूसरी से कहा कि ये सज्जन बड़े उतावले हो रहे हैं, अत्यन्त चंचल हो 'श्रेष्ठ' ही तुरन्त चाहते हैं सो परिपाटी छोड़ इन्हें वही 'स्पेशल—विशिष्ट पहिले दे दो या सब एक साथ परोस दो। सवेतार्थ यह है कि उतावले सज्जन रीति क्रम पसन्द नहीं करते। इन्हें स्पर्श, चुम्बन, आलिंगन, कुच स्पर्श आदि का क्रम पसन्द नहीं, एक दम मैथुन के लिए आकुल हैं, सो तू इन्हें तुरन्त वह 'विलोम' (लोम रहित) 'वर व्यंजन' (वरांग) क्यों नहीं दे देती? ये अत्यन्त उतावले याचक हैं, इन्हें तो 'नितरां तान्त' (संभोग से म्लान) विलोम वरांग ही अभीप्सित है। वही इन्हें

दे। भाव यह कि युवक नितांत फूहड़ और अरसिक है। ऐसे मर्यादाहीन को किंचित्-प्रश्रय न देना। मल्लिनाथ के अनुसार प्रकृत श्लेष। मल्लिनाथ और नारायण निषेधार्थ को कदाचित् नहीं स्वीकारते। नारायण ने 'उत्तरार्द्ध में 'त्वया + अवरं' सन्धि-विच्छेद कर 'अवरं' का अर्थ अतिश्रेष्ठ (न विद्यते वरं श्रेष्ठं यस्मात् तत्) और 'अधोदेश में विद्यमान' (अवरमधोदेशे वर्त्तमानं रोमरहितं तद्भगलक्षणं व्यञ्जनमवयवः) भी किया है॥ ९६॥

समाप्तिलिप्येव भुजिक्रियाविधेर्दलोदरं वर्त्तुलयाऽऽलयीकृतम्।
अलङ्कृतं क्षीरवटैस्तदाऽश्नतां रराज पाकार्पितगैरिकश्रिया॥ ९७॥

जीवातु—समाप्तीति। तदा तत्काले, अश्नतां भुञ्जानानां, जन्यामिति शेषः। दलोदरं कदलीपत्रादिभोजनपात्राभ्यन्तरं, पाकेन विविधसंस्कारकद्रव्यद्वारा पाकविशेषेण, अर्पिता सम्पादिता, गैरिकस्य शैलजरक्तवर्णधातुविशेषस्य, श्रीरिव श्रीः येषां तैरिति विभक्तिव्यत्ययेनान्वयः। पाकेन रक्तवर्णैरित्यर्थः। तथा वर्त्तुलया वर्त्तुलैरिति विभक्तिव्यत्ययः। वृत्ताकारैः, वटानां वर्त्तुलत्वादिति भावः। क्षीरवटैः दुग्धपक्वमाषनिष्पादितवटकाख्यपिष्टकविशेषैः, अलङ्कृतं शोभितं सत्, तदर्थत्वादिति भावः। पाकार्थं रक्तवर्णसम्पादनार्थम्, अर्पितेन निक्षिप्तेन, गैरिकेण रक्तवर्णधातुविशेषेण, श्रीः रक्तकान्तिर्यस्यां तादृशया, तथा वर्त्तुलया वर्त्तुलाकारया, वृत्ताकारः रक्तवर्णश्रिल्लविशेषः लिपिशेषे क्रियते इति व्यवहारादिति भावः। भुजिक्रियाविधेः भुजधात्वर्थानुष्ठानस्य, भोजनव्यापारस्येत्यर्थः, समाप्तिलिप्या समाप्तिसूचकवर्णविशेषविन्यासेन लिप्यन्तरे प्रवृत्त्यभावात्, अन्यत्र—व्यञ्जनान्तरे रुच्यभावादिति भावः। आलयीकृतम् आस्पदीकृतं, चिह्नीकृतमित्यर्थः। दलोदरं तालपत्रादिलेख्यपत्राभ्यन्तरमिव, रराज शुशुभे, रक्तवर्णतादृशवटकैः शोभते स्म। तादृशवटकप्रदानानन्तरमेव जन्यानां तेषां व्यञ्जनान्तरभोजनप्रवृत्तिर्विनष्टेति भावः। अत्रोपमालङ्कारः॥ ९७॥

अन्वयः—तदा क्षीरवटैः अलङ्कृतम् अश्नतां दलोदरं पाकार्पितगैरिकश्रिया वर्त्तुलया भुजिक्रियाविधेः समाप्तिलिप्या इव आलयीकृतं रराज।

हिन्दी—तब (भोजन काल में) दूध-वड़ों से सुशोभित भोजनकर्त्ताओं का कदली दलादियुक्त भोजन पात्र, (दूध-वड़ों की) धीमी आँच पर

पकाने की क्रिया के कारण, गैरिक (लाल) शोभा और गोलाकारता के द्वारा भोजन क्रियानुष्ठान की समाप्ति के सूचक लिपि द्वारा चिह्नीकृत भूर्ज-पत्र सा शोभित हुआ।

टिप्पणी—भोजनान्त काल आने पर 'मधुरेण समापयेत्' की रीति से मीठे दूध-बड़े परोसे गये। वे दूध-बड़े धीमी आँच पर पकाये जाने के कारण गुलाबी गेरु के रंग-जैसे हो गये थे और गोलाकार बनाये गये थे। भोजन-पात्र में रखे जाने पर वह पात्र-मध्य ऐसा शोभित होने लगा, जैसे कि वह वैसा भोज पत्र हो, जिस पर लेख-समाप्ति-सूचक, लाल-रोशनाई या गेरु से गोल चिह्न बना दिये गये हैं। बड़ो का गोल होना समाप्ति-सूचक शून्यादि चिह्न के तुल्य है और पाकविशेष के कारण लाल हो जाना गैरिक श्री का कारण। सब छोड़—अन्य भोजन की समाप्ति कर—क्षीरवटों पर ही 'भुजि-क्रियाविधि' होना समाप्तिलिपि का सूचक है। गोल, गुलाबी सिके दूधबड़ों के परोसे जाते ही अन्य व्यञ्जनों का त्याग कर सब उन्हें ही खाने लगे। व्यञ्जनान्तर भोजन की प्रवृत्ति नष्ट हो गयी। मल्लिनाथ के अनुसार उपमा-लङ्कार। नारायण उपमा अथवा उत्प्रेक्षा का विकल्प मानते हैं—'लिप्या समाप्तिसूचिकयाकाररूपपुष्पिकारूपया आलयीकृत दलोदरं श्रीतालादिपत्र-मिवेत्युपमोत्प्रेक्षा वा'॥ ९७॥

चुचुम्ब नोर्वीवलयोर्वशी परं पुरोऽधिपारि प्रतिबिम्बितां विटः।
पुनः पुनः पानकपानकैतवाच्चकार तच्चुम्बनचुङ्कृतान्यपि॥ ९८॥

जीवातु—चुचुम्बेति। विटः कश्चित् कामुकः, पुरः अग्रे, पार्याम् अधि अधिपारि कर्कर्यां, पानीयपात्र्याम् इत्यर्थः। 'कर्करीपूरयोः पारी पादरज्ज्वां च हस्तिनः' इति विश्वः। 'वारिवहनभाण्डम्' इति स्वामी। प्रतिबिम्बितां प्रतिफलिताम्, उर्वीवलयोर्वशी भूमण्डलोर्वशी, सर्वोत्कृष्टरूपवतीमित्यर्थः। स्त्रीमिति शेषः। परं केवल, न चुचुम्ब न चुम्बितवान्, किन्तु पुनः पुनः वारं वार, पानकपानकैतवात् पानीयपानच्छलात्, तस्याः प्रतिबिम्बिताया भूमण्ड-लोर्वश्या इत्यर्थः। चुम्बने अधरसुधापाने, चुङ्कृतानि अपि चूषणचुङ्कारशब्दा-नपि, चकार कृतवान्॥ ९८॥

अन्वयः—विटः पुरः अधिपारि प्रतिबिम्बिताम् उर्वीवलयोर्वशीं परं न चुचुम्ब, पुनः पुनः पानकपानकैतवात् तच्चुम्बनचुङ्कृतानि अपि चकार।

हिन्दी—एक विट (धूर्त कामुक) ने संमुख-स्थ पान-पात्र में प्रतिबिम्बिता पृथ्वी-मण्डल की उर्वशी (अति सुन्दरी पानक परोसने वाली) को चूमा ही नहीं, प्रत्युत बार-बार पानक पीने के बहाने से उस (प्रतिबिम्बिता) के चुम्बन से संभव 'चु-चु' शब्द भी किया।

टिप्पणी—दिल्लगी बाज विट ने पानक देने वाली के पानक-पात्र में पड़ते प्रतिबिम्ब को पानक-पान-व्याज से चूम और चुम्बन-कालसंभव शब्द करके यह व्यक्त किया कि वह भूमण्डल की उर्वशी का चुम्बन कर रहा है। इस प्रकार उसने अपने प्यार का दीवानापन प्रकट किया ॥ ९८ ॥

घनैरमीषां परिवेषकैर्जनैरवर्षि वर्षोपलगोलकावली।
चलद्भुजाभूषणरत्नरोचिषा धृतेन्द्रचापैः श्रितचान्द्रसौरभा ॥ ९९ ॥

जीवातु—घनैरिति। चलन्त्यः परिवेषणार्थम् इतस्ततः भ्रमन्त्यः; याः भुजा बाहवः, तासु यानि भूषणरत्नानि रत्नखचितालङ्काराः, तेषां रोचिषा प्रभया एव, धृतः गृहीतः, इन्द्रचापः इन्द्रचाप इव इत्यर्थः। यैः तादृशैः; परिवेषन्तीति परिवेषकाः तैः अन्नव्यञ्जनादिदातृभिः, जनैः लोकैरेव, घनैः स्त्रीजनरूपमेघैः, अमीषां भोक्तॄणां कृते, श्रितचान्द्रसौरभा प्राप्तकर्पूरसम्बन्धि-गन्धा, अन्यत्र—चन्द्र एव चान्द्रः, सूर एव सौरः तयोर्भाः प्रभा, श्रिता व्याप्ता यया सा, करकाणां रात्रिदिनयोः सम्भाव्यमानेन चन्द्रसूर्ययोः क्रमेण कान्ति-व्याप्तत्वं सम्भवति, अथवा शैत्योज्ज्वलत्वाभ्यां तत्कान्तिसदृशीति भावः। वर्षो-पलाः करका इव, गोलकाः घुटिकाकाराः पिष्टकविशेषाः, तेषाम् आवली राशिः, अवर्षि वृष्टा, प्रदत्तेत्यर्थः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—चलद्भुजाभूषणरत्नरोचिषा धृतेन्द्रचापैः घनैः परिवेषकैः जनैः अमीषां श्रितचान्द्रसौरभा वर्षोपलगोलकावली अवर्षि।

हिन्दी—(परिवेषण-समय सक्रिय अतएव) चंचल भुजाओं के आभूषणों में जड़े रत्नों की कांति के कारण इन्द्र-धनुष धारण करते, घने (अनेक) घनों (जलदों) से परोसने वाले स्त्री-जन ने इन (बारातियों पर चान्द्र (कर्पूर) के सौरभ (सुगन्ध) से युक्त (होने के कारण) चान्द्र (चन्द्रमा की शीतलता) और सौर (सूर्य की दीप्ति) से सम्पन्न लगते वर्षोपल (ओलों-वर्षा में गिरते हिम-पाषाणखंडों) सदृश गोल गोलकों (लड्डुओं) की वर्षा की।

टिप्पणी—समाप्ति सूचक मिष्टान्न मे कर्पूर, लवग, शकर आदि से युक्त सफेद सफेद मगद के लड्डू प्रचुर मात्रा मे परोसे गये। रत्नजटित आभूषणों से सजी भुजाओं द्वारा परोसे जाने और अपनी शीतलता के कारण वे लड्डू मेघा से बरसते उपलखण्ड से लगते थे—ठडे-दमकते ओलो से सुगन्धि लड्डू। रत्नाभूषणधारी ललनाएँ ही मेघ बन वे ओले बारातिया पर बरसा रही थी।

कियद्बहु व्यञ्जनमेतदर्प्यते ? ममेति तृप्तैर्वदता पुन पुन ।
अमूनि सङ्ख्यातुमसावढौकि तैश्छलेन तेपा कठिनीव भूयसी ॥१००॥

जीवातु—कियदिति । मम एतत् कियत् कतिपरिमाण, बहु प्रभूत, व्यञ्जन शाकमासादिरूपतेमनादिक, कति व्यञ्जनानीत्यर्थ । अर्प्यते ? दीयते ? तृप्ता वयम् अतो नापर दातव्यम् इति भाव । तृप्तै भोजनजन्यसन्तोषात् हेतो', इति एव, पुन पुन वदता वार वार कथयता, तेपा भोक्तॄणा, छलेन व्याजेन, तथा शब्दावानयेन कति व्यञ्जनानि अस्माभिर्दत्तानि ? इति सङ्ख्याजिज्ञासैवाभिप्राय इति व्याजेन इत्यर्थ । अमूनि व्यञ्जनानि, सङ्ख्यातु गणयितु भूयसी बहुतरा, कठिनी इव करिका इव, भूयस्य सङ्ख्यानघुटिका इवेत्यर्थ । 'करिका कठिनी' इति विश्व । तै परिवेषकै, असौ गोलकावलि, प्रागुक्तपिष्टकविशेषराशिरित्यर्थ । अढौकि ढौकिता, उपहृता इत्यर्थ । भवद्भि व्यञ्जनबाहुल्य कथ्यते, अत आभि कठिनीभि तानि गणयेति च्छलेनेव भूयसी कठिनी अर्पितेवति भाव । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कार ॥ १०० ॥

अन्वय—'मम एतत् कियत् बहु व्यञ्जनम् अर्प्यते ?'—इति तृप्तै पुन पुन वदता तेपा छलेन अमूनि सङ्ख्यातु भूयसी कठिनी इव तै असौ अढौकि।

हिन्दी—'मुझे यह कितना अधिक व्यञ्जन (लड्डू) दिया जा रहा है ?'—यह तृप्ति के कारण वारवार कहते बरातियो को व्याज से इन (लड्डुओ को) गिनने के लिए प्रचुर खरिया की गोलिया के सदृश उन (परिवेषको) द्वारा वह (मोदक व्यजन) दिया गया।

टिप्पणी—जैसे बादलो से उपलवर्षा होती है, वैसे ही बारातियो को जब लड्डू परोसे जाने लगे तो अत्यन्त तृप्त हो जाने के कारण वे परोसनेवालों से वार-वार कहने लगे कि ये लड्डू कितने दे रहे हो ? इससे उनका तात्पर्य था कि अब खाकर छक गये हैं, अब मत परोसो। परन्तु परोसने वाले तो

परोसे ही जा रहे थे। उन्होंने छल से बारातियों के कहने का अर्थ इस प्रकार माना कि बाराती जानना चाहते हैं कितनी संख्या में लड्डू दिये जा रहे हैं; और वे बराबर मोदक-वर्षा करते रहे कि गणना चाहते हो तो लो, ये लड्डू नहीं, हम सफेद खरिया के गोले दे रहे हैं। इनकी सहायता से गिन लो कि कितने लड्डू प्राप्त हो रहे हैं। भाव यह है कि खाने वाले तृप्त होकर और न परोसने को कह रहे थे, किंतु परोसने वाले और परोसे जाकर उनसे और खाने का आग्रह कर रहे थे। लड्डुओं की गणना के लिए कठिना (करिका-खरिया) के गोलक दिये जा रहे थे मानो, वे मोदक नहीं थे। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षालंकार॥ १०० ॥

विदग्धबालेङ्गितगुप्तिचातुरीप्रवह्लिकोद्घाटनपाटवे हृदः।
निजस्य टीकां प्रबबन्ध कामुकः स्पृशद्भिराकूतशतैस्तदौचितीम्॥१०१॥

जीवातु—विदग्धेति। विदग्धबालायाः चतुराङ्गनायाः, इङ्गितगुप्तिचातुरी भ्रूमङ्गाद्याकारगोपनचातुर्यं, निगूढार्थचेष्टाप्रयोगचातुरीत्यर्थः। सा एव प्रवह्लिका दुर्बोध्यत्वात् प्रहेलिकापराख्यो निगूढार्थोक्तिविशेषः। 'प्रवह्लिका प्रहेलिका' इत्यमरः। तस्याः उद्घाटने बोधने, अर्थोद्भेदने इत्यर्थः। यत् पाटवं सामर्थ्यं, तस्मिन् विषये, तद् तत्र, तादृशार्थोद्भेदने इत्यर्थः। औचितीम् आनुकूल्यं, स्पृशद्भिः प्राप्तैः, तदनुकूलैरित्यर्थः। त्वदेङ्गितगुप्तिचातुर्यं मया ज्ञातमित्यर्थप्रकाशकैस्तदीयेङ्गितानुरूपैः इति भावः। आकूतानां शतैः अभिप्रायव्यञ्जकैः बहुविधेङ्गितैः, कामुकः कश्चित् कामी, निजस्य आत्मीयस्य हृदः हृदयस्य, टीकां व्याख्याम्, अभिप्रायप्रकाशनमित्यर्थः। प्रबबन्ध प्रकर्षेण कृतवान्, स्वहृदयं तस्यै निवेदयामास इत्यर्थः। उचितोत्तरदानादेव प्रश्नार्थप्रकाशनात् तदेव तद्व्याख्यानमिति भावः॥ १०१ ॥

अन्वयः—कामुकः विदग्धबालेङ्गितगुप्तिचातुरीप्रवह्लिकोद्घाटनपाटवे तदौचितीं स्पृशद्भिः आकूतशतैः निजस्य हृदः टीकां प्रबबन्ध।

हिन्दी—एक कामी ने चतुरा मुग्धा बाला की चेष्टा-गुप्ति (छिपाना) की चतुरता-रूप पहेली का भाव स्पष्ट करने के सामर्थ्य के विषय में उस (विदग्ध बाला) की अनुगुणता (योग्यता) को प्राप्त अनेक संकेतों से अपने हृदय का विवरण प्रचुरता से उपस्थित किया।

टिप्पणी—एक मुग्धा बाला गुप्त चेष्टापूर्ण संकेतों से अपना अनुराग प्रकट कर रही थी, जिन्हें सबके द्वारा समझा जा सकना कठिन था, किन्तु सुबद्ध कामुक तरुण उसके पहेली-बुझौवल-सदृश गुप्त-संकेतों को समझ गया और उसने भी बाला के प्रति तदनुकूल अपने गुप्त-संकेतों द्वारा अपने हृदय का भाव ('हाले दिल') प्रकट कर दिया, मानो प्रणयिनी के कथन की व्याख्या कर दी, जो उसका कथन था, उसके अनुरूप ही अपने हृदय का अनुराग भी प्रकट कर दिया। अथवा विदग्ध बाला के गुप्त संकेत अन्य किसी चतुर कामुक ने समझ लिये और उसने अपने वैसे ही गुप्त संकेतों द्वारा बाला को (अथवा प्रेमी-प्रेमिका—दोनों के गुप्त संकेतों को ताड़ कर—दोनों को) स्पष्ट कर दिया कि वह सारा भेद समझता है, अतः अनुराग का पात्र वह ही है। बाला का सरलता से गुप्त संकेत समझ लेने वाले प्रेमी तरुण से ही अनुराग उचित है।

घृतप्लुते भोजनभाजने पुरःस्फुरत्पुरन्ध्रीप्रतिबिम्बिताकृतेः।
युवा निधायोरसि लड्डुकद्वयं नखैर्लिलेखाथ ममर्द निर्दयम् ॥ १०२ ॥

जीवातु—घृतेति। युवा कश्चित्तरुणः, पुरः अग्रे, घृतेन प्लुते सिक्ते, भोजनभाजने भाजनपात्रे, स्फुरन्ती प्रकाशमाना, या पुरन्ध्री अङ्गना, तस्याः, प्रतिबिम्बिता प्रतिफलिता, आकृतिः शरीरं, तस्याः उरसि वक्षसि, लड्डुकद्वयं वर्तुलाकृतिमिष्टान्नविशेषपिण्डयुग्मं, निधाय स्थापयित्वा, नखैः लिलेख विददार, अथ अनन्तरं, निर्दयम् अशिथिलं यथा तथेत्यर्थः। ममर्द पीडयामास, तदीयकुचकुम्भयुगलभावनयेति भावः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—युवा घृतप्लुते भोजनभाजने पुरःस्फुरत्पुरन्ध्रीप्रतिबिम्बिताकृतेः उरसि लड्डुकद्वयं निधाय नखैः लिलेख अथ निर्दयं ममर्द।

हिन्दी—एक युवक ने घी से परिपूर्ण भोजन-पात्र में सम्मुख स्पष्ट होती नागरिका की प्रतिबिम्बित आकृति के वक्ष पर दो लड्डू रख कर नाखूनों से लकीरें खींची। तदनतर उन्हें निर्ममता से मसल डाला।

टिप्पणी—घृत-पात्र में प्रतिबिम्बित युवती के प्रतिबिंब के साथ वक्षःस्थल पर दो लड्डू रख कर नखों से खरोंचना और लड्डुओं को मसल डालना—इस चेष्टा से युवक ने युवती को यह संकेत दिया कि जब हम दोनों का मिलन होगा, तब इसी प्रकार कुचयुगल पर नख-क्षत बनाऊँगा और

मर्दन करूँगा। यह संकेत दिया कि जैसा लड्डुओं के साथ कर रहा हूँ, वैसा ही तुम्हारे साथ भी करना चाहता हूँ॥ १०२॥

विलोकिते रागितरेण सस्मितं ह्रियाऽथ वैमुख्यमिते सखीजने।
तदालिरानीय कुतोऽपि शार्करीं करे ददौ तस्य विहस्य पुत्रिकाम्॥१०३॥

जीवातु—विलोकिते इति। सखी एव जनः तस्मिन् निजसख्यां, रागितरेण अत्यन्तानुरक्तेन, केनचित् कामुकेनेति शेषः। सस्मितम् ईषद्धास्यसहितं विलोकिते दृष्टे, अथ विलोकनानन्तरं, ह्रिया लज्जया, वैमुख्यं पराङ्मुखताम्, इते गते सति, एतेन तस्याः अपि तस्मिन् तथा अनुरागः सूचितः। तदालिः तस्य सखीजनस्य, आलिः सखी, कुतः अपि कस्मादपि स्थानात्, शार्करीं शर्करामयीम्। विकारार्थात् ण्यप्रत्ययः। पुत्रिकां पाञ्चालिकां, कृत्रिमपुत्रीम् इत्यर्थः। तत्पदविपणच्छलेनेति भावः। 'पाञ्चालिका पुत्रिका स्याद्वस्त्रदन्तादिभिः कृता' इत्यमरः। पुत्रीव प्रतिकृतिरस्याः सा पुत्रिका 'इवे प्रतिकृतौ' इति कन् 'केऽणः' इति ईकारह्रस्वः। आनीय सङ्गृह्य, तस्य रागितरस्य, करे पाणौ, विहस्य किञ्चित् हसित्वा, ददौ अर्पयामास। वैमुख्यादननुरागसन्देहो न कर्तव्यः, परन्तु एवम् एषा सखी तव करगता यथा भवेत् तथा करिष्यामि इति सूचयामासेति भावः॥ १०३॥

अन्वयः—रागितरेण सखीजने सस्मितं विलोकिते अथ ह्रिया वैमुख्यम् इते तदालिः कुतः अपि शार्करीं पुत्रिकाम् आनीय विहस्य तस्य करे ददौ।

हिन्दी—प्रेम में अधिक आकुल (तरुण) द्वारा सखी को मुसकुरा कर देखे जाने और उस (सखी) के लज्जा के कारण मुँह फेर लेने पर उस (लज्जापराङ्मुखी) की सखी ने कहीं से शक्कर की पुतली लाकर उस (रागितर) के हाथ में हँस कर दे दी।

टिप्पणी—आशय यह कि जिसके प्रति कामुक ने प्यार से मुसकुरा कर देखा था, उसने तो लाज से मुँह फेर लिया, तो इससे कहीं कामुक निराश न हो जाय, यह सोच लज्जापराङ्मुखी तरुणी की एक सखी ने कामुक के हाथ में एक शक्कर की पुतली थमा दी। इस प्रकार संकेत दिया कि प्रेमी निश्चिन्त रहे; उसकी प्रेमास्पदा शर्करा के तुल्य मीठे स्वभाव की है, और रसवंती मधुरा नायिका है। इससे वह (सखी) तरुण कामुक का सम्मिलन सरलता

से करा देगी। तब शर्करा-पुत्रिका के तुल्य मधुर सखी-अधर-चुम्बन प्रेमी कामुक कर सकेगा ॥ १०३ ॥

निरीक्ष्य रम्याः परिवेषिका ध्रुवं न भुक्तमेभिरवाप्ततृप्तिभिः ।
अशक्नुवद्भिर्बहुभुक्तवत्तया यथोज्झिता व्यञ्जनपुञ्जराजयः ॥१०४॥

जीवातु—निरीक्ष्येति। बहुभुक्तवत्तया यथेष्टं कृतभोजनतया, अशक्नुवद्भिरिति शेषः भोक्तुम् अपारयद्भिः, जनान्तरैरिति शेषः। यथा व्यञ्जनपुञ्जराजयः शाकमांसाद्युपकरणराशीनां श्रेणयः, उज्झ्यन्ते इति शेषः, बहुलपरिवेषणादिति भावः। तथा एभिः भोक्तृभिः जन्यजनैरपि, रम्याः रमणीयाः, परिवेषिकाः परिवेषणकारिण्यः तरुण्यः, निरीक्ष्य विलोक्य एव, अवाप्ततृप्तिभिः तावतैव 'तृप्तैः अद्भिः', व्यञ्जनपुञ्जराजयः उज्झिताः त्यक्ताः, न भुक्तं न खादितं, ध्रुवम् इत्युत्प्रेक्षायाम्, अन्यथा कथमेते भोज्यराशयः पात्रेषु तथैव दृश्यन्ते इति भावः ॥ १०४ ॥

अन्वयः—बहुभुक्तवत्तया अशक्नुवद्भिः यथा व्यञ्जनपुञ्जराजयः उज्झिताः, एभिः रम्याः परिवेषिकाः निरीक्ष्य ध्रुवं न भुक्तम् ।

हिन्दी—अधिक भोजन कर लेने के कारण और खाने में असमर्थ (बारातियों) ने जो कि विविध व्यजनों के ढेर के ढेर छोड़ दिये, उससे लगता है कि इन्होंने रमणीय परोसने वाली तरुणियों को देखकर निश्चय ही उनका भोग नहीं किया।

टिप्पणी—परिवेषिकाएँ इतनी रमणीय थीं कि उनको कोई 'खा डाले' बिना (बिना रमण किये) छोड़ ही नहीं सकता था, पर बाराती उनका 'भोग' न कर सके। लगता है कि अधिक खाने से वे 'भोगने' में असमर्थ हो गये थे, तभी तो मधुर, स्वादुतम खाद्यपदार्थों के ढेर के ढेर उन्होंने भोजनपात्र में ही छोड़ दिये। इसी कारण वे रम्य परिवेषिकाओं का भोग भी करने में समर्थ न हो सके। देखकर ही तृप्त हो गये। नारायण-मल्लिनाथ—दोनों ने उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥ १०४ ॥

पृथक्प्रकारेङ्गितसूचिताशयो युवा यथोदासि तयाऽपि तापितः ।
ततो निराशः परिभावयन् परामये तयाऽन्योऽपि सरोषयन्त्र सः ॥१०५॥

जीवातु—पृथगिति। यथा स्त्रिया, पृथक्प्रकारेङ्गितसूचिताशयः नानाविध-

चेष्टाप्रकाशिताभिप्रायः, युवा कश्चित्तरुणः, उदासि प्रतीङ्गिताद्यकरणेन औदासीन्यं प्रापित इत्यर्थः, तथाऽपि रोषात् अनादरपरया अपि तयैव स्त्रिया, तापितः सन्तापितः दुःखं प्रापितः इत्यर्थः, प्रतीङ्गितादर्शनेन स्वाभीष्टलाभनैराश्यात् दुःखितोऽभूदिति भावः, यो यत्रोदासीनः तस्य तदलाभजन्यं दुःखं न भवति, प्रकृते तु तस्यामुदासीनस्यापि तयैव जनितमिति विरोधार्थकोऽपिशब्दः, ततः औदासीन्यात्, निराशः तत्प्राप्तौ हताशः सन्, पराम् अन्यां, परिभावयन् इङ्गितादिना विभावयन्, सानुरागमवलोकयन् इति यावत्, सः युवा, सरोषया अन्यावलोकनरुष्टया, तयैव पूर्वया एव, अतोषि तोषितः, न तु द्वितीयया इति भावः, तोषयतेः कर्मणि लुङ् । अये इति आश्चर्ये, औदासीन्यं जनयित्र्याऽपि दुःखं जनितं सरोषयैव सन्तोषो जनित इति विरुद्धार्थद्वयसमावेश आश्चर्यकर इत्यर्थः । पूर्वया तदनुरक्तयाऽपि जनसमक्षमिङ्गितादिकरणमयुक्तमिति बुद्धया पूर्वं प्रतीङ्गितादिना न सम्भावितः, अत एव युवा दुःखितः, किन्तु तस्या गूढाभिप्रायमज्ञात्वा इयं मय्यनुरागिणीति निश्चित्यान्यां प्रति तस्मिन् सानुरागं विलोकयति सति तद्दर्शनेन पूर्वा सा सरोषा जाता, सानुरागैव सरोषा भवतीति व्याप्तेः तस्या रोषदर्शनेनानुरागमनुमाय स सन्तुष्ट इति भावः ॥१०५॥

अन्वयः—पृथक्प्रकारेङ्गितशंसिताशयः युवा यया उदासि, तया तापितः अपि; ततः निराशः परां परिभावयन् सः अये सरोषया तया एव अतोषि ।

हिन्दी—नानाविध संकेतों से अपना अभिप्राय प्रकट करने वाला तरुण जिस (तरुणी) के द्वारा उदास कर दिया गया था, उसके द्वारा दुःख को भी प्राप्त हुआ, उस (संतापदात्री) से निराश अन्य (तरुणी) को संकेतादि से 'पटाता' वह (तरुण) आश्चर्य कि (अन्यावलोकन से) रुष्ट उसी (संतापकारिणी पूर्वोक्ता तरुणी) द्वारा संतुष्ट कर दिया गया ।

टिप्पणी—अनेक प्रणय संकेतों पर जब प्रेमास्पदा ने उपेक्षा कर प्रेमी युवक को उदासीन और संतप्त बना दिया तब वह अन्य के प्रति अपनी अनुराग-चेष्टाएँ दिखाने लगा । अन्य के प्रति अनुराग-चेष्टाएँ करते उसे देख वह पूर्वोक्त प्रेमास्पदा ईर्ष्या से जल उठी और यद्यपि उसमें रोष उत्पन्न हुआ, तथापि उसने प्रस्ताव स्वीकार कर युवक को संतुष्टि दे दी। जिसने उदासीनता और ताप दिये, उसी ने तोष दिया—यही विस्मय है । रोष ने ही तरुणी का

तरुणी के प्रति अनुराग प्रकट कर दिया। यदि वह अनुरागिणी न होती तो अन्या के प्रति प्रेमी का अनुराग देख रोष क्यों करती ? रोष से सतोष हुआ, यह आश्चर्य ही है न ? कोप से सताप होता है, पर अनुरागसूचक रोष से सतोष हुआ ॥ १०५ ॥

पय स्मिता मण्डपमण्डलाम्बरा वटाननेन्दु पृथुलड्डुकस्तनी ।
पदं रुचेर्भोज्यभुजा भुजिक्रिया प्रिया बभूवोज्ज्वलकूरहारिणी ॥१०६॥

जीवातु— पय इति। पयः पाथ क्षीर वा, स्मित हास्य यस्या सा, मण्डपमण्डल जन्यजनानामाश्रयसमूह', चन्द्रातपसमूह एव इत्यर्थं । 'मण्डपोऽस्त्री जनाश्रय ' इत्यमर, अम्बर वस्त्र यस्या सा तादृशी, मण्डपानामावरकत्वात् शुभ्रत्वाच्चेति भाव, वट वटक एव, शुभ्रवर्त्तुलपिष्टकविशेष एव इत्यर्थ, आननेन्दु आह्लादकरत्वात् मुखचन्द्र यस्या' सा तादृशी, पृथू महान्तौ लड्डुकौ मिष्टान्नविशेषौ एव, स्तनौ यस्या सा तादृशी, रुचे पदम् अभिलाषास्पद लावण्यास्पदञ्च, उज्ज्वलैः शुभ्रै, कूरै भक्तै, 'अन्ध कूर भक्तम्' इति हलायुध । हारिणी मनोहरा हारवती च, भुजिक्रिया भोजनव्यापारः, भुज इति धातुनिर्देशेनार्थलक्षणा। भोज्यभुजा भोक्तृणा भोगिनाञ्च, प्रीणातीति प्रिया तृप्तिकारिणी वल्लभा च, बभूव। रूपकालङ्कार ॥ १०६ ॥

अन्वयः– पय स्मिता मण्डपमण्डलाम्बरा वटाननेन्दु पृथुलड्डुकस्तनी उज्ज्वलकूरहारिणी रुचे पद भुजिक्रिया भोज्यभुजा प्रिया बभूव।

हिन्दी—दूध के समान उज्ज्वल मुसकान वाली, मंडप के चँदोवे के समान स्वच्छ वस्त्र धारण करती, दूध वडो के समान उज्ज्वल गोलमुख चन्द्रवती, बडे बडे लड्डुओ के सदृश पीन पयोधरा, शुभ्र भात के सदृश मुक्ता हार पहिने, लावण्यमयी प्रिया तरुणी के तुल्य स्वच्छ-निर्मल जल अथवा दुग्ध ही जिसकी मुसकान है, मडप का चन्द्रातप ही जिसका आवरण है, मुख को चन्द्रसम आनन्द देने वाले दूध-बडे जिसमे परोसे गये हैं, पीन पयोधरो के सदृश बडे-बडे लड्डू जिसमे भोज्य हैं, उजले भात से जो मनोहारिणी है, ऐसी रुचिपूर्ण भोजन-क्रिया (दावत भोज किया) भोज मे सम्मिलित बारातियों को प्रिय हुई।

टिप्पणी—भाव यह कि सर्वतोरमणीय-वल्लभा जैसी प्रिय लगती है,

ऐसी ही वह भोजक्रिया (दावत) वारातियों को प्रतीत हुई।' दो प्रकार की विग्रह-योजना के आधार पर भुजक्रिया और प्रिया में समता की गयी है। रम्या प्रिया जैसे तृप्ति देती है, वैसी ही तृप्ति भुजिक्रिया ने दी। मल्लिनाथ के अनुसार रूपकालंकार॥ १०६॥

चिरं युवाऽऽकूतशतैः कृतार्थनश्चिरं सरोषेङ्गितया च निद्घुतः।
सृजन् करक्षाललीलयाऽञ्जलिं न्यषेचि किञ्चिद्विधुताम्बुधारया॥१०७॥

जीवातु—चिरमिति। चिरं दीर्घकालं व्याप्य, आकूतशतैः इङ्गितसमूहैः, कृतार्थनः कृतप्रार्थनः ततश्च सरोषेङ्गितया रोषव्यञ्जकचेष्टावत्या, कयाचित्तरुण्या इति शेषः। निर्द्धुतश्च निराकृतश्च, युवा कश्चित्तरुणः, करक्षालनलीलया हस्तप्रक्षालनव्याजेन इत्यर्थः, चिरं दीर्घकालं यावत्, अञ्जलिं करद्वयसंयोगं, सृजन् विदधत् सन्, अञ्जलिबन्धेन चिरं प्रार्थयमानः सन् इत्यर्थः। किञ्चिद्विधुतया ईषत् कम्पितया, अम्बुधारया जलधारया, वारिविधूननव्याजेन इत्यर्थः। न्यषेचि निषिक्तः। कोपानलशान्तिज्ञापनाय इति भावः, तरुण्या इति शेषः॥ १०७॥

अन्वयः—चिरम् आकूतशतैः कृतार्थनः सरोषेङ्गितया च निर्द्धुतः करक्षालनलीलया चिरम् अञ्जलिं सृजन् युवा किञ्चिद्विधुताम्बुधारया न्यषेचि।

हिन्दी—बहुत समय तक अनेक चेष्टाओं से याचना करते और रोषपूर्ण संकेतों द्वारा उपेक्षित तथा हाथ-धोने की क्रिया में अंजलि बाँधे (हाथ जोड़ पुनर्याचना करते) युवक को कुछ कँपा दी गयी जलधारा से (प्रेमास्पदा तरुणी) भिगो दिया।

टिप्पणी—भोजनोपरांत हस्त-प्रक्षालन का वर्णन। एक कामुक बहुत समय से प्रेमास्पदा तरुणी के प्रति अनेक प्रकार के प्रणय-संकेत करके प्रणय-याचना कर रहा था, परन्तु तरुणी लज्जा आदि के कारण उसके प्रति रोष-संकेत कर उसकी उपेक्षा कर देती थी। भोज के पश्चात् जब हाथ धोने का समय आया और तरुणी हाथ धुलाने लगी तो उस तरुण ने पुनः एक बार चेष्टा की और धोने के निमित्त हाथों को परस्पर रगड़ते जैसे पुनः प्रणय-स्वीकृति के निमित्त युवती से प्रार्थना की। अन्ततोगत्वा तरुणी पिघली, उसने जलधारा को कंपित करते हुए तरुण को कुछ भिगो दिया और इस

प्रकार प्रकट किया कि उसका रोष अब शान्त हो गया है और वह यथासमय तरुण को रस-सिक्त करेगी ॥ १०७ ॥

न षड्विधः पिङ्गजनस्य भोजने तथा यथा यौवतविभ्रमोद्भवः ।
अपारशृङ्गारमयः समुन्मिषन् भृशं रसस्तोषमधत्त सप्तमः ॥१०८॥

जीवातु—न षड्विध इति । पिङ्गजनस्य विटजनस्य 'पिङ्गः पल्लविको विटः' इत्यमरः, भोजने भोजनकाले, षड्विधः षट्प्रकारः, रसः मधुरादिरूपः, तथा तादृशं, तोषं प्रीतिं, नाधत्त न अपुषत्, पोषणार्थे लुङि लङ् । यथा यादृशं, युवतीनां समूहः यौवतम् 'भिक्षादिभ्योऽण्' इति अण् । तत्र युवतीति सामर्थ्यात् 'भस्याढे तद्धिते' इति पुंवद्भावः । तस्य विभ्रमैः विलासैः, उद्भवः सञ्जातः, पचाद्यच् । भृशम् अत्यर्थं, समुन्मिषन् समुज्जृम्भमाणः, वर्धमान इत्यर्थः, अपारः अपरिमितः, शृङ्गारमयः शृङ्गारः नाम, सप्तमः रसः । अत्र सप्तमत्वं मधुरादिषड्रसापेक्षया, न तु आलङ्कारिकोक्तरसापेक्षया षड्रसातिरिक्तस्य रसस्याभावात् शृङ्गाररसस्यापि तदन्तर्गतत्वात् इति तात्पर्यम् । तोषम् अधत्त इत्यनेनान्वयः, एकोऽपि लोकोत्तरो बहूनतिशेते इति भावः ॥ १०८ ॥

अन्वय—पिङ्गजनस्य भोजने षड्विधः रसः तथा तोषं न अधत्त यथा यौवतविभ्रमोद्भवः भृशं समुन्मिषन् अपारशृङ्गारमयः सप्तमः ।

हिन्दी—विट् (कामी) व्यक्तियों के भोजन में छः प्रकार का रस वैसा संतोष नहीं दे रहा था, जैसा कि युवतियों की विलास चेष्टाओं से उत्पन्न पर्याप्त मात्रा में वृद्धि को प्राप्त होता, निर्मर्याद शृङ्गार रस सम्पूर्ण सातवाँ रस।

टिप्पणी—कामी रसिकों के भोजन में मधुर, अम्ल (खट्टा), लवण, तिक्त (तीता), कटु, कषाय (कसैला) रस की सत्ता उतनी तृप्ति का कारण नहीं हुआ करती जितनी कि युवतियों के द्वारा निर्मर्याद रूप में शृङ्गार रस की विद्यमानता होती है । भोजन की अपेक्षा कटाक्ष, अंग प्रदर्शन आदि मर्यादा का अतिक्रमण करती युवतियों की छेड़छाड़, हँसी-दिल्लगी, चुम्बन-आलिंगन कामियों को षट्रस व्यंजन की अपेक्षा अधिक आनन्द देते हैं। भोजन में षड्रस ही होते हैं, कामियों को उनसे नहीं, सप्तम रस से आनन्द प्राप्त होता है । सप्तम रस की सत्ता विस्मय का कारण है । यहाँ शृङ्गार को सप्तम रस कहना भोजन षड्रसों की अपेक्षा से ही है, आठ, नौ अथवा दस नाट्य रसों

की अपेक्षा में नहीं। नाट्य-रसों में तो शृङ्गार प्रथम ही है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ तात्पर्य यह है कि लोकोत्तर एक अनेक लौकिक रसों में श्रेष्ठ है। मधुरादि षड्रस लौकिक हैं; शृङ्गार अलौकिक है—'लोकोत्तर' 'अतः वह षड्रसों से श्रेष्ठ है।' १०८॥

मुखे निधाय क्रमुकं नलानुगैरथोज्झि पर्णालिरवेक्ष्य वृश्चिकम्।
दमार्पितान्तर्मुखवासनिर्मितं भयाविलैः स्वभ्रमहासिताखिलैः ॥१०९॥

जीवातु—मुखे इति। अथ करक्षालनानन्तरं, नलानुगैः नलानुयायिभिः, जन्यजनैरिति शेषः, क्रमुकं पूगफलं, मुखे वदने, निधाय दत्त्वा, दमेन दमयन्ती-भ्राता, अर्पितं दत्तम्,। अन्तर्मुखस्य अन्तर्मुखं मुखाभ्यन्तरम्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। तद्वासयति सुगन्धीकरोतीति अन्तर्मुखवासं लवङ्गकक्कोलकर्पूरादि-वासनाद्रव्यम्, कर्मण्यण्। तेन निर्मितं कल्पितं, वृश्चिकं वृश्चिकाकृतिताम्बूलो-पकरणसुगन्धिद्रव्यविशेषम्, अवेक्ष्य दृष्ट्वा, भयेन दंशनभीत्या, आविलैः आकुलैः, अत एव स्वभ्रमेण स्वस्य भ्रमेण, अवृश्चिके वृश्चिकज्ञानरूपनिज-भ्रान्त्या इत्यर्थः, हासिताः जनितहासाः, अखिलाः समस्तदर्शकवृन्दा यैः तादृशैः सद्भिः, पर्णालिः नागवल्लीदलपङ्क्तिः, औज्झि उज्झिता, परित्यक्ता इत्यर्थः, उज्झ विसर्गे कर्मणि लुङ् ॥ १०९॥

अन्वयः—अथ नलानुगैः क्रमुकं मुखे निधाय दमार्पितान्तर्मुखवास-निर्मितं वृश्चिकम् अवेक्ष्य भयाविलैः स्वभ्रमहासिताखिलैः पर्णालिः उज्झिता।

हिन्दी—तत्पश्चात् (हाथ धो लेने के उपरांत) नल के अनुयायी बारातियों ने सुपारी मुख में रख दम (दमयन्ती के भ्राता) द्वारा मुख को सुगन्धित करने वाले मसालों से बनाये गये विच्छू को देखकर भययुक्त हो अपने भ्रम के कारण सब को हँसाते हुए पान के बीड़े को छोड़ दिया।

टिप्पणी—बारातियों ने भोजनोपरांत हाथ धोये, अर्पित की गयी सुपारी मुँह में रखी और तब दमयन्ती के भाई द्वारा अर्पित किये जाते 'विच्छू' को देखा कि डरकर हाथ खींच लिये। इस पर सभी हँस पड़े। वस्तुतः वह 'विच्छू' नहीं था, जिसके काटने से पीड़ा होती, वह वृश्चिकाकार पान का बीड़ा था, जिसमें मुख को सुगन्धित करने वाले द्रव्य—लौंग-इलायची, केसर, कस्तूरी, जावित्री आदि—पड़े थे। भ्रम से विच्छू समझ कर बारातियों द्वारा उसके त्यागे जाने पर सबके हास्य का कारण उत्पन्न हो गया ॥१०९॥

अमीषु तथ्यानृतरत्नजातयोर्विदर्भराट् चारुनितान्तचारुणी ।
स्वयं गृहाणैकमितीत्युदीर्य तद्द्वयं ददौ शेषजिघृक्षवे हसन् ॥ ११० ॥

जीवातु—अमीष्विति । विदर्भराट् विदर्भदेशाधीश्वर भीम, चारुनितान्तचारुणी. यथासङ्ख्य रम्यातिरमणीययो, इह अनयो, तथ्यानृतरत्नजातयो सत्यासत्यरत्नौघयो मध्ये 'जात जात्योघजन्मसु' इति विश्व । एक स्वयम् आत्मना, गृहाण स्वीकुरु, अमीषु वारयात्रिकेषु मध्ये, इति एवम्, उदीर्य उक्त्वा, शेषम् असत्यमेव, जिघृक्षवे गृहीतुमिच्छवे, कृत्रिमत्वेन तस्यैवातिचारुत्वादिति भाव । ग्रहे सनन्तात् 'सनाशसभिक्ष उ' इति उप्रत्यय, मधुपिपासादित्वात् द्वितीयासमास । हसन् तस्य रत्नज्ञानाभावात् हास्य कुर्वन्, तयो. कृत्रिमाकृत्रिमयो, द्वयम् उभयमेव, ददौ अर्पयामास । तत्र कृत्रिम विनोदाय ददौ अन्यदौचित्यादिति भाव ॥ ११० ॥

अन्वयः—विदर्भराट् 'चारुनितान्तचारुणी. इह तथ्यानृतरत्नजातयोः एक स्वय गृहाण' अमीषु इति उदीर्य शेषजिघृक्षवे हसन् तद्द्वय ददौ ।

हिन्दी—विदर्भराज (भीम) ने 'सुन्दर और अतिसुन्दर इन असली और नकली रत्नसमूह में से एक स्वय ले लो'—इन (बारातियों) से ऐसा कहकर शेष (कृत्रिम नकली) लेने की इच्छा करने वाले को हँसते हुए वे दोनों (कृत्रिम और अकृत्रिम) दे दिये ।

टिप्पणी—बारातियों को भेंट देने के निमित्त दो थालों में रत्नावलि सजा दी, एक तो सुन्दर थे और एक अत्यधिक सुन्दर थे । राजा ने बारातियों से जो उन्हें अच्छा प्रतीत हो, वही एक ले लेने को कहा । जो अत्यधिक सुन्दर था, बाराती ने वही लिया । राजा इस पर हँस पड़े, क्योंकि वे समझ गये कि ग्रहीता रत्नपारखी नहीं है अत्यधिक चमक और अधिक सुन्दरता-सम्पन्न रत्न को उसने अच्छा समझकर लिया है, जब कि वह बनावटी है । असली कम चमक वाला और सामान्य सुन्दर है । इसी अज्ञान पर हँसते हुए उन्होंने बाराती को कृत्रिम और अकृत्रिम—दोनों रत्न भेंट कर दिये । एक नकली तो इसलिए कि वह बाराती ने स्वय चुना था, दूसरा असली तो भेंट में देना ही था । नकली रत्न-राशि तो केवल हासोत्पत्ति के लिए उपस्थित की गयी थी । कृत्रिम विनोदार्थ दिया और अकृत्रिम औचित्य के कारण ॥ ११० ॥

इति द्विकृत्वः शुचिमिष्टभोजिनां दिनानि तेषां कतिचिन्मुदा ययुः ।
द्विरष्टसंवत्सरवारसुन्दरीपरीष्टिभिस्तुष्टिमुपेयुषां निशि ॥१११॥

जीवातु – इतीति । इति पूर्वोक्तप्रकारेण, द्विकृत्वः द्विवारं, दिवा रात्रौ च इत्यर्थः, 'सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' इति कृत्वसुच् । शुचि विशुद्धं, मिष्टं मधुरं, भुञ्जते अश्नन्ति इति तेषां विशुद्धलड्डुकादिभोजिनां, तथा निशि रात्रौ, द्विः द्विरावृत्ताः, अष्टसंवत्सराः यासां तासां षोडशवर्षाणां, वारसुन्दरीणां गणिकानां, परीष्टिभिः परिचर्याभिः, तत्कर्तृकशुश्रूषाभिरित्यर्थः, 'परीष्टिः परिचर्यायां प्राकाम्येऽन्वेषणे स्त्रियाम्' इति मेदिनी । तुष्टिं प्रीतिम्, उपेयुषां प्राप्नुवतां, तेषां नलानुगानां, कतिचित् दिनानि कतिपयानि अहानि, मुदा हर्षेण, ययुः अतिवाहितानि बभूवुः ॥ १११ ॥

अन्वयः—इति द्विकृत्वः शुचिमिष्टभोजिनां निशि द्विरष्टसंवत्सरवारसुन्दरी-परीष्टिभिः तुष्टिम् उपेयुषां तेषां कतिचित् दिनानि मुदा ययुः ।

हिन्दी—इस प्रकार दो-दो बार शुद्ध और मधुर भोजन करते तथा रात में दो गुना आठ (२×८=१६) अर्थात् सोलह वर्ष की (षोडश-वर्षीया) वाराङ्गनाओं की सेवाओं को प्राप्त कर संतुष्टि पाने वाले उन (वारातियों) के कुछ दिन प्रसन्नता-पूर्वक व्यतीत हुए ।

टिप्पणी—वारातियों को दो बार – दिन और रात में— उत्तम भोजन मिलता और रात में षोडश-वर्षीया वारांगनाएँ उनकी सेवा में रहतीं । इस प्रकार उनके वे कुछ दिन बड़े आनन्द में बीते ॥ १११ ॥

उवास वैदर्भगृहेषु पञ्चषाः निशाः कृशाङ्गीं परिणीय तां नलः ।
अथ प्रतस्थे निषधान् सहानया रथेन वार्ष्णेयगृहीतरश्मिना ॥११२॥

जीवातु—उवासेति । नलः कृशाङ्गीं तन्वङ्गीं, तां दमयन्तीं, परिणीय उद्वाह्य, वैदर्भगृहेषु भीमभवनेषु, पञ्चषाः पञ्च षट् वा, 'सङ्ख्ययाऽव्यय—' इत्यादिना बहुव्रीहिसमासे कृते 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये डच्' इति डच्समासान्तः । निशाः रात्रीः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया उवास तस्थौ । अथ समनन्तरं, अनया भैम्या सह, वृष्णेः अपत्यं पुमान् वार्ष्णेयः तन्नामकनलसारथिः 'इतश्चानिञः' इति ढक् । तेन गृहीताः धृताः, रश्मयः प्रग्रहाः यस्य तादृशेन 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । रथेन निषधान् तदाख्यनिजजनपदान्, प्रतस्थे जगाम ॥११२॥

अन्वय—नलः कृशाङ्गीं तां परिणीय वैदर्भगृहेषु पञ्चषाः निशाः उवास, अथ अनया सह वार्ष्णेयगृहीतरश्मिना रथेन निषधान् प्रतस्थे ।

हिन्दी—नल तन्वी उस (दमयन्ती) को ब्याह कर विदर्भराज के प्रासादों में पाँच-छः रात रहे, तत्पश्चात् उस (वधू दमयन्ती) के साथ—'वार्ष्णेय' नामक सारथि जिसकी 'रास' पकड़े था, उस रथ से निषधदेश की ओर (उन्होंने) प्रस्थान किया ।

टिप्पणी—पाँच-छः दिन नल विदर्भ के महलों में रहे और सातवें दिन विदा हो दमयन्ती के साथ रथ पर बैठे चल पड़े, उनका सारथि 'वार्ष्णेय' था ।

परस्य न स्प्रष्टुमिमामधिक्रिया प्रिया शिशुः प्रांशुरसाविति ब्रुवन् ।
रथे स भैमीं स्वयमध्यरूरुहत्तां किलाश्लिक्षदिमां जनेक्षितः ।।११३।।

जीवातु—परस्येति । परस्य मदितरस्य लोकस्य इमां पतिव्रतां भैमीं, स्प्रष्टुं परामर्ष्टुम्, अधिक्रिया अधिकारः, न, अस्तीति शेषः । प्रिया भैमी, शिशुः, बाला, ह्रस्वप्रमाणा इति भावः । असौ रथः, प्रांशुः उन्नतः, अत एव स्वयं रथारोहणे असमर्थेति भावः' । इति एवं, ब्रुवन् किल वदन्निव, स नलः, स्वयम् आत्मनैव, भैमीं दमयन्तीं, रथे अध्यरूरुहत् अधिरोहयामास, स्पर्शलोभादिति भावः । णिजन्तरुहधातोः लुङि 'णौ चङि' इत्युपधाह्रस्वः, 'दीर्घो लघोः' इत्यभ्यासस्य दीर्घत्वम् । किन्तु तत् तदा, रथारोहणकाले इत्यर्थः, जनेक्षितः जनैः दृष्टः सन्, बहुभिर्जनैः दृष्टत्वादिति भावः । इमां भैमीं, नाश्लिक्षत् न आलिङ्गत्, शालीनताविरोधिव्यवहारत्वादिति भावः । श्लिष आलिङ्गने इति श्लिषो लुङि क्से क्सादेशः ॥ ११३ ॥

अन्वयः—परस्य इमां स्प्रष्टुम् अधिक्रिया न, प्रिया शिशुः, असौ प्रांशुः—इति ब्रुवन् सः स्वयं भैमीं रथे अध्यरूरुहत्, तत् जनेक्षितः इमां न आश्लिक्षत् किल।

हिन्दी—'अन्य व्यक्ति को इसे (दमयन्ती को) छूने का अधिकार नहीं है, और प्रिया (वधू दमयन्ती) छोटी है और रथ ऊँचा है'—ऐसा कहते उस (नल) ने स्वयं भीमसुता (दमयन्ती) को रथ पर चढा दिया, वह (चढ़ाते समय का प्रिया-स्पर्श) लोगों के देखते इस (प्रिया) का निश्चयतः आलिंगन नहीं था ।

टिप्पणी—पतिव्रता दमयन्ती को परपुरुष तो छू नहीं सकता था,

रथ ऊँचा होने से स्वयं उस पर चढ़ नहीं सकती थी। इसलिए दमयन्ती को पकड़कर रथ पर स्वयं नल ने चढ़ा दिया। इस स्पर्श को आलिंगन-लोभ समझना उचित नहीं होगा, क्योंकि लोकाचरण के यह अनुकूल नहीं था कि राजा नल सबके समक्ष पत्नी को आलिंगन-बद्ध कर ले। नारायण का बोध है कि तत्वतः तो नल ने दमयन्ती का आलिंगन कर ही लिया, केवल उसका कारण स्पष्ट करते हुए धृष्टता का परित्याग कर दिया। मल्लिनाथ का निष्कर्ष है कि नल ने स्पर्श-लोभ से दमयन्ती को रथारूढ़ किया, किन्तु शालीनता-विरोधि व्यवहार होने से जन-समक्ष आलिंगन नहीं किया ॥११३॥

इति स्मरः शीघ्रमतिश्चकार तं वधूञ्च रोमाञ्चभरेण कर्कशौ ।
स्खलिष्यति स्निग्धतनुः प्रियादियं म्रदीयसी पीडनभीरुदोर्युगात् ॥११४॥

जीवातु—इतीति। स्निग्धतनुः मसृणाङ्गी, म्रदीयसी अतिसुकोमला च, इयं भैमी, पीडनात् दृढतया धारणजन्यव्यथाप्राप्तेः, भीरु भयशीलं, दोर्युगं बाहुद्वयं यस्य तस्मात् म्रदीयसः पीडनासहत्वात् सुदृढधारणेन व्यथाप्राप्तिशङ्कया शिथिलधारिण इति भावः। प्रियात् नलात्, स्खलिष्यति भ्रंशिष्यति, इति मृदुतयाशिथिलधारणेन स्निग्धतनुरियं प्रियभुजान्तरात् स्रंसिष्यते इति हेतोरिवेत्यर्थः। शीघ्रमतिः प्रत्युत्पन्नमतिः, स्मरः कामः, तं नलं, वधूं भैमीञ्च, रोमाञ्चभरेण पुलकातिशय्येन, कर्कशौ खरस्पर्शौ, अस्निग्धगात्रौ इत्यर्थः, चकार विदधे। अनयोः परस्पराङ्गसङ्गहेतुके रोमांचे स्खलनप्रतिबन्धार्थत्वमुत्प्रेक्षते ॥ ११४ ॥

अन्वयः—'स्निग्धतनुः म्रदीयसी इयं पीडनभीरुदोर्युगात् प्रियात् स्खलिष्यति'—इति शीघ्रमतिः स्मरः तं वधूं च रोमाञ्चभरेण कर्कशौ चकार।

हिन्दी—'चिकने शरीर वाली, अति सुकोमलता यह (दमयन्ती) पीड़ा होने की आशंका से शिथिल बाहु-बंधन किये प्रिय (नल) से फिसल जायेगी'—यह सोच प्रत्युत्पन्नमति काम ने उस (नल) और वधू (दमयन्ती) को अत्यधिक रोमांचित कर कर्कश कर दिया।

टिप्पणी—रथ पर नल द्वारा दमयन्ती को चढ़ाते समय नवदंपती (नल-दमयन्ती) सकाम हो रोमांचित हो उठे। इस पर यह उद्‌भावना है कि दमयन्ती 'स्निग्धतनु' (कोमल -चिकने शरीर वाली) है, रथ पर चढ़ाते

समय नल उसे कठोरता से पकड़ेगा नहीं, क्योंकि उसे आशंका है कि यह कोमलांगी कठोरता से पकड़े जाने पर कसाव के कारण पीड़ित होगी। ऐसी स्थिति में नल के शिथिल बाहु-बंधन से फिसल कर वह गिर जायेगी, सो काम ने दोनों को रोमांचित कर अस्निग्ध—कर्कश बना दिया। खुरदरे हो जाने पर फिसलने का डर नहीं रहा। परस्परांग-संसर्ग से उत्पन्न रोमांच में फिसलन-रोकने की संभावना के कारण मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है ॥ ११४ ॥

[illegible] ॥११५॥

जीवातु—तथेति। पितरौ भैम्या मातापितरौ 'पिता मात्रा' इति विकल्पादेकशेषः। आजन्म जन्मप्रभृति, अभिविधावव्ययीभावः। निजाङ्के स्वोत्सङ्गे, वर्द्धिता पोषिता, पुत्रीं दुहितरम्। गौरादित्वाद्‌ङीकारः। प्रहित्य प्रस्थाप्य, हिनोतेः क्त्वो ल्यप्। तथा तादृक्, विषेदतुः विषण्णौ बभूवतुः, किम्? नेत्यर्थः, सदेर्लिटि 'अत एकहल्मध्ये—' इत्यादिना एत्वाभ्यासलोपौ। यथा यादृक्, तौ भैमीपितरौ, विनीतत्तया विनयसम्पन्नतया, लक्षगुणीभवन्तः लक्षगुणत्वेन सम्पद्यमानाः, गुणा शौर्यादयः यस्य तथोक्तम्, दुहितुः पतिं जामातरम् 'विभाषा स्वसृपत्योः' इति विकल्पात् षष्ठ्या अलुक्। तं नलं, विसृज्य, सम्प्रेष्य, विषेदतुरिति पूर्वक्रियया अन्वयः। कन्यावियोगापेक्षया गुणशालिजामातृवियोगस्तयोर्नितरां विषादकारणमभूदिति भावः ॥ ११५ ॥

अन्वयः—पितरौ आजन्म निजाङ्कवर्द्धितां पुत्रीं प्रहित्य किं तथा विषेदतुः, यथा विनीततालक्षगुणीभवद्गुणं दुहितुः पतिं तं विसृज्य?

हिन्दी—(दमयन्ती के) माता-पिता जन्म से लेकर अपनी गोद में पली-पोसी बेटी को विदा कर क्या उतने उदास हुए, जितने कि विनयी होने से लाख गुने (अनेक) होते गुण-वाले बेटी के पति (जामाता) उस (नल) को विदा कर विषण्ण हुए? (अपितु नहीं हुए)।

टिप्पणी—आशय यह है कि बेटी को विदा कर माँ-बाप का उदास होना तो स्वाभाविक है, वह उदासी तो दमयन्ती के माता-पिता को व्यापी होगी ही, किन्तु उससे अधिक उदास और दुःखी वे अनेक शौर्यादि गुणों से सम्पन्न

अपने जामाता नल के वियोग से हुए, जिसके अनेक गुणों को उसकी विनीतता ने लाख गुना बढ़ा दिया था। शौर्य-औदार्य आदि गुण नल के विनयी होने से लाख गुने प्रतीत हो रहे थे ॥ ११५ ॥

निजादनुव्रज्य स मण्डलावधेर्नलं निवृत्तौ चटुलापतां गतः ।
तडागकल्लोल इवानिलं तटाद्धृताऽऽनतिर्व्याववृते विदर्भराट् ॥ ११६ ॥

जीवातु—निजादिति । नलम् अनुव्रज्य अनुसृत्य, निवृत्तौ प्रत्यावर्त्तनसमये, चटु चाटु, प्रियवाक्यमित्यर्थः, लपति कथयतीति चटुलापः तस्य भावः तत्तां चाटुभाषितां, गतः प्राप्तः, मनोहरवाक्यवादी इत्यर्थः, 'कर्मण्यण्' इति अण्प्रत्ययः। सः विदर्भराट् भीमः, धृता स्वीकृता, आनतिः नलनमस्कारः येन तादृशः सन्, अनिलं वायुम्, अनुव्रज्य अनुयाय, चटुलाः चञ्चलाः, आपः जलानि यस्य तस्य भावः तत्तां चलजलत्वं, गतः प्राप्तः, वातेनान्दोलिताप इत्यर्थः, 'ऋक्पूर—' इत्यादिना समासान्तः। तडागस्य सरोवरस्य, कल्लोलः महोर्मिः 'अथोर्मिषु। महत्सूल्लोलकल्लोलौ' इत्यमरः, धृता प्राप्ता, आनतिस्तटाघातजन्यनमनं येन तादृशः सन्, तटात् तीरप्रदेशादिव, निजात् स्वकीयात्, मण्डलावधेः राष्ट्रसीमान्तात्, व्याववृते प्रतिनिवृत्तः ॥ ११६ ॥

अन्वयः—नलम् अनुव्रज्य निवृत्तौ चटुलापतां गतः धृतानतिः सः विदर्भराट् अनिलम् अनुव्रज्य (चटुलापतां गतः) तडागकल्लोलः तटात् इव मण्डलावधेः व्याववृते ।

हिन्दी—नल का अनुगमन कर (कुछ दूर तक पहुँचा कर) लौटते समय मधुर वचन बोलता, (नल का) नमस्कार स्वीकारता (अथवा नीचा मुख किये) विदर्भ-नरेश (भीम) पवन का अनुगमन कर (पवन द्वारा) चंचल हो गये जल वाले सरोवर का तरंग जैसे तट से लौट आता है, वैसे ही अपने राज्य के सीमांत से लौट आया ।

टिप्पणी—नल की विदा-नमस्कृति स्वीकार कर, प्रिय-भाषी, नीचा मुख किये राज्य-सीमांत से लौटते भीमराज की तुलना उस तरंग से की गयी है, जो वायु-द्वारा आन्दोलित हो तट तक जाता है और टकरा कर लौट आता है। भीम-तरंग नल-वायु से आन्दोलित हो मण्डलावधि-तट तक गया और तटावरोध पाकर लौट आया। पवनांदोलित होने से जल चंचल हो ही जाता

है, वह 'चटूलापता गत' होता है, वैसे ही भीम भी है—मधुर वचन भाषी। भीम न 'अवनति' अर्थात् निम्नाननता (उदासा के कारण) स्वीकार रखो है, परावर्तित होने पर कल्लोल भी उल्लोल न रह कर अवनत हो जाता है। नारायण के अनुसार उपमा ॥ ११६ ॥

पिताऽऽत्मन पुण्यमनापद क्षमा धन मनस्तुष्टिरथाखिल नल ।
अत परं पुत्रि न कोऽपि तेऽहमित्युदश्रुरेष व्यसृजन्निजौरसीम् ॥११७॥

जीवातु—पितेति। पुत्रि ! हे वत्से ! आत्मन तव, पुण्य सुकृतमेव, पिता जनक, हितकारित्वादहितनिवारकत्वाच्चेति भाव । क्षमा सहिष्णुता, अनापद न विद्यते आपदो यस्यास्ता आपन्निवारिका इत्यर्थं, मनस्तुष्टि सन्तोष, अलामित्वमेव इत्यर्थं, धन वित्तम्, अथ अनन्तरम्, एतत्पर किं बहु वच्मि इत्यथ, अखिलम् उक्तम् अनुक्तञ्च सर्वमेव, नल नल एव तव सर्वस्वम अभीष्टदायित्वादिति भाव । अत अस्मात् नलात् परम् अन्यत्, न, अस्तीति शेष, अहन्तु ते तव, कोऽपि न कश्चिदपीत्यर्थं । यद्वा—अत परम् अत ऊर्ध्वम्, अद्यारभ्येत्यथ, अहं ते कोऽपि न मया सह तव कोऽपि सम्बन्धो नास्तीत्यर्थं, इति इत्यम्, उक्त्वेति शेष । एष भीम, उदश्रु उद्वाष्प साश्रुनेत्र सन् इत्यथ । निजाम् आत्मीयाम् उरसा निर्मिता पुत्रीम् उरसोऽण् च' इत्यण् प्रत्यय', 'सज्ञाधिकारादभिधेयनियम' इति काशिका व्यसृजत् विससर्ज, प्रेषयामासेत्यथ ॥ ११७ ॥

अन्वय —'पुत्रि, आत्मन पुण्य पिता, क्षमा अनापद, मनस्तुष्टि धनम्, अथ अखिल नल, अत पर तेन क अपि (अथवा अत परम् अह ते न क अपि), (अथवा—मनस्तुष्टि धनम्, अखिल नल, क अपि (अन्य) न—अथ अतः पर ते (किं वच्मि)'—इति उदश्रुः एष. निजौरसी व्यसृजत् ।

हिन्दी— बटी, अपना पुण्य पिता है, सहन शक्तियाँ ही आपत्ति विनाशक है, मन की सन्तुष्टि ही धन है और सर्वस्व नल है, इसमे अधिक तेरा कोई नहीं है (अथवा—आज से आगे मैं तेरा कोई नहीं हूँ। अथवा मनस्तोष धन है, सर्वस्व नल है, कोई और नहीं है—और इससे अधिक मैं तुझसे क्या कहूँ ?) ऐसा कह आँसू भरे इस (भीमराज) ने अपनी बेटी (अपने वक्ष से लगी बेटी दमयन्ती) को विदा दी।

टिप्पणी—पति गृह जाती पुत्री को पिता का उपयोगी उपदेश। पुण्य शालिनी बनो, सहन शीलता सीखो, सन्तोष मन-धारण करो और पति को सर्वस्व जानो। गृहस्थ जीवन इसी से सुख-सौख्य सम्पन्न रह सकेगा ॥ ११७ ॥

प्रियः प्रियैकाचरणाच्चिरेण तां पितुः स्मरन्तीमचिकित्सदाधिषु।
शशाम सोऽम्बाविरहौर्वपावको न तु प्रियप्रेममहाम्बुधावपि ॥११८॥

जीवातु—प्रिय इति। प्रियः नलः, प्रियैकाचरणात् केवलप्रीतिजनकव्यवहारात्, शोकापनोदनार्थं मनःप्रसादकव्यवहारं कृत्वेत्यर्थः, पितुः स्मरन्तीं पितरं स्मरन्तीम् इत्यर्थः, पित्रर्थं शोचन्तीमिति यावत्। 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति कर्मणि षष्ठी। तां दमयन्तीं, चिरेण बहुकालेन, आधिषु पितृविरहजमनोव्यथासु विषये, अचिकित्सत् चिकित्सां कृतवान्, नलः सप्रेमसान्त्वनावचनेन दमयन्त्याः पितृविरहजदुःखं कथञ्चित् निवारयामास इत्यर्थः, कित निवासे इति धातोर्व्याधिप्रतीकारे अर्थे 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इति सन्। तु किन्तु, सः अतिदुःसह इत्यर्थः, अम्बाविरहः मातृविच्छेद एव, और्वपावकः वडवाग्निः, असह्यत्वादिति भावः। प्रियप्रेममहाम्बुधौ नलानुरागसमुद्रेऽपि न शशाम न निववृते, नले अतिप्रियमाचरत्यपि तस्या मातृविरहजदुःखं नोपशान्तमित्यर्थः, कन्यानां पितृतो मातरि अनुरागाधिक्यात् तद्विरहो दुःसहः इति भावः। जलानलयोरेकत्रावस्थानविरोधेऽपि समुद्रे वडवाग्नेरवस्थानं न विरुद्धं तस्य तत्रैव स्थानत्वादिति समुद्रे वडवाग्निर्न शान्त इति तात्पर्यम् ॥ ११८ ॥

अन्वयः—प्रियः प्रियैकाचरणात् पितुः स्मरन्तीं तां आधिषु चिरेण अचिकित्सत्; सः अम्बाविरहौर्वपावकः प्रियप्रेममहाम्बुधौ अपि न शशाम।

हिन्दी—(प्रसन्नकर्ता) प्रिय (नल) ने केवल (अभीष्ट) प्रीति जनक व्यवहार से पिता (भीमराज) का स्मरण करती उस (दमयन्ती) के (पितृ-वियोग) रोगों का बहुत काल तक उपचार करके उपशम कर दिया, किन्तु वह मातृवियोग रूप वडवाग्नि प्रिय-प्रेम रूप महासागर में भी शान्त न हुआ।

टिप्पणी—अभिलषित प्रेम-व्यवहार रूप चिकित्सा से पितृविरहोत्पन्न पीडा को तो नल ने शान्त कर दिया, परन्तु जैसे महासागर में भी वडवाग्नि प्रज्वलित रहता ही है, उसी प्रकार मातृवियोग प्रचुर मात्रा में प्रिय-प्रेम प्राप्त होने पर भी दुःसह बना रहा। पिता का स्मरण भी दमयन्ती ने बहुत

किया, पर कुछ समय के पश्चात्--विलम्ब से ही सही--प्रिय-प्रेम ने उसका पर्याप्त अंशों में उपशम कर दिया पर मातृ-वियोग-पीडा न मिट सकी। इसमें माता की पिता की अपेक्षा महत्ता सूचित होती है ॥ ११८ ॥

अमी महीभृद्बहुधातुमण्डितस्तया निजोपत्यकयेव कामपि ।
भुवा कुरङ्गेक्षणदन्तिचारयोर्बभार शोभा कृतपादसेवया ॥ ११९ ॥

जीवातु--असाविति। बहुधातुभिः सुवर्णादिभिः, मण्डितः अलङ्कृतः, एकत्र--सुवर्णादिनिर्मिताभरणेनालङ्कृतत्वात्, अन्यत्र--तत्तद्धातूनामाकरत्वेन तद्युक्तत्वादिति भावः। असौ अयं, महीभृत् राजा नलः, पर्वतश्च, कुरङ्गस्येव मृगस्येव, ईक्षणं चक्षुः, अन्यत्र--कुरङ्गाणाम् ईक्षणं, दन्तिनः गजस्य इव, चारः गमनम्, अन्यत्र--दन्तिना चारः गतिः, तयोः भुवा स्थानेन, मृगवत् नयनयोः गजवत् गमनस्य च आश्रयभूतया इत्यर्थः, मृगाक्ष्या गजगामिन्या च इति भावः। अन्यत्र--मृगाणां दन्तिनाञ्च तत्र विद्यमानत्वेन तयोर्दर्शनगमनाश्रयभूतया इत्यर्थः, कृता विहिता, पादसेवा भर्तुश्चरणसेवा, अन्यत्र--पादानां प्रत्यन्तपर्वतानां, सेवा सान्निध्यमित्यर्थः, 'पादाः प्रत्यन्तपर्वताः' इत्यमरः। यया तादृश्या, निजया आत्मीयया, उपत्यकया आसन्नभूम्या इव, तया भैम्या, काम् अपि अनिर्वाच्या, शोभां कान्ति, बभार धारयामास ॥ ११९ ॥

अन्वयः--बहुधातुमण्डितः असौ महीभृत् कुरङ्गेक्षणदन्तिचारयोः भुवा कृतपादसेवया निजोपत्यकया इव तया काम् अपि शोभां बभार।

हिन्दी--अनेक (गैरिकादि) धातुओं से संपन्न धरणीधर (पर्वत) के तुल्य यह धरणीधर (राजा नल) हरिणों के दर्शन और हाथियों की सचरण-भूमि (स्थली) और अत्यन्त-पर्वतों से उपसेवित अपनी (पर्वत की) समीपस्थ भूमि के समान मृगनयना गजगामिनी, चरण सेवा करने वाली उस (दमयन्ती) से किसी अनिर्वचनीय शोभा को धारण करने लगा।

टिप्पणी--अनेकार्थ शब्द-योजना का आश्रय ले यहाँ राजा नल की तुलना पर्वत और दमयन्ती की तुलना उपत्यका से की गयी है। जैसे उक्त विशेषणवती उपत्यका से पर्वत की शोभावृद्धि होती है, ऐसे ही सुन्दरी हरिणेक्षणा, गजगामिनी, पतिसेवानुरक्ता दमयन्ती से राजा नल शोभाश्रीसपन्न बना।

तदेकतानस्य नृपस्य रक्षितुं चिरोढया भावमिवात्मनि श्रिया ।
विहाय सापत्न्यमरञ्जि भीमजा समग्रतद्वाञ्छितपूर्त्तिवृत्तिभिः ॥ १२० ॥

जीवातु—तदिति । चिराय बहुकालात्, ऊढया धृतया परिणीतया च, श्रिया राज्यलक्ष्म्या तदेकतानस्य दमयन्त्येकवृत्तेः, 'एकतानोऽनन्यवृत्तिः' इत्यमरः । नृपस्य नलस्य, भावं चित्तवृत्तिम्, अनुरागमिति यावत्, आत्मनि स्वविषये, रक्षितुं स्थिरीकर्तुम् इव, इत्युत्प्रेक्षा । सापत्न्यं सपत्नीभावं, सपत्नीद्वेषमित्यर्थः, विहाय परित्यज्य, भीमजा भैमी, समग्राणां सर्वविधानां, तद्वाञ्छितानां दमयन्तीप्सितानामित्यर्थः, पूर्तिवृत्तिभिः पूरणव्यापारैः, अरञ्जि रञ्जिता, पतिचित्तानुरञ्जनाय सपत्नीः अपि उपासते साध्व्यः इति भावः ॥ १२० ॥

अन्वयः—चिरोढया श्रिया तदेकतानस्य नृपस्य भावम् आत्मनि रक्षितुम् इव सापत्न्यं विहाय भीमजा समग्रतद्वाञ्छितपूर्तिवृत्तिभिः अरञ्जि ।

हिन्दी—चिर काल से अंगीकृत (विवाहित-धृत) राज्य-लक्ष्मी ने उस (दमयन्ती) में एकनिष्ठ राजा (नल) का भाव (अनुराग) अपने ऊपर जैसे बनाये रखने के लिए सपत्नी-भाव (द्वेषादि) को छोडकर भीमसुता (दमयन्ती) को उसकी इच्छा की पूर्ति के कार्य से अनुरंजन किया ।

टिप्पणी—एक बुद्धिमती सौत के समान स्वामी का प्रेम अपनी ओर दृढ़ रखने के लिए मानो पति की प्यारी दमयन्ती का अभीप्सित पूर्ण करके उसे प्रसन्न रखकर नल की चिरकालांगिता राज्य-लक्ष्मी ने अनुरंजन किया । ज्येष्ठा पति की दृष्टि में आदर पाने के लिए नवोढा को अपनी प्रीति दिया ही करती हैं, तभी लाभ में रहती है । आशय यह है कि दमयन्ती के प्रति पूर्ण निष्ठ होते हुए भी राजा नल कुशलतापूर्वक राज्य-कार्य करते रहे ॥१२०॥

मसारमालावलितोरणां पुरीं निजाद्वियोगादिव लम्बितालकाम् ।
ददर्श पश्यामिव नैषधः पथामथाश्रितोद्ग्रीविकमुन्नतैर्गृहैः ॥१२१॥

जीवातु—मसारेति । अथ अनन्तर, दमयन्त्याश्चित्तप्रसादनानन्तरमित्यर्थः, नैषधः नल, मसारमालावलयः इन्द्रनीलमालाश्रेण्यः, तोरणेषु बहिर्द्वारेषु यस्यास्तादृशीम्, इन्द्रनीलमणिभूषितबहिर्द्वाराम्, 'नीलमणिर्मसारः स्यात्' इति हारावली । अत एव निजात् स्वात् वियोगात् विच्छेदात्, नलविरहादित्यर्थः, लम्बितालकां संस्काराभावात् विस्रस्तकुन्तलाम् इव स्थिताम्, इत्युत्प्रेक्षा । उन्नतैः तुङ्गैः, गृहैः प्रासादैः आश्रिता अवलम्बिता, उद्ग्रीविका उद्ग्रीवीकरणेन

दर्शनं यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा, उद्ग्रीवयते 'तत्करोति—' इति ण्यन्तात् 'धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्' इति वक्तव्यात् ण्वुल्, तत्र 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्य—' इतीकार। पथा नलागमनमार्गाणाम्, कृद्योगात् कर्मणि षष्ठी। पश्यतीति पश्यामवलोकिकाम् इव स्थिताम्, इत्युत्प्रेक्षा। 'पाघ्रा—' इत्यादिना शप्रत्यये पुनरन्येन 'पाघ्रा—' इत्यादिना दृशेः पश्यादेशः। पुरीं नगरं ददर्श अवलोकयामास। प्रोषितभर्त्तृका लम्बालकाः पतिमार्गान् प्रतीक्षन्ते इति भावः॥

अन्वय —अथ नैषधः प्रसारमालावलितोरणा निजात् वियोगात् लम्बितालकाम् इव उन्नतैः गृहैः आश्रितोद्ग्रीविकं पथां पश्याम् इव पुरीं ददर्श।

हिन्दी—इसके अनन्तर (लम्बा मार्ग चलकर) निषधाधिपति (नल) ने इन्द्रनील मणि जैसी वंदनवार से शोभित बहिर्द्वारों वाली, अपने (नल के) वियोग के कारण जैसे बाल-बिखराये, ऊँचे गृहों के व्याज ऊँची गरदन (उत्कण्ठ) किये (नलागमन के) मार्गों को जैसे जोहती (अपनी) नगरी को देखा।

टिप्पणी—नल-दमयन्ती के लौटने की निषधपुरी में उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा हो रही थी; स्वागतार्थ आवासों के द्वारों पर वन्दनवार सजायी गयी थीं, आम्रादि वृक्षों के हरे-हरे पत्तों से बनी होने के कारण इन्द्रनील मणि माला जैसी सुशोभित हो रही थी। यहाँ नलोत्सुका नगरी की उद्भावना एक प्रोषितभर्तृका के रूप में की गयी है। वंदनवारें जिस वियोगिनी की बिखरी अलकावली है, और जो ऊँचे आवास-रूपी गरदन ऊँची किये-उत्कंठ हो प्रिय की बाट जो रही थी। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा युगल है।

पुरीं निरीक्ष्यान्यमना मनागिति प्रियाय भैम्या निभृतं विसर्जितः।
ययौ कटाक्षः सहसा निवर्त्तिना तदीक्षणेनार्द्धपथे समागमम्॥१२२॥

जीवातु—पुरीमिति। पुरीं नगरीं, निरीक्ष्य दृष्ट्वा, मनाक् ईषत्, अन्यमना विषयान्तरासक्तचित्त, मत्स्वामीति शेष, इति एवं, विविच्येति शेष, भैम्या दमयन्त्या, प्रियाय नलाय, निभृतं गूढं, विसर्जितः प्रहितः, तद्दृष्टिपरिहाराय इति भाव। कटाक्षः अपाङ्गदर्शनं, सहसा अकस्मात्, निवर्त्तिना भैमीं द्रष्टुं विषयान्तरात् समावर्त्तिना इत्यर्थः, तदीक्षणेन नलदृष्ट्या सह, अर्द्धपथे अर्द्धमार्गे, समागमं संयोगं, ययौ प्राप, दमयन्ती लज्जाभरात् नलसमक्षं तन्मुखं द्रष्टुं न शशाक, स पुरीदर्शनेन अन्यमनस्कः त्रिविश्य यदैव

कटाक्षमकरोत् तदैव नलेनापि दृष्टिप्रत्यावर्त्तनात् तद्दृष्ट्या दृष्टिमेलनात् लज्जिता अभवत् इति निष्कर्षः । उभावपि अन्योऽन्याभिप्रायं जज्ञतुः इति भावः ॥ १२२ ॥

अन्वयः—पुरीं निरीक्ष्य मनाक् अन्यमनाः—इति भैम्या प्रियाय निभृतं विसर्जितः कटाक्षः सहसा निवर्त्तिना तदीक्षणेन अर्द्धपथे समागमं ययौ ।

हिन्दी—'नगरी को देखकर कुछ दुचित्ता है'—यह (विचारकर) भीमसुता (दमयन्ती) द्वारा प्रिय (नल) के प्रति गुप्ततया प्रेषित कटाक्ष, अकस्मात् (नगरी-निरीक्षण से) हटी, उस (नल) की दृष्टि से आधे मार्ग में संमिलन को प्राप्त हो गया ।

टिप्पणी—नवोढा दमयन्ती प्रिय नल को लाज के कारण संमुख नेत्र करके देख न पाती थी, अर्थात् जब नल दमयन्ती को देख रहे होते तो वह उन्हें कनखियों से ही देखती, सामने दृष्टि उठाकर नहीं। जब निषधपुरी में वे पहुँचे तो दमयन्ती को लगा कि इस समय प्रिय उसकी ओर से दृष्टि हटाकर नगरी-निरीक्षण में कुछ दुचित्ते हो गये हैं, प्रिया की ओर पूर्णभाव से नहीं निहार रहे हैं। प्रिया ने विचार किया कि यह प्रिय को भली-भांति देखने का अच्छा अवसर है, क्योंकि प्रिय का ध्यान बटा है। उसने वैसा ही किया और चुपचाप प्रियदर्शनार्थ दृष्टि उठायी, कि अकस्मात् नल भी नगरी को देखना छोड़ प्रिया को देखने लगे, सो मध्य मार्ग में दोनों के नयन मिल गये। नवदंपती का नवानुराग। दृष्टि मिलन से दमयन्ती पुनः लज्जित हो गयी। नारायण के अनुसार दोनों ही परस्परानुराग के कारण क्षणभर का भी नयनांतराय न सह पा रहे थे ॥ १२२ ॥

अथ नगरधृतैरमात्यरत्नैः पथि समियाय स जाययाऽभिरामः ।
मधुरिव कुसुमश्रिया सनाथः क्रममिलितैरलिभिः कुतूहलोत्कैः ॥१२३॥

जीवातु—अथेति । अथ पुरीनिरीक्षणानन्तरं, जायया, भार्यया, अभिरामः रमणीयः, सः नलः, कुसुमश्रिया पुष्पसम्पदा, सनाथः युक्तः, मधुः वसन्तः, क्रमेण अनुक्रमेण, पारम्पर्येण इत्यर्थः, मिलितैः एकत्र समागतैरित्यर्थः, कुतूहलोत्कैः कुतूहलाय कौतुकाय, मधुपानजनितानन्दलाभायेत्यर्थः, उत्कैः उत्सुकैः, अन्यत्र—दमयन्तीसहितनलदर्शनार्थं साग्रहविस्मयेन, उत्कैः उत्सुकैः,

अलिभिः मधुकरैरिव, नगरे धृतैः सरक्षणाय स्थितैः, ध्रियतेः कर्तरि क्तः। अमात्यरत्नैः मन्त्रिवर्यैः सह, पथि नगरपथे, राजमार्गे इत्यर्थः, समियाय सङ्गत ॥ १२३॥

अन्वय—अथ जायया अभिरामः सः समिलितैः कुतूहलोत्कैः अलिभिः कुसुमश्रिया सनाथः मधुः इव नगरधृतैः अमात्यरत्नैः पथि समियाय।

हिन्दी—तत्पश्चात् (नगर में प्रविष्ट होने और निरीक्षण के अनन्तर) पत्नी से सुशोभित वह (नल) बसतागम परम्परा से एकत्र, मधुरसास्वादन की उत्कंठा से पूर्ण भ्रमरों द्वारा पुष्पसंपदा से सम्पन्न बसंत की भाँति नगर-रक्षा के अर्थ नियुक्त क्रम से एकत्र दर्शनोत्कण्ठित सचिवश्रेष्ठों से मार्ग में ही मिलन को प्राप्त हो गया।

टिप्पणी—नल की अनुपस्थिति में जिन पर नगर-प्रबन्ध का उत्तरदायित्व था वे श्रेष्ठ मन्त्री—अमात्यरत्न नल के पहुँचने का समाचार पा स्वागतार्थ एकत्र हो मार्ग में ही नवदम्पती की अगवानी को उपस्थित हो गये। इस स्थिति को बसंत भ्रमर की उपमा से स्पष्ट किया गया है। पुष्पसम्पत्तिसम्पन्न बसंत में उत्कण्ठित भ्रमर जैसे एकत्र हो जाते हैं, वैसे ही नलदमयन्ती के दर्शनार्थ उत्सुक मन्त्री एकत्र हो गये। कुसुमश्री दमयन्ती है, मधुकाल नल और सम्मिलित अमात्यरत्न भ्रमरावलि। नारायण के अनुसार उपमा ॥१२३॥

कियदपि कथयन् स्ववृत्तजातं श्रवणकुतूहलचञ्चलेषु तेषु।
कियदपि निजदेशवृत्तमेभ्यः श्रवणपथं स नयन् पुरीं विवेश ॥ १२४ ॥

जीवातु—कियदिति। स नलः, श्रवणकुतूहलेन स्वयंवरवृत्तान्तश्रवणकौतूहलेन, चञ्चलेषु व्यग्रेषु, तेषु अमात्येषु विषये, स्ववृत्तजातं स्वचरितसमूहम्, इन्द्रादीनां दौत्यादिरूपं मुख्यं कर्मसमूहमित्यर्थः, कियत् अपि स्तोकं, सङ्क्षेपेण इत्यर्थः, कथयन् वर्णयन्, तथा निजदेशवृत्तं स्वराष्ट्रवृत्तान्तम्, एभ्यः अमात्येभ्यः सकाशात्, कियत् अपि किञ्चित्, श्रवणपथं श्रुतिमार्गं, नयन् प्रापयन्, शृण्वन् इत्यर्थः, पुरीं नगरं विवेश प्रविष्टवान् ॥ १२४ ॥

अन्वय—श्रवणकुतूहलचञ्चलेषु तेषु कियत् अपि स्ववृत्तजातं कथयन्, एभ्यः निजदेशवृत्तं कियत् अपि श्रवणपथं नयन् सः पुरीं विवेश।

हिन्दी—सुनने के प्रति कुतूहल से व्यग्र उन (अमात्यों) से संक्षेप में

अपना वृत्तांत कहते और इन (मंत्रियों) से अपने देश का समाचार संक्षेप में सुनते उस (नल) ने नगरी में प्रवेश किया।

टिप्पणी—अमात्यगण विवाह में क्या-क्या घटित हुआ—यह जानने को अत्यंत व्यग्र थे। इसी प्रकार उनकी अनुपस्थिति में देश और नगर की स्थिति कैसी रही—यह जानने को स्वाभाविक रूप में नल भी उत्सुक था। सो नल ने मंत्रियों को इन्द्रादि के साथ जो-जो हुआ कैसे-कैसे विवाह संभव हुआ, कैसा स्वागत-सत्कार हुआ आदि वृत्तांत संक्षेप में सुना दिया और मंत्रियों ने भी राष्ट्र के सभी समाचार संक्षेपतः उसे बता दिये। नगरी में प्रविष्ट होते-होते ही मार्ग में यह समाचारों का संक्षिप्त आदान-प्रदान हो गया॥ १२४॥

अथ पथि पथि लाजैरात्मनो बाहुवल्लीमुकुलकुलसकुल्यैः पूजयन्त्यो जयेति।
क्षितिपतिमुपनेमुस्तं दधाना जनानाममृतजलमृणालीसौकुमार्यं कुमार्यः॥

जीवातु—अथेति। अथ पुरप्रवेशानन्तरं पथि पथि प्रतिमार्गम्, अमृतजलस्य सुधोदकस्य, या मृणाली मृणालम्, अमृतजलोत्पन्ना या बिसतन्तुरित्यर्थः, तद्वत् सौकुमार्यं कोमलतां, दधानाः धारयन्त्यः, कोमलाङ्ग्यः इत्यर्थः, कुमार्यः अविवाहिता नार्यः, आत्मनः स्वस्य, बाहुवल्लीनां भुजलतानां, मुकुलकुलसकुल्यैः कुड्मलोत्करतुल्यैः, लाजैः भृष्टधान्योद्भवैः, जय विजयीभव, इति जयशब्दपूर्वमित्यर्थः, पूजयन्त्यः सत्यः, जनानां समागतलोकानां मध्ये, तं क्षितिपतिं नलम्, उपनेमुः उपतस्थिरे इत्यर्थः॥ १२५॥

अन्वयः—अथ पथि पथि अमृतजलमृणालीसौकुमार्यं दधानाः आत्मनः बाहुवल्लीमुकुलकुलसकुल्यैः लाजैः 'जय'—इति पूजयन्त्यः कुमार्यः जनानां तं क्षितिपतिम् उपनेमुः।

हिन्दी—तदनंतर (नगर प्रवेश के पश्चात्) प्रतिमार्ग में (रास्ते रास्ते) अमृत जलोत्पन्न कमलनाल सूत्र के समान सुकुमारता धारण करतीं, अपनी भुजलता की कलियों के समूह के समान खीलों से 'जय प्राप्त हो'—इस प्रकार कहकर अर्चना करतीं कुमारी कन्याएँ जनसमूह के मध्य उस पृथ्वी के पति (राजा नल) के समीप उपस्थित हुईं।

टिप्पणी—परम्परा के अनुसार नगर की कन्याओं ने मंगल-लाजा-वर्षण

करके अपने राजा-रानी की अगवानी की। वे 'जय हो जय हो' बोलरही थीं। नवदम्पती जिस मार्ग से निकलते एमे ही उनका स्वागत होता। इस श्लोक से श्लोक सख्या १२९ तक मालिनी छद ॥ १२५ ॥

अभिनवदमयन्तीकान्तिजालावलोकप्रवणपुरपुरन्ध्रीवक्त्रचन्द्रान्वयेन।
निखिलनगरसौधाट्टावलीचन्द्रशाला क्षणमिव निजसज्ञा सान्वयामन्वभूवन्॥

जीवातु—अभिनवेति। अभिनवाया नवीनाया, नव समागताया इत्यर्थं। दमयन्त्या भैम्या, कान्तिजालस्य लावण्यराशे अवलोकप्रवणानां दर्शनतत्पराणा, पुरपुरन्ध्रीणा पौराङ्गनाना, वक्त्रचन्द्रै:, मुखेन्दुभि, अन्वयेन योगेन, निखिलासु समग्रासु, नगरे पुरे, सौधाट्टावलीषु सुधाधवलिताट्टालकपङ्क्तिषु, प्रासादोपहितनगरगृहश्रेणीषु इत्यर्थं। या चन्द्रशाला शिरोगृहाणि ता, 'चन्द्रशाला शिरोगृहम्' इति हलायुध। क्षण क्षणकाल, तन्मुखचन्द्रयोगकालमात्रमिति भाव। निजा स्वा, सज्ञा नाम, चन्द्रशालाभिधानमित्यर्थं। सान्वयाम् अनुगतार्था, चन्द्राणां सम्बन्धिन्य चन्द्रयुक्ता वा शाला इत्येव सार्थामित्यर्थं। अन्वभूवन् अनुभूतवत्य इव ॥ १२६ ॥

अन्वय—अभिनवदमयन्तीकान्तिजालावलोकप्रवणपुरपुरन्ध्रीवक्त्रचन्द्रान्वयेन निखिलनगरसौधाट्टावलीचन्द्रशाला निजसज्ञा सान्वयाम् अन्वभूवन् इव।

हिन्दी--नवोढा वधू दमयन्ती की लावण्यराशि के दर्शन में तत्पर पौरागनाओ के मुखचन्द्रो के सबन्ध मे समग्र नगर की सुधा धवल अटारियो की चन्द्रशालाओं (ऊपरी भागो) ने अपने नाम की सार्थकता का अनुभव किया।

टिप्पणी–नगरी की चन्द्रमुखी सुन्दरियाँ नववधू–नयी रानी दमयन्ती को और उसके विश्वविख्यात सौंदर्य के दर्शन के निमित्त उत्कठित हो उच्च धवल अटारियों की छतो—चन्द्रशालाओ पर एकत्र थीं। ऐसा लग रहा था कि उस अवधि तक तो चन्द्र शालाएँ नाम की ही चन्द्र शालाएँ थीं, चन्द्र उनमे था नहीं, आज पुरंध्रियो के एकत्र होने पर उनके मुख चन्द्र से युक्त हो वे वस्तुत चन्द्रशालाएँ बन गयीं। उनकी चन्द्रशाला सज्ञा सार्थक हुई। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ १२६ ॥

निपधनृपमुखेन्दुश्रीसुधा सौवधानायनविवरगरश्मिश्रेणिनालोपनीताम्।
पपुरतुलपिपासापांशुलत्वोपरागान्यखिलपुरपुरन्ध्रीनेत्रनीलोत्पलानि॥१२७॥

जीवातु—निपपेति। अतुल्या निरुपमया, अतिप्रवलयेत्यर्थः। पिपासया पानेच्छया, दर्शनलालसयेत्यर्थः। यत् पांसुलत्वं कलुषितत्वं, परपुरुषदर्शनाग्रहेण पापवासनावत्त्वमित्यर्थः। तत् एव उपरागः-दुर्नयो व्यसनं वा येषां तादृशानि, 'उपरागस्तु पुंसि स्याद् राहुग्रासेऽर्कचन्द्रयोः। दुर्नये ग्रहकल्लोले व्यसनेऽपि निगद्यते।' इति मेदिनी। अखिलपुरपुरन्ध्रीणां समस्तपौराङ्गनानां, नेत्राणि चक्षूंषि एव, नीलोत्पलानि इन्दीवराणि, सौधवातायनविवरैः अट्टालिकागवाक्षरन्ध्रैः, गच्छन्ति बहिर्निःसरन्तीति तेषां सौधवातायनविवरगाणां, रश्मीनां, नयनप्रभाणां, श्रेणिभिः पङ्क्तिभिः, एव, नालः सच्छिद्रेन्दीवरदण्डरूपनाडीविशेषैः, उपनीताम् आकृष्टां, नेत्रसमीपं प्रापितामित्यर्थः। निषधनृपस्य नलस्य, मुखेन्दुश्रीसुधां मुखचन्द्रशोभामृतं, पपुः पीतवन्तः। साग्रहम् अद्राक्षुः इत्यर्थः॥ १२७॥

अन्वयः—अतुलपिपासापांसुलत्वोपरागाणि अखिलपुरपुरन्ध्रीनेत्रनीलोत्पलानि सौधवातायनविवरगरश्मिश्रेणिनालोपनीतां निषधनृपमुखेन्दुश्रीसुधां पपुः।

हिन्दी—अत्यधिक प्यास से सूखे होने के कारण धूलिधूसर (परपुरुष (नल) के दर्शन की लालसारूप धूलि (दोष) से पूर्ण) समग्र पौराङ्गनाओं के नयनरूप नीलकमल प्रासाद के गवाक्षरंध्रों द्वारा नेत्रकिरण-रूप कमल-नाल दंडों से समीपागत निषधराज (नल) के मुखचन्द्र की शोभा रूप सुधा का पान करने लगे।

टिप्पणी—पुरनागरियाँ उत्कण्ठित हो उत्सुकता के साथ अपने राजा की छवि निरख रही थीं। इस को एक रूपक द्वारा स्पष्ट किया गया है। पुरंध्रियों की नृप-दर्शनोत्कंठा एक बलवती पिपासा के समान है, जिसके कारण नील-कमल-से नयन धूलिधूसर हो रहे हैं। यह परपुरुष-दर्शन-लालसा भी एक दोष है, जिसके भागी उनके नयन हैं। इससे सदोष नयनों का साम्य 'पांसुल' नीलोत्पलों से युक्त हो जाता है। जैसे कोई अत्यधिक प्यासा हानि की संभावना करके नाल के द्वारा धीरे-धीरे जल पीता है, ऐसे ही नल-मुख-चंद्र-सुधा का पान प्रासाद के गवाक्ष-मार्ग से बाहर आतीं नयन-रश्मि कमल-नालों से पुरन्ध्रियों के मुखनीलोत्पल कर रहे हैं। कनीनिका की नील-रश्मियों की नालरूप में ठीक ही उद्भावना की गयी है। आशय यही है कि पुरं-

स्त्रियाँ गवाक्षों से राजा नल के दर्शन कर रही थीं। कुमारियों ने समीप आकर और पौराङ्गनाओं ने वातायनों से राजदर्शन किये ॥ १२७ ॥

अवनिपतिरथोर्ध्वस्त्रैणपाणिप्रवालस्खलितसुरभिलाजव्याजभाजः प्रतीच्छन्।
उपरि कुसुमवृष्टीरेष वैमानिकानामभिनवकृतभैमीसौधभूमिं विवेश ॥१२८॥

जीवातु—अवनीति। अथ पुरप्रवेशानन्तरम्, एष अयम् अवनीपतिः, भूपालः ऊर्ध्वेषु उपरिगृहेषु, ये स्त्रैणाः स्त्रीसमूहाः। 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ' इत्यादिना नञ्प्रत्ययः। तेषां पाणिप्रवालेभ्यः करकिसलयेभ्यः, स्खलिताः पतिताः, ये सुरभयः सुगन्धयः, लाजाः अक्षताः, तद्व्याजं तच्छलं, भजन्ते आश्रयन्तीति तद्भाजः, वैमानिकानां विमानैः चरतां देवानाम्। 'चरति' इति ठक्। उपरिष्टात् कुसुमवृष्टीः, पुष्पवर्षणमिव लाजवृष्टीरिति भावः। प्रतीच्छन् स्वीकुर्वन्, अभिनवकृता प्रत्यग्रनिर्मिता, भैम्याः दमयन्त्याः, सौधभूमिं प्रासादवेशं विवेश प्रविष्टवान् ॥ १२८ ॥

अन्वय—अथ ऊर्ध्वस्त्रैणपाणिप्रवालस्खलितसुरभिलाजव्याजभाजः उपरि वैमानिकानां कुसुमवृष्टीः प्रतीच्छन् एषः अवनिपतिः अभिनवकृतभैमीसौधभूमिं विवेश।

हिन्दी—तत्पश्चात् ऊपर बैठी नागरिकाओं के कर पल्लव से बखेरी जाती सुगन्धि खीलों के व्याज को धारण करती ऊपर देवों की पुष्पवृष्टि को स्वीकारता वह पृथ्वीपति (राजा नल) नवनिर्मित भीमसुता (दमयन्ती) के प्रासाद की अट्टालिका में प्रविष्ट हुआ।

टिप्पणी—जैसा कि एक सौ पच्चीसवें श्लोक में कहा गया कि प्रत्येक मार्ग में राजा नल पर कुमारियाँ लाजा बरसा रही थीं—'पथि पथि लाजैः पूजयन्त्य कुमार्यः।' शकुन के लिए बखेरी जाती लाजाओं के श्वेत होने तथा ऊपर से गिरने के कारण यहाँ उनकी तुलना पुष्प वृष्टि से की गयी है, जो 'पाणि प्रवाल स्खलित' हैं, पाणि रूप पल्लव के पुष्प। लाज पुष्प वर्षा स्वीकारता राजा रानी दमयन्ती के निमित्त नवनिर्मित प्रासाद की अटारी में प्रविष्ट हुआ ॥ १२८ ॥

इति परिणयमित्थं यानमेव न याने दरचकितकटाक्षप्रेक्षितस्थानयोस्तत्।
दिवि दिविषदधीशाः कौतुकेनावलोक्य प्रणिदधुरथ गन्तुं नाकमानन्दसान्द्राः ॥

जीवातु—इतीति । दिविषदाम् अधीशाः देवाः, दिवि आकाशे, स्थित्वेति शेषः । अनयोः दमयन्तीनलयोः, इति एवंविधं, परिणयं विवाहम्, इत्थम् उक्तप्रकारेण, एकत्र एकस्मिन्, याने रथे, यानं यात्रां, तथा तत् पूर्वोक्तं, दरचकितम् ईषत् सभयं, परस्परदृष्टिमेलनभयादिति भावः । कटाक्षप्रेक्षितम् अपाङ्गवीक्षणञ्च, कौतुकेन कुतूहलेन, अवलोक्य दृष्ट्वा, अथ सैमीनलयोः सौधप्रवेशानन्तरम्, आनन्दसान्द्राः आनन्दपूर्णाः सन्तः, नाकं स्वर्गलोकं, गन्तु, प्रयातुं, प्रणिदधुः चिन्तयामासुः ॥ १२९ ॥

अन्वयः—अथ दिविषदधीपाः दिवि अनयोः इति परिणयम् इत्थम् एकत्र याने यानं तत् दरचकितकटाक्षप्रेक्षितं च कौतुकेन अवलोक्य आनन्दसान्द्राः नाकं गन्तुं प्रणिदधुः ।

हिन्दी—तत्पश्चात् देवों के स्वामी (श्रेष्ठ देव इन्द्राग्नियमवरुण) गगन-मण्डल में (स्थित हो) इन दोनों (नल-दमयन्ती) का इस प्रकार से विवाह, उक्त रीति से एक ही साथ रथ में यात्रा और वह (१२२ श्लोक में वर्णित) डर-डर कर चकित होते कटाक्षों से अवलोकन कुतूहलपूर्वक देख कर आनन्दमग्न स्वर्ग जाने को विचार करने लगे ।

टिप्पणी—चौदहवें सर्ग में कहा गया है कि स्वयंवर सम्पन्न हो जाने पर देव स्वर्ग जाने के निमित्त अंबर में चले गये—'इत्थं वितीर्य वरमम्बर-माश्रयत्सु तेषु' (१४।९९); यहाँ पुनः 'दिविषदधीशा नाकं गन्तुं प्रणिदधुः'—स्वर्ग जाने का विचार करने लगे, कहा गया । दोनो उक्तियों में कोई विरोध नहीं है । आगामी सत्रहवें सर्ग की संगति के लिए ऐसा कहा गया, जिसमें स्वर्ग जाते देवों का कलि से उत्तर-प्रत्युत्तर है । भाव यही है कि नल-दमयंती प्रासाद में गये और इस प्रकार पाणिग्रहण की परिणति देख प्रसन्न देव स्वर्ग चले ॥१२९॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महा-
काव्ये तद्भुवि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत् षोडशः ॥ १३० ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति । चतुर्दशतयीं चतुर्दशावयवां, चतुर्दशविधाम्

इत्यर्थः । 'सङ्ख्याया अवयवे तयप्' इति तयप् । 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयपठक्ठञ्क्वरपः' इत्यादिना ङीप् । विद्या विदद्भिः ज्ञानिभिः, काश्मीरैः काश्मीरदशीयैः, विद्वद्भिरिति शेषः । महिते पूजिते । तद्भुवि श्रीहर्षोत्पन्ने, तद्विरचिते इत्यर्थः । षोडशानां पूरणः षोडशः । 'पूरणे डट्' इति डट् । गतमन्यत् ॥ १३० ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु'समाख्याने षोडशः सर्गः समाप्तः ॥ १६ ॥

— SOS —

अन्वयः—श्रीहर्ष-इत्यादि पूर्वार्द्ध का पूर्वोक्तरीति से । चतुर्दशतयी विद्या विदद्भिः काश्मीरैः महिते तद्भुवि काव्ये नैषधीयचरिते षोडशः सर्गः अगमत् ।

हिन्दी—पूर्वार्द्ध का अर्थ पूर्वोक्त । चतुर्दश प्रकार की विद्या (चौदहों विद्याओं) के ज्ञानी काश्मीरी विद्वानों द्वारा पूजित उस (श्रीहर्ष) से रचित काव्य 'नैषधीयचरित' में सोलहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

टिप्पणी—इस कवि कथन से प्रतीत होता है कि विद्वान् काश्मीरी पण्डितों ने श्रीहर्ष की रचना को सम्मान दे दिया था ॥ १३० ॥

नैषधीयचरित का सोलहवाँ सर्ग समाप्त ।

— SOS —

सप्तदशः सर्गः

अथारभ्य वृथाप्रायं धरित्रीधावनश्रमम्।
सुराः सरस्वदुल्लोल-लीला जग्मुर्यथाऽऽगतम् ॥ १ ॥

जीवातु—अथेति। अथ स्वर्गलोकजिगमिषानन्तरं, नलदमयन्त्योः सौध-प्रवेशानन्तरं वा, सुराः इन्द्रादयः, धरित्रीधावनश्रमं पृथिव्यामागमनायासं, वृथाप्रायं व्यर्थमिव, दमयन्त्यलाभेऽपि नलदमयन्तीवरदानजन्यात्मगौरवरक्षणात् प्रायशब्दप्रयोगः, न तु सर्वथा वृथैवेति बोध्यम्। आरभ्य कृत्वा, मत्वेति यावत्, सरस्वदुल्लोलानां समुद्रमहोर्मीणां, लीला इव लीला येषां तथाभूताः सन्तः, यथाऽऽगतं यस्मादागतं तत्रैव इत्यर्थः। जग्मुः प्रतस्थिरे। सागरतरङ्गाः यथा वृथैव तटं धावित्वा व्यावर्त्तनेन यथाऽऽगतं गच्छन्ति तद्वद् देवा अपि गता इत्यर्थः। दमयन्तीमलब्ध्वैव प्रत्यावृत्ता इति तात्पर्यम् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ धरित्रीधावनश्रमं वृथाप्रायम् आरभ्य सरस्वदुल्लोल-लीला सुराः यथागतं जग्मुः।

हिन्दी—तदनंतर (नल-दमयन्ती के सौध-प्रवेश के पश्चात् और स्वर्ग गमन की इच्छा होने के उपरांत) धरती पर मारे-मारे फिरने के परिश्रम को व्यर्थ ही मानकर समुद्र-तरंगों की लीला करते (सागर की लहरों के तुल्य) देव (इन्द्राग्नियमवरुण) जैसे आये थे, वैसे ही लौट चले।

टिप्पणी—नल-दमयन्ती परिणयबद्ध हो अपने राजमहल में गये और देव अपने वासस्थान की ओर। उनका धरती पर आना और उनका संपूर्ण परिश्रम व्यर्थ हो गया था। उनका आगमन और प्रतिगमन उस सागर-तरंग के सदृश था, जो उमड़ कर तटोन्मुख होती है, और टकरा कर वापस लौट जाती है। बड़े उमंग-उत्साह से धरती पर आये थे, अब व्यर्थप्रयास हो वापस चले। इस सर्ग में अन्त के तीन श्लोकों को छोड़कर अन्य सब श्लोकों का अनुष्टुप् छंद है, जिसके प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते हैं, जिनमें छठा अक्षर सदा गुरु होता है, और पाचवाँ लघु। दूसरे-चौथे चरण का सप्तम अक्षर लघु होता है और प्रथम-तृतीय का गुरु ॥ १ ॥

भैमी पत्ये भुवस्तस्मै चिर चित्त धृतामपि ।
विद्यामिव विनीताय न विषेदु प्रदाय ते ॥ २ ॥

जीवातु—भैमीमिति । ते देवा , चिर दीर्घकाल, चित्ते मनसि, धृता स्थापितामपि, आकाङ्क्षितामपीत्यर्थ , अभ्यस्तामित्यर्थश्च । भैमी दमयन्ती, भुव पत्ये भूपतये तस्मै नलाय, विनीताय विनययुक्ताय शिष्याय, विद्याम्, इव ज्ञानमिव, प्रदाय दत्त्वा, न विषेदु नानुताप जग्मु । न हि महान्तो दत्त्वाऽनुतापिन , न च तेषामदयमस्ति इति भाव ॥ २ ॥

अन्वय—ते चिर चित्ते धृताम् अपि भैमी भुव पत्ये तस्मै विनीताय विद्या प्रदाय इव न विषेदुः ।

हिन्दी—वे (देव) चिरकाल से मन मे स्थापित भी भीमसुता (दमयती) को पृथ्वी के स्वामी उस (नल) को देकर उसी प्रकार विषण्ण न हुए, जैसे कि विनम्र (शिष्य) को विद्या देकर (गुरु) ।

टिप्पणी—व्यक्ति बड़े अभ्यास से, बहुत समय लगाकर विद्या प्राप्त करता है । उस चिराभ्यस्त विद्या को योग्य, विनयी शिष्य को देकर उसे दु ख नहीं होता, सुख ही मिलता है । ऐसे ही देवो को भी बहुत दिनो से मन में बसी दमयन्ती के नल को प्राप्त होने पर विषाद नही हुआ, क्योकि वह उनका अनुगामी और सच्चरित्र तथा योग्य था । देव गुरु के तुल्य हैं, नल शिष्य के और दमयन्ती विद्या के समान । कोई अनुताप नही था देवो को नल-दमयन्ती-परिणय पर ॥ २ ॥

कान्तिमन्ति विमानानि भेजिरे भासुरा सुरा ।
स्फटिकाद्रेस्तटानीव प्रतिबिम्बा विवस्वतः ॥ ३ ॥

जीवातु—कान्तिमन्तीति । विवस्वत अर्कस्य, प्रतिबिम्बा प्रतिच्छाया , सूर्यस्यैकत्वऽपि तटभेदेन प्रतिबिम्बाना बहुत्व बोध्यम्, स्फटिकाद्रे कैलासस्य, तटानि भृगुप्रदेशा इव, भासुरा तैजसमूर्तय , सुरा इन्द्रादय , कान्तिमन्ति समुज्ज्वलानि, विमानानि व्योमयानानि, भेजिरे आरुरुहुरित्यर्थ । एतेन विमानाना तदधिष्ठातॄणाञ्च अतितजस्वित्वमुक्तम् ॥ ३ ॥

अन्वय—विवस्वत प्रतिबिम्बा स्फटिकाद्रे तटानि इव भासुराः सुरा कान्तिमन्ति विमानानि भेजिरे ।

हिन्दी--विवस्वान् (सूर्य) के प्रतिबिम्ब जैसे स्फटिक गिरि (कैलास) के तटों पर दीखते हैं, वैसे ही तेजोमूर्त्ति (इन्द्रादि) देव रत्नदीप्त विमानों पर चढ़कर प्रतीत हुए ।

टिप्पणी--विमान कांतिमत् थे और आरोही देव तेजस्वी । कैलास-तटों पर दमकते सूर्य के प्रतिबिंबों-से वे उस समय विमानों पर चढ़कर सुशोभित हुए । विमान दीप्त कैलास तट और चार देव एक सूर्य के अनेक प्रतिबिंब ।

जवाज्जातेन वातेन बलाकृष्टबलाहकैः ।
श्वसनात् स्वस्य शीघ्रत्वं रथैं रेषामिवाकथि ॥ ४ ॥

जीवातु--जवादिति । जवात् निजवेगात्, जातेन समुत्थितेन, वातेन वायुना, बलात् आकृष्टाः आक्षिप्ताः, बलाहकाः मेघाः यैः तादृशैः, एषाम् इन्द्रादीनां रथैः विमानैः, स्वस्य आत्मनः, श्वसनाद् वायोरपि, शीघ्रत्वं त्वरितगामित्वम्, अकथि अवादि इव, इत्युत्प्रेक्षा । स्ववेगजन्यवायोः स्वपश्चाद्वर्तितया रथानान्तु पुरोवर्त्तितया वाय्वपेक्षया सुतरां शीघ्रगामित्वमिति भावः । कथेश्चौरादिकात् कर्मणि लुङ्, मित्त्वात् ह्रस्वत्वम् ॥ ४ ॥

अन्वयः--जवात् जातेन वातेन बलाकृष्टबलाहकैः एषां रथैः स्वस्य श्वसनात् शीघ्रत्वं अकथि इव ।

हिन्दी--(गति के) वेग से उत्पन्न वायु द्वारा बलपूर्वक बादलों को खींच ले जाते इनके यानों ने अपने (देवों के) प्राण (वायु) से शीघ्रगामिता मानो प्रकट कर दी ।

टिप्पणी--विमानों की गति वायु से अधिक तीव्र थी और उनके साथ बादल खींचे चले जा रहे थे । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥

क्रमाद्दवीयसां तेषां तदानीं समदृश्यत ।
स्पष्टमष्टगुणैश्वर्य्यपर्यवस्यन्निवाणिमा ॥ ५ ॥

जीवातु--क्रमादिति । क्रमात् अनुक्रमात्, आनुपूर्व्या इत्यर्थः । उत्तरोत्तरं गमनादिति यावत्, 'क्रमश्चानुक्रमे शक्तौ कल्पे चाक्रमणेऽपि च' इति मेदिनी । दवीयसां दविष्ठानां, दूरवर्त्तितराणामित्यर्थः । दूरशब्दादीयसुनि 'स्थूलदूर--' इत्यादिना यणादिपरलोपः पूर्वगुणश्च । तेषाम् इन्द्रादीनां, तदानीं दूरवर्त्तित्वभवनः

काले, अणिमा अणुत्वम्, अष्टविधेषु ऐश्वर्येषु प्रथमोक्तैश्वर्यविशेष इत्यर्थः । अष्टगुणम् अणिमाद्यष्टगुणात्मक, यत् ऐश्वर्यं वैभव, निग्रहानुग्रहसामर्थ्यमिति यावत् । तस्मात् तन्मध्यात् इत्यर्थः । पर्यवस्यन् इव, परिशिष्यमाण इव, लघिमादिसप्तविधात् पृथग्भूत इव इत्यर्थः । स्पष्ट व्यक्त, समदृश्यत सन्दृष्ट । दूरे अणुत्वेन अवभासादियमुत्प्रेक्षा ॥ ५ ॥

अन्वयः—क्रमात् दवीयसा तेषां तदामीम् अणिमा अष्टगुणैश्वर्यपर्यवस्यन् इव स्पष्ट समदृश्यत ।

हिन्दी—धीरे-धीरे दूर-दूर हो गये उन (देवों अथवा रथों) का 'अणिमा' (सूक्ष्मता तथा अष्ट ऐश्वर्यों में प्रथम गुण) उस समय आठ महिमादि ऐश्वर्य गुणों से पृथक् होता जैसा स्पष्ट दीखा ।

टिप्पणी—भाव यह कि रथ और उनमें स्थित देव जैसे-जैसे दूर हुए, बहुत छोटे दीखने लगे । देव और वैभव्य अष्ट ऐश्वर्य गुणों से सम्पन्न तो थे ही, इस पर कल्पना है कि अणिमा (सूक्ष्मता) को प्राप्त उनमें उस काल केवल 'अणिमा' नामक ऐश्वर्य गुण ही पृथक् दीख रहा था । अष्ट ऐश्वर्य (सिद्धियाँ) हैं—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व । दूरी में अणुत्व कथन से यहाँ मल्लिनाथ और नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा ।

ततान विद्युता तेषां रथे पीनपताकताम् ।
लब्धकेतुशिखोल्लेखा लेखा जलमुचः क्वचित् ॥ ६ ॥

जीवातु—ततानेति । क्वचित् गगनस्य कुत्रापि प्रदेशे, जलमुच मेघस्य, लेखा श्रेणी, लब्ध प्राप्त, केतुशिखाभि ध्वजाग्रैः, उल्लेखो विदारण यस्याः सा तादृशी सती, तेषाम् इन्द्रादीनां, रथे स्यन्दने, विद्युता तडिता करणेन, पीता पीतवर्णा, पताका ध्वजा येषां तेषां भाव तत्ता ता, ततान विस्तारयामास । ध्वजदण्डाग्रोल्लेखनेनोत्था तडितो रथेषु पीतपताका इव रेजुरित्यर्थः ॥ ६ ॥

अन्वयः—क्वचित् जलमुचः लब्धकेतुशिखोल्लेखा लेखा तेषां रथे विद्युता पीतपताकता ततान ।

हिन्दी—कहीं (गगन-मडल में) ध्वजा के अग्रभाग से टकराती मेघ

पंक्ति उन (देवों) के रथों में (दमकती) बिजली के कारण पीली पताका-सी प्रतीत होने लगती ।

टिप्पणी—चतुर्थ श्लोक में वर्णित बात से बलाकृष्ट बलाहकों की पंक्ति रथों के अग्रभाग भाग से घर्षण प्राप्त करती तो बिजली-कौंध उठती, जिससे वे मेघ रथों की पीली ध्वजा-से लगने लगते । नारायण और मल्लिनाथ के अनुसार बिजली ही रथों की पीतपताका बन जाती ॥ ६ ॥

पुनः पुनर्मिलन्तीषु पथि पाथोदपङ्क्तिषु ।
नाकनाथरथालम्बि बभूवाभरणं धनुः ॥ ७ ॥

जीवातु—पुनः पुनरिति । नाकनाथरथालम्बि इन्द्रस्यन्दनस्थं, धनुः चापः, पथि गगनमार्गे, पुनः पुनः बार बार, मिलन्तीषु संसज्यमानासु, पाथोदानां मेघानां, पङ्क्तिषु श्रेणीषु, आभरणं भूषणं, बभूव सञ्जज्ञे यद्वत् मेघवृन्दं रथेन सङ्गच्छते धनुः तस्य तस्य आभरणं बभूव इत्यर्थः । पूर्वं कृत्रिमेन्द्रधनुर्योगः अद्य मुख्येन्द्रधनुर्योगो लब्धः इति भावः । अत्र तादृशासम्बन्धे सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ७ ॥

अन्वयः—पथि पुनः पुनः मिलन्तीषु पाथोदपङ्क्तिषु धनुः नाकनाथरथालम्बि आभरणं बभूव ।

हिन्दी—मार्ग में बार-बार मिलती मेघ-मालाओं में (विद्यमान) इन्द्रधनुष् स्वर्गराज (इन्द्र) के रथ पर सजा आभूषण लगता था ।

टिप्पणी—इन्द्र के रथ में उनका धनुष् भी था, अब बारंबार मार्ग में बादलों से उनका योग होता तो वह मेघों की छाया के कारण रथ का आभूषण-सा प्रतीत होने लगता था, इससे पूर्व इस कृत्रिम इन्द्रधनुष् से मेघों का योग होता रहा था, जो मेघदल पर सूर्य-किरणें पड़ने से सतरंगा चमकता है, अब मेघों का वास्तविक इन्द्रधनुष् से योग हुआ । यह असंबंध में संबंध कथन होने से मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति है ॥ ७ ॥

जले जलदजालानां त्रिविष्टापानुबिम्बनैः ।
जाने तत्कालजैस्तेषां जाताऽऽशनिसनाथता ॥ ८ ॥

जीवातु—जले इति । जलदजालानां मेघवृन्दानां, जले वारिणि, तत्कालजैः

इन्द्रादिगमनकालजातं, वज्रिवज्रस्य इन्द्रकुलिशस्य अनुविम्बनं, प्रतिविम्बं, तेषां जलदजालानाम्, अशनिसनाथता वज्रमाहित्य, वज्रयुक्तत्वमित्यर्थः। जाता सम्भूता, जाने इति मन्ये, इत्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ८ ॥

अन्वय —जलदजालानां जले जाने तत्कालजं वज्रिवज्रानुविम्बनं तेषाम् अशनिसनाथता जाता।

हिन्दी —मेघ-मालाओं के जल में लगता है कि उस काल (देव-रथ गमन) में पड़ते वज्री (इन्द्र) के वज्र के प्रतिविम्बों के कारण वे (मेघ) वज्र से सनाथ बने।

टिप्पणी —इन्द्रायुध वज्र के प्रतिविम्ब उस यात्रा में मेघों के जल में पड़ रहे थे। यहाँ यह उद्भावना की गयी है कि तभी से मेघों में वज्र की सत्ता हो गयी। यह जो जब-तब चमक कर वज्र अपनी सत्ता मेघों में आभासित कर जाता है, यह दमयन्ती स्वयंवर से लौटे देवों की स्वर्ग-यात्रा के समय से ही हुआ है। मल्लिनाथ और नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

स्फुटं सावर्णिवंश्यानां कुलच्छत्रं महीभुजाम्।
चक्रे दण्डभृतश्चुम्बन् दण्डश्चण्डरुचिं क्वचित् ॥ ९ ॥

जीवातु —स्फुटमिति। क्वचित् कुत्रचित् प्रदेशे, दण्डभृतः यमस्य, दण्डः अस्त्रविशेषः, चण्डरुचिं सूर्यं, चुम्बन् सूर्यमण्डलं स्पृशन् इत्यर्थः। सावर्णिः सूर्यपुत्रः अष्टमो मनुः, तद्वंश्यानां मनुवंशजानां, महीभुजां राज्ञां, कुलस्य वंशस्य, छत्रम् आतपत्रं, चक्रे विदधे। स्फुटमित्युत्प्रेक्षायाम्। अत्र प्रदेशे दण्डसंयोगात् अर्कमण्डलं तद्वंश्यराजकुलस्य उद्धृतं छत्रमिव बभौ इत्यर्थः। इन्द्रादयः क्रमात् मेघपथमतीत्य सूर्यमण्डलं प्राप्ता इति तात्पर्यम् ॥ ९ ॥

अन्वय —दण्डभृतः दण्डः क्वचित् चण्डरुचिं चुम्बन् सावर्णिवंश्यानां महीभुजां कुलच्छत्रं स्फुटं चक्रे।

हिन्दी —दण्डधारी (यम) का दंड कहीं (आकाश में) प्रखर-कांति सूर्य को चुम्बन करता सूर्यपुत्र अष्टम मनु के वंशज (मनुवंशी) पृथ्वी-भोक्ताओं (राजाओं) का राजछत्र स्पष्टतः बना रहा था।

टिप्पणी —यात्रा करते देवरस्थ क्रम से मेघ-मार्ग को पार कर सूर्यमंडल में चलने लगे। उस समय यम का दंड सूर्य-मंडल से सबद्ध हो गया। नीचे

दण्ड, ऊपर सूर्य। लगा कि सूर्य उस यमदंड पर आधृत छत्र है। उद्भावना है कि ऐसा सूर्य उस समय मनुवंशी राजाओं का कुलचिह्न अथवा राज-छत्र-सा शोभित हुआ। स्वयं सूर्य वृत्ताकार था, उसके अधःप्रदेश में दंड-सम्बन्ध हुआ, इससे वह छत्र सा लगा;—इस आधार पर नारायण और मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ९ ॥

नलभीमभुवोः प्रेम्णि विस्मितताया दधौ दिवः ।
पाशिपाशः शिरःकम्पस्रस्तभूषश्रवःश्रियम् ॥ १० ॥

जीवातु—नलेति। पाशिनः वरुणस्य, पाशः वलयाकारपाशास्त्रं, नल-भीमभुवोः नलभैम्योः प्रेम्णि अन्योऽन्यानुरागे विषये, विस्मितायाः विस्मया-विष्टायाः, दिवः नभसः, शिरःकम्पेन मस्तकचालनेन, स्रस्तभूषस्य, गलिता-वतंसस्य श्रवसः श्रोत्रस्य, श्रियं शोभां, दधौ धारयामास। अत्र श्रियमिव श्रियमिति सादृश्या क्षेपान्निदर्शनाभेदः ॥ १० ॥

अन्वयः—पाशिपाशः नलभीमभुवोः प्रेम्णि विस्मितताया दिवः शिरः-कम्पस्रस्तभूषश्रव श्रियं दधौ।

हिन्दी—वरुण का पाश नल और भीमसुता (दमयन्ती) के अनन्य प्रेम पर आश्चर्यान्वित द्यौ (आकाश-देवता) का सिर हिलने से गिर गये आभूषण से रहित कर्ण की शोभा को धारण कर रहा था।

टिप्पणी—कर्णाकार लपेटे वरुण के पाश की आकारसाम्य के आधार पर नल-दमयन्ती के अद्भुत अनन्य प्रेम पर विस्मित आकाशदेवी के सिर हिलने से गिरे कर्णाभूषण से रहित कर्ण के रूप में उद्भावना की गयी है। व्यर्थप्रयास देवों को लौटा देख, सब समाचार सुन, द्यौ-देवी को जब यह ज्ञात हुआ कि मानवी दमयन्ती ने देवों की तुलना में एक मानव को प्रश्रय दिया है, तो आश्चर्य से उसका सिर डोल गया और कान का कुंडल गिर गया। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ 'श्री के समान श्री'—इस सादृश्य के कारण निदर्शना है। नारायण ने 'ताटंक-रहित कर्ण-सा शोभित हुआ'—इस आधार पर द्यौ के नायिकात्व की व्यंजना मानी है ॥ १० ॥

पवनस्कन्धमारुह्य नृत्यत्तरकरः शिखी।
अनेन प्रापि यैमीति भ्रमच्चक्रे नभःसदाम् ॥ ११ ॥

जीवातु—पवनेति । पवनस्कन्ध वायुपथाख्यस्य नभोदेशाशविशेषस्य उपरिभागम्, आरुह्य अधिष्ठाय, नृत्यत्तरा अतिशयेन नृत्यन्त , वायुवेगेन अत्यर्थं चञ्चन्त इत्यर्थ । करा अग्राव हस्ताग्र यस्य स ताहश 'बलिहस्तांशव करा ' इत्यमर । शिखी अग्नि , नभ सदा खेचराणाम्, अनेन अग्निना, भैमी दमयन्ती, प्रापि प्राप्ता, अन्यथा कथमेतज्जृम्भणमिति भाव । इति एव भ्रम चक्रे भ्रान्ति जनयामास इत्यर्थ ॥ ११ ॥

अन्वय.—पवनस्कन्धम् आरुह्य नृत्यत्तरकरः शिखी 'अनेन भैमी प्रापि'—इति नभ सदा भ्रम चक्रे।

हिन्दी—पवन के कन्धे पर चढकर लपलपाती ज्वाला रूप हाथ नचाते अग्नि ने आकाशचारी देवो मे यह भ्रम उत्पन्न कर दिया कि इस (अग्नि) ने भीमसुता पा ली है।

टिप्पणी—देवो के रथ क्रमश बढते वायु-मार्ग मे जा पहुँचे, जिसे यह सूर्याधाधार सात स्कन्धों के मध्य ताराचक्राधारभूत पवनस्कन्ध कहा जाता है। यहाँ पहुँचने पर पवन-वेग के कारण अग्नि में चचल ज्वाला-माल लहराने लगा। अग्नि को 'मरुत्सखा' कहा जाता है। यहाँ उद्भावना की गयी है कि अपने मित्र पवन के स्कन्ध पर विजयी की भाँति चढा अग्नि हाथ नचा-नचा कर देवो मे इस भ्रम को उत्पन्न कर रहा था कि जैसे स्वयवर मे वही जयी हुआ है और दमयन्ती उसे मिल गयी है। नव वधू प्राप्त होने पर मित्रो के कधे पर चढकर हर्ष से लोग नाचते ही हैं। विजयी को मित्र कधो पर उठा ही लेते हैं। सो देव भी भ्रम मे पड गये ॥ ११ ॥

तत्वर्णी भारती दूनो विरहाद् भीमजागिराम् ।
अध्वनि ध्वनिभिर्वैणैरनुकल्पैर्व्यनोदयत् ॥ १२ ॥

जीवातु—तदिति । भारती सरस्वती, भीमजागिरा दमयन्तीवचनाना, विरहाद् अभावात् अश्रवणादिति यावत् । दूनो परितप्तौ, तेषा देवाना, कर्णौ श्रवणौ, अध्वनि आकाशमार्गे, अनुकल्पै भैमीगिरा सदृशै , तदपेक्षया हीनगुणैरित्यर्थ । मुख्याभावे कादावत् प्रतिनिधिभिरिति भाव । 'मुख्य स्यात् प्रथम कल्पोऽनुकल्पस्तु ततोऽधम ' इत्यमर । वैणै वीणासम्बन्धिभि 'तस्येदम्' इत्यण् । ध्वनिभि शब्दै , व्यनोदयत् विनोदितवती ॥ १२ ॥

अन्वयः—भारती भीमजागिरां विरहात् दूनौ तत्कर्णौ अध्वनि अनुकल्पैः वैणैः ध्वनिभिः व्यनोदयत् ।

हिन्दी—भगवती सरस्वती ने भीम-पुत्री (दमयन्ती) के वचनों के वियोग (अश्रवण) से संतप्त उन (देवों) के कानों को मार्ग में अनुगुण (दमयन्ती-वचनतुल्य) वीणा की ध्वनियों से विनोद प्राप्त कराया।

टिप्पणी—दमयन्ती के मधुर स्वर का तो अब देवों को श्रवण हो नहीं रहा था, सो उनके कान वियोगी के समान संतप्त हो रहे थे। सरस्वती देवी ने वीणा बजाकर उनको कुछ सुख पहुँचाया, यद्यपि वीणा के स्वर दमयन्ती के वचनों के तुल्य ही थे, केवल दमयन्ती-वचन का अनुकरण मात्र। अनुकरण मूल की अपेक्षा हीन होता ही है; अतः वीणावादन से देवों का रास्ता भर कट गया। क्षुधा के अभाव में काथ अथवा 'अभावे शालिचूर्णम्' ॥ १२ ॥

अथाऽऽयान्तमवेक्षन्त ते जनौघमसित्विषम् ।
तेषां प्रत्युद्गमप्रीत्या मिलद्व्योमेव मूर्तिमत् ॥ १३ ॥

जीवातु—अथेति। अथ तादृशवाणीवीणाध्वनिश्रवणानन्तरं, ते देवाः, आयान्तम् आगच्छन्तम्, असेः खड्गस्य त्विट् इव त्विट् प्रभा यस्य तादृशम् असिनिभकान्तिम्, असिवत् श्यामोज्ज्वलप्रभमित्यर्थः। जनौघं जनसमाजं, तेषां देवानां, प्रत्युद्गमप्रीत्या प्रत्युद्गमनार्थं हर्षेण, मिलत् आगच्छत्, मूर्तिमत् विग्रहवत्, व्योम आकाशमिव, इत्युत्प्रेक्षा, अवैक्षन्त अपश्यन् ॥ १३ ॥

अन्वयः—अथ ते तेषां प्रत्युद्गमप्रीत्या मिलत् मूर्तिमत् व्योम इव असित्विषम् आयान्तं जनौघम् अवैक्षन्त।

हिन्दी—तत्पश्चात् उन देवों ने अपने प्रत्यागमन के हर्ष (प्रेम) के कारण मिलने को आते मूर्तिमान् आकाश की भांति, कृपाणतुल्य (अथवा मसि-तुल्य—स्याही के समान) आते हुए जनसमूह को देखा।

टिप्पणी—प्रवासी देवों के प्रत्यागमन को देखने के लिए एक भीड़ उन्हें आती दीखी। क्या हुआ, कैसे हुआ, क्या कर आये देव?-जैसे उमड़ता आकाश ही हो, जैसे स्याही का ढेर हो, जैसे श्याम वर्ण के कृपाण हों, ऐसे वे लग रहे थे-काले-काले। यह कलि की सेना थी ॥ १३ ॥

अद्राक्षुराजिहानं ते स्मरमग्रेसरं सुराः ।
अक्षाविनयशिक्षार्थं कलिनेव पुरस्कृतम् ॥ १४ ॥

जीवातु—अद्राक्षुरिति । ते सुरा इन्द्रादय आजिहानम् आगच्छन्तम्, ओहाङ् गताविति धातोर्लट् शानजादेशः । अग्रेसरं जनौघपुरोवर्तिनम्, अत इव अक्षाणाम् इन्द्रियाणाम्, अविनयस्य औद्धत्यस्य, दुर्व्यवहारस्य इत्यर्थः । अन्यत्र—अक्षाणां पाशकानाम्, आ सम्यक्, विनयं विनीतता, स्ववशीकरणमित्यर्थः । तस्य 'अक्षो रथस्यावयवे पाशकेऽप्यक्षमिन्द्रिये' इति विश्वः । शिक्षार्थम् अभ्यासार्थं, कलिना कलिपुरुषेण पुरस्कृतं पूजितम्, अग्रतः कृतम् इव स्थितम् इत्यर्थः । स्मरं कामम्, अद्राक्षुः अवालोकिषत । दृशेर्लुङि 'इरितो वा' इति विकल्पादङ्भावपक्षे सिचि वृद्धिः ॥ १४ ॥

अन्वय—ते सुरा अग्रेसरम् आजिहानम् अक्षाविनयशिक्षार्थं कलिना पुरस्कृतम् इव स्मरम् अद्राक्षुः ।

हिन्दी—उन देवों ने सबके आगे आते, इन्द्रियों को दुर्व्यवहार (और द्यूत खेलने की अविनीत दुःशिक्षा) सिखाने के लिए कलि द्वारा पुरस्कृत—(पूजित, अग्रे कृत) जैसे कामदेव को देखा ।

टिप्पणी—प्रत्यागमन-प्रीति से आती भीड़ के आगे काम था—इन्द्रियों को अविनय की शिक्षा देने वाला । मानो द्यूतदुर्विद्या-शिक्षार्थ कलि ने ही पुरस्कृत किया हो । नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥

अगम्यार्थं तृणप्राणाः पृष्ठस्थीकृतभीह्रियः ।
शम्भलीभुक्तसर्वस्वा जना यत्पारिपार्श्वकाः ॥ १५ ॥

जीवातु—अगम्येति । अगम्यार्थम् अगम्यागमनार्थम् इत्यर्थः । तृणप्राणाः तृणप्रायप्राणाः, प्राणान् तृणवत् अविगणय्य अगम्यागन्तार इत्यर्थः, पृष्ठस्थीकृते पश्चाद् देशस्थीकृते, अविगणिते इति यावत्, भीह्रियौ भयलज्जे यैः तादृशाः, लज्जाभयवर्जिता इत्यर्थः, शम्भलीभिः कुट्टनीभिः 'कुट्टनी शम्भली समे' इत्यमरः । भुक्तं कवलीकृतमित्यर्थः, सर्वस्वं सर्वधनं येषां तादृशाः, जनाः लोकाः, यस्य स्मरस्य, पारिपार्श्वकाः परिपार्श्ववर्तिनः, परिजना इत्यर्थः, वयस्या इति यावत् । 'परिमुखञ्च' इति चकारात् ठञ् ॥ १५ ॥

अन्वयः—अगम्यार्थं तृणप्राणाः पृष्ठस्थीकृतभीह्रियः शम्भलीमुक्तसर्वस्वाः जनाः यत्पारिपार्श्विकाः ।

हिन्दी—'अगम्या' नारियों के निमित्त प्राणों को तृण-समान (तुच्छ) समझने वाले, भय और लज्जा से पराङ्मुख कुट्टिनियाँ जिनका सर्वस्व भोग चुकी हैं, ऐसे व्यक्ति जिस (काम) के पारिपार्श्विक (सेवक) होते हैं ।

टिप्पणी—रानी, माँ, बहिन आदि 'अगम्या' अर्थात् 'अभोग्या' नारियाँ होती हैं, किन्तु कामीजन ऐसी 'अगम्या' के भोग में लालायित रहते हैं, प्राण देने को भी तैयार रहते हैं । ऐसे लोगों को न किसी का भय होता है, न लोकलाज । कुटनियाँ इनका सर्वस्व हर लेती हैं । ऐसे कामीजन काम के पार्श्वचारी सेवक होते हैं— कामरसाश्रयभाव के समीपस्थ परिष्कारक ॥१५॥

बिभर्त्ति लोकजिद्भावं बुद्धस्य स्पर्द्धयेव यः ।
यस्येशतुल्ययेवात्र कर्त्तृत्वमशरीरिणः ॥ १६ ॥

जीवातु–बिभर्त्तीति । यः स्मरः, बुद्धदेवेन जित इति भावः, बुद्धस्य सुगतस्य मारजित इत्यर्थः । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । स्पर्द्धया इव संहर्षणेनेव, जिगीषयेवेत्यर्थः; साम्येन इति वा, बुद्धेन सह शौर्यादिभिः समत्वाकाङ्क्षयेत्यर्थः, 'स्पर्द्धा संहर्षणेऽपि स्यात् साम्ये क्रममनुप्रता' इति मेदिनी । लोकजिद्भावं सर्वलोकजेतृत्वं, बिभर्त्ति धारयति । 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो मारजिल्लोकजिज्जिनः' इत्यमरोक्तेः । बुद्धस्य सर्वलोकजेतृत्वादिभावः । यस्य स्मरस्य, ईशतुल्या इव ईश्वरसाम्यापेक्षया इवेत्यर्थः । देहदाहकारीश्वरस्पर्द्धयेवेति यावत्, शरीरं न भवतीति अशरीरि तस्य अशरीरिणः दग्धदेहत्वाद् अनङ्गस्य सतः, अत्र लोके, कर्तृत्वम् एकत्र—जेतृत्वम्, अन्यत्र—स्रष्टृत्वम् उपादानादिगोचरापरोक्षज्ञानादिमत्त्वादेवेश्वरस्य कर्त्तृत्वं शरीरमतन्त्रमिति तार्किकाः । पराभिभूताः तन्मत्सराः तत्साम्याय तद्वत् आचरन्तीति भावः ॥ १६ ॥

अन्वयः—यः (स्मरः) बुद्धस्य स्पर्द्धया इव लोकजिद्भावं बिभर्त्ति, ईशतुल्या इव यस्य अशरीरिणः अत्र कर्त्तृत्वम् ।

हिन्दी—जो काम सिद्धार्थ गौतम बुद्ध की स्पर्धा से ही मानो सर्वलोकजयी होने का भाव रखता है और ईश (भगवान् शिव) के साम्य की अपेक्षा से ही जिस अनंग का यहाँ (संसार में) जगत्-रचयिता-भाव है ।

टिप्पणी—काम की अन्य विशेषताएँ बताते हुए यहाँ उसकी दो विशेषताएँ और बतायी गयी हैं कि (१) वह विश्वजयी है और (२) अदेह होकर भी सृष्टि का कर्ता है। इस पर यह उद्भावना है कि वह विश्वजय-भाव गौतम बुद्ध की स्पर्द्धा के कारण करता है, क्योंकि बौद्ध परंपरा के अनुसार गौतम को 'मारजित्' और 'लोकजित्' कहा जाता है। कोष के अनुसार भी गौतम के पर्याय 'सर्वज्ञ, सुगत, बुद्ध, मारजित् और लोकजित्' हैं। गौतम काम के जेता हैं शत्रु हैं, सो उनके जैसा कार्य वह इसी आशा से करता है कि वह संसार में गौतम के समान 'लोकजित्' विरुद प्राप्त कर सके। इसी प्रकार अपने शरीर को भस्म कर देने वाले अत वैरी, शिव की समानता प्राप्त करने के निमित्त वह अनंग—अशरीरी रहकर सृष्टिकर्ता है—वही नर नारी को देह-मिलन के लिए प्रेरित करता है, जिससे सृष्टि होती है। न्यायशास्त्र के अनुसार शिव अशरीरिभाव से सृष्टि करते हैं। इस प्रकार गौतम बुद्ध और शिव—इन दो पराजयदाताओं की स्पर्द्धा में काम 'लोकजित्' और 'कर्त्ता' का भाव प्राप्त करते हुए उन दोनों स्वशत्रुओं के समान बनकर अपना गौरव बढ़ा रहा है। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा।

ईश्वरस्य जगत् कृत्स्नं सृष्टिमाकुलयन्निमाम्।
अस्ति योऽस्त्रीकृतस्त्रीकस्तस्य वैरमनुस्मरन्॥ १७॥ (कुलकम्)

जीवातु—ईश्वरस्येति। य स्मर, तस्य ईश्वरस्य, वैर शत्रुताम्, अनङ्गी-करणरूपमित्यर्थः, अनुस्मरन् मन स्यीकुर्वन्, स्त्रिय न भवन्तीति अस्त्रिय, अस्त्रीकृता स्त्रियो येन तादृश सन्, अत्र स्त्रिया स्त्रीत्वाभावकरणरूप विरोध, तत्परिहारस्तु—अस्त्राणि आयुधानि कृतानि इति अस्त्रीकृता, अभूततद्भावे च्वि, अस्त्रीकृता स्त्रिय येन स तादृश अस्त्रीकृतस्त्रीक सन्, 'नद्यृतश्च' इति कप्। ईश्वरस्य इमा स्त्रीपुंसात्मिकाम् इत्यर्थ, सृष्टिं निर्माणं, कृत्स्नं जगत् आकुलयन् अस्थिरीकुर्वन्, अस्ति वर्तते। ईश्वरेण या स्त्रीकृता सा अनेनास्त्रीकृता इति ईश्वरप्रतिकूलाचरणेन, तथा ईश्वरेण त्रिपुरासुरवधकाले विष्णोर्मोहिनी मूर्त्तिरूपा स्त्री हास्त्रीकृता, अनेनापि स्त्रिय अस्त्रीकृता इत्येव-कार्यकारितया च ईश्वरेण सह स्पर्द्धामनेन अकरोत् इति निष्कर्ष ॥ १७॥

अन्वयः—अस्त्रीकृतस्त्रीकः ईश्वरस्य इमां सृष्टिम् कृत्स्नं जगत् तस्य वैरम् अनुस्मरन् यः आकुलयन् अस्ति ।

हिन्दी-स्त्रियों को अस्त्र बनाकर ईश्वर की इस सृष्टि—संपूर्ण जगत् को उन (-ईश्वर) के वैर का अनुस्मरण करता जो (काम) व्याकुल कर रहा है।

टिप्पणी—ईश्वर—भगवान् शिव की स्पर्द्धा से जो काम समग्र सृष्टि को व्याकुल करता रहता है। शत्रु-द्वारा जिसकी रचना हुई है, उसे व्यथा देना अन्य शत्रु की स्वाभाविक इच्छा होती ही है, सो काम भी शिव की रचना-उनकी सन्तान को कष्ट देता रहता है। काम स्त्रियों को साधन (अस्त्र) बनाकर जगत् को व्याकुल करता है। यह भी शिव की स्पर्धा ही है—(१) ईश्वर ने जिसे 'स्त्री' बनाया उसे वह 'अस्त्री' (अस्त्र और अनारी) बनाता है, इस प्रकार प्रतिकूलाचरण करके शत्रुता और स्पर्द्धा; (२) त्रिपुरासुर के वध मे शिव ने स्त्री (मोहनी-रूपधारी विष्णु) को अस्त्र बनाया था, काम जगज्जय में वही कार्य अर्थात् स्त्री को अस्त्र बना रहा है। इस प्रकार शत्रु शिव की स्पर्द्धा में उनके प्रतिकूल अथवा उनके अनुकूल आचरण करता काम शिव की संतान-सृष्टि को पीड़ित कर रहा है और वैर निबाह रहा है। नारायण के अनुसार स्त्री का अस्त्रीकरण विरोधाभास है।

चक्रे शक्रादिनेत्राणां स्मरः पीतनलश्रियाम् ।
अपि दैवतवैद्याभ्यामचिकित्स्यमरोचकम् ॥ १८ ॥

जीवातु—चक्रे इति । स्मरः कामः, पीतनलश्रियां पानविषयीकृतनल-कान्तीनां, साक्षात्कृतनलसौन्दर्याणामित्यर्थः । शक्रादिनेत्राणाम् इन्द्रादिचक्षुषां, दैवतवैद्याभ्याम् अश्विनीकुमाराभ्यामपि, अचिकित्स्यं चिकित्सितुम् अशक्यं, न 'रोचयते इति अरोचकं रोगविशेषं, चक्रे जनयामास, नलरूपदर्शिभ्यः तेभ्यः स्मररूपं न अरोचत इत्यर्थः। स्मरादपि रमणीयो नल इति भावः ॥ १८ ॥

अन्वयः— स्मरः पीतनलश्रियां शक्रादिनेत्राणां दैवतवैद्याभ्याम् अपि अचिकित्स्यम् अरोचकं चक्रे ।

हिन्दी—काम ने नल की शोभा का पान किये (सादर नल की शोभा को देखे) इन्द्र आदि देवों के नेत्रों को ऐसा असाध्य अथवा रुचि-हीनता का

रोगातिशेष दे दिया, जिसकी चिकित्सा सुरवैद्य अश्विनीकुमार भी न कर सकते थे।

टिप्पणी--देवों ने अत्यन्त सुरूप नल को भली भाँति देखा था, काम उनके सम्मुख जब आया तो उसमें उन्हें कोई नेत्रानन्द--'नयनसुख' नहीं मिला, प्रत्युत अरुचि ही उत्पन्न हुई, क्योंकि नलापेक्षया वह सुन्दर नहीं था। जब 'उत्तम' देख चुके तो 'अनुत्तम' में रुचि कैसे रह पाती? उनके नेत्रों की यह 'अरुचि' अपने सौन्दर्य के लिए जगत्प्रसिद्ध, चिकित्सा करने में अद्वितीय अश्विनीकुमार भी दूर न कर सकें, अर्थात् अश्विनीकुमारों का सौन्दर्य भी उन्हें प्रभावित न कर सका। वे भी नलापेक्षया सुन्दर नहीं थे। जिस रोग की चिकित्सा सुरवैद्य भी न कर सके, अन्य कोई क्या करता? भाव यह है कि नल की शोभा काम और अश्विनीकुमारों की तुलना में भी श्रेष्ठ थी, अतः देवों के नेत्रों को सुख न मिला। अरुचि ही रही। नारायण के अनुसार यह ध्वनित होता है कि नल काम और सुरवैद्यों की अपेक्षा सुन्दर था, अथवा यहाँ समासोक्ति है कि सर्वथा अरुचिभाव रोगविशेष कर्मज होने से देव-वैद्यों द्वारा भी चिकित्स्य नहीं है, मानववैद्यों की तो गणना ही क्या? अथवा सौंदर्य में उपमान काम और सुरवैद्यों के तिरस्कार के कारण यहाँ प्रतीप अलंकार है। भंगिमा विशेष से नल सौंदर्यातिशय यहाँ कहा गया है॥ १८॥

यत्तत् क्षिपन्तमुत्कम्पमुत्थायुकमथारुणम्।
बुबुधुर्विबुधाः क्रोधमाक्रोशाक्रोशघोषणम्॥ १९॥

जीवातु-यदिति। अथ स्मरदर्शनानन्तरं, विबुधाः देवाः, यत्तत् यत्किञ्चित् राष्ट्रादिकं वस्तु इत्यर्थः। क्षिपन्तं दूरात् मुञ्चन्तं, परप्रहाराय इति भावः। उत्कम्पं कम्पितं, क्रोधावेगेन कम्पनस्य स्वाभाविकत्वादिति भावः। उत्थायुकं युद्धार्थम् उत्तम्भयन्तम्, आक्रोशं क्रोशपरिमितदूरपर्यन्तं क्रोशमभिव्याप्य वा, आक्रोशस्य परनिन्दावादसहित तिरस्कारस्य, घोषणा उच्चैरुच्चारणं यस्य तादृशम्, उच्चैः तर्जनसहकारेण परनिन्दा कुर्वाणम् इत्यर्थः, अरुणं रक्तवर्णं, क्रोधं मूर्तिमन्तं क्रोधाख्यं रिपुविशेषं बुबुधुः ददृशुः इत्यर्थः निम्नचिह्नैरयं क्रोधः इति अवगतवन्तः इति तात्पर्यम्। बुधेर्भौवादिकाल्लिट्॥ १९॥

अन्वयः—अथ विबुधाः यत् तत् क्षिपन्तम् अरकम्पम् उत्थायुकम् आक्रोशा-क्रोशघोषणम् अरुणं क्रोधं बुबुधुः ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (कामावलोकनानंतर) देवों ने जो-कुछ ईंट-पत्थर सामने आ पड़े, उसे ही फेंकते, कांपते, लड़ने को तैयार, कोसभर से पर-निन्दा को ऊँचे स्वर से घोषणा करते लाल-लाल क्रोध को पहिचाना ।

टिप्पणी—क्रोध का मूर्तिमान् चित्र—पर-प्रहार के निमित्त पत्थर-काष्ठ फेंकता, आवेग से कांपता, लड़ाकू, परनिन्दक, रक्तवर्ण—इन्हीं चिह्नों से क्रोध का पता चलता है । 'नाट्यशास्त्र' (सप्तम अध्याय) के अनुसार क्रोध का प्रदर्शन भ्रुकुटि टेढ़ी करके, भयंकर मुख बना, ओठ चबाते, नाक टेढ़ी कर, आँखें तरेर कर, डाँट-फटकार करके किया जाता है । इन्हीं चिह्नों से इन्द्रादि ने क्रोध को पहिचाना ॥१९॥

यमुपासत दन्तौष्ठक्षतासृक्शिष्यचक्षुषः ।
भ्रुकुटीफणिनीनादनिभनिःश्वासफूत्कृताः ॥ २० ॥

जीवातु—यमिति । यं क्रोधं, दन्तैः ओष्ठस्य क्षतेन दंशनव्रणेन, यत् असृक् रक्तं, तच्छिष्याणि तत्कल्पानि इत्यर्थः, चक्षूंषि नेत्राणि येषां तादृशाः, भ्रुकुटी एव भ्रूसङ्कोचनमेव, फणिनी भुजङ्गी, तन्नादनिभानि तत्फूत्कारकल्पानि, निः-श्वासफूत्कृतानि निःश्वासस्य फूत् इति प्रबलशब्दा येषां तादृशाः, परिजनाः इति शेषः, उपासत असेवत, आसेर्लुङ् । तत्सेवका अपि तादृशा एवेत्यर्थः ॥ २० ॥

अन्वयः—दन्तौष्ठक्षतासृक्शिष्यचक्षुषः भ्रुकुटीफणिनीनादनिभनिःश्वास-फूत्कृताः यम् उपासत ।

हिन्दी—दाँतों से कटे ओठों के घाव से बहते रक्त के शिष्य (तत्सम रक्तवर्ण) नेत्रों वाले और भ्रूसंकोच रूपा सर्पिणी के फुंकार-सम निःश्वासों से फुंकारते जन जिसकी उपासना करते हैं (उस क्रोध को देवों ने पहिचाना)।

टिप्पणी—क्रोध में पड़े व्यक्ति ऐसा ही करते हैं । लाल-लाल आखें, भयावह लम्बे दीर्घ श्वास—ये क्रोधियों के चिह्न हैं । क्रोधवश दाँतों से ओठ काट लिये जाते हैं, नेत्र लाल हो जाते हैं, श्वास-प्रश्वास तेजी से होने लगता है । ऐसे क्रोधी जन ही क्रोध के पुजारी होते हैं । ऐसे सेवकों से क्रोध समन्वित था । नारायण के अनुसार रूपक ॥ २० ॥

दुर्गं कामाशुगेनापि दुर्लङ्घ्यमवलम्ब्य यः।
दुर्वासोहृदयं लोकान् सेन्द्रानपि दिधक्षति ॥ २१ ॥

जीवातु—दुर्गमिति। यः क्रोधः, कामाशुगेन कन्दर्पबाणेन अपि, दुर्लङ्घ्यम् दुरतिक्रमम्, अजेयमित्यर्थः। दुर्वासस तदाख्यस्य अतिक्रोधिनः मुनेः हृदयं चित्तम् एव, दुर्गं कोट्टम् अवलम्ब्य आश्रित्य, सेन्द्रान् इन्द्रादिदेवतासहितानपि, लोकान् भुवनानि त्रैलोक्यमित्यर्थः, दिधक्षति शापाग्निना दग्धुमिच्छति। दहतेः सन्नन्तात्लटि दन्त्यस्वभावः। दुर्लङ्घ्यदुर्गावलम्बनो दुर्जेय इति भावः। नित्यक्रुद्धो भगवान् दुर्वासा दुर्दर्श्वेति प्रसिद्धम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—यः कामाशुगेन अपि दुर्लङ्घ्य दुर्वासोहृदयम् अवलम्ब्य सेन्द्रान् लोकान् अपि दिधक्षति।

हिन्दी—जो (क्रोध) काम-बाण से भी दुरतिक्रम दुर्वासा के हृदय का आश्रय ले इन्द्रसहित त्रिलोकी को भी जला डालने का इच्छुक है।

टिप्पणी—दुर्वासा मुनि प्रसिद्ध क्रोधी हैं। वे तुरन्त क्रुद्ध हो शापाग्नि से सबको भस्म कर देने की कामना करते हैं। प्रत्येक क्षुद्र बाण द्वारा, अप्राप्य, अतिविषम पर्वतादि दुर्ग का आश्रय ले, सब को पीड़ा देता है। ऐसे ही क्रोध भी दुर्वासा मुनि का आश्रय ले त्रैलोक्य-दाह का इच्छुक है। नारायण के अनुसार रूपक और समासोक्ति ॥ २१ ॥

वैराग्यं यः करोत्युच्चै रञ्जनं जनयन्नपि।
सूते सर्वेन्द्रियाच्छादि प्रज्वलन्नपि यस्तमः ॥ २२ ॥

जीवातु—वैराग्यमिति। यः क्रोधः, उच्चैः अत्यर्थं, रञ्जनं रागं, रक्तवर्णतामिति यावत्। जनयन् अपि उत्पादयन्नपि, वैराग्यं तद्राहित्यं, करोति जनयतीति विरोधः, नैस्पृह्यं करोतीति तदाभासीकरणात् विरोधाभासोऽलङ्कारः, क्रुद्धस्य न कुत्रापि अनुरागः इति भावः, तथा यः क्रोधः, प्रज्वलन् सन्धुक्षमाणोऽपि, प्रकाशमानः अपि इत्यर्थः, अन्तः, सन्तापयन्नपि इत्यर्थश्च, सर्वेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि आच्छादयतीति तदाच्छादि सर्वेन्द्रियावरकं, ज्ञानेन्द्रियाणामावरकमित्यर्थः, तमः मोहम् अन्धकारञ्च, सूते जनयति क्रोधान्धो न किञ्चित् पश्यतीति भावः। अत्र प्रज्वलत्तमःशब्दयोः अर्थभेदेन विरोधपरिहारात् पूर्ववदलङ्कारः ॥ २२ ॥

अन्वयः—यः उच्चैः रञ्जनं जनयन् अपि वैराग्यं करोति, यः प्रज्वलन् अपि सर्वेन्द्रियाच्छादि तमः सूते।

हिन्दी—जो (क्रोध) अत्यन्त राग (मुखादि लालिमा) उत्पन्न करता भी विरागता (स्पृहा-हीनता—वैराग्य) उत्पन्न करता है और जो संतापकारी होता भी समस्त इन्द्रियों को आच्छादित करनेवाला तमोगुण उत्पन्न करता है।

टिप्पणी—क्रोध में मुखादि लाल हो जाते हैं, सब के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है, सबको संतप्त करने की प्रवृत्ति बन जाती है और तमोगुण से मति आच्छन्न हो जाती है, जिससे सब इन्द्रियाँ उलटा-पुलटा करने लगती हैं। क्रोधांध मनुष्य का न तो मन वश में रह जाता है, न इन्द्रियाँ। इसे विरोधाभास अलङ्कार से चमत्कारोक्ति बनाया गया है। जो रंजन (लाली) करेगा, वह विराग (लालिमा-राहित्य) उत्पन्न नहीं कर सकता; अथवा जो रंजक (अनुरागकारक) होगा, वह विराग (विरक्ति) उत्पन्न कैसे करेगा? विरोध हुआ। जिसका परिहार होता है, 'रंजन' का अर्थ मुखादिरक्तिमा और वैराग्य का अर्थ विरक्ति करके। इसी प्रकार जो प्रज्वलित (प्रकाशमान्) होगा, वह तमः (अन्धकार) नहीं उत्पन्न कर सकता, विरोध हुआ। परिहार है—प्रज्वलित का अर्थ संतापकारी, वृद्धि को प्राप्त होता और तम का अर्थ मोह उपजाने वाला तमोगुण करके। क्रोध से संमोह होता है—'क्रोधाद्भवति संमोहः।' (श्रीमद्भगवद्गीता २।६३)। मल्लिनाथ नारायण—दोनों ने विरोधाभास का निर्देश किया है ॥ २२ ॥

पञ्चेषुविजयासक्तो भवस्य क्रुध्यतो जयात्।
येनान्यविगृहीतारिजयकालनयः श्रितः ॥ २३ ॥

जीवातु—पञ्चेष्विति। येन क्रोधेन, पञ्चेषु विजयासक्तौ पञ्चेषुविजये कन्दर्पपराभवे, या आसक्तिः तत्परता तस्यां, कन्दर्पभस्मीकरणाभिनिवेशे, क्रुध्यतः स्मराय कुप्यतः, भवस्य हरस्य कर्मणि षष्ठी। जयात् स्वाधीनीकरणात् हेतोः, अन्येन पुरुषान्तरेण, विगृहीतस्य आक्रान्तस्य, अरेः शत्रोः, जयकाले आयत्तीकरणसमये, यो नयः नीतिः सः, श्रितः अवलम्बितः, तत्कालोचिता नीतिराश्रिता इत्यर्थः। अन्यदा महादेवं जेतुमशक्योऽपि स्मरविग्रह-

वातो स्मरहर आधा जिगाय तत्काले तस्य क्रोधवशीभूतत्वादिति भाव । अत्र वामन्दव.—'बलिना विग्रहीतस्य द्विपता कृच्छ्रवर्तिन । कुर्वताऽपचय शत्रोरा-रमच्छित्तिविशङ्कया ॥' इति ॥ २३ ॥

अन्वय —पञ्चेषुविजयासक्तो कुध्यत भवस्य जयात् येन अन्यविगृहीता-रिजयकालनय थित ।

हिन्दी—पञ्चबाण (काम) के जय म आसक्त हो क्रोध से व्याप्त शिव के विजय द्वारा जिस (क्रोध) न अन्य (शत्रु) स आक्रांत शत्रु के जयकाल में अपनायी जाने वाली नीति का आश्रय लिया था।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि क्रोध ने शिव को भी जीत लिया था। समाधि भग-कर्त्ता काम को जब शिव ने भस्म किया था तब वे क्रोधाभिरत थे—क्रोध के वशवर्ती, उसके अधिकार में, उससे पराजित। एक नीति यह होती है कि जब बली शत्रु किसी अन्य शत्रु से युद्धरत हो, तब उस पर आक्रमण करो, इससे जीत सरल बन जाती है। बली शत्रु शिव को जीतने में इसी नीति का क्रोध न अनुसरण किया। जब वे काम जय मे सलग्न थे, क्रोध न उन पर आक्रमण किया और जयी हुआ। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा।

हस्तौ विस्तारयन्निभ्ये विभ्यदर्द्धपथस्थवाक्।
सूचयन् काकुमाकूतैर्लोभस्तत्र व्यलोकि ते ॥ २४ ॥

जीवातु—हस्ताविति। तत्र जनौघे, तै इन्द्रादिभि, इभ्ये धनिके 'इभ्य आढ्यो धनी स्वामी' इत्यमर। हस्तौ करौ, विस्तारयन् प्रसारयन्, याच्ञामु-द्रया इति भाव। बिभ्यत् अय मदुक्ति करिष्यति न वेति त्रस्यन्, अत एव अर्द्धपथस्थवाक् अर्द्धोक्तवाक्य, आकूतै अभिप्रायविशेषै, आत्मनो दैन्यज्ञापक-चेष्टाविशेषैरित्यर्थ। काकु शोकभीत्यादिजनिता स्वरविकृति, सूचयन् कुर्वन्नित्यर्थ, भयन गद्गदाभाषीत्यर्थ, लोभ विग्रहवान् तदाख्यरिपुविशेष, व्यलोकि दृष्ट ॥ २४ ॥

अन्वय —तत्र तै इभ्ये हस्तौ विस्तारयन् विभ्यदर्द्धपथस्थवाक् आकूतै. काकु सूचयन् लोभ व्यलोकि।

हिन्दी—वहाँ (जन-समूह में) उन्होंने (देवो ने) धनी के सम्मुख दोनो

हाथ फैलाता, डर से आधी बात कहता, दीनता-सूचक संकेतों द्वारा विकृत स्वर में ज्ञापित करता लोभ देखा।

टिप्पणी—लोभ-भाव का मूर्त्त प्रतिपादन। लोभ में पड़ा मनुष्य धनी के स मुख हाथ फैलाकर डरा-डरा कि कहीं डाँट-फटकार न पढ़ जाय, मुख से आधे वचन निकालता है और हाथ जोड़ना, उदर-दर्शन आदि चेष्टाओं से दैन्यभाव सूचित करता है, यह लोभी स्वभाव है॥ २४॥

दैन्यस्तैन्यमया नित्यमत्याहारामयाविनः।
भुञ्जानजनसाकूतपश्या यस्यानुजीविनः॥ २५॥

जीवातु—दैन्येति। दैन्यं दारिद्र्यं, स्तैन्यं स्तेयम् 'स्तेनाद् यद् नलोपश्च' इत्यत्र स्तेनादिति योगविभागात् ष्यञ्प्रत्ययः। तदुभयमयाः तत्प्रचुराः, नित्यं सर्वदा, अत्याहारेण बहुभोजनेन, आमयाविनः अजीर्णादिरोगिणः 'आमयस्योपसङ्ख्यानं दीर्घश्च' इति विन् दीर्घश्च। तथा भुञ्जानानाम् अश्नतां, जनानां लोकानां, साकूतं साभिप्रायं, पश्यन्ति अवलोकयन्तीति पश्या द्रष्टारः। 'पाघ्रा—'इत्यादिना शप्रत्ययः, पश्यादेशश्च। जना इति शेषः। यस्य लोभस्य, अनुजीविनः अनुचराः॥ २५॥

अन्वयः—दैन्यस्तैन्यमयाः नित्यम् अत्याहारामयाविनः भुञ्जानजनसाकूतपश्याः यस्य अनुजीविनः।

हिन्दी—दीनता और चौर्य-भावना से परिपूर्ण, सदा बहुभोजन के कारण अजीर्णादि के रोगी, भोजन करते व्यक्तियों की ओर साभिप्राय देखते लोग जिसके सेवक हैं।

टिप्पणी—ये सब भी लोभाक्रांत जनों के स्वभाव हैं। दीन, चोर, पेटू, खा-खाकर अपच कर लेने वाले, जिसे खाता देखा, ललचायी दृष्टि से ताकते खड़े रहे॥ २५॥

धनिदानाम्बुवृष्टेर्यः पात्रपाणाववग्रहः।
स्वान् दासानिव हा! निःस्वान् विक्रीणीतेऽर्थवस्तु यः॥ २६॥

जीवातु—धनिदानेति। यः लोभः, पात्रपाणौ पात्रस्य सम्प्रदानार्हजनस्य, पाणौ हस्ते, निःस्वजनकरे इत्यर्थः। धनिनाम् अर्थशालिनां, दानाम्बुवृष्टेः त्यागोदकवर्षस्य, अवग्रहः प्रतिबन्धकस्वरूपः। 'वृष्टिर्वर्षं तद्विघातेऽवग्राहा-

वग्रहौ समौ' इत्यमरः। प्रभूतधनसत्त्वेऽपि लोभवशीभूतः सन् पात्रपाणौ दानार्थोदकं नार्पयतीति भावः। तथा निःस्वान् धनहीनान्, स्वान् स्वजनान्, पुत्रदारादीनिति यावत्। दासान् इव किङ्करानिव, अनायासदेयान् इव इति यावत्। अर्थवत्सु आढ्येषु, विक्रीणीते अर्थविनिमयेन ददाति, लोभात् इति भावः। हा! इति विषादे अहो लोभस्य वैचित्र्यमयी शक्तिरिति भावः ॥२६॥

अन्वयः—हा, पात्रपाणौ धनिदानाम्बुवृष्टेः अवग्रहः यः निःस्वान् स्वान् दासान् इव अर्थवत्सु विक्रीणीते।

हिन्दी—खेद कि पात्र (दान प्राप्तियोग्य व्यक्ति) के हाथ में धनियों के दानरूपी जल की वर्षा अवरोधक जो (लोभ) अपने (पुत्रदारादि) निर्धन जनों को दासों की भाँति धनवालों के हाथ बेंच देता है।

टिप्पणी—लोभ के कारण धनी जन दान-प्राप्तियोग्य व्यक्ति को भी धन नहीं देता और लोभ में पड़ा व्यक्ति ही अपने पुत्र-कलत्र को भी निःस्व होने पर दासों की भाँति समझकर पैसों के लिए बेंच देता है। बड़ी विचित्र क्षमता है लोभ में ॥ २६ ॥

एकद्विकरणे हेतू महापातकपञ्चके।
न तृणे मन्यते कोपकामौ यः पञ्च कारयन् ॥ २७ ॥

जीवातु—एकेति। यः लोभः, पञ्च ब्रह्महत्यादीनि पञ्चापि महापातकानि, कारयन् नरादिना स्वयम् अनुष्ठापयन्, महापातकानां ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुस्तत्संसर्गी च पञ्चमः ॥' इत्युक्तानां ब्रह्महत्यादीनां, पञ्चके पञ्चकमध्ये एकञ्च द्वे च एकद्वीनि। सङ्ख्येयद्वन्द्वे बहुत्वोपजननात् बहुवचनम्। तेषाम् एकद्वीनां यथासङ्ख्यम् एकस्य ब्रह्महननस्य द्वयोः पानागम्यागमनयोश्च, करणे अनुष्ठाने, हेतू कारणभूतौ, कोपकामौ क्रोधकामौ, तृणे तृणतुल्यौ तुच्छौ इत्यर्थः। अपीति शेषः। न मन्यते न गणयति इत्यर्थः। न हि बहुकारी स्वल्पकारिणं गणयतीति भावः। कामक्रोधाभ्यामपि पापिष्ठो लोभ इति रहस्यम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—महापातकपञ्चके एकद्विकरणे हेतू कोपकामौ पञ्च कारयन् यः तृणे न मन्यते।

हिन्दी—(ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरुपत्नी आदि अगम्या-भोग

तथा इन चार पातक-कर्त्ताओं से संसर्ग) पाँच महापातकों में से एक-दो कराने के साधन (कारण) क्रोध और काम को पाँचों (महापातक) कराता हुआ वो तृण-समान भी नहीं गिनता।

टिप्पणी—पाँच महापापों का कारण लोभ होता है, क्रोध और काम तो केवल एक-दो के ही कारण होते हैं। क्रोध के कारण मनुष्य हत्या कर देता है—ब्रह्महत्या भी कर सकता है; कामी मद्यपायी और अगम्यागामी हो सकता है; इस प्रकार क्रोध-काम से एक-दो पातक करता है; पर लोभ के कारण वह पाँचों कर सकता है। लोभ से वह ब्रह्महत्या कर सकता है, चोरी तो कर ही सकता है, मुफ्त मिल जाय तो अथवा रसलोभ से मदिरा भी पी सकता है, संपत्तिशालिनी हो तो धन-लोभ से अगम्या-भोग भी निषिद्ध नहीं ठहरता, और लाभ हो तो लोभी हत्यारे, चोर, मद्यपायी और लंपट—सब की संगति में रह सकता है। इस प्रकार 'लोभः पापस्य कारणम्।' लोभ काम-क्रोध से भी अधिक पातकी है ॥ २७ ॥

यः सर्वेन्द्रियसद्मापि जिह्वां बह्ववलम्बते।
तस्यामाचार्यकं याच्ञापटवे बटवेऽर्जितुम् ॥ २८ ॥

जीवातु—य इति। यः लोभः, सर्वेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पञ्चैव, सद्म आश्रयः यस्य सः तादृशः सन् अपि, सर्वेन्द्रियाधिष्ठानोऽपि, जिह्वां रसनेन्द्रियमेव, बहु प्रचुरतया, अवलम्बते आश्रयति, प्रायेण तत्रैवास्ते इत्यर्थः। किमर्थम्? तत्राह—तस्यां जिह्वायाम्, अध्ययनशालाभूतायामिति भावः, याच्ञापटवे भिक्षानिपुणाय, बटवे ब्राह्मणाय, शिष्यभूताय इति भावः। आचार्यकं गुरुत्वम्, अर्जितुं लब्धुमित्युत्प्रेक्षा। लुब्धब्राह्मणबटुभ्यः याच्ञावाणीशिक्षादानार्थं वागिन्द्रियमधिष्ठाय आचार्यो भूत्वा वर्तते इत्यर्थः। गुरवस्तु अध्ययनशालायां स्वशिष्येभ्यो विद्याशिक्षां ददतीति प्रसिद्धम्। अत्रोपपोत्प्रेक्षाभ्यां सजातीयकाभ्यां वाक्यार्थयोः शब्दहेतुत्वात् शब्दार्थहेतुककाव्यलिङ्गमलङ्कारः सङ्कीर्यते इत्यलङ्कारत्रयस्य परस्परसम्बन्धेनाङ्गाङ्गिभावः ॥ २८ ॥

अन्वयः—सर्वेन्द्रियसद्मा अपि यः जिह्वां बहु अवलम्बते, तस्याम् याच्ञापटवे बटवे आचार्यकम् अर्जितुम्।

हिन्दी—सब इन्द्रियाँ ही जिसका आवास हैं, ऐसा होता हुआ भी जो (लोभ) जिह्वा का ही आश्रय अधिक लिये रहता है, वह उस (जिह्वा रूपी पाठशाला) में याचनानिपुण शिष्य के निमित्त आचार्यता (गुरुत्व) को प्राप्त करने के निमित्त।

टिप्पणी—लोभ का घर सभी इन्द्रियाँ हैं—नाक, कान, नेत्र, त्वचा, जिह्वा। घ्राण लोभ भी होता है और श्रवण-लोभ, दर्शनलोभ, स्पर्शलोभ और स्वाद-लोभ—भी। किन्तु अधिकतर लोभ जिह्वा गृह में ही अधिक निवास करता है। स्वाद लोभ होता ही अधिक है। ऐसा क्यों है? इसके लिए एक उद्भावना की गयी है। लोभी मंगता (याचक) होता है। माँगने में जिह्वा से याचना अधिक करनी पड़ती है। अत याचना में विशिष्ट लोभ मानो याचना-विद्या में आचार्यत्व करने के लिए—याचना चाटुक्ति कौशल सिखाने को जिह्वा पाठशाला में अधिक निवास करता है, जिससे वह विद्या शीघ्र दे दी जाय। भाव यह है कि सभी लोभवश हो प्रिय वाक्य बोलते हैं—चाटूक्तियाँ। लोभ आचार्य है, याचक शिष्य हैं, जिह्वा पाठशाला है, जिसमें शिक्षा देने के लिए लोभ प्रायः वास करता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सजातीयक उपमा-उत्प्रेक्षा के द्वारा वाक्यार्थों के वाक्य हेतु होने से वाक्यार्थ हेतुक काव्य-लिंग अलंकार का संकर है। इस प्रकार उपमा-उत्प्रेक्षा-काव्यलिंग—इन तीन अलंकारों का परस्पर सम्बन्ध से अंगांगिभाव है ॥ २८ ॥

पथ्यां तथ्यामगृह्णन्त मन्दं बन्धुप्रबोधनाम् ।
शून्यमाश्लिष्य नोज्झन्त मोहमैक्षन्त हन्त ते ॥ २९ ॥

जीवातु—पथ्यामिति। ते देवाः, मन्दं मूढस्वभावम्, अत एव पथ्यां हिताम्, तथ्यां सत्यां युक्तियुक्तामिति यावत्। बन्धुप्रबोधनां सुहृदुपदेशम्, अगृह्णन्तम् अस्वीकुर्वाणम्, अशृण्वन्तमित्यर्थः। शून्यं यत्किञ्चित् तुच्छं वस्तु इत्यर्थः। आश्लिष्य अवलम्ब्य इत्यर्थः। न उज्झन्तं मौढ्यात् न त्यजन्तं, हन्तेति खेदे, मोहं मूर्तिमन्तं तदाख्यं चतुर्थरिपुम्, ऐक्षन्त अपश्यन् ॥ २९ ॥

अन्वय—हन्त, ते मन्दं पथ्यां तथ्यां बन्धुप्रबोधनाम् अगृह्णन्तं शून्यम् आश्लिष्य न उज्झन्तं मोहम् ऐक्षन्त।

हिन्दी—खेद कि उन (इन्द्रादि) देवों ने मूढस्वभावी, हितकारी और सच्चे बन्धुजनों के प्रबोध वचनों (हित और सत्य उपदेश) को ग्रहण न करते, और शून्यसम अलीक को भी दृढता से पकड़ न छोड़ते मोह को देखा।

टिप्पणी—मूर्त्तिमंत मोह का चित्रण। मोह में पड़ा व्यक्ति ऐसी ही चेष्टाएँ करता है। मोह बुद्धिनाश का कारण है, जिससे हितैषी, शुभैषी आत्मीयों के हित और सत्यवचन भी ग्रहण-योग्य नहीं रह जाते और झूठे, अप्रामाणिक सत्य लगने लगते हैं। यह मूर्ख-स्वभाव है॥ २९॥

श्वः श्वः प्राणप्रयाणेऽपि न स्मरन्ति स्मरद्विषम्।
मग्नाः कुटुम्बजम्बाले बालिशा यदुपासिनः॥ ३०॥

जीवातु—श्वः श्वः इति। यदुपासिनः यस्य मोहस्य सेवकाः, अत एव कुटुम्बजम्बाले पुत्रकलत्रादिरूपपङ्के। 'निषद्वरस्तु जम्बालः पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ' इत्यमरः। मग्नाः अन्तः प्रविष्टा इत्यर्थः। बालिशाः मूर्खाः, श्वः श्वः आगामिदिवसे आगामिदिवसे, परश्वः इत्यर्थो वा। प्राणानां जीवनस्य, प्रयाणे निष्क्रमणेऽपि जीवनत्यागेऽपि, स्मरद्विषं कामारिम् ईश्वरं शङ्करं, न स्मरन्ति न चिन्तयन्तीत्यर्थः॥ ३०॥

अन्वयः—कुटुम्बजम्बाले मग्नाः बालिशाः यदुपासिनः श्वःश्वः प्राणप्रयाणे अपि स्मरद्विषं न स्मरन्ति।

हिन्दी—कुटुम्ब अर्थात् पुत्र-कलत्रादि रूप कर्दम (कीचड़) में फँसे मूर्ख, जिस (मोह) के उपासक कल (शीघ्र) ही प्राण-निकलना (मृत्यु निश्चित) होने पर भी स्मर-शत्रु (भगवान् शंकर) का स्मरण नहीं करते।

टिप्पणी—मोह की प्रबलता के कारण मनुष्य मूर्ख बने रहते हैं और "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः"—यह निश्चित होने पर भी, यह जानने पर भी कि मृत्यु निकट है, संसार-सागर से तारने वाले ईश्वर का स्मरण तो करते नहीं, अपितु, मेरे पश्चात्, 'मेरे पुत्र का क्या होगा, मेरी भार्या क्या करेगी, ये खेत-खलिहान, ये धन-संपदा, मकान-दूकान किसके होंगे'—इसी चिन्ता में फँसे रहते हैं, जैसे कि कीचड़—दल-दल में मनुष्य फँसकर अन्य कुछ भी याद नहीं कर पाता, केवल कीचड़—दल-दल की बात ही सोच पाता है॥ ३०॥

पुंसामलब्धनिर्वाणज्ञानदीपमयात्मनाम् ।
ह्यन्तर्म्लापयति व्यक्तं य कज्जलवदुज्ज्वलम् ॥ ३१ ॥

जीवातु--पुंसामिति । य मोह, अलब्ध अप्राप्त, निर्वाणज्ञानदीपमय निर्वाणज्ञान मोक्षविषयिणी बुद्धि, तदेव दीप प्रकाशकत्वात् प्रदीप, तन्मय तदात्मक आत्मा स्वभाव यें तेषाम् अनात्मज्ञाना, विषयासक्तानामित्यर्थ । पुंसाम् उज्ज्वल स्वभावत एव निर्मलम्, अन्तः अन्त करण, कज्जलवत् अञ्जनवत्, व्यक्त स्फुट, म्लापयति मलिनीकरोति मोक्षसाधनात्मसाक्षात्कार-विघातकोऽय दुरात्मेत्यर्थ ॥ ३१ ॥

अन्वय -- य अलब्धनिर्वाणज्ञानदीपमयात्मनां पुंसाम् उज्ज्वलम् अन्त कज्जलवत् व्यक्त म्लापयति ।

हिन्दी--जो (मोह) निर्वाण अर्थात् विनाश को अप्राप्त ज्ञानरूप दीपक से युक्त आत्मा वाले ज्ञानी (अथवा मोक्षोपयोगी ज्ञानदीपक से प्रकाशित आत्मा जिन्हें अप्राप्त है, ऐसे अज्ञानी) पुरुषों के निर्मल अन्त करण को भी काजल के समान स्पष्ट ही मलिन कर देता है ।

टिप्पणी--मोह बड़ा बली है। निर्मल अन्त करण वाले, ज्ञानी, दिव्यात्मा, बड़े-बड़े मुनियों को भी अज्ञानान्धकार में डुबो देता है । मोह ज्ञानियों के निर्मल अन्त करण को भी उसी प्रकार मलिन कर देता है, जैसे सुधाधवल घट या आवास को दीपक की कालिमा काला कर देती है और जो अज्ञानी हैं, उनका निश्छल अन्त करण तो मलिन और भी सहजता से सभव है । भाव यह है कि मोह के कारण आत्मसाक्षात्कार सभव नहीं, जिससे जग-ज्जाल से मोक्ष प्राप्त हो सके ॥ ३१ ॥

ब्रह्मचारिव्रतस्थायियतयो गृहिण यथा ।
त्रयो यमुजीवन्ति क्रोधलोभमनोभवा ॥ ३२ ॥

जीवातु--ब्रह्मचारीति । ब्रह्मचारिव्रतस्थायियतय ब्रह्मचारिवानप्रस्थ-भिक्षुरूपा , त्रय आश्रमत्रयम् इत्यर्थ । गृहिण गृहस्थाश्रमिण, यथा इव, क्रोधलोभमनोभवाः क्रोधलोभकामा त्रय , य मोहम्, उपजीवन्ति आश्रित्य वर्त्तन्ते । मोहमूलास्ते तन्निवृत्तौ तेऽपि निवर्त्तन्ते इति भाव ॥ ३२ ॥

अन्वयः—ब्रह्मचारिव्रतस्थायियतयः त्रयः यथा गृहिणं (तथा) क्रोध-लोभमनोभवाः यम् उपजीवन्ति ।

हिन्दी—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी—ये तीनों जैसे गृहस्थ के उपजीवी हैं, वैसे ही क्रोध, लोभ और काम—ये तीनों जिस (मोह) का आश्रय लेते हैं ।।

टिप्पणी—स्मृतियों में बताया गया है कि गृहस्थ ही प्रतिदिन अन्नादि देकर शेष तीन आश्रम-स्थों को धारण करता है, इससे गृहस्थाश्रमी ही सबसे बड़ा है—'यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् । गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठो गृहाश्रमी ।' जिस प्रकार ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी से गृहस्थ बड़ा है, वैसे ही काम-क्रोध-लोभ—तीनों से मोह। मूढ ही कामी, क्रोधी और लोभी होता है ॥ ३२ ॥

जाग्रतामपि निद्रा यः पश्यतामपि योऽन्धता ।
श्रुते सत्यपि जाड्यं यः प्रकाशेऽपि च यस्तमः ।। ३३ ।।

जीवातु—जाग्रतामिति । यः मोहः, जाग्रतां प्रबुद्धानाम् अपि, निद्रा निद्रास्वरूपः, निद्राया इव सदसज्ज्ञानविलोपकत्वादिति भावः । यः मोहः, पश्यतां चक्षुष्मताम् अपि, अन्धता तदाहित्यम्, अन्धो यथा सुपथं कुपथं वा निश्चेतुं न शक्नोति तद्वदिति भावः । यः मोहः, श्रुते शास्त्रे, शास्त्रज्ञाने इत्यर्थः । सत्यपि विद्यमानेऽपि, जाड्यं, मौढ्यं, जडवत् शास्त्रविरुद्धकार्यकरणादिति भावः । यश्च मोहः, प्रकाशे आतपे, रौद्रे सत्यपि इत्यर्थः । तमश्च अन्धकारः, अन्धकारे यथा वस्तुज्ञानं न भवति तद्वदिति भावः । निद्रादिचतुष्टयकार्यकारित्वात् तद्वत् जागरचक्षुरादिभिरनिवर्त्यत्वाच्च प्रसिद्धनिद्रादिचतुष्टयविलक्षणः कोऽपि तत्समधिरिति निष्कर्षः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—यः जाग्रताम् अपि निद्रा, यः पश्यताम् अपि अन्धता, यः श्रुते सति अपि जाड्यं, प्रकाशे अपि च यः तमः ।

हिन्दी—जो (मोह) सदसत्-विवेक का लोपकर्त्ता होने से जागते हुए लोगों के लिए नींद के समान है, देखने वालों का भी अंधापन है, और जो शास्त्रज्ञान रहने पर भी मूढता देता है (मूर्ख अशास्त्रज्ञ की भाँति कार्य कराता है) तथा जो प्रकाश रहते हुए भी अंधकार रखता है ।

टिप्पणी—मोहग्रस्त होने से विवेक नष्ट होता है, कर्तव्याकर्तव्य बोध समाप्त हो जाता है। उस समय मनुष्य जागते हुए भी निद्रित व्यक्ति के सदृश, नेत्र रहते अंधे की भाँति, ज्ञानी होते हुए भी अज्ञानी के तुल्य कार्य करता है और जैसे सूर्यादि का प्रकाश रहते भी घट-पटादि को न देख सके इस प्रकार के अंधकार से आच्छन्न रहता है। भाव यह है कि प्रकट होने पर भी अर्थ की प्रतीति मोह के कारण नहीं हो पाती ॥ ३३ ॥

(कुरुसैन्यं हरेणेव प्रागलज्जत नार्जुनः ।
हतं येन जयन् कामस्तमोगुणजुषा जगत् ॥ १ ॥)

प्रकाश—कुविति। तमोगुणजुषाऽज्ञानरूपतमोगुणसेविना येन मोहेन हतं जगद् जयन् कामो नालज्जत। क इव—तमोगुणजुषा आश्रिततमोगुणेन हरेण संहारकारकेण रुद्रेण प्रातकालस्तया प्राक् हतं ग्रस्तं कुरुसैन्यं पश्चाद्विनाशयन्नर्जुन इव। मया हतमित्यभिमानेन लज्जां नाप। अन्येन हतस्य पश्चात् स्वेन हनने हि लज्जा युक्ता। सा तु कामस्य न जातेत्यर्थः। मूढ एव कामपरवशो भवतीत्यर्थः। ईश्वरः प्राक् सैन्यं शूलेन हन्ति, पश्चाच्छरेणार्जुन इति द्रोणपर्व-कथा। कुलकम् ॥ १ ॥

अन्वय—तमोगुणजुषा येन हतं जगत् जयन् कामः प्राक् हरेण कुरुसैन्यम् अर्जुन इव न अलज्जत।

हिन्दी—अज्ञानरूप तमोगुण-सेवी जिस (मोह) द्वारा मार डाले गये संसार को जीतने में काम को वैसे ही लज्जा न लगी जैसे पहिले ही तमो-गुणधारी संहारक रुद्र द्वारा विहत कुरु-सेना को जीतते अर्जुन (तृतीय पाण्डव) को लाज न लगी।

टिप्पणी श्रीमद् भगवद्गीता में कहा गया है कि जब अर्जुन ने विपक्ष में खड़े अपने सगे सम्बन्धियों को देखा तो वह उनका वध करने में आनाकानी करने लगा। तब श्रीकृष्ण ने कहा—'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥' (श्री० भ० गी० ११।३२-३३)। अर्थात् मैं लोकक्षयकारी महान् काल हूँ और इस समय लोक-संहारार्थ यहाँ प्रवृत्त हूँ। ये सब मेरे द्वारा पहिले ही विहत हैं, हे अर्जुन, तू इनकी मृत्यु का निमित्तमात्र हो जा।' महाभारत

द्रोणपर्व में कथा है कि ईश्वर ने कुरुसेना को पहिले ही शूल से मार डाला है, अर्जुन तो बाद में बाण से मार रहा है। इसी आधार पर यहाँ काम को जगज्जय का निमित्तमात्र माना गया है, वस्तुतः मोह ही जगज्जयी है। मोहग्रस्त (मूढ) ही कामपरवश होता है। इस श्लोक पर जीवातु व्याख्या नहीं है। प्रकाश व्याख्या यहाँ दी गयी है ॥ १ ॥

चिह्निताः कतिचिद्देवैः प्राचः परिचयादमी ।
अन्ये न केचनाचूडमेनःकञ्चुकमेचकाः ॥ ३४ ॥

जीवातु— चिह्निता इति। अमी पूर्वोक्तस्मरादयः, कतिचित् कियत्सङ्ख्यकाः, देवैः इन्द्रादिभिः, प्राचः परिचयात् इन्द्रादीनां कामादिवशीभूतत्वेन पूर्वजातपरिचयात्, पूर्वानुभवजन्यसंस्कारादिति यावत्। चिह्निताः चिह्नविशेषैः परिज्ञाताः, प्रत्यभिज्ञाता इत्यर्थः। आचूडम् आशिखम्, एनःकञ्चुकेन पापरूपकृष्णवर्णावरकवस्त्रेण, मेचकाः श्यामवर्णाः, अन्ये अपरे च, कामादिव्यतिरिक्ता इत्यर्थः। केचन केचित्, न, देवैः चिह्निताः इति पूर्वेणान्वयः, नीलवस्त्रावृतशरीरत्वेन 'अमी ते' इति न प्रत्यभिज्ञाताः इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

अन्वयः— अमी केचित् देवैः प्राचः परिचयात् चिह्निताः आचूडम् एनःकञ्चुकमेचकाः केचन अन्ये न।

हिन्दी— इनमें से कुछ (काम, क्रोध, मोह) को पूर्व-परिचय से देवों ने चीन्ह लिया (पहिचान लिया) किन्तु शिखा तक (नीचे से ऊपर तक) पापरूप लबादे से ढके अतएव काले-काले रंग के कुछ को नहीं पहिचाना।

टिप्पणी— काम-क्रोध-मोह से तो देवों का पूर्व-परिचय था, क्योंकि इनसे उनका प्रायः संग था। शेष इनके साथी काले लबादे से ढके पापियों को वे न पहिचान पाये। काले-काले पापरूप लबादे में छिपे लोगों को कैसे पहिचानते ? इन पापियों को नारायण ने कामाद्युपजीवी बौद्धादि माना है— 'अन्ये तदुपजीविनो बौद्धादयः केचन विशेषेण न ज्ञाताः' ॥ ३४ ॥

तत्रोदीर्ण इवार्णोधौ सैन्येऽभ्यर्णमुपेयुषि ।
कस्याप्याकर्णयामासुस्ते वर्णान् कर्णकर्कशान् ॥ ३५ ॥

जीवातु— तत्रेति। उदीर्णे उच्चलिते, अर्णोधौ अम्भोधौ इव, तत्र तस्मिन्, सैन्ये स्मरादनुगते सैन्ये, अभ्यर्णम् उपेयुषि समीप गते सति, ते देवाः, कस्यापि

अपरिज्ञातशरीरस्य कस्यचित् पुरुषस्य, चार्वाकस्येति भाव.। कर्णकर्कशान् श्रुतिकठोरान्, वर्णान् वाक्यानि, आकर्णयामासु शुश्रुवुः ॥ ३५ ॥

अन्वयः--उदीर्णे वर्णोधो इव तत्र सैन्ये अभ्यर्णम् उपेयुषि ते कस्य अपि कर्णकर्कशान् वर्णान् आकर्णयामासुः।

हिन्दी—वेला का अतिक्रमण करते (निर्मर्याद) समुद्र के तुल्य उमड़ती उस सेना के निकट पहुँचने पर देवों ने किसी के कर्णकटु वचन सुने।

टिप्पणी--उपर्युक्त सब कलि की सेना थी, जिसमें काम-क्रोध-मोह अन्य सब पापकारी काले तत्त्व थे। यह सैन्य मर्यादा का अतिक्रमण करते समुद्र की भाँति उच्छल था--अपार भीड़। उसी भीड़ में से आये कुछ कर्कश, अभाव्य वचन देवों को सुनायी पड़े। ये चार्वाक-वचन हैं, जिसने अपने को कलि का अग्रदूत बनाया। आगे श्लोक संख्या ८२ तक चार्वाक-वचन हैं ॥३५॥

ग्रावोन्मज्जनवद्यज्ञ-फलेऽपि श्रुतिसत्यता।
का श्रद्धा ? तत्र धीवृद्धाः ! कामाद्धा यत् खिलीकृत ॥ ३६ ॥

जीवातु--अथ सप्तचत्वारिंशता श्लोकैस्तानेव वर्णानाह--ग्रावेत्यादि। धीवृद्धा ! हे ज्ञानवृद्धा ! यज्ञफले ज्योतिष्टोमादियागानुष्ठानस्य फलभूतस्वर्गादौ विषये, श्रुतिसत्यता वेदवाक्यस्य प्रामाण्य, ग्रावोन्मज्जनवत् पाषाणप्लवनवत्, पाषाणप्लवनं यथा न प्रत्यक्ष, तद्वत् यज्ञफलं स्वर्गादिकमपि न प्रत्यक्षम्, अत एव तत्प्रतिपादिका श्रुतिरपि 'ग्रावाण. प्लवन्ते' इति वाक्यवत् न प्रमाणमित्यर्थ.। अपिशब्दोऽत्र निन्दायाम्, श्रुतिरियं मिथ्या इत्यर्थः। तत्र तत्फलप्रतिपादिकायां श्रुतौ, का श्रद्धा ? युष्माकं कः विश्वास. ? यत् मत, कामाद्धा तृतीयपुरुषार्थमार्गं, यथेच्छव्यवहारमार्ग इति यावत्। खिलीकृत प्रतिरुद्धे, भवद्भिरिति शेष.। 'द्वे खिलाप्रहते समे' इत्यमर'। सिद्ध प्रमाण विहाय तद्विरुद्धो न श्रद्धेयम् इत्यर्थ. ॥ ३६ ॥

अन्वयः—धीवृद्धाः, यज्ञफले श्रुतिसत्यता अपि ग्रावोन्मज्जनवत्, तत्र का श्रद्धा, यत् कामाद्ध्वा खिलीकृतः।

हिन्दी—अरे बुद्धिशालियो, यज्ञ के (स्वर्गादि प्राप्ति) फल के विषय में वेद-वाक्यों की सचाई (प्रामाण्य) भी पत्थर-तैरने के समान (अप्रत्यक्ष,

(अतथ्य) है, उसमें क्या श्रद्धा कि काम (तृतीय पुरुषार्थ) का मार्ग तुमने 'प्रतिरुद्ध कर दिया (रोक दिया, छोड़ दिया)?।

टिप्पणी—चार्वाक कह रहा था कि देवों की बुद्धि बुढ़ा गयी है, वे सठिया गये अज्ञानी हैं, जो वेदों के इस कथन कि यज्ञ करने से स्वर्ग प्राप्त होता है, स्वर्गेच्छुक को यज्ञ करना चाहिए—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इत्यादि पर विश्वास करते हैं। इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, जैसे कि पानी पर पत्थर तैरने का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं—'यागश्रुतिरप्रमाणं प्रत्यक्षविरुद्धत्वात् ग्रावो-न्मज्जनश्रुतिवत्।' यह भी प्रत्यक्षानुभूत नहीं, सुनी-सुनायी बात है—'श्रुतिवाक्य'। सो 'श्रुतिसत्यता' विश्वसनीय नहीं है। यह बड़ा ही असंगत कार्य है कि इस सुनी-सुनायी, अतथ्य उक्ति के कारण तृतीय पुरुषार्थ काम के आनन्ददायक मार्ग की देवगण निन्दा करते हैं और उसे त्याज्य मानते हैं। 'धीवृद्ध'—बूढ़ी बुद्धि के देवता! ॥ ३६ ॥

केनापि बोधिसत्त्वेन जातं सत्त्वेन हेतुना।
यद्वेदमर्मभेदाय जगदे जगदस्थिरम् ॥ ३७ ॥

जीवातु—केनेति। बोधिसत्त्वेन बुद्धेन। 'बुद्धस्तु श्रीघनः शास्ता बोधिसत्त्वो विनायकः' इति यादवः। केनापि अवाच्यमहिम्ना, जातं प्रादुर्भूतम्। भावे क्तः। अतः स एव श्रद्धेयवचन इति भावः। यत् यस्मात्, वेदस्य कालान्तरभाविफलभोगिनित्यात्मसाधकश्रुतेः, मर्मभेदाय रहस्योद्घाटनाय, प्रामाण्यभङ्गाय इति यावत्। सत्त्वेन हेतुना 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' इति कारणेन, जगत् इदं विश्वम्, अस्थिरं क्षणिकम्, इति जगदे गदितम्। अयं भावः—जगतः क्षणिकत्वे सिद्धे आत्मनोऽपि जगदन्तर्गततया क्षणिकत्वं सिद्धमेव, ततश्च येनात्मना पापं कृतं तस्यात्मनः क्षणोत्तरं नाशात् कथं तस्य फलभोगसम्भवः? इति आत्मनः कालान्तरभाविफलभोगित्वस्यासम्भवात् तद्बोधकश्रुतेः कथं प्रामाण्यम्? कथं वा पापात् भयम्? अतो न पारलौकिकसुखाशया हस्तगतम् ऐहिकं सुखं हातव्यमिति ॥ ३७ ॥

अन्वयः—केन अपि बोधिसत्त्वेन वेदमर्मभेदाय जातं यत् सत्त्वेन हेतुना जगत् अस्थिरं जगदे।

हिन्दी—एक (अत्यन्त बुद्धिमान्) बोधिसत्त्व (गौतम बुद्ध) ने वेद के रहस्योद्‌घाटनार्थ जन्म लिया, जिसने सत्ता के हेतु से जगत् को क्षणभंगुर कहा।

टिप्पणी—बुद्ध का सिद्धान्त है कि जिसकी सत्ता (विद्यमानता) है, वह क्षणिक है—'यत् सत् तत् क्षणिकम्।' बौद्धदर्शन में यह क्षणिकवाद है, जिसके अनुसार सब कुछ अनित्य है। वेदों की अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए यहाँ चार्वाक द्वारा इस बौद्ध सिद्धान्त का सहारा लिया गया है और बुद्ध-जन्म का हेतु ही यह उद्‌भावित किया गया है कि श्रुति-वाक्य की पोल खोलने के हेतु ही बुद्ध जन्मे थे—महाज्ञानी बुद्ध। उन्होंने कहा है कि जब जिसकी सत्ता होती है वह नश्वर और क्षणिक है, तो यह सत्तामय संसार भी क्षणिक है, क्योंकि इसकी सत्ता है। आत्मा भी संसार में ही है, तो जब संसार क्षणिक है, तो तदन्तर्भूत आत्मा भी नश्वर और क्षणिक है। ऐसा नश्वर और क्षण में नष्ट हो जाने वाला आत्मा किसी पाप-पुण्य के फल का भोक्ता कैसे हो सकता है ? तो सत्ता के कारण जगत् के क्षणिकत्व की सिद्धि हो जाने पर वेद-विहित पाप पुण्य के फल भोगने का सिद्धान्त अतथ्य प्रमाणित होता है। आत्मा कालान्तर में होने वाले फल का भोगी हो ही नहीं सकता। ऐहलौकिक सुख को छोड़ परलोक-सुख की कामना—हस्तगत को छोड़ पराये हाथ की वस्तु की कामना है—मूर्खता। पाप भय किसलिए ? सचमुच वेद के मर्म के भेदक बुद्ध महासत्त्व थे ॥३७॥

अग्निहोत्रं त्रयी तन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम्।
प्रज्ञापौरुषनिःस्वानां जीवो जल्पति जीविका ॥ ३८ ॥

जीवातु—सम्प्रति बृहस्पतिमतावलम्बनेन वैदिकं विडम्बयति अग्निहोत्रमिति। अग्निहोत्रम् अग्निहोत्राख्यो यागः, त्रयी त्रिवेदी, वेदत्रयमित्यर्थः। तन्त्रं तदर्थविचारात्मकं मीमांसाशास्त्रं, त्रिदण्डं सन्न्यासः। पात्रादिपाठात् नपुंसकत्वम्। भस्मनः पुण्ड्रं, भस्मधृतमित्यर्थः। पुण्ड्रकं तिलकविशेषः, एतानि जीवः बृहस्पतिः, प्रज्ञापौरुषाभ्यां, बुद्धिपुरुषकाराभ्यां, निःस्वानां दरिद्राणां, तद्रहितानाम् इत्यर्थः। जीविका जीवनोपायाः, इति जल्पति ब्रूते। अतश्च नास्ति परलोक इति निश्चयात् यथेष्टचेष्टितमेव हितमिति भावः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—जीवः अग्निहोत्रं त्रयी तन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकं प्रज्ञापौरुषनिःस्वानां जीविकाः जल्पति ।

हिन्दी—जीव (बृहस्पति) अग्निहोत्र (यज्ञयागादि), वेदत्रयी, तंत्र (मीमांसा अथवा वेदविहित अन्य क्रिया-कलाप), भस्म के तिलक (शैवों का तिलक) को बुद्धि और पुरुषार्थ से हीन व्यक्तियों का जीवन-यापनोपाय कहता है ।

टिप्पणी—यहाँ बृहस्पति-कथन के आधार पर वेद शास्त्रादिविहित क्रियाविधि को व्यर्थ बनाकर उसका खण्डन किया गया है। एक विडंबना मात्र है यह सब—धोखा। बृहस्पति-वचन है—'अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम् । बुद्धिपौरुष-हीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥' इसके अनुसार वेदोक्त यज्ञ-यागादि, ऋक्-यजुः-साम—ये तीनों वेद, त्रिदंड (संन्यास अथवा पाशुपत व्रत), वेदक्रियाविधि के निष्पादक शास्त्र, छाया-तिलक आदि सम्प्रदाय-विशेष के चिह्न—ये सब धोखा है। ये सब उन लोगों की जीविका हैं, जिन पर न बुद्धि है और न पौरुष। न बुद्धिबल से कुछ कमा-खा सकते हैं, न श्रम-पौरुष करके। न परलोक ही कुछ है, न वहाँ अपेक्षित पुण्यफल। परलोक नहीं है, वेदादि क्रियाएँ धोखा हैं। इस लोक में ही जितना सुख उठा सको, उठा लो। जो इच्छा हो करो ॥ ३८ ॥

शुद्धं वंशद्वयीशुद्धौ पित्रोः पित्रोर्यदेकशः ।
तदनन्तकुलादोषाददोषा जातिरस्ति का ॥ ३९ ॥

जीवातु—शुद्धमिति । यत् यतः कारणात्, पित्रोः पित्रोः मातापितृपरम्परयोः मध्ये । निर्द्धारणे सप्तमी । वीप्सायां द्विरुक्तिः । 'पिता मात्रा' इत्येकशेषः । एकशः एकैकस्य, वंशद्वयीशुद्धौ उभयकुलशुद्धौ, पितृवंशमातामहवंशयोः विशुद्धितायां सत्यामित्यर्थः । शुद्धं निर्दोषं, पुत्रं जायते इति शेषः । पुत्रस्यापि शुद्धता भवति इत्यर्थः । तत् तस्मात् अनन्तानाम् अशेषाणाम्, आमूलानामिति भावः । कुलानां वंशानाम्, अदोषात् दोषराहित्यात्, अदोषा निर्दोषा, जातिः जन्म, का अस्ति ? न काऽपि इत्यर्थः । यथाहुः—'अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे । कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना ? ॥' इति ॥ ३९ ॥

अन्वय:—यत् पित्रोः पित्रोः एकश वशद्वयो शुद्धौ शुद्ध सत् अनन्तकुला-दोषात् अदोषा जाति का अस्ति ?

हिन्दी—क्योंकि माता-पिता के माता-पिता (मातृ पितृ-परम्परा) में प्रत्येक के दोनो वश शुद्ध होने पर ही शुद्ध सतान हो सकती है, सो अन्तहीन वशो के दोषरहित होने से निर्दोष जन्म कौन-सा हो सकता है ?

टिप्पणी—यहाँ जाति अर्थात् जन्म की शुद्धि पर प्रहार है। जन्म की शुद्धि केवल कल्पना-विलास है। जन्म-शुद्धि तो तब मानी जा सकती है, जब कि माता-पिता—दोनो की पूर्व परपरा मे कही कोई दोष न हो। दादा-दादी, नाना-नानी—सब के कुल मे दोष नही। यह सम्भव ही नहीं है। पुराणोतिहास देख लो, प्रत्येक व्यक्ति की कुल-परम्परा मे कोई-न-कोई दोषी अवश्य निकल आयेगा। इसीलिए कहा भी गया है कि स्वजनो के साथ भी एक पंक्ति मे सहभोजन न करे, कौन जाने किसका पाप अप्रकट हो। (अप्येकपङ्क्त्या नाश्नीयात् सयतः स्वजनैरपि। को हि जानाति किं कस्य प्रच्छन्न पातक भवेत् ॥) यह ससार अनादि है और मकरध्वज की लीला दुर्निवार, कुलो का मूल है कामिनी। ऐसी स्थिति मे जाति शुद्धि की परिकल्पना ही कैसे हो सकती है ? (अनादाविह ससारे दुर्वारे मकरध्वजे। कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना ॥) इन्द्र चन्द्रादि की पापकथाएँ विख्यात हैं। वस्तुत कोई जन्मना शुद्ध हो ही नही सकता, अतः इसका विचार छोड स्वेच्छा विहार उचित है ॥ ३९ ॥

कामिनीवर्गसंसर्गैर्न कः सङ्क्रान्तपातकः ? ।
नाश्नाति स्नाति हा ! मोहात् कामक्षामव्रतं जगत् ॥ ४० ॥

जीवातु—कामिनीति। किञ्च, कामिनीवर्गस्य पुरुषापेक्षया अष्टगुणकामस्य स्त्रीजातस्य, ससर्गैः सम्बन्धैः, स्त्रीभिः सह एकत्र वासैरित्यर्थः। कः पुमान्, सङ्क्रान्तपातकः प्राप्तपापः, पापाक्रान्त इत्यर्थः। न ? अपि तु सर्वः एव पातकी, 'सवत्सरात् पतति पतितेन सहाचरन्' इति शास्त्रात् पतितस्त्रीससर्गेण सर्वोऽपि पातकी एवेति भावः। अत एव कामेन कन्दर्पेण अभिलाषेण वा, क्षामव्रतं क्षीणव्रतं, निष्फलव्रतं वा। 'क्षायो मः' इति निष्ठातकारस्य मकारः। जगत् इदं विश्वं, विश्ववासीत्यर्थः। मोहात् स्ववृत्तानाकलनात्, न अश्नाति उपवसति;

तथा स्नाति च तीर्थादौ स्नानं करोति च, स्नानेन आत्मनः शुद्धत्वबुद्धयैव पुनः व्रतानि चरति इति भावः। हा इति खेदे। व्रतसहस्रे कृतेऽपि एकेनैव स्त्रीसंसर्गपातकेन सर्वनाश इति भावः॥ ४०॥

अन्वयः—कामिनीवर्गसंसर्गैः कः सङ्क्रान्तपातकः न ? हा, कामक्षामव्रतं जगत् मोहात् न अश्नाति, स्नाति।

हिन्दी—कामिनियों के संबंधों के कारण कौन पुरुष पापाक्रांत नहीं है ? (सभी हैं)। खेद कि कामनाओं के कारण निष्फलव्रत यह जगत् विवेकाभाव के कारण उपवास करता है और नहाता है।

टिप्पणी—कहा गया है कि पुरुषापेक्षया स्त्रियों का आहार दो गुना होता है, बुद्धि चौगुनी होती है, छः गुना व्यवसाय होता है और काम अठगुना। (आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा। षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः॥) ऐसी अष्टगुणकामा 'कामिनियों' से पुरुष-संसर्ग रहता है। इस स्थिति में कौन ऐसा पुरुष है, जो पाप में न पड़ जाय। सभी पाप करने में विवश हैं—उर्दू कवियों के अनुसार 'खूबसूरत गुनाह।' बड़ी मूर्ख है यह दुनिया कि उपवास—व्रत, तीर्थस्नान आदि के चक्र में पड़ी है। जब कि कामवासना के कारण सब व्रत निष्फल बन जाते हैं। अतः व्यर्थ है सब—जप, छापा, तिलक, उपवास, तीर्थाटन आदि। मनचाहा करो और मौज-मजा लो। चाहे जितने व्रत करो, एक स्त्री-संसर्ग हुआ कि सब निष्फल। फिर क्यों यह सब ढकोसला ? ॥ ४०॥

ईर्ष्यया रक्षतो नारीं धिक् कुलस्थितिदाम्भिकान्।
स्मरान्धत्वाविशेषेऽपि तथा नरमरक्षतः ॥ ४१॥

जीवातु—ईर्ष्ययेति। स्मरान्धत्वस्य कामविमूढत्वस्य, अविशेषेऽपि समानत्वेऽपि, स्त्रीपुंसयोरिति शेषः। ईर्ष्यया पुरुषान्तरसंसर्गासहिष्णुतया, नारीं स्त्रियं, रक्षतः निरुन्धतः, अवरोधमध्ये शासनवाक्येन वा इति शेषः। किन्तु नरं पुरुषं, तथा तद्वत्, अरक्षतः परस्त्रीसंसर्गात् अनिवारयतः, अथ च कुलस्य वंशस्य स्थितिः मर्यादा, विशुद्धिता इत्यर्थः। असाङ्कर्येणावस्थानमिति यावत्, तया तद्रूपेण, दम्भेन कैतवेन चरन्तीति तथोक्तान् स्त्रीमात्ररक्षणादेव जातेरसाङ्कर्यं मन्यमानान् वञ्चकान्। 'चरति' इति ठक्। 'दम्भस्तु कैतवे कल्के'

इति विश्वः। जनानिति शेषः। धिक् निन्दामीत्यर्थः। 'धिगुपर्यादिपु' इति द्वितीया। स्त्रीदोषादिव पुरुषदोषादपि कुलहानेरवश्यम्भाव्यत्वेऽपि एकत्राभिनिवेशो ईर्ष्यैव केवल हेतुरिति भावः॥ ४१॥

अन्वय—स्मरान्धत्वाविशेषे अपि ईर्ष्यया नारी रक्षतः नरम् अरक्षतः कुलस्थितिदाम्भिकान् धिक्।

हिन्दी—काम-विमूढता के समान होने पर भी ईर्ष्या अर्थात् पुरुषान्तरसंसर्ग में असहिष्णुता के कारण नारी को बन्धन में रखते, तथा नर को न रखते, वंशमर्यादा का दंभ भरने वालों को धिक्कार है।

टिप्पणी:—परपुरुष संसर्ग का निषेध नारियों के लिए ही किया जाता है, पुरुष पर वैसा कोई बंधन नहीं। स्त्री विधवा होने पर भी पुनर्विवाह नहीं कर सकती, विवाहावस्था में अनेकपतित्व का तो प्रश्न ही नहीं है। परपुरुष से सम्बन्ध रखने पर वह कुल्टा और व्यभिचारिणी कहाती है और धर्मशास्त्र उसे दण्डनीय मानता है, जब कि पुरुष पर ऐसा कोई बंधन नहीं है। वह अनेक पत्नियाँ तो रख ही सकता है, पुनर्विवाह भी कर सकता है। चुपचाप परस्त्रीगमन भी कर ले तो ऐसा कोई विशेष अपराध नहीं माना जाता। काम-विमूढता तो दोनों में समान ही है, नर भी कामान्ध हो सकता है, नारी भी। ऐसी स्थिति में पुरुष को छूट और नारी पर बंधन क्यों? परिणाम एक ही होता है, चाहे नारी परपुरुषगामिनी हो, चाहे पुरुष परनारीगामी हो। कुल दूषित दोनों प्रकार से ही होता है। फिर भी नर-नारी में ऐसा अन्तर रखकर लोग वंश मर्यादा पर अभिमान करते हैं। यह दंभ ही है और ऐसी समझ निंद्य है। इसमें लगता है कि कारण केवल ईर्ष्या है। पुरुष अपनी पत्नी-बहिन आदि का परपुरुष-संबंध सह ही नहीं पाता। यह ढकोसला है, स्त्रियों को भी स्वैराचार का अधिकार मिलना उचित है॥४१॥

परदारनिवृत्तिर्या सोऽप्य स्वयमनादृत।
अहल्याकेलिलोलेन दम्भो दम्भोलिपाणिना॥ ४२॥

जीवातु—परेति। या परदारेभ्यः परस्त्रीसंसर्गेभ्यः, निवृत्तिः उपरतिः, तदर्थमुपदेश इति यावत्, स अयं परदारा अगम्या इत्यादिरूपः, दम्भः कपटोपदेशः इत्यर्थः, अहल्याकेलिलोलेन गौतमस्त्रीरतिलालसेन, दम्भोलिपाणिना

वज्रधरेण इन्द्रेण, स्वयम् आत्मना, अनादृतः उपेक्षितः, अतो न पारदार्यम् अनाचार इति भावः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—या परदारनिवृत्तिः सः अयं दम्भः अहल्याकेलिलोलेन दम्भोलिपाणिना स्वयम् अनादृतः ।

हिन्दी—जो परस्त्री से दूर रहने की बात है, उस इस दंभ (ढकोसला; कपटोपदेश) का अनादर गौतम-पत्नी अहल्या के साथ काम-क्रीडा-पर वज्र-पाणि (इन्द्र) ने स्वयं कर दिया है ।

टिप्पणी—जो यह कहा जाय कि परपुरुष-संसर्ग ही पाप नहीं है, पर-स्त्रीसंसर्ग भी निंद्य और वर्जित है, क्योंकि कहा गया है कि परस्त्री-स्पर्श ही वर्जित नहीं है, उन्हें सानुराग देखना तक वर्जित है—'ताः सादरं न द्रष्टव्याः किं पुनः स्प्रष्टव्याः !' यह सब ढकोसला है, परोपदेश है, कपट । स्वयम् स्वर्ग के स्वामी, यज्ञभोक्ताओं में अग्रणी, शतमख, देवराज इन्द्र ने गौतमपत्नी के साथ व्यभिचार में रत हो 'परदारनिवृत्ति' को ढकोसला सिद्ध कर दिया है । वज्रपाणि होकर उसने परदारगमन किया ! वही दंभी नहीं, सब ऐसा उपदेश देने वाले दंभी हैं, सुन्दरी को देखकर रमण की इच्छा सबको होती है । इस प्रकार यह शास्त्र-निषेध नाम का ही निषेध है ।

गुरुतल्पगतौ पापकल्पनां त्यजत द्विजाः ! ।
येषां वः पत्युरत्युच्चैर्गुरुदारग्रहे ग्रहः ॥ ४३ ॥

जीवातु—गुरुतल्पेति । किञ्च, द्विजाः ! हे विप्राः ! गुरुतल्पगतौ गुरुदारगमने, 'तल्पं शय्याऽट्टदारेषु' इत्यमरः, पापकल्पनां पातकसम्भावनां, त्यजत जहीत । कुतः ? येषां द्विजानां, वः युष्माकं, पत्युः स्वामिनः, द्विजराजस्य चन्द्रस्य इत्यर्थः, 'तस्मात् सोमराजानो ब्राह्मणाः' इति श्रुतेः, गुरोः देवगुरोः बृहस्पतेः, दारग्रहे ताराख्यभार्याभिगमने, अत्युच्चैः अतिमहान्, ग्रहः निर्बन्धः, तस्मात् अत्रापि न दोषबुद्धिः कार्या इति भावः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—द्विजाः, गुरुतल्पगतौ पापकल्पनां त्यजत, येषां वः पत्युः गुरुदारग्रहे उच्चैः ग्रहः ।

हिन्दी—अरे द्विजो (ब्राह्मणों, नक्षत्रों, तारकों के तुल्य द्युतिमान् द्विजों); गुरुदार-गमन में पाप होता है, इस कल्पना को त्याग दो, जिन तुम्हारे स्वामी

(द्विजराज चन्द्र) का गुरु (बृहस्पति) की पत्नी (तारा) से संभोग में ऊँचा (अत्यन्त) आग्रह रहा।

टिप्पणी—पुराणों के अनुसार सुरगुरु बृहस्पति की पत्नी तारा से रमण कर चन्द्र ने बुध नामक पुत्र उत्पन्न किया। इस पर बड़ा झगड़ा हुआ और अन्त में झगड़ा शान्त इस प्रकार हुआ कि पुत्र चन्द्र को मिला, तारा गुरु को वापस मिल गयी। (ब्रह्मपुराण ९।१८-३०)। चन्द्रमा, जिसे द्विजराज अर्थात् ब्राह्मणों का राजा कहा जाता है, वह भी ऐसा कर सकता है तो अन्य ब्राह्मणों को इस पर क्यों आपत्ति है? चन्द्र तो आज भी तेज समूह फैलाता रात को उजाला देता है। अरे, यह अगम्यागमन को पाप बताना भी दम ही है। जब राजा कर सकता है, प्रजा क्यों नहीं करेगी? जैसा राजा, वैसी प्रजा—'राज्ञि धर्मिणी धर्मिष्ठा पापे पापा समे समा। राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा॥' यह भी उपहास वचन ही है। भाव यही है कि वे सब वचन व्यर्थ हैं-स्वेच्छाचार ही उचित है॥ ४३॥

पापात् तापा मुदः पुण्यात् परासोः स्युरिति श्रुतिः।
वैपरीत्यं ध्रुवं साक्षात् तदाख्यात बलाबले॥ ४४॥

जीवातु—पापादिति। परासोः मृतस्य, पापात् ऐहिकपातकाचरणात्, तापाः दुःखानि, नरकयन्त्रणा इत्यर्थः, पुण्यात् ऐहिकसुकृताचरणात्, मुदः हर्षाः, स्वर्गसुखानि इत्यर्थः, स्युः भवेयुः, इति एव, श्रुतिः वेदः, आहेति शेषः, विधिनिषेधाभ्यासगम्य तदित्यर्थः, किन्तु वैपरीत्यमुक्तश्रुतिवाक्यस्य विपर्ययः, पानागम्यागमनादिपापात् सुखं तथा यज्ञादिपुण्यात् दुःखञ्चेति विपरीतफलमित्यर्थः, ध्रुवं सत्यम् एव, साक्षात् प्रत्यक्षं, दृश्यते इति शेषः, तदित्थञ्च तयोरित्यर्थः, तयोः प्रत्यक्षागमयोः, बलाबले बलवत्त्वं दौर्बल्यञ्च, आख्यात हे द्विजाः! कथयत, प्राबल्यवनवाक्यवत् प्रत्यक्षविरोधात् यथा श्रुतिप्रत्यक्षयोर्विरोधे प्रत्यक्षस्यैव बलवत्त्वाच्च श्रुतिरिह दुर्बला, ततश्च पापजन्यसुखस्य प्रत्यक्षतया पापमेव सर्वैरनुष्ठातव्यमिति भावः॥ ४४॥

अन्वयः—'परासोः पापात् तापाः पुण्यात् मुदः स्युः'—इति श्रुतिः, साक्षात् वैपरीत्यं ध्रुवम्, तत् बलाबले आख्यात।

हिन्दी—'मृत व्यक्ति के पाप से उसे दुःख मिलते हैं और पुण्य से सुख'—यह श्रुति (वेद-कथन) है, प्रत्यक्ष तो इसका उलटा निश्चय-रूप में दीखता है; सो श्रुति-वचन—सुनी-सुनायी बात ठीक है अथवा साक्षात् की, यह आप (धर्मात्माजन) ही बतायें।

टिप्पणी—प्रायः यह देखा जाता है कि संसार में पापी आनन्द उठाते हैं, उदाहरण के लिए परदारगामी इन्द्र को ही लीजिए, देवराज है। चन्द्र को लीजिए, द्विजराज है, अमृतसागर। इसके विपरीत माघस्नानादि करने वाले ठण्ड में सवेरे-सवेरे नहा कर 'सी-सी' करते ठिठुरन का कष्ट सहते ही हैं, तुरन्त दुःख। पुण्य से उन्हें कौन-सा सुख मिलता है, यह देखा नहीं गया। 'श्रुति' (सुनी-सुनायी) पर विश्वास करना उचित है अथवा प्रत्यक्षानुभूत पर ? निश्चयतः 'श्रुति' दुर्बल है, प्रत्यक्ष—सबल। अतः पाप- करके मिलता आनन्द उठाना ही बुद्धिमत्ता है। यह भी प्रबलत्व-दुर्बलत्व व्यवस्थापक न्याय का उपहास है॥ ४४॥

सन्देहेऽप्यन्यदेहाप्तेर्विवर्ज्यं वृजिनं यदि।

त्यजत श्रोत्रियाः! सत्रं हिंसादूषणसंशयात्॥ ४५॥

जीवातु—सन्देहे इति। अन्यदेहाप्तेः मृतस्य देहान्तरप्राप्तेः, सन्देहेऽपि संशयेऽपि, पापकारी चेत् तदा मृत्वा देहान्तरमाश्रित्य नरकभोगी स्यादिति वादिनः, य. पापकारी स दग्ध एव, अतस्तस्य देहान्तरप्राप्त्यसम्भवेन नरकभोगस्याप्यसम्भवः, इति देहात्मवादिनः तत्रतिवादिनश्च तादृशविरुद्धवाद द्वयजन्यसन्देहे सत्यपि इत्यर्थः, यदि वृजिनं पारदार्यादिपापं, 'पापं किल्बिषकल्मषं कलुषं वृजिनैनोऽघम्' इत्यमरः। विवर्ज्यं त्याज्यं, पाक्षिकदोषस्यापि परिहार्यत्वादिति भावः। तर्हि, श्रोत्रियाः! हे छान्दसाः! हे वेदाध्यायिनः! इत्यर्थः। 'श्रोत्रियच्छान्दसौ समौ' इत्यमरः। छन्दो वेदमधीते इति छन्दसो वा श्रोत्रभावो निपात्यते 'तदधीते' इत्येतस्मिन्नर्थे घंश्च इति निपातनात् साधुः, हिंसादूषणसंशयात् जीवहत्याजनितपापशङ्कातः, वैधहिंसायामपि साङ्ख्यादिभिः प्रत्यवायाङ्गीकारादिति भावः। सत्रं यज्ञं, त्यजत जहीत, 'पाक्षिकोऽपि दोषः परिहर्त्तव्यः' इति न्यायादिति भावः। पारदार्यादेः पुनरहिंसात्मकत्वात् प्रत्युत सुखकरत्वाच्च न कश्चिद् प्रत्यवायः इति तात्पर्यम्॥ ४५॥

अन्वय—अन्यदेहाप्त सन्देहे अपि यदि वृजिन विवर्ज्यं, श्रोत्रिया, हिंसाद्गुपणसंशयाद् सत्र त्यजत।

हिन्दी—(पुनर्जन्म होकर) दूसरे शरीर की प्राप्ति मे सन्देह होने पर पाप त्याज्य है तो हे वेदाध्ययन कर्त्ताओ, हिंसा दोष के सन्देह होने के कारण यज्ञ करना भी छोड़ दो।

टिप्पणी—एक कथन है–'पाप न कार्यं जन्मान्तरे निरयादिदु खभयात्', अर्थात् पाप नही करना चाहिए, क्योकि उसमे नरकादि में मिलने वाले दु खो का भय है। अन्य कथन है—'येन कृत स तु दग्ध, अन्यदेहप्राप्तिरसस्य स्यादित्यत्र का प्रत्याशा।' अर्थात् जिसने किया वह तो जल गया, अन्य शरीर प्राप्ति उसे होगी—इसकी क्या आशा है? ऐसी स्थिति में भी यदि पाप त्याज्य है तो फिर वैदिको का भी यज्ञ कर्म त्याग देना उचित है, क्योकि उसमे बलि दी जाती है और उसमें 'हिंसा' होती है, जो पाप है। परम धर्म तो 'अहिंसा' ही है—'अहिंसा परमो धर्मः।' किसी प्राणी को न मारना चाहिए—'न हिंस्यात् सर्वभूतानि।' ऐसी स्थिति में या तो यह मानिए कि देहांतर प्राप्ति होती है तो यज्ञ और बलि छोड़ दीजिए, क्योकि हिंसा पाप है और पाप का दण्ड मिलेगा और यदि यज्ञ और बलि करना है तो यह मानिए कि पुनर्जन्म और देहांतर प्राप्ति मिथ्या है। इस शरीर से जो भी, जैसे भी आनन्द उठाया जा सके, उठा लो। पाप करने से अगले जन्म मे दु ख मिलेगा—यह छोडो। देहांतर प्राप्ति सन्देहास्पद है, यह वैदिकी हिंसा से प्रकट है। सन्देह से पाप त्याज्य है तो दोनो ओर, दोनों स्थितियो मे, और नहीं है तो कही त्याज्य नही है। न्याय एक ही मानना उचित है ॥ ४५ ॥

यस्त्रिवेदीविदां वन्द्य स व्यासोऽपि जजल्प व ।
रामाया जातकामायाः प्रशस्ता हस्तधारणा ॥ ४६ ॥

जीवातु—य इति। किञ्च, त्रयाणा वेदाना समाहार त्रिवेदी, त्रिलोकीवत् प्रक्रिया। तद्विदां त्रयीवृद्धानां, वेदत्रयाभिज्ञानामित्यर्थ, यः वन्द्यः पूज्यः, श्रेष्ठ इत्यर्थ, सः व्यासोऽपि कृष्णद्वैपायनोऽपि, जातकामायाः रन्तु जाताभिलाषाया, रामाया कामिन्या, हस्तधारणा करग्रहण, प्रशस्ता कर्त्तव्या, इति वा युष्माक, जजल्प उक्तवान्, भारतादौ इति शेष.। स्मरार्त्तां विह्वला दीना

यो न कामयते स्त्रियम्। ब्रह्महा स तु विज्ञेयो व्यासो वचनमब्रवीत् ॥' इति महाभारतादिवाक्यात् स्वयञ्च विचित्रवीर्यभार्याभिगमनेन पुत्रोत्पादनादिति भावः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—यः नः त्रिवेदीविदां वन्द्यः सः व्यासः अपि जजल्प—जातकामायाः रामायाः हस्तधारणा प्रशस्ता।

हिन्दी—जो तुम तीनों वेदों के वेत्ताओं का वन्दनीय है, उस व्यास ने भी कहा है कि उत्पन्न कामा रमणी (रिरिंसु नारी) का हाथ पकड़ना (पाणिग्रहण, अंगीकरण) प्रशंसनीय है।

टिप्पणी—परदारगमन का औचित्य सिद्ध करने का एक और तर्क कि संहिताकार, अष्टादश पुराणों के रचयिता, वैदिकों में पूज्य कृष्णद्वैपायन व्यास का कथन भी है कि कामपीडिता रमणी को रतिसुख देना उचित है; स्मरार्त्ता, कामविह्वला की इच्छापूर्ति न करना ब्रह्महत्या के तुल्य पाप है—स्मरार्त्तां विह्वलां दीनां यो न कामयते स्त्रियम्। ब्रह्महा स तु विज्ञेयो व्यासो वचनमब्रवीत्।' व्यास ने कहा ही नहीं, विचित्रवीर्य की भार्याओं और दासी से पुत्र उत्पन्न किये थे—धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर। कहा ही नहीं, व्यास ने कर दिखाया है। महाभारत में उनके वर्णित आदर्श पात्रों ने भी यह किया है—जैसे तीर्थयात्री अर्जुन ने नागकन्या उलूपी की हस्तधारणा (पाणिग्रहण) की। तो परदारगमन पाप ही नहीं, पुण्य भी है। अतः करणीय है ॥ ४६॥

सुकृते वः कथं श्रद्धा ? सुरते च कथं न सा ?।
तत् कर्म पुरुषः कुर्य्याद् येनान्ते सुखमेधते ॥ ४७ ॥

जीवातु—सुकृते इति। सुकृते तपोयज्ञादौ पुण्यकर्मणि, वः युष्माकं, कथं केन हेतुना, श्रद्धा विश्वासः ? सुरते स्त्रीसङ्गमादौ च, सा श्रद्धा, कथं न ? अस्तीति शेषः। तत्रैव श्रद्धया भवितव्यम् इति भावः। कुतः ? पुरुषः नरः, तत् तादृशं, कर्म क्रियां, कुर्यात् आचरेत्, येन कर्मणा, अन्ते परिणामे, कर्मान्ते इत्यर्थः, सुखम् आनन्दम्, एधते वर्द्धते, सुखार्थमेव कर्म कुर्यात् इत्यर्थः। तच्च सुरतम् एव अनुभवसिद्धत्वात्, न सुकृतं वैपरीत्यादिति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वय.—व. सुकृते श्रद्धा कथं सुरते च सा कथं न ? पुण्यः तद् कुर्यात् येन अन्ते सुखम् एधते ।

हिन्दी—तुम (धर्मात्माओं) को पुण्य में श्रद्धा कैसे है, सुरत में वह श्रद्धा-विश्वास क्यों नहीं है ? पुरुष को वह काम करना चाहिए, जिससे अन्त में सुख वृद्धि हो ।

टिप्पणी—दो शब्द हैं—'सुकृत' और 'सुरत' । दोनों ही 'सु' हैं । जब अच्छा करने में श्रद्धा-विश्वास है तो अच्छा रमन भी विश्वास होना चाहिए । आश्चर्य यही है कि एक 'सु' में धर्मियों को श्रद्धा है, दूसरे 'सु' में नहीं । सुकृत (पुण्यकर्म) में श्रद्धा है, सुरत (रति कर्म) में नहीं । यह तो अन्याय है । मनुष्य की बुद्धिमत्ता यही है कि जिसमें सुख मिलता दिखायी पड़े, वही करे । 'सुरत' में प्रत्यक्ष सुख है, 'सुकृत' (पुण्य) में सुख मिलना कल्पना की बात है - सुनी-सुनायी । अतः 'सुरत' ही श्रद्धेय है । अनुभवसिद्ध है यह । यह इस कथन का उपहास है कि सदा प्राज्ञ मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए, जिसका परिणाम सुखमय हो —'मासैरष्टभिरह्ना च पूर्वेण वयसायुषा । प्राज्ञस्तत्कर्म कुर्वीत येनान्ते सुखमेधते' ॥ ४७ ॥

बलात् कुरुत पापानि सन्तु तान्यकृतानि वः ।
सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ ४८ ॥

जीवातु—बलादिति । किञ्च, बलात् बलपूर्वकं, शास्त्रवाक्यमुपेक्ष्य शास्त्रशासनमुपेक्ष्य इत्यर्थः, पापानि कलुषाणि, पापनाम्ना अभिहितानीत्यर्थः । कुरुत आचरत, तानि बलात् कृतपापानि, वः युष्माकम्, अकृतानि अनाचरितानि, सन्तु भवन्तु, अकृतान्येव भविष्यन्तीत्यर्थः । कुतः ? सर्वान् निखिलान्, बलकृतान् बलपूर्वकमनुष्ठितान् अर्थान् व्यापारान्, अकृतान् अननुष्ठितान्, मनुः आदिस्मार्तः, अब्रवीत् उवाच, तस्मात् बलात् कृते दोषो नास्तीत्यर्थः । अत्र मनुः—'बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलात् यच्चापि लेखितम् । सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत् ॥' यद्यपि बलात्कृत व्यवहारपरावृत्तिपरमेतत् तथापि पापमाकलयता चार्वाकविषयतया प्रलपनमिति द्रष्टव्यम् ॥ ४८ ॥

अन्वय—पापानि बलात् कुरुत, तानि व अकृतानि सन्तु, मनुः बलकृतान् सर्वान् अर्थान् अकृतान् अब्रवीत् ।

हिन्दी–पाप बलपूर्वक (शास्त्र-वचनों की उपेक्षा करके) करो, वे तुम्हारे द्वारा 'अकृत' (न किये गये) होंगे। मनु ने कहा है कि बलात् किये सब कार्य अकृत (अननुष्ठित) होते हैं।

टिप्पणी—मनु (मनुस्मृति ८।१६८) में कहा गया है कि बलात् दिया, बलात् भोग किया, बलात् न्यासीकृत अथवा बलात् जो भी किया जाय, वह अकृत (अनुचित और व्यर्थ) होता है। चार्वाक ने मनु के इस कथन से 'बलात्' लेकर उसके 'अकृत' का 'व्यर्थ' अर्थ न मान कर यह मान लिया कि वह 'न किया' अर्थात् 'कृतदोष से मुक्त' होगा। इस प्रकार अर्थ का अनर्थ करके इसने मनु की दुहाई देते हुए बलात् अर्थात् शास्त्र मर्यादा त्याग कर पाप करने को संगत बताया ॥ ४८ ॥

स्वागमार्थेऽपि मा स्थास्मिंस्तीर्थिकाः ! विचिकित्सवः।
तं तमाचरतानन्दं स्वच्छन्दं यं यमिच्छथ ॥ ४९ ॥

जीवातु—स्वेति। तीर्थिकाः ! हे शास्त्रिणः ! मत्वर्थीयष्ठक्प्रत्ययः। 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायनारीरजःसु च। अवतारर्षिजुष्टाम्बुपात्रोपाध्यायमन्त्रिषु ॥' इत्यमरः। अस्मिन् मनुप्रोक्ते स्वागमार्थे बलात्काररलक्षणे स्वशास्त्रार्थेऽपि, विचिकित्सवः सांशयिकः। 'विचिकित्सा तु संशयः' इत्यमरः। कितः सन्नन्ता-दुप्रत्ययः। मा स्थ न भवथ, यूयमिति शेषः। अतः यं यम् आनन्दं परदारग-मनादिकं सुखम्, इच्छथ वाञ्छथ, तं तम् आनन्दं, स्वच्छन्दं यथेच्छम्, आचरत अनुभवत इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—तीर्थिकाः अस्मिन् स्वागमार्थे अपि विचिकित्सवः मा स्थ यं यम् इच्छथ तं तम् आनन्दं स्वच्छन्दम् आचरत।

हिन्दी—अरे शास्त्रवेत्ताओं, इस (मनूक्त) अपने शास्त्र के अर्थ (बलात्कार) के विषय में संशयालु मत बनो, जो-जो चाहो, उस उस आनंद को स्वच्छंदतापूर्वक भोगो।

टिप्पणी—चार्वाक अपने स्वैरवाद को मान्य ठहराने के लिए तर्क देता है कि वेद-विरुद्ध चार्वाक-मत को 'निगम' संगत न होने से वे भले ही न मानें परन्तु अपने वैदिक, निगमानुमोदित आगम मनुस्मृति के विषय में उनका संशय अत्यन्त अनुचित है। मनु तो वैदिक संप्रदाय का ही आचार्य

है। उसने जब 'बलात्कार' को, अकृत माना है तो उस पर विश्वास करके तन्मतावलंबियों को यही उचित है, जिस-जिसमें उन्हें आनन्द प्राप्त हो— 'मौज-मजा मिले', अन्य शास्त्रों को अमान्य कर स्वच्छन्दतया उस आनन्द को प्राप्त कर लें, क्योंकि 'बलात्कार' तो 'अकृत' है ॥ ४९ ॥

श्रुतिस्मृत्यर्थबोधेषु क्वैकमत्यं महाधियाम् ? ।
व्याख्या बुद्धिबलापेक्षा सा नोपेक्ष्या सुखोन्मुखी ॥ ५० ॥

जीवातु—ननु मनुवचनस्य व्यवहारविषयत्वान्नायमर्थः, सम्प्रदायविरुद्धत्वात् इत्याक्षिपन्तं प्रत्याह—श्रुतीति। महाधियां तीक्ष्णबुद्धीनां पुंसां, श्रुतिस्मृत्यर्थानां वेदधर्मशास्त्रोक्तविषयाणां, बोधेषु ज्ञानेषु, ऐकमत्यं मतैक्यं, मतविरोधाभाव इत्यर्थः। क्व ? कुत्र ? न क्वापि, अपि तु सर्वत्रैव विसंवाद इति भावः। किन्तु व्याख्या पदवाक्यार्थप्रतिपादनं, बुद्धिबलापेक्षा ज्ञानोत्कर्षानुसारिणी, ज्ञानस्य उत्कर्षापकर्षानुसारेण शास्त्रस्य विविधव्याख्या कर्तुं शक्यते यथा परमतनिरसनेन स्वमतं स्थापयितुं युज्यते इति भावः। एवं स्थिते या व्याख्या सुखोन्मुखी सुखप्रवणा, आनन्दसाधिका इत्यर्थः। सा न उपेक्ष्या न त्याज्या, सा एव ग्राह्या इत्यर्थः। अतः यथेच्छमाचरतेति भावः ॥५०॥

अन्वय—श्रुतिस्मृत्यर्थबोधेषु महाधियाम् ऐकमत्यं क्व, व्याख्या बुद्धिबलापेक्षा, सुखोन्मुखी सा न उपेक्ष्या।

हिन्दी—श्रुति (वेद) स्मृति (मन्वादि स्मृतियां) के अर्थ-ज्ञान में महाप्राज्ञ व्यक्तियों में एकमत कहाँ है ? (कहीं नहीं, सर्वत्र मतवैभिन्य है।) व्याख्या तो बुद्धि बल की अपेक्षा रखती है। तो जो सुखसाधिका व्याख्या है, उसकी उपेक्षा उचित नहीं।

टिप्पणी—जैसा कि कहा जाता है, चार्वाक ने यह संभावना कर ली कि लोग यह कहेंगे कि तुम मनु के कथन का अनर्थ कर रहे हो। मनु का तात्पर्य यह नहीं है। इसके विरुद्ध चार्वाक का कथन है कि व्याख्या क्या है ? पद वाक्यार्थ निरूपण ही तो। तो पद-वाक्यों का अर्थ-निरूपण करके बुद्धिमान् व्यक्ति अपने मतव्यानुसार अर्थबोध किया ही करते हैं। इसीलिए तो बड़े बड़े विद्वान् भी श्रुति-स्मृति के अर्थ बोध में एकमत नहीं हैं। सब अपने अपने अनुसार व्याख्या करते हैं और स्वमत प्रतिपादन करते हैं।

चार्वाक सुखोन्मुखी व्याख्या करता है। स्मृति-वाक्य का वह अर्थपक्ष मानता है, जो सुखसाधक हो। और यह धारणा ठीक है कि सुखपरकता, सुखोन्मुखता की उपेक्षा बुद्धिमान् नहीं करते, मूर्ख करते हैं—'तत्कर्म पुरुषः कुर्याद्येनान्ते सुखमेधते' ॥ ५० ॥

> यस्मिन्नस्मीति धीर्देहे तद्दाहे वः किमेनसा ?।
> क्वापि किं तत् फलं न स्यादात्मेति परसाक्षिके ? ॥ ५१ ॥

जीवातु—नन्वेवं सुखलोल्यात् पापाचरणे परत्रानिष्टं स्यादित्यत्राह–यस्मिन्निति। यस्मिन् देहे शरीरे, अस्मीति धीः अहमिति बुद्धिः। 'अस्मीत्यव्ययमस्मदर्थानुवादे अहमर्थेऽपि' इति गणव्याख्याने। 'पादप्रहारमिति सुन्दरि ! नास्मि दूये' इत्यादिप्रयोगश्च। तस्य देहस्य, दाहे भस्मीभावे सति, वः युष्माकम्, एनसा पापेन, किम् ? कर्त्तुं शक्यते इति शेषः। गौरोऽहं कृशोऽहमित्यादिबुद्धिप्रामाण्याद्देहादतिरिक्तः फलभोक्ता नास्तीत्यभिमानः ; येन देहेन पापं कृतं तस्य दाहे सति देहात्मवादिनां युष्माकं पापेन नरकभोगादिकं न किञ्चिदपि कर्त्तुं शक्यते इति भावः। अथ पापपुण्यफलभोक्ता देहव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति तत्रैव कर्मफलमिति चेत् तत्राह—क्वापीति। परसाक्षिके परो वेदादिः, साक्षी प्रमाणं यस्य तस्मिन् देहातिरिक्ततया वेदप्रतिपादिते, क्वापि यत्र कुत्रचिदात्मान्तरेऽपि, आत्मेति हेतोः आत्मेति कुलनामतया, आत्मत्वाविशेषादित्यर्थः। तत् निरयादिरूपं, फलं पापस्य परिणामः, किं कथं, न स्यात् ? न भवेत् ?, अपि तु एकेनात्मना पापे कृते आत्मत्वेन तदविशेषात् आत्मान्तरस्यापि तत्फलभोक्तृत्वं कथं न स्यात् ? इत्यर्थः। देहातिरिक्तस्यात्मनः फलभोक्तृत्वाभावात् एतद्देहनाशे पापफलभोगस्यासम्भवाच्च यथेच्छमाचरतेति भावः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—यस्मिन् देहे 'अस्मि' इति धीः तद्दाहे वः किम् ? परसाक्षिके क्व अपि आत्मा इति तत्फलं किं न स्यात् ?

हिन्दी—जिस शरीर में 'मैं हूँ'—ऐसी बुद्धि होती है, उसका दाह हो जाने पर तुम (वेदशास्त्राचारियों) को पाप से क्या तात्पर्य ? और यदि परसाक्षिक (वेद-प्रतिपादित) कहीं आत्मा है तो उस (पाप) का फल आत्मांतर में क्यों नहीं मिलेगा ?

टिप्पणी—यहाँ एक और तर्क का आधार लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि देहातिरिक्त आत्मा नहीं है और देह नष्ट हो जाता है, अतः तथाकथित पाप का फल किसी को नहीं मिलता। प्रश्न उठता है कि यह देह ही आत्मा है या देहातिरिक्त कोई ? यदि इस आधार पर कि जिस देह में 'मैं गोरा हूँ, काला हूँ, बली हूँ, निर्बल हूँ' ऐसी बुद्धि बनती है, उस देह को ही आत्मा मान लिया तो देह तो मृत्यु होने पर नष्ट हो जाता है, उसके नष्ट हो जाने पर देहात्मवादी जनों को पाप के फल से डरना अनावश्यक है। देह नष्ट हो गया, तो पाप फल-भोक्ता होगा कौन ? और यदि यह माना जाय कि आत्मा देहातिरिक्त है, वह देह के नष्ट होने पर भी देहान्तर, देशान्तर अथवा कालान्तर में पाप पुण्य के फलों का भोक्ता होगा, तो एक प्रश्न उठता है—देहातिरिक्त आत्मा स्वसाक्षिक (स्वानुभव-सिद्ध) है अथवा परसाक्षिक (अन्य वेदशास्त्रादि के आधार पर मान्य)? आत्मा का देहातिरिक्त होना तो स्वसाक्षिक सिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'अहं प्रत्यय' ('मैं हूँ'—ज्ञान) देह-विषयक होने से ही सिद्ध होता है। उस देह से भिन्न आत्मा में आश्रय की कल्पना हो ही नहीं सकती। इस स्थिति में यही प्रमाणित हो पाता है कि जब देह नष्ट हो गया, तब तदाश्रित आत्मा भी नष्ट। पाप-पुण्य का फल कौन भोगेगा ? और पारसाक्षिकता अर्थात् वेदादि को प्रमाण मानकर यह मान लिया जाय कि आत्मा देहातिरिक्त और वह देहांतर, देशांतर और कालांतर में फल-भोक्ता बनेगा, तो वेदादि के अनुसार आत्मा सर्वगत है। देहातिरिक्त आत्मा यदि देहांतर में फल-भोक्ता है—इस देह के पाप का फल देहातिरिक्त आत्मा को मिलता है, तो सर्वगत आत्मा का फल किसी एक को ही न मिल सकेगा—अन्य को भी मिलेगा। देवदत्तकृत पाप के फल का भोक्ता यज्ञदत्त भी होगा। पाप-फल के दुःख की अनुभूति में एक देह का नाश हो जाने पर तद्देहगत पातक का फल तद्देहव्यतिरिक्त परप्रत्ययवेद्य आत्मा को यदि हो तो क्या दोष है ? दुःख जब भोगा जाता है, तब प्रतिकूल लगता है। जब उपभोक्ता देह ही नष्ट हो गया तो दुःख भोगेगा कौन ? अदेहाश्रित आत्मा तो दुःख भोगता नहीं। फल भोगने का देहान्तर सम्बन्ध हो तो भी इस प्रकार उससे कोई भय नहीं रह जाता। प्रत्येक स्थिति में

सिद्ध यही होता है कि पाप तो देह करता है, वह जब नष्ट हो गया तो फल का कोई भोक्ता नहीं रहेगा। स्वर्ग-अपवर्ग जो है, वह मृत्यु ही है। इसलिए पापचिन्ता छोड़ स्वेच्छाचार ही उचित प्रमाणित होता है ॥ ५१ ॥

मृतः स्मरति कर्माणि मृते कर्मफलोर्मयः।
अन्यभुक्तैर्मृते तृप्तिरित्यलं धूर्त्तवार्त्तया ॥ ५२ ॥

जीवातु—नन्वागमो बलवदस्ति प्रमाणमत आह—मृत इति । मृतः परेतः, कर्माणि स्वकृतानि, स्मरति आध्यायति, मृते परेते जन्तौ, कर्मणां पापपुण्याद्यनुष्ठानानां, फलोर्मयः सुखदुःखसन्तानाः, भवन्तीति शेषः। अन्यभुक्तैः श्राद्धादिषु ब्राह्मणभोजनैः मृते प्रेते, तृप्तिः सन्तोषः, भवति इति शेषः। इति एवं, धूर्त्तवार्त्तया धूर्त्तानां परप्रतारणया स्वस्य उपजीविकां निर्वाहतां, वार्त्तया वृत्तान्तेन, वाक्येन इति यावत्, अलं निष्प्रयोजनम्, आगमोऽपि कस्यचित् प्रलाप एव, अतो न विश्वसितव्यम् इति भावः। देहात्मवादिमते देहनाशे स्मृति-भोग तृप्तीनां सामानाधिकरण्यासम्भवात् तादृशवाक्यमप्रामाणिकमिति भावः ॥

अन्वयः—'मृतः कर्माणि स्मरति, मृते कर्मफलोर्मयः, अन्यभुक्तैः मृते तृप्तिः'-इति धूर्त्तवार्त्तया अलम्।

हिन्दी—'मृत व्यक्ति कर्मों का स्मरण करता है, मरने पर भी कर्म-फलों की परम्परा और भोग रहते हैं, (श्राद्धादि में) दूसरों के भोजन करने से मृत को तृप्ति होती है'—ये सब परवंचक धूर्तों की बातें हैं—व्यर्थ।

टिप्पणी—वस्तुतः देहातिरिक्त आत्मा की सत्ता अप्रमाणित है, देहव्यति-रिक्त आत्मा की सत्ता नहीं है। मृत हो जाने पर न तो कुछ भी स्मरण ही रहता है, न कर्म-परंपरा ही कोई ऐसी है, जिसके भोग की देहांतर में कल्पना सम्भव हो। श्राद्ध-भोजन करा देने पर, अन्य-जनों के तृप्ति-पूर्वक भोजन कर लेने पर मृत व्यक्ति में संतोष मिलने का कोई प्रमाण नहीं, कोई तर्क नहीं। ये सब मुफ्त-खोरों का प्रपंच है। धोखेबाजी आराम से खाने वालों की, बिना कुछ करे-धरे। यह व्यर्थ है और त्याज्य है ॥ ५२ ॥

एकं सन्दिग्धयोस्तावद् भावि तत्रेष्टजन्मनि।
हेतूनाहुः स्वमन्त्रादीनसाङ्गानन्यथा विटाः ॥ ५३ ॥

जीवातु—धौर्त्यंप्रकारमेवाह—एकमित्यादि। सन्दिग्धयो सम्भवासम्भवाभ्यां सशयितयो, पुत्रादिलाभालाभरूपेष्टानिष्टफलयोर्मध्ये इति भाव। एकम् इष्टमनिष्ट वा अन्यतरत् फलमिति शेष। तावत् अवश्यमेव, भावि भविष्यति, तत्र तयोर्मध्ये, इष्टजन्मनि इष्टसिद्धौ सति, विटा धूर्ता, स्वमन्त्रादीन् निजमन्त्रादिप्रयोगान्, हेतून् कारणभूतान्, आहु: वदन्ति, मर्यत-मन्त्रजपादिक कृत तत एव तव, पुत्रादीष्टलाभोऽभूदिति आत्मश्लाघां कुर्वन्तीति भाव। अन्यथा तदसिद्धौ, असाङ्गान् अङ्गविकलान्, हेतून् आहु इति पूर्ववाक्येनान्वय। कार्योपयोगिना वस्तूनामभावादेव फल नाभूदिति गृहस्थस्य दोष प्रकटयन्तीति भाव ॥ ५३ ॥

अन्वय:—सदिग्धयो. एक तावत् भावि, तत्र इष्टजन्मनि विटा स्वमन्त्रादीन् हेतून् आहु अन्यथा असाङ्गान् (आहु)।

हिन्दी—कार्य की सिद्धि और असिद्धि के सदिग्ध होने के कारण एक (सिद्धि या असिद्ध) तो होनी ही है। उनमे अभीष्ट हो जाने पर धूर्तजन अपने मत्र तत्रादि को कारण बताते हैं, अन्यथा होने पर मत्रादि यथाविधि नहीं हुए—सांग नहीं हुए—यह कारण बताते हैं।

टिप्पणी—कोई अभीष्ट कार्य होता है अथवा नहीं होता है। दो स्थितियो में से प्राप्त होती एक ही है—सिद्धि या असिद्धि। उदाहरणार्थ किसी को पुत्र की इच्छा है। वह पूजापाठ, मत्र तत्र आदि की योजना कराता है। कभी पुत्र हो जाता है, कभी नहीं होता। पूजापाठ करने वाले बडे धूर्त होते हैं। पुत्र जन्मा, अभीष्ट सिद्धि हो गयी तो वे कहेंगे कि यह पूजा-पाठ करने से हो गया और यदि पुत्र जन्म न हुआ तो कहेंगे कि अभीष्ट-सिद्धि इस कारण नहीं हुई कि पूजा-पाठ-विधि यथाविधि नहीं हो पायी। यजमान ने उचित, आवश्यक सामग्री का प्रबध नहीं किया, दक्षिणादि में कृपणता की। आदि-आदि। आशय यह कि पुत्रेष्टि आदि कर्मकाड—सब व्यर्थ हैं, अप्रमाणित ॥ ५३ ॥

जनेन जानताऽस्मीति कायं नाय स्वमित्यसौ।
त्याज्यते ग्राह्यते चान्यदहो! श्रुत्याऽतिधूर्त्तया ॥ ५४ ॥

जीवातु—इत्थं कर्मकाण्डं विडम्ब्याज्ञानकाण्डं विडम्बयति, जनेनेति। अतिधूर्तया अतिप्रतारिकया, श्रुत्या वेदेन, प्रयोजककर्त्र्या। कायं देहम्, अस्मि अहम्, इति जानता अवगच्छता, गौरोऽहं कृशोऽहमित्याद्यहं प्रत्ययविषयः देह एव, न तु तदतिरिक्तः कश्चिदिति देहमेवात्मानं मन्यमानेनेत्यर्थः। जनेन पुंसा, प्रयोज्येन। अयं कायः, त्वम् आत्मा, न, भवतीति शेषः, इति अस्माद्धेतोः, असौ कायः, त्याज्यते हाप्यते, 'अहं' प्रत्ययविषयत्वेन कायः परित्याज्यते इत्यर्थः। अन्यत् अपरं, देहात् अन्यत् आत्मलक्षणं वस्तु इत्यर्थः। ग्राह्यते स्वीकार्यते च, 'अहं' प्रत्ययविषयत्वेति शेषः। तत्त्वमसीत्यादिवाक्यैः अङ्गी-कार्यते च इत्यर्थः। इत्यहो आश्चर्यम्! सत्यस्य असत्यकरणात् असत्यस्य सत्यकरणाच्च आश्चर्यमेतत्॥ ५४॥

अन्वयः—अहो, अतिधूर्त्तया श्रुत्या 'कायम् अस्मि'—इति जानता जनेन 'अयं त्वं न'—इति असौ त्याज्यते अन्यत् च ग्राह्यते।

हिन्दी—अरे, अत्यन्त धूर्त्त (अत्यन्त परवंचक) 'श्रुति' (वेद, सुनी-सुनायी बात) द्वारा शरीर को 'मैं हूँ'—इस प्रकार जानते व्यक्ति से 'यह (शरीर) 'तू' (वास्तविक वस्तु) नहीं है'—यह समझा कर इस (शरीर) का त्याग करा दिया जाता है और अन्य (देहातिरिक्त 'आत्मा') का ग्रहण कर दिया जाता है।

टिप्पणी—तर्कों द्वारा यह प्रमाणित कर कि देहातिरिक्त आत्मा-इत्यादि नहीं है, चार्वाक खेद और आश्चर्य प्रकट करता है कि श्रुति—एक सुनी-सुनायी बात बड़ी धूर्तता और चतुरता से फैला दी गयी है और सीधे-सरल लोगों को धोखा दिया गया है। देह को ही 'मोटा-पतला-अच्छा-बुरा' आदि का बोध होता है। मनुष्य स्पष्टतः देखता है—समझता है—भोगता है कि देहातिरिक्त कुछ नहीं है। सुख-दुःख इसी को भोगने पड़ते हैं। पर धूर्तों ने एक 'श्रुति' फैलाकर उन सरल लोगों को विश्वास करा दिया कि यह नश्वर देह कुछ नहीं है, अनश्वर वास्तविक कुछ और है, वही 'वस्तुतः तू' है—तत्त्वमसि। यह देह तू नहीं है। और वही अप्रमाणित, असाक्षिक, कल्पित, बड़ा, अजन्मा, अनश्वर आत्मा है—'स वा एष महानज आत्मा।' कैसी आश्चर्यजनक बात है। खेद विश्वास करने वालों पर और आश्चर्य इस पर कि कितनी चालबाजी के साथ एक नितांत असत्य सिद्ध कर दिया गया है॥ ५४॥

एकस्य विश्वपापेन तापेऽनन्ते निमज्जत ।
क श्रौतस्यात्मनो भीरो ! भर स्याद्दुरितेन ते ? ॥ ५५ ॥

जीवातु—एकस्येति । विश्वेषा यावता ससारिणा पापेन परदारगमनादिरूपविविधपातकेन, अनन्तेऽक्षये, तापे नरकादिदुःखे, निमज्जत अवगाहमानस्य, यावल्लोककृतपापजन्यानन्तदुःखमनुभवत इत्यर्थः । श्रौतस्य 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म', 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसिद्धस्य, एकस्य परमार्थतोऽद्वितीयस्य, हेतुगर्भविशेषणमेतत् । तथा हि–यत सर्वदेहेषु आत्मा एव एव, अत यावद्देहावच्छेदे कृताना यावत्पापाना फलभोक्ता स एवेति भाव । ते तव, त्वदुक्तस्य इत्यर्थः । आत्मनः परमात्मसज्ञकस्य, भीरो ! हे पापभयशील ! दुरितेन पापेन, परदारगमनरूपैकमात्रपापेनेति भाव । को भर भार स्यात् ? भवेत् ? देहातिरिक्तकारमवादिमते नानादेहोपाधिकृतनानापापसम्बन्धवत् आत्मन एकेन पापेन न कोऽपि भारः स्यात् अत यथेच्छ पाप कुरु इति निष्कर्षः ॥ ५५ ॥

अन्वय—विश्वपापेन अनन्ते तापे निमज्जत श्रौतस्य एकस्य आत्मन ते भीरो, दुरितेन क भर स्यात् ?

हिन्दी—सबके पाप के कारण अनन्त ताप में डूबते, श्रुति विश्वासी, एकात्मा तेरे पाप से रे पापभीरू, कौन सा भार बढ जायगा ।

टिप्पणी—व्यक्ति को पाप सुख उठाने के लिए प्रेरित करने का एक और तर्क । ससार मे अनेक जन पापी हैं । जगत् पाप मे डूबा पडा है । श्रुति कहती है कि सब में एक ही ब्रह्म अद्वितीय भाव से व्याप्त है, भिन्नता अथवा भिन्न कोई कोई नहीं है—'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन ।' तो जब भिन्नता कहीं है ही नहीं, पापी धर्मी सब एक ही है, तो एक अकेले व्यक्ति का पाप का क्या डर ? आत्मा एक है—सब एकात्मा हैं, एक हैं । एक ही चाहे पाप कर्ता हो, सबके एक होने से फल तो सब को भोगना पडेगा । एक मछली तालाब गंदा कर देती है और जगत् मे तो अनेक पापी हैं । यदि पाप-फल भोगना है तो एकात्मता के कारण सब को भोगना होगा । यदि कोई एक 'श्रुति वाक्य' पर विश्वास कर पाप न करेगा तो क्या और करेगा तो क्या ? पापों की अनन्त राशि में—अनन्त सागर में एक बिन्दु और

तो उससे क्या प्रभाव पड़ेगा ? कुछ नहीं। अतः निर्बाध सुख लूटो, पाप-पुण्य की चिन्ता छोड़ो ॥ ५५ ॥

किन्ते वृन्तहृतात् पुष्पात् तन्मात्रे हि फलत्यदः।
न्यस्य तन्मूर्द्ध्न्यनन्यस्य न्यास्यमेवाश्मनो यदि ॥ ५६ ॥

जीवातु—किमिति। हे याजक ! वृन्तहृतात् बन्धनावचितात्, पुष्पात् चम्पकादिकुसुमात्, पुष्प वृन्तच्युतं कृत्वा इत्यर्थः। ल्यब्लोपे पञ्चमी। ते त्वया, किं कुत्सितं कर्म कृतमित्यर्थः। 'किं कुत्सायां वितर्के च निषेधप्रश्नयोरपि' इति मेदिनी। हि यतः, अदः इदं पुष्पं, तन्मात्रे तस्मिन् वृन्ते एव, फलति फलरूपेण परिणमति, न त्वन्यत्र। पुष्पं वृन्तच्युतं कृत्वा फलव्याघातसम्पादनाद्दोष एव कृतस्त्वयेति भावः। अथ अश्मनः देवताधिष्ठितस्य शालग्रामादिप्रस्तरस्य, मूर्ध्नि शिरसि, न्यास्यम् अर्पणीयम् एव, यदि 'ऋहलोर्ण्यत्' देवतापूजादिप्रयोजनमेव तत्कारणं चेदित्यर्थः। तत् तर्हि, अनन्यस्य तादृशप्रस्तरादभिन्नस्य स्वस्य एव, मूर्ध्नि न्यस्य निधेहि अस्यतेर्लोटि सिचि हेर्लुक्। 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इत्यादिवादिभवन्मते भेदस्य काल्पनिकतया सर्वत्रैव ईश्वरस्य वर्त्तमानतया च विष्णुशिलातः स्वच्छिरसः अभिन्नत्वात् अन्योपासनापेक्षया वरं स्वयमुपभोग इति भावः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—वृन्तहृतात् पुष्पात् ते किम् हि अदः तन्मात्रे फलति ? यदि अश्मनः मूर्ध्नि न्यास्य तत् अनन्यस्य एव न्यस्य।

हिन्दी—डंडी से तोड़े फूल से तेरा क्या लाभ, क्योंकि वह (फूल) तो वृन्त पर फूलता है यदि (फूल) पत्थर के सिर पर रखना है, तो उसे अपने ही (सिर) पर रख ले।

टिप्पणी—मूर्तिपूजा भी व्यर्थ है, क्योंकि जब सब ईश्वर रूप ही है तो पत्थर की पूजा निष्फल है। एक सुन्दर फूल को डाली से तोड़कर उसे पत्थर की मूर्ति पर चढ़ाना तो फूल की हत्या करना, निष्प्रयोजन विनाश है। फूल को पाषाण पर चढ़ाने से तो अच्छा है (यदि किसी पर चढ़ाना ही है तो) पूजक उसे अपने सिर पर ही रख ले। फूल में ईश्वर, पत्थर में ईश्वर। फिर क्यों एक मनोहर पुष्प को पाषाण पर चढ़ाकर उसे व्यर्थ नष्ट किया जाता है ? मानव के सिर पर चढ़कर कुछ शोभा तो बढ़ायेगा। सब विष्णुमय है। क्या लाभ इस व्यर्थ पूजा-प्रपंच से ? ॥ ५६ ॥

तृणानीव घृणावादान् विधूनय वधूरनु ।
तवापि तादृशस्यैव का चिरं जनवञ्चना ? ॥ ५७ ॥

जीवातु—तृणानीति। वधू कामिनी, अनु लक्षीकृत्य, स्त्रीविषये इत्यर्थः। घृणावादान् 'हासोऽस्थिसन्दर्शनमक्षियुग्ममत्युज्ज्वलं तत् कलुषं वसाया। स्तनौ च पीनौ पिशितौ च पिण्डौ स्थानान्तरे किं नरकोऽपि यापितः॥' इत्यादिजुगुप्सावाक्यानि, 'घृणा जुगुप्साकृपयोः' इति यादवः। तृणानि इव असारतया यवसानीव विधूनय विसर्जय। 'धूञ्प्रीणातोर्नुग्वक्तव्यः'। तव अपि भवतोऽपि, तादृशस्य नारीवद् असारतया जुगुप्सितस्य एव सतः, चिरम् अत्यन्तं, जनवञ्चना स्त्रीविषये विरक्तिसूचकप्रलापैः, लोकप्रतारणा, का ? किमर्था ? स्त्रीणां यादृशा निन्दावादाः तादृशास्तवापि, अतः स्त्रीनिन्दया लोकवञ्चना न युक्तेति भावः ॥ ५७ ॥

अन्वय—वधूः अनु घृणावादान् तृणानि इव विधूनय, तव अपि तादृशस्य एव चिरं जनवञ्चना का ?

हिन्दी—नारियों के विषय में जो घृणास्पद (निन्दापरक) उक्तियाँ, उन्हें तिनका के समान त्याग दो। तेरे (धर्मी पुरुष के) भी वैसे ही (नारी-तुल्य ही) होने से चिरकाल से इस नारी निन्दा विषयक घृणावाद द्वारा फैलायी लोक प्रतारणा से क्या लाभ ?

टिप्पणी—अनेक स्थलों पर नारी-निन्दा की गयी है। उसके कुचमंडल को मांस का पिण्ड, मुख को थूक-कफ का आगार, जघन-स्थल बहती मूत्रधार से गीला आदि बता कर नारी को निंद्य कहा गया है—'स्तनौ मांसग्रन्थी ... मुखं श्लेष्मागारं ...स्रवन्मूत्रक्लिन्नं जघनम् ।' (भर्तृहरि-वैराग्यशतक)। यह निन्दा भी निन्दनीय और त्याज्य तथा निःसार है, क्योंकि जिन धर्मात्मा पुरुष की यह सूक्ति (?) है, वे स्वयं मांस, थूक, मूत्र, पुरीष के आगार नहीं हैं ? वैसे ही हैं। ऐसी स्थिति में केवल नारी को यों जुगुप्सित बताकर निन्दा करना कहाँ तक उचित है ? और यदि यह कहा जाय कि स्त्रियाँ व्यभिचारिणी होती हैं, अतः निन्द्य हैं, तो यह भी ठीक नहीं, ताली एक हाथ से नहीं बजती। पुरुष भी तो उस व्यभिचार में समभागी होता है। स्वयं

काँच के घर में रहकर दूसरे पर पत्थर फेंकना उचित नहीं। नारी-निन्दा छोड़ो, वे आनन्दमूल हैं। उनके साथ स्वेच्छा-विहार कर आनन्द प्राप्त करो।

कुरुध्वं कामदेवाज्ञां ब्रह्माद्यैरप्यलङ्घिताम् ।
वेदोऽपि देवकीयाज्ञा तत्राज्ञाः ! काऽधिकाऽर्हणा ? ॥ ५८ ॥

जीवातु—कुरुध्वमिति। अज्ञाः ! हे मूढाः ! ब्रह्माद्यैः विधातृप्रभृतिभिरपि,अलङ्घिताम् अनतिक्रान्तां, कामदेवस्य कामः कन्दर्प एव, देवः देवता, तस्य आज्ञां नारीवशीभूतत्वरूपमादेशं, कुरुध्वं पालयत। न चायमवैदिकाचार इत्याह—वेदः अपि श्रुतिरपि, देवस्य इयं देवकीया देवतासम्बन्धिनी, 'गहादिभ्यश्च' इति छप्रत्यये 'देवस्य च' इति कुगुवक्तव्यः आज्ञा शासनं, 'श्रुतिः स्मृतिर्ममैवाज्ञा' इति भगवद्वचनादिति भावः। तत्र देवाज्ञारूपे वेदे, अधिका कामदेवाज्ञातो बलवतीत्यर्थः। अर्हणा पूजा, समादर इत्यर्थः। का ? किन्निमित्ता ? इयम् आज्ञाद्वयस्याविशेषे कामदेवाज्ञा एव कार्या ब्रह्माद्यैरप्यङ्गीकृतत्वेन शिष्टपरिगृहीतत्वरूपप्रामाण्यात् प्रत्यक्षसुखहेतुत्वाच्चेति भावः ॥५८॥

अन्वयः—अज्ञाः, ब्रह्माद्यैः अपि अलङ्घिता कामदेवाज्ञां कुरुध्वम्; वेदः अपि देवकीया आज्ञा, तत्र अधिका अर्हणा का ?

हिन्दी—अरे अज्ञानियों, ब्रह्मादि भी जिसका उल्लंघन न कर सके, उस कामदेव की आज्ञा का पालन करो। वेद भी देव की आज्ञा है, उन (दो देवाज्ञाओं) में एक को अधिक आदर क्यों ?

टिप्पणी—अरे मूर्खो, अज्ञानियों, कामदेव की आज्ञा मानकर विलासानंद उठाओ, क्योंकि काम की दैवी आज्ञा का उल्लंघन ब्रह्मा, देवराज आदि भी नहीं कर सके। सुरराज अहिल्या का जार बना, ब्रह्मा अपनी बेटी (सरस्वती) पर ही आसक्त हुए—'अहिल्यायै जारः सुरपतिरभूदात्मतनयां प्रजानाथोऽयासीत्।' योगिराज भर्तृहरि भी कहते हैं—'शम्भुस्वयम्भुहरयो हरिणेक्षणानां येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः। वाचामगोचरचरित्रविचित्रताय तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय।' (बना दिये मृगनयनाओं के गृहसेवक जिसने विधि, हरि, भव; जिसके चित्र-चरित का वर्णन वाणी द्वारा पूर्ण असंभव, उस कुसुमबाण को बार-बार, भगवान् काम को

नमस्कार।)—शृंगार शतक। धर्मात्मा तुम लोग वेद की आज्ञा मानते हो। वेद भी तो देवाज्ञा ही है, और कुछ नहीं—'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे।' काम भी देव है, उसका आदेश भी देवादेश है। तो धर्मिजन देवाज्ञा माना ही करते हैं। यह ठीक नहीं कि एक आज्ञा पर विशेष ध्यान दो और एक की अवज्ञा करो। दोनों देवादेशों का पालन ही उचित है। ब्रह्मादि देव भी जिसकी आज्ञा का उल्लंघन न कर सकें, वह तो देवों का भी देव है—देवाधिदेव कामदेव। उसकी आज्ञा न मानना ठीक नहीं। यह तो देवविरोध होगा। धर्मी कहीं ऐसा करते हैं ? ॥ ५८ ॥

> प्रलापमपि वेदस्य भागं मन्यध्वमेव चेत्।
> केनाभाग्येन दुःखाग्र विधीनपि तथेच्छथ ? ॥ ५९ ॥

जीवातु—प्रलापमिति। हे मूढाः! वेदस्य भागम् अंशविशेषम्, अर्थवादात्मकमिति भावः। प्रलापम् अनर्थकं वचः, अपि प्रश्ने, मन्यध्व जानीथ एव, चेत् यदि, तदा केन कीदृशेन, अभाग्येन भाग्यविपर्ययेण, दुःखयन्तीति दुःखाः। पचाद्यच्। तान् दुःखान् दुःखकरार्थान्, विधीन् अपि, विधिभागम् अपि, तथा तद्वत् प्रलापान् इत्यर्थः। न इच्छथ ? न मन्यध्वम् ? एकदेशोपहताम्रफलवत् कृत्स्नस्यापि अनुपादेयत्वादिति भावः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—वेदस्य एव भागं प्रलापम् अपि मन्यध्व चेत्, केन अभाग्येन दुःखान् विधीन् अपि तथा न इच्छथ।

हिन्दी—वेद के ही एक भाग (अर्थवादात्मक अंश) को यदि प्रलाप (अनर्थक) मानते हो, तो वह कौन-सा अभाग्य है, जिससे कि दुःखदायक (कष्टसाध्य) विधि-भागों को भी वैसा (अनर्थक) ही नहीं मानना चाहते ?

टिप्पणी—वेद में दो प्रकार के वाक्य हैं—(१) अर्थवादात्मक, (२) विधिवादात्मक। अर्थवादात्मक वचन हैं—'सोऽरोदीत्', 'यदरोदीत्'—इत्यादि। ऐसे वाक्यों का आनर्थक्य माना जाता है, क्योंकि वेद क्रिया प्रतिपादक होते हैं, अतः क्रियाप्रतिपादक विधिवादात्मक वचनों के भिन्न वचन अनर्थक माने जाते हैं, किन्तु विधिवचनों के साथ इन अर्थवादात्मक वचनों की एकवाक्यता होने से वे स्तुत्यर्थक बन जाते हैं और उपयोगी हो जाते हैं—निरर्थक नहीं रहते—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'

और 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्।' विधिवादात्मक वाक्य है—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' अर्थात्-स्वर्गकामी ज्योतिष्टोम यज्ञ करे। चार्वाक का तर्क है कि तुम वैदिकों ने बड़े प्रयास से वेदों का प्रामाण्य उपपादित किया है, बड़े दुःख की बात है कि तुम स्वयं ही उसके एक अर्थवादात्मक भाग को कार्यप्रतिपादक न होने के कारण निरर्थक अर्थात् प्रलाप मानते हो, उनकी सार्थकता तभी मानते हो जब उसकी विधि के साथ एक वाक्यता हो जाय। यह तो सर्वथा अनुचित है कि एक वेद-भाग को सार्थक मानो, दूसरे को निरर्थक। अरे, जब वेद में निरर्थक प्रलाप भी है, तो उन विधि-वाक्यों को भी प्रलाप क्यों नहीं मान लेते? किस प्रमाण्य के तुम ठेकेदार बन गये हो कि वे क्रियाप्रतिपादक वाक्य, जिनको मानना कष्टजनक है, दुःखदायक है, (क्योंकि ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करने में कष्ट होता ही है), तुम्हारे द्वारा प्रलाप नहीं माने जा रहे हैं। यह तो अर्धजरतीन्याय है। आधा मानना, आधा न मानना। अच्छा यही है कि संपूर्ण वेद को ही प्रलाप मान लो, जिससे क्रियाप्रतिपादन के कष्ट से तो मुक्ति मिले। नकारो तो वेदमात्र को, उसके कथन को। प्रलाप है वह निरर्थक। आनन्द करो, जैसे कर सको, वैसे ॥ ५९ ॥

श्रुतिं श्रद्दध्वं विक्षिप्ताः प्रक्षिप्तां ब्रूथ च स्वयम्।
मीमांसामांसलप्रज्ञास्तां यूपद्विपदायिनीम् ॥ ६० ॥

जीवातु—श्रुतमिति। हे मीमांसया जैमिनिप्रोक्ततत्त्वनिर्णायकग्रन्थभेदाध्ययनेन मांसलप्रज्ञाः [परिपुष्टबुद्धयः ! स्थूलबुद्धयः] इति परिहासोक्तिः विक्षिप्ताः वादिनिराकृताः भ्रान्ताः सन्तः, श्रुतिं वेदं, श्रद्धध्वं विश्वसिथ, अथ च यूपद्विपदायिनीं यूपसम्बन्धिहस्तिदानप्रतिपादिकां, 'यूपे यूपे हस्तिनो बद्ध्वा ऋत्विग्भ्यो दद्यात्' इत्यादिवादिनीमित्यर्थः। तां श्रुतिं, स्वयम् आत्मनैव, वेदप्रामाण्यं स्वीकुर्वाणः स्वयमेव इत्यर्थः। प्रक्षिप्तां विप्लुतार्थां केनचित् लुब्धेन वेदान्तर्निवेशितां न तु ईश्वरप्रणीतामित्यर्थः। ब्रूथ च वदथ च, तत् कुतो वेदस्य प्रामाण्यमिति भावः ॥ ६० ॥

अन्वयः—मीमांसामांसलप्रज्ञाः, विक्षिप्ताः, श्रुतिं श्रद्दध्वम् स्वयं च यूपद्विपदायिनीं तां प्रक्षिप्तां ब्रूथ।

हिन्दी—अरे मीमांसा (वेदविचार) के सर्वथा मांसल (परिपुष्ट) व्याख्याता स्थूल, मोटी बुद्धि वालों, तुम विक्षिप्त (पागल) हो गये हो। 'श्रुति' (वेद–सुनी-सुनायी बात) पर श्रद्धा (भी) रखते हो स्वयं 'यूप से बाँधकर हाथी दान' करने से सबद्ध उसी (श्रुति) को प्रक्षिप्त (क्षेपक) कहते हो।

—टिप्पणी—फिर वही आक्षेप। वेदविचारकों, वेद की मीमांसा करने वालों को मांसलप्रज्ञ (पुष्टमति) अर्थात् व्यंग से मोटी बुद्धि वाला और विक्षिप्त बताते हुए चार्वाक कहता है कि तुम स्वयं वेद पर विश्वास नहीं करते (सुनी सुनायी बात 'श्रुति' का विश्वास ही क्या ?), अन्यथा किसी वेदवाक्य को सत्य मानते हो, किसी को क्षेपक कह देते हो—बाद में जोड़ा गया। उदाहरणार्थ भागवत विधि वाक्य तो तुम विचारकों ने ठीक माने हैं किन्तु यज्ञमध्य जो ऋत्विजों को यूप-यूप में हाथी बाँधकर दे (यूपे यूपे हस्तिनो बद्ध्वा ऋत्विग्भ्यो दद्यात्)—इसे ठीक न मान प्रक्षिप्त माना है। तुम्हारा कथन है कि ये वाक्य लोभ के वशीभूत होकर कहे गये हैं, वेदमूल नहीं है—'नैव वेदमूला, लोभपूर्वकमेभिरुक्तम्।' यह तो अनुचित है। कुछ मानना, न मानना। तुम्हारे वेद की प्रामाणिकता इस स्थिति में क्या रही ?

को हि वेत्ताऽस्त्यमुष्मिन् वा लोक इत्याह या श्रुतिः।
तत्प्रामाण्यादमुं लोकं लोकः प्रत्येति वा कथम् ? ॥ ६१ ॥

जीवातु—को हीति। किञ्च, को हि वा को जनः अमुष्मिन् लोके परलोकविषये, वेत्ता ज्ञाता, अस्ति ? विद्यते ? न कोऽपि परलोकतत्त्वाभिज्ञ इत्यर्थः। इति एव, या श्रुतिः वेदः, आह कथयति, तस्याः एव सन्दिहानायाः श्रुतेः प्रामाण्यात् प्रमाणावलम्बनात्, अमुं लोकं परलोकं, लोकः जनः, कथं वा केन वा प्रकारेण, प्रत्येति ? विश्वसिति ? न प्रत्ययार्हः परलोक इत्यर्थः। अतः प्रतिप्रावादिनी श्रुतिर्न श्रद्धेया इति भावः ॥ ६१ ॥

अन्वय—कः हि वा अमुष्मिन् लोके वेत्ता अस्ति—इति श्रुतिः आह, तत्प्रामाण्यात् अमुं लोकं वा लोकः कथं प्रत्येति ?

हिन्दी—अथवा 'कौन इस लोक में (परलोक के विषय में) ज्ञाता है'—ऐसा वेद कहता है। उस (सदेहशील) श्रुतिप्रामाण्य के आधार पर इस लोक (परलोक) पर ससार कैसे विश्वास करे ?

टिप्पणी—श्रुति है—'को हि तद्वेद यदमुष्मिल्लोकेऽस्ति वा न वा' और 'दिक्ष्वतीकाशान्करोति'। इस श्रुति में जो कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि इस लोक-परलोक में सुखादि है या नहीं—इस विषय में श्रुति संदिग्ध है। तो जो स्वयं संदेहशील है, उस संदिग्ध श्रुति को प्रमाण मानकर लोगों का परलोक पर विश्वास संभव नहीं होना चाहिए। 'अस्ति-नास्ति-विषयक' संदेह जब श्रुति को ही है तो उसको प्रमाण मानकर कोई मूर्ख ही परलोक पर विश्वास कर सकता है, कोई प्रामाणिक व्यक्ति करेगा नहीं। अतएव न तो श्रुति विश्वसनीय है और न उसके प्रमाण के आधार पर परलोक पर विश्वास ही उचित है ॥ ६१ ॥

धर्माधर्मौ मनुर्जल्पन्नशक्यार्जनवर्जनौ ।
व्याजान्मण्डलदण्डार्थी श्रद्दधायि मुधा बुधैः ॥ ६२ ॥

जीवातु—एवं श्रुतेरप्रामाण्यमुक्त्वा स्मृतेरप्याह—धर्मेत्यादि। व्याजात् कैतवात्, धर्माधर्मोपदेशमवदिश्येत्यर्थः। मण्डलस्य राष्ट्रस्य, राष्ट्रवासिलोकस्येत्यर्थः। दण्डार्थी दमार्थी, शासननिमित्तमित्यर्थः। लोकस्य विधिनिषेधातिक्रमजन्यमपराधं निमित्तीकृत्य प्रायश्चित्तादिद्वारा, धनाभिलाषुकः सन् इति भावः। अशक्ये कर्त्तुः असाध्ये, अर्जनवर्जने यथासङ्ख्यं करणाकरणे ययोः तादृशौ, धर्माधर्मौ पुण्यपापे, धर्मो यागादिकः बहुधनव्ययायाससाध्यत्वात् अर्जितुमशक्यः, अधर्मः परदारादिगमनाद्यात्मकः इन्द्रियनिग्रहं कर्त्तुमशक्यत्वात् सुखकारणत्वाच्च वर्जितुमशक्य इति भावः। जल्पन् कथयन् यथासङ्ख्यम् अर्ज्यत्वेन वर्ज्यत्वेन च उपदिशन् इत्यर्थः। मनुः आदिस्मृतिकर्त्ता, बुधैः विद्वद्भिः, मुधा वृथैव, श्रद्दधायि श्रद्धितः, आहत इत्यर्थः। परदारादिगमनादिरूपमधर्मं प्रत्यक्षसुखजनकतया सर्वे एवाचरन्ति इति ज्ञात्वा तज्जन्यकल्पितदुरितपरिहारमपदिश्य धनलाभार्थं प्रायश्चित्तात्मको दण्डो मनुना विहितः, न तु तदधर्मम्, अतो मनुवचनमूला स्मृतिर्न प्रमाणमिति भावः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—अशक्यार्जनवर्जनौ धर्माधर्मौ जल्पन् व्याजात् मण्डलदण्डार्थी मनुः बुधैः मुधा श्रद्दधायि।

हिन्दी—जिनका करना और न करना संभव नहीं है; ऐसे धर्म और

अधर्म के विषय में जल्पना (बकवास) करते और इस बहाने राष्ट्र को दंडित करने के 'अर्थी' अर्थात् अर्थ (धन) पाने के इच्छुक (लोभी) वैवस्वत मनु को बुध जनों ने वृथा हि श्रद्धा दी (उसके वचनों को मान्यता दी)। अथवा (बुधों ने नहीं), 'अबुधों' (बुधा अबुधें) ने श्रद्धा दी।

टिप्पणी—प्रचुर धन व्यय से साध्य होने, तीर्थादि में कष्टकारक स्नान आदि की क्रिया से पीड़ादायी होने आदि से धर्म का अर्जन (करण) अशक्य है और जिसे 'अधर्म' कहा जाता है, वह सुकर भी है और आनन्ददायक भी, अतः उसकी वर्जना (अकरण) अशक्य है। और स्मृतिकार विवस्वत मनु ने धर्म-अधर्म को ही राष्ट्रवासियों के शासन का आधार बताया है, अर्थात् धर्माचारी प्रशस्य हैं और अधर्माचारी दण्डनीय हैं। वस्तुतः यह सब धुरन्धर स्मृतिकार मनु की धूर्तता है। वह जानता है कि धर्माचारी कठिनता से कुछ ही लोग मिलेंगे, क्योंकि उसका 'अर्जन' कठिन है, अशक्य है। और अधर्माचारी अधिक मिलेंगे, क्योंकि वह सुसाध्य है और इतना सुखमूल है कि उसकी 'वर्जना' अशक्य है। अधर्मी दण्ड पायेंगे, दण्ड में धन देंगे। सो शासन-विधि के मूल में मनु का अर्थ लोभ ही है। अधर्माचारी अधिक होंगे, दण्डस्वरूप प्रचुर धनप्राप्ति होगी। ऐसे लोभी को मान्यता देने वाले 'अबुध'—मूर्ख ही हैं, बुध (पण्डित) भला क्यों ऐसे लालची पर श्रद्धा करेंगे? स्मृति-दोष बता कर इस प्रकार चार्वाक ने स्मृति को दोषपूर्ण बताया और प्रधान स्मृतिकार मनु को ही सर्वप्रथम चुना। जब मुख्य स्मृतिकार दूषित है तो सभी दूषित हुए। स्मृति भी प्रमाण नहीं है ॥६२॥

व्यासस्यैव गिरा तस्मिन् श्रद्धेयद्धा स्थ तान्त्रिकाः।
मत्स्यस्याप्युपदेश्यान् न को मत्स्यानपि भापताम् ॥ ६३ ॥

जीवातु—व्यासस्येति। व्यासस्य धीवरकन्याव्यभिचारोत्पन्नस्य भ्रातृपत्न्या सुतोत्पादयितुः स्वयमेव व्यभिचाररतस्य पराशरपुत्रस्यैव, गिरा वाचा, पुराणवाक्यैन, मनुवत् आप्तम् इत्युक्त्या वा इत्यर्थः। तस्मिन् परलोके धर्मे वा, श्रद्धा आदरबुद्धिः, इति एव, तान्त्रिकाः शास्त्रवेदिनो, युक्तिज्ञा। 'तदधीते तद्वेद', इति ठक्। स्थ भवथ, इति अद्धा सत्यम्। पुराणसामान्यमुपहस्य विशे-

ध्यपुराणमुपहसति—मत्स्यस्य मीनस्यापि, मत्स्यरूपधारिणो विष्णोर्वाक्यरूपस्य मत्स्यपुराणस्यापीत्यर्थः। उपदेश्यान् अनुशासनीयान्, अत एव मत्स्यान्, मत्स्यप्रायान्, वः युष्मान्, कः सुधीः, अपि प्रश्ने, भाषताम् ? आलपतु ? न कोऽपि इत्यर्थः। मत्स्याः कस्यापि न सम्भाष्याः इति भावः। मत्स्यः उपदेष्टा इति स्वकपोल-कल्पितं वदन् व्यासो न श्रद्धेयवचन इति तात्पर्यम् ॥ ६३॥

अन्वयः—व्यासस्य एव गिरा तस्मिन् श्रद्धा—इति अद्धा तान्त्रिकाः स्थ। मत्स्यस्य उपदेश्यान् वः मत्स्यान् कः भाषताम् अपि ?

हिन्दी—व्यास (कृष्णद्वैपायन) ही की वाणी (पुराणों) द्वारा उस (धर्म अथवा परलोक) में श्रद्धा है—इस प्रकार तुम निश्चित ही तांत्रिक (तन्त्रशास्त्र के पंडित, व्यंग्यार्थ कुविंद, सूत बुनने वाला जुलाहा) हो। मत्स्य (मत्स्य रूपधारी विष्णु-प्रोक्त मत्स्यपुराण) के द्वारा उपदेश प्राप्त करने योग्य तुम (पौराणिक) मत्स्यों (मछलियों) से कौन (बुद्धिमान् मनुष्य) बात भी करे ? कोई नहीं।

टिप्पणी—वैदिक और स्मृतिविश्वासी जनों का उपहास करके यहाँ पुराणों, पुराणकार व्यास और पौराणिकों का उपहास है। पहिली बात तो यह पुराणकर्त्ता है व्यास। वे ही व्यास, जो धीवरकन्या-व्यभिचार से जन्मे और जिन्होंने अपनी भौजाइयों (विचित्रवीर्य की पत्नियों) में सन्तान उत्पन्न की। ऐसे दुश्चरित्र को धर्मोपदेशक मानने वाले पौराणिक कितने बुद्धिमान् हैं-यह विचारणीय है। और पुराण भी क्या है ? कोरी बकवास। एक पुराण है 'मत्स्य'। उसमें मछली धर्म सिखाती है। (विष्णुप्रोक्त उपदेशों से पूर्ण 'मत्स्यपुराण' पर व्यंग्य)। तो मछली का उपदेश मछलियाँ ही सुनती हैं, मनुष्य नहीं। ऐसे मत्स्य रूपी मनुष्यों से तो कोई बात करना भी अच्छा न मानेगा। सचमुच व्यास और तद्रचित पुराणों के विश्वासी 'तांत्रिक' ही हैं-पूरे जुलाहे। एक 'कूर्म' पुराण भी है। उस पर भी यह उपहास लागू हो जाता है ॥ ६३ ॥

पण्डितः पाण्डवानां स व्यासश्चाटुपटुः कविः।
निनिन्द वेषु निन्दत्सु स्तुवत्सु स्तुतवान्न किम् ॥ ६४ ॥

जीवातु—पुनर्व्यासमेव विडम्बयति—पण्डित इत्यादि। पाण्डवानां युधिष्ठिरादीनां चाटुपटु मिथ्यास्तुतिवादकुशल, कविः उत्प्रेक्षितार्थवर्णयिता, पण्डितः पण्डितमानी, स भवतामासतम इत्यर्थः। व्यास. महाभारतकारः; अपि इति शेष.। तेषु पाण्डवेषु, निन्दत्सु दुर्योधनादीन् आक्षिपत्सु, न निनिन्द किम्? न परिवदाद किम्? दुर्योधनादीनिति शेषः। तेषु पाण्डवेषु, स्तुवत्सु कृष्णादीन् स्तुतिं कुर्वत्सु सत्सु, न स्तुतवान् -किम्? स्तुतिं न कृतवान् किम्? कृष्णादीनिति शेषः। तेषां निन्द्यान् निन्दन् स्तुत्यांश्च स्तुवन् व्यासोऽपि पाण्डवपक्षपाती कश्चिद् कविर्न आप्ततम. यथार्थवादीति भाव. ॥६४॥

अन्वयः—पाण्डवानां चाटुपटुः कवि. स. व्यास तेषु निन्दत्सु न निनिंद किम्, स्तुवत्सु स्तुतवान् न किम्?

हिन्दी—पाण्डुपुत्रों (युधिष्ठिरादि) की चाटुकारिता करने में चतुर कवि उस व्यास ने, जिनकी पाण्डवों ने निन्दा की, क्या उन्हीं की निन्दा नहीं की? और जिनकी स्तुति की, उन्ही की क्या स्तुति नही की?

टिप्पणी—यहाँ व्यास की एक ओर तर्क से निन्दा है। व्यास पांडवों के चाटुकार चारण थे। पांडवों ने दुर्योधनादि की निन्दा की, व्यास ने भी की। पांडवों ने श्रीकृष्णादि की स्तुति की, व्यास ने भी की। इस प्रकार पांडवों के शत्रुओं की अनुचित निन्दा और मित्रों की अनुचित प्रशंसा कर व्यास ने अपनी भी निन्दा की और आत्मप्रशंसा भी की। ऐसे निन्दनीय, आत्मप्रशंसी चाटुकार चारण के वचन पुराण पर जो विश्वास करते हैं, वे महामूढ हैं। व्यास के वचन पुराण पूर्णतः अप्रामाणिक और अश्रद्धेय हैं ॥६४॥

न भ्रातुः किल देव्यां स व्यास. कामात् समासजत्।
दासीरतस्तदासीत्तन्मात्रा तत्राप्यदेशि किम् ॥ ६५ ॥

जीवातु—कामचारी च स इत्याह—नेति। सः प्रसिद्धपारदारिकः, व्यास. सत्यवतीनन्दनः भ्रातुः विचित्रवीर्यस्य देव्यां महिष्यां, कामात् स्मरावेगात्, न समासजत् किल? न आसक्तः किम्? गुर्वनुज्ञानान्न दोषश्चेत् तत्राह—तदा तत्काले, विचित्रवीर्यस्य पत्न्यां सुतोत्पत्तिकाले इत्यर्थः। दासीरत दास्यां विदुरमातरि, रतः आसक्त, आसीत् अभूत्, विदुरोत्पादायेति भावः। इति यद् तत्रापि दासीगमनेऽपि, मात्रा सत्यवत्या, अदेशि किम्? आदिष्टः किम्?

अपि तु न।दिष्ट इत्यर्थः। उभयत्रैव कामपरवशत्वात् प्रवृत्तस्य एवम्भूतदुश्चरित्र-जनस्याप्ततमत्वासम्भवात् तद्वचनमप्रमाणमिति भावः॥ ६५ ॥

अन्वयः—सः व्यासः भ्रातुः देव्यां कामात् न समासजत् किल ? यत् तदा दासीरतः आसीत्, तत्र अपि किं मात्रा अदेशि ?

हिन्दी—वह (अष्टादश-पुराणकार) व्यास भाई (विचित्रवीर्य) की पत्नी में क्या कामासक्त हो संभोगरत नहीं हुआ था ? (यदि नहीं तो) जो उस समय (वह व्यास) दासी (विदुर-जननी) के जो संभोगरत हो गया था, क्या उस (दासी-रति) की भी माता ने आज्ञा दी थी ?

टिप्पणी—व्यास की एक और निन्दा। व्यास कामी और व्यभिचारी था। उसने भाई की पत्नियों से—अनुज-पत्नियों से संभोग किया। बचाव में यदि यह कहा जाय कि वह तो अपनी माता सत्यवती के आदेश से कुल-परम्परा जीवित रखने के लिए, संतानोत्पत्ति के निमित्त किया था। वह तो 'नियोग' था, वह भी माँ के आदेश पालनार्थ। कामवासना से व्यास ने ऐसा नहीं किया था। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि यदि व्यास ने सचमुच इस कारण ही अनुज-पत्नी-भोग किया था तो फिर एक दासी से क्यों भोग किया, जिससे विदुर का जन्म हुआ ? इसकी आज्ञा तो माँ ने व्यास को नहीं दी थी। यह व्यभिचार तो कामार्त व्यास ने ही किया। ऐसे व्यभि-चारी कामी के उपदेश मानना मूर्खता ही है। दो-दो, तीन-तीन बार 'नियोग' की अनुमति तो धर्मचारियों की स्मृतियों में भी नहीं है। मनु ने कहा है कि देवर अथवा सपिंड-गोत्री से एक ही पुत्र उत्पन्न कराये, दूसरा तो किसी स्थिति में नहीं—'देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया। एक-मुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन।' (मनुस्मृति ४।५९) ॥ ६५ ॥

देवैर्द्विजैः कृता ग्रन्थाः पन्था येषां तदादृतौ।
गां नतैः किं न तैर्व्यक्तं ततोऽप्यात्माऽधरीकृतः ॥ ६६ ॥

जीवातु—देवैरिति। हे मूढाः ! येषां वः, देवैः ब्रह्मादिभिः, द्विजैः व्यासा-दिभिश्च, कृताः रचिताः, ग्रन्थाः पुस्तकानि, 'गां प्रणमेत्' इत्यादि स्मृतयः इति यावत्। पन्थाः प्रमाणं, धर्माधर्मोपदेष्टा इत्यर्थः। तदादृतौ तदादरनिमित्तं,

तस्मिन् ग्रन्थे श्रद्धाहेतोरित्यर्थः । निमित्तार्थे सप्तमी । गा धेनुं नतैः प्रणतैः, तैः भवद्भिः, तत गोः अपि, आत्मा स्व, व्यक्त स्फुटम्, अवरीकृतः हीनीकृत', न किम् ? अपि तु कृतः एव इत्यर्थः । पशुप्रणामात् पशोरपि निकृष्टता स्यात्, न चास्य किञ्चित् फलमस्तीति भावः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—देवैः द्विजैः कृताः ग्रन्थाः येषां तदादरो पन्थाः, गां नतैः तैः ततः अपि व्यक्त किम् आत्मा न अवरीकृतः ?

हिन्दी—देवों (ब्रह्मादि) और ब्राह्मणों (याज्ञवल्क्य-व्यासादि) द्वारा रचित ग्रन्थ (वेद-स्मृति-पुराणादि) जिन (धार्मिकों) के, उन (देवादि) के प्रति (अथवा ग्रन्थादि के प्रति) आदर होने से मार्ग (प्रमाण) हैं, गाय के संमुख विनत होते (गोपूजा करते) उन धार्मिकों ने उनसे भी, स्पष्ट ही, क्या अपने को निम्न नहीं कर लिया ।

टिप्पणी—गो-पूजा मूर्खता है । ये धार्मिक इतने पतित हैं और उन ग्रन्थों के वेद स्मृति-पुराणादि ग्रन्थों को जीवन का आदर्श मानते हैं कि जिनमें गोपूजा—एक पशुपूजा का विधान है । देव ब्राह्मण आदि जिन ऐसे ग्रन्थों के रचयिता हैं, वे भी कहीं आदर के पात्र हो सकते हैं ! एक पशु गाय के आगे विनत होने वाले क्या अपने को पशु से भी पतित नहीं प्रमाणित कर देते ? झुका तो बड़े के आगे जाता है । जब गाय के आगे झुक गये तो वही बड़ी हो गयी, मनुष्य छोटा । तो वह गोपूजा, जो पशु को बड़ा, मनुष्य को छोटा सिद्ध करती है, तत्प्रतिपादक ग्रन्थ वेद-शास्त्र-पुराणादि, उनके रचयिता देव ब्राह्मणादि—सब अप्रामाणिक और निर्मूल हैं । इन सब के आराधन से कोई लाभ नहीं । ये मनुष्य को पतित बनाते हैं ॥ ६६ ॥

साधु कामुकता मुक्ता शान्तस्वान्तैर्मखोन्मुखैः ।
सारङ्गलोचनासारा दिवं प्रेत्यापि लिप्सुभिः ? ॥ ६७ ॥

जीवातु—साध्विति । शान्तस्वान्तैः संयतचित्तैः, विषयभोगनिवृत्तचित्तैरित्यर्थः । मखोन्मुखैः क्रतुप्रवणैः, याज्ञिकैरित्यर्थः । प्रेत्य मृत्वाऽपि, अन्ये तु इह जन्मन्येव परस्त्रीकामुकाः, याज्ञिकास्तु परजन्मन्यपि कामुका इति अपेरर्थः । सारङ्गलोचनाः मृगाक्ष्यः स्त्रिय एव, साराः श्रेष्ठांशाः यस्याः तादृशीं, दिवं स्वर्गं, लिप्सुभिः लब्धुमिच्छुभिः सद्भिः कामुकता अभिलाषिता, कामपरतन्त्रता

इत्यर्थः। साधु सम्यक् यथा तथा, मुक्ता ? त्यक्ता ? इति काकुः, नैव त्यक्ता इत्यर्थः। इति सिद्धं विहाय साध्यप्रवृत्तेरुपहासः। तस्मात् यागकाले ब्रह्मचर्यादिकम् आत्मवञ्चनमात्रफलं न चान्यत् किमपि इति भावः॥ ६७॥

अन्वयः—शान्तस्वान्तैः मखोन्मुखैः प्रेत्य अपि सारङ्गलोचनासारां दिवं लिप्सुभिः कामुकता साधु मुक्ता।

हिन्दी—विषयभोग-पराङ्मुख होने से संयतचित्त यज्ञों में सोत्साह प्रवृत्त (याज्ञिक-गण) ने मर कर भी मृगनयना (सुन्दरियाँ-अप्सरियाँ) ही जहाँ सारतत्त्व हैं, ऐसे स्वर्ग को प्राप्त करने की इच्छा करते हुए कामुकता (संभोग-लोभ) का अच्छा त्याग किया।

टिप्पणी—याज्ञिकों पर व्यंग। यज्ञरत याज्ञिक विषयपराङ्मुख हो यज्ञ किया करते हैं, पर उनकी लिप्सा रहती है, स्वर्ग पाने की, जहाँ उन्हें सुन्दरी अप्सराएँ प्राप्त होंगी, रमणीय रम्भादि अप्सरियों का साहचर्य प्राप्त होगा। क्या भला ढंग है, काम-पराङ्मुख होने का! अरे, ये याज्ञिक तो यज्ञ भी संभोगलालसा से करते हैं—अप्सरा-भोग के लोभी। सामान्य मनुष्य तो जीते जी विषयोन्मुख रहता है, ये याज्ञिक कर्मकांडी तो मरकर भी विषयपराङ्मुख नहीं होते। सिद्ध को छोड़ साध्य की ओर प्रवृत्त—ये सब तो उपहासयोग्य मूर्ख हैं। इनकी ब्रह्मचर्य-धारणा आत्मवंचना मात्र है, और कुछ नहीं। नितांत व्यर्थ। ढोंग॥ ६७॥

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मतम्।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि॥ ६८॥

जीवातु—उभयीति। 'अपवर्गे तृतीया' इति भणतः कथयतः, सूत्रं कुर्वतः इत्यर्थः। पाणिनेः तदाख्यस्य प्रसिद्धवैयाकरणस्य, मुनेः ऋषेरपि, उभयी प्रकृतिः स्त्रीपुंसात्मिका द्वयी योनिः, कामे कामात्मके तृतीयपुरुषार्थे इत्यर्थः। मिथुनधर्मे मैथुने वा, सज्जेत् आसक्ता भवेत्, स्त्री पुमांश्च द्वयं कामासक्तौ भवेदित्यर्थः। इति मतम् अभिप्रायः स्फुटमेव इत्यर्थः। तथा तृतीया प्रकृतिः षण्ढः, क्लीव इत्यर्थः। 'तृतीया प्रकृतिः षण्ढः क्लीबः पण्ढो नपुंसकम्' इत्यमरः। अपवर्गे मोक्षे, नपुंसकत्वेन मैथुनाशक्तत्वात् ब्रह्मचर्या-

द्विद्वारा मोक्षलाभायेत्यर्थः । सज्जेत् इति पाणिनिसूत्रार्थेन उभयी प्रथम-द्वितीया, प्रकृतिः स्त्रीपुंसात्मिका योनिरित्यर्थः । कामे सज्जेत् इति पारिशेष्याद् बोध्यते इति भावः । सूत्रस्थशब्दच्छलेन तादृशविकृतार्थं परिकल्प्या स्वमतसमर्थनं कृतम्, वस्तुतस्तु 'अपवर्गे फलप्राप्तौ तृतीया विभक्ति'रिति सत्यसूत्रस्यार्थः । तथा च वृथा कामं विहाय अपवर्गे प्रवर्तमाना यूयं नपुंसका इता' स्थेति भावः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेत्—इति 'अपवर्गे तृतीया' इति भणतः मुनेः पाणिनेः अपि मतम् ।

हिन्दी—'उभयी प्रकृति अर्थात् स्त्री पुरुष रूप में व्यक्त प्रकृति काम अर्थात् तृतीय पुरुषार्थ (मैथुन) में आसक्त हो'—यह 'अपवर्गे तृतीया'—अर्थात् स्त्री पुरुषातिरिक्त तृतीया प्रकृति (नपुंसक) अपवर्ग अर्थात् मोक्षासक्त हो-कहते मुनि पाणिनि द्वारा भी मान्य है ।

टिप्पणी—वैयाकरण पाणिनि का सूत्र है—'अपवर्गे तृतीया' (अष्टाध्यायी-२।३।६) । यह कारक विधान से सम्बद्ध सूत्र है, जिसका तात्पर्य है कि क्रिया की फल प्राप्ति द्योतित होने पर काल मार्गवाचक शब्द में तृतीया विभक्ति हो—'अपवर्गः फलप्राप्तिः तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात् ।' उदाहरणार्थ—'अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः', अर्थात् दिन भर में अथवा कोस भर चलते 'अनुवाक' का अध्ययन किया । यहाँ 'अह्ना' कालवाचक है और क्रोशेन' मार्गवाचक। ये क्रिया-फल द्योतन की परिधि बताते हैं अतः इनमें तृतीया है । चार्वाक मत में इसका अपने अनुसार अर्थ करके मोक्ष (अपवर्ग)—सिद्धान्त का उपहास किया गया कि मोक्ष तो नपुंसकों के लिए है-अशक्त, मैथुन सुख में असमर्थ । वे न स्त्री है, न पुरुष, वे तृतीय हैं । सो यह तृतीया षण्ढप्रकृति अपवर्ग में रत रहे । तीर्थयात्रा करे, ब्रह्मचर्य धारण करे और मोक्ष प्राप्ति का यत्न करे । प्रकृति की दो स्वस्थ, समर्थ व्यक्तियाँ—नर-नारी तृतीय पुरुषार्थ अर्थात् काम साधना के लिए बने हैं । कोष में भी नपुंसक का एक पर्याय 'तृतीया प्रकृति' है। इसके अतिरिक्त पुरुषार्थ गणना इस प्रकार से है—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष । अव्यवहितपूर्वता के आधार पर विचार करने से धर्म से अर्थ, अर्थ से काम, काम से मोक्ष

सिद्ध होता है। इस प्रकार कामासक्ति बिना मोक्ष भी सिद्ध न होगा। अतः अपने ही आचार्य पाणिनि मुनि की बात तो धार्मिकों को माननी चाहिए और जब तक जीवित रहे, तब तक काम-साधना में रत रहना चाहिए ॥६८॥

विभ्रत्युपरि यानाय जनाः जनितमज्जनाः।
विग्रहायाग्रतः पश्चाद्गत्वरोरभ्रविभ्रमम् ॥ ६९ ॥

जीवातु—विभ्रतीति। उपरि यानाय ऊर्ध्वलोकगमनाय, जनितमज्जनाः निमग्नाः, तीर्थोदकेषु कृतस्नानाः इत्यर्थः। अधः गच्छन्तः इति भावः। जनाः स्वर्गार्थिनो लोकाः, अग्रतः पुरतः, सम्मुखे इत्यर्थः, विग्रहाय युद्धाय, सम्मुख-युद्धाय इत्यर्थः, पश्चाद्गत्वराणां पश्चाद्गामिनाम्। 'गत्वरश्च' इति क्वरबन्तो निपातः, उरभ्राणां मेषाणां, विभ्रममिव विभ्रमं चेष्टां, बिभ्रति दधतीति निदर्शनालङ्कारः, स चोर्ध्वगमनाय अधो गच्छत इति स्थूलबुद्धीनां स्थूलबुद्धि-प्रयासरूपविचित्रालङ्कारोत्थापित इति सङ्करः, तेन तेषामविमृश्यकारित्वं व्यज्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—उपरि यानाय जनितमज्जनाः जनाः अग्रतः विग्रहाय पश्चाद्-गत्वरोरभ्रविभ्रमं बिभ्रति।

हिन्दी—ऊपर (स्वर्ग) जाने के लिए गंगा स्नान करते (गंगा में नीचे जाते) व्यक्ति संमुख से युद्धार्थ पीछे हटने वाले भेंड़े का विभ्रम (सादृश्य) धारण करते हैं।

टिप्पणी—गंगा-स्नान की निन्दा। गंगा-स्नान में डुबकी लगाना पड़ता है अर्थात् नीचे जाना पड़ता है। गंगास्नायी की कामना रहती है स्वर्ग-जाना, अर्थात् ऊपर जाना। यह कितनी बड़ी मूर्खता है कि ऊपर जाने के लिए नीचे जाओ। विपरीत कार्य। ऐसा उलटा काम तो मेष (भेंड़ा) करता है, जो युद्ध में पीछे जाता है, फिर आगे आता है। इस प्रकार मेष-तुल्य व्यवहार करते गंगास्नायी मेष ही हैं। गंगा में ग्रीवा झुका कर, एक हाथ से नाक बन्द किये और पूंछ के समान एक हाथ पीछे किये नहाते व्यक्ति पूरे भेड़े-सदृश मन्द और मूर्ख हैं—उपहास के पात्र ॥ ६९ ॥

कः शमः ? क्रियतां प्राज्ञाः ! प्रियाप्राप्तौ परिश्रमः।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ? ॥ ७० ॥

जीवातु—क इति। प्राज्ञाः! हे प्रज्ञावन्त! इति सोपहाससामन्त्रणं; प्रकृष्टज्ञानहीनाः इत्यर्थः, 'प्रज्ञाश्रद्धा' इत्यादिना मत्वर्थीयो णप्रत्ययः शमः शान्तिः, वैराग्यमित्यर्थः, कः? न कोऽपीत्यर्थः। शमावलम्बनस्य न किमपि फलमस्तीति भावः। प्रियाप्राप्तौ इष्टस्त्रीसङ्गतौ, परिश्रमः प्रयासः, क्रियतां विधीयताम्। न च तस्यापि नरकयातनाप्राप्तिशङ्का कार्येत्याह—भस्मीभूतस्य दग्धस्य, देहस्य कायस्य, आत्मभूतस्य इति यावत्। पुनः भूयः, आगमनं परलोके प्रत्यावर्त्तनं, कुतः? क्व सम्भवेदित्यर्थः?। देहात्मवादिमते परलोकसद्भावेऽपि यस्मिन् देहे पापं कृतं तस्यैव भस्मीभूतत्वेन क्व पापफलभोगसम्भवः?, देहातिरिक्तात्मवादिमते तु परलोकस्यैवाभावात् पापफलभोगार्थं कृमिकीटादिदेहप्राप्तिः क्व सम्भवेत्? इति पुनरुद्भवः भ्रम एव इति निष्कर्षः॥

अन्वय:—प्राज्ञाः, (प्र + अज्ञाः) शमः कः? प्रियाप्राप्तौ परिश्रमः क्रियताम्, भस्मीभूतस्य, देहस्य पुनः आगमनं क्व?

हिन्दी—हे बुद्धिमानो, (व्यङ्ग्यार्थ प्रकृष्टमूर्खों, निपट-अज्ञानियों), शम (शान्ति, वैराग्य) क्या (पदार्थ) है? (कुछ नहीं)। प्रिया (अभीष्ट रमणी) की प्राप्ति के निमित्त परिश्रम करो। जलकर राख हुए शरीर का पुनः आगमन (लोक में प्रत्यावर्त्तन) कहाँ होता है? (नहीं होता)।

टिप्पणी—वैराग्य, शम, शान्ति—ये सब व्यर्थ के शब्द हैं। वैराग्य से माना जाता है कि परलोक सिद्ध होता है, जहाँ कमनीय अप्सरियाँ मिलती हैं। तो वैराग्य धारण कर देह को कष्ट दो जिससे परलोक में प्रिया-प्राप्ति संभव हो। अरे, इसी लोक में अभीष्ट प्रिया 'दिलरुबा' को पाने के लिए श्रम क्यों नहीं करते? यह परलोक आदि की बात कोरी गप्प है। यह देह तो मृत्यु होने पर जल कर भस्म हो जाता है। यह कहाँ फिर मिलता है? पाप-फल से भय भी व्यर्थ है। देह जल गया, अब फल भोगेगा कौन? देहात्मवादी कहते हैं कि परलोक होता है, पर देह तो यहीं जल गया, जिसने पाप किया था। पाप-फल का भोक्ता कौन होगा? देहातिरिक्त-आत्मावादी तो परलोक मानते ही नहीं तो अन्य देह पाकर पाप-फल भोगा ही नहीं जा सकता। पुनर्जीवन भ्रम है। जब तक जियो, मौज मारो। 'प्रज्ञाः' व्याख्या

में यह श्लोक 'साधु कामुकता' इत्यादि (६७) और 'उभयो प्रकृतिः' इत्यादि (६८) के मध्य में है ॥ ७० ॥

एनसाऽनेन तिर्यक् स्यादित्यादिः का विभीषिका ? ।
राजिलोऽपि हि राजेव स्वैः सुखी सुखहेतुभिः ॥ ७१ ॥

जीवातु—अस्तु वा नरकभोगार्थं यातनाशरीरं तत्रापि सुखमेवेत्याह—एनसेति । अनेन एवंविधेन, एनसा पापेन, तिर्यक् कृमिकीटादियातनाशरीरं स्यात्-भवेत्, इत्यादिः एवंप्रभृतिः, का विभीषिका ? किं त्रासनम् ? अनिष्टाजनकत्वात् तदकिञ्चित्करमित्यर्थः, विपूर्वात् भीपयतेर्णत्वियर्थनिर्देशे ण्वुल् कात् पूर्वस्येकारः । हि तथा हि, राजिलः डुण्डुभाख्यः निर्विषः सर्पोऽपि । 'समौ राजिलडुण्डुभौ' इत्यमरः । स्वैः आत्मीयैः, स्वजात्यनुरूपैरित्यर्थः । सुखहेतुभिः जलविहारभेकभक्षणसजातीयरमणीसम्भोगादिभिः सुखसाधनैः, राजा इव नृपतिवत्, सुखी सुखवान्, सुखमनुभवतीत्यर्थः । तिरश्चामपि शरीरेन्द्रियाभिमानिनां सुखानुभूतिरस्ति । अतः तिर्यग्योनित्वे प्राप्तेऽपि तद्भीतेः पापात् न भेतव्यम् इति भावः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—अनेन एनसा तिर्यक् स्यात् इत्यादिः का विभीषिका, हि राजिलः अपि स्वैः सुखहेतुभिः राजा इव सुखी ?

हिन्दी—इस (तथाकथित परस्त्रीगमन आदि) पाप से (देहांतर में) कीड़ा-मकोड़ा होना होगा—इत्यादि क्या डर की बात है, क्योंकि डोड़ा सर्प (निर्विष जलसर्प) भी अपने (स्व-प्रकृत्यनुकूल) सुख-साधनों के कारण राजा के समान सुखी रहता है ।

टिप्पणी—धर्माचारियों द्वारा यह डर दिखाकर बहकाया जाता है कि दूसरा जन्म होता है और जो शास्त्रों में बताये गये—तथाकथित परदाररति, ब्रह्महत्यादि पापों के कर्त्ताओं को कृमि-कीटादि का देह-धारण करना पड़ता है और इस प्रकार निम्नतम कोटि का जीव होकर पाप-दण्ड भोगना पड़ता है । तो पहले तो यह प्रमाणित ही नहीं है; और यदि 'तुष्यतुदुर्जनन्यायेन' यह सत्य मान भी लिया जाय तो भी डरने का कोई कारण नहीं है; क्योंकि निम्नतम सरीसृप डोंड़ा सांप भी अपने सजातियों के साथ जल में रहता है और मनोऽभिलषित मेढक-कीड़ों आदि को रुचि के साथ खाते हुए अपनी प्रिया के

साथ रमण करता है और एक राजा के समान सुख पाता है। इस प्रकार तिर्यक्योनि प्राप्त करके भी कष्ट की संभावना नहीं, सो यथेच्छ विहार उचित है ॥ ७१ ॥

हताश्चेद्दिवि दीव्यन्ति दैत्या दैत्यारिणा रणे।
तत्रापि तेन युध्यन्तां हता अपि तथैव तु ॥ ७२ ॥

जीवातु—अन्यच्च शास्त्रं विडम्बयति—हता इति। रणे युद्धे, हताः विनष्टाः, शूरा इति शेषः। दिवि स्वर्गे, दीव्यन्ति क्रीडन्ति, चेत् यदि, दिव्यदेहं प्राप्येति भावः। तर्हि दैत्यारिणा विष्णुना, हताः रणे विनष्टाः, दैत्याः असुराः, पापकारिण इति भावः। तत्रापि स्वर्गेऽपि, तेन विष्णुना सह, युध्यन्तां युध्येरन्, रणे हतत्वात् दिव्यदेहं प्राप्य इति भावः। यस्मात् हता रणे विनष्टा अपि, ते दैत्याः, तथैव सम्मुखरणहतत्वात् स्वर्गे जीवनविशिष्टा एव; मरणसमयेऽपि दैत्यारिणा सह शत्रुभावस्य हृदये वर्त्तमानतया स्वर्गगमनेऽपि शत्रुभावस्य वर्त्तमानत्वात्, तत्रापि तेन सह सङ्ग्रामयितव्यमेव, न चैतदस्ति, तस्मादपि शास्त्रं मृषा इति निष्कर्षः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—रणे हताः दिवि दीव्यन्ति चेत्, दैत्यारिणा हताः दैत्याः अपितु तत्र अपि तेन तथा एव युध्यन्ताम्।

हिन्दी—युद्ध में मरे (वीरगतिप्राप्त शूर) यदि स्वर्ग में आनन्द-क्रीडा करते हैं तो दैत्यशत्रु (विष्णु) द्वारा मारे गये दैत्य भी तो वहाँ (स्वर्ग में) भी वैसे ही (दिव्य देह धारण किये) उन (विष्णु) के साथ युद्ध करते होंगे।

टिप्पणी—युद्ध में सम्मुख लड़कर वीरगति प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को स्वर्ग मिलता है—ऐसा कहा जाता है—'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्।' (श्रीमद्भगवद्गीता २।३७)। परन्तु यह उक्ति भी सत्य से दूर ही प्रमाणित होती है, क्योंकि यदि यह सत्य हो तो अनेक दैत्य हिरण्यकशिपु आदि विष्णु से युद्ध करके मारे गये हैं, उन्हें दिव्यदेहधारी हो स्वर्ग में भी विष्णु से युद्ध करना चाहिए। ऐसा है नहीं, अतः रण से न भागने से स्वर्ग मिलता है—'रणादपलायनात्स्वर्गः' आदि कथन भी झूठे हैं। सब पुराणादि के मिथ्यावचन हैं। शास्त्रादि सब झूठे, अतर्कसंमत और मिथ्या है ॥ ७२ ॥

स्वञ्च ब्रह्म च संसारे मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम् ।
इति स्वोच्छित्तिमुक्त्युक्तिवैदग्धी वेदवादिनाम् ॥७३॥

जीवातु—अथ मायावादिवेदान्तसिद्धान्तविशेषं विडम्बयति—स्वमित्यादि। संसारे संसारावस्थायां, स्वञ्च जीवात्मप्रपञ्चश्च, ब्रह्म च अनाद्यविद्याविलास-वासनाविद्यमानभेदं ब्रह्म च इति द्वयमेव, तथा मुक्तौ मोक्षावस्थायान्तु, केवलं जीवात्मप्रपञ्चरहितम् एकं ब्रह्म, उभयथापि वर्त्तते इति शेषः। यथा आकाशस्य घटाद्युपाधिनिवृत्तौ घटाकाशादिनिवृत्त्या आकाशमात्रेणावस्थानं तथा ब्रह्मा-त्मनः संसारोपाधिनिवृत्तौ जीवात्मनिवृत्त्या 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादिना ब्रह्मात्मस्वरूपेणैव अवस्थानं भवतीत्यर्थः। इति वेदवादिनां वेदान्तशास्त्रिणां, स्वस्य जीवस्य, उच्छित्तिः विनाश एव, मुक्तिः, मोक्षः, तस्याः उक्तौ प्रतिपादने, वैदग्धी वैदग्ध्यं, वाक्चातुर्यमित्यर्थः। 'गुणवचन—' इत्यादिना ष्यञ्, स्त्रीत्व-विवक्षायां 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष्। दृश्यते इति शेषः। यस्य जीवात्मनः कृते सर्वमेव, तस्यैव उच्छेदः प्रतिपादित इत्यहो वाक्चातुर्यमित्युपहासः ॥७३॥

अन्वयः—संसारे स्वं च ब्रह्म च, मुक्तौ तु केवलं ब्रह्म; इति वेदवादिनां स्वोच्छित्तिमुक्त्युक्तिवैदग्धी।

हिन्दी—संसार में 'स्व' (जीवात्मा) है और ब्रह्म (परमात्मा)—दो हैं और मुक्ति में तो केवल—एकमात्र परब्रह्म। यह है वेदान्त-मत के प्रवक्ताओं की स्व (जीवात्मा) का उच्छेदन-रूप मुक्ति का प्रतिपादन करने की विदग्धता (चतुरता, पंडिताई) !

टिप्पणी—वेदांत-दर्शन-वादियों का कथन है कि जगत् में दो हैं, जीव और ब्रह्म। जीवात्मस्वरूप प्रपंच और अनादि, अविद्या-विलास-वासना से रहित परब्रह्म; मुक्तिदशा में अविद्यादि-प्रपंच-जनित जीवात्मरूप भेद मिट जाता है और एकमात्र ब्रह्म रह जाता है। परब्रह्म आकाश के समान है और जीवात्मा घटाकाश। घट से आवृत आकाश घट के न रहने पर मुक्त हो आकाशमात्र में अभिन्न हो जाता है। इसी प्रकार देहावरण से मुक्त जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है। पुण्याचरण से यह अभिन्न स्थिति रह जाती है; और यही सत्य है और काम्य है, क्योंकि सत्य एक ब्रह्म ही है, द्वितीय—द्वितीया स्थिति नहीं—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।' तो तात्पर्य यह हुआ

कि मुक्ति 'स्व' अर्थात् 'अपना'—आत्मा का उन्मूलन है। अपने को नष्ट कर, अपनी सत्ता और अस्मिता मिटाकर दो से एक रहजाना ही वेदान्तियों का मोक्ष है। क्या कहा जाय ऐसी चतुराई को? जो अपने को मिटा दे, दो से एक ही रह जाने दे, वह चतुर नहीं, महामूर्ख है। अपना नाश जो स्वयं करे, वह पण्डित नहीं, परले सिरे का मूर्ख ही कहा जायेगा। तो 'स्वोच्छित्ति' को मुक्ति बताने वाले वेदान्ती परममूर्ख हैं। उनकी मुक्ति उन्हीं को भली। उनका ज्ञान, अर्थात् स्व नाश॥ ७३॥

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतम तमवेतैव यथा वित्थ तथैव सः॥ ७४॥

जीवातु—न्याय-वैशेषिकसम्मता मुक्तिं, दूषयति—मुक्तये इति। यः शास्त्रकर्ता, सचेतसां प्राणिनां, शिलात्वाय सुखदुःखादिसंवेदनाभावात् पाषाणावस्थास्वरूपायै, मुक्तये मोक्षाय, शास्त्रं न्यायशास्त्रम्, ऊचे प्रणिनाय तत्त्वज्ञानेन मिथ्याज्ञानदोषादीनां क्रमशो विनाशात् 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' इति सूत्रेण आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपा मुक्तिः गोतमेन व्यवस्थापिता, तेन च नवविधात्मविशेषगुणोच्छेदरूपा मुक्तिः प्रतिपाद्यते इत्यस्य मुक्तस्य पाषाणसदृशत्वमायातमिति भावः। तं तच्छास्त्रकर्त्तारं मुनिं, गोतममेव न केवलं नाम्नैव गोतमं किं तु अर्थतोऽपि गोतममेव उत्कृष्टगावमेव इत्यर्थः। अवेत जानीत। सर्वपूर्वादिणो मध्यमपुरुषबहुवचनम्। एवञ्च सति यथा वित्थ तं गोपशुत्वेन तथा जानीथ।' वेत्ते' पूर्ववद्रूपम्। सः तथा एव सम्मतेऽपि सः अर्थतोऽपि गोतमः गोवृश्चः एव शिलावस्थास्वरूपमोक्षोपदेशाद् गोतमः पशुतमः, मूढतम एवेत्यर्थः। यौगिकोऽयं शब्दो न तु योगरूढः, वैशेषिका अपि न्यायमतानुसारितया तद्रूपा इति भावः॥ ७४॥

अन्वय—यः सचेतसां शिलात्वाय मुक्तये शास्त्रम् ऊचे, तं गोतमम् एव अवेत, यथा वित्थ सः तथा एव।

हिन्दी—जिसने सचेत प्राणियों को पत्थर हो जाने के लिए मुक्ति के निमित्त शास्त्र (न्यायशास्त्र) का प्रतिपादन किया, उस (गोतम मुनि) को 'गोतम' (सबसे बड़ा बैल अर्थात् सबसे बड़ा मूर्ख) ही समझो, और जैसा (नाम्ना गोतम) उसे आप धर्मी कर्मी जानते हैं, वह वैसा ही (महामूर्ख) है।

टिप्पणी—गौतम-मुनि-प्रणीत न्यायशास्त्र का यहाँ उपहास है। गौतम सिद्धांत है—'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः',—अर्थात् सुख-दुःखादि से पूर्ण विमुक्त हो जाना मोक्ष है। तत्त्वज्ञान से प्राणी को सुख-दुःखादि की अनुभूति नहीं व्यापती। यही सुख-दुःखादिअनुभूति से छुटकारा मुक्ति है। इसी पर आक्षेप है कि सुख-दुःख का अनुभव चैतन्य, ज्ञानवान् प्राणी को होता है। जिसे यह अनुभव, संवेदन न हो, वह चैतन्य नहीं, जड़ है—पाषाण। तो जो चैतन्य से जड़—पत्थर बन जाने को काम्य मोक्ष मानता हो और उसी को प्राप्त करने के लिए साधना की सलाह दे, उसे नाम से ही नहीं, काम से भी 'गोतम' (सबसे बड़ा बैल अर्थात् सबसे बड़ा मूर्ख) मानना उचित होगा। उसका गोतम नाम उचित ही है। वह वैसा ही है। (उपहास के लिए 'गौतम' का 'गोतम' कर लिया)। वैशेषिक मत का भी इसमें उपहास हो गया, क्योंकि वैशेषिकों का भी यही कथन है कि आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति मुक्ति है और सुख भी क्योंकि दुःखानुषंगी है, अतः वह भी त्याज्य है। जो अदेह होकर रहते हैं उन्हें सुख-दुःख का स्पर्श नहीं होता—अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः ॥ ७४ ॥

दारा हरिहरादीनां तन्मग्नमनसो भृशम् ।
किं न मुक्ताः ? पुनः सन्ति कारागारे मनोभुवः ॥ ७५ ॥

जीवातु—हरिहरहिरण्यगर्भोपासनया मुक्तिरिति मतं निरस्यति–दारा इति। हरिहरादीनां दाराः लक्ष्म्यादयः स्त्रियः, भृशम् अत्यर्थं, तेषु हरिहरादिषु एव, मग्नमनसः लग्नचित्ताः, तद्भावभाविताः सन्तः अपि इत्यर्थः। किं कथं, न मुक्ताः ? मोक्षं न प्राप्ताः ? प्रत्युत मुक्तिः दूरे आस्तां, मनोभुवः कामस्य, कारागारे बन्धनालये। 'कारा स्याद् बन्धनालये' इत्यमरः। पुनः सन्ति सदैव कामपरवशा वर्त्तन्ते, अतो हरिहराद्युपासनया मुक्तिप्रतिपादकं तत्तच्छास्त्रं मिथ्यैवेति भावः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—हरिहरादीनां दाराः भृशं तन्मग्नमनसः किं न मुक्ताः, पुनः मनोभुवः कारागारे सन्ति ?

हिन्दी—हरि (विष्णु) और हर (शिव) आदि देवों की पत्नियाँ

(लक्ष्मी पार्वती) पूर्णत उन (विष्णु शिव) मे चित्त मग्न किये हुए भी क्या मुक्त नही हैं, उल्टे मनोज (काम) के वदीगृह मे हैं ?

टिप्पणी—भगवान् का कथन बताया जाता है कि जो उनमे मन बुद्धि अर्पित कर देता है, वही उनका प्रिय भक्त है और भगवान् से एकरूपता इसी से मिलती है—'मय्यर्पित मनोबुद्धि यो मद्भक्त स मे प्रिय । (गीता १२।१४) । ऐसे ही शैव सिद्धात है कि एक बार भी दो अक्षर 'शिव' का उच्चारण मोक्ष देता है—'सकृदुच्चरित येन शिव इत्यक्षरद्वयम् ।' चार्वाक का कथन है कि यह भक्ति-मुक्ति का सिद्धान्त भी पूर्ण मिथ्या प्रमाणित होता है। उदाहरण के लिए विष्णु की पत्नी लक्ष्मी और शिव की पार्वती अहर्निशि उनमे ही मनो-बुद्धि लीन रखती हैं, परन्तु उनकी मुक्ति नही हुई। इस देह-बधन—काम के कारागार से उनका छुटकारा नही, व मुक्त न होकर सदा काम क्रीडा में लगी रहती हैं। तो यह मुक्ति-सिद्धान्त सर्वथा भ्रात और दूसरो को मूर्ख बनाने क लिए हैं। हरिहरादि और उनकी दाराओं की काम-लिप्सा मुक्ति के विरुद्ध जाती है और इस सिद्धान्त का खोखला सिद्ध करती है।

देवश्चेदस्ति सर्वज्ञ करुणाभागवन्ध्यवाक् ।
तत् किं वाग्व्ययमात्रान्न कृतार्थयति नार्थिन ? ॥ ७६ ॥

जीवातु—किञ्च, न्यायमतसिद्ध ईश्वरोऽपि नास्ति यत्प्रसादात् मुच्येमही त्याह—देव इति । सर्वज्ञ भूतभविष्यद्वर्तमानयावद्वस्तुविषयकज्ञानवान्, करुणा-भाक् कारुणिक, वैषम्यनैर्घृण्यरहितबुद्धि इत्यर्थ । अवन्ध्यवाक् अमोघवचन, वेदरूपसत्यवचन इत्यर्थ । यथोक्तार्थसम्पादकवचन इत्यर्थो वा, देव ईश्वरः, अस्ति विद्यते, चेत् यदि, तत् तर्हि, अर्थिन मोक्षार्थिन, न अस्मान्, वाग्व्यय-मात्राद् भवन्तो मुक्ता भवन्त्विति वाक्योच्चारणमात्रेण, किं कथ, न कृतार्थ-यति ? न मोचयतीत्यर्थ । स सर्वज्ञादिविशेषणत्रयविशिष्टोऽपि यदि न मोच यितु समर्थो भवति, तदा स नास्त्यवेति भाव ॥ ७६ ॥

अन्वय—सर्वज्ञ करुणाभाक् अवन्ध्यवाक् देव चेत् अस्ति, तत् अर्थिन न वाग्व्ययमात्रात् किं न कृतार्थयति ?

हिन्दी—सब जाननेहारा करुणा कर और अव्यर्थ रहने वाले वचन बोलने वाला देव(ईश्वर) यदि कोई है तो याचना करते हम (मोक्ष कामियो) को

वचन-व्यय-मात्र से (केवल जीभ हिला देने से) हमें (मोक्ष देकर) कृतार्थ क्यों नहीं करता ?

टिप्पणी—न्यायमत-प्रमाणित ईश्वर का उपहास। जिसमें घरवी आदि को कार्य मानकर कार्य का कर्त्ता होता ही है—इस सिद्धान्त के आधार भूम्यादि सकर्तृक माना गया है और वह कर्त्ता ईश्वर सिद्ध किया गया है—'भूम्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्।' चार्वाक तर्क है कि ईश्वर नहीं है। यह अवधारणा ही भ्रांत करने वाली और अप्रामाणित सिद्ध होती है। इस मत के अनुसार ईश्वर कोई ऐसा देव होना चाहिए जो सर्वज्ञ, दयालु और कह देने मात्र से सब कर सकता हो। ऐसा है नहीं, क्योंकि यदि ऐसा कोई होता तो अपने भक्त प्रार्थियों को जरा-सी जीभ हिलाकर ही मुक्ति दे देता। बोलता—'मुक्ति दी' और भक्तों को मोक्ष मिल जाता। ऐसा नहीं होता। यही ईश्वर की सत्ता को अप्रामाणित कर देता है॥ ७६॥

भविनां भावयन् दुःखं स्वकर्मजमपीश्वरः।
स्यादकारणवैरी नः कारणादपरे परे॥ ७७॥

जीवातु—कर्ममीमांसकमतं दूषयति—भविनामिति। भविनां संसारिणां, स्वकर्मजं निजकर्मजातम् अपि, दुःखं क्लेशं, भावयन् दुःखोत्पत्तौ औदासीन्यं विहाय निमित्तं भवन्, दुःखोत्पत्तौ प्रवर्त्तयन् वा, ईश्वरः नः अस्माकम्, अकारणात् अहेतो, वैरी शत्रुः, स्यात् भवेत्, अपरे अन्ये, कारणात् अन्योऽन्यापकारलक्षणात् निमित्तात् परे वैरिणः, भवन्ति इति शेषः। अतः सोऽपि न विश्वसनीयः इति भावः॥ ७७॥

अन्वयः—भविनां स्वकर्मजम् अपि दुःखं भावयन् ईश्वरः नः अकारण-वैरी स्यात्, अपरे कारणात् परे।

हिन्दी—संसारी-जनों के अपने कर्मों से उत्पन्न भी दुःख का निमित्त बनता ईश्वर हमारा बिना कारण के शत्रु सिद्ध होता है, जब कि अन्य (जन) कारण से ही वैरी होते हैं।

टिप्पणी–कर्म (मीमांसा) सिद्धांत की सदोषता। मीमांसकों के अनुसार कर्म ही ईश्वर है—'कर्मेति मीमांसकाः।' यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि मनुष्य के कर्मों के आधार पर उन्हें कष्ट पहुँचाने का कारण बनता ईश्वर

उनका निष्कारण वैरी बनता है। अपनी इच्छानुसार किया, ईश्वर का क्या बिगाड़ा मनुष्यों ने—संसारियों ने, जो वह उन्हें पीड़ा पहुँचाता अकारण शत्रु बन रहा है? सामान्य संसारी भी अकारण वैरी नहीं बाँधते। तो या तो ईश्वर है ही नहीं, या फिर है तो अकारण शत्रु। दयालु आदि तो वह है ही नहीं।

तर्काप्रतिष्ठया साम्यादन्योऽन्यस्य व्यतिघ्नताम्।
नाप्रामाण्यं मतानां स्यात् केषां सत्प्रतिपक्षवत्? ॥ ७८ ॥

जीवातु—किञ्च, सर्वाण्यप्यास्तिकमतानि परस्परविरोधादप्रामाण्यापत्तेर्वैरयाह—तर्केति। तर्कस्य प्रामाण्योपपादकयुक्तेः, अप्रतिष्ठया अनन्ततया, एकत्र परिनिष्ठितत्वाभावेन कारणेन इत्यर्थः। यत् साम्यं तुल्यत्वं, व्याप्तिपक्षतादिरूपसमबलत्वमित्यर्थः। तस्मात् हेतोः, अन्योऽन्यस्य परस्परस्य, व्यतिघ्नतां दूषयतां, विरोधिप्रमाणसद्भावेन परस्पर फलनिश्चयं प्रतिरुन्धतामित्यर्थः। 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे द्वे भवतः' इति अन्यशब्दस्य द्विरुक्तिः, पूर्वपदात् प्रथमैकवचनं, शेषे कर्मणि षष्ठी, कर्मव्यतीहारे द्योतनार्थोऽप्युपसर्गप्रयोगः, 'इतरेतरान्योऽन्योपपदाच्च' इति प्रतिषेधात् कर्मव्यतीहारेऽप्यात्मनेपदाभावः। केषां मतानां दर्शनानां सत्प्रतिपक्षवत् सन् वर्तमानः, प्रतिपक्षः विरोधिसाध्यसाधको हेतुर्यस्य स सत्प्रतिपक्षस्तद्वत् मिथः प्रतिरुद्धसाध्यसाधकहेतूनाम् इव, अप्रामाण्यम् अनैकान्तिकत्वं न स्यात्? अपि तु सर्वेषामेव तत् स्यादेव इत्यर्थः। तथा हि वैशेषिकादयो यथा कार्यत्वहेतुना घटादिदृष्टान्तेन शब्दस्यानित्यत्वं प्रमाणयन्ति, तथा मीमांसका अपि निरवयवत्वादिहेतुना आत्माकाशादिदृष्टान्तेन शब्दस्य नित्यत्वं व्यवस्थापयन्ति, इत्येवञ्च तादृशमतद्वयस्य समबलतया एकत्र प्रामाण्यनिश्चयाभावेन च तदुत्तरमध्यस्थस्य शब्दो नित्यो न वेति संशयोत्पादात् निश्चयरूपफलोत्पादविरहात् तादृशमतद्वये एव अप्रामाण्यज्ञानं जायते इति भावः ॥ ७८ ॥

अन्वय.—तर्काप्रतिष्ठया साम्यात् अन्योऽन्यस्य व्यतिघ्नतां केषां मतानां सत्प्रतिपक्षवत् अप्रामाण्यं न स्यात्?

हिन्दी—तर्कों के अनन्त, अप्रतिष्ठित होने से सम (तुल्य बल) होने के कारण परस्पर खंडन करते किन मतवादों को विरुद्ध साध्य-साधक हेतु होने

से (परस्पर विरोध प्रमाणित होने का आधार होने से) अप्रामाणिकता न होगी ? (सब ही अप्रामाणिक सिद्ध होंगे) ।

टिप्पणी—प्रमाणप्रतिपादिका युक्तियों अर्थात् तर्कों का कोई अन्त नहीं, वे अगणित हैं और मत तो सब ही सम हैं, समान भाव से एक दूसरे का खंडन कर देते हैं । उदाहरणार्थ—वैशेषिक मत कहता है—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कार्य है, और कार्य अनित्य होता है, जैसे कुम्भकार का कार्य घड़ा—'कृतकत्वाद् घटवदनित्यः शब्दः ।' इसके विरुद्ध मीमांसा मत है—शब्द नित्य है, क्योंकि वह निरवयव है, और निरवयव नित्य होता है, जैसे आत्मा—'निरवयवत्वादात्मवन्नित्यः शब्दः ।' दोनों ही समान बल हैं । प्रमाण हेतु भी समान हैं । अब किसको प्रमाण माना जाय ? दोनों ही अप्रामाणिक हैं । ऐसे ही तर्क तो परस्पर विरुद्ध सर्वत्र मिल जाते हैं । और एक उदाहरण लें—(१) गगन नित्य है, अमूर्त होने के कारण, आत्मा के तुल्य । (२) गगन अनित्य है, वाह्यें न्द्रिय गुणाधार भूत होने से, घट की भाँति । दोनों ही में विरुद्ध हेतु हैं, तर्क हैं, अनुमान है । तो तुल्य बल होने से अप्रामाणिक ठहरते हैं । वस्तुतः सभी आस्तिक मत परस्पर विरोधी होने से अप्रामाणिक हैं ॥ ७८ ॥

अक्रोधं शिक्षयन्त्यन्यान् क्रोधना ये तपोधनाः ।
निर्धनास्ते धनायैव धातुवादोपदेशिनः ॥ ७९ ॥

जीवातु—अक्रोधमिति । क्रोधनाः स्वयं कोपनशीलाः । 'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च' इति युच् । ये तपोधनाः दुर्वासःप्रभृतयः, अन्यान् इतरान्, अक्रोधं सर्वानर्थहेतुत्वात् क्रोधः परिहर्त्तव्य इत्यादिना क्रोधपरिहारं, शिक्षयन्ति उपदिशन्ति । 'भुविशासि—' इति द्विकर्मकत्वम् । ते मुनयः, निर्धनाः स्वयं निःस्वाः जनाः, धनाय धनार्थं, धातुवादोपदेशिनः ईदृशप्रक्रियातो लोहः स्वर्णो भवेदित्यादिना परेषां धातुविद्योपदेष्टारः इव, उपहास्या भवन्ति इति शेषः । धातुविद्योपदेष्टुस्तादृशप्रक्रिया यदि फलवती स्यात् तदा स्वस्य कथं निर्धनत्वमिति स यथा उपहास्यः तद्वत् उपहास्याः स्युरिति भावः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—क्रोधनाः ये तपोधनाः अन्यान् अक्रोधं शिक्षयन्ति, निर्धनाः ते धनाय एव धातुवादोपदेशिनः ।

हिन्दी– क्रोधस्वभाव जो तपस्वी दूसरा को क्रोध न करने की शिक्षा देते ह, निर्धन के समान वे धन के निमित्त ही धातुवाद (कीमियागरी, लोहे आदि से सोना बनाने का सिद्धान्त) का उपदेश देने वाले हैं।

टिप्पणी-क्रोध न करने की शिक्षा देने वाला का उपहास। मुनि जन स्वय तो एक से-एक बढ कर क्रोधी हैं, जैसे दुर्वासा। थोड़े से भी अप्रसन्न हुए, शाप दे दिया। ऐसे लोगों का अन्य जनो का उपदेश देना कि क्रोध न करो-उपहासास्पद और धोखा है। यह उसी प्रकार है कि जैसे कोई स्वय निर्धन होते हुए भी दूसरा को लोहा-ताँबा आदि से चाँदी सोना आदि बनाने की शिक्षा दे। अरे, जब वह यह कीमियागरी जानता है, तो स्वय क्या नही सोना-चाँदी बना कर धनी बन जाता, जो दूसरा को सिखा कर उनस धन ऐंठना चाहता है। वस्तुत वह प्रवचक होता है। ऐसे ही ये क्रोधी ऋषि मुनि हैं वचक। स्वय परले सिरे के क्रोधी हैं, दूसरा को क्रोध न करना सिखाते हैं॥ ७९॥

> किं वित्त दत्त ? तुष्टेयमदातरि हरिप्रिया।
> दत्वा सर्वं धन मुग्धो बन्धन लब्धवान् बलि ॥ ८० ॥

जीवातु–किमिति। हे वदान्या ! वित्त धन, किं किमर्थं दत्त ? वितरथ ? न दातव्यमित्यर्थं। प्रश्ने लोट्। न च अदाने लक्ष्मीक्षोभ आशङ्कनीय इत्याह—यत इयं वित्तरूपा हरिप्रिया लक्ष्मी, अदातरि कृपणे एव, तुष्टा प्रसन्ना, अदानेनैव तुष्यतीत्यर्थ। तथा हि, मुग्ध मूढ, दानव्यसनीति भाव। बलि वैरोचनि, सर्वं धन सवस्व, दत्वा प्रदाय, वामनरूपाय विष्णवे इति भाव, । बन्धन सयमन, लब्धवान् प्राप्तवान् त्रिविक्रमेण तेनैव बद्ध इत्यर्थ। दानविधायक शास्त्रमपि तथा प्रमाणम्, एवञ्च कृपणे सम्पद्रूपाया लक्ष्म्या अवस्थानदर्शनाद् दान न कर्तव्यमेवेति भाव ॥ ८० ॥

अन्वय.—वित्त किं दत्त ? इय हरिप्रिया अदातरि तुष्टा। मुग्ध बलि सर्वं धन दत्वा बन्धन लब्धवान।

हिन्दी—धन क्या देते हो ? यह विष्णुप्रिया (लक्ष्मी) न देने वाले (कृपण) से सतुष्ट रहती है। मूर्ख बलि को, सब धन दान कर, बन्धन प्राप्त हुआ था।

टिप्पणी—दान धर्म भी व्यर्थ है और हानिकारक भी। यह विष्णु

प्रिया लक्ष्मी (धन-संपत्ति) उसी के पास रहती है, जो इसे नहीं देता। लक्ष्मी कृपण के पास ही रहती है, जो लुटायेगा, उस पर कैसे रहेगी? दान का फल अच्छा नहीं होता। पताल राज वलि की पौराणिक कथा प्रमाण है, कि उसने वामन रूपधारी विष्णु को सर्वस्व दे डाला था। प्रिय को, जिनकी वह प्रिया है, उन विष्णु को भी, वलि ने संपत्-लक्ष्मी दे दी, उस पर भी वह प्रसन्न नहीं हुई। बेचारे वलि को बंधन मिला। वामन की प्रसिद्ध कथा ही यह बताती है कि दानी को सुख नहीं, दण्ड मिलता है॥ ८०॥

दोग्धा द्रोग्धा च सर्वोऽयं धनिनश्चेतसा जनः।
विसृज्य लोभसङ्क्षोभमेकद्वा यद्युदासते॥ ८१॥

जीवातु—दोग्धेति। अयं परिदृश्यमानः, सर्वः निखिलः जनः, लोकः, धनिनः धनिकान्, दोग्धा दोहनशीलः, परोपकारस्य कर्तव्यताद्युपदेशादिना धनिभ्यो नित्यं धनसंग्रहं करोतीत्यर्थः, तथा चेतसा मनसा, द्रोग्धा च द्रोहकरणशीलश्च, अनिष्टचिन्तनपर इत्यर्थः। कथमेनं वञ्चयित्वा एतस्य धनादिकं संगृह्णीयामित्येवं मनसि तस्यानिष्टं चिन्तयतीति भावः। ताच्छील्ये तृन्, अत एव 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। कदाचिदेतस्य व्यभिचारोऽपि दृश्यते इत्याह—लोभसङ्क्षोभं धनाभिलाषजन्यं मानसचाञ्चल्यं, विसृज्य विहाय, संयम्य इत्यर्थः। एको द्वौ वा येषां ते एकद्वाः, न तु तृतीयः इति भावः। 'सङ्ख्ययाव्यय—' इत्यादिना बहुव्रीहौ, 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये' इति डच्समासान्तः। यदि सम्भावनायाम्, उदासते निःस्पृहाः तिष्ठन्ति, तादृशलोभसङ्क्षोभरहितो जनः अत्यल्प एव इति सम्भावयामि इति भावः। तथा च प्रतारकाणामुदरपूरको दानधर्मः सत्पात्राभावात् त्याज्य एवेति निष्कर्षः॥ ८१॥

अन्वयः—अयं सर्वो जनः धनिनः दोग्धा, चेतसा च द्रोग्धा; लोभसंक्षोभं विसृज्य यदि उदासते, एकद्वा।

हिन्दी—ये सब लोग धनियों को दुहना चाहते हैं और मन में उनसे द्रोह करते हैं। लोभ जनित क्षुब्धता को त्याग कर यदि निस्पृह हैं तो एक-दो ही।

टिप्पणी—दानी होना निरर्थक ही है, उससे कोई जनप्रियता भी नहीं मिलती, क्योंकि लोगों का अधिकांश धनियों से धन भी लेना चाहता है और मन-ही-मन उनका अनिष्ट चिंतन भी करता है। प्रायः लोग सोचा करते हैं

कि कैसे धनियों को दुहा जाय अर्थात् छल-कपट से, धोखा देकर उनका धन हड़प लिया जाय। हाँ, एक-दो ही व्यक्ति ऐसे भी हो सकते हैं, जो ऐसे लोभी न हों। पर बहुत-थोड़े, उँगलों पर गिने जाने योग्य। वस्तुतः यह दान नामक धर्म और धोखे बाजों का पेट भरना ही है ॥ ८१ ॥

दैन्यस्यायुष्यमस्तैन्यमभक्ष्यं कुक्षिवञ्चना।
स्वाच्छन्द्यमृच्छतानन्द-कन्दलीकन्दमेककम् ॥ ८२ ॥

जीवातु—दैन्यस्येति। अस्तैन्यम् अस्तेय, चौर्याभाव इत्यर्थः। क्वचित् प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समास इष्यते अहिंसेतिवत्। दैन्यस्य दारिद्रयस्य, आयुषे हितम् आयुष्य वृद्धिकारकमित्यर्थः। चौर्यं बिना दैन्यं नापयातीति भावः। हितार्थे यत्-प्रत्ययः। अभक्ष्य लशुनग्राम्यशूकरादिभोजनविरति, कुक्षेः जठरस्य, वञ्चना प्रतारणा एव, सुस्वादुवस्तुभोजनपरित्यागात् जठरमेव वञ्चितं भवति, न तु ततः कश्चित् धर्म इति भावः। अत आनन्दकन्दलीकन्दम् आनन्दाङ्कुरमूल सकलसुखबीजभूतमित्यर्थं, एककम् एकमात्रम्, असहाये कन्-प्रत्यय.। स्वाच्छन्द्य स्वेच्छाचारित्वम्, ऋच्छत अवलम्बध्वम्, श्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रतिपादितान् निषेधान् उल्लङ्घ्य सकलसुखनिदानं स्वेच्छाचारित्वमेव कुरुतेति भावः। ॥ ८२ ॥

अन्वय—अस्तैन्यं दैन्यस्य आयुष्यम्, अभक्ष्य कुक्षिवञ्चना, आनन्दकन्दलीकन्दम् एकक स्वाच्छन्द्यम् ऋच्छत।

हिन्दी—चोरी न करना दीनता की आयु वृद्धि कारक है और अभक्ष्य (मांसादि न खाना) पेट को धोखा देना है। आनन्द-रूप-अंकुर के मूल एक मात्र स्वच्छन्दता का आश्रय लो।

टिप्पणी—उपदेश दिया जाता है कि चोरी मत करो। अस्तेय मानव धर्म के दस लक्षणों में एक बताया गया है—'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम् ....' इत्यादि (मनु स्मृति)। चोरी मत करो, बेईमानी मत करो, क्या होगा? दरिद्र रहोगे। दीनता बढ़ती चली जायेगी। मांस मत खाओ, लहसुन मत खाओ, गाजर मत खाओ, यह मत खाओ—वह मत खाओ। अर्थात् अच्छी, स्वादिष्ट वस्तु न खा कर रूखा-सूखा खाओ और भूखे-अध पेट रहो और इस प्रकार पेट को धोखा दो। यह सब विचार, दस लक्षणों वाले धर्म का

पालन, खाद्याखाद्यविवेक–सब मूर्खता है, ढोंग। कष्ट बढ़ाने वाला। उचित यही है कि जिससे आनन्द मिले, स्वच्छन्दता पूर्वक वही आचरण करे ॥८२॥

इत्थमाकर्ण्य दुर्वर्णान् शक्रः सक्रोधतां दधे।
अवोचदुच्चैः कस्कोऽयं धर्ममर्माणि कृन्तति ? ॥ ८३ ॥

जीवातु—इत्थमिति। शक्रः इन्द्रः, इत्थम् एवंविधान्, दुर्वर्णान् वेदादिदू-षकाणि चार्वाकदुर्वचनानि; आकर्ण्य श्रुत्वा, सक्रोधतां दधे चुक्रोध। कः ? अयं वेदादिदूषकः जनः; कः ? क इत्यस्य कोपे द्विरुक्तिः। 'कस्कादिषु च' इति सकारः। धर्ममर्माणि श्रुतिसारभूतानि धर्मरहस्यानि, कृन्तति ? छिनत्ति ? इति उच्चैः तारम्, अवोचत् अकथयत्, शक्र इति शेषः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—इत्थं दुर्वर्णान् आकर्ण्य शक्रः सक्रोधतां दधे, उच्चैः अवोचत्–अयं कः ? कः धर्ममर्माणि कृन्तति ?

हिन्दी—इस प्रकार (उपर्युक्त चार्वाक) के दुर्वचन सुन कर इन्द्र क्रुद्ध हो गया। वह ऊँचे स्वर में बोला—यह कौन है ? कौन है, जो धर्म के रहस्यों को काट रहा है ?

टिप्पणी—श्लोक संख्या ३६—८२ चार्वाक वचन हैं, जो धर्माचरण-विरोधी हैं और जिनमें धर्म के मूल पर कुठाराघात किया है। यह नास्तिक दर्शन है, जो केवल दृश्यमान स्थूल को प्रमाण मानता है, वह भी एक विशिष्ट आग्रह को लेकर। स्वाभाविक था कि ऐसे दुर्वचनों को सुन कर इन्द्र क्रुद्ध होता, क्योंकि उसमें इन्द्र, देव गण; उनकी विचारपद्धति, आचरणशैली पर सीधा प्रहार था। इन्द्र ने उसे फटकारते हुए, उसका विरोध किया और उसे आतंकित किया ॥ ८३ ॥

लोकत्रयीं त्रयीनेत्रां वज्रवीर्यस्फुरत्करे।
क इत्थं भाषते पाकशासने मयि शासति ? ॥ ८४ ॥

जीवातु—लोकेति। त्रयीनेत्रां बाह्यप्रत्यक्षाविषयपदार्थज्ञापकवेदत्रयचक्षुषं, लोकत्रयीं त्रिलोकीं, वज्रवीर्येण कुलिशप्रभावेण, स्फुरत्करे दीप्यमानहस्ते, पाकशासने पाकासुरघातिनि, एतेन धर्मदूषकाणां हननसामर्थ्यं स्वस्य सूचितम्। मयि देवेन्द्रे शासति दण्डयति, धर्मसंस्थापनपूर्वकं पालयति सतीत्यर्थः। क इत्थम् एवं, धर्मदूषणादिरूपमित्यर्थः। भाषते ? प्रलपति ? ॥ ८४ ॥

अन्वयः—त्रयीनेत्रा लोकमयी वज्रवीर्यस्फुरत्करे मयि पाकशासने शासति कः इत्थं भाषते ?

हिन्दी—ऋक्, यजु, साम—त्रिवेदी जिसके नेत्र हैं, ऐसे त्रिलोकी का वज्र के बल से दीप्त हस्त मुझ पाकासुर के मर्दक (इन्द्र) के शासन करते रहने पर कौन इस प्रकार (दुर्वचन) बोल रहा है ?

टिप्पणी—यह त्रिलोकी वेद त्रय रूप नेत्रों से देख कर चलता है, अर्थात् समस्त संसार वेद-स्मृति पुराणादि में प्रतिपादित आचरण कर जीवन यापन करता है और उस धर्माचारी संसार का वज्र हस्त हो इन्द्र शासन करता है। वह इन्द्र जिसने इसी वज्र से अधर्मी पाकासुर का मर्दन किया था। आज उस इन्द्र के रहते कौन ऐसा दुःसाहसी हो गया है, जो ऐसी धर्म विरुद्ध वाणी बोल रहा है। ऐसे प्रलापी को क्या अपनी मृत्यु का भय नहीं है ?

वर्णासङ्कीर्णतायां वा जात्यलोपेऽन्यथाऽपि वा।
ब्रह्महादेः परीक्षासु भङ्गमङ्ग [1] प्रमाणय ॥ ८५ ॥

जीवातु—'शुद्ध वंशद्वयी शुद्धौ' इत्यादिश्लोकद्वयेन (१७।१९-४०) यद् सर्वस्यैव जातिदूषणमुक्तं तत् परिहरति—वर्णेत्यादि। वर्णानां ब्राह्मणादिवर्णानाम्, असङ्कीर्णतायाम् असाङ्कर्ये वा, योनिसाङ्कर्याभावे वा इत्यर्थः। अन्यथाऽपि प्रकारान्तरेणापि वा, वाणिज्यादिनिषिद्धवृत्त्याश्रयणेन इत्यर्थः, जात्यलोपे जातिभ्रंशाभावे, जातिशुद्धिविषये इत्यर्थः। ब्रह्महादेः ब्रह्महत्यादिकारिणः पापिनः, परीक्षासु तुलादिदिव्यबाधनेषु, भङ्गं पराजयम्, अङ्ग [1] भोः [1], प्रमाणय प्रमाणत्वेनावगच्छ इत्यर्थः। यदि ब्राह्मणत्वादिजातिशुद्धिर्न स्यात्, तदा नाहं ब्राह्मणहन्तेति दिव्यकारिणः ब्राह्मणादिहन्तुः शुद्धत्वाज्ञापकेषु स्मृतिशास्त्रायत्तेषु अलातन्तुलादिदिव्यशोधनेषु कथं पराजयः स्यात् ? अतस्तत्र पराजय एव जातिशुद्धौ प्रमाणमिति भावः। ॥ ८५ ॥

अन्वयः—वर्णासङ्कीर्णतायां वा अन्यथा अपि जात्यलोपे अङ्ग, ब्रह्महादेः परीक्षासु भङ्गं प्रमाणय।

हिन्दी—(ब्राह्मणादि) वर्णों के असंकर रहने अथवा अन्य प्रकार से भी जाति का लोप नहीं हुआ, अरे मूर्ख चार्वाक, इसका प्रमाण ब्रह्महत्या आदि पापों के कर्त्ताओं की परीक्षाओं पराजय है।

टिप्पणी—चार्वाक-मत में 'शुद्धं वंशद्वयी शुद्धौ—इत्यादि (३९) और 'कामिनीवर्गसंसर्गैन' इत्यादि (४०) श्लोकों में कुल-परंपरा का उपहास किया गया था। इन्द्र ने यहाँ उसका खण्डन किया है। वह कहता है कि जाति-परंपरा आज भी जीवित है, प्रभावी है। न तो वर्ण संकरता से ही वह मिट सकती है और न वाणिज्यादि निषिद्ध वृत्तियों का आश्रय ले लेने आदि अन्य कारणों से ही। इसका प्रमाण है, ब्रह्महत्यादि पातक करने वाले पापियों की 'दिव्य' परीक्षा और उससे अपराध प्रमाणित होने पर पापियों को मिलने वाला दण्ड। पापी जब पाप करना अस्वीकारता था, तो उसकी अग्नि-जल आदि द्वारा परीक्षा की जाती थी। पातकी को आग में जलाया जाता था या पानी में डुबोया जाता था। यदि निष्पाप होता था तो उसका शरीर या अंग आग मे नही जलता था और जल में नहीं डूबता था, और पापी होनेपर अंग जलता था, और डूबता था। यह 'दिव्य' परीक्षा कहाती थी। इस परीक्षण मे दूध का दूध और पानी का पानी हो जाना—इस बात का प्रमाण है कि जातिशुद्धि है। यदि जाति शुद्ध न होती तो शुद्ध ब्राह्मण कहाँ से मिलते और यह 'दिव्य' कैसे होते? जहाँ संस्कारद्वारा जाति-शुद्धि नही है, वहाँ पाप करने पर भी दण्ड नहीं मिलता। जगत् में ऐसा है, इसलिए सिद्ध है कि जाति शुद्धि है; और यह भी है कि जाति शुद्धि रहनी चाहिए, अन्यथा अनाचार, अराजकता फैल जायगी ॥८५॥

ब्राह्मण्यादिप्रसिद्धाया गन्ता यन्नेक्षते जयम्।
तद्विशुद्धिमशेषस्य वर्णवंशस्य शंसति ॥ ८६ ॥

जीवातु—ब्राह्मण्यादीति। किञ्च, ब्राह्मणी आदिः यस्याः सा ब्राह्मण्यादिः, क्षत्रियादिस्त्री, सा चासौ प्रसिद्धा चेति तस्याः प्रख्यातब्राह्मण्यादिस्त्रियाः, गन्ता सम्भोक्ता, जन इति शेषः। जयं दिव्यपरीक्षणे जिनविजयं, न ईक्षते न पश्यति, ब्राह्मण्यादिगन्ता परीक्षासु कुत्रापि विजयं न लभते इत्यर्थः। इति यत्, तत् पराजयनम् एव जयादर्शनमेव वा, अशेषस्य सकलस्य, वर्णवंशस्य ब्राह्मणादिकुलस्य विशुद्धिं मातापित्रादिपरम्परया निर्दोषत्वं, शंसति कथयति, अन्यथा कथं तद्गन्तुः पातकित्वशंसी पराजयः? इति भावः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—ब्राह्मण्यादिप्रसिद्धायाः गन्ता यत् जाय न ईक्षते तत् अशेषस्य वर्णवंशस्य विशुद्धिं शंसति।

हिन्दी—ब्राह्मणी आदि प्रख्यात स्त्रियों से सम्भोग करने वाली जो ('दिव्य' में) जय नहीं पाता है, वह (पराजय—भग) संपूर्ण ब्राह्मणादि वंश की विशुद्धि का बनाता है।

टिप्पणी—ब्राह्मणी आदि अगम्या-भोग कर्ताओं को 'दिव्य' होने पर दण्ड मिलता है, वे कभी शपथ लेकर जयी नहीं हो पाते। यह इस बात का प्रमाण है कि वर्णसंकरता नहीं है और जाति शुद्ध है ॥ ८६ ॥

जलानलपरीक्षादौ संवादो वेदवेदिते।
गलहस्तितनास्तिक्या धिग् धियं कुरुते न ते? ॥ ८७ ॥

जीवातु—जलेति। किञ्च, वेदवेदिते श्रुतिप्रतिपादिते, जलानलपरीक्षादौ जलाग्न्यादिदिव्यशोधनादौ, आदिशब्दात् प्रत्यक्षफलक-कारीर्यादिसंग्रहः। संवादं शुद्धाशुद्धवृष्ट्यादिदर्शनरूपं व्यापारं इत्यर्थः। ते तव, धियं मतिं, गलहस्तेन तुल्यं गलहस्तितं गले हस्तं दत्त्वा बलाद् दूरीकृतम्, नास्तिक्यं परलोको नास्तीत्यादिप्रकारकं ज्ञानं यस्याः ताम् आस्तिक्यबुद्धिमित्यर्थः। न कुरुते? धिक् अतो निन्दामीत्यर्थः। त्वामिति शेषः। 'धिङ्निर्भर्त्सननिन्दयोः' इत्यमरः। वेदबोधितजलदिव्ये तु पापाभिशस्तः पुरुषः जले निमज्जता पुरुषान्तरेण आकर्णपूर्णधनुर्मुक्तशरप्रत्यानयनमपेक्षमाणः सन् यदि अप्रत्यानीतशरो जलादुन्मज्जति तदा स अशुद्धः, प्रत्यानीतशरो यदि उन्मज्जति तदा शुद्ध एव, इत्थमेव च तत्र प्रत्यक्षं दृश्यते इत्येव संवादः। अग्निदिव्येऽपि तप्तलोहादौ दाहादाहाभ्याम् अशुद्धिशुद्धी प्रत्यक्षदृश्ये। एवम् अनावृष्ट्यादौ कारीर्यादियागे कृते वृष्टिर्दृश्यते इत्यादिकप्रत्यक्षफलकवेदबोधितकार्यदर्शनात् तव नास्तिक्यबुद्धिर्नापयातीति धिक् इति भावः ॥ ८७ ॥

अन्वय—वेदविदिते जलानलपरीक्षादौ संवादः ते धियं गलहस्तितनास्तिक्यां न कुरुते? धिक्।

हिन्दी—वेदों में वर्णित जल अग्नि की (दिव्य) परीक्षादि में संगति तेरी (चार्वाक की) दुर्बुद्धि से अर्धचन्द्र (गले में हाथ डालकर) देकर नास्तिकता को नहीं निकाल देती? धिक्कार है।

टिप्पणी—वेदोक्त 'दिव्य' परीक्षा में पापी का दण्ड पाना और निष्पाप का बच निकलना जो प्रत्यक्ष है, वह 'संवाद' भी आश्चर्य है कि चार्वाक

की दुर्बुद्धि से नास्तिकता दूर नहीं करता ! जलदिव्य में पापी डूबता है, निष्पाप बच जाता है, अग्निदिव्य में दाहादाह होता है, यज्ञ करने से वर्षा होती है—ये सब वेदादि की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। इनके रहते तो नास्तिकता नहीं रहनी चाहिए। वह किसी 'कुरुते' (कु + रुते, दुर्वादी) और 'अनते' (अ + नते = दुर्विनीत) में ही संभव है ॥ ८७ ॥

सत्येव पतियोगादौ गर्भादेरध्रुवोदयात्।
आक्षिप्तं नास्तिकाः ! कर्म न किं मर्म भिनत्ति वः ? ॥८८॥

जीवातु—सतीति। नास्तिकाः ! हे नास्तिपरलोकाः ! 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' इति ठक्। पतियोगादौ भर्तृसहवासादिकारणसाकल्ये, सति एव विद्यमानेऽपि, एव शब्दोऽत्र अप्यर्थे बोध्यः। आदिशब्दान्मेघोदयादिप्रत्यक्षीमूतकारणकलापे सत्यपि इति भावः। गर्भादेः अध्रुवोदयात् अनिश्चितोत्पत्तिकत्वात्, कदाचित्कोत्पन्नगर्भादिकार्यादित्यर्थः। आदिशब्दात् वृष्ट्यादिकार्यसंग्रहः। आक्षिप्तम् अर्थापत्तिसिद्धम्, अर्थापत्तिप्रमाणसिद्धं स्त्रीपुरुषसहवासादिरूपदृष्टकारणकलापसद्भावेऽपि गर्भोदयादिरूपकार्यस्य कादाचित्कत्वं धर्माधर्मरूपादृष्टकारणं विनाऽनुपपन्नम् इत्यनुपपत्तिज्ञानरूपादर्थापत्तिप्रमाणात् प्रमितमित्यर्थः। कर्म धर्माधर्मरूपजन्मान्तरीयादृष्टं, वः युष्माकं नास्तिकानां, मर्म हृदयं, हृद्गतसंशयमिति यावत्। न भिनत्ति किम् ! न छिनत्ति किम् ? एतेनैव अदृष्टमस्तीति बोद्धव्यम् इति भावः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—पतियोगादौ सति एव गर्भादेः अध्रुवोदयात् आक्षिप्तं कर्म नास्तिकाः, किं वः मर्म न भिनत्ति ?

हिन्दी—पति से सहवास होने पर भी गर्भादि धारण अनिश्चित होने से अर्थापत्ति से सिद्ध कर्म अरे नास्तिकों, क्या तुम (नास्तिकों) के मर्म (हृदय, दर्शन-रहस्य) का छेदन नहीं करता ?

टिप्पणी—'मृतः स्मरति' इत्यादि ५२ वें श्लोक में चार्वाक का मत था कि पूर्वजन्म, मृत्यु-पश्चात् फल-भोग आदि सब धूर्त-वचन हैं। इस पर ही यहाँ प्रहार है कि प्रतिदिन ऐसा प्रमाण मिलता है कि कारण होने पर भी कार्य नहीं हुआ, नर-नारी-संयोग होने पर सतानोत्पत्ति नहीं हुई। यह अनिश्चितता अर्थापत्ति से पूर्वजन्मकृत फल के भोग को सिद्ध करती है। नर-नारी-

सहवासादि कारण के होने पर गर्भ धारण में अनिश्चितता, मेघोदय होने पर वर्षा का न होना, बोने सींचने पर भी कृषिफल का न प्राप्त होना—आदि अर्थापत्ति से कर्मों की शुभाशुभता का अदृष्टजन्य होना तो सिद्ध करते हैं और बुद्धि हीन नास्तिकों का हृदय इस पर नहीं पसीजता, उनके नास्तिक दर्शन का खण्डन नहीं करपाता। धिक्कार है—ऐसे हठ धर्मियों को। अदृष्ट है, पूर्वजन्म है—उसके प्रमाण प्रत्यक्ष हैं ॥ ८८ ॥

याचते स्म गयाश्राद्धं भूतस्माविश्य यत्न।
नानादेशजनोपज्ञाः प्रत्येषि न कथाः कथम् ? ॥ ८९ ॥

जीवातु—यदुक्तम् 'अन्यभुक्तैर्मृते तृप्तिरित्यलं धूर्तवार्तया' (१७।५२) इत्यादि, तत्रोत्तरमाह—याचत इति। कञ्चन कमपि जनम्, आविश्य अधिष्ठाय, स्व स्वकीय, गयाश्राद्ध गयातीर्थे पिण्डदान, याचते प्रार्थयमानस्य, अहं पापवशात् प्रेतयोनिं प्राप्तोऽस्मि, अतो मम सद्गत्यर्थं गयायां श्राद्ध त्वया कार्यमित्यादि प्रार्थयमानस्य इत्यर्थः। भूतस्य भूतयोनिं प्राप्तवतः प्रेतस्य सम्बन्धिनी, नानादेशजनोपज्ञाः नानादेशजनाः विविधदेशवासिलोका एव, उपज्ञा आद्य ज्ञान, प्रमाणमिति यावत्। यासा तादृशी, त प्रमाणका इत्यर्थः। 'उपज्ञा ज्ञानमाद्य स्यात्' इत्यमरः। कथाः उपाख्यानानि, गयाश्राद्धात् अमुकस्य मुक्तिरासीत् इत्येवरूपान् आलापान् इत्यर्थः। कथं न प्रत्येषि ? विश्वसिषि ? प्रत्येतव्य एवायमर्थः प्रामाणिकसंवादादिति निष्कर्षः।

अन्वय—कञ्चन आविश्य स्व गयाश्राद्ध याचत भूतस्य नानादेशजनोपज्ञा कथाः कथं न प्रत्येषि ?

हिन्दी—किसी व्यक्ति में प्रविष्ट हो अपने लिए गया-श्राद्ध की याचना करते 'भूत' की अनेक देश के जनों से कही-सुनी कथाओं का क्यों नहीं विश्वास करते ?

टिप्पणी—'संदेहेऽप्यन्यदेहादे'-इत्यादि (४५) और 'अन्यैर्भुक्तैर्मृते तृप्ति' (५८) का खण्डन है। श्राद्ध भोजन से मृत का परलोक सुधरता है इसके प्रमाण नाना देशों के लोग बताते हैं। वे कहते हैं कि किसी 'परेत' पूर्वज ने सद्गति के निमित्त गया में श्राद्ध करने की अपने जीवित उत्तराधिकारी से याचना की, किसी ने प्रयाग में माघस्नानादि के पुण्य की याचना

की। इससे मानना चाहिए कि तीर्थादि सेवन का प्रभाव होता है, देहांतर-प्राप्ति होती है, धर्माधर्ममूलस्वर्ग-नरक-प्राप्ति प्रामाणिक है। यह सब सर्वसाक्षिक है ॥ ८९ ॥

नीतानां यमदूतेन नामभ्रान्तेरुपागतौ।
श्रद्धत्से संवदन्तीं न परलोककथां कथम्? ॥ ९० ॥

जीवातु—'को हि वेत्ताऽस्त्यमुष्मिन्' (१७।६१) इत्यादेरुत्तरमाह—नीतानामिति। यमदूतेन यमकिङ्करेण, नाम्ना धर्मराजः यन्नामकपुरुषाणां; स्थूलशरीरात् लिङ्गशरीरमाकृष्टुं दूतं प्रेषयामास अन्येषामपि केषाञ्चिद् तान्येव नामानि इति नामसाम्येन, भ्रान्तेः भ्रमात् हेतोः, नीतानां यमसन्निधिं प्रापितानाम्, आनेतव्यपुरुषेभ्यः अन्येषां जनानामिति भावः। उपागतौ पुनर्मर्त्यलोकप्रत्यागमनविषये, एतेषां नामसदृशान् यान् आनेतुं त्वं प्रेषितः एते ते न भवन्ति, अत एतान् मर्त्यलोकं नीत्वा स्व-स्वस्थूलशरीरे प्रवेशयेति यमाज्ञया सद्यः एव पुनः स्वदेहसङ्क्रान्तिविषये इत्यर्थः। संवदन्तीं श्रुतिस्मृतिपुराणादिषु श्रुतस्वर्गनरकादिकथया सह समानार्थीभवन्तीं, परलोककथां यमलोकात् प्रत्यावृत्तपुरुषोक्तां स्वर्गनरकादेरस्तित्ववार्त्तां, कथं न श्रद्धत्से? न प्रत्येषि? अवस्ताद्वानयस्य सत्यत्वादेव परलोकमस्त्येवेति भावः ॥ ९० ॥

अन्वयः—यमदूतेन नामभ्रान्तेः नीतानाम् उपागतौ। संवदन्तीं परलोककथां कथं न श्रद्धत्से?

हिन्दी—यमदूत द्वारा नाम-सादृश्योत्पन्न भ्रम के कारण लाये गये व्यक्तियों का यम लोक से प्रत्यागमन होने पर वेद-पुराण-कथाओं से संवाद करती परलोक-कथाओं पर क्यों श्रद्धा नहीं करते?

टिप्पणी—'को हि वेत्ता'—इत्यादि (६१) का खण्डन। नास्तिक कहते हैं कि परलोक के विषय में कोई नहीं जानता। परन्तु कई बार ऐसा हुआ है कि किसी व्यक्ति का स्थूल शरीर से लिंग शरीर निकाल कर लाना था, किन्तु नाम-समानता से भ्रांत हो यमदूत उसी नामधारी व्यक्ति का लिंग शरीर ले गया। यमलोक में जब यह भूल ज्ञात हुई तो अवांछित व्यक्ति का लिंग शरीर पुनः परावर्तित कर दिया गया और वह जीवित हो गया। उसने परलोक के विषय में जो बताया, वह वेद-पुराण के स्वर्गादि वर्णन से

मिलता है। पता नहीं, नास्तिक इतने दृढधर्मी और कटहुज्जती क्यों है कि कथाओं को भी झूठा मानते हैं, जब कि कहने वाले व्यक्ति परलोक के प्रत्यक्ष द्रष्टा और ज्ञाता होते हैं? परलोक है, उसके ज्ञाता—वेत्ता हैं ॥ ९० ॥

जज्वाल ज्वलनः क्रोधादाचख्यौ चाक्षिपन्नमुम् ।
किमात्थ रे ! किमात्थेदमस्मदग्रे निरर्गलम् ? ॥ ९१ ॥

जीवातु—जज्वालेति । अथ ज्वलनः अग्निः, क्रोधात् कोपात्, जज्वाल दिदीपे, तथा अमुं चार्वाकम्, आक्षिपन् परुषवाक्यैरधिक्षिपन्, आचख्यौ च जगाद च, रे इति तुच्छसम्बोधने; रे चार्वाक ! किमात्थ ? अस्मदग्रे मम पुरतः, निरर्गलम् अप्रतिबन्धम्, अबाधं यथा तथेत्यर्थः । इदम् उक्तरूपं वेदादिविरुद्धमित्यर्थः । किम् आत्थ ? किं प्रलपसि ! इत्यर्थः । कोपे द्विरुक्तिः ॥९१॥

अन्वयः—ज्वलनः क्रोधात् जज्वाल अमुं च आक्षिपन् आचख्यौ—रे किम् आत्थ ? अस्मदग्रे निरर्गलम् इदं किम् आत्थ ?

हिन्दी—अग्नि क्रोध से जल उठा और इस (चार्वाक) को कठोर वचनों से डाँटता बोला—अरे, क्या बकता है ?

टिप्पणी—श्लोक संख्या ८३–९० तक आठ श्लोकों में इन्द्र द्वारा डाँटने के पश्चात् क्रोधाविष्ट अग्नि ने भी चार्वाक को फटकारा । उसका साहस कि बार-बार शक्तिशाली देवों के समक्ष इस प्रकार धृष्टतापूर्वक निरर्गल प्रलाप करे, इस प्रकार वेद-शास्त्रों की कुतर्कों के आधार पर निन्दा करे ! वैसे ही अग्नि ने भी यहाँ 'किमात्थ' की द्विरुक्ति की ॥ ९१ ॥

महापराक्रिणः श्रौत-धर्मैकबलजीविनः ।
क्षणाभक्षणमूर्च्छाल ! स्मरन् विस्मयसेऽपि न ? ॥ ९२ ॥

जीवातु—अथ यदन्यत् प्रलपितम् 'अग्निहोत्रं त्रयी' (१७।३८) इत्यादि तत् निराचष्टे–महापराक्रिण इति। हे क्षणम् अत्यल्पसमयम्, अभक्षणे अभोजने, मूर्च्छाल ! मूर्च्छामापन्न ! म्रियमाण ! इत्यर्थः । 'सिध्मादिभ्यश्च' इति सूत्रस्य सिध्माद्यन्तर्गणे 'क्षुद्रजन्तूपतापाच्च' इति पाठात् उपतापवाचित्वात् मूर्च्छाशब्दात् लच्प्रत्ययः । श्रौतश्रुतिचोदितः, धर्मः आचार एव, अनुष्ठानमेवेत्यर्थः । 'धर्मः पुण्ययमन्यायस्वभावाचारसोमपाः' इत्यमरः । एकं केवलं, बलं सामर्थ्यं, तेन जीवन्तीति ताच्छील्ये श्रौतधर्मैकबलजीविनः वैदिकधर्मानुष्ठानमाहात्म्यादेव

प्राणधारिणः, महान्तः महात्मान इत्यर्थः। ये पराकिणः मासोपवासनिष्पाद्य-तदाख्यव्रतिनः तान्, स्मरन् चिन्तयन् अपि, न विस्मयसे? न चित्रीयसे। धर्मोपजीविनो वैदिकाश्चिरम् अभोजिनोऽपि धर्मानुष्ठानजनितमनोबलादेव जीवन्ति अतो धर्मस्य अस्तित्वे न कोऽपि संशय इति भावः ॥९२॥

अन्वयः—क्षणाभक्षणमूर्च्छालि, श्रौतधर्मैकवलजीविनः मरापराकिणः स्मरन् अपि न विस्मयसे?

हिन्दी—अरे क्षण भर न खाने से मूर्च्छित हो जानेवाले (नास्तिक चार्वाक), एक मात्र वेदविहित धर्म के बल पर जीव धारण करने वाले, अनेक दिन का उपवास व्रतों के आचारी महात्माओं का स्मरण करते हुए भी तू विस्मित नहीं होता?

टिप्पणी—१८ वें श्लोक 'अग्निहोत्र त्रयीतन्त्रम्'—इत्यादि में चार्वाक-मतानुसार यज्ञादि की निन्दा की गयी थी, अग्नि यहाँ उन व्रतधारियों—चान्द्रायणादिव्रतपरिपालकों के अनेक दिन के उपवासों की ओर उदाहरणस्वरूप नास्तिकों का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहता है कि वे महात्मा वैदिक जन अनेक दिन का उपवास करते हुए केवल धर्माचरण के बल पर प्राण-धारण किये रहते हैं; तुम नास्तिक जन, जो एक समय भी विलम्ब से भोजन मिले तो सुधि खोने लगते हो, उनको देखकर भी अग्निहोत्रादि यम-नियम-परि-पालन का महत्त्व नहीं समझते। आश्चर्य है, तुम लोगों की महामूर्खता और हठवादिता पर। धर्म के अस्तित्व का प्रमाण हैं वे महान् व्रतधारी। 'क्षणा-भक्षणमूर्च्छालि' का अर्थ क्षणभर (किञ्चिन्मात्र) 'अभक्षण' अर्थात् अखाद्य भोजन करके 'भ्रांत' भी हो सकता है; क्योंकि ८२ वें श्लोक में 'अभक्ष्य'-भोजन का पक्ष प्रतिपादन किया गया है ॥ ९२ ॥

> पुत्रेष्टिश्येनकारीरी-मुखा दृष्टफला मखाः।
> न वः किं धर्मसन्देह-मन्देहजयभानवः? ॥ ९३ ॥

जीवातु—पुत्रेष्टीति। हे नास्तिकाः! पुत्रेष्टिः पुत्रकामयागः, श्येनः शत्रुमारणार्थं तदाख्यक्रतुविशेषः, कारीरी वृष्टिकामेष्टिः, ता मुखम् आदिः येषां ते पुत्रेष्टिश्येनकारीरीमुखाः पुत्रेष्टिश्येनकारीरीप्रभृतयः, दृष्टफलाः दृष्टं प्रत्यक्षीभूतं, फलं सुतोत्पत्तिशत्रुमारणवृष्टिरूपं फलं येषां तादृशाः, मखाः क्रतवः;

वः युष्माकं नास्तिकानां, धर्मस्य सदनुष्ठानजनितफलदातुरित्यर्थः। सदनुष्ठानजनितसुफलस्येत्यर्थो वा, यः सन्देहः धर्मोऽस्ति न वेति संशयः, स एव सन्देहाः सन्ध्याद्वये सूर्यग्रासार्थमुत्पद्यमानाः तेन सह युध्यमानाश्च राक्षसविशेषाः, तेषां जये निरासे, विनाशसम्पादने इत्यर्थः। मानव. सूर्या., सूर्यवद् विनाशकाः इत्यर्थ.। न किम्? भवन्तीति शेषः। 'तिस्रः कोटयोऽर्द्धकोटी च मन्देहा नाम राक्षसा.। उदयन्तं सहस्रांशुमभिद्रुह्यन्ति वै सदा॥ गायत्र्या चाभिमन्त्र्योर्ध्वं जल नि. सन्ध्ययो क्षिपेत्। तेन शाम्यन्ति ते दैत्या वज्रीभूतेन वारिणा॥' इत्यादिवाक्यात् गायत्र्यभिमन्त्रितजलप्रक्षेपात् तेषां नाश, तदुत्तरमेव सूर्योदयेन सूर्य एव तान् नाशयतीत्युच्यते, एवञ्च सूर्यो यथा तन्नाशकः तद्वत् यागोऽपि भवदीयधर्मसन्देहनाशको भवतु इत्यर्थ.। दृष्टफलयागानां फलनिश्चयदर्शनात् अदृष्टफलयागादौ तज्जन्यादृष्टेऽपि वा सन्देहो न कर्त्तव्य इति भावः॥ ९३॥

अन्वय.—पुत्रेष्टिश्येनकारीरीमुखाः दृष्टफला. मखाः किं वः धर्मसन्देहमन्देहजयभानव. न?

हिन्दी—पुत्र प्राप्ति के निमित्त यज्ञ, शत्रुमारणार्थ आभिचारिक यज्ञ और वर्षा के निमित्त यज्ञादि जिनमे प्रमुख हैं, ऐसे फल प्राप्ति प्रत्यक्ष कराने वाले यज्ञ क्या तुम लोगो के 'धर्मविषयक संशयरूप मदेहो (उदयोन्मुख सूर्य को ग्रसने के लिए उद्यत साढे तीन करोड राक्षसो) के विजयार्थ सूर्य नही हैं?

टिप्पणी—प्रत्यक्ष फल दीखता है कि पुत्र-कामनार्थ पुत्रेष्टि यज्ञ किया गया, उससे संतान मिली। 'श्येनेनाभिचरन् यजेत'—श्येन (बाज) के अभिचार के साथ यज्ञ करे—इस वेदविहित यज्ञ को करने से शत्रु-नाश हुआ। 'कारीरीं निर्वपेद् वृष्टिकाम'—वर्षा की इच्छा हो 'कारीरी' यज्ञ करे—के अनुसार 'कारीरी' (बांस के अकुर की सहायता से सम्पन्न) यज्ञ करने से वर्षा हुई। 'ग्रामोन्मज्जनवद्'-इत्यादि (३६) और 'एकं सन्दिग्धयो.'—इत्यादि (५२) मे फलदायी पुत्रेष्टि यज्ञादि की जो निरर्थकता स्थापित की गयी थी, यहाँ इन यज्ञों के प्रत्यक्ष फल की ओर ध्यानाकृष्ट करता अग्नि नास्तिकों से कहता है कि इन यज्ञों की उपयोगिता अब तो उनकी समझ मे आ जानी चाहिए और इन यज्ञों का फल प्रत्यक्ष देखकर, उनका सदेह मिट जाना चाहिए, जैसे कि सूर्य द्वारा उदयकाल में उसके ग्रासार्थ आक्रमणकारी साढे

तीन करोड़ 'मंदेह' राक्षस नष्ट हो जाते हैं। यज्ञफल सूर्य है और संदेह 'मन्देह'। कहा जाता है कि वे साढ़े तीन करोड़ 'मंदेह' राक्षस उदयकाल के सूर्य से सदा युद्ध करते हैं। 'ॐ भूर्भुवः स्वः'—इत्यादि गायत्री मंत्र से अभिमंत्रित जल के तीन बार ऊपर की ओर प्रक्षेपण से ये राक्षस वज्र रूप जल से शांत हो जाते हैं ॥ ९३ ॥

दण्डताण्डवनैः कुर्वन् स्फुलिङ्गालिङ्गितं नभः ।
निर्ममेऽथ गिरामूर्मीभिन्नमर्मेव धर्मराट् ॥ ९४ ॥

जीवातु—दण्डेति । अथ अग्निवाक्यानन्तरं, धर्मराट् यमः, भिन्नमर्मा चार्वाकप्रलापैः विदीर्णजीवस्थान इव सन्, दण्डस्य स्वकीयास्त्रस्य, ताण्डवनैः भ्रामणैः, नभः आकाशप्रदेशं, स्फुलिङ्गालिङ्गितम् अग्निकणाकीर्णं, कुर्वन् सम्पादयन्, गिराम् ऊर्मीः वाक्परम्पराः, निर्ममे रचयामास, उवाच इत्यर्थः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—अथ भिन्नमर्मा इव धर्मराट् दण्डताण्डवनैः नभः स्फुलिङ्गालिङ्गितं कुर्वन् गिराम् ऊर्मीः निर्ममे ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (अग्नि के डाँट लेने के उपरान्त) मर्मस्थलों पर चोट खाये-से यमराज यमदंड को फटकार कर आकाश को चिनगारियों से पूर्ण करते हुए वचनों की तरंगों का निर्माण करने लगे (वचन कहने लगे)।

टिप्पणी—यमराज को चार्वाक वचनों ने बड़ा मर्माहत किया। वे असहनशील हो उठे और यमदण्ड को चारों ओर घुमाने लगे, जिससे निकलती चिनगारियों से आकाश व्याप्त हो गया। इससे उनकी असहनशीलता का और क्रोध का परिचय मिलता है। क्रोध में भरे यमराज एक के बाद एक वचन कहते चले। तरंगों-से निरंतर वचन उनके मुख से निकलने लगे।

तिष्ठ भोस्तिष्ठ कण्ठोष्ठं कुण्ठयामि हठादहम् ।
अपष्ठु पठतः पाठ्यमधिगोष्ठि शठस्य ते ॥ ९५ ॥

जीवातु—तिष्ठेति । भोः पातकापसद ! तिष्ठ तिष्ठ अपेक्षस्व अपेक्षस्व। कोपे द्विरुक्तिः। अधिगोष्ठि सभायाम्, इन्द्रादिदेवसमाजे इत्यर्थः। विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः। अप्रतिष्ठतीति अपष्ठुः प्रतिकूलं, विरुद्धार्थकमिति यावत्। 'अपदुःसुषु स्थः' इति तिष्ठतेः औणादिक उप्रत्यये 'आतो लोप इटि च'

इत्याकारलोपः, 'उपसर्गात् सुनोति—' इत्यादिना षत्वम्। 'प्रसव्यं प्रतिकूलं स्यादपसव्यमपष्ठु च' इत्यमरः। पाठ्यं पठनीयप्रबन्धं, पठतः वाचयतः, शठस्य धूर्तस्य, ते तव, कण्ठश्च ओष्ठौ च कण्ठोष्ठम्। प्राण्यङ्गत्वात् एकवद्भावः। अहं हठात् प्रसभं, बलादित्यर्थः। 'पार्ष्णिकप्रसभौ हठौ' इति वैजयन्ती। कुण्ठयामि स्तम्भयामि। वर्तमानसामीप्ये भविष्यति लट्॥ ९५॥

अन्वयः—तिष्ठ, भोः तिष्ठ, अहम् अधिगोष्ठि अपष्ठु पाठ्यं पठतः ते शठस्य कण्ठोष्ठं हठात् कुण्ठयामि।

हिन्दी—ठहर रे ठहर, मैं सभा-मध्य उलटे-पुलटे दुर्वचन बकते तुझ शठ (दुष्ट) के कण्ठ और ओठों को बलपूर्वक तुरन्त कुण्ठित करता हूँ।

टिप्पणी—यमराज तो अत्यन्त क्रुद्ध हुए। धर्मराज कैसे धर्म विरोध सह पाते। यमदण्ड फटकारते उन्होंने चार्वाक को धमकाया कि तुरन्त सबके समुख में गन्दी, अकथनीय बातें बकना बन्द करे, अन्यथा गले में यमदण्ड ठोक कर उसके बकवास करते कण्ठोष्ठ बन्द कर दिये जायँगे। पूर्व दोनों देवों के समान यम ने भी 'तिष्ठ-तिष्ठ' की द्विरुक्ति की॥ ९५॥

वेदैस्तद्वेदिभिस्तद्वत् स्थिरं मतशतैः कृतम्।
परं कस्ते परं वाचा लोकं लोकायत! त्यजेत्?॥ ९६॥

जीवातु—वेदैरिति। लोकायत! लोकेषु भुवनेषु, आयतं विस्तृतम्, अनायाससाध्यत्वादितिभावः। मतं यस्य स तत्सम्बुद्धौ। लोकेषु अयत! असंयत! स्वेच्छाचारिन्! इत्यर्थो वा। हे चार्वाक! इत्यर्थः। वेदैः श्रुतिभिः, वेदोक्तैरित्यर्थः। तद्वेदिभिः वेदविरोधिभिः, बौद्धादिदर्शनोक्तैरित्यर्थः। तद्वा तद्वत् वेदतुल्यैरन्यैरित्यर्थः। मतशतैः विविधमतैः, स्थिरं कृतं व्यवस्थापितं, परं लोकं स्वर्गादिस्वरूपमित्यर्थः। परं केवलं, ते तव, वाचा प्रलापवाक्येन, कः त्यजेत्? कः जह्यात्? न कोऽपीत्यर्थः। बहुजनसमादृतमतस्यैव प्रामाणिकत्वादिति भावः॥ ९६॥

अन्वय—वेदैः तद्वत् तद्वेदिभिः मतशतैः स्थिरं कृतं परं लोकं लोकायत, परं ते वाचा कः त्यजेत्?

हिन्दी—(ऋक्, यजुः, साम, अथर्व) चारों वेदों और उन्हीं (वेदों के) अनुसार तदुपजीवी (स्मृति-पुराणादि) सैकड़ों शास्त्रों द्वारा दृढ़ता से

प्रतिष्ठापित श्रेष्ठ (पर) लोक को अरे असंयमी वकवादी, केवल तेरे वचन प्रमाण मानकर कौन (समझदार) छोड़ देगा ? (कोई न छोड़ेगा) ।

टिप्पणी—यम ने चार्वाक को डाँटा कि तेरी वकवाद से क्या होगा ? कुछ नहीं। चारों वेदों, शास्त्रों, स्मृतियों, पुराणों आदि द्वारा जो धर्माचार और लोक-परलोक की स्थापना की जा चुकी है, उसपर चार्वाक जैसे वकवाद करने वालों की दुष्टग्रहपूर्वक उपस्थापित युक्तियों और कुतर्कों का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। यहाँ 'को हि वेत्ता' इत्यादि (६१) और 'तर्काप्रतिष्ठया'.....इत्यादि (७८) का खण्डन किया गया है ॥ ९६ ॥

असज्ज्ञानाल्प ! भूयिष्ठपान्थवैमत्यमेत्य यम् ।
लोके प्रयासि पन्थानं परलोके न तं कुतः ? ॥ ९७ ॥

जीवातु—असदिति। असज्ज्ञानेन मन्दबुद्धया, अल्पः क्षुद्रः, नीच इत्यर्थः; तत्सम्बुद्धौ असज्ज्ञानाल्प। रे नीचप्रकृतिनास्तिक। लोके इहलोके, भूयिष्ठाः बहवः, अविकसङ्कुचकाः एव जना इत्यर्थः। पान्थाः परलोकपथिकाः; आस्तिकाः इत्यर्थः। तेषां वैमत्यं मार्गभेदविषयकमतविरोधम्, एत्य प्राप्य, सर्वसम्मतं मार्गम् उत्सृज्य इत्यर्थः। यं पन्थानं दुर्मार्गं, प्रयासि अनुयासि; परलोके अमुत्रापि, तं पन्थानं, कुतः कस्मात्, न प्रयासि ? इति पूर्वक्रियया अन्वयः, प्रयास्यन्नेव तत्फलमनुभविष्यसीत्यर्थः। 'इह प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो मतः' इति शास्त्रात् अहमेव नियन्ता इति भावः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—असज्ज्ञानाल्प, लोके भूयिष्ठपान्थवैमत्यम् एत्य यं पन्थानं प्रयासि, परलोके तं कुतः न ?

हिन्दी—असत्य (भ्रांत) ज्ञान से मंद (नास्तिक), (इस) लोक में अनेक मार्गावलंबी यात्रियों में भिन्नमतता प्राप्त करके जिस मार्ग से तू यात्रा कर रहा है, परलोक (के विषय) में भी उसीसे क्यों यात्रा नहीं करता ?

टिप्पणी—'तर्काप्रतिष्ठया' इत्यादि (७८) जिस मतवैभिन्य की ओर संकेत करके किसी धर्म-मत को न मानने का जो आग्रह किया था, उसीका यह भी खण्डन है। धर्मराज चार्वाक को धमकाते हैं कि वह अनेक धार्मिक मतों के रहते हुए भी उनमें विभिन्नता के आधार पर सबका विरोधी है और लोक जीवन अधर्माचरण के मार्ग पर चलकर व्यतीत कर रहा है।

परलोक में भी उस दुराग्रह को यदि वह नहीं छोड़ेगा और उसी असत् ज्ञान का अवलम्बन किये रहेगा तो धर्मराज के दण्ड का भागी होगा। अथवा जैसे किसी स्थान पर कोई यात्री पहुँचना चाहता है। चौराहे पर पहुँच कर वह अन्य यात्रियों से मार्ग पूछता है। वे यात्री विभिन्न मार्गों से चलकर उस ध्येय स्थान पर पहुँच चुके हैं, अत उनके बताये मार्ग एक दूसरे के बताये मार्ग से भिन्न हैं। यात्री किसी एक को चुनता है और लक्ष्य पर पहुँच जाता है। इसी प्रकार लोक-परलोक विषयक—मीमांसा से सबद्ध अनेक मत वाद हैं। उनमें भेद है, पर सबका उद्देश्य और लक्ष्य एक ही है और वे एक ही मत का विभिन्न रीतियों से प्रतिपादन कर देते हैं। किसी को आधार बनाकर लोक परलोक सँवारा जा सकता है। मत वैभिन्न्य से भटकना-भटकाना छोड़ नास्तिकों को किसी एक धर्ममार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। कल्याण उसी से होगा॥ ९७॥

स्वकन्यामन्यसात्कर्तुं विश्वानुमतिदृश्वनः।
लोके परत्र लोकस्य कस्य न स्याद् दृढं मनः?॥ ९८॥

जीवातु—स्वेति। स्वकन्या निजदुहितरम्, अन्यसात्कर्तुम् अन्यस्मै दातुम् इत्यर्थः। 'देये त्रा च' इति साति-प्रत्ययः। विश्वानुमतिं सर्वलोकसम्मतिं दृष्टवानिति विश्वानुमतिदृश्वा तस्य विश्वानुमतिदृश्वन, 'ब्राह्मो विवाहे आहूय दीयते शक्त्यलङ्कृता। तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिम्॥ त्रीण्याहुरतिदानानि कन्या पृथ्वी सरस्वती' इत्यादि सर्वशास्त्रसम्मतिद्रष्टुः इत्यर्थः। 'दृशेः क्वनिप्' कस्य लोकस्य जनस्य, मनः चित्तं, परत्र लोके परलोके, दृढं स्थिरं, स्थिरविश्वासीत्यर्थः। न स्यात्? न भवेत्? अपि तु सर्वेषामेव स्यादेव, परलोकभयेनैव सर्वो जनः स्वदुहितरमन्यस्मै ददाति यदि परलोको नाभविष्यत् तदा स्वदुहितरमन्यस्मै कथमदास्यत्? स्वेनैव स्वदुहितुः पाणिग्रहणमापत्स्यत, अतः सर्वसम्मतिदर्शनात् परलोकोऽङ्गीकर्त्तव्य एव भवतेति भावः॥ ९८॥

अन्वयः—स्वकन्याम् अन्यसात्कर्तुं विश्वानुमतिदृश्वनः कस्य लोकस्य परत्र लोके दृढं मनः न स्यात्?

हिन्दी—अपनी बेटी को दूसरे को दे देने के विषय में समस्त वेदशास्त्रादि की संमति को देखते किस व्यक्ति का परलोक के विषय में दृढ़ मन नहीं होगा? (अपितु सब का होगा)।

टिप्पणी—वेद शास्त्र-स्मृति-पुराणादि की अनुमति को मानकर और तदनुसार आचरण कर सभी लोग अपनी बेटी दूसरे व्यक्ति को दे देते हैं—वर को कन्यादान करते हैं। नास्तिक भी स्वयम् अपनी बेटी से ब्याह नहीं करते, दूसरे को ही ब्याहते हैं। यह दृढ़ प्रमाण है कि परलोक है। यदि परलोक न होता तो लोग अपनी बेटी अन्य को क्यों देते? यह कन्यादान सर्व संमत है। सब शास्त्र, सब धर्मों यही कहते हैं और लोग ऐसा ही करते हैं। आस्तिक तथा नास्तिक भी ऐसा करते हैं। ऐसी स्थिति में नास्तिकों को उचित है कि जैसे वे कन्यादान में बहुसंख्यक लोक-शास्त्र को मान्यता देते हैं, ऐसे ही परलोक के विषय में भी दें। बहुसंख्या परलोक-पक्ष में है, नास्तिकों को भी होना चाहिए ॥ ९८ ॥

कस्मिन्नपि मते सत्ये हताः सर्वमतत्यजः।
तद्दृष्ट्या व्यर्थतामात्रमनर्थस्तु न धर्मजः ॥ ९९ ॥

जीवातु—ननु नास्तिकानामिह तावत् सुखं सिद्धम्, आस्तिकानान्तु तदपि नास्ति, आमुष्मिकन्तु सन्दिग्धं तथा च वृथाऽनुष्ठानक्लेश इति कुतो दावर्ष्य-मित्यत्राह—कस्मिन्नपीति। कस्मिन्नपि आस्तिकमतमध्ये कस्मिंश्चिदपि, मते कन्यादानविधिमातृगमननिषेधादिरूपे परलोकसाधकमते, सत्ये प्रमाणत्वेनाङ्गी-कृते सति, सर्वमतत्यजः, परस्परविरोधात् सर्वमप्रमाणमित्यादिरीत्या सर्वास्ति-कमतत्याजिनः, नास्तिका इति शेषः। हताः विनष्टाः, परलोकभ्रष्टा इति यावत्। स्युः भवेयुः। यदि परलोकः स्यात् तदा सर्वास्तिकमतत्यागेन यूयं पारलौकिकसुखास्वादादिभ्यो वञ्चिता भवेतेति भावः। तद्दृष्ट्या सर्वास्तिक-मताप्रामाण्यदर्शनेन तु, व्यर्थतामात्रम् अनुष्ठानवैयर्थ्यमेव, यदि परलोकसाधकं सर्वास्तिकमतमप्रमाणं स्यात् तदाऽस्माकं यागाद्यनुष्ठानस्य निष्फलत्वमात्रं न तु ततः किञ्चिदनिष्टं भवेदिति भावः। कुतो नानिष्टमित्यत आह—अनर्थ इति। धर्मजः धर्मोपचारजन्यः, धर्मानुष्ठानजन्य इति यावत्। अनर्थः विपत्तिस्तु, परलोकभ्रंशरूपः अनिष्टव्यापारस्तु इत्यर्थः। न नास्त्येव, परलोकासत्त्वपक्षेऽ-स्माकं धर्मानुष्ठानजन्यः न कश्चिदनर्थः, परलोकसत्त्वपक्षे तु युष्माकं धर्माननुष्ठा-नेन परलोकभ्रंशरूपः अनर्थ इत्यपि बोद्धव्यम्, एतच्च पाक्षिकत्वमभ्युपेत्योक्तम्, परमार्थतस्तु आस्तिकमतमेव ग्राह्यम् इति भावः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—कस्मिन् अपि मते सत्ये सर्वमतत्यजः हताः, तद् दृष्ट्या व्यर्थता-मात्रं धर्मजः अनर्थः तु न ।

हिन्दी—किसी मत के सत्य होने पर सब मतों का त्याग करने वाले मारे गये, उस दृष्टि से (धर्माचरण) व्यर्थता मात्र है, किन्तु धर्म जन्य अनर्थ (हानि) तो न होगा ।

टिप्पणी—यहाँ 'श्रुतिस्मृत्यर्थं' इत्यादि (५०) और 'तर्काप्रतिष्ठया' (७८) का पुन. खडन है । यम ने तर्क दिया कि मतो में विभिन्नता है, परंतु उनमें एक तो सत्य होगा । जो (नास्तिक) सब मतों के विरोधी हैं, वे इस प्रकार सत्य मत भी अमान्य कर देंगे । इससे उनकी हानि होगी । सत्य का अनुसरण न करने से हानि होती है—भ्रान्त पथ पर चल कर गड्ढे मे गिरना ही होगा । इस दृष्टि से जो सब मतो अथवा एक किसी एक मत पर चल रहे हैं, उनको धर्म-पालन व्यर्थ तो सिद्ध हो सकता है (यदि नास्तिकों अनुसार धर्माचरण व्यर्थ है) किन्तु धर्म-सम्बन्धि हानि तो न होगी (यदि नास्तिकों का कथन असत्य हुआ और धर्म मार्ग ठीक हुआ तो धर्माचरण करने वाले धर्म न करने से उत्पन्न हानि के भागी न होंगे।) भाव यह कि यदि कोई धर्म सत्य है तो अधर्मी नास्तिक हानि के भागी होंगे, और यदि धर्म नहीं है, तो धर्माचारियों की धर्म क्रिया व्यर्थ हो सकती है, धर्मसम्बन्धी हानि तो न होगी । नारायण ने नास्तिकों के 'हत' होने की सिद्धि अन्य प्रकार से भी की है । प्रश्न उठता है कि जो नास्तिक किसी मत को नहीं मानते, वे भी क्या किसी को मानते हैं अथवा नहीं मानते ? जैसा कि कन्या-विवाह आदि में देखा जाता है, वे कन्या सब के समान अन्य को ही देते हैं, अर्थात् किसी मत को सत्य मानते हैं । इस प्रकार उनका 'सर्वमतत्यागी' होना दूषित हो गया । कम से कम एक वैदिक मत को तो नास्तिको ने मान्यता दी । अच्छा यदि यही मान लिया जाय कि वे 'सर्वमतत्यागी' ही हैं, फिर भी नास्तिक मत भी तो कुछ है ही, और चूँकि नास्तिक सर्वमतत्यागी हैं, उनके अनुसार सब मत असत्य और दूषित हैं तो उनका नास्तिक मत भी असत्य और दूषित हो गया और वे 'हताः' । यदि नास्तिक मत को सत्य कहें तो फिर उनका यह कहना दोष पूर्ण है कि सब मत-असत्य हैं । वैदिक मत को न स्वीकारने में

नास्तिक मत भी अस्वीकारना होगा। भाव यह है पुत्रेष्टि आदि यदि असत्य हैं, तो उनके करने से केवल यह होगा कि व्यर्थ श्रम हुआ, और यदि सच्चे हैं तो उनके न करने से जो कष्ट होगा, वह होगा। इससे न करने वाले नास्तिक हानि भागी हैं, करने वाले हानि भागी तो नहीं हैं। 'तुष्यद्दुर्जनन्याय' से यदि मान भी लिया जाय कि यह सब व्यर्थ है, तो हानि तो न होगी। इसलिए यही उचित है कि बहुजन समर्थित धर्माचरण का अनुसरण किया जाय॥ ९९॥

क्वापि सर्वैरवैमत्यात् पातित्याद्न्यथा क्वचित्।
स्यातव्यं श्रौत एव स्याद्धर्मे शेषेऽपि तत्कृते॥ १००॥

जीवातु—उपसंहरति—क्वापीति। क्वापि कुत्रापि, अहिंसाकन्यादानादिरूपे वैदिकानुष्ठानविषये इति यावत्। अवैमत्यात् सर्वेषामैकमत्यात्, तथा क्वचित् कुत्रापि विषये, अन्यथा वैमत्येऽपि, पातित्यात् वर्णाश्रमाधिकारे विहिताकरणनिषिद्धाचरणजन्यप्रत्यवायभयात्, तथा शेषेऽपि नित्यनैमित्तिकातिरिक्ते ज्योतिष्टोमादावपि, अथवा शेषे वेदविहितातिरिक्ते स्मार्तेऽपि धर्मे; तत्कृते वेदकृते, वेदविहितत्वाविशेषे इति यावत्। हेतुगर्भविशेषणमेतत्। श्रौते एव धर्मे वैदिकमते, सर्वैः नास्तिकैरपि, स्यातव्यं वर्तितव्यं, स्यात् भवेत्, स एव ग्राह्यः इत्यर्थः। 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इति भावे कृत्यस्तव्यप्रत्ययः। विहितानामहिंसादीनां केषाञ्चित् श्रौतस्मार्तधर्माणां भवद्भिरपि वर्जनात् तद्दृष्टान्तेन श्रुतिस्मृतिविहितेषु अन्येषु विधिनिषेधाशेषेष्वपि श्रौतस्मार्तविशेषादेव स्यातव्यं स्यात्, तत्कृताः शेषा धर्मा अपि अवश्यमङ्गीकार्या इति भावः॥ १००॥

अन्वयः—क्व अपि अवैमत्यात् क्वचित् अन्यथा पातित्यात्, शेषे अपि तत्कृते श्रौते एव धर्मे सर्वैः स्यातव्यम्।

हिन्दी—कहीं (किसी धर्म के सम्बन्ध में) मतैक्य होने से कहीं निषिद्धाचरण के कारण दोष होने के डर से शेष आचरणों में भी उस (वेद विहितता) के लिए वैदिक ही धर्म में सबको स्थिर रहना चाहिए।

टिप्पणी—यहाँ 'जनेन जानतास्मि' इत्यादि (५४), 'एकस्य विश्वपापेन' इत्यादि (५५) और 'स्वञ्च ब्रह्म च' इत्यादि (७३) का उत्तर दिया

गया है । भाव यह है कुछ आचरणों के सबंध में तो मत-वैभिन्न्य है ही नहीं। उदाहरणार्थ—कन्यादान आदि । इसे तो नास्तिक भी मानते हैं । ये सब करते हैं । अत. ये करणीय हुए । कुछ आचरण इस लिए माननीय बन जाते हैं कि उनके अनुसार न हो तो पतित मान लिये जायेंगे। लोक-मर्यादा को न मानने से समाज में मान न रह जायेगा। मान लिया जाय कि वर्णाश्रम धर्म लोक मर्यादा है। उसका पालन इस लिए करना होगा कि अनाचरण से मान नष्ट हो जायेगा। लो जब कुछ मतैक्य से स्वीकारा, कुछ पातित्य दोष के कारण स्वीकारा तो जो नित्य नैमित्तिक वेदमूलक ज्योतिष्टोमादि कृत्य बचे, उनको ही क्यो अमान्य किया जाय ? अरे, जब एकमतता के कारण, लोक मर्यादा से पतित होने के डर से वैदिक आचरण कर ही रहे हो, तो शेष यज्ञादि भी मान लो। क्यो वैदिकाचार को व्यर्थ ही धूर्त, भीरुकृत्य कहते हो और मोक्षादि की निन्दा करते हो ? वस्तुतः श्रुति-स्मृति मे मतभेद नहीं है। जो दीखता है, वह साधन भेद है। कुछ वेद विहित क्रियाओं को नास्तिक भी करते ही हैं, कुछ वेद-निषिद्ध कार्यों का निषेध भी करते हैं तो फिर वेद-विहित आचरण न करने में ही क्यो दुराग्रह है? उसे छोड़ कर सबको वैदिक-धर्म का अवलम्बन करना चाहिए। यही ठीक है ॥१००॥

बभाण वरुणः क्रोधादरुणः करुणोज्झितम् ।
किं न प्रचण्डात् पापण्ड-पाश ! पाशाद् बिभेषि न ? ॥ १०१ ॥

जीवातु—बभाणेति । अथ वरुण· जलेश, क्रोधात् रोषात्, अरुणः रक्ताङ्गः सन् करुणोज्झितम् उज्झितकरुणं, निष्कृप यथा तथा इत्यर्थः । बभाण उवाच । तदेवाह—पाश्य· कुत्सित·, पाषण्ड. वेदबाह्यापसदः, पाषण्डपाशः। 'पाश्ये पाशप्' तत्सम्बुद्धौ पाषण्डपाश ! रे नास्तिकाधम ! प्रचण्डात् भयङ्करात्, नः अस्माक, पाशात् पाशायुधात्, न बिभेषि किम् ? न त्रस्यसि किम् ? 'निज· पाशेन बध्नाति वरुणः पापकारिण' इति किं न श्रुतम् ? इति भावः ॥१०१॥

अन्वय.—क्रोधात् अरुण. वरुण. करुणोज्झित बभाण—पाखण्डपाश, किं न. प्रचण्डात् पाशात् न बिभेषि ?

हिन्दी—क्रोध से लाल-लाल वरुण ने निर्ममता से कहा—रे पाखडों मे पतित, क्या हमारे प्रचण्ड पाश से नही डरता ?

टिप्पणी—छः (९५–१००) श्लोकों में यमराज के कह लेने के पश्चात् क्रुद्ध वरुण ने चार्वाक को बड़ी निर्ममता से डाँटा और अपने पाश का डर दिखाया कि यदि और बकझक करेगा तो पाश में बाँध लिया जायेगा ॥१०१॥

मानवाशक्यनिर्माणा कूर्माद्यङ्कबिला शिला।
न श्रद्धापयते मुग्धस्तिर्थिकाध्वनि वः कथम् ? ॥ १०२ ॥

जीवातु—मानवेति । मुग्धाः ! रे मूढाः !, मानवानां नराणाम्, अशक्य-निर्माणा निर्मातुम् अशक्या, कूर्मादि कच्छपवराहादि, अङ्कं चिह्नं यस्य तादृशं, बिलं विवरं, चक्रमिति यावत् । यस्याः तादृशी, शिला पाषाणखण्डः, गण्डकाख्यनदीविशेषसम्भूता शालग्रामशिला इत्यर्थः । वः युष्मान्, तिर्थिका-ध्वनि श्रौतमार्गे कथम्, न श्रद्धापयते ? न विश्वासयति ? शास्त्रोक्तलक्षणसं-वादित्वादिति भावः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—मानवाशक्यनिर्माणा कूर्माद्यङ्कबिला शिला मुग्धाः, वः तिर्थिका-ध्वनि कथं न श्रद्धापयते ?

हिन्दी—मनुष्य-द्वारा निर्मित न की जा सकने वाली, कच्छपादि चिह्नों से युक्त विवरों वाली शिला (शालग्राम शिला) रे मूर्खो, वैदिक पंथ में तुम्हारी श्रद्धा क्यों उत्पन्न नहीं करती ?

टिप्पणी—चार्वाक ने कहा था कि सर्वज्ञ देव कोई नहीं है—'देवश्चेदस्ति सर्वज्ञः' (७५) इत्यादि । उसी आक्षेप के विरोध में वरुण बताने लगे कि ईश्वर है । ऐसे विचित्र-विचित्र सामग्री है जगत् में जिनकी रचना मनुष्य कर ही नहीं सकता । ऐसी रचनाएँ मनुष्येतर किसी अज्ञात शक्ति से ही सम्भव हैं । यही सर्वज्ञ देव की सत्ता का प्रमाण है । उदाहरणार्थ—गंडकी नदी में प्राप्त शालग्राम शिला, जिसके विवर में कछुआ, वराह, नृसिंह आदि के चिह्न बने होते हैं । ऐसा विलक्षण कृतित्व भी जिसे ईश्वर-विश्वासी, श्रद्धालु न बना सके, वह नितांत मूर्ख ही कहा जायेगा ॥ १०२ ॥

शतक्रतूरुजाद्याख्याविख्यातिर्नास्तिकाः ? कथम् ।
श्रुतिवृत्तान्तसंवादैर्नं वश्रमदचीकरत् ? ॥ १०३ ॥

जीवातु—शतेति । नास्तिकाः ! रे नास्तिपरलोकाः ! शतक्रतुः शताश्व-मेधयज्ञकारी इन्द्रः ऊरुजः विष्णोरुरुदेशसम्भूतः वैश्यः, स आदिर्येषां ते ब्राह्मण-

क्षत्रियादय. तेषामाख्या शतक्रतुः ऊरुज बाहुजः मुखज पादज इत्यादीनि नामानि, तासा विख्याति. प्रसिद्धि', श्रुतिवृत्तान्तसवादे श्रुतिषु वेदेषु, यादृशा वृत्तान्ताः 'शताश्वमेधक्रतुकारी इन्द्रो भवति' इतीन्द्रस्यैव शतक्रतुत्व 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्यादिना ब्राह्मणस्यैव मुखजत्व वैश्यस्यैवोरुजत्वम् इत्यादयो वेदोक्ता इतिहासा , तेषा सवादैः श्रुत्युक्तवृत्तान्तेन सह लोकव्यवहारस्य मेलनदर्शनैरित्यर्थ । लोकेन इन्द्रस्यैव शतक्रतुनाम व्यवह्रियते न तु अन्यदेवानां, ब्राह्मणस्यैव मुखजत्वं व्यवह्रियते न त्वन्यवर्णानाम् इत्यादिव्यवहारैः करणैरिति यावत् । व. युष्मान्, कथं न चमदचीकरत् ? न व्यसिस्मयत् ? श्रुतिवृत्तान्तस्य लोकव्यवहारेण ऐक्यदर्शनात् कथं श्रुतिः प्रमाणत्वेन युष्माभिः न स्वीक्रियते ? इति भाव' ॥ १०३ ॥

अन्वयः—नास्तिका', शतक्रतूरुजाद्याख्याविख्याति. श्रुतिवृत्तान्तसवादैः वः कथं न चमदचीकरत् ?

हिन्दी—अरे नास्तिको, शतमखी (इन्द्र) और ऊरुज (विष्णु की जंघा से जात-वैश्य) आदि सज्ञाओ की प्रसिद्धि वैदिक-इतिहासो से सगति युक्त हो तुम्हें क्यों चमत्कृत नही बनाती ?

टिप्पणी–ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध मे वरुण एक और प्रमाण उपस्थित करते हैं और नास्तिको को अपना हठ छोड आस्तिक बनने का अनुरोध करते हैं। वे कहते हैं कि जो वेदोक्त है, लोक-व्यवहार तदनुसार व्यवहार करता है। उदाहरणार्थ—वेद वचन है कि सौ अश्वमेध करने वाला 'शतक्रतु' इन्द्र होता है। लोक-व्यवहार में भी शतक्रतु इन्द्र को ही कहा जाता है, अग्नि-आदि को नही। ऐसे ही–'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य. कृत.'–इत्यादि श्रुति-वचन मे जो है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख से उत्पन्न हुआ, वह 'मुखज' है, क्षत्रिय 'बाहुज' है, बाहूत्पत्ति के कारण। ऐसे ही ऊरु-जात होने से वैश्य 'ऊरुज' है और पद से सभूत शूद्र 'पज्ज'। लोक-व्यवहार मे ये 'मुखज' आदि सज्ञाएँ ब्राह्मणादि की ही हैं, अन्य को नहीं। (अथवा वेद मे शतक्रतु इन्द्र, ऊरुजा उर्वशी आदि देव और अप्सरियो के वृत्तांत हैं, वे लोक जीवन में भी मिलते हैं।) तो इस प्रकार जो वैदिक आख्याएँ प्रसिद्ध है, लोक जीवन में वे व्यवहृत हैं। दोनों मे इस 'संवाद' (सगति) को देख कर क्या तुम

नास्तिकों को विस्मयाभिभूत हो ईश्वर, वेद आदि पर विश्वास नहीं होता ? वेद और तन्मूल परलोक, उनका नियामक—सभी प्रामाणिक है ॥ १०३ ॥

तत्तज्जनकृतावेशान् गयाश्राद्धादियाचिनः ।
भूताननुभवन्तोऽपि कथं श्रद्धत्थ न श्रुतीः ? ॥ १०४ ॥

जीवातु—श्रुतेः प्रामाण्यमेव कुतः ? इत्याशङ्क्य तदेव द्वाभ्यामुपपादयति—तदित्यादि । तेषु तेषु जनेषु लोकेषु, कृतावेशान् तन्मुखेन यत्किञ्चित् याचितुं कृताधिष्ठानान्, गयाश्राद्धादियाचिनः प्रेतत्वादिविमोचककर्मयाचकान्, भूतान् प्रेतयोनिभेदान्, अनुभवन्तः प्रत्यक्षेण पश्यन्तः अपि, श्रुतीः तद्विधायकवेदान् कथं न श्रद्धत्थ ? न विश्वसिथ ? ॥ १०४ ॥

अन्वयः—तत्तज्जनकृतावेशान् गयाश्राद्धादियाचिनः भूतान् अनुभवन्तः अपि श्रुतीः कथं न श्रद्धत्थ ?

हिन्दी—उन-उन (अपने तथा अन्य) जनों में संचरित हो गया-श्राद्ध आदि की याचना करते 'भूतों' का अनुभव करते हुए भी (तुम नास्तिक) वेदों पर क्यों श्रद्धा नहीं करते ?

टिप्पणी—'याचंतः स्वं गयाश्राद्धम्'—इत्यादि (८९) इन्द्र वचन का समर्थन । मरने के अनन्तर सद्गति न पाने वाले 'भूत' योनि प्राप्त करते हैं और प्रायः अपने सम्बन्धि जनों या अन्य जनों पर आविष्ट हो (सिर पर आकर) 'गया में श्राद्ध कर दो, जिससे हमारी गति हो'—आदि याचनाएँ करते देखे जाते हैं । इस सब विधान 'वैदिक' है । इसे देख कर भी नास्तिकों को वेदों पर, वैदिक कर्मकांडों पर विश्वास नहीं होता—यह बड़े दुःख की बात है ॥ १०४ ॥

नामभ्रमाद् यमं नीतानथ स्वतनुमागतान् ।
संवादवादिनो जीवान् वीक्ष्य मा त्यजत श्रुतीः ॥ १०५ ॥

जीवातु—नामेति । किञ्च, नामभ्रमात् नामसाम्यकृतभ्रान्तेः, यमं परेतराजम्, नीतान् यमदूतैः प्रापितान्, अथ अनन्तरम्, भ्रान्तिशोधनार्थं यमेन पुनः मर्त्यलोकप्रेरणानन्तरमित्यर्थः । स्वतनुम् आगतान् अप्राप्तकालत्वात् पुनर्यमाज्ञया स्वशरीरं प्रविष्टान् संवादवादिनः वेदोक्त्या सह ऐक्यवादियम-

लोकवृत्तान्तकथकान्, जीवान् मर्त्यान्, वीक्ष्य अवलोक्य, श्रुतीः वेदान् मा त्यजत न जहीत, एकत्र प्रामाण्यदर्शनादन्यत्राप्यश्रद्धा न कार्या इति भावः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—नामभ्रमात् यम नीतान् अथ स्वतनुम् आगतान् सवादवादिनः जीवान् वीक्ष्य श्रुतीः मा त्यजत ।

हिन्दी—नाम सादृश्य के कारण भ्रांति से यम के लोक में ले जाये गये और अनन्तर (भ्रांति मिट जाने पर) स्वदेह मे पुनः आ गये, वेद-वचनों के संवादी (सगत) वचन कहते जीवों को देख कर (तो) वेदों का त्याग न करो ।

टिप्पणी—'नीताना यमदूतेन' इत्यादि (९०) इन्द्र कथन का समर्थन । नाम भ्रम से एक बार ले जाये गये, भ्रम मिटने पर पुनः यम लोक से लौटे, पुनर्जीवित लोग स्वर्गादि का वेदोक्त प्रकार से ही वर्णन करते हैं । कम से कम उन जीवो का विश्वास करके तो वेदो का विश्वास करना ही चाहिए ।

सरम्भैर्जम्भजैत्रादेः स्तम्भ्यमानाद् बलाद् बलन् ।
मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिर्देवानयं कश्चिदूचिवान् ॥ १०६ ॥

जीवातु—सरम्भैरिति । अथ वक्ष्यमाणानन्तरम्, जम्भजैत्रादेः जम्भासुर-विजयीन्द्रादिदेववर्गस्य, संरम्भैः कोपैः 'सरम्भः सम्भ्रमे कोपे' इति विश्वः । स्तम्भ्यमानात् पुरःप्रलिनु प्रतिबध्यमानात्, बलात् कलिसैन्यात्, बलन् निर्गच्छन्, कश्चित् धूर्तः वन्दी, मूर्ध्नि शिरसि, बद्धाञ्जलिः सन्, नमस्कृत्य इत्यर्थः । देवान् इन्द्रादीन्, एवं वक्ष्यमाणम्, ऊचिवान् उक्तवान् । वुवः क्वसु ॥ १०६ ॥

अन्वयः—अथ जम्भजैत्रादे सरम्भैः स्तम्भ्यमानात् बलात् बलन् मूर्ध्नि बद्धाञ्जलि कश्चित् देवान् एवम् ऊचिवान् ।

हिन्दी—तदनन्तर (इन्द्रादि देवो द्वारा डाँटे जाने के बाद) जम्भासुर के जेता (इन्द्र) आदि (अग्नि, वरुण, यम) के क्रोध से स्तब्ध हो गयी सेना से पृथक् होता हुआ, मस्तक पर हाथ-जोडे कोई (चार्वाक) देवों से इस प्रकार बोला ।

टिप्पणी—देवो को क्रुद्ध देख कर आगे बढ़ती पापियों की भीड़—कलि सैन्य स्तब्ध होकर आगे बढ़ने से रुक गयी । उसी से आगे को अलग कर हाथ जोडे एक व्यक्ति (जिसने वे दुर्वचन कहे थे, चार्वाक) देवा से यों कहने लगा ॥ १०६ ॥

नापराधी पराधीनो जनोऽयं नाकनायकाः!।
कालस्याहं कलेर्वन्दी तच्चाटुचटुलाननः ॥ १०७ ॥

जीवातु—यदुचितम् तदाह—नेति। नाकनायकाः! हे देवाः!, अयं जनः अहमित्यर्थः। पराधीनः परवशः, अतो न अपराधी न दोषी, अहम् अयं जनः, कलेः कालस्य कलियुगाधिदेवस्य, तच्चाटुभिः तस्य कलेः, चाटुभिः प्रियवादैः, चटुलाननः चपलमुखः, स्वामिचित्तानुकूलवादीत्यर्थः। वन्दी स्तुतिपाठकः, अतोऽहं क्षन्तव्य इति भावः। स्वामीचित्तानुरञ्जनार्थं वेदादिदूषणं कृतं न तु स्वतः, अतो नाहं भवद्भिर्दण्डनीय इति निष्कर्षः॥ १०७॥

अन्वयः—नाकनायकाः अयं पराधीनः जनः अपराधी न, अहं कलेः कालस्य तच्चाटुलाननः वन्दी।

हिन्दी—हे स्वर्ग के नायकों, पराधीन व्यक्ति अपराधी नहीं है, मैं कालरूप कलियुग का उस (कलि) की प्रशंसा में चपल मुख वाला (स्तुति पाठक) चारण हूँ।

टिप्पणी—दुर्वचन कहने वाला पापी चार्वाक आगे आया और अपने को निरपराध बताते हुए अपराधों को क्षमायोग्य सिद्ध करने लगा। उसका तर्क यह था कि वह स्वाधीन नहीं है कि जो चाहे, कहे। वह तो पराधीन सेवक है। वह वंदी—चारण है काल तुल्य प्रचंड श्री कलिदेव का। उन्हीं की इच्छा व्यक्त की है उसने। सो वह क्षंतव्य है। उसने स्वामी की इच्छा मात्र व्यक्त की है॥ १०७॥

इति तस्मिन् वदत्येव देवाः स्यन्दनमन्दिरम्।
कलिमाकलयाञ्चक्रुर्द्वापरस्वापरं पुरः ॥ १०८ ॥

जीवातु—इतीति। तस्मिन् वन्दिनि, इति इत्थं, वदति जल्पति एव सति, देवाः इन्द्रादयः, स्यन्दनमन्दिरं रथमध्यस्थं, कलिं कलियुगाधिष्ठातारं, तथा अपरं ततः अन्यं, द्वापरं द्वापरयुगाधिदेवञ्च, पुरः अग्रे आकलयाञ्चक्रुः ददृशुः॥ १०८॥

अन्वयः—तस्मिन् इति वदति एव देवाः स्यन्दनमन्दिरं कलिम् अपरं द्वापरं च पुरः आकलयाञ्चक्रुः।

हिन्दी—उस (चार्वाक) के इतना कहते ही देवों रथारूढ़ कलि और दूसरे द्वापर युग के अधिदेवता को संमुख देखा।

टिप्पणी—चार्वाक के चुप होते ही इन्द्रादि देवों ने देखा कि उनके संमुख कलि और द्वापर के अधिष्ठाता देवरथ पर बैठे हैं ॥ १०८ ॥

सन्ददर्शोन्नमद्ग्रीवः श्रीबहुत्वकृताद्भुतान् ।
तत्तत्पापपरीतस्तान् नाकीयान् नारकीव सः ॥ १०९ ॥

जीवातु—सन्ददर्शेति । नरकः अस्य अस्तीति नारकी नरकस्थः जन इव, तैः तैः पापैः ब्रह्महत्यादिभिः पातकैः, परीतः परिवेष्टितः, सः कलिः, श्रीबहुत्वेन सौन्दर्यबाहुल्येन, कृताद्भुतान् जनितविस्मयान्, रूपातिशयेन दर्शकानां विस्मयोत्पादकानित्यर्थः । नाकीयान् स्वर्गस्थान्, तान् इन्द्रादीन्, उन्नमद्ग्रीवः उत्कन्धरः सन्, सन्ददर्श अवलोकयामास ॥ १०९ ॥

अन्वयः—तत्तत्पापपरीतः नारकी इव उन्नमद्ग्रीवः सः श्रीबहुत्वकृताद्भुतान् नाकीयान् सददर्श ।

हिन्दी—उन-उन प्रसिद्ध (ब्राह्मणादि मूर्तिमान्) पापों से घिरा नरकवासी के ऊपर गरदन किये वह (कलि) शोभाधिक्य और सम्पदाबाहुल्य के कारण विस्मयकारी, स्वर्ग के वासी देवों को देख रहा था ।

टिप्पणी—अनेक मूर्तिमान् पातकों से चारों ओर घिरा कलियुग अपने गरदन ऊपर किये पूर्णतः नरक का प्राणी लग रहा था । नरक के प्राणी कंठ तक नरक-भोग में डूबे ऊपर को गरदन किये रहते हैं । देव उसके संमुख थे, श्री-शोभा सम्पन्न देव । वह विस्मित हो गया ऐसी दिव्य कांति और श्रीसम्पन्नता देखकर । प्रतीत हो रहा था कि पश्चात्ताप करता हुआ गरदन उठाये देवों से दया-याचना कर रहा है । नारायण के अनुसार उपमा ।

गुरुव्रीडावलीढः प्रागभून्नमितमस्तकः ।
स त्रिशङ्कुरिवाक्रान्तस्तेजसैव बिडौजसः ॥ ११० ॥

जीवातु—गुर्विति । सः कलिः, प्राक् प्रथम, दर्शनमात्रमेवेत्यर्थः । गुर्व्या महत्या, व्रीडया लज्जया, देवानां वैमुख्यजनितया इति भावः । 'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा लज्जा' इत्यमरः । अवलीढः ग्रस्तः, पश्चात् बिडौजसः इन्द्रस्य, तेजसा एव प्रभावेणैव, आक्रान्तः अभिभूतः सन्, त्रिशङ्कुः इन्द्रतेजसा स्वर्गात् भ्रंशितः नमितमस्तकः सूर्यवंशीयो राजविशेष इव, नमितमस्तकः अवनतशिराः, अभूत् अजायत ॥ ११० ॥

अन्वयः—प्राक् गुरुव्रीडावलीढः नमितमस्तकः सः विडौजसः तेजसा एव आक्रान्तः त्रिशङ्कुः इव अभूत् ।

हिन्दी—पहिले (दर्शन से पूर्व) बड़ी लाज से भरा और मस्तक नीचा किये वह (कलि) इन्द्र के तेज से ही अभिभूत त्रिशंकु की भाँति लग रहा था।

टिप्पणी—पाठांतर 'गुरुरीढावलीढः' भी है। यह अधिक संगत है। कलि की दशा राजा त्रिशंकु के समान हो रही थी। त्रिशंकु ने पहिले गुरु वसिष्ठ की 'रीढा' अर्था अवज्ञा की थी। वह सशरीर स्वर्ग जाना चाहता था एतदर्थ उसने वसिष्ठमुनि के पौरोहित्य में यज्ञ करना चाहा। उनके न स्वीकारने पर उसने वसिष्ठ के प्रतिद्वन्द्वी विश्वामित्र को पुरोधा बनाकर यज्ञ किया। उसके प्रभाव से जब वह सशरीर स्वर्ग को चला तो मार्ग में देवराज इन्द्र ने उसे रोक दिया। तब से श्रीहीन त्रिशंकु अधर में लटका है ऊपर गरदन किये। यही स्थिति कलि की हुई। पहिले अर्थात् जब तक उसने देव-सामुख्य प्राप्त न किया था, वह उनकी अवज्ञा कर रहा था, अब देखकर उनके—विशेषतः विडौजा (इन्द्र) के प्रभाव से अभिभूत हो गया और लज्जित हो गरदन नीची कर ली। अमरकोष के अनुसार रीढा, अवमानना, अवज्ञा पर्याय हैं—'रीढावमाननावज्ञा' ॥११०॥

विमुखान् द्रष्टुमप्येनं जनङ्गममिव द्विजान् ।
एष मत्तः सहेलं तानुपेत्य समभाषत ॥ १११ ॥

जीवातु—विमुखानिति । जनात् गच्छति इति जनङ्गमः चण्डालः तम् । 'गमश्च' इति संज्ञायां खच्प्रत्यय इति क्षीरस्वामी । 'चण्डालप्लवमातङ्गदिवाकीर्त्तिजनङ्गमाः' इत्यमरः। द्रष्टुम् ईक्षितुम् अपि, विमुखान्, परावर्तिताननान्, द्विजान् विप्रादीन् इव, एनं कलिं, द्रष्टुमपि किमुत सम्भाषितुं स्प्रष्टुं वेति भावः। विमुखान् तान् इन्द्रादीन्, मत्तः मदान्धः, एषः कालः, सहेलं सावज्ञम् ; 'हेलाऽवज्ञाविलासयोः' इति विश्वः। उपेत्य समागत्य, समभाषत सम्भाषितवान् ।

अन्वयः—जनङ्गमं द्रष्टुम् अपि विमुखान् द्विजान् इव एनं तान् उपेत्य मत्तः एषः सहेलं समभाषत ।

हिन्दी—चाण्डाल को देखने से भी पराङ्मुख ब्राह्मणादि के समान इस (कलि) को देखने से भी विमुख उन (देवों) के निकट पहुँच (चाण्डाल के सम) मतवाला यह (कलि) धृष्टतापूर्वक बोला।

टिप्पणी—कलि इतना गर्हित था कि इन्द्रादि देव उसे देखना भी अच्छा नहीं समझते थे, स्पर्श की तो बात ही क्या ? कलि मदिरामत्त चाण्डाल के तुल्य उनसे अवज्ञापूर्वक बात करने लगा, यद्यपि देव उसी भाँति उससे दूर रहना चाहते थे, जैसे ब्राह्मणादि द्विजन्मा चाण्डालों से दूर रहना चाहते हैं। सामान्यतया चाण्डाल इतना दुःसाहस नहीं कर सकता था कि द्विजों से उद्दतापूर्वक, निकट जाकर, बात कर सके, किन्तु मदिरामत्त होने पर वैसा कर सकता था। ऐसा ही मत्त कलि ने किया ॥ १११ ॥

स्वस्ति वास्तोष्पते ! तुभ्यं ? शिखिन्नस्ति न खिन्नता ? ।
सखे काल ! सुखेनासि ? पाशहस्त ! मुदस्तव ? ॥११२॥

जीवातु—स्वस्तीति । वास्तोष्पते ! वास्तोः गृहक्षेत्रस्य, पतिः अधिष्ठाता तत्सम्बुद्धौ, हे भुवस्पते ! इन्द्र !, 'वास्तोष्पतिगृहमेधाच्छ च' इत्यस्मादेव निपातनादलुकि षत्वम् । 'इन्द्रो मरुत्वान्मघवा बिडौजाः पाकशासनः । वास्तोष्पतिः सुरपतिर्बलारातिः शचीपतिः ॥' इत्यमरः । तुभ्यं स्वस्ति क्षेमम्, अस्ति कच्चित् ? इति शेषः । 'नमः स्वस्ति—' इत्यादिना चतुर्थी । 'स्वस्त्याशीः क्षेमपुण्यादौ' इत्यमरः । शिखिन् ! हे अग्ने ! खिन्नता खेदः, न अस्ति, कच्चित् ? इति शेषः । सखे काल ! हे सुहृद् यम ! सुखेन प्रीत्या, असि वर्तसे, किम् ? इति शेषः । पाशहस्त !, हे वरुण ! तव भवतः, मुदः मोदाः, सन्ति किम् ? इति शेषः । सर्वत्र काकुरनुसन्धेया ॥ ११२ ॥

अन्वय—वास्तोष्पते, तुभ्यं स्वस्ति ? शिखिन्, खिन्नता न अस्ति ? सखे काल, सुखेन असि ? पाशहस्त, तव मुदः ?

हिन्दी—हे वास्तु (गृहक्षेत्र) के स्वामी (इन्द्र), तुम सकुशल हो ? हे अग्नि, खिन्न तो नहीं हो ? मित्र यमराज, सुखी हो ? पाशधारिन् (वरुण), तुम सानन्द हो ?

टिप्पणी—कलि देवों से उसी प्रकार बात करने लगा, जैसे कि एक मित्र अन्य मित्रों से करता है—समानस्तर पर । विभिन्न देवों के संबोधन (विशेषण) यही द्योतित करते हैं, उदाहरणार्थ इन्द्र को 'वास्तोष्पति' कहकर संबोधित किया—केवल गृहक्षेत्र का अधिपति । असामर्थ्य-सूचक संबोधन ! ऐसे ही अग्नि को 'शिखी' कहा—ज्वालाजटिल कुटिलरूप । यम को 'काल'

अर्थात् अनिष्ट मृत्यु और वरुण को 'पाशहस्त'—वृथा हाथ में 'पाश' धारण करने वाला। इन्द्र से कलि ने कहा—'स्वस्ति'। इस प्रकार ब्राह्मण संवाद करते हैं, जैसे कलि ब्राह्मण है, स्वामी है। यम को 'सखा' कहा। यह सब कलि के गर्व और अवज्ञा का सूचक है। मल्लिनाथ सर्वत्र 'काकु'-अनुसंधान के पक्षधर हैं ॥ ११२ ॥

स्वयंवरमहे भैमी-वरणाय त्वरामहे।
तदस्माननुमन्यध्वमध्वने तत्र धाविने ॥ ११३ ॥

जीवातु—स्वयमिति। हे देवाः! स्वयंवरः एव आत्मना पतिवरणमेव, महः उत्सवः तस्मिन्, स्वयंवराय महः तस्मिन् इति वा। भैमीवरणाय दमयन्तीं भार्यात्वेन वरीतुं, त्वरामहे त्वरां कुर्महे, शीघ्रं याम इत्यर्थः। तत् तस्मात्; अस्मान् तत्र धाविने स्वयंवरगामिने, अध्वने अध्वगमनाय इत्यर्थः। अनुमन्यध्वम् अनुजानीध्वम् ॥ ११३ ॥

अन्वयः—स्वयंवरमहे भैमीवरणाय त्वरामहे, तत् तत्र धाविने अध्वने अस्मान् अनुमन्यध्वम्।

हिन्दी—स्वयंवरोत्सव में भीमसुता (दमयन्ती) को वरने के लिए हमें त्वरा (शीघ्रता) है, सो वहाँ शीघ्र पहुँचा देने वाले मार्ग के विषय में हमें (कलि को) अनुमति दो।

टिप्पणी—एक समानस्तर के मित्र का भाव रखते हुए देवों से कलि ने कहा—मित्रों, हमें जरा जल्दी है, व्यस्त हैं हम भैमी स्वयंवर में जाने के लिए। अभी तो मित्रों, हमें वह मार्ग बतादो कि जिससे शीघ्र हम वहाँ पहुँच सकें। वैसा ही भाव—जैसे कि मार्ग में मिल गये मित्रों से कोई व्यस्त मित्र क्षमा-याचना करे कि मित्रगण इस समय क्षमा करें, वह व्यस्त है। गप्प मारने-गोष्ठी करने का अवकाश नहीं। फिर मिलेंगे। अपने संबंध में अभिमान-द्योतक सर्वनाम 'अस्मान्' (हमें) ॥११३॥

तेऽवज्ञाय तमस्योच्चैरहङ्कारमकारणम्।
ऊचिरेऽतिचिरेणैनं स्मित्वा दृष्टमुखा मिथः ॥ ११४ ॥

जीवातु—ते इति। ते देवाः, अस्य कलेः, तं पूर्वोक्तम्, उच्चैः उत्कटम्, अकारणम् अहेतुकम्, अहङ्कारं गर्वम्, अवज्ञाय अविगणय्य अत एव अतिचिरेण

अतिविलम्बेन, पापिष्ठोऽयं कथमस्माभि- सम्भाष्य इति बुद्धया इति भावः। मिथो दृष्टमुखाः परस्परमुखावलोकिनः सन्तः, स्मित्वा मूढोऽयं स्वयंवरवार्ता करोतीति ईषद् हसित्वा, एनं कलिम्, ऊचिरे ऊचुः ॥ ११४ ॥

अन्वयः—ते अस्य अकारणम् उच्चैः तम् अहङ्कारम् अवज्ञाय अतिचिरेण मिथः दृष्टमुखाः स्मित्वा एनम् ऊचिरे।

हिन्दी—वे (इन्द्रादि) इस (कलि) के निष्कारण अतिशय इस अहङ्कार (गर्व) की उपेक्षा करके पर्याप्त काल तक एक-दूसरे को देखते रहे फिर कुछ हँसकर इस (कलि) से बोले।

टिप्पणी—देवों को कलि की उस धृष्ट सम्भाषण-शैली पर कुछ आश्चर्य हुआ, कुछ क्रोध भी आया कि नीच कलि हमसे इस प्रकार संवाद कर रहा है कि जैसे मित्र हो। फिर उसे मूर्ख मानकर उसकी अवज्ञा करते हुए, कुछ देर तक परस्पर दृष्टिपात कर, उससे कहने लगे। उन्होंने सोचा कि यह कलि तो महामूर्ख है। इसे यह भी ज्ञात नहीं कि स्वयंवर हो चुका है। अब वहाँ जाने की त्वरा व्यर्थ है ॥ ११४ ॥

पुनर्वक्ष्यसि मा मैवं कथमुद्वक्ष्यसे नु सः ?।
सृष्टवान् परमेष्ठी यं नैष्ठिकब्रह्मचारिणम् ॥ ११५ ॥

जीवातु—पुनरिति। हे कले! पुनः भूयः, एवं स्वयंवरार्थं गमिष्यामीत्येवं रूपम्, मा मा वक्ष्यसि नैव वक्तव्यम्, कोपे द्विरुक्तिः। 'अनद्यतन्यमयोर-किंवृत्तेऽपि' इत्यमर्यादे वक्ष्ये लृट्। कुतः ? परमे तिष्ठतीति परमेष्ठी पितामहः। 'परमेस्थः कित्' इति इनिः। 'अम्बाम्बगोभूमि—' इति षत्वम्। यं त्वां, नैष्ठिकब्रह्मचारिणं यावज्जीवं ब्रह्मचर्येण अवतिष्ठमानं, सृष्टवान् निर्मितवान्, सः त्वं, कथं नु केन प्रकारेण, उद्वक्ष्यसे? परिणेष्यसि? वहेर्लृट्। तेन चाल्-पूर्वघासनेन कृतयुगादयोऽपि निष्फला एव सृष्टाः, अतस्तव स्वयंवरवार्ता नैव कर्तव्या नैष्ठिकब्रह्मचारिव्रतस्य हानिभयात् इति भावः ॥ ११५ ॥

अन्वयः—पुनः एवं मा मा वक्ष्यसि, परमेष्ठी यं नैष्ठिकब्रह्मचारिणं सृष्टवान्, सः नु कथम् उद्वक्ष्यसे ?

हिन्दी—(देव बोले) हे कलि, फिर ऐसा कभी न कहना। पितामह (ब्रह्मा) ने जिसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी (गुरुकुल में वास कर आजन्म ब्रह्मचर्य धारण करने वाला) बनाया है, वह भला कैसे विवाह करेगा ?

टिप्पणी—एक धृष्ट और मूर्ख की अवज्ञा करके जिस प्रकार उसका उपहास किया जाता है, उसी व्यंग्यपूर्ण शैली में कलि का उपहास करते हुए देवों ने कहा कि कलि महाराज, आपको विधाता ने सदा ब्रह्मचर्य धारण करने वाला—निष्कलत्र—बनाया है, आप विवाह करके क्या ब्रह्मचर्यव्रत-भंग करेंगे ? यह तो पाप होता । आपको तो विवाह का विचार भी नहीं करना चाहिए । अतः स्वयंवर में जाने की बात दोबारा कभी न कहें । स्मृति के अनुसार नैष्ठिक ब्रह्मचारी को सदा आचार्य के समीप रहना चाहिए, आचार्य के अभाव में आचार्य-पुत्र, आचार्य-पत्नी अथवा वैश्वानर के निकट—'नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्यसन्निधौ । तदभावेऽस्य तनये पत्न्यां वैश्वानरेऽपि वा ।' ऐसा न कर यदि ब्रह्मचारी स्त्रीसंग कर लेता है तो ब्रह्मचर्य-भ्रष्ट हो वह 'अवकीर्णी' हो जाता है जिस पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप एक यज्ञ करना होता है जिसमें जंगल में जाकर चौराहे पर काने गधे को मारकर विधि विधान पूर्वक उसे पाकयज्ञ में निर्ऋति देवता को चढ़ाना होता है ॥ ११५ ॥

द्रौहिणं द्रुहिणो वेत्तु त्वामाकर्ण्यावकीर्णिनम् ।
स्वजनैरपि वा धातुः सेतुर्लङ्घ्यस्त्वया न किम् ? ॥११६॥

जीवातु—द्रौहिणमिति । वा अथवा, स्वजनैः तव भृत्यैः कामक्रोधादिभिरपि, भृत्यत्वादतिक्षुद्रैरपीति भावः । धातुः ब्रह्मणः, सेतुः मर्यादा, नियोग इति यावत्, लङ्घ्यः लङ्घयितुं शक्यः । 'शकि लिङ् च' इति चकारात् शक्यार्थे कृत्प्रत्ययः । सुतरां त्वया तत्स्वामिना भवताऽपि, न किम् ? स सेतुः किं न लङ्घ्यः ? अपि तु लङ्घ्यः एव इत्यर्थः । यस्य क्षुद्रभृत्यैरपि लण्ड्राज्ञालङ्घनं सम्भाव्यते, तेनापि तदाज्ञालङ्घनं नासम्भाव्यमिति भावः । किन्तु द्रुहिणः ब्रह्मा, त्वाम् अवकीर्णं स्खलितम् अनेनेत्यवकीर्णी क्षतव्रतः । 'इष्टादिभ्यश्च' इति इनिप्रत्ययः । तम् अवकीर्णिनं क्षतव्रतम्, व्रतलङ्घिनमित्यर्थः । 'अवकीर्णी क्षतव्रतः' इत्यमरः । आकर्ण्य श्रुत्वा, द्रौहिणम् आज्ञालङ्घनापराधिनम्, वेत्तु जानातु, ज्ञात्वा च यत् कर्तव्यं तत् करोतु इति भावः ॥ ११६ ॥

अन्वयः—द्रुहिणः त्वाम् अवकीर्णिनम् आकर्ण्य द्रौहिणं वेत्तु वा स्वजनैः अपि धातुः सेतुः लङ्घ्यः, त्वया किम् न ?

हिन्दी--ब्रह्मा तुझे (कलि को) 'अवकीर्णी' (ब्रह्मचर्य-नाश-पातकी) सुनकर द्रोही समझेंगे अथवा तेरे (कामक्रोधादि) अनुचर ही विधाता के सेतु (मर्यादा) का उल्लंघन किया करते हैं, तू क्यों नहीं कर सकता ?

टिप्पणी--उपहासात्मक शैली में ही देवों ने कलि को समति दी कि यदि तुम विधाता की इच्छा का अतिक्रमण करके ब्रह्मचर्य भंग करके 'अवकीर्णी' बनोगे तो विधाता तुम्हें गुरुद्रोही अथवा अपनी आज्ञा का निरादर करने वाला द्रोही मानेंगे और दण्ड देंगे। परन्तु कदाचित् कलि क्यों इस सबकी चिन्ता करेगा ? वह तो निरंतर ऐसे पाप और द्रोह करता ही रहता होगा, क्योंकि उसके सेवक काम-क्रोधादि ऐसा किया ही करते हैं। जब सेवक ही करते है तो स्वामी तो करेगा ही। अथवा 'काकु' योजना से यह अर्थ भी किया जा सकता है कि तेरे सेवकों को और तुझे विधाता के धर्मसेतु का लंघन न करना चाहिए॥ ११६ ॥

अतिवृत्तः स वृत्तान्तस्त्रैलोक्ययुवगर्वनुत्।
आगच्छतामपादानं न स्वयंवर एव नः॥ ११७॥

जीवातु--अतीति। भवतु तावत्, त्रैलोक्ये त्रिलोकमध्ये, ये युवानः यावन्तस्तरुणाः, तेषां गर्वनुत् सौन्दर्याहङ्कारहन्ता, भैमीकर्तृकप्रत्याख्यानादिति भावः। वृत्तान्तः स्वयंवरप्रसङ्गः, अतिवृत्तः अतीतः। कथं त्वया ज्ञातम्? इत्याह--आगच्छताम् आयाताना, नः अस्माकं, स प्रसिद्धः, स्वयंवर एव स्वयंवरस्थानमेव, अपादानम् आगमनक्रियाया अवधिभूतः, तत एव आगच्छाम इत्यर्थः॥ ११७॥

अन्वयः--त्रैलोक्ययुवगर्वनुत् सः वृत्तान्तः अतिवृत्तः, आगच्छतां नः सः स्वयंवरः एव अपादानम्।

हिन्दी--(इसके अतिरिक्त) त्रिलोकी के तरुणों के अभिमान का विनाशक वह इतिवृत्त (स्वयंवर--घटना) अतिवृत्त (समाप्त) हो गया, (वहीं से) आते हम लोगों का वह स्वयंवर ही विभाजक स्थान है।

टिप्पणी--स्वयंवर में शीघ्र पहुँचने की इच्छा व्यर्थ है, इसका एक और कारण कि स्वयंवर समाप्त हो चुका है। संपूर्ण जगत् के युवाओं का अभिमान चूर्ण हो चुका है, क्योंकि दमयन्ती ने *(एक को छोड़ कर)* उनका वरण

नहीं किया। देवों का कथन इसलिए मान्य होना चाहिए कि वे स्वयंवर-स्थल से ही आ रहे हैं ॥ ११७ ॥

नागेषु सानुरागेषु पश्यत्सु दिविषत्सु च ।
भूमिपालं नलं भैमी वरं साऽव्वरत् वरम् ॥ ११८ ॥

जीवातु—नागेष्विति । सानुरागेषु अनुरागयुक्तेषु, नागेषु नागकुमारेषु, दिविषत्सु देवेषु च, पश्यत्सु अवलोकयत्सु, पश्यतः तान् सर्वाननादृत्येत्यर्थः । 'षष्ठी चानादरे' इति चकारात् अनादरे सप्तमी । सा भैमी दमयन्ती, वरं साधारणापेक्षया श्रेष्ठम्, भूमिपालं चक्रवर्तिनम्, नलं निषेधेशम्, वरं वोढारम्, अववरत् वृणोतिस्म । वरयतेश्चौरादिकात् ईप्सायाम् अदन्तात्लङ्, अल्लोपस्वे-नासन्वद्भावादिद्दीर्घयोरभावः ॥ ११८ ॥

अन्वयः—सानुरागेषु नागेषु दिविषत्सु च पश्यत्सु सा भैमी वरं भूमिपालं नलं वरम् अवरत् ।

हिन्दी—अनुराग से पूर्ण नागतरुणों और देवों के देखते-देखते उस भीम-सुता (दमयन्ती) ने श्रेष्ठ पृथ्वीपाल (राजा) नल को 'वर' रूप में वर लिया।

टिप्पणी— त्रिलोकी के युवकों का अभिमान इसलिए भंग हो गया कि पाताल के नागकुमार थे, स्वर्ग के देव थे, धरती के भी नानादेशागत राजा राजकुमार थे, उन सबके संमुख ही दमयन्ती ने श्रेष्ठ राजा निषधपति नल का वरण कर लिया। जहाँ हम इन्द्रादिकमवरण का प्रश्न है—हम तो केवल उत्सव देखने गये थे ॥ ११८ ॥

भुजगेशानसद्वेशान् वानरानितरान् नरान् ।
अमरान् पामरान् भैमी नलं वेद गुणोज्ज्वलम् ॥ ११९ ॥

जीवातु—भुजगेति । भैमी दमयन्ती, भुजगेशान् वासुकिप्रमुखमहानागान्; असद्वेशान् अपकृष्टपरिच्छदान्, वैरूप्यादमनोज्ञाकृतीन् इत्यर्थः । इतरान् नलात् अन्यान्, नरान् मानवान्, नरेन्द्रान् इति यावत् । वानरान् मर्कटान्, चापल्य-निर्गुणत्वाभ्यां मर्कटतुल्यान् इत्यर्थः । तथा अमरान् इन्द्रादीन् देवान्, पामरान् नीचान् । 'विवर्णः पामरो नीचः' इत्यमरः । वेद वेत्ति । 'विदो लटो वा' इति

णलादेशः । नल केवलं नलनृपतिम् एव, गुणोज्ज्वलं गुणाढ्यम्, वेद इति पूर्वक्रियया *अन्वयः* ॥ ११९ ॥

अन्वयः—भैमी भुजगान् असद्वेशान् इतरान् नरान् वानरान्, अमरान् पामरान् वेद, नल गुणोज्ज्वल वेद ।

हिन्दी—भीमपुत्री (दमयन्ती) ने नागों (वासुकि आदि) को विरूप, नलातिरिक्त मानवो (नरो) को वानर (बदर) और देवो को नीच समझा, केवल नल को गुणसपन्न समझा ।

टिप्पणी—नाग-नर-देव इन सभी को अयोग्य मानकर दमयन्ती ने नल को ही शौर्य, सौन्दर्य और शोभा से दीप्त समझा और वर लिया । उस दमयन्ती को भयावह-फणधारी, जीभ लपलपाते नाग विरूप लगे, नलातिरिक्त नरराज चपल और निर्गुण प्रतीत हुए और देवो को तो उसने अमर नहीं, पामर माना । इसी कारण हम देव कहते हैं कि वह स्वयवर 'त्रैलोक्ययुवगर्वनुत्' था । अब कलि का वहाँ जाना व्यर्थ है । जब नाग-नर-देव भी वहाँ असफल सिद्ध हुए तो काला-काला, घृणित कलि वहाँ पहुँचकर करता भी क्या ? ॥ ११९ ॥

इति श्रुत्वा स रोपान्धः परमश्चरमं युगम् ।
जगन्नाशनिशारुद्रमुद्रस्तानुक्तवानदः ॥ १२० ॥

जीवातु—इतीति । इति इद, श्रुत्वा आकर्ण्य, परमः उत्कट इत्यर्थः । रोपेण क्रोधेन, अन्धः इष्टिशक्तिहीनः, हिताहितविवेचनापरिशून्य इत्यर्थः । अज्ञानपरवशः इति यावत् । चरमम् अन्त्यम्, युग चतुर्थयुगमित्यर्थः । सः कलिः, जगन्नाशनिशा त्रिभुवनध्वसकारिणी रात्रिः, कालरात्रिरित्यर्थः । तत्र रुद्रः प्रलयकाले सहारमूर्त्तिः शिवः, तस्य मुद्रा इव मुद्रा चिह्नम्, आकारः इति यावत् यस्य सः तादृशः सन्, तान् इन्द्रादीन्, अदः वक्ष्यमाणं वाक्यम्, उक्तवान् कथितवान् ॥ १२० ॥

अन्वय—इति श्रुत्वा परम रोपान्ध चरमं युग सः जगन्नाशनिशारुद्रमुद्रः (सन्) तान् अदः उक्तवान् ।

हिन्दी—यह सुनकर अत्यन्त क्रोध से अधा अन्त्य युग वह (कलि) जगत् का विनाश करने वाली रात्रि का रुद्रसम होता उन (देवों) से यह (आगे वर्णित) बोला ।

टिप्पणी—देवों से अनभीष्ट समाचार सुन कलियुग—अन्त्य (नीच) युग—अत्यन्त क्रुद्ध हो विवेक खोकर ऐसा हो गया, जैसे प्रलयरात्रि में संहारमूर्त्ति शिव, अर्थात् सर्वविध्वंसक । सर्वनाशी । उसी क्रोध में वह देवों से आगे कहे वचन कहने लगा ॥ १२० ॥

कयाऽपि क्रीडतु ब्रह्मा दिव्याः स्त्रीर्दीव्यत स्वयम् ।
कलिस्तु चरतु ब्रह्म प्रैतु चातिप्रियाय वः ॥ १२१ ॥

जीवातु—यदुक्तं 'पुनर्वक्ष्यसि' इत्यादिना श्लोकद्वयेन (१७।११५-११६) तत्रोत्तरं सोल्लुण्ठमाह—कयाऽपीत्यादिना श्लोकद्वयेन । हे देवाः ! ब्रह्मा स्रष्टा, कयाऽपि अगम्ययाऽपीति भावः । 'प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यगात्' इति श्रुतेः, क्रीडतु रमताम्, स्वयं यूयञ्च इत्यर्थः । दिव्याः स्वर्गीयाः, स्त्रीः नारीः, दिव्याभिः वेश्याभिरिति भावः । 'कर्म च' इति करणस्य कर्मत्वम् । दीव्यत क्रीडत, कलिस्तु अहं पुनरित्यर्थः, वः युष्माकम्, अतिप्रियाय अत्यन्त-प्रीतिजननाय, ब्रह्म चरतु ब्रह्मचर्यमवलम्ब्य तिष्ठतु, प्रैतु म्रियताञ्च ॥ १२१ ॥

अन्वयः—ब्रह्मा कया अपि क्रीडतु, स्वयं दिव्याः स्त्रीः दीव्यत, कलिः तु ब्रह्म चरतु, वः अति प्रियाय च प्रैतु ।

हिन्दी—ब्रह्मा किसी (अगम्या सुन्दरी) से केलि करे, स्वयं (तुम देव) दिव्य और अत्यन्त सुन्दरी मानवियों से स्वेच्छया रमण करो, केवल कलि (बेचारा) ब्रह्मचारी रहे और तुम्हारी परम प्रसन्नता के निमित्त मर जाय ।

टिप्पणी—देवों के नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहने के व्यंग (११५) का उत्तर देता रोष में अंधा हो कलियुग फट पड़ा—वाह रे देवों, जिस ब्रह्मा ने मुझे ब्रह्मचारी बनाया, वह स्वयं तो इतना कामुक है कि अगम्या स्वपुत्री सरस्वती से भोग करता है, गायत्री से रमता है वह बुड्ढा । और जहाँ तुम सब देवों का प्रश्न है, तुम सब भी परले सिरे के विलासी और कामी हो । स्वर्ग में एक-से-एक रमणियाँ रम्भा, उर्वशी, मेनकादि अप्सरियों से विलास करते हो और सुन्दरियों मानवियों को भी नहीं छोड़ते—जैसे अहल्या । ब्रह्मचारी तो केवल कलि को रहना है और मर कर भूत हो जाना है । तभी तुम्हें अत्यन्त प्रसन्नता होगी । क्यों ? 'प्रैतु चातिप्रियाय वः' से नारायण ने यह भाव भी

लिया है कि तुम सुन्दरी मानवियों के कामी देवों का अति प्रिय कभी न होने दूंगा–तुम्हें दमयन्ती-प्राप्ति न होने दूंगा, भले ही मर कर प्रेत हो जाऊँ। मर कर प्रेत बन जाऊँगा, परन्तु दमयन्ती-भोग न करने दूंगा। यह अच्छा रहा, तुम आनन्द करो, बूढ़ा ब्रह्मा अपनी बेटी को भी न छोडे–श्रुति-वचन है कि प्रजापति ने स्वपुत्री-गमन किया—केवल कलि कुढ़ता रहे, मरता रहे। ऐसा नहीं होगा ॥ १२१ ॥

चर्य्येव कतमेयं वः परस्मै धर्मदेशिनाम् ?।
स्वयं तत् कुर्वतां सर्वं श्रोतु यद् बिभित: श्रुती ॥ १२२ ॥

जीवातु—ततः किम् ? तत्राह चर्य्येति। परस्मै अन्यस्मै, धर्मदेशिनां स्वसुत'दिगमनं न कार्यमित्यादिरूपमाचारमुपदिशताम्, स्वयं तु आत्मना पुनः, यत् कर्म, ब्रह्महत्यागुरुदारगमनादिरूपमित्यर्थः। श्रुती कर्णौ अपि, श्रोतुम् आकर्णयितुम्, बिभितः त्रस्यतः। 'भियोऽन्यतरस्याम्' इति विकल्पादिकारः। तत् सर्वं ब्रह्महत्यापारदार्यादिकम्, कुर्वताम् आचरताम्, 'अहल्यायै जार' इति श्रुतेः। वः युष्माकम्, इयम् एषा, चर्या आचारः, रीतिरिति यावत्, कतमेव ? कीदृशीव ? अवाच्या इत्यर्थः। स्वयमनाचारिणां युष्माकं परोपदेशवचनं न ग्राह्यम् इति भावः ॥ १२२ ॥

अन्वय–परस्मै धर्मदेशिनां स्वयं तत् सर्वं कुर्वतां यत् श्रोतु श्रुती बिभितः वः इयं कतमा इव चर्या ?

हिन्दी—दूसरों को धर्मोपदेश करते (किन्तु) स्वयं वह सब (अनाचार) करते, जिसे सुनने में कान भी डरते हैं, तुम्हारी यह किस प्रकार की (न समझ में आने वाली) आचरण-पद्धति है ?

टिप्पणी–कलि बोला—तुम देव बड़े ढोंगी और प्रवचक हो। दूसरों को धर्म सिखाते हो कि यह मत करो, वह मत करो। स्वयं ऐसे अनाचार और निन्दनीय कर्म करते हो कि कानों को सुनने में भी लाज लगे, घबराहट प्रतीत हो। महा व्यभिचारी, कामी हो तुम सब। तुम्हारा आचरण परम निन्दनीय है। कहते मर हो, स्वयं करते नहीं। तुम परोपदेश कुशल हो, आचरणशील नहीं। तुम्हारा पाण्डित्य परोपदेश में समाप्त हो जाता है। वाह रे देवो ?॥१२२॥

तत्र स्वयंवरेऽलम्भि भुवः श्रीर्नैषधेन सा।
जगतो ह्रीश्च युष्माभिर्लाभस्तुल्याभ एव वः ॥ १२३ ॥

जीवातु—यदुक्तम् 'अतिवृत्तः स वृत्तान्तः' इत्यादिना श्लोकत्रयेण (१७। ११७-११९) तत्रोत्तरं प्रपञ्चेनाह—तत्रेत्यादिभिः षोडशभिः । हे देवाः ! तत्र स्वयंवरे दमयन्तीकर्तृकेप्सितपतिवरणे, भुवः श्रीः भूलोकलक्ष्मीः, सा भैमी, नैषधेन नलेन, अलम्भि लब्धा । लभेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङि 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति विकल्पान्नुमागमः । युष्माभिश्च भवद्भिस्तु, जगतः त्रिलोकस्य, ह्रीः लज्जा, त्रैलोक्ये यावती लज्जा वर्त्तते सा इत्यर्थः । अलम्भि इति पूर्वेणान्वयः । स्वर्लोकलज्जाकरमिदमवमानमिति भावः । एवञ्च वः युष्माकं, नलस्य देवानाञ्च इत्यर्थः । स च यूयञ्चेति तेषां युष्माकमिति त्यदाद्येकशेषः । लाभः फलप्राप्तिः, तुल्याभः समानरूप एव, एकविधः एव इत्यर्थः । श्री—ह्रीति शकार-हकारयोः विभिन्नतामात्रमन्यत् तुल्यमिति भावः ॥ १२३ ॥

अन्वयः—तत्र स्वयंवरे नैषधेन सा भुवः श्रीः अलम्भि, युष्माभिः तु जगतः ह्रीः, वः लाभः तुल्याभः एव ।

हिन्दी—उस स्वयंवर में निषधवासी (नल) ने वह पृथ्वी की श्री (भूलक्ष्मी) प्राप्त की और तुम (देवों) ने जगत्-भर की ह्री (लज्जा); तुम्हारा (नल और देवों का) लाभ समान ही तो प्रतीत होता है।

टिप्पणी—कलि ने व्यंग्य किया कि तुम देव कह रहे हो कि नल को दमयन्ती ने वर लिया । अरे, उस निषधवासी नर को तो वह भू-श्री (धरती की शोभा) दमयन्ती मिल गयी, तुम्हें क्या मिला ? संसार भर की ह्री (लज्जा) ही न ? कितने निर्लज्ज हो तुम । अपमान की कथा भी प्रसन्नता पूर्वक कह रहे हो, जब कि तुम्हें चुल्लूभर पानी में डूब मरना चाहिए । एक मनुष्य से अपमानित हो गये । धिक्कार है तुम्हें । ठीक ही तो है । नल और तुम्हें लाभ भी तो समान ही हुआ है—उसे 'श्री' तुम्हें 'ह्री' । केवल 'शकार' और 'हकार' का अन्तर है, मिली तो दोनों को 'री' ही है ॥ १२३ ॥

दूरात्ः प्रेक्ष्य यौष्माकी युक्तेयं वक्त्रवक्रणा ।
लज्जयैवासमर्थानां मुखमास्माकमीक्षितुम् ॥ १२४ ॥

जीवातु—दूरादिति । हे देवाः ! दूरात् विप्रकृष्टदेशात्, नः अस्मान्, प्रेक्ष्य दृष्ट्वा, युष्माकम् इयं यौष्माकी भवदीया । 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्याम्' इत्यण्प्रत्यये 'तस्मिन्नणि च' इत्यादिना युष्माकादेशे 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना

ङीप्। इयम् एषा, वक्त्राणा मुखानां वक्रणा वक्रीकरणम्, तिर्यङ्मुखत्वमित्यर्थः। 'तत्करोति—' इति ण्यन्तात् युच् । लज्जया एव व्रीडावशेनैव, दमयन्त्या अवृतत्वादिति भाव.। अस्माकम् इदम् आस्माकम्, यौष्माकीवत् प्रक्रिया। मुखम् आननम्, ईक्षितु द्रष्टुम्, असमर्थानाम्, अशक्यानां युष्माकमिति शेषः। अथवा समासान्तर्गततया गुणीभूतस्य यौष्माकीत्यत्र युष्मच्छब्दस्य विशेषणम्; युक्ता उचिता ॥ १२४ ॥

अन्वयः—दूरात् नः प्रेक्ष्य यौष्माकी इयं वक्त्रवक्रणा लज्जया एव आस्माकं मुखम् ईक्षितुम् असमर्थानां युक्ता ।

हिन्दी—दूर से हमे (कलि और उसके सहचरो को) देखकर तुम देवो का यो मुंह फिरा लेना, लज्जा के कारण हमारा मुख देखने मे असमर्थ हो गये व्यक्तियो के तुल्य, उचित ही है ।

टिप्पणी—कलि कहने लगा कि पहिले तो वह समझा था कि देवगण उससे घृणा के कारण मुंह चुरा रहे हैं (विमुखान् द्रष्टुमप्येनम्–१११), अब समझ में आया कि अपमानित हो लज्जा के कारण ही वे उससे मुंह चुरा रहे थे । यह ठीक ही कर रहे थे देव ॥ १२४ ॥

स्थितं भवद्भिः पश्यद्भिः कथं भोस्तदसाम्प्रतम् ।
निदग्धा दुर्विदग्धा किं सा दृशा न ज्वलत्क्रुधा ? ॥ १२५ ॥

जीवातु—स्थितमिति । भोः देवाः ! पश्यद्भिः अवलोकयद्भिः, नलवरणमिति शेष.। भवद्भि. युष्माभिः, कथं केन प्रकारेण, स्थितम् ? उदासितम् ? भावे क्त। तद् औदासीन्यम्, असाम्प्रतम् अयुक्तम् । किं तर्हि तदा कार्यम् ? तदाह–दुर्विदग्धा दुर्विनीता सा भैमी, ज्वलत्क्रुधा दीप्यमानकोपया, कोपप्रज्वलितया इत्यर्थ । दृशा दृष्ट्या, किं कथं, न निर्दग्धा ? न भस्मीकृता ? दग्धुमेव उचिता इत्यर्थः ॥ १२५ ॥

अन्वयः—भो , पश्यद्भिः भवद्भि. कथ स्थितम् ? तद् असाम्प्रतम्, दुर्विदग्धा सा ज्वलत्क्रुधा दृशा किं न विदग्धा ?

हिन्दी–अरे देवो, देखते हुए तुमसे कैसे खड़ा रहा गया ? वह तो अनुचित हुआ । दुर्विनीता उस (दमयन्ती) को क्रोध से जलती (अपनी) दृष्टि से क्यों जला नहीं डाला ?

टिप्पणी—कलि ने कहा–यह तो तुम देवों के उपयुक्त कार्य नहीं हुआ कि तुम खड़े देखते ही रहे और उस धृष्टा, मूर्खा, अविवेकिनी दमयन्ती ने एक मानव का वरण कर लिया। तुमने इस धृष्टता पर कोप करके उसे भस्म क्यों नहीं कर दिया? दृष्टि मात्र के विक्षेपण से उस मूर्ख को भस्म कर देना ही उचित कार्य था। आश्चर्य है! ॥ १२५ ॥

महावंशाननादृत्य महान्तमभिलाषुका।
स्वीचकार कथङ्कारमहो! सा तरलं नलम् ॥ १२६ ॥

जीवातु—आश्चर्ये हेतुमाह—महेति। महान्तम् उत्कृष्टपुरुषम्, वरमिति शेषः। अभिलाषुका कामयमाना। 'लषपत—' इत्यादिना उकञ्प्रत्ययः, 'न लोका' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। सा भैमी, महावंशान् उत्कृष्टकुलान्, सर्वलोकवरेण्यप्रजापतिकश्यपसुतान् इति भावः। युष्मान् इति शेषः। महतः वेणून् च। 'वंशो वेणौ कुले वर्गे' इति विश्वः। अनादृत्य अवधीर्य, तरलं चपलम्, नलं नलाख्यं राजानम्, पोटगलाख्यक्षुद्रतृणविशेषञ्च। 'नलः पोटगले राज्ञि' इति विश्वः। कथङ्कारं कथम् इत्यर्थः। 'अन्यथैवंकथम्—' इत्यादिना णमुल्प्रत्ययः। स्वीचकार? वव्रे? अहो! इत्याश्चर्ये। प्रखरनदीस्रोतसा नीयमानस्य वेणववलम्बनं परित्यज्य तृणावलम्बनवदुपहास्यमिदं चेष्टितमिति भावः ॥ १२६ ॥

अन्वयः—अहो महान्तम् अभिलाषुका सा महावंशान् अनादृत्य तरलं नलं कथङ्कारं स्वीचकार?

हिन्दी—आश्चर्य कि उच्च (उत्कृष्ट) आकांक्षिणी उस (दमयन्ती) ने बड़े-बड़े बाँसों के समान महान् कुल-जात (स्वयंवरार्थियों) का अनादर करके तरल (काँपते–वायु से डोलते, पतले) नल (तृण, घास) के समान चपल नल (निषधराज) को कैसे स्वीकार कर लिया?

टिप्पणी—कलि को आश्चर्य हुआ कि दमयन्ती उच्चतम व्यक्ति का वरण करना चाहती थी और उसने नागों, देवों, कुलीन मानवों का अनादर करके एक साधारण राजा नल को वरा। यह तो वैसे ही हुआ, जैसे कोई ऊँचे, लम्बे, मोटे बाँस की तलाश में हो और ले आये एक पतला-सा नरकुल–सरकंडा। यह तो दमयन्ती ने बड़ा उपहास-योग्य कार्य किया ॥ १२६ ॥

भवादृशैर्दिशामीशैर्मृग्यमाणां मृगेक्षणाम् ।
स्वीकुर्वाणः कथं सोढः कृतरीढस्तृणं नलः ? ॥ १२७ ॥

जीवातु—भवादृशैरिति । भवादृशैः भवद्विधैः, दिशाम् ईशैः दिक्पालैः, मृग्यमाणां काम्यमानाम्, मृगेक्षणा हरिणलोचनाम्, भैमीमिति शेषः । स्वीकुर्वाणः गृह्णन् अत एव कृतरीढः भवतां कृतावज्ञः । 'रीढाऽवमाननाऽवज्ञा' इत्यमरः । 'कृतव्रीडः' इति पाठे—जनितलज्जः, दमयन्तीकर्तृकप्रत्याख्यानाद् युष्मानमादस्य नलकर्तृकदमयन्तीग्रहणाच्च लज्जा इति बोध्यम् । तृणं तृणकल्पः, नलः नैषधः, कथं केन प्रकारेण सोढः ? क्षान्तः ? भवद्भिरिति शेषः । महद्भिः हि परिभवो न सोढव्यः इत्यर्थः ॥ १२७ ॥

अन्वयः—भवादृशैः दिशाम् ईशैः मृग्यमाणा मृगेक्षणं स्वीकुर्वाणः कृतरीढः तृणं नलः कथं सोढः ?

हिन्दी—तुम-जैसे दिशाओं के स्वामियों द्वारा काम्य मृगनयना (दमयन्ती) को ग्रहण कर अवज्ञा करता तृण-तुल्य तुच्छ नल कैसे सहा गया ?

टिप्पणी—कलि ने कहा—दमयन्ती ने नल-वरण कर लिया और तुमने उसे दण्ड भी नहीं दिया । चलो, मान लिया कि दमयन्ती के प्रति तुम्हारा अनुराग था,—भले ही उसने उसे प्रश्रय नहीं दिया—इस कारण प्रेमास्पदा को तुमने दण्डनीय न मना; किन्तु तुम देव—चारों दिशाओं के अधिपति, दिक्पाल, लोकपाल । इस तृण जैसे नगण्य मानव ने तुम्हारी प्रिया को तुम्हारे समुख ग्रहण भी कर लिया । उस नल का अपराध तुमने कैसे सह लिया ? नल-कृत अवमानना भी तुम देवों ने सह ली ॥ १२७ ॥

दारुणः कूटमाश्रित्य शिखी साक्षीभवन्नपि ।
नावहत् किं तदुद्वाहे कूटसाक्षिक्रियामयम् ? ॥ १२८ ॥

जीवातु—दारुण इति । अयं पुरोवर्ती, शिखी शिखावान् अग्निः, दारुणः काष्ठस्य, कूटं राशिम्, आश्रित्य अवलम्ब्य, अन्यत्र—दारुणः पापकार्यकारित्वात् क्रूरकर्मा, पुरुषः इति शेषः । कूटं कपटम्, आश्रित्य अवलम्ब्य, साक्षीभवन्नपि प्रत्यक्षद्रष्टा सन् अपि, अग्निसाक्षिके विवाहे व्यवहारे च साक्षीभवन्नपि इति भावः । तदुद्वाहे तयोः दमयन्तीनलयोः विवाहे, कूटसाक्षिणः मिथ्यासाक्षिणः, क्रियां चेष्टितम्, नलेन दमयन्ती नोढा किन्तु अन्येनोढा इत्याद्यनृत-

न्वचनव्यापारमित्यर्थः। किं कथम्, नावहत् ? नावलम्बत ? शिखिनस्तादृगकूट-साक्षिदाने च भवतां दमयन्तीलाभः स्यादेव यतः कूटसाक्षी परकीयं वस्तु अन्यस्मै दापयतीति भावः ॥ १२८ ॥

अन्वयः—अयं दारुणः कूटम् आश्रित्य साक्षीभवन् अपि शिखी तदुद्वाहे किं कूटसाक्षिक्रियां न अवहत् ?

हिन्दी—यह क्रूर कर्म (दारुण) कपटावलम्बी होकर और काष्ठकूट (इंधन-राशि) का आश्रय लेकर साक्षी होता हुआ—प्रत्यक्षदर्शी होता हुआ भी शिखा (लपटों) वाला (अग्नि) उस (नल-दमयन्ती) के विवाह में क्यों मिथ्यासाक्षी नहीं बन गया ?

टिप्पणी—कलि ने कहा–यह अग्नि सदा का दारुण है–निर्मम, दारुकूट (ईंधन) के सहारे जलता है, कपट के सहारे जीता है। यह कपटी तो उस विवाह में प्रत्यक्षद्रष्टा रहा होगा, क्योंकि विवाह अग्नि-साक्षी में ही होता है। तो यह भी उस समय क्यों सीधा-सादा बना रहा ? उसी समय झूठी साक्षी (गवाही) दे देता कि नल के साथ दमयन्ती का विवाह नहीं हुआ। इन्द्र के साथ हुआ है, यम के साथ हुआ है""आदि आदि। सदा का कपटी तब चुप-चाप देखता रहा ॥ १२८ ॥

अहो ! महःसहायानां सम्भूता भवतामपि ।
क्षमैवास्मै कलङ्काय देवस्येवामृतद्युतेः ॥ १२९ ॥

जीवातु—अहो इति। भो देवाः ! महःसहायानां तेजस्विनामपि, भवतां युष्माकम्, अमृतद्युतेः सुधाकरस्य, देवस्य इन्दोः इव, क्षमा क्षान्तिः एव, अन्यत्र—क्षितिः एव 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' इत्यमरः। अस्मै इन्द्रादिदेवेषु सत्स्वपि दमयन्त्या नलो वृत इति स्त्रीकृतपरिभवरूपाय, कलङ्काय अपवादाय, अयशसे इत्यर्थः। अन्यत्र–कलङ्काय अङ्काय, कृष्णवर्णचिह्नविशेषायेत्यर्थः। चन्द्रे श्यामिका भूच्छायैवेति केचित्। 'कलङ्कोऽङ्कापवादयोः' इत्यमरः। सम्भूता सञ्जाता, इत्यहो ! खेदे। क्षमाया गुणभूतत्वेऽपि समयविशेषे क्षमा-करणात् स्त्रियः अपि न गणयन्तीति भावः ॥ १२९ ॥

अन्वयः—अहो, महःसहायानाम् अपि भवताम् अमृतद्युतेः देवस्य इव क्षमा अस्मै कलङ्काय एव सम्भूता।

हिन्दी—अरे, तेजोमूर्त्ति भी तुम देवो की क्षमा-भावना भी इस (नल-दमयन्ती कृत अनादर) कलक का निमित्त ही उसी प्रकार बन गयी, जैसे सुधादीप्त चन्द्र की क्षमा (धरती) उसमे कलक के निमित्त होती है ।

टिप्पणी—नल-दमयन्ती को तुम तेजस्वी देवो द्वारा जो क्षमा-दान किया गया, वह तुम्हारा कलक ही बना, जैसे तेजस्वी चन्द्र को क्षमा (धरती) कलक चिह्न का कारण बनी है । तेजस्वी अपमान नही सहा करते, परन्तु देवों की जाति ही कदाचित् ऐसी है । अमृत-कान्ति तेजस्वी चन्द्र देव को लो, तेजस्वी है, अमृत का सागर है, मरने का डर भी नही । फिर भी क्षमा (क्षिति) का कलक लिए बैठा है । ऐसे ही तेजोमूर्त्ति होते तुम सब भी क्षमा (क्षिति) के कारण अपमान-सहन का कलक ओढे बैठे हो ॥ १२९ ॥

सा वव्रे यं तमुत्सृज्य मह्यमीर्ष्याजुषः स्थ किम् ? ।
ब्रूतागःसद्मनस्तस्माच्छद्मनाऽद्याऽऽच्छिनद्मि ताम् ॥ १३० ॥

जीवातु—सेति । हे देवा ! सा भैमी, य नलम्, वव्रे पतित्वेन वृत्तवती, तम् अपराधिन त नलम्, उत्सृज्य विहाय, कि किमर्थम् मह्य मां प्रति । 'क्रुधदुह—' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । ईर्ष्याजुष अक्षान्तिभाज, कोपपरवशा इत्यर्थ । स्थ ? भवथ ? ब्रूत कथयत, यूयमिति शेष । अस्तु तावत्, आगःसद्मन अपराधमन्दिरात्, भवदनादररूपदोषाकरादित्यर्थ । तस्मात् नलात्, अद्य अस्मिन्नेव अहनि, ता भैमीम्, छद्मना कपटेन, आच्छिनद्मि आहरामि, आनयामीत्यर्थ, अहमेवेति शेष । सामीप्ये वर्त्तमाननिर्देश ॥१३०॥

अन्वय—सा य वव्रे, तम् उत्सृज्य कि मह्यम् ईर्ष्याजुष स्थ ? ब्रूत—आगःसद्मन तस्मात् अद्य छद्मना ता छिनद्मि ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने जिस (नल) को वर लिया, उसे (नल को) छोडकर (तुम देव) मुझ से क्यो जल रहे हो ? कहो, पाप के घर उस (नल) से आज ही कपट करके उसे (दमयन्ती को) हर लाऊँ ।

टिप्पणी—कलि देवों की ओर हँसी उडाता बोला—कि दमयन्ती ग्रहण का अपराध किया नल ने और देवगण ईर्ष्यालु हैं—बेचारे निरपराध कलि के प्रति । भली बुद्धि है देवो की ! और हँसी उडाते हुए उसने प्रस्ताव किया कि यदि देवो का आदेश मिले तो वह पाप के आगार (अथवा 'न +

आगः सद्य' अर्थात् हमारे देवों और कलि—सबके लिए पापपुंज) नल को छल कर आज ही दमयन्ती को हर ले आयें। देवादेश की देर है। यह तो ठीक नहीं है कि अपराध कोई करे और क्रोध अन्य पर—'अन्येनापराद्धे कृतेऽन्यस्मै द्रुह्यते' ॥१३०॥

यतध्वं सहकर्तुं मां पाञ्चाली पाण्डवैरिव।
साऽपि पञ्चभिरस्माभिः संविभज्यैव भुज्यताम् ॥१३१॥

जीवातु—ततः किमस्माकम् ? अत आह—यतध्वमिति। अत्र 'ततश्च' इति पदमध्याहृत्य पूर्वश्लोकेन सह सङ्गतिः रक्षणीया, ततश्च कपटेन दमयन्त्या नयनानन्तरमित्यर्थः। पाञ्चाली द्रौपदी, पाण्डवैः युधिष्ठिरादिभिः पञ्चभिरिव, सा भैमी अपि, अस्माभिः पञ्चभिरेव मया तथा युष्माभिः चतुर्भिश्च। त्यदाद्येकशेषः संविभज्य विभागं कृत्वा, पृथक् पृथक् समयं निर्दिश्य इत्यर्थः। भुज्यतां रम्यतामिति यावत्। अतो मां सहकर्तुं भैम्यानयने सहायो भवितुम्, यतध्वं चेष्टध्वम्, दमयन्त्यानयने माम् अनुमन्यध्वम् इति भावः ॥ १३१ ॥

अन्वयः—मां सहकर्तुं यतध्वम्, पाण्डवैः पाञ्चाली इव सा अपि पञ्चभिः अस्माभिः संविभज्य एव भुज्यताम्।

हिन्दी—मुझे सहायता देने का प्रयत्न करो—जैसे (पाँच) पाण्डव पाँचाली (द्रुपदसुता द्रौपदी, कृष्णा) का (मिलकर) भोग करते थे, वैसे ही यह (दमयन्ती) हम पाँचों (इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण और कलि) द्वारा (समय का) समान भाग करके ही भोगी जाय।

टिप्पणी—देवों के संमुख कलि ने पाण्डवों और द्रौपदी के व्यवहार का उदाहरण देते हुए दमयन्ती के सहभोग का पाप-प्रस्ताव उपस्थित किया। निर्लज्जता और दुश्चरित्रता की सीमा। साथ दो, साथ भोगो। पाण्डव ऐतिहासिक क्रम में नल के पश्चात् संभूत माने जाते हैं, यह कालक्रम भंग दोष है। नारायण ने इसका समाधान दो तर्कों के आधार पर किया है—(१) कलि को भावी का ज्ञान था, अतः उसने पाण्डव-द्रौपदी-उदाहरण से जो भविष्य में होने वाला है, वैसा ही आज भी हो जाय—ऐसा निर्देश दिया। (२) जगद् प्रवाह अनादि है, अतः बीते पाँचाली-पाण्डव-वृत्तान्तों का उदाहरण दिया। हमारी धारणा है कि श्रीहर्ष के काल (बारहवीं

धती) में पाण्डव-पाञ्चाली-वृत्त जन-मन में इतना रम गया था कि उसके उदाहरण द्वारा कथ्य अधिक संवेदनात्मक हो सकता था, अतः कवि ने ऐतिहासिक क्रम की ओर विशेष ध्यान न दिया ॥ १३१ ॥

अथापरिवृढा सोढुं मूर्खतां मुखरस्य ताम् ।
चक्रे गिरा शराघातं भारती सारतीव्रया ॥ १३२ ॥

जीवातु—अथेति । अथ कलिप्रलापानन्तरम्, भारती सरस्वती, मुखरस्य दुर्मुखस्य, अप्रियवादिन इत्यर्थः । प्रलपत इति यावत् । कलेरिति शेषः । 'दुर्मुखे मुखराबद्धमुखौ' इत्यमरः । तां तादृशीम्, मूर्खतां मूढताम्, सोढुं क्षन्तुम्, अपरिवृढा अप्रभुः, असमर्था सतीत्यर्थः । 'प्रभौ परिवृढ' इति निपातनात् साधु । 'प्रभुः परिवृढोऽधिप' इत्यमरः । सारेण न्यायेन, न्यायसङ्गतत्वेनेत्यर्थः, यथार्थत्वेनेति यावत् । 'सारो बले स्थिरांशे च न्याये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्यमरः । तीव्रया तीक्ष्णया, अथवा सारया गुर्वर्थप्रतिपादकत्वेन श्रेष्ठया, तीव्रया परुषत्वात् दुःसहया च, गिरा वाचा एव, शराघातं बाणप्रहारम्, चक्रे कृतवती, वाक्सायकेन तं विव्याध इत्यर्थः ॥ १३२ ॥

अन्वय—अथ मुखरस्य तां मूर्खतां सोढुम् अपरिवृढा भारती सारतीव्रया गिरा शराघातं चक्रे ।

हिन्दी—तदनन्तर (कलि के चुप हो जाने पर) अनुचित भाषणकर्त्ता (बकवादी कलि) की उस मूर्खता (अनर्गल प्रलाप) को सहने में असमर्थ भगवती सरस्वती गम्भीर और कठोर होने के कारण सीधे आघात करने वाली वाणी-द्वारा जैसे बाण-प्रहार करने लगीं ।

टिप्पणी—जब कलियुग ने अपने अनर्गल प्रलाप (१२१–१३१) से किंचित् विराम लिया तो उन मूर्खता भरे वचनों पर क्रुद्ध हुई भगवती भारती बाण-समान दुःसह और सीधा प्रभाव डालने वाले सारगर्भ और कठोर वचनों से कलि के दुर्वचनों का उत्तर देतीं उसकी भर्त्सना करने लगीं ।

कीर्त्तिं भैमीं वरांश्चास्मै दातुमेवागमन्नमी ।
न लीढे धीरवैदग्धीं घोरगम्भीरगाहिनी ॥ १३३ ॥

जीवातु—कीर्त्तिमिति । रे शठ ! अमी देवाः, अस्मै नलाय, कीर्त्तिं पुण्यश्लोकताम्, भैमीं दमयन्तीम्, तथा वरान् ईप्सितान् च, दातुं वितरितुम् एव

अगमन् स्वयंवरसभां गतवन्तः, न तु स्वयं तां परिणेतुमिति भावः। गमेर्लुङ्, इदित्वात् च्लेरङादेशः। तथा हि, अगम्भीरगाहिनी उत्तानग्राहिणी, गूढार्थोद्धुमसमर्था यथास्थूलग्राहिणीत्यर्थः। धीः त्वादृशां बुद्धिः, धीराणां मनीषिणाम्, वैदग्धीं चातुर्यम्, गूढाभिप्रायमित्यर्थः। न लीढे आस्वादयति, न वेत्ति इत्यर्थः॥ १३३॥

अन्वयः—अमी अस्मै कीर्त्ति, भैमी, वरान् च दातुम् एव अगमन्; अगम्भीरगाहिनी धीः धीरवैदग्धीं न लीढे।

हिन्दी—ये (देव) इसे (नल को) यश, भीमसुता (दमयन्ती) और वरों को देने के निमित्त ही (स्वयंवर में) गये थे। ऊपरी-ऊपरी (स्थूल) अर्थ को समझने वाली (तेरी) बुद्धि मनीषीजनों के गूढाभिप्राय का आस्वादन नहीं कर पाती। (अथवा 'काकु' के योग से—'स्थूलार्थबोधिनी बुद्धि मनीषिजनों का अभिप्राय क्या नहीं समझ पाती? अपितु समझ ही पाती है)।

टिप्पणी—भगवती भारती ने पहिले तो यह स्पष्ट किया कि ये महान् देव दमयन्ती-कामना से उस स्वयंवर में नहीं गये थे। वे तो भलीभाँति परीक्षण में उत्तम प्रमाणित धीर-गम्भीर, सौम्य, सदाचारी, वीर नरेश नल को एक प्रकार से यश, दमयन्ती और अनेक वरों से गौरवान्वित करने गये थे। तुम कलि मंदबुद्धि हो, तुम या तो इनका गूढ तात्पर्य समझे ही नहीं हो या फिर इतने दुष्ट हो कि समझ कर भी बेसमझ बन रहे हो और अनेक बुरे, अविचारपूर्ण प्रस्ताव रखते बकवाद कर रहे हो॥ १३३॥

> वाग्मिनीं जडजिह्वस्तां प्रतिवक्तुमशक्तिमान्।
> लीलावहेलितां कृत्वा देवानेवावदत् कलिः॥ १३४॥

जीवातु—वाग्मिनीमिति। जडजिह्वः अप्रगल्भवाक्, वाक्प्रयोगानभिज्ञः इत्यर्थः। कलिः कलियुगम्, वाग्मिनीं प्रगल्भवाचम्, तां भारतीं सरस्वतीम्, प्रतिवक्तुं प्रत्युत्तरं दातुम्, अशक्तिमान् असमर्थः सन्, लीलया विलासेन, उपेक्षाप्रदर्शनरूपचेष्टितविशेषेण इत्यर्थः। अवहेलिताम् अवज्ञाताम्, स्त्रियमित्येवमवधीरितामित्यर्थः। कृत्वा विधाय, अगणयन्निवेत्यर्थः। देवान् इन्द्रादीन् एव, अवदत् उवाच॥ १३४॥

अन्वयः—वाग्मिनीं तां प्रतिवक्तुम् अशक्तिमान् जडजिह्वः लीलावहेलितां कृत्वा देवान् एव अवदत् ।

हिन्दी—युक्तियुक्त वचन कहने वाली विदुषी उन (भगवती भारती) का प्रतिवाद करने में असमर्थ (अतएव) जिसकी जिह्वा जड हो गयी है (जिसकी बोलने की शक्ति कुण्ठित हो गयी है), ऐसा कलि (भारती-वचनों की) बहाने से उपेक्षा करता देवों से ही बोला ।

टिप्पणी—भारती के बाण-सम तीव्र वचनों की फटकार से यद्यपि कलि की जिह्वा जड हो गयी, क्योंकि वह उसका प्रतिवाद करने में अशक्त था, तथापि उसने ऐसा कपट भाव दिखाया, जैसे वह सरस्वती का प्रतिवाद कर तो सकता है, परन्तु एक स्त्री से क्या उत्तर प्रत्युत्तर करे ? सो कलि ने सरस्वती के वचनों की उपेक्षा की और इन्द्रादि को ही पुन संबोधित किया।

प्रोञ्छि वाञ्छितमस्माभिरपि तां प्रति सम्प्रति ।
तस्मिन् नले न लेशोऽपि कारुण्यस्यास्ति नः पुन ॥ १३५ ॥

जीवातु— प्रोञ्छोति । सम्प्रति अधुना, अस्माभि अपि तां भैमीं प्रति, वाञ्छितम् इच्छा प्रोञ्छि प्रोञ्छितम्, परित्यक्तमिति यावत् । उञ्छते' कर्मणि लुङ् । पुन किं तु, तस्मिन् तादृशदुष्कार्यकारिणि इत्यर्थं । नले नैषधे, न अस्माकं, कारुण्यस्य कृपाया, लेश बिन्दुमात्रम् अपि, न अस्ति नैव विद्यत ।

अन्वयः—सम्प्रति अस्मामि अपि तां प्रति वाञ्छितं प्रोञ्छि, पुन तस्मिन् नले न कारुण्यस्य लेश अपि न अस्ति ।

हिन्दी—इस समय हमने भी उस (दमयन्ती) के प्रति आकांक्षा छोड़ी, किन्तु उस नल पर हमारी करुणा का लेश भी नहीं है ।

टिप्पणी—भले ही सरस्वती की फटकार के प्रति कलि ने उपेक्षाभाव दिखाया, उसका प्रभाव उस पर पडा । उसने देवों से कहा कि चलो, वह दमयन्ती के 'हरण और उसे दण्ड देने की इच्छा इस समय छोड देता है। क्या एक 'औरत' को अपनी मूर्खता और धृष्टता का फल चखाये ? यह एक उसके सदृश भलेमानुस (?) का कार्य नहीं है। परन्तु नल तो पुरुष है, राजा है, समझदार है । उसकी धृष्टता अक्षम्य है। उसे अवश्य दण्डित किया

जायेगा। जान-बूझ कर उसने 'अस्माभिः' का प्रयोग किया। 'अस्माभिः' अर्थात् केवल कलि ही नहीं, देवगण भी उसके साथ हैं ॥ १३५ ॥

वृत्ते कर्मणि कुर्मः किं? तदा नाभूम तत्र यत्।
कालोचितमिदानीं नः शृणुतालोचितं सुराः ॥ १३६ ॥

जीवातु—अकरुणस्तं कृतार्थं किं करिष्यतीत्याशङ्क्याह—वृत्ते इति। सुराः! हे देवाः!, वृत्ते गते, कर्मणि भैमीवरणक्रियायाम्, किं कुर्मः? किं सम्पादयामः? इदानीं न किञ्चित् कर्त्तुं शक्नुम इत्यर्थः। यत् यस्मात्, तदा तत्काले, तत्र स्वयंवरे; न अभूम नास्म इत्यर्थः। वयमिति शेषः। भवतु, इदानीम् अधुना, नः अस्माकम्, कालोचितं भैम्या नले वृतेऽपि एतत्समयोपयोगि, आलोचितं विचारं पुनः। भावे क्तः। शृणुत आकर्णयत ॥१३६॥

अन्वयः—सुराः, वृत्ते कर्मणि किं कुर्मः, यत् तदा तत्र न अभूम? इदानीं नः कालोचितम् आलोचितं शृणुत।

हिन्दी—हे देवों, बीती बात में हम क्या करें; क्योंकि तब (स्वयंवर काल में) वहाँ (सभा में) हम नहीं थे। इस समय हमारा समयोचित जो कर्तव्य-विचार है, उसे आप देव सुनें।

टिप्पणी—कलि बोला–अब जो बीत गया, सो बीत गया। बीते पर 'सोच' क्या—'गतं न शोचामि।' अब उस समय जो उचित कर्तव्य है, उस पर मैंने सम्यक् विचार किया, उसे आप देव सुनें और सहायता दें। मैं स्वयंवर-समय में वहाँ था नहीं। अब दमयन्ती परनारी है, उसकी लिप्सा ठीक नहीं। तो अब 'बीती ताहि बिसारि के आगे की सुध' लेना उचित होगा ॥ १३६ ॥

प्रतिज्ञेयं नले विज्ञाः! कलेर्विज्ञायतां मम।
तेन भैमीञ्च भूमिञ्च त्याजयामि जयामि तम् ॥ १३७ ॥

जीवातु-प्रतिज्ञेति। विज्ञाः! हे विबुधाः! नले नलविषये, कलेः कलियुगाधिदेवस्य, मम मे, इयम् एषा, प्रतिज्ञा शपथः, विज्ञायताम् अवधार्यताम्। तामेवाह–तेन नलेन, प्रयोज्येन। भैमीञ्च दमयन्तीञ्च, भूमिञ्च राज्यञ्च, त्याजयामि विसर्जयामि, एवञ्च तं नलम्, जयामि आत्माधीनीकरोमि, उभयत्र भविष्यत्सामीप्ये वर्तमानप्रत्ययः ॥ १३७ ॥

अन्वयः—विज्ञा, विज्ञायताम्, नले मम कले इय प्रतिज्ञा—तेन भैमीं च भूमिं च त्याजयामि, त जयामि ।

हिन्दी—हे समझदार देवो, समझ—जान लो, नल के विषय में मुझ कलि की यह प्रतिज्ञा है कि उस (नल) से भैमी (दमयन्ती) भी छुड़वा दूँगा और भूमि (राज्य) भी, और (इस प्रकार) उसे जीतूँगा ।

टिप्पणी—बड़े गर्व से 'मुझ कलि' की यह प्रतिज्ञा है—यह देवों से कहते हुए उन्हें अपने निर्णय से अवगत करा दिया कि नल की धृष्टता का दंड कलि यह देगा कि उसे दमयन्ती से भी अलग कर देगा और उसे राज्य हीन भी कर देगा । इसी प्रकार उसे पराजित करेगा—तभी उसे ज्ञात होगा कि एक मानव को देवों के साथ धृष्टता करने का क्या दंड मिलता है ? ॥१३७॥

नैषधेन विरोधं मे चण्डतामण्डितौजसः ।
जगन्ति हन्त गायन्तु रवेः कैरववैरवत् ॥ १३८ ॥

जीवातु—नैषधेनेति । चण्डतामण्डितौजसः क्रौर्योपस्कृततेजसः मे मम कलेः, नैषधेन नलेन सह विरोधं वैरम्, रवेः सूर्यस्य, कैरवं कुमुदं, वैरवत् धानुतातुल्यम् जगन्ति लोकाः, गायन्तु उच्चैर्घुष्यन्तु इत्यर्थः । हन्तेति हर्षे ॥

अन्वय—हन्त, चाण्डतामण्डितौजसः मे नैषधेन विरोधं रवेः कौरव-वैरवत् जगन्ति गायन्तु ।

हिन्दी—कलि ने दर्पपूर्वक कहा कि जिसका तेज प्रचण्डता (क्रूरता) से सपन्न है, उस मुझ कलि का निषधवासी (नल) से विरोध सूर्य का कुमुद से जैसे विरोध है, उसी के तुल्य त्रिलोकी गाये । (घोषित करे) ।

टिप्पणी—बड़े दर्प से कलि ने अपने क्रूर और निर्मम अभिमान से पूर्ण घोषणा की कि वह धरणी और धरनी-दोनों से विहीनकर नल को इतने कष्ट देगा कि कलि-नल-वैर संसार में सूर्य कुमुद वैर के सदृश प्रसिद्ध होगा । कलि क्रूर-तेजोमय सूर्य है और नल कुमुद । मल्लिनाथ यहाँ 'हन्त' के प्रयोग को हर्षसूचक माना है—अर्थात् बड़े और अभिमान के साथ कलि ने यह घोषणा की । नारायण के अनुसार 'हन्त' खेद सूचक है । हीनतेज नल के साथ विरोधारंभ से यद्यपि त्रिलोकी में अयश ही मिलेगा, तथापि क्या किया जाय ? दंड तो देना ही होगा । तेजस्वी सूर्य क्षुद्र कौरव को दंड देता ही है ।

सो भले ही मल कलि की तुलना में नगण्य हो, दंडनीय को दंड देना ही पड़ेगा ॥ १३८ ॥

द्वापरः साधुकारेण तद्विकारमदीदिपत् ।
प्रणीय श्रवणे पाणिमवोचन्नमुचेः रिपुः ॥ १३९ ॥

जीवातु—द्वापर इति । द्वापरः कलेः सहचारितृतीययुगाधिदेवः, साधुकारेण 'साधु' इति शब्दोच्चारणेन, तस्य कलेः, विकारं प्रलापम्, अदीदिपत् अवावृधत् । दीप्यतेर्णौ चङि 'भ्राजभासभाषदीपजीव—' इत्यादिना विकल्पादुपधाह्रस्वः, 'दीर्घो लघोः' इत्यभ्यासदीर्घः अथ नमुचेः रिपुः इन्द्रः, श्रवणे कर्णे, पाणि करम्, प्रणीय निधाय, पाणिभ्यां कर्णौ पिधाय इत्यर्थः । अवोचत् अभ्यधात् ॥ १३९ ॥

अन्वयः—द्वापरः साधुकारेण तद्विकारम् अदीदिपत्; श्रवणे पाणिं प्रणीय नमुचेः रिपुः अवोचत् ।

हिन्दी—द्वापर (कलि का साथी तृतीययुगदेव) ने 'साधु-साधु' कहकर उस (कलि) के विरोधरूप विकार की पुष्टि की (समर्थन किया) । (तब) कानों पर हाथ रखकर नमुचि राक्षस के शत्रु (इन्द्र) ने कहा ।

टिप्पणी—स्वाभाविक रूप में साथी द्वापर ने 'बहुत ठीक, बहुत ठीक', 'उचित है, उचित है'—कहते कलि के विचारों का समर्थन किया, किन्तु देवों को उसका कथन बड़ा ही निंद्य, घृणोत्पादक और अश्रव्य लगा । सो इस घृणा का प्रदर्शन कानों पर हाथ रखते हुए इन्द्र ने किया और कलि के उत्तर में कहा ॥ १३९ ॥

विस्मेयमतिरस्मासु साधु वैलक्ष्यमीक्षसे ।
यद्दत्तेऽल्पमनल्पाय तद्दत्ते ह्रियमात्मने ॥ १४० ॥

जीवातु—विस्मेयेति । हे कलेः ! विस्मेयमतिः विस्मयनीयबुद्धिः, त्वमिति शेषः । अस्मासु वैलक्ष्यं सलज्जत्वम्, ईक्षसे पश्यसि, साधु 'जगतो ह्रीस्तु युष्माभिः' इति यदुक्तं तत् साधु उक्तम् इत्यर्थः । कुतः ? अनल्पाय महार्हाय, अल्पं स्तोकम् यद् दत्ते अर्पयति, तत् अल्पदत्तम्, आत्मने अल्पदात्रे जनाय, ह्रियं लज्जाम्, दत्ते जनयतीत्यर्थः । अधिकदानार्हाय अल्पदानस्य दातुरेव

ह्रीकरत्वात् अह्नो नलाय कीर्त्यादिकमन्यमेव प्रदत्तमित्यस्माकं लज्जा युक्तैवेति भाव ॥ १४० ॥

अन्वय —विस्मेयमति (त्वम्) अस्मासु साधु वैलक्ष्यम् ईक्षस, यत् अल्पम् अनल्पाय दत्तं तत् आत्मने ह्रिय दत्ते।

हिन्दी — विस्मित कर देने वाली बुद्धि से युक्त तू कलि हम (देवों) में ठीक ही लज्जा देख रहा है, क्योंकि थोड़ा कुछ जो बड़े को दिया जाता है, वह अपने (दाता) को लज्जा देता है।

टिप्पणी—कलि ने देवों से कहा था कि देव लोग नल विषयक स्वकृत के कारण कलि को देखकर लज्जा से दूर से ही मुँह चुरा रहे थे– दूरान्न प्रेक्ष्य'—इत्यादि (१२४)। यहाँ उसी का उपहास करते हुए इन्द्र ने प्रत्युत्तर में कहा कि सचमुच नल के प्रति आचरण पर दर्व लज्जित हैं और उन्हें आश्चर्य है कलि की ऐसी विलक्षण बुद्धि क्षमता पर, जो पराशय को दूर से ही जान लेती है। पर लज्जा का कारण वह नहीं है, जो दुरात्मा कलि समझ रहा है। देवों की लज्जा का कारण है श्रेष्ठ नल नरेश को अत्यल्प दे पाना। वह इतना यशस्वी है कि उतना यश दे ही नहीं पाये। सब कुछ है नल पर, ये सामान्य वर भी उसके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है। और जहाँ तक दमयन्ती का प्रश्न है, वह तो उसकी थी ही। जैसे नल दमयन्ती के योग्य था वैसे ही दमयन्ती भी उसी के योग्य थी। नल दमयन्ती योग भी हमारे अभिमान की वस्तु नहीं है—वह तो योग्य योग्येन योजयेत्' ही है। सो हम देवों को लज्जा यही है कि उतने महान् व्यक्ति को हमने अत्यल्प दिया। एक लज्जा का कारण यह भी है कि तुम्हारे अनर्गल प्रलाप का हमने कोई दंड नहीं दिया, उपालम्भ मात्र दिया। तुम बड़े दंड के पात्र थे, छोटा उपालम्भ देकर हम लज्जित ही हैं। बड़े व्यक्ति को अल्पदान करके दाता को लज्जा ही होती है। सो ठीक है हे विलक्षण बुद्धि कलिदेव, हम लज्जित ही हैं ॥ १४० ॥

फलसीमा चतुर्वर्गं यच्छताशोऽपि यच्छति ।
नलस्यास्मदुपघ्ना सा भक्तिर्भूताञ्जकेशिनी ॥१४१॥

जीवातु—उत किमत आह—फलेति। यच्छताय यस्या भक्तेः, यतः

शतांशः अपि । सङ्ख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वं त्रिभागवत् । फलसीमां फलावधिम्, चरमफलरूपमिति यावत् । चतुर्वर्गं धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थचतुष्टयम्, यच्छति ददाति नलाय दातुमर्हतीत्यर्थः । 'पाघ्रा—' इत्यादिना यच्छादेशः । वयम् उपघ्नः आश्रयः यस्याः सा अस्मदुपघ्ना अस्मद्विषया, 'उपघ्न आश्रये' इति निपातः । नलस्य नैषधस्य, सा प्रकर्षतां गता, भक्तिः सेवाविशेषः इत्यर्थः । अवकं शून्यम् ईष्टे इत्यवकेशिनी निष्फला । 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति णिनिः 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप् । 'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी च' इत्यमरः । भूता सञ्जाता, नलस्यास्मद्विषयकभक्तेः शततमांशेनापि संतुष्टैरस्माभिः चतुर्वर्गोऽपि नलाय दातुं शक्यते, किन्तु चतुर्वर्गादधिकस्य फलस्याभावात् प्रकृष्टायास्तद्भक्तेरुचितफलस्य दातुमसामर्थ्यात् तद्भक्तिः निष्फलैव सञ्जातेत्यर्थः । तद्भक्तेः चतुर्वर्गदानरूपम् अपि फलं न पर्याप्तं किं पुनर्भूमीदानमिति ऋणिनाम् अस्माकं युक्ता एव ह्री। इति भावः ॥१४१॥

अन्वयः—यच्छतांशः अपि फलसीमां चतुर्वर्गं यच्छति, अस्मदुपघ्ना नलस्य सा भक्तिः अवकेशिनी भूता ।

हिन्दी—जिसका सौवाँ भाग (फलैक) भी फलों की मर्यादा चारों पुरुषार्थ (धर्मार्थकाममोक्ष) देने में समर्थ है, हम (देवों) से संबद्ध नल की वह भक्ति (विशिष्ट सेवा) निष्फल गयी ।

टिप्पणी—नल ने हमारी विशिष्ट सेवा करके भक्ति का जो उच्चतम रूप दिखाया है, उसकी शतांश भक्ति भी यदि कोई करता है, तो उसे चारों पुरुषार्थ प्राप्त हो सकते हैं । नल ने वैसी ही हमारी भक्ति की, किन्तु हम उसे कितना कम दे सके ? एक दमयन्ती-प्राप्ति में समर्थन, थोड़ा-सा यश, कुछ अयाचित वर । नल ने निष्काम भक्ति की, भक्ति की चरम सीमा । हम उसका प्रतिदान करने में असमर्थ रहे, हमारी लज्जा का यही कारण है ।

भव्यो न व्यवसायस्ते नले साधुमती कले !
लोकपालविशालोऽसौ निषधानां सुधाकरः ॥ १४२ ॥

जीवातु—भव्य इति । हे कले ! साधुमतौ रागद्वेषादिशून्यत्वात् पवित्रचेतसि, नले नैषधे, ते तव, व्यवसायः चेष्टितम्, विरोधकरणोद्योगः इत्यर्थः ।

न भव्य न श्रेय, न परिणामशुभावह इत्यर्थ.। कुत ? निषधाना निषधाख्य-जनपदानाम्, सुधाकर चन्द्र, आह्लादकत्वात् चन्द्रसदृश इत्यर्थ । असौ नल, लोकपालविशाल॰ लोकपाला इन्द्रादयो दिक्पाला इत्यर्थ । तद्वत् विशेषेण शालते शोभते इति तादृश, तदंशत्वात् इति भाव । अत तदपकारो न परिणामश्रेयस्कर इति निष्कर्ष॰ ॥ १४२ ॥

अन्वय —कले, साधुमतौ नले ते व्यवसाय भव्य न, असौ निषधाना सुधाकर. लोकपालविशाल ।

हिन्दी—अरे कलि, पवित्र बुद्धि नल के प्रति तेरी यह चेष्टा कल्याणकर नही है, क्योकि यह निषधदेश का अमृतागार—चन्द्र (नल) लोकपालो के समान शोभासपन्न और महान् है। (प्रकारान्तर से नल 'लोकपालैः विशाल' है—अर्थात् हम लोकपाल उसकी महत्ता के पक्षधर और सहायक हैं)।

टिप्पणी—नल की सज्जनता, प्रजारजकता, निश्छल, राग द्वेष से रहित बुद्धि से तुष्ट इन्द्र ने स्पष्ट कर दिया कि यदि तुम नल का अपकार करोगे तो तुम्हारा कल्याण न होगा। अमृत सिन्धु चन्द्र के समान नल सर्वानन्ददायक है। सब उससे प्रसन्न हैं और वह आठ लोक पालो का तेज-धारण करता है। हम सभी लोकपाल उससे प्रसन्न हैं और उसके सहायक हैं। उससे शत्रुता करने का दुष्परिणाम तुम्हें भोगना होगा ॥ १४२ ॥

न पश्याम कलेस्तस्मिन्नवकाश क्षमाभृति ।
निचिताखिलधर्मे च द्वापरस्योदय वयम् ॥ १४३ ॥

जीवातु—नेति । किञ्च, क्षमाभृति पृथिवीपाले क्षान्तिशीले च, तस्मिन् नले, कले कलियुगाधिपते कलहस्य च। 'कलि स्त्री कलिकाया न शूराजि-कलहे युगे इति मेदिनी । अवकाश छिद्रम्, आक्रमणावसरमित्यर्थ । वय न पश्याम न ईक्षामहे, धर्मेण भूमि पालयत क्षान्तस्य कुत कलिदोष. कलहो वेति भाव । किञ्च, निचिता उपार्जिता निश्चिताश्च, अखिला कृत्स्ना, धर्मा पुण्यकर्माणि उपनिषदश्च, वेदस्य गूढार्था इत्यर्थ । येन तादृशे, नले द्वापरस्य भवन्मित्रस्य तृतीययुगस्य, सन्देहस्य च, उदयम् आक्रमणावकाश प्रकाशञ्च, वय न, पश्याम । 'द्वापरौ युगसंशयौ' इत्यमरयादवौ । क्षान्ति-

शीले नले कलहस्यावकाशो न, निश्चितसकलधर्मरहस्ये च नले धर्मसन्देहस्यापि उदयो न सम्भवतीत्यर्थः ॥ १४३ ॥

अन्वयः—वयं क्षमाभृति निचिताखिलधर्मे तस्मिन् कलेः अवकाशं द्वापरस्य च उदयं न पश्यामः।

हिन्दी—हम (लोकपाल देव) क्षमाशील, सामर्थ्यवान् पृथ्वीपति (क्षमाभृत्), समग्र धर्म-पुण्यकर्म के संग्रही वेदोपनिषद् के गूढार्थ ज्ञाता (निचिताखिलधर्मे) उस (नल) में कलि (कलियुग और कलह) के लिए न कोई अवसर ही देख पाते हैं और द्वापर (कलि का सहचर तृतीययुग और संदेह, संशय) का प्रादुर्भाव ही।

टिप्पणी—इन्द्र ने कलि को सावधान किया कि न तो कलि के नल पर आक्रमण करने का ही अवसर देवों को दीखता है और न उसके सहचर द्वापर में ही नल के निकट पहुँचने का साहस उन्हें दीख रहा है, क्योंकि ये कलि और द्वापर तो वहाँ कुछ कर सकते हैं, जहाँ कलह हो, संशय हो। पुण्यात्मा, सुकर्मा, सदाचारी, वेदशास्त्र के ज्ञानी, क्षमादि दशलक्षणधर्म का पालन करने वाले नल का कलि-द्वापर कुछ नहीं बिगाड़ सकते ॥ १४३ ॥

सा विनीततमा भैमी व्यर्थानर्थग्रहैरहो !।
कथं भवद्विधैर्बाध्या प्रमितिर्विभ्रमैरिव ? ॥ १४४ ॥

जीवातु—सेति। किञ्च, विनीततमा अतिशयेन विनम्रा, उपमानपक्षे च—विनीतं निराकृतं, तमः अज्ञानं यया सा भ्रमज्ञाननिरासिनीत्यर्थः। सा भैमी दमयन्ती, व्यर्थः निष्फलः अनर्थग्रहः -वैराचरणरूपाकार्याभिनिवेशः येषां तादृशैः, पक्षान्तरे च—व्यर्थो निष्फलः, अनर्थस्य शुक्तौ रजतादेः निष्प्रयोजनस्य, ग्रहो ज्ञानं येषां तादृशैः, भवद्विधैः युष्मादृशैः, प्रमितिः प्रमाज्ञानम्, सम्यगनुभूतिरिति यावत्। विभ्रमैः मिथ्याज्ञानैः इव, कथं केन प्रकारेण, बाध्या बाधितुं पीडयितुं शक्या ? नैव शक्येत्यर्थः। अहो ! इत्याश्चर्ये; पातिव्रत्यतेजसो दुर्द्धर्षत्वादिति भावः ॥ १४४ ॥

अन्वयः—अहो विनीततमा सा भैमी व्यर्थानर्थग्रहैः भवद्विधैः प्रमितिः विभ्रमैः इव कथं बाध्या ?

हिन्दी—अरे, जैसे अज्ञान और भ्रम का निराकरण करने वाली प्रमिति (प्रमाज्ञान, सम्यक् अनुभूति) को निष्फल, भ्रान्तग्रह (ज्ञान) बाधित नहीं कर सकते, वैसे ही अतिशय विनीता (विनम्रा) उस भीमनन्दिनी (दमयन्ती) को व्यर्थ (अकारण, निष्फल) अनर्थ (वैराचरण) के आग्रही तुम जैसे (कलिद्वापरादितुल्य) कैसे पीडित कर सकते हैं ? (नहीं कर सकते)।

टिप्पणी—अनेकार्थ शब्दों का प्रयोग करके अतिशय विनम्रा दमयन्ती की तुलना भ्रमनिवारिणी, अज्ञाननाशिनी, सम्यक् अनुभूति 'प्रमिति' से की गयी और कलि आदि की मिथ्याज्ञान के विभ्रमों से। जैसे सम्यक् ज्ञान को विभ्रम—सीपी में चाँदी का ज्ञान और रस्सी को सर्प समझना आदि भ्रम—बाधित नहीं कर पाते, ऐसे ही अकारण (अतएव) निष्फल वैराग्रही विभ्रम—तुल्य कलि आदि विनीततमा 'प्रमिति'-समा भीमसुता को बाधा नहीं दे सकते—व्यथा नहीं पहुँचा सकते। सो व्यर्थ है कलि की डींग और दुष्प्रतिज्ञा। वह नल-दमयन्ती का कुछ नहीं बिगाड़ सकता ॥ १४४ ॥

तं नासत्ययुगं तां वा त्रेता स्पर्द्धितुमर्हति।
एकप्रकाशधर्माणं न कलिद्वापरौ! युवाम् ॥ १४५ ॥

जीवातु—तमिति। कलिद्वापरौ ! हे युगविशेषौ !, एक' केवल , प्रकाश उज्ज्वलः प्रसिद्धो वा, धर्मो न्याय', न्यायविचार इत्यर्थ.। पुण्यं वा स्वभावो वा यस्य तम् एकप्रकाशधर्माणम्, एतद् दमयन्त्यामपि योज्यम्। 'धर्मादनिच् केवलात्' इत्यनिच्। 'धर्मा पुण्ययमन्यायस्वभावाचारसोमपाः' इत्यमरः। तं नलम्, तां दमयन्तीं वा, नासत्ययुग न असत्य नासत्य किन्तु सत्यमेव, युग सत्ययुगमित्यर्थः। तथा त्रेता त्रेतायुगमपि, स्पर्द्धितुमर्हति तुलयितुं योग्य भवति, न तु जेतुमिति भाव'। युवां कलिद्वापरौ युगे, न, त ता व. स्पर्द्धितुं नार्हथ इति विभक्तिविपरिणामेनान्वय। अथवा—असत्यस्य युगं कृतयुगापेक्षया अधर्मयुगम्, त्रेता युगविशेष अग्नित्रयञ्च। 'त्रेताऽग्नित्रितये युगे' इत्यमरः। स्पर्द्धितु नार्हति, नासत्ययोर्युगमश्विनोर्द्वयञ्च, तं नलम्, स्पर्द्धितुम् अर्हति सौन्दर्येणेति च गम्यते। सुतरा युवां कलिद्वापरौ न स्पर्द्धितुमर्हथ इत्यर्थ. ॥ १४५ ॥

अन्वयः—कलिद्वापरौ, एकप्रकाशधर्माणं तं तां वा नासत्ययुगं त्रेता वा (असत्ययुग त्रेता वा न) स्पर्द्धितुम् अर्हति, युवां न।

हिन्दी—हे कलि और द्वापर, जिसकी उज्ज्वल धर्म शीलता ही प्रकाशित है, ऐसे उस (नल) अथवा उस (दमयन्ती) की स्पर्द्धा धर्माचरणता के लिए प्रसिद्ध सत्य युग और उसकी अनुचरी 'त्रेता' ही कर सकते है (अथवा सत्य युग और त्रेता भी नहीं कर सकते), तुम दोनों (कलि-द्वापर) तो नहीं ही कर सकते।

टिप्पणी—कहा गया है कि सत्य युग पूर्ण सत्य का युग है। धर्म-वृषभ अपने चारों चरणो से वहाँ गति शील रहता है और 'त्रेता' उसकी अनुचरी है, तत्पश्चात् आने वाला युग। सो ये तो भले ही पूर्ण सत्यवादी, पुण्यश्लोक की स्पर्द्धा कर सकें, जिसमें धर्म-वृषभ के तीन चरण गतिहीन हो जाते है; वह द्वापर और जिसमें धर्म चारों चरणों से पंगु हो जाता है—पूर्ण निष्क्रिय वह कलि क्या नल-दमयन्ती के साथ स्पर्द्धा करेंगे? नहीं कर सकते। अथवा सत्य युग और त्रेता भी नहीं कर सकते, क्योंकि सत्य युग के अंतिमसमांश में कुछ अधर्म आ जाता है और त्रेता का तो चतुर्थांश ही अधर्म पूर्ण है। सो वे भी नल-दमयन्ती की स्पर्द्धा नहीं कर सकते, द्वापर और कलि तो नहीं ही कर सकते। अथवा 'नासत्य' अर्थात् अश्विनीकुमार और 'त्रेता' (अग्नि-त्रय—गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिण)—ये भी नल-दमयन्ती की सौंदर्य, धर्म-प्रवणता और तेजोमयता की दृष्टि से स्पर्द्धा ही कर सकते है, जय शील नहीं हो सकते। कलि-द्वापर जैसे अज्ञानांध नीच कैसे कर सकते हैं? कुरूप, तेजोहीन।

करिष्येऽवश्यमित्युक्त्वा करिष्यन्नपि दुष्यसि।
दृष्टादृष्टा हि नायत्ताः कार्य्यीया हेतवस्तव ॥ १४६ ॥

जीवातु—करिष्य इति। हे कले! अवश्यं निश्चितम्, करिष्ये विधास्यामि, इत्युक्त्वा एवं कथयित्वा, सर्वथा पापं करिष्यामि इति प्रतिज्ञाय इत्यर्थः। करिष्यन् अपि चिकीर्षुरपि, दुष्यसि दुष्टोऽसि, किमुत कृत्वा इति भावः। हि तथा हि, कार्यस्य इमे कार्यीयाः कार्योत्पादनयोग्याः। 'वृद्धाच्छः' दृष्टादृष्टा लक्षितालक्षिताः, हेतवः कारणानि, दण्डचीवरादयो दृष्टहेतवः, कालकर्मेश्वरे-च्छादयोऽदृष्टा हेतवः इत्यर्थः। तव ते, आयत्ताः अधीनाः, न, किन्तु तत्तत्कार्यो-त्पादिका सामग्री कालवशाददृष्टवशाच्च स्वयमेव सम्पाद्यते, न तु त्वया

सम्पादयितुं शक्या, तथा च करिष्येऽवश्यमित्युक्त्वा पापकार्येऽकृतेऽपि मनसि तच्चिन्तया मुखे तदुच्चारणेन च भवद्विधानां पातकं जातमिति भावः ॥ १४६ ॥

अन्वय —अवश्यं करिष्ये—इति उक्त्वा करिष्यन् अपि दुष्यसि, हि कार्यीयाः दृष्टादृष्टा हेतवः तव आयत्ता न ।

हिन्दी—कले, तू 'अवश्य (नल का पराभव) करूँगा'–यह कह कर करने की इच्छा करते ही दोष का भागी हो जाएगा (करके तो होगा ही) क्योंकि कार्यों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कारण तेरे, (कलि के) अधीन नहीं हैं।

टिप्पणी—भाव यह है कि कलि ने जहाँ नल का पराभव करना कहा कि वह दोषी बन गया, क्योंकि पाप करने की इच्छा मात्र से दोष लगता है, करने पर तो दोष लगता ही है। सो यह कहना भी कि 'नल को पीड़ा दूँगा।' उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त मान लो कि इच्छा होने पर किसी कारण से कलि स्वयं विरत हो गया या फिर असमर्थ ही सिद्ध हुआ, तो नल को व्यथा देने की प्रतिज्ञा पूर्ण न होने से प्रतिज्ञा-भंग दोष लगेगा। अतः ऐसी प्रतिज्ञा न करना ही उचित है। इसके अतिरिक्त एक दृष्टि से और भी अनुचित है। यह भी है कि 'कुछ करना' मनुष्य की क्षमता नहीं होती, उस 'हो जाने' के कुछ कारण होते हैं। वे कारण कलि या व्यक्ति विशेष के अधीन नहीं होते, दैवाधीन होते हैं–दोनों प्रकार के कारण–(१) दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष, जैसे घट होने (कार्य) के चक्र, दण्ड, मृत्तिका, जल आदि। (२) अदृष्ट, अर्थात् अप्रत्यक्ष–जैसे देश, काल, ईश्वरेच्छादि। इस प्रकार नल का पराभव होगा तो इन प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष कारणों से, कुछ कलि द्वारा नहीं। ये कारण कलि के अधीन नहीं हैं। वह यह कर व्यर्थ डींग मार रहा है और दोषभाक् बन रहा है। कलि नल को पराजित तभी कर सकता है, जब उसके पराजित होने के दृष्ट अदृष्ट कारण हों, अन्यथा नहीं। वह सामग्री ही पराभव की प्रयोजिका होगी, कलि नहीं। कलि को तो क्षमता ही क्या है–'मैं यह करूँगा, मैंने यह किया' इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके अपने में ही करणत्व न होने से, दृष्टादृष्ट कारणों के विपरीत हो जाने पर, प्रतिज्ञा भंग का दोषी बड़े-से-बड़ा व्यक्ति भी हो सकता है। स्वयम् इन्द्र भी। एक बार प्रत्यक्ष सामग्री का सम्पादन

किसी प्रकार कलि कर भी ले, अप्रत्यक्ष सामग्री तो उसके अधीन नहीं है। यदि नल ने परम धर्माचरण किया तो उसे पराभूत नहीं किया जा सकता। यदि वह अधर्माचरण करेगा तो अधर्म वश ही नल का पराभव हो जायेगा। कलि की यह डींग अनुचित, व्यर्थ और दोष की उत्पादिका है। करना क्या, ऐसा तो कहना ही नहीं चाहिए। नारायण के अनुसार यहाँ अर्थान्तर न्यास है।

द्रोहं मोहेन यस्तस्मिन्नाचरेदचिरेण सः।
तत्पापसम्भवं तापमाप्नुयादनयात् ततः ॥ १४७॥

जीवातु—द्रोहमिति। किञ्च, यः यो जनः, मोहेन अज्ञतावशेन, मौर्ख्यतया इत्यर्थः। तस्मिन् नले विषये, द्रोहम् अपकारम्, आचरेत् विदधीत, सः जनः, अचिरेण शीघ्रमेव ततः तस्मात्, अनयात् दुर्नयात् हेतोः, तत्पापसम्भवं नलद्रोहजन्यपातकसम्भूतम्, तापं तीव्रयातनाम्, आप्नुयात् लभेत ॥ १४७॥

अन्वयः—यः मोहेन तस्मिन् द्रोहम् आचरेत्, सः अचिरेण ततः अनयात् तत्पापसम्भवं तापम् आप्नुयात्।

हिन्दी—कले, जो अज्ञान वश उस (नल) के साथ द्रोह (वैर, अपकार) करेगा, वह अविलम्ब उस अन्याय के कारण उस (अन्यायाचरण रूप) पाप से उत्पन्न कठोर यातना पायेगा।

टिप्पणी—इन्द्र ने एक प्रकार से यह धमकी या शाप भी दे दिया कि जो नल का द्रोही होगा, वह अन्यायी होगा और अनीति जन्य पाप के कारण कठोर दण्ड का भागी बनेगा। इस लिए मूर्खता में न पड़ नल से दूर रहना ठीक होगा। नारायण 'मोहस्य + इन' यह विग्रह करके 'मोहेन' का अर्थ अज्ञानी, मूर्खतम भी माना है। यह 'मोहेन' उस अर्थ में कलि का सम्बोधन है—'हे महा मूर्ख कले!' ॥ १४७॥

युगशेष! तव द्वेषस्तस्मिन्नेष न साम्प्रतम्।
भविता न हितायैतद्वैरं ते वैरसेनिना ॥ १४८॥

जीवातु—युगेति। युगशेष! युगानां सत्यादीनां शेषः चरम! हे कले!, तस्मिन् नले तव ते, एषः अयम्, द्वेषः द्रोहवृद्धिः, न साम्प्रतं न युक्तम्, वैरसेनिना नलेन सह, एतत् वैरं विरोधः, ते तव, हिताय मङ्गलाय, न भविता न भविष्यति ॥ १४८॥

अन्वय –युगदोष, तस्मिन् तव एष द्वेषः साम्प्रत न, वीरसेनिना एतद् वैर ते हिताय न भविता।

हिन्दी––हे सत्ययुगादि के अवशिष्ट युग (अन्तिम युग) कले, उस (नल) के प्रति तेरी यह शत्रुभावना (द्रोह बुद्धि) उचित नहीं है। वीरसेन-सुत (नल) के साथ यह वैर तेरे कल्याण–मगल का निमित्त न होगा।

टिप्पणी–इन्द्र ने अपनी चेतावनी दुहरायी। कलि यदि नल के साथ शत्रुता करेगा तो वह उसका अमगल करेगी। याद रखे कलि कि नल वीरसेन (वीरो के सेना के स्वामी) का पुत्र है। कलि का सैन्य तो पापियो, छलियों और कायरो की सेना है॥ १४८ ॥

तत्र यामीत्यसज्ज्ञान राजस परिहार्य्यताम्।
इति तत्र गतो मा गा राजससदि हास्यताम् ॥१४९॥

जीवातु—तत्रेति। हे कले ! तत्र स्वयवरे, यामि यास्यामि, सामीप्ये वर्तमानप्रयोग। इति एवम्भूतम्, राजस रज प्रयुक्तम्, असत् ज्ञान दुर्बुद्धि, परिहार्य्यता निरस्यताम्, इति असज्ज्ञानात् तत्र राजससदि राजसभायाम्, गत उपस्थित सन्, हास्यताम् उपहास्यताम्, मा गा न गच्छ॥ १४९॥

अन्वय –'तत्र यामि'–इति राजसम् असद् ज्ञान परिहार्यताम्–इति तत्र राजससदि गत हास्यता मा गा।

हिन्दी––'वहाँ जा रहा हूँ' यह रजोगुणसभव दुर्बुद्धि छोड दे––इस (असद् ज्ञान) के कारण राजसभा मे जाकर उपहास को मत प्राप्त हो।

टिप्पणी—रजोगुणसभूत ज्ञान सद् ज्ञान नहीं होता, वह असद् होता है, उपहास जनक। कलि ने कहा था कि वह स्वयवर में जा रहा है, अब स्वयवर सपन्न हो चुका है, कुछ इस कारण और कुछ अपनी और अपने सैन्य की विरूपता के कारण वह राजसभा मे उपहास का पात्र ही बनेगा। अत जाने की इच्छा महामूर्खता है। उसका त्याग ही उचित है। यहीं से घर लौट जाना ठीक है। द्वितीय चरण का पाठान्तर 'असज्ज्ञान राजस सदिहास्यताम्' (सद्+इह आस्यताम्) अर्थात् वहाँ जा रहा हूँ, यह 'असद्' ज्ञान राजस है, सो यहीं बैठो, चुपचाप। इस पाठांतर में 'असद्' (न होता)

और 'सद्' (होता हुआ) में विरोध है, जिसका परिहार 'असत्' का अर्थ 'असत्य राजस ज्ञान' करने से होता है, अतः नारायण के अनुसार विरोधाभास ॥ १४९ ॥

(गत्वान्तरा नलं भैमीं नाकस्मात्त्वं प्रवेक्ष्यसि ।
षण्णां चक्रमसंयुक्तं पठ्यमानं डकारवत् ॥ १ ॥)

प्रकाशः—गत्वेति । हे कले ! निषधदेशान् गत्वा प्राप्य नलं भैमीमन्तरा नलभैम्योर्मध्येऽकस्माच्छीघ्रं दुरितलक्षणकारणमन्तरेण वा त्वं न प्रवेक्ष्यसि ; नलस्य पुण्यश्लोकत्वात्, भैम्याश्च पातिव्रत्यादिधर्मयुक्तत्वात्, तौ पराभवितुं न शक्नोषीत्यर्थः । इव—असंयुक्तं पूर्वं विसन्धितया पृथक्कृतप्रकृतिप्रत्ययविभागं पश्चात्पठ्यमानं संहितया प्रयोगार्हम् । उच्चार्यमाणमिति यावत् । एवम्भूतं षण्णां चक्रं षण्णामिति शब्दस्वरूपस्थवर्णवृन्दमन्तरा मध्ये डकारवत् । डकारो वर्णो यथाऽकस्माद्विधिमन्तरेण न प्रविशतीति साधर्म्योपमा । 'षष्'शब्दात् 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति नुटि तत्सहित आमि 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पूर्वपदस्य पदत्वात् 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन षकारस्य डकारे 'न पदान्तात्' इति निषेधस्य 'अनाम्नवति-' इति निषेधात् 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वेन नान्तकारस्य णकारादेशे 'यरोऽनुनासिके-' इति डकारस्याप्यनुनासिकस्य व्यवस्थितविकल्पत्वादनुनासिकस्यात्र नित्यत्वेन णकारे जाते सर्वथापि न स्वेन रूपेण 'षण्णाम्' इति पदमध्ये डकारो यथा प्रवेशं लभते, तथा तयोर्मध्ये त्वमपीत्याशयः । अन्यथा विकल्पत्वात्पक्षे 'षड्णाम्' इति स्यात्तन्मा भूदित्यत्र व्यवस्थितविभाषाऽङ्गीकरणीया । षण्णां चेति चकारो भैमी चेति योज्यः । तथा च—क्रमेण परिपाट्यां संयुक्तं षण्णामिति कर्मभूतं शब्दस्वरूपमन्तरा डकारो यथा न प्रविशति । असंयुक्तावस्थायां यद्यपि स्वेन रूपेणावस्थानं वर्तते, तथापि संयुक्तावस्थायां नास्तीत्यर्थ इति वा । षण्णामित्यत्र प्रकृतिप्रत्ययदशायामकस्मादागन्तुकादेशरूपतया डकारो यथा प्रविशति, तथा त्वं न प्रविशसि इति वैधर्म्योपमया वा व्याख्येयम् । 'टकारवत्' इति पाठे 'वाऽवसाने' इत्यवसान इव चर्त्वविकल्पात्, खरुच्चाभावात् षट्, षट्स्वित्यादिवद् षण्णामित्यत्र

खरवसानयोरभावाट्टकारो यथा न प्रविशतीति साधर्म्योपमैव। क्षेपकोऽयम्। नल भैमीम्, अन्तराऽन्तरेण—' इति द्वितीया ॥ १ ॥

अन्वयः—गत्वा नल भैमीम् अन्तरा षण्णा चक्रम् असयुक्त पठ्यमान डकारवत् अकस्मात् त्वं न प्रवेक्ष्यसि।

हिन्दी—(अथवा स्वयंवर में) जाकर नल और दमयन्ती के मध्य जैसे 'षण्णाम्' इस शब्द के वर्णमध्य विसंधि अवस्था में उच्चरित 'ड' वर्ण सहसा ('ण' रूप में विकृत हुए बिना) नहीं प्रविष्ट हो सकता, वैसे तू भी न प्रवेश पा सकेगा (अथवा जैसे 'षण्णाम्' में ■ वर्ण 'ण' रूप में विकृत होकर प्रविष्ट हो सकता है, वैसे ही तू कलि भी रूप परिवर्तन करके ही नल दमयन्ती के मध्य प्रवेश पा सकेगा)।

टिप्पणी—यहाँ एक व्याकरण-सबद्ध उपमा दी गयी है। 'षट्' शब्द का षष्ठी बहुवचन में "षण्णाम्" रूप बनता है। यहाँ षट्+आम् इस स्थिति में 'षट्चतुर्भ्यश्च' (७।१।५५ अष्टा०) नियम से 'नुट्' का आगम होता है—षट्+न्+आम्, 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (अष्टा० १।४।१७) नियम से 'षट्' की पद संज्ञा हो 'झलां जशोऽन्ते' (अष्टा० ८।२।३९) नियम से 'झल् 'ट्' का जश् 'ड्' हो जाना अपेक्षित है, किंतु 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (अष्टा० ८।४।४२) से निषेध होता है, जिसका पुनर्निषेध 'अनाम्नवतिनगरीणाम्—इति वाच्यम्' (वार्तिक) से हो 'डकार' ही जाता है—षड्+नाम्। 'ष्टुना ष्टु' (अष्टा० ८।४।४१) से 'नाम्' के नकार का 'ण' होता है—षड्+णाम् और 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (अष्टा० ८।४।४५) से विकल्प से 'षड्' के डकार को भी णकार हो जाता है तथा, षण्णाम् और षड्णाम्—ये दो वैकल्पिक रूप सिद्ध हो जाते हैं। एक और भी नियम है—'वाऽवसाने' (अष्टा० ८।४।५६)। यह अवसान (अन्त) के झल् को विकल्प से 'चर्' करता है, इस नियम से पुन षड् या षट् भी विकल्प रह सकता है, तो एक और रूप भी हुआ 'षटणाम्।' एक पाठांतर में 'डकारवत्' के स्थान पर 'टकारवत्' भी है। उस पाठांतर का अर्थ करते समय डकार के स्थान में टकार की वही स्थिति माननी चाहिए, जो डकार की है–अर्थात्

'टकार' और 'डकार' 'पण्णाम्' में अकस्मात्–बिना रूप बदले, बिना विकृत हुए प्रवेश नहीं पा सकते, वैसे ही कलि भी न पा सकेगा; अथवा जैसे विकृत हो 'डकार', 'टकार' प्रवेश पा जाते हैं, वैसे भी कलि न पा सकेगा। अथवा नल-दमयन्ती के मध्य कलि रूप बदल कर अथवा अप्रत्यक्ष रीति से ही प्रवेश पा सकता है, प्रत्यक्षरीति से नहीं, जैसे कि 'पण्णाम्' में डकार या टकार। इनकी वैकल्पिक स्थिति रहती भी है, पर कलि की नहीं रहेगी। यह श्लोक क्षेपक माना जाता है। जीवातु व्याख्या इस पर नहीं है, अतः प्रकाश व्याख्या दी गयी है। नारायण ने, यहाँ साधर्म्योपमा का निर्देश किया है॥ १४९क॥

अपरेऽपि दिशामीशा वाचमेनां शचीपतेः।
अन्वमन्यन्त किन्त्वेनां नादत्त युगयोर्युगम्॥ १५०॥

जीवातु—अपरे इति। दिशां ककुभाम्, अपरे अन्ये, ईशाः अधिपाः, अग्न्यादयोऽपीत्यर्थः। शचीपतेः इन्द्रस्य, एनां पूर्वोक्ताम्, वाचम् उपदेशवचनम्, अन्वमन्यन्त अन्वमोदन्त, इन्द्रवाक्यं युक्ततया अमन्यन्त इत्यर्थः। तेऽपि तथैव ऊचुः इति भावः। किन्तु एनां वाचम्, युगयोः कलिद्वापरयोः युगं युग्मम्। कर्तृ, न आदत्त न अगृह्णात्, न स्वीचकार इत्यर्थः॥ १५०॥

अन्वयः—अपरे अपि दिशाम् ईशाः शचीपतेः एनां वाचम् अन्वमन्यत, किन्तु युगयोः युगम् एनां न अदत्त।

हिन्दी—अन्य भी दिक्पालों (अग्नि, यम, वरुण) ने शची के स्वामी (इन्द्र) की इस (पूर्वोक्त) का वाणी का अनुमोदन किया, परन्तु युग युगल (कलि-द्वापर) ने इस (इन्द्र वचन) को नहीं स्वीकारा।

टिप्पणी—दुष्टजन सज्जनों के उचित कथन को भी अमान्य करते हैं। इसी के अनुसार अन्य दिक्पालानुमोदित इन्द्र के कथन दुष्ट कलि और द्वापर ने मान्यता नहीं दी॥ १५०॥

कलिं प्रति कलिं देवा देवान् प्रत्येकशः कलिः।
सोपहासं समैवर्णैरित्थं व्यरचयन्मिथः॥ १५१॥

जीवातु—कलिमिति। देवाः इन्द्रादयः, कलिं कलियुगं प्रति, कलिम

देवान् प्रति एकश: प्रत्येकम् वीप्सायां शस् । समै: वर्णै: उभयसाधारणशब्दै:, श्लिष्टाक्षरैरित्यर्थः । इत्थं वक्ष्यमाणभङ्ग्या, मिथ: परस्परम्, सोपहासम् उपहाससहितम्, कलिं कलहम्, व्यरचयन् अकुर्वन् ॥ १५१ ॥

अन्वयः—देवा: कलिं प्रति कलि: देवान् प्रत्येकश: समैः वर्णैः इत्थं मिथ: सोपहासं कलिं व्यरचयन् ।

हिन्दी— देव (इन्द्रादि) कलि के साथ और कलि देवों से, एक-एक करके श्लिष्ट शब्दों द्वारा, इस प्रकार (वक्ष्यमाण रीति से) परस्पर उपहासपूर्वक विवाद करने लगे।

टिप्पणी—इन्द्राग्नियमवरुण और कलियुग में नल दमयन्ती विषयक विवाद होने लगा। एक-दूसरे पर व्यंग्योपहास सहित उनका वाक्युद्ध चला, जो आगे श्लोक संख्या १५२–१५५ चार श्लोकों में है। कविकौशल इसमें 'समवर्ण' अर्थात् श्लिष्ट शब्द योजना से प्रकट है। एक ही वाक्यावली द्वारा क्रमश: चारों देवों का कलि के प्रति कथन है और उसी प्रकार क्रमश: वही उस देव को दिया कलि का उत्तर है ॥ १५१ ॥

तत्रागमनमेवार्हं वैरसेनौ तया वृते ।
उद्वेगेन विमानेन किमनेनापि धावता ? ॥ १५२ ॥

जीवातु—कलहप्रकारमेवाह–तत्रेति । हे कले ! तया भैम्या, वैरसेनौ नले, वृते तत्त्वेन स्वीकृते सति, तत्र स्वयंवरे, अगमनम् अप्रयाणम् एव, अर्हं युक्तम्, अत एव उद्वेगेन उत्कटजवेन, धावता शीघ्रं गच्छता, अनेन विमानेन व्योमयानेन, किम् ? किं प्रयोजनम् ? इदानीं तत्र गमनं निष्फलमित्यर्थः ।

अन्यत्र—हे इन्द्र ! तत्र स्वयंवरे, तया वैरसेनौ वृते सति आगमनं तत्प्रत्यावर्तनमेव, गमेर्ण्यन्तात् ल्युट् । अर्हं युक्तम्, अथवा, अगमनमेव स्वर्गं प्रति गमनाभाव एव, अर्हं भैमीलाभार्थं पृथिव्यागतैः भवद्भिर्व्यर्थमनोरथत्वेन इन्द्राण्यादिसविधे मुखं दर्शयितुमशक्यत्वात् सर्वथा स्वर्गो न गन्तव्य एवेति भाव: । तथा अपिधा अपिधानम्, आच्छादनमित्यर्थः, 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्प्रत्ययः । तद्वता आच्छादनवता, निगूहितेन इत्यर्थः । विमानेन मानरहितेन, अनेन मुखदर्शनानुमितेन, उद्वेगेन चित्तचाञ्चल्येन, अपमानजनितमन-

क्षोभेणेत्यर्थः । किम् ? अलम्, तद्गोपनं व्यर्थमेवेत्यर्थः । धैर्यावलम्बनेन भैम्यलाभजन्यदुःखं संवृतमपि मया भावदर्शनादिना सम्यगनुमितमेव, सुतरां दुःखगोपनं व्यर्थमेवेति भावः । अत्र द्वयोः अर्थयोः प्रकृतत्वात् केवल-प्रकृतश्लेषः ॥ १५२ ॥

अन्वयः—तत्र तया वीरसेनौ वृते अगमनम् (आगमनम्) एव अर्हम्, उद्वेगेन अनेन विमानेन अपि धावता किम् ?

हिन्दी—इन्द्र ने कहा—वहाँ, उस (दमयन्ती) के द्वारा वीरसेन के पुत्र (नल) का वरण कर लेने पर, (कलि का) न जाना ही उचित है। शीघ्रगामी इस आकाशयान से भी दौड़ने से क्या लाभ ? कलि ने उत्तर दिया—वहाँ (स्वयंवर में) उस (दमयन्ती) के द्वारा वीरसेनसुत (नल) को वर लिये जाने पर (इन्द्र का) आगमन (लौट आना) ही उचित है। उद्वेगयुक्त और इस प्रकार मानहीन हो 'अपिधावता' (अर्थात् छिपे फिरने) से क्या लाभ ?

टिप्पणी—इन्द्र ने कलि को समझाया कि अब स्वयंवर हो चुका, अब शीघ्रतापूर्वक कलि के वहाँ दौड़े जाने से कोई लाभ नहीं होगा। अथवा 'तयावृते' का विच्छेद 'तया+अवृते' करने पर यह भाव भी लिया जा सकता है कि दमयन्ती द्वारा नल को न वरे जाने पर कलि का स्वयंवर में पहुँचना उपयुक्त हो भी सकता था, क्योंकि क्या जाने, नल की अपेक्षा कलि को ही दमयन्ती वरीयता दे देती। (हँसी उड़ायी।) अब व्यर्थ है। इन्हीं शब्दों में थोड़े से परिवर्तन-'अगमनम्' का 'आगमनम्' और 'अपि धावता' को एकशब्द 'अपिधावता' कर लेने से और 'उद्वेगेन' का उद्वेगयुक्त, चंचल-चित्त, 'विमानेन' का मानहीन और 'अपिधावता' का मुँह छिपाये हुए अर्थ करके करके कलि का उत्तर बन जाता है। अर्थात् इन्द्र शची के रहते दमयन्ती-कामना से स्वयंवर में गये थे। वहाँ उन्हें निष्फलता मिली। अवमानित हुए, शची के संमुख लज्जा देखनी पड़ेगी, उद्वेग अलग। फिर भी इन्द्र को अब स्वर्ग-आगमन (स्वर्ग लौट जाना) ही ठीक होगा। यों मुँह-दुराये कब तक भटकते फिरेंगे ? कलि ने इस प्रकार इन्द्र पर व्यंग्य किया।

'विमानेन' इन्द्र का सम्बोधन भी हो सकता है—हे विमानों (व्योमयानों) के स्वामी—'विमानानां विगतमानानाम् इन स्वामी, सम्बुद्धौ विमानेन'। अथवा अब इन्द्र की चालाकी, छल, लज्जा, अपमान छिपे नहीं रह गये, अब यह सोचना है कि शची को कैसे मुँह दिखाया जाय ? सो स्वर्ग अगमन ही ठीक है। मल्लिनाथ के अनुसार प्रकृत श्लेष अलङ्कार ॥ १५२ ॥

पुरा यासि वरीतुं यामग्र एव तया वृते।
अन्यस्मिन् भवतो हाऽऽस्य वृत्तमेतत्त्रपाकरम् ॥ १५३ ॥

जीवातु—पुरेति। हे कले ! यां भैमीम् वरीतुं पत्नीत्वेन स्वीकर्तुम्, पुरा आगामिनि, शीघ्रमेवेत्यर्थः। यासि यास्यसि, 'यावत्पुरा–' इति भविष्यति लट्। 'निकटागामिके पुरा' इत्यमरः। तया भैम्या, अग्रे एव तवागमनात् प्राक् एव अन्यस्मिन् पुरुषे नले, वृते स्वीकृते सति, त्रपायाः लज्जायाः, आकरम् आकरायितमित्यर्थः। वृत्तं जातम् एतत् पुरोवर्ति, भवतः तव, आस्यं मुखम्, हा ! शोचाम इत्यर्थः। 'अभितः परितः—' इत्यादिना हा-शब्दयोगे द्वितीया। 'हा विषादशुगर्तिषु' इत्यमरः।

अन्यत्र-हे वह्ने ! पुरा पूर्वम् यां वरीतुम्, यासी, आयासी, 'पुरि लुङ् चास्मे' इति भूते लट्। त्वमिति शेषः। तया अग्रे एव तव समक्षमेव, अन्यस्मिन् नले, वृते सति भवतस्तव एतत् प्रत्यक्षदृश्यम् वृत्तं वर्तुलाकारम् आस्यं मुखम्, त्रपामाकरोतीति त्रपाकरं लज्जाकरम् जातमिति शेषः, अत एव हा ! शोचामीत्यर्थः ॥ १५३ ॥

अन्वय—यां वरीतुं पुरा यासि तया अग्रे एव अन्यस्मिन् वृते हा, भवतः एतत् वृत्तम् आस्यं त्रपाकरम् (भवतः एतत् वृत्तं हास्यं त्रपाकरम्)।

हिन्दी—अग्नि ने कलि से कहा—जिस (दमयन्ती) को वरने के लिए 'पुरा' (शीघ्रतापूर्वक) जा रहे हो, उसके द्वारा आगे (पहिले) ही दूसरा (नल) वर लिया जाने पर, हाय, आपका (कलि का) यह वर्तुलाकार मुख लज्जास्पद हो जायेगा (अथवा—आपका यह वृत्त (जल्दी जल्दी दौड़े जाना) उपहासयोग्य और लज्जास्पद बन जायेगा)।

कलि ने उत्तर दिया—जिस (दमयन्ती) को वरने पहिले गये थे, उसके द्वारा तुम्हारे (अग्नि के) समक्ष ही अन्य (नल) के वर लिये जाने पर हाय,

तुम्हारा यह गोल मुँह लज्जा से श्रीहीन हो गया है (अथवा—तुम्हारे संमुख यह जो घट गया, वह उपहसनीय और लज्जास्पद हुआ तुम्हारे लिए)। अथवा तुम्हारा यह 'वृत्त' (स्वर्ग लौट कर जाना) उपहास और लज्जा का कारण है।

टिप्पणी—'यासि' के वर्तमानकालीन और भूतकालीन—दो अर्थ करके दोनों के कथन बन गये। 'वृत्तम्' का अर्थ 'आचरण' भी हो सकता है। अर्थात् अग्नि और कलि—दोनों ने एक-दूसरे के आचरण—कर्म को उपहास और लज्जा का कारण बताया। एक ही प्रकार से एक-दूसरे ने एक-दूसरे को तिरस्कृत और लांछित बनाया॥ १५३॥

पत्यौ तया वृतेऽन्यस्मिन् यदर्थं गतवानसि।
भवतः कोपरोधस्तादक्षमस्य वृथारुषः॥ १५४॥

जीवातु—पत्याविति। हे! यदर्थं यद्भैमीनिमित्तम् गतवान् गमनवान्, गमनपरः इत्यर्थः, भावविहितगतशब्दात् मतुप्प्रत्ययः। असि भवसि, या वरीतुं गच्छसीत्यर्थः। तया भैम्या, अन्यस्मिन् पत्यौ पूर्वमेव वृते सति, अक्षमस्य प्रतीकाराशक्तस्य, अत एव वृथारुषः निष्फलकोपस्य, भवतः तव, कोपरोधः क्रोधस्य उपशमः, स्तात् अस्तु, इदानीं कोपो न कार्य इत्यर्थः। अस्तेर्लोटि तातङादेशः।

अन्यत्र तु—हे यम! यदर्थं गतवानसि पूर्वं गतोऽसि, भूते क्तवतुः। अक्षमस्य भवतः तव, अधस्तात् अधरः, हीनः इत्यर्थः, 'दिक्शब्देभ्यः सप्तमी—' इत्यादिना अधरशब्दात् प्रथमार्थे अस्तातिप्रत्ययः, 'अस्ताति च' इत्यधरस्या-धादेशः, 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' इति तद्योगे षष्ठी। अपरः कः? अन्यः कः? त्वत्तः अधमः कश्चिन्नास्ति इत्यर्थः। समानमन्यत्॥ १५४॥

अन्वयः—यदर्थं गतवान् असि तया अन्यस्मिन् पत्यौ वृते अक्षमस्य वृथारुषः भवतः कोपरोधः स्तात् (भवतः अधस्तात् अपरः कः?)।

हिन्दी—यम ने कहा—जिस (दमयन्ती) के निमित्त गमनेच्छु हो, उसके अन्य (नल) को पति वर लेने पर अक्षम अर्थात् असमर्थ (अथवा अहसन-शील), व्यर्थ कुपित होते तेरा (कलि का) कोपरोध अर्थात् कोप-शांति हो।

कलि ने उत्तर दिया—जिसके लिए तुम (यम) गये थे, उसके अन्य को पति वर लेने पर अक्षम (अथवा क्षमा अर्थात् धरती का स्पर्श करने वाले देव यम) व्यर्थकोप तुम से नीच अन्य कौन है ? कोई नहीं है।

टिप्पणी—'गतवान् असि' को वर्तमानवाचक और भूतवाचक मानकर तथा 'कोपरोधः स्तात् (क्रोध शांति हो) और 'भवत. अधस्तात् अपरः कः' (तुमसे अधिक पतित और कौन है ?) की दो प्रकार से योजना कर कथन और उत्तर बन गये। अक्षम—स्य—पदच्छेद करके अक्षम को सम्बोधन और 'स्य' को क्रिया भी माना गया है—अर्थात् हे अक्षम, वृथा रोष न कर। कलि का यह भी व्यंग्य हो सकता है कि यम 'अक्षम' अर्थात् धरती को न छूने वाला देव है अथवा शक्तिहीन भी है, उसका कोप व्यर्थ ही होगा। कोप तो कलि जैसे धरती पर भी चल लेने वाले शक्तिशाली का ही सफल होता है ॥ १५४ ॥

यासि स्मरं जयन् कान्त्या योजनौघ महार्वता।
समूढस्त्वं वृतेऽन्यस्मिन् किं न ह्रीस्तेऽत्र पामर! ॥ १५५ ॥

जीवातु—यासीति। पामर! हे नीच! कले! 'विवर्णः पामरो नीचः' इत्यमर.। त्वं कान्त्या सौन्दर्येण, स्मरं कन्दर्पम्, जयन् अधरीकुर्वन्, प्रसाधनविशेषेण स्मरादपि अधिकरूपवान् सन् इत्यर्थः। तथा महार्वता महाश्वेन, विमानेन इति शेषः। समूढ. सम्यक् वाहितश्च सन्, योजनानां चतुष्कोशाध्वमानानाम्, ओघं समूहम्, बहुयोजनमित्यर्थ। 'योजनं परमात्मनि। चतुष्कोश्याञ्च योगे च' इति मेदिनी। यासि गच्छसि, किन्तु अत्र स्वयंवरे, अन्यस्मिन् वृते सति ते ह्रीः लज्जा, न किम् ? भविष्यतीति शेषः।

अन्यत्र तु—अत्रप! हे निर्लज्ज!, अमर! वरुण!, यः त्वं कान्त्या निजदेहसौन्दर्येण, जनौघं जनसङ्घम्, रञ्जयन् प्रीणयन्, महार्वता बृहदश्वेन, यासि स्म स्वयंवरमयासीः, स त्वं मूढ मूर्ख, असि इति शेष.। अत्र अन्यस्मिन् वृते तव ह्रीः न किम् ? पूर्ववदलङ्कारः ॥ १५५ ॥

अन्वय.—कान्त्या स्मरं जयन् त महार्वता समूढः योजनौघं यासि (यः कान्त्या जनौघं रंजयन् महार्वता यासि स्म सः त्वं मूढः) पामर अत्र (अत्रप अमर) अन्यस्मिन् वृते ते किं ह्रीः न ?

हिन्दी—वरुण ने कहा—शरीर-सौन्दर्य से काम को जीतता (सज-धजकर) तू महान् यान पर चढ़ सेना सहित योजनों दूर दौड़ा जा रहा है, नीच यहाँ (वहाँ स्वयंवर में) अन्य का वरण हो जाने पर क्या तुझे लज्जा न लगेगी ?

कलि ने उत्तर में कहा—जो शरीर-सौन्दर्य से जनसमूह (अथवा योजनों भूमि को सुन्दर बनाता) को अनुरंजित करता विशाल अश्व पर (स्वयंवर में) गया था, वह तू (वरुण) मूर्ख है। हे त्रपारहित (निर्लज्ज) देव, अन्य (नल) का वरण हो जाने पर तुझे क्या लज्जा नहीं आयी ?

टिप्पणी—अनेकार्थवाचक शब्दयोजना और अन्वय-भेद से वरुण और कलि–दोनों का विवाद कह दिया गया। दोनों ने दोनों को नीच और निर्लज्ज बताया कि इतना अपमान हो गया अथवा निंद्य व्यवहार हो गया अथवा होने जा रहा है, लज्जा नहीं आती। यह कार्य सब को दुःखदायक है, लेकिन करने वाले को न लज्जा आती है और न पीडा होती है। यहाँ भी मल्लिनाथ के अनुसार प्रकृत श्लेष अलंकार है॥ १५५ ॥

नलं प्रत्यनपेतार्तिं तार्त्तीयीकतुरीययोः।
युगयोर्युगलं बुद्ध्वा दिवि देवा धियं दधुः ॥ १५६ ॥

जीवातु—नलमिति। अथ देवाः इन्द्रादयः, तार्त्तीयीकतुरीययोः तृतीयचतुर्थयोः, 'तीयादीकक् स्वार्थे वा वाच्यः' इत्यनेन तार्त्तीयीकसिद्धिः। 'चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च' इत्यनेन तुरीयसिद्धिः। युगयोः द्वापरकल्योः, युगलं द्वयम्, कर्म। नलं प्रति अनपेता अनपगता, अस्मद्वाक्येनापि न दूरीभूतेत्यर्थः। आर्त्तिः पीडनेच्छा यस्य तत् तादृशम्, बुद्ध्वा विविच्य, दिवि स्वर्गे, धियं मतिम्, दधुः कृतवन्तः, दिवं गन्तुम् ऐषुरित्यर्थः ॥ १५६ ॥

अन्वयः—देवाः तार्त्तीकतुरीययोः युगयोः युगलं नलं प्रति अनपेतार्तिं बुद्ध्वा दिवि धियं दधुः।

हिन्दी—देवों (इन्द्रादि) ने तृतीय (द्वापर) और चतुर्थ (कलि) युगों के युग्म को, नल को कष्ट देने की इच्छा दूर न हुई समझ स्वर्ग जाने का विचार किया।

टिप्पणी—इन्द्रादि समझ गये कि द्वापर और कलि— दुष्ट हैं। ये नल को पीड़ा पहुँचाये बिना मानेंगे नहीं। इनसे उलझना व्यर्थ है। अतः वे स्वर्गगमनोन्मुख हुए ॥ १५६ ॥

द्वापरैकपरीवारः　कलिर्मत्सरमूर्च्छितः ।
नलनिग्राहिणी यात्रां जग्राह ग्रहिलः किल ॥ १५७ ॥

जीवातु—द्वापरेति । मत्सरमूर्च्छितः मूर्च्छितमत्सरः, प्रवृद्धनलगुणद्वेष इत्यर्थः । नलनिर्यातनाय दृढसङ्कल्प इति यावत् । आहिताग्न्यादिषु द्रष्टव्यः । अत एव ग्रहिलः आग्रहवान्, पिच्छादित्वात् मत्वर्थीय इलच्प्रत्ययः । कलिः चतुर्थयुगम्, द्वापरस्तृतीययुगम् एव, एकः केवलः, परीवारः परिजनः यस्य तादृशः, द्वापरमात्रसहायः सन्नित्यर्थः । नलनिग्राहिणीं नलनिग्रहार्थाम् इत्यर्थः । यात्रां गमनम्, जग्राह स्वीचकार, किल खलु ॥ १५७ ॥

अन्वयः— द्वापरैकपरीवारः मत्सरमूर्च्छितः ग्रहिलः कलिः नलनिग्राहिणीं किल यात्रां जग्राह ।

हिन्दी—एक द्वापर को सहायक रूप में साथ ले द्वेष से मरा जाता-सा (सुध-बुध खोकर, द्वेषाध) हठाग्रहाविष्ट कलि नल को निश्चयतः फाँसने के निमित्त यात्रा पर चला ।

टिप्पणी—देव स्वर्ग गये और विवेकहीन, द्वेष से पूर्ण कलि केवल द्वापर को साथ ले नल को किस प्रकार कष्ट पहुँचाया जाय, इस दृष्टि से, उसकी पूर्ति के निमित्त निषधदेश की ओर चल पड़ा ॥ १५७ ॥

नलेष्टापूर्तसम्पूर्तेर्दूरदुर्गानमुं　प्रति ।
निषेधन् निषधान् गन्तुं विघ्नः सङ्घटे घनः ॥ १५८ ॥

जीवातु—नलेति । नलस्य वैरसेनेः, इष्टापूर्ताभ्यां क्रतुखातादिधर्मकर्मभ्याम् । 'अथ क्रतुकर्मेष्टं पूर्तं खातादिकर्मणि' इत्यमरः । सम्पूर्तेः सम्यक् पूर्णत्वात्, बहुधर्मानुष्ठानचिह्नव्याप्तत्वादित्यर्थः । अमुं पापरूपं कलिं प्रति, दूरमत्यर्थं, दुःखेन गच्छन्ति एष्विति दुर्गाः । 'सुदुरोरधिकरणे' इति डप्रत्ययः । तान् दूरदुर्गान् अतिदुर्गमान्, निषधान् देशान्, गन्तुं प्रयातुम्, निषेधन् निवारयन्, गमनं प्रतिबध्नन्निवेत्यर्थः । घनः निरन्तरः, विघ्नः प्रत्यूहः,

सञ्जघटे वक्ष्यमाणरीत्या घटितवानित्यर्थः । धर्मगुर्णतया निषधदेशाः कलिना दुष्प्रवेशा बभूवुरिति निष्कर्षः ॥ १५८ ॥

अन्वयः— नलेष्टापूर्त्तसम्पूर्त्तेः अमुं प्रति दूरदुर्गान् निषधान् गन्तुं निषेधन् घनः विघ्नः सञ्जघटे ।

हिन्दी— नल के इष्ट (यज्ञयागादि) और आपूर्त्त (तडाग-उत्खनन आदि) धर्म-कार्यों के संपूर्ण (सुसम्पन्न) रहने से (निषध देश की ओर प्रस्थित) इस (कलि) का, अत्यन्त दूर और दुर्गम निषध देशों को जाने में, निवारण करता घन-रूप घना (महान्) विघ्न घटित होने लगा ।

टिप्पणी—गमनेच्छु को उमड़ती घन-मंडली-जैसे महान् विघ्न और बाधा बन जाती है, इसी प्रकार निषधोन्मुख कलि के संमुख भी नल के धर्म-कार्यों की सम्पूर्णता विघ्न बन गयी । कलि का प्रवेश तो वहीं हो सकता है, जहाँ धर्म की किसी रूप में न्यूनता हो । नल तो देवयजन इत्यादि इष्ट और प्रजा की सुख-सुविधा के साधन तडाग-उत्खनन आदि समस्त कर्म सुचारु सम्पन्न रखता था । इसलिए दूरस्थित निषधदेश कलि के लिए दुर्गम दुर्ग की भाँति दुष्प्रवेश्य बन गया ॥ १५८॥

(मण्डलं निषधेन्द्रस्य चन्द्रस्येवामलं कलिः ।
प्राप म्लापयितुं पापः स्वर्भानुरिव संग्रहात् ॥ १ ॥)

प्रकाशः— मण्डलमिति । पापः कलिः पापग्रहमध्ये गणितत्वात्पापः स्वर्भानुरिवामलं निष्पापं निषधेन्द्रस्य मण्डलं राष्ट्रम्, अमलं परिपूर्णप्रकाशं चन्द्रस्य मण्डलं बिम्बमिव संग्रहाद्धठाद् ग्रहणयोगवशाच्च म्लापयितुं विनाशयितुं ग्रसितुं च प्राप ॥ १ ॥

अन्वयः—स्वर्भानुः इव पापः कलिः चन्द्रस्य इव, निषधेन्द्रस्य अमलं मण्डलं संग्रहात् म्लापयितुं प्राप ।

हिन्दी—पापग्रह राहु के समान पापी कलि चन्द्रसमान निषधराज (नल) के निर्मल मडल (चन्द्रबिम्ब-तुल्य राष्ट्र) को ग्रहण-रूप ग्रहण (हठ से पीडित करने) से मलिन—विनष्ट करने को प्राप्त हुआ ।

टिप्पणी— जिस प्रकार दुष्ट ग्रह राहु पूर्ण चन्द्रबिम्ब को ग्रस्त करके

मलिन कर देता है, वैसे ही पापी कलि भी धर्मपूर्वक राज्य करते निष्पाप, पूर्ण धर्मात्मा राजा नल के पापरहित मंडल में राजा को पीड़ित करने के निमित्त पहुँचा। यह श्लोक मल्लिनाथ-व्याख्या में नहीं है। नारायण की प्रकाश टीका दी गयी है ॥ १५८ क ॥

कियताऽथ च कालेन कालः कलिरुपेयिवान्।
भैमीभर्तुरहंमानी राजधानीं महीभुजः ॥ १५९ ॥

जीवातु—कियतेति। अथ देवानां सन्निधानात् प्रस्थानानन्तरम्, कियता च कालेन किञ्चित्कालेऽतीते इत्यर्थः। अहमानी अहङ्कारी, कलिः कालः युगात्मकः समयरूपः पापात्मकत्वात् श्यामश्च वा, भैमीभर्तुः दमयन्तीपतेः, महीभुजः राज्ञो नलस्य, राजानः धीयन्ते अस्यामिति राजधानी नगरी ताम्, 'करणाधिकरणयोश्च' इत्यधिकरणार्थे ल्युट् उपेयिवान् उपगतः, निपातनात् साधु।

अन्वयः—अथ च कालः अहमानी कलिः कियता अपि कालेन भैमीभर्तुः महीभुजः राजधानीम् उपेयिवान्।

हिन्दी—और इसके अनन्तर युगरूप (समय-बोधक) पापी—काला, अहंकारी कलि पर्याप्त समय लगा कर भीमसुता (दमयन्ती) के भर्ता राजा (नल) की राजधानी में जा पहुँचा।

टिप्पणी—युग-काल-बोधक, पापी, कृष्णवर्ण या कलि—अहमानी, घमंडी। भैमी-भूमित्याजन के निमित्त उसका अभिप्राय ये विशेषण द्योतित करते हैं। इसी लिए नल के भी दो विशेषण दिये गये हैं—'भैमीभर्ता' और 'महीभुक्'। नल को भैमी और मही से रहित बनाना ही कलि का उद्देश्य था। सो वह विघ्न-बाधा झेलता, बहुत दिनों में ही सही, नल राजा की राजधानी में पहुँच गया ॥ १५९ ॥

वेदानुच्चरतां तत्र मुखादाकर्णयन् पदम्।
न प्रसारयितुं कालः कलिः पदमपारयत् ॥ १६० ॥

जीवातु—अथ पुरप्रवेशे विघ्नप्रकारमाह—वेदानिति। तत्र राजधान्याम्, वेदान् श्रुतीः, उच्चरताम् उच्चारयताम्, अधीयानानां श्रोत्रियाणाम् इत्यर्थः। मुखात् वदनात्, पदं मन्त्रचतुर्थांशापरास्य पदजातम्, आकर्णयन् शृण्वन्,

कालः समयात्मकः पापात्मको वा, कलिः जघन्ययुगम्, पदं चरणम्, प्रसारयितुं विस्तारयितुम्, न अपारयत् न अशक्नोत् ॥ १६० ॥

अन्वयः—तत्र वेदान् उच्चरतां मुखात् पदम् आकर्णयन् कालः कलिः पदं प्रसारयितुं न अपारयत् ।

हिन्दी—वहाँ (निषध-राजधानी में) वेदपाठ करते श्रोत्रियों के मुख से (वेदमन्त्रों) के पद (शब्दों, वाक्यों अथवा चरणों) को सुनता पापी, काला कलिकाल पैर फैलाने में समर्थ न हो पाया ।

टिप्पणी—पापी, काला, काल के समान दारुण कलि धर्माचरण से परिव्याप्त नल की राजधानी में पैर न पसार सका अर्थात् कहीं वास-स्थान न पा सका । सर्वत्र धर्म व्याप्त था । वेदाध्ययन-अध्यापन हो रहा था । वेदों के पदों (शब्दों, वाक्यों, चतुर्थांश पदों) की ध्वनि चारों ओर सुनायी पड़ रही थी, सो कलि जैसे दुराचारी को वहाँ कैसे स्थान मिलता ? जहाँ पहिले से ही भीड़ हो, वहाँ किसी अनपेक्षित को पद-न्यास (पैर धरने) का अवसर नहीं मिल पाता है । यही कलि के साथ हुआ । धर्म, धर्माचारियों के संकुल में पापी को कौन ठौर देता ? ये ही सब कलि-मार्ग के विघ्न थे ॥ १६० ॥

श्रुतिपाठकवक्त्रेभ्यस्तत्राकर्णयतः क्रमम् ।
क्रमः सङ्कुचितस्तस्य पुरे दूरमवर्त्तत ॥ १६१ ॥

जीवातु—श्रुतीति । तत्र पुरे, श्रुतिपाठकवक्त्रेभ्यः वेदाध्येतृमुखेभ्यः, क्रमम् उभयापराख्यं पदजातम्, आकर्णयतः शृण्वतः, तस्य कलेः, क्रमः पादन्यासः, सङ्कुचितः प्रतिबद्धः सन्, दूरम् अवर्त्तत प्रवेशाशक्त्या दूरे स्थितः इत्यर्थः । वेदध्वनिप्रभावेणेति भावः ॥ १६१ ॥

अन्वयः—तत्र पुरे श्रुतिपाठकवक्त्रेभ्यः क्रमम् आकर्णयतः तस्य क्रमः सङ्कुचितः दूरम् अवर्त्तत ।

हिन्दी—वहाँ नगर में वेद-पाठकों के मुखों से क्रम (संहिता और पद को मिला कर वेद-पाठ की प्रणाली) सुनते उस (कलि) का चरण-न्यास पूर्णतः संकुचित हो गया (बढ़ता चरण रुक गया) । वह दूर चला गया ।

टिप्पणी—राजधानी में वेदपाठी क्रम—प्रणाली से वेद-पाठ कर रहे थे—

पूर्वापर पद-व्यवस्था के साथ अर्थात् विधिपूर्वक। उस वेदपाठ को सुनकर कलि का क्रम—पदन्यास रुक गया। वेदपाठ सुनते ही आतंकित कलि उस स्थान को भाग खड़ा हुआ॥ १६१॥

तावद्गतिर्धृताटोपा पादयोस्तेन संहिता।
न वेदपाठिकण्ठेभ्यो यावदश्रावि संहिता॥ १६२॥

जीवातु—तावदिति। तावत् तत्पर्यन्तम्, तेन कलिना, पादयो चरणयो., धृताटोपा साडम्बरा, सदर्पा इति यावत्, गति विहरणम्, संहिता संवृता, अवलम्बितु शक्ता इत्यर्थः। यावत् यत्पर्यन्तं, वेदपाठिनाम् वेदाध्येतृणाम्, कण्ठेभ्य मुखेभ्य, संहिता पूर्वोक्तपदक्रमरूपावस्थाद्वयविलक्षणा ऋगादिरूपा, न अश्रावि न श्रुता, तच्छ्रवणोत्तरमेव पादयोरिति भाव.। तदेतदारण्यके—'श्रुतम् अन्नाद्यकामो निर्भुज ब्रूयात् स्वर्गकाम प्रतृण्णन् उभयमन्तरेण' इति।

अन्वय—तेन वेदपाठिकण्ठेभ्य. यावत् पादयोः संहिता न अश्रावि तावत् धृताटोपा (पादयो.) गतिः संहिता।

हिन्दी—उस (कलि) ने वेद-पाठियों के मुखों से जब तक पदक्रमानुसार ऋचा (मन्त्र) नहीं सुनी, तब तक ही साभिमान, सदर्प चरणों की गति संयोजित की।

टिप्पणी—आशय यह कि जैसे ही 'ऋचा' कलि के कान में पड़ी, वैसे ही वह भाग खड़ा हुआ। अथवा तब तक ही साभिमान वेगों से डग धरता रहा, जब तक ऋचा-पाठ नहीं सुना। सुनते ही कलि स्तब्ध रह गया और उसके बढ़ते कदम रुक गये॥ १६२॥

तस्य होमाज्यगन्धेन नासा नाशमिवागमत्।
तत्रातत दृशौ नासौ क्रतुधूमकदर्थिते॥ १६३॥

जीवातु—तस्येति। तत्र पुरे, होमाज्यगन्धेन होमसम्बन्धिघृतपरिमलेन, तस्य कले., नासा घ्राणेन्द्रियम्, नाश विध्वस्तम्, अगमत् इव प्रापदिव, तथा असौ कलि, क्रतुधूमेन यज्ञधूमेन, कदर्थिते दूषिते, अन्धीभूते इत्यर्थः। दृशौ नेत्रे, नातत न अतनिष्ट, नोन्मीलयितुं शक्त इत्यर्थ, हव्यगन्धयज्ञधूमाद्यसहिष्णुतया इति भावः। तनोतेर्लुङि तङ्, 'तनादिभ्यस्तथासो.' इति सिचो लुक्। पक्षे-'अनुदात्तोपदेश—' इत्यादिना अनुनासिकलोप॥ १६३॥

अन्वयः—तत्र तस्य नासा होमाज्यगन्धेन नाशम् इव अगमत्, असौ ऋतुधूमकर्शिते दृशौ न अतत।

हिन्दी—वहाँ (राजधानी में) उस (कलि) की नाक यज्ञ में आहुत आज्य (घृत तथा अन्य सुगन्धि-सामग्री) की गन्ध से जैसे नाश को प्राप्त हो गयी; वह (कलि) यज्ञ के धुएँ से पीडित नेत्र-न खोल सका।

टिप्पणी—चारों ओर राजधानी में यज्ञयागादि हो रहे थे। घृत-सामग्री आदि की सुगन्ध फैल रही थी, जो पापी कलि को दुर्गन्ध-सी लगी और उसे लगा कि उसकी घ्राणशक्ति नष्ट हो गयी है और यज्ञ-धूम से नेत्र मुँद गये। न वह कुछ सूँघ पा रहा था, न देख पा रहा था। श्रवण शक्ति वेद-पाठ-श्रवण से ही नष्टप्राय हो रही थी। पापी को पुण्यकृत्य असह्य होते ही हैं। उसे यज्ञ के सुगन्धि द्रव्य दुर्गन्धपूर्ण प्रतीत होते हैं, लहसुन-प्याज, मदिरा आदि की दुर्गन्ध सुगन्ध प्रतीत होती है। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा।

अतिथीनां पदाम्भोभिरिमं प्रत्यतिपिच्छिले।
अङ्गणे गृहिणामत्र खलेनानेन चस्खले ॥ १६४ ॥

जीवातु—अतिथीनामिति। अत्र पुरे, अतिथीनां गृहागतपान्थानाम्, पदाम्भोभिः चरणप्रक्षालनोदकैः, इमं कलिं प्रति, न तु धार्मिकान् प्रतीति भावः, अतिपिच्छिले सर्वदा जलार्द्रत्वात् विजिले अतिमसृणे इत्यर्थः, पिच्छादित्वात् इलच्प्रत्ययः। गृहिणां गृहस्थानाम्, अङ्गणे चत्वरे, खलेन दुर्जनेन, अनेन कलिना, चस्खले स्खलितम्, पतितमित्यर्थः, भावे लिट् ॥ १६४ ॥

अन्वयः—अत्र अतिथीनां पदाम्भोभिः इमं प्रति अतिपिच्छिले गृहिणाम् अङ्गणे अनेन खलेन चस्खले।

हिन्दी—यहाँ (वहाँ, राजधानी में) अतिथियों के (प्रक्षालित) चरण-जलों से इस (कलि) के निमित्त अत्यन्त फिसलन से युक्त गृहवासियों के आँगन में वह दुष्ट (कलि) रपट पड़ा।

टिप्पणी—राजधानी के गृहस्थ 'अतिथिदेव' थे। वहाँ उनके घरों में अतिथि पधारते ही थे। उनके चरण धोये जाते थे, जिसका जल घर के आँगनों में पड़ता था। कलि की गति में उससे भी बाधा पड़ी। वह रपटन में रपट गया और गिर पड़ा और घर में घुस न पाया ॥ १६४ ॥

पुटपाकमिव प्राप क्रतुशुष्ममहोष्मभि ।
तत्प्रत्यङ्गमिवाकर्त्ति पूर्तोर्मिव्यजनानिलैः ॥ १६५ ॥

जीवातु—पुटेति । क्रतुषु यज्ञेषु, शुष्मणाम् अग्नीनाम्, 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निर्वीतिहोत्रो धनञ्जय । वह्निः शुष्मा कृष्णवर्त्मा' इत्यमर । महोष्मभि प्रबलसन्तापैः पुटपाकं निरुद्धमुखपात्रे अन्तर्धूमपाकमित्यर्थः । प्राप लेभे इवेत्युत्प्रेक्षा, कलिरिति शेष , तथा पूर्त्तानां वापीतडागादीनाम्, ऊर्मयः तरङ्गा एव, व्यजनानि तालवृन्तानि, तेषाम् अनिलैः वायुभिः, तत्प्रत्यङ्गं तस्य कलेः अङ्गजातम । वीप्सायामव्ययीभाव । अकर्त्ति इव छिन्नमिवेत्युत्प्रेक्षा । कृती छेदने इति धातोः कर्मणि लुङ् ॥ १६५ ॥

अन्वय —क्रतुशुष्ममहोष्मभि पुटपाकम् इव प्राप, पूर्तोर्मिव्यजनानिलैः तत्प्रत्यङ्गम् इव अकर्त्ति ।

हिन्दी—यज्ञाग्नियो के महाताप से जैसे (वह) बन्द पात्र मे उबल सा गया और वापि-तडागादि के तरंग रूप व्यजनो (विजनो, पखो) के वायु से उस (कलि) का प्रत्यंग कट सा गया ।

टिप्पणी—यज्ञाग्नि की ऊष्मा कलि को इतनी असह्य लगी कि उसे लगा कि वह दोनो ओर से (आगे पीछे अथवा दायें-बायें) एक मुँहबन्द पात्र म उबला जा रहा है । धार्मिक कृत्य जहाँ सपादित हो रहे थे, उन वापी-तडागादि के तट पर यज्ञाग्नि सताप के उपशमार्थ जब वहाँ पहुँचा तो जल से उठती तरगों से उत्पन्न वायु कलि के अग अग को काट डालता-सा प्रतीत हुआ । जन से भागा तो ठडी हवा और कष्ट देने लगी । सब ओर सब न धर्माचरण से व्यथित कलि को कहीं चैन न मिल पाया । मल्लिनाथ—नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ १६५ ॥

पितृणां तर्पणे वर्णैः कीर्णाद् वेश्मनि वेश्मनि ।
कालादिव तिलात् कालाद् दूरमत्रसदत्र स ॥ १६६ ॥

जीवातु—पितृणामिति । स कलि , अत्र पुरे, वेश्मनि वेश्मनि गृहे गृहे वीप्सायां द्विर्भावः । वर्णैः ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टये , पितृणां पितृपितामहादीनाम् अग्निष्वात्तादीनां पितृलोकानाञ्च, तर्पणे तर्पणकर्मणि, पितॄनुद्दिश्य तत्तृप्त्यर्थं

सतिलोदकदानरूपपैत्र्यक्रियाविशेषे इत्यर्थः। कीर्णात् विक्षिप्तात्, कालात् तिलात् कृष्णतिलात्, कालात् मृत्योरिव 'कालो मृत्यौ महाकाले समये यम-कृष्णयोः' इति विश्वः। दूरमत्यर्थम्, अत्रसत् त्रस्तः ॥ १६६ ॥

अन्वयः—अत्र सः वेश्मनि वेश्मनि वर्णैः पितॄणां तर्पणे कीर्णात् कालात् तिलात् कालात् इव दूरम् अत्रसत्।

हिन्दी—यहाँ (राजधानी) में वह (कलि) घर-घर में चतुर्वर्ण के जनों द्वारा पितरों के तर्पण में अर्पित काले तिल को काल-सदृश समझ दूर ही डर कर स्थित रहा।

टिप्पणी—सभी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जन नियमतः अपने पितरों का तर्पण करते थे, जिसमें काले तिल का उपयोग होता था। वह काला तिल कलि को काल रूप लगा और डर कर दूर ही रहा ॥ १६६ ॥

स्नातॄणां तिलकैर्मेने स्वमन्तर्दीर्णमेव सः।
कृपाणीभूय हृदयं प्रविष्टैरिव तस्य तैः ॥ १६७ ॥

जीवातु—स्नातॄणामिति। कृपाणीभूय खड्गीभूय, तस्य कलेः, हृदयं वक्षः-स्थलं, प्रविष्टैः कृतप्रवेशैः इव स्थितैः, तैः प्रसिद्धैः, स्नातॄणां स्नायिनां,-कृत-स्नानानामित्यर्थः। तिलकैः ऊर्ध्वपुण्ड्रादिभिः, सः कलिः, स्वम् आत्मानम् अन्तः वक्षसि, दीर्णमेव पाटितमेव, मेने बुबुधे ॥ १६७ ॥

अन्वयः—कृपाणीभूय हृदयं प्रविष्टैः इव तैः स्नातॄणां तिलकैः सः स्वयम् अन्तर्दीर्णम् एव मेने।

हिन्दी—तलवार बन कर वक्ष में घुस गये—जैसे उन स्नानकर्ताओं के तिलकों द्वारा उस (कलि) ने अपने हृदय को विदीर्ण हो गया-जैसा माना।

टिप्पणी—पुण्याचरण और धर्माचारी जनों के सभी कृत्य कलि को कष्टदायक लग रहे थे। स्नान-पूजा करते व्यक्तियों के मस्तकों पर लगे तिलक उसे ऐसे कष्टप्रद और आतंकदायक लग रहे थे कि जैसे ये तिलक क्या है, कृपाण हैं, जो उसके वक्ष में घुस कर उसे चीरे दे रहे हैं ॥ १ ७ ॥

पुमांसं मुमुदे तत्र विन्दन् मिथ्यावदावदम्।
स्त्रियं प्रति तथा वीक्ष्य तमथ म्लानवानयम् ॥ १६८ ॥

जीवातु—पुमांसमिति । अथ कलिः, तत्र पुरे, मिथ्या अनृतम् तस्या', वदावद वक्तारम् 'चरिचलिरतिवदीनां वा द्वित्वमच्याक चाभ्यासस्येति वक्तव्यम्' इति साधु । वदो वदावदो वक्ता' इत्यमर । पुमांस नरम्, विन्दन् प्राप्नुवन्, मिथ्यावादिन लोक पश्यन् इत्यर्थ । मुमुदे तुतोष, तद्द्वारा प्रवेष्टुमैच्छदिति भावः । अथ हर्षानन्तरमेव, त पुरुष, स्त्रिय नारीं प्रति, तथा मिथ्या वदन्तम् वीक्ष्य दृष्ट्वा, तस्य सा मिथ्या नर्मोक्ति ज्ञात्वेत्यर्थ । म्लानवान् म्लान, विषण्ण इत्यर्थं । 'संयोगादेरातो धातो' इति निष्ठानत्वम् । अमूत इति दोष । स्त्रिया सह नर्मोक्तौ मिथ्याभाषण दोषाभावादिति भाव ॥१६८॥

अन्वय—तत्र अथ मिथ्यावदावद पुमास विन्दन् मुमुदे अथ त स्त्रिय प्रति तथा वीक्ष्य म्लानवान् ।

हिन्दी—वहाँ (नगरी में) वह (कलि) झूठ बोलते पुरुष को पाकर प्रसन्न हुआ, किन्तु बाद मे नारी के प्रति उसे वैसा (मिथ्या बोलता) देखकर म्लान हो गया ।

टिप्पणी—कलि ने सुना कि एक ऐसी पुरुष वाणी सुनायी पड रही है, जो स्पष्टत मिथ्या है । उसे लगा कि एक स्थान पर तो मिथ्या अर्थात् पाप मिला । यह बसने को ठीक ठौर है । अत्र सफलता मिली । किन्तु कुछ क्षणो पश्चात् बात स्पष्ट हो गयी । वह झूठ तो झूठा—नकली झूठ था, वह मिथ्या नहीं रतिकालोचित नमवचन था ऐसे झूठ तो रतिसमय के आवेशपूर्ण झूठ होते हैं उदाहरणार्थ—'तेरे लिए धरती पर चन्द्रमा उतार लाऊँगा, तारे तोड लाऊँगा'—आदि-आदि । 'ऐसे नर्मवचन पाप नहीं होते—'न नमयुक्त वचन हिनस्ति स्त्रीपुंसयो' ॥ १६८ ॥

यज्ञयूपघना जज्ञौ से पुरं पङ्कजसङ्कुलाम् ।
जनैर्धर्मघनैः कीर्णा व्यालकोडीकृतां च ताम् ॥ १६९ ॥

जीवातु—यज्ञेति । स कलिः, यज्ञयूपैः यज्ञीयपशुबन्धनस्तम्भैः, घना निरन्तराम् व्याप्तामित्यर्थं । पुरं नगरीम् पङ्कजसङ्कुलाम् 'अब्रविशेषाकीर्णामिव, तथा धर्मघनैः धार्मिकैः, जनैः लोकैः, कीर्णा व्याप्ताम्, ता पुरीम् व्यालैः सर्पैः श्वापदैः वा, 'व्यालो भुजङ्गमे क्रूरे श्वापदे दुष्टदन्तिनि' इति

विधः । क्रोडीकृताम् अङ्कीकृतामिव, जज्ञौ ज्ञातवान्, तद्वत् दुरासदाम् अमन्यतेत्यर्थः ॥ १६९ ॥

अन्वयः—सः यज्ञयूपघनां पुरं शङ्कुसङ्कुलां धर्मधनैः जनैः च कीर्णां तां व्यालक्रोडीकृतां जज्ञौ ।

हिन्दी—उस (कलि) ने यज्ञस्तम्भों से परिव्याप्त उस नगरी को तीक्ष्ण नोक के शस्त्रों से परिपूर्ण और धर्मधन (धर्म को ही सम्पदा मानने वाले) मनुष्यों से भरी उस (नगरी) को सर्पों, दुष्ट पशुओं अथवा दुष्ट गजों (पागल हाथियों) से व्याप्त समझा ।

टिप्पणी–राजधानी में अनेक स्थलों पर बलिपशुओं के बंधन के निमित्त यज्ञ-स्तम्भ थे । वे धार्मिक कृत्य के साधन कलि को तीक्ष्ण नोक के शस्त्रों, नुकीले भालों आदि जैसे और धर्मात्मा जन दुष्ट सर्पादि घातक जंतुओं के सदृश भयानक लगे । उसे लगा कि वह भयंकर स्थली में आ फँसा वह ? ॥१६९॥

स पार्श्वमशकद् गन्तुं न वराकः पराकिणाम् ।
मासोपवासिनां छाया-लङ्घने घनमस्खलत् ॥ १७० ॥

जीवातु—स इति । वराकः तुच्छः, सः कलिः, पराकिणां कृच्छ्रव्रतविशेषचारिणाम्, 'द्वादशाहोपवासस्तु पराकः परिकीर्तितः' इति स्मरणात् । पार्श्वं समीपम्, गन्तुं यातुम्, न अशकत् न समर्थोऽभूत् । शक्नोतेर्लृदित्वात् च्लेरङादेशः । तथा मासोपवासिनां मासं व्याप्य अनशनव्रतिनाम्तु, छायालङ्घने प्रतिबिम्बाक्रमणेऽपि, घनं भृशम्, अस्खलत् अभ्रशत्, दुरासदत्वात् तपस्विनाम् इति भावः ॥ १७० ॥

अन्वयः—सः वराकः पराकिणां पार्श्वं गन्तुं न अशकत् मासोपवासिनां छायालङ्घने घनम् अस्खलत् ।

हिन्दी—वह बेचारा (तुच्छ कलि) पराकव्रती (बारह रात उपवास करने वाले) व्यक्तियों के समीप भी न जा सका और महीना भर उपवास रखने वालों की तो परछाईं लाँघने में भी लड़खड़ाने लगा ।

टिप्पणी—और जब राजधानी में कलि को ऐसे-ऐसे कठोर धर्मव्रतधारी दीखे जो बारह-बारह रात बिना खाये व्रत करें, एक-एक मास तक उपासे

रह आयें, तो वह बेचारा बहुत डर गया। उसका तो साहस ही न हुआ कि उनके पास तक फटक सके, परछाईं तक उनकी लाँघ सके ॥ १७० ॥

आवाहितां द्विजैस्तत्र गायत्रीमर्कमण्डलात्।
स सन्निदधतीं पश्यन् दृष्टनष्टोऽभवद्भिया ॥ १७१ ॥

जीवातु—आवाहितामिति। सः कलिः, तत्र पुरे, द्विजैः विप्रैः, आवाहिताम् आहूताम्; अत एव अर्कमण्डलात् सूर्यबिम्बात्, सन्निदधतीं समीपमागच्छन्तीम्, गायत्रीं गायत्रीदेवीम्, पश्यन् अवलोकयन्, भिया भयेन, तत्प्रभावादिति भावः। दृष्टनष्टः पूर्वं दृष्टः ईक्षितः, अनन्तरं नष्टः अदृष्टः, सद्य एव अदर्शनं गतः इत्यर्थः। स्नातानुलिप्तवत् पूर्वकालसमासः। अभवत् अजायत।

अन्वयः—तत्र द्विजैः आवाहिताम् अर्कमण्डलात् सन्निदधतीं गायत्रीं पश्यन् सः भिया दृष्टनष्टः अभवत्।

हिन्दी—वहाँ (राजधानी में) द्विजों (ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्यों) द्वारा आवाहित, सूर्यबिम्ब से (निकल कर) आवाहन-कर्त्ता के निकट आती, प्रातःसन्ध्या की अधिदेवता गायत्री को देखता हुआ वह (कलि) भय से दीखता-दीखता अदृश्य हो गया।

टिप्पणी—कलि ने देखा ; ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य वर्ण के धर्माचरणी जन ('आगच्छ वरदे देवि त्र्यक्षरे ब्रह्मवादिनि। गायत्रिच्छन्दसां मातर्ब्रह्मयोने नमोऽस्तु ते॥' यह श्लोक अथवा 'तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धामनामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि।' मंत्र पढ़कर) प्रातःसन्ध्याधिदेवता गायत्री का आवाहन कर रहे हैं और देवी प्रसन्न हो सूर्यमंडल से निकल भक्त के समीप आ रही हैं। ऐसा दिव्य दृश्य देखकर पापी कलि देखते देखते ही डर कर भाग गया और दूर जा छिपा ॥ १७१ ॥

स गृहे गृहिणां पूर्णे घने वैखानसैर्वृते।
यत्याधारेऽमरागारे क्वापि न स्थानमानशे ॥ १७२ ॥

जीवातु—स इति। सः कलिः, गृहिणां पूर्णे गृहस्थैः व्याप्ते, सम्बन्धसामान्ये षष्ठी। गृहे भवने, तथा वैखानसैः वानप्रस्थैः, 'वैखानसो वनवासी वानप्रस्थश्च तापसः' इति यादवः। वृते वेष्टिते, घने निरन्तरे, 'घने' इत्यत्र

'वने' इति पाठः साधुः। तथा यतिनां संन्यासिनाम्, आगारे आश्रये, यत्य-गिवृते इत्यर्थः। अमरागारे देवालये, क्वापि कुत्रापि, स्थानं स्थितिम्, न आनशे न लेभे, 'अत आदेः' इत्यभ्यासदीर्घः, 'अश्नोतेश्च' इति नुडागमः॥

अन्वयः—तः गृहिणां पूर्णे गृहे, वैखानसैः वृते घने (वने), यत्यागारे अमरागारे—क्व अपि स्थानं न आनशे।

हिन्दी—उस (कलि) को गृहस्थों के भरे-पूरे घर में, वानप्रस्थों से व्याप्त घने वन में और संन्यासियों के आश्रय देवमंदिर में—कहीं स्थान न प्राप्त हुआ।

टिप्पणी—भाव यह है कि जिस प्रकार वर्ण-वर्ण के लोग अपने-अपने धर्मपालन में लीन थे, उसी प्रकार आश्रमधर्म का परिपालन भी यथाविधि—सभी कर रहे थे। गृहस्थी, वानप्रस्थी, सन्यासी सभी आश्रमों का निर्वाह धर्मपूर्वक हो रहा था। फलस्वरूप कलि को कहीं ठौर-ठाँव न मिला—न घरों में, न जंगलों में, न मंदिरों में॥ १७२॥

हिंसागवीं मखे वीक्ष्य रिरंसुर्धावति स्म सः।
सा तु सौम्यवृषासक्ता खरं दूरं निरास तम्॥ १७३॥

जीवातु—हिंसेति। स कलिः, मखे गोमेधाख्ययज्ञे, हिंसाया गौः तां हिंसागवीम् आलम्भार्थी गाम् इत्यर्थः। 'गोरतद्धितलुकि' इति समासान्तष्टच्। वीक्ष्य दृष्ट्वा, रिरंसुः चित्तविनोदनेच्छुः सन् इत्यर्थः। निजाधिपत्यसूचकं गोवधोद्यमं दृष्ट्वेति भावः। अन्यत्र—रन्तुम् इच्छुः, विहर्तुम् इच्छुरित्यर्थः। रमेः सनन्तादुप्रत्ययः। धावति स्म द्रुतम् अगात्, सा गौस्तु, सौम्यः सोमवतो यागः, सः एव वृषः धर्मः, तत्र आसक्ता सङ्गता, धर्माभिलाषिणी सतीत्यर्थः। सुन्दरवृषभाक्रान्ता चेति गम्यते। 'वृषो धर्मे बलीवर्दे' इति मेदिनी। बलीवर्दो वृषभः। अत एव खरं रलयोरभेदात् खलम्, क्रूरमित्यर्थः, खरं गर्दभञ्च, तं कलिम्, दूरं विप्रकृष्टदेशम्, निरास निचिक्षेप वृषाक्रान्ताया गोर्विजातीयत्वात् खरनिराकरणं युक्तमिति भावः॥ १७३॥

अन्वयः—मखे हिंसागवीं वीक्ष्य सः रिरंसुः धावतिस्म, सौम्यवृषासक्ता सा तु तं खरं दूरं निरास।

हिन्दी--गोमेघ यज्ञ में यथार्थ उपस्थित गो को देख वह कलि रति की इच्छा सदृश चित्तविनोद का इच्छुक होता दौड़ा, किंतु सौम्य अर्थात् रमणीय वृषभ में आसक्ता-सदृश सोमदेव के साधक धर्म की साधिका उस (गो) ने उस खर (खल) गदहे (कलि) का दूर से ही निराकरण कर दिया। अथ च—यज्ञकर्त्ताओं के मुख में वाणी-रूपा गो को सुन वह प्रसन्न हो दौड़ा कि पशुहत्या रूप पाप होने पर उसे अवसर मिलेगा, किन्तु उस गो वाणी 'अग्नीषोमीय पशुमालभेत्'–इत्यादि को देवयजन में आसक्त देख वह (कलि) 'खसर' (तम् + अक्षरम्) अर्थात् तेजोहीन हो दूर से निरस्त हो गया।

टिप्पणी--गोमेधयज्ञ में बलि के निमित्त बंधी गौ को देख खलखर (दुष्ट गदहे) कलि ने समझा कि-अब तो गोहत्यारूप पाप होगा, वह प्रसन्नता से उस ओर दौड़ा कि स्थान और अवसर मिला, पर जैसे दुष्ट गदहे को गौ तिरस्कृत कर देती है, ऐसे ही धर्म-वृषभ-निरस्ता उस गौ ने उसे दूर से ही निरस्त कर दिया। आशय यह कि गोहत्या की सम्भावना देख कलि को अपने लिए उपयुक्त अवसर लगा, पर जब उसको यह ज्ञात हुआ कि यह पाप अधर्म नहीं, किन्तु गोमेधयज्ञ एक धार्मिक कृत्य हो रहा है, तो वह दूर से ही निराश हो वापस चला गया। नारायणी टीका में इस श्लोक का क्रम आगामी श्लोक 'क्वापि नापश्यद्'' इत्यादि के पश्चात् है ॥ १७३ ॥

क्वापि नापश्यदन्विष्यन् हिंसामात्मप्रियामसौ।
स्वमित्र तत्र न प्रापदपि मूर्खमुखे कलिम् ॥ १७४ ॥

जीवातु—क्वापीति। असौ कलि, तत्र पुरे, क्वापि कस्मिन्नपि स्थाने, आत्मनः स्वस्य, प्रियाम् इष्टाम्, हिंसा जीवहत्यादिरूपाम्, अन्विष्यन् मृग्यमाणोऽपि, न अपश्यत् न अवालोकयत्, तथा मूर्खमुखे मूढवदनेऽपि, स्वस्य निजस्य मित्र सहायम्, अनुकूलमिति यावत्। कलिं कलहञ्च, न प्रापत् न अलम्भिष्ट, प्रजानां तथा नियमनादिति भाव ॥ १७४ ॥

अन्वयः--तत्र क्व अपि असौ आत्मप्रियां हिंसाम् अन्विष्यन् न अपश्यत्, मूर्खमुखे अपि स्वमित्रं कलिं न प्रापत्।

हिन्दी—वहाँ (नगरी में) कहीं इस (कलि) ने अपनी प्रिया हिंसा

को, अन्वेषण करते हुए भी न देखा और मूर्ख के मुख में भी अपना मित्र कलह को नहीं पाया।

टिप्पणी—निषध-राजधानी में न तो कहीं ढूढ़ने पर भी कलि को स्व-अभीष्ट हिंसा दीखी और न कलह ही प्राप्त हुआ। सब लोग न हत्या करते थे, न लड़ते-भिड़ते थे। मूर्खातिमूर्ख भी नहीं। सो कलि-बड़ा दुःखी और निराश हुआ। न स्त्री मिली—प्रिया हिंसा, न मित्र कलह ॥ १७४ ॥

मौनेन व्रतनिष्ठानां स्वाक्रोशं मन्यते स्म सः।
वन्द्यवन्दारुभिर्जज्ञौ स्वशिरश्च पदाहतम् ॥ १७५ ॥

जीवातु—मौनेनेति। सः कलिः, व्रतनिष्ठानां नियमावलम्बिनाम्, मौनेन वाक्संयमनेन, स्वस्य आत्मनः, आक्रोशं शापम्, मन्यते स्म बुध्यते स्म, मौनिनो भूत्वा मामेते अशपन् इति अमन्यत इत्यर्थः। तथा वन्द्यानाम् अभिवाद्यानाम्, वन्दारुभिः वन्दनशीलैः, गुरुजनान् नमस्कुर्वद्भिर्जनैरित्यर्थः। 'शृवन्द्योरारुः'। स्वशिरः निजमस्तकञ्च, पदेन चरणेन, आहतं ताडितमिव, जज्ञौ मेने। तत् सर्वं शास्त्रविधिपालनं तस्य तादृग्दुःखजनकं सञ्जातम्, इति भावः ॥ १७५ ॥

अन्वयः—सः व्रतनिष्ठानां मौनेन स्वाक्रोशं मन्यते स्म वन्द्यवन्दारुभिः च स्वशिरः पदाहृतं जज्ञौ।

हिन्दी-वह (कलि) मौन व्रत में स्थित व्रतियों के मौन से अपने को गाली-मिलती हुई मान रहा था और वंदनीय गुरुजनों के संमुख वंदनार्थ विनत होते जनों द्वारा अपने सिर पर पदाघात होता समझ रहा था।

टिप्पणी—प्रत्येक धर्माचरण कलि को असह्य और कष्टजनक लग रहा था। नगरी में उसे कहीं चुपचाप संध्या-जपादि करते मौनसाधे व्यक्ति दीखे, उसने समझा ये लोग मुझे मन ही मन गालियाँ दे रहे हैं। कहीं पूज्य गुरुजनों को विनम्रतापूर्वक प्रणामकरते व्यक्ति दीखे, कलि को लगा कि ये 'वन्दारु'—वंदनकर्मलीन व्यक्ति उसके सिर पर लात से ठोकर लगा रहे हैं ॥ १७५ ॥

मुनीनां स वृसीः पाणौ पश्यन्नाचामतामपः।
मेने घनैरमी हन्तुं शस्तुं मामाद्धरुद्यताः ॥ १७६ ॥

जीवातु—मुनीनामिति । स कलि, मुनीनां तापसानाम्, पाणौ करे, वृसी आसनानि, उपवेशनार्थं गृहीता इति भाव । व्रतिनामासन वृसी' इत्यमरः । तथा आचामताम् उपस्पृशताम्, एषा पाणौ इति शेष । अपश्च बलानि, पश्यन् अवलोकयन्, अमी मुनय, मा घनैः मुद्गरैः, 'द्रुवणे मुद्गर-घनौ' इति वैजयन्ती । हन्तु ताडयितुम्, तथा अद्भिः जलैः, शप्तुञ्च अभिशाप दातुञ्च, उद्यता प्रवृत्ता, इति मेने बुबुधे । तादृग्धः प्राप इत्यर्थः ॥

अन्वयः—मुनीना पाणौ वृसी, आचमताम् अप पश्यन् स मेने—अमी मा घनैः हन्तु अद्भिः शप्तुम् उद्यता ।

हिन्दी—मुनियों के हाथ में आसन और आचमन करते हुए ऋषियों के (हाथ में) जल देखता वह (कलि) समझने लगा कि ये (ऋषि मुनि) मुझे हथौड़ों से मारने और जल से शाप देने को उद्यत हैं।

टिप्पणी—जैसा कि निरन्तर हो रहा था, प्रत्येक धर्मक्रिया कलि को भयावह और आतंकजनक लग रही थी। मुनियों के हाथ के कुशमृगचर्म-आसन को उसने प्रहारार्थ लोहे का घन—हथौड़ा समझा और आचमन-जल को शाप देने का जल। वह भागा डर कर कि कहीं वह मारा न जाय या अभिशप्त न हो जाय ॥ १७६ ॥

मौञ्जीभृतो धृताषाढानाशशङ्के स वर्णिन ।
रज्ज्वाऽस्मो बद्धुमायान्ति हन्तु दण्डेन मा तत ॥ १७७ ॥

जीवातु—मौञ्जीति । स कलि, मौञ्जीभृत मुञ्जतृणनिर्मितमेखला-धारिण, धृताषाढान् गृहीतपालाशदण्डान् । 'विशाखाषाढादण् मन्थदण्डयो' इत्यणप्रत्यय । 'पालाशो दण्ड आषाढ' इत्यमर । वर्णिन ब्रह्मचारिण, 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि इति इनिप्रत्यय । दृष्ट्वेति शेष । अमी वर्णिन, मा रज्ज्वा पाशेन, मुञ्जमयेनेति भाव । बद्धु संयन्तुम्, तत बन्धनानन्तरम्, दण्डेन पालाशदण्डेन, हन्तु ताडयितुञ्च, आयान्ति आगच्छन्ति, इति आश-शङ्के सन्दिदेह तथा विभ्यये इत्यर्थ ॥ १७७ ॥

अन्वय—मौञ्जीभृत धृताषाढान् वर्णिन स आशशङ्के—अमी मां रज्ज्वा बद्धु तत दण्डेन हन्तुम् आयान्ति ।

हिन्दी—मूंज की बनी मेखला के धारी और पलाशदण्ड लिये ब्रह्मचारियों को देखकर उस (कलि) ने आशंका की कि ये (ब्रह्मचारी) मुझे (कलि को) रस्सी से बांधने और तत्पश्चात् दण्ड से मारने आ रहे हैं।

टिप्पणी—ब्रह्मचारियों की मौंजी मेखला को बंधनरज्जु और पलाशदण्ड को आघातदण्ड समझ कलि वहाँ से भी डर कर भागा कि कहीं ये लोग रस्सी से बांधकर डंडे से उसकी पिटाई न करें। ब्रह्मचारी उसे जल्लाद-से लगे ॥ १७७ ॥

> दृष्ट्वा पुरः पुरोडाशमासीदुत्त्रासदुर्मनाः ।
> मन्वानः फणिनीस्त्रस्तः स मुमोचाश्रु च स्रुचः ॥ १७८ ॥

जीवातु—दृष्ट्वेति । सः कलिः, पुरः अग्रे, पुरोडाशं यज्ञीयपिण्डकपिण्डविशेषम्, 'पुरोडाशो हविर्भेदे चमरधा पिष्टकस्य च । रसे सोमलतायाश्च हुतशेषे च कीर्तितः ॥' इति विश्वः । दृष्ट्वा अवलोक्य, उत्त्रासेन भयेन, दुर्मना. विह्वलः आसीत् अभूत्, स्वघातार्थं पाषाणभ्रमादिति भावः । तथा स्रुचः होमादिपात्राणि, फणिनीः भुजङ्गीः, मन्वानः शङ्कमानः, त्रस्तः भीतः सन्, अश्रु वाष्पम्, मुमोच च तत्याज च । अत्र स्रुक्षु फणिनीभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ १७८ ॥

अन्वयः—पुरः पुरोडाशं दृष्ट्वा सः त्रासदुर्मनाः आसीत् स्रुचः च फणिनीः मन्वानः त्रस्तः अश्रु मुमोच ।

हिन्दी—संमुख पुरोडाश (यज्ञ-हविष्य, जो पीठी से पिंडरूप में बनता है) को देख वह (कलि) डर से व्यथित हो गया और (फणाकार) स्रुवाओं को नागिनें मानता हुआ डर कर आंसू गिराने लगा।

टिप्पणी—पुरोडाश के पिष्टपिंडक को उसने गोला समझा और सर्पफणा के सदृश दीखतीं स्रुवाओं को डसने को तैयार नागिनें समझा। इतना डर गया कि रोने लग गया। पुरोडाश उस हविष्य को कहते हैं, जो जौ आदि के आटे की पीठी से बनायी जाती है। इस गोल टिकिया को कपाल में पकाया जाता है। कपाल का तात्पर्य मृत्पात्र भी माना जाता है और मांसरहित अस्थिशेष कपाल भी। नारायण के अनुसार पुरोडाश अश्वशफमात्र अष्टादश

कपालादि सस्कृत पशुशरीरावयव होता है। मल्लिनाथ के अनुसार स्त्राओ में फणिनी भ्रांति के कारण भ्रान्तिमत् अलकार है ॥ १७८ ॥

आनन्दन्मदिरादान विन्दन्नेव द्विजन्मनः ।
दृष्ट्वा सौत्रामणीमिष्टि त कुर्वन्तमदूयत ॥ १७९ ॥

जीवातु—आनन्ददिति । एष कलि, द्विजन्मन ब्राह्मणस्य, मदिराया-सुराया, आदान ग्रहणम्, विन्दन् जानन्, पश्यन् इत्यर्थ । आनन्दत् अमोदत, शास्त्रमर्यादालङ्घन दृष्ट्वेति भाव । अथ त मदिरामाददान ब्राह्मणम्, सौत्रामणी सौत्रामण्याख्याम्, इष्टि यागम्, कुर्वन्त सम्पादयन्तम् दृष्ट्वा अवलोक्य, ज्ञात्वा इत्यर्थ । अदूयत पर्यतप्यत, 'सौत्रामण्या सुरा पिबेत्' इति श्रुते । तस्मिन् यज्ञ सुराग्रहणस्य शास्त्रविहितत्वेन पापाभावात् निराशोऽभूत् इति भावः ॥१७९॥

अन्वय —द्विजन्मन मदिरादान विन्दन् एव आनन्दत्, त सौत्रामणिम् इष्टि कुर्वन्त दृष्ट्वा अदूयत ।

हिन्दी—ब्राह्मण का मदिरा ग्रहण देखकर वह (कलि) प्रसन्न हुआ, किंतु उसे (ब्राह्मण को) सौत्रामणि (इन्द्र सबधी) नामक यज्ञ करते हुआ देख पीडित हुआ ।

टिप्पणी—एक ब्राह्मण इन्द्र देवता का यज्ञ 'सौत्रामणि' कर रहा था। इस यज्ञ मे सुरा का उपयोग किया जाता है— सौत्रामण्या सोमग्रहान् सुराग्रहाश्च, गृह्णन्ति ।' श्रुति के अनुसार भी इस यज्ञ मे मदिरा दान वैध है— सौत्रामण्या सुरा पिबेत् ।' इस दृष्टि स वह यागकर्ता भी सुरादान कर रहा था। कलि को यह देख लगा कि पाप हो रहा है—ब्राह्मण मदिरापान कर रहा है। हिन्दी के आचार्य कवि केशव ने लिखा है—'जहाँ वारुणी की करी रचक रुचि द्विजराज। तहीं कियो भगवन्त बिन सपति शोभा साज।' (रामचन्द्रिका ५।१४)। पर जब कलि को वास्तविकता ज्ञात हुई कि यह तो सौत्रामणि' यज्ञ का विधान कर रहा है तो उसकी प्रसन्नता जाती रही और वह दु खी हुआ ॥ १७९ ॥

अपश्यद् यावतो ब्रह्म विदा ब्रह्माञ्जलीनसौ ।
उदडीयन्त तावन्तस्तस्तास्ताञ्जलयो हृद ॥ १८० ॥

जीवातु—अपश्यदिति । असौ कलिः, ब्रह्मविदां वेदाध्यायिनाम्, यावतः यावत्संख्यकान्, ब्रह्माञ्जलीन् वेदाध्ययनकालीनपाणिद्वयसम्पुटान् । 'संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः' इति स्मरणात् । 'अञ्जलिः पाठे ब्रह्माञ्जलिः' इत्यमरः । अपश्यत् ऐक्षत, तस्य कलेः, हृदः हृदयात्, तावन्तः तावत्संख्यकाः, अस्राञ्जलयः रक्ताञ्जलयः, उदडीयन्त उड्डीनाः, निर्गता इत्यर्थः ॥ १८० ॥

अन्वयः—असौ ब्रह्मविदां यावतः ब्रह्माञ्जलीन् अपश्यत् तस्य हृदः तावन्तः अस्राञ्जलयः उदडीयन्त ।

हिन्दी—इस (कलि) ने वेदाध्ययन-कर्त्ताओं की जितनी ब्रह्मांजलियाँ (दोनों हाथों के संपुट) देखीं, उस (कलि) के हृदय से उतनी ही रक्त की अंजलियाँ निकल गयी।

टिप्पणी—वेदाध्येता ब्रह्मयज्ञ-काल में दोनों हाथों की अंजलियाँ (अँजुरियाँ) बनाये रहते हैं, हस्तस्वर-कल्पना के निमित्त भी हस्तपुट संयोजित किये रहते हैं । ऐसे वेदाध्येताओं को देख कलि को बड़ी पीड़ा हुई । लगता था कि ब्रह्मांजलियों की जितनी संख्या उसे दीखी, उतनी ही अंजलि रक्त उसके विदीर्ण हृदय से निकल गया । ब्रह्मांजलि के विषय में मनु का कथन है—'ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा । संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्मांजलिः स्मृतः' ॥ १८० ॥

स्नातकं घातुकं जज्ञे जज्ञौ दान्तं कृतान्तवत् ।
वाचंयमस्य दृष्टयैव यमस्येव बिभाय सः ॥ १८१ ॥

जीवातु—स्नातकमिति । सः कलिः, स्नातकं समाप्तवेदं जनम्, 'स्नाताद्वेदसमाप्तौ' इति कन्प्रत्ययः । घातुकं स्वस्य हन्तारम्, 'लषपत—' इत्यादिना उकञ्प्रत्ययः । जज्ञे मेने, दान्तं तपःक्लेशसहं, तपस्विनमित्यर्थः । 'तपःक्लेशसहो दान्तः' इत्यमरः । कृतान्तवत् यमतुल्यम्, जज्ञौ बुबुधे, तथा वाचं यच्छतीति वाचंयमः मौनव्रती तस्य 'वाचि यमो व्रते' इति खच्प्रत्ययः । 'वाचंयमपुरन्दरौ च' इति निपातनात् साधुः । दृष्टयैव दर्शनेनैव, यमस्येव शमनस्येव, बिभाय भीतवान्, भियो लिट् । सर्वत्रैषां तपःप्रभावस्य दुर्द्धर्षत्वात् भीतिरिति द्रष्टव्यम् ॥

अन्वय —स स्नातक घातुक जज्ञे, दान्त कृतान्तवद् जज्ञौ, वाचयमस्य दृष्टया एव यमस्य इव (दृष्टया) बिभाय ।

हिन्दी—उस (कलि) ने विद्या पढकर स्नातक और व्रतार्थ स्नान किये व्यक्ति को अपना वध करने वाला समझा और तप-क्लेशसहिष्णु तपस्वी को यम-समान । वाक्‌संयमी (मौनी) की दृष्टि से ही वह ऐसा डरा, जैसे कि वह यमराज की दृष्टि हो ।

टिप्पणी—पापी कलि को पुण्यशाली जनो से ऐसा भय लगता था कि 'स्नातक' उसे जल्लाद, मौनव्रती यमराज और तपस्वी की दृष्टि यमदृष्टि प्रतीत हुई । वह डरा कि अब मौत आयी । यम है, यम की दृष्टि भी पड रही है, वधिक सम्मुख है । मृत्यु सम्मुख ही है । भागो ॥१८१॥

स पाषण्डजनान्वेषी प्राप्नुवन् वेदपण्डितम् ।
जलार्थीवानल प्राप्य पापस्तापादपासरत् ॥ १८२ ॥

जीवातु—स इति । पाप क्रूर, स कलि, पाषण्डजनान्वेषी शास्त्रदूषक-जनानुसन्धायी सन्, वेदपण्डितं वैदिक, प्राप्नुवन् लभमान, पश्यन्नित्यर्थं । जलार्थी पानीयाभिलाषी, जन इति शेष । अनलम् अग्निम्, प्राप्येव लब्ध्वेव, तापात् तत्तेजोजन्यसन्तापाद्धेतो, अपासरत् अपसृत । ब्रह्मतेजस पाषण्डदाहकत्वादिति भाव ॥ १८२ ॥

अन्वय —पाषण्डजनान्वेषी पाप सः वेदपण्डित प्राप्नुवन् जलार्थी अनलम् इव प्राप्य तापात् अपासरत् ।

हिन्दी—पाखडी (वेदविरोधी) व्यक्तियो का अन्वेषण करता पापी वह (कलि) वेद-निष्णात पण्डित को प्राप्त कर ताप (उष्णता, कष्ट) से ऐसे दूर भागा, जैसे कोई जल का अन्वेषी अग्नि को पाकर ।

टिप्पणी—जैसे प्यासा पानी खोजता है किन्तु मिले उसे आग तो जैसा ताप दुःख उसे होगा, वैसा ही स्वपक्षीय वेदनिंदक का अन्वेषण करते कलि को वेदों के पण्डित को पाकर हुआ । आवश्यकता थी पाखडी की, मिला श्रोत्रिय पडित ॥ १८२ ॥

तत्र ब्रह्मण पश्यन्नतिसन्तोषमानदे ।
निर्वर्ण्य सर्वमेधस्य यज्वान ज्वलति स्म स ॥ १८३ ॥

जीवातु— तत्रेति । सः कलिः, तत्र पुरे, ब्रह्महणं ब्राह्मणं घातयन्तम्, जनमिति शेषः । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु—' इति क्विप् । पश्यन् विलोकयन्, अतिशतितराम्, सन्तोषं हर्षम्, आनशे प्राप इत्यर्थः । अथ तं ब्रह्महणं, सर्वमेधस्य सर्वमेधाख्ययागस्य, यज्वानं विधिनेष्टवन्तम्, यथाविधि होतारमित्यर्थः । निर्वर्ण्य निश्चित्य, ज्वलति स्म सन्तप्तोऽभूत 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' इति श्रुत्या सर्वमेधे ब्राह्मणादिसर्वालम्भविधानात् तस्य धर्मत्वादिति भावः ॥ १८३ ॥

अन्वयः—तत्र ब्रह्महणं पश्यन् सः अतिसन्तोषम् आनशे सर्वमेधस्य यज्वानं निर्वर्ण्य ज्वलति स्म ।

हिन्दी—वहाँ (नगरी में) ब्रह्महत्या करते व्यक्ति को देखकर वह (कलि) अत्यन्त संतुष्ट हुआ, किन्तु जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वह सर्वमेध यज्ञ-विधान कर रहा है, तो (कलि) अत्यन्त संतप्त हो गया ।

टिप्पणी—सर्वमेध यज्ञ में प्रत्येक जाति के एक-एक व्यक्ति की बलि दी जाती है, ब्राह्मण ब्राह्मण की बलि चढ़ाता है, क्षत्रिय क्षत्रिय की, आदि-आदि । ऐसा ही सर्वमेध यज्ञ कलि ने देखा और वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ कि पाप का महोत्सव ब्रह्महत्या हो रही है, अब अच्छा अवसर मिला किन्तु वस्तुस्थिति ज्ञात होने पर वह जैसे पीड़ाग्नि में जलने लगा, अर्थात् जैसी प्रसन्नता मिली थी, वैसी ही तीव्र पीड़ा मिली ॥ १८३ ॥

यतिहस्तस्थितैस्तस्य राम्भैरारम्भि तर्जना ।
दुर्जनस्याजनि क्लिष्टिर्गृहिणां वेदयष्टिभिः ॥ १८४ ॥

जीवातु—यतीति । दुर्जनस्य खलस्य, तस्य कलेः, यतीनां मस्करिणाम्, परिव्राजकानामित्यर्थः । हस्तेषु करेषु, स्थितैः वर्तमानैः, राम्भैः वेणुदण्डैः, 'त्रिदण्डेन कमण्डलुः' इति स्मृतेरिति भाव । 'राम्भस्तु वैणवः' इत्यमरः । तर्जना त्रासनम्, आरम्भि कृतेत्यर्थः । तथा गृहिणां गृहस्थाश्रमिणाम्, वेदयष्टिभिः सन्दर्भवेणुदण्डैश्च, 'वैणवान् स कमण्डलुः' इति स्मृतेः, इति भावः । क्लिष्टिः क्लेशः, अजनि जनिता जनेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् । 'यतिः पाराशरी भीमस्तत्कर्म मस्करी यतिः । वद्धदर्भा वेदयष्टिर्दम्भो राम्भस्तु वैणवः ॥' इति सर्वत्र यादवः ॥ १८४ ॥

अन्वय—दुर्जनस्य तस्य यतिहस्तस्थितैः रम्भैः तर्जना आरम्भि, गृहिणां वेदयष्टिभिः विलष्टि अर्जनि।

हिन्दी—उस दुष्ट (कलि) की सन्यासियों के हाथों में पकड़े बाँस के दण्डों से (जैसे) भत्सना हो रही थी और गृहस्थियों के वेदरूप दडों (अथवा वेदों के क्रमपाठ, जटापाठ आदि दडों) से क्लेश उत्पन्न हो रहा था।

टिप्पणी-जैसे कोई दुष्ट व्यक्ति डडे और छड़ी की मार से पिटकर कष्ट पाता है, ऐसा ही कष्ट कलि को सन्यासियों के वेणुदड और गृहस्थियों के वेदपाठरूप यष्टि को देखकर हुआ ॥ १८४ ॥

मण्डलत्यागमेवेच्छद् वीक्ष्य स्थण्डिलशायिनः।
पवित्रालोकनादेष　　पवित्रासमविन्दत ॥ १८५ ॥

जीवातु—मण्डलेति। एष कलिः स्थण्डिलशायिनः अनास्तृतभूमिशयन-व्रतिनः। व्रत' इति इनिः। 'य स्थण्डिल व्रतवशाच्छेते स्थण्डिलशाय्यसौ' इत्यमरः। वीक्ष्य दृष्ट्वा, मण्डलत्याग देशत्यागम् एव ऐच्छद् अवाञ्छद् तथा पवित्राणां कुशानाम् 'अस्त्री कुशं कुशो दर्भः पवित्रम्' इत्यमरः। आलोकनाद् दर्शनात्, पवे कुलिशात् त्रास भयम्, अविन्दत अलभत। 'यथा शक्रकरे वज्र तथा विप्रकरे कुशा' इति स्मृतेरिति भावः ॥ १८५ ॥

अन्वय—एष स्थण्डिलशायिनः वीक्ष्य मण्डलत्यागम् एव ऐच्छद्, पवित्रालोकनात् पवित्रासम् अविन्दत।

हिन्दी—इस (कलि) ने नगीभूमि पर सोते व्रतियों को देखकर प्रदेश त्याग की ही इच्छा की और गर्भहीन और अग्रभाग सहित कुशद्वय—पवित्र' को देखने से वज्र भय पाया।

टिप्पणी—स्थडिलशायी अर्थात् नगी धरती पर सोने वाला एक प्रकार का तप साधन होता है। ऐसे तप साधकों को देखकर तो कलि को इतना भय लगा कि उसकी प्रबल इच्छा होने लगी कि निषधदेश को छोड़कर शीघ्र भाग जाय। अगम साग्रदर्भो को ब्राह्मण के हाथ में देख उसे ऐसा लगा कि इन्द्र के हाथों में वज्र देख रहा है—'जैसे इन्द्र के हाथ में वज्र, वैसे ब्राह्मण के हाथ में कुश।' कात्यायन के अनुसार—'अगर्भौ साग्रौ दर्भौ पवित्रम्।'

अपश्यज्जिनमन्विष्यन्नजिनं ब्रह्मचारिणाम् ।
क्षपणार्थी सदीक्षस्य स चाक्षपणमैक्षत ॥ १८६ ॥

जीवातु—अपश्यदिति । सः कलिः, जिनं जिनाख्यं बौद्धदैवतम्, स्वमित्रमिति भावः । अन्विष्यन् मृगयन्, ब्रह्मचारिणां ब्रह्मचर्यपरायणानाम्, अजिनम् आसनार्थं मृगचर्म, जिनराहित्यञ्च, अपश्यत् ऐक्षत, किञ्च क्षपणार्थी स्वमित्रबौद्धसंन्यासिनोऽन्वेषी, सदीक्षस्य दीक्षितस्य राज्ञः, अक्षपणं पाशकदेवनम्, क्षपणराहित्यञ्च, ऐक्षत अपश्यत्, 'राजसूये अभिषेचनीये अष्टावक्षैर्दीव्यन्तीति श्रवणात्; तद्दुभयमप्यस्य दुःसहमिति' भावः ॥ १८६ ॥

अन्वयः—जिनम् अन्विष्यन् सः ब्रह्मचारिणाम् अजिनम् अपश्यत् क्षपणार्थी च सदीक्षस्य अक्षपणम् ऐक्षत ।

हिन्दी—जिन (जैनधर्म के देव) को खोजते उस (कलि) ने ब्रह्मचारियों के अजिन अर्थात् (जिन के विलोम) मृगचर्म को देखा और क्षपणक (बौद्ध दिगंबर भिक्षु) का अर्थी होने पर यज्ञ में दीक्षित राजा के 'अक्षपण' (दीक्षा से न हटना अथवा जुए के फड़ पर रखा धन अर्थात् 'क्षपण' का 'विलोम) को देखा ।

टिप्पणी—कलि चाहता था कि उसे वेद-विरोधी व्यक्ति मिलें, जो उसके अनुकूल पड़ते; वेदधर्म-विरोधी जैन, बौद्ध, दिगंबर भिक्षु 'क्षपण'। पर हुआ उसकी इच्छा के पूर्णतः विपरीत । चाहा 'जिन' को मिला 'अजिन'—ब्रह्मचारियों का मृगचर्म । चाहा 'क्षपण' को, मिला अक्षपण—दीक्षा से थोड़ा भी च्युत न होने वाला राजा या जुए पर दाँव में लगाया धन । सब विपरीत, अतएव व्यथाकारक ही मिला । चाहे फूल, मिले शूल ॥ १८६ ॥

जपतामक्षमालासु बीजाकर्षणदर्शनात् ।
स जीवाकृष्टिकष्टानि विपरीतदृगन्वभूत् ॥ १८७ ॥

जीवातु—जपतामिति । विपरीतदृक् वेदविरुद्धदर्शी, सः कलिः, जपताम् इष्टमन्त्रस्य असकृदुच्चारणं कुर्वताम्, जनानामिति शेषः । अक्षमालासु जपमालिकासु, स्थितानां बीजानां पद्मादिबीजानाम्, जपसङ्ख्यानार्थानामिति भावः । आकर्षणस्य आकृष्टेः, पुनः पुनर्भ्रामणस्येति यावत् । दर्शनात् अवलोकनात् जीवाकृष्टिकष्टानि निजप्राणाकर्षणदुःखानि, अन्वभूत् अनुभूतवान् ।

अन्वय—विपरीतदृक् स जपताम् अक्षमालासु बीजाकर्षणदर्शनात् जीवाकृष्टिकष्टानि अन्वभूत् ।

हिन्दी—विपरीतदर्शी उस (कलि) को जपकर्त्ताओं की अक्षमालाओं में अक्षबीजों (मालाओं के मनको) (जपमन्त्रगणनार्थं) का फेरना देखने से जीव को शरीर से बाहर, खींचे जाने में जो कष्ट होता है, उसका अनुभव हुआ ।

टिप्पणी—मालाओं में प्राय १०८ रुद्राक्ष, पद्माक्ष आदि मनके लगाकर उनकी रचना होती है। जिससे उन मनकों को फेरकर जप मन्त्र की गणना हो सके। ऐसे माला जप करते व्यक्तियों को मनका फेरने की क्रिया को देख कलि को उस कष्ट की अनुभूति हुई जो शरीर से जीव खिंचने से होता है। यह मनकों की आकृष्टि नहीं हो रही, कलि का जीव शरीर से बाहर 'आकृष्ट' किया जा रहा है। जप क्रिया को देख कलि को प्राणान्तक वेदना हुई ॥१८७॥

त्रिसन्ध्यं तत्र विप्राणां स पश्यन्नघमर्षणम् ।
परमैच्छद् दृशोरेव निजयोरपकर्षणम् ॥ १८८ ॥

जीवातु—त्रिसन्ध्यमिति । स कलि, तत्र पुरे, त्रिसन्ध्यं सन्ध्यात्रये, 'समाहारेऽन्यत्वे वा तस्य' इति नपुंसकत्वम्, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । विप्राणां ब्राह्मणानाम् अघमर्षणं तत्तन्मन्त्रसाध्यं, पापहरं चुलुकोदकेन नासास्पर्शाभिमन्त्रितं क्रियाविशेषणम्, पश्यन् अवलोकयन्, परं केवलम्, निजयोः दृशोरेव [illegible] अपकर्षणं [illegible] ऐच्छत् अवाञ्छत् । अघमर्षणक्रिया दृष्ट्वा [illegible] ८८ ॥

अन्वय—तत्र त्रिसन्ध्यं विप्राणाम् अघमर्षणं पश्यन् सः परं निजयोः दृशोः एव अपकर्षणम् ऐच्छत् ।

हिन्दी—वहाँ (राजपुरी में) प्रात , मध्याह्न, सायं सन्ध्याविधियों में—तीन बार ब्राह्मणों के अघमर्षण (चुल्लू में जल लेकर नाक के स्पर्श से अभिमन्त्रण क्रिया) को देखकर उस (कलि) ने चाहा कि अच्छा होता कि इस (अघमर्षण) की अपेक्षा (कलि) की दोनों आँखें निकाल ली जातीं ।

टिप्पणी—कलि को ब्राह्मणों की मंत्रसाधिका अघमर्षण क्रिया इतनी कष्टकारक लगी कि 'अघमर्षण' की अपेक्षा उसे 'स्वनेत्रापकर्षण' ही सच्चा लगा ॥१८८॥

अद्राक्षीत् तत्र कञ्चिन्न कलिः परिचितं क्वचित् ।
भैमीनलव्यलीकाणुप्रश्नकामः परिभ्रमन् ॥ १८९ ॥

जीवातु—अद्राक्षीदिति । कलिः युगाधमः, भैमीनलयोः दमयन्तीनैषधयोः, व्यलीकाणोः अकार्यलेशस्य, किञ्चिन्मात्रदोषस्यापीत्यर्थः । 'व्यलीकमप्रियाकार्यवैलक्ष्येष्वपि पीडने' इति विश्वः । प्रश्नं पृच्छाम्, कामयते वाञ्छति इति तत्कामः सन्, 'शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः' । तत्र पुरे, परिभ्रमन् विचरन्, क्वचित् कुत्रापि, कञ्चिदपि कमपि, परिचितं संस्तुतम्, जनमिति शेषः । न अद्राक्षीत् न ऐक्षिष्ट ॥ १८९ ॥

अन्वयः—तत्र भैमीनलव्यलीकाणुप्रश्नकामः परिभ्रमन् कलिः क्वचित् कञ्चित् परिचितं न अद्राक्षीत् ।

हिन्दी—वहाँ (निषधदेश में) दमयन्ती-नल के दोषाणु को पूछ कर जानने की कामना करते, इधर-उधर चक्कर काटते कलि को कहीं, कोई परिचित (जानकार) न दीखा ।

टिप्पणी—नगरी में कलि ने इतस्ततः चक्कर काटकर बहुत प्रयत्न किया कहीं कोई ऐसा परिचित व्यक्ति ही मिल जाय, जो नल-दमयन्ती का अणुमात्र भी, थोड़ा-सा भी पाप-दुष्कर्म, बता दे, जिसे कलि को स्वकार्य-सिद्धि का अवसर मिल सके, किन्तु ऐसा न हो सका । राजा, रानी, प्रजाजन—सभी धर्माचारी और निष्कलुष थे निषधदेश में ॥१८९॥

तपःस्वाध्याययज्ञानामकाण्डद्विष्टतापसः ।
स्वविद्विषां श्रियं तस्मिन् पश्यन्नुपततापं सः ॥ १९० ॥

जीवातु—तप: इति । अकाण्डे अनवसरे, अकारणमित्यर्थः । द्विष्टा विरुद्धा, तापसाः, तपस्विनः येन तादृशः, सः कलिः, तस्मिन् पुरे, स्वविद्विषां निजविरोधिनाम्, तपः चान्द्रायणादिचर्या, स्वाध्यायः वेदपाठः, यज्ञाः सोमादयः तेषाम्, श्रियं समृद्धिम्, पश्यन् अवलोकयन् उपततापं सन्तप्तो बभूव, शत्रुवृद्धेरसहनीयत्वादिति भावः ॥ १९० ॥

अन्वय --प्रकाण्डद्विष्टतापसः स तस्मिन् तपःस्वाध्याययज्ञानां स्वविद्विषा श्रियं पश्यन् उपततापः ।

हिन्दी--अनवसर और अकारण तपस्वियों का द्वेषी वह (कलि) उस (देश) में तप, स्वाध्याय और यज्ञादि स्व शत्रुओं की श्री शोभा-सम्पन्नता को देखता हुआ अत्यन्त संतप्त हुआ ।

टिप्पणी—निषधदेश के सभी निवासी पञ्चाग्निप्रभृति साध्य तप, वेदादि के स्वाध्याय और देवोद्देश्य से द्रव्यत्याग कर यज्ञादि क्रियाओं में नियमतः प्रवृत्त थे । निष्कारण ही दुष्ट, पापी कलि इन सब का विद्वेषी था और इन तप पूतों से अनवसर ही वैर साधता था । निषधदेश में तपस्वाध्यायादि की प्रचुरता देखकर कलि बड़ा निराश और व्यथित हुआ । शत्रु की उन्नति और ऐश्वर्य को कैसे सहपाता वह द्वेषी, ईर्ष्यालु ? ॥ १९० ॥

कम्रं तत्रोपनम्राया विश्वस्या वीक्ष्य तुष्टवान् ।
स मम्लौ तं विभाव्याथ वामदेवाभ्युपासकम् ॥ १९१ ॥

जीवातु—कम्रमिति । कलिः, तत्र पुरे, उपनम्रायाः उपासकस्य समीपं स्वयमागतायाः, विश्वस्याः सर्वस्याः, सजातीयायाः विजातीयायाः गम्यायाः अगम्यायाश्चेत्यर्थः, स्त्रियाः इति शेषः । कम्रं कमितारम्, रन्तारमित्यर्थः । कञ्चनपुरुषमिति शेषः । 'नमिकम्पि–' इत्यादिना रप्रत्ययः । वीक्ष्य दृष्ट्वा, तुष्टवान् तुतोष तस्य महापातकित्वेन स्वाश्रयलाभाशयेति भावः । अथ अनन्तरम्, विशेषनिरीक्षणानन्तरमित्यर्थः । तं कम्रं पुरुषम्, वामदेवः तन्नाम देवताविशेषः, तस्य अभ्युपासकं पूजकम्, विभाव्य विमृश्य, मम्लौ विषसाद । तदुपासकानां 'न काञ्चन स्वयमागतां परिहरेत्' इति श्रुतेस्तदुपभोगस्य धर्म्यत्वादिति भावः ॥ १९१ ॥

अन्वयः—तत्र स उपनम्रायाः विश्वस्याः कम्रं वीक्ष्य तुष्टवान्, अथ तं वामदेवाभ्युपासकं विभाव्य मम्लौ ।

हिन्दी—वहाँ (राजधानी में) वह उपासक के समीप आकर स्थित ,प्रत्येक स्त्री के कामी को देखकर सन्तुष्ट हुआ, किन्तु तत्पश्चात् उसे (उपासक

को) वामदेव (देवविशेष) का अथवा वामदेव मुनि द्वारा दृष्ट साम का उपासक पाकर मलिन हो गया।

टिप्पणी—वामदेव गौतम गोत्रीय वैदिक ऋषि थे, ऋग्वेद के चतुर्थ मंडल के अधिकांश सूक्तों के द्रष्टा वामदेव ऋषि माने जाते हैं। वामदेव से 'दृष्टं साम' अर्थ में 'ड्य' प्रत्यय होकर 'वामदेव्य' निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ हुआ वामदेव से उत्पन्न। वामदेव्य एक ऋषि का नाम भी है और एक साम का भी। यह वामदेव्य साम एक ब्रह्मविद्या है, 'कयानश्चित्र' इत्यादि श्रुति है कि वामदेव्य की उपासना में सब स्त्रियाँ निकट स्थित होती हैं—'वामदेव्योपासने सर्वाः स्त्रिय उपसीदन्ति।' यह भी एक धर्माचार है। वामदेव शिव को भी कहते हैं। वामागम अथवा वामाचार भी एक धार्मिक प्रक्रिया है। यह तन्त्रसाधना है, जिसमें पंच मकारों—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—द्वारा देवता की अर्चना की जाती है। कलि ने ऐसे ही एक सर्वस्त्री-(स्वजातीय, विजातीय; गम्या, अगम्या)-भोगी को देखा और पाप का अवसर देख प्रसन्न हुआ, पर जब भेद जाना कि यह वामदेवोपासना है, तो फिर उदास हो गया ॥ १९१ ॥

> वैरिणी शुचिता तस्मै न प्रवेशं ददौ भुवि।
> न वेदध्वनिरालम्बमम्बरे विततार च ॥ १९२ ॥

जीवातु—वैरिणीति। वैरिणी विरोधिनी, कलेरिति भावः। शुचिता लोकानां बाह्याभ्यन्तरशुद्धता गोमयाद्यनुलेपनादिजनितभूमिशुद्धता च, तस्मै कलये, भुवि निषधभूमौ, प्रवेशम् अन्तर्गमनम् न ददौ न दत्तवती, तथा अम्बरे च नगरसम्बन्धिनमसि च, वेदध्वनिः ब्रह्मघोषः, आलम्बम् आलम्बनम् अवस्थानावकाशमित्यर्थः। न विततार न ददौ ॥ १९२ ॥

अन्वयः—वैरिणी शुचिता तस्मै भुवि प्रवेशं न ददौ वेदध्वनिः च अम्बरे आलम्बं न विततार।

हिन्दी—वैरिन शुद्धता (मन की पवित्रता और गोबर आदि से लिपाई के कारण शुद्धि—सफाई) ने उस (कलि) को धरती पर ठौर न दिया (स्थित न होने दिया) और वेदपाठजन्य शब्द ने आकाश में आश्रय न लेने दिया।

टिप्पणी—कलि को न तो धरती पर ठौर-ठौर था, न आकाश में ही। धरती के वासी रागद्वेष-शून्य थे, पवित्र-हृदय, अत प्रत्येक प्रकार की पवित्रता का विरोधी कलि निष्पाप पवित्र हृदयों में कैसे स्थान पाता? बाहर, लोगों के समुख भी वह छिपी, स्वच्छ धरती होने के कारण न ठहर सका। आकाश शब्द का स्थान है, वहाँ वेदध्वनि गूँज रही थी, सो कलि को वहाँ भी अवलय न मिला ॥ १९२ ॥

दर्शस्य दर्शनात् कष्टमग्निष्टोमस्य चानशे।
जुघूर्णे पौर्णमासेक्षी सोमं सोऽमन्यतान्तकम्॥ १९३ ॥

जीवातु—अनन्तरश्लोकद्वयं प्रक्षिप्तमिति पूर्वैरुपेक्षितम्, तथाऽपि क्वचित् स्थितत्वात् व्याख्यायते—दर्शस्येत्यादि। स कलिः, दर्शस्य दर्शयागस्य, तथा अग्निष्टोमस्य तदाख्ययागविशेषस्य च, दर्शनात् अवलोकनात्, कष्टं महत् दुःखम्, आनशे प्राप तथा पौर्णमासं पूर्णमासेष्टिम्, ईक्षते पश्यति इति पौर्णमासेक्षी पौर्णमासयागदर्शी सन्, जुघूर्णे बभ्राम, मूर्छितप्रायोऽभूदित्यर्थः। तथा सोमं सोमयागञ्च, अन्तकं मृत्युम्, अमन्यत अबुध्यत, मरणयातनामिव यातनामन्वभूदित्यर्थः ॥ १९३ ॥

अन्वय—सः दर्शस्य अग्निष्टोमस्य दर्शनात् कष्टम् आनशे, पौर्णमासेक्षी जुघूर्णे, सोमम् अन्तकम् अमन्यत।

हिन्दी—वह (कलि) दर्श-याग के दर्शन से अत्यन्त व्यथित हुआ, पौर्णमास यज्ञ देख घूम गया और सोमयाग को तो उसने मृत्यु ही माना।

टिप्पणी—पहिले कष्ट हुआ—अमावास्या को होने वाला यज्ञ 'दर्श' देखकर, तदनन्तर 'पौर्णमास' अर्थात् पूर्णमासी को होने वाला यज्ञ देखकर कलि को चक्कर आ गया और बेसुध होकर गिर पड़ा, तत्पश्चात् जब उसने सोम यज्ञ देखा, तब तो उसने मान लिया कि अब यमराज ही समुख हैं—मौत सामने खड़ी है। अब प्राण जाने में विलम्ब नहीं। ऐसा ही प्राय होता है। पहिले व्यक्ति को ज्वरादि से कष्ट होता है, ज्वर बढ़ने पर मूर्च्छा और फिर मरण। ऐसा ही कलि के साथ हुआ ॥ १९३ ॥

तेनादृश्यन्त वीरघ्ना न तु वीरहणो जिनाः ।
नापश्यत् सोऽभिनिर्मुक्तान् जीवन्मुक्तानवैक्षत ॥१९४॥

जीवातु—तेनेति । तेन कलिना, वीरघ्नाः क्षात्रधर्मानुसारेण रणे वीरघातिनः, जनाः इति शेषः, 'अमनुष्यकर्तृके च' इति चकारादच्, अत एव 'क्वचिन्मनुष्यकर्तृके च' इति कौमारं सूत्रम् । अदृश्यन्त एक्ष्यन्त, तु किन्तु, वीरहणः क्षत्रियघातिनः, जिनाः भट्टभास्कराः अग्नित्यागिनः वा वीरहा वा, 'एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते' इति श्रुतेरित्यनेन उपलक्षिता इति यावत्, न, अदृश्यन्त इति पूर्वक्रियया अन्वयः । सः कलिः, अभिनिर्मुक्तान् यान् सुप्तान् अभि सूर्योऽस्तमेति ते अभिनिर्मुक्ताः तान्, मुच्यतेः कर्मणि क्तः । सूर्यास्तकाले निद्रितान् आचारहीनान्, न अपश्यत् न व्यलोकयत्, किन्तु जीवन्मुक्तान् आत्मारामान् पुण्यान्, जनान्, अवैक्षत अपश्यत् ॥१९४॥

अन्वयः—तेन वीरघ्नाः अदृश्यन्त, वीरहणः जिनाः तु न; सः अभिनिर्मुक्तान् न अपश्यत्, जीवन्मुक्तान् अवैक्षत ।

हिन्दी—उस (कलि) ने (क्षात्रधर्मानुसार रण में) वीरों के हन्ता देखे, किन्तु क्षत्रियघाती 'जिनों' को नहीं देखा ('जनाः' पाठांतर भी है । 'वीरहण' अर्थात् श्रेष्ठ आचारवान् लोगों के हत्यारों अथवा वीर अर्थात् तेजस्वी अग्नि के घाती, अर्थात् नष्टाग्नि गृहस्थों को नहीं देखा अथवा शूरवीरों के हत्यारों को नहीं देखा) । उस (कलि) ने सूर्यास्तकाल में सोते व्यक्तियों को नहीं देखा, जीवन्मुक्त (विषयपरित्यागी ब्रह्मज्ञानियों) जनों को देखा ।

टिप्पणी—एक कहावत है, जो 'जिन'-उपासना को उचित नहीं मानती—'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम् ।' यह कदाचित् उस काल की मान्यता है, जब वैदिक उपासकों और 'जिन'-उपासकों में कड़ा विरोध था और 'जैन' हिन्दूधर्म का ही एक अंग नहीं बन गया था । इस व्यवहार को ही कदाचित् श्रीहर्ष ने यहाँ प्रमाण मानते हुए, 'जिन'—मतावलंबियों को कलि का मित्र माना है, जिन्हें वह ढूँढ रहा था । श्लोक संख्या १८६ 'अपश्यज्जिनमन्दिष्यन्'-इत्यादि में भी यही भावना है । 'जिन' को 'वीर'

भी कहा जाता है। 'जिन'–मतावलवी 'हिंसा' के विरुद्ध थे, कदाचित् इसीसे उन्हें 'विरहण' अर्थात् वीरो अर्थात् वीरता के हत्यारे कहा गया हो, अथवा 'वीर जिनः स एव हणः घातक' (हत्यारा वीर) भाव भी हो सकता है। मल्लिनाथ ने जिन का अर्थ 'भट्ट भास्कर' दिया है। भाव यही है कि कलि को निषधराज्य मे कोई अपना साथी 'वीरहण' तो मिला नहीं, हां समुख युद्ध मे दूरों को वीरगति देने वाले वीर मिले। ऐसे गृहस्थ भी नहीं मिले, जिनके यहाँ अग्नि बुझ गयी हो, क्योंकि 'नष्टाग्नि' गृहस्थ अनाचारी माने जाते हैं। 'वीरहा' विष्णु को भी कहते हैं। यह भी भाव हो सकता है कि वीरघ्न अर्थात् वीरहा विष्णु (विष्णु मंदिर) को तो देखा 'वीरहण जिन' (जैनमदिर) को नही। श्रेष्ठ आचारवान् को तो वीर कहा ही जाता है। ऐसे आचारवान् जनो के हत्यारे कलि को राजधानी मे नही दीखे। कलि ने 'अग्निनिर्मुक्त' (सूर्योदय-सूर्यास्त-काल में निद्रित अतएव अनाचारी) भी नहीं पाये, 'जीव-मुक्त' (जीवित रहते भी मोक्षानुभव करनेवाले ब्रह्मज्ञानी) पाये। भाव यही कि सब विपरीत पाया। खोजता था 'वीरहण' जिन, मिले वीरघ्न जन, खोजता था 'निर्मुक्त', पाये 'जीवन्मुक्त'। अमरकोष के अनुसार 'सुप्ते यस्मिन्नस्तमेति सुप्ते यस्मिन्नुदेति च। अंशुमानभिनिर्मुक्ताभ्युदितौ च यथाक्रमम्' ॥ १९४ ॥

स तुतोषाश्नतो विप्रान् दृष्ट्वा स्पृष्टपरस्परान्।
होमशेषीभवत्सोम भुजस्तान् वीक्ष्य दूनवान् ॥ १९५ ॥

जीवातु—स इति। स कलि, स्पृष्ट कृतस्पर्श परस्परम् अन्योऽन्य यैः तान् स्पृष्टपरस्परान् परस्परस्पर्शपूर्वकमित्यर्थः। अश्नत भक्षयत, विप्रान् ब्राह्मणान्, दृष्ट्वा विलोक्य, तुतोष मुमुदे, भोजनकाले परस्परस्पर्शस्य निषेधात् तद्विपरीतव्यवहारिणस्तान् दृष्ट्वा स्वाश्रयलाभाशया सन्तुष्ट इत्यर्थः। अथ तान् पूर्वोक्तप्रकारेणाश्नतो विप्रान्, होमशेषीभवन्त होमावशिष्टम्, सोम सोमलताचूर्णम्, भुञ्जते अश्नन्ति इति भुज, वीक्ष्य दृष्ट्वा ज्ञात्वा इति यावत्। दूनवान् परितप्तवान्, दुःखमनुभूतवानित्यर्थः। 'न सोमेनोच्छिष्टो भवति' इति श्रुते, 'इक्षुदण्डे तिले सोमे नोच्छिष्टो मनुरब्रवीत्' इति स्मृतेश्च सोमभक्षणे परस्परस्पर्शदोषाभावादिति भाव ॥ १९५ ॥

अन्वयः—स्पृष्टपरस्परान् अश्नतः विप्रान् दृष्ट्वा सः तुतोष, होमशेषी-भवत्सोमभुजः तान् वीक्ष्य दूनवान्।

हिन्दी—अन्योऽन्य का स्पर्शकर खाते ब्राह्मणों को देखकर वह (कलि) संतुष्ट हुआ, किन्तु जब देखा कि वे तो यज्ञावशिष्ट सोमलताचूर्ण खा रहे हैं, तो बहुत दुःखी हुआ।

टिप्पणी—'उच्छिष्ट' (जूठा) खाना अनाचार माना जाता है, परस्पर स्पर्श करते खाना उच्छिष्ट भोजन ही माना जाता है। इस प्रकार खाते ब्राह्मणों को देख कलि को अनुकूल अवसर मिलने की संभावना लगी और वह तृप्त हुआ, पर जब देखा कि यह तो यज्ञावशेष सोमलता-चूर्ण भोजन है, तब निराश और दुःखी हो गया। मनुस्मृति के अनुसार इस प्रकार सोमभोजन अनाचार नहीं है—'इक्षुदण्डे तिले सोमे नोच्छिष्टं मनुरब्रवीत्।' श्रुति के अनुसार भी सोम से जूठा नहीं होता॥ १९५॥

दृष्ट्वा जनं रजोजुष्टं तुष्टिं प्राप्नोज्झटित्यसौ।
तं पश्यन् पावनस्नानावस्थं दुःस्थस्ततोऽभवत्॥ १९६॥

जीवातु—दृष्ट्वेति। असौ कलिः, रजोभिः धूलिभिः, जुष्टं सेवितम्, व्याप्तमिति यावत्। जनं लोकम् दृष्ट्वा वीक्ष्य, झटिति द्राक्, तुष्टिं सन्तोषम्, प्राप्नोत् अलभत, धूलिमिलनं जनं दृष्ट्वा जनोऽयं निषिद्धच्छागखरादिखुरोत्थ-धूलिव्याप्त इति निश्चित्य स्वाश्रयलाभसम्भावनया तुतोषेत्यर्थः। ततः विशेष-निरीक्षणानन्तरमित्यर्थः। तं रजोजुष्टं जनम्, पावनं पवनसम्बन्धि, यत् स्नानं गोरजःस्नानमित्यर्थः। तादृशी अवस्था दशा यस्य तादृशम् वायव्यस्नान-निरतमित्यर्थः। पश्यन् विलोकयन्, जानन् इत्यर्थः। दुःस्थः दूनः, दुःखितः इत्यर्थः। अभवत् अजायत। 'वारुणन्तु जलस्नानमापो हिष्ठेति मान्त्रिकम्। वायव्यं गोरजःस्नानमाग्नेयं भस्मनोदितम्॥ यत्तु सातपवर्षेण दिव्यं तदिति पञ्चधा॥' इति मनूक्तपञ्चविधस्नानान्तर्गतस्य वायव्यस्नानस्य वैधत्वात् तदवस्थं तं दृष्ट्वा दुःखितोऽभवदित्यर्थः॥ १९६॥

अन्वयः—असौ रजोजुष्टं जनं दृष्ट्वा झटिति तुष्टिं प्राप्नोत् ततः तं पावनस्नानावस्थं पश्यन् दुःस्थः अभवत्।

हिन्दी—यह (कलि) रजोजुष्ट (बकरी, गधा आदि अपवित्र पशुओं के खुरों से उड़ी धूल से मलिन अथवा निषिद्ध स्त्रीरज (मासिकस्राव) से युक्त) व्यक्ति को देख तुरत संतुष्ट हुआ, किन्तु बाद में उसे पवित्र स्नान (गोधूलि से व्याप्त अथवा वायु द्वारा उड़ायी धूल से व्याप्त) किया देख दुःखित हो गया।

टिप्पणी—मलिनता और अपवित्रता में कलि का वास होता है, सो जहाँ अपवित्रता की सभावना उसे लगी, तुरत प्रसन्न हो गया, परतु जब वह सभावना नष्ट हो गयी, व्यक्ति को वायव्यस्नात या गोधूलिस्नात देखा तो प्रसन्नता का स्थान दुःख कष्ट ने ले लिया। मनु ने पचविध अर्थात् वारुण जलस्नान, वायव्यस्नान, गोधूलिस्नान, अग्निभस्म स्नान और धूप-वर्षा-स्नान को पवित्र और दिव्य माना है ॥ १९६ ॥

> अधावत् क्वापि गा वीक्ष्य हन्यमानामयं मुदा।
> अतिथिभ्यस्तु ता बुद्ध्वा मन्द मन्दो न्यवर्तत ॥१९७॥

जीवातु—अधावदिति। मन्द मूढ, अय कलि, क्वापि कुत्रचित् प्रदेशे, गा सौरभेयीम्, हन्यमानाम् आलभ्यमानाम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, मुदा हर्षेण अधावद् द्रुतमागच्छद्। तु किन्तु, ता गाम्, अतिथिभ्य अतिथ्यर्थं हन्यमानाम्, बुद्ध्वा ज्ञात्वा, मन्द शनैं शनैः, न्यवर्तत व्यरमत्, सखेद प्रत्यागच्छदित्यर्थ। 'महोक्ष वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्' इति विधानादिति भाव ॥ १९७ ॥

अन्वय—अय क्व अपि हन्यमानां गा वीक्ष्य मुदा अधावत्, तु ताम् अतिथिभ्य बुद्ध्वा मन्द मन्द न्यवर्तत।

हिन्दी—यह (कलि) कही (यज्ञशाला आदि मे) मारी जाती गाय को देखकर हर्ष से दौड़ा, किन्तु उसे (गाय को) अतिथि निमित्त (मारी जाती) जानकर मूर्ख बना हारे-थके हग धरता लौट पड़ा।

टिप्पणी—गोवध पाप देखकर कलि हर्षोन्मत्त हो दौड़ा, पर जब आशाभग हो गयी तो धीरे धीरे थका हारा जैसा क्षुब्ध हुआ, मूर्ख बनकर लौट आया। वह गोहत्या अतिथिसत्कार के लिए थी, जो वैध थी ॥१९७॥

> हृष्टवान् स द्विज दृष्ट्वा नित्यनैमित्तिकत्यजम्।
> यजमान निरूप्यैन दूर दीनमुखोऽद्रवत् ॥ १९८ ॥

जीवातु--हृष्टवानिति। सः कलिः नित्यनैमित्तिकत्यजं दानहोमादि-कर्मत्यागिनम्, क्विप्। द्विजं विप्रम्, दृष्ट्वा वीक्ष्य, हृष्टवान् मुमुदे। अथ एनं पूर्वोक्तद्विजम्, यजमानं यज्ञे दीक्षितम्, निरूप्य निश्चित्य, दीनमुखः विषण्ण-वदनः सन्, दूरं विप्रकृष्टदेशम्, अद्रवत् अधावत्, पलायत इत्यर्थः। दीक्षितो न ददाति न जुहोति न वदतीति दीक्षितस्य तन्निषेधे तेन दोषाभावा-दिति भावः॥ १९८॥

अन्वयः--सः नित्यनैमित्तिकत्यजं द्विजं दृष्ट्वा हृष्टवान् एनं, यजमानं निरूप्य दीनमुखः दूरम् अद्रवत्।

हिन्दी--वह (कलि) नित्य (संध्यास्नानादि) और नैमित्तिक (ग्रहण-स्नानादि, दानहोमादिकर्म) का त्याग किये द्विजन्मा (ब्राह्मणादि) को देख प्रसन्न हुआ, किन्तु उस (द्विज) को यज्ञ में दीक्षित जानकर उदास मुख हो दूर भाग गया।

टिप्पणी--कलि को नित्यनैमित्तिक त्यागी द्विज में भी अवसर न मिला, क्योंकि ऐसा यज्ञ में उसके दीक्षित होने के कारण हुआ था, जो वैध है। दीक्षित न दान करता है, न होम करता है, न बोलता है॥ १९८॥

आननन्द निरीक्ष्यायं पुरे तत्रात्मघातिनम्।
सर्वस्वारस्य यज्वानमेनं दृष्ट्वाऽथ विव्यथे॥ १९९॥

जीवातु--आननन्देति। अयं कलिः, तत्र तस्मिन्, पुरे राजधान्याम्, आत्मघातिनम् आत्मविनाशिनम्, निरीक्ष्य विलोक्य, आननन्द स्वाश्रय-लाभाशया तुतोष। अथ एनम् आत्मघातिनम्, सर्वस्वारस्य सर्वस्वारनामा-स्माहुतिकयागविशेषस्य, तथा रघुवंशेऽप्युक्तं--'यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत्' इति। यज्वानं यागकारिणम्, दृष्ट्वा वीक्ष्य, तद्याजिनं विदित्वेत्यर्थः। विव्यथे सन्तताप। 'सः अन्त्येष्टौ सर्वस्वाराख्ये यज्ञे आत्मानमेव पशुमन्त्रैः संस्कृतं घातयित्वा यज्ञभागमर्पयति' इति श्रुतेः। तत्रात्मघातस्य वैधत्वेन दोषाभावाद् व्यथितोऽभवदित्यर्थः॥ १९९॥

अन्वयः--तत्र पुरे आत्मघातिनं निरीक्ष्य अयम् आननन्द, अथ एनं सर्वस्वारस्ययज्वानं दृष्ट्वा विव्यथे।

हिन्दी—वहाँ नगर में आत्मघाती को देखकर यह (कलि) आनन्दित हुआ, अनन्तर इस (आत्मघाती) को 'सर्वस्वार' नामक यज्ञ (जिसमें आत्माहुति दी जाती है) करता देख व्यथित हुआ।

टिप्पणी—था आत्महत्या पाप है, किन्तु अन्त्येष्टि सर्वस्वार यज्ञ में पशुमन्त्रों द्वारा संस्कार कर आत्मघात करके यज्ञ में अर्पित करना धार्मिक विधान है। यह दोष नहीं है। यह एक प्रकार का 'प्रायोपवेशन' है ॥ १९९॥

क्रतौ महाव्रते पश्यन् ब्रह्मचारीत्वरीरतम् ।
जज्ञौ यज्ञक्रियामज्ञ स भाण्डाकाण्डताण्डवम्॥ २०० ॥

जीवातु—क्रताविति। अज्ञः मूर्खः, स कलिः, महाव्रते महाव्रताख्ये, क्रतौ यागे, ब्रह्मचारिणः वर्णिनः, इत्वर्याः कुलटायाश्च, रतं मैथुनम् 'महाव्रते ब्रह्मचारिपुंश्चल्यो सम्प्रवाद' इति श्रुतिविहितं ग्राम्यभाषणादिकं वा, 'इणनशजिसर्तिभ्य क्वरप्' । 'असती कुलटेत्वरी' इत्यमरः । पश्यन् विलोकयन्, यज्ञक्रियां यागव्यापारम्, भाण्डानाम् अश्लीलभाषिणाम्, अकाण्डताण्डवम् असमयप्रवृत्तोद्धतनृत्यमिव, जज्ञौ मेने, भण्डचेष्टितममन्यतेत्यर्थ ॥ २०० ॥

अन्वयः—अज्ञ स महाव्रते क्रतौ ब्रह्मचारीत्वरीरतं पश्यन् यज्ञक्रियां भाण्डाकाण्डताण्डवं जज्ञौ ।

हिन्दी—अज्ञानी उस (कलि) ने 'महाव्रत' नामक यज्ञ में ब्रह्मचारी और इत्वरी (कुलटा, पुंश्चली) का रत (सम्प्रवाद, मैथुन अथवा गाली-गलौज आदि अश्लील कृत्यों में मग्न होना) देख कर यज्ञकर्म को भाँडों का असमय उद्धत नृत्य (ताडव) समझ लिया।

टिप्पणी—कलि ने 'ब्रह्मचारीत्वरीरत' को अनाचार समझकर अपने लिए उपयुक्त अवसर समझा, किन्तु वह तो धार्मिक 'महाव्रत' यज्ञ का विधान था। क्या करता? उसे उसने भंड व्यापार माना। उपनिषद् के अनुसार महाव्रत यज्ञ में ब्रह्मचारी पुंश्चली का सम्प्रवाद (अश्लील प्रदर्शन) होता है ॥ २०० ॥

यज्वभार्याश्वमेधाश्वलिङ्गालिङ्गिवराङ्गतान् ।
दृष्ट्वाऽऽचष्ट स कर्त्तारं श्रुतेर्भण्डमपण्डित' ॥ २०१ ॥

जीवातु—यज्वेति। अपण्डितः मूर्खः, सः कलिः, यज्वभार्यायाः यजमानस्य पत्न्याः, अश्वमेधे तदाख्ययज्ञे, अश्वस्य यज्ञियाश्वस्य, लिङ्गेन मेहनेन, आलिङ्गिवराङ्गतां संयोजितयोनिताम्, 'निरायत्याश्वस्य शिश्नं महिष्युपस्थे निधत्ते' इति श्रुतिविहितामिति भावः। दृष्ट्वा वीक्ष्य, श्रुतेः कर्त्तारं वेदप्रणेतारम्, भण्डम् असज्जनम्, अश्लीलविषयोपदेष्टारमिति यावत्। आचष्ट अकथयत्। केनचित् भण्डेन प्रणीताः वेदाः इति बभाषे इत्यर्थः।

अन्वयः—यज्वभार्याश्वमेधाश्वलिङ्गालिङ्गिवराङ्गतां दृष्ट्वा सः अपण्डितः श्रुतेः कर्त्तारं भण्डम् आचष्ट।

हिन्दी—यजमान-पत्नी को अश्वमेध यज्ञ के अश्व के लिंग से वरांग योजित करती देखकर उस (यज्ञक्रिया को न जाने वाले) मूर्ख (कलि) ने श्रुति के रचयिता को भाँड़ कहा।

टिप्पणी—इस वैदिक कृत्य की अश्लीलता को देखकर कलि ने कहा कि वेद किसी भाँड़ ने रचे हैं, जो इसमें यजमान की भार्या अश्वमेधाश्व के लिंग से अपनी योनि का योग करती है। ऐसी बीभत्स लीला भाँड़ों की लीला ही है। भाव यह कि ऐसे अश्लील कृत्य में भी कलि को कोई अवसर नहीं मिला, क्योंकि वह भी धार्मिक विधान था ॥ २०१ ॥

अथ भीमजया जुष्टं व्यलोकत कलिर्नलम्।
दुष्टदृग्भिर्दुरालोकं प्रभयेव प्रभाविभुम् ॥ २०२ ॥

जीवातु—अथेति। अथ पूर्वोक्तरूपदर्शनानन्तरम्, कलिः चतुर्युगाधिपतिः, भीमजया भैम्या, जुष्टं सेवितम् दुष्टदृग्भिः पापदृष्टिभिः, अन्यत्र—रोगोपहतदृष्टिभिः, दुरालोकं दुर्दर्शनम्, नलं वैरसेनिम्, प्रभया दीप्त्या सूर्यभार्यया संज्ञादेव्या च जुष्टं प्रभाविभुं प्रभाकरं, सूर्यम् इवेत्यर्थः। व्यलोकत अपश्यत् ॥ २०२ ॥

अन्वयः—अथ कलिः प्रभया (जुष्टं) दुष्टदृग्भिः दुरालोकं प्रभाविभुम् भीमजया जुष्टं नलं व्यलोकत।

हिन्दी—तत्पश्चात् कलिने दीप्ति (सूर्य-पत्नी 'संज्ञा') द्वारा सेवित, (काच-कामला आदि रोगों से) रुग्ण नेत्रों वाले व्यक्तियों द्वारा जिसके

प्रकाश को देखना दुष्कर होता है, ऐसे प्रभा के स्वामी (प्रभाकर, सूर्य) की भाँति प्रकृष्टा देहकान्ति वाली (अत्यन्त सुन्दरी) भीमसुता (दमयन्ती) द्वारा प्रीतिपूर्वक आराधित, पापियों (रागद्वेषयुक्त जनों) द्वारा दुरवलोक्य, दीप्तिमान् नल को देखा।

टिप्पणी—निषधराजधानी में कहीं अपने लिए उचित अवसर प्राप्ति की खोज में इतस्ततः भ्रमता कलि नल दमयन्ती को देखने में सफल हो पाया। दमयन्ती द्वारा प्रणयाराधित, तेजस्वी, पुण्यश्लोक नल साक्षात् प्रभाकर, प्रभानाथ सूर्य सम प्रतीत हो रहे थे, जिनकी ओर कलि जैसे पापियों का देखना कठिन था। विश्वसुन्दरी दमयन्ती की तुलना प्रभा से, नल की सूर्य से और कलि की समता नेत्र रोगियों से की गयी है। जैसे नेत्र रोगी सूर्य को देखने में दुष्करता का अनुभव करता है, वैसे ही पापियों का राजा पापकर्मा, न्यायशत्रु कलि भी नल दर्शन में दुष्करता का अनुभव कर रहा था ॥ २०२ ॥

तयोः सौहार्दसान्द्रत्वं पश्यन् शल्यमिवानशे।
मर्मच्छेदमिवानच्छ स तन्नर्मोक्तिभिर्मिथः ॥ २०३ ॥

जीवातु—तयोरिति। स कलिः, तयोः, भैमीनलयोः, सुहृदोः भावः सौहार्दं प्रेम, 'युवादिभ्योऽण्', 'हृद्भग—' इत्यादिना उभयपदवृद्धिः। तस्य सान्द्रत्वं घनत्वम्, पूर्णत्वमित्यर्थः। सौहार्दोत्कर्षमिति यावत्। पश्यन् अवलोकयन् शल्यम् अस्त्रविशेषाघातम्, आनशे इव प्राप इव। तथा मिथः परस्परम्, तयोः भैमीनलयोः, नर्मोक्तिभिः परिहासविशेषैः, मर्मच्छेदं हृदयच्छेदनम्, आनच्छ इव प्राप इव। अनुबभूव इवेत्यर्थः ॥ २०३ ॥

अन्वय—तयोः सौहार्दसान्द्रत्वं पश्यन् स शल्यम् इव आनशे, मिथः तन्नर्मोक्तिभिः मर्मच्छेदम् इव आनच्छ।

हिन्दी—उन दोनों (नल दमयन्ती) के प्रेमोत्कर्ष (अनुराग गाम्भीर्य) को देखते उस (कलि) को शल्य (शस्त्राघात) जैसा लगा और परस्पर उन दोनों के प्रणय हास विलासों को देखकर उसे मर्माघात के तुल्य प्रतीति हुई।

टिप्पणी—नल-दमयन्ती के स्निग्ध-गम्भीर प्रेम और उनके हास विलास,

प्रणयालाप को देखकर कलि को अत्यन्त पीडा हुई उसे हृदय में शल्य लगने, मर्माघात प्राप्त होने-जैसी असह्य व्यथा हुई ॥ २०३ ॥

अमर्षादात्मनो दोषात् तयोस्तेजस्वितागुणात् ।
स्प्रष्टुं दृशाऽप्यनीशस्तौ तस्मादप्यचलत् कलिः ॥२०४॥

जीवातु—अमर्षादिति । कलिः कलियुगम्, अमर्षात् क्रोधात् आत्मनः स्वस्य, दोषात् पापिष्ठत्वापराधात्, तयोः भैमीनलयोः, तेजस्वितागुणाच्च प्रभावसम्पन्नत्वाच्च, तौ भैमीनलौ, दृशाऽपि दृष्टयापि, किमुत करेणेति भावः । स्प्रष्टुं परामष्टुम्, द्रष्टुमपि इत्यर्थः । अनीशः अक्षमः सन्, तस्मादपि तत्स्थानादपि, अचलत् पलायत ॥ २०४ ॥

अन्वयः—आत्मनः अमर्षात् दोषात् तयोः तेजस्वितागुणात् दृशा अपि तौ स्प्रष्टुम् अनीशः कलिः तस्मात् अपि अचलत् ।

हिन्दी—अपने क्रोध और पाप-दोष और इन दोनों (नल-दमयन्ती) की तेजस्विता और गुणों के कारण दृष्टि से भी उन्हें छू सकने में अक्षम कलि वहाँ (उस स्थान) से भी चल पड़ा ।

टिप्पणी—नल-दमयन्ती की प्रीति के प्रति असहन शीलताजन्य क्रोध और अन्य पाप-कर्मादि का दोषी कलि अत्यन्त कांतिसम्पन्न, धर्माचारी, उदारता आदि गुणों से संपन्न नल-दमयन्ती की ओर देख भी नहीं सकता था । एक दोषी गुणी को कहाँ सह पाता है ? पापी को धर्माचारी असह्य ही होता है, मलिन तेजस्वी को निहार भी नहीं सकता । इस दृष्टि से उस आदर्श दम्पती के प्रति असहनशील, क्रोधी कलि उस स्थान से भी चला गया ।

अगच्छदाश्रयान्वेषी नलद्वेषी स निःश्वसन् ।
अभिरामं गृहारामं तस्य रामसमश्रियः ॥ २०५ ॥

जीवातु—आगच्छदिति । नलद्वेषी निषधेशविरोधी, अत एव आश्रयान्वेषी नलनिर्यातनार्थं तत्र निवासार्थी, सः कलिः, निःश्वसन् कुत्रापि तदलाभात् उच्छ्वसन् सन्, रामः समश्रियः रामचन्द्रसमानकान्तेः, तस्य नलस्य, अभिरामं रमणीयम्, गृहारामं प्रासादसमीपवर्तिक्रीडावनम्, अगच्छत् प्रायात् । कवेरेतत्काव्यप्रणयनकाले रामस्य सम्भूतत्वेन सृष्टिप्रवाहस्य अनादित्वेन वा सत्ययुगीनस्य नलस्य रामसादृश्यं बोध्यम् ॥ २०५ ॥

अन्वय—नलद्वेषी आश्रयान्वेषी निःश्वसन् सः रामसमश्रियः तस्य अभिरामं गृहारामम् अगच्छत् ।

हिन्दी—नल से द्वेष रखने वाला, आश्रय का खोजी लम्बी साँस लेता वह (कलि) राम के समान श्रीसम्पन्न उस (नल) की रमणीय क्रीडा-गृह वाटिका में पहुँच गया ।

टिप्पणी—कलि नल का शत्रु था । वह ऐसे आश्रय स्थल की खोज में था, जहाँ समीप रहकर वह नल को कष्ट पहुँचा सके । उसी खोज में थका-हारा वह दुःखभरी लम्बी-लम्बी साँसें लेता राजप्रासाद के निकट गृह-क्रीडोपवन में जा पहुँचा । ऐतिहासिक क्रम में राम नल के उत्तरवर्ती माने जाते हैं, मल्लिनाथ ने इस क्रम दोष का समाधान दो आधारों पर किया है–(१) 'नैषधीयचरित' काव्य के रचना-काल में राम हो चुके थे । (२) सृष्टि प्रवाह अनादि है । नारायण ने भी ये दो आधार माने हैं किन्तु उसने यह भी माना है कि श्रीराम की समता द्वारा नल की पवित्रता, सुन्दरता, सम्पन्नता तथा भाविराज्यपरित्याग सूचित किया गया है—'श्रीरामसाम्येन नलस्य पावित्र्य सौन्दर्य सम्पदाधिक्य भाविराज्यपरित्यागश्चेति सूचितम् ।'

रक्षिलक्षवृतत्वेन बाधनं न तपोधनैः ।
मेने मानी मनाक् तत्र स्वानुकूलं कलिः किल ॥ २०६ ॥

जीवातु—रक्षीति । रक्षिणां गृहपालानाम्, लक्षेण शतसहस्रेण, बहु-संख्यकप्रासादरक्षिपुरुषेणेत्यर्थः । यद् वृतत्वं परिवेष्टितत्वं तेन हेतुना, तत्र गृहारामे, तपोधनैः तपस्विभिः कर्तृभिः बाधनं पीडनम् न, अस्ति स्वस्येति शेषः । प्रासादसमीपवर्तितया बहुजनसंकुलत्वेन नित्यं धर्मकार्यनिरतानां निर्जनप्रियाणां तपस्विनामभावात् धर्मद्वेषिकले बाधाभाव इति भाव । अत एव मानी अभिमानवान्, अहङ्कारीत्यर्थः । कलिः अन्त्ययुगम्, मनाक् ईषत्, स्वस्य अनुकूलं प्रियम्, अभीष्टसाधनयोग्यस्थानमित्यर्थः । मेने बुबुधे किल, 'तमारामम्' इति शेषः । सर्वदा वैधकार्यकारिणा मुनीनां तत्र सद्भावे धर्मकार्यासहिष्णुः कलिः तत्रारामे वस्तुं न शक्नुयात्, रक्षिबाधने सत्यपि तत्राद्दरयतया प्रवेष्टुं सर्वदा धर्मालोचनाविरहेण तत्र निर्बाधं वस्तुं च शक्नुयात्

एवम् आरामादन्यत्र सर्वत्रैव धर्माचरणदर्शनात् तदपेक्षया आरामे वासस्य ईषत् स्वानुकूलत्वमिति भावः ॥ २०६ ॥

अन्वयः—'रक्षिलक्षवृतत्वेन तपोवनैः न बाधनं'—मानी कलिः किल तत्र मनाक् स्वानुकूलं मेने ।

हिन्दी—'लाखों (अनेक-प्रचुर) रखवालों से घिरा (रक्षित) होने के कारण तपस्वियों से बाधा नहीं है'—(अत एव) अभिमानी कलि ने वहाँ (वाटिका में) अपने लिए कुछ अनुकूलता समझी ।

टिप्पणी—प्रासाद-क्रीडा-वाटिका में तपस्वी तो प्रायः आते नहीं और वहाँ अनेक रख वाले भी हैं, अतः वाटिका में तपस्वियों से कोई भय नहीं और अदृश्य रहकर रखवालों से भी बचा जा ही सकता है, सो कलि को लगा कि यह क्रीडा-वाटिका कुछ उपयुक्त आश्रय-स्थल है। यहाँ रहकर कभी नल को पीडा देने का अवसर मिल सकता है और यदि कुछ संकट हो तो कार्य-सिद्धि के लिए कुछ जोखम तो उठानी पड़ती ही है ॥ २०६ ॥

दलपुष्पफलैर्देवद्विजपूजाभिसन्धिना ।
स नलेनार्जितान् प्राप तत्र नाक्रमितुं द्रुमान् ॥२०७॥

जीवातु—दलेति । सः कलिः, तत्र गृहारामे, दलैः पत्रैः, कुसुमैः, फलैः सस्यैश्च, देवानां हरिहरादीनाम्, द्विजानां ब्राह्मणानाञ्च, पूजायाः अर्चनायाः अभिसन्धिना अभिप्रायेण हेतुना, नलेन नैषधेन, अर्जितान् रोपितान्, द्रुमान् वृक्षान्, विभीतकेतरानिति भावः। आक्रमितुम् अधिष्ठातुम्, न प्राप न शशाक इत्यर्थः। तेषां धर्मकार्योपयोगित्वेन स्वस्य च पापरूपत्वेन तानारोढुं नापारयदित्यर्थः ॥ २०७ ॥

अन्वयः—तत्र सः दलपुष्पफलैः देवद्विजपूजाभिसन्धिना नलेन अर्जितान् द्रुमान् आक्रमितुं न प्राप ।

हिन्दी—वहाँ (गृहोपवन में) वह (कलि) पत्तों, फूलों और फलों द्वारा देव-ब्राह्मण-पूजा के अभिप्राय से नल के रोपे (लगाये) वृक्षों पर आश्रय पाने में समर्थ न हो पाया ।

टिप्पणी—क्योंकि कलि पापी था अतः वह उन वृक्षों पर ठहरने का साहस

न कर सका, जिन्हें देव द्विजाराधनार्थ नल ने लगाया था। धार्मिक कृत्य के उपकरणों को हाथ भी लगाने की क्षमता कलि मे नही थी ॥ २०७ ॥

अथ सर्वोद्भिदासत्तिपूरणाय स रोपितम्।
बिभीतकं ददर्शैकं कुटं धर्मेऽप्यकर्मठम् ॥ २०८ ॥

जीवातु—अथेति। अथ उद्यानप्रवेशानन्तरम्, सः कलिः, कर्मणि घटते इति कर्मठं कर्मक्षमं, तन्न भवतीति अकर्मठम्, 'कर्मणि घटोऽठच्' इति सप्तम्यन्तकर्मशब्दात् अठच्प्रत्ययः। धर्मे धर्मकार्ये, अकर्मठमपि अनुपयुक्तमपि, सर्वेषां समस्तजातीयानाम्, उद्भिदां तरुगुल्मलतादीनाम्, आसत्तेः विद्यमानतायाः, पूरणाय पूर्त्यै, रोपितम् अर्जितम्, अस्मिन्नुद्याने सर्वविधतरुगुल्मादयः सन्तीति कीर्त्तिस्थापनार्थारोपितं न तु देवद्विजपूजाद्यर्थम्, तत्पत्रादीनां देवपूजाद्यनर्हत्वादिति भावः। बिभीतकं कर्षफलं नाम एकं कञ्चित्, कुटं कञ्चित्, कुटं वृक्षम्। 'वृक्षो महीरुहः शाखी, अनोकहः कुटः शालः' इत्यमरः। ददर्श अवलोकयामास ॥ २०८ ॥

अन्वय—अथ सः धर्मे अपि अकर्मठं सर्वोद्भिदासत्तिपूरणाय रोपितम् एकं कुटं बिभीतकं ददर्श।

हिन्दी—तदनन्तर (उपवन-प्रवेश और सब वृक्षो को अनुपयुक्त पाकर) उस (कलि) ने धर्म-कार्य के लिए अनुपयुक्त—'समस्त प्रकार के वृक्ष उपवन मे हैं'—एतदर्थ सब प्रकार के वृक्षो के अस्तित्व की पूर्त्ति के लिए लगा दिये गये एक वृक्ष 'बहेड़े' को देखा।

टिप्पणी—यद्यपि धर्म-क्रिया मे उसका कोई उपयोग नहीं था, तथापि क्रीडा वाटिका मे 'बहेड़े' का पेड भी लगाया गया था। कदाचित् यह इस कारण था कि यह कहा जा सके कि सर्वजातीय वृक्ष उपवन में हैं। कलि ने इस 'बिभीतक' को ही अपना उचित आश्रय माना। नल को पीड़ित करने का उपाय सोचने का 'बहेड़े' पर रहकर अच्छा अवसर मिलेगा, धर्म के लिए 'अकर्मठ' जो है बिभीतक ॥ २०८ ॥

स तं नैषधसौधस्य निकटं निष्कुटध्वजम्।
दृष्ट्वा मेने निजं तस्मिन् दलिरालम्बनं वने ॥ २०९ ॥

जीवातु--स इति । सः कलिः, तस्मिन् वने गृहारामे, नैषधसौधस्य नलप्रासादस्य, निकटं नेदिष्ठम्, निष्कुटस्य गृहारामस्य 'गृहारामस्तु निष्कुटः' इत्यमरः । ध्वजं चिह्नस्वरूपमित्यर्थः । तं विभीतकम्, निजम्, आत्मीयम्, आलम्बनम् आश्रयम्, बहु अधिकं यथातथा, मेने विवेचयामास । धर्मकार्यानुपयोगिनि तत्र सुखवाससम्भवात् अत्युच्चे तस्मिन्नवस्थानेन नलदोषविचारसम्भवाच्च तं स्वावलम्बनं बहु मेने इति भावः ॥ २०९ ॥

अन्वयः--सः कलिः तस्मिन् वने नैषधसौधस्य निकटं निष्कुटध्वजं तं निजम् बहु आलम्बनं मेने ।

हिन्दी--उस कलि ने उस उपवन में निषधराज-प्रासाद के समीप गृह-वाटिका की पताका रूप उस (विभीतक) को अपना उपयुक्त आश्रय माना ।

टिप्पणी-'बहेड़ा' बहुत ऊँचा था, जैसे गृहाराम की ध्वजा हो । उसको कलि ने इस कारण भी उचित आलम्बन माना कि ऊँचे पेड़ की चोटी से महल में जो हो रहा है, उस पर अच्छी दृष्टि रखी जा सकेगी और कार्य साधन में सफलता होगी ॥ २०९ ॥

निष्पदस्य कलेस्तत्र स्थानदानात् विभीतकः ।
कलिद्रुमः परं नासीदासीत् कल्पद्रुमोऽपि सः ॥ २१० ॥

जीवातु--निष्पदस्येति । कलिवासत्वात् प्रसिद्धः, विभीतकः कर्षफलवृक्षः निष्पदस्य निराश्रयस्य, क्वचिदपि स्थानमप्राप्तवत इत्यर्थः । कलेः युगाधमस्य, तत्र आरामे, स्थानदानात् आवासप्रदानात्, परं केवलम्, कलिद्रुमः तत्र वासात् कलिसम्बन्धिवृक्ष एव, 'त्रिलिङ्गस्तु विभीतकः । नाऽक्षस्तुषः कर्षफलो भूतावासः कलिद्रुमः ॥' इत्यमरः । न आसीत् न अभवत्, किन्तु कल्पद्रुमः कल्पवृक्षोऽपि, आसीत् अभवत् । वासरूपसङ्कल्पितार्थदानादिति भावः ।

अन्वयः--सः विभीतकः निष्पदस्य कलेः तत्र स्थानदानात् परं कलिद्रुमः न आसीत्, कल्पद्रुमः अपि आसीत् ।

हिन्दी-वह बहेड़ा निराश्रय कलि को वहाँ (गृह वाटिका में) आश्रय स्थल देने के कारण केवल 'कलिद्रुम' नहीं, कल्पद्रुम भी बन गया था ।

टिप्पणी-विभीतक का एक नाम 'कलिद्रुम' भी है-अर्थात् कलि का वृक्ष;

किन्तु उसने कलि को आश्रय दिया—एक निराश्रित को आश्रय, एक पुण्य कृत्य, अतः 'कल्पद्रुम' भी बन गया—अभीष्ट का दाता जो बन गया। कम से कम कलि के लिए तो यह कल्पवृक्ष ही प्रमाणित हुआ ॥ २१० ॥

दद्दौ पदेन धर्मस्य स्थातुमेकेन यत् कलिः।
एकः सोऽपि तदा तस्य पदं मन्येऽमिलत् ततः ॥ २११ ॥

जीवातु—ददाविति। यत् यस्मात् कलिः युगाधमः, धर्मस्य, पुण्यस्य, एकेन पदेन चतुर्थांशेन, स्थातुं वर्तितुम्, ददौ दत्तवान् सृष्टिप्रवाहस्य अनादितया प्राक्तनकलियुगे कलिः धर्मस्य एकेन पदेन स्थानमर्पितवानित्यर्थः। ततः तस्मात्, तदा नलराज्यकाले परवर्तितसत्ययुगे, एकः केवलः सोऽपि बिभीतकतरुरेव, तस्य कलेः, पदं स्थानम्, अमिलत् जातम्, एकपदस्थानदानात् एकवृक्षरूपस्थानं प्राप्तमित्यर्थः। इति मन्ये विवेचयामि, अहमिति शेषः। दानानुरूपं फलमश्नुते इति भावः ॥ २११ ॥

अन्वयः—यत् कलिः धर्मस्य एकेन पदेन स्थातुं ददौ ततः तदा एकः सः अपि तस्य पदम् अमिलत्—मन्ये।

हिन्दी—क्योंकि कलि ने धर्म को एक चरण से खड़ा रहने का स्थान दिया था, सो उस समय (नल के राज्यकाल कृतयुग में) एक वही (बहेड़ा) उस (कलि) को चरण मिला—यह मानता हूँ।

टिप्पणी—जैसा कि माना जाता है—कलि में धर्म एक चरण स्थित रहता है। इसी आधार पर यह कल्पना है कि कृतयुग में वही कलि द्वारा धर्म को प्रदत्त एक चरण स्वयं कलि को बिभीतक वृक्ष के रूप में प्राप्त हुआ। जैसा दो, वैसा पाओ। नारायण के अनुसार कालान्तर में जितना दिया था, उस समय कलि ने उतना पाया—यह उत्प्रेक्षा है ॥ २११ ॥

उद्भिद्विरचितावासः कपोतादिव तत्र सः।
राज्ञः साग्नेर्द्विजात् तस्मात् सन्त्रासं प्राप दीक्षितात् ॥ २१२ ॥

जीवातु—उद्भिदिति। उद्भिदि बिभीतकवृक्षे, विरचितावासः कल्पितस्थितिः, अन्यत्र—उद्भिदा तृणगुल्मादिना, विरचितावासः निर्मितगृहः, सः कलिः, कश्चित् पुरुषश्च, साग्नेः आहिताग्नेः, सजाठराग्नेश्च, द्विजात् द्विजादेः क्षत्रियात्, अण्डजाच्च, दीक्षितात् अग्निहोत्रे कृतदीक्षात्, अन्यत्र—ईक्षितात्

-गृहोपरि दृष्टात्, तस्मात् राज्ञः नलात्, कपोतात् अङ्गारभक्षिपारावत-विशेषादिव, सन्त्रासम् अभिशापभयम्, गृहे अग्निसंयोगभयञ्च, प्राप लेभे, लिट्। अन्यत्र—प्रापत् अलम्भिष्ट, इति, लुङ्। अत्र साग्नेर्दीक्षितादिति विशेषणद्वयेन नलस्य कलिं प्रति तपःप्रभावजन्याभिशापप्रदानसामर्थ्यं राज्ञो द्विजादिति विशेषणद्वयेन च तस्य क्षत्रियराजोचितदण्डदानसामर्थ्यं सूचितम्।

अन्वयः—तत्र उद्भिद्विरचितावासः सः साग्नेः द्विजात् दीक्षितात् तस्मात् कपोतात् इव सन्त्रासं प्राप।

हिन्दी—वहाँ (वाटिका में) (विभीतक) वृक्ष पर घर बसाये वह (कलि) आहिताग्नि (अग्नि होत्र परायण) द्विज (क्षत्रिय राजा), अग्नि -होत्र में दीक्षित उस (राजा नल) से वैसा ही संत्रस्त हो रहा था, जैसा कि उद्भिद् अर्थात् घास-फूंस से घर बनाने वाला व्यक्ति या घोंसला बनाये अन्य पक्षी पेट में अग्नि बसाये पक्षी कबूतर को घर के ऊपर देखने से डरता है। अथवा अग्निहोत्री नल के सम्बन्धी यज्ञदीक्षित पुरोधा ब्राह्मण द्विज से (शाप-प्राप्ति की आशंका से) डरा।

टिप्पणी—नल की धर्मपरायणता, कुशल प्रशासन आदि के कारण -विभीतकाश्रयी कलि निरन्तर डर रहा था, जिसकी तुलना उस डरसे व्यक्ति अथवा पक्षी से की गयी है, जिसका आग से जलकर नष्ट हो जाने वाले घास-फूंस से बने घर में आश्रय हो और जो 'साग्नि' (पेट में आग वाले—विश्वास किया जाता है कि कपोत अंगार भक्षी होता है) कबूतर से डरता है। जाने कब आग उगल दे और घास-फूंस का घर जल जाय। कलि को राजा से डर था और पुरोधा गौतम के शाप से भी। माना जाता है कि कबूतर का गृह-प्रवेश अनिष्ट सूचक है। मोटा कलि पेड़ से गिर भी सकता था। अनुचित ताक-झाँक भी कर रहा था। इन कारणों से भी डर रहा था। नल के 'द्विज' और 'साग्नि' विशेषण उसकी कुशल शासकता, क्षत्रिय-तेज और धर्मण्य होने के परिचायक हैं ॥ २१२ ॥

विभीतकमधिष्ठाय तथाभूतेन तिष्ठता ।
तेन भीमभुवोऽमीकः स राजर्षिरधर्षि न ॥ २१३ ॥

जीवातु—विभीतकमिति। तथाभूतेन नलरन्ध्रान्वेषिणा, अत एव विभीतकम् अक्षवृक्षम्, अधिष्ठाय अधिरुह्य, तिष्ठता विद्यमानेन, तेन कलिना, भीमभुवः भैम्याः, अभिकामयते इति अभीकः कमिता, कामुक इत्यर्थः। 'अनुकाभिकाभीकः कमिता' इति कन्प्रत्ययान्तो निपातनात् साधुः। 'कामुके कमिताऽनुकः। कम्रः कामयिताऽभीकः' इत्यमरः। सः राजर्षिः मुनितुल्यो राजा नलः, न अर्षि न अभ्यभावि, न पीडयितुं शक्त इत्यर्थः। भूतावासापरास्य विभीतकवृक्षमाश्रित्य तिष्ठता तथा तादृशेन, अतिमहता इत्यर्थः। भूतेन देवयोनिविशेषेण, भीमभुवो भयङ्करस्थानात्, अभीको निर्भीकः, राजर्षिः राजश्रेष्ठः, धार्मिक इत्यर्थः। भूतापसारकमन्त्रवादी इत्यर्थो वा, न पराभूयते इति ध्वनिः, तेन च राजमन्त्रवादिनोरौपम्यं गम्यते ॥ २१३ ॥

अन्वयः—विभीतकम् अधिष्ठाय तथाभूतेन तिष्ठता तेन भीमभुवः अभीकः सः राजर्षिः न अर्षि।

हिन्दी—बहेड़े पर चढ़ कर उस प्रकार रहता वह (कलि) भीमसुता (दमयन्ती) के रमण उस राजर्षि (नल) को पराभूत न कर पाया।

टिप्पणी—राजा होकर भी ऋषि-सम सदाचारी दमयन्ती-रमण को बहेड़े पर रहता और प्रतिक्षण छिद्रान्वेषी वह कलि धर्षित, पराभूत करने का अवसर न पा सका। जैसे भीमभू अर्थात् भयानक रणभूमि में निर्भय विचरता वीर राजा किसी भयावह से नहीं डरता अथवा भीम अर्थात् रुद्र की भूमि में भयरहित वास करता कोई धर्माचारी ऋषि भूतों के आवास बहेड़े (बिभीतक को भूतावास भी कहते हैं) पर रहते 'तथाभूत'—प्रेत से पराभूत नहीं होता। राजा नल वीर, सदाचारी, धार्मिक राजा था। राजा रहते भी ऋषि तुल्य। कलि उसका कोई पराभव न कर पाया। मल्लिनाथ के अनुसार भूत भगाने का मन्त्रवादी जैसे पराभूत नहीं होता—यह ध्वनि है; जिसमें उपमा गम्य होती है ॥ २१३ ॥

तमालम्बनमासाद्य वैदर्भीनिषधेशयोः।
कलुषं कलिरन्विष्यन्नवात्सीद् वत्सरान् बहून् ॥ २१४ ॥

जीवातु—तमिति। कलिः तुरीययुगम्, तं वृक्षम्, आलम्बनम् आश्रयम्,

आसाद्य प्राप्य, वैदर्भीनिषधेशयोः भैमीनलयोः, कलुषं दुष्कृतम्, पापानुष्ठानमित्यर्थः। अन्विष्यन् अनुसन्दधन्, बहून् अनेकान्, वत्सरान् वर्षान्, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। अवात्सीत् उवास, वसेर्लुङि सिचि, 'सः स्यार्द्धधातुके' इति सस्य तत्वम्, 'वदव्रज—' इत्यादिना वृद्धिः॥ २१४॥

अन्वयः—कलिः तम् आलम्बनम् आसाद्य वैदर्भीनिषधेशयोः कलुषम् अन्विष्यम् बहून् वत्सरान् अवात्सीत्।

हिन्दी—कलि उस (बहेड़ा वृक्ष) का आश्रय पाकर विदर्भकुमारी (दमयन्ती) और निषधाधिपति (नल) के पापाचरण का अन्वेषण करता अनेक वर्ष तक रहता रहा।

टिप्पणी—बहेड़ा-वृक्ष पर रहते और नल-दमयन्ती छिद्रान्वेषण करते रहते कलि को अनेक वर्ष बीत गये॥ २१४॥

यथाऽऽसीत् कानने तत्र विनिद्रकलिका लता।
तथा नलच्छलासक्तिविनिद्रकलिकालता॥ २१५॥

जीवातु—यथेति। तत्र तस्मिन्, कानने वने, यथा विनिद्रकलिका उन्निद्रकोरका, लता व्रततिः, आसीत् अवर्त्तत; तथा तद्वदेव, नलस्य वैरसेनेः, छले छलने, रन्ध्रान्वेषणे इत्यर्थः। आसक्त्या अभिनिवेशेन, विनिद्रः जागरूका, सततमप्रमत्त इत्यर्थः। कलिः कलिरूपः, कालः समयो यस्मिन् तस्य भावः तत्ता, आसीद् इति शेषः। अत्रार्थभेदेऽपि विनिद्रकलिकालतेति शब्दमात्रसाम्यात्तथेति सादृश्यमुक्तम्॥ २१५॥

अन्वयः—तत्र कानने यथा विनिद्रकलिका लता आसीत् तथा नलच्छलासक्तिविनिद्रकलिकालता (आसीत्)।

हिन्दी—उस विशाल उपवन में जिस प्रकार खिली कलियों से युक्त लता थी, उसी प्रकार नल को छलने में आसक्त, निद्रा त्यागे कलि की स्थिति थी।

टिप्पणी—दिन-रात जाग-कर कलि राजदंपती के दोष ढूंढने में तत्पर था। कलि के निद्रा रहित नेत्र बेली की खिली कलियों-जैसे रहते थे। 'विनिद्रकलिकालता' की अर्थ भेद से द्विरुक्ति होने के कारण शब्दालंकार यमक का सौंदर्य तो है ही, मल्लिनाथ के अनुसार शब्द मात्र के साम्य से

यहाँ सादृश्य भी कहा गया है। नारायण का कथन है कि उस उद्यान का विकसित कलिकावल्ली से जैसा संबंध था, वैसा ही सदा जागते रहते कलि का भी सम्बन्ध था—इस श्लेषमात्र से उपमा भाव है ॥२१५॥

दोषं नलस्य जिज्ञासुर्बभ्राज द्वापरः क्षितौ ।
नादोषः कोऽपि लोकस्य मुखेऽस्तीति दुराशया ॥ २१६ ॥

जीवातु—दोषमिति। अथ द्वापरं तृतीययुगमपि, नलस्य नैषधस्य, दोषम् अनाचरम्, जिज्ञासुः ज्ञातुमिच्छुः सन्, लोकस्य जनस्य, मुखे वाचि, अदोषः निर्दोषः, कोऽपि कश्चिदपि, नास्ति न विद्यते, इति दुराशया दुष्टवाञ्छया, लोको हि सर्वदा दोषदर्शिपरत्वात् सर्वथा दोषलेशं द्रक्ष्यति वक्ष्यति चेति दुराग्रहेण इत्यर्थः। क्षितौ भुवि, बभ्राज रराज, बभ्रामेति यावत् ॥२१६॥

अन्वय—नलस्य दोषं जिज्ञासुः द्वापरः 'लोकस्य मुखे अदोषः कः अपि न अस्ति'—इति दुराशया क्षितौ बभ्राज।

हिन्दी—नल के कलुष को जानने का इच्छुक द्वापर इस दुराशा से कि जनवार्ता में कोई व्यक्ति दोष हीन नहीं है—पृथ्वी मण्डल पर घूमता फिरा।

टिप्पणी—कलि का सहायक द्वापर था। वह यह मानता था (और सामान्यतया ठीक ही मानता था) कि संसार में प्रत्येक व्यक्ति जिसे निर्दोष मानता हो, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है। कोई न कोई व्यक्ति जगत् भर में ऐसा मिल ही जाता है, जो पुण्यात्मा से पुण्यात्मा व्यक्ति को भी निर्दोष नहीं मानता। ऐसा व्यक्ति मिल जाय—यह बुरी इच्छा मन में लिये द्वापर पृथ्वी का चक्कर लगाता फिरा कि कोई न कोई, कहीं न कहीं—नल को दोषी बताने वाला मिलेगा ही ॥ २१६ ॥

अमुष्मिन्नारामे सततनिपतद्दोहदतया
प्रसूनैरुन्निद्रैरनिशममृतांशुप्रतिभटे ।
अमी बद्धालम्बं कलिरजनि कादम्बविहग-
च्छदच्छायाम्भोजोचितरुचिनया लाञ्छनमृगः ॥ २१७ ॥

जीवातु—अमुष्मिन्निति। सततम् अविरतम्, निपतद्दोहदतया मिलद्धूपादिसंस्कारतया, 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया।' इति शब्दार्णवे। उन्निद्रैः विकसितैः, प्रसूनै-

कुसुमैः, अनिशं निरन्तरम्, अमृतांशुप्रतिभटे चन्द्रस्पर्द्धिनि, चन्द्रकल्पे इत्यर्थः। अमुष्मिन् अस्मिन्, आरामे गृहोद्याने, बद्धालम्बः वृताश्रयः, असौ कलिः युगशेषः, कादम्बविहगस्य कलहंसस्य, यः छदः पक्षः, धूम्रवर्ण इति भावः। तस्य छाया कान्तिः, तया अभ्यङ्गे लेपने, उचिता अभ्यस्ता, रुचिः स्पृहा यस्य तस्य भावः तत्ता, तथा कलहंसपक्षवत् कृष्णवर्णतया इत्यर्थः। लाञ्छनमृगः कलङ्कशशः, अजनि जनितः। चन्द्रे कलङ्कवत् उद्यानचन्द्रस्य अयं कृष्णवर्णकलङ्करूपः अभूत् इति भावः॥ २१७॥

अन्वयः—सततनिपतद्दोहदतया उन्निद्रैः प्रसूनैः अनिशम् अमृतांशुप्रतिभटे अमुष्मिन् आरामे बद्धालम्बः असौ कलिः कादम्बविहगच्छदच्छायाभ्यङ्गोचितरुचितया लाञ्छनमृगः अजनि।

हिन्दी—निरन्तर (वृक्षों से फूल-फल-प्राप्ति के निमित्त) दोहद (धूपादि खाद और उपजाऊ पानी) दिये जाने के कारण खिले फूलों से सदा अमृतकिरणमाली (चन्द्र) के प्रतिद्वंद्वी इस उपवन में (ही) आश्रय लिये (वास करता) वह कलि श्याम पंख वाले कलहंसों के पंखों की कांति के स्पर्श मात्र से अतिशय श्याम कांति हो जाने के कारण चन्द्र का कृष्णमृगचिह्न हो गया।

टिप्पणी—वह गृहोपवन चन्द्र के समान उज्ज्वल था, क्योंकि वहाँ उचित खाद-पानी का निरन्तर प्रबन्ध था, जिससे सदा उज्ज्वल फूल खिले रहते थे, फलों से वृक्ष सम्पन्न रहते थे। वहाँ कादम्ब के पंखों-सा काला कलि बहेड़े पर आवास बनाये चिरकाल से स्थित था। सो उजले चन्द्रसम क्रीडाराम में वह काला कलि मृगचिह्न-कलंक-सम प्रतीत हो रहा था। तात्पर्य यह कि निर्दोष नल और उद्यान में दोषान्वेषणता पर कलि स्वयं ही दोष और कलंक बन गया। निर्दोष में दोषान्वेषण आकाश पर थूकने के समान है, जैसे वह थूक थूकने वाले पर ही गिरता है, ऐसे ही दोष ढूंढने वाला स्वयं ही कलंकी-दोषी बन जाता है, सज्जन का कुछ नहीं बिगड़ता। ऐसे ही नल में दोष तो नहीं मिला, कलि स्वयं कलंकस्वरूप हो गया। फूल-फलों की सदा प्राप्ति के निमित्त वृक्षों में धूपादि का दोहद प्रयुक्त होता है। आयुर्वेदानुसार चम्पक में पिण्याक (तिल-सरसों की खली, हींग, केसर आदि

को खली) का जल, बकुल (मौलसिरी) में सुन्दरियों द्वारा मदिरा की कुल्ली आदि का विधान है। शिखरिणी छन्द ॥ २१७ ॥

स्फारे तादृशि वैरसेनिनगरे पुण्यैः प्रजानां घनं
विघ्नं लब्धवतश्चिरादुपनतिस्तस्मिन् किलासीत् कलेः।
एतस्मिन् पुनरन्तरेऽन्तरमितानन्दः स भैमीनला-
वाराद्धुं व्यधित स्मरः श्रुतिशिखावन्दारुचूडं धनुः ॥ २१८ ॥

जीवातु–स्फारे इति। तादृशि तथाभूते, स्फारे विशाले, वैरसेनेः नलस्य, नगरे पुरे, निषधराज्ये इत्यर्थः, प्रजानां लोकानाम्, पुण्यैः धर्मैरेव, घनं निरन्तरम्, विघ्नं कार्यप्रतिबन्धम्, लब्धवतः अपूर्णमनोरथस्य इत्यर्थः। कलेः कलियुगस्य, तस्मिन्नुद्याने, चिरात् बहुकालम्, उपनतिः स्थितिः, अभूत् आसीत् किल, एतस्मिन् अन्तरे अस्मिन् अवकाशे पुनः, अन्तः अन्तःकरणे, अमितानन्दः अतिहृष्टः, सः अमोघलक्ष्यः, स्मरः कन्दर्पः, भैमीनलौ दमयन्तीनैषधौ, आराद्धुम् उपासितुम्, वशीकर्तुमिति यावत्। श्रुतिशिखाम् आकर्णाग्रम् वन्दारु उपनता इति यावत्। चूडा कोटिः यस्य तत् तादृशम्, आकर्णाकृष्टम् इत्यर्थः। धनुः चापम्, व्यधित विहितवान्, बाणेन संयोजितवानित्यर्थः। कलेराक्रमणात् प्राक् तौ यथाकामं कामसुखम् अन्वभूताम् इति निष्कर्षः ॥ २१८ ॥

अन्वयः—तादृशि स्फारे वैरसेनिनगरे प्रजानां पुण्यैः घनं विघ्नं लब्धवतः कलेः तस्मिन् किल चिरात् उपनतिः आसीत्। एतस्मिन् पुनः अन्तरे अन्तरमितानन्दः सः स्मरः भैमीनलौ आराद्धुं श्रुतिशिखावन्दारुचूडं धनुः व्यधित।

हिन्दी—उक्त प्रकार के (धर्मबहुल) विशाल वीरसेनसुत (नल) के नगर में प्रजाजनों के पुण्य-प्रभाव से निरन्तर घना विघ्न (प्रचुर प्रतिबन्ध) प्राप्त करते कलि का बहुत समय तक वास रहा। इसी बीच हृदय में अत्यन्त मुदित उस (अमोघ लक्ष्यता के लिए प्रख्यात) कामदेव ने भीमसुता (दमयन्ती) और नल की आराधना (वशवर्तिता) करने के लिए कानों के छोर तक धनुष् की चूड़ा (अग्रभाग) नँवा कर स्थिर की।

टिप्पणी—पुण्यात्मा नल, पुण्याचारी प्रजा और पुण्यागार निषध राजधानी। बहुत दिनों तक कलि गृहवाटिका के विभीतक वृक्ष पर

दोषान्वेषण के लिए स्थित रहा, पर प्रजाजन के पुण्य नल के साथ थे। वे कलि की साधना में महान् विघ्न कर अड़े रहे और वह कृतकाम न हो पाया। इस बीच काम ने नल दमयन्ती को अपने बाणों का लक्ष्य बनाया और वे नवोढ दम्पती उस सुन्दर नगरी में, रम्य प्रासाद में, देवों के स्वर्ग चले जाने और कलि के अपूर्ण मनोरथ हो गृहाराम में छिपे रहते, नवानुराग से परिव्याप्त हो सानन्द कामाराधन में लीन हो गये। इसके द्वारा कवि ने भावी सर्ग में वर्णित संभोगारम्भ सूचित कर दिया ॥ २१८ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
यातः सप्तदशः स्वसुः सुसदृशि छन्दः प्रशस्तेर्महा-
काव्ये तद्भुवि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ २१९ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति। स्वसुः सोदर्याः, एककर्तृत्वात् एकोदरत्वव्यपदेशः। छन्दःप्रशस्तः छन्दोबद्धराजचरितवर्णनाग्रन्थस्य, स्वकृतेरिति भावः। सुसदृशि अत्यन्ततत्सदृशि। तस्मात् श्रीहर्षात् भवतीति तद्भुवि। व्याख्यातमन्यत् ॥ २१९ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु'समाख्याने सप्तदशः सर्गः समाप्तः ॥१७॥

अन्वयः—पूर्वार्द्धस्य पूर्ववत्। स्वसुः छन्दःप्रशस्तेः (छिन्दप्रशस्तेः) सुसदृशि तद्भुवि महाकाव्ये नैषधीयचरिते निसर्गोज्ज्वलः सप्तदशः सर्गः यातः।

हिन्दी—पूर्वार्द्ध का पूर्ववत्। सहोदरा छन्दोबद्ध राज-चरित-प्रशस्ति 'छिन्दप्रशस्ति' के अत्यन्त समान, उस (श्रीहर्ष) द्वारा रचित महाकाव्य 'नैषधीयचरित' में प्रकृत्या उज्ज्वल सत्रहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

टिप्पणी—सत्रहवें सर्ग की समाप्ति-सूचक इस उक्ति से कवि श्रीहर्ष ने यह सूचना भी दे दी कि उसने छन्दोबद्ध राज-चरित 'छिन्दप्रशस्ति' की भी रचना की थी। स्वयं ही 'नैषधीयचरित' और 'छिन्दप्रशस्ति' का रचयिता—जनक होने के कारण कवि ने 'छिन्दप्रशस्ति' को 'नैषधीयचरित' की 'स्वसा' (भगिनी) कहा है ॥ २१९ ॥

नैषधीयचरिते सप्तदशः सर्गः समाप्तः।

अष्टादशः सर्गः

सोऽयमित्थमथ भीमनन्दिनीं दारसारमधिगम्य नैषधः ।
तां तृतीयपुरुषार्थवारिधेः पारलम्भनतरीमरीरमत् ॥ १ ॥

जीवातु—सोऽयमिति । अथ इति वाक्यारम्भे अध्यायारम्भे वा, सः प्रसिद्धः, अयं नैषधः नलः, इत्थम् एवम्, पूर्ववर्णितप्रकारेणेत्यर्थः । दारसारं दारेषु स्त्रीषु, सारं वरम्, श्रेष्ठमित्यर्थः । स्त्रीरत्नमिति यावत् । 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इति शाश्वतः । भीमनन्दिनीं भैमीम् । नन्द्यादित्वात् ल्युट्प्रत्ययः । अधिगम्य प्राप्य, तृतीयपुरुषार्थवारिधेः कामसागरस्य, पारलम्भने परतीरप्राप्तौ, तरीं नावम्, तरणीस्वरूपामित्यर्थः । तां दमयन्तीम्, अरीरमत् रमयामास, रमतेर्णौ चङ् । अस्मिन् सर्गे रथोद्धतावृत्तम्—'रो नराविह रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ सः नैषधः इत्थं दारसारं भीमनन्दिनीम् अधिगम्य तृतीयपुरुषार्थवारिधेः पारलम्भनतरीं ताम् अरीरमत् ।

हिन्दी—तत्पश्चात् वह निषधराज (नल) इस प्रकार (पूर्ववर्णित विवरण के अनुसार) नारियों में सार (श्रेष्ठ) भीमपुत्री (दमयन्ती) को प्राप्त कर तृतीय पुरुषार्थ (काम) रूप सागर को पार करा देने वाली नौका उस (दमयन्ती) से रमण करने लगा ।

टिप्पणी—नल-दमयन्ती का विवाह सम्पन्न हो गया । देव स्वर्ग गये । कुद्ध कलि चुपचाप प्रासादक्रीडाराम में बहेड़े के वृक्ष पर आवास किये नल को कष्ट पहुँचाने का अवसर खोजने लगा । और नल-दमयन्ती का लीला विलास आरम्भ हुआ । यहाँ काम—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों में तृतीय पुरुषार्थ—को समुद्र कहा गया है और नारिश्रेष्ठ दमयन्ती को उस सागर के पार पहुँचाने वाली नौका—तरी । बिना श्रेष्ठ नौका के समुद्र पार करना संभव जो नहीं होता । भीमनन्दिनी के दोनों विशेषण उसके विश्वजित्, अप्रतिम सौन्दर्य के सूचक हैं, इन्द्रादि भी जिसकी कामना

करते थे। इस सर्ग में श्लोक संख्या १–१४७ तक रथोद्धता छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में ग्यारह वर्ण इस क्रम से होते हैं—ऽ।ऽ (रगण), ।।। (नगण), ऽ।ऽ (रगण), ।ऽ (लघु-गुरु) ॥ १ ॥

आत्मवित्सह तया दिवानिशं भोगभागपि न पापमाप सः।
आहृता हि विषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पति ॥ २ ॥

जीवातु—आत्मेति। आत्मवित् आत्मज्ञानी, जीवब्रह्माभेदबुद्धिशाली इति यावत्। सः नलः, तया भैम्या सह, दिवानिशम् अहोरात्रम्, द्वन्द्वैकवद्भावः। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। भोगभाक् अपि विषयसुखमनुभवन् अपीत्यर्थः, 'भजो ण्विः' पापम् इन्द्रियानिग्रहजनितप्रत्यवायम्, न आप न लेभे। ननु 'अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति' इति निषेधात् कथं दिवानिशं विषयलोलुपस्य न पापमत आह—आहृतेति। हि तथाहि, आहृता कृत्रिमा, विषयेषु शब्दादिषु, एकतानता एकाग्रता, 'एकतानोऽनन्यवृत्तिरेकाग्रैकायनावपि' इत्यमरः। ज्ञानेन तत्त्वबुद्ध्या, धौतमनसं निर्मलान्तःकरणम्, जनमिति शेषः। न लिम्पति न स्पृशति, न पातयति इत्यर्थः। 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' इति भगवद्वचनादिति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ २ ॥

अन्वयः—आत्मवित् सः तया सह दिवानिशं भोगभाक् अपि पापं न आप, हि आहृता विषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पति।

हिन्दी—आत्मज्ञानी वह (नल) उस (दमयन्ती) के साथ दिनरात विषयभोग में लीन रहते हुए भी पापभागी न हुआ, क्योंकि आहृत (कृत्रिम, ओढ़ी हुई) विषय-परता तत्त्वज्ञान से निर्मलमन व्यक्ति का स्पर्श नहीं करती।

टिप्पणी—नल-दमयन्ती का उद्दाम विलास अहोरात्र चला। यहाँ आपत्ति हो सकती है कि जिसे उदात्त चरित्र का धनी और पुण्यश्लोक कहा गया है, वह नल विषय वासना से पराभूत हो गया। इसका समाधान नल को आत्मतत्त्वज्ञानी अर्थात् जीव-ब्रह्म में अभेद बुद्धि रखने वाला कह कर किया गया है। आत्मज्ञानी व्यक्ति शरीर से ऊपर-ऊपर सांसारिक भोग सामग्री का उपभोग करते हुए भी मन से उनमें लिप्त नहीं होता। उसका मन, उसका अन्तःकरण तत्त्वज्ञान से प्रक्षालित रहने कारण स्वच्छ-निर्मल रहता है, अतः ऊपर-ऊपर से ओढ़ी गयी कृत्रिम भोगपरायणता आत्मज्ञानी के निर्मल अन्तस्

को छू भी नही सकती। यह आहार्या (कृत्रिम) विषयपरता आत्मवेत्ता नल का स्पर्श भी नही कर रही थी, यद्यपि दिवानिशि वह 'तृतीयपुरुषार्थ-वारिधि' की 'पारलम्मनतरी' के साथ क्रीडारत था। ज्ञानाग्नि मे सर्व कर्म भस्म कर दिये जाते हैं। आत्मज्ञानी पुरुष चारों पुरुषार्थों का यथासमय, यथाविधि भोग करते है—धर्म अर्थात् सुव्यवस्थित आचार प्रणाली के अनुसार 'अर्थ'-अर्जन करते हैं और दो पुरुषार्थों को प्राप्तकर तृतीय पुरुषार्थ मे रत रह अन्त मे चतुर्थ पुरुषार्थ 'मोक्ष' तक पहुँच जाते हैं। कालिदास के अनुसार—'शैशवेऽभ्यस्तविद्याना यौवने विषयैषिणाम्। वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीना योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥' मल्लिनाथ के अनुसार सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास ॥ २ ॥

न्यस्य मन्त्रिषु स राज्यमादरादारराध मदनं प्रियासख ।
नैकवर्णमणिकोटिकुट्टिमे हेमभूमिभृति सौधभूधरे ॥ ३ ॥

जीवातु—न्यस्येति। सः राजा, मन्त्रिषु अमात्येषु, राज्य राज्यभारम्, न्यस्य निधाय, नैकवर्णा अनेकवर्णाः, नञर्थस्य न शब्दस्य सुप्सुपेति समास। मणिकोटय. असङ्ख्यरत्नानि यस्मिन् तादृशम्, कुट्टिम बद्धभूमि यस्मिन् तथोक्ते, हेमभूमिभृति सुवर्णमयभूयुक्ते, भृञ क्विप्। सौध प्रासाद एव, भूधर. पर्वत तस्मिन्, पर्वतसदृशे अत्युच्चप्रासादे, प्रियासख भैमीद्वितीयः सन्, आदरात् आग्रहादित्यर्थः। मदन कन्दर्पम्, आरराध सिषेवे, शच्या मेरौ इन्द्र इव भैम्या सह तत्र सौधे रतिसुखमन्वभूदिति भाव ॥ ३ ॥

अन्वय.—स मन्त्रिषु राज्य न्यस्य नैकवर्णमणिकोटिकुट्टिमे हेमभूमिभृति सौधभूधरे प्रियासखः आदरात् मदनम् आरराध।

हिन्दी—वह (नल) मन्त्रियो पर राज्य-व्यवस्था छोडकर अनेक वर्ण के कोटिश (प्रभूत) रत्न मणि जटित कुट्टिम (फर्श) से सयुत, स्वर्ण भूमि वाले प्रासाद रूप पर्वत पर प्रिया (दमयन्ती) के साथ आदर-(आसक्ति)-पूर्वक काम पूजा मे सलग्न हुआ।

टिप्पणी—'आदर' पूर्वक 'मदनाराधन' काम की धर्म विषयता को प्रस्तुत करने के निमित्त कहा गया है। मदनाराधन भी एक आवश्यक आचार पद्धति है, प्रिया जिसमें सखी—आलबन है। प्रासाद स्वर्णगिरि सुमेरु सा

-उन्नत है, रत्नमणि जटित। मल्लिनाथ के अनुसार सुमेरु पर शची के साथ इन्द्र की भाँति नल दमयन्ती-सहित प्रासाद में रतिसुख का अनुभव करने लगे। नारायण के अनुसार इस श्लोक से 'तत्र सौधसुरभूधरे' (३-२७) तक 'महाकुलक' है ॥ ३ ॥

वीरसेनसुतकण्ठभूषणीभूतदिव्यमणिपंक्तिशक्तिभिः।
कामनोपनमदर्थतागुणाद् यस्तृणीकृतसुपर्वपर्वतः ॥ ४ ॥

जीवातु—अथ चतुर्विंशतिश्लोक्या सौधं वर्णयति–वीरेत्यादि। यः सौधः, वीरसेनसुतस्य नलस्य, कण्ठभूषणीभूतायाः गलदेशस्य आभरणस्वरूपायाः, दिव्यायाः अलौकिक्याः, मणिपंक्तेः रत्नमालिकायाः, शक्तिभिः अचिन्त्य-प्रभावैः, कामनया सङ्कल्पमात्रेणैव, उपनमदर्थता सम्प्राप्तेष्टवस्तुता, सैव गुणः उत्कर्षः तस्मात्, तृणीकृतः अवधीरितः, सुपर्वपर्वतः सुराचलः, सुमेरुभूधरः इत्यर्थः। येन तादृशः, न केवलमौन्नत्येन सम्पदाऽपि सुमेरोरधिकः सः इति निष्कर्षः ॥ ४ ॥

अन्वयः—यः वीरसेनसुतकण्ठभूषणीभूतदिव्यमणिपङ्क्तिशक्तिभिः कामनोपनमदर्थतागुणात् तृणीकृत सुपर्वपर्वतः।

हिन्दी—जो (सौध) वीरसेनपुत्र (नल) के कण्ठ में आभरण बनी दिव्य (अलौकिक) मणिमालाओं के प्रभावों के कारण संकल्पमात्र से अभीष्ट पदार्थों को उपलब्ध करा देने के गुण से देवाचल (सुमेरु) को (अपने संमुख) तुच्छ-नगण्य बना रहा था।

टिप्पणी—सुमेरु से भी श्रेष्ठ वह राजप्रासाद था, केवल ऊँचाई की दृष्टि से नहीं, अपितु सम्पदा की दृष्टि से भी, क्योंकि सुमेरु पर नल नहीं थे; यहाँ नल थे, जिनके कंठ में आभूषण बनी दिव्यमणियाँ इच्छामात्र से अभीष्ट प्राप्त करा देती थीं। नारायण के अनुसार यहाँ उपमा है, क्योंकि सुमेरु और राजसौध—दोनों में सर्वार्थदायी चिन्तामणिरत्न विद्यमान था; अथवा सौध में अनेक चिन्तामणियाँ थीं, अतः वह सुमेरु से श्रेष्ठ था ॥ ४ ॥

धूपितं यदुदराम्बरं चिरं मेचकैरगुरुसारदारुभिः।
जालज.लधृतचन्द्रचन्दनक्षोदमेदुरसमीरशीतलम् ॥ ५ ॥

जीवातु—धूपितमिति। यस्य सौधस्य, उदराम्बरम् अभ्यन्तराकाशम्,

मध्यदशमित्यर्थ । चिरं नित्यम्, मचकै कृष्णै , अगुरुण तदाख्यचन्दनविशेषस्य, सारदारुभि. अभ्यन्तरस्थदृढकाष्ठै, धूपित तद्धूमवासितमित्यर्थ । किञ्च, जालजालेषु गवाक्षसमूहेषु, धृतै स्थितै, चन्द्रचन्दनक्षोदै कर्पूरश्रीखण्डचूर्णै, मेदुरेण सान्द्रहिनग्धेन, मृदुसुरभिणेति यावत् । समीरेण वायुना, शीतल हिमम्, दूरीभूतधूपजसन्तापमित्यर्थ ॥ ५ ॥

अन्वय —मेचकै अगुरसारदारुभिः चिर धूपित जालजालधृतचन्द्रचन्दनक्षोदमेदुरसमीरशीतल यदुदराम्बरम् ।

हिन्दी—श्यामल अगुरु काष्ठों से नित्य वासित और खिडकियां झरोखा मे रखे कर्पूरचन्दन चूर्ण (अथवा चन्द्र ज्योत्स्ना और चन्दनचूर से अतिशय सुगन्धि और शीतल समीर से जिस (प्रासाद) का गर्भभाग शीतल था ।

टिप्पणी—उद्दीपनविभाग । प्रासाद का गर्भगृह सुगन्धि और शीतल था, क्योकि वहां निरन्तर अगुरु की धूप दी जाती थी और खिडकियो झरोखो मे कपूरचन्दन का चूर्ण प्रचुर मात्रा मे रखा गया था और रात मे चांदनी छन छन कर आती थी, शीतल सुगंधि समीरण बहता रहता था ॥ ५ ॥

क्वापि कामशरवृत्तवर्तयो यं महासुरभितैलदीपिका ।
तेनिरे वितिमिरं स्मरस्फुरद्दो प्रतापनिकराङ्कुरश्रिय ॥ ६ ॥

जीवातु—क्वापीति । कामशर चूतमुकुल , कर्पूरविशेष इति वा, तेन वृत्ता निष्पन्ना , वर्त्तय दशा यासा तादृश्य, महासुरभीणि अतिशयसुगन्धीनि, तैलानि तिलजानि यासा तादृश्यः, दीपिका प्रदीपा , स्मरस्य कामस्य, स्फुरतो स्पन्दमानयो , भैमीनलव्यथार्थं चलितयोरित्यर्थः । दोपो भुजयोः, प्रतापनिकरस्य तेजोराशे , अङ्कुराणा प्ररोहाणाम्, श्री शोभा इव, श्री यासा तादृश्यः सत्य , य सौधम् क्वापि कुत्रचित् भैमीनलालङ्कृतदेशे इत्यर्थं । वितिमिर तमोराहित्यम्, तेनिरे चक्रिरे ॥ ६ ॥

अन्वय —क्व अपि कामशरवृत्तवर्त्तय महासुरभितैलदीपिका स्मरस्फुरद्दो प्रतापनिकराङ्कुरश्रिय य वितिमिर तेनिरे ।

हिन्दी —कही (जहाँ नल-दमयन्ती विराजित थे) कामशर (आम की मजरी अथवा एक विशिष्ट प्रकार की सामग्री) से निष्पन्न बातियों वाले अत्यन्त सुगन्धि तैल के दीप, काम की फड़कती भुजाओं की तेजोराशि के अकुरों की शोभा को धारते, जिस (सौध) को अधकार से रहित बना रहे थे ।

टिप्पणी—प्रासाद में जहाँ नल-दमयन्ती विराजमान थे, वहाँ अत्यन्त सुगन्धि तेल के दीप प्रकाश कर रहे थे। आम्रमुकुल-सी उनकी वाती कामदेव के भुज प्रताप के अंकुरों-सी प्रतीत होती थीं, जिसके दर्शनमात्र से कामोत्पन्न होता था। नारायण के अनुसार यहाँ उपमोत्प्रेक्षा है। नारायण ने 'कामशर' का अर्थ धूपविशेष भी माना है, जिनसे वाती निष्पन्न हुई थीं—'पुरसर्जाभयालाक्षामखाब्जादिजटागदैः। समैः समधुभिर्धूपो मतः कामशराभिधः॥' अर्थात् आम के समान एकवास राल, हरड़, लाख, नखी नामक गन्धद्रव्य (जिसे आग में डालने से सुगन्ध आती है), कमल, वालछड़—इन औषधियों को समभाग में मधु मिलाकर बनाया गया सुगन्धि द्रव्य 'कामशर' कहाता है।

'कुङ्कुमैणमदपङ्कलेपिताः क्षालिताश्च हिमवालुकाऽम्बुभिः।
रेजुरध्वततशैलजस्रजो यस्य मुग्धमणिकुट्टिमा भुवः॥ ७॥

जीवातु—कुङ्कुमेति। कुङ्कुमैणमदयोः काश्मीरजकस्तूरिकयोः; पङ्केन कर्दमेन, घृष्टकुङ्कुममृगमदाभ्यामित्यर्थः। लेपिताः दिग्धाः, च किञ्च, हिमवालुकाऽम्बुभिः कर्पूरोदकैः 'अथ कर्पूरमस्त्रियाम्। घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताभ्रो हिमवालुका' इत्यमरः। क्षालिताः धौताः, तथा अध्वसु प्रवेशमार्गेषु, तताः विस्तृताः, शैलजस्य शैलेयस्य, शिलाकुसुमाख्यगन्धद्रव्यस्येत्यर्थः। स्रजः माला यासु तादृश्यः, तथा मुग्धाः सुन्दराः, मणीनां रत्नानाम्, मणिमया इत्यर्थः। कुट्टिमाः निबद्धप्रदेशाः यासु तादृश्यः। 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः' इति यादवः। यस्य सौधस्य, भुवः अङ्गणादिप्रदेशा इत्यर्थः। रेजुः शुशुभिरे। भूतवृक्षवत् सामान्यविशेषभावादपौनरुक्त्यम्। समृद्धिमद्वस्तुवर्णनादुदात्तालङ्कारः॥ ७॥

अन्वयः—कुङ्कुमैणमदपङ्कलेपिताः हिमवालुकाम्बुभिः च क्षालिताः अध्वततशैलस्रजः मुग्धमणिकुट्टिमाः यस्य भुवः रेजुः।

हिन्दी—कुंकुम और कस्तूरी के लेप से लिपीं और कपूर से सुगन्धि जल में धोयी गयीं नलागमनमार्ग में सजायी गयीं शिलाकुसुम की मालाओं से सुन्दर-मणिखचित जिसकी कुट्टिमभूमि सुशोभित थी।

टिप्पणी—आशय यह है कि मणिजटित फर्श को सुगन्धि जल से धो स्वच्छ और फिसलना न हो, इसलिए पोंछ कर स्वच्छ कर दिया गया था और वहाँ फूल बिछा दिये गये थे, जिससे चलने में पैरों को कोमलता की अनुभूति हो। अर्थात् फर्श स्वच्छ फिसलन रहित, कोमल (गुद-गुदा) और

सुगन्धि था। पहिले कपूर जल से धोया पुन कुंकुम कस्तूरी का लेप कर सुखाया गया, तब शिला कुसुम बखेर दिये गये। मार्ग स्वच्छ, फिसलन रहित और गुदगुदा बन गया॥ ७॥

नैषधाङ्गपरिमर्दमेदुरामोदमार्दवमनोज्ञवर्णया।

यद्भुव क्वचन सूनशय्ययाऽभाजि भालतिलकप्रगल्भता॥ ८॥

जीवातु—नैषधेति। नैषधस्य नलस्य, अङ्गपरिमर्दन शरीरमर्दनेन, अङ्गलोठनेनेत्यर्थ। मेदुर सान्द्र, आमोद गन्ध, मार्दव मृदुत्वम्, मनोज्ञ मनोरम वर्णश्च शोभावर्णश्चेत्यर्थ। यस्या तादृश्या, सूनशय्यया कुसुमशयनेन, यस्य सौधस्य, भुव प्रदेशविशेषा, क्वचन कुत्रचित्, नलस्य शयनस्थाने इति यावत्, भाल तिलकस्य ललाटदेश तिलकधारणस्य, प्रगल्भता स्पर्द्धा, शोभेति यावत्। अभाजि प्राप्ता इति निदर्शनालङ्कार॥ ८॥

अन्वय—क्वचन नैषधाङ्गपरिमर्दमेदुरामोदमार्दवमनोज्ञवर्णया सूनशय्यया यद्भुव भालतिलकप्रगल्भता अभाजि।

हिन्दी—कहीं (दम्पती के शयन स्थान में) निषधराज (नल) शरीर-सस्पर्श से अत्यधिक सुगन्धि, कोमल, अम्लान सुन्दर फूलो की शय्या जिस (प्रासाद) की भूमि के मस्तक पर लगे तिलक की रमणीयता प्राप्त कर रही थी। अथवा कुसुमशय्या तुल्य अतिकोमल दमयन्ती के भालतिलक से प्रासाद भूमि ने रमणीयता प्राप्त की।

टिप्पणी—वरुण ने नल को वर दिया था कि उसके शरीर सस्पर्श से पुष्प अत्यन्त सुगन्धि हो जायें और अम्लान रहे—'अम्लानिरामोदभरश्च दिव्य। पुष्पेषु भूयाद् भवदङ्गसङ्गात्॥' (नै० च० १४।८२)। इसी कारण दम्पती की सुमनशय्या के फूल दिव्य आमोद भर से सुगन्धि और अम्लान रहे। वह सुमनशय्या कुट्टिमभूमि के तिलक सी लग रही थी। मल्लिनाथ के अनुसार निदर्शनालकार॥ ८॥

क्वापि यन्निकटनिष्कुटस्फुटत्कोरकप्रकरसौरभोर्मिभि।

सान्द्रमभ्रियत भीमनन्दिनीनासिकापुटकुटीकुटुम्बिता॥ ९॥

जीवातु—क्वापीति। क्वापि क्वचित् प्रदेशे, यस्य सौधस्य, निकटे समीपस्थे, निष्कुटे गृहारामे, स्फुटता विकसताम्, कोरकप्रकराणा कलिकानिव-

द्यानाम्, सौरभोर्मिभिः परिमलपरम्पराभिः, सान्द्रं निरन्तरम्, भीमनन्दिनी भैमी, तस्याः नासिकापुटयोः नासारन्ध्रयोः, कुटीकुटुम्बिता गार्हस्थ्यम्, नित्यस्थायित्वमित्यर्थः। अभ्रियत अधारि, नन्दनविहारसुखम् अनुभूयते तया इति भावः ॥ ९ ॥

अन्वयः—क्व अपि यन्निकटनिष्कुटस्फुटत्कोरकप्रकरसौरभोर्मिभिः सान्द्रं भीमनन्दिनीनासिकापुटकुटीकुटुम्बिता अभ्रियत।

हिन्दी—कहीं (प्रासाद में) जिस (प्रासाद) के समीपवर्ती गृहोद्यान में खिलतीं कलियों के सुगन्ध की लहरों ने निरन्तर भीमसुता (दमयन्ती) के नासारन्ध्रों की कुटिया में कुटुम्ब-भाव धारण कर लिया था।

टिप्पणी—भाव यह कि प्रासाद के निकटती गृहाराम में खिलती कलियों की मनोज्ञ सुगन्ध का आनन्द लेती दमयन्ती नन्दन कानन में विहार का सुख भोग रही थी। दमयन्ती के नासारन्ध्र कुटिया हैं, जिसमें कलियों का सौरभ स्थायी आवास करता था ॥ ९ ॥

रुद्धसर्वऋतुवृक्षवाटिकाकीरकृत्तसहकारशीकरैः।

यज्जुषः स्म कुलमुख्यमाशुगा घ्राणवातमुपदाभिरञ्चति ॥ १० ॥

जीवातु—रुद्धेति। आशुगः वायुः, वहिश्चरो वायुरिति भावः। 'आशुगोऽर्के शरे वायौ' इति यादवः। कुलमुख्यं वंशमध्ये श्रेष्ठम्, नलदमयन्त्योः तत्परिजनानाञ्च घ्राणरन्ध्रे स्थानलाभादिति भावः। यज्जुषः यत्सौधसेविनः, जनस्य इति शेषः, घ्राणवातं निःश्वासमारुतम्, रुद्धाः अवरुद्धाः, एकत्र सम्भूय स्थिता इत्यर्थः। रुधेः कर्मणि क्तः। 'ऋद्धाः' इति पाठे-ऋद्धाः समृद्धाः, ऋध्यतेः कर्त्तरि क्तः। सर्वे समस्ताः, ऋतवः वसन्तादयः यस्यां तादृश्याम्, 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः। एकत्रावस्थितषड्ऋतुकायामित्यर्थः। वृक्षवाटिकायां गृहसंलग्नोपवने, कीरैः शुकैः, कृत्तानां खण्डितानाम्, सहकाराणां सुरभिचूतवृक्षाणाम्, शीकरैः अम्बुकणैः, जलकणामिश्रितमृदुसौरभैरेवेत्यर्थः। उपदाभिः उपायनैः, अञ्चति स्म पूजयति स्म ॥ १० ॥

अन्वयः—आशुगः यज्जुषः कुलमुख्यं घ्राणवातं रुद्धसर्वऋतुवृक्षवाटिकाकीरकृत्तसहकारशीकरैः उपदाभिः अञ्चति स्म।

हिन्दी—पवन जिस (प्रासाद) के सेवी जनों (नल, दमयन्ती तथा

उनके परिजन) के कुल मे मुख्य (पच पवनो के कुल म प्रमुख) नासाश्वास (प्राणवायु) की, जिसम सभी छ' ऋतुएँ और सब प्रकार के वृक्ष थे, एसी गृहवाटिका में तोता के कुतरे आमो के रस बिन्दुओ के उपहारा से पूजा कर रहा था।

टिप्पणी--गृहवाटिका म सभी ऋतुएँ सदा रहती थी, अथवा समय-समय पर यथानियम सभी ऋतुओ का प्रभात हुआ करता था और सभी प्रकार के, सब ऋतुओ के अनुकूल वृक्ष फूला फला करते थ। आम्र आदि फलो को तोते प्राय कुतरा करते थे, जिसका रस पवन मे मिलता था और उसे सुगन्धित बना देता था। नल-दमयन्ती और अन्य क्रीडाराम मे विहार करने वाले जनों के नि श्वास को वह सुगन्धि समीर सौरभसिक्त कर दिया करता था। यह कुलजना द्वारा कुलप्रमुख की आराधना के रूप मे उद्भावित है। वायु पाँच हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान। इनमे नासावर्ती नि श्वास—प्राणवायु प्रमुख है। सो वायु अपने कुलप्रमुख प्राणवायु को सौरभोपहार दे उसकी अर्चना किया करता था। आशय यह कि क्रीडाराम में शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु बहा करता था ॥ १० ॥

कुत्रचित् कनकनिर्मिताखिल क्वापि यो विमलरत्नज किल।
कुत्रचिदचितचित्रशालिक क्वापि चास्थिरविधैन्द्रजालिक ॥ ११॥

जीवातु—कुत्रचिदिति। य सौध, कुत्रचित् क्वापि प्रदेशे, कनकनिर्मित सुवर्णमयम्, अखिल समग्रात्र यस्य स तादृश, क्वापि कुत्रचित् प्रदेशे, विमलरत्नेभ्य उज्ज्वलमणिभ्य, जात निर्मित, भास्वररत्नघटित इत्यर्थ। किल इति प्रसिद्ध। कुत्रचित् कस्मिन्नपि भागे रचिता, निर्मिता, चित्रशालिका आलेख्य गृहा यस्य तादृश, बहुचित्रसमन्वितगृहविशिष्ट चित्राङ्कितगृहविशिष्टो वा इत्यर्थ। क्वापि च कस्मिंश्चिद् भागे, अस्थिरविधः क्षणे क्षणे परिवर्तितप्रकार, कदाचित् तमस कदाचिदालोकस्य प्रकाशादिरूप इत्यर्थ। ऐन्द्रजालिक इन्द्रजालवान्, प्रतिक्षणमन्यथाऽन्यथा प्रतीयमानत्वात् आश्चर्यदर्शन इत्यर्थ। मत्वर्थीयष्ठन् ॥ ११ ॥

अन्वय —कुत्रचित् य कनकनिर्मिताखिल क्व अपि किल विमलरत्नज, कुत्रचित् रचितचित्रशालिक, क्व अपि च अस्थिरविधैन्द्रजालिक।

हिन्दी– जो (सौध) कहीं सम्पूर्णतया स्वर्णनिर्मित था, कहीं निर्दोष रत्नों से जड़ा था, कहीं चित्रशालाओं (चित्रसारियों) से अथवा चित्रित पुतलियों से युक्त था और कहीं क्षण में प्रकाश, क्षण में अन्धकार फैलाता जादूगर-सा प्रतीत होता था।

टिप्पणी—स्वर्ण-निर्मित, रत्नजटित, चित्रशालाओं से सज्जित प्रासाद को विस्मयकारी ऐन्द्रजालिक-तुल्य कहा गया है, क्योंकि आलोक-छाया के माध्यम से वहाँ क्षण-क्षण नये दृश्य गोचर होते थे ॥ ११ ॥

चित्रतत्तदनुकार्यविभ्रमाधायिनैकविधरूपरूपकम् ।
वीक्ष्य यं बहु धुवन् शिरो जरावातकी विधिरकल्पि शिल्पिराट् ॥१२॥

जीवातु—चित्रेति । चित्रेषु आलेख्येषु, तेषां तेषाम् अन्यत्र दृष्टानां प्रसिद्धानां वा, अनुकार्याणाम् अनुकरणयोग्यानां राजर्षिमनुष्यादीनाम्, विभ्रमस्य विलासस्य, आधायीनि उत्पादकानि, नैकविधरूपाणि नानाप्रकारस्वरूपाणि, रूपाण्येवेति रूपकाणि प्रतिकृतयः यस्मिन् तादृशम्, यं सौधम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा; बहु पुनःपुनः, शिरः मस्तकम्, धुवन् कम्पयन्, शिल्पिराट् कारुश्रेष्ठः, विधिः स्रष्टा, जरया वार्द्धकेन, वातकी वातरोगी, वेपथुवाताक्रान्त इत्यर्थः । 'वातातिसाराभ्यां कुक् च' इति कुक्, चकारात् इनिप्रत्ययश्च । इति अकल्पि अतर्कि, देवादिभिरिति शेषः । सौधशिल्पिनः आश्चर्यशिल्पनैपुण्यं दृष्ट्वा विस्मयवशात् तदा शिल्पिश्रेष्ठेन विधात्रा अपि पुनः पुनः शिरःकम्पितम् इत्यर्थः ॥१२॥

अन्वयः—चित्रतत्तदनुकार्यविभ्रमाधायिनैकविधरूपकं यं वीक्ष्य बहु शिरः धुवन् शिल्पिराट् विधिः जरावातकः अकल्पि ।

हिन्दी—चित्रों में (आश्चर्यजनक) उन-उन ऋषियों और महापुरुषों की लीलाओं की भ्रांति के उत्पादक नाना प्रकार और रूपों के रूपकों (प्रतिमाओं) से सज्जित जिस (प्रासाद-सौध) को देखकर बारंबार सिर हिलाते शिल्पिओं के राजा विधाता (विश्वकर्मा) को (लोगों ने) बुढ़ापे के वातरोग से ग्रस्त समझ लिया ।

टिप्पणी—सौध में महापुरुषों के ऐसी सजीव अनुकृतियाँ बनी हुई थीं, जिन्हें देखकर उनके शिल्प की उत्कृष्टता पर हर्ष और विस्मय होता था। स्वयं विश्वकर्मा, शिल्पिओं में श्रेष्ठ विधि ने भी उनकी श्रेष्ठता सिर हिलाते हुए

स्वीकारी। अनुमोदन मे सिर-कँपाते विधि को देखकर लोगो ने यह समझा कि उन्हे बुढापे मे प्राय होने वाला वातरोग हो गया है, जिसके कारण यह शिर कपन है। भाव यह कि सौध की शिल्प-सज्जा रमणीयतम थी। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ १२ ॥

भित्तिगर्भगृहगोपितैर्जनैर्यः कृताद्भुतकथादिकौतुकः।
सूत्रयन्त्रजविशिष्टचेष्टयाऽऽश्चर्यसञ्जिबहुशालभञ्जिकः ॥ १३ ॥

जीवातु—भित्तीति। य सौध, भित्तिगर्भेषु कुड्याभ्यन्तरेषु, ये गृहाः कक्षा, तेषु गोपितै गुप्तभावेनावस्थितै, जनै लोकै, कृत विहितम् अद्भुतकथादिकौतुक विस्मयजनकभाषणादिकुतूहल येन स तादृश, स्वयमेव सौध कथयतीति भ्रान्तिकर इत्यर्थः। 'कौतूहल कौतुकञ्च कुतुकञ्च कुतूहलम्' इत्यमरः। किञ्च, सूत्राणा यन्त्रेण तन्तुनिर्मितयन्त्रविशेषेण, जाता उत्पादिता, या विशिष्टचेष्टा हसितनिमेषोन्मेषादिरूपासाधारणक्रियाविशेषा तया, आश्चर्यं विस्मयम्, सञ्जयन्ति उत्पादयन्तीति तत्सञ्जिन्यः, बह्व्यः अनेका, शालभञ्जिका दारुपुत्रिकाः यत्र सः तादृश ॥ १३ ॥

अन्वय—य भित्तिगर्भगृहगोपितै जनै कृताद्भुतकथादिकौतुक। सूत्रयन्त्रजविशिष्टचेष्टया आश्चर्यसञ्जि बहुशालभञ्जिक।

हिन्दी—जो (सौध) दीवारो से ढके गर्भागारो मे अदृश्य रूप मे स्थापित अथवा स्थित जनो के कारण विस्मयोत्पादक रम्य कथा—गोष्ठी, नृत्य-वाद्यादि द्वारा कुतूहल जगाता था और डोरी-यन्त्र के सहारे विशिष्ट व्यापार करती आश्चर्यजनक अनेक कठपुतलियो से युक्त था।

टिप्पणी—नारायण और मल्लिनाथ के अनुसार भाव यह है कि दीवारो से छिपे गर्भगृहो मे अदृश्य नर-नारी जो बातें करते थे, उनसे लगता था कि सौध की दीवारें ही यह सब कर रही हैं। सौध में डोरी के माध्यम से क्रिया करती अनेक कठपुतलियाँ भी थी, जिनकी विविध चेष्टाएँ विस्मय और प्रसन्नता उत्पन्न करती थी। 'भित्तिगर्भगृहगोपितै जनैः सूत्रयन्त्रजविशिष्टचेष्टया। आश्चर्यसञ्जिबहुशालभञ्जिक य कृताद्भुतकथादिकौतुक ॥' इस प्रकार वाक्य योजना किये जाने पर यह अर्थ अधिक समीचीन होता है—'दीवारो के पीछे गर्भगृहो मे छिपे जनो (कठपुतलियो की लीला दिखाने

वालों) द्वारा डोरी के यंत्र द्वारा विशिष्ट चेष्टाओं के कारण आश्चर्यात्मक अनेक कठपुतलियों से युक्त जो (सौध) अनेक प्रकार के विस्मयजनक कथा-नृत्य-वाद्यादि का कुतूहल दिखाता रहता था।' आशय यह कि गर्भगृह में दीवारों के पीछे बैठे कठपुतली वाले डोरी से संचालित कर कठपुतलियों के विविध विस्मय और प्रसन्नताजनक खेल सौध में दिखाया करते थे, जिनमें कभी गान-नृत्य-वाद्यादि की संगीतयोजना दिखायी जाती थी, कभी किसी प्रसिद्ध कथा के रूपकादि। सोने-चाँदी और हाथी दाँतों से बनी वे शालभंजिकाएँ बड़ी स्वाभाविक चेष्टाएँ करती थीं, जिन्हें देखकर विस्मयजनक आनन्द प्राप्त होता था ॥ १३ ॥

तामसीष्वपि तमीषु भित्तिगै रत्नरश्मिभिरमन्दचन्द्रिकः ।
यस्तपेऽपि जलयन्त्रपातुकासारदूरधुततापतन्द्रिकः ॥ १४ ॥

जीवातु—तामसीष्विति । यः सौधः, तामसीषु तमस्विनीषु अपि, 'ज्योत्स्नादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति मत्वर्थीयोऽण्-प्रत्ययः। तमीषु रात्रिषु, भित्तिगैः कुड्यगतैः, रत्नरश्मिभिः मणिप्रभाभिः, अमन्दा प्रभूता, चन्द्रिका ज्योत्स्ना यस्य तादृशः, तथा तपेऽपि ग्रीष्मेऽपि, जलयन्त्रेभ्यः जलोत्सारकयन्त्रविशेषेभ्यः, कृत्रिमप्रस्रवणेभ्यः इत्यर्थः। पातुकैः पतनशीलैः, आसारैः धारासम्पातैः, दूरम् अतिशयेन, धुता निराकृता, तापतन्द्रिका ग्रीष्मजनितमोहप्रायावस्था यस्य सः तादृशः ॥ १४ ॥

अन्वयः—यः तामसीषु अपि तमीषु भित्तिगैः रत्नरश्मिभिः अमन्दचन्द्रिकः तपे अपि जलयन्त्रपातुकासारदूरधुततापतन्द्रिकः ।

हिन्दी—जहाँ (सौध में) अँधेरी रातों में भी दीवारों में जड़े रत्नों की द्युति के द्वारा स्वच्छ चाँदनी बनी रहती थी और ग्रीष्म ऋतु में भी जल-बरसाने वाले यन्त्रों (बड़े-बड़े 'आबपाशों') से गिरती धाराओं के कारण ताप की तन्द्रा (गर्मी के कारण आलस्य) दूर हो जाती थी।

टिप्पणी—दीवारों में जड़े रत्नों की किरणों से फूटता प्रकाश जब स्वर्णरचित फर्श, छतें आदि पर पड़कर द्विगुणित हो जाता था तब सौध में अन्धेरी रातों में भी निर्मल चाँदनी का प्रकाश बना रहता था और गर्मियों के दिनों में भी जलयन्त्रों से ऐसी सिंचाई होती थी कि ताप-कष्ट व्यापता ही नहीं था। गर्मी में भी वहाँ शीतलता रहती थी ॥ १४ ॥

यत्र पुष्पशरशास्त्रकारिका शारिकाऽध्युषितनागदन्तिका ।
भीमजानिषधसार्वभौमयो　प्रत्यवैक्षत रते　कृताकृते ॥ १५ ॥

जीवातु—यत्रेति । यत्र सौधे, पुष्पशरशास्त्रस्य वात्स्यायनादिप्रणीतकामतन्त्रस्य, कारिका कर्त्री, प्रायश एव लोकमुखे श्रवणात् तत्पुनरुक्तिकारिणीत्यर्थः । तथा अध्युषिता अधिष्ठिता, नागदन्तिका भित्तिनिर्गतदारुविशेष यया तादृशी 'नागदन्तो द्विपरदे गृहान्निर्गतदारुणि' इति मेदिनी । शारिका शारीतिख्यात पक्षिविशेष । 'शारिका शारी' इति यादव । भीमजानिषधसार्वभौमयो भैमीनलयो रते सुरते, कृताकृते विहिताविहिते, कामशास्त्रानुसारेण सुरतमनुष्ठित न वा इत्यादिरूपे उभयं प्रत्यवैक्षत निपुणभावेनापश्यत् । इद कृतम् इद न कृतम् इति अनुसन्दधे इत्यर्थ ॥ १५ ॥

अन्वय—यत्र अध्युषितनागदन्तिका पुष्पशरशास्त्रकारिका शारिका भीमजानिषधसार्वभौमयो रते कृताकृते प्रत्यवैक्षत ।

हिन्दी—जहाँ (सौध मे) खूँटियो पर (अथवा हाथी दाँत के पिंजरों मे) बैठी कुसुमबाण के शास्त्र की कारिका (रचयित्री अथवा विवरणी) सारिकाएं (मैना) भीमसुता (दमयन्ती) और निषधसम्राट् (नल) के सुरत मे कृत और अकृत (विहित और अविहित कर्म) की प्रत्यवीक्षा (आलोचना) करती थी ।

टिप्पणी—सौध मे मैना चिड़ियाएं थी, जो कामशास्त्र की इतनी अभिज्ञ थी कि उन्हे कामसूत्र की निर्मात्री अथवा शास्त्र की श्लोकरूपा विवरणी कारिका कहा जाना ही उचित था । वे नल दमयन्ती की विलासलीलाएँ प्रत्यक्ष देखती थीं और 'कामसूत्र' मे वर्णित विधान के आधार पर आलिंगन चुम्बनादि की समीक्षा किया करती थी कि इस लीला मे अमुक व्यापार तो कर लिया गया, अमुक छोड दिया गया । जैसे सुरत-यज्ञ-विधान की प्रवेशक ब्रह्मा थी वे सारिकाएँ ॥ १५ ॥

यत्र मत्तकलविङ्कशारिकाश्लेष्यकेलिपुनरुक्तिवृत्तयोः ।
क्वापि दृष्टिभिरवापि वापिकोत्तंसहंसमिथुनस्मरोत्सवः ॥ १६ ॥

जीवातु—यत्रेति । यत्र सौधे, क्वापि कुत्रचित् प्रदेशे, तयो भैमीनलयो, दृष्टिभि दर्शनै, वापिकोत्तंसानां दीर्घिकालङ्काराणाम्, हंसमिथुनानां हंसद्वन्द्वा-

नाम्, स्मरोत्सवः सुरतकेलिः, मत्तानां हृष्टानाम्, कलविङ्कानां चटकानाम्, तथा शारिकाणां पक्षिविशेषाणाञ्च आश्लेष्यकेलिभिः ग्राम्यक्रीडाभिः, पुनरुक्तिवत् पौनरुक्त्यमिव, अवापि अवोधि तत्तुल्यम् अदर्शि इत्यर्थः ।। १६ ।।

अन्वयः—यत्र क्व अपि तयोः दृष्टिभिः वापिकोत्तंसहंसमिथुनस्मरोत्सवः मत्तकलविङ्कशारिकाश्लेष्यकेलिपुनरुक्तिवत् अवापि ।

हिन्दी जहाँ (सौध-प्रासाद में) किसी स्थान पर उन दोनों (नल-दमयन्ती) की दृष्टियों ने बावड़ियों के अलंकार-स्वरूप हंसों के जोड़े की काम-क्रीडा मदमाते गृहचटकों (गौरेया) और सारिकाओं की अश्लील (ग्राम्य) सुरत-क्रीडा से पुनरुक्त-सी देखी।

टिप्पणी—सौध-प्रासाद की बावड़ियों में एक ओर सुन्दर हंस-मिथुन मदनोत्सव मना रहा था (नवदम्पती के समान) दूसरी ओर घर की पक्षी गौरेयों और सारिकाओं के जोड़े अन्धाधुन्ध अश्लील काम-क्रीडा में रत थे गँवारों के समान। लगता था कि ये चिड़ियायें हंस-युगल के सुरतविलास की भद्दी नकल कर 'पुनरुक्ति' दोष उपस्थित कर रही थीं। आशय यह कि नलदमयन्ती कामशास्त्र के इस कथन के अनुसार तिर्यक्-संभोग देख रहे थे कि सुरतांत में थके विलासियों को तिर्यक्-संभोग दर्शन कामोद्दीपक होता है—'रतान्ते श्लथीभूतगात्राणां कामिनां तिर्यगादिसंभोगदर्शनं पुनः कामोद्दीपकं भवति' ।। १६ ।।

> यत्र वैणरववैणवस्वरैर्हुङ्कृतैरुपवनीपिकालिनाम् ।
> कङ्कणालिकलहैश्च नृत्यतां गोपितं सुरतकूजितं तयोः ।। १७ ।।

जीवातु—यत्रेति । यत्र सौधे, वैणैः वीणासम्बन्धिभिः, रवैः शब्दैः, वैणवैः वेणुसम्बन्धिभिः स्वरैः ध्वनिभिः, तथा उपवन्याम् आरामे, पिकानां कोकिलानाम्, अलिनां भृङ्गाणाञ्च, हुङ्कृतैः हुङ्कारैः, तथा नृत्यतां नर्त्तकीजनानाम्, कङ्कणालिकलहैः करभूषणावलीकलकलैश्च, तयोः दम्पत्योः, सुरतकूजितं शृङ्गारकालिकमणितादिशब्दः, गोपितं तिरस्कृतम् । अतो न विस्रम्भविघातः इति भावः ।। १७ ।।

अन्वयः—यत्र तयोः सुरतकूजितं वैणरववैणवस्वरैः उपवनीपिकालिनां हुङ्कृतैः नृत्यतां कङ्कणालिकलहैः च गोपितम् ।

हिन्दी—जहां (सौध में) उन दोनों (नल-दमयन्ती) का रतिकाल में व्यक्त मन्द, मृदु स्वरालाप वीणा-रव और वंशी के स्वरों, वाटिकास्थित कोकिल-भ्रमरों के हुंकारों और नाचते नर-नारियों के कंकण-केयूर नूपुरादि के टकराने से उत्पन्न ध्वनियों द्वारा छिपा रह गया।

टिप्पणी—सौध में वीणा बज रही थी, वंशी के स्वर गूंज रहे थे, वाटिका में कोकिल कूक रहे थे और भ्रमर गुंजार रहे थे। विविध कंकणादि पहिने नर नारी नाच रहे थे, जिनके आभूषण परस्पर टकरा कर शब्द कर रहे थे। नवदम्पती नलदमयन्ती जो कामालाप करते थे, वह इन सब की ध्वनियों में छिप जाता था और कोई सुन नहीं पाता था ॥१७॥

(सीत्कृतान्यशृणुतां विशङ्कयोर्यत्प्रतिष्ठितरतिस्मरार्चयोः ।
जालकैरपवरान्तरेऽपि तौ त्याजितं कपटकुड्यतां निशि ॥ १ ॥)

प्रकाश —सीत्कृतानीति। अपवरान्तरे गर्भगृहमध्ये रतिस्मरप्रतिमागृहापेक्षयाऽन्यस्मिन् वा गृहे स्थितावपि तौ भैमीनलौ दिवा गवाक्षेष्वपि भित्तिभ्रमादच्छिद्रगृहनिवासवशादन्यानाकर्णनबुद्धया विशङ्कयोः शङ्कारहितयोः ससम्भ्रमं कूजनादिकुर्वतो यस्मिन् सौधे प्रतिष्ठितयोः पुरोधसा मन्त्रसामर्थ्याच्चैतन्यमवलम्ब्य प्रतिमायां कृताधिष्ठानयोः रतिस्मरयोर्यैर्र्चे सुवर्णादिरचितप्रतिमे तयोः. सीत्कृतानि नखदन्तजपीडानुभावसूचकानि सीत्शब्दाभिनेयानि शब्दितानि निशि रात्रौ कपटकुड्यतामलीकभित्तिभ्रमं त्याजितैर्जालकैर्गवाक्षैः कृत्वा अशृणुताम्। दिने रजतादिभित्तीनां मणीनां वा भासा छादितानि जालानि भित्तितुल्यानि भवन्ति, रात्रौ तु रजतादिभित्तीनां नाशप्रकाशाभावात्ताभिरेव कपटकुड्यत्वं त्याजितानि जलरूपेणैव प्रतीयन्ते। ततश्च प्रतिष्ठासामर्थ्यात्सचेतनौ सुरतलोलुपौ रतिस्मरावपि गवाक्षेषु दिवा जातभित्तिभ्रमावुभावपि कुड्यभ्रमेणाविचार्यैव निःशङ्कौ यत्र सुरतं चक्रतुः, जालमार्गेण शब्दसञ्चाराच्च तत्कूजितानि तौ शुश्रुवतुरिति भावः। पुरोधसो मन्त्रप्रभावश्च सूचितः। तण्डुलचूर्णादिमण्डलिकं चित्रमयं वस्त्रं कपटकुड्यम्। दिवोष्मप्रवेशभिया गवाक्षेषु चित्रपटा ध्रियन्ते रात्रौ च पवनागमनार्थमपनीयन्ते, तथा च दिनवद्रात्रावपि कुड्यबुद्ध्या विशङ्कं भणितानि चक्रतुरिति वा। अपवृणोत्याच्छादयतीत्यपवरो गृहगर्भं पचाद्यच्। 'प्रतिकृतिरर्चा पुंसि—' इत्याद्यमरः ॥ १ ॥

अन्वयः——अपवरान्तरे अपि तौ विशङ्कयोः यत्प्रतिष्ठितरतिस्मरार्चयोः सीत्कृतानि निशि कपटकुड्यतां त्याजितैः जालकैः अशृणुताम् ।

हिन्दी—गर्भगृह के मध्य भी वे (नल-दमयन्ती) शंकारहित जिस (गर्भगृह अथवा सौध में अन्यत्र) में प्रतिष्ठित रति और काम की प्रतिमा के 'सी-सी' शब्द रात में दीवार-समझ लिये जाने के भ्रम को छोड़ देते गवाक्षों से सुना करते थे ।

टिप्पणी——सौध-प्रासाद में यत्र-तत्र गर्भगृहों में स्वर्णादि रचित रति-काम की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित थीं, जो प्रतिष्ठासामर्थ्य से, मंत्र-प्रभाव के कारण सचेतन थीं । गर्भगृहों में झरोखे थे, जिनसे भीतर होता शब्द बाहर सुना जा सकता था । नल-दमयन्ती भी प्रासाद में थे ही । किन्तु उनके प्रति आश्वस्त रति-काम सुरत-व्यापार में दिन-रात लीन रहा करते, जिससे रदच्छद आदि-जनित 'सी-सी' शब्द हुआ करता था । रति-काम आश्वस्त थे कि उनका शब्द गर्भ-गृह से बाहर नहीं जाता, क्योंकि दिन में उन्हें वे गवाक्ष जिनसे शब्द बाहर जा सकता था और सुना जा सकता था, चाँदी-सोने की दीवारों और मणियों की आभा से आच्छादित अथवा चावल के चूर्णादि के माड़ से युक्त परदे से ढके होने के कारण दीवारों का भ्रम उत्पन्न कर देते थे और रात के अँधेरे में रति-स्मर न देख सकने के कारण दिन में दीवारों से ढके गवाक्षों को रात में भी वैसा ही समझ कर आश्वस्त रहते थे । इस प्रकार निःशंक सुरतलीन रति-काम के सीत्कारों को नल-दमयन्ती गवाक्षों के माध्यम से सुना करते थे । आशय यह कि दिन-रात नल-दमयन्ती के हृदयों में रति-स्मर का विलास उद्भुत रहता था और वे स्वयं भी विलासरत रहते थे । मल्लिनाथ-टीका में यह श्लोक नहीं है । प्रकाशव्याख्या दी गयी है ।। १७क ।।

कृष्णसारमृगशृङ्गभङ्गुरा स्वादुरुज्ज्वलरसैकसारणिः ।
नानिशं त्रुटति यत्पुरः पुरा किन्नरीविकटगीतिझङ्कृतिः ।। १८ ।।

जीवातु—कृष्णेति । यत्पुरः यस्य सौधस्य सम्मुखदेशे, कृष्णसारमृगस्य कालसाराख्यहरिणस्य, शृङ्गवत् विषाण इव, भङ्गुरा भङ्गवती, अतिवक्रेति यावत् । एकत्र——कण्ठस्वरस्य कम्पनविशेषेण तथोच्चारणात्, अन्यत्र——

स्वभावादिति भाव । अत एव उज्ज्वलरसस्य शृङ्गाररसस्य, 'शृङ्गार-शुचिरुज्ज्वल' इत्यमर । एका मुख्या, सारणि कुल्या, स्वल्पनदीत्यर्थ, 'प्रसारण्या स्वल्पनद्याञ्च मारणि' इति मेदिनी । शृङ्गाररमात्मिका इति भावः। स्वादु मधुरा, किन्नरीणा किन्नरस्त्रीणाम्, देवगायिकानामित्यर्थ, विकटा विपुला, गीतस्य गानस्य, झङ्कृति झङ्काराख्यस्वर, अनुकारिशब्दोऽयम्, अनिश नित्यम्, पुरा अतीते वर्तमाने भाविनि वा इत्यर्थ । न त्रुटति न छिनत्ति न विच्छिन्ना इत्यर्थ । 'पुरिलुङ्चास्मे' इति भूते लट् । अत्र गीतझङ्कृते शृगाररससारणित्वेन रूपकालङ्कार' ॥ १८ ॥

अन्वय —कृष्णसारमृगशृङ्गमङ्गुरा स्वादुः उज्ज्वलरसैकसारणि किन्नरीविकटगीतिझङ्कृति यत्पुर पुरा अनिश न त्रुटति ।

हिन्दी—काले हिरन के सींगो के समान (आरोह अवरोह और प्रकृति के कारण) वक्र, श्रुतिमधुर, उज्ज्वल रस (शृगार) की प्रवाहिणी (अतएव) स्वादिष्ट और निर्मल जल प्रवाहित करती सारणि (कुल्या, छोटी नदी) के सदृश देवगायिका किन्नरियो की विकट (प्रभूत अथवा षड्ज, ऋषभ, गाधारादि सप्त स्वरो के आरोह-अवरोह के कारण उदात्त, अनुदात्त होती) सुन्दर गीति की झंकारी जिस (सौध) के सम्मुख कभी विच्छिन्न न होती थी ।

टिप्पणी—सौध मे किन्नरियो के शृगाररसप्रचुर मधुर गान की झकृति निरन्तर प्रवहमान रहती थी। लगता है कि दमयन्ती से गान शिक्षा प्राप्त करने उस ऊँचे प्रासाद मे किन्नरियाँ निरन्तर आया करती थी। किन्नरियों की गीति-झकार की तुलना स्वादु और उज्ज्वल रस (जल) की कुल्या से की गयी है। दोनो के समान गुण हैं—(१) कृष्णसार मृग के शृगों के समान 'भगुर' होना और (२) 'उज्ज्वलरसैकसारणि' होना । गीति-झकृति स्वरों के उतार-चढाव के कारण 'भगुरा' (विषय) है और नदी स्वभावत 'भगुरा' (टेढी बहती) होती है। 'झकृति' मे 'उज्ज्वलरस' शृगार की प्रमुखता है और वह श्रुतिमधुर है, नदी मे स्वादिष्ट और निर्मल जल बहता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ गीति झकृति के 'शृगाररससारणि' होने के कारण रूपकालकार है। नारायण ने 'यत्पुरे' के स्थान मे 'यन्मुखे' पाठातर

को मान्यता दी है। इसके अनुसार 'मुख में गान रहने के कारण जो सौध मानो सदा गाता रहता है'—यह उत्प्रेक्षा मुख शब्द से सूचित होती है। 'नैषधीयचरित' (२१।१२९) के 'तुङ्गप्रासादवासादथ' इत्यादि श्लोक में 'केलिकुल्या' का वर्णन भी है। नारायण अर्थान्तर करके इस श्लोक में भी उसी 'कुल्या' (स्वल्पनदी) का वर्णन मानते हैं—'हिरन के सींगों-सी वक्रगामिनी, स्वादु जल वाली, किन्नरियों-सी भ्रमरियों के गुंजार से युक्त, (कमल-प्रचुरता के कारण) श्रेष्ठ, निर्मलबहुजला एक छोटी नदी जिस सौध के संमुख निरन्तर बहा करती थी, ग्रीष्मकाल में भी वह न सूखती थी।' यह अर्थ भी कवि-द्वारा विवक्षित प्रतीत होता है—'एकविंशे सर्गे 'तुङ्गप्रासादवासात्' इत्यनेन कुल्याया अपि वर्णयिष्यमाणत्वात् प्रकृते सौधवर्णनोपयोगित्वादयमर्थः कविना विवक्षित इति प्रतीयते।' 'विकट' का अर्थ विशाल और विकराल तो है ही, सुन्दर भी होता है। 'विश्वकोष' के अनुसार 'विकटः सुन्दरे प्रोक्तो विशालविकरालयोः' ॥ १८ ॥

भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्र तस्थुरितिहाससङ्कथाः।
पद्मनन्दनसुतारिरंसुताऽमन्दसाहसहसन्मनोभुवः ॥ १९ ॥

जीवातु—भित्तीति। यत्र सौधे, भित्तिषु कुड्येषु, चित्रलिखिता आलेख्यरूपतया अङ्किताः, अखिलाः सकलाः, क्रमाः अनुक्रमाः, पूर्वापरघटनाविशेषाः इत्यर्थः। यासां तादृश्यः, पद्मनन्दनस्य पद्मयोनेः ब्रह्मणः, तस्य विष्णुनाभिकमलोत्पन्नत्वादिति भावः। सुतया कन्यया भारत्या, रिरंसुता रन्तुमिच्छता, सा एव अमन्दं महत्, साहसम् अविमृश्यकारित्वम्, तेन हसन् स्वप्रयाससाफल्यसन्तोषाद् स्मयमानः, मनोभूः कामः यासु तथाभूताः, इतिहाससङ्कथाः पुरावृत्तोक्तवृत्तान्ताः, तस्थुः विद्यन्ते स्म। यस्य सौधस्य भित्तौ अस्य ब्रह्मणोऽपि पराभवादिप्रभावः चित्रकरेण अङ्कितः अवर्त्तत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

अन्वयः—यत्र पद्मनन्दनसुतारिरंसुतामन्दसाहसहसन्मनोभुवः इतिहाससङ्कथाः भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमाः तस्थुः।

हिन्दी—जिस (सौध) में कमलजन्मा (ब्रह्मा) के पुत्री (सरस्वती) से संभोग की इच्छा-रूप महान् साहस (अत्यन्त अविचारपूर्ण कृत्य) पर दर्प से उल्लसित मनोभू (काम) से युक्त (अथवा ब्रह्मा में स्वपुत्री में

'रिरसा—समोगेच्छा रूप अविचार उत्पन्न कर देने के कारण महान् साहसी, प्रसन्न काम जिनमे अकित है, ऐसी) पुरा कथाएँ दीवारो पर बने चित्रों मे सम्पूर्ण क्रम के साथ अकित थी।

टिप्पणी—ब्रह्मा अपनी पुत्री के प्रति 'रिरसु' हो गये थे। यह कथा पुराणो मे मिलती है। नारायण के अनुसार इस कथा के लिए 'मत्स्यपुराण' द्रष्टव्य है। यह कथा एक प्रकार से काम के दुर्विजय की कहानी है। काम-प्रभाव से ब्रह्मा भी न बच सके। काम-प्रभाव को दरसाने वाली इस कथा के क्रमबद्ध चित्र सौध की दीवारो पर अकित थे ॥ १९ ॥

पुष्पकाण्डजयडिण्डिमायितं यत्र गौतमकलत्रगामिनः।
पारदारिकविलाससाहसं देवभर्तुरुदटङ्कि भित्तिषु ॥ २० ॥

जीवातु—पुष्पेति। यत्र सौधे, भित्तिषु कुड्येषु, पुष्पकाण्डस्य कुसुमेषोः, जयडिण्डमायितु विजयघोषकडिण्डिमाख्यवाद्यविशेषवत् आचरितम्। 'उपमानादाचारे' इति क्यजन्तात् कर्त्तरि क्तः। गौतमकलत्रगामिन अहल्यागन्तु, देवभर्तुः इन्द्रस्य, परदारान् गच्छतीति पारदारिक । 'गच्छती परदारादिभ्य' इत्युपसङ्ख्यानात् ठक्। तस्य विलासः विजृम्भणम्, तत् एव साहस हठकारिता, उदटङ्कि उट्टङ्कितम् अङ्कितम् इत्यर्थ । चित्रलिखिरिति शेषः। ब्रह्मादिकीटपर्यन्त जगत् कामोन्मत्तमिति ज्ञापनार्थं, तथा दम्पत्यो हर्षजननार्थंञ्च सर्वमेतत् वृत्तान्त तत्र लिखितम् इति भावः ॥ २० ॥

अन्वयः—यत्र गौतमकलत्रगामिन· देवभर्तुः, पुष्पकाण्डजयडिण्डिमायितं परदारिकविलाससाहस भित्तिषु उदटङ्कि।

हिन्दी—जहाँ (सौध मे) गौतम पत्नी अहल्या के भोगी देवो के राजा (इन्द्र) का अन्य की पत्नी से विलास करने का साहस (अविचार पूर्ण कृत्य) कुसुमेषु (काम) के विजय का डिडिम-घोष बनता दीवारो पर अंकित था।

टिप्पणी—सौध मे स्थान स्थान पर दीवारों पर काम-प्रभाव का प्रतिपादन करने वाले चित्र अकित थे। पूर्व श्लोक मे ब्रह्मा की रिरसा की कथा का अकन बताया गया, यहाँ प्रसिद्ध इन्द्र-अहल्या रमण की कथा का अकन बताया गया। मल्लिनाथ के अनुसार यह भित्तिचित्राङ्कन दो उद्देश्यो से था—(१) ब्रह्मा से लेकर सामान्य कीट तक जगत् कामोन्मत्त है—यह

ज्ञापित करने के लिए और (२) दम्पती में हर्षोत्पन्न करने के लिए। नारायण के अनुसार—जिस काम ने इन्द्र को भी पराभूत कर दिया, उस महाप्रभाव काम की सेवा दम्पती को भी निश्चित करनी चाहिए, यह ज्ञापन देने के लिए स्वर्ण की ईंटों से बनी दीवारों पर कामोद्दीपनार्थ इन्द्र का परदाराविलास सौध में अंकित था ॥ २० ॥

उज्ज्वलत्कलरवालिकैतवाद् वैजयन्तविजयार्जिता जगत् ।
यस्य कीर्तिरवदायति स्म सा कार्तिकीतिथिनिशीथिनीस्वसा ॥२१॥

जीवातु—उज्ज्वलदिति । कृत्तिकाभिः नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी कार्तिकी 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इत्यण् । सा एव तिथिः पूर्णिमा, तस्याः निशीथिनी रात्रिः, तस्याः स्वसा भगिनी, तत्सदृशी सुशुभ्रा इत्यर्थः । तथा वैजयन्तस्य इन्द्रप्रासादस्य 'स्यात् प्रासादो वैजयन्तः' इत्यमरः । विजयेन पराभवेण, औन्नत्येन सौन्दर्येण च इति भावः । अर्जिता लब्धेत्यर्थः । यस्य सौधस्य, सा प्रसिद्धा, कीर्तिः यशः, धवलतेति यावत् । 'यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः' इत्युक्तेरिति भावः । उज्ज्वलताम् उड्डीयमानानाम्, कलरवालीनां पारावतश्रेणीनाम्, कैतवात् व्याजात्, इत्यपह्नवभेदः । जगत् भुवनम्, अवदायति स्म इत्यर्थः । सौधोपरि उड्डीयमाना एते तावत् पारावता न भवन्ति, परन्तु एतस्य शरच्चन्द्रचन्द्रिकातुल्या कीर्तिरेवेति भावः । दैप् शोधने इत्यस्य लट् ॥ २१ ॥

अन्वयः—वैजयन्तविजयार्जिता कार्तिकीतिथिनिशीथिनीस्वसा यस्य कीर्तिः उज्ज्वलत्कलरवालिकैतवात् जगत् अवदायति स्म ।

हिन्दी—(उच्चत्व और सुन्दरता आदि के कारण) इन्द्र के वैजयन्त प्रासाद की जीत से प्राप्त, कार्तिकी तिथि (कार्तिक की शरत्पूर्णिमा) की रात्रि की सहोदरा (समान) जिस (सौध) की कीर्ति उड़ते कबूतरों की पंक्ति के मिस जगत् को शुभ्र बना रही थी।

टिप्पणी—आशय यह है कि अत्यन्त उच्च और अतिशय मनोहर उस प्रासाद में असंख्य कबूतर उड़-उड़कर सर्वत्र शुभ्रता का प्रसार कर देते थे। अपनी ऊँचाई और सुन्दरता आदि के कारण नल का प्रासाद इन्द्र के वैजयंत प्रासाद से भी भव्य था। पराभूत था इन्द्र का महल उसके संमुख। वे

उड्डीयमान पारावत क्या थे, सौध की उज्ज्वल कीर्ति जगत् में व्याप्त हो, जगत् को उज्ज्वल, शुभ्र बना रही थी। ये उड़ते कबूतर नहीं हैं, शरच्चन्द्र की चन्द्रिकातुल्य वैजयत-विजय की कीर्ति है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ कैतवापह्नुति है ॥ २१ ॥

गौरभानुगुरुगेहिनीस्मरोद्भूतभावमितिवृत्तमाश्रिता ।
रेजिरे यदजिरेऽभिनीतिभिर्नाटिका भरतभारतीसुधा ॥ २२ ॥

जीवातु—गौरेति। यस्य सौधस्य, अजिरे प्राङ्गणे, गौरभानोः सितांशोः, चन्द्रस्येत्यर्थः। गुरुगेहिन्यां बृहस्पतिपत्न्यां तारायाम्, स्मरोद्भूतभावकामजव्यापारमेव, इतिवृत्तं वर्णनीयविषयम्, आश्रिता अवलम्बिताः, तद्वर्णनपराः इत्यर्थः। भरतभारतीसुधा नाट्यशास्त्रस्य सारभूताः अमृतकल्पा, नाटिकाः चतुरङ्करूपकविशेषा, 'चतुरङ्का तु नाटिका' इत्युक्तलक्षणात्, अभिनीतिभिः अभिनयैः, रेजिरे शुशुभिरे ॥ २२ ॥

अन्वयः—यदजिरे गौरभानुगुरुगेहिनीस्मरोद्भूतभावम् इतिवृत्तम् आश्रिता भरतभारतीसुधा नाटिका अभिनीतिभिः रेजिरे।

हिन्दी—जिस (सौध) के प्रांगण में गौर भानु (चन्द्र) और गुरु (बृहस्पति) की गेहिनी (घरवाली पत्नी तारा) के काम संभूत व्यापार के 'इतिवृत्त' (नाट्यकथा) का आश्रय लेकर भरत मुनि की भारती (नाट्यशास्त्र) की सारभूता सुधा-समा नाटिका 'अभिनय'-द्वारा सुशोभित की जाती थी।

टिप्पणी—विद्वानों द्वारा यह माना गया है कि प्राचीन काल (उन्नीसवीं ईसवीय शती से पूर्व) में अनेक राज-प्रासादों में नाट्याभिनय की सुविधा थी (शेल्डान चेनी की रचना का श्रीकृष्णदास कृत अनुवाद 'रंगमंच, नाटक, अभिनय और मंचशिल्प के तीन सहस्र वर्ष', पृष्ठ १४३) और 'राजप्रासादों में नृत्यशालाएँ थीं। ....हर्षोल्लास के और धार्मिक पर्वों के अवसरों पर अभिनययोजना की जाती थी।' (कीथ की रचना का डॉ० उदयभानु सिंह कृत अनुवाद 'संस्कृत नाटक', पृष्ठ ३८५)। प्रतीत होता है, नल के प्रासाद में भी नाटकाभिनय होता था, भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित विधि-विधान के साथ। 'नाटिका' प्रमुख उपरूपक है। भरतमुनि के अनुसार

प्रकरण और नाटक के भेदों से, उत्पाद्य वस्तु, नृपति नायक, अन्तःपुर-कन्या और संगीतशाला को लेकर नाटिका की रचना उचित है। इसमें स्त्रीपात्रों की बहुलता रहती है, चार अंक, ललित अभिनय, कौशिकी वृत्ति के चारों अंग, अनेक नृत्त-गीत, रति, संभोग आदि राजोपचार-व्यवहार रहते हैं। क्रोध, उसका प्रसादन, दंभ भी इसमें रहते हैं। नायक-देवी, दूती, उसका परिजन—ये सब नाटिका में आवश्यक हैं। (नाट्यशास्त्र, १८।५८-६१)। चंद्र-तारा की कथा इसके लिए उपयुक्त 'इतिवृत्त' है। 'इतिवृत्त', अर्थात् अभिनेय काव्य (रूपक) का एक विशेष प्रकार से गठित शरीर—'नटनीयस्य स्वभिनेयरूपस्य इति एवं प्रकारतया यदुपस्कृतं वृत्तम् अतएवेतिवृत्तशब्द्यं तद्वस्तु शरीरम्।' (ना० शा० १९।१ पर अभिनवभारती)। प्रापणार्थक 'णीञ्' धातु में 'अभि' उपसर्ग लगाकर 'अभिनीति' शब्द निष्पन्न होता है। अभिनीति अर्थात् अभिनय, मल्लिनाथ के अनुसार रसभावादिव्यंजकचेष्टा-विशेष—'अभिनयो रसभावादिव्यञ्जकचेष्टाविशेषः।' (किरातार्जुनीय १०।४२ की टीका)। अभिनय से ही साक्षात्कार द्वारा सामाजिकों को अर्थग्रहण कराया जाता है—'सामाजिकानामाभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यतेऽर्थोऽनेनेत्यभिनयः।' (ना० शा० ८।९) इस श्लोक में इसी कारण 'अभिनीतिभिः नाटिकाः रेजिरे' कहा गया है। अभिनय से ही नाटिका (सभी रूपकों) को शोभा प्राप्त होती है। अभिनय चार प्रकार का होता है—आंगिक, वाचिक, आहार्य, सात्त्विक—'आङ्गिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्त्विकस्तथा।' (नंदिकेश्वर, 'अभिनयदर्पण' ३८) ॥ २२ ॥

शम्भुदारुवनसम्भुजिक्रियामाधवव्रजवधूविलासयोः।
गुम्फितैरुशनसा सुभाषितैर्यस्य हाटकविटङ्कमङ्कितम् ॥ २३ ॥

जीवातु—शम्भुदारिति। यस्य सौधस्य, हाटकविटङ्कं हिरण्मयकपोत-पालिका, 'हिरण्यं हेमहाटकम्' 'कपोतपालिकायान्तु विटङ्कपुन्नपुंसकम्' इति चामरः। शम्भोः हरस्य, दारुवने देवदारुकानने, सम्भुजिक्रिया कोच-स्त्रीभिः सह सम्भोगव्यापारः माधवस्य श्रीकृष्णस्य, व्रजवधूविलासः गोपाङ्ग-नाविहारश्च तयोः विषये, उशनसा शुक्राचार्येण, गुम्फितैः, विरचितैः, सुभाषितैः सूक्तैः, शिवकृष्णविहारवर्णनैरित्यर्थः, अङ्कितं चित्रितम्। तत्र लिखितम् इत्यर्थः ॥२३॥

अन्वयः—यस्य हाटकविटङ्क शम्भुदारुवनसम्भुजिक्रियामाधवव्रजवधू-विलासयोः उशनसा गुम्फितैः सुभाषितैः अङ्कितम्।

हिन्दी—जिस (सौध) की सुवर्णरचित कपोतपाली शिव (और पार्वती) के दारुवन में सम्भूत सम्भोग व्यापार और माधव (श्रीकृष्ण) और ब्रजांगनाओं के विलासों से सबद्ध शुक्राचार्य-रचित सूक्तियों (पद्यबद्ध काव्य-रचनाओं) से अंकित है।

टिप्पणी—आशय यह है स्वर्णरचित कपोतपाली में यत्र-तत्र शिव-पार्वती और कृष्ण-गोपी-विहार से सबद्ध पद्य रचना कामोद्दीपनार्थं उकेरी गयी थी। शुक्राचार्य को 'कवि' कहा जाता है। उनकी रचना काव्य॥२३॥

अह्नि भानुभुवि दासदारिका यच्चरः परिचरन्तमुज्जगौ।
कालदेशविपयास्सहस्मरादुत्सुकं शुकपितामहं शुकः ॥ २४ ॥

जीवातु—अह्नीति। यच्चर यत्सौधचारी, शुक कीरः, कालः रात्र्यादि, देशः निर्जनादि, विषयः उपभोग्याया नार्या अवस्थादि, तेषाम् असहात् अक्षमात्, योग्यायोग्यविचारविलम्बासहिष्णोरित्यर्थः। स्मरात् कामात्, कामताडनादित्यर्थ.। उत्सुकम् इच्छापूरणयोद्युक्तम्। 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुक.' इत्यमर.। अत एव अह्नि दिवैव, न रात्रौ इति भाव। भानुभुवि सूर्यतनयाया यमुनायाम्, यमुनामध्यस्थद्वीपे इत्यर्थ। न विविक्ते इति भावः। 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्यमर। दासदारिकां कैवर्तकन्याम्, सत्यवती-मित्यर्थ। न तु कुलीनामिति भाव। 'कैवर्ते दासधीवरौ' इत्यमर। परि-चरन्तं सेवमानम्, रमयन्तमिति यावत्। शुकपितामह व्यासपितर पराशरम् 'शुको व्याससुते कीरे' इति विश्वः। उज्जगौ गायति स्म। पराशरस्य दासरा-जकन्यकासमागमं पुराणादौ श्रुत पुन' पुनरुच्चै. पपाठेत्यर्थ.॥ २४॥

अन्वयः—यच्चरः शुकः कालदेशविषयासहस्मरात् उत्सुकम् अह्नि भानु-भुवि दासदारिकां परिचरन्तं शुकपितामहम् उज्जगौ।

हिन्दी—जिस (सौध) में विचरण करने वाला तोता काल और स्थान-विषयक औचित्य के प्रति असहन शील काम (काम-पीडा) से उत्कण्ठित, दिन में सूर्यपुत्री (यमुना) में दासबाला (धीवर कन्या सत्यवती) का भोग करने वाले शुक मुनि के पितामह (बाबा पराशर मुनि) की कथा उच्च स्वर में गाया करता था।

टिप्पणी—'महाभारत' आदि में पराशर मुनि द्वारा धीवरकन्या मत्स्यगंधा सत्यवती का भोग करने की कथा है। यमुना नदी के मध्य, दिन में यह कामाचार हुआ था, जिससे कृष्णद्वैपायन व्यास का जन्म हुआ, जिनके पुत्र शुकदेव मुनि थे। प्रसन्न पराशर मुनि से वर पाकर पुनः सत्यवती कौमार्यत्व को प्राप्त हुई और मत्स्यगंध सुगंध में बदल गयी। यही सत्यवती आगे चलकर आसक्त कुरुराज शांतनु की द्वितीया पत्नी और देवव्रत (भीष्म) की विमाता बनी। इस श्लोक में राजप्रासाद में विचरते शुक द्वारा उक्त कथागान का उल्लेख है। शुक (संकेतार्थ शुकदेव मुनि) पराशर (अपने पितामह) के असह्य कामासक्ति के कारण अनैतिक कार्य करने का गान करता था (शुक-सारिकादि मानवी बोली के अनुकरण में ऐसा करते ही हैं)। मुनि पराशर को भी काम ने असह्य ताडना दी, वे उसे न सह पाये और इस नैतिकता की ओर भी उनका विवेक न जाग सका कि वे अनुचित समय–दिन में, अनुचित स्थान–यमुना नदी (तीर्थ) के मध्य, एक अविवाहिता कन्या (और वह भी अभोग्या धीवरकन्या) का भोग कर रहे हैं। यह सब निषिद्ध है। मुनि भी जिसके कारण पूर्ण अविवेकी हो गये, उस जगज्जयी काम के अधीन होने से कौन बच सकता है? अतः नल-दमयन्ती जो अहर्निश कामाराधना कर रहे थे, उसमें केवल काल-दोष था, शेष कुछ नहीं। केवल रात-दिन का विचार नहीं था। अपना सुसज्जित महल था, विवाहित दंपती थे। नारायण का निष्कर्ष है कि इस उदाहरण द्वारा कामातुर की कालादि विषयक असहनशीलता का समर्थन किया गया है। उनकी यह भी टिप्पणी है कि अन्य साधु भी अपने पूर्वपुरुषों के कुचरित्र की निन्दा तोते के समान ही करता है—'अन्योऽपि साधुरेवंभूतं स्वपितामहमपि निन्दति।'

नीतमेव करलभ्यपारतामप्रतीर्य मुनयस्तपोऽर्णवम्।
अप्सरःकुचघटावलम्बनात् स्थायिनः क्वचन यत्र चित्रगाः ॥ २५ ॥

जीवातु—नीतमिति। यत्र सौधे, क्वचन कुत्रचित् प्रदेशे, करलभ्यपारतां पाणिप्राप्यचरमसीमात्वम्, अचिरमेव लप्स्यमानफलत्वमित्यर्थः, नीतमेव प्राप्तमेव, तीर्णप्रायमेवेत्यर्थः। तपोऽर्णवं तपस्यासागरम्, अप्रतीर्य अनुत्तीर्य, तपस्यातो विरत्येत्यर्थः। अप्सरसां स्वर्वेश्यानां, कुचाः स्तना एव, घटाः कुम्भाः, तेषाम्

अवलम्बनाद् आश्रयात्, स्थायिन अवतिष्ठमाना, विश्रामपरा इत्यर्थः । तरण-श्रान्ता घटादिकमवलम्ब्य विश्राम्यन्तीति प्रसिद्धिः । मुनय विश्वामित्रादय, चित्रगाः आलेख्यवर्त्तिन, चित्रे अङ्किता विद्यन्ते स्म इत्यर्थः ॥ २५ ॥

अन्वय —यत्र क्वचन करलम्भसारतां नीतम् एव तपोऽर्णवम् अप्रतीर्य अप्सर कुचघटावलम्बनात् स्थायिन मुनय चित्रगाः ।

हिन्दी—जहाँ (सौध में) कहीं-कहीं हाथ से छू लिये जाने की स्थिति को प्राप्त प्रायः तप-सागर का बिना पार किये, अप्सरियों के स्तन रूप घड़ों का आश्रय ले बैठे (सुस्ताते) मुनिगण चित्राङ्कित थे ।

टिप्पणी—सौध म अनेक स्थलों में अप्सरियो से विहार करते विश्वामित्रादि मुनियो के चित्र लगे हुए थे । ऐसे-ऐसे महामुनियो के इसी प्रकार के चित्र वहाँ थे, जिन्होंने विकट तप किया था और भवसागर पार लेना उनके हस्तगत ही था । ऐसे तपस्वी महामुनि भी कामाउक्त हो अप्सरारत हो गये, जैसे कोई सागर-तैरने वाला तट तक लगभग पहुँच जाय, किन्तु तीर पर पहुँचने से पूर्व थक कर घड़े का सहारा ले विश्राम करने लगे । सफलता सन्निकट है, पर उसकी चिन्ता छोड़ सुस्ताने लगे । अप्सराओं के पीनपयोधर घट है और थके, विश्राम करने महामुनि तैरने वाले ॥ २५ ॥

(स्वामिना च वहता च तं मया स स्मरः सुरतवर्णनाज्जितः ।
याऽयमीदृगिति नृत्यते स्म यत्केकिना मुरजनिस्वनैर्घनैः ॥ १ ॥)

जीवातु—स्वामिनेति। यस्य सौधस्य सम्बन्धिना केकिना क्रीडामयूरेणेति हेतोर्घनैर्निबिडैर्मुरजस्वनैर्मृदङ्गध्वनिभि, अत एव तैरेव मेघैर्नृत्यते स्म । इति किम्—याऽयमीदृग्ब्रह्मादिवशीकारकारी म महाप्रभाव स्मर स्वामिना कार्त्ति-केयेण प्रभुणा च तदीययानत्वेन त वहता पृष्ठेन धारयता मया मयूरेण च सुरतवर्जनाज्जित इति । चावन्योन्यसमुच्चये । कुमारस्य नैष्ठिकब्रह्मचारित्वान्म-यूराणा च दर्पनुकामभाजा नेत्रोपान्तरन्ध्रमार्गेण निर्गच्छदामश्रुमयशुक्रबिन्दूनां मयूरीमुखग्रहणमात्रेण गर्भसम्भूतेर्लिङ्गसङ्घर्षणरतपरित्यागो जयहेतु । मयू-राश्च मेघशब्दभ्रान्त्या मृदङ्गशब्दैर्नृत्यन्ति ॥ १ ॥

अन्वय—यत्केकिना—यः अयम् ईदृक् स स्मरः स्वामिना त च वहता मया च सुरतवर्जनात् जित—इति घनैः मुरजनिस्वनै नृत्यते स्म ।

हिन्दी—जिस (सौध) में विचरण करता मयूर इस कारण गंभीर मृदंग बजने की ध्वनियों के (अथवा मृदंग-ध्वनि करते बादलों के) साथ नाचा करता था कि जो यह ऐसा (ब्रह्मादि देवों और मुनियों को मुग्ध बना देने वाला) प्रसिद्ध कामदेव स्वामी (कार्तिकेय) और उनका वहन करते मुझ (मयूर) द्वारा सुरत-त्याग के कारण जीत लिया गया ।

टिप्पणी—शिव और पार्वती के पुत्र, तारकरिपु, देवसेनापति, स्वामिकार्त्तिकेय, षडानन, स्कंद नैष्ठिक ब्रह्मचारी माने जाते हैं, इसी से उनका विरुद 'कुमार' भी है। उनका वाहन मयूर माना गया है। यह भी मान्यता है कि वर्षा ऋतु में काम-प्रभाव के कारण नयनों की कोर से निकल कर बहते मयूर के अश्रुमय शुक्रबिन्दुओं का पान करके मयूरी गर्भ-धारण करती है। इस प्रकार मयूर-मयूरी का यौनसम्बन्ध नहीं हुआ करता। सो स्कन्द का वाहन मयूर भी अपने स्वामी के समान ही ब्रह्मचारी और कामजयी हुआ। जगज्जयी, देव-मुनिवशकर्त्ता कामदेव को जीत लेना अत्यन्त प्रसन्नता का कारण है ही। घन मृदंगध्वनि को सुनकर नाच उठते मयूर के संबंध में यही उद्भावना यहाँ है कि वह इसी जयहर्ष के कारण नाचा करता है। इस श्लोक पर मल्लिनाथ-टीका न होने से प्रकाश व्याख्या दी गयी है ॥ २५क ॥

यत्र वीक्ष्य नलभीमसम्भवे मुह्यतो रतिरतीशयोरपि ।
स्पर्द्धयेव जयतोर्जयाय ते कामकामरमणीबभूवतुः ॥ २६ ॥

जीवातु—यत्रेति। यत्र सौधे, नलभीमसम्भवे निषधेशभैम्यौ, वीक्ष्य दृष्ट्वा, मुह्यतोः मोहं गतोः, रूपदर्शनात् विस्मयविमूढयोरित्यर्थः। अत एव स्पर्द्धया साम्येनेव, तुल्यताभिमानेनेवेत्यर्थः। जयतोः अभिभवतोः, रतिरतीशयोः रतिकामयोरपि, जयाय अभिभवाय, ते नलदमयन्त्यौ, कामकामरमणीबभूवतुः तज्जयाय स्वमन्ये ततोऽप्युत्कृष्टे कन्दर्पकन्दर्पस्त्रियौ अजाते, ते अतिशय स्थिते इत्यर्थः। अभूततद्भावे च्विः ॥ २६ ॥

अन्वयः—यत्र नलभीमसम्भवे वीक्ष्य मुह्यतोः स्पर्द्धया एव जयतोः रतिरतीशयोः अपि जयाय ते कामकामरमणीबभूवतुः।

हिन्दी—जहाँ (सौध) में नल और भीमसुता (दमयन्ती) को देखकर मुग्ध (अथवा संभोगेच्छु अथवा भ्रान्त) और स्पर्द्धा (ईर्ष्या) से हो जय-

प्राप्त करते (नलदमयन्ती को वश करते) रति और रति के स्वामी (काम) को भी जीतने के लिए वे (नलदमयन्ती) काम और कामरमणी (रति) बन गये।

टिप्पणी—सौध में रति-काम की प्रतिमाएँ थी ही (दर्शनीय—श्लोक संख्या १७ क)। यहाँ भाव यह है कि सम्भोगरत नल-दमयन्ती को देखकर स्वाभाविक रूप से स्पर्धा में रति-काम भी सम्भोगेच्छु, मुग्ध और भ्रांत हो गये और ऐसे अपने को वश में करने के इच्छुक रतिकाम को जीतने के लिए नल-दमयन्ती भी उनसे उत्कृष्ट रति-काम बन गये। रति-काम ने नल-दमयन्ती से स्पर्धा की और ईर्ष्यालु रति-काम से भी उत्कर्षस्थिति प्राप्त कर नल-दमयन्ती ने उन्हें पराभूत कर दिया अर्थात् कामरत नवदम्पती काम-रति से भी अधिक रमणीय थे। सम्भोगरत मिथुन को देख अन्य मिथुन भी सम्भोगेच्छु हो जाता है। इसी प्रकार नल दमयन्ती को देख काम-रति भी सम्भोगेच्छु हो गये। यह कल्पना भी है कि सुन्दरतर नल को देख रति को उसमें काम का भ्रम हो गया और काम को दमयन्ती में रति की भ्रांति, अर्थात् नल काम से और दमयन्ती रति से अधिक आकर्षक थी। ऐसे परस्पर प्रेममुग्ध नल दमयन्ती वहाँ जीवित, दूसरे काम रति-से प्रतीत हो रहे थे। यही रति-काम पर दमयन्ती-नल का जय है। अपनी स्पर्द्धा में नल-दमयन्ती ने काम-रति में भी सम्भोगेच्छा जगा दी—यह भी उनकी जीत है। इस जय में बुद्धिपूर्वक व्यापार का अभाव होने से नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा है। आशय यही है कि नल दमयन्ती काम-रति की तुलना में जयी अतएव श्रेष्ठ थे॥ २६॥

> तत्र सौधसुरभूधरे तयोराविरासुरथ कामकेलयः।
> ये महाकविभिरप्यवीक्षिताः पांसुलाभिरपि ये न शिक्षिताः॥ २७॥

जीवातु—तत्रेति। यत्र तस्मिन्, सौधसुरभूधरे मेरुतुल्यप्रासादे, तयोर्भैमीनलयोः, कामकेलयः अनङ्गक्रीडाः। 'द्रवकेलिपरिहासाः क्रीडा खेला च' इत्यमरः। अथ आरम्भे कार्त्स्न्येन वा, आविरासुः आविर्बभूवुः, विहारस्य प्रथमप्रवृत्तिः कार्त्स्न्येन वा प्रवृत्तिरभूदित्यर्थः। प्रादुराविः शब्दयो ह्रस्वस्ति-परनियमात् तत्प्रत्ययवत् ह्रस्वस्तिग्रहणसामर्थ्यात् नास्ति भूभावः। ये केलयः, महाकविभिः वात्स्यायनशास्त्रज्ञैरपि अवीक्षिताः अदृष्टाः, वर्णितुमशक्ता

इत्यर्थः । तथा ये पांशुलाभिः कुलटाभिरपि, न शिक्षिताः न अभ्यस्ताः, एतेन वर्णयिष्यमाणकामकेलीनामसाधारणत्वं सूच्यते ॥ २७ ॥

अन्वयः—अथ तत्र सौधसुरभूधरे तयोः कामकेलयः आविरासुः ये महाकविभिः अपि अवीक्षिताः ये पांशुलाभिः अपि न शिक्षिताः ।

हिंदी—अनन्तर उस सौध-रूप देवगिरि (सुमेरु) पर उन दोनों (नल-दमयन्ती) की वे कामक्रीडाएँ प्रादुर्भूत हुईं, जो बड़े-बड़े कवियों (व्यास-वाल्मीकि-कालिदासादि सूक्ष्मदर्शी महाकवियों) के भी दृष्टिगोचर न हुई थीं, जिन्हें अनेक संभोग-चतुरा विलासिनी स्वेच्छाचारिणी भी न सीख पायी थीं ।

टिप्पणी—आशय यही है कि सौध में नवदम्पती की ऐसी अलौकिक कामक्रीडाएँ हुईं, ऐसे अभूतपूर्व विलास हुए, बड़े-बड़े कल्पनाशील कवियों की कल्पना भी जहाँ पहुँचने में असमर्थ थी, बड़ी-बड़ी स्वैरविहारिणी विलासिनी रमणियों को भी जिनका अभ्यास नहीं था । अलौकिक, नूतनतम विलास ॥ २७ ॥

पौरुषं दधति योषिता नले स्वामिनी श्रिततदीयभावया ।
यूनि शैशवमतीर्णया कियत्प्रापि भीमसुतया न साध्वसम् ॥ २८ ॥

जीवातु—पौरुषमिति । पौरुषं पुरुषत्वम् , युवादित्वादण्प्रत्ययः । दधति दधाने, यूनि तरुणे, स्वामिनी पत्यौ, नले नैषधविषये, क्रमाद् योषिता स्त्रिया, भीरुस्वभावया इत्यर्थः । शैशवम् अतीर्णया अद्यापि अनुत्तीर्णबाल्यया । कर्तरि क्तः । श्रितः अवलम्बितः, तदीयभावः नलाभिप्रायः, तदधीनत्वमिति यावत् । यया तादृश्या, अस्वतन्त्रया इत्यर्थः । भीमसुतया भैम्या, साध्वसं सङ्गमभयम्, कियत् किञ्चिन्मात्रम् , न प्रापि न अलम्भि, परन्तु महदेव भयं प्रापि इति भावः । तच्च रसीभवतः स्थायिनः अंगं पत्युः अत्यानन्दकरञ्च इति प्रपञ्चितं कुमारसम्भवसञ्जीवन्यां 'भावसाध्वसपरिग्रहात्' इत्यत्र । अत्र भयहेतूनां नलगतपौरुषादीनां त्रयाणां भैमीगतस्त्रीत्वादीनां त्रयाणाञ्च यथासङ्ख्यं सम्बन्धात् यथासङ्ख्यालङ्कारः ॥ २८ ॥

अन्वयः—पौरुषं दधति यूने स्वामिनि नले योषिता शैशवम् अतीर्णया श्रिततदीयभावया भीमसुतया कियत् साध्वसं न आपि ?

हिन्दी—पौरुष (तारुण्यबल) को धारण करते, तरुण, स्वामी (राजा) नल के संबंध मे (भीरुस्वभावा) नारी, (वय.संधि मे वर्तमान) शिशुता की झलक जिसकी नही चली गयी है, ऐसी, उस (नल) के भाव (अभिप्राय या अधीनत्व) पर आश्रित भीमपुत्री (दमयन्ती) ने कितना भय नही प्राप्त किया ? (अपि तु महाभय प्राप्त किया) ।

टिप्पणी—यहाँ सभी विशेषण साभिप्राय और क्रमबद्ध हैं । पौरुषधारी, पूर्णयुवा, स्वामी नल और भीरुनारी, बाला, नलाश्रिता दमयन्ती । पौरुष का प्रयोग करने वाले पुरुष से भीरु नारी को भय स्वाभाविक है । पूर्ण युवा के सम्मुख जिसका लड़कपन—बालापन अभी गया नहीं है, ऐसी वय.संधि में वर्तमाना शिशवेणी ही और आश्रयदाता स्वामी के सम्मुख आश्रिता की भीति स्वाभाविक है । इस प्रकार संपूर्ण पुरुष, पूर्ण युवा स्वामी नल के संमुख स्वभावभीरु नारी, बाला, अधीना पत्नी दमयन्ती का भय उचित ही है । यद्यपि दमयन्ती नल के प्रति आसक्त और प्रणयभाव से परिपूर्ण थी, तथापि भय स्वाभाविक होता ही है । नारायण ने यह भाव भी लिया है कि दमयन्ती को नल से भय न लगा, क्योंकि उसने नल का अभिप्राय समझ लिया था कि नल मुग्ध बाला के साथ कठोर पौरुष व्यवहार न करेगा । ऐसा भी होता है कि अनुत्तीर्णबालभावा प्रिया को 'क्या होगा'—इसका थोड़ा भय होता भी है किन्तु प्रियभावानुवर्तिनी प्रिया को प्रथम संभोग क्रीडा और कौतुक भी प्रतीत होता है और वह स्वल्पभय का त्याग कर प्रियभावानुकूल हो जाती है । प्रिया का ऐसा भाव प्रिय को आह्लाद भी देता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ भय के तीनों कारण नलगत पौरुषादि का दमयन्तीगत योषिद्भावादि से यथासंख्य संबंध होने से यथासंख्य अलंकार है ॥ २८ ॥

दूत्यसङ्गतिगतं यदात्मना प्रागशिश्रवदियं प्रियं गिरः ।
तं विचिन्त्य विनयव्यय ह्रिया न स्म वेद करवाणि कीदृशम् ॥ २९ ॥

जीवातु—दूत्येति । इयं दमयन्ती, प्राक् स्वयंवरात् पूर्वम् , दूत्ये इन्द्रस्य दूतकर्मणि, सङ्गतिगतं समागमं प्राप्तम् , प्रियं नलम् , आत्मना स्वयम् , गिरः नवसर्गोक्तवाक्यानि, हृदयनिहितप्रेमभाषणानीति यावत्, अशिश्रवत् श्रावयति स्म । शृणोतेर्णौ चङ्युपधाया ह्रस्वे सन्वद्भावात्, 'स्रवतिशृणोति—',

इत्यादिना विकल्पादश्यासस्येत्वम् । इति यत्, तं पूर्वकृतम्, विनयव्ययम् अविनयम्, प्रगल्भतामिति यावत् विचिन्त्य अनुस्मृत्य, ह्रिया लज्जया, सा भैमी, कीदृशं किम्, करवाणि विदधानि, इति न वेद स्म न बुबुधे। शालीनताऽभावस्मरणात् लज्जया इतिकर्तव्यताविमूढा अभवदित्यर्थः ॥२९॥

अन्वयः—इयं प्राक् दूत्यसङ्गतिगतं प्रियं यत् आत्मना गिरः अशिश्रवत् तं विनयव्ययं विचिन्त्य ह्रिया 'कीदृशं करवाणि' न वेद स्म ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) ने पहिले (स्वयंवर से पूर्व) देवों के दूतकर्म में समागत प्रिय (नल) को जो स्वयं वचन कह सुनाये थे, (अपनी) उस (पूर्वकृत) प्रगल्भता का अनुस्मरण करके वह लज्जा के कारण 'क्या करूँ' यह न समझ पा रही थी ।

टिप्पणी—दमयन्ती विवाह से पूर्व ही नल के प्रति अनुरक्त थी। स्वयंवर होने से पूर्व जब राजा नल इन्द्रादि देवों का दूतकार्य-संपादन करते उसके समीप पहुँचे थे, तब उसने विवश हो धृष्टतापूर्वक अपना निर्णय और अनुराग स्वयं नल से कहा था। प्रथम मिलन की वेला में अपने उस व्यवहार का स्मरण करके दमयन्ती को लाज लगने लगी कि तब वह कितनी अशालीन और निर्लज्ज हो गयी थी और इससे वह किंकर्तव्य-विमूढ हो उठी। यही उत्तमा नारियों के लक्षण हैं कि पूर्वकृत्यों के अनौचित्य पर भी लजाती हैं। श्रेष्ठ दमयन्ती पूर्वचपलता के स्मरण से ही लज्जित हो रही थी, प्रथमसमागम के समय तो लज्जा आती ही ॥ २९ ॥

यत् तया सदसि नैषधः स्वयं प्राग्वृतः सपदि वीतलज्जया ।
तन्निजं मनसिकृत्य चापलं सा शशाक न विलोकितुं नलम् ॥ ३० ॥

जीवातु—यदिति । किञ्च, तया भैम्या, प्राक् पूर्वम्, स्वयंवरकाले इत्यर्थः । सदसि स्वयंवरसभायाम्, सपदि सहसा, वीतलज्जया विगतत्रपया सत्या, नैषधः नलः, स्वयम् आत्मना, नलकर्तृकयाच्ञाऽभावेऽपि इति भावः । वृतः पतित्वेन स्वीकृतः, इति यत् तत् स्वयंवरणरूपम्, निजम् आत्मीयम्, चापलं धाष्टर्यम्, मनसिकृत्य हृदि निधाय 'अनत्याधान उरसिमनसी' इति समासे क्त्वो ल्यबादेशः । सा भैमी, नलं नैषधम्, विलोकितुं द्रष्टुमपि, न शशाक न चक्षमे ॥ ३० ॥

अन्वयः—प्राक् यद् वीतलज्जया तया स्वयं सदसि नैषधः सरादि वृतः तद् निजं चापलं मनसिकृत्य सा नलं विलोकितुं न शशाक ।

हिन्दी—पहिले (स्वयंवर में) जो लज्जा-त्याग कर उस (दमयंती) ने स्वयं स्वयंवरमध्य निषधराज का निःसंकोच वरण किया था, उस अपनी चपलता को मन में लाकर (विचार कर) वह (दमयंती) नल को देखने में भी समर्थ न हुई ।

टिप्पणी—स्वभावतः सलज्जा दमयंती ने भरे स्वयंवर में लज्जा त्याग कर निःसंकोच नल का पतिरूप में वरण किया था। उस सब अपने चपल व्यवहार का स्मरण करती दमयंती प्रथम-मिलन-काल में लज्जा के कारण नल की ओर देखने में झझकने लगी ॥ ३० ॥

आसने मणिमरीचिमांसले यां दिशं स परिरभ्य तस्थिवान् ।
तामसूयितवतीव मानिनी न व्यलोकयदियं मनागपि ॥ ३१ ॥

जीवातु—आसने इति । सः नलः, मणिमरीचिभिः रत्नकिरणैः, मांसले सान्द्रे, समुद्भासिते इत्यर्थः । आसने मणिपीठे, यां दिशं ककुभम्, परिरभ्य आश्लिष्य इत्यर्थः । तस्थिवान् उपविवेश, यद्दिगभिमुखेनावस्थित इत्यर्थः । मानिनी अभिमानवती, इयं दमयन्ती, तां प्रियपरिरब्धां दिशम्, असूयितवतीव दिशः सौत्येन साफल्यात् ईर्ष्यितवतीव इत्युत्प्रेक्षा, मनागपि ईषदपि न व्यलोकयत् न अपश्यत्, नलन्तु किमु वक्तव्यमिति भावः ॥ ३१ ॥

अन्वय—मणिमरीचिमांसले आसने यां दिशं परिरभ्य सः तस्थिवान् मानिनी इयम् असूयितवती इव तां मनाक् अपि न व्यलोकयत् ।

हिन्दी—मणि-किरणों से परिव्याप्त एकासन पर जिस दिशा का आलिंगन करके (जिस दिशा के भाग का आश्रय लेकर) वह (राजा नल) बैठा था, अभिमानशालिनी इस (दमयंती) ने मानो (सपत्नीगता) ईर्ष्या से युक्त हो उस (दिशा) की ओर दृष्टिपात भी न किया ।

टिप्पणी—नवदम्पती एकासन पर विराजित थे। वहाँ नल जिस दिशा की ओर मुख करके बैठे थे, दमयंती लज्जा के कारण उस ओर देख भी न पा रही थी और विमुख बैठी थी। उद्भावना यह है कि यह लज्जा मानिनी का ईर्ष्यासंभव मान था कि वह दिशा-रूपिणी सपत्नी की ओर मुख करके

प्रिय का बैठ जाना भी न सह पा रही थी और ईर्ष्या कोप का प्रदर्शन करती उस ओर देखती भी नहीं थी। दमयन्ती के संमुख प्रिय सपत्नी का परिरंभण करके स्थित है, वह ऐसे सपत्नी में आसक्त प्रिये से संभाषणा करे; उसकी ओर तो दृष्टिपात तक नहीं करेगी। यह 'असूया' नारायण और मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा है ॥ ३१ ॥

ह्रीसरिन्निजनिमज्जनोचितं मौलिदूरनमनं दधानया।
द्वारि चित्रयुवतिश्रिया तया भर्तृहूतिशतमश्रुतीकृतम् ॥ ३२ ॥

जीवातु—ह्रीति। ह्रीसरिति लज्जानद्याम्, निजस्य आत्मनः, निमज्जनं निमग्नीभवनम्, तस्य उचितं योग्यम्, लज्जाप्रयुक्तत्वात् मौलिनमनस्येति भावः। मौलेः मूर्द्ध्नः, दूरम् अत्यर्थम्, नमनं नतिम्, दधानया धारयन्त्या, अत एव द्वारि द्वारदेशे, चित्रयुवतेः आलेख्यलिखितायाः तरुण्याः, श्रीरिव श्रीः कान्तिः यस्याः तथाभूतया, तद्वन्निश्चलया इत्यर्थः। तया भैम्या, भर्तुः नलस्य, हूतिशतं पुनः पुनराह्वानम्। 'हूतिराकारणाह्वानम्' इत्यमरः। अश्रुतीकृतं न श्रवणविषयीकृतम्, श्रुतमपि लज्जया प्रत्युत्तराप्रदानात् अगमनाच्च अश्रुतमिव कृतमित्यर्थः। ह्रिया प्रियं न किञ्चित् प्रत्युवाच इति निष्कर्षः। अभूततद्भावे च्विः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—ह्रीसरिन्निजनिमज्जनोचितं मौलिदूरनमनं दधानया द्वारि चित्रयुवतिश्रिया तया भर्तृहूतिशतम् अश्रुतीकृतम्।

हिन्दी—लज्जा रूपा नदी में स्नान करते समय उचिततया ही डूब जाते अपने सिर को अत्यन्त झुकाये, द्वार पर स्थित चित्रलिखित नारी की शोभा धारती उस (दमयन्ती) ने भर्ता (स्वामी नल) के सैकड़ों आह्वान (संबोधन) भी अनसुने कर दिये।

टिप्पणी—लज्जा में आप्लावित दमयन्ती अपने सिर को अत्यन्त झुकाये पूर्ण निश्चल, चुपचाप बैठी थी; जैसे लज्जा की नदी में नहाती डूब रही हो, डुबकी लगा रही हो; जैसे सजीव स्त्री न हो, द्वार पर चित्र में अंकित नारी-छवि हो। स्वामी बारंबार कुछ कहता था, पर वह उसे सुने को भी अनसुना कर रही थी। जो जलमग्न होगा, उसका सिर विनत होगा ही। चित्र सुन ही नहीं सकता। निरन्तर रहने के कारण यहाँ ह्री को सरित्

प्रवाहशीला सरित् कहा गया, जिसमें नवोढा दमयन्ती पूर्णतः आमग्न थी। आशय यह कि लज्जातिरेक के कारण दमयन्ती स्वामी को प्रतिवचन न दे पा रही थी। यह नवोढा स्वभाव ही है ॥ ३२ ॥

वेश्म पत्युरविशन्न साध्वसाद् वेशिताऽपि शयनं बभाज न।
भाजिताऽपि सविधं न साऽस्वपत् स्वापिताऽपि न च सम्मुखाऽभवत् ॥

जीवातु—वेश्मेति। सा भैमी, साध्वसात् भयात्, पत्युः भर्त्तुः, वेश्म गृहम्, न अविशत् न प्रविष्टवती, वेशिताऽपि सखीभिः कथञ्चित् गृहान्तः प्रापिताऽपि शयनं तल्पम् न बभाज न सिषेवे शय्यायां न अगच्छदित्यर्थः। भाजिताऽपि सखीभिरनुनयादिना शयनं प्रापिताऽपि, सविधं समीपम्, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। न अस्वपत् न अशेत 'स्वापः शयननिद्रयोः' इति मेदिनी। स्वापिताऽपि सखीभिः समीपे शायिताऽपि, सम्मुखा अभिमुखी, न अभवत् न बभूव। एतेन नवोढाया मौग्ध्यात् लज्जाविजितमन्मथत्वमुक्तम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—सा साध्वसात् पत्युः वेश्म न अविशत्, वेशिता अपि शयनं न बभाज, भाजिता अपि सविधं न अस्वपत्, स्वापिता अपि न सम्मुखा न अभवत्।

हिन्दी—वह (आगे क्या होगा, इस) भय से पति (नल) के कक्ष में (स्वयं) न प्रविष्ट हुई, (कक्ष मध्य) प्रविष्ट करा देने पर भी पर्यङ्क पर न बैठी, बैठा दी जाने पर भी समीप न लेटी और (बलात्) लिटा दी जाने पर सम्मुख न हुई।

टिप्पणी—प्रथम मिलन वेला में मुग्धा दमयन्ती का आचरण। भावी के प्रति आशंका के कारण स्वयं पति-कक्ष में न घुसी, किसी प्रकार समझा-बुझाकर सखियों ने कक्ष में प्रविष्ट करा दिया तो शयनीय पर न गयी। शयनीय पर किसी प्रकार बैठायी गयी तो लेटी नहीं, सोने की तो बात ही क्या? प्रिय ने बाहों में भर लिटा भी लिया तो शय्या की पाटी पकड़ एक ओर मुँह फेर कर लेट रही। यह भी नवोढा की मुग्ध प्रकृति है। साध्वस, लज्जा आदि का ज्वार। नवोढा की मुग्धता के कारण लज्जा मन्मथजयिनी बन जाती है ॥ ३३ ॥

(केवलं न खलु भीमनन्दिनी दूरमत्रपत नैषधं प्रति।
भीमजाहृदि जितः स्त्रिया ह्रिया मन्मथोऽपि नियतं स लज्जितः ॥१॥)

प्रकाशः—केवलमिति। भीमनन्दिनी केवलं नैषधं प्रत्युद्दिश्य दूरं नितराम-त्रपत लज्जां प्राप्नोति न, किन्तु भीमजाहृदि वर्तमानया ह्रिया लज्जारूपया स्त्रिया जितः खलु जित एव सोऽतिप्रसिद्धपराक्रमो हृद्येव वर्तमानो मन्मथोऽपि नियतं बहुकालं लज्जितः। अथ च—मनो मथ्नाति पीडयतीति मन्मथः पृषोदरादिः। एवं विधोऽपि जितो लज्जितः सङ्कुचितश्चेति चित्रम्। ह्रीवशान्नलविषयोऽतिपीडाकरोऽपि कामो बहुकालं शाममभिभवति स्मेति भावः। अन्योऽपि स्त्रिया जितो लज्जते ॥ १ ॥

अन्वयः—भीमनन्दिनी केवलं नैषधं प्रति दूरं न अत्रपत; भीमजाहृदि ह्रिया स्त्रिया जितः सः मन्मथः अपि नियतं खलु लज्जितः।

हिन्दी—भीमनन्दिनी (दमयन्ती) ही निषधराज (नल) से अत्यन्त लज्जित न हुई, भीमपुत्री (दमयन्ती) के हृदय में स्थित लज्जा-रूपिणी स्त्री से विजित वह (महापराक्रमी जगज्जेता) मन को मथित करने वाला (कामदेव) भी बहुत बार लज्जाक्रान्त हुआ।

टिप्पणी—दमयन्ती के हृदय में प्रिय के प्रति यद्यपि अनुरागातिरेक था, तथापि उसकी कामना लज्जा से अभिभूत था। लज्जा से दमयन्ती ही आक्रांत नहीं थी, उसके मन में स्थित मन्मथ भी लज्जा-नारी से जीत लिया गया था और जगज्जयी वह कामदेव भी एक नारी से हार कर स्वभावतः लज्जित हो रहा था। आशय यह कि दमयन्ती की उद्दाम नल-कामना भी उस समय लज्जा से अभिभूत थी। जीवातु-व्याख्या न होने से प्रकाश व्याख्या दी गयी है ॥ ३३क ॥

आत्मनाऽपि हरदारसुन्दरी यत् किमप्यभिललाष चेष्टितुम्।
स्वामिना यदि तदर्थमर्थिता मुद्रितस्तदनया तदुद्यमः ॥ ३४ ॥

जीवातु—आत्मनेति। हरदाराः पार्वती इव, सुन्दरी सुरूपा, सा भैमीति शेषः। आत्मना स्वयमपि, यत् किमपि चेष्टितुं यत् किञ्चन कटाक्षवीक्षणादि कर्तुम्, अभिललाष स्पृहयामास, किन्तु स्वामिना पत्या, तदर्थं तन्निमित्तम्, अर्थिता यदि प्रार्थिता चेत्। तत् तदैव, अनया भैम्या, तदुद्यमः तस्य नलस्य, उद्यमः चेष्टा, स्वकीयकटाक्षवीक्षणादिचेष्टा वा, मुद्रितः प्रतिबद्धः, निरुद्धीकृतः इत्यर्थः। स्वयं चिकीर्षितमपि लज्जावशात् न करोति इति निष्कर्षः ॥३४॥

अन्वय —हरदारसुन्दरी आत्मना अपि यत् किम् अपि चेष्टितुम् अभिलषाप, यदि तदर्थं स्वामिना अर्थिता तत् अनया तदुद्यम मुद्रित ।

हिन्दी—शिवप्रिया (उमा) सदृशी सुन्दरी (दमयन्ती) ने स्वय भी जो कुछ भी अवसरोचित कार्य करना चाहा, यदि उसके निमित्त स्वामी (नल) ने प्रार्थना कर दी तो उस (दमयन्ती) ने उस (नल) का वह उद्यम (याचना) मूंद दिया (व्यर्थ कर दिया)।

टिप्पणी—नवोढा नारियाँ अनुरागमयी तो होती ही हैं और स्वयम् भी स्वेच्छया भी कुछ प्रियानुकूल चेष्टाएँ किया करती हैं—कभी पान का बीड़ा दे दिया, कभी पखा झल दिया, कभी तिरछे नयनों से निहार ही दिया। पर करती वे यह सब अयाचित स्थिति में ही हैं। यदि पति स्वय कुछ करने को कहे तो वे लजा जाती हैं और प्रिय-याचना पूरी नहीं करतीं। नवोढा पार्वती ने भी शिवसामीप्य में ऐसा ही किया होगा। पार्वती के समान सुन्दरी दमयन्ती ने प्रथम प्रणय की मुग्ध वेला में ऐसा ही व्यवहार किया ॥ ३४ ॥

ह्रीभराद् विमुखया तया भिय सञ्चितामननुरागशङ्किनि ।
स स्वचेतसि लुलोप सस्मरन् दूत्यकालकलित तदाशयम् ॥ ३५ ॥

जीवातु—ह्रीभरादिति। स नल, ह्रीभराद् लज्जातिशयाद्, विमुखया प्रतिकूलया, तया भैम्या, अननुरागशङ्किनि वैमुख्यदर्शनात् अनुरागाभावसन्देहिनि, स्वचेतसि निजमनसि, सञ्चिता पुञ्जीकृताम्, भिय विरागसम्भावनाजनित भयम्, दूत्यकाले दूतकर्मसमये, कलितम् अवगतम्, तस्या भैम्या, आशम चित्तवृत्तिम् सस्मरन् सञ्चिन्तयन्, लुलोप विनाशयामास। तदनुरागस्य स्मरणेन भय नुनोद इत्यर्थ ॥ ३५ ॥

अन्वय —ह्रीभराद् विमुखया तया अननुरागशङ्किनि स्वचेतसि सञ्चितां भिय दूत्यकालकलित तदाशय सस्मरन् स लुलोप।

हिन्दी—लज्जा के भार से विमुख उस (दमयन्ती) के अनुरागाभाव की आशका से पूर्ण अपने चित्त में उत्पन्न भय को दूतावस्था म ज्ञात उस (दमयन्ती) की चित्तवृत्ति का स्मरण करते नल ने दूर किया।

टिप्पणी—दमयन्ती के लज्जातिरेकजन्य कुछ विमुख-से व्यवहार से

एक बार नल को यह लगा कि कहीं दमयन्ती का उसके प्रति अनुरागाभाव तो नहीं है, किन्तु दमयन्ती पूर्व व्यवहार, दूत-कर्म करते समय की वार्ता का स्मरण कर वह वास्तविकता को समझ गया ॥ ३५ ॥

पार्श्वमागमि निजं सहालिभिस्तेन पूर्वमथ सा तयैकया ।
क्वापि तामपि नियुज्य मायिना स्वात्ममात्रसचिवाऽवशेषिता ॥ ३६ ॥

जीवातु—पार्श्वमिति । मायिना कपटपटुना, चतुरेणेत्यर्थः । तेन नलेन, सा भैमी, पूर्वम् आदौ, आलिभिः वह्वीभिः सखीभिः सह, निजं पार्श्वं स्वसमीपम्, आगमि आगमिता, आनीतेत्यर्थः । गमेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् मित्वाद् ह्रस्वत्वम् । अथ अन्यासां सखीनां कार्यव्यपदेशेन प्रस्थापनानन्तरम्, एकया एकमात्रया, तया आल्या सह, अवशेषिता अवशिष्टीकृता । अथ ताम् एकामपि आलिम्, क्वापि ताम्बूलानयनादिरूपे कस्मिन्नपि कर्मणि, नियुज्य सम्प्रेष्य, स्वात्ममात्रं केवलं स्वयमेव, सचिवः सहायः, सहचर इत्यर्थः । यस्याः सा तादृशी, चक्रे इति शेषः विविक्तमकरोदित्यर्थः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—सा पूर्वम् आलिभिः सह निजं पार्श्वम् आगमि, अथ एकया तया अवशेषिता, मायिना तेन ताम् अपि क्व अपि नियुज्य स्वात्ममात्रसचिवा (अवशेषिता) ।

हिन्दी—चतुर वह (दमयन्ती) पहिले सखियों के साथ अपने (नल) के पास उपस्थित की गयी, तदनन्तर एक (सखी) के साथ रहने दिया; कुछ समय बाद चतुर (राजा नल) ने उस (सखी) को भी किसी कार्य में नियुक्त कर केवल दमयन्ती को अपने साथ अकेली रहने दिया ।

टिप्पणी—दमयन्ती को नल के विलास-कक्ष में एकाकिनी पहुँचने में भय और संकोच लग रहा था, सो वह पहिले अनेक सखियों के साथ उस कक्ष में पहुँचायी गयी । कुछ काल पश्चात् जब दमयन्ती कुछ आश्वस्त हुई तो सब सखियाँ चली गयीं, केवल एक रह गयी । नल चतुर था, विश्वस्त करने की निपुणता से भली भाँति परिचित था । उसने थोड़े समय के पश्चात्, जब दमयन्ती और विश्वस्त हो गयी, उस सखी को भी ताम्बूलादि लाने के काम में नियुक्त कर उस व्याज से अन्यत्र भेज दिया और दमयन्ती अकेली नल के पास रह गयी । इस प्रकार क्रमशः निपुणता और कौशल के साथ

नल ने विजन कक्ष में दमयन्ती को प्राप्त कर लिया। यही माया है—कामशास्त्रोक्त प्रिया को विश्वस्त करने की उचित रीति ॥ ३६ ॥

सन्निधावपि निजे निवेशितामालिभिः कुसुमशस्त्रशास्त्रवित् ।
आनयद् व्यवधिमानिव प्रियामङ्कपालिवलयेन सन्निधिम् ॥ ३७ ॥

जीवातु—सन्निधाविति। कुसुमशस्त्रशास्त्रवित् कामतन्त्रपारगः नलः, आलिभिः सहचरीभिः निजे सन्निधौ स्वसमीपे, निवेशिताम् स्थापितामपि, प्रियां दमयन्तीम्, व्यवधिमान् इव असन्निहित इव, अङ्कपालि पृष्ठदेशस्पर्शपूर्वकालिङ्गनविशेष, तद्रूपेण वलयेन वलयाकारवेष्टनेन, सन्निधिं स्वसमीपम्' आनयत् आनीतवान्। 'आदौ रत 'बाह्यमेव प्रयोज्य तत्रापि चालिङ्गनमेव पूर्वम्' 'तथा सामीप्यगा भीरु नवोढा सन्निधापयेत्। विश्वासवञ्चना गाढालिङ्गनात् त्याजयेद् भयम्।' इति कामशास्त्रादिति भाव ॥ ३७ ॥

अन्वय—कुसुमशास्त्रवित् आलिभिः निजे सन्निधौ निवेशिताम् अपि प्रियां व्यवधिमान् इव अङ्कपालिवलयेन सन्निधिम् आनयत्।

हिन्दी—कामशास्त्र का वेत्ता (राजा नल) सखियों द्वारा अपने पार्श्व में बैठा दी गयी भी प्रिया (दमयन्ती) को—जैसे दूरस्थित हो, इस प्रकार—अँकवार में घेर कर (भुजा को वलयाकार कर पीठ पीछे-से घेरे में लेकर) समीप ले आया।

टिप्पणी—राजा निपुण था—कामशास्त्र का ज्ञाता। शास्त्र के अनुसार पहले नवोढा को सामान्य रूप से आलिंगन कर (बाहों में लेकर) समीप बैठाना चाहिए, जिससे उसकी भीरुता दूर हो, फिर धीरे धीरे विश्वस्त आश्वस्त कर गाढालिंगन कर भय दूर करे। नल ने इसी विधि से समीपस्था प्रिया को बाहों में लेकर और समीप किया, तत्पश्चात् गाढालिंगन कर भय दूर किया ॥३७॥

प्रागचुम्बदलिके ह्रिया नतां तां क्रमाद्दरनतां कपोलयोः।
तेन विश्वसितमानसां झटित्याननेऽस परिचुम्ब्य सिष्मिये ॥ ३८ ॥

जीवातु—प्रागिति। स नलः, ह्रिया लज्जया, नतां नम्रमुखीम्, तां भैमीम्, प्राक् पूर्वम्, अलिके ललाटपट्टे। 'ललाटमलिकं गोधिः' इत्यमरः। अचुम्बत् चुम्बितवान्, अथ क्रमात् क्रमशः दरनताम् ईषदवनताम्, पूर्वापेक्षया

ऽकिञ्चिदुन्नमितमुखीमित्यर्थः। कपोलयोः गण्डयोः तामचुम्बदिति पूर्वेणान्वयः। तेन पूर्वोक्तरूपमृदुव्यवहारेणेत्यर्थः। विश्वसितमानसां विसन्धचित्ताम्, तामिति शेषः। झटिति द्राक्, आनने मुखे, परिचुम्ब्य चुम्बयित्वा, सिष्मिये स्मितवान्, अधरचुम्बनहर्षात् ईषद् जहासेत्यर्थः। अनुप्रवेशलाभाद् इति भावः॥ ३८॥

अन्वयः—सः ह्रियानतां तां प्राक् अलिके अचुम्बत्, क्रमात् दरनतां कपोलयोः, तेन विश्वसितमानसां झटिति आनने परिचुम्ब्य सिष्मिये।

हिन्दी—उस (नल) ने लज्जा से अत्यन्त झुकी उस (दमयन्ती) को पहिले मस्तक पर चूमा, धीरे-धीरे कुछ कम झुकी रह जाने पर (मुख कुछ उठा लेने पर) गालों को चूमा, उससे भी मन आश्वस्त रहने पर—विश्वस्त-हृदया (दमयन्ती) का झट मुख पर (अधरों पर) चुम्बन करके मुसकुरा दिया।

टिप्पणी—आरम्भ में दमयन्ती बहुत झुक कर बैठी थी, उस स्थिति में कपोलादि-चुंबन तो संभव नहीं था (और सहसा यह उचित भी नहीं था); अतः नल ने पहिले दमयन्ती के ललाट पर चुम्बन लिया। कुछ देर बाद आश्वस्त हो जब दमयन्ती ने मुख कुछ ऊपर किया तो नल ने कपोल चूम लिये। इस पर भी आश्वस्तहृदया दमयन्ती ने मुख ऊपर उठाया तो झट से नल ने उसका मुख चूम लिया और मुसकुरा उठा। झट से इसलिए मुख चूमा कि कहीं फिर नीचा न करले और हर्ष से मुसकुराया इसलिए कि स्पष्ट हँसने पर दमयन्ती पुनः न लजा जाय। नवोढा को विश्वास में लाने की यह कामशास्त्रोक्त पद्धति है॥ ३८॥

लज्जया प्रथममेत्य हूङ्कृतः साध्वसेन बलिनाऽथ तर्जितः।
किञ्चिदुच्छ्वसित एव तद्धृदि न्यग्वभूव पुनरर्भकः स्मरः॥ ३९॥

जीवातु—लज्जयेति। अर्भकः शिशुः, अप्रगल्भावस्थत्वात् तथा रूपणम्। स्मरः कामः, तस्याः दमयन्त्याः, हृदि चेतसि, किञ्चित् ईषद्, उच्छ्वसितः स्फुरित एव पूर्वोक्तचुम्बनाद्युपलालनेन किञ्चिदुल्लसितः सन् एवेत्यर्थः। प्रथमम् आदौ, लज्जया ह्रिया, एत्य आगत्य, हूङ्कृतः हूङ्कारेण वारितः, अथ तदनन्तरम्, तयाऽप्युल्लसने बलिना ततोऽपि प्रबलेन, साध्वसेन त्रासेन, तर्जितः भर्त्सितः सन्, पुनः भूयः, न्यग्बभूव सञ्चुकोच प्रशशामेत्यर्थः॥ ३९॥

अन्वयः—तद्धृदि किञ्चित् उच्छ्वसितः एव अर्भकः स्मरः प्रथमं लज्जया एत्य हूङ्कृतः अथ बलिना साध्वसेन तर्जितः पुनः न्यग्बभूव।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) के हृदय में स्थित (ललाटादि चुम्बन के कारण) कुछ विकसित हो काम शिशु पहिले लज्जा द्वारा हुंकार संकेत कराया जाकर और उसके तर (लज्जा से भी) प्रबल सात्त्विक भय से भर्त्सना पाकर पुनः संकुचित हो गया।

टिप्पणी—दमयन्ती मुग्धा बाला थी। नल द्वारा चुम्बनादि होने पर उसके हृदय में अल्पमात्रा में काम-जागरण हुआ, किंतु लाज-संकोच और भय से वह फिर से दब गया। काम की तुलना एक शिशु से की गयी है (क्योंकि दमयन्ती का मनोभू अल्पमात्रा में विकसित हुआ था), जो कुछ उत्साहित हो कुछ करना चाहता है, परन्तु जब गुरुजन—माँ बाप निषेध कर देते हैं तो पुनः निरुत्साहित हो चुप बैठ जाता है। काम शिशु है, लज्जा माँ है जिसने निवारणार्थ केवल हुङ्कारी दी। साध्वस पिता है, जिसने जोर से डाँट धमका दिया। बेचारा काम अभक शांत हो, चुपचाप, सङ्कुचित हो, बैठ गया। मल्लिनाथ के अनुसार काम की अप्रगल्भता के कारण अर्भक रूप में चित्रित किया गया है। नारायण के अनुसार 'हुङ्कृत इव', 'तर्जित इव'—ये प्रतीयमानोत्प्रेक्षा हैं ॥ ३९ ॥

वल्लभस्य भुजयोः स्मरोत्सवे दित्सतोः प्रसभमङ्कपालिकाम्।
एककश्चिरमरोधि बालया तल्पयन्त्रणनिरन्तरालया ॥ ४० ॥

जीवातु—वल्लभस्येति। स्मरोत्सवे सुरतारम्भे, प्रसभं बलात्, अङ्कपालिकाम् आलिङ्गनम्। 'सम्परीरम्भ आश्लेष परिष्वङ्ग उपगूहनम्। आलिङ्गनमपि क्रोडीकरणञ्चाङ्कपाल्यपि ॥' इति यादवः। दित्सतोः दातुमिच्छतोः, आलिङ्गनप्रवृत्तयोरित्यर्थः। ददातेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः, 'सनि मीमा—' इत्यादिना इत्वेऽभ्यासलोपः। वल्लभस्य प्रियस्य, भुजयोः बाह्वोः, एककः एको भुजः, असहाये कन्-प्रत्ययः। तल्पयन्त्रणे शय्यानिरोधने, शय्याऽऽश्लेषणे इत्यर्थः। निरन्तरालया अव्यवधानया, दृढरूपेण निरन्तराश्लिष्टतल्पया इत्यर्थः। बालया तरुण्या भैम्या, चिरं दीर्घकालम्, अरोधि निरुद्धः, तल्पमाश्लिष्य प्रियस्य एककरमरुणत् इत्यर्थः। भैम्या पृथुदेहशय्ययोर्मध्ये अन्तरालाभावात् नलः एकहस्तं तत्र प्रवेश्य दमयन्तीमालिङ्गितुं न समर्थः इति भावः ॥ ४० ॥

अन्वयः—स्मरोत्सवे प्रसभम् अङ्कपालिकां दित्सतोः वल्लभस्य भुजयोः एककः तल्पयन्त्रणनिरन्तरालया बालया चिरम् अरोधि।

हिन्दी—सुरत महोत्सव के आरम्भ में हठात् दोनों भुजाओं में लेकर आलिंगन देने में प्रवृत्त प्रिय के भुजयुग्म मे से एक को पर्यंक पर दृढ़तापूर्वक पीठ करके लेट (भुजा को नीचा करके पीठ पीछे ले जाने का) अवकाश (स्थान) न देती (सुरत में अप्रौढा) बाला (दमयन्ती) ने बहुत समय तक रोका।

टिप्पणी—रतारंभ में नल ने पर्यङ्क पर लेटी दमयन्ती को, एक बाँह ऊपर से और एक बाँह पीठ के नीचे करके, आलिंगन-बद्ध करना चाहा, किंतु दमयन्ती इतनी दृढ़ता से पीठ के बल पलंग पर पड़ गयी कि भुजा नीचे ले जाने का स्थान ही नहीं रहा और बहुत देर तक आलिंगन न हो सका। अथवा बाला दमयन्ती अपनी दोनों भुजाओं से नल की एक आलिंगनोद्यत भुजा रोके रही, जिससे आलिंगन में अवरोध उत्पन्न हो गया, क्योंकि एक के निरुद्ध हो जाने पर अवशिष्ट स्वतन्त्र बाहु से स्पर्श मात्र हो सकता है; पूर्ण आलिंगन नहीं। भाव यह कि एक दूसरे की ओर मुख करके (संमुख) लेटे दमयन्ती-नल, शय्या पर पीठ के बल कस कर दमयन्ती के लेट जाने से पूर्णालिंगन-बद्ध न हो पाये। नीचे की भुजा पीठ के नीचे न जा सकी, दूसरी ऊपर की भुजाओं दोनों हाथों से दमयन्ती रोके रही। भाव यही है कि बहुत देर तक नल दमयन्ती को अँकवार में न [illegible] पाया।४०।

हारसाधिमविलोकने मृषा कौतुकं किमपि नाटयन्नयम्।
कण्ठमूलमदसीयमस्पृशत् पाणिनोपकुचधाविना धवः॥ ४१॥

जीवातु—हारेति। धवः पतिः, अयं नलः, हारस्य मुक्तावल्याः, साधिम्न अतिशयेन साधुतायाः, रमणीयताया इत्यर्थः। विलोकने दर्शने, परीक्षार्थमित्यर्थः। किमपि अनिर्दिष्टमित्यर्थः। मृषा मिथ्या, कौतुकं कुतूहलम्, नाटयन् प्रदर्शयन्नित्यर्थः। वस्तुतस्तु पीडनाभिप्रायेणैवेति भावः। उपकुचं कुचसमीपे, धावति द्रुतं गच्छतीति तद्धाविना स्तनसमीपगामिना, पाणिना करेण, अमुष्याः इदम् अदसीयं दमयन्ती, सम्बन्धि। 'त्यदादीनि च' इति वृद्धसंज्ञायां 'वृद्धाच्छः' इति छप्रत्ययः। कण्ठमूलं गलाधोभागम्, उरःस्थलमित्यर्थः। अस्पृशत् स्पृष्टवान्॥ ४१॥

अन्वयः—हारसाधिमविलोकने किम् अपि मृषा कौतुकं नाटयन् अयं धवः उपकुचधाविना पाणिना अदसीयं कण्ठमूलम् अस्पृशत्।

हिन्दी—(वक्ष पर पहिने) हार की सुन्दर रचना देखने में एक कपट कुतूहल का नाटय करते हुए उस प्रिय (पति नल) ने कुचों के निकट शीघ्रतापूर्वक पहुँच जाते हाथ से उस (दमयन्ती) के कण्ठ के नीचे का भाग (स्तन समीप का भाग) छू लिया।

टिप्पणी—यदि नल सहसा दमयन्ती का कुच-स्पर्श कर लेता तो ठीक न होता, सो उसने दमयन्ती द्वारा पहिने हार की सुन्दरता देखने के बहाने झट से अपना हाथ दमयन्ती के स्तनों के निकट कण्ठमूल पर डाल दिया और इस प्रकार बहाने से उसका स्तन-समीपस्थ भाग हाथ से छू लिया। यह हार रमणीयता विलोकन क्रिया बहाना ही तो थी—एक अभिनय मात्र, अन्यथा सार्वभौम नरेश नल ने न जाने कितने एक-से-एक सुन्दर देखे होंगे? हार देखने का कुतूहल तो झूठा बहाना था, वस्तुतः तो वह कुच स्पर्श करने को उत्कंठित था। मुग्धा को इसी प्रकार विश्वास में लाया जाता है ॥ ४१ ॥

यत् त्वयाऽस्मि सदसि स्रजाऽञ्चितस्तन्मयाऽपि भवदर्हणाऽर्हति ।
इत्युदीर्य निजहारमर्पयन्नस्पृशत् स तदुरोजकोरकौ ॥४२॥

जीवातु-यदिति। हे प्रिये ! यत् यस्मात्, त्वया भवत्या, सदसि स्वयंवर-समायाम्, स्रजा वरणमालया, अञ्चित पूजित, 'अञ्चे पूजायाम्' इतीडा-गम, 'नाञ्चे पूजायाम्' इत्यनुनासिकलोपप्रतिषेध। अस्मि भवामि, अहमिति शेष। तत् तस्मात्, मयाऽपि भवत्या तव, अर्हणा पूजा। 'सर्वनाम्नो वृत्ति मात्रे पुंवद्भाव'। अर्हति युज्यते, इति एवम्, उदीर्य उक्त्वा, निज स्वकम्, हार कण्ठभूषाम्, अर्पयन् ददत्, गलदेशे सन्निधापयन्नित्यर्थ। स नल, तस्या दमयन्त्या, उरोजकोरकौ कुचकुड्मलौ, अस्पृशत् स्पृष्टवान् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—यत् त्वया सदसि स्रजा अञ्चित अस्मि, तत् मया अपि भव-दर्हणा अर्हति—इति उदीर्य निजहारम् अर्पयन् स तदुरोजकोरकौ अस्पृशत्।

हिन्दी—'जो तुम (दमयन्ती) ने स्वयंवर-सभा में माला द्वारा मेरी पूजा की थी, सो मुझ (नल) को भी तुम्हारी (दमयन्ती) अर्हणा (आराधना) करनी उचित है—यह कहकर अपना हार अर्पित करते हुए उस (नल) ने उस (दमयन्ती) के कुच-कुड्मल (स्तन रूपी कलियाँ— छोटे छोटे कठोर स्तन) छू लिये।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में बताया गया कि दमयन्ती के गले में पड़े हार की सुन्दर बनावट देखने के बहाने नल ने दमयन्ती के स्तनों के समीप का भाग हाथ से छू लिया, यहाँ एक दूसरे बहाने से कुचस्पर्श का वर्णन है। दमयन्ती ने स्वयंवर-सभा में नल के गले में वरमाला डाली थी, नल ने उसका उल्लेख करते हुए तर्क दिया कि नल-द्वारा भी दमयन्ती के कंठ में माला डालने का औचित्य है। इस बहाने अपना हार दमयन्ती के वक्ष पर पहिनाते नल ने उसके कुचों का स्पर्श कर लिया ॥ ४२ ॥

नीविसीम्नि निहितं स निद्रया सुभ्रुवो निशि निषिद्धसंविदः।
कम्पितं शयमपासयन्निजं दोलनैर्जनितबोधयाऽनया ॥ ४३ ॥

जीवातु—नीवीति। सः नलः, निशि रात्रौ, निद्रया स्वापेन, निषिद्धसंविदः निवृत्तसंज्ञायाः, सुभ्रुवः सुन्दरभ्रूशालिन्याः प्रियायाः, नीविसीम्नि कटीवस्त्रग्रन्थिसमीपे, निहितं स्थापितम्, उन्मोचनाय इति भावः। अत एव कम्पितं सत्त्वोदयात् सकम्पम्, निजं स्वीयम्, शयं पाणिम्, दोलनैः पाणिकम्पनैः, कम्पनाद्धेतोः दमयन्त्याः गात्रे सहसा संलग्नत्वात् इति भावः। जनितबोधया प्रबुद्धया, अनया भैम्या, प्रयोज्यया। अपासयत् अपासारयत् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—सः निशि निद्रया निषिद्धसंविदः सुभ्रुवः नीविसीम्नि निहितं कम्पितं निजं शयं दोलनैः जनितबोधया अनया अपासयत्।

हिन्दी—उस (नल) ने रात में नींद से भानरहित सुभ्रू (सुन्दर भ्रुकुटि-वाली दमयन्ती) की कटिवस्त्र की गाँठ (नीवि) के समीप रखे, (अतएव सत्त्वोदय से) काँपते अपने हाथ को हाथ-डोलने से जाग गयी इस (दमयन्ती) के कारण हटा लिया।

टिप्पणी—जागती दमयन्ती अपने कटिवस्त्र की गाँठ नीवि न खोलने देती, इस कारण रात में जब वह बेसुध सो गयी तो नल ने नीवि पर हाथ रखा कि गाँठ खोल दे; किन्तु सात्त्विकोदय के कारण हाथ कांपने लगा और उस काँपते हाथ के स्पर्श से दमयन्ती की नींद टूट गयी और नल ने हाथ हटा लिया। अथवा जागकर दमयन्ती ने ही नल का हाथ हटा दिया ॥ ४३ ॥

स प्रियोरुयुगकञ्चुकांशुके न्यस्य दृष्टिमथ सिष्मियं नृपः ।
आववार तदथाम्बराञ्चले सा निरावृत्तिरिव त्रपावृता ॥ ४४ ॥

जीवातु—स इति । स नृपः नलः, प्रियायाः दमयन्त्याः, ऊरुयुगस्य सक्थिद्वयस्य, कञ्चुके चोलके, आवरके इत्यर्थः। अंशुके सूक्ष्मवस्त्रे, दृष्टिं नेत्रम्, न्यस्य निक्षिप्य, सिष्मियं स्मितवान्, सूक्ष्मवस्त्रान्यन्तरात् ऊरुयुगसौन्दर्यं दृष्ट्वा आनन्दोदयादिति भावः । अथ तदानन्तरम्, सा दमयन्ती, निरावृतिरिव आवरणरहितेव, साक्षाद्दृष्टोरुयुगा इवेत्यर्थः । अत एव त्रपावृता लज्जामग्ना सती, तदूरुयुगम्, अम्बराञ्चलं वस्त्रप्रान्तं, आववार आच्छादयामास । आवृतमपि अनावृतमितीव आवृणोदिति त्रपातिशयोक्तिः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—स नृपः प्रियोरुयुगकञ्चुकांशुके दृष्टिं न्यस्य सिष्मियं, अथ सा निरावृतिः इव त्रपावृता अम्बराञ्चले तद् आववार ।

हिन्दी—वह राजा (नल) प्रिया (दमयन्ती) की दोनों जंघाओं के आवरण सूक्ष्म (महीन) वस्त्र पर दृष्टि डाल कर मुस्कुरा दिया, इस पर उस (दमयन्ती) ने जैसे आवरणहीन (नग्न) हो, ऐसी लज्जित हो वस्त्राञ्चल से उस (ऊरुयुगल) को ढक लिया ।

टिप्पणी—दमयन्ती महीन वस्त्र पहिने थी । नल महीन वस्त्र से ढकी उसकी जांघों की ओर देखकर मुस्कुरा दिया । उसने इस प्रकार जैसे यह प्रकट किया कि झीने वस्त्र से ढके होने के कारण मैं सब देख रहा हूँ। दमयन्ती इस पर लाज में डूब गयी। उसे लगा कि वह मानो आवरणहीन देख ली गयी है, सो उसने वस्त्र का एक ओर भाग ऊरुयुगल पर डाल कर ढक लिया। नारायण के अनुसार यह स्वभाव है । मल्लिनाथ के अनुसार आवृत को भी अनावृत की भाँति ढक लिया,—यह त्रपातिशयोक्ति है ॥ ४४ ॥

बुद्धिमान् व्यधित तां क्रमादयं किंचिदित्यमपनीतसाध्वसाम् ।
किञ्च तन्मनसि चित्तजन्मना ह्रीरनामि धनुषा समं मनाक् ॥४५॥

जीवातु—अथ शनैर्मौग्ध्यत्यागात्मावस्थां प्राप्तिमित्याह—बुद्धिमानिति । बुद्धिमान् उपायज्ञः, अयं नलः, तां प्रियाम्, क्रमात् क्रमशः, इत्थम् उक्तरीत्या, किञ्चित् ईषत्, अपनीतसाध्वसाम् अपसारितभयाम्, व्यधित विहितवान् । किञ्च, चित्तजन्मना कामेनापि, तस्याः भैम्याः, मनसि चेतसि, ह्रीः लज्जा,

धनुषा समं चापेन सह, मनाक् ईषत्, अनामि नामिता, एकत्र—अल्पीकृता, अन्यत्र—न्युब्जीकृतेत्यर्थः। 'ज्वलह्वल—'इति वार्तिकात् मित्त्वाभावपक्षे वृद्धिः। शनैर्लज्जानमनेन कामः स्वयमुत्थितः इति भावः। अत्र हि ह्रीनमने-धनुर्नमनयोः कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययेण सहोक्त्यलङ्कारः॥ ४५॥

अन्वयः—बुद्धिमान् अयं तां क्रमात् इत्थं किञ्चित् अपनीतसाध्वसां व्यधित; किम् च चित्तजन्मना तन्मनसि ह्रीः धनुषा सह मनाक् अनामि।

हिन्दी—बुद्धिमान् इस (राजा नल) ने उसे (दमयन्ती को) धीरे-धीरे इस प्रकार कुछ भयरहित बना दिया; और फिर मनोजन्मा (काम) ने (भी) उस (दमयन्ती) के मन में लज्जा को स्व-चाप के साथ कुछ झुका दिया।

टिप्पणी—कामकलाकोविद नल ने उक्त व्यवहार से क्रमशः दमयन्ती की भीति और झिझक कुछ दूर कर दी, साथ ही क्रमशः मन में विकसित होते काम ने भी कुछ लज्जा दूर की। भाव यह कि धीरे-धीरे दमयन्ती की लज्जा और झिझक दूर होती चली और काम विकसित होने लगा। भय को राजा नल ने भगा दिया, एक लज्जा बची—एक स्त्री, उसे सरलता से काम ने मंद कर दिया। उनतालीसवें श्लोक में वर्णित लज्जा-साध्वस का प्रभाव कम होने से चुप बैठ गया काम-अर्भक फिर उल्लसित हो उठा। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ ह्री-नयन और धनुर्नमन-रूप कार्य-कारण के पौवर्पिर्यविपर्यय के कारण सहोक्ति अलंकार है॥ ४५॥

सिष्मिये हसति तेन न स्म सा प्रीणिताऽपि परिहासभाषणैः।
स्वे हि दर्शयति ते परेण काऽनर्घ्यदन्तकुरुविन्दमालिके॥ ४६॥

जीवातु—सिष्मिये इति। सा भैमी, तेन नलेन, परिहासभाषणैः नर्मोक्तिभिः, प्रीणिता हर्षिताऽपि। प्रीणो ण्यन्तात् कर्मणि क्तः, 'धूञ्प्रीञोर्नुग् वक्तव्यः'। सिष्मिये स्मितवती, न तु हसति स्म न जहास, स्मितमात्रमकरोत् न तु हसितवतीति गाम्भीर्योक्तिः। हसितं लक्ष्यदशनं स्मितञ्च न तथा इति उभयोर्भेदः। हि तथाहि, का स्त्री, स्वे आत्मीये, ते अतिसुन्दरे इत्यर्थः। अनर्घ्याः अतिसुन्दरत्वात् बहुमूल्याः, दन्ताः दशना एव, कुरुविन्दाः पद्मरागाः, ताम्बूलरञ्जितत्वादिति भावः। 'कुरुविन्दस्तु मुस्तायां पद्मरागे' इति यादवः। तेषां मालिके मालाद्वयम्, दन्तपङ्क्तिद्वयमित्यर्थः। परेण अन्येन, दर्शयति?

दर्शनविषयीकरोति ? नैव दर्शयतीत्यर्थः । 'अणौ य. कर्त्ता' इति कर्तृसंज्ञानु-वादेन कर्मत्वविधानात् मज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वात् परेण इत्यत्र दर्शेर्बुद्धयर्थ-त्वात् 'गतिबुद्धि-' इत्यादिना प्राप्तकर्मत्वाभाव ॥ ४६ ॥

अन्वयः—तेन परिहासमायर्णै. प्रीणिता अपि सा सिष्मिये, न हसति स्म, हि का स्वे अनर्घ्यदन्तकुरुविन्दमालिके परेण दर्शयति ?

हिन्दी—उस (नल) के द्वारा परिहासप्रधान वचन कहे जाने से प्रसन्न की गयी भी वह (दमयन्ती) मुस्कुरा (ही) देती थी, हँसती न थी; क्योंकि कौन (नारी) अपनी अमूल्य दन्त रूप पद्मरागमणि-मालायुग्म को दूसरे को दिखाती है ? (कोई नहीं) ।

टिप्पणी—यद्यपि धीरे-धीरे दमयन्ती लज्जा-भय से कुछ मुक्त हो गयी, तथापि नल की हास्यजनक बातों पर प्रसन्न होने की स्थिति में भी वह मुस्कुराती ही थी, खिल खिला कर हँस नहीं पड़ती थी, जिससे दाँत दीख जाते । अपनी अमूल्य सम्पत्ति कोई किसी को यों ही नहीं दिखाता है । सुन्दर दंतपंक्तियाँ ताम्बूलरागाजित होने म माणिक्य माला-सी थी, भला दमयन्ती क्यों उन्हें दिखाती ? उत्तमा नायिका मुँह-फाड़ कर नहीं हँसती, उसके लिए स्मित ही उचित है । साहित्य शास्त्र मे उत्तमा, मध्यमा और अधमा प्रकृति के अनुसार हास्य के छः प्रकार हैं—(१) स्मित, (२) हसित, (३) विहसित, (४) उपहसित, (५) अपहसित और (६) अतिहसित । उत्तम प्रकृति जनों का हास 'स्मित' प्रकार का होता है, जिसमे नयन-कपोल विकसित हो जाते हैं, कटाक्ष सुन्दर, दाँत नहीं दीखते । (नाट्यशास्त्र ६।६०) । दमयन्ती की हँसी इसी प्रकार की थी—'स्मित', 'हसित' नहीं, जिसमे दाँत दीख जाते हैं । यह तो उत्तमा का दोष है । उज्ज्वल दन्तमाला की तुलना मोतियों से की जाती है, ताम्बूलरजित दंतपंक्ति की पद्मराग या माणिक्यमाला से । उर्दू की एक उक्ति है—'पान खाने से जो उनके मुखं दर्दा हो गये । तब तो थे मोती, अब लाले बदख्शाँ हो गये ॥ ४६ ॥

वीक्ष्य भीमतनयास्तनद्वये मग्नहारमणिमुद्रयाऽङ्कितम् ।
मोटकान्तपरिरम्भगाढता सा स्वमानि मुमुचे सखीजने ॥ ४७ ॥

जीवातु—वीक्ष्येति। सखीजनैः सहचरीभिः, भीमतनयास्तनद्वयं भैम्याः कुचयुगलम् मग्नानां नलोरसा दृढनिपीडनाद् अन्तःप्रविष्टानाम्, हारमणीनां कण्ठभूषणस्थितरत्नानाम्, मुद्रया चिह्नेन, अङ्कितं चिह्नितम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, सुमुखी सुवदना, सा भैमी, सोढा क्षान्ता, सोढुं समर्था इत्यर्थः। कान्तस्य प्रियस्य, यः परिरम्भः आलिङ्गनम्, तस्य गाढता दार्ढ्यं यया सा तादृशी, इति अमानि अबोधि। गाढपरिरम्भं विना स्तनयोस्तादृशचिह्नासम्भवः इत्यनुमितमित्यर्थः॥ ४७॥

अन्वयः—सखीजनैः मग्नहारमणिमुद्रया अङ्कितं भीमतनया स्तनद्वयं वीक्ष्य सुमुखी सा सोढकान्तपरिरम्भगाढता तु अमानि।

हिन्दी—सखियों ने गड़ी हार की मणियों के चिह्न से अङ्कित भीमपुत्री (दमयंती) का कुचयुगल देखकर यह मान लिया कि वह सुन्दरमुखी (दमयंती) प्रियतम के गाढ आलिंगन को तो सह लेती है।

टिप्पणी—नल के द्वारा गाढालिंगनबद्ध होने पर दमयन्ती द्वारा पहिने मणिहार की मणियाँ नल-दमयन्ती के मिले वक्ष के मध्य दब जाती थीं, मणियों के दबने से उनके दबाव के चिह्न दमयन्ती के दोनों स्तनों पर बन जाते थे वस्त्रादिपरिवर्तन कराते समय सहचरियों ने उन चिह्नों को देखकर यह अनुमान कर लिया कि गाढालिंगन होता है और दमयन्ती का मुख प्रसन्नता से उत्फुल्ल है, अतः दमयन्ती गाढालिंगन-सहन में समर्थ ही नहीं, उसमें आनन्द भी प्राप्त करती है॥ ४७॥

याचते स्म परिधापिकाः सखीः सा स्वनीविनिविडक्रियां यथा।
अन्वमिन्वत तथा विहस्य ता वृत्तमत्र पतिपाणिचापलम्॥ ४८॥

जीवातु—याचते इति। सा दमयन्ती, परिधापिकाः वस्त्रपरिधापनकारिकाः, सखीः सहचरीः, यथा यादृशभावेन, स्वस्या आत्मनः, नीवेः वस्त्रग्रन्थेः, निविडक्रियां दृढतासम्पादनम्, याचते स्म प्रार्थयामास, तथा तेनैव कृत्वेत्यर्थः। ताः सख्यः, विहस्य मन्दमस्मितं कृत्वा, अत्र नीविदेशे, पत्युः भर्त्तुः, पाणिचापलं करचाञ्चल्यम्, नीविग्रन्थेराकर्षणमित्यर्थः। वृत्तं भूतम्, अन्वमिन्वत इत्यनुमितवत्यः, अन्यथा एतत्प्रार्थनाऽनुपपत्तेरिति भावः। मिनोतेर्लङि लङ्॥४८॥

अन्वय—सा परिधापिका: सखीः यथा स्वनीविनिविडक्रियां याचते स्म तया ताः विहस्य अत्र वृत्तं पतिपाणिचापलं अन्वमिन्वत ।

हिन्दी—वह (दमयन्ती) वस्त्र पहिनानेवाली सहचारियों से जिस प्रकार अपने कटिवस्त्र की ग्रन्थि (नीवि) को दृढता से बाँधने की याचना करती थी, उससे (नीवि-दृढ बँधन याचना से) मुसकुरा कर उन्होंने यहाँ (नीवि-प्रदेश में) हुए स्वामी के हस्त-चापल का अनुमान कर लिया ।

टिप्पणी—जैसा कि 'नीविमीमिन्' इत्यादि (४३) श्लोक में संकेत किया गया है कि नल रात्रि में दमयन्ती का नीवि बंध खोलना चाहता था। उसका अनुमान सखियों को इससे हो गया कि वस्त्र बदलते समय वह परिधापिकाओं से बारबार दृढ नीवि-बंध का आग्रह करती थी। इस पर सखियाँ नीवि-बंध-मोक्ष-वृत्तान्त को समझ एक-दूसरे की ओर देखती मुसकुरा पड़ती थीं ॥ ४८ ॥

कुर्वती निचुलितं ह्रिया कियत् सौहृदात् विवृतसौरभं कियत् ।
कुड्मलोन्मिषितसूनसेविनी पद्मिनी जयति सा स्म पद्मिनी ॥ ४९ ॥

जीवातु—कुर्वतीति । पद्मिनी पद्मिनीस्त्रीजातीया, सा भैमी, कियत् किञ्चित् रात्रिवृत्तम्, ह्रिया लज्जया, निचुलितं सखीसमीपेऽपि निगूहितम्, कियत् किञ्चिच्च, सुहृदो भाव सौहृद तस्मात् सौहृदात् सौहार्दात्, प्रणयाधिक्यादि- त्यर्थः । युवादित्वादण् प्रत्ययः । हृदयस्य 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' इति हृद्भावे वाहूलकान्नोभयपदवृद्धि । विवृत प्रकटितम्, सौरभ मनोज्ञत्व सौगन्ध्यञ्च यस्य तत् तादृशम्, कुर्वती विदधती सती, कुड्मलानि मुकुलानि, उन्मिषित- सूनानि प्रस्फुटितकुसुमानि च, सेवते भजते इति तादृशीम्, पद्मिनी कमलिनीम्, जयति स्म विजितवती, कियत्कलिकाढ्या कियद्विकसितकमलाढ्या च कमलिनीव सा बभौ इत्यर्थः । रहस्यगोपने कलिकातुल्य रहस्यप्रकटने च विकसितपद्मतुल्यमिति भावः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—पद्मिनी सा कियत् ह्रिया निचुलितं कियत् सौहृदात् विवृत- सौरभं कुर्वती कुड्मलोन्मिषितसूनसेविनी पद्मिनी जयति स्म ।

हिन्दी—पद्मिनी (जाति की स्त्री) वह (दमयन्ती) कुछ (रात्रि के वृत्तांत) को (सखियों से) छिपाती और मैत्री के कारण कुछ-थोड़े (वृत्त)

की गंध देती (प्रकट करती) ईषद्विकसित दल-युता पद्मिनी (कमलिनी) को जीत रही थी।

टिप्पणी—कामशास्त्र के अनुसार सामान्यतः स्त्रियों की चार जातियाँ मानी जाती हैं—(१) पद्मिनी, (२) चित्रिणी, (३) शंखिनी और (४) हस्तिनी। इनमें पद्मिनी नारी उत्तम मानी जाती है। कहा जाता है कि यह पद्मगंधा होने से पद्मिनी कही जाती है। कोमलस्वभावा, लज्जावती। दमयन्ती इसी जाति की थी। वह अपनी आत्मीया सखियों से सामान्य प्रणय-केलियों का उल्लेख तो कर देती थी, पर लज्जा के कारण सब नहीं बताती थी। इस प्रकार वह उस पद्मिनी के तुल्य थी, जिसके कुछ दल खिले रहते हैं, कुछ मुँदे। अर्धविकसित-कुसुमवती। कुछ सौरभ उड़ रहा है, कुछ वृत्तांत प्रकट है, कुछ नहीं। रहस्य गोपन कलियाँ हैं और रहस्य-कथन विकसित दल ॥ ४९ ॥

नाविलोक्य नलमासितुं स्मरो ह्रीर्न वीक्षितुमदान्मृगीदृशः।
तद्दृशः पतिदिशोऽचलन्नथ व्रीडिताः समकुचन्मुहुः पथः ॥ ५० ॥

जीवातु—नेति। स्मरः कामः, मृगीदृशः हरिणलोचनायाः भैम्याः सम्बन्धे, नलं नैषधम्, अविलोक्य अदृष्ट्वा, आसितुं स्थातुम्, न अदात् न दत्तवान्, ह्रीः लज्जा पुनः, वीक्षितुं द्रष्टुम्, न अदात्, अत एव तस्याः दमयन्त्याः, दृशः दृष्टयः, पतिदिशः स्वामिनं प्रतीत्यर्थः। मुहुः पुनः पुनः, अचलन् अगच्छन्। अथ अनन्तरमेव, व्रीडिताः लज्जिताः सत्यः, पथः तन्मार्गात्, समकुचन् सङ्कुचिताः अभवन्। अतीव कौतुकमिदमित्याशयः ॥ ५० ॥

अन्वयः—स्मरः मृगीदृशः नलम् अविलोक्य आसितुं न अदात्, ह्रीः वीक्षितुं न; तद्दृशः मुहुः पतिदिशः अचलन्, अथ व्रीडिताः पथः समकुचन्।

हिन्दी—काम मृगनयना (दमयन्ती) को नल को बिना देखे बैठने नहीं देता था और लज्जा देखने नहीं देती थी; अतएव उसकी दृष्टियाँ (आँखें) बारंबार पति की ओर उठती थीं, अनन्तर लज्जित हो मध्यमार्ग से संकुचित हो जाती थीं।

टिप्पणी—उन दिनों कामासक्ति और लज्जा के द्वन्द्व में ग्रस्त थी दमयन्ती। कामातिरेक प्रेरित करता था कि प्रिय को जितना देखा जा

सके, देखो। चैन नहीं बिना देखे। लज्जा बीच में ही नयनों को रोक लेती थी। नारायण के अनुसार लज्जा काम के समबल होने से यहाँ भाव सधि है।

नानया पतिरनायि नेत्रयोर्लक्ष्यतामपि परोक्षतामपि।
वीक्ष्यते स खलु यद्विलोकने तत्र तत्र नयने ददानया ॥ ५१ ॥

जीवातु—नेति। अनया भैम्या, पतिः नलः, नेत्रयोः, नयनयोः, लक्ष्यतां विषयतामपि, न अनायि न नीतः, लज्जावशादिति भावः। तथा परोक्षताम् अविषयतामपि, न अनायि इति पूर्वेणान्वयः। अनुरागवशादिति भावः। ननु लक्ष्यताऽलक्ष्यतयोरेकतराकरणे प्रकारान्तराभावात् कथमेवोक्तिः सङ्गच्छते? इत्याह-यत् यस्मात्, विलोकने दर्शने निमित्ते, दर्शनार्थमित्यर्थः। तत्र तत्र तेषु तेषु विषयेषु आदर्शादौ इति भावः। नयने ददानया दत्तदृष्टया तया, स नलः, आदर्शादौ प्रतिबिम्बित इति भावः। वीक्ष्यते स्म अवलोक्यते स्म खलु। अवर्जनीयता योतित एव प्राय इति भावः। ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अनया पतिः नेत्रयोः लक्ष्यताम् अपि न अनायि, परोक्षताम् अपि (न अनायि), यत् विलोकने तत्र तत्र नयने ददानया स खलु वीक्ष्यते।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) ने पति (नल) को नयनों का लक्ष्य भी नहीं बनाया, परोक्ष भी नहीं रखा, क्योंकि दर्शन के निमित्त उन-उन (मणि, मणिस्तम्भ, दर्पण आदि) में नयन लगाये हुई (दमयन्ती) द्वारा वह (नल) देखा ही जा रहा था।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में कहा गया था कि दमयन्ती न तो नल को बिना देखे ही चैन पाती थी और न लज्जा के कारण देख ही पाती थी। यहाँ बताया गया कि वह नल की ओर बिना दृष्टि किये ही उसे देख लेती थी। इस प्रकार नल दमयन्तीनेत्रगोचर भी रहता था और अगोचर भी रहता था। वह सीधे नल की ओर दृष्टिपात नहीं करती थी, प्रत्युत हारादि की मणियों, रत्नस्तम्भों, दर्पण आदि में जो नल की प्रतिच्छवि पड़ती थी, जो नल-प्रतिबिम्ब पड़ते थे, उन्हें देखकर सन्तुष्ट हो लेती थी। इस विधि दमयन्ती परोक्ष रखती हुई भी नल को दृष्टिगोचर कर लेती थी। लज्जा भी रह गयी, इच्छापूर्ति भी हो गयी ॥ ५१ ॥

वासरे विरहनिःसहा निशां कान्तयोगसमयं समैहत।
सा ह्रिया निशि पुनर्दिनोदयं वाञ्छति स्म पतिकेलिलज्जिता ॥ ५२॥

जीवातु—वासरे इति। सा भैमी, वासरे दिवसे, विरहस्य विच्छेदस्य, निःसहा सहनासमर्था सती। पचाद्यच्। कान्तयोगसमयं प्रियसमागमकालम्, निशां रात्रिम्, समहत ऐच्छत्, निशि पुनः रात्रौ तु, पत्युः भर्तुः, केलिषु, अनङ्गक्रीडासु, लज्जिता प्राप्तलज्जा सती, ह्रिया सहजलज्जया, दिनोदयं दिवसप्रादुर्भावम्, वाञ्छति स्म अभिललाप। विचित्रा हि नवोढानां चित्तवृत्तिरिति भावः ॥ ५२॥

अन्वयः—स वासरे विरहनिःसहा सा कान्तयोगसमयं निशां समैहत, निशि पुनः पतिकेलिलज्जिता ह्रिया दिनोदयं वाञ्छति स्म।

हिन्दी—दिन में प्रिय-वियोग-सहन में असमर्थ वह (दमयन्ती) प्रिय-मिलन-वेला रात्रि की आकांक्षा करती थी और रात में फिर पति की विलास-क्रीडाओं में लज्जित हो दिन-निकलना चाहने लगती थी।

टिप्पणी—दिन में प्रिय-मिलन न हो पाता था, अतः विरह-पीड़िता दमयन्ती चाहने लगती थी कि रात हो और प्रिय-मिलन हो सके; किन्तु रात में अभिनव काम-क्रीडाओं के कारण उसे लाज-लगने लगती थी और वह दिनोदय चाहने लगती थी। नवोढाओं की मनोवृत्ति भी विचित्र होती है। नारायण ने यहाँ पुनरुक्ति की शंका उठायी है और उसका समाधान किया है। शंका है कि 'लज्जिता' और 'ह्रिया'—'लज्जा से लज्जित' हुई—यह समानार्थक शब्दों का एक साथ प्रयोग हुआ, अतः पुनरुक्ति है। समाधान दो प्रकार से है—(१) ह्रिया कृत्वा पुनर्दिनोदयं वाञ्छति स्म प्रभातं कदा वा समेष्यतीति हेतुहेतुमद्भावान्न पौनरुक्त्यम्।' अर्थात् 'ह्री' (लज्जा) के कारण दमयन्ती पुनः दिन का उदय अथवा कब प्रभात आयेगा, यह चाहती थी;—इस प्रकार हेतुहेतुमद्भाव के कारण पुनरुक्ति नहीं है। (२) सहजया ह्रिया युक्ता सतोऽपि पतिकेलिभिर्विशेषणलज्जितेति वाऽपौनरुक्त्यम्। अथवा इस दृष्टि से भी पुनरुक्ति नहीं है कि 'ह्रिया' का प्रयोग यह बताने के लिए है कि दमयन्ती यद्यपि सहज लज्जाशीला थी, फिर भी पति की उद्दाम, अभिनव कामकेलियों के कारण विशेष लज्जित होती थी ॥ ५२॥

तन् करोमि परमभ्युपैपि यन्मा ह्रियं व्रज भियं परित्यज ।
आलिवर्ग इव तेऽहमित्यमूं शश्वदाश्वसनमूचिवान् नलः ॥ ५३ ॥

जीवातु—तदिति । हे प्रिये ! यत् चुम्बनादिषु यत् किञ्चिन्मात्रम्, अभ्युपैषि स्वीकरोषि, अनुमोदसे इत्यर्थः । त्वमिति शेषः । परं केवलम्, तद् तन्मात्रमेव, करोमि सम्पादयामि, अहमिति शेषः । न पुनस्तवानभिप्रेतं किञ्चदपि करोमीति भावः । अत एव ह्रियं लज्जाम्, मा न, व्रज गच्छ भियं त्रासञ्च, परित्यज दूरीकुरु, अहं ते तव, आलिवर्गः सखीजन इव, विश्रम्भभाजनमिति भावः । नलः नैषधः, अमूं प्रियाम्, इति एवम्, शश्वत् मुहुर्मुहुः । 'मुहुः पुनः पुनः शश्वत्' इत्यमरः । आश्वसनं सान्त्वनावचनम्, ऊचिवान् उवाच ॥ ५३ ॥

अन्वयः—नलः अमूं शश्वत् इति आश्वसनम् ऊचिवान्—परं तद् करोमि, यत् अभ्युपैषि, ह्रियं मा व्रज, भियं परित्यज, अहं ते आलिवर्गः इव ।

हिन्दी—नल ने इस (दमयन्ती) को बारबार ये सान्त्वना-वचन कहे कि केवल वह करूँगा, जिसका तुम अनुमोदन करोगी । लजाओ मत, भय छोडो; मैं तुम्हारी सखियों के तुल्य हूँ ।

टिप्पणी—लजाती-झिझकती, डरती दमयन्ती को नल बार-बार आश्वस्त करता था कि वह न लजाये, न झिझके या डरे । उसके साथ आलिंगन-चुम्बनादि बहुविध केलि-विलासों में जिसकी वह स्वीकृति दे वही किया जायेगा । जैसे वह सखियों के चुम्बन आदि में निःसंकोच रहती है, वैसे ही नल के समक्ष भी रहे । वह भी उसका सखा ही है । जैसा सखियों पर विश्वास करती है, वैसा ही नल सखा पर भी करे ॥ ५३ ॥

येन तन्मदनवह्निना स्थितं ह्रीमहौषधिनिरुद्धशक्तिना ।
सिद्धिमद्भिरुदतेजि तैः पुनः स प्रियप्रियवचोऽभिमन्त्रणैः ॥५४॥

जीवातु—येनेति । येन तन्मदनवह्निना तस्या दमयन्त्याः, कामाग्निना, ह्रीः लज्जा एव, महौषधि अव्यर्थभेषजम्, तया निरुद्धशक्तिना प्रतिबद्धवीर्येण सता, स्थितं तस्थे । भावे क्तः । सः मदनवह्निः, सिद्धिमद्भिः साफल्यजनकशक्तियुक्तैः, तैः पूर्वोक्तैः, प्रियस्य पत्युः, प्रियवचोभिः एव सप्रेमभाषणैरेव, अभिमन्त्रणैः मन्त्रप्रयोगैः, पुनः भूयः, उदतेजि उत्तेजितः । तिज निशाने

इति धातोर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् । औषधप्रतिबद्धोऽग्निः प्रतिमन्त्रेण पुनरुद्दीपितो भवतीति लोके दृश्यते । रूपकालङ्कारः ॥ ५४ ॥

अन्वयः— येन तन्मदनवह्निना ह्रीमहौषधिनिरुद्धशक्तिना स्थितं सिद्धिमद्भिः तैः प्रियाप्रियवचोऽभिमन्त्रणैः सः पुनः उदतेजि ।

हिन्दी—जो उस (दमयन्ती) का कामानल (कामाग्नि) लज्जा रूप महौषधि से प्रतिबद्ध हो असमर्थ हो रहा था, सफलताजनक शक्ति उत्पन्न करने वाले उन (पूर्वोक्त) प्रिय (नल) के प्रियवचन रूप मंत्रप्रयोगों से वह (कामाग्नि) पुनः उत्तेजित हो गया।

टिप्पणी—नल के पूर्वश्लोकोक्त—'वही करूँगा, जिसका दमयन्ती अनुमोदन करेगी'—आदि सांत्वना-वचनों के कारण लज्जा से दब गया दमयन्ती का भी कामानल उत्तेजित हो गया। काम अग्नि है और लज्जा उसकी क्षमतासामर्थ्य को अवरुद्ध करनेवाली ओषधि। नल के आश्वासन-वचन वे सिद्ध मंत्रप्रयोग हैं, जिनसे ओषधि-प्रभाव मिट गया और अनल पुनः प्रज्ज्वलित हो गया। मल्लिनाथ के अनुसार रूपकालंकार ॥ ५४ ॥

यद्विधूय दयितार्पितं करं दोर्द्वयेन पिदधे कुचौ दृढम् ।
पार्श्वगं प्रियमपास्य सा ह्रिया तं हृदि स्थितमिवालिलिङ्ग तत् ॥५५॥

जीवातु—यदिति । सा भैमी, दयितेन प्रियेण, अर्पितम् उरसि स्थापितम्, करं पाणिम्, विधूय अपसार्य, दोर्द्वयेन निजभुजयुगेन, कुचौ स्तनौ, दृढम् अशिथिलं यथा तथा, यत् पिदधे आच्छादयामास, तत् तेन कुचपिधानेन इत्यर्थः । एवमवगम्यते यदिति शेषः । ह्रिया लज्जया, पार्श्वगं बहिः समीपस्थम्, प्रियं नलम्, अपास्य, निरस्य, हृदि हृदयमध्ये, स्थितं वर्तमानम्, प्रियम्, आलिलिङ्ग इव आलिङ्गितवतीव, इत्युत्प्रेक्षा । अन्तरालस्थितस्य आलिङ्गने अन्यैर्दर्शनसम्भावनाविरहात् लज्जाऽभावेन हृदयाभ्यन्तरस्थं नलं दृढरूपेण आलिङ्गितवतीवेति भावः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—दयितार्पितं करं विधूय यत् सा दोर्द्वयेन कुचौ दृढं पिदधे, तत् ह्रिया पार्श्वगं प्रियम् अपास्य हृदि स्थितम् इव तम् आलिलिङ्ग ।

हिन्दी—प्रिय पति (नल) के (कुचों पर रखे) हाथ को झटक कर जो उस (दमयन्ती) ने दोनों भुजाओं से स्तनों को दृढतापूर्वक ढक लिया, सो मानों लज्जा के कारण पास में स्थित प्रिय को निरस्त कर हृदय में बसे उस (प्रिय नल) का आलिगन किया।

टिप्पणी—कुचकलश पर प्रिय नल के रखे हाथ को हटाकर अपनी भुजाओं से स्तनों को दृढतापूर्वक ढकलेना यद्यपि मुग्धा स्वाभाव है, तथापि कवि ने दमयन्ती की इस नैसर्गिक लीला पर यह सम्भावना की है कि दमयन्ती आलिंगनेच्छुक तो थी किन्तु लज्जा के कारण उसका बाह्य प्रदर्शन नहीं चाहती थी, सो उसने समीपस्थ पति को कुचपीडन से रोक दिया, किन्तु स्वयं उन्हें भुजाओं से दबाकर वक्षमध्य वक्षे प्रिय का दृढतापूर्वक आलिंगन कर लिया। नारायण और मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा। नारायण ने दमयन्ती की इस लीला को मुग्धा जाति बताते हुए यह मन्तव्य प्रकट किया है कि स्त्रियों द्वारा याचना का निवारण (निषेध—'नहीं-नहीं') काम का परमायुध है। आलिंगन से जिस प्रकार कामोद्दीपन होता है वैसे ही कुचमर्दन का निवारण करके प्रिया-द्वारा उन्हें ढकेलने से भी होता है। 'हाँ' की अपेक्षा 'नहीं' (स्वीकृति की अपेक्षा अस्वीकार) अधिक मोहक और कामोद्दीपक है। हिन्दी के एक मध्यकालीन कवि ने प्रिय के आलिंगन-चुम्बन आदि में 'नहीं-नहीं' करती एक मुग्धा का वर्णन करते हुए प्रिय द्वारा कहलाया है—'यह हाँ से भली नाँही कहाँ से सीखि आयी हो !' नल भी प्रिया के इस भाव (इस अदा) पर और रीझ उठा ॥ ५५ ॥

अन्यदस्मि भवती न याचिता वारमेकमधरं धयामि ते ।
इत्यसिस्वददुपांशु काकुवाक् सोपमर्दहठवृत्तिरेव ताम् ॥ ५६ ॥

जीवातु—अन्यदिति। हे प्रिये ! भवती त्वाम्, अन्यत् अपरं किमपि, याचिता अर्थयिता। तृन्, दुहादित्वात् द्विकर्मता। न अस्मि न भवामि, किन्तु वारमेकम् एकवारमात्रम्, ते तव, अधरं दन्तच्छदम्, धयामि पिबामि। 'धेट् पाने' इत्यस्य भविष्यत्सामीप्ये लट्। इति इत्थम्, उपांशु रहसि, काकु अनुनयेन विकृतस्वरा, वाक् वचनं यस्य तादृशः, नल. इति शेषः। उपमर्दे कुचपीडने, हठेन अनुमतिमनपेक्ष्यैव बलात्कारेण, वृत्तिः प्रवृत्तिः, तया सह इति स. तादृशः सन् एव, ताम् अधरम्, असिस्वदत् स्वादितवान्, चुचुम्बेत्यर्थः। स्वदेर्णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—भवतीम् अन्यत् न याचिता अस्मि, एकवारं ते अधरं धयामि—इति उपांशुकाकुवाक् सोपमर्दहठवृत्तिः एव ताम् असिस्वदत्।

हिन्दी—'तुम से और कुछ नहीं माँगने वाला हूँ, एक वार तेरा अधर-पान करता हूँ'—इस प्रकार अन्द, विकृत वाणी (भर्रायी आवाज) में हठपूर्वक (बलात्) उपमर्दन (आलिंगन, ओष्ठपीडन) करते हुए ही (नल ने) उसका (अधर का) स्वाद ले लिया।

टिप्पणी—जब दमयन्ती ने छूते ही कुच ढक लिये, तब उसके इस मोहक भाव से परमकामार्त्त नल ने दीनतापूर्वक, धीमी, भर्रायी वाणी से दमयन्ती से प्रणय-याचना करते हुए निवेदन किया कि दमयन्ती एकबार ओठ चूम लेने दे, बस, वह और कुछ नहीं करेगा। दमयन्ती के थोड़ी-सी अनुमति देते ही नल ने दृढतापूर्वक दमयन्ती के निषेध करते-करते—उसे दृढ आलिंगन में बाँध लिया और दाँतों से ओठ काटते हुए दमयन्ती का अधर-चुम्बन किया। चतुर विलासी ऐसा ही करते है॥ ५६॥

(पीततावकमुखासवोऽधुना भृत्य एष निजकृत्यमर्हति।
तत्करोमि भवदूरुमित्यसौ तत्र सन्न्यधित पाणिपल्लवम्॥ १॥)

प्रकाशः—पीतेति। असौ नल इत्युक्तिव्याजेन तत्रोरौ पाणिपल्लवं मृदुसुखस्पर्शतया पल्लवतुल्यं पाणिं सन्न्यधित स्प्रष्टुं सन्निवेशितवान्। इति किम्?—हे भैमि!, एष भृत्यो मल्लक्षणो दासः; पीतस्तावकमुखमेवासवो मद्यं येन, अथ च—पीतस्त्वदीयमुखस्य सुरागण्डूषो येन, एवम्भूतः सन्नधुना निजकृत्यं चरणसंवाहनादिरूपं भृत्यसम्बन्धिकार्यं कर्तुमर्हत्युचितो भवति। तत्तस्माद् गृहारामपुष्पावचयादिना खिन्नं भवदूरु त्वदीयमूरुं करोमि संवाहयामि। अथ च—सामर्थ्यादूर्ध्वं करोमीति। अनेकार्थत्वात्करोति संवाहनार्थः। अन्योऽपि भृत्यो भुक्तमुखोच्छिष्टश्चरणसंवाहनं करोति॥ १॥

अन्वयः—पतितावकमुखासवः एषः भृत्यः अधुना निजकृत्यम् अर्हति, तत् भवदूरुं करोमि—इति असौ तत्र पाणिपल्लवं सन्न्यधित।

हिन्दी—'आपके मुख की मदिरा पान करने वाला (आपका) यह सेवक अब अपना कर्तव्य (सेवा) करना चाहता है, सो आपके पैर दबाता हूँ'—इस प्रकार उस (नल) ने वहाँ (दमयन्ती की जंघा पर) कर-कमल रख दिया।

टिप्पणी—मुख-चुम्बन के पश्चात् यह प्रकट करते हुए कि दमयन्ती के

मुख की मदिरा (मादक होने से मदिरातुल्य मुखचुम्बन)—उच्छिष्ट मद्य पीते हुए उसने यह प्रमाणित कर दिया है कि वह दमयन्ती का सेवक है (सेवक ही उच्छिष्ट खाते-पीते हैं), सो अन्यभृत्य-कर्म भी वह करना चाहता है, यह कहकर (बहाना कर) दमयन्ती की जघाओं पर हाथ रख दिया कि अब दूसरी सेवा हो—चरण सवाहन, चरण-चाँपना। 'ऊरु करोमि'—आपके ऊरु करता हूँ—अर्थान्तर ऊरु ऊपर करता हूँ। भाव यह कि चुम्बन-आलिंगनादि के पश्चात् सुरत-व्यापार का प्रस्ताव किया। यह श्लोक जीवातु-व्याख्या में नहीं है, अत. 'प्रकाश'-व्याख्या प्रस्तुत है ॥ ५६ ॥

चुम्बनादिषु बभूव नाम किं? तद्वृथा भयमिहापि मा कृथा.।
आलपन्निति तदीयमादिमं स व्यधत्त रसनावलिव्ययम् ॥ ५७ ॥

जीवातु—चुम्बनेति। हे प्रिये! चुम्बनादिषु अधरपानादिषु कृतेषु, किं नाम तव किमनिष्टमित्यर्थः। नाम इति प्रश्ने, बभूव? सञ्जातम्? न किञ्चिद-पीत्यर्थ.। तद् तस्माद्, इह क्रियमाणे अस्मिन् सुरतेऽपि, वृथा मिथ्या, भय शङ्काम्, मा कृथा न कुरु, इति एवम्, आलपन् वदीरयन्नेव, स नल, तदीय तस्या. प्रियायाः इद दमयन्तीसम्बन्धिनम्, आदिमम् आद्यम्। 'अग्रादि-पश्चाड्डिमच्' इति वार्तिकवचनात् डिमच्प्रत्यय। रसनावलिव्यय काञ्चीदाम-मोचनम्, व्यधत्त चकार। रन्तुमिति भाव ॥ ५७ ॥

अन्वय.—चुम्बनादिषु किं नाम बभूव? तत् इह अपि वृथा भय मा कृथाः—इति आलपन् स तदीयम् आदिमं रसनावलिव्ययं व्यधत्त।

हिन्दी—'चुम्बनादि में (दमयन्ती का) क्या बिगडा? सो यहाँ (सुरत-व्यापार में) भी व्यर्थ भय मत करो'—ऐसा कहते हुए उस (नल) ने उस (दमयन्ती) की रशना (काची, मेखला, करधनी) पहिली बार खोली।

टिप्पणी—चुम्बन-आलिंगनादि द्वारा कामोद्दीप्त हो जाने पर दमयन्ती को यह विश्वास दिलाते हुए कि जैसे चुम्बन, दतक्षत, कुचमर्दन, गाढालिंगन, जघा-स्पर्श आदि में दमयन्ती का कोई अनिष्ट नहीं हुआ, वैसे ही सुरत-व्यापार में भी न होगा, नल ने दमयन्ती की करधनी पहिली बार खोलकर उतार दी कि जिससे वस्त्र-विमोचन हो सके। नारायण ने चतुर्थ चरण 'मृगदृशोऽयमादिमम्' पाठातर को मान्यता दी है, अर्थात् मृग जैसे चचल

नयनों से देखती दमयन्ती को आश्वस्त कर रशना-विमोचन किया। आशय यह कि क्रमशः चुम्बनालिंगनादि कर आश्वस्त कर नल ने दमयन्ती की रशना अलग करके वस्त्र उतार डाला ॥ ५७ ॥

अस्तिवाम्यभरमस्तिकौतुकं साऽस्तिघर्मजलमस्तिवेपथु।
अस्तिभीति रतमस्तिवाञ्छितं प्रापदस्तिसुखमस्तिपीडनम् ॥ ५८ ॥

जीवातु—अस्तीति। सा भैमी, अस्ति विद्यमानः, वाम्यस्य सर्वेष्वेव व्यापारेषु प्रतिकूलतायाः, भरः आतिशय्यं यस्मिन् तत् तादृशम्, 'अस्ति' इति विभक्तिप्रतिरूपकं विद्यमानार्थकमव्ययम्, 'अस्तिक्षीराक्षीरादयश्च' इति वचनात् बहुव्रीहिः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। अस्ति विद्यमानं, कौतुकम् औत्सुक्यं यस्मिन् तत् तादृशम्, अस्ति घर्मजलं स्वेदवारि, श्रमजनितमिति भावः। यस्मिन् तत् तादृशम्, अस्ति वेपथुः कम्पः, शब्दोऽयं सात्त्विकमात्रोपलक्षणम्, यस्मिन् तत् तादृशम्, अस्ति भीतिः भयं यस्मिन् तत् तादृशम्, अस्ति वाञ्छितम् ईप्सितं यस्मिन् तत् तादृशम् अस्ति सुखम् आनन्दानुभवो यस्मिन् तत् तादृशम्, अस्ति पीडनं नखदन्तक्षतादिव्यथा यस्मिन् तत् तादृशम्, रतम् एवम्भूतं सुरतसम्भोगम्; प्रापत् अलम्भिष्ट। नलादिति शेषः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—सा अस्तिवाम्यम्, अस्तिकौतुकम्, अस्तिघर्मजलम्, अस्तिवेपथु, अस्तिभीतिः, अस्तिवाञ्छितम्, अस्तिसुखम्, अस्तिपीडनं रतं प्रापत्।

हिन्दी—और उस (दमयन्ती) ने वह रति-व्यापार प्राप्त किया, जिसमें प्रचुर प्रतिकूलता थी, उत्सुकता थी, स्वेद था, कंपन था, भय था, अभीप्सिता थी, सुख था और पीडा थी।

टिप्पणी—दमयन्ती ने प्रथम बार रति-व्यापार भोगा। उस मैथुन की समस्त स्थितियों का यहाँ वर्णन है। रति-व्यापार के आरम्भ में दमयन्ती प्रतिकूल आचरण करती थी, जब उसका आरम्भ हो गया तो उसको उत्सुकता जगने लगी, श्रम के कारण पसीना बहा, सात्त्विक कंप भी हुआ, आगे क्या होगा—इससे डर भी लगा, कुछ अभीष्ट हो रहा है—यह अनुभूति भी हुई, सुख भी मिला, पीडा भी हुई—मीठा-मीठा दर्द। इस प्रकार दमयन्ती ने प्रथम संयोग-सुख का अनुभव किया ॥ ५८ ॥

ह्रीस्तवेयमुचितैव यन्नवस्तावके मनसि मत्समागमः ।
तत्तु निस्त्रपमजस्रसङ्गमात् व्रीडमावहति मामकं मनः ॥५९॥

जीवातु—ह्रीरिति । हे प्रिये ! यत् यस्मात्, तावके त्वदीये, मनसि चेतसि, मत्समागमः मम सङ्गतिः, नवः साम्प्रतिकः, इति सोल्लुण्ठोक्तिः, तत् तस्मात्, तव ते, इयम् एषा, ह्रीः लज्जा, उचिता अनुरूपा एव । तु किन्तु, अजस्रसङ्गमात् एतावन्तं कालं सर्वदैव मनसा नित्यसमागमात् हेतोः, निस्त्रपं निर्लज्जम्, मामकं मदीयम्, मनोऽपि व्रीडं लज्जाम्, आवहति प्राप्नोति । त्वया सह बहिरभिनवसमागमादिति भावः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—यत् तावके मनसि मत्समागमः नवः तत् तव इयं ह्रीः उचिता एव, तु अजस्रसङ्गमात् निस्त्रपं मामकं मनः व्रीडम् आवहति ।

हिन्दी—क्योंकि तुम्हारे (दमयन्ती के) मन में मेरी (नल की) संगति नयी (पहिली) है, अतः तुम्हारी यह लज्जा उचित ही है, किन्तु (स्वप्न में अनेक बार) निरन्तर संगम होने से निर्लज्ज हुआ मेरा (नल का) मन भी लज्जा-धारण कर रहा है ।

टिप्पणी—संभोगरता दमयन्ती की लज्जा दूर करने के लिए नल ने उसे उपालम्भ दिया कि यह तो ठीक ही है दमयन्ती को प्रथम बार ही नल-संगम के कारण—एक पुरुष-संसर्ग के कारण—लाज आ रही है, पर नल के लिए दमयन्ती-संसर्ग का यह पहिला अनुभव नहीं है, वह अनेक बार स्वप्न में दमयन्ती को भोग चुका है, सो उसके मन से लज्जा मिट चुकी है । परन्तु कठिनता यह है कि देखा-देखी दमयन्ती को लजाता देख नल भी लजा रहा है और इस कारण स्वच्छंद, निर्बाध मिलन में संकोच आ रहा है । सो उचित है कि दमयन्ती लज्जा छोड़े और निर्बाध व्यापार चले ॥ ५९ ॥

इत्युपालभत सम्भुजिक्रियारम्भविघ्नघनलज्जितर्जिताम् ।
तां तथा स चतुरो न सा यथा त्रप्नुमेव तमनु त्रपामयात् ॥ ६० ॥

जीवातु—इतीति । सम्भुजिक्रियारम्भस्य सम्भोगव्यापारोपक्रमस्य, विघ्नैः प्रतीबन्धकीभूतैः, घनलज्जितैः प्रगाढलज्जाभिः, जिताम् अभिभूताम्, तां प्रियाम्, चतुरः परिहासनिपुणः, स नलः, तथा तादृग्रूपेण, उपालभत अभ्ययुङ्क्त, यथा येन कृत्वा, सा प्रिया, तम् अनु नलं प्रति, त्रप्नुमेव लज्जितुमेव ।

ऊदित्वात् विकल्पादिडभावः । त्रपां लज्जाम्, अयात् अगच्छत्, प्राप्तवतीत्यर्थः । पुनरपि उपालम्भजनितलज्जाभयात् त्रपां जहौ इति भावः ॥ ६० ॥

अन्वयः—इति सम्भुजिक्रियारम्भविघ्नघनलज्जितैः जितां तां चतुरः सः तथा उपालभत यथा सा तम् अनु त्रप्तुम् एव त्रपाम् अयात् ।

हिन्दी—इस प्रकार संभोग-क्रिया के आरम्भ में (अंग-संकोचादि) अनेक लज्जास्पद व्यापारों से विजित (लज्जित) उस (दमयन्ती) को कामकलाकोविद उस (नल) ने इस प्रकार उलाहना दिया कि वह (दमयन्ती) उस (नल) के प्रति लज्जित होने पर ही लज्जा को प्राप्त होने लगी ।

टिप्पणी—आरम्भ में लज्जा के कारण अंग संकोचादि करती दमयन्ती मैथुन-व्यापार में अनेक अवरोध उत्पन्न कर रही थी; परन्तु, नल तो था परम चतुर—सकल कामकलापारंगत । उसने पूर्व श्लोकोक्त प्रकार से दमयन्ती को ऐसा उपालम्भ देकर समझाया कि वह लज्जा करने में भी लजाने लगी; अर्थात् उसने लज्जा का पूर्वत्याग कर दिया । नल ने तर्क दिया कि स्वप्न में तो वह अनेकबार दमयन्ती को भोग चुका है, अब लाज से क्या लाभ ? ॥ ६० ॥

(बाहुवक्त्रजघनस्तनाङ्घ्रितद्वन्धगन्धरतसङ्गतानतीः ।
इच्छुरुत्सुकजने दिनेऽस्मि ते वीक्षितेति समकेति तेन सा ॥ १ ॥)

प्रकाशः—बाह्विति । तेन वीक्षिता सा भैमी इति पूर्वोक्तप्रकारेण समकेति सङ्केतिता । इति किम् ?—हे भैमि ! उत्सुकाः स्वस्वकार्यसाधनो-त्साहवन्तो, जना यत्र रात्रिवृत्ताकर्णनार्थमुत्सुकः सखीजनो यत्रैवंविधो वा दिने दिवसेऽपि ते सम्बन्धिनीः बाहू च वक्त्रञ्च जघनञ्च स्तनौ चाङ्घ्री च तस्य बाह्वादेः कामशास्त्रप्रसिद्धा ये बन्धा नागपाशादीनि करणानि तेषां गन्धो लेशो विद्यते यत्र तादृशं रतं तेन सङ्गता मिलिताश्च ता आनतयश्च नितरां नम्रत्वानि कौशलातिशयनिर्मितानवयवनम्रीभावान् । सङ्गता इति पृथग्वा । नतीरिच्छुरभिलाषुकोऽस्मीति । स्मित इति भैमीसम्बोधनं वा रात्रिकृतबन्धरत-प्रत्यभिज्ञानं यथा भवति वीक्षणमात्रेणेङ्गितं कृत्वाऽनुरागातिशयाद्दिनेऽपि स्वीयं तादृशरताभिलाषं तां प्रति ज्ञापितवानिति भावः । यद्वा—बाह्वादेस्ताः प्रसिद्धाः

क्रमेण बन्धश्च, गन्धश्च, रतञ्च, सङ्गतञ्च, अनातिश्च, ता.। बाहोर्नागपाशादिबन्ध, वक्त्रस्य गन्ध पद्मिनीत्वात्सौरभम्, जघनस्य रतम्, स्तनयोः सङ्गत श्लेषः, चरणयो पतनमानतिश्चेत्यर्थं । स्वसम्बन्धिनीस्ताः स्वस्वव्यापारकरणमात्रनिरता दुश्चित्ता जना यत्रैवम्भूते दिनेऽपीच्छुरस्मीति वीक्षिता साऽनेन स्वाशय ज्ञापितेति भावः । यद्वा—त्वा (यदैव) पश्यामि, तदैव ममैव वाञ्छोदेति त्वद्दर्शनमेव सम्भोगसमय इति च ज्ञापितेति भाव । 'उत्सुकसखीजनेऽस्मिते व्रीडिते'ति पाठे–रात्रिवृत्तप्रश्नवाञ्छागोपनार्थं तस्मात्सलज्जा मा भूदित्यस्मिते स्मितरहित एवंविधं ज्ञातुमेवोत्सुके सखीजने सखीजनसन्निधौ पूर्वोक्तप्रकारेण सा तेन सङ्केतिता वञ्चिता । तत्राश्वावाचरित बाहुबन्धादि तदिदानीमिच्छुरस्मीति रात्रिवृत्तज्ञापनार्थं सखीसन्निधावेवमुवाचेत्यर्थः । अत एव सा व्रीडिता । उत्सुके सखीजने स्मिते प्रारब्धहास्ये सति व्रीडितेति वा । हे भैमि ! ते बाह्वादिबन्धादीन् दिने वीक्षिता द्रष्टा एवम्भूतोऽभिलाषुकोऽस्मि । रात्रौ यद्यपि कृता', तथापि न दृष्टास्तस्माद्दिने तद्दर्शनेच्छुरस्मीत्येव सा तेन वञ्चिता । न परमहमेव, किन्तु त्वत्सखीजनोऽपीत्युत्सुकपदेन सूचितमिति वा । व्याख्यानानन्तर ग्रन्थगौरवभयान्नोक्तम् । नती रित्यत्र इच्छुर्वीक्षितेत्येताभ्यां योगे 'न लोका—' इति षष्ठीनिषेध. ॥ १ ॥

अन्वयः—उत्सुकजने दिने ते बाहुवक्त्रजघनस्तनाङ्घ्रितद्बन्धगन्धरतसङ्गतानती इच्छुः अस्मि—इति तेन वीक्षिता सा समकेति ।

हिन्दी—(स्वकार्यसाधन अथवा रात्रि समागम वृत्तान्त-श्रवण में) जिसमें सखियाँ उत्सुक-उत्साहित होंगी, उस दिन में तेरे (दमयन्ती के) भुजा, मुख, जघाएँ, स्तन, चरण आदि के कामशास्त्र वर्णित नागपाशादि के चिह्नों से युक्त सुरत-व्यापार के कारण सजात अगों का विनमन देखने का इच्छुक हूँ—इस प्रकार उस (नल) ने उसे (दमयन्ती) के देखते हुए सङ्केत दिया ।

टिप्पणी—अन्य पदच्छेद करके कुछ अर्थान्तर भी किये गये है । 'स्मिते' (मन्दस्मित युक्त) दमयन्ती का विशेषण भी माना गया है । 'बहु '' सङ्गता. नती.' भी पदच्छेद है । अथवा दिन मे बाहु के नागपाशादि कामशास्त्रवर्णित आसन, पद्मिनी के मुख का पद्मगन्ध, जाघों पर पडे रत-सघर्ष-

चिह्न, स्तन संश्लेष, चरण की नति (क्रमशः बाहु-बन्ध, वक्त्र-गंध, जघन-रत, स्तन-संङ्गत, अङ्घ्रिनति)। अथवा दिन में भी दमयन्ती के उपर्युक्त सब देखकर संभोगेच्छा जाग जाती है—ऐसा नल ने संकेत किया। अथवा सखियाँ दिन में इन चिह्नों को देखकर क्या भाव-प्रकट करती हैं—यह जानना चाहता हूँ। 'व्रीडिता' भी पाठांतर है। अर्थात् उत्सुक सखियों को देखकर संकेत करने पर लज्जित दमयन्ती को देखने की इच्छा की। यह भाव भी है कि रात को जो किया, उसे दिन में देखने का इच्छुक हूँ। सखियाँ भी रात्रि-व्यापार से बने अंग-चिह्नों के देखने को उत्सुक हैं। आशय यही है कि दमयन्ती पर प्रतिफलित संभोग-चिह्नों को बड़ी उत्सुकता से नल ने देखा और सुख पाया। यह श्लोक जीवातु व्याख्या में नहीं है, अतः प्रकाश-व्याख्या दी गयी है ॥ ६०क ॥

प्रातरात्मशयनाद्विनिर्यतीं संनिरुध्य यदसाध्यमन्यदा।
तन्मुखार्पणमुखं सुखं भुवो जम्भजित् क्षितिशचीमचीकरत् ॥ ६१ ॥

जीवातु—प्रातरिति। भुवः पृथिव्याः, जम्भजित् इन्द्रः, नलः इत्यर्थः। प्रातः प्रभातसमये, आत्मशयनात् निजशय्यायाः, विनिर्यतीं निर्गच्छन्तीम्, 'क्षितिशचीं भूलोकेन्द्राणीम् प्रियामिति शेषः। संनिरुध्य, प्रतिबध्य कराभ्यामाकृष्येति यावत्। अन्यदा अन्यस्मिन् समये, गृहान्निर्गमनानन्तरमित्यर्थः। यत् यादृशं सुखम्, असाध्यं कर्तुमशक्यम्, सखीसमीते अवस्थानादिति भावः। तद् अनुभूतचरम्, मुखार्पणमुखं मुखचुम्बनादिरूपम्, दमयन्तीकर्तृकमिति भावः। सुखम् अचीकरत् कारयामास। दमयन्तीमवरुध्य तया निजमुखचुम्बनादिकमकारयदित्यर्थः। करोतेर्णौ चङ्युपधाह्रस्वादि। 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इति विकल्पादणिकर्तुः कर्मत्वम् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—भुवः जम्भजित् प्रातः आत्मशयनात् विनिर्यतीं क्षितिशचीं संनिरुध्य अन्यदा यत् असाध्यं तत् मुखार्पणमुखं सुखम् अचीकरत्।

हिन्दी—पृथ्वी के इन्द्र (नल) ने प्रभात वेला में अपनी शय्या से (उठकर) बाहर जाती पृथ्वी की इन्द्राणी (दमयन्ती) को पकड़कर और समय जो संभव नहीं था, वह मुखसमर्पण (मुख-चुम्बन) आदि सुख करा लिया।

टिप्पणी—रातभर की विलास लीला के पश्चात् प्रातःकाल होने पर जब दमयन्ती शय्या छोड़कर कक्ष के बाहर जाने लगी तो दमयन्ती को नल ने पकड़ लिया और मुख चुम्बनादि करने छोड़ा। दमयन्ती ने इस समय स्वयं को अनायास समर्पित कर दिया, क्योंकि प्रभात हो गया था और वह समझ रही थी कि इस समय शीघ्रतया प्रिय की कामना पूर्ण कर देना उचित होगा, अन्यथा कार्य-सम्पादनार्थ आती जाती सखियों द्वारा वह देख ली जायेगी और लज्जित होना पड़ेगा। इस प्रकार आत्मसमर्पण का जो सुख रात में नल को न मिल सका था, वह इस समय प्राप्त हो गया। मल्लिनाथ ने इसका आशय लिया है कि नल ने दमयन्ती को रोककर उससे अपना मुख-चुम्बन कराया। यह लज्जावश दमयन्ती ने पहिले नहीं किया था। नारायण ने 'मुखार्पणं मुखम् आदिर्यस्य तत्' विग्रह करके अर्थ किया मुख-चुम्बन से आरम्भ होने वाला सुख अर्थात् सुरत किया। दमयन्ती ने रात में नल को आश्वासन दिया था कि यदि आप मेरा कहा करेंगे तभी मैं आपको निशान्तकाल में छूकर और अप्राप्य दूँगी, अन्यथा नहीं। सो प्रातः जाती दमयन्ती को रोक कर उसने आलिङ्गनादि प्राप्त किया। जाने की इच्छुक दमयन्ती ने भी सखियों के आने का समय विचार कर शीघ्रतापूर्वक चुम्बनादि दे दिया और चली गयी। वह समझ रही थी कि यदि वह प्रिय की कामना पूरी न करेगी तो वह जाने न देगा। 'सुखम्' क्रिया विशेषण भी हो सकता है, अर्थात् सब कुछ अनायास ही कर लिया, रात में जिसका प्रतिरोध था। प्रभातकालीन सुरत की कल्पना इस आधार पर की गयी है कि कामशास्त्र के अनुसार पद्मिनी नारी से प्रभात में रमण उचित है—'प्रभातप्रहरे पद्मिनी रन्तव्या'॥ ६१ ॥

नायकस्य शयनादहर्मुखे निर्गता मुदमुदीक्ष्य सुभ्रुवाम्।
आत्मना निजनखस्मरोत्सवस्मारणीयमहृणीयत स्वयम्॥ ६२॥ —

जीवातु—नायकस्येति। अहर्मुखे उषसि। 'रोऽसुपि' इत्यह्नो नकारस्य रेफादेशः। नायकस्य पत्युः, शयनात् शय्यायाः, निर्गता निःसृता, इयं भैमी, सुभ्रुवां सुलोचनानां सखीनाम्, मुदं हर्षम्, स्वसम्भोगचिह्नदर्शनजन्यमिति भावः। उदीक्ष्य आलोक्य, आत्मना मनसा, आत्मा पुंसि स्वभावे च प्रयत्न-

मनसोरपि' इति मेदिनी। निजं स्वकीयम्, नवं नूतनं सद्यस्कं वा, स्मरोत्सवं सम्भोगानन्दम्, स्मरति चिन्तयतीति तादृशी सती, स्वयम् एव आत्मनैव, अह्णीयत तत्प्रकाशनात् अजिह्रेत्। 'ऋपायां ह्णीङिति जिह्रेति लज्जते। ह्णीयते' इति भट्टमल्लः। कण्ड्वादियगन्तत्वाल्लङ्, तत्र ह्णीङिति ङित्करणादात्मनेपदम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—अहर्मुखे नायकस्य शयनात् निर्गता सुभ्रुवां मुदम् उदीक्ष्य आत्मना निजनवस्मरोत्सवस्मारिणी इयं स्वयम् अह्णीयत।

हिन्दी—दिन निकलते ही नायक (नल) के शयन-कक्ष निकलती, सुन्दर भ्रुकुटियों वाली सुन्दरियों की प्रसन्नता देखकर स्वयम् अपने नवीन कामोत्सव का स्मरण करती वह (दमयन्ती) स्वयं ही लजा गयी।

टिप्पणी—प्रभात में नल के विलास-कक्ष से बाहर आती दमयन्ती को उसके हावभाव, देह-व्याप्त संभोग-चिह्न देखकर प्रौढ़ाएँ प्रसन्न हुई और सुन्दर भ्रूसंकेतों से इस संबंध में संकेत किये ('सुभ्रू' विशेषण से यही तात्पर्य है)। दमयन्ती भी उनके भाव को समझ गयी और नवमिलन के काममहोत्सव का स्मरण कर स्वयं लज्जित हो गयी कि उसका भेद अब खुल गया ॥ ६२ ॥

तां मिथोऽभिदधतीं सखीः प्रियस्यात्मनश्च स निशाविचेष्टितम्।
पार्श्वगः सुरवरात् पिधां दधद् दृश्यतां श्रुतकथो हसन् गतः॥६३॥

जीवातु—तामिति। पार्श्वगः समीपस्थोऽपि, सुराणाम् इन्द्रादीनाम्, वरात् वरप्रसादात्, पिधाम् अन्तर्द्धाम्, 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ् प्रत्ययः। 'वष्टि भागुरिरल्लोपम्' इत्यकारलोपः। दधत् धारयन्, सः नलः, प्रियस्य पत्युः, आत्मनश्च निजायाश्च, निशाविचेष्टितं रात्रिवृत्तम्, मिथः रहसि, सखीः सहचरीः, अभिदधतीं भाषमाणाम् सखीभ्यः कथयन्तीमित्यर्थः। ब्रुवेरर्थत्वाद् द्विकर्मकत्वम्। तां प्रियाम्, श्रुतकथः आकर्णितप्रियावचनः, अत एव हसत् उच्चैर्हास्यं कुर्वन् सन्, दृश्यतां तासां नयनगोचरताम्, गतः प्राप्तः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—सुरवरात् पिधां दधत् पार्श्वगः सः प्रियस्य आत्मनः च निशाविचेष्टितं मिथः सखीः अभिदधतीं तां श्रुतकथः हसन् दृश्यतां गतः।

हिन्दी—देवों के वर से अंतर्धा-धारण करता (अप्रत्यक्ष) किन्तु

समीपस्थ वह (नल) प्रिय (पतिनल) और अपनी (दमयन्ती) रात्रि-चेष्टाओं (सम्भोग-व्यापारों) को एकांत में सखियों से कहती उस (दमयन्ती) के समुख, रात्रिकथा सुन हँसता हुआ प्रकट हो गया।

टिप्पणी—एक कौतुक का वर्णन। नल को स्वेच्छया अप्रत्यक्ष हो सकने का वर प्राप्त था (नै० च० १४।९१)। सो वह उस स्थान पर अप्रत्यक्ष रहता जा पहुँचा, जहाँ दमयन्ती अपनी सखियों को उसके और अपने रात्रि-सम्भूत सुरतव्यापार सुना रही थी। इस एकांत कथा को सुनकर वह प्रकट हो गया—हँसता हुआ, जिससे उसने व्यक्त कर दिया कि दमयन्ती और उसकी सखियों के मध्य होती रहस्य-कथा को सुन चुका है ॥ ६३ ॥

चक्रदारविरहेक्षणक्षणे बिभ्यती धवहसाय साऽभवत्।
क्वापि वस्तुनि वदत्यनागतं चित्तमुद्यदनिमित्तवैकृतम् ॥ ६४ ॥

जीवातु—अथास्याः प्रियविरहासहिष्णुतामाह—चक्रेति। चक्रदाराणां रात्रौ चक्रवाकवनितायाः, विरहेक्षणक्षणे वियोगदर्शनकाले, बिभ्यती स्वस्या अपि कदाचित्तेन विरहसम्भावनया त्रस्यन्ती, सा भैमी, धवस्य नलस्य, हसाय हास्याय, अभवत् अजायत, प्रियाया अकाण्डत्रासदर्शनात् प्रियो जहास इत्यर्थः। 'स्वनहसोर्वा' इति विकल्पादप्प्रत्ययः। अथवा युक्तमेतद् मय-मित्याह—क्वापि कुत्रचित्, वस्तुनि विषये, उद्यत् उत्पद्यमानम्, अनिमित्त-वैकृतम् आकस्मिकविकारं यस्य तत् तादृक्, चित्तं मनः कर्त्तृ, अनागतं भाविशुभाशुभादिकमेव, वदति ज्ञापयतीत्यर्थः। चक्रविरहदर्शनात् आशङ्कित-निज आगामिविरह एव भयहेतुभूत इति तात्पर्यम् ॥ ६४ ॥

अन्वय—चक्रवाकविरहेक्षणक्षणे बिभ्यती सा धवहासाय अभवत्, क्व अपि वस्तुनि उद्यदनिमित्तवैकृतं चित्तम् अनागतं वदति।

हिन्दी—चकई-चकवा के वियोग का समय देखने के काल (सन्ध्या) में डरती वह (दमयन्ती) प्रियपति (नल) की हँसी का निमित्त हो गयी, किसी वस्तु के सम्बन्ध में अकारण उत्पन्न हो जाने वाले (हर्ष-शोक भयादि) विकार को प्राप्त चित्त अनागत (अघटित, भावी) को कह देता है।

टिप्पणी—दृढानुराग के कारण नल दमयन्ती का युग्म चक्रवाक-दम्पती-तुल्य था। कहा जाता है कि रात में चकवा-चकई पृथक् हो जाते हैं। सन्ध्या

आयी और चक्रवाक युगल के विरह का क्षण आ गया, जिसे देख दमयन्ती को भी डर लगा कि कहीं उसे भी चक्रवाकी के समान प्रिय-विरह न भोगना पड़े। यों उसे डरती देख नल को हँसी आ गयी। एक प्रकार से दमयन्ती की आशंका—उस काल अकारण भय पूर्णतः असंगत भी नहीं थी, क्योंकि इस प्रकार अकारण ही चित्त-भाव बन जाना, अकारण ही प्रसन्न हो जाना, डर जाना आदि भविष्यत् की घटनाओं के सूचक होते हैं। इस दमयन्ती की अकारण आशंका से कवि ने भावी विरह की सूचना दी। नारायण ने नल के हँसने का यह भाव भी लिया है कि दमयन्ती को अब स्वाद लग गया है, वह अब नल में पूर्ण अनुरक्त है, अतः संतोषवश दमयन्ती की उस आशंका पर हँसा।

चुम्बितं न मुखमाचकर्ष यत् पत्युरन्तरमृतं ववर्ष तत्।
सा नुनोद न भुजं यदर्पितं तेन तस्य किमभून्न तर्पितम्? ॥ ६५ ॥

जीवातु—चुम्बितमिति। सा भैमी, चुम्बितं नलेन चुम्बितुमारब्धम्, 'चुम्बितुम्' इति पाठे—चुम्बितुं नलेनाधरं पातुमुद्यते सतीत्यर्थः। मुखं निजाननम्, न आचकर्ष न अपासारयत्। इति यत् तत् चुम्ब्यमानमुखस्य अनाकर्षणमेव, पत्युः नलस्य, अन्तः अन्तःकरणे, अमृतं सुधाम्, ववर्ष निषिषेच, तत्तुल्यमानन्दमजनयदित्यर्थः। तथा अर्पितं स्तनोपरि न्यस्तम्, भुजं नलकरम् यत् न नुनोद न निरास, तेन भुजानपसारणेन, तस्य नलस्य सम्बन्धि, किं किं वस्तु, अङ्गं वा चित्तं वा इत्यर्थः। न तर्पितम् अभूत्? न आप्यायितम् अभूत्? अपि तु सर्वाङ्गसन्तर्पणमेवाभूदित्यर्थः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सा यत् चुम्बितं मुखं न आचकर्ष, तत् पत्युः अन्तः अमृतं ववर्ष; अर्पितं भुजं न नुनोद, तेन तस्य किं तर्पितं न अभूत्?

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने चुम्बित होते मुख खींच नहीं लिया, वह (मुख का अनाकर्ष) पति (नल) के अन्तस् में अमृत बरसा गया। (उसने स्तनों पर) रखे जाते बाहु को न रोका, उससे उस (नल) का क्या तृप्त न हुआ?

टिप्पणी—क्रमशः लज्जा पूर्णतः दूर हो गयी और दमयन्ती सुरत-व्यापारों की अभ्यस्त हो चली, उसे उन सब चेष्टाओं में आनन्द मिलने लगा। प्रिय मुख चूमता तो वह न हटाती, स्तनों पर हाथ रखता तो न

रोकती। इस सब से नल के अग अग को, चित्त में पूर्ण तृप्ति और संतुष्टि प्राप्त होती ॥ ६५॥

नीतयो स्तनपिधानतां तया दातुमाप भुजयो करं परम्।
वीतवाहुनि ततो हृदंशुके केवलेऽप्यथ स तत्कुचद्वये ॥ ६६॥

जीवातु—नीतयोरिति। स नल, तया भैम्या, स्तनपिधानता कुचावरणताम्, नीतयो प्रापितयो, भुजयोः तद्बाहुयुगयो, परं केवलम् प्रथममिति भाव। आदौ केवल कुचस्थभुजोपरि इति निष्कर्षं। ततः अनन्तरम्, वीतबाहुनि अपसारितभुजे, शनैः शनैः नर्मेणेति भाव। हृदंशुके स्तनावरकवस्त्रे अथ तदनन्तरम् केवलेऽपि अपसारितांशुकत्वात् उन्मुक्तेऽपि इति भाव। तत्कुचद्वये दमयन्तीस्तनयुगले, करं हस्तम्, दातुम्, अर्पयितुम्, आप शशाक इत्यर्थं। दमयन्त्या अपि क्रमशो मन्मथोदयेन लज्जाऽन्यसङ्कोचापगमादिति भाव। अनेकस्य करस्य क्रमादनेकेषु भुजांशुककुचेषु वृत्तिकथनात् 'क्रमेणैकमनेकस्मिन्' इत्याद्युक्तलक्षण पर्यायालङ्कारभेदः ॥ ६६॥

अन्वय—स तया स्तनपिधानता नीतयो भुजयो परं ततः वीतबाहुनि हृदंशुके अथ केवले तत्कुचद्वये करं दातुम् आप।

हिन्दी—वह (नल) उस (दमयन्ती) के द्वारा कुचों का आवरण बना ली गयी भुजाओं पर ही अपना हाथ रख सका, तदनन्तर भुजाएं हटा लेने पर वक्ष ढकने वाले वस्त्र पर, इसके पश्चात् केवल (वस्त्र हटे, उन्मुक्त) उस (दमयन्ती) के स्तन युगल पर हाथ रख पाया।

टिप्पणी—यहाँ दमयन्ती के लज्जापचय (लाज दूर होना) और कामोपचय (काम विकास) का क्रमिक विकास दिखाया गया है। जैसे-जैसे लाज दूर होती गयी, काम विकसित होता गया। आरम्भ में जब नल स्तन स्पर्श चाहता था तब दमयन्ती अपनी बाहें उन पर रख लेती। उस स्थिति में नल का बढा हाथ केवल भुजाएँ छू पाता था कुछ समय बाद दमयन्ती ने बाहों से ढकना छोड़ दिया, तब नल स्तनावरण वस्त्र छू लेता था, धीरे-धीरे यह भी स्थिति समाप्त हो गयी और नल स्तनों पर ओढे वस्त्र और चोली को उतार कर उन्मुक्त कुच-युगल स्पर्श भी पाने लगा। नारायण के अनुसार यह 'मुग्धाजाति' है। मल्लिनाथ के अनुसार यहां एक-एक करके

क्रम से अनेक—भुजा, वस्त्र और कुचों—पर वृत्ति-कथन के कारण पर्यायालंकार है ॥ ६६ ॥

याचनान्न ददतीं नखार्पणं तां विधाय कथयाऽन्यचेतसम् ।
वक्षसि न्यसितुमात्ततत्करः स्वं विभेद मुमुदे स तन्नखैः ॥ ६७ ॥

जीवातु—याचनादिति । स नलः, याचनात् मां नखेन विदारय इति प्रार्थनाकरणादपि, नखार्पणं नखेन भेदनम्, न ददतीं नार्पयन्तीम्, स्नेहवशात् नखक्षतमकुर्वतीमित्यर्थः । तां प्रियाम् कथया विविधालापप्रसङ्गेन । 'चिन्ति-पूजिकथि-'इत्यादिना अङ्प्रत्ययः । अन्यचेतसम् अन्यमानसाम्, प्रसङ्गान्तर-व्यासक्तचित्तामित्यर्थः । विधाय कृत्वा, वक्षसि स्वोरसि, न्यसितुं स्थापयितुम्, आत्ततत्करः गृहीतभैमीपाणिः सन्, तन्नखैः प्रियाया एव नखैः, स्वम् आत्मा-नम्, विभेद अभिनत्, व्यदारयदित्यर्थः । मुमुदे च ननन्द च ॥ ६७ ॥

अन्वयः—याचनात् नखार्पणं न ददतीं तां सः कथया अन्यचेतसं विधाय वक्षसि न्यसितुम् आत्ततत्करः तन्नखैः स्वं विभेद, मुमुदे ।

हिन्दी—प्रार्थना करने (कहने) पर नख-क्षत न करती उस (दमयन्ती) का विविध वार्तालापों द्वारा दूसरी ओर ध्यान बटा कर वह नल (अपने) वक्ष पर रखने के लिए उस (दमयन्ती) का हाथ पकड़ उस (दमयन्ती-कर) के नखों द्वारा (अपने वक्ष पर) क्षत कराता था और प्रसन्न होता था ।

टिप्पणी—कभी-कभी विलासरत नल दमयंती से कहता कि वह भी उसके वक्ष पर नख-क्षत करे, परन्तु लज्जावश जब दमयन्ती वैसा न करती तो नल कुछ अन्य प्रसंगों पर बातें करता था और उसका ध्यान उस लीला से हटा देता था । जब दमयन्ती का ध्यान बट जाता तो नल स्वयं उसका हाथ पकड़ कर अपनी छाती पर रख लेता था और स्वयं नख-क्षत करा प्रसन्न होता था ॥ ६७ ॥

स प्रसह्य हृदयापवारकं हर्तुमक्षमत सुभ्रुवो बहिः ।
ह्रीमयं न तु तदीयमान्तरं तद्विनेतुमभवत् प्रभुःप्रभुः ॥ ६८ ॥

जीवातु—स इति । प्रभुः स्वामी, सः नलः, सुभ्रुवः सुलोचनायाः प्रियायाः, बहिः बाह्यम्, हृदयापवारकं वक्षोदेशाच्छादकम्, स्तनावरणवस्त्र-मित्यर्थः । प्रसह्य बलात्, हर्तुम् अपसारयितुम् अक्षमत अशक्नोत्, तु किन्तु,

तदीय दमयन्तीयम्, आन्तरम् अन्तर्वर्ति, ह्रीमय लज्जारूपम्, तत् हृदयापवारकम् विनेतुम् अपसारयितुम्, न प्रभु न समर्थ, अभवत् अजायत। तस्य महत्त्वादिति भाव ॥ ६८ ॥

अन्वय —प्रभु स सुभ्रूव वहि हृदयापवारक प्रसह्य हर्तुम् अक्षमत न तु तदीयम् आन्तर ह्रीमय तत् विनेतु प्रभुः अभवत्।

हिन्दी—स्वामी वह (नल) सुन्दर भ्रकुटिवाली (सुन्दरी दमयन्ती) के वक्ष को ढकने वाले वस्त्र को बलात् हटाने मे तो समर्थ हो गया किन्तु उस (दमयन्ती) के अन्त वर्ती लज्जारूपी उस (आवरण) को हटाने मे समर्थ न हो सका।

टिप्पणी—यह ठीक है कि क्रमश दमयन्ती ने स्वामी की विलासचेष्टाओं का अवरोध छोड दिया किन्तु उसकी लज्जा फिर भी विद्यमान थी। वक्ष और वक्षोज युग्म तथा अन्य अगो के आवरण हटाने मे नल को सफलता मिल गयी, पर स्वाभाविक लज्जा शीलता (जो नारी का भूषण है) को न हटा सका। बाहरी लज्जा तो समर्थ स्वामी ने दूर कर दी, पर नैसर्गिक लज्जा दूर करने मे वह भी समर्थ नही है। और सहज लज्जा ही उचित है, बाह्य दिखावा तो व्यर्थ है। नारायण का मन्तव्य है कि यद्यपि धीरे धीरे आश्वस्त करके नल ने दमयन्ती की लज्जा छुडवा दी तथापि वक्ष को ढकने वाले वस्त्रादि हटाकर कुच स्पर्श आदि के कारण वह पुन लज्जित हो गयी ॥६८॥

सा स्मरेण बलिनाऽप्यहापिता ह्रीक्षमे भृशमशोभताबला।
भाति चापि वसन विना न तु व्रीडधैर्यपरिवर्जने जन ॥ ६९ ॥

जीवातु—सेति। बलिना प्रबलेनापि, स्मरेण कामेन, ह्रीक्षमे लज्जाधैर्ये, अहापिता अत्याजिता, त्यजयितुमक्षमेत्यर्थ। जहातेर्ण्यन्तात् पुगि द्विकर्मकादप्रधाने कर्मणि क्त। अबला दुर्बला, सा भैमी, भृशम् अत्यर्थम्, अशोभत अराजत, 'नारीणा भूषण लज्जा' इति नीतिशास्त्रोक्तेरिति भाव। तथा हि जन लोक, वसन वस्त्रम, विनाऽपि ऋतेऽपि, भाति शोभते, तु किन्तु, व्रीडधैर्ययो लज्जाधीरत्वयो, परिवर्जने परित्यागे, न च नैव, भातीति अन्वय ॥६९॥

अन्वय—बलिना अपि स्मरेण ह्रीक्षमे अहापिता अबला सा भृशम् अशोभत, जन वसन विना अपि भाति व्रीडधैर्यपरिवर्जने तु न च।

हिन्दी—वली, संवृद्ध काम द्वारा भी जिसके लज्जा और धैर्य न छुड़ाये जा सके, ऐसी वह अवला (नारी दमयन्ती) अत्यन्त शोभित हुई; व्यक्ति वस्त्र-विना भी सोहता है, लज्जा और धीरज का त्याग करके तो नहीं।

टिप्पणी—वली और प्रवल भी कामदेव एक अवला दुर्बल नारी दमयन्ती पर विफल ही गया, यह आश्चर्य की वात है; किन्तु हुआ यही, प्रवृद्ध काम के रहते भी दमयन्ती लज्जावती और धीरा वनी रही। और यही उचित है। मनुष्य के वास्तविक आवरण लज्जा और धैर्य ही है। निर्लज्जा और अधीर स्त्री तो निन्दनीय ही होती है। एक वार को वस्त्र न रहें तो कोई वात नहीं, लज्जा और धैर्य रहना आवश्यक है। वास्तविक शोभा इन्हीं से होती है। नारायण के अनुसार अर्थान्तरन्यास ॥६९॥

आत्थ नेति रतयाचितं न यन्मामतोऽनुमतवत्यसि स्फुटम्।
इत्यमुं तदभिलापनोत्सुकं धूनितेन शिरसा निरास सा ॥ ७० ॥

जीवातु—आत्थेति। हे प्रिये! मां रतयाचितं सुरतभिक्षाम्, यत् यतः, न इति, 'न दास्यामि' इति, न आत्थ न ब्रवीषि, मम सुरतप्रार्थनायां न दास्यामि इति यत् त्वं न वदसीत्यर्थः। अतः अप्रतिषेधाद्धेतोः, स्फुटं व्यक्तम्, अनुमतवती स्वीकृतवती, असि भवसि, 'अप्रतिषिद्धं परमतम् अनुमतं भवति' इति न्यायात् इति भावः। इति इत्थम्, तस्याः दमयन्त्याः, तस्य अप्रतिषेधवचनस्येत्यर्थो वा, अभिलापनाय वाचनाय, उत्सुकम् उद्युक्तम्, आग्रहान्वितमित्यर्थः। अमुं प्रियम्, सा भैमी, धूनितेन कम्पितेन। 'धूञ्-प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः'। शिरसा मूर्ध्ना, निषेधसूचकशिरश्चालनेनेत्यर्थः। निरास प्रत्याख्यातवती अहो! अत्यन्ताभिमतार्थेऽपि निषेधशीलता स्त्रीणामिति भावः ॥ ७० ॥

अन्वयः—मां रतयाचितं यत् न इति न आत्थ अतः स्फुटम् अनुमतवती असि—इति तदभिलापनोत्सुकम् अमुं सा धूनितेन शिरसा निरास।

टिप्पणी—'मेरे द्वारा प्रार्थित सुरत-प्रस्ताव पर जो (तुमने) 'न' नहीं कहा; इससे स्पष्ट है कि तुम (सुरत की) अनुमति दे रही हो'—इस प्रकार उस (दमयन्ती) की मंजुलवाणी सुनने को उत्सुक उस (नल) को इस (दमयन्ती) ने सिर हिला कर निराश कर दिया।

टिप्पणी—एक वार नल ने यह सोचा कि दमयन्ती या तो उसकी

सुरत याचना स्वीकार लेगी या फिर 'नहीं नहीं' बाल कर निषेध करेगी। सुख दोना स्थिति मे मिलेगा। सुरत मे भी और उसके अभाव म निषेधार्थं बोलती दमयन्ती के मजुल वचन सुनकर भी, 'हाँ से भलो नाहीं' सुनकर। सो उसने दमयन्ती से सुरत याचना की। दमयन्ती चुप रही। तब नल न उससे कहा कि वह कुछ बोल नही रही है, मौन स्वीकृति का सूचक है— 'मौनं स्वीकारलक्षणम्', अतः स्पष्ट है कि दमयन्ती को नल का प्रस्ताव स्वीकार है। अब नल का लगा कि या उसकी सुरत याचना स्वीकार होती है या निषेधपरक (हो सही) दमयन्ती की सरसवाणी सुनन को मिलती है। किन्तु लज्जावती, धैर्यशालिनी, चतुर दमयन्ती ने न तो याचना ही स्वीकारी, न मुख से बोली ही। उसने सुरत-याचना के निषेध की सूचना केवल सिर हिलाकर देदी। नल को निराशा ही मिली। मल्लिनाथ की टिप्पणी है कि अत्यन्त अभिमत अर्थ में भी निषेध करना स्त्री स्वभाव है। किन्तु कदाचित् यहाँ सुरत व्यापार की स्वीकृति अस्वीकृति का प्रसग प्रधान नही है, प्रधान हास विलास कौशल है। नल ने चालाकी से एक कार्य कराना चाहा, दमयन्ती ने चतुरतापूर्वक नल की चतुरता विफल करदी। यह सुरत-प्रसग नही, प्रणयियुगल की परिहास लीला है ॥ ७० ॥

या शिरोविधुतिराह नेति ते सा मया न किमिव समाकलि ? ।
तन्निषेधसमसह्ययताविधिर्व्यक्तमेव तव वक्ति वाञ्छितम् ॥ ७१ ॥

जीवातु—येति। हे प्रिये ! ते तव, या शिरोविधुतिः निषेधसूचकमस्तकचालनम्। कर्त्री। न इति आह न दास्यामि इति निषेध ब्रूते, सा इव शिरोविधुति, मया न समाकलि किम् ? न सम्यक् अबोधि किम् ? अपि तु गृहीतार्थैव इत्यर्थः। कलयतेः कर्मणि लुङ्। किं त्वया समाकलि ? इत्याह— तस्य शिरोविधुतिद्वयरूपस्य प्रतिपाद्यस्य, निषेधस्य असम्मतेः, समसह्यतया प्रतिपादकस्य नञोऽपि द्विसह्यतया, प्रतिपादितो विधि विधानम्। 'द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः' इति न्यायात् सुरतानुमोदनरूप इत्यर्थः। तव वाञ्छितम् अभिलाषम्, व्यक्तं स्फुटमेव, वक्ति कथयति। वचेर्लट्। निषेधार्थमपि वारद्वयशिरोविधूननं ते सम्मतिमेव सूचयति, नञ्द्वयेन प्रकृतार्थस्य गम्यमानत्वादिति भाव ॥ ७१ ॥

अन्वयः—ते या शिरोविधुतिः न इति आह, सा इयं किं मया न समाकलि ? तन्निषेधसमसङ्ख्यताविधिः तव वाञ्छितं स्फुटम् एव वक्ति ।

हिन्दी—तेरे (दमयन्ती के) जिस सिर-हिलाने ने 'न'–यह कहा, उसे क्या मैंने (नल ने) भली भाँति नहीं समझा ? (अपितु समझ लिया) । उस (सिर-हिलाने-रूप) निषेध की सम संख्या (दो) होने का प्रकार तेरे अभिलषित को स्पष्ट ही कह रहा है ।

टिप्पणी—परिहास का दूसरा क्रम । दमयन्ती ने नल के सुरत-प्रस्ताव के उत्तर में दो बार—बायें से दायें और दायें से बायें सिर हिलाकर निषेध-सूचना दी थी । नल ने पुनः चतुरता पूर्वक दमयन्ती से कहा कि क्योंकि उसने दो बार 'सिरोविधूति' की है, अर्थात् दो बार 'न' (न, न) कहा है । दो 'न' का अर्थ निषेध नहीं, अनुमति होता है—'द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः।' सो स्पष्ट है कि दमयन्ती को सुरत-याचना स्वीकार है । नल यह मानकर कि उसकी प्रार्थना हो गयी है, अब अगला कदम उठाने में स्वतंत्र है ॥ ७१ ॥

नात्थ नात्थ शृणवानि तेन किं ते न वाचमिति तां निगद्य सः ।
सा स्म दूत्यगतमाह तं यथा तज्जगाद मृदुभिस्तदुक्तिभिः ॥ ७२ ॥

जीवातु—नेति । हे प्रिये ! न आत्थ मया सह त्वं न आलपसि, न आत्थ नैव कथयसि, तेन अनालपनेन हेतुना, ते तव, वाचं वचनम्, न शृणवानि किम् ? न शृणुयां किम् ? अपि तु शृणुयामेव, इत्यसम्भावनानिषेधः । सः नलः, तां प्रियाम्, इति एवम्, निगद्य उक्त्वा, सा भैमी, दूत्यगतं दूतरूपेण दमयन्तीसमीपमुपस्थितम्, तम् आत्मानं नलम्, यथा नवमसर्गोक्तेन येन प्रकारेण, आह स्म उक्तवती, तत् सर्वम्, मृदुभिः नम्राभिः, तस्याः दमयन्त्या एव, उक्तिभिः कथाभिः, दमयन्तीवाक्यानुकरणैरित्यर्थः । जगाद उवाच । तदा मत्समीपे वाक्यमुच्चार्य इदानीमनुच्चारणे न किमपि फलम्, अतोऽवश्यमेव मया सह आलपिष्यसीति भावः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—सः ताम् इति निगद्य सा दूत्यगतं तं यथा आह स्म, तद् मृदुभिः तदुक्तिभिः जगाद—ते वाचं न शृणवानि तेन न आत्थ किम् ?

हिन्दी—उस (नल) ने उस (दमयन्ती) से यह (पूर्वोक्त, श्लोक संख्या ७१) कह कर उस (दमयन्ती) ने दूत-कार्य-संपादनार्थ पहुँचे उस–

(नल) से जिस प्रकार से कहा था, वह सम्पूर्ण (कथन) अतिमंजुल उस (दमयन्ती) की उक्तियों द्वारा कह दिया और पूछा कि तेरी (दमयन्ती) वाणी मैं न सुन सकूँ, इस कारण से क्या नहीं बोल रही हो, नहीं बोल रही हो ?

टिप्पणी—नल ने शिर कपनमात्र से दमयन्ती-द्वारा निषेध किये जाने पर उससे यह जानना चाहा कि कहीं वह इस धारणा से तो चुप नहीं है कि उसकी वाणी नल-द्वारा न सुनी जाय ? किन्तु दमयन्ती की यह मिथ्या धारणा है, क्योंकि दमयन्ती की वाणी नल द्वारा अश्रुत नहीं है, वह जब देवदूत बनकर दमयन्ती के पास पहुँचा था (नै० च० ९। 'तदद्य-' इत्यादि), तब उसकी मृदु, मंजुल वाणी सुन चुका है। नल ने दमयन्ती-कथित बातें प्रमाणस्वरूप कह सुनायीं। आशय यह है दमयन्ती पहिले भी नल से आलाप कर चुकी है, अब लजाने और चुप रहने से कोई लाभ नहीं है—'न-न' न कहो। शिरोविधुति स्वीकृति ही मानी जायगी ॥ ७२ ॥

नीविसीम्नि निबिडं पुराऽरुणत् पाणिनाऽथ शिथिलेन तत्करम् ।
सा क्रमेण न न नेति वादिनी विघ्नमाचरदमुष्य केवलम् ॥ ७३ ॥

जीवातु—नीवीति । सा दमयन्ती, नीविसीम्नि कटीवस्त्रग्रन्थिसमीपे, तत्करं प्रियहस्तम्, ग्रन्थिमोचनाय उपस्थितमिति भावः । पुरा प्रथमम्, पाणिना स्वकरेण, निबिडं दृढं यथा तथा, अरुणत् रुद्धवती । रुधेः कर्त्तरि लङ् । अथ कियद्दिनानन्तरम्, शिथिलेन श्लथेन, अदृढेनेत्यर्थः, पाणिना अरुणदित्यन्वयः । क्रमेण क्रमशः, प्रथमङ्गेन, तत्परमित्यर्थः । केवलं न न नेति वादिनी केवलं वाचिकनिषेधम् एव कुर्वती सती, अमुष्य प्रियकरव्यापारस्य, विघ्नं नीविमोचनप्रतिबन्धम्, आचरत् अकुर्वदित्यर्थः क्रमशो लज्जापगमात् वाङ्मात्रेणैव केवलं विघ्नमाचरत् न तु अङ्गेनेति भावः । अत्रैकस्मिन् नीविदेशे क्रमादनेकव्यापारसम्बन्धोक्तेः पर्यायालङ्कारभेदः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—सा पुरा नीविसीम्नि तत्करं पाणिना निबिडम् अरुणत् अथ शिथिलेन, क्रमेण केवलं 'न-न' इति वादिनी अमुष्य विघ्नम् आचरत् ।

हिन्दी—वह (दमयन्ती) पहिले (सम्भोगार्थ) कटिवस्त्रग्रन्थि के निकट (मोचनार्थ उद्यत) उस (नल) के हाथ को (अपने) हाथ से दृढता-पूर्वक रोकती थी, कुछ दिन बाद शिथिल हाथ से, धीरे-धीरे केवल 'न न' कहती ही उस (नल-करके कार्य) में विघ्न डालने लगी।

टिप्पणी—क्रमशः दमयन्ती की लज्जा और भीति का त्याग। आरम्भ में जब संभोगार्थ नल दमयन्ती के कटिवस्त्र की ग्रन्थि खोलने के लिए हाथ बढ़ाता तो अपने हाथ से दृढ़तापूर्वक रोकती, कुछ दिन बाद सामान्यतः दृढ़ता समाप्त हो गयी और निवारक हाथ शिथिल होने लगा। और कुछ दिन बाद यह भी न रहा, दमयन्ती नीवि-विमोचन-समय में केवल मुख से ही निषेध करती, हाथ को पकड़ कर रोकती नहीं थी। मल्लिनाथ के अनुसार एक नीवि-प्रदेश में क्रम से अनेक व्यापारों का संबंध होने से यहाँ पर्यायालंकार है ॥ ७३ ॥

रूपवेषवसनाङ्गवासनाभूषणादिषु पृथग्विदग्धताम् ।
साऽन्यदिव्ययुवतिभ्रमक्षमा नित्यमेत्य तमगान्नवा नवा ॥ ७४ ॥

जीवातु—रूपेति। रूपं सौन्दर्यम्, वेषः विविधप्रकारनेपथ्यम्, वसनं वस्त्रम्, अङ्गवासना धूपादिना शरीरसंस्कारः, भूषणं कङ्कणादि, तानि आदिः येषां तेषु विविधप्रकारप्रसाधनादिषु विषयेषु, नित्यं प्रत्यहमेव, पृथक् भिन्न-भिन्नरूपाम्, विदग्धतां कुशलताम्, एत्य प्राप्य, प्रत्यहमेव नवनववेषरचनां कुर्वतीत्यर्थः। अत एव नवा नवा नूतना सती, अभीक्ष्ण्ये द्विर्भावः। सा भैमी, अन्या अपरा काचित्, दिव्या स्वर्गीया, युवतीः तरुणी, उर्वश्यादिरित्यर्थः। इति भ्रमे भ्रान्तिजनने, क्षमा समर्था सती, तं नलम्, अगात् अगच्छत्, समतो-पयदित्यर्थः। इणो गा लुङ् ॥ ७४ ॥

अन्वयः—रूपवेषवसनाङ्गवासनाभूषणादिषु नित्यं पृथग्विदग्धताम् एत्य नवा नवा सा अन्यदिव्ययुवतिभ्रमक्षमा सा तम् अगात्।

हिन्दी—आकार, वेष, वस्त्र, अंगों को सुवासित करना तथा अलंकारादि के विषय में नित्य (सदा, प्रतिदिन) भिन्न-भिन्न प्रकार की चतुरता को प्राप्त कर नूतन-नूतन दूसरी-दूसरी दिव्ययुवतियों (अप्सरियों) के भ्रम-सम्पादन में समर्थ वह (दमयन्ती) उस (नल) के समीप जाती।

टिप्पणी—दमयन्ती स्वयं भी प्रसाधन-मंडन में कुशल थी, उस पर उसे देव-वर मिल गया था—'आप्तुमाकृतिमतो मनीषितां विद्यया हृदि तयाप्युदीयताम्'; (१४।९१), अर्थात् दमयन्ती को इच्छारूप-धारिणी विद्या प्राप्त हो। सो आकृति-सौन्दर्य, अनेक देश-प्रदेशों की स्त्रियों के अनुरूप

रग-रग में रहस्य, नव राग, सुगन्ध, विविध आभूषण आदि के नित नये विविध प्रयोग करके दमयन्ती प्रत्येक समय नल को एक अभिनव रूप में प्राप्त होती। विविध प्रदेशों की सुन्दरियाँ और रम्भा, मेनकादि स्वर्ग की अप्सराओं का भ्रम दमयन्ती को देखकर हो जाता। इस प्रकार नित्य नवीन, अपूर्व, अद्भुत रूपवती प्रिया दमयन्ती प्रिय नल को नित्य रमणीय प्रतीत होती। रमणीयता का लक्षण ही क्षण क्षण नवीन प्रतीत होना है—'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।' भाव यह कि एक दमयन्ती में ही नल को सकल जगत् की श्रेष्ठ सुन्दरियाँ प्राप्त हो जातीं, वह केवल उसी में अनुरक्त रहने लगा॥ ७४॥

इङ्गितेन निजरागसागरं सविभाव्य चटुभिर्गुणज्ञताम्।
भक्तताञ्च परिचर्ययाऽनिशं साऽधिकाधिकवशं व्यधत्त तम्॥ ७५॥

जीवातु—इङ्गितेनेति। सा भैमी, अनिशं निरन्तरम्, इङ्गितेन कटाक्षवीक्षणादिचेष्टितेन, निजं स्वकीयम्, रागसागरम् अनुरागार्णवम्, सागरवदसीममनुरागाधिक्यमित्यर्थः। चटुभिः प्रियवादैः, गुणज्ञतां परगुणाभिज्ञताम्, तथा परिचर्यया सेवया, भक्तताञ्च तस्मिन् भक्तिमत्त्वञ्च, सविभाव्य सम्यग् ज्ञापयित्वा, तं प्रियम्, अधिकाधिकवशम् उत्तरोत्तरमधिकायत्तम्। 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विरुक्तिः, कर्मधारयवद्भावात् सुपो लुक्। व्यधत्त अकरोत्। इङ्गिताद्यनुमितैः रागादिगुणैस्तस्याः सोऽत्यन्तवशंवदोऽभूत् इति निष्कर्षः॥ ७५॥

अन्वय—सा अनिशम् इङ्गितेन निजरागसागरं, चटुभिः गुणज्ञतां, परिचर्यया भक्ततां च सविभाव्य तम् अधिकाधिकवशं व्यधत्त।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने निरन्तर (कटाक्षादि) संकेतों से अपने अनुराग समुद्र (प्रेमगाम्भीर्य, स्नेहाधिक्य) को, प्रिय वचनों से गुणग्राहकता को और सेवा से भक्तिभावना को भली भाँति प्रकट कर उस (नल) को उत्तरोत्तर अधिकाधिक वश में कर लिया।

टिप्पणी—'निजरागसागरम्' 'तम्' का विशेषण भी हो सकता है, अर्थात् अपने प्रेमाधिक्य रूप नीर को धारण करने वाला—प्रेमनीरधि प्रिय नल। कुछ दिन बीतने पर क्रमशः दमयन्ती का प्रेम प्रौढ हो चला और तब उसने सम्पूर्णतया अपने वश में कर लिया। वह स्नेहपूर्ण कटाक्षों से सदा प्रिय को

निहारती, सखियों से सदा उसके गुणों का ही वर्णन करती, पति को सो जाने पर सोती—उसके जागने से पहिले ही जाग जाती, उसके आने पर संतोष प्रकटती, न रहने पर विरहजन्य उदासी, समदुःख-सुख भागिनी बनी रहती, सदा मीठे और मृदु वचन बोलती, प्रशंसा करती, अपनी गुण ग्राहकता प्रकट करती, विदग्धता दिखाती तथा पंखा आदि झलकर और प्रिय के अन्य आवश्यक कार्य अपने हाथों करके सेवा और भक्ति प्रकट करती। इस प्रकार की प्रिया के वश में नल भला कैसे न होता ? ॥ ७५ ॥

स्वाङ्गमर्पयितुमेत्य वामतां रोषितं प्रियमथानुनीय सा।
आतदीयहठसम्बुभुक्षुतं नान्वमन्यत पुनस्तमर्थिनम् ॥ ७६ ॥

जीवातु—स्वाङ्गमिति। सा दमयन्ती, स्वाङ्गं निजवराङ्गादिकम् अर्पयितुं नलकर्तृकस्पर्शतादयर्थं प्रदातुम्, वामतां प्रतिकूलताम्, असम्मतिमित्यर्थः। एत्य प्राप्य, अथ तदनन्तरम्, रोषितम् इच्छाऽपूरणात् कोपितम्, प्रियं पतिम्, अनुनीय चरणधारणादिना प्रसाद्य, पुनः भूयः, अर्थिनम् अङ्गार्पणयाचिनम्, तं प्रियम्, तदीया प्रियसम्बन्धिनी, या हठात् बलात्, सम्बुभुक्षुता सम्भोक्तुमिच्छा, तावत् पर्यन्तम् आतदीयहठसम्बुभुक्षुतम्, यावत् स बलपूर्वकं न सम्भोक्तुमैच्छत् तावत्पर्यन्तमित्यर्थः। 'आङ् मर्यादाऽभिविध्योः' इत्यव्ययीभावेन नपुंसकह्रस्वत्वम्। न अन्वमन्यत न अनुमोदितवती। व्यवहारोऽयं सम्भोगपिपासावर्द्धनार्थमिति भावः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—सा स्वाङ्गम् अर्पयितुं वामताम् एत्य रोषितं प्रियम् अनुनीय अथ पुनः अर्थिनं तम् आतदीयहठसम्बुभुक्षुतं न अन्वमन्यत।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने अपने (दमयन्ती के) अंगों की (संभोगार्थ) याचना करते प्रिय के प्रति वामता (उलटापन विरोध) प्रकट कर क्रुद्ध कर दिये गये प्रिय को मनाकर अनन्तर पुनः याचना करते उसको तब तक अनुमति नहीं दी, जब तक उसने बलपूर्वक संभोग नहीं किया।

टिप्पणी—कभी-कभी ऐसा होता कि दमयन्ती नल की प्रणय-याचना को अस्वीकार देती और अंग-स्पर्श अथवा अवयवोपयोग न करने देती। इससे नल रुष्ट और उदास हो जाता, तब दमयन्ती चुम्बनादि कर तथा अन्य प्रकार से मनुहारें कर 'रुठे पिया को मनाती'। फिर भी वह तब तक संभोग

न करने देती, जब तक बलपूर्वक उसे न पकड़ लेता। कहा जाता है कि कहने ही मान जाने से न तो वैसा अनुराग ही प्रकट होता है और न वैसा आनन्द ही आता है। पराकोटि का आनन्द तो हठ-सभोग में ही मिलता है। प्रिया नखरे दिखाती रहे, प्रिय बलपूर्वक पकड़ ले, तभी तो प्रिया को प्रतीत होगा कि प्रिय उसका कितना आकांक्षी है। मल्लिनाथ के अनुसार यह व्यवहार सम्भोगपिपासावर्द्धनार्थ था ॥७६॥

आद्यसङ्गमसमादराण्यधाद् वल्लभाय ददती कथञ्चन।
अङ्गकानि घनमानवामताव्रीडलम्भितदुरापतानि सा॥ ७७ ॥

जीवातु—आद्येति। सा नलप्रिया, घनैः प्रगाढैः मानवामताव्रीडैः प्रणयकोपप्रतिकूलताऽऽत्रपाभिः, लम्भिता प्रापिता, दुरापता दौर्लभ्य येषां ताद्-दृशानि, अङ्गकानि सदयभोग्यानि सुकुमाराण्यवयवानीत्यर्थः। ह्रस्वे अनुकम्पायां वा कन्। वल्लभाय प्रियनलाय, कथञ्चन लज्जावशात् कृच्छ्रेण, ददती धारयन्ती, ददती सतीत्यर्थः। आद्यसङ्गमेन प्रथमसम्भोगकालेन, समः तुल्यः, आदरः प्राप्त्याग्रहः येषां तादृशानि, अधात् धृतवती। प्रथमसङ्गमतुल्यादरप्राप्तानीव स्वाङ्गानि प्रियाय अर्पितवतीति भावः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—घनमानवामताव्रीडलम्भितदुरापतानि अङ्गकानि वल्लभाय कथञ्चन ददती सा आद्यसङ्गमसमादराणि अधात्।

हिन्दी—घने (दृढ) मान, प्रतिकूलता और लज्जा से दुर्लभता प्राप्त सुकुमार अंगों को प्रिय (नल) को बड़े प्रयास के पश्चात् देती, वह (दमयन्ती) प्रथममिलन-काल के समान आदर (आसक्ति) को उत्पन्न कराती।

टिप्पणी—यद्यपि समय बीता, फिर भी नल को सदा दमयन्ती से वही विलास प्राप्त होता, जो प्रथम-मिलन वेला में प्राप्त हुआ था। वही पहिले-दिन जैसा मान, अगार्पण में वही प्रतिकूलता और वही नयी-नवेली वाली लाज। इस प्रकार अपने को प्रथम दिन जैसी दुर्लभ बनाये रखती दमयन्ती नल की उत्तरोत्तर उत्कण्ठा और प्रीति की आस्पद बनी रहती ॥ ७७ ॥

पत्युरागिरिशमातरु क्रमात् स्वस्य चागिरिजमालतं वपुः।
तस्य चार्हमखिल पतिव्रता क्रीडति स्म तपसा विधाय सा ॥ ७८ ॥

जीवातु—पत्युरिति। पतिव्रता साध्वी, सा दमयन्ती, तपसा पतिसेवा-

रूपेण तपस्याप्रभावेण, क्रमात् क्रमानुसारेण, औचित्यानुसारेणेत्यर्थः। पत्युः नलस्य, आगिरिशं शङ्करमारभ्य, आतरु वृक्षपर्यन्तम्, स्वस्य आत्मनश्च, आगिरिजं गिरिजाम् अम्बिकामारभ्य, आलतं लतापर्यन्तम्। सर्वत्राभिविधावव्ययीभावः। वपुः देवगन्धर्वोरगमृगविहगादिद्वन्द्वशरीरम्, तथा तस्य वपुषः, अर्हम् अनुरूपम्, अखिलञ्च समग्रं क्रीडासाधनञ्चेत्यर्थः। विधाय कृत्वा क्रीडति स्म चिक्रीड, पत्युर्गिरिशस्वरूपत्वे स्वस्य गिरिजास्वरूपत्वं तथा तदनुरूपं व्याघ्रचर्मादिविरूपशय्यादिकम्, तथा नलस्य वृक्षस्वरूपत्वे स्वस्य लतास्वरूपत्वञ्च सम्पाद्य सा इच्छानुरूपं रेमे। निरङ्कुशमहिमत्वात् पतिव्रतानामिति भावः॥ ७८॥

अन्वयः—पतिव्रता सा तपसा क्रमात् पत्युः आगिरिशम् आतरु स्वस्य च आगिरिजम् आलतं वपुः तस्य अर्हम् अखिलं च विधाय क्रीडति स्म।

हिन्दी—पतिव्रता वह (दमयन्ती) पतिसेवारूप तपस्या द्वारा औचित्य के अनुसार पति के शरीर को शिवजी से लेकर वृक्ष तक (अथवा वृक्ष से लेकर शिव तक) और अपने शरीर को पार्वती से लेकर लता तक (अथवा लता से लेकर पार्वती तक) उसके अनुरूप और संपूर्ण बनाकर विलास-क्रीड़ा किया करती।

टिप्पणी—जैसा कि चतुर्दश सर्ग (श्लोक ९१) में बताया गया है, दमयन्ती को इच्छारूप-धारण का वर प्राप्त था। तो वह अपने और अपने प्रिय नल के विविध अनुरूप वेष बनाकर नये-नये विलास का आनन्द लेती। वह तरह-तरह के रूप धारती। नल को शिव बना दिया, तदनुरूप स्वयं पार्वती बन गयी, नल को विष्णुरूप दे दिया, स्वयं लक्ष्मी बन गयी। नल को अन्य कोई रूप दे दिया, उसी के अनुरूप स्वयं बन गयी। उदाहरणार्थ नल को वृक्ष बनाया तो स्वयं लता बन गयी। इसी प्रकार विविध विलास चलते रहे॥ ७८॥

न स्थली न जलधिर्न काननं नाद्रिभूर्न विषयो न विष्टपम्।
क्रीडिता न सह यत्र तेन सा सा विधैव न यया यया न वा॥ ७९॥

जीवातु—नेति। सा भैमी, तेन नलेन सह, यत्र यस्मिन् प्रदेशे, न क्रीडिता न क्रीडितवती। कर्त्तरि क्तः। सा तादृशी, स्थली अकृत्रिमभूमिः,

स्थलदेश इत्यर्थः, न । 'जानपद—' इत्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप् । स जलधि नदीसागरतडागादिजलाधार इत्यर्थः । न, तत् काननं वनम्, न, सा अद्रिभूः पर्वतसानु, न, स विषयः देश, न, तत् विष्टप जगत्, न, सर्वत्र आसीदिति शेषः, । किञ्च सा तादृशी, विधैव प्रकार एव, न, आसीदिति शेष । यया यया विधया धेनुकादिबन्धप्रकारेण, न वा, क्रीडिता इति शेष । तेन सह सर्वत्रैव विजहार इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

अन्वय —न स्थली, न जलधिः, न कानन, न अद्रिभू, न विषय, न विष्टपम्—यत्र यत्र तेन सह सा न क्रीडिता, सा विधा एव वा न यया यया न (क्रीडिता)।

हिन्दी—न तो स्थल, न समुद्र, न वन, पर्वत-भूमि, न कोई और न कोई विष्टप (भूः, भुव, स्वः आदि लोक ही यथा, जहाँ जहाँ उस (नल) के साथ उस (दमयन्ती) ने विलास क्रीडा न की, अथवा न कोई रीति-प्रकार ही बचा, जिस-जिसके अनुसार उसने विलास किया ।

टिप्पणी—भाव यह कि सब स्थानों—वन, पर्वत नदी, विविध प्रदेशों, विविध लोकों में-जितने-जितने विलास प्रकार सम्भव थे, उन सब का प्रयोग करते, नल-दमयन्ती ने विलास-क्रीडा का आनन्द लिया ॥ ७९ ॥

नम्रयाशुकविकर्षिणि प्रिये वक्त्रवातहतदीप्तदीपया ।
भर्तृमौलिमणिदीपितास्तया विस्मयेन ककुभो निभालिताः ॥८०॥

जीवातु—नम्रयेति । प्रिये नले, अंशुकविकर्षिणि परिहितवसनाकर्षण-कारिणि सति, नम्रया नतया, गुह्याङ्गगोपनाय अवनतपूर्वकायया इत्यर्थः । तया वक्त्रवातेन मुखमारुतेन, फुत्कारेणेत्यर्थः । हत निर्वापित, दीप्त प्रज्वलित, दीप प्रदीप यया यथाभूतया, तया भैम्या, भर्तृमौलिमणिभिः पत्युर्मुकुटस्थरत्नैः, दीपिताः प्रकाशिताः, ककुभ दिशः, विस्मयेन दीपे निर्वापितेऽपि कथमालोकप्रकाश इत्याश्चर्येण, निभालिता दृष्टा ॥८०॥

अन्वय —प्रिये अंशुकविकर्षिणि नम्रया वक्त्रवातहृतदीप्तदीपया तया भर्तृमौलिमणिदीपिता ककुभ विस्मयेन निभालिताः ।

हिन्दी—प्रिय (नल) द्वारा वस्त्र उतारने पर झुकी और मुख से फूंक मारकर जलता दीप बुझाने वाली उस (दमयन्ती) ने स्वामी (नल) के मुकुट में जडी मणियों से प्रकाशित दिशाएँ आश्चर्य के साथ देखी ।

टिप्पणी—सम्पूर्ण विलास-सुख भोगने के लिए जब नल दमयन्ती के वस्त्र उतारता तब दमयन्ती नग्न अंगों को छिपाने के प्रयत्न में झुक जाती और फूंक मारकर जलता दिया बुझा देती। तब भी प्रकाश रहता और यह देखकर दीप बुझने पर भी अंधेरा नहीं हुआ, प्रिय के मुकुट की मणियाँ उजाला किये हुए हैं और वह प्रिय के विविध अंगों को निहारती दृष्टि से न बच सकी है, दमयन्ती अजरज में डूब जाती ॥८०॥

कान्तमूर्द्धिन दधती पिधित्सया तन्मणेः श्रवणपूरमुत्पलम्।
रन्तुमर्चनमिवाचरत पुरः सा स्ववल्लभतनोर्मनोभुवः ॥ ८१ ॥

जीवातु—कान्तेति सा। भैमी तस्य भर्तृमौलीस्थितस्य, मणेः रत्नस्य, पिधित्सया पिधातुम् आवरितुम् इच्छया, कान्तस्य प्रियस्य, मूर्द्धिन शिरसि, श्रवणपूरं निजकर्णभूषणीभूतम् उत्पलं नीलोत्पलम्, दधती स्थापयन्ती सती, रन्तुं रतिकर्म कर्तुम्, पुरः कर्मप्रारम्भे, स्ववल्लभः निजपतिः एव, तनुः मूर्तिः यस्य तादृशस्य नलमूर्त्तेः, मनोभुवः कामस्य, रत्यधिदैवतस्य इति यावत्। अर्चनं पूजनम्, आचरत् इव अन्वतिष्ठदिव इत्युत्प्रेक्षा ॥ ८१ ॥

अन्वयः—तन्मणेः पिधित्सया कान्तस्य मूर्द्धिन श्रवणपूरम् उत्पलं दधती सा रन्तुं पुरा स्ववल्लभतनोः मनोभुवः अर्चनम् इव आचरत्।

हिन्दी—उस (स्वामी की मस्तकस्थिता) मणि को ढकने की इच्छा से प्रिय (नल) के शिर पर अपने (दमयन्ती के) कर्णाभरण नीलोत्पल को रखती हुई उस (दमयन्ती) ने रमण-आरम्भ से पूर्व अपने प्रिय (नल) के देहधारी मनोभू (कामदेव) की जैसे पूजा की।

टिप्पणी—फूंक से दीप बुझा देने पर भी नल की मुकुटमणि के कारण जब प्रकाश होता रहा (१८।८०) तब दमयन्ती ने उस मणि पर कान में पहिना नीलकमल रख दिया, मानो पतिदेहधारी रतिदेवता काम की रति-समारंभ से पूर्व कमलार्पणपूर्वक अर्चना की। देवता पर फूल चढ़ाकर शुभारंभ में पूजा की ही जाती है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ८१ ॥

तं पिधाय मुदिताऽस्य पार्श्वयोर्वीक्ष्य दीपमुभयत्र सा स्त्रयोः।
विस्मयाप कुतुकाद्भुतत्रपाऽऽतङ्कसङ्कटनिवेशितस्मरम् ॥ ८२ ॥

जीवातु—तमिति। सा भैमी, तं दिगुद्भासकं शिरोमणिम्, पिधाय

कर्णोत्पलन आच्छाद्य, मुदिता अन्धकारसम्भावना हृष्टा, अभूदिति शेष । अथ अनन्तरम्, स्वयो स्वकीययो, उभयत्र उभयो , पार्श्वयोः दीप प्रज्वलित प्रदीपद्वयमित्यर्थ । वीक्ष्य दृष्ट्वा, कुतुकम्, अकस्माद्दीपदर्शनात् कौतुकम्, अद्भुत निर्वापितस्यापि पुन प्रादुर्भावादाश्चर्यम्, त्रपा परया विवस्त्रीकरणात् लज्जा, आतङ्क कोऽयमदृष्टपूर्वव्यापार इति शङ्का, तेषा सङ्कटे सम्बाधे, परस्परसङ्घर्षे इत्यर्थ । निवेशित यस्यापित , निरुद्ध इत्यर्थ । स्मर काम यस्मिन् तत् तादृक् चित्त मनोभावम्, आप प्राप्तवती । तथा प्रवृद्धोऽपि कामः तदा किञ्चित् सङ्कुचित इव आसीत् इति भाव ॥ ८२ ॥

अन्वय —त पिधाय मुदिता सा अथ स्वयो उभयत्र पार्श्वयो दीप वीक्ष्य कुतुकाद्भुतत्रपातङ्कसङ्कटनिवेशितस्मर चित्तम् आप ।

हिन्दी—उस (मणि) को ढककर प्रसन्न हुई उस (दमयन्ती) ने अनन्तर अपने दोनो—दाएँ बाएँ—पार्श्वों में दीपक देखकर कौतुक, आश्चर्य, लज्जा, आतंक और सकट के कारण सकुचित काम भावना से युक्त चित्त को प्राप्त किया।

टिप्पणी—अग्नि ने नल को वर दिया था कि अग्नि शरीर नल का इच्छावशवर्ती होगा—'तनुर्मे भूयात्त्वदिच्छावशवर्तिनी' (१४।७४), अर्थात् नल की इच्छामात्र से अग्नि प्रकट हो जाय । इस कारण दमयन्ती द्वारा कर्णोत्पल से मुकुटमणि ढक दिये जाने पर भी नल की इच्छा से दाएँ बाएँ दो दो दीप जल उठे और पुन प्रकाश हो गया। यह देखकर दमयन्ती के मन में एक साथ अघटमान घट जाने से कुतूहल और विस्मय आवरणहीन रहने की लज्जा और अकस्मात् होने से आतंक जग उठे और इस कारण उद्दीप्त काम कुछ सकुचित हो गया ॥ ८२ ॥

एककस्य शमने पर पुनर्जाग्रत शमितमप्यवेक्ष्य तम् ।
जातवह्निवरसंस्मृति शिर सा विधूय निमिमील केवलम् ॥ ८३ ॥

जीवातु—एककस्येति । एककस्य तयोरेकस्य, दीपस्य प्रदीपस्य, शमने निर्वापणे कृते सति, शमितमपि पूर्वं निर्वापितमपि, परम् अपरम्, त दीपम्, पुन भूय , जाग्रत नलमायया प्रज्वलन्तम्, 'नाभ्यस्ताच्छतु ' इति नुम प्रतिषेध । अवक्ष्य विलोक्य, जाता उत्पन्ना, वह्ने अग्ने , वरस्य या दाहपाकोपयिकी

तनु.' इत्यादिनोक्तवरदानस्य, संस्मृतिः सम्यक् स्मरणं यस्याः सा तादृशी, सा भैमी, शिरः मस्तकम्, विधूय कम्पयित्वा, स्मरणं नाटयित्वा दुर्वारत्वं निश्चित्येति भावः । केवलं निमिमील स्वयं निमीलिताक्षी जाता । स्वाभाविकलज्जावशादिति भावः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—एककस्य शमने शमितम् अपि परं तं पुनः आग्रतम् अवेक्ष्य जातिवह्निवरसंस्मृतिः सा शिरः विधूय केवलं निमिमील ।

हिन्दी—एक (दीप) के बुझा देने पर भी दूसरे उसको पुनः जला देख नल को प्राप्त अग्नि के वर का स्मरण करती उस (दमयंती) ने सिर हिला कर केवल नयन बंद कर लिये ।

टिप्पणी—पूर्वोक्त (श्लोक संख्या ८२) में अकस्मात् जल उठे दो दीपों में से आँचल से अथवा फूंक मार दमयंती एक को बुझाती और दूसरे को भी बुझाने चलती कि अग्नि-वर के प्रभाव से पहिला बुझा दीपक जल उठता । ऐसे ही एक बुझाती कि दूसरा जल उठता और प्रकाश बना ही रहता । यह देख दमयंती को नल को अग्नि द्वारा प्राप्त वर का स्मरण हो आया और वह समझ गयी कि अँधेरा न होगा । अपने को इस प्रकार की लज्जास्पद स्थिति में पा विवश दमयंती ने लाज से आँखें मूँद लीं । स्वाभाविक लज्जा का वर्णन ॥८३॥

पश्य भीरु ! न मयाऽपि दृश्यते यन्निमेषितवती दृशावसि ।
इत्यनेन परिहस्य सा तमः संविधाय समभोजि लज्जिता ॥ ८४ ॥

जीवातु—पश्येति । भीरु ! हे वराङ्गने ! लज्जाया वराङ्गनाभूषणत्वादिति भावः । 'भियः क्रुक्लुकनौ' इति क्रुप्रत्ययः, ततः ऊङन्तत्वात् नदीत्वात् ह्रस्वः । 'भीरुर्स्त्री त्रिलिङ्गः स्यात् वरयोषिति योषिति' इति मेदिनी । यत् यतः, दृशौ नयनद्वयम्, निमेषितवती लज्जया निमीलितवती, असि भवसि, त्वमिति शेषः । मम दर्शनभयादिति भावः । तत् तत एव, मया अपि न दृश्यसे अवलोक्यसे, त्वमिति शेषः । त्वन्निमीलने सर्वस्यान्धकारावृतत्वादिति भावः । पश्य अवलोकय, इति इत्थम्, अनेन नलेन, परिहस्य उपहस्य, तमः अन्धकारम्, संविधाय निर्माय, लज्जिता व्रीडिता, सा दमयन्ती, समभोजि सम्भुक्ता । अन्यथा उभयोस्तुल्यप्रीतेरयोगादिति भावः ॥ ८४ ॥

अन्वय—भीरु, यत् दृशौ निमेषितवती असि, मया अपि न दृश्यसे, पश्य, इति अनेन परिहस्य तम विधाय लज्जिता सा सममोजि।

हिन्दी—'लज्जा-भय से कातर प्रिय, जो कि नेत्र बंद कर बैठी हो, मुझसे भी तुम नहीं देखी जा रही हो, सो (आँखें खोलो) देखो,'—इस प्रकार इस (नल) के द्वारा उपहास करके अंधेरा कर लज्जित वह (दमयंती) भोगी गयी।

टिप्पणी—दमयती ने उजाले में प्रिय के समुख अपने को निवारण या अधकार न कर सकने के कारण विवश हो, लज्जा से आँखें मूँद ली। इससे यह तो हुआ नहीं कि वह नल को न दीख पाती। सो नल उसकी हँसी उड़ाता कहने लगा कि तुम्हारे नयन मूँद लेने से मैं भी नहीं देख पा रहा हूँ, कितने आश्चर्य की बात है! भाव यह कि दमयती के न देखने से नल का उसे देखना कहाँ समाप्त हुआ? बेचारी दमयती अत्यन्त लज्जित हो रही थी। सो इस प्रकार हँसी करते नल ने अधकार कर दिया और सलज्जा दमयती का भोग किया। आशय यह कि भली भाँति निरावरण देखकर हँसी उड़ाते नल ने लज्जिता दमयती के साथ अधकार करके रमण किया, अन्यथा लज्जाधिक्य के कारण दमयती को उत्साह म न्यूनता आ सकती थी। आनंद दोनो के तुल्यानुराग में ही मिलता है॥८४॥

चुम्ब्यसेऽयमयमङ्क्यसे नखे श्लिष्यसेऽयमयमर्प्यसे हृदि।
नो पुनर्न करवाणि ते गिर हुँ त्यज त्यज तवास्मि किङ्करा॥८५॥

जीवातु—अथान्धकारकल्पनाया फल युग्मेनाह—चुम्ब्यसे इत्यादि। हे प्रियतम! इत्याम त्रणपदमूहनीयम्। अय त्वम्, चुम्ब्यसे तव अधर पीयते, अय त्वम्, नखः अङ्क्यसे क्षतकरणेन चिह्न्यसे, अय त्वम्, श्लिष्यसे आलिङ्ग्यसे, अय त्वम्, हृदि उरसि अर्प्यसे स्थाप्यसे इत्यर्थः। सर्वत्र मयेति शेष। ते तव, गिर वाक्य, चुम्बनादिप्रार्थनारूपामित्यर्थः। पुन न करवाणि? न पालयामि? इति नो न, अवश्यमेव करवाणीत्यर्थः। हुमिति अनुनये, त्यज त्यज मा मुञ्च मुञ्च, ते तव, किङ्करा दासी। 'कियत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानम्' इत्यच्प्रत्यये टाप्। अस्मि भवामि। अतस्तवाभिलाष सर्वथैव पूरणीयो मयेति भावः॥ ८५॥

अन्वयः—अयं चुम्ब्यसे, अयं नखैः वञ्च्यसे, अयं श्लिष्यसे, अयं हृदि आर्यसे, ते गिरं पुनः न करवाणि, नो; हुम्, त्यज त्यज, तव किङ्करा अस्मि।

हिन्दी—'लो, यह मैं (तुम्हें) चूम रही हूँ, यह नख-क्षत कर रही हूँ, यह आलिंगन कर रही हूँ, यह वक्ष पर धार रही हूँ। तुम्हारा (नल का) कहा क्या न करूँगी, ऐसा नहीं है। हाय, छोड़ो-छोड़ो, तुम्हारी दासी हूँ।'

टिप्पणी—अंधेरा कर लेने से यह हुआ कि रमण-काल में उच्चरित होते दमयंती के शब्द नल सुन सका। नल उसे चुम्बन, नख-क्षत, आलिंगन आदि काम-व्यापारों के लिए आग्रह कर बाध्य कर रहा था। अंधेरे में दमयंती नल के आग्रहानुसार चुम्बनादि करती जाती और कहती कि लो मैं यह सब कर रही हूँ। यह कैसे हो सकता है कि प्रिय का कहा न किया जाय साथ ही तनिक-सा सुरत संमर्द बढ़ जाने पर वह हुँकारी भर कर—'हूँ-हूँ'-शब्द करती छोड़ देने की झूठ-मूठ प्रार्थना करती और कहती कि अब छोड़ दो, मैं तो तुम्हारी दासी हूँ। कहीं जा नहीं रही हूँ॥८५॥

इत्यलीकरतकातरा प्रियं विप्रलभ्य सुरते ह्रियं च सा।
चुम्बनादि विततार मायिनी किं विदग्धमनसामगोचरः?॥ ८६॥

जीवातु—इतीति। इति इत्थम्, अलीकं मिथ्या यथा तथा, रते रमणे, कातरा असमर्था, कपटेनैव रतकातर्यं नाटयन्ती न पुनस्तत्त्वत इति भावः। मायिनी दाम्भछलचतुरा, सा भैमी, सुरते रमणकाले, प्रियं नलम्, ह्रियञ्च लज्जाञ्च, विप्रलभ्य प्रतार्य, चुम्बनादि केवलमधरपानादिकमेवेत्यर्थः। विततार ददौ। मध्यानायिकाभावत्वेऽपि मुग्धात्वप्रकटनात् प्रकृतसुरताकरणेन प्रियविप्रलम्भः, किञ्च चुम्बनादिषु लज्जातिशयसम्भवेऽपि तदवलम्बनाभावात् लज्जाविप्रलम्भ इति भावः। तथा हि विदग्धानि कालोचितव्यवहारकुशलानि, मनांसि धियः येषां तादृशानाम्, जनानामिति शेषः। किं वैदग्ध्यम्, अगोचरः? अविषयः? न किमपीत्यर्थः। अत एव सा विलब्धं विहर्तुं शशाक इति भावः॥ ८६॥

अन्वयः—इति अलीकरतकातरा मायिनी सा सुरते प्रियं ह्रियं च विप्रलभ्य चुम्बनादि विततार, विदग्धमनसाम् अगोचरः किम्?

हिन्दी—इस प्रकार झूठ-मूठ रमण में कातरता (असामर्थ्य) प्रकट

करती मायाविनी चतुरा दमयन्ती ने सुरत-समये प्रिय को छल कर—यह दिखाते कि वह सब व्यापार प्रियेच्छा के कारण कर रही है, अपनी इच्छा से नहीं—सभी चुम्बनादि क्रियाओं का आनन्द लिया-दिया। इस प्रकार उसकी लज्जा भी ढकी रही। व्यवहार-कुशल व्यक्ति सब कुछ कर सकता है। पूर्ण सुरतानन्द भी पा लिया और सलज्जा भी बनी रही। नारायण ने 'विप्रलभ्य' का 'प्रतार्य' अर्थात् 'छल करके' अर्थ करके मतव्य प्रकट किया है कि दमयन्ती ने प्रिय की प्रतारणा अपने को 'अप्रौढा' प्रकट करके की, नल उसके पचासीवें श्लोक के सुरतवालोद्गारा के कारण यही समझता रहा कि आज भी वह सुरतसहा प्रौढा न होकर बाला ही है। लज्जा को इस प्रकार छला कि स्वेच्छया चुम्बनादि में रत हुई और प्रकट किया कि प्रियाग्रह से वह यह सब कर रही है। मल्लिनाथ ने भी लगभग ऐसा ही मतव्य प्रकट किया है। अध्यानायिका होते हुए भी सामान्य-सहज सुरत न करके अपने को मुग्धा प्रकट कर दमयन्ती ने प्रिय को छला और अतिशय लज्जोत्पादक चुम्बनादि करके भी न लजाकर लज्जा को छला। इसी कारण यहाँ कवि ने 'मायिनी' विशेषण दिया है। आशय यह कि लज्जा त्यागकर प्रौढ सुरतानन्द भी ले लिया और लज्जा को बनाये रही ॥८६॥

स्वेप्सितोद्गमितमात्रलुप्तया दीपिकाचपलतया तमोघने।
निर्विशङ्करतजन्मतन्मुखाकूतदर्शनसुखान्यभुङ्क्त स ॥ ८७ ॥

जीवातु—स्वेति। स नलः, तमः अन्धकार एव, घन मेघ तस्मिन्, स्वेप्सितेन निजेच्छामात्रेणैव, उद्गमितमात्र प्रज्वलनक्षणमेव, लुप्ता विनष्टा तया तथोक्तया, क्षणिकयेत्यर्थः। दीपिका प्रदीप एव, चपला विद्युत् तया तद्वारा इत्यर्थः। 'विद्युच्चञ्चला चपलाऽपि च' इति यादवः। निर्विशङ्करतात् अन्धकारजन्यनिरुद्वेगरमणात्, जन्म सम्भव। येषां तादृशानाम्, तस्याः भैम्याः, मुखाकूतानां वदनचेष्टितानाम्, दर्शनात् अवलोकनात्, यानि सुखानि हर्षाः तानि, अभुङ्क्त अन्वभूत्। स्थिरप्रकाशे तद्विस्रम्भविघातभयात् क्षणिक-प्रकाशेन तन्मुखदर्शनसुखम् अनुभूतवान् इत्यर्थः ॥ ८७ ॥

अन्वय—स तमोघने स्वेप्सितोद्गमितमात्रलुप्तया दीपिकाचपलतया निर्विशङ्करतजन्मत-मुखाकूतदर्शनसुखानि अभुङ्क्त।

हिन्दी—उस (नल) ने अन्धकार रूप मेघ में (घनान्धकार में) स्वेच्छा मात्र से जलते ही बुझ जाने वाली दीपिका (लघुदीप) रूप विद्युत् द्वारा निरुद्वेग रमण से उत्पन्न उस (दमयंती) के मुख पर आते-जाते भाव-व्यापारों के दर्शन का सुख प्राप्त हुआ।

टिप्पणी—अग्नि के वरदान से इच्छानुसार क्षण-क्षण प्रकाश कर नल सुरतकाल में मुख पर आते-जाते दमयंती के भावविकारों को देख-देख सुख पाता। जैसे काले-काले बादलों में बिजली क्षण-भर उजाला कर जाती है, वैसे ही स्वेच्छया दीपिका से क्षण-भर को उजाला कर नल दमयंती की मुख-चेष्टाओं को देख लेता ॥८७॥

यद्भ्रुवौ कुटिलिते तया रते मन्मथेन तदनामि कार्मुकम्।
यत्तु हुं हुमिति सा तदा व्यधात्तत् स्मरस्य शरमुक्तिहुङ्कृतम् ॥८८॥

जीवातु—अथ तन्मुखाकूतान्येवाह—यदित्यादि। तया भैम्या, रते सुरतकाले, यत् भ्रुवौ भ्रूद्वयम्, कुटिलिते सुखातिरेकात् सङ्कोचिते, तत् एव भ्रूकुटिलीकरणमेव, मन्मथेन कामेन, कार्मुकं धनुः, अनामि नमितम्, आकर्षितमित्यर्थः। तस्या भ्रूद्वयस्य कामकार्मुकवत् मनोहरत्वादिति भावः। किञ्च सा भैमी, तदा रमणकाले, हुं हुम् इति यत् व्यधात् सुखातिरेकात् 'हुं हुं' इति यत् अव्यक्तशब्दम् अकरोत्, तत्तु तत् हुङ्कृतमेव, स्मरस्य कामस्य, शरमुक्तिहुङ्कृतं बाणमोक्षस्य हुङ्कारस्वरूपम्, अभूदिति शेषः। तत् सर्वं तस्य अधिकमुद्दीपकम् अभूत् इति भावः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—तया रते यत् भ्रुवौ कुटिलिते तत् मन्मथेन कार्मुकम् अनामि; सा तदा 'हुं हुम्' इति व्यधात् तत् तु स्मरस्य शरमुक्तिहुङ्कृतम्।

हिन्दी—उस (दमयंती) ने रतकाल में जो भौंहें वक्र कीं, वह काम ने (जैसे) धनुष् चढ़ाया; उसने उस समय (संभोगरता होने पर) जो 'हुं हुं' शब्द किया, वह तो (जैसे) काम का बाण छोड़ते समय का हुँकार था।

टिप्पणी—रमण-सुख के अतिरिक्त के कारण संकोचित सुन्दर और आकर्षक भौंहों को कामधनुष् कहा गया है और सुरत-संमर्द-श्रम-जनित दमयंती की हुँकृति को बाण-छोड़ते काम की हुँकार। दमयंती की कामसुखानुभव से संकुचित भ्रूयुगल और यह सुरतश्रम-जनित हुँकारी और-भी कामोद्दीपक बन गयी ॥८८॥

ईक्षितोपदिशतीव नर्त्तितुं तत्क्षणोदितमुदं मनोभुवम् ।
कान्तदन्तपरिपीडिताधरा पाणिधूननमियं वितन्वती ॥८९ ॥

जीवातु—ईक्षितेति । कान्तस्य प्रियस्य, दन्तै दशनैः परिपीडिताधरा दशनेन व्यथितरदनच्छदा, अत एव पाणिधूनन तन्निवारणाय करकम्पनम्, वितन्वती कुर्वती, इय दमयन्ती, तत्क्षणे सुरतकाले, उदितमुद स्वप्रभावदर्शनात् सञ्जातहर्षम्, मनोभुवम् अनङ्गम्, नर्त्तितु नृत्य कर्त्तुम् उपदिशतीव इत्थ नृत्य कुरु इति शिक्षयन्ती इव, स्थितेति शेषः । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभाव । ईक्षिता दृष्टा, प्रियेणेति शेष । नृत्यशिक्षको हि हस्तनर्त्तनेनैव स्वशिष्यान् नर्त्तितुं शिक्षयतीति लौकिका ॥ ८९ ॥

अन्वयः—कान्तदन्तपरिपीडिताधरा पाणिधूननं वितन्वती इय तत्क्षणोदितमुद मनोभुव नर्त्तितुम् उपदिशती इव ईक्षिता ।

हिन्दी—प्रियतम (नल) के दतों द्वारा अधर-पीडा प्राप्त कर हाथ-फैलाकर (दत-दश का) निषेध करती वह (दमयती) उस (सुरत) क्षण में हर्ष पाते मनोभू (काम) को नाचना-सिखाती-जैसी लक्षित हुई ।

टिप्पणी—अधर-रस पान करते समय प्रिय रतोत्साहातिरेक मे कभी कभी दमयती के अधर को दाँतों से काट लेता था, जिससे पीडा पाती दमयती हाथ फैलाकर उसे रोकती थी । उस समय वह ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे कोई नृत्यशिक्षिका प्रसन्नतापूर्वक शिक्षा-ग्रहण करने कामरूप अपने शिष्य को नृत्यशिक्षा देती हस्तमुद्राएँ सिखा रही है । हाथो की विभिन्न सकेत-प्रणालियो द्वारा नृत्यमुद्राएँ बनायी जाती हैं, नृत्य सिखाने वाला उन्ही करमुद्राओ को शिष्यों को सिखाता है । 'पाणिधूनन' मे नृत्यसबद्ध करमुद्रा की सभावना की गयी है ॥ ८९ ॥

सा शशाक परिरम्भदायिनी गाहितुं वृहदुर प्रियस्य न ।
चक्षमे स च न भङ्गुरभ्रुवस्तुङ्गपीनकुचदूरता गतम् ॥ ९० ॥

जीवातु—सेती । परिरम्भदायिनी आलिङ्गनप्रदायिनी, सा भैमी, प्रियस्य नलस्य, वृहत् विशालम्, उरः वक्षःस्थलम् गाहितुं प्रवेष्टुम्, साकल्येनाभिव्याप्तुमित्यर्थ । न शशाक न चक्षमे, नलोर स्थलमपेक्ष्य स्वस्य क्षीणाङ्गत्वादिति भावः । इत्यायथाधिक्येनाधिकालङ्कारभेद । स च नलोऽपि, भङ्गुर-

भ्रुवः सुवङ्किमभ्रूशालिन्याः प्रियायाः, तुङ्गपीनकुचाभ्याम् उन्नतस्थूलपयोधराभ्याम्, दूरतां व्यवधानम्, गतं प्राप्तम्, उरः गाहितुमिति पूर्वेणान्वयः, न चक्षमे न शशाक । कुचयोरौन्नत्यस्थौल्याभ्यां व्यवहितत्वादिति भावः । इति सम्बन्धेऽप्यसम्बन्धरूपातिशयोक्तिः ॥ ९० ॥

अन्वयः—परिरम्भदायिनी सा प्रियस्य बृहत् उरः गाहितुं न शशाक सः च भङ्गुरभ्रुवः तुङ्गपीनकुचदूरतां गतम् (उरः गाहितुं) न चक्षमे ।

हिन्दी—(प्रिय को) आलिंगन देने वाली वह (दमयंती) प्रिय (नल) के विशाल वक्षस्थल का गाहन (सम्पूर्णतया स्पर्श करने) में समर्थ न हुई और वह (नल) बाँकी भौंहोंवाली (दमयंती) के उन्नत और पीन स्तनों के कारण दूर रहते वक्षःस्थल का पूर्ण स्पर्श न कर सका ।

टिप्पणी—नल का वक्षःस्थल दमयंती के वक्ष की अपेक्षा चौड़ा था, अतः आलिंगन करते समय अपेक्षाकृत अल्पविस्तृत दमयन्ती का वक्ष नल के अधिक विस्तृत वक्षःस्थल का पूर्णपरिमाण में स्पर्श न पा सका, कुछ भाग दमयन्ती से लग ही न सका । और नल की यह स्थिति हुई कि दमयन्ती के उत्तुंग पीन स्तन ही नल की छाती से लग सके । स्तनों की ऊँचाई और स्थूलता के कारण स्तनों के मध्य का भाग अर्थात् केन्द्रीय वक्ष-भाग नल के वक्ष से न छू पाया । नारायण ने इस स्वाभाविक शारीरिक स्थिति के कारण यह भाव लिया है कि संपूर्ण आलिंगन न पाने के कारण आकांक्षा पूर्ण न होने से दोनों ही—नल-दमयन्ती की आलिंगन में स्पृहा रही और वे उद्दीतकाम बने रहे । नल के वक्षःस्थल की बृहत्ता के आधार पर मल्लिनाथ ने आश्रयाधिक्य के कारण अधिकालंकार का निर्देश किया है और संपूर्ण श्लोक में सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध कथन के कारण अतिशयोक्ति ॥ ९० ॥

बाहुवल्लिपरिरम्भमण्डली या परस्परमपीडयत् तयोः ।
आस्त हेमनलिनीमृणालजः पाश एव हृदयेशयस्य सः ॥ ९१ ॥

जीवातु—बाहिति । तयोः भैमीनलयोः, या बाहुवल्लिभ्यां भुजलताभ्याम्, परिरम्भेण परस्परसंश्लेषेण, मण्डली वेष्टनम्, भुजचतुष्टयानां मण्डलाकारता इत्यर्थः । परस्परम् अन्योऽन्यम्, अपीडयत् प्रगाढसंश्लेषेण पीडितवती, सः परिरम्भव्यापार इत्यर्थः । हृदये शेते इति हृदयेशयः कामः तस्य । 'अधि-

करणे शेते ' इत्यच्प्रत्यय । 'शयवासवासिष्वकालात्' इत्यलुक् । हेमनलिनी-मृणालात् स्वर्णकमलिनीदण्डात्, जायत इति तज्ज अतिगौरत्वात् मृदुत्वाच्च सुवर्णमयकमलदण्डात् जात इव प्रतीयमान , पाश पाशाख्यबन्धनरज्जुरेव, आस्त अभवत् इत्युत्प्रेक्षा ॥ ९१ ॥

अन्वय —तयो या बाहुवल्लिपरिरम्भमण्डली परस्परम् अपीडयत्, स हृदयशयस्य हेमनलिनीमृणालज पाश एव आस्त ।

हिन्दी—उन दोनो (नल दमयन्ती) की भुजलताओ से आलिंगन म (चारो भुजाओ का) जो वृत्त (गोल घेरा) बना, उसने जो (गाढालिंगन के कारण) एक दूसरे को पीडा दी, सो वह (आलिंगन के कारण बना भुजलता वृत्त) स्वर्ण-कमलिनी नाल से बना हृदय मध्य शयन करते (बसते) काम का पाश ही बन गया ।

टिप्पणी——गोरी और कोमल भुजाओ की तुलना स्वर्णमृणाल से की गयी । परस्पर गाढालिंगनबद्ध नल दमयन्ती की चारों बाहो से बना गोल घेरा काम के पाश जैसा था, जिसम बद्ध व दोनो पीडा पा रहे थे— दृढालिंगन-सुख की काम पीडा ॥ ९१ ॥

वल्लभेन परिरम्भपीडितौ प्रेयसीहृदि कुचाववापतु ।
केलतीमदनयोरुपाश्रये तत्र वृत्तमिलितोपधानताम् ॥ ९२ ॥

जीवातु–वल्लभेनति । वल्लभेन प्रियेण नलेन, परिरम्भेण प्रगाढालिङ्गनेन, पीडितौ चिपिटीकृतौ इत्यर्थ । प्रेयस्या दमयन्त्या , हृदि वक्षसि, स्थितौ इति शेष । कुचौ स्तनौ एव, केलतीमदनयो. रतिकामयो । 'कामस्त्री केलती रति ' इति यादव । उपाश्रये अवष्टम्भभूते तत्र दमयन्तीवक्षसि, वृत्ते वर्तुले, मिलिते परस्परसङ्गते, उपधाने उपबर्हे । उपधान तूपबर्हम्' इत्यमर । तयो भाव तत्ता ता शिरोनिधानताम्, अवापतु जग्मतु इति शेष । इत्युत्प्रेक्षा ॥ ९२ ॥

अन्वय —प्रेयसीहृदि वल्लभेन परिरम्भपीडितौ कुचौ केलतीमदनयो उपाश्रये तत्र वृत्तमिलितोपधानताम् अवापतु ।

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) के वक्ष पर प्रियतम (नल) द्वारा प्रगाढालिंगन में पीडा पाते दोनो स्तन कलतीमदन (रति और काम) के विश्राम-स्थान उस (दमयन्ती वक्ष) पर गोल, मिले दो तकिये बन गये ।

टिप्पणी—यहाँ गोल, पीनपयोधरयुग्म की हृदय-विश्राम-स्थल (शय्या) पर रखे दो तकियों के रूप में उद्भावना है। आलिंगन के कारण कुच दब रहे थे, दृढालिंगन रति (अनुरक्ति विशेष) और कामाधिक्य के कारण था। इस प्रकार रति-काम मानो दमयंती के हृदय में निश्चित होकर विश्राम करते से प्रतीत हो रहे थे। कुचों का तकिया लगा कर निश्चिंतता के साथ आराम करते। नारायण और मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ९२ ॥

तत् प्रियोरुयुगलं नलार्पितैः पाणिजस्य मृदुभिः पदैर्बभौ।
उत्प्रशस्ति रतिकामयोर्जयस्तम्भयुग्ममिव शातकुम्भजम् ॥ ९३ ॥

जीवातु—तदिति। तद् अतिमनोज्ञम्, प्रियायाः कान्तायाः, ऊरुयुगलं सक्थिद्वयम्, नलेन अर्पितैः न्यस्तैः, कृतैरित्यर्थः मृदुभिः कोमलैः, ईषन्मात्रै-रित्यर्थः। पाणिजस्य नखस्य, पदैः चिह्नैः, नखक्षतैरित्यर्थः। उत् उद्गता, उत्कीर्णा इत्यर्थः। प्रशस्तिः प्रशंसावचनं तत् तादृशम् उत्प्रशस्ति उत्कीर्णप्रशं-सावचनम्, शातकुम्भजं हिरण्मयम्, रतिकामयोः जयस्तम्भयुग्मम् इव जेतृत्व-सूचकस्तम्भद्वयमिव, बभौ शुशुभे इत्युत्प्रेक्षा ॥ ९३ ॥

अन्वयः—तद् प्रियोरुयुगलं नलार्पितैः मृदुभिः पाणिजस्य पदैः उत्प्रशस्ति शातकुम्भजं रतिकामयोः जयस्तम्भयुग्मम् इव बभौ।

हिन्दी—वह (मनोज्ञ) प्रिया (दमयंती) का ऊरु-युग्म नलकृत कोमल (कुछ-कम उभरे) नखों के चिह्नों के कारण जिस पर प्रशंसा-लेख उकेरे हुए हों; ऐसे स्वर्णनिर्मित रति और काम के विजय-स्तम्भ-युगल-सदृश सुशोभित हुआ।

टिप्पणी—रति-प्रसंग में दमयंती की दोनों जंघाओं पर नल के कोमल नख-चिह्न बन गये थे। उन चंपक-वर्ण, पुष्ट, लंबी जंघाओं की तुलना स्वर्ण-निर्मित दो जय-स्तंभों से की गयी है, जिन पर नख-चिह्न-रूप रति-काम की प्रशस्ति खुदी हो। जंघाओं में बने नख-क्षत-चिह्न रति-काम-विजय के सूचक हैं, जो द्योतित करते हैं कि उद्दाम विलास-लीला संपन्न हुई है ॥ ९३ ॥

वद्धमानि विधिनाऽपि तावकं नाभिमूरुयुगमन्तराऽङ्कम्।
स व्यधादधिकवर्णकैरिदं काञ्चनैर्यदिति तां पुराऽऽह सः ॥ ९४ ॥

जीवातु—वर्द्धिति। हे प्रिये! तावकं त्वदीयम्; नाभिम् ऊरुयुगञ्च

अन्तरा तन्मध्यवर्त्ति। 'अन्तराऽन्तरेण युक्ते' इति द्वितीया। 'अन्तराशब्दो मध्यमाधेयप्रधानमाचष्टे' इति काशिका। अङ्ककम् अत्यन्ताभिलषणीयत्वेन अदरणीयमङ्कम्, वराङ्गमित्यर्थः। विधिना वेधसाऽपि, बहु अमानि अतिशयेन समादृतम्। कुतः? यत् यस्मात्, स विधिः, इदम् अङ्ककम्, अधिकवर्णकैः समुज्ज्वलाभैः, काञ्चनैः सुवर्णैः, व्यधात् सृष्टवानिव, इति इत्थम्, सः नलः, तां प्रियाम्, पुरा सुरतारम्भात् पूर्वम्, आह उक्तवान्। 'पुरि लुङ् चास्मे' इति भूते लट्॥ ९४॥

अन्वयः—तावक नाभिम् ऊरुयुगम् अन्तरा अङ्कक विधिना अपि बहु अमानि, यत् स इदम् अधिककवर्णकैः काञ्चनैः व्यधात्-इति सः तां पुरा आह।

हिन्दी—'नाभि और ऊरुयुगल के मध्य तेरे मोहक अंग (वरांग) को विधाता ने भी बड़ा सम्मान (आदर) दिया कि उस (विधाता) ने इस (मदनसदन) को अधिक रंगदार (दमकते, चमकीले) स्वर्ण से रचा'— ऐसा वह (नल) उस (दमयंती) से पहिले (सुरतारम्भ से पूर्व) बोला।

टिप्पणी—रति-प्रसंगोद्यत नल निरंतर ढके रहने के कारण ताप, शीत, पवनादिसम्पर्कजन्य वर्ण-विकृति से रहित, अतएव चमकीले स्वर्ण-वर्ण के अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल, अरोम वरांग को देख प्रदीप्तकाम हो उठा और कामातिरेक के कारण विधाता के रचना कौशल की प्रशंसा करता हुआ कहने लगा कि इतना मोहक मदनमन्दिर रच कर विधि ने दमयंती अथवा उसके विशेषांग को विशेष मान्यता दी है। नारायण के अनुसार मैथुनकालातिरिक्त यह अश्लील होता, किंतु मैथुनकाल में वरांगदर्शन युक्त ही होता है। 'अंग' के साथ 'कन्' प्रत्यय लगा कर कोमलता और परिमाण लघुता का द्योतन किया गया है—'अंगक' अर्थात् अत्यंताभिलषणीय कोमल अल्पपरिमाण, स्निग्ध वरांग॥ ९४॥

पीडनाय मृदुनी विगाह्य तौ कान्तपाणिनलिने स्पृहावती।
तत्कुचौ कलशपीननिष्ठुरौ हारहासविहते वितेनतुः॥ ९५॥

जीवातु—पीडनायेति। कलशवत् घटवत्, पीनौ स्थूलौ, निष्ठुरौ कठिनौ च, तस्या दमयन्त्याः, कुचौ स्तनौ। कर्त्तारौ। मृदुनी कोमले, तयाऽपि तौ

अतिकठिनौ दमयन्तीकुचौ, विगाह्य अवगाह्य, प्राप्य इत्यर्थः। पीडनाय पीडनं कर्त्तुम्, स्पृहावती अभिलषितवती, व्याप्रियमाणे इत्यर्थः। कान्तस्य नलस्य, पाणिनलिने करकमले। कर्मणी। हारः कुचविलम्बितमुक्तावली एव, हासः हास्यम्, शुभ्रतादिक्यादिति भावः। तेन विहते तिरस्कृते, तिरस्कारेण विताडिते इव इत्यर्थः। वितेनतुः चक्रतुः। कोमलत्वात् दुर्बलयोः नलपाण्योः स्थूलकठिनयोः बलिनोः दमयन्तीकुचयोः पीडनप्रवृत्तौ दुर्बलस्य प्रबलकर्तृकहासताडनयोरवश्यम्भाव्यत्वादिति भावः। अशक्यार्थप्रवृत्ताः परिहासास्पदं भवन्तीति निष्कर्षः॥ ९५॥

अन्वयः—कलशपीननिष्ठुरौ मृदुनी तौ तत्कुचौ विगाह्य पीडनाय स्पृहावती (मृदुनी) कान्तपाणिनलिने हारहासविहते वितेनतुः।

हिन्दी—कलश के समान पीवर (स्थूल) और कठोर फिर भी मृदु उस (दमयंती) के दोनों स्तनों ने भलीभाँति पकड़ कर मर्दन-पीडा देने की आकांक्षा से कोमल प्रिय (नल) के सुन्दर करकमलों को (वक्ष पर लहराते) हार के हास (प्रकाश) से आच्छादित कर दिया अथवा हार रूप परिहास के द्वारा तिरस्कृत बना दिये गये।

टिप्पणी—प्रकृत वर्णन है प्रिय (नल) के कुच-मर्दन के निमित्त प्रिया के उरोजों तक बढ़े करकमलों का प्रकाश से रंजित हो जाना। यहाँ 'हार-हास-विहृति' के प्रयोग-कौशल द्वारा यह संकेत दिया गया है कि नल के कोमल करकमलों को यह लगा कि कलश-से पीन दमयंती के कुच सब अंगों के समान कोमल और मृदु होंगे, सो इन प्रकृत्या कोमलों को मर्दन-पीडा सहज में ही दी जा सकती है, पर स्तन कठोर निकले, सो उन्होंने हाथों की हार-रूप हास द्वारा हँसी उड़ायी कि ये दोनों हाथ कमल-कोमल हैं, 'कलशपीन-निष्ठुर' स्तनों का मर्दन इनसे संभव नहीं। निष्ठुर कोमल को हँसी उड़ाता ही है। शक्ति के बाहर कार्य में प्रवृत्त उपहास के पात्र होते ही हैं। नारायण ने यहाँ राजा नल के हाथों को कोमल कहने के औचित्य पर शंका उठायी है कि राजा के हाथ तो असंभव कर्म भी कर सकने के कारण कठोर होते हैं—'अकर्मकठिनौ हस्तौ;' तो नल-करों को कोमल क्यों कहा गया? समाधान के रूप में वे कहते हैं—'तथापि नलिनरूपणात्कठिनत्वेऽपि कुचापेक्षया मार्दवात्मृदुनी इत्युक्तम्',—'पाणिनलिन' कर कठिन होने पर भी 'कलशपीननिष्ठुर'

कुचा की अपेक्षा मृदु ही थे, अत मृदु कहना उचित है। आशय यही है कि कुचस्पर्शी कर मुक्ताहार की हास सम उज्ज्वल काति से कात' हो उठे।

यौ कुरङ्गमदकुङ्कुमाश्चितौ नीललोहितरुचौ वधूकुचौ।
स प्रियोरसि तयो स्वयम्भुवोराचचार नखकिंशुकार्चनम्॥ ९६॥

जीवातु—याविति। यौ वधूकुचौ दमयन्तीस्तनौ, कुरङ्गमदकुङ्कुमाभ्यां कस्तूरिकाकश्मीरजाभ्याम्, अञ्चितौ पूजितौ, लेपनेन शोभितौ सन्तौ इत्यर्थ। अत एव नीलौ कस्तूरीलिप्तस्थाने कृष्णवर्णौ च, सा लोहिता कुङ्कुमलिप्तस्थाने रक्तवर्णा च। 'वर्णो वर्णेन' इति तत्पुरुषसमास। रुक् प्रभा ययो ताद्शौ, अन्यत्र—नील: कण्ठे लोहित केशेपु इति नीललोहित महादेव. तस्मिन् रुक् रुचि, अनुराग इत्यर्थ। यदा ताद्शौ, वधूकुचाविति शेप। प्रियाया भैम्या, उरसि वक्षसि, स्वयम्भुवो यौवनागमे स्वत एव उत्पन्नयो, अन्यत्र—स्वयम्भूमूर्त्योश्च, तयो वधूकुचयो, स: नल, नखै नखक्षतैरेव, किंशुकै पलाशकुसुमै, रक्तवर्णतासाम्यात् वक्राकारसाम्याच्चेति भाव। अर्चनं पूजनम्, आचचार चकारेव। स्वयम्भूत्वेन देवत्वात् तयोरर्चनया औचित्यादिति भाव। गम्योत्प्रेक्षा॥ ९६॥

अन्वय —यौ वधूकुचौ कुरङ्गमदकुङ्कुमाञ्चितौ नीललोहितरुचौ, स: प्रियोरसि स्वयम्भुवो. तयो नखकिंशुकार्चनम् आचचार।

हिन्दी—जो वधू (नवोढा दमयती) के दोना कुच कुरग-मद (कस्तूरी) और कुकुम (केसर) के लेप से युक्त नील लोहित (श्याम-नील वर्ण) कातिदीप्त हो नील लोहित (शिव) के सदृश थे, उस (नल) ने प्रिया (दमयती) के वक्ष में स्वय (यौवनारम्भ मे) समुत, अतएव स्वयम्भू (शिव) तुल्य उन दोनों (कुचों) की नख रूप पलाशकुसुमा से पूजा की।

टिप्पणी—कस्तूरी के श्याम और केसर के लोहित वर्ण के लेप के कारण शिवार्थक 'नीललोहित' बने यौवनागम म स्वयमुपजात अतएव स्वयम्भू शिव प्रिया-कुचों की नख-क्षत रूप (वर्ण और आकार साम्य के कारण) पलाश प्रसूनों से नल ने आराधना की। नल शिवभक्त था, सो नील-लोहित स्वयम्भू शिव-रूप (गोल, उज्ज्वल शिव की बटिया के तुल्य) प्रिया कुचा पर लाल फूल

चढ़ाता ही। भाव यह कि केसर-कस्तूरी से लिप्त प्रिया-कुचों पर प्रिय ने कोमल नख-क्षत बनाये। नारायण के अनुसार अल्पनखोल्लेख के व्यथारहित होने के कारण वे शोभा मात्र के हेतु रूप में मानो थे—यह उत्प्रेक्षा है। मल्लिनाथ के अनुसार गम्योत्प्रेक्षा है ॥ ९६ ॥

अम्बुधेः कियदनुत्थितं विधुं स्वानुबिम्बमिलितं व्यडम्बयत्।
चुम्बदम्बुजमुखीमुखं तदा नैषधस्य वदनेन्दुमण्डलम् ॥ ९७ ॥

जीवातु—अम्बुधेरिति। तदा संसर्गकाले, अम्बुजमुख्याः कमलवदनायाः प्रेयस्याः, मुखं वदनम्, चुम्बत् अधरं स्वदमानम्, नैषधस्य नलस्य, वदनेन्दुमण्डलं मुखचन्द्रबिम्बम्। कर्तृ। अम्बुधेः सागरात्, कियत् किञ्चित्, अनुत्थितम् अनुदितम्, अधिकांशमुदितम् ईषत् समुद्रगर्भे अवस्थितमित्यर्थः। स्वानुबिम्बेन स्वस्य विधोरेव अलान्तर्वर्त्तिप्रतिबिम्बेन, मिलितं युक्तम्, विधुम् इन्दुम्, व्यडम्बयत् अनुचकार। तयोः मुखयोर्मिथ संश्लेषात् कात्स्न्र्येनाक्ष्यमानत्वादिदमुपमितम् ॥ ९७ ॥

अन्वयः—तदा अम्बुजमुखीमुखं चुम्बत् नैषधस्य वदनेन्दुमण्डलं अम्बुधेः कियत् अनुत्थितं स्वानुबिम्बमिलितं विधुं व्यडम्बयत्।

हिन्दी—उस समय (संभोगरतावस्था में) कमल मुखी (दमयंती) का मुख-चूमता निषधराज (नल) का मुख-चंद्र-मंडल सागर से कुछ अनुदित (अधिक उदित, थोड़ा अनुदित) अपने (मुखचंद्रमंडल के) प्रतिबिंब से मिलते चंद्र की अनुकृति कर रहा था।

टिप्पणी—रतावस्था में उत्तानमुखी दमयंती के मुख कमल को उस पर झुक चूमता नल का मुख-चंद्र ऐसा लग रहा था, जैसे समुद्र जल से उगते समय अधिक बाहर, कुछ भीतर रहा चंद्रमा का बिंब अपनी जल में पड़ती प्रतिच्छाया से मिल रहा है। नल का मुखचंद्र बिंब, दमयंती का अनुबिंब। अन्वय भेद से 'अम्बुजमुखीमुख' को कर्त्ता और 'नैषधस्य वदनेन्दुमण्डल' को कर्म बनाकर यह भी कहा जा सकता है—'नैषधस्य वदनेन्दुमण्डलं चुम्बत् अम्बुजमुखीमुखं'''विधुं व्यडम्बयत्।' अर्थात् निषधराज के मुख-चंद्रमण्डल को चूमता अम्बुजमुखी का मुख ईषदुत्थित, ईषदनुत्थित स्वानुबिम्बमिलित विधु-सम लग रहा था। नारायण के अनुसार इस स्थिति में विपरीत रत होगा, उत्तान-

मुख नत, झुककर उसे चूमता दमयंती मुख। रतिकाल में चुम्बनरत दम्पती-मुखों का बिंब-प्रतिबिंब भाव से निरूपण करके उनकी अत्यन्त सदृशता सूचित की गयी है। काम के सखा चन्द्रोदय के वर्णन से यहाँ कामोज्जृम्भण की व्यञ्जना है ॥ ९७ ॥

पूगभोगबहुताकषायितैर्वासितैरुदयभास्करेण तौ।
चक्रतुर्निधुवनेऽधरामृतैस्तत्र साधु मधुपानविभ्रमम् ॥ ९८ ॥

जीवातु—पूगेति। तौ भैमीनलौ, तत्र तस्मिन्, निधुवने रते। 'व्यवायो ग्राम्यधर्मो मैथुनं निधुवनं रतम्' इत्यमरः। पूगभोगः क्रमुकभक्षणं, ताम्बूलचर्वणमिति यावत्। 'पूगः क्रमुकवृन्दयोः' इत्यमरः। तस्य बहुतया बाहुल्येन, 'पूगभाग' इति पाठे—चर्व्यमाणताम्बूले गुवाकभागस्य आधिक्यतया इत्यर्थः। कषायितैः सञ्जातकषायरसैः, तथा उदयभास्करेण कर्पूरविशेषेण, वासितैः सुरभितैः, अधरामृतैः परस्परमधरसुधापानैरित्यर्थः। साधु सम्यक्, मधुपानस्य मद्यपानस्य, विभ्रममिव विभ्रमं लीलाम्, चक्रतुः आचेरतुः। गुवाकादिमदकारकद्रव्यसन्धानजमद्यपानेन यथा मत्तता जायते, तथा तादृशाधरमधुपानेनापि मत्तौ तौ सुरतं चक्रतुरिति निष्कर्षः। अत्र सादृश्याक्षेपात् निदर्शनालङ्कारः।

अन्वयः—पूगभागबहुताकषायितैः उदयभास्करेण वासितैः अधरामृतैः तत्र निधुवने तौ साधु मधुपानविभ्रमं चक्रतुः।

हिन्दी—(ताम्बूल में) सुपारी की मात्रा अधिक होने से कसैले और विशिष्ट प्रकार के कर्पूर से सुगन्धि अधरामृत के पान के कारण उस सुरत क्रीडा में वे दोनों (नल दमयन्ती) प्रभूत अथवा अनिषिद्ध मद्यपान की लीला के तुल्य विलास लीला किया करते।

टिप्पणी—सुरतविलास में मत्त नल दमयन्ती परस्पर अधरों का चुम्बन करते। उस समय उनके मुखों में अधिक सुपारी पड़े अतएव कसैले और कर्पूर-सुवासित ताम्बूल के बीड़े रहते, जिनकी कसैली गन्ध सुवासित मद्य सी लगती। अधर-रस में भी वह गन्ध और वह स्वाद रहता। इससे वह अधरामृतपान मधुपान-सा बन जाता। भाव यह कि मद्यपान से मत्त जनों के समान अनुरागमत्त प्रणयियुगल रतिक्रीडा करता। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सादृश्याक्षेप के कारण निदर्शनालङ्कार है ॥ ९८ ॥

आह नाथवदनस्य चुम्बतः सा स्म शीतकरतामनक्षरम् ।
सीत्कृतानि सुदती वितन्वती सत्त्वदत्तपृथुवेपथुस्तदा ॥ ९९ ॥

जीवातु—आहेति । सुदती मनोज्ञदशना, सा भैमी, तदा अधरपानकाले, सीत्कृतानि दंशनवेदनया सीत्कारान्, वितन्वती कुर्वती, तथा सत्त्वेन सत्त्वगुणोद्रेकेण, दत्तः जनितः, पृथुः महान्, वेपथुः कम्पाख्यः सात्त्विकभावः यस्याः सा तादृशी च सती, चुम्बतः चुम्बनं कुर्वतः, नाथवदनस्य प्रियमुखस्य, शीतकरतां शीतांशुत्वमेव शीतकारित्वम् । 'कृञो हेतु–' इत्यादिना ताच्छील्ये टप्रत्ययः । अनक्षरम् अशब्दमेव, आह स्म उवाच, ज्ञापयामासेत्यर्थः । अन्यथा कथं शीतजन्यं कम्पसीत्कारादिकार्यमिति भावः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—तदा सीत्कृतानि वितन्वती सत्त्वदत्तपृथुवेपथुः सुदती सा चुम्बतः नाथवदनस्य शीतकरताम् अनक्षरम् आह स्म ।

हिन्दी—उस समय (रत-वेला में) 'सी-सी' करती और सत्त्वगुण के उद्रेक के कारण अति कंपिता सुन्दरदन्त पंक्ति वाली वह (दमयन्ती) चूमते स्वामी (नल) के मुख का शीतकर (शीत किरण चन्द्र) होना बिना बोले ही कह देती थी ।

टिप्पणी—सुरत-काल में दन्तक्षत, नखक्षत, कुचमर्दन, दृढालिंगन आदि से पुलकित-व्यथित दमयन्ती 'सी-सी' शब्द करती और सात्त्विक-जन्य कंपन से कांप कांप उठती । शीत लगने पर भी 'सी-सी' शब्द होता है और शरीर में कंप होने लगता है, जिससे दाँत बजने लगते हैं । इस स्थिति-साम्य के आधार पर सीत्कार और कंपन को शीत जन्य मानकर यह उद्भावना है कि दमयन्ती की यह स्थिति बिना अक्षरोच्चार के ही कह रही थी कि प्रिय का मुख शीतकर—ठंडक देने वाला (चन्द्रमा) है । उस समय 'सी-सी' के अतिरिक्त दूसरा शब्द मुखसे निकलता ही कहाँ है ? चन्द्र से जैसा आह्लाद और शीतलता प्राप्त होती है, नल-मुख-सामीप्य में दमयन्ती को वैसा ही प्राप्त हो रहा था ॥ ९९ ॥

चुम्बनाय कलितप्रियाकुचं वीरसेनसुतवक्त्रमण्डलम् ।
प्राप भर्तुममृतेः सुधांशुना सक्तहाटकघटेन मित्रताम् ॥ १०० ॥

जीवातु—चुम्बनायेति । चुम्बनाय स्तनोपरि चुम्बनकरणाय, कलितः

गृहीत, मुखेनैव स्पृष्ट इत्यर्थ । प्रियाकुच भैमीस्तनो येन तादृशम्, वीरसेन-सुतवक्त्रमण्डल नलमुखबिम्बम् । कर्तृ । अमृतै सुधाभि, भर्तुं पूरयितुम्, सक्त स्पृष्टः, हाटकस्य कनकस्य, घट कुम्भो यस्मिन् तादृशेन, सुधांशुना चन्द्रेण, मिश्रता सदृशताम्, प्राप लेभे । नलमुखस्य चन्द्रतुल्यत्वात् भैमी-कुचस्य च स्वर्णघटसाम्यादिति भाव । कनककलशो अमृतसम्भरणार्थं समागत' साक्षात् अमृतांशुरिव इत्युत्प्रेक्षया अमृतकरत्व व्यज्यत इति अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ १०० ॥

अन्वय — चुम्बनाय कलितप्रियाकुच वीरसेनसुतवक्त्रमण्डलम् अमृतै भर्तुं सक्तहाटकघटेन सुधांशुना मिश्रता प्राप ।

हिन्दी—चुम्बनार्थ प्रिया (दमयन्ती) के स्तन का संस्पर्श करता वीरसेन के पुत्र (नल) का मुखमण्डल अमृत से पूर्ण होने के लिए स्वर्ण-कलश से युक्त शीतकिरण (चन्द्र) की सदृशता को प्राप्त करता था ।

टिप्पणी—काम मुग्धावस्था मे प्रिया का स्तन-चुम्बन-वर्णन । वर्ण और कठोरता के कारण दमयन्ती कुच की तुलना स्वर्णघट से, नल-मुख की प्रसिद्ध उपमान चन्द्र से और चुम्बन-दान की अमृत-रस से तुलना की गयी है । नल-मुख-चन्द्र से चुम्बनामृत निकल-निकल कर हाटकघट-में दमयन्ती-कुच को परिपूर्ण कर रहा था । मुख चुम्बन रूप अमृत-योग से भीमनन्दिनीकुच की तपन (कसक) शान्त हो गयी और सुखातिरेक प्राप्त हुआ । मल्लिनाथ के अनुसार स्वर्णघट में अमृत सभरणार्थ आगत माना साक्षात् अमृतांशु—इस उत्प्रेक्षा के कारण मुख का अमृतकरत्व व्यजित होता है, इस प्रकार यहाँ अलकार-द्वारा वस्तुध्वनि है । नारायण ने बताया है कि यहाँ स्तन-चुम्बन में स्तन-पान की भावना करके अनौचित्य की आशका उचित नहीं है, क्योकि मुख चन्द्र से झर कर कुच कलश मे अमृत का भरना कहा गया है न कि स्तनामृत-पान । नयन, गल्ल (गला), कपोल, मुख, मुखान्तर्गत दन्तपक्ति, ललाट और चूचुक बचा कर स्तन—य सब चुम्बन स्थान हैं । वात्स्यायन के अनुसार मुख, नेत्र, स्तन, बाहुमूल कपोल, ओष्ठद्वय और वराग—ये आठ चुम्बन-स्थान हैं और रागातिरेक मे तो सब अग चूमे जा सकते हैं—'मुखनेत्रस्तन-बाहुमूलकपोलौष्ठद्वयवराङ्गान्यष्टौ चुम्बनस्थानानि, रागत सर्वाण्यपि च ॥१००॥

वीक्ष्य वीक्ष्य पुनरैक्षि साऽमुना पर्यरम्भि परिरम्य चासकृत् ।
चुम्बिता पुनरचुम्बि चादरात्तृप्तिराप्ति न कथञ्चनापि च ॥ १०१ ॥

जीवातु—वीक्ष्येति । अमुना नलेन, सा भैमी, आदरात् आग्रहातिशयात्, पदमिदं चुम्बनालिङ्गनयोरपि योज्यम् । वीक्ष्य वीक्ष्य पुनः पुनर्दृष्ट्वाऽपि; पुनः भूयः, ऐक्षि ईक्षिता, असकृत् वारं वारम्, आदरात् परिरम्य आलिङ्ग्यापि, पर्यरम्भि पुनः परिरब्धा । 'रभेरशब्लिटोः' इति नुमागमः । तथा आदरात् 'चुम्बिता कृतचुम्बनाऽपि, पुनश्च भूयोऽपि, अचुम्बि चुम्बिता । कथञ्चनापि केनापि प्रकारेण, तृप्तिः आकाङ्क्षापूर्त्तिः, न च आपि नैव प्राप्ता । रागातिरेकात् 'इति भावः । सर्वत्र कर्मणि लुङ् ॥ १०१ ॥

अन्वयः—अमुना सा वीक्ष्य वीक्ष्य आदरात् पुनः ऐक्षि, असकृत् परिरम्य च पर्यरम्भि, चुम्बिता च पुनः अचुम्बि—कथञ्चन अपि च तृप्तिः न आपि ।

हिन्दी—इस (नल) ने उसे (दमयन्ती को) देख-देख कर आदरपूर्वक पुनः देखा, बारंबार आलिंगन करके पुनः आलिंगन किया और चूम-चूम कर फिर चूमा—पर किसी प्रकार तृप्ति न प्राप्त हुई ।

टिप्पणी—प्रिया दमयन्ती को बारंबार देखकर भी देखते जाना, बारंबार आग्रहपूर्वक आलिंगन करते रहना, चुम्बन कर-करके भी चूमते जाना रागातिशय को द्योतित करता है । रागातिशय के कारण ही बारंबार इन प्रणय चेष्टाओं में रत रह कर भी तृप्ति न मिल पाती थी ॥ १०१ ॥

छिन्नमप्यतनु हारमण्डलं मुग्धया सुरतलास्यकेलिभिः ।
न व्यतर्कि सुदृशा चिरादपि स्वेदबिन्दुकितवक्षसा हृदि ॥ १०२ ॥

जीवातु—छिन्नमिति । मुग्धया सुरतमोहितचित्तया, सुदृशा सुनयनया, भैम्येति शेषः । सुरतानि रमणान्येव, लास्यकेलयः नृत्यक्रीडाः तैः, हृदि वक्षोपरि, स्थितमिति शेषः । अतनु महत्, हारमण्डलं मुक्ताकलापः, छिन्नं त्रुटितमपि, स्वेदबिन्दवः एव स्वेदबिन्दुकाः घर्मोदककणाः । स्वार्थे कः ते अस्य सञ्जाताः इति स्वेदबिन्दुकितं सुरतश्रमजन्यघर्मबिन्दुयुक्तम् । 'तारकादित्वादितच्' । वक्षः उरःस्थलं यस्याः तादृशया सत्या, चिरात् दीर्घकालेनापि; न व्यतर्कि न व्यभावि, छिन्नेति न अज्ञायि इत्यर्थः । स्वेदबिन्दुषु हारभ्रमादिति भावः । अतएव भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ १०२ ॥

अन्वय --सुदृशा अपि मुग्धया सुरतलास्यकेलिभिः हृदि श्लथनु हारमडलं छिन्नम् अपि स्वेदबिन्दुकितवक्षसा चिरात् अपि न व्यतर्कि।

हिन्दी-- निरीक्षणक्षमा सुन्दरी होती हुई भी मुग्धा बाला (दमयंती) सुरतरूपी नृत्य (अथवा सुरत सम्बद्ध नृत्य) की क्रीडाओं (मे व्यस्त रहने) के कारण वक्ष स्थित (नाभिमण्डल तक विस्तृत) विशाल मुक्ताहार को टूट जाने पर भी स्वेद बिंदुओं की वक्ष पर माला सी फैल जाने से बहुत समय तक भी न जान सकी।

टिप्पणी—उद्दाम रतिलीला मे विभिन्न दैहिक स्थितियों के कारण मुक्ताहार का टूट जाना भी दमयंती न देख सकी। यद्यपि वह 'सुदृशा' (अवलोकनक्षमा, निरीक्षण मे पर्याप्त चतुरा) थी, तथापि अवलोकनक्षमा होती हुई भी वक्ष पर बिखरे हार के मोती न देख सकी, चतुरा होती हुई भी मुग्धा (नासमझ) रही। इसके दो कारण थे—(१) वक्ष पर सात्त्विक, सुरतश्रमजनित, शुभ्र स्वेदबिंदु माला भी अंकित थी, जिसमे टूटी माला के बिखरे मोती भासित ही नहीं होते थे। (२) सुरतलास्य विलासों में रत दम्पती सुधि भान भूले हुए थे। मल्लिनाथ के अनुसार स्वेद बिंदुओं में हार भ्रम होने से यहाँ भ्रान्तिमद् अलकार है॥ १०२॥

यत् तदीयहृदि हारमौक्तिकैरासि तत्र गुण एव कारणम्।
अन्यथा कथममुत्र वर्त्तितु तैरशाकि न तदा गुणच्युतैः ?॥ १०३॥

जीवातु—यदिति। तदीये भैमीसम्बन्धिनि, हृदि वक्षसि, अन्तःकरणे च, हारमौक्तिकैः हारस्थितमुक्तावलीभिः, यत् आसि अवस्थितम्। आसेर्भावे लुङ्। तत्र स्थितौ, गुण एव मुक्तानां छिद्रान्तर्वर्तिसूत्रमेव, सूत्रेण ग्रथितत्वमेवेत्यर्थः। कान्तिमत्त्वादिगुण एव च, कारणं हेतु। अन्यथा तद्व्यतीत्ये, तदा सुरतकाले, गुणयुक्तैः गुणभ्रष्टैः, तैः हारमौक्तिकैः, अमुत्र अस्मिन् वक्षसि मनसि च, वर्त्तितुं स्थातुम्, कथं कस्मात्, न अशाकि ? न शक्तम् ? अच्छिन्नसूत्रैः कतिपयमौक्तिकैरेव तत्र स्थितं न पुनश्छिन्नसूत्रैः, ततो गुण एव अत्र कारणम् अन्यथा पतनप्रसङ्गादनुपादेयत्वाच्चेति भावः॥

अन्वय —तदीयहृदि हारमौक्तिकैः यद् आसि तत्र गुणः एव कारणम्, अन्यथा तदा गुणच्युतैः तैः अमुत्र वर्त्तितुं कथं न अशाकि ?

हिन्दी—उस (दमयंती) के हृदय (वक्षःस्थल और अन्तःकरण) में हार के मोती जो स्थित रहे, उसमें गुण (सूत्र में गुँथा होना और चमक, बनावट आदि वैशिष्ट्य) ही कारण था, नहीं तो उस समय (रमण-काल में) डोरी से पृथक् होकर—गुणहीन हो जाने पर—वे (मोती) वहाँ (वक्ष और चित्त में) क्यों रह जाने में समर्थ न हुए ?

टिप्पणी—सुरत-लास्य-लीला में दमयंती के वक्षःस्थित मुक्ताहार के मोती टूट कर बिखर गये। वे गुण अर्थात् सूत्र में गुंथे थे, अतः माला रूप में दमयंती के वक्ष पर झूलते रहे, किन्तु जब सूत्रबद्ध न रहे तो बिखर गये। उत्तम अच्छी दमक (गुण) और बनावट के थे, सो टूट कर भी दमयंती के चित्त में उनकी आकांक्षा रही। कवि इस घटना से यह द्योतित करना चाहता है कि प्रतिष्ठा प्राप्ति में 'गुण' ही कारण होता है। 'गुण' की अनेकार्थकता से यह आशय व्यक्त किया गया है। इससे यह संकेत भी है कि सुरतमर्दिता, विच्छतमण्डना भी दमयंती अपने गुणों के कारण प्रिय नल के हृदय में बसी रही। वह उदार गुणों से मण्डित थी, तभी तो निषधराज भी उसके आकांक्षी बने थे—'धन्याऽसि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।' (नै० च० ३।११६)॥ १०३॥

एकवृत्तिरपि मौक्तिकावलिश्छिन्नहारबितती तदा तयोः।
छायथाऽन्यहृदयेऽपि भूषणं श्रान्तिवारिभरभाविते ऽभवत्॥ १०४॥

जीवातु—एकेति। तदा तत्काले, तयोः दमयन्तीनलयोः मध्ये, एकस्मिन् नले एव, वृत्तिः अवस्थानं यस्याः सा तादृशी अपि, नलवक्षःस्थिता अपीत्यर्थः मौक्तिकावलिः मुक्ताहारः छिन्ना त्रुटिता, हारवितति: विस्तृत-हारो यस्य तादृशे। भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः। श्रान्तिवारिभरेण सुरत-श्रमोद्भूतस्वेदपूरेण, भाविते आप्लुते, अन्यस्याः भैम्याः हृदये वक्षसि। 'सर्व-नाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति पुंवद्भावः। छायया प्रतिबिम्बेन, विभूषणम् अलङ्करणम्, अभवत् अजायत। अत्र एकस्यैव हारस्य उभयत्र भूषणत्वेन असम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेः तद्रूपातिशयोक्तिरलङ्कारः॥ १०४॥

अन्वयः—तदा तयोः एकवृत्तिः अपि मौक्तिकावलिः छिन्नहारवितती अपि श्रान्तवारिभरभाविते अन्यहृदये छायया भूषणम् अभवत्।

हिन्दी—उस (रमण-वेला) में उन दोनों (नल-दमयती) के मध्य एक (नल) में अवस्थित भी मुक्तामाला जिस पर पहिना हार टूट कर बिखर गया है, ऐसे भी सुरत श्रमजात स्वेद जल से परिपूर्ण अन्य (दमयती) के वक्ष स्थल पर प्रतिबिंबित होते रहने से (उस दमयती) का आभूषण बन गया।

टिप्पणी—रति विलास में दमयती की मुक्तादाम तो टूटकर बिखर गयी, किन्तु नल ने भी एक मुक्ताहार पहिन रखा था। वही मुक्ताहार आलिंगन-बद्धा, सुरत श्रमोत्पन्न स्वेदबिंदुओं से आप्लुत दमयन्ती के वक्ष पर स्वेद-जल में प्रतिबिंबित होकर ऐसा प्रतीत हुआ कि वह दमयती ने ही पहिना हुआ है और इस प्रकार दमयती हारालङ्कृता ही प्रतीत होती रही। एकचित्त प्राणि युगल के मध्य जो एक का है, वही दूसरे का भी हो जाता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ एक ही हार के दोनों के आभूषण होने से असबद्ध में सम्बन्धकथन रूपा अतिशयोक्ति है ॥ १०४ ॥

वामपादतललुप्तमन्मथश्रीमदेन मुखवीक्षिणाऽनिशम् ।
भुज्यमाननवयौवनाऽमुना पारसीमनि चचार सा मुदाम् ॥ १०५ ॥

जीवातु—वामेति । वामपादस्य सव्यचरणस्य, तलेन अधःप्रदेशेन, अत्यन्तापकृष्टावयवेनेति भाव । लुप्त हृतः, मन्मथस्य कामस्य, श्रिय मद सौन्दर्यदर्प येन तादृशेन, अतिसुन्दरेणेत्यर्थ । अनिशं निरन्तरम्, मुखवीक्षिणा दमयन्तीवदनदर्शिना, अमुना नलेन, भुज्यमानम् उपभोग कुर्वन्त, नवयौवनम् अभिनवतारुण्य यस्या तादृशी, सा भैमी, मुदाम् आनन्दानाम्, पारसीमनि चरमावस्थायाम्, चचार विचरितवती नलसम्भोगात् परमानन्दमाप इत्यर्थ ।

अन्वय—वामपादतललुप्तमन्मथश्रीमदेन अनिशं मुखवीक्षिणा अमुना भुज्यमाननवयौवना सा मुदा पारसीमनि चचार ।

हिन्दी—वाम चरण के तले काम की श्रीसम्पन्नता के मद का लोप करने हार, रात-दिन (दमयती का) मुख-देखते रहते इस (नल) के द्वारा (अपने) नूतनतारुण्य का भोग होते रहने पर वह (दमयती) हर्ष और तृप्ति की परमसीमा में विचरण कर रही थी।

टिप्पणी—कामदेव की सुन्दरता को अपने निकृष्टतम अङ्ग वाम चरण के

नीचे रौंद देनेवाला अर्थात् सौंदर्य के प्रतिमान कामदेव की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर नल दमयंती का स्वामी था, जो उसके नवीनतारुण्य का भोग कर सार्थक कर रहा था। इससे परिभुक्तनवयौवना दमयंती को परमानन्द और तृप्ति प्राप्त हुई। कामाधिक सुन्दर नल अहर्निशि उसका मुँह निहारा करता था, इससे अधिक संतोष का कारण और क्या हो सकता था? 'वामपदतलुप्त' (बाँये पैर की तली से रौंदना) और 'मुखवीक्षण' (मुँह-जोहना): इन दो लोकोक्तियों का इस श्लोक में श्रीहर्ष ने प्रयोग किया है॥ १०५॥

आन्तरानपि तदङ्गसङ्गमैस्तर्पितानवयवानमन्यत।
नेत्रयोरमृतसारपारणां तद्विलोकनमचिन्तयन्नलः॥ १०६॥

जीवातु—आन्तरानिति। नलः तस्याः दमयन्त्याः, अङ्गसङ्गमैः बाह्यावयवसम्पर्कैः, आन्तरान् आभ्यन्तरानपि, न केवलं वक्षःप्रभृतिबहिरवयवानिति भावः। अवयवान् अन्तःकरणादीन् अंशान्, तर्पितान् प्रीणितान् अमन्यत अबुध्यत। तथा तस्याः भैम्याः, विलोकनं साक्षात्कारम्, नेत्रयोः स्वाक्ष्णोः, अमृतस्य पीयूषस्य, सारेण उत्कृष्टांशेन, पारणाम् उपवासानन्तरमाहारविशेषमिव, अचिन्तयत् अभावयत्। तद्वत् तृप्तिबोधादिति भावः॥ १०६॥

अन्वयः—नलः तदङ्गसङ्गमैः आन्तरान् अपि अवयवान् तर्पितान् अमन्यत, तद्विलोकनं नेत्रयोः अमृतसारपारणाम् अचिन्तयत्।

हिन्दी—नल ने उस (दमयंती) के (बाह्य) अंगों के संमिलन से (अपने) आभ्यंतर भी अंगों को भी तृप्त-प्रसन्न माना और उस (दमयती) के दर्शन को दोनों नेत्रों की अमृत-सार-सम्पन्न पारणा (व्रतांत भोजन) विचारा।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयंती के अंगों से अंग मिला कर नल को बड़ी तृप्ति प्राप्त हुई और उसे देखते रहने का अहर्निश अवसर पाकर दर्शन के भूखे नयनों को जैसे अमृत-सार-पारणा मिली। नयनों की चिरबुभुक्षा मिट गयी। नारायण के अनुसार दमयंती के सुकुमार भी अंग इतने वेधक और कटीले थे कि नल के अंगों में भिदकर उसके आभ्यंतर अवयवों की तृप्ति और सुख का कारण बन गये। आशय यही कि दमयंती के गाढालिंगन और दर्शन से नल का बाह्याभ्यंतर तृप्त हो गया॥ १०६॥

बहुमन्यत विदर्भजन्मनो भूषणानि स दृशा न चेतसा।
तैरभावि कियदङ्गदर्शने यत् पिधानमयविघ्नकारिभिः ॥१०७॥

जीवातु—बह्विति । स नल, विदर्भजन्मन वैदर्भ्या, भूषणानि आभरणानि, दृशा दृष्ट्या एव बहु अमन्यत अत्यर्थ ममानितवान्, दमयन्त्यङ्ग-स्पर्शसौभाग्यलाभादिति भाव । चेतसा मनसा, न, बहु अमन्यत इति शेष । कुत ? यत् यस्मात्, तैः भूषणैः, कियताम् अङ्गाना प्रकोष्ठादीना केषाञ्चि-दवयवानाम्, दर्शने विलोकने, पिधानमय छादनरूपम्, विघ्न प्रत्यूहम् कुर्वन्तीति तादृशैः, दृष्टिस्थाघातोरादकैरित्यर्थः । अभावि भूतम् । अत भूषण-बहुमान नातिपुष्कल इति भाव ॥ १०७ ॥

अन्वय—स विदर्भजन्मन भूषणानि दृशा बहु अमन्यत, चेतसा न, यत् तैः कियदङ्गदर्शने पिधानमयविघ्नकारिभिः अभावि।

हिन्दी—उस (नल) ने वैदर्भी (दमयन्ती) के आभूषणों को दृष्टि से तो आदर दिया, मन से नहीं, क्योंकि व कुछ अगों के आवरण बनते हुए विघ्नकारक हो गये थे।

टिप्पणी—दमयन्ती ने अत्यन्त सुन्दर सुन्दर गहने पहिने हुए थे, नल ने उन्हें देखा और उनकी प्रशसा की, परन्तु उन बहुमूल्य, सुन्दर आभूषणों को उनका मन आदर नहीं दे रहा था, क्योंकि दमयन्ती के प्रकोष्ठादि जिन अगों पर स्थित थे, ढके होने के कारण न तो वे नल को दीख ही रहे थे और न उनके अगों के स्पर्श में ही आते थे। इस प्रकार दर्शन स्पर्श के मध्य व्यवधान बनते आभूषण नल की दृष्टि का ही आदर पा सके,—दमयन्ती के अगों का स्पर्श सौभाग्य जो उन्हें प्राप्त था,—मन ने उन्हें विघ्न ही माना। नारायण ने पूर्वार्द्ध के इसी पाठ को अर्थ की दृष्टि से सुगम माना है, तथापि व्याख्या इस पाठान्तर की की है—'भूषणैरखुपदायितै प्रिया प्रागथ व्यपददेय भावयन्।' अर्थात् प्रियाश्रित आभूषणों को देखकर पहिले तो नल सन्तुष्ट हुआ, किंतु विचार करके फिर खिन्न हो गया "।' कारण कि कुछ अग आभूषणों ने ढक लिये थे और अगोचर बने थे। अलकार न होने पर वे सुन्दरतम छिपे अग भी दीख जाते। इससे द्योतित होता है कि दमयन्ती के अग स्वभावत आकर्षक थे, बिना अलकारों के ही निसर्ग-सुन्दर, जिन्हें मण्डन की आवश्यकता ही नहीं

थी—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।' (अभिज्ञानशाकुन्तलम् १।२०।४)। सुन्दर रूप को किसी मण्डन की आवश्यकता नहीं होती। शकुन्तला वल्कल में ही अधिक मनोज्ञ लग रही थी। ऐसे ही दमयंती भी सहज रमणीय लग रही थी। इससे नल का रागातिशय भी सूचित होता है। नारायण ने सुरतकाल में आभूषण-मोचन को ही उपयुक्त मानते हुए भूषणों की सत्ता के औचित्य को इस प्रकार सिद्ध किया है कि यह वर्णन हठसुरत की सूचना के निमित्त है, दोष नहीं है। विलंब सहने में असंहिष्णु नल ने व्यवधान उपस्थित करने वाले आभूषण हठात् उतार दिये, कुछ अत्यन्त अपरिहार्य, सौभाग्यसूचक आभरण ही बचे रह गये ॥ १०७ ॥

योजनानि परिरम्भणेऽन्तरं रोमहर्षजमपि स्म बोधतः।
तौ निमेषमपि वीक्षणे मिथो वत्सरव्यवधिमध्यगच्छताम् ॥ १०८ ॥

जीवातु—योजनानीति । तौ भैमीनलौ, परिरम्भणे आलिङ्गनकाले, रोमहर्षात् सात्त्विकभावोदयेन रोमाञ्चात्, जातम् उत्पन्नम्, अन्तरमपि तन्मात्रव्यवधानमपि, योजनानि बहुयोजनव्यवधानानीत्यर्थः। बोधतः स्म अबुध्यताम्। बोधतेर्भौवादिकाद् भूते 'लट् स्मे' इति लट्। तथा मिथः अन्योऽन्यम्, वीक्षणे दर्शनविषये, निमेषमपि अक्षि वर्त्मनिमीलनोन्मीलनकालव्यवधानमपि, वत्सरव्यवधिं वर्षकालव्यवधानम्, अध्यगच्छतां मन्येते स्म। अनुरागाधिक्यादिति भावः ॥ १०८ ॥

अन्वयः—तौ परिरम्भणे रोमहर्षजम् अपि अन्तरं योजनानि बोधतः स्म, मिथः वीक्षणे निमेषम् अपि वत्सरव्यवधिम् अध्यगच्छताम्।

हिन्दी—वे दोनों (नवपरिणीत नल-दमयंती) आलिंगन करते समय (सात्त्विक भावोदय के कारण हुए) रोमहर्ष (रोमांच) से संजात भी व्यवधान को योजनों का अन्तर मान रहे थे और परस्परावलोकन में पल (पलक-झपाने) को भी वर्षों का व्यवधान समझते थे।

टिप्पणी—स्पर्श-दर्शन के मध्य थोड़ा सा भी देश-काल-व्यवधान नल-दमयंती को असह्य था। आलिंगन में सात्त्विक रोमांच भी दूरी—कोसों की दूरी लगाता था और पलक-झपाने मात्र के लिए दृष्टिनिमीलित होने का काल वर्षों का काल। अनुराग का ज्वार ॥ १०८ ॥

वीक्ष्य भावमधिगन्तुमुत्सुकां पूर्वमच्छमणिकुट्टिमे मृदुम्।
कोऽयमित्युदितसम्भ्रमीकृतां स्वानुबिम्बमदर्शयत ताम्॥ १०९॥

जीवातु—अथानयो च्युतिसुख पच्चभिर्वर्णयति, वीक्ष्येत्यादि। एषः नैषधः, तां प्रियां, मृदुम् कोमलां, परिश्रमासहिष्णुत्वात् श्लथावयवामिति यावत्, अत एव पूर्वम् आत्मनः प्राक्, भाव च्युतिसुखावस्थाम्, अधिगन्तु प्राप्तुम्, उत्सुकाम् इच्छन्तीं, वीक्ष्य गाढालिङ्गनादिलिङ्गैः ज्ञात्वा, कोऽयम्? अयं कः अत्र समागतः? इति, तस्या इति शेषः, उदितः सञ्जातः, सम्भ्रमः भयचकितभावो यस्याः सा उदितसम्भ्रमा, अतां तां कृताम् उदितसम्भ्रमीकृताम्। अभूततद्भावे च्वि। प्रियामिति शेषः। अच्छे निर्मले, प्रतिबिम्बग्राहिणि इत्यर्थः। मणिकुट्टिमे रत्ननिबद्धभूमौ, स्वानुबिम्बं निजप्रतिबिम्बम्, अदर्शयत दर्शितवान्। मत्प्रतिबिम्बदर्शनात् भ्रान्ता मया इति तस्या त्रासम् अपाचकार इत्यर्थः। दृशेर्णौ चङि 'णिचश्च' इति तङ्। 'अभिवादिदृशोरात्मने पदे वेति वाच्यम्' इति अणिकर्त्तुः कर्मत्वम्। उभयोर्युगपद्भावप्राप्तये तस्याः प्राक् पात व्यासङ्गेन प्रत्यवघ्नात्, अन्यथा वैरस्य स्यादिति भाव॥ १०९॥

अन्वय—मृदु पूर्वं भावम् अधिगन्तुम् उत्सुकाम् वीक्ष्य "अयं कः"—इति उदितसम्भ्रमां ताम् एष अच्छमणिकुट्टिमे स्वानुबिम्बं दर्शयत।

हिन्दी—कोमल (अतएव) नल से पूर्व ही भाव (बिन्दु स्खलन, च्युतिसुख) प्राप्त करने को उत्सुक (दमयन्ती को) देखकर (समझ कर), 'यह कौन है?'—इस प्रकार कहने पर भीति-चकिता उसे (दमयन्ती को) उस (नल) ने स्वच्छ मणि कुट्टिम भूमि (स्वच्छ, निर्मल रत्न-मणि-पटल) में अपना प्रतिबिम्ब दिखा दिया।

टिप्पणी—कोमल और स्वल्परतसतुष्टा पद्मिनी जाति की बाला दमयन्ती को रमण-वेला में थकी-थकी और आँखें मूँदकर गाढालिंगनादि करती पा नल समझ गया कि अब दमयन्ती सुरत की चरमावस्था—च्युतिसुख को पाने की इच्छुक है, किन्तु नल अभी उस स्थिति तक कुछ देर और नहीं पहुँचना चाहता था। यदि दमयन्ती नल से पूर्व स्खलित हो जाती तो नर-नारी के एक साथ स्खलित होने पर जो समरसता प्राप्त होती है, वह न प्राप्त होती। वैरस्य आ जाता। अतएव दमयन्ती का ध्यान बटाने के लिए

नल ने सहसा कहा—'अरे यह कौन है ?' दमयन्ती का ध्यान बट गया और ध्यान दूसरी ओर हो जाने से स्खलनवेग में बाधा आ गयी; और जब दमयन्ती भीति-चकित हो उसकी ओर देखने लगी तो नल ने मणिकुट्टिम में अपना प्रतिबिम्ब दिखा दिया कि नल को इसी से अन्य पुरुष की उपस्थिति का भ्रम हो गया था, जब कि यह कोई दूसरा व्यक्ति नहीं नल की प्रतिच्छवि मात्र है। इससे दमयन्ती की भीति चली गयी. आशय यह कि एक साथ स्खलित होने की समरसता प्राप्त करने के लिए नल ने दमयन्ती का ध्यान बटा कर अपने से पूर्व स्खलित होना रोक दिया। कामशास्त्र में विदुत्तम्भार्थ दुचित्ता करके भावबन्ध का यही विधान बताया गया है कि दूसरी ओर ध्यान बटाकर संभ्रम उत्पन्न करके भावबन्ध करना चाहिए—'अन्यचित्ततया संभ्रमजनने भावबन्धं कुर्यात्' ॥ १०९ ॥

तत्क्षणावहितभावभावितद्वादशात्मसितदीधितिस्थितिः ।

आत्मनोऽनभिमतक्षणोदयां भावलाभलघुतां नुनोद सः ॥ ११० ॥

जीवातु—तदिति । सः नलः तस्मिन् क्षणे आसन्नच्युतिसमये; अवहित-भावेन अवहितत्वेन, एकाग्रतया इति यावत्। भाविता ध्याता, द्वादशात्म-सितदीधित्योः सूर्याचन्द्रमसोः, स्थितिः नभोदेशे अवस्थानक्रमः येन सः तादृशः सन्, तेन च विषयान्तरनिविष्टतया च्युतिनिरोध इति भावः। आत्मनः स्वस्य, अनभिमतक्षणे अनभिप्रेतकाले, उदयः प्रादुर्भावः यस्याः तादृशीम्, भाव-लाभस्य च्युतिसुखप्राप्तेः, लघुताम् आशुभाविताम्, नुनोद निवारयामास। 'तत्काले हृदि सोमार्कधारणात् सिद्धिः' इति रतिरहस्ये। अत्र पुंस एव शक्त्याविष्कोऽस्या योषितो बहुशक्तिप्रयुक्तरसाभासशङ्काऽपि समूलकापकर्षितेति द्रष्टव्यम् ॥ ११० ॥

अन्वयः—तत्क्षणावहितभावभावितद्वादशात्मसितदीधितिस्थितिः सः आत्मनः अनभिमतक्षणोदयां भावलाभलघुतां नुनोद ।

हिन्दी—उस क्षण (अर्थात् च्युति-काल समीप होने पर) एकाग्र हो सूर्य और चन्द्र की स्थिति (गगन में अवस्थान-क्रम) का भावन (ध्यान) करते उस (नल) ने अपने अनभीप्सित क्षण में उदित होती च्युति-सुख-प्राप्ति की शीघ्रता का निवारण किया।

टिप्पणी—दमयन्ती का ध्यान बटाकर उसे तत्क्षण स्खलित होने से नल ने रोक दिया, अब वैरस्य को न आने देकर समरसता के निमित्त नल ने अपने अनभीष्ट क्षण में होते स्खलन को भी, सूर्य चन्द्र की पर्यायभूता इडा पिंगला नाम की दक्षिण वाम नाडियों में स्थित प्राणवायु को रोक कर, रोक दिया। 'रतिरहस्य' के अनुसार 'उस क्षण में चित्त में चन्द्र सूर्य के धारण से सिद्धि होती है' कामशास्त्र में बताया गया है कि नासिका का दाहिना भाग मूंदने से पुरुष का और बायाँ रोकने से स्त्री का बिन्दु-स्तम्भ होता है—'दक्षिणनासामुद्रणे पुरुषस्य वामनासिकामुद्रणे योषितो बिन्दुस्तम्भो भवति।' इस प्रकार नल ने अपना और दमयन्ती का 'भाव' स्थिर किया।

स्वेन भावभजने स तु प्रिया बाहुमूलकुचनाभिचुम्बनैः।
निर्ममे रतरहःसमापनाशर्मसारसमसविभागिनीम् ॥ १११ ॥

जीवातु—स्वेनेति। तु पुनः, स नलः, भावभजने च्युतिसुखप्राप्तिविषये, बाहुमूलयोः कक्षदेशयोः, कुचयोः स्तनयोः, नाभौ नाभिदेशे च, चुम्बनैः पुनरुद्दीपनार्थं चुम्बनरूपैः उपायैः, स्वेन आत्मना सह, प्रियां दमयन्तीम्, रतरहस. सुरतरहस्यस्य, समापनायां समाप्तिकाले, यः शर्मसारः च्युतिसुखोत्कर्षः, तत्र समसविभागिनीं समानसुखभागिनीम्, निर्ममे चक्रे। युगपदेवोभयोर्वीर्यक्षरणात् समानसुखभागित्वमिति भावः। एतेन तयोर्विप्रलम्भवत् सम्भोगस्यापि समानशक्तित्वमुक्तं भवतीत्यनुसन्धेयम् ॥ १११ ॥

अन्वयः—स तु भावभजने बाहुमूलकुचनाभिचुम्बनैः स्वेन प्रियां रतरहःसमापनाशर्मसारसमसविभागिनीं निर्ममे।

हिन्दी—फिर उस (नल) ने भाव भजन (च्युति सुख प्राप्ति के विषय) में दोनों बाहु मूलों (कांख), दोनों कुचों और नाभि के चुम्बनों द्वारा अपने (नल के) साथ प्रिया (दमयन्ती) को रमण-रहस्य की समाप्ति के काल में सम्पन्न सुख के सार (च्युतिसुखोत्कर्ष) की समान भागिनी बनाया।

टिप्पणी—फिर नल दमयन्ती के एक साथ ही स्खलित होकर समरसता से प्राप्त होने वाले सुरत-समाप्ति के चरमानन्द की स्थिति आयी। उस समय बाहुमूलादि में अनवरत चुम्बन करके स्वयं भाव प्राप्त करते नल ने दमयन्ती को भी भाव-प्राप्ति करा दी। इस प्रकार दोनों एक साथ ही स्खलित हुए

और दोनों ने एक साथ भाव-प्राप्ति-जन्य सामरस्य के परमानन्द का समान रूप से भोग किया। स्खलित होते समय बाहूमूल, कुच, नाभि आदि कामाधिष्ठाओं के अनवरत चुम्बन स्वभाव भी है और इन चुम्बनों द्वारा नर के साथ नारी भी सम-स्खलन का चरमानन्द पाती है। मल्लिनाथ के अनुसार भाव यह है कि एक साथ ही दोनों का बीज-निःसरण होने से वे समान सुख के भागी बने ॥ १११ ॥

विश्लथैरवयवैर्निमीलया लोमभिर्द्रुतमितैर्विनिद्रताम् ।
सूचितं श्वसितसीत्कृतैश्च तौ भावमक्रमजमध्यगच्छताम् ॥ ११२ ॥

जीवातु--विश्लथैरिति । तौ भैमीनलौ, विश्लथैः शिथिलप्रायैः अवयवैः हस्तपादाद्यङ्गैः, निमीलया उत्कटसुखानुभवजनितनेत्रनिमीलनेन । भिदादित्वादङ् । द्रुतं हठात्, विनिद्रताम् उद्भेदम्, इतैः प्राप्तैः, कण्टकितैरित्यर्थः । लोमभिः रोमभिः, रोमाञ्चोद्गमैरित्यर्थः । तथा श्वसितानि श्रमजनितद्रुतनिःश्वासाः, सीत्कृतानि सीत्काराश्च तैः सूचितं ज्ञापितम्, 'स्रस्तता वपुषि मीलनं दृशोर्मूर्च्छना च रतिलाभलक्षणम् । श्लेषयत् स्वजघनं घनं मुहुः सीत्कृतानि गलगर्जितानि च ॥' इत्युक्तत्वादिति भावः । अक्रमात् पौर्वापर्यं विहाय, जायते इति अक्रमजं युगपज्जातम्, भावं पाशसुखम्, अध्यगच्छतां प्राप्तवन्तौ, ज्ञातवन्तौ वा । एवञ्च उभयोः समरागिता सम्भवति, अन्यथा पूर्वच्युतस्य उत्तरच्याविनि वैराग्येण तद्भङ्गप्रसङ्गः इति भावः ॥ ११२ ॥

अन्वयः--तौ विश्लथैः अवयवैः निमीलया द्रुतं विनिद्रताम् इतैः लोमभिः श्वसितसीत्कृतैः च अक्रमजं भावम् अध्यगच्छताम् ।

हिन्दी--उन दोनों (सुरत-रत-नल-दमयन्ती) ने शिथिल होते (निढाल होते) अंगों, नेत्र-निमीलन, शीघ्रतया उल्लसित होते रोमों (रोमांच), जल्दी-जल्दी साँसें लेने और सिसकारियों द्वारा एक साथ संपन्न स्खलन-सुख का अनुभव किया ।

टिप्पणी--ढीले पड़े अंग, निद्रा न रहने पर भी मुदीं आँखें, रोमहर्ष, शीघ्र श्वासोच्छ्वास और सिसकारी भरना--ये सब 'भाव-प्राप्ति के लक्षण हैं। सुरतान्त में ये सब स्थितियाँ हुआ करती हैं। नवदम्पती ने भी सुरतांत की इस स्थिति को भोगा। मल्लिनाथ के अनुसार इसी प्रकार दोनों में समराग

उत्पन्न होता है, अन्यथा पूर्वच्युत का उत्तरच्युत व्यक्ति के वैराग्य के कारण समराग के भग का प्रसग आ जाता है। नारायण के अनुसार नल-दमयन्ती ने युगपत् सजात विन्दुच्युत जन्य सुखरूप भाव को प्राप्त किया ॥ ११२ ॥

आस्त भावमधिगच्छतोस्तयोः सम्मदेषु करजप्रसर्पणा ।
फाणितेषु मरिचावचूर्णना सा स्फुट कटुरपि स्पृहावहा ॥ ११३ ॥

जीवातु—आस्तेति । भाव च्युतिसुखम्, अधिगच्छतो प्राप्नुवतो, तयोः दम्पत्यो, करजप्रसर्पणा पुनरपि मिथो नखक्षतकरणम्, सम्मदेषु आनन्दलाभेषु, आस्त स्थिता, अन्तर्भूता इत्यर्थ । ननु नखक्षत वेदनाजनकमपि कथमानन्दपु अन्तर्भूतमित्याशङ्क्याह—सा नखक्षतक्रिया, कटु तीक्ष्णा अपि कटुरसा अपि च । 'रसे कटु. कट्वकार्ये त्रिषु मत्सरतीक्ष्णयो.' इत्यमरः । फाणितेषु खण्ड विकारेषु । 'मत्स्यण्डी फाणित खण्डविकारे' इत्यमर । मरिचस्य अवचूर्णना चूर्णे. अवध्वसना, तच्चूर्णमिश्रणमित्यर्थ. । 'सत्याप—' इत्यादिना ण्यन्तात् 'ण्यासश्रन्थो युच्' इति युच् । स्फुट व्यक्तम् अत एव स्पृहावहा रुचिकरी । सा इव सम्मदेषु नखार्पणा सा फाणितपु मरिचार्पणावत् इष्टा इव अभूदित्यर्थ । अत्र वाक्यार्थयो साद्दश्ययोगेन सादृश्याक्षेपात् असम्भवद्वस्तुसम्बन्धलक्षणो वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनाभेदोऽलङ्कार. ॥ ११३ ॥

अन्वय.—भावम् अधिगच्छतोः तयो करजप्रसर्पणा सम्मदेषु आस्त, कटु अपि सा फाणितेषु मरिचावचूर्णना स्फुट स्पृहावहा ।

हिन्दी—च्युति-सुख को प्राप्त होते उन दोनों (नल-दमयन्ती) का परस्पर नखक्षत आनन्द-लाभो मे ही (एक आनन्द-लाभ) था, तीक्ष्ण (पीडा जनक) भी वह (नखक्षत) दूधिया ठढाई अथवा खाँड के शर्बत मे मिर्च के चूर्ण के तुल्य रुचिकर और स्पृहणीय हुआ ।

टिप्पणी—सुरतान्त मे स्खलित होते नल-दमयन्ती ने आनन्दातिरक मे परस्पर नख-क्षत बना दिये । यद्यपि वे पीडाजनक थे, किन्तु जैसे मीठा दूधिया ठढाई अथवा शर्बत मे थोडा-सी काली मिर्च की बुकनी मिला देने से अधिक स्वाद बढ जाता है, वैसे ही वे तीखे भी नख क्षत सुरत मे आनन्द के कारण ही बने । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ वाक्यार्थो के सादृश्य योग द्वारा सादृश्य का आक्षेप होने से असम्भवद्वस्तु सबध-रूप वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना है ॥ ११३ ॥

अर्द्धमीलितविलोलतारके सा दृशौ निधुवनक्लमालसा ।
यन्मुहूर्त्तमवहन्न तत् पुनस्तृप्तिरास्त दयितस्य पश्यतः ॥ ११४ ॥

जीवातु—अर्द्धेति । निधुवनक्लमालसा सुरतश्रमेणावसन्ना, सा भैमी; मुहूर्त्तं किञ्चित्कालमपि, यत् अर्द्धमीलिते ईषत्सङ्कुचिते, च ते विलोलतारके चञ्चलकनीनिके चेति ते तादृश्यौ । 'तारकाऽक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः । दृशौ नेत्रे, अवहत् अधारयत्, अकारयदित्यर्थः । तत् तादृशीमवस्थामित्यर्थः । पश्यतः विलोकयतः, दयितस्य प्रियस्य नलस्य पुनः, तृप्तिः आकाङ्क्षापूर्त्तिः, न आस्त नासीत् । अतिरमणीयत्वात् पुनः पुनरेव तामवस्थां ददर्श स मुग्धो नलः इति भावः ॥ ११४ ॥

अन्वयः—निधुवनक्लमालसा सा मुहूर्त्तं यद् अर्द्धमीलितविलोलतारके दृशौ अवहत्, तत् पश्यतः दयितस्य पुनः तृप्तिः न आस्त ।

हिन्दी—रत-श्रम के कारण अलसायी वह (दमयन्ती) मुहूर्त भर (कुछ देर तक) जो अध-खुले और चंचल पुतलियों वाले नेत्र धारण किये रही, उससे निहारता प्रिय (नल) तृप्ति को न प्राप्त हुआ ।

टिप्पणी—सुरत-श्रम से थकी सुकुमारी दमयन्ती कुछ देर तक अलसायी रही और अध-खुली, चंचल आंखों से प्रिय को निहारती रही । प्रिया की यह तृप्तिसुख परिपूर्ण स्थिति, उसके उनींदे नयन देखता नल अघाता ही नहीं था । दमयन्ती का यह रूप उसे बहुत भाया और वह मुग्ध होकर उसे देखता ही रह गया ॥ ११४ ॥

तत्क्लमस्तमदिदीक्षत क्षणं तालवृन्तचलनाय नायकम् ।
तद्विधाधिभवधूननक्रिया वेधसोऽपि विदधाति चापलम् ॥ ११५ ॥

जीवातु—तदिति । तस्याः दमयन्त्याः, क्लमः श्रान्तिः, तं नायकं स्वामिनं नलम्, क्षणं क्षणकालम्, तालवृन्तचलनाय व्यजनवीजनाय । 'व्यजनं तालवृन्तकम्' इत्यमरः । अदिदीक्षत दीक्षयति स्म, प्रावर्त्तयदित्यर्थः । तथा हि तद्विधः तादृशः, यः आधिः श्रमकातर्यं, तद्भवे तदुद्भूते सन्तापे, धूननक्रिया व्यजनसञ्चालनम्, व्यजनक्रियया सुरतश्रान्तिशान्तिचेष्टेत्यर्थः । वेधसः जितसर्वेन्द्रियस्य लोकपितामहस्य ब्रह्मणोऽपि, चापलं तरलताम्, तत्करणार्थं चित्तचाञ्चल्यमित्यर्थः । विदधाति जनयति, किमुतान्यस्येति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ११५ ॥

अन्वय.—तत्क्लम तं नायक क्षण तालवृन्तचलनाय अदिदीक्षत, तद्विधा अधिनवधूननक्रिया वेधस अपि चापल विदधाति ।

हिन्दी—(दमयन्ती की) उस (सुरतजन्य) क्लाति (थकान) ने उस (प्रिय पति) राजा को (भी) क्षण भर के लिए पखा-झलने को प्रवृत्त कर दिया, उस प्रकार के (श्रम-कातरता रूप) रोग ताप को दूर करने के निमित्त पखा झलने के लिए विधाता का चित्त भी चचल हो जाता है ।

टिप्पणी—सुरत-श्रम से श्रात प्रिया की थकान मिटाने के लिए राजा और अपार सेना के स्वामी, वीरपुगव भी नल स्वयम् उस पर पखा-झलने लगे । इतना बडा व्यक्ति भी सेवकोचित कार्य करने लगा । इस प्रकार के छोटे कार्य मे राजा का लगना, न तो विस्मय-जनक ही है और न आक्षेपास्पद ही । लोकपितामह, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का भी चित्त दमयन्ती जैसी सुन्दरी को सुरतश्रमालसा देखकर, ताप मिटाने के लिए चचल हो सकता है, राजा और अनेक सेवकों के स्वामी मनुष्य का तो कहना ही क्या ? नल के अनुरागातिशय का वर्णन । मल्लिनाथ के अनुसार विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास ॥ ११५ ॥

स्वेदबिन्दुकितनासिकाशिख तन्मुख सुखयति स्म नैषधम् ।
प्रापिताधरशयालुयावक सविलुप्ततिलक कपोलयो ॥ ११६ ॥

जीवातु—स्वेदेति । स्वेदबिन्दुकिता सञ्जातघर्मबिन्दुका, नासिकाशिखा नासाग्र यस्य तादृशम्, प्रोषिताधरशयालुयावकम् अधरपानात् प्रमृष्टोष्ठगतालक्तकम्, कपोलयोः गण्डयोः, सविलुप्ततिलकं चुम्बनादेव विनष्टविशेषकम् । 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्' इत्यमरः । तस्याः दमयन्त्याः, मुखं वदनम्, नैषध नलम्, सुखयति स्म आनन्दयामास ॥ ११६ ॥

अन्वयः—स्वेदबिन्दुकितनासिकाशिख प्रोषिताधरशयालुयावकं कपोलयोः सविलुप्ततिलक तन्मुखं नैषध सुखयति स्म ।

हिन्दी—स्वेदबिन्दुओं से अंकित नासिका के अग्रभाग से युक्त, अधर की लाली (ओष्ठराग) से विरहित (रहित) अधरों वाला और तिलकमिटा उस (दमयन्ती) का मुख निषधराज (नल) को सुख देता था ।

टिप्पणी—सुरत-श्रम के कारण दमयन्ती की नासिका के अग्रभाग पर पसीने की बूंदें झलक रही थीं, अधर-पान के कारण ओष्ठाधरों से लगाया गया राग मिट चुका था, मस्तक पर बार-बार चुम्बन होने से तिलक भी पुछ गया था। ऐसा मुख भी नल को सुख दे रहा था। सुरतजन्य श्रम से क्लांता, स्वभुक्तयौवना अतएव विलुप्तशृंगारा प्रिया को देखने में विलासी प्रिय को सुख मिलता ही है, नल को भी मिला। नारायण के अनुसार इस पद्य में समाप्तपुनरात्तत्व दोष है, जिसे दूर करने के लिए पूर्वार्द्ध को उत्तरार्द्ध और उत्तरार्द्ध को पूर्वार्द्ध मानना उचित होगा ॥ ११६ ॥

ह्रीणमेव पृथु सस्मयं कियत् क्लान्तमेव बहु निर्वृतं मनाक्।
कान्तचेतसि तदीयमाननं तत्तदालभत लक्षमादरात् ॥ ११७ ॥

जीवातु—ह्रीणमिति। पृथु एव भूयिष्ठमेव, ह्रीणं लज्जितम्, सुरतकालिकनिजाचरणस्मरणादिति भावः। कियत् किञ्चित्, सस्मयं सगर्वं, सुरते कान्तं सन्तोषयितुं निजसामर्थ्यस्मरणादिति भावः। तथा बहु एव बाहुल्येनैव, क्लान्तं परिश्रान्तम्, बहुक्षणं व्याप्य सुरतपरिश्रमादिति भावः। ईषत् मनाक्, निर्वृतं सुखितम्, कामवेगस्य किञ्चित् प्रशमादिति भावः। तदीयं दमयन्तीसम्बन्धि, तत् लज्जागर्वादिभावसमावेशादतिमनोज्ञम्, आननं मुखम्, तदा तत्काले, सुरतावसाने इत्यर्थः। कान्तचेतसि नलहृदये, आदरात् पुनरपि रमणाग्रहात्, लक्षं व्याजम्, उद्दीपकतया पुनः सुरताय हेतु स्वरूपमित्यर्थः। अलभत प्राप्नोत्, बहुमतमभूदित्यर्थः। सर्वविस्मयमनोहरं तन्मुखमिति भावः ॥ ११७ ॥

अन्वयः—पृथुलज्जितम् एव कियत् सस्मयं बहु क्लान्तम् एव मनाक् निर्वृतं तदीयम् आननं तदा कान्तचेतसि आदरात् लक्षम् अलभत।

हिन्दी—पर्याप्त लज्जित पर कुछ सगर्व, बहुत थका पर कुछ संतुष्ट-सुखी उस (दमयन्ती) का मुख उस समय (सुरतांत बेला में) प्रिय (नल) के चित्त में अत्यन्त आदर पाने से 'लाखों' पा गया।

टिप्पणी—दमयन्ती के मुख पर सुरत काल में अपने आचरण का स्मरण होने से पर्याप्त लज्जा थी और प्रिय की सुरतजन्य संतुष्टि के कारण गर्व भी झलक रहा था; सुरत-श्रम के कारण पर्याप्त क्लांति भी थी और कुछ सुख-संतोष की भावना भी थी। नारायण के अनुसार प्रत्यभिज्ञा

रामावस्था के कारण साध्यसाधनभेद न रहने से एकीभाव हो जाने के कारण परब्रह्मानंदानुभव के समान महासुख के अनुभव का सुख। प्रिया का इन भावनाओं से युक्त सुन्दर मुख देखकर नल को उसके प्रति बड़ा आदर बढ़ा—पुन सुरत की कामना जगाता। प्रिय का ऐसा आदर क्या मिला, मानो सर्वस्व मिल गया। भाव यही है कि नल दमयन्ती को देख-देख निरंतर मुग्ध होता रहा। कामशास्त्र के अनुसार रतांतकाल में नारी का मुख अत्यन्त आदर-योग्य बन जाता है—'रतान्तसमये योषिन्मुखमत्यादरकारि भवति' ॥ ११७ ॥

स्वेदवारिपरिपूरितं प्रियारोमकूपनिवहं यथा यथा।
नैषधस्य दृगपात् तथा तथा चित्रमापदपतृष्णता न सा ॥ ११८ ॥

जीवातु—स्वेदेति। नैषधस्य नलस्य, दृक् दृष्टिः, स्वेदवारिणा घर्मोदकेन, परिपूरितं सम्भृतम्, प्रियायाः भैम्याः, रोमकूपाणां लोमच्छिद्राणाम्, निवहं समूहम्, यथा यथा येन येन, यावता परिमाणेनेत्यर्थः। अपात् पिबति स्म। पिवतेर्लुङि 'गातिस्था—' इत्यादिना सिचो लुक्। सा दृष्टि, तथा तथा तेन तेन, तावता परिमाणेनेत्यर्थः। अपतृष्णतां पिपासानिवृत्तिम्, न आपत् नालभत, वितृष्णा नाभूदित्यर्थः। इति चित्रम् आश्चर्यम्, बहुकूपसम्भृतोदकपानेऽपि तृष्णा न अपगता इति विरुद्धमित्यर्थः। लोकोत्तरवस्तुदर्शने तृष्णावर्द्धते एवेति विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ११८ ॥

अन्वय—नैषधस्य दृक् स्वेदवारिपरिपूरितं प्रियारोमकूपनिवहं यथा यथा अपात् तथा तथा सा अपतृष्णता न आपत्—चित्रम्!

हिन्दी—निषधराज (नल) की दृष्टि स्वेद-जल से परिपूर्ण प्रिया (दमयन्ती) के रोम-कूप समूहों का जितना-जितना पान करती थी (देखती थी), उतना-उतना वह (दृष्टि) पिपासानिवृत्ति को न प्राप्त होती थी—यह विस्मयजनक है।

टिप्पणी—मनुष्यों की प्यास चाहे जितनी हो, ठंढे कूप-जल के पान से शांत हो ही जाती है, किन्तु यहाँ आश्चर्यजनक यह था कि नल की दृष्टि की प्यास प्रियारोमों के कूप के कूप पीकर भी शांत न हो रही थी। आशय यह कि सुरत-श्रम जल से आपूर्ण प्रिया के रोम-कूपों के आकर्षण में बँधी नल की दृष्टि देख-देख कर तृप्ति न पा रही थी। नल जितना देखता था, उतनी ही

दर्शनतृष्णा बढ़ती जाती थी। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोधाभास अलंकार है, क्योंकि अनेक कूपों का सुधासम जल पीने पर भी तृष्णा न बुझना लोकविरुद्ध है; परिहार है कि लोकोत्तरवस्तु के दर्शन से तृष्णा बढ़ती ही है ॥ ११८ ॥

वान्तमाल्यकचहस्तसंयमन्यस्तहस्तयुगया स्फुटीकृतम् ।
बाहुमूलमनया तदुज्ज्वलं वीक्ष्य सौख्यजलधौ ममज्ज सः ॥ ११९ ॥

जीवातु—वान्तेति। सः नलः, वान्तम् उद्गीर्णम्, परित्यक्तमित्यर्थः। प्रबलरमणवेगजसञ्चालनेनेति भावः। 'वान्त' इत्यत्र 'वीत' इति पाठान्तरं साधु। माल्यं कुसुमस्रक् येन तादृशस्य कचहस्तस्य केशपाशस्य, संयमे बन्धने, न्यस्तं निवेशितम्, हस्तयुगं करद्वयं यथा तादृश्या, अनया भैम्या, स्फुटीकृतं हस्तोत्तोलनेन व्यक्तीकृतम्, उज्ज्वलं सुन्दरम्, तत् अतिमनोहरम्, बाहुमूलं कक्षदेशम् वीक्ष्य दृष्ट्वा, सौख्यजलधौ आनन्दसागरे, ममज्ज निमग्नीभूतः। बाहुमूलदर्शनस्य उद्दीपकत्वादिति भावः ॥ ११९ ॥

अन्वयः—वान्तमाल्यकचहस्तसंयमन्यस्तहस्तयुगया अनया स्फुटीकृतम् तद् उज्ज्वलं बाहुमूलं वीक्ष्य सः सौख्यजलधौ ममज्ज।

हिन्दी—(सुरतसंमर्द में) फूल-माला के टूट कर बिखर जाने से खुल गये केशपाशों के बन्धन में कर-युग्म को निविष्ट करती (संलग्न) दमयंती द्वारा (ऊपर को उठाने से) प्रकट कर दिये गये उस उज्ज्वल (अतिमनोहर) बाहुमूल (काँख) को देख कर वह (नल) सुख-सागर में निमग्न हो गया।

टिप्पणी—रत-संवेग में केशों का संयमन करनेवाली फूल-माला बिखर गयी और दमयंती की वेणी खुल गयी, जिससे घन केश-पाश बिखर गया। रतांत के अनन्तर दमयंती अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर बाल सँवारने लगी, जिससे उसकी काँख—रमणीय कामवसतिस्थानों में से एक-स्पष्ट दीखने लगी। नल ने उसे देखकर अपार आनन्द प्राप्त किया ॥ ११९ ॥

वीक्ष्य पत्युरधरं कृशोदरी बन्धुजीवमिव भृङ्गसङ्गतम् ।
मञ्जुलं नयनकज्जलैर्निजैः संवरीतुमशकत् स्मितं न सा ॥ १२० ॥

जीवातु—वीक्ष्येति। कृशोदरी क्षीणमध्या, सा दमयन्ती, मञ्जुलं मनोहरम्, पत्युः नलस्य, अधरं दशनच्छदम्, निजैः स्वकैः, नयनकज्जलैः नेत्राञ्जनैः,

नेत्रचुम्बनसङ्क्रान्तैरिति भाव । भृङ्गसङ्गतम् अलिचुम्बितम्, बन्धुजीवं बन्धूकपुष्पम् इव स्थितम् वीक्ष्य दृष्ट्वा, स्मितं मन्दहासम्, सवरीतु निरोद्धुम्, न अशकत् न शक्ताऽभूत्, हास. प्रसक्त एवेति भावः ॥ १२० ॥

अन्वय —कृशोदरी सा निजै. नयनकज्जलैः मञ्जुल भृङ्गसङ्गत बन्धुजीवम् इव पत्युः अधरं वीक्ष्य स्मितं सवरीतु न अशकत् ।

हिन्दी-कृश उदरवती (पतली कमरवाली 'तनुमध्या') वह (दमयंती) अपने (दमयंती) नयनों के काजल (लगने) से मनोरथ, भ्रमरों से युक्त दोपहरी के फूल के तुल्य पति (नल) के अधर को देखकर मुस्कुराहट न रोक सकी ।

टिप्पणी—प्रणयातुर प्रिय नल ने प्रिय दमयंती के काजल-अँजे नेत्र को अधरों से चूमा था, अतः उस लाल अधर पर काजल लग गया था। वह लाल प्रिय-अधर काला काजल लग जाने से ऐसा प्रतीत होता था, जैसे दुपहरिया के लाल फूल पर काला भौंरा बैठा हो। प्रिय की इस 'शोभा' को देखकर प्रिया प्रयत्न करने पर भी मुस्कराना न रोक सकी। 'उत्तमा' ऐसा नहीं करती कि पति के समुख हँस पड़ें, परन्तु नल का यह रूप ऐसा था कि मुँह फेरकर दमयंती मुस्कुराने को विवश हो गयी ॥ १२० ॥

तां विलोक्य विमुखश्रितस्मितां पृच्छतो हसितहेतुमीशितुः ।
ह्रीमती व्यतरदुत्तरं वधूः पाणिपङ्करुहि दर्पणार्पणाम् ॥ १२१ ॥

जीवातु—तामिति । ता दमयन्तीम्, विमुख पराङ्मुख यथा तथा, श्रितस्मितां कृतमन्दहासाम्, विलोक्य दृष्ट्वा, हसितहेतु स्मितकारणम्, पृच्छत जिज्ञासयतः, ईशितु पत्यु. नलस्य, पाणिपङ्करुहि करपद्मे, ह्रीमती लज्जावती, वधूः नवोढा भैमी, दर्पणार्पणां मुकुरप्रदानरूपमेव, उत्तर व्यतरत् अदात् । अधरे कज्जलरेखादर्शनार्थमिति भाव. ॥ १२१ ॥

अन्वयः—विमुखश्रितस्मितां तां विलोक्य हसितहेतुं पृच्छत. ईशितु. पाणिपङ्करुहि ह्रीमती वधू. दर्पणार्पणाम् उत्तरं व्यतरत् ।

हिन्दी—मुँह फेरकर मुस्कुराती उसे (दमयंती को) देखकर हँसी का कारण पूछते स्वामी (नल) के करकमल में दर्पण अर्पित करके लज्जावती नववधू (दमयंती) ने उत्तर दिया ।

टिप्पणी—जब दमयंती से उसके अचानक हँस पड़ने का कारण नल ने जानना चाहा तो लज्जाशीला होने से नवोढा दमयंती ने मुख से कुछ न कहा, प्रत्युत स्वामी के हाथ में दर्पण दे दिया कि देख लो अपना रूप–काजल लगा अधर और समझ लो हँसी का हेतु ॥ १२१ ॥

लाक्षयाऽऽत्मचरणस्य चुम्बनाच्चारुभालमवलोक्य तन्मुखम् ।

सा ह्रिया नतनताननाऽस्मरच्छेषरागमुदितं पतिं निशः ॥ १२२ ॥

जीवातु—लाक्षयेति । सा भैमी, आत्मचरणस्य निजपादतलस्य, चुम्बनात् रतिप्रार्थनाकाले ललाटे एव स्पर्शकरणात् हेतोः, लाक्षया अलक्तकेन, निजचरणालक्तकस्पर्शेनेत्यर्थः । चारुभालं रम्यललाटम्, तस्य नलस्य, मुखम्, आननम्, अवलोक्य दृष्ट्वा, ह्रिया भर्तृकर्तृकचरणपतनस्मरणजलज्जया, नतनतानना अतिनम्रमुखी सती, उदितं प्राप्तोदयम्, शेषरागं तदानीमपि किञ्चिदवशिष्टलौहित्यम्, निशः निशायाः । 'पद्दन्नोमास्—' इत्यादिना निशायाः निशभावः । पतिं नाथं चन्द्रम्, अस्मरत् स्मृतवती ललाटस्य अर्द्धचन्द्राकृतित्वात् तत्र निजपादालक्तकरागसंस्पर्शाच्च मुखस्य तादृशचन्द्रतुल्यत्वमिति भावः । स्मरणालङ्कारः ॥ १२२ ॥

अन्वयः—आत्मचरणस्य चुम्बनात् लाक्षया चारुभालं तन्मुखम् अवलोक्य ह्रिया नतनतानना सा उदितं शेषरागं निशः पतिम् अस्मरत् ।

हिन्दी—अपने (दमयंती के) चरण-चुम्बन के कारण अलक्तक (आलता-महावर) से (रंजित) सुन्दर ललाट-युत उस (नल) के मुख को देखकर लज्जा से अति-विनम्रमुखी उसे (दमयंती को) उदय-प्राप्त, (किन्तु) कुछ लालिमा-शेष रात्रि के स्वामी (निशानाथ) का स्मरण होने लगा ।

टिप्पणी—प्रणय-मान-कुपिता प्रिया को प्रसन्न करने के लिए रति-प्रार्थी नल ने उसे अलक्तक-रँगे चरणों पर विनिपात करके मनाया और 'पद्मिनी' दमयंती के साथ 'पद्मबन्ध'—पंकजासन में रमण किया, जिससे दमयंती के चरणों का आलता नल के मस्तक पर लग गया । सुरतांत के अनन्तर उसे देखकर सुरत-काल में अपनी धृष्टता का स्मरण करके कि उसने स्वामी को अपने चरणों पर मस्तक रखने को विवश किया, वह अत्यन्त लज्जित हुई ।

उस समय नल का चन्द्रमुख देखकर दमयती को उदयकालीन राग से युक्त चन्द्र का स्मरण हो आया। ललाट उदित चन्द्र के तुल्य और लाल आलता का चिह्न नवोदय-राग के समान। भाव यह कि उदित, ईषद् लालिमायुक्त चन्द्र को देखकर जितना आनन्द होता है, वैसा ही आनन्द दमयती को नल का ललाट देखकर मिला। मल्लिनाथ के अनुसार स्मरणालंकार ॥ १२२ ॥

स्वेदभाजि हृदयेऽनुबिम्बितं वीक्ष्य मूर्त्तमिव हृद्गतं प्रियम्।
निर्ममे धुतरतश्रमं निजैर्ह्रीनताऽतिमृदुनासिकानिलैः ॥ १२३ ॥

जीवातु—स्वेदेति। स्वेदभाजि स्विन्ने, हृदये वक्षसि, अनुबिम्बितं प्रतिबिम्बितम्, अत एव हृद्गतं नियतचिन्तया हृदयावस्थितम् चिन्तनीयत्वादमूर्त्तमपीति भावः। प्रियं कान्तं नलम्, मूर्त्तं मूर्त्तिमन्तमिव, वीक्ष्य दृष्ट्वा, ह्रीनता लज्जाऽवनता, दमयन्तीति शेषः। निजैः स्वीयैः, अतिमृदुभिः अतिकोमलैः, मन्दवेगैरित्यर्थः। नासिकानिलैः निःश्वासमारुतैः, धुतं निरस्तं, रतश्रमं सुरतजनितक्लमः यस्य तं तथोक्तम्, निर्ममे चकार इवेति शेषः। तस्य श्रममपनुदतीव स्थिता इत्युत्प्रेक्षा ॥ १२३ ॥

अन्वय.—स्वेदभाजि हृदये अनुबिम्बितं हृद्गतं मूर्त्तम् इव प्रियं वीक्ष्य ह्रीनता निजैः अतिमृदुनासिकानिलैः धुतरतश्रमं निर्ममे।

हिन्दी—श्रमजल से युक्त वक्ष पर प्रतिबिम्बित मन में बसने, मानो मूर्त्त (प्रत्यक्ष हुए) प्रिय (नल) को देखकर लज्जा से विनत (दमयती) ने अपने अत्यन्त मन्द निःश्वास वायु से जैसे (प्रिय की) सुरतजन्य क्लान्ति दूर कर दी।

टिप्पणी—रतोत्पन्न स्वेद जल से दमयती का वक्ष परिपूर्ण था, उसमें अलक्तकांचित-ललाट नल का प्रतिबिम्ब पड रहा था, जिसे देखकर सुरतकालीन अपनी धृष्टता का स्मरण कर दमयती को लाज लग रही थी। सुरतश्रम के कारण उस समय तक दमयती के श्वासोच्छ्वास अत्यन्त धीरे धीरे आ जा रहे थे। लगता था कि दमयती के मनमें बसता प्रिय नल उसके वक्ष पर मूर्त हो गया है। प्रतीत होता था कि वक्ष पर प्रतिबिंब रूप में प्रत्यक्ष हुआ प्रिय दमयती के मन्द श्वासोच्छ्वास रूप मन्द, सुगन्धि पवन से सुरतक्लान्तिरहित हो गया है। आशय यह कि लज्जानम्रमुखी, धीमे धीमे साँसें

भरती, सुरत-श्रम-स्वेद से क्लिन्न दमयंती को देखकर नल का जैसे रत-श्रम मिट गया और वह प्रसन्न हो गया और दमयंती भी हर्ष-वश धीमे-धीमे निःश्वास लेने लगी। मल्लिनाथ और नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥१२३॥

सूनसायकनिदेशविभ्रमैरप्रतीततरवेदनोदयम्।
दन्तदंशमधरेऽधिगामुका साऽस्पृशन्मृदु चमच्चकार च ॥ १२४ ॥

जीवातु—सूनेति। सा भैमी, सूनसायकस्य पुष्पबाणस्य, कामस्येत्यर्थः। निदेशविभ्रमैः आज्ञाविलासैः, अप्रतीततरः अतिशयेनाज्ञातः, 'अप्रतीतचरः' इति पाठः साधुः। अप्रतीतचरः पूर्वं किमपि अज्ञात इत्यर्थः। वेदनोदयः व्यथोत्पत्तिः यस्मिन् तं तादृशम्, मदनपारवश्यात् प्राक् अज्ञातमानदुःखमित्यर्थः। अधरे निजोष्ठे, दन्तदंशं नलस्य दन्तेन दंशनम्, अधिकामुका जानती, वेदनया अनुभवन्ती सती। 'लषपत—' इत्यादिना उकञ्, 'नलोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। मृदु मन्दं यथा तथा, अस्पृशत् करतलेन दन्तदंशं परामृशदित्यर्थः। चमच्चकार च किमेतत्? कदा जातमिति साश्चर्या बभूव च ॥ १२४ ॥

अन्वयः—सूनसायकनिदेशविभ्रमैः अप्रतीततरवेदनोदयम् अधरे दन्तदंशम् अधिगामुका सा मृदु अस्पृशत् चमच्चकार च।

हिन्दी—पुष्पबाण (काम) की आज्ञा के विभ्रम-विलासों के कारण जिसमें पीड़ा की उत्पत्ति प्रतीत नहीं हुई थी, ऐसे अधर में दंतक्षत की पीड़ा का अनुभव करती उस (दमयंती) ने धीरे-से छुआ और (पीड़ा से) चमक उठी।

टिप्पणी—संभोग-वेला में मदनाधीन दमयंती का नल-द्वारा अधर में किये दंतक्षत की ओर न तो ध्यान ही गया और न उस दंश की व्यथा की ही अनुभूति हुई; मदन-परवशा को उस सब की प्रतीति भी कैसे होती? सुरतांत के अनन्तर मदनज्वर उतर जाने पर उसे अधर-पीड़ा की प्रतीति हुई और उसने धीरे से उसपर अंगुलि रखी और दुखने से चमक उठी। नारायण के अनुसार सिसकारी भरती काँप गयी और नारायण तथा मल्लिनाथ की दमयंती को 'दंत-दंश कब हुआ, कैसे हुआ'—इत्यादि पर आश्चर्य-सी हुआ ॥ १२४ ॥

वीक्ष्य वीक्ष्य करजस्य विभ्रमं प्रेयसार्जितमुरोजयोरियम् ।
कान्तमैक्षत हसस्पृशं कियत्कोपसङ्कुचितलोचनाञ्चला ॥ १२५ ॥

जीवातु—वीक्ष्येति । इयं भैमी, प्रेयसा प्रियतमेन नलेन, अर्जितम् उत्पादितम्, कृतमित्यर्थः, उरोजयोः निजकुचयोः, करजस्य विभ्रमं नखक्षतरूप विलासम्, वीक्ष्य वीक्ष्य दृष्ट्वा दृष्ट्वा, कियत् किञ्चित्, कोपेन रोषेण, सङ्कुचितौ कुटिलीकृतौ, लोचनाञ्चलौ नेत्रप्रान्तौ, कटाक्षावित्यर्थः । यया सा तादृशी सती, हसं हास्यम्, स्पृशति परामृशतीति हसस्पृशं हसन्तम्, कान्तं नलम्, ऐक्षत दृष्टवती ॥ १२५ ॥

अन्वयः—प्रेयसा उरोजयोः अर्जितं करजस्य विभ्रमं वीक्ष्य-वीक्ष्य कियत्कोपसङ्कुचितलोचनाञ्चला इयं हसस्पृशं कान्तम् ऐक्षत ।

हिन्दी—प्रियतम (नल) द्वारा कुचों पर किये नखों के विलास (नखक्षत) को बारम्बार देखकर किंचित् कोप से नेत्र प्रांत संकुचित करती हुई यह (दमयन्ती) मन्द-मन्द विहँसते प्रिय स्वामी (नल) को देखने लगी ।

टिप्पणी—सम्भोगवेला में नल ने दमयन्ती के उरोजों पर नखक्षत कर दिये थे, दमयन्ती उन्हें देख-देखकर कोप-भान से नेत्र सकुंचित करके प्रिय नल की ओर देखती, किन्तु वह धृष्टतापूर्वक हँस देता कि हाँ, यह नखशिल्प तो उसका ही बनाया हुआ है । दमयन्ती और चिढ़ जाती । नारायण के अनुसार अल्पकोप करने से दमयन्ती की उत्तमता और धीरता व्यंजित हुई ॥ १२५ ॥

रोषभूषितमुखीमिव प्रियां वीक्ष्य भीतिदरकम्पिताक्षरम् ।
तां जगाद स न वेद्मि तन्वि ! तं ब्रूहि शास्मि तव कोपरोपकम् ॥ १२६ ॥

जीवातु—रोषेति । सः नलः, तां पूर्वोक्तरूपकोपसङ्कुचितलोचनाञ्चलाम्, प्रियां दमयन्तीम्, रोषेण कोपेन, भूषितमुखीम् आरक्तवर्णतया अलङ्कृताननामिव, स्थितामिति शेषः । वीक्ष्य विलोक्य, भीत्या भयेन, दरकम्पिताक्षरम् ईषच्चलाक्षरं यथा तथा, जगाद उवाच । किमिति ? तन्वि ! हे कृशाङ्गि ! तव ते, कोपरोपकं क्रोधजनकम्, जनमिति शेषः । न वेद्मि न जानामि । तम् अपराधिनं जनम्, ब्रूहि कथय । शास्मि दण्डयामि । अहमिति शेषः ॥ १२६ ॥

अन्वयः—रोषभूषितमुखीम् इव तां प्रियां वीक्ष्य सः भीतिदरकम्पिताक्षरं जगाद—तन्वि, तव कोपरोपकं न वेद्मि, तं ब्रूहि, शास्मि ।

हिन्दी—(नख-क्षत जनित) कोप से मानो अलंकृत उस प्रिया (दमयन्ती) को देखकर वह (नल) भय से काँपते वचन बोला—हे कोमलांगि, तेरे क्रोध के जनक (कोप उभारने वाले अपराधी) को मैं नहीं जानता; उसे बता, दण्ड दूँगा ।

टिप्पणी—कुछ मान-कोप-प्रकट करती दमयन्ती नल को और भी रम्य लग रही थी, जैसे कोप ने उसका शृंगार करके सौंदर्य बढ़ा दिया हो । सब कुछ जानकर भी जैसे नाटक करता नल दमयन्ती से कहने लगा कि तुझ कोमलांगी को पीड़ित करके क्रोध दिलाने वाला अपराधी कौन है ? वह बताये, उस अपराधी को तुरन्त दण्डित किया जायेगा । प्रणयियुगल की विलासलीला का चित्रण ।। १२६ ।।

रोषकुङ्कुमविलेपनान्मनाक् नन्ववाचि कृशतन्ववाचि ते ।
भूदयुक्तसमयेव रञ्जना माऽऽनने विधुविधेयमानने ।। १२७ ।।

जीवातु—रोषेति । ननु अये ! कृशतनु ! क्षीणाङ्गि ! सम्बुद्धौ नदी॰ ह्रस्वः । अवाचि अवनते । अवपूर्वादञ्चतेः क्विन् । अवाचि वाचंयमे, वाग्विरहिते इत्यर्थः । तथा विधुना चन्द्रेणापि, विधेया कर्तव्या, मानना पूजा यस्य तादृशे. विधोरपि उत्कृष्टे इत्यर्थः । ते तव, आनने मुखे, अयुक्तः अनुचितः, समयः कालो यस्याः तादृशी, रमणाकाङ्क्षाया अपरितृप्तत्वेन इदानीं प्रसन्नताया एवौचित्यादिति भावः । रोषः कोप एव, कुङ्कुमं काश्मीरजम्; तस्य विलेपनात् प्रलेपाद्धेतोः, मनाक् ईषदपि, रञ्जना रक्तिमा, मा भूत् एव न भवत्वेव । निष्कलङ्के मुखे रोषकलङ्कस्य नेदानीं कालः इति निष्कर्षः ।

अन्वयः—ननु कृशतनु, अवाचि विधुविधेयमानने ते आनने अयुक्तसमया एव रोषकुङ्कुमविलेपनात् मनाक् रञ्जना मा भूत् ।

हिन्दी—हे कोमलांगि, शब्दरहित (मूक), चन्द्र द्वारा भी सम्मान योग्य तेरे (दमयन्ती) मुख पर अवसर-विरुद्ध ही रोष रूप केसर के लेप से थोड़ी भी लाली न हो ।

टिप्पणी—चुपचाप वंक नेत्रों से निहारती दमयन्ती से नल ने कहा कि

उसने तो अपने जाने प्रिया के प्रति कोई अपराध नहीं किया है, जो उस कोमलांगी ने कोप की केसर से अपने मुख को लाल बना डाला है और रोष के कारण बोलती भी नहीं। यह रात्रि है—रमणकाल, इस समय थोड़ा सा भी रोष अनुचित है—अनवसर कृत्य। यह तो ऐसे हो रहा है कि जैसे शीत काल में उष्ण होने से लेपन योग्य केसर का कोई वसन्त ऋतु में लेप करले, जबकि उस समय शीतल चन्दन का लेप होना चाहिए। रमण वेला रोष में केसर की लाली नहीं, मुख पर चन्दन-सम हास होना उचित है। अतः दमयन्ती को रोष नहीं करना चाहिए। क्या वह निष्कलंक चन्द्राधिक समान्य मुख पर रोष का कलंक लगाती है? कलंक होने से तो मुख चन्द्र द्वारा समान्य नहीं रहेगा, चन्द्र-तुल्य हो जायेगा, सो यह उचित नहीं ॥ १२७ ॥

क्षिप्रमस्यतु रुजा नखादिजास्तावकीरमृतशीकरं किरत्।
एतदर्थमिदमर्जितं मया कण्ठचुम्बि मणिदाम कामदम् ॥ १२८ ॥

जीवातु—क्षिप्रमिति। हे प्रिये! कण्ठचुम्बि गलदेशविलम्बि, कामदम् अभीष्टपूरकम्, इदं दृश्यमानम्, मणिदाम रत्नमालिका। अमृतशीकरं सुधाबिन्दुम्, किरत् वर्षत् सत्, नखादिजाः नखदन्तक्षतादिजन्याः, तावकीः त्वदीयाः, रुजाः पीडाः, भिदादित्वादङ्प्रत्ययः। क्षिप्रं शीघ्रम्, अस्यतु दूरीकरोतु, मया एतदर्थं क्षतादिजपीडानिरासार्थम् एव, अर्जितं सङ्गृहीतम्, इदं मणिदामेति शेषः ॥ १२८ ॥

अन्वय—कण्ठचुम्बि कामदम् अमृतशीकरं किरत् मणिदाम नखादिजाः तावकीः रुजाः क्षिप्रम् अस्यतु, इदं मया एतदर्थम् अर्जितम्।

हिन्दी—(मेरे-नल के) कण्ठ को चूमती (गले में पड़ी) अभीष्ट देने वाली, अमृतबिन्दु बरसाती यह मणिमाला नखक्षतादि से उत्पन्न तुम्हारी व्यथा तुरन्त दूर कर देगी, मैंने इसीनिमित्त इसका संग्रह किया है।

टिप्पणी—नखक्षत से होती पीड़ा को दूर करने के लिए और रूठी प्रिया को मनाने के लिए दमयन्ती को नल ने अपनी मणिमाला पहिना दी, जिसका कुचों से स्पर्श होते ही सब व्यथा समाप्त हो जाय ॥ १२८ ॥

स्वापराधमलुपत् पयोधरे मत्करः सुरधनुः करस्तव।
सेवया व्यजनचालनाभुवा भूय एव चरणौ करोतु वा ॥ १२९ ॥

जीवातु—त्वेति । हे प्रिये ! तव ते, पयोधरे स्तने, मेघे च । 'पयोधरः कोषकारे नारिकेले स्तनेऽपि च । कशेरुमेघयोः पुंसि' इति मेदिनी । सुरधनुः इन्द्रचापाकृति नखाङ्कम्, इन्द्रचापञ्च करोतीति तादृशः । 'दिवाविभा—' इत्यादिना टप्रत्ययः । मत्करः मम पाणिः, करः सूर्यकिरणश्च, व्यजनस्य तालवृन्तस्य, चालनया संचालनेन, वायुप्रवाहणेन च भवति सम्पादयतीति तादृशया, सेवया परिचर्यया, स्वापराध नखक्षतकरणजनितनिजदोषम्, अलुपत् नुनोद, प्रागेवेति भाव । लुम्पेः लृदित्वात् च्लेरङादेशः । भूय एव पुनरपि, चरणौ वा तव पादौ वा, करोतु धातूनामनेकार्थत्वात् सेवतामित्यर्थः । सामान्ये विशेषलक्षणा ॥ १२९ ॥

अन्वयः—ते पयोधरे सुरधनुःकरः मत्करः व्यजनचालनाभुवा सेवया स्वापराधम् अलुपत्, भूयः एव तव चरणौ करोतु ?

हिन्दी—तेरे (दमयन्ती के) पयोधर-रूप पयोधर (मेघ रूप स्तन) पर सुरधनुष् (इन्द्रधनुष्) के आकार का नखक्षत बनानेवाला मेरा (नल का) सूर्य-किरण-सा कर (हाथ) पखाझलने रूप वायुप्रवाह से संजात सेवा द्वारा अपने अपराध का मार्जन कर चुका है; अथवा पुनः तुम्हारी (दमयंती) चरण-सेवा करे ?

टिप्पणी—नल ने और प्रसन्न करने के लिए दमयन्ती की चाटुकारी करते हुए कहा कि यद्यपि पंखाझल कर सुरतश्रम-निवारण के हेतु उस (नल) का कर सेवा करके नखक्षत बनाने के अपने अपराध का मार्जन कर चुका है (श्लोक संख्या ११५), तथापि और दण्ड पाने को वह उद्यत है, सो यदि आदेश हो तो उसे प्रिया के चरण दबाने आदेश दिया जाय ? स्तनों पर कर द्वारा नखक्षत बनाना ऐसा है, जैसा कि मेघमध्य सूर्य-किरण द्वारा इन्द्रधनुष् बनाना। वायु-प्रवाह से जैसे मेघ उड़ जाता है, वैसे ही पंखा-झलकर पीड़ा दूर करने की चेष्टा है। अनेक वर्ण के रत्नों से जड़ी अंगूठी पहिने हाथ की अनेकवर्णा आभा से स्तन-पयोधर पर इन्द्रधनुष्-सा रंगीन नखक्षत बना। रत-वेला में नखक्षत दोष तो होता नहीं; वैसे ही, जैसे सूर्य का इन्द्रचाप बना-देना दोष नहीं होता। सूर्य-कर जैसे निर्दोष है, वैसे ही नखक्षतकारी नल कर भी। फिर भी यदि दमयन्ती को उससे पीड़ा हुई, व्यजनसंचालन-सेवा में

कर को लगा, एक बार उसे दण्ड दे दिया गया। और भी दण्ड दिया जा सकता है 'चरण-कर' के। 'चरणौ करोतु'—चरण सेवा करे। चरणों की सेवा उन्हें दबाना भी होता है और नारायण के अनुसार—'सम्भोगार्थमूर्ध्वी-करोतु।' संभोग के निमित्त चरण ऊपर करे। आशय यह है कि 'चरण सेवा' से यदि दमयन्ती का रोष मिट सके तो नल उद्यत है ॥ १२९ ॥

आननस्य मम चेदनौचिती निर्दयं दशनदंशदायिनः।
शोध्यते सुदति ! वैरमस्य तत् किं त्वया वद विदश्य नाधरम् ? ॥१३०॥

जीवातु—आननस्येति। हे प्रिये ! निर्दयं निष्कृपं यथा तथा, दशनदंश दन्तेन दशनम्, ददाति करोतीति तादृशस्य, ते अधरं दष्टवत इत्यर्थः। मम आननस्य मन्मुखस्य, अनौचिती अन्यायता, चेत् यदि तर्हि हे सुदति ! सुन्दर-दशने ! त्वया भवत्या, अधरं मम ओष्ठम्, विदश्य—दष्ट्वा, दन्तक्षतं कृत्वेति यावत्। अस्य मदाननस्य, तत् पूर्वोक्तरूपम्, वैरं शत्रुता, किं कथं शोध्यते ? न निर्यात्यते ? न प्रतिक्रियते ? इत्यर्थः। वद तत् कथय। मद्दशनदंशस्य प्रतिदशन-मेव प्रतीकार इति भावः ॥ १३० ॥

अन्वयः—निर्दयं दशनदंशदायिनः मम आननस्य अनौचिती चेत् सुदति, त्वया (मम) अधरं विदश्य वद, तत् अस्य वैरं किं न शोध्यते ?

हिन्दी—निर्दयतापूर्वक दाँतों का दंश देते (दन्तक्षत करते) मेरे (नल के) मुख का अन्याय हो तो हे सुन्दर दाँतोंवाली (दमयन्ती) कह कि तू मेरे अधर का दंश करके उस (दन्तक्षत रूप) इस (मुख) के वैर का शोधन क्यों नहीं कर डालती ?

टिप्पणी—नल ने पुनः कहा कि यदि दन्तक्षत करके पीड़ा देने वाले अन्यायी नल के मुख पर दमयन्ती का क्रोध है तो जैसे को तैसा दण्ड देकर वह वैर मिटा सकती है। नल मुख ने दाँतों से ओठ काटकर अन्याय किया, दम-यन्ती के भी भले, सुन्दर, तीक्ष्ण दाँत हैं, वह 'सुदती' है, सो उचित है कि वह भी दाँतों से नल के अधर पर क्षत बना दे और वैर-शोधन कर ले। प्रणयोपहास ॥ १३० ॥

दीपलोपमफलं व्यधत्त यस्ते पटाहृतिषु मच्छिखामणिः।
नो तदागसि परं समर्थना सोऽयमस्तु पदपातुकस्तव ॥ १३१ ॥

जीवातु--दीपेति । हे प्रिये ! ते तव, पटाहृतिषु वस्त्राकर्षणकालेषु, यः यच्छिखामणिः मम चूडारत्नम्, दीपलोपं त्वत्कर्तृकदीपनिर्वापणम्, अफलं व्यर्थम् व्यधत्त चकार, स्वप्रभया आलोकोत्पादनात् तव प्रयत्नं निष्फलीचकार इत्यर्थः । तदागसि तस्मिन् अपराधे, परम् उत्कृष्टम्, समर्थना अनुमोदनम्, तदपराधस्य यौक्तिकत्वसमर्थनमित्यर्थः । नो न, अस्तीति शेषः । अत एव सः अयं शिखामणिः, तव ते, पदपातुकः पादपाती 'लपपत---' इत्यादिना उकञ् । अस्तु भवतु । प्रणिपातेन एवापराधप्रमार्जनं करोतु इत्यर्थः ।। १३१ ।।

अन्वयः—ते पटाहृतिषु यः मच्छिखामणिः दीपलोपम् अफलं व्यधत्त, तदागसि परं समर्थना नो, सः अयं तव पदपातुकः अस्तु ।

हिन्दी—तेरे (दमयन्ती के) वस्त्र-अपहरण में जिस मेरे मुकुटमणि ने (तेरा) दिया-बुझाना निष्फल कर दिया, उस अपराध के सम्बन्ध में कोई अनुमोदन अथवा परिहार नहीं है; वह (अपराधी) यह (मुकुटमणि) तेरे (दमयन्ती के) चरणों पर गिरे ।

टिप्पणी—नल ने दमयन्ती के 'किञ्चिद्रोष' (श्लोक संख्या १२५) के उत्पादक तीन अपराधों की कल्पना की—(१) नखक्षत, (२) दन्तक्षत और (३) मुकुटमणि के प्रभाव से अन्धकार न होने देकर दीप-निर्वापण को व्यर्थ कर देना । (श्लोक संख्या ८०–८३) । नखक्षत को तो उसने प्रकारान्तर से गुण ही सिद्ध कर दिया, वह तो स्तन-पयोधर के नखक्षत-सुरधनु से अलंकृत बनाया था; और फिर अपराधी 'कर' को व्यजन-परिचालनारूपा सेवा का दण्ड भी दे दिया गया था । जहाँ तक दंतदंश का सम्बन्ध है, प्रतीकार में दमयन्ती नल के अधर पर दंतदंश कर सकती है, किन्तु तीसरे अपराध—दीप न बुझने देकर निर्वस्त्र देखने का किसी प्रकार अनुमोदन तो हो ही नहीं सकता, उसका परिहार भी नहीं हो सकता । यह कार्य मुकुटमणि ने किया था, सो उसको दमयन्ती के चरणों पर गिर कर क्षमा-माँगने का दण्ड दिया जाता है । आशा है कि साध्वी, क्षमाशीला प्रिया क्षमा कर देगी ।। १३१ ।।

इत्यमुक्तिमुपहृत्य कोमलां तल्पचुम्बिचिकुरश्चकार सः ।
आत्ममौलिमणिकान्तिभङ्गिनीं तत्पदारुणसरोजसङ्गिनीम् ।। १३२ ।।

जीवातु—इत्थमिति । सः नलः, इत्थम् उक्तप्रकाराम्, कोमलां ललित-

पदाम्, उक्तिं वाणीम्, उपहृत्य उपायनीकृत्य, तस्याः सन्तोषविधानाय उपढौकनवत् प्रयुज्येत्यर्थः । तल्पचुम्बिन शय्यास्पर्शिन, मस्तकनमनादिति भावः। चिकुराः स्वकेशा यस्य स तादृशः सन्, आत्ममौलिमणिकान्तिः निजशिरोरत्नप्रभा एव, भङ्गिनी तरङ्गिणी, तरङ्गवाहवत् कुटिलतमा प्रसरणात् नदीत्यर्थः । ताम्, तत्पदे भैमीचरणावेव, अरुणसरोजे कोकनदद्वयम्, तत्सङ्गिनीं तद्युक्ताम् चकार विदधे । तत्पादयोर्नमश्चकार इत्यर्थः । नद्यो हि रक्तनीलकमलादियुक्ता भवन्तीति प्रसिद्धिः ॥ १३२ ॥

अन्वय.—इत्थं कोमलाम् उक्तिम् उपहृत्य तल्पचुम्बिचिकुरः सः आत्ममौलिमणिकान्तिभङ्गिनीं तत्पदारुणसरोजसङ्गिनीं चकार ।

हिन्दी—इस प्रकार कोमल-मृदु वचन-उपहार-देकर (वह कर) पर्यंक का चुम्बन करते शिरोरुहों से युक्त उस (नल) ने अपने मुकुट-मणि की आभा रूप तरंगिणी (नदी) को उस (दमयन्ती) के गुलाबी चरण-कमलों की संगिनी कर दिया ।

टिप्पणी—पूर्वोक्त (श्लोक संख्या १२६-१३१) प्रकार से मनाने के लिए मृदु वचन कहकर नल ने शय्या पर ही अपने मुकुट-मणि को दमयन्ती के चरणों में विनत हो रख दिया, जैसे मुकुट-मणि की कांति-रूपी नदी को अरुण कमलों के सदृश दमयन्ती के चरणों से युक्त कर दिया । मणि प्रभा में अरुणचरण नदी में खिले गुलाबी कमलों से शोभित हुए । इस प्रणति-क्रिया में नल के केश पर्यंक पर छितरा गये, जैसे नदी में शैवाल हो ।। १३२ ।।

तत्पदाखिलनखानुबिम्बनैः स्वैः समेत्य समतामिताय सः ।
रुद्रभीतिविजिगीषया रतिस्वामिनोपदशमूर्त्तितांभृता ॥ १३३ ॥

जीवातु—तदिति । सः नलः, स्वैः आत्मीयैः, तस्याः दमयन्त्याः, पदयोः चरणयोः, अखिलेषु समग्रेषु, दशस्वेवेति यावत् । नखेषु अनुबिम्बनैः, प्रतिबिम्बैः, समेत्य मिलित्वा, दशभिः मेलनेन एकादशसङ्ख्यको भूत्वेत्यर्थः । रुद्रेभ्यः एकादशभ्यः रुद्रदेवताभ्यः, भीतेः भयस्य, विजिगीषया जेतुमिच्छया, भयात् परित्रातुमिच्छया इत्यर्थः । उप समीपे दशानाम् उपदशाः एकादश इत्यर्थः । 'सङ्ख्ययाव्यया—' इत्यादिना बहुव्रीहौ समासान्तो डच् टिलोपश्च । मूर्तिः यस्य तस्य भावः तत्ता ता बिभर्तीति तादृशेन, रतिस्वामिना कामेन, समता

न्साम्यम्, इयाय प्राप। एकादशरुद्रजिगीषया एकादशमूर्तिधारी साक्षात् काम इव अलक्ष्यत इत्युत्प्रेक्षा ॥ १३३ ॥

अन्वयः—स्वैः तत्पदाखिलनखानुबिम्बनैः समेत्य सः रुद्रभीतिविजिगीषया रतिस्वामिनोपदशमूर्तिताभृता समताम् इयाय।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) के चरणों के सभी (दसों) नाखूनों में पड़ते अपने (नल के) प्रतिबिम्बों से मिलकर वह (नल) रुद्र (शिव) के भय से जीतने की इच्छा के कारण एकादशमूर्तियाँ धारण करते रतिनाथ (काम) की समानता को प्राप्त करने लगा।

टिप्पणी—काम-सम मनोरम नल जब दमयन्ती के चरणों विनिपात कर रहा था, तब दमयन्ती के पैरों के स्वच्छ दस नखों में नल के दस प्रतिबिम्ब झलकने लगे। दस प्रतिबिम्ब, और एक स्वयं नल (१० + १ = ११) मिल कर ग्यारह हो गये। उद्भावना है कि इस प्रकार 'रुद्र-कोप से डरे काम ने यह सोच कर, कि ग्यारह होकर मैं ग्यारह रुद्रों को जीत सकता हूँ, अपनी ग्यारह मूर्तियाँ बनालीं। ग्यारह कामों को एकादश रुद्रों से डरने की आवश्यकता नहीं रही। नारायण के अनुसार यहाँ आशय यह है कि यदि काम ग्यारह रूप बना ले, ग्यारह गुना हो सके, तो दमयन्ती के नखों में प्रतिबिम्बित हो एकादशमूर्तिधारी नल से साम्य पा सकता है;— इस प्रकार यहाँ अभूतोपमा है। मल्लिनाथ के अनुसार एकदश रुद्रों को जीतने के लिए नल एकादशमूर्तिधारी काम-सा दीखा;–यह उत्प्रेक्षा है।१३३।

आख्यतैप कुरु कोपलोपनं पश्य नश्यति कृशा मधोर्निशा।
एवमेव तु निशान्तरे वरं रोपशेषमनुरोत्स्यसि क्षणम् ॥ १३४ ॥

जीवातु—आख्यतैप इति। हे प्रिये! कोपस्य क्रोधस्य, लोपनं संहरणम्, कुरु विधेहि, क्रोधं परित्यज इत्यर्थः। यतः कृशा क्षीणा, अल्पपरिमाणा इत्यर्थः। मधोः वसन्तस्य, निशा रात्रिः, नश्यति अपगच्छति। पश्य अवलोकय, निशान्तरे तु अन्यस्यां रात्रौ पुनः, एवमेव इत्थमेव, क्षणं क्षणमात्रम्, न तु चिरमिति भावः। रोपशेषम् अविशिष्टक्रोधम् अनुरोत्स्यसि अनुसरिष्यसि, वरं तत्तु किञ्चित् प्रियम्, एषः नलः, आख्यत इति आह स्म। चक्षिङो लुङि ख्याञादेशे तङ्, 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इति च्लेरङादेशः ॥ १३४ ॥

अन्वय—एष आख्यत—कोपलोपन कुरु, पश्य क्षुद्रा मधो निशा नश्यति, एवम् एव निशान्तरे क्षण रोषशेषम् अनुरोत्स्यसि तु वरम् ।

हिन्दी—यह (चरण मे विनत नल) कहने लगा—क्रोध का लोप करो (गुस्सा दूर करो), देखो, छोटी वासन्ती रात बीत रही है, ऐसे ही दूसरी रात मे (आनेवाली अथवा शीतादि ऋतु की लबी रात मे) कुछ देर तक अवशिष्ट क्रोध कर लोगी तो अच्छा होगा ।

टिप्पणी—चरणो मे गिरे नल ने दमयन्ती से कोप दूर करने का अनुनय किया । अच्छा हो कि अब शेष कोप किसी दूसरी रात के लिए बचा रखे, अन्यथा उसी रात को सपूर्ण कोप कर लेगी तो आगे कहाँ से लायगी ? वसत की छोटी रात है, यदि वह ऐसी ही रोष करने मे चली गयी तो आनन्द कैसे मिलेगा ? अत उचित है कि दमयन्ती अब क्रोध का परित्याग कर क्रीडा-विलास मे लीन हो ॥ १२४ ॥

नाथ नाथमनयत् कृतार्थता पाणिनोपितनिजाङ्घ्रिपङ्कजा ।
तत्प्रणामधुतमानमानन स्मेरमेव सुदती वितन्वती ॥ १२५ ॥

जीवातु—नेति । अथ प्रियप्रणामानन्तरम्, पाणिभ्या कराभ्याम् गोपिते तच्छिर स्पर्शभयात् छादिते, निजाङ्घ्रिपङ्कजे स्वीयपादपद्मयुगल यया तादृशी, सुदती सुन्दरदन्तशालिनी, सा भैमी, तस्य नलस्य, प्रणामेन पादपतनेन, धूतमान दूरीभूतकोपम्, अपगतकोपचिह्नमित्यर्थ, आनन स्वमुखम्, स्मेर सस्मितम्, वितन्वती एव कुर्वती एव, नाथ स्वामिन नलम्, कृतार्थता पूर्णकामम्, अनयत् प्रापितवती ॥१२५॥

अन्वय—अथ पाणिगोपितनिजाङ्घ्रिपङ्कजा सुदती सा तत्प्रणामधुतमानम् आनन स्मेर वितन्वती एव नाथ कृतार्थताम् अनयत् ।

हिन्दी—तदनन्तर (नल के प्रणामादि करने पर) हाथ से अपने चरण-कमल को ढकती, सुन्दर दन्तावलि वाली उस (दमयन्ती) ने उस (प्रिय-पति नल) के प्रणत होने से जिसका कोप मान दूर हो गया था, ऐसे मुख को मन्दस्मित देकर (मुस्कुरा कर) स्वामी को कृतार्थ बना दिया ।

टिप्पणी—स्वामी के चरणो पर सिर रखकर मनाने से, चरणो मे स्वामी के सिर स्पर्श का निवारण करने के निमित्त अपने हाथ अपने पैरो पर रखकर

दमयन्ती मुस्कुरायी और इस प्रकार रोष छोड़कर स्वामी को पूर्णकाम बनाया ॥ १३५ ॥

तौ मिथोरतिरसायनात् पुनः सम्बुभुक्षुमनसौ बभूवतुः ।
चक्षमे न तु तयोर्मनोरथं दुर्जनी रजनिरल्पजीविता ॥ १३६ ॥

जीवातु—ताविति। तौ भैमीनलौ, मिथः अन्योऽन्यम्, रतिः अनुरागः एव, रसायनं जरादिघातावसादनाशकौषधविशेषः तस्मात्, 'यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद्रसायनम्' इति वाग्भटोक्तेः । प्रथमसुरतजावसादनाशकौषधविशेषसेवनेन पुनः प्रवृत्तिहेतोः, पुनः भूयः, सम्बुभुक्षुणी सम्भोक्तुमिच्छुनी, मनसी चित्ते ययोः तादृशौ सम्भोक्तुकामौ, बभूवतुः जज्ञाते । तु किन्तु, दुर्जनी दुष्टजन्मा, परसुखद्वेषित्वादिति भावः । अल्पजीविता वसन्तरात्रीणाम् अतिलघुत्वात् अचिरस्थायिनी, अल्पायुष्का च, रजनिः रात्रिः काचित् स्त्री च, तयोः दम्पत्योः, मनोरथम् अभिलाषम्, न चक्षमे न सेहे । शीघ्रमेव अवसितत्वात् विघ्नाचरणाच्चेति भावः । दुर्जनः परसुभासहोऽल्पजीवी चेति युक्तम् । रात्रेः अल्पावशिष्टत्वात् तयोः, पुनः सम्भोगवाञ्छा न पूर्णा इति तात्पर्यम् ॥ १३६ ॥

अन्वयः—तौ मिथः रतिरसायनात् पुनः सम्बुभुक्षुमनसौ बभूवतुः तु दुर्जनी अल्पजीविता रजनिः तयोः मनोरथं न चक्षमे ।

हिन्दी—वे दोनों (नवदम्पती नल-दमयन्ती) अन्योऽन्य के प्रति अनुराग-रूप रसायन के कारण फिर से भूखे-मनवाले (संभोगेच्छु) हो गये, किन्तु दुष्टजन्मा (अथवा जिसमें नवोढाएँ व्याकुल हों ऐसी) छोटे-मनकी दुष्ट-वधू-सी स्वल्प जीवना (छोटी) रात (वसन्त-रात्रि) उन दोनों (नल-दमयन्ती) की इच्छा (संभोगेच्छा) न सह सकी ।

टिप्पणी—नवदम्पती नवानुराग से परिपूर्ण थे, इस नवीन अनुराग के कारण अथवा अनुराग रूप सद्यः दलवर्द्धक, बुढ़ापा और रोग नाशक ओषध 'रसायन' प्राप्त करके वे सुरतश्लथ दम्पति पुनः संभोगेच्छु हो गये, किन्तु वसन्त की छोटी-रात तब तक समाप्त हो गयी और नवदम्पती पुनः संभोग न कर पाये । यहाँ रजनी को उस छोटे मन की दुष्ट स्त्री अथवा सपत्नी के रूप में संकेतित किया गया है, जो दूसरे का सुख नहीं देखपाती और स्वयं

प्राण देकर भी अन्य की इच्छा पूरी नहीं होने देती। यही दुष्ट स्वभाव है। आशय यही है कि रात समाप्त प्राय होने के कारण नल दमयन्ती की पुन सम्भोगेच्छा पूर्ण न हो सकी ॥ १३६ ॥

स्वप्तुमात्तशयनीययोस्तया स्वैरमाल्यत वचः प्रिया प्रिय.।
उत्सवैरधरदानपानजैर्मान्तरायपदमन्तराऽन्तरा ॥ १३७ ॥

जीवातु—स्वप्तुमिति। स्वप्तु निद्रातुम्, आत्तशयनीययो आश्रित-तल्पयो तयो प्रिययो मध्य, प्रियः नल, प्रिया भैमीम्, अधरयो रद-नच्छदयो, दानात् अन्योऽन्य चुम्बनाय समर्पणात्, तथा पानात् चुम्बनाच्च, जाय ते उत्पद्यन्ते इति तादृश, उत्सर्वः आनन्दैः, अन्तराऽन्तरा मध्ये मध्ये, दानपानयोर्मध्ये मध्ये इत्यर्थ। सान्तरायाणि सप्रतिबन्धानि, दानपानदर्प-विघ्नं विच्छिद्य विच्छिद्य प्रयोज्यमानानीत्यर्थ। पदानि सुप्तिङन्तरूपशब्दाः यस्मिन् तत् तादृशम् वच वाक्यम्, निजप्रेमज्ञापकमिति भाव। स्वैर यथेच्छम्, असम्बद्धरूप यथा तथेत्यर्थ। आल्यत अवोचत् ॥ १३७ ॥

अन्वयः—स्वप्तुम् आत्तशयनीययो. तयो प्रिय प्रियाम् अधरदानपानजै उत्सवै अन्तरा अन्तरा मान्तरायपद वच स्वैरम् आल्यत।

हिन्दी—शयन करने के लिए शय्या पर लेटे उन दोनो (नल-दमयन्ती) में प्रिय (नल) प्रिया से—अधर खण्डन और चुम्बन से सजात उत्सवों (अधर पान चुम्बनादिजन्य परमानन्द) के कारण बीच बीच मे अपूर्ण रह जाते वचन-स्वच्छदतया कहने लगा।

टिप्पणी—रात के समाप्तप्राय होने से नवदम्पती सुरत क्रीडा से विरत हो सो जाने के लिए पर्यंक पर लेट गये। बीच-बीच मे वे एक दूसरे का अधर पान कर लेते और चुम्बन करते। नल दमयन्ती से कुछ कह रहा था, किन्तु उसके वाक्य पूर्ण नहीं निकलते थे, क्योकि बात करते करते भी वही चुम्बनादि की क्रिया होती। वाक्यो के बीच कभी क्रिया नही होती थी, कभी कर्ता आदि न रहते थे। असम्बद्ध वचनो म कथन चल रहा था। आगे (श्लोक सख्या १३८–१४५) में नल का कथन है ॥ १३७ ॥

देवदूत्यमुपगत्य निर्दय धर्मभीतिकृततादृगागस ।
अस्तु सेयमपराधमार्जना जीवितावधि नलस्य नश्यना ॥ १३८ ॥

जीवातु—किं तत् वाक्यं तदेवाष्टभिराचष्टे—देवेत्यादि । हे प्रिये ! देवदूत्यं देवानां दूतकृत्यम्, उपगत्य स्वीकृत्य, देवदौत्यस्वीकारहेतोरित्यर्थः । निर्दयं निष्करुणं यथा तथा, धर्मभीत्या प्रतिश्रुतिभङ्गजनितधर्मलोपभयेन, कृतम् अनुष्ठितम्, तादृक् तथाभूतम्, इन्द्रादिवरणार्थमनुरोधात् प्रतिकूलाचरणरूपमित्यर्थः । आगः अपराधः येन तादृशस्य, नलस्य अपराद्धस्य मम सम्बन्धिनी, जीवितावधि यावज्जीवम्, सा इयं क्रियमाणेत्यर्थः । वश्यता तव आज्ञानुवर्तिता, 'यदुङ्गतः' इति यत्प्रत्ययः । अपराधस्य दोषस्य, मार्जना परिहारः, क्षालनीत्यर्थः । अस्तु भवतु । यावज्जीवं दास्येनापराधमिमं क्षालयिष्यामीत्यर्थः ॥ १३८ ॥

अन्वयः—देवदूत्यम् उपगत्य निर्दयं धर्मभीतिकृततादृशागसः नलस्य जीवितावधि सा इयं वश्यता अपराधमार्जना अस्तु ।

हिन्दी—देवों का दूतत्व प्राप्त कर निर्ममतापूर्वक धर्म के भय से वैसा अपराध करने वाले नल की जीवनपर्यंत यह (तेरी) अधीनता (उस) अपराध का परिहार बने ।

टिप्पणी—नल ने देवों का दूत-कार्य करते समय ऐसी अनेक बातें कही थीं, जो स्वभावतः नलानुरागिणी दमयंती को कटु और कष्ट प्रद प्रतीत हुई थीं । ऐसा निर्दय कार्य नल ने विवश होकर किया था, क्योंकि वह देवों से वचन-बद्ध हो चुका था । यदि वह उनका दूतत्व भली भाँति संपादित न करता तो धर्म-विरुद्ध होता । नल ने उसी अपराध का विवरण देते हुए दमयंती से कहा कि वह जीवन पर्यंत उसके आधीन रहेगा ॥'१३८ ॥

स क्षणः सुमुखि ! यत्त्वदीक्षणं तच्च राज्यमुरु येन रज्यसि ।
तन्नलस्य सुधयाऽभिषेचनं यस्त्वदङ्गपरिरम्भविभ्रमः ॥ १३९ ॥

जीवातु—स इति । सुमुखि ! हे सुवदनि ! यत् त्वदीक्षणं तव दर्शनम्, तव दर्शनलाभ इत्यर्थः । नलस्य नैषधस्य मम, सः क्षणः उत्सवः । 'अथ क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः' इत्यमरः । अनुपमानन्दजनकत्वादिति भावः । येन कर्मणा द्रव्येण वा, रज्यसि रक्ता भवसि, प्रीयसे इत्यर्थः । त्वमिति शेषः । 'कुषिरञ्जोः' इत्यादिना श्यन्, परस्मैपदञ्च । तच्च तदेव, उरु महत्, राज्यं राजत्वस्वरूपम्, तव प्रसन्नवदनदर्शनसुखस्य राज्यसुखादपि

अधिकसुखकरत्वादिति भाव । य त्वदङ्गस्य तव वक्षःस्थलाद्यवयवस्य, परिरम्भविभ्रम आलीङ्गनलीला, तत् एव सुधया पीयूषेण, अभिषेचन सिञ्चनम् अमृताभिषेचनवदङ्गाना प्रहर्षजननमित्यर्थ । अवसन्नस्यापि देहस्य उत्तेजकत्वादिति भाव । त्वत्सम्बन्ध विना मे न किञ्चिदपि रोचत इति निष्कर्ष ॥ १३९ ॥

अन्वय'—सुमुखि, यत् त्वदीक्षण नलस्य स क्षण, येन रज्यसि तत् च उरु राज्यम्, य त्वदङ्गपरिरम्भविभ्रम तत् सुधया अभिषचनम् ।

हिन्दी– हे सुमुखि, जो तुम्हें देखना है, नल का वह महान् उत्सव है, जिससे तू राज (प्रसन्न प्रीत) हो वही विशाल राज्य है और जो तेरे अगों का आ‌‌िगन विलास है वह अमृत से सिंचन है।

टिप्पणी—दमयन्ती के अनुराग म मतवाला नल कहने लगा कि दमयन्ती ही उसका सर्वस्व है। वह उसकी आत्मा के समुख है, इससे बढा आनन्द का उत्सव हो ही नहीं सकता। दमयन्ती के प्रसन्न मुख को देखना, नल की विशालतम राज्य प्राप्ति है और उसके आलिंगन से उसे सुधारस म अभिषिक्त होने का सुख और आनन्द मिलता है। दमयन्ती के बिना यह सब व्यर्थ होगा ॥ १३९ ॥

शर्म किं हृदि हरे' प्रियाऽर्पण ? किं शिवाऽर्द्धघटन शिवस्य वा ?।
कामये तव मयेह तन्वि ! त नन्वह सरिदुदन्वदन्वयम् ॥ १४० ॥

जीवातु—शर्मेति । हरे विष्णो, हृदि वक्षसि, प्रियाया हरिप्रियाया लक्ष्मीदेव्या, अर्पण दानम्, स्थानदानमित्यर्थ । वक्षसि धारणमिति यावत् । किं शर्म ? सुख किम् ? नैव सुखकरमित्यर्थ । सर्वथा एकीभावाभावादिति भाव । वा अथवा, शिवस्य महादेवस्य, शिवाया गौर्या, अर्द्धे अर्द्धाङ्गे, घटन निजार्द्धाङ्गसम्मेलनम् अर्द्धनारीश्वरभावमित्यर्थ । किं शर्म ? सुखकर किम् ? नैवेत्यर्थ । उभयोरर्द्धार्द्धाङ्गमात्रयोजनेन सर्वथा एकीभावाभावादिति भाव । तर्हि किं तत् शर्म, यत् त्व कामयसे ? इत्याह–ननु तन्वि ! हे कृशाङ्गि ! इह अस्मिन् लोके, अह नल, मया सह तव ते, त प्रसिद्धत्वेन सर्वथा प्रार्थनीयमित्यर्थ । सरिदुदन्वतो नदीसमुद्रयो, अन्वय मेलनम् तयो संयोगमिव संयोगमित्यर्थ । नदीसागरयोरिव एकात्म-

त्वेन मिश्रणमिति यावत् । कामये प्रार्थये । मिथुनान्तरमेलनवद् सरित्सागर-मेलने भेदानवभासात् इति भावः ॥ १४० ॥

अन्वयः—हरेः हृदि प्रियार्पणं किं शर्म ? शिवस्य वा शिवार्द्धघटने किम् ? ननु तन्वि, इह अहं मया तव तं सरिदुदन्वदन्वयं कामये।

हिन्दी—विष्णु का वक्ष परप्रिया (लक्ष्मी) का स्थापन क्या सुख है अथवा शिव का शिवा (पार्वती) की अर्द्धाङ्ग रूप में स्थापना ही क्या सुख है ? हे सुकुमारी, इस (संसार) में मैं अपने साथ तेरा वह (विख्यात) नदी-सागर-ऐक्य चाहता हूँ।

टिप्पणी—दमयन्ती की एक चित्तता और अनुराग के दो प्रसिद्ध उदाहरण हैं, विष्णु-लक्ष्मी, जिसमें प्रिय ने प्रिया को हृदय पर स्थान दे रखा है, दूसरा शिव-पार्वती, जिसमें वे दोनों एक से मिलकर अर्द्धनारीश्वर बन गये हैं। एकांगाश में शिव हैं, दूसरे में पार्वती । नल की आकांक्षा है कि नल-दमयन्ती का मिलन ऐसा हो कि उसमें भिन्नता या द्वैधीभाव दृष्टिगोचर ही न हो, विष्णु-लक्ष्मी और शिव-शिवा तो मिलकर भी पृथक्-पृथक् दृष्टिगत होते हैं, नल-दमयन्ती तो पूर्णतः एक ही प्रतीत हों, नदी सागर की भाँति, मिलने पर जिनकी स्थिति ऐसी हो जाती है कि अलग पहिचान ही नहीं रह जाती। पूर्ण एकता । तिल-तंडुल योग नहीं, नीर-क्षीर-संयोग ॥ १४० ॥

दीयतां मयि दृढं ममेति धीर्वक्तुमेवमवकाश एव कः ? ।
यद्विधूय तृणवद्दिवस्पतिं क्रीतवत्यसि दयापणेन माम् ॥ १४१ ॥

जीवातु—दीयतामिति । हे प्रिये ! मयि मद्विषये, मां प्रतीत्यर्थः । मम इति धीः तव ममत्वबुद्धिः, दृढं निश्चलं यथा तथा, दीयताम् अर्प्यताम्, स्थाप्यतामित्यर्थः । भवत्या इति शेषः । एवम् इत्थम्, वक्तुं कथयितुम्, अवकाशः अवसरः एव, कः ? नैवास्तीत्यर्थः । अप्राप्तमेवार्थं लोकाः प्रार्थयन्ति प्राप्ते तु तस्या अनौचित्यादिति भावः । अवकाशाभावमेव प्रदर्शयति—यद् यस्मात्, दिवस्पतिम् इन्द्रमपि, तृणवत् तृण इव, विधूय निरस्य, परित्यज्य इत्यर्थः । दयया एव कृपारूपेणैव, पणेन मूल्येन, मां नलम्, क्रीतवती स्वीकृतवती, असि भवसि । अतः क्रीतदासे मयि प्रभोः ते ममत्वबुद्धिविषये प्रार्थनाऽवकाशो नास्त्येवेति भावः ॥ १४१ ॥

अन्वय —मयि मम इति धीः दृढं दीयताम्—एवं वक्तुम् अवकाशः एव क्व ? यत् दिवस्पतिं तृणवत् विमृश्य दयापणेन मा क्रीतवती असि।

हिन्दी—'मेरे (नल के) प्रति ममत्वबुद्धि निश्चलतया दो'—ऐसा कहने का अवकाश ही क्या है क्योंकि स्वर्ग के स्वामी (इन्द्र) को तिनके के समान छोड़कर कृपारूप मूल्य से मुझ (नल) को खरीद चुकी हो ?

टिप्पणी—नल के प्रति दमयन्ती की ममता दृढ रहे, वह उसे पूर्णतः अपना समझे, ऐसी प्रार्थना ही निरर्थक है। ऐसा तो है ही। यह तो इसी से प्रमाणित है कि दमयन्ती ने देवों और देवों के राजा को भी अत्यन्त तुच्छ मान कर छोड़ दिया और नल को वरा। इससे बड़ा दृढानुराग का प्रमाण ही और क्या हो सकता है ? दमयन्ती के इस दृढानुराग के कारण नल उसके हाथ बिक चुका है। यह दमयन्ती का दृढानुराग दया ही है, अन्यथा कहाँ देव और देवराज और कहाँ एक मानव नल ? ॥ १४१ ॥

शृण्वता निभृतमालिभिर्भवद्वाग्विलासमसकृन्मया किल।
मोघराघवविसर्ज्यजानकीश्राविणी भयचलाऽसि वीक्षिता ॥ १४२ ॥

जीवातु—शृण्वतेति। हे प्रिये ! आलिभिः सखीभिः सह, भवत्याः तव, वाग्विलासं कथोपकथनव्यापारमित्यर्थः। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। असकृत् अनेकदा, निभृतं गूढं यथा तथा, अन्तराले अवस्थाय आत्मगोपनं कृत्वेत्यर्थः। शृण्वता आकर्णयता, मया नलेन, मोघं व्यर्थम्, सर्वसमक्षमेव अग्निपरीक्षया विशुद्धितायाः प्रमाणितायामपि अकारणमेवेत्यर्थः। राघवेण रामचन्द्रेण, विसर्ज्यां त्याज्याम्, जानकीं सीताम्, शृणोति आकर्णयतीति तच्छीला, किलेति वार्त्तायाम्, उत्तरकाले उत्पत्स्यमानो रामचन्द्रः मिथ्यालोकापवादेन धर्मपत्नीं सीतां विसर्जयिष्यतीति समागते त्रिकालज्ञमुनिभिः वर्णितमुपाख्यानं सखीमुखेभ्यः शृण्वतीत्यर्थः। अत एव भयेन आत्मनोऽपि तादृशस्थे तु सम्भवेदिति भीत्या, चला सकम्पा, त्वमिति शेषः। वीक्षिता दृष्टा, असि भवसि। अत एव मयि ते ममत्वबुद्धौ नास्ति वचनावकाश इति भावः ॥ १४२ ॥

अन्वय —आलिभिः असकृत् भवद्वाग्विलासं निभृतं शृण्वता मया मोघराघवविसर्ज्यजानकीश्राविणी भयचला वीक्षिता असि किल।

हिन्दी—सखियों के साथ अनेक वार आपका संवाद छिपकर सुनने मैंने (नल ने) अकारण श्रीराम द्वारा त्यक्त जनकजा (सीता) की कथा सुनकर भय से चंचल (आपको)) देखा है।

टिप्पणी—देव-वरदान से अदृश्य रह नल ने अनेक वार सखियों के साथ दमयन्ती को वार्तालाप करते सुना था और देखा था। उसने यह देखा कि राम द्वारा सीता का अकारण-त्याग सुन कर दमयन्ती भयाकुल हो जाती थी। सीता की अग्निपरीक्षा होने पर भी रामने अनुरागवती सीता को अकारण त्याग किया। कहीं दमयन्ती के साथ भी ऐसी दुर्घटना न हो, यह विचार कर दमयन्ती भयाकुल होती होगी। यह दूसरा प्रमाण है दमयन्ती के दृढ़ानुराग का, अतः उससे दृढ़ानुराग रखने की बात कहना व्यर्थ—ही था। यह तो था ही। राम-सीता का उपमान देने का इतिहास क्रम-दोष राम-कथा की बारहवीं शती में सुविख्याति के कारण है। भावी का पूर्व संकेत, नाटकीय 'पताकास्थानक'। निर्दोष दमयन्ती का भविष्यत् में नल ने त्याग किया ही।

(युग्मम्)

छुप्तपत्रविनिमीलितक्षुपात् कच्छपस्य धृतचापलात् पलात्।
त्वत्सखीषु सरटाच्छिरोधुतः स्वं भियोऽभिदधतीषु वैसवम् ॥ १४३ ॥
त्वं मदीयविरहान्मया निजां भीतिमीरितवती रहः श्रुता।
नोज्झितास्मि भवतीं तदित्ययं व्याहरद्वरमसत्यकातरः ॥ १४४ ॥

जीवातु—अथ युग्मेनाह, छुप्तेत्यादि। छुप्तेन स्पृष्टेन, स्पर्शमात्रेणेत्यर्थः। क्षुप्तेति क्वचित्पाठः। 'छुपस्पर्शे' अयं पकारान्तस्त्वोक्षादिकोऽनिट्श्च। पत्रेषु पर्णेषु, यद्वा—छुप्तपत्रः स्पृष्टपर्ण एव, विनीमीलितः सङ्कुचितः, यः क्षुपः ह्रस्वशाखाशिफक्षुद्रवृक्षविशेषः, लज्जालुसंज्ञकक्षुद्रशाखामूलविशिष्टवृक्ष इत्यर्थः, तस्मात्। 'ह्रस्वशाखशिफः क्षुपः' इत्यमरः। निरिन्द्रियस्यापि सेन्द्रियवत् व्यवहारदर्शनेन भीतिकोऽयमिति त्रासादिति भावः। तथा धृतचापलात् पुनः पुनः कृतसङ्कोचविस्ताररूपचाञ्चल्यात्, कच्छपस्य कमठस्य, पलात् मांसात्, शुण्डारूपादिति यावत्। अस्थिवत् कठिनपदार्थमध्यात् सहसा कोमलमांसनिःसरणप्रवेशयोः अन्यत्र कुत्राप्यदर्शनजनितत्रा–

सादिति भाव । तथा शिरोधुत शिरो मस्तक धुनोति कम्पयतीति तादृशात् सदा चालितमस्तकात्, सरटात् कृकलासात्, तस्य आकारप्रकारयोरस्वाभाविकत्वदर्शनजनितभयादिति भाव । वाक्यत्रयेऽपि अह बिभेमीति शेष । स्वस्मखीषु तव सहचरीषु, "हा निर्जन, स्व स्वकीय, भिय भयस्य, वैभव सम्पदम् भयातिरेककारणमित्यर्थः । अभिदधतीषु वर्णयन्तीषु सतीषु, युष्माक वा कस्मात् बिभेषि ? इति परस्परालोचनाया तव सखीषु एकैका उक्तरूप व्याहरन्तीषु सखीषु इत्यर्थ । रजनिति । मदीयविरहात् मम विच्छेदात्, निजा स्वकीयाम्, भीति भयम्, ईरितवती उक्तवती, त्व भवती, मया नलेन, श्रुता आकर्णिता, आर्यपुत्रविरहाशङ्का एव मा भापयति इति त्वदुक्ति मया श्रुतेत्यर्थ. । तत् तस्मात्, तव भयस्मरणादित्यर्थ. । भवती त्वाम्, न उज्झितास्मि न त्यक्ष्यामि । उज्झने लुटि सिप् । अहमिति शेष । असत्यकातर अनृतभीत, अय नल, इति इत्यम्, वरम् अपरित्यागरूप वरम्, व्याहरत् अवोचत् । दमयन्ती वर ददौ इत्यर्थ ॥ १४३-१४४ ॥

अन्वय —स्पृष्टपत्रविनिमीलितक्षुपात्, धृतचापलात् कच्छपस्य पलात्, शिरोधुत सरटात् स्व भिय वैभवम् अभिदधतीषु स्वसखीषु मदीयविरहात् निजा भीतिम् ईरितवती त्व रह मया श्रुता,—तत् असत्यकातरः अयम् इति वर व्याहरत्—'भवती न उज्झिता अस्मि ।'

हिन्दी—छूने ही पत्तों का विनिमीलन (सकोच) करने वाले पौधे (लजवन्ती, छुई-मुई) से, स्वभावत चलते (चपल) कछुए के मासपिंड से, सिर हिलाते गिरगिट से अपना भय कारण बताती अपनी (दमयन्ती) सखियों के बीच 'मेरे (नल के) वियोग के कारण' अपना भय बतलाती तुम्हें (दमयन्ती को) चुपचाप (अदृश्य रह कर) मैंने (नल ने) सुना है,—सो असत्यभाषण से डरने वाले इस (नल ने) यह वर दिया—'तुम्हें (दमयन्ती) को कभी न छोड़ूँगा ।'

टिप्पणी—नल ने दमयन्ती को तभी वर दिया कि वह दमयन्ती-त्याग न करेगा, क्योंकि एक बार छिपे-छिपे उसने दमयन्ती को सखियों में बात चीत करते सुना था । क्रमश सब, अपने-अपने भय का कारण बता रही थीं । एक ने बताया कि वह छूते ही मुरझाने वाली छुई-मुई (पौधा) से

डरती है। छुआ कि पत्ते सिकोड़ लिये। बड़ा डर लगता है उससे। दूसरी ने बताया कि उसे तो लम्बी गरदन बाहर-भीतर करते कछुए के पिण्ड से डर लगता है कि एक कठोर पिंडा जैसा चला जा रहा है, झट से लिजलिजी-सी गरदन बाहर निकाली और भीतर कर ली। तीसरी ने कहा कि उसे तो पल-पल रंग बदलते, ऊपर-नीचे सिर हिलाते गिरगिट से भय लगता है। उस समय दमयन्ती ने कहा था कि वह तो किसी से नहीं डरती, उसे भय तो यह सोच-सोच कर है कि कहीं आर्य पुत्र प्रियतम नल से वियोग न हो जाय। दमयन्ती को कभी झूठन बोलने वाले (प्रिया को मनाते भी) नल ने इस आशंका को मिटाने के लिए कभी न त्यागने का वर दिया। आगे जो नल ने दमयन्ती का त्याग किया, वह प्रतिज्ञा-भंग नहीं, प्रत्युत दैवविधान था। 'असत्यकातर' नल ऐसा कर ही नहीं सकता था ॥

सङ्गमय्य विरहेऽस्मि जीविका यैव वामथ रताय तत्क्षणम् ।
हन्त दत्थ इति रुष्टयाऽऽवयोर्निद्रयाऽद्य किमु नोपसद्यते ? ॥ १४५ ॥

जीवातु—सङ्गमय्येति । या एव या अहं निद्रा, विरहे परिणयात् पूर्वं विच्छेददशायाम्, वां युवाम्, सङ्गमय्य मेलयित्वा, स्वप्नसङ्गतिसुखम् अनुभाव्येत्यर्थः । जीविका जीवितवती, युवयोर्जीवनरक्षाकारिणीत्यर्थः । अस्मि भवामि। अथ अनन्तरम्, परिणयात् परमिदानीमित्यर्थः। तस्याः मम निद्राया एवेत्यर्थः, क्षण समयम्, रात्रिरूपं कालमित्यर्थः। रताय सुरताय, दत्थः अर्पयथः, युवामिति शेषः। तस्मिन् समये युवां मां परित्यज्य सुरतं प्रपद्यथः इत्यर्थः। ददातेर्लटि थस्। हन्त इति खेदे, इति अस्माद्धेतोः, किमु किम्, इत्युत्प्रेक्षा, रुष्टया, क्रुद्धया, निद्रया स्वापेन, अद्य अस्यां रात्रौ, आवयोः तव मम च, न उपसद्यते ? न सन्निकृष्यते ? न समीपे आगम्यते ? इत्यर्थः। सीदतेर्भावे लट्। निद्रां लब्धुं चेष्टायां कृतायामपि तदलाभेन नलस्योक्तिरियम् ॥ १४५ ॥

अन्वयः—या एव विरहे वां सङ्गमय्य जीविका अस्मि, हंत, अथ तत्क्षणं रताय दत्थः-इति रुष्टया निद्रया अद्य किम् आवयोः न उपसद्यते ?

हिन्दी—'जो ही मैं वियोग (विवाह से पूर्व) में तुम दोनों (दमयन्ती-नल) को (स्वप्न में) मिला कर प्राण-धारण का कारण रही हूँ, खेद कि

विवाहानंतर (संयोगावस्था मे) उस (मेरे निद्रा के) क्षण (रात्रि वेला) को तुम दोनो 'रत' (रतिक्रीडा) को देते रहे—' (नल ने कहा) क्या इसी से रूठी नीद आज हम दोनो (नल-दमयन्ती) के पास नही आ रही है ?'

टिप्पणी—भोग-विलास मे लीन नल-दमयन्ती ने बिना सोये संपूर्ण रात्रि व्यतीत कर दी। सीता-राम का भी ऐसा ही वर्णन है कि उन्हें पता ही न चला कि रात कब बीत गई—'किमपि किमपि मन्द मन्दमासक्तियोगादविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण। अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णोरविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्।' (उत्तररामचरितम्—१।२७)। 'अक्रम जल्पना करते' नल दमयन्ती की रात भी ऐसे ही बीत गई। नल के अनुसार कदाचित् नींद उनसे इसी कारण रूठ गयी कि दुःख संकट (विरह) के काल मे स्वप्न संयोग करा कर नीद ने उन्हें जीवित रखा था, उसी संकट मे प्राण रक्षा करने वाली उपकारिणी निद्रा देवी की दंपती ने सुख के दिनो (संयोगावस्था) में उपेक्षा कर दी। इतना ही नही, जो उसका निर्धारित काल (रात) था, वह अन्य (सुरत) का दे डाला। इसी से कुपित नींद आज उनके पास भी नही आती। यह कृतघ्नता का दंड है। आशय यह कि प्रभात होने तक नल-दमयन्ती क्रीडा-केलिमग्न रहे। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ १४५ ॥

ईदृशं निगदति प्रिये दृशौ सम्मदात् कियदिय न्यमीमिलत्।
प्रातरालपति कोकिले कलं जागरादिव निशः कुमुद्वती ॥ १४६ ॥

जीवातु—ईदृशमिति। प्रिये नले, सम्मदात् सन्तोषात्, यथेष्टसम्भोगसुखानुभवजनितानन्दादित्यर्थः। ईदृशम् ईदृक् वाक्यम्, निगदति कथयति सति, तथा प्रातः तदा निशावसानात् उषसि, कोकिले पिके, कलं मधुरास्फुटं यथा तथा, आलपति कूजति च सति, निशः रात्रेः सम्बन्धिन, जागरात् जागरणात् हेतोः, कुमुदपक्षे—रात्रौ प्रस्फुटनात्, अन्यत्र—सुरतव्यापारेण निद्रापरिहारादित्यर्थः। कुमुद्वतीव कुमुदलतेव कुमुदमिवेत्ययः। इयं भैमी, कियत् किञ्चित्, दृशौ नेत्रे, न्यमीमिलत् निमीलितवती, 'भ्राजभास॰' इत्यादिना विकल्पादुपधाह्रस्व, 'दीर्घो लघोः' इत्यभ्यासदीर्घः ॥१४६॥

अन्वयः—प्रिये सम्मदात् ईदृशं निगदति, प्रातः कोकिले कलम् आलपति निशः जागरात् कुमुद्वती इव इयं किञ्चिद् दृशौ न्यमीमिलत् ।

हिन्दी—प्रियतम (नल) के हर्ष और संतोष के कारण इस प्रकार कहते हुए होने पर और प्रभात में कोकिल के कलरव-कूजने पर रात्रि-जागरण के कारण कुमुदनी की भांति इस (दमयन्ती) ने कुछ नेत्र मूँद लिये ।

टिप्पणी—नल 'सान्तरायपदो' (श्लोक संख्या १३७) में प्रियवचन कहता रहा (श्लोक सख्या १३८-१४५)। प्रभात होने को आया और कोकिल-रव होने लगा। आशय यह कि पर्यंकस्थित प्रिय एक ओर कोकिल-सम कलरव करता रहा, दूसरी ओर कोकिल-कूजन होता रहा। रातभर दमयन्ती जागी थी। इस समय निशावसान में उसकी कुछ-आँख लग गयी, जैसे रातभर खिली रही (जागी) कुमुदिनी के नेत्र मुँद गये हों—कुछ संकुचित हो गये हों। नल के प्रियवचन कोकिल-रव-तुल्य; इयमित्रालब्धा शब्द सुनती दमयन्ती कुमुदिनी के समान। आनन्दातिशय का अनुभव करती दमयन्ती ने सुख में मानो नयन निमीलित किये—यह नारायण के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है ॥ १४६ ॥

मिश्रितोरु मिलिताधरं मिथः स्वप्नवीक्षितपरस्परक्रियम् ।
तौ ततोऽनु परिरम्भसम्पुटे पीडनां विदधतौ निदद्रतुः ॥ १४७ ॥

जीवातु—मिश्रितेति । ततः दमयन्त्याः दृङ्निमीलनात्, अनु पश्चात्, तौ भैमीनलौ, मिथः परस्परम्, मिश्रितौ संश्लिष्टौ, ऊरू द्वयोः सक्थिनी यस्मिन् तद्यथा तथा, मिलितौ स्पृष्टौ, अधरौ रदनच्छदौ यस्मिन् कर्मणि तत् यथा तथा, स्वप्ने वासनावशात् निद्राकालिकविषयानुभवे, वीक्षिताः दृष्टाः, परस्परक्रियाः अन्योन्यचुम्बनादिव्यापारा यस्मिन् तत् यथा तथा च, परिरम्भसम्पुटे आलिङ्गनरूपपुटके, पीडनां प्रगाढपेषणम्, विदधतौ कुर्वन्तौ सन्तौ, निदद्रतुः सुषुपतुः, निद्रासुखम् अनुबभूवतुरित्यर्थः ॥ १४७ ॥

अन्वयः—ततः अनु तौ मिथः मिश्रितोरु मिलिताधरं स्वप्नवीक्षित-परस्परक्रियं परिरम्भसम्पुटे पीडनां विदधतौ निदद्रतुः ।

हिन्दी—तदनंतर (दमयन्ती के आँख-मूँद लेने पर) वे दोनों (नल-दमयन्ती) परस्पर ऊरु लिपटा कर, अधरों से अधर मिला, स्वप्न में अन्योन्य

के केलि-व्यापार देखते, आलिंगन-रूप पेटिका में पीड़ा देते (गाढालिंगन-बद्ध) सो गये ।

टिप्पणी—आशय यह कि निशान्त में सुरतश्रान्त दम्पती एक दूसरे के चरणों में चरण-लिपटाये, अधर जोडे, गाढालिंगन में एक दूसरे को कसे सो गये और स्वप्न में आलिंगन-चुम्बनादि-क्रियाओं का अनुभव करते रहे ।

यातायातरहश्छलकलितरतिश्रान्तिनि श्वासधाराऽ
जस्रव्यामिश्रभावस्फुटकथितमिथ प्राणभेदव्युदासम् ।
बालावक्षोजपत्राङ्कुरकरिमकरीमुद्रितोर्वीन्द्रवक्ष-
श्चिह्नाख्यातैकभावोभयहृदयमगाद् द्वन्द्वमानन्दनिद्राम् ॥ १४८ ॥

जीवातु—तदिति । यातायातानां निःसरणप्रवेशानाम्, रहस वेगस्य, छलेन व्याजेन, कलिता ज्ञापिता, रतिश्रान्ति, रमणक्लान्ति, याभि तादृशाना नि श्वासधाराणां निःश्वासपरम्पराणाम्, अजस्रव्यामिश्रभावेन अनवरतमेलनेन, स्फुट व्यक्तम्, कथित, विज्ञापित मिथ परस्परम्, प्राणभेदस्य पृथक्प्राणवायुताया, व्युदासः अभाव यस्य तत् तादृशम्, सागरादावदौ सागरान्तरादिमिश्रणवत् नि श्वासवाते निःश्वासवातान्तरमिश्रस्य भेदानुपलम्भात् अभिन्नत्व युवत्वे एव निःश्वासवायोरेव प्राणरूपत्वादिति भाव । तथा बालाया षोडशवर्षीयाया प्रियाया, वक्षोजयो कुचयो, ये पत्राङ्कुरा कुङ्कुमादिना रचितक्षुद्रतिलकविशेषा, तेषु याः करिमकर्य कस्तूरीप्रभृतिभि रचिता हस्तीमकरी प्रभृतीना मूर्तय, ताभि मुद्रितस्य चिह्नितस्य, उर्वीन्द्रवक्षस पृथिवीपतिनलोरःस्थलस्य, चिह्नेन प्रगाढालिङ्गनेनाङ्कितकरिप्रभृतीनामाकृत्या, आख्यात कथित, एकभाव ऐक्य ययो ते तादृशी, उभये द्वे, हृदये वक्षस्थले, ययो तद् तादृक् एवंविधचिह्नत्वात् सर्वथैव एकमिति भाव' । वृत्तिविषये उभयशब्दस्थाने उभयशब्दप्रयोग इत्युक्त प्राक् । तत् नलदमयन्तीरूपम्, द्वन्द्व मिथुनम्, आनन्दनिद्रा सुखेन स्वापम्, अगात् अगच्छत् ॥ १४८ ॥

अन्वयः—यातायातरहश्छलकलितरतिश्रान्तिनिःश्वासधाराजस्रव्यामिश्रभावस्फुटकथितमिथ प्राणभेदव्युदास बालावक्षोजपत्राङ्कुरकरिमकरीमुद्रितोर्वीन्द्रवक्षश्चिह्नाख्यातैकभावोभयहृदय तद् द्वन्द्वम् आनन्दनिद्राम् अगात् ।

हिन्दी—(बाहर) निकलने और (भीतर) आने के वेग से रमण-श्रम

को सूचित करते निःश्वासों की परंपराओं के अनवरत रूप से मिश्रणद्वारा परस्पर प्राण-भिन्नता के अभाव को स्पष्टतः कहता और बाला (प्रिया दमयंती) के कुचों पर चित्रित पत्ररचना के मध्य कस्तूरी-आदि से रचित गज-मीन-मकरी आदि से अंकित पृथ्वी के इन्द्र (नल) के वक्ष-चिह्नों द्वारा दोनों (दंपती) के हृदयों के ऐक्य का स्पष्ट कथन करता वह जोड़ा (नल-दमयन्ती) सुखनिद्रा को प्राप्त हो गया ।

टिप्पणी—सुरतश्रांत दमयन्ती और नल आनन्दमयी सुखनिद्रा को प्राप्त हुए । उनकी क्लांति उनके श्वासोच्छ्वास के वेग-पूर्वक यातायात से प्रकट हो रही थी और परस्पर दृढालिंगन बद्ध दंपती के ये श्वासोच्छ्वास इतने निरन्तर थे कि पूर्णतः उनके प्रवाह मिलकर एक हो गये थे तथा जैसे यह प्रकट कर रहे थे कि नल-दमयन्ती 'एकप्राण' हैं । इसी प्रकार बाला दमयन्ती के स्तनों पर कुंकुम की पत्ररचना के मध्य कस्तूरी आदि से रचित गज-मकरी आदि की मूर्त्तियों के आलिंगनबद्ध हो शयन करने के कारण सटे प्रिय नल के वक्ष पर जो चिह्न बन गये थे, लगता था कि वे यह स्पष्टतः घोषित कर रहे हैं कि दम्पती के हृदय भी एक हैं । आशय यह कि सुरत-क्लांत हो गाढ निद्रा में मग्न दमयन्ती-नल एकप्राण और एकहृदय प्रतीत हो रहे थे । संपूर्णतः एक । नारायण के अनुसार दंपती के श्वासोच्छ्वास मिश्रित होने से 'एकप्राणता' शब्द-श्लेष के आधार पर उत्प्रेक्षित है । 'एकप्राणता' और 'हृदयैक्य' द्वारा आत्मैक्य और शरीरैक्य का वर्णन हुआ है । स्रग्धराछन्द ।। १४८ ।।

> श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
> श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
> यातोऽस्मिन् शिवशक्तिसिद्धिभगिनीसौभ्रात्रभव्ये महा-
> काव्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गोऽयमष्टादशः ॥ १४९ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमित्यादि । शिवशक्तिसिद्धिः नाम काचित् स्वकृतिः, सा एव भगिनी उभयोरेव एककर्तृत्वात् स्वसा, तया सह सौभ्रात्रं सुभ्रातृत्वम् । युवादित्वादण्प्रत्ययः । भ्राता च भगिनी च भ्रातरौ । 'भ्रातृभगिन्यौ भ्रातरौ' इत्यमरः । 'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्' इत्येकशेषः ।

तेन सौभ्रात्रेण हेतुना, भव्ये शुभे, उत्कृष्टे इत्यर्थः । एककर्तृकत्वादित्थं निर्देशः । अष्टौ च दश च अष्टादश । 'द्व्यष्टन सङ्ख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः' इत्यात्वम् । तेषां पूरणः अष्टादशः । 'तस्य पूरणे डट्' टिलोपश्च । गतमन्यत् ॥ १४९ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु'समाख्यानेऽष्टादशः सर्गः समाप्तः ॥१८॥

—०—

अन्वयः——पूर्वार्द्ध (प्रथम-द्वितीयचरणम्) पूर्ववत् । शिवशक्तिसिद्धि-भगिनीसौभ्रात्रभव्ये तस्य कृतौ अस्मिन् महाकाव्ये नलीयचरिते अयम् अष्टा-दशः सर्गः यातः ।

हिन्दी——पूर्वार्द्ध का पूर्ववत् । 'शिवशक्तिसिद्धि' नामकी रचनारूपा बहिन का अच्छा भाई होने से शुभ-उत्कृष्ट-प्रशस्त, उस (श्रीहर्ष) की कृति इस महाकाव्य नल-चरित (नैषधीय-चरित) में यह अठारहवाँ सर्ग पूर्णता को प्राप्त हुआ ।

टिप्पणी——'नैषधीयचरित' के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष की एक रचना 'शिवशक्तिसिद्धि' भी है, जिसका अन्य नाम 'शिवभक्तिसिद्धि' भी प्राप्त होता है । इसी कारण 'शिवशक्तिसिद्धि' को 'भगिनी' और 'नैषधीयचरित' को 'सुभ्राता' कहा गया । दोनों में सहोदरत्व दोनों रचनाओं के सौष्ठव को सूचित करता है ॥ १४९ ॥

नैषधीयचरिते अष्टादशः सर्गः यातः ।

नैषधीय चरित में अठारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

—※—

ऊनविंशः सर्गः

निशि दशमितामालिङ्गन्त्यां विबोधविधित्सुभि-
र्निषधवसुधामीनाङ्कस्य प्रियाऽङ्कमुपेयुषः ।
श्रुतिमधुपदस्रग्वैदग्धीविभावितभाविक-
स्फुटरसभृशाभ्यक्ता वैतालिकैर्जगिरे गिरः ॥ १ ॥

जीवातु—अथ काव्ये प्रयोगवैचित्र्यस्यालङ्कारत्वादस्मिन् सर्गे तद्वैचित्र्य-माश्रित्य प्रभातवर्णनमारभते—निशीति । निशि निशायाम् । 'पद्न्नोमास्—' इत्यादिना निशादेशः । दशमः वयोऽवस्थाविशेषः अस्याः अस्तीति दशमिनी वृद्धा 'वर्षीयान् दशमी ज्यायान्' इत्यमरः । 'वयसि पूरणात्' इति इनिः प्रत्ययः । तस्याः भावः तत्ता दशमिता वृद्धत्वं तां चरमावस्थामित्यर्थः । 'त्वत-लोर्गुणवचनस्य' इति पुंवद्भावः । आलिङ्गन्त्यां स्पृशन्त्याम्, प्राप्नुवन्त्यामि-त्यर्थः । प्रभातप्रायायां सत्यामिति भावः । प्रियायाः दमयन्त्याः, अङ्कम् उत्सङ्गम्, उपेयुषः प्राप्तस्य, प्रियामालिङ्ग्य निद्रितस्येत्यर्थः । निषधवसुधामीना-ङ्कस्य निषधदेशमन्मथस्य नलस्य, विबोधविधित्सुभिः जागरणं विधातुमिच्छुभिः। गम्यादिपाठात् द्वितीयासमासः । वैतालिकैः बोधकरैः, निद्राभञ्जकै; वन्दिभिरित्यर्थः । 'वैतालिका बोधकराः' इत्यमरः । श्रुतिमधुपदस्रजां श्रुतौ कर्णे, मधूनां मधुराणाम्, पदानां सुप्तिङन्तशब्दानाम्, या स्रक् माला, पङ्क्ति-रित्यर्थः । तासां या वैदग्धी रचनाचातुर्यम्, कौशिक्यादिवृत्तिसम्पत्तिरिति यावत् । तया विभाविताः व्यञ्जिताः, भावाः स्थायिप्रभृतयः अस्य सन्तीति भाविकः रसबोधकविभावादिचतुर्विधभाववान् । 'अत इनिठनौ' इति मत्वर्थी-यठन्प्रत्ययः । अत एव स्फुटः अभिव्यक्तः; संवेद्यतां प्राप्तः इत्यर्थः । रसः शृङ्गारादिरेव रसः स्नेहद्रवः, तेन भृशम् अत्यर्थम्, अभ्यक्ताः म्रक्षिताः; स्निग्धीकृता इत्यर्थः । रसभरिताः इति यावत् । गिरः वक्ष्यमाणगीतवाचः जगिरे गीयन्ते स्म । गायतेः कर्मणि लिट् । अस्मिन् सर्गे हरिणीवृत्तम्; 'रस-युगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वयः—निशि दशमिताम् आलिङ्गन्त्यां प्रियाङ्कम् उपेयुषः निषधवसु-

धामीनाङ्कस्य विबोधविधित्सुमि वैतालिकैं श्रुतिमधुपदसन्दर्भवैदग्धीविभावित-भावव्यक्तस्फुटरसभृशाभ्यक्ता गिरः जगिरे।

हिन्दी—रात्रि के दसवीं दशा (बुढ़ाई) का आलिङ्गन करने (समाप्त-प्राय हो जाने) पर प्रिया (दमयन्ती) के उत्सग-प्राप्त (प्रियालिङ्गन में बद्ध हो निद्रित) निषधभूमि के मीनकेतु (कामदेव नलराज) को जगाने के इच्छुक वैतालिकों (प्रातर्बोधार्थ नियुक्त बंदिजनों) की कर्णामृतरूप (कर्णमधुर) पद-(शब्द)-मालाओं की रचना-चातुरी द्वारा स्थायिभावादि की उचित संयोजना से रस-व्यंजना से परिपूर्ण गीतिवाक् गायी जाने लगी।

टिप्पणी—रात्रि समाप्ति के निकट आ गयी, अतएव प्रातर्बोध के निमित्त नियुक्त बंदिजनों—वैतालिकों ने महाराज नल के विबोध की कामना से सरचना चातुरी के कारण सरस पद-वाक्य-योजना द्वारा रसाभिव्यक्ति से परिपूर्ण गीति-गानारम्भ कर दिया। ऐसी प्रबोधगीति, जिसका एक भी पद नीरस नहीं था। विभावानुभावव्यभिचारियोग द्वारा रसनिष्पत्ति से सर्वतः सिक्त वाणी गूंजने लगी। भाव यह कि महाराज नल के विबोधार्थ वैतालिकों ने मधुर प्रभात-वर्णन आरम्भ किया। वैतालिक अर्थात् विशिष्ट ताल जिनका शिल्प है—'विशिष्टस्तालो विताल. स शिल्प येषा ते वैतालिकाः।' (नारायण)। वैतालिक अर्थात् सौखशायिक—सुखपूर्वक सुलाने-जगाने वाले बंदिजन, चारण—'वैतालिकास्तु कथ्यन्ते कविभिः सौखशायिका। राज्ञ प्रबोधसमये घण्टशिल्पास्तु घाण्टिकाः।' इस सर्ग में आद्य पचपन श्लोकों (१—५५) की रचना हरिणी छंद में हुई है—अर्थात् 'दिनमिव'.... इत्यादि तक श्लोकों की। हरिणी छंद के प्रत्येक चरण में सत्रह वर्ण इस क्रम से होते हैं:— ।।। (नगण), ।।ऽ (सगण), ऽऽऽ (मगण), ऽ।ऽ (रगण), ।।ऽ (सगण), ऽ। (गुरु , लघु) ॥ १ ॥

जय जय महाराज ! प्राभातिकी सुषमामिमा
सफलयतमां दानादक्ष्णोर्दरालसपक्ष्मणोः।
प्रथमशकुन शय्योत्थाय तवास्तु विदभंजा
प्रियजनमुखाम्भोजात् तुङ्ग यदङ्ग ! न मङ्गलम् ॥ २ ॥

जीवातु—जय जयेति। हे महाराज ! नल ! जय जय अभीक्ष्ण सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व। 'नित्यवीप्सयो.' इति द्विर्भावः। दरम् ईषत्, अलसानि तदाऽपि

निद्रादेशसत्त्वात् निश्चेष्टानि, पक्ष्माणि नेत्रलोमानि ययोः तादृशयोः 'अल्पार्थे त्वव्ययं दरम्' इति यादवः। अक्ष्णोः चक्षुषोः, दानात् निक्षेपात्, दृष्टिप्रदानादित्यर्थः। इमां पुरोवर्त्तिनीम्, प्राभातिकीं प्रत्यूषकालिकीम्, सुषमां परमां शोभाम्, सफलयतमाम् अतिशयेन सफलय नरपतिकर्तृकदर्शने शोभायाः सफलत्वात्। 'किमेत्तिङव्यय-' इति आमुप्रत्ययः। विदर्भजा वैदर्भी, शय्योत्थायं शय्यायाः सत्वरम् उत्थाय, 'अपादाने परीप्सायाम्' इति णमुल्। परीप्सा त्वरा। एतेन स्त्रियः प्रथमोत्थानं लभ्यते, 'चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धा' इत्युत्तमाङ्गनालक्षणात् त्वत्तः पूर्वमेव शयनात् सत्वरमुत्थाय अवस्थिता इत्यर्थः। तव ते, प्रथमशकुनं प्राथमिकं मङ्गलजनकं दृश्यम्, अस्तु भवतु, तदा तस्यामेव प्रथमाक्षिपातात् इति भावः। कुत इत्यत आह-यत् यस्मात्, अङ्ग! भोः! प्रियजनस्य प्रीतिपात्रस्य, मुखाम्भोजात् वदनकमलात्, आननपद्मदर्शनादित्यर्थः। तुङ्गम् अधिकम्, मङ्गलं श्रेयः, न, अस्ति इति शेषः। इत्यर्थान्तरन्यासः।

अन्वयः— महाराज, जय जय, दरालसपक्ष्मणोः अक्ष्णोः दानात् इमां प्राभातिकीं सुषमां सफलयतमाम्, विदर्भजा शय्योत्थायं तव प्रथमशकुनम् अस्तु यत् अङ्ग, प्रियजनमुखाम्भोजात् तुङ्गं मङ्गलं न।

हिन्दी—हे महाराज, जय हो-जय हो। कुछ अलसाये पलकों वाले नयन-युगल के दान से इस (पुरोवर्त्तिनी) प्रातःकालीन सुषमा (सौंदर्य) को सफल करें। विदर्भनंदिनी शय्या से उठकर आपका प्रथम शकुन बनें, क्योंकि हे स्वामी, प्रियव्यक्ति के मुखकमल से ऊँचा (उच्च) मंगल नहीं होता।

टिप्पणी—वैतालिकों ने निवेदन किया कि महाराज, उठें और प्रभात की प्राकृतिक शोभा को देखें। सबसे प्रथम शय्या त्याग कर उठ खड़ी हुई विदर्भकुमारी का मुख-कमल निहारें। यही सबसे बड़ा शकुन होता है कि उठते ही सबसे पूर्व प्रियजन का मुखकमल दृष्टिगोचर हो। मल्लिनाथ ने 'शय्योत्थायम्' का अर्थ 'शय्या से शीघ्र उठी' किया है और निष्कर्ष दिया है कि इस कथन से यह भाव सूचित है कि स्त्री को पुरुष से पूर्व उठना चाहिए। यही उत्तमांगना का लक्षण है। प्रिय का प्रथमाक्षिपात उसी पर हो—यह मंगलकारी होता है। नारायण का भी यही मत है। मल्लिनाथ ने यहाँ अर्थान्तरन्यास को उल्लेख्य अलङ्कार माना है॥ २॥

वरुणगृहिणीमाशामासादयन्तममुं रुचो-
निचयसिचयांशांशभ्रंशक्रमेण निरंशुकम् ।
तुहिनमहसं पश्यन्तीव प्रसादमिषादसौ
निजमुखमितः स्मेरं धत्ते हरेर्महिषी हरित् ॥ ३ ॥

जीवातु—वरुणेति । असौ दृश्यमाना, हरेः इन्द्रस्य, महिषी साम्राज्ञीस्वरूपा, हरित् प्राची दिक्, काचित् राजपत्नी च, वरुणगृहिणीं वारुणीम्, आशां दिशम् प्रतीचीमित्यर्थः । काचित् पुरुषान्तरपत्नीं च, आसादयन्तम् अस्तोन्मुखत्वात् प्राप्नुवन्तम्, सङ्गच्छन्तमिति यावत् । अन्यभार्यां गच्छन्तमिति च, रुचीनिचयः प्रभासमूहः एव, 'कृदिकारात्-' इति ङीप् । सिचयं वसनम्, आच्छादकत्वसाधर्म्यादिति भावः । 'सिचयो वसनमंशुकम्' इति यादवः । तस्य अंशांशस्य किञ्चित् किञ्चिद्भागस्य, वीप्सायां द्विरुक्तिः । भ्रंशक्रमेण उत्तरोत्तरपरित्यागेन, एकत्र—निशावसानात् अन्यत्र—नग्नीभवनाय इति भावः । निर्नास्ति अंशुः किरणो यस्य तादृशं निरंशुकं निष्प्रभम् । वैधिकः कर् । निः नास्ति अंशुकं वस्त्रं यस्य तादृशं विवसनञ्च, अमुं पुरःस्थम्, तुहिनमहसं शीतकिरणं चन्द्रम्, कमपि पुरुषञ्च, पश्यन्ती अवलोकयन्ती इव, प्रसादमिषात् प्राभातिकवैशद्यच्छलात्, कौतुकजनितप्रसन्नताव्याजाच्च, निजमुखं स्वीयपुरोभागम् आननञ्च, स्मेरं सहासम्, धत्ते इव करोतीव । अत्र मिषशब्देन प्रसादरूपापह्नवेन पराङ्गनासङ्गनग्नपुरुषदर्शनजन्यस्मितत्वोल्लेखनात् सापह्नवोत्प्रेक्षा ।

अन्वयः—असौ हरेः महिषी हरित् वरुणगृहिणीम् आशाम् आसादयन्तं रुचीनिचयसिचयांशांशभ्रंशक्रमेण निरंशुकम् अमुं तुहिनमहसं पश्यन्ती इव प्रसादमिषात् निजमुखं स्मेरं धत्ते इव ।

हिन्दी—यह इन्द्र की रानी—सदृश (पूर्वा) दिशा (एक राजमहिषी के समान) वरुण की गृहिणी दिशा (पश्चिमा दिक्) को प्राप्त होते (अस्तोन्मुख) कान्तिराशिरूप वस्त्र के अल्पांश का क्रमसे परित्याग कर निष्प्रभ और वस्त्रहीन हुए चन्द्र को देखती जैसे प्रसन्नता (प्रभात की शुभ्रता और हर्ष) के व्याज से अपने मुख को मानो स्मित से युक्त कर रही है ।

टिप्पणी—प्रकृति-वर्णन है कि पूर्व दिशा में प्रकाश की विशदता का

विस्तार हो रहा है और पश्चिम दिशा में क्रमशः निष्प्रभ होता चंद्रमा अस्तोन्मुख है। पूर्वा दिक् का अधिपति इन्द्र है और प्रतीची का वरुण, अतः इन दोनों को क्रमशः इन्द्रपत्नी और वरुणपत्नी कहा जाता है। यहाँ यह उद्भावना है कि जब चंद्रमा प्राची दिशा के आश्रित था तब उदयोन्मुख था अर्थात् उसकी उन्नति हो रही थी, अब उसका आश्रय छोड़ उसने प्रतीची का आश्रय लिया है, तब अस्त हो रहा है अर्थात् अवनति की ओर बढ़ रहा है। 'रुचिनिचय' को 'सिचय' अर्थात् वस्त्र माना गया है। रुचि-निचय का क्रमशः त्याग वस्त्रत्याग अर्थात् निरावरण होना है। अपना आश्रय छोड़ दूसरी प्रतीची दिशा रूपी नायिका का आश्रय ले अवनत होते और नग्न होते चंद्र को देख प्राची-रानी का मुख मानो हँसी से भर उठा है। निर्लज्ज चन्द्र का कांतिचय-रूप वस्त्र त्यागदेना भी हँसी का कारण है, और यह भी कि एक अच्छा आश्रय छोड़ अनुपयुक्त आश्रय लिया, जिससे अवनति हुई। नल से चारणों का निवेदन है कि प्राची में सूर्योदय हो रहा है और पश्चिम में चन्द्र अस्त हो रहा है, वे निद्रा का त्याग करें। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ मिष शब्द से प्रसादरूप अपह्नुव द्वारा परांगनासंगत पुरुष-दर्शनजात स्मित का उत्प्रेक्षण किया गया है, अतः सापह्नवा उत्प्रेक्षा है॥ ३॥

> अमहतितरास्तादृक् तारा न लोचनगोचरा-
> स्तरणिकिरणा द्यामञ्चन्ति क्रमादपरस्पराः।
> कथयति परिश्रान्तिं रात्रीतमः सह युध्वनाम्
> अयमपि दरिद्राणप्राणस्तमीदयितस्त्विषाम्॥ ४॥

जीवातु—अमहतीति। अतिशयेन महत्यः महतितराः 'घरूपकल्प—' इत्यादिना ङ्यो ह्रस्वः, अनेन ह्रस्वविधानेन परत्वात् 'तसिलादिषु' इति प्राप्त-पुंवद्भावप्रतिषेधः, ततो नञ्समासः। अमहतितराः सूक्ष्माः, ताराः अरुन्धत्या-दयः तारकाः, तादृक् पूर्ववत्, रात्रौ इवेत्यर्थः। लोचनस्य नयनस्य, गोचराः विषयाः, न, भवन्तीति शेषः। उत्तरोत्तरं सूर्यतेजोवर्द्धनादिति भावः। परे परे न भवन्तीति अपरस्पराः, सततक्रियाः, सततम् अविच्छेदेन प्रवृत्ता इति यावत्, युगपदेव प्रसरणशीला इति भावः। 'अपरस्पराः क्रियासातत्ये' इति निपात-नात् साधुः। तरणेः अर्कस्य, किरणाः मयूखाः, क्रमात् क्रमशः, द्याम् आका-

द्याम्, अञ्चन्ति गच्छन्ति, व्याप्नुवन्तीत्यर्थः। दरिद्राणप्राणः क्षीणबलः। दरिद्रातेः कर्तरि ल्युट्। 'बलान्तर्मारुतौ प्राण' इति यादवः। अयं परिदृश्यमानः समीदयितः निशापतिरपि, रात्र्याः निशायाः। 'कृदिकारात्—' इति वा ङीप्। तमांसि अन्धकाराः तैः सह युध्वना युद्धं कुर्वतीनाम्। 'सहे च' इति क्वनिप्। 'वनो न हशः—' इति वक्तव्यात् 'वनो र च' इति ङीप् प्रत्ययो रश्च नास्ति। त्विषां भासाम्, स्वप्रभाणामित्यर्थः। परिश्रान्तिं क्लान्तिम्, कथयति ख्यापयति। प्रभातं सञ्जातं, अतः शयनं परित्यजेति भावः। समुच्चयोऽलङ्कारः॥ ४॥

अन्वयः—अमहतितराः ताराः तादृक् लोचनगोचराः न, अपरस्पराः तरणिकिरणाः क्रमात् द्याम् अञ्चन्ति, दरिद्राणप्राणः अयं समीदयितः रात्रीतमः सह युध्वनां त्विषां परिश्रान्तिं कथयति।

हिन्दी—स्वरूपतः सूक्ष्म (ध्रुव, अरुन्धती आदि) तारिकाएँ पूर्ववत् नयनगोचर नहीं होती, अहमहमिकया सतत प्रवृत्त सूर्यकिरणें क्रमशः गगन में व्याप्त हो रही हैं, क्षीणबल यह निशापति (चन्द्र) रात्रि के अंधकार के साथ युद्ध करती किरणों की थकान कह रहा है।

टिप्पणी—प्रभात-सूचक तीन स्थितियाँ—(१) प्रकाशशीला होने पर भी ध्रुव, अरुन्धती, स्वाति, आर्द्रा आदि तारिकाएँ अब नेत्रों को प्रकाशमयी नहीं लगती और जैसी पहिले दीखती थी वैसी नहीं दीखती। (२) सूर्यकिरणों का वेगपूर्वक नभ प्रसार हो रहा है। (३) चन्द्र निष्प्रभ है और जैसे उसकी किरणें अन्धेरे से लड़ती थक गई हैं, हार रही है॥ ४॥

> स्फुरति तिमिरस्तोमः पञ्चप्रपञ्च इवोच्चकैः
> पुरुसितगरुच्चञ्चच्चञ्चू पुटस्फुटचुम्बितः।
> अपि मधुकरी कालिम्मन्या विराजति धूमल-
> च्छविरिव रवेर्लाक्षालक्ष्मीं वरैरभिपातुकैः॥ ५॥

जीवातु—स्फुरतीति। तिमिरस्तोमः तमोराशिः, लाक्षालक्ष्मीम् अलक्तकशोभाम् अभिपातुकैः अभिक्रामद्भिः, पराजेतुमिच्छुभिरित्यर्थः। लाक्षावर्णादपि अधिकारुणैः वर्णैरिति यावत्। उदीयमानसूर्यकिरणानां तद्वत् परिदृश्यमानत्वादिति भावः। 'लषपत—' इत्यादिना उकञ्, 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद्

कर्मणि द्वितीया । रवेः सूर्यस्य, करैः किरणैः, किरणसम्पातैरित्यर्थः । पुरु भूयिष्ठं यथा तथा, सितगरुतां श्वेतपक्षाणां हंसानाम्, 'हंसास्तु श्वेतगरुतः' इत्यमरः । चञ्चद्भिः चञ्चलैः, मृणालभक्षणार्थं कर्दमालोडनव्यग्रतयेति भावः । चञ्चूपुटैः अरुणवर्णैः त्रोटियुगलैः, स्फुटं स्पष्टम्, चुम्बितः स्पृष्टः, विलोडितः इत्यर्थः । पङ्कप्रपञ्चः कर्दमराशिः इव, उच्चकैः अत्यर्थं, स्फुरति दीप्यते इत्युपमा । तथा कालीम् आत्मानं मन्यते इति कालिम्मन्या अतिकृष्णा इत्यर्थः । वर्णे अर्थे 'जानपद—' इत्यादिना ङीप्, कालशब्दोपपदात् मन्यतेः 'आत्ममाने खश्च' इति खश् प्रत्ययः, 'खित्यनव्ययस्य' इति ह्रस्वः । 'अरुर्द्विषत्—' इत्यादिना मुमागमः । मधुकरी भृङ्गी अपि, लाक्षालक्ष्मीम् अभिपातुकैः रवेः करैः धूमलच्छविः कृष्णलोहितकान्तिः इव । 'धूम्रधूमलौ कृष्णलोहितौ' इत्यमरः । विराजति शोभते । अत्र काल्या भृङ्ग्या रविकरलौहित्याद्युत्कृष्टगुणग्रहणे तद्गुणालङ्कारः, तदुत्थापिता धूमलत्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ५ ॥

अन्वयः—तिमिरस्तोमः लाक्षालक्ष्मीम् अभिपातुकैः रवेः करैः पुरुसितगरुच्चञ्चच्चञ्चूपुटस्फुटचुम्बितः पङ्कप्रपञ्चः इव उच्चकैः स्फुरति, कालिम्मन्या मधुकरी अपि धूमलच्छविः इव विराजति ।

हिन्दी—अन्धकार का ढेर अलक्तक की लक्ष्मी (लाल शोभा) को अतिक्रांत करती सूर्य की किरणों द्वारा अत्यंत शुभ्र पंखों वाले हंसों की चंचल लाल चोंचों से स्पष्टतः विलोडित कीचड़ के ढेर की भाँति ऊपर उड़ा जा रहा है और अपने को काली मानती भ्रमरी भी (सूर्यकिरणों द्वारा) कृष्णारुण शोभा को जैसे प्राप्त कर रही है ।

टिप्पणी—आशय यह कि लाल. सूर्य-किरणों का प्रसार हो रहा है और काला अन्धेरा मिट रहा है, सूर्य-किरणें अत्यधिक लाल हैं' अतः उन्हें 'लाक्षालक्ष्मी की अभिपातुक' कहा गया है । सूर्य हंस के समान हैं, और उसकी लाल किरणें शुभ्रहंस की लाल चोंच के सदृश, जिससे कीचड़ के ढेर-सा काला अंधेरा उखाड़ा—उड़ाया जा रहा है तथा सूर्य की लाल किरणें पड़ने से अत्यन्त काली भ्रमरी भी रक्त-कृष्णवर्णा दीख रही है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ कालीभृंगी के रवि-किरणों से लौहित्यादि उत्कृष्ट गुणग्रहण-कथन में तद्गुण अलंकार है और उससे उत्थापित धूमलता उत्प्रेक्षा है, सो तद्गुण-उपमा का संकर है ॥ ५ ॥

रजनिवमथुप्रालेयाम्भःकणक्रमसम्भृतैः
कुशकिसलयस्याच्छैरग्रेशयैरुदबिन्दुभिः ।
सुषिरकुशलेनाय सूचीशिखाङ्कुरसङ्कुरं
किमपि गमितान्यन्तर्मुक्ताफलान्यनुमेनिरे ॥ ६ ॥

जीवातु—रजनीति । रजने रात्रेः, हस्तिनीरूपाया इति भावः । वमथवः करशीकराः, शुण्डाग्रविक्षिप्तजलकणस्वरूपा इत्यर्थः । 'वमथुः करशीकरः' इत्यमरः । ये प्रालेयाम्भसः हिमजलस्य, कणाः बिन्दवः, तैः क्रमेण क्रमशः, किञ्चित् कालेनेत्यर्थः । सम्भृतैः सञ्चितैः, किञ्चित् किञ्चित् करणात् सञ्चयात् स्थूलीभूतैरिति भावः । कुशकिसलयस्य सूचीवत् सूक्ष्माग्रनवीनदर्भपत्राणामित्यर्थः । जातावेकवचनम् । अग्रे शेरते इति अग्रेशयाः तैः अग्रस्थैः । 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच् । अच्छैः निर्मलैः, उदबिन्दुभिः जलकणैः । कर्तृभिः । सुषिरे मुक्तादिषु छिद्रविधाने, कुशलेन निपुणेन, शिल्पिनेति शेषः । किमपि किञ्चित्, अन्तः मध्ये, अयसः लौहस्य, सूचीनां व्यधनीनाम्, सीवनव्यधनसूक्ष्माग्रशलाकाविशेषाणामित्यर्थः शिखाङ्कुरः शिखा अग्रभागः, स एव सूक्ष्मत्वादङ्कुरः, तैः सङ्कुरं सङ्क्रमम्, गमितानि प्रापितानि, मुक्ताफलानि मौक्तिकानि, अर्द्धविद्धानि मुक्ताफलानीत्यर्थः । अनुमेनिरे ह्रीततया बुबुधिरे, ह्रीणीकृतानीत्यर्थः । सूर्यकिरणसम्पर्केण अन्तरौज्ज्वल्यसाम्यात् मुक्ताफलानि तिरस्कृतानीति भावः । इति सादृश्ये लक्षणा । अत्र दर्भाग्रोदबिन्दूनां वेधसूच्यग्रलग्नमुक्ताफलैरुपमा, प्रालेयाम्भःकणेषु वमथुत्वरूपणात् रजने करिणीत्वरूपसिद्धेरेकदेशविवर्तिरूपकम् इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावात् सङ्करः ॥ ६ ॥

अन्वयः—रजनिवमथुप्रालेयाम्भःकणक्रमसम्भृतैः कुशकिसलयस्य अग्रेशयैः अच्छैः उदबिन्दुभिः सुषिरकुशलेन किम् अपि अन्तः अयःसूचीशिखाङ्कुरसङ्कुरं गमितानि मुक्ताफलानि अनुमेनिरे ।

हिन्दी—रात्रि रूपिणी हस्तिनी को सूँड से निकले जलकणों-जैसे ओसकणों के धीरे-धीरे गलने से संचित, कुश-पत्रों की कोर पर स्थित स्वच्छ जलकणों द्वारा छिद्र करने में चतुर (शिल्पी) ने कुछ मध्य में लोहे की सुइयों की नोक-रूप अंकुरों से संयुक्त मोतियों को छोटा बना दिया ।

टिप्पणी—कुश-पत्रों अर्थात्, दर्भों पर पड़े ओसकण दमक रहे थे । वे

बड़े निर्मल, स्वच्छ और सूर्य की किरणें पड़ने से दम-दमा रहे थे। उनकी सुषमा सूई की नोक पर बिंधे मोतियों को भी अवमानित कर रही थी, अर्थात् ओसकण मोतियों की तुलना में कहीं आकर्षक लग रहे थे। पत्तों पर गलते ओसकण रात्रि में गिरे तुषार के कारण संचित थे, अतः उन्हें रात्रि-हस्तिनी की सूंड से निकले जल-कण-सदृश कहा गया। कुशों की कोरों पर स्थित वे ऐसे लग रहे थे, जैसे छिद्र करने में चतुर किसी कारीगर ने मोतियों में छेद करने के लिए उन्हें सूचीविद्ध किया हो। मल्लिनाथ के के अनुसार दर्भाग्रभागों पर स्थित ओसकणों की वेधिका सूची (सूई) की नोक पर स्थित मोतियों से उपमा दी गई है और रातभर गिरते ओस-बिन्दुओं में वमथु-भाव के रूपण द्वारा रजनी का करिणीत्व सिद्ध किया गया है, यह एकदेशविवर्त्ति रूपक है, इन दोनों (उपमा-रूपक) की अंगांगिभाव से यहाँ संसृष्टि है ॥ ६ ॥

> रविरुचिऋचामोङ्कारेषु स्फुटामलबिन्दुतां
> गमयितुममूरुच्चीयन्ते विहायसि तारकाः।
> स्वरविरचनायासामुच्चैरुदात्ततयाऽऽहृताः
> शिशिरमहसो बिम्बादस्मादसंशयमंशवः ॥ ७ ॥

जीवातु—रवीति। रवेः सूर्यस्य, रुचयः उदयकालीनकिरणाः एव, ऋचः पूर्वाह्णत्वात् ऋग्वेदमन्त्रविशेषाः तासाम्, 'ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते' इत्यादि तन्मयत्वश्रुतेरिति भावः। ओङ्कारेषु आदौ उच्चार्यमाणप्रणवेषु, स्फुटाः व्यक्ताः, अमलाः स्वच्छाः, बिन्दवः उपरिस्थितबिन्द्वाकृतिवर्णाः, तेषां भावः तत्ता ताम्, गमयितुं प्रापयितुम्, ओङ्काराणामुपरिदेशे बिन्दून् संस्थापयितुमित्यर्थः। विहायसि आकाशे, अमूः परिदृश्यमानाः, तारकाः नक्षत्राणि, उच्चीयन्ते एकमेकं कृत्वा सङ्गृह्यन्ते, प्रभातालोकेन क्षुद्रीभूततया परिदृश्यमानत्वात् वृत्तत्वसाम्याच्चेति भावः। किञ्च, आसाम् ऋचाम्, उदात्ततया हृद्यतया, 'उच्चैरुदात्तः' इत्युक्तलक्षणस्वरविशेषतया च। 'उदात्तः स्वरभेदे स्यात् काव्यालङ्कारहृद्ययोः' इति विश्वः। उच्चैः अत्यन्तम्, स्वरविरचनाय उदात्ताख्यस्वरसम्पादनार्थम्। अस्मात् परिदृश्यमानात्, शिशिरमहसः शीतकिरणस्य चन्द्रस्य, बिम्बात् मण्डलात्, अंशवः किरणाः, असंशयं निश्चयम्।

भावार्थेऽव्ययीभाव । आहृता सगृहीता, केनापीति शेष । अन्यथा चन्द्रा-न्तस्तारकाश्च क्व गता. ? इति भाव. । असशयमित्युत्प्रेक्षा ॥ ७ ॥

अन्वय:—रविरुचिऋचाम् ओङ्कारेषु स्फुटामलबिन्दुता समजितु विहायसि अमू तारका. उच्चीयन्ते, आसाम् उदात्ततया उच्चै स्वररचनाय अस्मात् शिशिरमहस बिम्बात् अशव: असशयम् आहृता: ।

हिन्दी—सूर्य-किरण-रूपिणी ऋचाओ के (आरम्भ में उच्चरित होने वाले) ओङ्कारो (ॐ) मे स्पष्ट और निर्दोष बिन्दु (अनुस्वार) बनाने के लिए आकाशस्थित इन तारकों का उच्चयन (सकलन) किया जा रहा है और इन (रवि-ऋचाओ) के उदात्त होने से ऊपर (उदात्त) स्वर-रचना के निमित्त इस शीताशु (चन्द्र) के मडल से किरणें नि सदेह-रूप मे ले ली गयी हैं ।

टिप्पणी—आशय यह है कि सूर्य किरणो के धीरे-धीरे फैलने के कारण प्रकाश बढ रहा है, जिससे तारे छिप गये हैं और चद्रमा किरणहीन और निस्तेज हो गया । यहाँ फैलती सूर्य-किरणो को ऋचा अर्थात् ऋग्वेद के मत्र कहा गया है, जिसका आधार यह श्रुति है—'ऋग्भि. पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्येऽह्न ।' ऋचाओ के पाठ में उनमें पहिले ओकार लगाया जाता है । पहिले 'ॐ' उच्चरित होता है, तत्पश्चात् शेष ऋचा । सूर्यकिरणो को जब ऋचाएँ माना गया तो यह कल्पना की गयी कि प्रकाश के कारण अदृश्य बिन्दु के आकार के स्वच्छ, वृत्ताकार (गोल) तारक उस ॐ का बिंदु—अनुस्वार बनाने के लिए सकलित कर लिये गये हैं, अतः नही दीख रहे हैं । किरणें उदात्त हैं, ऊँची, ऊपर-ऊपर, सो किरण-ऋचाओ के उदात्तस्वर-युक्त होने की उद्भावना की गयी । ऊँची अर्थात् उदात्त—'उच्चैरुदात्त.' (अष्टा० १।२।२९), अर्थात् उच्च का उच्चारण उदात्तस्वर मे होता है । उदात्त-भाव सूचित करने के लिए वर्ण के ऊपर ऊर्ध्व-रेखा लिखी जाती है । निष्प्रभ, किरणहीन चन्द्र की किरणो का संकलन इन ऊर्ध्व-रेखाओ के अकनार्थ किया गया है । इसी कारण वे चन्द्र-मडल में नही दीखती । प्रसार पाती सूर्यकिरणें ऋचाएँ, ॐ का बिन्दु अदृश्य तारे और उदात्तस्वरसूचिका ऊर्ध्वरेखाएँ चद्रकिरणें । यदि ऐसा नही है तो

तारे और चंद्रकिरणें कहाँ हैं ? मल्लिनाथ और नारायण के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है ॥ ७ ॥

व्रजति कुमुदे दृष्ट्वा मोहं दृशोरपिधायके
भवति च नले दूरं तारापतौ च हृतौजसि ।
लघु रघुपतेर्जायां मायामयीमिव रावणिः
तिमिरचिकुरग्राहं रात्रिं हिनस्ति गभस्तिराट् ॥ ८ ॥

जीवातु—व्रजतीति । दृष्ट्वा विलोक्य, रात्रेर्निःशेषक्रमं सीतावधोपक्रमञ्च इति शेषः । कुमुदे कैरवे कपिविशेषे च । 'कुमुदं कैरवे रक्तपङ्कजे कुमुदः कपौ' इति विश्वः । मोहं सङ्कोचं मूर्च्छनञ्च, एकत्र—दिवा मुद्रणस्वभावात्, अन्यत्र—शोकादिति भावः । व्रजति गच्छति सति, तथा भवति त्वयि, नले च नैषधे च, दृशोः दर्शनयोः, दर्शनसाधनदृष्टिमण्डलयोरित्यर्थः । 'दृक् स्त्रियां दर्शने नेत्रे बुद्धौ च त्रिषु वीक्षके' इति मेदिनी । अपिधायके आच्छादके सति, सदाऽपि निद्रावेशापगमात् निमीलिताक्षे सतीत्यर्थः । अन्यत्र—नले कपिविशेषे । 'नलः पोटगले राज्ञि पितृदेवे कपीश्वरे' इति विश्वः । दृशोः अपिधायके सीतावधोद्यमं द्रष्टुं सोढुञ्च, अशक्यत्वात् हस्ताभ्यां चक्षुषोराच्छादके, भवति सति, तथा तारापतौ चन्द्रे सुग्रीवे च । 'ऋक्षाक्षिमध्ययोस्तारा सुग्रीवगुरुयोषितोः' इति विश्वः । दूरम् अत्यन्तम्, हृतौजसि निस्तेजस्के च सति, सूर्यतेजसा अभिभूतत्वात् सीतावधोद्यमस्य प्रतीकाराशक्यत्वाच्चेति भावः । रावणस्य अपत्यं रावणिः इन्द्रजित्, मायामयीं मायाकल्पितां रघुपतेः रामचन्द्रस्य, जायां भार्यां सीतामिव, कल्पान्तरीयमायासीतावधविवरणावलम्बनेन अत्र उपमासङ्गतिर्बोद्धव्या । गभस्तिराट् सूर्यः, रात्रिं रजनीम्, लघु क्षिप्रम्, तिमिराणि अन्धकारा एव, चिकुराः केशाः, सीतापक्षे—तिमिराणीव चिकुराः, तेषु गृहीत्वा तिमिरचिकुरग्राहम् । सप्तम्युपपदे 'समासत्तौ' इति णमुल्—भावः । हिनस्ति । विनाशयति ॥ ८ ॥

अन्वयः—दृष्ट्वा कुमुदे मोहं व्रजति, नले च दृशोः अपिधायके भवति, तारापतौ च दूरं हृतौजसे रावणिः मायामयीं रघुपतेः जायाम् इव गभस्तिराट् रात्रिं तिमिरचिकुरग्राहं लघु हिनस्ति ।

हिन्दी—(हत्या होती) देखकर कुमुद नामक रामसेना के वानर के

शोक से मूर्च्छित होने के समान प्रकृतिधर्मानुसार कुमुद (पुष्प) के मुँद जाने पर, नल नामक प्रसिद्ध वानर के असह्य होने के कारण नेत्र ढक लेने के तुल्य आप महाराज नल के निद्रा मे नयन मूँदे रहने पर, तारापति (सुग्रीव वानरराज) के सदृश तारापति (चन्द्र) के अत्यधिक निस्तेज (बलहीन, कांतिहीन) हो जाने पर रावण के पुत्र मेघनाद ने जैसे माया से रची रघुराज की भार्या (कपट सीता) को केश पकड कर हत्या की थी, वैसे ही किरणमाली सूर्य मायामयी रात्रि का अंधकार रूप केश पकड़ कर शीघ्र नाश कर देगा।

टिप्पणी—प्रसिद्ध रामायणी कथा (वाल्मीकिरामायण, युद्धकांड—८१।५–३०) 'कपटसीतावध' का आश्रय ले यहाँ सूर्योदय का वर्णन है। कुमुद मुँद रहे हैं, तारक और चन्द्र निस्तेज हैं, महाराज नल को भी नयन खोलना चाहिए। मायामयी रात्रि को माया-रचित सीता कहा गया है, जिसका वध अंधकाररूपी केश पकड सूर्य-रूप मेघनाद कर रहा है। मल्लिनाथ के अनुसार इसी प्रकार उपमा की सगति हुई है। कुमुद और नल राम सेना के वानर हैं और तारापति सुग्रीव वानरराज। अन्य पक्ष में कुमुद पुष्प वाचक है, नल निषधपति का वाचक और तारापति चंद्रार्थक। रात बीती, नल का निद्रा-त्याग उचित है ॥ ८ ॥

त्रिदशमिथुनक्रीडातल्पे विहायसि गाहते
निधुवनधुतस्रग्भागश्रीभरं ग्रहसङ्ग्रहः।
मृदुतरकराकारैस्तूलैरकरैरुदरम्भरि
परिहरति नाखण्डो गण्डोपधानविधां विधुः ॥ ९ ॥

जीवातु—त्रिदशेति। ग्रहसग्रहः तारकात्मकशुक्रादिग्रहगणः, ग्रहशब्दस्य उपलक्षणत्वात्, रजन्याः पश्चिमयामे शुक्रताराया उदयदर्शनाच्चेति भावः। त्रिदशमिथुनानां देवद्वन्द्वानाम्, क्रीडातल्पे विहारशय्यास्वरूपे, विहायसि आकाशे, निधुवनेन सुरतेन, सुरतकालिकप्रबलसञ्चालनेनेत्यर्थः। धुतस्रग्भागानां धुतानाम् इतस्ततो विक्षिप्तानाम्, स्रग्भागानां पुष्पमालाशानाम्, मालातो विक्षिप्तानामेकैकपुष्पाणामित्यर्थः। निर्माल्यानामिति यावत्, श्रीभरमिव श्रीभरं शोभाऽतिरेकम् गाहते आश्रयति। किञ्च अखण्ड परिपूर्णमण्डलः,

विधुः चन्द्रः, मृदुतरकराः अतिशयेन कोमलाः किरणा एव, आकाराः रूपाणि येषां तादृशैः, तूलोत्करैः तूलपटलैः, उदरम् अभ्यन्तरम् विभर्त्ति पूरयतीति उदरम्भरिः, पूरितमध्यः, व्यासोदरः सन् इत्यर्थः। 'फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च' इति चकारात् सिद्धः। गण्डोपधानस्य कपोलोपवर्हस्य, गोलाकार—कपोलनिधानास्येत्यर्थः। 'उपधानन्तूपवर्हः' इत्यमरः। विधां प्रकारम्, तुल्यतामित्यर्थः। न परिहरति न त्यजति, गण्डोपधानत्वं भजते इत्यर्थः। उपागमेन क्षीणप्रभत्वादिति भावः। अत्र श्रियमिव श्रियं विधामिव विधामिमि सादृश्याक्षेपात् उभयत्र निदर्शनोत्थानात् सजातीयसंसृष्टिः॥ ९॥

अन्वयः—ग्रहसङ्ग्रहः त्रिदशमिथुनक्रीडातल्पे विहायसि निधुवनधुतस्रग्भागश्रीभरं गाहते, मृदुतरकराकारैः तूलोत्करैः उदरम्भरिः अखण्डः विधुः गण्डोपधानविधां न परिहरति।

हिन्दी—शुक्रादि तारकों का समूह देव-युग्मों की क्रीडा-शय्या रूपी गगन में सुरत-समय बिखर गयी माला के फूलों की शोभा-भार-से शोभाभार को प्राप्त कर रहा है; अतिशय कोमल किरणों के आकार के रुई के गोलों को मध्य में भरे पूर्णचन्द्र-गोल गलतकिया के रूप-सदृश रूप को नहीं छोड़ रहा है।

टिप्पणी—देवों के पर्यंक आकाश में मुरझाये, बिखरे, माला के फूलों-से निस्तेज तारे हैं और गलतकिया-सा किरणें-समेटे निस्तेज चन्द्रमा। अर्थात् प्रभात हो गया। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्रीभर-से श्रीभर और विधा-सी विधा कहकर सादृश्याक्षेप द्वारा दोनों स्थानों पर निदर्शना का उत्थान किया गया है, अतः सजातीय संसृष्टि है॥९॥

दशशतचतुर्वेदीशाखाविवर्त्तनमूर्त्तयः
सविधमधुनाऽलङ्कुर्वन्ति ध्रुवं रविरश्मयः।
वदनकुहरेष्वध्येतॄणामयं तदुदञ्चति
श्रुतिपदमयस्तेषामेवप्रतिध्वनिरध्वनि ॥ १० ॥

जीवातु—दशेति। दश शतानि यासु ताः सहस्रसङ्ख्याः इत्यर्थः। ताश्च ताः चतुर्वेदीशाखाश्च इति। विशेषणसमासः, अन्यथोभयद्विगुप्राप्तौ वहु स्यादिति। वेदचतुष्टयस्य सहस्रसङ्ख्यकाः शाखा इत्यर्थः। तासां विवर्त्तनानि

अतत्त्वतोऽन्यथाभावाः, परिवर्त्तानीत्यर्थः। परिणतय इति यावत्। मूर्त्तयः रूपाणि येषां ते तादृशाः तद्विवर्त्तनरूपाः सहस्रसङ्ख्यकोपनिषत्स्वरूपा इत्यर्थः। रवेः सूर्यस्य, रश्मयः सहस्रसङ्ख्यका किरणाः, अधुना सम्प्रति, अहर्मुखे इत्यर्थः। ध्रुवम् अजस्रम्, अविरतमित्यर्थः। 'ध्रुव स्तेऽजस्रतर्कयो' इति हैमः। सविधम् अस्मदादिसामीप्यम्, अलङ्कुर्वन्ति भूषयन्ति, समीपमागच्छन्ति इत्यर्थः। तत् तस्मात्, रविरश्मीनां समीपागमनादित्यर्थः। तेषां रश्मीनामेव, अयं श्रूयमाणः, श्रुतिपदमयः वेदाक्षरात्मकः, प्रतिध्वनिः प्रतिशब्दः, रविरश्मी-नवलम्ब्य आगतः सूर्यलोकीयवेदध्वनेः प्रतिशब्द इत्यर्थः। अध्येतॄणाम् अत्रत्यवेदपाठकानां जनानाम्, वदनकुहरेषु मुखदरीषु, तथा 'अध्वनि शब्द-गुणमये आकाशमार्गे न, उदध्वनि उद्गच्छति। 'ऋग्भिः पूर्वाह्णे, दिवि देव ईयते' इत्यादिश्रुत्या रविरश्मयः श्रुतिपदमया एव, सूर्यलोकवासिभिरपि 'इदानीं वेदा अधीयन्ते, 'द्वितीये च तथा भागे वेदाभ्यासो विधीयते' इति दक्षवचनात् इदानीं मर्त्यानां वेदाध्येतॄणां मुखविवरेषु योऽयं ध्वनिरुद्गच्छति स पुनः सूर्यलोकवासिनां वेदाध्ययनस्य रविरश्मीनवलम्ब्य आगतः प्रतिध्वनिरिव प्रतिभातीति भावः ॥ १० ॥

अन्वयः—दशशतचतुर्वेदीशाखाविवर्त्तनमूर्त्तयः रविरश्मयः अधुना ध्रुवं सविधम् अलङ्कुर्वन्ति, तत् अध्येतॄणां वदनकुहरेषु तेषाम् एव अयं श्रुतिपदमयः प्रतिध्वनिः अध्वनि उदध्वति।

हिन्दी—चारों (ऋक्-सामादि) वेदों की सहस्रसंख्यक शाखाओं के अतात्त्विक परिवर्तन ही जिनकी मूर्तियाँ हैं, ऐसी सूर्यकिरणें इस काल (प्रभात वेला में) निश्चय (हमारे) समीप देश को विभूषित कर रही हैं, अतएव वेदपाठकों की मुख-गुफाओं में उन (वेदों की शाखा बनी सूर्य-किरणों) का प्रतिशब्द आकाश में ऊँचे प्रसार पा रहा है।

टिप्पणी—सूर्योदय हो गया, रविकिरणें प्रसार पा रही हैं और वेदपाठकों के वेदपाठ की ध्वनि आकाश में गूँज रही है। माना गया है। कि सूर्य की जो ये सहस्र किरणें हैं (सूर्य को 'सहस्रांशु' कहा जाता है), वे ऋग्वेदादि वेदचतुष्टयी के ऊपर-ऊपर से दीखते, हजारों आश्वलायन, तैत्तिरीयादिक शाखाएँ अथवा उपनिषद्रूप अतात्त्विक परिवर्तनों के मूर्त्तरूप हैं। ये हमारे समीप देश में इस समय प्रभात में आतीं सूर्यकिरणें निश्चय ही वेद की सहस्र शाखाएँ ही

हैं। यह जो वेदमन्त्रों की ध्वनि वेदपाठियों द्वारा होती सुनायी पड़ रही है, सूर्यलोक में होते वेदपाठ की प्रतिध्वनि है, जो वेदपाठियों के मुख-रूप गह्वरों में टकराकर हो रही है और आकाश में प्रसार पा रही है। आशय यह कि सूर्यलोकवासिजनों के वेदपाठ का शब्द सूर्यकिरणों का अवलम्बन ले मर्त्यलोक में आ गया है, यहाँ के वेदपाठियों के मुख-गह्वरों में उसी की प्रतिध्वनि हो रही है। नारायण ने 'ध्रुवम्' प्रयोग को उत्प्रेक्षासूचक भी माना है—'ध्रुवमुत्प्रेक्षायां वा' ॥१०॥

> नयति भगवानम्भोजस्यानिबन्धनबान्धवः
> किमपि मघवत्प्रासादस्य प्रघाणमुपघ्नताम्।
> अपसरदरिध्वान्तप्रत्यग्वियत्पथमण्डली-
> लगनफलदश्रान्तस्वर्णाचलभ्रमविभ्रमः ॥ ११ ॥

जीवातु—नयतीति। अम्भोजस्य पद्मस्य, अनिबन्धनबान्धवः निर्व्याजबन्धुः, भगवान् माहात्म्यवान्, सूर्यः इति शेषः। अपसरन्ति अपगच्छन्ति, पलायमानानीत्यर्थः। अरीणि विरोधीनि ध्वान्तानि अन्धकाराः यस्यां तादृश्याम् प्रत्यग्वियत्पथमण्डल्यां पश्चिमाकाशमार्गदेशे, लगनात् किरणसम्पर्केण संयोगात्, तथाविधभावेन ध्वान्तध्वंसनादित्यर्थः। फलन् सफलीभवन्, अश्रान्तस्वर्णाचलभ्रमः निरन्तरमेरुप्रदक्षिणीकरणमेव, विभ्रमः विलासः यस्य सः तादृशः सन्, किमपि कस्यापि हेतोः, मघवत्प्रासादस्य इन्द्रसौधस्य वैजयन्तस्य, प्रघाणम् अलिन्दम्। 'प्रघाणप्रघणालिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके' इत्यमरः। 'अगारैकदेशे प्रघणः प्रघाणश्च' इति निपातः। उपघ्नताम् अन्तिकाश्रयताम्, 'स्यादुपघ्नोऽन्तिकाश्रये' इत्यमरः। नयति प्रापयति, प्रघाणसमीपमाश्रितवानित्यर्थः। यथा स्वर्णादिपूर्णकोषागारपरिरक्षणाय नियुक्तः कश्चित् रक्षिसैन्यः तदागारं परितः पुनः पुनः परिक्रमणं कुर्वन् तत्रैव गुप्तभावेनावस्थितं दस्युपक्षीयं कमप्यनुसरन् तत्कोषागारप्राचीरावलम्बनेनावस्थाय तं दूरीकृत्य सफलप्रदक्षिणः सन् श्रान्तिपरिहाराय अलिन्दं प्रविशति तद्वदिति भावः। सूर्यः शत्रुमिव अन्धकारं निरस्य क्षणादुदयाद्रिमाश्रितः इति निष्कर्षः ॥ ११ ॥

अन्वयः—अपसरदरिध्वान्तप्रत्यग्वियत्पथमण्डलीलगनफलदश्रान्तस्वर्णाचलभ्रमविभ्रमः अम्भोजस्य अनिबन्धनबान्धवः भगवान् किम् अपि मघवत्प्रासादस्य प्रघाणम् उपघ्नतां नयति।

हिन्दी—भागते-विनष्ट होते शत्रु-अन्धकार का पश्चिमदिशा के पथ-मण्डल में संयोग हो जाने से अश्रान्तभाव से (निरन्तर) स्वर्णगिरि (सुमेरु) की परिक्रमारूप जिनका विलास सफल हो गया है, ऐसे कमल के अकारण-बन्धु भगवान् सूर्य थोड़ा-सा इन्द्र के प्रासाद (वैजयन्त) के अलिंद का आश्रय ले रहे हैं।

टिप्पणी—पूर्वदिशा में उदयाचल तक ऊँचे उठ आये सूर्य की कल्पना यहाँ पूर्वादिक् के अधिपति इन्द्र के प्रासाद वैजयन्त के अलिंद पर कुछ विश्राम लेते हुए की गयी है। रातभर वे सुमेरु गिरि का चक्कर लगाते रहे कि वैरी अन्धकार से सामना हो और वे उसे नष्ट कर दें, प्रभातकाल में स्वर्णाचल के पश्चिमी पथ-चक्र में वह हाथ लगा और हारकर भाग गया (नष्ट हो गया), अथवा सूर्य को मिला वैरी अन्धकार हारकर पश्चिम पथ से भाग गया। अब वैरिजय रूप सफलता प्राप्त कर कमलों के निष्कारण सखा ऐश्वर्यशाली सूर्य महाराज वैजयन्त-प्रासाद के अलिंद पर थोड़ा सा विश्राम ले रहे हैं। आशय यही कि अन्धेरा दूर हुआ, सूर्य ऊपर चढ़ आये, महाराज नल को निद्रा त्यागनी चाहिए ॥११॥

> नभसि महसा ध्वान्तध्वाङ्क्षप्रमापणपत्त्रिणा-
> मिह विहरणे श्येनम्पाता रवेरवधारयन् ।
> शशविशसनत्रासादाशामगाच्चरमां शशी
> तदधिगमनात्तारापारावतैरुदडीयत ॥१२॥

जीवातु—नभसीति। शशी चन्द्रः ध्वान्तानाम् अन्धकाराणामेव, ध्वाङ्क्षाणां कृष्णवर्णसाम्यात् वायसानाम्। 'ध्वाङ्क्षात्मघोषपरभृद्बलिभुग्वायसा अपि' इत्यमरः। प्रमापणे मारणे, पत्त्रिणां श्येनानाम्, श्येनस्वरूपाणामित्यर्थः। 'अथ शशादनः पत्त्री श्येनः' इत्यमरः। पत्त्रिणां शराणामिति वा, बाणस्वरूपाणा-मित्यर्थः। 'कलम्बमार्गणशराः पत्त्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः। महसा तेजसाम्, सूर्यकिरणानामित्यर्थः। इह नभसि आकाशे, विहरणे परिक्रमणे, रवेः सूर्यस्य, श्येनपातः अस्यां क्रियायां वर्त्तते इति श्येनम्पाता मृगया ताम्। 'घञः साऽस्यां क्रियेति ञः' इति ञप्रत्ययः। 'श्येनतिलस्य पाते ञे' इति मुमागमः। 'श्येनम्पाता च मृगया' इत्यमरः। अवधारयन् निश्चिन्वन्, इवेति शेषः।

शशः स्वाङ्कस्थितमृगविशेषः, तस्य विशसनत्रासात् हिंसाभयात्, मारणभयादित्यर्थः। चरमां पश्चिमाम्, आशां दिशम्, अगात् अगमत्, पलायितवानित्यर्थः। तस्य श्येनसम्पातावृत्तान्तस्य, रवेः मृगयाव्यापारस्येत्यर्थः। अविगमनात् ज्ञानात्, ताराभिः नक्षत्रैरेव, पारावतैः कपोताख्यपक्षिविशेषैः 'पारावतः कलरवः कपोतः' इत्यमरः। उदडीयत उड्डीनम्, उड्डीय पलायितामित्यर्थः। भावे लङ्। रविकिरणा गगने प्रसरन्ति, शशाङ्कः पश्चिमां दिशं यातः, तारकाश्च अलक्ष्यतां गता इति निष्कर्षः। रूपकालङ्कारः॥ १२॥

अन्वयः—ध्वान्तध्वाङ्क्षप्रमापणपत्त्रिणां महसाम् इह नभसि विहरणैः रवेः श्येनसम्पाताम् अवधारयन् शशी शशविशसनत्रासात् चरमाम् आशाम् अगमत्, तदविगमनात् तारापारावतैः उदडीयत।

हिन्दी—अंधकाररूपी कौओं के मारणार्थ (श्येन) पक्षीरूप तेज (सूर्य तेज) के यहाँ आकाश में विहरणों (परिभ्रमणों—इतस्ततः आने-जाने) से सूर्य का मृगया खेलना समझता चंद्र (अंकस्थित) शशक के मारे जाने के भय से चरम-आशा (पश्चिम दिशा) की ओर भाग गया, उसका परिज्ञान होने से तारा-रूप कबूतर (भी) उड़ गये।

टिप्पणी—सूर्योदय हुआ और चांद-तारे छिप गये। उद्भावना है कि सूर्य एक आखेटक है, जो अपने तेजोरूप श्येनपक्षी के द्वारा मृगया कर रहा है। उसके पक्षी ने अंधकाररूप काकों को मार डाला है (अंधेरा समाप्त हो गया)। यह समझ कर चंद्र को लगा कि आखेटक का श्येन कहीं उसके अंकस्थित शशक-शिशु की भी हत्या न कर डाले, सो वह पश्चिम दिशा की ओर भाग गया। ('चरमाशा' से अन्तिम दशा—समाप्ति का भी संकेत है—अर्थात् चंद्रास्त हो गया)। तारकरूप कबूतरों ने भी यह आखेट-व्यापार समझा और वे भी इधर-उधर उड़ गये। नारायण ने यहाँ 'मानो डर से चंद्र भाग गया', 'मानो परिज्ञान पाकर तारकपारावत उड़ गये—' यह प्रतीयमानोत्प्रेक्षा मानी है, मल्लिनाथ के अनुसार रूपकालंकार॥ १२॥

भृशमविभरुस्तारा हाराच्युता इव मौक्तिकाः
सुरसुरतक्रीडालूनाद् द्युसद्प्रियदङ्गणम्।

बहुकरकृतात् प्रातः सम्मार्जनादधुना पुन-
र्निरुपधिनिजावस्थालक्ष्मीविलक्षणमीक्ष्यते ॥ १३ ॥

जीवातु—सुरमिति । तारा, तारकाः, सुराणां देवमिथुनानाम्, सुरतजया रमणोद्भूतया, क्रीडया परिमर्दरूपविहारेण, लूनात् छिन्नात्, हारात् मुक्तावलीतः, च्युताः विक्षिप्ताः, मुक्ता इव मौक्तिका, ता इव मुक्ताफलानीव इत्युत्प्रेक्षा । स्वार्थे कप्रत्ययः, 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्य—' इतीकारः । द्युसद्मियदङ्गणं द्युसदां देवानां नभोरूपं प्राङ्गणम्, भृशम् अत्यर्थम्, अबिभरु-अपूरयत्, रात्रौ परिपूरितमित्यर्थः । 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' इत्यस्य लङि रूपम्, 'लङः शाकटायनस्यैव' इति झेर्जुसादेशः । अधुना इदानीम्, प्रातः पुनः प्रभाते तु, बहुकरेण बहवः सहस्रसङ्ख्यकाः इत्यर्थः । कराः किरणा यस्य स बहुकरः सूर्यः, स एव बहुकरः खल्पूसञ्ज्ञकः सम्मार्जनकारी जातिविशेषः तेन, 'खलपूः स्यात् बहुकरः' इत्यमरः । कृतात् सम्पादितात्, सम्मार्जनात् शोधनात्, पोषण्या तारापसारणेन शून्याद्यपसारणेन च परिष्करणादित्यर्थः । निरुपधि निर्व्याजाया, अकृत्रिमाया इत्यर्थः । 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः । निजावस्थायाः आत्मस्वरूपस्य, लक्ष्म्या नीलनिर्मलशोभाया, विलक्षणं रात्रिकालिकावस्थातोऽन्यादृशं रूपम्, ईक्ष्यते एतत् वियदङ्गणं दृश्यते, खलपूपरिशुद्धिवत् बहुकरशुद्धमन्तरीक्षमपि पूर्वविलक्षणं लक्ष्यते इत्यर्थः, जनैरिति शेषः । १३ ॥

अन्वयः—सुरसुरतक्रीडालूनात् हारात् च्युताः मौक्तिका इव ताराः द्युसद्मियदङ्गणं भृशम् अबिभरुः, अधुना प्रातः बहुकरकृतात् सम्मार्जनात् पुनः निरुपधिनिजावस्थालक्ष्मीविलक्षणम् ईक्ष्यते ।

हिन्दी—देवों अथवा देवतुल्य नरेशों की रत क्रीडा में टूटकर बिखरे मोतियों के तुल्य तारकों से देवों का आकाश रूप आँगन परिपूर्ण हो गया था, अब प्रभात में अनेककिरणमाली सूर्य-रूप भमार्जक (सफाई करने वाले) द्वारा किये समार्जन (बुहारने, सफाई करने) से पुनः अपनी स्वाभाविक दशा की शोभा से कुछ और दीख रहा है ।

टिप्पणी—सूर्य-किरणें आकाश में व्याप्त हैं और तारे पूर्णतः अदृश्य हैं । नील निर्मल आकाश दमक रहा है, जैसे यह देवों का आँगन रात में देव-मिथुनों

(अथवा देवतुल्य राजा-रानियों) के सुरत-संमर्द में टूटे-बिखरे मोतियों के तुल्य तारकों से भर गया था—आकाश रूप प्रांगण में कूड़ा इकट्ठा हो गया था। प्रातःकाल सूर्य-रूप सफाई करने वाले ने किरणों की झाड़ू से वह तारा-रूप कूड़ा साफ कर दिया, फलतः आकाश-आँगन स्वच्छ, स्वाभाविक शोभा को प्राप्त हो गया। मल्लिनाथ के अनुसार तारकों की मुक्ता-रूप में संभावना उत्प्रेक्षा है ॥ १३ ॥

> प्रथममुपहृत्यार्घ्यं तारैरखण्डिततण्डुलै-
> स्तिमिरपरिषद्दूर्वापर्वावलीशवलीकृतैः ।
> अथ रविरुचां ग्रासातिथ्यं नभः स्वविहारिभिः
> सृजति शशिरक्षोदश्रेणीमयैरुदसक्तुभिः ॥ १४ ॥

जीवातु—प्रथममिति । नभः आकाशम् । कर्तृ । तिमिरपरिषत् तमोवृन्दम् सा एव दूर्वापर्वणां दूर्वाग्रन्थीनाम्, दूर्वादलानामित्यर्थः । आवली श्रेणी, श्यामवर्णत्वादिति भावः । तया शबलीकृतैः चित्रीकृतैः, मिश्रितैरित्यर्थः । तारैः नक्षत्रैरेव । 'नक्षत्रे नेत्रमध्ये च तारा स्यात् तार इत्यपि' इति व्याडिः । अखण्डिततण्डुलैः निस्तुषाभग्नशालिबीजैः, प्रथमम् आदौ, रविरुचां सूर्यकिरणानाम्, अर्घः पूजाविधिः, तस्मै इदम् अर्घ्यं पूजोपकरणमित्यर्थः । 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इति 'अर्घ्यमर्घार्थे' इति चामरः । उपहृत्य दत्त्वा, अथ अनन्तरम्, स्वविहारिभिः स्वस्मिन् नभसि सञ्चरणशीलैः, शिशिरक्षोदश्रेणीमयः हिमशीकरपुञ्जरूपैः, उदसक्तुभिः जलालोडितभृष्टयवचूर्णैः । 'मन्थौदन—' इत्यादिना उदकशब्दस्योदादेशः । ग्रासातिथ्यं ग्रासरूपम् अतिथिसत्कारम्, अतिथये इदम् इति 'अतिथेर्ञ्यः' इति ञ्यः । सृजति सम्पादयति, इवेति शेषः । समागताय अतिथये अर्घ्यदानानन्तरमन्नदानं हि गृहिणां रीतिः । रूपकालङ्कारः ॥ १४ ॥

अन्वयः—नभः तिमिरपरिषद्दूर्वापर्वावलीशवलीकृतैः तारैः अखण्डिततण्डुलैः प्रथमं रविरुचाम् अर्घ्यम् उपहृत्य अथ स्वविहारिभिः शिशिरक्षोदश्रेणीमयैः उदसक्तुभिः ग्रासातिथ्यं सृजति ।

हिन्दी—आकाश अंधकारपुंज-रूप दूब के पोरों से मिश्रित तारकरूप अक्षतों (धानों) से पहिले सूर्य-किरणों को अर्घ्योपहार देकर तदनन्तर स्व

(आकाश) में विद्यमान ओस की बूंदों के जल में घोले सत्तुओं से खाद्य-समर्पण रूप अतिथि सत्कार का सपादन कर रहा है।

टिप्पणी—सूर्य के तेज ने तारे छिपा दिये, अंधेरा मिटा दिया और अब ओस की बूंदें भी सूख रही हैं, अर्थात् भोर सवेरा हो गया। उद्भावना है कि आकाश में पूज्य अतिथि सूर्यनारायण का आगमन हुआ। आतिथेय आकाश ने परंपरानुसार पहिले अतिथि को अर्घ्य दिया, दूब-मिले अक्षत छिड़क कर। अन्धकार दूब और उजले अक्षत-धान्य से उज्ज्वल तारे। (इस प्रकार अर्घ्य रूप में समर्पित हो अन्धकार और तारे समाप्त हुए)। अर्घ्य-समर्पण के पश्चात् अब भोज्य समर्पण हुआ सत्तू का शर्बत देकर। गरीब के घर सत्तू मात्र थे, जिन्हें ओस के जल में घोलकर अतिथि को समर्पित कर दिया। ओस इस प्रकार सूखन चली। मल्लिनाथ के अनुसार रूपकालंकार ॥

असुरहितमथादित्योत्था विपत्तिमुपागतं
दितिसुतगुरुः प्राणैर्योक्तु न किं क्षचवत् तमः।
पठति लुठती कण्ठे विद्यामयं मृतजीवनी ?
यदि न वहते सन्ध्यामौनव्रतव्ययभीरुताम् ॥ १५ ॥

जीवातु—असुरेति दितिसुतानां दैत्यानाम्, गुरुः उपदेष्टा शुक्राचार्यः, असुरेभ्यः दैत्येभ्यः, हितमपि हितकरमपि, निशायामेव असुराणां बलवृद्धेरिति भावः। 'चतुर्थी तदर्थार्थ—' इत्यादिना समासः। अन्यत्र—असुभिः प्राणैः, रहितं विहीनम्, अचेतनमपीत्यर्थः। आदित्योत्था सूर्योद्भूताम्, कचपक्षे—देवोद्भूताम्, देवानामनुरोधेनैव कचस्य तत्रागमनात् तद्विपत्तेः अदुत्पत्तिव्यपदेशः। विपत्तिं विनाशम्, उपागतं प्राप्तम्, तमः अन्धकारम्, कचवत् बृहस्पतिसुतं कचमिव, बृहस्पतिपुत्रः कचः देवताप्रेरितः सञ्जीवनीविद्यार्थं शुक्रमुपागतः, स दैत्यहतः पुनः शुक्रेणोज्जीवितः इति भारती कथा। प्राणैः असुभिः, योक्तुं सङ्घटयितुम्, कण्ठे गलमध्ये, लुठती परावर्त्तमानाम्, सदा तिष्ठन्तीमित्यर्थः। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः। मृतजीवनीं मृतसञ्जीवनीम्, विद्यां ज्ञानम्, मन्त्रमिति यावत्, न पठति किम् ? न अधीते किम् ? अपि तु पठेदेव यदि, अयं शुक्रः, सन्ध्यामौनव्रतव्ययात् सन्ध्यायां प्रातःसन्ध्यायाम्, यत् मौनव्रतं वाक्यमनियमः, तस्य व्ययात् भङ्गात्, भीरुतां

भयशीलताम्, न वहते न धत्ते, अन्यथा कथमीदृक् विद्यावानपि पुरोवर्त्तिनं स्वशिष्यासुररहितकरान्धकारविनाशमुपेक्षते इति भावः ॥१५॥

अन्वयः—दितिसुतगुरुः असुरहितम् अपि आदित्योत्थां विपत्तिम् उपागतं कचवत् तमः प्राणैः योक्तुं कण्ठे लुठन्तीं मृतजीवनीं विद्यां न पठति किम्, यदि अयं सन्ध्या-मौनव्रतव्ययभीरुतां न वहते ?

हिन्दी—दिति के पुत्रों (दैत्यों) के गुरु (शुक्राचार्य) असु (प्राणों) से रहिततारूप अदिति के पुत्रों (देवों) के कारण प्राप्त विपत्ति (मृत्यु) से कच-सदृश असुरों (निशाचरों) के हित-संपादक, आदित्य (सूर्य) से प्राप्त विपत्ति (विनाश) से तम (अन्धकार) को प्राणों से युक्त (पुनरुज्जीवित) करने के लिए कंठ में लुंठन करती (कंठस्थ, पूर्णाभ्यस्त) मृतसंजीवनी विद्या को क्या न उच्चारते यदि ये प्रातःसंध्याकालसम्बन्धी गृहीत मौनव्रत के भंग हो जाने के भय से ग्रस्त न होते ?

टिप्पणी—अन्धकार में रात्रिचर—निशाचर जीवों को सुविधा रहती है, अतः उसे 'असुरहित' कहा गया है और इसीलिए उसमें असुरगुरु शुक्राचार्य की प्रीति की संभावना की गई है। यहाँ एक पौराणिक कथा (महाभारत आदि पर्व, ३२ अध्याय, मत्स्यपुराण २४—४२ अध्याय) 'कच-देवयानी'—उपाख्यान का आश्रय लेकर एक कल्पना की गयी है। अन्धकार बृहस्पति-पुत्र कच के समान है, जो देवों के कारण विपत्ति में पड़ा था। देवों का भेजा वह मृतसंजीवनी विद्या सीखने असुरगुरु शुक्राचार्य का शिष्य बना था, असुरों ने उसकी हत्या कर दी। शुक्राचार्य ने मृतसंजीवनी विद्या द्वारा उसे पुनरुज्जीवित किया था। एक देव-सूर्य ने अन्धकाररूपी कच को विपत्ति में डाल दिया, उसका नाश कर दिया। अन्धकार असुरों का हितकारी भी है, अतः शुक्राचार्य उसे पुनरुज्जीवित कर ही देते, किन्तु वे ऐसा इस कारण न कर सके, क्योंकि वे प्रातःसंध्या में मौन-धारे बैठे थे। मृतसंजीवन-मन्त्र-पाठ से मौन-भंग हो जाता, अतः ऐसा न कर सके। आशय यह कि अन्धकार अब मिट गया, वह रात्रि को ही पुनरुज्जीवित होगा। मृतसंजीवन-मंत्र का पाठ कर शुक्राचार्य उसे तभी पुनरुज्जीवित करेंगे। महाराज नल को अब निद्रात्याग करना ही उचित होगा ॥१५॥

उदयशिखरिप्रस्थान्यह्ना रणेऽत्र निशः क्षणे
दधति विहरत्पूषाण्यूष्मद्रुताश्मजतुस्रवान् ।
उदयदरुणप्रह्वीभावादरादरुणानुजे
मिलति किमु तत्सङ्गाच्छङ्क्या नवेष्टकवेष्टना ? ॥ १६ ॥

जीवातु—उदयेति । अत्र अस्मिन्, क्षणे समये, अहर्मुखे इत्यर्थः । निशः निशायाः, अह्ना दिवसेन सह, रणे युद्धे, स्वाधिकारस्थापनाय युद्धे प्रारब्धे सतीत्यर्थः । विहरत्पूषाणि विहरन् सञ्चरन्, युद्धदर्शनकौतूहलेनेति भावः । पूषा सूर्यः यत्र तादृशानि सञ्चरत्सूर्याणि, उदयशिखरिप्रस्थानि उदयाद्रिसानूनि । 'प्रस्थोऽस्त्री सानुमानयोः' इति यादवः । ऊष्मणा सूर्यस्यैव तेजसा, द्रुतानां विलीनानाम्, अश्मजतूनां शिलाजत्वाख्यधातुविशेषाणाम्, स्रवान् स्रावान् प्रवाहानित्यर्थः । दधति धारयन्ति, रक्तप्रवाहानिवेति भावः । तेन च उदयतः उत्तिष्ठतः, अरुणस्य सूर्यसारथेः गरुडाग्रजस्य अनूरोः सम्बन्धे, प्रह्वीभावादरात् प्रणामकरणाग्रहात्, अरुणानुजे गरुडे रक्तवर्णे इति भावः । मिलति सङ्गमं प्राप्नुवति, अरुणाय नन्तुं समागच्छति सतीत्यर्थः । तत्सङ्गात् गरुडसम्पर्कात् हेतोः, नवा प्रत्यग्रा इष्टका रक्तवर्णदग्धमृत्खण्डविशेषा यस्याः सा तादृशी, वेष्टना परिधिः, प्राकारः इत्यर्थः । शङ्क्या शङ्कनीया, किमु ? किम् ? रक्तवर्णगरुडकान्तेः पर्वतसमन्वात् स्थितेरिति भावः । यदुक्तहेतुना गरुडः न सङ्गच्छेत् तदा सुवर्णपक्षव्याप्तिरूपा उदयाद्रेः नवेष्टकावेष्टना कस्मादिति सम्भावनयोत्प्रेक्षा ॥ १६ ॥

अन्वयः—अत्र क्षणे निशः अह्ना रणे विहरत्पूषाणि उदयशिखरिप्रस्थानि ऊष्मद्रुताश्मजतुस्रवान् दधति, उदयदरुणप्रह्वीभावादरात् अरुणानुजे मिलति तत्सङ्गात् किमु नवेष्टकवेष्टना शङ्क्या ?

हिन्दी—इस क्षण-प्रभातकाल में रात के दिन के साथ युद्ध में, जिन पर (युद्धावलोकन के लिए) पूषा (सूर्य) विहार कर रहे हैं, ऐसे उदयाचल के शिखर ऊष्मा (सूर्यताप) से पिघलते शिलाजतु के प्रवाह का धारण कर रहे हैं और उदय प्राप्त करते (ज्येष्ठ भ्राता) अरुण (सूर्यसारथि) को प्रणाम के आदर से अरुण के अनुज (गरुड) के मिलने पर उस (अरुण) के संसर्ग से क्या (अरुणवर्ण) नवीन ईंटों के प्राकार (घेरे) की शंका करनी चाहिए ?

टिप्पणी—प्राकृतिक दृश्य है कि रात समाप्त होकर दिन हो रहा है। सूर्य की किरणें उदयगिरि के शिखरों पर पड़ रही हैं, जिससे पिघल कर शिलाजतु बह रहा है; सूर्य की सुनहरी दीप्ति पड़ने से गारुडमणि का लाल-सुनहरी नयी ईंटों का घेरा-सा बन गया है। इस पर कल्पना यह है कि रात का दिन के साथ युद्ध हुआ, जिसमें दिन जयी हुआ। सूर्य दिनकर हैं, सो अपने जयी वीर दिन का पराक्रम देखने वे पधारे, उन्होंने देखा कि उदयाचल के शिखर-रूप हताहत सैनिकों का काला पड़ जाता रक्त (शिलाजतु-प्रवाह) बह रहा है। गरुडमणि से जो धूप का संसर्ग हुआ तो उससे शिखरों के चारों ओर एक प्रभामण्डल-सा बन गया, वह जैसे लीलाविहारी ग्रहराज सूर्य के प्रासाद का नयी पकी सुनहरी ईंटों का घेरा है, अथवा ग्रहराज ने शिखर-शिलारूप विजयी वीरों को सुनहरी लाल पट्टिकाओं से सम्मानार्थ अलंकृत किया है। अथवा पराक्रमावलोकनार्थ पधारे सूर्यदेव के चारों ओर सुनहरा-लाल घेरा बना दिया गया है। गरुड-मणियाँ लाल पड़ रही हैं, सूर्य की अरुणाभा के संसर्ग से, अतः उनमें ज्येष्ठ भ्राता अरुण को प्रणाम करते अनुज गरुड की कल्पना की गयी है। अरुण प्रकाश से गरुडमणियों का घेरा बना है। मल्लिनाथ के अनुसार क्योंकि यहाँ उक्त कारण से गरुड न पहुँच ले इसलिए सुवर्णपक्ष-व्याप्तिरूपा उदयगिरि की नवीन ईंटों से वेष्टना क्यों न हो—इस सम्भावना से उत्प्रेक्षा है ॥ १६ ॥

रविरथहयानश्वस्यन्ति ध्रुवं वडवा वल-
प्रतिबलवलावस्थायिन्यः समीक्ष्य समीपगान् ।
निजपरिवृढं गाढप्रेमा रथाङ्गविहङ्गमी
स्मरशरपराधीनस्वान्ता वृषस्यति सम्प्रति ॥ १७ ॥

जीवातु—रवीति। वलप्रतिवलस्य वलाख्यासुरप्रतिपक्षस्य पूर्वदिगधिपतेरिन्द्रस्य, वलेषु सैन्येषु अवतिष्ठन्ते वर्त्तन्ते इति तदवस्थायिन्यः, वडवाः तुरङ्ग्यः, पूर्वदिग्वर्त्तिन्य इति भावः। समीपगान् निकटस्थान्, रविरथहयान् सूर्यस्य स्यन्दनाकर्षिणः सप्त घोटकान्, समीक्ष्य विलोक्य, अश्वस्यन्ति कामयन्ते मैथुनार्थमश्वमिच्छन्तीत्यर्थः, ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम्। तथा गाढप्रेमा दृढानुरागा, अत एव स्मरशराणां कन्दर्पवाणानां पराधीनस्वान्ता परतन्त्रचित्ता कामपीडितचित्ता इत्यर्थः। रथाङ्गविहङ्गमी चक्रवाकपक्षिणी। 'जातेरस्त्री—'

इत्यादिना ङीप्। निजपरिवृढं स्वप्रभुम्, आत्मनः कान्तमित्यर्थः। सम्प्रति उषःकाले, वृषस्यति मैथुनाय कामयते इत्यर्थः। रात्रिवियोगिनोः चक्रवाकमिथुनयोः दिने एव मैथुनकरणादिति बोध्यम्। 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यच्। 'अश्वक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि' इत्यसुगागमः। 'अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्' इति वक्तव्यादर्थनियमः ॥ १७ ॥

अन्वय—बलप्रतिबलबलावस्थायिन्यः वडवाः समीपगान् रविरथहयान् समीक्ष्य ध्रुवम् अश्वस्यन्ति, गाढप्रेमा स्मरशरपराधीनस्वान्ता रथाङ्गविहङ्गमी सम्प्रति निजपरिवृढं वृषस्यति।

हिन्दी—बल दैत्य के प्रतिबल (शत्रु इन्द्र) की सेना में स्थित घोडियाँ समीप से जाते सूर्य के रथ के घोडों को देखकर निश्चय ही घुडिया रही हैं (घोडों की रमणार्थ इच्छा कर रही हैं)। दृढानुरागिणी, काम-बाणों से पराधीन निजचित्तवाली चक्रवाकी इस समय (प्रभात में) अपने प्रिय (चक्रवाक) के प्रति कामुकी हो रही है।

टिप्पणी—इन्द्र की पूर्वदिशा में उदित होते सूर्य को देखकर सूर्य के रथ के कर्षक सप्ताश्वों की समीपता पाकर इन्द्र सेना की घोडियों के मैथुनेच्छु होने की कल्पना की गयी है। चक्रवाक-मिथुन रात में वियुक्त रहता है, अतः प्रभात में चक्रवाकी के रमणेच्छु होने की प्राकृतिक आकांक्षा का परिकल्पन हुआ है। 'ध्रुवम्' के प्रयोग के आधार पर नारायण मल्लिनाथ—दोनों ने उत्प्रेक्षा-निर्देश किया है ॥ १७ ॥

> निशि निरशना क्षीरस्यन्त क्षुधाऽश्वकिशोरका
> मधुरमधुरं ह्रेषन्त्येते विलोलितवालधि।
> तुरगसमजः स्थानोत्थाय क्वणन्मणिमन्यमू-
> धरभवशिलालेहायेहाचणो लवणस्यति ॥ १८ ॥

जीवातु—निशीति। हे महाराज! निशि रात्रौ, निरशना निराहाराः, मातुः सकाशात् दूरे अवस्थापनादिति भावः। अत एव क्षुधा क्षुधया, क्षीरस्यन्त क्षीरम् आत्मनः भृशमिच्छन्तः, दुग्धपिपासव इत्यर्थः। एते ह्रेषाध्वनिना अनुमितसमीपावस्थाना इत्यर्थः। अश्वकिशोरकाः। घोटकबालकाः। 'बाल

किशोरः' इत्यमरः। विलोलितवालधि सञ्चालितपुच्छं यथा तथा, मधुरमधुरम् अतिशयेन मनोहरम्, ह्रेषन्ति स्वनन्ति। किञ्च मणिमन्थभूधरः सैन्धवाचलः। 'सैन्धवोऽस्त्री शीतशिवं माणिमन्थञ्च सिन्धुजे' इत्यमरः। तद्भावानां तज्जानाम्, शिलानां लवणोपलविशेषाणाम्, लेहाय आस्वादाय, ईहाचणः चेष्टया वित्तः, लवणलोलुपत्वेन ख्यात इत्यर्थः। 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' इति चणप्प्रत्ययः। तुरगाणां घोटकानाम्, समजः समूहः। 'पशूनां समज.' इत्यमरः। 'समुदोरजः पशुषु' इत्यप्प्रत्यय। क्वणन् शब्दायमानः, ह्रेषाध्वनिं कुर्वन् इत्यर्थः। 'क्वणन्मणि मन्थमू' इति न्यस्तपाठे—मन्थभूदरः रविपर्वतः, उदयाचल इत्यर्थः। 'मन्थो रवौ मथि। सक्तवे नेत्ररोगे च' इति हैमः। तद्भवशिलालेहाय ईहाचणः तुरगसमजः, क्वणन्तः शब्दायमानाः, मणयः क्षुद्रघण्टिकासमूहा यस्मिन् तत् यथा तथा क्वणत्किङ्किणीकं यथा तथा इत्यर्थः। स्थानोत्थायं स्थानात् निजशयनप्रदेशात्, उत्थाय उद्गत्य। 'अपादाने परीप्सायाम्' इति णमुल्। लवणस्यति लवणम् आत्मनः भृशमिच्छति, लवणं भोक्तुमिच्छतीत्यर्थः। 'अश्वक्षीर—' इत्यादिना 'क्षीरलवणयोर्लालसायाम्' इत्यर्थनियमेऽसुगागमः। लालसा तृष्णातिरेकः ॥ १८ ॥

अन्वयः—निशि निरशनाः क्षुधा क्षीरस्यन्तः एते अश्वकिशोरकाः विलोलितवालधि मधुरमधुरं ह्रेषन्ति; मणिमन्थभूधरभवशिलालेहाय ईहाचणः तुरगसमजः क्वणन् स्थानोत्थायं लवणस्यति।

हिन्दी—रात में निराहार, (अतएव) भूख के कारण दूध पीने को समुत्सुक ये अश्वकिशोर (बछड़े) पूँछ हिलाते कोमल-मधुर स्वर में हिन-हिना रहे हैं। मणिमन्थ पर्वत पर उत्पन्न सेंधानमक की सिलों के चाटने के लिए बारम्बार मुखादिचालन की चेष्टा करता अश्वसमूह हिनहिनाता अपने स्थान से उठकर नुनिया रहा है (नमक की इच्छा कर रहा है)।

टिप्पणी—प्रभातकाल की दो स्थितियाँ। रातभर अपनी जननियों से अलग रहने के कारण बछड़े भूखे थे और दूध पीने को उतावले हो हिनहिना रहे थे। घोड़े अपने स्थानों पर हिनहिनाते सेंधानमक–मणिमन्थ–चाटने को आकुलता दिखा रहे हैं। 'क्वणन्' का 'गरदन की घंटियाँ बजाते' अर्थ भी किया गया है, घोड़ों की गरदनों में पड़ी घंटियाँ बज उठती हैं। आशय

-यह कि प्रभात हो गया। बछड़े दूध पीने को आतुर हैं और घोड़े नमक चाटने को ॥ १८ ॥

> उडुपरिषदः किं नार्हत्त्वं ? निशः किमु नौचिती ?
> पतिरिह न यत् ताभ्यां दृष्टा गणेयरुचीगणः ।
> स्फुटमुडुपतेराश्मं वक्षः स्फुरन्मलिनाश्मन-
> च्छवि यदनयोर्विच्छेदेऽपि मृतं बत न द्रुतम् ॥ १९ ॥

जीवातु—उडुविति । उडुपरिषदः ताराणस्य, अर्हतः भावः अर्हत्त्वं पूज्यत्वम्, प्रशंसनीयत्वमित्यर्थः । प्रागेवास्तगमनस्येति भावः । न किम् ? अपि तु अर्हत्त्वमेव । 'अर्हन्त्वम्' इति पाठे—अर्हन्त्वम् औचित्यम, न किम् ? अपि तु औचित्यमेवेत्यर्थः । 'आर्हन्ती' इति पाठे। 'अर्ह प्रशंसायाम्' इति शतरि, अर्हतो भाव इति ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्प्रत्ययः 'अर्हतो नुम् च' इति नुमागम, 'ष्यञः पित्करणादीकारो बहुलम्' इति वामनः । 'यस्य हलः' इति यकारलोपः । एतेन औचिती व्याख्याता । नुमभावस्तु विशेषः । निशः रात्रेरपि, न औचिती न औचित्यम्, किमु ? अपि तु उचितमेव, प्रागेवापगमनमिति भावः । अर्हत्त्वमेवौचित्यमेव चाह—यत् यस्मात्, इह अस्मिन् समये, प्रभातकाले इत्यर्थः । गणेयरुचीगणः परिगणनीयकान्तिचयः, अतिशयेन परिक्षीणकिरण इत्यर्थः । 'गणेरेयः' इत्यौणादिकएयप्रत्ययः । पतिः चन्द्रः, ताभ्याम् उडुपरिषन्निशाभ्यां न दृष्टः न अवलोकितः । 'धन्यास्तास्ता न पश्यन्ति पतिभङ्गं कुलक्षयम्' इति स्मृतेः स्त्रीणां पत्युः क्षीणावस्थाया ईक्षणस्य अधन्यत्वसूचकत्वादिति भावः । किञ्च, अश्मनः इयम् आश्मनी, 'तस्येदम्' इत्यण्, सम्बन्धे अणि विकाराभावात् 'अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः' इति टिलोपाभावः । स्फुरन्ती शशाङ्कतया कृष्णवर्णत्वेन प्रकाशमाना, मलिना कृष्णवर्णा, आश्मनी पाषाणमयी, पाषाणवत् कठिनेत्यर्थः । छविः कान्तिः यस्य तत् स्फुरन्मलिनाश्मनच्छवि कृष्णवर्णप्रस्तरसदृशम्, उडुपतेः ताराकान्तस्य, वक्षः हृदयम्, अश्मनो विकारः आश्मं पाषाणमयम्, प्रस्तरवद् दुर्भेद्यमिति भावः । विकारार्थेऽण्प्रत्ययः । 'अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः' इति टिलोपः । स्फुटं सत्यम् । कुतः ? यत् यस्मात्, अनयोः स्वकान्तयोः उडुपरिषन्निशयोः, विच्छेदे वियोगेऽपि, प्रागेवास्तमनादिति भावः । द्रुतं

शीघ्रम्, न मृतं न विदीर्णं जातम् वत इति खेदे। अनयोर्वियोगेन उडुपतेः वक्षोविदारणेन मरणस्यैवौचित्यादिति भावः॥ १९॥

अन्वयः—उडुपरिषदः अर्हत्त्वं किं न, निशः किमु औचिती न, यद् इह गणेयरुचीगणः पतिः ताभ्यां न दृष्टः? स्फुरन्मलिनाश्मनच्छवि उडुपतेः वक्षः स्फुटम् आश्मं, यत् अनयोः विच्छेदे अपि वत द्रुतं न मृतम्।

हिन्दी—तारिकावली की श्रेष्ठता क्या नहीं है, रात्रि का क्या औचित्य नहीं है कि इस प्रभातकाल में गिनती में रह जानेवाली (क्षीण) दीप्तिवाला स्वामी (चन्द्र) उन दोनों (तारिकावली और रात्रि) ने नहीं देखा? चमकते काले पत्थर के सदृश तारापति (चन्द्र) का वक्षःस्थल सचमुच पत्थर का है कि इन दोनों (तारिकावली और रात्रि) के वियोग में भी खेद है कि झट से न विदीर्ण हुआ।

टिप्पणी—तारे छिप गये, रात बीत गयी, प्रभातकाल में चन्दा मलिन, निस्तेज काले पत्थर-सा दीखने लगा। चन्द्र तारिकाओं और रजनी का स्वामी कहा जाता है। स्वामी की ऐसी दुर्दशा देखने से पहिले ही तारिकाएँ और रात्रि मिट गयीं, अतः वे प्रशंसनीय हैं, क्योंकि उन्होंने स्वामी की विपत्ति को देखने से पूर्व ही अपने को समाप्त कर लिया। भली स्त्रियाँ पतिभंग और कुलक्षय नहीं देखा करतीं। इसके साथ ही चन्द्र का कलेजा पत्थर का ही कहा जाना चाहिए कि वह तारिकावली और रात्रि से वियुक्त हो जाने पर भी नहीं फट गया। इसीलिए कदाचित् काले पत्थर-सा प्रतीत हो रहा था। चन्द्र का यह व्यवहार उसकी निर्ममता और कठोरता को द्योतित करता है। भाव यही है कि तारे छिपे, रात गयी, चन्दा निस्तेज हुआ। अब प्रभात है। महाराज जागें॥ १९॥

> अरुणकिरणे वह्नौ लाजानुडूनि जुहोति या
> परिणयति तां सन्ध्यामेतामवैमि मणिदिवः।
> इयमिव स एवाग्निभ्रान्तिं करोति पुरा यतः
> करमपि न कस्तस्यैवोल्कः सकौतुकमीक्षितुम्?॥ २०॥

जीवातु—अरुणेति। या प्रातःसन्ध्या, अरुणस्य सूर्यसारथेः अनूरोः, किरणे रश्मौ एव, वह्नौ अनले, आरक्तवर्णत्वसाम्यादिति भावः। उडूनि

नक्षत्राणि एव, लाजान् भृष्टधान्यकृतान्, अक्षतान्, जुहोति आहुतिदानेनेव अदर्शनं नयतीत्यर्थः। आहुतिं ददाति च। प्रभातालोकेन नक्षत्राणां क्षीणत्वधुम्रत्वादिरूपेण प्रतीयमानत्वात् लाजसाम्यत्वं बोध्यमिति। ताम् उक्तरूपाम्, एतां परिदृश्यमानाम्, सन्ध्यां प्रातःसन्ध्यारूपां वधूम्, दिवः आकाशस्य, मणिः रत्नम्, सूर्यः इति यावत्। वरः इति भावः। परिणयति परि सर्वतोभावेन, नयति प्रापयति, उपयापयतीत्यर्थः। उपयच्छते च, इति अवैमि जानामि। वाक्यार्थं कर्म। इत्युत्प्रेक्षे इत्यर्थः। कथमवैमीत्यपेक्षायामाह—यत् यस्मात् हेतोः, इयं सन्ध्यावधूरिव, सोऽपि च वरः सूर्योऽपि, पुरा पूर्वम् आगामिनि काले च। 'स्यात् प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा' इत्यमरः। तत्र सन्ध्या पूर्वं सूर्यश्च आगामिनि काले इत्याशयः। अग्निभ्रान्तिम् आरुण्यात् आत्मनि अग्निविभ्रमं लाजहोमानन्तरम् अग्निप्रदक्षिणरूपं भ्रमणञ्च, करोति चकार करिष्यति च। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्'। एकत्र—सन्ध्यायाः सूर्यस्य च उभयोरेव अग्निवर्णत्वात् उभावेव आत्मनि तद्भ्रमं कुरुतः अन्यत्र च—अग्रे वधूः तत्पृष्ठतो वरश्च अग्निप्रदक्षिणं करोतीति परिणयविधौ दृश्यते इत्याशयः। एवञ्च कः एव को वा जनः, सकौतुकं सकौतूहलं यथा तथा, ससूत्रञ्च। 'कौतुकं विषयाभोगे हस्तसूत्रे कुतूहले' इति यादवः। तस्य परिणेतुः द्युमणेः, करम्, अंशुं हस्तञ्च। 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः। ईक्षितुं द्रष्टुम्, न एव उत्कः? नैव उत्सुकः? एकत्र—अरुणोदयकालिकहोमादिनित्यकर्मानुष्ठानार्थम्, अन्यत्र—चित्तविनोदनार्थञ्चेति भावः। भवतीति शेषः। अपि तु सर्वेऽपि उत्सुका एव भवन्तीत्यर्थः। अरुणोदयः जातः, तारकाश्च अरुणप्रभाया लीनाः सत्यः न दृश्यन्ते, सन्ध्यासमयश्च समागतः, इदानीं सूर्यं उदेष्यति इति निष्कर्षः। ॥ २० ॥

अन्वयः—या अरुणकिरणे वह्नौ उडूनि लाजान् जुहोति, अवैमि—ताम् एतां सन्ध्यां दिवः मणिः परिणयति, यतः इयम् इव सः एव पुरा अग्निभ्रान्तिं करोति; कः एव सकौतुकम् अपि तस्य करम् ईक्षितुं न उत्कः? (सर्वे अपि उत्काः)।

हिन्दी—जो (प्रातःसंध्या) अरुण की किरण रूप अग्नि में तारक-रूप लाजाओं की आहुति दे रही है, प्रतीत होता है कि उस इस (होमकारिणी)

सन्ध्या (वधू) से दिनमणि (सूर्य) विवाह कर रहा है, क्योंकि इसी (संध्यावधू) के समान वह (वर सूर्य) भी आगे-पीछे अग्नि की भ्रांतिरूपा प्रदक्षिणा कर रहा है। कौन व्यक्ति कौतुकपूर्ण भी इस (वर सूर्य) के कर रूप कर (किरण रूप हस्त) को देखने के लिए 'उत्क' अर्थात् उत्कंठित और जलार्घ्य-समर्पणार्थ प्रस्तुत नहीं है ? सब हैं।

टिप्पणी—प्रकृति-दृश्य है कि अरुणोदय हुआ, अरुणाभा में लीन हो तारे छिप गये और प्रातःसन्ध्या आ गयी, अब सूर्योदय होगा, जिसे अर्घ्यसमर्पणार्थ प्रस्तुत हो जाना चाहिए। इसकी एक विवाह-दृश्य के रूप में कल्पना की गयी है। प्रातःसन्ध्या वधू है, जिसने अरुण की आभा-रूप लाल अग्नि में तारक-रूप लाजाओं की आहुति दी है, सूर्य वर है, जो सन्ध्यावधू के पीछे-पीछे अग्नि-भ्रम रूप अग्नि की प्रदक्षिणा करेगा। जैसे विवाह के मांगलिक चिह्नों से युक्त वर के कर को देखने की सबकी इच्छा होती है, वैसे ही सबको सूर्य करार्थ 'उत्क' उत्कंठित, अर्थान्तर 'उत्क्षिप्तजल' होना चाहिए॥ २०॥

रतिरतिरतिद्वैतश्रीकौ ! धुरं विभृमस्तमां
प्रियवचसि यन्नग्नाचार्या वदामतमां ततः।
अपि विरचितो विघ्नः पुण्यद्रुहः खलु नर्मणः
पत्तपमरुखे नैकस्यै वा मुदेतु मुदेऽपि तत्॥ २१॥

जीवातु—रतीति। रतिरतिपत्योः कामाङ्गनाकामदेवयोः, द्वैतं द्वितीयत्वं यत्र सा तादृशी, श्रीः सौन्दर्यं ययोः तादृशौ हे द्वितीयौ रतिकामौ ! हे तादृशौ भैमीनलौ ! प्रियवचसि चाटुवादे, स्तुतिपाठकर्मणीत्यर्थः। धुरं भारम्, बिभृमस्तमाम् अतिशयेन धारयामः। भवतां सन्तोषकरवचनप्रयोगे एव वयं नियुक्ताः स्म इत्यर्थः। तथाऽपि यत् यस्मात्, नग्नानां वन्दिनाम्, अन्यान्यस्तुतिपाठकानामित्यर्थः। 'नग्नः क्षपणवन्दिनोः' इत्यमरः। आचार्याः उपदेशादिकारिणः, वन्दिप्रधाना इत्यर्थः। वयमिति शेषः। ततः तस्मात्, वदामतमाम् अतिशयेन वदामः, औचित्यात् अप्रियमपि हितमिति भावः। उभयत्रापि 'तिङव्ययात्—' इत्यामुप्रत्ययः। ननु किं वा अप्रियं किं वा हितं वदथ ? इत्याह—पुण्यद्रुहः सन्ध्यार्चनाद्यवश्यकर्त्तव्यनित्यकर्मणां व्याघातजनकत्वेन सुकृतविरोधिनः, नर्मणः युवयोः सुखविहारस्य, विघ्नः अन्तरायः, विरचितः खलु अपि ईदृगप्रियवाक्येन सम्पादितः एव, अतः तत् तादृशम्,

परुष नर्मव्याघातकतया निष्ठुरम्, वाक्यमिति शेष । वा युवयोः मध्य, एकस्यै भैम्यै, अरुषे क्रोधाभावाय, क्वचित् प्रसज्य प्रतिषेधेऽपि अनुसमास दृश्यते । न उदेति न जायते, वालाया अदीक्षिताया तस्या सन्ध्यादिप्रयोजनाभावात् क्रोधायैव भवतु इति भाव । मुदे हर्षाय अपि, सन्ध्यार्चनाद्यव श्यकर्मप्रयोजकत्वात् तव सन्तोषायापीत्यथ । उदेतु । अप्रियमपि हित वाच्यमेव यतो वदाम इत्याशय ॥ २१ ॥

अन्वय —रतिरतिपतिद्वैतश्रीको, नग्नाचार्या प्रियवचसि ,यद् धुर बिभृमस्तमा तत वदामस्तमाम्—पुण्यद्रुह नर्मण खलु विघ्न अपि विरचित वद् परुष वाम् एकस्यै अरुषे न, मुदे अपि उदेतु ।

हिन्दी– हे रति और रतिपति (कामदेव) के युगल की शोभा से सपन्न (दमयन्ती और नल), हम नग्नाचार्य (वन्दिजन अथवा नगे, निर्लज्ज) प्रियवचन (अनुकूल चाटुवचन) कहने का भार धारण करते हैं, इससे कहते ही हैं,—(हमने) पुण्य के विरोधी सुख विहार का विघ्न भी सम्पादित किया, सो (हमारा) अप्रिय वचन आप दोना (दमयन्ती-नल) के मध्य एका (दमयन्ती) के अरोष का ही कारण न बने, अपितु हर्ष का जनक भी बने ।

टिप्पणी—विलासरत दमयन्ती नल को श्री-शोभासम्पन्नता के आधार पर रति काम का सम्बोधन देते हुए चारणो ने अपने को 'नग्नाचार्य' (जिसका अर्थ वैतालिक तो होता ही है, सामान्य शब्दार्थ नगो, निर्लज्जो के प्रमुख भी हो सकता है), कहते निवेदन किया कि वे यद्यपि अनुकूल और प्रिय ही कहते हैं, तथापि इस समय विलासमग्नदपती से सुख विलास निद्रा छोडकर जाग उठने को वह अप्रिय भी कह दिया है, सो वह युग्म क्षमा करे, क्योकि ये अप्रिय वचन कल्याणकारी हैं । इन्होने दपती के सुख विहार म विघ्न-सपादन भी किया है, कि इस सुख विहार मे लीन दपती आवश्यक दैनिक सन्ध्यावदनादि भी नही कर पा रहे हैं अत यह सुख विलास उनके पुण्यो का विरोधी बन रहा है । हम स्तुति पाठको के ऊपर स अप्रिय लगते किन्तु वस्तुत अनुकूल और कल्याणप्रेरक वचन सुनकर साम्राज्ञी दमयन्ती न केवल अरोषभाव—क्रोधहीनता ही—अपनायेंगी, प्रत्युत हमारे ये श्रेयस्कर

निवेदन उनके हर्ष और प्रीति के कारण भी बनेंगे—ऐसा हमें विश्वास है। नग्नता अर्थात् स्पष्टता के साथ कहने के कारण यहाँ 'नग्नाचार्य' विशेषण सार्थक है, ऐसे वैतालिक, जो अप्रिय हित भी कह सकें ॥ २१ ॥

> भव लघुयुताकान्तः सन्ध्यामुपास्स्व तपोमय !
> त्वरयति कथं सन्ध्येयं त्वां न नाम निशानुजा ? ।
> द्युतिपतिरयावश्यङ्कारी दिनोदयमासिता
> हरिपतिहरित्पूर्णभ्रूणायितः कियतः क्षणान् ? ॥ २२ ॥

जीवातु—भवेति। तपोमय ! हे तपोनिष्ठ ! महाराज ! अत एव विहित-काले सन्ध्यादिनिमित्तं तत्परो भव इत्याशयः। लघु शीघ्रम्, युता पृथग्भूता, कान्ता प्रिया यस्य सः तादृशः युताकान्तः विसृष्टप्रियः। भव जायस्व। कान्ता-शब्दस्य प्रियादिपाठात् 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यादिना पूर्वपदस्य न पुंवद्भावः, 'अप्रियादिषु' इति प्रतिषेधात्। सन्ध्यां प्राभातिकोपासनाम्, उपास्स्व सेवस्व। इयम् उपस्थिता, निशानुजा रात्रेरनन्तरं सञ्जाता, सन्ध्या प्रातः-सन्ध्या, त्वां भवन्तम्, कथं किमर्थम् नाम प्रश्ने, न त्वरयति ? न सत्वरी-करोति ? सन्ध्योपासनार्थमिति भावः। यतः, अथ अनन्तरमेव, सत्वरमेवे-त्यर्थः। दिनोदयं दिवसप्रादुर्भावम्, अवश्यं करिष्यतीति अवश्यङ्कारी दिनं निश्चितमेव करिष्यन् इत्यर्थः, 'आवश्यकाधमर्ण्ययोः' इत्यावश्यकार्थे णिनिः। मयूरव्यंसकादित्वात् समासः। आवश्यकार्थत्वादिह भविष्यति इत्यर्थः। लभ्यते, अतः 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इतीन्युक्तषष्ठीप्रतिषेधः सम्भवति, अत एव भविष्यदर्थाभावे अत्र प्रत्युदाहरणं काशिकायाम् 'अवश्यङ्कारी कटस्य' इति। हरिः इन्द्रः, पतिः प्रभुः यस्याः तादृश्याः, हरितः दिशः, प्राचीदिगङ्गनाया इत्यर्थः। पूर्णभ्रूणः सम्पूर्णगर्भः, दशममासीयगर्भ इत्यर्थः। 'गर्भो भ्रूण इमौ समौ' इत्यमरः। स इव आचरितः इति तादृशः। 'आचारक्यङन्तात् कर्तरि क्तः'। द्युतिपतिः सूर्यः, कियतः क्षणान् कति कालान्, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। आसिता ? स्थाता ? स्वोदयं स्थगयित्वा अपेक्षिष्यते ? इत्यर्थः। न क्षणमपीति भावः। शीघ्रमेव सूर्यस्य उदयो भविष्यति, अतः सूर्योदयात् प्राक् सन्ध्यो-पासनार्थं सत्वरमुत्तिष्ठ इति तात्पर्यम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—तपोमय, लघुयुताकान्तः भव, सन्ध्याम् उपास्स्व, इयं निशा-

नुजा सन्ध्या कथं नाम त्वां न त्वरयति ? अथ दिनोदयम् अवश्यङ्कारी हरि-पतिहरित्पूर्णगर्भ णायितः द्युतिपतिः कियतः क्षणान् आसिता ?

हिन्दी—हे तपोनिष्ठ (महाराज नल), थोडा प्रिया दयिता (दमयन्ती) से वियुक्त हों, प्रातःसन्ध्योपासन करें, यह रात की छोटी बहिन प्रभात सन्ध्या क्यों आपको शीघ्रता के लिए प्रेरित नहीं कर रही ? और दिन का विकास अवश्य करनेवाला, इन्द्र की दिशा (पूर्वा दिक्) के पूर्ण गर्भ के समान (लाल-लाल, बडा) आचरण करता प्रकाश का स्वामी (सूर्य) कितने क्षणों तक ठहरा रहेगा ?

टिप्पणी—पुण्यश्लोक, दैनिक सन्ध्या-वन्दनादि को कभी न त्यागनेवाले महाराज को सार्थक सम्बोधन 'तपोमय' दे वैतालिकों ने शीघ्रतया उनसे प्रियतमा भार्या से कुछ दूर वियुक्त हो, प्रभातसन्ध्योपयुक्त आचरण करने के लिए उठ जाने का निवेदन किया। यह काल शीघ्र व्यतीत हो जायेगा। जैसे पूर्ण गर्भ बाहर आने में अधिक विलम्ब नहीं करता, ऐसे ही सूर्य भी ठहरा नहीं रहेगा, वह दिन-निकालेगा ही। आशय यह कि महाराज नल को अब तुरन्त जाग उठना चाहिए। सूरज का बडा लाल गोला कुछ ही क्षण में दिनोदय कर देगा और ऊँचा हो, अपनी यह पूर्णगर्भ समा अरुणाभा छोड़ छोटा दीखने लगेगा। महाकवि ने यहाँ 'लघुयुताङ्गन्त' में 'युत' का प्रयोग किया है, जो नवीन है। यद्यपि 'यु' धातु के अर्थ मिश्रण और अमिश्रण (मिलना और अलग होना)—दोनों है, तथापि इसका प्रयोग सामान्यतः मिश्रणार्थ में होता है, यहाँ अमिश्रणार्थ में 'युत' का प्रयोग यह द्योतन करने के लिए है कि यह वियोग—यह बिछुडन शीघ्र ही सन्ध्योपासन के अनन्तर संयोग के लिए है। 'यु मिश्रणामिश्रणे'—ऐसा अमिश्रण, जिसके पूर्व मिश्रण है, ऐसी बिछुडन, जो मिलन की अग्रसूचिका है॥ २२॥

> मुषितमनभिज्ञं भैमि ! त्वयाद्य कलागृहे-
> निषधवसुधानाथस्यापि श्लथश्लथता विधौ।
> अजगणदयं सन्ध्या वन्ध्या विधाय न दूषणं
> नमसितुमतो यन्नाम स्यान्न सम्प्रति पूषणम् ॥ २३ ॥

जीवातु—मुषितेति। भैमि ! हे दमयन्ति ! अद्य अस्मिन् दिवसे, कला-

गृहैः कलानां चुम्बनालिङ्गनादिरूपकामक्रीडाशानाम्, गृहैः निवासैः, आश्रय-स्वरूपया इत्यर्थः। 'गृहाः पुंसि च भूम्न्येव' इत्यमरः। त्वया भवत्या, मुषितमनसः अपहृतचित्तस्य, निषधवसुधानाथस्य नलस्यापि, परमधार्मिकस्यापीति भावः। विधौ श्रुतिविहितसन्ध्योपासनादिनित्यकर्मानुष्ठाने, श्लथश्लथता। कर्मधारयवद्भावे पुंवद्भावात् सुपो लुक्। चित्रम् आश्चर्यम्, यत् यस्मात्, अयं नलः, सम्प्रति अधुना, न इतः पूर्वमिति भावः। सन्ध्यां प्रातःकालिकोपासनाम्, वन्ध्यां निष्फलाम्, विधाय कृत्वा, अनुपास्येत्यर्थः। दूषणं दोषम्, न अजगणत् न गणयति स्म, तथा पूषणं सूर्यम्, अचिरमेव उदेष्यन्तमिति भावः। 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' इति नियमान्नात्र दीर्घः। नमसितुमनाः नमस्कर्तुकामश्च। 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' इति क्यजन्तात् तुमुन्, 'क्यस्य विभाषा' इति क्यलोपः, 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः। न स्यात् नाम न भवेदपीत्यर्थः। अव्यर्थं नाम॥ २३॥

अन्वयः—भैमि, अद्य कलागृहैः त्वया मुषितमनसः निषधवसुधानाथस्य अपि विधौ श्लथश्लथता चित्रम्, यत् अयं सन्ध्यां वन्ध्यां विधाय दूषणं न अजगणत्, सम्प्रति पूषणं नमसितुमनाः नाम न स्यात्।

हिन्दी—हे भीमसुते, आज (चौंसठ) कलाओं की घर (कलानिधि) तेरे द्वारा अपहृतचित्त निषधभूमि के स्वामी (नल) की भी विधि (सन्ध्या-वंदनादि कृत्यों) में अत्यन्त शिथिलता आश्चर्यजनक है कि इसने सन्ध्या को वन्ध्या (प्रभात-सन्ध्योचित कृत्य न करके निष्फल-व्यर्थ) बनाकर दोष नहीं माना, अब सूर्य को नमस्कारेच्छु भी न होगा।

टिप्पणी—आश्चर्य इस कारण है कि दमयन्ती ने पुण्यश्लोक, धर्माचारी नल को भी पुण्यकृत्य करना भुला दिया, ऐसा कि वह अपनी इस कर्तव्यच्युति को दोष भी नहीं मानता और अब, जबकि सूर्य उदित है, आवश्यक सूर्य की वन्दना के लिए भी प्रस्तुत नहीं है। आश्चर्य इस कारण भी कि नल का चित्त उस दमयन्ती ने हरा है, जो स्वयं 'कलानिधि' (कलागृह, अर्थात् कलाओं का आश्रय) है। तब भी 'कलागृह' द्वारा 'मुषितमनाः' होने पर भी नल का 'विधु' (कलानाथ चन्द्र) के प्रति अनादर है। 'कलागृह' में जिसका चित्त हो, उसे 'कलानाथ' में आदर होना चाहिए। नहीं है, अतः आश्चर्य

है। आश्चर्य इस पर भी कि जो दमयन्ती 'कलागृह' अर्थात् पूरी समझदार कलाभिज्ञा विदुषी है, उसने अपने प्रिय स्वामी से ऐसा 'अयुक्त'—अनुचित कार्य कराया कि धर्माचरण से ही वह विमुख हो गया। आशय यह कि नल को जागना चाहिए, दमयन्ती को उसे जगने से रोकना अनुचित है। प्रभात सन्ध्या का काल तो बीत ही गया, अब सूर्य-वन्दना का समय भी जा रहा है ॥ २३ ॥

> न विदुषितरा काऽपि त्वत्तस्ततो नियतक्रिया
> पतनदुरिते हेतुर्भर्तुर्मनस्विनि ! मास्म भूः ।
> अनिशभवदत्यागादेन जनः खलु कामुकी-
> सुभगमभिधास्यत्युद्दामाऽपराङ्कवदावद ॥ २४ ॥

जीवातु—नेति । मनस्विनि ! हे प्रशस्तचित्ते ! अत्र अवश्यमेव स्वामिनम् अवैधकार्यात् निवारयिष्यसीत्याशय । त्वत्त भवत्या, त्वामपेक्ष्य इत्यर्थ । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । अतिशयेन विदुषी विदुषितरा । 'घरूप-' इत्यादिना ह्रस्व । काऽपि अन्या काचिदपि स्त्री, न, अस्तीति शेष । तत. तस्मात् हेतो, भर्तुः पत्युः, नियतक्रियापतनदुरिते सन्ध्यादिनित्यकर्मभ्रंशपापे, हेतुः कारणम्, मास्म भूः नैव भव । 'स्मोत्तरे लङ् च' इति चकारात्लुङ्, 'न माङ्योगे' इत्यडभाव । तथा हि—उद्दामा उद् उद्गतम्, तरलङ्घितमित्यर्थं । दाम लोकस्थितिरूपबन्धः यस्य तादृशः उच्छृङ्खल, उद्दामत्वात् इत्यर्थ. । अत एव परेषाम् अन्येषाम्, अङ्कन्य कलङ्कस्य, वदावद वक्ता । 'चरि-'इत्यादिना यङ्लुगन्तवत् अभ्यासस्याऽऽगमश्च । जन लोक, खलु निश्चितम्, अनिशं निरन्तरम्, भवत्या त्वया कर्त्रा । अत्यागात् अमुक्तत्वात् हेतो 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव' । एनं नलम्, तव स्वामिनमिति भाव. । कामुकी वृषस्यन्ती । 'वृषस्यन्ती तु कामुकी' इत्यमर । 'अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्' इति वचन । तस्या सुभगं वल्लभम्, तदधीनमित्यर्थ । अभिधास्यति कथयिष्यति, स्त्रीलोल वक्ष्यतीत्यर्थ । तस्मात्न क्षणं मुञ्च इति भाव ॥ २४ ॥

अन्वयः—मनस्विनि त्वत्तः विदुषितरा का अपि न, तत भर्तुः नियतक्रियापतनदुरिते हेतुः मास्म भूः, उद्दामा अपराङ्कवदावद जनः खलु अनिशभवदत्यागात् एनं कामुकीसुभगम् अभिधास्यति ।

हिन्दी—प्रशस्तमनस्के (सावधानचित्ते दमयन्ती), तुमसे बढ़ी विदुषी (पंडिता) कोई (अन्य नारी) नहीं है, (अतः समझ से काम लेती हुई) पति के संध्यावंदनादि नित्यकर्मों में शिथिलता-रूप पाप का कारण न बन, (क्योंकि) उच्छृंखल (निर्मर्याद, उग्र) दूसरों की कलंक-कथा का प्रचार करनेवाला जनसमूह निश्चयरूप से निरन्तर आप (दमयन्ती) में संलग्न इस (नल) को 'कामुकीसुभग' (अतिमैथुनप्रिया स्त्री में लंपट—कामुकी, सुभगा नारी में रत) कहने लगेगा।

टिप्पणी—चारण मानते थे कि नल तो परमधार्मिक है, किन्तु आज वह नित्य-क्रिया-संपादन भी नहीं कर रहा है, पुण्यश्लोक पाप का भागी बन रहा है। इसका कारण दमयन्ती ही है; अतः चारण दमयन्ती की समझदारी-पांडित्य का उल्लेख करके उसे संबोधित कर रहे हैं कि वह समझ से काम ले और अपने स्वामी को उद्बोधन दे, अन्यथा जनता परनिंदा और परछिद्रान्वेषण में बड़ी तत्पर रहती है, उनकी जिह्वा कोई पकड़ नहीं सकता। इस दमयन्ती के आचार को देख वह महाराज नल को 'पुण्यश्लोक' के स्थान में अब से 'कामुकीसुभग' (स्त्री-लोल, लंपट) कहने लगेगी। नल को लंपट और दमयन्ती को कामुकी कहा जाने लगेगा। विदुषी दमयन्ती विचारे और समझ से काम ले॥ २४॥

रह सहचरीमेतां राजन्नपि स्थिरतरां क्षणं
तरणिकिरणैः स्तोकोन्मुक्तैः समालभते नभः।
उदधिनिरयद्धास्वत्स्वर्णोदकुम्भदिदृक्षुतां
दधति नलिनप्रस्थायिन्यः श्रियः कुमुदान्मुदा॥ २५॥

जीवातु—रहेति। हे राजन्, स्थिरताम् उत्कृष्टस्थिरमपि। स्त्रीशब्दस्य जातिवाचित्वेऽपि तन्निष्ठगुणगतातिशयविवक्षया तरप्प्रत्यय इति भगवान् भाष्यकारः। 'नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम्' इति विभाषया ह्रस्वः। सहचरीं सहचारिणीम्। पचादिषु चरट् इति टित्करणेन ङीप्। एतां प्रियां दमयन्तीम्, क्षणं कियत्कालम्, रह त्यज, वैधक्रियासम्पादनार्थमिति भावः। 'रहति त्यजति त्यागे' इति भट्टमल्लः। रहेर्भौवादिकाल्लोटि सिप्। नभः आकाशम्, कर्तृ स्तोकेन लेशेन, उन्मुक्तैः प्रकटितैः। 'करणे च स्तोकाल्प—' इत्यादिना पक्षे

तृतीया । कर्मणि कर्मकर्त्तरि वा क्त । स्वल्पमुदितैरित्यर्थः । तरणिकिरणैः सूर्यरश्मिभि करणैः । समालभते आत्मान विलिम्पति, अनुलिम्पति इत्यर्थ । 'समालम्भो विलेपनम्' इत्यमर । 'समालम्भनमित्यपि' इत्यनुलेपनपर्याये यादव । कुङ्कुमैरिवेति भाव । किञ्च, कुमुदात् कैरवात् । अपादानात् नलिन पद्म प्रति । गम्यमानोद्देशक्रियापेक्षया कर्मत्वम् । नलिनम् उद्दिश्य इत्यर्थः । प्रस्थायिन्य प्रतिष्ठमाना रजन्यपगमेन कुमुदस्य मुकुलोन्मुखत्वात् पद्मस्य च स्फुटनोन्मुखत्वादिति भाव. । ग्रहादित्वात् णिनि । अत्र गम्यादिपाठात् 'अकेनो' इति षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीयेति केचित्, तत् प्रतिष्ठतेरकर्मकत्वमनालोच्य उक्तमित्युपेक्षणीयम् । श्रिय शोभा., मुदा हर्षेण, उदकानि धीयन्ते अस्मिन् इति उदधि समुद्र । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति किप्रत्यय । 'पेषवासवाहनधिषु च' इत्युदादेश । तस्मात् निरयन् निर्गच्छन् । एतेर्लट शत्रादेश । स चासौ भास्वान् सूर्यश्च, स एव स्वर्णस्य उदकुम्भ जलपूर्णहेमघट । 'एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम्' इत्युदादेश । तद्दिदृक्षुता द्रष्टुमिच्छवः दिदृक्षव तासा भाव तत्ता ताम्, विलोकयितुमिच्छुताम् । 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधे गम्यादिपाठात् द्वितीयासमास । दधति धारयन्तीव, दिदृक्षन्ते इवेत्यर्थ । प्रस्थानकाले पूर्णकुम्भदर्शनस्य मङ्गलावहत्वादिति भाव ॥ २५ ॥

अन्वय —राजन्, क्षितगाम् अपि सहचरीम् एता क्षण रह, नम स्तोकोन्मुक्तैः तरणिकिरणैः समालभत, कुमुदात् नलिन प्रस्थायिन्य श्रिय. मुदा उदधिनिरयद्भास्वत्स्वर्णोदकुम्भदिदृक्षुता दधति ।

हिन्दी—हे राजा नल, उत्कृष्टरमणी भी सहचारिणी (पत्नी) इस (दमयन्ती) को कुछ क्षण को छोडो, आकाश कुछ प्रकट हुई (स्वल्पोदित) सूर्य-किरणों से भर रहा है । कुमुद (रात्रि मे विकसित) से कमल (दिन में विकसित) की ओर प्रस्थान करती शोभाएँ प्रसन्नता के साथ जल के निधि (सागर) से निकलते प्रभामय (सूर्य) रूप जलभरे स्वर्णकलश को देखने को इच्छुक हो रही हैं ।

टिप्पणी—स्पष्ट है कि उदित होते सूर्य की किरणो से गगन मडल व्याप्त हो रहा है । रात्रि मे विकसित होने वाले कुमुद शोभाहीन हो रहे हैं और

कमल श्री संपन्न—'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डम् ।' यह समय नारी के अंक में रहने का नहीं है, प्रातःकृत्य का है। भले ही दमयन्ती रमणियों में उत्कृष्ट हो, इस समय महाराज नल को उस रमणीरत्न का त्यागना ही उचित होगा। रात के साथी को छोड़ अब दिन के साथियों में रमना चाहिए। शोभाएँ भी रात के साथी कुमुदों को छोड़ दिन के साथी नलिन की ओर प्रस्थान कर रही हैं और सूर्यरूप जलपूर्ण हेमघट को देखने को उत्सुक हैं—प्रस्थानकालोचित मंगलघट-दर्शनार्थ। नल भी ऐसा ही अपेक्षित है। दमयन्ती रमणीरत्न भी है, सहचरी भी, परन्तु इस क्षण तो उसका सहचार छोड़ना ही उचित है ॥ २५ ॥

> प्रथमककुभः पान्थत्वेन स्फुटेक्षितवृत्रहा-
> ण्यनुपदमिह द्रक्ष्यन्ति त्वां महांसि महःपतेः ।
> पटिमवहनादूहापोहक्षमाणि वितन्वता-
> महह ! युवयोस्तावल्लक्ष्मीविवेचनचातुरीम् ॥ २६ ॥

जीवातु—प्रथमेति। महःपतेः सूर्यस्य महांसि तेजांसि, प्रथमककुभः इन्द्रस्वामिकायाः प्राच्याः, पन्थानं गच्छतीति पान्थः नित्यपथिकः। 'पन्थो ण नित्यम्' इति णप्रत्ययः पन्थादेशश्च। तत्त्वेन पथिकत्वेन, नित्यमिन्द्र-दिग्गतत्वेन इत्यर्थः। स्फुटं स्पष्टम्, ईक्षितः दृष्टः, वृत्रहा इन्द्रः यैः तानि। 'इन्नहन्—' इत्यादिना णौ दीर्घः। अनुपदम् अनुगमेव, इन्द्रेक्षणानन्तरमेवे-त्यर्थः। 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीबमव्ययम्' इत्यमरः। इह अस्मिन् प्रदेशे, त्वां नलं, द्रक्ष्यन्ति अवलोकयिष्यति। ततः किं तत्राह—पटिमवहनात् पटिमा तीक्ष्णता, तीक्ष्णरश्मिता इत्यर्थः। चातुर्यञ्च प्रज्ञातिशयञ्च इत्यर्थः। तस्य वहनात् धारणात् 'पटुश्चतुरतीक्ष्णयोः' इति शाश्वतः। ऊहापोहयोः ऊहः तर्कः, विचारपूर्वकसद्ग्रहणमित्यर्थः। अपोहः परित्यागः, अपकृष्टवस्तुन इति भावः। तयोः क्षमाणि शक्तानि, तानि महांसि इति शेषः। युवयोः तस्य इन्द्रस्य तव च। 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' इति त्यदाद्येकशेषः। लक्ष्मीविवेचन-चातुरीं शोभासम्पदां तारतम्यविचारकौशलम्, तावत् साकल्येन, वितन्वतां विस्तारयन्तु, प्रदर्शयन्तु इति यावत्। उभयदर्शिनाम् उभयतारतम्यं विवेक्तुं युक्तमेवेति भावः, अहह इत्यद्भुते ॥ २६ ॥

अन्वय—प्रथमककुभः पान्थत्वेन स्फुटेक्षितवृत्रहाधिपः महः पते. महांसि अनुपदम् इह त्वा द्रक्ष्यन्ति, अहह, पटिमवहनात् ऊहापोहक्षमाणि युवयोः लक्ष्मीविवेचनचातुरी तावत् वितन्वताम्।

हिंदी—पूर्वदिशा के नित्यपथिक होने के कारण वृत्रासुर के हन्ता (इन्द्र) को प्रत्यक्ष करने वाले तेजोराशि के स्वामी (सूर्य) के तेज यहाँ (प्रासाद में) तुझे (राजा नल को) देखेंगे, अरे, तीक्ष्णता (चातुरी, सूक्ष्मबुद्धित्व) के धारण करने से ऊहा (अविद्यमान प्रकाशादि का प्रकटीकरण) और अपोह (विद्यमान अन्धकार का निराकरण) में समर्थ (सूर्य-तेज) तुम दोनों (इन्द्र और नल) की शोभा-सम्पदा-रूप लक्ष्मी के तारतम्य-संबंधी विचारकौशल का विस्तार करें।

टिप्पणी—सूर्य का तेज (धूप) अब पूर्वदिशा से नल के प्रासाद में आकर फैलना चाहता है, अब महाराज को उठने में एक क्षण का विलंब भी न करना चाहिए। प्रतिदिन सूर्य तेज पूर्वदिशा की यात्रा करते हैं और वृत्रहता इन्द्र और उसकी शोभा सम्पन्नता को प्रत्यक्ष करते हैं, अब वे महाराज नल और उनकी श्री-शोभा को भी देखेंगे। वे 'तीक्ष्ण' अर्थात् तेज अर्थात् सूक्ष्मतया विवेक क्षम हैं। वे सूर्यतेज इन्द्र और उसकी शोभा देखकर अब नल और उसकी श्री का समीक्षण करेंगे तब तुलना कर निर्णय देंगे कि दोनों में कौन उत्कृष्ट है? उनकी विवेक-चातुरी का विकास होगा, विस्तार होगा। पहिले इन्द्र दर्शन में इन्द्र की शोभासंपत्तिमत्ता के विषय में उनकी सामान्यबुद्धि बनेगी, अनन्तर नल दर्शन से नल की शोभाश्री के विषय में विशेषबुद्धि। सामान्य से विशेष श्रेष्ठ होता है, सो विशेष नल की शोभाश्री इन्द्र की सामान्य शोभा सम्पन्नता से श्रेष्ठ मानी जायगी। यह भाव है॥ २६॥

> अनतिशिथिले पुम्भावेन प्रगल्भतरला खलु
> प्रसभमलयः पाथोजास्ये निविश्य निरित्वराः।
> किमपि मुखतः कृत्वाऽनीतं वितीर्य सरोजिनी-
> मधुरसमुपोयोगे जाया नवानमचीकरन्॥ २७॥

जीवातु—अनतीति । पुम्भावेन पुंस्त्वेन हेतुना; प्रगल्भबलाः स्त्रीभ्यो-ऽधिकसामर्थ्यसम्पन्नाः, अलयः भृङ्गाः, अनतिशिथिले ईषद्विकसिते, पाथोजस्य पद्मस्य, आस्ये मुखे, उपरिभागे इत्यर्थः । प्रसभं बलात्, निविश्य अभिप्राय, निरित्वराः निर्गच्छन्तः सन्तः, 'इणनशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' इति क्वरप् । मुखतः मुखे कृत्वा धृत्वेत्यर्थः । आनीतम् आहृतम्, सरोजिनीमधुरसं नलिन्याः मकरन्दद्रवम्, वितीर्य दत्त्वा, उपोयोगे प्रातः, जायां स्वकान्ताम् अलिनीम्, किमपि पूर्वमनास्वादात् अनिर्वचनीयसुस्वादु, नवान्नं नूतनं भोज्यम्, अचीकरन् कारयामासुः, भोजयामासुः इत्यर्थः । करोतेर्णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः, 'हृक्रोर-न्यतरस्याम्' इति अणिकर्त्तुः कर्मत्वम् । बली पुमान् स्वान्तराधिकृतमपि मिष्टमन्नं बलात् आछिद्य स्वस्त्रियै प्रयच्छतीति भावः ॥ २७ ॥

अन्वयः—अलयः पुम्भावेन प्रगल्भबलाः अनतिशिथिले पाथोजास्ये प्रसभं निविश्य निरित्वराः अलयः मुखतः कृत्वा आनीतं सरोजिनीमधुरसं वितीर्य उपोयोगे जायां किम् अपि नवान्नम् अचीकरन् ।

हिन्दी—नर होने से उत्कटसामर्थ्यशाली—वृष, (स्वल्प विकसित होने से) अधिक शिथिलता को अप्राप्त (कुछ कठोर) कमल के मुख में बलात् प्रवेश करके निकलते भ्रमरों ने मुख में भरकर लाये कमलिनी के मधुरस को देकर उषःकाल में प्रिया भ्रमरी को कुछ अपूर्व नया भोज्य-भोग कराया ।

टिप्पणी—प्रभात हो रहा है, कमल स्वल्पविकसित हो गये और उनका मधुरस लेकर भौंरे अपनी प्रियाओं को नये प्रकार का अत्यन्त स्वादु प्रातर-शन (कलेवा) करा रहे हैं । कमल ईषद्विकसित हैं, अतः उनके दल अभी कुछ अशिथिल, कठोर और अल्पविस्तार-प्राप्त हैं, उनका मधुरस लेना श्रम का कठोर कर्म है, जिसे नारी नहीं, नर ही कर सकता है । नरभ्रमर उस अल्पशिथिल कमल-मुख में बलात् प्रविष्ट हो, रस ले आते हैं और अपनी-अपनी प्रिया भ्रमरियों को वह नया, स्वादु, अपना जूठा मधुरस अपने मुख से उनके मुखों में डाल रहे हैं । नया, ताजा वह कमलिनीरस प्रिय का उच्छिष्ट होने से और भी मधुर लगता है भ्रमरियों को । कुछ व्याख्या-कारों के अनुसार 'अनतिशिथिल पाथोजास्य' में बलात् प्रवेश करके 'सरोजिनी-मधुरस' का लेना प्रथमसंभोग का संकेत करता है, नवान्न-

भोजन प्रथम समोग से उपलब्ध अनिर्वचनीय— 'किमपि'—इस—आनन्द का द्योतक है ॥ २७ ॥

मिहिरकिरणाभोगं भोक्तुं प्रवृत्ततया पुरः
कलितचुलुकाऽऽपोशानस्य ग्रहार्थमिव किमु ?।
इति विकसितेनैकेन प्राग्दलेन सरोजिनी
जनयति मतिं साक्षात्कर्तुर्जनस्य दिनोदये ॥ २८ ॥

जीवातु—मिहिरेति । इयं किञ्चित् विकसिता, सरोजिनी पद्मिनी, दिनोदये अस्मिन् प्रातःकाले, प्राक् दलान्तरविकासात् पूर्वम्, विकसितेन प्रस्फुटितेन सहतीभावात् पुरःभूतेनेत्यर्थः । एकेन एकमात्रेण, दलेन पत्रेण हेतुना, मिहिरकिरण सूर्यरश्मिरेव, आ सम्यक् भुज्यत इति आभोगः भाज्यम्, भोक्तुं आस्वादितुं प्रवृत्ततया कृतारम्भतया हेतुना, पुरः पूर्वम्, भोजनात् प्रागित्यर्थः । आपोशानस्य आपोशानं नाम भोजनादौ कर्त्तव्यम् 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' इति समन्त्रकजलपानम् अशस्य अमृतास्तरणरूप कार्यं, समन्त्रकाचमनमित्यर्थः, तस्य । पृषोदरादित्वात् साधुः । ग्रहार्थम् आचरणार्थं, कलितः कृतः, चुलुकः गण्डूषकरणार्थं विश्लिष्टकनिष्ठाङ्गुलिकः प्रसृतपराख्यः निकुब्जपाणितलविशेषः यस्याः सा तादृशी, किमु ? जाता किम् ? इति उत्प्रेक्षा, इति एवम्, साक्षात्कर्त्तुः स्वस्या एव द्रष्टुः, जनस्य लोकस्य, मतिं बुद्धिम्, जनयति उत्पादयति । आपोशानकार्यकारी हस्तस्य कनिष्ठाङ्गुलिं प्रसार्य अन्याङ्गुलीनां सङ्कोचं विधाय च जलं पिबति इति सम्प्रदायः । प्राग् विकसितैकदलस्य विश्लिष्टकनिष्ठाङ्गुलीतुल्यतया पद्मस्य च निकुब्जपाणितलतुल्यतया कलितचुलुकत्वं बोद्धव्यम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—इयं सरोजिनी दिनोदये प्राक् विकसितेन एकेन दलेन मिहिरकिरणाभोगं भोक्तुं प्रवृत्ततया पुरः आपोशानस्य ग्रहार्थं कलित-चुलुका किमु—इति साक्षात्कर्त्तुः जनस्य मतिं जनयति ।

हिन्दी—यह कमलिनी दिन का उदय होने पर (प्रभात-वेला में) प्रथम विकसित पत्र (पखुड़ी) द्वारा सूर्य किरणों का आभोग भोगने में (भोजन करने में) प्रवृत्त होने के कारण पहिले (भोजन से पूर्व) 'आपोशान' (मन्त्र पढ़कर आचमन) करने के निमित्त क्या चुल्लू बनाये है ?—यह देखनेवाले व्यक्ति की बुद्धि बना रही है ।

टिप्पणी—प्रभात हो गया है और धीरे-धीरे कमल-कमलिनी की पखुड़ियाँ खुल रही हैं। कमलिनी की एक खिली पंखुड़ी भोजन-पूर्व किया जाने वाला समन्त्र आचमन करने के लिए बने चुल्लू की एक उठी कनिष्ठा अंगुलि के सदृश प्रतीत हो रही है, जो आचमन उसे सूर्य-किरण-भोग से पूर्व करना है। इस समन्त्र आचमन को 'आपोशान' कहते हैं। भोजन से पूर्व भोज्य को अमृत-तुल्य करने के लिए 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' मन्त्र पढ़कर कनिष्ठा अंगुलि फैलाकर और शेष अंगुलियों को सिकोड़कर चुल्लू बना उसमें जल लिया जाता है और आचमन किया जाता है। यही विधान 'आपोशान' है। स्मृति के अनुसार—'भोजने प्रवृत्तेनापोशनक्रियापूर्वमादावन्ते च भोक्तव्यम्।'' सूर्य किरणों में आलोकित विकासोन्मुखा कमलिनी का एक दल विकसित होने पर उसके 'आपोशन'-क्रिया में प्रवृत्त होने की कल्पना की गयी है। मल्लिनाथ के अनुसार सरोजिनी (पद्म) निकुब्जपाणितुल्य है प्राग्विकसित दल विदिलष्ट-कनिष्ठा-अंगुलि—इसी आधार पर कलितचुलुकत्व (चुल्लू बनाने) की कल्पना, 'उत्प्रेक्षा' की गयी है ॥ २८ ॥

तटतरुखगश्रेणीसांराविणैरिव साम्प्रतं
सरसि विगलन्निद्रामुद्राऽजनिष्ट सरोजिनी ।
अधरसुधया मध्ये मध्ये वधूमुखलब्धया
धयति मधुपः स्वादुङ्कारं मधूनि सरोरुहाम् ॥ २९ ॥

जीवातु—तटेति। साम्प्रतं सम्प्रति, सरसि सरोवरे, स्थितेति शेषः। सरोजिनी पद्मिनी, तटतरुषु तीरस्थितवृक्षसमूहेषु, याः खगश्रेण्यः पक्षिसमूहाः, तासां सांराविणैः सम्यग् रावैरिव, उच्चकलकलैरिवेत्यर्थः। इत्युत्प्रेक्षा। 'अभिविधौ भावे इनुण्' इति स्वार्थे इनुण्प्रत्ययः। विगलन्निद्रामुद्रा विगलन्ती अपगच्छन्ती, निद्रा स्वप्न इव, मुद्रा निमीलनम्, सङ्कोच इत्यर्थः। यस्याः सा तादृशी, अजनिष्ट जाता। जनेः कर्त्तरि लुङ्। तथा मधुपः भ्रमरः, सरोरुहां कमलानाम्, मधूनि मकरन्दान्, मध्ये मध्ये अन्तराऽन्तरा, वधूमुखे स्वकान्तानने, लब्धया चुम्बनकाले प्राप्तया, अधरसुधया अधरामृतेन, स्वादुङ्कारं स्वादूकृत्य, सुरसानि कृत्वेत्यर्थः। 'स्वादुमि णमुल्' इति णमुल्-प्रत्ययः। मान्तनिर्देशादेव पूर्वपदस्य मकारान्तनिपातः। धयति पिबति। धेटो लट् ॥ २९ ॥

अन्वय —साम्प्रतं सरसि सरोजिनी तटतरुखगश्रेणीसाराविणी इव विगत-निद्रामुद्रा अजनिष्ट, मधुप. सरोरुहां मधूनि मध्ये मध्य वधूमुखलब्धया अधर-सुधया स्वादुङ्कार यति।

हिन्दी—इस समय (प्रभात काल म) सर वर मे सरोजिनी (कम-लिनी) तीरवर्ती वृक्षा पर (चहकते) विविध पक्षियों क उच्च कलरवों द्वारा जैसे निद्रामुद्रा का त्याग कर रही है (धीरे धीरे पखुडी रूप नयन खोल नींद त्याग रही है ।) भौंरा कमल क मधु बीच बीच म अपनी प्रियाओं क मुखा से प्राप्त अधरामृत से स्वादिष्ट बनाकर पी रहे हैं।

टिप्पणी—प्रभातकालीन एवं स्थिति। कम कमलिनी विकसित हो रही है। इसी धीरे-धीरे पखुडिया के विकसित होन पर निद्रा-त्याग मे नयन खोलने की कल्पना है, जिसका कारण है सर-तीर के वृक्षा पर चहचहात अनेक, भाँति-भाँति क खगा का उच्च कलरव। भौर कमल मधु पी रहे हैं, भ्रमरियाँ भी। परस्पर मधुरस के आदान-प्रदानार्थ मिलत उनके मुख जैसे अधरामृतपान है, जिससे कमल रस और भी सुस्वादु हो जाता है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ २९ ॥

गतचरदिनस्यायुर्भ्रंशे दयोदयसङ्कुचत्-
कमलमुकुलक्रोडे नीडे प्रवेशमुपेयुषाम्।
इह मधुलिहां भिन्नेष्वम्भोरुहेषु समायता
सह सहचरैरालोक्यन्तेऽधुना मधुपारणा ॥ ३० ॥

जीवातु—गतति। गतचरस्य गतपूर्वस्य। 'भूतपूर्वे चरट्' प्रागतीतस्य इत्यर्थः। दिवस्य दिवसस्य, आयुर्भ्रंशे जीवितावसाने सति, सायसमये इति भाव। दयादयात् कृपाविर्भावात् इव, तद्दुरवस्थादर्शनेनेति भाव। सङ्कुचता म्लायताम्, रात्रिनिमीलनस्वभावात् मुद्रितीभवतामित्यर्थः। कमलमुकुलाना पद्मकोरकाणाम्, क्रोडे अभ्यन्तरे एव, नीडे कुलाये। 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमर। प्रवेशम् अन्तर्गमनम्, उपेयुषां प्राप्नुवताम्, अन्तः प्रविशता-मित्यर्थ, रात्रौ तत्रैव आबद्धानाम् अत एव कृतोपवासानामिति भाव। इह अधुना, प्रभाते इत्यर्थ। भिन्नेषु विकसितेषु, अम्भोरुहेषु पद्मेषु, समायता निरतताम्, इतस्ततो भ्रमतामित्यर्थ। इणो ल्ट यजादेश। मधुलिहां मधुपानाम्, अधुना इदानीम्, सहचरैः सुहृद्भिर्भ्रमरान्तरैः सह, सम्प्रत्या-

गतैरिति भावः। मधुना मकरन्देन, पारणाः उपवासानन्तरं भोजनानि, आलोक्यन्ते दृश्यन्ते जनैरिति शेषः ॥ ३० ॥

अन्वयः—गतचरदिनस्य आयुर्भ्रंशे दयोदयसङ्कुचत्कमलमुकुलक्रोडे नीडे प्रवेशम् उपेयुषाम् इह भिन्नेषु अम्भोरुहेषु समायतां मधुलिहाम् अधुना सहचरैः सह मधुपारणाः आलोक्यन्ते।

हिन्दी—विगत दिन की आयु समाप्त होने पर (विगत दिनांत संध्या को) जैसे दया के उत्पन्न होने से (अंत देखने में असक्त) मुँदगये कमलों के मुकुलों की गोद रूप कुलाय (घोंसले, आवास) में प्रवेश-प्राप्त और अब (प्रभात में) विकसित कमलों पर आगये भ्रमरों की इस (प्रभात) काल में अपने साथियों (मित्रों-बन्धु-बांधवों) के साथ मधुपान की पारणा (उपवासानन्तर भोजन) देखी जा रही है।

टिप्पणी—प्रभात हो गया। विगतसन्ध्या को मुँदगये कमलों के नीडों में बंदी भ्रमर अब प्रभात में उनके विकसित हो जाने पर निकल कर विभिन्न कमलों का मधुरस पी रहे हैं। रात भर बन्द हो जाने के कारण भूखे रहे, अब छककर मधुपान कर रहे हैं, जिसकी कल्पना उपवासानन्तर के भोजन 'पारणा' के रूप में की गयी है। कल्पना है कि दिनांत—दिन की मृत्यु का दारुण दृश्य न देखने की इच्छा, करुणा और शोक के कारण कमलों ने अपनी आँखें मूँद लीं। वे मुंदे कमल मधुपान करते भ्रमरों के बंदीगृह बन गये। बंदी भ्रमर तो भूखे रहे ही, उनकी समवेदना में जो बंदी नहीं थे, बाहर थे वे भ्रमर भी भूखे रह गये। प्रभात होने पर जब कमल खिल गये, बंदीगृहों के फाटक खुल गये तो भ्रमर वहाँ से मुक्त हो गये और अब सब प्रसन्न बंधु-बांधव अपने छूटे साथियों से मिल सानन्द मधुपान-पारणा कर रहे हैं। मानव भी इस स्थिति में ऐसा ही करते हैं। आशय यही है कि भ्रमण करते जन ये प्राकृतिक मनोरम दृश्य देख-देख प्रसन्न हो रहे हैं, महाराज नल को भी निद्रा त्याग कर प्राकृतिक सुषमा का अवलोकन उचित है ॥ ३० ॥

तिमिरविरहात् पाण्डूयन्ते दिशः कृशतारकाः
कमलहसितैः श्येनीवोन्नीयते सरसी न का ?।
शरणमिलितध्वान्तध्वंसिप्रभाऽऽदरवारणाद्
गगनशिखरं नीलत्येकं निर्जरयशोभरैः ॥ ३१ ॥

जीवातु—तिमिरेति । दिशः प्राच्यादयः, तिमिरेण अन्धकारेण सह, विरहात् विच्छेदात्, कृशा क्षीणा, सूर्यप्रभया औज्ज्वल्यह्रासादिति भावः । तारका नक्षत्राणि यासां ताः तादृश्यः सत्यः पाण्डूयन्ते पाण्डुवर्णा इव आचरन्ति, विरहिण्यत्वादिति भावः । का सरसी तडागः, कमलानि विकसित पद्मानि एव, हसितानि हास्यानि तैः कमलानां हसितैः विकसनरूपैः हास्यैरिति वा, श्येनी इव श्वेतवर्णा इव, न उन्नीयते ? न दृश्यते ? अपि तु सर्वा एव उन्नीयन्ते इत्यर्थः । प्रियसमागमेन सर्वा एव हास्यविकसिताननाः भवन्ति इति भावः । वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति ङीप्प्रत्ययः, 'त'कारस्य च 'न'कारः । किन्तु एकं केवलम्, गगनशिखरम् आकाशोपरिभागः, पुञ्जन-सोमण्डलमित्यर्थः । शरणमिलितानि रक्षार्थमागतानि, शरणागतानीत्यर्थः । ध्वान्तानि अन्धकारान्, ध्वंसयन्ति विनाशयन्तीति तादृशीनाम् । 'स्त्रियाः पुंवत् इत्यादिना पुंवद्भावः । प्रभाणां सूर्यकिरणानाम् आदरेण आग्रहातिशयेन, धारणात् भरणात् हेतोः, स्वस्मिन् स्थानदानाद्धेतोरित्यर्थः । निजैः स्वकीयैः, अयशोभरैः अकीर्तिबाहुल्यैरिव, नीलति नीलवर्णं भवति । 'नील वर्णे' इति धातोः भौवादिकाल्लट् । शरणागतहन्तुराश्रयदानात् हेतोर्निजैः निन्दाभरैः कृष्णीभवति इत्यर्थः, शरणागतपालनकीर्तिलोपादिव स्वमेव नीलमदृश्यत इति निष्कर्षः । तारकाप्रभाक्षयात् गगनं स्वेन नीलरूपेण प्रकटं जातमिति भावः ॥ ३१ ॥

अन्वय—दिशः तिमिरविरहात् कृशतारकाः पाण्डूयन्ते, का सरसी कमल-हसितैः श्येनी इव न उन्नीयते ? एकं गगनशिखरं शरणमिलितध्वान्तध्वंसि-प्रभादरधारणात् निजैः अयशोभरैः नीलति ।

हिन्दी—दिशाएँ (चतुर्दिशाएँ) अन्धकार के वियोग से क्षीण तारा-वाली और पाण्डुवर्ण की हो गयी हैं और कौन सी पुष्करिणी (सर) विक-सित कमल-रूप हास्य से श्येनी-सदृश शुभ्र रंग की नहीं हो गयी है ? अकेला आकाश शिखर शरणागत अन्धकार की विनाशक सूर्य ज्योति को सादर धारण से (प्रायः) अपनी अकीर्ति के भार से नीला (श्याम) है ।

टिप्पणी—प्रभात दृश्य । सूर्योदय के कारण तारक निस्तेज हो गये, सभी दिशाएँ पाण्डुवर्णा हो गयी, जिनकी उद्‌भावना प्रिय तिमिर के वियोग

में पांडुवर्णा हो जाने के रूप में है। वियोग से पीली पड़ गयीं। प्रत्येक सरःपुष्करिणी में कमल खिल गये। कमल-विकास की हास्य के रूप में उद्भावना। नीला आकाश ही है। कल्पना है कि वह अयश के कारण काला पड़ गया, क्योंकि उसने शरणागत-रक्षा नहीं की, उलटे उसे शत्रु के हाथ सौंप दिया जिसने उसका नाश कर दिया। शरणागत की रक्षा न करना पाप है। आकाश ने सूर्य-प्रभा को सादर स्थान दे दिया, जिसने डर से आकाश में शरण पाये अन्धकार का नाश कर दिया। स्वभावतः नीले आकाश की नीलिमा की अकीर्ति के रूप में कल्पना ॥ ३१ ॥

सरसिजवनान्युद्यत्पक्षार्यमाणि हसन्तु न ?
क्षतरुचिसुहृच्चन्द्रं तन्द्रामुपैतु न कैरवम् ?।
हिमगिरिदृषद्दायादश्रीप्रतीतमुदः स्मितं
कुमुदविपिनस्याथो पाथोरुहैर्निजनिद्रया ॥ ३२ ॥

जीवातु—सरसिजेति। उद्यन् उदयं गच्छन्, पक्षः सहायभूतः, अर्यमा सूर्यः येषां तादृशानि, सरसिजवनानि कमलकाननानि, न हसन्तु ? न विकसन्तु ? न हास्यं कुर्वन्तु ? इति च इति काकुः हसन्त्वेव इत्यर्थः। सुहृदाम् उदये सर्वे एव हसन्तीति लोके दर्शनादिति भावः। क्षतरुचिः शीर्णद्युतिः, सुहृत् मित्रम्, चन्द्रः निशापतिः यस्य तत् तादृशम् कैरवं कुमुदम्, कर्तृ। तन्द्रां तन्द्रावत् निमीलनमित्यर्थः। प्रमीलां च, न उपैतु ? न प्राप्नोतु ? अत्रापि काकुः, उपैत्वेव इत्यर्थः। सुहृत्पीडायां सर्वे एवावसीदन्तीति लोके दर्शनादिति भावः। अथो किञ्च, पाथोरुहैः पद्मैः। कर्तृभिः हिमगिरिदृषद्दायादया हिमगिरेः हिमालयस्य, दृषदां शिलानाम्, दायादया अंशहरया सदृशया इत्यर्थः। श्रिया वैशद्यसम्पदा, प्रतीतमुदः प्रतीता प्रकाशं गता, मुत् हर्षः यस्य तादृशस्य प्रकटहर्षस्य, रात्रौ तथा हृष्टस्य इत्यर्थः। कुमुदविपिनस्य कैरववनस्य सम्बन्धिन्या, निजनिद्रया स्वनिद्रया निमित्तेन, निशाकालिकस्वकीयनिमीलनात्मकनिद्रायाः सम्प्रति कुमुदवनगामित्वेन हेतुनेत्यर्थः, स्मितं हसितम्, विकसितञ्च, भावे निष्ठा। रात्रौ कुमुदवनस्य हृष्टत्वं कमलवनस्य च निद्रा आसीत्, इदानीं पद्मानि रात्रिजां स्वनिद्रां कुमुदवने सञ्चार्य तस्य हृष्टत्वं गृहीत्वा हसन्तीवेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। 'हिमगिरिदृषद्दायादश्रि प्रतीष्टमदः स्मितम्' इति

पाठान्तरे-पायोरुहे निजनिद्रया स्वीयनिमीलनरूपनिद्रादानेन, हिमगिरिदृषद्दायादा सदृशी, श्रीः शोभा यस्य तादृशम्, कुमुदवनस्य अदः इदम् स्मितं नैशविकसन हास्यञ्च, प्रतीष्ट वाञ्छितम्, प्रतिगृहीतमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—उद्यत्पक्षार्यमाणि सरसिजवनानि न हसन्तु ? क्षतरुचिसुहृच्चन्द्र कैरवं तन्द्रा न उपैतु ? अथो पायोरुहे हिमगिरिदृषद्दायादश्रीप्रतीतमुदः कुमुदविपिनस्य निजनिद्रया स्मितम् ।

हिन्दी—जिनका सहायक (मित्र) अर्यमा (सूर्य) उदय प्राप्त कर रहा है, वे कमलविपिन (प्रसन्नता) से न हँसे ? जिसका मित्र चन्द्र निस्तेज (अस्तोन्मुख) है, वह तन्द्रा (सकोच) को न प्राप्त करे ? अथवा हिमाचल की शिलाओं की अशमागिनी (सदृश) शोभा के रूप में हर्ष प्रकट करनेवाले कुमुदवन की अपनी नीद के कारण उस पर कमलो द्वारा मुसकाया जा रहा है ।

टिप्पणी—स्थिति है—'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डम्'—कुमुद मुंद गये हैं, कमल विकसित हैं । मुद जाना 'तन्द्रा' (उदासी, सकोच) है, विकास 'हास' (हर्षजन्य हँसी) है । कमलवन इसलिए हँस रहे हैं कि उनके मित्र अर्यमा की उन्नति (उदय) हो रही है । मित्र के उदय पर प्रसन्न होना ही चाहिए । कुमुद इसलिए सकुचाये हैं कि उनका मित्र चद्र निस्तेज और क्षीण है । एक और भी कल्पना है कि रात भर कमल सकुचित रहे—उदास और कुमुद हिमालय की शुभ्र शिलाओ सी उजली हँसी बखेरते रहे; अब उलटा है, कुमुदो की आँखें बन्द हो रही हैं, कमल इस पर विकासरूप हँसी प्रकट कर रहे हैं । तृतीय पद का पाठांतर है—'प्रतीतमद स्मितम्'—'मुदः' के स्थान पर 'मद' । 'अद' स्मितं प्रतीतम्'—यह हँसी बदल ली । अर्थात् कुमुदो की हिमाचल की शिलाओ-सी उजली हँसी कमलो ने 'निजनिद्रया' अर्थात् अपनी नीद (उदासी) से बदल ली । कुमुदो की रातभर बिखरी रही हँसी से रात की अपनी उदासी का कमलो में विनिमय कर लिया । अब कमल हँसेंगे, कुमुद उदास रहेंगे । मल्लिनाथ के अनुसार रात्रि मे कुमुदवन हँसते रहे, कमलवन निद्रित (उदास) रहे, इस समय प्रभात मे कमल अपनी रात की नीद कुमुदवन मे सचरित कर उसकी हँसी मानो ले रहे हैं—यह व्यञ्जक का प्रयोग न होने से गम्या उत्प्रेक्षा है ॥ ३२ ॥

धयतु नलिने माध्वीकं वा न वाऽभिनवागतः
कुमुदमकरन्दौघैः कुक्षिम्भरिर्भ्रमरोत्करः ।
इह तु लिहते रात्रीतर्षं रथाङ्गविहङ्गमा
मधु निजवधूवक्त्राम्भोजेऽधुनाऽधरनामकम् ॥ ३३ ॥

जीवातु—धयत्विति । कुमुदानां कैरवाणाम्, मकरन्दौघैः मधुसमूहैः, कुक्षिम्भरिः उदरपूरकः । 'फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च' इति चकारात् कुक्षिम्भरिः सिद्धः । नलिने पद्मे, अभिनवागतः सद्यः समागतः, भ्रमरोत्करः भृङ्गसङ्घः, माध्वीकं मकरन्दम्, कमलमधु इत्यर्थः, धयतु पिबतु वा, न वा, धयतु इति शेषः । रात्रौ कुमुदमधुभिः उदरपूरं पीतत्वात् तृप्तस्य अतिथेः पानाद्यभावे न काऽपि क्षतिः इति भावः । तु किन्तु, रथाङ्गविहङ्गमाः चक्रवाकाः, रात्रीतर्षं रात्रिं व्याप्य तृषित्वा, पियाविरहात् तर्षणैः रात्रिं नीत्वा इत्यर्थः । 'अस्यतितृषोः क्रियान्तरे कालेषु' इति णमुल्प्रत्ययः । इह अस्मिन्, निजवधूवक्त्राम्भोजे स्वकान्तामुखकमले, अधुना सम्प्रति प्रभाते, अधरनामकम् ओष्ठसंज्ञकम् मधु मकरन्दम् लिहते आस्वादयन्ति । प्रभाते चक्रवाकदम्पतीनां परस्परमेलनतिनियमादिति भावः । ततश्च भुक्तस्य भोजनापेक्षया अभुक्तस्य भोजनादेव सहृदयानां तृप्तिरित्याशयः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—कुमुदमकरन्दौघैः कुक्षिम्भरिः नलिने अभिनवागतः भ्रमरोत्करः माध्वीकं धयतु वा, न वा, इह तु रथाङ्गविहङ्गमाः रात्रीतर्षं निजवधूवक्त्राम्भोजे अधरनामकं मधु अधुना लिहते ।

हिन्दी—कुमुदों (कोरवों) के मकरंद-प्रवाहों से पेट भरे, कमलों पर सद्यः समागत भृंगों का समूह कमलमधु पिये, चाहे न पिये, यहाँ (प्रभात में) तो चक्रवाक पक्षी रातभर तरस कर अपनी प्रिया के मुखकमलस्थित अधर-रस नाम के मधुरस का तो इस समय आस्वादन करेगा ही ।

टिप्पणी—मुँदे रसहीन कुमुदों को छोड़ भ्रमर विकसित कमलों पर गुँजारने लगे और रातभर के वियोगी चक्रवाक अपनी प्रियाओं से मिल अधरपान करने लगे । भ्रमर सम्भव है कि कमलमधु पियें, सम्भव है कि न भी पियें, क्योंकि कुमुदमधु से उनका पेट भरा है, पर चक्रवाक तो रातभर का प्यासा है, वह तो अपनी तृषा-शांति के निमित्त प्रिया के अधरामृत का

पान अवश्य ही करेगा। यह ठीक ही है, जिसका पेट भरा है, वह चाहे खान पान ग्रहण करे, चाहे न करे, किन्तु भूखा प्यासा तो तृषा मिटायेगा ही।

जगति मिथुने चक्रावेव स्मरागमपारगौ
नवमिव मिथः सम्भुञ्जाते वियुज्य वियुज्य यौ।
सततममृतादेवाहाराद् यदापदरोचकं
तदमृतभुजां भर्त्ता शम्भुर्विषं बुभुजे विभुः ॥ ३४ ॥

जीवातु—जगतीति। जगति त्रिलोकमध्ये, मिथुने मिथुनेषु, स्त्रीपुरुषयुगलमध्ये इत्यर्थः। निर्धारणे सप्तमी। जातावेकवचनम्। चक्रौ चक्रवाकौ एव, चक्रवाकमिथुनमेवेत्यर्थः। स्मरागमपारगौ कामशास्त्रतत्त्वज्ञौ, कामोपभोगे चतुरौ इत्यर्थः। 'अन्तात्यन्ताध्व—' इति डप्रत्ययः। कुतः ? यौ चक्रौ, मिथः परस्परम्, वियुज्य वियुज्य पुनः पुनः विश्लिष्य विश्लिष्य, प्रतिरात्रं स्वेच्छयैवेति भावः। नवमिव प्रत्यहं नूतनमिव, इदं प्रथममिवेत्यर्थः। सम्भुञ्जाते सुरतसम्भोगानन्दमनुभवतः। अन्यथा अरोचकभयात् इति भावः। अत्र दृष्टान्तमाह—यत् तस्मात्, अमृतभुजां सुधाशिनां देवानाम्, भर्त्ता अधीश्वरः, एतेन सर्वदा अमृतपानं सम्भवतीति बोद्धव्यम्। विभुः प्रतीकारसमर्थः, एतेन विषपानजनितदुष्प्रतीकारसामर्थ्यं सूच्यते। शम्भुः शिवः सततम् अनारतम्, अमृतात् पीयूषात्, आहारात् अशनात्, प्रात्यहिकाहार्यभूतादमृतादित्यर्थः। न रोचते इति अरोचकं तदाख्यं रोगम् आपत् अलभत, तत् तस्मात् एव, विषं गरलम्, बुभुजे पपौ। नित्यं मधुरादिसेवनेन जातायाः अरुचेः कटुतिक्तादिविपरीतरससेवनेन निवृत्तिदर्शनादिति भावः ॥ ३४ ॥

अन्वय—जगति मिथुने चक्रौ एव स्मरागमपारगौ, यौ मिथः वियुज्य वियुज्य नवम् इव सम्भुञ्जाते यत् अमृतभुजां भर्त्ता विभुः शम्भुः सततम् अमृतात् आहारात् अरोचकम् एव आपत्, तत् विषं बुभुजे।

हिन्दी—त्रिलोकी के युग्मो के मध्य चक्रवाकयुगल ही कामशास्त्र पारंगत हैं, जो परस्पर वारंवार वियुक्त हो-होकर नूतन-सदृश सम्भोगानन्द का अनुभव करते हैं, कि अमृतभोजी देवो के स्वामी, समर्थ शिव ने निरंतर अमृत आहार से 'अरोचक' रोग (जिसमें खाने पीने के प्रति रुचि नहीं रहती) ही पाया, तो (निवारणार्थ) विष खा लिया।

टिप्पणी—रात्रि में वियुक्त रहने वाले चक्रवाकमिथुन के वियोग-विषय में एक नवीन उद्भावना; कदाचित् इस दैनंदिन वियोग को उन्होंने इसी कारण स्वीकारा है कि वियोग के अनन्तर संयोग में नवीनता बनी रहे। काव्यशास्त्र की मान्यता के अनुसार बिना वियोग के संयोग पुष्ट नहीं होता—'न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।' यह दैनंदिन वियोग ही चक्रवाक-युग्म के मिलन को नित्य नवीन-सरस बनाये रखता है। इससे प्रमाणित है कि वस्तुतः कामशास्त्र के सार को समस्त संसार में यदि कोई जोड़ा जानता है, तो चकवी-चकवे का जोड़ा ही, अन्यथा वह इस रात्रि-वियोग को निरन्तर क्यों सहता? एक दूसरे उदाहरण से यह तथ्य और प्रमाणित हो जाता है कि एकरसता में रुचि नहीं रह जाती, रुचि अनेकरसता में ही है। अधिक मीठा खाइए, अरुचि हो जायेगी। इसके निवारणार्थ नमकीन, खट्टा, तीता, कड़वा—कुछ और लेना ही पड़ेगा, तभी मीठे का स्वाद मिलेगा। शिव ने जगत्कल्याणार्थ हलाहल पिया था—ऐसा माना जाता है। कवि की उद्भावना है कि जग का कल्याण तो शिव शंकर किसी प्रकार से कर सकते थे, वे देवों के स्वामी थे, प्रभु थे—करने, न करने, अन्यथा करने में समर्थ—'कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तुं शक्तः।' उन्हें अमृतपान करते-करते निरंतरता के कारण 'अरुचि' रोग हो गया, उसे दूर करने के लिए ही उन्होंने तीखा, कटु विष पी लिया, जिससे पुनः अमृतपान में रुचि उत्पन्न हो। 'चक्र-युग' भी नित-नवीन संभोगानन्द प्राप्त्यर्थ वियोग शिरोधार्य करता है ॥ ३४ ॥

> विशति युवतित्यागे रात्रीमुचं मिहिकारुचं
> दिनमणिमणि तापे चित्ताग्निजाच्च यियासति ।
> विरहतरलजिह्वा बह्वाह्वयन्त्यतिविह्वला-
> मिह सहचरीं नामग्राहं रथाङ्गविहङ्गमाः ॥ ३५ ॥

जीवातु—विशतीति। इह प्रातः समये, रथाङ्गविहङ्गमाः पुंश्चक्रवाकाः युवतित्यागे निजतरुणीकान्तावियोगे, चक्रवाककान्ताविच्छेदतुल्यविच्छेदे इत्यर्थः। दिनोदयेन रात्रेरदर्शनादिति भावः। रात्रीमुचम् अधुनैव रात्रीरूपपत्नी वियोगिनम्। मुचेः क्विप्। रात्रीति कृदिकारादीकारः। मिहिकारुचं मिहिकायाः हिमस्य, रुक् इव रुक् प्रभा यस्य तं तादृशम्, विरहात् हिमवत् शुभ्ररुचि चन्द्रमित्यर्थः।

विशति आश्रयति सति, चक्रवाकविरहवत् शशिनोऽपि रात्रिविरहे समुपस्थिते सतीत्यर्थः। तापे सन्तापे च, विरहजनितमनस्तापे औष्ण्ये च इत्यर्थः। निजात् स्वात्, चक्रवाकीयादित्यर्थः। चित्तात् मनसः। अपादानात्। दिनमणिमणि सूर्यकान्तमणिम्, यियासति यातुमिच्छति सति, सन्तापे चक्रवाकचित्तात् सूर्यकान्त गन्तुमिच्छति सति इत्यर्थः। सूर्यकरसम्पर्केण सूर्यकान्तमणेः ज्वलनस्य स्वाभाविकत्वादिति भावः। याते सनन्ताल्लट् शत्रादेशः। विरहेण रात्रौ विच्छेदेन, तरलन्त्यः तरलायमानाः, बहुक्षणादर्शनात् आह्वानार्थं चलायमाना इत्यर्थः। आचारार्थे क्विबन्ताल्लटः शत्रादेशः। जिह्वा रसना येषा ते तादृशाः सन्तः, अतिविह्वला दीर्घकालादर्शनात् अतिविवशाम्, सहचरी प्रिया चक्रवाकीम्, नामग्राह नाम गृहीत्वा। 'नाम्न्यादिशिग्रहोः' इति णमुल्-प्रत्ययः। बहु वारवारम्, आह्वयन्ति आकारयन्ति। दिनकरः समुदितः, अतः सत्वरमुत्तिष्ठ इति भावः॥ ३९॥

अन्वयः—युवतित्यागे रात्रीमुच मिहिकारुच विशति तापे च निजात् चित्तात् दिवमणिमणि यियासति विरहतरलजिह्वाः रथाङ्गविहङ्गमाः इह अतिविह्वला सहचरीं नामग्राहं बहु आह्वयन्ति।

हिन्दी—तरुणी प्रिया त्याग के (प्रिया) रात्रि को त्यागने वाले हिमवत् शुभ्र हिमांशु (चन्द्र) का आश्रय लेने पर तथा ताप (सन्ताप, ऊष्मा) के अपने (चक्रवाक के) चित्त से सूर्यकान्तमणि में गमनेच्छु होने पर रात्रि-वियोग के कारण चलायमान (स्खलित) जीभवाले चक्रवाकपक्षी यहाँ (प्रभात वेला में) अत्यन्त विह्वल सहचारिणी (प्रिया चकवी) को नाम ले-लेकर बारबार बुला रहे हैं।

टिप्पणी—चन्द्रमा निस्तेज हो हिम के सदृश शुभ्र है और सूर्योदय हो जाने से सूर्यकान्तमणियाँ गर्म हो रही हैं और रात्रि-विरह से विह्वल चक्रवाक अपनी-अपनी प्रियाओं को व्याकुल होकर पुकार रहे हैं। कल्पना है कि प्रिया त्याग का जो चक्रवाक का स्वभाव है, वह चन्द्रमा में चला गया है और परिणाम स्वरुप वह प्रिया रात्रि का त्याग कर निस्तेज, उदास और श्वेत हो गया है और चक्रवाक को जो सताप है, वह सूर्यकान्तमणियों में चला गया है, जिससे वे गर्म हो रही हैं। व्याकुलता से नामोल्लेख पूर्वक बारबार अपनी प्रियाओं को पुकारते चक्रवाकों की स्थिति पर नारायण का मन्तव्य है कि

जैसे कोई अत्यन्त विह्वल व्यक्ति इस संदेह से कि उसकी प्रिया जीती है। अथवा नहीं, वियोगताप न सह सकने से मर तो नहीं गयी, बारंबार नाम ले-लेकर पुकारता है, ऐसे ही चक्रवाक पुकार रहा है। उसकी जिह्वा स्खलित हो रही है ॥ ३५ ॥

स्वमुकुलमयैर्नेत्रैरन्धम्भविष्णुतया जनः
किमु कुमुदिनीं दुर्व्याचष्टेरवेरनवेक्षिकाम् ? ।
लिखितपठिता राज्ञो दाराः कविप्रतिभासु ये
शृणुत शृणुतासूर्यम्पश्या न सा किल भाविनी ? ॥३६॥

जीवातु—स्वेति । जनः लोकः, स्वमुकुलमयैः निजकोरकरूपैः, निमीलितैरित्यर्थः । नेत्रैः नयनैः, अन्धम्भविष्णुतया अन्धीभूततया, अनन्धाया अपि अन्धाया भूततया हेतुनेत्यर्थः । अविचारादिति भावः । 'कर्त्तरि भुवः खिष्णुच्' इति अभूततद्भावे कर्त्तरि खिष्णुच्प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषत्—' इत्यादिना मुमागमः। रवेः सूर्यस्य, अनवेक्षिकाम् अनवेक्षणीम्, सूर्यमपश्यन्तीमित्यर्थः। ण्वुल् । 'प्रत्ययस्थात्—' इति ण्वुलि कात्पूर्वस्येकारः । कुमुदिनीं कैरविणीम्, राजपत्नीमिति भावः । किमु किमिति, दुर्व्याचष्टे ? दुर्वदति ? कुमुदिनी जगत्पावनम् अवश्यदर्शनीयं सूर्यमपि न पश्यति, अहो ! अहृदनुचितमिदमाचरणम् अस्याः इत्यादिरूपेण वृथा अपवदतीत्यर्थः । ननु 'लोकेऽस्मिन् मङ्गलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्हुताशनः । हिरण्यं सर्पिरादित्य आपो राजा तथाऽष्टमः ॥ एतानि सततं पश्येन्नमस्येदर्चयेत्तु यः । प्रदक्षिणञ्च कुर्वीत तस्य चायुर्न हीयते ॥' इति शास्त्रात् सूर्यावेक्षणस्य विहितत्वेन तदनाचरन्ती कथं न दुर्वाच्या ? इत्याशंसायामाह—कविप्रतिभासु कवीनां विदुषाम्, प्रतिभासु प्रज्ञासु, प्रतिभोल्लासितकाव्येषु इत्यर्थः। ये कुमुदिनीत्याख्यया प्रसिद्धाः, राज्ञः चन्द्रस्य नृपस्य च । 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे' इति विश्वः । दाराः पत्नी राजदाराः लिखितपठिताः कविभिर्लिपीकृताः अध्येतृभिश्च अधीताः । लिखिताश्च ते पठिताश्च इति विशेषणसमासः । कवयो यां राजपत्नीं वदन्ति, तच्छिष्याश्च तथैव जानन्तीत्यर्थः । सा राजदारत्वेन वर्णिता कुमुदिनी, सूर्यं न पश्यतीति असूर्यम्पश्या सूर्यादर्शिनी । 'असूर्यललाटयोर्दृशितपोः' इति खश्प्रत्ययः । 'पाघ्रा—' इत्यादिना दृशेः पश्यादेशः । असूर्यं इति चासमर्थसमासोऽयं, दर्शिना नञः

सम्बन्धत्वात्। 'यदा तु सूर्याभावदर्शनमात्रं सूर्येतरचन्द्रादेर्दर्शनं वा विवक्षितं तदा खश् न भवेति' अनभिधानात् इति न्यासकारादयः। अस्मादेव ज्ञापकात् क्रियाऽन्वयिनोऽपि नञ उत्तरपदेन समास-। न भाविनी किल ? ,न भविष्यति किम् ? न भविष्यत्येवेत्यर्थः। 'भविष्यति गम्यादय.' इति साधुः। शृणुत शृणुत भो दुर्वाचो जना ? आकर्णयत आकर्णयत। आक्रोशे द्विरुक्तिः। यदि असूर्यम्पश्या राजदारा इति राजनीत्यनुसारेण युक्त स्यात्, तदा चन्द्रस्य राजापरनामकत्वात् चन्द्रदर्शनेनैव विकसनस्वभावायाः कुमुदिन्याः चन्द्रपत्नीत्वेन कविभि र्वर्णनात् कुमुदिन्या अपि राजदारत्वं सिद्धमेव, एवञ्च राजदारत्वात् तस्या सूर्यानवेक्षणस्य युक्तत्वेन सूर्यादर्शनेन यत् जना. तां निन्दन्ति तदसङ्गतमेवेति निष्कर्षः। परमार्थस्तु कुमुद्वत्याचेन पुरुषान्तरदर्शननिषेधपरमेवत् न सूर्यदर्शननिषेधपरम् इति द्रष्टव्यम्, अत एव काशिका 'गुप्तिपरञ्चैतत्' इति ॥ ३६ ॥

अन्वयः—जनः स्वमुकुलमयैः नेत्रैः अन्धम्भविष्णुतया खे अनवेक्षिकां कुमुदिनीं किमु दुर्व्याचष्टे ? कविप्रतिभासु ये राजः दारा. लिखितपठिताः, शृणुत शृणुत—सा किल असूर्यम्पश्या न भाविनी ?

हिन्दी—लोक अपनी कलियों रूप बन्द नेत्रो द्वारा अधी न होने पर अधी बनी, सूर्य को न देखने वाली कुमुदिनी को दुष्ट क्यो कहता है ? विज्ञ कवियों की प्रतिभाओ मे जिन्हे 'राजदारा.' (राजा की पत्नियां) लिखा-पढा गया है, सुनो-सुनो वह क्या 'असूर्यम्पश्या' (सूर्य-दर्शन न करने वाली) न होंगी ?

'टिप्पणी—प्रकृतिदृश्य है कि सूर्योदय हो गया है और कुमुदिनी सकुचित हो गयी है। कल्पना है कि सूर्य तो पवित्र है, मित्र है; जो कुमुदिनी जान-बूझ कर अपने कोरकनयन मूँद कर सूर्य-दर्शन नहीं करती, यह बड़ा अनुचित करती है। वस्तुत' लोक की यह मान्यता ठीक नहीं है, ऐसा कहने वाले स्वयम् अधे–नासमझ हैं, वे यह 'अन्धम्भविष्णुतया' (स्वयम् अधे होने से) कहते हैं। शास्त्र मर्यादा है कि जो व्यक्ति दीर्घायु की कामना करता है, उसे इन आठों को सतत देखना चाहिए और इनकी अर्चना प्रदक्षिणा करनी चाहिए—(१) ब्राह्मण, (२) गो, (३) अग्नि, (४) स्वर्ण, (५) घृत, (६) सूर्य, (७) जल और (८) राजा। इसको मान्य न करती कुमुदिनी

जो सूर्य-दर्शन-परिहार करती है, उसका कारण है, उसका 'राजदारा' होना; वह चंद्र राजा की 'दारा' (रानी) जो है। वह सूर्य को नहीं देखेगी, क्योंकि विद्वानों ने लिखा है, वह परम्परया पढ़ा भी जा रहा है कि राजरानियाँ सूर्य को नहीं देखा करतीं—'असूर्यम्पश्या राजदाराः।' (अष्टा० ३।२।३६ 'असूर्यललाटयोर्दृशितपोः' का उदाहरण)। यह 'असूर्यम्पश्यता' परपुरुष-दर्शन-निवारण से सम्बद्ध है, शास्त्र-मर्यादा का विरोध नहीं। लोग यह नहीं समझते और कुमुदिनी (चाँद की रानी) और 'राजदाराओं' पर सूर्यादर्शन का दोष लगा देते हैं। वस्तुतः यह निन्दा अनुचित है। पाणिनीय सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करने वाले ग्रन्थ 'काशिका' में भी इसका स्पष्टीकरण—'गुप्तिपरञ्चैतत्' अर्थात् 'असूर्यम्पश्या राजदाराः' में अत्यन्त गोपनीयता—सुरक्षा का भाव है ॥ ३६ ॥

> चुलुकिततमःसिन्धोर्भृङ्गैः करादिव शुभ्यते
> नभसि बिसिनीबन्धो रन्ध्रच्युतैरुदबिन्दुभिः ।
> शतदलमधुस्रोतःकच्छद्वयीपरिरम्भणा-
> दनुपदमदःपङ्काशङ्काममी मम तन्वते ॥ ३७ ॥

जीवातु—चुलुकितेति। नभसि आकाशे, भृङ्गैः उड्डीयमानभ्रमरैः, चुलुकितः चुलुकीकृतः, पानार्थं निकुब्जपाणौ गृहीत इत्यर्थः। तमःसिन्धुः अन्धकारसागरः येन तथोक्तस्य, बिसिनीबन्धोः पद्मिनीसखस्य सूर्यस्य, करात् अंशोः हस्ताच्च, रन्ध्रच्युतैः अङ्गुल्यन्तरालगलितैः उदबिन्दुभिः इव तमःसिन्धोः जलकणैरिव, शुभ्यते दीप्यते, प्रतीयते इत्यर्थः, इत्युत्प्रेक्षा। शुभेर्भावे लट्। भृङ्गतमसोः तुल्यवर्णत्वात् तथा भृङ्गाणां कृष्णवर्णस्थूलजलबिन्दुवद् प्रतीयमानत्वाच्चेति भावः। किञ्च, अमी भृङ्गाः, अनुपदम् अनुक्षणम्, उत्तररूपेण प्रतीयमानानन्तरमेवेत्यर्थः। शतदलमधुस्रोतसः कमलमकरन्दप्रवाहस्य; कच्छद्वयीपरिरम्भणात् उभयपार्श्वस्थजलप्रायभागसंश्लेषात्; मधुरप्रवाहस्य उभयतटोपरि उपवेशनाद्धेतोरित्यर्थः। अमुष्य मधुस्रोतसः पङ्काशङ्कां कर्दमभ्रान्तिम्, मम वैतालिकस्य, तन्वते विस्तारयन्ति, उत्पादयन्तीत्यर्थः। पङ्कभृङ्गयोः समानवर्णत्वादिति भावः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—नभसि भृङ्गैः चुलुकिततमःसिन्धोः बिसिनीबन्धोः करात् रन्ध्र-

च्युतैः उदबिन्दुभिः इव शुम्यते; अमी अनुपद शतदलमधुस्रोतः कच्छद्वयी-परिरम्भणात् अदःपङ्काशङ्का मम तन्वते।

हिन्दी—आकाश में भौंरे अन्धकार-सागर को (पानार्थ) चुल्लू में लिये कमलिनी के सखा (सूर्य) के हाथ से अंगुलियों के अंतराल से टपकते जल-कणों के सदृश शोभित हो रहे हैं, ये (भ्रमर) प्रतिक्षण मुझ (वैतालिक) में यह शंका बढ़ा रहे हैं कि ये कमल-मधु के सोते के दोनों कछारों के आश्लेष से (कच्छद्वय पर बैठ जाने से संलग्न) उस मधु-स्रोत की काली कीचड़ है।

टिप्पणी—उड़ते काले भौंरे के विषय में दो उद्भावनाएँ—(१) ये अन्धकार के काले सागर के काले जल बिन्दु हैं, जो तम-सागर को चुल्लू में ले पीते सूर्य की अंजुरी से टपक पड़े हैं। (२) कमल-मधु-स्रोत के कछारों की कीचड़ हैं 'क्योंकि कमल-मधु-पान-काल में ये वहाँ बैठ गये हैं, सो ये भी काली कीचड़-से हो गये। आशय यह है कि तम सागर के काले जलकणों-से और कीचड़-से काले भौंरे आकाश में उड़ रहे हैं। यह कल्पना वर्णसाम्य के आधार पर है ॥ ३७ ॥

> घुसृणसुमनःश्रेणिश्रीणामनादरिभिः सरः-
> परिसरचरैर्भासां पत्युः कुमारतरैः करैः।
> भजनि जलजामोदानन्दोत्पतिष्णुमधुव्रता-
> वलिदवलनाद् गुञ्जापुञ्जश्रियं गृहयालुभि ॥ ३८ ॥

जीवातु—घुसृणेति। घुसृणसुमनःश्रेणिश्रीणां कुङ्कुमकुसुमावलिशोभानाम्। 'वाऽऽमि' इति नदीत्वपक्षे नुडागमः। 'कुङ्कुमं घुसृणं वर्णम्' इति हलायुधः। अनादरिभिः अवज्ञाकारिभिः, कुङ्कुमवर्णादप्यधिकारुणवर्णावा-विति भावः। सरःपरिसरचरैः सरोवरप्रान्तवर्तिभिः, कुमारतरैः नवोदित त्वादतिबालैः, भासां पत्युः अर्कस्य, करैः। कर्तृभिः जलजामोदेन कमल-परिमलेन, यः आनन्दः हर्षः, तस्मात् उत्पतिष्णूनाम् उत्पतनशीलानाम्, उड्डीयमानानामित्यर्थः। 'अलङ्कृञ्—' इत्यादिना इष्णुच्। मधुव्रतानां भृङ्गाणाम्, आवल्या पङ्क्त्या, शवलनात् चित्रणात्, निजवर्णेन मिश्रीकरणात् हेतोरित्यर्थः। गुञ्जापुञ्जस्य, 'घुँघ' 'रत्ती' इति ख्यातस्य कृष्णलासमूहस्य। 'गुञ्जा तु कृष्णला' इत्यमरः। श्रियम् इव श्रियं शोभाम्, इति निदर्शना-

भेदः, गुञ्जाया उपरिभागस्य कृष्णवर्णत्वात् निम्नभागस्य च रक्तवर्णत्वादिति भावः । 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । गृहयालुभिः ग्राहकैः, ग्रहणशीलैरित्यर्थः । 'गृहि' इत्यदन्ताच्चौरादिकात् णिच् 'स्पृहिगृहि—इत्यादिना आलुच् । अजनि जातम् । भावे लुङ् । अलिकुलयोगेन सूर्यांशुकिशोरकास्तद्वत् बभुः इत्यर्थः । गुञ्जाबीजानां नीलमुखत्वात् अधो रक्तवर्णत्वाच्च उपरि सञ्चरतां कृष्णवर्णानामलिकुलानां सम्पर्केण अधोवर्त्तिनां बालसूर्यकिरणानामारक्तवर्णानां गुञ्जासादृश्यमिति भावः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—घुसृणसुमनःश्रेणिश्रीणाम् अनादरिभिः सरःपरिचरसरैः कुमारसरैः भासां पत्युः करैः जलजामोदानन्दोत्पतिष्णुमधुव्रतावलिशबलनात् गुञ्जापुञ्जश्रियं गृहयालुभिः अजनि ।

हिन्दी—कुंकुम-फूलों की शोभा की तिरस्कर्त्री, सरोवरों में चतुर्दिक् प्रसार पातीं, प्रभापति (सूर्य) की बालकिरणें कमल-सौरभ से आनन्दित उड़ते मधुपायी भ्रमरावलि से शबलित (मिश्रित) होने के कारण गुंजाओं पुंज (घुंघुचियों) की शोभा को ग्रहण करतीं लग रही हैं।

टिप्पणी—सूर्य की किरणों से आकृष्ट हो कमलों का सौरभ आकाशमण्डल में व्याप्त हो गया है और काले भौंरे मानो उस सुगन्ध से खिचकर आकाश में उड़ रहे हैं, अतः काले भौंरों से मिलकर कुंकुम-फूल-से लाल सूर्यकर ऊपर कुछ काली, शेष लाल गुंजाओं-से काले-लाल हो गये हैं। वे सूर्य-कर अभी 'बाल' हैं, नासमझ बालक, सो कुंकुम-कुसुमों का अनादर भी कर दे रहे हैं—बालकों का उपेक्षा भाव। लाल-लाल हथेलियों वाले बालकों-से सूर्यकर। वे 'सुमनस्' (विद्वानों) का आदर न भी करें तो अपराधी नहीं हैं। बच्चे जो ठहरे—क्षम्य। मल्लिनाथ के अनुसार 'कुंकुम-कुसुमों की श्री-सदृश श्री' में निदर्शना है ॥ ३८ ॥

> रचयति रुचिः शोणीमेतां कुमारितरां रवे-
> र्यदलिपटली नीलीकर्त्तुं व्यवस्यति पातुका ।
> अजनि सरसी कल्माषी तद्ध्रुवं धवलस्फुट-
> त्कमलकलिकाषण्डैः पाण्डूकृतोदरमण्डला ॥ ३९ ॥

जीवातु—रचयतीति । यद् यस्मात्, अतिशयेन कुमारी कुमारितरा

अतिशयेन बाला, नवप्रकाशिता इत्यर्थः । 'घरूप—' इत्यादिना ङ्यो ह्रस्वः । रवेः सूर्यस्य, रुचिः प्रभा, एता सरसीम्, शोणी शोणवर्णाम्, अरुणवर्णामित्यर्थः, 'शोणात् प्राचाम्' इति विकल्पात् ङीप् । रचयति करोति, निजारुण्यस्पर्शनेनेति भावः । तथा पातुका पतयालुः, सरस्या एवोपरि उत्पतनशीला इत्यर्थः । 'लषपत—' इत्यादिना उकञ् । अलीना भ्रमराणाम्, पटली मण्डली च, नीलीकर्त्तुं स्वकान्तिसम्पर्केण कृष्णवर्णीकर्त्तुम् । अभूततद्भावे च्वि । सरसीमेवेति भावः । व्यवस्यति उद्युङ्क्ते इच्छतीत्यर्थः । तत् तस्मात्, सरसी दीर्घिका, धवलैः शुभ्रैः, स्फुटद्भिः विकसद्भिश्च, कमलकलिकानां पद्ममुकुलानाम्, षण्डैः कदम्बैः, समूहैरित्यर्थः । 'कदम्बे षण्डमस्त्रियाम्' इत्यमरः । पाण्डूकृत धवलीकृतम्, अभूततद्भावे च्वि । उदरमण्डलं मध्यभागं यस्याः सा तादृशी सती, कल्माषी चित्रवर्णा, विविधवर्णेत्यर्थः । गौरादित्वात् ङीष् । अजनि जाता । 'दीपजन—' इत्यादिना कर्त्तरि लुङ् चिण् । ध्रुवं निश्चितम्, इत्युत्प्रेक्षायाम् । अत्र सरस्याः स्वगुणत्यागेन रविकिरणादिगुणस्वीकारात्तद्गुणालङ्कारः, 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणग्रहः' इति लक्षणात् । तनैकैकगुणसङ्क्रान्तिपरिचयात् शोणाद्यनेकगुणसङ्क्रमद्वारा कल्माषस्वीकारोत्प्रेक्षणात्तद्गुणोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—यत् रवेः कुमारितरा रुचिः एता शोणी रचयति, पातुका अलिपटली नीलीकर्त्तुं व्यवस्यति, तत् ध्रुवं धवलस्फुटत्कमलकलिकाषण्डैः पाण्डूकृतोदरमण्डला सरसी कल्माषी अजनि ।

हिन्दी—जो कि सूर्य की अतिबालिका (नवप्रकाशमयी) आभा इस (पुष्करिणी) को लाल बना रही है और (कमलरसास्वादनार्थ) सरसी पर छायी भ्रमरमण्डली काली बनाना चाहती है, सो मानो शुभ्र, खिलती कमलों की कलियों के कारण जिसका मध्यभाग पाण्डुर (धवल) है, ऐसी पुष्करिणी चितकबरी हो गयी है।

टिप्पणी—पुष्करिणी में शुभ्र कमल-कलियाँ विकसित हो रही हैं, सूर्य की अरुण प्रभा फैल रही है, मधुपानार्थ कमल-कलियों पर पुष्करिणी में भौंरे गुंजार रहे हैं। शुभ्रकमलों के कारण सरसी शुभ्र है, उसमें पड़ती कोमल

अरुणाभा उसे अरुण बना देना चाहती हैं, भ्रमर सरसी को श्याम कर रहे हैं, इस प्रकार श्वेत, अरुण, श्याम—इन तीन वर्णों के संमिश्रण से सरसी कर्बुर-चितकबरी हो गयी है। नारायण ने 'ध्रुवम्' का प्रयोग उत्प्रेक्षावाचक माना है; मल्लिनाथ भी ऐसा ही मानते हैं और सूर्यकिरणों का गुण सरसी द्वारा स्वीकारने के कारण 'तद्गुण' अलंकार का विधान करते हुए वहाँ एक गुण-संक्रान्ति के परिचय से शोण-आदि अनेक गुणों के संक्रम-द्वारा कल्माषस्वीकारने के उत्प्रेक्षण के कारण यहाँ तद्गुण और उत्प्रेक्षा के अंगांगिभावसंकर का निर्देश करते हैं। हिन्दी के सरस कवि 'रसलीन' ने श्वेत, श्याम और अरुण—इन तीन रंगों की नेत्रों में स्थिति के आधार पर सुन्दर कल्पना की है—'अमिय, हलाहल, मद भरे स्वेत, स्याम, रतनार। जियत, मरत, झुकि-झुकि परत जेहि चितवत इक बार।' पुष्करिणी में भी ऐसी कल्पना की जा सकती है कि उसके कमल-हासरूप श्वेत अमृतवर्ण को देखकर दर्शक में नव जीवन का संचार होता है, हलाहल-सदृश भ्रमरजन्य श्याम रंग को देखकर मर-मिटने को (सरसी की सुषमा पर न्योछावर होने को) जी चाहता है और सूर्याभा का अरुणवर्ण लाल मदिरा की भाँति मदमाता कर देता है।३९।

कमलकुशलाधाने भानोरहो! पुरुषव्रतं
यदुपकुरुते नेत्राणि श्रीगृहत्वविवक्षुभिः।
कविभिरुपमादानादम्भोजतां गमितान्यसा-
वपि यदतथाभावान्मुञ्चत्युलूकविलोचने ॥ ४० ॥

जीवातु—कमलेति। कमलानां पद्मानामां प्रकृतानामुपमितानां वा इति भावः। कुशलाधाने क्षेमविधाने विकासजनने इति भावः। भानोः सूर्यस्य, पुरुषव्रतं पुरुषस्य पुरुषाभिमानिनः, व्रतं नियमः, दृढाध्यवसाय इत्यर्थः। पौरुषमिति यावत्‌ अहो! चित्रम्‌! अथवा—अहोपुरुषः पुरुषाभिमानवान्‌। अहोपुरुष इति मयूरव्यंसकादिषु कैयटः। तस्य व्रतं दृढनियम इत्यर्थः। कुतः? यत्‌ यस्मात्‌ असौ भानुः, श्रीगृहत्वं शोभाश्रयत्वम्, नेत्राणां सौन्दर्यवर्णने उपमानत्वमित्यर्थः। विवक्षुभिः वक्तुमिच्छुभिः। 'द्वितीया—' इति योग-विभागात्‌ द्वितीयासमासः। कविभिः काव्यकर्तृभिः वाल्मीकादिभिः,

उपमादानात् नेत्राणां सादृश्यत्वेन वर्णनामात्रात्, अम्भोजतां गमितानि कमलत्वेन रूपितानि, नेत्राणि नयनानि अपि, सौन्दर्यातिशय्यख्यापनाय कमलतुल्यतया वर्णितानि जननयनान्यपीत्यर्थः, उपकुरुते उन्मीलनेन उपकृतानि करोति, विकासयतीत्यर्थः । आलोकसहकारादेव लोकलोचनानां विषयेषु प्रवृत्तेरिति भावः । सूर्योदये सर्व एव प्राणिनो निद्रां परिहृत्य नयनोन्मीलनकरणात् भानोः उपमितकमलानां कुशलाधायकत्वम्, प्रकृतानाञ्च विकाससम्पादनेन कुशलाधायकत्वमिति बोद्धव्यम् । यत् अपि यस्माच्च, अतथाभावात् औपमानिकाम्भोजत्वस्यापि अभावादित्यर्थः । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । उलूकस्य पेचकस्य, विलोचने नयने । गोलाकारे क्षुद्रे च इति भावः । मुञ्चति परिहरति, न उन्मीलनेन उपकरोतीत्यर्थः । सूर्यकरासहत्वेन निमीलिताक्षत्वादिति बोध्यम् । अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् अम्भोजसदृशस्य लोकलोचनस्य विकासेन कुशलाधायकत्वात् तदसदृशस्य उलूकलोचनस्य च अविकासेन कुशलानाधायकत्वात् सहस्रकरस्य देवस्य अम्भोजक्षेमङ्करत्वव्रतं किमु वाच्यम् ? इति निष्कर्षः । प्रातः अम्भोजवल्लोकलोचनाम्भोजान्यपि विकासयामास इति भावः ॥ ४० ॥

अन्वय.—अहो, कमलकुशलाधाने भानोः पुरुषव्रत यत् असौ श्रीगृहत्वविवक्षुभिः कविभिः उपमानात् अम्भोजतां गमितानि नेत्राणि अपि उपकुरुते, यत् अतथाभावात् उलूकविलोचने मुञ्चति ।

हिन्दी—अरे, कमलों के कल्याणविधान (विकसित करने) में सूर्य का पुरुषों जैसा दृढ़ अध्यवसाय आश्चर्यजनक है कि यह (सूर्य) श्री (लक्ष्मी) का आवास (शोभागार) कहने के इच्छुक कवियों द्वारा उपमान के प्रयोग से कमलता को प्राप्त नेत्रों का भी उपकार करता है (नेत्रों में अवलोकन क्षमता उत्पन्न करता है) और वैसा न होने से (कमल-तुल्य न होने से) उल्लू के नेत्रों को वंचित कर देता है (अवलोकन सामर्थ्य नहीं देता) ।

टिप्पणी—प्रभात हो गया, कमल विकसित हो गये और उल्लुओं की दर्शन-क्षमता समाप्त हो गयी—उल्लू को दिन में नहीं दीखता । कहा जाता है कि मर्द की बात एक होती है, यह पुरुषव्रत है कि जिसे मान दिया, दे दिया । उदाहरणार्थ सूर्य-कमल का प्रसिद्ध सम्बन्ध । कमल सूर्य के अनुग्रह-

पात्र हैं, प्रतिदिन वह उनका कल्याण करता है, उन्हें विकसित करता है। इतना ही नहीं, कवियों ने परम्परया सुन्दर—शोभाधाम नेत्रों को कमल-समान कहा है। नेत्रों का सौंदर्य उनपर कमलारोप के माध्यम से व्यंजित होता है। सूर्य का पुरुषव्रत—दृढ अध्यवसाय देखिए कि कमलों को ही नहीं, अपितु उनके सादृश्य को प्राप्त नेत्रों को भी विकास देता है; उसी के कारण उनमें दर्शन-क्षमता आती है। सूर्य ही प्रकाश का कारण है, यदि आलोक न हो तो नेत्र देख ही न सकें। नेत्रों को यह सामर्थ्य सूर्य-दत्त आलोक से ही प्राप्त है। जिन कुरूप, शोभाहीन नेत्रों—उलूक-नेत्रों को कमलोपमान प्राप्त नहीं है, वे उसी सूर्य-प्रकाश के रहते देख ही नहीं पाते। उल्लू को दिन में नहीं दिखायी देता, रात के अन्धकार में वह देखता है। सूर्य यह सामर्थ्य, यह विकास—प्रकाश कमलों को ही देता है और किसी को नहीं। सुन्दर नयन कमलसम कहे जाते हैं, सो वे भी प्रकाश पा जाते हैं। यह सूर्य का पुरुषव्रत—यह दृढ प्रयत्न कितना विस्मयकारक है॥ ४० ॥

> यदतिमहतीभक्तिर्भानौ तदेनमुदित्वरं
> त्वरितमुपतिष्ठस्वाध्वन्य ! त्वमध्वरपद्धतेः ।
> इह हि समये मन्देहेषु व्रजन्त्युदवज्रताम्
> अभिरविमुपस्थानोत्क्षिप्ता जलाञ्जलयः किल ॥ ४१ ॥

जीवातु—यदिति। अध्वरस्य यज्ञस्य, पद्धतेः पथः, अध्वन्य ! नित्ययान्य ! 'अध्वानमलं गच्छतीति अध्वन्यः, 'अध्वनो यत्खौ' इति यत्प्रत्ययः। 'ये चाभाव-कर्मणोः' इति प्रकृतिभावः। हे नित्ययज्ञानुष्ठाननिरत महाराज ! यत् यस्माद्, त्वं भवान्, भानौ सूर्ये, अतिमहती अत्युत्तमा, भक्तिः अनुरागविशेषः यस्य सः तादृशः, असीति शेषः। भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठात् न पुंवद्भावः। तत् तस्मात्, उदित्वरम् उद्यन्तम्। 'इण्नश—'इत्यादिना क्वरप्। एनं भानुम्, त्वरितं शीघ्रम्, उपतिष्ठस्व उपास्स्व। 'उपाद्देवपूजा—'इत्यादिना देवपूजायामात्मनेपदम्। कुतः ? हि यस्मात् कारणात्, इह अस्मिन्, समये उदयकाले, रविम् अर्कम् अभि लक्षयित्वा, रविमुद्दिश्य इत्यर्थः। 'अभिरभागे' इति लक्षणार्थे कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया। उपस्थाने उपासनायाम्, उत्क्षिप्ताः ऊर्ध्वं निक्षिप्ताः 'आपः ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति' इति श्रुतेः। जलाञ्जलयः

उदका-ञ्जलय', मन्देहेषु मन्देहाख्येषु राक्षसेषु, उदवज्रतां जलमयवज्रायुधत्वम्। 'मन्थौदन—' इत्यादिनोदादेशः। व्रजन्ति गच्छन्ति, किल इत्यागमे। अत्र श्रुति. 'तदु ह वा एते ब्रह्मवादिन पूर्वाभिमुखा, सन्ध्यायां गायत्र्याऽभिमन्त्रिता आप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति, ता एता आपो वज्रीभूत्वा तानि रक्षांसि मन्देहारुणे द्वीपे प्रक्षिपन्ति' इति ॥ ४१ ॥

अन्वयः—अध्वरपद्धते अध्वन्य यत् भानौ महती भक्ति तत् उदितवरम् एनं त्व त्वरितम् उपतिष्ठस्व, हि, इह समये अभिरविम् उपस्थानोत्क्षिप्ताः जला-ञ्जलय मन्देहेषु उदवज्रता किल व्रजन्ति।

हिन्दी—यज्ञ-प्रणाली-पथ के पथिक (महाराज नल), जो कि (अपनी) सूर्य मे विशेष भक्ति है, सो उदित होते इस (सूर्य) की आप शीघ्र उपासना करें, क्योकि इस समय (प्रभात वेला मे) सूर्य के उद्देश्य से 'उपस्थान' मंत्र द्वारा ऊपर को उछाली गयी जल की अजलियाँ 'मन्देह' नाम के निशासुरो पर जलरूप वज्र बनकर गिरती है।

टिप्पणी—आशय यह कि सूर्योदय हो रहा है। महाराज नल यज्ञ परिपाटी के मानने वाले हैं और तदनुसार सूर्य के विशिष्ट उपासक—भक्त। समय से उठकर महाराज को उदित होते सूर्य को जलार्घ देकर झटिति उपासना करनी चाहिए। इस समय उपस्थान-मन्त्र द्वारा अभिषिक्त जल ऊपर को उछाले जाने पर वज्रतुल्य होकर साढे-तीन करोड मंदेह नामक निशासुरों का नाश करते हैं। अब विलम्ब अनुचित है ॥ ४१ ॥

> उदयशिखरिप्रस्थावस्थायिनी खनिरक्षया
> शिशुतरमहोमाणिक्यानामहर्मणिमण्डली।
> रजनिदृषदं ध्वान्तश्यामा विधूय पिधायिकां
> न खलु कतमेनेयं जाने जनेन विमुद्रिता? ॥ ४२ ॥

जीवातु—उदयेति। इय परिदृश्यमाना, अहर्मणिमण्डली सूर्यबिम्बस्वरूपा, उदयशिखरिण. उदयाद्रे, प्रस्थावस्थायिनी सानुनिष्ठा, अक्षया अविनश्वरा, भूयसीत्यर्थ। शिशुतराणि अतिशयेन बालानि सद्य प्रकाशितानीति यावत्। महांसि तेजांसि एव, माणिक्यानि पद्मरागा, अरुणवर्णत्वादिति भाव। तेषां खनि. आकर, ध्वान्तेन अन्धकारेण, श्यामां कृष्णवर्णाम्, ध्वान्तवत् श्यामाञ्च,

विधायिकाम् आच्छादिकाम् जगतः खनेः प्रवेशद्वारस्य चेति भावः । रजनि रात्रिम् एव, दृषदं शिलाखण्डम्, विधूय अपसार्य, कतमेन केन, जनेन लोकेन, विमुद्रिता ? उद्घाटिता ? इति न बुध्ये, खलु इति वितर्के । अत्र सूर्यमण्डल्यादिषु खनित्वाद्यारोपात् रूपकालङ्कारः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—इयम् उदयशिखरिप्रस्थावस्थायिनी शिशुतरमहोमाणिक्यानाम् अक्षया खनिः अहर्मणिमण्डली ध्वान्तश्यामां पिधायिका रजनिदृषदं विधूय कतमेन जनेन विमुद्रिता—खलु न जाने ।

हिन्दी—यह उदयाचल के शिखरों पर अवस्थित, अतिबाल तेज-(नवप्रकाश)-रूप पद्मराग मणियों की अक्षय खान दिनमणि-सूर्य की बिम्ब-माला अँधेरे से काली, (खान के द्वार को) आच्छादित करने वाली रात्रि-रूपिणी शिला हटाकर जाने किसने खोल दी ? समझ में ही नहीं आता ।

टिप्पणी—काली रात बीती, उदयाचल के शिखरों पर सूर्य की पद्मराग-मणियों-सी अरुणाभा फैल गयी । प्रकृति के इस विस्मयकारी, उद्बोधक चित्र के अवलोकन पर अभिभूत कवि रहस्यवादी शैली में प्रश्न उछाल देता है कि रात की काली शिला हटाकर किसने पद्मरागमणियों की खान का द्वार खोल दिया कि यह गुलाबी आभा बिखर गयी ? कौन है वह, कौन है ? नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा, मल्लिनाथ ने सूर्यमण्डली में खनि-भाव का आरोप होने के आधार पर रूपक का निर्देश किया है ॥ ४२ ॥

सुरपरिवृढः कर्णात् प्रत्यग्रहीत् किल कुण्डल-
द्वयमथ खलु प्राच्यै प्रादान्मुदा स हि तत्पतिः ।
विधुरुदयभागेकं तत्र व्यलोकि विलोक्यते
नवतरकरस्वर्णस्रावि द्वितीयमहर्मणिः ॥ ४३ ॥

जीवातु—सुरेति । सुराणां देवानाम्, परिवृढः प्रभुः इन्द्रः । 'प्रभौ परिवृढः' इति निपातनात् साधुः । कर्णात् राधेयात्, कुण्डलद्वयं कर्णाभरणयुगलम्, सूर्यप्रदत्तं सहजमक्षयञ्चेति भावः । प्रत्यग्रहीत् याचित्वा आदात्, किल इति वार्त्तायाम् । 'ततो निकृत्य गात्राणि शस्त्रेण निशितेन सः । प्रायच्छद्देवराजाय दिव्यं वर्म सकुण्डलम् ॥' इति भारतवचनात् । तत्रोत्प्रेक्षते-अथ प्रतिग्रहानन्तरम् प्राच्यै पूर्वस्यै दिशे, मुदा प्रीत्या, प्रादात् दत्तवान्, तत् कुण्डलद्वयमिति शेषः, खलु निश्चये ।

हि यस्मात्, सः इन्द्र, तस्या प्राच्या दिश, पतिः भर्त्ता, भार्यायै आभरण-दानस्य पत्युरोचित्यादिति भाव । कथ त्वया तद्बुध्यते ? इत्याह—तत्र तयोः कुण्डलयो मध्ये, एक कुण्डलम्, उदय भजतीति उदयभाक् उद्यन्, उदयकालिक इत्यर्थ । 'भजो ण्वि' इति ण्विप्रत्यय । विधु चन्द्र, इवेति शेषः । व्यलोकि विलोक्यत स्म, जनैर्गतसायकाले इति शेष । नवतरान् अतिशयेन प्रत्यग्रान्, करान् किरणान् एव, स्वर्णानि सुवर्णानि, तुल्यप्रभासम्पन्नत्वादिति भाव । स्रावयति आत्मनो वर्षयतीति तत् स्रावयम्, द्वितीय कुण्डलम्, अहर्मणि दिन-मणि सूर्य इवेति शेष । 'रोऽसुपि' इति रेफादेश । विलोक्यते इदानी प्रात दृश्यते, जनैरिति शेष । एतदेव पूर्वानुमानस्य कारणमिति भावः ॥ ४३ ॥

अन्वय —सुर परिवृढः कर्णात् कुण्डलद्वय प्रत्यग्रहीत् किल, अथ प्राच्यै मुदा प्रादात्, हि स तत्पतिः, तत्र एकम् उदयभाक् विधु व्यलोकि, नवतर-करस्वर्णस्रावि द्वितीयम् अहर्मणि विलोक्यते ।

हिन्दी—देवो के स्वामी (इन्द्र) ने कर्ण (कुन्तीपुत्र, राधेय) से (सूर्यप्रदत्त) कर्णकुण्डलो की जोड़ी माँग ली—ऐसी पुराण—वार्ता है, तदनन्तर प्राची दिशा को (वे कुण्डल) प्रसन्नता पूर्वक दे दिये, क्योकि वह (देवराज) उस (प्राची) का पति है। उन (कुण्डलो) में एक (रात्रि-सध्या में) उदित होता चन्द्र था, जो देखा गया, अभिनव किरणरूप स्वर्ण-बहाता दूसरा (कुण्डल) दिनमणि (सूर्य) देखा जा रहा है।

टिप्पणी—प्रसिद्ध पुराण—कथा (महाभारत-वनपर्व)—याचना करते इन्द्र को कर्णद्वारा कुण्डल-प्रदान के आधार पर यहाँ कवि ने चन्द्र-सूर्य को वे ही, कुण्डलद्वय कहा है। उद्भावना का आधार इन्द्र का चन्द्र-सूर्य को उदय-दिशा प्राची का लोकपाल, स्वामी होना है। कर्ण से कुण्डल माँग कर प्रिया प्राची को इन्द्र ने वे दे दिये। रात्रिसध्या को वही एक कुण्डल चन्द्र रूप में दीखा था, दूसरा प्रात सध्या मे सुनहरे प्रकाश की धारा बहाते सूर्य के रूप मे दीख रहा है। आशय यह कि बालसूर्य सुनहरी आभा बखेरता शोभित हो रहा है ॥ ४३ ॥

दहनमविशद्दीप्तिर्याऽस्तङ्गते गतवासर-
प्रशमसमयप्राप्ते पत्यौ विवस्वति रागिणी ।

अधरभुवनात् सोद्धृत्यैषा हठात्तरणेः कृता-
मरपतिपुरप्राप्तिर्धत्ते सतीव्रतमूर्त्तिताम् ॥ ४४ ॥

जीवातु—दहनमिति। रागिणी सायङ्कालिकत्वात् रक्तवर्णा अनुरागिणी च, या दीप्तिः सूर्यस्य प्रभा काचित् स्त्री च, गतवासरे व्यतीतदिने, प्रशमसमयम् अवसानकालम्, तेजसो जीवनस्य चेति शेषः। सायंकालं मृत्युकालञ्चेति भावः। प्राप्ते उपस्थिते सति, पत्यौ स्वामिनि भर्त्तरि च, विवस्वति सूर्ये कस्मिंश्चित् पुरुषे च, अस्तम् अस्ताद्रिम् अदर्शनञ्च, गते प्राप्ते सति, दहनम्, अग्निम्, अविशत् प्रविष्टवती, 'अग्निं वाऽऽदित्यः सायं प्रविशति' इति श्रुतेः, 'मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा' इति स्मृतेश्च सहगमनार्थमिति भावः। सा पूर्वोक्ता, एषा दीप्तिः काचित् साध्वी नारी च, हठात् बलात्, आत्मीयपुण्यप्रभावादित्यर्थः। अधरभुवनात् अधोलोकात्, पातालात् नरकाच्च इत्यर्थः। उद्धृत्य उत्तोल्य, तरणेः पत्युः अर्कस्य, कस्यचित् पुरुषस्य च, कृता सम्पादिता, अमरपतिपुरप्राप्तिः पूर्वदिगुपस्थितेन्द्रनगरलाभः स्वर्गलाभश्च यया सा तादृशी सती तीव्रतया तीक्ष्णतया सह वर्त्तते इति तादृशी सतीव्रता अतीव तीक्ष्णा, सत्याः पतिपरायणतायाः, व्रतं नियमो यत्र सा तादृशी पतिव्रताधर्मश्च इत्यर्थः। मूर्त्तिः आकारः रूपञ्च यस्याः तस्याः भावः तत्ता तां सती व्रतमूर्त्तिताम्, धत्ते धारयति। सूर्यतेजसः उत्तरोत्तरं तीक्ष्णताभावादिति 'व्यालग्राही यथा सर्पं बलादुद्धरते बिलात्। तद्वद्भर्त्तारमादाय तेनैव सह मोदते॥' इति स्मरणादिति च भावः। अत्र प्रस्तुतदीप्तिविशेषणसाम्यादप्रस्तुतसतीप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥ ४४॥

अन्वयः—रागिणी या दीप्तिः गतवासरप्रशमसमयप्राप्ते पत्यौ विवस्वति अस्तं गते दहनम् अविशत्, सा एषा हठात् अधरभुवनात् उद्धृत्य तरणेः कृतामरपुरप्राप्तिः सतीव्रतमूर्त्तितां धत्ते।

हिन्दी—अनुरागिणी नारी-सी रागिणी अर्थात् रक्तवर्णा जो सूर्य-प्रभा बीते दिन अवसान-समय (मृत्यु, संध्याकाल) में पति (भर्त्ता) सूर्य के अस्त होने पर (मृत होने पर) अग्नि में प्रविष्ट हो गयी थी, वह यह (नारी-समान सूर्यप्रभा) आत्म-प्रणयप्रभाव-बल द्वारा अधोभुवन (नरक-पाताल लोक) से उद्धार करके (पति-सदृश) सूर्य को (स्वर्ग-सम) प्राची

दिशा मे उपस्थिति दिखाकर पतिपरायणता-व्रत के मूर्ति भाव को धारण कर रही है।

टिप्पणी--सूर्य ऊँचा चढ गया और धूप प्रखर हो गयी। यहाँ धूप-सूर्य दीप्ति को एक पतिव्रता नारी के सदृश प्रतीत कराया गया है, जो पति की मृत्यु हो जाने पर अग्नि प्रवेश कर सती हो जाती है और अपने पातिव्रत बल पर अधोगति (नरकादि) पतित अपने स्वामी को निज पुण्य-प्रताप से स्वर्ग प्राप्त करा देती है। श्रुति वचन है कि साँझ को आदित्य अग्नि में प्रविष्ट होता है। इसी आधार पर अग्नि प्रविष्ट दीप्ति के सहाग्निप्रवेश की कल्पना की गयी है। पहिले जिन सूर्य अस्त हो नरक सम अधोलोक-पाताल चला गया था, सहमरण के प्रतिव्रता दीप्ति ने वहाँ से उसका उद्धार कर ऊपर (स्वर्ग) पहुँचा दिया। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ प्रस्तुतदीप्तिविशेषण साम्य से अप्रस्तुत सती की प्रतीति के कारण समासोक्ति अलकार है ॥४४॥

वुधजनकथा तथ्यैवेयं तनौ तनुजन्मनः
पितृक्षितिहरिद्वर्णाद्याहारज किल कालिमा।
शमनयमुनाक्रोडं कालैरितस्तमसां पिबा-
दपि यदमलच्छायात् कायादभूयत भास्वतः ॥ ४५ ॥

जीवातु—बुधेति। तनौ शरीरात्, जन्म उत्पत्ति यस्य तस्य तनुजन्मनः अपत्यस्य। 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदे' इति वामन। तनौ शरीरे, कालिमा श्यामता, पित्रो जननीजनकयो, क्षितिहृरितौ कृष्णपालाशौ, वर्णौ वर्णविशिष्टम् आहार्यद्रव्यमित्यर्थ। तदादि तत्प्रभृति:,य आहार भोग्यम, तस्मात् जायते उत्पद्यते इति तादृग, इयम् ईदृशी, किल इति प्रसिद्धौ, बुध जनकथा विद्वज्जनानामुक्ति, तथ्या एव सत्या एव। कुत ? यत् यस्मात्, अमलच्छायात् अतिस्वच्छकान्तेरपि, तमसाम् अन्धकाराणाम्। कृद्योगात् कर्मणि षष्ठी। पिबतीति पिब तस्मात् पातु। 'पाघ्रा'-इत्यादिना पिबादेशश्च शप्रत्यय। इवेति शेष। इत अस्मात्, पूर्वाकाशे दृश्यमानादित्यर्थ। भास्वत सूर्यस्य, कायात् शरीरात्, काल कृष्णवर्ण, शमनयमुनाक्रोडं यमकालिन्दीशनैश्चरं, अभूयत जातम्। भावे लङ्। कृष्णवर्णान्धकाराहारादेव शुभ्रकान्तेरपि सूर्यस्य अपत्यानि कृष्णवर्णानि जातानि इति निष्कर्ष। अत्र शमनादिकालिम्नस्तत्पितृतिमिराहारपरिणतिपूर्वकत्वोत्प्रेक्षा ॥ ४५ ॥

अन्वयः—तनुजन्मनः तनौ कालिमा पितृशितिहरिद्वर्णाद्याहारजः किल—इयं बुधजनकथा तथा एव, यत् अमलच्छायात् कायात् अपि तमसां पिवात् इतः भास्वतः कालैः शमनयमुनाक्रोडैः अभूत् ।

हिन्दी—शरीर से जन्म लेनेवाली (सन्तान) के शरीर में काला वर्ण जननी-जनक के काले-हरे-भूरे वर्ण के खाद्य के कारण उत्पन्न होता है—यह विद्वानों का कहा सत्य ही है, क्योंकि उज्ज्वल-गौर देहधारी भी काले अन्धकार का पान करनेवाले इस सूर्य से काले यम, यमुना और शनैश्चर की उत्पत्ति हुई ।

टिप्पणी—आशय यह है कि समस्त अन्धकार का सूर्य ने नाश कर दिया, अब पूरा दिन का प्रकाश है । अन्धकार के नाशक सूर्य को उसका पीनेवाला बताकर इस सिद्धान्त की तथ्यता को मान्यता दी गयी है कि माता-पिता के भोजन का सन्तान के वर्ण पर प्रभाव पड़ता है; यदि ऐसा न होता तो उज्ज्वल-गौर देहधारी सूर्य की तीन सन्तानें—यम, यमुना, शनैश्चर—काली न होतीं । जनक सूर्य काला-अन्धकार भोजन करता है, इसका ही यह परिणाम है । मल्लिनाथ के अनुसार यमादि सन्तान की कालिमा उनके पिता सूर्य के कृष्णवर्णतमोभोजन के कारण है—यह उत्प्रेक्षा है ॥ ४५ ॥

अभजत चिराभ्यासं देवः प्रतिक्षणदात्ययं
दिनमयमयं कालं भूयः प्रसूय तथा रविः ।
न खलु शकिता शीलं कालप्रसूतिरसौ पुरा
यमयमुनयोर्जन्माधानेऽप्यनेन यथोज्झितुम् ॥ ४६ ॥

जीवातु—अभजतेति । अयम् उद्यन्, देवः द्युतिमान्, रविः सूर्यः, प्रतिक्षणदात्ययं प्रत्येकरात्र्यवसाने । अव्ययीभावसमासः, 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' इति विकल्पात् सप्तम्यामम्भावः । दिनमयं दिवसरूपम्, कालं समयं कृष्णवर्णञ्च । 'कालो मृत्यौ महाकाले समये यमकृष्णयोः' इति विश्वः । भूयः पुनः पुनः, प्रसूय जनयित्वा, तथा तादृक्, चिराभ्यासं बहुकालाभ्यसनम्, पौनःपुन्येन कारणस्वभावमित्यर्थः । अभजत प्राप्नोत् । यथा येन कृत्वेत्यर्थः । अनेन रविणा, असौ चिराभ्यस्ता इत्यर्थः । अत एव शीलं स्वभावभूता, कालस्य समयस्य कृष्णवर्णस्य च, प्रसूतिः उत्पादना, पुरा पूर्वम्, वर्तमानात्

प्राक् यमयोत्पादनात् परन्त्वित्यर्थः । यमयमुनयोः शमनकालिन्द्योः स्वापत्ययोः, जन्माधाने जननार्थं बीजनिधानविषयेऽपि, उज्झितुं त्यक्तुम्, न शकिता खलु नैव शक्ता, इवेति शेषः । कर्मणि क्त, कर्मणि निष्ठायामिडागमः, तथा च काशिकावृत्तौ—सीनागाः कर्मणि निष्ठायां शकेरिटमिच्छन्ति विकल्पेन, शकितो घटः कर्तुम्, शक्तो घटः कर्तुमिति । तत्र कालशब्दे वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायेन भगवतो भानोः प्रत्यहं कालप्रसूत्या अभ्यासादपत्येष्वपि शमनयमुनादिषु कालप्रसवितृत्वमुत्प्रेक्ष्यते, तत्र कालयोः कृष्णानेहसोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः इति तयोरेकाश्रयत्वेनात्र सङ्करः ॥४६॥

अन्वय.—अथ देवः रविः प्रतिक्षणदात्ययं दिनमयं कालं सूय प्रसूय तथा चिराभ्यासम् अभजत यथा अनेन असौ पुरा चीर्णं कालप्रसूतिं यमयमुनयोः जन्माधाने अपि उज्झितुं खलु न शकिता ।

हिन्दी—इस देव सूर्य ने प्रत्येक रात्रि की समाप्ति पर दिन रूप 'काल' (समय, काली सन्तति) को बारबार उत्पन्न करके वैसा लम्बा अभ्यास प्राप्त कर लिया है कि जिससे यह ऐसी काली सन्तान उत्पन्न करने का पुराना स्वभाव यम और यमुना के गर्भाधान में भी त्यागने में समर्थ न हुआ ।

टिप्पणी—भोजन के आधार पर ही जन्म लेनेवाली सन्तान का वर्ण बनता है—यह तथ्य सूर्यदेव न जानते हों, ऐसा नहीं है । फिर भी उन्होंने यम-यमुना-जैसी काली सन्तानों के गर्भाधान समय काला अन्धेरा खाना न छोड़ा और काली सन्तानें उत्पन्न कीं । ऐसा क्यों किया ? 'काल' शब्द के अन्यार्थ 'काले' के आधार पर यह कल्पना करके समाधान दिया गया कि यह चिरन्तन अभ्यास के कारण हुआ । सूर्य प्रतिदिन अन्धकार पीकर काले दिन को जन्म देता रहता है, उसी अभ्यास को न छोड़ सकने के कारण उससे ऐसा हुआ । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ 'काल'—शब्द में वाच्य और प्रतीयमान अर्थों में अध्यवसाय द्वारा भगवान् सूर्य के प्रतिदिन काली सन्तान को जन्म देने के अभ्यास से सन्तानों यम-यमुनादि में भी काली सन्तान को जन्म देने का स्वभाव उत्प्रेक्षित है और काले में—काला रंग और समय दोनों अर्थों के अभेदाध्यवसाय से अतिशयोक्ति भी है, सो दोनों के एकाश्रयत्व कारण यहाँ संकर है ॥ ४६ ॥

रुचिरचरणः सूनोरुश्रीसनाथरथः शनिं
शमनमपि सं त्रातुं लोकानसूत सुताविति ।
रथपदकृपासिन्धुर्बन्धुर्दृशामपि दुर्जनै-
र्यदुपहसितो भास्वान्नास्मान् हसिष्यति कः खलः ? ॥ ४७ ॥

जीवातु—ननु ईदृशवाहुल्येन सूर्यवर्णनं लोकानां हासजनकं भवितुमर्हति इत्याशङ्क्याहरुचिरेति । रुचिरचरणः मनोज्ञाचरणशीलः, जगदाह्लादकत्वादिति भावः । अथ च विपरीतलक्षणया अरुचिरचरणः किरणार्थस्य पादशब्दकस्य चरणपर्यायकत्वात् तीव्रपादः इत्यर्थः, सन्तापकत्वादिति भाव । तथा सूतया प्रसूतया, उदयानन्तरं प्रकाशितया इत्यर्थः । उर्व्या प्रचुरया, श्रिया शोभया, अथ च, सूतस्य सारथेः अरुणस्य, अनूरोरिति भावः । 'सूरसूतोऽरुणोऽनूरुः' इत्यमरः । ऊर्वोः सक्थिद्वयस्य, 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इत्यमरः । श्रिया शोभया, इति सोपहासोक्तिः, सनाथः युक्तः, रथः स्यन्दनं यस्य सः तादृशः, तथा रथपदेषु रथाङ्गनामपक्षिषु चक्रवाकेषु, कृपासिन्धुः दयासागरः, स्वोदयेन दम्पत्योर्मेलनघटनात् चक्रवाकाणामुपकारीत्यर्थः । तथा दृशां लोकचक्षुषाम्, बन्धुः सुहृत्, स्वोदयेन प्रकाशकत्वादिति भावः, सः सर्वलोकनमस्कृतः भास्वान् सूर्योऽपि, शनिं शनैश्चरम्, क्रूरग्रहत्वेन लोकानामनिष्टकारितया अत्यन्तारुचिरचरणत्वेन तथा पङ्गुत्वात् गमनकाले कुत्सितदर्शनत्वेन च पित्रपेक्षाया अत्यन्तविसदृशमिति भावः । तथा शमनमपि यमञ्च, दम्पत्योरन्यतरप्राणहरणेन विच्छेदजनकत्वादकरुणत्वेन तथा स्वजनप्राणविनाशनेन नियतरोदनादन्धत्वोत्पादकतया जननेत्राणां शत्रुभूतत्वेन च पित्रपेक्षया अत्यन्तविसदृशमिति भावः । सुतौ पुत्रौ, लोकान् जगन्ति, त्रातुं रक्षितुम् विपरीतलक्षणया विनाशयितुञ्च असूत अजनयत् इति एवमुक्त्वा इत्यर्थः । दुर्जनैः खलैः, यत्, यदा, उपहसितः उपहासः कृतः, तदा कः खलः दुर्जनः, अस्मान् वैतालिकानित्यर्थः । न हसिष्यति ? न उपहासं करिष्यति ? अपि तु सर्वे एव सूर्यवर्णनात् उपहासं करिष्यतीत्यर्थः । परन्तु तत्र न काऽपि अस्माकं क्षतिरिति भावः । कैमुत्येनार्थान्तरापादनादर्थापत्तिरलङ्कारः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—रुचिरचरणः (अचरणः रुचिः) सूतोरुश्रीसनाथरथः शनिं शमनं

सुतौ अपि लोकान् त्रातुम् अनूत, सः रथपदकृपासिन्धुः दृशाम् अपि बन्धुः — इति यद् दुर्जनैः उपहसितः, कः खलु अस्मान् हसिष्यति ?

हिन्दी—सुन्दर चरणों (किरणों) वाले, उदयानन्तर स्वयमुत्पादित प्रभूत शोभा से अथवा अरुणसारथि की प्रचुर शोभा से सनाथ (युक्त) रथवाले जिस सूर्य ने शनि और यम नामक दो पुत्रों को भी संसार का त्राण करने के लिए जन्म दिया, उस चक्रवाकों पर कृपा के सागर, नेत्रों के भी बन्धु सूर्य का भी दुर्जनों ने जो (इस प्रकार) उपहास किया कि वह अचरण (पैर रहित) रवि (सूर्य) अचरण (अनूरु) सूत (सारथि) को चरणहीनता से युक्त रथवाला है, शनि और यम जैसे दुष्टपुत्रों को भी (विरुद्धलक्षणा द्वारा) संसार को कष्ट देने के लिए जन्म देनेवाला है, केवल (सन्तापकारक होने से) चक्रवाकों के लिए ही कृपासागर है, नेत्रों को सन्ताप देनेवाला दुष्ट बन्धु है, तो कौन दुर्जन हम (वैतालिकों, स्तुतिपाठकों) पर न हँसेगा ? सब ही हँसेंगे ।

टिप्पणी—यहाँ अन्यार्थ-संकेतों को देनेवाले शब्दों का ऐसा प्रयोग किया गया है, जिससे सूर्य की स्तुति और निंदा—दोनों हो जाती हैं । स्तुतिपाठक वैतालिकों का यह कथन है कि दुर्जन तो उल्टे-सीधे अर्थ-भाव लगाकर सूर्य-सदृश देव की भी निंदा करते हैं, हम जैसे परोपजीवी, दीन स्तुतिपाठक चारणों की तो स्थिति ही क्या है, दुष्ट तो हमारी हँसी उड़ायेंगे ही, उनका यह स्वभाव जो है । किन्तु सज्जन तो सूर्य महाराज की आराधना करते ही है, कर रहे हैं । वे निंदा नहीं, प्रशंसा करते हैं । गुणग्राही होते हैं, छिद्रान्वेषी नहीं । महाराज नल सज्जन शिरोमणि हैं । वे हम वैतालिकों के भाव को ठीक-ठीक समझेंगे, अन्यथा नहीं लेंगे और हमसे असन्तुष्ट न होंगे । आशय यह कि सन्तुष्ट महाराज निद्रा त्याग कर सदाचरणों में संलग्न होंगे और स्तुतिपाठकों को पुरस्कृत करेंगे । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अर्थापत्ति अलंकार है ॥ ४७ ॥

शिशिरजरुजा घर्मं शर्मोदयाय तनूभृता-
मथ खरकराश्यानास्याना प्रयच्छति यः पयः ।
जलभयजुषां तापं तापस्पृशां हिममित्ययं
परहितमिलत्कृत्यावृत्तिः स भानुरदञ्चति ॥ ४८ ॥

जीवातु—शिशिरेति। यः देवः, शिशिरजा शीतर्त्तुजा, रुक् पीडा येषां तादृशानाम्, तनूभृतां शरीरिणाम्, शर्मोदयाय सुखोत्पादनाय। एतत् पदद्वयमुत्तरवाक्यत्रयेऽप्यनुषञ्जनीयम्। घर्मं निदाघम्, वसन्तग्रीष्मकालिकौ सन्तापौ इत्यर्थः। अथ तदनन्तरम्, खरकरैः वसन्तनिदाघजनितैः तीक्ष्णैः किरणैः; आश्यानानि शुष्काणि, आस्यानि मुखानि येषां तादृशानाम्, 'खरकरश्याना' इति पाठेऽपि स एवार्थः। तनूभृतां शर्मोदयाय पयः वर्षासु जलम्, तथा जलभयजुषां वर्षाजलभीतानाम्, तनूभृतां शर्मोदयाय तापं शारदसन्तापम्, तथा तापस्पृशां शारदसन्तापभाजाम्, तनूभृतां शर्मोदयाय हिमं हेमन्तकालजशैत्यम्, प्रयच्छति ददाति, कालचक्रपरिभ्रामणेन आनयतीत्यर्थः। इति इत्थम्, परहिताय अन्येषामुपकाराय, मिलन्ती युज्यमाना, कृत्यावृत्तिः व्यापाराभ्यासः यस्य सः तादृशः, सः प्रसिद्धः, अयं परिदृश्यमानः, भानुः भगवान् सूर्यः, उदञ्चति उदेति। क्रियासमुच्चयोऽलङ्कारः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—यः शिशिरजरुजां तनूभृतां शर्मोदयाय घर्मम् अथ खरकराश्यानास्यानां पयः, जलभयजुषां तापं, तापस्पृशां हिमं प्रयच्छति—इति परहितमिलत्कृत्यावृत्तिः सः अयं भानुः उदञ्चति।

हिन्दी—जो शीतकालोत्पन्न रोगों से सताये गये देहोंवाले जनों के कल्याण-सुख के निमित्त घाम—वसन्त-ग्रीष्म ऋतु की ऊष्मा, तीव्र धूप से सूखे मुखवालों के लिए जल (वर्षा ऋतु), वर्षा बाढ़ आदि जल से भीतिप्राप्तों के लिए शारदी ताप और फिर उस ताप से सन्तप्तों को हिम (शीत ऋतु) देता है,—इस प्रकार परोपकार के निमित्त पुनः पुनः कार्यों की आवृत्ति करनेवाला वह यह सूर्य ऊँचे चढ़ रहा है।

टिप्पणी—सूर्य ही ऋतु-परिवर्तन का कारण है। उसी के कारण ऋतुएँ आती-जाती रहती हैं। जाड़ा, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, जाड़ा। निरन्तर यही क्रम। यही आवृत्ति। यह आवृत्ति का कष्ट सूर्य परहित के लिए ही उठाता है। वही परोपकारी सूर्य ऊँचे चढ़ गया (संकेतार्थ-उन्नति कर गया), महाराज को भी जागना चाहिए। मल्लिनाथ के अनुसार क्रिया-समुच्चय अलंकार ॥ ४८ ॥

इह न कतरश्चित्रं धत्ते तमिस्रततीर्दिशा-
मपि चतसृणामुत्सङ्गेषु श्रिता घयता क्षणात्।
तरुशरणतामेत्य च्छायामयं निवसत्तमः
शमयितुमभूदानैश्वर्यं यदर्यमरोचिषाम् ॥ ४९ ॥

जीवातु—इहेति । चतसृणा चतु सङ्ख्यकानामपि । 'न तिसृचतसृ' इति निषेधान्नामि दीर्घो न । दिशां पूर्वादीनाम्, उत्सङ्गेषु क्रोडेषु, तत्तत्प्रदेशेष्वित्यर्थं । श्रिता स्थिता, तमिस्रस्य तिमिरस्य, ततो समूहान्, क्षणात् अल्पेनैव समयेन, घयता पिबताम्, दूरीकुर्वतामित्यर्थ । घेटो लट शत्रादेश । अर्यमरोचिषां सूर्यतेजसाम्, तरव वृक्षा एव, शरणानि त्रातार यस्य तद्भावं तत्ताम्, एत्य प्राप्य, निवसत् वर्तमानम्, छायामयम् अनातपरूपम्, तम अन्धकारम्, शमयितु सहर्तुम्, यत् अनीश्वरस्य भावम् आनैश्वर्यम् असामर्थ्यम् । 'नञ शुचीश्वर—' इत्यादिनोभयपदवृद्धि । अभूत् जातम, इह अस्मिन् आनैश्वर्यविषये, कतर को नाम जन, चित्रम् आश्चर्यम्, न धत्ते ? चेतसि न आवहति ? अपि तु सर्व एव धत्ते इत्यथ । महतिविनाशसमर्थस्य अल्पविनाशकताया अकिञ्चित्करत्वादिति भाव । तमोराशिविनाशिनो देवस्याल्पतमो विषये सामर्थ्यविघातकताया विरोधात् छायामयत्वेन तत्परिहाराच्च विरोधाभासोऽलङ्कार ॥ ४९ ॥

अन्वय—चतसृणाम् अपि दिशाम् उत्सङ्गेषु श्रिता तमिस्रततीः क्षणात् घयताम् अर्यमरोचिषा तरुशरणताम् एत्य निवसत् छायामय तमः शमयितु यत् आनैश्वर्यम् अभूत्—इह कतर चित्र न धत्ते ?

हिन्दी—(पूर्व आदि) चारों ही दिशाओं की गोदों में आश्रित अन्धकारराशियों को क्षण भर में पी जानेवाली सूर्य की किरणों का वृक्षों की शरण लेकर विद्यमान छायारूप अन्धकार का उपशम करने में जो असामर्थ्य रहा, उस पर किसे आश्चर्य नहीं है ?

टिप्पणी—सूर्य ऊपर चढ आया, अब अन्धकार कहीं न रहा, केवल वृक्षों के नीचे जो छाया है, वही माना जाय तो अन्धकार है, और कहीं नहीं । यह विस्मयजनक इस दृष्टि से है कि जो चारों दिशाओं के घोर अन्ध-

कार का विनाश करने में समर्थ हैं, वे रवि-किरणें सामान्य-से तरुतले के छाया-रूप अन्धेरे को नष्ट न कर सकीं। इतनी शक्तिमती किरणों से, छोटा-सा काम न हो पाया। यह विरोध है कि बड़े अन्धकार का नाश करने की क्षमता अल्पमत को न मिटा सकी। अन्धकार के छायामय होने के कारण इसका परिहार हो जाता है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोधाभास अलंकार है ॥ ४९ ॥

जगति तिमिरं मूर्च्छामब्जव्रजेऽपि चिकित्सतः
पितुरिव निजादस्माद्दस्रावधीत्य भिषज्यतः ? ।
अपि च शमनस्यासौ तातस्ततः किमनौचिती
यदयमदयः कह्लाराणामुदेत्यपमृत्यवे ? ॥ ५० ॥

जीवातु—जगतीति। दस्रौ अश्विनौ, जगति लोके, तिमिरं तमो नेत्ररोगश्च। 'तिमिरं ध्वान्ते नेत्रामयान्तरे' इति विश्वः। तथा अब्जव्रजेऽपि, पद्मषण्डेऽपि, मूर्छा निमीलनं रोगविशेषश्च, चिकित्सतः प्रतिकुर्वाणात्। कितः सनन्ताल्लटः शत्रादेशः, 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इति निन्दाक्षमाव्याधिप्रतीकारेषु सन्निष्यते। निजात् स्वात्, पितुः जनकात्, अस्मात् परिदृश्यमानात्, सूर्यादिति शेषः। अधीत्य पठित्वा इव, आयुर्वेदमिति शेषः। भिषज्यतः स्वर्गे चिकित्सतः, किम् ? इति शेषः, 'इत्युत्प्रेक्षा। अन्यथा कुत्र तयोः तादृशी शिक्षा जाता ?' इति भावः। कण्ड्वादौ भिषजेति पाठात् यगन्ताल्लटि तस्, 'चिकित्सति भिषज्यति' इति भट्टमल्लः। अपि च किञ्च, असौ सूर्यः यत् यतः शमनस्य यमस्य, तातः जनकः, ततः तस्मात् इवेति शेषः, अयं भानुः, अदयः निष्करुणः सन्, कह्लाराणां कैरवाणाम् अपमृत्यवे अकालमरणाय, निमीलनरूपायेति भावः। उदेति उत्तिष्ठति, सा अनौचिती किम् ? अन्याय्यं किम् ? 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इति न्यायात् नित्यमेव प्राणिसंहारकस्य तनयस्य पितुरपि तथैव गुणवत्त्वस्य युक्तत्वात् नैवानौचित्यम्, वरमुचितमेवेति निष्कर्षः। उत्प्रेक्षा। दस्रयोः पितृवत् सर्वोपकारित्वमुचितं, यमपितुस्तु रवेः कह्लारमारकत्वं न अनुचितम् इति भावः ॥ ५० ॥

अन्वयः—जगति तिमिरम् अब्जव्रजे अपि मूर्च्छां चिकित्सतः निजात्

पितु अस्मात् अधीत्य इव दस्रौ भिषज्यन, अपि च अदय अय यत् कह्लाराणाम् अपमृत्यवे उदेति तत असो शमनम्य तात ;—अनौचिती किम् ?

हिन्दी—ससार मे (व्याप्त) अन्धकार और कमल-समूह मे (व्याप्त) मूर्च्छा (सकोच) की चिकित्सा (उपचार) करनेवाले (जगत् मे फैले नेत्र रोग और मूर्च्छा रोग के चिकित्सक) अपने पिता इस (सूर्य) से (चिकित्साशास्त्र) अध्ययन कर अश्विनीकुमार (स्वर्वैद्य) चिकित्सा करते हैं, और निर्दय यह (सूर्य) जो कुमुदों की अपमृत्यु (मुँदना सकोच) के लिए उदित होता है उस कारण यह (मृत्यु के देव) यम का जनक है। इसमें अनौचित्य क्या है ?

टिप्पणी—ससार मे व्याप्त अन्धेरा मिट गया। कमल खिल गये। कुमुद मुँद गये। इन सबका आधार सूर्य है। सूर्य को सर्वरोगहर माना जाता है। बाणभट्ट के समकालीन मयूर कवि ने अपने कुष्ठ रोग को दूर करने के लिए सूर्योपासना की थी और 'सूर्यशतक' रचा था—ऐसी मान्यता है। मयूर ने कहा है कि सूर्य नाक, कान, हाथ, पैर के रोगियो, घायल तथा अन्य गले- नाडी आदि के रोगो से कष्ट पाते जनो के रोग मिटाता है—'शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान् दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घट- यत्येक उल्लाघयन् य ।' (सूर्य०-६)। याज्ञवल्क्य के अनुसार सूर्य सबका 'सवन' करने और 'पावन' बनाने से 'सविता' कहाता है—'सवनात् पावना- च्चैव सविता तेन चोच्यते।' ऐसा चिकित्सक जिसका जनक है, उन अश्विनी- कुमारो ने कदाचित् अपने महान् चिकित्साशास्त्री आदित्य से ही चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया है अन्यथा वे स्वर्वैद्य न हो पाते। किन्तु यही जगदु- पकारी, अन्धकार विनाशक, कमलविकासी सूर्य कुमुदो का सकुचित कर उन्हें अपमृत्यु भी देता है। ऐसा निष्करुण कर्म करनेवाले सूर्य का अन्य पुत्र यम भी है जो सहारकर्त्ता है। दोनो कार्यो में—कार्य के गुण आये हैं। उपकारी आदित्य का गुण पुत्रो अश्विनीकुमारों मे और क्रूरता यम मे। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ५० ॥

उडुपरिवृढः पत्या मुक्ता सती यदपीडय
द्यदपि बिसिनी भानोर्जाया जहास कुमुद्वती ।

तदुभयमतः शङ्के सङ्कोचितं निजशङ्कया
प्रसरति नवार्के कर्कन्धूकणारुणरोचिषि ॥ ५१ ॥

जीवातु—उडुविति। उडुपरिवृढः तारापतिः चन्द्रः, पत्या भर्त्रा भानुना, मुक्तां त्यक्ताम्, दिनान्ते अस्तमितत्वादिति भावः। सतीं साध्वीम्, बिसिनीं पद्मिनीम्, यत् यतः, अपीडयत् पीडितवान्, रात्रौ सङ्कोचनेन इति भावः। तथा कुमुद्वती कुमुदिनी अपि। 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्'। भानोः सूर्यस्य, जाया भार्याम्, बिसिनीं पद्मिनीम्, यत् यस्मात्, जहास हसितवती, इवेति शेषः। निशायां स्वविकाशेन इति भावः। अतः अस्मादेव कारणात्, कर्कन्धूः पक्व-बदरीफलमित्यर्थः। 'अन्दूदृन्भू—' इत्यादिना कूप्रत्ययान्तनिपातः। तत्कणावत् तच्चूर्ण इव, अरुणरोचिषि लोहितकान्तौ, प्रभातकालिकत्वात् क्रोधाच्चेति भावः। नवार्के बालसूर्ये, प्रसरति आकाशं व्याप्नुवाने सति, तयोः चन्द्र-कुमुद्वत्योः, उभयं द्वन्द्वम्, निजशङ्कया स्वकृतपद्मिनीलाञ्छनाभयेन, सङ्कोचितं निस्तेजस्त्वं गतम्, निष्प्रभीभूतमिति यावत्। निमीलितञ्च। शङ्के इति मन्ये, अहमिति शेषः। इत्युत्प्रेक्षा। सर्वो हि स्वदुष्टव्यवहारेणात्मानं कलुषयतीति भावः॥ ५१ ॥

अन्वयः—उडुपरिवृढः पत्या मुक्तां सतीं बिसिनीं यत् अपीडयत्, कुमुद्वती अपि भानोः जायां जहास; अतः शङ्के—कर्कन्धूकणारुणरोचिषि नवार्के प्रसरति तदुभयं निजशङ्कया सङ्कोचितम्।

हिन्दी—तारकों के स्वामी (चन्द्र) ने पति (सूर्य) से वियुक्त पतिव्रता कमलिनी को जो पीडा दी (संकुचित कर दिया), कुमुदिनी ने भी सूर्य की पत्नी (कमलिनी) की हँसी उड़ायी, इसलिए शङ्का करता हूँ कि बदरीफल (बेर) के कण (चूर्ण) के सदृश अरुणाभामय बाल सूर्य के (गगनमंडल में) प्रसार पाने पर वे दोनों (चन्द्र और कुमुदिनी) संकुचित (निस्तेज और निमीलित) हो गये।

टिप्पणी—सूर्योदय हो गया, कमलिनी खिल गयी। चन्द्र कांतिहीन हो गया और कुमुदिनी मुँद गयी। कल्पना है कि ये दोनों—चन्द्र और चन्द्र-जाया कुमुदिनी—अपने अपराध-बोध के कारण डर गये और संकुचित हो गये। चन्द्र का अपराध था कि उसने रात्रि में उदय-प्राप्त करते ही सूर्य-प्रिया को कष्ट दिया और संकुचित होने को विवश किया तथा चन्द्र प्रिया

कुमुदिनी का अपराध था कि उसने उभी कमलिनी की व्यथा—संकोच पर उसकी हँसी उडायी। सो दोनों दण्डप्राप्ति की आशंका से संकुचित हो गये। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा। नारायण ने चतुर्थ चरण में 'कर्कन्धूफला-रुणरोचिषि' पाठान्तर को मान्यता दी है और 'कर्कन्धूकणा' पाठ का विरोध माना है। यही उचित लगता है। अरुणाभसूर्य को 'लाल बदरीफल' कहना समीचीन है, 'बदरीफलचूर्ण सदृश' नहीं॥ ५१॥

श्रुतिमयतरोर्मानोर्जनेऽवनेरधराध्वना
विहरणकृत शाखा साक्षाच्छतानि दश त्विषाम्।
निशि निशि सहस्राभ्यां दृग्भ्यां शृणोति महस्वरा-
पृथगहिपतिः पश्यत्यस्याक्रमेण च भास्वराः॥ ५२॥

जीवातु—श्रुतीति। अवनेः भूमेः, अधराध्वना अधोमार्गेण, पातालवर्त्मना इत्यर्थः। एतच्च अनूर्ध्वस्थानमात्रोपलक्षणम्। 'अधरस्तु पुमानोष्ठे-हीनेऽनूर्ध्वे तु वाच्यवत्' इति मेदिनी। विहरणकृत विहारकृत सञ्चरत इत्यर्थः, आविर्भवत इत्यर्थश्च। श्रुतिमयतरो वेदात्मकवृक्षस्य, 'श्रुतिमयतनो' इति पाठे—श्रुतिमयी पूर्वोक्तश्रुत्यनुसारेण वेदात्मिका, तनुः शरीरं यस्य तादृशस्य इत्यर्थः। अदयं उदयं गच्छत, भानो सूर्यस्य, त्विषां रश्मीनाम् दशशतानि सहस्रम्, सहस्ररश्मिरूपेण परिणता इत्यर्थः। स्वरैः उदात्तादिभिः सह वर्तन्ते इति सहस्वरा सस्वरा। 'वोपसर्जनस्य' इति सहशब्दस्य विकल्पात् समावाभाव। पृथक् अमाङ्क्तेण, भास्वरा दीप्तिशीला:। 'स्येशभास—' इत्यादिना वरच्। शाखा वेदभागान् वृक्षावयवांश्च। 'शाखा पक्षान्तरे वाहौ वेदभागद्रुमाङ्गयो' इति मेदिनी। अहिपतिः शेषः, निशि निशि प्रतिनिशम्। वीप्सायां द्विर्भाव। तत्र तदा सूर्यसञ्चारेण निशाभावात् मर्त्यलोकापेक्षया निशीति बोध्यम्। सह स्राभ्यां द्विसहस्रसङ्ख्याभिः, दृग्भिः नेत्रैः, शेषनागस्य सहस्रफणत्वात् प्रतिफणञ्च नेत्रद्वयसद्भावात् नेत्राणां द्विसहस्रत्वं बोध्यम्। अक्रमेण यौगपद्येन, साक्षात् प्रत्यक्षम्, शृणोति आकर्णयति, पश्यति अवलोकयति च, शेषस्य चक्षुःश्रवस्त्वात् शाखानां शब्दात्मकत्वेन श्रावणत्वोपपत्तेः रश्मिपरिणामेन चाक्षुषत्वाच्च दर्शनोपपत्तेरिति भावः, जाने इति मन्ये इत्युत्प्रेक्षा रूपकसङ्कीर्णा। एकेन दृक्-द्वयेनोपपत्तीति विशेषणसाहचर्यान्वयात् विलक्षणम्, तत्र प्रत्येकमुपपत्तिः-

-युक्तानां शक्तिप्रविभागायोगात्, तस्मात् ग्राहकस्योभयशक्तिमत्त्वात् ग्राह्यस्य च तेजः शब्दोभयात्मकत्वात् सर्वाभिरेव रश्मिः सर्वाश्च शाखा युगपत् पश्यति शृणोति चेति रमणीयम् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—अवनेः अधराध्वा विहरणकृतः श्रुतिमयतरोः अस्य भानोः त्विषां दशशतानि सहस्वराः भास्वराः शाखाः अहिपतिः निशिनिशि पृथक् -सहस्राभ्यां दृग्भिः अक्रमेण साक्षात् शृणोति पश्यति च ।

हिन्दी—पृथ्वी के निम्नस्थित मार्ग (पातालमार्ग) से संचरणशील (यात्रा करते), वेदरूप वृक्ष (अथवा वेदशरीर) इस (उदित होते) सूर्य की दस-सौ किरणों-रूप दस-सो (एक सहस्र), उदात्तानुदात्तादि स्वरों से युक्त, तेजोमयी शाखाओं (कठ-कण्वादि श्रुति-शाखाओं) को नागराज (शेष) प्रतिरात्रि को पृथक्-पृथक् दो सहस्र नेत्रों से एक साथ प्रत्यक्ष सुनता है और देखता है ।

टिप्पणी—माना जाता है कि प्रत्येक रात्रि को सूर्य धरती के नीचे पाताललोक में सचरण करता है । इसी से धरती पर—भूलोक में अन्धकार रहता है । सूर्य 'श्रुतितरु' अथवा 'श्रुतितनु' कहा गया है—वेदवृक्ष या वेद-शरीर । यहाँ कल्पना है कि पातालवासी शेषनाग के एकसहस्र फणों में दो सहस्र नेत्रों की सार्थकता ही यह है कि वे पातालवासी वेदवृक्ष भगवान् आदित्य की सहस्र कठ-कण्व-आदि-शाखाओं की मूर्ति सहस्र किरणों को एक साथ एक सहस्र फनों से सुन भी सकें और एक सहस्र नेत्रों से देख भी सकें । शेष प्रत्येक रात्रि को एसा करके अपने नेत्रों की दो सहस्रसंख्याओं को सार्थक बनाते हैं । मल्लिनाथ के अनुसार रूपकसंकीर्णा उत्प्रेक्षा है ॥ ५२ ॥

> बहु नखरता येषामग्रे खलु प्रतिभासते
> कमलसुहृदस्तेऽमी भानोः प्रवालरुच करः ।
> उचितमुचितं जालेष्वन्तःप्रवेशिभिरायतैः
> कियदवयवैरेखामालिङ्गिताऽङ्गुलिवल्गता ॥ ५३ ॥

जीवातु—बह्विति । येषां कराणाम्, अग्रे प्रत्यग्रावस्थायाम् , प्रभाते इत्यर्थः । बह्वी प्रभूता, अत्यर्था इत्यर्थः । न—खरता अतीक्ष्णता, अन्यत्र—अग्रे अग्रभागे, बहुनखरता बहुनखत्वम् । 'नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । खलु

निश्चितम्, प्रतिभासते प्रतीयते, कमलानां पद्मानाम्, सुहृद बन्धव, विकाश-कत्वादिति भाव । सुहृत्त्वेनैव न-खरता बोद्धव्या, अन्यत्र—सौन्दर्यमार्दवाभ्या तत्सदृशा । प्रवालरुच विद्रुमभास, उभयत्रापि समानम्, भानो सूर्यस्य, ते तादृशा, अमी परिदृश्यमाना, करा: अशव हस्ताश्च, प्रसर्पन्तीति शेष । अत एव जालेषु गवाक्षविवरेषु अन्त प्रवेशिनि अभ्यन्तरप्रविष्टे आयते दीर्घे, एषा कराणाम्, कियदवयवै किञ्चिदश । वसुंभि । उचितमुचितम् अत्यतोचित यथा स्यात् तथा । आलिङ्ग्ये द्विरुक्ति । अङ्गुलीना करशाखानाम् । 'अङ्गुल्य करशाखा स्यु' इत्यमर । वल्लता चारुता, आलिङ्गिता प्राप्ता इति श्लेषसङ्कीर्णनिदर्शनाभेद । कराणा कररूपत्वात् तदवयवानाम् अङ्गुलिरूपत्वस्य सर्वथैव सम्भाव्यत्वादिति भाव ॥ ५३ ॥

अन्वय —येषाम् अग्रे बहुनखरता ननु प्रतिभासते कमलसुहृद प्रवालरुच ते भानो अमी करा जालेषु अन्त प्रवेशिनि आयते एषां कियदवयवैः उचितम् उचितम् अङ्गुलिवल्लता आलिङ्गिता ।

हिन्दी—जिन (सूय किरणों) की पहिले (प्रभात म) खरता (तीक्ष्णता) बहु न (अधिक नहीं) भासित होती है, ऐसे कमलो क सखा, मूँगे सदृश आभामय सूय के वे अनेक नखो से युक्त कमलो-से कोमल मूँगे-से लाल परिदृश्यमान करस्प (किरणरूप) हाथ के खिडकियो-झरोखो के विवरो म प्रविष्ट होते (अतएव) लम्बे कुछ अंशो ने अत्युचित रूप मे अगु-लियो की सुषमा का आलिंगन किया है (प्राप्त कर लिया है)।

टिप्पणी—सूर्य किरणें झरोखो खिडकियो म होकर प्रासाद-कक्षा में पैठ रही हैं। 'कर' शब्द के 'किरण' और हाथ—द्वयर्थवाची होने के आधार पर उन्ह गवाक्ष विवरो मे प्रविष्ट होते सूय क हाथ कहा गया है। बहुनख रता' (अधिक तीव्रता न होन) से उनको बहुनखरता अर्थात् अनक नख युक्तता है। करों' के विवरामध्य प्रविष्ट होत अग्रभाग ही अगुलियाँ हैं। 'कमल सखा' होन से 'करा' की कोमलता और 'प्रवालरुचि' होने से अरु-णाभा द्योतित है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्लेषसाकार्ण निदर्शना है।५३।

नय नयनयोर्द्राक् पेयत्व प्रविष्टवतीरमू
भवनवलभीजालान्नाला इवाककराङ्गुला ।

भ्रमदणुगणक्रान्ता भ्रान्ति भ्रमन्त्य इवाशु याः
पुनरपि धृताः कुन्दे किं वा न वर्द्धकिना दिवः ? ।। ५४ ।।

जीवातु—नयेति । भवनवलभीनां भवत्प्रासादोपरि विद्यमानानां गृहविशेषाणाम् । 'शुद्धान्ते वलभी चन्द्रशाले सौधोर्ध्ववेश्मनि' इति रभसः । जालात् गवाक्षविवरात्, गवाक्षविवरमाश्रित्येत्यर्थः । प्रविष्टवतीः अभ्यन्तरं गतवतीः, नालाः कमलदण्डाम् इव स्थिताः, कमलकाण्डायिताः इत्यर्थः । अमूः पुरोवर्त्तिनीः, अर्कस्य भानोः, कराः किरणा एव करा हस्ताः, श्लिष्टरूपकम् । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । तेषाम् अङ्गुलीः करशाखाः, अङ्गुलीव प्रतीयमानानवयवानित्यर्थः । द्राक् झटिति, नयनयोः नेत्रयोः, पेयत्वम् आस्वाद्यत्वम्, विषयत्वमित्यर्थः । नय प्रापय, सादरं पश्य इत्यर्थः । अथ आसां दर्शनीयतामुत्प्रेक्षया दर्शयति—याः कराङ्गुलयः, भ्रमद्भिः घूर्णमानैः, अणुगणैः त्रसरेणुजालैः, क्रान्ताः वेष्टिताः सत्यः, आशु शीघ्रम्, भ्रमन्त्यः घूर्णमाना इव, भान्ति प्रकाशन्ते इत्युत्प्रेक्षा । भ्रमणे कारणमुत्प्रेक्षते—पुनरपि पूर्ववत् अद्यनाऽपि, दिवः स्वर्गस्य, वर्द्धकिना तक्ष्णा, देवशिल्पिना विश्वकर्मणा इत्यर्थः । 'तक्षा तु वर्द्धकिस्त्वष्टा' इत्यमरः । कुन्दे शाणयन्त्रे । 'शाणः कुन्दश्च यन्त्रकम्' इति यादवः । धृता वा तक्षणाय स्थापिताः इव, न किम् ? कराङ्गुल्य इति शेषः । अपि तु धृता एव इत्यर्थः । पुनः पुनः घर्षणेन तदुत्थैः सूक्ष्मसूक्ष्मांशैः घूर्णमानैरिव दृश्यते, अतः भ्रमणं युज्यते इति भावः । पुरा किल स्वर्गे सन्ध्यादेव्या सूर्यभार्यया दुःसहस्पर्शं सवितारमालोक्य प्रार्थितः विश्वकर्मा तं शाणयन्त्रोल्लेखनेन सन्तक्ष्य सन्तक्ष्य सुखस्पर्शं चकारेति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेया ।

अन्वयः—भवनवलभीजालात् प्रविष्टवतीः नालाः इव अमूः अर्ककराङ्गुलीः द्राक् नयनयोः पेयत्वं नय, याः भ्रमदणुगणक्रान्ताः आशु भ्रमन्त्यः इव भान्ति; किं वा पुनः अपि दिवः वर्द्धकिना कुन्दे न धृताः ?

हिन्दी—राजप्रसाद की अट्टालिकाओं की खिड़कियों के विवरों से अंतःप्रविष्ट कमलनाल-सदृश इन सूर्य की 'करांगुलियों' (किरण रूप हाथ के अग्रभागों) को शीघ्र ही नेत्रों के पान (पेय) बनाइए (देखिए), जो भ्रमते (घूमते) त्रसरेणुओं से व्याप्त हो वेग से घूमती हुई—जैसी आभासित

हो रही है ? अथवा कहीं फिर तो देवशिल्पी (विश्वकर्मा) ने इन्हें सान पर नहीं चढ़ा दिया ?

टिप्पणी—पूर्वश्लोक (५३) के अनुसार हाथ की अंगुलियों-जैसी, गवाक्षविवरों में होकर अट्टालिकाओं में प्रविष्ट हो त्रसरेणु जाल के भ्रमण में घूमती-सी प्रतीत होती सूर्य किरणों को उठकर देखने का आग्रह वैतालिक महाराज नल से कर रहे हैं। ये 'आयत' सूर्य-कराग्र कमल-नाल-सी भी शोभित हैं, अतः इन्हें सादर देखने के प्रति वैतालिकों का महाराज से विशेष आग्रह है। घूमती किरणों के पुनः सान पर चढ़कर घूमने की उद्भावना है। इसका आधार पत्नी संज्ञा-द्वारा असह्य तेज को स्वल्प करने के लिए त्वष्टा द्वारा पुनः 'शाण' (भ्रामणयन्त्र) पर सूर्य को चढा देने की पुराण कथा है—'त्वष्टा मार्तण्डस्य विवस्वतः । भ्रमिमारोप्य तत्तेजः शातयामास ।' (ब्रह्म-पुराण, ६।३९) ॥ ५४ ॥

> दिनमिव दिवाकीर्तिस्तीक्ष्णैः क्षुरैः सवितुः करै-
> स्तिमिरकबरीलूनीं कृत्वा निशां निरलीलसत् ।
> स्फुरति परितः केशस्तोमैस्ततः पतयालुभि-
> र्ध्रुवमधवलं तत्तच्छायच्छलादवनीतलम् ॥ ५५ ॥

जीवातु—दिनमिति । दिनं दिवसः । कर्तृ । रात्रौ क्षौरकर्मनिषेधात् दिवा कीर्तिर्यस्य स दिवाकीर्त्तिर्नापितः इव, 'क्षुरिमुण्डिदिवाकीर्त्तिनापितान्तावसायिनः' इत्यमरः। तीक्ष्णैः निशितैः प्रखरैश्च, सवितुः सूर्यस्य, करैः किरणरूपैः, क्षुरैः वापनशस्त्रैः। 'क्षुरोऽस्य वापनं शस्त्रम्' इति यादवः। निशां रात्रिम्, व्यभिचारिणीं पत्नीमिवेति भावः। तिमिरम् अन्धकारः, कवरी केशपाशः इव, सा लूना छिन्ना यस्याः तां मुण्डितकेशाम्। 'जानपद—' इत्यादिना कवरात् ङीप्, 'जातिकालसुखादिभ्यः परा निष्ठा वाच्या' इति लूनीति निष्ठायाः परनिपातः, 'ल्वादिभ्यश्च' इति निष्ठानत्वं, 'बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात्' इति ङीप्। कृत्वा विधाय, निरलीलसत् निष्कासयामास, इवेति शेषः, इत्युत्प्रेक्षा। सर्तेर्णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः। ततः निर्द्धारणानन्तरम्, तेषां तेषां गृहादीनाम्, छाया अनातपः तत्तच्छायम्। 'विभाषा सेना—' इत्यादिना 'छाया बाहुल्ये' इत्यनेन वा नपुंसकत्वम्। तस्य छलात् व्याजादित्यपह्नवः, परितः

समन्तात्, पतयालुभिः पतनशीलैः । 'स्पृहिगृहि—' इत्यादिना आलुच् । केशस्तोमैः चिकुरराशिभिः, अवनीतलं भूतलम्, अधवलम् असितम्, स्फुरति भाति, ध्रुवं निश्चितमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—दिवाकीर्तिः इव दिनः तीक्ष्णैः सवितुः करैः क्षुरैः निशां तिमिरलूनीं कृत्वा निरदीधरत्, ततः तत्तच्छायच्छलात् परितः पतयालुभिः केशस्तोमैः अवनीतलं ध्रुवम् अधवलं स्फुरति ।

हिन्दी—नापित (नाई) की भाँति दिन ने तीक्ष्ण सूर्य-किरण-रूप छुरों (उस्तरों) से रात्रि को अंधकार-रूपी बाल (केश) मूड़ कर निकाल दिया, तदनन्तर उन-उन (गृह, वृक्षादि) की छाया के व्याज से, चारों ओर गिरते केशरूप अंधकारों से पृथ्वीतल निश्चयतः असेत (काला) दीख रहा है।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक (४९) में बताया गया था कि सर्वत्र अँधेरा मिट गया, केवल छाया रूप में शेष है। इस श्लोक में भी भाव यही है कि अँधेरा अब केवल वृक्षादि, भवनादि के समीप ही छाया रूप में रह गया है। दिन में सूर्य किरणों से रात का अँधेरा मिटा है और रात्रि का शेष भी नहीं है, अतः यह उद्भावना की गयी कि रात्रि एक कुलटा स्त्री है, जिसे उसके स्वामी दिन ने स्वयं नापित का कार्य कर सूर्यकर-रूपी उस्तरे से सिर मूड़ कर घर से निकाल दिया है। गृहादि के निकट की छाया वे सिर को मूड़ने से छितरा गयी केश-राशि है। 'व्याजात्' को 'अपह्नव' और 'ध्रुवम्' को उत्प्रेक्षा-सूचक मान कर मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सापह्नवा उत्प्रेक्षा है।

> ब्रूमः शङ्खं तव नल ! यशः श्रेयसे सृष्टशब्दं
> यत्सोदर्यः स दिवि लिखितः स्पष्टमस्ति द्विजेन्द्रः ।
> अद्धा श्रद्धाकरमिह करच्छेदमप्यस्य पश्य
> म्लानिस्थानं तदपि नितरां हारिणो यः कलङ्कः ॥ ५६ ॥

जीवातु—ब्रूम इति । नल ? हे तदाख्यमहाराज ! तव ते, यशः कीर्तिम्, श्रेयसे मङ्गलाय, सृष्टशब्दं सृष्टः निर्मितः, कल्पितः इत्यर्थः । शब्दो ध्वनिः यस्य तादृशं देवार्चनाशुभजातकर्मादौ विहितस्वनम्, शंखं कम्बुम्, शङ्खतुल्यमित्यर्थः । ब्रूमः कथयामः, वयमिति शेषः । शङ्खध्वनेः मङ्गलजनकत्वात् पुण्यश्लोकत्वेन नलयशसश्च लोकानां शुभावहत्वात् उभयोरपि समानधावल्याच्चेति भावः ।

यद्वा—श्रेयसे स्वर्गाय, सृष्टः शब्दः यस्य स तादृशम्, शङ्खं कम्बुम्, यशः ब्रूम त्वदीययशस्त्वेन वर्णयाम, इत्यर्थः । यस्य यशस , सोदर्यः समानम् उदरं यस्य स, तादृशः महोदरः भ्राता, शङ्खचन्द्रयोरुभयोरपि एकसमुद्रजत्वादिति शौक्ल्यात् सदृश इति वा भावः। समानोदरे शयित इत्यस्मिन्नर्थे 'सोदराद् यः' इत्यनेन यप्रत्यये विवक्षिते 'विभाषोदरे' इत्यनेन प्रागेव यप्रत्ययात् समानशब्दस्य सभावः। भ्रातृत्वाभिमानी इति फलितार्थः । स प्रसिद्धः, द्विजेन्द्रः चन्द्रः, दिवि गगने, लिखितः चित्रितः, किरणक्षयेण निष्प्रभत्वात् निष्क्रियत्वाच्च चित्रितवदिति भावः । स्पष्टं सुव्यक्तम्, अस्ति वर्तते। इह अधुना प्रभातकाले, अश्रद्धाकरम् अनादरावहम्, प्रभाक्षयादेव इति भावः, यद्वा— श्रद्धाकरं प्रत्यक्षत्वेन विश्वासावहम्, अस्य चन्द्रस्य, श्रद्धा तत्त्वतः, सूर्यतेजसा अभिहतत्वात् यथार्थमित्यर्थः। करच्छेदम् अंशुनाशम् अपि, पश्य अवलोकय। किञ्च, हारिणो हरिणात्मकः, यः कलङ्कः चिह्नविशेषः, अत्र विद्यते इति शेषः। तदपि तच्चिह्नमपि, नितराम् अत्यर्थम्, म्लाने मलिनतायाः, स्थानम् आस्पदम्, विलुप्तप्रभत्वादिति भावः । पश्येति पूर्वेणान्वयः। अतः शीघ्रं शयनं त्यजेति भावः। अन्यच्च—श्रेयसे धर्मोपदेशरूपमङ्गलाय, सृष्टशब्दं रचितस्मृतिग्रन्थम्, शङ्खं शङ्खाख्यं मुनिम्, तव यशः यशस्तुल्यं यशस्विनमित्यर्थः । यद्वा—शङ्खम्, तव यशःश्रेयसे कीर्त्तेरुत्कर्षरूपमङ्गलायेत्यर्थः। तद्रचितविधानानुसारेण कर्मानुष्ठानात् यशोवृद्धेरिति भावः। सृष्टशब्दं ब्रूम कथयाम । यस्य शङ्खस्य, सोदर्यः भ्राता, स प्रसिद्धः, द्विजेन्द्रः ब्राह्मणोत्तमः, लिखितः लिखिताख्यः मुनिः, दिवि स्वर्गे, स्पष्टं सर्वज्ञातत्वात् सुव्यक्तम्, अस्ति विद्यते, इति श्रद्धा सत्यम्। किञ्च, इह अस्मिन् शङ्खलिखितयोश्चरितविषये, श्रद्धाकरं विश्वासजनकम्, अस्य लिखितस्य, करच्छेदं हस्तच्छेदनम् अपि, चौर्यापराधेन राजाज्ञया इति भावः। पश्य अवलोकय, विवेचयेत्यर्थः। पुराणोक्तत्वादिति भावः । हारिणः ज्येष्ठस्य भ्रातुः शङ्खमुनेः आश्रमे फलापहारकस्य, लिखितस्य इति शेषः । यः कलङ्कः सहोदराश्रमे फलचौर्यरूपः अपवादः, तदपि नितराम् अत्यर्थम्, म्लाने विषादस्य, स्थानं कारणम्, जानीहि इति शेषः । अत्र महाभारतीयशान्तिपर्वणि सुद्युम्नोपाख्यानम्—'ततः स पृथिवीपालो लिखितस्य महात्मनः । करौ प्रच्छेदयामास

-वृतदण्डो जगाम सः ॥' इति । अत्र विशेषणविशेष्ययोरपि श्लिष्टत्वादभिप्रायाः प्रकृतार्थत्वात् अप्रकृतार्थध्वनिरेवेति सङ्क्षेपः । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—नल, श्रेयसे सृष्टशब्दं शङ्खं तव यशः ब्रूमः, दिवि लिखितः सः द्विजेन्द्रः यत्सोदर्यः स्पष्टम् अस्ति; इह अश्रद्धाकरम् (यद्वा श्रद्धाकरम्)अस्य अद्धा करच्छेदम् अपि पश्य, हारिणः यः कलङ्कः नितरां म्लानिस्थानम् तत् अपि ।

हिन्दी—हे महाराज नल, मंगलार्थ बजाया जाता शंख तुम्हारा यश है—(यह) हम (चारण) कहते हैं (अन्वय-भेद से—'तुम्हारा यश ही मंगलार्थ बजाया जाता शंख है।'), गगन में अंकित (चित्रित) वह द्विजराज (चन्द्र) जिसका सहोदर स्पष्ट है ही । यहाँ (प्रभात काल में, प्रकाश में) अनादरणीय (अथवा प्रत्यक्ष होने से विश्वसनीय) इस (चन्द्र) के साक्षात् किरण-नाश (निस्तेजस्विता) को भी देखो, इसमें हिरन का जो कलंक-चिह्न (कालिमा) है, अत्यन्त मलिनता का आस्पद वह भी है ।

टिप्पणी—चारण-स्तुति से यहाँ नल की कीर्ति को पृथ्वीतल और स्वर्ग-धरती-आकाश में व्याप्त बताया गया है । यश कविसमयानुसार शुभ्रवर्ण माना जाता है, अतः उसकी तुलना शुभ्र शंख और निस्तेज हो शुभ्र पड़े चन्द्र से की गयी है । धरती पर मंगल-ध्वनि करता शंख नल के यश का रूप है और आकाश में निष्प्रभ शुभ्र चन्द्रमा । सागरजन्मा होने के कारण शंख और चंद्र का सहोदर भाव कहा गया है, अर्थात् दो सहोदर शंख और चंद्र अपने सदृश (अतएव अनुकूल) धरती-प्रकाश में नल के यश का अस्तित्व प्रमाणित कर रहे हैं । शंख और चंद्र का सहोदरत्व अन्य धर्म के आधार पर भी प्रमाणित किया गया है । दोनों शुभ्र हैं । शंख भी कर-(किरण-हाथ)-हीन है, प्रभातकालीन निस्तेज चंद्र भी । शंख के मध्य-भाग (मध्यगर्त) में श्यामता होती है, वह भी कालिमा हिरन के कलंक-चिह्न-रूप में चन्द्र में भी स्पष्ट है । नल को 'पुण्यश्लोक' कहा जाता है उसके मंगलविधायक यश का स्वरूप शंख है, जिसका सहोदर गगनस्थित चंद्र है । अथवा नल के यश का प्रतिरूप शंख ही है, चंद्र नहीं; क्योंकि चंद्र तो सकलंक है, शंख नहीं । उसके मध्यभाग की कालिमा वर्णमात्र है, कलंक नहीं है । 'शंख' से तात्पर्य शंखमुनि से भी है । उन्होंने जगत् कल्याणार्थ स्मृतिग्रन्थों की रचना की है, वे अत्यन्त पावन,

निष्कलङ्क मुनि थे, महान् तपस्वी। एकबार उनके सहोदर 'लिखित' मुनि ने उनसे बिना अनुमति प्राप्त किये उनके आश्रम में फल तोड कर खा लिये थे। इस कार्य को अपराध घोषित कर शङ्ख मुनि ने लिखित को उचित दंड पाने के लिए राजा सुद्युम्न के समीप भेजा, जिसने लिखित मुनि द्वारा कर्तव्यबोध कराने पर उनकी ही इच्छानुसार दंडस्वरूप उनके दोनों हाथ कटवा दिये। इसके पश्चात् शङ्ख मुनि ने अपने भाई को बाहुदा नदी में जाकर स्नान तर्पण करने को कहा, जिससे मुनि को पुनः बाहु-प्राप्ति हो गयी और वे स्वर्ग-भागी हुए। (महाभारत, शांतिपर्व, २३।१८-४४)। इस श्लोक का शङ्ख मुनिपरक अर्थ भी किया जाता है—'हे महाराज, जगत्-कल्याणार्थ शास्त्र-रचयिता शङ्खमुनि तुम्हारे यश स्वरूप हैं, स्वर्ग स्थित 'लिखित' नाम के वे द्विजराज (ब्राह्मणश्रेष्ठ) जिनके विख्यात सहोदर हैं। उनके कलङ्काय स्वरूप 'अश्रद्धाकर' अथवा सत्य और विश्वास भावों के जनक 'श्रद्धाकर' साक्षात् हुए करच्छेद दंड को देखो (विचारो)। उन्होंने फल हरण का जो निंदनीय कार्य किया था, वह भी विचारो। आशय यह कि नल का यश पावन, निष्कलङ्क 'शङ्ख'-मुनि सम है, उनके सहोदर, गगन में चिर सम स्थित कलङ्की चन्द्र-से स्वर्ग-स्थित 'लिखित' मुनि जैसा नहीं। प्रस्तुत कथन यह है कि मगल शङ्ख-ध्वनि हो रही है, वंदिजन यशोगान कर रहे हैं, महाराज नल को अब निद्रा-त्याग करना चाहिए। कुछ विद्वानों का कथन है कि लिखित मुनि ही आकाश में 'ताराख्य' (विशाखा नक्षत्र) रूप में स्थित हैं। मल्लिनाथ के अनुसार विशेषण विशेष्य—दोनों के श्लिष्ट होने से अभिधा के प्रकृतार्थ होने के कारण यहाँ अप्रकृतार्थ ध्वनि है। मदाक्रान्ता छंद ॥ ५६ ॥

> तारागृह्वविलोपकस्य जलजं तीक्ष्णं तपो भिन्दत
> मारम्भं चलना करेण निबिडा निष्पीडना लुम्पित ।
> छेदार्योपह्नुतास्वुकम्बुजजोजस्वात्तपाण्डूभव
> च्छह्वच्छिन्नकरपद्मतामिह वहन्यस्त गताद्धां विधु ॥ ५७ ॥

जीवातु—तारेति। तारा तारका एव, शङ्खा कम्बव, दिनोदयेन ताराणा शुभ्रत्वेन प्रतीयमानत्वादिति भाव। तेषा विलोपकस्य विनाशकस्य,

अन्तर्द्धायकस्येत्यर्थः । छेदकस्य च, तथा जलजं पद्मं शङ्खञ्च । 'जलजं शङ्ख-पद्मयोः' इति विश्वः । भिन्दतः विदारयतः, प्रस्फोटयत इत्यर्थः । करभूषण-निर्माणार्थं सच्छिद्रं कुर्वतश्च, तीक्ष्णत्विषः तिग्मांशोः, तीक्ष्णाग्रधारस्य कस्यचित् शङ्खकारस्य च, सारम्भं सप्रयत्नम्, चलता प्रसरता, छेदनकर्मणि व्यापृतत्वात् पुरः पश्चाच्च पुनः पुनः गतागत कुर्वता इत्यर्थश्च, करेण किरणेन हस्तेन च, निबिडां प्रगाढाम्, निष्पीडनां बाधनां धारणञ्च, लम्भितः प्रापितः अस्तम्, अदर्शनम्, गतं प्राप्तम्, अर्द्धम् एकांशः यस्य सः तादृशः, विधुः चन्द्रः, इह अस्मिन् अर्द्धास्तमितसमये, छेदार्थं कर्त्तनार्थम्, तारकारूपशङ्खच्छेदनसौकर्य-सिद्धये इत्यर्थः । उपहृतम् अर्पितम्, यत् अम्बु जलम्, शङ्खच्छेदनसौकर्याय जलं दीयते शाङ्खिकैरिति व्यवहारात्, तेन सह कम्बुजं छिद्यमानात् शङ्खात् जातम् यत् रजः करपत्रघर्षणनिपतितं चूर्णम्, तस्य यः जम्बालः कर्दमः, रजोराशौ जलनिक्षेपेण कर्दमतायाः अवश्यम्भावादिति भावः । तेन पाण्डुभवत् शुभ्रीभवत् ' यत् शङ्खं छिनत्तीति शङ्खच्छित् शङ्खच्छेदकम्, करपत्रं क्रकचः । 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रम्' इत्यमरः । तस्य भावः तत्ताम्, वहति धारयति, इवेति शेषः, इत्युत्प्रेक्षा । शङ्खच्छेदककरपत्रस्य अर्द्धचन्द्राकारत्वात् अर्द्धास्तमितः चन्द्रः शङ्खच्छेदककरपत्रमिव दृश्यते इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—ताराशङ्खविलोपकस्य जलजं भिन्दतः तीक्ष्णत्विषः सारम्भं चलता करेण निष्पीडनां लम्भितः अस्तंगतार्द्धः विधुः इह छेदार्थोपहृताम्बु-कम्बुजरजोजम्बालपाण्डुभवच्छङ्खच्छित्करपत्रतां वहति ।

हिन्दी—शंखाकार विशाखा नक्षत्र-रूप शंख के विनाशक (प्रभाहीन, अतएव अदृश्य करने वाले; विच्छेदक), जलज (कमल; शंख) का भेदन (विकास; छेदन) करते, तीक्ष्णत्विष् (उग्र किरण; तेजधार के शस्त्र 'आरी' हाथ में पकड़े) सूर्य-रूप शंख-शिल्पी के सोद्योग प्रसरण करते—आगे-पीछे आते-जाते कर (किरण; हाथ) से प्रचुर पीड़ा (बाधा; कसकर पकड़े जाने के कारण कठोर यंत्रणा) को प्राप्त करता आधा अस्त हुआ चंद्र इस समय (प्रभात में) शंख-काटने के लिए लाये गये जल के साथ कटने से उत्पन्न शंख के चूरे से बनी कर्दम से भूरे हुए शंखच्छेत्ता शिल्पी के 'आरे' (काटने के औजार) के भाव (समानता) को धारण कर रहा है ।

टिप्पणी—सूर्योदय हुआ, तारे छिप गये, कमल खिले, चंद्र आधा अस्त हो गया। महराज का निद्रा त्याग ही उचित है। 'शख' का अर्थ मंगल-ध्वनिकारक शख और 'ताराशख' (विशाखा नक्षत्र) लेकर यहाँ शखच्छेदक शिल्पी से सूर्य की और काटने के औजार 'आरे' से अर्द्धचंद्र की तुलना की गयी है। सूर्य शखशिल्पी है, जो ताराशखरूप शख को काट रहा है, जलज अर्थात् कमलरूप सागर-जलोत्पन्न शख का भेदन अर्थात् विकास रूप छेदन उसे करना है। तीक्ष्णत्विष् अर्थात् तीव्र किरण रूप तेजधार का आरा लिये उसके हाथ आगे-पीछे होते 'शख' को पीड़ा दे रहे हैं, काट रहे हैं। शख-कटने से जो चूरा गिरा है, उसका उपयोगार्थ लाये गये जल से सम्मिश्र हो जाने के कारण एक भूरी कीच कार्दों-सी बन गयी है, जिसके लग जाने से भूरे हो गये 'आरे' सा निस्तेज पांडुर चंद्र लग रहा है। अर्थास्त चंद्र करपत्र-तुल्य दीख रहा है आकाश में। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा। शार्दूल-विक्रीडित छन्द ॥ ५७ ॥

(जलजभिदुरीभाव प्रेप्सु करेण निपीडय-
त्यशिशिरकरस्ताराशङ्खप्रपञ्चविलोपकृत् ।
रजनिरमणस्यास्तक्षोणीधरार्द्धपिधावशा
द्दधतमधुना बिम्ब कम्बुच्छिद करपत्रताम् ॥ १ ॥)

प्रकाश—जलजेति। जलज कमल शङ्खश्च। करेणाशुना पाणिना च। अय श्लोक पूर्वेण (१९।५७) समानार्थक इत्याक्षेपक ॥ १ ॥

अन्वय—ताराशङ्खप्रपञ्चविलोपकृत् जलजभिदुरीभाव प्रेप्सु अशिशिरकर अधुना अस्तक्षोणीधरार्धपिधावशात् कम्बुच्छिद करपत्रता दधत रजनिरमणस्य बिम्ब करेण निपीडयति।

हिन्दी—शखसदृश विशाखानक्षत्र के विकास का लोप करनेहारा, कमल विकासरूप शखच्छेद करने का इच्छुक अशिशिरकर (तीक्ष्णकिरण रूप तीक्ष्ण-धार का आरा हाथ मे लिए सूर्य) इस (प्रभात) समय अस्ताचल के पीछे आधे छिप जाने के कारण शखच्छेदक शिल्पी के आरे की समता को धारण करते निशापति के अर्द्धबिम्ब को 'कर' (किरण रूप हाथ) से पीड़ा (निस्तेज करना, कसके पकडना) दे रहा है।

टिप्पणी — इस श्लोक में श्लोक संख्या ५७ के समान सूर्य को शंख-शिल्पी और अर्द्धचन्द्र को उसके हाथ से चलाये जाते 'आरे' की समता दी गयी है। मल्लिनाथ ने इसकी व्याख्या नहीं की। नारायण ने 'जलज' को कमल और 'शंख' और 'कर' को किरण और पाणिवाचक-मात्र व्याख्या में बताकर इस श्लोक को पूर्वश्लोक का समानार्थक होने के कारण क्षेपक कह दिया है। हरिणी छन्द ॥ ५७क ॥

> यत्पाथोजविमुद्रणप्रकरणे निर्निद्रयत्यंशुमान्
> दृष्टीः पूरयति स्म यज्जलरुहामक्ष्णा सहस्रं हरिः।
> साजात्यं सरसीरुहामपि दृशामप्यस्ति तद्वास्तवं
> यन्मूलाऽऽद्रियतेतरां कवितृभिः पद्मोपमा चक्षुषः ॥ ५८ ॥

जीवातु—यदिति। यत् यस्मात्, अंशुमान् अर्कः, पाथोजविमुद्रणप्रकरणे पद्मविकासकरणप्रस्तावे, दृष्टीः दृशः, जननेत्राणि इति यावत्। निर्निद्रयति निः नास्ति, निद्रा स्वापः, निद्राकालिकनिमीलनमित्यर्थः। यासु तास्तादृशीः करोति उन्मीलयतीत्यर्थः। तथा यत् यस्माच्च, हरिः विष्णुः, जलरुहां कमलानाम्, शिवपूजार्थमानीतानामिति भावः। सहस्रं सहस्रसङ्ख्याम्, अक्ष्णा स्वनेत्रेण, पूरयति स्म पूर्णं चकार, एकोनत्वादिति भावः। यदुक्तं शिवमहिम्नःस्तोत्रे—"हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयोर्यदेकोने तस्मिन् निजमुदहरन्नेत्रकमलम्,' इति। तत् तस्मात्, सरसीरुहामपि कमलानाञ्च, दृशामपि नयनानाञ्च, वास्तवं पारमार्थिकम्, साजात्यं समानजातीयत्वम्, अस्ति विद्यते। यतः हरिसूर्याभ्यां परमाप्ताभ्यां तत्तत् कार्यमकारि अतः पद्मचक्षुषोः साजात्ये सन्देह एव नास्ति, अन्यथा पद्मोल्लासप्रकरणबाधाद्विजातीयेन त्रपुणा कनकसङ्ख्यापूरणवत् चक्षुषा कमलसङ्ख्यापूरणायोगाच्चेति भावः। कवितृभिः कविभिः, यत् साजात्यम्, मूलं हेतुः यस्याः सा तादृशी, चक्षुषः नयनस्य, पद्मैः कमलैः सह, उपमा औपम्यम्, आद्रियतेतरां सत्क्रियतेतराम्, अत्यर्थमाद्रियते इत्यर्थः। 'किमेत्तिङव्ययात्—' इति आमु-प्रत्ययः। वैजात्येन सद्वस्तुनोरपि सुवर्णरजतयोरुपमाऽयोगादिति भावः। सर्वे एव लोकाः अजागरुः, अतः त्वमपि जागृहि इति वक्तुराशयः ॥ ५८ ॥

अन्वय —अंशुमान् . पाथोजविमुद्रप्रकरणे यत् दृष्टी निर्निद्रयति, यद् हरि जलरुहां सहस्रम् अक्ष्णा पूरयति स्म, तद् सरसीरुहां दृशाम् अपि वास्तव साजात्यम् अस्ति, यन्मूला चक्षुष पद्मोपमा कवितृभि आद्रियतेतराम् ।

हिन्दी—किरणमाली (सूर्य) कमलों के विकास के प्रकरण में जो (लोगों के) नेत्र (निद्रा त्याग कराकर) विकसित कर देता है (खोल देता है) और जो विष्णु ने कमलों के सहस्र (सहस्र संख्या) को अपने नेत्र से पूरा किया था, वह कमलों और नेत्रों की वास्तविक समानशीलता है, यन्मूलक (जिस लोक-नयन-विकास और हरि द्वारा एक सहस्र संख्या की पूर्ति के आधार पर) नेत्र की कमल से उपमा कवियों द्वारा सादर दी जाती है ।

टिप्पणी—कमल आकर्षक तो होते ही हैं, कोमल भी होते हैं, उनकी पत्तियों का आकार भी कुछ कुछ नेत्र से मिलता है, अत कमल नेत्र का परम्परागत उपमान है । यहाँ एक और कारण खोजा गया है । नेत्रों को कमल समान कहने कारण एक कारण तो यह है कि एक ओर सूर्य कमल-विकास करता है, दूसरी ओर लोक-जन के नेत्र भी विकसित—निद्रानिमीलन-हीन कर देता है । दूसरा कारण श्रीहरि का शिवार्चना करते समय कमल स्थान में अपना नेत्रार्पण कर देना है । लिङ्ग पुराण के अनुसार श्रीविष्णु शिवपूजा कर रहे थे, जिसमें एक सहस्र कमल चढ़ाने थे । चढ़ाते समय श्रीहरि ने पाया कि अर्पणार्थ एकत्र कमल ९९९ ही हैं, सहस्र में एक कम है, सो उसके स्थान में विष्णु ने अपना नेत्र समर्पित कर दिया । कमल स्थानीय नेत्र । इस प्रकार कमल को परम्परया नेत्र का उपमानभाव प्राप्त हो गया । इस पौराणिक कथा की पुष्टि 'शिवमहिम्नस्तोत्र' में भी है कि हरि ने शिव को एक सहस्र कमल अर्पित करते समय एक कमल की न्यूनता अपने नेत्र से पूरी की । बांगला कवि कृत्तिवास की 'रामायण' में राम द्वारा शक्तिपूजन में यह घटना कही गयी है । हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की इसी सम्बन्ध में 'राम की शक्ति पूजा' एक अत्यन्त ओज-स्विनी प्रसिद्ध कविता है । आशय यह है कि महाराज नल को भी अब जागना चाहिए, क्योंकि सूर्योदय हुआ, कमल खिले, , लोगों के नयन खिले ।

अवैमि कमलाकरे निखिलयामिनीयामिक-
श्रियं श्रयति यत् पुरा विततपत्त्रनेत्रोदरम् ।
तदेव कुमुदं पुनर्दिनमवाप्य गर्भभ्रमद्-
द्विरेफरवघोरणाघनमुपैति निद्रामुदम् ॥ ५९ ॥

जीवातु—अवैमीति । यत् कुमुदम्, कर्त्तृ । पुरा इतः पूर्वम्, कमलाकरे पद्माकरे सरसि, कमलायाः पद्मालयायाः लक्ष्म्याः, धनसम्पत्तिरूपायाः इति यावत् । आकरे वसतिस्थाने कोषागारे च, विततानि विस्तृतानि, पत्त्राणि दलानि एव, नेत्रोदराणि नयनमध्यानि यस्य तत् तादृशं सत्, निखिलायां समग्रायाम्, यामिन्यां रजन्याम्, यामिकः प्राहरिकः; प्रहरिरूपेण जागरूक इत्यर्थः । तस्य श्रियम् इव श्रियं शोभाम्, सादृश्यमित्यर्थः । इति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेदः । श्रयति भजते स्म । 'पुरि लुङ् चास्मे' इति चकाराद् भूते लट् । तदेव उक्तरूपमेव, कुमुदं कैरवम्, पुनः इदानीम्, दिनं दिवसम्, अवाप्य, गर्भे अभ्यन्तरे, भ्रमतां घूर्णमानानाम्, द्विरेफाणां भ्रमराणाम् प्रातःकाले कुमुदानां मुद्रणात् तदन्तरावस्थानामिति भावः । रवः शब्द एव, घोरणा निद्रितस्य घर्घरशब्दाविषयम्, नासागर्जनमिति भावः । घुरः भीमार्थशब्दयोः इति तौदादिकाद्भावे ल्युट् । तस्याः घनं गाढं यथा तथा, निद्रामुदं निद्रा निमीलनं स्वप्नश्च, तस्याः मुदं सुखम्, उपैति लभते, अवैमि इति मन्ये, इत्युत्प्रेक्षायाम् । । रात्रौ जागरितो हि दिवा निद्रातीति दृश्यते । अत्र एकस्मिन् कुमुदे अनेकयोर्निद्राजागरयोः क्रमेण प्रत्यभिधानात् 'एकस्मिन्नथवाऽनेकम्' इत्युक्तलक्षणपर्यायालङ्कारेण पूर्वोक्तनिदर्शना सङ्कीर्णा । पृथ्वीवृत्तं—'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः, इति लक्षणात् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—अवैमि यत् कुमुदं पुरा कमलाकरे विततपत्त्रनेत्रोदरं निखिलयामिनीयामिकश्रियं श्रयति तत् एव पुनः दिनम् अवाप्य गर्भभ्रमद्द्विरेफरवघोरणाघनं निद्रामुदम् उपैति ।

हिन्दी—समझता हूँ कि जो कुमुद (कैरव) ने पहिले कमला (लक्ष्मी) के आकर (कोषागार) के तुल्य कमल-सरोवर में दल-रूप पुतलियाँ फैलाये सम्पूर्ण रात्रि के प्रहरी की शोभा प्राप्त की थी (रात भर जाग कर पहिरा देने का कार्य किया था); उसी से वह अब (प्रभात में) फिर दिन को

प्राप्त कर भीतर भनभनाते भौंरों की गुञ्जाररूप घुर्राटों से प्रतीत होती गहरी नींद के आनंद (सुख) को प्राप्त कर रहा है।

टिप्पणी—कुमुद ने रात भर लक्ष्मी के कोषागार—कमलाकर (कमल-सरोवर) की जाग कर पहरेदारी की थी। रात में खिलने के कारण कुमुद दलों की खुले नेत्रों की पुतलियों के रूप में कल्पना की गयी है। रात भर आँखें जागने से खुली रहीं। अब प्रभात हुआ, चोरों का डर मिटा, सो प्रहरी व उत्तरदायित्व से मुक्त हो कुमुद गहरी नींद का सुख ले रहा है। रसपानार्थ एकत्र भीतर बन्द रह गये गुन-गुन करते, भनभनाते भौंरे मानो गाढ़ी नींद के द्योतक घुर्राटे हैं। 'अपैमि'—प्रयोग को मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा-वाचक माना है, उनके अनुसार एक कुमुद में अनेक निद्रा और जागरण के क्रम से प्रत्यभिधान होने कारण पर्याय अलंकार है और 'श्री के समान' 'श्री' में निदर्शना है, अतएव यहाँ पर्याय और निदर्शना का सङ्कर है। पृथ्वी छन्द है।

इह किमुषसि पृच्छाशंसिकिंशब्दरूप-
प्रतिनियमितवाचा वायसेनैष पृष्टः।
भण फणिभवशास्त्रे तातङ स्थानिनौ का-
विति विहिततुहीवागुत्तरः कोकिलोऽभूत्? ॥ ६० ॥

जीवातु—इहेति। इह अस्मिन्, उषसि प्रभाते, पृच्छा प्रश्नम्, शंसति सूचयतीति पृच्छाशंसी प्रश्नवाचकः। 'प्रश्नेऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः। तादृशस्य किं शब्दस्य किमिति सर्वनामपदस्य, रूपे रूपविशेषे, कौ इति प्रथमाद्विवचनान्तपदनिष्पत्तौ, प्रतिनियमिता सदैव निर्दिष्टा, वाक् वाक्यं यस्य तादृशेन, काविति व्यक्तवाक्येनेत्यर्थः। वायसेन काकेन, फणिनि शेषाहौ, भवे उत्पन्ने, शेषप्रणीते इत्यर्थः। शास्त्रे पाणिनीये महाभाष्ये, तातङादेशस्य, स्थानिनौ आदेशिनौ कौ? किं शब्दौ? भण ब्रूहि, इति एवम्, पृष्टः जिज्ञासितः, इवेति शेषः। एषः पुरस्तो वृक्षशाखायामुपविष्टः इत्यर्थः। कोकिलः पिकः, विहितः प्रयुक्तम्, तुही तुश्च हिश्च तुही इति, वाक् निजध्वनिरव, उत्तरं प्रतिवचनं यस्य सः तादृशः, अभूत् अजनि, किम्? 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' इति पाणिनिसूत्रे तुह्योः स्थाने तातङ् विधीयते, प्रातः काकः कौ इति शब्देन तातङः स्थानिनौ कौ इति पृच्छति किम्? कोकिलश्च

तुही इति शब्देन तस्य उत्तरं ददाति किम् ? इत्यर्थः । पक्षिप्रभृतीनामव्यक्त-ध्वनी यस्य चेतसि यदुदेति स तथैव मनःकल्पितं प्रकाशयति, एवञ्च कविरयं तदा काकध्वनिं 'कौ' इति कोकिलध्वनिञ्च 'तुही' इति कल्पयित्वा काविति तुहीति च काककोकिलकूजितेन पूर्वोक्तप्रश्नोत्तरत्वमुत्प्रेक्षते । प्रभातं जातं काकादयः पक्षिणः कूजन्तीति भावः ॥ ६० ॥

अन्वयः—इह उपसि पृच्छाशंसिकिंशब्दरूपप्रतिनियमितवाचा वायसेन 'भण, फणिभवशास्त्रे तातङः स्थानिनौ कौ'—इति पृष्टः एषः कोकिलः विहिततुहीवागुत्तरः अभूत् ।

हिन्दी—यहाँ उषः काल में प्रश्नवाचक 'किम्' शब्द के निष्पन्न रूप विशेष (प्रथमा-द्विवचन) में प्रतिक्षण 'कौ-कौ' बोलते काक-द्वारा 'बोल, शेषोत्पन्न शास्त्र (व्याकरण शास्त्र) में 'तातङ्' के स्थानभूत कौन हैं ?'—ऐसा पूछे जाने पर इस (वृक्षस्थित) का मिलने 'तुहि, तुहि' बालकर उत्तर दिया।

टिप्पणी—उषः काल होते ही पक्षी चहचहाने लगते हैं । काक 'कौ कौ' बोलते हैं, कोकिल 'तुहि तुहि ।' इसी पर एक व्याकरण शास्त्र से सम्बद्ध कल्पना की गयी है । व्याकरण शास्त्र को 'शेष'-शास्त्र कहा जाता है, क्योंकि 'मुनित्रय' (पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि) में संमान्य 'महाभाष्य'-कार पतञ्जलि को शेषावतार कहा जाता है । शेष-शास्त्र व्याकरण के अनुसार आशीर्वादात्मक होने पर लोट् लकार के अन्य पुरुष और मध्यमपुरुष एकवचन में धातु से 'तु' और 'हि' लगते हैं, उदाहरणार्थ 'भू' धातु मे 'तु' लगाकर 'भवतु' बनता है और 'हि' लगकर 'भव' ('हि' का 'अतो हेः', अष्टा० ६।४।१०५ नियम द्वारा लोप होकर) निष्पन्न होता है । इन 'भवतु' और 'भव' के 'तु' और 'हि' (लुप्त) के स्थान में विकल्प से 'तातङ्' आदेश भी होता है—'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' (अष्टा० ७।१।३५) । और इस प्रकार 'भवतु' और 'भव' के स्थान में विकल्प से 'भवतात्' रूप भी बनता है । यहाँ यही उद्भावना की गयी है कि कौआ पूछता है—'कौ कौ ?' (प्रश्नवाचक 'किम्' शब्द का प्रथमा द्विवचन), अर्थात् 'तातङ्' आदेश किन के स्थल मे होता है । कोकिल का उत्तर है—'तु हि, तुहि', अर्थात् 'तु' और 'हि' के स्थान में 'तातङ्' होता है । 'तु' और 'हि' 'स्थानी' हैं, 'स्थान'

अर्थात् 'प्रसग', वह जिनका हो, वह 'स्यानी' (स्यान+इनि =स्थानी), और 'तातङ्' आदेश, जो 'तु, हि' स्थानिया के स्थान पर होता है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा । मालिनी छन्द ॥ ६० ॥

दाक्षीपुत्रस्य तन्त्रे ध्रुवमयमभवत् कोऽप्यधीती कपोत·
कण्ठे शब्दौघसिद्धिक्षतबहुकठिनीशेषभूषाऽनुयात ।
सर्वं विस्मृत्य देवात् स्मृतिमुपसि गता घोषयन् यो घु सञ्ज्ञा
प्राक्सस्कारेण सम्प्रत्यपि धुवति शिर पट्टिकापाठनेन ॥६१॥

जीवातु—दाक्षीति । अप परिदृश्यमान , क अपि अपरिज्ञातपूर्ववृत्तान्त इत्यर्थ । कपोतः पारावत , दाक्षीपुत्रस्य दक्षगोत्रसञ्जातमातृकस्य दाक्षीनाम कन्यागर्भजातस्य वा पाणिने, दक्षस्यापत्यम् 'अत इञ्' इति इञि 'इतो मनुष्यजाते' इति ङीष् । तन्त्रे शास्त्रे व्याकरणे, ध्रुव निश्चतमेव, अधीतम् अध्ययनम् अस्य अस्तीति अधीती दाक्षीपुत्रतन्त्राध्ययनकारी इत्यर्थ । 'इष्टा-दिभ्यश्च' इतीनिप्रत्यय , 'क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम्' इति सप्तमी । अभवत् अजायत । य कपोत, कण्ठे निजगलदेशे, शब्दौघेपु 'राम रामौ रामा' इत्यादि प्रातिपदिकसमूहेपु सिद्ध्यर्थं शिक्षालाभार्थम्, क्षता प्रस्तरफल कादौ पुन पुन लिखनेन क्षय प्राप्ता, बह्वी प्रभूता, या कठिनी खटी । 'कठिनी खटिकायामपि' इति मेदिनी । तस्या शेष अवशिष्टांश, स एव भूषा आभरणम् तयाऽनुयात अन्वित , रूषित सन् इत्यर्थ । इवेति शेष खटिकाचूर्णशेषरेखया कण्ठे अनुरञ्जित सन्निवेश्यर्थ । कपोतविशेषस्य कण्ठे धवलरेखा भवति, तत्र खटिकाचूर्णानुरञ्जनत्वाध्यवसायो बोध्य । सर्वम् अधीत समस्तशास्त्रम् । विस्मृत्य तिर्यग्योने सम्बन्धात् विस्मृतो भूत्वा, पट्टिकापाठनेन पट्टिकाया प्रस्तरफलकादौ, पाठनेन लिखितविषयस्य अध्या-पनाजनितेन, प्राक्सस्कारेण पूर्वतनवासनया, पूर्वाभ्यासवशेनेत्यर्थ । दैवात् सहसा, स्मृति स्मरणविषयताम् , गता प्राप्ताम् , घुसञ्ज्ञा 'दाधा घ्वदाप्' इति सूत्रोक्ता घु इति सञ्ज्ञाम् , घोषयन् 'घु' इति शब्देन उच्चैः उच्चारयन्, सम्प्रति अधुनाऽपि, उपसि प्रात काले, शिर मस्तकम् , धुवति कम्पयति, इत्युत्प्रेक्षा । लोकेऽपि दृश्यते यत् कश्चित् विस्मृतस्य कस्यचित् विषयस्य स्मरणकाले मस्तक कम्पयतीति ॥ ६१ ॥

अन्वयः—अयं कः अपि कपोतः दाक्षीपुत्रस्य तन्त्रे ध्रुवम् अधीती अभवत्, यः कण्ठे शब्दौघसिद्धिक्षतबहुकठिनीशेषभूषाऽनुयातः सर्वं विस्मृत्य पट्टिकापाठनेन प्राक्संस्कारेण दैवात् स्मृतिं गतां घुसंज्ञां घोषयन् सम्प्रति अपि शिरः धुवति।

हिन्दी—यह (सम्मुख शब्द करता) कोई कबूतर दाक्षीपुत्र (पाणिनि) के तंत्र (व्याकरण विद्या) का निश्चयपूर्वक अध्येता रहा होगा, जो कंठ (गले) में शब्द-समूह को सिद्ध करने (सीखने) के लिए (लिख-लिखकर) बहुत सारी खरिया का प्रयोग कर उसके शेषभाग (चूरे) का शृङ्गार कर (लगाकर), सब (याद किया) भूल, पाटी पर (लिख-लिख अभ्यास करते) पढ़ने से पूर्व संस्कारवश भाग्य से (अकस्मात्) स्मरण हो आयी 'घु'-संज्ञा का घोष करता हुआ इस समय भी सिर धुन रहा है।

टिप्पणी—प्रभात वेला में कबूतर 'घु घु' शब्द किया करते हैं, उनकी ग्रीवापर प्रायः एक सफेद धारी भी हुआ करती है। इस पर भी एक व्याकरण-शास्त्रीय कल्पना है। 'घु घु' करता यह कबूतर निश्चय ही पूर्वजन्म में व्याकरण का अध्येता रहा होगा। बड़े परिश्रम से पाटी पर खरिया से लिख-लिखकर अभ्यास किया होगा। इसके गले पर खिंची सफेद धारी, जो सतत लगती रही और उसका चिह्न इस जन्म में भी रह गया। पक्षी रूप में जन्म से और सब पढ़ा-लिखा तो विस्मृत हो गया, भाग्य वश पूर्वजन्म के संस्कार से केवल 'घु' संज्ञा याद हो जाती है, वही बारम्बार सिर कँपाता-कँपाता रट रहा है। पाठ याद करते समय प्रायः रटवे छात्र सिर हिलाया करते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि विस्मृत का स्मरण हो आने पर लोग सिर हिलाने लगते हैं। ऐसा ही कबूतर भी कर रहा है। पाणिनी सूत्र 'दाधाघ्वदाप्' (अष्टा० १।१।२०) दारूप और धारूप धातुओं की 'घु'-संज्ञा करता है। घु संज्ञा होने से फिर अनेक कार्य होते हैं, जैसे 'घ्वसोरेद्धावभ्यास-लोपश्च' (अष्टा० ६।४।११९) द्वारा एत्व और अभ्यास-लोप होता है, जिससे 'एधि' निष्पन्न होता है, 'देहि' बनता है। 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (अष्टा० ६।४।६६) द्वारा आकार को ईकार होता है और 'अध्यगीष्ट' निष्पन्न होता है आदि-आदि। नारायण और मल्लिनाथ के अनुसार-उत्प्रेक्षा। स्रग्धरा वृत्त ॥ ६१ ॥

पौरस्त्याया घुसृणसुमन श्रीजुषो वैजयन्त्या-
स्तोकैश्चित्त हरति हरिति क्षीरकण्ठैर्मयूखैः ।
भानुर्जाम्बूनदरुचिरसौ शुक्रसौधस्य कुम्भः
स्थाने पान तिमिरजलधेर्भामिरेतद्भवाभिः ॥ ६२ ॥

जीवातु—पौरस्त्यायामिति । जाम्बूनदरुचि उदयरागात् कनककान्ति, अत एव शक्रसौधस्य पूर्वदिगवस्थितस्य इन्द्रप्रासादस्य वैजयन्तस्य, कुम्भ. सौधाग्रवर्तिकनककलशरूप इति रूपकम् । असौ परिदृश्यमान, भानु सूर्यः, पुरो भवाया पौरस्त्याया प्राच्याम् । 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' इति त्यक्, 'किति च' इति वृद्धि । हरिति दिशि, घुसृणस्य कुङ्कुमस्य, सुमनसा पुष्पाणाम्, या श्री शोभा, तज्जुष तत्सेविन्याः, रक्तवर्णाया। इत्यर्थः । वैजयन्त्या, पताकाया, तोकैः अपत्यैः, पताकाया अपत्यसदृशैरित्यर्थ । 'अपत्य तोक तयोः समे' इत्यमरः । क्षीरकण्ठैः दुग्धपायिभिः बालैः, मयूखैः किरणैः, चित्त मन, हरति मुष्णाति, मनोहर भवतीत्यर्थः । किञ्च एतस्मात् कुम्भरूपात् भानो, भवति जायते इति ताभिः एतद्भवाभिः कुम्भोत्पन्नाभि, भाभि प्रभाभि, तिमिरजलधेः अन्धकारसमुद्रस्य, पान चुलुकीकरणम्, विनाशनमिति यावत् । 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति कर्मणि षष्ठी । स्थाने युक्तम् । 'युक्ते द्वे साम्प्रत स्थाने' इत्यमर । कुम्भसम्भवः अगस्त्यः यथा चुलुकेन जलधि पपौ, तथा तदपत्यस्यापि कुम्भसम्भवस्य जलधिपानमुचितमेवेति भाव । रूपकालङ्कारः ॥ ६२ ॥

अन्वय.—जाम्बूनदरुचि शक्रसौधस्य कुम्भ असौ भानु पौरस्त्यायां हरिति घुसृणसुमन श्रीजुषः वैजयन्त्याः तोकैः क्षीरकण्ठैः मयूखैः चित्त हरति, एतद्भवाभि भाभि तिमिरजलधेः पान स्थाने ।

हिन्दी—स्वर्णाभ, इंद्र के प्रासाद का कलश यह सूर्य पूर्व दिशा में कुंकुम पुष्पों की शोभा-सपन्न (लाल रंग की) पताका के बालकों-सदृश दूध पीती किरणों (दूधपीती बच्चियों-सी कोमल) द्वारा मनोहरण कर इस (सूर्य) से उत्पन्न प्रभाओं द्वारा अंधकार-सागर का पान अत्यन्त उचित है ।

टिप्पणी—आशय यह कि पूर्व में उदित, अतएव पूर्वादिशा के लोकपाल इन्द्र के उसी दिशा में स्थित प्रासाद के शिखर पर स्वर्ण-कलश से प्रतीत होते सूर्य की बालारुण किरणें प्रासाद की लाल-लाल पताकाओं सदृश लग रही हैं, जिन्हें देखकर चित्त जैसे हरा गया प्रतीत होता है। सूर्य को क्योंकि स्वर्णकुम्भ कहा गया है और ये किरणें उस कुम्भ की 'होम' (संतान) अर्थात् कुम्भ से जात हैं, अतएव कुम्भजन्मा अगस्त्य के समान इन्होंने जो अन्धकार का समुद्र पी लिया, सो ठीक ही तो हुआ। एक कुम्भज अगस्त्य ने सागर-पान कर लिया, तो अन्य कुम्भज भी वैसा ही करे, इसमें नया क्या है? मल्लिनाथ के अनुसार रूपकालंकार। मन्दाक्रान्ता छन्द।

द्वित्रैरेव तमस्तमालगहनग्रासे दवीभावुकै-
रस्त्रैरस्य सहस्रपत्रसदसि व्यश्राणि घस्रोत्सवः।
धर्माणां रयचुम्बितं वितनुते तत् पिष्टपिष्टीकृत-
क्ष्मादिग्व्योमतमोऽघमोघमधुना मोघं निदाघद्युतिः॥ ६३॥

जीवातु—द्वित्रैरिति। तमः अन्धकारः एव, तमालगहनं तुल्यवर्णत्वात् तमालाख्यवृक्षाणां गभीरं वनम्, तस्य ग्रासे गिलने, दूरीकरणे इत्यर्थः। दवीभावुकैः आरण्यवह्नीभवद्भिः। 'दवदावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमरः। अभूततद्भावे च्विः, 'अस्य च्वौ' इतीकारः। 'लषपत—' इत्यादिना उकञ् प्रत्ययः। अस्य निदाघद्युतेः, द्वौ वा त्रयः वा द्वित्राः। 'संख्ययाऽव्यया—' इत्यादिना बहुव्रीहिः. 'बहुव्रीहौ संख्येये—' इति डच्समासान्तः। तैरेव द्वित्रिसंख्यकमात्रैरेव, उस्रैः करैः। कर्तृभिः। सहस्रपत्रसदसि कमलसभायाम्, पद्मसमूहे इत्यर्थः। यस्मात् घस्रोत्सवः दिनानन्दः, विकाशप्राप्तिजन्यमानन्दानुभवमित्यर्थः। व्यश्राणि व्यश्राणित, प्रदत्तः इत्यर्थः। श्रण दाने इत्यस्य कर्मणि चिण्। तत् तस्मात्, द्वित्रिसंख्यककिरणैरेव सर्वकार्यसाधनात् हेतोरित्यर्थः। निदाघद्युतिः सूर्यः, पिष्टपिष्टीकृतं पिष्टस्य चूर्णीकृततण्डुलादेः, पिष्टीकृतम् पुनः पेषणवत्कृतम्, द्वित्रैरेव मयूखैः अन्धकारं दूरीकृतमपि पुनः मयूखान्तरैः अत्यर्थं दूरीकृतमित्यर्थः। क्ष्मादिग्व्योमतमः पृथिवीककुब्गगनानाम् अन्धकारमेव, अघं पापम्, मालिन्यावहत्वादिति भावः। येन तादृशम्। 'पापं किल्बिष-कल्मषम्। कलुषं वृजिनैनोऽघमंहो दुरितदुष्कृतम्' इत्यमरः। रयचुम्बितं

वेगव्याप्तम्, वेगेन प्रसरणशीलमित्यर्थः। घर्माणाम्, आतपानाम्, ओघं समूहम्, अधुना प्रातः, मोघं व्यर्थम् एव, वितनुते विस्तारयति करोतीत्यर्थः। घनान्धकारनाशस्य कमलविकाशस्य च प्राभातिकैः द्वित्रैरेव किरणैः कृतत्वात् किरणसमूहविकिरणं सूर्यस्य पिष्टपेषणवत् निष्प्रयोजनमिति भावः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—तमस्तमालगहनग्रासे दवीभावुकैः अस्य द्वित्रैः एव उदैः सहस्रपत्रसदसि घस्रोत्सवः व्यधायि तत् निदाघद्युतिः पिष्टपिष्टीकृतक्ष्मादिग्व्योमतमोऽघः रयचुम्बितं घर्माणाम् ओघम् अधुना मोघं वितनुते।

हिन्दी—अन्धकार रूप (काले वृक्ष) तमाल के वनों को ग्रास बनाने (दूर करने) में वनाग्नि बनती इस (सूर्य) की दो-तीन ही किरणों ने सहस्रदल कमलों की सभा (समूह) में दिन का (खिल आने के कारण प्राप्त) आनन्दोत्सव मनवा दिया, अतएव ग्रीष्मकांति (सूर्य) पुनः पुनः पीस कर धरती, दस दिशाओं और गगन के अन्धकार-रूप पाप को चूर कर देने वाले, वेग से प्रसरित होते जलाती गरम किरणों के समूह का इस समय (प्रभात में) व्यर्थ ही विस्तार कर रहा है।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि सूर्य की तीव्र किरणों से अन्धकार नष्ट हो गया और धूप अब वेग से फैल रही है। अब निद्रालीन रहने का औचित्य नहीं है। कमल वन भी जाग चुके हैं। दिन पूर्णतया हो गया। तम को वर्ण-सादृश्य के आधार पर तमाल कानन कहा गया, और उसे दूर कर देने वाले सूर्य-करों को दावाग्नि, अर्थात् तमाल-रूप तम का किरणों ने समूल नाश कर दिया और (दूसरा कार्य) कमल-वन विकास भी कर दिया। ये दोनों कार्य तो सूर्य ने दो-तीन हाथ जमा कर (दो-तीन किरणों द्वारा ही) कर डाले थे, अब व्यर्थ उत्ताप का विस्तार कर रहा है। अन्धकार-पाप ताप तो नष्ट हो गया। अब यह 'घमौघ' का प्रसार पिष्टपेषण ही है। निष्प्रयोजन। शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥ ६३ ॥

दूरारूढस्तिमिरजलधेर्वाडवश्चित्रभानु-
र्भानुस्ताम्यद्घनरुहवनीकेलिवैहासिकोऽयम्।
न स्वात्मीयं किमिति दधते भास्करस्येतिभान्त
धामग्राप घुमणिकिरणश्रेणयः शोणयन्ति ॥ ६४ ॥

जीवातु—दूरेति। तिमिरजलधेः तमःसमुद्रस्य, असीमत्वकृष्णवर्णत्वसादृश्यादिति भावः। वाडवः समुद्रगर्भस्थाश्वमुखोद्गतः, चित्रभानुः अनलः, वडवाग्निरूप इत्यर्थः। तिमिरसंहर्ता इति यावत्, तथा ताम्यन्त्याः विलश्यन्त्याः, पतिविच्छेदेन निशि क्लेशमनुभवन्त्या इत्यर्थः, वनरुहवन्याः जलजवनसमूहस्य, पद्मवनस्य इत्यर्थः। केलिषु क्रीडासु, विहासः मध्यमहसितं प्रयोजनं यस्य स तादृशः इति वैहासिकः विकासरूपहास्यजनकः। 'प्रयोजनम्' इति ठञ्। अयं परिदृश्यमानः, भानुः सूर्यः, दूरं विप्रकृष्टदेशम्, आरूढः उत्थितः। द्युमणेः रवेः, किरणश्रेणयः मयूखपङ्क्तयः, अद्यापि इदानीमपि, द्याम् आकाशम्; शोणयन्ति शोणाम् अभिनवत्वेन अरुणवर्णत्वेन अरुणवर्णत्वात् अरुणवर्णां कुर्वन्तीत्यर्थः। इति एवम्, अपीति शेषः। इदानीमपि दिवः शोणतासम्पादने कृतेऽपीत्यर्थः। स्वात्मीयं निजम् भास्वरम् अत्युज्ज्वलम्, श्वेतिमानं श्वैत्यम्, प्रोज्ज्वलशुभ्रवर्णमित्यर्थः। न दधते किम्? न धारयन्ति किम्? अपि तु सत्वरमेव धारयिष्यन्तीत्यर्थः। तस्मात् अभ्युदयमुचितः काल इति निष्कर्षः॥ ६४॥

अन्वयः—तिमिरजलधेः वाडवः चित्रभानुः ताम्यद्वनरुहवनीकेलिवैहासिकः अयं भानुः दूरारूढः, द्युमणिकिरणश्रेणयः अद्य अपि द्यां शोणयन्ति—इति किं स्वात्मीयं भास्वरश्वेतिमानं न दधते।

हिन्दी—अन्धकार-सागर का बडवानल, खिन्नता प्राप्त करती वन-कमलिनीवनी को क्रीडा-विलास से हँसानेवाला (खिलानेवाला) यह सूर्य दूर तक (आकाश में) चढ़ गया, और इस गगन-मणि (सूर्य) का किरण-समूह आज (प्रभात में) भी गगन को लाल बना रहा है—इस प्रकार क्यों यह अपनी प्राकृतिक दमकती शुभ्रता (उज्ज्वल शुक्लता) को धारण नहीं कर रहा है?

टिप्पणी—अन्धकार पूर्णतः सूर्य ने सुखा दिया, इसीलिए सूर्य को अन्धकार-समुद्र को सुखा देनेवाला वडवाग्नि कहा गया। मुँदी वन-कमलिनियों को उसने खिला दिया, अतएव वह कमलिनीवनी-सुन्दरी का क्रीडा-नर्मकारी, हेलयैव विकासक प्रिय है। यद्यपि सूर्य ऊँचे चढ़ गया, तथापि गगन में अभी लाली शेष है। प्रतीत होता है कि अपने देदीप्यमान शुभ्र तेज

को अभी यह सूर्य नहीं प्राप्त हुआ है। आशय यह कि अब भी उठ जाने में उतना विलम्ब न माना जायेगा, पर अब शीघ्रता अपेक्षित है। थोड़ी देर में सूर्य और तीव्र हो जाएगा, भास्वर-श्वेत, दमकती शुभ्रता से सम्पन्न। मन्दाक्रान्ता छन्द ॥ ६४ ॥

प्रातर्वर्णनयाऽनया निजवपुर्भूषाप्रसादानदाद्
देवी व परितोषितेति निहितामान्त पुरीभि पुरः।
सूता मण्डनमण्डली परिदधुर्माणिक्यरोचिर्मय
क्रोधावेगसरागलोचनरुचा दारिद्र्यविद्राविणीम् ॥ ६५ ॥

जीवातु—प्रातरिति। हे वन्दिन! अनया युष्माभिरुक्तया, प्रातर्वर्णनया प्रभातवर्णनेन, परितोषिता प्रीणिता, देवी महिषी दमयन्ती, व युष्मभ्यम्, निजवपुष' स्वाङ्गस्य, निजव्यवहार्याणि अत एव बहुमूल्यानीति भाव: भूषा आभरणानि एव, प्रसादान् पारितोषिकाणि, अदात् दत्तवती। देवी अदात् इत्यनेन पूर्वमेव प्रात सन्ध्याचरणार्थं नलस्य प्रासादात् प्रस्थानं सूचितमिति बोध्यम्। इति इत्थम्, उक्त्वेति शेषः। गम्यमानार्थत्वात् अप्रयोग। आन्त.पुरीभि अन्त पुरिकाभि, अन्त पुरे नियुक्ताभि सहचरीभिरित्यर्थं। "तत्र नियुक्त" इति ठक्। पुर अग्रे, वैतालिकानामिति भावः। निहिता स्थापिताम्, माणिक्यरोचिर्मय्या पद्मरागप्रभारूपया, क्रोधावेगेन दारिद्र्य प्रति कोपवशेनैव, सरागया रक्तवर्णया, लोचनरुचा नेत्रभासा, मण्डनमण्डल्या एव प्रमयेति भाव। दारिद्र्यस्य निर्धनतायाः, विद्राविणीम् उच्चाटनीम्, बलेन दूरीकुर्वतीमिव स्थितामित्यर्थं इत्युत्प्रेक्षा। मण्डनमण्डलीम् आभरणराशिम्, सूता वन्दिन.। 'सूतो मागधवन्दिनो' इति विश्व। परिदधु स्वाङ्गे धारयामासु ॥ ६५ ॥

अन्वय—अनया प्रातर्वर्णनया परितोषिता देवी व निजवपुर्भूषाप्रसादान् अदात् इति आन्त पुरीभि पुर निहितां माणिक्यरोचिर्मयक्रोधावेगसरागलोचनरुचा दारिद्र्यविद्राविणीं मण्डनमण्डली सूता. परिदधुः।

हिन्दी—इस प्रभात वर्णन से पूर्णत तुष्ट देवी (महारानी दमयन्ती) ने तुम्हें (वैतालिकों को) अपने शरीर के आभूषणों का प्रसाद (पारितोषिक) दिया है—इस प्रकार (कहकर) अत पुर की सेविकाओं द्वारा समुख रखे

रखी, पद्मराग मणि की (लाल) कान्ति-रूप क्रोधावेग के कारण लाल नेत्र-प्रभा द्वारा दरिद्रता का विद्रावण (उच्चाटन, पूर्णनाश) करनेवाली आभूषण-राशि को वैतालिकों ने पहिन लिया ।

टिप्पणी—वैतालिकों ने जो प्रभात-वर्णन किया, उससे संतुष्ट महादेवी दमयन्ती ने अपने उस समय पहिने पर्याप्त आभूषण चारणों को पारितोषिक रूप में अपनी दासियों द्वारा भिजवा दिये । पद्मरागमणि-जटित वे आभूषण इतने मूल्यवान् थे कि जन्म-जन्म की दरिद्रता मिट जाय । दरिद्रता के विद्रावणार्थ क्रोधावेग की परिकल्पना माणिक्य मणियों की लाली के रूप में की गयी है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है । इससे सूचित होता है कि महादेवी दमयन्ती यथासमय जाग गयी थीं, तभी उन्होंने चारणों की प्रभाती सुनी और उन्हें पुरस्कार दिया ॥ ६५ ॥

> आगच्छन् भणतामुपः क्षणमथातिथ्यं दृशोरानशे
> स्वर्गङ्गाम्बुनि वन्दिनां कृतदिनारम्भाप्लुतिर्भूपतिः ।
> आनन्दादतिपुष्पकं रथमधिष्ठाय प्रियायौतुक-
> प्राप्तं तैरवरागतैरविदितप्रासादतो निर्गमः ॥ ६६ ॥

जीवातु—आगच्छन्निति । अथ दमयन्त्याः प्रसाददानानन्तरम्, अवरागतैः अवरं पश्चात्, स्नानार्थं नलस्य बहिर्गमनानन्तरमित्यर्थः । आगतैः उपस्थितैः, नलस्य निद्रापनयनार्थं प्रासादे इति शेषः । तैः वैतालिकैः, अविदितः अज्ञातः, पश्चादागतत्वादिति बोध्यम्, प्रासादतः हर्म्यात्, निर्गमः बहिर्निष्क्रमणं यस्य स तादृशः, भूपतिः पृथ्वीशः नलः, स्वर्गङ्गाम्बुनि मन्दाकिनीप्रवाहे, कृतदिनारम्भाप्लुतिः कृता सम्पादिता, दिनारम्भस्य प्रभातकालस्य, आप्लुतिः निमज्जनम्, स्नानमित्यर्थः, येन स तादृशः, कृतप्रातःस्नानः सन्, एतेन नलस्य महाधार्मिकत्वं प्रतिपाद्यते । प्रियायाः भैम्याः, यौतुके विवाहकालिकोपाहरणे, प्राप्तं लब्धम्, भीमदत्तमित्यर्थः । अतिक्रान्तपुष्पकम् अतिपुष्पकं पुष्पकादपि उत्कृष्टमित्यर्थः । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः, 'द्विगुप्रा-प्तापन्नालम्'—इत्यादिना 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इति प्राप्तस्य परवल्लिङ्गत्वस्य प्रतिषेधः । रथं स्यन्दनम्, अधिष्ठाय आस्थाय । 'अधिशीङ्—' इत्याधारस्य कर्मत्वम् । आनन्दात् हर्षात्, दमयन्तीसमागमाशया इति भावः ।

आगच्छन् प्रत्यावर्त्तमान सन्, उप प्रभातकालम्, भणतां तथैव वर्णयताम्, वन्दिनां वैतालिकानाम्, दृशो नेत्रयो दृशाम् इत्यर्थं । आतिथ्यम् आगन्तुकत्वम्, विषयत्वमिति यावत्, क्षण किञ्चित्कालम्, सौधान्त प्रवेशात् पूर्वपर्यन्तमित्यर्थ । आनशे प्राप्त, तदृंश इत्यर्थ 'अत आदे' इत्यभ्यासदीर्घ, 'अश्नोतेश्च' इति नुडागम अत एव नलस्य स्नानार्थ गमनात् पूर्वश्लोके देव्यैव पारितोषिक दत्तमित्युक्तम् ॥ ६६ ॥

अन्वय —अथ नवरागतैः तं अविदितप्रासादतः निर्गमं स्वर्गङ्गाम्बुनि कृतदिनारम्भप्लुति भूपति प्रियायौतुकप्राप्तम् अतिपुष्पक रथम् अधिष्ठाय आनन्दात् आगच्छन् उप भणतां वन्दिनां दृशो आतिथ्य क्षणम् आनशे ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (दमयन्ती से प्राप्त आभूषणों के धारणानन्तर) बाद में आये उन वैतालिकों द्वारा जिसका प्रासाद से बाहर जाना (बाहर निकल जाने के पश्चात् आने के कारण) नहीं ज्ञात हुआ था और जिसने स्वर्ग की गंगा (मंदाकिनी) में दिन के आरम्भ (प्रभात) मे ही गोता लगा लिया था (स्नान कर लिया था), ऐसा पृथ्वी का स्वामी (नल) प्रिया (दमयन्ती) के (विवाह में) दहेज मे प्राप्त, कुबेर के पुष्पक विमान से भी तीव्रगामी रथ पर बैठकर आनन्द से लौटकर आता हुआ प्रभात-वर्णन करते चारणों के नेत्रों के अतिथि भाव को क्षण भर को प्राप्त हुआ ।

टिप्पणी—महाराज नल 'तृतीयपुरुषार्थवारिधि पारलमनन्तरी' प्रिया दमयन्ती के 'रमण' ही नहीं थे, पूर्ण सदाचारी और धर्मपरायण थे । वे वंदिजनों के प्रभातवर्णना के निमित्त प्रासाद म आने के पूर्व ही नित्यनैमित्तिक कृत्यों को पूर्ण करने के लिए बाहर निकल गये थे । व पुष्पक से भी तीव्रगामी रथ पर आरूढ हो स्वर्गंगा मन्दाकिनी और पहुँच सूर्योदय से पूर्व स्नानादि भी कर चुके थे । महारानी दमयन्ती से प्राप्त आभूषणों को अब धारण पहिन रहे थे, उन्होने देखा कि महाराज तो वापस आ रहे हैं । क्षणभर को अपने पुण्यश्लोक महाराज के दर्शन प्राप्त हो गये । नारायण के अनुसार यहाँ आगामी सर्ग की कथा सगति भी सूचित कर दी गयी है ॥ ६६ ॥

श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुत
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।

एकां न त्यजतो नवार्थघटनामेकान्नविंशो महा-
काव्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गोऽयमस्मिन्नगात् ॥ ६७ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति । एकां मुख्याम्, नवार्थघटनाम् अपूर्वार्थसृष्टिम्, न त्यजतः न मुञ्चतः, सर्वदा नवं नवं विषयं वर्णयत इत्यर्थः । तस्य श्रीहर्षस्य, विंशतेः पूरणः इत्यर्थे—'तस्य पूरणे डट्' इति डट्, 'ति विंशतेर्डिति' इति तिशब्दलोपः । ततः एकेन न विंशः इति 'तृतीया' इति योगविभागात् समासे 'एकादिश्चैकस्य चादुक्' इति नञः प्रकृतिभावः, एकशब्दात् अदुगागमश्च । ऊनार्थे चात्र नञ् । गतमन्यत् ॥ ६७ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु'समाख्याने एकोनविंशः सर्गः समाप्तः ।

अन्वयः—पूर्वार्द्धस्य पूर्ववदन्वयः । एकां नवार्थघटनां न त्यजतः तस्य कृतौ, महाकाव्ये अस्मिन् नलीयचरिते एकात् नविंशः अयं सर्गः अगात् ।

हिन्दी—पूर्वार्द्ध का पूर्ववत् । एक भी मुख्य नवीन घटना को न छोड़ते उस (कवि श्रीहर्ष) की रचना महाकाव्य इस नलचरित (नैषधीयचरित) में एक से न्यून बीसवाँ (उन्नीसवाँ) यह सर्ग पूर्ण हुआ ।

टिप्पणी—कवि श्रीहर्ष का यहाँ यह कथन है कि वह एक भी आवश्यक, अवश्यवर्णनीय 'वस्तु' का त्याग नहीं करता और नये-नये सन्दर्भों में 'नूतन' सृष्टि करता है ॥ ६७ ॥

नैषधीयचरिते एकोनविंशः सर्गः समाप्तः ।

विंशः सर्गः

सौधाद्रिकुट्टिमनेकधातुकाधित्यकातटम् ।
स प्राप रथपाथोभृद्वातजातजवो दिवः ॥ १ ॥

जीवातु—सौधेति । वातवत् वायुरिव, जातः समुत्पन्न, जवः वेगः यस्य सः तादृशः, अन्यत्र—वातात् वायो, जात उत्पन्न, जवः वेगो यस्य स तादृश, सः पूर्वोक्त अतिपुण्यक, रथः स्यन्दन एव, पाथोभृत् जलधरः; दिवः स्वर्गात् आकाशाच्च । 'द्यौश्च स्वर्व्योममार्गयोः' इति विश्वः । सौधः अट्टः एव, अद्रिः पर्वतः, तस्य कुट्टिमम् उपरिगृहेषु विविधरत्नादिनिबद्ध-भूमि । 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः' इत्यमरः । तदेव अनेके धातवः नानाविध-गैरिकादयः यत्र सा तादृशी । 'शेषाद्विभाषा' इति कप् । अत्यधिका ऊर्ध्व-भूमिप्रदेशः, तस्या तटं पर्यन्तप्रदेश शिखरञ्च, प्राप लेभे । रूपकालङ्कार ॥१॥

अन्वयः—वातजातजव सः रथपाथोभृत् दिवः सौधाद्रिकुट्टिमानेकधातु-काधित्यकातटं प्राप ।

हिन्दी—वायु से वेग पाए बादल के समान वायु के सदृश वेगवान् वह (नल का) रथ (रथरूपबादल) 'द्यौ' (आकाश-स्वर्ग) से प्रासाद रूप पर्वत की नानावर्णा अनेकमणिबद्धभूमि (कुट्टिम)-रूप नानाविध गैरिकादि धातुओं से युक्त अधित्यका (ऊर्ध्वभूमि) के तट (निकटस्थ प्रदेश) को प्राप्त हुआ ।

टिप्पणी—वायु के समान तीव्रगामी रथ महाराज नल को लिये प्रासाद में पहुँच गया । वह तीव्र वेग से मन्दाकिनी से आया था, अतः उसकी समता वायुवेग में उड़कर वेग से आते बादल से की गयी है, जो आकाश से आकर पर्वत के ऊर्ध्वप्रदेश में पहुँच गया है । कुट्टिम गैरिकादिधातुयुक्त ऊर्ध्वप्रदेश की तुलना में है । तट अर्थात् शिखर और पर्यन्त प्रदेश । मल्लिनाथ के अनुसार रूपकालकार । इस सर्ग में (श्लोक १–१५६) अनुष्टुप छंद ॥ १ ॥

ततः प्रत्युदगाद् भैमी कान्तमायान्तमन्तिकम् ।
प्रतीचीसिन्धुवीचीव दिनोङ्कारे सुधाकरम् ॥ २ ॥

जीवातु—तत इति । ततः रथस्य कुट्टिमतटप्राप्त्यनन्तरम्, भैमी दमयन्ती, दिनस्य दिवसस्य, ओङ्कारे प्रारम्भे, गायत्र्यादीनां प्रारम्भे एव ओङ्कारप्रयोगदर्शनादत्रापि ओङ्कारशब्दस्य आरम्भार्थे लक्षणा ज्ञातव्या। 'ओमाङोश्च' इति पररूपत्वम् । प्रतिचीसिन्धोः पश्चिमदिगवस्थितसमुद्रस्य वीची ऊर्मिः; अन्तिकं समीपम्, आयान्तम् आगच्छन्तम्, कान्तं रमणीयम्, सुधाकरं चन्द्रमिव, प्रत्यूषे एव अस्तोन्मुखतया सुधाकरस्य पश्चिमार्णवतरङ्गलग्नवत् प्रतीयमानत्वादिति भावः । अन्तिकं समीपम्, आयान्तम् आगच्छन्तम्, कान्तं पतिं नलम् प्रत्युदगात् सादरं प्रत्युत्थितवती । 'इणो गा लुङि' इति गादेशः । 'गातिस्था—'इत्यादिना सिचो लुक् ॥ २ ॥

अन्वयः—ततः भैमी दिनोङ्कारे प्रतीचीसिन्धुवीची अन्तिकम् आयान्तं कान्तं सुधाकरम् इव (कान्तं) प्रत्युदगात् ।

हिन्दी—तत्पश्चात् भीमनन्दिनी दिन के आरम्भ (प्रभात) में पश्चिम सागर की लहरी के समान निकट आते रमणीय चन्द्र के सदृश प्रिय (नल) की ओर बढ़ गयी ।

टिप्पणी—उत्सुकता से प्रतीक्षा करती प्रिया दमयन्ती ने लौटकर आते प्रिय नल की आगे बढ़कर सादर अगवानी की । उत्सुकता की उत्कटता द्योतित करने के लिए यहाँ दमयन्ती की तुलना पश्चिम समुद्र की लहरी से की गयी है, जो लम्बे समय (चौबीस घण्टे) से वियुक्त कांत चन्द्र की ओर प्रभात में निकट पधारने पर उल्लसित हो उठती है । दमयन्ती लहरी है और नल सुधाकर, कांत चन्द्र । 'ओंकार' पाठ से मन्त्रारम्भ होता है, अतः लक्षणा से ओंकार का अर्थ आरम्भ किया गया है—दिनोङ्कार अर्थात् दिनारम्भ, प्रभात ॥ २ ॥

स दूरमादरं तस्या वदने मदनैकदृक् ।
दृष्टमन्दाकिनीहेमारविन्दश्रीरविन्दत ॥ ३ ॥

जीवातु—स इति । दृष्टा अवलोकिता, मन्दाकिन्याः स्वर्गङ्गायाः, हेमारविन्दस्य स्वर्णकमलस्य, श्रीः शोभा येन सः तादृशः सद्यःदर्शनजातप्रिया-

मुखारविन्दस्मृति इत्यर्थ । एवञ्च दमयन्तीमुखारविन्द-मन्दाकिनीहेमारविन्दयो उत्कर्षापकर्षनिर्द्धारणे समर्थ इति भाव । मदनैकदृक् कामैकशरण, कामासक्तचित्त इत्यर्थ । स नल, तस्या प्रियाया भैम्या, वदने आनने, दूरम अत्यन्तम्, तत्पद्मापेक्षया समधिकमित्यर्थ । आदरम् आग्रहम्, अविन्दत अलभत । तत्पद्मापेक्षया दमयन्तीमुखस्य अधिकसुन्दरत्वात् तत्रैव समधिकादरवान् बभूवेत्यथ ॥ ३ ॥

अन्वयः—दृष्टमन्दाकिनीहेमारविन्दश्री मदनैकदृक् स तस्या वदने दूरम् आदरम् अविन्दत ।

हिन्दी—स्वर्गगा मन्दाकिनी के स्वर्णकमल की शोभा को देखे हुए, नेत्रों मे कामासक्ति लिये उस (नल) ने उस (दमयन्ती) के मुख मे स्वर्णकमल से भी अधिक आदर (मान प्रीति) पाया ।

टिप्पणी—मन्दाकिनी मे स्नान करते समय नल ने उसमे खिला स्वर्ण कमल देखा था, इस समय दमयन्ती का मनोरम मुख नल को उससे भी अधिक श्री-शोभासम्पन्न और रमणीय प्रतीत हुआ और उसके नयन कामासक्ति से पूर्ण हो गये और वह दमयन्ती का मुख बड़े आग्रह के साथ निहारने लगा ॥ ३ ॥

तेन स्वर्देशसन्देशमर्पित सा करोदरे।
बभ्राज बिभ्रती पद्म पद्मेवोन्निद्रपद्मदृक् ॥ ४ ॥

जीवातु—तेनेति । उन्निद्रपद्मदृक् विकचारविन्दलोचना, सा दमयन्ती, तेन तदानयता प्रियेण नलेन, अर्पित दत्तम्, स्वर्देशस्य स्वर्गलोकस्य, सन्देश सूचकम्, त्व स्वर्लोक गच्छसि, अत तल्लोकस्थमेक पद्म मन्निमित्त मानये इति दमयन्तीप्रार्थनाऽनुसारेणानीतम् अत एव स्वर्गभूमे नल आगत इति ज्ञापयदिव स्थितमित्यर्थ । पद्म हेमारविन्दम्, करोदर पाणिमध्ये, बिभ्रती दधती सती, पद्मा इव साक्षादेव लक्ष्मीः इव, बभ्राज रेजे। लक्ष्मीरपि उन्निद्रपद्मदृक् पद्महस्ता च इति उपमासङ्कृति बोद्धव्या ॥ ४ ॥

अन्वयः—उन्निद्रपद्मदृक् सा स्वर्देशसन्देशम् अर्पित पद्म करोदरे बिभ्रती पद्मा इव बभ्राज ।

हिन्दी—निद्रा त्यागे (विकसित) कमलों-से नयनवाली वह (दमयन्ती)

स्वर्ग के सन्देश-सूचक (नल द्वारा) अर्पित कमल को हाथ में धारण-करती पद्मधारिणी लक्ष्मी-सी सुशोभित हुई।

टिप्पणी—महाराज प्रिया महारानी दमयन्ती को उपहार में देने के लिए मन्दाकिनी से स्वर्ण-कमल लाये थे, मानो वह स्वर्ग का दमयन्ती के लिए संदेश हो; मानो स्वर्णपद्म-व्याज से वह देवों का संदेश हो कि दमयंती के नवपरिणय पर वे प्रसन्न हैं और अपनी प्रीति का संदेश स्वर्णपद्म के रूप में भेजते हैं। भेंट पाकर स्वर्णकमल को महारानी ने उसे अपने हाथ में लिया। उस समय वे साक्षात् पद्महस्ता लक्ष्मी प्रतीत हुई। नल के आवास में दमयन्ती गृहलक्ष्मी हो गयी। 'उन्निद्रपद्मदृक्' विशेषण हर्षोत्फुल्लता का सूचक है—कमलों-से खिले नयन। नारायण और मल्लिनाथ ने 'स्वर्देशसंदेश' से भाव लिया है कि दमयन्ती ने स्वर्देश जाते नल से कहा था कि क्रीडनार्थ मेरे लिए मन्दाकिनी का स्वर्णकमल लाना, वही संदेश-रूप में नल ने लाकर दिया। आशय यही है कि प्रिय ने आदर और प्रीति से प्रिया गृहलक्ष्मी को स्वर्णकमल उपहार में दिया। मल्लिनाथ के अनुसार 'उन्निद्रपद्मदृक्' और 'पद्महस्ता' दमयन्ती की लक्ष्मी से उपमा संगत है ॥ ४ ॥

> प्रियेणाल्पमपि प्रत्तं बहु मेनेतरामसौ।
> ह्येकलक्षतया दध्यौ दत्तमेकवराटकम् ॥ ५ ॥

जीवातु—प्रियेणेति। असौ भैमी, प्रियेण कान्तेन नलेन इष्टजनेन च, प्रत्तं दत्तम्। 'अच उपसर्गात्तः' इति दस्तादेशः। अल्पम् अपि किञ्चिदपि वस्तु, बहु प्रभूतं समधिकादरणीयञ्च, मेनेतराम् अतिशयेन मेने। 'किमेत्तिङव्ययात्—' इति आमु-प्रत्ययः। कुतः ? हि यस्मात् कारणात्, दत्तम् अर्पितम्, एकः एकसंख्यामात्रः, वराटकः बीजकोषो यस्य तत् तादृशं पद्मम्। 'बीजकोषो वराटकः' इत्यमरः। एकवराटकम् एककपर्दकञ्च। 'कपर्दको वराटकः' इति हलायुधः। एकलक्षतया एकलक्षसंख्यकत्वेन तदेकपरतया लक्षसंख्यकधनत्वेन च। 'लक्षञ्च संख्यायाम्' इति विश्वः। दध्यौ मेने, प्रियदत्तं वराटकमपि रत्नात् अतिरिच्यते इति भावः ॥ ५ ॥

अन्वयः—असौ प्रत्तम् अल्पम् अपि बहु मेनेतराम् हि दत्तम् एकं वराटकम् एकलक्षतया दध्यौ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने प्रिय द्वारा उपहार में दिये अल्प (एक फूल कमल) को भी बहुत माना, क्योंकि अर्पित एक वराटक (बीजकोप) को भी एकटक निहारती (दमयन्ती) ने जैसे अर्पित एक कौडी को एक लाख धन रूप में धारण किया।

टिप्पणी—प्रिय के द्वारा लाया गया स्वर्णकमल यद्यपि एक फूल ही था, तथापि प्रिय का उपहार होने के कारण दमयन्ती उसे एकटक सप्रेम निहारती रही और उसने सादर से उसे स्वीकारा। वस्तुत होता भी यही है कि प्रियजन का उपहार बहुमूल्य प्रतीत होता है, एक कौडी भी एक लाख से अधिक लगती है। वस्तुतः मूल्य वस्तु का नहीं, देने वाले के भाव का होता है—'वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि।' प्रिय का प्रेमोपहार स्वर्णकमल इसी कारण दमयन्ती के आदर का पात्र बना॥ ५॥

प्रेयसावादि सा तन्वी त्वदालिङ्गनविघ्नकृत्।
समाप्यतां विधिः शेषः क्लेशश्चेतसि चेन्न ते ?॥ ६॥

जीवातु—प्रेयसेति। प्रेयसा प्रियतमेन नलेन, तन्वी कृशाङ्गी, सा दमयन्ती, अवादि कथिता। किमवादि ? तदेवाह हे प्रिये! चेत् यदि, ते तव, चेतसि मनसि, क्लेश दुःखम्, मदागमनविलम्बजनितमिति भाव, न, भवेदिति शेष। तर्हि त्वदालिङ्गनस्य तव आश्लेषजनितसुखस्य, विघ्नकृत् अन्तरायभूत, शेष प्रात स्नानसन्ध्योपासनानन्तर कर्तव्यतया अवशिष्ट, विधि. नित्याग्निहोत्रादे अनुष्ठानम्, समाप्यता समाधि क्रियतामित्, मयेति शेष, भवत्या एतेषा कर्मणा समाप्ति अनुज्ञायतामित्यर्थ॥ ६॥

अन्वय—प्रेयसा सा तन्वी अवादि ते चेतसि क्लेश न चेत्, त्वदालिङ्गनविघ्नकृत् शेष. विधि समाप्यताम्।

हिन्दी—प्रिय (नल) ने उस कोमलांगी (दमयन्ती) से कहा—यदि चित्त को कष्ट न हो तो तेरे आलिंगन में विघ्न डालनेवाली अवशिष्ट नित्य अग्निहोत्रादि क्रिया सम्पन्न कर ली जाय ?

टिप्पणी—यद्यपि महाराज नल सदाचारी और धर्मनिष्ठ थे तथापि नवोढा प्रिया का मन रखने के लिए उन्होंने दमयन्ती से चाहा कि वह यदि एकाकीपन अथवा अन्य प्रकार से क्लेश—कष्ट का अनुभव न करके प्रसन्नमन से अनुमति दे तो वे शेष रहे सन्ध्यावदनादि सम्पन्न कर लें॥ ६॥

क्वैतावान्नर्ममर्मावित् विधिरद्य ते ?।
इति तं मनसा रोषादवोचद्वचसा न सा ॥ ७ ॥

जीवातु—क्वेति । अद्य इदानीमपि, त्वयि मम प्रगाढानुरक्तिं विदित्वा-ऽपीति भावः । यद्वा—प्रत्यूषे उत्थाय स्नानार्थं गतोऽसि, तदनन्तरं बहवः कालाः अपगताः, इदानीमपीति भावः । ते तव, एतावान् इयान्, नर्मणः क्रीडासुखस्य, मर्म विध्यतीति मर्मावित् मर्माभिघातकः, अतीव क्लेशप्रद-प्रतिबन्धक इत्यर्थः । 'नहिवृति—' इत्यादिना पूर्वस्य दीर्घः । विधिः नित्य-क्रियानुष्ठानम्, क्व कुतः, किमर्थमित्यर्थः । विद्यते ? अस्ति ? बहुक्षणं त्वया सह वियुक्ता अस्मि, न पुनरिदानीं विलम्बं सोढुं मया शक्यते, अतः वैधानुष्ठानमिदानीं तिष्ठतु, आगच्छ मत्समीपमित्याशयः, इति एवम्, सा भैमी, रोषात् कोपात्, नलस्य आगमनविलम्बजनिताभिमानादिति भावः । तं नलम्, मनसा चेतसा, अवोचत् उक्तवती, वचसा वाक्येन, सुस्पष्टमित्यर्थः, न, अवोचदिति पूर्वक्रियया अन्वयः । लज्जादाक्षिण्यादिति भावः ॥ ७ ॥

अन्वयः—'अद्य ते एतावान् नर्ममर्मावित् विधिः क्व विद्यते ?'—इति सा तं रोषात् मनसा अवोचत्, वचसा न ।

हिन्दी—'आज तुम्हारा इतना-बहुत (अतिकालापेक्षी) केलि-विलास का बाधक पूजानुष्ठानादि कहाँ से रह गया, अथवा कितने समय तक रहेगा, अथवा क्यों रहेगा, अथवा इतनी क्रीडा-विलास-विधि के पश्चात् भी क्यों है ?'—यह उस (दमयन्ती) ने रोषपूर्वक मन-ही-मन कहा, प्रकट वचनों से नहीं ।

टिप्पणी—नवोढा प्रिया प्रिय-संगति की अधिक आकांक्षिणी होगी ही, अतः स्नानादि के निमित्त बाहर रहे प्रिय के और कुछ काल तक दृष्टि से ओझल रहने पर प्रिया का क्षुब्ध होना स्वाभाविक है । किंतु लज्जा से, दाक्षिण्य से अथवा धर्मानुष्ठान में बाधा के कारण मन-ही-मन दमयंती नल के प्रस्ताव पर कुनमुनाती रही, अपना क्षोभ उसने वचनों में प्रकट नहीं किया । यह भी कुछ व्याख्याकारों का अभिमत है कि दमयन्ती को यह अवमानना लग रही थी अपने सौंदर्य की, अपने तारुण्य की कि प्रिय इनकी अवहेलना कर पूजा-अर्चना में लगा है । ये दिन पूजा के तो हैं, पर अन्य देव की

अर्चना के नहीं, केवल कामार्चना के। वस्तुतः नवोढा दमयती को प्रिय का क्षणिक विरह भी असह्य था ॥ ७ ॥

क्षणविच्छेदकादेव विधेर्मुग्धे ! विरज्यसि ।
विच्छेत्ताहे चिरं नु त्वा हृदाऽऽह स्म तदा कलि ॥ ८ ॥

जीवातु—क्षणेति । मुग्धे ! हे मूढे ! भैमि ! क्षणविच्छेदकादेव किञ्चित्कालमात्रविरहसम्पादकादेव, विधे अनुष्ठानात्, विरज्यसि विरक्ता भवसि, किन्तु, नु भो. ! त्वा त्वाम् । 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति त्वाऽऽदेश । चिर चिरकालम्, विच्छेत्ताहे विच्छेत्स्यामि । छिदे स्वरितेत्त्वाल्लुटि तङि इट्, 'स्यतासी ऌलुटो' इति धातो तासि प्रत्यये कृते 'टित आत्मनेपदाना टेरे' इत्यनेन इटष्टेरेत्वे 'ह एति' इति सकारस्य हकार. । अहमिति शेषः । इति एवं, तदा तत्काले, दमयन्त्या' मुखमलिनीकरणसमये इत्यर्थः । कलि' कलिपुरुष., हृदा स्वचेतसा, आह स्म उवाच । यद्यपि अधुना किमपि अनिष्ट कर्तुं न शक्नोमि, तथाऽपि रन्ध्रान्वेषी तिष्ठामि इति भावः । नलस्य पाप-च्छिद्रमन्विष्यन् ईर्ष्यु कलिः तयो' प्रासादसमीपवर्तिनि अक्षवृक्षे अधिष्ठान कृतवानिति प्राक् वर्णितमासीत्, तत्रस्थ एव स नलदमयन्त्यो. आलापनं श्रुत्वा विरहेण दीनाननां भैमी विलोक्य एवमुक्तवानिति मन्तव्यम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—तदा कलि हृदा आह स्म—मुग्धे, क्षणविच्छेदकात् एव विधेः विरज्यसि ? नु त्वा चिरं विच्छेत्ताहे ।

हिन्दी—तब (दमयती के क्षुब्ध होने पर) कलि मन ही-मन बोला—अरी मूर्खे, क्षणमात्र को वियोग देनेवाली विधि (अनुष्ठान) से ही उद्विग्न हो रही है ? मैं (कलि) शीघ्र ही तुझे चिरवियोग देनेवाला हूँ ।

टिप्पणी—जैसा कि १७वें सर्ग में बताया जा चुका है, गृहवाटिका में बहेड़े के वृक्ष पर छिपा कलि अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था । दमयन्ती को क्षण-वियोग के कारण ही उद्विग्न देख वह मन-ही-मन जैसे उसे चेतावनी देने लगा कि वह तो दमयन्ती को शीघ्र ही चिरविरह देनेवाला है, वह इतनी मुग्ध है कि क्षण-वियोग में घबरा रही है । उसे तो लम्बा विरह झेलने को प्रस्तुत रहना चाहिए ॥ ८ ॥

सावज्ञेवाथ सा राज्ञः सखीं पद्ममुखीमगात् ।
लक्ष्मीः कुमुदकेदारादारादम्भोजिनीमिव ॥ ९ ॥

जीवातु—सावज्ञेति । अथ नलवाक्यश्रवणानन्तरम्, सा भैमी, सावज्ञेव सतिरस्कारेव सती, स्वां विहाय होमाद्यनुष्ठानार्थं नलस्य गमनाभिप्रायात् सावमानेव सतीत्यर्थः । लक्ष्मीः शोभा, कुमुदकेदारात् कैरवक्षेत्रात्, तं विहाय इत्यर्थः । आरात् कुमुदाकरसमीपस्थिताम्, पद्ममेव मुखं यस्याः तादृशीम्, अम्भोजिनीं पद्मिनीम् इव, प्रातःकाले इति भावः । राज्ञः नलसमीपात्, राजानं विहाय इति वा । कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी । आरात् समीपे, समीपवर्तिनीमित्यर्थः । पद्मम् इव मुखं यस्याः तादृशीम्, सखीं वयस्याम्, अगात् अगमत्, अवज्ञाता हि अवज्ञाकारिणं विहाय गच्छन्तीति प्रसिद्धिः । लक्ष्मीनिर्गमे कुमुदक्षेत्रस्य यथा मालिन्यं तत्सम्पर्कात् पद्मानां च यथा विकासो भवति, तथा भैमीविरहात् नलमुखस्य मालिन्यं तत्समागमात् सखीमुखस्य च स्मितशोभित्वं सूचितमनया उपमया इति द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—अथ सा सावज्ञा इव कुमुदकेदारात् आरात् अम्भोजिनीं लक्ष्मीः इव राज्ञः (आरात्) पद्ममुखीं सखीम् अगात् ।

हिन्दी—तदनंतर वह (दमयंती) अवज्ञा-अपमान अनुभव करती सी, जैसे कुमुदों के खेत से निकटस्थित कमलिनी पर लक्ष्मी (शोभा-श्री) चली जाती है, ऐसे ही, राजा (नल) के निकट से कमलमुखी (अथवा पद्ममुखी नाम की) सखी के समीप चली गयी ।

टिप्पणी—आशय यह है कि राजा नल के इस प्रस्ताव को दमयंती ने अपनी अवज्ञा समझा और वह राजा के समीप से सखी के निकट चली गयी । नारायण और मल्लिनाथ ने यहाँ लक्ष्मी के कुमुदवन को छोड़ कमलिनी के समीप चल जाने से, दमयन्ती के नल को छोड़ सखी के निकट चले जाने की उपमा के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि जैसे प्रभात में कुमुदवन श्रीहीन हो जाते हैं और कमल श्रीसम्पन्न, इसी प्रकार दमयन्ती-रूपा श्री के चले जाने से नल म्लान हो गये और सखी 'पद्ममुखी' अर्थात् विकसितानना, अर्थात् प्रसन्न हो गयी । नारायण के अनुसार उपमा ॥ ९ ॥

ममासावपि मा सम्भूत् कलिद्वापरवत् परः।
इतीव नित्यसत्रे तां स त्रेता पर्यतूतुषत् ॥ १० ॥

जीवातु—ममेति । असौ त्रेता अपि, कलिद्वापरवत् चतुर्थतृतीययुगाधीशाविव, मम मे, परः शत्रु, मा सम्भूत् न जायताम्, माङ्योगादडभावः। इतीव इति मत्वेव, सः नल, नित्यसत्रे प्रत्यहमनुष्ठेययज्ञे अग्निहोत्रे, 'एतद्वै जरामर्य सत्र यदग्निहोत्रम्' इति श्रुत्या नित्यत्वावगमादित्यर्थं । 'सत्रमाच्छादने यज्ञे' इत्यमर.। ताम् आहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्नित्वेन प्रसिद्धाम्, रामरावणादीनां विविधव्यापाराश्रयत्वेन प्रसिद्धाञ्च, त्रेताम् अग्नित्रयम्, द्वितीययुगञ्च । 'त्रेता त्वग्नित्रये युगे' इत्यमर.। पर्यतूतुषत् हविषा परितोषयामास । 'उरत्कर्मणि चङ्यन्य—' इत्यादिना विकल्पेनोपधाया ह्रस्वः ॥ १० ॥

अन्वयः—असौ अपि कलिद्वापरवत् मम परः मा सम्भूत्—इति इव नित्यसत्रे सः तां त्रेतां पर्यतूतुषत् ।

हिन्दी—यह ('त्रेता' युग के समान अग्नित्रय) भी कलि और द्वापर युगरूप कलह और द्विधा, संशय के सदृश मेरा पराया (शत्रु) न हो जाय, मानो यह सोच नित्य अनुष्ठान में उस (नल) ने उस 'त्रेता'—युगरूप अग्नित्रय को भलीभाँति सन्तुष्ट किया।

टिप्पणी—राजा ने दैनंदिन अग्निहोत्र में अग्नित्रय—आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—का सविधि अनुष्ठान किया और आज्यादि की आहुतियाँ दे इस त्रितय—'त्रेता' को सतुष्ट किया। राजा के मन में और राज्य में न कहीं 'द्वापर' (संशय–द्विविधा) था, न 'कलि' (कलह)—ये इसके 'पर' (पराये, शत्रु थे)। कहीं इन्हीं की भाँति अग्नित्रय—'त्रेता' भी उनसे पराङ्मुख न हो जाय, अतः राजा ने अग्नित्रय की सम्यक् आराधना की। 'त्रेता', 'कलि' और 'द्वापर' के अर्थ द्वितीय युग, चतुर्थ युग और तृतीय युग भी हैं। इस अनेकार्थ के आधार पर यह भाव भी यहाँ है कि जैसे आज चतुर्थ (कलि) और तृतीय (द्वापर) युग नल के शत्रु हैं, वैसे ही द्वितीय युग (त्रेता) भी उसका शत्रु न हो जाय, इस विचार से नल ने अग्नित्रय-रूप 'त्रेता' को आराधना द्वारा पूर्ण सतुष्ट किया। नारायण का निष्कर्ष है कि इसी आशका से नल ने यह अनुष्ठान किया, तत्त्वतः तो वह और उसका मन दमयन्ती के ही अधीन था ॥ १० ॥

(युग्मम्)

क्रियां प्राह्णेतनीं कृत्वा निषेधन् पाणिना सखीम् ।
कराभ्यां पृष्ठगस्तस्या न्यमीमिलदसौ दृशौ ॥ ११ ॥
दमयन्त्या वयस्याभिः सहास्याभिः समीक्षितः ।
प्रसृतिभ्यामिवायामं मापयन् प्रेयसीदृशोः ॥ १२ ॥

जीवातु—क्रियामिति । असौ नलः, प्राह्णेतनीं प्राह्णे भवाम्, पूर्वाह्ण-कृत्यामित्यर्थः । 'सायं चिरम्—' इत्यादिना ट्युप्रत्ययः तस्य तुट् च । तस्मादु एव निपातनात् प्राह्णेतनीमिति । क्रियाम् अनुष्ठानम्, कृत्वा विधाय, सखीं पूर्वोक्तां सहचरीम्, पाणिना हस्तसंज्ञया, निषेधन् निवारयन्, स्वागमनं विज्ञापयितुमिति शेषः, तस्याः भैम्याः, पृष्ठगः पश्चाद्देशे स्थितः सन् कराभ्यां पाणिभ्याम्, दृशौ लोचने, दमयन्त्या एव इति शेषः, न्यमीमिलत् अवारुणत्, कौतुकार्थमिति भावः । 'भ्राजभास—' इत्यादिना विकल्पेनोपधाया ह्रस्व-विधानात् पक्षे ह्रस्वः ॥ दमयन्त्या इति । प्रसृतिभ्यां निकुब्जपाणिभ्याम्, गण्डूषार्थं क्रियमाणकरतुल्यसङ्कोचितकराभ्यामित्यर्थः । 'पाणिर्निकुब्जः प्रसृतिः' इत्यमरः । प्रेयसीदृशोः भैमीनयनयोः, आयामं दैर्घ्यम्, मापयन् तोलयन् इव स्थितः, मातेः माङो वा ण्यन्तात् लटः शत्रादेशः । तथा सहास्याभिः सम्मुखतः नलदर्शनात् ईषत् हसन्तीभिः, दमयन्त्याः भैम्याः, वयस्याभिः सखीभिः, समीक्षितः दृष्टः, असौ नलः लोचने न्यमीमिलदिति पूर्वेणान्वयः ॥ ११–१२ ॥

अन्वयः—प्राह्णेतनीं क्रियां कृत्वा पाणिना सखीं निषेधन् पृष्ठगः प्रसृतिभ्यां प्रेयसीदृशोः आयामं मापयन् इव दमयन्त्याः सहास्याभिः वयस्याभिः समीक्षितः असौ कराभ्यां तस्याः दृशौ न्यमीमिलत् ।

हिन्दी—प्रभातकालीन संध्या-वंदनादि क्रिया करके, हस्त-संकेत से (दमयन्ती की) सखी को चुप रहने को कहते, पीछे पहुँच मानो हथेलियों से प्रिया (दमयन्ती) के नयनों का विस्तार नापते हुए, दमयन्ती की हँसती हुई सखियों के देखते उस (नल) ने दोनों हाथों से उस (दमयन्ती) के नयन ढक लिये ।

टिप्पणी—आत्मीय जनों के मध्य स्वाभाविक प्रणय-क्रीडा । नारायण के अनुसार-'क्रीडाकारिणामियं जातिः ।' मान करके सखी समीप बैठी प्रिया के

नयन प्रिय नल ने चुपचाप पीछे पहुँच मूँद लिये। 'पद्ममुखी' सखी को नल ने हाथ के संकेत से बता दिया कि वह चुप रहे और उसका आना न बताये। अन्य वयस्का सखियों को भी राजा के इस क्रीडा-विलास में आनन्द आने लगा और हँसती हुई वे भी यह कौतुक देखती रहीं। हथेलियों से आँखें ढकने की क्रिया पर नयनों का विस्तार मापने की संभावना की गयी है। यह युग्म है ॥ ११–१२ ॥

तर्किताऽऽलि! त्वमित्यर्द्धवाणीका पाणिमोचनात्।
ज्ञातस्पर्शान्तरा मौनमानशे मानसेविनी ॥ १३ ॥

जीवातु—तर्कितेति। आलि! हे सखि! त्वं नेत्राच्छादिका भवती, तर्किता अवधारिता अनुमानेन ज्ञाता इत्यर्थः, मया इति शेषः। इति एवम्, अर्द्धा 'अतो मां जहीहि' इत्यवशिष्टांशस्य अवचनात् असम्पूर्णरूपा, वाणी वाक्यं यस्याः सा तादृशी। दीपिक. कप्। पाण्योः नयनविधायकनलहस्तयोः, मोचनात् निजपाणिभ्याम् अपनोदनात् हेतोः, ज्ञातं विदितम्, स्पर्शान्तरम् अन्यविधः स्पर्शः, सखीस्पर्शात् विलक्षणः नलस्पर्शः इत्यर्थः। यया सा तादृशी निश्चितप्रियपाणिस्पर्शा, दमयन्तीति शेषः। मानसेविनी अभिमानवती, नलस्य दमयन्त्यनादरपूर्वकनेत्रानुरक्तत्वेन तस्मिन् मानवती सतीत्यर्थः। मौनं नीरवताम्। आनशे प्राप, न किञ्चिदूचे कोपादिति भावः ॥ १३ ॥

अन्वय.—आलि, त्वं तर्किता—इति अर्द्धवाणीका पाणिमोचनात् ज्ञात-स्पर्शान्तरा मानसेविनी मौनम् आनशे।

हिन्दी—'सखी, तू पहिचान ली गयी'—इस प्रकार आधा वाक्य कहती, हाथों के (नयनों पर से) हटाने के कारण स्पर्श का अन्तर समझ मान करती (दमयन्ती) ने मौन-धारण कर लिया।

टिप्पणी—नयन मूँदने पर दमयन्ती ने समझा कि उसकी किसी सखी ने यह कार्य किया है। अनुमान से उसने पहिचान कर सखी का नाम लेकर कहना चाहा कि वह उसे पहिचान गयी है और खेल के नियमानुसार अब दमयन्ती को हाथ हटा देने का अधिकार है; किन्तु सखी का नामोल्लेख करके स्वयं हाथ हटाते ही उसे छूते स्पर्श की भिन्नता के आधार पर दमयन्ती को ज्ञात हो गया कि यह सखी का नहीं, प्रिय नल का हाथ है, अतः वाक्य

पूरा न करके, प्रिय की उपेक्षा पर मानिनी दमयन्ती चुप लगा बैठी। जैसे अपने ईर्ष्या-मान से प्रिया ने प्रिय को जनाना चाहा कि वह तो 'त्रेता' में अनुरक्त है, क्यों वृथा उसके समीप आया है ? ॥ १३ ॥

> साऽवाचि सुतनुस्तेन कोपस्ते नायमौचिती।
> त्वां प्रापं यत्प्रसादेन प्रिये ! तन्नाद्रिये तपः ॥ १४ ॥

जीवातु—सेति। तेन नलेन, सुतनुः अनवद्याङ्गी, सा भैमी, अवाचि उक्ता। वचेः कर्मणि लुङ्। तदेवाह—हे प्रिये ! ते तव, अयं क्रियमाणः, कोपः रोषः, नौचिती न न्यायः, अनुचित इत्यर्थः। तथा हि, यस्य तपसः, प्रसादेन अनुग्रहेण, त्वां भवतीम्, प्रापं प्राप्तवान् अस्मि, अहमिति शेषः। आप्नोतेलुङ् 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' इति मिपोऽमादेशः। तत् महोपकारि, तपः अग्निहोत्रादिकर्म, न आद्रिये ? न सत्करोमि ? इति काकुः, अपि तु अवश्यमेव तस्य समादरं करोमि, तत्प्रसादादेव यतः त्वां लब्धवानस्मि इति निष्कर्षः ॥ १४ ॥

अन्वयः—सुतनुः सा तेन अवाचि—प्रिये, ते अयं कोपः औचिती न, यत्प्रसादेन त्वां प्रापं तत् तपः न आद्रिये ?

हिन्दी—उस सुन्दरी (दमयन्ती) से उस (नल) ने कहा—हे प्रिये, तेरा यह क्रोध उचित नहीं है, जिसकी कृपा से तुझे (मैंने) पाया, क्या उस तप (अग्नि होत्रादि) को आदर न दिया जाय ?

टिप्पणी—रूठी प्रिया के मनाते प्रिय नलने उसके प्रणय-कोप को अनुचित बताया, क्योंकि अग्निहोत्रादि विधि का त्याग अत्यन्त अनुचित है। नल ने तर्क दिया कि इसी धर्माचार तप के प्रसादस्वरूप उसे त्रिभुवनसुन्दरी प्रिया प्राप्त हुई है, उसका त्यागना, उसमें प्रमाद करना अनुचित ही नहीं, कृतघ्नता है। दमयन्ती को इस पर विचार करना चाहिए और मान-कोप छोड़ देना चाहिए ॥ १४ ॥

> निशि दास्यं गतोऽपि त्वां स्नात्वा यत्राभ्यवीवदम्।
> तं प्रवृत्ताऽसि मन्तुं चेन्मन्तुं तद्वद वन्द्यसे ॥ १५ ॥

जीवातु—निशीति। हे प्रिये ! निशि रात्रौ, दास्यं दासत्वम्, तवेति शेषः। चरणमर्दनव्यजनादिना सुरतश्रान्त्यपनोदनार्थमिति भावः। गतः

प्राप्तोऽपि, अहमिति शेष, स्नात्वा स्नानात् आगत्य, त्वां भवतीम्, यत् न अभ्यवीवद न अभिवादितवान् अस्मि । वदेरभिवादनार्थाच्चौरादिकात् ण्यन्तान्चङि 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति उपधाह्रस्व । तम् अनभिवादनमेव, मन्तुम् अपराधम्, 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमर । मनेरौणादिकस्तुमुन्प्रत्यय । मन्तु विवेचयितुम् । मन्यतेस्तुमुन्प्रत्यय । प्रवृत्ता उद्युक्ता, असि भवसि, चेत् यदि, दासस्याप्रणतेरपराधत्वादिति भाव । तत् तर्हि, वद कथय, वन्द्यसे नमस्क्रियसे, इदानीमेव मया स्वामिनि शेष । प्रणिपातप्रतीकारत्वात् अपराधस्येति भाव ॥ १५ ॥

अन्वय —निशि दास्य गत अपि स्नात्वा त्वा यत् न अभ्यवीवद त म तु मन्तु प्रवृत्ता असि चेत् तत् वद, वन्द्यसे ।

हिन्दी—रात मे दास-भाव को प्राप्त भी मैंने स्नान करके तुम्हारा (दमयन्ती का) अभिवादन नही किया, उसे यदि तुम अपराध माने बैठी हो तो बोलो, अभी वन्दना करता हूँ ।

टिप्पणी—नल ने कहा कि रात भर उसने आलिंगन-चुम्बन से लेकर सुरतश्रम दूर करने के लिए चरण सवाहन तक किया और ताप मिटाने के लिए पख तक झला और इस प्रकार प्रकट कर दिया कि वह उसका सेवक है । हाँ, एक त्रुटि उससे हो गयी कि प्रात स्नान करने के पश्चात् उस दास ने स्वामिनी प्रिया का अभिवादन नही किया, अन्य देवाराधन मे लग गया । निश्चय ही यह सेवक की त्रुटि है कि वह स्वामिनी की उपेक्षा करे । इस सामान्य त्रुटि को यदि प्रिया अपराध माने बैठी है और क्रुद्ध है तो स्पष्ट बोल दे, सेवक नल अभी इन उदार चरण पल्लवो म प्रणति के लिए उद्यत है । नारायण के अनुसार इस प्रकार नल ने सखियों के मध्य रात्रि वृत्तात भी प्रकट कर दिया । एक व्याख्याकार के अनुसार 'वन्द्यसे (अभी वदना की जाय) द्वारा नल ने यह प्रकट किया कि रात में जिन जिन आलिगन-चुम्बन-सुरतादि क्रियाओं द्वारा प्रिया को नल ने सतुष्ट किया था, स्वामिनी को प्रसन्न बनाया था, वे सब क्रियाएँ अब भी दुहरायी जायें, अर्थात् पुन रतेच्छा प्रकट की । अगले श्लोक से इसकी पुष्टि होती है ॥ १५ ॥

इत्येतस्या पदासत्त्यै पत्यैवा प्रेरितौ करौ ।
रुद्ध्वा सवाप सातङ्क त कटाक्षैरमूमुहत् ॥ १६ ॥

जीवातु—इतीति। एषा दमयन्ती, पत्या प्रियेण नलेन, इति इत्थम्, उक्त्वेति शेषः, एतस्याः प्रियाया भैम्याः, पदासत्त्यै अभिवादनार्थं पादग्रहणाय; प्रेरितौ प्रसारितौ, करौ हस्तौ, रुद्ध्वा स्वकराभ्यां निरुध्य, सकोपम् अनर्हकरणात् सक्रोधम्, सातङ्कं समयञ्च, स्वचरणे स्वामिकरस्पर्शस्य अनौचित्यादिति भावः। कटाक्षैः अपाङ्गविलोकनैः, तं प्रियम्, अमूमुहत् मोहयति स्म, स्मरार्त्तं कृतवतीत्यर्थः॥ १६॥

अन्वयः—इति एतस्याः पदासत्त्यै पत्या प्रेरितौ करौ एषा रुद्ध्वा सकोपं सातङ्कं कटाक्षैः तम् अमूमुहत्।

हिन्दी—इस प्रकार (कहकर) इस (दमयन्ती) के पैर पकड़ने के लिए पति (नल) के फैले (आगे बढ़े) दोनों हाथों को इस दमयन्ती ने रोककर कोप और आतंक-मिश्रित कटाक्षों से (देखकर) उसे (नल को) मोहित कर लिया।

टिप्पणी—नल ने पंद्रहवें श्लोक में वंदना का प्रस्ताव रखकर दमयन्ती के पैर पकड़ने के हाथ बढ़ाये कि उसने हाथों को बीच में ही पकड़ कर रोक दिया और क्रोध और आतंक प्रकट करते हुए तिरछे, मोहक नयनों से नल की ओर देखा। इस कटाक्षपात ने नल को पूर्ण मुग्ध—स्मरार्त्त बना दिया। कोप इस लिए कि पति पत्नी के पैर पकड़ कर अनुचित कर रहा था और आतंक इस कारण कि कहीं वह ऐसा कर ही न डाले, दिन में ही बलात् सबके संमुख प्रणयलीला-आरम्भ न कर दे? स्मरार्त्त क्या नहीं कर सकता? एक व्याख्याकार के अनुसार वंदनार्थ पैर पकड़ना तो बहाना था, नल इस व्याज से दमयन्ती के पैर विलास-लीला के लिए पकड़ रहा था॥ १६॥

अवोचत ततस्तन्वीं निषधानामधीश्वरः।
तदपाङ्गचलत्ताराझलत्कारवशीकृतः॥ १७॥

जीवातु—अवोचतेति। ततः कटाक्षैर्मुग्धीभावानन्तरम्, तस्याः, प्रियायाः, अपाङ्गे नेत्रान्ते, चलन्त्याः भ्रमन्त्याः, ताराया: कनीनिकायाः, झलत्कारेण प्रभास्फुरणेन, वशीकृतः, आयत्तीभूतः, निषधानां निषधदेशीयानाम्, अधीश्वरः अधिपतिः नलः, तन्वीं कृशाङ्गीं प्रियाम्, अवोचत अभाषत। ब्रुवो लुङि रूपम्॥ १७॥

अन्वयः--ततः तदपाङ्गचलत्ताराझलत्कारवशीकृतः निषधानाम् ईश्वरः तन्वीम् अवोचत ।

हिन्दी—तत्पश्चात् उस (दमयन्ती) के नेत्रांत प्रदेश में घूमती पुतली के झलत्कार (उल्लास की किरण) से वशीभूत निषध प्रदेश का स्वामी (नल) सुकुमारी (दमयन्ती) से बोला ।

टिप्पणी—कटाक्ष विमुग्ध निषधराजेश्वर प्रिया से उसे मनाता आगामी श्लोकों (१८–२२) में कहने लगा ॥ १७ ॥

> कटाक्षकपटारब्धदूरलङ्घनरंहसा ।
> दृशा भीत्या निवृत्तं ते कर्णकूपं निरूप्य किम् ? ॥ १८ ॥

जीवातु--कटाक्षेति । हे प्रिये ! कटाक्षकपटेन अपाङ्गदर्शनव्याजेन, आरब्धम् उपक्रान्तम्, दूरलङ्घनरंहः विप्रकृष्टदेशोत्पतनवेगः यया तादृशया, ते तव, दृशा नयनेन, कर्णः श्रुतिः एव, कूपः गर्त्तः तम्, निरूप्य निरीक्ष्य, भीत्या भयेन, कूपलङ्घनोपक्रमे तत्र पतनभिया इत्यर्थः । निवृत्तं किम् ? निरस्तं किम् ? दूरलङ्घनेच्छुरन्योऽपि जनः सम्मुखे कूपं निरीक्षेत् तत्र पतनभिया स्वारम्भात् निवृत्तो भवतीति लोके दृश्यते । आकर्णविश्रान्तलोचना दमयन्तीति तात्पर्यम् ॥ १८ ॥

अन्वयः—कटाक्षकपटारब्धदूरलङ्घनरंहसा ते दृशा कर्णकूपं निरूप्य किं भीत्या निवृत्तम् ?

हिन्दी--कटाक्ष करने के छल से दूर देश पहुँचने के लिए वेग से जाती तेरी (दमयन्ती की) दृष्टि (नेत्र) कर्ण गर्त्त रूप कूप को देखकर भय से क्या रुक गयी ?

टिप्पणी—दमयन्ती के आकर्ण विस्तृत बड़े-बड़े नयनों का वर्णन । चचल कटाक्ष-पात को दृष्टि का दूर देश पहुँचने के निमित्त वेग से गमन कहा गया है जो गमन, जो गति, कर्ण-गर्त्त-रूप कूप मार्ग में आ जाने से, उसमें गिर जाने के डर से बाधित हो गयी । लोक जीवन में भी ऐसा होता है । नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ १८ ॥

> सरोषाऽपि सरोजाक्षि ! त्वमुदेपि मुदे मम ।
> तप्ताऽपि शतपत्रस्य सौरभायैव सौरभा ॥ १९ ॥

जीवातु—सरोषेति । सरोजाक्षि ! हे कमललोचने ! सरोषाऽपि रुष्टाऽपि, त्वं भवती, मम मे, मुदे हर्षाय एव, उदेषि भवसि, नयनानन्दयोः तात्कालिक-सुषमाया अतीवरमणीयत्वादिति भावः । तथा हि—तसा उष्णा अपि, सूर्यस्य इयं सौरी सूर्यसम्बन्धिनी । 'सूर्यागस्त्ययोः—' इत्यादिना यकारलोपः । सौरी च सा भा प्रभा च सौरभा सूर्यप्रभा । 'स्त्रियाः पुंवत्—' इत्यादिना पुंवद्भावः । शतपत्रस्य कमलस्य, सौरभाय एव सुरभित्वाय एव, प्रस्फुटनद्वारा सुगन्धवितरणार्थेनेत्यर्थः, न तु शोषणाय, भवतीति शेषः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ १९ ॥

अन्वयः—सरोजाक्षि, त्वं सरोषा अपि मम मुदे उदेषि, तसा अपि सौरभा शतपत्रस्य सौरभाय एव । .

हिन्दी—हे कमल नयने, तुम रोषभरी होने पर भी मेरी प्रसन्नता का निमित्त होती हो; उष्ण—तापकारिणी होने पर भी सूर्य-प्रभा (धूप) शतपत्र (कमल) को सुरभित (विकसित) करने का ही निमित्त होती है ।

टिप्पणी—नल ने कहा कि रिसभरी प्रिया उसे और भली और मोहक लगती है और उसे और आनन्द देती है, जैसे कि ताप देने वाली सौर-भा (सूर्य की प्रभा) कमल का विकास करके उसे सुरभिपूर्ण बना देती है । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांतालंकार ॥ १९ ॥

छेत्तुमिन्दौ भवद्वक्त्रबिम्बविभ्रमविभ्रमम् ।
शङ्के शशाङ्कमानङ्के भिन्नभिन्नविधिर्विधिः ॥ २० ॥

जीवातु—छेत्तुमिति । हे प्रिये ! भिन्नभिन्नः पृथक् पृथक् प्रकारः, अत्यन्त-विलक्षणरूप इत्यर्थः । विधिः निर्माणव्यापारः यस्य सः तादृशः, विधिः विधाता, इन्दौ चन्द्रे, भवत्याः तव, वक्त्रबिम्बस्य मुखमण्डलस्य । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' । यः विभ्रमः शोभा, तस्य विभ्रमं भ्रान्तिम् । 'विभ्रमः संशये भ्रान्तौ शोभायाञ्च' इति यादवः । सादृश्यजन्यं लोकानां तव मुखभ्रममित्यर्थः । छेत्तुं निराकर्तुम् । छिदेः तुमुन् । शशाङ्कं शशस्य मृगस्य अङ्कं चिह्नम्, आनङ्के अङ्कितवान् । 'अकि लक्षणे' इति धातोर्भौवादिकाल्लिटि तङ्, 'तस्मान्नुड्द्विहल' इति नुडागमः । इति शङ्के मन्ये, अहमिति शेषः । ईदृशाकरणे निश्चितमेव इन्दौ लोकानां तव मुखभ्रान्तिरुत्पद्येत इति भावः ॥ २० ॥

अन्वयः—भिन्नभिन्नविधिः विधि इन्दौ भवद्वक्त्रबिम्बविभ्रमविभ्रमं छेत्तुं शङ्के शशाङ्कम् आनङ्के । -

हिन्दी— विभिन्न वस्तुओं की रचना में पृथक् पृथक् विधान वाले विधाता ने चन्द्र में आप (दमयन्ती) के मुखमण्डल की शोभा के भ्रम का निवारण करने के लिए, मानता हूँ कि शश का चिह्न (शशकलंक) अंकित कर दिया है।

टिप्पणी— नल ने यह कह कर कि चन्द्र में कलंक है, दमयन्ती का मुख निष्कलंक चन्द्र है मुख की चन्द्र से श्रेष्ठता प्रमाणित की। इसी पर संभावना है कि विधाता यद्यपि प्रत्येक रचना में भिन्न और कौशल को विभिन्नता रखता है और उसकी प्रत्येक कृति दूसरी से भिन्न होती है, तथापि उससे दमयन्ती मुख और चन्द्र एक से बन गये। तब उसने विचारा कि इससे तो बड़ा भ्रम फैलेगा। लोग दमयन्ती मुख को ही चंद्र समझ बैठेंगे। उसने चन्द्र पर एक काला चिह्न बना दिया—एक पृथक् पहिचान ॥ २० ॥

ताम्रपर्णीतटोत्पन्नैर्मौक्तिकैरिन्दुकुक्षिजैः ।
बद्धस्पर्द्धतरा वर्णाः प्रसन्नाः स्वादवस्तव ॥ २१ ॥

जीवातु—ताम्रेति। प्रसन्नाः प्रसादगुणसम्पन्ना, सुस्पष्टा इत्यर्थः। स्वच्छाश्च, स्वादवः मनोज्ञाः, श्रवणपिपासावर्द्धका इति यावत्। सुमधुराश्च 'स्वादू मिष्टमनोज्ञयोः' इति मेदिनी। तव भवत्याः, वर्णाः त्वन्मुखोच्चरितानि अक्षराणि, ताम्रपर्ण्याः तदाख्यायाः स्वच्छजलायाः कस्याश्चित् नद्याः, तटे तीरदेशे, उत्पन्नैः सञ्जातैः, अत एव स्वच्छैरिति भावः। तथा इन्दुकुक्षिजैः चन्द्रगर्भोत्पन्नैश्च, अत एव पीयूषसम्पर्कात् मधुरैरिति भावः। मौक्तिकैः मुक्ताफलैः सह, बद्धस्पर्द्धतराः बद्धा धृता इत्यर्थः, स्पर्द्धा साहश्यजनिताभिमानः यैस्ते ताद्दशाः बद्धस्पर्द्धाः अतिशयेन बद्धस्पर्द्धाः बद्धस्पर्द्धतराः, भवन्तीति शेषः। मुक्तातोऽपि तव वर्णानामेव अधिका स्वच्छता मधुरता च इति भावः ॥ २१ ॥

अन्वय —प्रसन्नाः स्वादवः तव वर्णाः ताम्रपर्णीतटोत्पन्नैः इन्दुकुक्षिजैः मौक्तिकैः बद्धस्पर्द्धतराः।

हिन्दी – प्रसादगुण सम्पन्न सुस्पष्ट और श्रुतिमधुर तेरे (मुख से उच्चरित) वर्ण (अक्षर) ताम्रपर्णी नदी के तटपर उत्पन्न चन्द्र गर्भ संजात स्वच्छ, मनोरम मोतियों से अतिशय स्पर्द्धा करने वाले हैं।

टिप्पणी—माना जाता है कि मलयाचल से निकल दक्षिण-समुद्र में गिरने वाली नदी ताम्रपर्णी का जल अत्यन्त स्वच्छ और स्वादिष्ट है और चन्द्र-किरणें तो निर्मल और मनोहर होती ही हैं। इस प्रकार ताम्रपर्णी के जल और चन्द्र किरणों के संयोग से जो मोती उत्पन्न होते हैं, वे अत्यन्त स्वच्छ, निर्मल और मनोज्ञ होते हैं। नल का कथन है कि दमयन्ती का मुख-चन्द्र क्योंकि कलंकी चन्द्र से श्रेष्ठ है तो उसकी आभा भी चाँदनी से अधिक मनोज्ञ और निर्मल है। इसी प्रकार मुखचंद्र से उत्पन्न वर्ण-मुक्ता भी चन्द्रगर्भजात मोतियों से अधिक 'प्रसन्न' और 'स्वादु' होंगे। आशय यह कि कोप छोड़ दमयन्ती बोले और उसकी श्रुतिमधुर, सुस्पष्ट वचनावली सुनकर नल को आनन्द की प्राप्ति हो। नारायण के अनुसार अभूतोपमा॥ २१॥

त्वद्गिरः क्षीरपाथोधेः सुधयैव सहोत्थिताः।
अद्य यावदहो! स्रावद्दुग्धलेपलवस्मिताः॥ २२॥

जीवातु—त्वदिति। हे प्रिये! त्वद्गिरः तव वाक्यानि, सुधया अमृतेन, सहैव सार्द्धमेव, क्षीरपाथोधेः दुग्धसागरात्, उत्थिताः उद्गताः, इवेति शेषः। अतः सुधासंसर्गादेव तासां सुधावत् माधुर्यं प्रतीयते इति भावः। ततश्च अद्य यावत् अद्यपर्यन्तमपीत्यर्थः। स्रावन्ति स्रवन्ति, दुग्धलेपानां क्षीरसमुद्रे अवस्थानात् लिप्तक्षीराणाम्, लवाः बिन्दव एव, स्मितानि ईषद्धास्यानि यासां ताः तादृश्यः, यद्वा—स्रावतां स्रवताम्, दुग्धानां लेपस्य, तत्र संसृष्टस्य, लवा एव स्मितानि यासु ताः तादृश्यः परिलक्ष्यन्ते इति शेषः। इति अहो! आश्चर्यम्! स्मितव्याजेन क्षीरलिप्तत्वात् त्वद्गिरां सुधया क्षीरेण च सार्द्धं क्षीरसागरोत्पन्नत्वम् उन्नीयते, अन्यथा तथाभावासम्भवादिति भावः॥ २२॥

अन्वयः—त्वद्गिरः क्षीरपाथोधेः सुधया सह एव उत्थिताः, अद्य यावत् अहो, स्रावद्दुग्धलेपलवस्मिताः।

हिन्दी - तेरे (दमयन्ती के) वचन क्षीरसमुद्र से अमृत के साथ ही उत्पन्न हुए थे; आज तक अहो, (इसीसे) फैलते दूध के बिन्दुओं-सी मुसकान से वे मिले हुए हैं (अथवा क्षीरसागर के उफनते दूध के कण ही जिनकी मुसकान है)।

टिप्पणी—आशय यह कि दमयन्ती जब स्मित युक्त वचन कहती है तो

ऐसा प्रतीत होता है कि शुभ्र अमृत-धारा क्षर रही है। क्षीरसागर से निःसृत दुग्ध लेप से मिश्र सुधाधारा की कल्पना यही द्योतित करती है—स्मित-वचन, क्षीरसागर को दुग्धमिश्रित अमृत की धार ॥ २२ ॥

पूर्वपर्वतमाश्लिष्टचन्द्रिकश्चन्द्रमा इव ।
अलञ्चक्रे स पर्यङ्कमङ्कसङ्क्रमितप्रियः ॥ २३ ॥

जीवातु—पूर्वेति। आश्लिष्टा आलिङ्गिता, स्पृष्टा इति यावत्, चन्द्रिका कौमुदी येन सः तादृशः, चन्द्रमाः चन्द्रः, पूर्वपर्वतम् उदयाद्रिम् इव, अङ्कसङ्क्रमिता क्रोडारोपिता, प्रिया दमयन्ती येन सः तादृशः क्रोडोपवेशितभैमीकः 'अपूरणीप्रियादिषु' इति वचनान्न प्रियापरस्य पूर्वपदस्य 'स्त्रियाः पुंवत्—' इत्यादिना पुंवद्भावः। सः नलः, पर्यङ्कं शयनम्, अलञ्चक्रे भूषयामास, उपविवेश इत्यर्थः ॥ २३ ॥

अन्वय—आश्लिष्टचन्द्रिकः चन्द्रमाः पूर्वपर्वतम् इव अङ्कसङ्क्रमितप्रियः सः पर्यङ्कम् अलञ्चक्रे।

हिन्दी—चाँदनी का आलिंगन किये चन्द्रमा जैसे पूर्वाचल (उदयगिरि) को सुशोभित करता है, वैसे ही अँकवार में प्रिया (दमयन्ती) को लिए वह (राजा नल) पलंग को सुशोभित करने लगा।

टिप्पणी—पूर्ववर्णित (श्लोक सख्या १८–२२) प्रीतिवचन कहते हुए राजा नल ने प्रिया दमयन्ती को आलिंगन में लिया और उसको अंक में लिये पर्यंक पर बैठ गया। इसका उपमान चाँदनी का आलिंगन किये उदयाचल पर स्थित चन्द्रमा से दिया गया है। चन्द्रमा नल, चाँदनी दमयन्ती और उदयाचल पर्यंक है ॥ २३ ॥

प्रावृडारम्भणाम्भोदः स्निग्धो द्यामिव स प्रियाम् ।
परीरभ्य चिरायास विश्लेषायासमुक्तये ॥ २४ ॥

जीवातु—प्रावृडिति। स्निग्धः अनुरक्तः, दमयन्तीं प्रति प्रीतिसम्पन्नः इत्यर्थः। जलगर्भत्वात् मसृणश्च। सः नलः, प्रावृडारम्भणे वर्षाप्रारम्भे, अम्भोदः मेघः, द्यां नभःस्थलीम् इव, विश्लेषायासमुक्तये वियोगक्लेशपरिहाराय, प्रियां भैमीम्, परीरभ्य आलिङ्ग्य, चिराय दीर्घकालपर्यन्तम्, आस बभूवे, चिरमाश्लिष्य अवस्थितः इत्यर्थः। 'आसेति तिङन्तप्रतिरूपकम्' इति शाकटा-

यनः, वामनश्च 'अस गतिदीप्त्यादानेष्विति अस्धातोः' इत्याह 'आसेरयसतेः' इति ॥ २४ ॥

अन्वयः—स्निग्धः प्रवृडारम्भणाम्भोदः द्याम् इव (स्निग्धः) सः प्रियाम् विश्लेषायासमुक्तये परीरम्य चिराय आस ।

हिन्दी—सजल, श्याम वर्षा का प्रथम पयोद जैसे गगन-स्थली में विहंगों से संबंध जनित दुःख के परिहार के लिए बहुत देर तक ठहरा रहता है, वैसे ही प्रीतिपूर्ण वह (नल) वियोगजनित कष्ट के परिहारार्थ प्रिया को आलिंगन में लिये बहुत समय तक बैठा रहा।

टिप्पणी—यहाँ प्रिया को आलिंगनबद्ध किये विलंब तक पर्यंक पर बैठे रहे नल की तुलना वर्षा के पहिले बादल से की गयी है, जो जल-वर्षा के कारण शरद् ऋतु पर्यन्त सम्भावी विहंगों के संयोग (न हो सकने) के कष्ट को दूर करने के लिए गगन में छाया रहता है। राजा संध्यावंदनादि के कारण जात वियोग का संताप मिटाने के लिए प्रिया को अंक में लिये देर तक बैठा रहा ॥ २४ ॥

> चुचुम्बास्यमसौ तस्या रसमग्नः श्रितस्मितम् ।
> नभोमणिरिवाम्भोजं मधुमध्यानुबिम्बितः ॥ २५ ॥

जीवातु—चुचुम्बेति । रसमग्नः अनुरागसागरान्तर्निविष्टः, असौ नलः, श्रितस्मितं प्राप्तमन्दहासम्, आलिङ्गनजन्यानन्देन कोपापगमादिति भावः । प्राप्तविकासञ्च, तस्याः दमयन्त्याः, आस्यं मुखम्, मधुमध्ये कमलस्यैव मकरन्दाभ्यन्तरे, अनुबिम्बितः प्रतिफलितः, एवञ्च नभोमण्यम्भोजयोः परस्परं सुदूरव्यवधाने सत्यपि चुम्बने न काऽप्यनुपपत्तिरिति मन्तव्यम् । नभोमणिः रविः, अम्भोजं कमलम् इव, चुचुम्ब चुम्बितवान् ॥ २५ ॥

अन्वयः—श्रितस्मितम् अम्भोजं मधुमध्यानुबिम्बितः रसमग्नः नभोमणिः इव असौ तस्याः आस्यं चुचुम्ब ।

हिन्दी—कमल-मकरंद में प्रतिबिंबित, जलाशय के जल में प्रतिबिंब-रूप में) डूबा आकाश का मणि (सूर्य) जैसे विकसित कमल का चुम्बन करता है, वैसे ही (मान-कोप दूर हो जाने से) स्मितपूर्ण कमल-सदृश उस (दमयन्ती) के प्रसन्न मुख का, मानो प्रीति के मधु-सागर में निमग्न हो

प्रतिबिंबित होता, आनन्द-रस में मग्न सूर्य-सा तेजस्वी वह (नल) चुम्बन करता रहा।

टिप्पणी—प्रिया का मुख चुम्बन करते नल की समता यहाँ कमलास्य-चुम्बी नभोमणि सूर्य से की गयी है। प्रिया का सस्मित आनन विकसित कमल है और प्रीतिरस में डूबा अपने को मधु-सागर में प्रतिबिंबित अनुभव करता सूर्य-सम तेजस्वी नल जल में प्रतिबिम्बित सूर्य है। सूर्य और कमल के मध्य पर्याप्त दूरी है, इसी लिए 'मधुमध्यानुबिम्बित' होने की योजना की गयी है। इस प्रकार सुदूर-व्यवधान रहने पर भी नभोमणि द्वारा अम्भोज-चुम्बन में कोई आपत्ति नहीं रहती ॥ २५ ॥

अथाहूय कलां नाम पाणिना स प्रियासखीम्।
पुरस्ताद्वेशितामूचे कर्तुं नर्मणि साक्षीणीम् ॥ २६ ॥

जीवातु—अथेति। अथ चुम्बनानन्तरम्, स नलः, कलां नाम कलानाम्नीम्, प्रियासखीं भैम्या वयस्याम्, नर्मणि परिहासक्रीडायाम्, साक्षिणीं प्रत्यक्षदर्शिनीम्, कर्तुं विधातुम्, पाणिना हस्तसंज्ञया, आहूय आकार्य, पुरस्तात् अग्रे, वेशितां उपवेशितां, कृत्वेति शेषः, ऊचे बभाषे ॥ २६ ॥

अन्वय—अथ स कलां नाम प्रियासखीं पाणिना आहूय पुरस्तात् वेशितां नर्मणि साक्षिणीं कर्तुम् ऊचे।

हिन्दी—तदनन्तर (आलिंगन-चुम्बन के पश्चात्) उस (नल) ने कला नाम की प्रिया (दमयन्ती) की सखी को हस्त संकेत से बुलाकर, सम्मुख बैठाकर विलास परिहास केलि की प्रत्यक्षदर्शिनी बनाते हुए, कहा।

टिप्पणी—'कला' नाम की सखी की साक्षी में नर्म क्रीडा करना द्योतित करता है कि कला निधि नल का क्रीडाविलास कलापूर्वक होता था। यों सामान्य सेविकाओं की प्रत्येकक्षण उपस्थिति सामान्य-सी सामन्तीय परम्परा है ॥ २६ ॥

कस्मादस्माकमब्जास्या वयस्या दयते न वः ?।
आमक्ता भवतीष्वियं मन्ये न बहु मन्यते ॥ २७ ॥

जीवातु—कस्मादिति। हे कले ! अब्जास्या कमलवदना, वः युष्माकम्, वयस्या सखी, कस्मात् कस्य हेतोः, अस्माकं मामित्यर्थः। 'अधीगर्थ-'

इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । न दयते ? न अनुकम्पते ? मन्ये विवेचयामि, अहमिति शेषः । भवतीषु युष्मासु, आसक्ता अत्यन्तमनुरक्ता सती, अन्यम्, अपरं जनम्, न बहु मन्यते न समाद्रियते ॥ २७ ॥

अन्वयः—अब्जास्या वः वयस्या कस्मात् अस्माकं न दयते ? मन्ये, भवतीषु आसक्ता अन्यं बहु न मन्यते ।

हिन्दी—नल ने कला से कहा—'कमलानना तुम्हारी (कला-आदि की) सहेली क्यों हम (नल) पर दया नहीं करती ? लगता है, आप (सखी) लोगों में यह विशेष अनुरक्त है, सो अन्य (दूसरे) को बहुत नहीं मानती।'

टिप्पणी—कला के माध्यम से दमयन्ती से बोलने का अनुनय । 'अन्य' का समादर नहीं करती—यह कह कर एक प्रकार से उलाहना कि, नल तो 'अन्य' है—पराया, सहेलियाँ अपनी हैं, तभी तो नल 'अन्य' से कला की वयस्या बात नहीं करती । नारायण के अनुसार नल ने इस प्रकार कला को सूचित किया कि रात्रि में दमयन्ती ने नल को हाथ भी न रखने दिया । अन्वय-भेद से अर्थात् 'अस्माकं दयते, ते न, भवतीषु न आसक्ता, अन्य बहुमन्यते' पद-योजना करके नारायण ने यह भाव भी लिया है कि नया परिचय होने पर भी दमयन्ती नल पर कृपालु है, चिरपरिचय होने पर भी आप लोगों पर नहीं । आपलोगों पर अनुरक्त नहीं है, 'अन्य' (नल) को समादर देती है ॥ २७ ॥

अन्वग्राहि मया प्रेयान्निशि स्वोपनयादिति ।
न विप्रलभते तावदालीरियमलीकवाक् ? ॥ २८ ॥

जीवातु—अन्वग्राहीति । मया भैम्या, निशि रात्रौ, स्वोपनयात् आत्मसमर्पणात्, स्वाङ्कदानं कृत्वेत्यर्थः । प्रेयान् प्रियतमः नलः, अन्वग्राहि अनुगृहीतः इति एवम्, अलीकवाक् अनृतवादिनी, इयम् एषा वः सखी, तावद् सकला एव, आलीः सखीः भवतीः, न विप्रलभते ? न प्रतारयति ? किमिति शेषः, इति काकुः; अपि तु प्रतारयत्येव । तस्माद् अहं रात्रौ प्रियतमाय आत्मसमर्पणं कृतवतीति युष्मत्समीपे यदियमुक्तवती तद् वचः न श्रद्धेयम् इति भावः ॥२८॥

अन्वयः—निशि मया स्वोपनयात् प्रेयान् अन्वग्राहि—इति इयम् अलीकवाक् आलीः तावद् न विप्रलभते ।

हिन्दी—'रात मैंने आत्मसमर्पण-द्वारा प्रिय (को) अनुगृहीत किया था'—इस प्रकार यह (दमयन्ती) झूठ बोल कर सखियो को नहीं छल रही है। अथवा 'काकु' की योजना से—'झूठी यह सखियो को क्या छल नहीं रही है? अपितु छल ही रही है।'

टिप्पणी—द्व्यर्थबोधक वचन। दमयन्ती सत्य बोल रही है, सखियो से जो रात्रि मे आत्म समर्पण की बात कही है, वह सच है, सखियों को इसने झूठ बोलकर धोखा नही दिया, यह नल पर कृपालु है। काकु के आधार पर अन्य अर्थ—दमयन्ती झूठ बोल रही है, इसने रात मुझे छला, छूने तक न दिया और अब सखियों को भी छल रही है, यह झूठ बोलकर कि रात उसने आत्म समर्पण किया था। नारायण के अनुसार दमयन्ती ने यह 'भेदोपाय' किया, फूट डालने की चेष्टा ॥ २८ ॥

आह स्मैषा नलादन्यं न जुषे मनसेति यत्।
यौवनानुमितेनास्यास्तन्मृषाऽभून्मनोभुवा ॥ २९ ॥

जीवातु—आहेति। एषा इयं न सखी, नलात् नैषधात्, अन्यम् अपरं पुरुषम्, मनसा चेतसा, अपीति शेष, न जुषे न सेवे, इति यत् आह स्म ऊचे, अस्या. तव सख्या., तद् वचनम्, यौवनानुमितेन यौवनेन तारुण्येन, लक्षणेन, अनुदित तर्कित तादृशेन, एषा मनोभूमती यौवनवत्त्वात्, या या यौवनवती सा सा मनोभूमती इत्यनुमानविषयीकृतेनेत्यर्थः। मनोभुवा मन' चित्तमेव, भू. उत्पत्तिस्थान यस्य तादृशेन कामेन, मृषा मिथ्या, अभूत् अजनि; मदन्यस्य कामस्य मनसा सेवनात् अस्या तादृशी उक्ति. मिथ्या जाता इति निन्दाच्छलेन मय्येवेयं कामानुरक्तेति स्तुते व्याजस्तुतिः ॥ २९ ॥

अन्वयः—नलात् अन्यं मनसा न जुषे—इति एषा यत् आह स्म, अस्याः तत् यौवनानुमितेन मनोभुवा मृषा अभूत्।

हिन्दी—'नलातिरिक्त को मैं मन से भी नही भजती (तन से तो दूर की बात है),—ऐसा जो इस (दमयन्ती) ने कहा था, इस (दमयन्ती) का वह (कथन) यौवन द्वारा तर्कित मनोजन्मा (काम) द्वारा झूठा ठहरा दिया गया।

टिप्पणी—नल ने दमयन्ती के 'अलीकवाक्' होने का दूसरा तर्क दिया

कि यह जो सखियों से यह प्रकट करती है कि वह मन में भी अन्यपुरुष की बात नहीं विचारती, आत्मसमर्पण का तो प्रश्न ही नहीं है, यह भी असत्य है। इसका तारुण्य स्पष्ट बता रहा है कि इसने मन में 'मनोभू' (काम) को बसा रखा है। जो 'मनोभू' है, वह मन में होगा ही, अतः यह असत्य हुआ कि दमयन्ती ने नलातिरिक्त को मन में स्थान नहीं दिया। और 'मनोभू' इसके मन में है, इसका अनुमान इसका यौवन है। जो यौवनवती होती है, उसके मन में मनोभू होता है। नारायण और मल्लिनाथ के अनुसार यह व्याजस्तुति है। वस्तुतः तारुण्य का आरंभ होते ही दमयन्ती नल के प्रति कामानुरक्ता है ॥ २९ ॥

आस्यसौन्दर्यमेतस्याः शृणुमो यदि भाषसे।
तद्धि लज्जानमन्मौलेः परोक्षमधुनाऽपि नः ॥ ३० ॥

जीवातु—आस्येति। हे कले! एतस्याः युष्मत्सख्याः, आस्यसौन्दर्यं मुखशोभाम्, यदि चेत्, भाषसे वर्णयसि, त्वमिति शेषः। तदा शृणुमः आकर्णयामः, वयमिति शेषः। ननु तव उत्सङ्गे एव यदा इयमुपविष्टा, तदा अस्मन्मुखे कथं शृणुथ, पश्यथ न कथम् इति चेदाह—हि यस्मात्, लज्जया त्रपया, नमन्मौलेः नम्रशिरसः, एतस्याः इति शेषः। तत् आस्यसौन्दर्यम्, अधुना अपि विवाहात् परमधुपर्यन्तमपीत्यर्थः। नः अस्माकम्, परोक्षम् अक्ष्णोरगोचरमेव, वर्त्तते इति शेषः। तत् यथा एषा लज्जां परित्यज्य स्वमुखकमलमस्मान् दर्शयति तथा क्रियताम् इति भावः ॥ ३० ॥

अन्वयः—यदि एतस्याः आस्यसौन्दर्यं भाषसे, शृणुमः; हि लज्जानमन्मौलेः तद् अधुना अपि नः परोक्षम्।

हिन्दी—यदि इस (दमयन्ती) के मुख-सौंदर्य का वर्णन करो तो हम (नल) सुन पायें, क्योंकि लज्जा के कारण मुख झुका कर बैठी इस (दमयन्ती) का वह (मुख) इस समय (अंक में स्थित होने पर) भी हमारे (नल) के परोक्ष (अप्रत्यक्ष) है।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल सखी कला से चाहता है कि वह दमयन्ती को प्रेरणा दे कि वह लज्जा से यों मुख नीचा किये न बैठी रहे कि अंक में

लिये बैठा भी नल मुख-सौन्दर्य-दर्शन से वंचित रहे मुख ऊपर करे कि नल मुख तो देख पाये । नारायण के अनुसार दमयन्ती के 'अलीकवाक्' होने का एक और तर्क । दमयन्ती को प्राप्त करने की बात तो दूर है, नल तो उसका लज्जा से झुका मुख भी न देख पाया है, दमयन्ती ने सखियों को बहकाया है कि उसने आत्मसमर्पण किया है ॥ ३० ॥

पूर्णयैव द्विलोचन्या सैषाऽऽलीरवलोकते ।
द्राग्दृगन्ताणुना मान्तु मन्तुमन्तमिवेक्षते ॥ ३१ ॥

जीवातु—पूर्णयेति । सा उक्तरूपा लज्जानतशिरस्का, एषा दमयन्ती, पूर्णयैव समग्रयैव, न तु अन्तेन इति भाव । द्वयो लोचनयो॰, समाहार॰ इति द्विलोचनी तया द्विलोचन्या नेत्रद्वयेन त्रिलोकीवत् प्रक्रिया । आली॰ सखी॰, अवलोकते पश्यति, मान्तु मा पुन॰, मन्तुमन्तम् अपराधीनम् इव, द्राक् झटिति, क्षणमात्रमित्यर्थः । दृगन्ताणुना दृश॰ एकमात्रस्य चक्षुष॰, न तु द्वयो, अन्तः शेषभागः, न सम्पूर्णभाग, तस्यापि अणुना लेशमात्रेण, कटाक्षलेशेन इत्यर्थं । ईक्षते अवलोकयति, अन्योऽपि लोको यथा अपराधिन घृणया कटाक्षमात्रेणावलोकयति तद्वदिति निष्कर्षः ॥३१॥

अन्वय—सा एषा पूर्णया द्विलोचन्या आलीः एव अवलोकते, मा तु मन्तुमन्तम् इव द्राक् दृगन्ताणुना ईक्षते ।

हिन्दी—वह यह (लज्जा-अधोमुखी दमयन्ती) पूरे-पूरे दोनों नेत्रों से सखियों को ही देखती है, मुझ (नल) को तो अपराधी के समान जैसे क्षणभर को कनखियों से ही देखती है ।

टिप्पणी—नल ने कहा—आत्मसमर्पण और मुख-दिखाना तो दूर, यह दमयन्ती तो नल को भर आँख देखती भी नहीं, बस पल भर को कनखियों-भर से देख लेती है, जैसे किसी अपराधी पर एक दृष्टि डाल रही हो । भर-आँख तो बस सखियों को ही देखती है । वस्तुत॰ यहाँ भी प्रिया की प्रणय-सूचना ही है । कटाक्ष से प्रिया प्रिय को ही देखती है, सामान्य जनों को तो सामान्य दृष्टि से ही देखा जाता है ॥ ३१ ॥

नालोकते यथेदानीं मामियं तेन कल्पये ।
योऽहं दूत्येऽनया दृष्टः सोऽपि व्यस्मारिपीदृशा ॥ ३२ ॥

जीवातु—नेति । इयं दमयन्ती, यथा येन प्रकारेण, इदानीम् अधुना, मां नलम्, न आलोकते न ईक्षते, तेन तादृशानालोकनव्यापारेण, कल्पये एवं मन्ये, यत् यः अहं नलः, दूत्ये इन्द्रादीनां दूत्यकाले, अनया भैम्या, दृष्टः पूर्णलोचनद्वयेन अवलोकितः, सोऽपि अहम्, ईदृशा इदानीमेतादृशव्यवहारेण माम् अपश्यन्त्या अनया, व्यस्मारिषि विस्मृतः अस्मि। स्मरतेः कर्मणि लुङ् । 'स्यसिच्सीयुट्' इत्यादिना सिच इडागमे तस्य चिण्वद्भावे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिः । अविस्मरणे पूर्ववत् सादरं पश्येत् इति भावः ।

अन्वयः—इयं माम् इदानीं यथा न आलोकने, तेन परिकल्पये—यः अहं दूत्ये अनया दृष्टः सः अपि ईदृशा व्यस्मारिषि ।

हिन्दी—यह (दमयन्ती) मुझे (नल को) इस समय जो नहीं देखती, उससे सोचता हूँ कि जो मुझे (नल को) इस (दमयन्ती) ने देव-दूतकार्य करते समय देखा था, वह भी भुला दिया ।

टिप्पणी—नल ने कहा—दमयन्ती अब यह भी भूल गयी कि जब नल देवदूत रूप में उसके समीप पहुँचा था, अन्यथा देखती नहीं ? उस समय कैसा भर-आँख देखा था और वार्तालाप किया था, अब ऐसा दुराव किस लिए ! यह भी उत्तेजित करने वाला कथन है—सोल्लुंठा उक्ति, जिससे दमयन्ती बोले ।

रागं दर्शयते सैषा वयस्याः सूनृतामृतैः ।
मम त्वमिति वक्तुं मां मानिनी मौनिनी पुनः ॥ ३३ ॥

जीवातु—रागमिति । सा उक्तरूपा, एषा प्रिया, सूनृतामृतैः सत्यप्रियवाक्यपीयूषैः । 'सूनृतं प्रिये सत्ये' इत्यमरः । वयस्याः सखीः, रागम् अनुरक्तिम् स्नेहभावमित्यर्थः, दर्शयते प्रकाशयतीत्यर्थः, ताभ्यः विस्रब्धं कथयतीति भावः । 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्' इति विकल्पाद्णिकर्त्तुः कर्मत्वम्, 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम् । मानिनी मानवती इयम्, मां पुनः मान्तु, त्वम् भवान्, मम मदीयः, इति एवम्, वक्तुं कथयितुम्, 'मदीयः त्वम्' इत्येतावन्मात्रं वक्तुमपीत्यर्थः । मौनिनी वाचंयमा, भवतीति शेषः । अतिनिष्करुणा इयं मयि इति निन्दा, लज्जाशीलेयमिति स्तुतिः ॥ ३३ ॥

अन्वय—सा एषा सूनृतामृतैः वयस्याः रागं दर्शयते, मानिनी पुनः मां तु 'त्वं मम' इति वक्तुं मौनिनी।

हिन्दी—वह यह (दमयन्ती) सत्य और प्रिय वचनामृतों द्वारा सखियों के प्रति अनुराग प्रदर्शन करती है, मानवती पुनः मुझ से तो इतना कहने में भी मौन धारण किये बैठी है कि 'तुम मेरे हो।'

टिप्पणी—नल ने और उलाहना दिया कि दमयन्ती तो मीठी-मीठी बातें करके सखियों के प्रति अपनी अनुरक्ति प्रकट करती है, नल से तो इतना मान रोष किये बैठी है कि एक बार यह भी नहीं कहती कि 'तुम मेरे हो।' आशय यह कि दमयन्ती और कुछ न कहे, केवल नल को मुख से अपना ही कह दे। इससे ही नल तृप्त हो जायेगा। नारायण के अनुसार 'नल पर दमयन्ती की कृपा नहीं है,'—यह सोल्लुण्ठोक्ति है अथवा 'लज्जावश नहीं बोलती है'—यह व्याजस्तुति है। मल्लिनाथ के अनुसार 'दमयन्ती नल पर अतिनिष्करुण है'—यह निन्दा है, 'लज्जाशीला' है—यह स्तुति है ॥ ३३ ॥

का नामन्त्रयते नाम नामग्राहमियं सखी ?
कले ! नलेति नास्माकी स्पृशत्याह्वा तु जिह्वया ? ॥ ३४ ॥

जीवातु—कामिति। कले ! इयम् एषा, सखी ते वयस्या, कां नाम सखीम्, नामग्राहं नाम गृहीत्वा। 'नाम्न्यादिशिग्रहोः' इति णमुल्। न आमन्त्रयते ? न सम्बोधयति ? अपि तु सर्वा एव आमन्त्रयते इत्यर्थः। नामेति प्रश्ने। तु किन्तु, अस्माकम् इमाम् आस्माकीं मदीयाम्। 'युष्मदस्मदोः' इत्यादिना अण्प्रत्ययः। 'तस्मिन्नणि च—' इत्यादिना आस्माकादेशः, 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप्। नलेति आह्वां नाम। 'आख्याऽऽह्वे अभिधानञ्च नामधेयञ्च नाम च' इत्यमरः। जिह्वया रसनया, अपीति शेषः, न स्पृशति न स्पर्शं करोति, मा नाम्नाऽपि न आह्वयति रहस्यालापस्तु दूरमास्तामिति निन्दा, स्त्रीणां भर्तृनामग्रहणस्य अनौचित्यात् स्तुतिः ॥३४॥

अन्वय—कले, सखी इयं कां नाम नामग्राहं गृहीत्वा न आमन्त्रयते ? आस्माकीं 'नल' इति आह्वां तु जिह्वया न स्पृशति।

हिन्दी—हे कले, (तुम्हारी) सखी यह (दमयन्ती) किस को नाम लेकर सबोधित नहीं करती ? (सभी का नाम लेकर बुलाती है।) किन्तु हमारी 'नल' इस 'आह्वा' (नाम) को तो जीभ से ही नहीं छूती।

टिप्पणी—भारतीय शिष्टाचार के अनुसार पति का नाम स्त्रियाँ नहीं लेती—'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च । श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ॥' दमयन्ती भी अपने से बड़े, महत्त्वपूर्ण पति को 'नल' इस प्रकार नाम लेकर नहीं बुलाती थी। इस पर नल ने दमयन्ती को सराहना दिया और कला को बताया दमयन्ती तो अपनी जीभ से नल-नाम का भी स्पर्श नहीं करती, आत्मसमर्पण और रहस्यालाप तो बड़ी दूर की बात है। नारायण और मल्लिनाथ के अनुसार पति-नाम न लेकर शिष्टाचार का निर्वाह करने वाली दमयन्ती की यह निन्दारूप में स्तुति है—'उपालम्भात् व्याजस्तुतिः' ॥ ३४ ॥

अस्याः पीनस्तनव्याप्ते हृदयेऽस्मासु निर्दये ।
अवकाशलवोऽप्यस्ति नात्र कुत्र बिभर्तु नः ? ॥ ३५ ॥

जीवातु—अस्या इति। पीनाभ्यां स्थूलाभ्याम्, स्तनाभ्यां कुचाभ्याम् व्याप्ते सम्पूर्णताभावेन आक्रान्ते, ततश्च बहिरपि अवकाशलवोऽपि नास्तीत्याशयः, अस्मासु मयि विषये, निर्दये अकरुणे, तत एव अन्तरपि अवकाशलवोऽपि नास्तीति भावः, अस्याः दमयन्त्याः, हृदये वक्षसि, अवकाशस्य मदवस्थितिस्थानस्य, लवः लेशोऽपि, नास्ति न विद्यते, अत एव अत्र हृदये, कुत्र कस्मिन् स्थाने, नः अस्मान्, मामित्यर्थः। बिभर्तु ? धारयतु ? न कुत्रापीत्यर्थः। उच्चकुचाभ्यां व्यवहितेनैव मया स्थीयते, न तु हृदयेन ध्रियते इति भावः। अत्रापि निन्दाच्छलेन स्तुतिः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—पीनस्तनव्याप्ते अस्मासु निर्दये अस्याः हृदये अवकाशलवः अपि न अस्ति, अत्र नः कुत्र बिभर्तु ?

हिन्दी—स्थूल पयोधरों के द्वारा (बाहुमूल तक प्रसरित होने के कारण) आवृत (ढके) हमारे (नल के) प्रति दयारहित इस (दमयन्ती) के हृदय (वक्ष) में स्थान-लेश भी (थोड़ा-सा स्थान) नहीं है; यहाँ (वक्ष, हृदय पर) हमें (नल को) कहाँ धारण करे ?

टिप्पणी—नल ने कला से कहा कि उसकी सखी दमयन्ती नल के प्रति निष्करुण तो है ही, किन्तु उस बेचारी का विशेष दोष भी नहीं है। उसके हृदय (अन्तःकरण, वक्ष) में स्थान ही कहाँ बचा है, जो वह नल को

स्थान दे। वक्ष को तो पीन पयोधरों के विस्तार ने भुजमूल तक घेर रखा है। थोड़ा सा भी तो स्थान कहीं नहीं बचा है, जो दमयन्ती नल को हृदय तक पहुँचने दे, वह तो ऊपर ही ऊपर स्तनाग्रभाग पर ही रुक जाता है। पीन पयोधर ही बीच में व्यवधान बने रोक लेते हैं। नारायण के अनुसार नल उच्च कुचों द्वारा ऊपर ही रोक लिया जाता है, वे उसे हृदय का स्पर्श करने ही नहीं देते—यह औचित्य में अनौचित्य का आरोप है, यहाँ इस कारण वक्रोक्ति अथवा व्याजस्तुति है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ निन्दा छल से स्तुति है॥ ३५॥

> अधिगत्येदृगेतस्या हृदयं मृदुतामुचोः।
> प्रतीमः एव वैमुख्यं कुचयोर्युक्तवृत्तयोः॥ ३६॥

जीवातु—अधिगत्येति। एतस्या भैम्याः, हृदयम्, अन्तःकरणम्, ईदृक् निर्दयत्वात् ईदृशं कठिनम्, अधिगत्य ज्ञात्वा, इवेति शेषः। मृदुतामुचोः कोमलत्वत्यागिनोः, तथाभूतकठिनहृदयससर्गात् स्वयमपि तावत् काठिन्यभाजोः इत्यर्थः। अन्यथा कठिने मृदुताचरणे दुर्नीतिरिति भावः। अत एव युक्तवृत्तयोः युक्तम् उचितम्, वृत्तं व्यवहारः ययोस्तादृशयोः, कठिने कठिनव्यवहारस्य औचित्यात्, अन्यत्र—युक्तौ पीनत्वात् मिथः संश्लिष्टौ, वृत्तौ वर्तुलौ च तयोः युक्तवृत्तयोः। विशेषणसमासः। कुचयोः स्तनयोः, अपीति शेषः, वैमुख्यमेव कठिनात् हृदयात् विपरीतमुखत्वमेव औदासीन्यमेव च, प्रतीमः जानीमः, एतस्या निर्दयात् कठिनात् हृदयात् स्वाङ्गभूतौ सद्वृत्तौ कुचावपि विमुखौ जातौ, वयन्तु बाह्याः तत्र निवेष्टुं कथं शक्नुमः ? इति भावः, यद्वा—वैमुख्यमेव मयि पराङ्मुखत्वमेव, तुङ्गतया आलिङ्गनविघ्नजननादिति भावः, अन्यत्र—विगतमुखत्वमेव, नवोद्भिन्नत्वात् वृन्तहीनतया मनोज्ञमेवेति भावः।

अन्वय—अस्या हृदयम् ईदृक् अधिगत्य मृदुतामुचो युक्तवृत्तयो कुचयो वैमुख्यम् एव प्रतीम।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के हृदय को ऐसा (कठोर) समझ कर कोमलता छोड़कर उचित आचरण (निर्दयता, कठोरता का व्यवहार) करने वाले पयोधरों की विमुखता ही जानते हैं। पक्षांतर—इस (दमयन्ती) के वक्ष को ऐसा (कठोर) समझ कर कोमलता-त्यागने वाले और संश्लिष्ट

वर्त्तुलों-वाले (मिल गयीं गोलाइयों वाले) कुचों की मुख-रहितता (नवोद्भूत होने से चूचुकरहितता) ही प्रतीत करते हैं।

टिप्पणी—आशय यह है कि नल ने कहा कि दमयन्ती के पीन पयोधर जो कठोर हैं, उसका कारण उनका कठोर वक्ष से संबद्ध होना है। वक्ष कठोर है, सो कुच भी कठोर हो गये और हृदय के समान ही नल से पराङ्मुख हो गये और इस प्रकार हृदय-स्पर्श का अवसर नहीं देते। अर्थान्तर यह भी हो गया कि नल को कुचों की पूर्ण प्रतीति है कि वे कठिन, पीन, गोलाकार हैं और नये-नये होने से मुख—चूचुक से रहित हैं। व्याख्याकारों ने और भी अनेक अर्थ किये हैं। हृदय ऐसा (कठोर) है, अतः कुचों ने भी कोमलता त्याग दी और कठोर के साथ कठोरता का उचित व्यवहार करते हुए वक्ष से विमुख अर्थात् ऊर्ध्वमुख हो गये, वक्ष की ओर से मुँह फेर लिया, ऊपर देखने लगे। अथवा-दमयन्ती के हृदय की नल के प्रति कठोरता समझ कर स्तन भी कोमलता त्याग कर, वैसा ही आचरण करते हुए नल को आलिंगन न देते हुए विमुख हो गये। अथवा—दमयन्ती के नारी-हृदय की कोमलता जान कर भी कठोर बने उसके कठोर, कोमलता त्यागे कुचों का क्या यह युक्त वृत्त है (उचित आचरण है) कि वे विमुख (कोमल के विपरीत निर्दय, कठोर) हो गये ? (कोमल नारी-हृदय से संबद्ध होने के कारण उनकी विमुखता—विपरीत भाव कठोरता उचित व्यवहार नहीं है।) अथवा स्तन 'विमुख' अर्थात् बुरे—काले मुँह के हैं, सो अपना मलिन मुख वक्ष को नहीं दिखाते। (स्तनों की ओर कुछ अपेक्षाकृत श्याम होती है)। अथवा—कुचों का यह आचरण (वृत्त) युक्त (उचित) ही है कि वे कठोर हृदय के प्रति कठोर हो उससे पराङ्मुख हो गये। व्यवहार-कुशल व्यक्ति निष्करुण से पराङ्मुख रहता ही है। अथवा—कोमलतमा दमयन्ती के कोमलतम हृदय को जानकर मृदुता—मूढता को छोड़ते इसके स्तन युक्त-वृत्त हैं—उचित आचरण करते हैं कि नल के प्रति 'विमुख' अर्थात् आलिंगनादि देने में विशिष्ट (अत्युन्नत) अग्रभाग से युक्त और विकसित मुख (प्रसन्न) रहते हैं। आदि-आदि। आशय यही है कि नल स्तनों की 'विमुखता' की अनेकार्थता के आधार पर दमयन्ती को अपने प्रति निर्दय और सदय—दोनों बता रहा है ॥ ३६ ॥

इति मुद्रितकण्ठेऽस्मिन् सोल्लुण्ठमभिधाय ताम् ।
दमयन्तीमुखाधीतस्मितयाऽस्मै तया जगे ॥ ३७ ॥

जीवातु—इतीति । अस्मिन् नले कान्ते, तां कलाम्, सोल्लुण्ठं सोत्प्रासम्, सपरिहासमित्यर्थः । 'सोल्लुण्ठनन्तु सोत्प्रासम्' इत्यमरः । इति एवम्, अभिधाय उक्त्वा, मुद्रितकण्ठे निरुद्धगले, तूष्णीम्भूते सतीत्यर्थः । तया कलानामसख्या, दमयन्तीमुखाधीतस्मितया दमयन्त्या वयस्यायाः भैम्याः, मुखात् आननात्, अधीतं शिक्षितम्, गृहीतमिति यावत्, स्मितं मन्दहास्यं यया तादृश्या सत्या, दमयन्तीं हसन्तीं दृष्ट्वा स्वयमपि स्मयमानया सत्या इत्यर्थः । अस्मै नलाय, जगे जगादे, नलं गदितं इत्यर्थः । 'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्' इति क्रियया अभिप्रायात् सम्प्रदानत्वम्, तथा चाविवक्षितकर्मत्वाद्भावे लिट् । अस्मै इत्यत्र 'असौ' इति पाठे-असौ नलः, जगे ऊचे, वक्ष्यमाणं वचः इति शेषः । कर्मणि लिट् ॥ ३७ ॥

अन्वय—अस्मिन् तां सोल्लुण्ठम् इति अभिधाय मुद्रितकण्ठे दमयन्तीमुखाधीतस्मितया तया अस्मै जगे ।

हिन्दी—इस (नल) के उस (कला अथवा कला के माध्यम से दमयन्ती) के प्रति इस प्रकार वक्रोक्तिसमन्वित परिहास वचन कहकर चुप हो जाने पर दमयन्ती के मुख से हँसी सीखने वाली उस (कला) ने उस (नल) से कहा।

टिप्पणी—नल ऐसे परिहास-वचन कहकर, जिनमें उक्तिवैचित्र्य के कारण नल के प्रति दमयन्ती की विमुखता भी प्रकट हो जाती थी और आत्मसमर्पण-शीलता भी, चुप हो गया। उस उक्तिवैचित्र्य के परिहास को समझकर दमयन्ती मुसकुराने लगी। कला ने सखी का यह भाव देखा और वह भी मुसकुराकर नल से कहने लगी। कला के वचन आगे (श्लोक संख्या ३८-४९) हैं ॥ ३७ ॥

भावितेयं त्वया साधु नवरागा खलु त्वयि ।
चिरन्तनानुरागार्हं वर्त्तते न सखी प्रति ॥ ३८ ॥

जीवातु—यदुक्तं 'कस्मादस्माकम्' इत्यादि तत्र तावदुत्तरमाह—भावि-

वेति। हे महाराज! त्वया भवता, इयं सखी भैमी, साधु सम्यक्, भाविता तर्किता, खलु इति निश्चये यतः, त्वयि भवति नवरागा नूतनपरिचयात् नूतनानुरागा, जातेति शेषः। अतः तदनुरूपं वर्तते इति भावः। नः अस्मान्, सखीः सहचरीः प्रति तु, चिरन्तनस्य पुरातनस्य, अनुरागस्य प्रणयस्य, आबाल्यमेकत्रावस्थानात् सहजानुरागस्येत्यर्थः। अर्हम् अनुरूपं यथा तथा, वर्त्तते विद्यते, व्यवहरतीत्यर्थः। अत एवेयं भवति ससङ्कोचा अस्मासु तु तद्वर्जिता स्वभावत एव, एवञ्चायमुपालम्भः नोचितः इति भावः॥ ३८॥

अन्वयः—त्वयि नवरागा इयं खलु साधु भाविता, नः सखीः प्रति चिरन्तनानुरागार्हं वर्त्तते।

हिन्दी—कला बोली—महाराज, आपने प्रति नवीन अनुरागमयी इस (दमयन्ती) को निश्चय ही आपने भलीभाँति समझ लिया। हम सखियों से यह चिरंतर (बाल्यकाल से चले आये) प्रेम के उपयुक्त व्यवहार करती है।

टिप्पणी—कला ने महाराज नल के एक-एक छोल्लुण्ठ वचनों के उत्तर में वैसे ही प्रतिवचन कहे। यह 'कस्मादस्माकम् (२७) का उत्तर है, जिसमें नल ने दमयन्ती पर यह दोष लगाया था कि वह उसके प्रति अनुरक्त नहीं है, सखियों के प्रति विशिष्टानुरक्ता है। कला ने कहा कि महाराज ने सखी को ठीक समझा है। सखी का महाराज के प्रति नया अनुराग है, धृष्ट न होने से इसी कारण वह नवोढा सलज्ज व्यवहार करती है। सखियों के साथ दमयन्ती का उन्मुक्त व्यवहार बाल्यसाहचर्य के कारण है। काकु अथवा 'त्वया+असाधु' संधिविच्छेद करके यह भाव भी है कि महाराज ने दमयन्ती को ठीक नहीं समझा। जैसा उन्होंने कहा, वैसा नहीं है। दमयन्ती महाराज के प्रति नवानुरागिणी है, सो उसकी प्रीति महाराज के प्रति दृढ है। सखियों का प्यार तो पुराना पड़ गया—बासी, अतः अब उसमें शिथिलता आ गयी है—'अतिपरिचयादवज्ञा।' अथवा महाराज ने ठीक ही समझा—नवानुरागा दमयन्ती महाराज पर ही दया करती है, सखियों पर नहीं, उन्हें ही बहुत मानती है, सखियों को नहीं—'वः न दयते, अस्माकं दयते, भवतीषु न आसक्ता, अन्यम् आसक्ता।' कारण नवानुराग और पुराणानुराग। अथवा—महाराज ने नवानुरागा-दमयन्ती को भलीभाँति

भाविन अर्थात् द्रवित कर लिया है, आपके प्रति उसका दृढप्रेम व्यवहार है, हमारे प्रति अवज्ञा ॥ ३८ ॥

स्मरशास्त्रविदा सेयं नवोढा नस्त्वया सखी।
कथं सम्भुज्यते बाला? कथमस्मासु भाषताम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—यदुक्तम् 'अन्वग्राहि' इत्यनेन तत्रोत्तरं श्लोकद्वयेनाह—स्मरेत्यादिना। नवम् अचिरमेव, ऊढा परिणीता, अत एव लज्जासङ्कुचिता इत्याशयः। तथा बाला अविदग्धा, अत एव स्मरागमानभिज्ञा इति भावः न अस्माकम्, सा त्वया अभियुक्ता, इयं भवदङ्कस्था, सखी सहचरी दमयन्ती, स्मरशास्त्रविदा कामतन्त्रवेदिना, अत एव कामकलाकुशलेनेत्यर्थः। त्वया भवता, कथं केन प्रकारेण, सम्भुज्यते? निर्भरं सम्भोक्तुं शक्यते? कथमपि नैवेत्यर्थः। अस्या लज्जाया एव दुर्वारविघ्नत्वादिति भावः। कथं केन वा प्रकारेण, अस्मासु अस्मत्समीपे, भाषताम्? रात्रिवृत्तमस्तोकं कथयतु? बालत्वेन लज्जावशादस्मभ्यं स्वचेष्टितं नैव कथयिष्यतीत्यर्थः। तस्मान्नासौ अलीकवाक् न वा अस्मान् विप्रलभते, किन्तु नवोढासुलभ-लज्जापरवशाया अस्याः कामशास्त्रवेदिनस्तव एवमुपालम्भः नोचित इति भावः ॥ ३९ ॥

अन्वय—नवोढा बाला नः इयं सखी स्मरशास्त्रविदा त्वया कथं सम्भुज्यते? कथम् सा अस्मासु भाषताम्?

हिन्दी—नवविवाहिता (सलज्जा), बाला-हमारी इस (आपके आलिंगन-पाश में बैठी, कामशास्त्रानभिज्ञा) सखी (दमयन्ती) का कामशास्त्र के पण्डित आप (नल) कैसे भोग करते हैं? कैसे वह हम (सखियो) से कहे?

टिप्पणी—'अन्वग्राहि' इत्यादि (२८) का उत्तर, जिसमें 'आत्म-समर्पण' की बात को झूठी बताया गया था। कला ने कहा कि पहिले काम शास्त्र के तत्त्ववेत्ता नल द्वारा नवोढा बाला दमयन्ती का भोग ही उचित नहीं है, क्योंकि कामशास्त्र के अनुसार बाला का भोग उचित नहीं है, क्योंकि उसमें विरागोत्पत्ति की आशंका रहती है, और यदि भोगना ही हो तो धीरे धीरे लाज, भय आदि को धीरे धीरे दूर करके भोगे—'बाला बलाच मुञ्जीत विरागोत्पत्तिशङ्कया। मुञ्जीत चेत् त्रपाभीतित्याजनक्रमसंगताम् ॥'

(नल ने ऐसा ही किया था—'त्वत्करोमि परमम्युपैषि यन्मा ह्रियं व्रज प्रियं परित्यज।' (१८।५६) । और मान लिया जाय कि नल कामशास्त्रवेत्ता हैं; सो उचित रीति से उन्होंने लज्जा-भय दूर कर- 'क्रमसंगता' दमयन्ती को भोगा होगा, फिर भी वह वे सब रहस्य-व्यापार सखियों से कैसे कहेगी? लज्जित होगी। अतः उसे 'अलीकवाक्' कहना ठीक नहीं। उसने सखियों से कुछ नहीं कहा। अथवा—स्मरशास्त्रज्ञ नल ने बाला दमयन्ती के साथ स्वल्पसंभोग किया होगा, सो वह सखियों से क्या कहती? उसने कुछ नहीं कहा। अथवा—नल जो यह कह रहे हैं कि दमयन्ती ने कृपा नहीं की, यह भी असत्य है। और दमयन्ती ने कुछ कहा भी नहीं। नल-दमयन्ती ने मनमानी मौज उड़ायी। एक कह रहा है, कुछ हुआ नहीं, एक ने कुछ कहा ही नहीं। इस प्रकार नल-दमयन्ती दोनों ही सखियों को मूर्ख बना रहे हैं। अथवा—शास्त्रवेत्ता नल ने नवोढा-बाला दमयन्ती को किस रीति से भोगा, उसका स्मरण करें—'शास्त्रविदा त्वया सखी कथं संभुज्यते स्मर।' लज्जालु दमयन्ती सखियों से कैसे कहेगी? अथवा—दमयन्ती 'अलीकवाक्' नहीं है। स्मरशास्त्रवित् नल ने परिणता बाला का पूर्ण भोग कर लिया वह सखियों से क्यों न कहे? (कहेगी ही)॥ ३९॥

नासत्यवदनं देव! त्वां गायन्ति जगन्ति यम्।
प्रिया तस्य सरूपा स्यादन्यथालपना न ते॥ ४०॥

जीवातु—अत्रैव यत् विशेषितवान् 'अलीकवाक्' इति तत्रोत्तरमाह—नासत्येति। देव! हे महाराज! जगन्ति लोकाः, यं त्वा भवन्तम्, न असत्यं मिथ्या, वदनं भाषणं यस्य तं तादृशं सत्यवादिनमित्यर्थः। गायन्ति कीर्त्तयन्ति, तस्य तादृशसत्यवादिनः, ते तव, प्रिया स्निग्धा कान्ता, सरूपा समानरूपा, सवानुरूपसत्यवादिन्येवेत्यर्थः। स्यात् भवेत्, अन्यथा तद्विपरीतम्, असत्यभूतम्, लपनं भाषणं यस्याः सा तादृशी, न नैव; स्यादिति पूर्वेणान्वयः। पक्षान्तरे—यं त्वाम् असत्यवदनं मिथ्याभाषणशीलम् न गायन्ति? इति काकुः, अपि तु गायन्त्येवेत्यर्थः, तस्य तादृशमिथ्यावादित्वेन ख्यातस्य, ते प्रिया सरूपा समानरूपा, सवानुरूपेत्यर्थः। स्यात्, अतः अन्यथालपना मिथ्याभाषिणी, न स्यात्? इति काकुः, अपि तु अन्यथालपनैव स्यादित्यर्थः। एवञ्च भवान्

इमां सम्मुख्यापि यथा न भुक्तवान् इति मिथ्या भाषते, तथा इयमपि आत्मसमर्पणमकृत्वापि कृतवती इत्यभाषत, अत उभयोरेव तुल्यमृषावादित्वात् नाय त अभियोग उचित इति भाव । पक्षे—य त्वां नासत्ययो अश्विनीकुमारयो इव वदनम् आस्य यस्य त तादृशम् अश्विनीकुमारतुल्यसुन्दरवदनम्, गायन्ति तस्य तादृशसुन्दरमुखस्य, ते तव, सरूपा समानरूपा, अनुरूपसुन्दरमुखी एवेत्यर्थं । प्रिया कान्ता, स्यात्, अन्यथा तद्विपरीतम्, कुत्सितमित्यर्थं लपन वदन यस्या सा तादृशी । 'वक्त्रास्ये वदन तुण्डमानन लपन मुखम्' इत्यमर । न, स्यादिति अन्वय, योग्य योग्येन युज्यते इति भावः ॥ ४० ॥

अन्वय —देव, जगन्ति य त्वां नासत्यवदन गायन्ति, तस्य ते सरूपा प्रिया अन्यथालपना न स्यात् ।

हिन्दी—हे महाराज, तीनों लोक जिस तुम (नल) को 'न असत्य बोलने वाला' कहा करते हैं; उस (सत्यवादी) तुम नल की तुल्य-स्वभावा प्रिया (दमयन्ती) अन्यथा आलपन (असत्य) बोलने वाली नहीं हो सकती ।

टिप्पणी—'अलीकवाक्' (२८) का ही अन्य उत्तर । नल तीनों लोक म सत्यवादी प्रसिद्ध हैं; दमयन्ती उनकी प्रिया भार्या है, समान शील स्वभाव की । सत्यवादी की प्रिया अलीकवाक् कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती । काकु के प्रयोग से यह भाव भी है कि 'जगन्ति त्वाम् असत्यवदन न गायन्ति ? अपितु गायन्ति एव । तस्य ते सरूपा प्रिया अन्यथालपना न स्यात् ? स्यात् एव' । अर्थात् तीनों लोक मे नल को क्या असत्यवादी नहीं कहा जाता ? कहा ही जाता है ? उसकी तुल्यस्वभावा प्रिया क्या झूठी नहीं होगी ? होगी । आशय यह कि नल ने दमयन्ती भोग किया और झूठ बोल रहे हैं कि नहीं किया; और दमयन्ती भी रात्रिकृत संभोग के विषय में कुछ न बताकर-वैसा ही भाव प्रकट रही है और झूठ बोल रही है । इस प्रकार नल दमयन्ती दोनों समान रूप से असत्यवादी हैं । नल-दमयन्ती के सौन्दर्य का प्रतिपादक यह अर्थ भी है कि जगत् नल को 'नासत्यवदन' अर्थात् अश्विनीकुमारों के सदृश सुन्दर मुख वाला कहता है—'नासत्ययो वदनमिव वदन यस्य तम्' । उस 'नासत्यवदन' अश्विनीकुमारों के समान सुन्दर आनन वाले नल की प्रिया मलिनमुखी नहीं हो सकती—'अन्यथा तद्विपरीत

लापनम् आननं यस्याः सा।' नल-दमयन्ती एक-से सत्यवादी (अथवा असत्य-वादी) और सुन्दर हैं। योग्य का योग्य से संयोग हुआ है। कोई किसी से हेठा नहीं, एक-से हैं॥ ४०॥

मनोभूरस्ति चित्तेऽस्याः किन्तु देव ! त्वमेव सः।
त्वदवस्थितिभूर्यस्मान्मनः सख्या दिवानिशम्॥ ४१॥

जीवातु—यदुक्तम् 'आह स्म' इत्यादिश्लोके तस्योत्तरं श्लोकत्रयेणाह—मनोभूरित्यादि। देव ! हे राजन्: 'राजा भट्टारको देवः' इत्यमरः। अस्याः दमयन्त्याः, चित्ते हृदये, मनोभूः, चित्तजन्मा, अस्ति विद्यते इति सत्यम्, किन्तु सः मनोभूः, त्वमेव भवानेव। कुतः ? यस्मात् यतः, सख्याः वयस्याया भैम्याः, मनः चित्तम्, दिवानिशं रात्रिन्दिवम्, सदैवेत्यर्थः। त्वदवस्थितिभूः तवैवाव-स्थानस्य स्थानम्। मनोभूः आश्रयः यस्येति व्युत्पत्त्या त्वमेव मनोभूः, मनसि भवतीति व्युत्पत्तौ त्वदभिलाषिण्या अस्याः कामस्य त्वत्परत्वादुभयथाऽपि न पुरुषान्तरसेवाशङ्कालव इति भावः। अत्र नलेन कामार्थे प्रयुक्तस्य मनसो भूः उत्पत्तिर्यस्य इति व्युत्पत्तिलभ्यस्य मनोभूपदस्य कलया मन एव भूः वसतिस्थानं यस्येति व्युत्पत्त्या नलार्थे प्रयुज्यमानत्वात् श्लेषवक्रोक्तिरलङ्कारः॥ ४१॥

अन्वयः—देव, अस्याः चित्ते मनोभूः अस्ति, किन्तु सः त्वम् एव; यस्मात् सख्याः मनः दिवानिशं त्वदवस्थितिभूः।

हिन्दी—हे महाराज, इस (दमयंती) के चित्त में 'मनोभू' (-मनोजन्मा 'काम') है किंतु वह (मनोभू) तुम (नल) ही हो, क्योंकि सखी (दमयंती) का मन दिन-रात तुम्हारी (नल की) ही अवस्थिति (विद्यमानता) का स्थान है।

टिप्पणी—'आहस्म' इत्यादि (२९) का तीन (४१, ४२, ४३) श्लोकों में उत्तर। नल ने कहा था कि दमयन्ती कहती है, उसके मन में नलातिरिक्त कोई नहीं बसता, जब-कि 'मनोभू' (काम) रहता है। यहाँ कला ने बताया कि नल ने ठीक ही कहा था, 'उसके मन में 'मनोभू' (काम) रहता है, पर वह 'मनोभू' (मन को भू-स्थान बनाने वाला) नल ही है।

दमयन्ती दिन रात उसे ही मन में बसाये रहती है। कला ने 'मनसो भू उत्पत्तिः यस्य स' (मन से जिसकी उत्पत्ति होती है) के स्थान में 'मन एव भू स्थान यस्य स' (मन ही जिसका स्थान है) व्युत्पत्ति करके 'मनोभू' का प्रयोग नल के प्रसग में कर दिया, अत मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्लेष-वक्रोक्ति अलकार है ॥ ४१ ॥

सतस्तेऽथ सखीचित्ते प्रतिच्छाया स मन्मथ ।
त्वयाऽस्य समरूपत्वमतनोरन्यथा कथम् ? ॥ ४२ ॥

जीवातु—सत इति । अथ इति पक्षान्तरे, अथवेत्यर्थः । स भवदुक्तमनोभूपदवाच्य, मन्मथः काम, सखीचित्ते दमयन्तीहृदये, सत वर्तमानस्य, ते तवैव, प्रतिच्छाया प्रतिबिम्बम्, अन्यथा इत्थ न चेत्, अतनो अनङ्गस्य, अस्य मन्मथस्य, त्वया भवता, समरूपत्व तुल्याकारत्वम्, कथ ? केन प्रकारेण ? भवितुमर्हतीति शेष । अतनोः रूपासम्भवात् तत् न कथमपि सम्भवतीत्यर्थः । धर्म्यभावे धर्मानवकाशात् स्वच्छदर्पणे प्रतिबिम्बितमुखस्य मुखव्यतिरेकेण यथा स्थितिर्नास्ति, तथा अतिस्वच्छे न तस्या मनसि त्वद्व्यतिरेकेण त्वत्प्रतिबिम्बभूतस्य कामस्य पृथक् स्थितिरेव नास्ति अतनुत्वात् तस्य, अतः न पुरुषान्तरसेवावसरोऽस्या, इति भाव ॥ ४२ ॥

अन्वयः—अथ सः मन्मथ सखीचित्ते सत ते प्रतिच्छाया अन्यथा अतनो अस्य त्वया समरूपत्व कथम् ?

हिन्दी—अथवा वह काम सखी के मन में बसे आप (नल) का प्रतिबिंब है यदि न हो तो अतनु (अशरीर) उस काम की तुम्हारे (नल) के साथ समानाकारता कैसे हो ?

टिप्पणी—अपने प्रत्युत्तर को अन्य प्रकार से पुष्ट करती कला ने नल से कहा कि दमयन्ती के मन में जो मनोभू' है, वह नल की प्रतिच्छाया ही है, यह इससे प्रमाणित होता है कि काम तो अशरीरी है, उसकी प्रतिच्छाया पड ही नहीं सकती, और दमयन्ती के मन में जो है, वह सुन्दरतम नल का प्रतिबिम्ब ही हो सकता है, जिसे अनुपम सौन्दर्य के आधार काम समझा जा रहा है। प्रतिबिम्ब निर्मल, स्वच्छ दर्पण में ही पडता है, और दमयन्ती के मन मे प्रतिबिम्ब पड रहा है, अत दमयन्ती-चित्त की निर्मलता-पवित्रता

भी द्योतित की गयी, दमयन्ती के निर्मल अन्तःकरण में नलातिरिक्त पर पुरुष की प्रतिच्छाया भी नहीं पड़ सकती ॥ ४२ ॥

कः स्मरः कस्त्वमत्रेति सन्देहे शोभयोभयोः ।
त्वय्येवार्थितया सेयं धत्ते चित्तेऽथवा युवाम् ॥ ४३ ॥

जीवातु—क इति । अथवा पक्षान्तरे, हे देव ! उभयोः तव कामस्य च द्वयोः, शोभया समानसौन्दर्येण हेतुना, अत्र अनयोः युवयोः मध्ये, स्मरः कामः, कः ? त्वं भवान् वा, कः ? इति एवं, सन्देहे संशये सति, सेयं भैमी, त्वय्येव भवत्येव, अर्थितया प्रार्थितया, त्वामेव लब्धुमिच्छुतया इत्यर्थः । चित्ते मनसि, युवां त्वां कामञ्च द्वावेव । 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत् परं तत् शिष्यते' इति वचनात् त्यदाद्येकशेषः । धत्ते धारयति, त्वन्मन्मथयोः कतरः त्वम् इति सन्देहे कामस्य परित्यागे तवापि परित्यागाशङ्कया त्वं परित्यक्तः मा स्याः इति त्वदर्थित्वेन अनया उभौ एव चित्ते धार्येते, रत्नयोः कृत्रिमाकृत्रिमयोः— सन्देहे उभयोरेव धारणवत्, अन्यथा अन्यतरत्यागे मुख्यस्यैवाकृत्रिमस्य त्यागभयादिति त्वदर्थमेव कामं धारयति, न तु कामार्थं त्वामिति भावः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अथवा उभयोः शोभयोः अत्र स्मरः कः, त्वं कः—इति सन्देहे सा इयं त्वयि एव अर्थितया चित्ते युवां धत्ते ।

हिन्दी—अथवा दोनों (नल और काम) की शोभा समान होने के कारण यहाँ (नल-काम के मध्य) काम कौन है, आप (नल) कौन हैं— यह संदेह होने पर वह (संदेहग्रस्ता) यह (दमयन्ती) आपको ही प्राप्त करने की इच्छा से चित्त में आप दोनों (नल-काम) को धारती हैं ।

टिप्पणी—तीसरी युक्ति । थोड़ी देर को मान भी लिया जाय कि दमयन्ती के मन में काम की स्थिति है, तो भी वह भी नल-काम (नलेच्छा) है । नल सुन्दर, काम भी सुन्दर । दमयन्ती काम को त्यागना और नल को 'मनबसिया' बनाना चाहती है । दोनों की एक-सी शोभा होने के कारण बेचारी संदेह में पड़ जाती है कि दोनों तो एक-से हैं । इनमें नल कौन-सा है, जिसे मन में रख लूं; और काम कौन-सा है, जिसकी उपेक्षा करूँ । वह निर्णय नहीं कर पाती और इस भय से कि काम-त्याग में कहीं नल-त्याग न हो जाय, दोनों को मन में बसा लेती है । मुख्य के त्याग के भय से गौण को भी स्थान दे देती है । काम का धारण नलार्थ ही है ॥ ४३ ॥

त्वयि न्यस्तस्य चित्तस्य दुराकर्षत्वदर्शनात् ।
शङ्कया पङ्कजाक्षी त्वां दृगशेन स्पृशत्यसौ ॥ ४४ ॥

जीवातु—'यदुक्तं पूर्णया' इत्यादि श्लोकेन तत्रोत्तरमाह—त्वयीति । पङ्कजाक्षी कमलनयना, अत एव अक्षिद्वये अस्या महत्येव ममत्वबुद्धिरिति भावः । असौ दमयन्ती, त्वयि भवति, न्यस्तस्य समर्पितस्य, चित्तस्य मनसः, दुराकर्षत्वदर्शनात् दुःखेनापि पुनः प्रत्यानेतुम् अशक्यत्वज्ञानात्, शङ्कया भयेन, त्वां भवन्तम्, दृगंशेन दृशः एकमात्रस्य चक्षुषः, अंशेन अवयवेन, किञ्चिन्मात्र भागेनेत्यर्थः । अपाङ्गेनेति यावत् । स्पृशति स्पर्शविषयीकरोति, अवलोकयतीत्यर्थः । यदि पूर्णाभ्यां लोचनाभ्यां पश्येत् तदा पङ्कजवत् सुन्दरं नयनद्वयमपि चित्तवत् अपरावर्त्तनीयतया त्वयि लग्नं भवेदिति सशयेन आकर्णविश्रान्तस्य विशालस्य नेत्रस्य किञ्चिन्मात्रांशस्य त्वत्तः प्रत्याहरणासमर्थेऽपि 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पण्डितः' इति न्यायात् न विशेषक्षतिरिति विविच्य त्वां पूर्णाभ्यां लोचनाभ्यामपश्यन्ती सा दृगंशमात्रेण पश्यति, अतो नोपालम्भावकाश इति भावः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—पङ्कजाक्षी असौ त्वयि न्यस्तस्य चित्तस्य दुराकर्षत्वदर्शनात् शङ्कया त्वां दृगंशेन स्पृशति ।

हिन्दी—कमलनयना यह (दमयन्ती) तुम (नल) में समर्पित मन का प्रत्यावर्तन दुःसाध्य देखने के कारण आशङ्कित हो तुम्हें (नल को) नेत्र के एक अंश (अपांग) से ही छूती है ।

टिप्पणी—'पूर्णया' (३१) का प्रत्युत्तर । दमयन्ती ने पाया है कि उसने नल को मन दिया, वह वहीं जा चिपका, प्रयत्न करने पर भी नहीं लौट सका । यदि दोनों नेत्रों से वह नल को देखे, और नेत्र भी नल में जा चिपकें तो क्या होगा ? प्रत्येक व्यक्ति नेत्र नहीं खोना चाहता और फिर दमयन्ती तो पङ्कजाक्षी है—दोनों नेत्र कैसे खो दे ? सो एकांश से देखती है । जाय तो एक अंश ही जाय । इस प्रकार नल का 'अपांगावलोकन' का उपालम्भ उचित नहीं है ॥ ४४ ॥

विलोकनात् प्रभृत्यस्या लग्न एवासि चक्षुषोः ।
स्वेनालोकय शङ्का चेत् प्रत्ययः परवाचि कः ? ॥ ४५ ॥

जीवातु—यदुक्तं 'नालोकते' इत्यादि श्लोकेन तत्रोत्तरमाह—विलोकनादिति। विलोकनात् प्रभृति दूत्यकाले प्रथमदर्शनात् आरभ्यैव, 'अपादाने पञ्चमी' इति सूत्रे 'कार्तिक्याः प्रभृति इति भाष्यकारप्रयोगात् प्रभृतियोगे पञ्चमी' इति कैयटः। अस्याः दमयन्त्याः, चक्षुषोः लोचनयोः, लग्नः संसक्त एव, असि वर्त्तसे, त्वमिति शेषः। शङ्का चेत् मदुक्तौ अविश्वासः यदि, तदा स्वेन आत्मना, स्वयमेवेत्यर्थः, आलोकय पश्य, त्वमस्याः चक्षुषोः लग्नो न वा इति परीक्षय इत्यर्थः। परवाचि अन्येषामुक्तौ, कः प्रत्ययः? का श्रद्धा? नैव श्रद्धा कर्त्तव्या इत्यर्थः। पुरःस्थस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बः अक्षिकनीनिकायां साक्षात् अवलोक्यते, एवञ्च नलश्चेत् तया द्रष्टुं प्रवर्त्तेत तदा स्वप्रतिबिम्बं तत्र प्रतिफलितं दृष्ट्वा स्वलग्नत्वं साक्षादेव पश्येत् इत्यत एव छलात् स्वेनालोकय इत्युक्तमिति मन्तव्यम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—विलोकनात् प्रभृति अस्याः चक्षुषोः लग्नः एव असि; शङ्का चेत् स्वेन आलोकय, परवाचि कः प्रत्ययः?

हिन्दी—प्रथम दर्शन से लेकर इस (दमयन्ती) के दोनों नेत्रों में (तुम) संसक्त ही हो (बस ही गये हो)। यदि इसमें कोई सदेह हो तो स्वयं देख लो, दूसरे के वचन में क्या विश्वास?

टिप्पणी—'नालोकते' इत्यादि (३२) का उत्तर, जिसमे आक्षेप था कि दमयन्ती नल को देखती भी नही है। कला ने कहा कि अब दमयन्ती नल को देखकर क्या करेगी? दूत्य-संपादनार्थ पहुँचे उसे जब प्रथम बार दमयन्ती ने देखा था, तब से ही वह नयनों-बीच ऐसा जमकर बैठ गया है कि क्षण को भी अलग नही होता। दूसरे के कथन का यदि नल को विश्वास न हो तो—और होना ठीक भी नही है—वह स्वयं दमयन्ती की आँखों में झाँक कर देख ले। जो नेत्रो मे ही घर किये बैठा है, उसे कोई क्यों देखेगा? तो नल का यह आक्षेप भी उचित नही है। स्वाभाविक है कि यदि नल स्वयं दमयन्ती के नेत्रों में देखता तो पुतलियों में उसका ही प्रतिरूप दीखता। कला ने बड़ी चालाकी से आक्षेप को निरस्त किया। नारायण के अनुसार यह छलोक्ति है ॥ ४५ ॥

परीरम्भेऽनयाऽऽरभ्य कुचकुङ्कुमसङ्क्रमम् ।
त्वयि मे हृदयस्यैव राग इत्युदितैव वाक् ॥ ४६ ॥

जीवातु—अथ यदुक्तं 'रागं दर्शयते' इत्यादिश्लोके तत्रोत्तरमाह—परीरम्भे इति । हे महाराज ! अनया सख्या, परीरम्भे गाढालिङ्गनसमये, कुचकुङ्कुमस्य निजस्तनद्वयलिप्तस्य काश्मीररजस्य, सङ्क्रमं सङ्क्रान्तिम्, मुद्रणमित्यर्थः । आरभ्य उपक्रम्य, स्वकुचकुङ्कुमरागं तव हृदये संसञ्जनात् प्रभृतीत्यर्थः । त्वयि भवति नले विषये, मे मम, हृदयस्य अन्तःकरणस्य, रागः अनुरक्तिः, रक्तिमा च, एवम् इत्थम्, हृदयसङ्क्रामितकुचकुङ्कुमवदेवेत्यर्थः । इति इयम्, वाक् वचः, उदितैव उक्तैव, उक्तिवदेव व्यक्तं सूचितमित्यर्थः । अतः सखीषु अनुरक्ता न मयोक्ति नोपालभ्येयमिति भावः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अनया परीरम्भे कुचकुङ्कुमसङ्क्रमम् आरभ्य त्वयि मे हृदयस्य रागः एवम्—इति वाक् एव उदिता ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) ने आलिंगन में कुचों पर लगे कुंकुम को तुम्हारे वक्ष पर संक्रमित (लगा, छाप) कर तब से ही 'तुम्हारे प्रति मेरे चित्त की अनुरक्ति इस प्रकार की (कुंकुम-सी गाढ़ी लाल) है'—यह बात ही कही है ।

टिप्पणी—'रागं दर्शयते' इत्यादि (३३) का उत्तर । नल का आरोप था कि दमयन्ती राग की बात नहीं कहती । यह आरोप भी ठीक नहीं, दमयन्ती ने राग के विषय में सूचित किया है । गाढालिंगन करते समय उसने जो नल के वक्ष पर अपने पीन-पयोधरों पर लगा कुंकुम लगा दिया है, वह दमयन्ती के नल के प्रति गाढ़े अनुराग की सूचक लाली है । दमयन्ती ने इस रूप में अपने गाढानुराग की ही व्यक्ति की है । आशय यह भी कि नल के वक्ष पर लगा कुंकुम राग स्पष्ट कह रहा है कि गाढालिंगन हुआ है । 'आत्मसमर्पण न करने' की बात झूठी है । यह कुच कुंकुम-राग ही सम्पूर्ण रात्रि वृत्तान्त बता रही है ॥ ४६ ॥

मनसाऽयं भवद्धामकामसूक्तजपव्रती ।
अक्षसूत्रं सखीकण्ठस्तुम्बत्येकावलिच्छलात् ॥ ४७ ॥

जीवातु—'कां नामन्त्रमते' इति श्लोके यदुक्तं तस्योत्तरमाह—मनसेति ।

अयम् इति हस्तेन पुरोवर्तिनिर्देशः, सखीकण्ठः भैमीगलनालः, मनसा अन्तःकरणेन, भवतो नलस्य, नामैव संज्ञा एव, कामसूक्तं कामाविर्भावनाय कामदेवप्रकाशकप्रधानमन्त्रः, तस्य जपः पुनः पुनरुच्चारणमेव, व्रतं नियमः अस्य अस्तीति तद्व्रती सन्, 'साहस्रो मानसो जपः' इति स्मृतेः सर्वजपानां मानसिकजपस्य सहस्रगुणत्वात्, नारीणां भर्तृनामग्रहणनिषेधात् वा मनसा इत्युक्तम्, न तु जिह्वया इति भावः। एकावलिच्छलात् एकयष्टिकमुक्ताहारधारणव्याजात्, अक्षसूत्रं जपसङ्ख्यानार्थम् अक्षमालाम्, चुम्बति स्पृशति, धारयतीत्यर्थः। सखीनामग्रहणस्य कदाचित्कत्वात् त्वन्नामग्रहणस्य च नैरन्तर्यात् जिह्वया त्वन्नामस्पर्शाभावेऽपि नायमुपालम्भो युज्यते इति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—मनसा भवन्नामकामसूक्तजपव्रती अयं सखीकण्ठः एकावलिच्छलात् अक्षसूत्रं चुम्बति।

हिन्दी—मन-ही-मन आप (नल) के नाम-रूप काम-रहस्य के प्रकाशक मंत्र को जपने का व्रत करने वाला यह सखी (दमयन्ती) का कंठ एकावली (एक लड़ी माला—जंजीर) के व्याज से अक्ष की जपमाला को चूम रहा है।

टिप्पणी—'कां नामन्त्रयते' इत्यादि (३४) का उत्तर, जिसमें नल का आरोप था कि दमयन्ती तो उसका नाम जीभ पर नहीं लाती, ऐसी निरासक्ति है उसकी नल के प्रति। कला कहती है कि यह आरोप अनुचित और मिथ्या है। पत्नियाँ पति का नाम नहीं लिया करतीं, यह शिष्टाचार है। दमयन्ती भी इसीलिए नल का नाम लेकर नहीं बुलाती। परन्तु वह मन-ही-मन उसके नाम का जप किया करती है—नल का नाम, जो दमयन्ती के लिए स्मर-रहस्य-प्रकाशक मंत्र-तुल्य है। 'नल'—ये अक्षर ही दमयन्ती के मन में काम-सञ्चार कर देते हैं। दमयन्ती ने गले में जो एकावली पहिन रखी है, वह तो एक बहाना है, वस्तुतः यह तो नाम-जप-माला है, जिस पर वह मन-ही-मन 'नल'-नाम जपा करती है। 'मनसा जप' सहस्रगुना फल देता है—'साहस्रो मानसो जपः।' दमयन्ती भी मानस जाप करती है, जो अधिक फल देता है, वाचिक नहीं ॥ ४७ ॥

अध्यासिते वयस्याया भवता महता हृदि।
स्तनावन्तरसम्मान्तौ निष्क्रान्तौ ब्रूमहे बहिः ॥ ४८ ॥

जीवातु—'अस्या पीनस्तन' इत्यादिश्लोकोक्त वैपरीत्यापादनेन परिहरति–अध्यासिते इति। हे महाराज ! वयस्यायाः सख्याः, हृदि वक्षसि, वक्षोऽभ्यन्तरे इत्यर्थः। महता गौरववता बृहदाकारेण च, भवता त्वया, अध्यासिते अधिष्ठिते सति, समग्रतया आक्रम्य अवस्थिते सतीत्यर्थः। स्तनौ सख्याः कुचद्वयौ, अन्तरसम्मान्तौ अभ्यन्तरे अवस्थातु स्थानमप्राप्नुवन्तौ सन्तौ, बहिः हृदयस्य उपरिदेशे, निष्क्रान्तौ निर्गतौ, इति ब्रूमहे कथयामः, सम्भावयाम इति यावत्। भवदध्यासात् प्राक् अनिर्गमात् अध्यासादनन्तरञ्च निष्क्रमादिति भावः। अतोऽस्या हृदयैकशरणं महाराज एव इति निष्कर्षः ॥४८॥

अन्वय—वयस्याया हृदि महता भवता अध्यासिते अन्तरसम्मान्तौ कुचौ बहिः निष्क्रान्तौ—ब्रूमहे।

हिन्दी—सखी (दमयन्ती) के हृदय में महान् (समान्य, विशालाकार) आप (महाराज नल) के अवस्थित होने पर भीतर स्थान प्राप्त न करते दोनों पनी पयोधर बाहर निकल आये—यह हमारा कथन है।

टिप्पणी—'अस्या पीनस्तनव्याप्ते' इत्यादि (३५) का उत्तर। नल का आरोप था कि दमयन्ती का हृदय पीन पयोधरा से व्याप्त है, इससे उसमें नल के लिए स्थान ही नहीं है। कला ने कहा कि तथ्य बिलकुल विपरीत है। नल सा 'महान्'—माननीय और विशालदेह—दमयन्ती के मन में जा बसा है, उसने सपूर्ण स्थान घेर लिया, बेचारे पीन पयोधरों को बाहर निकलना पड़ा। आशय यह कि नल के प्रति अनुराग और कुचोद्‌भिन्नता साथ साथ हुई। नल का अनुराग आया और दमयन्ती का बालापन गया, तरुणाई छा गयी। भाव यह कि दमयन्ती ने जब प्रेम—अनुराग को जाना, तब से ही यह नलानुरागिणी है ॥ ४८ ॥

कुचौ दोषोज्झितावस्याःपीडितौ प्रणितौ त्वया।
कथं दर्शयतामास्य वृहन्तावावृतौ ह्रिया ? ४९ ॥

जीवातु—'अधिगत्य' इत्यादि श्लोकोक्तकुचवैमुख्योपालम्भस्योत्तरमाह—कुचाविति। वृहन्तौ महान्तौ अतिपीनौ इत्यर्थः, महाशयौ च, तथा दोषोज्झितौ दोषेण शिथिलत्वादिना, उज्झितौ वर्जितौ, कठिनौ इत्यर्थः। अथ च दोषा रात्रौ, उज्झितौ वस्त्रमुक्तौ, निरावरणौ इत्यर्थः। अस्याः सख्याः, कुचौ

-स्तनद्वयम्, त्वया भवता, पीडितौ पाणिभ्यां मर्दितौ, अहेतुकं दन्तश्लेषौ च, तथा व्रणितौ नखैः क्षतविक्षतीकृतौ, शस्त्राघातेन व्रणवन्तौ कृतौ इति च। व्रणवच्छब्दात् 'तत्करोति—' इति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः, णाविष्ठवद्भावात् 'विन्मतोर्लुक्' इति मतुपो लोपः। अतः ह्रिया लज्जया हेतुना, इवेति शेषः। आवृतौ आच्छन्नौ, वस्त्रेणेति शेषः। कथं केन प्रकारेण, आस्यं मुखम्, चुचुकमिति यावत्, आननञ्च। दर्शयताम् ? प्रकाशयताम् ? न कथमपीत्यर्थः। महान्तौ जनाः परेण अहेतुकं दूषिता अपि लज्जया न मुखं प्रदर्शयन्तीति भावः। अत्र भवान् स्वयमेव कृतापराधः इति निष्कर्षः। दृशेर्ण्यन्तात् लोटि तामादेशः॥ ४९॥

अन्वयः—दोषोज्झितौ बृहन्तौ अस्याः कुचौ त्वया पीडितौ व्रणितौ, ह्रिया आवृतौ, आस्यं कथं दर्शयताम् ?

हिन्दी—निर्दोष और बड़े-बड़े इस (दमयन्ती) के कठोर कुचों को तुम (नल) ने रात को निरावरण किया और उनका मर्दन किया, नखक्षत किया—बेचारे निर्दोष कुचों को अकारण ही पीड़ा (दर्द) दी, शस्त्राघात दिया। लज्जा से वे (दमयन्ती द्वारा) ढक दिये गये हैं, कैसे मुँह दिखायें ?

टिप्पणी—'अधिगत्य' इत्यादि (३६) का उत्तर। नल का आरोप था कि दमयन्ती के पीनपयोधर भी उससे 'विमुख' रहे। कला का कथन है कि बेचारे पीनपयोधर अपना मुख (चूचुक-घुंडी) कैसे दिखायें ? वे निर्दोष (शैथिल्यादि और गठन-दोष से रहित) थे, बड़े (प्रतिष्ठित, कुलीन) थे। उनको अकारण ही 'दोषोज्झित' (दोषा अर्थात् रात्रि में उज्झित अर्थात् वस्त्र रहित, नग्न) करके महाराज नल ने कष्ट दिया (मर्दन किया), घाव कर दिये (नखक्षत किये)। वे पीड़ित, दंडित, घायल कुच 'विमुख' रहें, मुँह न दिखायें, यह उचित ही है। कहीं कोई 'बृहत्' (प्रतिष्ठित व्यक्ति) दंडित—और निर्दोष दंडित—होने पर समाज में मुख दिखा पाता है ? लज्जा से मुख ढाँपे ही रहता है। सखी के पीनपयोधर भी मुख-छिपाये बैठे हैं। वे अपने जनक हृदय से भी 'विमुख' हैं—मुख नहीं दिखाते। आशय है कि नल ने ही निरपराध को दंड देकर अपराध किया है। रात को निरावरण

स्तनो को खूब देखा, अब दिन में उन पर नल 'अपनी करनी' देखकर मन प्रसन्न करना चाहता है। यह सभव नही है। भाव यह भी है कि नल तो दमयन्ती के हृदय मे रहता है, बाहर वह कहाँ है, जो वक्ष के विपरीत मुखवाले स्तनो को देख सके? बाहर रहता तो देख पाता। कुच वक्ष के समुख तो नही होते ॥ ४९ ॥

इत्यसौ कलया सूक्तैः सिक्तः पीयूषवर्षिभिः।
ईदृगेवेति पप्रच्छ प्रियामुन्नमिताननाम् ॥ ५० ॥

जीवातु—इतीति। इति इत्थम्, कलया प्रियाया. सख्या, पीयूषवर्षिभिः अमृतस्यन्दिभि, सूक्तैः प्रियवचनैः, सिक्त आर्द्रीकृत, सन्तोषित इत्यर्थः। असौ राजा, उन्नमितं स्वपाणिना उन्नत कृतम्, आनन मुख यस्याः तादृशीम्, प्रियां दमयन्तीम्, ईदृक् एव? कलया यदुक्त तद् किं सत्यमेव? इत्यर्थ.। इति एवम्, पप्रच्छ जिज्ञासयामास ॥ ५० ॥

अन्वय.—इति पीयूषवर्षिभि. कलया सूक्तैः सिक्तः असौ उन्नमिताननां प्रियाम्—ईदृक् एव—इति पप्रच्छ।

हिन्दी—इस प्रकार अमृत-वर्षा करते कला के प्रिय वचनो से परिषिक्त (प्रसन्न-सतुष्ट) इस (राजा नल) ने प्रिया का मुख कुछ उठाकर प्रिया (दमयन्ती) से पूछा—'क्या ऐसा ही है?'

टिप्पणी—दमयन्ती की सखी कला ने (श्लोक सख्या ३८-४९) में नल के प्रणयारोपों के ऐसे चतुरतापूर्ण और प्रिय-मधुर उत्तर दिये कि नल का मन प्रसन्न हो गया। आनन्द-विलास में उत्साहित नल ने दमयन्ती की ठोडी पकड कर उसका मुख कुछ ऊँचा उठाया और प्रिया से पूछा कि क्या कला सच कह रही है? क्या ऐसा ही है? ॥ ५० ॥

बभौ च प्रेयसीवक्त्रं पत्युरुन्नमयन् करः।
चिरेण लब्धसन्धानमरविन्दमिवेन्दुना ॥ ५१ ॥

जीवातु—बभाविति। प्रेयसीवक्त्र दमयन्तीमुखम्, उन्नमयन् उत्तोलयन्, पत्युः भर्त्तु नलस्य, कर. पाणि, चिरेण महता कालेन, बहुकालान्तरमित्यर्थः। इन्दुना विधुना, निशाकाले सरसीवक्षः प्रतिबिम्बितेनेति भावः। लब्ध प्राप्त,

सन्धानं सहजवैरनिवृत्ती संयोगः येन तत् तादृशम्, अरविन्दं पद्मम् इव, बभौ शुशुभे। अभूतोपमेति-दण्डी, अत्यन्तमसम्भवसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः इत्यपरे।

अन्वयः—प्रेयसीवक्त्रम् उन्नमयन् पत्युः करः चिरेण इन्दुना लब्धसन्धानम् अरविन्दम् इव बभौ ।

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) का मुख ऊँचा किये पति (नल) का हाथ चिरकालानन्तर चन्द्र-द्वारा सहज वैर-निवृत्ति प्राप्त कमल के समान सुशोभित हुआ ।

टिप्पणी—दमयन्ती का मुख ऊँचा किये नल के हाथ को कमल और दमयन्ती-मुख को चन्द्र कहा गया है, अर्थात् नल का हाथ कमल-सदृश और दमयन्ती-मुख इन्दु-तुल्य । यह सहज नहीं है । कमल-चन्द्र का संयोग नहीं माना जाता । वे सहजवैरी हैं । पर ऐसा हुआ । बहुत दिन बाद अघटनीय घटा । सहजशत्रु वैर बिसार कर मिल बैठे । नारायण के अनुसार यह 'संधान' अभूतोपमा है । मल्लिनाथ दंडी की मान्यता के आधार पर यहाँ अभूतोपमा का निर्देश करते हैं, पर उन्होंने यह भी कहा है कि अन्य आचार्य इसे अतिशयोक्ति-भेद मानते हैं, जिसमें अत्यन्त असंभव संबंधोक्ति रहती है ॥५१॥

ह्रीणा च स्मयमाना च नमयन्ती पुनर्मुखम् ।
दमयन्ती मुदे पत्युरत्युच्चैरभवत्तदा ॥ ५२ ॥

जीवातु—ह्रीणेति । तदा तत्काले, नलकर्तृकदमयन्तीमुखोत्तोलनकाले इत्यर्थः । ह्रीणा लज्जिता च । 'नुदविद'—इत्यादिना विकल्पाद् निष्ठानत्वम् । स्मयमाना मन्दं हसन्ती च, दमयन्ती भैमी, पुनः भूयः, मुखं वदनम्, नमयन्ती अवनमनं कुर्वती सती, पत्युः नलस्य, अत्युच्चैः उच्चतरायै, मुदे आनन्दाय, अभवत् अजायत ॥ ५२ ॥

अन्वयः—ह्रीणा च स्मयमाना च पुनः मुखं नमयन्ती दमयन्ती तदा पत्युः उच्चैः मुदे अभवत् ।

हिन्दी—लज्जिता और सस्मिता, फिर से मुख नीचा करती दमयन्ती उस काल पति (नल) के अत्यन्त हर्ष का साधन हुई ।

टिप्पणी—क्योंकि रहस्य बने प्रणय-विलास का उद्घाटन हो रहा था, अतः दमयन्ती लजा रही थी, किन्तु प्रीति-प्रसंग आनन्ददायक था, नल और सखी कला की उक्ति-प्रत्युक्ति प्रिय, मधुर, परिहास से पूर्ण थी, अतः दमयन्ती के मुख पर मन्द मुस्कुराहट भी थी। उसने लज्जा और स्मित से मनोरम मुख फिर झुका लिया, जिसे निहारते नल का मनमयूर हर्ष से नाच उठा। लाजभरी, मुस्कराती प्रिया को देख प्रिय प्रसन्नता से भर उठा ॥ ५२ ॥

भूयोऽपि भूपतिस्तस्याः सखीमाह स्म सस्मितम्।
परिहासविलासाय स्पृहयालुः सहप्रियः ॥ ५३ ॥

जीवातु—भूय इति। प्रियया भैम्या सह वर्तते इति सहप्रियः कान्तासमेतः। 'तेन सह—' इत्यादिना बहुव्रीहिः। भूपतिः नलः, परिहासविलासाय नर्मक्रीडार्थम्, दमयन्त्या सहैव नर्मव्यवहारेण चित्तविनोदनायेत्यर्थः। स्पृहयालुः अभिलाषुकः, केलिकामुकः सन् इत्यर्थः। 'स्पृहेरीप्सितः' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी, 'स्पृहिगृहि—' इत्यादिना आलुच्। भूयः पुनरपि, तस्याः प्रियायाः, सखीं कलाम्, सस्मितम् ईषद्धास्यसहितम्, आह स्म उवाच ॥ ५३ ॥

अन्वयः—सहप्रियः परिहासविलासाय स्पृहयालुः भूपतिः भूयः अपि तस्याः सखीं सस्मितम् आह स्म।

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) के साथ विद्यमान, परिहास-विलास—नर्मक्रीडाकेलि—की इच्छा करता (इच्छुक) पृथ्वी का स्वामी (नल) पुनरपि उस (दमयन्ती) की सखी (कला) से मुस्कुराकर कहने लगा।

टिप्पणी—जैसा कि पहिले (५०–५२) में कहा जा चुका है—नल और दमयंती को भी इस परिहासमय हास-विलास केलि में बड़ा आनन्द आ रहा था, सो और इच्छा बढ़ी, जिससे नल ने मुस्करा कर सखी से कहा। यह नलोक्ति (श्लोक ५४–६१) आगे है ॥ ५३ ॥

क्षन्तुं मन्तु दिनस्यास्य वयस्येयं व्यवस्यतात्।
निशीव निमिषात्वयं यदाचरति नात्र न ॥ ५४ ॥

जीवातु—क्षन्तुमिति। इयम् एषा, वयस्या वः सखी, अस्य वर्तमानस्य, दिनस्य दिवसस्य, मन्तुम् अपराधम्, क्षन्तुं सोढुम्, व्यवस्यतात् प्रवर्तताम्।

तातङ्कादेशः । ननु दिनस्य कः खलुः दोषः ? इत्याह—यत् अस्मात्, निशि इव रात्रौ इव, अत्र दिने, नः अस्माकम्, निसिधात्वर्थं निसिधातोः 'निसि चुम्बने' इति धातोः, अर्थम् अभिधेयम्, चुम्बनमित्यर्थः । न आचरति न व्यवहरति, न करोतीत्यर्थः, लज्जयेति शेषः । तत्र चुम्बनस्य विघ्नतायां दिनस्य स्वप्रकाश एव अपराधः, नान्यत् किञ्चिद् निमित्तं पश्यामः इति भावः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—इयं वयस्या अस्य दिनस्य मन्तुं क्षन्तुं व्यवस्यतात् यद् निशि इव अत्र नः निसिधात्वर्थं न आचरति ।

हिन्दी—नल ने कहा—यह (तुम्हारी, कला की) सखी (दमयन्ती) इस दिन का अपराध क्षमा करे (अपनी सखी को उद्यत करो कि वह दिन का अपराध सह ले और क्षमा करे), क्योंकि रात्रि के समान इस (दिन) में हमारे साथ यह 'निसि' धातु का अर्थ (चुम्बन) व्यवहार में नहीं ला रही है ।

टिप्पणी—हास-केलि का विस्तार करते नल ने कहा कि कला की सखी दमयन्ती दिन से क्रुद्ध है, कला को चाहिए कि वह अपनी सखी को समझा दे कि यदि दिन का कोई अपराध हो तो उसे दुःसह न माने और क्षमा कर दे । स्पष्ट प्रतीत न होता दिन का अपराध यह है कि दिन में नल के साथ दमयन्ती वैसा आचरण नहीं कर रही, जैसा रात मे किया था । इससे स्पष्ट है कि 'दोषा' रात्रि नहीं है, 'दोषी' दिन है । तभी तो 'निसि' धातु का जो अर्थ होता है, उसका आचरण दिन में नहीं कर रही । निसिधात्वर्थ, अर्थात् चुम्बन । 'निसि चुम्बने' । भाव यह कि दमयन्ती रात-जैसा व्यवहार दिन में भी करे और चुम्बनादि में प्रवृत्त हो ॥ ५४ ॥

दिनेनास्या मुखस्येन्दुः सखा यदि तिरस्कृतः ।
सत्कृताः शतपत्राणां तन्मित्राणामपि श्रियः ॥ ५५ ॥

जीवातु—अथ दिनं किमस्या अनिष्टकारि ? इत्यपेक्षायामाह—दिनेनेति । दिनेन अह्ना, अस्याः वः सख्याः, मुखस्य वदनस्य, सखा मित्रम्, सदृशत्वादिति भावः । इन्दुः चन्द्रः, यदि यद्यपि, तिरस्कृतः अवज्ञातः, सूर्योदयेन निष्प्रभीकरणात् तुच्छीकृतः इत्यर्थः । इति हेतोः दिनम् अपराधि इति उच्यते यदि इति भावः । तर्हि तस्य मुखस्य, मित्राणां सखीनाम्, सदृशानामित्यर्थः । शतपत्राणां बहूनां पद्मानाम्, श्रियः अपि शोभाः अपि, विकाशनेनेति भावः ।

तत्कृता तेन दिनेन सम्पादिता दिनेन एतन्मुखस्य एकस्य सख्युरिन्दोरपकारे कृतेऽपि अनेकेषां मित्राणां कमलानामुपकारोऽपि कृत । रात्र्या तु केवल चन्द्र एव उपकृत, तद् बहूपकारिण एकोऽपराधो न गणनीय, अत दिनेऽपि चुम्बनमुचितमिति भाव ॥ ५५ ॥

अन्वय —दिनेन अस्या मुखस्य सखा इन्दु यदि तिरस्कृत तन्मित्राणां शतपत्राणां श्रियः अपि तत्कृता ।

हिन्दी—दिन ने इस (दमयन्ती) के मुख के (सादृश्य के कारण) सखा चन्द्र की यदि अवज्ञा की (चन्द्र को निस्तेज कर दिया, तो फिर उस (मुख) के (अन्य) मित्र शतदल कमलों की शोभा भी उसने सपन्न कर दी।

टिप्पणी—दिन का अपराध कदाचित् यह हो सकता है कि उसने दमयन्ती के मुख के एक मित्र चन्द्र को निस्तेज कर दिया, उसका अपमान किया, जिससे दमयन्ती दिन पर क्रुद्ध है। नल ने कहा कि दिन का यह अपराध सहजक्षम्य है क्योंकि दिन ने दमयन्ती मुख के एक मित्र चन्द्र का यदि अपकार किया तो मुख के दूसरे अनेक मित्रों का उपकार भी कर दिया, शतदल कमलों को विकसित कर श्री शोभा सम्पन्न बना दिया। अनेक के उपकारार्थ यदि एक का अपकार हो गया तो अपराध नहीं है। यदि है भी तो क्षम्य है। अत दमयन्ती को दिन पर क्रोध न कर रात्रि जैसा व्यवहार दिन में भी करना चाहिए। कहा भी गया है कि अनेक का अपकार करने वाले पापी का वध भी पुण्यकारक है, जो उससे अनेक का भला हो—एकस्मिन घातिते पापे बहूनामपकारिणी। बहूना भवति क्षेम तस्य पुण्यप्रदो वध ॥' एक इन्दु अनेक शतदलों का अपकारी था, उसका अपमान अनेक कमलों का क्षेमकारक है, अत दिन का दोष नहीं, गुण है इन्दु की अवज्ञा।

लज्जितानि जितान्येव मयि क्रीडितयाऽनया।
प्रत्यावृत्तानि तत्तानि पृच्छ सम्प्रति क प्रति ? ॥ ५६ ॥

जीवातु—लज्जावशाद् दिने नासौ चुम्बतीति चेत्तदप्ययुक्तमित्याह—लज्जितानीति। क्रीडितया रात्रौ स्वयमेव कृतसुरतक्रीडया, कर्त्तरि क्त। अनया च सख्या, मयि मम विषये मत्समीपे इति वा, यद्वा—मयि मम वक्षसि च त्याश्लेषार्थ। क्रीडितया कृतविपरीतविहारया इत्यर्थ। अनया लज्जितानि

क्रीडितानि, भावे क्तः। जितान्येव निरस्तान्येव, दूरीकृतान्येवेत्यर्थः। सम्प्रति इदानीं पुनः, कं प्रति कम् उद्दिश्य, तानि लज्जितानि, प्रत्यावृत्तानि प्रत्यागतानि, तत् प्रत्यावृत्तेः निमित्तमित्यर्थः। पृच्छ जिज्ञासय। मयि प्रागेव लज्जात्यागात् नाहमस्याः लज्जायाः निमित्तम्, भवतीनां समीपे लज्जायाः जातत्वात् भवत्य एव अस्याः लज्जाकारणमिति तर्कयामीति भावः॥ ५६॥

अन्वयः—मयि क्रीडितया अनया लज्जितानि जितानि एव, पृच्छ—तत् संप्रति तानि कं प्रति प्रत्यावृत्तानि।

हिन्दी—मेरे (नल) के साथ रत-विलास करती (अथवा मेरे ऊपर रत-क्रीडा करती—विपरीत रति करती) इस (दमयन्ती) ने समस्त लज्जा-व्यवहारों को जीत ही लिया था (सम्पूर्णतः लज्जा त्याग दी थी), पूछो कि वह (लज्जा) इस समय (दिन में) किसकी उपस्थिति से (किस कारण) लौट गयी ?

टिप्पणी—नल ने कहा कि यदि दिन दमयन्ती के रात्रि-व्यवहार को इस समय अपनाने में बाधक या कारण नहीं है, तो कला आदि उसकी सखियाँ हैं, क्योंकि रात रति-क्रीडा में दमयन्ती ने समग्र लज्जा छोड़ दी थी और सामान्य आलिंगन-चुम्बनादि ही नहीं, विपरीत रति तक की थी। अब जो लजा रही है, उसका कारण दिन नहीं है तो सखियाँ हैं॥ ५६॥

> निशि दष्टाधरायापि सैषा मह्यं न रुष्यति।
> क्व फलं दशते बिम्बीलता कीराय कुप्यति ?॥ ५७॥

जीवातु—सम्प्रति अधरदशनादिरूपं स्वापराधं चतुर्भिः क्षालयति, निशीति। सा एषा प्रिया, निशि रजन्याम्, दष्टः कृतदंशनः, अधरः रदनच्छदः येन तस्मै तादृशायापि, मह्यं नलाय, न रुष्यति न कुप्यति। 'क्रुधद्रुह—' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। तथा हि—बिम्बीलता रक्तफलाख्यवृक्षस्य व्रततिः, ओष्ठोपमफलस्य वृक्षस्य लता इत्यर्थः। 'तुण्डिकेरी रक्तफला बिम्बिका पीलुपर्ण्यपि' इत्यमरः। फलं प्रसवम्, निजमेव बिम्बफलमित्यर्थः। दशते निजचञ्च्वा छिन्दते, कीराय शुकाय, क्व कुत्र, कुप्यति ? क्रुध्यति ? न क्वापीत्यर्थः। दृष्टान्तालङ्कारः, प्रतिवस्तूपमेति युक्तमिति केचित्॥ ५७॥

अन्वय —सा एषा निशि दष्टाधराय अपि मह्य न रुष्यति, बिम्बीलता फल दशते कीराय क्व कुप्यति ?

हिन्दी —वह यह (दमयन्ती) रात मे अधर-दश कर्ता भी मुझ (नल) से नही रूसती (क्रुद्ध नही होती) बिम्ब की बेली फल को कुतरते तोते पर कहाँ कोप करती है ?

टिप्पणी— नल ने यह समावना करते हुए कि कदाचित् उससे दमयन्ती इस कारण क्रुद्ध है कि नल ने रात मे उसके अधर क्षत बना दिया था, किन्तु विचार करने पर लगता है कि यह कोई अपराध नही है। तोता बिम्ब की लता पर लाल लाल फल देखता है और कुतरता ही है। यह समव ही नहीं है कि लाल बिम्ब फल सम्मुख हो और तोता उसे न कुतरे। परतु बिम्ब फल की वेली तोते पर कोप नही करती, प्रत्युत शोभा के कारण शुक पर स्नेह ही करती है और उसे और कुतरने देती है। इस प्रकार नल ने बिम्ब-फल से अरुणाधर का जो दश किया, उस पर दमयन्ती का कोप करना उचित नही है। यह तो एक स्वाभाविक परिणाम था। होना ही था। दमयन्ती बिम्बलता सदृश है, अधर बिम्बफल। उसे भी बिम्ब बेली के समान स्नेह ही करना चाहिए। मल्लिनाथ क अनुसार यहाँ दृष्टात अलकार है, कुछ व्याख्याकारो की दृष्टि में यहाँ प्रतिवस्तूपमा मानना उचित है। 'रुष्यति' का पाठान्तर 'रुष्यतु' भी मिलता है। नारायण ने इसे ही मान्यता दी है। पाठान्तर अधिक युक्ति सगत लगता है — 'रात मे अधर दश के अपराधी मुझ (नल) से दमयन्ती का रूसना उचित नही ॥ ५७॥

सृणीपदसुचिह्ना श्रीश्चोरिता कुम्भिकुम्भयो ।
पश्यैतस्या कुचाभ्या तन्नृपस्तो पाडयामि न ? ॥ ५८ ॥

जीवातु—यदुक्त कलया 'कुचौ दोषोज्झितावस्या पीडितो प्रणतौ त्वया' इति तत्रोत्तरमाह—सृणीति। एतस्याः दमयन्त्या, कुचाभ्या स्तनाभ्याम्, कुम्भिकुम्भयो गजस्य शिर स्थपिण्डयो सम्बन्धिनी, सृणीपदानि अङ्कुशक्षतानि एव, सुचिह्नानि उत्कृष्टलक्ष्माणि यस्या सा तादृशी, श्री शोभा सम्पत्तिश्च, चोरिता अपहृता, इति पश्य एतत् त्व स्वयमेवावलोकय। नखपदस्य अङ्कुशाकारत्वदेव परिदृश्यमानत्वादिति भाव। तत् तस्मात्, चौर्यापराधाद्धेतोरित्यर्थ।

नृपः दण्डधरः, चौर्योचितदण्डविधाता इत्यर्थः। अहं नलः, तौ कुचौ, न पीडयामि ? न दण्डयामि ? न मर्दयामि च ? अपि तु पीडयाम्येव, दुष्टनिग्रहाधिकारात् राज्ञामिति भावः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—पश्य-एतस्याः कुचाभ्यां कुम्भिकुम्भयोः सृणीपदसुचिह्ना श्रीः चोरिता, तत् नृपः तौ न पीडयामि ?

हिन्दी—देखो—इस (दमयन्ती) के पीनपयोधरों ने गजों के कुम्भस्थलों (मस्तक के ऊँचे मांस-पिंडों) पर अंकुश के सुंदर चिह्नों वाली शोभा को चुरा लिया, सो राजा मैं (नल) उन्हें दंडित न करूँ ?

टिप्पणी—कला ने नल पर आरोप लगाया था— 'कुचौ दोषोज्झितावस्याः पीडितौ व्रणितौ त्वया' (४९)—अर्थात् आपने रात को निरावरण करके इस के कुचों को पीड़ा दी थी और क्षत बना दिये थे। नल ने इसके उत्तर में कहा कि यह तो राजधर्म है कि चोर को दंड दे। दमयन्ती के गजगंड-से पीन-पयोधरों ने चोरी की थी, करिकुम्भों की अंकुशसुचिह्ना संपत्ति ही चुरा ली। सो उन्हें पीड़ा दी गयी (मर्दन किया गया) और सक्षत बना दिया गया। यह तो अपराधी को दंड है, राजा नल का अपराध नहीं। दुष्टों—अपराधियों को दंड देना तो राजा का कर्तव्य है। भाव यह कि दमयन्ती के पीनपयोधर गजकुंभ-सदृश हैं। नल रोक ही न सका अपने को उनपर अंकुशाकार नख-क्षत-चिह्न बनाने से। कला चाहे तो देख सकती है कि दमयन्ती के स्तनों पर अंकुश-चिह्न हैं, चोरी की है उन्होंने ॥ ५८ ॥

> अधरामृतपानेन ममास्यमपराध्यतु ।
> मूर्द्ध्ना किमपराद्धं यः पादौ नाप्नोति चुम्बितुम् ? ॥ ५९ ॥

जीवातु—अधरेति। हे कले ! मम मे, आस्यं मुखम्, अधरामृतपानेन अधरसुधास्वादनेन हेतुना, अपराध्यतु अनभिमताचरणात् अपराधि अस्तु। अत एव अपराधिनः अस्य एषा दण्डं विदधातु इति भावः। किन्तु मूर्द्ध्ना मम शिरसा, किम् अपराद्धम् ? कः अपराधः कृतः ? यः मूर्द्धा, पादौ अस्याः चरणौ, चुम्बितुं स्प्रष्टुमित्यर्थः। न आप्नोति ? न लभते ? तत् पृच्छ इति शेषः।

अन्वयः—मम आस्यम् अधरामृतपानेन अपराध्यतु, मूर्द्ध्ना किम् अपराद्धं यः पादौ चुम्बितुं न आप्नोति ?

हिन्दी—(माना कि) मेरे (नल के) मुख ने अधरामृत-पान कर अपराध किया है, परन्तु मस्तक ने क्या अपराध किया है, जो (दमयन्ती का) चरण चुम्बन भी नहीं पा रहा ?

टिप्पणी—नल ने कहा कि वह मान लेता है कि उसके मुख ने दमयन्ती का अधर दश कर अपराध किया है, ऐसी स्थिति में दण्ड मुख को मिलना चाहिए, मस्तक को नहीं, जिसे दमयन्ती ने 'विन-अपराध' दण्ड दे रखा है कि वह बेचारा चरण चूमना चाहता है और उसे उसके अभीष्ट से वंचित किया जा रहा है। यह तो अत्यन्त अनुचित है। आशय यह भी कि नल दमयन्ती के चरणों में मस्तक रखकर अधरामृतपान-अपराध की क्षमा चाहता है। उसका यह अधिकार तो मिलना चाहिए ॥ ५९ ॥

अपराद्धं भवद्वाणी श्राविणा पृच्छ किं मया ? ।
वीणाऽऽह परुषं यन्मां कलकण्ठी च निष्ठुरम् ॥ ६० ॥

जीवातु—अपराद्धमिति । यत् यस्मात्, वीणा वाद्यविशेषः, मां नलं, परुषं कर्कशम् अप्रियवाक्यञ्च, आह ब्रवीति, कलकण्ठी च कोकिला अपि, मां निष्ठुरं कठोरं सतिरस्कारञ्च, आह, अतः हे कल्ये ! पृच्छ जिज्ञासय, ते ष सखीम् इति शेषः । भवत्या तव दमयन्त्या, वाणीं वाक्यम्, शृणोति आकर्णयतीति तच्छ्राविणा, मया नलेन, किम् अपराद्धम् ? कोऽपराधः कृत ? न किञ्चिदप्यपराद्धम् इत्यर्थः । लोकानामयमेव स्वभावो यत् परुषनिष्ठुरवाक्यश्रवणसन्तप्तचित्तं प्रशमयितुं सुमधुरं वाक्यं श्रोतुमिच्छा भवतीति तयोः पारुष्यदोषादुष्ट्या त्वत्सख्या सुमधुरा वाणी शुश्रूषुः अहं सम्भाषणेन च सख्या अनुकम्पनीय इति भावः ॥ ६० ॥

अन्वयः—पृच्छ—भवद्वाणीश्राविणा मया किम् अपराद्धं यत् मां वीणा परुषं कलकण्ठी च निष्ठुरम् आह ?

हिन्दी—(नल ने कला से कहा—अपनी सखी से) पूछो कि आप (दमयन्ती) की वाणी को सुनने (के स्वभाव) वाले मैं (नल) ने क्या अपराध किया है कि मुझसे वीणा ने कठोर और कोकिला ने निर्मम (सतिरस्कार) वचन कहा ?

टिप्पणी—आशय यह है कि रात्रि में नल ने दमयन्ती की वाणी सुनी थी, मधुर और स्नेह-पूर्ण, सरस वचन। उनको सुनने के पश्चात् अब न तो वीणा की झंकृति ही भली लगती है और न कोकिल-कलरव। ये दोनों ही दमयन्ती-वाणी के संमुख फीके हैं। इसे ही भंगिमा-विशेष से कहा गया कि वीणा और कोकिल का (अथवा दमयन्ती का ही) नल ने ऐसा क्या अपराध किया है, जो वीणा ने कर्कश उच्चारा (वीणा का मधुर स्वर कर्कश लगा) और कोकिल ने सापमान कहा (कोकिल स्वर भी अच्छा न लगा) ? वीणा और कोकिल तो स्वर-माधुर्य को सीखने के लिए दमयन्ती की सेवा में हैं; और सेवकों से तो अपराधियों की ही अवमानना करायी जाती है। नल का ऐसा अपराध तो नहीं है कि दमयन्ती स्वयं तो बोलती ही नहीं और अपने परिचारकों द्वारा डाँट-फटकार दिला कर अपमानित करा रही है। आशय यही कि दमयन्ती की वाणी सुनने के पश्चात् अब न वीणा के स्वर भाते हैं, न कोकिलरव, कृपा करके प्रिया अब बोले ॥ ६० ॥

सेयमालिजने स्वस्य त्वयि विश्वस्य भाषताम्।
ममताऽनुमताऽस्मासु पुनः प्रस्मर्यते कुतः ? ॥ ६१ ॥

जीवातु—सेति। हे कले! सा इयं प्रिया भैमी, स्वस्य आत्मनः, आलिजने सखीजने, त्वयि भवति, विश्वस्य विस्रम्भ्य, प्रत्ययं कृत्वा इत्यर्थः। भाषतां वदतु, त्वां सखी विश्वस्य अवश्यमेव एतत् कथयतु इत्यर्थः। किं भाषताम् ? इत्याह—अस्मासु मयि विषये, अनुमता अङ्गीकृता, ममता आत्मीयता, मम अयम् इत्यभिमानः इत्यर्थः। रजन्यां तदनुकूलाचरणादिति भावः। कुतः कस्माद् हेतोः, पुनः इदानीं, प्रस्मर्यते ? प्रगतस्मरणीक्रियते ? रात्री तथा आत्मीयत्वेन आलप्य दिवा युष्मत्समक्षं दृष्टिनिक्षेपमात्रस्यापि अकरणात् तत् कथं विस्मर्यते अनयेति पृच्छेत्यर्थः। मयि अनात्मीयाचरणे कथं जीवेयम् ? इति भावः॥ ६१ ॥

अन्वयः—सा इयं स्वस्य त्वयि आलिजने विश्वस्य भाषताम्, अस्मासु अनुमता ममता पुनः कुतः प्रस्मर्यते ?

हिन्दी—वह (चुप बैठी) यह (दमयन्ती) आत्मीय तुझ सखी (कला) पर विश्वास करके बोले कि हम (नल) पर (रात्री में) जो ममता दिखायी थी, उसे इस समय क्यों विस्मृत कर रही है ?

टिप्पणी—यह भी उपालम की एक भंगिमा है। रात में इतनी आत्मीयता दिखायी और 'सब कुछ' स्वेच्छया स्वीकारा अब दिन में वह सब भुला कर सखी-समक्ष ऐसी निठुराई क्या ? कला उसकी विश्वस्त सखी है, उसी पर विश्वास करके दमयन्ती को कारण बताना चाहिए ॥ ६१ ॥

अथोपवदने भैम्या स्वकर्णोपनदच्छलात् ।
सन्निधाप्य श्रुतौ तस्या निजास्यं सा जगाद ताम् ॥ ६२ ॥

जीवातु—अथेति । अथ राजवाक्यानन्तरम्, सा कला, भैम्या दमयन्त्या, उपवदने आननसमीपे । सामीप्येऽव्ययीभाव, 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' इति विकल्पात् सप्तम्या नाम्भाव । स्वकर्णस्य निजश्रवणस्य, उपनयच्छलात् समीपनयनव्याजात्, ततः तस्याः भैम्याः, श्रुतौ कर्णे, निजास्यं स्वमुखम् सन्निधाप्य सन्निहितं कृत्वा, तां भैमीम्, जगाद बभाषे ॥ ६२ ॥

अन्वय—अथ सा भैम्याः उपवदने स्वकर्णोपनयच्छलात् तस्याः श्रुतौ निजास्यं सन्निधाप्य तां जगाद ।

हिन्दी—तदनंतर (नल के चुप होने पर) वह (कला) भीम पुत्री (दमयन्ती) के मुख के निकट अपने (कला के) कान ले जाने के मिस उस (दमयन्ती) के कान पर अपना मुख ले जाकर उस (दमयन्ती) से बोली।

टिप्पणी—राजा नल जब नर्म-वचन कह कर चुप हो गये तो कला दमयन्ती के मुख के पास अपना कान ले गयी और यद्यपि दमयन्ती चुप थी, तथापि जैसे उससे एकान्त में कुछ सुन रही हो, अपना मुँह दमयन्ती के कान के समीप ले गयी और उससे बोली ॥ ६२ ॥

अहो ! मयि रहोवृत्तं धूर्ते ! किमपि नान्यथा ।
आस्स्व सत्यमिमं तत्ते भूपमेवाभिधापये ॥ ६३ ॥

जीवातु—अहो इति । धूर्ते ! हे वञ्चनपरे ! मयि अस्मत्समीपे, रहोवृत्तं रहस्यचेष्टितम्, चुम्बनालिङ्गनादिरूपं निर्जनवृत्तान्तमित्यर्थः । किम् अपि किञ्चिदपि, न अन्यथा न अभिहितवती असि, त्वमिति शेषः, इत्यहो ! आश्चर्यम् ! भवतु, आस्स्व तिष्ठ । इमम् अमुम्, भूपं राजानं नलमेव, ते तव, तत् रात्रिचेष्टितमित्यर्थः । सत्यं यथायथम्, अभिधापये वाचयामि, कौशलेन नृपमेव सर्वं ख्यापयिष्यामि इत्यर्थः । 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना शब्दकर्मत्वादणि-

कर्त्तुः कर्मत्वम् । राजा यथा स्वयमेव तव रहस्यवृत्तान्तं कथयति तथा करोमि इति निष्कर्षः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—अहो धूर्त्ते, किम् अपि रहोवृत्तं मयि न अभ्यधाः, आसस्व, इमं भूपम् एव ते तत् सत्यम् अभिधापये ।

हिन्दी—अरी चतुर ठगिनी (दमयन्ती) कुछ भी रहस्य-वृत्तांत मुझे नहीं बताया; ठहर इस राजा (नल) से ही तेरा वह (गोपनीयरत-व्यापार) सच्चा-सच्चा कहलवाये लेती हूँ ।

टिप्पणी—कला ने दमयन्ती को उलाहना दिया कि वह तो बड़ी चालक निकली कि अपनी आत्मीय सखियों से भी प्रिय-मिलन से सम्बद्ध एक भी बात नहीं कही। कला-सी आत्मीया तक को एक भी रहस्य-वृत्तांत नहीं बताया। ठीक है, दमयन्ती ने न बताया तो क्या हुआ, कला अपने वचन-कौशल से राजा नल-द्वारा सब कुछ कहला लेगी। भाव यह है कि कला ऐसी करेगी कि राजा ही सब कह डाले ॥ ६३ ॥

स्मरशास्त्रमधीयाना शिक्षिताऽसि मयैव यम् ।
अगोपि सोऽपि कृत्वा किं दाम्पत्यव्यत्ययस्त्वया ? ॥ ६४ ॥

जीवातु—स्मरेति । स्मरशास्त्रं वात्स्यायनादिकामतन्त्रम्, अधीयाना पठन्ती, मत्तः अभ्यस्यन्तीत्यर्थः । त्वमिति शेषः । यं दाम्पत्यव्यत्ययमित्यर्थः । मया कलयैव, अध्यापिकया एव इति यावत्, शिक्षिता उपदिष्टा, असि भवसि । 'शृ विद्यासि—' इति शासेरर्थग्रहणात् द्विकर्मकत्वम् 'अप्रधाने दुहादीनाम्' इति अप्रधाने कर्मणि क्तः । त्वया भवत्या, स मदुपदिष्टः, दाम्पत्यव्यत्ययः दाम्पत्यस्य दम्पतिव्यवहारस्य स्वाभाविकविहारस्य, व्यत्ययः वैपरीत्यम्, अन्यथाचरणमित्यर्थः । विपरीतसम्भोगः इति यावत् । कृत्वाऽपि स्वयं निष्पाद्यापि, किं किमर्थम्, अगोपि ? मम समीपे गोपितः ? शिक्षयित्री मामेव यदा त्वं गोपायितुमिच्छसि, तदा नास्ति तवासाध्यं किञ्चिदिति भावः । एतत्तु 'लज्जितानि जितान्येव' इत्यादिना नलोक्तिमनुसृत्यैव चतुरया सख्या अभिहितमिति मन्तव्यम् । 'नितरां धाष्टर्यमवलम्ब्य मया शिक्षितं विपरीत-सुरतं कृत्वाऽपि ममैव पुरस्तात् न कृतमिति कथयसीति नितरां वञ्चनाचतुराऽसीति भावः' इति 'नैषधीयप्रकाशः' ॥ ६४ ॥

अन्वय :—स्मरशास्त्रम् अधीयाना या मया एव शिक्षिता असि सा दाम्पत्या व्यत्ययं अपि कृत्वा त्वया किम् अगोपि ?

हिन्दी—कामशास्त्रका अध्ययन करती जिस तुझ दमयन्ती को जो दपति-भाव का व्यत्यय (स्त्री का पुरुषवत् और पुरुष का स्त्रीवत् आचरण, विपरीतरति) मैंने (कला ने) ही सिखाया है वह विपरीत संयोग भी करके तूने (दमयन्ती ने) किस लिए छिपाया ?

टिप्पणी—कला ने दमयन्ती से कहा कि वह तो बड़ी चालाक निकली। सब कुछ सिखाने वाली गुरु सखी कला से ही दुराव। अरे सीखा तो सब हमसे ही, और कर भी डाला, और हमसे ही नहीं बताया। विपरीत रति तक कर डाली, जो राजा के 'लज्जितानि जितान्येव' (५६) कथन से स्पष्ट है कि दमयन्ती ने रात लज्जा जीत ली थी। और अब भोली भाली बनी बैठी है। अरी वाह री चतुरे, हमसे ही सीखा और हमसे ही ऐसा छिपाव ! हमारी बिल्ली और हमसे ही म्याऊँ ! ॥ ६४ ॥

मौनिन्यामेव सा तस्या तदुक्तोरिव शृण्वती ।
वादं वादं मुहुश्चक्रे हुँ हुमित्यन्तराऽन्तरा ॥ ६५ ॥

जीवातु—मौनिन्यामिति। सा कला, तस्याः भैम्याम्, मौनिन्यामेव तूष्णीम्भूतायामेव, किमपि अकथयन्त्यामेवेत्यर्थः। तदुक्तीः तस्याः दमयन्त्याः वाक्यानि, शृण्वती आकर्णयन्तीव, श्रवणभङ्गीं प्रकाशयन्तीवेत्यर्थः। अन्तराऽन्तरा मध्ये मध्ये, वादं वादं तद्वाक्यस्य प्रत्युत्तरम् इव चोदित्वा। आभीक्ष्ण्ये णमुल्। मुहुः पुनः पुनः, हु हुम् इति हुं हुमित्यनुमोदनसूचकं शब्दम्, चक्रे कृतवती, पुनः पुनः हुं हुमिति करणेन तद्वाक्यानुमोदनं चकार इत्यर्थः। अनेनास्या अतीवपरिहासप्रियत्वं व्यज्यते इति बोद्धव्यम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सा तस्या मौनिन्याम् एव तदुक्तीः शृण्वती इव अन्तरा अन्तरा वादं वादं मुहुः हुं हुम् इति चक्रे।

हिन्दी—वह (कला) उस (दमयन्ती) के चुप रहने पर भी जैसे उस (दमयन्ती) का कहा सुन रही हो, ऐसा प्रकट करती हुई बीच-बीच में दमयन्ती का कथन सुनना जताती बार-बार 'हूँ हूँ' करने लगी।

टिप्पणी—यद्यपि दमयन्ती ने कुछ कहा नहीं, परन्तु बीच-बीच वारंवार 'हूँ-हूँ' करती, हुंकारी भरती कला यह प्रकट कर रही थी कि दमयन्ती कुछ कह रही है और कला सुन रही है। परिहास प्रियता का नाटकीय मनोरंजक दृश्य ॥ ६५ ॥

अथासावभिसृत्यास्या रतिप्रागल्भ्यशङ्किनी ।
सख्या लीलाम्बुजाघातमनुभूयालपन्नृपम् ॥ ६६ ॥

जीवातु—अथेति । अथ उक्तप्रकारभङ्गिकरणानन्तरम्, अस्याः भैम्याः, रतिप्रागल्भ्यं सुरतकाले नैपुण्यम्, शङ्कते तर्कयतीति रतिप्रागल्भ्यशङ्किनी सुरतक्रीडायां दमयन्ती निपुणा जाता इति विवेचयन्तीत्यर्थः। असौ कला, अभिसृत्य दमयन्तीसकाशं गत्वा सख्याः भैम्याः, लीलाम्बुजानां करस्थितलीलाकमलानाम् आघातं ताडनम्, अनुभूय प्राप्य, नृपं राजानम्, आलपत् अभाषत ॥ ६६ ॥

अन्वयः—अथ अस्याः रति प्रागल्भ्यशङ्किनी असौ अभिसृत्य सख्याः लीलाम्बुजाघातम् अनुभूय नृपम् आलपत् ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (दमयन्ती-कथन-श्रवण की भंगिमा करके) इस (दमयन्ती) के रति-क्रीडा—नैपुण्य की विवेचना करती वह (कला) दमयन्ती के निकट पहुँच कर सखी (दमयन्ती) के करस्थित लीला-कमल का ताडन अनुभव करके राजा से बोली ?

टिप्पणी—बात चीत करने-सुनने की नाटकीयता प्रदर्शन करती कला दमयन्ती के और निकट पहुँची और दमयन्ती को जताया कि वह अब पूर्ण-पंडिता हो चुकी है, विपरीत रति भी सीख गयी। इस पर दमयन्ती ने स्वाभाविक रूप में कला पर लीला-कमल से आघात किया, जिसका अनुभव करती वह नल से कहने लगी। अथवा कला ने ऐसा प्रदर्शन किया कि जैसे कला द्वारा (रतिरहस्य की वार्त्ता कही जाने पर दमयन्ती उस पर लीला-कमल का आघात कर रोष प्रकट कर रही है। अर्थात् भेद खुल जाने पर स्वाभाविक प्रतिक्रिया व्यक्त कर रही है ॥ ६६ ॥

दृष्ट ! दृष्ट !! महाराज ! त्वदर्थाभ्यर्थनाक्रुधा ।
यत्ताडयति मामेव यद्वा तर्जयति भ्रुवा ? ॥ ६७ ॥

जीवातु—तदेवाह षड्भि –दृष्टमित्यादि । हे महाराज ! दृष्ट ! दृष्टम् !! अवलोकितम् ! अवलोकितम् ! ! इति आक्षेपे द्विरुक्ति । किं दृष्टम् ? तत्राह–त्वदर्थं भवन्निमित्तम्, यत् अभ्यर्थना प्रार्थना, भर्त्तुरभिलाष पूरयतु इत्येवरूपा याच्ञा इत्यर्थ । तया क्रुधा रोषेण, यत् माम् एवम् अनेन प्रकारेण, ताडयति प्रहारयति, यत वा यच्च, भ्रुवा भ्रूभङ्गेण, तर्जयति तिरस्करोति, तद् उभय दृष्ट खलु ? इत्यर्थ । एतच्च रहस्यवाक्यश्रवणार्थमिति भाव । तर्जतरतु धातोस्वेऽपि अनुदात्तेत चक्षिङ ङित्करणेनानित्यत्वाज्ञापनात् परस्मैपदमपि भवति, अत एव तर्जयते भर्त्सयते तर्जयतीत्यपि च दृश्यते इति भट्टमल्ल ॥६७॥

अन्वय –महाराज, दृष्ट दृष्ट, त्वदर्थाभ्यर्थनाक्रुधा यत् माम् एव ताडयति, यत् भ्रुवा वा तर्जयति ?

हिन्दी—(कला ने कहा)—महाराज, देखा देखा, आपके निमित्त प्रार्थना करने पर क्रोध से जो मुझे (कला को) इस प्रकार (यह दमयन्ती लीला कमल से) ताडना दे रही है अथवा जो भ्रूसकेत तर्जन कर रही है !

टिप्पणी—दमयन्ती के लीला कमल से प्रताडना पाकर नाटकीयता से भगिमा-विशेष का आश्रय लेती कला ने नल का ध्यान आकृष्ट किया कि वह तो महाराज पर प्रसन्न होने के लिए दमयन्ती से निवेदन कर रही है किन्तु वह है कि उसे आघात दे रही है कि ऐसा प्रस्ताव क्या रखा और भ्रूसकेत से भविष्य मे ऐसा न करने का निषेध कर रही है कि खबरदार, आगे यदि कभी ऐसा किया । महाराज के समुख ही यह हो रहा है, वे स्वय साक्षी हैं ॥ ६७ ॥

वदत्यचिह्नि चिह्नेन त्वया केनैष नैषध ? ।
शङ्के शक्र,स्वय कृत्वा मायामायातवानयम् ॥ ६८ ॥

जीवातु—किं तद्वाक्यम् ? तदाह त्रिभि, वदतीत्यादि । हे राजन् ? वदति कथयति, भैमी मामिति शेष । तदेवाह—हे कले ? त्वया भवत्या, एष अय जन , केन चिह्नेन लक्षणेन, नैषध- नल इति अचिह्नि ? चिह्नित ?

प्रत्यभिज्ञातः ? इत्यर्थः। शङ्के मन्ये, अहमिति शेषः। अयम् एष जनः, स्वयं साक्षात्, शक्र इन्द्र एव, मायां छलम्, छलेन नलवेशधारणमित्यर्थः, कृत्वा विधाय, आयातवान् आगतवान् इति ॥ ६८ ॥

अन्वयः—वदति-त्वया केन चिह्नेन एषः नैषधः अचिह्नि; शङ्के-अयं शक्रः स्वयं मायां कृत्वा आयातवान्।

हिन्दी—दमयन्ती कह रही है कि तू ने (कला ने) किस चिह्न (लक्षण, पहिचान) से इस (संमुखस्थ) को निषधराज (नल) चीह्ना; मैं (दमयन्ती) तो समझती हूँ कि यह इन्द्र स्वयं छल करके आया है।

टिप्पणी—कला ने और भंगिमा-परिवर्तन करते हुए बताया कि यह दमयन्ती तो नल को इन्द्र मानती है, नल मानती ही नहीं। परपुरुष मान कर प्रस्ताव पर क्रुद्ध होने का औचित्य सिद्ध करती है। अब नल ही बतायें कि कला बेचारी क्या करे ? ॥ ६८ ॥

> स्वर्णदीस्वर्णपद्मिन्याः पद्मदानं निदानताम्।
> नयतीयं त्वदिन्द्रत्वे दिवश्चागमनञ्च ते ॥ ६९ ॥

जीवातु—कथं मयि अस्याः शक्रशङ्का ? इत्याह—स्वर्णदीति। किञ्च, हे महाराज ! इयं भैमी, स्वर्णद्याम् आकाशगङ्गायां मन्दाकिन्याम्, या स्वर्णपद्मिनी कनकमयकमललता तस्याः, पद्मस्य स्वर्णकमलस्य, दानं स्वस्यै अर्पणम्, तथा ते तव, दिवश्च अन्तरीक्षाच्च, आगमनञ्च उपस्थितिश्च, त्वदिन्द्रत्वे तव वासवत्वसंशये, निदानतां मूलकारणताम्, नयति प्रापयति। मानवे एतदुभयस्यासम्भवत्वादिति भावः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—इयं स्वर्णदीस्वर्णपद्मिन्याः पद्मदानं ते च दिवः आगमनं च त्वदिन्द्रत्वे निदानतां नयति।

हिन्दी—यह (दमयन्ती) स्वर्ग-सरित् (मन्दाकिनी) की सुवर्णकमलिनी के कमल का (अपने को) समर्पण और आप का स्वर्ग से (धरती पर) आगमन आप (नल) के इन्द्र होने में मूलकारणभूत मानती है।

टिप्पणी—कला ने बताया कि दमयन्ती का महाराज नल को नल न मानकर नलरूपधारी इन्द्र मानना अकारण भी नहीं है। महाराज द्युलोक से

पधारे, दमयन्ती को स्वर्णपत्र का उपहार दिया (श्लोक० १, ४)। ये कार्य इन्द्र के लिए सहज हैं, अतः दमयन्ती महाराज को कपटवेषधारी इन्द्र मान रही है। इसी कारण दमयन्ती ने सखी की भर्त्सना भी की है कि वह उसे पर-पुरुष को भजने की नितांत अनुचित प्रेरणा दे रही है॥ ६९॥

भापते नैषधच्छाया मायाऽमायि मया हरेः।
आह चाहमहल्याया तस्याकर्णितदुर्णया॥ ७०॥

जीवातु—भापते इति। हे महाराज! भापत भैमी अन्यदपि वदति। किमिति? हे कले! मया नैषधच्छाया नलरूपधरा, हरेः इन्द्रस्य, माया छलना, अमायि अनुमिता, स्वयंवरकाले तथाभूतव्यापारदर्शनादिति भाव। माङ कर्मणि लुङ् चिणि युगागम। ननु तदानीं ते कौमार्यात् त्वल्लाभार्थं तस्य माया न दूषणीया, इदानीन्तु तव परस्त्रीत्वात् तस्य तथाविधा माया न सम्भवत्येवेत्याह—आह च एतदपि वदतीत्यर्थः। अहं दमयन्ती, अहल्यायाः तन्नाम्न्याः गौतमभार्यायाम्, तस्य इन्द्रस्य, आकर्णितः श्रुतः, पुराणादौ इति शेषः। दुर्णयः दुश्चेष्टितम्, मायया गौतमरूपं धृत्वा सतीत्वनाशरूपदुर्व्यवहारः इत्यर्थः। यया सा तादृशी, अस्मीति शेषः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वम्। पारदार्यात् भीतिरप्यस्य नास्ति, अतः इदानीमपि तत्कर्तृकनलरूपधारणं नासम्भवं इति भावः॥ ७०॥

अन्वय—भापते—मया हरेः नैषधच्छाया माया अमायि आह च—अहम् अहल्यायां तस्य आकर्णितदुर्णया।

हिन्दी—(कला ने कहा)—दमयन्ती कहती है कि मैं (दमयन्ती) इन्द्र का निषधराज रूप बनाने का कपट (स्वयंवर काल से) जानती हूँ, और यह कहती है कि मैं गौतमपत्नी अहल्या के प्रति उस (इन्द्र) का दुष्प्रयत्न सुन चुकी हूँ।

टिप्पणी—कला ने बताया कि दमयन्ती यह भी बता रही है कि इन्द्र के लिए कपटरूप बनाकर छलना कोई नयी बात नहीं है। स्वयंवर काल में उसने नल रूप बनाया ही था। ऐसा भी नहीं है कि यह मान लिया जाय उस समय कुमारी दमयन्ती से विवाह करने के लिए वह देवराज का प्रयत्न

त्या, और किसी कुमारी से विवाह करने की चेष्टा अनुचित नहीं होती। इन्द्र परस्त्री के साथ भी दुष्कर्म कर सकता है; करता रहा है। उदाहरणार्थ गौतमपत्नी अहल्या को इन्द्र द्वारा छले जाने की कथा पुराणादि में प्रसिद्ध है। दमयन्ती भी जानती है। सो विवाहिता, परस्त्री दमयन्ती को छलने का दुष्प्रयत्न इन्द्र द्वारा सहज संभाव्य है ॥ ७० ॥

सम्भावयति वैदर्भी दर्भाग्राभमतिस्तव।
जम्भारित्वं कराम्भोजाद्दम्भोलिपरिरम्भिणः॥ ७१ ॥

जीवातु—सम्भावयतीति। किञ्च, दर्भाग्राभा कुशाग्रसदृशी, अतीव तीक्ष्णा इत्यर्थः, मतिः बुद्धिः यस्याः सा तादृशी सूक्ष्मबुद्धिः, वैदर्भी दमयन्ती, दम्भोलिः वज्रायुधं वज्ररेखाञ्च, परिरभते धारयतीति तस्मात् वज्रायुध-धरात् वज्रचिह्नविशिष्टाच्च, कराम्भोजात् पाणिकमलात् हेतोः, कराम्भोजं दृष्ट्वा इत्यर्थः। तव ते, जम्भारित्वम् इन्द्रत्वम्, सम्भावयति तर्कयति। 'वज्र-हस्तः पुरन्दरः' इति श्रुतेः तथा नलस्य पाणितले वज्रादिविविधसार्वभौम-लक्षणस्यावस्थानादिति भावः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—दर्भाग्राभमतिः वैदर्भी दम्भोलिपरिरम्भिणः कराम्भोजात् तव जम्भारित्वं सम्भावयति।

हिन्दी—कुशाग्रबुद्धि विदर्भजा (दमयन्ती) सार्वभौमिकतासूचक वज्र-चिह्न-युक्त करकमल होने से आप के (नल के) जंभशत्रु (इन्द्र) होने की संभावना करती है।

टिप्पणी—कपटवेशधारी इन्द्र के नल-रूप में होने का एक और प्रमाण। इन्द्र वज्रधारी है, उसके हाथ में वज्र-धारण-चिह्न है, नल के हाथ में भी वज्र-चिह्न है। सार्वभौम नरेश के हाथ में सामुद्रिकशास्त्रानुसार वज्र-चिह्न होता है। दमयन्ती बड़ी सूक्ष्म बुद्धि रखती है, उसे धोखा देना कठिन है। इस चिह्न के कारण इस ने इन्द्रत्व की संभावना कर ली ॥ ७१ ॥

अनन्यसाक्षिकाः साक्षात्तद्व्याख्याय रहःक्रियाः।
शङ्काऽऽतङ्कं नुदतस्या यदि त्वं तत्त्वनैषधः ॥ ७२ ॥

जीवातु—अनन्येति। हे राजन्! त्वं भवान्, यदि चेत्, तत्त्वनैषधः

परमार्थनल, असीति शेष, तत् तर्हि, अनन्यसाक्षिका नास्ति अन्ये स्वेतरा', साक्षिणः प्रत्यक्षदर्शिन यासा ताद्दशी- स्वमात्रसवेद्या, रहःक्रिया चुम्बनालिङ्गनादिरूपरहस्यव्यापारान्, साक्षात् अस्या समक्ष स्वयमेव, व्यारयाय उक्त्वा, एतस्या वैदर्भ्या, शङ्काया इन्द्रत्वसन्देहस्य, आतङ्क भयम्, नुद निवर्तय। यान् यान् सुरव्यापारान् केवल युवामेव जानीथ, न पुनरन्येषा केषाञ्चिदपि तज्ज्ञानसम्भावना, ईदृशान् व्यापारान् यदि त्व वक्तु शक्नोषि, तदैव एषा त्वा नलत्वेन अवधारयिष्यति, नान्यथा इति भाव ॥ ७२ ॥

अन्वयः—त्व यदि तत्त्वनैषध तत् अनन्यसाक्षिका रह क्रिया साक्षात् व्याख्याय एतस्या शङ्कातङ्क नुद।

हिन्दी—आप (नल) यदि वास्तव मे निषधराज हैं तो जिनका और कोई (दमयन्ती के अतिरिक्त) साक्षी नही है, ऐसा गोपनीय व्यापार दमयन्ती के समुख विस्तार पूर्वक बता कर इस (दमयन्ती) के शकाजनित भय को दूर कीजिए।

टिप्पणी—अपने गोपनीय विलास व्यापारों की चर्चा सखियों मध्य—विशेषत कला जैसी आत्मीया से भी—न करने पर कला ने कहा था कि वह ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देगी कि राजा नल ही सब कुछ दमयन्ती के समुख कह देगा—'भूपमेवाभिधापये'—(६३)। कला ने उसी स्थिति को अपनी नाटकीयता से उपस्थित कर दिया। या तो नल वे सब विलास-व्यापार विस्तार से बताये, अन्यथा दमयन्ती उसे इन्द्र मानकर विमुख ही रहेगी। ऐसी बातें, जो दमयन्ती-नल ही जानते हों, इन्द्र नही जान सकता। वे बातें कह दे तो नल की वास्तविकता प्रमाणित हो जायेगी ॥ ७२ ॥

इति तत्सुप्रयुक्तार्था निह्नुतीकृतकैतवाम्।
वाचमाकर्ण्य तद्भ्रात्रे मघवालु शशस स ॥ ७३ ॥

जीवातु—इतीति। इति इत्थम्, तया कन्या, सुप्रयुक्तार्थी सुप्रयुक्ता स्वर्गगमनस्वर्णपद्मदानवज्रधारणादिजन्यसन्देहस्य निरसनाय यथाकाल सम्यगुपन्यस्त, अर्थ अभिधेय यस्या ताद्दशीम्, 'सुप्रयुक्तत्व' इति पाठे—सुप्रयुक्तत्वेन युक्तियुक्तरूपेण प्रयोगेण, निह्नुतीकृतकैतवा निह्नुतीकृत

कैतवद्योतकहास्यादिविकाररहित्येन गोपायितम्, कैतवं छलं यत्र तादृशीम्, अप्रकाशीकृतनिगूढाभिप्रायाम्, वाचं वाक्यम्, आकर्ण्य श्रुत्वा, सः नलः, तस्याः भैम्याः, भावे अभिप्राये, संशयालुः किमियं सत्यमेव मामिन्द्रमाशङ्कय चुम्बनादिकं न करोति इति सन्दिहानः सन्, शशंस कथयामास। संशयोच्छेद-करहस्यवाक्यसमूहम् उवाच इत्यर्थः। एतेन कलायाः वचनचातुर्येण राज्ञः पराजयः सूचित इति बोद्धव्यम् ॥ ७३ ॥

अन्वयः---इति तत्सुप्रयुक्तार्थां निह्नुतीकृतकैतवां वाचम् आकर्ण्य तद्भावे संशयालुः सः शशंस।

हिन्दी---इस प्रकार इस (कला) द्वारा भलीभाँति प्रयोग से अभि-प्रायपूर्ण जिस में कैतवद्योतक हास्यादि विकार छिप गये थे, ऐसी (कला की) वाणी सुनकर उस (दमयन्ती) के भाव में संदेहयुक्त हो वह (नल) कहने लगा।

टिप्पणी---राजा नल कला के वाग्जाल में फँस गये। उसने इतनी चतुरता से जाल फैलाया; बोलते समय ऐसे भाव बनाये कि वह नल को छल कर गोपनीय विलास-रहस्य सुनने के लिए यह सब माया फैला रही है और बड़ा ही ऊँचा परिहास कर रही है, यह राजा समझ ही नहीं सके। वे बेचारे कला की बनायी बात को सच मान बैठे कि दमयन्ती सचमुच उन्हें कपटवेषधारी इन्द्र समझ रही है और सारा रहस्य व्यापार विस्तार से बताने लगे, जो आगे (७४–९५ श्लोकों में) है ॥ ७३ ॥

स्मरसिच्छद्मनिद्रालुर्मया नाभौ शयार्पणात्।
यदानन्दोल्लसल्लोमा पद्मनाभीभविष्यसि ? ॥ ७४ ॥

जीवातु---अथैतदेव विंशत्या श्लोकैः प्रपञ्चेनाह, स्मरसीत्यादि। हे प्रिये! छद्मना कपटेन, निद्रालुः सुप्ता। 'स्पृहिगृहि–' इत्यादिना निपूर्वाद् द्रातेरालुच्। त्वमिति शेषः। मया नलेन, नाभौ तव नाभिदेशे, शयस्य पाणेः, अर्पणात् स्थापनात्, नीवीग्रन्थिमोचनार्थमिति भावः। आनन्देन स्पर्शसुखेन, उल्लसल्लोमा प्रहृष्यद्रोमा सती, रोमाञ्चितगात्री सतीत्यर्थः। यत् पद्मं नाभौ यस्याः सा पद्मनाभिः अपद्मनाभिः पद्मनाभिर्भविष्यसीति पद्मनाभी-भविष्यसि पद्मनाभितुल्या सञ्जाताऽसि इत्यर्थः। मम पाणेः पद्मतुल्यत्वात्

तव रोमाञ्चाताञ्च पद्मस्य कण्टकवत्तुल्यत्वादिति भावः । पद्मनाभः विष्णुश्च ॥ अपि छद्मनिद्रालु इति बोध्यम् । 'अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्—' इत्यादिसूत्रे 'अच्' इति योगविभागात् उभयत्रापि समासान्तोऽच्प्रत्ययः । अभूततद्भावे च्वि । 'अभिज्ञावचने लृट्' इति भूतार्थे लृट् । तत् स्मरसि ? तत् प्रत्यभिजानासि किम् ? इति काकुः ॥ ७४ ॥

अन्वय —छद्मनिद्रालुः मया नाभौ करार्पणात् यत् आनन्दोल्लसल्लोमा पद्मनाभीभविष्यसि–स्मरसि ?

हिन्दी—(नल कहने लगे)—झूठमूठ सोयी (कपट निद्रा में आंख मूँदे तुम दमयन्ती) मेरे (नल के) द्वारा नाभि पर (नीवी विमोचनार्थ) हाथ रखने से जो स्पर्श सुख के कारण रोमांचित हो (कपटनिद्रा में सुप्त पद्मनाभ विष्णु के तुल्य) पद्मनाभ (नाभि में कमल युक्त) हो गयी थी, वह याद आता है ?

टिप्पणी—नल के वाक्-छल में फँसे नल दमयन्ती को अपनी वास्तविकता जताने के लिए एक-एक करके गोपनीय विलास व्यापार बताने लगे । पहिले उन्होंने वह वृत्तान्त कह सुनाया, जब कि उन्होंने कपटनिद्रा में आँखें मूँदे लेटी दमयन्ती की नाभि पर नीवी-मोचनार्थ हाथ रखा था (१८।४३ 'नीविसीम्नि' इत्यादि) । स्वाभाविक था कि प्रिय के करस्पर्श से दमयन्ती को आनन्दोल्लास मिला और वह उस कारण रोमांचित हुई । इस गोप्य वृत्तान्त को विलासरत दम्पती के अतिरिक्त कोई नहीं जान सकता था, अतः यह वास्तविक नल होने का प्रमाण हुआ । उस समय नल का पद्म समान हाथ नाभि पर रखे जाने से (पद्मं नाभौ यस्याः सा) वह 'पद्मनाभ' और इस प्रकार कपटनिद्रा में सुप्त विष्णु तुल्य हो गयी । अथवा रोमांचित नाभि ही पद्म के तुल्य हो गयी (पद्ममिव नाभिः) । विकसित कमलदल तुल्य रोम और नाभि कमल । इस प्रकार कमलसम नाभिवती दमयन्ती हो गयी थी । रोमांचित होने के कारण तब नल को दमयन्ती की कपटनिद्रा प्रतीत हो गयी थी, क्योंकि सचमुच सोयी होने पर दमयन्ती रोमांचित न होती ।

जनासि ह्रीमयत्यग्रा यन्नवे मन्मथोत्सवे ।
सामिभुक्तेव मुक्ताऽसि मृद्वि ! खेदभयान्मया ? ॥ ७५ ॥

जीवातु—जनासीति । मृद्वि ! हे कोमलाङ्गि ! अत एव अतिपीडाऽसह-त्वात् खेदभयमिति भावः । नवे नूतने, मन्मथोत्सवे स्मरोल्लासे, प्रथमरत-क्रीडायामित्यर्थः । ह्रीभयाभ्यां लज्जाऽऽतङ्काभ्याम्, व्यग्रा विभ्रान्तचित्ता, त्वमिति शेषः, खेदः सुरतश्रमजनितक्लेशः, तद्भयात् तच्छङ्कातः, मया सामि-भुक्तैव, अर्द्धमात्रकृतसुरतैवेत्यर्थः । 'सामि त्वर्द्धे जुगुप्सिते' इत्यमरः । मुक्ताऽसि परित्यक्ता भवसि, तदन्यथा वैरस्यात् इति भावः । तदुक्तं रतिरहस्ये—सहसा वाऽप्युपक्रान्ता कन्या खेदमविन्दत । भयाच्चित्तसमुद्वेगं सद्द्वेषञ्च गच्छति ॥ सा प्रीतियोगमप्राप्य बलोद्वेगेन दूषिता । पुरुषद्वेषिणी वा स्यात् सुप्रीता वा ततोऽन्यथा ॥' इति । तत् जनासि ? स्मरसि किम् ? इत्यर्थः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—मृद्वि, नवे मन्मथोत्सवे ह्रीभयव्यग्रा खेदभयात् मया सामि-भुक्ता एव मुक्ता असि—जनासि ?

हिन्दी—हे कोमलांगि, (प्रथम रत-पीडा सहने में असमर्थ, शीघ्र द्रवित होने वाली) नवीन काम-उत्सव (रतिक्रीडा) में लज्जा और भय से घबरायी तुझे (दमयन्ती को) खिन्न हो जाने के डर मैंने (नल ने) अर्द्ध विलास क्रीडा अर्द्ध संभोग करके ही छोड़ दिया था—याद है ?

टिप्पणी—नल ने प्रथम बार में ही पूर्ण संभोग नहीं किया था, क्योंकि सहसा आक्रान्त होने से बाला के खिन्न हो जाने और पुरुषद्वेषिणी होने का भय रहता है । उसी अर्द्धभोग का स्मरण नल ने यहाँ कराया ॥ ७५ ॥

स्मर जित्वाऽऽजिमेतस्त्वां जरे मत्पदधाविनि ।
अंगुलीयुगयोगेन यदाश्लिक्षं घने जने ॥ ७६ ॥

जीवातु—स्मरेति । हे प्रिये ! आजि युद्धम्, जित्वा विजित्य, त्वां भवतीम्, त्वत्समीपमित्यर्थः । एतः समागतः अहमिति शेषः । करे पाणौ, तवेति शेषः । मत्पदधाविनि मम चरणप्रक्षालनार्थं प्रवर्त्तमाने सति, मम चरणं स्पृष्टवति सतीत्यर्थः । घने बहुले, जने मद्दर्शनार्थं समागते लोके, बहुजनमध्ये इत्यर्थः । अंगुलियुगयोगेन मम पादाङ्गुलीद्वयस्य, योगेन तव कराङ्गुलीद्वयस्य निबिडयोजनया, मम पादाङ्गुलीद्वयेन तव कराङ्गुलेः प्रगाढनिपीडनेनेत्यर्थः । यत् आश्लिक्षम् आश्लिष्टवान् अस्मि । 'श्लिष आलिङ्गने' इति लुङि उत्त-

मेकवचने चले. वस, 'विभाषा साकाङ्क्षे' इति वैकल्पिकत्वात् लृडभावः तत् स्मर चिन्तय ॥ ७६ ॥

अन्वय —आजि जित्वा त्वाम् एतः करे मत्पदधाविनि घने जने अगुली-युगयोगेन यद् आश्लिक्षम्—स्मर ।

हिन्दी—युद्ध जीत कर तुम्हारे (दमयन्ती के) निकट पहुँचने पर तुम ने अपना हाथ जब मेरे चरण की ओर बढ़ाया था, तब (दर्शनार्थ एकत्र) लोगों के मध्य केवल अगुलियों के सस्पर्श-द्वारा जो आलिङ्गन किया था—वह याद करो ।

टिप्पणी—कभी युद्ध में जयी पति लौटा, पत्नी (दमयन्ती) ने जयी पति के स्वागत में चरण-प्रक्षालनार्थ या स्पर्शार्थ अपना हाथ नल के चरणों की ओर बढ़ाया, तभी बीच में नल ने अपने हाथ की अगुलि से दमयन्ती की अगुलि पकड़ ली । भीड़ में विरही दम्पती आलिंगन तो कर नहीं सकते थे (दर्शनार्थ बहुत-से लोग एकत्र थे), यही अगुलियोग दम्पती का आलिंगन हुआ । उसी का स्मरण नल दमयन्ती को करा रहा है । नारायण और मल्लिनाथ के अनुसार दमयन्ती के हाथ की अगुलि नल के चरण की अगुलि से मिली—यही करचरणागुलि-योग उस काल दपती का आलिंगन बना । यह स्थिति भी सभाव्य है । किन्तु यह स्थिति गोपनीय नहीं लगती, पत्नी द्वारा पति का चरणस्पर्श सामान्य है । जान-बूझकर किया गया हो करांगुलि-योग गोपनीय और स्मरणीय हो सकता है ॥ ७६ ॥

वेत्थ मानेऽपि मत्यागद्गुना त्व माञ्च तन्मिथ ।
मद्दृष्टाऽऽलिख्य पश्यन्ती व्यवधा रेखयाऽन्तरा ? ॥ ७७ ॥

जीवातु—वेत्थेति । हे प्रिये ! माने प्रणयकोपेऽपि, मत्यागद्गुना मद्विरहतप्ता, त्वमिति शेष । मिथ रहसि । 'मिथोऽन्योन्य रहस्यपि' इत्यमर. । स्वम् आत्मानम्, मा नलञ्च, आलिख्य चित्रे लिखित्वा, पश्यन्ती अवलोकयन्ती तदालेख्यमिति शेष । मद्दृष्टा मया त्वया आलेख्याङ्कितेन मया नलेन वीक्षिता सती, अन्तरा लिखितयोरावयोर्मध्ये, रेखया तुलिकया नूतनरेखाङ्कनेन, मद्दर्शनप्रतिरोधार्थमिति भाव । यद् व्यवधा व्यवधानं कृतवती असि, व्यवधान

विधाय तत्रापि कोपः प्रकटितः इति भावः। व्यवपूर्वाद्दधातेर्लुङि सिचि 'गातिस्था-' इत्यादिना सिचो लुक्। तत् वेत्थ ! स्मरसि किम् ? इति काकुः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—माने अपि मत्यागदूना स्वं मां च आलिख्य तत् मिथः पश्यन्ती मद्दृष्टा अन्तरा रेखया व्यवधाः—वेत्थ ?

हिन्दी—प्रणय कोप में भी मेरे (नल के) वियोग से संतप्त अपने (दमयन्ती) को और मुझ (नल) को चित्त में अंकित कर उस (चित्र) को एकान्त में देखती हुई मेरे द्वारा (चित्रलिखित अथवा साक्षात् उस समय आ गये नल द्वारा) देखे जाने पर मध्य (चित्रांकित नल-दमयन्ती के मध्य) में रेखा द्वारा जो तू ने व्यवधान बना दिया था—याद है ?

टिप्पणी—एक और गोपनीय क्रिया का स्मरण कराना। प्रणय-मान तो दमयन्ती ने किया, पर उस मान के कारण सजात नल-विरह को न सह पा रही थी; अतः दोनों का चित्र बना कर एकांत में वह देख रही थी कि उसे लगा कि चित्र में दोनों साथ हैं, जब कि ऐसा है नहीं। अतः दोनों की छवि के मध्य दमयन्ती ने एक विच्छेदसूचक रेखा खींच दी। अथवा नल ने दमयन्ती को चित्र देखते देख लिया, अतः उसके मध्य में अंतराय-द्योतक रेखा खींच अपना मान—कोप प्रकट कर दिया। उसी स्थिति का स्मरण यहाँ नल ने कराया ॥ ७७ ॥

प्रस्मृतं तत् त्वया तावद् यन्मोहनविमोहितः।
अतृप्तोऽधरपानेषु रसनामपिवं तव ! ॥ ७८ ॥

जीवातु—प्रस्मृतमिति। हे प्रिये ! मोहने सुरते, विमोहितः विमुग्धचित्तः, अहमिति शेषः। तव ते सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, 'पूरण—' इत्यादिना षष्ठीसमासनिषेधस्यापनात् षष्ठीति केचित्, अधरपानेषु अधरास्वादनेषु, चुम्बनेषु कृतेष्वपि इत्यर्थः। अतृप्तः तावन्मात्रेण अपूर्णाकाङ्क्षः सन्, यत् रसनां जिह्वाम्, अपिवम् आस्वादितवानास्म्। तत्, तावत् साकल्येन, त्वया भवत्या, प्रस्मृतम् ? चिन्तितं किम् ? इति काकुः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—मोहनविमोहितः अधरपानेषु अतृप्तः यत् तव रसनाम् अपिवम्, तत् तावत् त्वया प्रस्मृतम् ?

हिन्दी—सुरत में विमुग्ध (अपनपा भूला) अतएव अधरामृत-पान में तृप्ति न पाता मैं (नल) जो तेरी (दमयन्ती की) रसना (जिह्वा) का पान करने लगा था, यह सब तुझे कुछ याद आता है ?

टिप्पणी—कामशास्त्र के अनुसार कामज्वार में सम्भोगरत प्रणयी चुम्बन पर ही विश्राम नहीं पाते, जिह्वा भी चूसने लगते हैं। इसी जिह्वाग्रलेहन और सम्भोगविमुग्धता का स्मरण। *अत्यन्त गोप्य अनन्यसाक्षिका क्रिया !!*

त्वत्कुचार्द्रनखाङ्कस्य मुद्रामालिङ्गनोत्थिताम्।
स्मरे: स्वहृदि यत् स्मेर: सखीं शिल्पं तवाब्रुवम् ? ॥ ७९ ॥

जीवातु—स्वदिति। हे प्रिये ! स्वस्य आत्मन, मम नलस्य इत्यर्थ.। हृदि वक्षसि, आलिङ्गनेन आश्लेषेण, उत्थिताम् उत्पन्नाम्, सङ्क्रान्ताम् इत्यर्थ.। त्वत्कुचयो तव स्तनयो, आर्द्रनखाङ्कस्य सद्य कृतनखरक्षतस्य, अरक्तं वस्येति भाव:। मुद्रां रक्तवर्णचिह्नम्, स्मेर: सस्मित सन्, सखीं तव वयस्यां प्रति, तव ते, शिल्प कारुकार्यम्, शिल्पनिर्माणनैपुण्यमित्यर्थं। यद् अब्रुवम् अकथयम्, तद् स्मरे: ? चिन्तये: ? ॥ ७९ ॥

अन्वय—स्वहृदि आलिङ्गनोत्थितां त्वत्कुचार्द्रनखाङ्कस्य मुद्रां स्मेर: यद् सखीं तव शिल्पम् अब्रुवम्—स्मरे:।

हिन्दी—अपने (नल के) वक्ष पर आलिङ्गन के कारण अंकित तेरे (दमयन्ती के) कुचों पर गीले अपने नख के चिह्नों की मुद्रा (छाप) को मुस्कुराते हुए मैंने जो सखी को तुम्हारी कारीगरी बताया था—स्मरण करो।

टिप्पणी—विलासरत नल ने दमयन्ती के कुचों पर नखक्षत बना दिये, वे सूख भी न पाये थे, घाव तरल ही थे कि प्रणय ज्वार में मत्त नल ने दमयन्ती को गाढालिङ्गन बद्ध कर लिया। परिणाम स्वरूप आर्द्रनख क्षत-चिह्नों की मुद्रा नल के वक्ष पर भी मुद्रित हो गयी। सखी-समाज में उन्हीं चिह्नों को दिखाते नल ने परिहास किया था कि यह कारीगरी है दमयन्ती की। इस गोपनीय विलासवार्त्ता का स्मरण कर दमयन्ती को विश्वास हो जाना चाहिए कि उसके सम्मुख वस्तुत नल है॥ ७९ ॥

त्वयाऽन्या: क्रीडयन्मध्येमधुगोष्ठि रुपेक्षित: ।
वेत्सि तासां पुरो मूर्ध्ना त्वत्पादे यत् किलास्खलम् ? ॥ ८० ॥

जीवातु—त्वयेति। हे प्रिये! मधुगोष्ठ्या मद्यपानसभायाः मध्ये मध्ये मधुगोष्ठि पानगोष्ठिमध्ये इत्यर्थः। 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावः, 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वत्वम्। अन्याः अपराः स्त्रियः, क्रीडयन् नर्मव्यवहारेण विनोदयन्, अहमिति शेषः। त्वया भवत्या, रुषा रोषेण, ईक्षितः दृष्टः सन्, तासां स्त्रीणाम्, पुरः अग्रे एव, मूर्ध्ना शिरसा, त्वत्पादे तव चरणे, यत् किल अस्खलम् अपतं खलु, मद्यमत्तत्वात् स्खलनच्छलेन तव प्रसादनाय इति भावः। तत् वेत्सि? स्मरसि किम्? इति काकुः॥ ८०॥

अन्वयः—मध्येमधुगोष्ठि अन्याः क्रीडयन् त्वया रुषा ईक्षितः तासां पुरः किल यत् त्वत्पादे मूर्ध्ना अस्खलम्—वेत्सि?

हिन्दी—मधुपान गोष्ठी के बीच अन्य स्त्रियों से हास-परिहास-क्रीडा करता हुआ मैं (नल) तेरे (दमयन्ती के) क्रोध पूर्वक देखे जाने पर उन (अन्य नारियों) के संमुख ही जो तुम्हारे चरणों में मस्तक रख कर नत हुआ था (चरणों में गिरा था), वह याद है?

टिप्पणी—एक बार मद्यपान-गोष्ठी में नल को अन्य स्त्रियों के साथ परिहास करता देख दमयन्ती ने उस की ओर कोप भरी दृष्टि से देख लिया था। नल दमयन्ती को प्रसन्न करने के लिए सब के सम्मुख ही अपने को नशे में बेसुध-सा प्रकट करता दमयन्ती के चरणों मे विनत हो गया था। उसी का स्मरण यहाँ अपनी वास्तविकता सिद्ध करने के लिए नल ने कराया।

वेत्थ मय्यागते प्रोष्य यत्त्वां पश्यति हार्दिनि।
अचुम्बीरालिमालिङ्ग्य तस्यां केलिमुदा किल?॥ ८१॥

जीवातु—वेत्थेति। हे प्रिये! हृदयस्य कर्म हार्दं प्रेम। 'प्रेमा ना प्रियता हार्दम्' इत्यमरः। हार्दिनि प्रियपात्रे, हार्दिनि इति दमयन्त्याः सम्बोधनं वा हार्दिनि! हे अनुरागिणि! प्रोष्य प्रवासं गत्वा, आगते प्रत्यावृत्ते, मयि नले, त्वां भवतीम्, पश्यति वीक्षमाणे सति, आलिं सखीम्, आलिङ्ग्य आश्लिष्य, केलिमुदा क्रीडाहर्षेण, तस्यां सख्याम्, सख्याः गण्डदेशे इति यावत्, यत् किल इति अलीके सख्यालिङ्गनचुम्बनव्याजेनेत्यर्थः। अचुम्बीः चुम्बितवती मामेव त्वमिति शेषः। सख्यालिङ्गनचुम्बनव्याजेन मां प्रति स्वप्रेमभरं यत् सूचितवती असि, तत् वेत्थ? स्मरसि?॥ ८१॥

अन्वय --हार्दिनि, (हार्दिनि) प्रोष्य आगते मयि त्वा पश्यति आलिम् आलिङ्ग्य कलिमुदा त्वया यत् किल अचुम्बी --वेत्सि ?

हिन्दी--हे अनुरागमयी (दमयन्ती), (अनुराग तरल) प्रवास से प्रत्यावर्तित मेरे (नल) द्वारा अपने (दमयन्ती) को देख जाने पर सखी का आलिंगन कर क्रीडा-हर्ष (वशात् प्रकट करने के व्याज) से उस ('सखी) का जो तुम (दमयन्ती) ने चुम्बन किया था, वह याद आ रहा है ?

टिप्पणी--एक बार नल महाराज परदेश से लौटे थे, अतएव दमयन्ती के प्रति उनका अनुराग जैसे छलक पड रहा था और वे प्रेमभरी दृष्टि से विह्वल हो प्रिया को निहार रहे थे। दमयन्ती भी प्रेमोच्छल हो उठी और उसने वहीं खडी सखी का, क्रीडा-विलासमय हर्ष प्रकट करते हुए उसे आलिंगन-बद्ध कर चुम्बन किया और इस प्रकार प्रिय के प्रति स्वानुराग सूचित किया। नल दमयन्ती को उसी कामशास्त्र के अभ्यास-कौशल-वश सखी का आलिंगन चुम्बन कर अपने प्रति प्रेम द्योतन के गोपनीय व्यापार का स्मरण करा कर अपनी वास्तविकता प्रमाणित करने लगा। 'हार्दिनि' का दो भाव देने वाला प्रयोग--(१) अनुरागमयी दमयन्ती के प्रति संबोधन और (२) नल का विशेषण भी--'हार्दी', अर्थात् अनुराग तरल।८१।

जागर्त्ति तत्र संस्कारः स्वमुखान्मद्वदानने।
निक्षिप्यायाचिष यत्त्वां न्यायात्ताम्बूलफालिकाम् ?॥ ८२॥

जीवातु--जागर्त्तीति। हे प्रिये ! स्वमुखात् निजाननात्, मद्वदानने तव वदने, ताम्बूलफालिका नागवल्लीदलवल्लिका, वीटिकाखण्डानीत्यर्थः। चूर्ण पूगफलादिसंयुक्तस्य मर्द्दितस्य पर्णस्य खण्डानीति यावत्। निक्षिप्य न्यस्य, त्वां भवतीम्। 'ता' इति पाठे--ता ताम्बूलफालिका, न्यायात् निक्षिप्तद्रव्य-प्रत्यर्पणधर्मात्, निक्षिप्त द्रव्यं निक्षेप्तुरेव प्रत्यर्पयितव्यमिति नीत्यनुसारादित्यर्थः। यत् अयाचिष प्रार्थितवानास्मि, अहमिति शेषः। तत्र याचने, संस्कारः नियतभावनाजनितस्मृतिविशेष इत्यर्थः। जागर्त्ति? उत्पद्यते? स्मरसि किम्? इत्यर्थः, इति भावः॥ ८२॥

अन्वय --स्वमुखात् मद्वदानने ताम्बूलफालिकाः निक्षिप्य त्वा यत् न्यायात् अयाचिषम्--तत्र संस्कारः जागर्त्ति ?

हिन्दी--अपने (नल के) मुख से तुम्हारे (दमयन्ती के) मुख में पान के टुकड़े रखकर तुम से (उन की) जो न्याय-याचना की थी--उस विषय में तुम्हारा संस्कार (स्मरणभाव) जागता है ?

टिप्पणी--विलासरत दम्पती ने ताम्बूल सेवन किया था, अनुराग-विह्वल नल ने अपने मुख का ताम्बूल-खंड अधरामृत-पान करते समय दमयंती के मुख में पहुँचा दिया और उसी कामविह्वल स्थिति में दमयन्ती से याचना की कि वह अब वही चबाया गया ताम्बूल-खंड अपने मुख से नल के मुख में आने दे। दमयन्ती अपने मुख का चबाया पान नल के मुख में डालने से सकुचा रही थी। तब नल ने न्याय की दुहाई दी कि यह ताम्बूल-खंड तो उसके मुख ने प्रिया के मुख में धरोहर-रूप में रखा था, उतने समय के लिए, जब तक कि वह प्रिया-अधर-रस-पान करता रहे। न्यायानुसार धरोहर-न्यास वापस करना ही चाहिए। नल ने दमयन्ती को स्मरण कराया कि वह क्या उस ताम्बूल-पुनर्याचना-प्रसंग का स्मरण कर सकती है? उस गोपनीय प्रसंग का स्मरण को नल की वास्तविकता का विश्वास करे ॥ ८२ ॥

चित्ते तदस्ति कच्चित्ते नखजं मयि यत् क्रुधा ।
प्राग्भावाधिगमागःस्थे त्वया शम्बाकृतं क्षतम् ॥ ८३ ॥

जीवातु--चित्ते इति । हे प्रिये ! मयि नले, प्राग्भावेन, प्राक् पूर्वमेव, स्वत्त इति शेषः । भावस्य रेतःपतनकालिकहर्षस्य, अधिगमः लाभ एव, आगः अपराधः तस्मिन् तिष्ठतीति आगःस्थः तादृशे, तादृशापराधेन अपराधिनि सति, तव सुखावाप्तिप्रतिबन्धकत्वादिति भावः । त्वया भवत्या, क्रुधा क्रोधेन, यत् नखजं नखरेण कृतम्, क्षतं व्रणम्, शम्बाकृतं द्विगुणाकृतम्, आनुलोम्यप्रातिलोम्याभ्यां द्विवारकृष्टं क्षेत्रं शम्बाकृतमुच्यते । 'द्विगुणाकृते तु सर्वं द्विपूर्वं शम्बाकृतमपीह' इत्यमरः । 'कृञो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात् कृषौ' इति डाच्प्रत्ययः । तत् शम्बाकरणम्, ते तव, चित्ते मनसि, अस्ति विद्यते कच्चित् ? स्मरसि किम् ? ॥ ८३ ॥

अन्वयः--मयि प्राग्भावाधिगमागःस्थे त्वया क्रुधा यत् नखजं क्षतं शम्बाकृतं तत् ते चित्ते अस्ति कच्चित् ?

हिन्दी--मेरे (नल के) पहिले (दमयन्ती से पूर्व) 'भाव' (सुरतांत

सुख) प्राप्त कर लेने पर तुम (दमयन्ती) ने खीज से जो नख-क्षत दो बार कर दिया था, वह तेरे चित्त में कहीं विद्यमान है ?

टिप्पणी—अत्यन्त गोपनीय व्यापार का स्मरण कराकर नल ने अपनी वास्तविकता प्रमाणित की। एक बार रति-विलास में नल दमयन्ती से पूर्व ही स्खलित हो गया था। स्वाभाविक था कि दमयन्ती पूर्णकाम न हो सकी, क्योंकि नर-नारी के 'सहभाव' में ही सुख की प्राप्ति होती है। अत दमयन्ती ने खीजकर जहाँ पहिले से ही नख क्षत था, नल-देह के उसी क्षत भाग पर, दुबारा नख क्षत कर उसे दोगुना गहरा बना दिया। नल ने पूछा कि दमयन्ती को वह अनन्यसाक्षिक व्यापार याद आ रहा है ? ॥ ८३ ॥

स्वदिग्विनिमयेनैव निशि पार्श्वविवर्तिनोः।
स्वप्नेऽप्यस्तवैमुख्ये सख्ये सौख्य स्मरावयोः ॥ ८४ ॥

जीवातु—स्वदि। हे प्रिये। निशि रात्रौ, स्वदिशो. निजनिजशयनस्थानयो, विनिमयनैव परिवर्तनेनैव, मम शयनस्थाने तवागमनेन तव शयनस्थाने मम गमनेन चेत्यर्थः। स्वस्थानपरित्यजन विना सम्मुखीनयोः शयने पार्श्वपरिवर्तने वैमुख्यप्रसङ्गादिति भाव.। पार्श्वयोः वामदक्षिणकुक्ष्यो. विवर्त्तते शय्यालग्नपार्श्वपरिवर्त्तनेन शयाते यौ ताद्दशयोः पार्श्वपरिवर्तनकारिणो., आवयो. तव मम च, स्वप्नेषु स्वापकालपु अपि, अस्तम् उत्करीत्या निरस्तम्, वैमुख्य पराङ्मुख्य यत्र ताद्दशे, सख्ये मेलने, सौख्य सुखम्, स्मर चिन्तय ॥ ८४ ॥

अन्वयः—निशि स्वदिग्विनिमयेन एव पार्श्वविवर्त्तिनोः आवयोः स्वप्नेषु अपि अस्तवैमुख्ये सख्ये सौख्य स्मर।

हिन्दी—रात में अपनी-अपनी दिशाओं के परिवर्तनमात्र से करवट बदलते हम दोनो (दम्पती) की स्वप्नो मे भी पराङ्मुखता निरस्त रहने से जो मिलन-सुख मिला था—उस का स्मरण करो।

टिप्पणी—रात्रि में पर्यंकस्थित दम्पती अपना शयन-स्थान छोड कर सम्मुखीन न होते थे, प्रत्युत करवट-बदल कर ही सम्मुख हो लेटे रहते थे। इस प्रकार एक-दूसरे की ओर मुख किये, आलिंगन-बद्ध दम्पती सो जाते थे।

इस प्रकार संमुख देखते-देखते सो जाने पर निद्रा में भी वे मिलन-सुख के स्वप्न देखते रहते और सुख-लाभ करते। नल ने उसी अनन्यसाक्षिक व्यापार का स्मरण कराया ॥ ८४ ॥

क्षणं प्राप्य सदस्येव नृणां विमनितेक्षणाम् ।
दर्शिताधरमद्दंशा स्मर यन्मामतर्जयः ॥ ८५ ॥

जीवातु—क्षणमिति । हे प्रिये ! सदसि एव सभायामेव सखीभिरनुष्ठित- नृत्यगीतादिसभायामेवेत्यर्थः । नृणां सखीजनानाम् विमनितानि नृत्यगीतादिषु व्यासक्तचित्ततया द्रष्टव्यान्तरदर्शने विमुखीभूतानि इत्यर्थः। विमनांसि कृतानि इति विमनस्शब्दात् 'तत्करोति—'इति ण्यन्तादिष्टवद्भावे टिलोपः, कर्मणि क्तः । ईक्षणानि लोचनानि यस्मिन् तादृशम्, अन्यत्रासक्तजनदृष्टिप्रसरमित्यर्थः । क्षणम् अवसरम्, प्राप्य लब्ध्वा, अन्यथा सखीनां तत्र दृष्टिपातसम्भवात्, दर्शितः दृष्टि- विषयीकारितः, अधरे निजनिम्नोष्ठे, मद्दंशो मत्कृतदशनक्षतं यया सा तादृशी सती, यत् माम् अतर्जयः अङ्गुलीनर्त्तनेन भर्त्सितवती, त्वमिति शेषः । तत् स्मर चिन्तय ॥ ८५ ॥

अन्वयः—सदसि एव नृणां विमनितेक्षणां क्षणं प्राप्य दर्शिताधरमद्दंशा यत् माम् अतर्जयः—स्मर ।

हिन्दी—सभा—नृत्य-गीतादिगोष्ठी—से ही उपस्थित व्यक्तियों के अन्य कार्यावलोकन में दृष्टि लगी रहने का क्षण (अवसर) पाकर (अपने) अधरों पर मेरे (नल के) दंश (अधरक्षत) को दिखाती तुम (दमयन्ती) ने जो अंगुलि-संकेत से मेरी भर्त्सना की थी, उसे याद करो।

टिप्पणी—एक बार एक नृत्य गीतादि-परिगोष्ठी में राजदम्पती बैठे थे । नृत्य-गीतादि की ओर कुछ क्षण के लिए उपस्थित समुदाय की दृष्टि आसक्त हो गयी और राजदम्पती की ओर से लोगों का ध्यान कुछ क्षण को हट गया। उसी क्षण दमयन्ती ने रात में नल-द्वारा किये अधर-दंश की ओर अंगुलि-संकेत करके बताया कि वह देखें कि उसने कितना गहरा दंश कर डाला है कि अब भी उसका चिह्न और पीड़ा शेष है। भविष्य में वह साव- धान रहें। नल ने दमयन्ती को इसी रहस्य-व्यापार का स्मरण करा अपनी वास्तविकता प्रमाणित करने का यत्न किया ॥ ८५ ॥

तथावलोक्य लीलाब्जनालभ्रमणविभ्रमात् ।
करौ योजयताऽध्येहि यन्मयाऽसि प्रसादिता ॥ ८६ ॥

जीवातु—तथेति । हे प्रिये ! मया नलेन, तथापूर्वोक्तरूप त्वत्कृततर्जनम्, अवलोक्य दृष्ट्वा, लीलाब्जस्य क्रीडापद्मस्य, यत् नाल दण्डम्, तस्य भ्रमण घूर्णनमेव, विभ्रम विलास तस्मात्, तद्व्याजादित्यर्थ । करौ पाणी, योजयता मेलयता, अञ्जलि बध्नता सता इत्यर्थ । प्रसादिता प्रसन्नीकृता, असि भवसि, तत् अध्येहि स्मर ॥ ८६ ॥

अन्वय —तथा अवलोक्य लीलाब्जनालभ्रमणविभ्रमात् करौ योजयता यत् मया प्रसादिता असि, अध्येहि ।

हिन्दी—वैसा (अधर-दश के लिए अगुलि-सकेत से दमयन्ती द्वारा तर्जन) देखकर लीलाकमल की डडी घुमाने के व्याज से हाथ जोडते हुए जो मैंने (नल ने तुम्हें) प्रसन्न किया था—उसका स्मरण करो ।

टिप्पणी—अगुलि उठाकर दमयन्ती ने अधर-दश के लिए नल के प्रति क्षोभ प्रकट करते हुए तर्जना की, नल ने उसी प्रकार सकेत मे ही—हाथ का लीलाकमल दड घुमाकर—दमयन्ती के हाथ जोडे और उसे मनाया । नल ने उस रहस्य-व्यापार का दमयन्ती को स्मरण दिलाया ॥ ८६ ॥

ताम्बूलदान सन्यस्तकरज करपङ्कजे ।
न मम स्मरसि ? प्रायस्तव नैव स्मरामि तत् ? ॥ ८७ ॥

जीवातु—ताम्बूले । हे प्रिये ! तव करपङ्कजे त्वत्पाणिपद्मे, प्राय बाहुल्येन, स पस्तकरज विरचितनखाङ्कम्, नखद्वयप्रयोगेन कृतमुद्राघातमित्यर्थ । मम नलस्य, मत्कर्तृकमित्यर्थ । ताम्बूलदान वीटिकार्पणम्, न स्मरसि ? न मनसि करोषि ? तव तेऽपि च तत् तादृश करजक्षतपूर्वक ताम्बूलदानम्, नैव स्मरामि ? न ध्यायामि ? अपि तु स्मराम्येव, उभयत्र काकु , उभयमुभावपि स्मराव एवेत्यर्थ ॥ ८७ ॥

अन्वय —करपङ्कजे सन्यस्तकरज मम ताम्बूलदानं प्राय न स्मरसि ? तव तद् न एव स्मरामि ?

हिन्दी—(दमयन्ती के) करकमल में नख से स्पर्श करके मेरा ताम्बूल-दान क्या प्रायः (तुम्हें-दमयन्ती को) याद नहीं आता ? क्या तुम्हारा भी वह (नख-क्षत कर तांबूल-दान) मैं प्रायः याद नहीं करता ?

टिप्पणी—राजदंपती परस्पर कोमल नखाघात करते तांबूल-दान किया करते थे। नल ने कहा कि वह दमयन्ती का उस प्रकार ताम्बूलदान नल को तो निरन्तर याद आता है, दमयन्ती को भी याद आना चाहिए ॥ ८७ ॥

तदध्येहि मृषोद्यं मां हित्वा यच्च गता सखीः।
तत्रापि मे गतस्याग्रे लीलयैवाच्छिनस्तृणम् ॥ ८८ ॥

जीवातु—तदिति। हे प्रिये ! मृषोद्यं मिथ्याभाषिणम्, किमपि तव अप्रियकार्यं कृत्वा नाहमेतत् कृतवानिति कथयन्तमित्यर्थः। मां नलम्, हित्वा विहाय, सखीः वयस्याः, सखीसमीपमित्यर्थः। गता प्रयाता, त्वमिति शेषः। तत्रापि सखीसमीपेऽपि गतस्य उपस्थितस्य, मे मम अग्रे सम्मुखे, लीलया विनोदेन एव, यत् तृणं शुष्कयवसम्, अच्छिनः खण्डितवती। बाला हि अन्योऽन्यविच्छेदसूचकं तृणच्छेदनं कुर्वन्ति, तृणद्वयं यथा विच्छिन्नं जातं तथा आवामपि चिरं विच्छिन्नौ इति ज्ञापनार्थमिति भावः। तत् तादृशं चेष्टितम्, अध्येहि स्मर। अधिपूर्वस्य इकि स्मरणे इति धातोरदादित्वाल्लोटि ह्यादेशः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—मृषोद्यं मां हित्वा सखीः गता, तत्र अपि गतस्य मे अग्रे लीलया एव यत् तृणम् अच्छिनः, तत् अध्येहि।

हिन्दी—असत्यभाषी मुझे (नल को) छोड़कर सखियों के निकट तुम चली गयीं; वहाँ भी मेरे (नल के) पहुँच जाने पर मेरे संमुख लीला-विलास से ही जो तुमने तिनका तोड़ा था, उस घटना का स्मरण करो।

टिप्पणी—नल ने स्मरण कराया कि एक बार दमयन्ती के किसी कार्य को प्रतिश्रुत होने पर भी वह न कर सका था। इस पर दमयन्ती ने उस पर झूठा होने का आरोप लगाया और वह नल के निकट से उठकर अपनी सखियों के समीप चली गयी। नल वहाँ भी पहुँच गया। दमयन्ती नल से कुछ न बोली और जैसे सामान्यतः, यों ही स्वभाववश लोग तिनका तोड़ा

करते हैं, उसने भी एक तिनका उठाकर तोड़ दिया। इस प्रकार दमयन्ती ने नल पर यह प्रकट किया कि आज से उससे नल का कोई सम्बन्ध नहीं— 'छुट्टी।' जैसे आज तिनका दो-खण्ड हो गया, वैसे ही नल-दमयन्ती का सम्बन्ध भी दो खंड हो गया। दमयन्ती 'अलीकभाषी' से सबन्ध नहीं रखती। यह भी नल की वास्तविकता का एक प्रमाण है॥ ८८॥

स्मरसि प्रेयसि! प्रायस्तद् द्वितीयरतासहा।
शुचिरात्रीत्युपालब्धा त्वं मया पिकनादिनी?॥ ८९॥

जीवातु—स्मरसीति। प्रेयसि! प्रियतमे! द्वितीयस्य वारद्वयकृतस्य, रतस्य सुरतस्य, असहा दुर्बलत्वात् अक्षमा, अन्यत्र—अल्पपरिमिततया, एकवारसम्भोगेनैव अवसितत्वात् अपर्याप्ता, पिकवत् कोकिलवत् मधुरम्, नदति भाषते इति पिकनादिनी, अन्यत्र—पिकनादः कोकिलध्वनि अस्ति अस्या-मिति पिकनादिनी, त्वं भवती, प्रायः बाहुल्येन, मया नलेन, शुचिरात्री ग्रीष्मरात्री, ग्रीष्मकालिकरात्रिस्वरूपा इत्यर्थः। 'कृदिकारादक्तिन.' इति ङीप्। इति एवम् उक्त्वा, यत् उपालब्धा निरस्कृता, तत्कल्पाऽसि इत्याक्षिप्ता इत्यर्थः। *असीति शेष.। तत् स्मरसि? अध्येषि किम्?॥ ८९॥*

अन्वय—प्रेयसि द्वितीयरतासहा पिकनादिनी त्वं प्राय. मया शुचिरात्री—इति उपालब्धा, तत् स्मरसि?

हिन्दी—प्रिये (दमयन्ति), दूसरी बार रति क्रिया को न सह सकने-वाली और कोकिलसम मधुरवाणी तुम (दमयन्ती) को अनेक बार मैंने 'ग्रीष्मकाल की रात्रि' कहकर उलाहना दिया था—उसका स्मरण करती हो?

टिप्पणी—दमयन्ती नवोढा, बाला थी, अत. अल्प-सुरत में ही श्रान्त हो जाती थी। दूसरी बार सुरतक्रिया मे भाग लेना उसे सह्य नही था। नल की द्वितीय बार रतेच्छा प्राय. पूरी नही हो पाती थी। उस स्थिति मे नल उसे 'शुचिरात्रि' अर्थात् 'ग्रीष्मकालीन निशा' कहकर उपालम्भ प्राय. दिया करता था। 'शुचिरात्रि' इसलिए कि ग्रीष्मरात्रि भी बाला अर्थात् छोटी होती है और इसी कारण उस छोटी रात मे शीघ्र ही प्रभात हो जाने के कारण द्वितीय रत सम्भव नही होता। दमयन्ती जैसे मधुर स्वर होने के

कारण 'पिकनादिनी' है, वैसे ही ग्रीष्म-निशा भी 'पिकनादो वर्त्ततेऽस्याम्' अर्थात् जिसमें कोकिलरव हो, वैसी रात होती है, क्योंकि वसन्त से आरम्भ करके ग्रीष्म तक प्रायः कोकिलरव कूजित होता रहता है। यदि यह माना जाय कि ग्रीष्म में कोकिल-कूजन नहीं होता तो 'मया+अपिकनादिनी' छेद करके रात्रिपक्ष में पिकातिरिक्त विहंगरवाकुला अर्थ करके किसी प्रकार संगति बैठा ली जा सकती है। दमयन्ती-पक्ष में इसका भाव लिया जा सकता है कि जिसके स्वर के सदृश पिकनाद भी नहीं हो, ऐसी 'अपिकनादिनी' दमयन्ती। इस गोप्य व्यापार का नल ने दमयन्ती को स्मरण कराया। ग्रीष्म ऋतु के अनन्तर वर्षा आती है, इस प्रकार ग्रीष्म में भी प्राय वर्षा हो जाती है। इस प्रकार 'मया+अपि+कनादिनी' पदच्छेद करके 'क' अर्थात् जल-प्रवाह के कल-कल-सी वाणी बोलने वाली दमयन्ती और जिसमें जल-नाद हो, ऐसी 'शुचिरात्रि' अर्थ भी हो जायेगा। भाव यही है कि जैसे ग्रीष्म निशा छोटी और शीघ्र कालक्षेप हो जाने के कारण 'द्वितीयरतासहा' होती है और 'पिकनादिनी' होती है, वैसी ही दमयन्ती भी बाला, दूसरी बार रतिक्रिया में असमर्थ और मधुस्वरा है॥ ८९॥

> भुञ्जानस्य नवं निम्बं परिवेविषती मधौ।
> सपत्नीष्वपि मे रागं सम्भाव्य स्वरुषः स्मरेः ?॥ ९०॥

जीवातु—भुञ्जानस्येति। हे प्रिये! परिवेविषती परिवेषणं कुर्वती, 'परिपूर्वात् विषधातोः जुहोत्यादिगणीयात् शतरि रूपम्। त्वमिति शेषः। मधौ वसन्तकाले, नवं प्रत्यग्रम्, अभिनवोत्पन्नत्वात् कोमलमित्यर्थः। निम्बम् अरिष्टपत्रम्, व्यञ्जनीभूतमिति भावः। 'वसन्ते भ्रमणं पथ्यमथवा निम्बभोजनम्' इत्यादि स्मरणात्। भुञ्जानस्य खादतः, मे मम, सपत्नीषु समानपतिकासु अपरासु राज्ञीषु अपि, यद्वा—भुञ्जानस्य अभ्यवहरतः, मे मधौ क्षौद्रे सत्यपि। 'मस्तु-मधु-सीधु-शीधु-सानु-कमण्डलूनि नपुंसके च' इति चकारात् पुंसि चेति पुंल्लिङ्गता। नवं निम्बं पिचुमर्दम्, 'पिचुमर्दश्च निम्बः' इत्यमरः। परिवेविषतो ददती, त्वमिति शेषः। सपत्नीषु अपि मे रागम् अनुरागम्, सम्भाव्य कल्पयित्वा, कृता इति शेषः, 'वसन्ते भ्रमणं पथ्यमथवा निम्बभोजनम्। अथवा युवती भार्या अथवा वह्निसेवनम्॥' इति शास्त्रात् मां वसन्ते निम्बभोजनं

कृतवन्तं दृष्ट्वा अन्यास्वपि युवतीनार्यासु अहमनुपगता इति सम्भाव्य, अथवा शर्करामोदकादिकं स्वादु द्रव्यं विहाय नितरां तिक्ते यदा अस्य रुचिः, तदा सुरूपामपि मां विहाय अपकृष्टासु मम सपत्नीषु अस्यासक्तिः नासम्भाव्या, लोकानां विभिन्नरुचिमत्त्वादिति भावः । स्वस्य आत्मनः, रुषं रोषम्, स्मरः ? मनसि कुर्याः किम् ? ॥ ९० ॥

अन्वय.—मधौ नवं निम्बं भुञ्जानस्य मे सपत्नीषु अपि रागं सम्भाव्य (निम्बं) परिवेविषती स्वरुषं स्मरे ?

हिन्दी—मधु ऋतु मे नयी नीम की पत्ती खाते मेरी (नल की) सौतों मे भी अनुरक्ति की संभावना कर नीम परोसिनी अपने (दमयन्ती के) रोष का क्या स्मरण करती हो ?

टिप्पणी—चिकित्साशास्त्र के अनुसार वसन्त ऋतु मे (१) भ्रमण (२) नीम-खाना, (३) तरुणी पत्नी और (४) अग्निसेवन—ये पथ्य गिनाये गये हैं। नल भी वसन्त मे निंब-भोजन करता था। भोजन करते समय दमयन्ती उसे बारम्बार नीम परोसती थी। वह यह प्रकट करती थी कि वह यह समझती है कि नल की अन्य रानियों—दमयन्ती की सौतो में भी रुचि है, सो नीम खाये। मधु-मीठा रहते भी, जो नीम की नयी कोपलें चबाता है, वह भलीभाँति नीम खाये। दमयन्ती-सी 'मधुमती' के रहते 'नव-निंब' सी सपत्नियों मे रुचि। 'रसिया बालम' 'नयी' चाहते हैं, चाहे वह 'कटु' हो, नीम की नयी पत्ती भी। ठीक है, दमयन्ती-से रमणीरत्न का परित्याग कर जो केवल नयेपन के कारण क्षुद्र अन्य नारियों का व्यसनी है, उस मधुरत्यागी और निंब सेवी को निंब ही अपेक्षित है। मीठा खाद्य रहते नल को नीम खाता देख दमयन्ती उसके सपत्नी-अनुरागी होने की सभावना कर रुष्ट हो जाती थी और बारबार नीम परोस देती थी। नल उसी रोष का स्मरण कराता अपनी वास्तविकता का प्रमाण देता है ॥९०॥

> स्मर शार्करमास्वाद्य त्वया राद्धमिति स्तुवन् ।
> स्वनिन्दारोपरक्तात्तु यदभैष तवाधरात् ॥ ९१ ॥

जीवातु—स्मरेति । हे प्रिये ! त्वया भवत्या, राद्धं पक्वम्, निष्पादितमित्यर्थः । शर्करायाः विकारः शार्करं शर्करारचितं पानकादिकं शर्करामिश्रितं

व्यञ्जनविशेषं वा, आस्वाद्य पीत्वा लीढ्वा वा, स्तुवन् एतद् सर्वस्मात् अधिकं स्वादु इति प्रशंसन्, अहमिति शेषः। स्वनिन्दारोपेणैव स्वस्य अधरस्यैव, निन्दया गर्हणेन, अधरस्यापि सर्वान्तर्भूतत्वात् शार्करस्य प्रशंसया अधरस्य निन्दासूचनेनेत्यर्थः। यो रोषः कोपः, अधरस्येति भावः। तेनैव रक्तात् अरुणात्, अरुणीभूतादित्यर्थः। तव अधरात् निम्नौष्ठात्, यद् अभयं भीतोऽभूवम्, अहम् इति शेषः। बिभीतेर्लुङ्, भिपि सिचि वृद्धिः मादेशश्च। इति तु तच्च, स्मर चिन्तय॥ ९१॥

अन्वयः—शार्करम् आस्वाद्य त्वया राद्धम्—इति स्तुवन् स्वनिन्दारोषरक्तात् तव अधरात् तु यत् अभैषं—स्मर।

हिन्दी—चीनी से बने खाद्य (मिष्टान्न) का आस्वादन लेकर 'यह तूने (दमयन्ती ने) राँधा है'—इस प्रकार प्रशंसा करता मैं (नल) अपनी (अधर की) निन्दा के रोष से लाल हुए (दमयन्ती के) अधर से जो मैं डरा था, उसका स्मरण कर।

टिप्पणी—एकबार भोजन में मिष्टान्न खाते नल ने मिष्टान्न की प्रशंसा की कि यह मीठा इसी कारण प्रशंसनीय है कि इसे दमयन्ती ने बनाया है। किन्तु दमयन्ती के लाल अधर को देखकर उसे प्रतीत हुआ कि यह प्रशंसा तो अधर की निन्दा बन गयी है कि अधर-से मधुरस का पान कर नल को यह सामान्य मिष्टान्न प्रशंसनीय लग रहा है। जिसने उत्तम पा लिया है, वह निम्न की प्रशंसा करे तो 'उत्तम' का यह समझना कि वह 'उत्तम' नहीं समझा जा रहा है, स्वाभाविक है, अन्यथा आस्वादक 'निम्न' की प्रशंसा क्यों करता? उत्तम अधर का आस्वादक नल मिष्टान्न की स्तुति कर रहा है, यह अधर के रोष का स्वाभाविक कारण है, जिसके फलस्वरूप वह अधर इतना लाल है। नल उस अधर से डर गया था। दमयन्ती को वह घटना याद होनी चाहिए। यहाँ स्वाभाविक अरुणाधर की अरुणता कोप का चिह्न संभावित की गयी है॥ ९१॥

मुखादास्य नाम्यन्तं चुम्बं चुम्बं न तृप्तवान्।
न प्राप चुम्बितुं यत्ते धन्या तच्चुम्बतु स्मृतिः॥ ९२॥

जीवातु—मुखादिति । हे प्रिये ! मुखात् तव वदनात्, आरम्य उपक्रम्य, नाम्यन्तं नाभिपर्यन्तं कुचादिकम् अङ्गम्, चुम्ब चुम्ब पुनः पुनः चुम्बित्वा चुम्बित्वा। आभीक्ष्ण्ये णमुल् । न तृप्तवान् अपूर्णाकाङ्क्षः सन्, ते तव, यत् रतिगृहरूपमङ्गमित्यर्थः । चुम्बितुं चुम्बनं कर्त्तुम्, न प्राप न अलभिषि, अहमिति शेषः । पाण्यादिना प्रतिरुन्धात् लज्जातिशयात् गोपितत्वात्, अपापिप्रतिषेधादिति वा भावः । तत् रतिगृहरूपं तवाङ्गमित्यर्थः । धन्या मया अप्राप्तस्यापि लाभात् भाग्यवती, स्मृतिः तव स्मरणशक्तिः, चुम्बतु स्पृशतु तव स्मृतिविषयीभवतु इत्यर्थः । अकृतचुम्बनं तदङ्गं स्मरेति भावः । सार्वभौमस्यापि मे यदङ्गचुम्बने योग्यताभावः, धन्या ते स्मृतिस्तदङ्गं विनैव किञ्चिदपि प्रतिबन्धकं चुम्बितुं समर्था इति स्मृतेर्धन्यत्वं बोद्धव्यमित्याशयः ।

अन्वयः—मुखात् आरम्य नाम्यन्तं चुम्बं चुम्बं न तृप्तवान् यत् ते चुम्बितुं न प्राप तत् धन्या स्मृतिः चुम्बतु ।

हिन्दी—(दमयन्ती के) मुख से लेकर नाभि पर्यन्त अंगों को बारबार चूमकर भी तृप्त न हुआ मैं जो तेरा (वरांग) चूमने को न पासका, उस (घटना) का धन्या तेरी स्मृति चुम्बन करे ।

टिप्पणी—मुग्ध नल दमयन्ती के मुख से आरम्भ कर नाभि तक अंगों को बार-बार चूमता था, पर उसे तृप्ति नहीं हो रही थी, वह नाभि से और आगे बढ़कर दमयन्ती का 'वरांग' चूमना चाह रहा था। दमयन्ती उसके इस कार्य को लज्जा और अतिकामातुरता का कारण समझकर हाथ और वस्त्रादि से 'वरांग' ढककर उसे रोक देती थी। नल 'वरांग' का चुम्बन नहीं कर सका, अतः अपने को अधन्य मानता दमयन्ती को उस गोपनीय घटना का स्मरण दिला रहा है कि वह अधन्य रहा, जो 'गुह्यांग' के चुम्बन से वंचित रहा, अब दमयन्ती उस अचुम्बित वरांग का चुम्बन अर्थात् स्मरण कराकर अपनी स्मृति को तो धन्य बनाये। नल सा चक्रवर्ती जिसका चुम्बन न कर सका, उसका चुम्बन करनेवाली स्मृति निश्चय ही धन्य है। आशय यह है कि वरांग-चुम्बन तो न करने दिया, अब उस घटना का स्मरण तो दमयन्ती कर ही ले और अब नल मान धन्य बनाये ॥ ९२ ॥

कमपि स्मरकेलिं तं स्मर यत्र भवन्निति।
मया विहितसम्बुद्धिर्व्रीडिता स्मितवत्यसि ॥ ९३ ॥

जीवातु—कमिति। हे प्रिये! कमपि अवाच्यम्, तम् अतिशयेनानन्दप्रदम्, स्मरकेलिं कामक्रीडाम्, विपरीतसुरतमिति भावः। स्मर स्मृतिविषयीभूतां कुरु. यत्र यस्मिन् स्मरकेलौ, यस्मिन् पुरुषायिते त्वयि इति वा, मया हे भवन्! इति एवम्, विहिता पुरुषवत् आचरणात् पुंल्लिङ्गनिर्देशेन कृता, सम्बुद्धिः आमन्त्रणं यस्याः सा तादृशी, त्वमिति शेषः। व्रीडिता लज्जिता। स्मितवती स्वनैपुण्यप्रदर्शनजनितहर्षात् ईषत् हसितवती च, असि भवसि, पुरुषायितत्वात् व्रीडा हर्षात् स्मितम् इति बोध्यम् ॥ ९३ ॥

अन्वयः—कम् अपि स्मरकेलिं स्मर यत्र 'भवन्' इति मया विहित-सम्बुद्धिः व्रीडिता स्मितवती असि।

हिन्दी—किसी कामक्रीडा का स्मरण करो, जिस (कामकेलि) में 'भवन्' इस पुंलिंग-द्योतक विशेषण से मेरे द्वारा संबोधित (तुम दमयन्ती) लज्जित हो मुस्कुरा देती थी।

टिप्पणी—नल एक और अत्यन्त अनन्यसाक्षिका क्रिया का स्मरण दिला कर अपनी वास्तविकता प्रमाणित करता है। अनेक बार विपरीतरति आयोजित हुई थी, जिसमें पुरुषवत् आचरण करती दमयन्ती को 'भवन्' इस पुंल्लिग विशेषण से नल ने पुकारा था, स्त्रीलिंग संबोधन 'भवति' से नहीं। इस पर दमयन्ती लज्जा से मुसकुरा दिया करती थी। दमयन्ती उसी अतीवानन्ददायक, अनिर्वचनीय कामकेलि का ही स्मरण करे ॥ ९३ ॥

नीलदाचिबुकं यत्र मदाक्तेन श्रमाम्बुना।
स्मर हारमणौ दृष्टं स्वमास्यं तत्क्षणोचितम् ॥ ९४ ॥

जीवातु—नीलदिति। हे प्रिये! यत्र यस्मिन् विपरीतस्मरकेलौ, मदाक्तेन स्वकपोलाङ्कितपत्रभङ्गकस्तूरीचूर्णकलुषितेन। 'मदो रेतसि कस्तूर्याम्' इति विश्वः। श्रमाम्बुना स्वेदोदकेन, आचिबुकम् अधरोष्ठाधःप्रदेशपर्यन्तम्। 'अधस्तात् चिबुकम्' इत्यमरः। नीलत् नीलीभवत्, अत एव सञ्जातश्मश्रुवत् प्रतीयमानमिति भावः। नील वर्णे इति धातोर्लट् शत्रादेशः। तत्क्षणोचितं

तत्कालयोग्यम्, विपरीतकेलौ पुरुषवत् तव उपरि अवस्थानेन कपोल-निर्गलन्मदाक्तघर्मोदकानां द्रवत्वेन निम्नगामित्वाच्च पुरुषयोग्य श्मश्रुलमिवेति भाव । स्व निजम्, आस्य मुखम् हारमणौ हारस्थितरत्नमध्ये, अध स्थितस्य ममेति भावः । दृष्टम् अवलोकितम्, स्मर चिन्तय ॥ ९४ ॥

अन्वय.—यत्र मदाक्तेन श्रमाम्बुना आचिबुक नीलत् तत्क्षणोचित हारमणौ दृष्ट स्वम् आस्य स्मर ।

हिन्दी जिस (विपरीतरति) मे कस्तूरीमद से मिश्रित (सुरतजात) स्वेद से ठोढी तक नीले हो जाते, हार की मणि मे अवलोकित अपने मुख का स्मरण करो ।

टिप्पणी—एक और गोपनीय व्यापार का स्मरण। विपरीत-रति में नारी (दमयन्ती) ऊपर रहती थी, पुरुषवदाचरण करती और नर (नल) नीचे रहता । सुरतश्रम से सजात स्वेद जल से मुख पर, ललाट, कपोलादि पर पत्ररचना से सम्बद्ध लगी मृगमद कस्तूरी मिलकर हनुभाग (ठोढी) तक बह आती । उसकी नीलिमा से दमयन्ती मुख पर काली-काली दाढी-मूँछे सी बन जाती । तत्कालोचित पुरुषवत् दाढी मूँछ-सयुक्त वह मुख नीचे उत्तान लेटे नल की हारमणि में प्रतिबिम्बित होता और दपती के कौतूहल, हास्य और आनन्द का कारण बनता ॥ ९४ ॥

(स्मर तन्नखमत्रोरौ कस्ते धा (दा) दिति तन्मृषा ।
ह्रीदैवतमलुम्प यद् व्रत रतपरोक्षणम् ॥ १ ॥)

जीवातु—स्मरेति । अहमत्रास्मिस्ते तवोरौ को नखमधा(दा)द् दत्तवानिति मृषा असत्यभाषी सन् ह्रीरेव दैवत यस्य तद्, अत एव रतस्य परोक्षण परोक्षकरण ब्रह्मचर्यरूप सुरतप्रतिबन्धक व्रत नियम यदलुम्प निर्वर्तितवान् तत्स्मर । परपुरुषसम्बन्धशङ्कोत्पादनार्थं मृषाभाषणेन रसान्तरमुत्पाद्य लज्जाकृत सुरतप्रतिबन्धकमनुद्योग यन्निवर्तितवास्तत्स्मर । व्रत सदैवत भवतीति ह्रीदैवतमित्युक्तम् ॥ १ ॥

अन्वय.—अत्र ते ऊरौ कः नखम् अधात्-इति मृषा ह्रीदैवतं रतपरोक्षणं व्रतं यत् अलुम्प, तत् स्मर ।

हिन्दी—'यहाँ तेरी (दमयन्ती की) जंघा में किसने नख-क्षत किया'— इस मिथ्याभाषण द्वारा लज्जा ही जिसकी देवता है, ऐसे सुरत को परोक्ष (दूर) रखने वाले व्रत (ब्रह्मचर्य) को जो मैंने लुप्त कर दिया, उसका स्मरण कर।

टिप्पणी—दमयन्ती 'सुरत' में बाधा करने का प्रायः उद्योग करती। नल ने इस पर उसका इस उद्योग से ध्यान बटाने के लिए झूठमूठ कह दिया कि दमयन्ती के जघा-भाग में किसने नख-क्षत बनाया है ? इससे दमयन्ती का ध्यान बट गया और नल ने दमयन्ती की लज्जा और ब्रह्मचर्यव्रत तोड़कर उसे सुरतप्रवृत्त कर दिया, अथवा उसकी आकर्षक जंघा को देख कर वह स्वयं भी संयम न रख सका और अपना भी ब्रह्मचर्य तोड़ बैठा और रत-प्रवृत्त हो गया। लाज-शर्म सब जाती रही। यह परमगोपनीय है, नल की वास्तविकता का दृढ़ प्रमाण। इस श्लोक पर मल्लिनाथ ने टीका नहीं की, अतः नारायणी व्याख्या है ॥ ५४क ॥

> वनकेलौ स्मराश्वत्थदलं भूपतितं प्रति ।
> देहिमह्यमुदस्येति मद्गिरा व्रीडितासि यत् ॥ ९५ ॥

जीवातु—वनेति। किञ्च, हे चारुशीले ! वनकेलौ प्रमदवनविहारकाले भूपतितं वृक्षाद् भूतले च्युतम्, अश्वत्थदलम् अश्वत्थपत्रम्, प्रति उद्दिश्य, उदस्य उद्धृत्य, एतदश्वत्थपत्रमिति शेषः। मह्यं नलाय, देहि अर्पय, इति उक्तरूपया, मद्गिरा ममोक्त्या, यत् व्रीडिता लज्जिता, असि भवसि, रहस्याङ्गस्य अश्वत्थपत्राकृतितुल्यतया तद्याचने रहस्याङ्गयाचनाभिप्रायज्ञानादिति भावः। तत् स्मर चिन्तय। अत्र सामुद्रिकाः—'अश्वत्थदलसङ्काशं गुह्यं गूढमनिश्चितम्। यस्याः सा सुभगा कन्या पूर्वपुण्यैरवाप्यते ॥ इति ॥ ९५ ॥

अन्वयः—वनकेलौ भूपतितम् अश्वत्थदलं प्रति उदस्य मह्यं देहि—इति मद्गिरा यत् व्रीडिता असि, स्मर।

हिन्दी—प्रमदवनविहार में धरती पर गिरे पीपल के पत्र का उद्देश्य करके 'इसे उठाकर मुझे दे दे'—इस मेरे (नल के) वचन से जो तुम (दमयन्ती) लज्जित हो गयी थी, उसका स्मरण करो।

टिप्पणी—इस प्रकार अनन्यसाक्षिक अनेक व्यापारों का वर्णन करने के वाक्छल में पड़कर नल कह बैठा। यहाँ यह अन्तिम गोप्य व्यापार है, जिसका स्मरण करा कर उसने अपनी प्रामाणिकता उपस्थित की। 'वन-विहार में पीपल के चिकने पत्ते की ओर संकेत करते नल ने दमयन्ती से याचना की इसे मुझे दे दें'। इससे दमयन्ती लजा गयी। कारण की यह अश्वत्थ-दल-याचना गुह्यांग याचना का प्रत्यक्ष सा संकेत थी। 'वराग' के अश्वत्थ-दल-सा चौड़ा और गहरा होने से पीपल-पत्र उसका प्रतीक माना जाता है। सामुद्रिक शास्त्रानुसार ऐसी सुभगा कन्या पूर्वपुण्यों से ही प्राप्त होती है जिसका गुह्यांग पीपल-पात-सा गहरा चिकना हो ॥९५॥

इति तस्या रहस्यानि प्रिये शंसति साऽन्तरा।
पाणिभ्यां पिदधे तस्याः श्रवसी ह्रीवशीकृता ॥ ९६ ॥

जीवातु—इतीति। प्रिये नले, तस्याः, भैम्याः, रहस्यानि गुप्तचेष्टितानि; इति इत्थम्, शंसति कथयति सति, सा भैमी, ह्रीवशीकृता लज्जापरवशा सती, अन्तरा कथामध्ये, तस्याः कलायाः, श्रवसी कर्णौ, पाणिभ्यां स्वकराभ्याम्, पिदधे छादयामास। इतोऽधिकं रहस्यं कथयिष्यति चेत् तदनया न श्रोतव्यमिति बुद्ध्येति भावः ॥ ९६ ॥

अन्वयः—इति प्रिये तस्या रहस्यानि शंसति ह्रीवशीकृता सा अन्तरा तस्याः श्रवसी पाणिभ्यां पिदधे।

हिन्दी—इस प्रकार प्रियतम (नल) के उस (दमयन्ती) के गोपनीय व्यवहार का वर्णन करने पर लज्जा के वश में हुई उस (दमयन्ती) ने बीच में ही सखी (कला) के दोनों कान अपने हाथों से ढक दिये।

टिप्पणी—सखी के वाक्छल में पड़कर अनन्यसाक्षिक रहस्य वृत्त का वर्णन जब नल करने लगे, उनको सुनकर दमयन्ती को बड़ी लाज लगी। उसने झट से बीच में ही कला के दोनों कानों पर अपने दोनों हाथ रख दिये और इस प्रकार सखी के कान बन्द कर उसके सुनने में बाधा डाली।

कर्णौ पीडयती तस्या वीक्ष्य नेत्रासितोत्पले।
अप्यसादयतां भैमी—करलीलोत्पले नु तौ ॥ ९७ ॥

जीवातु—कर्णाविति। सख्याः कलायाः, नेत्रे लोचने एव, असितोत्पले नीलसरोजे, कर्णौ कलाया एव श्रवणयुगलम्, पीडयती अभिभवती, आक्रम्य पीडनं कुर्वतीत्यर्थः। आकर्णविश्रान्ते इति भावः। वीक्ष्य दृष्ट्वा, भैम्याः दमयन्त्याः, करावेव पाणियुगलमेव, कोकनदे रक्तोत्पले अपि। कर्तृणी। 'अथ रक्तसरोरुहे रक्तोत्पलं कोकनदम्' इत्यमरः। तौ कर्णौ, आसादयतां स्वयमपि समत्सरे एव अपीडयताम्, न किम् ? इत्युत्प्रेक्षा ॥ ९७ ॥

अन्वयः—सख्याः नेत्रासितोत्पले कर्णौ पीडयती वीक्ष्य भैमीकरकोकनदे अपि तौ असादयताम् नु।

हिन्दी—सखी (कला) के नयनरूप नीलकमलों द्वारा कानों को पीडित किया जाता देख भीमनन्दिनी के रक्तकमल रूप हाथ भी उन्हें (कानों को ढककर) पीडा देने लगे।

टिप्पणी—सखी कला के बड़े-बड़े काले नयन नीलकमल-से थे, वे कानों तक विस्तृत होकर मानो कानों की सीमा-रेखा दबाकर उन्हें व्यथा दे ही रहे थे कि दमयन्ती के लाल-कमल-से हाथों ने भी कानों को ढक कर उन्हें व्यथा दी। कमल-सदृश हाथों ने कमल-सदृश नयनों की सख्यभाव से सहायता की अथवा प्रतिद्वन्द्विता के भाव से वे भी कानों को पीड़ा देने जा पहुँचे। नयन नीलकमल जो काम कर रहे हैं, कररक्तकमल वह काम करने में पीछे क्यों रहें ? 'नु' का अर्थ प्रश्नवाचक भी हो सकता है। अर्थात् क्या करकोकनद भी पीडित करने लगे ? मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा।

तत्प्रविष्टं सखीकर्णौ पत्युरालपितं ह्रिया।
पिदधाविव वैदर्भी स्वरहस्याभिसन्धिना ॥ ९८ ॥

जीवातु—कर्णपीडने उत्प्रेक्षान्तरमाह—तदिति। वैदर्भी भैमी, सखीकर्णौ कलायाः श्रवणयुगलम्, प्रविष्टं ढौकितम्, पत्युः नलस्य, तत् पूर्वोक्तम्, आलपितं निजरहस्यभाषितम्, ह्रिया लज्जया, स्वरहस्यस्य निजगुह्यव्यापारस्य, अभिसन्धिना निगूहनाभिप्रायेणेव, बहिर्निर्गमननिरोधाभिप्रायेणेवेत्यर्थः। पिदधौ आच्छादयामास, स्वरहस्यगोपनाय इव कर्णपिधानमकरोदित्युत्प्रेक्षा। यथा कश्चिद् निजगोपनीयं द्रव्यं लिप्यादिकं वा पेटिकादौ स्थाप्य तस्य बहिःप्रकाशनिरोधार्थं पिधानेन सुदृढं पिदधाति तद्वदिति भावः ॥ ९८ ॥

अन्वय —वैदर्भी सखीकर्णौ प्रविष्टं तत् पत्युः आलपितं ह्रिया स्वरःक्षुरत्वाभिसन्धिना इव पिदधौ।

हिन्दी—विदर्भकुमारी (दमयन्ती) ने सखी (कला) के कानों को प्रविष्ट (सुने गये) उस (७४-९५) पति (नल) के कथन को लज्जा से जैसे अपने रहस्य-वृत्त को कानों से बाहर न आने देने के अभिप्राय से ढक दिया था।

टिप्पणी—मल्लिनाथ के अनुसार एक और उत्प्रेक्षा। दमयन्ती ने कला के कानों को इस अभिप्राय से अपने हाथों से ढका कि अब नल द्वारा प्रकट रहस्य-व्यापार वृत्त कानों में ही सदा-सदा के लिए रह जाय, बाहर न आ सके। कानों के पात्र में रहस्य-रूप जो वस्तु रखी है, ढक दी जाने के कारण निकल न सके। दमयन्ती ने निकलने के द्वार ही बन्द कर दिये।

तमालोक्य प्रियाकेलिं नले सोल्लुण्ठहासिनि।
आरात्तत्त्वमबुद्ध्वाऽपि सख्यः सिस्मियिरेऽपराः ॥ ९९ ॥

जीवातु—तमिति। तं पूर्वोक्तम्, प्रियायाः भैम्याः, केलिं सखीकर्णपिधान-रूपं विनोदम्, आलोक्य वीक्ष्य, नले नैषधे, सोल्लुण्ठं सपरिहासम्, हसति हास्यं कुर्वतीति तादृशे सति, आरात् दूरात्, अपराः कलेतराः, सख्यः वयस्याः, तत्त्वं यथार्थव्यापारम्, अबुद्ध्वाऽपि, अज्ञात्वाऽपि, सिस्मियिरे जहसुः। नलस्य हास्यमात्रदर्शनात् ता अपि हसितवत्य इत्यर्थः। इदमेव च लोके ईदृग्व्यापारो नियतमेव॥ ९९ ॥

अन्वय —तं प्रियाकेलिम् आलोक्य सोल्लुण्ठहासिनि नले आरात् तत्त्वम् अबुद्ध्वा अपि अपराः सख्यः सिस्मियिरे।

हिन्दी—उस प्रिया (दमयन्ती) की केलि (कान ढकने की क्रीडा) को देखकर उच्चस्वर में नल के हँस पड़ने पर दूर से वास्तविकता को न समझती हुई भी अन्य (कलातिरिक्त) सखियाँ भी हँस पड़ीं।

टिप्पणी—कला के अतिरिक्त वहाँ और सखियाँ भी थीं। वे थोड़ी दूर पर थीं, इसलिए यह 'कर्णपिधान' क्यों हुआ, महाराज क्यों हँसे—इस सब की वास्तविकता-सार तो न जान सकीं, किन्तु महारानी द्वारा एक सखी

के कान ढके गये, महाराज हँस पड़े—यह सब देखकर वे भी मंद-मंद मुस्करा उठीं। नल के हँसने पर सखियों को मुस्कुराना ही चाहिए ॥९९॥

दम्पत्योरुपरि प्रीत्या ता धराप्सरसस्तयोः ।
ववृपुः स्मितपुष्पाणि सुरभीणि मुखानिलैः ॥ १०० ॥

जीवातु—दम्पत्योरिति । ताः पूर्वोक्ताः, धराप्सरसः भूलोकसुराङ्गनासदृश्यः सख्यः, दम्पत्योः जायापत्योः, तयोः दमयन्तीनलयोः, उपरि प्रीत्या हर्षेण, तयोर्व्यापारदर्शनजनितानन्देनेत्यर्थः । मुखानिलैः निःश्वासमारुतैः, सुरभीणि सुगन्धीनि, स्मितानि एव ईषद्धसितान्येव, पुष्पाणि सितकुसुमानि, कविनिहास्यस्य धवलतया कीर्त्तनादिति भावः । ववृपुः सिषिचुः । सख्यस्तौ सस्मितमवलोकयामासुरिति निष्कर्षः ॥ १०० ॥

अन्वयः—ताः धराप्सरसः तयोः दम्पत्योः उपरि प्रीत्या मुखानिलैः सुरभीणि स्मितिपुष्पाणि ववृपुः ।

हिन्दी—उन धरणी की अप्सरियों (सुन्दरी सखियों) ने उन पति-पत्नी (नल-दमयन्ती) के ऊपर प्रीतिपूर्वक मुख-वायु से सुगन्धि मुसकान के फूल बरसा दिये ।

टिप्पणी—श्लोक संख्या ९९ ('तमान्त्रैम्य' इत्यादि) के अनुसार जो सखियाँ मुस्कुरायीं, उसपर एक संभावना । वह सखियों की मुस्कुराहट क्या थी, सफेद फूल थे, जो दंपती पर मुख-पवन द्वारा बरसाये गये थे । अप्सरियों-सी मनोहारिणी सुन्दरियाँ, उनके मुख से निकलता सुगन्धित मुखवायु, स्वच्छ स्मितिरूप श्वेत सुमन । नारायण के अनुसार मुखानिलसौरभ-द्वारा सखियों का पद्मिनीभाव सूचित है—'मुखानिलसुरभित्वे तासां पद्मिनीत्वं सूचितम् ।'

तदास्यहसिताज्जातं स्मितमासामभासत ।
आलोकादिव शीतांशोः कुमुदश्रेणिजृम्भणम् ॥ १०१ ॥

जीवातु—तदिति । तस्य नलस्य, आस्ये वदने, यत् हसितं हास्यं तस्मात् तद्धास्यदर्शनादित्यर्थः । जातम् उत्पन्नम्, आसां सखीनाम्, स्मितं मृदुहास्यम्, शीतांशोः चन्द्रस्य, आलोकात् प्रकाशात्, जातमिति शेषः । कुमुदश्रेणीनां कैरवपंक्तीनाम्, जृम्भणं विकास इव, अभासत अशोभत ॥ १०१ ॥

अन्वयः—तदास्यहसितात् जातम् आसां स्मितं शीतांशो आलोकात् कुमुदश्रेणिजृम्भणम् इव बभासत।

हिन्दी—उस (नल) के मुख की हँसी से उत्पन्न उन (सखियों) की मुसकान शीतकर (चन्द्र) के प्रकाश (चाँदनी) से कुमुदों के खिलने-जैसा शोभित हुआ।

टिप्पणी—श्लोक संख्या ९९ में वर्णित नल के हास्य का अनुसरण कर मुसकुराती सखियों के सम्बन्ध में अन्य सम्भावना। नल का हास्य चन्द्र-ज्योत्स्ना, सखियों का स्मित कुमुद विकास। नल चन्द्रमा, सखियाँ कुमुद-श्रेणी ॥१०१॥

प्रत्यभिज्ञाय विज्ञाऽस्य स्वरं हासविकस्वरम्।

सख्यास्तासु स्वपक्षायाः कला जातबलाऽजनि ॥ १०२ ॥

जीवातु—प्रत्यभिज्ञायेति। अथ सखीनां हासानन्तरम्, विज्ञा अभिज्ञा, सुचतुरेत्यर्थः। कला कलाख्या सखी, तासु स्मितकारिणीषु सखीषु मध्ये, स्वपक्षायाः स्वसहायायाः, निजसुहृद्भूतायाः इत्यर्थः। 'पक्षो मासार्द्धके पार्श्वे ग्रहे साध्यविरोधयोः। केशादेः परतो वृन्दे बले सखिसहाययोः॥' इति मेदिनी। सख्याः कस्याश्चित् वयस्यायाः सम्बन्धिनम्, हासेन हास्यशब्देन, विकस्वरं प्रकाशमानम्, स्वरं ध्वनिम्, प्रत्यभिज्ञाय ममैव प्रियसख्याः स्वरोऽयमिति निश्चित्य, जातबला प्राप्तसामर्थ्या, दमयन्तीकरनिरुद्धनिजकर्णमोचने इति भावः। अजनि जाता। जनेः कर्त्तरि लुङ्। 'दीपजन'—इत्यादिना च्लेः चिणि तलुकि रूपम् ॥ १०२ ॥

अन्वयः—अथ विज्ञा कला तासु स्वपक्षायाः सख्याः हासविकस्वरं स्वरं प्रत्यभिज्ञाय जातबला अजनि।

हिन्दी—तत्पश्चात् (सखियों के हँसने पर) सुचतुरा कला उन (सखियों) में अपनी पक्षधर सखी की हँसी से भलीभाँति स्पष्ट स्वर को पहचान कर अपने में बल का अनुभव करने लगी।

टिप्पणी—दमयन्ती कला के कान कुछ इतनी दृढ़ता से तो मूँद न सकी थी कि उसे कुछ सुनायी ही नहीं पड़ता। सखियों का मन्दहास्य कला के कानों में पड़ा और वह समझ गयी कि इन सखियों के मध्य एक उसकी पक्षधर मित्र भी है, जिसका हास्य से स्फुटतर स्वर उसने पहिचान लिया

था। उसे बल मिला कि अब अपनी सखी की सहायता द्वारा वह दमयन्ती की पकड़ से छुटकारा पा लेगी। नारायण ने यह मंतव्य प्रकट किया है कि दमयन्ती द्वारा कान मूँदे जाने से पूर्व ही सखियों की हँसी के स्वर कला ने सुन लिये थे, कान-मूँद जाने पर वह कैसे सुन पाती? परन्तु संदर्भ से संगति न बैठने के कारण कदाचित् उन्होंने दूसरा मन्तव्य प्रकट किया है कि दमयन्ती के कर कोमल होने के कारण भली-भाँति कान न मूँद पाये होंगे, इसलिए हँसी का स्वर सुनकर कला अपनी पक्षधर सखी को पहिचान गयी। नल प्रिया केलि (कला के कान मूँदने की क्रीडा) पर सोल्लुंठ हँसा था (श्लोक० ९९) और उस पर ही सखियाँ मुस्कायी थीं॥ १०२॥

साऽऽहूयोच्चैरथोचे तामेहि स्वर्गेण वञ्चिते!।
पिब वाणीः सुधावेणीर्नृपचन्द्रस्य सुन्दरि!॥ १०३॥

जीवातु—सेति। अथ स्वरप्रत्यभिज्ञानन्तरम्, सा कला, तां सखीम्, उच्चैः तारम्, आहूय आकार्य, हे स्वर्गेण स्वर्गसुखेन, स्वर्गसुखजनकनलवाक्या-श्रवणेनेत्यर्थः। वञ्चिते! प्रतारिते!, सुन्दरि! हे सौन्दर्यशालिनि! एहि आगच्छ, नृपचन्द्रस्य राजेन्दोः सम्बन्धिनीः, वाणीः वाक्यस्वरूपाः, सुधावेणीः अमृतरसप्रवाहान्, पिब स्वद, यथेच्छम् आकर्णय इति यावत्, इति ऊचे कथयामास, स्वर्गे चन्द्रात् निःसृतस्य अमृतस्य तुल्यं राजचन्द्रमुखात् उद्गतं वाक्यसुधाप्रवाहम् अनुभूय स्वर्गसुखमनुभवेत्यर्थः॥ १०३॥

अन्वयः—अथ सा ताम् उच्चैः आहूय ऊचे-स्वर्गेण वञ्चिते सुन्दरि एहि, नृपचन्द्रस्य वाणीः सुधावेणीः पिब।

हिन्दी—तदनन्तर (सखी का स्वर पहिचान कर) वह (कला) उसे (पक्षधर सखी को) ऊँचे स्वर में पुकार कर बोली—अरी ओ, स्वर्ग-(-सुख) से वंचित सुन्दरी, (झट) आ, राजा-रूप चन्द्र की वाणी रूप अमृत-प्रवाहिणी का पान कर।

टिप्पणी—कला ने ऊँचे स्वर में अपनी सखी को पुकारा कि वहाँ खड़ी वह स्वर्ग सुख से वंचित रह रही है। महाराज ने इतनी रुचिकर बातें सुनाई हैं कि वे अमृत-प्रवाहों के समान हैं। स्वर्ग-सुख प्राप्त होता है, उन्हें सुन कर।

उस वचनामृत प्रवाह के वर्षा महाराज चन्द्र तुल्य हैं। सखी को तुरन्त वहाँ पहुँचना चाहिए और स्वर्ग सुख का अनुभव करना चाहिए ॥ १०३ ॥

साऽशृणोत्तस्य वाग्भागमनत्यासत्तिमत्यपि ।
कल्पग्रामाल्पनिर्घोषं बदरीव कृशोदरी ॥ १०४ ॥

जीवातु—सेति। कृशोदरी क्षीणमध्या, सा आहूता सखी, अनत्यासत्तिमती अपि ईषद्दूरस्था अपि, तस्य नलस्य, वाग्भागं तत्तत् पदं कथितं वाक्यांशम् कल्पग्रामस्य बदरिसमीपवर्त्तिनः कल्पाख्यस्य ग्रामस्य, अल्पनिर्घोषं मन्दध्वनिम्, किञ्चिद्दूरस्वादनुच्चकलरवमित्यर्थः। बदरी इव बदरिकाश्रमस्थलोकसमूह इव अशृणोत् आकर्णयत्। सन्निकृष्टेषु ग्रामेषु यथा परस्परमालापाः श्रूयन्ते तद्वदयोरपीत्यर्थः ॥ १०४ ॥

अन्वय कृशोदरी सा अनत्यासत्तिमती अपि तस्य वाग्भागं कल्पग्रामाल्पनिर्घोषं बदरी इव अशृणोत्।

हिन्दी—कृश मध्य भाग वाली उस (कला की सखी) ने अत्यन्त निकट स्थित न होने पर भी उस (नल) के द्वारा कही गयी बातों के कुछ अंश सुन ही लिये थे जैसे बदरिकाश्रम तीर्थ के कुछ निकट स्थित कल्पग्राम में होते लोक-कलकल को न्यून जन संख्या वाली बदरी (तीर्थ) के जन सुन लेते हैं।

टिप्पणी—यद्यपि कला की पक्षान्तर सखी अत्यन्त निकट नहीं थी, किन्तु नल और कला के मध्य होते वार्तालाप के अंश उसके कान में पड़ चुके थे, जिससे वह स्वयम् उन्हें सुनने की उत्सुक थी। कला का पुकार सुनते ही वह तुरन्त वहाँ जा पहुँची। तीर्थ यात्री बताते हैं कि बदरिकाश्रम के निकट कल्पग्राम में मुनिजन बसते हैं। यद्यपि कल्पग्राम अति निकट नहीं है, तथापि वहाँ होता लोक-संवाद अथवा वेदपाठ-ध्वनि बदरी वन के थोड़े से वासियों को सुनायी पड़ जाती है। पर्वतीय प्रदेशों में प्रायः ऐसा होता है। कला की सखी द्वारा वचन श्रवण की तुलना इसी से है। यद्यपि नारायण-मल्लिनाथ आदि व्याख्याकारों ने इस श्लोक में 'सा' का अर्थ कला-सखी ही किया है, परन्तु हिन्दी व्याख्याकार की दृष्टि में यदि 'सा' को कला का संकेतक सर्वनाम मान कर अर्थ किया जाये तो कदाचित् अधिक संगत

प्रतीत हो। अर्थात् कानमूँदे जाने से 'अत्यासत्ति' (अत्यन्त निकटता) समाप्त हो जाने पर भी कला ने नल-वाक्य के शेषांश भी सुन ही लिये, जैसे नाति दूरस्थित कल्पग्राम की ध्वनि बदरिकावासी सुन लेते हैं। 'बदरी' का लाक्षणिक अर्थ 'बदरी के वासी' ॥१०४॥

अथ स्वपृष्ठनिष्ठायाः शृण्वत्या नैषधाभिधाः।
नलमौलिमणौ तस्या भावमाकलयत् कला ॥ १०५ ॥

जीवातु—अथेति। अथ सख्याह्वानानन्तरम्, कला तन्नामसखी, स्वपृष्ठनिष्ठायाः निजपश्चाद्भागस्थितायाः, कर्णपिधानार्थं कलाया एव पश्चाद्देशे अवस्थितायाः सत्याः इत्यर्थः। नैषधस्य नलस्य, अभिधीयन्ते इत्यभिधाः वचनानि। 'आतश्चोपसर्गे' इति अङ्प्रत्ययः। शृण्वत्याः आकर्णयन्त्याः, तस्याः भैम्याः, भावं कोपादिचेष्टाम् नलस्य नैषधस्य, मौलिमणौ मुकुटस्थरत्ने, आकलयत् अपश्यत्। पुरोवर्त्तितया तत्र तस्याः प्रतिफलनादिति भावः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—अथ कला स्वपृष्ठनिष्ठायाः नैषधाभिधाः शृण्वत्याः तस्याः भावं नलमौलिमणौ आकलयत्।

हिन्दी—तत्पश्चात् (सखी को पुकार कर) कला ने अपनी पीठ-पीछे कला के कान मूँदे खड़ी, निषध राज का कहा सुनती उस (दमयन्ती) के मुख-भाव (अनुभाव) को नल के मुकुट-मणि में देखा।

टिप्पणी—कान मूँदे होने से स्पष्ट तो सुन नहीं पड़ रहा था, एक कल-कल सा वाक्यांश जब-तब सुनाई पड़ जाता था, किन्तु कला पूरा भाव समझ रही थी। पीठ-पीछे कान मूँद कर खड़ी दमयन्ती के मुख पर जो नल-वचन सुन कर प्रतिक्रिया होती थी, जो 'अनुभाव' आते थे, वे सब संमुखस्थित महाराज नल के मुकुटमणि में प्रतिविम्बित हो रहे थे, उन प्रतिक्रिया के प्रतिविम्बों से 'विज्ञा' कला वार्तालाप का संपूर्ण आशय समझ गयी। नल के कथन की प्रतिक्रिया-स्वरूप दमयन्ती के मुख पर कभी लाज छा जाती, कभी मुस्कान आ जाती, कभी कुछ रोष उपजता। ये सब भावानुभाव पूरी कथा स्पष्ट कर देते थे ॥ १०५ ॥

प्रतिविम्बेक्षितैः सख्या मुखाकूतैः कृतानुमा।
तद्व्रीडाद्यनुकुर्वाणा शृण्वती चान्वमायि सा ॥ १०६ ॥

जीवातु—प्रतीति। सा कला, प्रतिबिम्बे नलमौलिमणिगतसखीप्रतिच्छायायाम्, ईक्षितैः दृष्टैः, सख्याः भैम्याः, मुखाकूतैः लज्जारोपादिव्यञ्जकवदनभङ्गिभिः लिङ्गैः, कृतानुमा इदमिदमयं वक्तीति विहितानुमाना, दमयन्तीकर्तृकर्णपिधानेन श्रवणासामर्थ्यादिति भावः। अत एव तस्याः, दमयन्त्याः, व्रीडादि लज्जास्मितादिभावम्, अनुकुर्वाणा अनुकरणशीला सती, दमयन्त्यनुकरणेन स्वयमपि तादृशभावं प्रकटयन्ती सतीत्यर्थः। 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु' इति ताच्छील्ये चानश्, अन्यथा 'अनुपराभ्यां कृञः' इति परस्मैपदप्रसङ्गात्। शृण्वती इव साक्षादाकर्णयन्ती इव, कर्णयोः पिहितयोरपि नलवचनं स्पष्टं शृण्वती इवेत्यर्थः। अन्वमायि अनुमिता, नलदमयन्तीभ्यामिति शेषः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—प्रतिबिम्बेक्षितैः सख्याः मुखाकूतैः कृतानुमा सद्व्रीडाद्यनुकुर्वाणा च सा शृण्वती अन्वमायि।

हिन्दी—प्रतिबिम्ब में अवलोकित सखी (पीछे खड़ी दमयन्ती) की मुखचेष्टाओं को देखकर (नल-कथन का) अनुमान करती और उस (दमयंती) के लज्जा-भावादि का अनुकरण करती उसे (कला को) सुन रही-जैसी अनुमित किया गया।

टिप्पणी—जैसा की पूर्व श्लोक संख्या १०१ में कहा गया है कि दमयन्ती के मुख पर नल-वचन सुनकर उभरते भाव अनुभावों के प्रतिबिम्ब नल की मुकुट मणि में पड़ रहे थे। वचन सुनकर लज्जा, हास्य, रोष आदि जो भी दमयन्ती मुखपर झलकता, मुकुट-मणि में पड़ती उसकी प्रतिच्छाया को देख कला भी अपने मुख पर वैसे ही भाव प्रकट करती। इससे ऐसा लगा कि कान मूँदे होने पर भी कला को सब सुन पड़ रहा है ॥ १०६ ॥

कारङ्कारं तथाऽऽकारमूचे साऽशृणवन्तमाम्।
मिथ्या वेत्थ गिरश्चेत्तद्वयर्था स्युर्मम देवताः ॥ १०७ ॥

जीवातु—कारङ्कारमिति। सा कला, तथाऽऽकारं पूर्वोक्तरूपमनुकरणमित्यर्थः, कारं कारं कृत्वा कृत्वा आभीक्ष्ण्ये णमुल्। अशृणवन्तमां भवद्वचनं सर्वमतिशयेनाकर्णयम्, अहमिति शेषः। शृणोतेर्लङि मिपो मादेश,

'किमेतिङव्ययघात् —' इत्यामुरत्ययः। इति ऊचे कथयामास, चेत् यदि, गिरः अम्रुणवन्तमाम् इति वाचः, मिथ्या अनृतम्, वेत्थ जानासि, मन्यसे इत्यर्थः। तत् तदा, मम मे, देवताः उपास्यदेवताः, व्यर्थाः विफलाः; विफलोपासनाः इत्यर्थः। विशिष्टार्था इत्यपि निगूढार्थो गम्यते, विशिष्टार्थसाधिका इत्यर्थः। स्युः भवेयुः ॥ १०७ ॥

अन्वयः—सा आकारं तथा कारं कारम् ऊचे-अम्रुणवन्तमाम्, चेत् गिरः मिथ्या वेत्थ, तत् मम देवताः व्यर्थाः स्युः।

हिन्दी—वह (कला) अपने आकार को वैसा (लज्जा, हास्यादियुक्त) बारंबार करके बोली—मैंने सब सुन लिया। यदि मेरा कहा झूठ समझते हो तो मेरे सब देवता (सम्पूर्ण देवोपासना) निष्फल हों।

टिप्पणी—अपने मुखपर दमयन्ती के मुकुट-मणि में प्रतिबिंबित अनुभावों को देख-देख कर कला भी अपने मुख पर वैसे ही भाव लाती रही और अन्त में उसने सूचित किया कि उसने सब सुन-समझ लिया है। यदि दम्पती को कला कहा मिथ्या प्रतीत होती हो तो वह देव और देवोपासना के निष्फल हो जाने की सौगन्ध लेती है। यद्यपि कला ने पूर्णकथन सुना नहीं, फिर भी उसने झूठी सौगन्ध नहीं ली। उसने कहा—मेरे देवता 'व्यर्थ' हों। 'व्यर्थ' का अर्थ निष्फल तो है ही—'विशिष्टार्थ' अर्थात् 'विशिष्टार्थसाधक' भी है। अर्थात् कला का कहा यदि मिथ्या है तो देवता विशिष्टार्थ साधक हों ॥ १०७ ॥

मत्कर्णभूषणानान्तु राजन् ! निविडपीडनात्।
व्यथिष्यमाणपाणिस्ते निषेद्धुमुचिता प्रिया ॥ १०८ ॥

जीवातु—मदिति। तु किन्तु, राजन् ! हे महाराज ! मत्कर्णभूषणानां मम श्रवणालङ्काराणाम्, निविडपीडनात्-दृढभावेन धारणात्, कर्णपिधानार्थमिति भावः। व्यथिष्यमाणपाणिः तोत्स्यमानकरा, ते तव, प्रिया कान्ता असौ, निषेद्धुं कर्णपिधानात् निवारयितुम्, उचिता कर्तव्या, मया युवयोः रहस्यस्य सर्वस्यापि श्रुतत्वात् कर्णपिधानस्य स्वपाणिपीडनादतिरिक्तफलं नास्तीति भावः ॥ १०८ ॥

अन्वय —राजन्, मत्कर्णभूषणानां निबिडपीडनात् व्यथिष्यमाणपाणि ते प्रिया तु निषेद्धुम् उचिता।

हिन्दी—हे महाराज, मेरे (कला के) कानों के अलंकारों को कस कर दबाने से जिसके हाथ व्यथा पा रहे हैं, ऐसी अपनी प्रिया (दमयन्ती) को तो (कान मूँदने से) रोक दीजिए।

टिप्पणी—और यह प्रकट कर कि उसने सब जान लिया है कला ने महाराज नल से निवेदन किया कि जब कर्णपिधान निरर्थक हो ही गया है तो कृपया वे अपनी प्रिया को इस कष्ट से मुक्ति पाने को कहें, क्योंकि कानों को कसकर दबाने के कारण हाथों में कानों के आभूषण चुभ रहे होंगे और महारानी जी के कोमल कर कष्ट पा रहे होंगे ॥ १०८ ॥

इति सा मोचयाञ्चक्रे कर्णौ सख्याः करग्रहात्।
पत्युराश्रवता यान्त्या मुधाऽऽयासनिषेधिनः ॥ १०९ ॥

जीवातु—इतीति। सा कला, इति इत्थम्, एवंविधवचनकौशलेनेत्यर्थः। मुधाऽऽयासं वृथाक्लेशम् निषेधति निवारयति, कलया सवस्यैव, वृत्तान्तस्य यथावत् श्रवणात् मिथ्या कर्णावरणपरिश्रमं मा कुर्विति वारयतीति तादृशस्य इत्यर्थः। पत्युः नलस्य आश्रवतां वाक्यकारित्वम्, "वचने स्थित आश्रवः" इत्यमरः। यान्त्या प्राप्नुवत्या, भर्तुरादेशात् कर्णौ त्यजन्त्या इत्यर्थः। सख्याः भैम्याः, करग्रहात् हस्ताभ्यां धारणात्, कर्णौ निजश्रवणद्वयम्, मोचयाञ्चक्रे मोचितवती ॥ १०९ ॥

अन्वय —इति सा मुधायासनिषेधिनः पत्युः आश्रवतां यान्त्याः सख्याः करग्रहात् कर्णौ मोचयाञ्चक्रे।

हिन्दी—इस प्रकार (चतुरता दिखाकर) उस (कला) ने व्यर्थ कान-मूँदने के श्रम का निषेध करते पति (नल) के वचनानुसार कार्य करती सखी (दमयन्ती) हाथों की पकड़ से (अपने) कानों को मुक्त करा लिया।

टिप्पणी—कला परमचतुर थी। उसने ऐसा प्रकट करके कि वह सब समझ-जान गयी है और कान-मूँदना निष्फल हो गया है, नल दमयन्ती को अपने कथन का विश्वास भी दिला दिया। फलस्वरूप नलने दमयन्ती को

व्यर्थ कष्ट उठाना छोड़ काम छोड़ देने को कहा और उसने कला के कानों से हाथ हटा लिये ॥ १०९ ॥

श्रुतिसंरोधजध्वानसन्ततिच्छेदतालताम्।
जगाम झटिति त्यागस्वनस्तत्कर्णयोस्ततः ॥ ११० ॥

जीवातु—श्रुतीति। ततः कर्णमोचनानन्तरम्, तस्याः कलायाः, कर्णयोः श्रवणयोः, झटिति सहसा, त्यागेन मोचनेन, यः स्वनः शब्दः, श्रुतिविवरं प्रविष्टः बाह्यशब्द इत्यर्थः। श्रुतिसंरोधेन कर्णावरणेन, जातायाः उत्पन्नायाः, ध्वानसन्ततेः 'घुम् घुम्' इत्यादिरूपध्वनिपरम्परायाः छेदे विरामे, तालता गीतादिक्रियासमापनकालिकमानरूपताम्, जगाम प्राप। बाह्यशब्देन आभ्यन्तरध्वनिर्निवृत्त इत्यर्थः। एतत् सर्वेषामेवानुभवसिद्धमिति बोद्धव्यम् ॥ ११० ॥

अन्वयः—ततः तत्कर्णयोः झटिति त्यागस्वनः श्रुतिसंरोधध्वानसन्ततिच्छेदतालतां जगाम।

हिन्दी—तदनंतर (कर्ण-मोचन के पश्चात्, अथवा 'ततः' अर्थात् विस्तृत) उस (कला) के दोनों कानों को झट से हाथों से छोड़ दिये जाने से उत्पन्न ध्वनि ने कानों को कसकर दबाये जाने से उत्पन्न शब्द की निरन्तरता—'गूँ-गूँ' के विच्छेद (विराम) पर 'ताल' के रूप को प्राप्त किया।

टिप्पणी—आशय यह कि झट से कानों पर से हाथ-उठा लेने पर जो शब्द हुआ, वह मूँदे होने पर होती रहती 'गूँ-गूँ' को समाप्त करने का साधन बन गया। जिसे संगीत-शास्त्र में 'विराम' पर लगायी जाने वाली 'ताल' कहा जाता है, उस-जैसी प्रतीति उस समय कला को हुई। 'संगीतरत्नाकर' (तालाध्याय) के अनुसार गीत, वाद्य और नृत्य ताल में ही प्रतिष्ठित होते हैं। लघु, गुरु, प्लुत से युक्त सशब्द और निःशब्द क्रिया द्वारा गीत, वाद्य, नृत्य की परिमिति करने वाला काल ताल कहाता है। यह निःशब्द और सशब्द दोनों होता है। दोनों प्रकार के ताल चतुर्विध होते हैं। सशब्द के चार प्रकार हैं—शम्या, ताल, ध्रुव और सन्निपात। (नाट्यशास्त्र ३१।३१-३७)। 'छोटिका' ('चट्' शब्द) शब्द पूर्वक हाथ को नीचे ले जाना 'ध्रुव' है। कदाचित् यहाँ इसी प्रकार 'छोटिका'-शब्द पूर्वक

हाथ हटाये गये होंगे। गूं-गूं-'संगीत समाप्त हुआ, यह दमयन्ती के हाथों को हटाने में सजात 'छट्' शब्द उसकी परिमिति करने वाले काल 'ताल'-सदृश कला को प्रतीत हुआ। यही नारायण के अनुसार 'हस्तताल्द्वयवाद्यपरिच्छेद-गीतादिक्रियमानभूतकालता' और मल्लिनाथ के शब्दों में 'गीतादिक्रिया-समापनकालिकमानरूपता' तालता है। यह भी माना जा सकता है कि हाथ हटने से कला के कानों में होता 'गूं-गूं'-गान समाप्त हुआ और हाथ हटाने का शब्द समाप्ति पर प्रशंसा-सूचक 'ताली' बजने की ध्वनि-सा लगा॥

सापऽसृत्य कियद् दूरं मुमुदे सिष्मिये ततः।
इदं ताञ्च सखीमेत्य ययाचे काकुभिः कला॥ १११॥

जीवातु—सेति। ततः मुक्तिप्राप्तेरनन्तरं सा कला तन्नामसखी, कियद् किञ्चित्, दूरं विप्रकृष्टदेशम्, अपसृत्य गत्वा, मुमुदे जहर्ष, निजकौशलस्य साफल्यदर्शनादिति भावः। अत एव सिष्मिये च मन्दं जहास च, किञ्च, ताम् आहूता स्वपक्षीयाम्, सखीं वयस्याम्, एत्य आगत्य, काकुभिः अनुनयसूचक-विकृतस्वरैः, इदं वक्ष्यमाणं, ययाचे च प्रार्थयामास च॥ १११॥

अन्वय—ततः सा कला कियद् दूरम् उपसृत्य मुमुदे सिष्मिये च ताम् सखीम् एत्य काकुभिः इदं ययाचे।

हिन्दी—तदनन्तर (विमोचन के उपरान्त अथवा 'ततः' उस स्थान से) वह कला कुछ दूर जा कर प्रसन्न होकर मुस्कुरायी और उस (पुकारने पर आयी) विशिष्ट सखी से विशिष्ट प्रकार स्वर में यह (आगे कही) प्रार्थना करने लगी।

टिप्पणी—कला बड़ी चतुर थी। उसने बातें बनाकर नल से गोपनीय कहा लिया, दमयन्ती की पकड़ से छूट भी गयी। अब वह अपनी सखी से कहने लगी। यह कथन अगले श्लोक (सं० ११२) में है॥ १११॥

अभिधास्ये रहस्यं तद् यदश्रावि मयाऽनयोः।
वर्णशाकुणिता मह्यमेह्यालि विनिमीयताम्॥ ११२॥

जीवातु—किं ययाचे इत्याह—अभीति। आलि! हे सखि! एहि आगच्छ, अनयोः भैमीनलयोः सम्बन्धि, यद् रहस्यं गोपनीयव्यापार, मया अश्रावि कर्णरोधात् प्राक् श्रुतम्, तद् अभिधास्ये कथयिष्यामि, तुभ्यमिति

शेषः। आकर्णितं त्वया श्रुतञ्च, रहस्यमिति शेषः। मह्यं कलायै, वर्णय कथय, त्वमिति शेषः। विनिर्मीयतां परस्परं श्रुतवृत्तान्तस्य विनिमयः क्रियताम्, आवाभ्यामिति शेषः॥ ११२॥

अन्वयः—आलि, एहि, अनयोः यत् रहस्यं मया अश्रावि, तत् अभिधास्ये; आकर्णितं मह्यं वर्णय, विनिर्मीयताम्।

हिन्दी—हे सखी, आ, इन (दम्पती) का जो रहस्य मैंने (कलाने, कान-मूँदने से पूर्व) सुना, वह (तुझसे) कहूँगी, तूने (बुलाने पर यहाँ आकर) जो सुना है, मुझसे कह। हम दोनों वृत्तान्त का विनिमय (लेन-देन) कर लें।

टिप्पणी—चतुरा कला ने इस प्रकार संपूर्ण रहस्य वृत्तांत जानने का प्रयास किया कि वह सखी को स्वयं का सुना बता दे और बदले में उससे उसका कहा सुन ले। यह विनिमय, यह 'लेना देना' दोनों को लाभप्रद होगा॥

वयस्याऽभ्यर्थनेनास्याः प्राक्कूटश्रुतिनाटने।
विस्मितौ कुरुतः स्मैतौ दम्पती कम्पितं शिरः॥ ११३॥

जीवातु—वयस्येति। वयस्यायाः स्वपक्षभूतायाः सख्याः, अभ्यर्थनेन प्रार्थनेन, 'वर्णयाऽऽकर्णितं मह्यम्' इत्युक्तरूपेण श्रुतवृत्तान्तस्य विनिमयप्रार्थनया इत्यर्थः। अस्याः कलायाः, प्राक् पूर्वम्, कर्णपिधानावस्थायामित्यर्थः, कूटे मिथ्यैव कृते, श्रुतिनाटने मया सर्वं श्रुतमिति भावव्यञ्जने, विस्मितौ आश्चर्यान्वितौ, दम्पती जायापती, एतौ भैमीनलौ, शिरः स्वस्वमस्तकम्, कम्पितं चालितम्, कुरुतः स्म मृदु मृदु शिरश्चालनं चक्रतुरिति विस्मयभावोक्तिः॥ ११३॥

अन्वयः—वयस्याभ्यर्थनेन अस्याः प्राक्कूटश्रुतिनाटने विस्मितौ एतौ दम्पती शिरः कम्पितं कुरुतः स्म।

हिन्दी—(आयी) सखी से ऐसी प्रार्थना करने पर इस (कला) के पहिले (कर्णपिधानावस्था में) मिथ्या सुनना प्रकट करने के अभिनय पर चकित ये जाया और पति (दमयन्ती-नल) सिर हिलाने लगे।

टिप्पणी—जब कला ने घनिष्ठ सखी से श्रुत विनिमय का प्रस्ताव किया

तो नल दमयन्ती जान गये कि कामपूर्ण जाने पर कला ने कुछ भी नहीं सुना। इसने जो मुख पर अनेक भाव लाकर सुनने की प्रतीति करायी थी, वह मिथ्या थी, श्रुति अभिनय मात्र। कला के इस अभिनय पर नल दमयन्ती विस्मय से शिर हिलाने लगे कि हम दोनों को इसने बड़ी चतुराई से धोखा दिया॥ ११३॥

यथाऽऽलिमालपन्तीं तामभ्यधान्निषधाधिप।
आस्स्व तद्वञ्चितौ स्वश्चेन्मिथ्याशपथसाहसात्॥ ११४॥

जीवातु--तयेति। निषधाधिप नल, आलिम् आहूतस्वपक्षसखीम्, तथा तेन प्रकारेण 'वर्णयावर्णित महाम्' इत्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः। आलपन्तीं सम्भाषमाणाम्, तां कलाम्, अभ्यधात् अवोचत्, किम् इति? हे धूर्ते! मिथ्याशपथसाहसात् 'व्यर्था स्युर्मम देवता' इति कृत्वा अनृतशपनमेव साहसम् अविचारितकारित्व तस्मात् हेतो, चेत् यदि, वञ्चितौ प्रतारितौ, स्व भवाव आवामिति शेष। तत् तर्हि आस्स्व तिष्ठ, एतदर्थं त्वां यथोचित दण्डयामि न गमिष्यसीति भाव॥ ११४॥

अन्वय --तया आलिम् आलपन्तीं तां निषधाधिप अभ्यधात्-मिथ्याशपथसाहसात् चेत् वञ्चितौ स्व तत् आस्स्व।

हिन्दी--इस प्रकार अपनी (आहूत पक्षधर) सखी से कहती उस (कला) से निषधराज (नल) ने कहा--झूठी सौगन्ध खाने के अविचारित कृत्य से यदि तुम हम (नल दमयन्ती को) धोखा दिया है, तो ठहर।

टिप्पणी--पूर्व श्लोक (सं० ११३) में बताया गया है कि श्लोक संख्या ११२ में जो कला द्वारा श्रुत वृत्त विनिमय का प्रस्ताव पक्षधरा सखी के सम्मुख रखा गया, उससे राज दम्पती जान गये कि कला वस्तुत रहस्य वृत्त पूर्णत सुन नहीं सकी है, उसने जान सुनने का नाटक किया है और धोखा दिया है। इस पर नल ने कला को झूठ बोल कर धोखा देने के अपराध का दण्ड देने की तर्जनोक्ति की॥ ११४॥

प्रत्यलापीन् कलाऽपीम कलङ्क शङ्कित कुत?
प्रियापरिजनोऽस्य त्वयैवाद्य मृषोद्यता॥ ११५॥

जीवातु—प्रत्यलापीदिति। कला अपि तन्नामसखी अपि, इमं नलम्, प्रत्यलापीत् प्रत्यवोचत्। लपेर्लुङि 'अतो हलादेर्लघोः' इति निषेधविकल्पात् सिचि वृद्धिः। हे राजन् ! त्वया भवता, अद्य एव अस्मिन्नेव दिवसे, न तु इतः पूर्वं कदाऽपीति भावः। प्रियायाः भैम्याः परिजनेन सखीजनेन, उक्तस्य कथितस्य वचनस्य, मृषोद्यता मिथ्यावादित्वम्। 'राजसूयसूर्यमृषोद्य—' इत्यादिना मृषापूर्वाद्वदेः क्यबन्तो निपातः। अनृतवादितारूप इत्यर्थः। कलङ्कः अपवादः, कुतः कथम्, शङ्कितः सम्भावितः ? भवत्प्रियायाः सदा सत्यवादित्वात् तत्परिजनानामस्माकमपि मिथ्यावादित्वं न सम्भवति इति भावः। वृत्तस्यापि रात्रिव्यापारस्य न वृत्तिमिति अपलापवत् अस्माकमपि तत्परिजनानां तथा व्यवहारः न दुष्यतीति तु निगूढतात्पर्यम् ॥ ११५ ॥

अन्वयः—कला अपि इमं प्रति अलापीत्—अद्य एव प्रियापरिजनोक्तस्य मृषोद्यता त्वया कलङ्कः कुतः शङ्कितः ?

हिन्दी—कला ने भी इस (नल) के प्रति उत्तर में कहा—आज ही *प्रिया (दमयन्ती) की सखी के कथन के मिथ्यात्व-रूप कलंक (अपराध)* से युक्त होने की आशंका आपने किस कारण शंका की ?

टिप्पणी—कला ने अपने को नल द्वारा झूठ बोलने की अपराधिनी बनाये जाने का प्रतिवाद करते हुए उनसे निवेदन किया कि आज तक तो महाराज ने अपनी सत्यवादिनी प्रिया दमयन्ती के परिजन को झूठा समझा नहीं, आज अकस्मात् वे ऐसी आशंका क्यों कर रहे हैं ? दमयन्ती झूठ नहीं बोलती तो उसकी सखी क्यों झूठ बोलेगी ? जैसा स्वामी, वैसे सेवक। गूढार्थ यह भी है कि नल अब तक तो झूठ को अपराध नहीं मानते थे, उन्होंने रात्रि में सम्पन्न सुरत-व्यापार को असम्पन्न बताने का झूठ बोलने वाली स्वप्रिया को अपराधिनी नहीं माना; अब, जब स्वामिनी का अनुकरण करती सेविका कला ने थोड़ा-सा चातुर्य दिखा दिया तो उसे मिथ्यात्व-कलंक की अपराधिनी और एतदर्थ दण्डनीय माना जा रहा है। यह तो अनुचित है ॥ ११५ ॥

सत्यं खलु तदाऽश्रौषं परं घुमुघुमारवम्।
शृणोमीत्येव चावोचं न तु त्वद्वाचमित्यपि ॥ ११६ ॥

जीवातु—सत्यमिति। अथवा तदा पूर्वोक्तशपथात् पूर्वं कर्णरोधसमये, परं केवलम्, घुमुघुमारवं 'घुम् घुम्' इत्येवमाभ्यन्तरिक शब्दम्, सत्यं खलु सत्यमेव अश्रौषम् आकर्णितवती, अहमिति शेषः। च किञ्च, श्रृणोमीत्येव 'अश्रृणवन्तमाम्' इत्यनेन श्रवणमात्रमेव, अवोचम् अकथयम, अपि तु परन्तु त्वद्वाचं मवदीयवाक्यम् अश्रृणवन्तमामिति शेष, इति न, अवोचमित्यनेनान्वयः। यस्मात् श्रृणोमीत्युक्तं, तस्मान्नात्र मृषोद्यतादोषः, शब्दश्रवणस्य सत्यत्वादिति भावः ॥ ११६॥

अन्वय —तदा खलु सत्यम् अश्रौषं, परं घुमुघुमारवम् श्रृणोमि—इति एव अवोचं न तु त्वद्वाचम् इति अपि।

हिन्दी—तब (कान मुँदे होने पर) सत्य ही मैंने सुना था, किन्तु केवल 'घुम् घुम्'—शब्द। मैंने 'सुन रही हूँ'—यही कहा है, न कि 'आप (नल) का कथन—' यह भी।

टिप्पणी—कला ने प्रतिवाद को और आगे बढ़ाते हुए निवेदन किया कि उसने थोड़ा भी मिथ्या भाषण नहीं किया, झूठी शपथ नहीं ली। कला ने यही तो कह कर कि शपथ ली थी कि उसने सुना है—'अश्रृणुवन्तमाम्' (श्लोक १०७) यह तो कहा नहीं था कि नल का कथन सुना है। सो जब उसके कान मुँदे थे, तब भी वह 'सुन' रही थी – 'घूँ घूँ' या 'गूँ गूँ' उसके कानों में 'सुन' पड़ तो रहा था। कलाने झूठ कहाँ बोला? 'सुना है' (अश्रृणुवन्तमाम्), का अर्थ केवल 'सुना' होता है, यह नहीं होता कि अतीत अथवा वर्तमान में कुछ विशिष्ट सुना या सुना जा रहा है। सो कला अपराधिनी सिद्ध नहीं होती ॥ ११६ ॥

आमन्त्र्य देव ! तेन त्वां तद्वैयर्थ्यं समर्थये।
शपथः कर्कशोदर्कः सत्यः सत्योऽपि दैवतः ॥ ११७ ॥

जीवातु—आमन्त्र्येति। देव ! हे राजन् ! तेन 'व्यर्था' त्वमम देव ! ता' इत्यादि पूर्वोक्तवाक्येन हेतुना, हे देव ! इति त्वां भवन्तम्, आमन्त्र्य सानुनय सम्बोध्य, ता अश्रृणवन्तमाम् इत्यादि गिरः व्यर्था मिथ्याभूता इत्युक्त्वा, तस्य अश्रृणवन्तमामिति शपथवाक्यस्य, वैयर्थ्यं मिथ्यात्वम्, अथवा

श्रुतानां घुमुघुमेत्यादीनां ध्वनीनां वैयर्थ्यम् अर्थशून्यत्वम्, 'घुम् घुम्' इति शब्दस्य डित्थडवित्थादिवत् अर्थशून्यतया तच्छ्रवणस्यापि निरर्थकत्वादिति भावः। समर्थये सिद्धान्तत्वेन स्थापयामीत्यर्थः। अहमितिशेषः। शपथकरणे मन्वाद्युक्तं दोषं जानत्या मया तु शपथः न कृतः, किन्तु अहं शपथं कृतवतीति देवस्यैव भ्रान्तिर्जाता, तथा हि दैवतः देवताम् उद्दिश्य कृतः, सत्योऽपि यथार्थोऽपि, शपथः शपनम्, सत्यं निश्चतमेव, कर्कशोदर्कः कर्कशः धर्महानिकरत्वेन निदारुणः, उदर्कः उत्तरं फलं यस्य तादृशः, शोचनीयपरिणामः इत्यर्थः। 'उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः। भवतीति शेषः। 'सत्येनापि शपेद् यस्तु देवाग्निगुरुसन्निधौ। तस्य वैवस्वतो राजा धर्मस्यार्द्धं निकृन्तति॥' इति मनुस्मरणादिति भावः॥ ११७॥

अन्वयः—देव, तेन त्वाम् आमन्त्र्य तद्वैयर्थ्यं समर्थये, दैवतः सत्यः अपि शपथः सत्यं कर्कशोदर्कः।

हिन्दी—हे महाराज, उन वचनों द्वारा, जिन्हें आप शपथ समझ रहे हैं, मैंने आप को सादर सम्बोधित कर उनकी निष्फलता का समर्थन किया था, (शपथ नहीं ली थी), क्योंकि देवता की सच्ची सौगन्ध-लेना भी दारुण फल देता है।

टिप्पणी—कला ने कहा कि वस्तुतः उसने कोई शपथ ली ही नहीं थी; महाराज को कुछ भ्रम हो गया है और उसके कथन का भाव ठीक नहीं समझा जा रहा है। कला का कथन तो यह था—'देव, मम गिरः मिथ्या वेत्थ चेत् तद् ताः व्यर्थाः स्युः', (श्लोक १०७), अर्थात् 'महाराज, मेरी (कला की) वाणी को यदि आप मिथ्या समझते हैं, तो वे व्यर्थ (मिथ्या) ही हों।' 'देवताः व्यर्थाः स्युः' नहीं कहा था,—'देव ताः व्यर्थाः स्युः' कहा था। 'देव + ताः' में 'देव' नल का सादर-सम्बोधन था और 'ताः' 'गिरः' का संकेत वाचक विशेषण। कथन को और प्रमाणित मानने के लिए कला ने बताया कि वह शपथ लेती ही नहीं, सच्ची-झूठी का तो प्रश्न ही नहीं है। देवता की शपथ सच्ची भी नहीं लेनी चाहिए, क्योंकि उसका तो फल भी दारुण होता है। देव, अग्नि और गुरु के सांनिध्य में सच्ची शपथ लेने

से आधे पुण्य नष्ट हो जाते हैं—यह स्मृतिवचन कला जानती है। 'सत्येनार्ऽपि शपेद्यस्तु देवाग्निगुरुसन्निधौ। तस्य वैवस्वतो राजा धर्मस्यार्द्धं निकृन्तति ॥' इस प्रकार महाराज का कला को अपराधिनी कहना भ्रान्ति के कारण है, वह पूर्ण निर्दोष है ॥ ११७ ॥

असम्भोगकथारम्भैर्वञ्चयेथे कथं नु माम् ?
हन्त ! सेयमनर्हन्ती यत्तु विप्रलभे युवाम् ॥ ११८ ॥

जीवातु—मिथ्याशपथेन युवयोर्वञ्चनायां न कोऽपि दोष इत्याह—असम्भोगेति। युवां भवन्तौ, असम्भोगकथानां सम्भोगचिह्ने विद्यमानेऽपि त्वया उच्यते भैमी मा न स्पृशत्यपि, अनयाऽपि नलेन नाहं स्पृष्टा इत्युच्यते एवम्भूतानां सम्भोगाभावोक्तीनाम् आरम्भैः उपन्यासैः, प्रवर्त्तनैरित्यर्थः। मां कलाम्, कथं नु किमर्थम्, वञ्चयेथे ? प्रतारयथ ? तु पुनः, युवां भवन्तौ, यद्विप्रलभे वञ्चयामि, अहमिति शेषः। सा इयं वञ्चना, अनर्हन्ती हन्त ! अयुक्ता किम् !' मद्वचनं युवयोः युक्तमेव, मम तु भवद्वञ्चनमयुक्तम् अहो आश्चर्यं धूर्त्तयोरिति भावः। अनर्हन्ती 'अर्ह प्रशंसायाम्' इति शतरि उगित्त्वात् ङीपि, ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्प्रत्यये 'अर्हतो नुम् च' इति नुमागमः, 'ष्यञः पित्करणादीकारो बहुलम्' इति वामनः। 'यस्य हलः' इति यकारलोपे चार्हन्ती, ततः नञ्समासः। यत्तु इत्यत्र 'यन्न' इति पाठे—अनर्हन्ती दासीत्वात् अयोग्याऽपि, सा इयं कलानाम्नी अहं, युवां प्रतारकौ भवन्तौ, यत् न विप्रलभे, तत् किं सम्भावयथ ? इति शेषः। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' इति न्यायाद्वञ्चकेन सह प्रतारणापूर्वव्यवहार एव युज्यते इति भावः ॥११८॥

अन्वयः—युवाम् असम्भोगकथारम्भैः कथं नु मां वञ्चयेथे, हन्त, यत् तु विप्रलभे, सा इयम् अनर्हन्ती।

हिन्दी—आप दोनों (नल दमयन्ती) ने सम्भोग न होने की कहानियों के आरम्भ द्वारा क्यों फिर मुझे धोखा दिया था ? खेद है कि जो मैंने आप लोगों को छला, वह यह (मेरा वचन) अयुक्त (दण्डनीय अपराध) हो गया।

टिप्पणी—कला ने एक और तर्क देकर अपने को अदंड्य प्रमाणित-

किया। नल ने कहा था कि 'नामाकी स्पृशत्याह्वां तु जिह्वया।' (श्लोक ३४)। अर्थात् दमयन्ती नल का नाम तक जीभ से नहीं छूती, आशय यह कि शरीर-स्पर्श तो करती नहीं। अर्थात् संभोग नहीं हुआ। कला का तर्क है कि जब महाराज नल ही कला को छल रहे थे असत्यभाषण करके कि दमयन्ती उन्हें छूने भी नहीं देती, और दमयन्ती भी छल रही थी कि उसे महाराज ने छुआ तक नहीं, जब कि सभोग-चिह्न स्पष्ट हैं। तो संभोग-सुखानुभव करके भी बातें असंभोग की चलाते नल-दमयन्ती—दोनों कला को छल रहे थे। 'जैसे को तैसा'—मिथ्या-छल करते नल-दमयन्ती को यदि कला ने छला भी तो अपराध कैसा ? यदि छला भी तो ठीक किया। यह अपराध नहीं ॥ ११८ ॥

कर्णे कर्णे ततः सख्यौ श्रुतमाचख्यतुर्मिथः ।
मुहुर्विस्मयमाने च स्मयमाने च ते बहु ॥ ११९ ॥

जीवातु—कर्णे कर्णे इति। ततः अनन्तरम्, ते सख्यौ कला तत्सपक्षा च, मुहुः पुनः पुनः, विस्मयमाने आश्चर्यभावं प्रकाशयन्त्यौ, तथा स्मयमाने मन्दं हसन्त्यौ च सत्यौ, श्रुतम् आकर्णितं पूर्वोक्तरहस्यजातम्, मिथः अन्योऽन्यम्, कर्णे कर्णे कर्णसमीपे मुखं संस्थाप्य निःशब्दं यथा तथेत्यर्थः। बहु दीर्घकालं व्याप्येत्यर्थः। आचख्यतुः कथयामासतुः ॥ ११९ ॥

अन्वयः—ततः मुहुः च विस्मयमाने बहु च स्मयमाने ते सख्यौ मिथः कर्णे कर्णे श्रुतम् आचख्यतुः।

हिन्दी—तत्पश्चात् (अथवा स्पष्टीकरण देने के अनन्तर) बारंबार आश्चर्य प्रकटती और अत्यधिक मुस्कुरातीं वे दोनों सखियाँ (कला और उसकी पक्षधरा) परस्पर कानों में सुना (नल कथन) कहने लगीं।

टिप्पणी—उपर्युक्त प्रकार (श्लोक संख्या ११५-११८) से कला ने स्पष्टीकरण दे अपने को निरपराध प्रमाणित किया और जैसा कि कला का प्रस्ताव था (श्लोक ११२), वे दोनों—कला और उसकी सखी—एक-दूसरी के कानों में अपना-अपना सुना तत्नोक्त बताने लगीं। उनके मुखों पर बार बार दमयन्ती की सुरत-प्रगल्भता का स्मरण कर विस्मय और स्मय

(स्मित) के भावानुभाव झलक रहे थे। 'बहु' को 'आचख्यतु.' क्रिया का विशेषण मान कर 'बहुत समय तक कहती रही' भी अर्थ लिया गया है।

अथख्यायि कलासख्या कुप्य मे दमयन्ती ! मा।
कर्णाद्द्वितीयतोऽप्यस्याः सङ्गोप्यैव यदब्रुवम् ॥ १२० ॥

जीवातु—अथेति। अथ अन्योऽन्यकथनानन्तरम्, कलासख्या कलायाः वयस्यया, आख्यायि उक्तम्। किमिति ? हे दमयन्ति ! मे मह्यम्—मा कुप्य न क्रुद्धा भव, त्वमिति शेष। 'क्रुधद्रुह–'इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। यद् यस्मात्, द्वितीयतः द्वितीयात्, कर्णात् श्रवणात् अपि, सङ्गोप्य गोपायित्वा, अस्याः एव कलाया एव, अब्रुव रहस्यम् अकथम् ॥ १२० ॥

अन्वय—अथ कलासख्या आख्यायि—दमयन्ति, मे मा कुप्य, यत् अस्याः द्वितीयतः कर्णात् अपि सङ्गोप्य एव अब्रुवम्।

हिन्दी—तदनन्तर (कान मे वार्तालाप करने के पश्चात्) कला की सखी बोली—हे सखि दमयन्ती, मुझ पर कोप न करो, क्योंकि इस (कला) के दूसरे कान से भी छीपा कर ही मैंने बताया है।

टिप्पणी—एक प्रकार से उपहास करती कला की आत्मीया ने दमयन्ती से निवेदन किया कि दमयन्ती उसपर क्रुद्ध न हो, क्योंकि उसने कथन में पूर्ण गोपनीयता रखी है। एक कान में इस प्रकार कहा है कि अन्य किसी के सुनने की तो बात क्या, कला का दूसरा कान भी नहीं सुन सका है। दमयन्ती का रहस्य आत्मीयो में ही रहेगा। मल्लिनाथ के अनुसार 'अस्याः' कला के कथन का द्योतक है, अर्थात् उसकी सखी ने जो कुछ उसके कान में कहा, वह अपना सुना नहीं, कला का सुना ही कहा है। अर्थात् दूसरी सखी ने कला को कुछ नहीं बताया। वह पूर्ण निर्दोष है ॥ १२० ॥

प्रियः प्रियामथाचष्ट दृष्टं कपटपाटवम् ?।
वयस्ययोरिदं तस्मान्मा सखीष्वेव विश्वसीः ॥ १२१ ॥

जीवातु—प्रिय इति। अथ कलासखीवाक्यानन्तरम्, प्रियः कान्तो नलः प्रियां कान्तां भैमीम्, आचष्ट अब्रवीत्, किमिति ? हे प्रिये! वयस्ययोः सख्योः, इदं त्वत्समक्षमेव आचरितम्, कपटपाटवं वञ्चनाचातुर्यम्, दृष्टम् ? अवलो-

किलम् ? इति काकुः । तस्मात् एव—व्यवहारदर्शनात्, सखीषु वयस्यासु, मैव मैव, विश्वसीः विश्वासं कुरु, मय्येव विश्वासः कर्त्तव्य इति भावः । श्वसे- र्माङि लुङि 'न माङ्योगे' इति अडागमनिषेधः । 'अतो हलादेर्लघोः' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'ह्म्यन्तक्षणश्वस–' इत्यादिना निषेधः ॥ १२१ ॥

अन्वयः—अथ प्रियः प्रियाम् आचष्ट—वयस्ययोः इदं कपटपाटवं दृष्ट तस्मात् सखीषु मा एव विश्वसीः ।

हिन्दी—तदनन्तर (सखी-वचन के पश्चात्) प्रिय (नल) ने प्रिया (दमयन्ती) से कहा—(अपनी) सखियों की यह छल-चातुरी देखी, इस- लिए सखियों पर कभी विश्वास न करना ।

टिप्पणी—कला और उसकी चतुरा सखी का व्यवहार देख कर नल ने दमयन्ती को संमति दी कि वे बड़ी धूर्त्त हैं। इन पर वह विश्वास न करे और न कोई रहस्य बतलाये। विश्वासयोग्य यदि कोई है तो वह नल ही है ।। १२१ ।।

आलापि कलयाऽपीयं पतिर्नालपति क्वचित् ।
वयस्येऽसौ रहस्यं तत् सभ्ये विस्रम्भमीदृशि ॥ १२२ ॥

जीवातु—आलापीति । कलयाऽपि इयं भैमी, आलापि अवादि, किमा- लापि ? इत्याह—हे दमयन्ति ! असौ अयम्, पतिः तव भर्त्ता नलः, क्वचित् कुत्रापि, न आलपति न कथयति, गोप्यरात्रिवृत्तमिति शेषः । अत एव ईदृशि एवम्भूते, सभ्ये सज्जने, वयस्ये सख्यौ, तत् पूर्वोक्तम्, रहस्यं गोप्यवृत्तान्तः, विस्रम्भं विश्वसनीयम् विश्वस्य वक्तव्यमेवेत्यर्थः । अत्र विपरीतलक्षणया– असौ ते पतिः सर्वत्रैव तव रहस्यमालपति, अत एव ईदृशि असभ्ये वयस्ये न विस्रम्भमेव इति । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति भावे कृत्यप्रत्ययः, तस्या- कित्वान्नकारलोपः ॥ १२२ ॥

अन्वयः—कलया अपि इयम् आलापि—असौ पतिः क्वचित् अपि न आलपति, तत् ईदृशे सभ्ये वयस्ये रहस्यं विस्रम्भ्यम् ।

हिन्दी—कला ने भी इस (दमयन्ती) से कहा—ये 'पति महोदय' कहीं- नहीं कहते, सो ऐसे सभ्य सखा पर रहस्य का विश्वास रखना उचित है ।

टिप्पणी—कला ने भी नल का वैसा ही प्रतिवाद किया। नल ने सखियों के विश्वास न करने योग्य कहा कि हाँ, सखियाँ तो अविश्वसनीय हैं, विश्वसनीय तो दमयन्ती के पति महाराज (नल) हैं, उन तक ही दमयन्ती सब रहस्य-वृत्त रखे रहे, ये बेचारे किसी को नहीं बताते। विपरीत लक्षणा से व्यंग्य है कि नल भी अविश्वसनीय है, वह सब कही, सब कुछ कह देता है, जैसा कि सभी सखियों के बीच कह दिया (श्लोक सं० ७४-९५)। रहस्य के लिए नल विश्वसनीय नहीं। उससे तो सखियाँ ही अच्छी। वे अपने ही अपने मे तो चर्चा करती हैं, कहीं बाहर तो कहती नहीं फिरतीं॥

इति व्युत्पिठमानाया तस्यामूचे नलः प्रियाम्।
भण भैमि! वहि: कुर्वे दुर्विनीते गृहादमू ?॥ १२३॥

जीवातु—इतीति। तस्या कलायाम्, इति इत्थम्, व्युत्तिष्ठमानाया विरोधम् आचरन्त्याम्, सुहृद्भावेनैव विपक्षवत् व्यवहर्त्तुं प्रवर्त्तमानाया-मित्यर्थः। 'वदोऽनुर्ध्वकर्मणि' इत्यात्मनेपदम्। नल नैषध, प्रियां भैमीम्, ऊचे कथयामास। किमिति ? भैमि! हे दमयन्ति! दुर्विनीते उद्धते, अमू एते सख्यौ, गृहात् प्रकोष्ठमध्यादित्यर्थः। वहि: कुर्वे ? निर्वासयामि ? इति काकु:, भण ब्रूहि, आदिश इत्यर्थः॥ १२३॥

अन्वयः—तस्याम् इति व्युत्तिष्ठमानाया नल प्रियाम् ऊचे भैमि भण, गृहात् अमू दुर्विनीते वहि: कुर्वे।

हिन्दी—उस (कला) के इस प्रकार विरोध करते रहने पर नल ने प्रिया (दमयन्ती) से कहा—हे भैमि (दमयन्ती), कहो तो घर से इन दोनों दुष्टाओं को अभी बाहर कर दूँ ?

टिप्पणी—तर्क में पराजित नल ने जैसे रोष प्रकट करते हुए दमयन्ती की अनुमति चाही कि इन धूर्त्त, दुष्ट दोनो सखियों को यदि दमयन्ती अनुमति दे तो अभी तुरन्त कक्ष से बाहर कर दे। नारायण के अनुसार इससे नल की सम्भोगेच्छा व्यक्त होती है कि सखियाँ निकल जायें और एकांत में उसकी इच्छापूर्ति हो॥ १२३॥

गिरःकम्पानुमत्याऽथ सुदत्या प्रीणितः प्रियः ।
चुलुकं तुच्छमुत्सर्प्य तस्याः सलिलमक्षिपत् ॥ १२४ ॥

जीवातु—गिर इति । अथ नलवाक्यानन्तरम्, सुदत्या शोभनदन्तया, भैम्या इति शेषः । गिरःकम्पेनैव मस्तकस्य ईषच्चालनरूपेणैव, अनुमत्या अनुमोदनेन, सख्याः वहिष्करणविषये सम्मतिज्ञापनेनेत्यर्थः । प्रीणितः तोषितः, प्रियः नलः, तुच्छं रिक्तमेव, जलशून्यमेवेत्यर्थः, चुलुकं प्रसृतम्, निकुब्जपाणिद्वयमित्यर्थः । अञ्जलिमिति यावत्, उत्सर्प्य उत्क्षिप्य, तस्याः कलायाः उपरीत्यर्थः । सलिलं जलम्, अक्षिपत् अकिरत् ॥ १२४ ॥

अन्वयः—अथ सुदत्या गिरःकम्पानुमत्या प्रीणितः प्रियः तुच्छं चुलुकम् उत्सर्प्य तस्याः सलिलम् अक्षिपत् ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (अनुमति माँगने पर) सुन्दर दाँतों वाली (दमयन्ती) द्वारा सिर हिला कर (सखियों को बाहर करने की) अनुमति देने से प्रसन्न प्रिय (नल) ने रिक्त चुल्लू उठाकर उस (कला और उसकी सखी) पर जल फेंक दिया।

टिप्पणी—दमयन्ती ने सिर हिलाकर सखियों को बाहर करने की अनुमति दी, जिससे नल को प्रसन्नता हुई कि अब प्रणयकेलि का अवसर मिलेगा। उसने जल-रहित चुल्लू में वरुण-प्रभाव से जल उत्पन्न कर कला और उसकी सखी पर उछाल दिया ॥ १२४ ॥

तच्चित्रदत्तचित्ताभ्यामुच्चैः सिचयसेचनम् ।
ताभ्यामलम्भि दूरेऽपि नलेच्छापूरिभिर्जलैः ॥ १२५ ॥

जीवातु—तदिति । तस्मिन् पूर्वोक्तरूपे, रिक्तहस्तादपि जलनिःसरणरूपे, चित्रे आश्चर्ये, दत्तचित्ताभ्यां निवेशितमनोभ्याम्, अत एव अपसर्तुं विस्मृताभ्यामिति भावः । ताभ्यां सखीभ्याम्, दूरेऽपि विप्रकृष्टदेशे स्थिताभ्यामपि, नलस्य इच्छां पूरयन्तीति तादृशैः नलेच्छापूरिभिः वरुणवरात् नैषधस्य अभिलषितं साधयद्भिः, जलैः सलिलैः, उच्चैः अतिमात्रम्, सिचयसेचनं वस्त्रार्द्रभवनम् । 'पटोऽस्त्री सिचयो वस्त्रम्' इति यादवः । अलम्भि प्रापि । 'विभाषा चिण्णमुलो.' इति नुमागमः ॥ १२५ ॥

अन्वयः—तच्चित्रदत्तचित्ताभ्यां ताभ्यां दूरे अपि नलेच्छापूरिभिः जलैः उच्चैः सिचयसेचनम् अलम्भि।

हिन्दी—उस आश्चर्य (रिक्त चुल्लू से जल फेंका जाना) की ओर जिनका चित्त आकृष्ट हो गया था, ऐसी उन दोनों (कला और उसकी सखी) के दूर होने पर भी नल की इच्छा पूर्ण करने वाली जल-धार द्वारा वस्त्र पर्याप्त भीग गये।

टिप्पणी—जैसा कि पहिले (यत्राभिलाषस्तव तत्र दत्तो नन्वस्तु धन्वन्यपि तूर्णमर्णः–१४।८०) कहा जा चुका है, नल को वरुण से वर प्राप्त हुआ और उसके कारण वह जहाँ चाहे जल प्राप्त कर सकता था। नल के इच्छा करते ही चुल्लू में इतना जल आ गया कि उससे दोनों सखियों के वस्त्र पर्याप्त गीले हो गये। वे अचरज में पड़कर देखती ही रह गयीं कि जलधार उनके ऊपर पड़कर उन्हें भिगो गयी॥ १२५॥

वरेण वरुणस्याय सुलभैरम्भसा भरैः।
एतयोः स्तिमितौ चक्रे हृदयं विस्मयैरपि॥ १२६॥

जीवातु—ननु नलस्य रिक्तहस्तात् कुतो जलसम्भव. इत्याह—वरेणेति। अथ नल, वरुणस्य जलेशस्य, वरेण वरदानेन, अभीष्टपूरकवाक्यप्रयोगेणेत्यर्थ। सुलभैः अनायासप्राप्यैः, अम्भसा जलानाम्, भरैः ओघैः, तथा विस्मयैरपि रिक्तहस्तात् जलानि निःसृतानीति आश्चर्यरसैश्च, एतयोः सख्योः, हृदयं वक्षःस्थलम् अन्तरञ्च। 'हृदयं वक्षसि स्वान्ते' इति विश्व.। स्तिमितौ चक्रे आर्द्रीचकार निश्चलीचक्रे च अभूततद्भावे च्वि.। अत्र स्तिमितहृदयमिति विशेषणविशेष्ययोः द्वयोरपि प्रकृतत्वात् श्लेष.॥ १२६॥

अन्वय.—अथ वरुणस्य वरेण सुलभैः अम्भसा भरैः विस्मयैः अपि एतयोः हृदयं स्तिमितीचक्रे।

हिन्दी—इस (नल) ने वरुण के वर से सहजप्राप्य जलपूरों से और आश्चर्यों से भी इन दोनों (सखियों) के वक्षःस्थल और अन्तःकरण (क्रमशः) भिगो दिये और स्तब्ध कर दिये।

टिप्पणी—आशय यह कि वरुण-वर से उपलब्ध चुल्लू के जलपूर द्वारा

नल ने कला और उसकी सखी के अनार्द्र वक्षःस्थल को गीले करने के साथ उनके अन्तःकरण भी विस्मय से स्तब्ध कर दिये। उनका वक्ष ही नहीं भीगा, अपितु रिक्त चुल्लू से गिर आयी जल-धारा को देखकर उनका अन्तस् भी विस्मय से जड़ हो गया ॥ १२६ ॥

(युग्मम्)

तेनापि नापसर्पन्त्यौ दमयन्तीमयं ततः।
हर्षेणादर्शयत् पश्य नन्विमे तन्वि ! मे पुरः ॥ १२७ ॥
विलन्नीकृत्याम्भसा वस्त्रं जैनप्रव्रजितीकृते।
सख्यौ सक्षौमभावेऽपि निर्विघ्नस्तनदर्शने ॥ १२८ ॥

जीवातु—तेनेति। ततः जलसेचनानन्तरम्, अयं नलः, ननु भोः ! तन्वि ! कृशाङ्गि ? प्रिये ! अम्भसा जलेन, वस्त्रं वसनम्, क्लिन्नीकृत्य आर्द्रीकृत्य। अभूततद्भावे च्विः। सक्षौमभावेऽपि क्षौमवस्त्राच्छादने सत्यपि, निर्विघ्नम् अप्रतिबाधनम्, स्तनदर्शनं कुचावलोकनं ययोः ते तादृश्यौ, शुभ्र-सूक्ष्मार्द्रवस्त्रेण आच्छादितेऽपि अङ्गे सर्वाङ्गस्य दर्शनविषयीभूतत्वादिति भावः। अत एव जैनप्रव्रजितीकृते बौद्धपरिव्राजिकाप्राये कृते तासामपि दिगम्बरप्रायत्वादिति भावः। तेन तथाविधकरणेनापि, न अपसर्पन्त्यौ न अपगच्छन्त्यौ, इमे एते, सख्यौ वयस्ये, मे मम, पुरः अग्रतः, स्थिते इति शेषः। पश्य अवलोकय, इति हर्षेण स्तनादिदर्शनजनितानन्देन, दमयन्तीं भैमीम्, दमयन्त्यै इत्यर्थः। अदर्शयत् अङ्गुलिनिर्देशेन दर्शयामास। अत्र 'अभिवादिदृशोरात्मने पदे उपसङ्ख्यानम्' इति पाक्षिककर्मत्वस्य परस्मैपदे अप्राप्ते 'दर्शेश्च' इत्यनेन दमयन्तीमित्यणिकर्तुः नित्यकर्मत्वम्। ईदृशघटनया लज्जितयोः तयोः गृहात् बहिर्गमनसम्भावनया दमयन्त्युपभोगलिप्सा व्यज्यते ॥ १२७–१२८ ॥

अन्वयः—ततः अयं तेन अपि न अपसर्पन्त्यौ अम्भसा वस्त्रं क्लिन्नीकृत्य जैनप्रव्रजितीकृते सक्षौमभावे अपि निर्विघ्नस्तनदर्शने सख्यौ दमयन्तीं हर्षेण अदर्शयत्—ननु तन्वि, मे पुरः इमे पश्य।

हिन्दी—तदनन्तर (सखियों को जल से भिगोकर) यह (नल) उस (जलसिक्तता) से भी (कक्ष से) बाहर न जातीं, जल द्वारा वस्त्र को

भिगो कर दिगम्बर जैन सन्यासिनी भाव (नग्नता) को प्राप्त करा दी गयी, वस्त्र पहिने होने पर भी अप्रतिबाध रूप से (अपने) स्तनों का दर्शन कराती दोना सखिया (कला और उसकी सखी) को दमयन्ती को हर्षोल्लास पूर्वक दिखाता हुआ बोला—हे सुकुमारि (दमयन्ति), तनिक मेरे समुख (वर्णित दशा में खडी) इन दोना (सखिया) को तो देखो।

टिप्पणी—रिक्त चुल्लू से जल धार फेंककर नल ने कला और उसकी सखी को पूर्णत भिगो दिया, उनके महीन वस्त्र गीले हो गये। भीग कर पारदर्शी बन गये वस्त्रो से दोना सखियो के कुच-आदि अग दीखने लगे, व पूर्णत नगी दीखने लगी, जैसे कि दिगम्बरा जैन साध्वी हो। इस प्रकार का विस्मय देख व स्तब्ध—हक्की बक्की हो जहाँ की तहाँ खडी थी। उनको इस स्थिति मे खडी देख नल को बडा आनन्द आया कि दोना बहुत चतुरता दिखा रही थी, अब कैसे मूर्ख बनी? नल ने दमयन्ती से कहा कि वह भी अपनी दोनों धूर्ता सखियो का मूर्ख बन जाना देखे कि कैसी मुग्ध पुरुष के सम्मुख नगी खडी कुच प्रदर्शन कर रही हैं। नारायण के अनुसार नल की यह कुचदर्शनोपलक्षकहस्तचेष्टा—हाथ का सकेत, दमयन्ती को दिखाना दोना सखियो को लजाकर बाहर चले जाने के निमित्त था। मल्लिनाथ के अनुसार ऐसी घटना से लज्जित दोना सखिया के कक्ष से बाहर चले जाने की सम्भावना के कारण नल की दमयन्ती भोग लालसा व्यञ्जित होती है। युग्म है॥ १२७ १२८॥

अम्बुन शम्बरत्वेन माययाविरभूदियम्।
यत् पटावृतमप्यङ्गमनयोः कथयत्यद॥ १२९॥

जीवातु—अम्बुन इति। अद नलनिक्षिप्तम् इद जलम्, कर्तृ। पटावृतमपि वस्त्राच्छादितमपि अनयो सख्यो, अङ्ग स्तनादिनिगूढावयवम्, यत् कथयति वदति, सुस्पष्टम् आविष्करतीत्यर्थ। इय पटावृतस्यापि अङ्गस्य आविष्करणरूपा एषा अवस्था, अम्बुन जलस्य, शम्बरत्वेन शम्बरापरनामत्वेन शम्बरासुरत्वेन च, 'दैत्ये ना शम्बरोऽम्बुनि' इति वैजयन्ती। माया एव शाम्बरी एव, छलना एवेत्यर्थ। 'स्यान्माया शाम्बरी' इत्यमर।

आविरभूत् प्रकटिता आसीत्, अन्यथा कथं अनग्नयोरपि स्तनादिर्दृश्यते इति भावः ।। १२९ ।।

अन्वयः—अदः यत् पटावृतम् अपि अनयोः अङ्गं कथयति, इयम् अम्बुनः शम्बरत्वेन माया एव आविरभूत् ।

हिन्दी—यह (जल) जो वस्त्र से आच्छादित भी इन दोनों (सखियों) के अङ्गों को स्पष्ट कर रहा है, यह जल के 'शम्बर'—होने से (उसकी) माया ही प्रकट हुई है ।

टिप्पणी—जल को 'शंबर' भी कहा जाता है और शंबर एक मायावी दैत्य का भी नाम है, जो अविद्यमान को भी प्रदर्शित कर देता था अपनी छलना से । जल ने भी दोनों सखियों के अप्रकट अंगों को प्रकट करके अपने 'शंबर' नाम को सार्थक कर दिया । नामतः ही वह शंबर नहीं है, अपितु मायावी शंबरासुर-जैसा काम भी कर देता है । यह माया ही है कि सखियों के छिपे अंग स्पष्ट दीख रहे हैं ।। १२९ ।।

वाससो वाऽम्बरत्वेन दृश्यतेयमुपागमत् ।
चारुहारमणिश्रेणितारवीक्षणलक्षणा ।। १०३ ।।

जीवातु—वासस इति । वा अथवा, चार्व्यः मनोज्ञाः, हारमणिश्रेण्यः एव मौक्तिकसरस्थरत्नराजय एव, ताराः नक्षत्राणि, तासां वीक्षणं दर्शनमेव, लक्षणं लक्ष्म यस्याः सा तादृशी, इयम् एषा, दृश्यता स्तनादिदर्शनयोग्यता, आकाशरूपेण दर्शनविषयता च, वाससः वस्त्रस्य, अम्बरत्वेन वस्त्रत्वेन आकाशत्वेन च । 'अम्बरं व्योम्नि वाससि' इत्यमरः । उपागमत् प्राप्नोत्, जाता इत्यर्थः ।। १३० ।।

अन्वयः—वा चारुहारमणिश्रेणितारवीक्षणलक्षणा इयं दृश्यता वाससः अम्बरत्वेन उपागमत् ।

हिन्दी—अथवा मनोहर हार के मोतियों-से तारकों का दिखना जिसका लक्षण है, ऐसी यह दृश्यता (स्तन-आदि स्पष्ट दिखाने की क्षमता) वस्त्र के अंबर (सूक्ष्म वस्त्र, निर्मल आकाश) होने से आयी है ।

टिप्पणी—जल का एक पर्याय अंबर भी है, जो आकाशार्थक भी है। यहाँ यह उद्भावना है कि जैसा पूर्व श्लोक मे कहा गया है, आवृत अंगो को स्पष्ट कर देना जल की शाबरी माया है, उसे शाबर कहा जाता है, सो उसने शबरासुर को माया दिखाकर सखियों के ढके अंग स्पष्ट कर दिये। यहाँ दूसरी कल्पना है। जल का अंबर होना भी इसका कारण हो सकता है। जैसे निर्मल, शुभ्र गोल गोल तारों से पूर्ण अंबर (आकाश) मे सब कुछ स्पष्ट दीखता है, वैसे ही हार के शुभ्र मोती जिसमे से स्पष्ट हो रहे हैं, ऐसे सूक्ष्म अंबर (वस्त्र) से भी अंग दीख रहे हैं। इस प्रकार जल नाम्ना ही अंबर नहीं, कर्मणा भी अंबर है। यदि निर्मल अम्बर (आकाश) सदृश अम्बर (जल) न होता तो स्पष्ट प्रत्यक्षगोचरता उसमें कैसे होती ? सो यह अंग दर्शन या तो जल के शाबरत्व के कारण है या अम्बरत्व के। आशय यह कि गीले वस्त्रो से हारमणि वाली वक्ष और वक्षोज स्पष्ट हो रहे हैं॥ १३०॥

> तं निरीक्ष्य निजावस्थां ह्रीणे निर्ययतुस्ततः।
> तयोर्वीक्षारसात् सख्यः सर्वा निश्चक्रमु: क्रमात् ॥ १३१ ॥

जीवातु—ते इति। ते सख्यौ, निजावस्थां जलसेकात् गोप्याङ्गप्रकाश-रूपाम् आत्मनो दशाम्, निरीक्ष्य अवलोक्य, ह्रीणे लज्जिते सत्यौ, ▮▮ तस्माद् गृहात्, निर्ययतु निर्जग्मतु। ततः तयो कलातत्सख्यो वीक्षारसाद्दर्शनेच्छात सर्वा अपराः समस्ता सख्य वयस्या, क्रमात् एकमेक कृत्वा, निश्चक्रमु निष्क्रान्ता ॥ १३१ ॥

अन्वय—निजावस्थां निरीक्ष्य ह्रीणे ते ततः निर्ययतु, तयोः वीक्षारसात् सर्वाः सख्यः क्रमात् निश्चक्रमु।

हिन्दी—अपनी (लज्जास्पद) स्थिति देखकर लज्जित हो वे दोनों (कला और कला की सखी) वहाँ (कक्ष) से बाहर चली गयीं और उन दोनो के दर्शन-कौतुक के कारण (शेष) सभी सखियाँ धीरे धीरे खिसक गयी।

टिप्पणी—लज्जास्पद अवस्था मे अपने को प्रायः नग्न पाकर कला और उसकी सखी—दोनों बाहर चली गयीं, और उनकी उस कौतुकपूर्ण

दशा का दर्शनानन्द उठाने वहाँ पर उपस्थित अन्य परिचारिकाएँ—सखियाँ भी क्रमशः चली गयीं ॥ १३१ ॥

ता वहिर्भूय वैदर्भीमूचुर्नीतावधीतिनि ! ।
उपेक्ष्ये ते पुनः सख्यौ मर्मज्ञे नाधुनाऽप्यमू ॥ १३२ ॥

जीवातु--ता इति । ताः सख्यः, वहिर्भूय वहिर्निर्गम्य, वैदर्भीं दमयन्तीम्, ऊचुः कथयामासुः । किमिति ? नीतावधीतिनि ! हे अधीतनीतिशास्त्रे भैमि ! इष्टादित्वादिनिप्रत्ययः 'क्तस्येन्विषयस्य—' इति कर्मणि सप्तमी । अमू एते, मर्मज्ञे भवत्योः रहस्याभिज्ञे, सख्यौ कलातत्सपक्षे, अधुना पूर्वं यथा भवतु, इदानीमपि, ते तव त्वयेत्यर्थः । 'कृत्यानां कर्त्तरि वा' इति कर्त्तरि षष्ठी । न पुनः नैव, उपेक्ष्ये अवहेलनीये, 'मर्मज्ञं न प्रकोपयेत्' इति न्यायात् सत्वरमेव गत्वा ते प्रसादनीये, अन्यथा, सर्वमेव रहस्यं ते प्रकाशयिष्यत इति भावः ॥

अन्वयः—वहिर्भूय ताः वैदर्भीम ऊचुः—नीतौ अधीतिनि, ते मर्मज्ञे अमू सख्यौ अधुना अपि पुनः न उपेक्ष्ये ।

हिन्दी—बाहर जाकर वे (शेष सखियाँ) विदर्भजाता (दमयन्ती) से बोलीं—हे नीतिशास्त्र की पंडिता, अपनी इन रहस्यज्ञाता दोनों सखियों (कला और उसकी आत्मीया सखी) की अब और उपेक्षा मत करो ।

टिप्पणी—जाती सखियाँ दमयन्ती को सावधान करने लगीं कि वह अब कला और उसकी सखी की ओर उपेक्षा न करे, अब तक जो हुआ, सो हुआ । वे दोनों सपूर्ण रहस्य जान गयी हैं । यदि उनकी उपेक्षा होगी तो वे सर्वत्र रहस्य प्रकट कर देंगीं । अच्छा हो कि दमयंती उन्हें मनाले । शुक्र-नीति में बताया गया है कि सब कुछ जानने वाले की न उपेक्षा करे, न विरोधी बनाये, अपितु उसे प्रसन्न कर ले—'विरोधयेन्न सर्वज्ञं नोपेक्षेत विरोधिनम्, प्रसादयेत्' ॥ १३२ ॥

उच्चैरूचेऽथ ता राजा सखीयमिदमाह वः ।
श्रुतं मर्म ममैताभ्यां दृष्टं मर्म मयैतयोः ॥ १३३ ॥

जीवातु—उच्चैरिति । अथ सखीनामुक्तवचनश्रवणानन्तरम्, राजा नलः, ताः सखीः, उच्चैः तारस्वरेण, तासां तदा दूरप्रयाणादिति भावः । ऊचे

वमाषे। 'उच्चैरवोचिरे राज्ञा' इति पाठान्तरम्। किमिति ? व युष्माकम्, इयम् एषा सखी वयस्या दमयन्ती, इद वक्ष्यमाणम्, आह वक्ति। किमिति ? एताभ्यां कलातत्सखीभ्याम्, मम मे, मर्म रहस्यवृत्तान्त, श्रुतम् आकर्णितम्, न तु दृष्टम्, मया भैम्या तु, एतयो कलातत्सपक्षयो, मर्म रहस्यम्, गोपनीयाङ्गमित्यर्थ। दृष्ट प्रत्यक्षीकृतम्, आर्द्रीभूतवस्त्राभ्यन्तरादिति भाव। श्रवणाद्दर्शनस्य अधिकविश्वास्यतया अहमपि सर्वमेव प्रकाशयितु शक्नोमीति मर्मश्रवणात्तद्दर्शन दु सहमिति तात्पर्यम्॥ १३३॥

अन्वय —अथ राजा ता उच्चैः ऊचे—व इयं सखी इदम् आह—एताभ्या मम मर्मश्रुत, मया एतयो मर्म दृष्टम्।

हिन्दी—तत्पश्चात् (सखियो के उत्तर मे) राजा (नल) उन (सखियो) से ऊँचे स्वर मे बोला—तुम्हारी यह सखी (दमयन्ती) यह कहती है कि इन दोनो (कला और उसकी आत्मीया) ने मेरा (दमयन्ती का) मर्म (रहस्य-वृत्त) सुना (ही) है, मैंने (दमयन्ती) ने इन दोनो (सखियो) का मर्म (गोपनीय अङ्ग) देखा है।

टिप्पणी—चतुर राजा ने बाहर जाती सखियो को ऊँचे स्वर मे सुनाते कहा कि उनकी यह धमकी साथक नही है कि दमयन्ती रूठी सखियो को मनाये, क्योकि दमयन्ती का गोप्यवृत्तात, जो केवल उन्होंने सुना है, देखा नही, वे प्रकट कर देंगी। वे ऐसा नही कर सकती, यदि करेंगी तो स्वयम् हानि मे रहेंगी। वे तो कुछ सुना सुनाया ही मर्म (वृत्तात भर) जानती हैं, दमयन्ती तो उनका मर्म (गोप्य अग) भीगे वस्त्र से स्पष्ट देख चुकी है। प्रत्यक्ष दर्शन श्रवण की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक होता है। इसके अतिरिक्त सखियों को समझ लेना चाहिए कि दमयन्ती ही प्रत्यक्ष नहीं देख चुकी, नल भी देख चुका है। वे तो नल दमयन्ती की रहस्यवार्ता ही प्रकाशित कर सकेंगी, उनके तो अग-अग चर्चित हो जायेंगे॥ १३३॥

मद्विरोधितयोर्वाचि न श्रद्धातव्यमेतयो।
अभ्यपिर्चादमे माया-मिथ्यामिहासने विधि॥१३४॥

जीवातु—मदिति। किञ्च, हे सख्य ! मया दमयन्त्या सह, विरोधितयो सञ्जातवैरयो, वहिष्करणानुमोदनात् शत्रुभावापन्नयोरित्यर्थ। एतयोः

सख्योः, वाचि वचने, न श्रद्धातव्यं न विश्वसितव्यम्, युष्माभिरिति शेषः। तथा हि—विधिः ब्रह्मा, इमे सख्यौ, माया कपटता, मिथ्या अनृतम्, तयोः सिंहासने भद्रासने, अभ्यषिञ्चत् जलवर्षणेन अभिषिक्तवान्, मिथ्याकपटयोः आकरत्वेन कल्पितवानित्यर्थः। तस्मात् मयि मिथ्याचरणस्य सर्वथा सम्भावनासत्त्वात् एतयोः मिथ्याप्रलापो न श्रद्धेयः इति निष्कर्षः॥ १३४॥

अन्वयः—मद्विरोधितयोः एतयोः वाचि न श्रद्धातव्यम्, विधिः इमे मायामिथ्यासिंहासने अभ्यषिञ्चत्।

हिन्दी—(नल ने और कहा)-हमारी (नल-दमयंती) विरोधिनी इन दोनों (कला, कलासखी) के वचनों पर विश्वास न करना, विधाता ने (ही) इन दोनों का माया (कपट, छल) और मिथ्या (असत्य) के सिंहासन पर अभिषेक किया है।

टिप्पणी—नल ने कहनेवाली सखियों को और सावधान किया कि वे कला और उसकी सखी का इस कारण भी विश्वास न करें कि वे अब से नल दमयंती विरुद्ध हो गयी हैं, दुर्दशा पाने से, और विरोधी बना-बनाकर झूठी-निंदा किया करते ही हैं, अन्तर्गत प्रलाप किया ही करते हैं। इसके अतिरिक्त वे दोनों उच्चकोटि की मायाविनी और मिथ्याभाषिणी हैं। स्वभाव से ही कपटी और झूठी। यह जो उनका माया-जल से अभिषेक (सिंचन) हुआ था, वह मानो विधाता द्वारा कपट और असत्य के राज्यसिंहासन पर अभिषेक हुआ था। आशय यह कि वे छल और झूठ के राज्य की रानियाँ हैं, परम मायाविनि और मिथ्यावादिनी, अतः पूर्णतः अश्रद्धेय॥ १३४॥

धौतेऽपि कीर्त्तिधाराभिश्चरिते चारुणि द्विषः।
मृषामषीलवैर्लक्ष्म लेखितुं के न शिल्पिनः?॥ १३५॥

जीवातु—धौतेऽपीति। कीर्त्तिधाराभिः यशःप्रवाहैः धौते विशुद्धे, अत एव चारुणि मनोहरेऽपि, द्विषः शत्रोः, चरिते स्वभावे, मृषामषीलवैः मृषा मिथ्यादोषारोप एव, मषी 'काली' इति प्रसिद्धलेखनसाधनद्रव्यविशेषः, तल्लवैः तद्बिन्दुभिः, अल्पत्वात् किञ्चिन्मात्रैरिति भावः। लक्ष्म कलङ्कम्,

लेखितु चित्रितुम्, उत्पादयितुमिति यावत्। के, जना इति शेषः, न शिल्पिनः ? शिल्पकुशला न ? अपि तु सर्वेऽपि कुशला एवेत्यर्थः । भवन्तीति शेषः । मम शुभ्रे चरित्रेऽपि इमे मिथ्याकलङ्कम् अवश्यमेव आविष्कुर्यातामिति भावः ॥ १३५ ॥

अन्वयः—कीर्तिधाराभिः धौते चारुणः अपि द्विषः चरिते मृषामषीलवैः लक्ष्म लेखितुं के न शिल्पिनः ?

हिन्दी—यश धाराओं द्वारा धोये गये (धवल), मनोहर भी शत्रु के चरित पर मिथ्या की स्याही के बिन्दुओं से काला चिह्न आँकने में कौन व्यक्ति कलाकार (चतुर) नहीं होते ?

टिप्पणी—नल ने उन दोनों अवमानिता परिचारिकाओं द्वारा अपवाद प्रसारित किये जाने को सहज बताते हुए स्पष्ट किया कि वे दोनों झूठी निंदा निश्चयतः करेंगी, क्योंकि शत्रु के यशःपूर्ण और विमल चरित्र को कलङ्कित बनाने-कहने में तो सभी व्यक्ति शिल्पी और चतुर हुआ करते हैं। निंदा की काली मसी का एक बिन्दु निर्मल चरित्र-पटल पर अंकित कर देना तो सभी को आता है। इसलिए उन दोनों विरोधिनी परिचारिकाओं द्वारा निंदाप्रसार तो स्वाभाविक ही है। समझदार व्यक्ति उस पर विश्वास नहीं करेंगे ॥ १३५ ॥

> ते सख्यावाचचक्षाते न किञ्चिद् ब्रूवहे वहु।
> वक्ष्यावस्तत्परं यस्मै सर्वा निर्वासिता वयम् ॥ १३६ ॥

जीवातु—ते इति। ते सख्यौ कन्या तद्वयस्या च आचचक्षाते अवदताम्, किमिति ? बहु भूरि, किञ्चित् किमपि, न ब्रूवहे न कथयावः, आवामिति शेषः। परं केवलम्, तत् तत्प्रयोजनमात्रमेव, वक्ष्यावः कथयिष्यावः, यस्मै यत्प्रयोजनाय, वयं सर्वाः समस्ताः सख्यः, निर्वासिताः निष्कासिताः, गृहादिति शेषः। सुरतार्थम् एव युवाभ्यां वयं सर्वाः एव निष्कासिता इत्येव सर्वत्र वदिष्याव, नान्यत् किञ्चनेति तात्पर्यम् ॥ १३६ ॥

अन्वयः—ते सख्यौ आचचक्षाते—बहु किञ्चित् न ब्रूवहे, परं तत् वक्ष्यावः यस्मै वयं सर्वाः निर्वासिताः।

हिन्दी--वे (कला और उसकी आत्मीया) बोलीं--बहुत कुछ नहीं कहेंगे, केवल वहीं कहेंगे, जिसके निमित्त हम सब (सखियाँ) बाहर करदी गयी हैं।

टिप्पणी--जाती जाती कला और उसकी सखी कहती गयी कि वे और कुछ नहीं बतायेंगी, केवल जाकर सबको यही बतायेंगी, कि राज-दम्पती दिन में भी रति-क्रीडा कर रहे हैं। इसी प्रयोजन से सब सखियाँ बाहर कर दी गयी हैं ।। १३६ ॥

स्थापत्यैर्न स्म वित्तस्ते वर्षीयस्त्वचलत्करैः ।
कृतामपि तथावाचि करकम्पेन वारणाम् ॥ १३७ ॥

जीवातु--स्थापत्यैरिति । ते कलातत्सख्यौ, वर्षीयस्त्वेन वृद्धत्वेन हेतुना । 'प्रियस्थिर--' इत्यादिना वृद्धशब्दस्य ईयसुनि वर्षादेशः । चलत्करैः स्वभावत एव कम्पहस्तैः, स्थानां दाराणां पतयः पालकाः स्थपतयः, ते एव स्थापत्याः कञ्चुकिनः तैः । 'सौविदल्लाः कञ्चुकिनः स्थापत्याः' इत्यमरः । करकम्पेन हस्तचालनेन, कृतामपि विहितामपि, तथावाचि तादृशवाक्यप्रयोगे, वारणां निवारणम्, न वित्तः स्म न बुध्येते स्म । वारणाय कृते करकम्पे जराजन्य-कम्पभ्रमादिति भावः ।। १३७ ॥

अन्वयः--ते तथावाचि वर्षीयस्त्वचलत्करैः स्थापत्यैः करकम्पेन कृताम् अपि वारणां न वित्तः स्म ।

हिन्दी--वे दोनों (कला और उसकी सखी) वैसा (सुरतार्थ हमसबको बाहर कर दिया गया है) कहने में अधिक आयु (वृद्धत्व) होने से हिलते हाथों वाले कंचुकिओं द्वारा हाथ हिलाकर निवारण करने पर भी ध्यान न दे पायीं।

टिप्पणी--कला और उसकी सखी इतनी उत्तेजित थीं कि यह कहती चली गयीं कि महाराज ने दिन में भी संभोग करने के इच्छुक होने के कारण सब परिचारिकाओं को बाहर कर दिया है। बूढ़े कंचुकिगण बुढ़ापे के कारण काँपते हाथों के संकेत से ऐसी निर्लज्जता करने के लिए उनको रोकते ही रहे, पर उन्होंने उनके निवारण पर ध्यान ही नहीं दिया ॥ १३७ ॥

अपयातमितो धृष्टे ! धिग् वामश्लीलशीलताम् ।
इत्युक्ते ते त्वन्तश्च व्यतिद्राते स्म ते भिया ॥ १३८ ॥

जीवातु—अपयातमिति । धृष्टे ! हे प्रगल्भे ! इत अस्मात् देशात्, अप-यात बहिर्गच्छतम्, युवामिति शेष । वा युवयो', अश्लीलशीलता, ग्राम्यस्वभावम्, धिक् निन्दाम , इति एव, उक्ते कथिते, ते इति यावत् । कञ्चुकिभिरिति शेष. । ते कन्यावयस्यौ उभे, भिया भयेन, कञ्चुकिना प्रहारादिनि भाव । तया इति द्वयम्, उक्तवन्त कथितवन्त , भर्त्सितवन्त. इति यावत् । न कञ्चुकिन , भिया राजदम्पत्यो क्रोधभयेन, व्यतिद्राते स्म परस्परव्यति द्वारेण पलायेते स्म पलायन्ते स्म च, गृहस्य निभृतताविधानार्थमिति भाव । द्रा कुत्साया गताविति धातोर्लटि 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' इत्यात्मनेपदम्, अदादित्वात् शपो लुक् । अत्र प्रथमपुरुषस्य द्विवचनबहुवचनयो समान रूपम्, एव ते इत्यनापि स्त्रिया द्वित्वे पुंसि बहुत्वे च समानरूपम् ॥ १३८ ॥

अन्वय —धृष्टे, इत अपयातम्, वाम् अश्लीलशीलता धिक्,—इति उक्ते भिया ते उक्तवन्त च व्यतिद्राते स्म ।

हिन्दी—अरी 'ढीठ छोकरियो, यहाँ से भाग जाओ, तुम दोनों की अश्लील बकने की गँवारू प्रकृति का धिक्कार है'—' कञ्चुकियों द्वारा) यह कहे जाने पर डर कर वे दोनों और कहने वाले (कञ्चुकी) भी वहाँ से पलायित हो गये ।

टिप्पणी—डाँटी जाने पर कला और उसकी आत्मीया सखी वहाँ से चली गयी और उनके पीछे-पीछे उनको डाँटने वाले कञ्चुकी भी डाँटते-डाँटने —डाँटने के ब्याज से बाहर चले गये और इस प्रकार वहाँ एकांत हो गया । यहाँ दोनों सखियों और कंचुकिगण के बाहर जाने में एक ही क्रिया—'व्यतिद्राते' का प्रयोग किया गया है । नारायण के अनुसार यह द्विवचन-बहुवचन का श्लेष है । 'उक्ते' सप्तमी-एकवचन भी हो सकता और 'ते' का 'विशेषण' (प्रथमा द्विवचन) भी । 'व्तिद्राते'-प्रयोग कोई 'द्राति' धातु के परस्मैपदी होने के कारण नारायण ने 'चिन्त्य' कहा है, वे 'व्यतिद्रान्ति स्म' प्रयोग साधुतर मानते हैं । मल्लिनाथ के अनुसार यह 'द्रा कुत्साया गतौ वा' धातु का लट् लकार में 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे' (अष्टा०

१।३।१४) द्वारा आत्मनेपद प्रयोग है। म० म० शिवदत्तशास्त्री ने इस आत्मनेपद-प्रयोग को चिन्त्य ही माना है। उनका तर्क है कि 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' द्वारा जो व्यतिहार (विनिमय) अर्थ में कर्त्ता में आत्मनेपद हो जाता है, उसका 'न गतिहिंसार्थेभ्यः' (अष्टा० १।३।१५) (गति और हिंसार्थक धातुओं से आत्मनेपद न हो) द्वारा निषेध होता है। सुखावबोधा (जिनराज) व्याख्या में इस प्रयोग को 'यथाकथंचित्समर्थनीय' माना गया है। उनके अनुसार यहाँ 'व्यतिव्राते' द्वारा बाहर जाने मात्र की विवक्षा है, गत्यर्थता की नहीं—'बहिर्भावमात्रविवक्षायां गत्यर्थत्वाभावादात्मनेपदमिति यथाकथञ्चित्समर्थनीयम्।' जिनराज का यह भी विचार है कि इसके औचित्य का अन्य प्रकार भी गवेषणीय है—'प्रकारान्तरं वा गवेषणीयम्' ॥ १३८ ॥

आह स्म तद्गिरा ह्रीणां प्रियां नतमुखीं नलः।
ईदृग्भण्डसखीकाऽपि निस्त्रपा न मनागपि ॥ १३९ ॥

जीवातु—आहेति। अथ नलः नैषधः, तयोः कलातत्सख्योः, गिरा 'वश्याव: तत्परम्' इत्यादिकया वाचा, ह्रीणां लज्जिताम्, अत एव नतमुखीम् अवनतवदनाम्, प्रियां दमयन्तीम्, आह स्म उवाच। किमित्याङ्क्षायां सार्द्धश्लोकेनाह—ईदृशी एवम्भूते भण्डे निर्लज्जे, सख्यौ वयस्ये यस्याः सा तादृशी अपि ईदृग्भण्डसखीकाऽपि। 'नद्यृतश्च' इति कप् समासान्तः। त्वमिति शेषः। मनाक् अपि ईषदपि, निस्त्रपा निर्लज्जा न, भवसीति शेषः। यस्याः खलु सख्यः एवं निर्लज्जाः, तस्यास्तवापि नैर्लज्ज्यमेव युज्यते, भवती तु न तादृशीति महांस्ते चरित्रोत्कर्षः इति भावः ॥ १३९ ॥

अन्वयः—नलः तद्गिरा ह्रीणां नतमुखीं प्रियाम् आह स्म—ईदृग्भण्डसखीका अपि मनाक् अपि निस्त्रपा न।

हिन्दी—नल ने उन दोनों (सखियों) के कथन से लज्जित और मुँह-नीचा किये बैठी प्रिया (दमयन्ती) से कहा—ऐसी भंडिनी (निर्लज्ज) सखियाँ होने पर भी (तुम) थोड़ी भी लज्जाहीन नहीं हो।

टिप्पणी—कला और उसकी सखी द्वारा निर्लज्जता-पूर्वक बकते चले जाने पर नल ने दमयन्ती से कहा कि आश्चर्य है कि ऐसी अत्यन्त निर्लज्जा

सखियाँ होने पर भी दमयन्ती इतनी लाजवन्ती है कि पराकाष्ठा है लज्जा की, जब कि 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' न्यायानुसार जिसकी सखियाँ महानिर्लज्ज हैं, उस दमयन्ती को कुछ निर्लज्ज तो होना ही था। यहाँ, जहाँ एक ओर (मल्लिनाथ के अनुसार) दमयन्ती के महान् चरित्रोत्कर्ष का दिग्दर्शन हुआ है, वहाँ नल का दमयन्ती के प्रति यह संकेत-निवेदन भी हो सकता है कि उसकी सखियाँ जब महानिर्लज्जा हैं, तो एकांत में, दम्पति-प्रणय-विलास-प्रसंग में दमयन्ती को थोड़ी-सी निर्लज्जता तो धारण करनी ही चाहिए। अथवा 'काकु' प्रयोग से यह भाव भी लिया जा सकता है कि जिस दमयन्ती को ऐसी निर्लज्ज सखियाँ हैं, वह क्या थोड़ी भी 'निस्त्रपा' नहीं है? अपितु है ही। तो क्यों ऐसे सिर झुकाये लज्जित बैठी है? एकांत है, लाज त्याग प्रिय की इच्छा पूर्ण करे॥ १३९॥

अहो! नापत्रपाकं ते जातरूपमिदं मुखम्।
नातितापार्जनेऽपि स्यादितो दुर्वर्णनिर्गमः॥ १४०॥

जीवातु—अहो इति। जातरूपं जातं सम्भूतम्, रूपं सौन्दर्यं यस्य तादृशम्, सम्पन्नसौन्दर्यम्, स्वर्णसदृशमित्यर्थः। सुवर्णं च। 'सुवर्णं चामीकरं जातरूपम्' इत्यमरः। इदं दृश्यमानम्, ते तव, मुखं वदनम्, अपगता दूरीभूता, त्रपा लज्जा यस्मात् तद् अपत्रपम्। शैषिकः कप्रत्ययः। तद् न भवतीति नापत्रपाकं सलज्जमिति यावत्। नअर्थेन नशब्देन समासः। दृश्यते इति शेषः। 'लज्जा रूपं कुलस्त्रीणाम्' इति नीतिशास्त्रात् सलज्जं ते वदनम् अतीव रमणीयदर्शनं जातमिति निष्कर्षः। अन्यत्र-पत्रस्य पत्रीकृतस्य, कण्टकवेधयोग्यतनुकारितस्येत्यर्थः। यद्वा-पत्रे पात्रविशेषे इत्यर्थः। द्रवीकरणार्थं मृद्भाजनविशेषे इति यावत्। पाकं दग्धीकरणं द्रवीकरणं वा, विशुद्धिसम्पादनाय इति भावः। पत्रपाकं तद्रहितम् अपत्रपाकं न भवतीति नापत्रपाकं पत्रपाकविशुद्धमेवेत्यर्थः। अतितापार्जनेऽपि सखीकृतपरिहासजनितलज्जानिबन्धनपीडाप्राप्तावपि, अत्यन्तदाहकरणेऽपि च, इतः अस्मात्, शोभनवर्णयुक्तात् मुखात्, सुवर्णाच्च, दुर्वर्णनिर्गमः कर्कशवचननिर्गमः, श्यामिकानिर्गमश्च, न स्यादिति विरोधः, अत एव अहो! आश्चर्यम्!, सखीकृतप्रबलदुःखोत्पातेऽपि मुखात् दुरक्षरनिर्गमनं न स्यादिति चित्रमिति विरोधपरिहारात् विरोधाभासोऽलङ्कारः॥ १४०॥

अन्वयः—अहो, ते इदं जातरूपं मुखं नापत्रपाकम्, अतितापार्जने अपि इतः दुर्वर्णनिर्गमः न स्यात् ।

हिन्दी—आश्चर्य है कि तेरा (दमयन्ती का) यह 'जातरूप' (रूपयुक्त, सुन्दर) मुख 'अपत्रपाक' (लज्जाहीन) नहीं है, अतिशय ताप (सखियों के निर्लज्ज-भाषण पर परिताप) का अर्जन (अतिव्यथित) करने पर भी इस (मुख) से 'दुर्वर्ण' (कर्कशवचन) का निर्गम नहीं हुआ (बुरे, कठोर वचन नहीं निकले)। इस प्रकार यह तेरा मुख मृत्पुट (मिट्टी के बर्तनों) के मध्य जिसे पकाया न गया हो, वैसा भी न—'न अपत्र-पाक', अर्थात् पुटपाक में शुद्ध (दमकदार) 'जातरूप' (सुवर्ण) के सदृश है, अग्नि में पर्याप्त दग्ध होने पर भी जिसमें 'दुर्वर्ण निर्गम' अर्थात् कालापन नहीं छा गया है ।

टिप्पणी—यहाँ अनेकार्थ शब्द-प्रयोग द्वारा दमयन्ती के सखी-वचन सुन लजा गये, लज्जावन्त रमणीय मुख की तुलना शुद्ध किये गये चमकदार असली स्वर्ण से की गयी है। जैसे असली सोना आग में तपाया जाने पर भी (दो मिट्टी के पात्रों के मध्य रख सोना पकाया जाता है) काला नहीं पड़ता —'दुर्वर्ण-निर्गम' उस पर नहीं होता, वैसे ही निर्लज्ज सखियों के निर्लज्ज वचन सुनकर लज्जाहीन न होकर लज्जा-मनोहर है और इससे कोई भी अपशब्द या दुर्वचन नहीं निकल रहा है। यद्यपि सखियों से इसे पर्याप्त संताप मिला है, तथापि एक भी दुर्वचन दमयन्ती-मुख से नहीं निकला। नारायण ने अन्य भाव भी लिये हैं। (१) आश्चर्य है कि दमयन्ती-मुख जातरूप (सुन्दर) होने पर भी सलज्ज है (झुककर अपने को छिपाये है), जब कि असुन्दर अपने को छिपाता है, यह तो सुन्दर होकर भी अपने को छिपाकर आश्चर्यान्वित कर रहा है। (२) 'त्रपा एवाकं दुःखम्, अपगतं त्रपाकं यस्मात्तदपत्रपाकं तादृग् न भवति', 'अर्थात् लज्जारूप दुःख से युक्त है, अतएव 'न जातरूप' अर्थात् मलिन है—सखियों के यह कहने पर कि उन्हें सुरतार्थ बाहर कर दिया गया है, लज्जा से अतिशय मलिन हो गया है, यह आश्चर्य है। सुरत—प्रसंग होने पर तो प्रसन्नता होनी चाहिए,

इसके विपरीत यह मलिन है। (२) ताम्बूल की लाली से युक्त होने से स रूप है। 'पत्राणां नागवल्लीदलानां पाक फलभूत पूगादियोगसंजातो राग स नास्ति यस्य तदपत्रपाक तादृशं न भवति ताम्बूलरागसहितम् अतएव नितरां जातलावण्यम्।' अर्थात् तांबूल से लाल होकर मुख और सुन्दर लग रहा है आश्चर्यजनक रीति से। आशय यह कि दमयन्ती कनक छुरी सी कामिनी है और कभी कठोर न बोलने वाली है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोधाभास अलकार है। अति तापाजन से भी इस शोभन मुख से वर्णदावचन और कालिमा निर्गमन न हुआ, यह विरोध है अतएव आश्चर्य है। सखियों द्वारा प्रबल सताप की स्थिति कर दिये जाने पर भी मुख से अपशब्द नहीं निकले, यह विस्मय है। इस प्रकार विरोध-परिहार हो जाता है ॥१४०॥

तामथैष हृदि न्यस्य ददौ तल्पतले तनुम्।
निमील्य च तदीयाङ्ग सौकुमार्यमसिस्वदत् ॥ १४१ ॥

जीवातु—तामिति। अथ वक्तृत्वमापणानन्तरम्, एष नलः तां प्रियाम्, हृदि वक्षसि, न्यस्य निधाय, तल्पतले शय्योपरि, तनुं स्वदेहम्, ददौ स्थापितवान्, शयितवान् इत्यर्थः। तथा निमील्य चक्षुषी मुद्रयित्वा, इत्यानन्दानुभवोक्ति। प्रगाढसुखानुभवकाले चक्षुर्निमीलनस्य लोकस्वभावत्वादिति बोध्यम्। तदीयाङ्गस्य प्रियाशरीरस्य, सौकुमार्यं मार्दवम्, असिस्वदत् अनुबभूव इत्यर्थः। स्वदणौ चङ्युपधाह्रस्व ॥ १४१ ॥

अन्वय—अथ एष तां हृदि न्यस्य तल्पतले तनु ददौ निमील्य च तदीयाङ्गसौकुमार्यम् असिस्वदत्।

हिन्दी—तदनन्तर (पूर्वोक्ति के पश्चात्) यह (नल) उसे (दमयन्ती को) छाती पर लिटाकर पर्यंक पर लेट गया और आँखें मूँद कर उस (दमयंती) के अंगों की सुकुमारता (कोमलता) का स्वाद लेने लगा।

टिप्पणी—एकान्त पाकर नल पलँग पर स्वयं लेट गया और प्रिया को अपने वक्ष पर लिटा लिया। इसके पश्चात् आनंद मग्न हो, आँखें बंद कर दमयंती के सुकुमार, कोमल अंगों के सम्मिलन से कृतकामता अनुभव करने लगा और अंगों का भोग करने लगा ॥ १४१ ॥

न्यस्य तस्याः कुचद्वन्द्वे मध्येनीवि निवेश्य च ।
स पाणेः सफलं चक्रे तत्करग्रहणश्रमम् ॥ १४२ ॥

जीवातु—न्यस्येति । स नलः, तस्याः भैम्याः, कुचद्वन्द्वे स्तनयुगे, न्यस्य निधाय, पाणिमिति शेषः । मध्येनीवि नीवीमध्ये, कटीवस्त्रबन्धनमध्ये इत्यर्थः। 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावः । निवेश्य प्रवेश्य च, स्वपाणिमिति शेषः। पाणेः स्वकरस्य, तत्करग्रहणश्रमं दमयंतीपाणिग्रहणायासम्, सफलं सार्थकम्, चक्रे विदधे । तादृग्विधः प्रियास्पर्शस्तस्य महदानंदफलमित्यर्थः ॥

अन्वयः—तस्याः कुचद्वन्द्वे न्यस्य मध्येनीवि च निवेश्य सः पाणेः तत्करग्रहणश्रमं सफलं चक्रे ।

हिन्दी—उस (दमयंती) के स्तनों पर रखकर और कमर-बंद (नीवि) के मध्य डालकर वह (नल) हाथ के उस (दमयंती) के हाथ को थामने (पाणीग्रहण) के श्रमको सफल बनाने लगा ।

टिप्पणी—नल के पाणि ने दमयंती के पाणि-ग्रहण (विवाह में हाथ थामने) का श्रम किया था । दमयंती को वक्ष पर लिटाकर उसने अपने हाथ को उस श्रम का पारिश्रमिक (मजदूरी) यह दिया कि उसे दमयंती का अलभ्य कुच-स्पर्श और नीवि-मोचन करने का सौभाग्य दिया । यदि पाणग्रिहण नल-पाणि न करता तो ऐसा पारिश्रमिक उसे अलभ्य ही रहता । अथवा नल-पाणी ने कर-ग्रहण (राजकर-प्राप्ति) में जो श्रम किया था, उसका फल स्तन-स्पर्श और नीवि-मोचन-रूप में दिया । अथवा दमयंती-पाणि ने जो स्तनादिमर्दन चेष्टाएँ करते हाथ का निवारण किया था, स्वपाणि के श्रम का प्रतिदान नल ने यह दिया कि हाथ द्वारा स्तन-मर्दन और नीवि-विमोचन कराया अथवा नीवि के मध्य प्रविष्ट कर वरांग-स्पर्श कर स्वपाणि को सफल किया । मल्लिनाथ के अनुसार प्रिया का ऐसा स्पर्श महानंद-दायक, श्रेष्ठ पारिश्रमिक है, जो नलपाणि को प्राप्त हुआ।१४२।

स्थापितामुपरि स्वस्य तां मुदा मुमुदे वहन् ।
तद्वहनकर्तृत्वमाचष्ट स्पष्टमात्मनः ॥ १४३ ॥

जीवातु—*स्थापितामिति*। मुदा हर्षेण, स्वस्य आत्मनः, उपरि वक्षसि, स्थापिता निहिताम्, तां प्रियाम्, वहन् धारयन्, मुमुदे आननद, नलः इति शेषः। तथा आत्मनः स्वस्य, तस्याः भैम्याः, उद्वहने विवाहे, कर्त्तृत्वम् अधिकारित्वम् स्पष्टं सुव्यक्तम्, आचष्ट कथयामास। *अनुद्वहतः एवमुरसि वहनायोगादिति* भावः ॥ १४३ ॥

अन्वय.—मुदा स्वस्य उपरि स्थापितां तां वहन् मुमुदे, आत्मनः तदुद्वहन-कर्तृत्वं स्पष्टम् आचष्ट।

हिन्दी—प्रसन्नता पूर्वक (कामाभिलाष से) अपने (वक्ष के) ऊपर निवेशित (लिटायी गयी) उस (दमयन्ती) का वहन करता (नल) प्रसन्न हुआ और (उसने) अपने उस (दमयन्ती) के उद्वहन (विवाह, ऊपर लिटाना) के कर्तृत्व (कर्त्ता-भाव, अधिकार) को सुव्यक्त कर दिया।

टिप्पणी—नल ने दमयन्ती का उद्वहन (विवाह) किया था, अब वक्ष पर उसका उद्वहन (ऊपर लिटाना ऊर्ध्व-धारण) कर स्पष्ट कर दिया कि उसने क्यों वह उद्वहन (विवाह) किया था? यदि उद्वहन (विवाह) न करता तो 'उद्वहन' (ऊर्ध्व धारण) न कर पाता। यही कर्तृत्व की अवधारणा नल को स्पष्ट हो गयी। ऊपर लिटाने का अधिकार विवाह से ही प्राप्त हुआ ॥ १४३ ॥

स्विद्यत्कराङ्गुलीलुप्तकस्तूरीलेपमुद्रया।
फूत्कार्यपीडितौ चक्रे स सखीषु प्रियास्तनौ ॥ १४४ ॥

जीवातु—*स्विद्यदिति*। सः नलः, प्रियायाः भैम्याः, स्तनौ कुचौ, स्विद्यन्तीभिः सत्त्वोदयात् घर्मोदकार्द्रीभवन्तीभिः, कराङ्गुलीभिः निजकराग्राभिः, लुप्तः प्रमृष्टः, यः कस्तूरीलेपः मृगमदप्रदेहः, मृगमदकृतपत्रावलीरित्यर्थः। स एव मुद्रा चिह्नम्, स्तनपीडनविषये इति भावः। तया, सखीषु वयस्यासु विषये, फूत्कार्यं फूत्कारेण उच्चैस्तरमुखानिलेन प्रशमनीयम्, पीडितं पीडनम्, पीडनजनितवेदना इत्यर्थः। ययोः तौ तादृशौ फूत्कार्यपीडितौ, चक्रे विदधे। नलः भैमीकुचौ तथा पीडयामास, यथा नलस्य सात्त्विकभावोत्थघर्मोदकक्लिन्नाङ्गुलीभिः कुचयोः पत्रलेखाः प्रोञ्छिता जायन्ते, सुख्यश्च तद् दृष्ट्वा प्रगाढ-पीडनेन कुचयोर्वेदनां तीव्रामनुमाय फूत्कारेण तां प्रशमयितुम् अयतिषत इति निष्कर्षः ॥ १४४ ॥

अन्वयः—सः प्रियास्तनौ स्विद्यत्कराङ्गुलीलुप्तकस्तूरीलेपमुद्रया सखीषु फूत्कार्यपीडितौ चक्रे ।

हिन्दी—उस (नल) ने प्रिया (दमयंती) के स्तनों को सात्त्विक-स्वेद से पसीजती (गीली) अंगुलियों द्वारा कस्तूरी-लेप पोंछ दिये जाने के चिह्न से सखियों के मध्य फूंक-फूंककर पीड़ा-मिटाने योग्य कर दिया अथवा सखियों से उच्च स्वर से कथनीय पीड़ा वाला बना दिया ।

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि नल ने प्रचुर मात्रा में अंगुलियों द्वारा प्रिया का कुचमर्दन किया कि सात्त्विक स्वेद से पसीजती अंगुलियों की आर्द्रता से स्तनों पर लगा संपूर्ण कस्तूरी लेप पुछ गया, जिससे सखियों को स्पष्ट हो जायेगा कि प्रभूत कुचमर्दन हुआ है और उच्चस्वर में यह कहने लगेंगी और फूंक मार-मार कर पीड़ा दूर करने की चेष्टा करेंगी ॥ १४४ ॥

तत्कुचे नखमारोप्य चमत्कुर्वंस्तयेक्षितः ।
सोऽवादीत्तां हृदिस्थं ते किं मामभिनदेष न ? ॥ १४५ ॥

जीवातु—तदिति । स नलः, तत्कुचे दमयन्तीस्तने, नखं कररुहम्, आरोप्य निखाय, चमत्कुर्वन् स्वयमेव आश्चर्येण सजातरोमाञ्चो भवन्, तया दमयन्त्या, ईक्षितः सस्मितमवलोकितश्च सन्, एष नखः, ते तव, हृदिस्थं हृदयान्तर्गतम् । 'सुपि स्थः' इति कप्रत्ययः, 'हृद्द्युभ्याञ्च' इत्युपसङ्ख्यानाद् सप्तम्याः अलुक् । मां नलम्, न अभिनत् न व्यदारयत्, किम् ? अपि तु अभिनदेव । नो चेद् ममाङ्गेष्वपि कथं चमत्कारनिबन्धना रोमाञ्चाः समुत्पन्ना इति भावः । इति तां दमयन्तीम्, अवादीत् अकथयत् । अत्र भैमीकुचनिष्ठस्य नखक्षतस्य नलहृदये चमत्कारजननात् असङ्गत्यलङ्कारः, 'कार्यकारणयोर्भिन्न-देशतायामसङ्गतिः' इति लक्षणात् ॥१४५ ॥

अन्वयः—तत्कुचे नखम् आरोप्य चमत्कुर्वन् तया ईक्षितः सः ताम् अवादीत् —एषः ते हृदिस्थं किं मां न अभिनत् ?

हिन्दी—उस (दमयन्ती) कुच पर नख-क्षत कर (स्वयं) चमक उठता, उस (दमयन्ती) के द्वारा (कुछ पीड़ाजन्य कोप पूर्वक) देखा गया वह (नल) उस (दमयन्ती) से बोला— इस (मेरे नख) ने तेरे (दमयन्ती) के हृदय (वक्ष) में स्थित मुझे (नल को) क्या नहीं विक्षत किया ?

टिप्पणी—मानव-स्वभाव है कि किसी प्रियजन को अपने प्रमाद से कष्ट पहुँच जाय तो व्यक्ति ऐसा चमक उठता है (कष्ट सा प्रदर्शित करता है) कि जैसे स्वयम् उसे पीड़ा पहुँची हो। कामोत्साह में नल ने दमयन्ती के स्तन पर थोड़ा कुछ गहरा नख-क्षत कर दिया और दमयन्ती की पीड़ा की संभावना से स्वयं चमक उठा। पीड़ा क्षुब्ध दमयन्ती ने जब उसकी ओर देखा तो कहने लगा कि इस नख ने उस भी पीड़ा पहुँचायी है। नल दमयन्ती के 'मनबसिया' हैं, नख इतना गहरा लगा है कि वक्ष के अन्तस् में स्थित नल पर भी घाव कर गया है। आशय यह कि स्वयं कष्ट देकर भी प्रिया से सहानुभूति जतायी॥ १४५॥

अहो! अनौचितीयं ते हृदि शुद्धेऽप्यशुद्धवत्।
अङ्कं खलैरिवाकल्पि नखैस्तीक्ष्णमुखैर्मम॥ १४६॥

जीवातु—अहो इति। हे प्रिये! तीक्ष्णमुखैः निष्ठुरवाग्भिः, खलैरिव असज्जनैरिव, तीक्ष्णमुखैः निशिताग्रैः, मम मे, नखैः करस्हैः, शुद्धे अदुष्टेऽपि, ते तव, हृदि हृदये, कुचे इति यावत्, अशुद्धवत् अशुद्धे इव, सदोषे इवेत्यर्थः। 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्ययः। अङ्कं कलङ्कं, चिह्नञ्च, अकल्पि कल्पितः कृत इत्यर्थः, अहो! इति खेदे, इयं निर्दोषेऽपि दोषकल्पना, अनौचिती अयुक्तम्, अभूदिति शेषः। अहो इति 'ओत्' इति प्रगृह्यसंज्ञाया 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति प्रकृतिभावः॥ १४६॥

अन्वय—अहो, इयम् अनौचिती, खलैः इव मम तीक्ष्णमुखैः नखैः ते शुद्धे हृदि अपि अशुद्धवत् अङ्कं अकल्पि।

हिन्दी—खेद है कि यह बड़ा अनुचित हुआ कि निष्ठुर वचन कहने वाले दुर्जनों के सदृश तीखी नोकों वाले मेरे (नल के) नखों ने तेरे (दमयन्ती के) निर्दोष व्यक्ति सम शुद्ध हृदय (वक्ष, उरोज) पर सदोष व्यक्ति के सदृश दोष (चिह्न और रक्तयुक्तता) बना दिया।

टिप्पणी—नल ने स्वयं नख-क्षत बना कर भी सहानुभूति-प्रदर्शन कर रूठी प्रिया को प्रसन्न करने की चेष्टा की। प्रिया के वक्ष पर क्षत बना कर रुधिरप्लुत कर देने वाले नखों की निन्दा करके कि ये दुष्टजनों के तुल्य हैं, जो निर्दोष पर भी दोष लगा देते हैं। दमयन्ती के स्तनों पर घाव बना दिया,

निर्दोष में रक्त लगा दिया, क्षत-चिह्न बना दिया। यह बड़ा अनुचित कार्य हुआ कि निर्दोष में 'दोष-कल्पना' हुई ॥ १४६ ॥

यच्चुम्बति नितम्बोरु यदालिङ्गति च स्तनौ।
भुङ्क्ते गुणमयं तत्ते वासः शुभदशोचितम् ॥ १४७ ॥

जीवातु—यदिति। हे प्रिये! गुणमयं सूक्ष्मतन्तुरचितं सौशील्यादि-विशिष्टञ्च, ते तव, वासः वसनं, कश्चित् सुभगपुरुषश्च। कर्तृ। नितम्बौ ऊरू च नितम्बोरु नितम्बद्वयं सक्थिद्वयञ्च। प्राण्यङ्गत्वात् द्वन्द्वैकवद्भावः। यत् चुम्बति स्पृशति, ओष्ठाधरस्पृष्टं करोति च, यच्च स्तनौ कुचौ, आलिङ्गति आश्लिष्यति, तत् शुभदशानां शुभानां शोभनानाम्, दशानां प्रान्तवर्तितन्तू-नाम्, ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धशुक्रादिशुभग्रहावस्थानाञ्च, उचितम् अर्हम्, भुङ्क्ते एकत्र—स्पर्शरूपं भोगं करोति, सुदशयदशासमन्वितवसनस्यैव तव प्रियत्वेन तद्धारणादिति भावः। अन्यत्र—भोगात्मकं सुखमनुभवति, शुभग्रहाणां दृष्टिं विना तव नितम्बादिस्पर्शरूपभोगासम्भवादिति भावः। 'दशाऽवस्थादीपवर्त्योः वस्त्रान्ते भूम्नि योषिति' इति मेदिनी। 'शुभग्रहदशायां हि भुङ्क्ते जनः शुभं फलम्' इति ॥ १४७ ॥

अन्वयः—गुणमयं ते वासः यत् नितम्बोरु चुम्बति यत् च स्तनौ आलिङ्गति तत् शुभदशोचितं भुङ्क्ते।

हिन्दी—धागों से युक्त (धागों से बुना) तेरा (दमयन्ती का) वस्त्र (परिधान) जो नितम्ब और जंघाओं का चुम्बन कर रहा है और जो दोनों स्तनों का आलिङ्गन कर रहा है, सो शुभ अर्थात् सुन्दर दशों अर्थात् आँचल के धागों का प्राप्य भोग रहा है, जैसे कि गुण—सुशीलता, उदारता आदि से युक्त पुरुष शुभ-ग्रहदशाओं में प्राप्य सुख भोग रहा हो।

टिप्पणी—दमयन्ती के नितम्बों, जंघाओं और स्तनों को आवृत करते अतएव उनका स्पर्श करते परिधान को यहाँ उस गुणी पुरुष के समान सौभाग्यशाली बताया गया है, जो अपनी शुभ-ग्रह-दशा में दमयन्ती जैसी रमणीरत्न का अंग-स्पर्श पाता है। 'गुण' और 'दशा' का अर्थ 'धागा' और 'प्रांततंतु' भी है और गुण 'औदार्यादि' और ग्रह-दशा भी है। संकेत यह कि

नल से अधिक भाग्यवान् यह परिधान ही है, जो यह सुख पा रहा है, अर्थात् नल को भी चुम्बन-आलिङ्गनादि का सौभाग्य मिलना चाहिए। दमयन्ती-सी 'शुभदशा' (सुभागी रमणी) ऊपर है, नल 'सगुण' है ही, फिर क्यों उसका भाग्य सदय नहीं होता ? ॥ १४७ ॥

लीनचीनांशुकं स्वेदि दरालोक्य विलोकयन्।
तन्नितम्बं स निःश्वस्य निनिन्द दिनदीर्घताम् ॥ १४८ ॥

जीवातु—लीनेति। स नलः, स्वेदि सात्त्विकोदयात् घर्माक्तम्, अत एव लीनं नितम्बेन सह एकीभूतभावेन संलग्नम्, चीनांशुकं सूक्ष्मवस्त्रविशेषो यत्र तादृशम्, अत एव दरालोक्यम् ईषल्लक्ष्यम्, तस्याः भैम्याः, नितम्बं श्रोणीदेशम्, विलोकयन् पश्यन्, निःश्वस्य दीर्घं श्वासवायुं त्यजन्, इति विषादानुभवोक्तिः, दिनस्य दिवसस्य, दीर्घताम् अधिककालं व्याप्य स्थायिताम्, निनिन्द गर्हयामास। दिवा सुरतनिषेधात् तत्करणाक्षमत्वाद् विषादं प्राप्य दिवावसानमभिललाष च इति भावः ॥ १४८ ॥

अन्वयः—स स्वेदि लीनचीनांशुकं दरालोक्यं तन्नितम्बम् आलोक्य निःश्वस्य दिनदीर्घतां निनिन्द।

हिन्दी—उस (नल) ने स्वेद-सिक्त (सात्त्विक स्वेद से भीगे) अतएव चीनांशुक (झीने वस्त्र) के चिपक जाने से झलकते उस (दमयन्ती) के नितम्ब को देखकर (विषाद पूर्वक) निःश्वास भर दिन की लम्बाई की निन्दा की।

टिप्पणी—दमयन्ती को भी प्रिय स्पर्श और ऊष्मा के कारण पसीना आ रहा था। उसका पतला परिधान उसके शरीर में-नितम्ब में चिपक गया और उसकी झलक वस्त्र में परिलक्षित होने लगी। उस झलक को देख नल का चित्त काम क्रीडा के निमित्त विचलित होने लगा। किन्तु दिन में रति क्रीडा वर्जित थी, वह तो रात में ही सम्भव थी, अतः नल दिन की लम्बाई को कोसने लगे। कब यह दिन समाप्त हो और रात का आगमन हो कि 'प्रिया-संग' प्राप्त हो ? निःश्वास विषाद-सूचक है ॥ १४८ ॥

देशमेव ददंशासौ प्रियादन्तच्छदान्तिकम्।
चकाराधरपानस्य तत्रैवालीकचापलम् ॥ १४९ ॥

जीवातु—देशमिति। असौ नलः, प्रियादन्तच्छदस्य भैम्याः अधरस्य, अन्तिकं समीपवर्तिनम्, देशं स्थानमेव, चिबुकमेवेत्यर्थः। ददंश दष्टवान्, तथा तत्रैव दष्टदेशे एव, अधरपानस्य निम्नोष्ठचुम्बनस्य, अलीकचापलं मिथ्याचपलताम्, निरर्थकप्रयासमित्यर्थः। चुम्बनशब्दतुल्यं शब्दमिति भावः। चकार विदधे। चुम्बनस्य रत्युद्दीपकत्वात् रमणाङ्गत्वाच्च दिवा च रमणनिषेधात् तथा 'रतिकाले मुखं स्त्रीणां शुद्धमाखेटके शुनाम्' इति स्मृत्या तस्य कालान्तरे अशुद्धत्वाच्च न तु अधरं चुचुम्ब इति भावः॥ १४९॥

अन्वयः—असौ प्रियादन्तच्छदान्तिकं देशम् एव ददंश, तत्र एव अधरपानस्य अलीकचापलं चकार।

हिन्दी—इस (नल) ने प्रिया (दमयन्ती)-अधर के समीपस्थ देश (कपोल-चिबुक आदि) में ही दन्तक्षत किया और वहीं अधर-पान (अधर-चुम्बन) की मिथ्या चपलता (झूठा प्रयास) की।

टिप्पणी—नल इतने कामाधीर हो गये थे नितम्ब की झलक पाकर कि वे त्वरा में अधर-चुम्बन के स्थान में उसके निकटस्थ कपोल, चिबुक आदि में अत्यन्त आसक्ति के साथ चुम्बन करते दंत-क्षत बनाने लगे। अत्यन्त रिरंसा (रति-कामना) होने के कारण उन्हें अधर और उसके निकटस्थ अंगों में अन्तर ही न लग रहा था और वे उन स्थानों का चुम्बन करते हुए ऐसे 'चुंकारादि' कर रहे थे, जैसे अधर-चुम्बन ही कर रहे हों—अधर-चुम्बन का मिथ्या-प्रयास, मिथ्या चंचलता। नारायण की टिप्पणी है कि अत्यन्त रिरंसु होने के कारण अधर-चुम्बन में जितना विलम्ब होता है, उतने विलंब को भी न सह पाता नल अधर के भ्रम से उसके निकटस्थ प्रदेश में ही दंत क्षत आदि करने लगा। कामाधीर का यह स्वभाव ही होता है—'अतिरिरंसोरियं जातिः।' मल्लिनाथ का मत है कि चुम्बन रत्युद्दीपक और रमण का अंग है और दिन में रमण का निषेध है, और स्मृति में यह भी कहा गया है कि रतिकाल में स्त्रियों का और आखेट में कुत्तों का मुख शुद्ध होता है, कालांतर में अशुद्ध होता है, इसलिए रमणांग अधर-चुम्बन भी नल ने न किया; क्योंकि दिन में रमण का निषेध है। जब रमण त्याज्य है तो उसका अंग अधर-चुम्बन भी त्याज्य। जब रमण-काल नहीं रहा, तो मुख

भी शुद्ध न रहा। उसका चुम्बन नल ने न किया, निकटस्थ देश में दतक्षत किया। हिन्दी-व्याख्याकार की धारणा है कि मल्लिनाथ की अपेक्षा नारायण की टिप्पणी तर्कसंगत है। मल्लिनाथ ने कदाचित् नल की 'आत्मविरसहृता' (१८।२) को ध्यान में रखकर मतव्य प्रकट किया है। आगामी श्लोक नल की अतिरिरंसा का द्योतक है ॥ १४९ ॥

न क्षमे चपलापाङ्गि ! मोढुं स्मरशरव्यथाम् ।
तत् प्रसीद प्रसीदेति स तां प्रीतामकोपयत् ॥ १५० ॥

जीवातु—अथास्य कालक्षेपस्वलक्षणमौत्सुक्यमेव श्लोकद्वयेनाह—नेत्यादि। चपलापाङ्गि ! हे चञ्चलाक्षि ! स्मरशरैः कामबाणैः, या व्यथा वेदना तां तत्कृतां पीडाम्, सोढुं सन्तुम्, न क्षमे न शक्नोमि। तत् तस्मात्, प्रसीद प्रसीद प्रसन्ना भव प्रसन्ना भव, सुरताय सदया भव इति भावः। इत्येवमुक्त्वा, स नलः, प्रीतां परिहासादिभिः प्रियवाक्यशतेन च मुदिताम् अपि, तां प्रियाम्, अकोपयत् अक्रोधयत्, दिवा मैथुनस्य निषिद्धत्वात् तत्प्रार्थनया कोप इति बोध्यम् तादृश-भावश्च कालक्षेपायैव इत्यपि मन्तव्यम् ॥ १५० ॥

अन्वयः—चपलापाङ्गि, स्मरशरव्यथां सोढुं न क्षमे, तत् प्रसीद प्रसीद-इति स प्रीतां ताम् अकोपयत्।

हिन्दी—'हे चपल कटाक्षमयि (प्रिये दमयन्ति), काम बाणों की पीड़ा अब नहीं सही जाती, सो प्रसन्न हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ'—यह कहकर उस (नल) ने प्रसन्न उस (दमयती) को रुष्ट कर दिया।

टिप्पणी—नल ने कामाधीर हो दमयन्ती की चाटुकारीतापूर्वक विनय की कि वह रति क्रीडा के लिए प्रसन्न हो जाय और नल की तीव्र आकांक्षा पूर्ण कर उसे कामपीड़ा से मुक्त कराये। दमयती अब तक हुए हास-परिहास और चुम्बन आलिंगनादि से प्रसन्नचित्त थी, किंतु दिन में निषिद्ध कामाराधना के प्रस्ताव पर वह नल से क्रुद्ध हो गयी। नारायण-मल्लिनाथ आदि का मतव्य है कि नल ने जान बूझकर प्रिया के समक्ष अनुचित प्रस्ताव रख उसे रुष्ट कर दिया कि काल क्षेप में सुविधा हो, रूठी प्रिया को मनाते मनाते ही दिन बीत जाय और फिर रूठी प्रिया को मनाने में भी एक आनन्द है। यदि प्रिया रुष्ट न होगी तो फिर मनाने का आनन्द कैसे मिलेगा?—'प्रसादनमपि कोपं विना न सम्भवति।' (नारायण) ॥ १५० ॥

नेत्रे निषधनाथस्य प्रियाया वदनाम्बुजम्।
ततस्स्तनतटौ ताभ्यां जघनं घनमीयतुः॥ १५१ ॥

जीवातु---नेत्रे इति। निषधनाथस्य नलस्य, नेत्रे दृशौ, प्रियायाः कान्तायाः, वदनाम्बुजं मुखकमलम्, ईयतुः प्रापतुः ततः वदनाम्बुजात्, स्तनतटौ कुचोत्सङ्गभागौ, ईयतुः, ताभ्यां स्तनतटाभ्यां समीपात्, घनं निबिडम्, जघनं नितम्बम्, ईयतुः। अतीव कामपीडितत्वादिति सर्वत्र भावः। अत्र नेत्रयोः क्रमात् अनेकस्थानसंवादात् 'क्रमेणकमनेकस्मिन्' इत्याद्युक्तलक्षण-पर्यायालङ्कारः॥ १५१ ॥

अन्वयः--निषधनाथस्य नेत्रे प्रियायाः वदनाम्बुजं ततः स्तनतटौ ताभ्यां घनं जघनम् ईयतुः।

हिन्दी---निषधराज (नल) के नेत्र प्रिया (दमयन्ती) के मुख कमल को प्राप्त हुए, वहाँ से (नीचे उतर) स्तनों को और उनसे पीन जघन को प्राप्त हुए।

टिप्पणी---चुम्बन करते कामातुर नल के नेत्र क्रमशः प्रिया के कमल-से मुख, तदनंतर कुच-कलश और तदनंतर पीवर जघन-स्थल को मुग्ध भाव से निहारने लगे। इस क्रमिक भाव से पड़ती दृष्टि द्वारा नल की सुरतोत्सुकता और काम-पीडा द्योतित की गयी है। नारायण का मत है 'मुखांबुज, स्तनतट, घनजघन' पदों द्वारा सादरावलोकनार्हता सूचित की गयी है।' 'घन' को क्रिया विशेषण भी माना जा सकता है, अर्थात् गहरी दृष्टि पड़ी। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ नेत्रों का क्रमपूर्वक अनेक स्थान-संवाद कहा गया है, अतः पर्यायालंकार है॥ १५१ ॥

इत्यधीरतया तस्य हठवृत्तिविशङ्किनी।
झटित्युत्थाय सोत्कण्ठमसावन्वसरत् सखीः॥ १५२ ॥

जीवातु---इतीति। इति उक्तप्रकारया, तस्य स्वप्रियस्य नलस्य, अधीरतया कामजचाञ्चल्येन हेतुना, हठवृत्तिं बलात्कारप्रवृत्तिम्, विशङ्कते सम्भावयतीति सा तादृशी, असौ भैमी, झटिति सहसा, उत्थाय उद्गम्य, नलवक्षोदेशादिति भावः। सोत्कण्ठं सोत्कलिकम्, त्वरितप्रस्थानार्थमुत्सुका सतीत्यर्थः। सखीः वयस्याः, अन्वसरत् अन्वगच्छत्॥ १५२ ॥

अन्वय.—इति तस्य अधीरतया हठवृत्तिविशङ्किनी भमी झटिति उत्थाय सोत्कण्ठं सखीः अन्वसरत् ।

हिन्दी—इस प्रकार उस (नल) की कामाधीरता के कारण बलात् भोग की आशंका करती वह (दमयन्ती) झट से (नल-वक्ष से) उठकर उत्सुकता के साथ सखियों की अनुगामिनी हुई ।

टिप्पणी—नल ने स्पष्टतः रति निवेदन कर दिया था (श्लोक १५०) और अब क्रमशः मुग्ध और अधीर दृष्टि से वह उसके मुख, स्तन और जघनस्थल का निरीक्षण करने लगा था। नल के इस अधीर भाव को देख समझ कर दमयन्ती को आशंका होने लगी कि कहीं नल अब चित्त वश में न रख सके और मर्यादा छोड़ दिन में ही दमयन्ती की स्वीकृति के बिना ही भोग में हठात् प्रवृत्त हो जाय। इसके निवारणार्थ वह झट से नल के वक्ष से उठ गयी और त्वरया सखियों की ओर चल दी। नल की दमयन्ती के सम्मुख उत्तरलता सम्भव थी। हंस ने कहा था—'धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि। इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥ नै॰ च॰ ३।११६)। सो नल की उत्तरलता असम्भाव्य नहीं थी। चाँदनी को देख सागर धैर्य छोड़कर मर्यादा का उल्लंघन कर सकता है। नारायण की टिप्पणी कि अत्यधिक स्मरपरवशता रोष-निमित्तक होती है और रसत्याग भी नायक की नीरसता का आपादन करता है, इस लिए इन दोनों से बचाने के लिए रसान्तर-द्वारा सयोग-शृंगार को परा-काष्ठा तक पहुँचा श्रीहर्ष कवि ने दमयन्ती और नल की भिन्न-भिन्न स्थिति-कथन का इस प्रकार उपक्रम किया ॥ १५२ ॥

न्यवारीव यथाशक्ति स्पन्दं मन्दं वितन्वता ।
भैमी कुचनितम्बेन नलसम्भोगलोभिना ॥ १५३ ॥

जीवातु—न्यवारीवेति । भैमी दमयन्ती, नलस्य नैषधस्य, सम्भोगलो-भिना मर्दनस्पर्शनादिरूपसम्भोगलालसेन, कुचनितम्बेन स्तनद्वयेन जघनयुग्मेन च । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भाव । अतएव स्पन्दं भैम्या एव गमनम्, मन्दं मन्थरम्, स्वल्पीभूतमित्यर्थ । वितन्वता कुर्वता सता, अति प्रतिबध्नता इत्यर्थ । आत्मनोऽतिपीनत्वेन गुरुभारत्वादिति भाव । यथाशक्ति सामर्थ्यानुसारेण, न्यवारीव निवारिता, सम्भोगप्रतिबन्धात् खिन्नेन सता अलब्धभोगा मा

गच्छ इति न्यषेधीव इत्युत्प्रेक्षा ॥ १५३ ॥

अन्वयः—नलसम्भोगलोभिना कुचनितम्बेन स्पन्दं मन्दं वितन्वता भैमी यथाशक्ति न्यवारि इव ।

हिन्दी—नल संभोग के लोभी स्तनों और नितंबों ने स्पंदन (गति) को मंद (धीमा) करते हुए भीमसुता (दमयन्ती) को सामर्थ्यानुसार (बाहर जाने से) रोका ।

टिप्पणी—मद-मंथरगति से जाती दमयंती धीरे-धीरे बाहर जा रही थी । इस पर उद्भावना है कि कुचों को मर्दित होने में आनंद पाने की चाह पड़ गयी थी और नितंबों को कर-स्पर्श का चाव पड़ गया था । नल-द्वारा प्राप्त इस भोग की इच्छा से जैसे कुच-नितंब ने सामर्थ्यानुसार दमयंती के स्पंदन में बाधा दी कि अलब्धभोगा मत जाओ प्रिय को खिन्न करके । आशय यह कि पीन स्तन-नितंब भार से आक्रान्त दमयंती झटिति बाहर न जा सकी; मृदु-मंथर गति से ही वह चली । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ १५३ ॥

अपि श्रोणिभरस्वैरां धर्तुं तामशकन्न सः ।
तदङ्गसङ्गजस्तम्भो गजस्तम्भोरुदोरपि ॥ १५४ ॥

जीवातु—अपीति । सः नलः, गजस्तम्भौ आलाने इव, हस्तिबन्धनस्थूणे इवेत्यर्थः । उरू महान्तौ, दोषौ भुजौ यस्य सः तादृशोऽपि महाभुजोऽपि । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः । तस्याः दमयंत्याः, अङ्गसङ्गात् देहस्पर्शात्, जायते उत्पद्यते इति तादृशः, स्तम्भः निष्क्रियाङ्गतालक्षणसात्त्विकविकारः यस्य सः तादृशः सन्, श्रोणिभरेण नितम्बभारेण, स्वैरां मन्दां मन्दगमनामपि इत्यर्थः । 'मन्दस्वच्छन्दयोः स्वैरम्' इत्यमरः । तां प्रियाम्, धर्तुं ग्रहीतुम्, निरोद्धुमिति यावत् । न अशकत् न समर्थोऽभूत् । स्वयं निर्व्यापारस्य किं सहकारिसम्पदा ? इति भावः ॥ १५४ ॥

अन्वयः—गजस्तम्भोरुदोः अपि तदङ्गसङ्गजस्तम्भः सः श्रोणिभरस्वैराम् अपि तां धर्तुं न अशकत् ।

हिन्दी—हस्ति-बंधन के स्तंभों-सदृश विशाल-पुष्ट बाहुयुक्त होकर भी उस (दमयन्ती) के (कुच-जघनादि) अंगों की संगति से उत्पन्न स्तब्धता

(सात्त्विकभावनिष्क्रियता) से आक्रांत वह (नल) नितंब भार के कारण मंदगति से जाती भी उस (दमयंती) को पकड़ कर न रोक सका।

टिप्पणी—नितंब भाराक्रांता दमयंती मंथरगति से बाहर जा रही थी और नल की भुजाएँ पुष्ट और विशाल थीं, ऐसी कि जैसे हाथी-बाँधने के दो स्तंभ हों, किंतु फिर भी जाती गजगामिनी दमयंती को वह पकड़कर रोक न पाया। दमयंती के अंग स्पर्श के कारण वह इतना अलसा गया था कि निष्क्रिय हो स्तब्ध बैठा देखता रह गया। 'गजस्तंभ-सी पुष्ट बाहों वाले भी नल के लिए दमयंती के अंग 'सगज-स्तंभ' (अच्छे हाथियों के बंधन स्तंभ) बन गये। गज-शुंडा-सी नल की बाहु दमयन्ती के बड़े-बड़े हाथियों के बंधन-स्तंभ सदृश अंगों में बँधे रह कर निष्क्रिय हो गये थे ॥ १५४ ॥

आलिङ्गालिङ्ग तन्वङ्गि ! मामित्यर्द्धगिरं प्रियम् ।
स्मित्वा निवृत्य पश्यन्ती द्वारपारमगादसौ ॥ १५५ ॥

जीवातु—आलिङ्गेति। असौ भैमी, तन्वङ्गि ! हे कृशाङ्गि ! मां नलम् आलिङ्ग आलिङ्ग आश्लिष आश्लिष, इति एवम्, अर्द्धा अन्यकर्तृकश्रवण-भयाद् अर्द्धस्फुटा, गौ वाक् यस्य तं तादृशम्, प्रियं पतिम्, स्मित्वा मन्द हसित्वा, निवृत्य, परावृत्य, पश्यन्ती अवलोकयन्ती सती, द्वारस्य कपाटस्य, पारं परभागम्, अगात् गतवती। द्वारम् अतिचक्राम इत्यर्थः ॥ १५५ ॥

अन्वयः—'तन्वङ्गि, माम् आलिङ्ग आलिङ्ग',—इति अर्द्धगिरं प्रियं स्मित्वा निवृत्य पश्यन्ती असौ द्वारपारम् अगात्।

हिन्दी—'हे सुकुमार अंगों वाली (दमयन्ति), मेरा आलिंगन करो—मेरा आलिंगन करो'—इस प्रकार अस्फुट (गद्गद) स्वर में अधूरा ही वाक्य कहते प्रिय (नल) को मुस्कुराकर मुड़कर देखती वह (दमयंती) द्वार के पार निकल गयी।

टिप्पणी—झटिति उठकर चली जाती प्रिया को नल स्तब्ध देखता रह गया, उसी दशा में कामोन्माद से अधीर वह गद्गद स्वर में उसे पुकारने लगा कि दमयन्ती उसका आलिंगन करे और सुख दे, तब जाय। ऐसे, तृषित छोड़कर न जाय। प्रिय की इस आकुल स्थिति पर दमयन्ती ने मुस्कुराकर,

ग्रीवा तीरछीकर, मुड़कर एक बार उसे देखा और द्वार पार कर गयी। यह स्मित, यह वलितग्रीवता–शृङ्गार रस के अंगीभूत अलंकार हैं। दमयन्ती का यह ग्रीवा मोड़कर मुस्कुराते हुए देखना नारीजनोचित 'ललित' है, जिसके द्वारा वह प्रिय को यह संकेत भी दे गयी कि इस समय दिन है, अधीरता उचित नहीं, वह रात्रि की प्रतीक्षा करे ॥ १५५ ॥

प्रियस्याप्रियमारभ्य तदन्तर्दूनयाऽनया।
शेके शालीनयाऽऽलिभ्यो न गन्तुं न निर्वर्त्तितुम् ॥ १५६ ॥

जीवातु—प्रियस्येति। प्रियस्य पत्युः नलस्य, अप्रियम् अतिक्रमरूपम् अप्रीतिजनकव्यापारम्, तं विहाय गमनरूपव्यापारमित्यर्थः। आरभ्य आचरित्वा, तेन अप्रियाचरणेन, तदित्ययम् 'तम्' इति पाठे–तं पूर्वोक्तरूपमप्रियमित्यर्थः। अन्तः अन्तःकरणे, दूनया परितप्तया। 'ओदितश्च' इति निष्ठा 'न'-त्वम्। शालीनया अधृष्टया, स्वभावत एव सलज्जया इत्यर्थः। अनया भैम्या, आलिभ्यः सखीभ्यः, गन्तुम् अपि यातुमपि। 'गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि' इति चतुर्थी। न शेके न शक्तम्। भावे लिट्। अन्तर्दूनत्वादिति भावः। तथा निर्वर्त्तितुं प्रियं प्रत्यागन्तुञ्च, प्रियसन्निधौ प्रत्यावर्तनं कर्त्तुमित्यर्थः। न शेके इत्यनेनान्वयः। शालीनतयैवेति भावः। लज्जाविषादाभ्याम् उभयत आकृष्यमाणत्वादिति तात्पर्यम् ॥ १५६ ॥

अन्वयः—प्रियस्य अप्रियम् आरभ्य तदन्तर्दूनया; शालीनया अनया न आलिभ्यः गन्तुं शेके, न निर्वर्त्तितुम्।

हिन्दी—प्रिय (नल) का अनचाहा करके (मनचीता न करके) उसके कारण अन्तःकरण में क्षुब्ध स्वभावतः लज्जालु इस (दमयन्ती) से न तो सखियों के निकट जाया गया और न (प्रियसमीप) लौटा ही गया।

टिप्पणी—दमयंती प्रिय को अतृप्त छोड़कर चली तो गयी किंतु स्वामी का अभीष्ट-संपादन उससे न हो सका, अतः वह क्षुब्ध थी। स्वभाव से वह शालीन थी—अधृष्ट, लज्जावती। इस कारण क्षुब्धमना वह न तो अपनी सखियों के पास ही जा सकी और न लज्जा के कारण नल के पास ही लौट पायी। कहीं नल और सखियाँ उसे निर्लज्ज न समझ लें कि चली तो गयी थी, पर क्रीडा-विलासार्थ फिर लौट गयी। क्षण भर वह इसी द्विविधा में

खड़ी रही, कालिदास की 'मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया' की भाँति 'न ययौ न तस्थौ।' लज्जा-विषाद उसे दोनों ओर से खींच रहे थे ॥ १५६ ॥

अकथयदथ वन्दिसुन्दरी द्वाःसविधमुपेत्य नलाय मध्यमह्नः।
जय नृप ! दिनयौवनोष्मतप्ता प्लवनजलानि पिपासति क्षितिस्ते ।१५७।

जीवातु--अकथयदिति। अथ दमयन्तीनिर्गमनानन्तरम्, वन्दिसुन्दरी काचित् वैतालिकस्त्री, शुद्धान्त पुरे पुरुषप्रवेशनिषेधादिति भावः। द्वाःसविध द्वारसमीपम्, उपेत्य समागत्य, नृप ! हे राजन् ! जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व, अह्न मध्य मध्याह्नकाल समागत इत्यर्थः। अत एव दिनस्य दिवसस्य, यौवन तारुण्यम्, पूर्णावस्था इत्यर्थः। मध्याह्न इति यावत्। तस्य ऊष्मणा सन्तापेन, तप्ता उष्णीभूता, क्षिति धरणी, त तव, प्लवनजलानि स्नानोदकानि, पिपासति पातुमिच्छति, तापस्य पिपासाहेतुत्वादिति भाव.। इति नलाय नैषधाय, अकथयत् अवदत्, माध्याह्निकस्नानकालोऽयमवधार्यतामिति तात्पर्यं.।१५७।

अन्वय —अथ वन्दिसुन्दरी द्वा.सविधम् उपेत्य नलाय अकथयत्-नृप, जय, अह्नः मध्यम्, दिनयौवनोष्मतप्ता क्षितिः ते प्लवनजलानि पिपासति।

हिन्दी--तत्पश्चात् (दमयन्ती के चले जाने के अनन्तर) एक सुन्दरी चारणी ने द्वार के निकट उपस्थित हो नल से निवेदन किया—'महाराज जयी हों, दिन का मध्य (दोपहर) हो गया, दिन के तारुण्य-ताप से तप्त धरती आप (महाराज नल) के स्नान-जल की प्यासी (पीने की इच्छुक) है।'

टिप्पणी—शुद्धान्तःपुर मे पुरुष-प्रवेश वर्जित था, अतः मध्याह्न होने और मध्याह्न की विधि स्नान-पूजादि-सपादन के निमित्त वैतालिक सुन्दरी ने पूर्ण राजोचित मर्यादा और शिष्टाचार के साथ महाराज नल से तत्सबद्ध निवेदन किया। नारायण ने प्रथम चरण मे 'अवकयत्' पाठतर को मान्यता दी है। निवेदन का भाव इससे अधिक स्पष्ट होता है। इस और दो आगामी श्लोको (सख्या १५८–१५९) मे पुष्पिताग्रा छद है ॥ १५७ ॥

उपहृतमधिगङ्गमम्बु कम्बुर्च्छवि तव वाञ्छति केशमङ्गिसङ्गात्।
अनुभवितुमनन्तरं तरङ्गासमशमनस्वसृमिश्रभावशोभाम् ॥ १५८॥

जीवातु—उपेति । किञ्च, कम्बुच्छवि शङ्खच्छायम्, शङ्खवत् शुभ्रप्रभमित्यर्थः । अधिगङ्गं गङ्गायाः। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । उपहृतम् आनीतम्, कलशेन गङ्गातः समानीतमित्यर्थः । अम्बु गाङ्गं जलम् इत्यर्थः । तव ते, केशभङ्ग्याः कुटिलकृष्णकुन्तलजालस्य, सङ्गात् स्पर्शात्, अनन्तरं सङ्गात् परमित्यर्थः । तरङ्गैः ऊर्मिभिः, असमायाः विषमायाः, निम्नोन्नतायाः इत्यर्थः । शमनस्वसुः अतिकृष्णायाः यमुनायाः, मिश्रभावस्य मेलनस्य, शोभां सौन्दर्यम्, अनुभवितुं प्राप्तुम्, वाञ्छति इच्छति । शुभ्रगङ्गाजलमध्ये कुटिलकृष्णकेशकलापं निमज्ज्य स्नानं कुरु, ततश्च शुभ्रतरस्य गाङ्गजलस्य कृष्णतरकेशपाशसङ्गे प्रयागजलशोभा भविष्यतीति भावः । निदर्शनालङ्कारः ॥ १५८ ॥

अन्वयः—अधिगङ्गम् उपहृतं कम्बुच्छवि अम्बु तव केशभङ्गिसङ्गात् अनन्तरं तरङ्गासमशमनस्वसृमिश्रभावशोभाम् अनुभवितुं वाञ्छति ।

हिन्दी—गंगा से लाया गया शंख-सम (शुभ्र) जल आप (महाराज नल के कुटिल, कृष्ण कुन्तलजाल के संग के अनन्तर ऊँची-ऊँची तरंगों वाली; से गंगा मिश्र कृष्णवर्णा यम-भगिनी (यमुना) से संगम-शोभा का अनुभव चाहता है ।

टिप्पणी—भागीरथी गंगा का जल शुभ्र होता है और यमुना का नील श्याम । प्रयाग में जहाँ गंगा यमुना मिलती हैं, वह शुभ्र-नील-संगम दर्शनीय है । कालिदास ने 'रघुवंश' में इसका सुन्दर वर्णन किया है । महाराज नल के स्नान करते समय गंगा का शुभ्रजल जब महाराज नल के कालिंदी की तरंगों-सदृश कुटिल और उसके जल-सम कृष्ण कुंतलों से संमिश्र होगा तो गंगा-यमुना-संगम की शोभा हो जायेगी । गंगा-जल-द्वारा उस शोभानुभव की कामना का तात्पर्य है कि गंगाजल लाया गया है, वे स्नान करें । मल्लिनाथ के अनुसार निदर्शनालंकार ॥ १५८ ॥

तपति जगत एव मूर्ध्नि भूत्वा रविरधुना त्वमिवाद्भुतप्रतापः ।
पुरमथनमुपास्य पश्य पुण्यैरघरितमेनमनन्तरं त्वदीयैः ॥ १५९ ॥

जीवातु—तपतीति । त्वम् इव भवानिव अद्भुतप्रतापः आश्चर्यतेजःसम्पन्नः एकत्र–कोपदण्डजप्रभावशाली, अन्यत्र–मध्याह्नकालिकप्रखरकरसम्पन्न इत्यर्थः । रविः सूर्यः, अधुना इदानीम्, जगतः पृथिव्याः, मूर्ध्नि एव शिरसि एव,

आकाशस्य उपर्यवेति यावत्, भूत्वा स्थित्वा, तपति सन्तापं ददाति, एकत्र-दुर्जनान् शास्ति, अन्यत्र-जगन्ति सन्तापयतीत्यर्थः। तदनन्तरं ततश्च स्नानोत्तरकालम्, पुरमथनं शिवम्, उपास्य अर्चयित्वा, त्वदीयैः पुण्यैः तव सेवासुकृतैः, इवेति शेषः। अधरितं मस्तकोपरिभागात् व्यावितम्, तदा मध्याह्नापगमात् अधस्तात् गतमित्यर्थः। एनं रविम्, पश्य अवलोकय, प्रणामार्थमिति भावः। पुरहरप्रसादात् सूर्यादप्यधिकप्रतापो भविष्यसि इत्यर्थः ॥ १५९ ॥

अन्वय—अधुना अद्भुतप्रतापः रविः जगतः मूर्द्धिन एव भूत्वा त्वम् इव तपति, अनन्तरं पुरमथनम् उपास्य त्वदीयैः पुण्यैः अधरितम् एनं पश्य।

हिन्दी—सम्प्रति (मध्याह्नकाल-द्विप्रहरों में) असह्य ताप-युक्त सूर्य विश्व के मूर्धा (ठीक ऊपर) पर होकर, आश्चर्यजनक क्षात्रतेज सम्पन्न, आप महाराज (नल) जिस प्रकार संसार के सिर पर स्थित हो (सर्वोत्कृष्ट विराजमान हो) तपते हैं (दुष्टों का शासन कर तेजोमय व्याप्त होते हैं), उसी प्रकार तप रहा है (संतप्त कर रहा है)। स्नान के पश्चात् पुरारि (महादेव) की अर्चना कर आप (नल) के पुण्यों से निम्न हुए (अपराह्न काल में नीचे की ओर झुकते) इस (सूर्य) का दर्शन करें।

टिप्पणी—चारण तरुणी ने निवेदन किया कि महाराज अब स्नान करें, शिवार्चन करें और तदनंतर अपराह्न में सूर्य-दर्शन करें; क्योंकि यही आचार है। मध्याह्न में ठीक सिर के ऊपर तपते असह्य ताप सूर्य की तुलना महाप्रतापी, सर्वोत्कृष्ट नल से की गयी है। चारणी की कामना है कि हराराधन के फल स्वरूप महाराज सूर्य को 'अधरित' (निम्न, निम्नग) देखें अर्थात् सूर्याधिक तेजस्वी और प्रतापी हों। सम्प्रति रवितुल्य हैं, पुरारि-पूजनानंतर उससे अधिक हो जायेंगे ॥ १५९ ॥

आनन्दं हठमाहरन्निव हरध्यानार्चनादिक्षण-
स्यासत्तावपि भूपतिः प्रियतमाविच्छेदखेदालसः।
पक्षद्वारदिशं प्रति प्रतिमुहुर्दृङ्निर्गतप्रेयसी-
प्रत्यावृत्तिधिया दिशन् दृशमसौ निर्गन्तुमुत्तस्थिवान् ॥ १६० ॥

जीवातु—आनन्दमिति। हरस्य शिवस्य, ध्यानार्चनादिक्षणस्य मनःसमाधानपूर्वकचिन्तापूजादिसमयस्य। आसत्तौ समीपवर्तित्वेऽपि, प्रियतमा-

विच्छेदखेदेन प्रेयसीवियोगदुःखेन, अलसः जडः, कर्त्तव्यविमुख इत्यर्थः । असौ अयम्, भूपतिः राजा नलः द्राक् झटिति, निर्गतायाः निष्क्रान्तायाः, प्रेयस्याः प्रियतमाया भैम्याः, प्रत्यावृत्तिधिया पुनरागमनबुद्ध्या, पक्षद्वारदिशं प्रति-पार्श्ववर्तिकपाटप्रदेशमुद्दिश्य, तेनैव द्वारेण प्रत्यागमनसम्भवादिति भावः । प्रतिमुहुः पुनः पुनः, दृशं दृष्टिम्, दिशन् व्यापारयन्, हठं बलपूर्वकं यथा तथा, स्वत एव आनन्दलाभासम्भवादिति भावः । आनन्दं प्रेयसीसमागमहर्षम्, आहरन् इव परावर्त्तयन् इव, निर्गन्तु गृहात्, निर्यातुम् उत्तस्थिवान् शय्यातः उज्जगाम ॥ १६० ॥

अन्वयः—हरध्यानार्चनादिक्षणस्य आसत्तौ अपि प्रियतमाविच्छेद-खेदालसः द्राङ्निर्गतप्रेयसीप्रत्यावृत्तिधिया पक्षद्वारदिशं प्रति प्रतिमुहुः दृशं दिशन् हठम् आनन्दम् आहरन् इव असौ भूपतिः निर्गन्तुम् उत्तस्थिवान् ।

हिन्दी—शिव-शंकर के ध्यान-पूजनादि का समय संनिकट होने पर भी प्रियतमा (दमयंती) के वियोग से जात खिन्नता के कारण अलसाया, झट से बाहर चली गयी प्रिया के लौट आने की बुद्धि से बगल के द्वार की ओर वारंवार दृष्टि डालता, हठात् जैसे गये आनंद को लौटा लाता-सा यह भूमि-पति (नल) निकलने को उठ खड़ा हुआ ।

टिप्पणी—प्रियतमा दमयंती से अलग होकर, उसके इस प्रकार सहसा बाहर चले जाने से राजा नल खिन्न थे और अलसा रहे थे, यद्यपि मध्या-ह्नार्चन वेला संनिकट थी । वे बार-बार पार्श्व-द्वार की ओर देखते कि दमयंती कदाचित् लौट आये । अंत में निराश हो पलंग से उठ ही खड़े हुए, लगा कि महाराज चले गये आनंद (प्रिया) को बलपूर्वक पकड़ ही ले आयेंगे । भाव यह कि अंततः मध्याह्नाचारार्थ पर्यंक-त्याग करना ही पड़ा नल को । यह कदाचित् सोचा हो कि भोगानंद न मिला, अब योगानंद प्राप्त करें । नारायण के अनुसार इन चार अन्तिम श्लोकों द्वारा उत्तर सर्ग की संगति सूचित की गयी है ॥ १६० ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।

अन्याक्षुण्णरसप्रमेयभणितौ विंशस्तदीये महा-
काव्येऽत्र व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १६१ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति । अन्यैः अपरैः, अक्षुण्णाः अस्पृष्टाः, पूर्वैश्च अनालोचिता इत्यर्थः । रसाः शृङ्गारादयः, प्रमेयाः वाक्यार्थाश्रयाः, याभु भणितिषु वाक्येषु तस्मिन् । 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवत्' इत्यादिना पुंवद्भावः । तदीये श्रीहर्षकृते, महाकाव्ये । विंशतीति पूरणे डटि, 'ति विंशतेः' ति-शब्दस्य लोपः । गतमन्यत् ॥ १६१ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु'समाख्याने विंशः सर्गः समाप्तः ।२०।

अन्वयः—पूर्वार्द्धं पूर्ववत् । अन्याक्षुण्णरसप्रमेयभणितौ तदीये महाकाव्ये नलस्य चरिते अत्र निसर्गोज्ज्वलः विंशः सर्गः व्यगलत् ।

हिन्दी—पूर्वार्द्ध का पूर्ववत् अर्थ । अन्य (कवियों) द्वारा अन छुए शृंगारादि रस अलंकार और वाक्यार्थ-भंगिमा से युक्त उस (कवि श्रीहर्ष) के महाकाव्य नल के चरित (नैषधीयचरित) में यह निसर्गतः उज्ज्वल- (प्रकृत्या रमणीय) बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १६१ ॥

नैषधीय चरिते विंशः सर्गः समाप्तिमित ।

नैषधीय चरित

में

बीसवाँ सर्ग पूर्णता को प्राप्त ।

— ० —

एकविंशः सर्गः

तं विदर्भरमणीमणिसौधादुज्जिहानमनुदर्शितसेवैः ।
अर्पणान्निजकरस्य नरेन्द्रैरात्मनः करदता पुनरूचे ॥ १ ॥

जीवातु—तमिति । विदर्भरमण्या वैदर्भ्या दमयन्त्याः, मणिसौधाद् रत्नमयप्रासादात्, उज्जिहानं निर्गच्छन्तम्, तं नलम्, अनु प्रति, तं लक्ष्यीकृत्य इत्यर्थः। दर्शितसेवैः दर्शिता अन्तःपुरद्वारि प्रमाणादिना विज्ञापिता, सेवा आराधना, आनुगत्यमित्यर्थः, यैः तैः । अनोर्लक्षणार्थे कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । नरेन्द्रैः अधीनराजन्यवर्गैः, निजकरस्य स्वस्वहस्तस्य, अर्पणात् दानात्, सोपानावतरणसमये नलाय हस्तावलम्बनदानादित्यर्थः। आत्मनः स्वस्य, करं हस्तं बलिं च ददातीति करदः । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । तस्य भावः तत्ता, पुनः भूयोऽपि, बलिदानादेव करदत्वे सिद्धे पुनर्हस्तदानेन करदता इति पुनरुक्तिरिति भावः । ऊचे बभाषे । एतेन नलस्य चक्रवर्त्तित्वं द्योत्यते ॥ १ ॥

अन्वयः—विदर्भरमणीमणिसौधात् उज्जिहानं तम् अनुदर्शितसेवैः नरेन्द्रैः निजकरस्य अर्पणात् आत्मनः करदता पुनः ऊचे ।

हिन्दी—विदर्भ की नारी-रत्न (दमयंती) के मणि-प्रासाद से बाहर आते उस (नल) के प्रति लक्ष्य करके प्रणाम-आदि द्वारा सेवा-प्रदर्शित करते राजाओं द्वारा अपना कर (हाथ) अर्पण करके अपनी करदता ('कर' देना) पुनः कह दी गयी ।

टिप्पणी—नल दमयंती के मणि-महल से बाहर आये, जहाँ उपस्थित नृपति-गण ने नमस्कारादि कर अपनी प्रणति निवेदित की और कर (हाथ) का (उतरने के लिए) सहारा दिया । इस प्रकार 'करदाता' होकर जैसे उन्होंने अधीन होने के कारण अपना कर (बलि, टैक्स)—देने वाला-होना एकबार फिर से कह दिया । अनेक राजाओं का द्वार पर प्रतीक्षारत रह विनम्र प्रणति-निवेदन करना, नल को हाथ का सहारा देना आदि सूचित करता

है कि (मल्लिनाथ के अनुसार) नल चक्रवर्ती थे। 'कराश्रय' के आधार पर 'करदातृत्व' की सम्भावना नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा है ॥ १ ॥

तस्य चीनसिचयैरपि बद्धा पद्धतिः पदयुगात् कठिनेति।
ता व्यधत्त शिरसा खलु माल्यै राजराजिरभित प्रणमन्ती ॥ २ ॥

जीवातु—तस्येति। राजराजि सामन्तनृपपङ्क्ति, अभित समन्तात्, प्रणमन्ती आभूमि शिरो नमयन्ती सती, चीनसिचयै चीनदेशीयपट्टवस्त्रै, बद्धा आच्छादिता अपि, पद्धति मार्ग, तस्य नलस्य, पदयुगात् चरणयुगलात्, कठिना कठोरा, इति हेतोः। 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी। ता पद्धतिम्, शिरसा मूर्द्ध्नाम्, माल्यैः मालाभि साधनै, व्यधत्त पिहितवती, खलु इति उत्प्रेक्षायाम्। पदयुगलादपि भूम कठिनत्वात् तत्र पदविन्यासे वेदनाप्राप्तिसम्भवादिति भाव. ॥ २ ॥

अन्वयः—अभित प्रणमन्ती राजराजि. चीनसिचयै बद्धा अपि पद्धति. पदयुगात् कठिना—इति ता शिरसा माल्यै खलु व्यधत्त।

हिन्दी—सब ओर से प्रणाम करते नृप समूह ने चीन के कोमल, सूक्ष्म वस्त्रों से ढके हुए भी नल गमन मार्ग को चरण युग्म से कठोर मानते हुए उसे (अपने) सिरों पर रखी मालाओं से मानो ढक दिया।

टिप्पणी—प्रतीक्षारत राजाओं ने चीनवस्त्रावृत मार्ग पर चरण धर चलते नल को सब ओर से झुककर प्रणति-निवेदन किया, जिससे उनके शिरो की मालाएँ नल-गमन-मार्ग पर गिर कर बिछ गयीं। लगा कि चीनवस्त्रावृत मार्ग भी राजाओं की दृष्टि मे नल के कोमल चरणयुग्म के अनुकूल नहीं था, सो अपनी शिरोमालाओं के फूल उन्होने वहाँ बिछा दिये। मल्लिनाथ के अनुसार 'खलु' प्रयोग के आधार पर उत्प्रेक्षा ॥ २ ॥

प्रागुपाह्रियत तस्य नृपैस्तद्दृष्टिदानबहुमानकृतार्थैः।
स्वस्वदिश्यमथ रत्नमपूर्वं यत्नकल्पितगुणाधिकचित्रम् ॥ ३ ॥

जीवातु—प्रागिति। अथ प्रणामानन्तरम्, तस्य नलस्य, दृष्टिदानम् अक्षिनिक्षेप एव, तेषु नृपेषु तदानीतरत्नेषु च इति भाव। बहुमान समादर", तेन कृतार्थै. सफलश्रमैरित्यर्थः। नृपै सामन्तराजभि, स्वेषा स्वेषा दिशि भव स्वस्व-

दिश्यं निजनिजदेशोत्पन्नम् । 'तत्र' भव' इति यत्-प्रत्ययः । यत्नेन समादरेण, कल्पितैः शाणघर्षणादिना सम्पादितैः, गुणैः औज्ज्वल्यसुस्पष्टत्वादिधर्मैः, अधिकं प्रकृष्टम्, श्रेष्ठमित्यर्थः । चित्रम् आश्चर्यम्, अपूर्वं पूर्वं केनाप्यप्राप्तम्, रत्नं मणिः, तस्य नलस्य सम्बन्धे, द्राक् शीघ्रम्, स्वमतिक्रम्य गमनसम्भावनया इति भावः । उपाह्रियत उपायनीकृतम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—अथ तद्दृष्टिदानबहुमानकृतार्थैः नृपैः स्वस्वदिश्यं यत्नकल्पित-गुणाधिकचित्रम् अपूर्वं रत्नं द्राक् तस्य उपाह्रियत।

हिन्दी—तदनन्तर (प्रणामादि करने पर) उस (नल) के देख लेने मात्र (दृष्टिदान)-रूप अत्यंत संमान से कृतकृत्य हुए राजाओं ने अपनी-अपनी दिशा (देश) में उत्पन्न, यत्नपूर्वक (काट-तराश-सवार कर) संपादित गुणों की आधिकता से आश्चर्यजनक रूप में उत्कृष्ट बना दिये गये अपूर्व (श्रेष्ठ, अद्वितीय) रत्न (आदि) उसे (नल को) झट से उपहार-स्वरूप प्रस्तुत कर दिये।

टिप्पणी—राजा और अपने से अधिक गौरवशाली राजा को उपस्थित जनों द्वारा भेंट (नजर) दिये जाने की परंपरा है। प्रणाम करने के उत्तर में महाराज ने राजमंडली पर एक दृष्टि डाली कि अपने को कृत-काम समझते राजाओं ने तुरंत अपनी-अपनी भेंट महाराज के संमुख प्रस्तुत कर दी कि कहीं महाराज निकल जायें और वे उपहारार्पण से वंचित रह जायें। सभी राजा अपने-अपने देशों में उत्पन्न वस्तुएँ उपहारार्थ लाये थे, जिन्हें उन्होंने यत्न द्वारा काट-तराश और सँवार कर प्राकृतिक रूप में जो उनकी स्थिति थी, उससे कहीं अधिक उत्कृष्ट बना दिया था। अपूर्व वे उपहार ॥ ३ ॥

अङ्गुलीचलनलोचनभङ्गिभ्रूतरङ्गविनिवेदितदानम् ।
रत्नमन्यनृपढौकितमन्ये तत्प्रसादमलभन्त नृपास्तत् ॥ ४ ॥

जीवातु—अङ्गुलीति । अन्ये अपरे, नृपाः राजानः, अंगुलीचलनेन अङ्गुलीकम्पनेन, अङ्गुलीनिर्देशेनेत्यर्थः । लोचनभङ्ग्या नेत्रसङ्केतेन, भ्रूतरङ्गेण भ्रूवोश्चालनेन च, विनिवेदितं विज्ञापितम्, दानं त्यागः यस्य तत् तथोक्तम्, अन्यैः अपरैः, नृपैः राजभिः, ढौकितम् उपहृतम्, तत् पूर्वोक्तं रत्नम्, तस्य

नलस्य, प्रसादम् अनुग्रहस्वरूपम्, अलभन्त प्राप्नुवन् । एकस्मात् लब्ध रत्नजातम् अन्यस्मै प्रदत्त, न तु कोषागारे निक्षिप्तम् इति अस्य दातृत्वम् अनुजीवितोषण विवेकित्वञ्चोक्तम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—अन्ये नृपाः अङ्गुलीचलनलोचनभङ्गिभ्रूतरङ्गविनिवेदितदानम् अन्यनृपढौकित तत् रत्न तत्प्रसादम् अलभन्त ।

हिन्दी—दूसरे राजाओं ने, अंगुलि-हिलाने और नयन-संकेत-पूर्वक भ्रू-सचालन द्वारा जिसका दान विज्ञापित किया गया, ऐसे दूसरे राजा के उपहार उस (उपहृत) रत्न (आदि) को उस (नल) के प्रसाद रूप में प्राप्त किया ।

टिप्पणी—राजाओं द्वारा उपहार मे प्रस्तुत उत्कृष्ट, अद्वितीय रत्न आदि को महाराज नल ने अपने कोषागार में नही भिजवाया, क्योंकि यह उदार और श्रेष्ठ महान् पुरुषों का आचार नही है। उन्होंने अंगुलि-संकेत और भ्रू-विक्षेप द्वारा उन उपहारों को स्वीकारा और उसी प्रकार संकेतों द्वारा ही राजमंडली में इस प्रकार उनका वितरण करा दिया कि एक का उपहार दूसरे को मिले, न कि उसकी उपहृत वस्तु उसी पर लौट आये। यदि अपना ही उपहार अपने को ही वापस मिल जाता तो यह एक प्रकार की अस्वीकृति होती, अत यह विधि अपनायी गयी। प्रत्येक नृपति को अपने उपहार में वह प्रीति-प्रसाद मिला, जो उसके लिए अपूर्व था, क्योंकि वह अन्यदेशोद्भव था। इस प्रकार महाराज नल के प्रसाद-स्वरूप प्रतिदान में अपूर्व, उत्कृष्ट वस्तु पाकर राजमंडली कृतार्थ हो गयी ॥ ४ ॥

तानसौ कुशलसूनृतसेकैस्तर्पितानथ पितेव विसृज्य ।
अक्षशास्त्रसुरलीषु विनिन्ये शैष्यकोपनमितानमितौजाः ॥ ५ ॥

जीवातु—तानिति । अथ उपहारग्रहणदानानन्तरम्, अमितम् अतुलनीयम्, ओज. तेज यस्य तादृश, असौ नल, कुशलस्य कुशलप्रश्नस्य, सूनृतस्य सत्यप्रियवचनस्य च, पीयूषरूपस्येति भाव. । सेकै. वर्षणै., उक्तिभिरित्यर्थः । तर्पितान् प्रीणितान्, तान् नृपान्, विसृज्य सम्प्रेष्य, गमनाय अनुमत्य इत्यर्थः । शैष्यकेण शिष्यत्वेन । 'योपधादगुरूपोत्तमाद्वुञ्' । उपनमितान् समेतान्,

युद्धशिक्षार्थं शिष्यभावेन समागतानित्यर्थः। नृपानिति शेषः। पितेव जनक इव, अस्त्रेषु धनुरादिषु, शस्त्रेषु खड्गादिषु, खुरलीषु श्रमणविशेषेषु, अस्त्रशस्त्राणां खुरलीषु प्रयोगसंहारविषयेषु इति वा, विनिन्ये शिक्षितवान् ॥ ५ ॥

अन्वयः—अथ अमितौजाः असौ कुशलसूनृतसेकैः तर्पितान् तान् विसृज्य शौष्यकोपनमितान् पिता इव अस्त्रशस्त्रखुरलीषु विनिन्ये।

हिन्दी—तत्पश्चात् (रत्नप्रसाद-वितरणानंतर) अतुल बलशाली इस (नल) ने कुशल-प्रश्न संबंधी सत्य और प्रिय (पीयूष-सम) वचनों के सिंचन द्वारा प्रसन्न किये गये उन (राजाओं) को विदाकर शिष्य रूप में एकत्र अन्य नृपों को पिता की भाँति अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग-संचालन-प्रहार की विधि में शिक्षित किया।

टिप्पणी—नल अतुल पराक्रमी था। उसके निकट अनेक तरुण राजा-राजकुमार अस्त्र-शस्त्र-संचालन-विधि सीखने भी आये थे। राजा ने पहिले तो पूर्व समागत नरेशों को प्रसाद देकर उपहारादि से कृतार्थ किया और कुशल-प्रश्नादि से संबद्ध सत्य और मधुर वचन बोल प्रसन्न किया और विदा किया। तत्पश्चात् उन अस्त्र-शस्त्रादि प्रयोग सीखने आये राजाओं को बड़े स्नेह से, पिता की भाँति अस्त्र-शस्त्र-प्रशिक्षण दिया। नारायण के अनुसार पूर्वागत राजाओं को उपहारादि से प्रसन्न किया और नवीन समागत नरेशों से–'आपके राज्य में कुशल तो है, आप स्वस्थ हैं? आपका अमुक कार्य मैं कर सकूँगा' इत्यादि–सामान्य कुशल प्रश्न पूछ कर उन्हें सत्य और मीठे वचनों से संतुष्ट कर शस्त्र प्रयोगादि की शिक्षा दी। यही आशय उचित प्रतीत होता है। पूर्वागत उपहार पाकर प्रसन्न हुए, नवीन प्रिय वचनों से और स्नेहमयी शिक्षा से ॥ ५ ॥

मर्त्यदुष्प्रचरमस्त्रविचारश्चारु शिष्यजनतामनुशिष्य।
स्वेदबिन्दुकितगौरधीरं स ध्वसन्नभवदाप्लवनेच्छः ॥ ६ ॥

जीवातु—मर्त्येति। सः नलः, मर्त्येषु मनुष्यलोकेषु, दुष्प्रचरम् अविद्यमानप्रसरम्, अस्त्रविचारम् अस्त्रशिक्षाम्, शिष्यजनतां शिष्यभूतनृपसमूहम्, चारु सुष्ठु यथा भवति तथा, अनुशिष्य शिक्षयित्वा, स्वेदेन धर्मोदकेन,

विन्दुकित सञ्जातबिन्दुक, गोधि ललाट यस्य ॥ तादृश सन्। 'ललाटमलिक गोधि' इत्यमर। अधीरम् अस्थिर यथा भवति तथा, श्वसन् श्रमजनितदीर्घश्वास त्यजन्, आप्लवन स्नानम्, तदिच्छु तदभिलाषी, अभवत् अजायत ॥ ६ ॥

अन्वय—मर्त्यदुष्प्रचरम् अस्त्रविचार शिष्यजनता चारु अनुशिष्य स्वेदबिन्दुकितगोधि अधीर श्वसन् सः आप्लवनेच्छु अभवत्।

हिन्दी—मर्त्यलोकवासियो मे जिसका प्रसार नही था, ऐसी अस्त्रशिक्षा शिष्यमडली को भली भाँति देकर ललाट पर आये श्रम वारि (स्वद, पसीना) से युक्त कुछ दीर्घ नि श्वास लेता वह (नल) स्नान का अभिलाषी हो गया।

टिप्पणी—उपस्थित तरुण नृप-शिष्यमडली को महाराज ने अस्त्र प्रयोग की ऐसी विधि भली भाँति सिखायी, जिसका ज्ञान सामान्यत मृत्युलोक के अस्त्रविशारदो को नही था अर्थात् दिव्यास्त्र प्रयोग। इनस इम परिश्रम ■ कारण, मध्याह्न मे नल की स्वेदसिक्तता और श्रम जनित दीर्घश्वास स्वाभाविक थे। उनके मस्तक पर पसीना आ गया और व धीरे धीरे दीर्घश्वास लेन लगे। नारायण न 'अधीरम्' का अर्थ 'अल्प श्वसन्' माना है, किन्तु होता यही है कि श्रम के कारण दीर्घ-दीर्घश्वास हो आता है। इस दृष्टि से 'अधीर श्वसन्' का मल्लिनाथनिर्दिष्ट अर्थ उचित प्रतीत होता है—'श्रमजनितदीर्घदीर्घश्वास त्यजन्' ॥ ६ ॥

> यक्षकर्दममृदून्मृदिताङ्गं प्राक्कुरङ्गमदमीलितमौलिम्।
> गन्धवारिभिरनुबन्धितभृङ्गैरङ्गना सिषिचुरुच्चकुचास्तम् ॥ ७ ॥

जीवातु—यक्षेति। उच्चा उन्नता, कुचा स्तना यासां तादृश्य अङ्गना स्त्रिय, प्राक् प्रथमम्, यक्षकर्दमेन कर्पूरादियोगजेन सुगन्धिस्नानीयचूर्णेन। 'कर्पूरागुरुकस्तूरीकक्कोलैर्यक्षकर्दम' इत्यमर। मृदु कोमल यथा तथा, उन्मृदित शोधितम्, अङ्ग शरीर यस्य त तादृशम्, तथा कुरङ्गमदेन कस्तूर्या, मीलित सम्बन्ध प्रापित, लिप्त इति यावत्, मौलि मस्तक यस्य ■ तादृशम्, त नलम्, अनुबन्धिता अनुबन्ध गमिता, स्वसौगन्ध्यात् सयोग प्रापिता इत्यर्थ। भृङ्गा भ्रमरा यषु तै तादृशै, गन्धवारिभि गन्धोदकै साधनै, सिषिचु सिक्तवत्य:, स्नपयामासुरित्यर्थ ॥ ७ ॥

अन्वयः—प्राक् यक्षकर्दममृदून्मृदिताङ्गं कुरङ्गमदमीलितमौलिं तम् अनुबन्धितभृङ्गैः गन्धवारिभिः उच्चकुचाः अङ्गनाः सिषिचुः ।

हिन्दी—पहिले यक्ष-कर्दम (कर्पूर, अगुरु, चंदन, कस्तूरि, शीतल चीनी के मिश्रण) का धीरे-धीरे अगों पर लेप करके तदनंतर कस्तूरी सिर पर मल कर उसे (नल को) जिस पर (सुगंध से आकृष्ट) भौंरे टूटे पड़ रहे थे, ऐसे सुगंधि जल से उन्नत स्तनों वाली स्त्रियों ने स्नान कराया।

टिप्पणी—तुंग-पीन-पयोधरा सुन्दरी परिचारिकाओं ने सुगंधि लेप यक्षकर्दम को अंगों पर मला, सिर पर कस्तूरी-लेप लगाया तदनंतर सुगंधि जल से नल को स्नान कराया, ऐसे जल से जो इतना सुगंधित था कि उस पर भौंरे भनभना रहे थे। अमरकोष (२।६।१३३) के अनुसार 'यक्षकर्दम' है—कर्पूर, अगुरु, कस्तूरी, कक्कोलों का मिश्रण—'कर्पूरागुरुकस्तूरीकक्कोलैर्यक्षकर्दमः।' गरुड़ पुराण के अनुसार-'तथा कर्पूरमगुरुः कस्तूरी चन्दनं तथा। कक्कोलं च भवेदेभिः पञ्चभिर्यक्षकर्दमः॥' ७॥

भूभृतं पृथुतपोघनमाप्तस्तं शुचिः स्नपयति स्म पुरोधाः।
सन्दधज्जलधरस्खलदोघास्तीर्थवारिलहरीरुपरिष्टात् ॥ ८ ॥

जीवातु—भूभृतमिति । तदनन्तरं आप्तः विश्वस्तः, शुचिः शुद्धः पुरोधाः पुरोहितः, जलधरात् जलपूर्णघटात्, स्खलन् पतन्, ओघः प्रवाहः यासां ताः तादृशीः, तीर्थवारीणां गङ्गादितीर्थोदकानाम्, लहरीः तरङ्गान्, धारा इति यावत्, उपरिष्टात् मस्तकोपरिभागे। 'उपर्युपरिष्टात्' इति निपातनात् साधुः। सन्दधत् सन्दधानः सन्, वर्षयन् सन् इत्यर्थः। पृथुना महता, तपसा तपस्यया, घनं परिपूर्णम्, भूभृतं राजानम्, तं नलम् स्नपयति स्म अभिषिञ्चति स्म, स्नापितवान् इत्यर्थः। अन्यत्र—आप्तः प्राप्तः, शुचिः आषाढः। 'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोरपि' इति विश्वः। जलधरेभ्यः मेघेभ्यः, स्खलन् पतन्, ओघः प्रवाहो यासां ताः तथोक्ताः, तीर्थवारिलहरीः पूतजलप्रवाहान्, उपरिष्टात् मस्तकोपरि, सन्दधत् सन्दधानः, वर्षयन् सन् इत्यर्थः। पृथोः तदाख्यस्य वेणपुत्रस्य नृपभेदस्य, 'पृथुः स्यात् महति त्रिषु। त्वक्पत्र्यां कृष्णजीरेऽस्त्री पुमानग्नौ नृपान्तरे॥' इति मेदिनी। तपसा तपस्याप्रभावेण,

-घनम् अशिथिलम्, दृढमित्यर्थः। त प्रसिद्ध, भूभृतं भूमिधर, हिमालयादिपर्वत-मित्यर्थ। 'भूभृद् भूमिधरे नृपे' इति विश्व। स्नपयति स्म। अङ्गना सामा-न्यजलेन पुरोधा समन्त्रकतीर्थोदकेन त स्नपयति स्म इति बोद्धव्यम्। अत्र द्वितीयार्थस्य प्रकृते अपर्यवसानाद् उपमाध्वनौ पर्यवसान ज्ञेयम्॥८॥

अन्वय —जलभरस्खलदोघा तीर्थवारिलहरीः उपरिष्टाद् सन्दधत् आप्त शुचि. पुरोधाः पृथुतपोघन भूभृत स्नपयति स्म।

हिन्दी—जल-भरे स्वर्णकलश से तीर्थजलों की लहरियों (धाराओं) से युक्त गिरते प्रवाह को ऊपर (राजा के मस्तक पर) गिराते हुए विश्वस्त और पवित्र (आचारशील) पुरोहित ने–जिस प्रकार 'शुचि' (आषाढ मास) 'प्राप्त' हो (सुप्राप्त हो, आकर) मेघों से झरते प्रवाहपूर्ण पवित्र जल-धारों से, ऊपर से गिरा कर—महाराज वेणु-पुत्र पृथु ने तपःप्रभाव से जिसे दृढ बना दिया था, अथवा जो 'पृथुतप' अर्थात् पर्याप्त धूप के कारण अगहन (तमरहित) था, अथवा जो 'पृथुतप' माघ मास द्वारा 'अगहन' अर्थात् घनरहित कर दिया गया था, उस भूभृत्' (पर्वत, हिमालय) का सिंचन करता है, उसी प्रकार प्रचुर तप पूर्ण 'पृथुतपोधन'-धरणीधर (राजा नल) को स्नान कराया, अथवा 'वेणुसुत पृथु के समान तपःपूत' राजा को स्नान कराया।

टिप्पणी—सुन्दरी सुतनुस्तना रमणियों द्वारा स्नान कराये जाने के अनन्तर सदाचारी और विश्वसनीय राजपुरोहित ने महाराज का तीर्थ जलों से अभिषेक किया। राजपुरोहित की तुलना आषाढ मास से, स्वर्णघट से गिरने तीर्थ-जल प्रवाह की मेघों से गिरते जल-प्रवाह से और राजा नल की पर्वत से की गयी है। साम्य का आधार शब्दों और उनके प्रयोग की अनेकार्थता है। द्वितीय (पर्वतपक्षीय) अर्थ का प्रकृत में पर्यवसान न होने के कारण मल्लिनाथ के अनुसार उपमाध्वनि में पर्यवसान समझना चाहिए॥८॥

प्रेयसीकुचवियोगहविर्भुग्जन्मधूमवितताविव बिभ्रत्।
स्नायिनं करसरोरुहयुग्मं तस्य गर्भधनदर्भमराजत्॥९॥

जीवातु—प्रेयसीति । स्नायिनः मन्त्रवज्जलेन स्नानं कुर्वतः, तस्य नलस्य, गर्भे अभ्यन्तरे करतले इत्यर्थः, धृतानि गृहीतानि, दर्भाणि कुशाः येन तत् तादृशम्, स्नानकाले कुशग्रहणस्य शास्त्रीयत्वादिति भावः । यद्वा—स्नायिनः कृतस्नानस्य, तस्य नलस्य गर्भे मध्यमाकनिष्ठयोरन्तराले, अनामिकायामित्यर्थः । धृतः परिहितः इत्यर्थः । दर्भः कुशः, कुशाङ्गुरीयको येन तत्तादृशम्, करयोः पाण्योः एव, सरोरुहयोः कमलयोः, युग्म द्वयम्, प्रेयस्याः दमयन्त्याः, कुचयोः स्तनयोः, वियोगहविर्भुजः विरहवह्नेः, जन्म सम्भवः यस्य तथाभूतस्य, धूमस्य, विततीः सन्ततीः, बिभ्रदिव धारयदिव, अराजत् अशोभत । नूतनदर्भाणां श्यामवर्णत्वात् धूमसाम्यमिति बोध्यम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—स्नायिनः तस्य गर्भधृतदर्भं करसरोरुहयुग्मं प्रेयसीकुचवियोगहविर्भुग्जन्मधूमविततीः बिभ्रत् इव अराजत् ।

हिन्दी—(मंत्रतुल्य तीर्थजल से) स्नान करते उस (नल) के (तर्जनी और कनिष्ठा अंगुलियों के) मध्य कुश-धारे दोनों कर-कमल प्रिया (दमयंती) के स्तनों के वियोग-रूप अग्नि से सजात धूम-समूह को धारते-सदृश सुशोभित हुए ।

टिप्पणी—'स्नायिनः' के मल्लिनाथ ने दो अर्थ किये हैं—(१) स्नानं कुर्वतः, अर्थात् स्नान करते हुए और (२) कृतस्नानस्य, अर्थात्, स्नान कर चुके । नारायण के अनुसार मन्त्रवत्तीर्थं जलावगाह्य स्नानविधिना स्नानं कुर्वाणस्य' ही अर्थ है । अर्थात् मंत्र-सदृश तीर्थजल में स्नान की विधि से स्नान करते हुए । यह स्थिति तर्जनी और कनिष्ठा अंगुलियों के अंतराल में कुश-धारण की विधि है । नये कुशों का वर्ण श्याम है, अतः उन्हें वियोगाग्नि की धूम-संतति कहा गया है । कहाँ करकमलों में प्रिया के स्निग्ध, पीनोत्तुंग कुच थे, कहं रूक्ष, कृश, पतले कुश ? वे प्रियाकुच वियोगाग्नि के धूम-प्रवाह ही थे । नारायण के अनुसार यह उत्प्रेक्षा है ॥ ९ ॥

कल्प्यमानममुनाऽऽचमनार्थं गाङ्गमम्बु चुलुकोदरचुम्बि ।
निर्मलत्वमिलितप्रतिबिम्बां द्यामयच्छदुपनीय करे नु ? ॥ १० ॥

जीवातु—कल्प्यमानमिति । अमुना नलेन, आचमनार्थम् उपस्पर्शनार्थम्, कल्प्यमानं गृह्यमाणम्, अत एव चुलुकस्य प्रसृतस्य, निकुब्जपाणेरित्यर्थः । उदरं

मध्यम्, चुम्बति स्पृशतीति तादृशम्, गाङ्गं गङ्गासम्बन्धि, अम्बु जलम् । कर्तृ । निर्मलत्वेन स्वच्छत्वेन हेतुना, मिलित सयुक्त, तत्र निपतित इत्यर्थः । प्रतिबिम्बः प्रतिच्छाया यस्या तथोक्ताम्, द्याम् आकाश स्वर्गञ्च । 'द्यौ. स्वर्गसुरवर्त्मनो' इत्यमर । करे हस्ते, उपनीय सस्थाप्य, अयच्छत् नु ? अददात् किम् ? प्राज्ञाय इति शेष । दानार्थंव तत्ग्रहणसम्भवादिति भावः । द्यो शब्दस्य स्वर्गाकाशवाचित्वाच्छलेनोक्ति ॥ १० ॥

अन्वय'—अमुना आचमनार्थं कल्प्यमान चुलुकोदरचुम्बि गाङ्गम् अम्बु निर्मलत्वमिलितप्रतिबिम्बा द्या करे उपनीय नु अयच्छत् ।

हिन्दी—इस (राजा नल) ने आचमन के निमित्त गृहीत चुल्लू के मध्य का चुम्बन करता (चुल्लू भर) गगा-जल क्या विसर्जित किया (छोडा), स्वच्छ होने के कारण प्रतिबिम्बित हो हाथ मे आये 'द्यौ' (आकाश—स्वर्ग) को चुल्लू मे लेकर दान कर दिया ।

टिप्पणी—आचमन उपस्पर्शन करके जल धरती पर छोड दिया जाता है, राजा नल ने ऐसा ही किया, स्वच्छ हथेली के चुल्लू में लिये गये निर्मल गगा जल का पृथ्वी पर विसर्जन कर दिया । स्वच्छ हथेली मे स्वच्छ गगा-जल की कल्पना प्रतिबिंब रूप से हाथ मे आये स्वर्ग से की गयी है । गंगा-जल का विसर्जन प्राप्त स्वर्ग का दान सभावित किया गया है । इतना बडा दानी था राजा नल कि मिले स्वर्ग का भी दान कर दिया । 'नु' के आधार पर नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा, मल्लिनाथ ने 'द्यौ.' के स्वर्ग और आकाश—दोनों के वाची होने के कारण यहाँ 'छलोक्ति' का निर्देश किया है ॥ १० ॥

मुक्तमाप्य दमनस्य भगिन्या भूमिरात्मदयितं धृतरागा ।
अङ्गमङ्गमनु कि परिरेभे तं मृदो जलमृदु गृहयालुम् ? ॥ ११ ॥

जीवातु—मुक्तमिति । भूमि तिलकार्थं गृहीता रक्तवर्णा मृत्तिका, अत्र स्मृतिः—'विप्रा . गौरमृद. प्रोक्ता. क्षत्रा रक्ता. प्रकीर्तिता.' इति । दमनस्य भीमात्मजस्य, भगिन्या सोदरया दमयन्त्या, मुक्त स्नानार्थं परित्यक्तम्, मृदः तिलकार्था मृत्तिकाः, गृहयालुं ग्रहीतारम्, आत्मनः स्वस्य, दयितं प्रियम्, पतिमिति यावत् । राज्ञो भूपतित्वादिति भावः । तनलम्,

आप्य लब्ध्वा, धृतः गृहीतः, बद्ध इत्यर्थः । रागः स्वभावत एव रक्तवर्णः अनुरागश्च यया सा तथोक्ता सती । 'रागोऽनुरागे मात्सर्ये क्लेशे च लोहितादिषु' इति विश्वः । जलेन स्नानोदकेन, मृदु कोमलम्, अङ्गम् अङ्गं ललाटादिकं प्रत्यवयवम्, अनु लक्ष्यीकृत्य, परिरेभे आलिलिङ्ग किम् ? अन्याऽपि सपत्न्या दूरेऽवस्थितं वल्लभं प्राप्य सानुरागा सती यथा प्रत्यङ्गमालिङ्गति तद्वदिति भावः । ललाटादिषु द्वादशाङ्गेषु मृत्तिलकानि चकारेति निष्कर्षः ॥ ११ ॥

अन्वयः—दमनस्य भगिन्या मुक्तं मृदः गृहयालुम् आत्मदयितं तम् आप्य धृतरागा भूमिः किं जलमृदु अङ्गम् अनु परिरेभे ?

हिन्दी—दमन की बहिन (दमयंती) द्वारा त्यक्त (तिलकार्थ लाल) मिट्टी के ग्रहणेच्छुक अपने (पृथ्वी के) पति उस (नल) को पाकर लालरंग की, अतः अनुराग-धारण करती (अनुरागिणी) भूमि ने क्या जल से कोमल हो (शिथिलावयवा हो) अंग-अंग मिला कर स्नान-जल से कोमल (राजा के) अंग-अंग का आलिंगन किया ?

टिप्पणी—स्नानोपरांत तिलकार्थ कोमल, पवित्र, लाल तीर्थ-वालुका को अंगों पर लगाया जाता है । यह श्रौतपद्धति है कि ललाटादि अंगों पर रक्तमृत्तिका के तिलक लगाये जाते हैं । राजा नल ने भी ऐसा ही किया । 'धृतरागा' का अर्थ 'लालरंग की' भी होता है और रागिणी, अनुराग-पूर्णा भी । इसी आधार पर यहाँ धृतानुरागा लाल मिट्टी को अनुरागिणी भूमि का प्रतीक माना गया है । राजा भूमि-पति कहाता है । इस समय स्नानार्थ स्वभर्त्ता नल को मृद्रूपा भूमि ने अपनी सपत्नी से 'मुक्त' पाया । इस पर उद्भावना है कि 'धृतानुरागा' भूमि ने तिलक रूप में प्रयुक्त हो प्रियपति नल का प्रत्यंग गाढ़-आलिंगन किया । आशय यह कि नल ने द्वादशांगों में रक्तमृत्तिका के तिलक लगाये । इस रूप में भूमि ने भूमिपति का प्रत्यंग-सर्वाङ्गीण आलिंगन किया । नारायण के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । नारायण ने तृतीय चरण के पाठांतर-'अङ्गमङ्गमनुकं परिरेभे' को मान्यता दी है और अङ्गम् अङ्गम् अनुकंपरिरेभे' पदच्छेद करके अर्थान्तर किया है—'कं सुखम् अनु लक्ष्यीकृत्य सुखोद्देशेनालिलिङ्ग', अर्थात् सुख को लक्ष्य करके आलिंगन किया ॥ ११ ॥

मूलमध्यशिखरश्रितवेध:शौरिशम्भुकरकाङ्घ्रिशिरःस्थैः ।
तस्य मूर्ध्नि चकरे शुचि दर्भैर्वारि वान्तमिव गाङ्गतरङ्गैः ॥१२॥

जीवातु—मूलमिति । मूलमध्यशिखराणि दर्भाणाम् आदिमध्याग्राणि, श्रितानां यथाक्रमं प्राप्तानाम् वेध:शौरिशम्भूनां ब्रह्मविष्णुरुद्राणाम् अत्र स्मृति – 'कुशमूले स्थितो ब्रह्मा कुशमध्ये तु केशव. । कुशाग्रे शङ्कर विद्यात् त्रयो देवाः कुशस्थिताः ॥' इति । करकाङ्घ्रिशिर.सु कमण्डलुपादमस्तकेषु तिष्ठन्ति वर्तन्ते इति तथोक्तै., गाङ्गैः गङ्गासम्बन्धिभि. तरङ्गैः ऊर्मिभि', वान्त निष्ठ्यूतम् इव, स्थितमिति शेष । शुचि निर्मलम्, वारि गङ्गोदकम्, दर्भै· कुशैः, कर्तृभि । तस्य नलस्य, मूर्ध्नि शिरसि, चकरे क्षीणम्, नल: कुशाग्रजलेन 'आपोहिष्ठा' इत्यादि मन्त्र पठन् मान्त्र स्नान कृतवान् इत्यर्थ । 'कॄ विक्षेपे' इति धातोः कर्मणि लिट् ॥ १२ ॥

अन्वय —मूलमध्यशिखरश्रितवेधः शौरिशम्भुकरकाङ्घ्रिशिर स्थैः गाङ्गतरङ्गै वान्तम् इव शुचि वारि दर्भै· तस्य मूर्ध्नि चकरे ।

हिन्दी—(दर्भों के) मूल, मध्य और शिखरों (आदि, मध्य और अग्रभागों) पर यथाक्रम स्थित ब्रह्मा, विष्णु, महादेव के कमण्डलु, चरण और शिर पर स्थित गंगा की लहरियो द्वारा जैसे उद्‌गीर्ण पवित्र गंगा-जल कुशों द्वारा उस (नल) के मस्तक पर छिड़का गया ।

टिप्पणी—यह मान्यता है कुश में ब्रह्मा-विष्णु-महेश—ये त्रिदेव क्रमश· कुश-मूल, कुशमध्य और कुशाग्र में रहते हैं । ऐसे कुशो से जो पवित्र जल नल के मस्तक पर मार्जन-समय में छिड़का गया, वह मानो उन गंगा तरंगों से उत्क्षिप्त था, जो कुशों के विभिन्न स्थलों पर निवास करते त्रिदेवो से सम्बद्ध क्रमश· कुशमूलस्थित ब्रह्मा के कमण्डलु मे, मध्यस्थित विष्णु के चरण और अग्रभागस्थित महादेव के मस्तक पर जो गंगा-जल स्थित था । गंगा वतरण के प्रसग में गंगा-जल की यही स्थिति मानी गयी है । विष्णुचरण से निकलकर वे ब्रह्मकमण्डलु में आयी तत. शिव-जटाओं में ॥ १२ ॥

प्राणमायतवतो जलमध्ये मज्जिमानमभजन्मुखमस्य ।
आपगापरिवृढोदरपूरे पूर्वकालमुषितस्य सुधांशोः ॥ १३ ॥

जीवातु—प्राणमिति । जलस्य उदकस्य, मध्ये अभ्यन्तरे, प्राणमायतवतः प्राणायामं कृतवतः अस्य नलस्य मुख वदनम्, कर्तृ । पूर्वकालं समुद्र-मन्थनात् प्राक्, आपगापरिवृढस्य नदीभर्तुः समुद्रस्य, उदरपूरे जलगर्भ-प्रवाहमध्ये, उषितस्य कृतवासस्य, सुधांशोः चन्द्रस्य, मञ्जिमानं सौन्दर्यम्, अभजत् अलभत, समुद्रोदरमध्यस्थचन्द्रसदृशं दर्शनीयमभूदित्यर्थः ॥ १३ ॥

अन्वयः—जलमध्ये प्राणम् आयतवतः अस्य मुखं पूर्वकालम् आपगा-परिवृढोदरपूरे उषितस्य सुधांशोः मञ्जिमानम् अभजत् ।

हिन्दी—जल के मध्य (अवगाहन, जल में मुख झुकाकर) प्राणायाम करते इस (नल) का मुख मंथन से पूर्व नदियों के स्वामी (समुद्र) के उदर-रूप-प्रवाह में निवास करते अमृतकर (चंद्र) की मंजुलता को प्राप्त हुआ।

टिप्पणी—नल ने याज्ञवल्क्योक्त लक्षणों में लक्षित प्राणायाम किया—स्वर्णमहाकुम्भ में भरे तीर्थ-जल में मन्त्रोच्चारण-पूर्वक मुख विनम्र करके। याज्ञवल्क्य के अनुसार प्राणसंयम है—प्रत्येक बार ओंकार लगाकर व्याहृति-पूर्वक तीन बार गायत्री-जप—'गायत्रीं शिरसा सार्धं जपेद् व्याहृतिपूर्विकाम् । प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयमः ॥' इस प्रकार प्राणायाम करते नल का जलमध्य मुख अमृत-मंथन से पूर्व सागर-मध्य वास करते चंद्रतुल्य सुशोभित हुआ। आशय यह कि उस काल नल का मुख सागरोदरस्थित चन्द्र-सदृश लगने लगा। प्राण शब्द नित्य बहुवचनांत है, अतएव नारायण ने 'प्राण' के एकवचन को यहाँ 'चिन्त्य' माना है। जिनराज (सुखावबोधा व्याख्या) के अनुसार यह दोष नहीं है। उनका कथन है कि एकवचन प्रयोग भी अन्यत्र देखा जाता है—'हृदि प्राणो गुदेऽपानः' इत्यादिषु क्वचिदेषामेकत्व-मपि दृश्यते इति वचनादेकत्वेऽपि न दोषाय ।।' १३ ॥

मर्त्यलोकमदनः सदशत्वं विभ्रदभ्रविशदद्युतितारम् ।
अम्बरं परिदधे विधुमौलेः स्पर्द्धयेव दशदिग्वसनस्य ॥ १४ ॥

जीवातु—मर्त्यलोकेति । मर्त्यलोकमदनः भूलोककन्दर्पः, नलः इति शेषः । दश दशसङ्ख्यकाः, दिशः ककुभ एव वसनं वस्त्रं यस्य तस्य दिगम्बरस्य,

विधुमौले चन्द्रशेखरस्य, शम्भोरित्यर्थः । स्पर्द्धयेव साम्यबोधहेतुकाहमिकयेव, मदनत्वादेव मदनारिणा हरेण सह स्पर्द्धा युज्यते इति भावः । सदशत्वं दशाभिः प्रान्तविलम्बिदीर्घतन्तुभिः सह वर्तमानम्, आकाशपक्षे—दशभिः दिग्विभागैः सह युक्तम्, तस्य भावः तत्त्वं सदशत्वम् बिभ्रत् धारयत्, 'ईषद्धौतं नवं शुभ्रं सदशं यन्न धारितम्' इत्यादिस्मृत्या सदशवस्त्रधारणस्य प्रशस्तत्वादिति भावः । तथा अभ्रस्येव शारदमेघस्येव, तदाख्यस्य शुभ्रधातुविशेषस्येव वा, विशदा शुभ्रा, द्युतिः प्रभा यस्य तत् तादृशम्, तारं महत् सूक्ष्मतरं वा, अन्यत्र—अभ्रेषु मेघेषु, विशन्त्यः, प्रवेशं कुर्वन्त्यः, अत एव अद्युतयः दीप्तिरहिताः, ताराः नक्षत्राणि यस्मिन् तत्तादृशम्, अम्बरं वस्त्रम् आकाशञ्च । 'अम्बरं व्योम्नि वाससि' इत्यमरः । परिदधे परिहितवान् ॥ १४ ॥

अन्वयः—मर्त्यलोकमदनः दशदिग्वसनस्य विधुमौलेः स्पर्द्धया इव सदशत्वं बिभ्रत् अभ्रविशदद्युति तारम् अम्बरं परिदधे ।

हिन्दी—मृत्युलोक के कामदेव (नल) ने दश-दिशाएँ ही जिनका परिधान है—ऐसे दिगम्बर चन्द्रमौलि शिव की मानो स्पर्द्धा से दश दिशाओं के विभाग को धारते अभ्र—अबरख के समान निर्मल और तारों भरे अथवा अभ्र अर्थात् बादलों में प्रवेश करते द्युतिहीन तारकों से युक्त (अभ्रेषु विशन्त्यः अतएव अद्युतयः तारा यस्मिन् तत्) आकाश के सदृश सदशत्व अर्थात् किनारेदार, शरत्कालीन मेघों, अथवा अबरख (शुभ्र, चमकीली धातु) की विशद—स्वच्छ आभा को धारते (शुभ्र, चमकीले) सूक्ष्म अंबर (वस्त्र) को धारण—किया ।

टिप्पणी—आशय यह है कि नल ने नया (अच्छिन्न), स्वच्छ, धौत महीन वस्त्र पहिना । वह अत्यंत सूक्ष्म था । इस आधार पर संभावना की गयी है कि मृत्युलोक के कामदेव ने कामरिपु शिव की होड में 'दिगंबरत्व' स्वीकारा । काम द्वारा शिव की स्पर्द्धा उचित ही है । शिव का वास विशिष्ट आकाश ही माना जाता है । 'सदशत्व' जहाँ वस्त्रपक्ष में दशा अर्थात् 'दीर्घ प्रान्त-तन्तु (किनारा)से युक्त' अर्थ देता है, वहाँ कृतदशदिग्रूप विभाग गगनवाची अर्थ भी देता है, वह आकाश, जिसका दसों दिशाओं में विभाग है । 'अंबर' गगन और वस्त्र दोनों अर्थों का वाचक है । भिन्नार्थता से सभी

विशेषण दोनों पक्षों में संगत हो जाते हैं और इस प्रकार अंबर-रूप अंबर—आकाश-रूप वस्त्र अर्थ स्पष्ट हो जाता है। नारायण ने 'सदशत्वं बिभ्रत्' को नल-विशेषण भी माना है अर्थात् सदशाभाव (भाग्योदयता) प्राप्त नल।

भीमजामनु चलत् प्रतिवेलं संयियंसुरिव राजऋषीन्द्रः।
प्राववार हृदयं स समन्तादुत्तरीयपरिवेषमिषेण ॥ १५ ॥

जीवातु—भीमजामिति। राजऋषीणाम् ऋषिवत् सदाचारसम्पन्ननृपतीनां मध्ये। राजा ऋषिः, 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः। इन्द्रः श्रेष्ठः, सः नलः, प्रतिवेलम् अनुक्षणम्, भीमजाम् आत्मप्रियां दमयन्तीम्, अनु लक्ष्यीकृत्य, चलत् गच्छत्, हृदयं वक्षः अन्तःकरणञ्च, संयियंसुरिव संयन्तुमिच्छुरिव, बद्धुमिच्छुः सन्नित्यर्थः। स्वहृदयस्य सर्वदा स्वं विहाय अन्यत्र गमनस्य अन्याय्यत्वात् तस्य बन्धनेच्छा इति भावः। उत्तरीयस्य उत्तरासङ्गस्य, यः परिवेषः परिधिः हृदयोपरि वेष्टनमित्यर्थः। तस्य मिषेण व्याजेन, समन्तात् सर्वतः, प्राववार प्रावृतवान्, स्वहृदयमेवेति शेषः ॥ १५ ॥

अन्वयः—राजऋषीन्द्रः सः प्रतिवेलं भीमजाम् अनु चलत् हृदयं संयियंसुः इव उत्तरीयपरिवेषमिषेण समन्तात् प्राववार।

हिन्दी—राजर्षियों (सदाचारी राजाओं) में इन्द्र (श्रेष्ठ) उस (नल) ने वारंवार भीमपुत्री (दमयंती) की ओर जाते हृदय (अंतस्) का भली भाँति जैसे नियन्त्रण करने की इच्छा से हृदय (वक्ष) को उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टा) बाँधने के व्याज से चारों ओर बाँध लिया।

टिप्पणी—स्मृति का विधान है कि एक वस्त्र में कोई मंगल-कृत्य न करे—'एकवाससः कर्मानधिकारः।' अतः राजा नल ने पूजा के समय अपने ऊपर के अंगों—वक्ष आदि को चारों ओर से उत्तरीयवस्त्र द्वारा ढका। इस पर कल्पना है कि यह वक्ष को चारों ओर से ढकना, उस चंचल मन के नियन्त्रण के निमित्त था, जो प्रतिक्षण वारवार प्रिया के निकट भाग जाना चाहता था। चंचल-चित्त रहने पर ध्यान कैसे हो सकता है? सो प्रिया-निकट गमनोत्सुक चित्त को दुपट्टे से बाँध कर नल ने रोका—उत्तरीय रूप रज्जु से बाँधकर। कुछ यह भी तो ठीक नहीं था कि नल की अपनी वस्तु

दूसरे के पास यो बलात् चली जाये, सो मन तुरग को उत्तरीय की शृंखला में जकड कर नल ने रोका ॥ १५ ॥

स्नानवारिघटराजदुरोजा गौरमृत्तिलकबिन्दुमुखेन्दुः ।
केशशेषजलमौक्तिकदन्ता त बभाज सुभगाऽऽप्लवनश्रीः ॥ १६ ॥

जीवातु–स्नानेति। स्नानवारिघटौ स्नानीयोदककुम्भाविव, राजन्तौ शोभमानौ, उरोजौ कुचौ यस्या सा तादृशी गौर शुभ्रवर्ण, शुभ्रत्वादिति भाव । मृत्तिलकबिन्दुः मृत्तिकाकृतवर्तुलतिलकमेव, मुखेन्दु वदनचन्द्र यस्या सा तादृशी केशशेषाणि कुन्तलेषु अवशिष्टानि, जलमौक्तिकानि मुक्तातुल्यवारिबिन्दव एव, दन्ता दशना यस्याः सा तादृशी ।। नासिकोदर–'इत्यादिना पक्षे ङीषो विधानादन्यत्र पक्षे टाप् । सुभगा रम्या, मलाङ्गसङ्गाभावादिति भाव । आप्लवनस्य श्री स्नानशोभा, त नल, बभाज सिषेवे ॥ १६ ॥

अन्वय —स्नानवारिघटराजदुरोजा गौरमृत्तिलकबिन्दुमुखेन्दु. केशशेष-जलमौक्तिकदन्ता सुभगा आप्लवनश्री त बभाज।

हिंदी—स्नान जल कलश-रूप सुशोभन कुचवती, गोपीचदनादिरचित शुभ्र मृत्तिका के तिलक-बिंदु रूप मुखचद्र वाली, केशों में बचे जल बिन्दु रूप मोती-से दाँत वाली सुन्दर मनोहर स्नान शोभा उस (नल) पर स्नान घट सदृश पीन-पयोधरो से सुशोभित, गोपीचदन के तिलक बिंदु से युक्त मुख चद्रवती, सद्य स्नाता (जिसके केशो से मोती स जल बिन्दु टपक रहे थे), मोती-स शुभ्र—दमकते दाँतो वाली सौभाग्यवती तरुणी की भाँति शोभित हुई।

टिप्पणी—सद्य स्नात नल का वर्णन, जिन्होंने तरुणी के पीन-पयोधर-सम आकर्षक स्नान-घटों में भरे जल से स्नान कर गोपीचदन का गोल तिलक मुख पर लगाया और विधान का पालन करते हुए सिर नहीं पोंछा था, जिसस मोती सदृश गग्ग जल बिन्दु टपक रहे थे, क्योकि व्यास वचन है कि 'हस्तवस्त्रेर्न मार्जयेत्' अर्थात् वैधस्नानानतर सिर को हाथ अथवा वस्त्र से न पोंछे। तिलक के विषय में दक्ष वचन है—'ऊर्ध्ववृत्तत्रियगर्द्धचन्द्राकारा-वर्णाना क्रमात्तिलका ।' अर्थात् ब्राह्मण ऊर्ध्व तिलक लगाये, क्षत्रिय वृत्ताकार

(गोल), धैर्य तिरछा और शूद्र अर्द्धचंद्राकार। 'सद्यःस्नाता' का भाव 'रजोनिवृत्ति' के पश्चात् स्नाता भी होता है। ऐसी 'प्रणयिनी' से स्नान-शोभा की तुलना की गयी॥ १६॥

श्वैत्यशैत्यजलदैवतमन्त्रस्वादुताप्रमुदितां चतुरक्षीम्।
वीक्ष्य मोघधृतसौरभलोभं घ्राणमस्य सलिलघ्रमिवाभूत्॥ १७॥

जीवातु—श्वैत्येति। अस्य नलस्य, घ्राणं घ्राणेन्द्रियम्, नासिकेत्यर्थः। चतुर्णां चतुःसङ्ख्यकानाम्, अक्षाणां नयनत्वक्श्रोत्ररसनाख्यानाम् इन्द्रियाणां समाहारः चतुरक्षी तां चतुरक्षीम्, श्वैत्येन जलस्य श्वेततया, तेन नेत्रं प्रमुदित-मित्याशयः। शैत्येन जलस्यैव शीतत्वेन, तेन च त्वक् प्रमुदितेत्याशयः। जलं वारि, दैवतं देवता अस्य तेन तादृशेन मन्त्रेण 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभिद्धात्तपसः' इत्यादिमन्त्रेण, तच्छ्रवणेन च श्रोत्रेन्द्रियं प्रमुदितमित्याशयः। तथा स्वादुतया जलस्यैव माधुर्येण च, तेन च रसना प्रमुदितेत्याशयः। प्रमुदितां प्रहृष्टाम्, वीक्ष्येव दृष्ट्वेव, मोघं व्यर्थं यथा भवति तथा, धृतः प्राप्तः, सौरभे सौगन्ध्ये, द्रव्यान्तरस्येति शेषः। लोभः लोलुपता येन तत् तादृशं सत्, सलिलं जलम्, जिघ्रति घ्राणविषयीकरोतीति तत् तादृशं सलिलघ्रम्। 'आतोऽनुपसर्गे कः'। अभूत् अजायत, अघमर्षणकाले ऋतञ्च इत्यादि मन्त्रं पठन् जलं जिघ्रति स्मेति निष्कर्षः॥ १७॥

अन्वयः—अस्य घ्राणं श्वैत्यशैत्यजलदैवतमन्त्रस्वादुताप्रमुदितां चतुरक्षीं वीक्ष्य इव मोघधृतसौरभलोभं सलिलघ्रम् अभूत्।

हिन्दी—इस (नल) की घ्राणेंद्रिय (नासिका) शुभ्रता (रूप), शीतलता (स्पर्श), जल-देव के मंत्र (शब्द-श्रवण) और स्वादिष्टता (रस) से प्रसन्न (तृप्त) चतुरिंद्रिय (नेत्र, त्वचा, कर्ण और रसना) को देख मानो व्यर्थ सुगंध-लोलुपता धारण करती जल-सूँघने वाली हुई।

टिप्पणी—उपासना करते समय राजा नल पूजा-जल चुल्लू में लेकर अघमर्षण कर रहे थे। इसमें जल शरीर पर छिड़का जाता है, 'ऋतञ्च सत्यञ्च'-इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए नेत्र, त्वचा और कर्णेन्द्रिय पर जल-स्पर्श किया जाता है, उसका आचमन किया जाता है और उसे सूँघा जाता

है। इस प्रकार पंचेंद्रिय—नेत्र, त्वचा, कर्ण, रसना और नासिका की शुद्धि की जाती है। इस कर्म में किसी प्रकार की सुगंध जल में नहीं मिलायी जाती, अतः जल सुगंध-रहित होता है। इसी आधार पर यहाँ यह उद्भावना की गयी है कि जल के शुभ्र रूप को देख नेत्रेंद्रिय को प्रसन्नता मिली, शीतल-स्पर्श से त्वगिंद्रिय को, मन्त्र-श्रवण से कर्णेन्द्रिय परितृप्त हुई और जल के मधुर स्वाद से रसनेंद्रिय। चारों इंद्रियों को इस प्रकार जल में अपना-अपना अभीष्ट पाकर तृप्त-तुष्ट होते देख घ्राणेन्द्रिय को भी लोभ जागा कि वह भी जल-सुगंध प्राप्ति द्वारा तृप्त हो ले, किंतु नासिका का यह लोभ व्यर्थ ही रहा, वह संतुष्ट न हो सकी, क्योंकि जल में गंध नहीं थी। गंध तो पृथिवी का गुण है, वह जल में था नहीं और निषेध होने के कारण कर्पूरादि गंध से उसे वासित किया नहीं गया था, फलतः घ्राणेंद्रिय को तुष्टि न मिल सकी॥ १७॥

(राज्ञि भानुमदुपस्थितयेऽस्मिन्नात्तमम्बु किरति स्वकरेण।
भ्रान्तयः स्फुरति तेजसि चक्रुस्त्वष्टृतर्कुचलदर्कवितर्कम्॥ १॥)

प्रकाश.—राज्ञीति। अस्मिन् राज्ञि भानुमनः सूर्यस्योपस्थितये उपस्थानार्थमात्तं गृहीतमर्घ्यदानसम्बन्धि अर्घ्यदानानन्तरं वा। 'अत्रावादित्य.—' इत्यादिमन्त्रपूर्वं जलं शिरः परितः स्वपाणिना स्फुरति प्रकाशमाने तेजसि सौरप्रभाप्रसरमध्ये गलद्विन्दुक्रमेण किरति सति भ्रान्तयः क्षिप्तोदकस्यैव प्रादक्षिण्यपरिभ्रमणानि लोकस्य त्वष्टुर्विश्वकर्मणः तर्कुं शाणचक्रं तत्र घर्षणवशाच्चलतो भ्राम्यतो विश्वकपतनशीलतेजःकणस्यार्कस्य वितर्कं तद्विपर्यं विशिष्टमूहं चक्रुः। प्रकाशमानसौरप्रभाप्रदक्षिणप्रक्षिप्तगलद्विन्दुजलभ्रमणदर्शनेन विश्वकर्मणा सूर्यं पुनरपि शाणचक्रे धृतः किम्?, अत एवैतेऽणवः कणाः पतन्तीति लोकस्य तदानीं बुद्धिरभूदित्यर्थः। भानुमदुपस्थितये गृहीतमम्बु स्वकरेण विक्षिपत्यस्मिन् राज्ञि विषये लोकस्य भ्रान्तयो नलाङ्गप्रभासरे प्रकाशमाने सति निशाणचक्रारिभ्रमत्सूर्यसंभावना लोकस्य चक्रुरिति वा। राजा यदम्बु गृहीतं तस्मिन्नुत्क्षिप्ते जले स्फुरति प्रतिफलति रवितेजसि जायमाना भ्रान्तयो भ्रमणानि त्वष्टृतर्कुचलदर्कवितर्कं चक्रुः। उत्क्षिप्ता अपो

वियति भ्रमन्त्यः पतन्ति, तत्प्रतिबिम्बिते तेजस्यपि भ्रमणानि जायन्ते। तत्रोत्प्रेक्षेति वा। अर्घ्यदान सूर्योपस्थानञ्च कृतवानिति भावः। 'स्फुरित-तेजसी'ति पाठे नलविशेषणम् ॥ १ ॥

अन्वयः—अस्मिन् राज्ञि भानुमदुपस्थितये आत्तम् अम्बु स्वकरेण स्फुरति तेजसि किरति भ्रान्तयः त्वष्टृतकुचलदर्कवितर्क चक्रुः।

हिन्दी इस राजा (नल) के भानुमान् (सूर्य) की उपस्थिति (उपस्थान) के निमित्त गृहीत जल अपने हाथ से देदीप्यमान सूर्य-तेज के मध्य उत्क्षिप्त करने (फेंकने) पर जल के भ्रमों (घूम) ने विश्वकर्मा के शाणचक्र पर चढ़े सूर्य का वितर्क उपस्थित कर दिया।

टिप्पणी—राजा ने 'असावादित्यः'—इत्यादि मंत्र पढ़ कर सूर्यदेव के उपस्थानार्थ जल-बिंदु सिर के चारों ओर घुमाकर फेंके। सूर्य-प्रभा में दमकते-घूमते वे जल-बिंदु देख कर यह भ्रम होने लगा कि विश्वकर्मा ने कहीं सूर्य को पुनः शाण-चक्र पर तो नहीं चढ़ा दिया है? यह भाव भी लिया जा सकता है कि सूर्योपस्थानार्थ लिए जल को अपने हाथ से फेंकते राजा नल के संबंध में लोक-भ्रांतियों ने नलांग-कांति-प्रसर के प्रकाशित होने पर लोक-मानस में शाणचक्र पर घूमते सूर्य की संभावना कर दी। नारायण ने यहाँ यह उत्प्रेक्षा भी मानी है कि उत्क्षिप्त जल आकाश में चक्कर खाते गिरते हैं, उनके प्रतिबिंबित होने पर तेज में भी भ्रांतियाँ दीखती हैं। मल्लिनाथ द्वारा व्याख्या न होने पर यहाँ नारायणी संस्कृत व्याख्या दी गयी है।

> सम्यगस्य जपतः श्रुतिमन्त्राः सन्निधानमभजन्त कराब्जे।
> शुद्धबीजविशदस्फुटवर्णाः स्फाटिकाक्षवलयच्छलभाजः ॥ १८ ॥

जीवातु—सम्यगिति। शुद्धानि आगमोक्तक्रमोच्चारणान्निर्दोषाणि, बीजानि वह्निवारुणादिमूलमन्त्राणि येषु ते च ते विशदाः निर्मलाः, स्फुटाः स्पष्टाश्च वर्णाः अक्षराणि येषां ते चेति तथोक्ताः। शुद्धबीजाश्च ते विशदस्फुट-वर्णाश्चेति विशेषणसमासः। श्रुतिमन्त्राः वेदोक्तमन्त्राः गायत्र्यादयः; शुद्धानि अदुष्टानि, बीजानि गुडकानीत्यर्थः। यस्य तच्च तत्, विशदः शुभ्रः, स्फुटः उज्ज्वलश्च, वर्णः प्रभाविशेषः यस्य तच्चेति तत्, स्फाटिकं स्फटिकमयम्, यद् अक्षवलयं जपमाला, तस्य छलं व्याजम्; भजन्ति आश्रयन्ति ये ते तादृशाः

सन्त सम्यक् सुष्ठु यथा तथा जपत जप कुर्वत , अस्य नलस्य, कर पाणिरेव, अब्ज कमल तस्मिन्, सन्निधान सान्निध्यम्, अभजन्त प्राप्ता', इवेति शेष ॥ १८ ॥

अन्वय —शुद्धबीजविशदस्फुटवर्णा श्रुतिमन्त्रा स्फाटिकाक्षवलयच्छलभाज सम्यक् जपत अस्य कराब्जे सन्निधानम् अभजन्त ।

हिन्दी—शुद्ध अर्थात् आगमसमत क्रमिक उच्चारण के कारण निर्दोष, वह्नि वारुणादि बीजो के कारण स्फुट वर्णो वाले अर्थात् मात्रा आदि के साकल्योच्चारण से स्पष्ट अक्षरा वाले वदमन्त्र गायत्र्यादि-निर्दोष मनको के शुभ्र, उज्ज्वल रगवाले स्फटिकों की जपमाला के व्याज से-भली भाँति जपते इस (नल) के कर-कमल में साक्षात् उपस्थित हो गये थे ।

टिप्पणी—आशय यह है कि राजा नल निर्दोष, उजले, चमकदार स्फटिको की जपमाला पर, क्रम, मात्रा आदि की सपूर्णता के साथ स्पष्ट उच्चारण करते हुए सविधि गायत्र्यादि श्रुतिमन्त्रो का उपांशु जप कर रहे थे । इस पर अनेकार्थशब्दयोजना का आश्रय ले यह सभावना की गयी है कि निर्दोष, उज्ज्वल स्फटिकाक्षो के रूप में ये निर्दुष्ट, स्पष्ट उच्चरित पावन श्रुतिमन्त्र ही नल कर-सान्निध्य में आ गये हैं । भाव यह कि नल इतना सविधि और निर्दोष उच्चारण कर रहे थे कि गायत्र्यादि मन्त्र उनके निकट प्रकट से हो गये थे। तात्पर्य यह कि सूर्यार्चनोपरान्त राजा नल ने गायत्रीमन्त्र का स्फटिकमाला पर जप किया । १८॥

पाणिपर्वणि यव पुनरास्यद्देवतर्पणयवार्पणमस्य ।
न्युप्यमानजलयोगितिलौघं स द्विरुक्तकरकालतिलाऽभूत् ॥ १९ ।

जीवातु—पाणिरिति । अस्य नलस्य, पाणे करस्य, पर्वणि ग्रन्थौ, यव यवाकारा स्पष्टरेखा, देवतर्पणे देवसम्बन्धितर्पणक्रियायाम्, यवानाम् अर्पण दानम् । कर्म । पुनराख्यत् पुनरुक्तम् अकरोत् । पुन पुनर्दानमभापतेवेत्यथ । पाणिपर्वस्थयवैरेव तदर्पणसम्पादनादिति भाव । तथा स नल , न्युप्यमानेन पितृभ्य दीयमानेन । 'पितृदान निवाप स्यात्' इत्यमर । जलेन उदकेन, युज्यन्ते मिल्यन्ते ये, तैं तादृशं, तिलानां कृष्णतिलानाम्, ओघं समूहं

करणैः, द्विरुक्तः वारद्वयमुक्तः, पुनरुक्त इत्यर्थः। द्विगुणीभूत इति यावत्। करकालतिलः पाणिस्थकृष्णवर्णतिलाकाररेखा यस्य सः तादृशः, अभूत् अजायत, इवेति शेषः। नलः देवानां पितृणाञ्च तर्पणं कृतवानिति भावः। भाग्यवतां हस्ते यवाकाराः तिलाकाराश्च रेखाः दृश्यन्ते इति सामुद्रिकाः॥ १९॥

अन्वयः—अस्य पाणिपर्वणि यवः देवतर्पणयवार्पणं पुनः आख्यत्, सः न्युप्यमानजलयोगितिलौघैः द्विरुक्तकरकालतिलः अभूत्।

हिन्दी—इस नल के हाथ में स्थित जौ (जौ के आकार की रेखा) ने देव-सम्बद्ध तर्पणकर्म में जौ-अर्पण की पुनरुक्ति कर दी और वह (नल) पितरों को अर्पित जल मिले तिल-समूह द्वारा हस्तस्थित पुनरुक्त काले-तिलों-वाला हो गया।

टिप्पणी—नल ने हाथ में जौ लेकर देवतर्पण किया और जौ-तिल-जलसे पितृ-तर्पण। नल के अंगुली-पोरों में यव चिह्न भी थे और हाथ में काले तिल-चिह्न भी। सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार ये शुभ चिह्न हैं। देव-तर्पण का यवार्पण अंगुलि-पोर के यवचिह्नों से आवृत्त-सा हुआ लगा और पितृतर्पण के सजल काले तिल हाथ में लेने से नल के हाथ के काले-तिल दुहरा-से दिये गये। देवयज्ञ के लिए जौ, पितृतर्पण के लिए काले तिल,—इन दोनों के मध्य स्वभावतः नल के हाथ के काले-तिल-चिह्न। इससे यह द्योतित होता है कि राजा ने देवयज्ञ और पितृयज्ञ के मध्य ऋषियज्ञ भी किया—देवर्षि-पितृ-तर्पण॥ १९॥

पूतपाणिचरणः शुचिनोच्चैरध्वनाऽनितरपादहतेन।
ब्रह्मचारिपरिचारिसुरार्चाविश्म राजऋषिरेष विवेश॥ २०॥

जीवातु—पूतपाणिरिति। एषः अयम्, राजऋषिः मुनितुल्यनृपतिः, नलः इति शेषः। 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः। पूतौ प्रक्षालनेन पवित्रौ, पाणिचरणौ हस्तपादौ यस्य सः तादृशः सन्, इतरेषां ब्रह्मचारिव्यतिरिक्तानाम्, पादैः चरणैः, हतः क्षुण्णः इतरपादहतः, तादृशः न भवतीति अनितरपादहतः तेन जनान्तरपादास्पृष्टेन, अत एव शुचिना शुद्धेन, अध्वना मार्गेण साधनेन, ब्रह्मचारिणः ब्रह्मचर्यव्रतावलम्बिन एव, परिचारिणः परिचारकाः यत्र तत् तादृशम्, उच्चैः उन्नतम्, सुरार्चाविश्म देवपूजागृहम्, विवेश प्रविष्टवान्। पूजार्थमिति भावः॥ २०॥

अन्वय.—पूतपाणिचरण एषः राजऋषिः अनितरपादहतेन शुचिना अध्वना ब्रह्मचारिपरिचारि उच्चैः सुरार्चावेश्म विवेश ।

हिन्दी—(प्रक्षालन करके) पवित्र हाथ-पैरों वाला यह राजर्षि (नल) अन्य के चरण न पड़ने से पवित्र मार्ग से, जहाँ के पुजारी ब्रह्मचारी ही थे, ऐसे ऊँचे-विशाल देव-पूजा-गृह में प्रविष्ट हुए ।

टिप्पणी—देवमन्दिर में पूजा-कार्य-सम्पादनार्थ केवल ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने वाले ही परिचारक रहते थे, वह बहुत ऊँचा और विशाल था । राजा भली भाँति हाथ पैर धो पवित्र होकर ऐसे पथ से देवमन्दिर में गये, जो स्वच्छ था और उस पर उनसे पूर्व कोई नहीं चला था ॥ २० ॥

क्वापि यन्नभसि धूपजधूमैर्मेचकागुरुभवैर्भ्रमराणाम् ।
भूयते स्म सुमनःसुमनःस्रग्दामधामपटले पटलेन ॥ २१ ॥

जीवातु—क्वेति । यस्य सुरार्चावेश्मनः, नभसि आकाशे, अभ्यन्तराकाशे इत्यर्थः । क्वापि कस्मिंश्चित् प्रदेशे, सुमनः सुमनसां मालतीपुष्पाणाम् । 'सुमना पुष्पमालत्यो' इति मेदिनी । स्रग्दामभिः मालासमूहैः, कल्पितस्येति शेषः । धाम्नः गृहस्य, गृहाकाररचनाविशेषस्येत्यर्थः । पटले प्रान्ते, मेचकागुरुभवैः, कृष्णागुरुसम्भवैः धूपजधूमैः धूपोत्थधूमैः, भ्रमराणां भृङ्गाणाम्, पटलेन समूहेन, भूयते स्म भूतम् । पुष्पाणामुपरि भ्रमरैः भाव्यम्, अतएव धूपजधूमा एव तत्समूहस्वरूपा जाता इत्यर्थः ॥ २१ ॥

अन्वयः—यन्नभसि क्व अपि सुमनः सुमनः स्रग्दामधामपटले मेचकागुरुभवैः धूपजधूमैः भ्रमराणां पटलेन भूयते स्म ।

हिन्दी—जिस (देवार्चनगृह) के भीतरी आकाश (रिक्तस्थान) में कहीं देव-पूजार्थ लाये गये फूलों की मालाओं के स्थानों (अथवा कण्ठमालाओं, शिरोमाल्य के स्थानों अर्थात् फूलों बाँसों, सुवर्ण आदि के पात्रों, अथवा मालती-पुष्पों की मालाओं-द्वारा कल्पित स्थानों) के पटलों (प्रान्तों अथवा समूहों) पर कृष्णागुरु की धूप (जलाने) से उत्पन्न धूम (धुआँ) भ्रमर-समूह हो रहा था ।

टिप्पणी—देवमंदिरों में देवपूजार्थ फूल-मालाएँ लाकर उचित स्थानों पर रखी जाती हैं, फूलों, बाँसों की डलियों अथवा ताँबा, चाँदी और

सुवर्णादि के पात्रों में भी रखी जाती हैं, फूलों के पटल (वितान) भी बनाये जाते हैं। अगुरु आदि धूप भी जलायी जाती है। राजा नल के देव-मंदिर में भी ऐसा ही था। वहाँ इतने फूल थे और चमकीले कृष्णगुरु की धूप-जलाने से इतना सुगंधि-धूम मंदिर के अन्तर-आकाश में व्याप्त हो रहा था कि वह चमकदार धुआँ फूलों पर फैलता फूलों पर आकर उड़ते भौरों के तुल्य प्रतीत होता था। आशय यही कि मंदिर में व्याप्त धूप-धूम फूलों के ऊपर उड़ती भ्रमर-मंडली बन रहा था। श्लोक संख्या २१-२९ में मंदिर-वर्णन है ॥ २१ ॥

साङ्कुरेव रुचिपीततमा यैर्यैः पुराऽस्ति रजनी रजनीव।
ते धृता वितरितुं त्रिदशेभ्यो यत्र हेमलतिका इव दीपाः ॥ २२ ॥

जीवातु—साङ्कुरेति। रजनी रात्रिः, यैः दीपैः रुचिभिः दीप्तिभिः साधनैः, पीतं ग्रस्तम्, विनाशितमित्यर्थः। तमः अन्धकारं यस्यां सा रुचि-पीततमा सती, साङ्कुरा तेजोऽङ्कुरसहिता इव, पुरा प्राक्, अस्ति आसीत्, 'पुरा लङ् चास्मे' इति भूते लट्। रजनी रात्रिरेव, यैश्च दीपैः, रुचिभिः दीप्तिभिः, पीततमा अत्यर्थं पीतवर्णा सती, साङ्कुरा सप्ररोहा, दीपरूपाङ्कु-रयुक्तेत्यर्थः। रजनी इव हरिद्रेव, पुरा प्राक्, अस्ति आसीत्। 'रजनी पीतिकायां रात्री हरिद्रायाम' इति विश्वः। हेमलतिकाः स्वर्णलता इव स्थिताः, ते पूर्वोक्ताः, दीपाः आलोकवर्त्तयः, यत्र सुरार्चावेश्मनि, त्रिदशेभ्यः देवेभ्यः, वितरितुम् उत्सङ्गीकर्त्तुम्, धृताः स्थापिताः, परिचारकैरिति शेषः ॥ २२ ॥

अन्वयः—यैः रुचिपीततमा साङ्कुरा रजनी पुरा यैः (रुचिपीततमा साङ्कुरा) रजनी इव अस्ति, हेमलतिकाः इव ते दीपाः यत्र त्रिदशेभ्यः वितरितुं धृताः।

हिन्दी—जिन (दीपकों) के द्वारा अपनी दीप्ति से जिसका अन्धकार पी डाला गया था (दूर कर दिया गया था) ऐसे प्रकाश के अंकुरों से युक्त रात्रि पहिले दीपकों की दीप्ति से पीले रंग की अंकुर-सहित हलदी-जैसी हो गयी थी, वे दीपक जहाँ (देवमंदिर में) देवों को समर्पित करने के लिए रखे गये थे।

टिप्पणी—देव-मंदिर में देवों के समुख इतने अधिक चौमुखी बाती-सहित दीपक रखे गये थे कि रात का अँधेरा पूर्णतः दूर हो गया था और ऐसा लगने लगा था कि दीपकों की लौ जैसे दीप्तिमती रात्रि के प्ररोह (प्रकाशमयी रात्रि के ज्योतिर्मय अंकुर) हैं। दीपप्रकाश इतना अधिक था कि काली रात दीप लौ के अंकुरों से युक्त हल्दी-जैसी लगती थी। आशय यही कि अत्यधिक प्रकाश था मंदिर में। नारायण के अनुसार रजनी पीली हल्दी-सी, दीपों की लौ राशि हरिद्रा के अंकुरों-जैसी—यह उत्प्रेक्षा अथवा उपमा है ॥ २२ ॥

(यत्र मौक्तिकमणेर्विरहेण प्रीतिकामघृतवह्निपदेन।
कुङ्कुमेन परिपूरितमन्तः शुक्तयः शुशुभिरेऽनुभवन्त्यः ॥ २ ॥)

प्रकाश—यत्रेति। यत्र देवागारे मौक्तिकमणेः प्रियतमस्य विरहेण कर्त्रा कुङ्कुमस्य स्वोद्दीपनहेतुतया प्रीतिस्तया काम दत्त कामेन कर्त्रा वा दत्तं वह्नेः पदं दाहकत्वादिरूपोऽधिकारस्तद्रूपं चिह्नं वा यस्य तेन कुङ्कुमकेसरेण परिपूरितमन्तर्मध्यभागमनुभवन्त्यो बिभ्राणा शुक्तयः शुशुभिरे। वियोगिन्यो हि विरहाग्नितप्तं हृदयमनुभवति। कुङ्कुमपूर्णाः शुक्तयो वियोगिनीरूपेण वर्ण्यन्ते। यद्वा—मौक्तिकमणिविरहेणोपलक्षिताः शुक्तयः कुङ्कुमस्य कामोद्दीपनहेतुतया या प्रीतिस्तया युक्तेन कामेन। अन्यत्पूर्ववत्। प्रीतौ हि किञ्चित्पदं ददाति शुक्तयो विशिष्टेन कुङ्कुमेनोपलक्षिता. मत्ये मौक्तिकमणिविरहेण पूर्णं मध्यमनुभवन्त्य इव शुशुभिरे इति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा वा 'प्रीते'ति पाठे स्वोद्दीपकत्वेन प्रीतात्कामाद् धृत करेण लब्ध वह्निपदं येनेत्यर्थः। मुक्ताफलोत्पत्तिहेतुभूता शुक्तयः पुत्रविरहेण मानसो यथा हृदयान्तर्दहन्ति, तथा कुङ्कुमरूपमन्तर्दाहं वहन्त्य शुशुभिरे इति वा ॥ २ ॥

अन्वय—यत्र मौक्तिकमणेः विरहेण प्रीतिकामघृतवह्निपदेन कुङ्कुमेन परिपूरितम् अन्तः अनुभवन्त्यः शुक्तयः शुशुभिरे।

हिन्दी—जहाँ (देवमंदिर) मुक्ता-मणि (मोती) के वियोग के द्वारा प्रीतिकामना के कारण प्रीति अग्नि-स्थान प्राप्त कुंकुम (केसर) से परिपूर्ण हृदय अनुभव करती सीपियाँ सुशोभित थी।

टिप्पणी—देवमंदिर में सीपियों में कुंकुम रखी हुई थी। सीपियों में ही मोती निकलता है और मोती-निकलने के अनंतर सीपियों का इसी प्रकार पात्र-

रूप में प्रयोग कर लिया जाता है। मोती—मुक्तामणि सीपियों से निकलता है, अतः वह सीपियों का पुत्र हुआ। यहाँ सीपियों को पुत्र-विरह की आग से परिपूर्ण अन्तःकरण वाली बताया गया है। कुंकुम अपने वर्ण-साम्य के आधार पर अग्नि-सम मानी गयी है, जो सीपियों के मध्य (अंतस् में) विरह ने रखी है। 'मौक्तिकमणि' का लाक्षणिक अर्थ प्रियतम भी होता है। सीपियों को प्रिय-वियोग में अग्नि-परिपूर्ण-हृदया भी माना जा सकता है। उस स्थिति में 'प्रीतिकामधृतवह्निपदेन' का अर्थ होगा—प्रीति और काम के कारण वह्निस्थान पाये कुंकुम से परिपूर्ण अतःकरण अनुभव करतीं सीपियाँ। अर्थात्, कुंकुम प्रिय-विरह में प्रणय-कामना से धधकते सीपियों के हृदय में प्रज्वलित अग्नि-सदृश था। वियोग ने सीपियों के हृदय में कुंकुम-वह्नि-स्थापना कर दी थी, अर्थात् कुंकुम-रूप अग्नि स विरह सीपियो के हृदय दग्ध कर रहा था। मल्लिनाथ-टीका न होने से यहाँ नारायण की संस्कृत टीका दी गयी है॥ २॥

अङ्कचुम्बिघनचन्दनपङ्कं यत्र गारुडशिलाजममत्रम्।
प्राप केलिकवलीभवदिन्दोः सिंहिकासुतमुखस्य सुखानि॥ २३॥

जीवातु—अङ्केति। यत्र सुरार्चावेश्मनि, गारुडशिलाजं मरकतमणि-निर्मितम्, अमत्रं पात्रम्, अङ्कं क्रोडम्, अभ्यन्तरभागमित्यर्थः। चुम्बति स्पृशतीति अङ्कचुम्बी, घनः सान्द्रः, चन्दनपङ्कः घृष्टचन्दनं यस्य तत्तादृशं सत्, केलिना क्रीडया, कवलीभवन् ग्रासीभवन्, अभ्यन्तरं प्रविशन्निति यावत्, इन्दुः चन्द्रो यस्य तादृशस्य 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य' इति पुंवद्भावः। सिंहिकासुतमुखस्य राहुवदनस्य। 'सिंहिकानन्दनो राहुः' इति साधुः। सुखानि आनन्दान्, सादृश्यमिति भावः। प्राप लब्धवान्। इन्दु—चन्दनपङ्कयोः श्वैत्य-शैत्यसाम्यात् सिंहिकासुत—गारुडमणिपात्रयोश्च गोलत्व-कृष्णवर्णत्वसाम्यादिति भावः। यत्र गृहे गारुडमणिपात्राणि चन्दनभरितानि सन्तीति निष्कर्षः॥ २३॥

अन्वयः—यत्र अङ्कचुम्बिघनचन्दनपङ्कं गारुडशिलाजम् अमत्रं केलिक-वलीभवदिन्दोः सिंहिकासुतमुखस्य सुखानि प्राप।

हिन्दी—जहाँ (मंदिर में) जिसका अंक (गोद-मध्य) घने, घिसे चंदन से चुम्बित (पूर्ण) था, ऐसा मरकतमणि से निर्मित पात्र लीलामात्र (खेल-खेल) में चंद्रमा को कवलित करते (ग्रास बनाते) सिंहिका के पुत्र (राहु) के मुख को प्राप्त सुख (शीतल खाद्य का आनंद—मलाई का बर्फ—आइस क्रीम खाने का सुख) प्राप्त कर रहा था।

टिप्पणी—देव मंदिर में गारुडशिला अर्थात् मरकहृत मणि के पात्र में घिसा गाढ़ा चंदन रखा था। चन्दन शुभ्र और शीतल होता है, अतः उसकी कल्पना ग्रास बनते चंद्र लेप से की गयी है, घिस कर गाढ़ा लेप-सा बना चंद्रमा। वह जैसे पात्र रूप राहु के मुख में आनन्द देता हुआ ठंडा, शीतल खाद्य है, जिसका आनंद राहु मुख ले रहा है। चंद्र-चंदन लेप में शुभ्रता और शीतलता के कारण समानता है, पात्र और राहु में गोलाकारता तथा कृष्ण-वर्णता के कारण ॥ २३ ॥

गर्भमैणमदकर्दमसान्द्रं भाजनानि रजतस्य भजन्ति।
यत्र साम्यमगमन्नमृतांशोरङ्करङ्कुकलुषीकृतकुक्षेः ॥ २४ ॥

जीवातु—गर्भमिति। यत्र सुरार्चावेश्मनि, रजतस्य रौप्यस्य, भाजनानि पात्राणि कर्तृणि एणमदकर्दमेन कस्तूरीपङ्केन, सान्द्रं निबिडम्, परिपूर्ण-मित्यर्थः। गर्भं मध्यप्रदेशम्, भजन्ति प्राप्नुवन्ति सन्ति, अङ्केन चिह्नेन, कलङ्कात्मकेनेत्यर्थः। रङ्कुणा मृगेण, यद्वा—अङ्के क्रोडे, यो रङ्कु मृगाकृतिचिह्नम्, तेन कलुषीकृत मलिनीभूतः, कुक्षिः उदरं यस्य तथोक्तस्य, अमृतांशो चन्द्रस्य, साम्यं समताम्, अगमन् प्रापन्। रजतभाजनानां शुभ्रत्व-गोलाकारत्वसाम्यात् चन्द्रसादृश्यम्, कस्तूरीपङ्कस्य च कृष्णवर्णत्वात् क्रोडस्य-हरिणतुल्यत्वं बोद्धव्यम्। यत्र देवपूजार्थं रजतपात्राणि घृष्टकस्तूरीपूर्णानि सन्तीति निष्कर्षः ॥ २४ ॥

अन्वय—यत्र एणमदकर्दमसान्द्रं गर्भं भजन्ति रजतस्य भाजनानि अङ्करङ्कुकलुषीकृतकुक्षेः अमृतांशोः साम्यम् अगमन्।

हिन्दी—जहाँ (मंदिर में) कस्तूरी के लेप से पूर्ण मध्य से युक्त चाँदी के पात्र क्रोड में स्थित कृष्ण-मृग-चिह्न से काले उदर (मध्य) वाले अमृत-किरण (चंद्र) की समानता को प्राप्त हो रहे थे।

टिप्पणी—शुभ्र चांदी के गोल वर्तनों में काला-काला कस्तूरी-लेप मंदिर मे रखा था। चांदी के पात्रों को गोल—श्वेत होने के आधार पर चंद्र के और काले 'ऐणमद-कर्दम' (कस्तूरी-लेप) को कृष्ण-मृग-चिह्न के तुल्य बताया गया है, अर्थात् कस्तूरीलेप युक्त रजतपात्र जैसे कलङ्कचिह्न-युक्त चन्द्रमा ॥ २४ ॥

उज्जिहानसुकृताङ्कुरशङ्का यत्र धर्मगहने खलु तेने।
भूरिशर्करकरम्भबलीनामालिभिः सुगतसौधसखानाम् ॥ २५ ॥

जीवातु—उज्जिहानेति। धर्मेण सुकृतेन, गहने निबिडे, धर्मगहने बहुविध-धर्मानुष्ठानपूर्णे, अन्यत्र-धर्मारण्ये यत्र सुराचार्यवेश्मनि, सुगतस्य बुद्धस्य, सौधानां सुधाधवलितप्रासादानाम्, शुभ्रचैत्यानामित्यर्थः। सखायः शुभ्रतया तत्सदृशाः, इत्यर्थः, तेषां 'राजाहःसखिभ्यष्टच्'। भूरयः प्रभूताः, शर्कराः सिताः येषु तथोक्ताः, ये करम्भाः दधिसक्तवः 'करम्भा दधिसक्तवः' इत्यमरः। त एव बलयः उपहाराः, नैवेद्यानीत्यर्थः। तेषाम्, आलिभिः पङ्क्तिभिः कर्त्रीभिः। उज्जिहानेषु उद्गच्छत्सु, सुकृताङ्कुरेषु पुण्यप्ररोहेषु, शङ्का संशयः, तेने विस्तारयामासे, जनयामासे इत्यर्थः। खलु इति निश्चयम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—धर्मगहने यत्र सुगतसौधसखानां भूरिशर्करकरम्भ बलीनाम् आलिभिः उज्जिहानसुकृताङ्कुरशङ्का तेने खलु।

हिन्दी—पुण्य से परिपूर्ण अतएव धर्मारण्य-से जिस (मंदिर) में बौद्ध-देवालयों-सदृश (शुभ्र-चैत्यों-तुल्य) प्रचुर शर्करा-मिश्रित दही-सत्तू की बलि-निमित्तक ढेरियों द्वारा मानों उगते पुण्य-के अंकुरों का संदेह उत्पन्न कर दिया गया।

टिप्पणी—मंदिर पुण्य-स्थान तो होता ही है, अतः उसे 'धर्मगहन' अर्थात् धर्म से परिपूर्ण धर्म-वन कहा गया। वहाँ शर्करामिश्रित दधि-सक्तुओं की शुभ्र, ऊँची ढेरियाँ बलि-निमित्त रखी थीं, जिनकी तुलना ऊँचे श्वेत बौद्धचैत्यों से की गयी। यह साम्य सत्तू की ढेरियों की शुभ्रता और पर्याप्तता का द्योतक है। अरण्य में वृक्षों में अंकुर उपजते ही हैं, अतः इन शुभ्र लंबी ऊँची ढेरियों को श्वेत पुण्य का अंकुर कहा गया ॥ २५ ॥

खर्वमास्यदमरौघनिवास पर्वतं क्वचन चम्पकसम्पत् ।
मल्लिकाकुसुमराशिरकार्षीत् यत्र च स्फटिकसानुमनुच्चम् ॥ २६ ॥

जीवातु—खर्वमिति । यत्र सुरार्चावेश्मनि, क्वचन क्वचित् प्रदेशे चम्पकाना स्वर्णवर्णचम्पकपुष्पाणाम्, सम्पत् समृद्धिः, राशिरित्यर्थः । अमरौघस्य देवसमूहस्य, निवास वासस्थलभूतम्, पर्वत खर्वं ह्रस्वम्, आस्यत् उक्तवती तथा मल्लिकाकुसुमाना मल्लिकापुष्पाणाम्, राशि समूहः, स्फटिकसानु शुभ्रकैलासपर्वतम् अनुच्च ह्रस्वम्, अकार्षीत् विदधे ॥ २६ ॥

अन्वय.—यत्र क्वचन चम्पकसम्पत् अमरौघनिवास पर्वतं खर्वम् आस्यत् मल्लिकाकुसुमराशि च स्फटिकसानुम् अनुच्चम् अकार्षीत् ।

हिन्दी—जहाँ (मंदिर) में कहीं (एक स्थान पर लगे) चम्पा फूलों की सपदा देवो के आवास मेरु-गिरि को छोटा प्रख्यात कर रही थी और कहीं मल्लिका के फूलो का पुज स्फटिक-शिखर (कैलास) को न-ऊँचा (नीचा) कर रहा था ।

टिप्पणी—चपा के पीले फूलो का ढेर काचनगिरि सुमेरु से भी ऊँचा था और मल्लिका की शुभ्र पुष्पराशि स्फटिक निर्मल शिखरी कैलास से भी ऊँची । चपा के फूलो का पीतवर्ण स्वर्ण पर्वत को चुनौती दे रहा था और मल्लिका के श्वेत कुसुम शुभ्र कैलास को । आधार वर्ण साम्य । भाव यह कि चपा और मल्लिका पुष्पों के ऊँचे ऊँचे ढेर मदिर में देवार्पण निमित्त रखे थे ॥ २६ ॥

स्वात्मन प्रियमपि प्रति गुप्तिं कुर्वती कुलयभूमवजज्ञे ।
हृद्यदैवतनिवेद्यनिवेशात् यत्र भूमिरवकाशदरिद्रा ॥ २७ ॥

जीवातु—स्वात्मन इति । सुरार्चावेश्मनि, भूमि पृथिवी, देवगृहाभ्यन्तरप्रदेश इत्यर्थ । हृद्याना मनोज्ञानाम्, दैवताना देवतासम्बन्धिनाम्, निवेद्यानाम् उपहृतद्रव्यानाम्, नैवेद्यानामित्यर्थः, देवतेभ्य प्रतिष्ठितदेवताभ्य, निवेद्यानाम् उत्सर्जनीयानामिति वा, निवेशात् स्थापनात् हेतो, अवकाशदरिद्रा निरन्तराला सती सर्वथा दृष्टगोचरा सतीत्यर्थ । स्वात्मन निजाया, प्रिय दयित भर्तारम्, भूपति नलमित्यर्थः । प्रति अपि नलम् उद्दिश्यापीत्यर्थ. । गुप्ति

गोपनम्, स्वाङ्गच्छादनमित्यर्थः । कुर्वती विदधती, कुलवधूं सदृश्यामङ्गनाम्, अवजज्ञे अवज्ञातवती । कुलवधूरपि स्वभर्त्तारं प्रत्यपि लज्जाधिक्यात् स्वशरीरं गोपयति, अतः सा भूमिः तत्सदृशी जाता इत्यर्थः । बहूनि तत्र नैवेद्यानि गृहे स्थापितानि आसन् इति निष्कर्षः ॥ २७ ॥

अन्वयः—यत्र हृद्यदेवनिवेद्यनिवेशात् अवकाशदरिद्रा भूमिः स्वात्मनः प्रियम् प्रति अपि गुप्तिं कुर्वती कुलवधूम् अवजज्ञे ।

हिन्दी—जहाँ (देवमन्दिर में) मन को भाने वाले देवसंबद्ध नैवेद्य (पंचखाद्योपहार) रखने के कारण अन्तरालहीन भूमि अपने (भूमि के) प्रिय (भूपति नल) से भी (स्वांगों का) गोपन करती कुलवधू की अवज्ञा कर रही थी ।

टिप्पणी—देवमन्दिर में देवार्पण के निमित्त प्रचुर मात्रा में नैवेद्य रखा था। (नैवेद्य में पांच खाद्य पदार्थ होते हैं—घी, चीनी, दही, फल और श्वेतान्न—चावल आदि।) । इस कारण धरती पर थोड़ा-सा भी स्थान नहीं दिख रहा था। राजा 'भूपति' कहाता है, भू का भर्त्ता। इसी आधार पर यहाँ निरन्तराला भूमि की कल्पना उस कुलांगना के रूप में की गयी है, जो अपने प्रिय पति को भी अङ्ग दिखाते लजाती है, स्वांग-गोपन किये बैठी रहती है। मन्दिर में प्रविष्ट भूपति नल को अन्तराल न होने के कारण धरती का अल्पांश भी न दीख रहा था। कुलवधू तो एक सीमा तक पहुँच कर अङ्ग देख लेने भी देती है, परन्तु भूमि नैवेद्य से इतनी परिपूर्ण थी कि थोड़ा-सा स्थान भी नहीं दिख रह था, अतएव वह लज्जा की दृष्टि से कुलवधू से भी बढ़ गयी थी ॥ २७ ॥

यत्र कान्तकरपीडितनीलग्रावरश्मिचिकुरासु विरेजुः ।
गातृमूर्द्धविधुतेरनुबिम्बात् कुट्टिमक्षितिषु कुट्टमितानि ॥ २८ ॥

जीवातु—यत्रेति । यत्र सुरार्चावेश्मनि, कान्तस्य प्रियस्य चन्द्रकान्तमणेश्च । 'कान्तः प्रिये चन्द्रकान्ते' इति यादवः । करेण हस्तेन अंशुना च । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । पीडितानां मुद्धाकर्षणेन व्यथितानाम् स्पर्शेन विकारं प्रापितानाञ्च, वर्णान्तरं प्रापितानामित्यर्थः । नीलग्राणाम् इन्द्रनीलमणीनाम्, रश्मयः दीप्तयः एव, चिकुराः केशाः यासां तादृशीषु, कुट्टिमक्षितिषु

मणिनिबद्धभूमिषु, गातु गायकस्य मूर्द्धविधुते शिर कम्पनस्य, अनुबिम्बात् प्रतिबिम्बपतनात् हेतो., कुट्टमितानि शिर कम्पनरूपशृङ्गारचेष्टाविशेषा ,- विरेजु शुशुभिरे। अत्र भरतमुनि —'केशस्तनाधरादिग्रहणेऽपि हर्षसम्भ्रमोत्पन्न शिर -करकम्पन कुट्टमितमिति विज्ञेय सुख विदु' इति। मणिबद्धा भूमयो गायकाश्च यत्र सन्तीति भाव ॥ २८ ॥

अन्वय'—यत्र कान्तकरपीडितनीलप्रावरश्मिचिकुरासु कुट्टिमक्षितिषु गातृमूर्द्धविधुत. अनुबिम्बात् कुट्टमितानि विरेजु ।

हिन्दी—जहाँ (मन्दिर में) कान्त (प्रिय)-रूप चन्द्रकांतादि मणियों के किरण-रूप हाथों से आकृष्ट हो घनीभूत (स्थित) इन्द्रनीलमणि-किरण-रूप केशों वाली मणिबद्ध कुट्टिमभूमि (फर्श की धरती) गायकों के (गाते समय) सिर-हिलाने के प्रतिबिम्ब के माध्यम से जैसे कामिनियों के शिर - कंपन-विलास करतीं सुशोभित हो रही थी।

टिप्पणी—मन्दिर के फर्श मणियों के बने थे। उनपर जब चन्द्रकान्तादि मणियों की किरणें पड़ती थीं, तब उनके स्पर्श से फर्श पर जड़ी इन्द्र नील-मणियों की प्रभा वहाँ घनीभूत हो जाती थी। देवसमुदा गायकगण गान-करते समय जब गानावेश में सिर-हिलाने लगते थे, उस मणिबद्ध कुट्टिम-भूमि में सिर हिलाते गायकों का प्रतिबिम्ब पड़ता था। तब ऐसा लगता था कि कुट्टिम-भूमि एक रमणी है, जिसके मणि किरण-रूप केशों को करों (हाथों) में पकड़ कर कान्त (प्रिय) रोके हुए है और उसका बलात् भोग करना चाहता है और वह कुट्टमित-विलास कर रही है, हठात् किये जाते भोग—चुम्बनालिंगनादि का सिर हिलाकर निषेध कर रही है। आशय यह कि देवमन्दिर के फर्श इन्द्रनीलमणि-बद्ध हैं और वहाँ देव- सेवा में गायक गाया करते हैं। देव-लीला, देवमाहात्म्य-गायन के निमित्त श्रेष्ठ मन्दिरों में गायक नियुक्त रहा करते हैं। व्रज के प्रसिद्ध श्रीनाथ-मन्दिर में 'अष्टछाप' के प्रसिद्ध सूरदास, नंददासादि सुकवि भगवत्कीर्तन-गायन के लिए नियुक्त थे। कुट्टमित कहते हैं केश आदि के दु खोपचारपूर्ण ग्रहण पर जो सम्भ्रम से उत्पन्न सुखभाव (नाट्यशास्त्र २२ अध्याय, दशरूपक २ तथा साहित्य दर्पण ३)। यह दस प्रकार के स्त्रियों के लीलाविलासादि स्वभावज अलंकारों में से एक है, जो उनके प्रणयभाव हृदय-गोचर होने पर उत्पन्न होते हैं ॥२८॥

नैकवर्णमणिभूषणपूर्णे स क्षितीन्दुरनवद्यनिवेद्ये ।
अध्यतिष्ठदमलं मणिपीठं तत्र चित्रसिचयोच्चयचारौ ॥ २९ ॥

जीवातु—नैकेति । क्षितीन्दुः भूतलचन्द्रः, सः नलः, नैकवर्णाः विविध-वर्णविशिष्टाः, ये मणयो रत्नानि, तेषां भूषणैः, आभरणैः पूर्णे व्याप्ते, अनवद्यानि निर्दोषाणि, निवेद्यानि उत्सर्जनीयानि द्रव्याणि यत्र तस्मिन्, तथा चित्राणां विविधप्रकाराणाम्, सिचयानां वस्त्राणाम्, उच्चयेन समूहेन, चारौ मनोज्ञे, तत्र सुरार्चावेश्मनि, अमलम् उज्ज्वलम्, मणिपीठं रत्नमयासनम्, अध्यतिष्ठत् अधिष्ठितवान् । सुरार्चनार्थमुपविवेश इत्यर्थः । 'अधिशीङ्स्थासाम्' इति अधिकरणस्य कर्मसंज्ञा ॥ २९ ॥

अन्वयः—क्षितीन्दुः सः नैकवर्णमणिभूषणपूर्णे अनवद्यनिवेद्ये चित्रसिचयोच्चारौ तत्र अमलं मणिपीठम् अध्यतिष्ठत् ।

हिन्दी—धरती का चन्द्रमा वह (नल) अनेक रंगों की मणियों और रत्नाभरणों से परिपूर्ण, उत्तम देवार्पणार्थ नैवेद्यों से भरे तथा नानावर्ण के विस्मय अनेक (देवार्थ लाये गये) वस्त्रों से रमणीय उस (देवमंदिर) में स्वच्छ मणि-जटित अथवा मणिनिर्मित पीठ (आसन) पर बैठ गया ।

टिप्पणी—आशय यह कि मंदिर में प्रविष्ट हो राजा अर्चनार्थ मणिपीठ पर बैठ गया ॥ २९ ॥

सम्यगर्चति नलेऽर्कमतूर्णं भक्तिगन्धिरमुनाऽकलि कर्णः ।
श्रद्दधानहृदयं प्रति चान्तः साम्बमम्बरमणिर्निरचैपीत् ॥ ३० ॥

जीवातु—सम्यगिति । नले नैषधे, अतूर्णम् अव्यग्रम्, व्यग्रत्वे सम्यक्ता-ऽभावादिति भावः । अत एव सम्यक् सुष्ठु यथा भवति तथा, अर्कं सूर्यम्, अर्चति आराधयति सति, अमुना अर्केण, कर्णः राधेयः, भक्तेः श्रद्धाविशेषस्य, गन्धः लेशः अस्ति यस्य सः तादृशः भक्तिगन्धिः अल्पभक्तिः । 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति विश्वः । 'अल्पाख्यायाम्' इति समासान्तः इत् । अकलि निरधारि । अम्बरमणिः सूर्यः, साम्बं तदाख्यकृष्णसुतम्, प्रति च उद्दिश्यापि, अन्तः अन्तःकरणे, श्रद्दधानं भक्तिमत्, हृदयं चेतो यस्य तादृशम्, साम्बः केवलं मनसा भक्तः, न तु पूजक इति भावः । निरचै-

धीत् निश्चितवान् । कर्णापेक्षया तथा साम्बापेक्षया च नल एव मे परमभक्त इति निश्चिकाय इत्यर्थः । 'यावन्न दीयते चार्घ्यं भास्कराय महात्मने' इत्यादिना सूर्यार्घ्यदानमन्तरेण देवतान्तरपूजानिषेधात् नलः प्रथमं सूर्यमेवार्चयामासेति भावः ॥ ३० ॥

अन्वय —नले वतूर्णं सम्यक् अर्कम् अर्चति अमुना कर्णः भक्तिगन्धि आकलि, अम्बरमणिः साम्बं प्रति च अन्तः श्रद्धानहृदयं निरणैषीत् ।

हिन्दी—नल के त्वरारहित हो अव्यग्रभाव से भलीभाँति सूर्यार्चन करने पर इस (सूर्य) ने कर्ण (अधिरथ सुत राधेय, महाभारतीय पात्र) को अल्पभक्ति (जिसमें भक्ति का गंधमात्र हो, ऐसा) माना और आकाश के मणि (सूर्य) ने साम्ब (श्रीकृष्ण पुत्र) का हृदय मध्य ही श्रद्धा-रखनेवाला निश्चित किया ।

टिप्पणी—नल ने श्रद्धा और पूर्ण भक्ति के साथ प्रथम सूर्याराधना की । उसकी इस श्रेष्ठ पूजा विधि को देख कर उपास्य सूर्यदेव ने नल को दो प्रसिद्ध सूर्याराधकों —कुन्ती के सूर्य पुत्र, राधेय कर्ण और श्रीकृष्ण सुत साम्ब— से श्रेष्ठ सूर्यपूजक माना । उसकी श्रद्धामयी आराधना के सम्मुख कर्ण की सूर्य-भक्ति भक्ति की गन्धमात्र लगती थी और साम्ब तो केवल मन में ही श्रद्धा रखने वाले प्रतीत होते थे, क्रिया विधि की दृष्टि से भक्त ही नहीं लगते थे । आशय यह कि सूर्य भक्त कर्ण और साम्ब भी नल की तुलना में अल्प श्रद्धालु पूजक ठहरते थे ॥ ३० ॥

तत्तदर्यमरहस्यजपेषु सङ्मयः शयममुष्य बभाज ।
रक्तिमानमिव शिक्षितुमुच्चै रक्तचन्दनजबीजसमाजः ॥ ३१ ॥

जीवातु—तदिति । तेषां तेषां श्रौतस्मार्त्तानाम्, अर्यम्णः सूर्यस्य, रहस्यानां मन्त्राणाम्, जपेषु असकृत् गूढोच्चारणकाले, स्रङ्मयः जपमालास्वरूपः, रक्तचन्दनजानां कुचन्दनोद्भवानाम्, बीजानां गुटिकानाम् । 'तिलपर्णी तु पत्राङ्गं रञ्जनं रक्तचन्दनम् । कुचन्दनम्' इत्यमरः । समाजः समूहः उच्चैः अधिकम्, रक्तिमानं रक्तत्वम्, शिक्षितुमिव अभ्यसितुमिव, अमुष्य नलस्य, शयं हस्तम्, बभाज सिषेवे । नलपाणितलस्य प्रकृत्या एव रक्तिमातिशयात् शिक्षार्थं यथा शिष्या उपाध्यायं सेवन्ते, तथा रक्तिमाधिक्यशिक्षार्थं तत्पाणितलम् आश्रयामास इति भावः ॥ ३१ ॥

अन्वय — तत्तदर्यमरहस्यजपेषु सङ्मयः रक्तचन्दनबीजसमाजः उच्चैः रक्तिमानं शिक्षितुम् इव अमुष्य शयं बभाज।

हिन्दी—उन-उन (प्रसिद्ध) सूर्य-संबंधी (श्रौत स्मार्त्त) रहस्य-मंत्रों के जपों में माला-रूप में (प्रयुक्त) लाल चंदन के मन के बीज अत्यधिक लालिमा को जैसे सीखने के लिए इस (नल) के हाथ में सुशोभित हुआ।

टिप्पणी—नल श्रौत-स्मार्त्त पद्धति के प्रसिद्ध-सूर्य रहस्य-मंत्रों का रक्तचंदन की माला पर जप कर रहे थे। उनके हाथों की स्वाभाविक लालिमा रक्तचंदन के मनकों—बीजों से अधिक थी। इस पर यह उद्भावना है कि वे रक्तचंदन-बीज लालिमा की शिक्षा-ग्रहण करने के निमित्त नल-कर-रूप गुरु के निकट शिष्य होकर उपस्थित थे। आशय यह कि नल की हथेली के प्रकृति से ही अधिक लाल होने के कारण लालिमाविषय की शिक्षा प्राप्त करने के लिए शिष्य की भाँति रक्तचंदन-बीज नल की हथेली का आश्रय लिये हुए थे। नारायण ने यहाँ उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है—'उत्प्रेक्षते—तत्करे वर्त्तमान मुच्चैरतिशयितं रक्तिमानं रक्तत्वं रक्षितुमिव।' नल के हाथ में विद्यमान अत्यधिक लालिमा की जैसे रक्षा करने के लिए। रक्तचंदन की माला पर जपने से सूर्य-मंत्र शीघ्र फलदायी होते हैं॥ ३१॥

(हेमनामकतरुप्रसवेन त्र्यम्बकस्तदुपकल्पितपूजः।
आत्तया युधि विजित्य रतीशं राजितः कुसुमकाहलयेव॥१॥)

प्रकाशः—हेमेति। हेमनामकस्य धत्तूरस्य तरोः प्रसवेन विकसितकुसुमेन कृत्वा तेन नलेनोपकल्पिता पूजा यस्य स त्र्यम्बको राजितः शुशुभे। उत्प्रेक्षते—रतीशं युधि विजित्य बलादात्तया गृहीतया कुसुमरूपकाहलया धत्तूरपुष्पाकारवाद्यविशेषेणेव। कुसुमकाहलयोपलक्षित इवेति वा। शराणां कौसुमत्वाद्वादित्राणामपि कौसुमतया युक्तत्वात्कामकाहलायाः कौसुमत्वमुचितमेव। पराभूतात्कामादद्बलाद् गृहीतया कौसुमकाहलयेव धत्तूरपुष्पेण रञ्जित इत्यर्थः। अन्योऽपि शत्रुं जित्वा बलाद् गृहीतेन तच्छत्रवादित्रादिना शोभते। सौन्दर्येण स्वस्पर्धितया स्वस्य शिवभक्तत्वात् कामस्य च शिव-विरोधित्वात् स्वविरोधिनं स्वस्वामिविरोधिनं च स्मरं रणे जित्वा तस्माद्बलान्नलेनैव गृहीतया कुसुमकाहलयेवेदं धत्तूरपुष्पेण कृत्वा नलेन कृतोपदः, अथ च—कृतपूजः शुशुभे। सेवको

हि स्वविरोधिन स्वस्वामिविरोधिन वा रणे जित्वा तच्छत्रवादित्रादि बलाद् गृहीत्वा स्वामिन उपदीकरोति। तेन च स्वामी शोभत इति वा। प्रियतरेण धत्तूरपुष्पेण स नलः शिवमपूपुजदिति भावः। 'धत्तूर कनकाह्वय.' इत्यमर.। 'वाद्यभाण्डविशेषे तु काहला' इति विश्व ॥ १ ॥

अन्वयः—हेमनामकतरुप्रसवेन तदुपकल्पितपूज त्र्यम्बक रतीश युधि विजित्य आत्तया इव कुसुमकाहलया राजित।

हिन्दी—'हेम' (धत्तूर) नामक वृक्ष के फूल से उस (नल) के द्वारा पूजित त्रिनेत्र (शिव) रतिपति (काम) को युद्ध मे जीतकर गृहीत धत्तूर-पुष्पाकार वाद्यविशेष लिये–जैसे सुशोभित हुए।

टिप्पणी—'काहला'–तुरही एक जय वाद्य होता है, जो देखने मे धतूरे के बडे फूल सा होता है। नल ने धत्तूर-पुष्प समर्पण कर शिव की पूजा की। उस पुष्प को प्राप्त कर महादेव ऐसे प्रतीत हुए जैसे न्व रिपु काम को जीत कर धत्तूर पुष्पाकार तुरही बजा रहे हैं। धतूरा पुष्प भी कामास्त्र है, उसे हरा कर शिव ने उसका वस्त्र छीन लिया। यह भाव भी है कि काम सौन्दर्य मे नल का स्पर्द्धी है—प्रतिद्वंदी शत्रु। सौंदर्य प्रतियोगिता (युद्ध) में नल ने उसको हरा दिया और उसका अस्त्र धत्तूर पुष्प छीन लिया और उससे काम के अन्य शत्रु और अपने उपास्य शङ्कर की पूजा कर दी। नल ने 'कुसुम-काहला' शिव को अर्पित कर दी। आशय यही है कि शिव के अत्यन्त प्रिय धतूर पुष्प से नल ने शिवार्चना की। मल्लिनाथ-व्याख्या न होने से इस श्लोक की नारायणी सस्कृत-व्याख्या दी गयी है। आगे श्लोक स० ३८ तक शिवाराधन है ॥ १ ॥

अर्चयन् हरकर स्मितभाजा नागकेसरतरोः प्रसवेन।
सोऽयमाप यदसितिर्यगवाग्दिक्पालपाण्डुरकपालवि॰ पाम् ॥ ३२ ॥

जीवातु—अर्चयन्निति। स उक्तरूपेण पूजानिरत, अयम् एष नल, स्मितभाजा प्रस्फुटितेनेत्यर्थः। नागकेसरतरो तदाख्यवृक्षविशेषस्य, प्रसवेन कुसुमेन साधनेन, हरस्य शम्भो, कर हस्तम्, अर्चयन् पूजयन्, तिरश्च्या दिशः तिर्यग्वर्त्तमानप्राच्यादिदिगष्टकात्, तथा अवाच्या दिशः अधोदिशश्च सकाशात्, अन्या पृथगिति अतिर्यगवाग्दिक् ऊर्ध्वा दिक् इत्यर्थः। तस्याः पालः

रक्षकः, ब्रह्मा इत्यर्थः । तस्य पाण्डुरं पाण्डुवर्णम्, यत् कपालं शिरोऽस्थिखण्डम्, भिक्षापात्ररूपेण हरकर्त्तृकचिरकालधारणात् गतकृत्ति अत एव पाण्डुवर्णं ब्रह्मणः पञ्चमशिरोऽस्थिखण्डमित्यर्थः । तस्य विभूषामिव विभूषां शोभाम्, आपयत् प्रापितवान् । हरेण स्वदुहितरं सन्ध्यां प्रति कामभावेनानुधावतः ब्रह्मणः पञ्चमं शिरः छिन्नम्, ततः तत्पापस्य प्रायश्चित्तं चिकीर्षुः हरः भिक्षार्थं तद् करे दधार, नागकेसरपुष्पस्यापि तत्सदृशपाण्डुवर्णत्वाद् इयमुक्ति-र्बोद्धव्या । नलेन पूजायां दत्तं नागकेसरपुष्पं ब्रह्मकपालसदृशं बभौ इति भावः ।

अन्वयः—स्मितभाजा नागकेसरतरोः प्रसवेन हरकरम् अर्चयन् सः अयम् अतिर्यगवाग्दिक्पालपाण्डुरकपालविभूषाम् आपयत् ।

हिन्दी—खिले नागकेसर-वृक्ष के फूल से शिव के हाथ को पूजते उस (पूजा करते) इस (नल) ने तिरछी विद्यमान प्राची आदि आठ दिशाओं तथा अवाची दिशा से भिन्न ऊर्ध्व दिशा के पालक ब्रह्मा के पांडुवर्ण कपाल से (हर-कर को) विभूषित बना दिया ।

टिप्पणी—नल ने शिव-प्रतिमा के हाथ में कपाल-सदृश पांडुर नागकेसर का फूल रख कर हरार्चना की । पांडुर नाग-केसर-पुष्प की कल्पना ऊर्ध्व दिशा के दिक्पाल ब्रह्मा के पांडुर कपाल के रूप में की गयी है । नाग-केसर का पांडुर पुष्प हाथ में धारण कर शिव ब्रह्म कपालधारी प्रतीत होने लगे । पुराण-कथा है कि पहिले ब्रह्मा चतुर्मुख नहीं, पंचमुख थे । उनका पाँचवा सिर शिव ने उनके स्वदुहिता संध्या की कामना करने के अपराध में दंड स्वरूप काट दिया था । उस पाप के प्रायश्चित्तार्थ शिव ने वह पाँचवा कपाल भिक्षार्थ अपने हाथ में धर लिया था । नाग-केसर पुष्पधारी शिव उसी प्रकार ब्रह्मकपालधारी बना दिये गये । पुष्प-समर्पण होने के पूर्व प्रतिमा में अधूरा-पन था, अब पुष्प प्राप्त कर ब्रह्मकपालकरधारी हर की प्रतिमा पूर्ण बन गयी ।

नीलनीरुहमाल्यमयीं स न्यस्य तस्य गलनालविभूषाम् ।
स्फाटिकीमपि तनूं निरमासीन्नीलकण्ठपदसान्वयतायै ॥ ३३ ॥

जीवातु—नीलेति । सः नलः, तस्य हरस्य, नीलनीरुहमाल्यमयीम् इन्दीवरमालारूपाम्, गलनालस्य कण्ठदेशस्य, विभूषां भूषणम्, न्यस्य समर्प्य,

स्फाटिकीं स्फटिकमयीम् अपि, तनुं शरीरम् नीलकण्ठ इति पदस्य शिवस्य नीलकण्ठ इति संज्ञावाचकस्य शब्दस्य सान्वयतायै अन्वयत्वाय, नील कण्ठो यस्य इति विग्रहस्य सार्थकत्वसम्पादनायेत्यर्थ । निरमासीत् कल्पितवान् । मा माने इति धातोरदारिकाल्लुङ् ॥ ३३ ॥

अन्वय —स नीलनीरुहमाल्यमयी गलनालविभूषा यस्य तस्य स्फाटिकीम् अपि तनुम् नीलकण्ठपदसान्वयतायै निरमासीत् ।

हिन्दी—उस (नल) ने नील कमलों की माला को ग्रीवा के विभूषण-रूप मे समर्पित कर उन (शिव) के स्फटिक से गौर भी शरीर को 'नील कंठ' शब्द सार्थक बनाने योग्य कर दिया ।

टिप्पणी—शिवार्चन करते नल ने शिव के कंठ में नील कमलों की माला समर्पित की । शिव की मूर्त्ति स्फटिक की बनी थी—शुभ्र । शिव को 'कुन्देंदीवराभ' और 'कैलास गौर' कहा जाता ही है । शिव ने हलाहल पान किया था, तब से उनका कंठ नीला हो गया और वे शुभ्र-गौर महादेव 'नीलकंठ' कहाने लगे । स्फटिक की उपास्य शिव मूर्त्ति का कंठ नीला नहीं था । नल ने उसमें नील कमलों की माला पहिनायी, जिससे कंठ नीला दमकने लगा । इस प्रकार शिव का नीलकंठ नाम (नील कण्ठो यस्य स) अन्वय हो गया । भाव यह है कि नल ने शिव प्रतिमा पर अन्यत्र चंदनादि के श्वेत पुष्प चढाये, गले में नील कमल ॥ ३३ ॥

प्रीतिमेष्यति कृतेन ममेदृक्कर्मणा पुररिपुर्मदनारि ।
तत्पुर पुरमतोऽयमधाक्षीद् धूपरूपमथ कामशरञ्च ॥ ३४ ॥

जीवातु—प्रीतिमिति । पुररिपु त्रिपुरारि, मदनारि कामशत्रुश्च, शम्भुरिति शेष । कृतेन विहितेन, मम मे, ईदृक्कर्मणा गुग्गुलुपर्यायकपुरदाहेन कर्पूरपर्यायककामशरदाहेन च कर्मणा प्रीतिं सन्तोषम् एष्यति प्राप्स्यति अत अस्मादेव कारणात्, अथ नल तस्य पुररिपो मदनारेश्च, पुर अग्रत, यथाक्रम धूपव्याजम्, पुर गुग्गुलुम् असुरपुरञ्च । 'गुग्गुलौ कथित पुर' इति विश्व । अथ अनन्तरम् कामशर कर्पूर मदनबाणञ्च, अधाक्षीत् दग्धवान । नल धूपदानाख्या पूजा चकारेति निष्कर्ष ॥ ३४ ॥

अन्वयः—कृतेन मम ईदृक्कर्मणा पुरारिः मदनारिः प्रीतिम् एष्यति—अतः अयं तत्पुरः धूपरूपं पुरं कामशरञ्च अधाक्षीत् ।

हिन्दी—मेरे ऐसा कर्म करने पर 'पुर के शत्रु' 'काम के वैरी' (शिव) प्रसन्नता को प्राप्त होंगे—इसलिए इस (नल) ने उन (पुरारि-मदनारि शिव) के संमुख धूप (गुग्गुलु) रूप 'पुर' (पुर अर्थात् पुर राक्षस नामधारी पुर गुग्गुलु) और 'कामशर' अर्थात् कर्पूर-रूप काम के बाण को जलाया।

टिप्पणी—शिव की प्रीति के लिए पूजा-विधि के अनुसार नल ने शिव-प्रतिमा के सम्मुख धूप और कर्पूर प्रज्वलित किये। विश्वकोष के अनुसार पुर गुग्गुलु (गूगल) को भी कहते हैं, जो शिव के वैरी त्रिपुरासुर का भी वाची है। ऐसे ही काम शर काम-बाण का भी अर्थ देता है और कर्पूरार्थक भी है। इस आख्या-साम्य पर यहाँ यह कल्पना की गयी है कि नल ने धूप (पुर) और कामशर (कर्पूर) इसलिए शिव-प्रतिमा के संमुख जलाये कि नाम-साम्य के आधार पर त्रिपुर और कामबाण-दाह करने वाले नल को अपना सहायक भक्त मान कर शिव प्रसन्न हों ॥ ३४ ॥

तन्मुहूर्त्तमपि भीमतनूजाविप्रयोगमसहिष्णुरिवायम् ।
शूलिमौलिशशिभीततयाऽभूद् ध्यानमूर्च्छनिमीलितनेत्रः ॥ ३५ ॥

जीवातु—तदिति। अयं नलः, तन्मुहूर्त्तमपि तस्मिन् मुहूर्त्तेऽपि, 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया। शूलिनः अर्च्यमानशम्भोः, मौलिशशिनो शिरोभूषणचन्द्रप्रकाशात्, भीततया भीतत्वेन हेतुना, शशिनो विरहिपीडकत्वादिति भावः। भीमतनूजाया दमयन्त्याः, विप्रयोगं विरहम्, असहिष्णुरिव सोढुमक्षमः नल इव, ध्यानेनैव हृदि देवमूर्त्तिचिन्तनरूपेणैव, मूर्च्छनेन मूर्च्छारोगेण, सर्वेन्द्रियार्थोपरमत्वसाम्यात् ध्यानस्य मूर्च्छासाम्यत्वं बोद्धव्यम्। निमीलिते मुद्रिते, नेत्रे लोचने, यस्य सः तादृशः, अभूत् अजायत। धूपदानानन्तरं हृद्ध्यानमकरोदिति निष्कर्षः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—तन्मुहूर्त्तम् अपि भीमतनूजाविप्रयोगम् असहिष्णुः अयं शूलिमौलिशशिभीततया इव ध्यानमूर्च्छनिमीलितनेत्रः अभूत्।

हिन्दी—उस (पूजा के) क्षण भी भीमसुता (दमयंती) का विरह न

सहसक्ते उस (नल) ने शूलधारी (शिव) के मस्तक पर स्थित चंद्र से जैसे डरने के कारण ध्यान-रूप मूर्च्छा-रोग से आँखों को मूंद लिया ।

टिप्पणी—धूप-कर्पूर-दान के पश्चात् नल नयनमूंद शिव के प्रति ध्याना वस्थित हुआ। इस आँख-मूंदने की मूर्च्छा-रूप में उद्भावना की गयी है, जो पूजाक्षण में भी दमयंती स्मरण-जन्य वियोग के कारण शूली-महादेव के शिरः-स्थित चंद्र-दर्शन से उत्पन्न हुई है। विरहिजनों को चंद्र दर्शन असह्य होता है। अथवा जिस चंद्रमा को शूलधारी महादेव ने भी मस्तक पर स्थान दिया है, अर्थात् त्रिशूल सदृश भयानक शस्त्रधारी भी डर कर जिस चंद्र को प्रतिष्ठा देते हैं, उससे डर कर नल का आँख-मूंदना स्वाभाविक ही है, क्योंकि ध्यान में सब इंद्रियाँ निश्चल हो जाती हैं, अतः ध्यान एक प्रकार की मूर्च्छा ही है। भाव यह कि ध्यानावस्थित हो अर्चना की ।। ३५ ।।

दण्डवद् भुवि लुठन् स ननाम त्र्यम्बकं शरणभागिव काम. ।
आत्मशस्त्रविशिखासनबाणान् न्यस्य तत्पदयुगे कुसुमानि ॥ ३६ ॥

जीवातु—दण्डवदिति । आत्मानः स्वस्य, शस्त्राणि आयुधस्वरूपान्, विशिखासनं धनुः, बाणान् विशिखान् च, कुसुमानि पुष्पाणि, कामस्य धनुर्बाणयोः पुष्पमयत्वादिति भाव । तस्य त्र्यम्बकस्य, पदयोः चरणयोः, युगे द्वये न्यस्य समर्प्य, शरणभाक् आश्रयार्थी, कामः कन्दर्प इव, सः नल, दण्डवत् दण्डसदृश, भुवि भूमौ, लुठन् पतन्, त्र्यम्बकं त्रिलोचनम्, ननाम प्रणतवान् ।। ३६ ।।

अन्वयः—आत्मशस्त्रविशिखासनबाणान् कुसुमानि तत्पदयुगे न्यस्य शरणभाक् कामः इव स दण्डवत् भुवि लुठन् त्र्यम्बकं ननाम ।

हिन्दी—अपने शस्त्र धनुर्बाण-रूप फूल उन (शिव) के चरणयुगल में समर्पित कर शरणागत काम की भाँति उस (नल) ने दंड के समान धरती पर गिरते हुए त्रिनेत्र (शिव) को प्रणाम किया ।

टिप्पणी—शिव के चरणों में फूल चढ़ा कर नल ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया। नल काम-सदृश है और काम पुष्पबाण है, अतः चरणों में पुष्पार्पण करते नल की काम के रूप में कल्पना की गयी है, जो शिव का शरणागत

हो गया है, और जिसने अपने आयुध धनुर्बाण शरण्य शिव के चरणों में धर दिये हैं। नारायण ने 'विशिखासन' का वैकल्पिक अर्थ 'तूणीर' भी किया है, जो इस प्रसग में अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। पुष्पांजलि की कल्पना तूणीर-रूप में कुछ अधिक उचित है, धनुष रूप में नहीं ॥ ३६ ॥

त्र्यम्बकस्य पदयोः कुसुमानि न्यस्य सैष निजशस्त्रनिभानि।
दण्डवद् भुवि लुठन् किमु कामस्तं शरण्यमुपगम्य ननाम ? ॥ ३७ ॥

जीवातु—उक्तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—त्र्यम्बकस्येति। सः प्रसिद्धः एषः अयम्, कामः मदनः। 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' इत्यत्र श्लोकपादस्यापि ग्रहणमिष्यते इति सोर्लोपे वृद्धिः। निजशस्त्रनिभानि स्वायुधसदृशानि, कुसुमानि पुष्पाणि, त्र्यम्बकस्य त्रिलोचनस्य, पदयोः चरणयोः, न्यस्य समर्प्य, भुवि भूमौ, दण्डवत् दण्डसदृशम्, लुठन् पतन्, गात्रं पातयन्नित्यर्थः। शरण्यं रक्षितारम्, त्र्यम्बकं त्रिनयनं हरम्, उपगम्य प्राप्य, ननाम किमु ? प्रणतवान् किम् ? ॥ ३७ ॥

अन्वयः—सः एषः कामः किमु त्र्यम्बकस्य पदयोः निजशस्त्रनिभानि कुसुमानि न्यस्य दण्डवत् भुवि लुठन् शरण्यं तम् उपगम्य ननाम ?

हिन्दी—उस (प्रसिद्ध) इस काम ने क्या त्रिनेत्र (शिव) के दोनों चरणों में अपने आयुध-तुल्य फूलों को समर्पित कर दण्ड के समान धरती पर लोटते हुए शरणागतवत्सल उन (शिव) के समीप जा प्रणाम किया ?

टिप्पणी—फूल चढ़ा कर चरणों में दण्ड-समान लेटकर प्रणाम करते नल की पूर्वश्लोकवत् शिव-शरणागत काम के रूप में सम्भावना। पूर्वश्लोकवत् भाव-प्रकाशक होने के कारण नारायण ने इस श्लोक को क्षेपक माना है ॥ ३७ ॥

व्यापृतस्य शतरुद्रियजप्तौ पाणिमस्य नवपल्लवलोलम्।
भृङ्गभङ्गिरिव रुद्रपराक्षश्रेणिराश्रयत रुद्रपरस्य ॥ ३८ ॥

जीवातु—व्यापृतस्येति। रुद्रपरस्य शिवपरायणस्य, अत एव शतरुद्रियस्य शतं रुद्राः देवता अस्य तस्य रुद्रदेवताकमन्त्रविशेषस्य। 'शतरुद्राद् घश्च' इति वक्तव्यात् घप्रत्ययः। जप्तौ जपे। नपुंसके भावे क्तः, 'आदितश्च' इति चकाराद्

'विश्वस्तवत् निद्रायाम् इडभावे जसम्, 'आदितश्चे'ति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद् विश्वस्तवदित्याहु' इति भट्टक्षीरस्वामी। तथा च 'जपिवमिर्म्या वा' इति महोपाध्यायवर्द्धमानसूत्रम्। व्यापृतस्य आसक्तस्य, अस्य नलस्य, नवपल्लवस्येव कोमलकिसलयस्येव, लीला विलास यस्य त तादृश, पाणि करम्, रुद्रात् रुद्रशब्दात् परेषाम् उपरितनानाम्, पश्चादुच्चार्यमाणानामित्यर्थः। अक्षाणाम् अक्षेत्यक्षराणाम्, रुद्राक्षाणामित्यर्थ। यद्वा—रुद्रपराणा शिवभक्तानाम् ये अक्षा जपमाला, रुद्राक्षमाला इत्यर्थ। तेषा श्रेणि, पङ्क्ति, भृङ्गाणा भ्रमराणाम्, भङ्गिरिव श्रेणिरिव। मालेव इति यावत्। आश्रयत श्रितवती, प्राप्तवतीत्यर्थ ॥ ३८॥

अन्वय—रुद्रपरस्य शतरुद्रियजप्तो व्यापृतस्य अस्य नवपल्लवलील पाणि रुद्रपराक्षश्रेणि भृङ्गभङ्गि इव आश्रयत।

हिन्दी—रुद्रपरायण (शिवभक्त) अतएव शतरुद्री (शतरुद्र सबद्ध शिवसूक्त) के जप में लीन इस (नल) के नये (कोमल) किसलय की लीला करने (नव किसलय-तुल्य) हाथ का रुद्रजपमाला के अक्ष (मनके, रुद्राक्ष) समूह के भौरो की पक्ति सदृश आश्रय लिया।

टिप्पणी—शतरुद्र से सबद्ध शतरुद्रिय शिव सूक्त का रुद्राक्षमाला पर जप किया जाता है। नल शिवभक्त था, अतएव रुद्राक्षमाला हाथ म ले शतरुद्रिय जाप कर रहा था। इसका हाथ नवपल्लव-सदृश कोमल था, जिस पर रुद्राक्षमाला के मन के भौरा-जैसे प्रतीत हो रहे थे ॥ ३८॥

उत्तम स महति स्म महीभृत् पूरुप पुरुषसूक्तविधानैः।
द्वादशापि च स केशवमूर्त्तीर्द्वादशाक्षरमुदीर्य ववन्दे ॥ ३९॥

जीवातु—उत्तममिति। स पूजानिरत, महीभृत् भूपालो नल, उत्तम पूरुष पुरुषोत्तम विष्णुम, पुरुषसूक्तस्य 'सहस्रशीर्षा पुरुष' इत्यादिमन्त्रस्य, विधानैः विधिभि, महति स्म पूजितवान्। तथा स. नल, द्वादशाक्षरम् 'ओ नमो भगवते वासुदेवाय' इत्येव रूप द्वादशाक्षरात्मक मन्त्रम्, उदीर्य उच्चार्य, केशवस्य नारायणस्य, द्वादशापि च मूर्त्ती केशवनारायणादि-द्वादशसङ्ख्यकविग्रहान्, ववन्दे तुष्टाव ॥ ३९॥

अन्वयः--सः महीभृत् उत्तमं पूरुषं पुरुषसूक्तविधानैः महति स्म, सः च द्वादशाक्षरम् उदीर्य द्वादश अपि केशवमूर्तीः ववन्दे ।

हिन्दी--उस धरणीधर (नल) ने पुरुषोत्तम (विष्णु) की पुरुषसूक्त की षोडशऋचाओं के विधान के साथ पूजा की और उसने द्वादशाक्षर मन्त्र--'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय--' का उच्चारण करते हुए बारहों विष्णु-मूर्तियों की वन्दना की ।

टिप्पणी---ऋग्वेदोक्त पुरुष सूक्त के मन्त्रों द्वारा (सहस्रशीर्षा: पुरुषः-- इत्यादि से) पुरुषोत्तमार्चना की जाती है, इन मन्त्रों का पाठ करते हुए भगवच्चरणों में जल और पुष्प चढ़ाने का विधान है-'दद्यात् पुरुषसूक्तेन सपुष्पाण्यप एव वा । अर्चितं स्याज्जगदिदं तेन सर्वं चराचरम् ॥ आनुष्टुभस्य सूक्तस्य त्रिष्टुभन्तस्य देवता । पुरुषो यो जगद्बीजमृषिर्नारायणः स्मृतः ॥' ॐ पूर्वक षोडष ऋचाओंका क्रमपूर्वक उच्चारण करते हुए (१) आवाहन, (२) आसन, (३) पाद्य, (४) अर्घ्य, (५) आचमन, (६) स्नान, (७) वस्त्र, (८) उपवीत, (९) गंध, (१०) माल्य, (११) धूप, (१२) दीप, (१३) नैवेद्य, (१४) नमस्कार, (१५) प्रदक्षिणा और (१६) उद्वासन (विसर्जन) का नारायणार्पण षोडषोपचार है--"ॐकारपूर्वकैरर्चैव षोडशार्चैः पृथक्-पृथक् । आवाहनासनं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम् ॥ स्नानं वस्त्रोपवीतं च गन्धमाल्यानि च क्रमात् । धूपं दीपं च नैवेद्यं नमस्कारं प्रदक्षिणम् । षोडशोद्वासनं कुर्यादेवं नारायणो विधिः ॥" द्वादशाक्षर मन्त्रोच्चारणपूर्वक केशव-मूर्त्तियों के पूजन के दो भाव लिये गये हैं--(१) द्वादश शालग्राम-समुद्भव शिलाओं की अर्चना की । पद्मपुराण के अनुसार द्वादश शालग्राम शिलाओं की अर्चना का सुफल एकदिन में ही उतना मिल जाता है, जितना स्वर्ण-पङ्कजों से द्वादश लिंगों की पूजा बारह कल्पों तक करने पर मिलता है--"शिलाद्वादश भो वैश्य शालग्रामसमुद्भवाः । विधिवत्पूजिता येन तस्य पुण्यं वदामि ते ॥ कोटिद्वादशलिङ्गैस्तु पूजितैः स्वर्णपङ्कजैः । यत् स्याद् द्वादशकल्पेषु दिनेनैकेन तद्भवेत् ॥" (२) 'ॐ केशवाय धात्रे नमः--'क्रम से द्वादश सूर्यमूर्त्तियों सहित द्वादश मूर्त्तियों की अर्चना करे । द्वादशमूर्त्तियाँ हैं--(१) केशव, (२) नारायण,

(३) माधव, (४) गोविंद, (५) विष्णु, (६) मधुसूदन, (७) त्रिविक्रम (८) वामन, (९) श्रीधर, (१०) हृषीकेश, (११) पद्मनाभ और (१२) दामोदर—
"द्वादशादित्यसहिता मूर्तीर्द्वादश विन्यसेत्। केशवाद्याः क्रमाद्देहे वक्ष्यमाणविधानतः॥ ललाटे केशवं धात्राकुक्षौ नारायणं पुनः। अर्यम्णा हृदि विन्यसेन्माधवं (च) कण्ठदेशतः॥ वरुणेन च गोविन्दं पुनर्दक्षिणपार्श्वके। अंशुना विष्णुमंसस्थं भगेन मधुसूदनम्॥ गले विवस्वता युक्तं त्रिविक्रममनन्तरम्। वामपार्श्वेऽप्यमिन्द्रेण वामनाख्यमथांसके॥ पूष्णा श्रीधरनामानं गले पर्जन्यसंयुतम्। हृषीकेशाह्वयं पृष्ठे पद्मनाभं ततः परम्॥ त्वष्ट्रा दामोदरं पश्चाद्विष्णुना ककुदि न्यसेत्। द्वादशार्णं महामन्त्रं ततो मूर्ध्नि प्रविन्यसेत्॥" द्वादशाक्षर मन्त्र व्युत्क्रम पाठ भी किया जाता है—'यवादेसुवा तेवगभ मोन ओम्।'॥ ३९॥

मल्लिकाकुसुमडुण्डुभकेन स भ्रमीवलयितेन कृते तम्।
आसने निहितमैक्षत साक्षात् कुण्डलीन्द्रतनुकुण्डलभाजम्॥ ४०॥

जीवातु—मल्लिकेति। स नलः, भ्रमीवलयितेन चक्राकारवेष्टन वलयाकारीकृतेन, मल्लिकाकुसुमानां मल्लिकापुष्पाणाम्, मल्लिकापुष्पग्रथितेनेत्यर्थः। डुण्डुभकेन, राजिलसर्पाकारया स्थूलया मालया। 'समौ राजिलडुण्डुभौ' इत्यमरः। 'इवे प्रतिकृतौ' इति कन्। 'मल्लिकाकुसुमडुण्डुभकेन' इत्यत्र पादान्तगुरुत्वं छन्दःशास्त्रेऽभ्युपगम्यते। कृते निर्मिते, आसने पीठे, निहितं स्थापितम्, कुण्डलीन्द्रस्य नागराजस्य, शेषस्य सम्बन्धिन्या इत्यर्थः। तनोः शरीरस्य, कुण्डलं वलयम्, कुण्डलिततनुमित्यर्थः। भजते आश्रयति, क्षीरोदे शेषशायिरूपेणाधिशेते इत्यर्थः। य साध्याम्, तं नारायणम्, साक्षाद् ध्यानयोगेन प्रत्यक्षमिव, ऐक्षत अपश्यत्॥ ४०॥

अन्वयः—स भ्रमीवलयितेन मल्लिकाकुसुमडुण्डुभकेन कृते आसने निहितं कुण्डलीन्द्रतनुकुण्डलभाजं तं साक्षात् ऐक्षत।

हिन्दी—उस (नल) ने लपेटकर गोलाकार किये गये मल्लिका-पुष्प रूप डुण्डुभक (निर्विष सर्प) से रचित आसन पर स्थित कुण्डली अर्थात्

सर्पो के राजा (शेष नाग के शरीर की कुण्डली पर विराजित उन (नारायण) के जैसे प्रत्यक्ष देखा।

टिप्पणी—स्थूल और घने मल्लिका कुसुमों के गोलाकार पीठ पर नारायण का आसन था। वह आसन निर्विष सर्प डुण्डुमक की कुण्डली-जैसा लग रहा था। इस प्रकार मल्लिका-कुसुमों के डुण्डुमक कुण्डली-तुल्य पीठ पर विराजित नारायण साक्षात् शेषशायी नारायण प्रतीत हो रहे थे ॥ ४० ॥

मेचकोत्पलमयो बलिबन्द्धुस्तद्वलिस्रगुरसि स्फुरति स्म।
कौस्तुभाख्यमणिकुट्टिमवास्तुश्रीकटाक्षविकटायितकोटिः ॥ ४१ ॥

जीवातु—मेचकेति। बलेः असुरविशेषस्य, बन्द्धुः बन्धकस्य, बलिनामकदैत्यराजबन्धनकारिणो विष्णोरित्यर्थः। उरसि वक्षसि, कौस्तुभाख्यं कौस्तुभरत्नसंज्ञकम्, यत् मणिकुट्टिमं रत्ननिबद्धभूमिः, तदेव वास्तु आवासभूमिः यस्याः तादृश्याः, श्रियः लक्ष्म्याः, कटाक्षेण अपाङ्गदर्शनेन, विकटायिताः विशालीभूताः, वृद्धिं गता इत्यर्थः। कोटयः प्रान्तदेशाः यस्याः सा तादृशी, मेचकोत्पलमयी नीलोत्पलग्रथिता, तस्य नलस्य, तेन नलेन दत्ता इत्यर्थः। बलिस्रक् पूजामाल्यम्। 'बलिः पूजोपहारः स्याद् बलिर्दैत्यो बलिः करः' इति विश्वः। स्फुरति स्म शुशुभे ॥ ४१ ॥

अन्वयः—बलिबन्द्धुः उरसि कौस्तुभाख्यमणिकुट्टिमवास्तुश्रीकटाक्षविकटायितकोटिः मेचकोत्पलमयी तद्वलिस्रक् स्फुरति स्म।

हिन्दी—दैत्यराज बलि के बंधक (वामनावतार विष्णु) के वक्ष पर कौस्तुभसंज्ञक मणि से बद्ध वास-स्थान में बसती लक्ष्मी के कटाक्षों द्वारा जिसके प्रान्त विस्तृत हो गये हैं, ऐसी नील कमलों की रची, उस (नल) के द्वारा समर्पित उपहारमाला शोभित हो रही थी।

टिप्पणी—नल ने नारायण की ग्रीवा मे नील-कमलों की माला समर्पित की। वह ऐसी लग रही थी, जैसे कि कौस्तुभ मणिसज्जित श्री विष्णु की उरःस्थिता लक्ष्मी के कटाक्षों का विस्तार हो। नारायण के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ॥ ४१ ॥

स्वर्णकेतकशतानि च हेम्न पुण्डरीकघटनां रजतस्य।
मालयाऽरुणमणे करवीरं तस्य मूर्ध्नि पुनरुक्तमकार्षीत्॥ ४२॥

जीवातु—स्वर्णेति। स नल, तस्य विष्णो', मूर्ध्नि शिरसि, हेम्नः सुवर्णस्य, मालया माल्येन, स्वर्णनिर्मितपुष्पमाल्यार्पणेनेत्यर्थं। स्वर्णकेतकानां स्वर्णवर्णकेतकीपुष्पाणाम्, शतानि बहुसङ्ख्यकानि, स्वर्णकेतकीकुसुममाल्यार्पणमित्यर्थ.। रजतस्य रौप्यस्य, मालया स्रजा, रौप्यनिर्मितपुष्पमालाऽर्पणेनेत्यर्थः। पुण्डरीकाना सिताम्भोजानाम्, घटना रचनाम् श्वेतपद्ममाल्यार्पणमित्यर्थं। अरुणमणे पद्मरागस्य, मालया माल्येन, पद्मरागमणिघटितमाल्यदानेनेत्यर्थं.। करवीर करवीरकुसुमम्, रक्तकरवीरपुष्पमालार्पणमित्यर्थ.। पुनरुक्त द्विरुक्तम्, द्विगुणीकृतमित्यर्थ.। पुनरुक्तानि च पुनरुक्ता च पुनरुक्तञ्चेति द्वन्द्वे 'नपुंसकमनपुंसकेन—' इत्यादिना नपुंसकैकशेषे एकवद्भावः। अकार्षीत् कृतवान्। द्विविधेनापि माल्येन स नारायणमचर्यामासेति निष्कर्ष.॥ ४२॥

अन्वयः—सः तस्य मूर्ध्नि हेम्नः मालया स्वर्णकेतकशतानि रजतस्य (मालया) पुण्डरीकघटनाम् अरुणमणे. (मालया) करवीर पुनरुक्तम् अकार्षीत्।

हिन्दी—उस (नल) ने उस (नारायण) के मस्तक पर स्वर्णमाला चढाकर सुवर्ण-केतकी के शतक को, चाँदी की माला चढाकर श्वेत-पद्ममाल्यार्पण को और पद्मराग-माला चढाकर लाल कनैर-समर्पण को पुनरुक्त (दोबारा) कर दिया।

टिप्पणी—श्री नारायण पर स्वर्ण केतकी की पीतमाला, श्वेतपद्म की शुभ्रमाला और रक्त करवीर की मालाएँ चढायी गयी थी, महाराज नल ने तत्तत् स्थानीय स्वर्णमाला (पीत), रजतमाला (शुभ्र) और पद्मरागमाला (रक्त) समर्पित कर पुष्पमाल्यों को, वर्णसाम्य के आधार पर द्विरुक्त अथवा निरर्थक-सा बना दिया। तात्पर्य यह कि नल ने पहिले पुष्पमालाओं से अर्चना की तदनंतर स्वर्ण, रजत, मणि मालाएँ अर्पित की॥ ४२॥

नालम्भक्तवलिरन्ननिवेद्यैस्तस्य हारिणमदेन स कृष्ण.।
शङ्खचक्रजलजातवदर्चं शङ्खचक्रजलपूजनयाऽभूत्॥ ४३॥

जीवातु—नेति । स भगवान् नारायणः, तस्य नलस्य; अन्ननिवेद्यैः अन्नान्येव भक्तान्येव निवेद्यानि उपहाराः तैः, इवेति शेषः । नाल्पा प्रभूतः भक्तवलिः अन्नोपहारः यस्य स तादृशः । 'भक्तमन्धोऽन्नम्' इत्यमरः । अन्यत्र—नाल्पभक्तः अधिकभक्तिसम्पन्नः, वलिः असुरविशेषः यस्य सः तादृशः, तन्नामकः इत्यर्थः । अभूत् अजनि; तस्य हारिणमदेन कस्तूर्या, नलार्पितमृगमदोपहारेणैवेत्यर्थः । कृष्णः कृष्णवर्णः पापकर्षणात् कृष्णनामा च, 'कृष्णो वर्णे हरौ ध्वांक्षे पिके व्यासे शुकेऽर्जुने' इत्यजयपालः । अभूत्, तथा शङ्खानां दक्षिणावर्त्तादीनां विविधानां कम्बूनाम्, चक्रे समूहे । 'चक्रं सैन्ये रथाङ्गे च राष्ट्रे दम्भान्तरे चये । आयुधः सलिलावर्त्ते' इत्यजयपालः । यत् जलं वारि, तेन या पूजना अर्चना तया, इवेति शेषः, शङ्खं पाञ्चजन्यम्, चक्रं सुदर्शनम्, जलजातं पद्मञ्च अस्या अस्तीति सा तद्वती शङ्खचक्रपद्मविशिष्टेत्यर्थः । अर्चा प्रतिमा पूजा च यस्य सः तादृशश्च । 'अर्चा पूजाप्रतिमयोः' इति विश्वः । अभूत् । नलपूजा निबन्धना खलु भगवतः विष्णोर्नाल्पभक्तवलिरित्यादिशब्द वाच्यता अभूदिति भाव. ॥ ४३ ॥

अन्वयः—सः तस्य अन्ननिवेद्यैः नाल्पभक्तवलिः, हारिणमदेन कृष्णः, शङ्खचक्रजलपूजनया शङ्खचक्रजलजातवदर्चः अभूत् ।

हिन्दी—वे (नारायण) उस (नल) के अन्नोपहारों द्वारा प्रचुर भक्त (ओदन) उपहार प्राप्त करके दैत्य राज विरोचन पुत्र वलि जिनका महान् भक्त था, ऐसे हुए; कस्तूरी भेंट-द्वारा श्याम हो श्रीकृष्ण हो गये और दक्षिणावर्त्तादि शंख-समूहों में भरे जल द्वारा अर्चना से शंख (पांचजन्य), चक्र (सुदर्शन) और पद्म (कमल) विशिष्ट प्रतिमा-मय हो गये ।

टिप्पणी—नल ने नारायण को नैवेद्य, गन्ध, जल-समर्पण. किया । शब्द योजना के वैशिष्ट्य से कवि ने यहाँ विशेष चमत्कार-प्रदर्शन किया है । नल की पूजा-विशेष से नारायण के 'नाल्पभक्तवलिः, 'कृष्ण' और 'शंखचक्रजलजातवदर्चः' विशेषण और रूप अन्वर्थक हो गये । वलि पाकर वे भक्तराज वलि-पूजित हुए, कस्तूरी लेप से 'कृष्ण' हुए और 'शंख-चक्र-जल-पूजन' से 'शंखचक्रपद्मधारी' हुए । नारायण के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ॥ ४३ ॥

राज्ञि कृष्णलघुधूपजधूमाः पूजयत्यहिरिपुध्वजमस्मिन् ।
निर्ययुर्भवधृता भुजगा भीदुर्यशोमलिनिता इव जालैः ॥ ४४ ॥

जीवातु—राज्ञीति । अस्मिन् राज्ञि नले, अहिरिपुः नागारिः, गरुडः इत्यर्थः । ध्वज लाञ्छनम्, ध्वजे रथचूडायामित्यर्थो वा, यस्य त विष्णुम्, पूजयति अर्चयति सति, मिथा अहिरिपुभयेन, यत् दुर्यशः भीरुत्वापवादः, तेन मलिनिता: स्वभावतः शुभ्रा अपि मलिनीकृताः, भवेन शम्भुना, तत्रैव प्रतिष्ठितेनेति भावः । धृताः भूषणत्वेन परिगृहीता, भुजगाः वासुकिप्रमुखाः शुभ्रसर्पा इव, कृष्णाः कृष्णवर्णाः, लघवः अगुरवः । 'लीघ्रे मनोज्ञे नि सारे लघुः स्यादगुरुद्रुमे' इति शाश्वतः । तेषां धूपजाः धूपोत्थाः, धूपदानाय कालागुरुकाष्ठदहनोत्पन्ना इत्यर्थः । धूमाः, जालैः गवाक्षविवरैः, निर्ययु निर्गताः । भवशरीरे भूषणत्वेन धृताः विषदा अपि भुजगाः पूज्यमाननारायणस्य रथध्वजस्थितस्वशत्रुगरुडदर्शनात् भयेन मलिनाः इव सन्तः धूपजातकृष्णधूमरूपेण बहिर्निर्जग्मुरित्यर्थः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—अस्मिन् राज्ञि अहिरिपुध्वजं पूजयति भीदुर्यशोमलिनिताः भवधृताः भुजगा इव कृष्णलघुधूपजधूमाः जालैः निर्ययुः ।

हिन्दी—इस राजा (नल) के गरुडध्वज (विष्णु) की पूजा करते समय भय रूप दुष्कीर्ति से मलिन हुए शिव द्वारा धारण-किये गये वासुकि आदि (शुभ्र वर्ण) सर्पों के तुल्य कृष्णागुरु-धूप देने से उत्पन्न धूमराशि झरोखों से बाहर निकल गयी ।

टिप्पणी—नल ने गरुडध्वज विष्णु की उपासना में कृष्णागुरु धूप जला कर अर्पित की, उससे उत्पन्न धुआँ झरोखों से बाहर निकलने लगा । वर्ण और तिर्यग्गति के आधार पर यहाँ धूमराशि की तुलना वासुकि आदि सर्पों से की गयी है । उन नागों का वर्ण यद्यपि शुभ्र था, किन्तु समीप में स्वशत्रु गरुड के वास से वे अयशोभागी होकर धुएँ गये थे—मलिन । मन्दिर में एक ओर गरुडध्वज विष्णु की मूर्ति थी, दूसरी ओर नागहार शिव की । सो नाग गरुड के कारण डरते रहते थे और 'दुर्यशो मलिन' हो गये थे । उनके

बाहर निकलने का कारण हुआ उनके अपमान की पराकोटि। नल ने उन नागों के प्रत्यक्ष उनके वैरी गरुड के स्वामी की पूजा की, सो वे धूपजधूम के रूप में गवाक्ष-छिद्रों से बाहर जाने लगे ॥ ४४ ॥

अर्घनिःस्वमणिमाल्यविमिश्रैः स्मेरजातिमयदामसहस्रैः।
तं पिधाय विदधे बहुरत्नक्षीरनीरनिधिमग्नमिवैषः ॥ ४५ ॥

जीवातु—अर्घेति। एषः नलः, अर्घेण मूल्येन, निःस्वानां दरिद्राणाम्, अमूल्यानामित्यर्थः। मणीनां रत्नानाम्, माल्यैः स्रग्भिः, विमिश्रैः संयुक्तैः, स्मेराणां विकसितानाम्, जातिमयदाम्नां मालतीकुसुमस्रजाम्, सहस्रैः समूहैः, तं विष्णुम्, पिधाय आच्छाद्य, बहुरत्नक्षीरनीरनिधौ बहूनि, रत्नानि मणयो यस्मिन् तादृशः, यः क्षीरनीरनिधिः क्षीरोदसमुद्रः, तत्र मग्नम् इव, विदधे चकार। अत्र क्षीरस्थानीयाः शुभ्रमालतीकुसुमस्रजः रत्नस्थानीयानि च मणिमाल्यानीति बोध्यम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—एषः अर्घनिःस्वमणीमाल्यविमिश्रैः स्मेरजातिमयदामसहस्रैः तं पिधाय बहुरत्नक्षीरनिधिमग्नम् इव विदधे।

हिन्दी—इस (नल) ने अमूल्य मणीमालाओं और खिले मालती प्रसूनों की सहस्रों मालाओं से उन (श्री नारायण) को आच्छादित कर (उन्हें) अनेक रत्नों से पूर्ण क्षीरसागर में मग्न-जैसा बना दिया।

टिप्पणी—माल्य समर्पण में नल ने नारायण-मूर्ति पर रत्नों और शुभ्र मालती-फूलों की अनेक मालाएँ चढ़ायीं कि वे उनसे पूर्णतः ढक गये। सब ओर शुभ्र कुसुम, बीच-बीच में रत्न-राशि, ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे नारायण रत्नमय क्षीरसागर में मग्न हैं। रत्न और क्षीर-सम श्वेत पुष्प ॥ ४५ ॥

अक्षसूत्रगतपुष्करबीजश्रेणिरस्य करसङ्गमेत्य।
शौरिसूक्तजपितुः पुनरापत् पद्मसद्मचिरवासविलासम् ॥ ४६ ॥

जीवातु—अक्षसूत्रेति। अक्षसूत्रगतानां जपमालाग्रथनतन्तुस्थितानाम्, पुष्करबीजानां पद्मगुटिकानाम्, श्रेणिः राजिः माला इत्यर्थः। शौरिसूक्तस्य पुरुषसूक्तस्य, जपितुः जपं कर्तुः, अस्य नलस्य, करसङ्गं हस्तसम्बन्धम्, एत्य

प्राप्य, पुनः भूयोऽपि, पद्म कमलम् एव, सद्म गृहम्, तत्र चिरवासस्य बहुकालावस्थितेः, विलासं शोभाम्, आपत् प्राप्तवती। नलकरस्य कमलसदृशत्वादिति भावः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अक्षसूत्रगतपुष्करबीजश्रेणिः शौरिसूक्तजपितुः अस्य करसङ्गरम् एत्य पुनः पद्मसद्मचिरवासविलासम् आपत्।

हिन्दी—अक्ष सूत्रगत अर्थात् जपमाला में गुँथे कमल-गट्टों (कमलगट्टा के मनका) ने शौरि (विष्णु) सूक्त का जप करते इस (नल) के हाथ का सामीप्य पाकर पुनः कमल-गृह में चिरकाल तक वास करने के विलास-सुख को प्राप्त किया।

टिप्पणी—हाथ में कमल-बीजों (कमलगट्टों) की जपमाला लेकर विष्णुसूक्त 'विष्णोर्नु कम्—' इत्यादि का जप किया जाता है। इसी प्रकार जप करते नल के हाथ ली गयी कमल-बीज माला के कमल बीज ऐसे प्रतीत हुए कि उन्हें जैसे पुनः कमल-गृह निवास मिल गया हो। नल कर पद्मसदृश है और कमलबीज कमल गर्भ से ही निकलते हैं, सो निर्वासित कमल-बीजों को पुनः उनका घर मानो मिल गया हो। नारायण के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ॥ ४६ ॥

कैटभारिपदयोर्नतमूर्ध्ना सञ्जिता विचकिलस्रगनेन।

जह्नुजेव भुवनप्रभुणाऽस्मात् सेविताऽनुनयताऽऽयतमाना ॥ ४७ ॥

जीवातु—कैटभारीति। नतः सुसलग्न इत्यर्थः। मूर्धा शिरः यस्य तेन प्रणामार्थं नतमस्तकेन, अनुनयता स्तवेन देवं प्रसादयता, भुवनप्रभुणा भूलोकनाथेन, अनेन नलेन भगीरथेन च, यद्वा—जलेश्वरेण समुद्रेण च। 'भुवनं विपिने तोयं' इति विश्वः। कैटभारेः विष्णोः, पादयोः चरणयोः, सञ्जिता ससर्गं प्रापिता, समर्पिता इत्यर्थः। अन्यत्र—आसञ्जिता आसक्तिं गता, भक्तिमतीत्यर्थः। विष्णुपदोद्भूतत्वादिति भावः। आयतं दीर्घम्, मानं प्रमाणं यस्याः सा, अन्यत्र—यतमाना चेष्टमाना, पृथिव्यां गन्तुं यत्नवतीत्यर्थः। यद्वा—आयतः दीर्घः, मानः ईर्ष्या कोपश्च यस्याः सा। 'मानः प्रमाणे प्रस्थादौ मानश्चित्तोन्नतौ ग्रहे' इति विश्वः। सेविता आराधिता, एकत्र—सुगन्धेन सर्वैः समादृता इत्यर्थः। अन्यत्र—त्रिभुवनजनपूजिता इत्यर्थः। विचकिलस्रक् मल्लिकाकुसुममाला।

"स्मृतो विचकिलो मल्ली प्रभेदे मदनेऽपि च' इति विश्वः। जह्नुजा-गङ्गा इव, अभात् बभौ ॥ ४७ ॥

अन्वयः—नतमूर्द्धा अनुनयता भुवनप्रभुणा अनेन कैटभारिपदयोः सज्जिता आयतमाना सेविता विचकिलस्रक् जह्नुजा इव अभात्।

हिन्दी—मस्तक नवाँ कर—नतमस्तक हो प्रणाम कर प्रसन्न करते भूलोक के स्वामी इस (नल) के द्वारा कैटभ-शत्रु (श्री विष्णु) के चरणों में समर्पित लंबी गूँथी हुई मल्लिकाकुसुम-माला, अनुनय (सान्त्वना, मनौ-बल, प्रार्थना) करते लोकनाथ ब्रह्मा अथवा शिव अथवा जल के स्वामी वरुण-द्वारा अथवा (मर्त्यलोक में अवतीर्ण होने के लिए) राजा भगीरथ द्वारा श्री विष्णु के चरणों में स्थित पृथ्वी पर आती और सेवित जह्नु-पुत्री जाह्नवी (गंगा) के समान शोभित हुई; अथवा मस्तक नवाँकर मनाते भूलोक के स्वामी इस नल-द्वारा आसक्तिपूर्ण, प्रतिमानवती, प्रसन्न की जाती नायिका-सी सुशोभित हुई।

टिप्पणी—श्री नारायण कैटभारी के चरणों में नतमस्तक हो राजा नल ने भक्तिभाव से लंबी, सुगन्धि माला समर्पित की। उस मल्लिका माला के तीन विशेषण हैं 'कैटभारिपदयोः सज्जिता', 'आयतमाना' और 'सेविता'। 'नतमूर्द्धा भुवनप्रभु' द्वारा वह 'अनुनीत' है। इन विशेषणों को भागीरथी गंगा से संबद्धकर 'विचकिलस्रक्' की तुलना 'जह्नुजा' (गंगा) से की गयी है। नतमस्तक राजा द्वारा भगवत्स्तवन करते हुए वह लंबी, सुगंधि माला श्रीविष्णु चरणों में सज्जित (समर्पित) की गयी है। 'भुवनप्रभु' भगीरथ द्वारा नतमूर्द्धा हो अनुनय करके श्री विष्णु चरणों में स्थित सुदीर्घा (आस-ज्जिता, भक्तियोग्या) सुर-नर-सेविता, पृथ्वी पर लायी गयी—गंगा-सदृश माला है। भुवनप्रभु के अन्यार्थ सांत्वना देते ब्रह्मा, शिव और वरुण भी माने गये हैं। ब्रह्मा-शिव पुनरागमनार्थ गंगा को 'अनुनय' अर्थात् सांत्वना देने वाले हैं; वरुण (और समुद्र भी) गंगा के प्रार्थी हैं। 'विचकिलस्रक्' को अन्य भाव लेते हुए एक मानिनी नायिका के सदृश भी माना गया है, नायक जिसकी स्तुतिकर रहा है, मना रहा है, प्रार्थना कर रहा है। सामान्य

आशय यही है कि कैटभारि-चरणों में समर्पित श्वेत मल्लिका-कुसुमों की लंबी माला शुभ्रधार भागीरथी-सी प्रतीत हुई ॥ ४७ ॥

(युग्मम्)

स्वानुरागमनघः कमलायां सूचयन्नपि हृदि न्यसनेन ।
गौरवं व्यधित वागधिदेव्याः श्रीगृहोर्ध्वनिजकण्ठनिवेशात् ॥ ४८ ॥
इत्यवेत्य वसुना बहुनाऽपि प्राप्नुवन्न मुदमर्चनया स. ।
सूक्तिमौक्तिकमयैरथ हारैर्भक्तिमैहत हरेरुपहारैः ॥ ४९ ॥

जीवातु—स्वेति । अनघः निष्पाप, विष्णुरिति शेषः । हृदि वक्षसि, न्यसनेन स्थापनेन, कमलायां एवेति भाव. । कमलायां लक्ष्म्याम्, स्वानुराग निजप्रेम, सूचयन् प्रकटयन् अपि, श्रियः तस्याः कमलाया एव, गृहात् निवासभूतात्, निजवक्षसः इति शेष । ऊर्ध्वं उपरिस्थिते, निजे स्वकीये, कण्ठे गलदेशे, निवेशात् स्थापनात् हेतो', वागधिदेव्या., वाग्देवतायाः, सरस्वत्याः, गौरव पूजाम्, सम्मानाधिक्यमित्यर्थ. । कमलापेक्षया इति भाव । व्यधित कृतवान् । इतीति । स नलः, इति पूर्वोक्तप्रकार विष्णोर्मनोभावम्, अवेत्य ज्ञात्वा, बहुना प्रभूतेनापि वसुना धनेन, लक्ष्मीरूपेण मणिरत्नादिना इति भाव. । लक्ष्म्या च इति ध्वन्यते, विहितया इति शेष । अर्चनया पूजया, अपीति शेष. । मुदं प्रीतम्, न प्राप्नुवन् न लभमान. सन्, अथ अनन्तरम्, सूक्तिमौक्तिकमयैः सूक्तयः सरसपदनिबद्धानि स्तोत्राण्येव, मौक्तिकानि मुक्तासमूहा', विशदत्वादिति भाव. । तन्मयै. तदात्मकैः, हारैः हाररूपै', सरस्वत्या इति च ध्वन्यते, उपहारैः उपायनैः, हरेः नारायणस्य, भक्तिम् ऐकान्तिकसेवाविशेषम्, ऐहत अचेष्टत, हरिभक्ति दर्शयितुमैच्छदिति भाव. । हरिणा कमलातः वाण्याः अधिक गौरव कृतमतः सरस्वतीकरणकार्चनेनैवास्मिन् अधिका भक्तिः प्रदर्शिता भविष्यतीति मत्वा नलः सरस्वतीमयै. सूक्तैस्तमभजत इति निष्कर्षः ॥ ४८–४९ ॥

अन्वय—अनघ. हृदि न्यसनेन कमलायां स्वानुराग सूचयन् अपि श्रीगृहोर्ध्वनिजकण्ठनिवेशात् वागधिदेव्याः गौरवं व्यधित–इति अवेत्य बहुना अपि वसुना अर्चनया अपि मुदं न प्राप्नुवन् स. अथ सूक्तिमौक्तिकमयैः हारैः उपहारैः हरे. भक्तिम् ऐहत ।

हिन्दी—अनघ अर्थात् दुःख, दारिद्र्य, पाप से रहित श्री विष्णु ने हृदय पर स्थान-देकर श्री लक्ष्मी के प्रति अपने अनुराग को सूचित करते हुए श्री लक्ष्मी के आवास (हृदय-वक्ष) से ऊपर अपने कण्ठ में स्थापना-द्वारा वाणी की अधिदेवता (सरस्वती) को अधिक सम्मान दिया—यह समझ कर प्रचुर धन-मणि रत्नादि समर्पित कर पूजा करने से भी हर्ष न प्राप्त करते हुए उस (नल) ने तत्पश्चात् (धन-संपदा से श्री विष्णु की आराधना कर) सरस स्तुतिश्लोक-रूप मौक्तिकमाला-रूप उपहारों द्वारा हरि (विष्णु) की अर्चना की।

टिप्पणी—राजा नल ने धन-रत्नादि संपदा नारायण के चरणों में अर्पित कर तदनन्तर सरस पद्य-स्तुतियों द्वारा श्री विष्णु-चरणाराधन करते हुए अपनी प्रचुर भक्ति प्रदर्शित की। श्री विष्णु का हृदय लक्ष्मी का वास-स्थान है और कंठ वाग्देवता सरस्वती का। इस आधार पर इस 'युग्म' में यह कल्पना की गयी कि क्योंकि कंठ हृदय से ऊपर होता है, अतः वह उच्च होने के कारण श्रेष्ठ स्थान है। श्री नारायण ने अत्यन्त अनुराग प्रदर्शित करते हुए तत्सूचक स्थान प्रिया लक्ष्मी को दिया, (जिस पर अधिक प्रीति होती है; उसे हृदय में स्थान दिया जाता है किन्तु वागधिदेवी सरस्वती को लक्ष्मीगृह से भी ऊँचा श्रेष्ठ स्थान कण्ठ दिया। इससे प्रतीत होता है कि लक्ष्मी की अपेक्षा नारायण की दृष्टि में सरस्वती अधिक गौरवास्पदा हैं। राजा द्वारा धन-संपदादि के समर्पणोपरांत जो स्तवन किया गया, वह मानो लक्ष्मी-समर्पण के पश्चात् सरस्वती-समर्पण हुआ। राजा ने पहिले धन रूप में लक्ष्मी द्वारा पूजा की अनंतर अक्षर-रूप में सरस्वती द्वारा। इससे प्रतीत होता है कि राजा नल ने समझ लिया श्री नारायण लक्ष्मी के माध्यम की अपेक्षा सरस्वती के माध्यम से अधिक संतुष्ट होते हैं, अतः लक्ष्मी-पूजा पर्याप्त नहीं, सरस्वती-पूजा ही मुद-मंगलमयी होती है। स्तुति-वर्ण-मुक्तामाला ही अन्य संपदा की अपेक्षा निर्मल, स्वच्छ होती है। कवि ने यहाँ यह संकेत भी दिया कि लक्ष्मी-सेवकों की अपेक्षा सरस्वती के उपासक श्रेष्ठ होते हैं और उन्हें भगवत्कृपा अपेक्षाकृत सरलता से प्राप्त होती है। आगे (५०–१०३) में यह विष्णु-स्तवन है ॥ ४८–४९ ॥

दूरत स्तुतिरवाग्विषयस्ते रूपमस्मदभिधास्तव निन्दा ।
तत् क्षमस्व यदहं प्रलपामीत्युक्तिपूर्वमयमेतदवोचत् ॥ ५० ॥

जीवातु—दूरत इति । हे भगवन् ! त तव रूप स्वरूपम् अवाग्विषय वाचामगोचर, 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादिश्रुतेरिति भाव । स्तुति स्तव, दूरत दूरे, कर्त्तुमशक्या इत्यर्थं । यस्य तव स्वरूप वाचामनीत तस्य तव स्तुति कथ कर्त्तुं शक्येत ? कथमपि नेत्याशय । एवञ्च अस्मदभिधा अस्माकमुक्तय, अस्मदीया स्तुतिरित्यर्थं । तव भवत निन्दा कदर्थना, भवतीति शेष । अन तद्गुणस्य तव अत्यल्पगुणप्रकाशकत्वात् वागविषयस्य च वाचा वर्णनात् तिरस्कार एवेत्यर्थं । अत एव अहं नल यत् प्रलपामि अनर्थकं वच्मि, तत् प्रलापवचनम् क्षमस्व सहस्व, मार्जयेत्यथ । इत्युक्ति एवं-वचनम्, पूर्वं प्रथम यस्मिन् तद् यथा भवति तथा, अय नल, एतद् वक्ष्यमाणम्, अवोचत् उक्तवान् ॥ ५० ॥

अन्वय —ते रूपम् अवाग्विषय, स्तुति दूरत अस्मदभिधा तव निन्दा, यत् अहं प्रलपामि तत् क्षमस्व—इति उक्तिपूर्वम् अयम् एतद् अवोचत् ।

हिन्दी—तेरा (नारायण का) स्वरूप वाणीका विषय (वर्णनीय) नहीं है, स्तवन दूर की बात (असम्भव) है, हमारा (नल का) कथन (स्तुति) तेरी नारायण की निंदा (सदृश) है, अत जो प्रलाप (स्तवनादि) मैं कर रहा हूँ उस क्षमा करो—यह कह कर इस (नल) ने यह (आगे वर्णित) कहा ।

टिप्पणी—विनय की परा काटि । श्रुति वचन है कि ईश्वर का वर्णन सभव नही है, वह 'वाङ्मनोऽगोचर' है । उसका रूप प्रत्यक्ष करना तो असभव है ही वर्णन भी सभव नही । जब वह नारायण सर्वथा अगोचर है, तब उसका स्तवन भी ठीक-ठीक न हो सकने के कारण अनर्गल प्रलाप ही होगा । फिर भी क्षमा प्रार्थना पूर्वक—'तदपि च न जाने स्तुतिमहम्'—विनयी भक्त भगवच्चरणो में भक्ति निवेदन करते ही हैं । राजा ने पहिले एसे विनय वचन कहे, अनतर स्तवनारम्भ किया, जो आगे है ॥ ५० ॥

स्वप्रकाश ! जड एव जनस्ते वर्णनं यदभिलष्यति कर्तुम् ।
नन्वहर्पतिमहः प्रति स स्यान्न प्रकाशनरसस्तमस किमु ॥ ५१ ॥

जीवातु—स्वेति । स्वप्रकाश ! हे स्वयंप्रकाश ! अन्यनिरपेक्षप्रकाशरूप ! विष्णो ! 'एष आत्मा स्वप्रकाशः' इति वेदान्तादिति भावः । जडः मूढः, अविद्याऽऽच्छन्नः इति यावत् । एषः अयम्, जनः लोकः, ते तव, चिन्मयस्येति भावः । वर्णनं गुणकीर्त्तनम्, कर्त्तुं विधातुम्, यत् अभिलष्यति वाञ्छति, ननु भो विष्णो !, सः तादृशवर्णनाभिलाषः, अहर्पतेः सूर्यस्य, महः तेजः, प्रति लक्ष्यीकृत्य, तमसः अन्धकारस्य, प्रकाशने प्रकटने, स्वाविर्भावविषये इत्यर्थः । रसः वाञ्छा, न स्यात् किम् ? न भवेत् किम् ? अपि स्यादेव इत्यर्थः । स्वप्रकाशस्य तव वर्णने जडस्य ममाभिलापः प्रकटप्रकाशसूर्यतेज प्रकाशने तमसः अभिलाष इव अत्यन्तमशोभन एवेति भावः । तेजोनाश्यस्य तमसः तेजः प्रकाशाभिलाप यथा विफल एव तथा स्वप्रकाशनाश्याया जडतायाः अपि तं प्रति प्रकाशनात्मकवर्णनोद्यमः विफल एवेति तात्पर्यम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—स्वप्रकाश, जडः एषः जनः यत् ते वर्णनं कर्त्तुम् अभिलष्यति, ननु सः अहर्पतिमहः प्रति किं तमसः प्रकाशनरसः न स्यात् ?

हिन्दी—हे स्वयं प्रकाशशील, (परप्रकाशनिरपेक्ष) अविद्याच्छन्न (मूढ) यह जन (नल) जो तेरा वर्णन करने का अभिलाप करता है, निश्चयतः वह सूर्य के तेज को लक्ष्य करके क्या अंधकार की स्वयं प्रकाशन (अथवा अंधकार-द्वारा सूर्य-तेज के प्रकाशन) के प्रति अनुरक्ति न होगी ?

टिप्पणी—विष्णु स्वयं प्रकाश हैं, अन्य से उनका प्रकाशन नहीं होता । वेदांत-सिद्धांत के अनुसार आत्मा स्वप्रकाश है—स्वप्रकाशानंदचिन्मय, उसे अन्य से प्रकाशन अपेक्षित नहीं, व्यर्थ है वह । यदि कोई ऐसी चेष्टा करता है, तो वह मूर्खता है । उसका वर्णन व्यक्ति करे तो वह अन्धकार द्वारा सूर्य-प्रकाश के प्रकाशन की दुश्चेष्टा है । स्वयंप्रकाश विष्णु के प्रति भी नल की ऐसी चेष्टा क्या जडता न होगी ? होगी ही । विनय का सत्स्वरूप ॥५१॥

मैव वाङ्मनसयोर्विषयो भूस्त्वां पुनर्न कथमुद्दिशतां ते ।
उत्कचातकयुगस्य घनः स्यात् तृप्तये घनमनाप्नुवतोऽपि ॥ ५२ ॥

जीवातु—मेति । हे विष्णो ! वाङ्मनसयोः वाक्यचेतसोः । 'अचतुर—' इत्यादिना साधुः । विषयः गोचरः, मैव भूः मैव भव, त्वमिति शेषः । 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेरिति भावः । पुनः तथाऽपि,

ते वाङ्मनसे, त्वां भवन्तम्, कथं केन हेतुना, न उद्दिशताम्? न लक्षयताम्? त्वामुद्दिश्य न प्रवर्त्तेतामित्यर्थः। अपि तु उद्दिशतामेवेति भावः। 'दिश अतिसर्जने' इत्यस्माद्धातोर्लोटि रूपम्। तथा हि घन मेघम्, अनाप्नुवत अलभमानस्य अपि, दूरावस्थितत्वादिति भाव। उत्कयो मेघार्थमेव उत्सुकयो, चातकयो सारङ्गयो युगस्य द्वन्द्वस्य, चातकमिथुनस्येत्यर्थः। तृप्तये जलदानेन प्रीतये, घन मेघ स्वयमेव, स्यात् भवेत्। चातकयुगस्य अविषयोऽपि मेघो यथा स्वयमेव तत्तृप्तये उदेति तथा वाङ्मनसयोरगोचरोऽपि त्व स्वयमेव मत्तृप्तये स्या, अतो न वर्णनोद्यमो मया त्यज्यते इति निष्कर्ष ॥ ५२ ॥

अन्वय —वाङ्मनसयो विषय मा एव भू पुन: ते त्वा कथ न उद्दिशताम्? घनम् अनाप्नुवत अपि उत्कचातकयुगस्य तृप्तये घन स्यात्।

हिन्दी—तुम वाणी और मन के विषय (वाङ्मनोगोचर) भले ही नहीं हो, तथापि वे (वाणी-मन) तुम्हारे प्रति क्यों न प्रवृत्त हो? बादल को न पाने वाले भी उत्कंठित (प्यासे) चातकी-चातक की तृप्ति के लिए बादल तो प्रवृत्त होगा ही।

टिप्पणी—वाणी से अवर्ण्य और मन से अचिन्त्य श्री नारायण हैं, हाँ, किन्तु वाणी—मन तो नारायणोन्मुख होते ही हैं। वाणी वर्णनादि करती है, मन सोचता है—ध्यान करता है। परतु वाणी और मन को नारायण तृप्त करते ही हैं, भले ही वे उन्हे प्राप्त न कर सकें, जैसे कि चातकी चातक घन को कभी पाते नहीं, किन्तु उत्कंठित तो रहते ही हैं और घन उन्हे रसधार से तृप्त भी करता है। ऐसे ही श्री नारायण भक्त के चातकी (वाणी) और चातक (मन) को कृतार्थ करेंगे ही। भगवत्कृपा भक्त को मिलेगी ही।

छद्ममत्स्यवपुषस्तव पुच्छास्फालनाज्जलमिवोद्धृतमब्धे।
स्वैत्यमेत्य गगनाङ्गणसङ्गादाविरस्ति विबुधालयगङ्गा ॥ ५३ ॥

जीवातु—छद्मेति। हे विष्णो? छद्मना कपटेन, वेदोद्धारव्याजेनेत्यर्थः। मत्स्य मीन, वपु शरीर यस्य तथोक्तस्य, तव ते, पुच्छस्य लाङ्गूलस्य, आस्फालनात् ताडनात् हेतो, अब्धे सागरात्, उद्धृतम् ऊर्ध्वम् उत्क्षिप्तम्, जल वारि, कर्तृ। गगनाङ्गणेन आकाशात्मकचत्वरेण, सङ्गात् सयोगात्

हेतोः, श्वैत्यं श्वेततवम्, एत्य प्राप्य, विबुधालयगङ्गा स्वर्णदी, भूत्वा इति शेषः। आविरस्तीव प्रादुर्भवतीव। नीलवर्णा अपि सामुद्रा ह्यापो गगनालोकसंस्पर्शादिव धवला दृश्यन्ते इति भावः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—छद्ममत्स्यवपुषः तव पुच्छास्फालनात् अब्धेः उद्धृतं जलम् गगनाङ्गणसङ्गात् श्वैत्यम् एत्य विबुधालयगङ्गा आविरस्ति इव।

हिन्दी—(वेदोद्धार के) व्याज से मत्स्यदेहधारी तुम्हारे (नारायण के) पूँछ-फटकारने से सागर का उछला जल आकाश के आँगन के संयोग से शुभ्रता प्राप्त कर जैसे सुर-निकेतन (स्वर्ग) की गंगा (स्वर्णदी मंदाकिनी) बनकर प्रकट है।

टिप्पणी—वेदोद्धार के निमित्त आविर्भूत नारायण के मीनावतार का वर्णन। धर्मसंस्थापन के निमित्त नारायण रूपविशेष में प्रकट होते ही हैं। सो वेदोद्धार के लिए उन्होंने मत्स्यावतार लिया। उस रूप में वे इतने शक्तिशाली थे कि उनके पुच्छास्फालन से उछला सागर का नीला जल शुभ्र आकाश में उड़ा और उसके संसर्ग से शुभ्र हो मंदाकिनी-रूप में वहीं स्थिर रह गया। वही मत्स्य-पुच्छास्फालन से जल इतना ऊपर चला गया कि पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की सीमा के बाहर चला गया और वहीं रह गया स्वर्गङ्गा के रूप में। भगवत्कृपा से मलिन, ससीम सागर-जल निर्मल हो असीम गगन में लीन हो गया, जैसे ससीम जीव ने निर्मल, शुद्ध हो निरुपाधि ब्रह्म को प्राप्त कर लिया ॥ ५३ ॥

भूरिसृष्टिधृतभूवलयानां पृष्ठसीमनि किणैरिव चक्रैः।
चुम्बिताऽवतु जगत् क्षितिरक्षाकर्मठस्य कमठस्तव मूर्तिः ॥ ५४ ॥

जीवातु—भूरीति। हे भगवन्? पृष्ठसीमनि पृष्ठप्रदेशे, भूरिषु प्रतिकल्पं भूतनसृष्टिकरणात् बह्वीषु सृष्टिषु सृजनकार्येषु, धृतानां पृष्ठदेशे एव उद्‌व्ढानाम्, भूवलयानां पृथ्वीमण्डलानाम्, किणैः पुनः पुनः वहनेन घर्षणजनितचिह्नविशेषैरिव, चक्रैः चक्राकारचिह्नराजिभिः, चुम्बिता स्थाने स्थाने स्पृष्टा, क्षितेः पृथिव्याः, रक्षायां पालने जलनिमज्जनात् रक्षणविषये इत्यर्थः। कर्मठस्य कुशलस्य। 'कर्मणि घटोऽठच्'। तव भवत्सम्बन्धिनी, कमठः कूर्मरूपिणी, मूर्तिः तनुः, जगत् भुवनम्, अवतु रक्षतु ॥ ५४ ॥

अन्वय—पृष्ठभीमनि भूरिसृष्टिघृनमूवलयानां किणैः इव चक्रैः चुम्बिता 'क्षितिरक्षाकर्मठस्य तव कमठ' मूर्तिः जगत् अवतु ।

हिन्दी—पीठ पर अनेक सृष्टियोंमें घारे गये भूमंडलो के घट्टो (घर्षण-चिह्नो) जैसे चक्राकार चिह्नो द्वारा चुम्बित (स्थान-स्थान पर छुई गयी) धरती की रक्षा मे कर्मण्य तेरी (श्रीविष्णु की) कच्छप मूर्ति जगत् की रक्षा करे।

टिप्पणी—नारायण के कच्छपावतार का स्तवन । कछुए की पीठ पर चक्र-तुल्य चिह्न होते हैं। कल्पना यह की गयी है कि ये चिह्न वे घट्टे बारबार पीठ पर पृथ्वी को धारण करने से बने हैं। प्रत्येक बार प्रलय होती है, नारायण कच्छप रूप बनाकर उसे पीठ पर धारते हैं। इससे सजात व्रण सूख कर घट्टे बन जाते हैं। निरंतर, प्रत्येक प्रलय में ऐसा होता है, नवसर्जना तक भगवान् पृष्ठभाग पर धरणी-भार ढोते रहते हैं। उनकी कर्तव्य-निष्ठा अडिग रहती है। अनंत महिमाशाली विष्णु जगत् के पालन में दृढ रहते हैं। पौराणिक मान्यता के अनुसार सप्तपातालांत मे शेष अपने फण पर पृथ्वी धारण करते हैं, उसके भी नीचे वलयरण रूप ब्रह्माण्डावरण में ब्रह्मांड के अधुःकटाह गार का धारण कूर्मराज के रूप मे श्रीनारायण करते हैं ॥ ५४ ॥

दिक्षु यत्खुरचतुष्टयमुद्रामभ्यवैमि चतुरोऽपि समुद्रान् ।
तस्य पोत्रिवपुषस्तव दंष्ट्रा तुष्टयेऽस्तु मम वास्तु जगत्याः ॥ ५५ ॥

जीवातु—दिक्ष्विति। हे विष्णो ! दिक्षु चतसृषु आशासु, चतुर चतु स-ङ्ख्यकान् अपि, समुद्रान् सागरान्, यस्य वराहमूर्तिधरस्य, खुराणां चतुष्टयस्य चतु सङ्ख्यकशफस्य, मुद्रा चिह्नम्, खुरेण विदलनजनितखातरूप-चिह्नमिति यावत्, अभ्यवैमि जानामि, तस्य उक्तविधस्य, पोत्री वराह एव। 'वराह शूकरो घृष्टि- कोल' पोत्री किर, किटि-' इत्यमर'। वपुः शरीरं यस्य तादृशस्य, तव भवन, जगत्याः पृथिव्या, वास्तु वेश्मस्थानम्, रसातलप्रदेशादुद्धृत्य दंष्ट्रोपरिस्थापनेन आवासभूता इत्यर्थ'। 'वेश्मभूर्वास्तुर-स्त्रियाम्' इत्यमर-। दंष्ट्रा विशालदन्त:, मम मे, तुष्टये वाञ्छापूरणजनित-प्रीतये, अस्तु भवतु ॥ ५५ ॥

अन्वयः—दिक्षु चतुरः अपि समुद्रान् यत्खुरचतुष्टयमुद्राम् अभ्यवैमि पोत्रिवपुषः तस्य तव जगत्याः वास्तु दंष्ट्रा मम तुष्टये अस्तु। (अथवा तव दंष्ट्रा मम तुष्टये जगत्याः वा (तुष्टये) अस्तु।)।

हिन्दी—(चारों) दिशाओं में चारों ही सागरों को मैं जिसके चारों खुरों के चिह्न (खुर पड़ने से बने गड्ढे) समझता हूँ, वराहतनधारी उस तेरी (विष्णु की) संसार का वास-स्थल (आधार) दंष्ट्रा (दाढ़) मेरे सन्तोष की निमित्त हो। (अथवा तेरी दंष्ट्रा मेरी तुष्टि की निमित्त हो अथवा जगत् की संतुष्टि की ही निमित्त हो।)।

टिप्पणी—वराहावतार की स्तुति। चतुर्दिक् के चतुःसमुद्रों की यहाँ महावाराह के चार खुरों से बने गर्तों के रूप में कल्पना कर उनकी महत्ता और विशालता प्रतिपादित की गयी है। वाराहावतार में नारायण ने जल में डूबी धरा का उद्धार किया था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भगवान् महावराहरूप का स्तवन किया है—'जलौघमग्ना सचराचरा धरा विषाणकोट्याखिलविश्वमूर्तिना। समुद्धृता येन वराहरूपिणा स मे स्वयम्भूर्भगवान् प्रसीदतु॥' वराहावतार की कथा अनेक पुराणों में है—दर्शनीय ब्रह्म० (२१३ अ०), विष्णु० ४ अ०) ॥ ५५ ॥

उद्धृतिस्खलदिलापरिरम्भाल्लोमभिर्बहिरितैर्बहुहृष्टैः।

ब्राह्ममण्डमभवद् वलिनीपं केलिकोल! तव तत्र न मातुः ॥ ५६ ॥

जीवातु—उद्धृतीति। केलिकोल! हे क्रीडावराह! लीलाप्रदर्शनार्थं वराहरूपधारिन्! तत्र ब्रह्माण्डे, न मातुः अवकाशम् अलभमानस्य, अतिविपुलदेहत्वेति भावः। मा—धातोस्तृचि षष्ठ्येकवचनरूपम्। तव भवतः, उद्धृतौ जलाद् उद्धरणसमये, स्खलन्त्याः दन्तात् पतन्त्याः, इलायाः पृथिव्याः, परिरम्भात् सयत्नधारणात् आलिङ्गनाच्च हेतोः, बहु अत्यर्थं यथा भवति तथा, हृष्टैः विकसितैः, पुलकितैरित्यर्थः। उद्गतैरिति यावत्, बहिर्ब्रह्माण्डस्य बहिःप्रदेशे, इतैः गतैः, लोमभिः तनुरुहैः साधनैः, ब्राह्मम् अण्डं ब्रह्माण्डम्, वलिनीपं तव पूजार्थं कदम्बकुसुमम्, इवेति शेषः, अभवत् अजायत।

अन्वयः—केलिकोल, तत्र न मातुः तव उद्धृतिस्खलदिलापरिरम्भात्, बहुहृष्टैः बहिरितैः लोमभिः ब्राह्मम् अण्डं वलिनीपम् अभवत्।

हिन्दी—हे क्रीडावराहे (क्रीडामात्र में वराहमूर्ति धारण कर्ता विष्णु) वहाँ (ब्रह्माण्ड में) न समाते तेरे (वराहावतार नारायण के) उद्धार करते समय (दंष्ट्रा से) फिसलती पृथ्वी के सप्रयत्न धारण (आलिंगन) से अत्यन्त पुलकित, (ब्रह्माण्ड से) बाहर निकले रोमों के कारण ब्रह्मांड (तुम्हारी) आराधना का कदंब पुष्प हो गया।

टिप्पणी—वराहावतार श्रीनारायण का स्तवन करके राजा नल ने दैत्यराज हिरण्याक्ष का वध कर पाताल से उद्धृत पृथ्वी को दंष्ट्रा से फिसल कर गिर जाने की आशंका से कस कर दबाये गये नारायण को एक ऐसे नायक के रूप में चित्रित किया है जो प्रिया के शरीर को कस कर आलिंगित किये हैं। वराहरूप विष्णु प्रिय हैं और पृथ्वी उनकी प्रिया। उनका शरीर इतना विशाल है कि वह ब्रह्मांड में समा नहीं रहा था और रोम बाहर निकल आये थे। प्रिया को आलिंगन में बाँधे प्रिय का यह सात्त्विक रोमांच है कि रोम पूजा में चढ़े कदंब-पुष्प सदृश लग रहे थे॥ ५६॥

दानवौघगहनप्रभवस्त्वं सिंह! मामव रवैर्घनघोरैः।

वैरिदारिदिविषत्सुकृतास्त्रग्रामसम्भवभवन्मनुजार्द्धः॥ ५७॥

जीवातु—दानवेति। सिंह! हे नृसिंहमूर्तिधर! विष्णो!, दानवानां दनुजानाम्, ओघः समूहः एव, बहुदानवाधिपतिहिरण्यकशिपुसभा एवेति भावः। गहनं वनम्, हिंस्रप्रकृतिदानवौघाधिष्ठिततयेन दुष्प्रवेशत्वादिति भावः। तत्र प्रभवः उत्पत्तिः यस्य सः तादृशः, अनेन सिंहाकारधारणस्य औचित्यं प्रकटितम्, सिंहस्य वनसम्भवत्वादिति भावः। तथा वैरिणः शत्रून् दानवान्, दारयन्ति नाशयन्तीति तादृशानि, यानि दिविषत्सुकृतानि देवानां पुण्यानि, तान्येव अस्त्राणि आयुधानि, तेषां ग्रामः समूह एव ग्रामः संवसथः, स्वल्पसंख्यकमनुष्यवसतिस्थानमित्यर्थः। तस्मात् सम्भवः उत्पत्तिः यस्य सः तादृशः, भवन् जायमानः, प्रकटपन्नित्यर्थः। मनुजः मनुष्यः एव, नराकार एव इत्यर्थः। अर्द्धः अर्धः कायः यस्य स तादृशः, एतेन देवोपकारित्वोत्पत्तेरौचित्यं प्रदर्शितम्, नरस्य ग्रामसम्भवत्वादिति भावः, त्वं भवान्, घनैः अनवरतैः, घोरैः भयङ्करैश्च, रवैः ध्वनिभिः, गर्जनैरिति यावत्, मां नलम्, अव रक्ष॥ ५७॥

अन्वयः—सिंह, दानवौघगहनप्रभवः वैरिदारिदिविषत्सुकृतासुग्रामसंम्भव-भवन्मनुजार्द्धः त्वं घनघोरैः रवैः माम् अव।

हिन्दी—हे नृसिंहमूर्त्ते (नारायण), दानव-समूह-रूप-गहन अर्थात् वन में उत्पन्न (अथवा दानव-समूह के गहन अर्थात् मरण-संकट के निमित्त जन्म लेने वाले, शत्रु (दानवों) के विदारक स्वर्ग-निवासी देवों-मुनियों के पुण्य-रूप आयुध-समूह से उत्पन्न अर्द्धमनुज-रूप धारी तुम (नृसिंह) गंभीर (भीषण) घोर शब्दों (सिंहनादों) द्वारा मेरी (नल की) रक्षा करो।

टिप्पणी—नृसिंहावतार से स्वरक्षा की प्रार्थना। नृसिंह, अर्थात्, आधा मनुष्य, आधा सिंह। मानवार्ध की उत्पत्ति के कारण हैं देवों-मुनियों के पुण्य-समूह और सिंहार्ध-देह की उत्पत्ति के हेतु हैं दानवों के पाप अथवा नारायण के स्व-तेज। सिंह का जन्म क्योंकि वन में होता है, अतः 'दानवौघ-गहनप्रभव' अर्थात् दानवौघ रूप वन में उत्पन्न होने वाला नृसिंह का उचित विशेषण है। नृसिंहावतार में हिरण्यकशिपु का वध कर उसके भक्त पुत्र प्रह्लाद की नारायण ने रक्षा की थी और उस रूप में विजय स्वरूप सिंहनाद किया था, उन्हीं 'घोर रवों' द्वारा नल स्वरक्षा के लिए प्रार्थी हुए। नृसिंह कथा के लिए दर्शनीय ब्रह्म० २१३।६६-८० तथा विष्णु०१६-२० अध्याय। नृसिंह के स्तंभ से प्रकट होने की कथा लोककथा मात्र है, पुराण-सम्मत नहीं ॥ ५७ ॥

दैत्यभर्त्तुरुदरान्धुनिविष्टां शक्रसम्पदमिवोद्धरतस्ते।
पातु पाणिसृणिपञ्चकमस्मांश्छिन्नरज्जुनिभलग्नतदन्त्रम् ॥ ५८ ॥

जीवातु—दैत्येति। हे नरसिंह! दैत्यभर्त्तुः हिरण्यकशिपोः, उदरमेव जठरमेव, अन्धुः कूपः। 'पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूपः' इत्यमरः। 'अजिरशिक-म्यभि-' इत्यादिना औणादिकः कुप्रत्ययः धुगागमश्च। तस्मिन् निविष्टां मग्नत्वेन स्थिताम्, शक्रसम्पदम् इन्द्रैश्वर्यम्, उद्धरतः उत्तोलयत इव, ते तव, छिन्नरज्जुनिभानि खण्डितदामसदृशानि, लग्नानि संसक्तानि, पाणिसृणिपञ्चके एव इति भावः। तस्य दैत्यभर्त्तुः, अन्त्राणि पुरीतदाख्यनाडीविशेषाः यत्र तादृशम्। 'अन्त्रं पुरीतत्' इत्यमरः। पाणेः करस्य, सृणीनां तीक्ष्णनखरूपा-

णाम् अङ्कुशानाम्, पञ्चक पञ्चसङ्ख्या, अस्मान् मत्प्रभृतीन्, पातु रक्षतु, कूपे हि पतितान्युदञ्चनादीन्यङ्कुशाकारेण रज्जुवेष्टितेन लोहयन्त्रविशेषेण उद्ध्रियन्ते यथा तद्वदिति भाव. ॥ ५८ ॥

अन्वयः—दैत्यभर्तुः उदरान्धुनिविष्टा शक्रसम्पदम् उद्धरत. इव ते छिन्नरज्जुनिभलग्नतदन्त्र पाणिसृणिपञ्चकम् अस्मान् पातु ।

हिन्दी—दैत्यो के स्वामी (हिरण्यकशिपु) के उदर-रूप कूप में पड़ी इन्द्र की सपदा का जैसे उद्धार करते तुम्हारे (नृसिंह)-जिनमें टूटी रस्सी के तुल्य उस (दैत्यराज) की अतड़ियाँ सलग्न (फसी) हुई हैं, ऐस, हाथ के तीक्ष्ण नख रूप पाँच अङ्कुश (रस्सी-फँसान के काँटे) हमारी रक्षा करें।

टिप्पणी—यहाँ नृसिंहावतार नारायण के हाथ के पाँचो नखो को रक्षक रूप में स्वीकार कर शत्रुओ से रक्षा पाने की प्रार्थना की गयी है। नृसिंह ने हिरण्यकशिपु का पेट फाड़कर उसकी अंतड़ियाँ बाहर खीच दी थीं। इन आँतें खींचने वाले हाथ क नखो को यहाँ कूप मे गिर पडे पात्रादि को फाँसकर निकाल देने वाली कटिया के रूप म माना गया है, जिनके द्वारा दैत्यराज के उदर रूप कूप से इन्द्र की सपत्तिरूप वस्तु में निबद्ध रज्जुरूपा- (टूटी-रस्सी-सदृश) आँते बाहर निकाल ली गयी हैं। नृसिंह का हाथ इस रस्सी के समान है, जिसमे नख-रूप कटिया युक्त है, उसे उदर कूप में डाल इन्द्र-सपदा के पात्र म निबद्ध रज्जु-सी आँतें बाहर निकाल कर सपदा का उद्धार किया गया ॥ ५८ ॥

स्वेन पूर्यत इय सकलाशा भो ! बले ! न मम किं भवतेति ? ।
त्वं वटुः कपटवाचि पटीयान् देहि वामन ! मन प्रमदं नः ॥ ५९ ॥

जीवातु—वेनति। भो. ! बले! हे बलिनामदैत्याधिप ! भवता त्वया, इयम् एषा, सकलाना सर्वेषामेव लोकानाम्, आशा मनोरथ:, स्वेन धनेन धनवितरणेनत्यर्थ·। पूर्यते परिपूर्णीक्रियते, मम मे, किं न ? आशा पूर्यते इति पूर्वेणान्वयः। अपि तु पूर्यते एव। अन्यच्च—भो राजन् ! भवता इय सकला सर्वा, आशा दिक्। 'आशा तृष्णादिशो. प्रोक्ता' इति विश्व.। स्वेन आत्मीयेन बलेन सामर्थ्येन, पूर्यते व्याप्यते, मम मे, आशा दिक्, किं पूर्यते ? अपि तु

नैवेत्यर्थः । मम वैकुण्ठलोकव्यापने तव सामर्थ्याभावादिति भावः । यद्वा—मम किम् ? तावता मे किं प्रयोजनम् ? मया ते त्रिपादभूमिरेव याच्यते, नाधिकेन अस्ति मे प्रयोजनम्, अतस्ते सर्वदिगधिकारे मम लाभक्षती न स्त इति भावः। वामन ! हे वामनरूपधर विष्णो ! एत्थेवंरूपायाम्, कपटवाचि छद्मवचने, भगवतः आशाया एवाभावात् तादृशप्रार्थनायाः कपटत्वमिति बोध्यम् । पटीयान् कुशलो, माणवकः, तरुणब्रह्मचारीत्यर्थः । एवं भवान्, नः अस्माकम्, मनसः चेतसः, प्रमदं हर्षम्, अभीष्टसाधनादिना इति भावः। देहि कुरु ॥ ५९ ॥

अन्वयः—'भोः बले, भवता इयं सकलाशा स्वेन पूर्यते, किं मम न ?'—इति कपटवाचि पटीयान् बटुः वामन, त्वं नः मनः प्रमदं देहि ।

हिन्दी—'हे, बलिराज, आप यह सब की आकांक्षा अपने (धनादि) से पूर्ण करते हैं क्या मेरी नहीं करेंगे ?'—अथवा 'मुझे आपकी इस दानशीलता से कोई प्रयोजन नहीं, (मुझ भिक्षुक को तो तीन पग मात्र भूमि चाहिए)'—अथवा 'आप समस्त दिशाएँ अपने (बल) से पूर देते हैं, तथापि मुझे इससे कोई प्रयोजन नहीं, (मेरी तो कला अर्थात् लेशमात्र-छोटी-सी आशा है ।)' अथवा—'आप अपने बल से समस्त दिशाओं को पूर्ण करते हैं, परन्तु मुझ वैकुण्ठव्यापी की नहीं ।' अथवा 'मम स्वेन अर्थात् मेरे सामर्थ्य से समस्त दिशाएँ पूर्ण हो जाएँगी, आप क्या कर सकेंगे ?' अथवा—'सबकी आशाएँ आप अपने बल से पूर्ण कर देते हैं, परतु मेरी नहीं कर सकेंगे क्या ? (उसे आप स्वदेह से पूर्ण करेंगे) ।'—इस प्रकार छद्म-वचनों में कुशल तरुण-ब्रह्मचारी वामनावतार (नारायण) आप हमारे चित्त को हर्ष-प्रदान करें ।

टिप्पणी—पुराण-कथानुसार नारायण ने वामन रूप बना कर दैत्यराज की दानशीलता की परीक्षा ली थी, जिसमें उन्होंने तीन पैर धरती माँगी थी । उन्होंने दो डग में स्वर्ग और धरती नाप ली, तीसरे पैर के लिए बलि ने स्वदेहार्पण कर अपनी दानशीलता का परिचय दिया था । जिस प्रकार वामन रूप धारी नारायण ने बलि को छला, वह उनकी कपटवाक्पटुता का परिचायक था । इस श्लोक में अनेकार्थवाची वाक्य-द्वारा उसी पटुता का

का परिचय कराया गया, है और वामनावतार से चित्त-प्रसाद की विनय की गयी है ॥ ५९ ॥

दानवारिरसिकाय विभूतेर्वश्मि तेऽस्मि सुतरा प्रतिपत्तिम् ।
इत्युदग्रपुलके बलिनोक्तं त्वां नमामि कृतवामनमायम् ॥ ६० ॥

जीवातु—दानवारीति । हे वामन ! अस्मि अहम्, अस्मीत्यतदव्ययमहमर्थे । दानस्य त्यागस्य, वारिण: जलस्य, दानार्थकसङ्कल्पसलिलस्येत्यर्थः । रसिकाय अनुरागिणे, प्रतिग्रहवाञ्छकाय इत्यर्थः । ते तुभ्यम विभूते सम्पत्ते, ममेति शेष । सुतराम् अत्यर्थम्, प्रतिपत्तिं दानम्, वश्मि कामये । वश कान्ताविरस्य लड्उत्तमपुरुषैकवचनम् । अन्यच्च—हे वामन ! हे दानवानाम् असुराणाम्, अरिः शत्रु साक्षात् विष्णु, असि भवसि, अत एव अस्मि अहम्, ते तव, कायविभूतेः शरीरसम्पत्ते., गृहीतत्रिविक्रममूर्त्तेरिति भाव । सुतराम् अत्यर्थम्, प्रतिपत्तिं ज्ञानम्, तव स्वरूपज्ञानेच्छाम्, दर्शनप्राप्तिं वा इत्यर्थ । वश्मि कामये । इत्यनेन प्रकारेण, उदग्राः उत्कटाः, सम्पाविदारणात् अत्यर्थमुद्गता इत्यर्थ । पुलका रोमाञ्चा यस्मिन् तद् यथा भवति तथा, बलिना दानवेन्द्रेण, उक्त कथितम्, कृता विहिता, वामनरूपा वामनाकारधारणात्मिका, माया छल येन त तादृशम्, त्वा भवन्तम्, नमामि नतोऽस्मि ।

अन्वयः—'अस्मि दानवारिरसिकाय ते विभूतेः सुतरां प्रतिपत्तिं वश्मि—इति बलिना उदग्रपुलकम् उक्त कृतवामनमायं त्वां नमामि ।

हिन्दी—'मैं (बलि) दान-जल के अनुरागी (दान ग्रहणेच्छुक) तुम्हें (वामन को) प्रचुर सम्पत्ति दान करना चाहता हूँ'—अथवा अर्थात् 'दानवारिः असि, अस्मि ते कायविभूतेः सुतरां प्रतिपत्तिं वश्मि —' 'तुम (नारायण) दानवों के शत्रु हो, मैं तुम्हारे (वामन के) शरीर-वैभव का पूर्ण ज्ञान चाहता हूँ'—इस प्रकार बलि द्वारा पुलकित रोमांच-युक्त कहे गये वामनाकारधारी तुम्हारा मैं नमन करता हूँ ।

टिप्पणी—बलि ने वामन द्वारा याचित होने पर पुलकित हो दानग्रहणेच्छु नारायण को सम्पूर्ण सम्पदा दान कर देने की घोषणा के साथ, यह भी उन्हीं शब्दों-द्वारा व्यक्त कर दिया कि वह वामनरूपधारी नारायण

को जान गया है और प्रत्यक्ष करना चाहता है कि यह वामन कितना विराट् हो सकता है? वलि के इन वचनों को सुनते वामनावतार नारायण के प्रति प्रणति-निवेदन यहाँ है ॥ ६० ॥

भोगिभिः क्षितितले दिवि वासं बन्धमेष्यसि चिरं भ्रियमाणः ।
पाणिरेष भुवनं वितरेति छद्मवाग्भिरव वामन! विश्वम् ॥ ६१ ॥

जीवातु—भोगिभिरिति । हे वले! क्षितितले भूलोके, दिवि स्वर्गे वा, चिरं बहुकालं, व्याप्य, ध्रियमाणः अवतिष्ठमानः । धृङ् अवस्थाने इत्यस्य रूपम् । त्वमिति शेषः । भोगं सुखमेषामस्तीति तादृशैः भोगिभिः सुखिभिः, जनैरिति शेषः । सह सार्द्धम्, वासम् अवस्थानम्, तथा बन्धं सख्यबन्धनञ्च, एष्यसि प्राप्स्यसि, मम करे दानवारिप्रदानादिति भावः । अत एव एषः अयम् । पाणिः हस्तः, मया प्रसारित इति शेषः । भुवनं जलम्, दानवारीति यावत् । वितर देहि, अत्र पाणौ इति शेषः । अन्यच्च—हे वले! दिवि स्वर्गे, स्वर्गतुल्यपरमरमणीये इत्यर्थः । क्षितितले रसातले, चिरं दीर्घकालं व्याप्य, ध्रियमाणः अवतिष्ठमानः, त्वमिति शेषः, भोगिभिः सर्पैः सह, वासम् अवस्थितिम्, बन्धं, बन्धनञ्च, एष्यसि प्राप्स्यसि, एषः पाणिः, मया प्रसारितः इतिशेषः, भुवनं लोकम्, इन्द्रात् बलपूर्वकं गृहीतम् अत एव तस्यैव भाव्यमिति भावः । 'भुवनं विष्टपे तोये' इत्यजयपालः । वितर समर्पय, हे वामन! इत्यनेन प्रकारेण, छद्मवाग्भिः कपटवचनैः, विश्वं जगत्, अव रक्ष ॥ ६१ ॥

अन्वयः—क्षितितले दिवि चिरं ध्रियमाणः भोगिभिः वासं बन्धम् एष्यसि, एषः पाणिः, भुवनं वितर—वामन, इति छद्मवाग्भिः विश्वम् अव ।

हिन्दी—'भूतल और आकाश में बहुत समय तक अवस्थित तुम (वलि) सुखी बंधु-बांधवों और इष्टमित्रों के साथ आवास करोगे और मैत्री प्राप्त करोगे' अथवा—क्षितितल अर्थात् भू के नीचे पाताल में सर्पों के बंधन में चिरकाल तक बँधे हुए निवास करोगे और कष्ट पाओगे।' अथवा 'जैसे स्वर्ग में सुखपूर्वक भोग प्राप्त करते हो, वैसे ही पाताल में सर्पों के बंधन में कष्ट प्राप्त करोगे।' अथवा 'अदिति क्षितितले अर्थात् स्वर्गभिन्न पाताल में सर्पों के बंधन में वास करोगे'—'यह हाथ (वामन का हस्त) है, दान-

जल छोड़ो'—अथवा 'यह (सुदर्शन चक्रधारी) हाथ है' (इन्द्र का) भुवन (लोक) लौटा दो।'—इस प्रकार के छद्म वचनों से हे वामन, विश्व की रक्षा करो।

टिप्पणी—इसमें भी द्व्यर्थक वचन हैं, जिनमें बलि के प्रति आशीर्वचन भी है और धमकी भी। बलि यदि इन्द्र से छीनी गयी त्रिलोकी उसे लौटा दे, तो उसका कल्याण है, अन्यथा कष्ट भोगना होगा। दानग्रहणार्थ फैला हाथ बलि विनाशक बन जायेगा॥ ६१॥

आशयस्य विवृतिः क्रियते किम् ? दित्सुरस्मि हि भवच्चरणेभ्यः।
विश्वमित्यभिहितो बलिनाऽस्मान् वामन ! प्रणतपावन ! पायाः॥६२॥

जीवातु—आशयस्येति। हे वामन ! आशयस्य अभिप्रायस्य, प्रतिग्रहाभिलाषस्येत्यर्थः। 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः। विवृतिः विवरणम्, प्रकाश इत्यर्थः। किं किमर्थम्, क्रियते ? विधीयते ? हि यत, भवच्चरणेभ्य इति पूज्यताऽतिशयद्योतनपरम्, भवच्चरणेभ्य पूज्यतमाय भवते इत्यर्थः। विश्व सर्वा एव सम्पद इत्यर्थः। दित्सु स्वयमेव दातुमिच्छुः, अस्मि भवामि। अन्यच्च—हे वामन ! शयस्य हस्तस्य, आ सम्यक्, विवृतिः प्रसारणमित्यर्थः। किं कथम्, क्रियते ? विधीयते ? त्वयेति शेषः। दानग्रहणार्थमिति भावः। हि यत, भवतः तव, चरणेभ्यः विश्व एव पादेभ्यः, न तु पाणौ इति भावः। विश्वं जगत्, दित्सु अस्मि, प्रणतानां पावन ! हे भक्तजनचित्तशोधक ! वामन ! इत्यनेन प्रकारेण बलिना दानवेन्द्रेण, अभिहितः उक्तः त्वमिति शेषः। अस्मान् नलादीन्, पायाः रक्षेः। 'पा रक्षणे' इत्यस्य लिङि मध्यमपुरुषैकवचनम्॥ ६२॥

अन्वयः—प्रणतपावन वामन, आशयस्य विवृतिः किं क्रियते, हि भवच्चरणेभ्यः विश्वं दित्सुः अस्मि—इति बलिना अभिहितः अस्मान् पायाः।

हिन्दी—'प्रणतों (भक्तों) को पवित्र करने वाले वामनावतार नारायण, आप अपना अभिप्राय (दानग्रहणेच्छा) क्यों प्रकट कर रहे हैं, मैं तो आपके चरणों में सर्वस्व समर्पण करना चाहता हूँ—अथवा 'शय (हाथ) को अधिक क्यों विस्तृत कर रहे हैं, मैं तो आपके चरणों द्वारा ही समस्त देने को

इच्छुक हूँ। (आपके चरण ही सब कुछ नाप लेंगे, हाथ बढ़ाने की क्या आवश्यकता)'—अथवा 'पाय' (हाथ) न फैलाइए, मैं तो ऐसे ही चरणों में सर्वस्व देने को उत्सुक हूँ—'इस प्रकार बलिराज से कहे जाते आप हमारी रक्षा करें।

टिप्पणी—दैत्यराज बलि की दानशीलता, भक्ति और विनय का यहाँ स्पष्टीकरण है। सब कुछ जान-बूझ, समझ कर भी वह भगवान् को याचक रूप में पा सर्वस्व देने की इच्छा कर रहा है। उसका निवेदन है कि विश्व-वंद्य भगवान् उसके आगे हाथ फैलाकर उसे लज्जित न करें ॥ ६२ ॥

क्षत्रजातिरुदियाय भुजाभ्यां या तवैव भुवनं सृजतः प्राक्।
जामदग्न्यवपुषस्तव तस्यास्तौ लयार्थमुचितौ विजयेताम् ॥ ६३ ॥

जीवातु—क्षत्रेति। हे विष्णो ! प्राक् पुरा, भुवनं जगत्, सृजतः सृष्टिं कुर्वतः, तव भवत एव, भुजाभ्यां दोर्भ्यां सकाशात्, या क्षत्रजातिः क्षत्रियसमूहः, उदियाय उद्भूता, 'बाहू राजन्यः कृतः' इति श्रुतेः, तस्याः क्षत्रजातेः, लयार्थं विनाशार्थम्, उचितौ योग्यौ, 'नाशः कारणलयः' इति साङ्ख्यादिसिद्धान्तात् कार्यं हि कारणे एव लीनं भवतीति सर्वत्र दर्शनाच्च कार्यभूतां क्षत्रजातिं प्रति तव भुजयोरेव कारणत्वात् क्षत्रजातेस्तव भुजयोरेव लीनस्वस्यौचित्यादिति भावः। जामदग्न्यः परशुरामः, वपुः शरीरं यस्य तस्य परशुरामदेहधारिणः, तव ते, तौ भुजौ, विजयेतां सर्वोत्कर्षेण वर्त्तेताम्। विपराभ्यां जेस्तङादेशः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—प्राक् भुवनं सृजतः तव एव भुजाभ्यां या क्षत्रजातिः उदयाय, तस्याः लयार्थम् उचितौ जामदग्न्यवपुषः तव तौ विजयेताम्।

हिन्दी—पहिले (सृष्टि के आदि में) जगत् की सर्जना करते तुम्हारे (नारायण के) बाहुओं से जो क्षत्रिय जाति उत्पन्न हुई थी, उसी (क्षत्रिय जाति) के विनाशार्थ उपयुक्त जमदग्निपुत्र (परशुराम)-देहधारी तुम्हारे वे (सृष्टि-लय कारक बाहु) जयी हों।

टिप्पणी—तीन श्लोकों (६३-६५) में भगवान् के परशुरामावतार का वर्णन है। यहाँ उनके भुज-युगल की वंदना की गयी है। श्रुतिवचन है कि

प्रजापति (नारायण) का मुख ब्राह्मण हुआ, भुजाएँ क्षत्रिय, जाँघें वैश्य; पैरों से शूद्र जन्मा–'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।' (ऋक्-पुरुषसूक्त १२)। 'न मुखतस्त्रिवृत निरमिमीत।' (तै० सं० ७।१।१।४)। इस दृष्टि से क्षत्रिय-जाति की सृष्टि का कारण नारायण की भुजाएँ हैं। परशुरामावतार में दुरभिमान राजन्यों को उन्हीं कारणभूत भुजाओं से नारायण ने नष्ट किया था। सांख्यसिद्धांत के अनुसार नाश कारण में लय होना है। अतएव यह उचित ही है कि कारण भुजाओं में कार्य क्षत्रियजाति.का लय हुआ। 'महाभारत' में भी कहा गया है कि अपनी-अपनी उत्पत्ति के कारण में सभी का शमन होता है–'अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्। एषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति॥' इस प्रकार भी भुजाओं में क्षत्रियजाति के लय का औचित्य प्रतिपादित होता है। जाति को नित्य भी माना जाता है, इस मान्यता के अनुसार उत्पत्ति-विनाश असंगत ठहरते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में यहाँ उदय-लय का तात्पर्य 'आविर्भाव-तिरोभाव' मान कर औचित्य उपयुक्त प्रमाणित हो जाता है। परशुराम-कथा के विषय 'महाभारत' (शांतिपर्वांतर्गत राजधर्मानुशासन पर्व के ४८–४९ अध्याय) द्रष्टव्य है॥६३॥

> पांसुला बहुपतिर्नियतं या वेधसाऽरचि रुषा नवखण्डा।
> तां भुवं कृतवतो द्विजभुक्तां युक्तकारितरता तव जीयात्॥ ६४॥

जीवातु—पांसुलेति। हे जामदग्न्य! विष्णो! पांसुला रजोयुक्ता, स्वैरिणी च। 'सिध्मादिभ्यश्च' इति मत्वर्थीयो लच्। 'स्वैरिणी पांसुला समा' इत्यमरः। बहवः अनेके, पतयः स्वामिनः यस्याः सा बहुपतिश्च अनेकाधिपतिका, अनेकोपपतिका च, या भूः, वेधसा ब्रह्मणा, नियतं निश्चितमेव, रुषा कोपेन हेतुना, नव नवसङ्ख्यकानि, खण्डानि अथवा, भारतादीनि वर्षाणीत्यर्थः। यस्याः सा, नव नवभागेन विभक्तानि; खण्डानि छेदनेन शकलीकृतानि अङ्गानि यस्याः सा तादृशी च, अरचि रचिता, भारतादिवर्षभेदेन नवधा विभक्तीकृता छेदनेन नवधा विभक्तीकृता चेत्यर्थः। तां पूर्वोक्तरूपाम्, भुवं पृथिवीम्, काञ्चित् स्त्रियञ्च, द्विजैः कश्यपादिभिः ब्राह्मणैः,

मांसाशिभिः पक्षिभिश्च। 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः। भुक्तां प्रतिग्राहणेन भोगविषयीकृतां खादितांश्च, कृतवतः विहितवतः, ते तव, युक्तकारिषु उचितकर्मकर्तृषु प्रकृष्ट इति युक्तकारितरः, तस्य भावस्तत्ता युक्तकारितरता अतिशयेन विहिता जीयात् जयतु। निखिलक्षत्रियविनाशनेन अधिकृतायाः भूमेः ब्राह्मणसात्करणस्यैव औचित्याद् बहुजारभुक्तायाः हि स्त्रिया भर्त्रा खण्डशः कृत्वा पक्षिभिः खादनाया औचित्याच्चेति भावः ॥ ६४ ॥

अन्वय.—पांसुला बहुपतिः या वेधसा नियतं रुषा नवखण्डा अरचि तां भुवं द्विजभुक्तां कृतवतः तव युक्तिकारितरता जीयात्।

हिन्दी—स्वेच्छाविहारिणी और अनेक पतियों (जारों) वाली नारी के सदृश जिस धूलिवहुला और बहुत से मन्वादि स्वामियों से परिपालित जिस (पृथ्वी) को विधाता ने निश्चयतः (मानो) रोष से नौ भागों में काट कर भारत आदि नवखंडों में बाँट कर रखा था, उस (स्वैरिणी-समा) पृथ्वी को मांसाशी पक्षियों से खादित बना देने के तुल्य ब्राह्मणों से भुक्त बना देने वाले तुम्हारी (परशुराम देहधारी नारायण की) अत्यधिक उपयुक्त कार्य करने की शील-स्वभावता जयिनी हो।

टिप्पणी—क्षीरस्वामी के अनुसार भूखंड ये हैं—भारत, किंपुरुष, हरिवर्ष (दक्षिण में), रम्य, हिरण्मय, कुरु (हिमालय के उत्तर में), भद्राश्व, केतुमाल (पूर्व पश्चिम में) और इलावृत्त (मध्य में)—'स्याद् भारतं किम्पुरुषं हरिवर्षं च दक्षिणाः। रम्यं हिरण्मयकुरू हिमाद्रेरुत्तरास्त्रयः॥ भद्राश्वकेतुमालौ तु द्वौ वर्षौ पूर्वपश्चिमौ। इलावृत्तं तु मध्यस्थं सुमेरुर्यत्र तिष्ठति॥' ब्रह्मपुराण (१८।१८-२०) में भी यही कहा गया है किंतु मेरु के दक्षिण में वहाँ चार वर्षों का कथन है—भारत, किंपुरुष, हरिवर्ष और अन्यवर्ष—'भारतं प्रथमं वर्षं ततः किम्पुरुषं स्मृतम्। हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विजाः॥' (१८।१८)। शेष हैं—रम्यक, हिरण्मय, उत्तरकुरुवर्ष और इलावृत्त। भद्राश्व और केतुमाल नहीं है। इस प्रकार गणना में आठ खंड आते हैं। विष्णुपुराण (२।२ तथा २।३) में भूखंड को सात जम्बूद्वीपादि भागों में बाँट कर पुनः जम्बूद्वीप के नौ खंड किये गये हैं—इंद्रद्वीप

कसेरु, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गंधर्व, वारुण और समुद्र से घिरा नवम द्वीप भारत, किन्तु वहाँ इन्हें भारतवर्ष के नवभेद कहा गया है—'भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान्निशामय।' (२।३।६) किन्तु आगे (२।३।७) इसे ही नवम द्वीप कहा गया है—'अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।' ब्रह्म० (१९।६–७) में भी यही स्थिति है, केवल 'कसेरु' के स्थान में 'कसेरुमान्' है। इस नवखण्डा भू को इस श्लोक में अनेकार्थ शब्दों के प्रयोग द्वारा एक स्वैरिणी नारी के तुल्य कहा गया है, जिसे उसके बहुपतित्व के कारण नौ भागों में काटकर दण्ड दिया गया। 'पांशुला' (स्वैरिणी, सधूलि), 'बहुपति' (अनेक जारों वाली, अनेक पालिता) तथा 'द्विजभुक्ता' (पक्षिखादिता, ब्राह्मणभोग्या) शब्द द्वयर्थक हैं। इसी पांशुला, नवखण्डा भू को परशुराम ने 'द्विजभुक्ता' बना दिया। नौ टुकड़ों में काटी हुई स्वैरिणी को बहुपतित्व के अपराध में मांसभक्षी पक्षियों का भोज्य बना देने के समान धूलिभरी, मन्वादिपालिता भू को ब्राह्मणभोग्या बना कर। 'महाभारत' (शांति० राजधर्म० —१०) के अनुसार—'त्रिसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा।' यह परशुरामावतार नारायण के औचित्यकारित्व का सटीक प्रमाण है कि उन्होंने स्वैरिणी के सजे को मांसभक्षी पक्षियों को खिला दिया। धरती को ब्राह्मणों में बाँट दिया॥ ६४॥

कार्तवीर्यभिदरेण दशास्ये रैणुकेय! भवता सुखनाश्ये।
कालभेदविरहादसमाधिं नौमि रामपुनरुक्तिमहं ते॥ ६५॥

जीवातु—कार्तवीर्येति। हे रैणुकेय! रेणुकापत्य! परशुराम! 'स्त्रीभ्यो ढक्'। कार्तवीर्यस्य कार्तवीर्यार्जुनस्य भिदुरेण नाशकेन। भिदे कर्तरि कुरच्। भवता त्वया, दशास्ये रावणेऽपि, सुखम् अनायासं यथा भवति तथा, नाश्ये हन्तव्ये सति, रावणं जितवतः कार्तवीर्यस्य च जेता तस्य रावणनाशे आयासाभावादिति भाव। कालभेदस्य युगरूपस्य समयान्तरस्य, विरहात् अभावात्, एकस्मिन्नेव त्रेतायुगे उभयोरेवावतीर्णत्वात् इति भाव। असमाधिं सिद्धान्तहीनाम्, ते तव, रामेण दाशरथिना, पुनरुक्तिं रामनाम्नः पुनः कथनम्, अहं नलः, नौमि स्तौमि। द्विरुक्तेः कालभेदात् कार्यभेदाद्वा परिहारो भवितुमर्हति,

अत्र तु एकस्यामेव त्रेतायां दशास्यवधादिरूपस्य कार्यस्य एकेनैव कर्तुं शक्यत्वेऽपि पुनः दाशरथिरामरूपेणावतीर्णत्वात् तेन सह तव अशक्यपरिहारा पुनरुक्तिर्जाता, तादृशीम् अतर्क्यरूपां महीयसीं रामरूपां पुनरुक्तिमहं नौमीत्यर्थः। रेणुकापत्यत्वात् मात्रंशे एकस्यामेव क्षत्रियजातौ समुद्भूतेन एकस्मिन्नेव त्रेतायुगे अवतीर्णेन कार्त्तवीर्यविजयिपरशुरामावतारेणैव कार्त्तवीर्यजितस्य रावणस्य वधे सुकरेऽपि पुनः तदर्थं रामावतारग्रहणस्य आनर्थक्यात् पुनरुक्तिमिव प्रतिभाति, अस्याश्च निरसनाय सदुत्तरं नास्तीति भावः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—रैणुकेय, कार्त्तवीर्यभिदुरेण भवता दशास्ये सुखनाश्ये कालभेदविरहात् असमाधि ते रामपुनरुक्तिम् अहं नौमि।

हिन्दी—हे रेणुका (माता) के पुत्र (परशुराम) कृतवीर्यपुत्र (सहस्रार्जुन) का नाश करनेवाले आप के द्वारा दशमुख रावण का अनायास नाश संभव होने पर भी काल में अन्तर न होने के कारण जिसका कोई परिहार नहीं है, तुम्हारी ऐसी राम-रूप में पुनरुक्ति (एक ही समय परशुराम-राम इन दो रूपों में स्थिति) को मैं (नल) नमन करता हूँ।

टिप्पणी—परशुराम ने कृतवीर्य के पुत्र सहस्रार्जुन को मारा था—'नारायणांशेन परशुरामेणोपसंहृतः।' इसी कार्तवीर्य ने दिग्विजयार्थ अपनी पुरी माहिष्मती पर आक्रमण करने वाले रावण को पशु की भाँति बाँधकर बंदी बनाया था—'माहिष्मत्यां दिग्विजयाभ्यागतो नर्मदाजलावगाहनक्रीडातिपानमदाकुलेनायत्नेनैव तेनाशेषदेवदैत्यगन्धर्वेशजयोद्भूतमदावलेपोऽपि रावणः पशुरिव बद्ध्वा स्वनगरैकान्ते स्थापितः।' (विष्णु- ४।११-२०)। जिस रावण को क्रीडया, अनायास कार्तवीर्य ने बंदी किया था, उसी के नाशक परशुराम-रूपधारी नारायण अनायास ही रावण को मार सकते थे, किंतु ऐसा न करके नारायण ने उसी त्रेतायुग में परशुरामदेहधारी रहते हुए भी रामावतार लिया। यह व्यर्थ ही किया, क्यों कि वे तो परशुराम-रूप में अनायास रावण को मार देते। यह व्यर्थ पुनरुक्ति हुई, जिसका समाधान नहीं है। इसी 'पुनरुक्ति'—परशुराम-रूप रहते भी राम रूप धारण करने की अनावश्यकता को नल ने नमन किया। इसे जिनराज ने इसी कारण रामस्तुति माना है। नारायण ने इसे परशुराम-स्तवन ही माना

है। वे अग्रिम दस श्लोकों को रामस्तवन मानते हैं—'दशभि. श्लोकैर्दाशरथिं रामं स्तौति।' इस श्लोक का संबोधन 'रेणुकेय' है, अतः इसे परशुराम-स्तवन मानना अधिक संगत है। पुनरुक्ति के परिहार में यह तर्क दिया जाता है कि राम—पुरुषोत्तम—मनुष्य रूप धारण कर नारायण ने रावण को इस लिए मारा था कि रावण को वर प्राप्त था कि उसे देव नहीं मार सकते — 'गन्धर्वयक्षाणां देवतानां च रक्षसाम् अवध्य ।' (वाल्मीकि रामायण १।१५।१३) । उसने मनुष्य को तुच्छ समझ कर उनसे अवध्य होने का वर नहीं माँगा, सो मानुषवध्य रावण के वधार्थ नारायण ने परशुराम देह रहते भी रामावतार लिया, वह मानुषवध्य ही था—'स मानुषाद् वध्यो मृत्युर्नान्यो ऽस्य विद्यते।' (वा० रा० १।१५।१४)। प्रकाशकार का मत है कि यह सूक्ष्म परिहार तो माना जा सकता है, तथापि स्थूलदृष्ट्या परिहाराभाव ही है। परशुराम को अपने देवत्व का भान था और रावण-वधकर्ता राम को नहीं था, यह अत्यन्त सूक्ष्मविवेचन है। कोई तत्परिहार, पुनरुक्ति का सदुत्तर नहीं है। वस्तुतः चमत्कारवाहता 'पुनरुक्ति'-कल्पना में ही है, समाधान अनपेक्षित ही है ॥ ६५ ॥

हस्तलेखमसृजत् खलु जन्मस्थानरेणुकमसौ भवदर्थम् ।
राम ! राममधरीकृततत्तल्लेखक- प्रथममेव विधाता ॥ ६६ ॥

जीवातु—हस्तेति । राम ! हे दाशरथे ! अधरीकृताः तिरस्कृताः, सुग्रीवादिरूपेण भूतलमवतारिताश्च, ते ते प्रसिद्धाः लेखकाः लिपिकराः, लेखाः इन्द्रादयः देवाश्च येन सः तादृशः अधरीकृततत्तल्लेखकः। देवपक्षे 'शेषाद्विभाषा' इति कप् समासान्तः। असौ एष, विधाता स्रष्टा, भवदर्थं भवादृशोत्तम-शिल्पनिर्माणार्थम्, प्रथममेव आदावेव, जन्मस्थानम् उत्पत्तिक्षेत्रम्, रेणुका तन्नाम्नी जमदग्निभार्या यस्य तं तादृशम्, रामं परशुरामम्, हस्तलेखं कराभ्यासम्, असृजत् सृष्टवान्, खलु निश्चितम्। अन्योऽपि शिल्पजीवी शिल्पनिर्माणे नैपुण्यलाभार्थमादौ यत् किञ्चित् द्रव्यं निर्माय निर्माय अभ्यासं कृत्वा अनन्तरं यथा उत्कृष्टं निर्माति, तद्वदिति भावः। एतेन परशुरामाद् दाशरथेः रामचन्द्रस्य औत्कर्ष्यं प्रदर्शितमिति मन्तव्यम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—राम, अधरीकृततत्तल्लेखकः असौ विधाता भवदर्थं प्रथमम् एव जन्मस्थानरेणुकं रामं हस्तलेखं खलु असृजत् ।

हिन्दी—हे रामचन्द्र (रामावतारधारी नारायण), प्रसिद्ध चित्रकारों अथवा कवियों-लेखकों (रचनाकारों) को निम्न कर देने वाले—सुग्रीवादि वानरों के रूप में इन्द्रादि देवों को भूतल पर उतार देने वाले—विधाता ने आप (राम) की रचना के निमित्त पहिले ही रेणुका के गर्भ से उत्पन्न परशुराम को हाथ के अभ्यास के रूप ही निश्चयतः सरजा था ।

टिप्पणी—परशुरामावतार राम से पूर्व हुआ था, अतः इस श्लोक में श्रेष्ठ रचनाकार विधाता के राम-रचना के विभिन्न पूर्वाभ्यास-रूप में परशुराम की कल्पना है। जैसे कोई रचनाकार किसी श्रेष्ठ कृति की सर्जना से पूर्व हाथों के अभ्यासार्थ एक और रचना कर लेता है, ऐसे ही ब्रह्मा ने राम की रचना से पूर्व परशुराम को अभ्यास के लिए रचा था। ब्रह्मा सबसे बड़ा लेखक है, चितेरा है। 'लेख' देव-वाचक भी है। माना जाता है कि देवगण भी राम के अनुगामी बनने के लिए ब्रह्मा की इच्छा से 'अधरीकृत' अर्थात् भूतल पर उतरे थे अथवा उनके अंश वानरों के रूप में धरती पर जन्मे थे। (वाल्मीकि रामायण १।१८)। इस प्रकार विधाता का 'अधरी-कृततत्तल्लेखकः' विशेषण द्व्यर्थक है। अर्थात् ब्रह्मा की अपेक्षा सब रचनाकार ब्रह्मा के सदृश रचना न कर सकने के कारण निम्न हैं और ब्रह्मा ने सुग्रीवादि वानरों के रूप में इन्द्रादि देवों को अधरीकृत (भूतलावतरित) किया था। यों भी ब्रह्मा से बड़ा न कोई शिल्पी है, न इन्द्रादिदेव, न दक्षादि अष्ट प्रजापति—सब 'अधरीकृत' हैं। कवि के इस वर्णन से यह प्रतीति होती है कि उसकी दृष्टि में परशुराम की अपेक्षा राम का महत्त्व अधिक है। दसश्लोकों (६६-७६) में राम का स्तवन है ॥ ६६ ॥

> उद्भवाजतनुजादज ! कामं विश्वभूषण ! न दूषणमत्र ।
>
> दूषणप्रशमनाय समर्थं येन देव ! तव वैभवमेव ॥ ६७ ॥

जीवातु—उद्भवेति। न जायते इति अजः, तत्सम्बोधने हे अज ! जन्मरहित विष्णो ! सनातनत्वादिति भावः। अजस्य रघुनन्दनस्य तदाख्यनृपविशेषस्य, तनुजात् आत्मजात् दशरथात्, कामं यथेच्छम्, उद्भव जायस्व; त्वमिति शेषः।

भवतेर्लोटि सिपि रूपम् । विश्वभूषण ! जगदलङ्कार ! पुरुषोत्तमत्वादिति भाव । अत्र अस्मिन् विषये, अजस्य तव अजतनुजोद्भवने इत्यर्थ । दूषण दोष:, असङ्गतिरूपदोष इत्यर्थं । न नास्ति । कुत इत्याशयेन हेतुमाह–येन हेतुना, हे देव ! तव ते, वैभवमेव ऐश्वर्यमेव, प्रभाव एवेत्यर्थं । दूषणस्य असाङ्गत्यादिदोषस्य तदाख्यराक्षसविशेषस्य च, प्रशमनाय निवारणाय निधनाय च, समर्थं योग्यम्, भवतीति शेष । स्वयम् । अजस्त्वम् अजस्य पुत्रात् जायसे, अत्र य अज स कथ जायते ? यस्य पितामहोऽपि न जात तस्य वा कथ तनुज ? अथ वा तस्मात् तनुजात् तव जन्म सम्भवेत् ? इत्यादिरूप दूषण नास्ति, यत दूषणनाशायैव तव उत्पत्ति, अथ च अजाख्यात् पितामहात् अजपौत्र जात इत्यत्र दूषण नास्ति, उभयो अजाख्यनृपजातत्वात् इति भाव ॥ ६७ ॥

अन्वय —अज, अजतनुजात् कामम् उद्भव, विश्वभूषण देव, अत्र दूषण न, येन तव वैभवम् एव दूषणप्रशमनाय ।

हिन्दी—हे अजन्मा (नारायण), रघुपुत्र 'अज' के पुत्र 'दशरथ' से आप यथेच्छ जन्म लीजिए, हे विश्व के आभूषण देवता, इसमें कोई दोष नहीं है, कारण का आपका प्रभाव ही दोषो के उपशमनार्थ है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'अज' शब्द की अनेकार्थता चमत्कार उत्पन्न करती है । 'अजन्मा' होने से 'अज' नारायण को भी कहा जाता है । इस आधार पर पहिले 'अज' के जन्म लेने मे दोष की आशका की गयी । अजन्मा नारायण 'अज' अजन्मा के पौत्र कैसे हुए ? परिहार इस आधार पर हुआ कि ब्रह्म स्वेच्छया ही विलसित होता है—'ब्रह्मैव हि स्वाविद्यया ससरति मुच्यते च ।' 'अज' राम के पितामह थे, इस प्रकार जिसका पिता ही 'अज' हो, उससे जन्म लेनेमें 'अज' को कोई दोष नहीं । अज पुत्र दशरथ से राम का जन्म हुआ । उनका जन्म दूषण की उत्पत्ति कर ही नही सकता, क्योंकि उनका जन्म ही 'दूषण' राक्षस के नाशार्थ हुआ था । (द्रष्टव्य वा० रामा० अरण्यकाड २६ सर्ग) । इसके अतिरिक्त राम का ऐश्वर्य ही सब दूषणो का उपशम करने वाला है । राम-नाम परायण घोर कलियुग में भी कृतकृत्य हो जाते हैं—'रामनामपरा ये तु घोरे कलियुगे द्विजा । त

एव कृतकृत्याः ।' (स्कंदपुराण-उत्तरखंड १।३६)। राम-प्रभाव के लिए द्रष्टव्य वा० रामा० १।१।१८। 'अज' का अन्यार्थ 'छाग' (बकरा) भी होता है, तो जो 'अज' है—छाग है, उसका जन्म 'अजतनुज'—छागपुत्र से हो तो इसमें दोष क्या है? पैंसठवें श्लोक में आशंकित पुनरुक्ति दोष कि परशुराम के रहते रामावतार व्यर्थ क्यों हुआ, यह भी इस प्रकार समाधान पा जाता है कि दूषणादि के नाश में राम का ही वैभव था, परशुराम का नहीं—'तवैव वैभवम्।' परशुरामावतार दुष्ट सहस्रार्जुनादि के विनाशार्थ था, दूषण-रावणादि-नाश के लिए रामावतार हुआ। कार्य-भेद होने से पुनरुक्ति दूषण भी नहीं रहा॥ ६७॥

नो ददासि यदि तत्त्वधियं मे यच्छ मोहमपि तं रघुवत्स।
येन रावणचमूर्युधि मूढा त्वन्मयं जगदपश्यदशेषम्॥ ६८॥

अन्वयः—नो ददासीति। रघुवत्स! हे रघुनन्दन! विष्णो! मे मह्यम्, यदि चेद्, तत्त्वे ब्रह्मणि, धियं बुद्धिम्, मोक्षोपयोगिज्ञानमित्यर्थः। नो न, ददासि यच्छसि, अज्ञानाच्छन्नत्वादिति भावः। तर्हि येन मोहेन, युधि युद्धे, रावणस्य दशाननस्य, चमूः सेना, मूढा भ्रान्ता सती, अशेषं निखिलम्, जगत् विश्वम्, त्वन्मयं भवदात्मकम्, राममयमित्यर्थः। अपश्यत् ऐक्षत, तं मोहमपि मुग्धतामपि, भ्रमज्ञानमपीत्यर्थः। मे मह्यम्, यच्छ देहि, तेनैव कृतार्थो भवेयमिति भावः॥ ६८॥

अन्वयः—रघुवत्स, मे यदि तत्त्वधियं नो ददासि, येन युधि मूढा रावण-चमूः अशेषं जगत् त्वन्मयम् अपश्यत्, तं मोहम् अपि यच्छ।

हिन्दी—हे रघुनंदन, मुझ (नल) को यदि आप तत्त्वबोध (आत्म-साक्षात्कार तत्त्व) नहीं देते हैं तो जिस (मोह) के द्वारा संग्राम में विमूढ रावणीसेना ने समग्र संसार त्वन्मय (रामरूप) देखा था, उस मोह को ही दीजिए।

टिप्पणी—राम-रावण-संग्राम में रावण-सेना को दीखने लगा था कि सब ओर राम ही-राम हैं। नल नारायण से मोक्षसाधक तत्त्वज्ञान का प्रार्थी है किंतु यदि वह न मिले, केवल वह विशिष्ट मोह ही प्राप्त हो जाय, वह

भ्रातिविशेष ही यदि रघुनंदन उसे दे दें कि वह रावणीचमू की भाँति सर्वत्र राम को ही देखने लगे, तब भी नल कृतार्थ हो जायेगा ॥ ६८ ॥

आज्ञया च पितुरज्ञभिया च श्रीरहीयत महीप्रभवा द्विः ।
लङ्घितश्च भवता किमु न द्विर्वारिराशिरुदकाङ्कगलङ्कः ॥ ६९ ॥

जीवातु—आज्ञयेति। हे विष्णो ! राम! भवता त्वया, पितुः जनकस्य दशरथस्य आज्ञया च वन गच्छेत्येवरूपेण आदेशेन च, अज्ञेभ्य मूर्खेभ्य, मिथ्यापवादकारेभ्य मूढेभ्य. सकाशादित्यर्थः । , भिया च भयेन च, मही पृथिवी, प्रभवः उत्पत्तिस्थानं यस्या सा तादृशी, श्री. राज्यलक्ष्मी., लक्ष्म्याः अंशभूता पृथ्वीसुता सीता च, द्विः द्विवारम् अहीयत परित्यक्ता, पितुरादेशपालनाय वनगमनात् राजलक्ष्मीः परित्यक्ता, मूर्खजनापवादभयेन च सीता परित्यक्ता इत्यर्थः, तथा उदकस्य जलस्य, अङ्कं समीप, गच्छति या सा तादृशी, लङ्का तदाख्या पुरी यस्य स तादृश, वारिराशि जलसमूहात्मक समुद्र., अरिराशिर्वा रावणादिशत्रुसमूहश्च, वा—शब्दोऽत्र समुच्चये चार्थे, द्विः वारद्वय, न लङ्घितः न अतिक्रान्तः न जितश्च, किमु ? किम् ? अपि तु लङ्घित एवेत्यर्थः, अत एव सत्यसन्धं जितेन्द्रिय महाप्रभावश्च भवन्त नमामीति भाव: ॥ ६९ ॥

अन्वय—पितु आज्ञया च अज्ञभिया च भवता महीप्रभवा श्रीः द्विः अहीयत, उदकाङ्कगलङ्कः वारिराशि (अरिराशि. + वा) च किमु द्विः न लङ्घितः ?

हिन्दी—पिता (दशरथ) की आज्ञा और मूर्खों (अजाने लोगों) के डर से आप (राम) ने पृथ्वी जिसका उत्पत्ति स्थान है, ऐसी राज्यलक्ष्मी और जानकी के रूप में लक्ष्मी को दो बार त्यागा था, जिसके जल के निकट अथवा मध्य मे लंकापुरी थी, ऐसे समुद्र को अथवा अरिसमूह (रावणादि) को क्या दो बार नहीं लाँघा ? अपितु लाँघा ही ।

टिप्पणी—राम-जैसा त्यागी और पराक्रमी अन्य नहीं है । उन्होंने दो बार लक्ष्मी त्याग किया । एक बार पिता की आज्ञा से धनधान्यधरासंपूर्ण राज्यलक्ष्मी को त्यागा (द्रष्टव्य वा० रामा०—'एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः । जटाचीरधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ अरण्य० १९।२) ।

दूसरी बार पृथ्वी-पुत्री जनकजा गृहलक्ष्मी को त्यागा (द्रष्टव्य भवभूति का उत्तर-रामचरित, लोकापवाद के कारण सीतात्याग)। पराक्रम भी अनन्य किया। दुर्लंघ्य वारिराशि (समुद्र) का उल्लंघन कर 'अरिराशि' (शत्रुगण रावणादि) को मारा। लंघन-कार्य भी दो बार हो गया—एक बार 'उदकाङ्कलङ्क'—जिसके जलमध्य लंका है, ऐसे वारिराशि (समुद्र) का लंघन किया। दूसरी बार समुद्रांकवर्त्तिनी लंका जिसकी संपत्ति है, उस अरिराशि (रावणादि) का लंघन किया—पराजित किया ॥ ६९ ॥

कामदेवविशिखैः खलु नेशं माऽर्पयञ्जनकजामिति रक्षः।
दैवतादमरणे वरवाक्यं तथ्ययत् स्वमपुनाद्भवदस्त्रैः ॥ ७० ॥

जीवातु—कामेति। हे राम ! विष्णो ! जनकजां सीताम्, अर्पयत् ददत्, रामाय प्रत्यर्पयदित्यर्थः। रक्षोऽहमिति शेषः। कामदेवस्य देवतात्मकमन्मथस्य, विशिखैः बाणैः, मा खलु नेशं नैव विनष्टं भवेयम्, तथात्वे ब्रह्मणो वरो मृषैव भवेदिति भावः। नशेः पुषादित्वादङि 'नशिमन्योरलिट्येत्वं वक्तव्यम्' इत्येत्वम्, 'न माङ् योगे' इत्यडभावः। इति एवम्, विचिन्त्य इति शेषः। दैवतात् अमरात्, अमरणे मरणाभावे विषये, वरवाक्यं दैवात् तव मृत्युर्न भविष्यति इति ब्रह्मा पुरा रावणाय यद् वरप्रदात् तद् वचनम्, तथ्ययत् तथ्यं सत्यं कुर्वत् सत्, रक्षः रावणः, भवतः तव, नरदेहधारिण इति भावः। अस्त्रैः बाणैः, स्वम् आत्मानम्, अपुनात् पूतवान्, तवास्त्रेण आत्मानं घातयित्वा पवित्रं जातमित्यर्थः। अपुनादित्यनेन कामबाणात् मरणे आत्मनः अपवित्रत्वं सूचितम्। कामबाणात् केवलं मरणमेव भवति, भवतः बाणात् तु पापनाशात् संसारमोक्षोऽपि भवतीति भावः ॥ ७० ॥

अन्वयः—जनकजाम् अर्पयत् कामदेवविशिखैः खलु मा नेशम्—इति दैवतात् अमरणे वरवाक्यं तथ्ययत् रक्षः भवदस्त्रैः स्वम् अपुनात्।

हिन्दी—जानकी को लौटाते हुए कामदेवता के बाणों से न मर जाऊँ—यह विचार कर देवता द्वारा मृत्यु न प्राप्त होने से संबद्ध विधि-वरवचन को सत्य करते राक्षस (रावण) ने आप (राम) के अस्त्रों से स्वयम् को पवित्र बनाया।

टिप्पणी—रावण को वर प्राप्त था कि वह देव-गंधर्वादि द्वारा मृत्यु न प्राप्त करेगा। यहाँ पुरुषोत्तम राम द्वारा रावण के मरण पर यह कल्पना की गयी है कि उसे आशंका थी कि यदि उसने हर कर लायी गयी सीता को श्रीराम को लौटा दिया तो वह काम-बाणों से मर जायेगा और इस प्रकार उसे मिला देव-वर अतथ्य प्रमाणित हो जायेगा, अतः उसने देव-वर की सच्चा सिद्ध करने के लिए सीता न लौटायी और राम-बाणों से मृत्यु प्राप्त की और इस प्रकार स्वयं नारायण द्वारा मृत्यु प्राप्त कर अपने को पवित्र बनाया और मोक्ष प्राप्त किया। काम बाण से मरने पर मोक्ष कहाँ मिलता? ॥ ७० ॥

तद्यशो हसति कम्बुकदम्बं शम्बुकस्य न किमम्बुधिचुम्बि ?।
नामशेषितससैन्यदशास्यादस्तमाप यदसौ तव हस्तात् ॥ ७१ ॥

जीवातु—तदिति। हे राम ! विष्णो ! नाम संज्ञामात्रम्, शेषः अवशेषः यस्य स तादृशः कृतः इति नामशेषितः कथामात्रशेषीकृतः, ससैन्यः सैन्यसहितः, दशास्यः रावणः येन तस्मात्, तव भवतः, हस्तात् करात्, असौ शम्बुकः, यत् अस्तम् अदर्शनम्, नाशमित्यर्थः। आप लेभे, शम्बुकस्य तदाख्यशूद्रमुनिविशेषस्य, अम्बुधिचुम्बि सागरपर्यन्तगामि, तत् पूर्वोक्तरूपम्, यशः कीर्तिः कर्तृ। कम्बूनां शङ्खानाम्, कदम्बं समूहम् कर्म, न हसति किम् ? न परिहसति किम् ? अपि तु हसत्येव इत्यर्थः, स्वशुक्लताऽतिशयादिति भावः। यस्य हस्तात् ब्रह्मकुलोद्भवः त्रिभुवनविजयी दशाननो विनाशमाप, तस्यैव हस्तात् नीचशूद्रकुलोद्भूतः दुर्बलः शम्बुकः विनष्ट इति शम्बुकस्य महासौभाग्यमिति भावः॥ ७१ ॥

अन्वयः—नामशेषितससैन्यदशास्यात् तव हस्तात् असौ यत् अस्तम् आप, शम्बुकस्य अम्बुधिचुम्बि तत् यशः किं कम्बुकदम्बं न हसति ?

हिन्दी—जिसने सेनासहित दशानन (रावण) को नामशेष बना दिया, उस तुम्हारे (श्रीराम के) हाथ से जो यह (शम्बुकराज) विनाश को प्राप्त हुआ, शम्बुक (शूद्रराज) का सागर को चूमने वाला (समुद्रपर्यन्त विख्यात अथवा समुद्र-सा विस्तृत) वह यश क्या (जिस प्रकार जल-सीपी

श्वेतिमाधिक्य के कारण शंख-समूह का उपहास करती है, उस प्रकार) शंख-समूह का उपहास नहीं करता ? करता ही है ।

टिप्पणी—आशय यह कि श्रीराम के हाथों देवविजयी, महापराक्रमी उद्भट विद्वान् रावण ससैन्य संहारा गया, उन्हीं हाथों एक निर्बल शूद्रराज मारा गया । बड़े हाथों एक सामान्य कार्य होकर सामान्य को महत्ता मिली । श्रीराम के बली और पवित्र हाथों से मर कर शम्बुकराज को अक्षय कीर्ति मिली—निर्मल यश, जिसके संमुख शंखों की श्वेतिमा भी कुछ नहीं है । शंबुक जल-सीपी को भी कहते हैं । कथा है (वा०रामा० उत्तर० ७३-७६ सर्ग) कि शूद्र शम्बुक द्वारा देवलोक-विजय के निमित्त तप करने के कारण ब्राह्मण-बालक की अकाल मृत्यु हो गयी थी । इस ब्रह्मणशिशु को पुनर्जीवित करने के लिए श्रीराम ने उसका वध किया—'शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम् । निष्कृष्य कोपाद् विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः ॥' (वा. रा. उत्तर. ७६।४) ॥ ७१ ॥

(मृत्युभीतिकरपुण्यजनेन्द्रत्रासदानजमुपार्ज्य यशस्तत् ।
ह्रीणवानसि कथन्न विहाय क्षुद्रदुर्जनभिया निजदारान् ॥ १ ॥)

प्रकाशः—मृत्युभीतीति । यस्मान्मृत्योर्यमादन्येषां भीतिः, मृत्योर्भीतिकरः पुण्यजनेन्द्रो राक्षसेन्द्रो रावणस्तस्यापि मरणपर्यन्तं त्रासदानाद्भयोत्पादनाद्धेतो-र्जातं तदतिप्रसिद्धं लोकत्रये गीयमानं यश उपार्ज्य क्षुद्रोऽत्यल्पको दुर्जनस्तस्मा-द्भिया भयेन पामरलोकापवादभिया निजदारानात्मनः प्रियां सीतां विहाय परित्यज्य कथं न ह्रीणवान् लज्जितवानसि । लज्जितत्वं तावत्त्वयेत्यर्थः । यो रावणाय भयं दत्तवांस्तस्य दुर्जनभीत्या निर्दुष्टजनप्रियापरित्यागे हि लज्जैव युक्ता । अतिमाननिजस्त्रीहर्ता रावणो नाशितो लोकापवादभयाच्च सापि परित्यक्तेति । एतादृशः शूरोऽभिमानी लोकापवादभीरुश्च कोऽपि नास्तीति भावः । 'यातुधानः पुण्यजनः' इत्यमरः । भीतिं करोतीति ताच्छील्ये टः ॥ १ ॥

अन्वयः—मृत्युभीतिकरपुण्यजनेन्द्रत्रासदानजं तत् यशः उपार्ज्य क्षुद्र-दुर्जनभिया निजदारान् विहाय कथं न ह्रीणवान् असि ?

हिन्दी—मृत्यु को भी त्रासदायक राक्षसराज (रावण) को त्रास देने से उत्पन्न उस (त्रिलोक विख्यात) यश का उपार्जन करके सामान्य छोटे दुष्ट जनों के डर से अपनी पत्नी (सीता) का परित्याग कर (तुम लज्जित क्यों नहीं हुए ?

टिप्पणी—जिस रावण से मृत्यु भी डरती थी, उसे श्रीराम ने त्रास दिया मृत्यु दी और अक्षय यश पाया। इतना महान् कार्य करके, मृत्यु त्रासदाता को भी त्रास देने वाले होकर भी जो श्रीराम ने क्षुद्र और दुष्ट जनों के अपवाद से डरकर उस सीता को त्याग दिया, जिसके लिए उन्होंने 'पुण्यजनेन्द्र' रावण का ससैन्य संहार कर दिया था। क्या यह लज्जास्पद नहीं है ? आशय यह है कि जो रावण विजयी पराक्रमी था, वह लोकापवाद भीरु भी था। परमवीर, परमलोकरञ्जक— स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि। आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥' (उत्तररामचरित १।१२)॥ यह श्लोक जीवातु-व्याख्या में नहीं है, अतः संस्कृत प्रकाश व्याख्या दी गयी है ॥ १ ॥

इष्टदारविरहौर्वपयोधिस्त्वं शरण्य ! शरणं स ममैधि।
लक्ष्मणक्षणवियोगकृशानौ यः स्वजीविततृणाहुतियज्वा ॥ ७२ ॥

जीवातु—इष्टेति। शरण्य ! हे आश्रितरक्षक ! राम ! यः त्वं भवान् लक्ष्मणस्य अनुजस्य सौमित्रेः क्षणवियोगः अत्यल्पकालविच्छेद एव कृशानुः अग्निः तस्मिन्, स्वजीवितस्यैव निजजीवनस्यैव, तृणस्य यवसस्य, आहुत्याः आहुतिदानेन, निक्षेपणस्यर्थः। यज्वा इष्टवान्, याज्ञिक इत्यर्थः। 'सुयजो र्ङ्वनिप्'। आसीदिति शेषः। सरयूसलिले निमज्ज्य देहं त्यक्तवतो लक्ष्मणस्य क्षणकालवियोगमपि असहिष्णुः सस्त्वं स्वजीवनं विसर्जयामासेत्यर्थः स तादृशः, इष्टदाराणां प्रियभार्यायाः सीतायाः, विरहः वियोग एव, और्वः बाडवानलः, तस्य पयोधिः आश्रयभूतसागरसदृशः, त्वं भवान्, मम मे, शरणं रक्षिता, एधि भव। प्रेयसीस्नेहेभ्योऽपि भ्रातृस्नेहो गरीयानिति तात्पर्यम् ॥७२॥

अन्वय —शरण्य, यः त्वम् इष्टदारविरहौर्वपयोधिः सः लक्ष्मणक्षणवियोगकृशानौ स्वजीविततृणाहुतियज्वा मम शरणम् एधि।

हिन्दी—हे शरणागतरक्षक, जो तुम प्रियपत्नी (सीता) के विरह-वडवानल के आश्रय समुद्र थे, वही लक्ष्मण के क्षण मात्र के वियोगानल में अपने प्राणों को तृण-समान होमदेने वाले बने—ऐसे तुम श्रीराम मेरे शरण (रक्षक) बनो।

टिप्पणी—कितना आश्चर्य जनक चरित्र है श्रीराम का कि उन्होंने लोकापवाद के कारण प्रियतमा पत्नी को वनवास दे दिया और जीवनभर उसके वियोगाग्नि को उसी प्रकार चित्तमें छिपाये सहते रहे, जैसे समुद्र वडवानल को छिपाये रहता है, पर भाई लक्ष्मण के वियोगानल को तनिक भी न सह पाये। युद्ध में मूच्छित लक्ष्मण को देख कर उन्होंने अपनी मृत्यु-कामना की—'परित्यक्ष्याम्यहं प्राणान् वानराणां तु पश्यताम्। यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः॥' (वा० रामा० युद्ध०-४९।७)। और नियम-भंग के कारण लक्ष्मण के प्राण-त्याग देने पर श्रीराम ने स्वयं भी प्राण त्याग किया। (वा. रामा. उत्तर. १०५–११० सर्ग)। ऐसे परमकारुणिक और शरणागतवत्सल श्रीराम का शरणागत होने की नल ने कामना की॥ ७२॥

क्रौञ्चद्वयक्षमपि वीक्ष्य शुचा यः श्लोकमेकमसृजत् कविराद्यः।
स त्वदुत्थकरुणः खलु काव्यं श्लोकसिन्धुमुचितं प्रबबन्ध॥ ७३॥

जीवातु—क्रौञ्चेति। हे राम! विष्णो! यः आद्यः प्रथमः, कविः कवयिता वाल्मीकिः, क्रौञ्चस्य पक्षिविशेषस्य, कामविमुग्धयोः क्रौञ्चाख्यपक्षिमिथुनयोर्मध्ये एकस्मिन् व्याधेन हन्यमाने अपरस्य तदाख्यपक्षिणः इति यावत्। दुःखं शोकम्, वीक्ष्यापि दृष्ट्वाऽपि, शुचा शोकेन, एकम् एकसङ्ख्यकम्, श्लोकं—'मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥' इति अमुं शोकोद्भूतत्वात् श्लोकं पद्यम्, असृजत् अरचयत्। सः आद्यः कविः, त्वदुत्था त्वत् त्वत्तः सीताविरहादिदुःखपीडितात् भवतः, उत्था उद्भूता, भवद्विषये समुत्पन्ना इत्यर्थः। करुणा करुणरसो यस्य स तादृशः सन्, उचितं खलु योग्यमेव, अतिक्षुद्रस्य एकस्य पक्षिणः शोकात् एकस्मिन् श्लोके रचिते पुरुषोत्तमस्य भवतः शोकात् बहुतरश्लोकरचनाया एव औचित्यादिति भावः। श्लोकसिन्धुं पद्यसागरम्, चतुर्विंशतिसहस्रश्लोकनिबद्धत्वात्

सागरतुल्यमित्यर्थ.। काव्य रामायण नाम महाकाव्यम्, प्रबन्ध रचयामास ॥ ७३ ॥

अन्वयः—य आद्य कवि क्रौञ्चदु ख वीक्ष्य अपि शुचा एक श्लोकम् असृजत्, त्वदुत्थकरुणः स उचित खलु श्लोकसिन्धु काव्य प्रबन्ध।

हिन्दी—जिस आदि कवि (वाल्मीकि) ने क्रौंचमिथुन मे से एक के दु ख को देखकर ही शोक से एक श्लोक रचदिया था, तुम्हारी (सीताविरहजन्य) करुणा से विह्वल होकर उस (वाल्मीकि) ने ठीक ही श्लोकों का महासागर काव्य (रामायण प्रबन्ध-काव्य) रचा।

टिप्पणी—तमसा के तट पर कामविह्वल क्रौंच मिथुन में एक की व्याध-द्वारा हत्या होजाने पर करुणाद्रवित वाल्मीकि के मुख से एक श्लोक—'मा निषाद . ' इत्यादि निकल पडा। छन्द का एक अपूर्व अवतार। सीता-वियोग मे व्याकुल श्रीराम को देख करुणा विह्वल हो महान् प्रबन्ध रामायण की रचना उनके द्वारा स्वाभाविक ही थी। जो एक पक्षी के दु ख से द्रवित हो श्लोक रच सकता है, वह पुरुषोत्तम की पीडा से महाकाव्य रचेगा ही। यही स्वाभाविक है। द्रष्टव्य—'उत्तररामचरित' २।५ आत्रेयी की उक्ति ॥ ७३ ॥

> विश्रवःपितृकयाऽऽप्तुमनर्हं सश्रवस्त्वमनयेत्युचितज्ञ।
> त्वं चकर्तिथ न शूर्पणखाया लक्ष्मणेन वपुषा श्रवसी वा ? ॥ ७४॥

जीवातु—विश्रव इति। हे राम! विष्णो! विश्रवाः सदारयमुनि' श्रवणरहितश्च जन', पिता जनको यस्या सा विश्रव पितृका तया। 'नद्यृतश्च' इति कप् समासान्त।। अनया शूर्पणखया, सश्रवस्त्व श्रोत्रसहितत्वम्, आप्तुम् लब्धुम्, अनर्हम् अयोग्यम्, इत्युचितज्ञ इति एवम्, उचितं योग्यम्, जानाति बुध्यते य: स तादृश', त्व भवान् लक्ष्मणेन वपुषा लक्ष्मणरूपेण निजदेहेन, एक एव नारायण. आत्मान चतुर्धा विभज्य रामादिभ्रातृचतुष्टयरूपेण अवतीर्णत्वात् इति भावः। शूर्पणखाया सदारयाया रावणभगिन्या' निशाचर्या:, श्रवसी श्रोत्रे, किं वा न चकर्तिथ ? किं न कृतवान् असि ? अपि तु चकर्तिथ एवेत्यर्थः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—विश्रवःपितृकया अनया सश्रवस्त्वम् आप्तुम् अनर्हम्—इति उचितज्ञः त्वं लक्ष्मणेन वपुषा शूर्पणखायाः श्रवसी वा न चकर्तिथ ?

हिन्दी—'विश्रवा' नामक ऋषि की पुत्री, अतएव नाम्ना श्रवणहीन की पुत्री इस (शूर्पणखा) का श्रवण सहित होना ठीक नहीं है—इसीलिए औचित्य के ज्ञाता आप (श्रीराम) ने लक्ष्मण-रूप देह-द्वारा शूर्पणखा के कान क्या नहीं काटे थे ?

टिप्पणी—शूर्पणखा विश्रवा मुनि की बेटी थी—विश्रवा अर्थात् कर्ण-रहित। राम ने जो लक्ष्मणद्वारा उसके कान कटवा दिये थे, वह कोई दंड नहीं था। राम औचित्य के मर्मी थे, वे उचितानुचित समझते थे। उन्हें लगा कि जो 'विश्रवा' की पुत्री है, उसका श्रवणयुक्त होना अनुचित है, अतः उसे भी कान काट कर 'विश्रवा' (कर्णहीन) कर दिया। नारायणने ही अपने को चार भागों में विभक्त कर राम-लक्ष्मण, भरत-शत्रुघ्न रूप में जन्म लिया था, अतः लक्ष्मण भी देहांश कहे गये। (वा० रामा० १।१८।११-१४) ॥ ७४ ॥

ते हरन्तु निर्ऋतिव्रतति मे यैः स कल्पविटपी तव दोर्भिः ।
छद्मयादवतनोरुदपाटि स्पर्द्धमान इव दानमदेन ॥ ७५ ॥

जीवातु—ते इति। हे विष्णो ! कृष्ण ! छद्मयादवतनोः छद्मना कपटेन यादवी यदुवंशोद्भवकृष्णरूपिणी, तनुः मूर्त्तिर्यस्य तादृशस्य, निराकारस्यस्यैव स्वाभाविकत्वात् लीलास्वीकृतयादवशरीरस्येत्यर्थः। तव ते, यैः दोर्भिः चतुर्भिर्बाहुभिः, दानमदेन लोकेभ्यः अभीष्टवितरणजनितदर्पेण हेतुना, स्पर्द्धमानः इव तव दोर्भिः सह स्पर्द्धां कुर्वन्निव स्थितः, सः प्रसिद्धः, कल्पविटपी कल्पतरुः, उदपाटि उत्पाटितः, तव दोर्भिः सह स्पर्द्धाकरणजन्याहङ्कारदूरीकरणायेति भावः। ते तादृशाः तव दोषः, मे मम सम्बन्धिनीम्, निर्ऋतिम् अलक्ष्मीमेव व्रततिं लताम्, 'दुरितव्रततिम्' इति पाठ एव साधुः। दुरितव्रततिं पापरूपिणीं लताम्। 'स्यादलक्ष्मीस्तु निर्ऋतिः' 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्युभयत्राप्यमरः। हरन्तु नाशयन्तु, छिन्दन्तु इत्यर्थः। महातरूत्पाटनशक्तस्य लताच्छेदनमकिञ्चित्करमेवेति भावः। कृष्णकर्तृककल्पवृक्षोत्पाटनकथा हरिवंशेऽनुसन्धेया॥ ७५ ॥

अन्वयः—छद्मयादवतनो, तव यैः दोर्भिः दानमदेन स्पर्द्धमान इव सः कल्पविटपी उदपाटि, ते मे निर्भाग्यव्रततिं हरन्तु।

हिन्दी—लीलयैव यदुवंशीय शरीर धारी तुम्हारे (श्रीकृष्ण के) जिन बाहुओं से मानो दान (अभीष्टदान) के गर्व के कारण स्पर्द्धा करता वह कल्पवृक्ष उखाड़ दिया गया, वे तुम्हारी (भुजाएँ) मेरी (नल की) श्रीहीनतारूपिणी लता का नाश करें।

टिप्पणी—ब्रह्म तो निराकार है, किन्तु स्वेच्छया वह साकार हो सकता है, अतएव यहाँ श्रीकृष्णावतार नारायण को 'छद्मयादव तनु' कहा गया है। हरिवंशपुराण के अनुसार नारायणावतार श्रीकृष्ण ने स्वपत्नी सत्यभामा की प्रार्थना पर इन्द्र को जीत कर कल्पवृक्ष उखाड़ लाकर उन्हें दिया था। विष्णु पुराण (५।३०।२८-८०) और ब्रह्मपुराण (२०३ अध्याय) में भी यह कथा है। यहाँ इसी कथा के आधार पर कल्पना की गयी है कि मानो कल्पवृक्ष को अपनी दानशीलता पर अभिमान हो गया था और वह श्रीकृष्ण की भुजाओं से स्पर्द्धा करने लगा था। उसी गर्व को चूर्ण करने के लिए श्रीकृष्ण ने उसे उखाड़ डाला था। जो भुजाएँ वृक्षोत्पाटन में समर्थ हैं, उनके लिए एक लता का उन्मूलन कोई कठिन कार्य हो नहीं है, अतः नल ने कल्पवृक्षोत्पाटनकारी श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि वे उसकी अलक्ष्मी रूपिणी लता का छेदन करें। नारायण ने प्रथम चरण में 'निर्भाग्यव्रततिं' के स्थान में 'दुरितव्रततिं' पाठान्तर माना है—अर्थात् 'दैत्य-परम्परा'। मल्लिनाथ भी इस पाठान्तर को 'साधु' मानते हैं—'दुरितव्रततिं' अर्थात् पाप-रूपिणी लता। नारायण ने विग्रहान्तर करके 'छद्मयादवतनो' का अर्थ 'कंसादिवनवह्निरूप शरीर' श्रीकृष्ण भी किया है—'छद्म याति छद्मयाः एवम्भूतश्चासौ दवतनुश्च मायावान् कंसादिवनवह्निरूपशरीरस्य।' आशय यह है कि श्रीकृष्ण के समान दानशूर और महाप्रभाव अन्य नहीं है॥ ७५॥

बालकेलिषु तदा यदलावीः कर्परीभिरभिहत्य तरङ्गान्।
भाविबाणभुजभेदनलीलासूत्रपात इव पातु तदस्मान्॥ ७६॥

जीवातु—बालेति। हे विष्णो! कृष्ण! तदा तस्मिन् समये, शैशवे

इत्यर्थः। बालकेलिषु शिशुसुलभक्रीडासु, कर्परीभिः शर्कराभिः, स्फुटित-कलशानां क्षुद्रक्षुद्रखण्डैरित्यर्थः। 'स्त्री स्यात् काचिन्मृणाल्यादि विवक्षापचये यदि' इति कोषात् अपचयविवक्षायां स्त्रीत्वम्। अभिहत्य ताडयित्वा, तरङ्गान् ऊर्मीन्, यमुनाया इति भावः। यत् अलावीः छिन्नवान् असि, शिशवो हि खर्परखण्डताडनैस्तरङ्गान् छिन्दन्ति इति दृश्यते। भाविनी भविष्यन्ती, बाणस्य तदाख्यस्य असुरराजविशेषस्य, भुजानां सहस्रबाहूनाम्, भेदनमेव छेदनमेव, लीला क्रीडा, तस्याः सूत्रपातः इव प्रथमसूचनमिव, स्थितमिति शेषः। तत् तरङ्गलवनम्, कर्तृ अस्मान् सप्रकृतिवर्गं मामित्यर्थः। पातु अवतु। दृश्यते च लोके यथा रथकाराः काष्ठपातनात् पूर्वं तत्र कृष्णसूत्रेण रेखाङ्कनं कुर्वन्ति तद्वदिति भावः॥ ७६॥

अन्वयः—तदा बालकेलिषु कर्परीभिः अभिहत्य तरङ्गान् यत् अलावीः, भाविबाणभुजभेदनलीलासूत्रपातः इव तत् अस्मान् पातु।

हिन्दी—उस काल (शैशव) में बालोचित क्रीडाओं में खपरों से मार कर (यमुना की) लहरों को जो तुमने खंडित किया था, भविष्य में घटित बाणासुर की भुजाओं का छेदन करने की लीला के सूत्रपात (आरंभ)-सदृश वह (लहरों का खंडन) हमारी रक्षा करे।

टिप्पणी—अपने पौत्र, प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्ध और बाणासुर-पुत्री उषा के परिणय-प्रसंग में श्रीकृष्ण ने असुरराज बाणासुर को पराजित किया था (विष्णु ५।३२-३३, ब्रह्म० २०५,२०६)। बाल-स्वभाव होता है कि वे नदी-तडागों के जल में ठीकरे (मिट्टी के बर्तन के टूटे टुकड़े) फेंक-फेंक कर खेला करते हैं—'कर्पराघातेन तरङ्गच्छेदनं बालजातिः।' (नारायण)। श्रीकृष्ण भी इसी प्रकार बाल्य-काल में लीलाएँ करते होंगे। उस 'तरंग-छेदन' की बाल-क्रीडा को भविष्य के बाणासुर-विजय का सूत्रपात (आरंभ-अभ्यास) मानते हुए यहाँ कल्पना की गयी है कि श्रीकृष्ण की वे शैशव-लीलाएँ भक्तजनों की रक्षा करें। नारायण और मल्लिनाथ—दोनों ने 'सूत्रपात' का भाव काष्ठ-खंडन से पूर्व खंडनकर्ताओं-द्वारा काष्ठ पर खींची गयी रेखा लिया है। गेरू या कोयला आदि से काटने से पूर्व काठ पर

ऐसी लकीर खींची जाती है। यों सामान्यतः 'सूत्रपात' का अर्थ आरम्भ भी होता ही है ॥ ७६ ॥

> कर्णशक्तिमफलां खलु कर्तुं सज्जितार्जुनरथाय नमस्ते ।
> केतनेन कपिनोरसि शक्तिं लक्ष्मणः कृतवता हृतशल्यम् ॥ ७७ ॥

जीवातु—कर्णेति । हे विष्णो ! कृष्ण ! उरसि वक्षसि, शक्तिः रावण-निक्षिप्तशक्तिशेलाख्य आयुधविशेषः यस्य सः तादृशम्, 'अमूर्द्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे' इति सप्तम्यलुक् । लक्ष्मणं सौमित्रिम्, हृतं निष्काषितम्, गन्धमादनाख्यपर्वतसहानीतेन विशल्यकरण्याख्यौषधविशेषेणेति भावः । शल्यं शक्तिशेलाख्यास्त्रविशेषः यस्मात् तं तादृशम् कृतवता विहितवता, कपिना वानरेण, हनुमद्रूपेणेत्यर्थः । केतनेन लाञ्छनेन, रथध्वजभूतेन हनुमता इत्यर्थः । खलु निश्चितमेव, कर्णस्य राधेयस्य, शक्तिं सामर्थ्यमेव शक्तिः कासूनामास्त्रविशेषः वा, 'कासूसामर्थ्ययोः शक्तिः' इत्यमरः । अफलां व्यर्थाम्, कर्तुं विधातुम्, सज्जितः कपिना संयोजितः, अर्जुनस्य पार्थस्य, रथः स्यन्दनः येन तस्मै, ते तुभ्यम्, अर्जुनसारथये इत्यर्थः । नमः प्रणतिः, अस्तु भवतु । रामावतारे रावणनिक्षिप्तशक्तिशेलेन मृतप्रायं लक्ष्मणम् उज्जीवयतः हनुमतः शक्तिशेलनिर्हरणे सामर्थ्यं त्वया दृष्टम्, इदानीं कृष्णावतारेऽपि तदेवानुस्मृत्य कर्णनिक्षिप्तां शक्तिमपि विफलीकर्तुं स एव हनुमान् भवता अर्जुनस्य रथध्वजे स्थापितः इति रणपण्डिताय तुभ्यं नमः इति निष्कर्षः ॥ ७७ ॥

अन्वय—उरसि शक्तिं लक्ष्मणं हृतशल्यं कृतवता कपिना केतनेन खलु कर्णशक्तिम् अफलां कर्तुं सज्जितार्जुनरथाय ते नमः ।

हिन्दी—छाती में शक्ति (आयुध) का आघात पाये लक्ष्मण के वक्ष से शल्य को दूर कर नीरोग करने वाले वानर (हनुमान्) रूप ध्वज द्वारा कर्ण (राधासुत) की शक्ति (आयुध) को निष्फल करने के लिए अर्जुन का रथ सजाने वाले तुम्हें नमस्कार है ।

टिप्पणी—वाल्मीकि रामायण (युद्धकांड ७३-७४) के अनुसार मेघनाद ने राम लक्ष्मण और वानर सैन्य को दिव्यास्त्रों के प्रभाव से मूर्च्छित कर दिया था, जिन्हें हनुमान् ने हिमालय से दिव्यौषधि लाकर स्वस्थ बनाया । वाल्मीकि रामायण (युद्धकांड-१००।३५-३६) के अनुसार रावण

के शक्ति-प्रहार से लक्ष्मण मूच्छित हो गये थे, जिन्हें हनुमान् ने महोदय-गिरि से विशल्यकरणी ओषधि लाकर स्वस्थ किया था (वा. रामा. युद्ध. १०१)। यही कथा मेघनाद-शक्ति-प्रहार के रूप में प्रसिद्ध है। यहाँ कल्पना की गयी है कि श्रीकृष्णावतार में उन्हीं हनुमान् को अर्जुन के रथ की ध्वजा पर स्थापित किया गया कि वे राधेय कर्ण की शक्ति को भी निष्फल कर सकें—उसी प्रकार, जिस प्रकार कि उन्होंने रामावतार-काल के लक्ष्मण पर आघात करने वाली शक्ति को विफल किया था। कर्ण की शक्ति वैजयंती भीमपुत्र घटोत्कच पर छोड़ी जाकर समाप्त हो गयी थी, यद्यपि कर्ण ने वह शक्ति अर्जुन के निमित्त रखी थी। इस प्रकार घटोत्कच पर छोड़ी जाने से वह निष्फल हो गयी। इसका कारण भी श्रीकृष्ण को माना जाता है–'या ह्यस्य परमा शक्तिर्जयस्य च परायणम्। सा शक्ति-र्वासुदेवेन व्यंसिता च घटोत्कचे ॥ (महाभारत द्रोणपर्व (घटोत्कच-वधपर्व)-१८२।६)। हनुमान् के ध्वज रूप में स्थित रहने पर अर्जुन का रथ रक्षा पाता रहा, युद्धांत में उनके ध्वज से हट जाने पर वह दग्ध हो गया। 'कपिरन्तर्दधे दिव्यो ध्वजो गाण्डीवधन्वनः। स दग्धो द्रोणकर्णाभ्यां दिव्यै-रस्त्रैर्महारथः। अथादीप्तोऽग्निना ह्याशु प्रजज्वाल महीपते ॥' (महा० शल्य० ६२।१२-१३)। इसी आधार पर यहाँ यह कल्पना की गयी है और इस प्रकार अर्जुन और उसके रथ की रक्षा करने वाले श्रीकृष्ण को नमस्कार-निवेदन किया गया है ॥ ७७ ॥

> नापगेयमनयः सशरीरं द्यां वरेण नितरामपि भक्तम्।
> मा स्म भूत् सुरवधूसुरतज्ञो दिव्यपि व्रतविलोपभियेति ॥ ७८ ॥

जीवातु—नेति। हे! विष्णो! कृष्ण! व्रतस्य चिरब्रह्मचर्यनियमस्य, भीष्मो हि यावच्छरीरं ब्रह्मचर्यं सङ्कल्पितवानिति महाभारतकाराः। विलोपात्, नाशात्, सुरवधूसुरतेनेति भावः। भिया भयेन हेतुना, दिवि स्वर्गे-ऽपि, सुरवधूनां रम्भादीनां देवाङ्गनानाम्, सुरतस्य मैथुनसुखसम्भोगस्य, ज्ञः अभिज्ञः, मा स्म भूत् न भवतु, भीष्म इति भावः। इति एवम्, विचार्यैव इति शेषः। नितराम् अत्यर्थम्, भक्तम् अनुरागिणं सेवकमपि, आपगायाः नद्याः गङ्गाया अपत्यमिति आपगेयं गाङ्गेयम्, भीष्ममित्यर्थः। वरेण त्वं सशरीर

एव स्वर्गं गच्छ इति वरप्रदानेन, सशरीरं देहसहितम्, द्या स्वर्गम्; न अनय. न नीतवान् त्वमिति शेष. । किन्तु स्वर्गादपि श्रेष्ठं मोक्षं प्रापितवानित्यपूर्वं ते भक्तवात्सल्यमिति भाव. ॥ ७८ ॥

अन्वय —दिवि अपि सः सुरवधूसुरतज्ञ: मा भूत्—इति व्रतविलोपभिया नितरा भक्तम् अपि आपगेय वरेण सशरीर द्या न अनय ।

हिन्दी—स्वर्ग मे भी वह (गंगापुत्र भीष्म) देव वधूटियो (अप्सरियो) का सुरत-संग न प्राप्त कर ले-यह विचार कर ब्रह्मचर्य व्रत भग की आशंका से परम भक्त गगापुत्र (भीष्म) को वर-प्रदान-द्वारा आप सशरीर स्वर्ग न ले गये ।

टिप्पणी—आजन्म ब्रह्मचारी भीष्म को श्रीकृष्ण का परम भक्त माना जाता है—'स्तु परा भक्तिर्मयि ते पुरुषर्षभ ।' (महा० शांतिपर्व-५१।१०) । श्रीकृष्ण ऐसे परम भक्त को सदेह स्वर्ग पहुँचा सकते थे, किन्तु उन्होने ऐसा नही किया । कवि ने इसका यही कारण उद्भावित किया है कि वे अपने भक्त को सदेह स्वर्ग ले जा कर सकट मे नही डालना चाहते थे । पार्थिव शरीर के कारण स्वर्ग मे अप्सराओ का सग पाकर आजन्म ब्रह्मचारी गागेय को ब्रह्मचर्य-पालन कठिन हो जाता। इससे बचाने के लिए श्रीकृष्ण भीष्म को सदेह स्वर्ग ले ही न गये । क्यो परमभक्त को सकट मे डालते ? मल्लिनाथ और नारायण ने यह भाव भी लिखा है कि श्रीकृष्ण ने परमभक्त भीष्म को सदेह स्वर्ग की अपेक्षा श्रेष्ठ मोक्ष प्रदान किया ॥७८॥

घातितार्कसुतकर्णदयालुर्जैत्रितेन्दुकुलपार्थकृतार्थः ।
अर्द्धदृक्ससुखमभ्यनयस्त्वं साश्रुभानुविह सद्विधुनेत्रः ॥ ७९ ॥

जीवातु—घातितेति । घातित विनाशित , अर्जुनेति शेष. । यः अर्कसुत. सूर्यपुत्र:, कर्णं अङ्गराजः, तस्मिन् दयालु. कारुण्यपरः अत एव अर्करूपदक्षिण नयनस्य साश्रुत्वमिति भाव । तथा जैत्रित जेता कृतः, इन्दुकुलः चन्द्रवंशजात', यः पार्थ. अर्जुन , तेन कृतार्थ सफलमनोरथ', भूभारहरणरूपनिजावतरणप्रयोजनस्य साफल्यादिति भाव' । एवञ्च चन्द्ररूपवामलोचनस्य हर्षविहसितत्वमिति भाव. । एवञ्च यथाक्रमं साश्रु रोदनजलसहित , भानुः सूर्यश्च, विहसन् हर्षेण विकासमाप्नुवन्, विधु. चन्द्रश्च, तौ नेत्रे दक्षिणवामलोचनद्वयं

यस्य ःः सः तादृशः, सूर्याचन्द्रमसौ नारायणस्य भगवतः नेत्रद्वयमिति श्रुत्युक्तत्वात्, त्वं भवान्, दुःखं सुखञ्च दुःखसुखम् दुःखसुखस्य अर्द्धम् 'अर्द्धं नपुंसकम्' इति अर्द्धशब्दस्य पूर्वनिपातः। पर्यायक्रमेण अर्द्धदुःखम् अर्द्धसुखञ्चेत्यर्थः। अभ्यनयः अभिनीतवानसि। अभ्यनय इत्यनेन निष्क्रियस्य ते न काऽपि वास्तविकी क्रिया विद्यते, यास्तु क्रियाः तव दृश्यन्ते, तत् सर्वमेवाभिनयमात्रमिति सूचितवानिति भावः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—घातितार्कसुतकर्णदयालुः जैत्रितेन्दुकुलपार्थकृतार्थः साश्रुभानुविहसद्विधुनेत्रः त्वम् अर्द्धदुःखसुखम् अभ्यनयः।

हिन्दी—मारे गये सूर्य-पुत्र कर्ण पर दयालु और चंद्रकुल के पृथा-पुत्र अर्जुन को जयी बनाकर सफलमनोरथ, अतएव, सूर्यरूपदक्षिण नेत्र में आँसू भरे तथा चन्द्ररूप वाम नयन में हर्ष भरे तुम (श्रीकृष्ण) ने आधा-आधा दुःख सुख का अभिनय किया।

टिप्पणी—नारायण तो दुःख-सुखातीत हैं, उन्हें सुख-दुःख व्यापते ही नहीं, तथापि नरदेह-धारण कर उन्हें भी दुःख सुख की लीला दिखानी होती है, यहाँ सूर्य पुत्र-कर्ण की मृत्यु पर सूर्य-रूप दक्षिण नेत्र में आँसू और जयी चंद्रवंशी अर्जुन के कारण चंद्र रूप वाम नेत्र में हर्ष प्रकट करते श्रीकृष्ण का वर्णन कर उन्हें उत्कृष्ट अभिनेता कहा गया। संपूर्ण जगत् महान् अभिनेता नारायण का अभिनय ही है, जिसका साक्षात् होता है। श्रुति के अनुसार सूर्य-चंद्र नारायण के दक्षिण-वाम नयन माने जाते हैं।

प्राणवत्प्रणयिराध ! न राधापुत्रशत्रुसखता सदृशी ते।
श्रीप्रियस्य सदृगेव तव श्रीवत्समारमहृदि धर्तुमजस्रम् ॥ ८० ॥

जीवातु—प्राणेति। प्राणवत् जीवनतुल्या,प्रणयिनी प्रेयसी, राधा वृषभानुसुता राधिका यस्य तत्सम्बद्धिः हे प्राणवत्प्रणयिराध ! हे कृष्ण ! ते तव, राधा अधिरथाख्यसूतजाया, सैव राधा श्रीराधिका वृन्दावनेश्वरी, तस्याः पुत्रः तनयः, कर्णः इत्यर्थः। अन्यः कश्चिदित्यर्थश्च, तस्य शत्रुः अर्जुनः, तस्य सखा मित्रं राधापुत्रशत्रुसखः तस्य भावः तत्ता सा, न सदृशी न युक्ता, पुत्रशत्रुं प्रति शत्रुताया एवौचित्यादिति भावः। परन्तु, श्रीः लक्ष्मीः, प्रिया प्रीतिदायिनी

भार्या यस्य तादृशस्य, तव भवत, आत्मनः स्वस्य, हृदि वक्षसि, अजस्रं सर्वदा, श्रीवत्सं रोमावर्त्तरूपलाञ्छनविशेषम्, श्रियः लक्ष्म्याः, वत्सं पुत्रञ्च, धर्त्तुं ग्रहीतुम्, सदृक् सदृशमेव योग्यमेवेत्यर्थः। राधाप्रियस्य राधासुतद्वेषिणि सख्यम् अनुचितम्, श्रीप्रियस्य हृदि श्रीवत्सधारणं युक्तमिति राधाश्रीवत्स-शब्दाभ्यां छद्मोक्तिः॥ ८०॥

अन्वय.—प्राणवत्प्रणयिराध, ते राधापुत्रशत्रुसखता (सदृशी न, श्री-प्रियस्य तव आत्महृदि अजस्रं श्रीवत्सं धर्त्तुं सदृक् एव।

हिन्दी—राधा (वृषभानुपुत्री) प्राण-समान जिसकी प्रणयिनी है, ऐसे श्रीकृष्ण, तुम्हारा राधा के पुत्र (कर्ण) के शत्रु (अर्जुन) के साथ मित्रता उचित नहीं है, (किंतु) श्री (लक्ष्मी) के प्रिय तुम्हारा अपने हृदय पर सदा श्रीवत्स (मणि, श्री पुत्र) का धारण उचित ही है।

टिप्पणी—यहाँ राधा और श्री तथा राधापुत्र तथा श्रीवत्स शब्दों की छद्मोक्ति है। जिसे राधा प्राणसम प्रिय है, वह राधा के पुत्र के शत्रु का मित्र बने यह नितांत अनुचित है, कहीं कोई प्रिया पुत्र के शत्रु से मित्रता करता है? यों प्रिया का पुत्र तो प्रिय के वक्षपर खेलता ही है, सो जो वे 'श्रीप्रिय' 'श्रीवत्स'को हृदय पर धारते ही हैं, यह ठीक ही है। नारायण श्रीवत्समणि को हृदय पर धारते ही हैं। वृषभानुनंदिनी राधा कृष्ण की प्राणप्रिया है, कर्ण की पालनकर्त्री, अधिरथ की पत्नी का नाम भी राधा था। *नाम-साम्य के आधार पर यह कथन है। नारायण ने 'श्रीवत्स' का भाव* 'ब्राह्मणपद-लाञ्छन' लेकर यह भाव माना है कि श्रीकृष्ण के समान 'स्वपक्ष-पातवत्स' और लोक-शिक्षार्थ ब्राह्मण-भक्तिपरायण अन्य नहीं है॥ ८०॥

तावकापरतनोः सितकेशस्त्वं हली किल स एव च शेषः।
साध्वसावनतरस्तव धत्ते तज्जरच्चिकुरनालविलासः॥ १॥

प्रकाशः—तावकेति। हे कृष्ण! हली लाङ्गलधरो बलभद्रः स एव च शेषोऽनन्तस्त्वमेव। शेषावताररूपोऽपि बलभद्रो भवानेव, न तु स त्वत्तो भिन्न इत्यर्थः। त्वं बलभद्रः, स एव शेषः। त्वत्तो हली न भिद्यते, हलिनश्च शेषो न भिद्यत इति वा। यतः कायस्य सम्बन्धाज्जरसा सितकेशो धवलितकच इत्यागमे। विष्णुपुराणादौ च यदुक्तम्—'उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ

ततः प्रभुः ।' इति । न विद्यते परोत्कृष्टाऽन्या यस्याः सा तावकी अपरा तनुस्त्वत्सम्बन्धिनी सर्वोत्कृष्टा सत्त्वमूर्तिस्तस्याः सितकेशः श्वेतकेशरूपो हली तवावतारोऽशावताररूपोऽसौ हली त्वं किल । तदवयवभूतकेशरूपत्वात्तस्य । स च हलयेव शेष इति वा । शेषरूपबलदेवलक्षणोऽसाववतरो मूर्तिः । अत एव तस्या भवदीयापरतनोर्जरतो जरसा धवलीकृतस्य चिकुरनालस्य केशदण्डस्य विलासं वर्णसारूप्यं साधु यथा तथा धत्ते। अतिगौरो बलदेवस्त्वदीयापरतनुधवलकेश इव भातीत्यर्थः । शेषस्यापि दीर्घत्वधवलत्वाभ्यां जराधवलदीर्घकेशसारूप्यधारणं युक्तमेव । 'कारणगुणा हि कार्ये गुणानारभन्ते' इति न्यायाच्च युक्तमेव । 'अंशावतारो बलभद्र' इति चोक्तम् । अत्र श्वेतकेश सहज एव, न तु जरायोगात्, इति वा । यतो हरिर्नित्यतरुण इति पुराणादिप्रसिद्धिः वस्तुतस्तु-कस्य ब्रह्मसुखस्येशो सुखरूपा विरयर्थः । प्रकाशकत्वेन सत्त्वस्य-सितशब्दवाच्यत्वात्, मोहकत्वेन च तमसः कृष्णशब्दवाच्यत्वात् सितकृष्णौ सत्त्वतमोगुणात्मकावेतावतारौ भूभारोत्तारणार्थं प्रभुरादिनारायणः स्वस्मात्प्रकटीचकारेति विष्णुपुराणस्य'सित–कृष्ण'पदस्यार्थः । 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इति भागवतवचनेन कृष्णस्तु-लीलाविग्रहधारी परब्रह्मैव । 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।' इति भगवद्वचनात् । बलभद्रस्त्ववतारः 'रामो रामश्च रामश्च' इति वचनात् । अन्यथा बलभद्रस्य सत्त्वमूर्तित्वम्, कृष्णस्य तमोमूर्तित्वमापद्येत, न च तथास्तीति बलभद्रस्य तमःप्रधानत्वदर्शनादिर्विशेषः । 'शितिकेश–' इति पाठे—'शिती धवलमेचकौ' इत्यभिधानात्त्वदीयपुराणतनोः सम्बन्धी शितिकेशः श्यामकेशरूपस्त्वम्, हली च धवलकेशरूपः, स एव च हली शेषो बलभद्रः शेषावतार. इति पुराणादौ । स त्वदीयधवलकेशविलासं धत्ते तत्साधु । कृष्णस्य कृष्णवर्णत्वाद्ध(द्व)लिनश्चातिगौरत्वाद्यथाक्रमं श्यामसितकेशत्वमौत्प्रेक्षिकत्वेनैव व्याख्येयमित्यलमतिविस्तरेण । "तावकापर–' इति पाठः साधीयान्, यतः 'युष्मदस्मदोः–' इत्यणि तवकादेशे वृद्धौ च 'वृद्धिनिमित्तस्य–' इत्यादिना पुंवद्भावप्रतिषेधे प्रसक्तेऽपि कर्मधारयत्वात् 'पुंवत्कर्मधारय—' इति प्रतिप्रसवात्पुंवद्भावः । अवतरः पूर्ववत् ॥ १ ॥

अन्वयः—तावकापरतनोः सितकेशः हली त्वम् एव, सः एव च शेषः किल असौ अवतरः तव तज्जरच्चिकुरनालविलासः साधु धत्ते ।

हिन्दी—(हे नारायण) अपनी श्रेष्ठ मूर्त्ति के शुभ्र केश रूप, हलधारी (बलराम) तुम ही हो और निश्चयतः वे ही शेष हैं, यह श्वेतकेशावतार तुम्हारे उस बुढ़ापे में हुए शुभ्र केशों की लीला को उचित ही धारण करता है।

टिप्पणी—इस श्लोक मे कृष्ण और बलराम का एकत्व प्रतिपादित किया गया है कि हलधारी, शेषावतार अनत बलराम कृष्ण से भिन्न नही हैं। विष्णु पुराण (५।१) में कहा गया है कि देवो की प्रार्थना पर परमेश्वर ने अपने दो शुभ्र और श्याम—सितकृष्ण-केश उखाड़े और कहा कि ये मेरे दोनो केश धरती पर अवतार ले उसका क्लेश हरेंगे—'एवं संस्तूयमानस्तु भगवान् परमेश्वर । उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ महामुने ।। उवाच सुरानेतौ मत्केशौ वसुधातले । अवतीर्य भुवो भारक्लेशहानिं करिष्यतः ।।' ये ही नारायण की श्रेष्ठ मूर्ति के सित कृष्ण केश क्रमश बलराम-कृष्ण हुए। इस प्रकार एक ही नारायण कृष्ण बलराम रूप मे प्रकट हुए वे अभिन्न हैं। बलराम को 'शेष' भी कहा जाता है, शेष अर्थात् अनन्त भी नारायण ही हैं। इस प्रकार भी उनमे अभिन्नता है। बलराम गौर वर्ण है— सितकेश, इसी से इस अवतार को नारायण के बुढ़ापे के कारण हुए शुभ्र केश के सदृश कहा गया है। शेष नाग भी लब और श्वेत हैं। बलराम चूँकि सितकेशावतार हैं और शेष हैं, अत उनकी शुभ्रता को उचित कहा गया है क्या कि कारण के गुण ही कार्य मे आते हैं। नारायण ने क + ईशौ पदच्छेद करके 'केशौ' का अर्थ ब्रह्मसुख माना है। 'सित' सत्त्व का वाचक है और 'कृष्ण' 'तमस्' का। इस प्रकार सितकेश बलराम सत्त्वप्रधान ब्रह्म सुख रूप है और कृष्ण तमोगुणप्रधान ब्रह्मसुखावतार। भू भार हटाने के लिए ब्रह्म के ये सत्त्वतमोगुणात्मक अवतार हुए थे। किंतु कृष्ण चरित और बलराम चरित पर दृष्टिपात करने से इसका उल्टा प्रमाणित होता है। वस्तुत दोनो एक ही हैं—कोई भेद नहीं, उन्हें भिन्न भिन्न मानने स दोष आ जाते है। इसी लिए कृष्ण के विषय में यहाँ कहा गया है कि वेही शेष, हली, सितकेश हैं। मल्लिनाथ की जीवातु व्याख्या इस श्लोक पर नहीं है अत नारायण की प्रकाश संस्कृत व्याख्या दी जा रही है ॥ १ ॥

हृद्यगन्धवह ! भोगवतीशः शेषरूपमपि बिभ्रदशेषः ।
भोगभूतिमदिरारुचिरश्रीरुल्लसत्कुमुदबन्धुरुचिस्त्वम् ॥ ८१ ॥

जीवातु—हृद्येति । हृद्यं मनोहरम्, गन्धं चन्दनादिसौरभम्, वहति धारयतीति हृद्यगन्धवहः तस्य सम्बोधनम्, हे हृद्यगन्धवह ! भोगवत्याः सुखभोगोचितायाः ककुद्मिकन्यायाः रेवत्याः, ईशः भर्त्ता, भोगः स्रक्चन्दनादिधारणम्, भूतिः ऐश्वर्यम्, भूषणादिधारणरूपा समृद्धिरित्यर्थः । मदिरा सुरा च, सुरापानञ्चेत्यर्थः । ताभिः रुचिरा मनोहारिणी, श्रीः सौन्दर्यं यस्य स तादृशः यद्वा—भोगस्य सम्भोगस्य, भूतिः समृद्धिः, भूतिकारिणीत्यर्थः । तथा भोगभूत्या भोगसमृद्धिजनिकया मदिरया सुरया, रुचिरा मनोज्ञा, श्रीः शरीरशोभा यस्य स तादृशः, मदिराया नेत्रलौहित्यादिरूपशोभाजनकत्वादिति भावः । बलभद्रस्य मदिराप्रियत्वादियमुक्तिः । उल्लसन्ती शोभमाना, कुमुदानां कैरवाणाम्, बन्धोः सख्युः, चन्द्रस्येत्यर्थः । रुचिः इव रुचिः शुभ्र शरीरकान्तिः यस्य सः तादृशः, त्वं भवान्, शेषस्य अनन्तनागस्य, रूपं मूर्त्तिम्, बिभ्रदपि धारयन्नपि, बलभद्रस्य शेषावतारत्वादिति भावः । अशेषः शेषो न, शेषात् अनन्तनागात् भिन्नः इत्यर्थः । असि इति शेषः, यो हि शेषः सः कथम् अशेषः इति शब्दतो विरोधः । अन्यच्च—हे विष्णो ! हृद्यः आहारेण हृदयान्तस्थः, गन्धवहः वायुः यस्य स तादृशः, सर्पाणां पवनाशनत्वात्-इति भावः । तत्सम्बुद्धौ हे हृद्यगन्धवह ! भोगः फणः विद्यते अस्याः इति भोगवती नागरमणी । 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः । तस्याः ईशः स्वामी, यद्वा—भोगवत्याः पातालगङ्गायाः, ईशः अधिपतिः, अनन्तस्य पातालाधिपतित्वादिति भावः । हृद्यगन्धवहभोगवतीशः इत्यस्य समस्तपदत्वे हृद्यगन्धवहश्च असौ भोगवतीशश्चेति विशेषणसमासः । भोगानां फणानाम्, भूतिः सम्पत्, बाहुल्यमिति यावत् अस्यास्तीति भोगभूतिमान्, सहस्रफणत्वादिति भावः । इरया भवा, शिरःस्थया पृथिव्या इत्यर्थः । 'इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात्' इत्यमरः । रुचिरा मनोहारिणी, श्रीः शोभा यस्य स इरारुचिरश्रीः, भोगभूतिमांश्चासौ इरारुचिरश्रीश्चेति स तादृशः । कर्मधारयः, तथा उल्लसन्ती शोभमाना, प्रकटयन्तीति यावत्; कुमुदे कुमुदाख्ये सर्पे 'कुमुदः कैरवे रक्तपङ्कजे कुमुदः कपौ । दैत्यान्तरे च दिङ्नागनागयोः परिकीर्त्तितः ॥' इति विश्वः ।

वन्धौ स्वजने; रुचिः प्रीतिः यस्य स तादृश, त्व भवान्, शेषस्य अनन्तस्य रूप मूर्तिम्, बिभ्रत् धारयन् अपि, अशेष असीम, असि भवसि, अतो न पूर्वोक्तिविरोध । अनन्तनागात्मकबलरामस्यापि दशावतारान्तर्गतत्वे न सोऽपि त्वमेव, सर्वात्मकत्वाद्विष्णोरिति भाव ॥ ८१ ॥

अ वय –हृद्यगन्धवह, भोगवतीश भोगभूतिमदिराहचिरश्री उल्लसत्कुमुदबन्धुरुचि त्व शेषरूपम् अपि बिभ्रत् अशेष ।

हिन्दी—हे मनोहर सुगन्धधारी, भोगवती (रेवती) के स्वामी, भोग मे समृद्धि लाने वाली मदिरा से सुश्री सपन्न, खिले कुमुदो के भ्राता (चद्र) के सदृश गौर कान्ति बलराम के समान भोगवती (सुखी) गोपिकाओ के स्वामी सुख की कारण मदिरा के तुल्य सुन्दर शोभा वाले (अथवा भोग-सपन्न अर्थात् विशालफणधारी कालियनाग पर अधिष्ठान से प्रसन्न हो सुन्दर प्रतीत होते) और चद्रमा के समान सर्वाह्लादकारी आप (श्रीकृष्ण) मनोहर गधवती भोगवती नदी या पातालपुरी के स्वामी, सहस्रफणो पर इरा (पृथ्वी) का धारण कर उसे सुन्दर बनाते, चद्रसम श्वेत शेष नागावतार शेष (बलराम) का रूप धारण करते हुए भी 'अशेष' अर्थात् अनत हैं।

टिप्पणी—यहाँ अनेकार्थ शब्दो के प्रयोग करके शेषावतार बलराम से कृष्ण की अभिन्नता कही गयी है । जो विशेषता उनमे है, वही श्रीकृष्ण मे है । शेषनाग के सम्बन्ध में भी ये सभी विशेषण उचित सिद्ध हो जाते हैं । शेषावतार से अभिन्न होते हुए भी कृष्ण 'अशेष' अर्थात् शेष भिन्न है । यह विरोध हुआ । परिहार हुआ 'अशेष' का अर्थ अन्तहीन करके । 'कुमुदबन्धु' के अनेक अर्थ किये गये हैं । कैरव के बन्धु असमान श्याम । कुमुद नामक (रामावतार मे) वानर मे रुचि रखने वाले । कुमुदतुल्य और बन्धु में रुचि रखते । कुमुदबन्धु-काम (प्रद्युम्नरूप मे अवतरित पुत्र) के प्रति प्रीति रखने वाले । बलराम पक्ष मे—जिसके कारण 'कु' (पृथ्वी) उल्लसित है, उस कृष्ण में रुचि रखते । शेष पक्ष में—उछलती पृथ्वी को फण पर धारण करते हर्ष और रुचि से संपन्न अथवा कुमुद नामक सर्प मे रुचि रखने वाले । भाव यही है कि शेषावतार बलराम भी श्रीकृष्ण ही हैं ॥ ८१ ॥

रेवतीश ! सुषमा किल नीलस्याम्बरस्य रुचिरा तनुभासा ।
कामपाल ! भवतः कुमुदाविर्भावभावितरुचेरुचितैव ॥ ८२ ॥

जीवातु—रेवतीति । रेवत्याः ककुद्मिकन्यायाः, ईशः भर्ता, तस्य सम्बोधनं रेवतीश ! हे रेवतीरमणबलराम ! कामपाल ! भोः कामपालापराख्यबलराम ! 'रेवतीरमणो रामः कामपालो हलायुधः' इत्यमरः । कोः भूमेः मुदः प्रीतेः, आविर्भावाय उत्पादाय, भूभारहरणेनेति भावः । यद्वा–कुमुदस्य तदाख्यनागस्य, आविर्भावाय उपस्थितये, भाविता कृता, रुचिरिच्छा येन तादृशस्य, बलरामस्य अनन्तनागरूपत्वेन कुमुदस्य च अनन्तसजातीयत्वेन सख्यसम्बन्धादिति भावः, भवतः तव तनुभासा शुभ्रदेहकान्त्या, नीलस्य नीलवर्णस्य, अम्बरस्य वस्त्रस्य, रुचिं रातीति रुचिरा मनोज्ञा, सुषमा शोभा, उचितैव अनुरूपैव, जातेति शेषः । श्वेतनीलयोर्वर्णयोः मिश्रणे शोभातिशयात् शरीरस्य शुभ्रकान्त्या नीलवसनस्य शोभा नितरामुचितैवेति भावः । अन्यच्च—रेवतीश ! हे रेवतीनक्षत्रपते ! कामपाल ! हे मदनोद्दीपक ! शशधर ! कुमुदानां कैरवाणाम्, आविर्भावाय प्रकाशनाय, प्रस्फुटनायेत्यर्थः । भाविता सञ्जाता, रुचिः दीप्तिः तस्य तादृशस्य, भवतः तव, तनुभासा देहप्रभया, ज्योत्स्नयेत्यर्थः । नीलस्य नीलवर्णस्य, अम्बरस्य गगनस्य, रुचिरा रमणीया, सुषमा परमा शोभा, उचितैव युक्तैव किल, जातेति शेषः । नीलाकाशे शुभ्रकान्तिशशधरस्य रम्यदर्शनत्वादिति भावः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—रेवतीश, कामपाल, कुमुदाविर्भवभावितरुचेः भवतः तनुभासा नीलस्य अम्बरस्य रुचिरा सुषमा उचिता एव किल ।

हिन्दी—हे रेवती (बलराम-पत्नी) के स्वामी, कामनाओं को पूर्ण करने वाले—कामपाल (बलराम-रूप श्रीकृष्ण), 'कु' अर्थात् पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए इच्छा करने वाले अथवा 'कुमुद' नामक नाग की उपस्थिति में रुचि रखने वाले आप (बलराम-रूप श्रीकृष्ण) की (और) देह-कांति से (ओढ़े गये) नीलाम्बर (नील उत्तरीय वस्त्र) की मनोहर शोभा ठीक ही हुई, जैसे कि रेवती-नक्षत्रके स्वामी, मदनोद्दीपक, कुमुदों के विकास के लिए जिसकी दीप्ति आविर्भूत होती है, ऐसे चन्द्र की देह-प्रभा (चांदनी) से नीले आकाश की मनोज्ञ शोभा ठीक ही होती है ।

टिप्पणी—यहाँ अनेकार्थ विशेषणों द्वारा नीलाम्बर-धारी बलराम-रूप श्रीकृष्ण की शोभा का वर्णन किया गया है, जिसकी समता कुमुद-विकासक चन्द्र से हो जाती है। जैसे शुभ्र चाँदनी से चन्द्र नीले आकाश की सुषमा को रमणीय बना देता है, जैसे ही बलराम के गौर शरीर की कांति से ओढ़े गये नील उत्तरीय की सुषमा मनोज्ञ बन जाती है। शुभ्र और नील ों का सगम ॥ ८२ ॥

(एकचित्ततितिरद्वयवादिन् त्रयीपरिचितोऽथ बुधस्त्वम्।
पाहि मां विधुतकोटिचतुष्कः पञ्चबाणविजयी षडभिज्ञः ॥१॥

(प्रकाशः – चतुर्भिः श्लोकैर्बुद्धं वर्णयति—एकेति। हे अद्वयवादिन् द्वैतबाह्यघटपटादिभेदानामसत्यताप्रतिपादनेनैकस्या ज्ञानाकारताया एव सत्यताङ्गीकारादद्वैतवादिन्! त्वं मां पाहि। किम्भूत.?—एकैव चित्ततिर्ज्ञानसन्ततिर्यस्य दीपकलिकान्यायेन क्षणिकज्ञानप्रवाह एवैको यस्य मते, न तु तदतिरिक्त किञ्चिदप्यस्ति, तादृश., अत एव—अद्वयवादिन् इति योजना। तथा—त्रय्या परिचितो ज्ञातस्तादृशो न भवसीत्यत्रयीपरिचितः। नसमासो वा नेति पृथग्वा। वेदत्रयीगम्योऽपि न भवसीत्यर्थः। अथच—वेदत्रय्या परिचितः कृतपरिचयो वेदत्रयी परिचिताऽभ्यस्ता येन तादृशो वा न भवति। सर्वस्य क्षणिकाङ्गीकाराद्धर्माधर्मव्यवस्थाया निरासादनङ्गीकृतवेदप्रामाण्य इत्यर्थः। अत एव बुध. पण्डित.। न हि पण्डित विना वेदादिसर्वदूषणसमर्थोऽन्यस्य बुद्धि. सम्भवति। अथच—अत्रयीपरिचितोऽपि बुध इति विरोधाभासः। न हि वेदत्रयमजानानस्यापि पण्डितत्वं सम्भवति। अथच—यः पण्डितः 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' इति मन्यमानो वेदान्ती स वेदत्रयी न मन्यत इति विरोधः। वेदान्तिना हि वेदप्रामाण्यस्य स्वीकृतत्वात्। अथच—अद्वयवादाद् द्वित्वसङ्ख्यामपि नाङ्गीकरोति। स द्वित्वसङ्ख्या न मन्यत इति युक्तमेवेत्यर्थः। तथा—माध्यमिकानामपि कियन्मात्रमतभेदेन बौद्धसिद्धान्तान्तःपातित्वात्। 'न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥' इत्यनिर्वचनीयप्रपञ्चवादित्वाद्विधुतं निराकृत सदसत्तदसद्वैलक्षण्यलक्षण कोटिचतुष्क प्रकारचतुष्टय येन, अथच—निरवतिपेघान्निरस्तचतुष्टयः। तथा—विरक्तत्वाद्दिगम्बरत्वात्पञ्चबाणः कामस्तद्विजयी

मारजित् ! अथच-'वण शब्दे' इत्यस्माद्धनि वाणशब्दस्तं पञ्चमङ्ख्यावाचिनं पञ्चशब्दं न सहत इत्यर्थः । यो हि चतुष्टयं न सहते स पञ्चापि न सहत इति युक्तमेवेत्यर्थः । तथा—देशादिव्यवहितवस्तुदर्शनम्, देशादिव्यवहितशब्दश्रवणम् , अतीतजन्मस्थितिस्मरणम्, परचित्तज्ञानम् अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाख्यपञ्चक्लेशक्षयः, अणिमादिसिद्धिश्चेति षडभिज्ञा ज्ञानप्रकारा यस्य। वेदानुसारिभिर्दैत्यैः पराभूता देवा ब्रह्माणं शरणं गताः, ब्रह्मणा प्रसादितो नारायणो बुद्धरूपेणावतीर्य दैत्यबुद्धि वेदार्थेभ्यश्च्यावयित्वा बौद्धमतमुपदिदेश, अतस्ते देवानां जय्याः सम्पन्ना इति । अत एव च तदीयमतपरिमाषयवस्तुसिकारि । 'परिचिताथ बुधस्त्वम्' इति पाठे नेति पदं भित्त्वा त्वया वेदत्रयी न परिचिता न स्वीकृतप्रामाण्या । अथ विरोधे । तथापि बुधस्त्वमित्यर्थः । 'परिचिताव्यबुधः-' इति पाठे त्रयीपरिचितानां वैदिकानां मार्गे पण्डितो न भवति । अवैदिकमार्गमेव जानान इत्यर्थः ॥ १ ॥

अन्वयः—अद्वयवादिन्, एकचित्ततति: अथ अत्रयीपरिचितः बुधः विधुतकोटिचतुष्कः पञ्चबाणविजयी षडभिज्ञः त्वं मां पाहि ।

हिन्दी—हे द्वैत को न मानने वाले (द्वैत अर्थात् घट-पटादि ज्ञान को असत्य प्रतिपादित कर ज्ञान की एकाकारिता—अद्वैत को मानने वाले बुद्ध), दीप-कलिकान्यायानुसार जिसके मत में क्षणिक ज्ञान-प्रवाह ही एक है—ऐसे; और त्रयी ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) से अपरिचित विद्वान्, चतुष्कोटि (सद्, असद्, सत्-असत्, न सद्-न असद्—इन चारों कोटियों) का निषेध करने वाले, पंचबाण (काम-मार) के जेता और षड् ज्ञान-प्रकारों के विशिष्ट ज्ञानी तुम (बुद्ध) मेरी (भक्त की) रक्षा करो ।

टिप्पणी—चार श्लोकों में नारायण के बुद्धावतार की स्तुति की गयी है । बुद्ध और उनका बौद्धमत अवैदिक है । मना यह गया है कि ब्रह्मा की प्रार्थना पर नारायण बुद्ध रूप में अवतीर्ण हुए और उन्होंने अवैदिक बौद्धमत की शिक्षा दैत्यों को दी, जिससे दैत्य देवों द्वारा जीते जा सके । यहाँ संख्याओं के आधार पर चमत्कार लाया गया है । बौद्ध मतानुसार एक क्षणिक ज्ञान-प्रवाह ही मान्य है । दीप-कलिका अर्थात् दीपक की लौ के समान क्षणिक ज्ञान-संतति ही एक है, शेष कुछ नहीं । इस प्रकार बुद्ध 'एक'.

को मानने वाले हैं, 'द्वैत'—दो को नहीं, वे अद्वयवादी हैं। वे वेदत्रयी को अमान्य ठहराते हैं, अत 'अत्रयीपरिचित' हैं—क्षणिकता को स्वीकारने के कारण धर्म, अधर्म, भोग-व्यवस्था को न मान वेद-प्रमाण को अंगीकार न करने वाले। यह ठीक भी है, जो 'दो' को भी नहीं मानता, केवल 'एक' को मानता है, वह 'तीन' को क्यों मानेगा ? परन्तु यहाँ विरोध उपस्थित हो जाता है। जो वेदों से अपरिचित है, वह पण्डित—बुध नहीं हो सकता, और 'अद्वयवादी' भी नहीं हो सकता, क्योंकि जो बुध है, वह 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' को माननेवाला अद्वयवादी वेदांती वेद की प्रामाणिकता स्वीकारता है। इस विरोध का परिहार इस अर्थ से हो जाता है कि बुद्ध एकज्ञान सतति को मानने-वाले अतएव अद्वयवादी और त्रिवेदी को प्रामाणिक न मानने वाले हैं। तीन का निषेध करने वाले बुद्ध चार कोटियों का भी निषेध करने वाले-'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' माध्यमिक तत्त्व को मानने वाले हैं। सदसदादि ज्ञान की चतुष्कोटि को निरस्त करने वाले। बुद्ध पचबाण—मार के जेता हैं। 'बण' का अर्थ शब्दवाचक भी है। बण+घञ्=बाण, दो-तीन-चार सख्याओं को अमान्य करने वाले बुद्ध पचबाण—पाँच की सख्या को सुनना भी नहीं चाहते हैं, किन्तु षडभिज्ञ हैं—१—देशादि व्यवहित वस्तु का दर्शन, २—ऐसे ही शब्द का श्रवण, ३—बीतीजन्म-स्थिति का स्मरण, ४—परचित्तज्ञान, ५—अविद्या, अस्मिता (अभिमान), राग, द्वेष, अभिनिवेश—इन पाँच क्लेशों का क्षय और ६—अणिमादि सिद्धि—इस षट्क के विशिष्ट ज्ञानी ॥ १ ॥

तत्र मारजयिनि त्वयि साक्षात्कुर्वति क्षणिकताक्षतमनिषेधौ ।
पुष्पवृष्टिरपतत्सुरहस्तात्पुष्पशस्त्रशरसन्ततिरेव ॥२॥

प्रकाशः—तत्रेति। तत्र तस्मिन् बुद्धावतारूपे सौन्दर्यजिजिनेन्द्रियत्वाच्च मारजयिनि कामस्य जेत्रे त्वयि क्षणिकता सर्वं क्षणिक सत्त्वात्, तथा—आत्म-निषेधश्च 'समनस्केन्द्रियजन्यनीलपीताद्याकारसविकल्पकनिर्विकल्पकवामनोपबृंहितचित्सन्ततिरेवात्मा, भूतान्येव चेतयन्ते, मनसा सयोगे ज्ञानमुत्पद्यते, तस्माद् देह एवात्मा, न तु नित्योऽन्य कश्चित्' इत्यादिप्रकारेण सर्वभावाना क्षणमात्रस्थायितानैरात्म्यञ्च स्वदर्शनोक्त समाधिना साक्षात्कुर्वति सति पुष्पशस्त्रस्य

कामस्य शरसन्ततिर्बाणपरम्परारूपा सुरहस्तात्पुष्पवृष्टिरेवापतत्। अतिबले हि शत्रौ करादायुधानि पतन्ति। कामोऽपि त्वत्तो भीतः पुष्पशरश्च। तथा च तस्य करात्वद्भयेन पतिता पुष्परूपबाणपरम्परा क्षणिकतात्मनिषेधौ साक्षात् कुर्वति त्वयि विषये सुरमुक्ता पुष्पवृष्टिरिवापतदित्युत्प्रेक्षा। कामेऽपि देवत्वमेव पुष्पवृष्टिमोचनहेतुः। यो हि लोकोत्तरं वस्तु प्रत्यक्षगोचरं करोति, यश्च कञ्चन विजयते, तयोरुपरि देवैः पुष्पवृष्टिः क्रियत इत्यादि ज्ञातव्यम् ॥२॥

अन्वयः—तव मारजयिनि क्षणिकतात्मनिषेधौ साक्षात्कुर्वति त्वयि पुष्पशस्त्रशरसन्ततिः सुरहस्तात् पुष्पवृष्टिः एव अपतत्।

हिन्दी—उस बुद्धावतार में मार (काम) के जयी और (सब भावों की) क्षणिकता और आत्मतत्त्व के निषेधों को साक्षात् करते तुझ पर पुष्पायुध (काम) के पुष्प-बाण देवों के हाथों से पुष्पवर्षा के ही समान गिरे।

टिप्पणी—बुद्ध ने सुन्दरता और जितेन्द्रियता के कारण 'मार' को जीता था, इसी से वे 'मारजयी' कहे जाते हैं। उन्होंने दो तत्त्वों को साक्षात् किया—१—सब क्षणिक है, २—आत्मनिषेध। उनकी मान्यता थी कि सब क्षणभंगुर है और आत्मा इस देह से भिन्न कुछ नहीं है, क्योंकि जो भी ज्ञान होता है वह इन्द्रियों और मन के संयोग से देहधारियों को ही होता है। उन्होंने 'मार' को जीता तो देवों ने उन पर फूल बरसाये। कल्पना यह है कि एक ओर तो पराजित 'मार' ने अपने पुष्पायुध बुद्ध के संमुखवर किये, दूसरी ओर एक देव के रूप में उसने वे आयुध रूप पुष्प ही मानो बुद्ध पर बरसा दिये। पराजित मार-देव ने जयी बुद्ध के संमुख पुष्पायुध गिराते हुए जैसे पुष्पवर्षा ही की ॥ २ ॥

> तावके हृदि निपात्य कृतेय मन्मथेन दृढधैर्यतनुत्रे।
> कुण्ठनादतितमां कुसुमानां छत्रमित्रमुखतेव शराणाम् ॥३॥

प्रकाशः—तावक इति। मन्मथेन दृढमभेद्यं धैर्यमेव तनुत्रं कवचं यस्य तस्मिंस्तावके हृदि मनसि, अथच—वक्षसि अर्थाच्छरान्निपात्य नितरां दृढाघातपूर्वं यथा तथा पातयित्वा दृढतनुत्रत्वादेवातितमां कुण्ठनात्तैक्ष्ण्यत्यागाद्धेतोः कुसुमरूपाणां स्वीयशराणां छत्रं मित्रं येषां तानि, छत्रस्य वा मित्राणि, मुखानि

येषां तेषां भावस्तत्ता सूचीमुखतापरित्याजनेन छत्रतुल्यवृत्तमुखेनेयं प्रत्यक्षदृष्टा कृता। दृढतनुत्रे हि पातितो बाण कुण्ठितत्वाद् वृत्तमुखो भवति। स्मरशरा शरत्वात्पूर्वं सूचीमुखा आसन्, इदानीन्तु धैर्यकञ्चुके त्वदीये हृदि निपत्य नितरा कुण्ठनादिव तेषां पुष्परूपाणां छत्राकारमुखता जातेत्युत्प्रेक्षोपमे। विकसितानि पुष्पाणि छत्रतुल्यानि भवन्ति। अथच—छत्र छायाकारित्वात्सुखदमेव यथा न तु दुःखदम् तथा कामशरा अपि त्वद्धृदयस्यानिर्वापका एव जाता न तु त्वा जेतुमशकन्नित्यर्थः। एतादृशो जितेन्द्रियः कोऽपि नास्तीति भावः। निपात्य, ण्यन्ताद् क्त्वो ल्यप्॥ ३॥

अन्वयः—मन्मथेन दृढधैर्यतनुत्रे तावके हृदि निपात्य अतितमां कुण्ठनात् कुसुमानां शराणां छत्रमित्रमुखता एव इयं कृता।

हिन्दी—'मार' ने दृढ धैर्य रूपी कवच से ढके तुम्हारे (बुद्ध के) हृदय (वक्ष) पर गिराकर अतिशय कुंठित (मोथरे) हुए पुष्पबाणों को यह छाते के समान मुखवाला ही बनाया।

टिप्पणी—आशय यह है धैर्यधन बुद्ध पर काम का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उनकी छाती धैर्यरूप कवच से ढकी थी। उससे टकराकर काम के पुष्पबाण मोथरे हो गये और कठोर वस्तु से टक्कर लगने के कारण फैलकर उनका मुख—अग्रभाग छाते के समान चौड़ा हो गया। इस प्रकार कष्ट देने को प्रयुक्त बाण आच्छादित करने वाले छाते का रूप धारण कर सुख देने वाले बन गये। 'छत्र' का अर्थ 'कुकुरमुत्ता' भी होता है, वर्षा ऋतु में छाते के आकार में फूल उठने वाली मुलायम, सफेद गुच्छा सी घास। यह अत्यंत कोमल होती है, छूते ही टूट जाती है। धैर्य-कवच से ढके बुद्ध के हृदय से टकराकर 'मार' के पुष्प-बाण वैसे 'छत्र' (कुकुरमुत्ता)-से हो गये॥ ३॥

यत्तव स्तवविधौ विधिरास्ये चातुरीं चरति तच्चतुरास्यः।
त्वय्यशेषविदि जाग्रति शर्व-सर्वविद्ब्रुवतया शितिकण्ठः॥४॥

प्रकाश—यदिति। विधिस्तव स्तुतिविधौ बहुभिर्मुखैश्चातुरीं वैदग्ध्यं यद्यदि चरति प्राप्नोति नानाप्रकारैर्यदि तद्वर्णनं करोति तत्तर्हि चतुराद्यि वर्णननिपुणान्यास्यानि यस्यैतादृशो भवेन्नान्यथा। अथच—तद्वर्णनविधौ

यस्माच्चातुरीं प्राप्नोति तस्मादेव हेतोश्चतुराण्यास्यानि यस्येति चतुरास्यो न तु चत्वार्यास्यानि यस्येति विग्रहेण चतुरास्यः। आस्यानां चतुष्ट्वे सत्यपि तत्रार्थे गौरवाभावात् अत्र तु गौरवसद्भावात्तथैवोच्यत इत्यर्थः। त्वदीयस्तुतिपरत्वाद् ब्रह्मणो लोकत्रयेऽप्येवं कीर्तिरजनीति भावः। तथा–शर्वो हरस्त्वयि बुद्ध एवाशेषविदि सर्वज्ञे जाग्रति सति सर्वविदं सर्वज्ञमात्मानं ब्रूते स सर्वविद्ब्रुवस्तत्तयैव परगुणस्यात्मन्यारोपेण हेतुना कलङ्केन शितिकण्ठो नीलकण्ठः, न तु कालकूटभक्षणेन नीलकण्ठः, त्वत्स्पर्धितया लोकत्रयेऽपि महेशस्यैवमयशो जातमित्यर्थः। ब्रह्ममहेशाभ्यामपि सकाशात्त्वमेव परमपुरुषः सर्वज्ञ इति भावः। अन्यस्याप्यात्मस्तुतया सर्वसन्निधौ लज्जया मालिन्यं भवति। सर्वविद्ब्रुवेति विदुषिब्रुवेतिवत् ॥ ४ ॥

अन्वयः—विधिः तव स्तुतिविधौ आस्ये यद् चातुरीं चरति तद् चतुरास्यः, शर्वः अशेषविदि त्वयि जाग्रति सर्वविद्ब्रुवतया शितिकण्ठः।

हिन्दी—विधाता तुम्हारी (बुद्ध की) स्तुति करने में संलग्न मुख में जो चतुरता दिखाता है, उसी से वह (विधाता) चतुरतापूर्ण आस्य (मुख) वाला 'चतुरास्य' है (चार आस्यों से संपन्न 'चतुरास्य' नहीं)। शिव सर्वज्ञ तुम्हारे (बुद्ध के) 'जाग्रत' होने पर जो अपने को सर्ववेत्ता कहते हैं इसी (कलंक) से नीलकंठ हैं (नीला कंठ होने के कारण नहीं)।

टिप्पणी—बुद्ध की स्तुति में यहाँ यह प्रकट किया गया है कि बुद्धावतार रूप में नारायण विधि और शिव से भी महत्त्वपूर्ण हैं। विधाता 'चत्वारि आस्यानि यस्य सः चतुरास्यः' (चारमुखों वाला) इस विग्रह के आधार पर 'चतुरास्य' नहीं कहाते, प्रत्युत वे बड़ी चतुरता के साथ मुख से बुद्ध-स्तवन करते हैं, इससे 'चतुरास्य' कहाते हैं—चातुरीयुक्त आस्य वाले–चतुराणि वर्णननिपुणानि आस्यानि यस्य सः—चतुरास्यः। शिवजी भी इसी प्रकार इस कारण 'शितिकंठ' (कालकूट-पान से नील-कंठ) नहीं हैं कि उन्होंने विषपान किया, प्रत्युत अपने को जो वे बुद्ध जैसे सर्वज्ञ के रहते सर्ववेत्ता कहते—कहाते हैं, इसी कलंक—मिथ्याप्रचार के कारण उनका कंठ नीला पड़ गया है। अन्य गुणों को अपना कहकर प्रचारित करने का कलंक उन पर लग गया है ॥४॥

धूमवत्कलयता युधि कालं म्लेच्छकल्पशिखिना करवालम् ।
कल्किना दशतयं मम कल्कं त्वं व्युदस्य दशमावतरेण ॥५॥

प्रकाश —श्लोकद्वयेन कल्किनं स्तौति–धूमवदिति । त्वं धूमवत् कालं करवालं खड्गं युधि म्लेच्छैः सह युद्धे कलयता धारयता मृत्युरूपं खड्गं धूममिव धारयता वा। अत एव–म्लेच्छानां कल्पशिखिना प्रलयकालानलरूपेण म्लेच्छा इव म्लेच्छा पापिनस्तेषां वा, म्लेच्छप्रायाणां वा, एवम्भूतेन कल्किसंज्ञेन दशमावतारेण कृत्वा मम दशतयं दशावयवं कल्कं पापं व्युदस्य निराकुरु। समूलमुन्मूलयेत्यर्थः । अथच–यः स्वयं कल्की सोऽन्यकल्कं विनाशयतीति विरोधः । कल्किशब्दस्य विष्णुनामत्वात्परिहारः । म्लेच्छकल्पशिखिनेरयवतारप्रयोजनमुक्तम्। अदत्तस्य वस्तुनः स्वयं ग्रहणम्, यागीयानिरिक्ता हिंसा, परस्त्रीगमनञ्च (इति) त्रिविधं कायिकम् । पारुष्यम्, अनृतम्, पैशुन्यम्, असम्बद्धप्रलापश्चेति चतुर्विधं वाचिकम् । परद्रव्यग्रहणेच्छा, परानिष्टचिन्ता, वृथैव परेषु दोषाभिध्यानञ्चेति त्रिविधं मानसम् । इति दशविधं पापम् । चक्षुस्त्वक्श्रोत्रघ्राणजिह्वापाणिपादपायूपस्थमनोजन्यं वा । दशसु मासेषु भवत्वादगर्भवासलक्षणं दुःखमिति वा । 'कल्कं पापाशये पापं' इति विश्वः ॥ ५ ॥

अन्वय —त्वं धूमवत् कालं करवालं युधि कलयता म्लेच्छकल्पशिखिना कल्किना दशमावतरेण मम दशतयं कल्कं व्युदस्य ।

हिन्दी—(हे नारायण) तुम धुएं के समान काली तलवार अथवा कालसमान कृपाण को धूप के तुल्य (म्लेच्छों के साथ) युद्ध में धारण करते हुए म्लेच्छों के विनाशार्थ प्रलयाग्निस्वरूप 'कल्कि' नामक दशम अवतार के द्वारा मुझ भक्त नल के दसों प्रकार के पापों का निराकरण करो।

टिप्पणी—दो श्लोकों (५, ६) में नारायण के दशमावतार कल्कि का स्तवन किया गया है। माना जाता है कि 'कल्कि' नाम से म्लेच्छनाशार्थ नारायण का दशमावतार कलियुग में संभलनगर में होगा। यहाँ भक्त नल अपने दसों प्रकार के पापों के निराकरणार्थ 'कल्कि' से प्रार्थना करता है। यहाँ विरोधाभास है। 'कल्क' का अर्थ 'पाप' भी है। जो स्वयं 'कल्कि' अर्थात् पापी है, वह अन्य के पापों का निराकरण नहीं कर सकता,

किंतु यहाँ 'कलिक' अर्थ 'पापी' न मान कर 'विष्णु' का एक नाम माना गया है और इस प्रकार विरोध का परिहार किया गया है। दशविध पाप ये हैं—(१) दान की गयी वस्तु का ग्रहण, (२) यज्ञातिरिक्त उद्देश्य से हिंसा, (३) परस्त्रीगमन (४) क्रूरता, (५) झूठ, (६) चुगली करना, (७) असंबद्ध प्रलाप, (८) अन्य की वस्तु ले लेने की इच्छा, (९) दूसरे का अनिष्ट चाहना और (१०) अन्य पर वृथा दोषारोपण। इनमें प्रथम तीन कायिक, ४–७ वाचिक और शेष अंतिम तीन मानस पाप कहाते हैं। दशेंद्रियों द्वारा कृत दस पाप भी होते हैं। दसमास गर्भ में रहना भी 'दशतय' पाप है॥ ५॥

देहिनेव यशसा भ्रमतोर्व्यां पाण्डुरेण रणरेणुभिरुच्चैः।
विष्णुना जनयितुर्भवताऽभून्नाम विष्णुयशसश्च सदर्थम्॥६॥

प्रकाशः—देहिनेति। विष्णुयशसस्तन्नामकस्य जनयितुः पितुः विष्णुरिति नाम भवता च त्वयैव कृत्वा सदर्थं सान्वयमभूत्। किम्भूतेन भवता—रणरेणुभिरुच्चैः पाण्डुरेण धवलतरेण, तथा—दुष्टगवेषणार्थमुर्व्यां भ्रमता विष्णुना व्यापकेन विष्णुसंज्ञकेन च पाण्डुरत्वाद्व्यापित्वाच्च देहिना शरीरधारिणा यशसेव यशोरूपेण विष्णुव्यापकं यशो यस्य त्वया पुत्रेणेति यावत्। तस्य तव पितुर्नाम सान्वयमभूत्, जातप्रायमेवेति भाविन्यपि भूतवदुपचारः। अतीतकलियुगान्तापेक्षयाऽभूदिति निर्देशो वा। पूर्वं तु डित्थादिवत्तन्नामाभूत्, त्वय्युत्पन्ने तु तदर्थकमभूदित्यर्थः॥६॥

अन्वयः—रणरेणुभिः उच्चैः पाण्डुरेण उर्व्यां भ्रमता विष्णुना देहिना इव यशसा च भवता विष्णुयशसः जनयितुः नाम सदर्थम् अभूत्।

हिन्दी—संग्राम भूमि में उड़ती धूल से शुभ्रतर पृथ्वी पर भ्रमण करते व्यापक 'विष्णु' रूप शरीरधारी यश द्वारा आप (कल्कि) से 'विष्णु' अर्थात् व्यापक यशधारी का जनक हो जनयिता (पिता) का 'विष्णु' नाम सार्थक हुआ।

टिप्पणी—यहाँ विष्णु के 'कल्कि' अवतार को विष्णु का नाम सार्थक करने वाला कहा गया है। म्लेच्छों के संहारक कल्कि की कीर्ति धवलतर

है। उसके दृश्यमान कारण दो हैं—एक, रणभूमि में उड़ी धूल से कीर्ति शुभ्र हुई, दो, पृथ्वी पर भ्रमण करने से भी शुभ्रता आयी और इसी से वह कीर्ति व्यापक अर्थात् 'विष्णु' भी हुई। विष्णु अर्थात् व्यापक कीर्तिशाली कल्कि को 'विष्णुयश' विशेषण प्राप्त हुआ। कल्कि विष्णु के अवतार हैं—अर्थात् विष्णु उनके जनयिता हुए। 'विष्णु' अर्थात् सर्वव्यापी नारायण का नाम इसी प्रकार सार्थक हुआ कि उनका अवतार (पुत्र) 'विष्णुयश' है। आशय यह कि कल्कि अवतार में विष्णु रणभूमि में म्लेच्छों का विनाश कर के शुभ्रतर और सर्वतोव्याप्त यश प्राप्त करेंगे ॥६॥

सन्तमद्वयमयेऽध्वनि दत्तात्रेयमर्जुनयशोऽर्जुनबीजम् ।
नौमि योगजनितानघसञ्ज्ञं त्वामलर्कभवमोहतमोऽर्कम् ॥७॥

प्रकाश —दत्तात्रेय स्तौति–सन्तमिति। अहं दत्तात्रेयनामानं त्वां नौमि स्तुमः–अद्वयमयेऽध्वनि अद्वैतमार्गे ऐकात्म्यवादे सन्तं वर्तमानम् तथा–अर्जुनस्य कार्तवीर्यार्जुनस्य यशसो यदर्जनं तस्य बीजं मूलम्। कार्तवीर्येणाराधितो दत्तात्रेयस्तव यशो लोकव्यापि भविष्यतीति वरं दत्तवान्। 'दुर्जन–' इति पाठे अर्जुनयश एवार्जुनो वृक्ष, तस्य बीजम्। वृक्षस्योत्पत्तिर्बीजादेव युक्ता। अथच–अर्जुनं धवलं यशो यस्यैवंविधोऽर्जुनः कार्तवीर्यस्तस्य बीजम्। तथा–अष्टाङ्गयोगेन जनितोत्पादिता पापादिरहित्यादनघ इत्यपरा सञ्ज्ञा यस्य। तदा हि देवैर्भोगबाहुल्यादनघेति सञ्ज्ञा कृता। तथा अलर्कनाम्न ऋतुध्वजमदालसापुत्रस्य राज्ञो भवमोहो ममतादिरूपः संसारमोहः स एव तमोऽन्धकारस्तस्य विनाशहेतुत्वादर्कस्तम्। योगमार्गोपदेशेन तस्य मोहं चिच्छेदेति पुराणकथा ॥ ७ ॥

अन्वयः —अद्वयमये अध्वनि सन्तम् अर्जुनयशोऽर्जनबीजं योगजनितानघसञ्ज्ञम् अलर्कभवमोहतमोऽर्कं दत्तात्रेय त्वां नौमि।

हिन्दी—अद्वैतमार्ग (ऐकात्म्यवाद) में वर्तमान, कार्तवीर्य सहस्रार्जुन के कीर्ति संचय के मूल, अष्टांग योग-द्वारा (पापादि रहित होने के कारण) 'अनघ' (अघ-(पाप)-हीन) संज्ञा के उत्पादक तथा ऋतुध्वज-मदालसा के पुत्र 'अलर्क' के सांसारिक मोह रूपी अंधकार के विनाशार्थ सूयरूप दत्तात्रेय नाम के तुम (विष्णु) को नमन करता हूँ।

टिप्पणी—इस श्लोक में दत्तात्रेय-रूप नारायण का स्तवन है। विष्णु के चौबीस अवतारों में महर्षि दत्तात्रेय की गणना होती है। श्रीमद् भागवत के अनुसार इन्होंने (१) पृथ्वी, (२) वायु, (३) आकाश, (४) जल, (५) अग्नि, (६) चंद्र, (७) सूर्य, (८) कपोत, (९) अजगर, (१०) सागर, (११) पतंग, (१२) मधुकर, (१३) हाथी, (१४) मधुमक्खी, (१५) हरिण, (१६) मत्स्य, (१७) पिंगला वेश्या, (१८) गृद्ध, (१९) बालक, (२०) कुमारी कन्या, (२१) बाण बनाने वाला, (२२) सर्प, (२३) मकड़ी और (२४) तितली से शिक्षा ली थी, अतएव इन चौबीसों को वे अपना गुरु मानते थे। वे अद्वैतवादी थे। सहस्रार्जुन के आराधना करने पर प्रसन्न हो दत्तात्रेय ने उसे वर दिया था कि उसकी कीर्ति लोक में व्याप्त होगी, अतएव यहाँ उन्हें अर्जुन के यशोर्जुन का मूल कहा गया है। इसका अर्थांतर शुभ्र यशोधारी सहस्रार्जुन का मूल भी किया गया है। अर्जुनयश-रूप अर्जुनवृक्ष का बीज भी अर्थांतर है। अष्टांग-योग के द्वारा निष्पाप बने दत्तात्रेय को देवों ने 'अनघ' कहा था। राजा शत्रुध्वज (ऋतध्वज) और रानी मदालसा के पुत्र अलर्क का मोह योगोपदेश-द्वारा दत्तात्रेय ने दूर किया था—यह पुराण-कथा है—'योगमष्टाङ्गमाचख्यावलर्काय महात्मने।'— ब्रह्म० १८०।३२। इसी आधार पर अलर्क के मोहांधकार का सूर्य इन्हें कहा गया है॥ ७॥

भानुसूनुमनुगृह्य जय त्वं राममूर्तिहतवृत्रहपुत्रः।
इन्द्रनन्दनसपक्षमपि त्वां नौमि कृष्ण! निहतार्कतनूजम्॥८॥

प्रकाशः—एवं दशावतारान्निर्वर्ण्य भक्त्यतिशयेन पुनरपि कियतस्तानेवावतारांस्त्रिविक्रमं हरिहरौ बालमुकुन्दञ्च सङ्क्षेपेण चतुर्विंशत्या श्लोकैर्वर्णयति—भानुसूनुमिति। हे विष्णो! भानुसूनुं सूर्यपुत्रं सुग्रीवमनुगृह्य वालिहृतां तद्वधूं तारां तस्मै दत्त्वा राज्याभिषेकद्वारा कृतार्थीकृत्य राममूर्त्या रामावतारेण हतो मारितो वृत्रघ्न इन्द्रस्य पुत्रो वाली येन, स त्वं रामो जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व। नमस्योऽसीत्यर्थः। तथा भो कृष्णावतार! अहमिन्द्रनन्दनस्यार्जुनस्य सपक्षं मित्रभूतम्, अत एव निहतो मारितोऽर्कतनूजो येनेति वा। यो भानुसूनुमनुगृह्णाति स निहतार्कतनूजः कथम्? तथा—हतेन्द्रपुत्रः स

इन्द्रपुत्रमित्र कथम् ? इति विरोधार्थोऽपिशब्दः । निग्राह्यानुग्राह्ययोस्तत्पुत्रयो रामकृष्णावतारयोश्च भेदात्तु विरोधपरिहारः । एतादृग्विरुद्धचरितत्वाद् दुर्विज्ञेय परमपुरुषोऽसीति भावः ॥ ८ ॥

अन्वय —भानुसूनुम् अनुगृह्य राममूर्तिहतवृत्रहपुत्र, त्वं जय, कृष्ण, इन्द्रनन्दनसपक्ष निहताकतनूजम् अपि त्वां नौमि ।

हिन्दी—सूर्यपुत्र (वानरराज सुग्रीव) पर (राज्यादि देने की) कृपा करके रामावतार मे वृत्रासुर के हता (इन्द्र) के पुत्र (सुग्रीवाग्रज बालि) को मारने वाले तुम (नारायण) जयी होओ, हे कृष्णावतार, इन्द्रपुत्र (पाण्डव अर्जुन) के मित्र, सूर्यपुत्र (कर्ण) का वध कराने वाले भी तुम्हे नमन करता हूँ ।

टिप्पणी—पूर्ववर्णित श्लोको में नारायण के प्रमुख अवतारो की स्तुति करके पुनः उनके अनेक अवतारो की वन्दना की गयी, जो आगे आये चौबीस श्लोको मे है—'भानुसूनुमनुगृह्य' इत्यादि से 'विश्वरूप' इत्यादि तक । इस श्लोक मे राम-कृष्ण के परस्पर-विरोधी कृत्यो का उल्लेख करके दुर्विज्ञेय परमपुरुष नारायण को नमन किया गया है। राम ने सूर्यपुत्र (सुग्रीव) को कृतार्थ किया और इन्द्रपुत्र (बालि) का वध किया। कृष्ण ने इन्द्रपुत्र (अर्जुन) को कृतार्थ किया और सूर्यपुत्र (कर्ण) का वध कराया। ये परस्पर-विरोधी कृत्य नारायण ने दो अवतारों मे किये ॥ ८ ॥

वामनादणुतमादनुजीयास्त्व　　त्रिविक्रमतनूभृतदिक्कः ।
वीतहिंसनकथादथ बुद्धात्कल्किना हृतसमस्त ! नमस्ते ॥९॥

प्रकाशः—वामनादिति । हे विष्णो ! अणुतमाद् ह्रस्वतमशरीराद्वामनावतारादनु पश्चात् त्रिविक्रमावतारस्य तन्वा शरीरेण त्रिविक्रमावताररूपया वा तन्वा भृता व्याप्ता दिशो येन स त्वं जीयाः सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । तथा—वीता निवृत्ता हिंसनकथा प्राणिवधवार्तापि यस्मादेवम्भूताद् बुद्धावतारात्, अथ पश्चात् कल्किना दशमावतारेण कृत्वा हृतं मारितं कलिमलदूषित समस्त प्राणिजात येन तादृश विष्णो ! ते तुभ्य नमः । यो ह्यणुतमः स एव तनूभृतदिक्को व्यापकदेहः कथम् ? तथा—यश्च वीतहिंसनकथः स एव हृतसमस्त इति

विरोधः, अवतारभेदेन परिहारः। दुर्विज्ञेयचरितोऽसीति भावः। वामन-त्रिविक्रमौ वर्णितौ ॥ ९ ॥

अन्वयः— अणुतमात् वामनात् अनु त्रिविक्रमतनूभृतदिक्कः त्वं जीयाः, वीतहिंसनकथात् बुद्धात् अथ कल्किना हृतसमस्त, ते नमः।

हिन्दी—अत्यंत छोटे वामन शरीर-धारण के अनन्तर त्रिविक्रम शरीर द्वारा दिशाओं को व्याप्त करने वाले तुम (नारायण) जयी होओ, हिंसा (प्राणिहत्या) की बात भी न करने वाले बुद्धावतार के पश्चात् कल्कि अवतार द्वारा हे समस्त पापियों का नाश करनेवाले, तुम्हें नमस्कार।

टिप्पणी—यहाँ भी दो अवतारों की वन्दना की गयी, एक—वामनावतार जिसमें नारायण ने तीन पगों में तीनों लोक नाप लिये थे, दो—कल्कि की, जिसका उद्देश्य कलि-कल्मष दूर करना है। विरोधाभास का चमत्कार है। जो वामन अर्थात् बहुत छोटा है, वह स्व-शरीर से दिशाओं को कैसे व्याप्त कर सकता है? यह विरोध है। परन्तु वामनावतार में नारायण ने ऐसा ही विषम चरित्र दिखाया था, यह विरोध का परिहार है। ऐसे ही जो नारायण बुद्धावतार में अहिंसा के व्रती थे, वे कल्कि-रूप में 'हृतसमस्त' (सबको मारनेवाले) कैसे हो गये? यह विरोध है। दुर्विज्ञेय-चरित नारायण ने क्रमशः बुद्ध और कल्कि अवतारों में ये विरोधी चरित प्रकट किये। अवतार-भेद से ऐसा हुआ। भाव यही कि नारायण दुर्विज्ञेयचरित हैं।।९।।

मां त्रिविक्रम! पुनीहि पदे ते किं लगन्नजनि राहुरुपानत्।
किं प्रदक्षिणनकृद्भ्रमपाशं जाम्बवानदित ते बलिबन्धे ॥१०॥

प्रकाशः—मामिति। हे त्रिविक्रम! त्वं मां पुनीहि। तथा—गगनव्यापित्यूर्ध्वीकृते ते पदे विष्णुपदे लगन् नक्षत्रमालामध्यवर्ती श्यामरूपो राहुरुपानद् अजनि किं पादरक्षिकेव जाता किम्?। एतावदतिमहच्छरीरं धृतम्, यस्य चरणस्थाने गगनस्थो राहुरुपानदिव जात इत्यर्थः। सापि हि श्यामा,चरणे च लगति। तथा—प्रदक्षिणनं प्रदक्षिणाख्यं पञ्चदशमुपचारं कुर्वन् जाम्बवान् ऋक्षराजो ब्रह्मावतारो बलिनिबन्धननिमित्तं ते तुभ्यं भ्रमिपाशं परिभ्रमणरूपं वलयाकारवेष्टनमेव पाशं बन्धनरज्जुमेवादित दत्तवान् किम्?। यो हि

कञ्चिद्‌वन्धुमुपक्रमते तस्मै केनचित्पाशो दीयते। यद्यपि देवेन बलिर्वाग्बन्धमेव प्रापित, न तु रज्ज्वादिबन्धम् तथापि लोके बद्ध इति प्रसिद्धिवशाद्‌बन्धन-शब्दच्छलेन कवि पाशशब्द प्रायुङ्क्त। जाम्बवान् किल तदा त्रिविक्रमस्य षोडशोपचारपूजामकृतेति प्रवाद । अत्रापि त्रिविक्रमो वर्णितः। 'बन्ध्रे' इति पाठे तृजन्ताद्‌बन्धेश्चतुर्थी 'ते' इत्यस्य विशेषणम्। 'बन्ध' इति तस्मादेव सम्बुद्धि ॥ १० ॥

अन्वय —त्रिविक्रम, मा पुनीहि, ते पद लगन् राहु किम् उपानद् अजनि ? प्रदक्षिणकृत् जाम्बवान् बलिबन्धे ते कि भ्रमिपाशम् अदित ?

हिन्दी—हे त्रिविक्रमावतार (नारायण) मुझे पवित्र (निष्पाप) करो। तुम्हारे (त्रिविक्रम) के चरण में लगता राहु क्या जूता बन गया था ? प्रदक्षिणा करते ऋक्षराज जाम्बवान् ने (त्रिविक्रमावतार मे) बलि (दानवराज) के बन्धन के निमित्त तुम्हें क्या प्रदक्षिणा के भ्रमण (चक्करों) में बन्धन-पाश दिया था ?

टिप्पणी—त्रिविक्रमावतार मे वामन ने नारायण के ऊर्ध्व लोक की ओर जो अपना चरण बढाया था, उसने आकाश का व्यास कर लिया। *गगन मे स्थित नक्षत्रमालामध्यवर्ती काला राहु उस विशाल चरण में सलग्न* कृष्णवर्ण उपानद् (जूत) की भाँति लग रहा था। यह माना जाता है कि वामन-नारायण की ऋक्षराज ने षोडशोपचार द्वारा पूजा की थी, इसमे प्रदक्षिणा भी की। कल्पना की गयी है कि ऋक्षराज प्रदक्षिणा करते समय जो चारों ओर घूमे, वही प्रदक्षिणा की भ्रमि (चक्कर) उनके द्वारा भगवान् को निवेदित हो बलि-बन्धन-निमित्त रज्जु बन गयी। यद्यपि बलिराज को पाश द्वारा नही बाँधा गया था, तथापि बधन पाश मे होता है। लोक में यही प्रसिद्धि है, सो यहाँ भी जाम्बवान के परिभ्रमण रूप वलयाकार वेष्टन को पाश मान लिया गया।

श्लोक सख्या १–१० पर प्रकाश सस्कृत व्याख्या दी गयी है। जीवातु व्याख्या प्राप्त नहीं है ॥ १० ॥)

अर्द्धचक्रवपुपाऽर्जुनबाहून् योऽलुनात् परशुनाऽथ सहस्रम्।
तेन किं सकलचक्रविलूने बाणजातुनिचयेऽव्वति चित्रम् ? ॥ ८३ ॥

जीवातु—अर्द्धेति। हे विष्णो ! यः भवत एवावतारभूत य परशुराम,

चक्रस्य अर्द्धम् अर्द्धचक्रम् अर्द्धचक्राकारम् अर्द्धचक्रमात्रञ्च, वपुः शरीरं यस्य तादृशेन अर्द्धचक्राकारेण, परशुना कुठारेण, सहस्रं सहस्रसङ्ख्यकान्, अर्जुनस्य कार्त्तवीर्यस्य ककुभवृक्षस्य च 'अर्जुनः ककुभे पार्थे कार्त्तवीर्यमयूरयोः' इति विश्वः । बाहून् भुजान्, अथशब्दः कात्स्न्यें 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्येंष्वथो अथ' इत्यमरः । अथ कात्स्न्येंन, अलुनात् अच्छिनत् निःशेषेण।च्छिनदित्यर्थः । अथशब्दस्य परेण वा अन्वयः, अथ अनन्तरम्, तेन भवता कृष्णरूपिणेत्यर्थः । सकलेन सम्पूर्णेन, चक्रेण सुदर्शनेन, विलूने छिन्ने, बाणस्य बाणासुरस्य, कुरण्टकवृक्षस्य च 'बाणो दानवभेदे तु शरे दासीकुरण्टके' इत्यजयपालः । बाहूनां भुजानाम्, शाखारूपभुजानाञ्च, निचये समूहे सहस्रसङ्ख्यकबाहुविषये इत्यर्थः । कि चित्रं किमाश्चर्यम्, अञ्चति ? प्राप्नोतीत्यर्थः । जनस्य चित्तमिति शेषः । अत्र चित्रं नास्तीत्यर्थः । ककुभच्छेदिनः कुरण्टकच्छेदो यथा नाश्चर्यं, तथा अर्द्धचक्रेण यो बाहुसहस्रच्छेत्ता, तस्य सम्पूर्णचक्रेण पुनः सच्छेदनं न किमपि वैचित्र्याधायकमिति भावः ॥८३॥

अन्वय—यः अर्द्धचक्रवपुषा परशुना सहस्रम् अर्जुनबाहून् अलुनात् अथ तेन सकलचक्रविलूने बाणबाहुनिचये किं चित्रम् अञ्चति ?

हिन्दी—जिस (परशुरामावतार नारायण) ने आधे चक्र के शरीर वाले (अर्धचक्राकार) फरसे से सहस्रों अर्जुन-वृक्षों-सी सहस्रार्जुन की भुजाओं को काट दिया था, उस (कृष्णावतार नारायण) द्वारा सम्पूर्ण (सुदर्शन) चक्र से 'बाण'-वृक्ष-सदृश बाणासुर के भुजसमूह के काट दिये जाने पर कौन विस्मय को प्राप्त होता है ? (कोई नहीं) ।

टिप्पणी—भगवान् के परशुरामावतार और कृष्णावतार का स्तवन । परशुराम ने अपने अर्धचक्राकार परशु से कार्तवीर्य की सहस्र भुजाओं को काटा था, कृष्ण ने सुदर्शन चक्र—एक पूर्ण चक्र से बाणासुर का मान-मर्दन किया । इसमें आश्चर्य कुछ नहीं है, जो लोग विस्मित हों । जो आधे से ही बड़ा कार्य कर सकता है, संपूर्ण चक्र से उसने पूर्वकृत से छोटा कार्य किया, इसमें विस्मयकारक कोई बात नहीं है । अर्धचक्राकार परशु से जब कार्तवीर्य की सहस्र भुजाएँ काटी जा सकती हैं, तब संपूर्ण सुदर्शन चक्र से बाण-बाहु-निचय को विलूनित करना सहज ही है ॥ ८३ ॥

पाञ्चजन्यमधिगत्य करेणापाञ्चजन्यमसुरानिव वक्षि ।
चेतनाः स्थ किल पश्यत किं नाचेतनोऽपि मयि मुक्तविरोधः ? ॥८४॥

जीवातु—पाञ्चजन्यमिति । हे विष्णो ! करेण पाणिना, वामहस्तेनेति यावत् । पाञ्चजन्यं तदाख्यशङ्खम् । 'बहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्च' इति वक्तव्यात् ञ्य । 'शङ्खो लक्ष्मीपते पाञ्चजन्य' इत्यमर । दक्षिणेन च करेण अपाञ्च जलानाञ्च, जन्यम् उत्पाद्यम्, जलजं पद्ममित्यर्थं अधिगत्य प्राप्य, धृत्वा इत्यर्थं । असुरान् दानवान्, वक्षीव इव ब्रवीषीव । 'वच परिभाषणे' इत्यस्या दादिकस्य लटि सिपि रूपम् । किमित्याह-हे असुरा ! चेतनाः, स्थ भवथ, यूयमिति शेष, अत एव पश्यत अवलोकयत, अचेतनोऽपि, पाञ्चजन्य अपाञ्चजन्यश्च इति शेषः । मयि अस्मद्विषये, मुक्त पूर्वोक्तप्रकारेण त्यक्त, विरोध विद्वेष येन स तादृश, जात इति शेष । न किम् ? विरोध परित्यज्य मयि अवस्थितो न किम ? इत्यर्थं । किल इति प्रश्ने, अपि तु तयोरुभयोरेव मयि अविरोधेनावस्थानात् त्यक्तविरोध एव जात इति भाव । अत एव सचेतनै युष्माभिरपि विरोध परित्यज्य मयि स्थातव्यम्, अन्यथा चेतनशङ्खासुरवद् भवतामपि मरण भविष्यत्येव इति तात्पर्यम् ॥ ८४ ॥

अन्वय —करेण पाञ्चजन्यम् अपां च जन्यम् अधिगत्य असुरान् इति वक्षि इव—चेतना.स्थ किल पश्यत, अचेतन अपि मयि किं मुक्तविरोधः न ?

हिन्दी—बायें हाथ मे पाचजन्य शख और जल मे उत्पन्न-पाचजन्यातिरिक्त-कमल दक्षिण हाथ मे धारण करके आप (नारायण) असुरो से मानो यह कहते हैं कि तुम (असुर) चेतन हो, (अत) देखो कि अचेतन (शख-कमल) भी मेरे साथ क्या विरोधमुक्त नही हैं ?

टिप्पणी—विष्णु की इस स्तुति मे उनमे शख-कमल मे सुशोभित रूप का वर्णन है । 'पाचजन्य' और 'अपाचजन्य' शब्दो का चमत्कारी प्रयोग है । पाचजन्य शंख और पाचजन्य से भिन्न, अपाचजन्य, जल मे उत्पन्न कमल को क्रमश. वाम-दक्षिण करों मे लिये नारायण मानो असुरो को प्रबोध दे रहे हैं कि तुम असुर चेतन हो—ज्ञानवान् । जब अचेतन, जड, अज्ञानी

शंख कमल भी विरोध त्याग कर मेरे अधीन हैं, तुम समझदार होकर भी विरोध करते हो ! यह अनुचित है—बे-समझी, मूर्खता जैसे पाँचजन्य शंख अर्थात् शंखासुर मेरा विरोध करके अचेतन, प्राणहीन शंख हो गया, जैसे उसे निर्जीव बना दिया, ऐसे ही विरोधी तुम असुरों को भी मैं चेतन से अचेतन कर दूँगा। अचेतनावस्था में मैं उसे मुक्त नहीं कर रहा, तुम सचेतनों को तो मुक्त नहीं करूँगा। लगता है कि जब तक शंख-सदृश अचेतन असुर नहीं हो जायँगे, तब तक विरोध न छोड़ेंगे, अतः इन्हें भी अचेतन करना होगा।

तावकोरसि लसद्वनमाले श्रीफलद्विफलशाखिकयेव।
स्थीयते कमलया त्वदजस्रस्पर्शकण्टकितयोत्कुचया च ॥ ८५ ॥

जीवातु—तावकेति। हे नारायण ! तव भवतः, अजस्रं निरन्तरम्, स्पर्शेन संस्पर्शेन, कण्टकितया सात्त्विकभावोदयेन सञ्जातरोमाञ्चया कण्टकयुक्तया च, तथा उत् उद्गतौ उन्नतौ, कुचौ स्तनौ यस्याः तादृश्या च, कमलया लक्ष्म्या, लसन्ती शोभमाना, वनमाला आरण्यकुसुमस्रक् काननश्रेणी च यस्मिन् तादृशे, तावके त्वत्सम्बन्धिनि, उरसि वक्षसि, श्रीफलस्य बिल्ववृक्षस्य। 'बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि' इत्यमरः। द्वे फले फलद्वयमात्रं यस्यां सा द्विफला, या शाखिका क्षुद्रशाखा तया इव। अल्पार्थे कन्। स्थीयते दृश्यते। भावे लकारः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—त्वदजस्रस्पर्शकण्टकितया उत्कुचया च कमलया लसद्वनमाले तावकोरसि श्रीफलद्विफलशाखिकया इव स्थीयते।

हिन्दी—(हे नारायण), तुम्हारे निरन्तर स्पर्श से रोमांचित तथा उन्नतस्तना लक्ष्मी जिस पर वनमाला सुशोभित है, ऐसे तुम्हारे वक्षःस्थल पर बेल के दो फलों से युक्त पतली डाल के समान स्थित है।

टिप्पणी—'वनमाला' विष्णु–उरस् पर सुशोभित माला को तो कहते ही हैं, 'वनानां माला' विग्रह करके उसका अर्थ वन–समूह भी हो सकता है। विष्णु के जिस उरस् पर वन-पंक्ति सुशोभित रहती है, उसमें कंटकित और फलवती बिल्ववृक्ष की शाखा भी रहेगी ही। उसी कंटकित, द्विफलवती

विल्व धासिका से कटकिता (रोमाञ्चिता), उत्कुचा कमला की समता की गयी है। नारायण के अनुसार यह उपमा अथवा उत्प्रेक्षा है ॥ ८५ ॥

त्यज्यते न जलजेन करस्ते शिक्षितु सुभगभूयमिवोच्चैः।
आननञ्च नयनायितबिम्ब सेवते कुमुदहासकराशु ॥ ८६ ॥

जीवातु—त्यज्यत इति। हे विष्णो! जलजेन पद्मेन, उच्चैं महत्, सुभगभूय सुभगत्वम्, कोमलत्वरक्तत्वादिरूपसौभाग्यमित्यर्थः। 'भुवो भावे' इति क्यप्। शिक्षितुम् अभ्यसितुम् इव, ते तव, कर हस्त न त्यज्यते न हीयते। तथा नयनायित वामलोचनवत् इति श्रुतेरिति भाव। कुमुदानां कैरवाणाम्, हासकरा विकासकारिण अशव किरणा यस्य स तादृश चन्द्रश्च, उच्चैं सुभगभूय शिक्षितुम् इव ते आनन मुखम्, सेवते आश्रयति। कमल मार्दवादिसौभाग्य चन्द्रश्च निष्कलङ्कत्वादिसौभाग्य शिक्षितुमिव तव कर वदनञ्च शुश्रूषते, गुरुसेवाया एव विद्यालाभहेतुत्वादिति भाव ॥ ८६ ॥

अन्वय—जलजेन उच्चैं सुभगभूयं शिक्षितुम् इव ते कर न त्यज्यते नयनायितबिम्ब कुमुदहासकराशु च आनन सेवते।

हिन्दी—जल में उत्पन्न कमल (और शंख) सुभगता (सौभाग्य) की प्रचुर शिक्षा के निमित्त मानो तुम्हारा (नारायण का) हाथ नहीं छोड़ता और जिसका मडल (तुम्हारे) वाम नयन के तुल्य आचरण करता है, वह (नारायण-वामनयनीभूत) कुमुदों को विकसित करनेहारी किरणों वाला (चन्द्र) मुख की सेवा करता है।

टिप्पणी—नारायण का स्तवन करते हुए यहाँ कमल को विष्णु के कर और चन्द्र को उनके मुख की अपेक्षा न्यून बताया गया है। नारायण का हाथ गुरु है, जिससे अरुणिमा, मार्दव आदि सुभगशीलता की शिक्षा पाने को कमल (और शख) शिष्य रूप में उनका सानिध्य नहीं छोड़ता और वामनयनीभूत चन्द्रमडल निष्कलकता आदि की शिक्षा पाने के लिए मुख-सानिध्य नहीं त्यागता। गुरुसेवा से ही शिष्य कुछ सीख पाता है ॥ ८६ ॥

ये हिरण्यकशिपुं रिपुमुच्चै रावणञ्च कुरुवीरचयं च।
हन्त हन्तुमभवंस्तव योगास्ते नरस्य च हरेश्च जयन्ति ॥ ८७ ॥

जीवातु—ये इति । हे विष्णो ! उच्चैः महान्तम्, रिपुं शत्रुम्, हिरण्यकशिपुं तदाख्यदैत्येश्वरम्, रावणञ्च रक्षसाधिपं दशाननञ्च, तथा कुरुवीरचयञ्च दुर्योधनप्रभृतीनां समूहञ्च, हन्तुं विनाशयितुम्, यथाक्रमं क्रमानुसारेण, उत्तरोत्तरमित्यर्थः । नरस्य च मनुष्यस्य च, हरेश्च सिंहस्य च, मनुष्याकारसिंहाकारयोरित्यर्थः । नरस्य च तथा नरस्य च अर्जुनस्य च, हरेश्च कृष्णस्य च, नरनारायणयोरित्यर्थः । 'नरोऽर्जुने मनुष्ये च' इति यादवः । 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥' इत्यमरः । ये योगाः सम्बन्धविशेषाः, देहेन व्यक्तितया च ये सम्मिश्रणविशेषा इत्यर्थः । तत्र हिरण्यकशिपुहनने नरसिंहयोः शरीरसंयोगः, रावणहनने रामसुग्रीवयोः नरवानरयोः व्यक्तयोः संयोगः, कुरुवीरचयहनने च नरनारायणयोः अर्जुनकृष्णयोर्व्यक्तयोः संयोगो ज्ञातव्यः, अभवन् अजायन्त, हन्तेति हर्षे, तव भवतः, ते योगाः, जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते, अतस्तान् प्रणमामीति भावः ।

अन्वयः—उच्चैः रिपुं हिरण्यकशिपुं रावणं च कुरुवीरचयं च हन्तुं नरस्य च हरेः च तव ये योगाः अभवन्, हन्त, ते जयन्ति ।

हिन्दी—प्रचण्ड शत्रु (दैत्यराज) हिरण्यकशिपु, (लंकाधिपति) रावण और (दुर्योधनादि) कौरव वीरों के मारणार्थ मनुष्य और सिंह, नर-वानर और नर (अर्जुन)—नारायण (कृष्ण) के तुम्हारे (विष्णु के) जो संयोग हुए, वे (योग) जयी हों—सर्वोत्कृष्टता से विद्यमान हों ।

टिप्पणी—यहाँ विष्णु के तीन अवतारों की जयी कहा गया है—(१) प्रह्लाद-जनक, दैत्यराज हिरण्यकशिपु के वधार्थ नारायण का नृसिंहावतार, जिसमें नर (मनुष्य) और हरि (सिंह) का योग था, (२) दशानन रावण के वधार्थ रामावतार, जिसमें नर (पुरुषोत्तम राम) और हरि (वानरराज सुग्रीव) का योग (सख्य) हुआ था और (३) पांडव-विरोधी दुर्योधनादि कौरव वीरों के वधार्थ श्रीकृष्णावतार, जिसमें नर (अर्जुन) और हरि (भगवान् श्रीकृष्ण और ध्वज-रूप में हनुमान्) का योग हुआ था । निर्गुण, निराकार ब्रह्म का सगुण, साकार होना अवतार लेना स्वयं 'नरहरि'—योग है, मनुष्यरूप में नारायण । नारायण और मल्लिनाथ—दोनों ने 'हन्त' को

आश्चर्य सूचक मानकर भाव लिया है कि यह विस्मयजनक है कि तीनों अवतारों में नरहरि-योग हुआ ॥ ८७ ॥

केयमर्द्धभवता भवतोहे मायिना ननु भवः सकलस्त्वम् ।
शेषतामपि भजन्तमशेषं वेद वेदनयनो हि जनस्त्वाम् ॥ ८८ ॥

जीवातु—केयमिति। हे विष्णो! मायिना मायाविना। व्रीह्यादित्वादिनिः भवता त्वया, का कीदृशी, विचित्रैवेत्यर्थः । इयम् एषा, भवस्य शम्भोः संसारस्य च, अर्द्धम् अर्द्धांश अर्द्धभव तस्य भावः तत्ता, यद्वा—अर्द्धम् अर्द्धदेह, भवः शिवः यस्य तस्य भावः तत्ता हरिहरमूर्त्तिता इत्यर्थः। अर्द्धसंसारता च, ऊहे ऊढा, धृता इत्यर्थः। अर्द्धभवता तव न युक्ता इति भावः। हि यतः, ननु भोः! सकलः सम्पूर्णः, भवः महादेवः संसारश्च, त्वं भवानेव, तथा वेदः श्रुतिरेव, नयनं चक्षुःस्वरूपं यस्य सः तादृशः वेदज्ञः इत्यर्थः। जनः लोकः, शेषताम् अनन्तनागताम् उपयुक्तताम् अन्यत्वं च । 'शेषः सङ्कर्षणेऽनन्ते उपयुक्तेतरे वधे' इति विश्वः। भजन्तं प्राप्नुवन्तम् अपि, त्वा भवन्तम्, अशेषम् अनन्तात् अन्यं सकलञ्च, वेद जानाति, 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतेरिति भावः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—मायिना भवता का इयम् अर्द्धभवता ऊहे, ननु त्वं सकलः भवः हि वेदनयनः जनः शेषतां भजन्तम् अपि त्वाम् अशेषं वेद ।

हिन्दी—मायावी (आश्चर्यकारक) आप (नारायण) की कैसी यह (पुराणादि में वर्णित) 'अर्द्धभवता' (हरि-हरात्मकता, आधा हरि आधा हर अथवा 'अर्द्धभाव' अर्थात् आधे संसार का भाव) है, क्योंकि तुम तो स्वयं चन्द्रकला-सहित—'सकल' अथवा समग्रतया 'भव' अर्थात् शिव हो अथवा समस्त अवयवों के सहित वर्तमान संसार तुम्हीं हो और श्रुति दृष्टि-वेदज्ञ जन (श्रुतिधर्मा व्यक्ति) 'शेषता' (शेषनाग होना) को धारण करते भी अथवा 'एकदेश में विद्यमान रहते भी' तुम्हें (नारायण को) 'अशेष' (चराचर जगत् रूप, अनन्त) मानता है।

टिप्पणी—नारायण के विचित्र चरित का यहाँ संकेत है। यद्यपि नारायण स्वतन्त्रमूर्ति चन्द्रचूड़ शिव स्वयं हैं तथापि वे आधे हरि और आधे शिव-रूप में—हरिहरमूर्त्ति-रूप में भी पुराणादि में वर्णित हैं। यह विरोध है कि

जो स्वयं 'सकलभव' है वह 'अर्द्धभव' है। विरोध-परिहार यह है कि शिव-रूप नारायण का 'हरिहरात्मक' रूप भी है ही। यह विचित्र ही है कि शिव-मूर्तिरूप आधा अङ्ग कैलास गौर और विष्णु रूप आधा अङ्ग घन-श्याम। जो 'सकलभव' अर्थात् चराचर जगत् स्वयं है, उसमें 'अर्द्धभवता' (अर्द्धसंसारता) है, यह भी विरोध है। विरोध-परिहार इस अर्थ में है कि हरिहर-रूप में समस्त चराचर जगत् में नारायण विद्यमान हैं। इसी प्रकार जो 'अशेष' (सम्पूर्ण अथवा शेषनाग-भिन्न) है, उसे वेदज्ञ जन 'शेष' (एक भाग, अथवा शेषनाग) मानते हैं—यह भी विरोध हुआ। परिहार इस अर्थ में है कि सकलजगद्रूप, चराचर विद्यमान 'अशेष' नारायण ही 'शेष' अर्थात् अनन्त-मूर्ति विष्णु ही हैं ॥ ८८ ॥

प्राग्भवैरुदगुदग्भवगुम्फान्मुक्तियुक्तिविहताविह तावत्।
नापरः स्फुरति कस्यचनापि त्वत्समाधिमवधूय समाधिः ॥ ८९ ॥

जीवातु—प्रागिति। हे विष्णो ! प्राग्भवैः पूर्वपूर्वजन्मार्जितकर्मभिः, उद-गुदग्भवानाम् उत्तरोत्तरजन्मनाम्, गुम्फात् ग्रथनात्, सम्पादनाद्धेतोरित्यर्थः। जन्मपरम्परोत्पादनात् हेतोरिति यावत्। इह संसारे, मुक्तेः मोक्षस्य, युक्तिः योगः, प्राप्तिरित्यर्थः। तस्या विहतौ विघ्ने विषये, कर्मक्षयाभावेन आत्यन्ति-कदुःखनिवृत्तिरूपस्य अविद्यास्तमयलक्षणस्य वा मोक्षस्य अनुपपत्तिविषये इत्यर्थः। त्वत्समाधि तव ध्यानम्, अवधूय परित्यज्य, तव ध्यानं विनेत्यर्थः। कस्यचन कस्यचित् अपि, आचार्यस्येति शेषः। अपरः त्वत्समाधिभिन्नः, समाधिः समर्थनम्, समाधानमित्यर्थः। सिद्धान्त इति यावत्, 'समाधिर्नियमे ध्याने नीवारे च समर्थने' इति विश्वः। न तावत् नैव, स्फुरति प्रकाशते। तथा हि पूर्वपूर्वजन्मार्जितकर्मभिः उत्तरोत्तरजन्मपरिग्रहात् मुक्तेर्व्याघातः, तत्र च तव ध्यानेन तव साक्षात्कारलाभात् तेनैव च प्राक्तनकर्मक्षयात् मुक्तिर्लभते जीव इति सर्वेषामेव तत्त्वज्ञानिनां सिद्धान्तः, 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि-शास्त्रोक्तेरिति भावः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—प्राग्भवैः उदगुदग्भवगुम्फात् इह मुक्तियुक्तिविहतौ त्वत्समाधिम् अवधूय कस्यचन अपि तावत् अपरः समाधिः न स्फुरति।

हिन्दी—पूर्वजन्मार्जित उत्तरोत्तर जन्म-परंपरा के गुफन (ग्रथन) के कारण यहाँ (संसार में) मुक्ति-प्राप्ति के सम्भव न होने से आप (विष्णु) के ध्यान को छोड़कर किसी (आचार्य) को भी अन्य समाधि (ध्यान, समर्थन, समाधान) नहीं समझ आता ।

टिप्पणी— जब कर्मों का क्षय होता है तभी मुक्ति अर्थात् आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति होती है । प्रत्येक जन्म में प्राणी कर्म करता है, जिसके फलस्वरूप उसे कर्मानुसार दूसरा जन्म मिलता है । इस जन्म में जो कर्म करता है, उससे फिर और जन्म प्राप्त होता है । इस प्रकार कर्म-क्षय तो होता नहीं, फलस्वरूप जन्म परंपरा चलती रहती है और मुक्ति असंभव बन जाती है, प्राप्त नहीं होती । ऐसी स्थिति में क्या हो ? कोई विचारक, आचार्य केवल यही कह पाता है कि श्रीहरि का ध्यान करो । प्रत्येक आचार्य यही बताता है कि श्री हरि विष्णु का ही ध्यान करने से कर्म क्षय होगा और आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्त होगा । अन्य कोई उपाय नहीं, समाधान नहीं । श्रीहरि ही मुक्ति-हेतु हैं ॥ ८९ ॥

> ऊर्ध्वदिक्कदलनाद् द्विवरकार्षीः किं तनु हरिहरीभवनाय ?
> किञ्च तिर्यगभिना नृहरित्वे कः स्वतन्त्रमनु नन्वनुयोगः ? ॥९०॥

जीवातु—ऊर्ध्वेति । हे विष्णो ! हरिहरीभवनाय विष्णुशङ्करीभावाय, हरिहरमूर्तिपरिग्रहायेत्यर्थः । ऊर्ध्वा दिक् यस्मिन् तत् तादृशम् ऊर्ध्वदिक्कम् उपरिभागीयमित्यर्थः । वामदक्षिणभावेन चरणात् मूर्द्धपर्यन्तमर्द्धांशमिति यावत् । बहुव्रीहिसमासे समासान्तकः । यत् दलनं विभागः तस्मात् हेतोः, एकमेव देहमूर्ध्वाधोभावेन द्विधा विभज्येत्यर्थः । किं किमर्थम्, तनुं शरीरम्, द्विः द्विधा, सम्पूर्णदक्षिणार्द्धे हरिरूपां तादृशवामार्द्धे च हररूपामित्यर्थः । अकार्षीः ? कृतवान् असि ? हरिहररूपधारणाय कथं वा पादादारभ्य शिरो यावत् द्विविधरूपेण शरीरं द्विधा विभक्तं कृतवान् असि ? इत्यर्थः । किञ्च किमर्थं वा, नृहरित्वे नरसिंहभावे, नरसिंहरूपधारणे इत्यर्थः । तनुं तिर्यक् वक्रं यथा भवति तथा, अभिनः ? भिन्नवान् असि ? कण्ठाद् अधोदेशस्य नररूपेण ऊर्ध्वभागस्य च सिंहरूपेण विभागम् अकरोः ? इत्यर्थः । ननु भो विष्णो ! स्वतन्त्रं

स्वाधीनम्, पुरुषवरं भवन्तमिति शेषः, अनु लक्ष्यीकृत्य कः पूर्वोक्तरूपः को नाम, अनुयोगः ? प्रश्नः ? 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः। स्वतन्त्रेच्छे परमेश्वरे कथमेवं कृतं कथं वा नैवमिति प्रश्नो न युज्यते, यतः स हि स्वेच्छया यथेष्टमेव कर्तुं शक्यते, तत्र कस्यापि किमपि प्रस्तावसरो नैव स्यातुमर्हति इति भावः ॥ ९० ॥

अन्वयः—हरिहरीभवनाय ऊर्ध्वदिक्फदलनात् किं तनुं द्विः अकार्षीः, किं च नृहरित्वे तिर्यक् अभिनः ? ननु स्वतन्त्रम् अनु कः अनुयोगः ?

हिन्दी—(हे नारायण) हरि-हर (विष्णु-शिवमूर्तिरूप) होने के लिए ऊपरी ओर तक विभक्त करने के निमित्त (पैर से लेकर सिर तक-सीधे-सीधे) क्यों (आपने) देह के दो प्रकार किये और क्यों नृसिंह होने में तिरछा (सिर अलग, धड़ अलग, ऊपर आधा सिंह, नीचे आधा नर) विभक्त किया ? आप स्वतन्त्र हैं, सो आपसे क्या पूछा जा सकता है ?

टिप्पणी—यहाँ नारायण के हरिहरात्मकरूप और नृसिंह रूप का वर्णन करके नारायण के विचित्र और स्वतन्त्र चरित का संकेत किया गया है। नारायण अद्भुत कर्मा हैं और स्वाधीनता से जो चाहें कर सकते हैं। उनसे कोई प्रश्न नहीं कर सकता कि उन्होंने ऐसा क्यों किया ? उदाहरणार्थ नारायण ने दो रूपों में दो पृथक् शरीर-भागों का योग किया, परन्तु दोनों में एक रूपता का व्यवहार नहीं किया, दो पृथक् विधाएँ प्रयोग में लायी गयीं। हरि-हर-मूर्ति में शरीर के दो भाग सिर से पैर तक आधे-आधे सीधे जोड़े गये, जब कि नृसिंह-मूर्ति में ऐसा न कर आधा जोड़ दिया गया, ऊपर सिंह नीचे मनुष्य। ऐसा क्यों नारायण ने किया, क्यों दो भिन्न विधाओं का प्रयोग एक-से ही कार्य में किया ? यह प्रश्न नारायण से कोई नहीं पूछ सकता। वे स्वतन्त्र हैं, सर्वसमर्थ प्रभु, करने, न करने, अन्यथा करने में समर्थ ईश्वर। उनसे कोई किसी प्रकार का विवरण, कैफियत, सफाई नहीं माँग सकता ॥ ९० ॥

आप्तकाम ! सृजसि त्रिजगत् किं ? किं भिनत्सि यदि निर्मितमेव ? ।
पासि चेदमवतीर्य मुहुः किं स्वात्मनाऽपि यदवश्यविनाश्यम् ? ॥९१॥

जीवातु—स्वतन्त्रत्वमेव स्फुटयति—आप्तेति । आप्तकाम ! हे कृतकृत्य ! निजप्रभावादेव पूर्णसर्वाभिलाष ! विष्णो ! अत एव नास्ति ते कार्यप्रयोजनं किमपि इति भावः । किं किमर्थम्, त्रयाणां जगतां समाहार इति त्रिजगत् त्रिभुवनम्, सृजसि ? रचयसि ? आप्तकामस्य स्वप्रयोजनाभावादेतन्निष्प्रयोजनमिति भावः । यदि चेत् निर्मितमेव सृष्टमेव, त्रिजगदिति शेष, तर्हि किं किमर्थम्, भिनत्सि ? विदारयसि ? निष्प्रयोजनमेव संहरसीत्यर्थ । यत् त्रिजगत्, स्वात्मना अपि स्वयमेव, अवश्यविनाश्यं निश्चितमेव संहार्यम् । 'लुम्पेदवश्यम कृत्ये' इति म-लोप । इद तदिद त्रिजगत्, मुहु वारं वारम्, अवतीय आविर्भूय, मत्स्यादिरूपेणावतीर्णं सन्नित्यर्थ । किं किमर्थं वा, पासि च ? रक्षसि च ? अवश्यविनाश्यस्य रक्षणमनुपयुक्तमिति भाव । त्वमेव ब्रह्मादिरूपेण जगत सृष्टिस्थितिसंहारान् करोषि, पर्यनुयोगानर्हश्चेति निष्कर्षः ।

अन्वय —आप्तकाम त्रिजगत् किं सृजसि ? यदि निर्मितम् एव किं भिनत्सि ? यत् स्वात्मना अपि अवश्यविनाश्यं मुहु अवतीर्य च इद किं पासि ?

हिन्दी—हे पूर्णकाम (समस्त कामनाएँ पूर्ण होने से कामना रहित), त्रिलोकी की सर्जना क्यों करते हो ? यदि रच ही देते हो तो क्यों उसका नाश करते हो ? और जो अपने आप ही अवश्य नष्ट हो जाता है, बारम्बार अवतार लेकर उसका पालन क्यों करते हो ?

टिप्पणी—यहाँ नारायण के सृष्टि कर्त्ता, संहार कर्त्ता और पालन-कर्त्ता—ब्रह्मा, शिव, विष्णु तीनों रूपों का स्मरण किया गया है। वह एक नारायण ही विधिरूप में सर्जनहार है, शिव (रुद्र) के रूप में संहारक है और विष्णु रूप में बारम्बार अवतार ले त्रिजगत् का पालन करता है। नारायण को पूर्णकाम, कृतकाम मानते हुए यह पूछा गया है कि जब वह पूर्णमनोरथ है तो रचने, संहारने और पालने की बारम्बार कामनाएँ क्यों करता है ? एक रहस्यात्मक प्रश्न उपस्थित करके नारायण की वर्णनातीत क्षमता का निर्देश है ॥९१

जाह्नवीजलजकौस्तुभचन्द्रान् पादपाणिहृदयेक्षणवृत्तीन् ।
उत्थिताऽम्बुसलिलात् त्वयि लीला श्रीः स्थिता परिचितान् परिचिन्त्य ? ॥

जीवातु—जाह्नवीति । हे विष्णो ! अम्बुसलिलात् सागरोदकात्, उत्थिता

उद्भूता, लोला चञ्चलाऽपि, श्रीः लक्ष्मीः, पादपाणिहृदयेक्षणे चरण-कर-वक्षःस्थल-वाम-नयने, वृत्तिः यथाक्रममवस्थानं येषां तादृशान्, जाह्नवी-जलज-कौस्तुभ-चन्द्रान् गङ्गा-पाञ्चजन्य-शङ्ख-कौस्तुभमणि-शशाङ्कान्, परिचितान् संस्तुतान्, समुद्रे एकत्रावस्थानेन विशेषतया परिज्ञातान् अत एव चिरकाल-प्रणयिन इति भावः। 'संस्तवः स्यात् परिचयः' इत्यमरः। परिचिन्त्य पर्या-लोच्य, इवेति शेषः। त्वयि भवति, स्थिता विद्यमाना, चलाऽपि अचलत्वेन चिरं विद्यमाना इत्यर्थः। किम्? इति शेषः। गङ्गाकमलादीनामपि आश्रयं त्वां प्रणमामीति भावः॥ ९२॥

अन्वयः—अब्धिसलिलात् उत्थिता लोला श्रीः पादपाणिहृदयेक्षणवृत्तीन् जाह्नवीजलजकौस्तुभचन्द्रान् परिचितान् परिचिन्त्य त्वयि स्थिता।

हिन्दी—सागर के जल से निकली चंचल लक्ष्मी चरण, कर, हृदय और वाम-नेत्र में अवस्थित गंगा, कमल (पांचजन्य शंख भी), कौस्तुभमणि और चन्द्र—इन्हें पूर्व परिचित विचार कर तुम (नारायण में) स्थित हो गयी है।

टिप्पणी—लक्ष्मी को चंचला माना जाता है—अस्थिर। समुद्र मंथन के समय सागर की चंचल तरंगों में जो उद्भूत हो, उसे चंचल होना ही चाहिए, किन्तु वह चंचला लक्ष्मी भी श्री विष्णु को प्राप्त कर उनके सांनिध्य में चांचल्य त्याग कर स्थिर हो गयी। इसका कारण यह संभावित किया गया कि नारायण की संनिधि में उसे उसके सब पूर्वपरिचित स्थित प्राप्त हुए, सो लक्ष्मी चंचला होते हुए भी नारायण की संनिकटता में स्थिर भाव से वास करने लगी। समुद्र में मिलती गंगा से समुद्र में वास करती लक्ष्मी सदा से परिचित थीं, गंगा को लक्ष्मी ने विष्णु-चरण में पाया। हाथ में सागर-जल के साथी शंख-कमल को स्थित देखा, सहजात कौस्तुभमणि और चन्द्र को क्रमशः वक्ष और वाम नेत्र में अवस्थित पाया। पुराने अनेक परिचितों को नारायण की सेवा में प्राप्त कर लक्ष्मी भी अचंचल भाव से वहीं स्थिर हो गयीं। आशय यह कि नारायण ऐसे वंदनीय परमपुरुष हैं कि जिनकी सेवा में गंगा-लक्ष्मी आदि का वास है। प्रकाशकार और जीवातुकार—दोनों ने 'किम्' का अध्याहार कर अर्थ में प्रश्न वाचकता (काकुवक्रोक्ति) ला दी है—

'परिचितो को प्राप्त कर यथा चचला लक्ष्मी नारायण मे अचचलता से स्थित हो गयीं ?' ॥ ९२ ॥

वस्तु वास्तु घटते न भिदानां योक्तनैकविधबाधविरोधैः ।
त्वदीहितविजृम्भिततत्तद्भेदमेतदिति तत्त्वनिरुक्तिः ॥ ९३ ॥

जीवातु—वस्त्विति । हे विष्णो ! योक्ता युक्तिसिद्धा, नैकविधा अनेकप्रकारा, बाधा प्रतिबन्धा, विरोधाश्च विरुद्धभावाश्च तैः हेतुभिः, वस्तु पदार्थः, घटपटादिरूपद्रव्यजातमित्यर्थः । भिदाना भेदानाम्, वास्तु आश्रय, न घटते न युज्यते, तद् तस्मात् कारणात्, एतत् घटपटादिरूप वस्तुजातम्, त्वदीहितेन भवदिच्छयैव, विजृम्भित विलसित, प्रकटित इत्यर्थः । स स तादृश तादृश, भेदः विशेषः, घटपटादिरूपवैचम्यमित्यर्थः । यस्य तद् तादृशम्, इति एवरूपा, तत्त्वस्य याथार्थ्यस्य, निरुक्ति निर्वचनम् । मृन्निर्मितघटस्य मृन्मयत्ववद् एकमात्रमूलकारणोत्पन्न वस्तु एकविधमेव भवितुमर्हति, भेदे तु युक्तिसिद्धा बहवो बाधा, तथा एकस्मादेव मूलकारणात् पृथक् वस्तु जायते चेत् तदा तजस औष्ण्यमिव शैत्यमपि जायेत इत्यादयश्च युक्तिसिद्धा विविधा विरोधा, एवञ्च घटपटादीना यदयमन्योन्यभेदोऽनुभूयते, तन्न तात्त्विक, परन्तु भवदिच्छाप्रेरितया अविद्याख्यया माययैव तद् भासते, अतस्त्वमेवैक सर्वमिद वस्तु इति तत्त्वनिर्वचनमिति भाव ॥ ९३ ॥

अन्वय—वस्तु योक्तनैकविधबाधविरोधैः भिदाना वास्तु न घटते, तद् एतद् त्वदीहितविजृम्भिततत्तद्भेदम्-इति तत्त्वनिरुक्तिः ।

हिन्दी—(घटपटादि) पदार्थ युक्तिसम्मत अनेक प्रकार की बाधाओं (सामान्य दोषो) और विरोधो (ब्रह्म-अद्वैत प्रतिपादक उपनिषद्-वाक्यो मे वैपरीत्य रूप असामान्य दोषो) के कारण भेदाश्रित (भिन्न) नहीं होते, सो यह (भेद प्रतीति) तुम्हारी (नारायण की) इच्छा मात्र से प्रकटीभूत घट-पटादि भेद युक्त हैं—यह तात्त्विक कथन है।

टिप्पणी—सासारिक वस्तुओं–घट पट, वृक्ष नदी आदि–मे विचार करने पर कोई वास्तविक भेद सिद्ध नहीं होता। ये जो भिन्नता प्रतीति होती है कि

यह नदी है, यह वृक्ष है, यह घड़ा है, यह कपड़ा है—वस्तुतः मिथ्या है द्विचंद्र-प्रतीति के समान। दो चंद्र तो हैं नहीं किन्तु नेत्र को विशेष स्थिति में करके देखने अथवा नेत्र-दोष से दो चंद्रमा प्रतीत होने लगते हैं। ऐसे ही यह पदार्थों में भिन्नता भी मिथ्या है। भिन्नता न तो किसी युक्त न्याय से सिद्ध होती है और न श्रुति-वचन ही भिन्नता सिद्ध करते हैं। उपनिषद्-वाक्यानुसार सब एक है, उसी सच्चिदानन्दघन का स्वरूप—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' एक ही जल है, वह तरंग, बुद्बुद आदि के रूप में भिन्न प्रतीतमात्र होता है—है एक ही। तात्विक वचन 'तत्त्वमसि' ही है—तू ब्रह्म ही सब है। यह जो घट-पटादि रूप में आरोपित भिन्नता प्रतीत होती है, वह नारायण की इच्छा का विलास मात्र है ॥ ९३ ॥

वस्तु विश्वमुदरे तव दृष्ट्वा बाह्यवत् किल मृकण्डतनूजः ।
स्वं विमिश्रमुभयं न विविञ्चन् निर्ययौ स कतरस्त्वमवैषि ॥९४॥

जीवातु—वस्त्विति। हे विष्णो! मृकण्डतनूजः मार्कण्डेयमुनिः, तव भवतः, उदरे जठरे, बाह्यवत् बहिर्जगदवस्थित वस्तुजातमिव, विश्वं निखिलम्, वस्तु पदार्थम्, दृष्ट्वा वीक्ष्य, उभयं बाह्यमुदरस्थञ्च द्वयम्, विमिश्रं विशेषेण संयुक्तम्, एकविधप्रकारत्वेन सम्मिलितमित्यर्थः। एकस्मिन्नेव उदरे बाह्योदराभ्यन्तरस्थितयोः द्वयोरपि स्थितत्वेन प्रतीयमानत्वात् अविविक्तमिति यावत्। स्वम् आत्मानम्, न विविञ्चन् विवेक्तुम् अशक्नुवन्, कोऽहं बहिरास्तम्? को वा उदराभ्यन्तरे वर्ते? इत्येवंरूपेण भिन्नतया ज्ञातुमसमर्थः सन् इत्यर्थः। निर्ययौ उदरात् निर्गतवान्, किल इति प्रसिद्धौ वार्त्तायां वा, सः मृकण्डतनूजः, कतरः बहिःस्थितो वा कः? उदरस्थितो वा कः? इति त्वं भवानेव, अवैषि जानासि, नान्यः कोऽपि इत्यर्थः। सर्वज्ञत्वादिति भावः ॥९४॥

अन्वयः—मृकण्डतनूजः तव उदरे बाह्यवत् विश्वं वस्तु दृष्ट्वा उभयं विमिश्रं स्वं न विविञ्चन् निर्ययौ किल, सः कतरः—त्वम् अवैषि।

हिन्दी—मृकण्डु के पुत्र (मार्कण्डेय ऋषि) तुम्हारे (नारायण के) पेट में बाह्य जगत् में दृश्यमान के तुल्य समस्त वस्तु देखकर बाहर और उदर में

दोनों को पूर्णत: संमिश्र या अपने को निश्चित न करने (उदर से) बाहर निकल आये–ऐसी प्रसिद्ध है। वह (मार्कण्डेय) कौन-से थे–यह तुम (नारायण) ही जानते हो।

टिप्पणी—यहां नारायण ही सर्वज्ञ हैं, अन्य कोई नहीं, अनेक अवतारों में कौन सा अवतार विशिष्ट है—यह सब नारायण ही जान सकते हैं, अन्य नहीं–यह तात्पर्य है। मार्कण्डेय मुनि की पुराण-प्रसिद्ध कथा का यहां आधार लिया गया है। प्रलय वेला में चारों ओर जल ही जल था, तब हारे-थके मुनि ने वट-पल्लव के ऊपर स्थित बालकृष्ण को देखा। भगवान् ने उन्हें अपने मुख मार्ग से प्रविष्टि दे उदर में स्थान दिया। मुनि ने उदर में संपूर्ण विश्व को देखा—त्रिलोकी को, वन, पर्वत, मृग, विहग, सागर-नद, देव, दानव, ऋषि-मुनि—सबको, अपने को भी। ओर-छोर न पाकर उदर में चक्कर लगाते मुनि नारायण के मुख से बाहर आ गये। बाहर आकर सब उन्होंने पूर्ववत् पाया—वही धरती, वह जल में डूबी धरती, वटवृक्ष पर्यंक शायी शिशुरूप देव। मुनि विस्मत हो गये। क्या सत्य है, क्या नहीं ? बाहर सत्य है या उदर में था ? वे कुछ समझ न पाये और भावस्तुति करने लगे। स्तुति से प्रसन्न श्रीनारायण से मार्कण्डेय मुनि ने यही माँगा कि हे देव, मैं आपकी माया को जानना चाहता हूँ, आपको जानना चाहता हूँ। भगवान् ने उन्हें कृतार्थ किया। (ब्रह्म०—अध्याय ५२–५६, मार्कण्डेयादि पुराण भी द्रष्टव्य।) ॥ ९४ ॥

ब्रह्मणोऽस्तु तव शक्तिलतायां मूर्ध्नि विश्वमथ पत्युरहीनाम्।
बालता कलयतो जठरे वा सर्वथाऽसि जगतामवलम्बः ॥ ९५ ॥

जीवातु—ब्रह्मण इति। हे विष्णो! विश्वं जगत्, ब्रह्मणः परब्रह्म-रूपिण, तव भवत, शक्तिः माया एव, लता वल्ली तस्याम्, अस्तु तिष्ठतु, फलस्वरूपेणेति भावः। अथ किं वा, अहीनां नागानाम्, पत्युः ईशस्य नागराजशेषस्य, अनन्तनागरूपिण इत्यर्थः। तव भवत, मूर्ध्नि शिरसि, अस्तु। वा अथवा, बालतां शिशुभावम्, कलयतः दधानस्य, वटपत्रशायिनो बालक-मूर्तस्येत्यर्थः। तव इति शेषः। जठरे उदरे, अस्तु, सर्वप्रकारेणापि, जगतां

त्रैलोक्यस्य, अवलम्बः आश्रयः, असि भवसि, त्वमिति शेषः। अत एव तुभ्यं नमोऽस्तु इति भावः ॥ ९५ ॥

अन्वयः—विश्वं ब्रह्मणः तव शक्तिलतायाम् अस्तु अथ अहीनां पत्युः मूर्ध्नि, वा बालतां कलयतः जठरे, सर्वथा जगतम् अवलम्बः असि।

हिन्दी—समस्त संसार ब्रह्मरूप तुम्हारी (नारायण की) शक्ति रूपिणी लता (बेल-डाली) पर स्थित हो अथवा नागों के स्वामी (शेष अनन्तरूप नारायण) की मूर्द्धा पर अथवा बाल्यभाव को प्राप्त (वटपल्लव शायी बाल-मुकुन्द) के उदर में स्थित हो—सब प्रकार से (स्थावर-जंगम) जगत् के आधार तुम (नारायण) ही हो।

टिप्पणी—यहाँ प्रत्येक स्थिति में जगत् का आधार श्रीहरि विष्णु को ही सिद्ध करके उनकी स्तुति है। तीन स्थितियों की कल्पना की गयी है—(१) जड़-चेतनमय सकल जगत् का आधार ब्रह्म ही है—'सृष्टेः प्रागमूर्त्ते ब्रह्मणि विश्वं लीयते।' (२) अनन्तमूर्त्ति नारायण शेष के मस्तक पर विश्व स्थित है। (३) प्रलय-काल में वटवृक्षपर्यंक स्थित बालकृष्ण की कुक्षि में जगत् स्थित है। तीनों दशाओं में श्रीहरि ही जगदाधार सिद्ध होते हैं—अतः वे ही सर्वथा जगदवलंब हैं ॥ ९५ ॥

धर्मबीजसलिला सरिदङ्घ्रावर्थमूलमुरसि स्फुरति श्रीः।
कामदैवतमपि प्रसवस्ते ब्रह्म मुक्तिदमसि स्वयमेव ॥ ९६ ॥

जीवातु—धर्मेति। हे विष्णो! धर्मस्य चतुर्वर्गेषु प्रथमवर्गस्य, बीज हेतुभूतम्, सलिलं जलं यस्याः सा तादृशी, सरित् नदी, जाह्नवीत्यर्थः। ते तव, अङ्घ्रौ चरणे, स्फुरति शोभते। अर्थस्य धनरूपस्य द्वितीयवर्गस्य, मूलं बीजभूतम्, श्रीः लक्ष्मी, तव उरसि वक्षसि, स्फुरति। कामस्य कामनारूपस्य तृतीयवर्गस्य, दैवतम् अधिष्ठाता कामदेवोऽपि, ते यदुवंशावतीर्णस्य श्रीकृष्णरूपस्य तव, प्रसवः पुत्रः, प्रद्युम्न इत्यर्थः। मुक्तिदं मुक्तिं मोक्षरूपं चतुर्थवर्गम्, ददाति यच्छतीति तादृशम्, ब्रह्म परमात्मा च, स्वयमेव साक्षात् त्वमेव, असि भवसि। अतः धर्मार्थकाममोक्षरूपं पुरुषार्थचतुष्टयमेकस्मिन् त्वय्येव अवि-

रोधेन वर्तते इति पुरुषार्थचतुष्टयकाङ्क्षिणा त्वमेव सर्वथा सेवनीयोऽसीति भावः ॥ ९६ ॥

अन्वय—धर्मबीजसलिला सरित् अङ्घ्रौ, अर्थमूल श्रीः उरसि स्फुरति, कामदेवतम् अपि ते प्रसवः, मुक्तिद ब्रह्म, स्वयम् एव असि ।

हिन्दी—(चार पुरुषार्थों में प्रथम) धर्म के बीज (हेतु) रूप सलिल (जल) से युक्त नदी (गंगा) चरण में और अर्थ की मूल कारण लक्ष्मी (आपके) हृदय पर सुशोभित है। कामदेव भी तुम्हारा (नारायण-कृष्ण का) पुत्र (रामावतार प्रद्युम्न) है और मोक्ष दाता ब्रह्म (आप) स्वयं ही हैं।

टिप्पणी—आशय यह है कि धर्मार्थकाममोक्ष चारों पुरुषार्थ श्री हरि के ही अधीन हैं, अतः चतुर्वर्ग-प्राप्ति के निमित्त केवल विष्णु-नारायण उपास्य हैं ॥ ९६ ॥

लीलयाऽपि तव नाम जना ये गृह्णते नरकनाशकरस्य ।
तेभ्य एव नरकैरुचिता भीस्ते तु बिभ्यतु कथं नरकेभ्यः ॥ ९७ ॥

जीवातु—लीलयेति । हे विष्णो ! ये जना लोकाः, नरकस्य रौरवादेः निरयस्य असुरविशेषस्य च 'नरको निरये दैत्ये' इति विश्वः । नाशम् उच्छेदं निधनञ्च, करोति विदधाति य. तादृशस्य, तव भवतः, नाम नामधेयम्, लीलयापि क्रीडाच्छलेनापि, अवहेलयाऽपीति यावत्। गृह्णते कीर्त्तयन्ति, तेभ्यः तादृशजनेभ्य एव, नरकैः निरयैः, भीः भयम्, उचिता युक्ता, नरकनाशकरस्य नामग्राहित्वादिति भावः। ते तथाविधजनास्तु, नरकेभ्यः निरयेभ्यः सकाशात्, कथं किमर्थम्, बिभ्यतु ? त्रस्यन्तु ? अपि तु न कथञ्चिदेवेत्यर्थः। 'साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥' इति श्रीमद्भागवतोक्तेरिति भाव. ॥ ९७ ॥

अन्वय.—ये जना नरकनाशकरस्य तव नाम लीलया अपि गृह्णते तेभ्य. नरकैः एव भीः उचिता, ते तु कथं नरकेभ्यः बिभ्यतु ।

हिन्दी—जो लोग नरक और नरकासुर के विनाशक तुम्हारा (श्रीहरि का) नाम खेल-खेल में भी ले लेते हैं, उनसे नरकों को ही डर उचित है, वे (लीलया भी हरि का नाम लेने वाले) भी क्यों नरकों से डरें ?

टिप्पणी—श्लोक संख्या ९७-९८ में भगवन्नाम-ग्रहण का महत्त्व है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि संकेत, परिहास अथवा लीलया एवं जो नाम लेता है, उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। गो० तुलसीदास जी का कथन है कि 'भाँय-कुभाँय अनख आलस हू, नाम जपत मंगल दिशि दशहू।' यहाँ भी यही आशय है कि भगन्नाम-ग्रहण चाहे जैसे भी हो, समस्त पापों और नरकों का विनाशक है। नामग्राहि जनों को नरकों का भय नहीं, नरकों को ही उनसे विनाश-भय है। नरक अनेक हैं। प्रमुख नरक हैं–रौरव, शौकर, रोधस्तान, विशसन, महाज्वाल, तप्तकुड्य, महालोम, विमोहन, रुधिरान्ध, वसातप्त, कृमीश, कृमिभोजन, असिपत्रवन, कृष्ण, लालाभक्ष, दारुण, पूयवह, पाप, वह्निज्वाल, अधःशिरा, सदंश, कृष्णसूत्र, तम, आवीचि, श्वभोजन, अप्रतिष्ठ, मावीचि।—ब्रह्म० २२।२-५। जो व्यक्ति श्री विष्णु का नाम लेता है, वह नरक-भागी नहीं होता—'अहर्निशं विष्णुं संस्मरन् पुरुषो द्विजः। न याति नरकं शुद्धः संक्षीणाखिलपातकः॥' (ब्रह्म०–२९।४३) पृथ्वी-पुत्र नरकासुर प्राग्ज्योतिषपुर का स्वामी था, जिसने देव, सिद्ध, असुरादि की कन्याओं को स्वांतःपुर में बलात् रख लिया था। देव-माता अदिति के कुण्डल भी ले लिये थे। इन्द्र की प्रार्थना पर श्रीकृष्ण ने नरकासुर को मारा। (विष्णु० १५।२९)॥ ९७॥

मृत्युहेतुषु न वज्रनिपाताद् भीतिमर्हति जनस्त्वयि भक्तः।
यत् तदोच्चरति वैष्णवकण्ठान्निष्प्रयत्नमपि नाम तव द्राक्॥ ९८॥

जीवातु—मृत्विति। हे विष्णो! त्वयि भवति भक्तः सेवानुरक्तः, जनः लोकः, मृत्युहेतुषु मरणकारणेषु मध्ये, प्रधानादिति शेषः। वज्रनिपातात् मृत्युहेतोः कुलिशपतनादपि, भीतिं भयम्, लब्धुमिति शेषः। न अर्हति न योग्यो भवति, कुत इत्याह—यत् यस्मात् कारणात्, तदा वज्रनिपातसमये, वैष्णवस्य विष्णोः तव भक्तस्य, तस्येति शेषः। कण्ठात् गलदेशात्, तव भवतः नाम नामधेयम्, निष्प्रयत्नमपि प्रयत्नं विनाऽपि, सततनामोच्चारणाभ्यासात् चेष्टां विनाऽपीत्यर्थः। द्राक् शीघ्रमेव, उच्चरति निष्क्रामति। तदेव वज्रनिपात-भयं निवारयतीति भावः। अनभिसन्धिनाऽपि विष्णुनामोच्चारकस्य मृत्युभयं नास्तीति निष्कर्षः॥ ९८॥

अन्वयः—त्वयि भक्तः जन. मृत्युहेतुषु वज्रनिपातात् भीतिं न अर्हति, यत् सदा वैष्णवकण्ठात् तव नाम निष्प्रयत्नम् अपि द्राक् उच्चरति।

हिन्दी—तुम्हारी (श्री विष्णु की) सेवा मे रत (भक्त) व्यक्ति को मृत्यु के कारणो के मध्य वज्र-पात से (भी) भय उचित नहीं है, क्योंकि तब (वज्रपात समये) विष्णु-भक्त के गले से (तुम्हारा श्री विष्णु का) नाम बिना प्रयत्न के भी झटिति उच्चरित हो जाता है।

टिप्पणी—विष्णु-नाम-ग्राही विष्णु-भक्त के मुख में सदा अनायास नामोच्चारण होता रहता है अत. उस किसी प्रकार की आकस्मिक मृत्यु से भय नही रहता। नारायण उसकी सदा रक्षा करते हैं दारुणतम स्थिति होने पर भी। आशय यह है कि विष्णु-नाम जप सकल-भय का निवारक है॥ ९८॥

सर्वथाऽपि शुचिनि क्रियमाणे मन्दिरोदर इवावकरा ये।
उद्भवन्ति भविचेतसि तेषां शोधनी भवदनुस्मृतिधारा॥ ९९॥

जीवातु—सर्वथेति। हे विष्णो! सर्वथा सर्वप्रकारेणापि, सम्मार्जनादिसाधनेन परिष्कारादिना कामादिरिपुषट्कविजयेन च इति भाव.। शुचिनि निर्मले शुद्धे च, क्रियमाणे विधीयमाने, अपीति शेष.। भविनां संसारिणाम्, चेतसि मनसि, मन्दिरोदरे गृहाभ्यन्तर इव, ये अवकरा. सङ्कराः, सम्मार्जनीक्षिप्तधूल्यादय इत्यर्थ.। रागादयो मलाश्च। 'सम्मार्जनी शोधनी स्यात्सङ्करोऽवकरस्तथा' इत्यमर.। उद्भवन्ति जायन्ते, भवत. तव कर्मभूतस्य, अनुस्मृतिधारा चिन्तनपरम्परा, तेषाम् अवकराणाम्, शोधनी सम्मार्जनीस्वरूपा, पावनतासम्पादनहेतुरूपा, भवतीति शेष.॥ ९९॥

अन्वय—सर्वथा अपि शुचिनि क्रियमाणे भविचेतसि मन्दिरोदरे इव ये अवकरा. उद्भवन्ति, भवदनुस्मृतिधारा तेषां शोधनी।

हिन्दी—मन, वचन,कर्म—सब प्रकार से भी पवित्र-स्वच्छ किये जाते संसारी जनों के चित्तों में घर के भीतर हुए कूडे के सदृश जो (राग द्वेषादिमल) उत्पन्न हो जाते है, आप (श्री विष्णु) के स्मरण की परम्परा-रूपी जलधारा उसका शोध (सफाई) करनेवाली (संमार्जनी) है।

टिप्पणी—स्मरण का महत्त्व। भगवत्स्मरण संसारिजनों के मन के राग-द्वेषादि मलों को उसी प्रकार दूर कर देता है, जैसे घर के कूड़े को जल-धारा और संमार्जनी (झाड़ू-बुहारी) दूर कर देती है और स्वच्छ बना देती है। चाहे जितना स्वच्छ करने पर भी घरों में कूड़ा हो ही जाता है, जैसे झाड़ू और जल-धार से धोना कूड़ा साफ कर घरों को स्वच्छ बना देता है, ऐसे ही मन, कर्म, वचन से पाप न करने पर भी चित्त में राग-द्वेषादि उत्पन्न हो ही जाते हैं। उनका निवारण भगवत्स्मरण से ही होता है ॥९९॥

अस्मदाद्यविषयेऽपि विशेषे रामनाम तव धाम गुणानाम्।
अन्ववन्धि भवतैव तु कस्मादन्यथा ननु जनुस्त्रितयेऽपि ? ॥१००॥

जीवातु—अस्मदिति। हे विष्णो ! विशेषे पार्थक्ये, तव नामसु कस्य उत्कर्षः इत्येवं तारतम्यनिश्चये इत्यर्थः। अस्मदादीनां मद्विधानां मूढानाम्, अविषये ज्ञानागोचरे सत्यपि, तव ते, रामनाम सहस्रनामसु मध्ये रामेति नामैव, गुणानाम् उत्कर्षाणाम्, धाम आश्रयः, इति मन्यते इति शेषः। कुत इत्याह—अन्यथा तु अथैवं नो चेत् पुनः, तव रामनाम्नोऽस्य गुणधामत्वाभावे तु इत्यर्थः। ननु भो नारायण ! जनुषां जन्मनाम्, त्रितयेऽपि त्रयेऽपि, जामदग्न्य दाशरथि-बलभद्रात्मकजन्मत्रयेऽपीत्यर्थः। भवतैव स्वयैव, कस्मात् कुतः हेतोः, अन्ववन्धि ? अनुबन्धं नीतम् ? राम इति एव तु नाम पुनः पुनरावृत्त्या गृहीतम् ? इत्यर्थः। त्रिष्वेव अवतारेषु त्वया रामनामग्रहणात् एतत्तेऽतीव प्रियमिति ज्ञायते अज्ञैरपि अस्माभिरिति भावः। तव नामसु रामनामैव श्रेष्ठमिति निष्कर्षः ॥ १०० ॥

अन्वयः—विशेषे अस्मदाद्यविषये अपि तव राम नाम ननु गुणानां धाम; अन्यथा जनुस्त्रितये अपि भवता एव तु कस्मात् अन्ववन्धि ?

हिन्दी—कौन-सा भगवन्नाम विशिष्ट है—यह हम अज्ञानी जनों का अविषय (ज्ञानागम्य) होने पर भी तुम्हारा (श्रीहरि का) रामनाम निश्चयतः गुणों का आगार है (विशेष श्रेयस्कर है), अन्यथा तीन अवतारों (जन्मों) में भी आप ने ही क्यों उसका अनुबन्ध किया (क्यों राम–नाम जोड़ा) ?

टिप्पणी—भगवान के अनेक नामो मे राम–नाम विशेष प्रतीत होता है, इसका कारण यह है कि अनेक अवतारो के मध्य स्वय श्रीहरि ने 'राम' को महत्ता दी है, उन्होने तीन अवतारो मे 'राम–नाम लगाया—राम (दशरथ पुत्र), परशुराम (जमदग्नि पुत्र) और बलराम (श्री कृष्णाग्रज)। अन्य नामो की अवज्ञा न हो, इससे भक्त ने अपने को नाम वैशिष्ट्य विषय मे अज्ञानी कहा। नाम सब ही महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु राम नाम का महत्त्व विशिष्ट है, अन्यथा श्रीहरि के तीन जन्मो में 'राम' क्यों लगता ? ॥ १०० ॥

भक्तिभाजमनुगृह्य दृशा मा भास्करेण कुरु वीततमस्कम्।
अर्पितेन मम नाथ ! न ताप लोचनेन विधुना विधुनासि ? ॥१०१॥

जीवातु—भक्तीति। नाथ ! हे प्रभो ! विष्णो ! भक्तिभाज भक्तिमन्त सेवकम्, मा नलम्, अनुगृह्य अनुकम्प्य, भास्करेण सूर्येण, दृशा नेत्रेण, सूर्यात्मकदक्षिणनयनेनेत्यर्थ। वीतम् अवगतम्, तम तमोगुण, तमोगुणात्मकमूढत्वमित्यर्थ। ध्वान्तञ्च यस्य त तादृशम्, 'राहौ ध्वान्ते गुणे तम' इत्यमर। कुरु विधेहि। तथा अर्पितेन मा प्रति दत्तेन, विधुना चन्द्रेण, लोचनेन नेत्रेण, चन्द्रात्मकवामनयनेनेत्यर्थ। मम मे, तापम् आध्यात्मिकादिसन्तापत्रयमित्यर्थ। न विधुनासि ? न अपनयसि ? इति काकु, अपि तु विधुनास्येवेत्यर्थ भास्करेण तमोविधूननस्य विधुना च तापविधूननस्य सम्भवदर्शनादिति भाव। धूञ् कम्पने इत्यस्मात् क्र्यादिकात् लिपि 'प्वादीना ह्रस्व' ॥ १०१ ॥

अन्वय—नाथ, भक्तिभाज माम् अनुगृह्य भास्करेण दृशा वीततमस्क कुरु, अर्पितेन विधुना लोचनेन मम ताप न विधुनासि ?

हिन्दी—हे स्वामी, भक्त मुझ (नल) पर कृपा करके सूर्य रूप दक्षिण नेत्र द्वारा मेरे राग-द्वेष रूप अधकार को दूर करो। मेरे प्रति (कृपा कर) प्रदत्त चन्द्र रूप (शीतल वाम) नेत्र द्वारा मेरा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापत्रय क्यो दूर नही करते ?

टिप्पणी—भक्तराज नल की विनम्र प्रार्थना है कि उसके मन के अन्धकार को अपने दक्षिण नेत्र सूर्य से श्री हरि मिटायें, क्योंकि सूर्य का तो धर्म ही अधकार मिटाना है। इसी प्रकार श्री हरि के वाम नेत्र शीतलदायक चन्द्र

द्वारा भक्त के तापत्रय दूर होना ही चाहिए। आशय यह कि अपनी संपूर्ण दृष्टि से श्रीहरि भक्त को निहारें, जिससे उसका सम्पूर्ण कष्ट-ताप दूर हो सके ॥ १०१ ॥

लङ्घयन्नहरहर्भवदाज्ञामस्मि हा ! विधिनिषेधमयीं यः।
दुर्लभं स तपसाऽपि गिरैव त्वत्प्रसादमहमिच्छुरलज्जः ! ॥ १०२ ॥

जीवातु—लङ्घयन्निति। हे विष्णो ! यः योऽहं नलः, अहरहः नित्यं, 'विधिनिषेधमयीं विधिः—'वसन्ते ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यादिरूपः, निषेधः—'न सुरां पिबेत्र कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादिरूपश्च, तन्मयीं तदात्मिकाम्, भवदाज्ञां त्वदादेशं, 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' इत्यनुस्मरणात्, लङ्घयन् अतिक्रामन्, अस्मि वर्ते, हा ! खेदे, स उक्तरूपाज्ञालङ्घनकारी, अहं नलः, अलज्जः निस्त्रपः सन्, गिरैव वचनेनैव, 'मामनुगृहाण मामनुगृहाण' केवलमित्येवंरूपवाक्प्रयोगेणैवेत्यर्थः। तपसा अपि कठोरतपस्ययाऽपि, दुर्लभं दुष्प्रापम्, त्वत्प्रसादं भवदनुग्रहम्, इच्छुः अभिलाषुकः, अस्मीति शेषः। यस्य खलु तव प्रसादः सर्वदा तपस्यादिक्रियानुष्ठानरूपेण महता प्रयत्नेन लभ्य', स मया सर्वदा तवाज्ञालङ्घनकारिणा वाङ्मात्रेणैव प्रार्थ्यते इत्यहो मे निर्लज्जता ! सर्वथा अनुग्राह्योऽस्मीति भावः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—यः अहरहः विधिनिषेधमयीं भवदाज्ञां लङ्घयन् अस्मि, हा, सः अहम् अलज्जः गिरा एव तपसा अपि दुर्लभं त्वत्प्रसादम् इच्छुः।

हिन्दी—जो मैं प्रतिदिन कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निर्देश से पूर्ण आप (नारायण) की आज्ञा का उल्लंघन कर रहा हूँ, खेद है कि वह मैं (नल) लज्जाहीन हो कथन मात्र से तप द्वारा भी कठिनतापूर्वक प्राप्त होने योग्य आप (श्रीहरि) के प्रसाद का आकांक्षी हूँ।

टिप्पणी—श्रीहरि का प्रसाद—नारायण का अनुग्रह उन महातपस्वियों को भी दुर्लभ रहता है, जो श्रुति-स्मृति रूप में प्रतिपादित भगवदादेश का प्रतिपालन करते रहते हैं, जो 'संध्या-वंदन, यज्ञादि करना चाहिए'—इन विधि-वचनों और 'सुरापान न करना चाहिए, असत्य-भाषण अनुचित है'—इन निषेध-वचनों का पालन करते हैं। वेद, स्मृति आदि के रूप में श्रीहरि

के आदेश है। नियमतः उनका पालन करने वाले तपस्विजन भी बड़ी कठिनता से हरि-प्रसाद प्राप्त करने योग्य हो पाते हैं। विनयी भक्त नल का निवेदन है कि वह प्रतिदिन श्रुति-स्मृति-विहित नारायण के विधि-निषेधों की अवज्ञा ही करता रहता है और 'त्राहि माम्, पाहि माम्'—'मुझ पर दया करो'—आदि निवेदनों को ही करके, केवल वचनमयी भक्ति प्रकट कर श्री नारायण का प्रसाद चाहता है। यह बड़ी निर्लज्जता है कि उचित कर्त्तव्य के प्रति उदासीन रहो और फल की उत्कट कामना करो। नल का आशय यही है कि नाममात्र लेनेवाले भक्त पर प्रभु कृपा करें। असमर्थ, अज्ञानी किन्तु भक्त व्यक्ति को भी प्रभु-प्रसाद प्राप्त होता ही है ॥ १०२ ॥

विश्वरूप ! कृतविश्व ! कियत् ते वैभवादभुतमणौ हृदि कुर्वे ।
हेम नह्यति कियन्निजचोरे काञ्चनाद्रिमधिगत्य दरिद्र ? ॥ १०३ ॥

जीवातु—विश्वेति। विश्वरूप ! हे सर्वात्मक ! 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतेरिति भाव। कृतविश्व ! हे सम्पादितभुवन ! 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतेरिति भाव.। अणौ अत्यन्तसूक्ष्मपरिमिते, हृदि हृदये, ममेति शेष। ते तव, वैभवस्य सामर्थ्यातिशयस्य, अद्भुतम् आश्चर्यस्वरूपम्, कियत् किम्परिमाणम्, कुर्वे ? गृह्णामि ? इत्यर्थ। हृदयस्य अत्यन्तमल्पपरिमितत्वात् नितान्तमल्पम् एव धारयितुं शक्नोमि इति भाव। तथा हि—दरिद्र. नि.स्व, अत एवातिलोलुपोऽपि इति भाव। काञ्चनाद्रिसुमेरुपर्वतम्, अधिगत्य प्राप्य, निजे स्वीये, चीरे शतपाच्छिन्नवस्त्रखण्डे, कियत् किम्परिमाणम्, हेम सुवर्णम्, नह्यति ? बध्नाति ? अपि तु अत्यल्पमेव बद्धुं शक्नोति इत्यर्थ। चीरखण्डे बहुसुवर्णबन्धनासामर्थ्यवत् मम सकलगुणवर्णनाभिलाषे सत्यपि असामर्थ्यात् कियन्मात्र वर्ण्यते इति भाव.। 'णह बन्धने' इति धातु ॥ १०३ ॥

अन्वय—विश्वरूप, कृतविश्व, अणौ हृदि ते वैभवाद्भुतं कियत् कुर्वे, दरिद्रः काञ्चनाद्रिम् अधिगत्य निजचोरे कियत् हेम नह्यति ?

हिन्दी—हे जड़-चेतनात्मक, समस्त संसार के कर्ता प्रभो, अणुतुल्य (अत्यन्त छोटे) हृदय में आपका अनन्त आश्चर्यमय ऐश्वर्य कितना रख

पाऊँ ? दरिद्र व्यक्ति सुवर्णगिरि (सुमेरु) को प्राप्त करके अपने फटे-कटे क्षुद वस्त्र (चीर) में कितना सोना बाँध सकता है ?

टिप्पणी—नारायण का ऐश्वर्य, उनका अनुग्रह अनंत है, कोई व्यक्ति उनके असीम अनुग्रह को कितना ग्रहण कर सकता है ? हृदय के छोटे-से पात्र में श्री हरि की असीम-करुणा कितनी समा सकेगी ? कोई महादरिद्र कांचनगिरि पाकर भी अपने फटे-कटे, पुराने चीर में कितना सोना बाँध सकता है ? यही स्थिति भक्त नल की भी है। उसका हृदय का पात्र छोटा है, प्रभुप्रसाद अनंत। कांचन-गिरि के संमुख खड़े दरिद्र की भाँति वह भी असीम कृपा-सागर का अल्पातिअल्प अंश ही ले सकता है। कूप हो या समुद्र, जल तो उतना ही मिल सकेगा, जितना बड़ा पात्र (लोटा, कमंडलु आदि) है। 'दाता का दिया ऐसा, जैसा क्षीरसिंधु, मेरा घट छोटा-सा भरते दो बिंदु !' 'दाता परमोदारः परमेवाहं क्षुद्रः' ॥ १०३ ॥

इत्युदीर्य स हरिं प्रति सम्प्रज्ञातवासिततमः समपादि ।
भावनावशविलोकितविष्णौ प्रीतिभक्तिसदृशानि चरिष्णुः ॥ १०४ ॥

जीवातु—इतीति । सः नलः, इति पूर्वोक्तप्रकारेण, हरिं विष्णुम्, प्रति उद्दिश्य, उदीर्य उक्त्वा, स्तुत्वा इत्यर्थः । सम्प्रज्ञातेन तदाख्येन साकारध्यानेन हेतुना, वासिततमः अतिशयेन सञ्जातभावनः सन्, अत्यर्थं तन्मयः सन्नित्यर्थः । भावनावशेन संस्कारपाटवेन, ध्यानप्रभावेणेत्यर्थो वा, विलोकितः साक्षात्कृतः, यः विष्णुः नारायण. तस्मिन् विषये, प्रीतिभक्त्योः प्रेमानुरागयोः, सदृशानि उचितानि, आनन्दवाष्पमोचननृत्यगीतादीनि कर्माणीति शेषः । चरिष्णुः आचरणशीलः, अनुष्ठाता इत्यर्थः । समपादि सम्पन्नः, जात इत्यर्थः । 'चिण् ते पदः' इति कर्त्तरि चिण् ॥ १०४ ॥

अन्वयः—हरिं प्रति इति उदीर्य सम्प्रज्ञातवासिततमः सः भावनावश-विलोकितविष्णौ प्रीतिभक्तिसदृशानि चरिष्णुः समपादि ।

हिन्दी—श्रीहरि नारायण के प्रति इस प्रकार (५०–१०३ श्लोकों में) स्तुतिनिवेदन कर साकारध्यान समाधि-संप्रज्ञात के कारण हरि की भावना से अतिशयित भावित वह (नल) भावनावश प्रत्यक्ष हुए विष्णु के प्रति सहज

प्रेम और भक्ति (प्रेमाभक्ति) के अनुरूप आनदाश्रुविमोचन, गीत, नृत्यादि कर्म करने लगा।

टिप्पणी—समाधि के दो प्रकार हैं—(१) सम्प्रज्ञात, (२) असम्प्रज्ञात। ध्येयध्यातृभावयुक्त साकार ध्यान समाधि अर्थात् भगवान (ध्येय) और भक्त (ध्याता) के भाव से भावित साकार ध्यान सम्प्रज्ञात है और निराकार, स्वप्रकाश, परमानंद स्वरूप परमात्मा का ध्यान असम्प्रज्ञात। प्रेमी भक्त सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा भगवान् का ध्यान करता है और तन्मय हो भगवान के दर्शन प्राप्त करता है। नल ने भी ऐसा ही किया और श्री विष्णु को साक्षात् कर प्रेमी भक्त के समान गदगद् हो नृत्य गीतादि करने लगा। श्रीमद्भागवत के अनुसार श्री भगवान् रथाङ्गपाणि के दिव्य जन्मों और कर्मों का श्रवण करता प्रेमी भक्त भगवन्नाम लेता, गीत गाता लज्जाहीन हो निःसंगता के साथ विचरण करे—'शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके। गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥' ॥ १०४ ॥

विप्रपाणिषु भृशं वसुवर्षी पात्रसात्कृतपितृव्यनुकल्यः।
श्रेयसा हरिहरौ प्रतिपूज्य प्रह्व एष शरणं प्रविवेश ॥ १०५ ॥

जीवातु—विप्रेति। एष नल, विप्राणां ब्राह्मणानाम्, पाणिषु करेषु, भृशम् अत्यर्थम्, वसु धनम्, वर्षति विकिरति, ददातीत्यर्थं, स [illegible] तादृश, तथा पात्रसात्कृत सत्पात्रे दत्तम्, पितृकृतौ पितृयज्ञस्य, श्राद्धस्य इत्यर्थः। कव्य पित्र्यम् अन्न येन स तादृशश्च सन्। 'हव्यकव्ये दैवपैत्रे (पित्र्ये)' इत्यमर। निरयश्राद्धमनुष्ठाय इति भाव। श्रेयसा उत्कृष्टवस्तुना, हरिहरौ विष्णुशिवौ, परिपूज्य अर्चयित्वा, प्रह्व हरिहरचरणयो प्रणतश्च सन, शरण गृहम्, भोजनगृहमिति यावत्। 'शरण गृहरक्षित्रो' इत्यमर। प्रविवेश प्रविष्टवान् ॥ १०५ ॥

अन्वय—विप्रपाणिषु भृशं वसुवर्षी पात्रसात्कृतपितृव्यनुकल्यः श्रेयसा हरिहरौ प्रतिपूज्य प्रह्व एष शरणं प्रविवेश।

हिन्दी—ब्राह्मणों के हाथों में प्रचुर धन वर्षा करके, सत्पात्रों को पितरों के श्राद्धसे संबद्ध अन्नादि के उत्कृष्ट वस्तुओं अथवा स्नान, पूजा, दानादि

के पुण्यों द्वारा श्री विष्णु और महादेव शिव की अर्चना कर, प्रणत हो यह (नल) भोजनार्थ भोजनगृह में प्रविष्ट हुआ।

टिप्पणी—भगवत्स्तवन के पश्चात् नल ने विप्रों को रत्न, मणि, स्वर्ण, रजत का प्रभूत दान किया, नित्य पितृश्राद्ध संपन्न किया और श्रेष्ठ सामग्री और अर्जित पुण्य के द्वारा हरि-हर की पूजा की और उनके चरणों में विनत हो भोजनार्थ भोजनगृह में प्रवेश किया ॥ १०५ ॥

माध्यन्दिनादनु विधेर्वसुधाविवस्वानास्वादितामृतमयौदनमोदमानः।
प्राञ्चं स चित्रमविदूरितवैजयन्तं वेश्माचलं निजरुचीभिरलञ्चकार॥१०६॥

जीवातु—माध्यन्दिनादिति। वसुधाविवस्वान् भूलोकसूर्यः, सः नलः; मध्यन्दिनस्य मध्याह्नकालस्य अयमिति माध्यन्दिनः तस्मात् माध्यन्दिनात् दिनमध्यभागे विधेयात्, विधेः अनुष्ठानात्, देवार्चनादिरूपनित्यकार्यादित्यर्थः। अनु पश्चात्, पञ्चमहायज्ञानुष्ठानादनन्तरमित्यर्थः। आस्वादितेन भुक्तेन, अमृतमयेन पीयूषतुल्येन, सुस्वादुनेत्यर्थः। ओदनेन अन्नेन, मोदमानः हृष्यन्, सानन्दमनाः सन् इत्यर्थः। प्राञ्चं प्राचीनम्, प्रासादात् पूर्वभागस्थमिति वा। 'शयनगृहं प्राच्यां कर्तव्यम्' इति शयनशास्त्रादिति भावः। चित्रम् आश्चर्यम्, आश्चर्यदर्शनमित्यर्थः। अविदूरितः निकटीकृतः, अत्युच्चत्वादिति भावः। वैजयन्तः इन्द्रप्रासादः येन तं तादृशम्, वेश्माचलं प्रासादरूपं पर्वतम्, निजाभिः स्वीयाभिः, रुचीभिः कान्तिभिः प्रभाभिश्च, अलञ्चकार भूषयामास, सूर्यस्तु मध्याह्नात् परं पश्चिमदिगवस्थितम् अस्ताचलमेवालङ्करोति, अयं तु भूलोकसूर्यः मध्याह्नात् परमपि पूर्वाचलमलङ्करोतीति चित्रम्! एवञ्च सदोदयभाग्यमिति भावः॥ १०६॥

अन्वयः—वसुधाविवस्वान् माध्यन्दिनात् विधेः अनु आस्वादितामृतमयौदनमोदमानः सः प्राञ्चं चित्रम् अविदूरितवैजयन्तं वेश्माचलं निजरुचीभिः अलञ्चकार।

हिन्दी—पृथ्वी-मंडल के सूर्य मध्याह्नकालोचित देवपूजनादि कृत्य के पश्चात् अमृत-तुल्य स्वादिष्ट ओदनादि भोजन करके प्रसन्न हो उस (नल) ने (जहाँ दमयंती के साथ हास-विलास किया था, उस) पूर्वोक्त अथवा

प्रासाद के पूर्वभाग मे स्थित विस्मयोत्पादक, (अत्युच्च होने के कारण) इन्द्र-प्रासाद 'वैजयन्त' से अनतिदूर शयन भवन रूप पर्वत को अपनी कांति-किरणों से सुशोभित किया।

टिप्पणी—भाव यह कि मध्याह्न पूजन के पश्चात् सुस्वादु भोजन करके नल विश्रामार्थ अत्यन्त विस्मयोत्पादक प्रकार से रमणीय अत्युच्च शयन भवन म चले गये। यहाँ प्रतापी नल की तुलना सूर्य से की गयी है, जो मध्याह्न मे नहीं, सध्या होने पर पूर्वाचल नहीं, पश्चिमी अस्ताचल को अलकृत बनाता है नल-सूर्य ने मध्याह्न में ही 'प्राच' वेश्माचल को सुशोभित किया, यह आश्चर्य है—प्राच्य वेश्माचलमलन्चकार—इति चित्रम्। सूर्यपक्ष मे 'आस्वादितामृतमयौदनमोदमान' का अर्थ होगा—'सबसे गृहीत अमृत (जल) रूप ओदन (खाद्य) से मुदित।' प्रथम चरण मे 'वसुधासुधांशु' भी पाठान्तर है अर्थात् पृथ्वी का चद्र नल। जैसे सुधांशु अमृत रूप भोजन से तुष्ट होता है, वैसे ही स्वादिष्ट भोजन से नल भी मुदित थे। यहाँ 'चित्र' यह है कि चद्र मध्याह्न म नहीं, सध्यासमय उदयाचल को सुशोभित करना है, 'वसुधा सुधांशु' ने मध्याह्न मे ही कर डाला। मल्लिनाथ के अनुसार राजा नल 'सदोदयभाक' अर्थात् सदैव उन्नतिशील थे। इस श्लोक से १२६वें श्लोक तक वसततिलकाछन्द ॥ १०६ ॥

भीमात्मजाऽपि कृतदेवतभक्तिपूजा पत्यौ च भुक्तवति भुक्तवती ततोऽनु।
तस्याङ्कमङ्कुरिततत्परिरिप्समध्यमध्यास्त भूषणभरातितरालसाङ्गी ॥१०७॥

जीवातु—भीमेति। तत पतिभोजनात् नलस्य वेश्माचरालङ्करणादिति वा, अनु पश्चात्, भूषणभरेण अलङ्कारभारेण, अतितराम् अत्यर्थम्, अलसानि जडानि, विवशानीत्यर्थः। अङ्गानि अवयवा यस्या सा तादृशी, भीमात्मजा दमयन्ती अपि, कृता अनुष्ठिता, देवताना देवानाम्, भक्त्या श्रद्धया, पूजा अर्चना यया सा तादृशी सती, पत्यौ भर्तरि नले, भुक्तवति कृतभोजने सति, भुक्तवती स्वय च कृतभोजना सती, अङ्कुरिता उद्भूता, तस्या धर्मभूताया दमयन्त्या, परिरिप्सा आलिङ्गनेच्छा यस्य तादृश, 'सनि मीमा—' इत्यादिना सनि इसादेशे 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इति अभ्यासलोप। मध्य मध्यभाग यस्य

तं तादृशम्, तस्य नलस्य, अङ्कम् उत्सङ्गम् क्रोडान्तिकमिति यावत् । अध्यास्त उपाविशत् ॥ १०७ ॥

अन्वयः—ततः अनु कृतदैवतभक्तिपूजा भीमात्मजा अपि पत्यौ भुक्तवति भुक्तवती भूषणभरातितरालसाङ्गी अङ्कुरिततत्परिरिप्समध्यं च तस्य अङ्कम् अध्यास्त ।

हिन्दी—तदनन्तर (नल के भोजन करके शयनीय में चले जाने के पश्चात्) भक्तिपूर्वक देव-पूजन करके भीमसुता (दमयंती) ने भी पति (नल) के भोजन करलेने पर भोजन किया और आभूषणों के भार से अलसाती (मन्द-मन्द चलती उस (दमयंती) के आलिंगन के निमित्त जिसका मध्यभाग इच्छुक हो गया है, ऐसे उस (नल) के अंक (गोद) में जा बैठी ।

टिप्पणी—इस क्रिया से दमयंती का प्रबल पति-प्रेम प्रकट होता है कि वह भी पति का अनुगमन करती पूजन-भोजन में प्रवृत्त हुई और आलिगनेच्छु प्रिय के प्रति समर्पित हो गयी ॥ १०७ ॥

तामन्वगादशितबिम्बविपाकचञ्च्वोः स्पष्टं शलाटुपरिणत्युचितच्छदस्य ।
कीरस्य काऽपि करवारिरुहे वहन्ती सौन्दर्यपुञ्जमिव पञ्जरमेकमाली ।।१०८

जीवातु—तामिति । अशितस्य भक्षितस्य, बिम्बस्य तदाख्यफलविशेषस्य, विपाकः परिणतिः इव, अत एव अतिरक्तवर्णः इति भावः, चञ्चुः त्रोटिः यस्य तादृशस्य आरक्तचञ्चुविशिष्टस्य इत्यर्थः । तथा स्पष्टं व्यक्तं यथा भवति तथा, शलाटुनः आमफलस्य, अपक्वफलस्य सम्बन्धिन्याः इत्यर्थः । 'आमे फले शलाटुः स्यात्' इत्यमरः । परिणतेः परिणामस्य, उचितौ योग्यौ, नीलौ इति यावत्, छदौ पक्षौ यस्य तादृशस्य, कीरस्य शुकपक्षिणः सौन्दर्यपुञ्जमिव सुघटितत्वेन एकीभूतसौन्दर्यराशिमिव एकं पंजरं पक्षिवन्धनागारम्, करौ हस्तः, वारिरुहमिव सरोजमिव तस्मिन्, वहन्ती धारयन्ती, का अपि काचित्, आली सखी, तां दमयन्तीम्, अन्वगात् अनुजगाम ॥ १०८ ॥

अन्वयः—अशितबिम्बविपाकचञ्च्वोः स्पष्टं शलाटुपरिणत्युचितच्छदस्य कीरस्य सौन्दर्यपुंजम् इव एकं पंजरं करवारिरुहे वहन्ती का अपि आली ताम् अन्वगात् ।

हिन्दी—खाये हुए बिंब-फल के परिणाम के तुल्य (अत्यन्त लाल) चोंच वाले और स्पष्टतः कच्चे फल के भक्षण के परिणाम के योग्य हरे पंखों-वाले शुक के सौन्दर्य पुंज के समान एक पिंजड़े को करकमल में धारती एक सखी भी उस (दमयन्ती) के पीछे गयी।

टिप्पणी—भोजनोपरान्त विश्राम करते राजा-रानी शुक सारिकाओं के माध्यम से मनोरंजन किया करते हैं। इसी निमित्त सखी लाल चोंच और हरे पंखों वाले तोते के सुन्दर पिंजरे को ले राज-दम्पती के शयन में पहुँची। चंचु की लाली और पंखों की हरीतिमा में भोज्य-प्रभाव की कल्पना की गयी है। तोता लाल बिम्ब फल और कच्चे हरे फल खाता है, फलतः उसकी चोंच अत्यन्त लाल और पंख हरे हो गये, जिनकी आभा पड़ने से पिंजर भी लाल-हरी दीप्ति से भासित हो गया ॥ १०८ ॥

कूजायुजा बहुलपक्षशितिम्नि सीम्ना स्पष्टं कुहूपदपदार्थमिथोऽन्वयेन ।
तिर्यग्धृतस्फाटिकदण्डकवर्तिनैका तामन्ववर्तत पिकेन मदाधिकेन ॥१०९॥

जीवातु—कूजेति। कूजायुजा कूजनकारिणा। 'गुरोश्च हलः' इत्यकार-प्रत्ययः। बहुलपक्षस्य कृष्णपक्षस्य य शितिमा कालिमा तस्मिन्, सीम्ना मर्यादाभूतेनेव, अतीव कृष्णवर्णेनेत्यर्थः। अत एव स्पष्टं व्यक्तं यथा, भवति तथा, कुहूपदं कुहू इति शब्दः, कोकिलालाप इत्यर्थः। तथा कुहूपदस्य अर्थः कुहूशब्दवाच्या अमावस्या च। 'कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपि' इत्यमरः। तयोः मिथः परस्परम्, अन्वयः तादात्म्यम्, सामानाधिकरण्यसम्बन्ध इत्यर्थः। यत्र तेन तादृशेन, 'कुहू कुहू' इति रवकारिणा अमावस्यावत् गाढकृष्ण-वर्णेन चेत्यर्थः। अमावस्याऽपि बहुलपक्षस्य सीमा इति प्रसिद्धमेव। तिर्यक् वक्रभावेन, धृतः गृहीतः, यः स्फटिकस्य स्फटिकनिर्मित इत्यर्थः। दण्डकः क्षुद्रदण्डः, तत्र वर्त्तते तिष्ठतीति तादृशेन, मदाधिकेन अत्यन्तमत्तेन, पिकेन एकेन कोकिलेन उपलक्षिता, कोकिलहस्ता इत्यर्थः। एका काचित्, आलीति शेषः। तां दमयन्तीम्, अन्ववर्त्तत अन्वगच्छत् ॥ १०९ ॥

अन्वयः—कूजायुजा बहुलपक्षशितिम्नि सीम्ना स्पष्टं कुहूपदपदार्थमिथोऽन्वयेन तिर्यग्धृतस्फाटिकदण्डकवर्तिना मदाधिकेन पिकेन एका ताम् अन्ववर्त्तत।

हिन्दी—'कुहू कुहू' कूजन करते, अँधियारे पाख की कालिमा की सीमा, (अतएव) 'कुहू' पद (शब्द) और उसके पदार्थ (शब्दार्थ अमावास्या) का परस्पर अन्वय (अन्योन्य सम्बन्ध, तादात्म्य, समानाधिकरण्य) करते, तिरछे रखे स्फटिक के डंडे पर बैठे मद से मतवाले कोकिल के साथ (अन्य सखी) उस (दमयन्ती और शुकपिंजरधारिणी) के पीछे गयी।

टिप्पणी–जैसा कि पूर्व श्लोक में वर्णित है कि एक सखी तोते का पिंजरा लेकर दमयन्ती के पीछे गयी, यहाँ दूसरी सखी का उल्लेख है, जो कोकिल को स्फटिक दंड पर बैठाये उसके पीछे गयी। कोकिल की तुलना अमावस्या से की गयी है। उसका मधुर-अव्यक्त 'कुहू' कूजन जहाँ अमावस्या का वाचक है, वहाँ उसकी अतिशय कालिमा कृष्णपक्ष की कृष्णतमा अमा-निशा के तुल्य है—कालिमा की सीमा अर्थात् घोर काली। इसी से यहाँ कोकिल को 'कुहू पद पदार्थ' का 'सामानाधिकरण्य' करने वाला कहा गया है। कोकिल क्या है–बोलती मूर्तिमती अमावस्या है। 'कुहू' शब्द अमा का द्योतक और कृष्णवर्ण अमा का रूप। शब्द और शब्दार्थ का अन्वय हो गया। तात्पर्य यह कि स्फटिक की डंडी पर बैठाये, घोर कृष्ण वर्ण 'कुहू'–शब्द करते मदमाते कोकिल को लेकर भी एक सखी दमयन्ती की अनुगामिनी हुई। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ १०९ ॥

शिष्याः कलाविधिषु भीमभुवो वयस्या वीणामृदुक्वणनकर्मणि याः प्रवीणाः।
आसीनमेनमुपवीणयितुं ययुस्ता गन्धर्वराजतनुजा मनुजाधिराजम् ॥११०॥

जीवातु—शिष्या इति। वीणायाः वाद्यविशेषस्य, मृदुक्वणनकर्मणि कोमलवादनक्रियायाम् प्रवीणाः निपुणाः, याः गन्धर्वराजतनुजाः गन्धर्वराजकन्याः, कलाविधिषु नृत्यगीतादिकलाविद्याभ्यासेषु, भीमभुवः दमयन्त्याः, शिष्याः अन्तेवासिन्यः सत्यः, वयस्याः सख्यः, अभवन् इति शेषः। ताः गन्धर्वराजतनुजाः, आसीनम् उपविशन्तम्, मनुजाधिराजं नराधिपम्, एनं नलम्, उपवीणयितुं वीणया उपगातुम्, ययुः प्राप्तवत्यः ॥ ११० ॥

अन्वयः—वीणामृदुक्वणनकर्मणि प्रवीणाः याः गन्धर्वराजतनुजाः कलाविधिषु भीमभुवः शिष्याः वयस्याः ताः आसीनं मनुजाधिराजम् एनम् उपवीणयितुं ययुः।

हिन्दी—वीणा को मधुर मधुर बजाने में निपुण जो गंधर्वराज (विश्वावसु) की कन्याएँ (अथवा गंधर्वराज कन्याओं सदृश दमयन्ती की सखियाँ) चौंसठ कलाओं की शिक्षा पाने के लिए भीम पुत्री (दमयन्ती) की शिष्याएँ और सखियाँ थीं, वे समासीन (शयन गृह में बैठे) नराधिराज इस (नल) को वीणा बजाकर मनोरंजन करने के लिए गयीं।

टिप्पणी—वीणा वादिनी सुन्दरी दमयंती की सखी-शिष्याएँ भी वहाँ पहुँची, जिससे गान वाद्य का भी आयोजन हो सके ॥ ११० ॥

तासामभासत कुरङ्गदृशां विपञ्ची किञ्चित् पुरःकलितनिष्कलकाकलीका ।
भैमीतयामधुरकण्ठलतोपकण्ठे शब्दायितुं प्रथममप्रतिभावतीव ॥ १११ ॥

जीवातु—तासामिति । कुरङ्गदृशां मृगलोचनानाम्, तासां गन्धर्वराजतनुजानाम् विपञ्ची वीणा, किञ्चित् अल्पम् पुरः प्रथमम् कलिता स्वीकृता, निष्कला निर्विशेषा, सामान्येत्यर्थः । काकली मधुरास्फुटध्वनिः यस्याः सा तादृशी सती । 'काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनौ तु मधुरास्फुटे' इत्यमरः । 'नद्यृतश्च' इति कप् समासान्तः । भैम्याः दमयन्त्याः, तया तादृशी, या मधुरा मनोहारिणी, मुग्धा वा इत्यर्थः । कण्ठलता कण्ठस्वरसन्ततिः, तस्याः उपकण्ठे समीपे, शब्दायितुं सङ्गीतात्मकं शब्दं कर्तुम् 'शब्दवैर—' इत्यादिना क्यङ् ततः तुमुन् । प्रथमम् आदौ, अप्रतिभावतीव प्रतिभारहिता इव, स्फूर्तिमप्राप्तेवेत्यर्थः । अभासत प्रतीयते स्म इत्यर्थः । विद्याधिकानां पुरतोऽल्पविद्यस्य कण्ठो न स्फुरति इत्युचितमेवेति भावः ॥ १११ ॥

अन्वयः—कुरङ्गदृशां तासां किञ्चित् पुरःकलितनिष्कलकाकलीका विपञ्ची भैमीतयामधुरकण्ठलतोपकण्ठे शब्दायितुं प्रथमम् अप्रतिभावती इव अभासत ।

हिन्दी—मृगनयना उन (गन्धर्वराज कन्याओं) की कुछ-आरम्भ में मधुर-अस्फुट ध्वनि करती (गम्भीर, मन्द स्वर में बजती) वीणा भीमसुता (दमयन्ती) की उस (अनिर्वचनीय) मधुर कंठ-स्वर माला के निकट शब्द करने (बोलने-बजने) में पहिले प्रतिभाहीन-सी (सकुचायी सी) भासित हुई ।

टिप्पणी—'काकली' का अर्थ होता है सूक्ष्म, मधुर, अस्फुट ध्वनि ।

संगीतशास्त्री गान-वाद्य के आरम्भ में 'काकली' का आश्रय लेते हैं, अर्थात् आरम्भ में गाने-बजाने का स्वर कुछ मन्द और अस्फुट रहता है। यहाँ नारायण के अनुसार यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि वीणा का यह मंद, अस्फुट स्वर श्रेष्ठ के सम्मुख अल्प के संकोच-सदृश था। दमयन्ती का कंठस्वर इतना उत्कृष्ट और मधुर था कि वीणा को उसके सम्मुख आरम्भ में स्वाभाविक संकोच लगा और प्रतीत हुआ कि वीणा कुछ प्रतिभाहीन है। आशय यही कि वीणा का स्वर दमयन्ती के कंठस्वर के तुल्य नहीं था ॥ १११ ॥

सा यद्धृताऽखिलकलागुणभूमभूमीभैमीतुलाऽधिगतये स्वरसङ्गताऽऽसीत् ।
तं प्रागसावविनयं परिवादमेत्य लोकेऽधुनाऽपि विहिता परिवादिनीति ॥

जीवातु—सेति । सा गन्धर्वराजतनुजानां वीणा, धृतानां प्राप्तानाम्, अखिलानां सर्वासाम् कलानां नृत्यगीतादिविद्यानाम्, गुणानां सौशील्यसौन्दर्यादीनाञ्च, यः भूमा बाहुल्यम्, तस्य भूमी स्थानम्, आश्रयभूता इत्यर्थः। या: भैमी दमयन्ती, तस्याः तुलाऽधिगतये सादृश्यलाभाय, भैमीकंठस्वरतुल्यस्वरप्राप्तये इत्यर्थः। यत् स्वरसङ्गता स्वरेण ध्वनिना, सङ्गता संयुता, ध्वनिकारिणीत्यर्थः। अथ च स्वरसं स्वयमेवानुरागम्, गता प्राप्ता, आसीत् अभूत्, असौ वीणा, प्राक् पूर्वम्, तं तादृशम्, दमयन्तीसाम्यलाभेच्छारूपमित्यर्थः। अविनयम् औद्धत्यम्, स्वस्याः उत्तमेन साद्दश्यलाभाय धृष्टताप्रकाशरूपमित्यर्थः। परिवादं निन्दाम्, एत्य प्राप्य, अधुनाऽपि इदानीमपि, लोके जगति, परिवादिनीति परिवादवती इति अथ च परिवादिनीति आख्या च, विहिता कृता, इव जनैरिति शेषः। 'विपञ्ची सा तु तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी।' इत्यमरः ॥ ११२ ॥

अन्वयः—सा धृताऽखिलकलागुणभूमभूमीभैमीतुलाऽधिगतये यत् स्वरसङ्गता आसीत् असौ प्राक् तम् अविनयं परिवादम् एत्य अधुना अपि लोके परिवादिनी इति विहिता।

हिन्दी—उस (वीणा) ने समस्त चौंसठ कलाओं और सौन्दर्यादि गुणों की धारिणी अतएव कला-गुणों की बहुलता की स्थान भीमसुता (दमयंती) की समानता-प्राप्ति के निमित्त जो षड्जादि स्वरों से सम्बद्धता-रूप स्वच्छन्दता

प्राप्त की, अत वह (वीणा) उस कठोर परिवाद (वीणा बजाने के लिए वादक द्वारा अगुलि मे पहिना जाता छल्ला—'मिजराव') रूप उद्धततापूर्ण परिवाद (निन्दा, दोष) को प्राप्त हो आजतक ससार मे 'परिवादिनी' (परिवाद अर्थात् मिजराव-द्वारा बजायी जाने वाली अथवा सात तारा की वीणा और निन्दा योग्य, सदोषा) कही जाती है।

टिप्पणी—वीणा को 'परिवाद' अर्थात् मिजराव से बजायी जाने के कारण भी 'परिवादिनी' कहा जाता है और 'परिवादिनी' सप्ततन्त्री युक्ता (सात तारा वाली) वीणा को भी कहा जाता है। परिवादिनी का अर्थ निन्दायुक्त, दोषयुक्त भी है। यहाँ इसी पर उद्भावना की गयी है कि मिजराब स बजने वाली परिवादिनी वीणा का यह विरुद अद्यावधि चल रहा है कि उसने एक बडा परिवाद अर्थात् दोष किया कि उसने समस्त कलाओ और गुणा की अधिष्ठात्री दमयन्ती की समानता प्राप्त करने की उद्धतता की, उसने षड्जादि स्वरो की सगति भैमी-सादृश्य के लिए की। यह स्वच्छन्दता अविनय थी, दोष, परिवाद। इसी से वीणा का नाम 'परिवादिनी' पड गया। सप्ततन्त्रीयुता वीणा 'परिवाद' (दोष) के कारण ही परिवादिनी कहाती है। विश्व कोष के अनुसार परिवाद का अर्थ कलङ्क और वीणा वादन-साधन (मिजराव) है—'परिवाद कलङ्के स्याद्वीणावादनवस्तुनि।' ॥ ११२ ॥

नाद निषादमधुर ततमुज्जगार साऽभ्यासभागवनिभृत्कुलकुञ्जरस्य।
स्तम्बेरमीव कृतसश्रुतिमूर्द्धकम्पा वीणा विचित्रकरचापलमाभजन्ती ॥११३

जीवातु—नादमिति। सा गन्धर्वराजतनुजाभि स्वरसङ्गता, वीणा विपञ्ची, अवनिभृ कुलकुञ्जरस्य राजवशश्रेष्ठस्य, नलस्य इति शेष। अन्यत्र अवनिभृत्कुले भूधरसमूहे, य कुञ्जर हस्ती, पार्वत्यहस्तीत्यर्थ, तस्य अभ्यास समीपम्, भजति आश्रयति या सा तादृशी, तथा कृतः विहित, सश्रुतीना द्वाविंशतिश्रुतियुक्ताना षड्जादीनाम्, मूर्द्धनि नादप्रान्ते, कम्प कम्पित स्वर यया सा तादृशी, यद्वा—सश्रुतीना तद्ध्वनिश्रवणकारिणा लोकानाम्, मूर्द्ध्न शिरस, कम्प चालन यया सा तादृशी, अन्यत्र—कृत विहित, सश्रुते कर्णद्वयसहितस्य, मूर्द्ध्न शिरस, कम्प चालन यया सा तादृशी, तथा विचित्र

नानाविधम्, करस्य पाणेः, चापल्यं चाञ्चल्यम्, कराङ्गुलीचालनेन द्रुतवादन-रूपमित्यर्थः। अन्यत्र—विचित्रम् अद्भुतम् मनोहरमित्यर्थः। करस्य शुण्डा-दण्डस्य, चापलं संचालनचापल्यम्, आभजन्ती सम्यक् प्राप्नुवती सती, स्तम्बे-रमी हस्तिनी इव। 'स्तम्बकर्णयो रमिजपोः' इत्यच्, 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' इत्यलुक्, 'जातेरस्त्रीविषयात्—' इत्यादिना ङीष्। निषादेन तदाख्य-स्वरविशेषेण, मधुरं रम्यम्, ततं विस्तृतं तारञ्च, नादं ध्वनिं बृंहणञ्च, उज्जगार उद्गीर्णवती, आविष्चकारेत्यर्थः। एकत्र—वादननैपुण्यात्, अन्यत्र—'निषादञ्च गजो ब्रूते' इति पशुशास्त्रादिति भावः॥ ११३॥

अन्वयः—अवनिभृत्कुलकुञ्जरस्य अभ्यासभाक् कृतसश्रुतिमूर्धकम्पा विचित्र-करचापलम् आभजन्ती स्तम्बेरमी इव सा वीणा निषादमधुरं ततं नादम् उज्जगार।

हिन्दी—पहाड़ी हाथी के समीप रहने वाली, कान और मस्तक डुलाती, विचित्र प्रकार से सूँड़ को इधर-उधर करने की चपलता धारण करती हथिनी के तुल्य भूपतियों के वंश में श्रेष्ठ (नल) की समीपवर्तिनी, बाईस श्रुति युक्त षड्जादि के नाद-प्रान्त में कम्पनमय स्वर में बजती (अथवा जिसे सुन-कर, कान में स्वर पड़ने पर श्रोताओं के मस्तक आनन्द से हिलने लगें, ऐसी) वादक के नाना प्रकार के आरोह-अवरोहादि के क्रम से अंगुलि-स्पर्श के कारण विचित्रतापूर्वक हाथ की चंचलता प्रकट करती वह वीणा निषाद (सप्तम स्वर) का मधुर उच्चस्वर उद्गीर्ण करने लगी (निकालने लगी)।

टिप्पणी—अनेकार्थ द्योतक शब्दों के प्रयोग से मधुर उच्च निषाद स्वर को उद्गीर्ण करती वीणा की तुलना निषाद-स्वर में शब्द करती हस्तिनी से की गयी है, क्योंकि यह कहा गया है कि हाथी का स्वर निषाद है। 'नार-दीय शिक्षा' (१, ५।४—५) के अनुसार 'षड्जं मयूरो वदति गावो रम्भन्ति चार्षभम्। अजा वदति गान्धारं क्रौञ्चो वदति मध्यमम्॥ पुष्पसाधारणे काले कोकिलः पञ्चमो वदेत्। अश्वस्तु धैवतं रौति निषादं रौति कुञ्जरः॥' अभिनव गुप्त की मान्यता है कि श्रुति स्थान पर हुए अभिघात से उत्पन्न शब्द से प्रभावित अनुरणनात्मक स्निग्ध, मधुर शब्द स्वर होता है—श्रुति

स्थानाभिघातप्रभवशब्दप्रभावितोऽनुरणनात्मा स्निग्धमधुरः शब्द एव स्वरः। (नाट्यशास्त्र खंड ४ पृष्ठ ११-गायकवाडसंस्करण—२८।११ का अनुवर्ती गद्य)। स्वर को 'श्रुत्यनंतरभावी' कहा गया है (संगीतराज, भरतकोष)। इन्हीं षड्जादि स्वरों के मूलभाव 'श्रुति' हैं, जिसका अर्थ है 'श्रवण' अर्थात् नाद का श्रुतिगोचर होना। यह श्रुति गोचरता ही नाद है। कोहल के अनुसार यद्यपि श्रुतियाँ अनन्त हैं और उत्ताल पवन द्वारा उद्वेलित जल-तरंगों के समान उनकी गणना सम्भव नहीं है तथापि कार्य-साधन के लिए श्रुतियाँ बाईस होती हैं—तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा, छन्दोवती, दयावती, रजनी, रक्तिका, रौद्री, क्रोधी, वज्रिका, प्रसारिणी, प्रीति, मार्जनी, क्षिति, रक्ता, सन्दीपिनी, आलापिनी, मन्दती, रोहिणी, रम्या, उग्रा और क्षोभिणी। 'नारदीय शिक्षा' में पाँच श्रुतियों का उल्लेख है। भरत (ना० शा० २८।२७) ने श्रुति निर्देश के लिए 'सारणाचतुष्टय' का प्रयोग किया है, जिसे 'संगीतरत्नाकर' के कर्त्ता शार्ङ्गदेव ने मान्यता दी। इसके प्रयोग का आधार वीणा होती है। षड्ज में चार, ऋषभ में तीन, गांधार में दो, मध्यम में चार, पंचम में चार, धैवत में तीन और निषाद में दो श्रुतियाँ मानी गयी हैं। इस प्रकार (४+३+२+४+४+३+२=२२) श्रुति संख्या बाईस हुई। निषाद उदात्त स्वर है—'उदात्ते निषादगान्धारौ।' ॥ ११३ ॥

आकृष्य सारमखिलं किमु वल्लकीना तस्या मृदुस्वरमसर्जि न कण्ठनालम् ?।
तेनान्तरं तरलभावमवाप्य वीणा ह्रीणा न क्वाणममुचत् किमु वा लयेषु ?।।

जीवातु—आकृष्येति। वल्लकीना वीणानाम्, अखिल समग्रम्, सारम् उत्कृष्टांशम्, आकृष्य सङ्गृह्य, मृदु कोमल, स्वर. ध्वनिः यस्य तत् तादृशम्, तस्याः दमयन्त्या, कण्ठनाल गलनालो, न असर्जि किमु ? न सृष्ट किम् ? ब्रह्मणा इति शेषः। अपि तु तादृशमेवासर्जि इत्यर्थ.। कथमन्यथा वीणास्वाऽपि दमयन्तीकण्ठस्वरस्य माधुर्यातिशय इति भाव.। तेन कारणेन, आन्तरम् अभ्यन्तरस्थितम्, तरलभाव ध्वनिचांचल्यम्, सर्वसाराकर्षणेन शून्याभ्यन्तरत्वादिति भावः। अन्यत्र—आन्तर तरलभाव मानसचाञ्चल्यम्, अवाप्य प्राप्य, वीणा विपञ्ची, ह्रीणा लज्जिता सती, लयेषु साम्येषु, लयकाले इत्यर्थः। 'लयः साम्यम्' इत्यमर। अन्यत्र—आलयेषु गृहेषु, क्वेण वीणावादनदण्ड

गृहैकदेशं च। 'कोणो वाद्यप्रभेदे स्यात् कोणोऽस्त्री लगुडेऽपि च। वीणादिवादने वा स्यादेकदेशे गृहस्य च॥' इति विश्वः। न अमुचत् किमु वा? न अत्यजत् वा किम्? अन्योऽपि अपहृतसारो जनः अन्तश्चञ्चलः ह्रीणश्च सन् गृहस्य कोणमाश्रित्य यथा तिष्ठति तथा इति भावः॥ ११४॥

अन्वयः—वल्लकीनाम् अखिलं सारम् आकृष्य तस्याः मृदुस्वरं कण्ठनालं किमु न असर्जि, तेन आन्तरं तरलभावम् अवाप्य ह्रीणा वीणा लयेषु (आलयेषु) किमु वा कोणं न अमुचत्?

हिन्दी—ब्रह्मा ने वीणाओं का संपूर्ण सार लेकर उस (दमयंती) का कोमल स्वर युक्त कंठनाल (कंठ की नली) क्या नहीं बनाया, जिससे (सार-हरण हो जाने के कारण) भीतरी (वीणादंडमध्यगत) तरलता-रूप मानसी चंचलता प्राप्त करके लज्जिता वीणा लय काल (स्वर-विश्रांति रूप मूर्च्छना) में 'कोण' (धनुपाकार कमानी, तार-वाद्य बजाने का एक साधन) को उसी प्रकार नहीं छोड़ती है, जैसे जिस व्यक्ति का सर्वस्व छिन गया हो, वह घरों में कोने को नहीं छोड़ता है।

टिप्पणी—गीत, वाद्य और नृत्य की परिमिति करने वाला काल 'ताल' कहाता है, अर्थात् वह कालावधि, जिसमें कोई स्वर-समूह गाया बजाया सके। एक ताल-क्रिया से अगली ताल क्रिया तक का विश्राम काल 'लय' होता है—कला-कालकृत् (नाट्य० ३१।५)। संक्षेप में छंद, अक्षर और पद का समत्व लय है। (संगीतरत्नाकर, तालाध्याय)। वीणा-वादन में स्वभावतः 'लय'-काल का बड़ा महत्त्व है। इस समय वीणा 'कोण' (कमानी) द्वारा बजती ही रहती है, वादक 'कोण' को वीणा से पृथक् नहीं करता। वीणा जिस काष्ठ से बनायी जाती है, उसका भीतरी भाग खोखला कर लिया जाता है। जिस वीणा की भीतरी सफाई जितनी अच्छी होगी, उतना ही मधुर स्वर उससे निकलेगा। नल के समक्ष बजायी जानेवाली वीणा अत्यन्त मधुर स्वरवती थी, किंतु दमयंती की कंठ-वीणा का स्वर वीणा की अपेक्षा मीठा था। इस आधार पर यहाँ यह कल्पना की गयी है कि संसार की समस्त वीणाओं का समग्र सार भाग लेकर दमयंती की कंठ-

नली की रचना की गयी है, तभी तो वह सब वीणाओं की अपेक्षा मधुर स्वरवती है। और जब वीणा का सर्वस्व ले ही लिया गया तो वह लज्जित हो घर के कोने में जा बैठी। 'कोण' शब्द की अनेकार्थता और 'वालयेषु' के 'वा + लयेषु' और 'वा + आलयेषु' पदच्छेद करके यह अर्थ किया गया है कि इससारा वीणा दंड मध्य मृदु मधुर स्वर पाकर 'लय'-कालों में 'कोण' (कमानी) द्वारा निरन्तर बजती रही, जैसे कि लज्जित, हृत सर्वस्व व्यक्ति 'आलयों' (घरों) में 'कोण' (कोना) नहीं छोड़ता। आशय यह है कि यद्यपि वीणा मधुरतर बजती रही तथापि दमयंती का स्वर उसकी अपेक्षा मधुरतम था। नारायण के अनुसार वीणा-दंड की सच्छिद्रता के कारण निःसारत्व की उत्प्रेक्षा है ॥ ११४ ॥

तद्दम्पतिश्रुतिमधून्यथ चाटुगाथा वीणास्तथा जगुरतिस्फुटवर्णबन्धम् ।
इत्थं यथा वसुमतीरतिगृह्यकस्ताः कीरः किरन् मुदमुदीरयति स्म विश्वाः ॥

जीवातु—तदिति । अथ अनन्तरम्, पूर्वोक्तस्वपक्वलरवत्युद्गारानन्तरमित्यर्थः, वीणाः विपञ्च्यः, कर्त्र्यः । तयो दम्पत्योः जायापत्योः, दमयन्तीनलयोः, श्रुतौ श्रोत्रे, मधूनि क्षौद्ररूपा, श्रुतिसुखकरा इत्यर्थः । चाटुगाथा प्रियगीतानि, अतिस्फुटाना सुस्पष्टानाम्, वर्णानामक्षराणाम्, बन्धः विन्यासः यस्मिन् तत् यथा तथा, तथा तादृक्प्रकारेण, जगुः गीतवत्यः, यथा येन प्रकारेण, वसुमतीरते भूलोकरतिसेवीस्वरूपाया दमयन्त्याः, गृह्यकः पञ्जरे स्थापितः । 'पदास्वैरि—' इत्यादिना अस्वैरी इत्यर्थे कप् । 'गृह्यासक्ताः पक्षिमृगाश्छेकाः स्युर्गृह्यकाश्च ते' इत्यमरः । कीरः शुकः, मुदं प्रीतिम्, तत्स्वजनानामिति भावः । किरन् उत्पादयन् इत्यर्थः । इत्थं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण, विश्वाः समस्ताः, ताः चाटुगाथाः, वर्णनश्लोकानित्यर्थः । उदीरयति स्म उच्चारयति स्म ॥ ११५ ॥

अन्वय.—अथ वीणाः तद्दम्पतिश्रुतिमधूनि चाटुगाथाः अतिस्फुटवर्णबन्धं तथा जगुः यथा वसुमतीरतिगृह्यकः कीरः मुदं किरन् इत्थं ताः विश्वाः उदीरयति स्म ।

हिन्दी—तदनन्तर (गंधर्वराज-कन्याओं की) वीणाओं ने उन दम्पती

(नल-दमयंती) के कानों में मधु बरसाती (कर्ण-सुख देतीं) स्तुति परक प्रिय गीतियों को अत्यन्त स्पष्ट होते वर्ण-विन्यास सहित इस प्रकार गाया कि जिससे पृथ्वी की रति (दमयंती) के पिंजरे में बन्द शुक (श्रोताओं में) आनन्द उत्पन्न करता इस प्रकार (श्लोक सं० ११६–१२६) उन सब (चाटुगाथाओं) को कहने लगा।

टिप्पणी—समय पाकर गन्धर्व राजकन्याओं ने राजा-रानी को प्रसन्न करनेहारी गीतियाँ वीणाओं पर इतनी स्पष्टता और मधुरता से बजायीं कि दमयन्ती के पिंजरे में बैठे तोते ने उन सब को पूर्णतः वैसे ही स्पष्टता के साथ कह डाला। यों ग्यारह वर्णन-श्लोक आगे हैं। आशय यह कि वीणा-वादन बड़ी कुशलता से हुआ और पंजर-शुक भी विशेष बुद्धिशाली था ॥ ११५ ॥

अस्माकमुक्तिभिरवैव्यथ एव बुद्धेर्गाधं युवामतिमती ! स्तुमहे तथाऽपि ।
ज्ञानं हि वागवसरावचनाद्भवद्भ्यामेतावदप्यनवधारितमेव न स्यात्॥११६॥

जीवातु—अस्माकमिति । अति अत्यधिका, मतिः बुद्धिः ययोः तयोः सम्बोधनम् अतिमती ! हे महाबुद्धिसम्पन्नौ दमयन्तीनलौ ! अत एव अवैव्यथ इति भावः। युवां भवन्तौ, अस्माकं ममेत्यर्थः। उक्तिभिः वचनैरिव, मत्कृताभिः भवतोः स्तुतिगाथाभिरेवेत्यर्थः। बुद्धेः ज्ञानस्य, अस्माकमिति शेषः। गाधम् उत्तानत्वम्, अगभीरत्वमित्यर्थः। स्थूलबुद्धितामिति यावत्। अवै-व्यथः ज्ञास्यथः, तथाऽपि स्तुमहे स्तवं कुर्मः, वयं युवामिति शेषः। हि यस्मात् भवद्भ्यां युवाभ्याम्, वागवसरे वाक्यप्रयोगोचितावकाशे, भवदीय-गुणोत्कर्षस्य समुचितवर्णनावसरे सत्यपीत्यर्थः। अवचनात् अकथनात् तथा-वर्णनाऽकरणादित्यर्थः। एतावदपि इयदल्पमपि, ज्ञानम् अस्मदीयबुद्धिम्, अनवधारितमेव अज्ञातमेव, न स्यात् न भवेत्, अपि तु अवधारितमेव स्या-दित्यर्थः। भवतोर्गुणोत्कर्ष्यमेव बुद्धिहीनानप्यस्मान् स्तोतुमुत्सहते, अत उत्तान-बुद्धयोऽपि वयं भवन्तौ स्तुमहे, ततश्च अनयैव स्तुत्या अस्माकं ज्ञानं कियदिति ज्ञातुं शक्येत भवद्भ्यामिति ॥ ११६ ॥

अन्वयः—अतिमती, युवाम् अस्माकम् उक्तिभिः बुद्धेः गाधम् अवैव्यथ

एव तथापि स्तुमहे, हि भवद्‌भ्यां वागवसराकथनात् एतावत् अपि ज्ञानम् अनवधारितम् एव न स्यात् ?

हिन्दी—हे विशिष्ट बुद्धिशाली (राजदम्पती), तुम दोनों (नल-दमयन्ती) हमारी (गधर्व राजकन्याओं की) उक्तियों (स्तुति-गाथाओं) से (हमारी) बुद्धि का उपलापन (अल्पता) समझ ही जाओगे, तथापि हम स्तवन करती हैं क्योंकि आप दोनों की स्तुति करने का वाणी को अवसर मिलने पर न स्तुति करने से जितना है, उतना भी ज्ञान क्या अप्रकट ही न रह जायेगा ? (रह ही जायेगा)।

टिप्पणी—सूर ने स्तुति गाथाओं की आवृत्ति की। प्रथम गाथा शिष्टा-चारपरक है, जिसमें राजदम्पती की श्रेष्ठताओं के वर्णन में स्तुतिकर्त्री गधर्व-कन्याओं ने अपना असामर्थ्य प्रकट किया है। यद्यपि वे स्तुतिकर सकें, इतनी बुद्धिमती नहीं हैं तथापि अपनी अल्पबुद्धिता प्रकट होने से न डरती हुई इस कारण स्तुति कर रही है कि कहीं उन्हें पूर्णतः ही बुद्धिहीन न समझ लिया जाये। जितनी बुद्धि है, उसी के अनुसार कह रही हैं ॥ ११६ ॥

भूभृद्भवाङ्कभुवि राजशिखामणे सा त्वञ्चास्य भोगसुभगस्य सम क्रमोऽयम्। यन्नाकपालकलनाकलितस्य भर्त्तुरत्रापि जन्मनि सती भवती स भेद ॥११७॥

जीवातु—भूभृदिति। हे दमयन्ति! भूभृत हिमाल्यभूधरात्, भीमनृपतेश्च। 'भूभृद् भूमिधरे नृपे' इत्यमरः। भवति जायते या सा तादृशी, हिमाल्यात्मजा राजतनुजा च, सा पार्वती, त्वं भवती च, भागैः भूषणोरुवसर्पशरीरैः, स्रक्च-न्दनादिसम्भोगैश्च। 'भोग सुखे स्त्र्यादिभृताबहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः। सुभगस्य सुन्दरस्य, तथा राजा चन्द्र, शिखामणिः शिरोरत्नं यस्य तस्य इन्दु मौले, राज्ञा नृपाणाम्, शिखामणे चूडारत्नस्य च, नृपश्रेष्ठस्येत्यर्थ। 'राजा मृगाङ्के क्षत्रिये नृपे' इत्यमरः। अस्य शिवस्य नलस्य च, अङ्कभुवि क्रोडदेशे, वर्त्तते वर्त्तसे च इति शेषः। अयम् एष, उत्कृष्ट इत्यर्थ क्रम. परिपाटी, सादृश्यमिति यावत्। सम तुल्य, पार्वत्या सह त इति शेषः। परन्तु, भवती त्वम्, अत्रापि अस्मिन्नपि जन्मनि, न केवल पूर्वजन्मनि इति भाव। नाकस्य स्वर्गस्य, पाल पालक इन्द्र, तस्य कलनया सादृश्येन, अवज्ञया वा, कलितस्य

विदितस्य, वासवतुल्यस्येत्यर्थः। भर्त्तुः पत्युः, नलस्य सम्बन्धिनी सती इत्यर्थः। यत् सती पतिव्रतैव, वर्त्तते इति शेषः। पार्वती तु अत्र जन्मनि कपालस्य ब्रह्मकर्परस्य, कलनया धारणया, कलितः विदितः, स न भवतीति अकपालकलनाकलितः, तादृगपि न भवतीति नाकपालकलनाकलितः तस्य गृहीतब्रह्मकपालत्वेन विख्यातस्य, भर्त्तुः पत्युः शिवस्य, सम्बन्धिनी सती, यत्, असती वर्त्तते इति शेषः। सः उक्तरूप एव, भेदः अन्तरम्, पार्वत्याः तव च इति शेषः। तथा च दुर्गा पूर्वजन्मनि दक्षकन्यात्वे एव सतीनाम्ना विदिता आसीत्, हिमालयदुहितृत्वेऽधुना तु पार्वतीनाम्ना विदिता सती असती सतीति नामविरहिता, भवती तु अस्मिन्नपि जन्मनि पातिव्रत्येन सतीति प्रसिद्धा, अयमेव तव पार्वत्याश्च भेदः इति भावः॥ ११७॥

अन्वयः—भूभृद्भवा सा त्वं च भोगसुभगस्य राजशिखामणेः अस्य अङ्कभुवि—अयं क्रमः समः; भवती अत्र जन्मनि अपि यत् नाकपालकलनाकलितस्य भर्त्तुः सती—सः भेदः।

हिन्दी—(हे दमयन्ती,) पर्वतराज हिमालय से उत्पन्न (हिमालयपुत्री) वह (उमा) सर्पों को आभूषण-रूप धारने से सुन्दर, चन्द्रचूड इस (शिव) के अंक (गोद) में और धरणीवर (राजा भीम) की पुत्री तुम (दमयंती) ?गला चंदनादि भोगों के प्रयोग से मनोरम राजाओं में शिरोमणि इस (नल) के अंक में विद्यमान हो—यह परिपाटी (उमा-दमयन्ती) दोनों में समान है, किन्तु आप (दमयन्ती) इस जन्म में भी स्वर्ग के पालक (इंद्र) की समानता (अथवा 'अंश'—लोकपालांश) धारण करने से प्रख्यात (इंद्र-तुल्य) पति (नल) की पतिव्रता (सतीपत्नी) हो—यह भिन्नता है।

टिप्पणी—यहाँ अनेकार्थ शब्द-प्रयोग-द्वारा पार्वती और दमयन्ती में समान विशेषताएँ दिखाते हुए कहा गया कि उमा और दमयंती समान हैं—दोनों 'भूभृद्भवा' हैं, दोनों 'राज-शिखामणि' और 'भोगसुभग' पति की प्रिया हैं; किन्तु श्लोक के उत्तरार्द्ध में दोनों में भिन्नता दिखाते हुए दमयंती की उमा-पार्वती से श्रेष्ठता संकेतित कर दी गयी। वह भिन्नता इस प्रकार है कि पूर्वजन्म में ही नहीं, इस जन्म में भी दमयंती इन्द्र-तुल्य राजा नल

की 'सती' (पतिव्रता भार्या) है—'नाकपालकलनाकलित' भर्ता की 'सती', जब कि उमा को यह गौरव उस प्रकार न मिल सका। वे—जो 'अकपालकलनाकलित' नहीं है (न+अकपालकलनाकलितस्य), अर्थात् जो ब्रह्मकपाल-धारी न होने से विपरीत 'कपालकलनाकलित' (ब्रह्मकपालधारी) है, उस भर्ता शिव की पत्नी उमा-पार्वती हैं, जबकि पूर्वजन्म में शंकर-पत्नी उमा नहीं थीं, अपितु 'सती' (दक्ष-कन्या) थी। दमयन्ती पूर्वजन्म में भी भीमपुत्री, नल की सती (पतिव्रता पत्नी) थी (यदि ऐसा न होता तो इस जन्म में कैसे वह सती (पतिव्रता) स्यात होती, पूर्वजन्म का 'कृत' ही तो अपर जन्म में 'फल' बनता है), जब कि उमा इस जन्म में उमा हैं, पूर्वजन्म में वे दक्ष-पुत्री थीं और 'सती' नाम से ख्यात थीं। दमयन्ती पक्ष में 'सती' का अर्थ 'पतिव्रता' माना गया और उमा पक्ष में 'सती' व्यक्तिवाचक संज्ञा। इस प्रकार दोनों में भिन्न गुण दिखा दिये गये। श्लेष का चमत्कार॥ ११७॥

एषा रतिः स्फुरति चेतसि कस्य यस्याः सूते रतिं द्युतिरथ त्वयि वाऽऽतनोति? त्र्यक्षवीक्षण-खिलीकृत-निर्जरत्वसिद्धायुरध्वमकरध्वजसंशयं कः ?॥११८॥

जीवातु—एषेति। हे नल! एषा दमयन्ती, कस्य जनस्य, चेतसि मनसि, रतिः मदनवधूः, इति स्फुरति? प्रकाशते? अपि तु न कस्यापि इत्यर्थः। कुत इत्याह—यस्याः दमयन्त्याः, द्युतिः अङ्गकान्तिः, एवेति शेषः। रतिम् अनुरागं मदनवधूञ्च इत्यर्थः। 'रतिः स्त्री स्मरदारेषु रागे सुरतगुह्ययोः' इति मेदिनी। सूते जनयति, यस्याः अङ्गकान्तिः रतिं जनयति सा कथमपि रतिर्भवितुं नार्हति इति भावः। अथ प्रश्नार्थकमव्ययम्, कः वा, जनः इति शेषः। त्वयि भवति नले विषये, त्र्यक्षेण शिवसम्बन्धिना। 'न त्र्याम्याम्–' इत्यैजागमः। वीक्षणेन चक्षुषा, तृतीयनयनेनेत्यर्थः। खिलीकृतः प्रतिबद्धीकृतः, विनाशित इति यावत्। निर्जरत्वेन देवत्वेन, सिद्धस्य प्रसिद्धस्य, आयुषः जीवनकालस्य, अमरत्वरूपदीर्घजीवनस्य इत्यर्थः। अध्वा मार्गो यस्य तादृशस्य, मकरध्वजस्य कन्दर्पस्य, संशयं सन्देहम्, मकरध्वज इति भ्रान्तिमित्यर्थः। आतनोति? विस्तारयति? न कोऽपि इत्यर्थः।

देवेत्वेन अमरोऽपि कामः कामारिनयनानलेन दग्धः सन् मृतः, मृतस्य च जीवितप्राणिनि सन्देहासम्भवात् भवति अयं कामो न वा इति संशयो न कस्यापि उदेतुमर्हति, तस्य मृतत्वादिति भावः। रतिकामाभ्यामपि भवन्तौ मनोहरश्रीकौ इति तात्पर्यम् ॥ ११८ ॥

अन्वयः—एषा कस्य चेतसि रतिः स्फुरति, यस्याः द्युतिः रतिं सूते ? अथ कः वा त्वयि त्र्यक्षवीक्षणखिलीकृतनिर्जरत्वसिद्धायुरध्वमकरध्वजसंशयम् आसनोति ?

हिन्दी—यह (दमयंती) किस (व्यक्ति) के चित्त में रति (कामप्रिया) भासित होती है, जिसकी कि अंगकांति (सुन्दरता) रति (काम-प्रिया, अनुरक्ति) को उत्पन्न करती है ? (अर्थात् किसी को रति—जैसी नहीं लगती, उससे कहीं उत्कृष्ट लगती है ।) अथवा कौन व्यक्ति तुम (नल) में शिव के तृतीय नेत्र द्वारा प्रतिबद्ध (विनष्ट) देव होने से सिद्ध आयु-मार्ग वाले (अमर) मीनकेतन (काम) का सदेह करता है ?

टिप्पणी—यह कह कर कि न तो दमयंती में कोई काम-प्रिया रति की भावना रखता है और न नल में काम की—दमयंती-नल को रति-काम से कहीं अधिक मनोज्ञ माना गया है । रति-काम दमयंती-नल के समक्ष इतने हीन हैं कि कोई सोचता तक नहीं कि ये (राजदंपती) रति-काम-सदृश हैं, मानने की तो बात ही दूर है । इसका कारण है कि दमयंती की देह-द्युति तो रति को उत्पन्न कर देती है, अर्थात् दमयंती की काम-कांति दर्शक के हृदय में रति अर्थात् अनुरक्ति जगा देती है । एक भाव यह भी कि 'द्युति' दमयंती के अंग से उद्‌भूत है, अर्थात् दमयंती की पुत्री है, वह 'रति' को उत्पन्न करती है, अर्थात् 'द्युति' की पुत्री है । इस प्रकार दमयंती की पुत्री की पुत्री अर्थात् 'नातिन' रति हुई । इस सम्बन्ध से दमयंती के पति नल में 'काम' की भावना कैसे की जा सकती है ? वह तो दमयंती (नल-पत्नी) की 'नातिन' का पति है । एक और भी कारण है—काम की आयु तो उसे तृतीय नेत्र से भस्म कर शिव ने समाप्त कर दी है, उसका आयु-पंथ जो लम्बा है, वह तो देव होने के कारण । तो ऐसे विनष्ट, अदेह 'काम' की कौन नल में भावना करेगा ? कोई नहीं । आशय यही कि दमयंती-नल रति-काम से कहीं मनोज्ञ हैं ॥ ११८ ॥

एना धरामिव सरिच्छविहारिहारामुल्लासिनस्त्वमिदमाननचन्द्रभासा।
बिभ्रद्विभासि पयसामिव राशिरन्तर्वेदिश्रियं जनमनःप्रियमध्यदेशाम्॥११९॥

जीवातु—एतामिति। हे राजन्! त्वं भवान्, सरितः नद्य इव, छविः शोभा, शुभ्रकान्तिरित्यर्थः। तया हारी मनोहारी, हारः मुक्तासरः यस्याः ताम्, पक्षे—सरितः नद्य एव, छव्या कान्त्या, हारिणो मनोज्ञाः, हाराः मौक्तिकसरा यस्यास्ताम्, वेद्याम् अन्तः अन्तर्वेदि वेदिकामध्यम्, तद्वदतिकृशा इत्यर्थः, श्रीः शोभा यस्याः ताम्, यद्वा—अन्तः शरीराभ्यन्तरे, वेदेः कीटविशेषस्य, श्रीरिवश्रीः सौन्दर्यम्, तत्तुल्या इत्यर्थः यस्यास्ताम्, कुमारसम्भवादावपि 'मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या' इत्यत्र कीटविशेषार्थे वेदिशब्दः प्रयुक्तः इति दृश्यते। पक्षे—अन्तर्वेदि तदाख्यगङ्गायमुनासङ्गमस्थानम् तेन श्रीः शोभा यस्याः तादृशम्, तथा जनमनसा लोकचेतसाम्, प्रियः प्रीतिजनकः, मध्यदेशो नितम्बभागो यस्याः ताम्। पक्षे—जनमनसा लोकचित्तानाम् प्रियं हर्षजनकः, मध्यदेशः 'हिमवद्विन्ध्योरन्तर्यः प्राक्कुरुक्षेत्रादपि। प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥' इत्युक्तविन्ध्यहिमाचलान्तरभूभागरूपः यस्याः ताम्, एतां दमयन्तीम्, धरामिव पृथिवीमिव, बिभ्रत् अङ्के दधानः, यस्याः दमयन्त्याः धरायाश्च, आननं मुखम्, चन्द्रः शशधर इव, पक्षे—आननसदृशचन्द्रश्च, तस्य भासा प्रभया, उल्लासिनः हर्षं प्रापितः उच्छ्वसितश्च सन्, पयसा राशिः समुद्र इव, विभासि शोभसे। सागरः हि चन्द्रभासा उच्छ्वसितः भवति इति प्रसिद्ध एव॥ ११९॥

अन्वयः—सरिच्छविहारिहाराम् अन्तर्वेदिश्रियं जनमनःप्रियमध्यदेशां धराम् इव एतां बिभ्रत् इदमाननचन्द्रभासा उल्लासितः पयसां राशिः इव त्वं विभासि।

हिन्दी—नदियाँ ही जिसके मनोहर हार हैं, अंतर्वेद (गंगा-यमुना का मध्यदेश) की श्री से युक्त जन-मन (लोगों) का प्रिय मध्यदेश (विंध्य-हिमालय के मध्य का आर्यावर्त नाम से प्रसिद्ध भाग) जिसका मध्यदेश है, ऐसी धरणी को धारण करते, दमयंती के मुख-सदृश चंद्र से तरंगायित पयोराशि (समुद्र) के तुल्य—नदियों की शोभा का हरण करने वाले उज्ज्वल

मोतियों के हार धारण करती, वेदिका के मध्य के समान क्षीणप्रभा (तन्वंगी) दर्शकजनों को प्रिय लगनेवाले देह-मध्यभागवाली इस (दमयंती) को धारण कर इस (दमयंती) के मुख-चंद्र की प्रभा से हर्ष को प्राप्त नृप (नल) सुशोभित हो रहे हो।

टिप्पणी—यहाँ शब्द-योजना के आधार पर समान गुण स्थापित कर धरती के समान दमयंती के चंद्रानन से मुदित नल की चंद्र-ज्योत्स्ना से उत्तरंगायित समुद्र से तुलना की गयी है। गंगा-यमुना की मध्य-भूमि को अन्तर्वेद कहते हैं तथा मनुस्मृति के अनुसार हिमाचल-विंध्य के मध्य की कुरुक्षेत्र के पूर्व और प्रयाग से पश्चिम की भूमि मध्यदेश कहाती है ॥ ११९ ॥

दत्ते जयं जनितपत्रनिवेशनेयं साक्षीकृतेन्दुवदना मदनाय तन्वी।
मध्यस्थदुर्बलतमत्वफलं किमेतद् भुक्तिर्यदत्र तव भीष्मतमत्स्यकेतोः ? ॥

जीवातु—दत्त इति। हे महाराज ! जनितं कृतम्, सखिभिः विचारकेण चेति शेषः। पत्रस्य कस्तूर्यादिकल्पितमकरपत्रवल्ल्याद्याकारतिलकस्य जयसूचकपत्रस्य च, निवेशनं रचनम्, अङ्कनमित्यर्थः, दानमित्यर्थश्च। यस्याः सा तिलकभूषितकपोलादिका विचारकैः विचार्य लिखितजयपत्रा च, तथा अक्षिभ्यां सह वर्तमानः साक्षः। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्‌—' इति समासान्त. षच्। असाक्षः साक्षः कृतः साक्षीकृतः सलोचनीकृतः, इन्दुः चन्द्र एव, वदनं मुखं यस्याः सा, इन्दोः सलोचनीकरणाभावे वदने नेत्रस्थितिः कथं युज्यते इति भावः। अन्यत्र—साक्षीकृताः साक्षाद् द्रष्टीकृताः, इन्दुवदनाः चंद्रमुख्यः सख्यः यस्याः सा, कामजयविषये भैम्याः सख्यः एव साक्षिण्यः वर्तन्ते, यतः भैम्यां नलस्य कामवश्यता ताभिरेव साक्षात् दृष्टा इति भावः। अथवा—साक्षीकृतं साक्षाद् द्रष्टीकृतम्, इन्दुवदनं स्वस्याः चंद्रसुन्दरमुखं यया सा, नलस्य कामविजितत्वे भैम्याः मुखचंद्र एव साक्षी इति भावः। इयं पुरतः दृश्यमाना, तन्वी कृशाङ्गी, दमयन्तीति शेषः। अन्यत्र—काचित् सूक्ष्मा विचारप्रणाली च, मदनाय कामाय, जयं विजयम्, दत्ते अर्पयति, मदनेन त्वां विजितं करोतीत्यर्थः। अन्यत्र—स्वविषये नलकामयोः विवादे कामायेव विजयम्, दत्ते अर्पयति, भैमीविषये कामः नलं जितवान् इत्यर्थः। तथाऽपि

भर्त्सित. तिरस्कृत, रूपेण धिक्कृत इत्यर्थ.। अन्यत्र—बलात् सन्तर्जितश्च, मत्स्यकेतु. मीनध्वज मदन. येन तादृशस्य, तव भवत', अत्र अस्या दमयन्त्याम्, पक्षे-भुवि च, यत् भुक्ति सुरतसम्भोग, अन्यत्र प्रतिपक्षात् बलपूर्वक गृहीत्वा स्वयमुपभोगश्च, तदेतत्, मध्यस्थ कटिदेशस्थम्, यत् दुर्बलतमत्व कृशतया अत्यन्तहीनबलत्वम्, अत एव सम्भोगक्रियासु सुखकरत्वमिति भाव । तस्य, अन्यत्र—मध्यस्थाना विचारकाणाम्, दुर्बलतमत्वस्य बाधाप्रदाने अक्षमतया चित्तदौर्बल्यस्य, फल परिणाम, किम्? दमयन्त्या मध्यावयवस्य अतिसूक्ष्मत्वेन परमरमणीयत्वमेव अतिसुन्दरस्य तव भोगप्रयोजकम्, अन्यथा पराजितोऽपि भवान् कथमिमा विवादभूमिं भोक्तु शक्नोति? इति भाव.। अन्यत्र—जयपत्रे साक्षिषु च सत्स्वपि विजयिन विपर्यं अन्येन बलपूर्वक विजयिन तिरस्कृत्य या भुक्ति तत्र सभ्याना चित्तदौर्बल्यमेव कारणमिति भावः ॥ १२० ॥

अन्वय —जनितपत्त्रनिवेशना साक्षीकृतेन्दुवदना इय तन्वी मदनाय जय दत्ते, भर्त्सितमत्स्यकेतोः तव अत्र यत् भुक्ति', एतत् किं मध्यम्यदुर्बलतमत्वफलम्?

हिन्दी— जिसे (सखियो द्वारा) कस्तूरी आदि से रचित पत्रवल्ली (तिलकादि) की रचना-रूप जय-सूचक-पत्र दे दिया गया है-ऐसी सुनयना चद्रमुखी (और चद्रमुखी सखियाँ, जिसकी मदन-विजय मे साक्षी हैं, ऐसी) (अथवा जिसका चद्रमुख देखा गया है, ऐसी) यह तन्वगी (दमयती) काम को जय देती है (अर्थात् सौंदर्य की पराकाष्ठा दमयती को देखकर नल काम मे पराजित अर्थात् कामाधीन हो जाता है)। मीनकेतन (मकरध्वज काम) के जयी आप (नल) का इस दमयती के भुक्ति अर्थात् सुरत-सभोग (सकेतार्थ–इस धरणी का शत्रु से छीन कर स्वयम् उपभोग) है, यह क्या मध्य (कटि) देश के दुर्बलतम (अत्यन्त कृश) होने का फल है? अन्यार्थ– मध्यस्थो (विचारको) के दुर्बल (चचल-चित्त) होने का फल है?

टिप्पणी—आशय यह है कि पत्रवल्ली, कस्तूरी आदि के तिलकादि से सुशोभित, सुनयना, चद्रमुखी, तनुमध्या दमयती को पा कामाधीन नल

उसका उपभोग करता है। दमयन्ती जैसे एक भूमि है और विचित्रता यह है कि यद्यपि नल पराजित है, तथापि भूमि का भोग वही करता है। भंगिमा-वैचित्र्य से यहाँ कहा गया है कि काम और नल में कौन जयी है, इस पर विवाद है। दमयन्ती-दर्शन से नल जो कामाधीन हो जाता है, वह नल का पराजित होना और काम का जयी होना है। पराजित नल द्वारा दमयन्ती-रूपा धरती का भोग एक प्रकार से नल का अनौचित्य है कि वह जयी काम की भर्त्सना कर स्वयम् भोग कर रहा है। 'मध्यभाग' की दुर्बलता के आधार पर इस अनधिकार भोग को मध्यस्थों (निर्णायक विचारकों) की दुर्बलता के कारण हो रहा मान लिया गया। काम को जय-पत्र मिला, पर भोगापराजित नल ने—यह निर्णयकर्त्ताओं की दुर्बलता ही है कि वे निर्णय का पालन न करा सके और पराजित ने स्वेच्छया भोग किया ॥१२०॥

चेतोभवस्य भवती कुचपत्रराजधानीयकेतुमकरा ननु राजधानी।
अस्यां महोदयमहस्पृशि मीनकेतोः के तोरणं तरुणि ! न ब्रुवते भ्रुवौ ते ?॥

जीवातु— चेत इति। ननु भो दमयन्ति ! कुचयोः स्तनयुगयोः, पत्रं तिलकरचनैव, राजधानीयः राजावासीभूतनगरसम्बन्धी, केतुः ध्वजः पताकास्थानीय इत्यर्थः। मकरः मीनविशेषः यस्याः सा तादृशी, भवती त्वम्, चेतोभवस्य कामस्य, राजधानी राजावासभूता नगरी, नगरीस्वरूपेत्यर्थः। राजधान्यामेव राजभिः निजनिजासाधारणचिह्नयुक्तानां ध्वजानां स्थापनीयत्वात् कामराजस्य मुख्यध्वजः मकरः, राजधानीभूतयोः तव कुचयोः चित्रितः राजते इति भावः। तरुणि ! हे युवति ! के जनाः, मीनकेतोः कामस्य, महोदयः आधिपत्यम्, राज्यप्राप्तिरूपोन्नतिरित्यर्थः। तत्र यः महः उत्सवः, तं स्पृशति स्पर्शं करोतीति तादृश्याम्। 'महोदयः कान्यकुब्जेऽप्याधिपत्यापवर्गयोः' इति विश्वः। 'महस्तूत्सवतेजसोः' इत्यमरः। अस्यां राजधानीस्वरूपायां भवत्याम्, ते तव, भ्रुवौ भ्रूयुगलमेव, तोरणं वहिर्द्वारम्, वहिर्द्वारस्थितवक्रकाष्ठस्वरूपमित्यर्थः। न ब्रुवते ? न कथयन्ति ? अपि तु सर्वे एव ब्रुवते इत्यर्थः ॥१२१॥

अन्वयः—ननु भवती कुचपत्रराजधानीयकेतुमकरा चेतोभवस्य राजधानी; तरुणि, के मीनकेतोः महोदयस्पृशि अस्यां ते भ्रुवौ तोरणं न ब्रुवते ?

हिन्दी—निश्चयरूप से आप (दमयन्ती) स्तनयुगल पर हुई कस्तूरी आदि की पत्र-रचना (तिलकादि) ही जिसका मत्स्यध्वज है, ऐसी मनोभू (काम) की राजधानी हैं। हे यौवनशालिनि, कौन से व्यक्ति मकरध्वज (काम) के महान् उदय (अथवा उत्सव सभार) को स्पर्श करती (कामोत्सवों से परिपूर्ण) इस (दमयन्ती रूपा राजधानी) में तुम्हारी (दमयन्ती की) दोनों भौंहों को तोरण (बहिर्द्वार) नहीं कहते? (सभी कहते हैं)।

टिप्पणी—यहाँ दमयन्ती को कामदेव का आश्रय बताया गया है, अर्थात् जैसे कोई राजा अपनी राजधानी में मुख्यत: आश्रय लेता है, ऐसे ही काम दमयन्ती का आश्रय लेकर निवास करता है। इस दृष्टि से दमयन्ती राजा काम की राजधानी है। दमयन्ती रूपा राजधानी में कामराज की पताका के रूप में फहरा रही है उन्नत कुचयुग्म-शिखरों पर हुई चित्र-विचित्र रंगों की पत्ररचना से अंकित मीन। राजा राजधानी में है अतः रात-दिन उत्सव हो रहे हैं—कामोत्सव। यौवन-संभार से परिपूर्ण दमयन्ती—रूपा राजधानी के तोरण सर्वसम्मति से उसके भ्रूयुगल हैं। ऐसी कामपूर्णा दमयन्ती को पाकर यदि राजा नल कामोत्सव में सम्मिलित हो जाते हैं तो इसमें विचित्र क्या है? ऐसा तो होना ही चाहिए॥ १२१॥

अस्या भवन्तमनिशं भवतस्तथैनां काम श्रमं न कथमृच्छतु नाम गच्छन्।
छायैव वाथ गतागतमाचरिष्णोस्तस्याध्वजश्रमहरा मकरध्वजस्य॥१२२॥

जीवातु—अस्या इति। हे महाराज! काम मीनकेतन., अस्या दमयन्त्या: सकाशात्, भवन्तं त्वाम् तथा भवत: त्वत्त सकाशात्, एनां दमयन्तीम्, अनिशं निरन्तरम्, गच्छन् गतागतं कुर्वन्नित्यर्थ। कथं किमर्थम्, श्रमम् आयासम्, नाम सम्भावनायाम्, न ऋच्छतु? न प्राप्नोतु?-अपि तु ऋच्छत्येव इत्यर्थ:। निरन्तर यातायातकरणादिति भाव। अथ किंवा, गतागत गमनागमनम्, आचरिष्णो कुर्वत:, तस्य श्रान्तस्य, मकरध्वजस्य कामस्य, वा युवयो: छाया एव कान्तिरेव, सौन्दर्यमिति यावत्, अनातप एव च। 'छाया सूर्यप्रिया कान्ति: प्रतिबिम्बमनातप' इत्यमर:। अध्वज पथपर्यटनजनितम्, श्रमं क्लान्तिम्, हरति नाशयति या सा तादृशी, भवतीति शेष। छायाबहुले मार्गे

गतागतिं कुर्वाणानां पान्थानां पर्यटनक्लेशानुभवादिति भावः। दमयन्त्या काम-स्त्वयि तव च दमयन्त्यामेव वर्त्तते, नान्यत्र कुत्रापीति तात्पर्यम् ॥ १२२ ॥

अन्वयः—अस्याः भवन्तं तथा भवतः एनाम् अनिशं गच्छन् कामः कथं नाम श्रमं न ऋच्छतु; अथ गतागतम् आचरिष्णोः तस्य मकरध्वजस्य वां छाया एव अध्वजश्रमहरा।

हिन्दी—(हे राजा नल,) इस (दमयंती के समीप) से आपके समीप और आप (नल) से इस (दमयंती) के समीप निरंतर जाता-आता काम क्यों न थक जाये? (थकेगा ही); अथवा आते-आते उस काम की मार्ग-जनित श्रम को दूर करनेवाली तुम दोनों (नल-दमयंती) की छाया (कांति) ही छाया है।

टिप्पणी—दमयंती से नल के निकट और नल से दमयंती के निकट निरंतर कामदेव आता-जाता रहता है (दोनों एक दूसरे के प्रति उत्कट कामना रखते हैं), इस आने जाने के कारण काम को श्रांत हो जाना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। यदि काम थक जाता तो आता-जाता कैसे रहता? न थकने का कारण यह है कि उसका यातायात छाया में होता है, धूप में नहीं। नल-दमयंती की देहकांति की छाया में काम अथक यातायात करता रहता है। देह-कांति, प्रिया-प्रिय का उत्कटरूप-सौंदर्य उनकी कामना निरंतर जगाये रहता है और वे परस्पर ही अनुरक्त रहते हैं, अन्यत्र उनकी कामना नहीं है ॥ १२२ ॥

स्वेदप्लवप्रणयिनी तव रोमराजी रत्यै यदाचरति जागरितव्रतानि।
आभासि तेन नरनाथ! मधूत्थसान्द्रमग्नासमेषुशरकेशरदन्तुराङ्गः ॥१२३॥

जीवातु—स्वेदेति। नरनाथ! हे मनुजाधिप! नल! स्वेदः घर्मजलम्, तत्र प्लवे स्नाने, प्रणयः प्रीतिः अस्या अस्तीति सा तादृशी, तव भवतः, रोम-राजिः रोमसमूहः, रत्यै सुरताय, जागरितानि जागरणान्येव, उद्गमा एव च, व्रतानि नियमान्, यद् आचरति अनुतिष्ठति, पुष्पवती कामिनी यथा शुद्धस्नाता पतिसन्तोषार्थं जागरितानि आचरति तद्वदिति भावः! तेन व्रताचरणेन हेतुना, मधुनः क्षौद्रस्य, सारात्मककुसुमसारस्य इत्यर्थः। उत्थेन उद्गमेन। 'सुपि स्थः' इत्यत्र योगविभागात् भावे कप्रत्यये ततः समासः। सान्द्राः गाढाः, मिश्रणेन

हेतुना घनीभूता इत्यर्थं । तथा मग्ना भवदङ्गे अन्तःप्रविष्टाश्च, असमेषो अयुग्मशरस्य कामस्य, शराणां बाणानाम्, कुसुममयानामिति भाव । केशरैः किञ्जल्कै, दन्तुराणि निम्नोन्नतानि, अङ्गानि अवयवा यस्य स तादृश इव, आभासि प्रतीयसे । भैमीऽङ्गात् सात्त्विकभावोदयेन रोमाञ्चितशरीरः स्वेदयुक्तश्चासि इति निष्कर्ष ॥ १२३ ॥

अन्वयः—नरनाथ, स्वेदप्लवप्रणयिनी तव रोमराजि यत् रत्यै जागरितव्रतानि आचरति, तेन मधूत्थमग्नमग्नासमेषुशरकेशरदन्तुराङ्ग आभासि ।

हिन्दी—हे नरराज (नल), स्वेद (श्रमवारि पसीना) मे स्नान करने मे प्रीति रखनेवाली तेरी (नल की) रोमपक्ति जो रति (सुरत) के निमित्त जागरण के व्रतो को करती है, उससे (कामबाण रूप) पुष्पो मे निकले द्रव मे गाढे डूबे विषमबाण (काम) के बाणो के केशरो मे उच्चावच (असम) अगो वाले शोभित होते हो ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयती के सयोग से कामपीडित नल सात्त्विक स्वेद मे परिपूर्ण और रोमाचित हो जाता है। उस समय रोमाचित और स्वेदसिक्त नल की शोभा ऐसी हो जाती है, जैसे कि काम-बाण रूप पुष्पो के रस मे आप्लावित नल के देह मे काम के कुसुमबाण धँस गये हैं और वे रोम-पक्ति उन बाणो के केशर हैं—पिच्छ-प्राय, बाणो के पुख मे लगे पत्रो के रोयें। उनसे नल 'दन्तुरांग'—उच्चावचोन्नताग हो गया है। रोमराजि को यहाँ स्नान करके जागरण व्रताचरण करती स्त्री के रूप मे चित्रित किया गया है। स्वेद-जल मे रोमराजि ने स्नान किया है (रोम दमयती-सगजात श्रम-जल से क्लिन्न हैं) और उसका 'अचित' होना उन्निद्रता (जागरण) है। रोमराजि क्योंकि रति प्रसग मे उन्निद्र हुई है, अत रति प्राप्ति को ही जागरण-व्रताचरण का निमित्त मान लिया गया है, अर्थात् रोमराजि-नारी ने स्वेद-स्नान और जागरण-व्रत रति के लिए किया है। पुष्पवती कामिनी शुद्धस्नाता हो पति प्रीति के निमित्त जागरण किया ही करती है। कहा जाता है कि इस व्रत से प्रिय काम सिद्ध हो जाता है। जो काम के पुष्प-बाण काम-विद्ध प्रिय देह मे घुसे हैं, उनके ही पुख-से रोम प्रतिभासित हो रहे हैं।

अथवा रोमराजि दूती है। वह स्वेद-जल-तीर्थ में स्नान कर कामप्रिया को नलाधीन करने के उद्देश्य से जागरणादि व्रताचरण करती है, जिससे प्रविष्ट काम-बाणों के पुंख से युक्त शोभा बन जाती है। आशय यही है कि दमयंती के साथ सुरत-संग-लीन नल स्वेदपूर्ण और रोमांचित हो जाता है॥ १२३॥

प्राप्ता तवापि नृप ! जीवितदेवतेयं घर्माम्बुशीकरकरम्बनमम्बुजाक्षी।
ते ते यथा रतिपतेः कुसुमानि बाणाः स्वेदस्तथैव किमु तस्य शरक्षतास्रम्॥

जीवातु—प्राप्तेति। नृप ! हे राजन् ! नल ! तव भवतः, जीवितस्य जीवनस्य, देवता अधिष्ठात्री, जीवनेश्वरीत्यर्थः। अम्बुजाक्षी कमलनयना, इयम् दमयंती अपि, घर्माम्बुनः स्वेदजलस्य शीकरैः कणैः, करम्बनं मिश्रणम्, प्राप्ता अधिगता, सात्त्विकभावोदयात् स्वेदप्लुताङ्गी जाता इत्यर्थः। रतिपतेः कामस्य, ते ते प्रसिद्धाः, बाणाः शोषणसम्मोहनादयः शराः, यथा यद्वत्, कुसुमानि कमलादीनि पुष्पाणि, अभवन्निति शेषः। तथैव तद्वदेव, स्वेदः घर्मोदकम्, तस्य कामस्य, शराणां बाणानाम्, क्षतस्य व्रणस्य, अस्रं रक्तम्, किमु ? तथा हि सुकुमाराणि कुसुमान्यपि यदि कामस्य शराः भवितुमर्हन्ति, तदा स्वेदोदकमलोहितमपि तस्य शराघातनिसृतं लोहितं भवितुमर्हत्येव दैव-प्रभावस्य उभयत्रापि तुल्यत्वादिति भावः॥ १२४॥

अन्वयः—नृप, तव जीवितदेवता अम्बुजाक्षी इयम् अपि घर्माम्बुशीकर-करम्बनं प्राप्ता; रतिपतेः ते ते बाणाः यथा कुसुमानि, तथा एव स्वेदः तस्य किमु शरक्षतास्रम् ?

हिन्दी—हे राजन, तुम्हारी (राजा नल की) जीवन की देवता, कमल-नयना यह (दमयंती) भी स्वेदजल के कणों से क्लिन्न (सात्त्विक स्वेद से परिपूर्ण) हो गयी है; रति के स्वामी (काम) के वे वे प्रसिद्ध मोहन-शोषण आदि बाण जैसे फूल हैं, वैसे ही पसीना भी क्या उस (काम) के बाणों से बने घावों से टपकता रक्त है ?

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में वर्णित नल के समान ही रति-प्रसंग में नल की प्राणेश्वरी, अम्बुजनेत्रा दमयंती भी श्रमजन्य सात्त्विक-स्वेद से क्लिन्न हो गयी। दमयंती को यहाँ 'जीवित-देवता' कहा गया, किंतु 'देवता' तो स्वेद-

क्लिन्न नहीं होते। माना जाता है कि देवों को पसीना नहीं आता। इस पर कल्पना की गयी कि यह पसीना नहीं आया है, किंतु 'देवता' के शरीर में जो काम-बाण लगे हैं, उनसे हुए 'क्षतों' (व्रणों) से टपकता रक्त है। इस रक्त की श्वेतता का कारण यह है कि काम के पुष्प बाणों से हुए क्षतों से निकला है। जब बाण फूलों के तो उससे बने क्षता का रक्त भी लाल नहीं, श्वेत। जैसा देवता, वैसी ही उसकी बलि—'यादृशो यक्षस्तादृशो बलिः।' सो फूलों के बाण, उनके कारण टपकता रुधिर शुभ्र ॥१२४॥

राग प्रतीत्य युवयोस्तमिमं प्रतीची भानुश्च किं द्वयमजायत रक्तमेतत् ?
तद्वीक्ष्य वा किमिह केलिसरित्सरोजैः कामेषुतोचितमुखत्वमधीयमानम् ? ॥

जीवातु—रागमिति। हे राजन्! प्रतीची पश्चिमा दिक्, भानुः सूर्यश्च, एतत् द्वयम् उभयम्, युवयोः भवतोः, तं पूर्वोक्तस्वेदादिसात्त्विकभावसूचितम्, इमं परिदृश्यमानम् रागम् अनुरागम्, प्रतीत्य ज्ञात्वा, प्रत्यक्षं दृष्ट्वेत्यर्थः। रक्तं रक्तवर्णम् अनुरक्तञ्च, 'रक्तं स्यात् कुङ्कुमे ताम्रे प्राचीनामलकेऽसृजि। अनुरक्ते च नील्यादिरञ्जिते लोहितेऽन्यवत् ॥' इति विश्वः अजायत किम्? अभवत् किम्? कयोश्चित् स्त्रीपुंसयोः सम्भोगानुरागदर्शनेन अपरयोरपि स्त्रीपुंसयोः तथाविधानुरागोत्पत्तेः प्रायोदर्शनादिति भावः। दिवाविहारस्य शास्त्रनिषिद्धत्वात् अथच भैमीनलयोरत्युत्कटसम्भोगाभिलाषावलोकनात् कृपया अस्तगमनद्वारा रात्र्यानयनाभिप्रायेण सूर्यः किं रक्तवर्णोऽजायत इति तात्पर्यम्। तथा इह अस्मिन् समये, केलिसरित तत्रैव क्रीडानद्या, सरोजैः कमलैः, तत् प्रतीचीभानुद्वयम्, वा युवाञ्च, वीक्ष्य दृष्ट्वा, अस्तगमनाय सुरतसम्भोगाय च अभिलाषिणमवलोक्येत्यर्थः। कामेषुतायाः कन्दर्पबाणत्वस्य, उचितं योग्यम्, मुखम् अग्रभागः मुकुलितत्वेन सूक्ष्ममिति भावः। येषां तेषां भावः तत्त्वम्, अधीयमानम् अभ्यस्यमानम्, किम्? वर्तते इति शेषः। मुखस्य सूक्ष्मतायाः अभावे बाणत्वासङ्गतेरिति भावः। सायङ्कालेऽधुनाउपस्थिते प्रतीचीभानू अरुणवर्णौ जातौ, कमलञ्च मुकुलितप्रायम्, अतः सत्वरं रात्रिरागमिष्यति, अलं वाम् उत्कण्ठयेति निष्कर्षः ॥ १२५ ॥

अन्वयः—किं युवयोः तम् इमं रागं प्रतीत्य प्रतीची भानुः च एतद् द्वयं रक्तम् अजायत? किम् इह तद् वीक्ष्य वा केलिसरित्सरोजैः कामेषुतोचित-मुखत्वम् अधीयमानम्?

हिन्दी—क्या तुम दोनों (नल-दमयंती) के इस (स्वेद-रोमांचादि से सूचित) राग (अनुरक्ति-रूप लालिमा) को देखकर पश्चिमा दिक् और सूर्य—ये दोनों रक्त (अनुरक्त और लाल) हो गये ? क्या इस सन्ध्याकाल में उस (सूर्य-प्रतीची-युग्म) को देखकर तुम्हारी क्रीडा-नदी के कमलों द्वारा काम-बाणोपयुक्तमुखता (मुकुलित हो सूक्ष्म होना) का अध्ययन किया जा रहा है ?

टिप्पणी—यहाँ अनुराग की लालिमा से रंजित दमयंती-नल की तुलना में एक और मिथुन की उद्भावना की गयी है—पश्चिम दिशा और सूर्य के जोड़े की। अनुराग की लाली से लाल, संभोगरत मिथुन को देखकर अन्य मिथुन का भी वैसा हो जाना स्वाभाविक है। संध्याकाल में अस्त होते लाल सूर्य और उसी कारण लाल पश्चिम दिशा में अन्य अनुरक्ति भरे, मैथुनेच्छुक युग्म की कल्पना की गयी। नल-दमयंती के अनुराग और कामक्रीड़ा को देख वे भी वैसे ही हो गये। एक यह भी कल्पना है कि अनुरक्त, संभोगेच्छुक नल दमयंती को देख सूर्य और पश्चिमा दिशा का जोड़ा भी लाल होकर संध्या होने की सूचना देने लगा कि राजदंपती कुछ क्षण और संयम रखें, रात होना ही चाहती है। दिन में रतिक्रिया उचित नहीं है, अब हम (सूर्य-पश्चिमा) भी जाते हैं, आप दोनों प्रणय-लीन हों, हम भी एकांत में जाते हैं। संध्याकाल आ गया, अतः नल-दमयंती की क्रीड़ा-नदी में खिले कमल अब मुंद रहे हैं, उनके मुख—अग्र भाग संकुचित हो रहे हैं, जिससे कमल बाणवत् नोकीले होते जा रहे हैं। इस पर कल्पना है कि क्रीड़ा-नदी के कमल काम-बाण बन जाने की शिक्षा का अभ्यास कर रहे हैं कि वे अपने राजा-रानी के काम-संचरण में वृद्धि करें, काम-बाण बनकर उनके देहान्तस् तक प्रवेश पा लें और काम-संचार का उपकरण बन जायें। लगता है यह बाण बनने का अभ्यास कमलों ने 'रक्त' नल-दमयंती और सूर्य-प्रतीची को देख कर ही किया है। 'अनुरक्त' मिथुन पर काम द्वारा बाण वर्षा होगी ही, उसके लिए क्रीड़ा-नदी-सरोज भी बाण बन रहे हैं। आशय यही है कि संध्या हो गयी, सूरज और पश्चिम दिशा में लाली छा गयी, कमल मुंद रहे हैं,

रात्रि होती ही है, जिसमें यह 'अनुरक्त' सिद्ध होगी। नारायण के अनुसार कमलों के संकुचित मुख होने की कामबाणोचित तीक्ष्णमुख भाव में उत्प्रेक्षा की गयी है॥ १२५॥

अन्योऽन्यरागवशयोर्युवयोर्विलासस्वच्छन्दताच्छिदपयातु तदालिवर्गः।
अत्याजयन् सिचयमाजिमकारयन् वा दन्तैर्नखैश्च मदनो मदनः कथं स्यात्॥

जीवातु—अन्योऽन्येति। हे दमयन्तीनलौ! तत् तस्मात्, युवयोरस्मत्सुरताभिलाषाद्धेतोरित्यर्थः अन्योऽन्यस्मिन् परस्परं प्रति, रागस्य अनुरागस्य, रमणाभिलापस्येत्यर्थः, वशयोः अधीनयोः, युवयोः भवतोः, विलासस्य सुरतक्रीडायाः, स्वच्छन्दतां स्वाभिप्रायानुवर्त्तिताम्, छिनत्ति व्याहन्ति य सः तादृशः, सुरतव्यापारस्य रहः सम्पाद्यत्वादिति भावः। आलिवर्गः सखीसमूहः दमयन्त्याः इति शेषः। अपयातु निर्गच्छतु, गृहादिति शेषः। तथा हि—मदनः कामः, सिचयं वस्त्रम्, दम्पत्योरिति भावः। अत्याजयन् अमोचयन्, दम्पतीभ्यामेव परस्परं वस्त्रमोचनमकारयन् इत्यर्थः। वा अथवा, दन्तैः दशनैः, नखैश्च कररुहैश्च, आजिं युद्धम्, परस्पराघातरूपमित्यर्थः। अकारयन् अनाचरयन्, दम्पतीभ्यामेव परस्परमिति भावः। कथं केन प्रकारेण, मदनः मदयिता, सुरतव्यापारे मत्ततोत्पादक इत्यर्थः स्यात्? भवेत्? अपि तु न कथञ्चिदेवेत्यर्थः॥ १२६॥

अन्वय—तत् अन्योन्यरागवशयोः युवयोः विलासस्वच्छन्दताच्छिद् आलिवर्गः अपयातु, वा सिचयम् अत्याजयन् दन्तैः नखैः आजिम् अकारयन् च मदनः मदनः कथं स्यात्?

हिन्दी—अतः (निद्रागमन सन्निकट होने से) एक दूसरे के प्रति रमणाभिलाष से अधीन तुम दोनों (नल दमयन्ती) के काम विलास में स्वतन्त्रता का बाधक सखि समूह (कक्ष से बाहर) चला जाय, अन्यथा (रमणेच्छु दम्पती के) वस्त्रों को न उतारता हुआ और दाँतों और नखों से युद्ध न कराता हुआ मदन (काम) किस प्रकार मतवाला करनेवाला 'मदन' सिद्ध होगा?

टिप्पणी—निद्रा-सन्निकट होने के कारण सखी वर्ग का कक्ष से बाहर चला जाना उपयुक्त होगा। ऐसा न होने पर राजदम्पती के रति-विलास में

बाधा पड़ेगी और न वे स्वच्छंदता-पूर्वक सुरतकालोचित वस्त्र-विमोचन ही कर पायेंगे और न दंत-क्षत, नख-क्षत आदि। मदनानंद का पूर्ण उपभोग न हो सकेगा; और जो काम को 'मदन' (मादयतीति मदनः, अर्थात् जो मनवाला बनादे) कहा जाता है, वह उसका व्युत्पत्तिपरक नाम सिद्ध न हो सकेगा ॥ १२६ ॥

इति पठति शुके मृषा ययुस्ता बहुनृपकृत्यमवेत्य सान्धिवेलम् ।
कुपितनिजसखीदृशाऽर्द्धदृष्टाः कमलतयेव तदा निकोचवत्यः ॥ १२७ ॥

जीवातु—इतीति । इति पूर्वोक्तप्रकारेण, शुके कीरक्षिणि पठति वाचयति सति, गन्धर्वराजतनयानां वीणागानानुवादक्रमेण स्फुटम् उच्चारयति सतीत्यर्थः । तदा तस्मिन्, सन्ध्यासमये, कमलतयेव पद्मत्वेनेव हेतुना, निजनिज-वदनानामिति भावः निकोचः सङ्कोचः विद्यते यासां ताः निकोचवत्यः सङ्कोच-शालिन्यः, एकत्र—सन्ध्याकालागमनात्, अन्यत्र—सुरतप्रसङ्गोत्थानेन लज्जो-दयादिति भावः, ताः आल्यः गन्धर्वराजतनयाश्च, मृषा मिथ्या, कुपितायाः क्रुद्धायाः सखीनिर्गमनेन कोपमाव प्रकाशमानाया इत्यर्थः । निजसख्याः दमय-न्त्याः सम्बन्धिन्या, दृशा चक्षुषा, अर्द्धदृष्टाः किञ्चिदीक्षमाणाः कोपव्याजेन ईषद-वलोकिताः सत्य इत्यर्थः । सान्धिवेलं सन्धिवेलायां सन्ध्यासमये भवम् । 'सन्धि-वेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्' । बहु अनेकम्, नृपस्य नलस्य, कृत्यं कार्यम्, सन्ध्यो-पासनादिकम् अनुष्ठेयमित्यर्थः । अवेत्य ज्ञात्वा, ययुः प्रतस्थिरे, तस्माद् गृहादिति शेषः ॥ १२७ ॥

अन्वयः—इति शुके पठति तदा कमलतया इव निकोचवत्यः मृषा कुपित-निजसखीदृशा अर्द्धदृष्टाः ताः सान्धिवेलं बहुनृपकृत्यम् अवेत्य ययुः ।

हिन्दी—इस प्रकार शुक के (गन्धर्वराजकन्याओं के वचनों का) अनुपाठ करने पर उस समय (सन्ध्या होने पर) मानो (सन्ध्याकाल के कारण) कमल-सम (अपने मुख) होने से संकुचित और (रति-प्रसंग उपस्थित होने के कारण) लज्जित होती, मिथ्या कोप प्रकट करती अथवा सखियों आदि के व्यर्थ-अका-कारण ही गमनोद्यत होने पर कोप प्रकट करती अपनी सखी (दमयंती) की तिरछी दृष्टि से देखी जाती वे (गन्धर्वराजकन्याएँ और सखियाँ) 'सन्ध्या-कालोचित अनेक कार्य महाराज को करने हैं'—यह जानकर चली गयीं ।

टिप्पणी—गन्धर्वराज-कन्याओं ने (श्लोक-संख्या ११६-१२६) में जो स्तुति वचन कहे, पिंजर-शुक ने मनुष्य-वाणी में जैसे तैसे कह दिये। उपस्थित गन्धर्वराज-कन्याएँ और सखियाँ यद्यपि यह समझती थी कि अभी विलास-क्रीडा में कुछ विलम्ब है, अभी तो सन्ध्या है और सन्ध्या-समय रतिक्रीडा वर्जित है यह तो सन्ध्यावन्दन का समय है, तथापि परिहास की दृष्टि से अपने को लज्जित-सी प्रकट करती वे कक्ष के बाहर चली गयी। महाराज नल अब सन्ध्यावन्दनादि में प्रवृत्त होंगे, यह वे जानती थीं। दमयन्ती ने उन्हें ईषत्-कुपित नेत्रों से देखा भी, पर वे सब बाहर हो ही गयी। इसमें तथा १२८ वें श्लोक में पुष्पिताग्राछंद है, जिसके प्रथम एवं तृतीय चरणों में बारह बारह वर्ण इस प्रकार होते है—दो नगण (।।।), एक रगण (ऽ।ऽ) और एक यगण (।ऽऽ) तथा द्वितीय-चतुर्थ चरणों में तेरह-तेरह, इस प्रकार—एक नगण (।।।), दो जगण (।ऽ।), एक रगण (ऽ।ऽ) और एक गुरु (ऽ)॥ १२७॥

अकृत परभृतः स्तुहि स्तुहीति श्रुतवचनस्रगनूक्तिचुञ्चुचञ्चुम्।
पठितनलनुति प्रतीव कीरं तमिव नृपं प्रति जातनेत्ररागः॥ १२८॥

जीवातु—अकृतेति। परभृत कोकिल, सख्या आनीत इति भाव। नृप राजानम्, तं नलम् प्रति उद्दिश्य, जात उत्पन्न, नेत्रयोः नयनयो, राग रक्तवर्णता अनुरागश्च यस्य स तादृश सन् इव तस्य परमसुन्दराकारत्वादिति भाव 'रागोऽनुरागे मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु' इति विश्व। अत एव नृपस्तुतौ कीरस्य प्रवर्त्तनमिति बोद्धव्यम्। श्रुतानाम् आकर्णितानाम्, वचनस्रजां वाक्य-मालिकानाम्, अन्यमुखात् श्रुतवाक्यपरम्पराणामित्यर्थः। अनूक्त्या अनुवचनेन, वित्ते विख्याते इति तादृशौ 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ'। चञ्चू त्रोटिद्वय यस्य तं तादृशम्, एतेन नलस्तुतौ कीरस्य सामर्थ्यमस्तीति सूचितम्। तथा पठिता अधीता, उच्चरिता इत्यर्थ। नलस्य नैषधस्य, नुति स्तुति येन तं तादृशम्, कीरं शुकम्, प्रति लक्ष्यीकृत्य इव, स्तुहि स्तुहि स्तव कुरु स्तव कुरु, इति एवं ध्वनिम्, अकृत कृतवान्, पिको हि राजनि अनुरागाधिक्यात् नलस्तुतिविषये विरतं शुकं स्तुहि इति सत्जागवम् उच्चार्य प्रोत्साहितवानिवेति भाव॥

अन्वयः—तं नृपं प्रति जातनेत्ररागः, परभृतः श्रुतवचनस्रगनूक्तिचुञ्चु-चञ्चुं पठितनलनुतिं कीरं प्रति इव स्तुहि स्तुहि इति अकृत।

हिन्दी—उस राजा नल के प्रति जिसके नेत्रों में राग (अनुराग) उत्पन्न हो गया है, ऐसा (स्वभावतः रक्त नेत्रों वाला) कोकिल सुनी गई (गन्धर्व-राज-कन्याओं की) वचन-माला के अनुवदन (आवृत्ति) में प्रसिद्ध चोंच वाले नल की स्तुति के (पुनः) पढ देने वाले शुक के प्रति मानो, 'स्तुति कर-स्तुति कर'-ऐसा बोला।

टिप्पणी—शुक मनुष्य-वाणी की आवृत्ति करने में प्रसिद्ध है, सो पिंजरस्थ शुक ने गंधर्वराज-कन्याओं का कहा स्तवन दुहरा दिया। जैसा कि पहिले (श्लोक संख्या १०९) कहा जा चुका है, एक सखी द्वारा एक कोकिल भी कक्ष में लाया गया था, जिसके नेत्र प्रकृत्या लाल होते हैं। वह भी 'स्तुति-स्तुहि' (कोकिल-रव) बोला। इस पर यहाँ कल्पना है कि 'जातनेत्रराग' (नल के प्रति नयनों में अनुराग भरे) कोकिल भी शुक से जैसे बोला कि स्तुहि-स्तुहि अर्थात् स्तवनयोग्य राजा की स्तुति करते रहो। कोकिल का सहज कलरव 'स्तुहि-स्तुहि' शुक के प्रति वचन बन गया। मानो कोकिल ने शुक से कहा कि वह चुप क्यों हो गया, उसे और भी स्तुति करनी चाहिए। नारायण के अनुसार यहाँ नयनों में अनुराग भर कर सुन्दरतर नयनों को आनन्द देने वाले नल को देख 'जातनेत्रराग' कोकिल 'स्तुहि-स्तुहि' बोला यह 'राग' शब्द से उत्प्रेक्षा है। ॥ १२८॥

तुङ्गप्रासादवासादथ भृशकृशतामायतीं केलिकुल्या-
मद्राक्षीदर्कबिम्बप्रतिकृतिमणिना भीमजा राजमानाम्।
चक्रं वक्रं व्रजन्तीं फणियुवतिरिति भ्रस्नुभिर्व्यक्तमुक्ता
न्योऽन्यं विद्रुत्य तीरे रथपथमिथुनैः सूचितामार्तिरत्या ॥ १२९ ॥

जीवातु—तुङ्गेति। अथ कोकिलवचनानन्तरम्, भीमजा दमयन्ती, तुङ्गे अत्युन्नते, प्रासादे सौधे, वासात् अवस्थितेः हेतोः, भृशम् अत्यर्थम्, कृशतां क्षीणताम्, आयतीं गच्छन्तीम्, विस्तृतत्वेऽपि प्रासादस्य अत्युन्नततया दमयन्ती-दृशि अतिकृशत्वेन प्रतीयमानामित्यर्थः। दृश्यते हि सुदूरात् स्थूलमपि द्रव्यं कृशत्वेन लोके, अत्र प्रासादस्य तुङ्गत्वैव कुल्याया दूरत्वे हेतुर्बोद्धव्यः। तथा अर्कबिम्बस्य सूर्यमण्डलस्य, अस्तोन्मुखत्वात् आरक्तस्येति भावः। प्रतिकृतिरेव

प्रतिबिम्बमेव, तज्जलपतितेति भाव । मणि बृहदाकारपद्मरागरत्नमित्यर्थं, तेन राजमाना शोभमानाम्, वक्र वक्र कुटिल कुटिल यथा तथा, व्रजन्ती गच्छन्तीम् प्रवहन्तीमित्यर्थ, अत एव फणियुवति काचित्सर्पस्त्री इयम् इति एव विविच्य, त्रस्नुभि भीरुभि, रथपदाना चक्रनाम्नाम्, मिथुनै द्वन्द्वैः कर्तृभिः, व्यक्त स्फुटमेव, मुक्त त्यक्तम्, अन्योऽन्य परस्पर यस्मिन् तत् यथा भवति तथा, तीरे कूलमारो, कुल्याया एव एकैकस्मिन तीरे इत्यर्थ । विद्रुत्य पलाय्य, आर्तिरुत्या दु खस्वनेन साधनेन, निशागमनात् भावविरहचिन्तया कातरस्वरेणेति भाव । सूचिता ज्ञापिताम्, ईषदन्धकारागमेन स्पष्ट न दृश्यमानामपि चक्रवाकशब्दै विदितामित्यर्थ । केलिकुल्या क्रीडार्थं कृत्रिमसरितम् । 'कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमर । अद्राक्षीत् ऐक्षिष्ट ॥ १२९ ॥

अन्वय —अथ भीमजा तुङ्गप्रासादवासात् भृशकृशताम् आयतीम् अर्क बिम्बप्रतिकृतिमणिना राजमाना वक्र वक्र व्रजन्ती फणियुवति इति त्रस्नुभि रथपदमिथुनैः व्यक्तमुक्तान्योन्य तीरे विद्रुत्य आर्तिरुत्या सूचिता केलिकुल्याम् अद्राक्षीत् ।

हिन्दी—तत्पश्चात् भीमपुत्री (दमयन्ती) ने ऊँचे महल में बसने से अत्यन्त पतली लगती, सूर्यबिम्ब के (जल में पड़ते) प्रतिबिम्बरूप मणि से सुशोभित, टेढी टेढी बहती (अतएव) सर्पिणी समझ डरपोक चक्रवाक-युग्मों द्वारा स्पष्ट रूप में एक-दूसरे को छोड़, तट पर भागकर दु खपूर्ण कूजन से ज्ञापित क्रीडार्थ बनी नहर को देखा ।

टिप्पणी–जिस प्रासाद में दमयन्ती थी, वह बहुत ऊँचा था, अत वहाँ से देखने पर 'केलिकुल्या' बड़ी पतली दीख रही थी । अस्तोन्मुख लाल सूर्य का लाल प्रतिबिम्ब 'केलिकुल्या' में पड़कर मणि सदृश शोभा दे रहा था। नदी टेढी बहा ही करती है, इसी कारण वह 'विपथगा' कहाती है । सर्पिणी भी टेढ़ी चलती है, और उसके फण पर भी मणि होती है सो 'तिर्यग्गमना' केलिकुल्या रात्रि आगमन जान वियुक्त होते चक्रवाक युग्मों को वह सर्पिणी-सी प्रतीत हुई और वे एक दूसरे का साथ छोड वियुक्त हो गये और तट पर पहुँच कर करुण कूजन करने लगे कि सर्पिणी है । इससे उस 'केलिकुल्या' की स्थिति

और स्पष्ट हो गयी। नदी-तीर पर ही चक्रवाक बोला करते हैं। इस कारण कुछ अन्धेरा हो जाने से अस्पष्ट होती नदी दमयन्ती को स्पष्ट हो गयी। स्रग्धरा छंद ॥ १२९ ॥

अथ रथचरणौ विलोक्य रक्तावतिविरहासहताऽऽहताविवास्रैः।
अपि नमकृत पद्मसुप्तिकालं स्वसनविकीर्णसरोजसौरभं सा ॥ १३० ॥

जीवातु—अथेति। अथ क्रीडासरिद्दर्शनानन्तरम्, सा दमयन्ती, रथचरणौ चक्रवाकयुगलौ, अतिविरहस्य समस्तरजनीव्यापितया दीर्घवियोगस्य, असहतया अक्षमतया, आहतौ प्राप्ताघातौ, कामशरविद्धतया कातरौ इत्यर्थः। द्विधा भूतौ इत्यर्थश्च। अत एव अस्रैरिव रुधिरैरिव, रक्तौ रक्तवर्णौ, अनुरक्तौ च, विलोक्य दृष्ट्वा, तम् आसन्नम्, पद्मानां कमलानाम्, सुप्तिकालमपि सङ्कोच-समयमपि, सायंसमयमपीत्यर्थः। श्वसनेन चक्रवाकदुःखदर्शनेन स्वस्या अपि दुःखसूचकदीर्घनिःश्वासेन, विकीर्णं विक्षिप्तम्, सरोजसौरभं पद्मसौगन्ध्यं यस्मिन् तं तादृशम्, अकृत कृतवती, तदा सन्ध्यासमये पद्मसङ्कोचात् तत्सौरभा-सम्भवेऽपि स्वस्याः पद्मिनीजातीयत्वात्, पद्मिन्याश्च पद्मसुगन्धिश्वासवायुत्वात् निःश्वासमोचनेन पद्मसौगन्ध्यं विस्तारयति स्म इति भावः ॥ १३० ॥

अन्वयः—अथ सा अति विरहासहताऽऽहतौ अस्रैः रक्तौ इव रथचरणौ विलोक्य तं पद्मसुप्तिकालम् अपि श्वसनविकीर्णसरोजसौरभम् अकृत।

हिन्दी—तदनन्तर उस (दमयन्ती) ने लंबे वियोग के असह होने के कारण आहत (आघातप्राप्त) जैसे रुधिर से लाल, अनुरंजित से पूर्ण चक्रवाक-युगल को देखकर उस कमलों के संकुचित होने के काल (संध्याकाल) को भी उच्छ्वास से फैल गये कमल-सुगन्ध से युक्त कर दिया।

टिप्पणी—रात्रिपर्यन्त रहने वाले असह्य वियोग के आघात से जैसे रुधि-राक्त अनुरागी चकवी-चकवा को देख दमयंती को दुःख हुआ, फलस्वरूप उसने दुःखभरा उच्छ्वास छोड़ा, जिससे कमल-गन्ध वातावरण में फैल गयी। पद्मिनी नारी का उच्छ्वास कमल-सौरभ-पूर्ण होता है। यद्यपि वह संध्याकाल ऐसा था कि उस समय कमल-सौरभ विकीर्ण होना सम्भव नहीं था, क्योंकि सन्ध्या को कमल मुँद जाते हैं, तथापि दमयन्ती के उच्छ्वास से कमल-सौरभ विकीर्ण हो गया। पुष्पिताग्रा वृत्त (१३०-१३३ तक) ॥ १३० ॥

अभिलपति पतिं प्रति स्म भैमी सदय ! विलोकय कोकयोरवस्थाम् ।
मम हृदयमिमौ च भिन्दती हा ! क इव विलोक्य नरो न रोदितीमाम् ?॥

जीवातु—अभिलपतीति । भैमी दमयन्ती, पतिं नलम्, प्रति उद्दिश्य, अभिलपति स्म उवाच, किमित्याह—सदय ! हे दयालो ! कोकयोः चक्रवाकयोः, अवस्थां दुर्दशाम्, वियोगजनितकार्यमिति यावत् । विलोकय पश्य, मम मे, हृदयं वक्षःस्थलम् इमौ वियोगिनौ कोकौ च, भिन्दती विदारयन्तीं वियोजयन्तीं च अनयोः कातरतादर्शनजनितशोकात् वियोगदुःखदानाच्चेति भावः इमां वियोगावस्थाम्, विलोक्य दृष्ट्वा, हा ! खेदे, कः इव नरः को वा जनः, न रोदिति ? न क्रन्दति ? अपि तु सर्व एव जनः रोदनं करोत्येवेत्यर्थः । सदयत्वात् तवापि रोदनसम्भव इति मन्ये इति भावः ॥ १३१ ॥

अन्वय —भैमी पतिं प्रति अभिलपति स्म—सदय, कोकयोः अवस्थां विलोकय हा मम हृदयम् इमौ इमां भिन्दती च विलोक्य कः नरः इव न रोदिति ?

हिन्दी—भीम सुता (दमयन्ती) पति (नल) से बोली—हे दयामय, चक्रवाक-युग्म की दुर्दशा देखो । हाय मेरा हृदय इन (वियोगी चक्रवाकों) और इस वियोग कारिणी स्थिति को देखकर किस (सचेत) मनुष्य की भाँति नहीं रो रहा है ?—(रो रहा है) ।

टिप्पणी—वियोग-पीड़ित चक्रवाक मिथुन को देख दमयन्ती करुणा से परिपूर्ण हो गयी और उसे बड़ी व्यथा हुई । दयामय नल का ध्यान उस ओर आकृष्ट करते हुए उसने कहा कि इस करुणस्थिति को देखकर प्रत्येक सहृदय रो देगा । मेरा हृदय तो रो रहा है । आशा है कि नल को भी कष्ट हो रहा होगा ॥ १३१ ॥

कुमुदमुदमुदेष्यतीमसोढा रविरविलम्बितुकामतामतानीत् ।
प्रतितरु विरुवन्ति किं शकुन्ताः स्वहृदि निवेशितकोककाकुकुन्ताः ?॥

जीवातु—कुमुदेति । रविः भानुः, उदेष्यतीम् आविर्भविष्यन्तीम्, कुमुदानां कैरवाणाम् मुदं चन्द्रोदयात् विकासरूपं हर्षम्, असोढा असहिष्णुरिव सन् तेषामुत्फुल्लभावं द्रष्टुमक्षम मन्नित्यर्थः । सह तृनि 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तस्य धत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति धस्य ढत्वे, ढो ढे

लोपः' इति प्रथमहल्लोपे 'हशिवहोरोदवर्णस्य' इति ओत्वम्। अविलम्बितुं त्वरां कर्तुम्, शीघ्रमस्तं यातुमित्यर्थः। कामः अभिलाषः यस्य तस्य भावः तत्ता ताम्, अतानीत् विस्तारयामास, कृतवान् इत्यर्थः। दृश्यते च लोके, परोत्कर्षमसहमानाः स्वेतरेभ्यामानन्ददर्शनात् तत्स्थानात् शीघ्रमेव प्रतिष्ठन्ते इति। तथा प्रतितरु तरुं तरुं प्रति, प्रत्येकवृक्षोपरि उपविष्टा इत्यर्थः। याथार्थ्येऽव्ययीभावः। शकुन्ताः पक्षिणः, स्वहृदि निजनिजवक्षसि, निवेशिताः अर्पिताः, दवेन निखात इत्यर्थः, कोकानां चक्रवाकाणाम्, काकुः वियोगजार्त्तस्वरः एवः, कुन्तः प्रासः रूयाखविशेषः येषां तादृशाः सन्तः। 'प्रासस्तु कुन्तः' इत्यमरः। विरुवन्ति शब्दायन्ते, किम्? वितर्के किंशब्दः॥ १३२॥

अन्वयः—उदेष्यती कुमुदमुदम् असोढा रविः अविलम्बितुकामताम् अतानीत्; किं स्वहृदि निवेशितकोककाकुकुन्ताः शकुन्ताः प्रतितरु विरुवन्ति?

हिन्दी—उत्पन्न होने वाले कुमुदों के मोद को न सहता सूर्य शीघ्रता की इच्छा का विस्तार कर रहा है। क्या अपने अपने हृदयों में चक्रवाक युगलों के दुःखपूर्ण स्वर-रूप कुंतों (भालों) को प्रविष्ट कराये पंछी प्रत्येक वृक्ष पर रो रहे हैं?

टिप्पणी—दमयन्ती ने कहा कि यह सूरज अस्ताचल जाने में शीघ्रता कर रहा है, पर के सुख और हर्ष को न सहने वाले दुर्जन की भाँति कुमुदों के विकास के हर्ष को न सहता हुआ। दमयन्ती को लगा कि वृक्ष-वृक्ष पर जो पक्षी बोल रहे हैं, वह जैसे कोकों की दुरवस्था पर शोक प्रकट कर रहे हैं। व्यथित चक्रवाक-युग्मों के दुःखभरे शब्द उनके हृदय में भालों के समान चुभ रहे हैं, जिससे कष्ट प्राप्त करते पक्षी 'विराव' कर रहे हैं। सहृदयों को दूसरे के कष्ट से कष्ट होता ही है। नारायण के अनुसार यह पक्षि-विराव उत्प्रेक्षा है॥ १३२॥

अपि विरहमनिष्टमाचरन्तावधिगमपूर्वकपूर्वसर्वचेष्टौ।
इदमहह! निदर्शनं विहङ्गौ विधिवशचेतनचेष्टितानुमाने॥ १३३॥

जीवातु—अपीति। हे नाथ! अधिगमः ज्ञानम्, वियोगक्लेशानुभव इत्यर्थः। पूर्वम् आदौ यासां तास्तादृश्यः, पूर्वसर्वचेष्टाः स्वयमेवानुष्ठितसकल-

विरहव्यापाराः ययोस्तौ तादृशौ, अपि प्रागनुभूतविरहदुःखावपीत्यर्थः । अनिष्टम् अनभिमतम्, विरहं वियोगम्, आचरन्तौ अनुतिष्ठन्तौ, विधातृनियमेन दीर्घकालं पालयन्तौ इत्यर्थः । विहङ्गौ चक्रवाकपक्षिणौ, विधिवश दैवाधीनम्, चेतनानां प्राणिनाम्, चेष्टितम् आचरणम्, इत्येवंरूपे, अनुमाने कार्याद् कारण-विशेषज्ञाने विषये, प्राक्तनकर्मवशादेव अनभिमतेऽपि विषये प्राणिनां प्रवृत्ति-दर्शनादिति भावः । इदम् एतदेव, निदर्शनं दृष्टान्तः, अहह इति खेदे अद्भुते वा, तथा हि—सर्वे एव प्राणिनः दैवाधीनतयैव हितमहितं वा सर्वं कार्यम् इच्छया वा अनिच्छया वा कर्त्तुं प्रेरिता भवन्ति, ततश्च विरहस्य अनिष्टत्वं जानन्तावपि चक्रवाकयुगलौ स्वयमेव समाचरत इति तावेवात्र निदर्शनमिति निष्कर्षः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—अधिगमपूर्वकपूर्वंसवचेष्टौ अपि अनिष्टम् आचरन्तं विरहम् आचरन्तौ विहङ्गौ अहह, इदं विधिवशचेतनचेष्टितानुमाने निदर्शनम् ।

हिन्दी—ज्ञानपूर्वक पहिले से समस्त कर्म करने वाले भी अनीप्सित वियोग का आचरण करते पक्षियुग्म (चकवा–चकवी) हाय, प्राणियों की चेष्टाएँ दैवाधीन होने के अनुमान में दृष्टान्त हैं।

टिप्पणी—चक्रवाक–युगल अन्य सभी कार्य ज्ञान-पूर्वक करते हैं—क्या करने में कल्याण है, क्या करने में नहीं, यह सोच-विचार कर। उन्हें यह भी पहिले अनुभवों से ज्ञात है कि विरह-कष्ट असह्य होता है। फिर भी वे अकाम्य वियोगाचरण में लीन हैं। यह एक स्पष्ट उदाहरण है कि प्राणियों के सभी कर्म दैवाधीन होते हैं। प्राणी दैवाधीन कर्म करते हैं, क्योंकि जानकर भी प्रतिकूल कार्य में प्रवृत्त हुआ करते हैं। जानकर भी अकल्याणकर कार्य करना यह अनुमान कराता है कि प्राणियों के कर्म दैवाधीन हैं, जैसे चक्रवाकयुगल–प्राणिनो दैवाधीनचेष्टिताः, प्रतिकूलतया ज्ञातेऽपि प्रवर्त्तमानत्वाच्चक्रवाकवत् ॥ १३३ ॥

अङ्घ्रिस्थारुणिमेष्टकाविसरणे शोणे कृपाणः स्फुट
कालोऽयं विधिना रथाङ्गमिथुनं विच्छेत्तुमन्विच्छता ।

रश्मिग्राहिगरुत्मदग्रजसमारब्धाविरामभ्रमौ
दण्डभ्राजिनि भानुशाणनलये संसज्य किं तिज्यते ? ॥ १३४ ॥

जीवातु—अङ्घ्रीति । हे प्रियतम ! रथाङ्गयोः चक्रवाकयोः, मिथुनं द्वन्द्वम्, विच्छेत्तुं वियोक्तुम्, विशेषेण विदारयितुञ्च, अन्विच्छता अभिलषता, विधिना ब्रह्मणा, अयम् एषः कालः सायंसमयः, तत्स्वरूप इत्यर्थः, कृष्णवर्णश्च, 'कालो मृत्यौ महाकाले समये यमकृष्णयोः' इति विश्वः। कृपाण खड्गः, अङ्घ्रिः किरणः पादश्च, तत्र तिष्ठन्तीति अङ्घ्रिस्थाः, ये अरुणिमानः रक्तिमानः, तान्येव इष्टकाविसरणानि इष्टकाचूर्णनिक्षेपाः, तैः शोणे रक्तवर्णे, रश्मिग्राहिणा अश्वरज्जुधारिणा, शाणयन्त्ररज्जुधारिणा च, गरुत्मदग्रजेन गरुडज्येष्ठेन अरुणेन केनचित् शाणिकेन च, समारब्धा प्रकान्ता, अविरामा अविच्छिन्ना, भ्रमिः भ्रामणं यस्य तस्मिन्, तथा दण्डेन चण्डांशोः भानोः पारिपार्श्विकेन, शाण-स्थेन वर्तुलेन काष्ठेन च । 'दण्डो यमे मानभेदे लगुडे दमसैन्ययोः । व्यूहभेदे प्रकाण्डेऽश्वे कोणमन्थानयोरपि ॥ अभिमाने ग्रहे दण्डश्चण्डांशोः पारिपार्श्विके ॥' इति विश्वः । भ्राजिनि शोभमाने, भानौ सूर्ये एव, शाणवलये शस्त्रोत्तेजन-यन्त्रमण्डले, गोलाकारत्वसाधर्म्यादिति भावः । संसज्य आरोप्य, स्फुटं स्पष्टं यथा भवति तथा, तिज्यते तीक्ष्णीक्रियते, किम् ? तिज निशाने क्षमायाञ्च इत्यस्माद् भौवादिकात् कर्मणि यकि रूपम् । 'निज्यते' इति पाठे—परिणिज्यते, उज्ज्वलीक्रियते इत्यर्थः । 'णिजिर् शौचे' इत्यस्य रूपम् । शाणिका हि शाणचक्रे इष्टकाचूर्णं दत्त्वा दत्त्वा कृपाणादिकमुत्तेजयन्ति इति लोके दृश्यते ॥ १३४ ॥

अन्वयः—रथाङ्गमिथुनं विच्छेत्तुम् अन्विच्छता विधिना किम् अयं कालः कृपाणः अङ्घ्रिस्थारुणिमेष्टकाविसरणैः शोणे रश्मिग्राहिगरुत्मदग्रजसमारब्धा-विरामभ्रमौ दण्डभ्राजिनि भानुशाणनलये संसज्य तिज्यते ?

हिन्दी—चक्रवाकों के जोड़ों को वियुक्त करने का इच्छुक विधाता क्या इस काले काल-से संध्याकालरूप कृपाण को किरण रूप चरणों में स्थित, लालिमा रूप ईंटों के चूरे से लाल, रासरूपा डोरी को पकड़े गरुड़ के अग्रज (अरुण) रूप शाणिक (सान चढ़ानेवाले) द्वारा जिसे निरन्तर घुमाना आरम्भ

कर दिया गया, ऐसे, 'दण्ड' नाम के सूर्य के पारिपार्श्वक (निकटस्थ सेवक, अरदली) रूप डंडे से शाणित सूर्य रूप शाणचक्र पर रखकर तेज कर रहा है ?

टिप्पणी—विधि की इच्छा से रात्रि मे चक्रवाकों के जोडे वियुक्त हो जाते हैं, यह पूर्व श्लोक (संख्या १३३) में कह दिया गया है। सायकाल होते ही वे कोकयुगल विच्छिन्न होने लगते हैं। इस प्रकार विधाता द्वारा प्रेरित सन्ध्याकाल को युगल की 'विच्छित्ति' (वियोग करना) का साधन हुआ। अतएव सन्ध्याकाल को यहाँ विधाता का काल-सदृश काला खड्ग माना गया है जिससे विधि चक्रवाकों के जोडों को 'विच्छिन्न' (वियुक्त, चीरकर अलग) करके अस्तोन्मुख सूर्य की लाली पश्चिम दिशा मे व्याप्त है। कल्पना यह है कि छेदन के शस्त्र कृपाण को विधाता 'शाणचक्र' (सान) पर चढवा कर तीक्ष्ण करवा रहा है। लाल लाल सूरज का गोला 'सान' है, किरणों की लाली पैरों से दबी ईंटों की लाली है, जिससे सूर्य-रूप शाण चक्र लाल है, अरुणसारथि-द्वारा हाथ मे पकडी गयी घोडों की रास ही डोरी है जिससे 'सान' को घुमाया जा रहा है सहारे का दड (डडा) 'दड' नाम का सूर्य का सेवक है। 'दड' नाम के कारण ही दड (सेवक) को दड (डडा) मान लिया गया है। अमरकोष के अनुसार दड डडे को तो कहते ही हैं, सूर्य के सेवक का भी 'दड' नाम है—'माठर पिङ्गलो दण्डश्चण्डांशो पारिपार्श्वक।' अन्त में 'तिज्यते' के स्थान मे पाठातर 'निज्यते' भी है, अर्थात् उज्ज्वल किया जाता है। अर्थात् काला कृपाण सान पर चढाकर उजला किया जा रहा है। *आशय यह है कि सन्ध्याकाल में अस्तोन्मुख सूर्य की सहायता से चक्रवाकयुग्म तीक्ष्ण कृपाण से जैसे—चीर कर वियुक्त किया जा रहा है*— विश्वनाथ'। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा। चक्रवाक युगल के वियोग से करुणाकलित *दमयन्ती का यह कथन (१३१–१३४) उसके वियोग की पूर्व संभावना है* ॥ १३४ ॥

इति स विधुमुखीमुखेन मुग्धाल्पिनसुधासवमर्पित निपीय।
स्मितशबलवलन्मुखोऽवदत् ता स्फुटमिदमीदृशमीदृशं यथाऽत्थ ॥१३५॥

जीवातु—इतीति। सः नल, इति अनेन प्रकारेण, विधुमुख्या चन्द्रान-

मायाः दमयन्त्याः, मुखेन वदनेन, अर्पितं दत्तम्, मुग्धं सुन्दरम्, आलपितमेव भाषितमेव, सुधासवं पीयूषवत् स्वादु मद्यम्, निपीय आस्वाद्य, स्मितेन ईषद्धास्येन, शबलं चित्रम्, रञ्जितमित्यर्थः। वलत् चलच्च, भैमी प्रतिवक्तुमुपक्रमादिति भावः। मुखं वदनं यस्य सः तादृशः सन्, तां दमयन्तीम्, अवदत् अवोचत्। अन्येऽपि कामिनः यथा कामिनीमुखार्पितासवं सादरं पिबन्ति, ततः ललितमुखाः सहासं किञ्चित् वदन्ति च तद्वदिति भावः। किमित्याह—हे प्रिये! यथा यादृशम्, यदित्यर्थः। आस्थ ब्रूषे, त्वमिति शेषः, इदम् एतत्, ईदृशम् ईदृशम् एवम्भूतमेवम्भूतम्, स्फुटं व्यक्तमेव, सत्यमेवेत्यर्थः॥ १३५॥

अन्वयः—विधुमुखीमुखेन अर्पितम् इति मुग्धालपितसुधासवं निपीय स्मितशबलवलन्मुखः सः ताम् अवदत्—इदम् ईदृशम् ईदृशं यथा आस्थ स्फुटम्।

हिन्दी—चन्द्रमुखी (दमयन्ती) के मुख द्वारा अर्पित (दिया गया) इस प्रकार मनोहारी कथन रूप अमृत-सम मद्य पीकर मुसकानयुक्त वदनशील मुखवाला वह (नल) उस (दमयन्ती) से बोला—यह ऐसा-ऐसा जो तुमने कहा—ठीक ही है।

टिप्पणी—यहाँ दमयन्ती पर मुग्ध नल का चित्रण किया गया है। मुग्ध व्यक्ति की भाँति उसने अविलंब दमयन्ती का समर्थन कर दिया—'हाँ में हाँ मिला दी।' चन्द्रमुखी-प्रिया-मुख के उच्छिष्ट मद्य-सदृश मनोहारी वचनों को उसने उसी प्रकार सादर, सप्रेम स्वीकारा, जैसे मुग्ध जन स्वीकारते हैं, पीते हैं और पीकर प्रसन्न होते हैं। वचनरूपासव का निदान कर मुसकराते नल ने दमयन्ती वचनों की यथार्थता स्वीकार ली॥ १३५॥

> स्त्रीपुंसौ प्रविभज्य जेतुमखिलावालोचितौचित्ययो-
> र्नम्रां वेद्मि रतिप्रसूनशरयोश्चापद्वयीं त्वद्भ्रुवौ।
> त्वन्नासाच्छलनिह्नुतां त्रिनलिकीं नालीकमुक्तर्षिणो-
> स्त्वन्निःश्वासलते मधुश्वसनजं वायव्यमस्त्रं तयोः॥ १३६॥

जीवातु—स्त्रीपुंसाविति। हे प्रिये! त्वद्भ्रुवौ तव भ्रूयुगलम्, कुटिलाविति शेषः। अखिलौ समस्तौ, स्त्रीपुंसौ नारीनरौ, प्रविभज्य विभागीकृत्य

रतेन्ने स्त्रिय कामाचे च पुमाम इत्येव विभाग कृत्वेत्यर्थ । जेतु वशीकर्त्तुम्, आलोचित मनसा विवेचितम्, औचित्य युक्तियुक्तता याभ्या तादृशयो, रति॰ प्रसूनशरयो कामप्रियाकामयो नम्रा लक्ष्य लक्षीकृत्य आकर्षणेन वक्रीभूता-मित्यर्थ । चापद्वयी कार्मुकयुगलम्, उभयोरेव वक्रत्वेन साम्यादिति भाव, वेद्मि जानामि । नालीकमुक्तयेषिणो नालीकाना ('पिस्तोल' इत्यादयथा प्रसिद्धानाम्) अस्त्रविशेषाणाम्, नालीकाना गुलिकाविशेषाणामित्यर्थो वा, मुक्ति मोक्षणम्, निक्षेपमित्यर्थ । इच्छतो अभिलषतो, तयो रतिमदनयो, स्व-नासाच्छलेन तव नासिकाद्वयव्याजेन, निह्नुता गोपिताम्, द्वयो नलिकयो समाहार इति ता द्विनलिकी नलद्वयविशिष्टगुलिकाक्षेपकलौहमयास्त्रविशेष मित्यर्थ । (दोनली पिस्तौल) वेद्मि इति पूर्वेणान्वय । उभयोरेव तुल्यदर्शन-त्वादिति भाव । तथा तव भवत्या, नि श्वासौ एव लते नि श्वासवायुप्रवाह-द्वयमित्यर्थ । तयो रतिस्मरयो, मधुश्वसनज वसन्तकालिकमलयजातम्, वायव्य वायुदेवताकम्, अस्त्रम् आयुधम्, वायुरस्त्रविशेषादिति भाव, वेद्मि इति पूर्वेणान्वय । अहमिति शेष । स्मरोद्दीपने त्वमतीव निपुणेति तात्पर्यम् ।१३६।

अन्वय—स्वद्भ्रुवौ अखिलौ स्त्रीपुंसौ प्रविभज्य जेतुम् आलोचितौचित्ययो रतिप्रसूनशरयो नम्रा चापद्वयी वेद्मि, नालीमुक्त्येषिणो (तयो) स्वन्नासाच्छल-निह्नुता द्विनलिकी त्वन्नि श्वासलते तयो मधुश्वसनज वायव्यम् अस्त्रम् ।

हिन्दी—(नल ने कहा—प्रियतमे,) मैं तुम्हारी (दमयन्ती की) दोनो भौंहो को सब (समस्त ससार के) नारी-नरो को एक एक करके जीतने के लिए भली भाँति विमर्शपूर्वक विचार करके रति और कुसुमबाण (काम) के कान तक खीचकर वक्र दो धनुष मानता हूँ, एक निलस्त मात्र के 'नालीक' नामक बाणो को छोडने के इच्छुकों (उन रति-काम) की तेरी (दमयती की) नासिका के व्याज से छिपी दुनाली (नालीक-छोडने की साधन छेद-दार दो वाँस की नलियाँ) और तेरी दो नि श्वास-रूपी लताओ को उन (रति काम) का वासती मलयपवन से सजात 'वायव्य' अस्त्र ।

टिप्पणी—मुग्ध नल ने और भी विमुग्ध हो दमयती की प्रशसा मे कहा कि उसे, उसके भ्रूयुगल, उसकी नासिका आदि को देखकर स्मरोद्दीपन हो

जाता है। नल की दृष्टि में रति और काम ने संसार के समस्त स्त्री-पुरुषों को जीतने के लिए (रति स्त्रियों को जीतना चाहती है, काम पुरुषों को) दमयन्ती की दोनों भौंहों को दो धनुष, 'नालीक'-बाणों को छोड़ने के लिए नासिका को द्विनली और निःश्वासों को वायव्यास्त्र (जिससे प्रचंड पवन निकलता है, सब कुछ उड़ा देने वाला अस्त्र) बनाया है। अब वे एक-एक करके समस्त नारी-नरों को जीत रहे हैं॥ १३६॥

पीतो वर्णगुणस्तवातिमधुरः कायेऽपि सोऽयं यथा
यं बिभ्रत् कनकं सुवर्णमिति कैरादृत्य नोत्कीर्त्यते ?।
का वर्णान्तरवर्णना धवलिमा राजैव रूपेषु य-
स्तद्योगादपि यावदेति रजतं दुर्वर्णतादुर्यशः॥ १३७॥

जीवातु—पीतो वर्ण इति। हे प्रिये ! सः प्रसिद्धः, अयम् एषः, पीतः गौरो नाम, वर्णगुणः वर्णस्वरूपः, अतिमधुरः अतिरमणीयः, यथा येन हेतुना, यं पीतवर्णम्, बिभ्रत् धारयत्, कनकं हिरण्यम् कैः जनैः, सुवर्णं शोभनः वर्णः यस्य तत् तादृशम्, इति एवंरूपेण, आदृत्य आग्रहेणोल्लिख्य, न उत्कीर्त्यते ? न उच्चैः प्रशस्यते ? अपि तु सर्वैरेव उत्कीर्त्यते इत्यर्थः। तथा तव भवत्याः; काये शरीरे अपि, अस्ति इति शेषः, अत एव अतिमधुर इति मन्ये इति भावः। वर्णान्तराणां पीतशुक्लव्यतिरिक्तानां नीलादीनां वर्णानाम्, वर्णना प्रसङ्गः, का ? कीदृशी ? दूरे आस्तामिति भावः। यः धवलिमा शुक्लत्वम् शुभ्रवर्ण इत्यर्थः। रूपेषु वर्णेषु, राजा एव उत्कृष्ट एव, अमिश्रवर्णत्वात् वर्णेषु प्रथमोच्चरितत्वाच्चेति भावः। तस्य धवलिम्नः, योगात् सम्बन्धात् अपि, शुभ्रवर्णधारणादपीत्यर्थः। रजतं रौप्यम्, कर्तृ। यावत् साकल्येन; दुर्वर्णतादुर्यशः दुष्टः निन्दितः, वर्णः रूपं यस्य तस्य भावः तत्ता, तस्याः दुर्यशः अकीर्तिम्, अपकृष्टवर्णतालक्षणनिन्दामित्यर्थः। दुर्वर्णम् इति नामधेयं च। कर्म। 'दुर्वर्णं रजतं रूप्यम्' इत्यमरः। एति प्राप्नोति। तथा हि, स्वर्णस्य पीतत्वादेव लोकाः तं सुवर्णमिति वदन्ति, यतः असौ हि पीतो वर्णः तव देहे विद्यते, ततश्च पीतो वर्णः वर्णेषु मुख्य एव, नीलरक्तादयश्च हीनाः, यस्तु शुभ्रो वर्णः वर्णेषु प्रथमः कीर्त्यते तद्योगादपि रजतं दुर्वर्णमिति निन्दामाप्नोति, अतः शुभ्रवर्णोऽपि पीतात् हीन एव इति निष्कर्षः॥ १३७॥

अन्वय —वर्णगुण पीत स च अतिमधुर यथा अय ते काये अपि वर्त्तते, य बिभ्रत् कनक सुवर्णम् इति कै आदृत्य न उत्कीर्त्यते ? वर्णान्तरवर्णना वा यावद् य धवलिमा रूपेषु राजा एव तद्योगात् अपि रजत दुर्वर्णतादुर्यशः एति ।

हिन्दी—(नल ने कहा कि हे प्रियतमे) सब रगो में 'वर्णगुण' (रगो में विशिष्ट) पीत (चपकगौर वर्ण) है, और वह रमणीयतर है, क्योकि यह (पीत वर्ण) तेरे (दमयन्ती के) देह मे भी विद्यमान है, और जिस (पीत वर्ण) को धारण करता 'कनक' (सोना अथवा चपक पुष्प) 'सुवर्ण' (अच्छे रग का)— यह मान कर किन व्यक्तियो द्वारा सम्मान नही पाता ? (सभी से पाता है)। और वर्णो का वर्णन (और रगो का उल्लेख) क्या करना, जब कि जो शुभ्रत्व (षड्विध) रूप मे राजा (प्रमुख) ही है, उस (शुभ्रत्व) के सयोग से रजत' (चाँदी) भी दुर्वर्णता (बुरा रग होना) के दुर्यश (अपकीर्ति, निंदा) को पाती है ।

टिप्पणी—यहाँ आशय यह है कि यद्यपि 'पीत' वर्ण प्रधान नही है, किन्तु उसे 'वर्णगुण' (वर्णो मे श्रेष्ठ) और रमणीयतम इसलिए माना जाता है कि दमयन्ती के देह ने उसे स्वीकारा है और चपक-पुष्प और स्वर्ण को भी 'शोभन वर्ण' मान कर सब लोग आदर देते हैं। इसी को प्रमाणित करने के लिए कहा गया कि और रगो की तो गणना ही क्या—शुभ्र रग सबसे प्रधान है—क्योकि ■ गुणो में सबसे प्रथम उसी का उल्लेख होता है—शुभ्र, नील, पीत, हरित्, कपिश और चित्र और वह 'निर्मल' (मल दोष-हीन) भी होता है—यह भी पीत के सम्मुख नगण्य है, क्योकि शुभ्र चाँदी का रग अच्छा नही माना जाता, जबकि सोने का पीतरग सबके आदर का पात्र होता है (यहाँ यह भी सकेत है कि दमयन्ती के शरीर को अगीकृत 'पीतवर्ण' को 'कनक' ने भी स्वीकारा, इसी से उसे 'सुवर्ण' कहा गया, अन्यथा वह भी चाँदी के समान 'दुर्वर्ण' कहाता और निन्दा पाता), अन्य नीलादि वर्ण तो पीत के समुख नगण्य हैं ही । दमयन्ती उत्तम है, उसके देह ने सामान्य पीत वर्ण को स्वीकारा, अत वह वर्णों में श्रेष्ठ (अथवा वर्णों मे गुण, विशिष्टता—

दीप नहीं) कहाया, अतिमधुर कहाया। शुक्ल वर्ण के उत्तम होते पर भी उसे उच्चसंग न मिला, अतः उसे भी रजताश्रय हो प्रधान होते हुए भी यश न मिला। उत्तम संग में सामान्य भी विशिष्ट बन जाता है। यही दमयन्ती-संग के कारण *पीत वर्ण की स्थिति बनी। 'पीत' का अर्थ 'पिया गया'—'पान किया'* भी होता है। यह शब्दार्थ लेकर यह वाक्यार्थ भी किया जाता है कि नल ने कहा कि उसने दमयन्ती के देह का अतिमधुर वर्ण गुण (श्रेष्ठ वर्ण) अधरपानादि के माध्यम से 'पान किया', वस्तुतः वह अति मधुर है। पूर्व श्लोक में वाणी-पान, यहाँ 'वर्ण'—पान। भाव यही है कि नल के अनुसार दमयन्ती के अंग, देह, उसका वर्ण—सभी उत्तम है॥ १३७॥

> खण्डक्षोदमृदि स्थले मधुपयःकादम्बिनीतर्पणात्
> कृष्टे रोहति दोहदेन पयसा पिण्डेन चेत् पुण्ड्रकः।
> स द्राक्षाद्रवसेचनैर्यदि फलं धत्ते तदा त्वद्गिरा-
> मुद्देशाय ततोऽप्युदेति मधुराधारस्तमप्प्रत्ययः॥ १३८॥

जीवातु—खण्डेति। हे प्रिये! मधूनि क्षौद्राणि एव, पयांसि जलानि यस्याः ताद्दश्याः, कादम्बिन्याः मेघमालिकायाः, 'कादम्बिनी मेघमाला' इत्यमरः। तर्पणात् आप्यायनात्, ताद्दशवारिवर्षणेन अभिषिञ्चनादनन्तरमित्यर्थः। कृष्टे हलचालनेन पुनरपि कृतकर्षणे, वर्षणानन्तरं कृषीवलाः पुनरपि क्षेत्रं कर्षन्तीति लोकदर्शनादिति भावः। खण्डस्य शर्कराविशेषस्य, क्षोदः चूर्णमेव, मृत् मृत्तिका यत्र ताद्दशे, स्थले शस्यक्षेत्रे, पिण्डेन पाकविशेषात् पिण्डीभूतेन, घनीभूतेनेत्यर्थः, पयसा क्षीरेण एव, 'पयसाम्' इति पाठे-पयसां पिण्डेनेत्यन्वयः। दोहदेन वृक्षादिवृद्धिकरेण वस्तुना साधनेन, पुण्ड्रकः इक्षुविशेषः। 'रसाल इक्षुस्तद्भेदाः पुण्ड्रकान्तारकादयः' इत्यमरः। रोहति प्रभवति, चेत् यदि, सः पुण्ड्रकः, द्राक्षाद्रवसेचनैः मृद्वीकारससेकैः यदि चेत्, फलं शस्यम् धत्ते धारयति, तदा तर्हि, ततोऽपि ताद्दशेक्षुफलादपि, त्वद्गिरां भवद्वचनानाम्, उद्देशाय उत्कर्षनिर्देशाय, मधुरः मधुर इति शब्दः, आधारः आश्रयः, प्रकृतिरित्यर्थः। यस्य स ताद्दशः तमप्प्रत्ययः मधुरतम इत्यर्थः। उदेति उत्पद्यते। सम्भाव्यमानताद्दशेक्षुफलादपि मधुरतमा तव वाणी इति भावः॥ १३८॥

अन्वयः—मधुपयः कादम्बिनीतर्पणात् कृष्टे खण्डक्षोदमृदि स्थले पिण्डेन पयसा दोहदेन पुण्ड्रकः चेत् रोहति, स यदि द्राक्षाद्रवसेचनैः फलं धत्ते तदा ततः अपि त्वद्गिराम् उद्देशाय मधुराधारः तमप्-प्रत्ययः उदेति।

हिन्दी—शहद के जल को बरसाती मेघमाला द्वारा सींचे जाने पर जोते गये, खाँड़ (कच्ची शक्कर) के चूरे की मिट्टी वाले खेत में गाढ़े दूध (खोये) की खाद देने पर यदि पौंडा (विशिष्ट मोटा गन्ना) उपजे और वह निरन्तर दाखों (अंगूरों) के रस से सींचे जाने पर फल धारण करे तब भी उससे भी तेरी वाणी के उत्कर्ष-कथनार्थ मधुर मूल प्रकृति के साथ 'तमप्, (श्रेष्ठता सूचक प्रत्यय) लगेगा।

टिप्पणी—नौ श्लोकों (१२८-१४६) में दमयन्ती की वाणी-माधुरी का वर्णन है। यहाँ असम्भवोत्प्रेक्षा करके कहा गया है कि जैसा सम्भव नहीं है, वैसा मधु-वर्षा के बाद जोते गये खाँड के खेत में खोये का खाद देकर पौंडा गन्ना उपजाया जाय और उस पर अंगूरों के रस से सींचकर फल प्राप्त किया जाय, उससे भी दमयन्ती की वाणी मधुरतम सिद्ध होगी। वैसा इक्षुफल भी दमयंती वाणी-सम नहीं॥ १३८॥

उन्मीलद्गुडपाकतन्तुलतया रज्ज्वा भ्रमीरर्जयन्
दानान्त श्रुतशर्कराचलमथ स्वेनामृतान्धाः स्मर।
नव्यामिक्षुरसोदधेर्यदि सुजामुत्थापयेत् सा भव-
ज्जिह्वाया कृतिमाह्वयेत परमा मत्कर्णयो पारणाम्॥१३९॥

जीवातु—उन्मीलदिति। हे प्रियतमे! अमृत पीयूषमेव, अन्धः अन्नं यस्य सः तादृशः, अत एव अमृतभोजिनः देवस्य स्मरस्य तदुत्थापनाया अतीवावश्यकता इति भावः। स्मरः कन्दर्पः, स्वेन आत्मनैव, स्वयमेवेत्यर्थः, न पुनरन्यसाहाय्येन, तथा सति न सर्वथा हर्षोत्पादकता स्यादिति भाव.। उन्मीलन्ती, प्रकाशयन्ती, जायमाना इत्यर्थं। गुडस्य स्वनामख्यातस्य इक्षुरसविकारस्य, पाकात् अग्निसंयोगेन क्वथनात्, या तन्तुलता सूत्राकारता, सूत्रवदविच्छिन्नसंयोग. इत्यर्थः। यद्वा-तन्तुलता तन्तव इव तन्तवः गुडनिर्गतदोरका, त एव लता तया तद्रूपया, रज्ज्वा रश्मिना साधनेन, दानान्तः तुलापुरुषादिमहा-

दानानां मध्ये, श्रुतः शास्त्रे आकर्णितः, यः शर्कराचलः सितापर्वतः, दानार्थं पर्वताकारतया स्थापितशर्कराराशिरित्यर्थः। स एव मन्था मन्थनदण्डः तस्य, 'भस्य टेर्लोपः' इति टिलोपः। भ्रमीः भ्रामणानि, घूर्णनानीत्यर्थः। अर्जयन् सम्पादयन्, आकर्षणेन कुर्वन् सन् इत्यर्थः। इक्षुरसस्य उदधेः इक्षुरससमुद्रात्, नव्याम् अभिनवाम्, देवासुरोत्थापितसुधातोभिन्नरूपामित्यर्थः, सुधाम् अमृतम्, यदि चेत्, उत्थापयेत् उत्तोलयेत्, तदा सा सुधा। कर्त्री। मत्कर्णयोः मम श्रवणयोः, परमाम् उत्कृष्टाम्, पारणां पारणावत् अद्वितीयतृप्तिहेतुम्, भवज्जिह्वायाः तव रसनायाः। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वपदस्य पुंवद्भावः। कृति काव्यं, गिरम् इत्यर्थः। आह्वयेत स्पर्द्धया आकारयेत्, प्रतिभटीकुर्य्यात् इत्यर्थः। 'स्पर्द्धायामाङः' इति ह्वेञः तङ्। मधुरद्रव्यसाधितं हि द्रव्यं परममधुरमेव भवति, एवञ्च प्रोक्तरूपेणैवोत्थापिता सुधा तव वाचः सादृश्यं लब्धुमर्हति, न पुनरन्यः कश्चिद् पदार्थ इति भावः॥ १३९॥

अन्वयः—अमृतान्धाः स्मरः स्वेन उन्मीलद्गुडपाकतन्तुलतया रज्ज्वा दानान्तःश्रुतशर्कराचलमथः भ्रमीः अर्जयन् यदि इक्षुरसोदधेः नव्यां सुधाम् उत्थापयेत्, सा मत्कर्णयोः परमां पारणां भवज्जिह्वायाः कृतिम् आह्वयेत।

हिन्दी—अमृत ही जिसका खाद्य है, ऐसा अमृतभोजी काम स्वयमेव गुड़ का पाक होने से बनी चाशनी की डोरी रूप लता को रस्सी बना, तुलापुरुष-दान आदि के प्रसंग में सुने गये मिसरी के पर्वत की मथानी से मथता हुआ यदि गन्ने के रस के समुद्र से नयी सुधा को निकाले, तो वह मेरे (नल के) दोनों कानों को उत्कृष्ट तृप्ति देने वाले व्रतांत भोजन आप (दमयन्ती) की रसना की रचना (वाणी) को चुनौती दे सकती है।

टिप्पणी—यहाँ पुनः असंभवातिशयोक्ति द्वारा दमयन्ती की वाणी को अमृत से भी अधिक किसी नवीन उत्कृष्ट सुधा से उपमित कहा गया है। नल के कान दमयन्ती की वाणी सुनने को सदा उत्कंठ रहते हैं, जैसे कि उपासा, व्रतचारी जन पारणा (व्रतांत भोजन) के लिए। वचन, श्रवण के उपासे नलकर्णों को दमयन्ती की वाणी परमतृप्तिदायक पारणा लगती है। उसकी तुलना किसी प्रकार सम्भव है, उस नयी सुधा से जिसे अन्य कोई नहीं स्वयं सुधा-

भोजी काम स्वेच्छया गुडपाक की चासनी की रस्सी से शर्कराचल को मथकर इक्षुरस सागर से उत्पन्न करे। यह नयी सुधा भी दमयन्ती की वाणी का आह्वान मात्र कर सकती है, प्रतिद्वन्द्विता को चुनौती भर दे सकती है। जय तो उसे प्राप्त होगी ही नहीं, सम्भव है कि पराजित न हो, कदाचित् जोड बराबर का मान लिया। पर तु है यह भी एक क्षीण आशा मात्र विश्वास नहीं, अन्य कोई वस्तु तो यह भी नहीं कर सकती। दान-माहात्म्य में बताया गया है कि उत्तम शर्कराचल के दान से विष्णु सूर्य रुद्रादि सदा तुष्ट होते हैं— 'अथात सम्प्रवक्ष्यामि शर्कराचलमुत्तमम्। यस्य प्रदानाद् विष्ण्वर्करुद्रास्तुष्यन्ति सर्वदा ॥ १३९ ॥

> आस्ये या तव भारती वसति तल्लीलारविन्दोल्लस-
> द्वासे तत्कलवेणनिक्वणमिलद्वाणीविलासामृते।
> तत्केलिभ्रमणार्हगैरिकसुधानिर्माणहर्म्याधरे
> तन्मुक्तामणिहार एष किमयं दन्तस्रजो राजते ? ॥ १४० ॥

जीवातु—आस्य इति। हे प्रिये! तस्या भारत्या लीलारविन्दस्य हस्ते स्थितस्य क्रीडाकमलस्य, उल्लसन प्रसरन्, वास गन्ध यस्मिन् तादृशे, पद्मिनीत्वात् पद्मतुल्यपरिमले इति भाव। तथा तस्या भारत्या एव, कल मधुरास्फुट, य वेण वीणासम्बन्धी निक्वण नाद, तद्रूप मिलत् सम्बध्यमानम् वाणीविलास एव वक्रोक्त्यादिनानाविधवाग्विभ्रमेवेत्यर्थ। अमृत पीयूष यस्मिन तादृशे, तथा तस्या भारत्या एव केलिभ्रमणार्ह लीलया गमनयोग्यम् गैरिकेण स्वर्णवर्णधातुविशेषेण, रञ्जितया इति शेष। सुधया धवलतामापनचूर्णद्रव्येण निर्माण चित्रादिरचना यत्र तादृशम्, यत् हर्म्यं गृहम तदेव अधरः रदनच्छद यस्मिन तादृशे, तव भवत्या, आस्ये वदने, या भारती सरस्वती, वसति तिष्ठति, तत्स्रजो तव आस्य पुरो दृश्यमाने य द्वे दन्तमाले, राजते शोभते तद्रूप अयं पुर दृश्यमान, तस्या भारत्या, मुक्तामणिहार मुक्तामणिखचित हार मुक्तामणिखचित हार एव, किम्? तद्वत् रेजाते इत्यर्थ। सरस्वतीवीणाक्वणिततुल्या तव वाणी इति भाव। अत्र वाणीवर्णनं प्रस्तुतम 'अप्रस्तुत प्रासङ्गिकम्'। पद्मगन्धादिभि मुखे भारतीवास अनुमीयते ।

अन्वयः—तल्लीलारविन्दोल्लसद्वासे तत्कलवैणनिक्वणमिलद्वाणीविलासामृते तत्केलिभ्रमणार्हगैरिकसुधानिर्माणहर्म्याधरे तव आस्ये या भारती वसति, अयं तन्मुक्तामणिहारः एव किं दन्तस्रजौ राजतः ?

हिन्दी—उस (भारती-सरस्वती) के हस्तस्थित क्रीडाकमल की सुगन्ध जिससे प्रसार पा रही है, उस (भारती) के मधुर-मन्द-वीणा घोष के सदृश वाणी-विलास (वचनावली)-रूप अमृत से जो पूर्ण है। उस (भारती) की क्रीडा से संबद्ध भ्रमण (यातायात) के योग्य गेरू और चूने से जिसमें चित्रादि बने हे, ऐसे हर्म्य (घर, अंतःपुरवास, हरम)-रूप अधर जिसमें हैं, ऐसे तेरे (दमयंती) के मुख में जो सरस्वती (वाणी) निवास करती है, यह उस (भारती) का मोतियों का हार ही क्या (तेरी) दो दन्त पंक्तियाँ सुशोभित है ?

टिप्पणी—मुख्यतया यहाँ वाणी-वर्णन हे, अन्य प्रसंगत. आ गया है। दमयंती पद्मिनी है, उसके मुख से पद्म-गंध प्रसार पाता है, जिससे पद्महस्ता भारती के वहाँ वास का अनुमान होता । दमयन्ती की वाणी अमृतसम मधुर और सरस्वती के वीणा-घोष-सी मृदु-मन्द्र है, लगता है दमयंती की वाणी क्या है, मुखस्थिता सरस्वती की वीणा से मृदु, मधुर, मन्द्र घोष हो रहा है। दमयंती के अधर भारती के प्रासाद का हर्म्य हे, जिसका उज्ज्वल गैरिकवर्ण अत्यंत मनोहर है, दमयंती की दन्तावली भारती की ग्रीवा में पड़ी मुक्तामाल है। आशय यही है कि दमयन्ती की वाणी वीणा-घोष-सी मृदु-मधुर है ॥१४० ॥

> वाणी मन्मथतीर्थमुज्ज्वलरसस्रोतस्वती काऽपि ते
> खण्डः खण्ड इतीदमीयपुलिनस्यालप्यते वालुका।
> एतत्तीरमृदैव किं विरचिताः पूनाः सिताश्चक्रिकाः ?
> किं पीयूषमिदम्पयांसि ? किमिदंतीरे तवैवाधरौ ? ॥ १४१ ॥

जीवातु—वाणीति। हे प्रिये ! ते तव, वाणी वाक्, का अपि वर्णयितुम् अशक्यत्वात् लोकोत्तरा इत्यर्थः। अथ च अनिर्दिष्टनामा, उज्ज्वलरसस्रोतस्वती शृङ्गाररससम्बन्धिनी नदी, अथ च निर्मलजला नदी, अत एव मन्मथस्य कामस्य, तीर्थं योनिः, कारणमित्यर्थः। कामोद्दीपिका इति यावत्, अथ

च, तीर्थं जलावतार, नद्यामवतरणार्थं सोपानश्रेणीरयर्थः । 'तीर्थं योनौ जलावतारे च' इति हेमः । तथा खण्ड खण्ड इक्षुविकारविशेष, इदमीयस्य अस्या नद्या सम्बन्धिन, पुलिनस्य तोयोत्थिततटभागस्य । 'तोयोत्थितं तत् पुलिनम्' इत्यमरः । बालुका सिकता, इति आलप्यते गीयते, तथा पूता निर्मला, सिता शुभ्रा, चक्रिका शर्कराकृतचक्राणि, एतस्या नद्याः, तीरस्य तटस्य, मृदा एव धवलमृत्तिकया एव, विरचिता कल्पिता किम् ? तथा पीयूषम् अमृतम्, अस्या. सम्बन्धीनि पयांसि इदम्पयांसि अस्या नद्या जलानि किम् ? अस्या जलानि एव अमृतत्वेन आलप्यन्ते किम् ? तथा तव भवत्या, अधरौ ओष्ठौ एव इदन्तीरे अस्याः नद्या' उभौ तटौ, किम् । शृङ्गाररसप्रधाना कामोद्दीपिका भवद्वाणी मधुरतमा इति भाव ॥ १४१ ॥

अन्वय —ते वाणी का अपि उज्ज्वलरसस्रोतस्वती मन्मथतीर्थं, खण्ड खण्ड इदमीयपुलिनस्य बालुका—इति आलप्यते, पूता सिता चक्रिका किम् एतत्तीरमृदा एव विरचिता ? पीयूषम् इदम्पयांसि किम् ? तव अधरौ एव इदन्तीरे किम् ? ।

हिन्दी—तेरी (दमयती की) वाणी कोई अवर्णनीय, लोकोत्तर शृंगाररस के स्रोतवाली निर्मलजलमयी नदी है, अत एव काम तीर्थ (काम का कारण, कामोद्दीपक) है । (अथवा तीर्थ अर्थात् जल मे उतरने की सीढी है ।) 'खांड (शर्करा) इसके तट की बालू है'—ऐसा कहा जाता है । पवित्र निर्मल मिसरी के थाले (थाली के आकार की मिसरी) क्या इस के तट की मिट्टी से ही बनाये गये हैं ? अमृत इसका जल ही है क्या ? तेरे (दमयती के) अधर ही क्या इसके तट हैं ?

टिप्पणी—दमयन्ती की मीठी मीठी वाणी शृंगाररसमयी और कामोद्दीपिका है—यह भाव है । इसीसे उसे शृंगाररस स्रोत कामतीर्थ कहा गया, उसकी बालू को शक्कर, माटी को मिसरी का थाला कहा गया और दमयन्ती अधरों के उस नदी के किनारे, जिनके मध्य वाणी सरित् बहती है । श्लोक-संख्या १३६—१४१ मे शार्दूलविक्रीडितछंद है ॥ १४१ ॥

परभृतयुवतीनां सम्यगायाति गातुं
न तव तरुणि ! वाणीयं सुधासिन्धुवेणी ।
कति न रसिककण्ठे कर्तुमभ्यस्यतेऽसौ
भवदुपविपिनाम्रे ताभिराम्रेडितेन ? ॥ १४२ ॥

जीवातु—परेति । तरुणि ! हे प्रादुर्भूतयौवने ! सुधासिन्धोः अमृतसागरस्य वेणी प्रवाहरूपा, तव भवत्याः, इयम् उच्चार्यमाणा, वाणी वाक्, परभृतयुवतीनां कोकिलवधूनाम्, सम्यक् उत्तमं यथा तथा, गातुं भाषितुम्, न आयाति न आगच्छति, कोकिलाऽपि ईदृशसुमधुरस्वराभावात् तवाग्रे गातुं लज्जते इति भावः । अतः ताभिः कोकिलाभिः, भवत्याः तव, उपविपिने, उपवने, यः आम्रः आम्रवृक्षः तस्मिन्, स्थित्वा इति शेषः । असौ त्वद्वाणी, रसिके अतिमधुरे, रसालाङ्कुरास्वादेन इति भावः । अथ च ममापि ईदृशी वाणी भवतु एवं साभिलाषे, कण्ठे गलदेशे, कण्ठध्वनौ इत्यर्थः । कर्तुं विधातुम्, कण्ठस्थां कर्तुमित्यर्थः । आम्रेडितेन द्विस्त्रिवारमुक्तेन, पुनः पुनर्घोषणेन इत्यर्थः । 'आम्रेडितं द्विस्त्रिरुक्तम्' इत्यमरः । कति कियत्, वारान्, न अभ्यस्यते ? न शिक्ष्यते ? अपि तु बहुवारम् अभ्यस्यते एव, तथाऽपि अद्यापि तासां भवद्वाणी सम्यक् न आयाति इति ज्ञायते इति भावः । कोकिलालापात् अपि त्वद्वाणी मधुरतमा इति निष्कर्षः । गुरुगृहे ब्रह्मचर्यावलम्बनपूर्वकं विद्याभ्यासस्य शास्त्रीयत्वात् परभृतपदम्, तथा पुमपेक्षया स्त्रीणां विशेषतः तरुणीनां कण्ठस्वरं मधुरम् इति सूचनार्थं युवतीपदं प्रयुक्तमिति बोध्यम् ॥ १४२ ॥

अन्वयः—तरुणि, सुधासिन्धुवेणी तव इयं वाणी परभृतयुवतीनां सम्यक् गातुं न आयाति, ताभिः भवदुपविपिनाम्रे असौ रसिककण्ठे कर्तुम् आम्रेडितेन कति न अभ्यस्यते ?

हिन्दी— हे तारुण्यशालिनि (दमयन्ती), अमृत-सागर की प्रवाहिणी-सी तेरी यह वाणी कोकिलाओं द्वारा भी ठीक-से नहीं गायी जाती; वे आप (दमयंती) के उपवनस्थित आम्रवृक्ष पर (अपने) इस भरे कंठों में उसे (वाणी) को करने के लिए (कण्ठस्थ करने के लिए) आम्रेडित (दो-दो तीन-तीन बार बोलकर) द्वारा कितना अभ्यास नहीं करती हैं ? (प्रचुर अभ्यास करती हैं ।)

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयन्ती की वाणी कोकिलाओं के मधुकलरव से भी कहीं अधिक मधुर है। कोकिलाएँ चाहती हैं कि उनका स्वर भी वैसा ही हो सके। वे दमयन्ती के उपवन में आम के वृक्ष पर जाकर बैठती हैं और अनेक बार बोल-बोलकर दमयन्ती वाणी का अभ्यास करती हैं कि प्रचुर अभ्यास-द्वारा वे अपनी वाणी दमयन्ती वाणी के सदृश बना लें, परन्तु यह हो नहीं पाता। आम्र रसाल है, अतः उस पर बैठकर स्वराभ्यास कदाचित् फलदायक हो, इसलिए वे दमयन्ती की वाटिका के रसालतरु पर अपना अभ्यास निरन्तर करती हैं, पर निष्फल। इसका कारण यही है कि दमयन्ती की वाणी लोकोत्तर है। उसके सदृश कोई वाणी हो ही नहीं सकती। नारायण के अनुसार यहाँ 'कोकिल' के लिए 'परभृत' प्रयोग इसलिए कि उनका अभ्यास सुकर हो, पर-भृत अर्थात् भिक्षाटनजीवी, भिक्षाटन में विद्याभ्यास सुकर होता है। मालिनीछंद ॥ १४२ ॥

ऊर्ध्वं ते रदनच्छदः स्मरधनुर्बन्धूकमालामयं
मौर्वी तत्र तवाधराधरतटाध सीमलेखालता।
एषा वागपि तावकी ननु धनुर्वेदः प्रिये! मान्मथः
सोऽयं कोणधनुष्मतीभिरुचितं वीणाभिराराभ्यते॥ १४३ ॥

जीवातु-ऊर्ध्वं इति। हे प्रिये? ते तव, ऊर्ध्वं, उपरिस्थितः, रदनच्छदः ओष्ठः उत्तरोष्ठ एवेत्यर्थः। बन्धूकमालामयं बन्धुजीवपुष्पमालात्मकम्, स्मरधनुः कामकार्मुकम्, ईषद्वक्राकारत्वादिति भावः। तथा तत्र कामचापे, तव मदस्याः, अधराधरतटस्य निम्नोष्ठदेशस्य, अध सीमायां निम्नस्थमर्यादायाम्, प्रान्तदेशे इत्यर्थः। या लेखालता वीरुदाकाररेखाविशेष इत्यर्थः। दैर्घ्यादिति भावः। सा एव मौर्वी ज्या, एषा श्रूयमाणा, तावकी तव सम्बन्धिनी, वाक् वाणी अपि, ननु निश्चये मान्मथः काममम्बन्धी, कामाद्वैतप्रतिपादक इत्यर्थः, धनुर्वेदः, सः विदितः, अयं त्वद्वाणीरूप मान्मथधनुर्वेदः कोणधनुष्मतीभिः वीणावादनसाधनधनुर्युक्ताभिः। 'कोणो वीणादिवादनम्' इत्यमरः। वीणाभिः वल्लकीभिः, आराभ्यते अभ्यस्यते, इति उचितं युक्तम्, परम् अद्यापि आयाति इति भावः। त्वद्वाणी वीणाक्वणितात् अपि मधुरतमा इति निष्कर्षः धनुर्वेदश्च धनुर्धरैः। एव अभ्यस्यते, इति

एतद् उचितं, परन्तु यत् स्वत एव न आयाति तदागमनार्थम् अभ्यासः उचित एव इति तात्पर्यम् ॥ १४३ ॥

अन्वयः—प्रिये, ते ऊर्ध्वः रदनच्छदः बन्धूकमालामयं स्मरधनुः, तत्र तव अधराधरतटाध-सीमलेखालता मौर्वी, एषा तावकी वाक् अपि ननु मान्मथः धनुर्वेदः, सः अयं कोणवनुष्मतीभिः वीणाभिः उचितम् आरभ्यते।

हिन्दी—हे प्रिये (दमयन्ति), तेरा ऊपर का ओठ बन्धूक पुष्पों (दोपहरिया के फूलों) की माला से रचित काम-धनुष् है, उस (काम-धनुष्) पर तेरे (दमयन्ती के) नीचे के ओष्ठ-प्रदेश की जो निचली सीमा-रेखा-रूपा-लता है, वही पत्यंचा है; यह तेरी वाणी भी निश्चयतः काम से संबद्ध धनुर्वेद है, मिजराव-रूप धनुष् को धारती वीणाएँ उसका ठीक ही अभ्यास कर रही हैं।

टिप्पणी—यहाँ दमयन्ती के ऊपर के ओठ को काम का धनुष् बताया गया है, जिस पर अधर (निम्नोष्ठ) की सीमा के नीचे की रेखा आरोपित डोरी—'ज्या' है। जब दोनों ओठ चढ़ा धनुष् है तो उस ओष्ठ-चाप के मध्य से प्रसरित होने वाली वाणी काम का धनुर्वेद है (अर्थात् दमयन्ती के मधुराधरोष्ठों से निःसृत वाणी श्रोता को काम का लक्ष्य बना डालती है)। ऐसी मनोहारिणी, धनुर्वेद-रूपा वाणी का अभ्यास करती हैं वीणाएँ मिजराव-रूपी धनुष् ले-लेकर कि वे भी वैसी ही मनोहारिणी बन सकें। अभी बेचारी वीणाएँ अभ्यास ही कर रही है, करती आ रही हैं, किन्तु अभ्यास हो नहीं पाया। आशय यह कि दमयन्ती की वाणी वीणापेक्षया मधुर है ॥ १४३ ॥

स ग्राम्यः स विदग्धसंसदि सदा गच्छत्यपाङ्क्तेयतां
तच्च स्प्रष्टुमपि स्मरस्य विशिखा मुग्धे ! विमानोन्मुखाः।
यः किं मध्विति नाधरं तव कथं हेमेनि न त्वद्वपुः
कीदृङ्नाम सुधेति पृच्छति न ते दत्ते गिरं चोत्तरम् ॥१४४॥

जीवातु—स इति। मुग्धे ! हे सुन्दरि ! यः पुरुषः, मधु क्षौद्रम्, मद्यं वा, किम् ? कीदृशम् ? इति एवम्, पृच्छति प्रश्नं कुर्वाणे जने विषये, तव ते, अधरम् निम्नोष्ठम् एव, उत्तरं मधु इति प्रतिवचनम्, न दत्ते न विदधाति, सः ग्राम्यः पामरः, अचतुरः, इत्यर्थः। न तु तव नगरनिवासयोग्यः इति भावः।

'ग्रामात् यखञौ' इति भवार्थे ख. । तथा हेम कनकम्, कथम्, ? किंप्रकारकम् ? इति पृच्छति जने च त्वद्वपु: तव शरीरम्, इति उत्तरं न दत्ते, सः जनः, विदग्धानां चतुराणाम्, संसदि सभायाम्, सदा सर्वकालम्, अपाङ्क्तेयता पङ्क्तिबहिर्भूतत्वम्, याति गच्छति, तेषां पङ्क्तौ न उपवेष्टुमर्हति अचतुरत्वात् इति भावः। पाङ्क्तेयः इति मद्यादित्वात् ढक्। तथा सुधा नाम पीयूषस्य द्रव्यम्, कीदृक् ? कीदृशम् ? इति पृच्छति जने, यश्च ते तव, गिरं वाचम्, इति उत्तरं न दत्ते, स्मरस्य कामस्य, विशिखाः बाणाः, तञ्च पुरुषम्, स्प्रष्टुम् अपि स्पर्शं कर्तुमपि, विगानोन्मुखाः विगर्हमाणप्रवणाः, 'नीरसः अयम्' इति घृणया तं स्प्रष्टुमपि न कृतोद्यमा. इत्यर्थः । त्वद्वाणी सुधाया अपि मधुरतमा इति भावः । अधरादिवर्णनं तु प्रासङ्गिकम् ॥ १४४ ॥

अन्वयः—मुग्धे, यः मधु किम् इति पृच्छति तव अधरम् इति उत्तरं न दत्ते, हेम कथम् इति (पृच्छति) त्वद्वपुः (इति उत्तरं न दत्ते) सुधा च कीदृङ्नाम इति (पृच्छति) ते गिरम् (इति उत्तरं न दत्ते), सः ग्राम्यः, सः विदग्धसंसदि सदा अपाङ्क्तेयतां गच्छति, स्मरस्य विशिखाः तं च स्प्रष्टुम् अपि विगानोन्मुखाः।

हिन्दी—हे मोहिनी, जो पुरुष 'मधु (शहद या शराब) क्या है'—यह पूछे जाने पर 'तेरा (दमयन्ती का) अधर'—यह उत्तर नहीं देता, वह गँवार है, 'सोना कैसा होता है'—यह पूछे जाने पर 'तेरा शरीर'—यह नहीं कहता, वह विद्वत्सभा में सभा में सदा पंक्ति से बाहर हो जाता है, और जो 'सुधा (अमृत) किसको कहते हैं (कैसी होती है)'—यह पूछे जाने पर 'तेरी वाणी'—यह उत्तर नहीं देता, काम के बाण उसे छूने में भी निरादर प्रस्तुत हो जाते हैं, उसे प्रभावित करने की तो बात क्या? (अथवा—आकांक्षित, उचित उत्तरों को न देने वाला पुरुष गवार है, विद्वत्परिषद् में कभी स्थान पाने योग्य नहीं और काम बाणों द्वारा छूने योग्य तक नहीं है)।

टिप्पणी—यहाँ प्रमुख रूप से दमयन्ती-वाणी को सुधा-सम कहना अपेक्षित है, प्रसगत. अधर को मधु समान और देह को हेम-तुल्य कह दिया गया। ये तीनों तथ्य इतने 'सामान्य-ज्ञान' हैं कि प्रत्येक पुरुष से इनका ज्ञान

अपेक्षित है। जो यह भी नहीं जानता, वह गँवार, विद्वानों की सभा में बैठने के अयोग्य और काम-रस से अनभिज्ञ अर्थात् नितांत नीरस है। श्लोक-संख्या १४३—१४४ का छंद शार्दूलविक्रीडित ॥ १४४ ॥

मध्ये बद्धाणिमा यत् सगरिममहिमश्रोणिवक्षोजयुग्मा
जाग्रच्चेतोवशित्वा स्मितधृतलघिमा मां प्रतीशित्वमेषि।
सूक्तौ प्राकाम्यरम्या दिशि विदिशि यशोलब्धकामावसाया
भूतैरष्टावपीशस्तददित मुदितः स्वस्य शिल्पाय तुभ्यम् ॥१४५॥

जीवातु—मध्य इति। हे प्रिये ! त्वं यत् यस्मात् हेतोः, मध्ये उदरप्रदेशे, बद्धः धृतः, अणिमा सौक्ष्म्यातिशयो यया सा तादृशी कृशोदरी। तथा गरिम-महिमभ्यां गुरुत्वमहत्वाभ्यां सह वर्त्तमानम्, श्रोणिः नितम्बः, वक्षोजयुग्मं स्तन-युगलञ्च यस्याः सा तादृशी गुरुस्थूलनितम्बा पीनोन्नतकुचा च। तथा जाग्रत्, स्फुरत्, उद्बुध्यमानमित्यर्थः। चेतसि मनसि, वशः इन्द्रियाणां स्वाधीनत्वम्, तदस्यास्तीति वशी तद्भावो वशित्वं जितेन्द्रियता यस्याः सा तादृशी पतिव्रता। तथा स्मिते ईषद्धास्येऽपि, धृतः आश्रितः, लघिमा अल्पत्वं यया सा तादृशी अल्पहासेत्यर्थः। अणिमादौ गुणवचनत्वादिमनिच्। तथा मां नलम्, प्रति उद्दिश्य, ईशनमीशः ऐश्वर्यम्, तदस्यास्तीति ऐशी तद्भावः ईशित्वं स्वामित्वम्, एषि गच्छसि, मम प्राणानामीश्वरी भवसीत्यर्थः। तथा सूक्तौ वचनचातुर्य-विषये, प्राकाम्येण प्रकारबाहुल्येन, रम्या रमणीया, वक्रोक्त्यादिनानाप्रकारां वाणीं वक्तुं त्वमेव जानासि नान्या इति भावः। तथा दिशि प्राच्यादौ, विदिशि आग्नेयादौ च, यशसः सौन्दर्यादिविषयककीर्त्तेः, यशसा वा कृत्वा, लब्धः प्राप्तः, कामं यथेष्टं यथा तथा, अवसायः अप्रतिहतप्रसरा गतिर्यया सा तादृशी त्रैलोक्यप्रसरकीर्तिः असीति शेषः। तत् तस्मात् कारणात्, मुदितो हृष्टः, त्वां निर्माय सौन्दर्यादिना परितुष्ट इत्यर्थः। ईशः, ईश्वरः, अद्यापि अष्टसङ्ख्यका अपि, भूतीः ऐश्वर्याणि, स्वकीयाः अणिमादीः महासिद्धीरित्यर्थः स्वस्य आत्मनः, शिल्पाय कारवे, तुभ्यं भवत्यै, त्वद्रूपाय निजनिर्माणाय इत्यर्थः। अदित प्राय-च्छत्। यथा सन्तुष्टो हि पित्रादिः अपत्यादिभ्यः स्वकीयमैश्वर्यादिकं प्रददाति, तथेश्वरेण सन्तुष्टेन स्वकीयम् 'अणिमा महिमा गरिमा लघिमा वशित्वमीशित्वं

प्राकाम्य कामावसायिता च' इत्येवमष्टविधमैश्वर्यं तुभ्यं दत्तम्, अन्यथा एतत् सर्वं त्वयि कथं स्यादिति भाव.। अत्र वाणीवर्णनम् एव प्रस्तुत मध्यादिवर्णनं प्रासङ्गिकम् ।। १४५ ।।

अन्वय.—यत् मध्ये बद्धाणिमा, सगरिममहिमश्रोणिवक्षोजयुग्मा, आप्तचेतोवशित्वा, स्मितधृतलघिमा, मा प्रति ईशित्वम् एपि, सूक्तौ प्राकाम्यरम्या, दिशि विदिशि यशोलब्धकामावसाया सत् मुदित: ईश, अष्टौ अपि भूती स्वस्य शिल्पाय तुभ्यम् अदित ।

हिन्दी—(नल ने कहा)—क्योंकि (तू दमयन्ती) मध्य में 'अणिमा' को बाँधे है (कृशोदरी है), 'गरिमा' 'महिमा'—सहित नितंब और उरोजद्वय-धारिणी है, चित्त में 'वशित्व' को जमाये रहती है (मन-इन्द्रियों को अपने वश में रखती है), 'लघिमा' का मुसकान मे धारे हैं, 'ईशित्व' को लेकर मेरे (नल के) प्रति गमन करती है (नल की प्राणों की ईश्वरी है), 'प्राकाम्य' को वचन-चातुरी में युक्त किये है (वक्रोक्ति की नाना प्रकार की रमणीयता को जानती है), 'कामावसाय' को दिशा-विदिशाओं (प्राची-आग्नेयादि) में यश द्वारा प्राप्त कर चुकी है (सब ओर सर्वत्र रूप-गुण आदि की कीर्ति का प्रसार है। अत प्रसन्न जगदीश्वर ने आठों ही भूतियों (अष्ट सिद्धियों) अपनी (जगदीश्वर की) शिल्प (कारीगरी) तुझे (दमयन्ती को) दे डाली ।

टिप्पणी—यहाँ भी प्रमुख वाणी-वैशिष्ट्य-वर्णन है—'सूक्तौ प्राकाम्यरम्या', प्रसगतः 'अन्य' भी कह दिया गया । आशय यही है कि दमयन्ती ने 'सर्जनहार' ने (१) अणिमा (अणु-सम छोटा अर्थात् अदृश्य हो जाने-कर देने की क्षमता), (२) महिमा (देह के यथेच्छ विस्तार की क्षमता), (३) गरिमा (देह-भार बढ़ा लेने की क्षमता), (४) लघिमा (यथेच्छ हलका हो जाने की शक्ति), (५) वशित्व (सम्मोहन और वश मे करने की शक्ति), (६) ईशित्व (प्रभुता की क्षमता), (७) प्राकाम्य (यथेष्टता) और (८) कामावसायिता (सत्य सकल्प, इच्छामात्र से सर्वत्र गति)—ये आठों सिद्धियाँ दी हैं और ईश्वर की अनुपम कारीगरी दमयन्ती इसके योग्य भी थी, क्योंकि उसने इस अधिकार को पाने की पात्रता सर्वथा प्रकट कर दी थी। उसका कृश-उदर

'अणिमा'—प्राप्ति का अधिकार प्रकट कर रहा था, अपने को अत्यन्त सूक्ष्म अदृश्य-तुल्य प्रकट कर, बड़े-बड़े नितंब 'महिमा' का अधिकार प्रकट कर रहे थे और पीनपयोधर 'गरिमा' का। मन्द मुसकान 'लघिमा' प्राप्ति का, वशीभूत मन-इंद्रियाँ 'वशित्व'—प्राप्ति का और नल की प्राणेश्वरी होना 'ईशित्व' का। वाणी में वक्रोक्ति—चातुरी की नानाविधता 'प्राकाम्य' का तथा रूप, सौंदर्य, गुणादि की दिशा-विदिशाओं में फैली प्रचुर कीर्ति 'कामावसायिता' की प्राप्ति का अधिकार प्रकट कर रही थी। अतः संतुष्ट ईश ने अधिकारिणी दमयन्ती पर संतुष्ट हो आठों सिद्धियाँ प्रसन्नतापूर्वक उसे दे डालीं। उनकी सबसे अच्छी कारीगरी जो है वह। कृशोदरी, विशाल नितंबा, पीनपयोधरा, मंदस्मिता, जितेन्द्रिय-जता, नलप्राणेशा, सूक्तिविदग्धा और यशस्विनी। ये सब गुण पहिले से ही दमयन्ती में थे, अष्टसिद्धियाँ प्राप्त होने पर तो कहना ही क्या है। स्रग्धरा छन्द ॥ १४५ ॥

> त्वद्वाचः स्तुतये वयं न पटवः पीयूषमेव स्तुम-
> स्तस्यार्थे गरुडामरेन्द्रसमरः स्थाने स जानेऽजनि।
> द्राक्षापानकमानमर्दनसृजा क्षीरे दृढावज्ञया
> यस्मिन्नाम धृतोऽनया निजपदप्रक्षालनानुग्रहः ॥ १४६ ॥

जीवातु—त्वदिति। हे प्रिये! वयं नलादयः त्वद्वाचः तव सुमधुरवाण्याः, स्तुतये प्रशंसायै, न पटवः न समर्थाः, तस्मात् पीयूषम् अमृतमेव, स्तुमः प्रशंसां कुर्मः, तस्य पीयूषस्य, अर्थे निमित्तम्, सः पुराणादिप्रसिद्धः, गरुडस्य वैनतेयस्य, अमरेन्द्रस्य देवेन्द्रस्य च, समरः युद्धम्, अजनि जातः, तत् स्थाने युक्तम्, जाने इत्यहं मन्ये। द्राक्षापानकस्य पक्वद्राक्षारसघटितः संस्कृतपानीयविशेषस्य, मानोऽहङ्कारः, माधुर्यातिशयरूप इति भावः। तस्य मर्दनं खण्डनम्, सृजति विदधातीति तादृशया, तथा क्षीरे दुग्धे विषये, दृढा निश्चला, अन्येन त्याजयितुम् अशक्या इत्यर्थः। अवज्ञा अनादरः यस्याः तादृशया, अनया तव वाण्या, यस्मिन्नमृते, निजपदयोः स्वचरणयोः, प्रक्षालनेनैव शोधनेनैव, अनुग्रहः प्रसादः, धृतः कृतः, नाम सम्भावनायाम्, इति सम्भावयामीत्यर्थः। अथ च यस्मिन् पीयूषे भवद्वाक्यभूतया वाण्या, स्वीयसुप्तिङन्तरूपाणां पदानां प्रक्षालनात् अनु-

पदचाम्, ग्रहणं ग्रह०, छतोऽस्त्येव, अमृतक्षालिततयैव निर्दोषं मधुरञ्च वदसी-
त्यर्थ. । द्राक्षापानकक्षीरपीयूषादपि त्वद्वाणी मधुरतमा इति भावः । प्रभोर्यं-
र्स्मिन्ननुग्रहातिशयः स एव प्रभोः चरणक्षालनादिक यथा करोति तद्वत् इति
बोध्यम् ॥ १४६ ॥

अन्वय—वयं त्वद्वाचः स्तुतये पटवः न पीयूषम् एव स्तुमः, तस्य अर्थे
स. गरुडामरेन्द्रसमरः स्थाने अजनि—जाने; नाम द्राक्षापानकमानमर्दनमृजा
क्षीरे हठावज्ञया अनया यस्मिन् निजपदप्रक्षालनानुग्रहः धृतः ।

हिन्दी—हम (नलादि) तेरी (दमयन्ती की) वाणी के स्तवन में समर्थ नहीं
हैं, (अतएव) अमृत की ही स्तुति करते हैं । उस (अमृत) के लिए वह (प्रसिद्ध)
गरुड और देवराज का युद्ध ठीक ही हुआ था—मैं यह समझता हूँ, क्योंकि
द्राक्षा (अंगूर)–रस के पेय का अहङ्कार मिटानेवाली और दूध के विषय में
हठ अनादर प्रकट करने वाली इस (दमयन्ती वाक्) ने जिस (अमृत) में
अपने सुप् तिङन्त पद-रूप पदों (चरणों) को धोने की कृपा की थी । (और
पद-प्रक्षालनार्थ ही अमृत–ग्रहण किया था ।)

टिप्पणी—यहाँ कहा गया है कि दमयन्ती की वाणी अमृत की अपेक्षा
कहीं मधुर है, क्योंकि उस वाणी ने अमृत ग्रहण तो केवल अपने पद प्रक्षा-
लनार्थ ही किया था (दमयन्ती जब बोलती है तो शब्दों से अमृत झरता है,
वे शब्द—पद अमृत से धुले जो होते हैं ।), यद्यपि अमृत इतना महत्त्वपूर्ण है
कि उसके निमित्त वैनतेय गरुड (हरिवाहन) और देवराज इन्द्र के मध्य युद्ध
हुआ था—यह पुराणोक्त कथा है, तथापि दमयन्ती–वाणी ने उसका उपयोग
पद-प्रक्षालन में ही किया । जहाँ तक द्राक्षारस और दुग्ध का प्रश्न है, वे तो
नगण्य हैं, द्राक्षारस को तो यह वाणी सुन कोई पूछेगा भी नहीं, उसका तो
अहङ्कार वाणी ने कई बार नष्ट किया है, दूध पर तो कोई दृष्टि भी नहीं
डालेगा, वह वाणी द्वारा नितांत अनादृत है । नलादि बेचारे तो वाणी-स्तवन
में समर्थ ही नहीं हैं, सो वे उससे कहीं निम्न अमृत की ही स्तुति करके
सन्तोष पा लेते हैं । वाणी की स्तुति न कर सके, चलो उसके पद-प्रक्षालन
साधन की ही स्तुति कर ली । यह भी संकेतित है कि गरुड देवराज-युद्ध भी

अमृतार्य इसी कारण हुआ था कि दमयन्ती-वाक् के पद-प्रक्षालन से वह अमृत महत्त्वपूर्ण बन चुका था। आशय यही है कि दूध, अंगूर के पेय और अमृत-तीनों से दमयन्ती-वाणी कहीं उत्कृष्ट है॥ १४६॥

> शोकश्चेत् कोकयोस्त्वां सुदति ! तुदति तद्व्याहराज्ञाकरस्ते
> गत्वा कुल्यामनस्तं व्रजितुमनुनये भानुमेतज्जलस्यम्।
> बद्धे यद्यञ्जलावप्यनुनयविमुखः स्यान्मयेकग्रहोऽयं
> दत्त्वैताभ्यां तदम्भोऽञ्जलिमिह भवतीं पश्य मामेष्यमाणम्॥१४७॥

जीवातु—शोक इति। सुदति ! हे शोभनदन्ते दमयन्ति ! कोकयोः चक्रवाकयोः, शोकः विरहजनितशुक्, त्वां भवतीम्, तुदति पीडयति, चेत् यदि, तत् तदा, व्याहर ब्रूहि, ते तव, आज्ञाकारः आदेशपालकः, अहमिति शेषः। कुल्यां क्षुद्रकृत्रिमसरितम्, गत्वा प्राप्य, एतस्याः कुल्यायाः, जलस्थं जले प्रतिबिम्बितम्, भानुं सूर्यम्, अनस्तम् अस्तगमनाभावम्, व्रजितुं प्राप्तम्, अस्ताचलगमनाभिप्रायं परित्यक्तुमित्यर्थः। अनुनये विनयेन अभ्यर्थये, त्वयि अस्तमिते कोकयोरन्योऽन्य वियोगः अवश्यम्भावी, अतो नास्तं व्रज इति सविनयं प्रार्थये इत्यर्थः। यदि चेत्, मया नलेन, अञ्जलौ करद्वयसंयोगे, बद्धे कृतेऽपि, एकः एकमात्रः, ग्रहः अभिनिवेशः यस्य सः तादृशः एकग्रहः एकमात्रविषये दृढनिर्बन्धपरः, निजनिर्बन्धापरित्यागीत्यर्थः। चन्द्रादिषु मुख्यग्रहश्च। 'निर्बन्धोपरागार्कादयो ग्रहाः' इत्यमरः। अयं भानुः, अनुनयविमुखः विनीतप्रार्थनायामपि पराङ्मुखः, स्यात् भवेत्, एकग्रहत्वात् मम प्रार्थनामगणयित्वा यदि अस्तमेव व्रजेदित्यर्थः। तत् तर्हि, इह अस्मिन् सायंकाले, अम्भसः जलस्य, अञ्जलिं गण्डूषम्, आभ्यां कोकाभ्यामेव, दत्त्वा प्रदाय, अनुनयाग्राहिणे सूर्याय न दत्त्वा कोकाभ्यामेव शिक्षा इत्यर्थः। भवतीं त्वां प्रति, एष्यमाणं पुनः प्रत्यागमिष्यन्तम्। ईङ् गतावित्यस्य लृटः शानचि रूपम्। मां नलम्, पश्य अवलोकय। सायंसन्ध्योपासनानिमित्तं भङ्ग्या वहिर्गमनाभ्यनुज्ञां याचितवान् इति भावः॥ १४७॥

अन्वयः—सुदति, कोकयोः शोकः त्वां तुदति चेत् तत् व्याहर, ते आज्ञाकरः कुल्यां गत्वा एतज्जलस्थं भानुम् अनस्तं व्रजितुम् अनुनये; यदि मया

अञ्जलौ बद्धौ अपि एकग्रह अयम् अनुनयविमुख स्यात्, तत् इह सम्भोऽञ्जलिम् आभ्याम् एव दत्त्वा भवतीम् एष्यमाण मा पश्य॥

हिन्दी—हे सुन्दर दाँतोवाली (दमयन्ती)! यदि चकवई चकवो के वियोग का शोक तुझे पीडा दे रहा है, तो तेरी आज्ञा का पालक (मैं नल) क्रीडा-सरित् पर जाकर इस (क्रीडा नदी) के जल मे (प्रतिबिम्ब रूप मे) स्थित सूर्य से अस्ताचल न जाने की प्रार्थना कर, और यदि मेरे अञ्जलि बद्ध (दोनो जोडकर अनुनय करने पर भी) होने पर भी जिद्दी (जो करना निश्चित कर लिया, कर लिया, अयुक्त निश्चय पर भी दृढ) प्रमुख ग्रह यह (सूर्य) अनुनय (नल की प्रार्थना) पर ध्यान न दे तो इस सध्या के समय (उसे समर्पित की जानेवाली जलाञ्जलि इन (चकवाकदम्पती) को ही देकर अपने (दमयन्ती के) समीप आते हुए मुझे (नल को) आप (दमयन्ती) देखें।

टिप्पणी—श्लोक सख्या १३०–१३४ मे दमयन्ती ने चक्रवाक युग्म के विरह पर गहरा दुःख व्यक्त किया था, नल ने उससे सहानुभूति प्रकट करते हुए दमयन्ती को आश्वस्त करने के निमित्त कहा कि कोक युगल का विरह सूर्यास्त होने से होगा, अत वह सूर्य से हाथ जोडकर यह विनय करेगा कि वह अस्त ही न हो, और यदि जिद्दी ग्रहराज सूर्य प्रार्थना न माने तो वह सध्याकालीन उपासना से सबद्ध जलाञ्जलि सूर्य को नही, कोक युग को ही देगा। इस प्रकार भगिमा विशेष से, एव युक्ति द्वारा सध्योपासना निमित्त जाने की अनुमति नल ने दमयन्ती से चाही। 'सुदति' सबोधन से व्यक्त होता है कि नल की इच्छा है कि दमयन्ती प्रसन्न हो, स्मिति पूर्ण हो। ॥१४७॥

> तदानन्दाय त्वत्परिहसितकन्दाय भवती
> निजालीना लीना स्थितिमिह मुहूर्त्तं मृगयताम्।
> इति व्याजात् कृत्वाऽऽलिपु वलितचित्ता सहचरी
> स्वयं सोऽयं सायन्तनविधिविधित्सुर्बहिरभूत्॥ १४८॥

जीवातु—तदिति। हे दमयन्ति! तत् तस्मात्, तथा सूर्यानुनयस्य प्रयोजनीयत्वादित्यर्थ। भवती त्वम्, त्वत्परिहसित तव परिहास एव, कन्द मूल यस्य तादृशाय, आनन्दाय प्रीत्यै, परिहासानन्द फलमित्यर्थ। इह

प्रासादे एव, निजानाम् आत्मीयानाम्; आलीनां सखीनाम्, लीनां क्वचित् गूढाम्, स्थितिम् अवस्थानम्, मुहूर्तं कञ्चित् कालम्, मृगयताम् अन्विष्यतु, इति एवम्, व्याजात् छलात्, सहचरीं दमयन्तीम्, आलिषु विषये, वलितचित्ताम् आसक्तमनस्काम्, कृत्वा विधाय, सः अयं नलः, स्वयम् आत्मना, सायन्तनं विधिं सायंसन्ध्याऽग्निहोत्रादिकृत्यम्, विधित्सुः विधातुमिच्छुः सन्, बहिः तस्मात् प्रासादात् निर्गतः, अभूत् ॥ १४८ ॥

अन्वयः—तत् भवती स्वपरिहसितकन्दाय इह निजालीनां लीनां स्थितिं मुहूर्तं मृगयताम्—इति व्याजात् सहचरीम् आलिषु वलितचित्तां कृत्वा सः अयं स्वयं सायन्तनविधिविधित्सुः बहिः अभूत् ।

हिन्दी—अतः (हे दमयन्ति) आप हास-विलास ही जिसका मूल कारण है, उस आनन्द के निमित्त यहाँ (प्रासाद में) अपनी सखियों की गूढ स्थिति का कुछ काल तक पता लगाओ (परिहासानन्द-निमित्त छिपी सखियों के स्थान का पता लगाओ)। इस बहाने से सहचारिणी (पत्नी दमयन्ती) का चित्त सखियों के प्रति करके वह यह (नल) संध्याकालीन नित्यकर्म करने का इच्छुक हो (प्रासाद से) बाहर हो गया।

टिप्पणी—चक्रवाक-युगल के विरह पर दुःखी होने की आवश्यकता नहीं, नल अभी सूर्य से इस सम्बन्ध में निवेदन करेगा और कुछ उपाय निकल आयेगा। दमयन्ती को प्रसन्न रहना चाहिए और जब हम वह सूर्य से निवेदन करके लौटे तब तक दमयन्ती अपनी उन आनन्द-विलास-परायणा सखियों का अन्वेषण करे, जो परिहास-निमित्त कहीं छिपी हैं। इस प्रकार नल ने दमयन्ती का चित्त कोक-शोक से हटाकर विलास-परायण सखियों की ओर आकृष्ट किया और स्वयं संध्योपासनादि के निमित्त प्रासाद से बाहर चला गया। शिखरिणी छंद। 'सायन्तनविधिविधित्सुः' के निर्देश से कथा-सूत्र को आगामी बाईसवें सर्ग से संबद्ध कर दिया गया, जिसका आरम्भ सायंकाल-वर्णन से होता है ॥ १४८ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।

तस्यागादयमेकविंशगणनः काव्येऽतिनव्ये कृतौ
भैमीभर्तृचरित्रवर्णनमये सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १४९ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति । भैमीभर्तुः नलस्य, यत् चरित्रं शीलम्, तद्वर्णनमये तत्कथनात्मके, काव्ये नव्ये नूतने, अत्र अस्मिन्, श्रीहर्षस्य कृतौ, एकविंशतिः गणना यस्य सः तादृशः अयं सर्गः अगात् समाप्तिं गतः । गतमन्यद् ॥ १४९ ॥

नैषधीयचरिते एकविंशः सर्गः समाप्तः

अन्वयः—पूर्वार्द्धस्य पूर्ववत् । तस्य भैमीभर्तृचरित्रवर्णनमये अतिनव्ये कृतौ काव्ये एकविंशगणनः अयं निसर्गोज्ज्वलः सर्गः अगात् ।

हिन्दी—प्रथम दो चरणों का अर्थ पूर्ववत् । उस (श्रीहर्ष) की भीमसुता (दमयन्ती) के भर्त्ता (नल) के चरित्र वर्णन से पूर्ण अत्यन्त नवीन रचना काव्य में इक्कीसवाँ यह प्रकृत्या उज्ज्वल (रसपूर्ण) सर्ग पूर्ण हुआ ॥ १४९ ॥

'नैषधीय चरित' में इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त ।

द्वाविंशः सर्गः

इदानीं पूर्वसर्गान्तरप्रस्तावितं सायंकालं वर्णयिष्यन् कविर्द्वाविंशं सर्गमुपक्रमते—

उपास्य सांध्यं विधिमन्तिमाशारागेण कान्ताधरचुम्बिचेताः।
अवासवान् सप्तमभूमिभागे भैमीधरं सौधमसौ धरेन्द्रः ॥ १ ॥

जीवातु—उपास्येति। असौ धरेन्द्रो नलः सायंसंध्याप्रान्तभवेनान्तिमाशायाः प्रतीच्या आशाया दिशो रागेण रक्तवर्णेन हेतुना कान्ताया अधरचुम्बि अधरोष्ठस्मारि चेतो यस्य तादृशः संध्यारागदर्शनैर्भैम्यधरस्मारी सन् तद्विरहासहिष्णुतया बहिरवस्थातुमशक्तो यत्र सा विद्यते तं सप्तमे भूमिभागे कक्षायां स्थितं भैम्याः धरं पर्वतरूपं सौधं हर्म्यं प्रासादस्य सप्तमीमुपकारिकामवासवान्। किं कृत्वा? सांध्यं संध्यासंबन्धिनं संध्याजपादिविधिमुपास्य कृत्वा ॥ १ ॥

अन्वयः—अन्तिमाशारागेण कान्ताधरचुम्बिचेताः असौ धरेन्द्रः सान्ध्यं विधिम् उपास्य सप्तभूमिभागे भैमीधरं सौधम् अवासवान्।

हिन्दी—पश्चिम दिशा के राग (लालिमा) के कारण प्रिया के अधर-चुंबन को चित्त में विचारता यह पृथ्वी का इन्द्र (नल) संध्याकालीन विधि को सम्पन्न कर सतमंजिले प्रासाद के सातवें खंड में स्थित भीमपुत्री की पर्वत-सी ऊँची अटारी पर जा पहुँचा।

टिप्पणी—राजा नल ने सांध्य विधि समाप्त की। पश्चिम की लालिमा ने उन्हें प्रिया के अधरों की लाली का स्मरण करा दिया और उनके चुम्बन की इच्छा लिये महाराज सतखंडे महल की अत्यंत ऊँची अट्टालिका पर प्रिया के समीप जा पहुँचे। पूर्व सर्ग के अन्त में जिसका संकेत कर दिया था, उस संध्या वर्णन से इस सर्ग का आरंभ हुआ। यह संध्या वर्णन ३–१६ श्लोकों में है। इस सर्ग में श्लोक संख्या १–१३२ तक उपजाति छंद है।

प्रत्युद्व्रजन्त्या प्रियया विमुक्तं पर्यङ्कमङ्कस्थितसज्जशय्यम् ।
अध्यास्य तामप्यधिवास्य सोऽयं सध्यामुपश्लोकयति स्म सायम् ॥२॥

जीवातु—प्रतीति । सोऽयं नलः सायंकालसम्बन्धिनी सन्ध्या रात्रिदिनसम्बन्धिन मुहूर्तं भैम्याः पुर उपश्लोकयति स्म श्लोकैः स्तौति स्म। किं कृत्वा? प्रत्युद्व्रजन्त्या सम्मुखमागच्छन्त्या प्रियया विमुक्तम् । अङ्के मध्ये स्थिता सज्जा आस्तृता शय्या तूलिका यत्र तं पर्यङ्कमध्यास्य स्वयमधिष्ठाय तां भैमीमप्यधिवास्य तत्रोपवेश्य । पर्यङ्कम्, 'अधिशीङ्—' इति कर्मत्वम् । अधिवास्य, ण्यन्ताद्वसतेर्ल्यप् । तस्य धात्वन्तरत्वात् 'उपान्वध्याङ्वस' इति कर्मत्वाप्राप्तेस्तामधिवास्येत्यत्र सामर्थ्यात्तत्रैवेति ज्ञयम् । उपश्लोकयति, 'सत्यापपाश—' इति णिच् । स्मयोगे भूते लट् ॥ २ ॥

अन्वयः—सः अयं प्रत्युद्व्रजन्त्या प्रियया विमुक्तम् अङ्कस्थितसज्जशय्यं पर्यङ्कम् अध्यास्य ताम् अपि अधिवास्य सायं सन्ध्याम् उपश्लोकयति स्म ।

हिन्दी—वह यह (नल) सम्मुख (स्वागतार्थ) आती प्रिया (दमयन्ती) द्वारा (उठकर खड़े होने से) छोड़े गये, जिस पर सुन्दर बिछावन बिछा था, ऐसे पलंग पर स्वयं बैठ और उस (प्रिया) को भी बैठा सायंकालीन सन्ध्या का वर्णन करने में प्रवृत्त हुआ ।

टिप्पणी—राजा आया, रानी ने उठकर अगवानी की और सुसज्जित, सुखदायक पर्यंक पर राजा स्वयं बैठा, प्रिया को पास बैठाया और दिन रात के सन्ध्याकाल का आगामी श्लोकों (३–१६) में वर्णन करने लगा ।। २ ।।

विलोकनेनानुगृहाण तावद्दिशं जलानामधिपस्य दारान् ।
अकालि लाक्षापयसेव येयमपूरि पङ्क्तैरिव कुङ्कुमस्य ॥ ३ ॥

जीवातु—विलोकनेनेति । हे प्रिये ! त्वं जलानामधिपस्य वरुणस्य दारान् भार्यां पश्चिमां दिशं विलोकनेनानुगृहाण कृतार्थीकुरु, तावदादौ विलोकनेनानुगृहाण, वर्णनया तु पश्चादित्यर्थः । यावच्चन्द्रोदयादिना प्राच्या रामणीयकं भवति तावत्सन्ध्यारागेण कृतरामणीयकां पश्चिमां दिशं विलोकयेति वा 'तावत्'-शब्दार्थः । जलाधिपस्य च भार्या [illegible]खिमा विलोकनादिनाऽनुग्रहीतुमर्हा भवतीत्युक्तिः । येयं पश्चिमा दिक् लाक्षापयसालक्तकरसेन कृत्वा केनाप्यक्षालीव

क्षालितेव। तथा—कुङ्कुमस्य पङ्कैः कृत्वा केनाप्यपूरीव पूरितेव। एवंविधा रक्ता दृश्यते, यतस्तस्माद्रमणीयामेतां विलोकयेत्यर्थः ॥ ३ ॥

अन्वयः—दिशं विलोकनेन तावत् जलाधिपस्य दारान् अनुगृहाण, या इयं लाक्षापयसा इव अक्षालि, कुङ्कुमस्य पङ्कैः इव अपूरि।

हिन्दी—(नल ने कहा—प्रिये,) पश्चिमा दिशा के अवलोकन द्वारा जल के राजा वरुण की भार्या (पश्चिम दिशा) पर कृपा करो, जो यह (वरुण-पत्नी) मानो लाख के पानी में धो दी गयी है, कुंकुम की कीच से जैसे लिप्त है।

टिप्पणी—लाल-लाल पश्चिम दिशा ऐसी लग रही थी, जैसे कि लाख के पानी में डुबायी गयी हो, जैसे कि कुंकुम-लेप में लिप्त कर दी गयी हो—अत्यंत लाल। राग (अनुराग की लाली) से भरी पश्चिमा दिग्वधू को देखकर कृतार्थ करने का आग्रह नल ने प्रिया से किया। एक रागिणी दूसरी रागिणी को देखे। पश्चिमा वरुण की अनुरागिणी, दमयन्ती नल की ॥ ३ ॥

उच्चैस्तरादम्बरशैलमौलेश्च्युतो रविर्गैरिकगण्डशैलः।
तस्यैव पातेन विचूर्णितस्य संध्यारजोराजिरिहोज्जिहीते ॥ ४ ॥

जीवातु—उच्चैरिति। हे प्रिये! रविरेव गैरिकाख्यधातुविशेषसम्बन्धी गण्डशैलः उच्चतरादत्युन्नतादम्बरशैलस्य गगनगिरेर्मौलेः शिखरात्सकाशाच्च्युतः पतितः स्थूलपाषाण एवाधः पतितः, अथ च,—संनिहितः, पातेनोच्चतरगिरिशिखरादधःपतनेन हेतुना विचूर्णितस्य विशेषेण सूक्ष्मचूर्णीकृतस्य तस्यैव गैरिकगण्डशैलस्य संबन्धिनी संध्यारजोराजिः, संध्यासंबन्धी राग इत्यर्थः। इह सायंकाले पश्चिमदिशि वा उज्जिहीते उपरिष्टात्प्रसरति। अस्तसमये सूर्यस्य रक्तत्वाद्गगनगिरिशिखराच्च्युतत्वाच्च गैरिकगण्डशैलत्वम्। उच्चतरात्प्रदेशात्पतितो गण्डशैलश्चूर्णीभवति, चूर्णीभूतस्य च रजोराजिरूर्ध्वं प्रसरति, तद्रजोराजिरेव संध्यारागः प्रायेणोर्ध्वं प्रसरतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वयः—गैरिकगण्डशैलः रविः उच्चैस्तरात् अम्बरशैलमौलेः च्युतः, पातेन विचूर्णितस्य तस्य एव सन्ध्यारजोराजिः इह उज्जिहीते।

हिन्दी—गेरू का गंडशैल (चट्टान) सूर्य अत्यंत ऊँचे गगन- गिरि के

शिखर से टूटकर गिर पड़ा। गिर पड़ने से चूर हुए उस (गैरिक-चट्टान बुरज) की सन्ध्याराग-रूप लाल धूल यहाँ (पश्चिम दिशा में) उड़ रही है।

टिप्पणी—लाल किन्तु पश्चिम दिशा में डूबते सूर्य की आकाशरूपी पर्वत से टूट कर गिरी गेरू की चट्टान के रूप में कल्पना की गयी है और पश्चिम में फैली लाली को उसी टूट कर गिरने से चूर हुए गैरिक-गढ-शैल की उड़ती धूल ॥ ४ ॥

अस्ताद्रिचूडालयपक्कणालिच्छेकस्य किं कुक्कुटपेटकस्य।
यामान्तकूजोल्लसितैः शिखोघैर्दिग्वारुणी द्रागरुणीकृतेयम् ॥ ५ ॥

जीवातु—अस्तेति। हे प्रिये! कुक्कुटानां पेटकस्य समूहस्य यामान्ते प्रहरान्ते या कूजा ध्वनित तद्वशादुल्लसितैः प्रकाशमानैः किंचिदुच्चीभूतैः स्फुल्ल-जपाकुसुमतुल्यैः शिखानां शिरसि रक्तचर्ममयकेसराणामोघैर्वृन्दैः किमियं वारुणी दिक्द्राक् अकस्मादरुणीकृता रक्तीकृता। उत्प्रेक्षा। किंभूतस्य? अस्ताद्रेश्चूडा शिखरं सैवालयं स्थानं यस्य स पक्कणः शबरगृहं तस्यालिः समूहस्तत्रच्छेकस्यासक्तस्य शबरैर्गृहेषु संगृहीतस्य। कुक्कुटानां कूजनेनोन्नमि-तशिखरत्व जातिः। ते च यामान्ते कूजन्ति। सायंसमये कूजनादुत्फुल्लशिखा-वृन्दसम्बन्धादरुणीभवनसमवायं यामान्तेत्यायुक्तम्। 'पक्कणः शबरालयः' 'गृहासक्ताः परिमृगाद्यश्छेकास्ते गृहकाश्च ते' इत्यमरः। 'पेटकं पुस्तकादीनां मञ्जूषायां कदम्बके' इति विश्वः ॥ ५ ॥

अन्वय—अस्ताद्रिचूडालयपक्कणालिच्छेकस्य कुक्कुटपेटकस्य यामा-न्तकूजोल्लसितैः शिखौघैः किम् इयं वारुणी दिक् अरुणीकृता?

हिन्दी—अस्ताचल शिखर पर स्थित शबरों (भील किरातों) के घरों में पले मुर्गों के संध्या समय बाँग देने (कुकड़ूँ कूँ–बोलने) से ऊँची उठी कलँगियों के द्वारा क्या यह वरुण की (पश्चिम) दिशा लाल कर दी गयी है?

टिप्पणी—मुर्गे प्रायः प्रातः-सायं बोला करते हैं। 'कुकड़ूँ-कूँ' बोलते मुर्गों की लाल-लाल कलँगियाँ (चोटियाँ) उस समय ऊँची हो जाती हैं। भील-किरात घरों में मुर्गे पालते ही हैं। कल्पना है कि उन्हीं की उठी लाल कलँगियों के कारण पश्चिम दिशा लाल हो गयी है ॥ ५ ॥

पश्य द्रुतास्तंगतसूर्यनिर्यत्करावलीहैङ्गुलवेत्रयात्र।
निषिध्यमानाहनि संध्ययापि रात्रिप्रतीहारपदेऽधिकारम् ॥ ६॥

जीवातु—पश्येति। संध्यया अत्र सायंसमये चंद्रस्य नायिकाया रात्रेः संबन्धिनः प्रतीहारस्य दौवारिकस्य पदे अधिकारमास्पदमपि पश्य विलोकय। किं भूतया? द्रुतं शीघ्रमस्तंगतस्य सूर्यस्य निर्यती बहिर्निर्गच्छन्ती करावली किरणपरम्परैव हैङ्गुलं हिङ्गुलाख्येन रक्तकरद्रव्यविशेषेण रक्तं वेत्रं दण्डविशेषो यस्यास्तया। किंभूते पदे? निषिध्यमानं निवार्यमाणप्रवेशमह्नो दिनं यस्मिन्। स्त्रिया हि दौवारिकी स्त्र्येव युक्तेति संध्यैव रात्रेर्दौवारिकी जातेत्यर्थः। सूर्योऽस्तमितः, दिनं गतम्, रात्रिरागता, इति सायंसंध्यैया ज्ञाप्यत इति भावः। दौवारिकयपि हैङ्गुलवेत्रपाणिः सती प्रविशन्तं कमपि प्रतिषेधयति। 'तिर्यक्करा—' इति तिर्यञ्चस्तिरःप्रसारिणश्च ते कराश्चेति। अंहनीत्यत्र तत्पुरुषत्वाभावाट्टजभावः॥ ६॥

अन्वयः—अत्र द्रुतास्तङ्गतसूर्यनिर्यत्करावलीहैङ्गुलवेत्रया संध्यया निषिध्यमानाह्नि रात्रिप्रतीहारपदे अधिकारम् अपि पश्य।

हिन्दी—यहाँ (संध्या समय में) शीघ्र ही अस्त हुए सूर्य की निकलती किरण रूप हिंगुल से लाल बेंत (छड़ी) लिये हुई संध्या द्वारा दिन का प्रवेश रोककर रात्रि के प्रतिहारी पद पर अधिकार को भी देखो।

टिप्पणी—यहाँ संध्या को प्रतिहारि-पद का अधिकार प्राप्त कर रात्रि के प्रासाद में दिन-प्रवेश का निषेध करती हुई अधिकारिणी के रूप में देखा गया है। तुरन्त अस्त होते सूर्य की शेष किरण ही उसका निषेध-दंड है, जो लाल है। 'हिङ्गुल'—लाल-लाल ईंगुर (शिंगरफ) में रँगा हुआ। महलों में प्रायः स्त्रियाँ ही प्रतीहार-पद पर अधिकृत होती हैं। प्रतीहारिणी संध्या अपने अधिकार का प्रयोग कर रही है। नल ने इसी दृश्य की ओर दमयन्ती को आकृष्ट किया॥ ६॥

इदानीं संध्यानक्षत्रसंयोगं वर्णयति—

महानटः किं नु सभानुरागे संध्याय संध्यां कुनटीमपीशाम्।
तनोति तन्वा वियतापि तारश्रेणिस्रजा सांप्रतमङ्क! हारम्॥ ७॥

जीवातु—महानट इति । अङ्ग ! हे भैमि ! महान् सन्ध्योपासनादिविषये-ऽतिप्रशस्त, तथा,—अटति गच्छतीत्येवभूत काल म प्रकृत सायतन, यद्वा,—महान्परमेश्वरो नटो नर्तको यस्मिन् । सन्ध्याकाले हीश्वरो नृत्यति । स प्रकृत सायसन्ध्यासमयो मानो सूर्यस्य रागे लोहितिमनि सति अस्तमया-नन्तर सूर्यस्य रागमात्रेऽवशिष्टे सति सन्ध्याकान्ति किंचित्पीतरक्तवर्णत्वात्कुनटी 'नेपाली कुनटी गोला' इत्याद्यभिधानात् मन शिलारूपाम्, तथा —ईशामपि स्वकालस्वामिनी च, अथ च,—पितृप्रसूरूपत्वाद् ब्रह्मतनुत्वाद् देवतारूपाम्, अथ च,—समृद्धिमती सन्ध्याय मम्यग्विचिन्त्य साप्रतमिदानी तन्वा किंचिदु-द्गततया सन्ध्यारागतिरोहितकान्तितया वा कृशया किंचिद्दृश्यया । तथा,—वियतापि गगनरूपया लक्षणया यावद्गगन विस्तीर्णया, यद्वा,—आ सामस्त्येन व्याप्त वियद्यया गगनव्यापिन्या च, तारश्रेण्या नक्षत्रपरम्परारूपया स्रजा पुष्पादिमालया हार तनोति विरचयति किं नु । यद्वा,—ताराणा शुद्धमौक्तिकाना श्रेणिर्यत्र तादृश्या ग्रथितमौक्तिकया मालया हारविरचन युक्तमिति सन्ध्याकाल सन्ध्यामेवविधा सचिन्त्य नक्षत्रपरम्परामेव हार विरचयति किमित्यर्थ । सन्ध्याराग कियानवशिष्टोऽस्ति, मुक्तातुल्यानि नक्षत्राणि च किंचिद्दृश्यानि जातानीति भाव । तन्वा तारश्रेणिस्रजोपलक्षितेन तद्युक्तेन वियता गगने नवहार तनोतीति वा । सन्ध्यामेवविधा विज्ञाय तूष्णींभूत इति न किंत्वौचित्यादिविशिष्टया तारश्रेणिस्रजा हारमपि विरचयतीत्यर्थ इति वा 'अपि' शब्दार्थ । अथ च,—स प्रसिद्धो महानटस्ताण्डवनृत्तकर्ता शिवो मानो सूर्यस्य रागे सति, अस्तमितार्धे सूर्ये सतीति यावत् । तत्र सन्ध्यासमये मन शिलातुल्यवर्णामचिरस्थायित्वात्कुत्सितनर्तकीरूपा वा ईशा देवीं सन्ध्या सम्यग्ध्यात्वा सायसन्ध्यावन्दन कृत्वाऽष्टासु मूर्तिषु मध्ये तारापरम्परैव माला यस्या तया गगनरूपयापि अमूर्तयापि मूर्त्या कृत्वा इदानी सन्ध्यावन्दनानन्तर-मङ्गहार मुखकरपार्श्वाद्यङ्गाना समतालमान विक्षेप करोति किंचिदिति वितर्के । अमूर्तस्याङ्गहारकरण चित्रमिति विरोधार्थ 'अपि' शब्द. । न केवल चन्द्रसंभोगादिभूषितयैव तन्वाङ्गहार करोति, किन्तु वियतापि तन्वेति समुच्चयार्थो वा । ईश्वरो हि सायसमये नृत्यति । भानुरागे मन शिलातुल्यवर्णां सन्ध्यामपीशा स्वसहचरीं पार्वतीं विचिन्त्य विशिष्टया वियद्रूपयापि तन्वाङ्गहार

तनोति । पार्वतीसमीपेऽपीश्वरो नृत्यति ।। अथ च,—महानतिप्रवीणो नटः कुत्सितां नटीं नृत्तेऽनतिचतुरामपि संध्यां वयःसंधौ वर्तमानां तरुणीं रसभावसंधौ वर्तमानां वा रसभावज्ञाम्, अत एव—सभाया अनुरागे ईशां सम्यानुरागजनने समर्थां संचिन्त्य वियत्तुल्ययाऽतिविशालया शुद्धमौक्तिकपरम्परारूपया मालयोपलक्षितया तन्वाङ्गहारं तनोति तदसांप्रतं किम् ? अपि तु—रसभावादिजनकत्वया तया सम्यानुरागे समुत्पादितेऽपि नृत्तकर्मकौशलेनापि सम्यानुरागार्थं स्वयमङ्गहारं तनोतीति युक्तमेवेत्यर्थः ।। अथ च,—महान्नर्तको वयःसंधौ रसादिसंधौ वा वर्तमानां तथा समृद्धिमतीमपि स्त्रियं कुत्सितां नटीं नृत्तानभिज्ञां ज्ञात्वा सभानुरागे निमित्ते विशिष्टया तन्वा स्वयमङ्गहारं तनोति तदसांप्रतं किं नु, अपि तु तस्या नृत्यकौशलाभावान्नृत्तेन सभानुरञ्जने सामर्थ्याभावात्सभानुरञ्जनार्थं स्वयमेव निपुणं नृत्यतीति युक्तमेवेत्यर्थः ।। अथ च,—अन्योऽपि महानतिसमृद्धोऽटति सर्वत्र गच्छति तारशोऽतिचञ्चलोऽतिप्रसिद्धो विटः कुनटीमपि नृत्तविद्यायामचतुरामपि भया कायकान्त्या कृत्वा योऽनुरागस्तद्विषये ईशां सौन्दर्यातिशयेनैव रागमुत्पादयन्तीम्, तथा—शैशवतारुण्ययोः संधौ वर्तमानां प्रादुर्भूतयौवनां रसभावसंधिस्थत्वाद्रसभावज्ञां वा संचिन्त्य कायकान्त्यानुरागे सति कुनटीमपि तरुणीं रसभावज्ञां वा तयैव संपन्नां च विचिन्त्य तदीयशरीरस्यातिविस्तृततया शुद्धमौक्तिकमालया हारं विरचयति, तत्रानुरक्तः संस्तस्यै मुक्ताहारं वितरतीत्यर्थः । एवमन्या अपि योजनाः सुधिभिरूहनीयाः । 'सभानुरागैः संधाय' इति पाठो बहुषु पुस्तकेष्वदृष्टत्वादुपेक्ष्यः । अटः, पचाद्यच् । संध्याम्, दिगादित्वाद्यत् । 'तार'शब्दस्य नक्षत्रकनीनिकाभिधायित्वं दशमसर्ग एवोक्तम् ।। ७ ।।

अन्वयः—अङ्ग, स महानटः भानुरागे कुनटीम् ईशाम् अपि सन्ध्यां सन्ध्याय किं नु साम्प्रतं तन्वा वियता अपि तारश्रेणिस्रजा हारं तनोति ?

हिन्दी—(नल ने कहा) प्रिये दमयन्ति, वह महान् नट (नटराजराज शिव) सूर्य की लाली में मनःशिला (मैनसिल) के तुल्य कुछ पीली-लाल अकुशल नर्तकी और देवता-सभा भी (अथवा समृद्धिशालिनी) संध्या को आया जान क्या इस समय (सायंकालीन संध्योपासनादि करके साँझ के झुट-

पुटे में [illegible] अस्पष्ट अथवा कृश किंतु गगन में व्याप्त विशाल (गगन व्यापिनी) तारों की माला से हार रच रहे हैं? अथवा क्या तनु अर्थात् अमूर्त भी तारकों की माला से युक्त आकाश से महान् अथवा 'अष्टमूर्तियों' में से आकाश रूप मूर्ति से हार अर्थात् 'हस्तपाद समायोग' से सम्पन्न नृत्योचित अगहार कर रहे हैं? अथवा सूर्य की लालिमा में मैनसिल रंग की सन्ध्या का 'ईशा' अर्थात् पार्वती समझ कर नृत्य कर रहे हैं? अथवा अति प्रवीण नट अल्पप्रवीणा वय सन्धि में विद्यमान तरुणी अथवा रस भाव की जानकार नर्तकी को अतएव सभा की प्रीति होने से (सभा+अनुरागे) उपयुक्त समझ कर स्वयं विभिन्न अनेक अंगहारादि से युक्त नृत्य कर रहा है अथवा प्रचुर मोतियों के हार से शोभित शरीर से नृत्य कर रहा है? अथवा कुनटी किंतु सुन्दरी वय सन्धि में वर्तमान तरुणी को अनुराग में पड़कर उसे बड़े बड़े मोतियों के हार दे रहा है? अथवा सन्ध्योपासनादि के लिए उपयुक्त अथवा गमनशील सन्ध्याकाल अथवा जिसमें नटराज शिव नृत्य करते हैं, ऐसा सन्ध्याकाल सूर्य की लालिमा से किंचित्, पीले-लाल रंग की स्वकाल-स्वामिनी सन्ध्या को भार्या जान क्या इस समय कुछ अस्पष्ट गगन-मंडल में, विस्तीर्ण तारकों की माला से हार रच रहा है?

टिप्पणी—यद्यपि शब्द-प्रयोग के आधार पर इस श्लोक के अनेक अर्थ किये गये हैं किंतु प्रमुख पक्ष दो हैं—एक सन्ध्याकाल, दो–शिव। सन्ध्याकाल पक्ष में भाव यह है कि सूर्य अस्त हो गया है किंतु उसका राग (लाली) शेष है, उस 'राग' में सीम मैनसिल के तुल्य 'कुनटी' अर्थात् कुछ पीली-लाल है, फिर भी समृद्धि शालिनी—मनोरम लगती है, और यद्यपि पूर्ण स्पष्ट नहीं है, 'तनु' है तथापि तारकों की माला आकाश में व्याप्त है। महानट सन्ध्याकाल है, जो इन तारकों के हार बुन रहा है। शिव पक्ष का आधार यह प्रसिद्धि है कि वे सन्ध्या-समय में नृत्य करते हैं—ताडव नृत्य, समस्त 'करणों' (हस्तपाद समायोगों) से सम्पन्न अंगहारों द्वारा। 'सानुराग' में सन्ध्या को ही उन्होंने 'ईशा' अर्थात् पार्वती समझ लिया है और वे तारकखचित आकाश-रूप शरीर से अंगहार-सम्पन्न नृत्य कर रहे हैं। [illegible] प्रकार महानट सन्ध्याकाल की

तुलना महानट शिव से की गयी है। नटराजराजा-शिव-सदृश संध्याकाल उसी प्रकार आकाश को तारक मालों से भरता जा रहा है, जिस प्रकार शिव तारकखचित आकाश-तनु से अंगहार-संपन्न नृत्य करते हैं ॥ ७ ॥

भूषास्थिदाम्नस्त्रुटितस्य नाट्यात्पश्योडुकोटीकपटं वहद्भिः।
दिङ्मण्डलं मण्डयतीह खण्डैः सायंनटस्तारकराट्किरीटः ॥ ८ ॥

जीवातु—भूषेति। हे भैमि! तारकराट् चन्द्रः किरीटो यस्य स शंभुः सायं नटतीति सायंनटो नर्तक उद्धतान्नाट्यान्नृत्ताद्धेतोस्त्रुटितस्य भूषास्थ्नां दाम्नो मालाया उच्छलितैः खण्डैः शकलैस्तैरेव उडुकोटीकपटं कोटिसंख्यनक्षत्रव्याजं वहद्भिर्धारयद्भिः सद्भिरिह सायंसमये दिङ्मण्डलं मण्डयति पश्य। एतानि नक्षत्राणि न, किंतु ताण्डवत्रुटितास्थिमालोच्छलच्छकलान्येव दिक्षु शोभन्त इत्यर्थः। अन्योऽपि चन्द्रतुल्यकिरीटो नृत्यंस्त्रुटितहारखण्डैः स्त्रीवृन्दं मण्डयति। 'मण्डयतीव' इति पाठे—उत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

अन्वयः—पश्य-तारकराट्किरीटः सायंनटः नाट्यात् त्रुटितस्य भूषास्थिदाम्नः उडुकोटीकपटं वहद्भिः खण्डैः इह दिङ्मण्डलं मण्डयति।

हिन्दी—हे दमयंति, तू देख कि तारकों के राजा (चन्द्र) का मुकुट धारण करने वाले, संध्या को नृत्य करने वाले शिव के सदृश सायं नट (संध्याकाल रूप नट) उद्धत तांडव नृत्य करने के कारण टूटे, आभूषणभूत हड्डियों की माल के करोड़ों (अनेक) तारकों का कपट-रूप धारते शकलों (टुकड़ों) से दिशाओं का शृंगार कर रहा है।

टिप्पणी—चारों दिशाओं में धीरे-धीरे चमकते-निकलते श्वेत तारों की तुलना यहाँ महानट, संध्या को तांडव करने वाले शिव की आभूषणास्थिमाल से टूट कर गिरे अस्थि-खंडों से की गयी है। शिव के समान संध्याकाल है, वह तारों से दिङ्मंडल को सजा रहा है। तांडव की उद्धतता में अस्थिशकल टूट कर बिखर गये, उन्हीं को मानो तारों के रूप में सजाया जा रहा है। 'मंडयतीह' का पाठांतर 'मण्डयतीव' भी है, उस स्थिति में प्रकाशकारके अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

कालः किरातः स्फुटपद्मकस्य वधं व्यधाद्यस्य दिनद्विपस्य ।
तस्यैव संध्या रुचिरास्रधारा ताराश्च कुम्भस्थलमौक्तिकानि ॥ ९ ॥

जीवातु—काल इति । हे प्रिये ! कालः सन्ध्यासमय एव किरातः, अथ च,—कृष्णवर्णो हिंस्रकत्वान्मृत्युरूपो वा कालो गिरिमहारण्यसचारी शबरः स्फुटानि विकसितानि पद्मानि यस्मिन् । यद्वा,—विकसितकमलं कं जलं यस्मिन्, अथ च,—प्रकटीभूत शुण्डादण्डाग्रे प्रकाशमानं पद्मकं रक्तबिन्दुवृन्दं यस्मिंस्तादृशस्य दिनरूपस्य द्विपस्य वधं व्यधादकरोत् । तस्यैव हतस्य करिणो रुचिरा रम्या सन्ध्यास्रधारा रुधिरधारा स्थूलमुक्ता इव शोभन्त इत्यर्थः । स्फुटपद्मकस्येति बहुव्रीहौ कप् ॥ ९ ॥

अन्वय—कालः किरातः स्फुटपद्मकस्य यस्य दिनद्विपस्य वधं व्यधात् तस्य एव रुचिरास्रधारा सन्ध्या ताराः च कुम्भस्थलमौक्तिकानि ।

हिन्दी—सन्ध्याकाल रूप कृष्णवर्ण, काल-सदृश किरात (जंगली भील) ने खिले कमलों से युक्त, सूंडपर पद्माकार-मंडन-चिन्हों से युक्त जिस दिन रूप गजराज का वध कर दिया, उस (दिन-गजराज) के लाल रक्त की धार यह लाल-लाल सन्ध्या है और तारे उसकी सूंड के गज-मुक्ता हैं ।

टिप्पणी—यहाँ दिन का अपसरण कर देने वाले सन्ध्याकाल को एक मृत्युतुल्य, कृष्णवर्ण भील के रूप में उद्भावित किया गया है, जिसने दिन-रूप गजराज की हत्या कर दी । दिन में कमल खिला करते हैं—जल में, अतः वह 'स्फुटपद्मक' है । गजराज की सूंड पर भी कमल चिह्न बने रहते हैं। इस प्रकार हाथी की सज्जा की जाती है । लाल सन्ध्या गजराज की रक्तधार है और तारे सफेद गजमुक्ता ॥ ९ ॥

सन्ध्यासरागः ककुभो विभागः शिवाविवाहे विभुनायमेव ।
दिग्वाससा पूर्वमवैमि पुष्पसिन्दूरिकापर्वणि पर्यधायि ॥ १० ॥

जीवातु—संध्येति । विभुना प्रभुणा हरेण पूर्वं शिवायाः पार्वत्या विवाहावसरे सन्ध्यया सरागो रक्तवर्णोऽयमेव ककुभः पश्चिमाशाया विभागः प्रदेशः पुष्पवर्णयुक्ता सिन्दूरिका रक्तवस्त्रं तत्सवर्णिनि तद्योगात् पुष्पसिन्दूरिकाख्ये पर्वण्युत्सवे पर्यधायि परिहितः । यतो दिग्वलयमेव वासो यस्य तेन रक्तवस्त्रपरिधानावसरेऽपि दिग्वाससा औचित्याद्रक्तदिग्भाग एव परिहित इत्यवैमि

शङ्के। विवाहस्य चतुर्थे दिने प्रथमादिनपरिहितानि वस्त्राणि प्रक्षालनार्थं परित्यज्य पुष्पसिन्दूरिकाख्यपर्वणि कौसुम्भादिरक्तवस्त्राणि वधूवरेण परिधीयन्त इति वृद्धाचारः। तत्रेशस्य दिग्वसनत्वाद्रक्तपश्चिमभाग एवांशुकेन परिहित इत्यर्थः। वर्णकभूतपुष्पस्थाने ताराः, सिन्दूरिकास्थाने संध्यासरागः पश्चिमदिग्भाग इति भावः॥ १०॥

अन्वयः— दिग्वाससा विभुना पूर्वं शिवाविवाहे सन्ध्यासरागः अयम् एव ककुभः विभागः पुष्पसिन्दूरिकापर्वणि पर्यधायि—अवैमि।

हिन्दी—(नल ने कहा) मैं समझता हूँ कि दिशा-रूप वस्त्रधारी—दिगम्बर प्रभु (शिव) ने पहिले पार्वती उमा के साथ विवाहावसर पर सन्ध्या की लालिमा से युक्त यह ही पश्चिम-दिशा-प्रदेश 'पुष्पसिन्दूरिका' के पर्व में पहिना था।

टिप्पणी— विवाह में लाल-फूलों और सिंदूरादि से रंगा लाल वस्त्र वर-वधू एक अवसर-विशेष पर पहिना करते हैं। इस पर्व (अवसर) को 'पुष्पसिंदूरिका पर्व' कहा जाता है। शिव तो दिगंबर हैं—शब्दार्थ दिशाओं का वस्त्र पहिनते हैं। पश्चिमी दिशा के लाल होने पर यहाँ कल्पना की गयी है कि यह पश्चिमी दिशा लाल इसी कारण है कि इसी को 'पुष्पसिंदूरिका पर्व' में लाल वस्त्र के रूप में शिव ने विवाह में पहिना था, सो दिगंबर शिव का वही 'पुष्पसिंदूरिका पर्व' का लाल वस्त्र यह पश्चिमी दिक् खड है। पश्चिम दिशा वस्त्र है, तारे फूल हैं, संध्याराग सिंदूर है। इस प्रकार 'संध्यासराग' पश्चिम दिग्भाग विवाह का लाल वस्त्र बन गया॥ १०॥

प्रातःसायंसंध्ययोः प्राचीप्रतीच्योर्द्वयोरपि तुल्यवर्णत्वात्सायंसंध्यारक्तपश्चिमदिश एव पुष्पसिन्दूरिकात्वं कथं वर्ण्यत इत्याक्षेपे तत्परिहारार्थं प्राच्या अपि तद्भावमाह—

सतीमुमामुद्वहता च पुष्पसिन्दूरिकार्थं वसने सुनेत्रे!।
दिशौ द्विसंधीमभि रागशोभे दिग्वाससोभे किमलम्भिषाताम्॥ ११॥

जीवातु— सतीमिति। हे सुनेत्रे! सतीं दाक्षायणीमुमां पार्वतीं चोद्वहता परिणयता दिग्वाससा हरेण पूर्वोक्तपुष्पसिन्दूरिकार्थं द्विसंधीम् अभि द्वे अपि

प्रातःसायंसंध्ये लक्षीकृत्य द्वे प्राचीप्रतीच्यौ दिशावेव रागेण रक्तवर्णेन शोभा-यथोस्ते, रक्तवर्णेन शोभेत इति वा, तादृशे रक्ते उभे द्वे वसने अलम्भिपाताम् प्राप्ते किम् ? 'विवाहद्वये सध्याद्वयरक्तदिग्द्वयमेव दिग्वसनत्वाद्रक्तवस्त्रद्वय-शिवेन लब्धम्' इत्यहं मन्य इत्यर्थः। शिवेन द्वे दिशावेव वस्त्रे द्वे सध्ये लक्षी-कृत्य रागेण रञ्जकद्रव्येण कृत्वा ये शोभे कर्मभूते ते प्रापिते किम् ? विवाहे वस्त्र रञ्जनाय कस्यचिरकरे समर्प्यते तस्माच्छिवेन दिग्वलयरूपे मम द्वे वस्त्रे भवतीभ्या रक्तशोभे प्रापणीये इति सध्याद्वयमाशप्त यद्दिग्द्वय रक्तशोभं चका-रेत्यर्थ इति वा। 'सुनेत्रि' इति पाठे—'असयोगोपधात्' इति निषेधान्डीप् चिन्त्य । द्विसधीम्, समाहारद्विगोरेकत्वे 'अवान्तो वा' इति स्त्रीत्वे च 'द्विगोः' इति ङीपि 'सध्या'शब्दस्य तद्धितयन्तत्वात् 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोप । 'अभिरभागे' इत्यभेः कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया। गत्यर्थत्वादणौ कर्तुर्णौ कर्मत्व पक्षे ॥ ११ ॥

अन्वय—सुनेत्रे, सतीम् उमा च उद्वहता दिग्वाससा पुष्पसिन्दूरिकार्थं-द्विसन्धीम् अभि किं रागशोभे दिशौ (रागशोभे) उभे वसने अलम्भिपाताम् ?

हिन्दी—हे सुनयने (दमयंति), सती (दक्षपुत्री, शिव की प्रथम पत्नी) और उमा (पार्वती, शिव की द्वितीया पत्नी) से विवाह करते दिगम्बर (शिव) ने 'पुष्पसिन्दूरिका'-पर्व के निमित्त दोनो प्रातः-सायं सन्ध्याओ को लक्ष्य करके क्या अरुणाभा से शोभित दो दिशा (पूर्वा-पश्चिमा) रूप दो लाल रंग के वस्त्र प्राप्त किये थे ? अथवा क्या पुष्पसिंदूरिका के निमित्त पूर्वा और पश्चिमा—दो दिशा—रूप दो वस्त्रों को रंगने के लिए अरुणाभा से शोभित—प्रातः-सायं सध्याओ को प्राप्त किया था ?

टिप्पणी—पुराण-प्रसिद्ध कथा है कि शिव का प्रथम विवाह प्रजापति दक्ष की पुत्री सती से हुआ था। उन्होने पति के अपमान से क्षुब्ध हो दक्ष-यज्ञ में अपनी आहुति दे दी और मैनाक-पर्वत की पुत्री उमा के रूप में पुनर्जन्म पाकर शिव की द्वितीया पत्नी बनी। शिव के दो विवाह हुए अतः उन्हें 'पुष्पसिंदूरिका' के निमित्त दो लाल वस्त्रों की आवश्यकता हुई होगी। यहाँ उद्भावना की गयी है कि प्रातःसायं क्रमशः पूर्व और पश्चिम दिशाओं में

जो अरुणाभाएँ फैल जाती हैं, वे ही दो 'पुष्प-सिंदूरिका' से संबद्ध दो वस्त्र-हैं। 'दिगंबर' के वस्त्र पूर्वा-पश्चिमा ही हैं। केवल दो अर्थ संभावित हैं, कि पूर्वा-पश्चिमा-रूप दिक्-वसन शुभ्र थे, दोनों संध्याओं द्वारा उन्हें 'रागशोभ'-लाल रंग दिया गया। दोनों दिग्वसन पुष्पसिंदूरिका में प्राप्त हुए थे, 'राग-शोभ' थे, उन्हीं से प्रातः-सायं संध्याएँ 'रागशोभ' (अरुणाभ) हुई हैं। प्रातः-सायं संध्याओं की अरुणाभा से दोनों दिग्वसन लाल रंगे गये अथवा लाल रंगे पूर्वा-पश्चिमा दिग्वसनों द्वारा प्रातः-सायं संध्याएँ लाल रंग दी गयीं ॥ ११ ॥

आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षुः।
अब्धौ निमज्जन्निव तापसोऽयं संध्याभ्रकाषायमधत्त सायम् ॥ १२ ॥

जीवातु—आदायेति। योऽयं भानुरेव भिक्षुः परिव्राट् दण्डं पारिपार्श्विक-मेव वैणवयष्टिमादाय सकलासु दिक्षु परिभ्राम्यति सोऽयं तापसः परिव्राट् सायंकाले अब्धौ निमज्जन् पातालं प्रविशन्, अथ च—बहुजले जलाशये स्नानं कुर्वन् संध्यायामभ्रं गगनं तदेव कषायरक्तं वस्त्रमधत्तेव उपरि स्वस्योर्ध्व-भागे, अथ च,—उच्चतटस्योपरि, दण्डस्योपरि वा निजमस्तकोपरि वा धृत-वानिव। एवं यतिरपि बहुकालावस्थानस्य निषिद्धत्वादुक्तलक्षणः सन् परि-भ्रमणे कषायं वस्त्रं धारयति, काषायमिव संध्या शोभते इत्यर्थः। 'माठरः पिङ्गलो दण्डश्चण्डांशोः पारिपार्श्विकाः', 'भिक्षुः परिव्राट् कर्मन्दी' इत्यमरः। काषायम्, 'तेन रक्तम्—' इत्यण् ॥ १२ ॥

अन्वयः—यः अयं भानुभिक्षुः दण्डम् आदाय सकलासु दिक्षु परिभ्राम्यति, अयं तापसः सायम् अब्धौ निमज्जन् इव सन्ध्याभ्रकाषायम् अधत्त।

हिन्दी—जो यह सूर्य रूप संन्यासी 'दण्ड' नामक सेवक-रूप डंडा लेकर समस्त दिशाओं में (सब ओर) भ्रमता (घूमता) रहता है, यह तपस्वी साँझ को पश्चिम सागर में जा गिरता हुआ, जैसे समुद्र-स्नान करते समय संध्या के गेरुए रंग के गगन-रूप गेरुए वस्त्र को धारण कर रहा है।

टिप्पणी—यहाँ समस्त दिक्-चारी सूर्य को निरंतर विचरण करते संन्यासी के रूप में माना गया है। 'दण्ड' नामक पारिपार्श्विक सूर्य-संन्यासी,

का वेणुदण्ड है, जिसके साथ लिये वह घूमता रहता है। पश्चिम-सागर में ज डूबना उसका सागर-स्नान है और गैरिकवर्ण का साध्य गगन भानु-भिक्षु क गैरिक वसन। सूर्य-तापस सागर मे डुबकी लगा रहा है, उसका गैरिक वसन दण्ड पर टँगा है। भाव यह कि सध्या गेरुए वस्त्र-सी शोभित है॥ १२॥

अस्ताचलेऽस्मिन्निकषोपलाभे सध्याकषोल्लेखपरीक्षितो यः।
विक्रीय त हेलिहिरण्यपिण्डं तारावराटानियमादित: द्यौ.॥ १३॥

जीवातु—अस्तेति। य. सूय अस्मि-प्रतीच्या वर्तमाने निकषोपलाभे सुवर्णपरीक्षापाषाणतुल्येऽस्ताचले सध्याराग एव कषोल्लेख घर्षणोल्लेखस्तेन परीक्षित.। इय द्यौस्त हेलि सूर्यमेव हिरण्यपिण्ड विक्रीय विनिमयेन कस्मै-चिद्दत्वा ताराख्पान्वराटान् कपर्दकानादित अग्राह। उत्तम सुवर्ण रक्तपीत भवति। तथा च रक्तपीतसुवर्णगोलकस्य निकषपरीक्षितसुवर्णरेखेव सध्या दृश्यते, ताराश्च वराटा इव दृश्यन्त इत्यर्थः। 'द्यौ.' इति लोकव्यवहारानभिज्ञत्वद्योतनार्थं स्त्रीलिङ्गनिर्देश। स्त्री हि सुवर्णं दत्वा मूर्खतया वराटकान्गृह्णाति, धूर्तैश्च वञ्च्यते च। वराटकव्यवहारे देशे सुवर्णमपि दत्वा वराटका एव गृह्यन्ते॥ १३॥

अन्वय.—य अस्मिन् निकषोपलाभे अस्ताचले सध्याकषोल्लेखपरीक्षित, इय द्यौः त हेलिहिरण्यपिण्ड विक्रीय तारावराटान् आदित।

हिन्दी—जो (सूरज) इस कसौटी के पत्थर-सदृश श्यामल अस्ताचल पर सध्या द्वारा कस कर परख लिया गया था (अथवा सध्याराग रूप कस कर उसके रंग से परख लिया गया था), इस आकाश-देवी ने उस हेलि (सूर्य) रूप स्वर्ण पिंड को बेंचकर (बदले में) तारा-रूप कौड़ियाँ ले लीं।

टिप्पणी—यहाँ लाल पीले रंग के सूर्य की स्वर्ण-पिंड से तुलना की गयी है, जो अस्ताचल-रूप कसौटी पर परखा जाकर उत्तम लाल पीले रंग का उत्तम स्वर्ण प्रमाणित हो चुका है। उस सूर्य-स्वर्ण-पिंड को तारा रूप (शुभ्र) कौड़ियों के मोल बेंचकर आकाश-देवी ने अपनी अनुभवहीनता और मूढ़ता प्रमाणित की है। वे एक अनुभवहीना स्त्री की भाँति ठगी गयी हैं। सध्या निकष पर परखी सुवर्ण-रेखा सी प्रतीत हो रही है और आकाश में प्रकट होते श्वेत तारक वराटकों के तुल्य॥ १३॥

पचेलिमं दाडिममर्कबिम्बमुत्तार्य संध्या त्वगिवोज्झितास्य ।
तारामयं बीजभुजादसीयं कालेन निष्ठ्यूतमिवास्थियूथम् ॥ १४ ॥

जीवातु—पचेलिममिति । दाडिमबीजभुजा कालेन रक्तमर्कबिम्बमेव पचेलिमं तरोरुपर्येव स्वयं पक्वं दाडिमं फलमुत्तार्य गगनतरोस्त्रोटयित्वा बीजग्रहणार्थं भित्त्वा वा संध्यारश्मिस्त्वगिव अस्य दाडिमस्य पक्वत्वाद्रक्तकृत्तिरिवोज्झिता परित्यक्ता । तद्बीजभक्षणार्थमुपरितनबीजकोशवत्संध्या पृथक्कृता । तथा—बीजभक्षणानन्तरं तारामयं ताराख्पमेदसीयममुष्य दाडिमस्य समीपां बीजाना वा, संबन्धि अस्थ्नां बीजमध्यस्थश्वेतकणानां यूथं वृन्दं निष्ठ्यूतमिवोद्गीर्णमिव बीजानि भक्षयित्वा गृहीतरसं तदन्तर्गतश्वेतकणवृन्दं पुनस्थूत्कृतमिव । न हि कालादन्यं सूर्यदाडिमं भक्षितुं समर्थः । अन्योऽपि दाडिममुत्तार्य तत्त्वचं परित्यज्य बीजान्यास्वाद्य गृहीतरसान्बीजकणांस्थूत्कृत्य त्यजति ॥१४॥

अन्वयः—बीजभुजा कालेन अर्कबिम्बं पचेलिमं दाडिमम् उत्तार्य अस्य त्वक् इव संध्या उज्झिता, तारामयम् अदसीयम् अस्थियूथम् इव निष्ठ्यूतम् ।

हिन्दी—अनार-दाने खाने वाले काल (सायंकाल) ने सूर्य-बिम्ब (सूर्य के गोले)-रूप पके अनार को (गगन तरु से) तोड़कर इस (सूर्य-दाडिम) के छिलके की भाँति साँझ को (छीलकर) फेंक दिया और (दाने चबाकर) तारकों के रूप में इस (सूरज-अनार) के रस-चूसे बीज थूक दिये ।

टिप्पणी—संध्याकाल अनार के दाने खानेवाला है । सूरज का लाल गोला पका लाल अनार है । गगन-तरु से उसे काल ने तोड़ लिया है । उसके ऊपर का लाल छिलका लाल संध्या है, जिसे छीलकर खाने वाले ने फेंक दिया । दाने चबाकर सारहीन बीज थूक दिये, वे श्वेत तारक बन गये । आशय यह कि काल-विधान से सूर्य अस्त हुआ, लाल संध्या में धीरे-धीरे शुभ्र तारे छिटकने लगे । काल ने पका अनार तोड़ा, ऊपर का लाल छिलका उतार फेंका, दाने चाबकर थूक दिये ॥ १४ ॥

(ताराततिर्बीजमिवादमादमियं निरष्ठेवि यदस्थियूथम् ।
तन्निष्कुलाकृत्य रविं त्वगेषा संध्योज्झिता पाकिमदाडिमं वा ॥)

(जीवातु—तारेति । सामर्थ्यात्कालेन कर्त्रा रविमेव तत् पक्त्रिमं दाडिमं

निष्कुलाकृत्य निर्गतबीजकुलं कृत्वा बीजरूपं सारं गृहीत्वा तदीया त्वगेवैषा सध्या उज्झिता । 'वा'-शब्दः समावनायाम् । उज्झिता किमित्याशङ्क्याह—बीजानि आदमाद भक्षयित्वा भक्षयित्वा यस्य सूर्यरूपस्य पक्वदाडिमस्य सबन्धि अस्थियूथमिवेयं तारातर्तिनिरष्ठेवि निष्ठ्यूता । जग्ध्वा इत्यादमादम्, अदेराभीक्ष्ण्ये णमुल् द्विर्वचन च । निरष्ठेवि, कर्मणि चिण् । निष्कुलाकृत्य, 'निष्कुलान्निष्कोषणे' इति डाच् । क्षेपकोऽयं श्लोकः ॥)

अन्वय—वा तत् पाकिमदाडिम रविं निष्कुलाकृत्य एषा सध्या त्वक् उज्झिता, बीजम् आदम् आदम् यदस्थियूथम् इव इय तारातति. निरष्ठेवि ।

हिन्दी—अथवा उस पके अनार रूप सूर्य के बीज निकाल कर सध्या को उसके ऊपरी छिलके के तुल्य फेंक दिया और दाने चबा-चबाकर उसके चबाये, नि सार बीजो की भाँति यह तारकमाला थूक दी ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक (संख्या १४) की भाँति ही कल्पना । काल खाने वाला, सूर्य पका लाल अनार, सध्या ऊपरी छिलका, जिसे छील फेंक दिया गया । तारे चबाकर थूक दिये गये बीज । नारायण ने पूर्व श्लोक से भाव-साम्य के कारण इस श्लोक को क्षेपक माना है ॥ १४ क ॥

संध्यावशेषे धृतताण्डवस्य चण्डीपतेः यत्पतनाभिघातात् ।
कैलासशैलस्फटिकाश्मखण्डैरमण्डि पश्योत्पतयालुभिर्द्यौः ॥ १५ ॥

जीवातु—सध्येति । हे प्रिये ! सध्यावशेषे सध्यावन्दनान्ते धृत ताण्डव-नृत्य येन तस्य चण्डीपतेः पदोः चरणयोर्हट यत्पतन तेनाभिघाताद्धेतोरुत्पतया-लुभिरुत्पतनशीलैरुच्छ्लितैः कैलासशैलसबन्धिस्फटिकाश्मना खण्डैः शकलैर्द्यौः-मण्डि अलकृता पश्य । कैलासस्फटिकखण्डा एव गगने ताराारूपेण शोभन्ते । उत्पतयालुमि 'स्पृहिगृहि-' इत्यालुच् ॥ १५ ॥

अन्वय.—पश्य, सन्ध्यावशेषे धृतताण्डवस्य चण्डीपतेः यत्पतनाभिघातात् उत्पतयालुभि कैलासशैलस्फटिकाश्मखण्डैः द्यौः अमण्डि ।

हिन्दी—प्रिये, देखो—सध्यावदन के पश्चात् ताडव नृत्य करते चडी के स्वामी (शिव) के चरणों के पड़ने के आघात से उड़-उड़ जाते कैलास पर्वत के स्फटिक पाषाण के टुकडो से आकाश सुशोभित हो गया ।

टिप्पणी—आकाश में उदित होते जाते श्वेत तारकों की कैलास-पर्वत के शुभ्र पाषाण-खंडों के रूप में उद्भावना, जो पाषाण खंड संध्या-समय तांडव करते शिव के नृत्यरत चरणों की चोट से उड़-उड़ कर ऊपर आकाश में छा गये हैं और द्यौदेवता का शृंगार कर रहे हैं ॥ १५ ॥

इत्थं ह्रिया वर्णनजन्मनेव संध्यामपक्रान्तवतीं प्रतीत्य ।
तारातमोदन्तुरमन्तरिक्षं निरीक्षमाणः स पुनर्बभाषे ॥ १६ ॥

जीवातु—इत्थमिति । स नलः पुनर्भैमीं बभाषे । किंभूतः ? इत्थमुक्तप्रकारेण वर्णनजन्मना स्तुतिजातया ह्रियेवापक्रान्तवतीं निर्गतां संध्यां प्रतीत्य निश्चित्यान्तरिक्षं गगनं तारातमोभ्यां दन्तुरितं निश्चितं निरीक्षमाणः । अन्योऽप्युत्तमो निजवर्णनजातलज्जयापक्रामति ॥ १६ ॥

अन्वयः—इत्थं वर्णनजन्मना ह्रिया इव अपक्रान्तवतीं सन्ध्यां प्रतीत्य तारातमोदन्तुरम् अन्तरिक्षं निरीक्षमाणः सः पुनः बभाषे ।

हिन्दी—इस प्रकार (३–१५) वर्णन से उत्पन्न लज्जा से मानो चली जाती संध्या को जानकर (शुभ्र) तारों और (काले) अन्धकार से गौर-कृष्ण (चितकबरे) आकाश को देखता वह (नल) फिर कहने लगा ।

टिप्पणी—यहाँ संध्या की कल्पना उस तरुणी के रूप में की गयी है, जो अपने वर्णन से, अपनी बड़ाई से लजाकर छिप जाती है । आशय यह कि संध्या लगभग समाप्त हो गयी और काले आकाश में यत्र-तत्र श्वेत तारे दिखायी देने लगे, अतः आकाश कहीं अन्धकार से श्यामल और कहीं तारकों से शुभ्र दीखने लगा । काली चादर-सा आकाश, बीच-बीच सफेद फूलों-से टँके तारे ॥ १६ ॥

रामेषुमर्मव्रणनार्तिवेगाद्रत्नाकरः प्रागयमुत्पपात ।
ग्राहौघकिर्मीरितमीनकम्बु नभो न भोः कामशरासनभ्रु ! ॥ १७ ॥

जीवातु—रामेति । हे कामशरासनमेव भ्रुवौ यस्याः, भ्रूदर्शनमात्रेण कामोदयकारिणि भैमि ! रामस्य जामदग्न्यस्य वा इषुणा मर्मणो व्रणनाच्छेदनाद्धेतोरुत्पन्ना आर्तिः पीडा तस्या वेगादाधिक्याद्धेतोर्निजस्थाने स्थातुमशक्तः सन् भीत्या रत्नाकर एवायं प्राक् तस्मिन्नवसरे उत्पपातोर्ध्वमगात् । नेदं

नभ, य पूर्वमुत्पतित स श्यामजल स्फुटरत्नगर्भो रत्नाकर एवाय न त्वेत-न्नभ इत्यर्थ । कीदृश ? ग्राहाणां जलचारिणा जन्तूना वा ओघस्तेन किर्मीरिता मिश्रिता मीनाः कम्बवः शङ्खाश्च यस्मिन् । नमस्तु ग्रहसम्बन्धी ओघ शुक्रबृहस्पत्यादयताराग्रहसमूह ध्रुवमण्डलग्रहसंबन्धी समूहो वा तेन मिश्रितो मीनाख्यो राशिः कम्बु शङ्खाकारविशाखानक्षत्र च यस्मिन् । रघुनाथेन किल सेतुबन्धसमये शरणे समुद्रो भेत्तमारब्ध इति तावन्मात्रेण पीडातिशयादुत्पतित इत्युच्यत । परशुरामणापि निजवसत्यर्थं समुद्रो बाणेन परास्त सन्नुत्पतित । समुद्रजलस्यैवाय कालिमा, न तु नभसः । उत्पतितस्य समुद्रस्याधोदेशे स्थितानि रत्नग्राहादीनि अध.स्थितेन जनेन सुखेन द्रष्टु शक्यन्ते । मकरकर्कटादय-स्तारा मीनादय एव, नतु राश्यादिभूता, विशाखा तारा सामुद्रिकमौक्ति-कान्येव, नतु, तारा इत्यादि ज्ञातव्यम् । 'शरासनभ्रू' इति तदङ्गस्थानत्वाभ-दी वामाभावाद्ध्रस्वत्वाभाव । ह्रस्वपाठस्तु 'खहैश्वरशनभ्रू' इतिवत्समर्थ-नीयः । यद्वा, विष्टकविप्रयोगदर्शनाज्ज्ञातव्य ॥ १७ ॥

अन्वय.—भो. कामशरासनभ्रू, ग्राहौघकिर्मीरितमीनकम्बु नभ न, अय रामेषुमर्मव्रणनातिवेगात् रत्नाकर. प्राक् उत्पपात ।

हिन्दी—हे काम चाप सदृश भ्रुकुटियो वाली (दमयति), मकर आदि जल-जन्तु-समूह स समिश्र मछली, शख आदि से युक्त आकाश नही है (ग्रह-शुक्र, बृहस्पति आदि तारक-मडली और मीन राशि तथा शखाकार विशाखा-नक्षत्र से पूर्ण गगन समझना उपयुक्त नही), यह श्रीराम (अथवा जामदग्न्य परशुराम) के बाण-द्वारा मर्म स्थल घायल होने के कारण पीडा की अधिकता मे रत्नो का आकर (समुद्र) पूर्वकाल म उछलकर ऊपर पहुँच गया है ।

टिप्पणी—यहाँ विभिन्न नक्षत्रादि से सम्पन्न नभ म मकर मीनादि से सयुक्त सागर की कल्पना की गयी है, जो लका विजयार्थ सेतु बन्धन के प्रसग मे श्रीराम के बाणो से पीडित हुआ था और उसकी विध्य और मदराचल सी लहरें ऊपर को उठने लगी थीं—'रामो दुर्धर्षो युगान्ताग्निरिव ज्वलन् । मुमोच विशिखानुग्रान् वज्रानिव शतक्रतु ॥ ते ज्वलन्तो महावेगा-स्तेजसा सायकोत्तमाः । प्रविशन्ति समुद्रस्य जल विगतपन्नगम् ॥ ऊर्मय.

सिन्धुराजस्य सनक्रमकरास्तथा। विन्ध्यमन्दरसङ्काशाः समुत्पेतुः सहस्रशः॥ (वाल्मीकि, रामा०युद्धकांड २१।२५, २६, २७, ३१)। जामदग्न्य परशुराम को भी सागर ने स्थान दिया था, जिसे 'शूर्पारक' देश अथवा 'अपरांत-महीतल' भी कहा जाता हैं—'ततः शूर्पारकं देशं सागरस्तस्य निर्ममे। सहसा जामदग्न्यस्य सोऽपरान्तमहीतलम्॥ (महाभारत, शांतिपर्व ४९।६६-६७)। आकाश के शुक्र-बृहस्पति आदि तारकों में सागर के जल-जन्तु और शंखादि की उद्भावना की गयी है। आकाश उछला रत्नाकर है, उसके तारक मीन-शंखादि। समुद्र उछल कर ऊपर गया तो उसके तलस्थित शंख, रत्न, मत्स्य आदि स्पष्ट दीखने लगे। राम-परशुराम नल के उत्तरवर्ती हैं, तथापि नल द्वारा उनका उल्लेख कराया गया। महाकवि ने अपने समय में प्रसिद्ध इन कथाओं के उल्लेख में काल-क्रम का ध्यान प्रायः नहीं रखा है॥ १७॥

मोहाय देवाप्सरसां विमुक्तास्तारा: शरा: पुष्पशरेण शङ्के।
पञ्चास्यवत्पञ्चशरस्य नाम्नि प्रपञ्चवाची खलु पञ्चशब्दः॥ १८॥

जीवातु—मोहायेति। हे भैमि! पुष्पशरेण कामेन देवानामप्सरसां च मोहायान्योन्यमनुरागसंजननार्थं देवादीनामुपरिवर्तमानत्वाद्विमुक्ता ऊर्ध्वं क्षिप्ताः शुभ्रपुष्परूपाः शरा एव तारा इत्यहं शङ्के ननु कामस्य पुष्पशरत्वेऽपि पञ्चबाणत्वात्ताराणां बहुतरत्वात्कथं कामबाणत्वमित्याशङ्क्य समर्थयते—खलु यस्माद् पञ्चशरस्य नाम्नि पूर्वपदत्वेन वर्तमानः 'पञ्च'शब्दः प्रपञ्चवाची, प्रकृष्टः पञ्चो विस्तारस्तद्वाचकः, नतु संख्यावाचकः। 'पचि विस्तारवचने' इति स्वार्थणिजन्ताद्धातोः। पचाद्यचि पञ्चयन्ति विस्तृता भवन्ति पञ्चाः शरा यस्येति विग्रहः, नतु पञ्चसंख्याकाः शरा यस्येति। तस्मात्पुष्पशरत्वं ताराणां युक्तमेवेत्यर्थः। कस्येव? पञ्चास्यवत् 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यः' इति सिंहाभिधायिनि 'पञ्चास्य'शब्दे सिंहस्य पञ्चसंख्यमुखत्वाभावात् पञ्चयति विस्तृतं भवति पञ्चं विस्तृतमास्यं यस्यासौ पञ्चास्य इति व्युत्पत्त्या 'पञ्च'-शब्दो यथा विस्तारवाची तथेति। 'व्यातः प्रपञ्चो विस्तारः' इति हलायुधः॥ १८॥

अन्वयः—शङ्के-ताराः देवाप्सरसां मोहाय पुष्पशरेण विमुक्ताः शराः,

इत्तु पञ्चशरस्य नाम्नि पञ्चशब्द पञ्चास्यवत् प्रपञ्चवाची।

हिन्दी—(नल ने कहा)—मैं समझता हूँ कि ये तारे देवों और अप्सरियों को परस्पर विमुग्ध बनाने के निमित्त (परस्पर अनुरागोत्पत्ति के लिए) पुष्पबाण (काम) द्वारा छोड़े गये (फूलों के) बाण हैं, उस (काम) के 'पञ्चशर' नाम में 'पंच' शब्द 'पंचास्य' (पंचमुख सिंह) के समान 'विस्तार' अर्थ बोधक है, संख्यावाचक नहीं।

टिप्पणी—नभ के शुभ्र तारकों में शुभ्र पुष्पों की कल्पना की गयी है—'पञ्चशर' संज्ञावाची काम के पुष्परूप बाणों की, जो उसने देवों और अप्सरियों पर छोड़े थे कि उनका परस्परानुराग काम-बाण-विद्ध होने से उद्बुद्ध हो। यहाँ यह शंका स्वाभाविक है कि पंचबाण काम के बाण तो पाँच ही हैं, वे पाँच अगणित तारे कैसे बन गये? इसका समाधान यों है कि 'पंचशर' में जो पंच है, उसका अर्थ संख्यावाचक पाँच नहीं है, विस्तार है। 'पाँच बाण हैं जिसके (पञ्चसंख्याका शरा यस्य स), यह व्युत्पत्ति नहीं, अपितु पाँच अर्थात् विस्तृत हैं शर जिसके (पञ्चयन्ति विस्तृता भवन्ति शरा यस्य स)—यह विग्रह है। ऐसा अन्यत्र भी है। सिंह का एक ही मुख होता है, तथापि उसकी आख्या 'पञ्चास्य' भी है—'सिंहो मृगेन्द्र पञ्चास्य'। सिंह-वाचक 'पंचास्य' में भी 'पंच' का अर्थ पाँच नहीं, विस्तृत ही है—'पञ्चयति विस्तृत भवति आस्य यस्यासौ पञ्चास्य'—विस्तृत हो जाता है मुख जिसका, वह 'पंचास्य' सिंह ॥ १८ ॥

नभोनदीकूलकुलायचक्रीकुलस्य नक्तं विरहाकुलस्य।
दृशोरपां सन्ति पृषन्ति तारा पतन्ति तत्संक्रमणानि धाराः ॥ १९ ॥

जीवातु—नभ इति। नक्तं विरहेणाकुलस्य पीडितस्य नभोनद्या मन्दाकिन्या कूलमेव कुलायं स्थानं यस्य तस्य चक्रीकुलस्य चक्रकुलस्य चक्रवाकीसमूहस्य दृशोर्नेत्रयोरपामश्रुजलानां पृषन्ति ये बिन्दव सन्ति त एव तारका अथ स्थितैर्जनैर्दृश्यन्ते। तथा—तासां ताराणां संक्रमणानि पुण्यक्षयवशाद्भूमिप्रत्यागमनानि यत्तद्बाष्पजलानां धारा एव पतन्ति। दृशो सन्ति चिरस्थितिमन्ति यानि बाष्पपृषन्ति तानि तारा इति वा। तत्संक्रमणानि स्थिततारा प्रतिबिम्ब-

भूतानि तत्तुल्यानि पतन्ति अधःपातीनि यानि पृषन्ति तानि धारा अश्रुप्रवाहाः। तासां ताराणां संक्रमणानि वीथयो मेषादिसंक्रान्तयो वा धारा अश्रूणां प्रवाह इति वा। स्त्रियो हि विरहमसहमाना रुदन्ति। सन्ति, पतन्तीति च तिङन्तम्, पृषद्विशेषणं वा॥ १९॥

अन्वयः—नक्तं विरहाकुलस्य नभोनदीकूलकुलायचक्रीकुलस्य दृशोः यानि पृषन्ति ताराः सन्ति, तत्सङ्क्रमणानि धाराः पतन्ति।

हिन्दी—रात में वियोग से व्याकुल आकाश-गंगा के तट को आवास बनाये चकवियों के समूह के नेत्रों के जल-बिंदु (आँखों के आँसू) तारे हैं, उन (तारों) का 'संक्रमण' (उल्कापात अथवा परिवर्तित रूप) धरती पर गिरी जल-धार (ओस की बूंदें) हैं।

टिप्पणी—यहाँ तारों को रात्रि-वियोगिनी चक्रवाकियों के अश्रुबिंदु माना गया है। चक्रवाकियाँ आकाश-गंगा के तीर पर रातभर वियोग के आँसू बहाती रहती हैं, उनकी बूदें तारे हैं और धरती पर ओस के पानी के रूप गिरते हैं। नारायण ने 'संक्रमण' का अर्थ 'वीथियाँ' और 'मेषादि' संक्रान्ति भी माना है, उनकी धाराएं अश्रु-प्रवाह हैं॥ १९॥

अमूनि मन्येऽमरनिर्झरिण्या यादांसि गोधा मकरः कुलीरः।
तत्पूरखेलत्सुरभीतिदूरमग्नान्यधः स्पष्टमितः प्रतीमः॥ २०॥

जीवातु—अमूनीति। हे प्रिये! गोधाख्यास्तारा गोधा, मकरराशिसंबन्धिन्यस्तारा मकरः, कुलीरः कर्कराशिस्तत्संबन्धिन्यस्ताराः कुलीरः, अमूनि प्रत्यक्षदृश्यान्यमरनिर्झरिण्या मन्दाकिन्या यादांसि जलजन्तव एव इत्यहं मन्ये। गोधा मत्स्याः कर्कटका अपि जले वर्तन्ते उपरि च दृश्यन्ते। तस्माद्देवनद्या यादांस्येवैतानीत्यर्थः। तर्हि परिवर्तमानेन द्रष्टुं योग्याः, नत्वधःस्थितेनेत्यत आह—तस्या नाकनद्याः पूरे खेलन्तः क्रीडन्तः सुरास्तेभ्यः सकाशाद्भीत्या दूरं तलपर्यन्तं मग्नानि अत एव जलतलगामित्वादधोभागे इतो भूदेशादपि स्पष्टं सुखेन जानीमः। भूभागे स्थिता अपि जलतलगामित्वाद्गोधादियादांसि व्यक्तं पश्याम इत्यर्थः। गोधाकारं ध्रुवमण्डलं, गोधा ज्येष्ठा वा॥२०॥

अन्वयः—मन्ये—गोधा:, मकरः, कुलीरः, अमूनि अमरनिर्झरिण्याः

यादांसि, तत्पूरखेलत्सुरभीतिदूरमग्नानि अघ इव स्पष्टं प्रतीमः ।

हिन्दी—(नल ने कहा) मैं समझता हूँ कि यह गोह के आकार का तारा, मकर (मकर राशि-सबद्ध तारा), कुलीर (कर्कराशि सबद्ध तारा)—ये सब देवनिर्झरिणी मन्दाकिनी के गोह मकर, केकड़ा आदि जल जन्तु हैं। उस (मन्दाकिनी) के प्रवाह में जल क्रीडार्थ आये देवो के डर से ये दूर गहरे तल में डूब कर बैठ गये हैं, अत नीचे यहाँ (पृथ्वी) ■ स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं।

टिप्पणी—आकाश में गोह, मगर, केकड़ा आदि के आकार के तारों को जलचर प्राणी मानकर यह उद्भावना की गयी कि ये आकाश की मदाकिनी के जन्तु हैं, तारे नही। स्वाभाविक शका है कि नीचे धरती के प्राणियों को तो मदाकिनी का तल ही दीखेगा, तब ये जलचर इन धरती के व्यक्तियों को दीखते कैसे हैं? समाधान है कि ये जलजन्तु देवो के डर से मदाकिनी के तल मे आ छिपे हैं, सो तलस्थित होने से ये धरती से स्पष्ट दीख रहे हैं। देव मदाकिनी-तीर पर जल क्रीडार्थ आये, जन्तु डरकर तल में गहरे डूब कर छिप गये; पृथ्वीवासियों को मदाकिनी तल दीखता है, वहाँ छिपे बैठे जल-जन्तु इसी से स्पष्ट दीखने लगे। प्रकाश के अनुसार ध्रुवमडल गोह के आकार का होता है और 'गोधा' ज्येष्ठा को भी कहा जाता है ॥ २० ॥

स्मरस्य कम्बुः किमयं चकास्ति दिवि त्रिलोकीजयवादनीयः ।
कस्यापरस्योडुमयैः प्रसूनैर्वादित्रशक्तिर्घटते भटस्य ॥ २१ ॥

जीवातु—स्मरस्येति । त्रिलोकीजये वादनीयो वादनार्हः स्मरस्य सबन्धी अयं प्रत्यक्षदृश्यो विशाखानक्षत्ररूपः कम्बुः शङ्खः दिवि चकास्ति किम्? उच्चस्तरप्रदेशे वदितः शब्दः सर्वैराकर्ण्यत इति गगने स्थापितो लोकत्रयविजयवादनार्हं कामस्यैव कम्बु किमित्यर्थः। यस्मादपरस्य कस्य भटस्योडुमयैस्ताराख्यैः प्रसूनैः कृत्वा वादित्रशक्तिर्वाद्यनिर्माणं घटतेऽपि स्मरस्यैव धनुर्बाणानां पुष्परूपत्वदर्शनात्तदीयस्यैव वाद्यस्य पुष्परूपत्वसंभावनाया युक्तत्वात् ताराकुसुममयः कामशङ्ख एवायं गगने शोभते, न त्वन्यदीय इत्यर्थः ॥ २१ ॥

अन्वयः—किम् त्रिलोकीजयवादनीयः अयं स्मरस्य कम्बुः दिवि चकास्ति? अपरस्य कस्य भटस्य उडुमयैः प्रसूनैः वादित्रशक्तिः घटते?

हिन्दी—क्या तीनों लोकों के जयार्थं बजाया जाने वाला यह (प्रत्यक्ष दीखता विशाखा नक्षत्र) काम का शंख आकाश में चमक रहा है ? अन्य कौन योद्धा तारक-रूप फूलों से वाद्ययंत्र का निर्माण कर सकता है अथवा तारक-पुष्पों के वाद्य को बजा सकता है ?

टिप्पणी—शंखाकार विशाखा नक्षत्र में काम के त्रिलोकीजयघोषी शंख की कल्पना की गयी है। काम के बाण फूल हैं, अतः उसका शंख भी फूल का होगा। 'विशाखा' फूल-सा है, वह अवश्य काम का ही शंख होगा, क्योंकि 'पुष्पबाण' ही 'पुष्पशंख' भी हो सकता है। संसार में कोई अन्य वीर ऐसा नहीं है, जो तारक-पुष्प का शंखवाद्य बजा सके, कामातिरिक्त ॥ २१ ॥

> किं योगिनीयं रजनी रतीशं याऽजीजिवत्पद्ममम्मुहच्च ।
> योगर्द्धिमस्या महतीमलग्नमिदं वदत्यम्बरचुम्बि कम्बु ॥ २२ ॥

जीवातु—किमिति। येयं रजनी योगिनी स्त्रीपुंसयोगवती, अथ च—शाक्तमन्त्रसिद्धा मारणोच्चाटनाद्यभिज्ञा स्त्री किम् ? या रतीशं दिवा निर्जीवमिव निजसंनिधेः अजीजिवत् सजीवं चक्रे। पद्मममूमुहत् पद्मानि च समकोचयत्। रात्रौ हि स्त्रीपुंसयोगे काम उद्दीप्तो भवति, पद्मानि च संकुचन्ति। अलग्नं निराधारमम्बरचुम्बि आकाशवर्ति तारामात्रात्मकत्वादलग्नमराशिभूतं वा इदं प्रत्यक्षदृश्यं कम्बु ताराशङ्खः शङ्खोऽस्या रात्रियोगिन्या महतीं योगर्द्धिं योगसमृद्धिं वदति। दिवादर्शनाभावादिदानीं दृश्यमानः शङ्खो रात्रिजनितेति कथयति। योगशक्तिं विना निराधारं वस्तु कथं स्थापयेत् ? योगिन्यपि हि मृतमपि कंचिज्जीवयति। कंचिच्च मोहयति मूर्च्छां प्रापयति भ्रान्तं करोति वा। तस्माद्योगिनी किमित्युत्प्रेक्षा। 'कम्बु'शब्दस्य नपुंसकत्वमप्यस्तीति पूर्वमेवोक्तं स्मर्तव्यम्। अजीजिवत्, अमूमुहदिति, 'णौ चङि—' इत्युपधाह्रस्वः ॥ २२ ॥

अन्वयः—किम् इयं रजनी योगिनी, या रतीशम् अजीजिवत् पद्मं च अमूमुहत्, अलग्नम् अम्बरचुम्बि इदं कम्बु अस्याः महतीं योगर्द्धिं वदति ?

हिन्दी—क्या यह रात योगिनी (नर-नारी का योग कराने वाली और मारण उच्चाटनादि शाक्तमंत्र जानने वाली) है, जो इसने रति के स्वामी

(काम) को जिला दिया और कमल को मूर्च्छित (संकुचित) कर दिया? निराधार (अथवा अलग्न अर्थात् अराशि स्थित) आकाश को चूमता यह इसका (प्रत्यक्ष दीखता विशाखा नक्षत्र रूप) शंख इस (रात्रि-योगिनी) की श्रेष्ठ योग सम्पदा को बखान रहा है।

टिप्पणी—रात नर-नारी के सम्मिलन की वेला है, काम इस समय उद्बुद्ध होता है। रात में कमल मुंद जाते हैं। दोनों कार्य रात्रि में होते हैं। इस प्रकार रजनी दोनों कार्यों का कारण है। काम को जीवित करना और कमल को मूर्च्छित करना—संजीवन और मारण—दोनों ही 'शक्ति-विशेष' से सम्भव हैं। ये दोनों कार्य रजनी एक साथ करती है, अतः वह सिद्धमन्त्रा योगिनी है। नर-नारी-योग कराने वाली होने से भी वह योगिनी है। आकाश में शंखाकार विशाखा चमक रहा है। आकाश तो निराधार है ही, सो विशाखा रजनी-योगिनी का निराधार—अतएव वैचित्र्यसूचक शंख है। यह शंख की निराधारता रजनी के योगिनी होने का एक और प्रमाण है। नारायण के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है। 'अलग्न' से तात्पर्य अराशि-स्थित भी है ॥ २२ ॥

प्रबोधकालेऽह्नि बाधितानि ताराः खपुष्पाणि निदर्शयन्ती ।
निशाह शून्याध्वनि योगिनीयं मृषा जगद्दृष्टमपि स्फुटाभम् ॥ २३ ॥

जीवातु—प्रबोधेति । हे प्रिये ! प्रबोधकाले जागरणसमये अथ च—सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिसमये, अह्नि दिने बाधितानि सूर्यदीप्तिध्वस्तकान्तीनि, अथ च—भ्रान्तिकारणनाशान्निरुपपत्तीनि, तारा नक्षत्ररूपाणि खपुष्पाणि गगनसम्बन्धीनि कुसुमानि निदर्शयन्ती, अथ च—दृष्टान्तीकुर्वन्ती, शून्याध्वनि बौद्धादिशून्यवादिदर्शने विषये योगिनी तद्दर्शनरहस्यं जानती काचित्प्रव्रजितेव निशा स्फुटमाभाति तादृक् दृष्टमपि प्रत्यक्षेण प्रतीयमानमपि स्थावरजङ्गमात्मकं सकलं जगन्मृषाऽसत्यमाह ब्रूते । बौद्धादिदर्शने हि ज्ञानस्यैव बहिर्घटाद्याकारत्वाज्ज्ञानातिरिक्तं सर्वं मिथ्येति तज्ज्ञा योगिन्यपि प्रपञ्चो मिथ्येति दर्शयति, तथेयमपि रात्रिरह्न्यदृश्यान्यपि पुष्पतुल्यानि नक्षत्राणि निजयोगाद् गगने दर्शयतीति भावः । निदर्शनं करोतीवेति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥

अन्वयः—प्रबोधकाले अहनि बाधितानि ताराः खपुष्पाणि निदर्शयन्ती शून्याध्वनि योगिनी इयं निशा स्फुटाभं दृष्टम् अपि जगत् मृषा आह ।

हिन्दी—सम्यक् ज्ञानोत्पत्तिकाल, जगे रहने की वेला दिन में सूर्य के प्रकाश में न दीखनेवाले, भ्रम नष्ट हो जाने से असत् तारक रूप आकाश-पुष्पों का निदर्शन (दृष्टांत, दृष्टिगोचर) करती शून्यवादी बौद्धमत को जाननेवाली योगिनी इस रात ने स्पष्ट आभासित, दीखते भी जगत् को मिथ्या कहा ।

टिप्पणी—यहाँ रात्रि को बौद्धमतावलंबिनी योगिनी कहा गया है । बौद्ध-दर्शन शून्यवाद है, जिसका सिद्धांत है कि सब कुछ मिथ्या है, केवल ज्ञान सत्य है । ये जो जगत् में भिन्न-भिन्न घट-पट आदि रूप प्रतीत होते हैं, वे ज्ञान से भिन्न पदार्थ नहीं हैं, अर्थात् ज्ञानातिरिक्त सब पदार्थ शून्य हैं । यह जड़-चेतन संसार की प्रतीति भ्रम के कारण ही होती है, तत्त्वज्ञान होने से भ्रम मिट जाने पर जगत् मिथ्या प्रतीत होने लगता है । रात्रि-रूपिणी योगिनी इस सिद्धांत का निदर्शन कर रही है—उदाहरण द्वारा समझा रही है । वह शून्य मार्ग (आकाश) में चमकते तारे दिखाती है, जो वस्तुतः आकाश-पुष्पों के समान मिथ्या है । वह बताती है कि देखो, इस अन्धकार रूप भ्रम के कारण ये आकाश-पुष्पों-से मिथ्या तारक इस समय दीख रहे हैं । यह भ्रमजन्य मिथ्या प्रतीति है, जब तत्त्वज्ञान-रूप सूर्य-प्रकाश होगा, तब ये लुप्त हो जायेंगे । तत्त्वज्ञान हुआ और मिथ्या-प्रतीति मिटी । नल का दमयंती से कथन है कि स्पष्ट दृश्यमान संसार को भी मिथ्या निर्दिष्ट करती रात्रि शून्यवादिनी योगिनी ही तो है, अन्यथा ऐसा निदर्शन क्यों करती ? वह दिन में न दीखने वाले तारे इस समय दिखाकर बौद्धमत का प्रतिपादन कर रही है । यह योगिनी है, अर्थात् फूल-से तारों को अपने 'योग' से चमकाने वाली । नारायण के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥

एणः स्मरेणाङ्कमयः सपत्राकृतो भवद्भ्रूयुगधन्वना यः ।
मुखे तवेन्दौ लसता स तारापुष्पालिबाणानुगतो गतोऽयम् ॥२४॥

जीवातु—एण इति । हे भैमि ! तव मुख एवेन्दावाह्लादकत्वादिगुणयोगाच्चन्द्रे लसता प्रकाशमानेन, तथा—भवद्भ्रूयुगमेव धनुर्यस्य तेन स्मरेण

तव मुखेन्दौ 'विमतो मृगवान्, चन्द्रत्वात्, संप्रतिपन्नवत्' इत्यनुमानप्रसिद्धो योऽङ्कमय कलङ्करूप एणो मृग सपत्राकृत.। मुखे तच्चापदर्शनाज्जठरावस्थितप्रस्यैव बाणस्यास्पार्श्वे निर्गमन यथा भवति तथा व्यथित' स एव मृगस्तारापुष्पालिनक्षत्ररूपपुष्पपङ्क्तिस्तल्लक्षणो वाणस्तेनानुगत' सन् सहित एव पलाय्य गतोऽप्य गगने दृश्यते किम्। चन्द्रे मृगेण साव्यम्, स चात्र नास्ति, सचाप' कामश्च मुखे लसति, गगने मृगशिरो नक्षत्र मृगाख्य बाणाकारपुष्पतुल्यतारानुगत दृश्यते। तर्हि कामेन विद्धोऽन्तर्गतपत्रपार्श्वबहिर्निर्गतबाणसहितो व्यथित पलाय्य गत, स एवाय मृगो दृश्यते किमिति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। 'सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने' इति डाच् ॥ २४ ॥

अन्वय —तव मुखे इन्दौ लसता भवद्भ्रूयुगधन्वना स्मरेण य अङ्कमय. एण सपत्राकृत स अय तारापुष्पालिबाणानुगत गत।

हिन्दी—तेरे (दमयन्ती के) मुख रूप चन्द्र मे सुशोभित तेरी (दमयती की) भ्रुकुटियों का धनुष् धारण करने वाले कामदेव ने कृष्ण विह्न रूप एण (कृष्णमृग) के ऐसा बाण मारा कि मृग-देह को छेदती उसकी नोक तो वाहर निकल गयी और पुख भीतर रह गयी। उससे अत्यन्त पीडित वह यह (मृगशिरा-नक्षत्र-रूप मृग) तारक रूप पुष्प-बाण से विंधा (भागकर आकाश मे) पहुँच गया है।

टिप्पणी—यहाँ आकाश में दमकते मृगशिरा नक्षत्र का वर्णन है। दमयती को उसे दिखाता नल कह रहा है कि यह मृगशिरा-नक्षत्र नहीं, चन्द्र में रहने वाला कृष्णमृग है। दमयन्ती का मुख चन्द्र के समान है। क्योंकि वह चन्द्र-तुल्य आह्लादक है। चन्द्र मे कृष्णमृग दीखता है, पर मुख तो निष्कलंक है। जब मुख चन्द्र है तो उसका कृष्ण विह्न मृग कहाँ गया ? क्यों नहीं दीखता ? दमयन्ती के मुख को देखकर कामोद्दीपन होता है, अत. कहा गया कि मुख मे काम का निवास है, दमयन्ती की दोनों भौंहें के रूप मे उसका चाप दिखायी पड रहा है। मृग का न दीखना इस 'मुखेन्दुलसित', 'भ्रूयुगधन्वा' स्मर के ही कारण है। मुखेंदु-स्थित मृग के उसने ऐसा पुष्प-बाण मारा कि उसका अग्रभाग मृग को छेदता दूसरी ओर जा निकला, पुख देह मे ही रह गया। इससे मृग को अत्यन्त कष्ट हुआ और वह मुख-चन्द्र त्याग-

कर सुदूर आकाश में चला गया कि मुख-स्थित काम से दूर रह सके। मृग-शिरा नक्षत्र वही भागा मृग है। तारक-पुष्प-बाण से युक्त वही मृग-नामक नक्षत्र आकाश में दृश्यमान है। भाव यह कि दमयन्ती का कामोद्दीपक मुख निष्कलंक चन्द्र है, भ्रूयुग्म काम-चाप-सदृश हैं, और आकाश में चमकता मृगाकार 'मृगा' नक्षत्र दमयन्ती के मुख से काम-भय से भागा बाणविद्ध मृग है। नारायण ने इस समस्त कथन को प्रश्नवाचक बनाकर—'क्या मृगा-नक्षत्र बाणविद्ध मृग है?'— यहाँ प्रतीयमानोत्प्रेक्षा मानी है॥ २४॥

लोकाश्रयो मण्डपमादिसृष्टि ब्रह्माण्डमाभात्यनुकाष्ठमस्य।
स्वकान्तिरेणूत्करवान्तिमन्ति गुणव्रणद्वारनिभानि भानि॥ २५॥

जीवातु—लोकेति। हे भैमि! ब्रह्माण्डमादौ सर्वस्मादपि पूर्वं सृष्टिर्निर्माणं यस्य, अथ च—चिरकालनिर्मितं पुराणम्, मण्डपमिति आभाति तदिव शोभते इत्यर्थः। यतः—लोकानां भवाणामपि आश्रयः ब्रह्माण्डाधारत्वाज्जगताम्। मण्डपोऽपि लोकानामाश्रयः, तच्छायानिवासित्वाल्लोकानाम्, आश्रयनामत्वाच्च। अत एव—अस्य ब्रह्माण्डमण्डपस्य अनुकाष्ठं दिशि दिशि एतत्संबन्धिनीषु सर्वासु दिक्षु; अथ च,—एतत्संबन्धीनि काष्ठानि दारूणि लक्षीकृत्य तेषु भानि नक्षत्राणि स्वकान्तिरूपस्योत्खातरेणूत्करस्य संबन्धिनी वान्तिरुद्गारस्तद्वन्ति घुणाख्यकीटनिर्मितो व्रणच्छिद्रं तस्य द्वारं मुखं तन्निभानि तत्तुल्यानि घुणोत्कीर्णदारुरजोयुक्तानि दारुच्छिद्रमुखानीव दृश्यन्त इत्यर्थः। जनाश्रयनामा मण्डपोऽयतिजीर्णो यदा भवति तदा तदीयकाष्ठेषु घुणाः पतन्ति घुणोत्कीर्णगलद्रजोयुक्तानि घुणकृतच्छिद्रमुखानि वृत्तानि श्वेतानि च दृश्यन्ते, तानीव भानि भान्तीति भावः। 'मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयः' इत्यमरः। अनुकाष्ठम्, वीप्सायामव्ययीभावः, पक्षान्तरे विभक्त्यर्थे॥ २५॥

अन्वयः—लोकाश्रयः ब्रह्माण्डम् आदिसृष्टि मण्डपम् आभाति, अस्य अनुकाष्ठं भानि स्वकान्तिरेणूत्करवान्तिमन्ति गुणव्रणद्वारनिभानि।

हिन्दी—त्रिलोकी का आश्रयीभूत ब्रह्माण्ड आदिरचित मंडप-सा आभासित होता है, समग्रदिशा-रूप-काठ में नक्षत्र अपनी दमक-रूप चूर को छोड़ते कीड़ा-लगने से बने छेदों—जैसे हैं।

टिप्पणी—क्योंकि ब्रह्मांड सकल लोक का आश्रय है, वह अति पुरातन है, अतः अत्यंत प्राचीन मंडप से उसकी तुलना की गयी है। पुराने मंडप में कीडा लगने से स्थान-स्थान पर बहुत-से छेद हो जाते हैं, मंडप के कपड़े में भी उसके खंभो आदि में लगे काठ में भी, जिससे चूरा झडा करता है। चमकते तारे कीडा लगने से हुए छेद हैं और उनसे निकलती चमक चूरा।

इदानीं सर्वदिग्व्यापितमोवर्णनं प्राच्यादिक्रमेणोपक्रमते—

शचीसपत्न्यां दिशि पश्य भैमि ! शक्रेभदानद्रवनिर्झरस्य।
पोप्लूयते वासरसेतुनाशादुच्छृङ्खलः पूर इवान्धकारः ॥ २६ ॥

जीवातु—शचीति। हे भैमि ! अन्धकारः शच्याः सपत्नी दिक् प्राची तस्यां वासररूपस्य सेतोः सूर्यप्रभामर्यादाया नाशाद् उच्छृङ्खलो निरर्गलः शक्रेभस्य दानद्रवो दानोदकं तस्य निर्झरः प्रवाहस्तस्य श्यामः पूर इव पोप्लूयते भृशं प्रसरति, प्राचीं व्याप्नोतीत्यर्थः। त्वं पश्य। प्राच्यामेव चैरावतदानप्रवाहपूरसमत्व। जलपूरोऽपि बन्धापगमादप्रतिहतप्रसरः सन्नतितरां प्रसरति; 'प्लुङ् सर्पणे' इत्यस्मात् भृशार्थे यङ्द्विर्वचनम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—भैमि, पश्य—अन्धकारः शचीसपत्न्यां दिशि वासरसेतुनाशात् शक्रेभदानद्रवनिर्झरस्य पूरः इव पोप्लूयते।

हिन्दी—हे भीमसुते (दमयन्ति), देखो—अँधेरा शची (इन्द्राणी) की सपत्नी (प्राची) दिशा में दिन के बाँध (सूर्य) के टूट जाने (अस्त हो जाने) से इंद्र के हाथी (ऐरावत) के (काले) मदजल के प्रवाह के तुल्य उमडता चला आ रहा है।

टिप्पणी—प्राची दिशा का दिक्पाल इन्द्र है, अतः उसे 'शची-सपत्नी' कहा गया। काले उमडते अंधकार की तुलना ऐरावत के मद-निर्झर से की गयी और सूर्य प्रकाश की 'वासरसेतु' दिन के बाँध से। सूर्य-प्रकाश टूट गया, अर्थात् दिन का बाँध टूट गया, अतः अंधकार रूपी जल बहकर उमडता चला आ रहा है। अँधेरा पूरब से पश्चिम की ओर घहराता चला आ रहा है। पूर्व से दक्षिण, फिर पश्चिम अनंतर उत्तर की ओर बढ़ते

अंधेरे का वर्णन करके ऊपर-नीचे फैले अंधकार का वर्णन छः श्लोकों (२६–३१) में किया गया है ॥ २६ ॥

दक्षिणदिग्व्यापि तमो विर्णयति—

रामालिरोमावलिदिग्विगाहि ध्वान्तायते वाहनमन्तकस्य ।
यद्वीक्ष्य दूरादिव विस्मृतः स्वानश्वान्गृहीत्वापसृतो विवस्वान् ॥२७॥

जीवातु—रामेति । श्रीरामस्यालिः सेतुः सेतुबन्ध एव श्यामत्वाद्रोमावलिर्यस्यास्तस्या दक्षिणस्या दिशो विगाहि नितरां व्यापकम् अन्तकस्य दिक्पतित्वाद्दक्षिणदिक्स्थं तद्वाहनं महिष एव ध्वान्तायते कज्जलनीलोऽन्धकार इवाचरति । विवस्वान् सूर्यः यद्यमवाहनं दूराद्वीक्ष्य सहजात्वन्महिषवैरस्मरणाद्विस्मृतः समयात् स्वानश्वान् गृहीत्वाऽपसृतः पलायित इव दक्षिणदिशि तिमिरं यममहिषवच्छोभत इत्यर्थः । 'अन्तक'पदेन तद्वाहनस्य दारुणत्वं सूचितम्, अत एव ततोऽप्यश्वानां भयं युक्तम् । ध्वान्तायते, 'उपमानादाचारे' 'कर्तुः क्यङ्–' इति क्यङन्तात्तङ् । 'सेतुरालौ स्त्रियां पुमान्' इत्यमरः ॥ २७ ॥

अन्वयः—रामालिरोमावलिदिग्विगाहि अन्तकस्य वाहनं ध्वान्तायते, विवस्वान् यत् दूरात् वीक्ष्य विस्मृतः स्वान् अश्वान् गृहीत्वा पलायितः इव ।

हिन्दी—श्रीराम द्वारा निर्मित सेतुबंध-रूप रोमावलि से पूर्ण दिशा (दक्षिण) में व्याप्त (वसनेवाला) यमराज का वाहन (काला भैंसा) अंधकार बन रहा है । सूर्य जिसे दूर से देखकर डरते अपने घोड़ों को लेकर जैसे भाग गया ।

टिप्पणी—सूर्य छिप गया और दक्षिण दिशा में भी घोर काला अंधकार छा गया । दक्षिण दिशा में बना रामेश्वरम् का सेतुबंध दक्षिण दिशा अथवा दक्षिण दिशा-स्थित यमराज के काले भैंसे की रोमावली है । उद्भावना है कि वह 'अंतक' का काला भैंसा ही अंधकार-सदृश है, तभी तो 'अंत' देनेवाले के वाहन को देखकर सूरज के घोड़े डर गये और वह उन्हें लेकर भाग गया ॥ २७ ॥

प्रतीचीव्यापितमो वर्णयति—

पक्वं महाकालफलं किलासीत्प्रत्यग्गिरेः सानुनि भानुबिम्बम् ।
भिन्नस्य तस्यैव दृषन्निपाताद्बीजानि जानामितमां तमांसि ॥ २८ ॥

जीवातु—पक्वमिति । भानुबिम्ब प्रत्यगिरे प्रतीच्या वर्तमानस्यास्ता-चलस्य सानुनि कालवशात्पक्वं महाकालस्यं-द्रवारुण्या फलमासीत् किल, अह्-मन्य इत्यर्थः । तथा—अहमतिपक्वत्वाद् वृन्तश्लथत्वादुच्चतरप्रदेशादधस्ताद् दृषदि शिलाया निपातात्तदभिघाताद्वेतोर्भिन्नस्य विदीर्णस्य तस्य भानुबिम्ब-रूपस्य महाकालफलस्य कृष्णतमानि बीजान्येव तमांसीति जानामितमां नितरां मन्ये । पर्वताद्विकठिनभूममुकुल जम्बीरवर्तुलं पक्व सदतिरक्त कृष्णबीज महाकालफल ग्रहोपसर्गनिवारणार्थं गृहद्वारे वृद्धैर्बध्यते । अस्तमयसमयसबन्धा-त्परिणतकाल रक्त महत काल्स्य फलभूत च भानुबिम्ब महाकालफलमिव, तमांसि च विदीर्णस्य तस्य कृष्णतमानि बीजानीव प्रसर तीत्यर्थः । अन्यदिग-पेक्षया प्रतीच्या सायसमये सूर्यमध्यासबन्धिन प्रकाशस्याल्पत्वादल्पान्धकार-सूचनार्थं तमसा बीजत्वेन निरूपणम् ॥ २८ ॥

अन्वय—भानुबिम्ब प्रत्यगिरे सानुनि पक्व महाकालफलम् आसीद् किल, दृषन्निपातात् भिन्नस्य तस्य बीजानि एव तमांसि जानामितमाम् ।

हिन्दी—सूरज का गोला पश्चिमाचल (अस्ताचल) के शिखर पर प्रका महाकाल फल (महाकाल लता का रस्कर, कुचला) था, पत्थर पर गिरने से टूट उस (महाकाल फल-रूपी सूर्य) के बीज ही अन्धकार हैं— ऐसा समझता हूँ ।

टिप्पणी—दक्षिण के पश्चात् क्रमागत पश्चिम दिशा में फैले अँधेरे का वर्णन । यहाँ सूर्य की तुलना महाकाल फल (कुचले के फल) से की गयी है । यह विषाक्त फल लाल लाल और सुन्दर होता है, उसके बीज काले होते हैं । यहाँ कल्पना की गयी है कि सूर्य-रूपी कुचले का फल अस्ताचल की शिला पर पक जाने के कारण टूटकर गिर पड़ा और फूट गया, उसके काले बीज इधर-उधर छिटक कर फैल गये । वे ही अँधेरा है । लाल सूरज का गोला लाल महाकाल फल, काले बीज अंधकार । अन्य दिशाओं की अपेक्षा, उस दिशा में सूर्य की स्थिति के कारण अन्धकार न्यून होता है, अतः उसकी तुलना फल के बीज से की गयी । मान्यता है कि महाकाल के फल को गृह-द्वार पर लगाया जाता है, इससे दुष्ट ग्रहों की शान्ति होती है ॥ २८ ॥

उदीचीव्यापि तमो वर्णयति—

पत्युर्गिरीणामयशः सुमेरुप्रदक्षिणाद्भास्वदनादृतस्य ।
दिशस्तमश्चैत्ररथान्यनामपत्रच्छटाया मृगनाभिशोभि ॥ २९ ॥

जीवातु—पत्युरिति । चैत्ररथं कुबेरवनं तदेवान्यन्नाम यस्यास्तादृशी पत्रच्छटा पत्रवल्ली यस्याश्चैत्ररथाख्यवनरूपपत्रवल्लीकाया उत्तरस्याः दिशो मृगनाभिः पत्रवल्लीरचनासाधनभूता कस्तूरी तद्वच्छोभते एवंशीलं कृष्णतमं तमो, गिरीणां पत्युर्हिमाचलस्यायश एव । यतः—सुमेरोः प्रदक्षिणीकरणाद्भास्वता सूर्येणानादृतस्यावज्ञातस्य । हिमाद्रिर्यद्यपि गिरीणां पतिः, तथापि सूर्यानादृतत्वाद्धीन एव, मेरुरेव महान् । 'अस्योद्यानं चैत्ररथम्' इत्यमरः ॥ २९ ॥

अन्वयः—चैत्ररथान्यनामपत्रच्छटायाः दिशः मृगनाभिशोभि तमः सुमेरुप्रदक्षिणात् भास्वदनादृतस्य गिरीणां पत्युः अयशः ।

हिन्दी—चैत्ररथ नामक वन की पत्र-शोभावाली दिशा (उत्तरादिक्) का कस्तूरी के समान शोभित काला अन्धकार सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करके सूर्य द्वारा अवमानित पर्वतों के राजा (हिमालय) की अकीर्ति है ।

टिप्पणी—उत्तर दिशा में फैलते अन्धकार का वर्णन । उत्तरादिक् कुबेर की दिशा है । वहाँ कुबेर का चैत्ररथ नाम का वन है, जिसके पत्तों की शोभा को उत्तरा दिक्-रूप नायिका के स्तनादि पर बनी पत्र-रचना माना गया है, क्योंकि वहाँ कस्तूरी मृग भी पाये जाते हैं, उत्तर दिशा में स्थित हिमालय पर । अन्धकार को कस्तूरी-सा काला माना गया है और उसकी तुलना हिमालय के फैले अयश से की गयी है, क्योंकि कवि समय के अनुसार अकीर्ति—निन्दा का रंग काला माना जाता है । हिमालय को अकीर्ति सूर्य द्वारा अवमानित होने से मिली है । हिमालय नगाधिराज है, अतः उचित था कि सूर्य उसकी सम्मानार्थ प्रदक्षिणा करता, परन्तु उसने हिमालय की प्रदक्षिणा न कर सुमेरु की की । इससे हिमालय का अनादर हुआ और वह अयश का पात्र बना । वही हिमालय का काला अयश उत्तर दिशा में अन्धकार बन कर फैल रहा है ॥ २९ ॥

ऊर्ध्वदिग्व्यापि तमो वर्णयति—

ऊर्ध्वं धृतं व्योम सहस्ररश्मेर्दिवा सहस्रेण करैरिवासीत् ।
पतत्तदेवांशुमता विनेदं नेदिष्ठतामेति कुतस्तमिस्रम् ॥ ३० ॥

जीवातु—ऊर्ध्वमिति । तमालश्यामलं यद्व्योम दिवा हंसस्य रश्मेः सहस्रसंख्यैः करैः किरणैः, अथ च,—हस्तैः ऊर्ध्वं दूरोच्चप्रदेशे धृतमिवासीत्, तन्नभ एवेदं तमालश्यामलमंशुमता विना सायंसमये सूर्यविनाशाद् धारकेण तेन विनाधःपतत्सत् नेदिष्ठतामतितमां नैकट्यमेति । तमिस्रं कुत- कस्मादागतम् ? अपि तु तिमिरं नाम किमपि नास्ति, किन्तु निकटीभवद्गगनमेव तमिस्रमित्यर्थः । यद्व्योमैव तमिस्रं कुतो भूमौ निकटतामेति ? ननु तदतिरिक्तं तमोऽस्तीति वा, अन्यदपि प(त)त्कस्यचित्कराभ्यामूर्ध्वं धार्यते, तदभावेऽधः पतत्येव । नेदिष्ठताम्, अतिशायने इष्ठनि 'अन्तिकबाढयो—' इति नेदादेशः । कुतः, पक्षे सार्वविभक्तिकस्तसिः ॥ ३० ॥

अन्वयः—दिवा व्योम सहस्ररश्मेः सहस्रेण करैः ऊर्ध्वं धृतम् इव आसीत्, तत् एव इदम् अंशुमता विना पतत् नेदिष्ठताम् एति, तमिस्रं कुतः ?

हिन्दी—दिन में आकाश सहस्रकिरण (सूर्य) के सहस्र किरण रूप करों द्वारा ऊपर उठा दिया गया-सा था, वही यह (आकाश) सूर्य के बिना नीचे गिरता हुआ अत्यन्त समीप आ रहा है, अंधेरा कहाँ है ?

टिप्पणी—चारों दिशाओं के अन्धकार वर्णन के पश्चात् ऊर्ध्व दिशा में फैले अन्धकार का वर्णन । आकाश काला दीखा करता है । यहाँ उसे ही फैलता अन्धकार कहा गया है । दिन में काला आकाश सूरज के सहस्रों हाथों द्वारा ऊपर ही ऊपर टाँग रखा गया था, जब आकाश को उठाने वाला सूर्य तो छिप गया, फलस्वरूप अवलंब न होने से वह काला अम्बर ही नीचे गिरता समीप चला आ रहा है । उसी से यह अन्धेरा फैल रहा है । आकाश ही अन्धेरा है, अन्धकार कोई भिन्न वस्तु नहीं है ॥ ३० ॥

अधोदिग्व्याप्ति तमो वर्णयति—

ऊर्ध्वार्पितन्युब्जकटाहकल्पे यद्व्योम्नि दीपेन दिनाधिपेन ।
न्यधायि तद्भूममिलद्गुरुत्वं भूमौ तमः कज्जलमस्खलत्किम् ॥ ३१ ॥

जीवातु—ऊर्ध्वेति । सामर्थ्याद्विधिना ऊर्ध्वं सूर्यदीपस्योपरि भागे अर्पितो न्युब्जः कज्जलधारणार्थमधोमुखो महान् कटाहः खर्परं तत्कल्पे तत्तुल्ये कृष्णतमे व्योम्नि अधिकरणे प्रकाशकारिणा कज्जलधारणार्थेन दिनाधिपेनैव दीपेन करणेन यत्कज्जलं न्यधायि न्यस्तम्, तत्कज्जलमेव तमो भूम्ना क्रमसंजातबाहुल्येन कृत्वा

ऽमिलद् युक्तं पतनाख्यकर्मकारणं गुरुत्वं यस्य तादृशं सद्भूमावस्खलत् किम्, अतिभारेण पतितं किम् ? गुरुत्वाद्धि पतनं युक्तं, तत्कज्जलमेव भूमौ पतितं किम् ? अपि तु तमो नाम न किंचिदित्यर्थ इति वा। कज्जलमपि कर्परे धृतं क्रमेण बहु भवद्गुरुत्वादधः पतति। 'कटाहः कर्परे तथा' इति निघण्टुः। ईषदसमाप्तौ कल्पप् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—दिनाधिपेन दीपेन ऊर्ध्वार्पितन्युब्जकटाहकल्पे व्योम्नि यत् कज्जलं न्यधायि, किं भूमिमिलद्गुरुत्वं तत् तमः भूमौ अस्खलत् ?

हिन्दी—दिन के स्वामी (सूर्य) रूपी दीपक द्वारा ऊपर रखे उलटे कड़ाह के सदृश आकाश में जो काजल पारा गया, क्या क्रमशः अधिक गुरुता को प्राप्त करता वह (काजल) अंधकार होकर धरती पर गिर पड़ा ?

टिप्पणी—सूर्य जिस आकाश में भ्रमण करता दीखता है, उसकी तुलना यहाँ उलटे कटाह से की गयी है। सूर्य एक देदीप्यमान बड़ा दीपक है। सूर्य-दीपक ने अथवा विधाता ने सूर्य-दीप द्वारा आकाश में काजल पारा। वह काजल जब अत्यधिक हो गया तो भार के कारण धरती पर गिर कर फैल गया, वही काजल अंधेरा है। इस प्रकार अधोदिक में भी कालिमा छा गयी। अंधकार वह नीचे गिर कर फैला काजल ही है, और कुछ नहीं ॥ ३१ ॥

ध्वान्तैणनाभ्या शितिनाम्बरेण दिशः शरैः सूनशरस्य तारैः।
मन्दाक्षलक्ष्या निशि मामनिन्दौ सेर्ष्या भवायान्त्यभिसारिकाभाः ॥३२॥

जीवातु—ध्वान्तेति। ध्वान्तेनैवैणनाभ्या कस्तूर्या तथा,—शितिना नीलेनाम्बरेण गगनेन, अथ च,—वस्त्रेण; यद्वा,—ध्वान्तैणनाभ्या कृत्वा नीलेन गगनेनोपलक्षिताः। तथा,—निशितत्वात्पुष्पतुल्यरूपत्वाच्चोज्ज्वलैः तारैर्नक्षत्रैरेव सूनशरस्य कामस्य शरैरुपलक्षिताः, अथ च,—तारैरुज्ज्वलैः पुष्पैरुपलक्षिताः। तथा,—प्रकाशाभावान्मन्दाक्षैर्मन्दनयनैर्लक्ष्या लक्षणीयाः, अथ च,—मन्दाक्षस्य लज्जाया विषयभूताः सलज्जाः। अत एवाभिसारिकाभाः स्वैरिणीतुल्या दिशोऽनिन्दौ चन्द्ररहितायामनुदितचन्द्रत्वाच्छयामायां निशि मामायान्ति प्रत्यागच्छन्ति। तस्मात्सपत्नीभ्रान्त्या त्वं सेर्ष्या भव। अभिसारिका अपि शुभ्रायां रात्रौ शुभ्रवस्त्राद्याभरणाः, कृष्णायां च रात्रौ कृष्णवस्त्राद्याभरणाः समायान्ति, ता अपि कस्तूरीकृताङ्गरागा नीलवसनाः प्रच्छन्नधृतपुष्पाः कामबाणपीडिताः सलज्जाः

सत्य। कामुकं प्रति समायान्ति, तदीयनायिका च सेर्ष्या भवति, तथा दिशोऽपी-त्यर्थः। सर्वा अपि दिश एकत्र मिलिता इति प्रतीतिः। तिर्यग्व्यापि तमो वर्णित-मनेन। 'कान्तार्थिनी तु या याति संकेतं साभिसारिका' इति। 'मन्दाक्षमन्दाः' इति पाठे मन्दनयनानामल्पदृश्यास्तमोबाहुल्यात्। अथ च,—तमोबाहुल्यान्मन्दा-क्षयः, अत एव मन्दगमना इत्यर्थः। 'तार'शब्दः पूर्ववत्। मन्दाक्षेति पुंवद्भावः॥

अन्वयः—सेर्ष्या भव, ध्वान्तैणनाभ्या शितिना अम्बरेण तारैः सूनशरस्य शरैः मन्दाक्षलक्ष्या अभिसारिकाभाः दिशः अनिन्दौ निशि माम् आयान्ति।

हिन्दी—(नल ने कहा—हे दमयति) तुम ईर्ष्या करो,—अंधकाररूप कस्तूरी से काले अंबर (आकाश) रूप अंबर (वस्त्र) और श्वेत तारक-रूप पुष्प-बाण (काम) के बाणों द्वारा उपलक्षित, नेत्रों को अस्पष्ट दीखती, सलज्जा अभिसारिका-सदृश दिशाएँ चंद्ररहित काली रात में मेरी ओर आ रही हैं।

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि सब ओर अंधकार फैल गया है, अब सब अस्पष्ट-सा है। उद्भावना है कि दिशाएँ नल के निकट आनेवाली कृष्णाभिसारिकाएँ हैं। चन्द्रमा है नहीं, रात काली है। ऐसे में काला वस्त्र ओढ़ कर छिपे छिपे प्रिय के समीप जाया जा सकता है—'यान्ति नीलनिचोलिन्यो रजनीष्वभिसा-रिकाः।' प्रेमी से चुपचाप मिलने काला वस्त्र ओढ़ अभिसारिकाएँ जाया ही करती हैं। दिशाएँ भी अंधकार-रूप कस्तूरी से रँगा काला आकाश रूप काला वस्त्र ओढ़ कर प्रिय नल के समीप अभिसारार्थ जा रही हैं। वे कामपीड़िता हैं, यह आकाश में टिमटिमाते पुष्प काम-बाणों से श्वेत तारे बता रहे हैं। वे दिग-भिसारिकाएँ सलज्जा भी हैं और ठीक से दीख भी नहीं रही हैं। अतः नल दमयन्ती को जैसे चिढ़ाता है कि वह ईर्ष्या से भर उठे, उसके प्रिय पति से मिलने अन्य स्त्रियाँ जो आ रही हैं। सपत्नी-जनित ईर्ष्या से दमयंती को भर जाना चाहिए। यहाँ से सात श्लोकों (३२–३८) में अन्य प्रकार से अंधकार का वर्णन है॥ ३२॥

भास्वन्मयीं मीलयतो दृशं द्राङ्मिथोमिलद्द्वयन्वलमादिपुंसः।
आचक्ष्महे तन्वि! तमांसि पक्ष्म श्यामत्वलक्ष्मीविजितेन्दुलक्ष्म॥ ३३॥

जीवातु—भास्वदिति। हे तन्वि कृशाङ्गि! भास्वन्मयीं रविरूपां दक्षिणां दृशमस्तमयव्याजेन द्राक् शीघ्रं मीलयतः सङ्कोचयत आदिपुंसः श्रीविष्णोर्मियोऽ-

न्योन्यं मिलन्तौ द्वावप्यच्चलावूर्ध्वाधःपुटे यस्य निमीलनवशादन्योन्यसंलग्नपुटत्वा- न्निबिडरोमकम्, अत एव श्यामत्वलक्ष्म्या विजितं नितरां पराभूतमिन्दुलक्ष्म येन तादृशं पक्ष्म नेत्रसंबन्ध्यूर्ध्वाधः पुटपत्रीभूतरोमाण्येव तमांसि वयमाचक्ष्महे ब्रूमः, नतु तदोऽन्यानि तमांसीत्यर्थः । तिमिरव्याप्तत्वात्किमपि न दृश्यत इति भावः । 'पक्ष्म' इति जात्येकवचनम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः---तन्वि, भास्वन्मयीं दृशं द्राक् मीलयतः आदिपुंसः मिथोमिलद्- द्व्यच्चलं श्यामत्वलक्ष्मीविजितेन्दुलक्ष्म पक्ष्म तमांसि आचक्ष्महे ।

हिन्दी—हे कृशांगि (दमयंति) सूर्य रूप दक्षिण नेत्र को झट से मूँदते आदि पुरुष (श्री विष्णु) के परस्पर मिलते ऊपर-नीचे के दोनों पुटोंवाले और श्यामलता की शोभा से चंद्र-कलंक को जीतनेवाले पलक को हम अंधेरा कहते हैं ।

टिप्पणी—सूर्य नारायण का दक्षिण नेत्र है । यहाँ कल्पना है कि सूर्यरूप दक्षिण-नेत्र को नारायण ने मूँद लिया । सूर्य छिप गया, अंधेरा हो गया । आँख-मूँदते नारायण के ऊपर-नीचे के दोनों श्याम पलकों ने दक्षिण नेत्र (सूर्य) को ढँक लिया । यह पलक चन्द्र में दिखती कालिमा से अधिक काला है । तो वह पलक ही—पलकों के बाल ही अंधकार है । भाव यह कि घोर अंधेरा फैल जाने से अब सब अस्पष्ट हैं ।। ३३ ।।

विवस्वतानायिषतेव मिश्राः स्वगोसहस्रेण समं जनानाम् ।
गावोऽपि नेत्रापरनामधेयास्तेनेदमान्ध्यं खलु नान्धकारैः ॥ ३४ ॥

जीवातु---विवस्वतेति । विवस्वता नेत्रमित्यपरं नामधेयं यासां तादृशरूपा जनानां गावोऽपि स्वस्य गवां किरणानां सहस्रेण समं सह मिश्रा दिने मिलिताः सत्योऽनायिषतेव नीता इव । यस्मात्तेन खलु तेनैवेदमान्ध्यं प्रकाशाभावात्नेत्रा- पगमाच्च रूपाग्रहणं, नत्वन्धकारैः कृतेदमान्ध्यम् । तमोवशात्किमपि न दृश्यत इति भावः । अन्येनापि गोपालेन स्वगोसहस्रेण मिश्रिताः परेषामपि गावो नीयन्त इति ।। ३४ ।।

अन्वयः—विवस्वता नेत्रापरनामधेयाः जनानां गावः अपि स्वगोसहस्रेण समं मिश्राः अनायिषत इव, तेन खलु इदम् आन्ध्यम्, अन्धकारैः न ।

हिन्दी—सूर्य 'नयन' इस अन्य नाम से जानी जातीं लोगों की नेत्ररूप गायें भी अपनी किरण रूपिणी सहस्र गायों के साथ मिला कर ले गया, उससे यह अंधता (अदृष्टि) आयी है, अंधकार के कारण नहीं ।

टिप्पणी—'गो' शब्द नेत्र वाची है और किरण तथा धेनुवाची भी। सूर्य अपनी किरण-रूप आँखे तो हटा ही ले गया, लोगों की आँखे भी ले गया। सूर्य छिपने पर अंधेरा होने से दृष्टि व्यर्थ हो ही जाती है। सूर्य एक गोपाल है। उसकी सहस्रों गायें (किरणें) थी, वह लोगों की गायें (दृष्टियाँ) भी अपने झुंड में मिलाकर ले गया। यही कारण है कि लोग अंधे हो गये। अंधकार के कारण यह 'अदृष्टि' नहीं है। सूर्य की 'गावः' किरण और गाय का अर्थ देती हैं, 'जन'-पक्ष में 'गो' गाय और नेत्र का वाचक है ॥ ३४ ॥

ध्वान्तस्य वामोरु ! विचारणायां वैशेषिकं चारुमतं मतं मे ।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय ॥ ३५ ॥

जीवातु—ध्वान्तस्येति। हे वामोरु अतिसुन्दरोरु ! ध्वान्तस्य विचारणायां तमःस्वरूपनिरूपणविषये वैशेषिकं मतं षट्पदार्थसाधर्म्यवैधर्म्यनिरूपणात्मकं काणादं दर्शनं चारु सदुपपत्तिकं, तदन्यदिति मे मतं संमतम्। खलु यस्मात्कारणात् (संप्रदायविदः) तद्दर्शनं वैशेषिकं शास्त्रं औलूकमाहुर्वदन्ति। अत एव तमसस्तत्त्वनिरूपणायानारोपितस्वरूपनिरूपणाय क्षमं समर्थम्। उलूकस्य घूकस्य संबन्धि दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं नेत्रं हि तमस्यपि घटपटादिस्वरूपाणां याथात्म्यदर्शने समर्थं भवति। वैशेषिकमप्युलूकापरनाम्ना कणादमुनिना प्रोक्तमित्यौलूकं दर्शनम्। ततश्चैतदपि तमस्तत्त्वनिरूपणाय समर्थमिति युक्तमित्यर्थे इति शब्दच्छलम्। वैशेषिकदर्शने च 'किमिदं' तमो भावरूपम् अभावरूपं वा ? इति संदेहे 'भासामभाव एव तमः' इति सूत्राविरोधेन व्योमशिवाचार्यादयः षट्पदार्थवैधर्म्येणाभावरूपमेव तमो व्यरूपयन्। श्रीधराचार्यास्तु—'आरोपितं भूरूपमेव तमः' इति निर्बन्ध्य 'भासामभावे सत्येव तमःप्रतीतेर्भाभाव एव तम' इत्युक्तमिति सूत्रविरोधं पर्यहार्षुः। एतदसहमानाः श्रीमदुदयनाचार्यादयः पुनर्भासामभावमेव तमस्त्वेन निरणैषुः। यस्मात्तदौलूकं दर्शनं वैशेषिकादिशास्त्रं तमस्तत्त्वनिरूपणायां क्षमं समर्थमाहुरिति वान्वयः। महत्यन्धकारे सत्यपि घटादिपदार्थजातं को वा पश्यतीति ध्वान्तनिरूपणायां क्रियमाणायां घूकनेत्रमेव चारु सर्वेभ्योऽप्यधिकमिति मम मतं मतं पुनः पुनः संमतमित्यर्थः। उलूकनेत्रमेव महान्धकारे घटादि विलोकयितुं समर्थम्। अस्मदीयनेत्राणां त्वान्ध्यमेव जातमिति भावः। यतो वैशेषिकं घटादीन्विशेषान्वेत्ति तादृशम्। महान्धकारे घूकनेत्रमेव घटादीन्भेदेन जानाति, न त्वन्य-

दीर्घ नेत्रम्, तस्मात्तदेव चार्वित्ति। तत्र वृद्धसंमतयर्थमुत्तरार्धम्। उलूकवृत्त्या कणानत्तीति कणादः, तस्य कणादस्यैवोलूक इति नाम, तेन प्रोक्तत्वादौलूकम्। 'वामं सव्ये प्रतीपे च द्रविणे चातिसुन्दरे' इति विश्वः। वामोरु, 'संहितशफ—' इत्यादिनोङि नदीत्वाद्ध्रस्वः। औलूकम्, 'तेन प्रोक्तम्' इत्यण्। पक्षे 'तस्येदम्' इति ॥ ३५ ॥

अन्वयः—वामोरु, ध्वान्तस्य विचारणायां वैशेषिकं मतं मे चारु मतम्, खलु समस्ततत्त्वनिरूपणाय क्षमं तत् दर्शनम् औलूकम् आहुः।

हिन्दी—हे अत्यंत आकर्षक उरु-युगलवती दमयंती, अंधकार के स्वरूप-निरूपणविषय में वैशेषिक (कणाद-निरूपित) मत मुझे उपयुक्त लगता है, क्योंकि अंधकार के तत्त्वविवेचन में समर्थ उस दर्शन को 'औलूक' दर्शन कहते हैं।

टिप्पणी—भाव यह कि घोर अंधकार व्याप्त हो गया और अब दृष्टि कार्य नहीं करती। अंधेरे में केवल उल्लू देख सकता है, अतः अब अंधकारमें उलूक ही दर्शन में समर्थ है। षड्दर्शनों में 'वैशेषिक' दर्शन भी एक है, जिसके निरूपणकर्त्ता कणाद मुनि हैं, जिनका दूसरा नाम 'उलूक' भी है। क्योंकि वे उलूक वृत्त्या कणों का भोजन करते थे, अतः 'कणाद उलूक' नाम से ख्यात हैं। उलूक का दर्शन वैशेषिक 'औलूक दर्शन' इसी कारण कहा जाता है। इसी 'उलूक' के पक्षि विशेषवाची और कणाद ऋषि वाचक होने के आधार पर यहाँ विशेष भंगिमा लायी गयी है। अंधकार में उलूक ही भली भाँति देख सकता है, अतः अंधकार में उचित दृष्टि औलूक दृष्टि ही है। 'औलूक दर्शन' वैशेषिक में भी 'समस्ततत्त्वनिरूपण' है। कवि के अनुसार जैसे अंधकार में 'उलूक दर्शन' ही समर्थ होता है, वैसे ही उलूक अर्थात् कणाद मुनि प्रणीत 'औलूक दर्शन' में ही अंधकार का उपयुक्त विवेचन हुआ है। उसी का मत 'चारुमत' है। प्रश्न यह उठता है कि अंधकार भावरूप है या अभावरूप? 'औलूक दर्शन' वैशेषिक में कहा गया है कि दीप्ति का अभाव ही अंधकार है। इसी का आधार ले व्योम शिवाचार्य आदि ने षट्पदार्थों के वैधर्म्य से अंधकार का 'अभावरूप' में ही निरूपण किया। किन्तु श्रीधराचार्य ने कहा कि आरोपित भू-रूप ही अंधकार है। दीप्ति का अभाव होने पर ही तम की प्रतीति होने के कारण तेजोभाव को ही अंधकार मानना चाहिए। उदयनाचार्य ने इसका खंडन किया और बताया कि तेज का

अभाव ही अंधकार है। यहाँ यही कहा गया है कि अंधकार में जैसे उल्लूक पक्षी ही घट-पटादि की विशिष्टता बता सकता है, ऐसे ही कणादका 'औलूक दर्शन' ही तमस्तत्त्वनिरूपण में चारु मत है—उपयुक्त दर्शन है। आशय यही कि अंधकार में उल्लूक ही देख सकता है, अन्य कोई नहीं ॥ ३५ ॥

म्लानिस्पृशः स्पर्शनिषेधभूमेः सेयं त्रिशङ्कोरिव संपदस्य ।
न किंचिदन्यत्प्रति कौशिकीये दृशौ विहाय प्रियमातनोति ॥ ३६ ॥

जीवातु—म्लानीति। म्लानिस्पृशः कालिमस्पर्शिनः श्यामस्य, अथ च,—चण्डालत्वान्मालिन्ययुक्तस्य निःश्रीकस्य। तथा,—अभावरूपत्वात् स्पर्शगुणनिषेधस्य भूमेः स्थानस्य, अथ च,—चण्डालत्वादेवास्पृश्यस्यास्य तमसः राज्ञस्त्रिशङ्कोरिव सेयं प्रसिद्धा प्रत्यक्षेण गृह्यमाणा च संपत् बाहुल्येन स्वरूपलाभः, अथ च,—राज्यसमृद्धिः कौशिकीये औलूके, अथ च,—वैश्वामित्रे दृशौ नेत्रे विहायान्यत्किंचित्प्रति अपरं किमपि वस्तु लक्ष्यीकृत्य प्रियं हितं नातनोति करोति, किंतु तदीये एव नेत्रे लक्ष्यीकृत्य हितं करोति। अन्यत्प्रति किंचिदल्पमपि प्रियं नातनोतीति वा, अन्धकारे ह्युलूकनेत्रे एव पदार्थान्पश्यत् इति तत्संपत्तयोः प्रिया। त्रिशङ्कोश्च संपद्विश्वामित्रस्यैव नेत्रयोः प्रिया, नान्यस्य। एतदुपाख्यानं रामायणादौ प्रसिद्धम्। कौशिकीये, 'वृद्धाच्छः' ॥ ३६ ॥

अन्वयः - म्लानिस्पृशः स्पर्शनिषेधभूमेः त्रिशङ्कोः इव अस्य सम्पत् कौशिकीये दृशौ विहाय किञ्चित् अन्यत् प्रति प्रियं न आतनोति।

हिन्दी—जिस प्रकार चंडाल हो जाने के कारण मलीन हुए—श्री हीन और स्पर्श की निषेध भूमि (अस्पृश्य) राजा त्रिशंकु की संपदा कौशिक मुनि (विश्वामित्र) के नेत्रों को छोड़ कर किसी अन्य को प्रिय नहीं लगी थी, उसी प्रकार कालिमा से पूर्ण और (अभाव रूप होने से) स्पर्श न होने योग्य इस (अंधकार) की संपदा (वस्तुओं का दृश्य होना) कौशिक अर्थात् उल्लू के नेत्रों को छोड़ कर किसी अन्य को प्रिय नहीं लग रही।

टिप्पणी—आशय यह कि काले और अभावरूप, अतएव स्पर्श न किये जा सकते अंधकार में उल्लू को छोड़कर और कोई देख नहीं सकता। यहाँ 'कौशिक' के उल्लू और विश्वामित्र-वाची होने से इस स्थिति की उपमा स्वर्गगामी राजा त्रिशंकु और कौशिक मुनि विश्वामित्र के सम्बन्ध को लेकर दी गयी है। राजा

त्रिशंकु की राज संपदा केवल कौशिक विश्वामित्र को प्रिय थी, क्योंकि उन्होंने ही यज्ञ करके उसे सदेह स्वर्ग भेजा था, अन्य किसी को नहीं। ऐसे ही अंधेरे की संपदा अर्थात् अंधेरे में देखना कौशिक—उल्लू द्वारा ही संभव है। वही अंधकार की शोभा का आनंद ले सकता है, अन्य नहीं। त्रिशंकु की कथा अनेक पुराणों में है, द्रष्टव्य ब्रह्म० ८।१–२३। विष्णु० ४।३। २०–२४॥३६॥

मूर्धाभिषिक्तः खलु यो ग्रहाणां यद्भासमास्कन्दितऋक्षशोभम्।
दिवान्धकारं स्फुटलब्धरूपमालोकतालोकमुलूकलोकः ॥ ३७ ॥

जीवातु—मूर्धेति। यो रविः नवानां ग्रहाणां मध्ये खलु निश्चितं मूर्धाभिषिक्तो राजा। उलूकानां लोकः सङ्घस्तस्य रवेर्भया दीप्त्या समास्कन्दिता नितरां पराभूता ऋक्षशोभा नक्षत्रकान्तिर्यस्मिंस्तत्। तथा,—स्फुटमुपलब्धानि अन्येन जनेन दृष्टानि घटादिस्वरूपाणि यस्मिंस्तादृशमपि दिवा कर्मीभूतं दिनमन्धकारमेवालोकत। दिने तस्य दर्शनाशक्तेर्दिनमन्धकाररूपत्वेनैव मेने इत्यर्थः। तथा,—व्यक्तं लब्धानि घटादिरूपाणि यत्र तादृशमन्धकारमेवालोकमपश्यद्दर्शनसहकारिप्रकाशरूपत्वेनैव मेने। (अर्थाद्रात्राविव्यर्थः।) अन्धकारं स्फुटलब्धरूपमित्यावृत्त्या योज्यम्। तेन तमसा विपरीतदृश एव भवन्तीति व्यज्यते। एवंविधमन्धकारं च स्फुटमतिप्रसिद्धं शुक्लभास्वरात्मकं लब्धं रूपं येन तादृशमालोकमिवापश्यत्। कृष्णरूपमपि तमः शुक्लभास्वरालोकत्वेनापश्यदिति विरुद्धमित्यर्थः। अथ च,—यो ग्रहराजः सूर्यः, आक्रान्तनक्षत्रलक्ष्मीकां तद्भासं सूर्यदीप्तिमेवायमुलूकलोको दिवा दिनेऽन्धकारमपश्यत्। रात्रौ चान्धकारमालोकमपश्यत्; दिने सूर्यालोक एव तमः, रात्रौ च तम एव सूर्यालोक इति ददर्शेत्यर्थः। कीदृशीं तद्भासम्? कीदृशमन्धकारम्? स्फुटमुपलब्धानि घटादिरूपाणि यस्यामन्यजनेन तादृशीम्, स्फुटं संजातस्वरूपलाभं चेत्यन्धकारस्य नपुंसकत्वान्नपुंसकैकशेषेणकयद्भावेन वा व्याख्येयम्। सूर्यदीप्त्याऽसमास्कन्दिताऽपराभूता नक्षत्रलक्ष्मीर्येन तम, अन्धकारविशेषणं वा। रात्रौ सूर्यदीप्तेरभावादतिरस्कृतनक्षत्रशोभामित्यर्थः। सूर्यदीप्तेरेव समास्कन्दनसामर्थ्यात्तमयैव रात्रौ यत्तिरस्करणं तेन नक्षत्रशोभा यस्मिन्निति वा इत्यादिव्याख्यानानि ज्ञातव्यानि। 'लक्ष्मीम्' इति पाठे—नदीत्वेऽपि समासान्तविधेरनित्यत्वात्कबभावः। 'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यः' 'अन्धकारोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—यः खलु ग्रहाणां मूर्धाभिषिक्तः, यद्भासमास्कन्दितऋक्षशोभं स्फुटलब्धरूपं दिवा उलूकलोकः अन्धकारम् आलोकत, अन्धकारम् आलोकम्।

हिन्दी—जो (सूर्य) सभी ग्रहों का राजा है और जिस (सूर्य की दीप्ति से जिसमें तारकों की शोभा पराभूत हो गयी है और घट-पटादि रूप स्पष्ट हो गये हैं, ऐसे दिन को उल्लुओं ने अंधेरा देखा और जिस (सूर्य) की दीप्ति में तारकों की शोभा (दीप्ति) अपराभूत रही है ऐसे रात्रि के अंधकार में स्पष्टतः सभी वस्तुओं को देखते अंधकार को प्रकाशरूप में देखा।

टिप्पणी—उल्लुओं को दिन रात लगता है और रात दिन लगती है। अंधेरा उनके लिए प्रकाश है और प्रकाश अंधकार। वे सूर्यलोक में अन्य जीवों के समान देख नहीं पाते और रात के अंधेरे में देख सकते हैं। ऐसा ही अंधेरा छाया है। 'यद्भासमास्कन्दित ऋक्ष शोभम्' में 'भा+समास्कन्दित' मानकर दिन का पक्ष समर्थक अर्थ हो जायेगा। जिसमें 'भा' (दीप्ति) से नक्षत्रों की शोभा समास्कंदित अर्थात् पराभूत हो गयी है। 'भा+असमास्कन्दित' पदच्छेद मान कर अंधकारपक्ष-समर्थक हो जायेगा जिसमें 'भा' (सूर्य-भा) से नक्षत्र शोभा 'असमास्कंदित' (अपराभूत) है। 'स्फुटलब्धरूपम्' का दिवा पक्ष में अर्थ है—जिसमें रूप स्पष्टतः ग्राह्य हो। रात्रि के पक्ष में भी अर्थ यही है, पर यहाँ उलूक-लोक को यह 'स्पष्टदृश्यता' मिलती है। रात्रि में सूर्य-प्रकाश से नक्षत्र-शोभा अपराभूत रहती है और उल्लू सब देख सकते हैं। दिन में सूर्यालोक नक्षत्र शोभा मिटा देता है और उलूकातिरिक्त सबको सब कुछ दृश्य रहता है ॥३७॥

दिने मम द्वेषिणि कीदृगेषां प्रचार इत्याकलनाय चारीः।
छाया विधाय प्रतिवस्तुलग्नाः प्रावेशयत्प्रष्टुमिवान्धकारः ॥ ३८ ॥

जीवातु—दिन इति। अन्धकार इत्याकलनाय सामस्त्येन ज्ञानार्थं प्रतिवस्तु-लग्नाः पदार्थमात्रसंबद्धाः प्रतिच्छाया एव चारीर्गूढार्थवेदिकाश्चारनारीः विधाय चारपदं ताभ्यो दत्वा दिनं प्रति संप्रेष्य समागतास्तास्तत्रत्यवृत्तान्तं प्रष्टुमिव पुनः प्रावेशयत्। निजनैकट्यमित्यर्थात्। इति किम्? मदान्धकारस्य द्वेषिणि मामसहमाने दिने विषये एषां वस्तूनां कीदृक् प्रचारो विहरणं स्नेहादिव्यवहार-श्चेति। दिवा प्रतिपदार्थसंबद्धाच्छाया एव रात्रौ समागत्य मिलिता निजस्वा-मिनमन्धकारं प्राविशत्। रात्रौ हि प्रकाशाभावे छाया अन्धकारेण सहैकीभव-

तीति तत्संबन्धादेव महानन्धकारः प्रतीयत इति भावः । एतेन प्रतिच्छायापि तम एवेति वर्णितम् । अन्योऽपि रात्रौ लोकस्थितिं ज्ञातुकामः स्त्रीणां सर्वत्र प्रवेष्टुं शक्यत्वाच्चारनारीः संप्रेष्य तत्रत्यं वृत्तान्तं विचार्य समागतास्ताः प्रद्युम्नास्म-सविधे प्रवेशयति । छाया एव चारीः प्रतिवस्तुलग्ना विधायेति वा । चारपदं दत्त्वा पदिनः प्रत्येकं प्रेषयामास । अत एव ता दिने प्रतिवस्तुलग्ना दृश्यन्त इति वा । चारीः, पुंयोगान्ङीष् ॥ ३८ ॥

अन्वयः—मम द्वेषिणी दिने एषां कीदृक् प्रचारः—इति आकलनाय अन्धकारः प्रतिवस्तुलग्नाः छायाः चारीः विधाय प्रद्युम्न इव प्रावेशयत् ।

हिन्दी—मेरे (अंधकार के) द्वेषी (शत्रु) दिन में इन (दृश्यमान पदार्थों) का किस प्रकार का आचरण (व्यवहार) रहता है—यह भली भाँति जानने के लिए अंधकार ने प्रत्येक वस्तु से संलग्न छायाओं को गुप्तचारिणी बना कर मानो पूछ-ताछ के लिए प्रविष्ट करा दिया है ।

टिप्पणी—अंधकार का वर्णन । दिन के प्रकाश में प्रायः प्रत्येक वस्तु का प्रतिबिंब (प्रतिच्छाया) भी पड़ा करता है । जहाँ-जहाँ प्रतिच्छाया पड़ती है, वहाँ उससे धूप आच्छादित रहती है । यहाँ यह माना गया है कि यह वस्तुओं की छाया अंधकार का ही एक रूप है । यही छाया दिन-प्रकाश के न रहने पर अंधकार बन जाती है । इसी मान्यता पर उद्भावना की गयी है कि अंधकार और प्रकाश—दो विरोधी हैं । एक विरोधी प्रतिपक्ष के आचरण-व्यवहार, उसके साथ अन्य जनों का व्यवहारादि जानने को उत्सुक रहता ही है । यदि विरोधी राजा हैं तो वे एक-दूसरे की गति-विधि को जानने के लिए गुप्तचर भी नियुक्त किया करते हैं । यहाँ कल्पना है कि ये जो दिन में प्रत्येक वस्तु से संलग्न छायाएँ रहा करती हैं, वे प्रतिच्छायाएँ वस्तुतः अंधकार की गुप्त दूतियाँ हैं, जो दिन में प्रकाश के साथ वस्तुओं के व्यवहार की गुप्त रूप से सूचनाएँ एकत्र कर रात्रि में अंधकार को देंगी । अंधकार ने प्रतिच्छायाओं को इसी सबको चुपचाप जान कर सूचना देने के लिए दिन में सभी वस्तुओं के साथ गुप्तचरियों के रूप में लगा दिया है । आशय यही कि छाया अंधकार का ही अंश है, भिन्न पदार्थ नहीं ॥ ३८ ॥

इदानीं चन्द्रोदयं वर्णयितुमुपक्रमते—

ध्वान्तस्य तेन क्रियमाणयेत्थं द्विषः शशी वर्णनयाऽथ रुष्टः ।
उद्यन्नुपाश्लोकि जपारुणश्रीर्नराधिपेनानुनयेच्छयेव ॥ ३९ ॥

जीवातु—ध्वान्तस्येति । तेन नराधिपेन नलेन इत्थं क्रियमाणया द्विषः शत्रुभूतस्य ध्वान्तस्य वर्णनया रुष्टः क्रुद्ध इव जपाकुसुमवदरुणा श्रीर्यस्य स उद्यन्नुदयं प्राप्नुवन् शशी तेनैव राज्ञाऽनन्तरमनुनयेच्छयेव प्रसादनवाञ्छयेवोपाश्लोकि श्लोकैः स्तोतुमारब्धः । अन्योऽपि वैरिवर्णनया रुष्टः सन्नरुणो भवति, मत्परिहारार्थमुदितः सन् वर्णकेन प्रसादनार्थं स्तूयते । प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । 'इव'शब्दस्योभययोजना वा । उपाश्लोकि, 'सत्या-' इति णिजन्तात्कर्मणि चिण् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—अथ तेन नराधिपेन इत्थं क्रियमाणया द्विषः ध्वान्तस्य वर्णनया रुष्टः जपारुणश्रीः उद्यन् शशी अनुनयेच्छया इव उपाश्लोकि ।

हिन्दी—अनंतर (अंधकार वर्णन के पश्चात्) उस नरराज (नल) ने इस प्रकार शत्रु अंधकार के वर्णन से क्रुद्ध, जवाकुसुम के तुल्य अरुण (गुलाबी) शोभा-संपन्न उदित होते चंद्र को मानो प्रसन्न करने की आकांक्षा से (चंद्र की) स्तुति का समारंभ किया ।

टिप्पणी—श्लोक संख्या २६ से ३८ तक राजा नल ने अंधकार का वर्णन किया । इस श्लोक से चंद्रोदय वर्णन-आरंभ होता है, जो ५५ वें श्लोक तक है । गुलाबी रंग के, जवाकुसुम के सदृश चंद्र का उदय होने लगा । राजा ने उसका वर्णनारंभ किया । कल्पना है कि शत्रु तम का जो राजा नल ने इतना वर्णन किया, उसे सुन कर चंद्र रुष्ट हो गया । उस रोष से तमतमाया हुआ वह लाल-लाल उदित हुआ—क्रोध से लाल लाल । राजा ने उसका रोष पहिचान उसका भी स्तवन आरम्भ कर दिया । नारायण के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ॥३९॥

पश्यावृतोऽप्येष निमेषमद्रेरधित्यकाभूमितिरस्करिण्या ।
प्रवर्षति प्रेयसि ! चन्द्रिकामिश्चकोरचञ्चूचुलुकप्रमिन्दुः ॥ ४० ॥

जीवातु—पश्येति । हे प्रेयसि प्राणप्रिये ! एष इन्दुश्चन्द्रिकाभिश्चकोराणां चन्द्रिकास्वदमृतपायिनां पक्षिणां चञ्चव एव चुलुकास्तान्पूरयित्वा प्रकर्षेण वर्षति सुधामितिर्यावत् । यावता चकोरचञ्चूपूरणं भवति तावत्प्रमाणं वर्षतीत्यर्थः । एवं पश्य । किंभूतः ? अद्रेरुदयाचलस्याधित्यकाभूम्योर्ध्वशिखरेणैव तिरस्करिण्या

जवनिकया निमेषलक्षणमत्यल्पकालमावृतोऽपि सन् । संपूर्णानुदितोऽपि प्रथम-चन्द्रिकाभिरेव चकोराणामानन्दं करोति, किं पुनरुदितः सन्निति भावः । अन्योऽप्युपकारी दूरस्थोऽप्युदयोन्मुखोऽन्येषामुपकरोति । चुलुकप्रम्, 'वर्षप्रमाणे—' इत्यादिना पूरेर्णमुल्, ऊकारलोपश्च ॥ ४० ॥

अन्वयः—प्रेयसि, पश्य-अद्रेः अचिरत्यकाभूमितिरस्करिण्या निमेषम् आवृतः अपि एषः इन्दुः चन्द्रिकाभिः चकोरचञ्चूचुलुकप्रं प्रवर्षति ।

हिन्दी—हे प्रिये (दमयंति), देख—उदयगिरि की उर्वरभूमि रूपी यवनिका से पल भर को ढका भी यह चंद्र (चंद्रिकापायी) चकोरों की चोंच रूप चुल्लुओं को परिपूर्ण करता चाँदनी की प्रचुर वर्षा कर रहा है ।

टिप्पणी—उदय प्राप्त चंद्र की चाँदनी उसके संपूर्ण प्राकट्य से पूर्व ही चारों ओर फैलने लगी । माना जाता है कि चकोर पक्षी चन्द्रिकापायी होते हैं । सो उनका अभीष्टदाता चंद्र आते-आते ही अपने याचकों का अभीष्ट पूर्ण कर रहा है । कोई उदार दानी आने से पूर्व ही अपने याचकों को तृप्त कर देता है, ऐसे ही चंद्र भी चंद्रिका वर्षण द्वारा चकोरों को तृप्त कर रहा है । अभी चंदा उगा भी नहीं और उसके अनुगत सफल मनोरथ हो गये, जब चंद्रोदय होगा तो कितना आनंद होगा ॥४०॥

ध्वान्ते द्रुमान्तानभिसारिकास्त्वं शङ्कस्व सङ्केतनिकेतमाप्ताः ।
छायाच्छलादुज्झितनीलचेला ज्योत्स्नाऽनुकूलैश्चलिता दुकूलैः ॥४१॥

जीवातु—ध्वान्त इति । हे प्रिये ! त्वं चन्द्रोदयात्पूर्वं ध्वान्ते सति द्रुमान्तान् तरुनिकटदेशानेव वृक्षाधोभागानेव संभोगार्थं कामुकदत्तं संकेतनिकेतमाप्ताः प्राप्ता अभिसारिकाः स्वैरिणीः शङ्कस्व संभावय । तथा,—इदानीं चन्द्रोदये सति वृक्षाधोभागवर्तिछायाच्छलादुज्झितं पूर्वं धृतं तमोनुकूलं नीलं चेलं वस्त्रं याभिस्ताः दृशीः सतीः सवर्णत्वाज्ज्योत्स्नानुकूलैश्चन्द्रिकानुगुणैर्धवलतरैर्दुकूलैरुपलक्षिताः सतीश्चलिताः संभोगं कृत्वा स्वगृहं प्रति पुनः परावृत्तास्त्वं संभावय । तमसि सत्येव केनापि न ज्ञातव्यमिति बुद्ध्या नीलं वस्त्रं परिधाय संकेतस्थानमागताः, चन्द्रोदये पुनर्नीलवस्त्रपरिधाने पूर्ववद्भीत्या तत्तत्रैव विहाय श्वेतं दुकूलं सवर्णत्वात्परिधाय परावृत्ताः केनापि न ज्ञाताः । 'नीलचोलाः—' इति पाठे—चोलः कूर्पासः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—त्वं ध्वान्ते द्रुमान्तान् सङ्केतनिकेतम् प्राप्ताः अभिसारिकाः छायाच्छलात् उज्झितनीलचेलाः ज्योत्स्नानुकूलैः दुकूलैः चलिताः शङ्कस्व ।

हिन्दी—तुम (दमयंती) अंधकार रहते पर वृक्षों के नीचे संकेत स्थल पर पहुँची अभिसारिकाओं को (अब चंद्रोदय होने पर) छाया के व्याज से काले वस्त्र छोड़कर चाँदनी के अनुकूल धवल दुपट्टों को ओढ कर चली गयी समझो।

टिप्पणी-धीरे-धीरे सर्वत्र चाँदनी फैलने लगी, केवल छाया रूप में कालिमा वृक्षों के नीचे रह गयी। यहाँ उद्‌भावना है कि यह वृक्षों के नीचे कालिमा नहीं है, अपितु उन अभिसारिकाओं के काले आवरण हैं, जिन्हें ओढ कर वे *'नीलनिचोलिनी' अभिसारिकाएँ वृक्षों के नीचे पूर्वनिर्धारित संकेतस्थल में, चंद्रोदय से पूर्व अँधेरे में, अपने प्रियतमों से रति-विहार करने आयी थीं।* अब चंद्रोदय हो गया और उनका प्रणय-विहार भी सम्पन्न हो चुका। अब यदि वे वही नीला वस्त्र ओढ कर जातीं तो शुभ्र चाँदनी में स्पष्ट हो जातीं, अतः वे काला आवरण छोड और शुभ्र दुकूल ओढ चाँदनी में मिली-ढँकी चुपचाप लौट गयीं। नल ने दमयन्ती को अभिसारिकाओं की यह चातुरी बतायी कि वे किस प्रकार अन्धेरे में छिपी-छिपी आयीं और कैसे चाँदनी में छिपी-छिपी लौट भी गयीं।

त्वदास्यलक्ष्मीमुकुरं चकोरैः स्वकौमुदीमादयमानमिन्दुम् ।
दृशा निशेन्दीवरचारुभासा पिबोरु रम्भातरुपीवरोरु ! ॥ ४२ ॥

जीवातु—उदिति । हे रम्भातरुवदतिपीवरावूरू यस्यास्तत्संबुद्धिः, त्वं निशायामिन्दीवर नीलोत्पलं तद्वच्चार्वी भा यस्यास्तया दृशा उरु सादरमिन्दुबिम्बं विलोकय। किंभूतम् ? तवास्यलक्ष्म्या मुखशोभाया अवलोकनार्थं मुकुरं दर्पणमिव। तथा,—चकोरैः प्रयोज्यैः कौमुदीमादयमानं निजकौमुदीं चकोरान् पाययमानम्। उदिते चन्द्रे चकोराः सानन्दा जाताः, नीलोत्पलानि च विकसितानीति भावः। एतेनेन्दोः परोपकारित्वं सूचितम्। विकसितेन्दीवरतुल्यया दृशा पिबेत्यनेन चन्द्रोदये हीन्दीवरं विकसति, त्वं चैवंभूतया दृशा यदा चन्द्रमवलोकयिष्यसि, (तदा) जनस्त्वद्दृशं चन्द्रावलोकनविकसितमिन्दीवरमेवैतदिति ज्ञास्यतीति सूचितम्। दिवा संकोचादसम्पूर्णमितीन्दीवरस्य विकसितत्वद्योतनार्थं 'निशा' पदम्। चकोरैः, 'गतिबुद्धि—' इति कर्मत्वप्राप्तावपि 'आदिखाद्योर्न' इति प्रतिषेधात्कर्तरि तृतीया। आदयमानं, निगरणार्थत्वात्परस्मैपदप्राप्तावपि 'अदेः प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति निषेधात् 'णिचश्च' इति तङ् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—रम्भातरुपीवरोरु, त्वदास्यलक्ष्मीमुकुरं चकोरैः स्वकौमुदीम् आदयमानम् इन्दुं निशेन्दीवरचारुभासा दृशा उरु पिव।

हिन्दी— हे केले के स्तम्भों के समान पीन जंघाओंवाली दमयंति, अपने मुख की शोभा को देखने के दर्पण, चकोरों को अपनी चाँदनी का पान कराते चंद्र को नीलकमल के सदृश मनोहर दीप्तिवाली दृष्टि से भली भाँति पियो (सादर निहारो)।

टिप्पणी—नल ने उदय प्राप्त चंद्र को सादर देखने के लिए दमयंती से कहा। दमयंती की स्थूल जंघाओं की तुलना चिकने-मोटे कदली-स्तम्भों से की गयी, जिससे उनकी स्निग्धता और मांसलता द्योतित होती है। चंद्र चकोरों की प्रिय चाँदनी की वर्षा करता है, अतः वह सादर, सस्नेह दर्शनीय है और नील-कमल-सी दमयन्ती की आँखें उसे देख सुख प्राप्त करेंगी। इन्दीवर चन्द्रोदय होने पर ही विकसित होता है। चंद्र निर्मल स्वच्छ है, जिसमें प्रतिबिंब देखा जा सकता है, उसे मुख-प्रतिबिंब दर्शनार्थ दमयन्ती का दर्पण कह कर मुख को उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ संकेतित किया गया। आशय यह है कि चंद्रोदय हो गया, चकोर चन्द्रिका-पान कर रहे हैं और नीलकमल खिल गये॥ ४२॥

असंशयं सागरभागुदस्थात् पृथ्वीधरादेव मथः पुराऽयम्।
अमुष्य यस्मादधुनाऽपि सिन्धौ स्थितस्य शैलादुदयं प्रतीमः॥ ४३॥

जीवातु—असंशयमिति। पुरा पूर्वं सागरभाक् समुद्रगर्भस्थोऽयं चन्द्रः मथो दण्डभूतादद्रेर्मंदरात्मन्थनात्मन्दराद्रेरेव हेतोरुदस्थादुत्पन्न इति असंशयं निश्चितम्। पुराणादौ यदेवं श्रूयते तत्सत्यमित्यर्थः। पुरा उदस्थात्प्रथमसंभवावसरे तस्मादेव समुत्थित इति वा। तत्र हेतुमाह—यस्माद्धेतोरधुनापि संभवान्तरावसरेऽपि सिन्धौ स्थितस्य सागरगर्भस्थस्याप्यमुष्य चन्द्रस्य शैलादुदयाचलादेवोदयमुत्पत्ति प्रतीमो जानीमः। प्रत्यहं सागरस्यस्याप्यस्याचलोत्पत्तिशीलत्वरूपलिङ्गदर्शनात्समुद्रमथने अपमर्संभवावसरेऽप्यमचलादेवोत्पन्न इति निश्चिनुम इत्यर्थः। उदयाचलशिखरं चन्द्रोऽतिक्रामतीति भावः॥ ४३॥

अन्वयः—पुरा सागरभाक् अयं मथः पृथ्वीधरात् एव असंशयम् उदस्थात्, यस्मात् अधुना अपि सिन्धौ स्थितस्य अमुष्य शैलात् उदयं प्रतीमः।

हिन्दी—प्राचीनकाल में (अमृतार्थ सागर-मंथन से पूर्व) समुद्र में स्थित

यह (चन्द्र) मथन-दंड पर्वत (मंदराचल) से ही निःसन्देह उत्पन्न हुआ होगा, जिससे कि आज भी समुद्र मे स्थित इस (चंद्र) का उदय पर्वत (उदयगिरि) से हम सबको प्रतीत होता है ।

टिप्पणी—चंद्र उदयाचल से उदित हो और ऊँचा हो गया । यहाँ अमृत के निमित्त समुद्रमंथन की पुराण कथा (विष्णु० १।९) के आधार पर यह कल्पना की गयी है कि लगता है कि मंदराचल से मथते समय चंद्र उसके साथ ही ऐसे सागर गर्भ से उठा चला आया कि लगता है कि वह सागर से नहीं, मंदराचल से ही उत्पन्न हुआ है । उसका प्रमाण यह है कि वह आज भी जब उदय प्राप्त करता दीखता है, तब एक अचल से ही—उदयाचल से, सागर से नहीं ॥ ४३ ॥

निजानुजेनातिथितामुपेतः प्राचीपतेर्वाहनवारणेन ।
सिन्दूरसान्द्रे किमकारि मूर्ध्नि तेनारुणश्रीरयमुज्जिहीते ॥ ४४ ॥

जीवातु—निजेति । निजानुजेन एकस्मात्सिन्धोरुत्पन्नतयाऽस्माच्चन्द्रात् पश्चाज्जातेन कनीयसा भ्रात्रा प्राचीपतेरिन्द्रस्य वाहनवारणेन प्राच्या स्थितेनैरावतेनातिथितामुपेतः प्राप्तः । प्राच्यामुदितत्वात्तत्सविधं प्राप्तः सन्नयं चन्द्रोऽग्रजत्वासिन्दूरेण सान्द्रे मूर्ध्नि अकारि कृतः किम् ? गौरवान्नमस्कारपूर्वं शिरस्यारोपितः किमित्यर्थः । तेन सान्द्रसिन्दूरशिरःस्थापनेन हेतुना लग्नसिन्दूरवशादयमरुणश्रीः रारक्तशोभः उज्जिहीते उदेति, उज्जिहीते किमिति वा । उदितश्चन्द्रः सिन्दूररक्तो दृश्यत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—किं निजानुजेन प्राचीपतेः वाहनवारणेन अतिथिताम् उपेतः अयं सिन्दूरसान्द्रे मूर्ध्नि अकारि तेन अरुणश्रीः उज्जिहीते ।

हिन्दी—क्या अपने (चंद्र के) पश्चाज्जात (अनुजात, छोटे भाई) पूर्वादिक् के स्वामी (इन्द्र) के वाहन-गज (ऐरावत) द्वारा अतिथिभाव को प्राप्त कराया गया (अतिथि बनाया गया) यह (चंद्र) सिंदूर से रंगे मस्तक पर रख लिया गया, जिससे यह अरुणशोभा सम्पन्न (लाल-लाल) उदित हो रहा है ।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि उदय प्राप्त करता चंद्र लाल-लाल दीख रहा है । इस पर कल्पना है कि कहीं चन्द्रमा का अतिथि सत्कार करते समय अनुज

ऐरावत ने अग्रज को अपने सिंदूर-पुते मस्तक पर तो शिरोधार्य कर आदर नहीं दिया था ? लगता है, शिरोधार्य होते समय यही सिंदूर चंद्र के लग गया, उसी से वह 'अरुणश्रीः' है। पुराण-कथा (महाभारत-आदिपर्व) के अनुसार सागर से जन्मी वस्तुओं में चंद्र और इन्द्रगज ऐरावत में पूर्वापर-सम्बन्ध है। चंद्र प्रथम है, ऐरावत नवम। पहिले उत्पन्न होने से चंद्र को अग्रज और ऐरावत को अनुज कहा गया। अग्रज का संमान अनुज करता ही है॥ ४४॥

यत्प्रीतिमद्भिर्वदनैः स्वसाम्यादचुम्बि नाकाधिपनायिकानाम्।
ततस्तदीयाधरयावयोगादुदेति बिम्बारुणबिम्ब एषः॥ ४५॥

जीवातु—यदिति। वृत्तत्वादिगुणयोगेन स्वसाम्यात्प्रीतिमद्भिर्नाकाधिपस्येन्द्रस्य नायिकानां वदनैर्यस्मात्स्वसविधमागत एव चन्द्रोऽचुम्बि चुम्बितः, तस्माद्धेतोस्तस्माच्चुम्बनाद्वा तदीयानां देवेन्द्रनायिकानामधरेषु न्यस्तो यावोऽलक्तकस्तस्य योगात्संबन्धाद्धेतोर्बिम्बवत्पक्वबिम्बीफलवदरुणं बिम्बं मण्डलं यस्य तादृश उदेति। अन्योऽपि समानः सखा सविधमागतः सन् सख्या प्रीत्या चुम्ब्यते। 'मुखैः' इति बहुवचनेन तत्र प्रदेशे युगपदेव चुम्बनाद्बहुलयावकयोगात्सकलस्यापि चन्द्रबिम्बस्य रक्तत्वं युक्तमिति सूचितम्॥ ४५॥

अन्वयः—स्वसाम्यात् नाकाधिपनायिकानां प्रीतिमद्भिः वदनैः यत् अचुम्बि ततः तदीयाधरयावयोगात् एषः बिम्बारुणबिम्बः उदेति।

हिन्दी—अपनी (स्वर्ग सुन्दरियों के मुखों की) समानता के कारण स्वर्ग के स्वामी (इन्द्र) की नायिकाओं (सुन्दरियों, अप्सरियों) के प्रणयपूर्ण मुखों ने जो चूमा, उससे उन (सुन्दरियों) के अधरों पर लगी लाली के लगने से यह (चंद्र) बिंबफल के समान अरुण-मंडलवान् उदित हो रहा है।

टिप्पणी—बिंब-फल सदृश लाल, उदय-संप्राप्त चंद्र के विषय में एक और उद्भावना। उदय-काल के चंद्र इन्द्र की प्राची दिशा में पहुँचा। वहाँ आकार और गुण दोनों दृष्टियों से वह स्वर्ग की सुन्दरियों को अपने मुखों-सा लगा, अतः अपने जैसा पा उनके प्रीतिपगे मुखों ने चंद्र को प्यार से बारम्बार चूमा। फलतः ओठों पर लगी लाली चंद्र पर लग गयी और वह लाल हो गया॥

विलोमिताक्लोक्तिकिरणाद् दुरुहृद्द्गादिना दृश्यविलोचनादि।
विधिर्विधत्ते विधुना वधूनां किमाननं काञ्चनसञ्चकेन ?॥ ४६॥

जीवातु—विलोमितेति। विधिर्ब्रह्मा विधुना चन्द्रेणैव काञ्चनस्य सञ्चकेन बिम्बकेन कृत्वा वधूनामतिरमणीयमाननं विधत्ते किम्। यतः किंभूतेन ? विलोमितः पराङ्मुखः कृतः स्वप्रभया जितः अङ्कः कलङ्को येन तादृशादुत्कृष्टादतितेजस्विनः किरणाद्धेतोर्दुरूहो दुस्तर्क्यो दृगास्निर्नेत्राद्यवयवो यस्य, अथ च,—विपरीतीकृतानामङ्कानां नेत्रादिनिर्माणार्थं निम्नोन्नताशचिह्नस्थानानामुत्किरणं संघटनं तस्माद्धेतोः साक्षादलक्ष्यनेत्रकर्णनासिकाद्यवयवेन। आननं तु साक्षाद्दृश्यविलोचननासाकर्णाद्यवयवा यस्य तादृशम्। तस्माद् ब्रह्मा स्त्रीमुखं चन्द्ररूपेण स्वर्णस्य सञ्चकेन निर्ममे। सञ्चके हि निष्पाद्यस्य वस्तुनो निम्नोन्नतभागा विपरीता एवोत्कीर्यन्ते। तत्र च नेत्राद्यवयवा दुर्ज्ञेया भवन्ति, तन्निर्मिते मुखादौ च दृश्या भवन्ति, तस्मादेवं तर्क्यत इत्यर्थः। उदितमात्रचन्द्रोऽत्युत्तमसुवर्णसञ्चकप्रयुक्तो दृश्यत इति भावः। उत्तमं सुवर्णं रक्तवर्णं भवति। 'आननम्' इति जात्येकवचनम्॥ ४६॥

अन्वयः—किं विधिः विलोमिताङ्कोत्किरणात् दुरूहदृगादिना विधुना काञ्चनसञ्चकेन दृश्यविलोचनादि वधूनाम् आननं विधत्ते ?

हिन्दी—क्या विधाता उल्टे अवयव चिह्न उकेरे जाने के कारण अथवा अपनी दीप्ति से अंक-कलंक को जयशील उत्कृष्ट किरणें होने के कारण जिसके नेत्र आदि अवयव अस्पष्ट हैं, ऐसे चन्द्रमा के सुवर्ण के साँचे से प्रत्यक्ष होते नेत्रादि अवयवों से युक्त सुन्दरियों के मुख की रचना करता है ?

टिप्पणी—नवोदित चन्द्रमा श्रेष्ठ सोने के साँचे के समान रक्त-पीत दीखता है—यह आशय है। सुन्दरियों के गुलाबी कांचनप्रभ आननों के ऐसे ही चन्द्ररूप सोने के साँचे से रचे जाने की कल्पना नवोदित चन्द्र की रमणीयता का संकेत करती है। मुख में नेत्रादि अवयव होते हैं, वे चन्द्र में स्पष्ट नहीं हैं। चन्द्र-किरणों की उत्कृष्ट प्रभा से वे 'अङ्क' अस्पष्ट हो सकते हैं, किन्तु साँचे में जिसकी रचना अपेक्षित होती है, उसके चिह्न साँचे में उलटे उकेरे जाते हैं, जिससे साँचे में ढली वस्तु में वे सीधे आते हैं। चन्द्र के स्वर्णसञ्चक में नेत्रादि अवयव उलटे उकेरे गये हैं, अतः वे 'विलोमित अङ्क' 'दुरूह' हैं। सुन्दरियों के मुख जब उस साँचे में ढल कर आते हैं तब वे विलोमिताङ्कित नयन-नासिकादि अङ्ग स्पष्ट दृश्यमान रहते हैं। इस प्रकार यहाँ नवोदित चन्द्र में वधू मुख रचना के 'काञ्चनसञ्चकत्व' की कल्पना की गयी है॥ ४६॥

अनेन वेधा विपरीतरूपविनिर्मिताङ्कोत्किरणाङ्ककेन ।
त्वदाननं दृश्यदृगाद्यलक्ष्यदृगादिनैवाकृत सञ्चकेन ॥ ४६क ॥

जीवातु—अनेनेति । वेधाः विपरीतरूपं यथा तथा विनिर्मितमुक्तविध-मङ्कोत्किरणं यत्र तादृशमङ्कं यस्य । तेन । तथा,—अलक्ष्यदृगादिनानेन चन्द्रेणैव सञ्चकेन दृश्यं सुन्दरतरम्, अथ च,—प्रत्यक्षदर्शनयोग्यं दृगादि यस्य तादृशं त्वदाननमकृत । त्वदाननमेवाकृत न त्वन्याननमिति वा । अयमेवात्र श्लोके विशेषः । अयं श्लोकः क्षेपकः ॥

अन्वयः—वेधाः विपरीतरूपविनिर्मिताङ्कोत्किरणाङ्ककेन अलक्ष्यदृगादिना अनेन सञ्चकेन एव दृश्यदृगादि त्वदाननम् अकृत ।

हिन्दी—विधिने उलटे रूप में जिसमें नेत्रादि अवयवों के चिह्न खोदे गये हैं, ऐसे अस्पष्ट नेत्रादि अवयवों-वाले इस (चंद्र रूप) साँचे से ही जिसमें नेत्रादि अंग 'दृश्य' (प्रत्यक्ष और देखने-योग्य अर्थात् रमणीय) है, ऐसे तेरे (दमयंतीके) मुख की रचना की है ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक और इस अंक के अर्थ-भाव में केवल इतना अंतर है कि उसमें चंद्र को सुंदरियों के आनन का स्वर्ण-संचक कहा गया है, यहाँ केवल दमयंती मुख का साँचा । अर्थात् जाति से व्यक्ति का वर्णन हो गया है । अर्थात् विधिने चंद्र-काञ्चन-संचक से दमयंती का ही आनन बनाया है, अन्य सुन्दरी का नहीं । लगभग समान भाव होने के कारण इस श्लोक को नारायण ने क्षेपक माना है ॥ ४६क ॥

अस्याः सुराधीशदिशः पुराऽसीत् यदम्बरं पीतमिदं रजन्या ।
चन्द्रांशुचूर्णव्यतिचुम्बितेन तेनाधुना नूनमलोहितायि ॥४७॥

जीवातु—अस्या इति । हे भैमि ! अस्याः सुराधीशस्येन्द्रस्य दिशः यदिद-मम्बरं गगनं वस्त्रं च पुरा चन्द्रोदयात् पूर्वं रजन्या रात्र्या हरिद्रया च पीतं तमोव्याप्तत्वादहश्यं पीतवर्णं चासीत्, तेनाम्बरेण गगनेन वस्त्रेण चाधुना चन्द्रोदये चन्द्रांशूनां चूर्णैः श्लक्ष्णसूक्ष्मतेजोलेशैः कर्तृभिर्व्यतिचुम्बितेनातितरां स्पृष्टेन सता चन्द्रांशुवच्छुभ्रतरेण चूर्णेन ताम्बूलसाधनचूर्णद्रव्येण स्पृष्टेन सता नूनमलोहितायि आरक्तीभूतम् । हरिद्रया पीतवर्णं वस्त्रं चूर्णेन युक्तं सद्रक्तं भवति ।

देवेन्द्रस्त्रियाश्च वस्त्राणि नानावर्णानि युक्तानि। चन्द्रासव एव चूर्णमिति वा। अलोहितायि, लोहितादित्वयषन्ताद्भावे क्विप् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अस्याः सुराधीशदिशः यत् इदम् अम्बरं पुरा पीतम् आसीत् चन्द्रांशुचूर्णव्यतिचुम्बितेन तेन अधुना नूनम् अलोहितायि।

हिन्दी—इस देवराज की दिशा (पूर्वा) का जो यह गगन-रूप वस्त्र पहिले (चंद्रोदय से पूर्व) रात्रि-रूपिणी हल्दी द्वारा 'पीत' (अव्यक्त, अंधेरा और पीला - पीले रंग का) था, चंद्र-किरणों के प्रकाशपूर्ण चूरे से संस्पृष्ट हो जाने के कारण इस समय (चंद्रोदय होने पर) निश्चयतः लाल रंग का हो गया है।

टिप्पणी—आशय यह है कि चंद्रोदय से पूर्व आकाश अंधेरा और अव्यक्त था, मानो रात्रि ने आकाश पी रखा था। चंद्रोदय हुआ और अव्यक्त काला आकाश चंद्र की पीतरक्त दीप्ति से पूर्ण हो गया। 'अंबर' (आकाश और वस्त्र) 'रजनी' (रात और हल्दी) और 'पीत' (पिया हुआ, पीले रंग का) शब्दों की अनेकार्थकता के आधार पर यह कल्पना की गयी है कि चंद्रोदय से पहिले अंबर-रूप अंबर 'पीत' अर्थात् पीला था 'रजनी' (हल्दी) से, अब चंद्रोदय होने पर किरणों का चूर्ण उस 'पीत वर्ण वस्त्र' पर पड़ा, सो वह लाल दीखने लगा। हल्दी से पीले वस्त्र पर कोई प्रक्षालन चूर्ण (धोने का पाउडर) डालिए, रंग लाल दीखने लगेगा। पूर्व दिशा चंद्र की दिशा है। देवेन्द्र से सम्बद्ध सुन्दरियों के वस्त्र रंग-बिरंगे हो ही सकते हैं ॥ ४७ ॥

तानीव गत्वा पितृलोकमेनमरञ्जयन् यानि स जामदग्न्यः।
छित्त्वा शिरोऽस्राणि सहस्रबाहोर्विस्राणि विश्राणितवान् पितृभ्यः ॥४८॥

जीवातु—तानीति। सोऽतिवीरो जामदग्न्यः सहस्रबाहोः शिरश्छित्त्वा विस्राण्यामगन्धीनि यान्यस्राणि रक्तानि पितृभ्यो जमदग्न्यादिभ्यो विश्राणितवान्दत्तवान्। यै रक्तैः प्रतिज्ञातं पितृतर्पणं कृतवान्। तान्येव रक्तानि मन्त्रबलादिनृलोकं गत्वा प्राप्य पितृलोकाधीनम्(श)मेनं चन्द्रमरञ्जयन् रक्तं चक्रुरिव। 'चन्द्रो वै पितृलोकः' इति श्रुतेः। चन्द्रो रक्तवर्णो दृश्यत इति भावः। परशुरामः सहस्रार्जुनं हत्वा तदीयैः रक्तैः पितृतर्पणं कृतवानितीतिहासः। 'विस्रं स्यादामगन्धि यत्' इत्यमरः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—सः जामदग्न्यः सहस्रबाहोः शिरः छित्वा विस्राणि यानि अस्राणि पितृभ्यः विश्राणितवान् तानि एव पितृलोकं गत्वा एनम् अरञ्जयन् ।

हिन्दी—उन (विख्यात) जमदग्नि-पुत्र (परशुराम) ने सहस्रबाहु (कार्तवीर्य अर्जुन) का शिर काट कर निर्गंध जिस रुधिर से स्व-पितरों का तर्पण किया, वे (रुधिर) ही पितृलोक में पहुँच कर इस (चंद्र) का अनुरंजन (तृप्ति, लाल वर्ण) कर रहे हैं ।

टिप्पणी—परशुराम-द्वारा सहस्रबाहु वध होने की प्रसिद्ध पुराण-कथा है । अपने पूर्व-पुरुषों को अपमानित करने वाले दुःक्षत्रिय के रक्त से जैसे भगवान् परशुराम ने अपने पितरों को श्रद्धाञ्जलि दे तृप्त किया था । वे तृप्त हुए, अनुरंजित हुए । पितृलोक के वासी परशुराम के पूर्वपुरुषों के संपर्क से जैसे उसी रुधिर से चंद्र भी अनुरंजित हुआ—रक्तवर्ण का । श्रुति के अनुसार चंद्र ही पितृलोक है ।

अकर्णनासस्त्रपते मुखं ते पश्यन्न सीतास्यमिवाभिरामम् ।
रक्तोस्रवर्षी बत लक्ष्मणाभिभूतः शशी शूर्पणखामुखाभः ? ॥ ४९ ॥

जीवातु—अकर्णेति । हे प्रिये ! शशी सितास्यमिवाभिरामं कर्णादिकृतशोभं ते मुखं पश्यन्नपि त्रपते न लज्जते बत चित्रम् । किंभूतः ? न विद्यते कर्णनासं स्वभावादेव यस्य सः । तथा रक्ता आरक्ता उस्राः किरणास्तद्वर्षणशीलः, शोणस्रासौ किरणवर्षी च तादृशो वा । तथा,—लक्ष्मणा कलङ्केनाभिभूत आक्रान्तमध्यः अत एव शूर्पणखाया रावणभगिन्या मुखवदाभा यस्य स तद्वदनतुल्यः; एषु लज्जाकारणेषु सत्स्वपि न लज्जते तच्चित्रमित्यर्थः । त्वन्मुखं पश्यन्नप्युदयत्येव, स्वं प्रकाशयति च, तस्मादेव न लज्जते, इति ज्ञायते । अन्यो ह्यकर्णनासो लज्जते, अयं तु तादृशोऽपि न लज्जत इत्यपि चित्रमेव । शूर्पणखामुखमपि लक्ष्मणेन पराभूतं छिन्नकर्णनासत्वाद्रुधिरवर्षि सद्रामममि लक्षीकृत्य वर्तमानम्, अत एवाभिभयरहितं च, सीतामुखं पश्यदपि न लज्जते, तदनन्तरमपि प्रौढिवादप्रकटनात् 'अभि' शब्दस्यावृत्तिः कार्या । 'लक्ष्म'शब्दो नान्तः, पक्षेऽकारान्तः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—अकर्णनासः रक्तोस्रवर्षी लक्ष्मणाभिभूतः शूर्पणखामुखाभः शशी अभिरामं सीतास्यम् इव ते मुखं पश्यन् न त्रपते बत !

हिन्दी—(प्रकृत्या ही) कान-नाक-विहीन, लाल किरण-रूप लाल रुधिर बरसाता कलंक-चिह्न से युक्त अतएव (रामानुज) लक्ष्मण-द्वारा विकृत

(रावण-भगिनी) शूर्पणखा के मुख सदृश चंद्र रमणीय (वैदेही) सीता के मुख-सदृश तेरे (दमयन्ती के) मुख को देखता लज्जित नहीं होता,--आश्चर्य है।

टिप्पणी--दमयंती का मुख अत्यंत रमणीय है, वैदेही रामप्रिया सीता के मुख सदृश। उसके संमुख चंद्र ऐसा लगता है, जैसा शूर्पणखा का कुरूप मुख, जिस पर लक्ष्मण द्वारा काट दिए गये नाक-कानों से रक्त बह कर ढा गया है, ऐसा आभास। ऐसे कुरूप चंद्र को तो दमयंती के रमणीय मुख को देख कर लाज से कहीं छिप जाना चाहिए। परन्तु आश्चर्य है कि वह सदा तो प्रत्यक्ष है-- ऐसा निर्लज्ज है वह। चंद्र में नाक-कान आदि अंग तो प्रकृत्या ही नहीं होते। लाल किरणें बरसता लाल रुधिर है। लक्ष्मण का अर्थ रामानुज भी है और कलंक चिह्न भी, अतएव मृगलाञ्छन चंद्र 'लक्ष्मणाभिभूत' है। इस प्रकार समानगुण होने से वह शूर्पणखा के मुख सदृश हुआ। कुरूप अदर्शनीय। 'अभिराम' का विग्रह 'रामम्+अभि' करके उसका अर्थ रामाभिमुख, अभि' अर्थात् 'भी'-रहित (भयरहित) सीतामुख भी माना गया है ॥ ४९ ॥

आदत्त दीप्रं मणिमम्बरस्य दत्त्वा यदस्मै खलु सायधूर्तः।
रज्यत्तुषारद्युतिकूटहेम तत्पाण्डु जातं रजतं क्षणेन ॥ ५० ॥

जीवातु--आदत्तेति। हे भैमि ! सायकालरूपो धूर्तो यद् रज्यन्नुदयकाले रक्तोमवस्तुषारद्युतिश्चन्द्र एव लेपवशाद्रज्यत् कूटहेम कृत्रिम सुवर्णमस्मै गगनाय मूल्यरूपेण दत्त्वा दीप्रं प्रकाशमानमम्बरस्य मणिं सूर्यमादत्त जग्राह। तदलीकहेम क्षणमात्रेण पाण्डु शुभ्रं रजतं खलु रूप्यमिव जातम्। धूर्तो हि रूप्यं लेपादिभिरुपलिप्य सुवर्णीकृत्य ददाति, वस्त्रान्तरस्थमपि प्रसरद्दीप्तिकं रत्नं च गृह्णाति। उदयानन्तरमतिक्रान्तोदयकालत्वाद्रक्तिमानं परित्यज्य चन्द्रो रूप्यवद्धवलो जात इति भावः। अत्र सोऽत्र 'साय'शब्द 'साय'शब्दसमानार्थः ॥ ५० ॥

अन्वय--सायधूर्तः यत् रज्यत्तुषारद्युतिकूटहेम अस्मै दत्त्वा दीप्रम् अम्बरस्य मणिम् आदत्त तत् खलु क्षणेन पांडु रजतं जातम्।

हिन्दी--सायंकालरूपी धूर्त (ठग) ने जो (उदय काल में) रक्त-पीत हुए तुषार सी शुभ्र दमक वाले चंद्र रूप छद्म-सुवर्णपिंड (नकली सोना) को इसे (आकाश को) देकर दीप्र (दमकती) अम्बरकी मणि (सूर्य) को ले लिया, वह (चंद्र-कपट स्वर्ण) क्षण भर में ही शुभ्र चाँदी हो गया।

टिप्पणी—उदय काल में चंद्रमा रक्त-पीत या सुवर्ण-सदृश। धीरे-धीरे वह ऊँचा होता गया, उसका रंग समाप्त होता गया और वह शुभ्र हो चला। इसी आधार पर यहाँ कल्पना है कि रक्त-पीत, उदयकालीन चन्द्र एक रजत-खंड था, उस पर स्वर्ण-लेप चढ़ाकर सायंकाल रूपी वंचक ने आकाश को दे दिया कि यह स्वर्णपिंड है; और इस प्रकार नकली सोना देकर उसके बदले में उसकी मणि (अम्बरमणि सूर्य) ले ली। आकाश को ठग लिया। अब यह धोखा प्रत्यक्ष हो रहा है। नकली पानी, स्वर्णलेप उतर गया और रजत खंड प्रत्यक्ष हो गया ॥ ५० ॥

बालेन नक्तंसमयेन मुक्तं रौप्यं लसड्डिम्भ्रमिवेन्दुबिम्बम्।
भ्रमिक्रमादुज्झितपट्टसूत्रनेत्रावृति मुञ्चति शोणिमानम् ॥ ५१ ॥

जीवातु—बालेनेति। हे प्रिये ! रौप्यं राजतं रजतमयं लसद्विलसमानं डिम्बं बालक्रीडासाधनं भ्रमरकमिवेन्दुबिम्बं कर्तृ भ्रमिक्रमाद् भ्रमणपरिपाट्या, अथ च,—ऊर्ध्वदेशगमनक्रमेणोज्झिता त्यक्ता या पट्टसूत्रस्य नेत्रं दोरकस्तत्कृता आवृतिर्वेष्टनं तद्रूपम्, अथ च,—पट्टसूत्रजालिकावत् चन्द्रावरणं येन तं शोणिमानं रक्तिमानं मुञ्चति। किंभूतमुभयम् ? नक्तंसमयरूपेण बालेन अथ च,—बालेन प्रदोषरूपेण, रात्रिसमयेन मुक्तं भ्रमणार्थं करात् कृतमोचनम्, अथ च—उद्गीर्णं जनितोदयम्। शिशुक्रीडासाधनं हि भ्रमरकं काष्ठमयं भवति। ईश्वराणां च डिम्बं समृद्धत्वविषयाद्राजतं पट्टसूत्रवलितदोरकत्रसनात्तत्सम्बन्धजातं रक्तिमानं मुञ्चति। तथेदं चन्द्रबिम्बमपीत्यर्थः। इदानीं चन्द्रो धवलो जात इति भावः। 'नेत्रा-वृते—' इति पाठे—भ्रमिक्रमाद्धेतोरुज्झिता या पट्टसूत्रनेत्रावृतिस्तस्या हेतोः शोणिमानं मुञ्चति। उज्झिता डिम्बेनैव पट्टसूत्रनेत्रावृतिर्येन तादृशात् भ्रमिक्रमा-द्धेतोरिति वा डिम्बं लट्टू इति वा राष्ट्रभाषायां भ्रमरकस्य संज्ञा। राष्ट्रभाषायां च 'भँवरा' इति संज्ञा। रौप्यं संबन्धे विकारे वाण्। 'नेत्रं मन्थगुणे वस्त्रे' इत्यभिधानात् 'नेत्रशब्दो' यद्यपि मन्थवेष्टनगुणे मुख्यः तथाप्यत्र गुणमात्रपर इति ज्ञेयम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—बालेन नक्तंसमयेन मुक्तं रौप्यं लसत् डिम्बम् इव इन्दुबिम्बं भ्रमिक्रमात् उज्झितपट्टसूत्रनेत्रावृति शोणिमानं मुञ्चति।

हिन्दी—बालक रात्रिकाल द्वारा छोड़े गये रुपहले, सुन्दर लट्टू-सा चन्द्र

का विम्ब घूमने रूप ऊपर-चले जाने के क्रम से लत्ती (लट्टू घुमाकर छोड़ने की डोरी) की डोर की लपेटन-रूप लालिमा को छोड़ रहा है।

टिप्पणी—रात और बढ़ी। चन्द्रमा और ऊँचे पहुँच गया और ललाई— लालिमा समाप्त हो गयी। लालिमा युक्त चाँदी से शुभ्र चन्द्र गोलक की तुलना यहाँ उस लट्टू से की गयी है, जिसे रात्रिकाल रूप बालक ने आकाश के तल पर नचाने को छोड़ दिया है। नचाने के लिए लट्टू एक डोरी—लत्ती में लपेट कर छोड़ा जाता है। जब वह हाथ से छूट कर घूमने लगता है, तब उस 'लत्ती' से मुक्त हो जाता है। चन्द्रमा लट्टू है, जो रात्रिकाल रूपी बाल द्वारा अम्बर-तल में नाचने (घूमने) छोड़ दिया गया, 'लत्ती'—रूपिणी लाली से अब वह मुक्त है ॥ ५१ ॥

तारक्षरैर्यामसिते कठिन्या निशाऽलिखद्व्योम्नि तमःप्रशस्तिम्।
विलुप्य तामल्पयतोऽरुणेऽपि जातः करे पाण्डुरिमा हिमांशोः ॥ ५२ ॥

जीवातु—तारेति। निशाऽसिते श्यामे व्योम्नि गगन एव कज्जलादिलिप्त-श्यामलपट्टिकाया कठिन्याः शुभ्रधातुविशेषस्य सम्बन्धिभिस्ताराक्षरैः शुभ्रैरक्षरै-रिव नक्षत्ररूपैरक्षरैः कृत्वा या तमःप्रशस्ति तमोवर्णनश्लोकादिलिपिमलिखत्। ताराक्षरैरपलक्षितां या तमःप्रशस्ति रात्रिः कठिन्यालिखदित्ति या। ता लिपि विलुप्य प्रोञ्छयाल्पयतः परिमेयताराक्षरा कुर्वतो हिमांशोररुणेऽपि करे किरणे, अथ च—पाणौ, पाण्डुरिमा जातः। प्रवृद्धकिरणे हि चन्द्रे नक्षत्राणामल्पता भवतीति खटिकालिखिताक्षराणि मार्जयतश्चारक्तोऽपि करः खटिकासङ्गाद्धवलो भवतीति। तमसि नक्षत्राणि बहून्युज्ज्वलतराणि च दृष्टानि, चन्द्रे तूदितेऽल्पानि निष्प्रमाणि च जातानि, चन्द्रश्च धवलो जात इति भावः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—निशा असिते व्योम्नि कठिन्याः ताराक्षरैः यां तमःप्रशस्तिम् अलिखत् तां विलुप्य अल्पयतः हिमांशोः अरुणे करे अपि पाण्डुरिमा जातः।

हिन्दी—रात्रि ने काले गगन (पट्ट) पर खरिया के तारक रूप अक्षरों में जो अंधकार की प्रशस्ति लिखी थी, उस (प्रशस्ति-लेख) को पोंछ कर मिटाते हिमरश्मि (चन्द्र) के गुलाबी कर-रूप कर (किरण रूप हाथ) में भी (खरिया की) सफेदी आ गयी।

टिप्पणी—लाल से शुभ्र हुए चन्द्र के विषय में एक और कल्पना। चन्द्र-

ज्योत्स्ना फैलने से तारे धुंधले पड़ जाते हैं, वे काले गगन पटल पर अच्छे चमकते हैं। चन्द्र आया, गगन-पटल से तारे विलुप्त-से हो गये। तारे क्या थे, रजनी-द्वारा लिखे गये अंधकार के प्रशस्ति-लेख थे, जिसे गगन के श्यामपट्ट पर उसने कठिनी (सफेद खरिया) से लिखा था। चन्द्र ने स्वकरों से वे तारकाक्षर पोंछे, सो खरिया करों (हाथों) में लग गयी और अरुणाभ हिमांशु भी शुभ्र हो गये ॥ ५२ ॥

सितो यदाऽत्रैष तदाऽन्यदेशे चकास्ति रज्यच्छविरुज्जिहानः।
तदित्थमेतस्य निधेः कलानां को वेद वा रागविरागतत्त्वम् ॥ ५३ ॥

जीवातु—सित इति। एष चन्द्रो यदा यस्मिन्काले अत्र देशे सितो धवलश्चकास्ति, तदा तस्मिन्नेव काले अन्यदेशे रज्यच्छवी रक्तकान्तिरुज्जिहान उदयन् शोभते। एवमत्रोदयरक्तः, अन्यत्र च श्वेत इत्यपि सामर्थ्याल्लभ्यम्। एतद्देशस्थं प्रदीदानीं सितो दृश्यते, द्वीपान्तरस्थं प्रति तूदयमिवानीमेव दृश्यते यस्मात्, तस्मात्कलानां निधेः पूर्णस्य चन्द्रस्य रागविरागयोर्लोहितत्वालोहितत्वयोस्तत्त्वं याथार्थ्यमित्यममुना प्रकारेण को वा वेद, अपि तु—कोऽपि निश्चेतुं न शक्नोतीत्यर्थः। उदयास्तमययोरतात्त्विकत्वाद्व्यवहितस्य यत्र यदा प्रथमदर्शनं तदा तत्रोदय इति दूरस्थस्य प्रथमं रक्तत्वं प्रत्ययः, क्रमसामीप्यात्तु धावल्यप्रत्यय इति तत्त्वम्। अन्यस्यापि चतुःषष्टिकलाभिज्ञस्यानुरागानुरागयोर्याथात्म्यं क्वानुरक्तः क्व वा नेति कोऽपि न जानाति ॥ ५३ ॥

अन्वयः—एषः यदा अत्र सितः चकास्ति तदा अन्यदेशे उदयन् रज्यच्छविः, तत् इत्थं कलानां निधेः एतस्य रागविरागतत्त्वं को वा वेद ?

हिन्दी—यह (चन्द्रमा) जब यहाँ (इस देश में) शुभ्र दमकता है, उस समय किसी दूसरे स्थान में उदय-प्राप्त होता हुआ अरुण कांति शोभित होता है; सो इस प्रकार कलाओं के आगार इस (चंद्र) के राग (अनुराग और लालिमा) और विराग (विरक्ति और लाली हीनता) की यथार्थता को कौन समझ सकता है ? (कोई नहीं)।

टिप्पणी—विभिन्न देशों–स्थानों में सूर्य-चन्द्रादि की स्थिति सदा भिन्न रहा करती है और वे विभिन्न स्थलों से भिन्न प्रकार के दृश्यमान होते हैं। एक स्थान पर दीखता है कि चंद्र उदित होकर ऊँचे आकाश में चढ़ गया है

और पूर्ण शुभ्र—रंगरहित है, उसी समय अन्यत्र दीखता है कि वह उदयोन्मुख है और अरुणवर्ण है, अन्यत्र अस्त है, दीखता ही नहीं है, आदि-आदि। जितने देश-प्रदेश उतनी स्थितियाँ। चन्द्र की षोडश कलाएँ मानी जाती हैं, अतः उसे कलानिधि कहा जाता है। कलानिधि (चन्द्र और विभिन्न कलाओं का ज्ञाता), राग (अनुराग और लाली) तथा विराग (विरक्ति और रंग रहितता) शब्दों की अनेकार्थता के आधार पर यहाँ यह मान लिया गया है कि कलामर्मज्ञ जनों के अनुराग और विरक्ति की थाह पाना कठिन होता है, किस पर उनका अनुराग है, किस पर और किस समय नहीं है—यह जानना दुष्कर है, जैसे कि कलानिधि चन्द्र की अरुणिमा और लालिमाहीनता के स्थल, समय और पात्रता का जानना कठिन है। चन्द्र यहाँ शुभ्र है, अन्यत्र रक्त वर्ण होगा। वस्तुतः, चन्द्र का उदयास्त सापेक्ष है। किसी को कहीं वह उदित दीखेगा, किसी को अस्त। न तो वह उदित है, न अस्तगत। अपनी स्थिति और तदनुसारिणी दृष्टि ही चन्द्र की विविध स्थितियों का अनुभव कराया करती है ॥ ५३ ॥

काश्मीरजैः रश्मिभिरौपसन्ध्यैर्मृष्टं धृतध्वान्तकुरङ्गनाभि।
चन्द्रांशुना चन्दनचारुणाऽङ्गं क्रमात् समालम्भि दिगङ्गनाभिः ॥ ५४ ॥

जीवातु—काश्मीरजैरिति। दिग्भिरेवाङ्गनाभिः सन्ध्यायाः समीपमुपसन्ध्यं तत्र जातरौपसन्ध्यैः रश्मिभिरेव काश्मीरजैः कुङ्कुमैः कृत्वा मृष्टं पूर्वं कृतोद्वर्तनं ततः सन्ध्यायामपगतायां धृता ध्वान्तरूपा मृगनाभिः कस्तूरी येन तादृशमङ्गं क्रमात्कस्तूरीलेपानन्तरं चन्द्रांशुनैव चन्दनेषु मध्ये चारुणोत्तमेन चन्दनेन कृत्वा समालम्भि अलेपि। अन्या अपि ह्यङ्गनाः कुङ्कुमादिभिः क्रमेणाङ्गमनुलिम्पन्ति। चन्दनधवलैश्चन्द्रकरैः सर्वा अपि दिशो वितमस्काः कृता इति भावः। औपसन्ध्यैः सामीप्येऽव्ययीभावाद्भवार्थेऽण् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—दिगङ्गनाभिः औपसन्ध्यैः रश्मिभिः कश्मीरजैः मृष्टं धृतध्वान्तकुरङ्गनाभि अङ्गं क्रमात् चन्द्रांशुना चन्दनचारुणा समालम्भि।

हिन्दी—दिशारूपिणी सुन्दरियों ने सन्ध्याकालीन किरणों के कश्मीरोत्पन्न कुङ्कुमका लेप किये, अंधकार रूपिणी कस्तूरी से युक्त अपने अंग पर क्रम से (एक के पश्चात् एक) चन्द्रकिरणरूपी उत्तम चन्दन का लेप किया।

टिप्पणी—पहले, जब सन्ध्या काल था, तब दिशाएँ किरणों के प्रकाश से

लाल थीं, फिर रात होने पर अन्धेरे से काली हो गयीं और अनन्तर जब चन्द्र-ज्योत्स्ना निखर कर फैल गयी तो दिशाएँ शुभ्र हो गयीं। इस व्यापार को दिशारूपिणी सुन्दरियों के क्रमिक शृंगार के रूप में उद्भावित किया गया है। दिशा-सुन्दरियों ने अपने अंगों पर पहिले काश्मीर-कुङ्कुम लगाया (लाल), तदनन्तर कस्तूरी का लेप किया (तम की कालिमा) और अन्त में उत्तम चन्दन का गाढ़ा लेप कर लिया (चाँदनी की शुभ्रता)। स्त्रियाँ इसी प्रकार क्रमिक शृंगार किया करती हैं॥ ५४॥

विधिस्तुषारर्तुदिनानि कर्तं कर्तं विनिर्माति तदन्तभित्तैः।
ज्योत्स्नीर्न चेत्तत्प्रतिमा इमा वा कथं कथं तानि च वामनानि॥ ५५॥

जीवातु— विधिरिति। विधिस्तुषारर्तोः शिशिरर्तोर्दिनानि कर्तं कर्तं छित्त्वा छित्त्वा तेषां दिनानामन्तभित्तैर्मध्यस्थैरन्विभिः सारभूतैः शकलैः शुभ्रैः खण्डैः कृत्वा ज्योत्स्नीर्निशा विनिर्माति। न चेदेवं यदि नाङ्गीक्रियते, तदेमा रात्रय-श्चन्द्रिकायुक्तास्तत्प्रतिमास्तैर्दिनैस्तुल्याः शीतलत्वप्रकाशवत्त्वाभ्यां तत्सदृश्यः कथम् ? तानि च दिनानि वामनानि न्यूनपरिमाणानि न्यूनशीतत्वादिगुणानि कथं वा ? अपि तु-दिनवामनता रात्रिदीर्घताऽन्यथानुपपत्तेः शिशिरर्तुदिनापेक्षया च ज्योत्स्नीनामतितमां शीतत्वप्रकाशवत्त्वानुपपत्तेश्च शिशिरर्तुदिनानि छित्त्वा छित्त्वैव तत्सारभूतैश्च शकलैश्चन्द्रिकान्विता रात्रयो ब्रह्मणा रचिता इत्यर्थः। चन्द्रचन्द्रिकया रात्रिः शीतला धवलतरा च कृतेति भावः। कर्तं कर्तम् 'कृति छेदने' इत्यस्मा-दाभीक्ष्ण्ये णमुल् द्विर्वचनं च। ज्योत्स्नीः, ज्योतिरस्यास्तीत्यर्थे 'ज्योत्स्ना-तमिस्रा-'इति साधुकृतात् 'ज्योत्स्ना'-शब्दाद् अण्प्रकरणे 'ज्योत्स्नादिभ्य उप-संख्यानम्' इत्यस्त्यर्थेऽणि ङीप्॥ ५५॥

अन्वयः— विधिः तुषारर्तुदिनानि कर्तं कर्तं तदन्तभित्तैः ज्योत्स्नीः विनि-र्माति, न चेत् इमाः तत्प्रतिमाः कथम् तानि च वामनानि वा कथम् ?

हिन्दी— विधाता शीतकाल के दिनों को काट-काट कर उनके मध्य से से सम्बद्ध (सार-सार) खंडों (टुकड़ों) से चाँदनी रातों की रचना करता है, यदि ऐसा न होता तो वे (चाँदनी रातें) इन (शीत ऋतु दिनों) के समान (ठंढी और प्रकाश युक्त) कैसे होतीं और वे (शीतकालीन दिन) छोटे क्यों होते ?

टिप्पणी--शीतकाल (जाडे) के दिन छोटे होते हैं, उनमे धूप भी रहती है और शीतलता भी, और चाँदनी रातें भी ऐसी ही होती हैं, प्रकाश से दमदमाती, शीतल। इससे सिद्ध होता है कि सर्जनहार विधाता चाँदनी रातों की सृष्टि शीतकाल के दिनो से सारतत्त्व लेकर किया करता है। यही कारण है कि शीतकाल के दिन काटे जाने के कारण छोटे होते हैं और चाँदनी रातें शीतकालीन दिवसो का प्रकाश और शीतलता पाकर द्युतिमती और शीतल होती हैं। यदि विधाता ने ऐसा न किया होता तो न शीत ऋतु के दिन छोटे होते और न चाँदनी रातें प्रकाशदीप्त और शीतल होती। आशय यही है कि चाँदनी मे रात्रि ठंडी और उज्ज्वल हो गयी हैं ॥ ५५ ॥

इत्युक्तिशेषे स वधूं बभाषे सूक्तिश्रुतासक्तिनिबद्धमौनाम्।
मुखाभ्यसूयानुशयादिवेन्दौ केयं तव प्रेयसि! मूकमुद्रा? ॥ ५६ ॥

जीवातु--इतीति। स नलः इत्युक्तिशेषे एवं चन्द्रवर्णनावसाने सूक्तीनां प्रसादादिगुणयुक्तानां शोभनवचनानां श्रुतेः श्रवणे विषये आसक्तया रसातिशयात्त्वेनतानतया बद्ध स्वीकृत मौन यया तां तूष्णीभावमास्थितां वधू भैमी प्रतीद बभाषे। इति किम्? हे प्रेयसि! इन्दौ विषये तवेयं मूकस्येव मुद्रा वाग्निरोधरीतिः किंकारणिका? त्वमपि किमिति न चन्द्रं वर्णयसीत्यर्थः। मौने स्वयमेव हेतुमुत्प्रेक्षते--मुखस्य चन्द्रकृततवदनसाम्यस्याभ्यसूया स्पर्धा तज्जन्यान्महतोऽनुशयात्मनोद्वेगादिव। स्वस्पर्धाकारिणो हि वर्णनेऽन्येन क्रियमाणेऽन्योऽपि कोपात्तूष्णीं तिष्ठति, नानुमोदते, स्वय च न त वर्णयति। तथा--त्वन्मुखस्पर्धाकरणसजातकोपादिवेन्दुम् न वर्णयसि नानुमोदसे च किमिति प्रश्नः। नलसूक्तिश्रवणादरकृतं मौनं कोपादिवेत्युत्प्रेक्षितम् ॥ ५६ ॥

अन्वय--इति उक्तिशेषे सः सूक्तिश्रुतासक्तिनिबद्धमौना वधू बभाषे--प्रेयसि, मुखाभ्यसूयानुशयात् इव इन्दौ तव इयं का मूकमुद्रा?

हिन्दी--इस प्रकार के वर्णना के समाप्त होने पर उस (नल) ने सूक्तियों (सुन्दर वचनों) को सुनने में आसक्ति के कारण चुप हो बैठी वधू (दमयन्ती) से कहा--प्रिये, (अपने) मुख से स्पर्धा करने से उत्पन्न द्वेष के कारण जैसे चन्द्र के प्रति तुम्हारा यह कैसा मौन भाव है?

टिप्पणी--नल ने (श्लोक संख्या ३९-५५) चन्द्रादि-वर्णन बड़ी सुन्दर

शैली में किया कि नवोढ़ा प्रिया दमयन्ती विभोर हो चुपचाप प्रियवाणी सुनती बैठी रही। नल की इच्छा जागी कि उसकी प्रिया भी कुछ कहती। सो उसने दमयन्ती के मौन भाव पर कटाक्ष किया कि क्यों दमयन्ती कुछ नहीं कहती? क्या उसने चन्द्र पर कोप किया है? कदाचित् दमयन्ती चन्द्र से इस कारण रुष्ट है कि चन्द्र ने दमयन्ती के रमणीय मुख से समानता-स्पर्धा करने का दुस्साहस किया। इस प्रकार सूक्ति-श्रवण के कारण में आदर के कारण उत्पन्न मौन के कोपजनित होने की उत्प्रेक्षा करके दमयन्ती को भी नल ने चन्द्र वर्णन के प्रति प्रेरित किया ॥ ५६ ॥

शृङ्गारभृङ्गारसुधाकरेण वर्णस्रजाऽनूपय कर्णकूपौ।
त्वच्चारुवाणीरसवेणितीरतृणानुकारः खलु कोपकारः ॥ ५७ ॥

जीवातु—शृङ्गारेति। हे प्रिये! त्वं शृङ्गाररससंबन्धी भृङ्गारः स्वर्णकलशस्तद्रूपेण सुधाकरेण चन्द्रेण हेतुना वर्णस्रजा कृत्वा मम कर्णकूपौ अनूपय जलपूर्णौ कुरु। वर्णस्रजः सरसत्वात्कर्णकूपयोर्जलपूर्णत्वकरणं युक्तम्। अथ च—शृङ्गाररससंबन्धिस्वर्णकलशस्य त्वन्मुखस्य संबन्धि यत्पीयूषं तस्याकरेण खनिभूतया सरसया वर्णस्रजा कर्णकूपावनूपय। खलु यस्मात् कोपकार इक्षुविशेषस्तव चारुवाण्या वक्रोक्त्यादिरूपाया वाचः संबंधिनः शृङ्गारादयो रसास्तेषां वेणिः प्रवाहस्तस्यास्तीरे समुद्भूतं तृणं तस्यानुकारस्तत्सदृशः। अतिस्वादुरसोऽपीक्षुविशेषो यदीयसरसवाणीतीरतृणमनुकरोति, न तु समो जातः। तां वाणीं श्रावय, चन्द्रं वर्णयेति भावः। 'कोपकाराद्या इक्षुविशेषाः' इति क्षीरस्वामी। अनूपय, 'अनूप'-शब्दात्, 'तत्करोति'—इति णिचि लोट् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—शृङ्गारभृङ्गारसुधाकरेण वर्णस्रजा कर्णकूपौ अनूपय, खलु कोपकारः त्वच्चारुवाणी रसवेणितीरतृणानुकारः।

हिन्दी—(नलने कहा कि प्रिये दमयंति) शृङ्गाररस के स्वर्णकलश-रूप चंद्र-तुल्य स्वमुख (अथवा शृंगाररस के स्वर्णकलश-तुल्य मुख की अमृत लहरी-सम वर्णावली से) से निःसृत वर्णमाला (वाक्यावली) से (मेरे—नलके) कानरूपी कूपों को पूर्ण करो; क्योंकि कोपकार (एक विशेष प्रकार मीठे रस का गन्ना) तुम्हारी (दमयंती की) मनोहर वाणी-रूपिणी रस-नदी के तट के तिनके के तुल्य है।

टिप्पणी—दमयंती से अनुनय करते नलने कहा कि वह भी कुछ कहे, उसके वचनों को सुन कर नल के कान जैसे सुधासिक्त हो जायेंगे। दमयंती के मुख को अमृत वर्षी स्वर्ण कलश चंद्र, उसके वचनों को अमृतवर्षा कहा गया और बताया गया कि मीठे से मीठा गन्ना भी उसकी रसमयी वाणी सरित् के तीरवर्ती घास के डंठल-सा नगण्य है। कर्ण कूप है, जो सूते पड़े हैं। वचनों की रस-धारा उनमें पड़े तो वे पूर्ण हों। आशय यह है कि दमयंती भी चंद्र वर्णन करे ॥ ५७ ॥

अत्रैव वाणीमधुना तवापि श्रोतुं समीहे मधुनः सनाभिम्।
इति प्रियप्रेरितया तयाऽस्य प्रस्तातुमारम्भि शशिप्रशस्तिः ॥ ५८ ॥

जीवातु—अत्रैवेति। इति प्रियेण प्रेरितया तया भैम्यायानन्तरं शशिनः प्रशस्तिर्माहात्म्यं प्रस्तोतुमारम्भि प्रारब्धा। इति किम्? हे भैमि! अहमत्रैव चन्द्रवर्णन एव विषये मधुनोऽमृतस्य सनाभिं तुल्यां तवापि वाणीमधुना श्रोतुं समीहे इच्छामीति ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अत्र एव मधुनः सनाभिं तव अपि वाणीम् अधुना श्रोतुं समीहे—इति प्रियप्रेरितया तया अस्य शशिप्रशस्तिः प्रस्तोतुम् आरम्भि।

हिन्दी—यहीं (स्व-समीप ही) मधु की सहोदरा (मधु-तुल्य) तेरी (दमयंती की) भी वाणी (वर्णना) को इस समय मैं (नल) सुनना चाहता हूँ—इस प्रकार प्रिय (नल) द्वारा प्रेरित उस (दमयंती) ने चंद्रमा की प्रशंसा की प्रस्तुतिका आरंभ किया।

टिप्पणी—प्रियनल के अनुनय-आग्रह पर दमयंती ने भी अपनी मीठी वाणी में चंद्र-वर्णनारंभ किया, जिसके लिए नल अत्युत्सुक था। यह वर्णन श्लोकसंख्या ५९–१०० में है ॥ ५८ ॥

पूरं विधुर्वर्द्धयितुं पयोधेः शङ्केऽयमेणाङ्कमणिं कियन्ति।
पयांसि दोग्धि प्रियविप्रयोगसशोककोकीनयने कियन्ति ॥ ५९ ॥

जीवातु—पूरमिति। हे प्रिय! अयं विधुः पयोधेः पूरमागन्तुकजलप्रवाहं वर्द्धयितुमेणाङ्कमणिं चन्द्रकान्तं कियन्ति पयांसि दोग्धि तस्माद् गृह्णाति तथा,—प्रियस्य चक्रवाकस्य विप्रयोगेन सशोकायाः कोक्याः नयने अपि कियन्ति जलानि दोग्धि, ताभ्यामपि सकाशाज्जलं कियद्गृह्णातीत्यहं शङ्के मन्ये—इति भैमी

प्रियमवदत्। उदिते चन्द्रे सागरपूरो वृद्धिं प्राप्तः, चन्द्रकान्ताः स्रवन्ति, चक्रवाकी भृशं रोदितीति भावः। दुहिद्विकर्मा ॥ ५९ ॥

अन्वयः—शङ्के—अयं विधुः पयोधेः पूरं वर्द्धयितुम् एणाङ्कमणि कियन्ति पयांसि दोग्धि, प्रियविप्रयोगसशोककोकीनयने कियन्ति ?

हिन्दी—(दमयंती बोली) मैं आशंका करती हूँ कि यह चंद्रमा सागर-प्रवाह को बढ़ाने के लिए चंद्रकांतमणि से कितना जल दुहता है और प्रिय (चक्रवाक) के वियोग में शोकमग्ना चक्रवाकी के नेत्रों से कितना जल निकालता है ?

टिप्पणी—चंद्रोदय से सागर-जल में वृद्धि होती है और वह उद्वेलित होने लगता है। चंद्रकांत मणियाँ पिघलकर बहने लगती हैं और विरहिणी चक्रवाकी आँसू बहाती है। दमयंती की कल्पना है कि सागरजन्मा चंद्र स्वजनक की संपदा–जल प्रवाह में वृद्धि करने के लिए न जाने कितनी चंद्रकांतमणियों को पिघला कर जलमय कर दिया करता है और न जाने कितनी चक्रवाकियों के कितने अश्रुजल बहाया करता है। भावी वियोग का पूर्वाभास ॥ ५९ ॥

ज्योत्स्नामयं रात्रिकलिन्दकन्यापूरानुकारेऽपसृतेऽन्धकारे।
परिस्फुरन्निर्मलदीप्तिदीपं व्यक्तायते सैकतमन्तरीपम् ॥ ६० ॥

जीवातु—ज्योत्स्नेति। हे प्राणेश! तमोऽवसरेऽतिश्यामा रात्रिरेव कलिन्द-कन्या यमुना तस्याः पूरं आगन्तुकातिनीलजलप्रवाहस्तदनुकारे तत्सदृशे तद्वदति-कृष्णेऽन्धकारेऽपसृते गते सति परिस्फुरन्ती निर्मला दीप्तिर्यस्य। प्रकाशमानश्चासौ धवलद्युतिश्च तादृशो वा यश्चन्द्रः स एव दीपो यत्र तादृशं चन्द्रिकारूपं सैकतं धवलतरवालुकामयं रात्रियमुनाया एव जलमध्यस्थितमन्तरीपं द्वीपं व्यक्तायते स्फुटमिव भवति प्रकटं दृश्यते। पूरावसरेऽस्फुटमपीदानीं स्फुटीभवतीति शङ्के। चन्द्रचन्द्रिकया सकलं धवलीकृतमिति भावः। व्यक्तायते व्यक्तमिव भवति, 'कर्तुः क्यङ्–' इति क्यङ्। अव्यक्तं व्यक्तं भवतीत्यर्थः। सैकतम्, 'सिकताशर्कराभ्यां च' इत्यस्त्यर्थेऽण् ॥ ६० ॥

अन्वयः—रात्रिकलिन्दकन्यापूरानुकारे अन्धकारे अपसृते परिस्फुरन्निर्मल-दीप्तिदीपं ज्योत्स्नामयं सैकतम् अन्तरीपं व्यक्तायते।

हिन्दी—रातरूपी यमुना के जल प्रवाह के अनुकर्ता (काले) अंधकार

के [illegible] जाने पर चमकता, स्वच्छ प्रकाश देने वाले दीपक (चंद्र) से युक्त चांदनी-रूप रेतीला अंतरीप (जल-मध्य निर्जल स्थल) स्पष्ट हो गया है।

टिप्पणी—काला अंधकार दूर हुआ, चंद्र निकला, सब ओर दमकती दुधिया चांदनी खिल गयी। लगता है कि रात यमुना है, काला अंधकार उसका काला जल था। वह बह गया और चांदनी के रूप में स्वच्छ, रेतीला अंतरीप स्पष्ट हो गया, जिस पर चंद्र का दीप जल रहा है। काले रात के अंधेरे में दूधिया चांदनी का प्रसार हो गया— यही आशय है ॥ ६० ॥

हासत्विषैवाखिलकैरवाणां विश्वं विशङ्केऽजनि दुग्धमुग्धम्।
यतो दिवा बद्धमुखेषु तेषु स्थितेऽपि चन्द्रे न तथा चकास्ति ॥ ६१ ॥

जीवातु—हासेति। अखिलकैरवाणां सकलकुमुदानां हासत्विषैव विकासदीप्त्यैव विश्वं सकलं जगत् दुग्धवत् मुग्धं धवलं शीतलं चाजनि जातम्, न तु चन्द्रेणेत्यहं विशङ्के, विशेषेण मन्ये। यतो हेतोर्दिवा तेषु सकलकैरवेषु बद्धमुखेषु सङ्कुचितेष्वविकस्वरेषु च सत्सु चन्द्रे स्थिते विद्यमानेऽपि सकलकुमुदविकासाभावात्सकलं जगत्तथा रात्राविव शीतलधवलतया न चकास्ति। तस्मादिदं जगत् कुमुदहासत्विषैव शीतलं धवलं च कृतम्, न तु चन्द्रेणेत्ययं। कुमुदवद् दुग्धवच्च शीतला धवला चन्द्रचन्द्रिकास्तीति भावः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—विशङ्के-अखिलकैरवाणां हासत्विषा एव विश्वं दुग्धमुग्धम् अजनि, यतः दिवा तेषु बद्धमुखेषु चन्द्रे स्थिते अपि तथा न चकास्ति।

हिन्दी—मैं मानती हूँ कि समग्र कुमुदों के हास की कांति से ही सकल जगत् दूध की भाँति धवल और शीतल हुआ है, क्योंकि दिन में उनके मुख बंद होने पर (कैरवों के मुँदे होने पर) चंद्रमा के रहते हुए भी (विश्व) वैसा (धवल-शीतल) नहीं शोभित होता है।

टिप्पणी—रात्रि में कुमुद खिलते हैं, दिन में मुँदे रहते हैं। रात में संसार में जैसी शुभ्रता और शीतलता रहती है, वैसी दिन में नहीं रहती। यह चंदा और चांदनी के कारण होता है। दमयंती ने यहाँ नयी संभावना सतर्क प्रस्तुत की। वह कहती है कि जगत् के धवल शीतल होने के कारण चंद्र-चंद्रिका नहीं हैं, क्योंकि चंद्रमा तो कभी-कभी दिन में भी होता है, परंतु दिन में तो जगत् की वैसी स्थिति नहीं रहती, न शीतलता रहती है, न धवलिमा। इसमें

प्रमाणित है कि जगत् की शीतलता धवलता का कारण चंद्र नहीं है। प्रतीत ऐसा होता है कि जगत् का शीतलता-धवलता कुमुदों के खिलने पर निर्भर करती है। जब कुमुद खिले होते हैं, तब रात में जगत् शीतल-धवल रहता है। दिन में कुमुद मुँद जाते हैं, जगत् में शीतलता रह जाती है न शुभ्रता, अतः प्रमाणित है कि इस प्रसंग में कारणभूत कुमुद हास ही है, चंद्र नहीं। भाव यह है कि कुमुदों के हास-सी और शीतल-धवल दूधिया चाँदनी सब ओर खेल रही है ॥ ६१ ॥

मृत्युञ्जयस्यैष वसञ्जटायां न क्षीयते तद्भयदूरमृत्युः।
न वर्द्धते च स्वसुधाप्तजीवस्रग्मुण्डराहूद्भवभीरतीव ॥ ६२ ॥

जीवातु—मृत्युमिति । मृत्युञ्जयस्य मृत्युं जितवतः शिवस्य जटायां वसन्नेव चन्द्रः षोडशांशभूतो न क्षीयते नाल्पपरिमाणो भवति, कलामात्र-स्वरूपेणैव तत्र सदा वर्त्तत्ततोऽपि न्यूनपरिमाणो न भवतीत्यर्थः। अथ च,—न क्षीयते न म्रियते यस्मात्, तस्मान्मृत्युञ्जयात्सकाशाद्भयेन दूरो मृत्युर्मरणहेतु-र्देवता यस्य सः मृत्युञ्जयजटाजूट-निवासान्मृत्युना स्प्रष्टुमपि न शक्यते तस्मान्न क्षीयतेऽयमित्यर्थः, तर्हि तत्र वसन्वर्द्धते किमिति नेत्याशङ्क्याह—वर्द्धते च न, उपचितोऽपि न भवतीत्यर्थः। यतः—स्वस्य सुधया आप्तो जीवश्चैतन्यं यैस्तानि स्रजो मुण्डानि शिरोमालायाः शिरःकपालानि तान्येव राहवस्तेभ्य उद्भवा समुत्पन्ना भीर्यस्य। कथम्? अतीव, नितरां भीत इत्यर्थः। सजीवमुण्डेषु बहवो राहव एवैते इति धिया भिया न वर्द्धते। भीतो हि सौख्याभावात्कृशतर एव भवति। अथ च,—पूर्णस्य राहोः सकाशाद्भयम्। अतः कारणद्वयान्न क्षीयते, न च वर्द्धते इत्येककल एव शिवशिरश्चन्द्र इत्यर्थः। एतेन चन्द्रस्य षोडशी कला वर्णिता। शिवशिरसि वर्तमानत्वादस्य माहात्म्यमपि वर्णितम्। मृत्युञ्जयेति, संज्ञायां 'भृतॄवृजि—' इति खश्, 'अरुर्द्विषत्—' इति मुम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—मृत्युञ्जयस्य जटायां वसन् तद्भयदूरमृत्युः एषः न क्षीयते, अतीव स्वसुधाप्तजीवस्रग्मुण्डराहूद्भवभीः वर्द्धते च न।

हिन्दी—मृत्यु-जयी (शिव) की जटा में निवास करता (अतएव) उन (शिव) के भय से मृत्यु जिससे दूर रहती है ऐसा यह (चंद्र) न घटता है, न मरता है और अपने (चंद्र के) अमृत की प्राप्ति के कारण जीव-चैतन्य प्राप्त

करते (शिवग्रीवास्थित) मुण्ड-माल में राहुओं की संभावना से अत्यंत डरा हुआ वृद्धि को भी नहीं प्राप्त करता।

टिप्पणी—चंद्र षोडश कलावान् है और वह एक कला से शिव-जटा में वास भी करता है—यह एक वस्तुस्थिति है। यहाँ उद्भावना यह है कि शिव-जटा वासी चंद्र क्षीण होकर है केवल एक कलावान्। चंद्र की षोडश कलाएँ क्षय को प्राप्त होती रहीं और जब एक कला रह गयी तो वह शिव-जटा-शरण में आ गया। वह पूर्णतः क्षीण हो जाता, किंतु शिव-जटाश्रयी हो बच गया, क्योंकि शिव हैं मृत्युञ्जय। मृत्यु उनके समीप पहुँच हो नहीं सकती, अतः चंद्र वहीं रह कर क्षीण होने और मरने से बच गया। उसे जब क्षीणता से छुटकारा मिलगया तो बढ़ कर पुनः षोडश कलावान् क्यों नहीं हो जाता? उसका कारण यह है कि चंद्र से जो निरंतर अमृतवर्षा होती रहती है, वह शिवग्रीवा-स्थित मुण्ड-माल के मुखों में पड़ती रहती है, जिससे वह मुण्ड-माल जीवित रहती है। अनेक मुण्डों में अनेक राहुओं की संभावना कर एक ही राहु से त्रस्त चंद्र अत्यंत त्रस्त रहता है और बढ़ नहीं पाता ॥ ६२ ॥

त्विषं चकोराय सुधां सुराय कलामपि स्वावयवं हराय।
ददज्जयत्येष समस्तमस्य कल्पद्रुमभ्रातुरथाल्पमेतत् ॥ ६३ ॥

जीवातु—त्विषमिति। एष चन्द्रो जयति सर्वोत्कर्षेण प्रकाशते। ततः किंभूत.? चकोराय स्वावयवं त्विषं निजांशभूता चन्द्रिकां ददत्। तथा,—सुराय अग्न्यादिदेवेभ्यो निजांशभूतां सुधां ददत्। तथा,—हराय निजांशभूतां कलां ददत्। अथापि अस्य चन्द्रस्यैतत्समस्तं परोपकारकरणमल्पमेव, अखिलमाकारकारि न भवतीत्यर्थः। यतः—समुद्रोत्पन्नत्वात्कल्पद्रुमस्य भ्रातुः। कल्पद्रुमस्तु कल्पितं सर्वं सर्वेभ्यो ददाति, अयं तु न तथेत्यल्पमेवेत्यर्थः। एवंविधः परोपकारी कोऽपि नास्तीति भावः। 'चकोराय' इति 'सुराय' इति च जात्येकवचनम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—चकोराय त्विषं सुराय सुधां स्वावयवं कलाम् अपि हराय ददत् एषः जयति, अथ कल्पद्रुमभ्रातुः अस्य एतत् सर्वम् अल्पम्।

हिन्दी—चकोर को कांति (चाँदनी), देवों को अमृत और अपना अंग कला भी शिव को देता यह (चन्द्र) जयी (स्तुत्य) है, किन्तु कल्पवृक्ष के भाई इस (चन्द्र) का यह सब (दान) थोड़ा ही है।

टिप्पणी—चन्द्र परोपकारी है। चकोर, देव गण और महादेव को चांदनी, अमृत और स्वांगभूत कला वह देता है। परन्तु विचार करने पर चन्द्र के लिए यह कोई विशेष गौरव का कृत्य नहीं है। चन्द्र कल्पवृक्ष का अग्रज है—बड़ा भाई। समुद्रजात रत्नों में प्रथम होने से वह कल्पवृक्ष का अग्रज है, जो सागर की षष्ठ संतान है। (महाभारत—आदिपर्व)। सबको अभीष्ट देने वाले कल्पतरु के अग्रज का यह स्वेच्छया दान अत्यन्त गौरव का कारण नहीं, एक सामान्य कृत्य है ॥ ६३ ॥

अङ्कैणनाभिर्विषकृष्णकण्ठः सुधाऽऽप्तशुद्धेः कटभस्मपाण्डुः ।
अर्हन्नपीन्दोर्निजमौलिधानान्मृडः कलामर्हति षोडशीं न ॥ ६४ ॥

जीवातु—अङ्केति। मृडः शिवो निजमौलौ धानात्स्थापनाद्धेतोरिन्दोः षोडशीं कलामर्हन्प्राप्नुवत्, अथ च—पूजयन् अपि षोडशीं कलां नार्हति न प्राप्नोति, न पूजयति च। निजशिरसि धारणादेव तस्याः प्राप्तिः पूजा च संभविनी। यो हाति-त्तरां पूज्यते स शिरसि धार्यते। तथा चैतस्य षोडशीं कला मृडः प्राप्नुवन्पूजयन्नपि च तां प्राप्नोतीति विरोधपरिहारः। यतः किंभूतस्येन्दोः, किंभूतश्च मृडः? अङ्कभूतो य एणो हरिणस्तद्युक्ता नाभिर्मध्यभागो यस्य; अथ च—अङ्करूपा कलङ्करूपा एणनाभिः कस्तूरी यत्र। मृडस्तु—विषेण कृष्णकण्ठः। तथा—सुधयामृतेनाप्ता शुद्धिर्धावल्यं येन, मृडस्तु—कटभस्मना चिताभस्मना पाण्डुः। तस्माच्चन्द्रस्याल्पमपि साम्यं शिवो न प्राप्नोति। किंच चन्द्रादधिकः शिवश्चेदभविष्यत् तर्हि तदीयकलां मौलौ नाधारयिष्यत्, सा मौलौ धृता, तेन तस्माच्चन्द्र एव तदधिक इत्यर्थः। शुभस्याशुभस्य च महदन्तरमिति भावः। 'षोडशीमपि कलां नार्हति' इत्यनेन पूर्णचन्द्रं नार्हतीति किं वाच्यमित्यपि सूचितम्। हरस्यापकर्षे विषं, चिताभस्म च हेतुः, चन्द्रोत्कर्षे मृगमदोऽमृतं च ॥ ६४ ॥

अन्वयः—विषकृष्णकण्ठः कटभस्मपाण्डुः मृडः अङ्कैणनाभेः सुधाप्तशुद्धेः इन्दोः षोडशीं कलाम् अपि निजमौलिधानात् अर्हन् अपि न अर्हति।

हिन्दी—हलाहल पान से नीले कंठ वाले, चिता की राख से धूसर शिव अंकभूत हिरण के रूप में कस्तूरी-लेप लगाये, अमृत से संशुद्ध चंद्र की सोलहवीं कला को भी अपने मस्तक पर धारण कर पूजा करते हुए भी उसके योग्य नहीं हैं।

टिप्पणी—कुछ वस्तुस्थितियाँ हैं। शिव का कंठ हलाहल पान से काला पड गया है—नीलकंठ, चिता-भस्म वे देह भर लपेटे रहते हैं। इस प्रकार अमद्र-वेष हैं, अमंगल रूप। इसके विपरीत चन्द्रमा कलंकरूप में कस्तूरी लेप से सज्जित है, अमृत-शुभ्र है। मंगलरूप है, भद्रवेष। शिव ने चन्द्र को शिरोधार्य बना सम्मान दिया—पूज्य किया और उसकी सोल्हवीं कला प्राप्त कर ली। परन्तु, चन्द्र और शिव दोनों की भद्रता-अभद्रता पर विचार करने से शिव इस योग्य भी नहीं ठहरते कि वे मंगलमय चन्द्र के सोलहवें भाग के अनुपात में भी हों।

सर्वथा अनुपयुक्त हैं वे। एक दूसरी दृष्टि से विचार करने पर शिव ने शुद्ध षोडश कलात्मक चन्द्र को जो शिरोधार्य कर सम्मान दिया, वह अनुपयुक्त ही किया। दोनों समान हैं—शिव का कंठ नीला है, चंद्र का मध्य काला है—एणांक। शिव भी भस्म-शुभ्र हैं, चंद्र सुधा-शुभ्र। (सुधा का अर्थ 'चूना' भी होता है, शिव राख लपेटे शुभ्र हैं, चंद्र चूना लपेटे शुभ्र है)। अपने जैसा चन्द्र, कलंकी चूना पोते, एक कला में क्षीण चंन्द्र शिव की शरण में आया, उसको प्राप्त कर उसे सिर पर स्थान दिया। यह क्या उचित नहीं किया? उचित ही किया। आशय यही है कि एक कलावान् चन्द्र शिव मस्तक पर है, अतः सत्पूज्य है ॥ ६४ ॥

पुष्पायुधस्यास्थिभिरर्धदग्धैः सितासितश्रीरघटि द्विजेन्द्रः ।
स्मरारिणा मूर्धनि यद्धृतोऽपि तनोति तत्तौष्टिकपौष्टिकानि ॥६५॥

जीवातु—पुष्पेति। ब्रह्मणा द्विजेन्द्रश्चन्द्र पुष्पायुधस्य कामस्यार्धदग्धैरस्थिभिः कृत्वाऽघटि निर्मितः। अत एव सितासितश्रीरुपान्तधवलमध्यमलकान्तिः। स्मरास्थिभिरेव निर्मित इत्यत्र हेतुमाह-स्मरारिणा मूर्धनि धृतोऽपि, अथ च-कृतसमानोऽपि, तस्य स्मरस्यैव तौष्टिकानि हर्षकारीणि, पौष्टिकानि अभिवृद्धि-कारीणि च यद्यस्मात्तनोति। कामारिणा पूज्यमानोऽपि कामहितमेव यस्मात्क-रोति, तस्मात्तदस्थिभिरेव घटित इत्यर्थः। एतादृक्कार्योपयोगिक किमपि नास्तीति भावः। अस्थिभिरिवेति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। अन्याश्रितोऽपि तदीयशत्रुहितं यः करोति स तदस्थिभिर्घटित इति लौकिकयुक्तिः। तौष्टिकपौष्टिकानि, 'प्रयोजनम्' इति ठक् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सितासितश्रीः द्विजेन्द्रः पुष्पायुधस्य अर्द्धदग्धैः अस्थिभिः अघटि, यत् स्मरारिणा मूर्ध्नि धृतः अपि तत्तौष्टिकपौष्टिकानि तनोति ।

हिन्दी—श्वेत-कृष्ण शोभा-सम्पन्न द्विजराज (चन्द्र) को पुष्पास्त्र (कामदेव) की (शिव द्वारा) आधी जला दी गयीं हड्डियों से (विधाता ने) रचा है, क्योंकि कामरिपु (महादेव) द्वारा मस्तक पर आधृत भी (चन्द्र) उस (काम) को संतुष्ट और पुष्ट करने वाले कार्य करता है ।

टिप्पणी—चंद्र श्वेत है और कलंक चिह्न-स्थल पर अश्वेत (श्याम) भी यह श्वेत-श्यामता कदाचित् इस कारण है कि उसकी रचना कामदेव की अधजली हड्डियों से हुई। जो अस्थिभाग जला उससे रचित भाग काला है, जो अदग्ध रहा उससे रचा श्वेत । कामास्थियों से संघटित किये जाने के अनुमान का एक आधार यह भी है कि वह जिस काम के अंश से संरचित है, कामशत्रु शिव के मस्तक पर रहने पर भी वह कार्य शिवरिपु की संतुष्टि और वृद्धि के ही करता है । यह इसीलिए है कि वह काम-भागरचित है । जो जिससे रचित है, उसके अनुरूप कार्य करेगा ही । आशय यह है कि चन्द्र कामोद्दीपक है । नारायण के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ॥ ६५ ॥

मृगस्य लोभात्खलु सिंहिकायाः सूनुर्मृगाङ्कं कवलीकरोति ।
स्वस्यापि दानादमुमङ्कसुप्तं नोज्झन्मुदा तेन च मुच्यतेऽयम् ॥ ६६ ॥

जीवातु—मृगस्येति । सिंहिकायाः सुतो राहुर्मृगाङ्कं चन्द्रं यत्कवलीकरोति तदङ्कमृगस्य लोभात् खलु ग्रासाभिलाषादिव । सिंहिकासुतः सिंहो मृगैरङ्कितं स्थलं मृगग्रासाभिलाषादेव स्वाधीनं करोति । तर्हि किमर्थं मुञ्चतीत्यत आह—अङ्कसुप्तं मध्यवर्तिनम्, अथ च—उत्सङ्गे विश्वासात्सुखेन निद्रितम्, अमुं मृगं स्वस्यापि दानाद्राहुदन्तक्षतखण्डनादपि नोज्झन् त्यजन्, अथ च—स्वशरीरस्यापि वितरणादत्यजन्, अयं चन्द्रस्तेन राहुणा तेन पुण्येन च हेतुना मुदा शरणागतरक्षणनिमित्तहर्षेण कृत्वा मुच्यते त्यज्यते । अन्योऽपि शरणागतं मृगं जिघांसोः सिंहाद्रक्षितुमात्मानमपि ददानो हि तेन पुण्येन सिंहान्मुच्यत एव । 'नोज्झन्' इति पाठे—स्वस्यापि दानाद्धसुप्तममुम् यतो नामुञ्चत्तेन हेतुनाऽयं विमुच्यते, अर्थाद्राहुणेत्यर्थः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—सिंहिकायाः सूनुः मृगस्य लोभात् खलु मृगाङ्कं कवलीकरोति, अङ्कसुप्तम् अमुम् स्वस्य अपि दानात् न उज्झन् अयं च तेन मुदा मुच्यते ।

हिन्दी—सिंहिका (राक्षसी) का पुत्र (राहु) हरिण के लोभ से ही मृगाङ्क (चन्द्र) को ग्रास बनाता है, गोद में विश्वास-पूर्वक सोये इस (मृग) को अपने को भी देकर न छोड़ते हुए इसे (चन्द्र को) वह (राहु) सहर्ष छोड़ देता है ।

टिप्पणी—तात्त्विक दृष्टि से सूर्य और चंद्र के मध्य जब पृथ्वी आ जाती है तो चन्द्र अदर्शन हो जाता है, यही चन्द्रग्रहण कहाता है, जिसकी पौराणिक मान्यता यह है कि अमृत-मंथन प्रसंग में चन्द्र सूर्य से अप्रसन्न हुआ दैत्य राहु-केतु भाग में द्विधा हो चन्द्र सूर्य का ग्रहण करता है । यहाँ एक नवीन उद्भावना है कि वस्तुतः सिंहिका नाम की राक्षसी का बेटा राहु चंद्र को चन्द्रमध्य-स्थित मृग की लालसा से पकड़ा करता है, किन्तु चन्द्रमा विश्वस्त हो गोद में सोये-एक प्रकार से विश्वस्त शरणागत हरिण-शिशुको अपने को संकट में डाल कर भी राहु को नहीं देता । इस प्रकार शरणागत-रक्षा का आदर्श उपस्थित कर एक सत्कर्म करता है । यद्यपि राहु एक राक्षस है, तथापि एक सत्कर्मी का आदर्श उस पर भी प्रभाव डालता है और वह चंद्र को प्रसन्नतापूर्वक त्याग देता है । चंद्र अपना प्राण देकर भी मृग शिशु को बचाता है, उसके कृत्य से राहु भी प्रसन्न हो जाता है । सिंहिका का बेटा सिंह मृग-भोजन को उद्यत है, किंतु शरणागतवत्सल उसे बचा रहा है सो उससे प्रभावित हो सिंह-राहु भी मृग और उसे शरण देने वाले चंद्र—दोनों को छोड़ देता है ॥ ६६ ॥

सुधाभुजो यत्परिपीय तुच्छमेतं वितन्वन्ति तदर्हमेव ।
पुरा निपीयास्य पिताऽपि सिन्धुरकारि तुच्छः कलशोद्भवेन ॥ ६७ ॥

जीवातु—सुधेति । सुधाभुजो देवा एनं चन्द्रं परिपीय साकल्येन पीत्वा तुच्छं रिक्तं यद्वितन्वन्ति कुर्वन्ति तदर्हमुचितमेव, यतोऽस्य पिता सिन्धुरपि कलशोद्भवेनागस्त्येन पुरा निपीय तुच्छो रिक्तः अकारि, तस्मात्कुलक्रमागतं तुच्छत्वमित्यर्थः । एतस्य पूर्वेऽपि परोपकारनिरताः, तस्मादयमपि तथैवेति भावः । कलशादुत्पन्नेनापि सागरस्य पानमित्याश्चर्यम् ॥ ६७ ॥

अन्वयः—सुधाभुजः एनं परिपीय यत् तुच्छं वितन्वन्ति, तत् अर्हम् एव; अस्य पिता सिन्धुः अपि पुरा कलशोद्भवेन निपीय तुच्छः अकारि ।

हिन्दी—अमृतपायी देवता इस (चंद्र) का पान कर इसे रिक्त करके छोड़ देते हैं, यह उपयुक्त ही है; क्योंकि इस (चंद्र) के जनक समुद्र को भी प्राचीनकाल में कलश से जन्मे (अगस्त्य) ने पीकर रिक्त कर दिया था ।

टिप्पणी—माना जाता है कि देव अमृतपीकर अमृतकलश चंद्र को रिक्त कर देते हैं, इसी से उसका क्षय हुआ करता है। उद्भावना है कि चंद्र का इस प्रकार पिया जाना पैतृक परंपरा है। चंद्र का जनक समुद्र भी कुंभजन्मा महर्षि अगस्त्य द्वारा पीडाला गया था। इस प्रकार पितृ-परंपरा का निर्वाह चंद्र का एक उचित कार्य है—परोपकार के लिए स्वदान की पैतृक परंपरा का परिपालन। कोई नया कार्य नहीं है ॥ ६७ ॥

चतुर्दिगन्तीं परिपूरयन्ती ज्योत्स्नैव कृत्स्ना सुरसिन्धुबन्धुः ।
क्षीरोदपूरोदरवासहानवैरस्यमेतस्य निरस्यतीयम् ॥ ६८ ॥

जीवातु—चतुरिति । चतुर्णां दिगन्तानां समाहारस्ताम् । चतुर्दिक्प्रान्तानित्यर्थः । (तां) परिपूरयन्ती साकल्येन व्याप्नुवती, तथा—श्वैत्यात्सुरसिन्धोर्मन्दाकिन्या बन्धुः सदृशी । सा कृत्स्ना पूर्णा इयं ज्योत्स्नैवैका क्षीरोदपूरोदरे वासः स्थितिस्तस्य हानाद्बहुकालपरित्यागाद्धेतोरेतस्य चन्द्रस्य वैरस्यं क्षीरसागरविरहजनितं दुःखं निरस्यति नाशयति । अतो चन्द्रिकायामेव क्षीरसागरबुद्ध्या पितृवियोगदुःखं परित्यजतीत्यर्थः । सकलदिगन्तव्यापिधवलचन्द्रिकामध्यवर्ती चन्द्रः क्षीरसागरमध्यस्थ इव शोभत इति भावः । गङ्गावद्दुग्धवच्चेयं कौमुदीति । चतुर्दिगन्तीम्, समाहारे द्विगोर्ङीप् ॥ ६८ ॥

अन्वयः—चतुर्दिगन्तीं परिपूरयन्ती सुरसिन्धुबन्धुः इयं कृत्स्ना ज्योत्स्ना एव एतस्य क्षीरोदपूरोदरवासहानवैरस्यं निरस्यति ।

हिन्दी—चारों दिगन्तों को परिपूर्ण करती देवनदी मंदाकिनी की सखी (सुरनदी-सी शुभ्र) यह संपूर्ण चाँदनी ही इस (चंद्र) की क्षीरसागर-प्रवाह-मध्य निवास के चिरकाल से छूट जाने से जनित विरसता को दूर करती है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि चारों ओर मंदाकिनी-सी श्वेत दुधिया

चाँदनी फैली हुई है—दुग्ध धवल चंद्रिका। उसके मध्य चंद्र विराजमान है। उद्भावना है कि चद्रमा उदास था, विरसता का अनुभव कर रहा था कि इतने दिन हो गये पिता का गेह छोड़े हुए। वहाँ क्षीरसागर के मध्य सुखद निवास था। वह छूट गया। चाँदनी ही जगत् में ऐसी निकली कि उसने चद्रमा का दुःख समझा और चारो ओर क्षीरसागर-प्रवाह-सा अपना विस्तार कर चद्र को उसके पितृ-गेह-वास का सुख दे दिया। मंदाकिनी-सी चाँदनी का दूधिया प्रसार चंद्र को क्षीरसागर-प्रवाह-वास की अनुभूति दे रहा है ॥ ६८ ॥

पुत्री विधोस्ताण्डविकाऽस्तु सिन्धोरश्या चकोरस्य दृशोर्वयस्या।
तथाऽपि सेयं कुमुदस्य काऽपि ब्रवीति नामैव हि कौमुदीति ॥६९॥

जीवातु—पुत्रीति। इयं चन्द्रिका यद्यपि चन्द्रात्प्रसूतत्वाद्विधोः पुत्री अस्तु। सिन्धोः समुद्रस्य ताण्डविका नृत्तोपदेशिका नाटयित्री अस्तु। चन्द्रिकया हि सिन्धुरुल्लास्यते सा च तस्य नन्त्री भवति। यद्वा—इयं विधोः पुत्री सिन्धोस्ताण्डविका भवतु। तथा—चकोरस्य अश्या पेया भवतु। तथा—सकललोकस्य दृशो. प्रेमपात्रतया वयस्या सखी भवतु। तथापि सेयं चन्द्रिका कुमुदस्य कापि अनिर्वचनीया सम्बन्धिनी भवतु। पूर्वनिर्दिष्टसर्वापेक्षया कुमुदस्यैव निरतिशयानन्दकारित्वात्तेनाप्यनिर्वचनीयेन सम्बन्धिनी भवतीत्यर्थः। हि यस्मात्कौमुदीति नामैव कर्तृ ब्रवीति। सर्वेषां तत्तत्सम्बन्धसमवेऽपि कुमुदानामियं कौमुदीति, 'तस्येदम्' इति सम्बन्धेऽण्। कुमुदानामेव प्रीत्यतिशयेन संबन्ध वदतीत्यर्थः। कौमुदीति नामैव हि स्पष्टं ब्रवीतीति वा। चन्द्रिकया सर्वेषामप्यानन्दः कृतः, कुमुदाना तु विशेषत इति भावः। कार्येण कारणानुमानम्। ताण्डविका, अशं धात्वन्ताभ्मतुवन्ताद्वा 'ताण्डव'शब्दात् 'तत्करोति—' इति ण्यन्ताण्ण्वुल्। अशनमशिः, 'इक्कृष्यादिभ्य.' इतीकि अशिमर्हतीति दण्डादित्वाद्यत्। 'आश्या' इति च पाठः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—इयं विधोः पुत्री सिन्धो. ताण्डविका, चकोरस्य अश्या, दृशोः वयस्या अस्तु, तथापि सा कुमुदस्य का अपि, हि इति कौमुदी नाम एव ब्रवीति।

हिन्दी—यह (चाँदनी) चद्रमा की बेटी, समुद्र को ताण्डवनृत्य कराने वाली चकोर का भोजन और (समस्त जगत्) नेत्रों की (आनंददायिनी)

सखी हो, तो भी वह (चाँदनी) कुमुद (कैरव) की कुछ विशेष है, क्योंकि यह चाँदनी का 'कौमुदी' नाम हो कहता है।

टिप्पणी—चाँदनी चंद्र से समुत्पन्न है, इस प्रकार से इनमें जन्य-जनक-संबंध है। चंद्र जनक है, चंद्रिका उसकी बेटी। समुद्र चाँदनी रातों में उद्वेलित हो जाता है—भयावह रूप से उछलने लगता है; अतः चाँदनी सागर की नृत्य शिक्षिका है—तांडव सिखाने-करानेवाली। चकोरों का चाँदनी-पान प्रसिद्ध ही है, चाँदनी चकोर का भोजन है। समस्त लोकजनों को नेत्रानंदविधायिनी होने से वह लोक-नयन-सखी हुई। यह सब ठीक है। किंतु इस सब से गहरा संबंध चाँदनी का कुमुदों से है। चाँदनी का कुमुदों से सबसे विशिष्ट सम्बन्ध है। इसका प्रमाण है कि चंद्रिका का अपर नाम है—'कौमुदी'। कौमुदी अर्थात् कुमुदों की 'कुछ'—'कुमुदस्य इयम्'। आशय यह है कि अन्य सब की अपेक्षा चंद्रिका—कौमुदी कुमुदों को विशिष्ट आनंद देती है। कुमुदों का वह विकास करती है। इस कार्य से कारण का अनुमान हो जाता है। कौमुदी यदि कुमुदों की विशिष्ट न होती, तो व उसके प्रभाव में क्यों मुँदे रहते और उसके रहने पर क्यों खिलते ? ॥ ६९ ॥

ज्योत्स्नापयःक्ष्मातटवास्तुवस्तुच्छायाच्छलच्छिद्रधरा धरायाम्।
शुभ्रांशुशुभ्रांशकराः कलङ्कनीलप्रभामिश्रविभा विभान्ति ॥ ७० ॥

जीवातु—ज्योत्स्नेति। शुभ्रांशोश्चन्द्रस्य शुभ्रांशा धवलभागाश्च ते कराश्च किरणास्ते धरायां भूम्यां कलङ्कस्य नीलीभिः प्रभाभिर्मिश्रा विभा कान्तिर्येषां ते कलङ्कनीलकान्तिच्छुरिता इव विभान्ति। यतः कीदृशाः ? ज्योत्स्नैव पयो जलं दुग्धं वा यस्मिंस्तादृशं क्ष्मातटं दुग्धधवलचन्द्रिकाधवलीकृतं भूतलं तदेव वास्तु वसतिगृहं येषां तानि वस्तूनि वृक्षादिपदार्थास्तेषां छाया छलं येषां तादृशानि छिद्राणि प्रकाशेन रिक्तत्वाद्विलानि पदार्थप्रतिच्छायारूपाणि तानि धरन्तीति तादृशाः। चन्द्रिकाधवलिताः पदार्थाश्चन्द्ररश्मय एव, वृक्षादिप्रतिच्छायाश्चन्द्र-कलङ्कनीलरश्मय एवेति धारायामपि निपतिताश्चन्द्रकिरणा नीलधवला एव शोभन्त इत्यर्थः। अन्यस्य करा हस्ता कलङ्कवन्नीलस्य नीलमणेः प्रभया मिश्रकान्तयो नीलमणियुक्ताङ्गुलीयकप्रभामिश्रा विभान्ति। 'शुभ्रांशुशुभ्रांशु-' इति पाठेऽपि 'अंशुर्लेशे रवे रश्मौ' इत्यभिधानात् 'अंशु'शब्दस्य लेशवाचित्वात्स एवार्थः।

ज्योत्स्नैव पयो जलं तस्य क्ष्मा भूमिस्तस्यास्तटं तदेव वास्तु निवासस्थानं येषां तेषां वस्तूनां छायाया व्याजेन छिद्राणि धरन्तीति वा ॥ ७० ॥

अन्वयः—ज्योत्स्नापयः क्ष्मातटवास्तुवस्तुच्छायाच्छलच्छिद्रधराः शुभ्रांशु-शुभ्रांशकराः धरायां कलङ्कनीलप्रभामिश्रविभाः विभान्ति ।

हिन्दी—चाँदनी के दूधिया पृथ्वी-तट पर बसने वाले (वृक्षादि) पदार्थों की छाया के कपटछिद्रों का धारण करते शुभ्रकिरण (चंद्र) के धवल-भाग रूप किरण-हस्त धरती पर कलंक (मृग-कालिमा) की श्यामल कांति से संमिश्र-प्रभावाले सुशोभित हो रहे हैं ।

टिप्पणी—मृग-लाञ्छन नील शुभ्र चंद्रमा किरणें धरती पर फैली हैं, पृथ्वी पर जहाँ-जहाँ वृक्षादि की छाया है, वहाँ उनमें व्यवधान है, नीलिमा है । कल्पना है कि चंद्रमा की शुभ्र किरणें हैं, जिनमें वृक्ष-च्छायादि की नीलिमा नील-रत्नसदृश हैं । इस प्रकार वृक्षच्छायादि की नीलिमा-रूप छिद्र से युक्त हो, रत्नाभूषण धारते चंद्र किरण-हस्त धरा पर धवल-नील सुशोभित हैं । चाँदनी दूध या जल है, धरती उसका तट, जिस पर स्थित वृक्षादि की छाया नीलिमा है । इस प्रकार धवल नील चंद्र कर धरा पर सुशोभित हैं ॥ ७० ॥

कियान्यथाऽनेन वियद्विभागस्तमोनिरासाद्विशदीकृतोऽयम् ।
अद्भिस्तथा लावणसैन्धवीभिरुल्लासिताभिः शितिरप्यकारि ॥ ७१ ॥

जीवातु—कियानिति । उदितमात्रेणानेन चन्द्रेण तमोनिरासाद्धेतोः कियान् किंचिन्मात्रोऽयं वियद्विभागः पूर्वाकाशदेशो यथा विशदीकृतः तथा चन्द्रकिरणै-रुल्लासिताभिर्वृद्धिं प्रापिताभिर्लावणसैन्धवीभिरद्भिः कियानयं वियद्विभागः शितिः श्यामोऽप्यकारि । अप्रौढप्रभे चन्द्रे पूर्वाकाशदेशस्तिमिरनिरासाद्धवलो भवति, ततो निरस्तस्य च तमसः प्रतीच्यां घनीभूतत्वात्पश्चिमाकाशदेशः श्यामलो भवतीति तत्रेयमुत्प्रेक्षा । समुद्रजलं च नीलं, पूर्वाकाशदेश एव नीलैः समुद्रजलैः पुनर्नीलोऽप्यकारीति वा । लावणसैन्धवीभिः, लवणसिन्धोरिमाः 'तस्येदम्' इत्यणि 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—अनेन तमोनिरासात् कियान् अयं वियद्विभागः यथा विशदीकृतः तथा उल्लासिताभिः लावणसैन्धवीभिः अद्भिः शितिः अपि अकारि ।

हिन्दी—इस (उदय-प्राप्त चंद्र) ने अंधकार को दूर करके जितना-कुछ यह दिग्विभाग धवल किया है, उतना ही उमड़ते लवण-समुद्र के जल ने श्याम भी कर दिया है।

टिप्पणी—चंद्र उदित हुआ और पूर्व दिग्विभाग में अंधकार दूर हो जाने से शुभ्रता व्याप्त हो गयी, किन्तु कुछ समय-पश्चात् चाँदनी में उमड़ते खारे समुद्र के नील जल ने पुनः उस उज्ज्वल दिगंत को काला भी बना दिया। अथवा उदित होते चंद्र की कांति से पूर्व दिशा का आकाश तो शुभ्र हो गया किंतु पश्चिम आकाश उतनी ही मात्रा में लवण-सिंधु के नील जल से श्याम बना रहा। नारायण के अनुसार अत्यधिक चाँदनी का प्रसार न कर सकने के कारण उदितमात्र चंद्र से पूर्वाकाश धवल हुआ किंतु उससे हटे अंधकार के पश्चिम दिशा में घनीभूत हो जाने से पश्चिमाकाशदेश श्यामल हो गया—यह उत्प्रेक्षा है ॥ ७१ ॥

गुणौ पयोधेर्निजकारणस्य न हानिवृद्धी कथमेतु चन्द्रः ? ।
चिरेण सोऽयं भजते तु यत् ते न नित्यमम्भोधिरिवात्र चित्रम् ॥७२॥

जीवातु—गुणाविति। चन्द्रो निजकारणस्य पयोधेर्हानिवृद्धिरूपौ गुणौ कथं नैतु प्राप्नोतु ? अपि तु कार्यगुणानां कारणगुणपूर्वकत्वनियमादवश्यमपचयोपचयौ चन्द्र प्राप्नुत इति युक्तमेवेत्यत्र न किंचिच्चित्रमित्यर्थः। तर्हि कुत्र चित्रमित्याशङ्कयाह—सोऽयं चन्द्रस्ते हानिवृद्धी यच्चिरेण पक्षात्मपरिमितेन बहुना कालेन भजते, न तु अम्भोधिरिव नित्यं प्रत्यहं भजते, अत्र विषये चित्रमित्याश्चर्यम्। समुद्रो यथा प्रत्यहं हानिवृद्धी भजते, तथा पुत्रोऽपि चन्द्रो नेत्याश्चर्यमित्यर्थः ॥७२॥

अन्वयः—चन्द्रः निजकारणस्य पयोधेः हानिवृद्धी गुणौ कथं न एतु ? सः अयं ते यत् चिरेण भजते अम्भोधिः इव नित्यं न, अत्र चित्रम्!

हिन्दी—चंद्रमा अपने कारणभूत समुद्र के घटने और बढ़ने के गुणों को क्यों न प्राप्त करे ? वह यह (हानि-वृद्धि-गुण-भाक् चन्द्र) उन (हानि-वृद्धि गुणों) को जो विलंब से प्राप्त करता है, समुद्र के सदृश निरंतर नहीं—यही आश्चर्य है।

टिप्पणी—कारण के गुण कार्य में भी होते हैं। इस दृष्टि से चंद्रमा को भी बराबर घटते-बढ़ते रहना चाहिए, क्योंकि उसका कारण—उत्पत्तिस्थान

समुद्र निरंतर—सदा हानि-वृद्धि को प्राप्त करता रहता है, सदा घटता-बढ़ता रहता है। चंद्र तो एक पक्ष मे घटता है, दूसरे पक्ष मे बढ़ता है, नित्य—निरंतर हानि-वृद्धि का पात्र नहीं होता। यही विस्मयजनक है कि क्यों अपने कारण (जनक) समुद्र के गुण यथावत् चंद्र मे नही आये ? क्यों चन्द्रमा सागर की भाँति प्रतिदिन हानि-वृद्धि को प्राप्त नहीं करता ? ॥ ७२ ॥

आदर्शदृश्यत्वमपि श्रितोऽयमादर्शदृश्या न बिभर्त्ति मूर्तिम् ।
त्रिनेत्रभूरप्ययमत्रिनेत्रादुत्पादमासादयति स्म चित्रम् ॥ ७३ ॥

जीवातु—आदर्शेति । अयं चन्द्र आदर्शवद् दृश्यत्ववृत्तत्वादिना रमणीयत्वं श्रितो भजमानोऽप्यादर्शवद्दृश्यां (रमणीयां) मूर्ति न बिभर्ति चित्रम् । यो ह्यादर्शवद् दृश्यो भवति स एवादर्शवद् दृश्या मूर्ति न बिभर्ति तद्वद् दृश्यो न भवतीति विरोधाश्चर्यमित्यर्थः । अथ च—दर्पणवद्दृश्यत्वं श्रितोऽप्यादर्शे दर्शम-भिव्याप्य दृश्याममावास्याया दर्शनयोग्यां मूर्ति न बिभर्ति । इदानीं पूर्णत्वेन दृश्यमानोऽपि दर्शे लेशेनापि न दृश्यते इत्यर्थ इति विरोधपरिहारः । दर्पण-वद्दृश्यत्वं श्रितोऽपि आदर्श दर्शं मर्यादीकृत्य कृष्णचतुर्दशीमभिव्याप्य दृश्यां मूर्तिं न बिभर्ति, अपि तु तावत्पर्यन्तं दृश्यो भवत्येवेति वा । तथा—अयं चन्द्रस्त्रिनेत्राद्भवति तादृशस्त्रिनेत्रादुत्पन्नोऽपि न त्रिनेत्रोऽत्रिनेत्रः । तस्मात्त्रिनेत्रव्य-तिरिक्तात्सकाशादुत्पादमुत्पत्तिमासादयति स्म प्रापेत्येत तदपि चित्रम् । त्रिनेत्रा-दुत्पन्नोऽपि त्रिनेत्रादुत्पन्नो न भवतीत्याश्चर्यमित्यर्थः । अथ च—त्रिनेत्रादुत्पन्नो-ऽप्यत्रेर्नेत्रादुत्पत्तिमाप्तेत्येतदपि विरुद्धम् । अथ च—त्रिनेत्रो भूर्वसतिस्थानं यस्य तादृशः तथा—अत्रेर्मुनेर्नेत्राच्चित्रमाश्चर्यकृन्मुत्पादं प्राप्नोति विरोधपरिहारः । सहजसौन्दर्यमाश्रयमाहात्म्यं कुलस्य माहात्म्यं चानेन चन्द्रस्य वर्णितम् । चन्द्रस्यात्रिनेत्रसमुद्भूतत्व पुराणप्रसिद्धम् ॥ ७३ ॥

अन्वयः—अयम् आदर्शदृश्यत्वं श्रितः अपि आदर्शदृश्यां मूर्तिं न बिभर्त्ति, त्रिनेत्रभूः अपि अयम् अत्रिनेत्रात् उत्पादम् आसादयति स्म—चित्रम् ।

हिन्दी—यह (चंद्र) आदर्श अर्थात् दर्पणदृश्यता गुण (जिसमे देखा जा सके ऐसी स्वच्छता) दर्पण के समान गोलाई और सुन्दरता-धारण करता भी आदर्श (दर्पण) के समान देखने-योग्य मूर्ति का धारण नहीं करता और

तीन नेत्र वाले से उत्पन्न होकर भी अ–त्रिनेत्र (जो तीन नेत्र वाला नहीं है) से उत्पत्ति प्राप्त करता है—यह आश्चर्य है।

टिप्पणी—यहाँ विरोधाभास द्वारा चमत्कारचारुता लायी गयी है। चन्द्र आदर्श अर्थात् दर्पण के समान होकर भी 'आदर्शदृश्यत्व' को धारण करता भी 'आदर्शदृश्य' अर्थात् 'आदर्श' (दर्पण) के तुल्य दृश्य नहीं है—यह विरोध है। परिहार है कि पूर्ण चंद्र इस समय तो पूर्ण होने से 'आदर्शदृश्य' अर्थात् दर्पणवत् दर्शनीय है, किंतु 'दर्शम् अभिव्याप्य दृश्यां मूर्तिं न बिभर्त्ति'—अमावास्या तक देखने योग्य मूर्त्ति को नहीं धारता, क्षयी होता है, अतः गोल और रमणीय नहीं लगता। ऐसे ही 'त्रिनेत्रम्' का 'अत्रिनेत्र' से जन्म पाना विरोध है। इसका परिहार है 'त्रिनेत्र' अर्थात् शिव को 'भू' अर्थात् 'वास' प्राप्त करता चंद्र 'अत्रिमुनि' से उत्पन्न हुआ था। (ब्रह्म० ९/१-८) चंद्र अत्रिमुनि से जन्मा है और त्रिनेत्र शिव के मस्तक पर रहता है। कालिदास ने भी लिखा है—'नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेः (रघु० २/७५) ॥ ७३ ॥

इज्येव देवव्रजभोज्यऋद्धिः शुद्धा सुधादीधितिमण्डलीयम्।
हिंसां यथा सैव तथाऽङ्कमेषा कलङ्कमेकं मलिनं बिभर्त्ति ॥ ७४ ॥

जीवातु—इज्येति। देवानां व्रजैः समूहैर्भोज्या पेया ऋद्धिः समृद्धिर्यस्याः सा शुद्धा धवला इयं सुधादीधितेरमृतकरस्य चन्द्रस्य मण्डली इज्येव याग इव, शोभत इति शेषः। इज्यापि देवव्रजभोज्यपुरोडाशादिसमृद्धिः शुद्धा पवित्रा च भवति। तथैवा. चन्द्रमण्डली कलङ्काख्यमेकं मध्यवर्तिनमङ्कमवयवं मलिनाकारं तथा बिभर्ति, यथा सैव इज्यैव पूर्वोक्तगुणविशिष्टा सत्यप्येकं पशुहिंसात्मकमङ्गं कर्मसाधनं मलिनं पापहेतुं बिभर्ति। परोपकारशीलायाः सर्वात्मना शुद्धाया अपि चन्द्रमण्डल्या दैवादेकमङ्गं मलिनं जातमित्यर्थः। यागे हि हिंसामात्रमेव मालिन्यम्। 'मुधाङ्कम्—' इति पाठे—कलङ्करूपमेकमङ्गं मलिनं वृथैव बिभर्ति शुद्धाया मालिन्ययोगस्यानौचित्यादित्यर्थः। शुद्धस्यापि श्रौतधर्मस्य सांख्यैः दोषारोपणान्मालिन्यं मुधैवेत्यर्थः। इज्या, 'व्रज्यजोः—' इति क्यप् ॥ ७४ ॥

अन्वयः—देवव्रजभोज्यऋद्धिः शुद्धा इयं सुधादीधिति-मण्डली इज्या इव, यथा सा हिंसां, तथा एव एषा कलङ्कम् एकम् अङ्कं मलिनं बिभर्त्ति।

हिन्दी—देवों द्वारा भोग-योग्य संपदा वाली, शुद्ध (स्वच्छ) यह अमृतकिरण (चंद्र) की मंडली यज्ञ-यात्रा के सदृश है। जैसे उस (यज्ञ) में हिंसा है, वैसे ही इसमें कलंक (मृगलाञ्छन) रूप एक अवयव मलिन है।

टिप्पणी—यज्ञ सब प्रकार से शुद्ध और पवित्र होता है, देवता उसका भोग करते हैं—वे यज्ञ हविष्य का भोग करते है, किंतु इज्या (यज्ञ) में एक दोष होता है कि 'पशुमेधादि' यज्ञ-भोग-क्रिया में बलि के निमित्त प्राणिहिंसा की जाती है। यह इज्या का एक मलिन पक्ष, मलिन अंग है। चन्द्रमण्डली में भी ऐसा ही है। यज्ञ हविष्य की भाँति चन्द्रमण्डली की संपदा—सुधा का देवता पान करते हैं, उसका भोग करते हैं। चन्द्रमण्डली शुद्ध निर्मल भी है, परंतु यज्ञ की हिंसा की भाँति चन्द्रमण्डली में भी एक दोष है, उसमें मृग लाञ्छन है। गुण-दोष दोनों में समान होने से चन्द्रमण्डली 'इज्या' (यज्ञ) की भाँति ही है ॥७४॥

एकः पिपासुः प्रवहानिलस्य च्युतो रथाद्वाहनरङ्कुरेषः।
अस्त्यम्बरेऽनम्बुनि लेलिहास्यः पिबन्नमुष्यामृतबिन्दुवृन्दम् ॥ ७५ ॥

जीवातु—एक इति। एष मृगाङ्के दृश्यमानः प्रसिद्धः एकः पिपासुस्तृषाक्रान्तः सप्तवायुस्कन्धमध्यवर्तिनः प्रवहाख्यस्यानिलस्य मृगवाहनस्य गगनचारिणो रथाच्च्युतो वाहकमृगो रङ्कुर्मृगोऽनम्बुनि निर्जलेऽम्बरे लेलिहास्यो नितरां पौनःपुन्येन वास्वादनकारि मुखं यस्य तादृशो भवन्नमुष्य चन्द्रस्यामृतबिन्दुवृन्दं पिबन्नस्ति। तृषाक्रान्तो रथं परित्यज्य पतितो निर्जलेऽपि गगने चन्द्रामृतबिन्दुवृन्दमास्वादयन् वायुवाहनमृग एवायम्, न तु कश्चित्कलङ्कमृगो नामेत्यर्थः। अस्तीति वर्तमानप्रत्ययेनामृतास्वादनेन चन्द्रं परित्यज्य गन्तुमशक्तोऽद्यापि वर्तत इति सूचितम्। एवमन्योऽपि तृषाक्रान्तो निर्जले देशे प्रस्रवणादेः पतज्जलबिन्दुवृन्दं पिबन्ननुपशान्तपिपासो लेलिहास्यः सन् तत्रैव चिरं तिष्ठति। सप्तवायुस्कन्धाः पुराणप्रसिद्धाः। लेलिहेति, नितरां पुनः पुनर्वा लेढीत्यर्थे यङि पचाद्यचि 'यङोऽचि च' इति यङो लुक् ॥ ७५ ॥

अन्वयः—एषः एकः पिपासुः प्रवहानिलस्य रथात् च्युतः वाहनरङ्कुः अनम्बुनि अम्बरे लेलिहास्यः अमुष्य अमृतबिन्दुवृन्दं पिबन् अस्ति।

हिन्दी—यह एक प्यासा 'प्रवह' नामक वायु के रथ से अलग हुआ वाहन-

भूत मृग निर्जल आकाश में अत्यंत तृषा से होठ चाटते मुखवाला इस (चन्द्र) की अमृत बूँदों को पीता हुआ विद्यमान है।

टिप्पणी—चन्द्र के लांछनभूत मृग के विषय में एक और कल्पना। 'प्रवह' नामक वायु पुराण-प्रसिद्ध सात वायुओं में से एक है। वायु-क्षेत्र में इसका स्थान भू लोक और स्वर्लोक के मध्यगत 'आवह' वायु के ऊपर है। माना जाता है कि इसी 'प्रवह' नामक वायु के द्वारा ज्योतिष्पिण्ड आकाश में स्थित हैं। वायु का वाहन मृग माना जाता है। चन्द्र स्थित मृग के विषय में यहाँ उद्भावना है कि वस्तुतः यह 'अंक-मृग' प्रवह—वायु के रथ को खींचने वाले मृगों में से एक है। चलते-चलते बेचारे मृग को प्यास लग आयी। जब तृषा असह्य हो गयी तो जलहीन आकाश में व्याकुल हो मृग 'प्रवह' का रथ छोड़ अमृत-सागर चन्द्र के निकट जा पहुँचा और तृषाकुल हो चन्द्र के अमृत-बिन्दुओं को चाटता हुआ, वहीं रह गया। आजतक चन्द्रांक में स्थित हो अमृत चाट रहा है ॥ ७५ ॥

अस्मिञ्छिशौ न स्थित एव रङ्कुर्यूनि प्रियाभिर्विहितोपदाऽयम् ।
आरण्यसन्देश एवौषधीभिरङ्के स शंके विधुना न्यधायि ॥ ७६ ॥

जीवातु—अस्मिन्निति। शिशौ बाले एककलात्मकेऽस्मिश्चन्द्रे रङ्कुर्मृगो न स्थितो नासीदेव तस्यां दशायामदर्शनात्। किंतु प्रियाभिरोषधीभिर्यूनि तरुणे पूर्णावयवेऽस्मिश्चन्द्रेऽयं रङ्कुरुपदेव विहिता प्रेषिता। कीदृशी ? अरण्ये भवः संदिश्यते प्रस्थाप्यते संदेशस्तद्रूपा। अरण्यभवानां संदेशरूपा वा। 'वयं भवत्प्रिया निर्जने वने मृगैः सह वसामः, त्वं तु स्वर्गे विजयी सुखेन वर्तसे' इति गूढार्थोप(पा)लम्भसूचिकेति यावत्। अनन्तरं विधुना प्रेयसीसंदेशरूपः स रङ्कुरङ्के मध्ये, अथ च—उत्सङ्गे, प्रियाप्रेमभरेण न्यधायि स्थापित इत्यहं शङ्के। अन्यापि प्रिया तरुणं प्रियं प्रति कंचित्संदेशमुपदारूपेण प्रेषयति, [illegible] च तं हृदयादौ धारयति। ओषध्यो हि वनवासिन्यस्तदनुरूपमेव संदेशं स्वप्रिये चन्द्रे प्रेषितवत्यः। आरण्यसंदेश इवायमुपदा प्रहितेति वा। 'यदा—' इति पाठे—यदाप्रभृति प्रेषितः, तदाप्रभृति तारुण्यदशायां चन्द्रेणायमङ्के न्यधायि, न तु पूर्वमित्यर्थः। आरण्यः, भवार्थेऽण् ॥ ७६ ॥

अन्वय.—शिशौ अस्मिन् रङ्कुः यूनि प्रियाभिः ओषधीभिः अयम् आरण्यसन्देशः उपदा इव विहिता, शङ्के—विधुना सः अङ्के न्यधायि ।

हिन्दी—चन्द्र के बालक (एक कला युत) होने पर इसमे मृग नही था, तरुण (पूर्ण) होने पर प्रियाओ वनस्पतियो ने यह वन्यसन्देशरूप मृग उपहार की भाँति भेजा । मेरी (दमयंती की) मान्यता है कि चंद्र ने उस (मृग) को गोद मे बैठा लिया ।

टिप्पणी—कलंक मृग के विषय मे एक अन्य उद्भावना । एक कलात्मक चन्द्र मे मृगलाछन लक्षित नहीं होता, वह पूर्ण चन्द्र मे ही दीखता है । इस पर कल्पना है कि जब चन्द्र शिशु था, तब तो इसमें यह मृग था नही, अब जब पूर्ण तरुण है, तब है । इससे प्रतीत होता है कि जब यह तरुण हो गया,—चन्द्रप्रिया वनोषधियों ने प्रिय चन्द्र के पास मृगोपहार के साथ-साथ सन्देश भेजा कि हम चन्द्र प्रियाएँ तो यहाँ वन मे पड़ी हैं और तुम चन्द्र स्वर्ग मे ऊपर सुख भोग रहे हो । हम पर कृपा करो । प्रियोपहार रूप इस वन्य सन्देशवाही मृग को प्यार से चन्द्र ने गोद मे बैठा लिया है । प्रियोपहार को चन्द्र आदर देता ही । दिया ॥ ७६ ॥

अस्यैव सेवार्थमुपागतानामास्वादयन् पल्लवमोषधीनाम् ।
धयन्नमुष्यैव सुधाजलानि सुखं वसत्येष कलङ्करङ्कुः ॥ ७७ ॥

जीवातु—अस्येति एष कलङ्करङ्कुर्विरहपीडितत्वादस्यैव चन्द्रस्य सेवार्थमुपागतानामोषधीनां पल्लवमास्वादयन् । तथा—अमुष्यैव सुधारूपाणि जलानि धयन् पिबन् सुखमनायासलब्धावृत्तिरिव वसति, आहारलोभादनं वसतीत्यर्थः । अन्योऽपि जलकिसलययुगे देशे सुखेन वसति कदाचिदपि न त्यजति । सल्लवम्, जात्येकवचनम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—एषः कलङ्करङ्कुः अस्य एव सेवार्थम् उपागतानां ओषधीनां पल्लवम् आस्वादयन् अमुष्य एव सुधाजलानि धयन् सुखं वसति ।

हिन्दी—यह (चन्द्रमा मे स्थित) कलंक-चिह्न इस (चन्द्र) की ही सेवा के निमित्त आयी हुई वनस्पतियो के कोमल पत्ते खाता हुआ और इस (चन्द्र) का ही अमृत पीता हुआ सुखपूर्वक बसता है ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक (७६) में दमयन्ती ने कहा था कि वनमें बसती ओषधियों ने अपना संदेश और उपहार रूप-मृग शिशु अपने प्रिय स्वामी चन्द्र के समीप भेजा था, प्रियाओं के उपहार को प्रेमभाव से चन्द्र ने अपनी गोद में स्थान दिया। यहाँ कहा गया है कि वह फिर लौट कर गया ही नहीं, वहीं रह गया। भोजनार्थ उसे उसका प्रिय आहार कोमल पल्लव मिलते रहे। प्रिय चन्द्र के समीप उसकी प्रियाएँ ओषधियाँ (वनस्पतियाँ) आती ही रहती थीं, उनके कोमल पल्लव मृग स्वाद-पूर्वक खा लेता था और पीने को तो चन्द्रमा का अमृत नीर था ही। खाने-पीने का इच्छित प्रबंध हो गया और कलङ्क मृग चन्द्रमा की गोद में ही रहता रहा ॥ ७७ ॥

रुद्रेषुविद्रावितमार्त्तमारात्तारामृगं व्योमनि वीक्ष्य बिभ्यत्।
मन्येऽयमन्यः शरणं विवेश मत्वेशचूडामणिमिन्दुमेणः ॥ ७८ ॥

जीवातु—रुद्रे ति। दक्षयज्ञे वीरभद्रावतारस्य रुद्रस्येषुणा विद्रावितम् अतएव आर्त्तं ताराख्यं मृगं व्योमनि आरात्समीपे दूरे वा वीक्ष्य बिभ्यत् त्रस्यन् अयमन्योऽपर एण इन्दुमीशस्य चूडामणिं ज्ञात्वा शरणं विवेश। शिवेन शिरसि स्थापितत्वादयं मान्य इत्येतदाश्रयेण रुद्रान्मामयं रक्षिष्यत्येवेत्याशयेनान्यो मृगश्चन्द्रं शरणं प्रविष्ट इत्यर्थ इत्यहं मन्ये। अन्योऽपि सजातीयं कस्माच्चिन्द्भीतं दृष्ट्वा स्वयमपि भीतः सन्कमपि शरणं याति। 'गत्वा'—इत्यपि पाठः। तारामृगस्य रुद्रे पुविद्रावणं काशीखण्डादौ ज्ञातव्यम् ॥ ७८ ॥

अन्वयः—मन्ये रुद्रेषुविद्रावितम् आर्त्तं तारामृगं व्योमनि आरात् वीक्ष्य बिभ्यत् अयम् अन्यः एणः इन्दुम् ईशचूडामणिं मत्वा शरणं विवेश।

हिन्दी—लगता है कि रुद्र (क्रुद्ध शिव) के बाण से घायल, पीड़ित तारा-रूप मृग (मृगशिरा नक्षत्र) को आकाश में देखकर डरा हुआ यह दूसरा कृष्णमृग चन्द्र को शिव की चूडास्थित मणि मान कर शरणागत हो गया है।

टिप्पणी—मृगलांछन के विषय में एक नवीन 'कल्पना', जिसका आधार पुराण कथा (स्कन्दपुराण-काशीखण्ड) है। ब्रह्मा को अपने प्रति विमुख हो संभोगार्थी पा सरस्वती मृगी का रूप धर भागी तो ब्रह्मा भी मृगरूप बना उनके पीछे दौड़े। इस आचरण पर क्रुद्ध हो शिव ने मृगवेषी ब्रह्मा का

शिर वाण से काट डाला। वह कटा ब्रह्मशिर 'मृगशिरा' नक्षत्र हो कर आकाश मे स्थित हो गया और रुद्रेषु (क्रुद्ध शिव का बाण) 'आर्द्रा' नक्षत्र बन कर। इसी पर यह उद्भावना है कि 'मृगशिरा' नक्षत्र रूप मृग को आकाश मे शरण पाया देख, किसी डरे दूसरे मृग ने सोचा कि आकाश स्थित चन्द्र का शरण-ग्रहण और भी अच्छा होगा। चन्द्र तो शिव का प्रिय है, चूडामणि। सो चन्द्र का शरणागत होना रुद्र-क्रोध से भी बचायेगा। यह विचार वह कलङ्क मृग चन्द्र की गोद मे जा बैठा है। 'महिम्नस्तोत्र' मे इसी भावना में यह स्तुति है—'प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा। धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुम् त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः ॥ ७८ ॥

पृष्ठेऽपि किं तिष्ठति नाथ ! नाथ रङ्कुर्विधोरङ्क इवेति शङ्का।
तत्त्वाय तिष्ठस्व मुखे स्व एव यद्द्वैरथे पृष्ठमपश्यदस्य ॥ ७९ ॥

जीवातु—पृष्ठ इति। हे नाथ ! विधोरङ्क इव यथा चन्द्रस्योत्सङ्गे कलङ्क-मृगो वर्तते, तथा रङ्कुः पृष्ठेऽपि पश्चाद्भागे किं तिष्ठति ? अथ न तिष्ठति इति तवाशङ्का चेद्वर्तते इति शेषः। तर्हि त्वं तत्त्वाय याथात्म्यज्ञानार्थं स्वे निजे मुखे विषये तिष्ठस्व, निजमुखमेव निर्णय पृच्छेत्यर्थः। यत्त्वन्मुखं द्वैरथे समान-शोभाभिलाषाद्विरथसम्बन्धिनि द्वन्द्वयुद्धेऽस्य त्वन्मुखाद्भज्यमानत्वात्पलायमानस्य चन्द्रस्य पृष्ठं पश्चाद्भागमपश्यत्। तस्मात्तत्त्वन्मुखमेव निर्णेतृत्वेन पृच्छेत्यर्थः। त्वन्मुखं चन्द्रादधिकमिति भङ्ग्या नलमुखवर्णनं मे कृतम्। तत्त्वाय तत्त्वं ज्ञातुं, 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति चतुर्थी, तादर्थ्यमात्रे वा। तिष्ठस्व, स्थेयाख्यायां तङ्। स्वे, वैकल्पिकत्वात्स्मिन्नभावः ॥ ७९ ॥

अन्वय—नाथ, विधोः अङ्के इव किं रङ्कुः पृष्ठे अपि तिष्ठति अथ न—इति शङ्का (चेत्) तत्त्वाय स्वे मुखे एव तिष्ठस्व, यत् द्वैरथे अस्य पृष्ठम् अपश्यत्।

हिन्दी—(दमयन्ती नल से बोली) हे स्वामी, जैसे चन्द्रमा के क्रोड में है, वैसे ही क्या चन्द्र के पृष्ठभाग मे भी मृग विद्यमान है या नहीं—यदि ऐसी शंका है तो यथार्थ ज्ञान के लिए अपने (नल के) मुख से ही पूछिए, जिसने कि 'द्वैरथ' द्वंद्वयुद्ध मे इस (चन्द्र) की पीठ देखी थी।

टिप्पणी - नल का मुख चन्द्र की अपेक्षा सुन्दर है—इस तथ्य को एक विशेष भंगिमा से दमयंती द्वारा कहा गया। उसने कहा कि हो सकता है कि नल को यह शंका उत्पन्न हो कि जैसे चन्द्र के संमुख भाग में मृग स्थित दीखता है, वैसे ही पृष्ठभाग में तो स्थित नहीं है इस शंका का ठीक-ठीक उत्तर देकर समाधान केवल नल का मुख ही कर सकता है, क्योंकि उसने ही चन्द्रमा का पृष्ठभाग देखा है। मुख और चन्द्र में इस निर्णय के लिए द्वंद्वयुद्ध हुआ कि कौन श्रेष्ठ है? जो जयी होगा, वही श्रेष्ठ होगा। दोनों रथों पर चढ़ कर 'द्वैरथ' द्वंद्वयुद्ध करने लगे। चन्द्र पराजित हुआ और पीठ दिखाता भाग गया। जयी नल-मुख ने हारे शत्रु के भागने पर पीठ देखी। तो उसे ज्ञात होगा कि चन्द्र के पृष्ठ में मृग है या नहीं? नल अपने मुख से पूछे, वही तत्त्ववेत्ता ठीक उत्तर देगा। हार कर पीठ दिखाते भागे चन्द्र से जयी नल-मुख श्रेष्ठ प्रमाणित हुआ ॥ ७९ ॥

उत्तानमेवास्य वलक्षकुक्षिं देवस्य युक्तिः शशमङ्कमाह।
तेनाधिकं देवगवेष्वपि स्यां श्रद्धालुरुत्तानगतौ श्रुतायाम् ॥ ८० ॥

जीवातु—उत्तानमिति। युक्तिरर्थापत्तिरनुमानं वास्य देवस्य चन्द्रस्य मध्यवर्तिनमङ्कं कलङ्करूपं शशमुत्तानं स्वर्गसंमुखमस्मदादिदृश्यमानपृष्ठभागमाह ब्रूते। यतो वलक्षकुक्षिं धवलोदरम्। यद्ययं शशकोऽस्मत्संमुखोदरोऽनुत्तानोऽभविष्यत् तर्हि मध्यवर्तिशशकोदरस्य धवलत्वाच्चन्द्रमध्यभागोऽपि धवलोऽभविष्यत्, न च तथा दृश्यते, किंतु मलिनः। तस्मादुत्तान एव शशकश्चन्द्रेऽस्तीति युक्तिराहेत्यर्थः। तेन चन्द्रशशकनिश्चितोत्तानत्वेनैव हेतुनाहं देवगवेष्वपि सुरभीप्रभृतिषु विषये वेदे श्रुतायामुत्तानगतौ सुरलोकसंमुखचरणतया गमने विषये पूर्वापेक्षयाधिकमतितरां श्रद्धालुरास्तिक्ययुक्ता स्याम्। 'उत्ताना वै देवगवाश्चरन्ति' इति श्रुतिर्न्यायोपपन्नार्थतया सत्यैवेत्यहमिदानीमधिकं मन्य इत्यर्थः। देवगवेषु 'गोरतद्धितलुकि' इति टच्। 'देवगवीषु' इति पाठे टित्वान्ङीप् ॥८०॥

अन्वयः—युक्तिः अस्य देवस्य अङ्कं वलक्षकुक्षिं शशम् उत्तानम् एव आह, तेन देवगवेषु अपि श्रुतायाम् उत्तानगतौ अधिकं श्रद्धालुः स्याम्।

हिन्दी—युक्ति (अनुमान अथवा अर्थापत्ति) इस देव (चन्द्र) के अंकगत शुभ्र कोख (उदर) वाले शश (खरगोश) को 'उत्तान' (ऊर्ध्वमुख,

अध:पृष्ठ) ही कहनी है, जिससे देव-धेनुओं की भी वेदोक्त उत्तानगति ऊपर स्वर्ग की ओर मुख, नीचे पृथ्वी की ओर पीठ करके चरने के विषय में मुझे (दमयंती को) और अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है।

टिप्पणी—चन्द्राक स्थित मृग (शशक) का मुख ऊपर की ओर है और पीठ पृथ्वी की ओर, यदि ऐसा न होता, इसके विपरीत होता तो वह काला न दीखता, धवल दीखता। उसकी कुक्षि धवल है, ऊपरी भाग कृष्ण। यदि वह उत्तान न होता तो धवल उदर दीखता, काला-काला न दीखता। इस प्रकार धवल न दीखना, काला दीखना—इस युक्ति के आधार पर यह सिद्ध होता है कि 'शश' उत्तान ही स्थित है। श्रुति-कथन है कि देव धेनुएँ उत्तान अर्थात् स्वर्ग की ओर मुख और भूतल की ओर पृष्ठ भाग किये—चरा करती हैं—'उत्ताना वै देवगवाश्चरन्ति'। चन्द्राक-स्थित शश को उत्तान पाकर इस देवगोविषयक श्रुति-कथन पर दमयंती को और अधिक विश्वास और श्रद्धा हो जाती है। जब एक प्राणी उत्तान है तो अन्य भी होगा॥ ८०॥

उक्तरीत्योत्तानगतौ सिद्धायामपि शशस्य रक्तपृष्ठत्वान्नीलत्वेन प्रतीतिः कथमित्यत आह—

दूरस्थितैर्वस्तुनि रक्तनीले विलोक्यते केवलनीलिमा यत्।
शशस्य तिष्ठन्नपि पृष्ठलोम्ना तन्नः परोक्षः खलु रागभागः॥ ८१॥

जीवातु—दूरेति। दूरस्थितैर्द्रष्टृभी रक्तनीले मिश्रितोभयवर्णे वस्तुनि केवलः पक्षरागभागो नान्निमैव यस्मात् विलोक्यते तत्तस्मात्कारणाच्छशस्य पृष्ठवर्तिरोम्णा तिष्ठन्नपि रागभागो रक्तिमांश. नोऽस्माकमतिदूरस्थितानां खलु निश्चित परोक्षो दृग्गोचरो न भवति, किन्तु नीलिमैव दृश्यत इत्यर्थः। तिष्ठन्वर्तमानोऽपि परोक्ष इति विरोधाभास दूरस्थत्वात् दृश्यत इति तत्परिहार.। 'खलु' उत्प्रेक्षायां वा॥ ८१॥

अन्वयः—रक्तनीले वस्तुनि दूरस्थितैः यत् केवलनीलिमा विलोक्यते तत् शशस्य तिष्ठन् अपि पृष्ठलोम्ना रागभाग. नः खलु परोक्ष.।

हिन्दी—लाल नीली (दुरंग) वस्तु में दूर पर स्थित जनों को जो केवल नीलिमा दीखती है (लाली नहीं) सो (शशाक के) शशक की होती हुई भी पीठ के रोमों की लाली हम (दूरस्थितदर्शकों) को प्रत्यक्ष नहीं होता।

टिप्पणी—स्थिति यह होती है कि दूर खड़े दर्शक लाल-नीले दुरंगे पदार्थ की लाली नहीं देख पाते, केवल श्यामलता देख पाते हैं। यही कारण यहाँ—चन्द्र शश के विषय में भी है। उसकी पीठ के रोयें यद्यपि लाल हैं, पर वे पृथ्वी पर स्थितजनों को नहीं दीखते, केवल पृष्ठभाग की कालिमा दीखती है। जो 'तिष्ठन्' वर्तमान है, वह 'परोक्ष' अर्थात् अवर्तमान कैसे होगा? यहाँ यह विरोध है। तिष्ठन् (वर्तमान) होते हुए भी परोक्ष अर्थात् दूरस्थित होने से दृश्य नहीं है—यह भाव लेने से विरोध परिहार हो जाता है। इस प्रकार नारायण के अनुसार यहाँ विरोधाभास अलंकार है ॥ ८१ ॥

भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगाध्वनि लोक एषः।
शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽयमेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः ॥८२॥

जीवातु—भङ्क्तुमिति। एष कविर्लोकः पदानां सुप्तिङन्तानां प्रयोगाध्वनि विषये व्याकरणस्य प्रकृतिप्रत्ययविभागपूर्वं शब्दव्युत्पादनकारिणः शास्त्रस्य मदधीन एव सकलशब्दप्रयोग इति दर्पं गर्वं, यद्वा—लक्षणया वैयाकरणस्य व्याकरणाधीन एव 'सकल'-शब्दप्रयोग इति गर्वं भङ्क्तुम् त्याजयितुं प्रभुः समर्थः। यद्यस्माद्धेतोरयं चन्द्रः शशोऽस्यास्ति ततो हेतोः शशी यथोक्तः, लोकेनेति शेषः। एवममुनैव प्रकारेण मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः। शशोऽस्यास्तीति मतुबर्थे 'अत इनिठनौ' इतीनौ यथायं शशीत्युच्यते, तथा तेनैव सूत्रेण मृगोऽस्यास्तीत्यर्थेनेः प्राप्तौ सत्यामपि मृगीति नोक्तः। तस्मादतिव्याप्त्याविदोषाद् व्याकरणमूल एव लोकप्रयोग इति नियमो न युक्तः, किंतु कृत्तद्धितसमासानामभिधानं नियामकम्। लक्ष्यमुद्दिश्य लक्षणप्रवृत्तिः न तु लक्षणमुद्दिश्य लक्ष्यप्रवृत्तिरिति। तस्मात् 'प्रयोगमूलं व्याकरणम्, इति व्याकरणाल्लोक एव बलीयानिति भावः। अप्रस्तुतप्रशंसा ॥ ८२ ॥

अन्वयः—एषः लोकः पदप्रयोगाध्वनि व्याकरणस्य दर्पं भङ्क्तुं प्रभुः, यत् अयं शशः, अस्य अस्ति ततः शशी उक्तः एवं मृगः अस्य अस्ति इति मृगी न।

हिन्दी—यह लोक (समाज अथवा रचनाकार) शब्दों के प्रयोग के मार्ग (शब्दार्थ-विषयक प्रयोग) में व्याकरणशास्त्र के अभिमान भंग में समर्थ है, क्योंकि इस (चन्द्र) को 'शश (खरहा) इसका है,' अतएव 'शशी' तो कहा, परन्तु इसी प्रकार मृग इसका है,' अतः 'मृगी' नहीं कहा।

टिप्पणी—व्याकरण शास्त्रियों में एक उक्ति है—'शास्त्रेषु भ्रष्टाः कवयो भवन्ति' अर्थात् कविजन शास्त्रभ्रष्ट (शास्त्रों की मर्यादा न जानने वाले या न मानने वाले) होते हैं। इसका कारण यह है कि अनेक स्थलों में ऐसे प्रयोग रचनाओं में प्राप्त हो जाते हैं, जो प्रायः व्याकरण-संमत नहीं होते। उदाहरणार्थ 'सत्यमेव जयते'। सामान्यतः यहाँ 'जयति' होना चाहिए। 'नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'। यहाँ 'श्रेष्ठ' से पुनः दो में एक की श्रेष्ठता-सूचक प्रत्यय 'तरप्' लगाया गया है, जब कि उच्चता-सूचक 'इष्ठन्' पहिले ही लगा हुआ है। यहाँ एक महाकवि श्रीहर्ष ने यह बताना चाहा है कि पद-प्रत्यय आदि का नियम बनाकर शब्द-साधना के अभिमानी व्याकरणाचार्य लोक-प्रयोग के नियामक नहीं हैं। वस्तुतः लोक जिस प्रयोग को मान्य कर देता है, वही चल जाता है। और लोक सदा शास्त्र-मर्यादा पर ही चले, यह आवश्यक नहीं है। वह स्वेच्छया स्वतन्त्र प्रयोग भी करता है। उदाहरण के लिए इस चन्द्रोदय-प्रसंग में कहा गया है कि लोक ने 'शशः अस्यास्तीति शशी' तो माना। उसने यह नियम कि 'अकारांत शब्द से 'यह इसका है अथवा इसमें है' (अत इनिठनौ, अष्टा० ५।२।११५)—इस अर्थ में इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं''—'शश + इनि = शशी' के सन्दर्भ में तो मान लिया, किन्तु मृग शब्द से इनि प्रत्यय करके 'मृगी' शब्द को 'चन्द्र' अर्थ में मान्यता नहीं दी। (मृगी का अर्थ हिरनी माना गया, चन्द्रमा नहीं।) इससे प्रमाणित होता है कि व्याकरणाचार्यों का यह अभिमान उचित नहीं है कि शब्दार्थ-विषयक या व्युत्पत्ति-विषयक उनका निर्णय अंतिम है। लोक उनका यह दर्पभंग करने में समर्थ है। 'मृगी' शब्द की चन्द्रार्थ बोधक व्युत्पत्ति में 'अत इनिठनौ' लक्षण का गमन नहीं हुआ। क्योंकि लक्ष्य में लक्षणागमन नहीं हुआ, अतः अव्याप्ति दोष आ गया—'लक्ष्ये लक्षणागमनमव्याप्तिः।' लोक प्रयोग नियमतः व्याकरणमूल नहीं होता। महावैयाकरण, महाभाष्यकार, मुनिप्रवर पतञ्जलि ने कहा है कि पदकार लक्षण द्वारा अनुवर्तनीय नहीं होते, पदकारों द्वारा लक्षण का अनुवर्तन होता है—'नहि लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्तनीयाः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्तनीयम्'। लक्षण की प्रवृत्ति लक्ष्य को उद्देश्य मान कर होती है, लक्षणोद्देश्य से लक्ष्य की प्रवृत्ति नहीं। व्याकरण प्रयोग मूलक है। लोक प्रयोग का अनुशीलन कर वैयाकरण नियम बनाता है। उनमें

विकल्प भी रहते हैं, इन्हें भी वह मान्यता देता है। अष्टाध्यायीकार, वैयाकरणों में मूर्धाभिषिक्त महामुनि पाणिनि ऐसे ही वैयाकरण थे। उन्होंने व्याकरण-नियमों का अनुशीलन लोक-प्रयोग के आधार पर किया है, भाषा को 'बद्ध' नहीं किया है। नियम भी दिये हैं, अपवाद भी माने हैं, विकल्प को भी स्वीकारा है। नारायण के अनुसार यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसालंकार है ॥ ८२ ॥

यावन्तमिन्दुं प्रतिपत्प्रसूते प्रासावि तावानयमब्धिनापि।
तत्कालमीशेन धृतस्य मूर्ध्नि विधोरणीयस्त्वमिहास्ति लिङ्गम् ॥८३॥

जीवातु—यावन्तमिति। शुक्लप्रतिपद्यावन्तं यत्प्रमाणमेककलमिन्दुं प्रसूते, अब्धिनापि तावांस्तत्प्रमाण एककल एवायं प्रासावि, न तु पूर्ण इत्यर्थः। एतत्कथं ज्ञातमित्यत आह—तत्कालं तस्मिन्काले समुद्रादुत्पत्तेरवसर इव ईशेन मूर्ध्नि धृतस्य विधोरणीयस्त्वं नितरां कार्श्यमेवैककलत्वे लिङ्गं ज्ञापकमनुमापको हेतुरस्ति। यदि समुद्रेण संपूर्णोऽयमजनिष्यत, तर्हि शिवेनापि तदानीमेव शिरसि तावानेवाधारयत, न तु तथा, तस्मात्प्रतिपदेककलः प्रसूतः तावान्समुद्रेणापीति प्रतिपदुत्पन्नोऽप्ययमेककत्वादेव न दृश्यत इति भावः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—प्रतिपत् यावन्तम् इन्दुं प्रसूते अब्धिना अपि तावान् अयं प्रासावि, तत्कालम् ईशेन मूर्ध्नि धृतस्य विधोः अणीयस्त्वम् इह लिङ्गम् अस्ति।

हिन्दी—प्रतिपत् (शुक्लपक्ष की प्रथमा तिथि) जिस परिमाण के (एक कलात्मक) चन्द्र को प्रस्तुत करती है, समुद्र ने भी उस परिमाण के इसे (चन्द्र को) उत्पन्न किया था; उस समय (समुद्र से उत्पन्न होने के अवसर पर) शिव द्वारा मस्तक पर धारे गये चन्द्र की अतिलघुता (एक कलात्मकता) इस विषय (एक कलात्मक होने) में ज्ञापक अनुमान है।

टिप्पणी—शुक्लपक्ष की प्रतिपत् को चन्द्र एक-कलात्मक उदित होता है; और चूँकि शिव-मस्तक पर एक-कलात्मक चन्द्र ही स्थित है, पूर्ण नहीं,–यह इस तथ्य का अनुमान-सिद्ध प्रमाण है कि मूलरूप में चन्द्र एक-कलात्मक ही है। सागर ने उसे एक-कलात्मक ही उत्पन्न किया था, पूर्णचन्द्र तो वह समयोचित विकास प्राप्त कर हुआ है। शिव द्वारा एक-कलात्मक चन्द्र-धारण उसे मौलिक रूप में धारण करना है। यही चन्द्र का वास्तविक रूप है। इसी से लोक में उसका आदर है ॥ ८३ ॥

आरोप्यते चेदिह केतकत्वमिन्दौ दलाकारकलाकलापे ।
तत् संवदत्यङ्कमृगस्य नाभिकस्तूरिका सौरभवासनाभिः ॥ ८४ ॥

जीवातु—आरोप्यत इति । केतकत्वमिहेन्दौ चेद्यदि आरोप्यते यतो दलाकारः केतकीपत्रसदृशः धवल. कलाना कलाप. समूहो यस्य तस्मिन् । तत्तस्मात्केतकदलवच्छुभ्रकलाकलापत्वाच्चन्द्रः केतकमेवेति रूप्यत इत्यर्थः । तर्हि अङ्कमृगस्य मृगस्वेन नाभिकस्तूरिका कर्त्री आरोपितं तत्केत्वकं कर्मीभूतं सौरभवासनाभिः कृत्वा संवदति, चन्द्रे केतकत्व युक्तमित्यनुमन्यत इत्यर्थः । 'नाभिः' इति पाठे—अङ्कमृगस्य नाभि. कर्त्री कस्तूरिकासबन्धिसौरभवासनाभिः कृत्वा संवदतीति वा । किन्चया कस्तूरीपरिमलो वर्तते, चन्द्रे कलङ्कमृगनाभिरूपा कस्तूरी वर्तते । तस्माच्चन्द्रे केतकत्वमारोपयितुं युक्तमित्यर्थ. । तत्केतकत्वमङ्कमृगस्य नाभिकस्तूरिकायाः परिमलस्य वासनाभि' संक्रमणैः कृत्वा संवदति युक्त्या संवाद प्राप्नोत्येवेति वा । 'नाभि ' इति पाठे—अतिप्रसिद्धाभिर्वासनाभि ॥ ८४ ॥

अन्वयः—दलाकारकलाकलापे इह इन्दौ केतकत्वम् आरोप्यते चेत् तत् अङ्कमृगस्य नाभिकस्तूरिका सौरभवासनाभि. संवदति ।

हिन्दी—(केतकी पुष्प के) पत्तो के आकार की कलाओं के समूह को धारते इस चन्द्र मे यदि केतकत्व (केतक पुष्प-भाव) का आरोप किया जाय तो क्रोडस्थित मृग की नाभिस्थित कस्तूरी अपनी सुगन्धी की वासनाओ (सस्कार) से (चन्द्र के केतकत्व की) घोषणा करती है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि शुभ्र चन्द्र केतकी पत्रो सदृश श्वेत है, अतः उसे केतकी-पुष्प मानना उचित लगता है । यदि ऐसा आरोप मान लिया जाय तो यह मानना भी उचित होगा कि कलंकमृग की नाभिगत कस्तूरी की सुगंध उसे वासित करती है । शुभ्र चन्द्र शुभ्र केतकी-पुष्प-सदृश है और अङ्कगत कृष्णमृग की नाभिगत कस्तूरी उसे सुगंधित बना रही है, अर्थात् चन्द्र कस्तूरी-गन्ध से सुवासित केतक है ॥ ८४ ॥

आसीद्यथाज्योतिषमेष गोलः शशी समक्षं चिपिटस्ततोऽभूत् ।
स्वर्भानुदंष्ट्रामुगयन्त्रकृष्टपीयूषपिण्याकदशावशेषः ॥ ८५ ॥

जीवातु–आसीदिति । एष शशी यथाज्योतिषं गर्गादिमुनिप्रणीतग्रहगणितशास्त्रानतिक्रमेण गोलः कश्चिदपकृष्टवर्तुलोपरितनभाग एव पूर्वमासीत् । इदानीं

कथमन्यथा दृश्यत इत्याशङ्क्याह—ततोऽनन्तरं कालक्रमेण स्वर्भानो राहोरूर्ध्वाधोभागस्थितदंष्ट्रायुगमेव यन्त्रं निष्पीडनचक्रं तेन कृष्टं निष्कृष्य गृहीतं पीयूषममृतं यस्य, तस्मात्, स चासौ पिण्याकश्च तस्य दशा गृहीतरसनीरसतिलादिपिण्डीमात्ररूपदावशेष उद्धृतो भागो यस्यैवंभूतः सन् चिपिटः पर्पटप्रायोऽभूदिति समक्षमिदानीं प्रत्यक्षेणानुभूयत एवेत्यर्थः । ज्योतिरधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्योतिषम्, 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इत्यण् । ततो यथार्थेऽव्ययीभावः । ज्योतिःशास्त्रादौ षयोदशाङ्गुलश्चन्द्रः षोडशाङ्गुलस्य सूर्यस्याधोभागस्थो जलपूर्णकाचकूपिकाप्रायो यथोदितः, तथैव पूर्वमासीदित्युक्तम् ॥ ८५ ॥

अन्वयः—एषः शशी यथाज्योतिषं गोलः आसीत् ततः स्वर्भानुदंष्ट्रायुगयन्त्रकृष्टपीयूषपिण्याकदशावशेषः चिपिटः अभूत्—समक्षम् ।

हिन्दी—यह चन्द्र ज्योतिष्शास्त्र में वर्णना के अनुसार गोल था; तत्पश्चात् राहु की ऊपर-नीचे को दोनों दाढ़ों-रूप यंत्र में दबाकर अमृत निचोड़ लिए जाने से खाली-मात्र स्थिति में रह जाकर चपटा हो गया,—वही प्रत्यक्ष है।

टिप्पणी—गर्ग आदि ज्योतिष्शास्त्रियों ने चंद्र को गोल कहा है। दमयन्ती कहती है कि वस्तुतः ज्योतिष्शास्त्र के वर्णन के अनुसार चन्द्र गोल ही था। आज जो यह गोल न दिखकर चिपटा दीखता है, उसका कारण यह है कि राहु की दाढ़ों में पिसकर चन्द्र का समग्र सुधा-रस निचुड़ गया; और जैसे कोल्हू में पिसकर कोई गोल फल रस निचुड़ जाने की स्थिति में बची खली की चिपटी टिकिया-मात्र रह जाता है, वैसे ही चन्द्र भी खली की चिपटी टिकिया-मात्र रह गया। सो चिपटा ही दिखता है ॥ ८५ ॥

असावसाम्यादितनोः सखा नो कर्पूरमिन्दुः खलु तस्य मित्रम् ।
दग्धौ हि तौ द्वावपि पूर्वरूपाद्दीर्यवत्तामधिकां दधाते ॥ ८६ ॥

जीवातु—असाविति । असौ चन्द्रो वितनोरनङ्गस्य सखा नो भवति । कुतः ? असाम्यादसादृश्यात् । 'विवाहमैत्रीवैराणि भवन्ति समशीलयोः' इति शास्त्रादनयोः साङ्गानङ्गयोः सादृश्याभावान्मैत्री न संगच्छत इत्यर्थः । तर्ह्यनयोर्लोकप्रसिद्धा मैत्री कथमित्यत आह—खलु निश्चितं कर्पूरापरनामैवेन्दुस्तस्यानङ्गस्य मित्रम्, तावतैव लोकप्रसिद्धिरिति विरोधाभाव इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—यद्यस्मात्तौ द्वावपि कामकर्पूरौ दग्धौ सन्तौ पूर्वरूपाददग्धदशायाः सकाशादधिकां

वीर्यवत्ता हि स्पष्टं दधाते। पक्वो हि कर्पूरो वीर्यवत्तरो भवति, कामोऽपि दाहानन्तरमधिकं वीर्यवाननुभूयते। तदुक्तम्—'कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने। नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै कुसुमधन्वने॥' इति। तस्मात्कामकर्पूरयोर्मैत्री युक्ता। 'अथ कर्पूरमस्त्रियाम्। घनसारश्चन्द्रसंज्ञ.' इत्यमरः। 'अस्त्रियाम्' इत्यमरवचनात् 'कर्पूर'शब्दो नपुंसकोऽपि॥ ८६॥

अन्वयः—असाम्यात् असौ वितनोः सखा नो, खलु कर्पूरम् इन्दु तस्य मित्रम्; हि यत् तौ द्वौ अपि दग्धौ पूर्वरूपात् अधिका वीर्यवत्ता दधाते।

हिन्दी—असमानता होने के कारण यह (चन्द्र) अतनु (कामदेव) का मित्र नहीं है, निश्चयतः कर्पूर-नामक चन्द्र उस (काम) का मित्र है, क्योंकि वे दोनों (काम कर्पूर) ही जल जाने पर पहिले रूप (जल जाने से पहिले की अवस्था) की अपेक्षा अधिक बलवत्ता धारण करते हैं।

टिप्पणी—प्रसिद्ध है कि चन्द्र काम का सखा है। यहाँ कहा गया है कि इस उक्ति में 'इन्दु' का तात्पर्य चन्द्र नहीं है। चन्द्र और काम में सख्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि उनमें समानता नहीं है और मैत्री समान जनों में होती है—'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।' उक्ति में 'इन्दु' का अर्थ कर्पूरबोधक है। इन्दु कर्पूर का भी नाम है। उक्ति के अनुसार जो 'कामेन्दु' में सख्य है, उसका तात्पर्य है कि काम और कर्पूर में सख्य है। वे समान हैं। दोनों ही जल कर अधिक बली हैं। काम अपने देहधारी रूप में उतना बली नहीं था, जितना भस्मीभूत होकर हुआ है। ऐसे ही कर्पूर भी जल कर अधिक प्रभावशाली हो जाता है। लोकोक्ति है कि उस अपार बलशाली कुसुमचाप को नमस्कार, जो कर्पूर के समान जल कर अधिक शक्तिशाली हो जाता है। इस प्रकार समानशील काम-कर्पूर की मैत्री है, असमान काम-चन्द्र की नहीं॥८६॥

स्थाने विधोर्वा मदनस्य सख्यं सः शम्भुनेत्रे ज्वलति प्रलीनः।
अयं लयं गच्छति दर्शभाजि भास्वन्मये चक्षुषि चादिपुंसः॥ ८७॥

जीवातु—स्थान इति। वाऽथवा विधोर्मदनस्य सख्यं स्थाने, युक्तमेवेत्यर्थ.। तत्र हेतुः—स काम. ज्वलति देदीप्यमाने शम्भुनेत्रे प्रलीनः प्रकर्षेण लीन एकतां प्रलयं गतः, विनष्ट इत्यर्थः। अयं चन्द्रश्च दर्शभाजि दर्शनं दर्शस्तद्व्यापारयुक्ते, अथ च—अमावस्या गते, भास्वन्मये सूर्यरूपे आदिपुंसो विष्णोश्चक्षुषि लयमेकतां

गच्छति। दर्शे हि चन्द्रः सूर्यं गच्छति, अत एव दर्शस्य सूर्येन्दुसंगम इति नाम। सूर्यो विष्णोर्दक्षिणं चक्षुः। तथा च तुल्ययोर्हरिहरयोर्नेत्रयोर्द्वयोरपि चन्द्रकामयोः प्रलीनत्वाद्दर्शे चन्द्रस्याप्यनङ्गतया च समशीलत्वादुचितैव मैत्रीत्यर्थः। तथा च—कामस्य चन्द्रसखित्वाप्रसिद्धिर्मुख्यैव युक्तेति भावः॥ ८७॥

अन्वयः—वा विधोः मदनस्य सख्यं स्थाने; सः ज्वलति शम्भुनेत्रे प्रलीनः अयं च दर्शभाजि भास्वन्मये आदिपुंसः चक्षुषि लयं गच्छति।

हिन्दी—अथवा चन्द्र और काम की मैत्री उचित ही है, क्योंकि वह (काम) देदीप्यमान शिव के नेत्र में प्रलीन हो गया (जल कर नष्ट हो गया) और यह (चन्द्र) अमावस्या को दीप्त तेजोमय आदिपुरुष (विष्णु) के नेत्र (सूर्य) में लीन हो जाता है।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक (८६) में असमानता होने के कारण चन्द्र-काम की मित्रता का निषेध कहा गया था और कर्पूर-काम की मैत्री का औचित्य सिद्ध किया गया था। इस श्लोक में पुनः उक्त कथन में संशोधन करके कहा गया कि संभव है कि चन्द्र-काम मे ही सख्य हो, क्योंकि इन दोनों में भी एक समानता तो है। दोनों नेत्रों के कारण अदृश्यता को प्राप्त हैं। चन्द्रमा अमावस्या को हरि के दक्षिणनेत्र सूर्य में लीन हो अदृश्य हो जाता है, काम हर के नेत्र के कारण अदृश्य हो गया है। इस प्रकार चन्द्र-काम की मैत्री उचित ही है॥ ८७॥

नेत्रारविन्दत्वमगान्मृगाङ्कः पुरा पुराणस्य यदेव पुंसः।
अस्याङ्क एवायमगात्तदानीं कनीनिकेन्दिन्दिरसुन्दरत्वम्॥ ८८॥

जीवातु—नेत्रेति। पुरा पूर्वं यदा यस्मिन्काले एव मृगाङ्कः पुराणस्य पुंसः श्रीविष्णोर्नेत्रारविन्दत्वं नयनकमलत्वमगात्। तदा तस्मिन्काले अस्य विष्णुनेत्रारविन्दभूतस्यास्य चन्द्रस्यायमङ्कः कलङ्क एव कनीनिकाया इन्दिन्दिरस्य भ्रमरस्य सुन्दरत्वमगात्प्राप्तत्। 'अदात्' इति पाठे— अयं श्रीविष्णुस्य चन्द्रस्याङ्के विषये कनीनिकेन्दिन्दिरसुन्दरत्वमदात्। नेत्रे हि कनीनिकया भाव्यम्, अरविन्दे च भ्रमरेण। तथा चास्य नेत्रारविन्दत्वपरत्वादङ्कमेवोभयं श्रीविष्णुः कृतवानित्यर्थः। अङ्क एव कनीनिका नर्मो भ्रमरेण सुन्दरत्वमस्यादादिति वा 'इन्दिन्दिरालिषट्चरणचञ्चरीकालिनो द्विरेफाः स्युः' इति हलायुधः॥ ८८॥

अन्वयः—पुरा यदा एषः मृगाङ्कः पुराणस्य पुरुषः नेत्रारविन्दत्वम् अगात्, तदानीम् अस्य अयम् अङ्कः एव कनीनिकेन्दिन्दिरसुन्दरत्वम् अगात् ।

हिन्दी—प्राचीनकाल में जब यह मृगाङ्क (चंद्र) पुराण पुरुष (श्री हरि विष्णु) के नेत्रकमलत्व को प्राप्त हुआ, तभी इस (चंद्र) का यह कलङ्क ही पुतली के भ्रमर (कृष्ण तारा) के सौंदर्य को प्राप्त हुआ ।

टिप्पणी—चंद्र का मृग-लाञ्छन कलंक कहा जाता है, किन्तु यहाँ उसे सुन्दर बताया गया है और यह भी सकेत है कि यह कलक ही चद्र के श्रीहरि के वाम-नेत्र होने का कारण बना । चंद्र वाम नेत्र हुआ और यह 'अंक' नेत्र की पुतली का काला तारा । यदि यह कलंक न होता तो नेत्र की पुतली मध्य-कृष्ण-गोल के बिना अशोभन रह जाती । यह कलंक चंद्र रूपी नेत्रारविंद की सुन्दर पुतली का काला तारा बना ॥ ८८ ॥

देवेन तेनैष च काश्यपिश्च साम्यं समीक्ष्योभयपक्षभाजौ ।
द्विजाधिराजौ हरिणाश्रितौ च युक्तं नियुक्तौ नयनक्रियायाम् ॥ ८९ ॥

जीवातु—देवेनेति । तेन देवेन श्रीविष्णुना एष चन्द्रः काश्यपिर्गरुडश्चैतौ द्वावपि साम्यं समानधर्मतां समीक्ष्य तुल्यायां नयनक्रियायां क्रमेण नेत्रव्यापारे वाहनव्यापारे च यन्नियुक्तौ, तद्युक्तमुचितमित्यर्थः । 'चौ' अन्योन्यसमुच्चये । साम्यमेवाह—उभयपक्षौ शुक्लपक्षकृष्णपक्षौ भजति चन्द्रः, गरुडस्तु द्वौ छदौ भजति, तादृशौ द्वावपि । तथा—द्विजानां ब्राह्मणानां राजा चन्द्रः । गरुडस्तु पक्षिणां राजा, तादृशौ । तथा—हरिणेन कलङ्कमृगेणाश्रितश्चन्द्रः, गरुडस्तु हरिणा विष्णुना वाहनार्थेनाश्रितः, तादृशौ । एवमुभयोः साम्यात्समे एव व्यापारे यन्नियुक्तौ तदुचितं कृतमिति भावः । काश्यपिः, बाह्वादित्वादिञ् ॥ ८९ ॥

अन्वयः—तेन देवेन उभयपक्षभाजौ द्विजाधिराजौ हरिणाश्रितौ च (इति) साम्यं समीक्ष्य एषः काश्यपिः च युक्तं नयनक्रियायां नियुक्तौ ।

हिन्दी—उस देव (श्रीविष्णु) ने दो पक्षों को धारण करने वाले, द्विजों के राजराजेश्वर और हरिणाश्रित—इस प्रकार भलीभाँति समानता देखकर इसे (चंद्र को) और कश्यप-मुनि गरुड को ठीक ही 'नयन-क्रिया' में नियुक्त किया ।

टिप्पणी—यहाँ श्रीविष्णु द्वारा चंद्र की 'नयन-क्रिया' अर्थात् वामनेत्ररूप और गरुड को 'नयन-क्रिया' अर्थात् वाहन-क्रिया के रूप में नियुक्ति का आधार दोनों में साम्य का होना बताया गया है । श्री हरि ने समीक्षा करके दोनों में

समानता पायी और दोनों को एक-से कार्य 'नयन-क्रिया' में नियुक्त कर दिया। चंद्र कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष—दोनों का भाजन है, द्विजों (ब्राह्मणों) का राजा है और हरिण (मृग) को धारण करता है और गरुड के भी दो पंख हैं, वह पक्षियों का राजा है और हरि (श्रीविष्णु) द्वारा आश्रित है। इस प्रकार समान-गुणधर्मा चंद्र और गरुड—दोनों श्रीहरि की 'नयन-क्रिया' में नियुक्ति पा गये ॥ ८९ ॥

यैस्त्वमायि ज्वलनस्तुषारे सरोजिनीदाहविकारहेतोः ।
तदीयधूमौघतया हिमांशौ शङ्के कलङ्कोऽपि समर्थितस्तैः ॥ ९० ॥

जीवातु—यैरिति । यैः पण्डितैः सरोजिन्याः दाहरूपाद्विकाराद्धेतोस्तुषारे ज्वलनोऽग्निरन्वमायि । तुषारः साग्निर्भवितुमर्हति, सम्बन्धे सति दाहकारित्वात्, साग्निभूदेशवत्, तप्तोदकवद्वेति हिमे विषये वह्निरनुमित इत्यर्थः । तैः पण्डितैर्हिमांशौ तुषारमये चन्द्रे वर्तमानः कलङ्कोऽपि तदीयधूमौघतया हिमाग्निसंबन्धि-धूमसमूहरूपत्वेन समर्थित इत्यहं शङ्के । वह्नौ हि धूमेन भाव्यम्, चन्द्रश्च तुषारमयत्वादुक्तरीत्या वह्निमान्, तथा च कलङ्को धूमसमूह एवेति तैः समर्थितमित्यहं संभावयामीत्यर्थः ॥ ९० ॥

अन्वयः—यैः सरोजिनीदाहविकारहेतोः तुषारे ज्वलनः अन्वमायि, शङ्के—तैः हिमांशौ कलङ्कः अपि तदीय धूमौघतया समर्थितः ।

हिन्दी—जिन (विचारकों) ने कमलिनी के दाह रूप विकार का कारण होने से तुषार (पाले) में अग्नि का अनुमान किया, मैं समझता हूँ कि उन्हीं (पंडित विचारकों) ने हिमकर (चंद्र) में कलंक का भी उसके (तुषारजनित) धुएँ के समूह के रूप में समर्थन किया ।

टिप्पणी—यहाँ चंद्र-स्थित 'हिम' के आधार पर चन्द्र के कलंक में तज्जनित धूम-समूह होने की कल्पना की गयी है । इस कल्पना का आधार है यह मान्यता कि पाले–तुषार–हिम में अग्नि है, क्योंकि वह पाला कमलिनी को जला डालता है और जलाना (दाहकता) अग्नि का गुण है । तो तुषार चन्द्र में भी है, उसकी संज्ञा इसी कारण 'हिमांशु' है । तो जब चन्द्र में तुषार है तो अग्नि भी है, क्योंकि सरोजिनी दाहकता के कारण तुषार में अग्नि का होना सिद्ध है; और अग्नि है तो उसकी धूमराशि भी होगी । चन्द्र के तुषार-स्थित अग्नि की काली धूमराशि ही वह चन्द्र के मध्य का काला कलंक है ॥ ९० ॥

स्वेदस्य धाराभिरिवापगाभिर्व्याप्ता जगद्भारपरिश्रमार्ता ।
छायापदेशाद्वसुधा निमज्ज्य सुधाम्बुधावुज्झति खेदमत्र ॥ ९१ ॥

जीवातु—स्वेदस्येति । वसुधा छायापदेशात्स्वीयप्रतिबिम्बव्याजेन सुधाम्बुधावत्र चन्द्रे निमज्ज्यान्तः प्रविश्य खेदं जगद्भारपरिश्रमपीडामुज्झतीव । किंभूता ? जगद्भारवहननिमित्तं परिश्रमस्तेनार्ता नितरां पीडिता । अत एव–स्वेदस्य धाराभिरिवापगाभिर्व्याप्ता समन्तात्पूरिता । अमृतसमुद्रनिमज्जने हि खेदो गच्छत्येव । यस्याश्च तत्प्रदीरूपः स्वेदः, तस्याः श्रमहरणे सुधासमुद्र एवोचितः । एतेन कलङ्कस्य मृगशशभूच्छायाप्रभृति मतभेदा वर्णिताः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—जगद्भारपरिश्रमार्ता स्वेदस्य धाराभिः इव आपगाभिः व्याप्ता वसुधा छायापदेशात् अत्र सुधाम्बुधौ निमज्ज्य खेदम् उज्झति ।

हिन्दी—जगत् के भार को ढोने के श्रम से थकी, पसीने की धारों के सदृश बहती नदियों से परिपूर्ण धरित्री (अपने) प्रतिबिम्ब के व्याज से यहाँ अमृत के सागर (चन्द्र) में डुबकी लगाकर खिन्नता को दूर करती है ।

टिप्पणी—एक यह मान्यता भी है कि चन्द्र में दीखता कलंक पृथ्वी की छाया है, यद्यपि आधुनिक युग में हुई चन्द्रयात्रा से यह प्रत्यक्ष हो गया है कि यह कलंक चन्द्र-ग्रह-स्थित गर्त है, जो दूर से काले दीखते हैं । पूर्वमान्यता के आधार पर यहाँ यह कल्पना की गयी है कि इस छाया के व्याज से पृथ्वी ही चन्द्र पर पहुँच गया है, क्योंकि जगत् के जड–चेतन–भार को ढोते-ढोते वह थक गयी है । थकने का प्रमाण है, उस पर स्वेद-सी बहती नदियों की धाराएँ । इसी श्रमजनित खिन्नता को दूर करने के लिए धरती अमृत-सागर (चन्द्र) में डूब कर स्नान कर रही है ॥ ९१ ॥

ममानुमैवं बहुकालनीलीनिपातनीलः खलु हेमशैलः ।
इन्दोर्जगच्छायमये प्रतीके पीतोऽपि भागः प्रतिबिम्बितः स्यात् ॥९२॥

जीवातु—ममेति । हेमशैलो मेरुः खलु निश्चितं सर्गमारभ्याद्ययावदतिक्रान्तेन बहुना कालेन कृत्वा नीलीनिपातः श्यामिकालग्नं तेन कृत्वा वा नीलः बहुकालीनत्वान्नीलमलसम्बन्धान्नीलवर्णः सजातोऽस्तीति, एवंप्रकारा ममानुमाऽनुमानम्, एवमहं संभावयामीत्यर्थः । अन्यथा यदि स्वर्णाचलः कालभूयस्त्वेन न नीलीभूतः किन्तु हेममयत्वात्पीत एव स्यात्, तर्हि इन्दोर्जगच्छायमये जगत्प्रतिबिम्बभूत

कलङ्करूपे प्रतीकेऽवयवे मेरोः पीतोऽपि भागः प्रतिबिम्बितः स्यात्पीतोंऽशोऽपि दृश्येत, तस्मात्स्वर्णाचलो नील एव जातः। तथा च सकलाया अपि भूमेर्नीलवर्णत्वात्तत्प्रतिबिम्बरूपः कलङ्कोऽपि नील एव युक्त इत्यर्थः जगच्छाये, 'विभाषा सेना—' इति षण्ढत्वम् ॥ ९२ ॥

अन्वयः—हेमशैलः खलु बहुकालनीलीनिपातनीलः—एवं मम अनुमा, इन्दोः जगच्छायमये प्रतीके पीतः भागः अपि प्रतिबिम्बितः स्यात् ।

हिन्दी—स्वर्णाचल (मेरु) निश्चयतः बहुत समय व्यतीत हो जाने के कारण नीलिमा (काई) लगने से नीला हो गया है—ऐसा मेरा (दमयंती) का अनुमान है, अन्यथा चन्द्रमा के जगत् की प्रतिच्छाया-भूत प्रतीक (कलंक-चिह्न) में (मेरु का) पीला भाग भी प्रतिबिम्बित हो जाता ।

टिप्पणी—समग्र पृथ्वी की प्रतिच्छाया चन्द्र में पड़ती है, अतः उसमें कलंक-चिह्न (काला) दीखता है। छाया काली है, अतः उसकी चन्द्रमा में पड़ती प्रतिच्छाया भी काली है। दमयंती इस पर अनुमान करती है कि क्योंकि प्रतिबिम्ब काला ही है, अन्य वर्ण का नहीं है, अतः जिसका भी प्रतिबिम्ब पड़ता होगा, वह काला-नीला ही होगा, अन्यथा चंद्र में अन्य वर्ण भी दीखता। मेरु पर्वत का प्रतिबिम्ब भी चन्द्र में होगा ही, क्योंकि वह जगत् से पृथक् नहीं है। वह भले ही कभी पीला रहा हो—स्वर्णाचल जो ठहरा—किन्तु सृष्टि बड़ी पुरानी है। इतने काल में उसका रंग भी काला पड़ गया है, वह पीला नहीं रहा। यदि पीला होता तो उसका प्रतिबिम्ब पीला दीखता। उसकी प्रतिच्छाया काली है, अतः मेरु भी काला ही है ॥ ९२ ॥

माऽवापदुन्निद्रसरोजपूजाश्रियं शशी पद्मनिमीलितेजाः ।
अक्षिद्वयेनैव निजाङ्करङ्कोरलङ्कृतस्तामयमेति मन्ये ॥ ९३ ॥

जीवातु—मेति । शशी उन्निद्रैर्विकसितैः सरोजैः कृत्वा या पूजा तज्जनितां श्रियं मा अवापत् मा स्म लभत । यतः—पद्मनिमीलि कमलसंकोचकं तेजो यस्य सः। विकसितानामपि कमलानां पूजार्थं चन्द्रसविधे क्रियमाणानां चन्द्रतेजसां संकोचस्यैव संभवादुन्निद्रसरोजपूजाश्रियं प्राप्नोति ?। प्रकारान्तरेण प्राप्नोतीत्याह—निजाङ्कभूतस्य रङ्कोर्मृगस्याक्षिद्वयेनैवालंकृतोऽयं चन्द्रस्तामुन्निद्रसरोजपूजाश्रियमेति प्राप्नोति नयनयोरुन्निद्रकमलरूपत्वादित्यर्थ इत्यहं मन्ये । अङ्क-

मृगनेत्राभ्यां कृत्वाऽस्य चन्द्रो विकसितकमलाभ्यां पूजामिव शोभां प्राप्नोतीति भावः। एत्येवेति वा ॥ ९३ ॥

अन्वयः—पद्मनिमीलितेजाः शशी उन्निद्रसरोजपूजाश्रियं मा अवापत्, निजाङ्करङ्को अक्षिद्वयेन एव अलङ्कृतः अथ ताम् एति—इति मन्ये।

हिन्दी—कमलों को संकुचित कर देने वाली दीप्ति से युक्त चन्द्रमा को खिले कमलों की पूजा से सञ्जनित शोभा प्राप्त नहीं हुई, अतः अपने को स्थित मृग के नेत्रयुगल से ही सुशोभित हो यह (चन्द्र) उसे (विकसित-कमल-पूजाश्री को) प्राप्त करता है—यह मैं (दमयंती) समझती हूँ।

टिप्पणी—मान्यता है कि चन्द्रमा की चाँदनी (चन्द्र-तेज) में कमल मुँद जाया करते हैं, अतः स्वाभाविक है कि चन्द्र को खिले कमलों द्वारा पूजित होने की सम्पन्नता न मिले। दमयंती का अनुमान है कि चन्द्र इस न्यूनता को अपने क्रोडगत मृग-शिशु के कमलसम दोनों नेत्रों के माध्यम से दूर करता है। खिले कमलों से पूजा नहीं प्राप्त होती, अतः मृग के विकसित रूप सदृश नेत्र-युग्म द्वारा ही पूजा की शोभा पा लेता है ॥ ९३ ॥

य एष जागर्ति शशः शशाङ्के बुधो विधत्ते क इवात्र चित्रम्?।
अन्तः किलैतत्पितुरम्बुराशेरासीत् तुरङ्गोऽपि मतङ्गजोऽपि ॥९४॥

जीवातु—य इति। य एष प्रत्यक्षदृश्यः शशः शशाङ्के जागर्ति स्फुरति, अत्र विषये क इव बुधश्चित्रमत्राश्चर्यं विधत्ते? अपि तु न कोऽपि। किल यस्मादेतत्पितु-रम्बुराशेरन्तर्मध्ये उच्चैःश्रवःसञ्ज्ञकस्तुरङ्गोऽप्यासीत्। ऐरावताख्यो मतङ्गजोऽप्या-सीत्। मदीयपितुर्मध्येऽश्वगजादिकं भवति, तदीय(पुत्र)मध्ये शशमात्रसत्त्वे किमाश्चर्यमित्यर्थः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—यः एषः शशः मृगाङ्के जागर्ति, अत्र कः इव बुधः चित्रं विधत्ते, किल एतत्पितुः अम्बुराशेः अन्तः तुरङ्गः अपि आसीत्, मतङ्गजः अपि (आसीत्)।

हिन्दी—यह संमुख दीखता शशक मृगांक (चन्द्र) में स्पष्ट है, इस विषय में कौन समझदार व्यक्ति आश्चर्य करेगा? (कोई नहीं), क्योंकि इस (चन्द्रमा) के पिता जलनिधि (सागर) के मध्य में घोड़ा (उच्चैःश्रवा) भी था, हाथी (ऐरावत भी था।

टिप्पणी—पितृ-प्रकृति संतान में भी आती है; अतः चन्द्र के मध्य एक पशु (शश) को देख किसी समझदार व्यक्ति को आश्चर्य नहीं होना चाहिए; क्योंकि उसके जनक समुद्र की भी यही प्रकृति रही है, उसके उदर में एक नहीं, दो-दो पशु रहे हैं। एक इन्द्र का वाहन उच्चैःश्रवा अश्व, दूसरा इन्द्र-गज ऐरावत। पिता के क्रोड में तो दो-दो बड़े पशु थे पुत्र तो एक छोटा ही रखा। इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है ॥ ९४ ॥

गौरे प्रिये भातितमां तमिस्रा ज्योत्स्नी च नीले दयिता यदस्मिन् ।
शोभाप्तिलोभादुभयोस्तयोर्वा सितासितां मूर्तिमयं बिभर्ति ॥९५॥

जीवातु—गौर इति। तमिस्रा तमोबहुलास्य दयिता रात्रिर्गौरे प्रिये चन्द्रे विषये भातितमाम्। तथा—ज्योत्स्नी च चन्द्रिकायुक्ता धवलाऽस्य दयिता; रात्रिर्नीले प्राग्धेशेऽस्मिश्चन्द्रे नितरां शोभते, भिन्नवर्णे हि शोभते इत्यर्थः। तस्माद्वेतोस्तयोस्तमिस्राज्योत्स्न्योरुभयोरपि विषये स्वस्य शोभाप्राप्तेर्लोभादभिलाषात्तयोरेव वा पत्न्योर्वा शोभाप्राप्तिस्तदभिलाषाद्धवलश्यामलवत्संबन्धात्तमिस्राज्योत्स्न्योः शोभया भवितव्यमिति। अयं चन्द्रः सितासितां धवलां श्यामलां च मूर्तिं बिभर्ति। 'वा' इवार्थः। शोभाप्तिलोभादिवेत्यन्वयः। नीलभागे ज्योत्स्नी प्रियां धारयितुं धवले च तामसीमिति यथासंख्यम् ॥ ९५ ॥

अन्वयः—यत् अस्मिन् गौरे प्रिये तमिस्रा दयिता नीले च ज्योत्स्नी भातितमाम्, तयोः उभयोः शोभाप्तिलोभात् अयं सितासितां वा मूर्तिम् बिभर्ति।

हिन्दी—क्योंकि इस (चन्द्र) गोरे प्रियतम (स्वामी) के प्रसंग में अंधकारमयी (काली) प्रिया (रात) अधिक दमकती है और श्यामल (प्रिय) के प्रसंग में चाँदनी (गोरी) रात; सो उन दोनों (काली-गोरी प्रियाओं, कृष्ण पक्ष की काली और शुक्ल पक्ष की शुभ्र रात्रि-दयिताओं) में शोभा पाने के लोभ से यह (चन्द्र) धवल और श्यामल मूर्तियाँ धारण करता है।

टिप्पणी—चन्द्र का कलंक चिह्नयुक्त भाग असित (काला) है, शेष सित (शुभ्र)। इस प्रकार श्याम और श्वेत (काली-गोरी) दो मूर्तियाँ धारण करते चन्द्र के विषय में कल्पना है कि ये दो रंग के रूप वह अपनी दो पत्नियों (काले पाख की काली रात और उजले पाख की गोरी चाँदनी रात) में शोभित रहने के लिए करता है। शोभा भिन्नवर्णता में मिलती है। काली रात

के साथ गोरा चंदा, चाँदनी रात के साथ काला चाँद शोभित होता है। दोनों प्रियाओं में वह शोभा पाये अथवा दोनों प्रियाएँ उससे छटावती प्रतीत हों, इसीलिए चन्द्र काली गोरी दो मूर्तियाँ बनाये रहता है। नील भाग में गोरी चाँदनी रात्रि प्रिया के और श्वेतभाग में श्यामला रात्रि दयिता के धारणार्थ चन्द्र एक भाग में सित है, दूसरे में असित ॥ ९५ ॥

वर्षातपानावरणं चिराय काष्ठौघमालम्ब्य समुत्थितेषु ।
बालेषु तारावकेष्विहैकं विकस्वरीभूतमवैमि चन्द्रम् ॥ ९६ ॥

जीवातु—वर्षेति । अहं बालेषु तनुषु सूक्ष्मरूपेष्वविकसितेषु चेह प्रत्यक्षदृश्येषु तारासु नक्षत्रेष्वेव कवकेषु छत्राकेषु मध्ये चिरकालोत्पन्नत्वाद्विकस्वरीभूतं विकसितमेकं छत्राकमेव चन्द्रमवैमि मन्ये । किंभूतेषु ताराकवकेषु ? चिराय बहुकालं वर्षास्वृतौ तपे ग्रीष्मर्तौ च वर्षेषु जलवृष्टिषु आतपेषूष्णेषु च सत्सु अनावरणमनाच्छादितं काष्ठौघं दिवसमूहमेव दारुसमूहमालम्ब्य समुत्थितेषूत्पन्नेषु । वर्षाकाले ह्यनावृतेषु जलस्तिमितेषु पश्चादुष्णतप्तेषु च काष्ठेषु सूक्ष्मस्थूलानि छत्राकाणि भवन्ति । तथा च तारा अल्पकवकानि, चन्द्रस्तु स्थूलकवकमित्युत्प्रेक्षा ॥ ९६ ॥

अन्वय—चिराय वर्षातपानावरणं काष्ठौघम् अवलम्ब्य समुत्थितेषु बालेषु इह तारावकेषु विकस्वरीभूतम् एकं चन्द्रम् अवैमि ।

हिन्दी—मैं (दमयन्ती) बहुत समय से बरखा और धूप में न-ढके (अनाच्छादित) दिशा-समूह रूपी काठ के समूह का आश्रय लेकर उगआये छोटे-छोटे (अविकसित) इन सम्मुख दीखते तारा रूप छत्राकों (कुकुरमुत्तों) के मध्य विकसित हुए एक चन्द्र को ही (विकसित छत्राक) मानती हूँ ।

टिप्पणी—धूप और बरखा में खुले पड़े काठ में गोल गोल सफेद-सफेद छोटे छत्रों (छातों) के समान कुकुरमुत्ते (एक प्रकार की बरसाती उपज) उग आते हैं । शुभ्र छोटे-छोटे तारों में और पूर्ण चन्द्र में उन्हीं कुकुरमुत्तों की उद्भावना की गयी है, जो दिशाओं रूप काष्ठौघ में उपज आये हैं । चन्द्रमा एक बड़ा कुकुरमुत्ता—छत्राक है, जो विकसित छत्राक है, तारे अविकसित । नारायण के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है ॥ ९६ ॥

दिनावसाने तरणेरकस्मान्निमज्जनाद्विश्वविलोचनानि ।
अस्य प्रसादादुडुपस्य नक्तं तमोविपद्द्वीपवती तरन्ति ॥ ९७ ॥

जीवातु—दिनेति । विश्वस्य जगतो विलोचनानि दिनावसाने तरणेः सूर्यस्याकस्मादसंभावितहेतोर्निमज्जनात्प्रतीचीसागरनीरप्रवेशाद्धेतोर्नक्तं रात्रौ तमोनिमित्तां स्खलनादिरूपां विपदमेव द्वीपवतीं महानदीमस्योडुपस्य चन्द्रस्य प्रकाशरूपात्प्रसादात्तरन्ति । चन्द्रेण तमो निरस्य सर्वं प्रकाशितमिति भावः । अन्येऽपि रात्रौ तरणेर्नौकाया अकस्मान्मज्जनाद्धेतोर्विडनरूपामापन्नदीमुडुपस्याकस्मादागतस्याल्पयानपात्रस्य प्रसादात्तरन्ति ॥ ९७ ॥

अन्वयः—दिनावसाने तरणेः अकस्मात् निमज्जनात् विश्वविलोचनानि नक्तम् अस्य उडुपस्य प्रसादात् तमोविपद्द्वीपवतीं तरन्ति ।

हिन्दी—दिनांत (संध्या काल) में तरणि-रूप तरणि (सूर्य-रूप नौका) के सहसा डूब जाने से संसार के नेत्र-रूप यात्रिक रात में इस (चन्द्र) छोटी नौका के प्रकाश-रूप प्रसाद से अन्धकार जन्य स्खलनादि विपत्तिरूपिणी द्वीपवती (नदी) को पार करते हैं ।

टिप्पणी—संध्या को जब सूर्यास्त हो जाता है, तब अंधकार छा जाता है और लोक-नेत्रों को कुछ देखना कठिन हो जाता है। उस अंधकार में चन्द्र-प्रकाश ही सहायक होता है और नेत्र कुछ देख पाते हैं। यहाँ सूर्य को एक अच्छी तरणी (नौका) बताया गया है (तरणि सूर्यवाचक भी है, नौका वाचक भी), जो अंधकार नदी में नेत्र-यात्रियों के संतरण में सहायक है। सहसा साँझ को तरणिरूपा तरणि के डूब जाने पर नेत्र-यात्रिक अंधकार में गिरना, फिसलना ठोकरखाना आदि की विपदा रूपा नदी को कैसे पार करें? तब चंद्र के रूप में उन्हें एक उडुप (क्षुद्र नौका) मिलता है। और नेत्र तमो विपद्-नदी को पार कर जाते हैं। चन्द्र के प्रकाश में नेत्र देखने लगते हैं। बड़ी नाव न सही, उसके डूब जाने पर 'उडुपेन सागरम्' ही सही। छोटी नैया से लोक-नेत्र-यात्रिक तमोनदी तर जाते हैं ॥ ९७ ॥

किं नाक्षिण नोऽपि क्षणिकोऽणुकोऽयं भानस्ति तेजोमयबिन्दुरिन्दुः ।
अत्रेस्तु नेत्रे घटते यदासीन्मासेन नाशी महतो महीयान् ॥ ९८ ॥

जीवातु—किमिति । नोऽस्माकममहतां पामराणामपि अक्षिण नेत्रविषये तेजोमयस्तेजोरूपो बिन्दुरेवायमिन्दुरंगुल्या नयनप्रान्तचिपिटीकरणे धवलवत्‌लाकारेण माम् शोभमानः किं नास्ति? अपि त्वस्मदादिनेत्रेऽपीन्दुर्वर्तत एव;

परम्—अणुकोऽल्पीयान्, तथा क्षणिकः क्षणमात्रावस्थायी, यावच्चिपिटीकरणमेव दृश्यत इत्यर्थः। तर्ह्यस्माच्चन्द्रात्तस्य वैलक्षण्यं कथमत आह—अत्रेर्मुनेर्नेत्रे तु पुनस्तेजोमयबिन्दुरयमिन्दुर्महीयानितरापेक्षया नितरां महापरिमाण आसीत्। तथा मासेन कृत्वा नाशी प्राप्तविनाशश्चाभूदिति यत्, तद्घटते, एतद्युज्यत इत्यर्थः। अतः—कीदृशस्यात्रेः? महतो महानुभावस्य। 'सर्वं हि महतां महत्' इति न्यायेन महतोऽत्रेस्तेजोमयबिन्दुरप्ययमिन्दुर्महापरिमाणश्चिरकालस्थायी चेत्यस्मन्नेत्रवर्तितेजोमयबिन्दोरिन्दोर्वैलक्षण्यं युक्तमेवेति भावः। अणुक., 'अल्पे' इति कन्। नाशीति, अस्त्यर्थे इनिः॥ ९८॥

अन्वय.—नः अपि अक्षिण किम् अणुकः क्षणिकः अयं तेजोमयबिन्दुः इन्दुः भान् न अस्ति? महतः अत्रेः नेत्रे तु महीयान् आसीत्, यत् मासेन नाशी घटते।

हिन्दी—हमारे (सामान्य जनों के) भी नेत्र में क्या छोटा (अणुमात्र) और क्षणस्थायी यह तेजः स्वरूप बिन्दु चंद्र शोभायमान नहीं है? (है)। महामुनि अत्रि के नेत्र में तो यह बहुत बड़ा था, जो मास में (अमावस्या को) नष्ट हो पुनः घटित हो जाता है।

टिप्पणी—सामान्य जन के नेत्रों में भी ज्योति होती है। वह चंद्र ज्योति ही है। नेत्र-प्रांत को दबाने पर वह गोल-गोल ज्योतिर्मय चंद्र दीख जाता है, भले ही छोटा-सा हो, क्षणभंगुर हो। इस पर यहाँ उद्भावना है कि सामान्य जन के नेत्रों में भी तेजोरूप-चन्द्र है, महामुनि, महापुरुष अत्रि के नेत्र में भी चंद्र था। वे महान् थे, उनके नेत्र में विशाल चन्द्र था, मास-मास अमावस्या तक विनष्ट होकर भी वह पुनः घटित हो जाता था। सामान्य-जन के नेत्र में विशाल नहीं, छोटा सा तेजो बिन्दु इन्दु है। नेत्र अंगुलि से दबाइये, क्षणभर को वह छोटा-सा इन्दु दीख जायेगा। यही अत्रिमुनि और सामान्य जन के नेत्र स्थित इन्दु में अन्तर है। मुनि महान् थे, उनके नेत्र का इन्दु बड़ा था, नष्ट होकर भी पुनर्घटनशील। सामान्य जन सामान्य है—लघुमानव। उसके नेत्र में छोटा-सा, क्षणिक चंदा है॥ ९८॥

त्रातुं पतिं नौषधयः स्वदावत्या मन्त्रेण विप्राः क्षयिणं न शेकुः।
एनं पयोधिर्मणिभिर्न पुत्रं सुधा प्रभावैर्न निजाश्रयं वा॥९९॥

जीवातु—त्रातुमिति। मृतसञ्जीवन्यादय ओषधयः स्वदावत्या स्वसामर्थ्येन निजरसवीर्यविपाकाख्या कृत्वा ओषधीशत्वात् पतिमेनं चन्द्रम् क्षयिणं प्रति-

दिनं कलाक्षयवन्तम्, अथ च—क्षयरोगिणं सन्तं त्रातुं न शेकुः। तथा—विप्रा द्विजराजत्वान्निजस्वामिनं क्षयिणं मन्त्रेण श्रुतिसामर्थ्येन कृत्वा रक्षितुं न शेकुः। तथा-पयोधिरपि पुत्रं क्षयिणमेनं मणिभिरनेकप्रकारैरन्तःस्थैः रत्नैः कृत्वा रक्षितुं न शशाकेति वचनविपरिणामः। तथा-सुधापि स्वाधारभूतं क्षयिणमेन-मजरामरत्वजनकैः प्रभावैः कृत्वा त्रातुं न शशाक। 'वा' समुच्चये। ओषध्यादयः स्वशक्त्याद्विरक्षणसाधने सत्यपि पतित्वात्पुत्रत्वान्निजाश्रयत्वाच्च क्षयाद्रक्षितुं समर्था न बभूवुरिति विशेषोक्त्या पूर्वकर्मजो रोगो महानुभावैरप्यपनेतुं न शक्यत इति व्यज्यते। 'अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभाव' इत्योषध्यादीनां सामर्थ्यं प्रसिद्धम् ॥ ९९ ॥

अन्वय —ओषधयः स्वशक्त्या क्षयिणं पतिं त्रातुं न शेकुः, विप्राः मन्त्रेण; पयोधिः एनं पुत्रं मणिभिः न सुधा वा निजाश्रयं प्रभावैः न।

हिन्दी—वनस्पतियाँ अपनी (मृत को जीवित कर देने वाली मृत संजी-वनी) शक्ति से क्षयी (कला-कला करके क्षय को प्राप्त होने वाले) पति (चन्द्र) को न बचा सकीं और न ब्राह्मण (द्विजराज—अपने राजा को); समुद्र अपने इस पुत्र (चन्द्र) को अनेक अंतःस्थित रत्नादि-प्रभाव से न बचा पाया और न अमृत अपने (अजर-अमर करने वाले) प्रभाव से अपने आश्रय (चन्द्र) को।

टिप्पणी—चन्द्र ओषधियों का नाथ माना जाता है, उसके प्रभाव से ही वनस्पतियों का विकास होता है। वह द्विजराज भी कहाता है—ब्राह्मणों का राजा। सागर से जन्म लेने के कारण वह सागर का पुत्र है और अमृत का तो वह आश्रय ही है। ये सब बड़े ही सामर्थ्यशील हैं। मृतसंजीवनी आदि ओषधियाँ मरे को जीवन देती हैं, ब्राह्मण भी मंत्रबल से बहुत कुछ कर सकते हैं। समुद्र के अनेक रत्न जीवनदाता हैं और अमृत-पान से तो अजरता—अमरता मिलती ही है। पर भाग्य का खेल। ये कोई चंद्र को क्षयित्व से मुक्ति न दिला सके। वह कला-कला करके क्षय को प्राप्त होता ही है। न प्रियाएँ बचा पायीं, न अनुगत जन, न पिता ही कुछ कर सका, न आश्रित ही। सब में शक्ति है, पर कर्म भोग को कोई नहीं रोक पाता। वह भोगना ही है ॥ ९९ ॥

मृषा निशानाथमहः सुधा वा हरेदसौ वा न जराविनाशौ।
पीत्वा कथं नापरथा चकोरा विधोर्मरीचीनजरामराः स्युः? ॥१००॥

जीवातु—मृषति। निशानाथस्य चन्द्रस्य महस्तेजः सुधा वा पीयूषमेवेति लोकवादो मृषा असत्य एव वा भवेत्। वा अथवा, यदि चन्द्रतेजः सुधैवेति लौकिकप्रवादः सत्य एव, तर्ह्यसौ चन्द्रतेजोरूपा सुधा जराविनाशी जरामरणे न हरेद्विनाशयेदित्यङ्गीकार्यम्। चन्द्रतेजः सुधा नैवेति वाऽङ्गीकार्यम्, अथ चेत्तद्रूपा सुधापि जरामरणे न नाशयतीत्यङ्गीकार्यमित्यर्थः। अपरथान्यथा यदि चन्द्रतेजः सुधेति प्रवादः सत्यः, तद्रूपा सुधा जरामरणे विनाशयेत्, तर्हि चकोराख्याः पक्षिणो विधोर्मरीचीन्पीत्वापि कथं किमिति न अजरामराः स्युर्जरामरणरहिता भवेयुः? । चन्द्रतेजसः सुधात्वे, एतस्याश्च सुधाया जरामरणविनाशे सामर्थ्य-सद्भावे, तत्पाने चकोरैरप्यजरामरैर्भाव्यम्, न च ते तथा, तस्मात्तत्तेजसः सुधात्वं वा मृषा भवेत्, सुधाभूतस्यापि वा जरामरणापहारे सामर्थ्यं नास्तीत्यन्यतरदङ्गी-कार्यम्। तथा-'सुधा प्रभावैर्न निशाश्रय वा' इति पूर्वश्लोकाशसमाधानमित्या-शयः। 'अजरामरीस्युः'-इति पाठे च्विः ॥ १०० ॥

अन्वयः—वा सुधा निशानाथमहः मृषा, वा असौ जराविनाशी न हरेत्, अपरथा चकोराः विरोधोः मरीचीन् पीत्वा कथम् अजरामराः न स्युः।

हिन्दी—या तो अमृत रात्रि के स्वामी (चंद्र) का तेज है—यह असत्य है अथवा यह (अमृत) बुढ़ापा और मौत का नाशक नहीं है, अन्यथा चकोर चंद्र की किरणों का पान करके भी क्यों अजर (बुढ़ापे से ही रहित) और अमर (कभी न मरने वाले) नहीं होते।

टिप्पणी—माना जाता है कि चन्द्र का तेज ही अमृत है और वही जरा-मृत्यु का नाशक है। यह भी माना जाता है कि चकोर चंद्र तेज का पान किया करते हैं। चकोरों को बुढ़ापा भी आती है और मौत भी। इस आधार पर यहाँ दो में से किसी एक को असत्य ठहराया गया है—या तो चाँदनी ही अमृत नहीं है या फिर अमृत में अजर-अमर बनाने की क्षमता नहीं है, क्योंकि चकोर तो चाँदनी पीते हैं और न वे अजर हैं न अमर। तो या तो यह असत्य है कि चाँदनी अमृत है या यह कि अमृत में अजर-अमर बनाने का सामर्थ्य है, अन्यथा चकोर अजर-अमर हो जाते ॥ १०० ॥

वाणीभिराभिः परिपवित्रमाभिर्नरेन्द्रमानन्दजडञ्चकार।
मुहूर्तमाश्चर्यरसेन भैमि हैमीव वृष्टिस्तिमितञ्च तं सा ॥ १०१ ॥

जीवातु—वाणीभिरिति । सा भैमी आभिः पूर्वोक्ताभिः परिपाकेन निर्वृत्ताभिः परिणतकवित्वशक्तितया प्रसादादिगुणयुताभिर्वाणीभिः कृत्वा तं नरेन्द्रमानन्दजडं हर्षपरवशं चकार । तथा—मुहूर्तमद्भुतापरनाम्नाश्चर्येण रसेन, अथ च—तद्रूपेण जलेन हैमी तुषारसंबन्धिनी वृष्टिरिव भैमी स्तिमितमतिस्नेहात्प्राप्तस्तम्भं च, अथ च—आर्द्रं चकार । हिमवृष्टिर्यथाऽन्यं जडमार्द्रं च करोति, तथैवमप्यानन्दजडं सातिस्नेहं च चकारेत्यर्थः । परिपक्त्रिमाभिः, ड्वित्वात्त्रिर्मत्यर्थे क्त्रिः, क्रमेमप् ॥ १०१ ॥

अन्वयः—सा भैमी परिपक्त्रिमाभिः आभिः वाणीभिः तं नरेन्द्रं मुहूर्तम् आनन्दजडम् आश्चर्यरसेन च हैमी वृष्टिः इव स्तिमितं चकार ।

हिन्दी—उस भीमसुता (दमयन्ती) ने कवित्व गुणों से परिपक्व इन (चन्द्रोदय-सम्बंधी पूर्वोक्त) उक्तियों से उस नरराज (राजा नल) को क्षणभर के लिए आनन्द से जड़ और आश्चर्य-रस (अद्भुत रस रूप जल) से तुषार की वर्षा की भाँति स्तब्ध कर दिया ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने नल के आग्रह पर चन्द्र-विषयक इतना सुन्दर वर्णन किया, जिसमें कवित्व क्षमता का पूर्ण परिपाक था, रस, अलंकार, गुण और अद्भुत कल्पना का विस्मयजनक योग था । नल उस वर्णन (श्लोक संख्या ५९ से १००) को सुनकर आनन्द और विस्मय से जड़ और विभोर हो गया । जैसे शीतलतम तुषार-धारा पड़कर जड़ बना देती है वैसे ही दमयन्ती कृत वर्णना ने नल को आनन्द और आश्चर्य से स्तब्ध बना दिया और क्षण भर को विभोर हो गया ॥ १०१ ॥

इतो मुखाद्वागियमाविरासीत्पीयूषधारामधुरेति जल्पन् ।
अचुम्बदस्याः स मुखेन्दुबिम्बं संवावदूकश्रियमम्बुजानाम् ॥ १०२ ॥

जीवातु—इत इति । इत्येवं जल्पन् वदन् स नलोऽम्बुजानां संवावदूका नितरां संवादिनी श्रीः शोभा यस्य तादृशं कमलतुल्यशोभमस्या मुखेन्दुबिम्बमचुम्बत्, चन्द्रकमलतुल्यं भैमीमुखं प्रीत्यतिशयादचुम्बदित्यर्थः । इति किम् ? हे भैमि ? इयमुक्तप्रकारा पीयूषधारावन्मधुरा वाक् इतः प्रत्यक्षदृश्याद्भवन्मुखादाविरासीत् निःसृतेति । इत इत्यनेन सामीप्याभिनयकारिणा करेण भैमीमुखं चिबुके धृतमिति व्यज्यते । मुखस्येन्दुबिम्बत्वेन च पीयूषधारासंबन्धौचितीति सूच्यते ।

तथा च पीयूषधारया मधुरेत्यपि व्याख्येयम्। 'संवादवृक—' इत्यादिना च भैम्याः पद्मिनीत्वं प्रसिद्धम्। चन्द्रबिम्बस्य कमलैः सह विसंवादो विरोधित्वात्, एतन्मुखचन्द्रबिम्बस्य तु कमलैः सह संवादः कमलसौभाग्यभाक्त्वादिति प्रसिद्धचन्द्रबिम्बादेतन्मुखबिम्बमधिकमिति सूच्यते। अत्यर्थं संवदति सवावदूका, संपूर्वोऽयं वदतिर्भैम्या वर्तते ॥ १०२ ॥

अन्वय.—'इयं पीयूषधारामधुरा वाक् इतः मुखात् आविरासीत्'—इति जल्पन् सः अम्बुजानां सवावदूकश्रियम् अस्याः मुखेन्दुबिम्बम् अचुम्बत्।

हिन्दी—'यह अमृत की धारा के समान मधुर वाणी इस मुख से निकली'—ऐसा कहते हुए उस नल ने कमलों की शोभा-सी शोभा संवदता से युक्त इस (दमयन्ती) मुख-चन्द्र-मंडल को चूम लिया।

टिप्पणी—इतना मनोरम वर्णन करनेवाले प्रिया दमयन्ती के चन्द्र-से मुख-कमल की प्रशंसा करते हुए प्रिय नल ने प्रिया-मुख को हर्षानंद से विभोर हो चूम लिया। मुख-चन्द्रबिंब-सदृश है, अतः उससे मधुर सुधाधारा का निःसरण होता ही। चन्द्र और कमल में विरोध है किन्तु दमयन्ती का मुख-चन्द्र सामान्य चंद्र से इस रूप में विलक्षण और श्रेष्ठ है कि मुख-चंद्र और कमलों में विसंवाद नहीं है, संवाद है। नारायण के अनुसार 'इतः' शब्द से यह ध्वनित होता है कि समीपता का अभिनय करने वाले राजा ने हाथ से प्रिया दमयंती का मुख चिबुक (ठोडी) पकड़ कर अपनी ओर किया ॥ १०२ ॥

प्रियेण साऽथ प्रियमेवमुक्ता विदर्भभूमीपतिवंशमुक्ता।
स्मितांशुजालं विततार तारा दिवः स्फुरन्तीव कृतावतारा ॥ १०३ ॥

जीवातु—प्रियेणेति। प्रियेण एवं 'इतो मुखात्—' इत्यादिरूपं प्रियं वचनमुक्ता भाषिता विदर्भभूमीपतेर्वंशेन कुलेन मुक्ता जनिता। तथा—स्फुरन्ती दीप्यमानकान्तिः सोत्कण्ठा सा भैमी अथ नलवचनानन्तरं स्मितांशुजालं विततार, तदेव नलाय प्रीतिदानमिव ददावित्यर्थः। केव? दिवः सकाशात् क्षीणपुण्यतया स्वेच्छया वा कृतावतारा भूलोकमागता रोहिणी तारेव स्फुरन्ती किरणजालं वितताररेवेति उत्प्रेक्षोपमा वा। वंशः कुलमेव वंशो वेणुस्तत्र जाता देवधार्या मुक्ता मौक्तिकरूपा। 'कृतावतारा' इत्यत्र तरतेः, 'ऋदोरप्' तदन्तात्प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽणि पश्चात् 'अव'शब्देन सह 'सह सुपा' इति समासः ॥ १०३ ॥

अन्वयः—अथ प्रियेण एवं प्रियम् उक्ता विदर्भभूमीपतिवंशमुक्ता सा दिवः कृतावतारा स्फुरन्ती तारा इवं स्मितांशुजालं वितताार।

हिन्दी—अनन्तर (प्रिय द्वारा मुख-चुम्बन के पश्चात्) प्रिय (नल) द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर विदर्भ-धरित्री के स्वामी (विदर्भ राज भीम) के कुल रूपी वंश (बाँस) में उत्पन्न मोती-सदृश उस (दमयंती) ने आकाश से धरती पर उतर आयी दमकती तारिका के समान मंदहास्य (मुस्कान) के किरण-जाल को बखेर दिया।

टिप्पणी—प्रशंसापूर्वक (श्लोक संख्या १०२) प्रिय राजा नल द्वारा मुख-चुंबन के अनन्तर दमयन्ती मुस्कुरा उठी। उस समय राजा भीम के कुल-रूप वंश से समुत्पन्न मोती-सी (पुत्री-रत्न) वह दमयन्ती ऐसी प्रतीत हुई कि स्वेच्छया अथवा शाप से भ्रष्ट कोई दिव्य तारिका आकाश से भू लोक पर उतर आकर अपनी किरणों की छटा का विस्तार कर रही है। मुक्ता-सी दमयंती तारा थी और उसका स्मित किरणों की मधुर, रम्य, शीतल दीप्ति। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा अथवा उपमा ॥ १०३ ॥

स्ववर्णना न स्वयमर्हतीति नियुज्य मां त्वन्मुखमिन्दुरूपम्।
स्थानेऽस्युदास्ते शशिनः प्रशस्तौ धरातुरासाहमिति स्म साऽऽह ॥१०४॥

जीवातु—स्वेति। सा धरातुरासाहं भूमीन्द्रमित्याह स्म। इति किम्? हे प्रिय! इन्दुरूपं त्वन्मुखमिति हेतोश्चन्द्ररूपात्मस्तुतौ मां नियुज्याज्ञाप्य शशिनः प्रशस्तौ वर्णनविषयेऽत्युदास्तेऽतितरामुदासीनं भवति। एतत्स्थाने युक्तम्। हेतुमेवाह—इति किम्? 'सतामेतदकर्तव्यं परनिन्दाऽऽत्मनः स्तुतिः' इत्यादिवचनात्स्वयमात्मनैव स्वस्य वर्णना स्तुतिर्नार्हति न युक्तेति। इयत्पर्यन्तं मया चन्द्रो वर्णितः, इदानीं त्वया वर्णनीयः, तूष्णीभावो वा युक्त इत्याशयेन भैमी चन्द्रस्तुतौ तं सोत्प्रासं प्रावर्तयदिति भावः। 'तुरासाहम्' इत्यत्र तृतीयसर्गे 'धरातुरासाहि—' इत्येतच्छ्लोकस्या शङ्का ज्ञातव्या, तत्रोत्तरम्—इन्दुरूपं त्वन्मुखं, चन्द्ररूपात्मस्तुतौ मां नियुज्य शशिनः प्रशस्तौ अत्युदास्ते। साहं धरावत्तुराऽनुत्ताऽऽवेगा वा, पृथ्वीवद्गम्भीरेत्यर्थः। अर्थात्तमाह स्मेति ज्ञातव्यम् ॥ १०४ ॥

अन्वयः—सा धरातुरासाहम् इति आह स्म—'स्ववर्णना स्वयं न अर्हति'—इति इन्दुरूपं त्वन्मुखं मां शशिनः प्रशस्तौ नियुज्य स्थाने उदास्ते।

हिन्दी—वह (दमयंती) पृथ्वीन्द्र (नलराज) से यह बोली—'अपना वर्णन स्वयं उचित नहीं है'—अतएव चंद्र-रूप तुम्हारा (नल का) मुख मुझे चंद्र की प्रशंसा में नियुक्त कर उचित ही मौन हो गया है।

टिप्पणी—दमयंती की इस उक्ति में प्रणय, विनय और वर्णन चातुरी का अद्भुत समन्वय है। उसने विनय और स्नेह प्रदर्शित करते हुए प्रिय-मुख को चन्द्र सम बताते हुए स्पष्ट कर दिया कि उसने जो कहा है, वह चंद्र की प्रशंसा में नहीं प्रिय-मुख-चन्द्र की प्रशंसा में कहा है और प्रिय मुख-चन्द्र की प्रेरणा से ही कहा है। उसने चंद्र वर्णन करने का आग्रह किया (श्लोक संख्या ५६-५८), प्रिया ने वर्णन कर दिया। यह भी कि स्वयम् अपनी प्रशंसा उचित नहीं, इससे प्रिय-मुख चंद्र ने प्रिया से यह आग्रह किया। 'धरा-तुरा+सा+अहम्' पदच्छेद करके दमयन्ती का अपने को पृथ्वी के समान गंभीर बताना भी व्यक्त होता है, अर्थात् जो भी उसने कहा है, वह उच्छल उक्ति नहीं है, गंभीर वक्तव्य भी है। और यह प्रणय विनति भी कि प्रिय चंद्र है और वह गंभीरा पृथ्वी। प्रिय गगन का चन्द्रमा है, प्रिया धरा-धूलि है ॥ १०४ ॥

तयेरितः प्राणसमः सुमुख्या गिर परिहासरसोल्किरा सः।
भूलोकसारः स्मितवाक् तुषारभानुं भणिष्यन् सुभगा बभाण ॥१०५॥

जीवातु—तयेति। स भूलोके सारः श्रेष्ठतमो नलः स्मितवाक् तुषारभानुं चन्द्रं भणिष्यन् वर्णयिष्यन् सन् सुभगा सौभाग्यवती भैमीं बभाण। किंभूतः? तया सुमुख्या भैम्या परिहासरसस्योत्किरामुद्भावयित्री गिरमीरित उक्तः। तथा—प्राणसमोऽतिप्रियत्वात्। तथा चन्द्रवर्णने ईरितः सन् परिहासरसोत्किरा गिरा सुभगो यथा तथा बभाणेति वा। उत्किराम्, 'इगुपध—' इति कः। पूर्वेण षष्ठीसमासः। भणिष्यन्, हेतौ लृट्. शता ॥ १०५ ॥

अन्वयः—भूलोकसारः प्राणसमः तया सुमुख्या परिहासरसोत्किरा गिरम् ईरितः स्मितवाक् तुषारभानुं भणिष्यन् सः सुभगां (परिहासरसोल्किरा गिर) बभाण।

हिन्दी—पृथ्वीमंडल का सारस्वरूप (श्रेष्ठ) दमयंती का प्राणधन, उस सुमुखी (दमयंती) द्वारा परिहास-रस का संचरण करने वाली वाणी से संबो-

थित, मुसकुराते हुए चंद्र का वर्णन करता वह (नल) सुन्दरी (दमयंती) से परिहास-रस की उद्भावना करने वाले वचन बोला ।

टिप्पणी—दमयंती को प्राण-सम प्रिय नल ने प्रिया के मधुर और आनंद-दायक वचन सुन कर आनंदित हो उसी प्रकार परिहास जनक वचन कहे और चन्द्र-वर्णन किया, जो श्लोक संख्या १०६-१४८ तक है ॥ १०५ ॥

त्वदानने जातचरीं निपीय गीतिं तदाकर्णनलोलुपोऽयम् ।
हातुं न जातु स्पृहयत्यवैमि विधुं मृगस्त्वद्वदनभ्रमेण ॥ १०६ ॥

जीवातु—त्वेति । हे प्रिये ! अयं मृगः त्वदानने जातचरीं भूतपूर्वां गीतिं स्वरमाधुरीं निपीय सादरमाकर्ण्येदानीमपि तस्या भवद्गीतेराकर्णनलोलुपोऽतितरां लुब्धोऽतिसादृश्यात्त्वद्वदनभ्रमेण विधुं हातुं जातु कदाचिदपि न स्पृहयतीत्यहमवैमि; 'मृगा हि गानप्रिया भवन्ति' इति चन्द्रं त्वन्मुखभ्रान्त्या त्यक्तुं नेच्छतीत्यहं शङ्क इत्यर्थः । जातचरीं, 'भूतपूर्वे चरट्' । लोलुपः, यङन्तात्पचाद्यचि 'यङोऽचि च' इति यङो लुक् ॥ १०६ ॥

अन्वयः—अवैमि—त्वदानने जातचरीं गीतिं निपीय तदाकर्णनलोलुपः अयं मृगः त्वद्वदनभ्रमेण विधुं हातुं जातु न स्पृहयति ।

हिन्दी—मैं (नल) समझता हूँ कि तुम्हारे (दमयंती के) मुख में पहिले संजात गीति का पान करके (सुनकर) उस (गीति) के श्रवण का लोभी यह (चन्द्रस्थित) मृग तुम्हारे (दमयंती के) मुख के भ्रम से चन्द्र को कभी छोड़ने की इच्छा नहीं करता ।

टिप्पणी—प्रेमविभोर नल ने दमयंती से कहा कि उसने इतना मधुर गीत गाया था, जिसे सुनकर मनुष्य क्या, पशु-पक्षी भी मुग्ध हो गये । चन्द्रस्थित मृग तो उसे सुनकर ऐसा मुग्ध हुआ कि बारंबार सुनने की इच्छा करता है और चन्द्र को भ्रम से दमयंती-मुख समझ उसे छोड़कर क्षणभर को नहीं जाता कि पुनः गीति सुनने को मिले । भाव यह कि दमयंती का गान अत्यंत मधुर और मनोहर है तथा उसका मुख चन्द्र-समान है ॥ १०६ ॥

इन्दोर्भ्रमेणोपगमाय योग्ये जिह्वा त्वदास्ये विधुवास्तुभर्त्तम् ।
गीत्वा मृगं कर्षति भर्त्स्यता किं पाशीबभूवे श्रवणद्वयेन ? ॥ १०७ ॥

जीवातु—इन्दोरिति । अतिसादृश्यादिन्दुरेवेदमितीवेन्दोर्भ्रमेण मृगस्योपग-

माय योग्ये प्राप्तुमर्हे तवास्ये वर्तमाना जिह्वा कर्त्री गीत्वा वर्णस्वरमाधुर्यं कृत्वा विधुरूप वास्तु वसतिगृह तद्विद्यते यस्य त विधुवास्तुमन्त चन्द्रमध्यस्थायिनमपि मृग कर्षतु । गीतिमधुरतमत्वान्मृगस्य च प्रियगानत्वात्स्वसमीपगानयत्वित्यर्थः । तदाकर्षणसाधनमुत्प्रेक्षते—मत्स्यता आगमिष्यतो मृगस्यात्रैव निवासार्थं बन्धन करिष्यता श्रवणद्वयेन पाशावभूवे किम् ? तद्रूपया बन्धनरज्ज्वा समाकर्षत्वित्यर्थः। अन्यापि शबरी गीत्या मृगमाकृष्य पाशेन बध्नाति । भवन्मुख निष्कलङ्कमृगाधिकमितियुक्त च, चन्द्रस्तु सकलङ्क इति भाव । चन्द्रवर्णनावसरेऽपि मध्ये मध्ये भैमीमुखवर्णनानुरागातिशयसूचनार्था । अय श्लोक क्षेपक इति केचित् ॥ १०७ ॥

अन्वय—इन्दोः भ्रमेण उपगमाय योग्ये तव आस्ये जिह्वा गीत्वा विधुवास्तुमन्त मृग कर्षतु मत्स्यता श्रवणद्वयेन किं पाशौ बभूवे ।

हिन्दी—चन्द्रमा के भ्रम से (मृग के) आगमन के योग्य तुम्हारे (दमयन्ती के) मुख म जीभ गाकर चन्द्र म निवास करने वाले मृग को खीच ले, अत आते (मृग) के दोनो कान (आकर्षणार्थ) क्या दो पाश (बधन रज्जु) हो गये हैं ?

टिप्पणी—नारायण के अनुसार कुछ विद्वान् इस श्लोक को क्षेपक मानते हैं। यहाँ (नारायण के अनुसार) मृग के कानो म बधन रज्जु की उत्प्रेक्षा की गयी है, जिसमें बँधा मृग, चन्द्र के भ्रम से गीत माधुरी से आकृष्ट, दमयती मुख म खिच आयेगा । कान ही मृगाकर्षण के कारण हैं, क्योंकि दमयती की जिह्वा से गायी गीति उ ही मे पडकर मृग को आकृष्ट करती है, अतएव कान बधन की डोरी हुए । आशय यह कि दमयती का मुख निष्कलक है, जब कि चन्द्र सकलक है । दमयती के मुख की अमृत से भी मधुर गीति उसका चन्द्र से और वैशिष्ट्य है ॥ १०७ ॥

आनस्योऽपि मृगो भैमीमुखगाति कथमगृणादित्याशङ्क्याह—

आप्यायनाद्वा रुचिभि सुधांशो र्गत्यात्मजकाननजन्मनो वा ।
यावन्निशायामथ घर्मदु स्थस्तावद्व्रजत्यह्नि न शब्दपान्थ ॥ १०८ ॥

जीवातु—आप्यायनादिति । शब्दरूप पान्थो निरयपथिको निशाया यावद्व्रजति तावदय पश्चात्साकल्येन वा अह्नि न गच्छति, यस्मादिने घर्मेणातपेन दु स्थ, सतप्त, तस्मादिनेऽल्पमेव गच्छतीत्यर्थ । रात्रौ दूरागमने हेतुमाह—सुधांशोरमृतरूपाभी रुचिभिराप्यायनादुज्जीवितत्वाद्वा तम एव कानन वन

तस्माज्जन्म यस्य गाढान्धकारजाताच्छैत्याद्वा तेजसोऽभावे तमसः संभवादौष्ण्या-भावाच्छैत्यम्। अत एव रात्रौ बहु गच्छति, दिने चोष्णेन श्रान्त इव बहु न गच्छति। शब्दो हि रात्रौ स्वभावादतिदूरेऽपि श्रूयते; दिवा तु न तथा। पथिकोऽपि रात्रौ शैत्याद्दूरं गच्छति, दिने चाल्पम्। दूरश्रवणप्रतिपादकोऽयं श्लोकः ॥ १०८ ॥

अन्वयः—सुधांशोः रुचिभिः आप्यायनात् वा तमः काननजन्मनः शैत्यात् वा निशया शब्दपान्थः यावत् व्रजति अथ तावत् धर्मदुःस्थः अह्नि न।

हिन्दी—अमृतकर (चन्द्र) की किरणों से आप्यायित (परिपूर्ण, उज्जीवित) होने से अथवा अन्धकार रूपी जंगल में जन्म लेने वाली शीतता (ठंडक) के कारण रात्रि में शब्द-रूप-पथिक जितना चल लेता है (जितनी दूर जा पहुँचता है) उतना धूप-ताप से संतप्त हो दिन में नहीं।

टिप्पणी—अपेक्षाकृत शांति और सन्नाटा रहने के कारण रात में ध्वनि अधिक दूर जाती है अपेक्षाकृत दिन के, क्योंकि दिन में कोलाहल, शब्द संकुलता अधिक रहती है। रात में उतनी संकुलता नहीं रहती, अतः शब्दप्रसार दूर तक होता है। इस तथ्य पर यहाँ शब्द की एक पथिकरूप में कल्पना कर कहा गया है कि धूप-गर्मी में ताप से आकुल रहने के कारण जैसे पथिक दूर तक लंबी यात्रा दिन में नहीं कर पाता, वैसे ही धूप-संताप से व्याकुल शब्द-पथिक भी उतनी लंबी यात्रा दिन में नहीं कर पाता, जितनी कि रात में कर लेता है। कारण उस समय अंधकार-वन में जन्मी शीतलता जो होती है। शीतलता में थकान नहीं आती और यात्रा लंबी की जा सकती है ॥ १०८ ॥

दूरेऽपि तत्तावकगानपानाल्लब्धावधिः स्वादुरसोपभोगे ।
अवज्ञयैव क्षिपति क्षपायाः पतिः खलु स्वान्यमृतानि भासः ॥ १०९ ॥

जीवातु—दूरेऽपीति। हे प्रिये ! खलु निश्चितं क्षपायाः पतिश्चन्द्रो भासश्चन्द्रिका एव स्वान्यमृतानि क्षिपति अधो मुञ्चति। किंभूतः ? दूरेऽप्यतितरां देश-व्यवधानेऽपि तत्प्रसिद्धं मधुतरं तावकं गानं तस्य पानात्सादरश्रवणाद्धेतोः स्वादु-रसोपभोगे माधुर्यातिशयानुभवे विषये लब्धावधिः प्राप्तमर्यादः। उत्प्रेक्षते—अवज्ञयेव अनुभूतभवद्गीतमाधुर्यापेक्षयाल्पमाधुर्यंतयावमाननयेवेत्यर्थः। अयं श्लोको भिन्न एव, नतु युग्मम् ॥ १०९ ॥

अन्वयः—दूरे अपि तत्तावकगात्रपानात् स्वादूरसोपभोगे लब्धावधिः खलु क्षपायाः पतिः अवज्ञया इव स्वानि अमृतानि भासः क्षिपति।

हिन्दी—दूर रहने पर भी (रात्रि में दूर तक पहुँच जाने के कारण) उस तुम्हारे (दमयंती के) गान का पान करने से स्वादिष्ट इसके उपभोग में सीमा को प्राप्त कर निश्चयतः रात्रि का स्वामी (चन्द्र) मानो अनादर से ही अपनी अमृतरूपिणी चाँदनी (नीचे) फेंक देता है।

टिप्पणी—धरती पर चारों ओर चन्द्र की अमृतवर्षिणी चाँदनी फैली हुई है। पूर्वश्लोक (१०८) में बताया गया है कि रात में शब्द दूर तक पहुँच जाता है। दमयंती ने जो मधुर गीति गायी थी, उसे दूर होने पर भी निशानाथ चन्द्र ने सुन लिया। गीति इतनी मधुर और तृप्तिदायिनी थी कि अमृत भी उसके सम्मुख नगण्य है। गीति के अत्यंतमधुर स्वादिष्ट रस से चन्द्र इतना अधिक तृप्त हो गया कि अतिरेक हो गया। फल स्वरूप गीति-रस की अपेक्षा न्यून अमृत-रस को चाँदनी के रूप में उसने नीचे उलट दिया। नारायण के अनुसार दमयंती-गान-माधुरी की अपेक्षा चाँदनी के माधुर्य में न्यूनता के कारण अवमानना से उसका क्षेपण उत्प्रेक्षित है॥ १०९॥

अस्मिन्न विस्मापयतेऽयमस्मांश्चक्षुर्बभूवैष यदादिपुंसः।
तदत्रिनेत्रादुदितस्य तन्वि ! कुलानुरूपं किल रूपमस्य॥ ११०॥

जीवातु—अस्मिन्निति। हे तन्वि ! एष चन्द्रः आदिपुंसः श्रीविष्णोर्वामचक्षुर्बभूवेति यत्। अस्मिन्नेत्रभवनविषयेऽयं नेत्रभूतश्चन्द्रोऽस्मान्न विस्मापयते आश्चर्यं न प्रापयति, अत्रार्थेऽस्माकमाश्चर्यं न भवतीत्यर्थः। किल यस्मादितोऽत्रि-नेत्रादुदितस्योत्पन्नस्यास्य तच्चक्षुर्भवनं कुलानुरूपं कुलोचितं स्वरूपम्। नेत्ररूपाकारणाज्जातस्य नेत्रीभवनमुचितमेव। तस्मादस्य पुराणपुरुषनेत्रभवने न किंचिदस्माकं चित्रमित्यर्थः। विस्मापयते, 'नित्यं स्मयतेः' इत्यात्वम्, 'भीस्म्योर्हेतुभये' इति तङ्। अस्मान्, जनान्तरापेक्षया बहुत्वम्॥ ११०॥

अन्वयः—तन्वि, एषः यत् आदिपुंसः चक्षुः बभूव अस्मिन् अस्मान् न विस्मापयते, किल अत्रिनेत्रात् उदितस्य अस्य तत् कुलानुरूपं रूपम्।

हिन्दी—हे कृशांगि (दमयंती) यह (चन्द्र) जो आदिपुरुष (विष्णु) का (वाम) नेत्र हो गया, इस विषय में हमें यह चकित नहीं करता, क्योंकि

भगवान् अत्रिमुनि के नेत्र से उत्पन्न इस (चन्द्र) का वह अपने वंश के अनुरूप रूप (कार्य) है।

टिप्पणी—चन्द्र को श्रीहरि विष्णु का वाम नेत्र माना जाता है और उसका 'अत्रिनयन समुत्थ' होना भी प्रसिद्ध है। इस पर यह कल्पना है कि चन्द्र का विष्णु-वाम नेत्र होना विस्मयजनक नहीं है। क्योंकि वह नेत्रजन्मा है ही—अत्रि के नेत्र से समुत्पन्न। सो नेत्रोत्पन्न चन्द्र नेत्र ही हुआ, यह आश्चर्यजनक है ही नहीं। यह तो कुल परंपरानुमोदित कार्य है। नेत्र से जन्मा, नेत्र ही गया ॥ ११० ॥

आभिर्मृगेन्द्रोदरि ! कौमुदीभिः क्षीरस्य धाराभिरिव क्षणेन ।
अक्षालि नीली रुचिरम्बरस्था तमोमयीयं रजनीरजक्या ॥ १११ ॥

जीवातु—आभिरिति। हे मृगेन्द्रोदरवत्कृशमुदरं यस्यास्तादृशि ! रजन्येव रजकी तया क्षीरस्य दुग्धस्य धाराभिरिव दृश्यमानाभिर्धवलतराभिराभिः कौमुदीभिः कृत्वाऽम्बरस्था गगनस्था तमोमयीयं नीली कज्जलवत्काली रुचिः क्षणमात्रेणाक्षालि निरस्ता। यथा रजक्या वसनस्था काली कान्तिर्दुग्धधाराभिः क्षणेन क्षाल्यते। तदुक्तं कलाकोषे—'तैलं घृतेन, तच्चोष्णजलैर्दुग्धेन कज्जलम्। नाशयेदम्बरस्थं तु मलं क्षारेण सोष्मणा।' इति। चन्द्रिकाभिर्गगनं निर्मलीकृतमिति भावः। मृगेन्द्रोदरि, 'नासिकोदर—' इति ङीष्। ओषधिप्राणिनाचित्वाभावान्नीलीव नीलीति ङीष् समर्थनीयः। रजकी, पुनः पित्त्वान्ङीष् ॥ १११ ॥

अन्वयः—मृगेन्द्रोदरि, रजनीरजक्या क्षीरस्य धाराभिः इव आभिः कौमुदीभिः अम्बरस्था तमोमयी इयं नीली रुचिः क्षणेन अक्षालि।

हिन्दी—हे मृगराज (सिंह) के समान (क्षीण) उदरवती (दमयंती), रात्रि रूपी धोबिन ने दूध की धारों-सी इन चाँदनी की धारों से आकाश रूपी वस्त्र पर लगी अंधकार रूपिणी यह कालौंच क्षण भर में धो डाली।

टिप्पणी—आकाश में शुभ्र चाँदनी के विस्तार से आकाश का काला अँधेरा दूर हो गया और स्वच्छ अम्बर दृष्टिगत होने लगा। 'अंबर' आकाशवाची भी है और वस्त्रवाचक भी। इसी पर उद्भावना है कि रात्रि एक रजकी है, कपड़ा धोनेवाली धोबिन। आकाश एक वस्त्र है, जिस पर कालौंच लग गयी थी। रात की चतुर रजकी ने दूध की धार-सी चाँदनी का उपयोग किया

और दूध से वह कालौंच क्षण भर मे धो दी। अंबर-रूप-अंबर स्वच्छ हो गया। कलाकोष मे कहा गया है कि तेल को घी से, घी को गर्म जल से, कालौंच को दूध से और वस्त्र के मैल को गरम जल मे 'खार' (रेह, सोडा आदि) मिलाकर स्वच्छ करे ॥ १११ ॥

पयोमुचां मेचकिमानमुच्चैरुच्चाटयामास ऋतुः शरद्या।
अपारि वामोरु ! तयाऽपि किञ्चिन्न प्रोञ्छितुं लाञ्छनकालिमाऽस्य ॥

जीवातु—पय इति। हे वामोरु ! या शरदृतुः पयोमुचां मेघानां वर्षाकालीनमुच्चैरतिशयितमपि मेचकिमानं कालिमानमुच्चाटयामास। तया कालिमापनयने दृष्टसामर्थ्यया शरदाऽप्यस्य चन्द्रस्य लाञ्छनरूपः कालिमा किंचिदल्पमपि प्रोञ्छितुं स्फोटयितुं नापारि। शरदच्छे चन्द्रे मलिनः कलङ्कोऽतितरां शोभत इति भावः। मेचकिमान, वर्णवाचित्वादिमनिच् ॥ ११२ ॥

अन्वयः—वामोरु, या शरद् ऋतुः पयोमुचाम् उच्चैः मेचकिमानम् उच्चाटयामास तया अस्य लाञ्छनकालिमा किञ्चित्, अपि प्रोञ्छितुं न अपारि।

हिन्दी—हे सुन्दर जंघाओं वाली (दमयंती), जिस शरद् ऋतु ने बादलों की गहरी कालिमा का उच्चाटन कर दिया, उस (शरद् ऋतु) के द्वारा इस (चन्द्र) के मृग-कलंक की कालिमा को थोड़ी-सी भी दूर करना पार न लग पाया।

टिप्पणी—शरद् ऋतु के निरभ्र स्वच्छ आकाश मे चमकते चन्द्र के मध्य मृग-कलंक और भी रमणीय लगता है। पूर्ण शुभ्रता मे, कालिमा का एक लघु बिंदु। गोर-गोर कपोल पर जैसे छोटा-सा काला तिल। भिन्नवर्णता का सौंदर्य। कदाचित् इसी कारण जो शरत्काल घनी घनराशि की घनी कालिमा को दूर कर सकता था, वह इस छोटी-सी कालिमा को न मिटा सका। सुन्दरता का विनाश सज्जन तो नहीं ही करता ॥ ११२ ॥

एकादशैकादशरुद्रमौलीनस्तं यतो यान्ति कलाः किमस्य ?।
प्रविश्य शेषास्तु भवन्ति पञ्च पञ्चेषुतूणीमिषवोऽर्धचन्द्राः ? ॥११३॥

जीवातु—एकेति। अस्तं यतो गच्छतोऽस्य चन्द्रस्यैकादश कला एकादशानां रुद्राणां मौलीन् प्रति यान्ति, किं? गच्छन्तीव। शेषाः पञ्च कलास्तु पुनः पञ्चेषोः कामस्य तूणीमल्पमिषुधिं प्रविश्यार्धचन्द्राकारत्वादर्धचन्द्राख्या इषवो भवन्ति।

विनाशसमयेऽप्ययं परोपकारनिरत इति ध्वन्यते। तूणीम्, अल्पत्वविवक्षया स्त्रीत्वे गौरादित्वान्ङीष्, 'अर्धचन्द्र'शब्दो रूढः ॥ ११३ ॥

अन्वयः—अस्तं यतः अस्य एकादश कलाः किम् एकादशरुद्रमौलीन् यान्ति, शेषः पञ्च तु पञ्चेषुतूणीं प्रविश्य अर्द्धचन्द्राः इषवः भवन्ति ?

हिन्दी—अस्त होते इस (चन्द्र) की ग्यारह कलाएँ क्या ग्यारह रुद्रों के (ग्यारह) मस्तकों के प्रति अभिगमन करती हैं और शेष पाँच क्या पञ्चबाण (काम) के तूणीर में प्रविष्ट हो अर्द्धचन्द्र बाण बन जाती हैं ?

टिप्पणी—चन्द्र में सोलह कलाएँ मानी जाती हैं। ये सोलह कलाएँ जब चन्द्र अस्तंगत होता है, कहाँ जाती हैं ? कल्पना है कि ग्यारह कलाएँ तो एक-एक करके एकादशरुद्रों को एकादश मस्तकों पर स्थान ग्रहण कर लेती हैं और शेष काम के पाँच अर्द्धचन्द्र बाण बन जाती हैं। अर्द्धचन्द्र बाण के अग्र-भाग पर द्वितीया के चन्द्र के आकार का धारदार लोहा लगा होता है, जो अत्यंत तीक्ष्ण होता है। यह शिरच्छेद में प्रयुक्त होता है। अर्द्धचन्द्राकार अग्र-भाग होने से ऐसे बाण को अर्द्धचन्द्र कहा जाता है। अस्त होते चन्द्र का इस प्रकार अपनी कलाओं का वितरण करना नारायण के अनुसार यह ध्वनित करता है कि विनाश समय उपस्थित होने पर भी चन्द्र परोपकारनिरत रहता है। एकादश रुद्र हैं—(१) अज, (२) एकपाद, (३) अहिर्बुध्न्य, (४) पिनाकी, (५) अपराजित, (६) त्र्यम्बक, (७) महेश्वर, (८) वृषाकपि, (९) शंभु, (१०) हरण और (११) ईश्वर ॥ ११३ ॥

निरन्तरत्वेन विधाय तन्वि ! तारासहस्राणि यदि क्रियेत।
सुधांशुरन्यः स कलङ्कमुक्तस्तदा त्वदास्यश्रियमाश्रयेत ॥ ११४ ॥

जीवातु—निरन्तरेति। हे तन्वि ! ताराणां नक्षत्राणां सहस्राणि निरन्तरत्वेनान्योन्यसंबन्धितया विधायैकीकृत्य यदि अन्यः सुधांशुः क्रियेत निर्मीयेत तदा तर्हि स चन्द्रस्ताराणामकलङ्कत्वात्तन्मयत्वात्कलङ्केन मुक्तः सन् त्वदास्यस्य श्रियं शोभामाश्रयेत। क्रियातिपत्तेरविवक्षितत्वाल्लङ्भावः ॥ ११४ ॥

अन्वयः—तन्वि, तारासहस्राणि निरन्तरत्वेन विधाय यदि अन्यः सुधांशुः क्रियेत तदा कलङ्कमुक्तः सः त्वदास्यश्रियम् आश्रयेत।

हिन्दी—हे कृशांगि (दमयंति) सहस्रों (अनेकानेक) तारों को एक

साथ जोड़कर यदि दूसरा अमृतकर (चन्द्र) बनाया जाय तो मृग-लाञ्छन से रहित (कालिमाहीन) वह (चन्द्र) तेरे (दमयन्ती के) मुख की शोभा को पा सकेगा।

टिप्पणी—इस असंभवातिशयोक्ति अर्थात् अनेकानेक तारों के संयोग से कलंक-रहित चन्द्र की नवीन रचना से यह द्योतित किया गया कि दमयन्ती का मुख चन्द्र से रमणीय है। चन्द्र कलंकी है, दमयन्ती का मुख निष्कलंक ॥ ११४ ॥

यत्पद्ममादित्सु तवाननीयां कुरङ्गलक्ष्मा च मृगाक्षि! लक्ष्मीम्।
एकार्थलिप्साकृत एष शङ्के शशाङ्कपङ्केरुहयोर्विरोधः ॥११५॥

जीवातु—यदिति। हे मृगाक्षि! यत्पद्मं तवाननीयां मुखसंबन्धिनी लक्ष्मीमादित्सु ग्रहीतुकामम्, कुरङ्गलक्ष्मा चन्द्रश्च तव मुखशोभां ग्रहीतुकामः, तयोः शशाङ्कपङ्केरुहयोरेष विरोधस्त्वन्मुखशोभालक्षण एकोऽर्थस्तस्य लिप्साकृतः प्राप्ति-वाञ्छानिमित्त एवेत्यहं शङ्के। एकद्रव्याभिलाषित्वेन विरोधः सुप्रसिद्धः। चन्द्रपद्मयोरपि विरोधः प्रसिद्ध एव। चन्द्रपद्माभ्यां सकाशात्ते मुखमधिकमिति भावः। आदित्सु, चन्द्रपक्षे लिङ्गविपरिणामः। लक्ष्मीं, 'न लोका—' इति षष्ठीनिषेधः॥ ११५ ॥

अन्वयः—मृगाक्षि, यत्पद्म तव आननीयां लक्ष्मीम् आदित्सु कुरङ्गलक्ष्मा च, शङ्के-एषः शशाङ्कपङ्केरुहयोः विरोधः एकार्थलिप्साकृतः।

हिन्दी—हे मृगनयने (दमयति), जो कि कमल तेरे (दमयंती के) मुख की शोभा को लेना चाहता है और मृगलाञ्छन (चन्द्र) भी, अतः मुझे (नल को) लगता है कि यह मृगांक (चन्द्र) और पंकज (कमल) का परस्पर विरोध एक वस्तु (मुख शोभा) को पाने की इच्छा से उत्पन्न है।

टिप्पणी—मुख के उपमान कमल और चन्द्र प्रसिद्ध हैं किन्तु दमयंती के मुख के सम्मुख वे श्रीहीन हैं। वे दोनो चाहते हैं कि दमयन्ती की मुखश्री उन्हें प्राप्त हो जाती। शोभा एक ही मुख की है, जिसके दो प्राप्त्याकांक्षी हैं, अतः दोनों में प्रतिद्वन्द्विता और विरोध है। इस कल्पना का उद्देश्य यह कहना है कि दमयंती का मुख चन्द्र और कमल की अपेक्षा श्रेष्ठ है ॥ ११५ ॥

लब्धं न लेह्यप्रभुणाऽपि पातुं पीत्वा मुखेन्दोरधरामृतं ते।
निपीय देवैर्विधसीकृताया घृणा विधोरस्य दधे सुधायाम् ॥ ११६ ॥

जीवातु—लब्धमिति । हे प्रिये ! अहं सर्वैरपि देवैर्विघसीकृतायां निःशेषं पीत्वा भुक्तशेषीकृतायाम्, अस्य विधोः सुधायां घृणां जुगुप्सां दधे धारयामि । किं कृत्वा ? लेखानां देवानां प्रभुणेन्द्रेणापि पातुं न लब्धं, कृतप्रयत्नस्यापि तस्यावरणात्तेन दुष्प्रापं केनाप्यनुच्छिष्टं ते मुखेन्दोरधररूपममृतं तिपीय पीत्वा । चन्द्रसुधायाः सकाशात्त्वदधरामृतं स्वादुतरमिति भावः । अन्योऽप्युच्छिष्ट भोजने जुगुप्सां धारयति ॥ ११६ ॥

अन्वयः—लेखप्रभुणा अपि पातुं न लब्धं ते मुखेन्दोः अधरामृतं पीत्वा देवैः विघसीकृतायाम् अस्य विधोः सुधायां घृणां दधे ।

हिन्दी—देवों के स्वामी (देवेन्द्र) को भी पानार्थ न मिले तेरे (दमयंती के) मुखचन्द्र की अधरसुधा का पान कर देवों द्वारा पीकर जुठी की गयी इस चन्द्र की सुधा के प्रति मुझे घृणा उत्पन्न हो गयी है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि चन्द्रामृत की अपेक्षा दमयंती अधरामृत श्रेष्ठ है, क्योंकि अधरामृत अछूता है। पानेच्छुक देवेन्द्र में भी जिसकी उपलब्धि न हो सकी । दमयंतीको स्वयंवर में प्राप्त कर नल उसके पाने का सौभाग्यशाली हुआ । चन्द्रमृत तो जूठा है, देवों का उच्छिष्ट । 'उच्छिष्ट' तो घृणास्पद होता ही है, अतः अछूती दमयंती भी अधरसुधा का पायी नल जूठी चन्द्र-सुधा से घृणा करता हो । यह घृणा की अनुभूति दमयन्ती का अधरामृतपान करके हुई, पहिले नहीं थी । जिसे अधिक स्वादु रस मिल गया, वह जूठे और अपेक्षाकृत अल्पस्वादु रस की उपेक्षा करेगा ही ।। ११६ ॥

एनं स बिभ्रद्विधुमुत्तमाङ्गे गिरीन्द्रपुत्रीपतिरोषधीशम् ।
अश्नाति घोरं विषमब्धिजन्म धत्ते भुजङ्गञ्च विमुक्तशङ्कः ॥ ११७ ॥

जीवातु—एनमिति । स गिरीन्द्रपुत्रीपतिः शंभुरेनमोषधीशं विधुमुत्तमाङ्गे शिरसि बिभ्रद्धारयन् सन्नब्धिजन्म समुद्रोत्पन्नं घोरं दारुणमपि विषमश्नाति, विमुक्तशङ्को भुजङ्गं सर्पराजं वासुकिं च धत्ते । शंभोरप्युपकारकत्वेन पूज्यः श्रेष्ठोऽयमिति भावः । ओषधिस्वामिनोऽस्य शिरसि धारणादिव निःशङ्कं विषं भक्षयति, सर्पांश्च धारयतीत्युत्प्रेक्षा । भुजङ्गम्, जात्यभिप्रायेणैकवचनं वा ॥ ११७ ॥

अन्वयः—सः गिरीन्द्रपुत्रीपतिः एनम् ओषधीशं विधुम् उत्तमाङ्गे बिभ्रत् अब्धिजन्म घोरं विषम् अश्नाति, विमुक्तशङ्कः भुजङ्गं च धत्ते ।

हिन्दी—ये गिरिराज (हिमालय) की पुत्री (पार्वती उमा) के पति (शिव) इस ओषधियों (वनस्पतियों) के नाथ चन्द्र को उत्तमाग (शिर) पर धारण कर समुद्र से उत्पन्न दारुण विष (कालकूट) को भी पिये हुए हैं और नि शक हो सर्प-धारण करते हैं।

टिप्पणी—चन्द्रमा शीतल है, अमृतमय है। पर्वत हिमालय पर उत्पन्न औषधियों का यह स्वामी है। हिमालय की बेटी उमा से विवाह कर उसके स्वामी शिव ने चन्द्र को मस्तक पर धारा और उसे समान दिया। यह इसी कारण कि शिव को कालकूट विष की दारुणता और कंठ में स्थित सर्पों के विष के ताप और तीक्ष्णता से कष्ट न हो। चन्द्र की शीतलता और सुधा उपलब्ध रहने से न तो उन पर कालकूट का प्रभाव पड़ता है, न सर्प विष का। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ११७ ॥

नास्य द्विजेन्द्रस्य बभूव पश्य दारान् गुरोर्यातवतोऽपि पातः।
प्रवृत्तयोऽप्यात्ममयप्रकाशान् नह्यन्ति न ह्यन्तिमदेहमाप्तान् ॥ ११८ ॥

जीवातु—नेति। हे प्रिये। द्विजेन्द्रस्य अस्य चन्द्रस्यास्य गुरोर्बृहस्पतेर्दारान् भार्यां यातवतो गच्छतोऽपि गुरुतल्पगामिनोऽपि पात स्वर्गाद् भ्रंशः, अध च—पातित्यम्, न बभूव पश्य, चित्रमेतद्विलोकयेत्यर्थः। अथवा युक्तमेतत्—प्रवृत्तयो धर्माधर्महेतुकर्मारम्भा अपि आत्ममय आत्मस्वरूपमेव प्रकाशो येषा तान्प्रकाशान्तरनिरपेक्षान्प्रकाशरूपान्, अथ च—परमात्मैव प्रकाशो येषां तान् परमात्मस्वरूपातिरिक्तप्रकाशानभिज्ञान्स्वप्रकाशात्मवादिनो ब्रह्मज्ञानिनोऽन्तिमदेहं तेजोरूपशरीरं पूर्णतां वा प्राप्तान्, अथ च—अनन्तरभाविमोक्षत्वात्प्राचीनशरीरप्रवाहापेक्षया शेष शरीर प्राप्तान् जीवन्मुक्तान्पुरुषान्हि यस्मान्न नह्यन्ति, शुभाशुभफलबन्धेन न सम्बध्नन्तीत्यर्थः। 'तेषां तेजो विशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते' इति प्रामाणिकवचनात्तेजोरूपस्यास्य चन्द्रस्य पातो नाभूदिति युक्तमेव, नात्र चित्रमिति भाव.। चन्द्रोऽप्यात्ममयप्रकाशः अन्तिमदेह सपूर्णता प्राप्तश्च ॥ ११८ ॥

अन्वयः—पश्य, द्विजेन्द्रस्य अस्य गुरो. दारान् यातवतः अपि पातः न बभूव, हि प्रवृत्तय. अपि आत्ममयप्रकाशान् अन्तिमदेहम् आप्तान् न नह्यन्ति।

हिन्दी—(प्रिये,) देखो–द्विजराज इस (चंद्र) का गुरु (बृहस्पति) की पत्नी (तारा) के प्रति अभिगमन करने पर भी पतन (पतितता, स्वर्ग से भ्रंश)

ने हुला, क्योंकि धर्माधर्म के कारण आचरण भी स्वयं प्रकाशमान्—परमात्म-प्रकाश से पूर्ण आत्मज्ञानी, तेजःशरीर—मोक्ष को प्राप्त जनों को बंधन में नहीं डालते।

टिप्पणी—पुराणकथा के अनुसार चंद्र गुरुपत्नी का जार है, तथापि वह भ्रष्ट और पतित नहीं माना गया, स्वर्ग से भ्रष्ट नहीं किया गया। एक ब्राह्मण द्विजराज का गुरुपत्नी-संभोग पाप है, पतित करने वाला। किंतु स्वयं प्रकाशित, तेजोदेह—चंद्र को इस अधर्माचरण का कोई दंड नहीं मिला, इससे ज्ञात होता है जो व्यक्ति आत्मज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और जीवन्मुक्त हो जाते हैं, उन्हें ये देह बंधन और धर्माधर्म–हेतुक कर्म नहीं बांध पाते। शुभाशुभ फल बंधन में ऐसे व्यक्ति नहीं पड़ते ॥ ११८ ॥

स्वधाकृतं तत्तनयैः पितृभ्यः श्रद्धापवित्रं तिलचित्रमम्भः।
चन्द्रं पितृस्थानतयोपतस्थे तदङ्करोचिःखचिता सुधैव ॥ ११९ ॥

जीवातु—स्वधेति। तनयैः पुत्रैः श्रद्धया परलोकास्तित्वबुद्ध्या वितीर्ण-त्वात्पवित्रं कृष्णतिलैश्चित्रं मिश्रितं पितृभ्यः स्वधाकृतं यदम्भः पितृस्थानतया 'चन्द्रो वै पितृलोकः' इति श्रुतेः, पितृलोकत्वया चन्द्रमुपतस्थे चन्द्रेण संगतमभूत्। तत्कृष्ण-तिलमिश्रं जलमेवाङ्कस्य कलङ्कस्य यद्रोचिः कान्तिस्तया खचिता मिश्रिता सुधा पीयूषम्। कृष्णतिला एव कलङ्कः, तत्संलग्नं जलमेव पीयूषम्, तत्वन्य। कलङ्को न नान्यत्पीयूषमित्यर्थः। श्रद्धेति, पितृलोकप्राप्तौ हेतुगर्भम्। उपतस्थे, संगतकरणे तङ् ॥ ११९ ॥

अन्वयः—तनयैः श्रद्धापवित्रं तिलचित्रं पितृभ्यः स्वधाकृतं यत् अम्भः पितृस्थानतया चन्द्रम् उपतस्थे, तत् एव अङ्करोचिःखचिता सुधा।

हिन्दी—पुत्रों द्वारा श्रद्धा सहित (अतएव)- पवित्र तिल से चित्र (काला), पितरों को तर्पणार्थ दिया गया जो जल पितृस्थानीय चंद्र पर पहुँचा, वही मृगचिह्न की कांति से युक्त अमृत है।

टिप्पणी—पितरों के तर्पणार्थ पुत्रों द्वारा श्राद्ध में काले तिल और जौ समर्पित किये जाते हैं। यह भी माना जाता है कि 'चन्द्रो वै पितृलोकः', अर्थात् चन्द्रमा पितृलोक है। इस प्रकार काले तिलों से कर्बुर (काला, चित्कबरा) पितरों को समर्पित जल पितृस्थानीय चंद्र पर पहुँचता है। कल्पना है कि चंद्र

का जो अमृत है, वही 'श्रद्धापवित्र' जल है और जो मृगचिह्न है, वह काले तिल हैं ॥ ११९ ॥

पश्योच्चसौधस्थितिसौख्यलक्ष्ये त्वत्केलिकुल्याम्बुनि बिम्बमिन्दोः ।
चिरं निमज्ज्येह सतः प्रियस्य भ्रमेण यच्चुम्बति राजहंसी ॥१२०॥

जीवातु—पश्येति । हे प्रिये ! त्वमुच्चसौधे स्थित्या कृत्वा सौख्येन निरन्तराम लक्ष्ये दृश्ये त्वत्केलिकुल्याया अम्बुनि तदिन्दोर्बिम्बं पश्य । तत्किम् ? राजहंसी इह कुल्याजले निमज्ज्य चिरं सतोऽन्तर्वर्तमानस्य प्रियस्य राजहंसस्य भ्रमेण यच्चन्द्रबिम्बं चुम्बति । सौख्यम्, स्वार्थे सुखिनो भाव इति भावे वा ष्यञ् । 'सौक्ष्म्य—' इति पाठे—सूक्ष्मत्वेन लक्ष्ये । उच्चतरप्रदेशस्थित प्रति ह्यधोदेशस्थितं वस्तु सूक्ष्मं प्रतिभाति ॥ १२० ॥

अन्वयः—उच्चस्थितिसौख्यलक्ष्ये त्वत्केलिकुल्याम्बुनि इन्दोः बिम्बं पश्य, राजहंसी यत् इह निमज्ज्य चिरं सतः प्रियस्य भ्रमेण चुम्बति ।

हिन्दी—(प्रासाद में) ऊँचे स्थान पर रहने से सुख पूर्वक दर्शनीय अपनी (दमयंती की) केलिकुल्या (जलविलासार्थ बनी नहर) के जल में (प्रतिबिंबित) चंद्र बिम्ब को देखो, राजहंसी जिस यहाँ (जल में) गोता मार कर चिरकाल से स्थित प्रिय (राजहंस) के भ्रम से चूम रही है ।

टिप्पणी—नल ऊँचे प्रासाद में स्थित दमयंती को नीचे नहर में पड़ते चंद्र के प्रतिबिंब को दिखाता है । उच्चस्थान में रहने से सुखपूर्वक दृश्य देखा जा सकता है (प्रथम चरण में 'सौख्यलक्ष्ये' के स्थान में 'सौक्ष्म्यलक्ष्ये' पाठांतर भी है, अर्थात् नीचे दूर होने के कारण छोटा दिखायी पड़ता ।) राजहंसी भी कुल्या में है । कल्पना है कि राजहंसी चंद्रबिंब को जल में गोता मार कर बैठे राजहंस के भ्रम चूम रही है । चंद्र में राजहंस की भ्रांति । प्रिया के उद्दीपनार्थ संभोगशृंगार का दृश्य दिखाना कि वह भी राजहंसी-सा आचरण करे । हिंदी के कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी चंद्र में राजहंस की उद्भावना की है—'सखि, नील नभस्सर में उतरा यह हंस अहो तिरता-तिरता ।' (साकेत, नवम सर्ग) ॥ १२० ॥

सौवर्गवर्गैरमृतं निपीय कृतोऽह्नि तुच्छः शशलाञ्छनोऽयम् ।
पूर्णोऽमृतानां निशितेऽत्र नद्या मग्नः पुनः स्यात्प्रतिमाच्छलेन ॥१२१॥

जीवातु—सौवर्गेति । स्वर्गे भवाः सौवर्गा देवास्तेषां वर्गैर्वृन्दैरमृतं निपीयाह्नि तुच्छो रिक्तः कुतोऽयं शशलाञ्छनो निशि ते तवात्र क्रीडानद्यां प्रतिमाच्छलेन प्रतिबिम्बव्याजेन मग्नः सन्पुनरमृतानां जलैः, अथ च—पीयूषैः पूर्णः स्यादभवेदित्यहं संभावयामीत्यर्थः । एतेन नदीजलस्यामृतत्वं सूचितम् । अह्नि तुच्छः कुतोऽपि पुनः क्रमेणामृतैः पूर्णः सन् रात्रौ तव क्रीडानद्यां प्रतिमाव्याजेन मग्नः स्यात् पुनः पानभयादिव पलाय्य निलीनः स्यादित्यहं शङ्के इत्यर्थ इति वा पूर्णोऽमृतानाम्, तृप्त्यर्थत्वात्करणे षष्ठी ॥ १२१ ॥

अन्वयः—सौवर्गवर्गैः अमृतं निपीय अह्नि तुच्छः कुतः अयं शशलांछनः निशि ते अत्र नद्यां प्रतिमाच्छलेन मग्नः पुनः अमृतानां पूर्णः स्यात् । अथवा पुनः अमृतानां पूर्णः निशि अत्र ते नद्यां प्रतिमाच्छलेन मग्नः स्यात् ।

हिन्दी—देवों द्वारा अमृत-पान कर दिन में रीता कर दिया गया यह शशकचिह्नयुत (चंद्र) रात्रि मे तेरी (दमयन्ती की) यहाँ क्रीडाकुल्या में प्रतिबिम्ब के व्याज से मग्न हो पुनः अमृत-पूर्ण हो जायेगा । अथवा रीता चंद्र फिर से धीरे-धीरे अमृत-पूर्ण हो रात में यहाँ तेरी क्रीडा नदी में प्रतिबिम्ब के व्याज (देवों द्वारा पुनः पी कर रिक्त कर दिये जाने की आशंका से छिप जायेगा ।

टिप्पणी—क्रीडाकुल्या में चंद्र का प्रतिबिम्ब देखकर कल्पना की गयी कि देवगण इसके अमृत का पान कर इसे रीता (अमृत रहित) कर देते हैं, सो पुनः अमृत पूर्ण होने के लिए वह प्रतिबिम्ब-व्याज से क्रीडा नदी से उसका अमृत-तुल्य जल लेने के लिए उसमें मग्न होता है । अर्थात् नहर का जल अमृत-तुल्य है । अथवा इस आशंका से चन्द्र नहर में रात को आ छिपता है कि कहीं देव उसका अमृत पीकर पुनः उसे रीता न कर दें ॥ १२१ ॥

समं समेते शशिनः करेण प्रसूनपाणाविह कैरविण्याः ।
विवाहलीलामनयोरिवाह मधुच्छलस्त्यागजलाभिषेकः ॥ १२२ ॥

जीवातु—सममिति । इह तव क्रीडानद्यां कैरविण्याः कुमुदिन्याः प्रसूनरूपे पाणौ शशिनः करेण रश्मिना, अथ च—पाणिना, समं सह समेते संगते सति मधु पुष्परस एवच्छलं यस्य स तद्व्याजस्त्यागजलस्य कन्यादानसंकल्पोदकस्याभिषेकः कर्ता, अनयोश्चन्द्रकुमुदिन्योर्विवाहलीलामाहेव सूचतीव । चन्द्रकरस्पर्श-

मात्रेण कुमुदानि विकसितानि, मकरन्दपूर्णानि च जातानीति भावः। विवाहे समयो पाणिमेलनं, पाणौ दानजलाभिषेकोऽपि भवति ॥ १२२ ॥

अन्वयः—इह कैरविण्याः प्रसूनपाणौ शशिनः करेण समं समेते मधुच्छल-त्यागजलाभिषेकः अनयोः विवाहलीलाम् इव आह।

हिन्दी—यहाँ (क्रीडाकुल्या में) कुमुदिनी के कुसुम रूप कर में चन्द्र के किरणरूप हस्त के संयुक्त होने पर पुष्प मकरंद के व्याज से कन्यादान-संकल्प जल द्वारा अभिषेक इन दोनों (कुमुदनी चन्द्र) के विवाह की लीला को मानो कह रहा है।

टिप्पणी—क्रीडाकुल्या में कुमुदिनी-पुष्प खिला है, जिससे चन्द्र किरण पड़ने से मकरंद टपक रहा है। यहाँ इस मकरंद-जल की कन्या-दान के संकल्प-जल के रूप में उद्भावना की गयी है कि चन्द्र-किरण-रूप हाथ और कुमुदिनी-प्रसूनरूप हाथ मिल गये हैं—दोनों का पाणिग्रहण हो रहा है। मकरंद-जल कन्यादान का संकल्प जल है दोनों चन्द्र-कुमुदिनी के विवाह में दानजलाभिषेक हो रहा है ॥ १२२ ॥

विकासिनीलायतपुष्पनेत्रा मृगीयमिन्दीवरिणी वनस्था।
विलोकते कान्तमिहोपरिष्टान्मृगं तवैवाऽऽननचन्द्रभाजम् ॥१२३॥

जीवातु—विकासीति। हे प्रिये! इह तव केलिनद्या वनस्था जलनिवासिनी, अथ च—काननस्था, तथा—विकासि नीलमायतं विस्तृतं पुष्पमेव नेत्रं यस्यास्तत्तुल्यनेत्रा चेयं प्रत्यक्षदृश्या इन्दीवरिणी, यस्मान्मृगी वनस्थत्वाद्विकासिनीलायतपुष्प-नेत्रत्वाच्च हरिणी, तत्तस्मादिन्दीवरिणीरूपा मृगी, आननमिव यश्चन्द्रः सामर्थ्या-त्त्वदाननतुल्यो यश्चन्द्रस्तद्भाजं तत्स्थं कान्तं सुन्दरम्, अथ च—तुल्यजातीयं स्वप्रियं, मृगमुपरिष्टाद्विलोकते। विकसितकुसुमनेत्राणि ऊर्ध्वं प्रसारितानि दृश्यन्ते तर्हि प्रायेण चन्द्रस्यमुपरि वर्तमानं निजभर्तारं मृगं (मृगी) पश्यतीत्यर्थः। त्वदाननमेव यश्चन्द्रस्तत्रस्थं चन्द्रत्वादनुमेयं मृगमुपरिष्टात्पश्यति। त्वं प्रासादोपरि वर्तसे, इय चाधोदेशे वर्तते। 'न न' इति पदच्छेदं कृत्वा चन्द्रमाजं निजप्राणेशं मृगमुपरिष्टान्न पश्यतीति न, किन्तु पश्यत्येवेति वा व्याख्येयम्। वनस्था मृगी हि प्रसारितनीलायतनेत्रा सती स्वकान्तं मृगमितस्ततो विलोकयति। 'शशम्' इत्यपपाठः। मृगपर एव वा व्याख्येयः ॥ १२३ ॥

अन्वयः—इह एषा वनस्था विकासिनीलायतपुष्पनेत्रा इयम् इन्दीवरिणी मृगी तव आननचन्द्रभाजं कान्तं मृगम् उपरिष्टात् विलोकते ।

हिन्दी—यहाँ (क्रीडानदी में) संमुखस्थ जल में स्थित खिले नीले, बड़े-बड़े फूल रूपी नेत्रों वाली यह नील कुमुदिनी-रूपिणी जंगल में रहने वाली खिले नीले और बड़े फूलों से नेत्र वाली मृगी तेरे (दमयन्ती) के मुख रूप चंद्र में स्थित सुन्दर (प्रिय) मृग को ऊपर (सौध) की ओर दृष्टि किये देख रही है ।

टिप्पणी—प्रकृति-दृश्य है कि नहर में नील कुमुदिनी खिली है, जिस पर बड़े-बड़े नीले फूल हैं । स्वभावतः वह ऊर्ध्वमुखी है । फूलों का मुख ऊपर की ओर ही होता है । आकाश में चन्द्रमा है और सौध पर चंद्रमुखी दमयन्ती खड़ी देख रही है । 'वनस्था' और 'विकासिनीलायतपुष्पनेत्रा' विशेषणों का दोनों में योग करके इन्दीवरिणी को एक मृगी माना गया है, जो ऊपर को पुष्प-नयन किये चन्द्र में बसने वाले अपने प्रिय मृग को देखना चाहती है । नीलकुमुदिनी क्या है ? एक व्याकुल 'वन की हिरनिया' है, जो अपने प्रिय की खोज में देख रही है । कहाँ छिपा है दमयन्ती के चन्द्रमुख में उसका प्यारा हिरना ? आशय यह है कि सौध की आकाश, इन्दीवरिणी की मृगी, खिले पुष्पों की उसके नयन और दमयन्ती के मुख की चन्द्र-रूप में कल्पना है, जिसमें मृग की खोज है ॥ १२३ ॥

तपस्यतामम्बुनि कैरवाणां समाधिभङ्गे विबुधांगनायाः ।
अवैमि रात्रेरमृताधरोष्ठं मुखं मयूखस्मितचारु चन्द्रम् ॥ १२४ ॥

जीवातु—तपस्यतामिति । हे प्रिये ! अम्बुनि सदा निवासात्तत्र तपस्यतां कैरवाणां कुमुदानां समाधेर्दिवा संकोचस्यैव ध्यानस्य भङ्गे त्याजने विषये निमित्ते वा विबुधाङ्गनाया अप्सरोरूपाया रात्रेश्चन्द्रं मुखमेवाहमवैमि मन्ये । किंभूतं मुखम् ? अमृतमेवाधरोऽप्यूर्ध्व ओष्ठौ यस्य; अथ च—अमृततुल्योऽधरोष्ठो यस्य; यद्वा—अमृतमधरं यस्मात्पीयूषादधिकरस ओष्ठो यस्य । तथा—मयूखाः किरणा एव स्मितम्, अथ च—तत्समाधिभङ्गादेव चन्द्रकरवदुज्ज्वलं यत्स्मितम्, तेन चारु । चन्द्रविशेषणे लिङ्गविपरिणामः देवाङ्गनानामप्येवंविधं मुखं रात्रौ जले तपस्यतां दुष्करं तपश्चरतामपि मुनीनां समाधिभङ्गं करोति । तपस्यतामिति, तपश्चरतीत्यर्थे 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' इति क्यङ्, 'तपसः परस्मैपदं च' इति शता ॥ १२४ ॥

अन्वयः—अम्बुनि तपस्यता कैरवाणां समाधिभङ्गे विबुधाङ्गनायाः रात्रेः अमृताधरोष्ठं मयूखस्मितचारु मुखं चन्द्रम् अवैमि।

हिन्दी—अमृतरूप अधरवाले किरणरूप मंदस्मित से सुन्दर चन्द्र को मैं जल में तपश्चर्या करते कुमुदरूपी तपस्वियों की समाधि-भंग में रत देवांगना (अप्सरा) रात्रि का अमृत सम रस से युक्त अधरोष्ठ से सम्पन्न, चंद्र-किरण-सदृश मुस्कान से मनोरम मुख मानता हूँ।

टिप्पणी—रात्रि में चाँद की किरणें चाँदनी बरसाती हैं, कुमुद विकसित हो जाते हैं। इस प्रकृति दृश्य पर एक मनोरम उद्भावना की गयी है। कुमुद सदा जल में रहते हैं, वे तपस्वी हैं। उनकी अविकसित स्थिति जल में डूबे रह कर मौन तप है। तपस्विजनों की तपस्या प्रायः अप्सराएँ भंग किया करती हैं। रात्रि एक ऐसी ही स्वर्ग-सुन्दरी है, जो अपने किरण जाल से मुस्कराते चन्द्र-मुख के अमृतरसपरिपूर्ण ओष्ठाधरों से चुम्बन करके कैरव-तापसों की मौन तपश्चर्या भंग कर रही है। वे मौन छोड़ विकसित हो जाते हैं। अप्सराएँ इसी प्रकार रात्रि में जल में मौन खड़े तापसों का तपभंग किया ही करती हैं॥ १२४॥

अल्पाङ्कपङ्का विधुमण्डलीयं पीयूषनीरा सरसी स्मरस्य।
पानात्सुधानामजलेऽप्यमृत्युं चिह्नं बिभर्त्यत्रभवं स मीनम्॥ १२५॥

जीवातु—अल्पेति। अल्पोऽङ्क एव पङ्को यस्याः, तथा-पीयूषमेव नीरं यस्याः सेयं विधुमण्डली स्मरस्य सरसी विशालं सर एव। अत एव स स्मरः अत्रभवः अस्या चन्द्रसरस्याः समुत्पन्नं सुधानामेतदीयामृतानां पानादजले जलरहितेऽपि स्थले जलाभावेऽपि वाऽमृत्युं मरणरहितं मीनं चिह्नम्। अथ च—सुधासरोजातत्वानुमापक लिङ्गं बिभर्ति। मीना हि जलाद्वहिर्भूता म्रियन्त एव, अयं तु न म्रियते, तस्माच्चन्द्रामृतसरसीभवत्वात्सदामृतपानाज्जलाभावेऽपि मृत्युरहित इति सर्वं युक्तमित्यर्थः॥ १२५॥

अन्वयः—अल्पाङ्कपङ्का पीयूषनीरा इयं विधुमण्डली स्मरस्य सरसी, सः अत्रभव सुधानां पानात् अजले अपि अमृत्युं मीनं चिह्नं बिभर्ति।

हिन्दी—छोटे-से काले मृग-चिह्न-रूप पंक (कीच) से युक्त, अमृत रूप जल से परिपूर्ण यह चद्रमण्डली कामदेव का विशाल सर है। वह (कामदेव)

इस (सर) में उत्पन्न, अमृत पान से निर्जल भी स्थल में मरणहीन मत्स्य-चिह्न को धारण किये रहता है।

टिप्पणी—काम का ध्वज-चिह्न मीन है—'मीनकेतु' कहाता है वह। प्रश्न यह है कि काम का यह मीन काम के समीप निर्जल प्रदेश में रह कर भी जीवित कैसे रहता है ? मछली तो जल के बिना तड़प-तड़प कर प्राण दे देती है। काम चन्द्रसखा कहा जाता है। यहाँ कल्पना यह है कि चन्द्र-मण्डली वस्तुतः काम का सरोवर है, जिसके अमृत-जल में वह स्नान किया करता है। इसी स्नान में मीन को अमृत-जल प्राप्त हो जाता है, जिस अमृत को पीकर वह अमर है, जलरहित स्थल में रहकर मृत्यु-रहित। चंद्रमण्डल विशाल अमृत सरोवर है, जिसमें स्वच्छ अमृत-जल है और थोड़ी-सी कीचड़ भी दीख रही है काले-काले मृग-चिह्न के रूप में ॥ १२५ ॥

ताराऽस्थिभूषा शशिजह्नुजाभृच्चन्द्रांशुपांशुच्छुरितद्युतिर्द्यौः ।
छायापथच्छद्मफणीन्द्रहारा स्वं मूर्तिमाह स्फुटमष्टमूर्तेः ॥ १२६ ॥

जीवातु—तारेति। द्यौः स्वमात्मानमष्टमूर्तेर्हरस्य मूर्तिं शरीरं स्फुटं व्यक्त-माह ब्रवीति। यतः—किंभूता ? तारा एवास्थीनि भूषा यस्याः। तथा—शशिनमेव जह्नुजां, चन्द्रं गङ्गां च, बिभर्तीति भृत्। तथा—चन्द्रांशव एव पांसवो भस्मानि तैश्छुरिता कृताङ्गरागा द्युतिर्यस्याः। तथा—छायापथो गगने दण्डाकारा दक्षिणोत्तरस्था धवला रेखा छद्म यस्य छायापथच्छद्मरूपः फणीन्द्रो वासुकिः स एव मुक्ताहारो यस्याः सा। हरमूर्तिरप्युक्तविशेषणविशिष्टा। द्यौरप्येतादृशीति मूर्त्यन्तरापेक्षया व्यक्तमेव महेशस्य मूर्तिं गगनं कथयती-वेत्यर्थः ॥ १२६ ॥

अन्वयः—ताराऽस्थिभूषा शशिजह्नुजाभृत् चन्द्रांशुपांशुच्छुरितद्युतिः छाया-पथच्छद्मफणीन्द्रहारा द्यौः स्वम् अष्टमूर्तेः मूर्तिं स्फुटम् आह।

हिन्दी—तारक-रूप हड्डियों से विभूषित चन्द्रमा रूप गंगा का धारण करता, चन्द्रकिरण-रूप शुभ्र भस्म के अंगराग से दीप्त, छायापथ (दण्डाकार दक्षिणोत्तरस्थ शुभ्र रेखा) के व्याज से नागराज (वासुकि) का हार पहिने 'द्यौ' (आकाशदेवता) अपने को अष्टमूर्ति (शिव) का शरीर सुव्यक्त रूप से कह रहा है।

टिप्पणी—शिव को अष्टमूर्ति कहा जाता है। क्षिति, जल, तेज, वायु, आकाश, यजमान, सूर्य और चन्द्र ये शिव की अष्ट मूर्तियाँ हैं। सर्व, भव, रुद्र, उग्र, भीम, पशुपति, ईशान और महादेव या उनके अष्ट रूप हैं। आकाश अर्थात् द्यौ के रात्रि में दृश्यमान प्राकृतिक रूप के आधार पर यहाँ उसे शिव की स्पष्ट प्रकट मूर्ति कहा गया है। शिव अस्थि धारण करते हैं, वे तारक हैं। चन्द्र गंगा है, चारो ओर गगन में छायी चन्द्रकिरणें भस्माङ्गराग है। छाया-पथ—(आकाश गंगा) वासुकिहार है। इस प्रकार आकाश देवता स्पष्टतः शिव भासित हो रहा है ॥ १२६ ॥

एकैव तारा मुनिलोचनस्य जाता किलैतज्जनकस्य तस्य।
ताताधिका सम्पदभूदियं तु सप्तान्विता विंशतिरस्य यत्ताः ॥ १२७ ॥

जीवातु—एकेति। एतस्य चन्द्रस्य जनकस्य तस्य प्रसिद्धस्यात्रिमुनिलोचनस्य तारा कनीनिका किलैकैव जाताभूत् किल पुराणादौ। अस्य तत्पुत्रस्य तु पुनरियं दृश्यमाना संपत् ताताज्जिजपितुरत्रिनेत्रात्सकाशादधिका। यद्यस्मादस्य चन्द्रस्य तास्ताः कनीनिकाः, अन्य च—नक्षत्राणि, सप्तभिरन्विता विंशतिरभूदिति छलम्। पितुः सकाशादधिसम्पत्तित्वात्सभाग्योऽयमिति भावः। 'सप्तविंशतिमिन्दवे' इति दक्ष. सप्तविंशतिकन्याः अश्विन्यादिकाश्चन्द्राय ददाविति पुराणम् ॥ १२७ ॥

अन्वयः—एतज्जनकस्य तस्य, मुनिलोचनस्य तारा किल एका एव जाता, तु इयम् अस्य सम्पत् ताताधिका यत् ताः सप्तान्विता विंशतिः अभूत्।

हिन्दी—इस (चन्द्र) के जनक (उत्पत्तिकर्ता पिता) उन मुनि (अत्रि) के नेत्र की कनीनिका एक ही थी, किंतु यह (संमुख-स्थ) इस (चन्द्र) की संपदा अपने पिता से अधिक जो ये तारकरूप कनीनिका हैं, वे सत्ताईस हुईं।

टिप्पणी—अत्रि का नाम नेत्र चन्द्र है। वही चन्द्र का जनक है। उसमें स्वभावतः एक ही पुतली होती थी। किंतु बेटा बाप से बढ़ गया। मुनि नेत्र की तो एक ही सम्पदा थी, एक ही पुतली, पुत्र चन्द्र की सत्ताईस नक्षत्र रूप सत्ताईस पुतलियाँ हुईं। पुत्र की सम्पत्ति पिता से सत्ताईस गुनी हो गयी। चन्द्र २७-२८ दिनों में पृथ्वी के चारो ओर चक्कर काट आता है। यह भ्रमण-पथ खगोल में सत्ताईस तारों के मध्य होकर गया प्रतीत होता है। इन सत्ताईस

तारकों के पुंज को नक्षत्र कहा गया है। ये सत्ताईस नक्षत्र (१) अश्विनी, (२) भरणी, (३) कृत्तिका, (४) रोहिणी, (५) मृगशिरा, (६) आर्द्रा, (७) पुनर्वसु, (८) पुष्य, (९) अश्लेषा, (१०) मघा, (११) पूर्वाफाल्गुनी, (१२) उत्तराफाल्गुनी, (१३) हस्त, (१४) चित्रा, (१५) स्वाति, (१६) विशाखा, (१७) अनुराधा, (१८) ज्येष्ठा, (१९) मूल, (२०) पूर्वाषाढा, (२१) उत्तराषाढा, (२२) श्रवण, (२३) धनिष्ठा, (२४) शतभिषा, (२५) पूर्वभाद्रपद, (२६) उत्तर भाद्रपद और (२७) रेवती हैं। दक्ष ने साठ कन्याओं में से सत्ताईस कन्याएँ चन्द्र को दी थीं—ऐसा पुराणसंवाद है—'सप्तविंशति सोमाय।' (ब्रह्मपुराण ३/२७)। कदाचित् ये सत्ताईस नक्षत्र ही सत्ताईस दक्षकन्याओं के रूप में हैं ॥ १२७ ॥

मृगाक्षि ! यन्मण्डलमेतदिन्दोः स्मरस्य तत्पाण्डुरमातपत्रम्।
यः पूर्णिमानन्तरमस्य भङ्गः स च्छत्रभङ्गः खलु मन्मथस्य ॥ १२८ ॥

जीवातु—मृगाक्षीति। हे मृगाक्षि हरिणीनेत्रे ! यदेतत्प्रत्यक्षदृश्यमिन्दोर्मण्डलं तत्स्मरस्य पाण्डुरं श्वेतं साम्राज्यसूचकमातपत्रमेव। श्वेतच्छत्रदर्शने सति सम्राजो वश्या भवन्ति। पूर्णधवलचन्द्रमण्डलस्य चोद्दीपकत्वात्तद्दर्शने सर्वेऽपि कामस्य वश्या भवन्ति। तस्मादेतत्कामस्य श्वेतातपत्रमेवेति भावः। यश्च पूर्णिमानन्तरमस्य च्छत्रभूतस्येन्दुमण्डलस्य भङ्गो मोटनं कलाक्षयश्च स मन्मथस्य च्छत्रभङ्गः खलु। छत्रस्य मोटनं राजक्षयं सूचयति। कृष्णपक्षे चोद्दीपकमिन्दुचन्द्रक्षये कामः क्षीण एव भवति, तस्मात्कृष्णपक्षे योऽस्य भङ्गः स कामस्य छत्रभङ्ग इव स एव वेति भावः 'खलु' उत्प्रेक्षायां निश्चये वा ॥१२८॥

अन्वयः—मृगाक्षि, यत् एतत् इन्दोः मण्डलं, तत् स्मरस्य पाण्डुरम् आतपत्रम्, यः पूर्णिमानन्तरम् अस्य भङ्गः सः खलु मन्मथस्य छत्रभङ्गः।

हिन्दी—हे मृगनयने (दमयंती) जो यह चन्द्रमा का मंडल है, वह कामदेव का श्वेत धूप से त्राण देने वाला (छत्र) है; जो यह पूर्णमासी के पश्चात् इस (चन्द्र मंडल) का एक-एक कला करके क्षय होता है, वह मानो कामदेव के छत्र का टूटना (राज्य-नाश) है।

टिप्पणी—यहाँ कामदेव की एक राजा के रूप में कल्पना की गयी है और पूर्णचन्द्र की उसके श्वेत छत्रक रूप मे। राजा का छत्र 'शशिप्रभ' श्वेत होता है—'अदेयमासीत् त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे।' (रघुवंश-

तृतीयसर्ग) जयी राजा सुख-पूर्वक शांति से आतपत्र के नीचे सिंहासन पर बैठ कर आज्ञा दिया करता है, जो सभी को मान्य होती है। ऐसा ही राजा चन्द्र रूप आतपत्रधारी काम है, जिसकी आज्ञा सबको मान्य है। पूर्ण चन्द्र कामोद्दीपक होता है। जब चन्द्र पूर्णिमा के उपरान्त एक-एक कला करके क्षीण होने लगता है, तब उसका प्रभाव नही रहता और वह कामोद्दीपक नहीं रह जाता। काम राजा की आज्ञा नही मानी जाती, अतः चन्द्र का क्षय काम के राज्य विनाश—'छत्रभंग' रूप में माना गया है। चन्द्र का भंग काम का छत्रभंग। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ १२८ ॥

दशाननेनापि जगन्ति जित्वा योऽयं पुराऽपारि न जातु जेतुम्।
म्लानिर्विधोर्मानिनि ! सङ्गतेयं तस्य त्वदेकाननर्निर्जितस्य ॥ १२९ ॥

जीवातु—दशेति। दिग्विजयोद्यतेन दशाननेनापि जगन्ति जित्वापि योऽयं चन्द्रः पुरा पूर्वं जातु कदाचिदपि जेतुं नापारि। हे मानिनि स्वमुख-स्पर्धिनं चन्द्रमसहमाने भैमि! तस्य विधोरियं प्रत्यक्षदृश्या कलङ्करूपा म्लानि-र्लज्जा संगता लग्ना, अथ च युक्तैव। यतस्तवैकेनाननेन नितरां जितस्य। यो हि दशाननेन दशभिर्मुखैर्जेतुं नाशकि, तस्य स्त्रियास्तवैकेन मुखेन विजितत्वेन लज्जया मालिन्यमुचितमेवेत्यर्थः। त्वन्मुखमेतस्मादधिकमिति भावः। प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। लज्जयापि म्लानिर्भवति। रावणश्चन्द्रं जेतुं प्रवृत्तस्तत्तुषाराग्निना दह्यमानः कम्पमानतनुस्तमजित्वैव परावृत्त इत्युत्तरकाण्डे कथा ॥ १२९ ॥

अन्वयः—जगन्ति जित्वा दशाननेन अपि यः अयं पुरा जातु जेतुं न अपारि, मानिनि त्वदेकाननर्निर्जितस्य तस्य विधोः इयं म्लानिः सङ्गता।

हिन्दी—(दिग्विजय प्रसङ्ग मे) संसार जीत कर दशमुख (रावण) भी जिस इस चन्द्र) को न जीत पाया, हे मानवती (दमयंती), तेरे एक मुख द्वारा पूर्णतः विजित उस चन्द्र की यह मलिनता उचित है।

टिप्पणी—नारायण ने बताया है कि रामचरित संबद्ध-कथा के 'उत्तरकाड' मे यह प्रसङ्ग है कि विजयेच्छु रावण चन्द्र-जय मे जब प्रवृत्त हुआ तब तुषाराग्नि से जलता काँपने लगा और चन्द्र-जय के बिना ही लौट गया। वैसे सामान्यतः रावण के शंकर द्वारा पराभूत होने की कथा प्रसिद्ध है कि शंकर द्वारा कैलास के नीचे दबा रावण पीड़ित हो चिंघाड़ने लगा—'रक्षसा तेन रोषाच्च भुजानां

पीडनात् तथा। मुक्तो विरावः सहसा त्रैलोक्यं येन कम्पितम्॥' (वाल्मीकि० उत्तर० १६/२९)। तो वह चंद्र जो त्रैलोक्यजयी दशानन से भी पराजित नहीं हुआ था, दमयंती—एक नारी के एक मुख से ही पराजित हो गया। दमयंती के मुख सदृश शोभा-श्री-सुन्दरता-सम्पन्न न होने के कारण पराजित चंद्र जो मलिन हो गया, वह उचित ही है। जगद्विजयी दश-आनन से अपराजित नारी के एक आनन से हार गया, यह लज्जा और ग्लानि की बात है ही। नारायण के अनुसार दमयंती मुख चंद्र से श्रेष्ठ है, यह प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है॥ १२९॥

दृष्टो निजां तावदियन्त्यहानि जयन्नयं पूर्वदशां शशाङ्कः।
पूर्णस्त्वदास्येन तुलां गतश्चेदनन्तरं द्रक्ष्यसि भङ्गमस्य॥ १३०॥

जीवातु—दृष्ट इति। अयं शशाङ्कः इयन्त्येतावन्ति अहानि शुक्लपक्षदिनानि तावदवधीकृत्य निजां पूर्वदशां पूर्वपूर्वदिनावस्थां जयन् निकाममुत्तरोत्तरदिनेषु कलावृद्धयाधिकीभवंस्त्वया दृष्टः। इयन्ति दिनानि जयंस्तावत् अयमेव दृष्ट इत्यवधारणार्थो वा 'तावत्'शब्दः। अनयैव परिपाट्या पूर्णश्चिद्रोऽयं त्वदास्येन सह तुलां साम्यम्, अथ च—तोलकाष्ठं, प्राप्त आरूढश्चेत्, तर्ह्यनन्तरं निकटं श्वमेव श्वःप्रभृत्येवास्य भङ्गं पराजयं कलाक्षयं च द्रक्ष्यसि। उत्तमेन सह स्पर्धमानो हि भंगं प्राप्नोत्येव। तुलादिव्ये हि हीनस्य पराजयः सर्वैर्दृश्यते। अहानि अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। त्वदास्येन, '–अतुलोपमाभ्याम्–' इति निषेधेऽपि सहयोगे तृतीया। तथा च कालिदासः 'तुलां यदारोहति दन्तवाससा' इत्यादि॥ १३०॥

अन्वयः—अयं शशाङ्कः इयन्ति अहानि तावत् निजां पूर्वदशां जयन् दृष्टः, पूर्णः त्वदास्येन तुलां गतः चेत् अनन्तरम् अस्य भङ्गं द्रक्ष्यसि।

हिन्दी—यह मृगाङ्क (चन्द्र) इतने दिनों (शुक्लपक्ष में) तक अपनी पहिली अवस्था से उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करता—जयी होता देखा गया; (पूर्णिमा को) पूर्ण हो तेरे (दमयन्ती के) मुख के साथ तुलनार्थ जब तुला पर जायेगा, तब इसका भंग (क्षय, पराजय) देखोगी।

टिप्पणी—सभी के—दमयन्ती के भी देखते-देखते चंद्रमा शुक्लपक्ष में एक-एक करके बढ़ता चला; जयशील रहा। पंद्रह दिन में जब वह पूर्ण हुआ तो उसे दर्प हुआ कि वह दमयन्ती के मुख सदृश है। ऐसा चन्द्र है या नहीं,

दमयन्ती मुख और पूर्णचन्द्र मे कौन गौरवशाली है ? इस विमर्श के लिए अब उसे तुला पर रखा जायेगा। उस स्थिति मे दमयन्ती मुख से चन्द्र निम्न प्रमाणित होगा और धीरे-धीरे लज्जा ग्लानि से कृष्णपक्ष मे दिन-दिन क्षीण होता अमावस्या को पराजय-म्लान मुख छिपा लेगा। यह पूर्णिमोपरात प्रतिपदा से दमयन्ती और सब लोक देखेगा। बलवान् से विरोध करने का फल कष्टकर होता ही है और 'तुलादिव्य' में हीन पराजित होता सबके द्वारा देखा जाता ही है ॥ १३० ॥

क्षत्राणि रामः परिभूय रामात्क्षत्राद्यथाभज्यत स द्विजेन्द्रः।
अयेष पद्मानभिभूय सर्वांस्त्वद्वक्त्रपद्मात्परिभूतिमेति ॥ १३१ ॥

जीवातु—क्षत्राणीति। द्विजेन्द्रो जमदग्न्यपत्यत्वात्सोऽतिप्रसिद्धपराक्रमो रामः परशुरामः सर्वाणि क्षत्राणि परिभूयापि क्षत्रादेव रामाद्दाशरथेः सकाशाद्यथा भज्यत पराभवं प्राप, तथा तेनैव प्रकारेणायमपि द्विजराज. सर्वान्पद्मानभिभूय संकोचकरणात्पराभूयापि त्वद्वक्त्रपद्मात्सकाशात्परिभूतिं पराभवमेति। सकलक्षत्रियाधिक्यं यथा श्रीरामस्य तथा सर्वपद्माधिक्यं त्वन्मुखपद्मस्येति भावः। 'वा पुंसि पद्मम्' इत्यमरः ॥ १३१ ॥

अन्वय।—सः द्विजेन्द्रः रामः क्षत्राणि परिभूय यथा क्षत्रात् रामात् अभज्यत, तथा एषः सर्वान् पद्मान् अभिभूय त्वद्वक्त्रपद्मात् परिभूतिम् एति।

हिन्दी—वे ब्राह्मण राज परशुराम सब क्षत्रियो को पराभूत कर जैसे एक क्षत्रिय राम से पराभूत हुए, वैसे ही यह (द्विजराज चन्द्र) सब कमलो को पराभूत कर (म्लान) कर तेरे, (दमयन्ती) के मुखकमल से पराभूत हो रहा है।

टिप्पणी—धनुर्भंग करके सीता को विवाह कर लौटते राम से क्रुद्ध परशुराम मार्ग मे मिले, किंतु वे इक्कीस बार क्षत्रियो को पराभूत करने वाले परशुराम द्विजराज एक क्षत्रिय राम से पराभूत हुए। यह प्रसिद्ध कथा है। (वाल्मीकि० बाल० ७६/१२–१९) चंद्र भी द्विजराज है। ऐसे ही वह भी सकलकमलजयी होकर एक दमयंतीमुख से पराभूत हो रहा है। दमयंती-मुख चद्र-जयी, चन्द्र से श्रेष्ठ तो है ही, राम क्षत्रियो मे श्रेष्ठ हैं, वैसे ही दमयंती-मुख कमलश्रेष्ठ है ॥ १३१ ॥

अन्तः सलक्ष्मीक्रियते सुधांशोः रूपेण पश्ये ! हरिणेन पश्य ।
इत्येष भैमीमदर्शदस्य कदाचिदन्तं स कदाचिदन्तः ॥ १३२ ॥

जीवातु—अन्तरिति । हे पश्ये चन्द्रदर्शनप्रवृत्ते भैमि ! हरिणेन पाण्डुरेण रूपेण वर्णेन कर्त्रा सुधांशोरन्तः प्रान्तभागः पूर्वमश्रीकोऽपीदानीं सलक्ष्मीक्रियते सश्रीः क्रियते एवं पश्य । अथ च—चन्द्रस्य मध्यं हरिणेन मृगेण कर्त्रा रूपेण स्वीयनीलवर्णेन कृत्वा असलक्ष्म सलक्ष्म क्रियते सलक्ष्मीक्रियते । सकलङ्कं क्रियत इत्यर्थः । पश्य । एष स नल इत्यमुना प्रकारेणास्य चन्द्रस्यान्तं पर्यन्तभागं कदाचित्क्षणमात्रं भैमीमदर्शत् दर्शयामास, कदाचिच्चान्तर्मध्यभागं दर्शयामास । अङ्गुल्यादिना चन्द्रस्यैतन्नीलप्रान्तमध्यभागप्रदर्शनपूर्वं श्लिष्टपदैस्तया सह क्रीडां चकारेति भाव इति मध्ये कवेरुक्तिः । 'हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः' इत्यमरः । 'अन्तः' इत्यकारान्तमेकम्, 'अन्तः' इत्यव्ययमपरम् मध्यवाचि । 'लक्ष्मी'शब्दस्य समासान्तविधेरनित्यत्वात्कबभावे 'सलक्ष्मी'शब्दाच्च्विः । पक्षे 'सलक्ष्म'शब्दाच्च्विः । पश्ये, 'पाघ्रा—' इत्यादिना कर्तर्येव शः । दृशेर्बुद्ध्यर्थत्वात् 'गतिबुद्धि—' इत्यणौ कर्तुर्णौ कर्मत्वाद्भैमीमिति द्वितीया ॥ १३२ ॥

अन्वयः—पश्ये, पश्य, हरिणेन रूपेण सुधांशोः अन्तः सलक्ष्मीक्रियते, इति एषः भैमीं कदाचित् अस्य अन्तं, कदाचित् अन्तः अदर्शत् ।

हिन्दी—हे दर्शन में प्रवृत्त (दमयन्ति), देख–श्वेत वर्ण अमृतकर (चन्द्र) के प्रांतभाग को सुशोभित कर रहा है और मृग का रूप अर्थात् श्यामल वर्ण चन्द्र का मध्यभाग सकलंक कर रहा है। इस प्रकार यह (नल) भीमपुत्री (दमयंती) को कभी इस (चन्द्र) का पर्यंत प्रदेश और कभी मध्यभाग दिखाने लगा।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'हरिणेन', 'अन्तः' और 'सलक्ष्मीक्रियते' अनेकार्थ हैं। इनके क्रमशः श्वेतवर्ण और हिरन, प्रांतभाग और मध्यभाग तथा सुशोभित करता है तथा सकलंक करता है—दो-दो अर्थ हैं। एक ही वाक्य कहकर शब्द-क्रीडा करते हुए नल कभी दमयंती को चन्द्र का पर्यंत भाग दिखाता, कभी मध्य-भाग। जब दमयंती पर्यंत भाग की ओर आकृष्ट होती तो नल मध्यभाग की ओर ध्यान आकृष्ट करता और जब मध्यभाग देखने लगती तब प्रांतभाग की ओर संकेत करता। इस प्रकार राजा नल प्रिया दमयंती से क्रीडा-विलास में

रत हुआ। हरिण द्वारा शुभ्र चन्द्र के मध्यभाग को सकलंक होते देखने का संकेत संभोग-व्यापार का भी संकेत है। इस प्रकार कह कर और हृदय की ओर अंगुल्या निर्देश कर नल ने दमयंती से विलास किया—कुछ व्याख्याकार ऐसा भाव भी यहाँ द्योतित मानते हैं॥ १३२॥

सागरान्मुनिविलोचनोदराद्द्वयादजनि तेन किं द्विजः?।
एवमेव च भवन्नयं द्विजः पर्यवस्यति विधुः किमत्रिजः?॥ १३३॥

जीवातु—सागरादिति। अयं चन्द्रः सागरात् मुनिविलोचनोदराच्चेतद्द्वयाद्-द्वयात्सकाशाद्यस्मादजनि उत्पन्नः, तेन कारणेन द्वाभ्यां जातत्वाद् द्विजः किम्? एवमेव चानयैव रीत्या द्वाभ्यां जातत्वादेव द्विजो भवन्नयं विधुरत्रेर्मुनेर्जातः किं कथं पर्यवस्यति? द्वाभ्यां जातत्वे सत्यपि अत्रिमुनेरेव जात इति तात्पर्यवृत्त्या कथमुच्यत इत्यर्थः। अथ च—एवमेव यथानेन प्रकारेण द्विजत्वं, तथैवात्रिमुनिजो भवन्नयं द्विजः पर्यवस्यति किम्? द्वाभ्यां जातत्वाद्यथा द्विज उच्यते, तथा द्विजा-दत्रिमुनेर्जातत्वादपि द्विज उच्यते किम्? द्विजोत्पन्नो हि द्विज एव भवतीत्यर्थः। अथ च—द्वाभ्यां जातत्वाद् द्विजो भवन्नेव न त्रिभ्यो जायत इत्यत्रिज इत्येवं तात्पर्यवृत्त्या कथ्यते किम्? यो हि द्वाभ्यां जायते स त्रिजो न भवति, एवमेवाय-मत्रिजः कथ्यते किमित्यर्थः। अन्योऽपि द्विजस्त्रिजो न भवत्येव॥ १३३॥

अन्वय—अयं यत् सागरात् मुनिविलोचनात् द्वयात् अजनि, किं तेन द्विजः? एवम् एव च द्विजः भवन् अयं विधुः अत्रिजः किं पर्यवस्यति?

हिन्दी—यह (चन्द्र) जो समुद्र और मुनि (अत्रि) के नेत्र—दो से उत्पन्न हुआ, क्या इस कारण 'द्विज' अर्थात् दो से जन्मा कहाता है? और इस प्रकार द्विज होता यह चंद्र अत्रि-मुनि से जन्म प्राप्त कैसे सिद्ध होता है? अथवा इस प्रकार 'द्विज' (दुजन्मा) होता यह चंद्र क्या अ-त्रिज (तीन से अनुत्पन्न) अर्थात् दो से उत्पन्न (क्या द्विज) सिद्ध होता है?

टिप्पणी—पौराणिक मान्यता के अनुसार चन्द्रमा के दो जनक हैं, समुद्र और अत्रि मुनि-नेत्र। यहाँ यही माना गया है कि इसी कारण चंद्र द्विज अर्थात् दो से उत्पन्न कहाता है। किंतु फिर प्रश्न यह उठता है कि जब समुद्र और मुनि-नेत्र दो चंद्र के जनक हैं तो उसे 'अत्रिज' कैसे कहा जाता है? 'अत्रिज' का अन्यार्थ—जो तीन से न उत्पन्न हो इसका समाधान कर देता है। अर्थात् चंद्र

'अन्त्रिज' है, तीन से नहीं, दो से उत्पन्न है। इस आधार पर वह अत्रिज भी है और द्विज भी रथोद्धता छंद ॥ १३३ ॥

ताराविहारभुवि चन्द्रमयीं चकार यन्मण्डलीं हिमभुवं मृगनाभिवासम् ।
तेनैव तन्वि ! सुकृतेन मते जिनस्य स्वर्लोकलोकतिलकत्वमवाप धाता ।१३४।

जीवातु—तारेति । हे तन्वि कृशाङ्गि ! धाता ताराणां नक्षत्राणां विहारभुवि गगने चन्द्रमयीं मण्डलीं बिम्बं जिनस्य पुराणपुरुषस्य श्रीविष्णोर्मतेऽनुमतौ सत्यां तदादिष्टः सन् यच्चकार निर्ममे तेनैव सुकृतेन शोभनेन लोकोत्तरव्यापारेण कृत्वा स्वर्लोकः स्वर्गभुवनं तत्संबन्धिनां लोकानां सुराणां मध्ये तिलकत्वं श्रैष्ठ्यमवाप । किंभूतां मण्डलीम् ? हिमस्य तुषारस्य भुवं स्थानभूतामतिशीतलाम् । तथा—मृगस्य नाभौ मध्ये वासो यस्यास्तां, यस्या मध्ये मृगोऽस्तीति यावद्, तादृशीम् । अन्येषां सुराणामेतादृग्व्यापारकरणे सामर्थ्याभावाद् ब्रह्मैव श्रेष्ठोऽभूदित्यर्थः । अथ च—तारायाः बुद्धदेव्या विहारस्थाने पूजास्थाने हिमभुवं शीतलां, शुभ्रत्वाद्धिमाचलरूपां वा, तथा—मृगनाभेः कस्तूर्या वासः परिमलोऽवस्थानं वा यस्यां तां कस्तूरीमिश्रितां चन्द्रमयीं कर्पूरमयीं मण्डलीं राशिं यच्चकार तेनैव पुण्येन जिनस्य मते बौद्धदर्शने ब्रह्मा सुरश्रेष्ठत्वमधत्त । बौद्धा हि बुद्धदेवप्रासादे यस्तत्पूजार्थं कर्पूरकस्तूरीराशिं करोति स सर्वलोकमध्ये श्रेष्ठो भवतीति स्वदर्शने प्रत्यपादयन्, ब्रह्मा चैवमकृत तस्मादेव सर्वश्रेष्ठो जात इत्यर्थः । 'तेनैव' इति पाठे—उत्प्रेक्षा । 'बुद्धदेव्यां मता तारा' ॥ १३४ ॥

अन्वयः—तन्वि, धाता ताराविहारभुवि हिमभुवं मृगनाभिवासं चन्द्रमयीं मण्डलीं जिनस्य मते यत् चकार तेन एव सुकृतेन स्वर्लोकलोकतिलकत्वम् अवाप ।

हिन्दी—(१) हे कृशाङ्गि (दमयंति), विधाता ने नक्षत्रों के विहार-स्थल (आकाश) में तुषारभूमि (अति शीतल), नाभि में मृग को बसाये चंद्र की मंडली को पुराण पुरुष श्री विष्णु के आदेश से जो रचा, उसी पुण्य कृत्य से उसने स्वर्गलोक के व्यक्तियों में तिलकत्व (श्रेष्ठता) प्राप्त किया ।

(२) हे कृशांगि, विधाता ने बुद्धदेवी तारा के पूजास्थल में हिमवत् शीतल, कस्तूरीसुगन्धमिश्रित कर्पूरराशि की जो स्थापना की, उसी पुण्य से जिन-दर्शन में उसे देवों में श्रेष्ठता प्राप्त हुई ।

टिप्पणी—यहाँ आकाश में शीतल, मृगलांछन चंद्र की रचना के कारण

विधाता को देवश्रेष्ठ कहा ही गया है कि विधाता ने विष्णु के आदेश से चन्द्र-रचना का सत्कार्य करके सुरश्रेष्ठत्व प्राप्त किया, बौद्ध अथवा जैन (बुद्ध और जिनम कवि ने एकता ही मानी है) में जो ब्रह्मा को सुरश्रेष्ठ माना गया है, अनकार्थ शब्द-याञ्ना द्वारा यह भी द्योतित कर दिया है। मान्यता है कि बौद्ध-पूजास्थलों में कपूर रखने वाला स्वर्ग में देवश्रेष्ठता पाता है। तृतीय चरण में तेनैव' के स्थान में 'तेनेव' पाठांतर भी मिलता है, अर्थात् 'उस पुण्य-से जैसे'। इस स्थिति में नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा है। १३४-१३६ श्लोकों में वसन्ततिलका वृत्त ॥ १३४ ॥

इन्दुं मुखाद्बहुतृणं तव यद् गृणन्ति तेन मृगस्त्यजति तन्मृगतृष्णयेव ।
अत्येति मोहमहिमा न हिमांशुबिम्बलक्ष्मीविडम्बिमुखि वित्तिषु पाशवीषु ॥

जीवातु—इन्दुमिति। हे हिमांशुबिम्बस्य लक्ष्म्याः शोभाया विडम्बि स्वस्मान्न्यूनत्वात्परिहासकारि ततोऽप्यधिकशोभं मुखं यस्यास्तादृशि भैमि ! पण्डिता इन्दुं तव मुखात्सकाशात्त्वन्मुखमपेक्ष्य वा बहुतृणमीषदसमाप्तं तृणं, तृणत्वमपि यस्य पूर्णं न सम्पन्नं, तृणादपि निःसारमिति यावत्, अथ च—बहुविधं तृणं यस्मात् तृणादपि निःसारं यद्यस्माद् गृणन्ति, तत्तस्माद्धेतोर्मृगः एनं चन्द्रं मृगसबन्धिन्या तृष्णया कोमलतृणकवलाभिलाषेणैव, अथवा—चन्द्रे प्रयुक्तस्य 'बहुतृण'शब्दस्य बहु च तत्तृणं च, बहूनि तृणानि यस्मिंस्तादृशमिति वस्त्वेवम्पार्थग्रहणरूपया भ्रान्त्येव न त्यजति। मृगो हि बहु यत्तृणं बहुतृणं देशं वा न मुञ्चति। नन्वनुभवे सत्यप्यससारं क्व भ्रान्तिरित्याशङ्क्यार्थान्तरन्यासमाह—पाशवीषु पशुसबन्धिनीषु वित्तिषु ज्ञानेषु विषये मोहमहिमा भ्रान्तिबाहुल्यं नात्येति बहुकालातिक्रमेऽपि नापयाति। पशवो हि सर्वदा मूढा एवेत्यर्थापि मृगस्य भ्रान्तिर्नापयाति, तस्मादेनं न त्यजतीति युक्तमित्यर्थः। 'वृत्तिषु' इति पाठः—व्यापारेषु। मुखात्, ल्यब्लोपे पञ्चमी। 'बहुतृणं' पदे ईषदसमाप्तौ 'विभाषा सुपो बहुच्—' इति बहुच् ॥ १३५ ॥

अन्वय.—हिमांशुबिम्बलक्ष्मीविडम्बिमुखि, 'इन्दुं तव मुखात् बहुतृणं यत् गृणन्ति तत् मृगः मृगतृष्णया एव एनं न त्यजति' पाशवीषु वित्तिषु मोहमहिमा न अत्येति।

हिन्दी—हे हिमकर (चन्द्र) के बिंब की शोभा को विडंबित (अवमानित)

करते मुख वाली (दमयन्ती); चन्द्रमा को तेरे मुख की अपेक्षा जो 'बहुतृण' (जो तृणता को पूर्णतया न प्राप्त कर सका हो अथवा तृण भी जिससे श्रेष्ठ है, अर्थात् तृण से भी निःसार) कहते हैं; उससे (चन्द्रस्थित) मृग मृग-तृष्णा (कोमल तिनके खाने की आकांक्षा) से ही इसे ('बहुतृण' अर्थात् प्रचुर घास-तिनकों से पूर्ण चन्द्रमा को) नहीं छोड़ता है। पशुओं के ज्ञान से भ्रम की बहुलता बहुत समय तक भी दूर नहीं होती।

टिप्पणी—लोगों ने कहा कि दमयन्ती के मुख की अपेक्षा चन्द्र 'बहुतृण' है। कहने वालों का तात्पर्य था दमयन्ती-मुख चन्द्र से इतना श्रेष्ठ है कि चन्द्र उसके संमुख घास-कूड़े-से भरा निःसार है। परन्तु चन्द्र-क्रोड में स्थित जो मृग है, उसने भ्रम से 'बहुतृण' का अर्थ समझा 'बहुत-सी घास से भरा-पुरा'। इसी मोह में पड़कर कि चन्द्र पर बसने से प्रचुर मात्रा में तृण भोजन मिलता रहेगा, वह चन्द्र पर ही बस गया। पशुओं का मोह, भ्रम, अज्ञान शीघ्र नहीं मिटता ॥ १३५ ॥

स्वर्भानुना प्रसभपानविभीषिकाभिर्दुःखाकृतैनमवधूय सुधा सुधांशुम् ।
स्वं निह्नुते सितिमचिह्नममुष्य रागैस्ताम्बूलताम्रमवलम्ब्य तवाधरोष्ठम् ॥

जीवातु—स्वर्भानुनेति । हे प्रिये ! सुधा एनं सुधांशुमवधूय त्यक्त्वा तवाधरोष्ठमवलम्ब्यामुष्य रक्तस्याधरस्य रागै रक्तवर्णैः कृत्वा सितस्य भावः सितिमा धावल्यमेव चिह्नं यस्य तादृशं धवलरूपमपि स्वमात्मानं निह्नुते पुनः पुनः स्वर्भानुपानभिया तिरोदधाति । यतः—स्वर्भानुना वारंवारं प्रसभपानेन विभीषिकाभिर्भयोत्पादनैः कृत्वा दुःखाकृता प्रातिलोम्याचरणेनोत्पादितदुःखा । किंभूतमधरोष्ठम् ? प्रसिद्धस्य ताम्बूलस्येव ताम्रो वर्णो यस्य; ताम्बूलेनैव वा ताम्रं रक्तवर्णम् । पुना राहुपानभिया त्वदधरमेव स्थानान्तरमाश्रित्य रूपान्तरेणात्मानं गोपायतीत्यर्थः । अन्योऽपि सभयं स्थानं हित्वा स्थानान्तरमाश्रित्य तत्रापि रूपान्तरं धृत्वा स्वं निह्नुते । सुधया चन्द्रस्य परित्यागात्त्वन्मुखाश्रयणात्त्वन्मुखं चन्द्रादधिकमिति भावः । ताम्बूलताम्रमित्युक्तरीत्योपमोत्प्रेक्षा वा । दुःखाकृता, 'दुःखात्प्रातिलोम्ये' इति डाच् ॥ १३६ ॥

अन्वयः—स्वर्भानुना प्रसभपानविभीषिकाभिः दुःखाकृता सुधा एनं सुधांशुम् अवधूय तव ताम्बूलताम्रम् अधरोष्ठम् अवलम्ब्य अमुष्य रागैः सितिमचिह्नं स्वं निह्नुते ।

हिन्दी—राहु-द्वारा बार-बार पिये जाने के भय से अत्यन्त दु.खप्राप्त सुधा (अमृत) इस सुधाकर (चन्द्र) को छोड़कर तेरे (दमयन्ती के) ताम्बूल खाने से लाल लाल ओठो का आश्रय लेकर इस (लाल अधरोष्ठ) की लाली से श्वेतिमारूप चिह्न से युक्त अपने को छिपाती है।

टिप्पणी—चन्द्र राहु द्वारा पीडित होता है, क्योंकि राहु चन्द्र सुधा का बार-बार बलात् पान किया करता है। इस पीड़ा से आतंकित हो चन्द्र की सुधा चन्द्र को छोड़ दमयन्ती के लाल-लाल ताम्बूलरंजित ओठों में आ छिपी है। सुधा की पहिचान है उसकी शुभ्रता। इसी चिह्न से वह पहिचानी जाती है। दमयन्ती के लाल ओठों मे वह अपनी शुभ्रता छिपाकर छिपजाती है। इस प्रकार सुधा द्वारा चन्द्र का त्याग कर दमयन्ती के ओठो मे छिपजाने के द्वारा यह द्योतित किया गया कि चन्द्र की अपेक्षा दमयंती मुख अधिक रमणीय और श्रेष्ठ है। नारायण के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा अथवा उपमा है॥ १३६॥

हर्यक्षीभवतः कुरङ्गमुदरे प्रक्षिप्य यद्वा शशं
जातस्फीततनोरमुष्य हरिता सूतस्य पत्न्या हरेः।
भङ्गस्त्वद्वदनाम्बुजादजनि यत्पद्मात्तदेकाकिनः
स्यादेकः पुनरस्य स प्रतिभटो यः सिंहिकायाः सुतः॥१३७॥

जीवातु—हर्यक्षीति। हे प्रिये! मतभेदेन कलङ्करूपं कुरङ्गं, यद्वा—शशमुदरे मध्य प्रक्षिप्य जाता स्फीता पूर्णा तनुर्यस्य, हरेरिन्द्रस्य पत्न्या हरिता प्राच्या दिशा सूतस्य तत्रोदितस्य पूर्णस्य, अत एव हरेः श्रीविष्णोर्वामाक्षीभवतः, यद्वा—सञ्जातपूर्णशरीरस्य मृगं यद्वा—शशं, कलङ्कं मध्ये निक्षिप्य मध्यस्थित-कलङ्कस्य कनीनिकातुल्यत्वाच्छ्रीविष्णोर्वामनेत्रीभवतोऽमुष्य चन्द्रस्य त्वद्वदनाम्बुजात्सकाशाद्‌भङ्गः पराजयोऽजनि तदेकाकिनः सर्वदाऽसहायादेकस्मात्पद्मात्, न त्वन्यस्मात्कमलात्, न ह्यन्यैः पद्मैरयं पराजीयते, यत्पुनरयमेव पद्मान्पराभवतीत्यर्थः। अथवा—अम्बुजतुल्यत्वाद्वदनादेव पद्मात्, अथ च—पद्मसंख्या-कात्त्वद्वदनरूपादम्बुजादस्य भङ्गो जात., तदेकाकिनोऽसहायस्य स्याद्भवेत्; बहुभिरेकः पराजीयत इति युक्तमेवेत्यर्थः। यः सिंहिकायाः सुतो राहुः स पुनरेकोऽन्योऽस्य प्रतिभटः प्रतिमल्लः पराभावुको राहुरेव न त्वन्य इति। 'सप्रनि' इति पाठे—अत्र पुनरस्यैकः प्रतिभटः यः सिंहिकायाः सुत. स्यात्

एकाकिनोऽस्य त्वन्मुखपद्मः प्रतिद्वन्द्वी न भवति, अतुल्यत्वात्, किं त्वेकाकी राहुरेवास्य प्रतिभटो युक्त इत्यर्थः। किञ्च स्वशत्रुभूताद्राहोरप्यस्यान्यः पराजय इति महदस्य कष्टं प्राप्तमित्यर्थः। अथ च—हरिद्धर्ण्या हरेः सिंहस्य पत्न्या सिंहिकया प्रसूतस्य, तथा—मृगं शशं वा यं कञ्चन पशुं जठरे निक्षिप्य भक्षयित्वा स्थितस्य, अत एव संजातपुष्टशरीरस्य, अत एव हर्यक्षीभवतः सिंहतां प्राप्नुवतोऽस्य त्वन्मुखाद्यः पराजयोऽजनि स एकाकिनः केवलात्पद्माद्गजादेव पराजयः, सिंहस्य गजाङ्कुशो यथा तद्वदेव तन्महच्चित्रमित्यर्थः। अथ च—पद्मसंख्याकादेकस्य पराजयः सिंहोऽप्येको बहुसंख्यैः पराजीयत एवेत्यर्थः। अथ च—पद्माच्छरभादष्टापदादेव भङ्गः सिंहस्य केवलमष्टापदादेव भङ्गः। पद्मचन्द्राभ्यां सकाशात्त्वन्मुखमधिकमिति भावः। 'हर्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरः। 'गजाब्जशरभाः पद्मा' इत्यनेकार्थे भोजः। प्रथमपक्षे 'हर्यक्ष'शब्दाच्च्विः, द्वितीयपक्षे 'हर्यक्ष'शब्दादेव ॥ १३७ ॥

अन्वयः—कुरङ्गं यत् वा शशम् उदरे प्रक्षिप्य जातस्फीततनोः हरेः पत्न्या हरिता सूनस्य हर्यक्षीभवतः अमुष्य त्वद्वदनाम्बुजात् यत् भङ्गः अजनि, तत् एकाकिनः पद्मात् स्यात्; यः सिंहिकायाः सुतः राहुः सः पुनः अस्य एकः प्रतिभटः।

हिन्दी—(कलङ्क-चिह्नरूप) हरिण अथवा कि खरहे को उदर (मध्य) में रख कर शरीर को स्फीत अर्थात् विस्तृत (पूर्ण) बना लेने वाले, इन्द्र की पत्नी पूर्वा दिशा से उत्पन्न, श्री हरि विष्णु के वामनेत्र हुए इस (चन्द्र) का तेरे (दमयन्ती के) मुख-पद्म में पराजय हुआ, वह अकेले (एक) ही (इस-तेरे मुख-रूप) पद्म से हुआ (अन्य पद्मों से नहीं)। (अर्थान्तर—वह पराजय अकेले (एक, असहाय चन्द्र) का 'पद्म'-संख्यक (१००,००,००,००, ००,००,०००) अर्थात् अनेक से पराजय है।) जो सिंहिका (राक्षसी) का पुत्र राहु है, वही इस (चन्द्र) का एक मात्र प्रतिद्वन्द्वी योद्धा है।

टिप्पणी—यहाँ भाव यही है कि चन्द्र किसी प्रकार दमयन्ती-मुख के समकक्ष नहीं है। दमयन्ती-मुख चन्द्रापेक्षया कहीं रमणीय है। यह ठीक है कि दमयन्ती-मुख को 'मुख-पद्म' कहा जाता है और चन्द्र पद्मों अर्थात् कमलों को संकुचित करके एक प्रकार से पराजित कर देता है, वह अनंत पद्मों का

जयी है, तथापि दमयन्ती का मुख-पद्म ऐसा अद्भुत-पद्म है, जो अनेक पद्मों के जेता चन्द्र को भी पराजित कर देता है। इस प्रकार चन्द्र दमयन्ती-मुख के समकक्ष नहीं है। इस प्रकार आनन-पद्म को चन्द्र का प्रतिद्वंद्वी योद्धा मानना ही उचित नहीं है। प्रतिद्वंद्विता तो समकक्ष में होती है, असम में नहीं। चन्द्र को पूर्णिमा-निशा में—पूर्ण स्थिति में राहु पराजित करता है—सिंहिका का बेटा राहु। चन्द्र पुनः उससे मुक्त होता है और फिर राहु उसे ग्रसता है। यही क्रम निरंतर चल रहा है। न राहु ही पूर्णजयी हो पाता है, न चन्द्र ही सदा-सदा के लिए पराजित हो पाता है। तो राहु-चन्द्र समान हैं, अतः प्रतिद्वंद्वी हैं। मुख के सम्मुख तो चन्द्र ठहरता ही नहीं। मुख-पद्म पद्मजयी चन्द्र का जेता है, तो अन्य सामान्य पद्मों का जेता भी हुआ। मुख पद्म से पराजित हुआ चन्द्र भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मृग को खाकर मोटा (पूर्ण) हुआ है, इन्द्र की पत्नी (पूर्वादिक्) का पुत्र है, श्री विष्णु का नेत्र है। ऐसे चन्द्र का जयी है मत्-प्रिया का मुख-पद्म। मुख 'पद्म' (संख्या की दृष्टि से अनेक) है और चन्द्र असहाय, एकाकी। इस प्रकार अनेक से एक की क्या समानता? इसमें आश्चर्य भी है कि मृग को खाकर पुष्ट, हरि अर्थात् सिंह की पत्नी का पुत्र अर्थात् सिंह होकर भी चन्द्र एक दमयन्ती के मुखरूप पद्म अर्थात् हाथी से पराजित हुआ। हाथी से सिंह हार गया। आश्चर्य है। हाथी तो सिंह का प्रतिद्वंद्वी नहीं है, सिंहिका अर्थात् सिंही का सुत सिंह राहु सिंह चन्द्र का उचित प्रतिद्वंद्वी है। 'पद्म' कमल, गज और शरभ (अष्टपद कल्पित मृग, जो सिंह से बली माना जाता है) वाचक भी है। सो पद्म अर्थात् शरभ से सिंह (चन्द्र) हार गया, यह आश्चर्य जनक भी नहीं है। आशय यही है कि दमयन्ती मुख चन्द्र और कमल दोनों से कहीं अधिक मनोरम है ॥ १३७ ॥

यत्पूजा नयनद्वयोत्पलमयी वेधा व्यधात्पद्ममू-
　　र्वाक्पारीणरुचिः स चेन्मुखमय पद्मः प्रिये! तावकम् ।

¹ कः शीतांशुरमी तदा ? मखमृगव्याधोत्तमाङ्गस्थल-
　　स्थास्नुस्त्वत्तदनीतदर्पनियमीयानीरजाक्षी मुखः ॥ १३८ ॥

जीवातु—यदिति । हे प्रिये ! वेधा नयनद्वयमेवोत्पलं तन्मयीं तद्रूपां तद्-

-चितो यस्य पद्मस्य पूजां व्यधाद्व्यरचयत् । यतः श्रीविष्णोर्नाभौ वर्तमानात्पद्मा-द्भवतीति पद्मभूः । स्वजनकस्य यस्य पद्मस्य पितृभक्त्या नेत्रद्वयेनैव नीलोत्पल-युगेन महतीं पूजामकृत । वाक्पारीणा वाचः परतीरे भवा वाचा वर्णयितुमशक्या रुचिर्यस्य सोऽयं पद्मश्चेत्तावकं मुखं स एव भवन्मुखरूपो जातः, अनन्तरं ब्रह्मणा स्वपितृबुद्धया नेत्रनीलोत्पलाभ्यां कृतपूजत्वादत्र तव मुखे नेत्रनीलोत्पले दृश्येते इत्यर्थ इति चेत्, तदा तर्हि असौ शीतांशुः को नाम, अपि तु न कश्चित् । त्वन्मुखस्य पुरस्तादयं, स्मरणार्होऽपि नेत्यर्थः । तर्ह्यसौ क इति चेत्तत्राह— अयं बकः । किंभूतः ? दक्षमख एव मृगस्तस्य व्याधो हरस्तस्योत्तमाङ्गं शिरस्तल्लक्षणे स्थले स्यास्नुः स्थितिशीला स्वस्तटिनी गङ्गा तस्यास्तटावन्याः तीरभूम्याः या वनी महदल्पं वा यत्कानन्नं यत्र ये वानीरा वेतसास्तन्मध्यवासी । चन्द्रश्च हरजटाजूटवासीति प्रसिद्धम् । 'वाक्पारीणरुचिः' इति ब्रह्मविशेषणं वा । अत्र यदपत्यस्य ब्रह्मणोऽपि सौन्दर्यं वागगोचरः, तत्पितुः पद्मस्य सौन्दर्यं मनसोऽपि गोचरो न भवतीत्यर्थः । त्वन्मुखस्य चन्द्रस्य च महदन्तरम्, साम्यसंभावनापि नास्तीति भावः । एतेन चन्द्रादिसुन्दरवृन्दं ब्रह्मणा सृष्टम्, भवदीयमुखपद्मं तु ब्रह्मणोऽपि स्रष्टृत्वात्सर्वाधिकमिति सूचितम् । 'मखमृग-' इत्यादिना चन्द्रस्या-तिदैन्यं सूचितम्, त्वन्मुखसाम्यप्राप्त्यर्थं तपश्चरणं च सूचितम् । अन्योऽपि विशिष्ट-वस्तुप्राप्तये शिवस्थानयुक्तनदीतीरवानीरवासी तपस्यति । नदीतीरवानीरवासित्वं बकजातिः । 'वाक्पारीणा, अव्यर्थे 'राष्ट्रावारपाराद्घखौ' इत्यत्र 'अवारपारा-द्विपरीतादपि विगृहीतादपि' इति वचनात्खः ॥ १३८ ॥

अन्वयः—प्रिये, पद्मभूः वेधा नयनद्वयोत्पलमयीं यत्पूजां व्यधात्, वाक्पा-रीणरुचिः सः अयं पद्मः तावकं मुखं चेत् तदा मखमृगव्याधोत्तमाङ्गस्थल-स्यास्नुस्वस्तटिनीतटावनिवनीवानीरवासी बकः असौ शीतांशुः कः ?

हिन्दी—प्रिये (दमयंती) कमल से उत्पन्न विधाता ने नेत्रयुग्मरूप दो नील कमलों से जिसकी पूजा की, वाणी से जिसकी कांति का वर्णन संभव नहीं है, ऐसा वह यह (ब्रह्मा का जनक) कमल यदि तेरा (दमयंती का) मुख है तो दक्षयज्ञ के व्याघ (आखेटक, ध्वंसक शिव) के शिरःस्थल में स्थित स्वर्नदी (गंगा) की तीरस्थली के छोटे से नेत्र-वन का वासी बगुला यह शीत-कर (चन्द्र) क्या है ?

टिप्पणी—दमयन्ती के मुख की समता सामान्य कमलो से नहीं की जा सकती। वह विधाता की अपूर्व रचना है। वह विष्णु-नाभि-स्थित, ब्रह्मा के जनक कमल का रूप है, जिसका पूजन स्वय ब्रह्मा ने पितृभक्ति प्रदर्शित करते हुए दो नील कमलो से किया था। वे ही दो नील कमल दमयन्ती के पद्मभू, ब्रह्मा के पिता पद्मरूप मुख मे नेत्रस्वरूप दृश्यमान हैं। ऐसे अद्वितीय मुख-पद्म की समानता मे बेचारे चन्द्र की स्थिति ही क्या है, वह तो 'शीतांशु' हो गया है। उसके तो हाथ 'ठडे पड गये हैं'—श्वेत, रक्तहीन। वह क्या समता कर सकता है दमयन्ती मुख पद्म की। वाक्यारोपणरुचि. पद्मभू वेधा का भी विशेषण हो सकता है, तो जो अवर्णनीय ब्रह्मा से भी पूजनीय है, उस अवर्णनीय परम सुन्दर मुख-पद्म से सफेद पड गये शीतांशु चन्द्र की समता कैसे सम्भव है ? श्वेत चन्द्र तो सफेद बगुला सदृश है, जो दक्ष यज्ञ-ध्वसक शिव-शिर-वासिनी गगा के तटवर्ती नेत्रवन मे बैठा तपस्या कर रहा है कि देव प्रसन्न हो उस बक-चन्द्र को वर दें कि वह दमयन्ती मुखपद्म की समता पा सके। मुख की तुलना मे चन्द्र एक बक ही है। उसकी तपस्या 'बकध्यान' है, जिसका उद्देश्य महत् नही है, केवल मछली मारना है। असत् तपस्या है बक की, कपटतप है बक-सदृश चन्द्र का। उसे वर ही नहीं प्राप्त होगा दमयन्ती-मुख-सम होने का। बडा हीन-दीन है चन्द्र दमयन्ती के मुख के समुख। नदी-तीर एक टाग से खडे 'नगण्य' मछली मारते बगुले के समान। चन्द्र हर-जटा-विहारिणी गगा के समीप ही शिव मस्तक पर रहता है। द्वितीया का कृश, दुर्बल चन्द्र, अतः उसकी तीरस्थित तपोरत बक से तुलना की गयी है। पुराण कथा (ब्रह्म० ३९/७६) के अनुसार दक्ष-यज्ञ मृगरूप मे भाग गया था। इसी आधार पर यहाँ शिव को 'मखमृग-व्याध' कहा गया है ॥ १३८ ॥

जातं शातक्रतव्या हरिति विहरतः वाक्तालीयमस्या-
मश्याममत्वैकमर्त्यस्थितसकलकलानिर्मितेर्निर्मलस्य।

इन्दोरिन्दीवराभ बलविजयिगजग्रामणीगण्डपिण्ड-
द्वन्द्वापादानदानद्रवलवलगनादङ्कमङ्के विशङ्के ॥ १३९ ॥

जीवातु—जातमिति। अहमिन्दोरङ्के बलविजयिन इन्द्रस्य गजग्रामणी-र्हस्तिषु मध्ये प्रधान प्राच्यामेव वर्तमानो य ऐरावतस्तस्य गण्डयोः कपोलयो-

पिण्डयोः शिरःस्थिकुम्भस्थलयोश्च ये द्वन्द्वे गण्डद्वन्द्वं च त एवापादानं निर्गमन-स्थानं येषां ते च ते दानद्रवलवा मदजललेशास्तेषां लगनात्संपर्कात् काकतालीय-माकस्मिकं दैवात्सिद्धमिन्दीवराभं नीलोत्पलतुल्यं जातमङ्कं कलङ्कं विशङ्के मन्ये । किंभूतस्येन्दोः ? अस्यामङ्गुलीनिर्दिष्टायां पुरोदृश्यायां शतक्रतोरियं शातक्रतवी तस्यां हरिति दिशि विहरत उद्गच्छतः । तथा—अश्यामत्वे विषये ऐकमत्यं सर्वसंवादस्तेन तत्र वा स्थितःभिर्वर्तमानाभिः सकलाभिः पञ्चदश-भिरपि कलाभिः कृत्वा निर्मितिर्यस्य । अश्यामत्वैकमत्येन स्थिता सकलकला-निर्मितिर्यस्य तादृशस्य । अत एव—निर्मलस्य प्रत्येकं कलानां धावल्यस्य दृष्टत्वाद्धवलसकलकलानिर्मितत्वात्कारणधावल्याद्धवलस्य, अश्यामत्वैकमत्येन स्थिता याः सकलाः कलास्ताभिर्या निर्मितिस्तस्या वा हेतोर्धवलस्य । पूर्वं कारणधावल्यात्सकलोऽप्ययं धवल एवाभूत्, पश्चात्तु पूर्वदिग्भ्रमणवशात्सत्रैकं भ्रमत ऐरावतस्य कपोलकुम्भस्थलगलन्मदजलं दैववशाल्लग्नं तेनायं मध्ये काल-प्रतिभातीत्यर्थः । तालतरुतले यदैव काकस्योपवेशनम्, तदैव दैवात्काकस्योपरि तालफलपात इति काकतालमिव, 'समासाच्च तद्विषयात्' इति छः । निर्मितेः, पक्षे हेतौ पञ्चमी ॥ १३९ ॥

अन्वयः—अस्यां शातक्रतव्यां हरिति विहरतः अश्यामत्वैकमत्यस्थित-सकलकलानिर्मितेः निर्मलस्य इन्दोः अङ्के बलविजयिगजग्रामणीगण्डपिण्डद्वन्द्वा-पादानदानद्रवलवलगनात् काकतालीयं जातम् इन्दीवराभम् अङ्कं विशङ्के ।

हिन्दी—इस ऐंद्री दिशा (पूर्वदिक्) में विहार करते (उदित होते), एकमत से निर्मल स्वीकृत संपूर्ण कलाओं से संरचित, निर्मल (स्वच्छ) चन्द्र के मध्यभाग में बलराक्षस के जेता (इन्द्र) के हस्तिराज (ऐरावत) की कपोल-स्थली के युगल पिंडों से झरते मद-जल के कणों के लगजाने से काक-तालीयन्याय से (दैवात्) उत्पन्न नील-कमल की भांति से युक्त (नीलकमल-सदृश) कलङ्क चिह्न को मानता हूँ ।

टिप्पणी— यहाँ यह कल्पना है कि चन्द्रमा जब रचा गया था तब पूर्णतः सर्वत्र स्वच्छ और निर्मल था कलंकरहित; क्योंकि उसकी संरचना उस सामग्री से हुई थी जिस उपादान को सभी ने निर्मल स्वच्छ मान लिया था । इस प्रकार एकमत से निर्मल अंगीकृत उपादानों से संघटित चन्द्र पूर्णतया

स्वच्छ शुभ्र होता ही, वह था। यह जो श्याम-चिह्न चन्द्र-क्रोड मे लगा है यह काकतालीयन्याय से लग गया, अकस्मात्,– किसी निश्चित कार्य-कारण-सम्बन्ध से नही, दैवात्। तालपत्र पर बैठा कौआ उडा और पत्र गिर पडा। यह अकस्मात् ही हुआ। काक के उड जाने और तालपत्र के गिरने मे कारण-कार्य-सम्बन्ध नही है। काक उडे और पत्र गिर जाय—सदा ऐसा नही होता। यह एक आकस्मिक घटना होती है। ऐसे ही अकस्मात् एक दिन चन्द्र इन्द्र के वाहन ऐरावत से टकरा गया और उसके गड स्थल मे झरता मद-जल-कण चन्द्र के लग गया। तभी से लगता है कि यह श्याम चिह्न चन्द्र-क्रोड में लग गया॥ १३९॥

अथ षोडशमामनन्ति रजनीभर्तुः कला वृत्तय-
न्त्येन पञ्चदशैव ता' प्रतिपदाद्याराक्वर्द्धिष्णवः।
या शेषा पुनरुद्धृता तिथिमृते सा किं हरालंकृति-
स्तस्याः स्थानबिलं कलङ्कमिह किं पश्यामि सश्यामिकम्?॥१४०॥

जीवातु—अथमिति। हे प्रिये! लोका रजनीभर्तुः षोडशमेंश कलामा-मनन्ति स्तम कथयन्ति, ताश्च षोडशांशरूपाः प्रतिपदादिर्यस्मिन्कर्मणि राका पूर्णिमामभिव्याप्य वर्द्धिष्णवः प्रतितिथि एकैककलाभिवृद्ध्या वर्धमानाः पञ्चदश-संख्याका एव कला एनं चन्द्रं वृत्तयन्ति वर्तुलं कुर्वन्ति; तिथिसंख्यासाम्यात् पूर्णमण्डलं कुर्वन्तीत्यर्थः। या पुनः कला षोडशी तिथिमृते उद्धृता प्रयोजना-भावाच्च बहिः कृता सा षोडशी कला शेषा पञ्चदशकलाभ्योऽवशिष्टा सती, यद्वा–षोडशीं तिथिं विना प्रयोजनाभावादवशिष्टा सा निष्प्रयोजनत्वा-दुद्धृता चन्द्राद्बहिर्निष्कासिता सती हरालंकृतिः शिवशिरोभूषणं जाता किम्? चन्द्रे प्रयोजनाभावाद्धरालंकृतिरिवायुक्तिमित्यर्थः। अह तस्याश्चोद्धृतायाः षोडश्याः कलायाः सश्यामिकं नभोनीलिम्ना सह वर्तमानं स्थानस्य पूर्वाव-स्थितेः सवधि बिलं विवरं तत्कालानवस्थितया शून्यं नीलं नभोभागमेवेह चन्द्रमण्डलमध्ये कलङ्कं पश्यामि किम्? मध्यवर्तिनील तत्स्थानबिलमेवाह कलङ्क-त्वेन शङ्के इत्यर्थः। 'शिव'शब्दस्याभिधेयलिङ्गत्वं पूर्वमेव दर्शितम्। 'पूर्णे राका निशाकरे' इत्यमरः। वृत्तयन्ति, 'तत्करोति–' इति णिच्। वर्द्धिष्णवः, 'अलङ्कृञ्–' इतीष्णुच्। तिथिमृते, 'ऋते नञाशाम्' इतीयत्। श्यामिका, मनोज्ञादेरा-कृतिगणत्वाद्भावे वुञ्॥ १४०॥

अन्वयः—रजनीभर्तुः षोडशम् अंशं कलाम् आमनन्ति; प्रतिपद्याराकं वर्द्धिष्णवः ताः पञ्चदश एव एनं वृत्तयन्ति, तिथिम् ऋते पुनः या शेषा सा किं हरालङ्कृतिः ? तस्याः सस्यामिकं स्थानविलं किं कलङ्कम् इह पश्यामि ?

हिन्दी—निशानाथ (चन्द्र) के सोलहवें खंड को कला माना जाता है; प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक वृद्धि को प्राप्त होती वे पंद्रह (कलाएँ) ही इस (चन्द्र) को वृत्ताकार (गोल, पूर्ण) बना देती हैं । और सोलहवीं तिथि के अभाव में फिर जो (सोलहवीं कला) शेष रही, वही क्या शिव का आभूषण है ? उस (षोडश कला) के गमन की कालिमा से युक्त रीते स्थान (गड्ढे) को क्या कलंक रूप में देख रहा हूँ ?

टिप्पणी—यहाँ एक गणिताश्रया (हिसाब-किताबी) कल्पना है । चन्द्र की सोलह कलाएँ मानी जाती है, अर्थात् चन्द्र का सोलहवाँ भाग एक कला है । अमावस्या को अदृश्य हुआ चन्द्रमा शुक्लपक्ष की प्रथमा तिथि प्रतिपद् से प्रतितिथि एक-एक कला करके बढ़ता हुआ पंद्रह दिनों में पंद्रह कलाओं से पूर्ण हो गोल पूर्णिमा का पूर्णचन्द्र 'राकेश' बन जाता है । यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न होता है कि षोडश कलाओं में से पंद्रह कलाओं के योग से चन्द्र पूर्ण राकेश बन गया तो एक शेष षोडश कला का क्या हुआ ? उद्भावना है कि वही अवशिष्ट एक कला शिव का शिरोभूषण बन कर स्थित हो गयी । आकाश में उस सोलहवीं कला के हटजाने से रीता स्थान रह गया, वही चन्द्र-मध्य काला चिह्न बना दीखता है ॥ १४० ॥

ज्योत्स्नामादयते चकोरशिशुना द्राघीयसी लोचने
लिप्सुर्लब्धुमिवौपजीवितुमितः सन्तर्पणात्मीकृतात् ।
अङ्के रङ्कुमयं करोति च परिस्प्रष्टुं तदेवाहृत-
स्त्वद्वक्त्रं नयनश्रियाऽप्यनधिकं मुग्धे ! विधित्सुर्विधुः ॥ १४१ ॥

जीवातु—ज्योत्स्नामिति । हे मुग्धे सुन्दरि ! त्वद्वक्त्रं वृत्तत्वादिगुणैः समानमपि नयनश्रियापि कृत्वानधिकं समानमेव विधित्सुः, अत एव स्वस्य द्राघीयसी अतिदीर्घे लोचने लिप्सुर्लब्धुमिच्छुर्विधुश्चकोरशिशुना प्रयोज्येन स्वीयां ज्योत्स्नामादयते भक्षयति । तत्रोत्प्रेक्षते—चन्द्रिकामृतपायनेकृतसन्तर्पणेनात्मी- कृतात्स्ववशीकृतादितश्चकोरबालकात्सकाशान्मूले । स्वचन्द्रिकापायनहेतुभूतमेतद्दी-

त्यातिदीर्घनेत्रद्वयमुपजीवितुमादातुमिव । यद्वा—यत्किञ्चित्स्वस्य चन्द्रिकां पाययित्वा ततो नेत्रद्वयरूपमौप्राप्त्या मूलं चन्द्रिकारूपधनं वर्धयितुमिव । अन्यो-ऽप्युत्तमर्णोऽधमर्णस्य किञ्चिद्दत्त्वा तं वशीकृत्योत्तममिष्टं वस्तु ततो गृह्णाति । तथा–अयं चन्द्र आदृत आदरयुक्तः सन्नङ्के मध्ये, अयं च—उत्सङ्गे, रङ्कुं च करोति । उत्सङ्गधारणेन लालयतीत्यर्थः । किमर्थमित्याशङ्कयाह–तन्मूलमूनं-मनतिविशालं तदीयनयनयुगलं परिस्प्रष्टुमिव स्वकरमं कर्तुमिव, त्वन्मुखसाम्य-निमित्तरमणीयनेत्रद्वयसम्पादनाय चन्द्रश्चकोरहरिणी वशयतीत्यर्थः । चन्द्रा-दुत्कृष्टं त्वन्मुखमिति भावः । 'परिप्रष्टुम्' इति पाठे एतन्नेत्ररामणीयकप्राप्त्युपायं प्रष्टुमिवेत्यर्थः । शिशुः सुप्रतार्य इति सूचयितुं 'शिशु'पदम् । आदयते, अदेर्नि-गरणार्थत्वेऽपि 'अदेः प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति वक्तव्यात् 'निगरण–' आदि (सूत्रेण) परस्मैपदाभावे, 'णिचश्च' इति तङ् । शिशुना, 'आदिखाद्योर्न' इत्यणौ कर्तुर्णौ कर्मत्वाभावः । द्राघीयसी अतिशायने ईयसुनि 'प्रियस्थिर–' इति । द्राघादेशः । लिप्सुः, विधित्सुरिति च, 'न लोका–' इति षष्ठीनिषेधः ।१४१।

अन्वयः—मुग्धे, त्वदास्य नयनश्रिया अपि अनधिकं विधित्सुः द्राघीयसे लोचने लिप्सुः विधु स्वतर्पणात् आत्मीकृतात् इतः मूलम् उपजीवितुम् इव चकोरशिशुना ज्योत्स्नाम् आदयते आदृतः च अयं तत् एव परिस्प्रष्टुम् अङ्के रङ्कुं करोति ।

हिन्दी—हे मुग्धे (बाले, सुन्दरि, दमयति), तेरे (दमयती के) मुख को नेत्रकान्ति की दृष्टि से भी अनधिक (समान) करने की इच्छा से और अधिक बड़े नेत्रयुगल करने का आकांक्षी चन्द्र तृप्त कर देने से आत्मीय बने इस (चकोर बाल) से मूल धन (चाँदनी) को मानो बढ़ाने के लिए (ब्याज रूप में नयन पाने का इच्छुक) चकोर बाल को चाँदनी (पानार्थ) दिया करता है और आदरपूर्ण यह (चन्द्र) वही (नयनयुगल) पाने के लिए गोद में कृष्णमृग को बैठाये है ।

टिप्पणी—माना जाता है कि चकोर चन्द्रिका-पान करता है और करके चिह्न के रूप में कृष्णमृग 'रङ्कु' चन्द्रमा के अङ्क में बैठा है । इस पर उद्भावना है कि गोलाई, बनावट आदि की दृष्टि से तो दमयती का मुख चन्द्रमा के समान ही है । मुख में एक विशिष्टता स्पष्ट है कि दो सुन्दर, विशाल नयन भी

उससे सवद्ध हैं। चन्द्रमा की लिप्सा है कि उसके पास भी दो रम्य, बड़े नयन होते। इसी लिप्सा की पूर्ति के लिए कदाचित् चन्द्र चकोर बाल को चन्द्रिका दे रहा है कि उससे मूलधन चाँदनी के बदले में व्याज रूप में उसके दो सुन्दर नयन माँग ले। इच्छित भोजन से परितृप्त चकोर शिशु चन्द्र को चाँदनी के बदले में अपने नयन कदाचित् दे ही दे। मूलधन चाँदनी का व्याज नयन-युग्म। और कदाचित् इसी नयन-लोभ के कारण 'रंकु' को भी वह बड़े लाड़-प्यार, आदर-संमान के साथ गोद में बैठाये है कि गोद में बैठे मृगशिशु के नयन सम्बन्ध से ही चन्द्र को दो सुन्दर नयन मिल सकें। चकोरबाल अथवा रंकु शिशु के नयन सुन्दर होते ही हैं। उन्हें पाकर चन्द्र दमयन्ती-मुख से कदाचित् समानता कर सके। दो अबोध पक्षी और पशु के बच्चों को ठगना सरल ही है। चालाक ऋणदाता उत्तमर्ण अबोध, गरजू 'रिनिया' अधमर्ण से गहरा व्याज वसूल करता ही है ॥ १४१ ॥

लावण्येन तवास्यमेव बहुना तत्पात्रमात्रस्पृशा
चन्द्रः प्रोञ्छनलब्धताऽर्द्धमलिनेनारम्भि शेषेण तु।
निर्माय द्वयमेतदप्सु विधिना पाणी खलु क्षालितौ
तल्लेशैरधुनाऽपि नीरनिलयैरम्भोजमारभ्यते ॥ १४२ ॥

जीवातु—लावण्येनेति। हे प्रिये ! बहुना क्वचित्पात्रे संचितेनाखिलेन लावण्येन कृत्वा तवास्यमेवारम्भि निर्मितम्। चन्द्रस्तु पुनस्तस्य लावण्यस्याधारपात्रं स्पृशतीति स्पृक् तेन लावण्यस्थापनपात्रमात्रलग्नेन, अत एव प्रोञ्छनेन पात्रनिघर्षणेन कृत्वा यल्लब्धतोपार्जितत्वं तेनार्धं कियत्खण्डं मलिनं यस्य तेन किंचन्मलिनेन शेषेण भवन्मुखनिर्माणावशिष्टेनांशेन कृत्वारम्भि निर्मितः, अत एव शबलमण्डलोऽयं शोभत इत्यर्थः। शेषेण तु निर्मित इति वा। विधिना एतत्त्वन्मुखमृगाङ्कलक्षणं द्वयं निर्माय सृष्ट्वाऽप्सु पाणी क्षालितौ खलु लावण्यलेपकृतजलक्षालनाविव। तस्मात्तस्य क्षालनरजोमिलितलावण्यलेपस्य लेशैरल्पैरंशैरेव कर्तृभिरधुनापि नीरनिलयैर्जलस्थायिभिः सद्भिरम्भोजमारभ्यते निर्मीयते; कमलनिर्माणे ब्रह्मणः कोऽपि प्रयासो नेत्यर्थः। कमलाच्चन्द्रोऽधिका, तस्मादपि त्वन्मुखं लावण्यसाकल्येन निर्मितत्वादधिकमिति भावः। अम्भोजम्, जात्येकत्वम् ॥ १४२ ॥

अन्वयः—बहुना लावण्येन तव आस्यम् एव आरम्भि, चन्द्रः तु तत्पात्र-

मात्रस्पृशा प्रोञ्छनलब्धतार्द्धमलिनेन शेषेण, विधिना एतत् द्वयं निर्माय अम्बु पाणी क्षालितौ खलु, *अधुना अपि नीरनिलयैः तल्लेशैः अम्भोजम् आरभ्यते ।*

हिन्दी—अत्यंत प्रभूत (बड़े पात्र में रखे) सौंदर्य से (विधि ने) तेरा (दमयंती का) मुख ही बनाया, चंद्रमा की रचना तो उस (सौंदर्याधार) पात्र का स्पर्शमात्र करते (थोड़े से), पोंछने के कारण अर्ध मलिनता को प्राप्त शेष (लावण्य) से की । विधाता ने ये दोनों (दमयंतीमुख और चन्द्रमा) बनाकर पानी में हाथ धो डाले । अब भी पानी में मिल गये उस (सौंदर्य) के अल्पांश से कमल बन जाते हैं ।

टिप्पणी—आशय यह है कि चन्द्रमा दमयंती के मुख के समक्ष अत्यंत हीन है, उस सौंदर्य को पात्र में लग कर रह गये तलछट-मात्र से विधि द्वारा रचित, जिसे प्रचुर मात्रा में पात्र में रख कर विधि ने दमयंती-मुख रचा था । प्रायः समस्त लावण्य मुख-रचना में निःशेष हो गया, पात्र में थोड़ा-सा लगा रह गया, उसी से झटपट विधाता ने चन्द्र बना डाला । ऐसा चन्द्र क्या समता कर सकता है नल की प्रिया के मुख से ? और जहाँ तक कमलों का प्रश्न है, उनकी और मुख की समानता की तो बात सोचना भी अन्याय है, मूर्खता है, पागलपन है । उनकी तो विधाता रचना तक नहीं करता । वे तो पानी में स्वयं बन जाया करते हैं, सहजता से, अतिरिक्त उत्पादन के तुल्य । दमयंती-मुख और चन्द्र रचकर विधाता ने सौंदर्य से लिप्त दोनों हाथ धोये, वही धोवन पानी में मिल गया । कमल उसी से बन जाया करते हैं—स्वयम् । ऐसा चन्द्र, जो सामग्री की मैली हुई तलछट से रचा गया और ऐसे कमल, जो धोवन की अतिरिक्त उत्पत्ति हैं, उनसे दमयंती-मुख की समानता कैसे संभव है? ॥१४२॥

लावण्येन तवाखिलेन वदनं तत्पात्रमात्रस्पृशा
चन्द्रः प्रोञ्छनलब्धतादर्धमलिनेनारम्भि शेषेण यः ।
तल्लेशोऽपि शिखामणिः सुषमयाऽहृद्कृत्य शम्भोरभू-
दब्जं तस्य पदे यदस्पृशदतः पद्मञ्च सद्म श्रियः ॥ १४३ ॥

जीवातु—लावण्येनेति । अखिलेन लावण्येन तव वदनमारम्भि । ततो भवद्वदनकमनीयकवर्णनातिचिन्तापि दूरे तिष्ठतु, अशक्यकरणत्वादित्यर्थः । उत्तरोत्तरा तत्पात्रमात्रस्पृशा प्रोञ्छनलब्धतार्धमलिनेन शेषेण । यश्चन्द्रः विधिना निरमायि

तस्य लेखापि लावण्यपात्रमात्रस्थलावण्यनिर्मितस्य चन्द्रस्य षोडशांशरूपा कलापि कलामात्रत्वादेव निष्कलङ्कत्वात् सुषमया परमया शोभया कृत्वा अहंकृत्य अस्यापेक्षयाऽहमेव रमणीयेति दर्पमवलम्ब्य शंभोः शिखामणिः शिरोभूषणभूच्छिवशिरोऽध्यरोहत्। अन्यदपि सदर्पमुत्तमशिरोऽधिरोहति। अब्जं कुमुदं कर्तृ यद्यस्मात्तस्य चन्द्रस्य पदं प्रतिबिम्बस्थानं जलमस्पृशत्। अतः श्रियः सद्माभूत्। चन्द्रकरस्पर्शादेव हि कुमुदं सश्रीकं भवति पद्मं च श्रियः सद्माभूत्। जलस्य चन्द्रकिरणसंस्पर्शात् पद्मस्य च तत्रोत्पन्नत्वात्तद्वर्तमानत्वात्कुमुदसाहचर्याच्च पद्ममपि लक्ष्म्याः स्थानमभूत्। यद्वा—पद्मं चातः कुमुदाद्धेतोः श्रियः सद्माभूत्। अब्जत्वजातियोगात्कुमुदाधारजलयोगाच्च कुमुदादेव परम्परया पद्मानां लक्ष्मीगृहत्वमभूदित्यर्थः। यद्वा—या तल्लेखा शम्भोः शिखामणिरभूत्, तस्य शिखामणेश्चन्द्रस्य पदं स्थानं शिवमस्तकं पूजासमये यस्मात्कुमुदं पद्मं चास्पृशत्, अतस्तदुभयं श्रियः सद्माभूत्। चन्द्रसवर्द्धशिरःसंबन्धादुभयं श्रीगृहमभूदित्यर्थः, यद्वा—तस्य शंभोः पदं चरणं पूजावशाद्यस्मात्कुमुदं पद्मं चास्पृशत् तस्मादुभयं श्रीसद्माभूत्, तस्य लावण्यस्य स्थानं विधिहस्ततलैपक्षालनजलं यस्मात्कुमुदं पद्मं चास्पृशत्। यद्वा—पद्ममेवास्पृशत्। यतोऽब्जं तस्मात्कुमुदम्, पद्मं च पद्ममेव वा श्रीसद्माभूदिति वा। त्वन्मुखलावण्यलेशपरंपरासंस्पर्शप्राप्तशोभानि चन्द्रादीनीति त्वन्मुखलावण्यं वाङ्मनसगोचरो न भवतीति भावः। अर्थान्तरस्य स्पष्टत्वात्, पूर्वार्धस्य त्वयाल्विरप्रविपादनार्थमनुवादरूपत्वान्नायं श्लोकः पुनरुक्तः। 'अहम्' इति विभक्तप्रतिरूपकमव्ययं, तस्य क्तान्तेन 'सह सुपा' इति समासे क्त्वो ल्यप्॥ १४३॥

अन्वयः—अखिलेन लावण्येन तव वदनम् आरम्भि, तत्पात्रमात्रस्पृशा प्रोञ्छनलब्धतार्धमलिनेम शेषेण यः चन्द्रः, तल्लेखा अपि सुषमया अहङ्कृत्य शम्भोः शिखामणिः अभूत्, तस्य च पदं यत् अब्जं पद्मम् अस्पृशत् अतः श्रियः सद्म।

हिन्दी—संपूर्ण सौंदर्य से (विधि ने) तेरा (दमयंती का) मुख बनाया और उस सौंदर्य पात्र का स्पर्श मात्र करते, पोंछ न होने से आधे मलिन हुए शेष-सौंदर्य से जिस चन्द्र का निर्माण किया, उसकी एक कला (सोलहवाँ भाग) भी अपनी परम शोभा का अभिमान करके शिव की चूड़ामणि हो गयी। उस

(षोडश कलात्मक चन्द्र) के स्थान (जल) का जो जलजात कुमुद ने स्पर्श किया, इसलिए वह लक्ष्मी का आलय बन गया।

टिप्पणी—आशय यह है कि चन्द्रमा और पद्म की रचनामात्र जो दमयन्ती की मुख-रचना-सामग्री के अल्पात्यल्प शेष से हुई, उसी से उन्हें ऊँचा स्थान मिल गया। सौंदर्य-पात्र में लगे रह गये अत्यल्प, पोंछन मात्र, अधमैले सौंदर्य-शेष से रचित चन्द्र की सोलहवीं कला ही इतनी दर्पोज्ज्वल हुई कि शिव-चूडा-मणि बन गयी और उस अत्यल्प सौंदर्य रचित चन्द्र के प्रतिबिंब-प्रवय से स्थान बने जल का स्पर्श-मात्र पाने से जल में उत्पन्न पद्म लक्ष्मी का आलय बन गया। दमयन्ती मुख से बही हीन चन्द्र की कला और कुमुद जब इतने उच्च और महत्त्वपूर्ण स्थान पा गये, उस मुख की शोभा वाङ्मनोगोचर नहीं है। चतुर्थ चरण के अर्थांतर भी किये जाते हैं। चंद्र-कर के स्पर्श से कुमुद और कमल दोनों कमलालय बन गये। चंद्र के पद-स्पर्श से कुमुद और उसके संपर्क से कमल। अर्थात् कुमुद के कारण कमल भी लक्ष्मी का आवास बना। अथवा जो चन्द्र-कला शिवचूडामणि बनी, उसके स्थान शिवमस्तक का पूजाकाल में जो कुमुद और पद्म ने स्पर्श पाया, उससे वे कमलानिवास बन गये। अर्थात् चंद्र-संबंध से दोनों लक्ष्मी के आवास बने। अथवा शंभु का चरणस्पर्श ही जो अब्ज और कुमुद ने पूजा-काल में पाया, उसी से व लक्ष्मीगृह बन गये। अथवा 'तस्य' (दमयन्ती मुख-रचना की सामग्री सौंदर्य का) स्थान जो विधि के कर-प्रक्षालन करते समय जल बना, उसी के स्पर्श से कुमुद-कमल को श्री-निकेतनत्व प्राप्त हुआ। आदि, आदि। भाव यही है कि दमयन्ती-मुख का सौंदर्य इतना अधिक उत्कृष्ट है चन्द्र और कमल से कोई समता का प्रश्न हीं अनर्गल और और नितांत व्यर्थ कथन है ॥ १४३ ॥

सपीतिः सम्प्रीतेरजनि रजनीश· परिषदा
परीनस्ताराणां दिनमणिमणिग्रावमणिकः।
प्रिये! पश्योत्प्रेक्षाकविभिरभिधानाय सुशकः
सुधामश्नुद्धत्तुं घृतशशकनीलाश्मचषकः ॥ १४४ ॥

जीवातु—सपीतेरिति। हे प्रिये संप्रीतस्ताराणामेवान्योन्यं सम्यग्या प्रीतिः सौहार्दं तस्माद्धेतोर्या सपीतिः सह पानं, सुहृदो हि सह पानं कुर्वन्ति तस्माद्धेतोः

यद्वा सहपानाद्धेतोर्या सम्यक् प्रीती रुच्यभिवृद्धिः, तस्माद्धेतोस्ताराणां परिषदा सङ्घेन परीतः समन्ताद्व्याप्तोऽयं रजनीशो दिनमणिमणिः सूर्यकान्तमणिस्तस्य ग्रावा शिला तया घटितोऽतिघवलः स्थूलः पेयद्रव्याधारभूतो मणिकोऽलिञ्जर एवाजनि संभूतः विधिना तारापरिषदा वा व्यरचीति पश्य । कीदृशः? सादृश्येन वस्त्वन्तरसंभावनारूपायामुत्प्रेक्षायां विषये कविभिर्विशिष्टसंभावनाचतुरैः श्रीहर्षादिभिर्महाकविभिस्तारापरिषदैव सुधामभ्युद्धर्तुं धृतो यो मध्यस्थितः शशकः कलङ्कः स एव नीलाश्मा नीलमणिस्तेन घटितं चषकं पानपात्रं यस्मिन्नेवंभूत इवायमिति अभिधानाय वर्णनाय वर्णयितुं सुशकः सुखेन शक्यः । चन्द्रो धावल्याद् वृत्तत्वाच्च पीयूषपूर्णः सूर्यकान्तमणिक इव, कलङ्कश्च नीलमणिघटितं चषकमिव दृश्यते पश्येत्यर्थः । यथा मणिकस्थोदकाद्युद्धरणाय मणिकमुखे चषकः स्थाप्यते, तथा ताराभिः परस्परं मिलित्वा सुधापानं कर्तुं परिवेष्टितस्य सुधापूरितस्यास्यापि चन्द्रमणिकस्य मुखे सुधोद्धरणाय शशनामा नीलमणिचषको निक्षिप्त इत्युत्प्रेक्षितुं शक्यत इत्यर्थः । 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः । सपीतेः, वोपसर्जनस्य इति वा 'सहस्य सः संज्ञायाम्' इत्यत्र 'सहस्य सः' इति योगविभागाद्वा सहस्य सः । कविभिः खलर्थयोगान्न षष्ठी, सुशक इति खल् ॥ १४४ ॥

अन्वयः—प्रिये, पश्य—सम्प्रीतेः सपीतेः ताराणां परिषदः परीतः उत्प्रेक्षाकविभिः सुधाम् अभ्युद्धर्तुं धृतशशकनीलाश्मचषकः अभिधानाय सुशकः रजनीशः दिनमणिमणिग्रावमणिकः अजनि ।

हिन्दी—प्रिये (दमयन्ति), देखो—सौहार्द के कारण सहपान करते ताराओं के संघ-द्वारा चारों ओर से घिरा, उत्प्रेक्षा-समर्थ कवियों द्वारा अमृत ढालने के लिए शश-चिह्न रूप नीलमणि का प्याला-धारण करने वाला सरलता पूर्वक कहे जाने योग्य निशानाथ (चन्द्र) सूर्यकांतमणि की शिला द्वारा बना मणि-कलश हो गया है ।

टिप्पणी—चारों ओर से तारासमूह द्वारा घिरा निर्मल पूर्ण चन्द्र जिसके मध्य नील शशक-चिह्न दमक रहा है । कल्पना है (कवि ऐसी संभावना सहज में ही कर सकते हैं) कि शुभ्र, दीप्त चन्द्र अमृत पायी तारक-मित्रों से घिरा सूर्यकांतमणि का बना मणिकलश है और उसके बीच का काला मृग-चिह्न

चषक है, नीलमणि का बना, जिसमें ढाल-ढाल कर तारक-मित्र प्रीतिपूर्वक अमृत पान करेंगे या कर रहे हैं। मित्र हैं तो प्रीतिपान गोष्ठी जमायेंगे ही। कवि कि यह सहज उत्प्रेक्षा है ॥ १४४ ॥

आस्यं शीतमयूखमण्डलगुणानाकृष्य ते निर्मितं
शङ्के सुन्दरि ! शर्वरीपरिवृढस्तेनैव दोषाकरः ।
आदायेन्दुमृगादपीह निहिते पश्यामि सारं दृशौ
त्वद्वक्त्रे सति वा विधौ धृतिमयं दध्यादनन्धः कुतः ? ॥ १४५ ॥

जीवातु—आस्यमिति । हे सुन्दरि ! विधिना शीतमयूखस्य मण्डलं बिम्बं तस्य वृत्तत्वाह्लादकत्वादिगुणानाकृष्य गृहीत्वा ते आस्यं यतो निर्मितं तेन गुणगणोत्कर्षेण हेतुना शर्वर्याः परिवृढः प्रभुश्चन्द्रो दोषाणामाकरः उत्पत्तिस्थानं, न तु दोषा रात्रिस्तत्कारित्वाद्दोषाकर इत्यर्थः इत्यहं शङ्के । तथा—इन्दोर्मृगात्सकाशात्सारं दृशावादाय अतिश्रेष्ठे नेत्रे गृहीत्वा इह भवन्मुखे निहिते इत्यहं जाने । कुतः ज्ञातमित्यत आह—सुन्दरतरे त्वद्वक्त्रे आगरूके सति अनन्धः चक्षुष्मान्मृगस्तारतम्यविचारचतुरोऽयं मृगो विधौ चन्द्रे धृतिं स्थितिम्, अथ च—समीचीनाधारपरितोषं, कुतो वा दध्याद्धारयेत्, अपि तु न कथंचित् तस्मान्नेत्रोद्धरणादन्धत्वेनैव त्वन्मुखरामणीयकदर्शनादन्यत्र गन्तुमशक्तेश्च त्वन्मुखं पश्यत्स्वात्रैवाय स्थित इत्यर्थः । त्वन्मुखं चन्द्रादधिकम्, नेत्रे च मृगनेत्राभ्यामधिके इति भावः । 'सारं' इति क्वचित्पाठः ॥ १४५ ॥

अन्वयः—सुन्दरि, शङ्के—शीतमयूखमण्डलगुणान् आकृष्य ते आस्यं निर्मितं, तेन एव शर्वरीपरिवृढः दोषाकरः, पश्यामि—इन्दुमृगात् अपि सारं दृशौ आदाय इह निहिते वा त्वद्वक्त्रे सति अनन्धः अयं विधौ धृतिं कुतः दध्यात् ।

हिन्दी—हे सुन्दरि (दमयन्ति), मैं समझता हूँ कि शीतकिरण (चन्द्र) के मण्डल (बिंब) के गुण (उत्कृष्ट पदार्थ) निकाल कर (विधि) ने तेरा (दमयन्ती का) मुख बनाया, उससे यह निशा का स्वामी (चन्द्र) 'दोषाकर' (दोषों का आकर) कहाता है । देखता हूँ कि चन्द्र के मृग से भी सार सार (उत्कृष्टतम पदार्थ) उसके दोनों नेत्र लेकर यहाँ (दमयन्ती मुख में) लगा दिये, अन्यथा तेरा (दमयन्ती का सुन्दरतम) मुख रहने पर अन्धा न हुआ यह (मृग) चन्द्र में स्थान क्यों लेता ?

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयन्ती का मुख चन्द्र से श्रेष्ठ है और नेत्र

मृग-नेत्र से। चन्द्र 'दोषा' अर्थात् रजनी का 'कर' अर्थात् कर्त्ता होने से 'दोषा-कर' नहीं कहाता, प्रत्युत उसमें से सब गुण दमयन्ती-मुख-रचनार्थ खींच निकाल लिये गये, केवल दोष अवशिष्ट रह गये, इस लिए दोषाकर (दोषों का आगार) कहाता है। मृग के भी नेत्र लेकर दमयन्ती-मुख में लगा दिये गये। वह बेचारा अंधा हो गया। इसका प्रमाण यह है कि वह चन्द्र में जा बैठा। यदि अंधा न होता तो दमयन्ती का मुख रहते हुए उससे कहीं हीन (घटिया) चन्द्र को वास-स्थान निश्चयतः नहीं बनाता। नेत्रहीन होने से ही उससे यह भूल हुई ॥ १४५ ॥

शुचिरुचिमुडुगणमगणनममुमतिकलयसि कृशतनु ! न गगनतटमनु ।
प्रतिनिशशशितलविगलदमृतभृतरविरथहयचयखुरविलकुलमिव ॥ १४६ ॥

जीवातु—शुचीति। हे कृशतनु ! त्वं गगनतटं नभःस्थलमनु लक्षीकृत्य शुचिरुचिं श्वेतकान्तिं, तथा—बहुत्वादगणनं संख्यातुमशक्यममुमङ्गुल्या निर्देश्यं प्रत्यक्षगम्यमुडुगणं प्रतिनिशं रात्रौ रात्रौ शशितलाच्चन्द्राधोभागाद्विगलता स्रवताऽमृतेन भृतं पूर्णं रविरथस्य हयचयस्य खुराणां यानि बिलानि न्यासस्थानविवराणि तेषां कुलं वृन्दमिव नातिशयेन कलयसि, अपि तु तदिवातितरां जानीहीत्यर्थः। प्रतिनिशं चन्द्राद्गलता धवलेनामृतेन पूर्णाः सूर्याश्वखुरगर्ता इव तारकाः शोभन्त इति भावः। गगनतटम्, कर्मप्रवचनीययोगाद् द्वितीया। प्रतिनिशम्, वीप्सायामव्ययीभावः। सर्वलघुः ॥ १४६ ॥

अन्वयः—कृशतनु, गगनतटम् अनु शुचिरुचिम् अगणनम् अमुम् उडुगणं प्रतिनिशशशितलविगलदमृतभृतरविरथहयचयखुरविलकुलम् इव न अतिकलयसि ?

हिन्दी—हे तन्वंगि (दमयन्ती) आकाश के तीर पर शुभ्र दीप्ति वाले, अनगिनत (असंख्य) इस तारक-संघ को प्रत्येक रात्रि में चन्द्र के तलप्रदेश से टपकते अमृत से भर गये, सूर्य के रथ वाहक अश्वों के खुरों से बन गये बिलों (छोटे गड्ढों) के तुल्य क्या नहीं समझती हो ? (समझती ही हो)।

टिप्पणी—भाव यह है कि तारे ऐसे लग रहे हैं, जैसे सूर्य के रथाश्वों से बन गये छोटे-छोटे गड्ढे हों, जिनमें रात में चन्द्र से टपक-टपक गिरा अमृत भर गया है। आकाश में सूर्याश्व चले, उस पर उनके चलने से छोटे-छोटे गड्ढे बन गये। प्रत्येक रात को चन्द्र-तल से अमृत टपक-टपक उनमें भरता रहा और वे

बिल भर गये। वेही रात में स्वच्छ-शुभ्र चमक रहे हैं। यह इतना सहज ज्ञान है कि इससे दमयन्ती को संयत हो जाना चाहिए। यहाँ सर्वलघु छंद है, जिसमें सभी अक्षर लघु हैं॥ १४६॥

उपनतमुडुपुष्पजातमास्ते भवतु जनः परिवारकस्तवायम्।
तिलतिलकितपर्पटाभमिन्दुं वितर निवेद्यमुपास्स्व पञ्चबाणम्॥१४७॥

जीवातु—उपनतमिति। हे प्रिये! 'रक्तो भौमः, शनिः कृष्णः, गुरुः पीतः, सितः कविः' इत्यादिज्योतिःशास्त्रादिप्रामाण्यात्नानावर्णकुसुमान्युडूनि नक्षत्राण्येव पुष्पजातमुपनतमुपसम्पन्नमास्ते अयं मल्लक्षणो जनः प्रारब्धकामदेवपूजायास्तव परिवारकश्चन्दनाद्युपचारोपनायकः, अथ च—सम्भोगकारी भवतु। इव तिलैः सञ्जाततिलकः, तिलैरेव तिलकवानङ्कितो वा यः पर्पटः शालितण्डुलपिष्टरचितक्षिपिटहिततलसंकुलीसञ्ज उपदंशविशेषस्तद्वदाभा यस्य तत्तुल्य सकलङ्कमण्डलत्वाद्विशिष्टपर्पटसदृशामिन्दुमेव निवेद्यं कामाय वितर, एवं पञ्चबाणं कामदेवमुपास्स्व पूजय। अन्योऽपि देवपूजकः पुष्पादिसामग्र्या देवं पूजयति, कश्चित्परिचारकोऽपि तस्य भवति, एवमत्रापि। सर्वाणि नक्षत्राण्युदितानि, कामोद्दीपकश्चन्द्रोऽप्युदितः, सुरतान्तरायकारी निषिद्धः संध्यासमयोऽतिक्रान्तः, तस्मात्काममुपास्स्व, सुरतेच्छुरस्मीति भावः। 'पञ्चबाणम्' इत्यनेन कामस्यातिपीडाकारित्वं सूच्यते। 'जातिर्जातं च सामान्यम्' इत्यभिधानात् 'जात'-शब्दः सामान्यवाची पुष्पमात्रे पर्यवस्यति। तिलकितेति तारकादिः मतुबन्तात् 'तत्करोति–' (ग० सू० २०४) इति ण्यन्तात्सिद्धा॥ १४७॥

अन्वय.—उडुपुष्पजातम् उपनतम् आस्ते, अयं जनः तव परिवारकः भवतु तिलतिलकितपर्पटाभम् इन्दुं निवेद्यं वितर, पञ्चबाणम् उपास्स्व।

हिन्दी—तारक-रूप फूल उपसंपन्न हैं (एकत्र हैं), यह जन (नल) तुम्हारा (दमयन्ती का) तुम्हारा सहायक सेवक बन जाय, काले तिलों के तिलकों से युक्त गोरे चावल के पापड़ की आभा धारते चन्द्र का नैवेद्य समर्पित कर पचबाण (कामदेव) की उपासना करो।

टिप्पणी—आशय यह है कि विविध वर्ण तारक उदय को प्राप्त हुए, कामोद्दीपक चन्द्र भी उदित है। सुरत-बाधक संध्याकाल व्यतीत हुआ। अब उचित समय है। कामपूजा आरंभ हो। तारे रंग-बिरंगे फूल हैं, काले तिल

(मृगचिह्न) से युक्त चावल के गोल पर्पट सा चन्द्र नैवेद्य है। नल को पूजा-सहायक बना कर दमयन्ती को पञ्चबाण-पूजा का आरंभ अब करना चाहिए। तात्पर्य यह कि अब विलंब नहीं, सुरतारंभ हो। पुष्पिताग्रा वृत्त ॥ १४७ ॥

इदानीं काव्यसमाप्तिं चिकीर्षुः श्रीहर्षो नायकमुखेनाशिषमाशास्ते—

स्वर्भानुप्रतिवारपारणमिलद्दन्तौघयन्त्रोद्भव-
 श्वभ्रालीपतयालुदीधितिसुधासारस्तुषारद्युतिः ।
पुष्पेष्वासनतत्प्रियापरिणयानन्दाभिषेकोत्सवे
 देवः प्राप्तसहस्रधारकलशश्रीरस्तु नस्तुष्टये ॥ १४८ ॥

जीवातु—स्वर्भानुरिति । हे प्रिये ! देवः प्रकाशमानस्तुषारद्युतिर्हिमकरः, अथ च—हिमकरे एव देवः, वर्णनां पूजां च कुर्वतां नोऽस्मदादीनाम् आवयोर्वा तुष्टये परमानन्दायास्तु । किंभूतः ? स्वर्भानो राहोः प्रतिवारं पौनःपुन्येन यत्पारणं चन्द्रस्यैव मिलनं तेन तत्र वा मिलन् संलग्नो यो दन्तौघस्तद्रूपं यन्त्रं छिद्रकरणसाधनं तस्मादुद्भवो यस्याः सा श्वभ्रालीदन्तदर्शनकृतविवरपरम्परा तया तस्याः सकाशाद्वा पतयालुः पतनशीला दीधितिसुधा किरणामृतं तद्रूपः, दीधितिसुधाया वा सारः श्रेष्ठभागो यस्य, दीधितिसुधाया आसारो धारासम्पातो दीधितिसुधारूपो वा आसारो यस्य सः । अत एव—पुष्पमेवेष्वासनं धनुर्यस्य तस्य कामस्य तत्प्रियाया रत्याश्चानयोर्यः परिणयो विवाहो लक्षणया परस्परसंमेलनं तद्रूपो य आनन्दः संतोषस्तत्संबन्धिनि 'समुद्रज्येष्ठा—' इत्यादिश्रीतेऽभिषेकाख्ये उत्सवे महाभिषेकार्थं सहस्रसंख्या धारा लोहशलाकानिर्मितजलप्रवाहमार्गा यस्य स तादृशो यः कलशस्तस्य श्रीः, प्राप्ता सहस्रछिद्रगलज्जलधारकलशस्येव श्रीः शोभा येन सः । महोत्सवे हि सहस्रधारेण सुवर्णकलशेन महाभिषेकः क्रियते । तथा च राहुदन्तकृतच्छिद्रपरम्परागलदमृतधारश्चन्द्रो गलज्जलधारसहस्रच्छिद्रसुवर्णकलश इव शोभमानः पूर्वोक्तवर्णनयोक्तविधश्चत्कृतपूजया च सुरतप्रवृत्तयोरावयोरुद्दीपकतया परमानन्दं कुर्यादिति भावः । एतेन तत्समयोचितरतिकामविवाहोत्सवाभिधानेन 'चन्द्रोऽस्तु नस्तुष्टये' इत्यनेन च विलासिना नलेन स्वनिर्वर्त्यतृतीयपुरुषार्थपयोधिपीयूषरसास्वादनलोलसाभिव्यज्यते । 'सुधाधार—' इत्यपि पाठे—दीधितिसुधाया धारा यस्य सुधाया आधार इति वा । 'आनन्द'पदेन 'तुष्टयेऽस्तु' इत्याशिषा च ग्रन्थसमाप्ति

द्योतयति। महाभारतादौ वर्णितस्याप्युत्तरनलचरित्रस्य नीरसत्वाद्प्रायकानुदय-वर्णनेन रसभङ्गसद्भावाच्च काव्यस्य च सहृदयाह्लादनफलत्वाच्चात्रोत्तरचरित्रं श्रीहर्षेण न वर्णितमित्यादि ज्ञातव्यम्। न इति पक्षे 'अस्मदो द्वयोश्च' इति द्वित्वेऽपि बहुवचनम्॥ १४८॥

अन्वयः—स्वर्भानुप्रतिवारपारणमिलद्दन्तौघयन्त्रोद्भवदवभ्रालीपतयालु-दीधितिसुधासारः पुष्पेष्वासनतत्प्रियापरिणयानन्दाभिषेकोत्सवे प्राप्तसहस्रधार-कलशश्रीः देवः तुषारद्युतिः नः तुष्टये अस्तु।

हिन्दी—राहु के द्वारा बारबार पारण करने (खाने) के कारण परस्पर संघट्ट करते (मिलते) दन्त-समूह रूप यन्त्र (छेद करने के साधन) से सजात छिद्रों से झरती किरण रूप सुधा (अमृत) के धारा संपात से युक्त, पुष्पधन्वा (काम) और उसकी प्रिया (रति) के विवाह (मिलन) अव-सर से सम्बद्ध आनन्दमय महाभिषेक-समारोह में सहस्रों (अनेक) धाराएँ छोड़ते कलश की शोभा को प्राप्त देव तुषारकान्ति (हिमकर चन्द्रमा) हमारी परम तुष्टि के निमित्त हो।

टिप्पणी—'नैषधीय चरित' महाकाव्य की समाप्ति पर महाकवि श्रीहर्ष नायक (नल) के मुख से आशीर्वचन प्रस्तुत करते हैं कि हिमरश्मि देव चन्द्र हमें परमानन्द-प्रदान करें और संतुष्टि दें। नल-दमयन्ती नव विवाहित हैं, नव मिलन के उत्साह से ओत-प्रोत। उनका यह नव मिलन समारोह आनद का महाभिषेक है, मानो काम-रति का परिणय-समारोह मनाया जा रहा है। चन्द्र काम के सखा हैं, -कामोद्दीपक, सुरति-सुख को आनन्दमय बनाने वाले। अतः नायक नल उनसे अपनी, रति-काम रूप दमयन्ती-नल की और 'नः' अर्थात् हमारी शब्द द्वारा कवि, पाठक, -श्रोता—सब की संतुष्टि और आनन्द की कामना करता है। चन्द्र को यहाँ सहस्रधारा-संपाती कलश बताया गया है, जिससे यह आनन्दाभिषेकोत्सव होगा। मिलन-सुख में जग को भूले प्रिय-प्रिया पर अमृत-सम चन्द्ररश्मियाँ, चाँदनी की वर्षा होती रहेगी, वे सुख में अभिषिक्त होते रहेंगे। चन्द्र कलश के सहस्रधार होने का आधार है उसका राहु द्वारा बारंबार चबाया जाना। चबाने की क्रिया करने वाले राहु के दाँत चन्द्र-कलश में सहस्रधारा बरसाते छिद्र करने का यन्त्र हैं।

बारंबार दाँतों के बीच पिसने से चन्द्र-कलश में अनेक छेद हो गये। उनसे ही किरण-रूप अमृत की धाराएँ बहाता कलश-सा चन्द्र के आनन्द-विहार दमयन्ती पर मंगलानन्द की वर्षा करे—यही कामना है। इस आशीर्वचन, इस कामना द्वारा नल की तृतीय पुरुषार्थ-वारिधि (काम) के संतरण और उसके अमृत-रसास्वादन की लालसा व्यक्त होती है। अष्टादश सर्ग के प्रथमश्लोक में कवि ने दमयन्ती की तृतीय पुरुषार्थ-वारिधि के पार ले जाने वाली तरी (नौका) के रूप में कल्पना की थी—'तां तृतीय-पुरुषार्थवारिधेः पारलम्भन-तरीमरीरमत्।' इस संतरण के आनन्दोत्सव में महाभिषेक देवता चन्द्रमा करते रहें—यही नायक का, कवि का निवदेन या आशीर्वचन है। महाकाव्य की समाप्ति पर यह नाटकीय 'भरतवाक्य' है जो समाप्ति का प्रशस्ति-विधान है। नाट्याचार्यों ने नाट्य-समाप्ति पर इसको आवश्यकता प्रतिपादित का है। (ना० शा० १९/१०३, दशरूपक १।५४, साहित्यदर्पण ६।१३६)। इस समाप्ति–मंगल विधान को 'भरतवाक्य' नाम नाट्याचार्य भरत के संस्मरण को अमर रखने के लिए दे दिया गया। 'नाट्यशास्त्र' (३७।३१) में भरतवाक्य का यह रूप प्रस्तुत किया गया है–'किन्त्वान्यत् सम्प्रपूर्णा भवतु वसुमती नष्टदुर्भिक्षरोगा। शान्तिर्गोब्राह्मणानां भवतु नरपतिः पातु पृथ्वीं समग्राम्।' आस्तिक महाकवि भी अपनी रचना की समाप्ति पर 'भरतवाक्य'–विधान करते हैं। 'महाभारत' आदि में नल-दमयन्ती का उत्तरार्द्ध भी है, जिसमें द्यूतक्रीडा में हार कर नायक-नायिका के कष्ट, वियोग की कथा का विस्तार है। नारायण के अनुसार श्रीहर्ष के निसर्गोज्ज्वल, शृंगार-प्रधान महाकाव्य में यह 'वृत्त' न तो सहृदयों को आनंदोल्लास ही देता और न रसमय ही होता, अतः रसभंग की आशंका से नल-दमयन्ती के 'परिणयानंदाभिषेकोत्सव' पर ही श्रीहर्ष ने काव्य-समाप्ति कर दी ॥ १४८ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
द्वाविंशो नवसाहसाङ्कचरिते चम्पूकृतोऽयं महा-
काव्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १४९ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति। द्वाविंशतेः पूरणः सर्गो गतः समाप्तिं प्राप।

किंभूतस्य श्रीहर्षस्य ? नवो यः साहसाङ्को नाम राजा तस्य चरिते विषये चम्पूं गद्यपद्यमयीं कथां करोतीति कृत् तस्य निर्मितवतः सोऽपि ग्रन्थो येन कृत इति सूच्यते 'नृपसाहसाङ्क-' इति पाठे-नृपश्चासौ साहसाङ्कश्च तस्य गौडेन्द्रस्य चरिते विषये चम्पूकृत. भोजराजस्य विक्रमार्कस्य वेति केचित् । द्वाविंश इति पूरणे डटि 'ति विंशतेर्डिति' इति तिलोपः ॥ १४९ ॥

अन्वयः—पूर्वार्द्धस्य पूर्ववत् । नवसाहसाङ्कचरिते चम्पूकृतः तस्य कृतौ महाकाव्ये नलीयचरिते अयं निसर्गोज्ज्वलः द्वाविंश. सर्गः ।

हिन्दी—पूर्वार्द्ध का अर्थ पूर्ववत् । 'नवसाहसाङ्कचरित' चम्पू (गद्य-पद्यमय रचना) के कर्त्ता उस (श्रीहर्ष) की रचना नलचरित (नैषधीय चरित) में प्रकृत्या उज्ज्वल बाईसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

टिप्पणी—इस बाईसवें सर्ग की समाप्ति के सूचक श्लोक से यह संकेत भी मिलता है कि श्रीहर्ष ने 'नवसाहसाङ्कचरित' नाम का गद्य-पद्यमय काव्य 'चम्पू' भी रचा था, जिसमें गौड़राज अथवा भोजराज अथवा विक्रमादित्य का चरित था ॥ १४९ ॥

अथ कविप्रशस्तिः

यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयाऽपि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते ? ।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ॥ १ ॥

जीवातु—यथेति । यथा परमरमणीयापि रमणी यूनस्तरुणस्य कामिनो-न्तःकरणहरणं कुरुते, तद्वत्तया कुमाराणां बालिशानां क्षीरलाभमात्रेण परम-पुरुषार्थप्राप्तिमभिमन्यमानानामननुभूतकामसुखानां चित्तं स्ववशं नैव कुरुते ? अपि तु—न कापि । तथैव काव्यरचनारूपा परमरमणीया मदुक्तिरपि श्रवणमनना-दिवशात्सुधीभूयामृतत्वं प्राप्य सुधियः सकलदर्शनरहस्यवेदिनोऽतिरसस्य पण्डितस्य चेतश्चेद्यदि मदयति आनन्दयति, तर्ह्यस्या. सुधियाऽत्यादृताया मदुक्ते-ररसानां निरसानां सर्वथैवास्पृष्टरसशब्दार्थानामपि पलदुपलप्रायाणामतृणादा-पुच्छपशूनामनादरभरैस्तत्कृतावज्ञासमूहैः किं नाम स्यात्, अपि तु न किंचिदप्य-स्यास्तैरपकर्तुं शक्यते । सुधीभिरादृते सति नीरसैरकृते कृते वाप्यादरे न किंचिदि-

त्यर्थः । सुधीभिरादृतत्वात्सकलगुणपूर्णादिसरसेयं मदुक्तिरिति भावः । मदुक्तेः सुधारूपत्वाभावात्क्षोदानन्तरं च सरसत्वप्रतीतेः सुधात्वात्सुधीभूयेति चिवः । सुधिय इति जात्यभिप्रायेण । एकेनापि सुधियादरे कृते महद्गौरवम्, बहुभिरप्यज्ञैरनादरेषु कृतेष्वपि न किञ्चिल्लाघवमित्यभिप्रायेण वा । 'यूनः' इति प्रतियोगिन एकवचनान्तत्वात्त्वैकवचनम् । कवेः स्वग्रन्थपुष्टिषयेयमुक्तिः ॥ १ ॥

अन्वयः—यथा परमरमणीया अपि रमणी यूनः अन्तःकरणहरणं कुरुते, कुमाराणां न एव; सुधीभूय मदुक्तिः सुधियः अन्तः चेत् मदयति, अरसपुरुषानादरभरैः अस्याः किं नाम स्यात् ?

हिन्दी—जैसे अत्यंत कमनीय भी सुन्दरी तरुणों के चित्त का हरण करती है, वैसे बच्चों का तो नहीं करती । अमृतमयी होकर मेरी कृति (नैषधीय चरित) सुधी जनों (सहृदय, सरस विद्वानों) के मानस को यदि आनंदोच्छल कर देती है तो अरसिक (मूर्ख) पुरुषों की शत-शत अवज्ञाओं से इसकी क्या हानि होगी ? (कुछ नहीं) ।

टिप्पणी—कवि श्री हर्ष ने नैषधीय चरित की रचना सरस सुधी जनों के के लिए की है, अरसिक काव्यानंद को न समझने वाले मूर्खों के लिए नहीं । यदि रसिक सुधी पुरुषों को रचना से आनंद प्राप्त हुआ तो अरसिक अनादर करते रहें—अनेक बार करते रहें, इससे कोई हानि नहीं होगी । परमसुन्दरी भी रमणी तरुण-रसिक के ही आनंद-उल्लास का कारण बनती है, अनभिज्ञ बच्चों का उसके प्रति तरुणों जैसा आकर्षण नहीं होता । 'नैषधीय चरित' रसिकों के लिए है, 'काष्ठकुड्याश्मसन्निभ' अरसिकों के लिए नहीं ॥ १ ॥

कविरर्थान्तरोक्त्या स्वीयामुक्तिं वर्णयति—

दिशि दिशि गिरिग्रावाणः स्वां वमन्तु सरस्वतीं
तुलयतु मिथस्तामापातस्फुरद्ध्वनिडम्बराम् ।
स परमपरः क्षीरोदन्वान् यदीयमुदीयते
मथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदनमोदनम् ॥ २ ॥

जीवातु—दिशीति । गिरिग्रावाणोऽद्रिपाषाणा दिशि दिशि स्वां निजां सरस्वतीं नदीमन्तर्गतजलप्रस्रवणं वमन्तु मुञ्चन्तु । आपातः सामस्त्येन पतनं स्फुरन्प्रकाशमानो ध्वनिडम्बरः शब्दाडम्बरो यस्यां तां च नदीं मिथस्तुलयतु मिथोऽ-

न्यनद्या समीकरोतु । अविसर्गान्तपाठे—आपातेन समन्तादूर्ध्वदेशादधःपतनेन प्रकाशमानः शब्दाडम्बरो यस्या तामन्यनद्या सर्वं समीकरोतु, जन इत्यर्थः । अथ वा—आपाते प्रथमारम्भ एव स्फुरत्प्रपातघोषा तां जनो मिथस्तुलयतु । उभय-व्याख्यानेऽपि परिणामे तु न नदी न च तस्या शब्दाडम्बरश्चिरतन इत्यर्थः । स क्षीरोदन्वान् परं केवलं, अपरः न विद्यते परं उत्कृष्टो यस्मादत्युत्कृष्टः । अथ च—अन्य एव । यतो यस्य क्षीरोदस्येदं यदीयममृतमेतादृशमुदीर्यते उत्पद्यते । कीदृशम् ? मथितुर्देवादेः खेदच्छेदि मथनजनितक्लेशापहम् । तथा—प्रमोदनं नितरामानन्ददायि । तथा—ओदनं भक्तमास्वाद्यं सिद्धान्नरूपम् । अथ च—एवंभूतं परममुत्कृष्टममृतं यदीयमुदीर्यते स क्षीरोदन्वानपरः परोऽन्यो नास्ति, किंत्वेक एव । अथ च—प्रतिदिशं सर्वदेशेषु गिरि वाण्या विषये पाषाणतुल्या जडा अन्ये कवयः स्वीया वाणीमुद्गिरन्तु । आपातेन प्रतिभामात्रेण स्फुरन् ध्वन्याख्यकाव्यविशेषस्याडम्बरो यस्या, प्रथमारम्भ एव स्फुरन् शब्दाडम्बरोऽनुप्रासो यत्र तां वा, वाणीमन्योन्य जनः समीकरोतु यस्य कवेरुक्तिरस्येव, अस्य च तस्येव इत्येवं तुलयतु । 'आपातः' इति विसर्जनीयान्तपाठे—आपातः प्रतिभासस्तावत् तुलयत्वित्यर्थः । एवंविधं परं काव्यामृतं यदीयमुत्पद्यते स क्षीरसमुद्रतुल्यः श्रीहर्षकविरपरो(ऽन्यो) नास्ति, किं त्वेक एव । अन्ये कवयः पर्वतग्रावतुल्याः, अहं श्रीहर्षस्तु क्षारसमुद्रतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षीरसागरो नीरनिधिरपि तीरमात्रस्वाक्षीरेण तर्पयति । लक्ष्मीकौस्तुभामृतादिभिः परमानन्ददायिभिः कृतार्थयति, (तथा) मदीयकाव्यविचारश्रमस्यैव खेदच्छेदि प्रमोदनं वचनामृतमुत्पद्यते, नान्यकाव्यविचारकस्येति, अन्ये ग्रावतुल्याः, क्षीरोदतुल्यश्चाहमिति भावः ॥ २ ॥

अन्वयः—गिरिग्रावाणः दिशि दिशि स्वां सरस्वतीं वमन्तु, आपातस्फुरद्ध्वनिडम्बरां तां मिथः तुलयतु, परं सः क्षीरोदन्वान् अपरः यदीयम् अमृतं मथितुः खेदच्छेदि प्रमोदनम् ओदनम् ।

हिन्दी—पर्वतों के पाषाण दिशा-दिशा में अपनी पयस्विनी (नदी) का उद्वमन करें (उत्पत्ति करें), एक साथ गिरना और शब्द-घोष के आडंबर से युक्त अथवा ऊपर (पहाड़) से (धरती पर) गिरने पर उत्पन्न शब्दाडंबर से युक्त, अथवा उद्गमस्थल पर प्रपात के शब्दाडंबर से युक्त उस (नदी) की अन्य नदी से तुलना होती रहे, परंतु वह क्षीरसागर और ही

है, जिसका अमृतमन्थन करने वाले की खिन्नता को दूर करने वाला, परमानंददायी और आस्वाद्य ओदन-तुल्य होता है।

टिप्पणी—पर्वत चाहे जितना कोलाहल करने वाली, पत्थरों पर गिरकर धारा-संपात का महारव उत्पन्न करने वाली नदियों को प्रवाहित करें किंतु उनका जल क्षीरसागर के अमृत की समता नहीं कर सकता, जो कि सागर-मंथनकर्त्ताओं को श्रम का हरण कर परमानंद प्रदाता और अत्यंत आस्वाद्य और रुचिर होता है; और अतएव उन नदियों की परस्पर तुलना तो की जा सकती है कि गंगा उत्कृष्ट है कि यमुना, नर्मदा श्रेष्ठ है या कावेरी, किंतु इन नदियों की क्षीरसागर से तुलना नहीं की जा सकती; अमृत-जन्मा वह तो परम श्रेष्ठ अनन्य ही है,—इस उक्ति द्वारा श्रीहर्ष यह कहना चाहता है कि वाणी के प्रसंग में पाषाण-सदृश जड़ अन्य कवि अपनी-अपनी दिशा में अपनी-अपनी वाणी का उद्गिरण करते हैं, अपनी-अपनी रचनाएँ करते हैं और उन रचनाओं की परस्पर तुलना भी की जाती रहे कि इन रचनाओं में कौन श्रेष्ठ है, परंतु, क्षीर-सागर-सदृश अमृतोत्पादक श्रीहर्ष से उनकी और श्रीहर्ष की कविता से उनकी रचना की तुलना नहीं की जा सकती। श्रीहर्ष तो अनन्य परमोत्कृष्ट ही है। जिस प्रकार क्षीरसमुद्र का अमृत मंथनकर्त्ताओं के खेद को मिटाने वाला और परम आनंद का प्रदाता होता है, उसी प्रकार श्रीहर्ष की रचना भी गंभीरता से अध्ययन करने वालों का श्रमजन्य खेद तो मिटाती ही है, सिद्ध ओदन की भाँति रुचिर और सरस तथा परमानंद-प्रदान भी करती है। शब्दाडंबर और अनुपयुक्त अलंकारादि की योजना से बोझिल केवल शब्द-चमत्कार दिखाने वाली कविता से श्रीहर्ष की कविता की कोई समता नहीं, और न ऐसे रचनाकारों से श्रीहर्ष-जैसे रससिद्ध रचनाकार की। आशय यह कि श्रीहर्ष क्षीरसागर-सम है, उसकी रचना अमृत-सदृश रुचिर सरस और आनंददायिनी है। अन्य कवि पाषाण-सम हैं, जिनकी आडंबर पूर्ण रचनाएँ क्षणिक कुतूहल और कौतुकमात्र उत्पन्न करती हैं। सच्चा काव्यानंद काव्य-रसिक उनसे नहीं प्राप्त कर सकते ॥ २ ॥

इदानीं प्रसादरूपमुख्यगुणाभावादतिदुर्बोधत्वादकाव्यमिति ये वदन्ति, तच्छङ्कामपनुदनवलदर्पदलनार्थं गुरुसंप्रदायेन विना दुर्बोधमित्यतिगाम्भीर्यप्रतिपादनार्थं च बुद्धिपूर्वमेव मयेदं काव्यं तत्र तत्र दुर्बोधं व्यरचीत्याह—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु ।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः ॥ ३ ॥

जीवातु—ग्रन्थेति । आत्मानं प्राज्ञंमन्यत इति प्राज्ञंमन्यं मनो यस्य स तथोक्तः अस्मिन्काव्ये हठेन स्वीयप्रज्ञाबलेन पठितमनेनास्तीति पठिती इदंकाव्यस्य पाठकः खलो मा खेलतु 'किमत्रास्ति अस्मदुक्तमेव व्याकर्तुं शक्यते' इत्यवज्ञापूर्वां दर्पाभिव्यक्तिं मा कार्षीदित्येवमर्थमिह काव्ये क्वचित्क्वचिदपि तत्र तत्र स्थले मया प्रयत्नाद् बुद्धिपूर्वं ग्रन्थग्रन्थिर्ग्रन्थसमानशब्दार्थकुटिलिका न्यासि विन्यस्ता खलमुखभङ्गार्थं बुद्धिपूर्वमेवेदं काव्यं मया दुर्बोधं व्यरचि, न तु प्रसन्नकाव्यकरणाशक्तेरित्यर्थः । 'क्वचित्क्वचिदपि' इत्यनेन तत्र तत्र प्रसन्नतास्त्यस्तीति न काव्यस्वहानिरिति सूच्यते । सज्जनस्य तु ग्रन्थविवेचनोपायमाह—श्रद्धेति । श्रद्धया गुरौ दैवतैकबुद्ध्या आराद्धेन पूजितेन गुरुणा पूर्वमश्लथा अपि श्लथाः कृता व्याख्यया सुबोधाः कृता दृढाः स्वरूपतो दुर्बोधा ग्रन्थयो यस्मै स गुरुसंप्रदायागतार्थः, अत एव दर्परहितत्वात्सज्जनः साधुरेतत्काव्यस्य रसोर्मिरमृतलहरी तस्यां मज्जनमवस्थानं समासादयतु प्राप्नोतु । गुरुपरम्परया विनैकस्यापि पद्यस्यार्थो बोद्धुं न शक्यते, तस्माद् गुरुपरम्परायां एवाध्येयमिदं काव्यमित्यर्थः । 'यश्चेद गुरुपरम्परायां अधीते स सतत सुखी भवतु' इति महाकविस्तस्मा आशिषं ददाति । अस्मिन्पठिती, 'क्तस्येन्विषयस्य–' इति कर्मणि सप्तमी । आराद्धेति राधेरनुदात्तत्वादिडभावः ॥ ३ ॥

अन्वयः—प्राज्ञम्मन्यमनाः हठेन पठिती खलः अस्मिन् मा खेलतु—इह मया प्रयत्नात् क्वचित् क्वचित् ग्रन्थग्रन्थिः अपि न्यासि, श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः सज्जनः एतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं समासादयतु ।

हिन्दी—अपने को सुविज्ञ माननेवाला, अपनी बुद्धि के बल से ही हठपूर्वक पढने वाला अज्ञ खल (दुर्जन) इस (महाकाव्य नैषधीयचरित) मे खिलवाड न करे, इस लिए मैंने (श्रीहर्ष ने) प्रयत्नपूर्वक इस (महाकाव्य) मे कहीं कहीं गठीली गाँठे (दुरूहताएं) विन्यस्त कर दी हैं। श्रद्धा पूर्वक आराधित गुरु द्वारा जिसके निमित्त दृढ गाँठे ढीली कर दी गयी हैं (दुरूहता को

स्पष्ट कर दिया गया है) ऐसा सज्जन (सश्रद्ध रसिक अध्येता) इस काव्य के रसतरंगों में बूड़ कर स्नान-सुख की आसक्ति प्राप्त करे।

टिप्पणी—राजर्षि भर्तृहरि ने कहा है कि अल्पज्ञान जन मतवाले हाथी के समान मदांध हो जाते हैं और अपनी बुद्धि के संमुख किसी को गिनते ही नहीं। ऐसे अज्ञ खल किसी ग्रंथ को लेकर बैठ जाते हैं और अपने अल्पज्ञानवश अर्थ का अनर्थ समझते रचना की गंभीरता को नहीं समझते और उसका सम्यग्-बोध न हो सकने के कारण रचना को हलकी-फुलकी मान बैठते हैं। ऐसे व्यक्ति सदा होते हैं। श्रीहर्ष ने यहाँ स्पष्ट कह दिया है कि निसर्गोज्ज्वल काव्य को दुरूह बनाना उसका उद्देश्य नहीं है। न वह शब्दाडंबर का कवि है और न शब्दों की क्रीडा में ही उसकी रुचि है। फिर भी हठी, अज्ञ दुर्जन इस रचना को हलकी-फुलकी मान कर इसके साथ खिलवाड़ न करें, इस दृष्टि से जान-बूझ कर (अज्ञानवश नहीं) इस कृति में कहीं-कहीं दुरूहता उत्पन्न कर दी गयी है, दुरूह विषय रख दिये गये हैं। ये हठी और पंडितंमन्य दुर्जनोंको इस रस-सागर काव्य से दूर रखेंगे। जो सज्जन श्रद्धालु हैं, गुरु-चरणों में बैठ कर जो इसका गंभीरतापूर्वक अध्ययन करेंगे, उन्हें इस महाकाव्य में रस मिलेगा। जो इसमें गहरे बैठकर डुबकियाँ लगायेंगे, उन रसिक सज्जनों को इस रस-लहरियों का आनंद प्राप्त होगा। यह महाकाव्य हठी मूर्खों के लिए नहीं, श्रद्धालु, रसिक सहृदयों के निमित्त है ॥ ३ ॥

इदानीं पण्डितानन्वजनद्वारा स्वकृतेरभ्युदयमाशास्ते—

> ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वराद्
>
> यः साक्षात् कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्।
>
> यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
>
> श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ॥ ४ ॥

जीवातु—ताम्बूलेति। यः कान्यकुब्जेश्वरात्काशीसकलपण्डिताभिनयचक्षुर्नं ताम्बूलद्वयं विद्वद्योग्यमासनं च लभते। न केवलं राजपूज्य एव, किंतु यः समाधिषु अष्टाङ्गयोगेषु ध्यानेषु वा विषये प्रमोदार्णवं परमानन्दस्वरूपं परं वागाद्यगोचरं ब्रह्म साक्षात्कुरुते। न परं पूर्वोक्तगुणविशिष्टो ब्रह्मविदेव, किंतु यदीयं काव्यं मधुवर्षि अतिसरसत्वादमृतवर्षि। न परं पूर्वविशेषणविशिष्टो-ऽतिसरसो महाकविरेव, किंतु तर्कशास्त्रेष्वपि यस्योक्तयो धर्षिताः परामृताः परे प्रतिवादिनो याभिस्तादृश्यः। तस्य विद्वच्चक्रचूडामणेः श्रीहर्षकवेरियं काव्य-रचनारूपा कृतिः कृतिनां सुधियां मुदे आनन्दायाभ्युदीयात्, कृतिनामानन्दं

कुर्वती सत्याकल्पमतिवृद्धिं प्राप्नुयादित्याशीः। सर्वत्र 'यत्'शब्दनिर्वाहो गुण एव। अभ्युदीयादिति, 'इ गतौ' इत्यस्य रूपम् ॥ ४ ॥

नैषधीयचरिते द्वाविंशः सर्गः पूर्णः
सम्पूर्णचेदं महाकाव्यम्।

— o —

अन्वयः—कान्यकुब्जेश्वरात् यः ताम्बूलद्वयम् आसनं च लभते यः समाधिषु प्रमोदार्णवं परं ब्रह्म साक्षात् कुरुते, यत्काव्यं मधुवर्षि, तर्केषु यस्य उक्तयः धर्षितपराः, तस्य श्रीश्रीहर्षकवेः इयं कृतिः कृतिमुदे अभ्युदीयात्।

हिन्दी—कान्यकुब्ज-नरेश से जो दो बीड़ा पान और आसन प्राप्त करता है, जो समाधियों में परमानन्दसागर पर ब्रह्म को प्रत्यक्ष करता है, जिसका काव्य मधुरस बनानेवाला है, तर्कों में जिसके वक्तव्य प्रतिवादियों के पराभूत कर देते हैं, उस श्रीयुत श्रीहर्ष कवि की यह रचना (नैषधीयचरित) सुधीजनों के आनन्द के निमित्त अभ्युदय प्राप्त करे।

टिप्पणी—इस वक्तव्य में 'नैषधीयचरित' के कृति महाकवि श्रीहर्ष ने अपनी रचना के विद्वज्जनों द्वारा समादृत होने की कामना की है। अपने विषय में जो आत्मश्लाघा-सा प्रतीत होता उन्होंने कहा है, वह एक सामान्य कविविषयक जानकारी समझा जाना चाहिए। कवि सचमुच वैसा था। वह कान्यकुब्ज नरेश्वर से सीधे 'ताम्बूलद्वय' और 'आसन' संमानपूर्वक पाता था। वह अष्टांगयोग का पारगत था, जो समाधि लगाकर ब्रह्मदर्शन का परमानन्द प्राप्त करता था। एक ओर सरस, सुधावर्षी सरस काव्यों का प्रणयन उसने किया था, दूसरी ओर तर्कवाद का वह महापंडित था, जिसके तर्कपूर्ण कथनों का उत्तर प्रतिवादियों के पास नहीं था। सुकुमार साहित्य हो अथवा न्याय-ग्रहग्रन्थिल तर्क श्रीहर्ष की भारती की लीला समान रहती थी—'सम लीलायते भारती।' ऐसे परमविद्वान्, परमादरणीय, परमयोगी महाकवि की कृति विद्वज्जनों को आनन्दित करने वाली होनी ही चाहिए। यही श्रीहर्ष की आकांक्षा थी, पूर्ण हुई। 'नैषधीयचरित' पंडितमन्य हठियों का काव्य नहीं बना, श्रद्धालु रसिक सज्जनों ने ही उसमें आनन्द प्राप्त किया ॥ ४ ॥

— o —

नैषधीयचरित का बाईसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ और
यह महाकाव्य सम्पूर्ण हुआ।

— o —

नैषधीयपद्यानुक्रमणिका

[उत्तरार्द्धम्—१२–२२]

ख

ग

श

श